

अभिधानराजेन्द्रः

ABHIDHĀNARĀJENDRAH:

PRAKRIT MAGADHI SANSKRIT

Vijayarajendra Suri

SHASTRI INDO-CANADIAN INSTITUTE
92, GOLF LINKS,
NEW DELHI-110003, INDIA

26

अभिधानराजेन्द्र :

ABHIDHANARĀJENDRAH:
PRAKRIT MAGADHI SANSKRIT

Vijayarajendra Suri

VOL. 1



B.R. Publishing Corporation

Cataloging in Publication Data—DK

Vijavarājendra Sūri,

Abhidhānarājendrah.

7 v.

Reprint.

1. Prakrit languages—Lexicography. 2. Prakrit languages—Dictionaries—Sanskrit. 3. Prakrit languages—Etymology. 4. Prakrit languages—Grammar. 5. Prakrit literature. 6. Jainism—India. 7. Jaina saints—Biography. I. Title.

First Published 1910–1925

Reprinted in India 1985

Published in India by .

B. R. Publishing Corporation
461, Vivekanand Nagar,
Delhi-110052. (India)

Distributed by .

D. K. Publishers' Distributors
1, Ansari Road, Daryaganj,
New Delhi-110002. (India)
Phone : 27-8368

Printed at :

Goyal Offset Printer
Delhi-1100035 (India)



वृन्दारककल्पवादिवृन्दवदितचरणकमल-मर्वतन्त्रम्वतन्त्र-कलिकाल-

सर्वज्ञ-जङ्गमयुगप्रधान-श्रीसौधर्मवृहत्तपागच्छीय-जैनश्वेता-

म्बराचार्य-श्रीमद्भट्टारक-श्री श्री १००८ श्री श्रीमद्-

विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचितः

अभिधानराजेन्द्रः ।

तत्र ह्रस्वाकारादिशब्दसङ्कलने प्रथमो भागः ।

स च

श्री सर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वृतिताद्यश्रीनोपलज्यमानाशेष-

सूत्र-तद्वृत्ति-ज्ञाप्य-निर्युक्ति-चूर्ण्यादिनिहितसकलदार्श-

निकसिद्धान्तेतिहास-शिष्य-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-

मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थयुक्तयुक्तत्वनिर्णायकः ।

बृहद्भूमिका-प्राकृतव्याकृति-प्राकृतशब्दरूपावल्यादिपणिशिष्टसहितः

श्रीमुनिदीपविजय-श्रीयतीन्द्रविजयाज्यां

संशोधितः

समस्तजैनश्वेताम्बरसङ्घेन महता परिश्रमेण प्राकाश्यं नीतः ।

* * * श्री जैनप्रजाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम. * * *

{ श्रीवीरसम्बत् २४३९ }

श्रीराजेन्द्रसम्बत् ७

{ श्रीविक्रमान्द १९७० }

ख्रिस्ताब्द १९१३



श्रीवृहत्सौधर्मतपागच्छीय-कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक

श्रीश्री १००८ श्री विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

जन्म संवत् १८८३ ॥॥॥ स्वर्गवास संवत् १९६३

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।

“ रागद्वेषप्रदाकुक्ष्यदलनकृते वैनतेयत्वमाप्तः,
सूरीणामग्रगण्यो गुणगणमहितो मोहनीयस्वरूपः ।
यः श्रीराजेन्द्रसूरिर्जगति गुरुवरः साधुवर्गो वरिष्ठः,
तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते श्रीयतीन्द्रो मुनीन्द्रः ” ॥ १ ॥

आज हम उन महानुभाव करुणामूर्ति उपशम (शान्त) रसस्वरूप वर्तमान सकल जैना-गमपारदर्शी श्रीसौधर्मवृहत्तपागच्छीय प्रवर जैनाचार्य जटारक श्रीश्री १००० श्रीमद् विजय-राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रज्ञावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस चारत जूमि में अनेक विद्वज्जनों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रज्ञावक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूर्वोक्त महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८०३ पौषशुक्ल ९ गुरुवार सुताविक सन् १८१९ दिसम्बर ३ तारीख के दिन ‘ अछनेरा ’ रेल्वे स्टेशन से १९ मील और ‘ आगरे ’ के फिले से ३४ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘ जरतपुर ’ में पारखगोत्रावतंस ओश (बाल) वंशीय श्रेष्ठिवर्य ‘ श्रीऋषजदासजी ’ की सुशीला पत्नी ‘ श्रीकेसरी वाई ’ सौभाग्यवती की कुक्षि (कूँख) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘ रत्नराज ’ रक्खा ग-या था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्भक्ति पूजा प्रभावना दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में भी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी वाढ्यावस्था जो इतनी प्रज्ञावसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सज्जनों के भी चित्तों में आनन्द-सागर का उद्भास करदिया, अर्थात् सबके लिये आनन्दोत्पादक और अतिसुखप्रद थी । आपने अपने वाढ्यावस्थाही में सुरम्य वैनयिक गुणों से माता पिता और कलाचार्यों को रज्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करली थीं । आपके ज्येष्ठ चाचा ‘ मा-णिकचन्दजी ’ और ठोटी बहन ‘ प्रेमाबाई ’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालनकरना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और प्रातःकाल उठकर उनके चरण कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यक नियम कर्त्तव्य कर्म था ।

आपकी रमणीय चित्तवृत्ति निरन्तर स्वाभाविक वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहा करती थी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम शिक्षाओं को प्राप्त करने में उत्साही रहते थे ।

सबके साथ मित्रताव से चलना, पूज्यों पर पूज्य बुद्धि रखना, गुणवानों के गुणों को देख कर प्रसन्न होना, सत्समागम की आजिलापा रखना, कलह से रुटना, हास्य कुतूहलों से उदासीन रहना, और दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचकर चलना, यह आपकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति थी ।

बारह वर्ष की अवस्था से कुछ ऊपर होने पर अपने पिता की आज्ञा लेकर बड़े जाई 'माणिकचन्दजी' के साथ 'श्रीकेसरिया' महातीर्थ की यात्रा की, और रास्ते में 'अम्बर' शहर-निवासी सेठ 'सौजाग्यमलजी' की पुत्री के माकिनी का दोष निवारण किया और जीलों के संकट से सारे कुटुम्ब को बचाया था । इसी सबब से इस उपकार के प्रत्युपकार में 'सौजाग्यमलजी' ने अपनी सुरूपा पुत्री 'रमादेवी' का सगपन (सगाई) आप (रत्नराज) के साथ संयोजन करने का मानसिक विचार किया था । परन्तु यहाँ संबन्धियों का संमेलन न होने के सबब से सेठजी अपने कुटुम्ब सहित घर की तरफ रवाना हो गये । धर 'माणिकचन्दजी' जी अपने छोटे जाई को यात्रा कराकर 'गोरुवाड' की पञ्चतीर्थी की यात्रा करते हुए अपने घर को चले आये ।

कुछ दिन घर में रहकर फिर दोनों भाई व्यापारोन्नति के निमित्त अपने पिता का शुजा-शीर्वाद ले बङ्गाल की ओर रवाना हुए । क्रमशः पन्थप्रसार करते हुए दोनों जाई 'कलकत्ते' शहर में आये और सराफी बाजार में आदित्या के यहाँ उतरे । इस शहर में दश पन्द्रह दिन ठहर कर जहाजों में धान (गहू) जर शुच मुहूर्त में 'सिंहलद्वीप' की ओर रवाना हुए । मार्ग में अनेक उपद्रवों को सहन करते हुए सिंहलद्वीप (सि-खोन) में पहुँचे । यहाँ से द्रव्योपार्जन करके कुछ दिनों के बाद 'कलकत्ता' आदि शहरों को देखते हुए अपने घर को आये । तदनन्तर मातापिता की वृद्धावस्था समझ कर उनकी सेवा में तत्पर हो वहाँ ही रहना स्थिर किया ।

काल की प्रचल गति अनिवार्य है, यह मनुष्यों को दुःखित किये बिना नहीं रहती । अकस्मात् ऐसा समय आया कि माता और पिता के अन्तिम दिन आ पहुँचे और दोनों जाइयों को अत्यन्त शोक होने का अवसर आगया, परन्तु किञ्चित् धैर्य पकर कर माता पिता को अन्तिम भक्ति करने में कटिबद्ध हो उनकी सुन्दर शिक्षाएँ सावधानी से ग्रहण कीं और रातादिन उनके निकट ही रहना शुरू किया, यों करते काल समय आने पर जब माता पिता का देहान्त हो गया तब दोनों जाई संसारी कृत्य कर विशेष शोक के वशीभूत न हो धर्मध्यान में निमग्न हुए ।

तब से आपकी सुरम्य चित्तवृत्ति विशेषरूप से निरन्तर वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहने लगी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम मुनिराजों के दर्शन प्राप्त करने में प्रोत्साहित रहते थे ।

एक समय 'श्रीकल्याणसूरिजी' महाराज के शिष्य-यतिवर्य 'श्री प्रमोदविजयजी' महाराज विचरते विचरते शहर 'जरतपुर' में पधारे और आज्ञा लेकर उपाश्रय में उहरे । सब लोग आपके पास व्याख्यान सुनने आने लगे । इधर 'रत्नराज' जी देवदर्शन कर उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिये आये । इस सुयोग्य सजा में 'प्रमोदविजयजी' महाराज ने संसार की कृणिक प्रीति के स्वरूप को बहुत विवेचन के साथ दिखाया कि—“अनित्यानि शरीराणि, विज्जवो नैव शाश्वतः ” अर्थात् इस संसार में शरीरादि संयोग सब कृणिक हैं याने देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायक होते हैं और धन दौलत जी विनाशवान् हैं इसके ऊपर मोह रखना केवल अज्ञान ही है, क्यों कि—

“ दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह जवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मलदुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ॥
तारुण्ये चापि दुःखं जयति विरहजं वृद्धजावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ” ॥ १ ॥

अर्थात् इस संसार में पहिले तो गर्भवासही में मनुष्यों को जननी के कुक्षि (कूँख) में दुःख प्राप्त होता है तदनन्तर बाढ्यावस्था में जी मलपरिपूर्ण शरीर स्त्रीस्तनपयःपान से मिश्रित दुःख होता है और जवान में जी विरहादि से उत्पन्न दुःख होता है तथा वृद्धावस्था तो त्रिदकुल निःसार याने कफ वातादि के दोषों से परिपूर्ण है; इसलिये हे मनुष्यो ! जो संसार में थोड़ा जी सुख का लेश हो तो बतलाओ ? ।

इसवास्ते अरे जव्यो ! परमसुखदायक श्री जिनेन्द्रप्ररूपित अहिंसामय धर्म की आराधना करो जिससे आत्मकल्याण हो ।

इस प्रकार हृदयग्राहिणी और वैराग्योत्पादिका गुरुवर्य की धर्मदेशना सुनकर 'रत्नराज' के चित्त में अत्यन्त उदासीनता उत्पन्न हुई और विचार किया कि वस्तुगत्या संयोग-मोह ही प्राणीमात्र को दुःखित कर देता है, इससे मुझे उचित है कि आत्मकल्याण करने के लिये इन्हीं गुरुवर्य का शरण ग्रहण करूँ, क्योंकि संसार के तापों से संतप्त प्राणियों की रक्षा करनेवाले गुरु ही हैं । ऐसा विचार कर अपने संबन्धियों की अनुमति (आज्ञा) लेकर बड़े समारोह के साथ संवत् १९०३ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार के दिन शुभयोग और शुभ नक्षत्र में महाराज 'श्री प्रमोदविजयजी' ने अपने ज्येष्ठ गुरुप्राता 'श्री हेमविजयजी' महाराज के पास यतिदीक्षा स्वीकार करवाई और संघ के समक्ष 'श्रीरत्नविजयजी' नाम रक्खा गया ।

महानुभाव पाठकगण ! उस समय यतिप्रणाढी की मर्यादा प्रचलित प्रणाढी से अ-

त्यन्त प्रशंसनीय थी अर्थात् रजोहरण मुहपत्ती सर्वदा पास में रखना, दोनों काल (समय) प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन करना, श्वेत मानोपेत वस्त्र धारण करना, स्त्रियों के परिचय से सर्वथा बहिर्जून रहना, पठन और पाठन के अतिरिक्त व्यर्थ समय न खोकर निष्ठादेवी के वशीकृत न होना, निरन्तर अपनी उन्नति के उपाय खोजना, और धर्म-विचार या शास्त्रविचार में निमग्न रहना इत्यादि अतीव प्रशंसनीय प्राचीन समय में यतिवर्ग था। जैसे आज कल यतियों की प्रथा विगड़ गयी है वैसे वे लोग विगड़े हुए नहीं थे किन्तु इनसे बहुत ज्यादा सुधरे हुए थे। हाँ इतना जरूर था कि उस समय (१६०३) में जी कोई २ यति परिग्रह रखते थे परन्तु महाराज 'श्रीप्रमोदविजयजी' की रहनी कहनी विलकुल निर्दोष थी अर्थात् उस समय के और यतियों की अपेक्षा प्रायः बहुत जागों में सुधरी हुई थी, इसी से पुरुपरल 'श्रीरत्नराजजी' ने वैराग्यरागरञ्जित हो यति-दीक्षा स्वीकार की थी।

फिर कुछ दिन के बाद 'श्रीप्रमोदविजयजी' गुरु की आज्ञा से रत्नविजयजी ने 'मृंगी सरस्वती' विरुद्धारी यतिवर्य श्रीमान् 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज के पास रहकर व्याकरण, न्याय, कोष, काव्य, और अलङ्कार आदि का विशेष रूप से अध्यास किया। 'श्री प्रमोदविजयजी' और 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज की परस्पर अत्यन्त मित्रता थी। जब दोनों का परस्पर मिलाप होता था तब लोगों को अत्यन्त ही आनन्द होता था। यद्यपि दोनों का गच्छ जिन २ था तथापि गच्छों के ऊगकों में न परकर केवल धार्मिक विचार करने में तत्पर रहते थे इसलिये 'श्रीसागरचन्द्रजी' ने आपको अपने अन्तेवासी (शिष्य) की तरह पढ़ाकर हुशियार किया था।

'सागरचन्द्रजी' मरु 'मारवारु' देश के यतियों में एक ज्ञारी विद्वान् थे, इनकी विद्वत्ता की प्रख्याति काशी ऐसे पुण्यक्षेत्र में ली थी, आप ही की शुभ कृपा से 'श्रीरत्न विजयजी' स्वल्पकाल ही में व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण और जैनागमों के विज्ञाता हो गये, परन्तु विशेषरूप से गुरुगम्य शैली के अनुसार अध्यास करने के लिये तपागच्छाधिराज श्रीपूज्य 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज के पास रहकर जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया और गुरुदत्त अनेक चमत्कारी विद्याओं का साधन किया।

आपके विनयादि गुणों को और बुद्धिविलक्षणता को देखकर 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज ने आपको शहर उदयपुर में हेमविजयजी के पास बस्ती दीक्षा और 'पन्यास' पदवी प्रदान करवाई थी और अपने अन्त समय में 'पं० श्रीरत्नविजयजी' से कहा कि—“अब मेरा तो यह समय आलगा है और मैंने अपने पाट पर शिष्य 'श्रीधरविजय' को धरणेन्द्रसूरि' नामाङ्कित करके बैठाया तो है किन्तु अभी यह अज्ञ है याने व्यवहार से परिचित नहीं है इसलिये तुमको मैं आदेश करता हूँ कि इसको पढ़ाकर साक्षर बनाना

और गच्छ की मर्यादा सिखाना ”। इस शुच आज्ञा को सुनकर ‘पं० रत्नविजयजी’ ने सा-
ज्जलिबन्ध होकर ‘तहत्ति’ कहा। फिर श्रीपूज्यजी महाराज ने विजयधरणेन्द्रसूरिजी से कहा
कि—‘तुम रत्नविजय पन्यास के पास पढ़ना और यह जिस मर्यादा से चलने को कहें उसी
तरह चलना’। धरणेन्द्रसूरिजी ने जी इस आज्ञा को शिरोधार्य माना।

महाराज श्रीदेवेन्द्रसूरिजी ने तो चारों आहार का त्याग कर शहर ‘राधनपुर’ में अन्नशन
किया और समाधिपूर्वक कालमहीने में काल किया। पीछे से पट्टाधीश ‘श्री धरणेन्द्रसूरिजी’
ने ‘श्रीरत्नविजयजी’ पन्यास को बुलाने के लिये एक रुक्का लिखा कि पेस्तर ‘श्रीखन्तिविज-
यजी’ ने खेवटकर उदयपुर राणार्जी के पास से ‘श्रीदेवेन्द्रसूरिजी’ महाराज को पालखी
प्रमुख शिरोपाव बक्सया था, उसी प्रकार तुम को जी उचित है कि ‘सिद्धविजयजी’ से बन्द
हुआ जोधपुर और बीकानेर नरेशों की तरफ से छड़ी दुशाला प्रमुख शिरोपाव को खे-
वटकर फिर शुरू कराओ, इस रुक्के को बाँचकर ‘श्री प्रमोदविजयजी’ महाराज ने कहा कि-
“सूचिप्रवेशे मुशलप्रवेशः” यह लोकोक्ति बहुत सत्य है, क्यों कि ‘श्री हीरविजय सूरिजी’
महाराज की उपदेशमय वचनों को सुनकर दिह्वीपति बादशाह अकबर अत्यन्त हर्षित
हुआ और कहने लगा कि—“हे प्रजो! आप पुत्र, कलत्र, धन, स्वजनादि में तो ममत्व
रहित हैं इसलिये आपको सोना चाँदी देना तो ठीक नहीं?, परन्तु मेरे मकान में जैन
मजहब की प्राचीन १ बहुत पुस्तकें हैं सो आप लीजिये और मुझे कृतार्थ करिये”। इस
प्रकार बादशाह का बहुत आग्रह देख ‘हीरविजय सूरिजी’ ने उन तमाम पुस्तकों को आगरा
नगर के ज्ञानजण्मार में स्थापन किया। फिर आरुम्बर सहित उपाश्रय में आकर बादशाह
के साथ अनेक धर्मगोष्ठी की; उससे प्रसन्न हो उत्र, चामर, पालखी वगैरह बहु मानार्थ
‘श्री हीरविजय सूरिजी’ के अगाड़ी नित्य चलाने की आज्ञा अपने नोकरों को दी। तब हीरवि-
जय सूरिजी ने कहा कि हम लोग जंजाल से रहित हैं इससे हमारे आगे यह तूफाण उचित
नहीं है। बादशाह ने विनय पूर्वक कहा कि—‘हे प्रजो! आप तो निस्पृह हैं परन्तु मेरी जक्ति है
सो आपके निस्पृहपन में कुछ दोष लगने का संभव नहीं है’। उस समय बादशाह का अत्य-
न्त आग्रह देख श्रीसंघ ने विनती की कि—स्वामी! यह तो जिनशासन की शोजा और
बादशाह की जक्ति है इसलिये आपके आगे चलने में कुछ अटकाव नहीं है। गुरुजी ने
जी द्रव्य, क्षेत्र, काल, जाव की अपेक्षा विचार मौन धारण कर लिया। बस उसी दिन से श्री-
पूज्यों के आगे शोजातरीके पालखी छड़ी प्रमुख चलना शुरू हुआ। “श्री विजयरत्न
सूरिजी” महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु ‘लघुदामासूरिजी’
वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति
कायम रखी कि गाँव में आते समय पालखी से उतर जाते थे, तदनन्तर ‘दयासूरिजी’ तो
गाँव नगर में जी बैठने लगे। इस तरह क्रमशः धीरे-धीरे शिथिलाचार की प्रवृत्ति चलते चलते
अत्यन्त शिथिल होगये क्योंकि पेस्तर तो कोई राजा वगैरह प्रसन्न हो ग्राम नगर क्षेत्रादि

शिरोपाव देता तो उसको स्वीकार न कर उसके राज्य में जीववधादि हिंसा को बुराकर आचार्य धर्म की प्रवृत्ति में वधारा करते थे, और अब तो 'श्रीपूज्य' नाम धराकर खुद खे-वट कराके शिरोपाव लेने की इच्छा करते हैं, यह सब दुःपम काल में शिथिलाचारादि-प्रवृत्ति का प्रभाव जानना चाहिये । अत एव हे शिष्य ! "श्रीपूज्यजी ने जो कुछ लिखा है उस प्रमाणे उद्यम करना चाहिये, क्योंकि बहुत दिन से अपना इनके साथ संबन्ध चला आता है उसको एक दम तोड़ना ठीक नहीं है" । तब अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास रत्नविजयजी जी नवीन श्रीपूज्यजी को दत्तचित्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया और गच्छाधीश की मर्यादाऽनुसार बर्ताव कराना शुरू किया । श्री-पूज्यजी ने अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास श्री रत्नविजयजी को विद्यागुरु समझकर आदर, सत्कार, विनय आदि करना शुरू किया । पन्यासजी ने भी श्रीपूज्य आदि सोलह व्यक्तियों को निःस्वार्थ वृत्ति से पढ़ाकर विद्वान् कर दिया । श्रीपूज्यजी महाराज ने अपने विद्यागुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिये दफतरीपन का ओहदा [अधिकार] सौंपा अर्थात् जो पदवियाँ किसी को दी जायँ और यतियों का अलग चौमासा करने की आज्ञा दी जाय तो उनको पढ़ा पन्यास 'श्री रत्नविजयजी' के सिवाय दूसरा कोई जी नहीं कर सके ऐसा अधिकार अर्पण किया । तब ज्योतिष, वैद्यक और मंत्रादि से जोधपुर और बीकानेर नगेशों को रञ्जितकर छड़ी दुशाला प्रमुख शिरोपाव और परवाना श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को जेट कराया ।

एक समय संवत् १९२३ का चौमासा 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने शहर 'घाणेराम' में किया उस समय ६० श्रीरत्नविजयजी आदि ५० यति साथ में थे परन्तु ज्वितव्यता अत्यन्त प्रबल होती है करोड़ों उपाय करने पर भी वह [होनहार] किसी प्रकार टल नहीं सकती, जिस मनुष्य के लिये जितना कर्त्तव्य करना है वह होही जाता है, याने पर्युषणा में ऐसा मौका आ पड़ा कि श्रीपूज्यजी के साथ श्रीरत्नविजयजी का अंतर के वाबत चित्त उद्विग्न हो गया, यहाँ तक कि उस विषय में अत्यन्त वाद विवाद बढ़ गया, इससे रत्न-विजयजी त्रासपद सुदी १ द्वितीया के दिन 'श्रीप्रमोदरुचि' और 'धनविजयजी' आदि कई सुयोग्य यतियों को साथ लेकर 'नामोल' होते हुए शहर 'आहोर' में आये और अपने गुरु श्री प्रमोदविजयजी को सब हाल कह सुनाया । जब गुरुमहाराज ने श्रीपूज्य को हितशिक्षा देने के लिये श्रीसंघ की संमति से पूर्व परंपराऽऽगत सूरिमंत्र देकर रत्नविजयजी को अत्यन्त महोत्सव के साथ संवत् १९२३ वैशाख सुदी ५ बुधवार के दिन 'आचार्य' पदवी दी और उसी समय आहोर के ठाकुर साहब 'श्रीयशवन्तसिंह' जी ने श्रीपूज्य के योग्य ठकी, चामर, पालखी, सूरजमुखी आदि सामान जेट किया । और श्रीसंघ ने श्रीपूज्यजी को 'श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी' महाराज के नाम से प्रख्यात करना शुरू किया ।

श्रीपूज्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज अपनी सुयोग्य यतिमण्डली सहित ग्राम

ग्राम विहार करते हुए मेवाड़देशस्थ 'श्रीशंजुगढ़' पधारे। यहां के चौमासी 'श्री फतेहसागरजी' ने फिर पाटोच्छव करा के राणाजी के 'कामेती' के पास जेट पूजा करायी। फिर गाँवों गाँव श्रावकों से 'खमासमणा' कराते हुए संवत् १९२४ का चौमासा 'श्रीसंघ' के अत्यन्त आग्रह से शहर 'जावरे' में किया और 'श्रीजगवतीजी' सूत्र को व्याख्यान में बाँचा। यहां पर जनाणी मीठाबालजी प्रमुख श्रावकों के मुख से श्रीपूज्यजी की प्रशंसा सुनकर 'नवावसाहेब' ने एक प्रश्न पुछाया कि—“तुम्हारा धर्म हम अंगीकार करें तो हमारे साथ तुम खाना पीना करसकते हो, या नहीं” ? इसका उत्तर श्रीपूज्यजी महाराज ने यह फरमाया कि—“दीन का और जैन का घर एक है इसलिये चाहे जैसी जातिवादा मनुष्य जैनधर्म पालता हो उसके साथ हम बन्धु से जी अधिक प्रेम रख सकते हैं, किन्तु लोकव्यवहार अस्पृश्य जाति न हो तो हम जैन शास्त्र के मुताबिक खाने पीने में दोष नहीं समझते हैं” इत्यादि प्रश्न का उत्तर सुन और सन्तुष्ट हो अपने वजीर के जरिये मोहर परवाना सहित आपदागिरि, किरणीया, वगैरह लवाजमा जेट कराया। इस चौमासे में 'धरणेन्द्रसूरि' ने एक पत्र (रुक्का) लिखकर अपने नामी यति 'सिद्धकुशलजी' और 'मोतीविजयजी' को जावरे संघ के पास भेजा। उन दोनों ने आकर संघ से सब वृत्तान्त (हकीकत) कहा, तब संघ ने उत्तर दिया कि—‘हम ने तो इनको योग्य और उचित क्रियावान् देखकर श्रीपूज्य मान लिया है और जो तुम्हारे जी श्रीपूज्य गच्छमर्यादाऽनुसार चलेंगे तो हम उन्हें जी मानने को तैयार हैं।

इस प्रकार बात चीत करके दोनों यति आपके पास आये और वन्दन विधि साँचवकर बोले कि—आप तो बड़े हैं, थोड़ीसी बात पर इतना ज़ारी कार्य कर मालना ठीक नहीं है, इस गादी की विगमने और सुधरने की चिन्ता तो आपही को है। तब आपने मधुर वचनों से कहा कि—मैं तो अब क्रियाउद्धार करने वाला हूँ मुझे तो यह पदवी बिलकुल उपाधिरूप मालूम पकती है परन्तु तुम्हारे श्रीपूज्यजी गच्छमर्यादा का उल्लंघन करके अपनी मनमानी रीति में प्रवृत्त होने लग गये हैं, इस वास्ते उनको नव कलमें मंजूर कराये बिना अजी क्रियाउद्धार नहीं हो सकता। ऐसा कह नव कलमों की नकल दोनों यतियों को दी, तब उस नकल को लेकर दोनों यति श्रीपूज्यजी के पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया तब श्रीपूज्यजी ने जी उन कलमों को बाँच कर और हितकारक समझकर मंजूर की और उस पर अपनी सही जी कर दी और साथ में सूरिपद की अनुमति जी दी।

इस प्रकार श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को गच्छसामाचारी की नव कलमों को मनाकर और अपना पाँच वर्ष का लिया हुआ 'अजिग्रह' पूर्ण होने पर जावरे के श्रीसंघ की पूर्ण विनती होने से वैराग्यरङ्गरज्जित हो श्रीपूज्याचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरी—श्वरजी महाराज ने अपना श्रीपूज्यसंबन्धी ठनी, चामर, पालखी, पुस्तक आ-

दि सब सामान श्रीसुपार्श्वनाथजी के मंदिर में चढ़ाकर संवत् १९१५ आषाढ वदि १० बुधवार के दिन अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी और श्री धनविजयजी के साथ वड़े समारोह से क्रिया-उद्धार किया, अर्थात् संसारवर्द्धक सब उपाधियों को ठोकर सदाचारी, पञ्च महाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद को स्वीकार किया। उस समय प्रत्येक गामों के करीब चार हजार श्रावक हाजिर थे उन सबों ने आपकी जयध्वनि करते हुए सारे शहर को गुंजार कर दिया।

क्रियाउद्धार करने के अनन्तर खाचरोद संघ के अत्यन्त आग्रह से आपका प्रथम चौमासा (संवत् १९१५ का) खाचरोद में हुआ, इस चौमासे में श्रावक और श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण बहुत ही उत्तम प्रकार से मिला और सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। चौमासे के उतार में श्रीसंघ की ओर से अट्टाई महोत्सव किया गया, जिसपर करीब तीन चार हजार श्रावक श्राविका एकत्रित हुए, जिससे जैन धर्म की बड़ी जारी उन्नति हुई; इस चौमासे में पाँच सात हजार रुपये खर्च हुए थे और जीर्णोद्धारदि अनेक सत्कार्य हुए। फिर चतुर्मासे के उतरे बाद ग्रामानुग्राम विहार करते हुए 'नीवारु' देशान्तर्गत शहर 'कूकसी' की ओर आपका पधारना हुआ। 'कूकसी' में आसोजी देवीचन्दजी आदि अच्छे २ विद्वान् श्रावक रहते थे, जिनके व्याख्यान में पाँच पाँच सौ श्रावक लोग आते थे, इन दोनों श्रावकों ने आपके पास द्रव्यानुयोगविषयक अनेक प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर आपने बहुतही सन्तोषदायक दिये। उन्हें सुनकर और आपका साधुव्यवहार शुरू देखकर अतीव समारोह के साथ सब श्रावक और श्राविकाओं ने विधि पूर्वक सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया। यहाँ उन्तीस १९ दिन रहकर अनेक लोगों को जैनमार्गानुगामी बनाया। फिर क्रम से संवत् १९१६ रतलाम, १९१७ कूकसी, १९१८ गजगढ़ और फिर १९१९ का चौमासा रतलाम में हुआ। इस चौमासे में संवेगी जवेरसागरजी और यती बालचन्दजी उपाध्याय के साथ चर्चा हुई, जिसमें आपको ही विजय प्राप्त हुआ और 'सिद्धान्तप्रकाश' नामक बहुतही सुन्दर ग्रन्थ बनाया गया। संवत् १९३० का चौमासा जावरा में और १९३१ तथा १९३२ का चौमासा शहर 'आहोर' में हुआ। ये दोनों चौमासे एकही गाँव में एक जारो जातीय ऊगरे को मिटाने के लिये हुए थे, नहीं तो जैन साधुओं की यह रीति नहीं है कि जिस गाँव में एक चौमासा कर लिया, उसी गाँव में फिर तदनन्तर दूसरे साल का चौमासा करना, परन्तु कोई लाजालाज का अवसर हो तो कारण सर चौमासा पर जी चौमासा हो सकता है।

संवत् १९३३ का चौमासा शहर जालोर में हुआ, यहाँ पर दृढ़ियों के साथ चर्चा कर सात सौ ७०० घर मन्दिरमार्गी बनाये और गढ़ के ऊपर राजा कुमारपाल के बनाये हुए प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, और कुम्भ सेठ का बनाया हुआ जो चौमुखजी का मन्दिर था, उसमें से सरकारी सामान निकलवा कर वड़े समारोह से शास्त्रीय विधि पूर्वक

प्रतिष्ठा करायी । सम्बत् १९३४ राजगढ़, १९३५ रतलाम, १९३६ जीनमाल, १९३७ शिवगंज, १९३८ आलीराजपुर, १९३९ कूगसी, १९४० राजगढ़, और १९४१ का चौमासा शहर अहमदावाद में हुआ । इस चौमासे में आत्मारामजी के साथ पत्रद्वारा चर्चा वार्ता हुई और बहुत धार्मिक उन्नति भी हुई ।

सम्बत् १९४२ धोराजी, १९४३ धानेरा, और १९४४ का चौमासा 'थराद' में हुआ । यहाँ श्रीजगवतीजी सूत्र व्याख्यान में बाँचा गया, जिसपर सङ्घ ने ज़ारी उत्सव किया और प्रति प्रश्न तथा उत्तर की पूजा की । सं० १९४५ वीरमगाँम, और १९४६ का चौमासा सियाणा में हुआ, इस चौमासे में 'अजिधानराजेन्द्र-कोष' बनाने का आरम्भ किया गया । सं० १९४७ में गुफा, १९४८ आहोर, और १९४९ का चौमासा 'निवाहेना' में हुआ । इसमें ढूँढकपन्थियों के पूज्य नन्दरामजी के साथ चर्चा हुई, जिसमें ढूँढियों को परास्त करके साठ ६० घर मन्दिरमार्गी बनाये । सं० १९५० खाचरोद, १९५१ और १९५२ का चौमासा 'अजिधानराजेन्द्रकोष' के काम चलने से राजगढ़ही में हुए । सं० १९५३ में चौमासा शहर 'जावरे' में हुआ, यहाँ कातिक महीने में बड़े समारोह के साथ संघ की तरफ से अट्टाई महोत्सव किया गया, जिसमें बीस हजार रुपये खर्च हुए और विपक्षी लोगों को अच्छी रीति से शिक्षा दी गयी, जिससे जैन धर्म की बहुत ज़ारी उन्नति हुई । सं० १९५४ का चौमासा शहर रतलाम में हुआ, यहाँ भी अट्टाई महोत्सव बड़े धूमधाम से हुआ, जिस पर करीब दश हजार श्रावक और श्राविकाएँ आपके दर्शन करने को आईं, और संघ की ओर से उनकी ज़क्ति पूर्ण रूप से हुई, जिसमें सब खर्च करीब बीस हजार के हुआ, विशेष प्रशंसनीय बात यह हुई कि पाखण्डी लोगों को पूर्ण रूप से शिक्षा दी गयी, जिससे आपको बड़ा यश प्राप्त हुआ ।

सम्बत् १९५५ का चौमासा मारवाड़ देश के शहर 'आहोर' में हुआ, इस चौमासे में भी धार्मिक उन्नति विशेष प्रकार से हुई और इसी वर्ष में श्रीआहोरसंघ की तरफ से 'श्रीगो-कीपार्श्वनाथजी' के बावन ५२ जिनालय (जिनमंदिर) की प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाका आपही के करकमलों से करायी गयी, जिसके उत्सव पर करीब पचास हजार श्रावक श्राविकाएँ आई और मन्दिर में एक लाख रुपयों की आमद हुई । इस अञ्जनशलाका में नौ सौ ५०० जिनन्द्रबिम्बों की अञ्जनशलाका की गयी थी, इतना ज़ारी उत्सव मारवाड़ में पहिले पहिल यही हुआ । इतने मनुष्यों के एकत्र होने पर भी कुछ भी किसीकी जोहानि नहीं हुई यह सब प्रभाव आपही का था । सं० १९५६ का चौमासा शहर शिवगञ्ज में हुआ । जिस में अपने गच्छ की मर्यादा बिगड़ने न पावे इस लिये इस चौमासे में आपने साधु और श्रावक संबन्धी पैंतीस सामाचारी (कलमें) जाहर कीं, जिसके मुताबिक आजकल आपका साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ बर्ताव कर रहा है ।

सम्बत् १९५७ का चौमासा शहर सियाणा में हुआ । यहाँ श्रीसंघ की तरफ से महाराज

कुमारपाल का बनवाया हुआ 'श्रीसुविधिनाथ जी' के जिनमन्दिर का उद्धार आपही के उपदेश से कराया गया था और आस पास चौबीस देवकुलिका बनायी गयी थीं और उनकी प्रतिष्ठा आपके ही हाथ से करायी गयी, इस उत्सवपर मन्दिर में सत्तर ७० हजार रुपयों की आमद हुई और दिव्य एक पाठशाला जी स्थापित हुई।

सं० १९५८ का चौमासा आहोर, और १९५९ का शहर 'जालोर' में हुआ। इस चौमासे में जैनधर्म की बहुत बड़ी उन्नति हुई और मोदियों का कुसंप हटाकर सुसंप किया गया। फिर चौमासा उतरे बाद शहर आहोर में दिव्य ज्ञानजण्णार की और एक घूमटदार जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा की। इस ज्ञानजण्णार में बहुत प्राचीन १ ग्रन्थ हैं। पैंतालीस आगम और उनकी पञ्चाङ्गी तिवरती (तेहरी) मौजूद हैं और प्राचीन महर्षियों के बनाये ग्रन्थ जी अगणित मौजूद हैं, और छपी हुई पुस्तकें जी अपरिमित संग्रह की गयी हैं, इसकी सुरक्षा के लिये एक अत्यन्त सुन्दर मार्बुल (पाषाण) की आलमारी बनायी गयी है, जिसके चारो तरफ श्रीगौतमस्वामी जी, श्रीसरस्वती जी, श्रीचक्रेश्वरी जी, और श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जी की मूर्तियां विराजमान हैं। यह जण्णार आपही की कृपा से संग्रहीत हुआ है। फिर सूरीजी महाराज आहोर से विहार कर 'गुमे' गाम में पधारे। यहाँ माघसुदी ५ के दिन 'अचला जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की। तदनन्तर शिवगञ्ज होकर 'वाली' शहर में पधारे। यहाँ तीन श्रावकों को दीक्षा देकर 'श्रीकैसरिया जी' और 'श्रीसिद्धाचल जी', तथा 'जोयणी जी' आदि सुतीर्थों की यात्रा करते हुए शहर 'मुरत' में पधारे। यहाँ पर सब श्रावकों ने बड़े ज़ारी समारोह से नगरप्रवेश कराया और संवत् १९६० का चौमासा इसी शहर में हुआ। इस चौमासे में बहुत से धर्मझोही लोगों ने आपको उपसर्ग किया, परन्तु सद्धर्म के प्रभाव से उन धर्मझोही धर्मनिन्दकों का कुछभी जोर नहीं चला किन्तु सूरीजी महाराज को ही विजय प्राप्त हुआ। इस चौमासे का विशेष दिग्दर्शन 'राजेन्द्रसूर्योदय' और 'कदाग्रह दुर्ग्रह नो शान्तिमन्त्र' आदि पुस्तकों में किया जा चुका है, इससे यहाँ फिर लिखना पिष्टपेषण होगा।

संवत् १९६१ का चौमासा शहर 'कूगसी' में हुआ। इसी चौमासे में सूरीजी महाराज ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण को ठन्दोबद्ध संदर्भित किया, यह बात उसके प्रशस्तिश्लोकों में लिखी है—

दीपविजयमुनिनाऽहं यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन । विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमिमाम् ॥

अत एव विक्रमाब्दे, जूँरसेनवविधुमिते दशम्यां तु । विजयाख्यां चातुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥

हेमचन्द्रसंरचितप्राकृतमूत्रार्णवोधिनीं विवृतिम् । पद्यमयीं सच्चन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥

अर्थात् मुनिदीपविजय और यतीन्द्रविजय नामक दोनो शिष्यों से ठन्दोबद्ध प्राकृत-व्याकरण बनाने के लिये मैं प्रार्थित हुआ, इसीलिये विक्रम सं० १९६१ के चौमासे में आ-

श्विनशुक्ल विजय दशमी को कूकसीनगर में श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित प्रकृतसूत्रों की वृत्तिरूप इस प्राकृतव्याकरण को अच्छे छन्दों में मैनें रचा ।

चौमासे के उतार पर गाँव ' बाग ' में ' विमलनाथ स्वामी जी ' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी; फिर माह महीने में शहर ' राजगढ़ ' में ख-जानची ' चुन्नीलाल जी ' के बनवाये हुए ' अष्टापद जी ' के मन्दिर की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी । और शहर ' राणापुर ' में ' श्री धर्मनाथस्वामी ' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी । तदनन्तर ' खाचरोद ' शहर में पधारे । यहाँ कुछ दिन ठहर कर शहर जावरे में ' लखवा जी ' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की, और सम्बत् १९६२ का चौमासा शहर ' खाचरोद ' में किया । इस चौमासे में आपने चीरोलावालों को बड़े संकट (दुःख) से छुड़ाया । ' चीरोला ' मालवे में एक ठोटासा गाँव है, यह गाँव ढाईसौ वर्षों से जातिबाहर था, कारण यह था कि शहर ' रतलाम ' और ' सीतामऊ ' की दो बारातें एकदम एकही लड़की पर आयीं, जिसमें सीतामऊ वाले व्याह (परण) गये और रतलाम वाले योहीं रह गये । इससे इन्होंने क्रोधित हो चीरोलावालों को जातिबाहर कर दिया । फिर वह जगड़ा चला तो बहुत वर्षों तक चलता ही रहा परन्तु जाति में वे लोग न आसके, यहाँ तक कि मालवे ज़र में सब जगह चीरोलावाले जातिबाहर हो गये । कई मरतबा चीरोलावालों ने रतलामवाले पंचों को एक १ लाख रुपया दए देना चाहा लेकिन जगड़ा नहीं मिट सका, तब वासठ १९६२ के चौमासे में चीरोलावाले सब श्रावक लोग आकर विनती की और सब हाल कह सुनाया, तब आपने दया कर खाचरोद आदि के श्रीसंघ को समजाया और सबके हस्ताक्षर कराकर बिना दए लिये ही जाति में शामिल करा दिया । यह कार्य असाधारण था, क्यों कि इसके लिये पहिले बड़े साहूकार और साधूलोग परिश्रम कर चुके थे किन्तु कोई जी सफलता को नहीं प्राप्त हुआ था । आपके प्रज्ञाव ने सहज ही में इस कार्य को पार लगा दिया । इसीसे आपकी उपदेश-प्रणाली कितनी प्रबल थी यह निःसंशय मालूम पड़सकती है; यह एकही काम आपने नहीं किया किन्तु ऐसे सैकड़ों काम किये हैं ।

सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' बरुनगर ' में हुआ, यहाँ चारो महीना धर्मध्यान का बरुनजारी आनन्द रहा और अनेक प्रशंसनीय कार्य हुए । इस प्रकार क्रियाउद्धार करने के बाद आपके ३९ उन्तालीस चौमासा हुए । इन सब चौमासाओं में अनेक कार्य प्रशंसनीय हुए और श्रावकों ने स्वामीजि की अष्टाहिकामहोत्सव आदि सत्कार्यों में खूब ड्रव्य लगाया । कम से कम प्रत्येक चौमासे में ५००० हजार से लेकर २०००० हजार तक खरचा श्रावकों की तरफ से किया गया है, इससे अतिरिक्त शेष काल में जी आपने उलटे मार्ग में जाते हुए अनेक भव्यवर्गों को रोक कर शुद्ध सम्यक्त्वधारी बनाया । आपके उपदेश का प्रज्ञाव इतना तीव्र था कि जिसको सुनकर कट्टर द्वेषी जी शान्त स्वज्ञाव वाले होगये ।

रात्रिभोजन नहीं करना, जीवों को जानकर नहीं मारना, चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक नियम जिन्होंने आपसे लिये हुए हैं और जैनधर्मविषयक दृढ नियमों को परिपालन कर रहे हैं ऐसे आपके उपदेशी केवल जैन ही नहीं हैं किन्तु अन्यमतवाले जी हैं ।

यति अवस्था में जी आपने सम्बत् १९०४ का चौमासा मेवारु देशस्थ शहर 'आकोला' में किया था । फिर क्रमशः इन्दौर, उज्जैन, मन्दसोर, उदयपुर, नागौर, जेसलमेर, पाली, जोधपुर, किसनगढ़, चित्तोर, सोजत, शंजुगढ़, बीकानेर, सादरी, जिलामे, रतलाम, अजमेर, जालोर, घाणेरवा, जावरा इत्यादि शहरों में चौमासा कर सैकड़ों जवजीरु महा-नुजावों को जैनधर्म के संमुख किया ।

आपकी विद्वत्ता सारे चारतवर्ष में प्रख्यात थी, कोई जी प्रायः ऐसा न होगा जो आपके नाम से परिचित न हो । ज्योतिषशास्त्र में जी आपका पूर्ण ज्ञान था, जहाँ जहाँ आपके दिये हुए मुहूर्त से प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाकाएँ हुई हैं वहाँ हजारों जनसमूह के एकत्र होने पर जी किसी का शिर जी नहीं दुखा । आपके हाथ से कम से कम बाईस अञ्जनशलाकाएँ तो बनी बनी हुईं, जिनमें हजारों रुपये की आमद हुई और छोटी २ अञ्जनशलाका या प्रतिष्ठा तो करीब सौ १०० हुई होंगी । इसके अतिरिक्त ज्ञानजणारों की स्थापना, अष्टोत्तरी शान्तिस्नात्रपूजा, उद्यापन, जीर्णोद्धार, जिनालय, उपाश्रय, तीर्थसंघ आदि सत्कार्यों में सूरि जी महाराज के उपदेश से जव्यवर्गों ने हजारों रुपये खर्च किये हैं और अब जी आपके प्रताप से हजारों रुपये सत्कार्यों में खर्च किये जा रहे हैं ।

आपकी साधुक्रिया अत्यन्त कठिन थी इस बात को तो आवालवृद्ध सजी जानते हैं, यहाँ तक कि वयोवृद्ध होने पर जी आप अपना उपकरणादिजार सुशिष्य साधु को जी नहीं देते थे तो गृहस्थों को देने की तो आशाही कैसे संज्ञावित हो सकती है । क्रियाउद्धार करने के पीछे तो आपने शिथिलमार्गों का जी सहारा नहीं लिया और न वैसा उपदेशही किसीको दिया, किन्तु ज्ञानसहित सत्क्रियापरिपालन करने में आप बनेही उत्कण्ठित रहा करते थे । और वैसी ही क्रिया करने में उद्यत जी रहते थे, इसीसे आपकी उत्तमता देशान्तरों में जी सर्वत्र जाहिर थी । प्रमाद शत्रु को तो आप हरदम दबाया ही करते थे, इसीलिये साधुक्रिया से बचे हुए काल में शिष्यों को पढ़ाना और शास्त्रविचार करना, या धार्मिक चर्चा करना यही आपका मुख्य कार्य था । दिन को सोना नहीं, और रात्रि को जी एक प्रहर निद्रा लेकर ध्यानमग्न रहना, इसीमें आपका समय निर्गमन होता था; इसीलिये समाधियोग और अनुभवविचार आपसे बढ़कर इस समय और किसी में नहीं पाया जाता है ।

शहर 'वरुनगर' के चौमासे में मरुधरदेशस्थ गाँव 'बलदूट' के श्रावक अपने गाँव में प्रतिष्ठा कराने के लिये आपसे विनती करने आये थे, उनसे आपने यह कह दिया था कि 'अब

मेरे हाथ से प्रतिष्ठा अञ्जनशलाका आदि कार्य न होंगे । इसी तरह 'सूरत' में एक श्रावक के प्रश्न करने पर कहा था कि—'अजी मैं तीन वर्ष पर्यन्त फिर विहारादि करूँगा' । इन दोनों वाक्यों से आपने अपने आयुष्य का समय गर्जित रीति से श्रावक और साधुओं को बतला दिया था और हुआभी ऐसाही ।

आपकी पैदलविहारशक्ति के अगाढ़ी युवा साधु जी परिश्रान्त हो जाते थे, इस प्रकार आपने अन्तिम अवस्था पर्यन्त विहार किया, चाहे जितना कठिन से कठिन शीत पड़े परन्तु आप ध्यान और प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उघाढ़े शरीर से ही करते थे और अपने जीवन में फुलाटीन की साढ़े चार हाथ एक काँवली और उतनीही बड़ी दो चादर के सिवाय अधिक वस्त्र जी नहीं ओढ़ते थे । आपने करीब ढाई सौ मनुष्यों को दीक्षा दी होगी लेकिन कितनेही आपकी उत्कृष्ट क्रिया को पाछन नहीं कर सके, इसलिये शिथिलाचारी संवेगी और ढुंढकों में चले गये, परन्तु इस समय जी आपके हस्त से दीक्षित चालीस साधु और साध्वियाँ हैं जो कि ग्राम ग्राम विहार कर अनेक उपकार कर रहे हैं ।

सत्पुरुषों का मुख्य धर्म यह है कि जव्यजीवों के हितार्थ उपकार बुद्धि से नाना ग्रन्थ बनाना, जिससे लोगों को शुद्ध धार्मिक पथ (रास्ता) सूझ पड़े । इसी लिये हमारे पूर्वकालीन आचार्यवर्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाकर अपरिमित उपकार किया है तजी हम अपने धर्म को समझकर दृढ श्रद्धावान् बने हुए हैं, और जो कोई धर्म पर आक्षेप करता है तो उसको उन ग्रन्थों के द्वारा परास्त कर लेते हैं, यदि महर्षियों के निर्मित ग्रन्थरत्न न होते तो आज हम कुछ जी अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये जो जो विद्वान् आचार्य आदि होते हैं वे समयानुकूल लोगों के हित के लिये ग्रन्थ बनाते हैं । इसी शैली के अनुसार सूरजी महाराज ने जी लोकोपयोगी अनेक ग्रन्थ बनाये हैं ।

सूरजी महाराज के निर्मित संस्कृत-प्राकृत-जापामयग्रन्थ—

१ 'अजिधानराजेन्द्र' प्राकृतमहाकोश—इस कोश की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है । संदर्भ इसका इस प्रकार रक्खा गया है—पहिले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृतशब्द, उसके बाद उनका अनुवाद संस्कृत में, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश, और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है वैसाही जिन १ रूप से दिखला दिया गया है । बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार सूची नम्बरवार दी गयी है, जिससे हर एक बात सुगमता से मिल सकती है । जैनागमों का ऐसा कोई जी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो । केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है । इसकी श्लोकसंख्या करीब साढ़े चार लाख है, और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है ।

२ 'शब्दाम्बुधि' कोश—इसमें केवल अकारादि अनुक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया

गया है और साथ में संस्कृत अनुवाद और उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है ।

३ सकलैश्वर्यस्तोत्र सटीक, ४ खापरियातस्करप्रबन्ध, ५ शब्दकौमुदी श्लोकबद्ध, ६ कव्याणस्तोत्र प्रक्रियाटीका, ७ धातुपाठ श्लोकबद्ध, ८ उपदेशरत्नसार गद्य ए दीपावली (दिवाली) कल्पसार गद्य, १० सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृतगाथावद्ध) ११ प्राकृतव्याकरणविवृति ।

सूरीजी के संकलित संगीत ग्रन्थ—

१२ मुनिपति चौपाई, १३ अघटकुँवरचौपाई, १४ घष्टरचौपाई, १५ भिद्धचक्रपूजा, १६ पञ्चकव्याणकपूजा, १७ चौबीसीस्तवन, १८ चैत्यवन्दनचौबीसी, १९ चौबीसजिनस्तुति ।

सूरीजी महाराज के रचित बालावबोध जापान्त्र्य—

२०—उपासकदशाङ्गसूत्र बालावबोध, २१ गद्याचारपयन्ना सविस्तर जापान्तर, २२ कल्पसूत्र बालावबोध सविस्तर, २३ अष्टाहिकाव्याख्यान जापान्तर, २४ चार कर्मग्रन्थ अङ्गरार्थ, २५ सिद्धान्तसारसागर (बोलसंग्रह), २६ तत्त्वविवेक, २७ सिद्धान्तप्रकाश, २८ स्तुतिप्रभाकर, २९ प्रश्नोत्तरमालिका, ३० राजेन्द्रसूर्योदय, ३१ सेनप्रश्नवीजक, ३२ षड्द्रव्यचर्चा, ३३ स्वरोदयज्ञानयन्त्रावली, ३४ त्रैलोक्यदीपिकायन्त्रावली, ३५ वासष्ठमार्गणाविचार, ३६ पञ्चावश्यक अङ्गरार्थ, ३७ एकसौ आठ बोल का थोकम्, ३८ पञ्चमीदेववन्दनविधि, ३९ नवपद थोली देववन्दनविधि, ४० सिद्धाचल नवाणुं यात्रादेववन्दनविधि, ४१ चौमासी देववन्दनविधि, ४२ कमलप्रज्ञाशुद्धरहस्य, ४३ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार ।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाकर सूरीजी महाराज ने जैनधर्मानुरागियों पर तथा इतर जनों पर जी पूर्ण उपकार किया है ।

वरुनगर के चौमासा पूरे होनेपर अपनी साधुमएकली सहित सूरीजी ने शहर 'राजगढ़' की ओर विहार किया था, इस समय आपके शरीर में साधारण श्वास रोग उठा था । यद्यपि यह प्रथम जोर शोर से नहीं था तथापि उसका प्रकोप धीरे १ बढ़ने लगा, यहाँ तक कि औषधोपचार होने पर जी वह रोग शान्त नहीं हुआ, किन्तु श्वास की बीमारी अधिक होने पर भी आप अपनी साधुक्रिया में शिथिल नहीं हुए, और सब साधुओं से कहा कि—“ हमारे इस विनाशी शरीर का भरोसा अब नहीं है, इसलिये तुमलोग साधुक्रियापरिपालन में दृढ़ रहना, ऐसा न हो कि जो चारित्र रत्न तुम्हें मिला है वह निष्फल होजावे, सावधानी से इसकी सुरक्षा करना, हमने तो अपना कार्य यथाशक्ति सिद्ध कर लिया है अब तुम जी अपने आत्मा का सुधारा जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करते रहना ”। इस प्रकार अपने शिष्यों को सुशिक्षा देकर सुसमाधिपूर्वक अनशनव्रत को धारण कर लिया और औषधोपचार को सर्वथा बन्द कर दिया । बस तदनन्तर थोके

ही दिन के बाद परमोपकारी धर्मप्रज्ञावक आचार्यवर्य श्रीमान् श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर महाराजजी ने अपने इस अनित्य शरीर का सम्बत् १९६३ पौष शुक्ल ७ शुक्रवार मुताबिक २१ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को समाधियुक्त परित्याग किया, अर्थात् इन नाशवान् संयोगों को छोड़ कर स्वर्ग में विराजमान हुए ।

उपसंहार

महानुभाव पाठकवर्ग ! इस समय जीवनचरित्र लिखने की प्रथा बहुतही बढ़ गयी है इसलिये प्रायः बहुत से सामान्य पुरुषों के जी जीवनचरित्र मिलते हैं किन्तु जीवनचरित्र के लिखने का क्या प्रयोजन है यह कोई जी नहीं विचार करता, वस्तुतः सत्पुरुषों की जीवनघटना देखने से सर्व साधारण को लाभ यह होता है कि जिस तरह सत्पुरुष क्रम क्रम से उच्चकोटीवाली अवस्था को प्राप्त हुआ है वैसी ही पाठक भी अपनी अवस्था को उच्चकोटीवाली बनावे और दुर्जन पुरुषों की जीवनघटना देखने से जी यह लाभ होता है कि जिसतरह अपने कुकर्मों से दुर्जन अन्त में दुरवस्था को प्राप्त होता है वैसा वाचक न हो, किन्तु दुर्जन की जीवनघटना की अपेक्षा से सत्पुरुष के ही जीवनचरित्र पढ़ने से शीघ्र लाभ हो सकता है, इसीलिये पाठकों को महानुभाव सूरीश्वरजी का यह जीवनपरिचय कराया गया है, जिससे आपजी ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर सदा के सुखजागी बनें, क्योंकि सूरीजी का जीवन इस संसार में केवल परोपकार के वास्ते ही था, नकि किसी स्वार्थ के वास्ते । यदि रागद्वेषरहित बुद्धि से विचारा जाय तो हमारे उत्तमोत्तम जैन धर्म की उन्नति ऐसेही प्रज्ञावशाली क्रियापात्र सदगुरुओं के द्वारा हो सकती है । आपका जो जीवनपरिचय बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, किन्तु बड़ा ' जीवनचरित्र ' जो बना हुआ है उसमें प्रायः बहुत कुछ सूरीजी महाराज का जीवनपरिचय दिया गया है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओं को बड़ा जीवनचरित्र देखना चाहिये, उसके द्वारा संपूर्ण आपका जीवनपरिचय हो जायगा और इन महानुभाव महापुरुष के जीवनचरित्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ सो जी सहज में मालूम पड़ जायगा । इत्यलं विस्तरेण ।

नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन वागरानगरे ।

आश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यलेखि गुरोः ॥ १ ॥



❧ श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली ❧

—*७३*—

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

- १ श्रीसुधर्मास्वामी
- २ श्रीजम्बूस्वामी
- ३ श्रीप्रज्ञवस्वामी
- ४ श्रीसय्यंभवस्वामी
- ५ श्रीयशोभद्रसूरि
- ६ { श्रीसंभूतविजयजी
श्रीजज्ञवाहुस्वामी
- ७ श्रीखूलभद्रस्वामी
- ८ { श्रीआर्यमुहस्तीसूरि
श्रीआर्यमहागिरि
- ९ { श्रीसुरियतसूरि
श्रीसुप्रतिवद्धसूरि
- १० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
- ११ श्रीदिन्नसूरि
- १२ श्रीसिद्धगिरिसूरि
- १३ श्रीवज्रस्वामीजी
- १४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
- १५ श्रीचन्द्रसूरिजी
- १६ श्रीसामन्तजज्ञसूरि
- १७ श्रीवृद्धदेवसूरि
- १८ श्रीप्रद्योतनसूरि
- १९ श्रीमानदेवसूरि
- २० श्रीमानतुङ्गसूरि
- २१ श्रीवीरसूरि
- २२ श्रीजयदेवसूरि

- २३ श्रीदेवानन्दसूरि
- २४ श्रीविक्रमसूरि
- २५ श्रीनरसिंहसूरि
- २६ श्रीसमुद्रसूरि
- २७ श्रीमानदेवसूरि
- २८ श्रीविवुधप्रभसूरि
- २९ श्रीजयानन्दसूरि
- ३० श्रीरविप्रज्ञसूरि
- ३१ श्रीयशोदेवसूरि
- ३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
- ३३ श्रीमानदेवसूरि
- ३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
- ३५ श्रीउद्योतनसूरि
- ३६ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३७ श्रीदेवसूरि
- ३८ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३९ { श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
- ४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
- ४१ श्रीअजितदेवसूरि
- ४२ श्रीविजयसिंहसूरि
- ४३ { श्रीसोमप्रज्ञसूरि
श्रीमणिरत्नसूरि
- ४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
- ४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि

- ४६ श्रीधर्मघोषसूरि
- ४७ श्रीसोमप्रभसूरि
- ४८ श्रीसोमतिवकसूरि
- ४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
- ५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
- ५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
- ५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
- ५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
- ५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
- ५५ श्रीहेमविमलसूरि
- ५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
- ५७ श्रीविजयदानसूरि
- ५८ श्रीहीरविजयसूरि
- ५९ श्रीविजयसेनसूरि
- ६० { श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
- ६१ श्रीविजयप्रभसूरि
- ६२ श्रीविजयरत्नसूरि
- ६३ श्रीविजयक्षमासूरि
- ६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
- ६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
- ६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
- ६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि

—:७:—



॥ प्रस्तावना ॥

इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो दुःख से मुक्त होने की अभिलाषा नहीं करता, किन्तु जबतक उन दुःखों से मुक्त होने के सत्य उपाय उसको मालूम न हों तबतक वह कैसे कृतकार्य (सफल) हो सकता है; इसलिये सच्ची को दुःख से मुक्त होने के सत्य उपाय जानने की बड़ी अभिलाषा रहती है, कि इस अपार संसार समुद्र में निरन्तर त्रमण करने वाले प्राणियों को प्राप्त होने हुए अत्युत्कट [जन्म-मरण-मरण] दुःखों से बूटने का कौनसा उपाय है? यद्यपि विचारशाली और तीव्रबुद्धि वाले मनुष्य इसका उत्तर अवश्य देंगे, कि धर्म के सिवाय और कोई ऐसा दूसरा उपाय इन दुःखों से मुक्त होने का नहीं है; किन्तु धर्माधर्म का विवेक करना ही सर्वसाधारण को अतिदुष्कर है अर्थात् कौन धर्म है और कौनसा अधर्म है इसका समझना जी कुछ सहज काम नहीं है, क्योंकि कि इस दुनिया में अनेक धर्मानामधारी मत प्रचलित हो रहे हैं, जिनकी गिनती करना भी बहुत कठिन है तो फिर उनमें किसको धर्म और किसको धर्माज्ञास कहा जाय? हाँ महानुभावों के आदेशानुसार इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस पञ्चमकाय में—अर्थात् दुःखम आरा में, धर्माज्ञासों का प्रायः प्रचार विशेष होना चाहिये और धर्म की अवनति दशा विशेष होनी चाहिये। इस पर फिर यह जिज्ञासा होगी कि वैसा धर्म कौन है? इसका उत्तर यह है कि जिस धर्म के प्रवर्तक पुरुष किसी के द्वेषी अथवा रागी न हों और जो धर्म किसी जीव के [अत्यन्त प्रिय] प्राण का विघातक न हो—अर्थात् जिससे सच्ची जीवों को सुख ही प्राप्त हो उसे ही धर्म कहना चाहिये। यदि ऐसा धर्म वस्तुगत्या देखा जाय तो जैन धर्म ही दिखाई देता है क्योंकि उसके प्रवर्तक जिन भगवान् भी रागद्वेष-विजेता हैं और उस धर्म का 'अहिंसा परमो धर्मः' यह सिद्धान्त भी है। यद्यपि अन्य धर्माज्ञासों में भी अहिंसा की महिमा है किन्तु प्रधानरूप से उसकी कारणता [जन्मादि] दुःखों से मुक्त होने में नहीं मानी हुई है; और उनमें यदि एकाग्र अंश में दया है तो अन्याय में हिंसा भी है। जैसे किसी मत का मन्तव्य है कि यदि कोई पशु पक्षी प्राणी इस भव में दुःख सहता हो तो उसको इस जन्म से मुक्त कर देना ही है। अथवा—जब कभी अवसर प्राप्त हो तो यज्ञ में प्राणियों को मारकर उनको उत्तमगति वाला बना देना। अस्त-विशेष विस्तार इसका इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'अहमकुमार' और 'अहिंसा' शब्द पर जिज्ञासुओं को देखना चाहिये। इसीलिये कहा हुआ है कि 'पद्मापातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परब्रह्मः' ॥ १ ॥ और 'प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयाति शासनम्' इत्यादि ॥

यह जैनधर्म—दयाधर्म, आचारधर्म, क्रियाधर्म, और वस्तुधर्म से चार जागों में विभक्त है। और इस धर्म का मुख्य कारण शासन है, जो समवसरण में बैठे हुए देवाधिदेव सर्वज्ञ जगवान् श्रीतीर्थङ्कर के उपदेश से आविर्भूत होता है और पीछे उन्हीं उपदेशों को भीगौतमादि गणधर छादशाङ्गी अथवा एकादशाङ्गी-रूप में संदर्भित करते हैं, जिनका 'सूत्र' नाम से व्यवहार किया जाता है। ये प्रत्येक तीर्थङ्करों के शासन काल में विद्यमान दशा को प्राप्त होते हैं। यद्यपि पूर्वकाय में चौदह पूर्वधर, तथा दश पूर्वधर, श्रुतकेवली आदि आत्माओं को तो किसी पुस्तकपत्रादि की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि उनके अतिशय से उन्हें मूल से ही अर्थज्ञान हो जाता था परन्तु आगे वाले जीवों के ज्ञान में दुर्बलता होने से और जैन धर्म के विषय अति गहन होने से उनको स्पष्ट करने के लिये निर्युक्त-भाष्य-चूर्णि-टीका-आदि रचने पड़े। परन्तु इस समय में जैन ग्रन्थों का इतना विस्तार हो गया है कि थोड़ीसी आयुष्य में अब कोई मनुष्य सांसारिक कार्य करता हुआ गृहस्थ क्या विरक्त जी इस जैनशासनसागर के पार को प्रायः नहीं जा सकता। कारण यह है कि पहिले तो सब ग्रन्थों की उपलब्धि सब कहीं नहीं होती और जो मिलते जी हैं उनमें कौन विषय कहाँ पर है यह प्रायः ठीक पता हर एक को नहीं लगता और यदि किसी ग्रन्थ में पता भी लग जाय तो वह विषय दूसरी जगह या दूसरे ग्रन्थों में कहाँ कहाँ पर आया है यह पता नहीं लग सकता। यह कारण तो एक तरफ रहा, दूसरी बात यह भी है कि जिस जापा में जैनदर्शन बना है, वह जापा वही है कि जिसने प्राचीन समय में मातृभाषा से और राष्ट्र-जापा से चारतन्त्र में स्थान पाया था, और जिसका सर्वज्ञों से और गणधरों से वरुणादर किया गया, उसी भाषा का प्रचार इस समय बिलकुल नहीं है और जो नाटकों में जहाँ कहीं दिखाई देता है उसको जी उसके नीचे दी हुई भाषा से ही लोग समझ लेते हैं, और यदि किसीने उसका कुछ अभ्यास भी कर लिया तो उसने जैन धर्म के मूलमूत्रों का अथवा निर्युक्तिगाथाओं का

अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान तीर्थङ्कर ने, तथा गणधरों ने अर्धमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो लोग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्र पाठ और उनका अर्थ सुनकर कण्ठस्थ करते थे तर्जनी के कृतकार्य जी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अष्टाङ्गद्वि' शब्द पर देखो) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट हो जाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का अत्यन्त हास हो गया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य श्रीसौभर्मबृहत्पागच्छीय कलिकालसर्वज्ञकण्व चट्टारक १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रमूर्गीश्वरजी महाराज को बड़ी चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का हास होता जाता है, इसी दृष्टि से बहुत से लोग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिल्कुल बेखबर से हो गये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये? क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिसने अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा—'असंपादयतः कश्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः। यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दिन रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुआ कि—एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढि से बनाना चाहिये जिसमें जैनागम की मागधी जाषा के शब्दों को अकागदि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलमूल का आया है उसको लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन मिले तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी वही विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इसमें प्रायः अपने मनोऽनुकूल संसार का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूरजी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया का करके इस कार्य का भार उठाया, और दत्तचित्त होकर बाईस वर्ष पर्यन्त योग परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अजिधानराजेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। इसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भण्डार में ही पड़ा रह जायगा तो कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे? इस दृष्टि से अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूरजी महाराज ने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण हो गया अब जिसमें समस्त संसार का उपकार हो वैसा तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीमह्य ने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये छपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूरजी महाराज के विनीत शिष्य मुनिश्री दीपविजयजी और मुनिश्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण अभिज्ञ हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-संवन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साथही साथ विशेषता यह है कि मागधीजाषा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रखे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्द पर पुस्तक खोलकर देख ले। जो विषय जहाँ १ जिस १ जगह पर आया है उसकी जलावन (सूचना) भी उसी जगह पर दी है। और वहाँ १ शब्दों पर विषयसूची जी दी हुई है जिससे विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रमाण में मूल सूत्र १, और उनकी निर्युक्ति १, भाष्य ३, चूर्णि ४, टीका ५ तथा और जी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। जिस शब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उसे भी उस शब्द पर संग्रह कर ली है। तथा प्रसिद्ध १ तीर्थों की और सजी तीर्थङ्करों की कई पूर्वभावों से लेकर निर्वाणपर्यन्त कथायें दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत (नियम) रखे गये हैं वे इस तरह हैं—

१.—मागधीभाषा का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिसकी टीका है] मोटे (ग्रेट) अक्षरों में रक्खा है।

२.—यदि कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी जी टीका है तो उसे दो लाइन (पङ्क्ति) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका चलाई गयी है। अन्य स्थान में तो मूल मोटे अक्षरों में, और टीका छोटे (पाइका) अक्षरों में दी गई है।

३.—जहाँ कहीं उदाहरण में प्राकृत वाक्य या संस्कृत श्लोक आया है उसके आद्यन्त में ' ' यह चिह्न दिया गया है, किन्तु एक से ज्यादा गाथा या उल्लोक जहाँ कहीं बिना टीका के हैं वहाँ पर भी दो १ लाइन करके उनको रक्खा है। और यदि एकही है तो उसी लाइन में रक्खा है। और जहाँ टीका अनुपयुक्त है वहाँ पर मूलपात्र ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको सम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [,] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम जी दे दिया है। यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ जी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन उद्देशादि जो कुछ मिला है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ मिला है तो पाठ की समाप्ति में अध्ययन उद्देश आदि रखे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रखा है ॥

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा द्विज और अनुवाद के मध्यमें भी (—) यह चिह्न दिया है। इसी तरह तदेव दर्शयति- तथा चाह- या अवतरणिका के अन्त में भी आगे से संबंध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रखा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पङ्क्ति (लाईन) से कुछ बाहर रहता है वैसे न रखकर सामान्य पङ्क्ति के बराबर ही रखा है और उसके आगे जी द्विजप्रदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मूलशब्द की तरह दी है।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'देशी' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है।

८-किसी २ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद लिङ्ग नहीं है किन्तु (धा०) लिखा है उससे धात्वादेश समझना चाहिये।

ए-कहीं कहीं (व० व०) (क० स०) (बहु० स०) (त० स०) (न० त०) (३ त०) (४ त०) (५ त०) (६ त०) (७ त०) (अव्ययी० स०) आदि दिया हुआ है उनको क्रमसे बहुवचन; कर्मधारय समास; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नवतत्पुरुष; तृतीयातत्पुरुष; चतुर्थीतत्पुरुष; पञ्चमीतत्पुरुष; षष्ठीतत्पुरुष; सप्तमीतत्पुरुष; अव्ययीभाव समास समझना चाहिये।
१०- पुं० । स्त्री० । न० । त्रि० । अव्य०-का संकेत क्रम से पुंल्लिङ्ग; स्त्रील्लिङ्ग; नपुंसकल्लिङ्ग; त्रिलिङ्ग और अव्यय समझना।

अध्ययनादि के सङ्केत और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

११—१ अ०—अध्ययन-आवश्यकचूर्णि, आवश्यकवृत्ति, आचाराङ्ग, उपासकदशाङ्ग, उत्तराध्ययन, ज्ञातार्थमकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं।

२ अधि०—अधिकार—अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण, गच्छाचारपपन्ना, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं।

३ अध्या०—अध्याय—अव्यानुयोगतर्कणा में हैं।

४ अष्ट०—अष्टक—हारिभञ्जाष्टक और यशोविजयाष्टक में हैं।

५ उ०—उद्देश—सूत्रकृताङ्ग, जगवती, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं।

६ उद्घा०—उद्घास—सेनप्रश्न में हैं।

७ कर्म०—कर्मग्रन्थ—कर्मग्रन्थ में हैं।

८ कल्प—कल्प—विविधतीर्थिकल्प में हैं।

ए ठा०—ठाणा—स्थानाङ्गसूत्र में हैं।

१० खएरु—खएरु—उत्तराध्ययननिर्युक्ति में हैं।

११ कण—कण—कल्पसुबोधिका में हैं।

१२ काएरु—काएरु—सम्मतितर्क में हैं।

१३ छा०—द्वात्रिंशिका—द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में हैं।

१४ द्वार—द्वार—पञ्चवस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसारोद्धार और प्रश्नव्याकरण में हैं।

(प्रश्नव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध हैं)

१५ पद—पद—प्रज्ञापनासूत्र में हैं।

१६ परि०—परिच्छेद—रत्नाकरावतारिका में हैं।

१७ चू०—चूलिका—दशवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं।

- १८ प्रति०— प्रतिपत्ति— जीवाजिगम सूत्र में हैं ।
 १९ पाद— पाद— प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका हुण्डिका में हैं ।
 २० पाहु०— पाहुडा— चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक में हैं ।
 २१ वर्ग— वर्ग— निरयावज्ञिका, अणुत्तरोवर्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग में हैं ।
 २२ विव०— विवरण— षोडशप्रकरण और पञ्चाशक में हैं ।
 २३ प्रका०— प्रकाश— हीरप्रश्न में हैं ।
 २४ प्र०— प्रश्न— मेनप्रश्न में हैं ।
 २५ श०— शतक— भगवती सूत्र में हैं ।
 २६ श्रु०— श्रुतस्कन्ध— सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं ।
 २७ वक्ष०— वक्षस्कार— जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं ।
 २८ सम०— समवाय— समवायाङ्ग सूत्र में हैं ।
 २९ सू०— सूत्र— पञ्चसूत्र में हैं ।

११—जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम—

- | | |
|--|---|
| १ अङ्ग० — अङ्गचूडिका । | २७ जं० — जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक । |
| २ अणु० — अणुत्तरोवर्ग सूत्र सटीक । | २८ ज्ञा० — ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक । |
| ३ अनु० — अनुयोगद्वार सूत्र सटीक । | २९ जी० — जीवाभिगम सूत्र सटीक । |
| ४ अने० — अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण । | ३० जीत० — जीतकल्पवृत्ति । |
| ५ अन्त० — अन्तगढदशाङ्ग सूत्र । | ३१ जीवा — जीवानुशासन सटीक । |
| ६ अष्ट० — अष्टक यशोविजयकृत सटीक । | ३२ जै०६० — जैनइतिहास । |
| ७ आचा० — आचाराङ्गसूत्र सटीक । | ३३ ज्यो० — ज्योतिष्करण्डक सटीक । |
| ८ आ०चू० — आवश्यकचूर्णि । | ३४ हुं० — हुण्डी (प्राकृतव्याकरण) टीका । |
| ९ आ०म०प्र० — आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड) | ३५ तं० — तन्दुलवयाद्वी पयन्ना टीका । |
| १० आ०म०द्वि० — आवश्यकमलयगिरि (द्वितीयखण्ड) | ३६ तित्थु० — तित्थुगाद्वी पयन्नामूल । |
| ११ आतु० — आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना टीका । | ३७ दशा० — दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति । |
| १२ आ०क० — आवश्यककथा । | ३८ दर्श० — दर्शनशुद्धि सटीक । |
| १३ आव० — आवश्यकवृद्ध्यवृत्ति । | ३९ दश० — दशवैकालिकसूत्र सटीक । |
| १४ उत्त० — उत्तराध्ययन सूत्र सटीक । | ४० द० प० — दशपयन्नामूल । |
| १५ उपा० — उपामकदशाङ्ग सूत्र सटीक । | " १ चउसरण पयन्ना । |
| १६ उच०नि० — उत्तराध्ययननिर्युक्ति । | " २ आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना । |
| १७ एका० — एकाद्वीकोश । | " ३ संथारगइ पयन्ना । |
| १८ ओय० — ओयनिर्युक्ति सटीक । | " ४ चंदविज्ञा पयन्ना । |
| १९ औ० — औपपातिकसूत्र वृत्ति । | " ५ गच्छाचार पयन्ना । |
| २० कर्म० — कर्मग्रन्थ सट क । | " ६ तंहुलवयाद्वी पयन्ना । |
| २१ क०प्र० — कर्मप्रकृति सटीक । | " ७ देविदधव पयन्ना । |
| २२ कल्प० — कल्पमुबोधिका सटीक । | " ८ गणिविज्ञा पयन्ना । |
| २३ को० — पाइयलच्छीनाममाशा कोश । | " ९ महापञ्चकस्त्राण पयन्ना । |
| २४ ग० — गच्छाचारपयन्ना टीका । | " १० मरणविधि पयन्ना । |
| २५ चं०प्र० — चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक । | ४१ डव्या० — द्रव्यानुयोगतर्कणा सटीक । |
| २६ जं० गा० — जैनगायत्रीव्याख्या । | ४२ द्वा० — द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका(वत्तीसवत्तीसी)सटीक |
| | ४३ द्वी० — द्वीपसागरप्रज्ञप्ति । |
| | ४४ दे० ना० — देशीनाममाला सटीक । |

४९ ध० - धर्मसंग्रह सटीक ।
 ४६ ध० र० - धर्मरत्नप्रकरण सटीक ।
 ४७ नयो० - नयोपदेश सटीक ।
 ४८ नं० - नन्दीसूत्र सटीक ।
 ४६ नि० - निर्यावहो मूत्र सटीक ।
 ५० नि० चू० - निशीथसूत्र सचूर्णि ।
 ५१ पं० चू० - पञ्चकल्पचूर्णि ।
 ५२ पं० भा० - पञ्चकल्प भाष्य ।
 ५३ पञ्चा० - पञ्चाशक सटीक ।
 ५४ पं० व० - पञ्चवस्तुक सटीक ।
 ५५ पं० सं० - पञ्चसंग्रह सटीक ।
 ५६ पं० सू० - पञ्चसूत्र सटीक ।
 ५७ प्रव० - प्रवचनसारोद्धारटीका ।
 ५८ प्रव० मू० - प्रवचनसारोद्धार मूत्र ।
 ५९ प्रति० - प्रतिमाशतक सूत्र सटीक ।
 ६० प्रश्न० - प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक ।
 ६१ प्रज्ञा० - प्रज्ञापना सूत्र सटीक ।
 ६२ प्रमा० - प्रमाणनयतत्त्वाज्ञोकाज्ञाङ्कार सूत्र ।
 ६३ पि० - पिएरनिर्युक्तिवृत्ति ।
 ६४ पिएड० मू० - पिएरनिर्युक्ति मूत्र ।
 ६५ पा० - पादिक सूत्र सटीक ।
 ६६ प्रा० - प्राकृतव्याकरण ।
 ६७ भ० - भगवती मूत्र सटीक ।
 ६८ महा० - महानिशीथ सूत्र मूत्र ।
 ६९ मारु० - मारुतप्रकरण सचूर्णि ।
 ७० यो० वि० - योगविन्दु सटीक ।
 ७१ रत्ना० - रत्नाकरावतारिका वृत्ति ।

७२ रा० - राजपूरनीय (रायपसेणी) सटीक ।
 ७३ ल० - लक्षितविस्तरा वृत्ति ।
 ७४ लघु० - लघुप्रवचनसार मूत्र ।
 ७५ ल० द्वे० - लघुचेतनसमास प्रकरण ।
 ७६ व्य० अ० - व्यवहार सूत्र अक्षरार्थ ।
 ७७ वाच० - वाचस्पत्यानिधान (कोश)
 ७८ व्य० - व्यवहारसूत्रवृत्ति ।
 ७९ ती० - विविधतीर्थकल्प ।
 ८० बृ० - बृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य ।
 ८१ विशे० - विशेषावश्यक सजाप्य सवृहद्वृत्ति ।
 ८२ विपा० - विपाक सूत्र सटीक ।
 ८३ श्रा० - श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति सटीक ।
 ८४ षो० - षोडशप्रकरण सटीक ।
 ८५ स० - समवायाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ८६ संथा० - संथारगपयन्ना सटीक ।
 ८७ संस० नि० - संसक्तनिर्युक्ति मूत्र ।
 ८८ संघा० - सङ्घाचार जाप्य ।
 ८९ सत्त० - सत्तरिसयठाणा वृत्ति ।
 ९० सम्म० - सम्मतितर्क सटीक ।
 ९१ स्था० - स्थानाङ्ग मूत्र सटीक ।
 ९२ स्या० - स्यादादमञ्जरी सटीक ।
 ९३ सू० प्र० - सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक ।
 ९४ सूत्र० - सूत्रकृताङ्ग सूत्र सटीक ।
 ९५ सेन० - सेनप्रश्न ।
 ९६ हा० - हारिजद्राष्टक सटीक ।
 ९७ ही० - हीरप्रश्न ।

१३-प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं () ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उन-
 के विषय में थोड़े से नियम—

१-कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रखा है—जैसे ‘अदत्तादाण’ या ‘अणुजाग’ शब्द है और उसका रूपान्तर ‘आदिष्ठादाण’ या ‘अणुजाव’ होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रखा दिया है; अर्थात्—‘अदत्ता (दिष्ठा) दाण, ‘अणुजाग (व)’ ।

२-कहीं कहीं मागधी शब्द के अन्त में (ए) इत्यादि व्यञ्जन वर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह “अन्त्यव्यञ्जनस्य” ॥
 ८ । १ । ११ ॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है ।

३-कहीं कहीं “क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्” ॥ ८ । १ । १७ ॥ इस सूत्र से एक पङ्क्ति में व्यञ्जन के लोप होने पर बचे हुए (अ) (इ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है ।

४-इसी तरह “अवर्णो यश्चुतेः” ॥ ८ । १ । ८० ॥ का भी विषय कोष्ठक में (य) आदि रखा है ।

५-तथा “ख-घ-य-ध-नाम्” ॥ ८ । १ । ८७ ॥ इस प्राकृतसूत्र से ख घ य ध न अक्षरों को प्रायः हकार हुवा करता

है और कहीं २ इकार न होने का जी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये (घ) (भ) आदि अक्षर जी कोष्ठक में दिये हैं । यह नियम स्मरण रखने के योग्य है ।

६-कहीं कहीं प्राकृतव्याकरण के प्रथमपादस्थ १२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-४४ सूत्रों के भी वैकल्पिक रूप, और दूसरे पाद के २-३-५-८-१०-११ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठक में दिया है ।

७-“ फो भहौ ” ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को (ज) या (ह) ढांने पर, दो रूपों में किसी एक को कोष्ठक में दिया गया है । इसी तरह इसी पाद के २४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४ सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये ।

८-“ स्वाये कश्च वा ” ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में (अ) इस तरह रखा है । इसी तरह “ नो णः ” ॥ ८ । १ । २२८ ॥ सूत्र का जी आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय प्रथमजाग में दिये हुए प्राकृतव्याकरण-परिशिष्ट से समझ लेना चाहिये ।

१४-प्राकृत शब्दों में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण जी लिङ्ग आता है-

कहीं कहीं प्राकृत मान कर ही लिङ्ग का व्यत्यय हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४३७ पृष्ठ में ‘पिडितो वराहं’ मूल में है, उसपर टीकाकार लिखते हैं कि ‘पृष्ठदेशे वराहः, प्राकृतत्वाद् नपुंसकलिङ्गता’ । इसीतरह “ प्रावृद्-शरत्-तरणयः पुंमि ” ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होता है; और दामन्-शिरस्-नभस् शब्दों को ठोकर सजी सान्त और नान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं, तथा ‘वाऽङ्गयथेवचनाद्याः’ । १ । ३३ । ‘गुणाद्याः क्लीबे वा’ । १ । ३४ । ‘वेमाञ्जद्वयाद्याः स्त्रियाम्’ । १ । ३५ । सूत्रों के जी विषय हैं । अन्यत्र स्थल में जी लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा से ही प्राकृत में लिङ्गों की व्यवस्था मानी हुई है । जैसे-तृतीय जाग के २०४ पृष्ठ में ‘कडवाइ (ए)-कृतवादिन्’ इत्यादि कों में पुंस्त्व ही होता है । यद्यपि सभा और कुल का विशेषण मानने से स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का ग्रहण नहीं किया है; इसी तरह द्वितीय भाग के २८ पृष्ठ में ‘आनुक्त्वेम-आयुःक्षेम’ इत्यादि कों में यद्यपि ‘कुशलं क्षेममस्त्रियाम्’ इस कोश के प्रामाण्य से नपुंसकत्व और पुंस्त्व भी प्राप्त है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्यादिप्रयोगों में जी लोक-प्रसिद्धि से ही लिङ्ग माना हुआ है, जैसे अर्चुर्चादि गण में पद्म शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व जी है, तदनुमारही-‘जाति पद्मः सरोवरे’ यह किमीने प्रयोग जी किया, किन्तु काव्यानुशासन-साहित्यदर्पण-काव्यप्रकाश-सरस्वतीकण्ठा-चरण-रसगङ्गाधरकारादिकों ने पुंलिङ्ग का आदर नहीं किया है ।

इस ग्रन्थ के हर एक जागों में आये हुए शब्दों में से थोके शब्दों के उपयोगी विषय दिये जाते हैं-

प्रथम जाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘अन्तर’ शब्द पर अन्तर के जेद, द्वाप पर्वतों में परस्पर अन्तर, जम्बूद्वारों में परस्पर अन्तर, जिनेश्वरों में परस्पर अन्तर, कपजस्वाधी से वीर भगवान् का अन्तर, ज्योतिष्कों का और चन्द्रमण्डल का अन्तर, चन्द्र सूर्यों का परस्पर अन्तर, ताराओं का परस्पर अन्तर, सूर्यों का परस्पर अन्तर, धातकीखण्ड के द्वारों का अन्तर, विमानकद्वों का अन्तर, आहार के आश्रय से जीवों का अन्तर, और सयोगि भवस्थ केवल्यनाहारक का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

२-‘अचित्त’ शब्द पर अचित्त पदार्थ का, तथा ‘अच्छे’ शब्द पर दश १० आश्रयों का निरूपण देखना चाहिये ।

३-‘अजीव’ शब्द पर अव्य-क्षेत्र-काष्ठ-जाव से अजीव की व्याख्या की हुई है ।

४-‘अज्जा’ शब्द पर आर्या (साध्वी) को गृहस्थ के सामने दुष्टभाषण करने का निषेध, और विचित्र (नाना रंग वाले) वस्त्र पहि-रने का निषेध, तथा गृहस्थ के कपड़े मीने का निषेध, और सविज्ञास गमन करने का निषेध, पर्यङ्क गादी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थों के घर जाकर व्यावहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनके स्वागत करने का, तथा पुनरागमन कदने का निषेध, और उनके उचिताचारादि विषय वर्णित हैं ।

५-‘अणायार’ शब्द पर साधुओं के अनाचार; ‘अणारिय’ शब्द पर अनायों का निरूपण; ‘अणुआग’ शब्द पर अनुयोग शब्द का अर्थ, अनुयोगविधि, अनुयोग का अधिकारी, तथा अनुयोगों की पार्थक्य आर्यरक्षित से हुई है, इत्यादि; और ‘अणुववय’ शब्द पर जह्मियों के विजाग देखने के लायक हैं ।

६- 'अनेकान्तवाय' शब्द पर स्याद्वाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनेकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनेकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप से दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पत्ति अथवा नाश मानने में दोष, हर एक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु की एकान्तसत्ता माननेवाले सांख्यमत का खण्डन इत्यादि विषय उत्तमोत्तम दिखाये गये हैं ।

७ 'अन्नउत्थिय' शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्ययथिकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि क्रिया के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कन्याणकारी शील है या श्रुत है ? इसपर अन्ययथिकों के साथ विवाद, और अन्ययथिकों के साथ गोचरी का निषेध, तथा अन्ययथिकों का भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारजूमि या विहारजूमि में जाने का निषेध आदि विषय आवश्यकीय हैं ।

८ 'अदत्तादाण' शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं ।

९ 'अहङ्गकुमार' शब्द पर आर्चककुमार की कथा, रागद्वेषराहित के भाषण करने में दोषाज्ञाव, बीजादि के उपजोक्ता भ्रमण (साधु) नहीं कहे जाते, समवसरणादि के उपभोग करने पर भी अर्हन् जगवान् के कर्मबन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल ज्ञावशुचि ही को माननेवाले बौद्धों का खण्डन, बिना हिंसा किये हुए जी मांस खाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये गये हैं ।

१० 'आधिगण' शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आज्ञा, कलह उत्पत्ति के कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, गृहस्थ के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको बिना शान्त किये पिशादि ग्रहण करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं ।

११ 'अल्पबहुय' शब्द पर अल्पबहुत्व के चार जेद, पृथ्वीकायादिकों के जयन्यायवगाहना से अल्पबहुत्व, आहारक और अनाहारक जीवों का अल्पबहुत्व, सेन्द्रियों का परस्पर अल्पबहुत्व, क्रोधादि कषायों का अल्पबहुत्व, किस क्षेत्र में जीव थोड़े हैं और किसमें बहुत है इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अल्पबहुत्व, तथा ज्ञानियों का अल्पबहुत्व आदि अनेक विषय हैं ।

१२ 'अमावासा' शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने मुहूर्तों के जानेपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और 'अयण' शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, चन्द्रायण के परिज्ञान में करण आदि विषय रमणीय हैं ।

१३ 'अहिंसा' शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिली है और जिन्होंने इसको ग्रहण की है उनका वर्णन, अहिंसा पात्रन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, प्राणीमात्र की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण, जैनों के समान अन्य मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्य मत में अहिंसा को मोक्ष की कारणता मुख्य न (गौण) होना, एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर जी हिंसा में अवरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से जिन्नाभिन्नत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं ।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली—

'अभुंतय' 'अज्ज' 'अंगारमहग' 'अंजू' 'अंरु' 'अंबरु' 'अकूर' [कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र की] 'अकखयपूया' 'अकखुह' 'अगरुदत्त' 'अगहिङ्गगराय' 'अचंकारियभट्टा' 'अचल' 'अजिभदेव' 'अज्जगंग' 'अज्जचंदणा' 'अज्जमंगु' 'अज्जमणग' 'अज्जरक्ख' 'अज्जरक्खिय' 'अज्जव' (अहङ्गपिकया) 'अज्जवड्ढ' 'अज्जुमणग' 'अट्टण' 'अट्टावय' 'अट्टिअगाम' 'अमवि' 'अणिसिअवहाण' 'अणीयस' 'अणुवेअंधर' 'अणुवन्नम्वेस' 'अणायया' 'अणियाउत्त' 'अचदोसोवमंहार' 'अत्यकुसल' 'अहङ्गकुमार' 'अप्पमाय' 'अब्बुय' 'अज्जगसेण' 'अज्जयकुमार' 'अभयदेव' 'अमरदत्त' 'अर' 'अरहस्य' 'अरिहनेमि' 'अलोभया' 'अवंतिमुकुमास' 'असद' 'अस्सावतोहित्ति' 'अहिच्छता' 'अहिण्दण' आदि शब्दों पर कथायें लख्य हैं ।

द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘आउ’ शब्द पर आयु के जेद, आयु प्राणीमात्र को अतिप्रिय है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और उनके उदाहरणादि देखने चाहिये ।

२-‘आउकाय’ शब्द पर अप्कायिकों के जेद, अप्कायिक के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त-अचित्त-मिश्र भेदों का निरूपण, लृण जल की अचित्तसिद्धि, अप्काय शस्त्र का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के स्पर्श का निषेध, और शीतोदक के सेवन का निषेध आदि विषय हैं ।

३-‘आउटि’ शब्द में चन्द्र और सूर्य को आवृत्तियाँ किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

४-‘आगम’ शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के जेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, आगमों के रचे हुए ही आगम का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभी प्रमाणी-जुत है इसका निरूपण, मूलागम से अतिरिक्त के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगम-प्रमाण का विषय होता है वह अन्य प्रमाण का भी विषय हो सकता है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आगम ही प्रमाण है, जिनागम का सत्यत्वप्रतिपादन, सब व्यवहारों में आगम के ही नियामक होने का विचार, बौद्धों के अपोहवाद का संक्षिप्त निरूपण इत्यादि पचास विषय बड़े रमणीय हैं ।

५-‘आज्ञा’ शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने का निरूपण, परलोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की विराधना करने में दोष, तथा आज्ञाभङ्ग होने पर प्रायश्चित्त, आज्ञारहित पुरुष का चारित्र ठीक नहीं रह सकता, और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुतही अच्छा विचार है ।

६-‘आणुपुत्र’ शब्द पर बहुत ही गम्भीर १२ विषय विद्वानों के देखने योग्य हैं ।

७-‘आत्मा’ शब्द पर आत्मा के तीन जेद, आत्मा का लक्षण, आत्मा के कर्तृत्व पर विचार, आत्मा का विज्ञुत्वखण्डन, आत्मा का परिणाम, आत्मा के एकत्व मानने पर विचार, आत्मा का क्रियावत्त्व, और आत्मा के क्षणिकत्व मानने पर विचार इत्यादि विषय हैं ।

८-‘आधाकम्म’ शब्द पर आधाकर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, तीर्थंकर के आधाकर्म-जोजित्व पर विचार, जोजनादिक में आधाकर्म के संभव होने का विचार, आधाकर्म-भोजियों का दारुण परिणाम, और आधाकर्म-भोजियों का कर्मबन्ध होना, इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९-‘आजिणिबोहियणाण’ शब्द पर १३ विषय विचारणीय हैं; और ‘आयंविद्वपच्चखाण’ शब्द पर आचामाम्ब-प्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण है ।

१०-‘आचारिय’ शब्द पर आचार्यपद का विवेक, आचार्य के भेद; आचार्य का ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वरूप, प्रवाजनाचार्य, और उपस्थापनाचार्य का स्वरूप, आचार्य का विनय करना; आचार्य के दक्षिण, जिनके अभाव में आचार्य नहीं हो सकता वे गुण, आचार्य के द्रष्टाचारत्व होने में दुर्गुण, दूसरे का आहित करना जो दुर्गुण है इसका कथन, प्रमादी आचार्य के शिष्य शिष्य को शिक्षा करने का अधिकार; गुरु के विनय में वैद्यदृष्टान्त, आचार्य के शिष्य नमस्कार करने का निरूपण, गुरु की वैयावृत्य, जिस कर्म से गच्छ का अधिपति होता है उसका निरूपण, आचार्य के अतिशय, निर्ग्रन्थियों के आचार्य, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे आचार्य के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा, आचार्य पद पर गुरु के स्थापन करने में विधि, विना परिवार के आचार्य होने का खण्डन, स्थापन करने में वृद्ध साधुओं की सम्मति लेने की आवश्यकता, इत्यादि उत्तमोत्तम विषय हैं ।

११-‘आलोचना’ शब्द पर आलोचना की व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप, मूलगुण और उत्तरगुण से आलोचना के भेद, विद्वारादि भेद से आलोचना के तीन भेद, और उसके भी जेद, शल्य के उच्चारार्थ आलोचना करने में विधि, आलोचनीय विषयों में यथाक्रम आलोचना के प्रकार, आलोचना में शिष्याचार्य की परीक्षा पर आवश्यकद्वार, आलोचना लेने के स्थान, गोचरी में आये हुए की आलोचना, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जेद से आलोचना के चार प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किसके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आमन्त्रण जीवके जी आलोचना लेने में ब्राह्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याध का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आवश्यक हैं ।

१२-‘आसायणा’ शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देखने के योग्य है ।

१३-‘आहार’ शब्द पर ‘सयोगी केवली, अनाहारक होते हैं’ इस दिग्गम्बर के मत का खण्डन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं इस पर विचार, पृथिवीकायिकादिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षोपगम्य वृक्षों का, मनुष्यों का, तिर्यग्जलचरों का, स्थलचर सर्पादिकों का, खेचरों का, विकलेन्द्रियों का, पञ्चेन्द्रियों के मृत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तेजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और सचित्ताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहारी युगलियों का अनाहारी होना इत्यादि विषय हैं ।

१४-‘इन्द्रिय’ शब्द पर इन्द्रियों के पाँच जेद होने पर जी नामादि भेद से चार जेद, तथा छव्यादि भेद से दो जेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारित्व, अवशिष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व, और इन्द्रियों के गुप्तागुप्त दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१५-‘इत्थी’ शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इसी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भोगियों का विम्वना, विश्वास देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निन्दा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणी का सर्वस्व हरण करने वाला और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियाँ हैं, उनके स्नेह में फसे हुए पुरुष को दुःखप्राप्ति, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उसके त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रसवण, परिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का जी निषेध इत्यादि बहुत अच्छे २० विषय द्रष्टव्य हैं ।

१६-‘इस्तर’ शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खण्डन, तथा ईश्वर के एकत्व और विजुत्व का खण्डन, अन्य तीर्थियों के माने हुए ईश्वर का खण्डन आदि विषय विचारने के योग्य हैं ।

१७-‘उर्इरणा’ शब्द भी द्रष्टव्य है, और ‘उववाय’ शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैसे-देवता देवलोको में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविराधित आमण्य होने पर देवलोको में उपपात होता है, और नैरायिक कैसे उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है ।

१८-‘उवसंपया’ शब्द पर आचार्यादि के काष्ठ कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हानि और वृद्धि की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है ।

१९-‘उवसर्ग’ शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपसर्ग के जेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का रूक्षत्व आदि विषय हैं ।

२०-‘उवहि’ शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कटिपक और गच्छवासियों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्यूनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या को ग्रहण करती हुई निर्ग्रन्थी के उपधि, रात्रि में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गये हुए साधु के उपकरण गिरजाने पर विधि, स्थविरों के ग्रहण योग्य उपधि, साध्वियों को जो उपधि देता हो उसे उनके आने के मार्ग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं ।

२१-‘उसज्ज’ शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व जन्म का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्ममहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी वृद्धि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्यनिषेक, राज्यसंग्रह, लोकस्थिति के लिये शिष्टपादि का शिक्षण, वास, वदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषजस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके चीवरधारी होने का कालप्रमाण, जिज्ञाकाल का प्रमाण, अश्वभस्वामी के आठ भवों का भेयांसकुमार के द्वारा कथन, ऋषजनाथ का श्रापण्य के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रापण्यावस्थावर्णन, केवलोत्प-
न्ननन्तर धर्मकथन, अश्वजस्वामी के वन्दनार्थ मरुदेवी के साथ जरत का गमन, और जरत का दिग्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ति का प्रकार, अश्वजस्वामी की सङ्घमङ्गल्य, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने कालानन्तर जन्मों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुआ, और कब तक रहा, ऋषजस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नक्षत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारावस्था में तथा राज्य करने के समय में और गृहस्थावस्था में जितना काल है उसका मान, अश्वभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं ।

इस से अतिरिक्त भी विषय इस भाग में स्थित हैं जिनका विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता ।

द्वितीय जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

‘आउ’ ‘आणंद,’ ‘आधाकम्म,’ ‘आपई,’ ‘आभीरवंचग,’ ‘आयरिय,’ ‘आराहणा,’ ‘आरुगदिय,’ ‘आलंबण,’ ‘आलोय-
णा,’ ‘आसाढज्ज,’ ‘इंददत्त,’ ‘इंदज्ज,’ ‘इच्छकार,’ ‘इत्थिपरिसह,’ ‘इत्थी,’ ‘इत्तापुत्त,’ ‘इसिभइपुत्त,’ ‘इसिभासिग,’
‘इस्सर,’ ‘उत्तंबरदत्त,’ ‘उत्तम,’ ‘उत्तपायमाण,’ ‘उत्तयंत,’ ‘उज्जुमातिववहार,’ ‘उज्जुववहार,’ ‘उज्जिभयय,’ ‘उहहपरी-
मह,’ ‘उदयण,’ ‘उदयप्पजसूरि,’ ‘उहंसिय,’ ‘उप्पत्तिय,’ ‘उप्पत्तिया,’ ‘उरञ्ज,’ ‘उववूह,’ ‘उवसंपया,’ ‘उवहि,’ ‘उवालं-
ज,’ ‘उस्सारकप्प’ इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं ।

तृतीय जाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘एगद्धविहार’ शब्द पर एकाकी विहार करने में साधू को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकीविहारियों के जेद, अशिवादि कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को ठोकर कर एकाकी विहार करने पर प्रायश्चित्तादि वर्णित हैं ।

२-‘एगावाइ’ शब्द पर आत्मा का एकत्व मानने वालों का खण्डन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद (पुरुषाद्वैत) का खण्डन विस्तार से हैं ।

३-‘एसणा’ शब्द पर १४ विषय दिये हैं वे जी साधू और गृहस्थों के देखने योग्य हैं, जैसे—साधू को किस प्रकार भिक्षा लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि ।

४-‘ओगाहणा’ शब्द पर अवगाहना के भेद, औदारिक शरीर की अवगाहना (क्षेत्र) का मान, द्वित्रिचतुरिन्ध्र-
यों की औदारिकावगाहना, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियों की औदारिकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्द्रियों की औदारिकशरीरावगाहना,
वैक्रिय शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की वैक्रियशरीरावगाहना, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चों की
वैक्रियशरीरावगाहना, असुरकुमारों की वैक्रियशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान,
तैजस शरीर की अवगाहना का मान, निगोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकायके अवगाहानवगाह की चिन्ता,
एक जगह एकही धर्मास्तिकायादि प्रवेशावगाह है इत्यादि विवेचन है ।

५-‘ओमपिणी’ शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवसर्पिणी कितने काष्ठ को कहते हैं, अवसर्पिणी
काष्ठ में संपूर्ण शुभ भाव क्रम से अनन्त गुण से कीर्ण होते हैं, और उसी तरह अशुभ जात्र बढ़ते हैं, सुषमसुषमा से लेकर
दुःषमदुःषमा पर्यन्त अवसर्पिणी के उ जेद, सुषमादिकों का प्रमाण, भेरुतालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप,
उम काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी जवस्थिति, प्रथम से लेकर षष्ठ आरा तक का
स्वरूपनिरूपण, जगत की व्यवस्था का वर्णन, भरतजूमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन जेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं ।

६-‘ओटि’ शब्द पर अवधि शब्द की व्युत्पत्ति और दक्षिण, अवधि के जेद, अवधि के नामादि सात जेद, अवधि-
क्षेत्र मान, अवधिविषयक डव्य का मान, क्षेत्र और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं ।

७-‘कज्जकारणभाव’ शब्द पर कार्पिह्लादि मतों का खण्डन आदि विषय विचारणीय हैं ।

८-‘कम्म’ शब्द पर कर्म के तीन जेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में जेद, नैयायिक और वैयकर-
णों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की सिद्धि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का खण्डन, कर्म के मूर्तत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्मही कारण है ईश्वरादि नहीं हैं इसका निरूपण, स्वजाववादी के मत का खण्डन, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के जिन्नलक्षण, कर्म के चार जेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि ३७ विषय विचारणीय हैं।

ए—‘कसाय’ शब्द पर कषायों का निरूपण है।

१०—‘काउत्सर्ग’ शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्छ्वास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय बने गंजीर हैं।

११—‘काम’ शब्द पर काम की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का खण्डन; तथा ‘कायद्विः’ शब्द पर जीवों की कायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय से स्थितिचिन्ता, तिर्यक् तथा तिर्यक्स्त्रियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्त्रियों की कायस्थिति, देव तथा देवियों की कायस्थिति, पर्याप्तपर्याप्त के विशेष से नैरयिकों की कायस्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कायस्थिति, कायद्वार से जीवों की कायस्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कषायद्वार, लेश्याद्वार, सम्यग्दृष्टिद्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आहारद्वार, जाषकाजाषकद्वार, संज्ञिद्वार, जवस्थितिकद्वार के जेद से जीवों की कायस्थिति, और उदकगर्जादिकों की कायस्थिति इत्यादि २० विषय हैं।

१२—‘काल’ शब्द पर काळशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का लक्षण, काळ के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उसका खण्डन, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होता है इसका निरूपण, काळ के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन जेद तीर्थकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रुक्ष जेद से काळ के दो जेद, स्निग्ध और रुक्ष के तीन तीन जेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं।

१३—‘कृत्तिकर्म’ शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साध्वियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनाने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, ज्वय-क्षेत्र-काल-जाव से जेद, आचरणा का लक्षण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मङ्गल अवश्य करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, मुसाधु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और कितनी बार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि २१ विषयों का विवेचन है।

१४—‘किरिया’ शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के जेद, स्पृष्टास्पृष्टत्व से प्राणातिपातक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, मृषावादादि का आश्रयण करके क्रियाकरने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से एकत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाँधता हुआ जीव कितनी क्रियाओं से समाप्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्य कर्म और उसकी वेदना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, श्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगर की क्रिया का निरूपण इत्यादि १८ विषय आये हुए हैं।

१५—‘कुशील’ शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके जेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर कुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं।

१६—‘केवलज्ञान’ शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि, इसका साधपर्यवासित्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, स्त्रीकथा जक्तकथा देशकथा और राजकथा करनेवाले के लिये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१७—‘केवलपञ्चत’ शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के जेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति आदि विषय निरूपित हैं।

१८—‘स्वओवसामिय’ शब्द पर कयोपशमिक के जेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह जेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१९—‘खरखर’ शब्द पर खरखर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा ‘खलिखवाइ’ शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और खरखर आदि देखने के लायक हैं ।

२०—‘वेत्त’ शब्द पर ज्ञेय का निरूपण, ज्ञेय के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं ।

२१—‘गइ’ शब्द पर स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति से गति के दो जेद, प्रकारान्तर से जी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तिर्यग् मनुष्य देव के जेद में गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ जेद, नारकादिकों की शीघ्रगति आदि विषय दिये हुए हैं ।

२२—‘गच्छ’ शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में बसने में विशेष निर्जेरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्थिकाओं के साथ संवाद का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में बसना चाहिये, वसति का रक्षण, अचृष्टजापण, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं बसना, गच्छ और जिनकदप दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं ।

२३—‘गणह (ध) र’ शब्द पर गणधर का स्वरूप, किस तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिन-गुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है ।

२४—‘गव्ज’ शब्द पर गर्ज में अहोरात्रियों का प्रमाण, मुहूर्तों का प्रमाण, गर्ज में निःश्वासोच्छ्वास का प्रमाण, गर्ज का स्वरूप, ध्वस्तयोगि के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्वार्य हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक हेला से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुक्षि में पुरुषादि कहाँ बसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है?, गर्जस्थ जीव के उच्चार और प्रसवण का विचार, गर्भ-से जी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता?, और गर्जगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्जपतन का कारण, गर्भपोषण में विधि इत्यादि विषय हैं ।

२५—‘गिलाण’ शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सचित्ताचित्त से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्तन, वैद्यानुवर्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं ।

२६—‘गुण’ शब्द पर मृद्वगुण, उत्तरगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगार गुण, महाद्वि प्राप्त्यादि, सौजाग्यादि, मृदुत्वौदार्यादि, ज्ञान्त्यादि, वैशेषिकसंमत गुण, अव्यगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के जेद, गुणपर्याय का ऐक्य, और जैनसंमत गुण इत्यादि छष्टव्य विषय हैं ।

२७—‘गुणट्ठाण’ शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं ।

२८—‘गोयरचरिया’ शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्ग्रन्थियों की जिज्ञा में विधि, जिज्ञाटन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय धार्याधार्य और कार्याकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिरने पर विधि, गृह प्रवेश, गृह के अवयवों को पकड़ करके नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगार (स्त्री) के साथ खड़े होने का निषेध, ब्राह्मणादि को प्रविष्ट देख कर के जिज्ञा के लिये प्रवेश नहीं करना, तीर्थकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन वाले जिज्ञा के लिये भ्रमण नहीं करते, आचार्य भिक्षा के लिये नहीं जाता, ग्राह्यवस्तु, गोचरातिचार में प्रायश्चित्त, साध्वियों की जिज्ञा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं ।

२९—‘चक्रवट्ठी’ शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्त्ती के पुर का प्रतिपादन, चक्रवर्त्ती का ब्रह्म, मुक्ताहार, वर्णादि, स्त्रियां, स्त्रियों के सन्तान आदि का निरूपण, उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्त्ती होते हैं, कौन और कैसे चक्रवर्त्ती होता है इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं ।

३०—‘चारित्र’ शब्द पर कुम्भ के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकादि रूप से चारित्र के पाँच जेद, किस तरह चारित्र की प्राप्ति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन कषाओं के उदय से चारित्र का लाभ ही नहीं होता और किन से हानि होती है इसका निरूपण, वीतराग का चारित्र न बढ़ता है और न घटता है, चारित्र की विराधना नहीं करना, आहारशुद्धि ही प्रायः चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं ।

४०-‘ ठिङ् ’ शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविज्ञान से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, जवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सुवर्णकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, आञ्जकायिकों की, वादर आञ्जकायिकों की, तेजकायिकों की, सूक्ष्म तेजकायिकों की, वादर तेजकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-वादर वायुकायिकों की, वनस्पतिकायिक-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक-वादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्द्धिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्, जलचरपञ्चेन्द्रिय, संमूर्द्धिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, संमूर्द्धिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भाप्रकान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, जुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्द्धिम जुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, गर्जाप्रकान्तिकचतुष्पद, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्द्धिम०, गर्भाप्रकान्तिक०, मनुष्यों की, स्त्रियों की, नपुंसकों की, निर्यन्तों की, वाणव्यन्तरों की, वाणव्यन्तरियों की, ज्योतिष्कों की, ज्योतिष्कियों की स्थिति; चन्द्रविमान में, सूर्य विमान में, ग्रहविमान में, नक्षत्रविमान में, ताराविमान में स्थिति, वैमानिकों की स्थिति, सौधर्म कल्प में, ईशान कल्प में, सनत्कुमार कल्प में, माहेन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्र-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में, प्राणत कल्प में, आरण-अच्युत कल्प में स्थिति; अधोऽधोग्रैवेयकों की, अधोमध्यमग्रैवेयकों की, अधोऽपरिग्रैवेयकों की, मध्यमाधोग्रैवेयकों की, मध्यममध्यमग्रैवेयकों की, मध्यमउपरिमग्रैवेयकों की, उपरिमाधोग्रैवेयकों की, उपरिममध्यमग्रैवेयकों की, उपरिमउपरिम

ग्रैवेयकों की स्थिति: विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धों में देवों की स्थिति, वेदनीय कर्मों की स्थिति, पुंनपुंसकों की स्थिति, अक्रामकापक्रेशव स्वर्गों की, व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति: बाल मरण से मरे हुये व्यन्तरों की, विश्ववायों की, अल्पारम्भप्रवृत्त व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं ।

४१—‘एकवत्त’ शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य (गमन प्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि नक्षत्र: किम, मृत्यु और ज्ञानवृद्धि कर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने जाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते हैं, प्रमदयोगी नक्षत्र, कौन नक्षत्र कितने तारावाला है, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गोत्र, जोजन, द्वार, नक्षत्रविजय, मायंकाल और प्रातःकाल में नक्षत्रचन्द्रयोग, अमावास्याओं में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तों में नक्षत्रचन्द्रयोग, और संस्थान (रचना आदि विषय हैं ।

४२—‘णम्माकार’ शब्द पर नमस्कार के जेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित हाने पर भी नमस्कार का फल होना, निष्क गुण अर्पण ही होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य हैं ।

४३—‘नय’ शब्द पर नय का लक्षण, अपेक्षानय, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मात्मकत्व, एक जगह अनेकाकार नयप्रमाणवृद्धि, नयज्ञान प्रमात्मक है या त्रमात्मक है इसपर विचार, अव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, और उन दोनों का मत, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के मध्य में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके मत का संग्रह, ‘मिच्छसेन दिवाकर’ के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, एवंजुत नय, ७०० नय, निक्षेपनययोजना, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत, निश्चय और व्यवहार में सजी नयों का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धाशुद्धत्व, नैगम और संग्रह का व्यवहार में अन्तर्भाव, कणाद और सांगत (बौद्ध) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय, अर्थनय, नयों में सम्यक्त्व, नयफल, ज्ञानक्रियानय, नयपार्थक्य आदि विषय दिये हुये हैं ।

४४—‘एरग’ शब्द पर नरकदुःखवर्णन, नरकवेदना, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं ।

४५—‘णाण’ शब्द पर पाँच ज्ञान, मति श्रुत भेद से ज्ञान के जेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का स्वप्रकाशकत्व, तत्त्वज्ञान इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं, और ‘णिगंथ’ शब्द पर निर्ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहिये ।

४६—‘तपस’ शब्द पर तप क्या वस्तु है, अनशन व्रत तप कैसे है, बाह्य और आच्यन्तर तप का निरूपण, तप वैसा करना चाहिये जिसमें शरीर की ग्लानि न हो, तप का फल, तप के चार जेद इत्यादि विषय हैं ।

४७—‘तिन्ध्यर’ शब्द पर तीर्थकर शब्द की व्युत्पत्ति और यह किमका प्रतिपादक है इस का निरूपण, तीर्थकरों के अतिशय, तीर्थकरों के अन्तर, और तीर्थकरों में अष्टादश दोष का अभाव, तीर्थकरों के अजिग्रह और उनकी आदेशमङ्गल्या, आवश्यक, और उनके आहार, जन्मावसर में इन्द्रकृत्य, मभानिवेशन, शक्रक्रिया, देवलोक से उतरने के मार्ग, मेरुगमन, उपकरणसंख्या, उपसर्ग, देहमान (उँचाई आदि) चतुर्विंशति जिनों के अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या, कल्पशोधि, कुमारवास, केवल (ज्ञान) नक्षत्र, केवलनगरी, केवलतप, केवलमासनिधि, केवलराशि, केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला, केवलिकाक्ष, केवलसिंख्या, गणसंख्या, गणधरसंख्या, गर्भस्थिति, गृहिकाक्ष, गृहस्थावस्था के तीन ज्ञान, गोत्र, चतुर्दशपूर्वी, चक्रित्वकाल, चरित्र, च्युतिनक्षत्र, च्युतिमाम, च्युतिराशि, च्युतिवेला, उन्नत्यस्त्व, उन्नस्थावस्था में वीरतपमान, यज्ञ, यज्ञिणी, जन्मनक्षत्र, जन्मनगरी, जन्मदेश, जन्ममास, जन्मराशि, जन्मवेला, जन्मारक, जन्मारकशेषकाल, तत्त्वसंख्या, तीर्थप्रवृत्तिकाल, तीर्थोच्छेदकाक्ष, तीर्थकरनाम, चक्रवर्ति, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, तीर्थोत्पत्ति, दीक्षाकाक्ष, दर्शन, दीक्षानक्षत्र, दीक्षापर्याय, दीक्षातरु, दीक्षातप, दीक्षापरिवार, दीक्षापुर, दीक्षाज्ञान, दीक्षामास, दीक्षाराशि, दीक्षात्रोचमुष्टि, दीक्षावन, दीक्षावय, दीक्षाशिविका, दिक्कुमारीकृत्य, अष्टकुमारियों के नाम, और इनके आमनों का चयन, गमनावसर में क्या करनी है, तीर्थकरमाताओं को नमस्कार, इनका कर्तव्य, दक्षिणरुचकवासियों का कृत्य, पश्चिमरुचकवासियों का कृत्य, उदीची में रुचकवासियों का कृत्य इत्यादि, देवदृष्यवस्त्र, देवदृष्यवस्त्रस्थिति, धर्मप्रभेद, धर्मोपदेशक, नाम तीर्थकरों के, पञ्चकव्याणक, पर्यायान्तकृन्तुमि, प्रतिक्रमणसंख्या, प्रथमगणधरनाम, प्रथमप्रवृत्तिनी, प्रथमश्रावक, प्रथमश्राविका, प्रत्येकबुद्धसंख्या, प्रमाद, पर्णपत्र, पारणाकाल, पारणाष्टव्य, पारणादायक, पारणादायकगति, पारणादायकदिव्यपञ्च, पारणादायकवृक्षाराष्ट्रि, पारणापुर, प्रियगति, प्रियनाम, पूर्वप्रवृत्तिकाल, पूर्वप्रवृत्तिच्छेद, जिनों के पूर्व जव, (ऋषजदेव के पूर्वजव ‘ ऋषज ’ शब्द पर हैं) चन्द्रप्रज्ञ के सात भव, शान्तिनाथ के द्वादश पूर्वभव, मुनिमुव्रत के नवजव,

नेमिनाथ के नवभव, पार्श्वनाथ के पूर्वजव, वीर के अट्टाईसभव, शेष जिनों के जव, पूर्वजवगुरु, पूर्वजवायु, पूर्वभवक्षेत्र, पूर्वभवदीक्षा, पूर्वजवजिनहेतु, पूर्वजवद्वीप, पूर्वजवनाम, पूर्वभवपुरी, पूर्वजवराज्य, पूर्वजवविजय, पूर्वभवसर्ग, पूर्वजवसूत्र, मुख्यआसन, मुख्यस्थान, मुख्यतप, मुख्यनक्षत्र, मुख्यपरिवार, मुख्यपण, मुख्यमास, मुख्यराशि, मुख्यविनय, मुख्यबेला, मुख्यारक, मुख्यारकशेषकाल, मुख्यवागवाहना, मुनिस्वरूप, मुनिसंख्या, राज्य, रुचनाम, द्वाञ्छन, शरीरलक्षण, जिनवंश, वस्त्रवर्ण, जिनों के वर्ण, विवाह, विहार, संयम, सांवत्सरिक दान, समवसरण, सर्वायु, सामान्यमुनि, सामायिक, सामायिकसंख्या, श्रावकसंख्या, स्वप्न, स्वप्नविचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

४८—‘ तेउकाइय ’ शब्द पर तेज की जीवत्वसिद्धि, अग्नि की जीवत्वसिद्धि, तद्विषयसमारंभ कटुकफलपरिहासोपन्यास, अग्निसमारम्भ में नानाविधप्राणियों की हिंसा, तेजस्कायपिएरुप्रतिपादन, तेजस्कायहिंसानिषेध इत्यादि विषय हैं ।

४९—‘ धम्मिन्न ’ शब्द पर स्थणिरुल का विवेचन देखना चाहिये । ‘ दंसण ’ शब्द पर दर्शन की व्युत्पत्ति, सम्यक् और मिथ्या भेद से दर्शन के दो जेद, क्षायिकादि जेद से तीन भेद, तथा दर्शन का पञ्चविधत्व और सप्तविधत्व, कारक रोचक दीपक भेद से तीन भेद, नवविधदर्शन इत्यादि विषय हैं ।

५०—‘ दव्व ’ शब्द पर द्रव्य का निरुक्त, द्रव्य का द्रक्षण, पञ्चद्रव्यनिगमन, जीवाजीवद्रव्य असंख्य अनन्त, द्रव्य के दो भेद, वैशेषिकरीति से नव द्रव्य, और उनमें दोष इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

५१—‘ दाण ’ शब्द पर दान का विशेष विचार देखना चाहिये ।

५२—‘ देव ’ शब्द पर देवताओं के दो जेद, तीन जेद, चार जेद, पाँच भेद इत्यादि विषय हैं ।

५३—‘ धम्म ’ शब्द पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, धर्म के दो भेद, धर्म का लक्षण, धर्म के भेद और प्रभेद, धर्म के चिह्न, औदार्यलक्षण, दाक्षिण्यलक्षण, निर्मलबोधलक्षण, मैत्र्यादिकों के द्रक्षण, धर्म के अधिकारी, धर्म के योग्य, अवश्यही धर्म की रक्षाकरना चाहिये इसका निरूपण, अर्थ और काम का धर्म ही मूल है, धर्मोपदेश का विस्तार, धर्म का माहात्म्य, धर्म का मोक्षकारणत्वप्रतिपादन, धर्म का फल, और वह किमको दुर्लभ है और किसको सुलभ है इसका निरूपण, केवलजिज्ञासित धर्म का श्रवण दुर्लभ है, धर्म की परीक्षा, धर्माधर्म का विचार सूक्ष्म बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि विषय हैं ।

५४—‘ पच्चखाण ’ शब्द पर अहिंसाप्रत्याख्यान, प्रतिषेधप्रत्याख्यान, भावप्रत्याख्यान, मूलगुणप्रत्याख्यान, सम्यक्त्वप्रतिक्रमण, सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान अनागतादि दशविध प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानविधि, दानविधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यान का पञ्चविधत्व, ज्ञानशुद्धि, अनुज्ञापणाशुद्धि, अनुपालनाशुद्धि, आकार, प्रत्याख्यान में सामायिक, प्रत्याख्याताकृत प्रत्याख्यान दान का निषेध, निर्विषयक प्रत्याख्यान नहीं होता, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि कई विषय हैं ।

५५—‘ पाच्छित्त ’ शब्द पर प्रायश्चित्त का अर्थ, भाव से प्रायश्चित्त किसको होता है, आहोचनादि दशविध प्रतिसेवना प्रायश्चित्त, तपोऽहं प्रायश्चित्त में मासिक प्रायश्चित्त, संयोजनाप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने के योग्य पर्वत (सभा), दण्डानुरूप प्रायश्चित्त, छैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पाञ्चमासिक, और बहुमासिक प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तदानविधि, आहोचना को सुनकर प्रायश्चित्त देना, प्रायश्चित्त का काज्ञ, प्रायश्चित्त का उपदेश इत्यादि विषय हैं ।

५६—‘ पज्जुसणाकप्प ’ शब्द पर पर्युषणा कब करना, पर्युषणास्थापना, भाष्यपदपञ्चमीविचार, क्षेत्रस्थापना, जिह्वाक्षेत्र, संस्कार, एकनिर्ग्रन्थी के साथ नहीं उठरना, अगारी के साथ नहीं उठरना, इच्छा से अधिक नहीं खाना, शय्यासंस्तार, उच्चारप्रसवणजूमि, पर्युषणा में केशलोच, उपाश्रय, दिगवकाश इत्यादि देखने के योग्य हैं ।

५७—‘ पम्भिकमण ’ शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, प्रतिक्रामक, नामस्थापनाप्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य के पाँच भेद, ईर्याप्रतिक्रमण, दैवसिकप्रतिक्रमणवेला, रात्रिकप्रतिक्रमण, पाक्षिकादिकों में प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी ही में होता है, मङ्गल, त्रैकालिक प्राणातिपातविरति, श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं ।

५८—‘ पम्भिमा ’ और ‘ पम्भिलहणा ’ शब्द देखने चाहिये । ‘ पडिसेवणा ’ शब्द पर प्रतिसेवना शब्द का अर्थ, और जेद आदि का बहुत विस्तार है ।

५९- 'पत्र' शब्द पर पात्र का लेपकरणादिक देखना चाहिये ।

६०- 'प्रमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्रामाण्यविचार, प्रमाणसंख्या, प्रमाणफल, छायादिप्रमाण आदि विषय हैं ।

६१- 'परिग्रह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, मूर्च्छापरिग्रह आदि अनेक जेद द्रष्टव्य हैं ।

६२- 'परिष्ठवणा' शब्द पर परिष्ठापनाविधि, पृथ्वीकायपरिष्ठापना, अशुद्ध गृहीत आहार की परिष्ठापना, कालगत साधु की परिष्ठापनिका इत्यादि अनेक विषय हैं ।

६३- 'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरायिकादिकों का परिणाम विशेष, स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामित्व, देवताओं का बाह्यपुद्गलों को लेकरके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-परिणाम, वर्ण गन्ध रस स्पर्श के संस्थान से पुद्गल परिणत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिणतहोना, दण्डक, जीव परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वप्नावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबन्ध और क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

६४- 'प्रव्रज्या' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किससे किसको प्रव्रज्या देना, किस नक्षत्र और किस तिथि में दीक्षा देनेनी, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-याग, सुन्दरगुरुयोग, समवसरण में विधि, पुष्पपात में दीक्षा, वासक्रेपादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किस प्रकार से देना, चैत्यवन्दन, प्रव्रज्याग्रहण में सूत्र, और उसके पालन में सूत्र, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा की प्रशंसा, जितमरह साधमिकों की प्रीति हो वैसा चिह्न धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आर्थिकाओं के द्वारा वन्दन, प्रव्रजित को ऐसा उपदेश करना जिसमें अन्य भी दीक्षा लेले, परीक्षा करके प्रव्रजित, एकादशप्रतिमाप्रतिपन्न श्रावक को दीक्षा देना, पण्डक (जीव) आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं ।

६५- 'पुढवीकाइय' शब्द पर पृथिवीकायिक की वक्तव्यता स्थित है ।

६६- 'पोग्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल जितदुर्धर्मवाले हैं, परमाणु का पुद्गल से अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

६७- 'बन्ध' शब्द पर बन्धमोक्षासिद्धि, बन्ध के भेद, अव्यवन्ध और जावबन्ध, प्रेमद्वेषबन्ध, अनुभागबन्ध, बन्ध में मोदक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध इत्यादि अनेक बातें हैं ।

६८- 'भरह' शब्द पर जरत वर्ष का स्वरूपनिरूपण, दक्षिणार्ध जरत का निरूपण, और वहाँ के मनुष्यों का स्वरूप, जरत के सीमाकारी वैताड्य गिरि का स्थाननिर्देश, और इसके गुहाद्वय का निरूपण, तथा श्रेणि और कूटों का निरूपण, उत्तरार्ध भरत का निरूपण, भरत इस नाम पड़ने का कारण, तदनन्तर राजा भरत की कथा है ।

६९- 'जावणा' शब्द पर जावना का निर्वचन, प्रशस्ताप्रशस्त जावना का निरूपण, मैत्र्यादि जावनाओं के चार भेद, सद्जावना से भावित पुरुष को जो होता है उसका निरूपण इत्यादि विषय आये हैं ।

७०- 'मग' शब्द पर अव्यस्तव और जावस्तव रूप से मार्ग के दो जेद, मार्ग का निक्षेप, मार्ग के स्वरूप का निरूपण इत्यादि अनेक विचार हैं ।

७१- 'मरण' शब्द पर सपराक्रम और अपराक्रम मरण, पादपोषगमनादिकों का संक्षिप्त स्वरूप, भक्तपरिज्ञा, बालमरण, काष्ठद्वार, अक्राम मरण और सकाम मरण, विमोक्षाध्ययनोक्त मरणविधि, मरण के जेद इत्यादि विषय दिये गये हैं ।

७२- 'मास्त्रि' शब्द पर मास्त्रिनाय भगवान् की कथा द्रष्टव्य है ।

७३- 'मिच्छत्त' शब्द पर मिथ्यात्व के उ स्थान, मिथ्यात्वप्रतिक्रमण, मिथ्यात्व की निन्दा, मिथ्यात्व का स्वरूप, अव्य और जाव से मिथ्यात्व के जेद आदि निरूपित हैं ।

७४- 'मेहुण' शब्द पर मैशुन के निषेध का गंजीर विचार है ।

७५- 'मोक्ख' शब्द पर मोक्ष की भिद्धि, निर्वाण की सत्ता है कि नहीं इसका निरूपण, मोक्ष का कारण ज्ञान और क्रिया है, धर्म का फल मोक्ष है, मोक्ष पर साङ्ख्य और नैयायिकों का मत, मोक्ष पर विशेष विचार, मोक्ष पर

वेदान्तियों के मत का निरूपण और स्वरूप, स्त्री की मोक्षसिद्धि, मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं ।

तृतीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘एगत्तभावणा,’ ‘एलकक्ख,’ ‘एसणासमिद्,’ ‘कष्णाण्यणीय,’ ‘कस्सिरह,’ ‘कत्तिय,’ ‘कप्प,’ ‘कप्पअ,’ ‘कयम्भू,’ ‘कवडि-
जक्ख,’ ‘कंरुरिय,’ ‘कंबल,’ ‘करंडु,’ ‘काकंदिय,’ ‘कायगुत्ति,’ ‘काल,’ ‘कालमोअरिय,’ ‘कासीराज,’ ‘किड्कम्म,’
‘कुवेरदत्त,’ ‘कुवेरदत्ता,’ ‘कुवेरसेणा,’ ‘कोरिसित्ता,’ ‘गंगदत्त,’ ‘गयमुकुमाल,’ ‘गुणचंद,’ ‘गुणमागर,’ ‘गुत्तमूरि,’ ‘गुरुकु-
लवास,’ ‘गुरुणिग्गह,’ ‘गोहामाहिल,’ ‘चंदरुह,’ ‘चंदगुत्त,’ ‘चंदप्पन्नमूरि,’ ‘चंपा,’ ‘चक्रदेव,’ ‘चेड्यवंदण,’
‘जत्तासिद्ध,’ ‘णंदसिरि,’ ‘णंदिमेण,’ ‘नरमुंदर,’ ‘णागज्जुण,’ ‘णागहत्थिण,’ ‘ताराचंद,’ ‘दमदंत,’ ‘दमउर,’
‘दसम्भद,’ ‘धणमित्त,’ ‘धणवई,’ ‘धणावह,’ ‘धणसिरी,’ ‘धम्मघोम,’ ‘धम्मजम,’ ‘पल्लपरीमह,’ ‘पउमसेह,’
‘पउमवई,’ ‘पउमसिरी,’ ‘पउमजह,’ ‘पउमहह,’ ‘पुढविचंद,’ ‘फासिदिय,’ ‘बंधुमई,’ ‘भद,’ ‘भइणंदिन,’
‘जरह,’ ‘जीमकुमार,’ ‘मद्धि,’ ‘महापइरिक्कतर,’ ‘मुणिमुव्वय,’ ‘मूलदत्ता,’ ‘मूलसिरी,’ ‘मेहघोस,’ ‘मेहपुर,’
‘मेहमुह,’ ‘मेहरिपुत्त’ शब्द पर कथाएँ उद्धृत हैं ।

चतुर्थ भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘रजोहरण’ शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसचक्रुवाले मनुष्यों को सू-
क्ष्म जीव दिखाई नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवद्वयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा (कि-
नारी या अग्रजाग) सूक्ष्म नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम, अनिमृष्ट रजोहरण
ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

२-‘राज्ञोयण’ शब्द पर रात्रिभोजन का त्याग, रात्रिभोजन करने वाला अनुद्वयातिक होता है, रात्रिभोजन के
चार प्रकार, रास्ते में रात्रि को आहार लेने का विचार, कैसा आहार रात्रि में रखा जा सकता है इसका विवेक, राजा से द्वेष होने
पर रात्रि को जी आहार लेने में दोषाज्ञाव, रात्रि में उदगार आने पर उदगिरण करने में दोष, रात्रिभोजन प्रतिगृहीत हो तो परि-
ष्ठापना करना, रात्रिभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के रात्रि में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

३-‘रुद्धभाण’ शब्द पर रौद्धध्यान का स्वरूप, और उसके चार भेद, रौद्धध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं ।

४-‘लेस्सा’ शब्द पर लेश्या के जेद, लेश्या के अर्थ, आठ लेश्याओं का अल्पबहुत्व, देवविषयक अल्पबहुत्व, कौन
लेश्या कितने ज्ञानों में मिलती है, कौन लेश्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेश्या, लेश्याओं में गुणस्थानक,
धर्मध्यानियों की लेश्या आदि विषय हैं ।

५-‘लोग’ शब्द पर लोग शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, लोक का लक्षण, लोक का महत्व, लोक का संस्थान आदि विषय हैं ।

६-‘वत्थ’ शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना, कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना,
याज्ञा वस्त्र और निमन्त्रण वस्त्र की याज्ञा पर विचार, निर्ग्रन्थियों के वस्त्र धेने का प्रकार, चातुर्मास्य में वस्त्र लेने
पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा से ही साधु अथवा साध्वी को वस्त्र धेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, जिन्न (फटे) वस्त्र धेने
की अनुज्ञा, वस्त्रों के रँगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्ययूथिक और पार्श्वस्थादि कों को वस्त्र देने का निषेध,
वस्त्र को यत्न से रखना जिससे विकलेन्धियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध, आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने
की अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं ।

७-‘वमहि’ शब्द पर किस प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के उदगमादि दोषों का
निरूपण, जिह्म के वास्ते असंयत उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमार्जन में दोष, जहां गृहपति कन्दादिकों
का आहार करता है वहां नहीं रहना, सखीक उपाश्रय में नहीं रहना, स्नान साधु की प्रतिक्रिया, जहां गृहिणी मैथुन
की वाञ्छा करे उस गृहपति के गृह में नहीं बसना, गृहपति के घर में बसने के दोष, प्रतिबद्ध शय्या में बसने के दोष, जिसमें
घरवाला भोजन बनावे वहां नहीं रहना, और जहां पर घर का मालिक काष्ठ फाड़े या अग्नि जलावे वहां नहीं रहना,
जहां पर साधर्मिक निरन्तर आते हों वहां नहीं रहना, कार्यवश से चरक और कार्पटिकों के साथ बसने में विधि,
बसति के याचन का प्रकार, जहां पर गृहपति के मनुष्य कहल करते हों या अन्यङ्ग (मर्दन) करते हों वहां नहीं

रहना, कब कहाँ कितना वाम करना इसका नियम, जहाँ राजा हो उस उपाभय में बसने का निषेध, साध्वियों की बसति में साधू के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं ।

= ' विजय ' शब्द पर विजय की विशेषवक्तव्या देखना चाहिये ।

७ ' विनय ' शब्द पर विनय के पाँच भेद, और सात जेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्थिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं ।

१० ' विमान ' शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ण, विमानों की प्रभा, गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं ।

११- ' विहार ' शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किनके साथ विहार करना और किनके साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिवादि कारणों में वर्षा में जी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधू को विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या बिकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१२- ' वीर ' शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये, तथा ' संसार ' शब्द पर संसार का विचार है । ' संवर ' शब्द पर सम्बर का निरूपण है । ' संसार ' शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है ।

१३- ' शक्र ' शब्द पर शक्र की शक्ति और स्थान, त्रिकुर्वणा, और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किस जाति का बोलते हैं, इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है ।

१४- ' सञ्जाय ' शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा ' सञ्जभंगी ' शब्द पर सप्तजङ्गी का विचार है ।

१५- ' सद ' शब्द पर शब्द का निर्वचन, नामस्थापनादि जेद से चार जेद, वौक्तों के अपोहवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौद्गलिकत्व, शब्द के दश जेद, पनोड़ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं ।

१६- ' सावक ' शब्द पर श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, श्रावक के लक्षण, श्रावक का सामान्य कर्त्तव्य, निवासविधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ गुण इत्यादि विषय हैं ।

१७- ' हिंसा ' शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, पद्मीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन मन्दिर बनवाने में आते हुए दोष का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१८- ' हेतु ' शब्द पर हेतु के प्रयोगप्रकार, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो जेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

चतुर्थ भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथाएँ आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

' रहणेपि ' ' रोहिणी ' ' रोहिणेयचोर ' ' वद्धमाणमूरि ' ' वररू ' ' बराहमिहिर ' ' वरुण ' ' बवहारकुसल ' ' वाणा-
रमी ' ' विजइंदमूरि ' ' विजयकुमार ' ' विजयघोस ' ' विजयचंद ' ' विजयतिलगमूरि ' ' विजयसेठि ' ' विजयसेण ' ' विणयधर ' ' बिसे-
मण ' ' वीर ' ' संखपुर ' ' संजय ' ' संतिदाम ' ' संतिविजय ' ' सकह ' ' सत्त ' ' समुदपाल ' ' सयंजुदत्त ' ' सावत्थी ' ' सावयगुण ' ' मिहगिरि ' ' सीलंगायमिय ' ' सीह ' ' मुक्कण्हा ' ' मुक्क ' ' सुगीव ' ' मुज्जसिरी ' ' मुज्जसिव ' ' मुट्ठिय ' ' मुणंद ' ' मुणक्खत्त ' ' मुदं-
माण ' ' मुदक्खिण ' ' मुपासा ' ' मुप्पज ' ' मुभइ ' ' मुत्तुप ' ' मुमंगल ' ' मुमंगला ' ' मुव्वय ' ' मुर ' ' सेणिय ' ' सोमचंद ' ' सोमा ' ' ह-
रिएम ' ' हरिजइ ' इत्यादि शब्दों पर कथाएँ द्रष्टव्य हैं ।



इस तरह से चारों भागों की यह अत्यन्त संक्षिप्त सूची समझना चाहिये, विस्तार तो ग्रन्थ से ही माव्य होगा, क्योंकि नृमिका में विशेष विस्तार करके पाठकों का समय व्यर्थ नष्ट करना है ।

अकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत () कोष्ठक में आये हुए शब्दों की अकारादिक्रम से सूची-

अइइ-अदिइ-अइति-अदिति ।
 अइदिअ-अइदिय ।
 अइकंत-अतिकंत ।
 अइकृत-अतिकृत ।
 अइकृतजोषण-अतिकृतजोषण ।
 अइकृतपञ्चकक्षाण-अतिकृतपञ्चकक्षाण ।
 अइगत-अइगय ।
 अइत-अइत-अतीत-अइय-अइय-अतीय ।
 अइतका-अइतका-अतीतका-अइयका-
 अइयका-अतीयका ।
 अइतपञ्चकक्षाण-अइतपञ्चकक्षाण-
 अतीतपञ्चकक्षाण-अइयपञ्चकक्षाण-
 अइयपञ्चकक्षाण-अतीतपञ्चकक्षाण ।
 अइताण-अतिताण-अइयाण-अतियाण ।
 अइताणकहा-अतिताणकहा-अइयाणक-
 हा-अतियाणकहा ।
 अइताणगिह-अतिताणगिह-अइयाणगिह-
 अतियाणगिह ।
 अइयाणिहि-अतियाणिहि-अइताणिहि-
 अतिताणिहि ।
 अइताणागयसाण-अइताणागयसाण-
 अतीताणागयसाण-अइयाणागयसाण-
 अइयाणागयसाण-अतीयाणागयसाण ।
 अइमुतय-अइमुतय ।
 अइयात-अइयाय ।
 अइयार-अइयार-अतियार-अतीयार ।
 अइरक्तकंबलसिला-अतिरक्तकंबलसिला ।
 अइरावण-अरावण ।
 अइरित्त-अतिरित्त ।
 अइरित्तसिञ्जासणिय-अतिरित्तसिञ्जास-
 णिय ।
 अइरेग-अतिरेग ।
 अइरेगसंठिय-अतिरेगसंठिय ।
 अइरेण-अचिरेण ।
 अइरोववणग-अचिरोववणग ।
 अइलोभुय-अतिलोभुय ।
 अइवइत्ता-अतिवइत्ता ।
 अइवाइन्-अतिवाइन्-अइवातिन्-अति-
 वातिन् ।
 अइवापमाण-अतिवापमाण ।
 अइवाय-अतिवाय ।
 अइवाहड-अतिवाहड ।
 अइविज्ज-अतिविज्ज ।
 अइविसय-अतिविसय ।
 अइविसाया-अतिविसाया ।
 अइविसाल-अतिविसाल ।
 अइपुट्टि-अतिपुट्टि ।
 अइसंकिसेस-अतिसंकिसेस ।

अइसंधाण-अतिसंधाण ।
 अइसंधाणपर-अतिसंधाणपर ।
 अइसंपभोग-अतिसंपभोग ।
 अइसकणा-अतिसकणा ।
 अइसय-अतिसय ।
 अइसयणाणि-अतिसयणाणि ।
 अइसयमइयकाल-अतिसयमइयकाल ।
 अइसाइ-अतिसाइ ।
 अइसीय-अतिसीय ।
 अइसुहुम-अतिसुहुम ।
 अइसेस-अतिसेस ।
 अइहि-अतिहि ।
 अइहिपूआ-अतिहिपूआ ।
 अइहिबल-अतिहिबल ।
 अइहिम-अतिहिम ।
 अइहिवणीमग-अतिहिवणीमग ।
 अइहिसंविभाग-अतिहिसंविभाग ।
 अइव-अतिव ।
 अउअ-अउय ।
 अउल-अतुल ।
 अकधर-अकहर ।
 अकिअ-अकिय ।
 अंगइसि-अंगरिसि ।
 अंगच्छेद-अंगच्छेय ।
 अंगण-अङ्गण ।
 अंगसुइफरिस-अंगसुइफासिय ।
 अंगार-अंगार-अंगाल-अंगाल ।
 अंगारकट्टिणी-अंगारकट्टिणी-अंगालकट्टि-
 णी-अंगालकट्टिणी ।
 अंगारकम्म-अंगारकम्म-अंगालकम्म-
 अंगालकम्म ।
 अंगारकारिया-अंगारकारिया-अंगालकारि-
 या-अंगालकारिया ।
 अंगारग-अंगारग-अंगालग-अंगालग ।
 अंगारदाह-अंगारदाह-अंगालदाह-अंगाल-
 दाह-अंगालदाह-अंगारदाह-अंगालदाह-
 दाह-अंगालदाह ।
 अंगारपतावणा-अंगारपतावणा-अंगालप-
 तावणा-अंगालपतावणा ।
 अंगारमदग-अंगारमदग-अंगालमदग-अं-
 गालमदग ।
 अंगाररासि-अंगाररासि-अंगालरासि, अं-
 गालरासि ।
 अंगारवई-अंगारवई ।
 अंगारसइस्स-अंगारसइस्स-अंगालसइ-
 स्स-अंगालसइस्स ।
 अंगालसोमिय-अंगालसोमिय ।
 अंगारायतण-अंगारायतण-अंगालायतण ।

अंगारिय-अंगारिय-अंगालिय-अंगालिय ।
 अंगुअ-अंगुअ ।
 अंगुलि-अंगुली ।
 अंगुलिज्जग-अंगुलेज्जग ।
 अंगुलिचिञ्जा-अंगुलीचिञ्जा ।
 अचिअ-अचित ।
 अचिअरिज्जिय-अचियरिज्जिय ।
 अजणगिरि-अजणगिरि ।
 अजलि-अजली ।
 अतक-अंतग ।
 अतकर-अंतगर ।
 अतकरजूमि-अतमइभूमि ।
 अतगत-अंतगय ।
 अतक्षाण-अंतक्षाणिया ।
 अतरकप्प-अंतराकप्प ।
 अतरणई-अतरणदी ।
 अतरदीवग-अतरदीवव ।
 अतराइय-अंतराय ।
 अतरिक्ख-अतस्सिक्ख ।
 अतरिक्खजाय-अतिलिक्खजाय ।
 अतरिक्खपमिषण-अतस्सिक्खपमिषण ।
 अतरिक्खपासणाह-अतस्सिक्खपासणाह ।
 अतरिक्खोदय-अतलिक्खोदय ।
 अतावेइ-अतावेई ।
 अतिअ-अतिय ।
 अतेउर-अंतपुर ।
 अंदोलण-अंदोलण ।
 अंधकार-अंधयार ।
 अंधकारपक्ख-अंधयारपक्ख ।
 अंधिल्लग-अंधेल्लग ।
 अंबर-अम्मड ।
 अंबरासग-अंबदासग ।
 अंबरिस-अंबरीस ।
 अंबरिस-अंबरीस-अंबरिसि-अंबरीसि ।
 अंबिआ-अंबिया ।
 अंसगय-अंसागय ।
 अकइ-अकति ।
 अकइसंघिय-अकतिसंघिय ।
 अकम्हा-अकम्मा ।
 अकम्हाकिरिया-अकम्माकिरिया ।
 अकम्हादंर-अकम्मादंर ।
 अकम्हादंरवत्तिय-अकम्मादंरवत्तिय ।
 अकम्हाजय-अकम्माजय ।
 अकाससज्जायकर-अकाससज्जायका-
 रिन् ।
 अकिरिवाइ-अकिरियावाइ ।
 अकुमोमय-अकुतोत्रय ।

मकूर-मकूर ।
 मककज-मककेय ।
 मकसपरिसह-मकसपरीसह ।
 मकसपरिसहविजय-मकसपरीसहवि-
 जय ।
 मक्खित्त-मक्खेत्त ।
 मक्खीरमधुसप्पिय-मक्खीरमहुसप्पिय ।
 मगत-मगद ।
 मगार-मगार ।
 मगारधम्म-मगारधम्म ।
 मग्गाण-म-मग्गेणीम ।
 मग्गिम-मग्गिय ।
 मग्गेई-मग्गेणी ।
 मग्गेतण-मग्गेयण ।
 मग्घुणित-मग्घुणिय ।
 मक्केकारियभट्टा-मक्केकारियभट्टा ।
 मक्करम-मक्करिम ।
 मक्करमंतपपस-मक्करिमंतपपस ।
 मक्करमसमय-मक्करिमसमय ।
 मक्करमावट्ट-मक्करिमावट्ट ।
 मक्कल-मक्कल ।
 मक्कलट्टाण-मक्कलट्टाण ।
 मक्कलपुर-मक्कलपुर ।
 मक्कलभाया-मक्कलभाया ।
 मक्कला-मक्कला ।
 मक्कलिय-मक्कलिय ।
 मक्कल्ल-मक्कल्ल ।
 मक्कल-मक्कल ।
 मक्कलपरिसह-मक्कलपरीसह ।
 मक्कलित-मक्कलित ।
 मक्कल्लदग-मक्कल्लदग ।
 मक्कल्लित्ता-मक्कल्लित्ता-मक्कल्लिय-
 मक्कल्लिय ।
 मक्कल्लमाण-मक्कल्लमाण ।
 मक्कल्ल-मक्कल्ल ।
 मक्कल्लायधर-मक्कल्लायधर ।
 मक्कल्लचित्त-मक्कल्लचित्त ।
 मक्कल्लपद-मक्कल्लपद ।
 मक्कल्लकट्टुत्थिय-मक्कल्लकट्टुत्थिय ।
 मक्कल्लवास-मक्कल्लवास ।
 मक्कल्लकिट्टा-मक्कल्लकिट्टा ।
 मक्कल्लत-मक्कल्लत ।
 मक्कल्ल-मक्कल्ल ।
 मक्कल्लज-मक्कल्लज ।
 मक्कल्लचित्तसंठाण-मक्कल्लचित्तसंठाण ।
 मक्कल्लविक्खा-मक्कल्लविक्खा ।
 मक्कल्लिलपादगणय-मक्कल्लिलपादगणय ।
 मक्कल्लिजवयणपक्कायाय-मक्कल्लिजवयण-
 पक्कायाय ।
 मक्कल्लगत-मक्कल्लगत ।

अणुगतकाल-अणुगतकाल ।
 अणुगतकालसंग्रहण-अणुगतकालसंग्रहण ।
 अणुउत्तय-अणुउत्तय ।
 अणुज्जमाण-अणुज्जमाण ।
 अणुज्जमाणमग्न-अणुज्जमाणमग्न ।
 अणुदा-अणुदा ।
 अणुदाण-अणुदाण ।
 अणुदाणनूय-अणुदाणनूय ।
 अणुदाणया-अणुदाणया ।
 अणुयत-अणुयत ।
 अणुयतचारिण-अणुयतचारिण ।
 अणुयतप्प-अणुयतप्प ।
 अणुयतवट्ठि-अणुयतवट्ठि ।
 अणुयतवास-अणुयतवास ।
 अणुयतवित्ति-अणुयतवित्ति ।
 अणुहुत-अणुहुत ।
 अणुहुतपरिणाम-अणुहुतपरिणाम ।
 अणुगाम-अणुगाम ।
 अणुजात-अणुजात ।
 अणुएण-अणुएण ।
 अणुपरिहारि-अणुपरिहारि ।
 अणुपायकिरिया-अणुपायकिरिया ।
 अणुपायण-अणुपायण ।
 अणुपावण-अणुपावण ।
 अणुपावणाकप्प-अणुपावणाकप्प ।
 अणुपावणासुद्ध-अणुपावणासुद्ध ।
 अणुप्पदाण-अणुप्पदाण ।
 अणुभाग-अणुभाग ।
 अणुभागबंध-अणुभागबंध ।
 अणुभागबंधघाण-अणुभागबंधघाण ।
 अणुभागसंकम-अणुभागसंकम ।
 अणुभासणसुद्ध-अणुभासणसुद्ध ।
 अणुमत-अणुमत ।
 अणुमुक्क-अणुमुक्क ।
 अणुमोयण-अणुमोयण ।
 अणुविग्ग-अणुविग्ग ।
 अणुव्वय-अणुव्वय ।
 अणुसूयत्ता-अणुसूयत्ता ।
 अणुकक-अणुकक ।
 अण-अण ।
 अणुद्वय-अणुद्वय-अणुद्वय-अणुद्वय-
 न्निगद्वय ।
 अणुओ-अणुओ-अणुओ ।
 अणुगोत्तिय-अणुगोत्तिय ।
 अणुगगद्वय-अणुगगद्वय ।
 अणुगण-अणुगण-अणुगण-अणुगण-
 अणुतर-अणुतर-अणुतर-अणुतर-
 अणुहा-अणुहा-अणुहा-अणुहा-
 अणुहाइस्-अणुहाइस् ।
 अणुणिय-अणुणिय ।

अएणात-अएणाय ।
अएणातउड्ड-अएणायउड्ड ।
अएणातचरय-अएणायचरय ।
अएणादिस-अन्नादिस-अएणारिस-
अन्नारिस ।
अएणुण-अन्नुण-अएणुअ-अन्नुअ ।
अतारिस-अतालिस ।
अत्तसंजोग-अप्पसंजोग ।
अत्तिहय-आयहिय ।
अत्तिउज्ज-अत्तिय ।
अत्थादाण-अत्थायाण ।
अत्थिणत्थिप्पवाय-अत्थिनत्थिप्पवाय ।
अत्थिर-अत्थिर ।
अत्थिरल्लुक-अत्थिरल्लुक ।
अत्थिरणाम-अत्थिरणाम ।
अत्थिरतिग-अत्थिरतिग ।
अत्थिरदुग-अत्थिरदुग ।
अत्थिरव्वय-अत्थिरव्वय ।
अत्थिवाय-अत्थिवाय ।
अत्थुग्गह-अत्थुग्गह ।
अत्थुग्गहण-अत्थुग्गहण ।
अदंरुकुदंडिम-अदंरुकुदंडिम ।
अदंसण-अदंसण ।
अदत्त-अदिण ।
अदत्तहारि-अदिणहारि ।
अदत्तादाण-अदिण्णादाण ।
अदत्तादाणकिरिया-अदिण्णादाणकिरिया ।
अदत्तादाणवत्तिय-अदिण्णादाणवत्तिय ।
अदत्तादाणविरह-अदिण्णादाणविरह ।
अदत्तादाणवेरमण-अदिण्णादाणवेरमण ।
अदत्तालोयण-अदिण्णालोयण ।
अदूरग-अदूरय ।
अद्दगकुमार-अद्दयकुमार ।
अद्दगपुर-अद्दयपुर ।
अद्दणो-अद्दणो ।
अद्दागपसिण-अद्दागपसिण ।
अद्द-अद्दाण ।
अद्दकप्प-अद्दाणकप्प ।
अद्दकुलव-अद्दकुरुव ।
अद्दक्खिकडक्ख-अद्दच्छिक्खिकडक्ख ।
अद्दिहकरण-अद्दित्तिकरण ।
अद्दुव-अधुव ।
अद्दुवबंधिणी-अधुवबंधिणी ।
अद्दुवसंतकम्म-अधुवसंतकम्म ।
अद्दुवसक्कम्मिया-अधुवसक्कम्मिया ।
अद्दुवसत्तागा-अधुवसत्तागा ।
अद्दुवसाहण-अधुवसाहण ।
अद्दुवादया-अधुवादया ।
अधम-अहम ।
अधम्म-अहम्म ।

अधम्मकखाह-अदम्मकखाह ।
 अधम्मजुत्त-अहम्मजुत्त ।
 अधम्मत्थिकाय-अदम्मत्थिकाय ।
 अधम्मदाण-अदम्मदाण ।
 अधम्मदार-अहम्मदार ।
 अधम्मपक्ख-अदम्मपक्ख ।
 अधम्मपज्जण-अहम्मपज्जण ।
 अधम्मपडिमा-अहम्मपडिमा ।
 अधम्मपलज्जण-अहम्मपलज्जण ।
 अधम्मपलोह-अहम्मपलोह ।
 अधम्मराह-अहम्मराह ।
 अधम्मरुह-अहम्मरुह ।
 अधम्मसमुदायार-अदम्मसमुदायार ।
 अधम्मसीलसमुदायार-अदम्मसीलसमु-
 दायार ।
 अधम्माणुय-अहम्माणुय ।
 अधम्मिजोय-अहम्मिजोय ।
 अधम्मिदु-अहम्मिदु ।
 अधम्मिय-अहम्मिय ।
 अधर-अहर ।
 अधरगमण-अहरगमण ।
 अधरिम-अहरिम ।
 अधरी-अहरी ।
 अधरीलोह-अहरीलोह ।
 अधरुह-अहरुह ।
 अधव-अहव-अधवा-अहवा ।
 अधि-अहि ।
 अधिह-अहिह ।
 अधिग-अहिग ।
 अधिगम-अहिगम ।
 अधिगमरुह-अहिगमरुह-अहिगमरुह ।
 अधिगमसम्मदंसण-अभिगमसम्मदंसण ।
 अधिगय-अहिगय ।
 अधिगरण-अहिगरण ।
 अधिगरणकिरिया-अहिगरणकिरिया ।
 अधिगरणिया-अहिगरणिया-आहिगरणि-
 या-आधिगरणिया ।
 अधिगरणी-अहिगरणी ।
 अधिगार-अहिगार ।
 अधिदुत्त-अहिदुत्त ।
 अधिछावण-अहिछावण ।
 अधिछेत्ता-अहिछेत्ता ।
 अधिमासग-अहिमासग ।
 अधिमुत्ति-अहिमुत्ति ।
 अधिवह-अहिवह-अधिवीत-अहिवीत ।
 अधेकम्म-अहेकम्म ।
 अधोहि-अहोहि ।
 अपहृष्टाण-अपहृष्टाण ।
 अपहृष्टिय-अपहृष्टिय ।
 अपहृष्टपसरियत्त-अपहृष्टपसरियत्त ।

अपचक्षव-अपचक्षव ।
 अपचक्षवखण-अपचक्षवखण ।
 अपचक्षवखणकिरिया-अपचक्षवखणकि-
 रिया ।
 अपचक्षवखणि-अपचक्षवखणि ।
 अपचक्षवखाय-अपचक्षवखाय ।
 अपचक्षय-अपचक्षय ।
 अपचिकम्म-अपचिकम्म ।
 अपडिक्कत-अपडिक्कत ।
 अपचिक्क-अपडिक्क ।
 अपमिण-अपमिण ।
 अपमिवज्झत-अपमिवज्झत ।
 अपमिवद्ध-अपडिवद्ध ।
 अपमिवद्धया-अपमिवद्धया ।
 अपडिबुद्धविहार-अपमिवबुद्धविहार ।
 अपमिवुज्जमाण-अपडिवुज्जमाण ।
 अपमियार-अपडियार ।
 अपमिरुव-अपमिरुव ।
 अपमिवरु-अपमिवरु ।
 अपमिवरुसम्मत्तरयणपरिलंभ-अपमि-
 वरुसम्मत्तरयणपरिलंभ ।
 अपमिलेस्स-अपमिलेस्स ।
 अपमिलेहण-अपमिलेहण ।
 अपमिलेहणासील-अपमिलेहणाशील ।
 अपडिलेहिय-अपमिलेहिय ।
 अपमिलेहियदुपडिलेहियउच्चारपासवण
 भूमि-अपडिलेहियदुपडिलेहियउच्चार-
 पासवणभूमि ।
 अपमिलेहियदुपडिलेहियसिज्जासंधार-
 य-अपडिलेहियदुपडिलेहियसिज्जासं-
 धारय ।
 अपमिलेहियपण-अपडिलेहियपण ।
 अपमिलोमया-अपमिलोमया ।
 अपडिवाह-अपमिवाह ।
 अपमिसंलीण-अपमिसंलीण ।
 अपमिसुणेत्ता-अपमिसुणेत्ता ।
 अपडिहड-अपडिहड ।
 अपडिहणंत-अपमिहणंत ।
 अपडिहय-अपडिहय ।
 अपमिहयग-अपडिहयग ।
 अपडिहयपचक्षवपावकम्म-अपडि-
 हयपचक्षवपावकम्म ।
 अपमिहयबल-अपमिहयबल ।
 अपमिहयवरणादंसणधर-अपमिहयव-
 रणादंसणधर ।
 अपडिहयसासण-अपडिहयसासण ।
 अपडिहारय-अपमिहारय ।
 अपडोकार-अपमोकार ।
 अपरुपण-अपरुपण ।
 अपत्तभूमिग-अपत्तभूमिग ।

अपत्थण-अपत्थण ।
 अपत्थिय-अपत्थिय ।
 अपत्थियपत्थय-अपत्थियपत्थय-अपत्थि-
 यपत्थिय-अपत्थियपत्थिय ।
 अपद-अपय ।
 अपदुस्समाण-अपदुस्समाण ।
 अपभु-अपभु ।
 अपमज्जणसील-अपमज्जणसील ।
 अपमज्जित्ता-अपमज्जित्ता ।
 अपमज्जिय-अपमज्जिय ।
 अपमज्जियचारि-अपमज्जियचारि ।
 अपमज्जियदुपमज्जियउच्चारपासवण
 भूमि-अपमज्जियदुपमज्जियउच्चार
 पासवणभूमि ।
 अपमज्जियदुपमज्जियसिज्जासंधार-अ-
 पमज्जियदुपमज्जियसिज्जासंधार ।
 अपमत्त-अपमत्त ।
 अपमत्तसंजय-अपमत्तसंजय ।
 अपमत्तसंजयगुणघाण-अपमत्तसंजय
 गुणघाण ।
 अपमाण-अपमाण ।
 अपमाणभोह-अपमाणभोह ।
 अपमाय-अपमाय ।
 अपमायपडिलेह-अपमायपडिलेह ।
 अपमायभावणा-अपमायभावणा ।
 अपमायबुद्धिजगत्तण-अपमायबुद्धिज
 गत्तण ।
 अपमायपडिलेहणा-अपमायपडिलेहणा ।
 अपमेय-अपमेय ।
 अपराह-अपराह ।
 अपरिसाह-अपरिसाह-अपरिसावि-अप-
 रिस्तावि ।
 अपलीण-अपलीण ।
 अपवत्तण-अपवत्तण ।
 अपवित्त-अपवित्त ।
 अपवित्त-अपवित्त ।
 अपसंसणिज्ज-अपसंसणिज्ज ।
 अपसज्ज-अपसज्ज ।
 अपसज्जपुरिसाण-अपसज्जपुरिसाण ।
 अपसत्थ-अपसत्थ ।
 अपि-अपि ।
 अपीडणया-अपीडणया ।
 अपुस्सुय-अपुस्सुय ।
 अपपज्ज-अपपज्ज ।
 अपपाबहुय-अपपाबहुय ।
 अपफालिय-अफालिय ।
 अपफोआ-अफोआ ।
 अपफोमिअ-अफोमिअ ।
 अपफोब-अफोब ।
 अपबहुस्सुय-अबहुस्सुय ।

अभ्यंगिता-अभ्यंगिता ।
 अभ्यन्तर-अभ्यन्तर ।
 अभ्यन्तरासचित्तकम्-अभ्यन्तरास-
 चित्तकम् ।
 अभ्यन्तरकरण-अभ्यन्तरकरण ।
 अभ्यन्तरग-अभ्यन्तरग ।
 अभ्यन्तरगणिज्ज-अभ्यन्तरगणिज्ज ।
 अभ्यन्तरतव-अभ्यन्तरतव ।
 अभ्यन्तरतो-अभ्यन्तरतो ।
 अभ्यन्तरदेवसिय-अभ्यन्तरदेवसिय ।
 अभ्यन्तरगामि-अभ्यन्तरपरिस ।
 अभ्यन्तरपाणीय-अभ्यन्तरपाणीय ।
 अभ्यन्तरपुष्करद्व-अभ्यन्तरपुष्करद्व ।
 अभ्यन्तरपुष्पफल-अभ्यन्तरपुष्पफल ।
 अभ्यन्तरवाहरिय-अभ्यन्तरवाहरिय ।
 अभ्यन्तरय-अभ्यन्तरय ।
 अभ्यन्तरलज्जि-अभ्यन्तरलज्जि ।
 अभ्यन्तरसंयुक्ता-अभ्यन्तरसंयुक्ता ।
 अभ्यन्तरसगमुक्त्या-अभ्यन्तरसगमुक्त्या ।
 अभ्यन्तरोहि-अभ्यन्तरोहि ।
 अभ्यन्तरिया-अभ्यन्तरिया ।
 अभविय-अभव ।
 अनिद-अभीद ।
 अभिणाय-अभिजाणिय ।
 अभिसंग-अभिसंग ।
 अभिसंगनेड-अनिसेयभंड ।
 अभिसंगसभा-अभिसेयसभा ।
 अनिहित-अनिहित ।
 अमग्राय-अमायाय ।
 अमावासा-अमावासा ।
 अमिज्ज-अमेज्ज ।
 अमिज्ज-अमेज्ज ।
 अमिज्जपुण-अमेज्जपुण ।
 अमिज्जमय-अमेज्जमय ।
 अमिज्जरस-अमेज्जरस ।
 अमिज्जसंनय-अमेज्जसंभूय ।
 अमिज्जुकर-अमेज्जुकर ।
 अयपाद-अयपाय ।
 अयसावण-अयसिधम् ।
 अरइपरिसह-अरइपरीसह ।
 अरइपरिसहविजय-अरइपरीसहविजय ।
 अलाभ-अलाह ।
 अलाभपरिसह-अलाहपरिसह-अलाभप-
 रीसह-अलाहपरीसह ।
 अलाग-अलाय ।
 अवायाणुपेदा-अवायाणुवेदा ।
 अविरडवाय-अविरडवाय ।
 अविसंवायणजोग-अविसंवायणजोग ।
 अवचत्तव्यगसंचिय-अवचत्तव्यगसंचिय ।
 असंणीहसंचय-असंनिहसंचय ।

असंथरमाण-असंथरंत ।
 असाधारण-असाहारण ।
 असाय-असान ।
 असायण-अस्सायण ।
 असायवेयांज-असायावेयिज्ज ।
 असिय-असित ।
 असुज-असुह ।
 असुभकम्मबहुल-असुहकम्मबहुल ।
 असुजकिरियादिरहिय-असुहकिरियादि-
 रहिय ।
 असुभज्जवसाण-असुहज्जवसाण ।
 असुभणाम-असुहणाम ।
 असुभतरंरुत्तरणप्पाय-असुहतरंरुत्तरण-
 प्पाय ।
 असुजत्त-असुहत्त ।
 असुनदुक्खनागि-असुहदुक्खभागि ।
 असुभविवाग-असुहविवाग ।
 असुभा-असुहा ।
 असुभाणुप्पेहा-असुहाणुप्पेहा ।
 अहत-अहय ।
 अहरुठ-अहरोठ ।
 अहाकरु-अहागड ।
 अदिआइ-आदिआइ ।
 अदिगरणकर-अदिगरणकर ।
 अदिगार-अदियार ।
 अदिद्वंघ-अदिद्वंख ।

॥ आ ॥

आअ-आगअ ।
 आअरिस-अंसअरिस ।
 आइअंतियमरण-आदिअंतियमरण ।
 आइक्खग-आइक्खय ।
 आइउज-आदेउ ।
 आइउजमाण-आदेउमाण ।
 आइउजवक्क-आदेउजवक्क ।
 आइउजवयण-आदेउजवयण ।
 आइउजवयणया-आदेउजवयणया ।
 आइयावण-आदियावण ।
 आइण-आत्तिण-आदीण ।
 आइणभोइ-आदीणभोइ ।
 आइणविसि-आदीणविसि ।
 आइणिय-आदीणिय ।
 आउंन्णा-आउंन्णा ।
 आउक्काय-आउक्काय ।
 आउस-आउस ।
 आपउज-आदेउज ।
 आपउजवक्क-आदेउजवक्क ।
 आपउजणाम-आदेउजणाम ।
 आपउजवयण-आदेउजवयण ।
 आपउजवयणया-आदेउजवयणया ।
 आपस-आदेस ।

आपसग-आएसय ।
 आकिई-आगई ।
 आगंतुय-आगंतुग ।
 आगामि-आगामि ।
 आगमिस्स-आगमिस्सन् ।
 आगमेत्ता-आगम्म ।
 आगासफलिइ-आगासफात्थिय ।
 आगासफालियसरिस्सपइ-आगासफलि
 हसरिस्सपइ ।
 आगासफालियामय-आगासफलिहामय ।
 आघायण-आघयण ।
 आजग-आजय ।
 आजम्मसुरहिपत्त-आयम्मसुरहिपत्त ।
 आजवंजयीत्ताव-आयवंजवीभाव ।
 आजाइ-आयाइ ।
 आदग-आदय ।
 आदत्त-आरत्त ।
 आणमणी-आणवणी ।
 आणयणप्पओग-आणवणप्पओग ।
 आणाकारि-आणागारि ।
 आणाजोग-आणाजोय ।
 आणिय-आणीय ।
 आणुपुव्वसुजाय-आणुपुत्थिसुजाय ।
 आतंक-आयंक ।
 आतंकदंसि-आयंकदंसि ।
 आतंकविवच्चास-आयंकविवच्चास ।
 आतंकसंपओगसंपउत्त-आयंकसंपओगसं-
 गसंपउत्त ।
 आतंकि-आयंकि ।
 आतंचणिया-आयंचणिया ।
 आयंतकर-आतंतकर ।
 आतंतम-आयंतम ।
 आतंदम-आयंदम ।
 आतंव-आयंव ।
 आतंबज्झयण-आयंवज्झयण ।
 आतंभरि-आयंभरि ।
 आतकम्म-आयकम्म ।
 आतगवेसय-आयगवेसय ।
 आतगय-आयगय ।
 आतगुत्त-आयगुत्त ।
 आतच्चाइ-आयच्चाइ ।
 आतल्लुत्ताइ-आयल्लुत्ताइ ।
 आतजम्म-आयजम्म ।
 आतजस-आयजस ।
 आतजोगि-आयजोगि ।
 आतजोणि-आयजोणि ।
 आतज्झाण-आयज्झाण ।
 आतठ-आयट्ठ-अणट्ठ ।
 आतठि-आयठि ।
 आतणाण-आयणाण ।

आननिट्ट-आयनिट्ट ।
 आतनिष्फेरुय-आयनिष्फेरुय ।
 आतणीण-आयणीण ।
 आतण-आयण ।
 आततंत-आयतंत ।
 आततंतकर-आयतंतकर ।
 आततत्त-आयतत्त ।
 आततत्तप्पगास-आयतत्तप्पगास ।
 आततरग-आयतरग ।
 आततुला-आयतुला ।
 आतत्त-आयत्त ।
 आतदंरु-आयदंरु ।
 आतदंरुसमायार-आयदंरुसमाचार ।
 आतदरिस-आयदरिस ।
 आतद्दोहि-आयद्दोहि ।
 आतपप्प-आयपप्प ।
 आतपरिणइ-आयपरिणइ ।
 आतपप्पसा-आयपप्पसा ।
 आतप्पओग-आयप्पओग ।
 आतप्पओगणिच्चत्तिय-आयप्पओगणिच्चत्तिय ।
 आतप्पभ-आयप्पभ ।
 आतप्पमाण-आयप्पमाण ।
 आतप्पवाय-आयप्पवाय ।
 आतप्पियसंबंधणसंयोग-आयप्पियसंबंधणसंयोग ।
 आतवत्त-आयवत्त ।
 आतवल-आयवल ।
 आतववत्-आयववत् ।
 आतवाल-आयवाल ।
 आतवोध-आयवोध ।
 आतभाव-आयभाव ।
 आतभाववक्कणया-आयभाववक्कणया ।
 आतभाववत्तव्वया-आयभाववत्तव्वया ।
 आतजु-आयजु ।
 आतरक्ख-आयरक्ख ।
 आतरक्खा-आयरक्खा ।
 आतरक्खि-आयरक्खि ।
 आतरक्खिय-आयरक्खिय ।
 आतवं-आयवं ।
 आतवस-आयवस ।
 आतवस्स-आयवस्स ।
 आतवायपत्त-आयवायपत्त ।
 आतवि-आयवि ।
 आतविज्जा-आयविज्जा ।
 आतवीरिय-आयवीरिय ।
 आतविसोहि-आयविसोहि ।
 आतवेयावच्चकर-आयवेयावच्चकर ।
 आतसंजम-आयसंजम ।
 आतसंजमपर-आयसंजमपर ।

आतसंजमोवाय-आयसंजमोवाय ।
 आतसंवेयण-आयसंवेयण ।
 आतसंवेयणिज्ज-आयसंवेयणिज्ज ।
 आतसक्खि-आयसक्खि ।
 आतअप्पसत्तम-आयअप्पसत्तम ।
 आतसलि-आयसत्ति ।
 आतसम्पण-आयसम्पण ।
 आतसमया-आयसमया ।
 आतसमुम्भव-आयसमुम्भव ।
 आतसमोयार-आयसमोयार ।
 आतसरीरस्सेत्तोगाढ-आयसरीरस्सेत्तो-
 गाढ ।
 आतसाय-आयसाय ।
 आतसायाणुगामि-आयसायाणुगामि ।
 आतसिद्ध-आयसिद्ध ।
 आतसुह-आयसुह ।
 आतसोहि-आयसोहि ।
 आतहित-आयहित ।
 आता-अप्पा ।
 आताणुकंपय-आयाणुकंपय ।
 आताणुस्सरण-आयाणुस्सरण ।
 आताणुसासण-आयाणुसासण ।
 आताधीण-आयाधीण ।
 आतावग-आयावग ।
 आतावण-आयावण ।
 आतावणया-आयावणया ।
 आतावणा-आयावणा ।
 आतावित्तप-आयावित्तप ।
 आताविया-आयाविया ।
 आतावेमाण-आयावेमाण ।
 आताभिणिवेस-आयाभिणिवेस ।
 आताभिसिद्ध-आयाभिसिद्ध ।
 आतार-आयार ।
 आताराम-आयाराम ।
 आतारामि-आयारामि ।
 आताव-आयाव ।
 आतावाइ-आयावाइ ।
 आतासय-आयासय ।
 आताहम्म-आयाहम्म ।
 आताहिगरणवत्तिय-आयाहिगरणवत्तिय ।
 आताहिगरणि-आयाहिगरणि ।
 आताहिय-आयाहिय ।
 आतिण-आतीण ।
 आतीकय-अप्पीकय ।
 आत्त-आताय ।
 आदंस-आयंस-आदरिस-आदस्स ।
 आदंसग-आयंसग-आदरिसग-आदसग ।
 आदंसघरग-आयंसघरग-आदरिसघरग-
 आदसघरग ।
 आदंसतल-आयंसतल ।

आदंसतलोचम-आयंसतलोचम-आदरि-
 सतलोचम-आदसतलोचम ।
 आदंसमंरुल-आयंसमंरुल-आदरिसमं-
 रुल-आदसमंरुल ।
 आदंसमुह-आयंसमुह-आदरिसमुह-आ-
 दसमुह ।
 आदंसलिवि-आयंसलिवि-आदरिस-
 लिवि-आदस्सलिवि ।
 आदर-आयर ।
 आदरण-आयरण ।
 आदरणया-आयरणया ।
 आदरणिज्जा-आयरणिज्जा ।
 आदरतर-आयरतर ।
 आदराइजुत्त-आयराइजुत्त ।
 आदाण-आयाण ।
 आदाणअट्ठि-आयाणअट्ठि ।
 आदाणगुत्त-आयाणगुत्त ।
 आदाणणिक्खेवदुगुल्लय-आयाणणिक्खे-
 वदुगुल्लय ।
 आदाणनिरुद्ध-आयाणनिरुद्ध ।
 आदाणपय-आयाणपय ।
 आदाणफलह-आयाणफलह ।
 आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिह-आया-
 णभंडमत्तनिक्खेवणासमिह ।
 आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिय-आया-
 णभंडमत्तनिक्खेवणासमिय ।
 आदाणजय-आयाणजय ।
 आदाणजरिय-आयाणजरिय ।
 आदाणया-आयाणया ।
 आदाणवंत-आयाणवंत ।
 आदाणसोयगहिय-आयाणसोयगहिय ।
 आदाणिज्ज-आयाणिज्ज ।
 आदाणिज्जउभयण-आयाणिज्जउभयण ।
 आदाय-आयाय ।
 आदाहिणपयादिण-आयाहिणपयादिण ।
 आदाहिणपयाहिणा-आयादिणपयाहिणा ।
 आधमण-आहमण ।
 आधरिसिय-आदरिसिय ।
 आधा-आहा ।
 आधाकम्म-आहाकम्म ।
 आधाकम्मिय-आहाकम्मिय ।
 आधाण-आहाण ।
 आधाणिय-आहाणिय ।
 आधाय-आहाय ।
 आधायग-आहायग ।
 आधार-आहार ।
 आधारसत्ति-आहारसत्ति ।
 आधि-आहि ।
 आधिकक-आहिकक ।
 आधिगरणिय-आहिगरणिय ।

आभिगरणिदा-आहिगरणिदा ।

आभिणु-आहिणु ।

आधिपत्य-आदिपत्य ।

आधिदेविय-आदिदेविय ।

आधिभ्य-आदिभ्य ।

आधिभोइय-आदिभोइय ।

आधिरज्ज-आदिरज्ज ।

आधिवेयणिय-आदिवेयणिय ।

आधीमड-आहीमड ।

आधीगरण-आहीगरण-

आधुणिय-आहुणिय ।

आधुय-आहुय ।

आधय-आहय ।

आधेवञ्च-साहेवञ्च ।

आधोरण-आहोरण ।

आधोधिय-आहोहिय ।

आप-आव ।

आपई-आवई ।

आपईधम्म-आवईधम्म ।

आपगा-आवगा ।

आपगज्ज-आवगज्ज ।

आपगण-आवगण ।

आपगव-आवगव ।

आपडिग-आवडिग ।

आपडिय-आवडिय ।

आपण-आवण ।

आपणगिह-आवणगिह ।

आपणवीहि-आवणवीहि ।

आपणिग-आवणिग ।

आपणिज्ज-आवणिज्ज ।

आपण्य-आवण्य ।

आपणपरिहार-आवणपरिहार ।

आपणसत्ता-आवणसत्ता ।

आपत्त-आवत्त ।

आपत्ति-आवत्ति ।

आपत्तिमुत्त-आवत्तिमुत्त ।

आपदकाल-आवदकाल ।

आपदेव-आवदेव ।

आपनिच्छग-आवनिच्छग ।

आपपिता-आवपिता ।

आपरिणह्य-आवरिणह्य ।

आपलय-आपिलय ।

आपसरीरभणवकञ्चलिया-आपसरीर-

अणयकञ्चलिया ।

आपाग-आपाय-आवाग-आवाय ।

आपाइ-आवाइ ।

आपाण-आवाण ।

आपाणग-आवाणग ।

आपाय-आवाय ।

आपायओ-आवायओ ।

आपायण-आवायण ।

आपायभइय-आवायभइय ।

आपायसिआ-आवायसिआ ।

आपासि-आवासि ।

आपासाविय-आपिसाविय ।

आपिजर-आविजर ।

आपिसिआ-आविसिआ ।

आपेक्खिय-आवेक्खिय ।

आमेदुघर-आमेदुगार ।

आमेघ-आवेड ।

आमेडग-आमेडय ।

मायइ-आयई ।

आयज्ज-आयम्भ ।

आयतकणायय-आययकणायय ।

आयतचक्खु-आययचक्खु ।

आयतजोग-आययजोग ।

आयतट्ठित-आयतट्ठिय ।

आयनतर-आयतयर ।

आरियस्सेत्त-आयरियस्सेत्त ।

आरियछाण-आयरियछाण ।

आरियदंसि-आयरियदंसि ।

आरियदिण-आयरियदिण ।

आरियदेस-आयरियदेस ।

आरियधम्म-आयरियधम्म ।

आरियपणसिय-आयरियपणसिय ।

आरियपण-आयरियपण ।

आरियवेय-आयरियवेय ।

आयाम-आचाम ।

आयारय-आयारयंत ।

आरजइत्ता-आरजइत्ता ।

आराहग-आराहय ।

आरि-आरिय ।

आरुग-आरोग ।

आरुगफण-आरोगफण ।

आरुगबोडिआभ-आरोगबोडिआभ ।

आरुगबोडिआभइपथणाचित्तुत्त-आ-

रोगबोडिआभइपथणाचित्तुत्त ।

आरुगसाहग-आरोगसाहग ।

आसिअग-आसिअग ।

आसिअग-आसिअग ।

आसिअग-आसिअग ।

आसिसिअग-आसिसिअग ।

आलुग-आलुय ।

आव-जाव ।

आवत-आवत्त-आवड-आवट्ट ।

आवडपथावरसेट्ठियसोत्थिय (सो-

त्थिय) पृथमाणवृत्तमागमच्छंमक-

रंरुगज्जामाराफुल्लायत्तिपउमपत्तसाग-

रतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त-आ-

वृत्तपथावरसेट्ठियसोत्थिय (सो-

त्थिय) पृथमाणवृत्तमागमच्छंमक-
रंरुगज्जामाराफुल्लायत्तिपउमपत्तसा-
गतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त ।

आवतकूड-आवट्टकूड ।

आवत्तण-आवट्टण ।

आवत्तणपेडिया-आवट्टणपेडिया ।

आवत्तणज्ज-आवट्टणज्ज ।

आवतय-आवट्टय ।

आवत्तायंत-आवट्टायंत ।

आवत्ति-आवत्ती ।

आवत्तियविवाय-आवत्तियाणिवाय-आव-
त्तित्तिवाय ।

आवत्तियपविह-आवत्तियापविह ।

आवत्तियपविभत्ति-आवत्तियापविभत्ति ।

आवत्तियवाहिर-आवत्तियावाहिर ।

आवीकम्म-आवीकम्म ।

आसुरा-आसुरी ।

॥ ५ ॥

इइ-इति ।

इइकह-इतिकह ।

इइकायव्वया-इतिकायव्वया ।

इइह-इतिह ।

इइहास-इतिहास ।

इओ-इत्ता-इद्दा-एत्ता ।

इंगिअ-इंगिय ।

इंगिअमरण-इंगियमरण ।

इंदकाय-इंदगाइय ।

इंदियत्थकोचण-इंदियत्थविक्कोपन ।

इक्खाग-इक्खागु ।

इक्खागकुल-इक्खागकुल ।

इक्खागभूमि-इक्खागभूमि ।

इक्खागराय-इक्खागराय ।

इक्खागवंश-इक्खागवंश ।

इक्खु-उच्छु ।

इक्खुकरण-उच्छुकरण ।

इक्खुखं-उच्छुखं ।

इक्खुगमिया-उच्छुगमिया ।

इक्खुघर-उच्छुघर ।

इक्खुचोयग-उच्छुचोयग ।

इक्खुजंत-उच्छुजंत ।

इक्खुमात्तग-उच्छुमात्तग ।

इक्खुपेसिया-उच्छुपेसिया ।

इक्खुमिति-उच्छुमिति ।

इक्खुमेरग-उच्छुमेरग ।

इक्खुलट्ठि-उच्छुलट्ठि ।

इक्खुवण-उच्छुवण ।

इक्खुवार-उच्छुवार ।

इक्खुवाडिया-उच्छुवाडिया ।

इक्खुसाहग-उच्छुसाहग ।

इच्छकार-इच्छकार ।

इच्छामित्त-इच्छामेत्त ।
 इच्छि-रिच्छि-इच्छि ।
 इच्छिअप्पवट्टण-इच्छिअप्पवट्टण ।
 इच्छिमं-इच्छिमंत ।
 इत्तो-इदो-इओ ।
 इत्थिआणमणी-इत्थीआणमणी ।
 इत्थिकम्म-इत्थीकम्म ।
 इत्थिकला-इत्थीकला ।
 इत्थिकत्तेवर-इत्थीकलेवर ।
 इत्थिकहा-इत्थीकहा ।
 इत्थिकाम-इत्थीकाम ।
 इत्थिकामभोग-इत्थीकामभोग ।
 इत्थिगण-इत्थीगण ।
 इत्थिगम्भ-इत्थीगम्भ ।
 इत्थिगुम्भ-इत्थीगुम्भ ।
 इत्थिचिध-इत्थीचिध ।
 इत्थिचोर-इत्थीचोर ।
 इत्थिजण-इत्थीजण ।
 इत्थिजिय-इत्थीजिय ।
 इत्थिज्जाण-इत्थीज्जाण ।
 इत्थिणपुंसग-इत्थीणपुंसग ।
 इत्थिणामगोयकम्म-इत्थीणामगोयकम्म ।
 इत्थितित्थ-इत्थीतित्थ ।
 इत्थिदोस-इत्थीदोस ।
 इत्थिपच्चाकड-इत्थीपच्चाकड ।
 इत्थिपणवणी-इत्थीपणवणी ।
 इत्थिपरिणज्झयण-इत्थीपरिणज्झयण ।
 इत्थिपरिण्णा-इत्थीपरिण्णा ।
 इत्थिपरिसह-इत्थीपरिसह ।
 इत्थिपरिसहविजय-इत्थीपरिसहविजय ।
 इत्थिपोसय-इत्थीपोसय ।
 इत्थिपुंसलक्खणा-इत्थीपुंसलक्खणा ।
 इत्थिभाव-इत्थीभाव ।
 इत्थिभोग-इत्थीभोग ।
 इत्थिमज्झगय-इत्थीमज्झगय ।
 इत्थिरज्ज-इत्थीरज्ज ।
 इत्थिरयण-इत्थीरयण ।
 इत्थिराग-इत्थीराग ।
 इत्थिरुव-इत्थीरुव ।
 इत्थिलक्खण-इत्थीलक्खण ।
 इत्थिलिंग-इत्थीलिंग ।
 इत्थिलिंगसिद्ध-इत्थीलिंगसिद्ध ।
 इत्थिलिंगसिद्धकेवलणाण-इत्थीलिंगसिद्धकेवलणाण ।
 इत्थिवउ-इत्थीवउ ।
 इत्थिवयण-इत्थीवयण ।
 इत्थिवस-इत्थीवस ।
 इत्थिविग्गह-इत्थीविग्गह ।
 इत्थिविणवणा-इत्थीविणवणा ।
 इत्थिविप्पजह-इत्थीविप्पजह ।
 इत्थिविप्परियासिया-इत्थीविप्परियासिया ।

इत्थिविलोयण-इत्थीविलोयण ।
 इत्थिवेय-इत्थीवेय ।
 इत्थिवेयण-इत्थीवेयण ।
 इत्थिसंकिट्ठि-इत्थीसंकिट्ठि ।
 इत्थिसंग-इत्थीसंग ।
 इत्थिसंपक्क-इत्थीसंपक्क ।
 इत्थिसंपरिवुड-इत्थीसंपरिवुड ।
 इत्थिसंवास-इत्थीसंवास ।
 इत्थिसंसत्त-इत्थीसंसत्त ।
 इत्थिसम्भा-इत्थीसम्भा ।
 इत्थिसहाव-इत्थीसहाव ।
 इत्थिसेवा-इत्थीसेवा ।
 इत्थाणि-इत्थाणि-इत्थाणि ।
 इंध-चिएह ।
 इब्जग-इब्भय ।
 इमी-इमा-इमिआ ।
 इसि-रिसि ।
 इसिदिण-इसिदत्त ।
 इससर-ईसर ।
 इससरकड-ईसरकड ।
 इससरकमवाइ-ईसरकमवाइ ।
 इससरकारय-ईसरकारय ।
 इससरवाइ-ईसरवाइ ।
 इससरविभूइ-ईसरविभूइ ।
 इससरसरिस-ईसरसरिस ।
 इससरियमय-इसरियामय-ईसरियमय-ईसरियामय ।
 इससरियसिद्धि-ईसरियसिद्धि ।
 इससरीकय-ईसररीकय ।
 ईसि-ईसि-ईसी ।
 ईसिउठावलंबि-ईसिउठावलंबि-ईसीउठावलंबि ।
 ईसितंवच्चिकरणी-ईसितंवच्चिकरणी-ईसीतंवच्चिकरणी ।
 ईसितुंग-ईसितुंग-ईसीतुंग ।
 ईसिपणवणिज्ज-ईसिपणवणिज्ज-ईसीपणवणिज्ज ।
 ईसिपम्भार-ईसिपम्भार-ईसीपम्भार ।
 ईसिपम्भारगय-ईसिपम्भारगय-ईसीपम्भारगय ।
 ईसिपम्भारा-ईसिपम्भारा-ईसीपम्भारा ।
 ईसिपुरोवाय-ईसिपुरोवाय-ईसीपुरोवाय ।
 ईसिमत्त-ईसिमत्त-ईसीमत्त ।
 ईसिरहस्स-ईसिरहस्स-ईसीरहस्स ।
 ईसिविच्चेयकडुवा-ईसिविच्चेयकडुवा-ईसीविच्चेयकडुवा ।
 ईसिलिदपुष्पपासा-ईसिलिदपुष्पपासा-ईसीलिदपुष्पपासा-ईसीलिधपुष्पपासा-ईसीलिधपुष्पपासा ।

॥ उ ॥

उइओइअ-उदिओइअ-उइओदिअ-उदिओदिअ ।
 उइएण-उदिएण ।
 उइएणकम्म-उदिएणकम्म ।
 उइएणवलवाहण-उदिएणवलवाहण ।
 उइएणमोह-उदिएणमोह ।
 उइएणवेय-उदिएणवेय ।
 उइय-उदिय ।
 उइयत्थमिय-उदियत्थमिय ।
 उइण-उदीण ।
 उइणा-उदीणा ।
 उइणपार्ण-उदीणपार्ण ।
 उइणवाय-उदीणवाय ।
 उइत्ता-उदीत्ता ।
 उइरएण-उदीरण ।
 उइरएणा-उदीरण्णा ।
 उइरिज्जमाण-उदीरिज्जमाण ।
 उइरिय-उदीरिय ।
 उइरैत-उदीरैत ।
 उंवर-उंवर ।
 उंवरदत्त-उंवरदत्त ।
 उंवरपणग-उंवरपणग ।
 उंवरपुष्फ-उंवरपुष्फ-उंवरपुष्फु-उंवरपुष्फु ।
 उंवरवच्च-उंवरवच्च ।
 उंवररीय-उंवररीय ।
 उउपरियट्ठ-उउपरियट्ठ ।
 उउसंधि-उउसंधि ।
 उंदुर-उंदुर ।
 उंदुरुमाला-उंदुरुमाला ।
 उक्कट्ठ-उक्किट्ठ ।
 उक्खअ-उक्खाअ ।
 उच्चिअकरण-उच्चियकरण ।
 उच्चिअकरणिज्ज-उच्चियकरणिज्ज ।
 उच्चिअकिच्च-उच्चियकिच्च ।
 उच्चिअजोग-उच्चियजोग ।
 उच्चिअट्ठि-उच्चियट्ठि ।
 उच्चिअत्त-उच्चियत्त ।
 उच्चिअत्थापायण-उच्चियत्थापायण ।
 उच्चिअपवित्तिप्पहाण-उच्चियपवित्तिप्पहाण ।
 हाण ।
 उच्चिआचरण-उच्चियाचरण ।
 उच्चिआणुहाण-उच्चियाणुहाण ।
 उच्च-उच्चअ ।
 उच्चण-उच्चण ।
 उच्चूदसरीरगिह-उच्चूदसरीरघर ।
 उच्चेद-उच्चेय ।
 उज्जुग-उज्जुय ।

उज्जुगलूय-उज्जुयभूय ।
 उज्जुगपा-उज्जुयपा ।
 उज्जुगा-उज्जुया ।
 उज्जुमह-रिउमह ।
 उज्जुसुत्त-उज्जुसुय ।
 उज्जुसुत्तवयणविच्छेय-उज्जुसुपवयण-
 विच्छेय ।
 उज्जुसुत्ताज्ञास-उज्जुसुयाज्ञास ।
 उछिअ-उछिय ।
 उछिमदंड-उछियदंर ।
 उहुंग-उहुडग ।
 उहुंजाण-उहुंजाणु ।
 उहुलोग-उहुलोय ।
 उहुलोगविभत्ति-उहुलोयविभत्ति ।
 उह-उरण ।
 उण्णुइता-उण्णुइतो ।
 उण्णपरिसह-उण्णपरीसह-उसिणपरिस-
 ह-उसिणपरीसह ।
 उण्णपरियाव-उसिणपरियाव ।
 उण्णानित्त-उण्णहित्त ।
 उत्तमाहि-उत्तमरिद्धि ।
 उत्तरकुरा-उत्तरकुरु ।
 उत्तरसमा-उत्तरासमा ।
 उत्तरिज्ज-उत्तरिअ ।
 उत्तरुह-उत्तरुहु ।
 उत्तारण-उत्तारण ।
 उत्ताडिज्जंत-उत्तालिज्जंत ।
 उदग-उदय ।
 उदगगभ-उदगगभ ।
 उदगवेव-उदगलेव ।
 उदगसीमय-उदगसीमय ।
 उदगहारा-उदगहारा ।
 उदयसायर-उदयसागर ।
 उदर-उयर ।
 उदरगंठि-उयरगंठि ।
 उदरत्ताण-उयरत्ताण ।
 उदार-उराल ।
 उदंसिय-उदंसिउ ।
 उदत-उदय ।
 उदिमदिउं-उदिमदिय ।
 उम्माद-उम्माय ।
 उम्मादपमाय-उम्मायपमाय ।
 उम्मिवीइ-उम्मीवीइ ।
 उराल-ओराअ ।
 उलुग-उलूग ।
 उलुगच्छि-उलूगच्छि ।
 उलुगपत्त-उलूगपत्त ।
 उलुगपत्त-उलूगपत्त ।
 उलुगी-उलूगी ।
 उवएसणा-उवदेसणा ।
 उवस्स-उवस्सा ।

उवगारण-उवयारण ।
 उवगारियालपण-उवगारियलपण ।
 उवचित-उवचिय ।
 उवट्टण-उवट्टण ।
 उवट्टणविहि-उवट्टणविहि ।
 उवट्टवणा-उवट्टावणा ।
 उवट्टवणाकप्पिय-उवट्टावणाकप्पिय ।
 उवट्टवणागहण-उवट्टावणागहण ।
 उवट्टवणायरिय-उवट्टावणायरिय ।
 उवट्टवणारिह-उवट्टावणारिह ।
 उवट्टवणी-उवट्टावणी ।
 उवट्टवित्त-उवट्टावित्त-उवट्टवेत्त-
 उवट्टावेत्त ।
 उवरिम-उपरिम ।
 उवलीण-उवल्लीण ।
 उववूह-उववूहा ।
 उसभ-उसह ।
 उसभकंठ-उसहकंठ ।
 उसभणाराय-उसहणाराय ।
 उसभदत्त-उसहदत्त ।
 उसभपुर-उसहपुर ।
 उसभपुरी-उसहपुरी ।
 उसजसेण-उसहसेण ।
 उसणपरिसह-उसिणपरीसह ।
 उसिय-उसिय-ऊसिय ।

॥ ए ॥

एइ-एया ।
 एक-एग-एय ।
 एकअ-एगअ-एकइअ-एगइअ ।
 एकइअ-एगइअ-एकइय-एगइय ।
 एकसि-एककसिअ-एकइआ-एकइआ-
 एगया ।
 एककओ-एगओ-एकदो-एककतो-एगतो ।
 एकओखहा-एगओखहा ।
 एककओणंतय-एगओणंतय ।
 एककओपमाग-एगओपमाग ।
 एककओवंका-एगओवंका ।
 एककओवत्त-एगओवत्त ।
 एककओसमुवायग-एगओसमुवायग ।
 एककओसहिय-एगओसहिय ।
 एककंगिय-एगंगिय ।
 एककंत-एगंत ।
 एककंतओ-एगंतओ ।
 एककंतकूर-एगंतकूड ।
 एगंतचारि-एगंतयारि ।
 एगचरियापरिसह-एगचरियापरीसह ।
 एगत-एगय ।
 एगता-एगया ।
 एगदा-एगया ।

एगारस-एगारह ।
 एगूणवीस-एगूणवीसइ ।
 एज-एय ।
 एजत-एजयंत ।
 एजणं-एयण ।
 एजणा-एयणा ।
 एजमाण-इजमाण ।
 एण्णज्ज-एण्णज्ज ।
 एण्णज्जय-एण्णज्जय ।
 एण्ह-एताइ ।
 एत-एय ।
 एतकम्म-एयकम्म ।
 एतप्पगार-एयप्पगार ।
 एतप्पहाण-एयप्पहाण ।
 एतसमायार-एयसमायार ।
 एतारिस-एयारिस-एतारिच्छ-एयारिच्छ ।
 एतारूव-एयारूव ।
 एतावंति-एयारवंति ।
 एरिक्ख-एलक्ख ।
 एलक्ख-एलक्ख ।
 एलग-एलय ।
 एव-एवं ।

॥ ओ ॥

ओघसिय-ओघसिय ।
 ओघ-ओहु ।
 ओचिइय-ओचिच्च ।
 ओचिइयजोग-ओचिच्चजोग ।
 ओदण-ओयण ।
 ओदणविहि-ओयणविहि ।
 ओभासण-ओहासण ।
 ओभासणभिक्षा-ओहासणभिक्षा ।
 ओजासमाण-ओहासमाण ।
 ओरसवद्वसमणाय-उरस्सवलसमणा-
 गय ।
 ओलि-ओली ।

॥ क ॥

कअगह-कयगह ।
 कइअवपप्पत्ति-कइयवपप्पत्ति ।
 कइअवपेमगिरितडो-कइयवपेमगिरि-
 तडो ।
 कइअविया-कइयविया ।
 कइविया-कइविका ।
 कंकत-कंकय ।
 कंखापओस-कंखप्पओस ।
 कंचणउर-कंचणपुर ।
 कंची-कंची ।
 कंरुक्क-कंरुग ।
 कंदुयगह-कंदुगह ।

कंसपत्नी-कंसपाई ।
 कक्रोर-कक्रोत्र ।
 कचगर्भी-कचगर्वी ।
 कचु-कचू ।
 कचुव-कचुव ।
 करुजोग-कयजोग ।
 कर्मि-कमी ।
 करुग-कडुय ।
 करुगतुंबी-करुयतुंबी ।
 करुगफलदंसग-करुयफलदंसग ।
 करुगफलविवाग-करुयफलविवाग ।
 कणगावली-कणगावलि ।
 कणाद-कणाय ।
 कणिआर-कसिआर ।
 कणिक-कणिय ।
 कणधार-कसहार ।
 कसपालि-कसपाली ।
 कपववहार-कपववहार ।
 कमण-कमन ।
 कमलागरखंरवोहय-कमलागरखंरवोहय ।
 कमलापीड-कमलामेल ।
 कम्भीर-कम्हीर ।
 कामकारि-कम्मकत्ता ।
 कम्मपगमि-कम्मपयडि ।
 कम्मयकायजोग-कम्मणकायजोग ।
 कम्मयणाम-कम्मणणाम ।
 कम्मयवग्गणा-कम्मणवग्गणा ।
 कम्मायरिय-कम्मरिय ।
 कम्मोपाहिविणिमुक्क-कम्मोवाहिविणिमु-
 क्क ।
 कयणू-कयन्नू ।
 कयविक्रयज्झाण-कयविक्रयंजाण ।
 करणओ-करणतो ।
 करतल-करयत्त ।
 करतलपग्गहिय-करयलपग्गहिय ।
 करतलपग्गट्टविप्पमुक्क-करयलपग्गट्टवि-
 प्पमुक्क ।
 करतलमाइय-करयलमाइय ।
 करतलपरिमिय-करयलपरिमिय ।
 करज-करह ।
 कलसंगलिया-कलसंवलिया ।
 कलाद-कलाय ।
 कलिकलुस-कलिकलुस ।

कलुसकम्मण-कलुसकम्म ।
 कलुसाउलचेय-कलुसाविउचेय ।
 कलुग-कलुय ।
 कविज्जुय-कवेज्जुय ।
 कविज्जुयावाय-कवेज्जुयावाय ।
 कह-कहं ।
 कहकहभूय-कहकगभूय ।
 काऊण-काऊण ।
 काक-काग ।
 काकंदिय-कागंदिय ।
 काकंदिया-कागंदिया ।
 काकजंघ-कागजंघ ।
 काकजंघा-कागजंघा ।
 काकणि-कागणि ।
 काकणिमंसग-कागणिमंसग ।
 काकणिरयण-कागणिरयण ।
 काकणिलक्खण-कागणिलक्खण ।
 काकतालिज्ज-कागतालिज्ज ।
 काकतुंड-कागतुंड ।
 काकधठ-कागधठ ।
 काकपाल-कागपाल ।
 काकपिंडी-कागपिंडी ।
 काकल-कागल ।
 काकलि-कागलि-काकली-कागली ।
 काकस्सर-कागस्सर ।
 काणक-काणग ।
 कादंव-कायंव ।
 कादंवग-कायंवग ।
 कादंबरी-कायंबरी ।
 कामभोगसंसापओग-कामभोगसंसाप-
 ओग ।
 कामासंसापओग-कामासंसापओग-का-
 मासंसापओग ।
 कायपरिचारग-कायपरियारग ।
 कायरो-कायलो ।
 कारवण-कारावण ।
 कारवाहिय-कारावाहिय ।
 कारविय-काराविय ।
 कालागरु-कालागुरु ।
 कालिग-कालिय ।
 कालिगसुय-कालियसुय ।
 कालिगा-कालिया ।
 कालिगाधाय-कालियावाय ।

कालाद-कावाय ।
 किरियारय-किरियरय ।
 किसल-किसलअ ।
 कीयकड-कीयगर ।
 कुंजग-कुंजय ।
 कुंभगर-कुंभयार ।
 कुक्खि-कुच्छि ।
 कुक्खिअकिमि-कुच्छिअकिमि ।
 कुक्खिपूर-कुच्छिपूर ।
 कुक्खिवेयणा-कुच्छिवेयणा ।
 कुक्खिसंयुय-कुच्छिसंभूय ।
 कुक्खिसंवल-कुच्छिसवल ।
 कुक्खिसूत्र-कुच्छिसूत्र ।
 कुक्खिहार-कुच्छिहार ।
 कुवेर-कुवेर ।
 कुमुअ-कुमुय ।
 कुमुअवणविवाहग-कुमुयवणविवाहग ।
 कुमुआ-कुमुया ।
 कुमुआगर-कुमुयागर ।
 कुलकर-कुलगर ।
 कुलकरइत्थी-कुलगरइत्थी ।
 कुलकरगंठिया-कुलगरगंठिया ।
 कुलकरवंस-कुलगरवंस ।
 कुलतिवग-कुलतिलय ।
 कुवलपपभ-कुवलपपह ।
 कुवेणि-कुवेणी ।
 कुसच्च-कुसत्त ।
 कुहग-कुहय ।
 कुणिय-कोणिय ।
 केअय-केयय ।
 केकाइय-केगाइय ।
 केवलदंसण-केवलदरिसण ।
 केवलदंसणावरण-केवलदरिसणावरण ।
 कोउहल-कोऊहल-कोउहल-कोऊहल ।
 कोकस्सर-कोगस्सर ।
 कोमिग-कोमिअ ।
 कोमिगण-कोमियगण ।
 कोत्थुअ-कोत्थुह ।
 कोदंड-कोडंरु ।
 कोमुई-कोमुदी ।
 कोमुईचार-कोमुदीचार ।
 कोरंट-कोरंटग ।
 कोलपाल-कोलवाल ।
 कोलपागपट्टण-कोलवागपट्टण ।

आगे से कोष्ठक में शब्दान्तर देने की प्रथा उठा दी गयी है किन्तु उनको ग्रन्थ में ही यथास्थान स्थान दिया जायगा ।
 और 'अन्त्यन्यञनस्य लुक्' इस सूत्र से लुक् हुए वर्ण का शब्दान्तर में समावेश नहीं है ।



आवश्यक कतिपय सङ्केत—

१-प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में जी आया करता है, इसीलिये अनेक स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि 'अनुस्वारोऽत्रात्राह्णिकः' तथा 'मकारोऽत्रात्राह्णिकः,' जैसे प्र० भा० ८२८ पृष्ठ में 'असज्झादय' शब्द पर बृ० की गाथा है—'पंसुयमंसयरुहिरं-केससिलावुट्ठि तहरओषाए' ॥ यहाँ समस्त 'रुहिर' शब्द में जी अनुस्वार है। और ३७५ पृष्ठ में 'अणुजाण' शब्द पर "सीलेह मंसफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु"। यहाँ 'तन्त्वादि' का 'तंतुमादीसु' हुआ। और तृ० भा० ६०३ पृष्ठ में भी 'कुसमयमोहमोहमइमोहिय'- 'कुसमयमोहमोहमतिमोहित' इस शब्द पर लिखा है कि—'मकारस्तु प्रकृतत्वात्'। इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है।

२-बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता हांती है, इसीलिये कहा हुआ है कि—"अपि माषं मषं कुर्यात् उन्दोभङ्गं न तारयेत्"। और व्याकरणकार भी "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८। १। ४ ॥ इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं। जैसे 'साहू' को 'सहू', और 'विरुज्झइ (ति)' का 'विरुज्झई [ती]' होता है।

३-कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप जी होता है, जैसे विशेषावश्यक ज्ञाप्य के २०९६ गाथा में "समवाइ अममवाई, उव्विह कत्ता य कम्मं च ॥" (उव्विहत्ति) 'अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात्'। प्रायः करके निर्युक्तिकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेष रूप से काममें लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है। जैसे तृ० भा० ५१७ पृष्ठ में 'किक्कम्म' शब्द पर आवश्यकनिर्युक्ति है कि—'गुरुजण वंदावंती, सुस्समण जहुत्तकारिं च' ॥ ३३॥ इसकी वृत्ति में लिखा है कि 'अनुस्वारलोपोऽत्र ऋष्यः'।

४-प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में जी एकवचन हुआ करता है, जैसे आवश्यकवृत्ति के पाँचवें अध्ययन में 'जरतैरतविदेहेषु' के स्थान में 'जरहेरवयविदेहे' ऐसा एकवचन किया है।

५-प्रायः सूत्रों में और निर्युक्तिगाथाओं में जो निर्विभक्तिक पद आया करते हैं उनमें "स्यम्-जस्-शासां लुक्" ॥ ८। ४। ३४४ ॥ तथा "पठ्याः" ॥ ८। ४। ३४५ ॥ इन सूत्रों से अथवा सौत्र सुप् का लोप समझना चाहिये। जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उक्त० २४ अ० का मूलपाठ है कि—"उल्लंघण पल्लंघण" इत्यादि। और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि 'उजयत्र सौत्रत्वात् सुपो लुक्'। इसी तरह अन्य स्थल में जी समझना चाहिये।

६-सूत्रों में बाहुव्य से प्रथमा के एक वचन में 'अतः सेमोः'। ८। ३। २। इस सूत्र को न लगाकर "अत एत्सौ पुंमि मागध्याम्"। ८। ४। २२७ ॥ इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे तृ० भा० ४६० पृष्ठ में है कि—"आहारए दुविहे पससे"। इस पर टीकाकार की टीका है कि 'आहारको द्विविधः प्रज्ञसः'। इसी तरह निर्युक्तिगाथाओं में जी समझना चाहिये—जैसे "वाहे" का अनुवाद 'व्याधः' है।

७-प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि—"तेणं कालेणं तेणं समणं" और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि "तस्मिन् काले तस्मिन् समये" इसको हेमचन्द्राचार्य जी सिद्धहेमव्याकरण के अष्टमाध्याय-तृतीयपाद में "सप्तम्या द्वितीया"। ८। ३। १३७ ॥ इस सूत्रपर अनुमोदन करते हैं कि 'आपे तृतीयाऽपि दृश्यते। यथा—'तेणं कालेणं तेणं समणं' अम्यार्थः—'तस्मिन् काले तस्मिन् समये'। किन्तु रायपणेणी के टीकाकार मल्लयगिरि लिखते हैं कि 'ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति ऋष्यम्' एमिति वाक्यालङ्कारे। दृष्टान्तश्चान्यत्रापि—'णं' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। यथा—'इमाणं पुढवा' इत्यादि। यह पक्षान्तर जी उनके मत से स्थित है।

८-व्यवहार, वृहत्कल्प, आवश्यकवृत्ति और निशीथ सूत्र, पं० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेष रूप से सूत्र निर्युक्ति और चूर्णि में 'तदोस्तः'। ८। ४। ३०७। इस में और आपत्त्याद् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे तृ० भा० 'किक्कम्म' शब्द के ४१४ और ४१५ पृष्ठ में वृहत्कल्प की निर्युक्ति है कि—"ओसंके भेदुं, संकच्छेती उ वातगो कुविओ"। यहाँ पर शङ्कावेद की दकार को तकार और वाचक की चकार को तकार किया है। इसी तरह "इय संजमस्स विवतो, तस्मेवट्ठा ण दोमाय" ॥ इस गाथा में भी व्यय शब्द की यकार को भी तकार किया है। इसी तरह तृ० भा० ५०६ पृष्ठ के 'काहिय' शब्द पर निशीथ सूत्र की निर्युक्ति और चूर्णि की व्यवस्था है, जैसे 'तक्कम्मो जो थम्मं, कथंति सो काधितो होई' ॥ ६३।

इस निर्बुक्तिगाथा की चूँकि है कि—‘एवंविधो काठितो जवति’। यहाँ पर जी कायिक के ककार को तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। थकार को धकार तो ‘थो धः’ ॥ ८। ४। २६७ ॥ और ‘अनादौ स्वरादसंयुक्तानां कान्त्यपकां गवदधवभाः’ ॥ ८। ४। ३६६। इत्यादि सूत्रों से होता है।

ए-संस्कृत शब्दों की सिद्धि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिद्धि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ऋ, लृ, ऐ, औ का अभाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ढ, ञ आदि कई व्यञ्जनों का अभाव है।

१०-व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का ‘अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्’ ॥ ८। १। ११॥ इस सूत्र से लुक् हो जाने पर किसी शब्द का तो व्यञ्जनान्तस्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अजन्त में विपरिणाम हो जाता है, इसीलिये ह्रस्वन्त शब्दों की सिद्धि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल ‘आत्मन्’ शब्द और ‘राजन्’ शब्द की सिद्धि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हें अन्य नकारान्त शब्दों की जी व्यवस्था की जाती है।

११-यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में ठोकर फिर लिया है तो जहाँ से पाठ टूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में दी दिया है कि पाठक त्रुटि में न पड़े।

१२-प्राकृत जापा में हिन्दी जापा की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु “द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्” ॥ ८। ३। १३० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्वित्वबोधन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी “चतुर्थ्याः षष्ठी” ॥ ८। ३। १३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३-गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुवन्त अथवा तिङन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर जी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [-] ऐसा चिह्न दिया है।

१४-बहुतसी जगह गाथाओं में शुद्ध या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाक्षर में परिणाम होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [५] ऐसा चिह्न दिया गया है। यद्यपि ‘दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ’ ॥ ८। १। ४॥ इस सूत्र से ह्रस्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने से सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये ह्रस्वबोधक संकेत किया गया है, इसी तरह व्याकरणमहाभाष्य में जी लिखा है कि—“अर्थ एकारः, अर्थ ओकारो वा इति राणायनीयाः पठन्ति”। और वाग्वनटविरचित प्राकृत पिङ्गलसूत्र में भी लिखा है कि—

“दीहो संजुत्तपरो, विन्दुजुओ पाणिओ अ चरणे ।

स गुरु वंक छुमत्तो, अषो झहु होइ सुख एककझो” ॥

इस तरह गुरु झघु की व्यवस्था करके लिखते हैं कि—

‘कत्य वि संजुत्तपरो, वषो झहु होइ दंसणेण जहा ।

परिहसइ चित्तधिजं, तरुणिकडक्खमि णिवुत्तं’ ॥

दूसरा अपवाद— ‘इहिकारा विन्दुजुआ, एओ मुष्ठा अवणमिलिआ वि लहु ।

रहवजणसंजोए, परे अमेसं पि सविहासं’ * ॥

उदाहरण— ‘माणिणि ! माणहिँ काई फल, ऐओ जे चरण पहु कन्त ।

सहजे जुअंगम जइ णमड, किं करिए मणिमन्त ?’ ॥

दूसरा विकल्प— ‘जइ दीहो वि अ वणो, झहु जीही पठइ सो वि झहु ।

वषो वि तरुणिकडिओ, दो तिषि वि एक जाणेहु” ÷ ॥

उदाहरण— ‘अरेरे वाहहि कान्ह ! णाव जोटि डगमग कुगति ण देहि ।

तइ इयिँ णदिहिँ सँनार देइ, जो चाहसि सो लेहि” ॥

* इकारहिकारो विन्दुयुतौ एओ शुद्धौ च वर्णमलितायाप लघू । रेफहकारौ, व्यञ्जनसंयोगे परेऽशेषमपि सविभाषम् ॥

÷ यदि दीर्घमपि वर्णं झघुं जिहा पठति सोऽपि लघुः । वर्णौ अपि त्वरितपठितौ द्वौ प्रयोगौ वा एकं जानीत ॥

बन्ध की परम आवश्यकता— ' जेभ न सहइ कणअतुला, तिअतुलिअं अद्धअदेण ।

तेभ ए सहइ सवणतुला, अवहंइदं वंदभंगेण ” ॥

१५—कहीं कहीं गाथाओं में शब्दों के आद्यन्त स्वर को 'लुक्' ॥१॥१०॥ सूत्र से छोप कर नावते हैं, और कहीं आर्षत्वात् भी लोप करते हैं—जैसे एक उदाहरण तृ० जा० ५५६ पृष्ठ में 'किरियावाइ (ए)' शब्द पर सूत्रकृताङ्ग की गाथा है कि—“गई च जो जाणइऽगागई च”। इसी तरह अतीत के स्थान में 'तात' लिखा करते हैं, और म० जा० ७८ए पृष्ठ में 'अवच' शब्द पर 'वेतिपरे अहं तू' और ७७२ पृष्ठ में 'अलाजपरीसह' शब्द पर 'अलाजए होठदाहरण' इत्यादि समझना चाहिये।

१६—मायः बहुत से स्थान पर 'से एणं' इत्यादि मूलपाठों में 'से' शब्द आया करता है, उस पर ज० १३-१-३ (स्था० ५६२-२-५) में लिखा है कि—“से शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धोऽयं शब्दार्थः, कचिदसावित्यर्थे, कचित्तस्येत्यर्थे प्रयुज्यते।

प्रकीर्णक विषय—

१—व्योतिष्करणक में लिखा है कि स्कान्दिनाचार्य की प्रवृत्ति समय में दुःषम आरा के प्रभाव से दुर्भिक्ष पड़ जाने पर साधुओं का पढ़ना गुणना सब नष्ट होगया, फिर दुर्भिक्ष शान्त होने पर जब दो संघों का मित्राप हुआ (जो एक मथुरा में और दूसरा बलभी में था) तब दोनों के पाठ में वाचना जेद हो गया, क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ के पुनः स्मरण करके मंथन में अवश्य वाचनाजेद हो जाता है।

२—विशेषावश्यक ज्ञाप्य आदि कई ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्थक्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय व्याख्याता और श्रोता दोनों तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, किन्तु 'आर्यरक्षित' के समय से अनुयोगों का पार्थक्य हुआ है, यह बात प्रथम भाग में 'अज्जरक्खिय' शब्द पर और 'अणुओग' शब्द पर विस्तार से लिखी हुई है।

३—तृतीय जाग के ५०० पृष्ठ में 'कालियमुय' शब्द पर काञ्चिश्रुत (एकादशाङ्गी) के व्यवच्छेद की चर्चा है कि सुविधि जिन के तीर्थ का सुविधि और शीतल जिन के मध्य काल में व्यवच्छेद हो गया, और व्यवच्छेद का काल पण्योपमचतुर्थजाग माना गया है। इसी तरह और भी पद (उः) जिनों में समझना, किन्तु व्यवच्छेद काज तो सातो जिनों के मध्य में इस तरह समझना—“चउजागो १ चउजागो २, तिण्णि य चउजाग ३ पलियमेगं च ४ । तिण्णव य चउजाग ५, चउत्थजागो य ६ चउजागो ७” ॥ १ ॥ इति। परन्तु दृष्टिवाद अङ्ग का व्यवच्छेद तो सभी जिनान्तरों में था, और उसकी अवधि भी नहीं की हुई है।

४—यद्यपि मीमांसादर्शन के तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्राकृतजापा (अर्धमागधी) पर बहुत कुछ आक्षेप किया है, किन्तु वह उनकी अदूरदर्शिता है और व्यर्थ का ही कटाक्ष है, क्योंकि इस कोश के 'पागड' शब्द पर विशेषावश्यक ज्ञाप्य पर टीकाकार का लेख है कि—“ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिवर्धमिति दुःश्रद्धेयम् । मैवं गद्व्ययम्—‘वालव्वीमृट्मृग्वीणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः’ ॥ १ ॥ और यह विचारमद्ग जी है क्योंकि जो जापा 'राष्ट्रजापा' या 'मातृभाषा' जिस समय होती है, उसीमें जो लोगों को उपदेश मिलता है उसीमें आवाजवृद्ध पठितापठित स्त्री पुरुष सर्वमाधारण जीवों का विशेष उपकार होता है।

५—'वागरण' शब्द पर आ० म० द्वि० कार लिखते हैं कि—जगवान् ऋषभ देव ने शक्रेन्द्र से जो व्याकरण प्रथम कहा था वही पेन्द्र व्याकरण के नाम से प्रख्यात हुआ। तथा कल्पसुबोधिका में लिखा है कि—२० व्याकरण हैं, अर्थात्—१ पेन्द्र, २ जैनेन्द्र, ३ मिच्छहेम, ४ चान्द्र, ५ पाणिनीय, ६ सारस्वत ७ शाकटायन, ८ वामन, ९ विश्वामित्र, १० बुद्धिमागर, ११ सरस्वतीकण्ठाचरण, १२ विद्याधर, १३ कलापक, १४ जीमसेन, १५ शैव, १६ गौर, १७ नन्दि, १८ जयोन्य, १९ मुष्टि व्याकरण, और २० वाँ जयदेव नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिये आवश्यकवृत्ति के दूसरे अध्ययन में लिखा है कि जब पेन्द्रादि आठ व्याकरण हैं तब केवल पाणिनीय व्याकरण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिये। यद्यपि प्राकृतकल्पलतिका, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र, प्राकृत पर्जन्याचन्द्रिका, प्राकृतपञ्चरत्ना आदि कई प्राकृत के व्याकरण हैं परन्तु जैसा सिद्धहेम का अष्टमाध्याय उत्तम प्राकृत व्याकरण बना है वैसा प्रायः सकलविषयसंग्राहक दूसरा प्राकृत का व्याकरण नहीं है। तथापि उसके गद्यमय होने से लोगों को कठस्थ करने में कठिनता पड़ती देखकर इस कोश के कर्ता हमारे गुरुवर्य पूर्वोक्त सुरीजी महा-

राज ने अनुग्रह करके सिद्धहेम सूत्रों पर श्लोकवृत्त विवरण रचकर सरल कर दिया, जो कि कोश के प्रथम भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्योंकि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् बिना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस श्रिये पढ़ते उसको एक बार खूब मनन करके पीछे कोश को देखने से विशेष आनन्द आवेगा।

६-यद्यपि महानिशीथ सूत्र में टीका या चूर्णि नहीं पायी जाती, तथापि हमारी पुस्तक में चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि-“अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैष्ठान्तिकाः, केचिदालापकान् सम्यक् श्रद्धात्तेवं तैश्चरधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धाधानमित्याह हरिजद्रसूरिः, न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैश्चरधानमित्यर्थः। यतः स्थानसमवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचक्रे, यथा प्रतिस्तापस्यज्ञमस्ति-तद्गृहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः १ सप्ताष्टवारान् यावदुपपत्तेस्तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिखावरदृसंपुटैर्गलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत् प्राणव्यापत्तिर्न जवतीति। वृष्टवादस्तु पुनर्यथा-तावदिदमर्पिसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रचूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, शुष्कातिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चेह वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥ ” इसके बाद फिर ‘ एवं कुशीलसंसर्गि सव्वापाएहि पयदियं ’ इत्यादि पञ्चमाध्ययन का प्रारम्भ है। इसीतरह कहीं १ चूर्णि जी मिलती है जैसे इसी कोश के प्र० भा० ‘ अरहंत ’ शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्णि दोनों हैं। और ‘ एस समासत्यो ’ ‘ वित्यस्त्यं तु इमं ’ ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र १ पृष्ठ १६ पङ्क्ति में लिखा है।

७-सूत्रकृताङ्ग की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीसी मालूम पड़ती हैं जैसे गन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे जी गन्दालक्षणविहीन नहीं हैं, क्यों कि बहुत से ऐसे भी गन्द हैं जो पढ़ने में असङ्गत से मालूम होते हैं किन्तु लक्षण से पूर्ण सङ्गत हैं। क्योंकि प्राकृत पिङ्गलसूत्र में चन्द्रखेखा-चित्र-नाराच-नील-चञ्चला-ऋषभगजविलसित-चकिता-मदन-सलिता-वाणिनी-प्रवरललित-गरुरस्त-अचलधृति गन्द जी विलक्षण हैं। जैसे मदन सलिता का यह उदाहरण है-

“ विप्रपुत्रगणितचिकुरा धौताधरपुटा,
म्लायत्पत्रावलिकुचतटोच्छ्वासोर्मितरला ।
राश्राऽत्यर्थं मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,
कंसाराते रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम् ” ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी गन्द का दक्षिण सङ्गत न हो तो वहाँ आप गन्द समझना चाहिये।

पैंतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, निर्युक्ति और जाण्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है-

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह अङ्गो के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण-

१-आचाराङ्ग सूत्र, अध्ययन २९, मूलश्लोकसंख्या १९००, और उसपर शीघ्राङ्गाचार्यकृत टीका १२०००, चूर्णि ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ३६८, श्लोक ४५०, (जाण्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है)। संपूर्णसंख्या १३२५० है।

२-मूलकृताङ्ग सूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या ११००, और उसपर शीघ्राङ्गाचार्यकृत टीका १२०००, चूर्णि १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा १०८, श्लोक १९०, (जाण्य नहीं है) संपूर्ण संख्या १९१०० है। संवत् १५८३ में नवीन श्रीहेमविमलसूरि ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है।

३-स्थानाङ्ग सूत्र, अध्ययन (ठाणा) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् १११० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १९२९० है, संपूर्ण संख्या १९०१० है।

४-समवायाङ्ग सूत्र, (१०० समवाय तक समवायमिलते हैं) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अनजयदेवसूरिकृत टीका ३७७६, चूर्णि पूर्वाचार्य कृत ४००, संपूर्ण संख्या ९८४३ है।

९-जगवती सूत्र (विवाहप्रवृत्ति), शतक ४१, मूलश्लोकसंख्या १९७५२, और उसपर श्रीअजयदेवसूत्रिकृत टीका (डॉ. लालाचरण से शोधो हुई) १८६१६, चूर्णि पूर्वाचार्यकृत ४०००, संपूर्ण संख्या ३८३६८ है । संवत् १९३८ में दानशेखर उपाध्याय ने १२००० श्लोक संख्या की लघुवृत्ति बनवाई है ।

६-ज्ञाताधर्मकवाङ्मय सूत्र, अध्ययन १६, मूलश्लोकसंख्या ५९००, और उसपर अभयदेवसूत्रिकृत टीका ४७५२ है । इस समय में १९ कथाएँ दिखायी देती हैं, किन्तु पूर्व समय में साढ़े तीन कराढ़ कथाएँ थी ऐसी प्रामाण्य है ।

७-उपासकदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन १०, मूलश्लोकसंख्या ८१२, और इसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ६००, संपूर्ण संख्या १७१२ है ।

८-अन्तर्गदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ६०, मूलश्लोकसंख्या ६००, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ३००, संपूर्ण संख्या १२०० है ।

९-अणुत्तराववाङ्मयदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ३३, मूलश्लोकसंख्या २६२, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका १००, संपूर्ण संख्या ३६२ है ।

१०-प्रश्नवाकरण सूत्र, ९ आश्रवद्वार और ५ सम्बन्धद्वाररूप १० अध्ययन, मूलश्लोकसंख्या १२५०, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ४६००, संपूर्ण संख्या ५८५० है ।

११-विपाक सूत्र, अध्ययन २०, मूलश्लोकसंख्या १२१६, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ६००, संपूर्ण संख्या ७११६ है ।

संपूर्ण ग्यारह अङ्गों की मूलश्लोकसंख्या ३५६५६ है, और टीका ७३५४४ है, और चूर्णि २२७०० है, तथा नियुक्ति ७०० है, और सब मिलकर १३२६०३ है ।

आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की टीका तो शीलाङ्गाचार्यकृत है और बाकी नवाङ्गों की टीका अजयदेवसूत्रिकृत है, इसी लिये अजयदेवसूत्र का नवाङ्गीवृत्तिकार के नाम से उल्लेख किया जाता है; अजयदेवसूत्रिणी का चरित्र प्र० भा० ७०६ पृष्ठ में और ' सीलंगाचार्य ' शब्दपर शीलाङ्गाचार्य की कथा देखना चाहिये ।

चारह उपाङ्गों के नाम, टीका, और संख्या इस तरह है—

१-उचवाङ्ग उपाङ्ग, (आचाराङ्गप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या १२००, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ३१२५, संपूर्ण संख्या ४३२५ है ।

२-रायपमेणी उपाङ्ग, (सूत्रकृताङ्गप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या २०७८, और उसपर मलयगिरिकृत टीका ३७००, संपूर्ण संख्या ५७७८ है ।

३-जीवाभिगम उपाङ्ग, (म्यानाङ्गप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४७००, मलयगिरिकृत टीका १४०००, लघुवृत्ति ११००, और चूर्णि १५०० है, संपूर्ण संख्या २१३०० है ।

४-पन्नवणा (पड़ापना) उपाङ्ग, (समवायाङ्गप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या ७७८७, मलयगिरिकृत टीका १६०००, हरिचन्द्रसूत्रिकृत लघुवृत्ति ३७२८ है, संपूर्ण संख्या ७७५१५ है ।

५-जम्बूद्वीपवृत्ति उपाङ्ग, (जगवतीप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४१४६, मलयगिरिकृत टीका १२०००, चूर्णि १८६० है, संपूर्ण संख्या १८००६ है ।

६-चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र, (ज्ञानाप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६४११, लघुवृत्ति १००० है, संपूर्ण संख्या १२६११ है ।

७-सूक्ष्मवृत्ति सूत्र उपाङ्ग, (ज्ञानाप्रतिवद्ध) मूलसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६०००, चूर्णि १०००, संपूर्ण संख्या १२२०० है । चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति दोनों मिलकर ज्ञानाप्रतिवद्ध हैं ।

८-कल्पिका उपाङ्ग, [उपासकदशाङ्गप्रतिवद्ध] कात्र, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रापकृष्ण, पितृमेनकृष्ण, महामेनकृष्ण के नाम से १० अध्ययन हैं ।

ए-कल्पावतंसिका उपाङ्ग, [अन्तगडदशाङ्गप्रतिवच्छ] पद्म, महापद्म, भङ्ग, सुभङ्ग, पद्मजङ्ग, पद्मसेन, पद्मगुल्म, न-
द्विनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्ययन हैं ।

१०-पुष्पिका उपाङ्ग, [अणुत्तरोवार्द्धप्रतिवच्छ] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुत्रिका, पुण्यभङ्ग, माणिभङ्ग, दत्त, शिव,
बालि, अनादृत नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

११-पुष्पचूडिका उपाङ्ग, [प्रशव्याकरणप्रतिवच्छ] श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी,
रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

१२-वह्निदिशा उपाङ्ग, [विपाकसूत्रप्रतिवच्छ] निसङ्ग, अत्रि, दह, वह, पगती, जुति, दसरह, दहरह, महाधनु,
सत्तधनु, दसधनु, नाभेसय के नाम से १२ अध्ययन हैं ।

इन पाँचो उपाङ्गों का एक नाम ' निरयावली ' है, और कल्पिका आदि पाँचो उपाङ्गों के ५२ अध्ययन हैं । इनकी
संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०८ है, इनकी वृत्ति ७०० श्री चन्द्रसंस्कृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बारह उपाङ्गों की मूलसंख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७८३६, और वृत्ति ६८२८, चूर्ण
३३६०, संपूर्णसंख्या १०३५४४ है ।

दश पङ्क्त्याओं (प्रकीर्णक) की गाथा संख्या इस तरह है—

१-चउसरण पङ्क्ता में ६३ गाथा हैं । २ आउरपच्चक्खाण पङ्क्ता में ८४ गाथा हैं । ३ भत्तपच्चक्खाण पङ्क्ता में
१७२ गाथा हैं । ४ संथारग पङ्क्ता में १२२ गाथा हैं । ५ तंहुवैयाली पङ्क्ता में ४०० गाथा हैं । ६ चन्दविज्जगप-
इन्ना में ३१० गाथा हैं । ७ देविन्दत्थव पङ्क्ता में २०० गाथा हैं । ८ गणिविज्जा पङ्क्ता में १०० गाथा हैं । ९
महापच्चक्खाण पङ्क्ता में १३४ गाथा हैं * । १० समाधिमरण पङ्क्ता में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पङ्क्त्याओं की संपूर्ण गाथासंख्या २३०९ है और प्रत्येक में दश दश अध्ययन हैं, और ये दश पङ्क्ता जो
पैतावलीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पङ्क्ता गाथा ४३ ।

२ ऋषिजापित सूत्र संख्या ७५० ।

३ सिद्धिमाचृतसूत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दीवसागरपन्नति संग्रहणी संख्या २५०, और इसकी टीका २५०० है ।

५ अङ्गविज्जापङ्क्ता संख्या ८८०० (कहीं २ पाई जाती) है ।

६ ज्योतिष्करणक पङ्क्ता संख्या ५००, इसकी टीका मलयगिरिकृत ५४०० है, और २१ पाहुना [प्राचृतक] हैं ।

७ गच्छाचारपङ्क्ता, टीका विजयविमलगणिविरचित, मूलाटीका संख्या ५८५० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अङ्गचूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूछा कि-
ग्यारह अङ्गों की अङ्गचूलिका किस वास्ते है ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि-"जिस तरह आचूषणों से अङ्ग शोजित
होते हैं उसी तरह अङ्गचूलिका से एकादशाङ्गी शोजित होती है, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के
लायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य है" । फिर जम्बू स्वामी ने पूछा कि-"गुरुपरंपरागम कैसा ?" ।
उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि-"आगम तीन प्रकार के हैं-१ अन्तागम, २ अनन्तरागम, और ३ परंपरागम । अर्थ से तो
अर्हन् जगवान का अन्तागम है, और सूत्र से गणधरों का अन्तागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अनन्तरागम है,
उसके बाद सभी का परंपरागम है " । और अङ्गचूलिका के अन्त में उपाङ्गचूलिका की चर्चा है कि-सुधर्मा-
स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-"सेस उवंगचूलिया तो गहेयव्वं " अर्थात् अवशिष्ट जाग उपाङ्गचूलिका
से लेना चाहिये ।

* कई लिखी प्रतियों में महापच्चक्खाण पङ्क्ता के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पङ्क्ता लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए
दश पङ्क्त्याओं से पृथक् जी है परन्तु उनकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है ।

छ. ठेदग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निशीथ सूत्र, उद्देश २०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुजाप्य ७५००, और जिनदासगणिमहत्तरविरचित चूर्णि २८०००, बृहद्भाष्य १२००० है। यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। जज्ञवाहुस्वामी की बनायी हुई निर्युक्ति गाथाएँ हैं। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ४८२१५ है। शीघ्रभजसूरी के शिष्य चन्द्रसूरी ने वि० सं० ११७४ में व्याख्या की है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पजाप्य, आवश्यकचूर्णि आदि कई एक ग्रन्थ बनये हैं।

२-महानिशीथ सूत्र, अध्ययन ७, चूलिका २, मूलश्लोकसंख्या ४५००, मतान्तर में इसकी तीन वाचनाएँ हैं—लघुवाचना; ४२००; २-मध्यवाचना ४५००; ३-बृहद्वाचना ११८०० है। किन्तु हमारी पुस्तक के अन्त में लिखा है कि—

“ चत्वारि सयसहस्रा, पंचसयाओ तद्देव पंचासं ॥

चत्वारि मित्रोवा वी, महानिशीहम्मि पाएणं ” ॥ १ ॥ ४५५४ ॥

३-बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४७३ है। इसपर सं० १३३२ में बृहच्छालीय श्रीक्षेमकीर्तिसूरी ने ४२००० संख्यापरिमित टीका बनायी है। जाप्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुजाप्य ८००, चूर्णि १४३२५, संपूर्णग्रन्थसंख्या ७३७५८ हुई। टीका में लिखा हुआ है कि— [कः सूत्रमकार्षीत्, को वा निर्युक्ति, को वा जाप्यमिति ? । उच्यते—पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्याननामकं पूर्वं तस्य यत्तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतिनामप्राज्ञते मूलगुणेषूपत्तरगुणेषु वाऽपराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं, कालक्रमेण च दृष्टपमानुभावतो धृतविलवीर्यबुद्ध्यायुःप्रवृत्तिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण जगवता भज्ज्वाहुस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चाकारि; उजयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती]

४-व्यवहारदशाकल्पच्छेद सूत्र, उद्देश १०, दो खण्ड, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलयगिरिकृत ३३६२५, चूर्णि १०३६१, जाप्य ६००० है। निर्युक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५८६ है।

५-पञ्चकल्पच्छेद सूत्र, अध्ययन १६, मूलसंख्या ११३३, चूर्णि २१३०, और दूसरी टीका की संख्या ३३००, जाप्य ३१७५, संपूर्ण संख्या ६३८८, और गाथासंख्या २०० है।

६-दशाधृतस्कन्धच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १८३५, अध्ययन १०, चूर्णि २२४५, निर्युक्तिसंख्या १६८, संपूर्णसंख्या ४७४८ है। टीका श्रीब्रह्मविरचित है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १२१६ है जिसकी टीका कल्पसुबोधिका है * ।

७-जीनकल्पच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णि १०००, भाष्य ३१२४, संपूर्ण संख्या १६२३० है, और चूर्णि की व्याख्या ११२० है, और इसकी लघुवृत्ति श्रीसाधुरत्नकृत ५७००, और तिलकाचार्यकृत वृत्ति १५०० है।

साधुजितकल्पविस्तार ३७५, धर्मशोपसूरिकृत वृत्ति २६५० है, और उसपर पृथ्वीचन्द्रकृत टिप्पण ६७०, और निर्युक्तिगाथा १६८ जज्ञवाहुस्वामीकृत है, इसकी चूर्णि और टीकाएँ बहुत हैं, परंतु प्रायः करके वि० सं० १७०० के पीछे की बनी हुई हैं।

चार मूलसूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-आवश्यक सूत्र, मूलगाथा १२५, टीका हरिजिजसूरिकृत २२०००, निर्युक्ति भज्ज्वाहुस्वामिकृत ३१००, चूर्णि १८००० है। दूसरी आवश्यकवृत्ति [चतुर्विंशति] २२००० है, उसकी लघुवृत्ति तिलकाचार्य कृत १२३२१ है, और अञ्चलगच्छाचार्यकृत दीपिका १२००० है, इसका भाष्य ४००० है, आवश्यकटिप्पण मल्लधारि हेमचन्द्रसूरिकृत ४६०० है। संपूर्णसंख्या ६८१४६ है, निर्युक्ति की टीका हरिजिजसूरिकृत २२५०० है।

* अर्थात् जगवता वर्तमानस्वामिना अस्माधिस्थानपरिज्ञानपरमार्थ उक्तः, सूत्रतो द्वादशस्वङ्गेषु गणधरैः, ततोऽपि च मन्दमेघमामनुग्रहाय अतिशयिनिः प्रत्याख्यानपूर्वादुद्धृत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापितः । दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासौ श्रुतस्कन्धः । दशाकल्प इति पर्यायनाम । अयं च ग्रन्थोऽस्माधिस्थानादिपदार्थशासनाच्चाख्यम् । अस्याष्टमाध्ययनं कल्पसूत्रमुच्यते, टीका चास्य कल्प-सुबोधिकेति ।

१-विशेषावश्यकसूत्र, [आवश्यकसूत्र मूल (सामायिकाध्ययन) का विशेष परिकर है] मूलसंख्या ९००० है। श्री-जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण कृत है, और इसकी बृहद्वृत्ति १८००० मन्त्रधारिहेमचन्द्रसूरिकृत है, लघुवृत्ति १४००० को-टाचार्यकृत, या जोणाचार्यकृत है, बृहद्वृत्ति की टीका तर्कानुविद्या जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१-पाखी (पाक्षिक) सूत्र, मूल ३६०, सं० ११८० में यशोदेवसूरिकृत टीका ५७००, चूर्णि ४०० है।

१-यतिप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२-दशवैकालिक सूत्र, सत्यंभवसूरिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूरिकृत ६०१०, और मलयगिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्णि ७५००, लघुवृत्ति ३७०० है। निर्युक्तिगाथा ४९० है। आधुनिक सोमसुन्दरसूरिकृत लघुटीका ४२००, तथा समयसुन्दरउपाध्यायकृत लघुटीका २६०० है।

२-पिएडनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० है, वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७९०० है और महासूरिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १९२०० है।

३-ओघनिर्युक्ति, जद्रबाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० हैं, जोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्णि ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४९० है।

४-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ हैं, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल शान्तिसूरिकृत बृहद्वृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १७६४९ [लक्ष्मीवद्वज्जी टीका] है, सं० ११७६ में नेमिचन्द्रसूरि से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गाथानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्णि ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३००।

अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१-नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणिक्रमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३९, चूर्णि सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिजद्रसूरिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूरिकृत टिप्पण ३००० है।

२-अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० हैं, उसपर मन्त्रधारिहेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णि ३०००, और हरिभद्रसूरिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४३०० है।

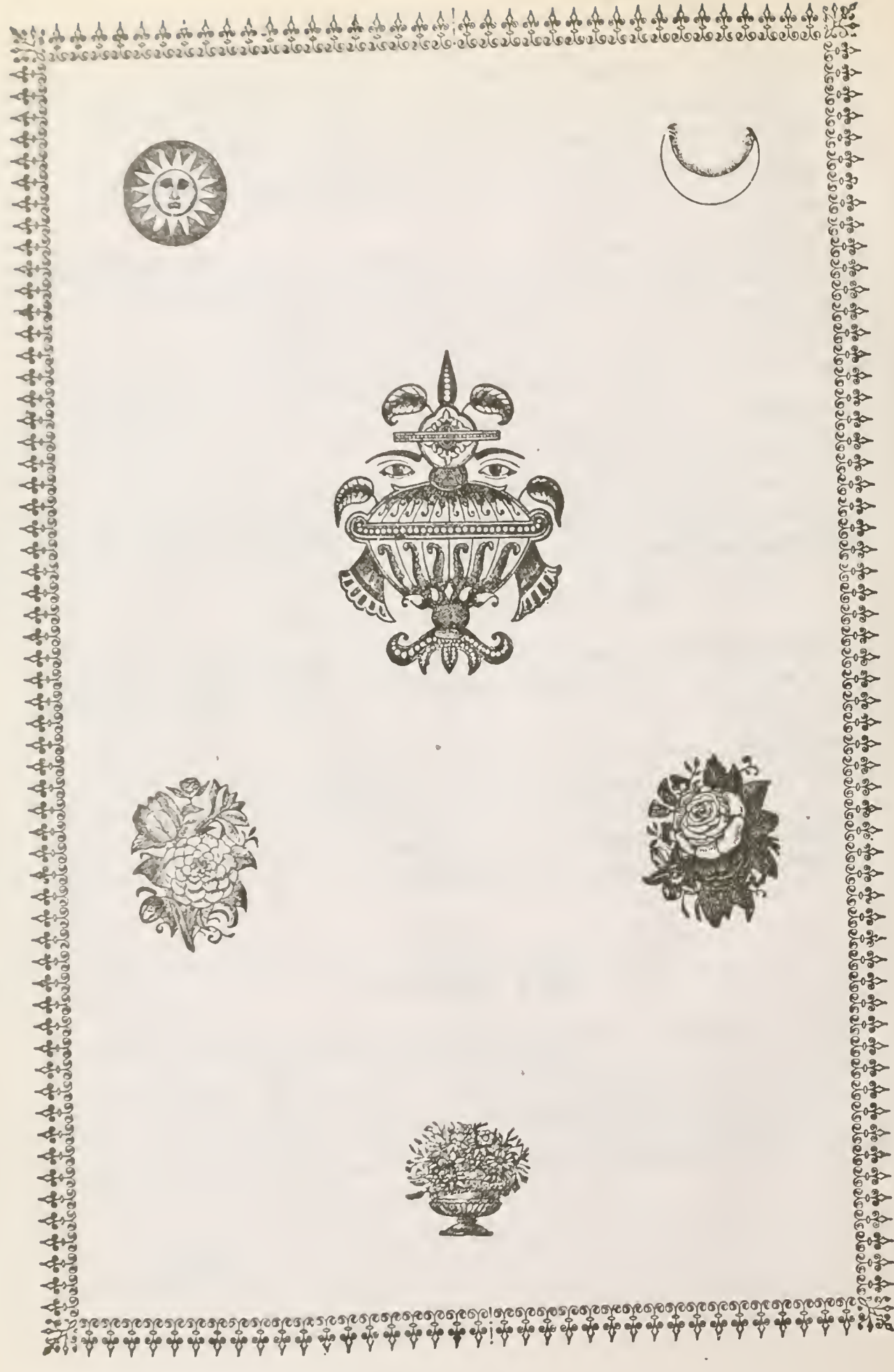
इस तरह ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, दस पङ्क्ता, षः षेदसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलाकर इस समय पैंतालीस आगमों की संख्या ली जाती है। इत्यत्र विस्तरेण।

विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटित गाथाएँ टीका का अवलम्बन लेकर प्रकरण और विषय के अवि-रोध से पूरी की गयी हैं उनमें याद कहीं पर गठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी



उपोद्घातः

अहम् ।

कः खलु सचेतनो जन्मी नाऽस्मात् संसृतिसंस्मरणकलेशादा-
त्मानमपवर्त्तयितुं कामयते ? तथा चास्मिन् भवे चम्प्यमाण-
स्य कस्य वा प्रेक्षावतो दुःखमनागतमजिहासितं भवति ? कि-
न्तु हानोपायपरिज्ञानमन्तरा कथं कृतं कोऽपि समापद्येत ? ।
ततो विश्वस्याऽपि विश्ववात्तेनश्चेतस्तदुपायजिज्ञासायां साऽ-
भिलाषम्-यदेतदपारसंसारपाराचारान्तर्निरन्तरानिमग्नकलेवर-
धारिणामनवरतोत्कटजन्मजरामरणाऽऽदिवेदनाऽजिभूतानां को-
ऽभ्युपायो मौलो हेयमिदं समूलमुन्मूलयति ? । यद्यपि स्वरतर-
धिपणादीतिमात्रिनां विचारशालिनां नरा वाढमुत्तरयितुं प्राग-
ल्यमालम्बिष्यन्ते-यद् धर्ममन्तरेण कोऽप्युपायो न प्रेक्षाप-
थमारोहति तस्मात् पराङ्मुखीकर्तुम् । परं तु कीरनीरयोरिव
धर्माधर्मयोऽत्रिया केवलहंसमपास्य मिश्रणमितथोरन्यतरं द्विवे-
क्तुमसाधारणजनाऽतिरिक्तस्याऽसुकरं वर्तते, यतोऽस्मिन् समये
परःशतानि मतानि धर्मवृत्त्याणि तत इतः प्रचरन्ति, यानि सं-
ख्यातुमप्यशक्यानि संख्यावतां महामनीषिणामपि, किं पुनः
पार्थक्येन धर्मोऽयमर्थं धर्माभास इति प्रदर्शयितुम् । यद्यपि महा-
नुभावानामस्मद्महामान्यानां धन्यतमानामादेशानुसारेणैयद्-
वश्यमाभाषितुं शक्यते-यदस्मिन् दुःषमागपरार्थाय पञ्चमे
काले धर्माज्ञासानामेव विशेषतः प्रायशः प्रचारो भवितुमर्हति
धर्मस्य चाऽवनतिदशा ज्ञातुं युज्यते इति ।

पुनरप्यत्र पर्यनुयोगेन स्मृतिसरणाधिष्ठाने-यत्तेषामन्यतम-
स्तादृशः को नु धर्मानिधेयधुरामधिरोहति ? तत्रैतत् प्रातःवाक्यमु-
पढौक्यन्याहताभियुक्ताः-यस्मिन्प्रवर्त्तकपुरुषा रागद्वेषकवृद्धपङ्का-
ङ्किनाङ्गविकला भवेयुधर्मश्च कुञ्जरादिगिणीलिकापर्यन्तस्य कस्या-
पि प्राणितः परमप्रेयःप्राणपरिवर्त्तनोपदेष्टा न स्यात्, प्रन्युत शाश्व-
तमशाश्वतं च श्वःप्रेयसमेव प्रापयितुं प्रभवेत्, स एव धर्मपदेपा-
देयपदधीमवृद्धतुमव्रम् । परमार्थतो यदीदृक् परमार्थः परामृश्ये-
त् तदा तत्र जयतां तीर्थकराणामथवा जगवतां वज्रमानस्वेषाऽऽ-
सन्नोपकारित्वेनानेकान्तजयपताका प्रादुर्भूयात् । यतस्त एव वि-
मलकथलालोकन काव्रवयवार्तिसामान्यविशेषात्मकनिखिलपदा-
र्थसार्थवेत्तारः, शकाणामपि जन्मस्नात्राद्यष्टमहाभतिहार्यादि-
संपादनेनार्चनार्हाः, अविनयवस्तुतम्यप्रवक्तारः, शान्तरससर-
स्वान्तःत्वेन रागद्वेषविजयकर्तारः, राक्षान्तश्च तेषामहिंसा पर-
मो धर्म इति ॥

यद्यपि पृथग्भूतेष्वितो धर्माभासेष्वपि किंपाकपाकोपवृत्तिपा-
यसदेश्या हिंसागर्भिता अहिंसा भगवती यत्र तत्र विज्ञांयते-
तस्या जिघृक्षा मधुदिग्धधाराकराव्रकवात्राप्रलोलरसनानामि,
व जनानां न सुखाकरोतीति एकत्रामत्रे संपृक्तविषमधुकल्पेव
न युक्ता । यतस्तेषु जन्मादिदुःखमुमुक्षूणां प्राधान्येन कारणता
तस्या नोपलभ्यते, अपि तु यद्यंशतस्तत्र दयाऽभिनिविष्टा, हिं-
साऽपि तर्ह्यन्याशतो जागर्त्ति, यथा संसारमोचकानामिदमेदं पर्य-
म-यदि नरपशुशकुनिष्यन्तमः कोऽपि जवेऽस्मिन् संसारवेद-
नामनुभवति, तर्हि तस्येतो देहतः पृथक्करणमेव दयापरवशानां
कर्त्तव्यमिति । सप्ततन्तुप्रवणानां यज्वनां तु तादृक्भवसरमासा-

द्य दयापात्राणामनन्यगतिकानां क्लान्तिकानां विशसनमेवोर्ध्व
गतिप्रापणमित्यादि ग्रन्थेऽस्मिन्नेव प्रथमभागे " भद्रकुमार "
"अहिंसा" शब्दयोरुपरि विशेषविस्तरः प्रेक्षणीयो जिज्ञासूनामि-
ति । अत एवाभियुक्तानामाभाषकः-

" पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥

रागद्वेषाविनिमुक्ता-हृत्कृतं च कृपापरम् ।

प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ २ ॥ इत्यादि ॥

दयाऽऽचारक्रियावस्तुभेदधर्मोऽयमाहृतश्चतुर्धा प्रविभक्तः । नि-
दानमस्था देवनिर्मितसमवसरणसमवसृतस्य देवाधिदेवस्य
भगवतोऽखिलज्ञस्य श्रौतीर्थकरस्योपदेशादविभूतं शासन-
मेव । यदधि श्रीमद्भिर्गोतमादिभिर्गुह्यैः समनन्तरं कियत्य-
प्यन्तेहासि समनीने द्वादशाङ्गीरूपेणैकादशाङ्गीरूपेण वा संद-
र्जितं सत् सुत्रनाम्ना व्यवहियते, तथा चेतत् प्रत्येकतीर्थकर-
शासनसमयेऽस्ति त्वदशामासादयति । यद्यपि काले पूर्वस्मि-
न् चतुर्दशपूर्वधर-दशपूर्वधर-श्रुनकेवलिप्रभृतयो महानुभावा
महात्मानो ये केचनाऽऽसन् तेषामतिशयवैजयव्यशाद् मूलादे-
वार्थज्ञानं सुकरमतः स्पष्टीकरणप्रवणटीकादिपुस्तकादीनामा-
वश्यकतैव नासीत्, परन्तु तादृशज्ञानविकलानां जीवानामर्वा-
चामवधारणधुरां बोद्धुमसमर्थानां विस्मृतपदार्थसाधर्म्यनिम-
लभमानानां दुर्बोधस्य गहनतिगहनविषयस्य स्याद्वादिक-
दर्शनस्य विशदीकरणाय भगवदभिः श्रीभट्टबाहुस्वामिप्रमुखै-
र्यद्यपि निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-टीकाऽऽदीनां रचना कृता, तथापि
साम्प्रतं जैनग्रन्थस्य भूयान् विस्तरः समजनि, यदधुना स्व-
लणीयसाऽऽयुषा न कोऽपि क्रमो मनुष्यः सांसारिकं कृत्यं स-
माचरन् गृहस्थविरक्तान्यतरोऽमुष्माजैनशासनसागरात् पार-
मुत्तरीतुम् । हेतुरयमत्र विभाष्यते-यत् प्रथमतः सर्वेषां ग्रन्थानां
समुपलब्धिरेव न सर्वत्र समुपजायते, ये चाल्पीयांसः क्वचित्
क्वचिदपि समुपलभ्यन्ते, के विषयाः कुत्र तत्र विन्यस्ता इति
सर्वसाधारणस्य तत्त्वतो ज्ञानमसुकरम् । यदि कस्यापि कास्मि-
न्नपि ग्रन्थे जायेतापि विषयाणां यथाकथञ्चिदुपलब्धिस्तथापि
चेमेऽजिघेया अन्यत्रान्यत्र ग्रन्थे च कुत्र कुत्र भविष्यन्तीति
परामर्शवैदग्ध्यविधुरधुरामधिष्ठाललब्धवर्णाऽपि ।

कारणान्तरमप्येतत्-यदिदं जैनदर्शनं यस्याम् (अर्द्धमागध्याम्)
भाषायामज्जिनिवद्धम्, एषा सैव, यया प्राकृतनसमये भारतभूम्यां
मातृभाषात्वेन, राष्ट्रजापात्वेन च स्थानं प्रापि । यस्याश्च तीर्थ-
करगणधरप्रभृतिर्निर्महानादरः कृतोऽमुष्या एव भाषायाः प्र-
चारः प्रचलितसमये कियानपि क्वापि नोपलभ्यते । यदपि
दशरूपकादिषु यत्र तत्र पात्रप्रभेदप्रयुक्ता कतिपयप्रभेदजिज्ञा
प्राकृतभाषा दृष्टिपथमधिरोहति, तदपि तन्निर्मातृनिहितच्छाया-
त एव कार्यं निर्वहन्ति यथाकथञ्चित् सर्वेऽपि पाठकाः ।

यदि केनापि प्राकृतप्रकाशादिव्याकरणदर्शनेन समज्यस्ताऽपि
शुद्धा प्राकृतभाषा न तावत्या जैनागममूलसूत्राणां निर्युक्तिगाथा-

चूर्णिप्रभृतीनां तात्पर्यमवधारयितुं शक्यम्, यतस्तीर्थकगणधरादिभिरङ्गमागध्यामेवैषां प्रस्तावः प्रस्तुतः, या च सामान्यप्रकृतभाषातो नेदीयसी किञ्चिद् विलक्षणतरा ।

मनवति समये तु गुरुशुद्ध्यापरायणाः श्रममविगणयन्ते-
वामिजनाः स्वस्वाचार्यमुखाभोजनकाशात् समुपलब्ध-
मधुबिन्दुनिकरसदृशसूत्रानुपूर्वीतदर्थान् संचिन्वाताः कण्ठ-
स्थं कुर्वन्त एव कृतकाया बभूवुः, किन्त्वद्यश्वीनायास्तादृ-
श्याः परिपाट्याः प्रायशो वैकल्याद् ज्ञानदर्शनचारिघ्राणां भू-
यान् हासः समजति । संक्षिप्तविवरणं चास्याऽत्रैव प्रथमतया
“ भट्टालंदिय ” शब्दे तत्त्ववृत्तसुभिर्जिज्ञासुभिर्दृश्यम् ।

निरीत्य चैतादृशीं दुर्दशामस्माकं गुरुवर्याणां श्रीसौधर्मवृद्ध-
पागच्छादिकलिकालसर्वज्ञकल्पभट्टारक १००८ श्रीमद्विजय-
गजेंद्रमूर्तिश्वरमहाराजानां चेतसि चिन्ताऽतिमहती समुप-
स्थिता-यत् प्रत्यहमाहंनधार्मिकदार्शनिकशास्त्राणां हानि-
रन्वेषजायते, कारणादस्माद्वाक्षा बहवः सुज्ञं मन्वानाः का-
र्यमुत्सृज्यमपि कर्तुमारब्धवन्तः, तथा स्वधर्मग्रन्थेभ्यो विस्मृति-
सरणिमाश्रिता इव । ततः किमस्यामवस्थायां करणीयमस्मा-
नि-?, यतः संसारऽस्मिन्नसारं तस्यैव मर्त्यस्य जनिः सार्थिका,
येन यथाशक्यमात्मधर्मस्योन्नतिः कृता । अन्यथा-

“ असंपादयतः कश्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः ।

यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ”

अथवा-“ स लोहकारमखेव, श्वसन्नपि न जीवति ” ।

इति लौकिकोक्तिं सार्थकयति । एतादृशो विमर्शश्चेत-
नि प्रभूतकाव्यमुवास, किन्तु कदाचिदकस्यां कृणदायां
सहसा विचारः प्रादुर्बभूव-कोऽप्येकस्तादृशो ग्रन्थः प्रले-
तरश्लेषा रचनीया, यस्मिन् जेनागमसत्कमागधीभाषाश-
ब्दानामकाराद्यनुक्रमतो विन्यासं विधाय गीर्वाणभाषायां त-
दनुवादलिङ्गव्युत्पत्तिवाच्यार्थान् निधाय समनन्तरं यथासंभवं
तदुपरि मूलवृत्ताणां पाठनिर्देशपुरःसरं समुपव्रज्युगतनटीका-
चूर्ण्यादि विवरणं दत्त्वा स्पष्टयितव्यः । यद् स एव विषयो ग्र-
न्थान्तरेष्वप्युपलभ्येत तर्हि तदनुपदमेव सोऽपि निर्देश्यः । प्रा-
यशोऽस्माद् निजमतोऽनुकृतेन लोकस्योपकारो भविष्यतीति ।
अयोपसि समुत्थाप मूर्तिन्दः स्वन्तित्यनैमित्तिकीः क्रियाः
समाप्त्यास्य प्रकृतकार्यस्य भारमुवाह । समाहितमानसेन
द्वाविंशतिवर्षे यावद् महान्तमपि श्रममविगणय्य तेन कार्यमेतद्
विमानपोह्य संपूर्णतां लब्धमम् । यद्-“ अभिधानराजेन्द्र ” नामा
काशः प्राकृततापाप्रेतदभूतमागध्यां विरचय्य चतुर्षु भागेषु
विभक्तः ।

अथैकदाऽनल्पकल्पाः श्रावकाः शिष्याश्च मुनयः श्रीमधु-
पाध्यायमोहनविजयदीपविजययतीन्द्रविजयप्रभृतयः साध्वो
विनेयाः साञ्जज्ञिबन्धं प्रार्थनापुरःसरं व्याजङ्गपन-भगवन् !
यद्यमपि ग्रन्थो ग्रन्थान्तरसमः पुस्तकभाण्डागारेष्वेव नि-
हितः स्थास्यति तदा क्रियन्ते जना अनर्थस्यास्य प्रवररत्न-
स्येव कोपरन्तस्य लाभभाजो नविष्यन्ति ? । तस्मादनेकेषु
देशदेशान्तरेषु यथा रीत्या ज्ञयान् प्रचारः स्यात्, तदुपायः क-
रणाय इति गुरुचरणान्ते विज्ञप्तिपुरस्सरं निवेदयामः ।

तदुत्तरं प्रशान्तगम्भीरया गिरा श्रीमूर्तिश्वरः नातिस्तोकब-
हुत्रं प्रोचुः-अहमस्मीयं करणीयं पूर्तिमनयमतः परं येनोपायं

निखिन्नलोकोपकारः स्यात् स तु युष्माजिः कर्तुमर्हः, किन्तु व-
यमात्रेऽयं तादृश्यमुपगताः ।

ततः श्रीमहेतास्याभिधानस्य विशेषप्रचाराय शीशकाक्षरैः
पुष्टविकरणपत्रेषु मुद्रापयितुमेव निश्चित्य प्रारब्धते स्म ।
पुनरस्य शाधनादिभारः सुरीन्द्राणां विनीतशिष्याभ्यां मुनि-
भ्रादीपविजय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयाभ्यां जगृहे, यावस्मिन्
कार्ये पूर्णाऽभिज्ञा वर्तते । अतः परं वक्तव्यान्तरं ज्ञाया (दिन्दिं)
जुमिकानोऽवसेयम् ।

स्याद्वादनिरूपणेन समवाय-सत्ताऽपोह-वेदाऽपौरुषेयत्व-
जगत्सकृत्कत्व-शब्दाकाशगुणत्वा-ऽद्वैतवादादिखण्डनेन ए-
केन्द्रियाणां भावेन्द्रियज्ञानस्थापनेन च जैनदर्शनस्यातिगा-
म्भीर्यं व्यक्ताभवतीति दिङ्मात्रमिह तद् दर्शयते-

अथ वस्तुनः स्याद्वादात्मकत्वं सप्तभङ्गाप्ररूपणेन सुखान्नेयं
स्यादिति प्रथमं तस्या निरूपणम्-

एकत्र वस्तुन्यैकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः
समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः
सप्तधा वाक्पयोगः सप्तभङ्गाः ॥

एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रभवशाद-
विरोधेन प्रत्यक्षादिवाधापरिहारेण पृथग्जुनयोः समुदितयो-
श्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाङ्घितो
वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गा विज्ञेया ।
सप्तभङ्गाः पुनरिमे-

स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः १
स्यान्नाऽस्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः २
स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्प-
नया तृतीयः ३ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेध-
कल्पनया चतुर्थः ४ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधि-
कल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ५ स्या-
न्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया षष्ठः ६ स्यादस्त्येव स्या-
दवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधि-
निषेधकल्पनया च सप्तमः ७

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । स्यात्-कथञ्चित्, स्वप्नव्य-
क्तेवकालभावरूपेण अस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः पर-
छव्यक्तेवकावज्ञावरूपेण । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वे-
नास्ति, न जलादिरूपत्वेन । तत्रतः पाटत्रिपुत्रकत्वेन, न का-
न्यकुम्भादित्वेन । काष्ठतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन ।
भायतः इयामत्वेन, न रक्तवादिना । अन्यथा इतररूपापत्त्या
स्वरूपहानिः स्यादिति । अत्र भङ्गे एवकारस्तु अनभिमतार्थ-
व्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । अस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने
कुम्भस्य सत्त्वाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्र-
तिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपत्त्ये स्यादिति प्र-
युज्यते, स्यात् कोऽर्थः-कथञ्चित्, स्वप्नव्यादिनिरेवायमस्ति, न
परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः ॥ (२) स्वप्नव्यादिभिरपि परद्रव्या-
दिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाज्ञावाद् व-
स्तुप्रतिनियमविरोधः । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्ति-

त्वमासत्त्वमित्यभिधानायम् । कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्ति-
सिद्धत्वात् साधनवत् । न हि कचिदनित्यत्वाद्वा साधये सत्त्वा-
दिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम् , तस्य
साधनाभासत्वप्रसङ्गात् । अथ यदेव नियतं साध्यसद्भावेऽ-
स्तित्वं तदेव साधनाभावे साधनस्य नास्तित्वमभिधीयते, त-
त्कथं प्रतिषेध्यम् ? , स्वरूपस्य प्रतिषेधत्वानुपपत्तेः, साध्य-
सद्भावे नास्तित्वं तु यत् तत् प्रतिषेध्यम्, तेनाविनाभावित्वे
साध्यसद्भावास्तित्वस्य व्याघातात् तेनैव स्वरूपेणास्ति नास्ति-
चेति प्रतीत्यज्ञावादिति चेत् । तदसत् । एवं हेतोस्त्रिरूपत्वविरो-
धात् । विपक्षासत्त्वस्य तार्किकस्याज्ञावात् । यदि चायं ज्ञा-
वाभावयोरैकत्वमाचक्षीत, तदा सर्वथा न क्वचित् प्रवर्तते,
नापि कुतश्चिन्नवर्तते । प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्य भावस्याज्ञाव-
परिहरणार्थमवात्, अभावस्य च भावपरिहारेणैति वस्तुनोऽ-
स्तित्वनास्तित्वयोः रूपानन्तरत्वमेष्टव्यम् । तथा चास्तित्वं नास्ति-
त्वेन प्रतिषेधनाविनाज्ञावि सिद्धम् । यथा च प्रतिषेध्यमस्ति-
त्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः कर्मापेक्षितजयत्वादिधर्म-
पञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम् ॥ (३) सर्वमिति द्विती-
यलक्षणादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम् । ततोऽयमर्थः-कर्मापे-
तस्वपरत्वादिचतुष्टयापेक्षया कर्मापेताभ्यामस्तित्वनास्तित्वा-
भ्यां विंशतिपते सर्वे कुम्भनादि वस्तु स्यात् (कथञ्चित्)
अस्त्येव, स्यात् (कथञ्चित्) नास्त्येवेत्युल्लेखेन वक्तव्यमि-
ति ॥ (४) द्वात्रिंशमस्तित्वनास्तित्वस्य धर्माभ्यां युगपत्
प्रधानतयाऽपेताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽग्निधित्वायां तादृशस्य
शब्दस्यासम्भवादवक्तव्यं जीवादि वस्त्विति । तथाहि-सद-
सत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यम्,
तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात् । तथैवासदिति अभिधानेन
न सद वक्तुं शक्यम्, तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात् ।
साङ्केतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम्,
तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सान्दर्भ्योपपत्तेः । “ तौ सत् ”
३ । २ । १२७ । (पाणि०) इति शतृशान्तोः संकेतितसञ्च-
वत् । इति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपद् स-
दसत्त्वाभ्यां प्रधानज्ञावापेताभ्यामाकर्तन्तं व्यवतिष्ठते । (५) स्व-
द्रव्यादिचतुष्टयाऽऽपेक्षयाऽस्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्यां सह
वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु ; ततः स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमे-
वेत्येवं पञ्चमभङ्गेनोपदर्श्यते इति (६) परत्वादिचतु-
ष्टयापेक्षया नास्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्यां योगपद्येन प्रति-
पादयितुमशक्यं समस्तं वस्तु ; ततः स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य-
मेवेत्येवं षष्ठमभङ्गेन प्रकाशयते (७) स्वरत्वादिचतुष्टयापेक्षया-
ऽस्तित्वनास्तित्वयोः सतोरस्तित्वनास्तित्वाभ्यां समसमयमभि-
धातुमशक्यमखिलं वस्तु, तत एवमनेन भङ्गेनोपदर्श्यते इति ॥

उक्तं च-

“ या प्रज्ञाद् विधिपर्युदासजिदया बाधव्युता सप्तधा,
धर्म धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽनेकात्मके वस्तुनि ॥
निर्दोषा निरदंशि देव ! जवता सा सप्तभङ्गी यया,
जलपन् जलपरणाङ्गणे विजयते वादी विपक्षं कृणात् ॥ १ ॥ ”

अथ सप्तभङ्गीदक्षितदिशा स्याद्वादास्तित्वम्-

दीपादारभ्य व्यामर्षयन्तं सर्वं वस्तु समस्वरूपम्, यतो व-
स्तुनः अन्यपर्यायात्मकत्वमिति । वाचकमुख्योऽप्येवमेवाह-“ व-

त्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ” । समस्वजावत्वे हेतुस्तु स्याद्वादाः,
नित्यानित्याद्यनेकधर्मशब्दैकवस्त्वभ्युपगम इत्यर्थः । तदनभ्यु-
पगमे सर्ववस्तूनां स्वरूपहानिप्रसङ्गः, कस्यचित् व्योमादिवस्तु
नित्यमेव, अन्यस्य प्रदीपादिवस्तु अनित्यमेवेत्यस्य प्रतिक्षेप-
स्तु दिङ्मात्रमुच्यते-सर्वे ज्ञावा छव्याधिकनयापेक्षया नित्याः,
पर्यायाधिकनयादिशात् पुनरनित्याः ; तत्रैकान्तानित्यतया परै-
रङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापनमित्थम् । त-
थाहि-प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतः तै-
स्रक्यात् वाताजिघाताद् वा ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमो-
रूपं पर्यायान्तरमासाद्यन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः ; पुल्लह-
व्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । न ह्यतावतैवानित्यत्वं या-
वता पूर्वपर्यायस्य नाश उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु
मृद्द्रव्यं स्यासक-कोश-कुशूल-शिवक-घटाद्यवस्थान्तरमाप-
द्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्यावाहगोपा-
हं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वा-
न्यथाऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् । अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्र-
तिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत् कथं चाक्षुषमङ्गीतव्यम् ।
उल्लादां नामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासनात्, यैस्त्वस्वदादि-
भिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमाहोक्तं विना नोपलभ्यते, तैरपि ति-
मिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वाद् भावानाम् । कथमन्यथा पीत-
श्वेतादयोऽपि स्वर्णमुकाफलाद्या आहोकापेक्षदर्शनाः, प्रदीप-
चन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः, इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम् ।
रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात् ।
यानि त्वानविभावयवत्वमप्रतिघातिवमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्व-
मप्रतीयमानखण्डावयवविध्यप्रविभागात्वात्म्यादीनि तमसः
पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि प्रदी-
पप्रभादृष्टान्तैव प्रतिषेधयानि, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । न च वा-
च्यम्-तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त ? इति ।
पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्व-
स्यापि दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्द्धधनसंयोगवशाद् भास्वरूपस्या-
पि बह्वैरजास्वरूपधूमरूपकार्योत्पादः, इति सिद्धो नित्यानित्यः
प्रदीपः । यदपि निर्वाणादवाक्क देदोऽप्यमानो दीपस्तदाऽपि
नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्या-
नित्य एव ॥ एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वाभित्या-
नित्यमेव । तथाहि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानो-
पग्रह एव तल्लक्षणम्, अवकाशदमाकाशम् इति वचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्त्रसातो वा एकस्मान्नभः-
प्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योमस्तैरवगाहकैः
सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः, उत्तरस्मिन् प्रदेशे च संयोगः, सं-
योगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ, तदनेदे चावश्यं घ-
र्मिणो भेदः । तथा चाहुः-“ अयमेव हि जेदो भेदहेतुर्यो यद् विरु-
द्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च ” इति । ततश्च दशकाशं पूर्वसं-
योगविनाशलक्षणपरिणामापरया विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादा-
ख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्, उभयश्चाकाशाख्यस्यानुगतत्वा-
च्चोत्पादव्यययोरैकाधिकरणत्वम् । तथा च ‘ यदप्रच्युतानुत्प-
न्नस्थिरैकरूपं नित्यम् ’ इति नित्यलक्षणमाचक्षते, तदपास्तम् ।
एवंविधस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽज्ञावात् । ‘ तद्भावाव्ययं नि-
त्यम्, इति तु सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भा-
वेऽपि तद्भावाद्वाक्यरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यम् इति तदर्थ-
स्य घटमानत्वात् । यदि हि अप्रच्युतादिकर्षणं नित्यामप्यते,

तद्वाद्यादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः, न च तयोयोगे नित्यत्व-
हानिः । " द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया ह्यव्ययजिताः । क कदा
कन किरूपाः, रष्टा मानेन कन वा ? ॥ " इति वचनात् । न चा-
काशं न ह्यव्यय, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमि-
ति व्यवहारप्रसिद्धाकाशस्य नित्यानित्यत्वम् । घटाकाशमपि
हि यदा घटापगमं पटेनाकान्तं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः ।
न चायमौपचारिकत्वाद् प्रमाणमेव, उपचारस्यापि किञ्चित्सा-
धर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । ननु सौ हि यत् किल सर्व-
व्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत्तदाधेयघटाऽदि सम्बन्धिनियत-
परिमाणवशात् कलिरनभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यव-
हियमाणं घटाकाशपटाकाशाद तत्तत् व्यपदेशनिबन्धनं भवति
तत्तदघटादिसम्बन्धं च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्त-
राऽऽवृत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽ-
विष्वग्भावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः । इति
नैकान्तनित्यपक्षा युक्तिर्युक्तः ।

स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरि-
णामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि प-
रस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ?
नित्यानित्यपक्षविरुद्धकृतस्य पक्षान्तरस्याङ्गोक्त्यमाणात्वात्, त-
थैव च सर्वैरनुजयते । तथा च पठन्ति—

" भागं सिंहो नरो जागे, योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।

तमभागं विभागेन, नरसिंहं प्रचक्षते " ॥ १ ॥

एवं चापस्थितभेदं नित्यानित्यात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययप्रौढ्यात्मक-
त्वान्यथाऽप्युपपत्तिरिति । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते,
विपद्यते वा, परिष्फुटमन्वयदर्शनात् । तत्पुनर्जातनस्मादिषु अन्व-
यदर्शनेन व्यञ्जितार इति न वाच्यम्; प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वय-
स्यापरिष्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः; सत्यप्र-
त्यतिज्ञात्वात् । ततो ह्यव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः,
पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तुत्पद्यते, विपद्यते च, अस्खलितप-
र्यायात्तत्प्रसङ्गात् । न चैवं वृद्धे शङ्के पीतादिपर्यायात्तुभेदेन
व्यभचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न ह्यलु सोऽस्खलद्रूपो,
येन पूर्वाकाशविनाशाजहदृष्टोत्तराकारोत्पादविनाभावी भवेत् ।
न च जीवादी वस्तुनि हर्षामर्यादासांन्यादिपर्यायपरम्पराऽनु-
भवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्वाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः
परस्परं निघ्नन्ते, न वा ? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु व्यात्मक-
म् ? न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं व्यात्मकम् ? । तथाच
" यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ।

अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ॥ १ ॥ "

इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिन्निलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चि-
द् जेदाच्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशप्रौढ्याणि स्याद्वि-
भ्रान्ति, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसि-
द्धम् । असत् आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, ह्यव्ययतयाऽ-
नुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि स-
कललोकसाङ्गिकापथेव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्प-
रानपेक्षाः, स्वरूपवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो
नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः
केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः
केवला नास्ति, विनाशात्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योऽन्या-
पेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च क-
थं नैकं व्यात्मकम् ? । उक्तं च पञ्चाशति-

" प्रथमे कलशे शुभां च तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रतिमुवाह कामपि नृपः शिष्याय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिष्कृतदपराकारोदयस्तद्व्या-
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ॥ १ ॥ "

तथा च स्थिते नित्यानित्यानेकान्तः कान्त एवेति । एवं सदसद-
नेकान्तोऽपि । नन्वत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादिवस्तु स-
द्य, असद्य जवति ? । सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, अ-
सत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण, अन्यथा तयोरविशेषः स्यात् । तत-
श्च तथादे सत्, कथमसत् ? । अथासत्, कथं सदिति ? । तदनव-
दातम् । यतो यदे येनैव प्रकारेण सत्त्वम्, तेनैवासत्त्वम्, येनैव
चासत्त्वम्, तेनैव सत्त्वमच्युपेयं, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु
स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वरूपेण द्विरणमयादित्वेन, स्वकोत्रेण
नगरादित्वेन, स्वकालत्वेन वा सन्तिकादित्वेन सत्त्वम्, पररूपा-
दिना तु पटत्वं तन्तुव्यग्राभ्यव्यग्रैष्मकत्वादिनाऽसत्त्वम्, तदा क-
विरोधगन्धोऽपि । ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति, तेषां
घटाः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वरूपादिना
सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथा सति स्वरूपादित्ववत्
पररूपादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? । परासत्त्वेन तु
प्रतिनियतोऽसौ सिध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वम्, किन्तु
स्वसत्त्वमेव तदिति चेत्; अहं! नूनन. कोऽपि तर्कवितर्कक-
शः समुल्लापः । न ह्यलु यदेव सत्त्वम्, तदेवामत्त्वं भवितुमर्हति;
विधिरतिपेक्षरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायां गत् ।
अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते; न च नाच्युपगम्यत एवेति कि-
मिदमिच्छजालम् ? । ततश्चास्यानङ्गमसत्त्वमेवाकं भवति ।
एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्वत्वं तस्य, तथा परासत्त्वास-
त्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा; विशेषाऽभावात् । अथ
नाभावनिवृत्त्या पदार्थो जावरूपः प्रतिनियतो वा भवति,
अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियत एवोपजायत इति किं-
परासत्त्वेनेति चेत् ? । न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभा-
वनियतोऽप्यतिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते, पार-
मार्थिकत्वासत्त्वासत्त्वात्मकस्वसत्त्वेनैव परासत्त्वासत्त्वात्मकप-
रसत्त्वेनाप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । इति सूक्तः सदसदनेकान्तः । एव-
मपरेऽपि जेदाजेदानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवेचनीयाः संमति-
तर्कादिभ्यो विस्तरभयावहे प्रतन्यते ।

अतोऽनेकान्तवाद एव सन्मार्गः । यदाह-

" इष्टेयं गणपिभृगं, निर्वचं दध्वद्विषाए नयज्यं ।
पञ्चापण अणिचं, निचचानिचं च सियवादां ॥ १ ॥
जो सियवायं भासति, पमाणनयेसलं गुणाधारं ।
जावेइ से ण सयं, सो हि पमाणं पवयणस्स ॥ २ ॥
जो सियवायं निंदति, पमाणनयेसलं गुणाधारं ।
भावेण दुट्टनायो, न सो पमाणं पवयणस्स ॥ ३ ॥ "

अथ सपवायखाण्डनम्-

अयुतसिद्धानामाधार्यधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः
समवायः । स च समवयनात् समवाय इति, ह्यव्ययगुणकम-
सामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चाख्या-
यते । तथा वृत्त्या समवायसम्बन्धेन तथार्थधर्मिणोरितरेतर-
विनिलुण्णतत्वंऽपि धर्मधर्मिण्यपदेश इष्यते ।

अत्र जैनाचार्या वदन्ति-

अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं

द्व्यकारो वा, यदि वा अपोहनमपोह इति अन्यव्यावृत्तिमात्रम्, इति त्रयः पक्षाः । न तावदादिर्मा पक्षौ, अपोहनासा विधेरेव विवक्षितत्वात् । अन्तिमोऽप्यसङ्गतः, प्रतीतिबाधितत्वात् । तथा हि- पूर्वोद्देशे वह्निस्तीर्णं शब्दौ । प्रतीतिविधिरूपमेवेति स्मरन्ती लक्ष्यते, नानाप्रति जयतीति निवृत्तिमात्रमासुख्यन्तं । यच्च प्रत्यतवाधितं न तत्र साधनान्तरावकाश इत्यतिप्रसिद्धम् ।

अथ यद्यपि निवृत्तिमहं प्रत्यमीति न विकल्पः तथापि निवृत्तपदार्थोऽप्येव निवृत्त्युल्लेखः । न ह्यन्तरजावितविशेषणप्रतीतिरिति शेषप्रतीतिः । ततो यथा सामान्यमहं प्रत्यमीति विकल्पाभावेऽपि साधारणाकारपरिस्फुरणात् विकल्पबुद्धिः सामान्यबुद्धिः परेषाम्, तथा निवृत्तप्रत्ययादिसा निवृत्तिबुद्धिरपोहप्रतीतिव्यवहारमातनोतीति चेत् ? ननु साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था; तत् किमायातमस्फुरदभावाकारे चेत्सि निवृत्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः । ततो निवृत्तिमहं प्रत्यमीत्येवमाकाराभावेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, का नाम निवृत्तिप्रतीतिस्थितिमपहरेत् । अन्यथा सति प्रतिनासं तत्प्रतीतिव्यवहारिरिति गवाकारेऽपि चेत्सि तुरगबोध इत्यस्तु ।

अथ विशेषणतया अन्तर्भूता निवृत्तिप्रतीतिरित्युक्तं, तथापि यद्यगवापोह इतीदृशाकारो विकल्पस्तदा विशेषणतया तदनुप्रवेशो भवतु, किन्तु गौरिति प्रतीतिः । तदा च सतोऽपि निवृत्तिलक्षणस्य विशेषणस्य तत्रानुत्कलनात्; कथं तत्प्रतीतिव्यवस्था । अथैवं मतिः-यद्विधिरूपं स्फुरितं तस्य परापोहोऽप्यस्तीति तत्प्रतीतिरुच्यते, तथापि सम्बन्धमात्रमपोहस्य विधिरेव साक्षात्प्रतीतिः । अपि चैवमध्यक्स्याप्यपोहविषयत्वमनिवार्यम् । विशेषतो विकल्पादेकव्यावृत्तौऽखिलाव्यव्यावृत्तमीहमाणस्य तस्माद्विध्याकारावप्रदादध्यक्षवद्विकल्परस्यापि विधिविषयत्वमेव नान्यापोहविषयत्वमिति कथमपोहः शब्दार्थो घुष्यते ? ।

अत्रानिधीयते-

नास्मान्निरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम्, तिस्र्यव्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः । ततश्च न प्रत्येकपक्षोपनिपातिदोषावकाशः । यत्तु गोः प्रतीतिः न तदात्मा परात्मेति सामर्थ्यादपोहः पश्चाद्विधीयते इति विधिशब्दानां मतम् । अन्यापोहप्रतीतिः वा सामर्थ्यात् अन्यापोहोऽवधार्यते इति प्रतिषेधवादिनां मतम् । तदसुन्दरम् । प्राथमिकस्यापि प्रतिपत्तिक्रमादर्शनात् । न हि विधि प्रतिपद्य कश्चिदर्थोपपत्तिः पश्चादपोहमवगच्छति, अपोहं वा प्रतिपद्यान्यापोहम्, तस्माद् गोः प्रतिपत्तिरिति अन्यापोहप्रतिपत्तिरुच्यते । यद्यपि चान्यापोहशब्दानुल्लेख उक्तः । तथापि नाप्रतिपत्तिरेव विशेषणभूतस्यान्यापोहस्य; अगवापोह एव गोशब्दस्य निवेशितत्वात् । यथा नीलोत्पलं निवेशितादिन्दीवरशब्दान्नीलोत्पलप्रतीतिः तत्काल एव नीलिमस्फुरणमनिवार्यम्, तथा गोशब्दादपि अगवापोहे निवेशितात् गोप्रतीतिः तुल्यकात्रमेव विशेषणत्वात् अगोऽपोहस्फुरणमनिवार्यम् । यथा प्रत्यक्षस्य प्रमत्तरूपाभावप्रदणमभावविकल्पोऽप्यादनशक्तिरेव, तथा विधिविकल्पानामपि तदनुकृपानुष्ठानदानशक्तिरेवजावप्रदणमनिधीयते । पर्युदासरूपात्तार्थप्रदणं तु नियतस्वरूप-

संवेदनमुनयोरविशिष्टम्, अन्यथा यदि शब्दादर्थप्रतिपत्तिकारि कर्तितो न परापोहः कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः । ततो गां बधानेति चोदनाऽश्वादीनापि बध्नीयात् । यद्वोचद्वान्तरूपतिः-जातिमत्यो व्यक्तयः, विकल्पानां शब्दानां च गोचरः, तासां च तद्वतीनां रूपमतज्जातीयपरावृत्तित्यर्थतस्तदवगतेर्न गां बधानेति चोदितोऽश्वादीन् बध्नाति । तदप्यनेनैव निरस्तमायतो जातेराधिकायाः प्रदोषेऽपि व्यक्तीनां रूपमतज्जातीयव्यावृत्तमेव चेत्, तदा तेनैव रूपेण शब्दाविकल्परथोर्विषयीभवन्तीनां कथमतद्व्यावृत्तिपरिहारः ? अथ न विजातीयव्यावृत्तं व्यक्तिरूपं, तथाप्रतीतिं वा तदा जातिप्रसाद एव इति कथमर्थतोऽपि तदवगतिरित्युक्तप्रायम् । अथ जातिबन्धादेवान्यतो व्यावृत्तम् । भवतु जातिबन्धात् स्वतन्त्ररम्पराबलाद्वाऽन्यव्यावृत्तम् । उभयथाऽपि व्यावृत्तप्रतिपत्तौ व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरस्त्येव । न चागोऽपोहे गोशब्दसंकतविधायन्योन्याश्रयोः ; सामान्ये तद्वति वा सङ्केतोऽपि तद्दोषावकाशात् । न हि सामान्यं नाम सामान्यमात्रमभिप्रेतम्, तुरगेऽपि गोशब्दसङ्केतप्रसङ्गात्; किन्तु गोत्वम्; तावता च स एव दोषः, गवापरिज्ञाने गोत्वसामान्यापरिज्ञानात् । गोत्वसामान्यापरिज्ञाने गोशब्दवाच्यापरिज्ञानात् । तस्मात् एकपि एव दर्शनपूर्वको यः सर्वव्याक्तिसाधारण इव वहिरध्यस्तो विकल्परुद्ध्याकारः, तत्रायं गौरिति सङ्केतकरणे नेतरेश्चाश्रयोः । अस्मिन्ने च गोशब्दप्रवृत्तावगोशब्देन शेषस्याप्यज्ञानमुचितम् । न चान्यापोहान्यापोह्यान्निरोधो, विशेष्यविशेषणततिर्था, परस्परव्यवच्छेदाभावात्, सामानाधिकरण्यसद्भावात्, भूतव्यवस्थावत् । स्वाज्ञावेन हि विरोधो, न पराभावेनेत्यावालप्रसिद्धम् । एष पन्थाः श्रुतमुपनिष्ठे इत्यत्राप्यपोहो गम्यत एव । अप्रकृतपथान्तरापेक्षया एष एव । श्रुतप्रत्यनीकानिष्टस्थानापेक्षया श्रुतमेव । अरण्यमार्गवद्विच्छेदाभावादुपतिष्ठत एव, सार्धदूतादिव्यवच्छेदेन पन्था एवेति प्रतिपदं व्यवच्छेदस्य सुलभत्वात् । तस्मादपोहधर्मणो विधिरूपस्य शब्दादवगतिः; पुनरुक्तशब्दादिव श्वेतिमविशिष्टस्य पक्षस्य । यद्येवं विधिरेव शब्दार्थो यत्तुमुचितः कथमपोहो गीयत इति चेत् ? उक्तमत्रापोहशब्देनान्यापोहविशिष्टो विधिरुच्यते; नच विधौ प्रतीयमाने विशेषणतया तुल्यकालमन्यापोहप्रतीतिरिति । न चैवं प्रत्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वव्यवस्था कर्तुमुचिता, तस्य शब्दप्रत्ययस्येव वस्तुविषयत्वे विवादाभावात् । विधिशब्देन च यथाऽध्यवसायमतद्रूपपरावृत्तौ बाह्योऽर्थोऽभिमतः; यथा प्रतिभासं बुद्ध्याकारश्च तत्र बाह्योऽर्थोऽध्यवसायादेव शब्दवाच्यो व्यवस्थाप्यते, न स्वतन्त्रणपरिस्फूर्त्या, प्रत्यक्षवद्देशकालावस्थानियतप्रत्यक्षस्वलक्षणास्फुरणात् । यच्चास्त्रम्-

“शब्देनाव्यापृतास्थस्य, बुद्धावप्रतिज्ञासनात् ।

अर्थस्य दृष्टाविवेति ।”

इत्थं शब्दस्वभावोपायभेदात् एकस्यैव प्रतिज्ञासभेद इति चेत् ? । अत्राप्युक्तम्-

“जानो नामाध्यापोऽन्यान्यः, चेतसाऽन्तस्य वस्तुनः ।

एकस्यैव कुतो रूपं, भिन्नाकारावभासि तत् ?” ॥ १ ॥

न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः, यत एकनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासतान्येन विकल्पे, तथासति वस्तुन एव ज्ञेयप्रसङ्गः । न हि स्वरूपभेदादपरो वस्तुभेदः । न च प्रतिभास-

भेदादप्यस्वरूपभेदः, अन्यथा त्रैलोक्यमेकमेव वस्तु स्यात् । दुरा-
सध्वंशवर्तिनोः पुरुषयोः एकत्र शास्त्रिणि स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभे-
दोऽपि न शास्त्रिभेद इति चेत्? न ब्रूमः प्रतिभासभेदो मिश्रवस्तुनि-
यतः, किन्तु एकविषयत्वाभावादनयत इति । ततो यथायथाक्रिया-
भेदादिसच्चिवः प्रतिभासभेदः तत्र वस्तुभेदः घटवत् । अन्यत्र
पुनर्निर्गमेनैकविषयतां परिहरतीत्येकप्रतिज्ञासां भ्रान्तः ।

एतेन यदाह वाचस्पतिः-न च शब्दप्रत्यक्षयोर्वस्तुगोचरत्वे
प्रत्ययाभेदः, कारणभेदेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदोऽप्यपत्तिरिति । तन्नो-
पयोगि । परोक्षप्रत्ययस्य वस्तुगोचरत्वासमर्थनात् । परोक्षताऽऽ-
श्रयस्तु कारणभेद इन्द्रियगोचरग्रहणविवेहेणैव कृतार्थः । तन्न
शब्दे प्रत्यये स्वरूपं परिस्फुरति । किञ्च स्वरूपकृणात्मनि वस्तुनि
वाच्ये सर्वात्मना प्रतिपत्तेः विधिनिषेधयोरयोगः । तस्य हि
सद्भावेऽस्तीति व्यर्थम्, नास्ति इत्यसमर्थम्; असद्भावे नास्तीति
व्यर्थम्, नास्ति इत्यसमर्थम् । अस्ति चास्त्यादिपदप्रयोगः । तस्मात्
शब्दप्रतिज्ञास्य बाह्यार्थभावाभावसाधारण्यं न तद्विषयतां
कृमते । यच्च वाचस्पतिना जातिमद्वैतवाच्यतां स्वयंचैव
प्रस्तुत्याऽनन्तरमेव न च शब्दार्थस्य जातेर्जावाजावसाधारण्यं
नोपपद्यते; सा हि स्वरूपतो नित्याऽपि देशकालविषयीणां नैकव्य-
न्याश्रयतया जावाभावसाधारणीत्यस्त्यस्ति-नास्ति-संबन्धयो-
ग्या । वर्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि जातेरस्तितया; अतीतानागत-
व्यक्तिसम्बन्धिता च नास्तितीति संदिग्धव्यतिरेकित्वादनैकान्त-
कं भावाभावसाधारण्यमन्यथासिद्धं चेति विलपितम्, तावन्न
प्रकृतज्ञातः, जानौ भरं न्यस्यता स्वरूपजावाच्यत्वस्य स्वयं
स्वीकारात् । किञ्च-सर्वत्र पदार्थस्य स्वरूपस्वरूपेणैवास्तित्वा-
दिकं चिन्त्यते । जातेस्तु वर्तमानादिव्यक्तिसम्बन्धोऽस्तित्वादि-
कमिति तु बालप्रतारणम् । एवं जातिमद्वैतविचिन्नेऽपि दोषः
व्यक्तेश्चैव प्रतीतिसिद्धिः, जातिरधिका प्रतीयताम्; मा वा, न तु
व्यक्तिप्रतीतिद्वेषान्मुक्तिः ।

एतेन यदुच्यते कौमारिलैः-समागतत्वादेव वस्तुनो न सा-
धारण्यदोषः । वृक्षत्वं ह्यनिर्धारितजावाजावं शब्दादवग-
म्यते । तयोरन्यतरेण शब्दान्तरावगमेन संबध्यत इति ।
तदप्यसङ्गतम् । सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्तावनिर्धारितजा-
वाभावत्वाव्योगात् । यच्च न च प्रत्यक्षस्यैव शब्दानाम् अर्थ-
प्रत्यायनप्रकारो येन तददृष्ट इवास्त्यादिशब्दापेक्षा न स्यात्, वि-
चित्रशक्तित्वात् प्रमाणानामिति । तदप्यैन्द्रियकशब्दप्रतिज्ञास-
योरैकस्वरूपप्राप्तित्वे मिश्रावभासदूषणेन दूषितम्, विचित्रशक्ति-
त्वं च प्रमाणानां साक्षात्काराध्यवसायाज्यामपि चरितार्थम् ।
ततो यदि प्रत्यक्षार्थप्रतिपादनं शाब्देन तद्वेदेवावभासः स्यात्,
अन्यत्र न तद्विषयख्यापनं कृमते । ननु वृक्षशब्देन वृक्षत्वांशे
चोदिते सत्त्वाद्यंशनिश्चयनार्थमस्त्यादिपदप्रयोग इति चेत्? नि-
रंशत्वेन प्रत्यक्षसमयितस्य स्वरूपस्य काऽवकाशः पदान्तर-
रेण; धर्मान्तरविधिनिषेधयोः प्रमाणान्तरेण वा । प्रत्यक्षेऽपि प्रमा-
णान्तरापेक्षा दृष्टेति चेत्? भवतु तस्यानिश्चयात्मत्वात् अनभ्य-
स्तस्वरूपविषयं, विकलस्तु स्वयं निश्चयात्मको यत्र प्राही तत्र
किमपरेण? अस्ति च शब्दवृक्षान्तरापेक्षा, ततो न वस्तुस्वरू-
पग्रहः । ननु मिश्रा जात्याद्यो धर्माः परस्परं धर्मिणश्चेति जाति-
लक्षणैकधर्मद्वारेण प्रतीतेऽपि शास्त्रिणि धर्मान्तरवत्तया न प्र-
तीतिरिति किञ्च जिज्ञासिध्यानाधोनो धर्मान्तरस्य नीलचलो-
क्षेत्रत्वादिवदवधौ; तदतदसङ्गतम् । अखण्डात्मनः स्वरूप-
स्य प्रत्यक्षे प्रतिभासात् । दृश्यस्य धर्मधर्मिभेदस्य प्रत्यक्षप्र-

तिप्रतिपत्त्यात्, अन्यथा सर्वं सर्वत्र स्यादिति अनिप्रसङ्गः । कालप-
निक्रान्दाश्रयस्तु धर्मधर्मिभेदव्यवहार इति प्रमाथितं शास्त्रे; भव-
तु वा पारमार्थिको धर्मधर्मिभेदः, तथाऽप्यनयोः समवायादे-
दूषितत्वाद्दुपकारलक्षणं प्रत्यासत्तिरपि तस्या । एवं च यथे-
न्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षे धर्मिप्रतिपत्तौ सकलतद्धर्मप्रतिप-
त्तिः । तथा शब्दालङ्कार्यामपि वाच्यवाचकादिसंबन्धप्रतिब-
न्धायां धर्मिप्रतिपत्तौ निरवशतद्धर्मप्रतिपत्तिर्भवेत्, प्रत्यास-
त्तिमात्रस्याविशेषात् । यच्च वाचस्पतिः-न चैकोपाधिना सत्त्वे
विशिष्टे तस्मिन् गृहीते, उपाध्यन्तरविशिष्टतद्ग्रहः । स्वभावो
हि द्रव्यस्य उपाधिनिर्विशिष्यते; न त्वाध्यां वा, विशेष्यत्वं वा,
तस्य स्वभाव इति । तदपि ध्रुवत एव । न ह्यभेदादुपाध्यन्तरग्र-
हणत्वमासञ्जितम् । भेदं पुरस्कृत्यैवोपकारकग्रहणे उपकार्यग्रह-
णप्रसङ्गनात् । न चाग्निधूमयोः कार्यकारणभाव एव, स्वभावत
एव धर्मधर्मिणोः प्रतिनियमकल्पनमुचितम्, तयोरपि प्रमाणासि-
द्धत्वात् । प्रमाणसिद्धे च स्वभावोपवर्णनमिति न्यायः । यच्चात्र
न्यायभूषणं सूर्यादिग्रहणे तदुपकार्यांशवस्तुराशिग्रहणप्रस-
ङ्गमुक्तम् । तदभिप्रायानवगाहनफलम् । तथाहि-त्वन्मते धर्म-
धर्मिणोर्भेदः, उपकारलक्षणं च प्रत्यासत्तिः । तदोपकारकग्र-
हणे समानदेशस्यैव धर्मरूपस्यैव चोपकार्यस्य ग्रहणमासञ्जि-
तम्, तत् कथं सूर्योपकार्यस्य भिन्नदेशस्य छत्यान्तरस्य वा दृष्ट-
व्यञ्जिचारस्य ग्रहणप्रसङ्गः सङ्गतः । तस्मादेकधर्मद्वारेणाऽपि व-
स्तुस्वरूपप्रतिपत्तौ सर्वात्मप्रतीतेः, क शब्दान्तरेण विधिनिषे-
धावकाशः । अस्ति च, तस्मान्न स्वरूपकृणस्य शब्दविकल्पवृद्धिप्र-
तिभासित्वमिति स्थितम् । नापि सामान्यं शब्दप्रत्ययप्रतिभा-
सि । सचितः पारे गावश्चरन्तीति गवादिशब्दात् सास्नागृह-
लाङ्गलादयाऽन्तराकारपरिकरिताः सजातीयभेदापरामर्शनात्
संपिण्डितप्रायाः प्रतिज्ञासन्ते । न च तदेव सामान्यम् । वर्णाकृ-
त्यकृताकारशून्यं गौतं हि कथ्यते । तदेव च सास्नागृह-
दिमात्रमखिलव्यक्त्यावत्यन्तविलक्षणमपि स्वरूपकृणैर्क । क्रयमा-
णं सामान्यमित्युच्यते; तादृशस्य बाह्यस्याप्राप्तैर्भ्रान्तिरेवासौ;
केशप्रतिज्ञासवत् । तस्माद्भासनावशाद्बुद्धेरेव तदात्मना विवर्तो-
ऽयमस्तु, असदेव वा तद्रूपं ख्यातु, व्यक्तय एव वा सजातीयभेद-
तिरस्कारेणान्यथा भासन्ताम्, अनुभावव्यवधानात् । स्मृतिप्र-
मोयो वाऽनिर्धार्यताम्, सर्वथा निर्विषयः खल्वयं सामान्यप्रत्ययः,
क सामान्यवार्ता? । यत पुनः सामान्याभावे सामान्यप्रत्ययस्याक-
स्मिकत्वमुक्तम्? । तदयुक्तम् । यतः पूर्वपिण्डदण्डदर्शनस्मरण-
सद्वृत्तिरिति निरुच्यमानावशेषप्रत्ययजनिका सामग्री निर्विष-
यं सामान्यविकलमुत्पादयति; तदेवं न शाब्दप्रत्यये जातिः प्रति-
भाति, नापि प्रत्यक्षे, न चानुमानतोऽपि सिद्धिः; अदृश्यत्वे प्रति-
बद्धवृत्तिदर्शनात् । नाप्यैन्द्रियवदस्याः सिद्धिः, ज्ञानकार्यतः कादा-
चित्कस्यैव निमित्तान्तरस्य सिद्धेः । यदाऽपि पिण्डान्तरेऽन्तरात्रे
वा गोबुद्धेरजावं दर्शयेत्; तदा शायत्रेयादिसकलगोपिण्डाना-
मेवाभावादभावो गोबुद्धेरुपपद्यमानः कथमर्थान्तरमात्तपेत्? ।
गोत्वादेव गोपिण्डः, अन्यथा तुरगोऽपि गोपिण्डः स्यात् । यथे-
वं गोपिण्डादेव गोत्वमन्यथा तुरगत्वमपि गोत्वं स्यात्, तस्मात्
कारणपरम्परात एव गोपिण्डो, गोत्वं तु भवतु मा वा । ननु
सामान्यप्रत्ययजननसामर्थ्यं यद्येकस्मात् पिण्डादजिज्ञम्; तदा
विज्ञातीयवावृत्तं पिण्डान्तरमसमर्थम् । अथ भिन्नं, तदा तदेव
सामान्यं, नास्ति परं विवाद इति चेत्? अभिन्नैव सा शक्तिः प्र-

निवस्तु; यथा त्वकः शक्तस्वभावो भावः तथा अस्याऽपि भवन्
कादशां दोषमावदति । यथा जवतां जातिरेकाऽपि समानध्व-
निप्रसवेऽनुत्पत्त्याऽपि स्वरूपेणैव जात्यन्तरनिरपेक्षा, तथाऽ-
स्माकं व्यक्तरपि जातिनिरपेक्षा स्वरूपेणैव भिन्ना हेतुः ।

यत्तु त्रिलोचनः-अश्वत्थगोत्वादीनां सामान्यविशेषाणां स्वाध-
ये समवायः सामान्यम्; सामान्यमिदं यन्निधानप्रत्यययोनिमित्त-
मिति । यद्येवं व्यक्तिष्यप्ययमेव तथाभिधानप्रत्ययहेतुरस्तु किं
सामान्यस्वीकारप्रमादेन ? । न च समवायः सम्भवः ॥

"इहेति बुद्धेः समवायमिच्छि-रिहेति धीश्च द्वयदर्शने स्यात् ।
न च क्वचित्द्विषये त्वपेक्षा, स्वकल्पनामात्रमताऽऽनुपायः" ॥१॥
एतेन येन प्रत्ययानुवृत्तिरनुवृत्तवस्तुन्यायिनः । कथमत्य-
न्तभेदिनां व्यक्तिषु व्यावृत्तिविषयप्रत्ययभावानुपातिनापु भवि-
तुमर्हतात्प्राप्रवर्त्तनमस्य प्रत्याख्यातम् । जानिष्वेव परस्परव्या-
वृत्तनया व्यकायमानास्वनुवृत्तप्रत्ययेन व्याभिचारात् । यत् पु-
नरनेन विपर्यये बाध्यकमुक्तम्, अभिधानप्रत्ययानुवृत्तिः कुतश्चि-
न्निवृत्त्य कश्चिदेव जवन्तां निमित्तवन्तां न चान्यन्निमित्तमत्या-
दि । तत्र सम्भक्त । अनुवृत्तमन्तरणापि अभिधानप्रत्ययानुवृत्ते-
रतद्रूपपरावृत्तरूपविशेषात् अवश्यं स्वीकारस्य साधि-
तत्वात् । तस्मात्-

"तुल्यनेदे यया जानिः, प्रत्यासत्या प्रसर्पति ।

क्वचिन्नान्यत्र सैवास्तु, शब्दज्ञाननिबन्धनम्" ॥ १ ॥

यत् पुनरत्र न्यायभूषणेनोक्तम्-नह्येवं भवति यया प्रत्यासत्या द-
ण्डसूत्रादिकं प्रसर्पति क्वचिन्नान्यत्र सैव प्रत्यासतिः पुरुषस्क-
टिकादिषु दण्डसूत्रत्वादिव्यवहारनिबन्धनमस्तु किं दण्ड-
सूत्रादिमिति । तदसङ्गत् । दण्डसूत्रयोर्हि पुरुषस्कटिकप्रत्या-
सन्नयेर्दण्डयोः दण्डसूत्रप्रत्ययहेतुत्वं नापलभ्यते । सामान्यं
तु स्वप्नेऽपि न दृष्टम् । तद्यदादं परिकल्पनीयं तदा वरं प्रत्यास-
त्तिरेव सामान्यप्रत्ययहेतुः परिकल्प्यताम्, किं गुर्व्या परिक-
ल्पनद्वयनिप्रायापरिज्ञानात् ।

अथेदं जातिप्रसाधकमनुमानमभिधीयते-यद्विशिष्टज्ञानं त-
द्विशेषणप्रदणनान्तरीयकम् । यथा दण्डज्ञानम् । विशिष्ट-
ज्ञानं चेदं-गौरयमित्यर्थः कार्यहेतुः; विशेषणानुभवकार्यं हि
दृष्टान्ते विशिष्टबुद्धिः सिद्धेति । अत्रानुयोगः विशिष्टबुद्धेर्निर्गवि-
शेषणप्रदणनान्तरीयकत्वं वा साध्यम्; विशेषणमात्रानुभव-
नान्तरीयकत्वं वा ? । प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षयाधासाधना-
वधानमनवकाशयति वस्तुग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयप्रतिभा-
सानाभावात् विशिष्टबुद्धित्वं च सामान्यम् । हेतुर्नैकान्तिकः ।
निर्गविशेषणप्रदणनमन्तरणापि दर्शनात्, यथा स्वरूपवान् घटः ।
गोत्वं सामान्यमिति वा । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधम् । स्वरूपवा-
न् घट इत्यादिवत् गोत्वजातिमात्रं पितृ इति परिकल्पितं भे-
दमुपादाय विशेषणविशेष्यज्ञाधस्येष्टत्वादगोव्यावृत्तानुभवभा-
वित्वात् गौरयमिति व्यवहारस्य । तदेव न सामान्यबुद्धिः ।
बाध्यकं च सामान्यगुणकर्माद्युपाधिचक्रस्य, केवलव्यक्तिग्राहकं
पटुप्रत्यक्षम् । दृष्टानुपलभ्यो वा प्रसिद्धः । तदेवं विधिरेव
शब्दार्थः । स च बाह्योऽर्थो बुद्ध्याकारश्च विवक्षितः तत्र न बु-
ध्याकारस्य तत्त्वतः संवृत्त्या वा विधिनिषेधौ, स्वसंवेदनप्र-
त्यक्षगम्यत्वात्, अनध्यवसायाच्च । नापि तत्त्वतो बाह्य-
स्यापि विधिनिषेधौ, तस्य शाब्दे प्रत्ययेऽप्रतितासमात् । अत-
एव सर्वधर्माणां तत्त्वतोऽननिष्ठाप्यत्वं प्रतिभासाध्यवसाया-

नाभात् तस्मात् बाह्यस्यैव साधुतौ विधिनिषेधौ । अन्यथा
संव्यवहारहानिप्रसङ्गात् । तदेवं-

"नाकारस्य न बाह्यस्य, तत्त्वतो विधिसाधनम् ।

बहिरेव हि संवृत्त्या, संवृत्त्याऽपि तु नाकृतेः ॥ १ ॥"

एतेन यद्धर्मोत्तरः-आरोपितस्य बाह्यत्वस्य विधिनिषेधावि-
त्यल्लोकिमनागममताकिंकीयं कथयति । तदपदस्ति तम् ।
नन्वध्यवसाये यद्यध्यवस्यं वस्तु न स्फुरति तदा तदध्यवसित-
मिति कोऽर्थः ? , अप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिविषयीकृतमिति योऽर्थः ।
अप्रतिभासाविशेषं विषयान्तरपरिहारणं कथं नियतविषया प्र-
वृत्तिरिति चेत् ? , उच्यते-यद्यपि विश्वमगृहीतं तथापि विकल्प-
स्य नियतसामग्रीप्रसूतत्वेन नियताकारतया नियतशक्तित्वात्
नियता एव जज्ञादौ प्रवृत्तिः । धूमस्य परोक्षानिर्ज्ञानजननवत् ।

नियतविषया हि ज्ञावाः प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा न शक्ति-
साङ्कर्षपर्यनुयोगमात्रः । तस्मात् तदध्यवसायित्वमाकारविशेष-
योगात् तत्प्रवृत्तिजनकत्वम् । न च सादृश्यादारोपेण प्रवृत्ति-
भ्रमः, येनाकारं बाह्यस्य बाह्यं वा आकारस्यारोपद्वारेण दू-
षणावकाशः, किं तर्हि स्ववासनाविषयकशब्दपञ्जायमानैव
बुद्धिरपश्यत्यपि बाह्यं बाह्ये वृत्तिमातनोतीति शिष्युनैव । तदे-
वमन्याभावविशिष्टो विजातिव्यावृत्तोऽर्थो विधिः । स एव चा-
पहोशब्दवाच्यः शब्दानामर्थः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयश्चेति स्थितम् ।
अत्र प्रयोगः--यद् वाचकं तत्तत्त्वमध्यवसितातद्रूपपरावृत्तव-
स्तुमात्रगोचरम्; यथैव कूपे जलमिति वचनम् । वाचकं
चेदं गवादिशब्दरूपमिति स्वभावहेतुः । नायमसिद्धः, पूर्वोक्ते-
न न्यायेन पारमार्थिकवाच्यवाचकज्ञावस्याभावेऽपि अध्य-
वसायकृतस्य सर्वव्यवहारिन्निरवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात् । अन्य-
था सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । नाऽपि विरुद्धः, सपक्षे ज्ञा-
वात् । न चानैकान्तिकः, तथाहि-शब्दानामध्यवसितविजा-
तिव्यावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वमनिच्छद्भिः परैः परमार्थतः-

"वाच्यं स्वलक्षणमुपाधिरुपाधियोगः,

सोपाधिरस्तु यदि वा कृतिरस्तु बुद्धेः ।"

गत्यन्तराभावात् । अविषयत्वं च वाचकत्वायोगात् । तत्र-

"आद्यन्तयोर्न समयः फलशक्तिहाने-

र्मध्येऽप्युपाधिविरहात् वितथेन युक्तः ॥"

तदेवं वाच्यान्तरस्याभावात् । विषयवत्त्ववृत्तकणस्य व्यापकस्य
निवृत्तौ विपक्षतो निवर्त्तमानं वाचकत्वमध्यवसितव्यावि-
षयत्वेन व्याप्यत इति व्याप्तिसिद्धिः ।

"शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थः,

तत्रापोऽस्तदुत्पत्त्येन गम्यः ।

अर्थश्चैकोऽध्यासतो भासतोऽन्यः,

स्याप्यो वाच्यस्तत्त्वतो नैव काश्चित् ॥"

अथापोहसिद्धिर्ज्ञानाचार्यैरिति पराक्रियते-

"अथ श्रीमदनेकान्त-समुद्घोषपिपासितः ।

अपोहमापिवाभि जाक्, वाक्चान्तां भित्तवः क्षणम्" ॥ १ ॥

इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविरुद्धधर्माध्यासकथ-
ञ्चित्तादात्म्यापन्नसामान्यविशेषस्वरूपवस्तुलक्षणाक्षूणदीक्षादी-
कृतत्वं प्राक् प्राकट्यत । ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसिद्धमे-

वायतोऽजलिप्युष्मदीयैः—“स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पात्मकः” इति कथमपोहः शब्दार्थः स्यात् ? अस्तु वा, तथाऽप्यनुमानवत् किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोहोचरत्वेऽपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु । अतीतानागतस्मरसरोजादिष्वस्तस्वपि शब्दोऽपलम्भानात्रार्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्हि वृद्धः, गिरिनिदीवेगोऽपलम्भात्, भार्वा भरगुदयः, रेवत्युदयात्, नास्ति रासजगृहम्, समग्रप्रमाणैरनुपलम्भात्, इत्यादेरर्थोभावेऽपि प्रवृत्तेऽनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचोवाच्यापोहोऽपि पारम्पर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात्, तदानीमलावूनि मज्जन्तीत्यादिविप्रतारकवाक्यापोहोऽपि तथा भवेदिति चेत्, अनुमेयापोहोऽपि तुल्यमेतत्, प्रमेयत्वादिहेत्वनुमेयापोहोऽपि पदार्थप्रतिष्ठताप्रसक्तेः । प्रमेयत्वं हेतुत्वं न ज्ञाति, विपक्वास्तत्त्वतल्लक्षणाभावादिति कुतस्त्या तदपोहस्य तन्निष्ठतेति चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति, आप्तोक्तत्वतल्लक्षणाभावादित्यादि समस्तं समानम् । यस्तु नाप्तोक्तत्वं वचसि विवेचयितुं शक्यमिति शाक्यो वक्ति, स पर्यनुयोज्यः—किमास्तस्यैव कस्याप्यज्ञावादेवमभिधीयेत, भावेऽप्यस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि मौनव्रतिकत्वात्, वक्तृत्वेऽप्यनासन्नचानात्, तद्वचसो विवेकावधारणाभावाद्वा । सर्वमन्ये तच्चार्वाकादिवाचां प्रपञ्चात्, मातापितृपुत्रभ्रातृगुरुगतादिवचसां विशेषमातिष्ठमानैरप्रकटनीयमेव । न च नास्ति विशेषस्वीकारः, तत्पठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निबन्धनत्वापत्तेः । अथानुमानिक्येवाऽऽतशब्दार्थप्रतीतिः, कथम् ?—

“पादपार्थिवविकृतावत्, पुरुषोऽयं प्रतीयते ।

वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात्, पूर्वावस्थास्वहं यथा ॥ १ ॥”

इति विवक्षांनुमाय, सत्या विवक्षेयम्, अस्ति विवक्षतात्वात्, मद्धिवक्तावदिति वस्तुनो निर्णयादिति चेत् । तद्वचनुरस्त्रम् । अमूदृश्यवस्थाया अनन्तरोक्तवैशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतिनिर्वचनत्वात् । किञ्च-शाखादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसङ्केते सत्येतद्विवक्षाऽनुमानमातयेत, अन्यथा वा । न तावदन्यथा, केनचित् कक्षे वृक्षशब्दं संकेत्य तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशुक्रशारिकादिना गोत्रस्खलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपादनाच्च हेतोर्व्यभिचारपत्तेः । संकेतपक्षे तु यद्येव तत्पत्त्वी शब्दस्तद्वशाद्वस्त्वेव वदेत्, तदा किं नाम क्षुण्णं स्यात् । न खल्वेषोऽर्थाद्विभक्तिः । विशेषलभश्चैवं सति यदेवंविधाननुच्यमानपारम्पर्यपरित्याग इति । यद्वक्त्रि-परमार्थतः सर्वतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेनेत्यादि । तदवयवम् । यतोऽर्थस्य बाह्योद्देशकत्वम्, अद्विरूपत्वं, समानत्वं वा विवक्षितम् ? । न तावदाद्यः पक्षः, परडमुपडौ कुण्डकाण्डभाण्डादिबाह्योद्देशकस्य निम्न-निम्नस्यैव संदर्शनात् । द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पदत्वम्, अन्यव्यावृत्त्यधिष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात् ? । न प्राच्यः प्रकारः, सदृशपरिणामस्य सौगतैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः, अन्यव्यावृत्तेरतात्त्विकत्वेन बान्धव्यस्यैव स्वलक्षणेऽधिष्ठानासंभवात् । किञ्च-अन्यतः सामान्येन, विजातीयोद्देशा व्यावृत्तिरन्यव्यावृत्तिर्भवेत् ? । प्रथमपक्षे, न किञ्चिदसमानं स्यात्, सर्वस्यापि सर्वतो व्यावृत्तत्वात् । द्वितीये तु विजातीयत्वं वाजिकुञ्जरादिकार्याणां बाह्यादिसजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यव्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इति स्पष्टं

परस्परश्रयत्वमिति । एवं च कारकैक्यं, प्रत्यवमर्शक्यं च विकल्प्य दूषणीयम् । अपि च—यदि बुद्धिप्रतिबिम्बत्वात् शब्दार्थः स्यात्, तदा कथमतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? । स्वप्रतिज्ञासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायाच्चेत् । ननु कोऽयमर्थार्थाध्यवसायो नाम ? । अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थार्थाध्यवसायो नाम ? । योरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तुमर्हति । न च समारोपविकल्पस्य स्वलक्षणं कदाचन गोचरतामश्नुति । यदि चानर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा बाह्योद्देशार्थक्रियाधिः सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि दाहपाकाद्यर्थी समारोपितपावकत्वे माणवके कदाचित्प्रवर्त्तते । रजतरूपताऽवभासमानशुक्तिकायामिव रजतार्थिनोऽर्थक्रियाधिः विकल्पात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत् । आतिरूपस्तर्ह्ययं समारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तार्थक्रियार्थी कृतार्थः स्यात् । यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो रजतार्थक्रियार्थीति । यदपि प्रोक्तम्—कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वादिति । तदप्युक्तम् । यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम्, एवं परम्परया स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं भवेदिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रत्यपद्धतिमनुशोचत् । ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्यावबोधनिबन्धनमेवेति स्थितम् ॥

अथापौरुषेयत्वव्याघातः—

आगमस्यापौरुषेयत्वं स्याद्वादमञ्जर्याम् । स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ? । पौरुषेयश्चेत्सर्वज्ञकृतस्तदितरकृतो वा ? । आद्यपक्षे गुणमन्तव्याहतिः । तथा च भवत्सिद्धान्तः—

“अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् दृष्टा न विद्यते ।

नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थं च विनिश्चयः” ॥ १ ॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृत्वेनाऽनाश्वसप्रसङ्गः । अपौरुषेयश्चेन्न संजवत्येव, स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गगृह्यत्वात् । तथाहि—उक्तिर्वचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य एतत्क्रियाज्ञावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् केवलं कचिद् ध्वनतुपलभ्यते, उपपन्नव्यावृत्त्यवकाशशङ्कासम्भवात् । तस्माद्यद्वचनं तत्पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसम्भवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथा चाहुः—

“तात्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,

वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।

पुंसश्च तात्वादि ततः कथं स्या—

दपौरुषयोऽयमिति प्रतीतिः ? ॥ १ ॥” इति ।

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य स्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थो, नियामकाभावात्ततोऽवरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम् । अस्तु वा अपौरुषेयस्तथापि तस्य न प्रामाण्यम्, आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतति । यत्तु कर्तृस्मरणं साधनं तद्विशेषणं सविशेषणं वा वार्थ्यं, प्राक्तनं तावत्पुराणकूपसादारामविहारादिव्यभिचारि, तेषां कर्तृस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीयं तु सम्प्रदायाव्यवच्छेदे सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकरणासिद्धः, कर्तृस्मरणस्य श्रुतेरन्यत्राश्रये पुंसि वर्त्तमानात् । अथापौरुषेयी श्रुतिः, सम्प्र-

यथावदुच्यते परैः-नित्याद्यां बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात्
घटवदिति । तदयुक्तम् । व्यासप्रहणात् । साधनं हि सर्वत्र
व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः ।
स चायं जगन्ति मृजन् सशरीरोऽशरीरो या स्यात् ? । मशरीरो-
ऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवद्दृ-
श्यशरीरविशिष्टः ? । प्रथमपक्षे प्रत्यक्षाबाधः । तन्मन्तरेणाऽपि च
जायमाने तृणतुरुरुदरधनुरज्जादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेय-
त्वविरहाधारणानैकान्तिका हेतुः । द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्य-
शरीरत्वं तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहासिदस्मदाद्यदृष्ट-
वैगुण्यम् । प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्याघनीयः । तत्सिद्धौ प्रमा-
णाभावात् इतरेतराश्रयद्रोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यवि-
शेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्, तत्सिद्धौ च माहात्म्य-
विशेषसिद्धिरिति । द्वैतीयैकस्तु प्रकारो न संचरत्येव विचार-
गोचरे; संशयानिवृत्तेः । किं तस्याऽसत्त्वाददृश्यशरीरत्वं, वा-
न्ध्यादिवत्, किं वाऽसत्त्वाददृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति नि-
श्चयाभावात् । अशरीरइत्येव तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरैव प्रम्यम् ।
घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च
सततस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत् । तस्मात्सश-
रीराशरीरलक्षणं पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेताव्याप्यसिद्धिः । किञ्च-
त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टाऽप्ययं हेतुः । धर्म्यैकदेशस्य तत्त्वियु-
द्धादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन
प्रत्यक्षाधिगतधर्म्यन्तरं हेतुर्न एनात् । तदेवं न कश्चिज्जगतः
कर्ता । किञ्च-स ईश्वरः स्रज्जु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्ग-
स्वभावोऽतस्त्वज्ञावो वा ? । प्रथमविधायां जगत्सर्गमाणात्कदाचिद-
पि नोपरमेत । तदुपरमे तस्त्वज्ञाव्यवहानिः । एवं च सर्गक्रियाया
अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः । यद्ये हि स्वारम्भक-
णादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यकरणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न

घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् । अतस्त्वज्ञावपक्वे तु न जातु जगन्ति सृजेन्तस्त्वज्ञावायो-गाग्ननवत् । अपि च-नस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत्संहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेन्तेनैव तानि संहरेत्, स्वभावान्तरेण वा ? तन्नैव चेत्सृष्टिसंहारयोर्योगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात् । एकस्व-भावाकारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा पार्थिवभारीस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादे-न स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शंभौ स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहारणे, सात्त्विकतया च स्थितौ तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थाभेदस्तद्वदे चावस्थावतोऽपि जेदाक्षित्यत्ववृत्तिः । अथास्तु नित्यः सस्तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छा-वशाच्चन्न तु अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदै-व किञ्च प्रवर्त्तयन्तीति स एवोपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणा-धिकरणत्वे कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषयरूपत्वान्नि-त्यत्वहानिः केन वार्यते ? किञ्च-प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारु-ण्याभ्यां व्याप्ता । ततश्चायं जगत्सर्वं व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्या-द्वा ? न तावत्स्वार्थात्, तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्, परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । ततः प्राक्सर्गाजीवानामाप्ति-यशरीरविषयानुपपत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्य-म् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽध्वलोक्ष्य कारुण्याज्युपगमे दु-स्तरमितरेतराश्रयम् । कारुण्येन सृष्टिः, सृष्ट्या च कारुण्यम् इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यतीति संक्षेपः ।

अथ शब्दाकाशगुणत्वस्वरूपनम्-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ।

पुत्रलैर्भावावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । पौद्गलिकः शब्द इन्द्रियार्थत्वादपादिवत् । यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघाता-त्पूर्वं पञ्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्तेरकत्वाद्गग-नगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः । तथा हि-शब्दपर्यायस्याश्रयो ज्ञावावर्गणा, न पुनराकाशं, तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव । यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवाननुवातप्रतिघातयोर्वि-प्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलब्धमानानुपलब्धमानेन्द्रियार्थत्वात्तथा-विधगन्धधाराधारद्रव्यपरमाणुवत् इत्यसिद्धः प्रथमः । द्विती-यस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः । वर्तमानजात्यकस्तू-रिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवात्ताति-निविडत्वमतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्कमौ, कथमन्यथोद्भादितद्वाराव-स्थायामिव न तदेकार्णवत्वम् ? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संज्ञय इति चेत्तर्हि शब्देऽन्यतस्मानमित्यसिद्धो हेतुः । तृती-यस्तु तडिहृतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव, गन्धद्र-व्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्यन्त्रिचारात् । नहि गन्धद्रव्यादिक-मपि नासायां विविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुरकं दृश्य-ते । पञ्चमः पुनरसिद्धः, तथा हि-न गगनगुणः शब्देऽस्मदादिप्र-त्यक्त्वाद्पादिवदिति सिद्धः पौद्गलिकः शब्द इति । अथ नायं शब्दः पौद्गलिकः संगच्छत इति यौगाः सङ्गिरमाणाः सप्रणयप्र-णयिनीनामेव गौरवाहोः । यतः कोऽत्र हेतुः ? स्पर्शशून्याश्रयत्व-

म्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्व पञ्चाच्चाव-यवानुपलब्धिः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्तेरकत्वं, गगनगुणत्वं वा ? । नाद्यः पक्षः । यतः शब्दपर्यायस्याश्रये भावावर्गणारूपे स्पर्शाभा-यो न तावदनुपलब्धिमात्रात् प्रसिद्ध्यति, तस्य सव्यभिचारत्वात् । योग्यानुपलब्धिस्तस्यसिद्धा तत्र स्पर्शस्यानुद्भूतत्वेनोपलब्धिलक्ष-णप्राप्त्यज्ञावात् ; उपलब्ध्यमानगन्धाधारद्रव्यवत् । अथ घन-सारगन्धसारौ गन्धस्य स्पर्शव्यभिचारनिश्चयाद्वापि तन्नि-र्णयेऽप्यनुपलम्भादनुद्भूतत्वं युक्तम्, नेतरत्र, तन्निर्णायकाज्ञावा-त् इति चेत्, मातृत्वावत्तन्निर्णायकं किञ्चित्, किन्तु पुत्रला-नामुद्भूतानुद्भूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः प्रणिगद्यमाने, बाधकाभावो च सति संदेह एव स्यात्, न त्व-ज्ञावनिश्चयः, तथा च सन्दिग्धासिद्धो हेतुः । न च नास्ति तन्नि-र्णायकम् । तथा हि-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिघातयो-र्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलब्धमानाऽनुपलब्धमानेन्द्रियार्थत्वा-त्, तथाविधगन्धाधारद्रव्यवत्, इति । द्वितीयकल्पेऽपि गन्ध-द्रव्येण व्यभिचारः, वर्तमानजात्यकस्तूरिकाकपूरकश्मीरजादि-गन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसंपुटापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवेनाति-निविडत्वाभावात् तत्प्रवेशनिष्काशौ ; अत एव तदलपीयस्ता, न त्वावृतद्वारदशायामिव तदेकार्णवत्वम्, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे नैतौ संज्ञयत इति चेत्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य तुल्ययोगतेमत्वादसिद्धता हेतोरस्तु । पूर्वं पञ्चाच्चावयवानुपल-ब्धिः, सौदामिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकी । सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्त-राप्तेरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्यन्त्रिचारी । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासि निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भि-न्नश्मश्रुरकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्वं त्वसिद्धम् । तथा हि-न गग-नगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्त्वात् रूपादिवदिति । पौद्गलिक-त्वसिद्धिः पुनरस्य-शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिव-देवेत्यतिरां संक्षेपः ।

अद्वैतस्वरूपनम्-

वेदान्तिनस्तत्त्वेवं प्रजल्पन्ति-‘ सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽ-स्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ’ ॥ १ ॥ इति न्यायादयं प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमान-त्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायं, तस्मात्तथा । तदेतद्वार्त्तम् । तथा हि-मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् । किमन्यन्तासत्त्वम् उतान्यस्यान्याकारत-या प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम् । प्रथमपक्षेऽसत्त्वस्या-तिप्रसङ्गः । द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमि-दम् अनिर्वाच्यत्वम् ? । निःस्वजावत्वं चेत् निसः प्रतिषेधार्थवे-स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वेऽसत्ख्यातिसत्ख्या-त्यभ्युपगमप्रसङ्गः । भावप्रतिषेधेऽसत्त्वस्यातिरिजावप्रतिषे-धे सत्ख्यातिरिति । प्रतीत्य गोचरत्वं निःस्वजावत्वमिति चेत्, अत्र विरोधः । न प्रपञ्चो, हि न प्रतीयते चेत्कथम् धर्मिनयोपा-त्तः ? । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतज्जोपात्तम् ? । तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते, न तथेति चेत्तर्हि विपरीत-ख्यातिरियमज्युपगता स्यात् । किञ्चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्त्वाधिता, घटोऽयमिथ्याद्याकारं हि प्रत्यक् प्रपञ्चस्य स-त्यतामेव व्यवस्यति, घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदान्मन-स्तस्योत्पादात् । इतरेतराविक्रवस्तन्नामेव च प्रपञ्चगद-

वाच्यत्वात् । सध प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिपेधे सा-
मर्थ्यम् । प्रत्यक्षं हि-इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्व-
रूपं प्रतिपेधति ।

“आहुर्विधातु प्रत्यक्षं न निपेदधु विपश्चितः ।

नैकत्व आगमस्तनः प्रत्यक्षेण प्रवाधयते” ॥ १ ॥

इति वचनात्, इति चेन्न । अन्यरूपनिषेधमन्तरेण त-
त्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः । पीनादिश्ववच्छिन्नं हि नीलं
नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा । केवलवस्तुस्वरूपप्र-
तिपत्तेरेवाभ्यप्रतिपेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् । मुगुरुभूतलग्रहणे
घटाभावप्रदणवत् । तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रति-
पक्षं तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम् । अपि च-विधाय-
कमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते,
तथा किं नाविद्याऽपि इति । तथा च द्वैतापत्तिः । ततश्च सुख्य-
वस्थितः प्रपञ्चः । तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सम्मात्रं प्रत्य-
क्षाप्रतीयन्नोऽपि न निषेधकं तदिति युवाणाः कथं नोन्मत्ताः । इति
सिद्धं प्रत्यक्षवाधितः पक्ष इति । अनुमानवाधितश्च-प्रपञ्चो
मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं
च हेतुब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या ।
अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवत्त्वसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां
श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकवधौतेऽपि
प्रपञ्चात्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्चेद-
मनुमानं प्रपञ्चाद्विज्ञम्, अभिन्नं वा । यदि त्रिन्नं तर्हि सत्यम-
सत्यं वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् ।
अद्वैतवादप्राकारं खड्गपातात् । अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चि-
त्तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात् । अतिश्रं चेत् प्रपञ्च-
स्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः । मिथ्यारूपं च तत्कथं
स्वसाध्यसाधनायात्रम् । एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वा-
मिच्छेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात्, यतो बाह्यार्थाज्ञा-
वो भवेदिति । अथ वा प्रकारान्तरेण सम्मात्रवृत्तकस्य परम-
ब्रह्मणः साधने दूषणं चोपन्यस्यते । ननु परमब्रह्मण एवैकस्य
परमाधसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम् । अप-
रस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात् । तथाहि-प्रत्यक्षं तदा-
वेदकमस्ति । प्रत्यक्षं द्विधा ज्ञायते-निर्विकल्पकसविकल्पकभे-
दात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सम्मात्रविषयात्तस्यैकस्यैव
सिद्धिः । तथा चोक्तम्-

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बालमृकादिविज्ञानं-सदृशं शुद्धवस्तुजम्” ॥ १ ॥

न च विधिवत्परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षन एव प्रतीयत इति
द्वैतसिद्धिः, तस्य निषेधाऽविषयत्वात्, “आहुर्विधातु प्रत्यक्षं
न निपेदधु” इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घट-
पटादिभेदसाधकं तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाश-
कत्वात् सत्तात्तस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात् ।
तदुक्तम्-“यद्वैतं तद्ब्रह्मणा रूपम्” इति । अनुमानादपि तत्
सद्भावो विनाशयत एव । तथाहि-विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात् ।
यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमाना-
गमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रयुक्तः ।

तथा चोक्तम्-

“प्रत्यक्षाद्यवतारः स्या-ज्ञावांशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्ते-रज्ञावांशो जिघृक्षते” ॥ १ ॥

यच्चाभावाख्यं प्रमाणं, तस्य प्रामाण्याभावात् तत्प्रमाणम् ।
तद्विषयस्य कस्यचिदप्यज्ञात्वात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स
विधिरेव । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात् । सिद्धं प्रमेयत्वेन
विधिरेव तत्त्वम्, यत् न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम् । यथा खरवि-
पाणम् । प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम् । तस्माद् विधिरूपमेव ।
अतो वा तत्सिद्धिः । ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तः-
प्रविष्टाः प्रतिज्ञासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः-
प्रविष्टम् । यथा प्रतिज्ञासस्वरूपम् । प्रतिज्ञासन्ते च ग्रामाऽऽरा-
मादयः पदार्थास्तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः । आगमोऽपि प्रम-
ब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते-“पुरुष एवेदं सर्वं यद् ज्ञातं
यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदध्वनातिरोहति । यदेजति
यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य
बाह्यतः” इत्यादि । “श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽनुमन्त-
व्यः” इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः । कुत्रिमेणापि आगमेन त-
स्यैव प्रतिपादनात् । उक्तं च-

“सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन” ॥ १ ॥

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सक-
लभेदानां तद्विवर्तत्वात् । तथाहि-सर्वं ज्ञावा ब्रह्मविवर्ताः, सर्वै-
करूपेणान्वितत्वात् । यद्यद्वैपणान्वितं तत्तदात्मकमेव । यथा
घटघटाशरावोदञ्चनादया मृद्वैपणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः ।
सर्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु । इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं
निखिलभेदानामिति । तदेतत्सर्वं मन्दिरारसाऽऽस्वाद्गद्गदो-
दितमिवावज्ञासते विचारसदृत्वात् । सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं
ननु वाङ्मात्रेण । अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वै-
तप्रसङ्गात् । अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात् ।
अथ मते लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यनुपगम्यते ।
तदसत् । तन्मते लोकस्यैवासम्भवात् । एकस्यैव नित्यनिरंशस्य
परब्रह्मण एव सत्त्वात् । अथास्तु यथाकथञ्चिदप्रमाणमपि ।
तर्हि प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते ?
न तावत्प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाश-
कत्वात्, आवाग्रहोपाश्रं तथैव प्रतिज्ञासनात् । “यच्च निर्वि-
कल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्” इत्युक्तम् । तदपि न सम्पद्यते । तस्य
प्रामाण्याननुपगमात् । सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसाया-
त्मकस्यैवाविसंवादात्त्वेन प्रामाण्यापत्तेः । सविकल्पकेन तु प्र-
त्यक्षेण प्रमाणतत्त्वेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽपि अ-
प्रतिभासनात् । यद्युक्तम्-“आहुर्विधातु प्रत्यक्षम्” इत्यादि ।
तदपि न पेशलम् । प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तु-
न एव प्रकाशनात् । एतच्च प्रागव कुण्ठम् । न ह्यनुस्यूतमेकम-
स्त्रामं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन
यद्वैतं तद् ब्रह्मणा रूपमित्याहुक्तं शोभेत । विशेषनिरपेक्षसामा-
न्यस्य खरविपाणवदप्रतिज्ञासनात् । तदुक्तम्-

“निर्विशेषं हि सामान्यं, ज्ञेयं खरविपाणवत् ।

सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्वदेव हि” ॥ १ ॥

ततः सिद्धं सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य
परमब्रह्मणः प्रामाण्याप्यत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्त-
म्, तदप्येतेनैवापास्तं घोष्ठव्यम् । पक्षस्य प्रत्यक्षवाधितत्वेन
हेतोः कावाव्ययापिदृष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रातिभासमान-
त्वसाधनमुक्तम् । तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधना-
याऽलम् । प्रतिभासमानत्वं हि निखिलज्ञावानां स्वतः, परतो वा ?

न तावत्स्वतः; घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वे-
नासिद्धेः । परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते
इति । यच्च परमब्रह्माविर्बतवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम्,
तदप्यत्र स्थलेऽन्वायमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिब-
ध्नात्येव । न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति, मृदाद्यन्वयस्यैव
तत्र दर्शनात्, ततो न किञ्चिदतदपि । अतोऽनुमानादपि न त-
त्सिद्धिः । किञ्च-एकहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायजूताः परस्परं
जिज्ञासाः, अभिप्रायाः वा । भेदे द्वैतसिद्धिरभेदे त्वेकारूपतापत्तिः ।
तत्कथमेतभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणा-
पि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि बाह्यमात्रतः कथं न सिद्धिः ।

तदुक्तम्-

“हेतोरद्वैतासिद्धिश्चेद्, द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं बाह्यमात्रतो न किम् ? ” ॥ १ ॥

“पुरुष एवेदं सर्वम्” इत्यादेः, “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादे-
श्चागमादपि न तत्सिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन भेदेन
प्रति प्रामाण्यासंभवात् वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव
तत्रापि दर्शनात् ।

तदुक्तम्-

“कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विरुध्यते ।

विद्याऽविद्याद्यं न स्याद्, बन्धमोक्षद्वयं तथा ” ॥ १ ॥

अथ कथमागमादपि तत्सिद्धिः । ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेक-
मेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः ।

ईश्वरव्यापकत्वखण्डनम्-

ईश्वरस्य सर्वगतत्वं नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा
स्यात् । प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितर-
निर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता;
अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयको-
डीकरणश्रुपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन वि-
रोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्-“विश्वतश्चक्षुरुत
विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिस्त विश्वतः पादः ” इत्यादिश्रुतेः ।
यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिचुवनगतपदार्थानाम-
नियतदेशवृत्तीनां यथावर्तिमानानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते ।
स जगत्त्रयं निर्दिष्टमात्रस्तत्त्वादिवत्साक्षाद्देहव्यापारेण निर्दिष्टी-
ते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ? आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादि-
ध्याने अतोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद्धर्मायसाध्यतेहसा न
परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां निय-
तदेशस्थापित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुपपद्यमानं । नियतदेशस्थापि-
नां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रति-
पत्तेः । किञ्च-तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्त-
मसेषु नरकादिस्थेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते । तथा चानिष्टाप-
त्तिः । अयं युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्यु-
च्यते तदाऽशुचिरसाक्षादादीनामप्युपगमसम्भवावनात्, नरका-
दिदुःखस्वरूपसंवेदनाऽऽमकतया दुःखाऽनुभवप्रसङ्गाच्चा-
ष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत् । तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य
धूलिजिरिवावकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव
विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा, तत्कुतो भवदुपालम्भः
समीचीनः ? न हि भयतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्वत्साक्षादानु-
भूतिः । तद्भावे हि अक्रान्दनाऽङ्गानारसवत्यादिचित्तनमात्रेणैव

तृप्तिरिदौ तन्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति । यत्तु ज्ञानात्मना स-
र्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम्, तच्चक्रिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम् ।
तथा च वक्तारो भवन्ति-अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति
इति । न च ज्ञानं प्राप्यकारि, तस्याऽऽमभर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभात् ।
बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः । न हि धर्मो
धर्मिणमतिरिच्य कचन केवलो विलोकिताः । यच्च परे दृष्टान्त-
यन्ति-यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यमिन्द्रियस्य पु-
वनं ज्ञासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं
परिच्छिनत्तीति । तत्रेदमुत्तरम् । किरणानां गुणत्वमसिद्धम्,
तेषां तैजसपुङ्गवमयत्वेन द्रव्यत्वात् । यच्च तेषां प्रकाशात्मा
गुणः स तेभ्यो न जानु पृथग् भवतीति सन्तपः ।

अथैकेन्द्रियाणां जावेन्द्रियज्ञानसमर्पणेन भावश्रुत-
समर्पणम्-

एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्रादिद्रव्येन्द्रियाणां जावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं
किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतद्विज्ञोपलम्भात् । त-
थाहि-कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारश्रवणात् सद्यः कु-
सुम-पल्लवादिप्रसवो विरहकवृक्षादिषु श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्य-
क्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलकादितरुषु पुनः कर्मनीयकामि-
नीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षवित्तिपात् कुसु-
माद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकाद्यङ्घ्रिषु तु विविध-
सुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसखिलसेकात् त-
त्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य, वकुलादिभूरुहेषु तु रज्जातिशा-
यिप्रवररूपवरतरुणजामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुखादुसुरजिवारु-
णीगण्ठूपास्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य, कुरष-
कादिविद्विष्वशोकादिद्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भ-
विभ्रमापन्नाजितकुम्भीनकुम्भरणन्मणिवल्लयकण्ठकङ्काजरण-
भूषितभव्यभामिनीचुजलताऽवगूहनसुखात् निषिपेष्वराग-
चूर्णशोणतल्लतपादकमन्नपार्ष्णिप्रहाराच्च जगिति प्रसूनपल्लवादि-
प्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमजिगीक्ष्यते । ततश्च
यथैतेषु द्रव्येन्द्रियासत्वेऽप्येतत् भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकल-
जनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यश्रुताभावे भावश्रुतमपि भविष्यति ।
दृश्यते हि जलाद्याहारोपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा,
संकोचनवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्याऽव्यवसंकोचनादि-
ज्यो जयसंज्ञा, विरहक-तिलक-चम्पक-केशराऽशोकादीनां
तु मैथुनसंज्ञा दर्शितैव; विद्वत्पलाशादीनां तु निधानीकृतद्रवि-
णोपरिपादमोचनादिज्यः परिग्रहसंज्ञा । नचैताः संज्ञा भावश्रु-
तमन्तरेणोपपद्यन्ते । तस्मात् भावेन्द्रियपञ्चकावरणकृतोपशमा-
द् भावेन्द्रियपञ्चकज्ञानवद् भावश्रुतावरणकृतोपशमसद्भावा-
द् द्रव्यश्रुताभावेऽपि यच्च यावच्च जावश्रुतमस्यैवैकेन्द्रि-
याणामित्यलमतितरां पल्लवितेन । इत्थं सत्स्वपि प्रभूतेषु जैन-
दाशेनिकविषयेषु कथमलपीयस्यस्मिन्नुपोद्घातेन पार्थये दर्शयि-
तुमिति विरम्यते कतिपयविषयप्रदर्शनेनेति-

निवेदयन्ति

संशोधकाः

॥ श्रीः ॥

मत्तत्रान्तविपद्दन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
धन्यःसूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोन्योस्तिकः॥



॥ अजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ॥

(सिद्धमेवमशब्दानुशासनम्)

[अ० ८ पा० १]

नत्वा वीरं वन्द्यवन्द्यं, रागद्वेषविवर्जितम् ।
प्राकृतव्याकृतिरियं, उन्मोदवद्धा विरच्यते ॥ १ ॥

अथ प्राकृतम् ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थ-अनन्तर्यार्थ इष्यते ।
प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र-भवं, वा तत् आगतम् ॥
प्राकृतं, संस्कृतस्यान्ते, तदधिक्रियते ततः ।
सिद्धं च साध्यमानं च, द्विविधं संस्कृतं मतम् ॥
तद्योनेरेव तस्येह, लक्षणं, देशजस्य न ।
इति विज्ञापनार्थं हि, प्राकृतस्यानुशासनम् ॥
संस्कृतानन्तरं कुर्मस्तद् धारैरवधार्यताम् ।

विभक्तिः कारकं लिङ्गं, प्रकृतिः प्रत्ययोऽभिधा ॥
समासश्चापि संवेद्यः, संस्कृतस्यैव प्राकृते ।
ऋ ऋ लृ लृ विसर्गश्च, ऐ औ उज्जहाः स्तुतः ॥
एतद्वर्ज्यो वर्णगणो, लोकाद् बोध्योऽनुवृत्तितः ।
ऊँ औ स्ववर्ग्यसंयुक्तौ, वर्णौ च भवतो दि तौ ॥
एदौतौ चापि केषांचित्, कैतवं कैअवं यथा ।
सौन्दर्यं च सौअरिश्च, कौरवाः कौरवा इति ॥
अस्वरं व्यञ्जनं सर्वं, कृत्स्नं द्विवचनं तथा ।
चतुर्थ्यास्तु बहुत्वं च, न भवत्यत्र कुत्रचित् ॥
बहुलम् ॥ २ ॥

बहुलम् ' इत्यधिकृत-माशास्त्रपरिपुरणात् ।
वेदितव्यं, यथास्थानं, तत्कार्यं दर्शयिष्यते ॥

आर्षम् ॥ ३ ॥

ऋषीणामिदमार्षं च, प्राकृतं बहुलं भवेत् ।
तच्चापि दर्शयिष्यामो, यथास्थानं यथाविधि ॥
कचित् प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः, कचिद् विज्ञाया कचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुल्यकं वदन्ति ॥

दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥ ४ ॥

स्वराणां दीर्घह्रस्वत्वे, समासे भवतो मिथः ।
तत्र दीर्घस्य ह्रस्वत्वं, पूर्वं तावन्निगद्यते ॥
' अन्तर्वेदि ' -पदस्थाने, ' अन्तर्वेदि ' प्रयुज्यते ।
सप्तविंशतिरित्यत्र, ' सत्तावीसा ' भवेद्विदम् ॥
कचिन्नो ' जुवह-जणो, ' विकल्पस्तु कचिद् यथा ' ।
वारी-मई वारि-मई, भुजयन्त्रमथोच्यते ॥
भुआ-यंतं ह्रुआ-यंतं, अथो पतिगृहं त्विदम् ।
पई-हरं पई-हरं, अथ वेणुवनं पदम् ॥
' वेदू-वर्णं वेलु-वर्णं, ' इत्येवमजिधीयते ।
अथ दीर्घस्य ह्रस्वत्वं, निम्नबसिल इत्यपि ॥
कचिद् विकल्पो- जउँण-यमं च जउँणा यडं ।
मई-सोत्तं नई-सोत्तं, वेद्यं गोरी-हरं त्विदम् ॥
गोरी-हरं, वहु-मुदं, वहु-मुदमुदाहृतम् ।

पदयोः सन्धिर्वा ॥ ५ ॥

संस्कृतोक्तं सन्धिकार्यं, व्यवस्थितविभाषया ।
प्राकृते निखिन्नं वेद्यं, तदुदाह्रियते यथा-॥
वासेसो वास-इसी, विसमाऽऽयवो विसम-आयवो भवति ।
दहि-ईसरो विकल्पाद्, दहीसरो, साउ-उअयं तु ॥
साऊ-अयमिति वेद्यं, ' पदयोरिति ' किं ? मइह मइह ।
पाओ, पइ, वत्थाओ, मुखाए चापि मुखार ॥

बहुलाधिकारजावात्, कचिदेकस्मिन् पदेऽपि यथा-।
काइह काही, बिहओ, बीओ, इत्यादि बोध्यम् ॥

न युवर्णस्यास्वे ॥ ६ ॥

इधर्णोवर्णयोरस्वे, परे वर्णे न संहिता ।
वेदामि अज्ज-वइरं, न वेरि-वग्गे वि अवयासो ॥
दणुइद-रुहिर-त्रिओ, सहइ उइदो, घइह एसो ।
संजाबहु अयऊढो, नव-वारिहरो वव विज्जुलाभिओ ॥
नह-एभायति अरुणो, वेद्यं चेत्याद्युदाहरणम् ॥
' युवर्णस्येति ' किं ?, गृढो-अर-तामरसप्पभम् ।
' अस्वे ' इति च किं ?, सिध्येत्, पुद्गीसो यथा पदम् ॥

एदोतोः स्वरे ॥ ७ ॥

एकारौकारयोः सान्ध-नं स्यात् क्वापि स्वरे परे ।
वहुआइ नहुल्लिइणे, आषंधंतोए कंचुअं अंगे ।
मयरुयसरधोरणि-धारा-वेअव्य दीसन्ति ॥
ठवमासु अपज्जत्ते-ज-कलभ-दन्ताव्हासमूरुअं ।
तं चेअ मिअिअ-विस-दं-म-विरसमालकिअमो एणिइ ॥
अदो अचुअिअं चापि, ' एदोतोरिति ' किं ?, यथा-।
अत्थालोअण-तरह्वा, इयरकईणं जमंति बुअीओ ।
अत्थअेअ निरारं-भमंति दिअयं कइन्दाणं ॥

स्वरस्योदृते ॥ ८ ॥

व्यञ्जनसंपृक्तो यः, स्वरो व्यञ्जनेऽवशिष्यते लुप्ते ।
उदृत्तः स इह स्याद्, न स्वरसन्धिस्तु तत्परतः ॥
गयणे अिअ गंध-उमिं, कुणन्ति, रयणी-अरो यमणुअत्तं ।
निसा-अरो य निसि अरो, बाहुलकात् क्वापि वैकल्प्यम्-॥
कुंभारो कुंजअरो च, सुरिसो च सुअरिसो ।
सन्धिरेव क्वचित् चक्का-ओ च सालाइणो यथा ॥
अत एव प्रतिषेधात्, समासेऽपि स्वरस्य तु ।
सन्धौ भिन्नपदत्वं च, वेदितव्यं मनीषिभिः ॥

त्यादेः ॥ ९ ॥

तिबादीनां स्वरस्य स्यात्, न तु सन्धिः स्वरे परे ।
यथा ' जवति इह ' स्यात्, तथा- ' दोह इह ' स्मृतम् ॥
लुक् ॥ १० ॥

स्वरस्य बहुलं मुक् स्यात्, संहितायां स्वरे परे ।
निःश्वासोन्मोसो नी-सासुसासा च संभवत्यत्र ।
त्रिदेशशः तीयसीसो, प्रयुज्यते कोधिदैरेवम् ।
अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ११ ॥

शब्दानामन्तिमस्य स्याद्, व्यञ्जनस्येह मुग् यथा ।
तमो जम्मो जसो जाव, ताव चेत्यादि गद्यते ॥
समासे तु विभक्तोनां, वाक्यगानामपेक्षया ।
अन्त्यत्वं चाप्यनन्त्यत्वं, भवतीत्यवगम्यताम् ॥
यथा-सभिक्खू सज्जिजुः, सज्जनः सज्जणोऽपि च ।
एतदुणा एअ-गुणा, तग्गुणा तद्गुणा इति ॥

न श्रुदोः ॥ १२ ॥

श्रुदित्येतयोरन्यं, व्यञ्जनं नैव सुप्यते ।
यथा-सदहियं सहा, उगयं चाग्रयं पदम् ॥

निर्दुरोर्वा ॥ १३ ॥

निर्दुरोरन्यत्रोपो वा, निस्सहं नीसहं यथा ।
इस्सहो इस्सहो चापि, इक्किअओ दुहिओ तथा ॥

स्वरेऽन्तरश्च ॥ १४ ॥

नान्तरो निर्धुरोभान्त्यं, व्यञ्जनं सुष्यते स्वरे ।
निरन्तरं अंतरऽप्या, निरसेसं दुरुत्तरम् ॥
दुरवगाहमित्यादि, कश्चिद्वक्तुं चापि दृश्यते ।
यथा अन्तोवरीत्यत्र, रकारो द्वोपमासवान् ॥

स्त्रियामादविद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रवर्तमानस्य, शब्दस्यान्त्यं यदस्वरम् ।
तस्य स्थाने भवत्यात्वं, विद्युच्छब्दे तु नेष्यते ॥
प्रतिपत् पाडिपत्रा स्यात्, संपत् संपत्रा च सरित् सरित्रा च ।
बहुलकात् 'सरिया' ऽऽद्यपि, 'अविद्युतः' किं, यथा विज्जु ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, 'रा' इत्यादेश इष्यते ।
अयमात्वापवादेऽस्ति, यथा रूपं धुरा-पुरा ॥

क्षुधो हा ॥ १७ ॥

क्षुधो धस्यास्तु हादेश-स्तेन रूपं 'क्षुहा' भवेत् ।
शरदादेरन्तिमस्य, व्यञ्जनस्याद् भवेदिह ।
शरद् भिषग् यथा स्यातां, सरश्चो भिसश्चो क्रमात् ॥

दिक्प्रावृषोः सः ॥ १८ ॥

दिक्प्रावृषोः सो भवति, तेन स्यात् पाउसो दिसा ।

आयुष्परसोर्वा ॥ १९ ॥

आयुषोऽप्सरसश्चान्ते, सो वा भवति, तद्यथा- ।
दीहाउसो च दीहाऊ, अच्छुराऽच्छुरसा भवेत् ॥

ककुनो हः ॥ २० ॥

ककुनो भस्य 'हः' स्यात्, ककुहा तेन सिद्ध्यति ।

धनुषो वा ॥ २१ ॥

धनुषः यस्य हो वा स्यात्, धणुहं च धणु यथा ।

मोऽनुस्वारः ॥ २२ ॥

अन्तिमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।
जलं फलं गिरिं वच्छं, पेच्छेत्यादि निदर्शनम् ॥
काप्यनन्त्यस्यापि यथा, -वणमि च वणमि च ।

वा स्वरे मथ ॥ २३ ॥

अन्तस्त्वस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।
पक्षे लुगपवादो मो, मस्य स्थाने भवेदिह ॥
उसभं अजिभं वंदे, उसभम अजिभं च वा ।
बहुलत्वात् तथाऽन्यस्य, व्यञ्जनस्यापि मो भवेत् ॥
सान्नात् सक्खं, यत् जंतुं तं, विष्यक च वीसुमथ सम्यक् ।
सम्मं, पृथक् पिहम, इह-मिहयं चाऽऽलेक्षुश्च वेद्यम् ॥

ह-व-ण-नो व्यञ्जने ॥ २४ ॥

स्थाने उग्रगणानां स्या-दनुस्वारोऽखरे यथा- ।
पङ्क्तिः पंती च, पराङ्गि-मुखः परमुहो, कञ्चुकः कंचुधो ।
अपि वाञ्छन्ते वंछणां, पणमुख इति वृत्तमुहो, जयति ।
उत्कण्ठा तूकंठा, मन्थ्या संजा च, विन्ध्य इति विजो ।
एवं डादिचतुष्टय-निदर्शनं चान्यदपि वेद्यम् ॥

वक्रादावन्तः ॥ २५ ॥

वक्रादीनां च शब्दानां, प्रथमादिश्च यः स्वरः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारो-ऽऽगमो ह्रस्वानुसारतः ॥
वंकं तंसं असू, मंसु पुंश्च च कुंपलं पंसु ।
गुंश्च मुंदा बुंश्च, कंकोडा विच्छिन्नो गिरी ॥
मंजारा दंसणमि-त्यादिप्राचस्य कार्यमिह वेद्यम् ।
परंमुआ च तयंसो, मणंसिली चापि माणंसो ॥
मणंसिलः चेत्यादि-स्वागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।
अणिंतयमइमुंतय-मवरि अनयोस्तृतीयस्य ॥
कच्चिच्छुन्दःपूरणेऽपि, 'देवं-नाग-सुवस्रं' ।
कच्चिन्न-गिरी मज्जारा, मणंसिला मणंसिला ॥
आपे 'मणंसिवा' रूपं, 'अइमुंतयम' इत्यपि ।
यकं व्यस्रं इमश्च पुच्छं, गुच्छं मूर्धा च कुम्भलः ॥
अश्रूपरि वयस्यो मा-जारा गृष्टिमेनस्विनी ।
पशुंभश्च ककोटा, दर्शनं गृष्टि-वृश्चिकौ ॥
अतिमुक्तकः प्रतिशुत्, मनस्वी च मनःशिला ।
इत्यादयो तूरि शब्दाः, वक्रादौ परिकीर्तिताः ॥
वत्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ॥ २६ ॥

कत्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सू ।
तयोरन्तस्त्वनुस्वारो, वा स्यादित्यवधार्यताम् ॥
यथा-काऊण काऊणं, काउआण पदं तु वा ।
स्यात् काउआणं, स्यादौ व-च्छेण वच्छेणमित्यपि ॥
तथा वच्छेसु वच्छेसुं, 'णस्वरिति' किम् ? अग्निणो ।

विंशत्यादेर्लुक् ॥ २७ ॥

विंशत्यादिपदानां योऽ-नुस्वारस्तस्य लुग्भवेत् ।
तेन स्याद् विंशतिर्वीसा, त्रिंशत् तीसा च संस्कृतम् ॥
सक्यं स्याच्च संस्कारः, सक्कारो विनिगद्यते ।

मांसादेर्वा ॥ २८ ॥

मांसादीनामनुस्वारो, लोपमेति विकल्पतः ।
मासं मंसं, मासलं मंसलं वा, ।
कारं कंसं, केलुअं किंसुअं वा ।
सीहो सिंहो, किं किं, वा दाणि दाणिं, ।
पासु पंसु वा, कडं वा कह स्यात् ॥
एव एवं नूण नूणं, समुहं संमुहं तथा ।
इआणि वा इआणिं, स्याद् मांसादीनां निदर्शनम् ॥
मांसं कांस्यं कथं पासु-मांसवः सिंह-किंशुको ।
एवं नूनम् इदानीम् किम्, दाणिम् संमुख इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ २९ ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परे भवेत् ।
पङ्को पंको, कञ्चुओ कंचुओ वा, ।
सज्जा संजा, कण्ठओ कंठओ वा ।
कंडं कण्डं, अन्तरं अंतरं वा, ।
चन्दो चंदो, कम्पई कंपई वा ॥
इत्याद्यन्यद् वेदितव्यं च लक्ष्यं, वर्गे किंयित् संसओ संहरेति ।
केचिद् धीराः शब्दविद्याप्रवीणा, एतत्कार्यं नैत्यिकं वर्णयन्ति ।

प्रावृद्-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३० ॥

प्रावृद्शब्दः शरच्छब्द-स्तरणिश्चेति ते त्रयः ।
पुंसि स्युस्तरणी चैस, पाउसो सरश्चो यथा ॥

स्तमऽदाम-शिरो-नजः ॥ ३१ ॥

दामन्-शिरो-नभो यज्ज, यत् सान्तं नान्तमस्ति वा ।
शब्दस्वरूपं तत्सर्वं, पुंस्त्रिभुवनयग्यताम् ॥

दक्षिणे हे ॥ ४९ ॥

दक्षिणे दस्य दीर्घो हे , परे स्याद् , दाहिणो यथा ।
'द' इति किं ? , स्याद् दक्षिणो , यथा दीर्घोऽत्र नो भवेत् ।

ऽः स्वप्नादौ ॥ ४६ ॥

स्वप्नादिषु भवेदित्व-मादेरस्येह तद्यथा-।
सिविणो सिमिणो , आर्षे , उकारः-सुमिणो यथा ।
सिविणो , ईसि , वेमिसो , विलिभं विभणं च उत्तिमो मिरिभं ।
किविणो तथा मुङ्गो , दिष्टं चेत्यादि बोद्धव्यम् ।
णत्वानावे न भवति , बहुलत्वादयं विधिः ।
यथा ' दत्तं देवदत्तो , ' नात्रासौ संप्रवर्तते ।
स्वप्नो मृदङ्गः कृपणो , दत्तो मरिच-वेतसौ ।
व्यञ्जीक-व्यजने ईषद् , उत्तमश्चेह पठ्यते ।

पकाङ्गार-लज्जाटे वा ॥ ४७ ॥

पकाङ्गारलज्जाटे-श्वादेवेत्यं , यथा-पिक्कं ।
पक्कं , इङ्गालो अ-ङ्गारो , णिडावं णडालं च ।

मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ॥ ४८ ॥

मध्यमे चैव कतमे , द्वितीयस्य स्वरस्य तु ।
इत्वं स्यातां यथा रूपे , ' मज्जिम्भो ' ' कश्मो ' इमे ।

सप्तपणं वा ॥ ४९ ॥

सप्तपणं द्वितीयस्या-कारस्येत्वं विकल्पनात् ।
उत्तिवणो उत्तवणो , स्यातां रूपे इमे यथा ॥

मयट्यङ्गो ॥ ५० ॥

अईर्मयटि प्रत्यये स्या-दादेरस्य तु वा यथा-।
विषमयः-विसमग्रो , स्याद् विसमग्रोऽपि च ॥

ईर्दरे वा ॥ ५१ ॥

हरशब्दे हकारस्या-कारं ईत्वं विकल्पतः ।
यत् समापद्यते तेन , ' इरो हीरो 'ऽनिधीयते ॥

ध्वनि-विष्वचोरुः ॥ ५२ ॥

ध्वनिशब्दे तथा विष्वक्-शब्देऽकारस्तु यः खसु ।
तस्योत्वं क्रियते तेन , ' भुणी वीसुं ' च सिध्यतः ।

चणम-खणिरुते णा वा ॥ ५३ ॥

चणमखणिरुतयोरस्य , सणस्योत्वं विकल्प्यते ।
तेन चणमं चुडं रूपं , खणिरुतो खणिरुतो जवेत् ॥

गवये वः ॥ ५४ ॥

गवये तु वकारस्या-कारस्योत्वं प्रमज्यते ।
' गउआ गउआ ' चेति , रूपं सिद्धिमुपागमत् ॥

प्रथमे प-थोर्वा ॥ ५५ ॥

प्रथमस्य पथोरस्य , वोत्वं स्याद्युगपत् क्रमात् ।
पुदुमं पुदुमं तेन , पदुमं पदुमं तथा ॥

ङो णत्वेऽजिङ्गादौ ॥ ५६ ॥

अभिजादिषु शब्देषु , ब्रह्मण्य णत्वे कृते पुनः ।
ब्रह्मैव यस्वकारः स्यादुत्वं तस्य विधीयते ॥
यथा-अहिण्णु सच्चण्णु , आगमण्णु कयण्णु आ ।
' णत्वे ' च किम् ? , यथा- ' सच्च-जो ' ' अहिजो ' भवेदित्म् ॥
' अभिजादाविति ' च किम् ? , प्राज्ञः पक्षो भवेद् यथा ।
पत्रोत्वं इत्य णत्वे स्यात् , सोऽभिजादिगणः स्मृतः ॥

एच्छयादौ ॥ ५७ ॥

शय्यादिषु भवेदेत्व-मकारस्यादिमस्य तु ।
सेज्जा एत्थ च सुन्देरं , गेन्दुअं चैवमादयः ॥
आर्षे पुगकर्म पदं , पुरेकम्मं प्रयुज्यते ।

वल्लुत्कर-पर्यन्ताश्चर्ये वा ॥ ५८ ॥

वल्लुत्करपर्यन्ता-श्चर्येऽकारस्य चैवमादिभुवः ।
तेन हि वेल्ली वल्ली , उक्केरो उक्करो , भ . ति ॥
पेरन्तां पज्जन्तां , अच्छेरं अच्छुरिज्जं च ।
अच्छुरिअं अच्छुअरं , तथाऽच्छुरीअं विनिर्दिष्टम् ।

ब्रह्मचर्ये चः ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्ये चकारस्या-कार एत्वमवाप्नुयात् ।
अतो बुधा ब्रह्मचर्यं , बम्हचेरं प्रयुज्यते ॥

तोऽन्तरि ॥ ६० ॥

अन्तः शब्दे तकारस्या-कारस्येत्वं विधीयते ।
तस्मादन्तःपुरं ' अन्ते-उरं ' विद्वद्भिरुच्यते ॥
अन्तश्चारी भवेदन्ते-आरी , नायं कचिद् विधिः ।
यथा- ' अंतगयं ' ' अंतो , वीसम्भो ' विनिगद्यते ॥

ओत्पद्ये ॥ ६१ ॥

ओत्पद्यमादेरतः पद्य-शब्दे , ' पोम्मं ' ततो भवेत् ।
पद्य-लुप्तेति । ७।२।११। सूत्रेण , विश्लेषे ' पउमं ' स्मृतम् ॥

नमस्कारपरस्परं द्वितीयस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयस्याऽत ओत्त्वं स्यात् , नमस्कारपरस्परं ।
अतो रूपं सुनिष्पन्नं- ' नमोक्कारो ' ' परोप्परं ' ॥

वापौ ॥ ६३ ॥

आदेरस्य तु वोत्वं स्याद् , धातावर्पयतौ यथा-।
रूपं ' ओप्पेह अप्पेह , ओप्पिअं अप्पिअं भवेत् ॥

स्वपावुच्च ॥ ६४ ॥

' स्वप् ' धातौ क्रमतः स्याता-मादेरस्यौदुतौ स्वरौ ।
तेन ' सोवइ सुवइ , ' द्वयं रूपं विभाष्यते ॥

नात्पुनर्यादाइ वा ॥ ६५ ॥

नशः परे ' पुनः ' शब्दे , यस्वकारोऽस्ति तस्य तु ।
' आ आइ ' इत्यादेशौ वा , स्यातामित्यभिधीयते ॥
' न उणा न उणाइ ' स्याद् , न उणो न उण ' द्वयम् ।
केवलस्यापि यद् रूपं , ' पुणाइ ' कापि दृश्यते ॥

वाऽज्ञावरणाय लुक् ॥ ६६ ॥

अज्ञावरणयोर्वाऽऽदे-रकारस्येह लुग्नवेत् ।
ज्ञातं अज्ञातं वा लाक , अलाक च विकल्पनात् ॥
एवं रणं अरणं स्यात् , ' अत इत्येव ' नान्यथा ।
' आरण-कुञ्जरो ' नैवे-त्यादावालौप दृश्यते ॥

वाऽव्ययोत्खातादावदातः ॥ ६७ ॥

अव्ययेषु तथोत्खाता-दिष्वाकारस्य वाऽद् भवेत् ।
तत्राऽव्यये ' जह जहा , ' रूपं ' तह तहा ' तथा ॥
' घ वा ' ' ढ हा ' ' ऽ' इवाऽहव ' प्रमुखा घटवो मताः ।
उत्खातादौ तु-उक्खायं , उक्खयं , चमरो तथा ॥
चामरो , कलओ काल-ओ परिछाविओ पुनः ।
स्यात् परिद्वियो , संठा-विओ संठविओ पदम् ॥

तल्लवेण्डं तालवण्डं, तल्लो गोविण्डो भवेत् ।
तल्लोवण्डं तालवण्डं, पायसं पयसं, स्मृतम् ॥
हल्लो हल्लो, नारा-ओ नाराओ च, खारं ।
खरं, कुमरो वाच्यः, कुमारो, वलया पुनः ॥
वज्राया, बाम्हणो बम्ह-णो, पुण्याणो मतान्तरे ।
पुण्यणो च, चमू चामू, दावगी च दवग्यपि ॥
उत्खातं चामरं तान्न-वृत्तं प्राकृतहासिकौ ।
स्थापितः कालको नारा-चो वज्राका च खादिरः ॥
कुमारो, ब्राह्मणः पूर्वा-द्व्येभौ कस्यचिन्मते ।
उत्खातादिरयं धारै-राकृत्या परिगण्यते ॥

घञ्ठुच्चेर्वा ॥ ६८ ॥

घञ्निमित्तो वृत्तिरूपो, य आकारोऽस्तु तस्य वाऽद् ।
' पवाहो पवहो ' वा स्यात्, ' पयारो पयरो ' तथा ॥
' पत्यावो पत्यवो ' कापि, न ' राओ ' रागवाचकः ।

महाराष्ट्रे ॥ ६९ ॥

महाराष्ट्रे हकारस्या-ऽऽकारश्च त्वद्विधानतः ।
' मरदङ्गं मरदङ्गो, ' पुनपुंसकतो भवेत् ॥

मांसादिष्वनुस्वारे ॥ ७० ॥

कृतानुस्वारमांसादा-वाकारो यात्यकारताम् ।
मंसं कंसं तथा पंसू, पंसणो कंसिओऽपि च ॥
वंसिओ पंसवो संसि-किओ संजित्तिओ यथा ।
' अनुस्वारे ' इति कथम् ? ' मांसं पासू ' न चाऽदिह ॥
मांसं कास्यं पांसनं कां-सिकं वांशिकपाण्डवौ ।
पांसुः सांसिक्किकः सांथा-त्रिको मांसादिष्यते ॥

श्यामाके मः ॥ ७१ ॥

श्यामाके तु मकारस्य, य आकारोऽस्ति तस्य तु ।
अदादेशेन श्यामाकः, ' सामओ ' विनिगद्यते ॥

इः सदादौ वा ॥ ७२ ॥

सदादिशब्देष्वित्वं स्या-दाकारस्य विभाषया ।
' सया सइ ' च वा रूपं, ' कुप्पासो कुप्पिसो 'ऽपि च ।
' निसाओ निसिओ, ' तथैवान्ये सदादयः ॥

आचार्ये चोऽच्च ॥ ७३ ॥

आचार्यशब्दे चस्याऽऽत-इत्वमत्वं च वा भवेत् ।
रूपं ' आयरिओ ' तेन, सिद्धम् ' आइरिओ ' तथा ॥

ईः स्त्यान-खट्वाटे ॥ ७४ ॥

स्त्यान-खट्वाटयोरादे-रात इत्वं विधीयते ।
ठीणं थीणं तथा थिणं, खल्लीओ तेन सिद्ध्यति ॥

उः सास्ना-स्तावके ॥ ७५ ॥

सास्ना-स्तावकयोरादे-रात उत्वं निगद्यते ।
तेन सास्ना भवेत् ' सुणहा ', स्तावकः ' थुवओ ' भवेत् ॥

ऊछाऽऽसारे ॥ ७६ ॥

आसारशब्दे स्यादादे-रात ऊत्वं विभाषया ।
तेन सिद्ध्यति ' ऊसारो, आसारो ' रूपयुग्मकम् ॥

आर्यायां र्यः श्वश्र्वाम् ॥ ७७ ॥

र्यस्याऽऽत ऊत्वं ' आर्यायाम्, ' अज्जू ' श्वश्र्वां ततो भवेत् ।
' श्वश्र्वामिति ' तु किम् ? अज्जा, साध्वी श्रष्टाऽपि भण्यते ॥

एङ्ग्राणे ॥ ७८ ॥

प्राह्यशब्दे भवेदेत्व-मातो गेज्जं ततो भवेत् ।

द्वारे वा ॥ ७९ ॥

प्राह्यशब्दे भवेदेत्व-माकारस्य विभाषया ।
देरं पक्के दुआरं स्याद्, दारं वारं पदं तथा ॥
' नेरइओ नारइओ, ' स्यातां नेरयिकनार्गिकयोस्तु ।
आर्येऽन्यत्रापि यथा, ' पच्छेकम्मं ' तथाऽन्यदापि ॥

पारापते रो वा ॥ ८० ॥

भवेत् पारापते रस्या-ऽऽकारस्यैवं विकल्पनात् ।
तेन ' पारेवओ पारा-वओ ' रूपद्वयं मतम् ॥

मात्रटि वा ॥ ८१ ॥

स्यान्मात्रप्रत्यये वाऽऽत-एत्वं रूपद्वयं ततः ।
एकं ' एत्तिअमेत्तं ए-त्तिअमेत्तं ' तथाऽपरम् ॥
बहुलाद् मात्रशब्दे ' भो-अणमेत्तं ' ततो भवेत् ।

उदोद्वाऽऽर्द्धे ॥ ८२ ॥

आकारस्याऽऽर्द्धशब्दे स्या-उत्त्वमोत्वं विभाषया ।
' उहुं ओहुं ' तथा पक्के, ' अहुं अद् ' च वा भवेत् ॥

ओदान्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥

' आली ' शब्दे भवेदात-ओत्वं पङ्क्त्यर्थबोधने ।
' ओली ' पङ्क्ति विजानीयात्, ' आली ' नात्र, सखी यदि ॥

ह्रस्वः संयोगे ॥ ८४ ॥

दीर्घवर्णस्य ह्रस्वत्वं, संयोगे परतो भवेत् ।
तद्यथादर्शनं वेद्यं, न सर्वत्र विधीयते ॥
ताम्ब्रं ' तम्बं ' आम्ब्रं ' अम्बं, ' आस्यम् ' अस्सं ' प्रयुज्यते ।
मुनीन्द्रस्तु ' मुणिन्द्रो ' स्यात्, तीर्थं ' तित्थं ' तथा पुनः ॥
गुरुत्वापाः ' गुरुत्वा, ' चूर्णः ' चुण्णो ' प्रपठ्यते ।
नरेन्द्रस्तु ' नरिन्द्रो ' स्यात्, ' मिलिच्छो ' म्लेच्छ उच्यते ॥
अधरोष्ठो ' ऽहरुष्ठं ' सं-वेद्यं, नीलोत्पलं तथा ।
' नीलुत्पलं ' विजानीया-देवमन्यद् निदर्शनम् ॥

इत एद्वा ॥ ८५ ॥

संयोगे तु परे वाऽऽदे-रित एत्वं विभाष्यते ।
पिण्णं पेण्णं च धम्मिण्णं, धम्मिण्णं विबुधा विदुः ।
स्यात् सिन्दूरं तु सन्दूरं, विण्णं वेण्णं निगद्यते ।
' पिण्णं पेण्णं ' अनित्यत्वात्, ' चित्ता ' इत्यत्र नो भवेत् ॥

किंशुके वा ॥ ८६ ॥

एत्वं वाऽऽदेरितो वेद्यं, किंशुके वाचके यथा ।
' केसुअं किंशुअं ' चेतद्, द्वयं रूपं विडुर्बुधाः ॥

मिरायाम् ॥ ८७ ॥

भवेदेत्वमिकारस्य मिरा मेरा ततो भवेत् ।
पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मृषिक-हरिद्रा-विजनीतकेष्वत् ॥ ८८ ॥

पथि प्रतिश्रुत् पृथिवी, हरिद्रा-मृषिके तथा ।
विजनीतके भवेदादे-रितोऽत्वमिति भण्यते ।
पहो च पुहवी पुहवो, परं सुआ मूसओ दलदी तु ।
वा स्यादत्र हल्लहा, ' वहेरुओ ' कापि वैकल्प्यम् ।
' पंथं किर देसित्ते, ' -त्यत्र तु पथिशब्दतुल्यवाच्यस्य ।

पन्थशब्दस्य रूपं, ज्ञातव्यं शब्दविज्ञिरिह ।

शित्थिलेङ्गदे वा ॥ ८९ ॥

शित्थिलेङ्गदयोरादेरितोऽद् वा संप्रयुज्यते ।

मडिलं जवति पसडिलं, सिडिलं पसिडिलं मिहाऽस्त्वैकल्यत् ।
इहुअमहुअमिहुद-गण्डे रूपव्यं बोध्यम् ॥
तित्तिरौ गः ॥ ए० ॥
रस्पेतोऽस्त्वं तित्तिरौ स्यात्, तेन रूपं हि 'तित्तिरो' ।
इतो तो वाक्यादौ ॥ ए१ ॥
वाक्यादेरिति शब्द-स्याऽन्त्यस्पेतोऽत्र संभवत्यस्त्वम् ॥
'अ' जाग्रदवसाणे, 'इअ' विभ्रमिअ-कुसुमसरोऽपीह ॥
इजिहा-सिह-त्रिशदिशतौ त्या ॥ ए२ ॥
जिहादिषु इकारस्य, ईकारः संप्रयुज्यते ।
'जीहा' सीहा 'तथा' 'तीमा' । यत्र तिरुत्र त्या सह ॥
'बीसा' इति जवेद् रूपं, किन्तु क्वापि न जायते ।
'सिहदत्तो' 'सिहदाओ' इति बाहुल्यकान्तम् ॥
लुकि निगः ॥ ए३ ॥
तिरो रत्नोपे दीर्घः स्या-दिकारस्पेति शङ्कते ।
स्याद् 'नीसामो' 'नीसरइ', एवमन्यनिदर्शनम् ॥
'लुकाति' किम् ? , यथा-निसम्-दाइ अंगाई, निरणओ ।
द्रिन्योरुत् ॥ ए४ ॥
द्विगन्धे न्युपसर्गे च, भवेदुत्त्वमितो यथा- ।
दु-मत्तो च दु-आई च, दु-रेहो दु-विहो तथा ॥
डुवयणं, वैकल्प्यं च, जवेद् बाहुल्यकादिह ।
दु-उणो वि-उणो चैव, दुइओ विइओ यथा ॥
'कचिअ' द्विरदः शब्दो, 'दिरओ' स्याद् द्विजो 'दिओ' ।
आन्वं क्वापि यथा रूपं, 'दो-वयणं' प्रपञ्चते ॥
स्याद् 'णुमओ' 'णुम-जइ', न्युपसर्गे निदर्शनम् ।
अनित्यत्वाद् 'निवमइ', जवतीत्यादि चुरिशः ॥
प्रवासिङ्गो ॥ ए५ ॥
इतौ प्रवासिति तथा, जवेदुत्त्वमितो, यथा- ।
'उच्च' 'पावासुओ' चैतद्, द्वयं व्याद्विपते पदम् ॥
युधिष्ठिरे वा ॥ ए६ ॥
युधिष्ठिरे भवेदादे-रित् उर्यं विकल्पनात् ।
जहुठिलो ततो रूपं, विकल्पेन जहिठिलो ॥
ओअ द्विधा कृगः ॥ ए७ ॥
उर्यमोत्त्वं द्विधाशब्दे, वा कृधातावितः परे ।
'दोहा-किअइ' तेन स्यात्, 'दुहा-किअइ' इत्यपि ।
दोहा-इअं दुहा-इअ-मिति, 'कृग' इति किं ? , 'दिहाऽऽगयं' येन ।
क्वचित् केवलस्य स्यात्, 'दुहा वि सो सुर-वहू-सत्थो' ।
वा निर्करे ना ॥ ए८ ॥
निर्करे तु नकारेण, सहेतो बौत्त्वमिष्यते ।
'ओअकरो' 'निज्जरो' चैता-दृशं रूपं बुधा विडुः ॥
हरीतक्यामीतोऽन् ॥ ए९ ॥
हरीतकीपदे रीक्य-रस्पेतोऽस्त्वं विधीयते ।
रूपं 'हरमई' तेन, बुधैरेवं प्रयुज्यते ।
आन् कश्मीरे ॥ १०० ॥
आत्त्वमीतोऽस्तु कश्मीरे, 'कश्माग' तेन सिद्ध्यति ।
पानीयादिष्वित् ॥ १०१ ॥
पानीयादिषु शब्देषु, स्यादानीतोऽवेत्त्वमध्वम् ।
पाणिअं अग्निअं आसिअं अने जिअइ आणिअं ॥
विलिअं करिमो वस्मि-ओअजयाणि च जीअउ ।
दुइअं तइअं गदिअं, गदिअं सिगिसो च पलिविअं पसिअ ॥

उवणिअमिति संवेद्यः, पानीयादिगणो विदुषा ।
बाहुल्यकात् कचिदेषु, स्याद् वैकल्प्यं ततः करोसोऽपि ॥
पाणीअं च अलीअं, उवणीओ जीअइ स्थाश्च ॥
पानीयं ब्रीडितं वल्मी-कं तदानीं प्रदीपितम् ।
अवसादलीकं चा-ऽऽनीतं जावति जीवतु ॥
उपनीतं गृहीतं च, शिरीषं च प्रसीद च ।
गभीरतृतीयकरो-पद्वितीयादयः स्मृताः ॥
उज्जोणि ॥ १०२ ॥
जीर्णशब्दे भवेदति-उत्त्वं जुष्-सुरा ततः ।
जिष्णे भोअणगत्ते च, नात्र बाहुल्यकाद् भवेत् ॥
ऊहीन-विहीने वा ॥ १०३ ॥
ऊत्वं हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया ।
हृणो हीणो विहीणो च, विहृणो सिद्धिमाययुः ॥
तीर्थे हे ॥ १०४ ॥
ऊत्त्वमीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति ।
तुहं, 'हे' इति किं प्राक्तम् ? , 'तिथं' नात्र यथा-भवेत् ॥
एत् पीयूपापीरु-विभीतक-कीटशेदशे ॥ १०५ ॥
पीयूपापीड-विभीतक-कीटशेदशेषु स्यादेत्त्वम् ।
पेकसं आमेलो, वहेडओ केरिसो ऐरिसो ॥
नीरु-पीठे वा ॥ १०६ ॥
नीडपीठयोरीतो, वा स्यादेत्त्वं ततश्च सिद्ध्यन्ति ।
नेडं नीडं पेडं, पीडं काप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥
उतो मुकुलादिष्वित् ॥ १०७ ॥
मुकुलादीनामादे-रुतो भवेदुत्त्वमत्र तेन स्युः ।
मउलं मउलो मउरं, मउडं अगुरुं गलोई च ॥
जहिठिलोऽथ च गरई, जहुठिलो सोअमल्लमिति शब्दाः ।
क्वचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विदुतस्तु 'विहाओ' ॥
मुकुलो मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्यं-युधिष्ठिरी ।
अगुरुश्च गुडूची च, मुकुटं मुकुलादयः ॥
वोपरौ ॥ १०८ ॥
उपरौ स्यादुतो वाऽस्त्वम्, अवरिं उवरिं यथा ।
गुरौ के वा ॥ १०९ ॥
गुरोः कृते स्थायिके के, वाऽस्त्वमादेरुतो भवेत् ।
गरुओ गुरुओ रूपे, कं विना तु 'गुरु' स्मृतम् ॥
इष्टुकुटौ ॥ ११० ॥
भुकुटौ स्यादुतश्चादे-रित्त्वं हि 'भिउडो' भवेत् ।
पुरुषे रोः ॥ १११ ॥
पुरुषे रोस्तः स्यादिः, पुरिसो वा पउरिसं ।
ईः जुते ॥ ११२ ॥
भुतं प्रयुज्यते क्लीअं, भवेदीत्वमुतो यदा ।
ऊत् मुजग-मुमझे वा ॥ ११३ ॥
मुजगे मुमजे च स्या-दुत ऊत्त्वं विनापया ।
मुहवो मुहवो तेन, मुमजं मूसलं भवेत् ॥
अनुत्साहात्सत्ते तसच्चे ॥ ११४ ॥
उत्साहोत्सन्नभिजे यौ, शब्दे तसच्चे निरीकितौ ।
तयोरादेरकारस्य, नित्यमूर्त्वं विधीयते ॥

ऊसुओ ऊसवो ऊसि-त्तो ऊसरइ, उच्छुकः ।
ऊसुओ ऊससइ चे-त्यादि वेद्यं निदर्शनम् ॥
उत्साहोत्सन्नयोस्तूष्ण-हो उच्छ्रो निगद्यते ।

लुकि दुरो वा ॥ ११५ ॥

दुरो रेफस्य लोपे स्या-दुत ऊरवं विकल्पनात् ।
दुसहो दुसहोऽपि स्याद्, दूहवो दुहवो तथा ।
सूत्रे लुकीति किं ? प्रोक्तं, दुस्सहो विरहोऽत्र न ॥

ओत संयोगे ॥ ११६ ॥

ओत्स्यमादेरुतो नित्यं, संयोगे परतो जवेत् ।
तोएरं मोएरं पोक्खरं कोट्टिमं वा,
कोएदो कोन्तो पोत्थओ बोद्धओ वा ।
योक्कन्तं वा मोगगरो पोगगवं वा,
मात्था चैतान्यस्य वदयाणि सन्ति ॥

कुतूहले वा ह्रस्वश्च ॥ ११७ ॥

कुतूहले भवेदास्त्वमुतो ह्रस्वश्च वा ततः ।
कोऊहलं कोउहल्लं, कुऊहलमिति त्रयम् ॥

अदूतः सूक्ष्मे वा ॥ ११८ ॥

सूक्ष्मशब्दे जवेदस्त्व-मुतो वा तेन सिद्ध्यति ।
सपदं सुएहं तथाऽऽपि तु, 'सुहमं' संप्रयुज्यते ॥

दुकूले वा लथ द्विः ॥ ११९ ॥

दुकूलशब्दे वाऽऽत्वं स्या-दूतो लथ द्विरुच्यते ।
द्वअल्लं च दुऊल्लं च, 'दुगुल्लं' त्वार्पे उच्यते ॥

ईर्वाह्यदे ॥ १२० ॥

उद्व्यूढशब्दे स्यादीत्व-मूकारस्य विभाषया ।
'उव्वीढं' तेन 'उव्वूढं,' द्वयं विद्वद्भिरुच्यते ॥

उर्ध्वहनूमत्कण्ठ्य-वातूत्रे ॥ १२१ ॥

उर्ध्वहनूमत्कण्ठ्य-वातूत्रेपूत उर्भवत् ।
धुमया इनुमंतो वा-उलो, कण्ठुअइ स्मृतम् ॥

मधूके वा ॥ १२२ ॥

ऊत उतं मधूके वा, महूश्च महूश्च यथा ।
इदेतौ नूपुरे वा ॥ १२३ ॥

इदेतौ नूपुरे स्याता-मूकारस्य विकल्पनात् ।
निउरं नेउरं पक्के, नूउरं संप्रकीर्त्यते ॥

ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थून्न-ताम्बूल-

गुडूची-मूढये ॥ १२४ ॥

कूष्माण्डी-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूढ्य-कूर्परे ।
तूणीरे च भवत्योत्त्वमूकारस्येति दर्शयते ।
कोहण्डी कोहणी थोरं, तोणीरं कोण्परं तथा ।
मोल्लं गडोई तंबोलं, व्युत्क्रमेण प्रदर्शितम् ॥

स्थूणा-तूणे वा ॥ १२५ ॥

स्थूणा-तूणयोरोत्त्वमूकारस्य विभाषया ।
थोणा थूणा तथा तूणं, तूणं चैवमुदाहृतम् ॥

अनोऽनु ॥ १२६ ॥

अकारस्याऽऽदि नूतस्य, जवत्यस्त्वमितीर्यते ।
वृषभो यसहो वाच्यो, घृष्टो घट्टोऽजिधीयते ॥
घृतं घयं, तृणं तणं, कृतं कयं, मृगो मश्रो ॥
उहाइअं रुपादिपा-उतोऽत्रसेयमित्यपि ॥

आत् कृशा-मृष्टुक-मृदुत्वे वा ॥ १२७ ॥

मृष्टुक-मृदुत्व-कृशाया-मास्त्वमृतः स्याद् यथा क्रिसा फासा ।
माउकं च मउत्तण-मथ माउकं च मउअं वा ॥

इत् कृपादौ ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेदित्त्वमृतो यथा ।
किवा मिठं रसे वाच्यं, मठुमन्यत्र पठ्यते ॥
दिअयं दिट्ठं सिठं, दिठी सिठी निवो किचो किच्चा ॥
गिट्ठी पिच्छी इक्की, गिच्ची तिप्पं धिई किच्चं ॥
सिंगारो जिगाः रो, भिंगो किसिओ जिऊ घिणा घुसिणं ।
किसरो किई सिआलो, विसी विइएहो गिहा किघिणो ।
विक्क-कई वाहिसं, किसो समिक्की च सइ किसाणू वा ॥
हिअं विंचुओ वित्तं, इसी निसंसो च उक्किं ॥
विच्ची तथा विहिओ, किवाणयं वा कृपादयश्चैते ।
बाहुलकादपि कार्य्यं, वेद्यं सिद्ध्येद् यथा रिद्धी ॥
कृपा मृष्टं दृष्टं हृदय-भृगु-सृष्टं कृपनृपौ,
घृणा दृष्टिः सृष्टिः कृति-घुसृण-गृष्टिः कृशहृतौ ॥
वृसी पृथ्वी कृत्या कृपित-कृपणौ वृश्चिकधृती ।
नृशंसो भृङ्गारः कृशर-सकृतौ व्याहृत-ऋषी ॥
उत्कृष्ट-वंहित-शृगाल-कृशानु-गृद्धि-
शृङ्गार-वृद्धकवि-वृत्त-कृपाण-तृप्ताः
ऋद्धि-स्पृहे अथ वितृण-समृद्धि-कृच्छ-
भृङ्गास्तु वृत्तिरपि तेऽत्र कृपादयः स्युः ॥

पृष्टे वाऽनुत्तरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्टेऽनुत्तरपदे, वेरवमृत्वस्य, तद्यथा-।
पिठ्ठी पठी पिठि, परि-ट्टविअं संप्रयुज्यते ॥
किमनुत्तरपद इति ?, महिवचं यथा भवेत् ।

मसृणमृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-घृष्टे वा ॥ १३० ॥

शृङ्गे घृष्टे मृगाङ्के च, मृत्यौ च मसृणे तथा ।
ऋकारस्य भवेदित्त्वं, विकल्पेनेति दृश्यताम् ॥
स्याद् मिअङ्को मयङ्को वा, मिच्चू मच्चू च पठ्यते ।
सिंगं संगं विजानीयाद्, घिट्टो घट्टोऽपि गद्यते ॥

उदत्त्वादौ ॥ १३१ ॥

ऋत्वादीनामृकारस्य, भवेदादेरुकारता ।
उऊ पुट्टो परामुट्टो, पउट्टो पुहई भुई ॥
पउत्ती पाउसो वुंदा-वणो वुट्टो च निव्वुअं ।
पाउओ पाहुडं वुट्टी, उज्जू वुत्तन्त संवुअं ॥
निहुअं निउअं जामा-उओ माउओ भाउओ ।
मुणालं च परहुओ, वुंदं पहुडि निव्वुई ॥
विउअं उसहो पिउ-ओ, पुहवी च माउओ ।
ऋतुः परामृष्टमृणालवृन्द-वनप्रवृत्तिप्रभृतिप्रवृष्टाः ।
वृन्दर्पभम्रातृकमातृकामा-तृकजुजामातृकवृद्धिवृद्धाः ॥
विवृतनिवृतवृत्ता-न्ताभृतिप्राभृतप्रा-
वृत्तिपतृकपृथिव्यः, संवृतप्रावृषौ च ।
परभृतनिभृतस्पृ-ष्टानि निवृत्तपृथ्वी,
परिपठति च ऋत्वा-दि गणं निवृत्तिश्च ॥

निवृत्त-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

ऋत उस्वं वा वाच्यं, निवृत्तवृन्दारके पदे तु यथा ।
वृन्दारया च वृन्दा-रया निवृत्तं निवृत्तं च ॥

वृषभे वा वा ॥ १३३ ॥

वृषभे वेन साकं स्या-दकारस्योत्त्वमत्र वा ।
'उसहो वसहो' चैता-दृशं रूपं प्रयुज्यते ॥

गौणान्त्यस्य ॥ १३४ ॥

गुणीभूतस्य शब्दस्य, योऽन्त्यं ऋत् तस्य उद् भवेत् ।
स्याद् माउ-मण्डलं, माउ-हरं पिउहरं तथा ।
माउ-सिन्ना पिउ-सिन्ना, था पिउ-वर्णं स्मृतम् ॥

मातुग्दिवा ॥ १३५ ॥

मातृ-शब्दस्य गौणस्य, ऋत् इत्वं विकल्पते ।
माइ-हरं माउ-हरं, कापि माईणमिष्यते ॥

उद्दोन्मृषि ॥ १३६ ॥

मोदूडु कमादेतद्, मृयाशब्दे भवेदतः ।
मासा मूसा 'मुसा मासा-वाओ' चेदकं प्रयुज्यते ॥
इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग-नमके ॥ १३७ ॥

वृष्टौ वृष्टं मृदङ्गं च, नपुंस्कं पृथग्व्ययं ।
ऋकारस्येदुतौ स्यातां, तदुदाह्रियते यथा-॥
स्याद् मिइङ्गो मुइङ्गो वा, नत्तिओ नत्तिओ तथा ।
विठो वुठो तथा विट्टी, वुट्टी रूपं पिहं पुहं ॥

वा वृहस्पतौ ॥ १३८ ॥

वृहस्पतौ भवेद् ऋतो, विकल्पनादिदुत तथा ।
विहप्फई वुहप्फई, वहप्फई च पात्तिकम् ॥ [नगस्वरूपिणी०]
इंदोदोदुन्ते ॥ १३९ ॥

ऋकारस्य भवेदित्यमेत्वमोस्त्वं यथाक्रमम् ।
तेन दृन्तं भवेद् 'विण्टं, वेण्टं वोण्टं' विश्वासऽत्मकम् ॥
रिः केवलस्य ॥ १४० ॥

केवलस्य ऋतो रिः स्याद्, 'रिद्धी रिच्छो' ततो भवेत् ।
ऋणवृषजन्तृषौ वा ॥ १४१ ॥

ऋणऋजुऋषनऋतुऋपिषु, ऋतोऽस्तु वा रिः रिणं अणं रिज्जू ।
वज्जू 'रिसहो वसहो', रिक्त उऊ स्याद् रिसी इसी रूपम् ॥

दृशः कृप्-टक्मकः ॥ १४२ ॥

कृप् टक्-सगन्तस्य दृशे-धातोः रिः स्याद् ऋतो यथा ।
'सदृग्वर्णः सरिवर्णो', सदृशः सरिसो मतः ॥
सदृङ्गस्तु 'सरिच्छो' स्याद्, यादृशो जारिसो भवेत् ।
एवं पयारिसो अन्ना-रिसो अम्हारिसो तथा ॥
तारिसो कैरिसो तुम्हा-रिसो सन्तीह चूरिशः ।
त्यदाद्यन्यादि- (५।१।५२) सूत्रोक्तः, प्रत्ययः क्विबिहेष्यते ॥

आदने दिः ॥ १४३ ॥

आदने तु ऋतो दिः स्याद्, 'आदिओ' तेन सिद्ध्यति ।
अग्निदत्त ॥ १४४ ॥

दत्तशब्देऽग्निदेश-ऋकारस्य विधीयते ।
इत्तसिहेन द्रिअ-सीहेणति निगद्यते ॥

लृत् इतिः कृत्-कृत्ने ॥ १४५ ॥

कृत्-कृत्तयोऽनयो-वृत्तं इतिदेश इष्यते तेन ।
धागाकिलित्तवत्तं, किलिअ-कुसुमोवयारेसु ॥

एत उ वा वेदना-चपेया-देवरे-केसरे ॥ १४६ ॥
वेदनायां चपेयायां, देवरे केसरे तथा ।

एत इत्वं विकल्पेन, भवेदित्यवगम्यताम् ॥
विअणा वेअणा वा स्यात्, चवेडा चविमा तथा ।
दिअरो देवरो वेद्यः, किसरं केसरं मतम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १४७ ॥

एत ऊत्वं तु वा स्तेने, यूणो धेणो द्वयं जवेत् ।

ऐत एत् ॥ १४८ ॥

ऐकारस्यादिभूतस्य, भवत्येत्वं ततो भवेत् ।
वेड्वं केड्वो वेड्वो, सेला एरावणो तथा ॥
तेमुक्कं चैव केलासो, रूपाण्येतानि सन्ति च ।

इत् सैन्यव-शनैश्चरे ॥ १४९ ॥

ऐत इत्वं भवेन्नित्यं, सैन्यवे च शनैश्चरे ।
सणिच्छरो सिधवं च, द्वयं रूपं प्रसिध्यति ।

सैन्ये वा ॥ १५० ॥

ऐत इत्वं तु वा सैन्ये, 'सिन्नं सेन्नं' ततो द्वयम् ।

अइदैत्यादौ च ॥ १५१ ॥

ऐतोऽइः सैन्यशब्दे स्याद्, दैत्यादौ च तथा गणे ॥
सैन्यं सइन्नं संप्रोक्तं, दैत्यादिर्लक्ष्यतेऽधुना-॥
अइसरिअं वइजवणो, वइआलीअं च कइअवं सइरं ।
वइएसो च दइओ, चइत्त वइअम्-वइसालो ॥
वइएहो च वइस्सा-एरो दइअं दइन्न-वइसाहो ।
भइरव इति दैत्यादि-गणो बुधैर्व्याहृतः पूर्वेः ॥
'विअये तु न जवति'—चइअमिति चैत्य इष्यते रूपम् ।
आपे- 'चैत्यवन्दनं ची-वन्दण-' मुच्यते सङ्गिः ।
दैत्यां दैत्यं भैरवो दैवतं च, चैतालीयं कैतवं स्वैर-चैत्यम् ।
वैशालो वैशाख-वैश्वानरो वै-वज्रो वैदेहश्च वैदेश एवम् ॥
ऐश्वर्यं च वैजवनं, दैत्यादिगण इत्ययम् ।
आकृत्या गण्यते यस्माद्, न संख्यानियमस्ततः ॥

वैरादौ वा ॥ १५२ ॥

वैरादिषु भवेदैतो-ऽइरादेशो विकल्पनात् ।
तेन रूपद्वयं वैरे, 'वइरं वेर-' मीदृशम् ॥
कइआसो केलासो, वइसवणो पठ्यते च वेसवणो ।
वइआलिओ च वेआ-लिओ, चइत्तो तथा चेत्तो ॥
कइरवमिति केरवमिदं, वइसिअमिति वेसिअं वा स्यात् ।
वइसंपायण-वेस-पायणरूपद्वयं च मतम् ॥
वैरं वैअवणो वैश-म्पायनश्चैव-कैरवे ।
केलासो वैशिको चैता-लिको वैरादिरुच्यते ।

एष दैवे ॥ १५३ ॥

ऐत एत्वमइत्वं च, दैवशब्दे पृथग्भवेत् ।
देव्वं दइव्वं दइव्वं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

उच्चैर्नीचैरित्यत्रः ॥ १५४ ॥

अथ एतादृशदेशो, भवेदैतोऽविकल्पतः ।
उच्चैर्नीचैरिति पदे, नीचअं उच्चअं तथा ॥

इद् धैर्यं ॥ १५५ ॥

धैर्य-शब्दे जवेदैत-इत्वं 'धीरं' ततो भवेत् ।

ओतोऽद्राऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठाऽस्तोथ-शिरावेदना-
मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ॥ १५६ ॥

शिरोवेदनाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठ-मनोहर-सरोरुहातोथे ।
आतोऽस्त्वं वा, क-तयो-यथासंज्ञवं च यत्वं स्यात् ॥

अक्षरं अनुस्रं, मणोहरं मणहरं, सिरोविअणा ।
सिरविअणा, आवज्जं, आवज्जं सररुहं सररुहमिति ॥
रूपं भवति पवट्टो, तथा पवट्टो प्रकोष्ठशब्दस्स ।
बाहुलकादपि कार्यं, कचिदिह वेद्यं यथास्थानम् ॥

ऊत्सोच्चासे ॥ १५७ ॥

ओत ऊत्वं तु सोच्चासे, सुसासो सिद्धिसृजति ।

गव्यउ-आअः ॥ १५८ ॥

‘अर’-‘आअ’ इत्यादेशौ, स्या-तामोतस्तु गोपदे ।
गउओ गउआ गाओ, ‘गार्ह एसा हरस्स’ च ॥

ओत ओत् ॥ १५९ ॥

औकारस्यादिभूतस्य, भवेदौत्वमिति स्थितम् ।
कौमुदी-‘कोमुई’ कौञ्चः-‘कौचो’ यौवनमेव च ।
‘जोव्वणं’ कौस्तुभः ‘कोत्थु-हो’ कौशाम्बी च कौशिकः ।
‘कोसंबी’ ‘कोसिओ’ रूपं, यथाक्रममुदीरयेत् ।

उत् सौन्दर्यादौ ॥ १६० ॥

उदादेशो जवेदौतः, सौन्दर्यादिषु, तद्यथा ।
सुन्दरं सुन्दरिअं, सुगन्धत्तणं डुवारिओ सुमो ।
सुओअणी पुलोमी, मुंजायण-सुवणिअओ जवति ।
सौन्दर्य-शौण्ड-पौलोमी-दौवारिक-सौवर्णिकाः ।
मोञ्जायनः शौण्डोदनिः, सौन्दर्यादिः प्रकीर्तितः ॥

पौक्येके वा ॥ १६१ ॥

कौक्येकशब्दे स्या-दौकारस्योत्वमत्र वैकल्प्यम् ।
कुच्छेअयं च कोच्छे-अयं द्विरूपं समुद्दिष्टम् ॥

अउः पौरादौ च ॥ १६२ ॥

कौक्येके च पौरादौ, य औकारः प्रपठ्यते ।
तस्य स्याद् अउरादेशः, कउच्छेअयमित्यपि ॥
पौरः-पउरा, गौमो-गउमो, सौधो निगद्यते सउहं ।
कौशलमिह कउसलमिति, पौरुषमिह पउरिसं वेद्यम् ॥
स्यात् कौरवः कउरवो, सौराः सउरा बुधैर्निगद्यन्ते ।
मौलिः-मउली, मौनं-मउणं, कौलास्तथा कउला ॥
पौरौ गौरः कौशलं पौरुषं च, सौराः कौलाः कौरवो मौन-सौधौ ।
मौलिः पौरादिर्गणो धीरवैयं-राक्षसा संख्यायते नेह संख्या ॥

आच गौरवे ॥ १६३ ॥

ओत आत्वम्, अउअ स्या-दादेशो गौरवे पदे ।
स्याद् गारवं गउरवं, कविभिः संप्रकीर्तितम् ॥

नाव्यावः ॥ १६४ ॥

आवाऽऽदेशोऽस्तु नौ-शब्दे, ओतो ‘नावा’ ततो भवेत् ।
एत् त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १६५ ॥

त्रयोदशादिषु संख्या-शब्देषु सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
यथा-तेरह तेवीसा, तेवीसा परिपठ्यते ।

स्थविर-विचकिन्नायस्कारे ॥ १६६ ॥

स्थविरं च विचकिन्ने-ऽयस्कारे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
थेरो वेहलं एकारो, विअइल्लमपि कचित् ।

वा कदले ॥ १६७ ॥

विजापया तु कदल-शब्दे स्वरयुतेन हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
कयलं कयली केली, केलं रूपचतुष्टयम् ।

वेतः कर्णिकारे ॥ १६८ ॥

कर्णिकारे भवेदेत्वमितो वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनेह कर्णरो कर्णिकारओ ॥

अयौ वैत् ॥ १६९ ॥

प्राकृते तु विकल्पेना-ऽयिशब्दे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
‘अइ उम्मत्तिप’ ‘पे यो-हेमि’ चैवं प्रयुज्यते ।
पेकारस्य प्रयोगोऽपि, प्राकृते तेन बुध्यते ॥

ओत्-पूतर-वदर-नवमाक्षिका-नवफक्षिका-पूगफक्षे ॥ १७० ॥

पूतर-नवमालिकयो-नवफलिकावदरयोश्च पूगफक्षे ।
व्यञ्जनसहितेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं परस्वरेणापि ॥
नोमालिआ पोप्फक्षं, नोहलिआ पोप्फक्षी तथा घोरी ।
पोरो घोरं रूपं, निर्दिशितं कोविदैरेवम् ॥

नवा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दश-
चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोदूखले ॥ १७१ ॥

उदूखले चतुर्वारे, सुकुमारे चतुर्दशे ।
उदूखले मयूखे च, लवणे च चतुर्गुणे ॥
कुतूहले चतुर्थे च, वैकल्प्यं सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
मोहो मऊहो लवणं, लोणं भवति चोगुणो ।
चउगुणो, चउथो चो-थो, चउहह चोहह ।
चोव्वारो च चउव्वारो, कोउहलं च कोहलं ।
सुकुमालो च सोमालो, ओहलो स्यादुऊहलो ॥
उऊलं ओक्खलं स्या-देवं सर्वमुदाहृतम् ॥

अवापोते च ॥ १७२ ॥

उतेऽवेऽपेऽव्यये शब्द-त्रये, वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ।
‘ओ अरई’ ‘अव यरई,’ तथाऽवयासो भवेत् ‘ओआसो’ ।
‘ओ सरई’ ‘अव सरई’ ओ-सारिअमयसारिअं चैव ॥
ओ वणं, ओ घणो, उअ-वणमुअ घणोऽथ च बाहुलकात् ।
‘अवगय-मवसहो, उअ, रवी’ न चैत्वं ज्ञवत्यत्र ॥

ऊचोपे ॥ १७३ ॥

उपसर्गे तूपशब्दे, सार्द्धं वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं तथौद् भवेत् ॥
उवइसिअं ओहसिअं, ऊइसिअं वा उवज्जाओ ।
ओज्जाओ ऊज्जाओ, त्रयं त्रयं चात्र रूपं स्यात् ॥

उमो निषण्णे ॥ १७४ ॥

निषण्ण-शब्दे वैकल्प्य आदेशः सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यामो विधीयते ॥
णुमण्णो च णिसण्णो च, बुधै रूपद्वयं स्मृतम् ।

प्रावरणे अङ्गवाऊ ॥ १७५ ॥

‘अहु’ ‘आउ’ इत्यादेशौ, शब्दे प्रावरणे स्मृतौ ।

आदिः स्वरस्य स्तः सञ्च-ञ्जनस्वरपरस्य, वा ॥
पङ्कुरणं पाठरणं, पावरणमुदाहृतम् ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ॥ १७६ ॥

सूत्र 'स्वरादसंयुक्त-स्यानादेः' निखेद्वं त्विदम् ।
इतोऽधिप्रक्षिप्ते कार्य-सिञ्चये, तद् विचिन्त्यताम् ॥

क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ १७७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये तेषाम् ।
क-ग-च ज-प-य-वानां, प्रायो लुक् प्राकृते भवति ॥
के-तिथ्यरो ह्योत्रो, ये-नयरे स्याद् नञो मयंको च ।
चे-सई कयगहो स्याद्, जे-वा रययं पयावई च गञो ।
ते-जई रसायलं, दे-मयणो, पे-रिऊ सुउरिसो च ।
ये-तु विञोओ नमणं, वे-लायमं च विउरो च ।
प्रायोप्रहणात् कचिदपि, न जवति यद्वत्-पयागजलमगरु ।
विदुरो समवाओ दा-णयो सुकुसुमं तथा सुगओ ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, पुरंदरो संवुडो च संकरओ ॥
नकंचरो सगमो, धणंजओ संवरो नात्र ॥
किमसंयुक्ताः ?-अक्रो, वगो कउजं तथैव विणो च ।
अचो धुत्तो सव्यं, वजं उडाम इति च यथा ॥
कचिदपि संयुक्तस्य च, नकंचर इति जवेद् यथा रूपम् ।
उक्ता अनादिभूताः, जारो चोरो तरु वणो ॥
समासे तु विभक्तीनां, वाक्यगानामपेक्षया ।
पदत्वं चापदत्वं च, तत्र लक्ष्यानुसारतः ॥
यथा-आगमिओ आय-मिओ, जलचरस्तथा ।
वाच्यो 'जवयरो' चेरकु, सुइदो सुइओऽपि च ॥
कचिदादेरपि यथा 'सपुनः-मचण' स्मृतम् ।
सच सोअ, तथा चिई इन्धं चैव प्रयुज्यते ॥
पिशाची तु पिशात्ती स्या-स्यस्य जन्वेन कुञ्चित् ।
व्यत्ययो दृश्यते कपि, तदुदाह्रियतेऽधुना ।
'एगत्ते' एकत्वम्, 'एगो' एकोऽमुको- 'ऽमुगो' चापि ।
'लोगस्सुजोयगरा', 'अलुगो' अमुकोऽपि 'आगारो' ॥
आकारस्तीर्थकारः, 'तिथ्यरो' 'सावगो' विनिर्देश्यः ।
भावक इति 'आगरिसो', आकर्षः कस्य गत्वेऽत्र ॥
व्यत्ययश्चे- (४४४७) ति सूत्रात्, रूपनिष्पत्तिरिष्यते ।
दृश्यते चान्यदप्यपि, चस्य उत्त्वाविधानतः ॥
यथाऽऽकुञ्चनमित्यत्रा-ऽऽउउणं रूपमुच्यते ।

यमुना-चामुण्डा-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १७८ ॥

यमुना चामुण्डा का-मुकातिमुक्तकपदेषु लुक् मस्य ।
अनुनासिकश्च मस्य, स्थाने स्यादित्युदाह्रियते ॥
'जउणा' 'कौउओ' 'चौउ-ना' तथा 'अंणिउत्तयं' ।
कचिन्न जायते 'अ-मुतयं' 'अ-मुत्तयं' ।

नावर्णानि पः ॥ १७९ ॥

अवर्णाहुतस्याना-देर्लुक् पस्य न जायते ।
शपथः- 'सवहो' शापः, 'मावो' नादेः कदाचन ॥
'परउछो' यतो नात्र, पस्य लोपो विधीयते ।

अवर्णा यश्रुतिः ॥ १८० ॥

कगचजे- (४१७७) न्यादिसूत्रात्, लुकि जनेऽवशिष्यते ।
अवर्णाश्च पराभूता, योऽवर्णस्तस्य यश्रुतिः ।
सयदं नयरे गया मयंको, रययं कायमणी पयावई ।

मयणो नयणं कयगहो, सयलं तिथ्यरो रसायलं ॥
'लायमं' चैव 'पायालं', 'दयालु' इति गृह्यते ।
अवर्ण इति किं प्रोक्तं, 'सउणो' 'पउणो' 'कई' ।
'पउरं' 'निहओ' 'वाऊ', 'राईवं' 'निनओ' तथा ।
यश्रुतिर्नात्र कर्तव्या, नच 'लोअस्स' 'देअरो' ।
जवत्यवर्णादित्येव, कचित् 'पियइ' इत्यपि ॥

कुञ्ज-कर्पर-कीले कः खोऽपुण्ये ॥ १८१ ॥

कुञ्जकर्परकीलेषु, कस्य वर्णस्य खो भवेत् ।
कुञ्जाभिधेयं पुण्यं चेत्, तदा नैव विधीयते ॥
'खुउजो' च 'खीलओ' चैव, 'खण्णरं' च तथैव हि ।
अपुण्य इति किं प्रोक्तं, 'बंधं कुञ्ज-पुण्यं' ॥
आपेऽन्यथापि 'खसिअं' 'कसितं' 'खासिअं' तथा ।
'कासितं' रूपमप्येवं, विकल्पमिह दृश्यते ॥

मरकतमदकले गः कन्दुके त्वादेः ॥ १८२ ॥

मरकतमदकलशब्दौ, कस्य च गत्वेन सिद्ध्यतः किंतु ।
कन्दुकशब्दस्यादे-रेव च गत्वं विनिर्देश्यम् ॥
रूपं 'मरगयं' मय-गलो 'गैदुअमित्यपि ।

किराते चः ॥ १८३ ॥

किरातशब्दे चत्वं हि, ककारस्य विधीयते ॥
विधिः पुञ्जिन्द एवायं, 'चिलाओ' इति दृश्यते ।
न कामरूपिणि विधिः, 'नमो इरकिराययं' ॥

शीकरे भ-हौ वा ॥ १८४ ॥

शीकरे तु ककारस्य, ज-हौ स्यातां विकल्पनात् ।
सीभरो सीहरो, पक्षे सीअरो विनिगद्यते ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १८५ ॥

चन्द्रिका चन्दिमा जाता, कस्य मे विहिते सति ।

निकप-स्फटिक-चिकुरे हः ॥ १८६ ॥

निकपे स्फटिके चिकुरे, कस्य हकारो विधीयते तस्मात् ।
निहसो फलिहो चिहुरो, क्रमेण रूपाणि सिध्यन्ति ॥

ख-घ-थ-ध-ज्ञाम् ॥ १८७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
ख-घ-थ-ध-ज्ञां वर्णानां, प्रायो हः प्राकृते जवति ॥
खे-मेहला च साहा, घे-मेहो जहणमिति तथा माहो ।
थे-आवसहो, नाहो, धे-वाहो वाहई-न्दहणू ॥
मे-थणहरो सहायो, सहा नहं सोह इत्युदाहरणम् ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, संखो संघो तथा बंधो ॥
किमसंयुक्ताः ? अखइ, अघइ कथइ च सिद्धओ बंधइ ।
'गज्जेते ख मेहा', अनादिभूताभिधानेन ।
प्रायोप्रहणाद् अथिरो, पलय-घणो वा नजं च जिणधम्मो ।
सरिसवखलो पणट्टभ-ओ, कार्यं चेदगिह वेद्यम् ॥

पृथकि धो वा ॥ १८८ ॥

पृथक्शब्दे थकारस्य, स्थाने धो वा विधीयते ।
पिधं पुधं पिहं तद्वत्, पुधं रूपचतुष्टयम् ॥

शृङ्खले खः कः ॥ १८९ ॥

शृङ्खले खस्य कादेशः, सङ्कलं तेन सिद्ध्यति ।

पुत्राग-भागिन्योर्गो मः ॥१६०॥

स्यात् पुत्रागे च जागिन्यां, गकारस्य मकारता ।
'पुत्रामाई वसन्ते च' 'भागिणी' संप्रयुज्यते ॥

द्यागे झः ॥१६१॥

द्यागे गस्य लकारः स्यात्, ग्राज्ञो ग्राज्ञी च सिध्यते ।

ऊर्त्वे दुर्भेग-मुजगे वः ॥१६२॥

दुर्भेगे सुभगे चोत्वे, कृते गस्य तु वो भवेत् ।
दूहवो सृहवोऽनृत्वे-‘डूहवो सुहवो’ मतः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-ह्रौ वा ॥१६३॥

खचिते तथा पिशाचे, चस्य तु स-ह्रौ विकल्पतो भवतः ।
खसिओ खइओ तस्माद्, भवति पिसहो पिसाओ च ॥

जटिल जो भो वा ॥१६४॥

जटिले जस्य भो वा स्याद्, भूमिलो जडिज्ञो तथा ।

टो रुः ॥१६५॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य टो भवेत् ।
नडो मडो घडो रूपे, घडइ प्रणिगद्यते ॥
अस्वरात् जवेद् घंटा, खट्टा-संयुक्तदर्शनात् ।
आदेरेवेत्यतः ‘टको’ कचिन्न स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-कैटजे ङः ॥१६६॥

सटायां शकटे कैट-जे शब्दे ङस्य ङो भवेत् ।
कटयो सयडो तद्वत्, सटा रूपं पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके झः ॥१६७॥

स्फटिके ङस्य लादेशे, ‘फटिहो’ सिद्धिसृजति ।

चपेटा-पाटौ वा ॥१६८॥

चपेटायां च, वा एयन्ते, पटिधातौ च ङस्य लः ।
चविला चविडा फाले-इ फाडेइ प्रसिध्यति ।

टो ङः ॥१६९॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य टो जवेत् ।
मडो सडो च कमडो, कुढारो पढइत्यपि ॥
स्वरादित्येव वेकुंगो-ऽसंयुक्तस्यैव चिट्टइ ।
अनादेरेव ‘हिअए-माइ’ चैव प्रयुज्यते ॥

अङ्गोत्रे ह्रः ॥१७०॥

अङ्गोत्रे ङस्य लो ह्रित्व-भूतो भवति तेन हि ।
अङ्कोल्लतेल्ल-तुणं तु, पदं लोकेः प्रयुज्यते ॥

पिठरे हो वा रश्च रुः ॥१७१॥

पिठरे ङस्य हो वा, हस्य योगे च रस्य रुः ।
पिहडो पिहरो रूप-द्वयं सिद्धिमुपागमत् ।

रो लः ॥१७२॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेडस्य रो भवेत् ।
प्रायो, ‘गरुओ’ वडवा-मुखं च-‘वलयामुहं’ ।
असंयुक्तस्य किं-‘खगो’, स्वरात् किम्-‘मोडमिष्यते’ ।
अनादेरिति किम् ? डिमो, प्रायः किम् ? कापि वा भवेत् ॥

वलिम वलिसं णाली, णाडी वाऽस्मिन् गुणं एम् ।
दात्रिमं दाडिमं आमे-लो आमेडो, गुलो गुडो ॥
कचिन्नैव, यथा-नीडं निधिडं गडडो तमी ।
उडू पीडिआमित्यादि यथालक्ष्यं चिन्तयताम् ॥

वेणौ णो वा ॥ २०३ ॥

वेणौ तु णस्य ओ वा स्यात्, ‘वेलू वेणू’ द्वयं मतम् ।

तुच्छे तश्च-ह्रौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-ह्रौ वा स्तो यथाक्रमम् ।
तुच्छं तुच्छं तथा तुच्छं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-त्रसर-तृवरं टः ॥ २०५ ॥

तसर-तगर-तृवर-पदे, तस्य टकारो विधीयते तस्मात् ।
टसरो टगरो तृवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

प्रत्यादाँ ङः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिषु शब्देषु तु, तस्य ङकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
पडिवन्नं पडिहामो, पडिहारो पडिनिअत्तं च ॥
पाडिण्फट्टी पडिमा, पडंसुआ पडिवया च पडिसारो ।
पहुडि पाहुनं मरुयं, वहडओ हररुई पडाया च ॥
डुक्कतं डुक्कडं त्वापि सुकृतं सुकडं तथा ।
अवहृतं चाऽवहडं, आहृतं त्वाऽऽहडं स्मृतम् ॥
प्रायः किम् ? प्रतिसमयं पइसमयं, प्रतीपमिति पईवं च ।
संप्रति संपइ बोध्यं, तथा प्रतिष्ठा पइट्टा च ॥
प्रति-प्रवृत्ति-मृतक-प्रावृत्ताश्च हरीतको ।
विभीतक-पताका-व्या-पृताः, प्रत्यादिरिष्यते ॥

इत्वे वेतमे ॥ २०७ ॥

इत्वं सति तकारस्य, रुः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।
वेडिसो, इत्वं इति किम् ? ‘वेअसो’ नेत्वंमत्र तु ॥

गर्भितातिमुक्तके णः ॥ २०८ ॥

गर्भितातिमुक्तकयो-स्तस्य णकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
अणिउतयं गम्भिणाऽपि, क्वचिन्न-‘अइमुत्तयं’ जयति ॥

रुदिते दिना एणः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना साकं, तस्य णे-रुणमुच्यते । *

सप्ततौ रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सप्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

* अत्र केचित् ऋत्वादेषु द इत्यादिभ्यस्त्वन्तः, स तु शो-
रसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नाच्यते । प्राकृते हि
ऋतुः-‘रेक’ ‘उक’ । रजतम्-‘रययं’ । एतद्-‘एअ’ ।
गतः-‘गओ’ । आगतः-‘आगओ’ । सांप्रतम्-‘संपयं’ ।
यतः-‘जओ’ । ततः-‘तओ’ । कृतम्-‘कयं’ । इ (ह)
तम्-‘हयं’ । इताशः-‘इयासो’ । श्रुतः-‘सुओ’ । आकृतः-
‘आकिई’ । निवृत्तः-‘निवुओ’ । तातः-‘ताओ’ । कतरः-‘क-
यरो’ । द्वितीयः-‘डुइ (ई) ओ’ । इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति ।
न पुनः ‘उडू’ ‘रयदमित्यादि’ । कचिद् जावऽपि ‘इयन्-
यअ’ (४४४७) इत्येव सिद्धम् । ‘दिहो’ इत्यनर्थं
‘धृतेर्दिहिः’ (२१३१) इति वक्ष्याम ।

सप्तसी-सातवाहने, तस्य लकारो भवेद्, यथा-सप्तसी ।
सालबाहणो साला-हणो च सालाहणी भासा ॥

पलिते वा ॥ २१२ ॥

पलिते तस्य शो वा स्यात्, पलितं पलित्रं यथा ।

पीते वो ह्ये वा ॥ २१३ ॥

पीते तस्य तु धः स्यात्, स्वार्थेऽङ्कारे परे विकल्पेन ।
भवति पीवन्न पीअन्नमिति, लः किम् ? स्याद् यथा-‘पीअं’ ॥

वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे ढः ॥ २१४ ॥

वितस्तौ वसतौ मातु-लिङ्गे भरत-कातेर ।

पञ्चस्वेषु तकारस्य, हकारादेश इष्यते ॥

विहत्वी, वसही कापि-नायं स्याद् ‘वसई’ यथा ।

भरदो काहदो माहु-लिंगं चैतदुदाहृतम् ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः ॥ २१५ ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथ-मेपु थकारस्य ढो भवत्यत्र ।

मेढी सिढिलो सिढिलो, पढमो रूपाणि सिध्यन्ति ॥

निशीथपृथिव्योर्वा ॥ २१६ ॥

निशीथे च पृथिव्यां च, वा थकारस्य ढो भवेत् ।

निसीढो च निसीढो च, पुढवी पुढवी तथा ॥

दशन-दष्ट-दग्ध-दोला-दर-दण्ड-दाह-दम्न-

दर्भ-कदन-दोहदे दो वा ऋः ॥ २१७ ॥

दग्ध-दष्ट-दोहदेषु, दोला-दर-दण्ड-दाह-दम्नेषु ।

दशन-कदन-दर्भेषु च, दस्य डकारो विकल्पेन ॥

डसणं दसणं, डट्टो दट्टो, रट्टो च दट्टो च ।

मोला दोला, रंमो दंढा, डोहो तथा दाहो ॥

डंभो दंभो, डग्धो दग्धो, कडणं च कयणं च ।

अपि मोहलो दोहलो, डरो दरो चेति रूपाणि ॥

दंश-दहोः ॥ २१८ ॥

स्याद् धातोर्देश-दहयो-र्दकारस्य डकारता ।

तेनैव रूपं ‘डसइ, रइइ’ प्रतिपठ्यते ॥

संख्या-गदूदे रः ॥ २१९ ॥

संख्यावाचिनि गरुद-शब्देऽपि च रो दकारस्य ।

घारइ तेरइ एआ-रइ रूपं मभारं च यथा ॥

अनादिरित्येव यथा-‘ते दस’ प्रतिज्ञाप्यते ।

असंयुक्तस्येति यावत्, ‘चउइइ’ यथा ज्ञेयम् ।

कदम्बे वा ॥ २२० ॥

अत्रुमे कदलीशब्दे, दकारस्य रकारता ।

करली, अत्रुम इति, किम् ?-केली कयली यथा ॥

प्रदीपि दोहदे लः ॥ २२१ ॥

प्रपूर्वे दीप्यतौ धातौ, तथा शब्दे च दोहदे ।

दस्य लः स्यात् पलीवेइ, पलितं दोहलो यथा ॥

कदम्बे वा ॥ २२२ ॥

स्यात् कदम्बो कयम्बो वा, कदम्बे दस्य ले कृते ।

दीपौ धो वा ॥ २२३ ॥

दीप्यतौ दस्य धो वा स्यात्, यथा-धिपपइ दिपपइ ।

कदर्थिते वः ॥ २२४ ॥

कदर्थिते दस्य वः स्याद्, येन सिध्येत ‘कवट्टिओ’ ।

ककुदे हः ॥ २२५ ॥

ककुदे हो दस्य तेन-‘कउहं’ सिद्धिमृच्छति ।

निषधे धो ढः ॥ २२६ ॥

निषधे धस्य ढस्तेन-‘निसढो’ रूपमाप्नुयात् ।

वौषधे ॥ २२७ ॥

वौषधे धस्य ढो वा स्याद्, यथा-ओसढमोसहं ।

नो णः ॥ २२८ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्नस्य यो भवेत् ।

कयणं वयणं नयणं, मयणो माणइ, तथाऽऽरनालं तु ।

आप्ये-अनिहो अनहो, नानारूपाणि सन्तीह ॥

वाऽऽदौ ॥ २२९ ॥

असंयुक्तस्य नस्य स्या-दादिच्युतस्य वा तु णः ।

णरो नरो, णेइ नेइ, वद्यते च णई नई ॥

असंयुक्तस्य किम् ?-न्यायो-‘नाओ’ नैवात्र यो प्रवेत् ।

निम्ब-नापिते झ-एहं वा ॥ २३० ॥

निम्ब-नापितयोर्नस्य, झ-एहादेशौ यथाक्रमम् ।

निम्बो निम्बो, एहाविओ तु, नाविओ, सिद्धिमाप्नुतः ।

पो वः ॥ २३१ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः पस्य वो भवेत् ।

प्रायः, सवहो सावो उवसग्गो कासवो पईवो च ।

उवमा कविलं पावं, कुणवं गोवइ च मडि-वालो [१] ।

पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभदे फः ॥ २३२ ॥

पाटिधातुर्यदा एयन्तः, परुषादिभ्यो यो गणः ।

तयोरिव पकारस्य, फकारादेश इष्यते ॥

यथा-फावइ फावेइ, फरुसो फालिहो तथा ।

फविहा फणसो फालि-हदो रूपाण्यमूनि हि ॥

प्रचूते वः ॥ २३३ ॥

प्रभूते पस्त वो वा स्याद्, बहुतं तेन सिध्यति ।

नीपाऽऽपीके मो वा ॥ २३४ ॥

स्यान्नीपाऽऽपीडयोः पस्य, मकारः पाङ्क्तिको यथा ।

नीमो नीवो, तथा-ऽऽमेलो, आमेडो सिद्धिमाप्नुतः ॥

पापर्द्धौ रः ॥ २३५ ॥

पापर्द्धावपदादौ स्यात्, ‘पारर्द्धी’ पस्य रे कृते ।

फो भ-हौ ॥ २३६ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः फस्य वा भहौ ।

कचिद् नकारः स्यादत्र-रेफो रेजो, शिफा सिभा ।

कचिद् इकारः स्याद् मुत्ता-हलं, कचिदुच्चावपि ।

सभवं सहलं, सेजा-लिआ सेहालिआ तथा ।

वो वः ॥ २३७ ॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्वस्य वो भवेत् ।

यथाऽलावू अलावू चाऽऽलाऊ वस्यइ लोपनात् ॥

विमिन्यां भः ॥ २३८ ॥

विसिनी भिसिणी जाता, वस्य भे विहिते सति [२] ।

[१] स्वरादित्येव-‘कपइ’ । असंयुक्तस्येत्येव-‘अप्पमत्तो’ । अ-
नादिरित्येव-‘सुहेण पढइ’ । प्राय इत्येव-कई रिऊ । पतेन पका-
रस्य प्राप्तयोलोपकारयोः यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र
कार्यः । [२] स्त्रीलिङ्गनिर्देशादिह न जयति-‘विसतंतुपेलवार्यं’ ।

कवन्धे म-यौ ॥ २३६ ॥

स्यात् कवन्धो कवन्धो च, कवन्धे वस्य वा म-यौ ।

कैटजे जो वः ॥ २४० ॥

कैटभे मस्य वस्तेन, 'कैटवो' सिद्धिमाप्नुयात् ।

विषमे मो ढो वा ॥ २४१ ॥

विषमे मस्य ढो वा स्यात्, 'विसढो विसमो' यथा ।

मन्मथे वः ॥ २४२ ॥

मन्मथे मस्य वस्तेन, वम्महो सिद्धिमृच्छति ।

वाऽभिमन्यौ ॥ २४३ ॥

अभिमन्यौ मकारस्य, वकारो वा विधीयते ।

'अहिबन्धू अहिमन्धू', 'द्वयसिद्धिमुपागमत्' ॥

भ्रमरे सो वा ॥ २४४ ॥

भ्रमरे मस्य सो वा स्याद्, भसवो भमरो यथा ।

आर्दयो जः ॥ २४५ ॥

पदादेर्यस्य जादेशः, जसो जाइ जमो यथा ।

बहुलात् सोपसर्गस्या-नादेरपि भवेत् क्वचित् ॥

संजोगो संजमो क्वापि न- 'पञ्चोञ्चो' ऽभिधीयते ।

दोपोऽप्यार्थे-यथाख्यातम्-अहकषायं प्रयुज्यते ॥

युष्मद्यर्थपरे तः ॥ २४६ ॥

युष्मद्यर्थपरे यस्य, तकारादेश इष्यते ।

तुम्हारिसो तुम्हकेरो, किमर्थपर इत्यदः ? ।

'तुम्हदम्हपयरणं' नात्र, शब्दपरो यतः ।

यष्ट्यां लः ॥ २४७ ॥

यष्ट्यां यस्य लो 'लघी', वेणुवृष्टी च भण्यते ।

वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्ञः ॥ २४८ ॥

उत्तरीयेऽनीय-तीय-कृद्येषु प्रत्ययेषु च ।

द्विरुक्तो यस्य वा ज्ञः स्यात्, तदुदाह्रियतेऽधुना ॥

उत्तरिज्ञं उत्तरीञ्च, करणिज्ञं विभाषया ।

करणीञ्च, विज्ञो तु वीञ्चो तीयस्य दृश्यताम् ।

कृद्यस्य पेञ्जा पेञ्चा च, द्वन्द्वं सर्वमुदाहृतम् ।

गायायां होऽकान्तौ वा ॥ २४९ ॥

अकान्तिवाचके छाया-शब्दे हो यस्य वा भवेत् ।

वच्छस्स छाही गाया वा, आतपाभाव उच्यते ॥

माह-वौ कतिपये ॥ २५० ॥

यस्य स्यातां कतिपये, माहो वधेत्युभौ क्रमात् ।

कश्चाहं कश्चाहं, द्वयं निर्वर्तते पदम् ॥

किरि-भेरे रो रुः ॥ २५१ ॥

किरि-भेरयोः रस्य डः, किमी भेडो च सिद्ध्यतः ।

पर्याणे मा वा ॥ २५२ ॥

पडायाणं च पल्लाणं, पर्याणे रस्य डाऽस्तु वा ।

करवीरे एः ॥ २५३ ॥

'कणवीरो' करवीरे, रस्याऽऽद्यस्य तु णो नवेत् ।

हरिद्रादौ झः ॥ २५४ ॥

असंयुक्तस्य रस्य स्याद्, हरिद्रादिगणे तु लः ।

हृदिही सिद्धिलो लुक्को दलिदाइ जदुडिलो ॥

द्विहो मुहवो दालि-हं द्विहो च काहलो ।

चलणो वलुणो इङ्गा-लो सकालो च निघुवो ॥

सोमालो कवुणो फालि-हवोऽवहाल फालिहा ।

चिलाओ फलिहो चैव, भसवो बढलो तथा ॥

जढलं चेति रूपाणि, विज्ञेयानि मनीषिभिः ।

हरिद्रा दारिद्र्यं शिथिर-मुखराङ्गार-परिखा,

हरिद्रः सत्कारो जवर-वरणौ रुग्ण-करुणौ ।

किरातापट्टार-भ्रमर-सुकुमाराश्च वरुणो,

दरिद्रातिथीतुः परिघ-वठरौ निष्ठुरमपि ॥

युधिष्ठिरः पारिभट्टो, दरिद्रः कातरस्तथा ।

हरिद्रादिगणश्चाय-माकृत्या परिगण्यते [१] ॥

स्यूले द्वां रः ॥ २५५ ॥

स्थूत्रे लस्य रकारः स्यात्, थोरं व्युत्पद्यते तदा ।

धूवभट्टो हरिद्रादित्वे स्थूरस्य सिध्यति ।

लाहल-झाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदर्णः ॥ २५६ ॥

लाहले झाङ्गले लाङ्गू-ले वाऽऽदर्णस्य णो नवेत् ।

णाहलो लाहवो, णङ्गू-लं लूङ्गलं च णङ्गलं ।

बङ्गलं चेति रूपाणि, द्वन्द्वभूतानि चङ्गते ॥

ललाटे च ॥ २५७ ॥

ललाटे चादित्तस्य, वस्य णः संप्रवर्तते ।

णिमाङ्गं च णमालं च, चस्त्वादेरिति बोधकः ।

शवरे वो मः ॥ २५८ ॥

शवरे वस्य मत्वेन, समरो सिद्धिमृच्छति ।

स्वप्ननीव्योर्वा ॥ २५९ ॥

स्वप्न-नीव्योर्वकारस्य, मकारो वा विधीयते ।

लिमिणो सिमिणो, नीमो नीवी व्युत्पत्तिमेति च ।

शपोः सः ॥ २६० ॥

शेषयोस्तु सकारः स्यात् सर्वत्रात्र, निदर्श्यते ।

सेसो विससो निहसो, कसाओ दस सोहइ ॥

स्तुपायां एहो वा ॥ २६१ ॥

स्तुपायां यस्य एहो वा स्यात्, ततः 'सुगहा सुसा' द्वयम् ।

दश-पापाणे हः ॥ २६२ ॥

दशन्-पापाणयोर्हो वा, शपयोर्लेदयदर्शनात् ।

दहमुहो दस-मुहो दढवलो दस-वलो ।

दह-रहो दस-रहो वारहै-आरह ।

पापाणस्य तु पाहाणो, पासाणोऽपि च दृश्यते ॥

दिवसे सः ॥ २६३ ॥

दिवसे सस्य हो वा स्याद्, दिवसो दिवहो तथा ।

हो वाऽनुस्वारात् ॥ २६४ ॥

अनुस्वाराद् हकारस्य, घकारो वा विधीयते ।

[१] बहुवाचिकाराच्चरणशब्दस्य पदार्थवृत्तरेव । अन्यत्र 'चरणकरणं' । भ्रमरे ससंनियोगे एव । अन्यत्र 'भमरो' । तथा 'जढरं' 'वढरो' 'निघुरो' इत्याद्यपि ।

मिषो साहो च सघारो, संहारो, कचिदन्यथा [१] ॥

पद-शमी-शाव-सुधा-सप्तपर्णोन्नादेशः ॥ २६५ ॥

सप्तपर्ण-सुधा-शाव-शमी-पद-पद-दिमस्य ऋः ।

चित्तवृत्तौ बुद्धा गवो, छमी गवो यथाक्रमम् ॥

शिगायां वा ॥ २६६ ॥

शिगाशब्दे भवेदादि-शकारो वा, क्षिगा सिगा ।

सुग्भाजन-दनुज-राजकुलं जः मस्वरस्य नवा ॥ २६७ ॥

भाजनं दनुजं राजं कुलं सस्वरजस्य वा ।

लुगिपते, यथा जाणं भायणं, दनुजो दणु ॥

स्याद् रा-उलं, राय-उलं, यथाक्रममुदाहृतम् ।

व्याकरण-प्राकारागते कगोः ॥ २६८ ॥

व्याकरणप्राकाराऽऽगतेषु कगयोस्तु सस्वरयोः ॥

लुग वा वायरणं वा-रणं च पारो च पायारो ॥

आओ तथाऽऽगओ रूपे, आगतस्येति बुध्यताम् ।

किमलय-कालायम-हृदये यः ॥ २६९ ॥

कालायमे किमलये, हृदये यस्तु-सस्वरः ।

यकारस्तस्य लुगा स्याद्, यथा-कालायसं त्विदम् ॥

कालासं स्यात् किमलयं, किमलं, द्विअये द्विअं ।

दुर्गादेव्युत्सवर-पादपतन-पादपतेऽन्तर्दः ॥ २७० ॥

दुर्गादेभ्यां तथा पाद-पतने चाप्युत्सवरे ।

पादपीठे सस्वरौ यो, मध्ये दो, वा स लुप्यते ॥

दुग्गाएवी तु दुग्गावी, उम्बरो स्याद् उउम्बरो ।

पा-वमणे च वा पाय-वमणं संप्रकीर्तितम् ॥

पाय-वाडं तु पा-वाडं, 'अन्तर'-दुर्गा-दरक्तकम् । [२]

यावत्तावज्जीवितावर्तमानावट-पाचारक-देवकुक्षै-

वमेवे वः ॥ २७१ ॥

प्राक्ताके देवकुल एवमेवे च जीविते ।

आवर्तमानावटयोस्तथा यावति तावति ।

योऽन्तर्धर्तो सस्वरौ व-स्तस्य सुग्वा विधीयते ।

जा जाव, ताव ता, जीअं जीविअं, अवमो अडो ।

अत्तमाणा तथाऽऽवत्तमाणा, देवउलं पुनः ।

देउलं, पारओ पाचारओ एमेव तूच्यते ।

एवमेव तथाऽन्तस्तु मेव वस्यास्ति रक्तकम् [३] ॥

या जापा जगद्वचोऽजिगमन् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,

यस्यां मन्यथुताऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।

तस्याः संप्रति दुःपमागवशतो जातोऽपचारः पुनः,

संचागय मया कृते विवरणे पादोऽप्यमाद्यो गतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मवृद्धत्तपागच्छीय-कलिकालसर्पहं

श्रीमदभट्टारक-श्रीविजयगजेन्द्रमूर्तिविगचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ प्रथमः पादः ।

[१] कचिदननुग्गागदाप-दाहः-दाहो । [२] अन्तरि-किम ? दुर्गादेव्यामादौ मा भूत् । [३] अन्तरि-यव । एवमेवे-यस्य न मर्यात ।

॥ * अहम् * ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

संयुक्तस्य ॥ १ ॥

ज्यायामीत [२६१५] इत्यतो यावद्, अधिकारोऽयमीरितः ।
यदितोऽनुक्रमिष्यामस्तत् संयुक्तस्य बुध्यताम् ॥

शक्त-मुक्त-दष्ट-रुण-मृदुत्वे को वा ॥ २ ॥

शक्ते मुक्ते मृदुत्वे च, दष्टे रुणे विभाषया ।

संयुक्तस्य ककारः स्याद्, यथादाह्रियतेऽधुना ।

सक्को सक्तो, मुक्को मुक्तो, रुक्को तथा दष्टो ।

लुक्को लुगो, माउत्तणं च माउत्तमिति वक्ष्यम् ।

क्षः खः कचित्तु छ-ऊँ ॥ ३ ॥

कस्य खः स्याद्, छ-ऊँ क्वापि, 'खश्चो' लक्ष्मणमुच्यते ;
छ-भावपि, यथा-खीणं लुणं, भीणं च किञ्चिद् ।

ष्क-स्कयोर्नास्ति ॥ ४ ॥

संज्ञायां ष्कस्कयोः खः स्याद्, निक्खं पोक्खरिणी यथ ;
अवक्खन्तो तथा खन्धा-वोरा खन्धा प्रकीर्त्यते ।

शुष्क-स्कन्दे वा ॥ ५ ॥

शुष्के स्कन्दे ष्क-स्कयोः खो, विकल्पेन प्रवर्तते ।

सुक्खं सुक्कं तथा खन्दो, 'कन्दो' चैवमुदाहृतम् ॥

द्वेटकादौ ॥ ६ ॥

द्वेटकादिषु शब्देषु, संयुक्तस्यात्र खो भवेत् ।

द्वेटकः खेटओ, द्वोटकः खोटओ ।

स्फोटकः खोमओ, स्फोटकः खेटओ ।

स्फोटिकः खेटिओ चायं, द्वेटकादिरुदाहृतः ॥

द्वेटकः द्वोटकश्चैव, स्फोटकः स्फोटकस्तथा ।

स्फोटिकश्चेति संख्यातः, द्वेटकादिरयं गणः ।

स्थाणावहरे ॥ ७ ॥

अहरार्थे स्थाणुशब्दे, खः स्यात् 'खाणू' ततो भवेत् ।

स्तम्भे स्तो वा ॥ ८ ॥

स्तम्भे स्तस्य खकारो वा, खम्भो थम्भो प्रभाष्यते ।

य-ठावस्पन्दे ॥ ९ ॥

अस्पन्दार्थे स्तम्भे, स्तस्य ठ-थौ स्तो यथा पदं-थम्भो ।
ठम्भो, स्तस्यत इति थ-म्भिज्ज् ठम्भिज्ज् स्याताम् ॥

रक्ते गो वा ॥ १० ॥

रक्ते कस्य गकारो वा, रग्गो रक्तो विभाष्यते ।

शुल्के ङो वा ॥ ११ ॥

शुल्के कस्य ङो विभाषा, सुङ्गं सुक्कं प्रकीर्तितम् ।

कृत्ति-चत्तरे चः ॥ १२ ॥

कृत्ति-चत्तरयोः संयु-क्तस्य चः संप्रवर्तते ।

किञ्ची च चत्तरे रूप-ठय सिद्धि मुपागतम् ।

न्याऽचैत्ये ॥ १३ ॥

चैत्यवर्जे त्यस्य चः स्यात्, पचओ सच्च-मुच्यते ।

प्रत्युपे पथ हो वा ॥१४॥

प्रत्युपे त्यस्य चः स्यात् तत्संनिधौ यस्य ह्रस्व वा ।
विधीयते च पञ्चूहो, पञ्चूमां तेन सिध्यतः ॥

त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-जाः कचित् ॥१५॥

त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-जाः कचिदेते भवन्ति हि ।
जुक्त्वा भोष्ठा, ज्ञान्वा णच्चा,
श्रुत्वा सोष्ठा पृथ्वी पिच्छी ।
विद्वान् विज्जं, बुद्धा वुज्जा,
एवं चान्यद् रूपं वेद्यम् ।
“भोच्चा सयलं पिच्छं, विज्जं वुज्जा अणणयग्गामि ।
चइज्जण तवं काजं, सन्ती पत्ती सिवं परमे ॥”

वृश्चिके श्वेर्चुर्वा ॥१६॥

वृश्चिके श्वेः सखरस्य, चुरादेशां विभाष्यते ।
विचुश्चो विचुश्चो, पक्के-विज्जिश्चो, गोऽत्र बाध्यते ।

छोऽद्यादौ ॥१७॥

अङ्ग्यादिषु ङकारः स्यात् संयुक्तस्य, प्रवाध्य खम् ।
आच्छि उच्छू लच्छी कच्छा, गीअं गीरं कुच्छी दच्छा ।
वेत्तं वच्छं उच्छा कच्छा, लुण्णो लुरां सारिच्छं च ।
सारिच्छो मच्छिआ कुच्छो, ‘अयं वच्छो’ अयं लुरां ।
लुहा, आपे तु-सारिखं, इक्खू खीरं च दृश्यते ।
अत्ती-कु-बन्दी-श्रुत-कत्त-कौक्के-यकोत्त-वक्क-त्तत-दक्क-वृक्काः॥
कक्का-लुर-क्कार-सदक्क-कुक्कि-लीर-कुधः केवमथो शृणुष्व ।
सादृश्यं मक्किआ लुण्णः, कथितोऽङ्ग्यादिरित्ययम् ॥
आकृतिग्रहणाः शब्दाः, न संख्यानियमस्ततः ।

क्षमायां कौ ॥ १८ ॥

पृथिव्यर्थे क्षमाशब्दे, क्षस्य छ्वादेश इष्यते ।
क्षमा क्षमाऽपि क्षमा भूमिः, क्षान्त्यर्थे तु क्षमा खमा ॥

ऋक्ष वा ॥ १९ ॥

ऋक्ते कस्य ङकारो वा, रिक्खो रिक्खोऽस्त्रियां मत्तौ ।
वृक्क-क्किं (१ । १२७) तिसृत्रेण, ‘रुक्ख-वृद्धौ’ च सेत्स्यतः॥

कृण उत्सवे ॥ २० ॥

उत्सवार्थे कृणे कस्य छः, ‘छृणो’ स्यात् खणोऽन्यतः ।

ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले ॥ २१ ॥

ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सां, स्थाने छ्वा भवति, निश्चले न स्यात् ।
मिच्छा, पच्छा, संव-च्छलो, जुगुच्छइ च विच्छइ च ॥
ह्रस्वात् किम्? ‘ऊसारिओ’-‘अनिश्चल इति किम्? च ‘निश्चलो’ येन,
आपे-तथ्ये चोऽपि तु जवति ततः ‘तच्चमिति रूपम् ॥

सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ॥ २२ ॥

उत्सुकोत्सव-सामर्थ्ये, वा संयुक्तस्य छो भवेत् ।
सामच्छं वा च सामर्थ्यं, उच्छुओ ऊसुओ तथा ॥
उच्छुओ ऊसवो वा स्यात्, पृथगुक्तं द्वयं द्वयम् ।

स्पृहायाम् ॥ २३ ॥

संयुक्तस्य ङकारः स्यात्, स्पृहायां फस्य बाधकः ।
गिहा, बाहुलकात् कापि निस्पृहो ‘निष्पिहो’ मतः ॥

द्य-य-यां जः ॥ २४ ॥

द्य-य-यांनां तु युक्तानां, स्थाने जः संप्रवर्तते ।
(द्य) मज्जे अवज्जं, (य्य) जज्जो च, सेज्जा, (यं) मज्जा च भारिआ ॥

अभिमन्या ज-ज्जो वा ॥ २५ ॥

अभिमन्युपदे न्याजो, ज्ज्वाऽऽदेशो विकल्पनात् ।
अहिमज्जू अहिमज्जू, अहिमन्यू तु पाजिकः ॥ [१]

माध्वम-ध्व-द्यां जः ॥ २६ ॥

माध्वसे ध्व-ह्यांश्च स्याद्, युक्तयोर्जो (ह, मज्जमं ।
सज्जाओ वज्जप जाणं, मज्जं गुज्जं च नज्जइ ॥

ध्वजे वा ॥ २७ ॥

ध्वजे ध्वस्य ङकारो वा, ततः स्यातां ‘ज्जो’ ‘ध्वो’ ।

इन्धौ भा ॥ २८ ॥

इन्धौ धातौ तु युक्तस्य, ‘जा’ इत्यादेश इष्यते ।
समिज्जाइ च विज्ज्वाइ, चेदं संप्रयुज्यते ॥

वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थितः टः ॥ २९ ॥

वृत्ते प्रवृत्ते पत्तने, मृत्तिकायां कदर्थिते ।
संयुक्तस्य टकारः स्याद्, यथा रूपं कवट्टिओ ॥
पयट्टो मट्टिआ वट्टो, पट्टणं समुदाहृतम् ।

भूर्त्तादीन् वर्जयित्वा टो, ‘स’स्य स्थाने प्रवर्तते ।

केवट्टो नट्टइ संव-ट्टिअं जट्टो पयट्टइ ॥
भूर्त्तादौ तु विधीर्नायं, ततो भूर्त्तादिहच्यते ।
धुत्तो कित्ती वत्ता, निवत्तओ वत्तिओ मुहुत्तो च ॥
आवत्तणं च संव-त्तणं च आवत्तओ मुत्ती ।
निवत्तणं च पवत्तण-मुक्कत्तिओ वत्तिओ फत्तिओ च
निवत्तओ पवत्तओ, संवत्तओ कत्तरी मुत्तां ।
आवत्तंकावर्तनकीर्तिमूर्तिवार्ताप्रवर्तकमुहूर्तनिवर्तकाश्च ।
संवर्तकोत्कर्षितमूर्तधूर्तप्रवर्तनं वार्तिककार्तिकौ च ॥
वर्तिका कर्तरी चापि, संवर्तननिवर्तने ।
निवर्तकमसौ भूर्त्तादिर्गणः परिकीर्तितः ॥

वृन्ते एटः ॥ ३१ ॥

संयुक्तस्य भवेद् वृन्ते, एटाऽऽदेशो निर्धिकटपकः ।
तालवेण्टं च वेण्टं च यथा सिद्धिं समश्नुते ॥

गोऽस्थि-विसंस्थुले ॥ ३२ ॥

विसंस्थुलेऽस्थिशब्दे च, संयुक्तस्य टकारता ।
अष्टौ विसंठुले तेन, पृथक् सिद्धिमुपागमत् ॥

स्त्यान-धनुर्थायै वा ॥ ३३ ॥

अर्थ-स्त्यान-चतुर्थेषु, वा संयुक्तस्य गो जवेत् ।
ठाणं धीणं चउत्थोऽष्टो-ऽयनेऽत्थो धनवाचकः ॥

ष्टस्याऽनुष्टुप्संदष्टे ॥ ३४ ॥

संदष्टमिष्टामुष्टं च त्यक्त्वा ष्टस्य तु गो भवेत् ।
वट्ठी मुट्ठी सुरट्ठा च, कट्ठं इट्ठो अणिठ च ॥
उट्ठो इट्ठा च संदट्ठो रूपमुष्टादिसंज्ञवम् ।

गते रः ॥ ३५ ॥

स्याद् गते ‘ते’स्य डो, ‘गट्ठो गट्ठा’-‘ऽयं टस्य बाधकः
सम्मर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिनेर्दस्य ॥ ३६ ॥
सम्मर्दे विच्छुर्दे वृर्दि-वितर्दि-कपर्द-मर्दिने च ।
र्दस्य ङकारो भवति, सम्मट्ठो मट्टिओ छुट्ठी ।

[१] अनिग्रहणात् इह न भवति- ‘मन्’ ।

सम्प्रदिशो कवशो, विचल्लशो लुङ्गश्च विचल्लशो ।

गर्दभे वा ॥ ३७ ॥

गर्दभे दस्य हो वा स्याद्, गहुहो गहहो तथा ।

कन्दारिका-जिन्दिपाले एरुः ॥ ३८ ॥

एरुः संयुक्तस्य वै जिन्दि-पाले कन्दारिकापदे ।

निरिण्णवालो कण्ठविश्रा, द्वयं संसिद्धिमृच्छति ।

स्तब्धे उ-दौ ॥ ३९ ॥

स्तब्धे संयुक्तयोः स्वातां, उदौ, 'उहो' यथाक्रमम् ।

दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः ॥ ४० ॥

दग्धे विदग्धे वृद्धौ च, वृद्धे युक्तस्य हो भवेत् ।

दग्धो विभक्तो वुद्धौ च वृद्धो, विद्धो कश्चित्तः [१] ।

श्रुद्धि-मूर्धार्धेऽन्ते वा ॥ ४१ ॥

ढः स्याच्छ्रुद्धि-मूर्धार्धेऽन्ते संयुक्तस्य वा, यथा ।

सङ्घा सङ्घा, इहो रिद्धी, मृगहा मुद्धा अहुं अहुं ॥

मृङ्गोऽणः ॥ ४२ ॥

णाणं निष्णं च विष्णाणं, पञ्जुष्णो मन्त्रयोर्णतः ।

पञ्चाशत्पञ्चदश-दत्ते ॥ ४३ ॥

स्यात् पञ्चाशत्-पञ्चदश-दत्ते युक्तस्य णो, यथा ।

पष्णासा पष्णरह च, दिष्णं त्रयमुदाहृतम् ॥

मन्यौ न्तो वा ॥ ४४ ॥

मन्यौ युक्तस्य वा न्तः स्याद्, मन्त् मन्तू च पठ्यते ।

स्तम्भे योऽमपस्त-स्तम्भे ॥ ४५ ॥

स्तम्भं समस्तं च न्यक्त्वा, 'स्त' स्य थादेश इष्यते ।

थोत्तं थोअं थुदं हथो, पमत्थो पत्थरोऽस्थि च ।

तम्भो स्तम्भे, समस्तो तु-समस्तेऽर्थे प्रकीर्तितः ॥

स्तवे वा ॥ ४६ ॥

स्तवशब्दे स्तस्य थो वा, ततो रूपं थवो तवो ।

पर्यस्ते थ-दौ ॥ ४७ ॥

पर्यस्ते स्तस्य तु स्यातां, थ-दौ पर्यायज्ञाविनौ ।

पल्लयो वा तु पल्लयो, रूपं व्युत्पद्यते द्वयम् ।

वोत्साहो थो हश्च रः ॥ ४८ ॥

वोत्साह-शब्दे थादेशः संयुक्तस्य विकल्पनात् ।

हस्य रश्चापि, 'वत्थागो,' 'उच्छाहो' सिद्धिमाप्नुतः ॥

आश्रिष्टे ल-थौ ॥ ४९ ॥

संयुक्तयोर्ग्रथसंख्यमाश्रिष्टे तु ल-थौ स्मृतौ ।

आलिङ्गो दंष्ट्रा रूपं तदाऽऽश्रिष्टस्य जायते ।

चिह्नं न्यो वा ॥ ५० ॥

चिह्ने द्वयं तु वा न्यः स्याद् गहं वाधिन्यैव, तद्यथा- ।

चिन्त्रं इन्ध च, चिगहं तु पक्वं गहस्यापि संभवात् ।

जम्मान्मनोः पो वा ॥ ५१ ॥

भम्मान्मनोः प्रकारः संयुक्तस्य, विभाषया भवति ।

भयो नस्सो, अप्पा अप्पाणो, पाल्लिको 'ऽत्ता' ऽपि ।

रूप-कर्मोः ॥ ५२ ॥

अस्य कर्मस्य च पादसः, कुञ्जलं कुञ्जलं तथा ।

रुक्मिणी-रुक्मिणी, रुक्मी, रूपी चमः कापि दृश्यते ।

ए-स्पर्शोः फः ॥ ५३ ॥

फः ए-स्पर्शोर्भवेत्, पुष्पं पुष्पं स्यात्, स्पन्दनं पुनः ।

फन्दणं च प्रतिस्पर्धो पाणिफन्दी प्रयुज्यते ।

बहुवात् कापि वैकल्प्यं, यथा-रूपं बुद्धिर्ह ।

बुद्धिर्ह च, न कापि-निष्पहो च परोष्परं ।

जीप्मे एमः ॥ ५४ ॥

जीप्मे एमस्य फकारः स्यात्, रूपं 'भिष्णो' यथा भवेत् ।

श्लेष्मणि वा ॥ ५५ ॥

श्लेष्मणि एमस्य फः, सेफो सिलिहो च विकल्पनात् ।

ताम्राग्रे म्वः ॥ ५६ ॥

ग्रस्य म्वः स्यात् ताम्र आग्रे, 'तम्बं' 'अम्बं' च सिध्यतः ।

हो जो वा ॥ ५७ ॥

हस्य भो वा, यथा-जिह्वा जीहा सिद्धिमवाप्नुतः ।

वा विहले वा वश्च ॥ ५८ ॥

विहले हस्य भो वा स्याद्, विशब्दे वा च वस्य भः ।

जिम्भलो विम्भलो वा च विहलो च त्रयं मतम् ।

वोर्ध्वे ॥ ५९ ॥

ऊर्ध्वं युक्तस्य जो वा स्याद्, उर्ध्वे उर्ध्वं च सिध्यतः ।

कश्मीरे म्भो वा ॥ ६० ॥

कश्मीर-शब्दे म्भो वा स्यात् संयुक्तस्य, ततो द्वयम् ।

सिद्धिमृच्छति, 'कम्भारा' 'कम्हारा' चेति पाक्षिकम् ॥

न्मो मः ॥ ६१ ॥

न्मस्य मो वा, यथा-जम्भो वम्भहो मम्भणं तथा ।

म्भो वा ॥ ६२ ॥

भस्य मो वा, यथा-युग्मं जुग्मं जुगं च कथ्यते ।

ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डर्ये यो रः ॥ ६३ ॥

तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डर्य-ब्रह्मचर्येषु 'र्य' स्य रः ।

बम्हचरं च सुन्दरं, सोण्डीरं तूरमित्यपि ॥

पठ्यते बम्हचरिअं, क्वापि चौयसमत्वतः ।

धैर्ये वा ॥ ६४ ॥

धैर्यं यस्य रकारो वा, धीरं धिजं च सिध्यतः ।

'सूरो सुजो' इति कथं ? रूपे स्तः, सूर-सूर्ययोः [१] ॥

एतः पर्यन्ते ॥ ६५ ॥

पर्यन्तशब्दे एतः स्याद् यस्य रस्तेन सिध्यति ।

'परन्तो,' एत इति किम् ? 'पजन्तो' परिपठ्यते ॥

आश्वर्ये ॥ ६६ ॥

एतः परस्य रो 'र्य'स्याऽऽश्वर्ये, अश्चरेमिष्यते ।

अतो रिश्चार-रिज्ज-रीअं ॥ ६७ ॥

अतः परस्याश्वर्ये, यस्य 'रिश्चार-रिज्ज-रीअं'-मादेशाः ।

अच्छरिज्ज-मच्छरिअं, तथाऽच्छरीअं च अच्छरिअं ॥

पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये द्वः ॥ ६८ ॥

सौकुमार्ये च पर्याणे पर्यस्ते यस्य द्वयम् [२] ।

पल्लटं पल्लटं पल्लणं सोअमल्लमिति भवति ।

पल्लिअङ्को पल्लङ्को पल्लङ्गस्यैव रूपं द्वे ।

[१] कश्चित्तं भवति 'विच-कह-निरुविअ' ।

[१] सूरो सुजो इति तु सूरसूर्यप्रकृतिभेदात् । [२] 'ल्ल' इति ।

बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा ॥ ६६ ॥

बृहस्पतिवनस्पत्योः, सो युक्तस्य विकल्पनात् ।
वहस्सई वहस्पई भयस्सई भयप्फई ।
वणस्सई वणप्फई च सिद्धिमश्नुते पृथक् ॥

वाष्पे होऽशुणि ॥ ७० ॥

स्यादशुवाचके वाष्पे, संयुक्तस्य इकारता ।
वाहो नेत्रजलं, 'वप्फो-' ऊष्मार्येऽयं प्रयुज्यते ॥

कार्पापणे ॥ ७१ ॥

कार्पापणे हकारः स्यात्, संयुक्तस्येति कथ्यते ।
काहावणो, क्वचिद् हस्वे कृते रूपं कहावणो [१] ॥

दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ॥ ७२ ॥

दुःखे च दक्षिणे तीर्थे वा संयुक्तस्य हो जवेत् ।
दाहिणो दक्षिणो, तित्थं तूहं, दुःखं दुहं तथा ॥

कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तु एको वा ॥ ७३ ॥

'ष्मा' इत्येतस्य कूष्माण्ड्यां इः स्याद्, एडस्य तु वा च लः ।
कोहएली कोहली चैतद् छयं व्युत्पद्यते ततः ॥

पद्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हुः ॥ ७४ ॥

म्हुः पद्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मानां संयुक्तानामादेशः स्यात् ।
पद्माणि स्यात् पम्हाइ, कुस्मानः कम्हाणो पठ्यन्ते ।
ग्रीष्मो गिम्हो भवेद् 'अम्हा-रिसो' अस्मादृशः स्मृतः ।
ब्रह्मा बम्हा, तथा सुह्माः 'सुम्हा' जातास्तथा पुनः ।
वम्हणो वम्हचेरं च, दृश्यते म्मोऽपि कुत्रचित् ।
वम्भणो वम्भचेरं च, सिम्भो रूपं यथा भवेत् ।
कचिन्न दृश्यते चायं रश्मिः-रस्सी, स्मरः-सरो ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्म-ह्म-दृणां एहः ॥ ७५ ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्म-ह्म-दृणां
संयुक्तानामादेशो एहः ।
सूक्ष्मं सणहं (श्र) पणहो सिएहो
(ण) विणहू जिएहू उणहीसं स्यात् ।
(क्) जोएहा एहाओ पणहूओ च, (ह्) वणही जणहू तथैव च ।
(ह्) पुवणहो अवरएहो च, (ण) सणहं तिएहं प्रयुज्यते ।
विप्रकर्षे तु कसणो कसिणो कृष्ण-कृत्स्नयोः ॥

हो ल्हः ॥ ७६ ॥

ल्हः स्याद् हस्य तु कल्हारं, पल्हाओ रूपमीदृशम् ।

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-क-पा-मूर्ध्वं लुक् ॥ ७७ ॥

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-पानां, स-क-पा-मूर्ध्वं लुक् ।
संयुक्तवर्णसम्बन्धिनां लुगत्रेति शास्ति मुनिः ।
(क) छुलं (ग) दुलं (ट) पट्पदः 'अप्पओ' च
(ड) खल्लः खणो (त) उप्पलं उत्पलं च ।
(द) मद्गुः-मग्गु, मुद्गरो-मोगगरो च,
(प) सुत्तो गुत्तो (श) निश्चलो निश्चलो च ।
(ष) गोष्ठी ग्घो निटुरो च, (स) नेहो च खल्लिओ तथा ।

(ऋ) दुःखं दुक्खं (ऋ) अन्तःपातः, अन्तःपाओ निगद्यते ।

अथो म-न-याम् ॥ ७८ ॥

युक्ताथो वर्त्तमानानां, मनयानां तु लुग् भवेत् ।
(म) जुग्गं रस्सी सरो (न) नग्गो, (य) सामा कुडुं यथा पद्मम् ।

सर्वत्र द्व-व-रामऽवन्दे ॥ ७९ ॥

युक्तस्योर्ध्वमथो वा ये, संस्थिता ल-व-राः क्वचित् ।
वन्दशब्दं विना तेषां लुक् स्यादित्युपदिश्यते ॥
(ऊर्ध्वम्) (ल) उट्का उक्का, वट्कलं वक्कलं च,
(व) शब्दः सहो, लुब्धको लोब्धो च ।
(र) अक्को वग्गो अर्क-वर्गो भवेताम्,
(अधः) (ल) श्शङ्गं सणहं, विपलवो विक्रवो च ॥
(घ) पक्कं पक्कं च पिकं च, (र) चक्कं चक्कं ग्रहो ग्रहो ।
रात्रिः रत्ती, यथालक्ष्यं, लोपः स्यात् कापि, तद्यथा ।
(ऊर्ध्वम्) उद्धिन्नः स्याद् उद्धिगो, द्विगुणो विउणो तथा ।
कलमपं कम्मसं, सर्व-सर्वं, सन्ति सहस्रशः ।
(अधः) काव्यं कव्यं प्रवक्तव्यं, माव्यं मल्लं, द्विपो दिओ ।
पर्यायेण क्वचित् दारं-वारं दारं प्रचक्रते ।
एवमुद्धिन्न उद्धिगो, उद्धिणो विनिगद्यते ।
वन्दं पदं तु संवेद्यं, संस्कृते प्राकृते समम् ।

डे रो न वा ॥ ८० ॥

ड-शब्दे तु विकल्पेन, लुक् स्याद् रेफस्य तद्यथा ।
चन्दो चन्द्रो च, रुहो रुद्रो, भहं भद्रमित्यादि ॥
परिवृत्त्या स्थिते रूपद्वयं वेद्यं हृदे यथा ।
रुहो रुहो, रवोपं तु केऽपि नेच्छन्ति सूरयः ।
ये वोडहादयः शब्दास्तरुणाद्यर्थवाचकाः ।
ते नित्यं रेफसंयुक्ता देश्या एवेति बुध्यताम् ॥

धाऽयाम् ॥ ८१ ॥

धाऽयां वा लुग् रस्य, धत्ता धारी धाई रलोपनात् ।

तीक्ष्णे णः ॥ ८२ ॥

तीक्ष्ण-शब्दे णस्य लुब्धा, तिक्खं तिएहं ततो द्वयम् ।

ज्ञो वः ॥ ८३ ॥

ज्ञस्य सम्बन्धिनो जस्य, लुक् स्यादत्र विभाषया ।
जाणं णाणं, कचिन्न स्याद्, विष्णाणं संप्रयुज्यते ॥

मध्याहे हः ॥ ८४ ॥

स्याद् 'मज्झो च मज्झएहो' मध्याहे लुकि हस्य वा ।

दशार्हे ॥ ८५ ॥

दशार्हे हस्य लुक् वेद्यो, दसारो सिद्धिमृच्छति ।

आदेः श्मश्रु-श्मशाने ॥ ८६ ॥

श्मश्रु-श्मशानयोरआदे-र्हुगादेशो विधीयते ।
मासू मंसू च मस्सू च, मसाणं चेह सिध्यति ।
आर्पे सुसाणं सांआणं, श्मशानस्य द्विरूपता ।

श्रो हरिश्चन्दे ॥ ८७ ॥

अस्य लुक् स्याद् हरिश्चन्दे, 'हरिश्चन्दो' ततो जवेत् ।

[१] कथं 'कहावणो' । "हस्वः संयोगे" [१. ८४] इति पूर्वमेव
हस्वत्वे पाश्चादादेशः कार्पापणशब्दस्य वा भविष्यति ।

रात्रौ वा ॥ ८८ ॥

रात्रौ युक्तस्य वा मुक्त्वा स्याद्, रात्रि रक्तौ च सिध्यते ।

अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् ॥ ८९ ॥

अनादि नूनयोः शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वमिष्यते ।

तत्र शेषे यथा-कप्पनरु लुप्तं प्रयुज्यते ।

आदेशे तु यथा-रुक्ता जकखो रगो निगद्यते ।

क्वचिन्न-कमिणो-ऽनादाविति किम्? खलिश्रं यथा ।

द्वित्वं द्वयोरपि न स्याद्, भिरिमुपात्तां च विञ्चुओ ।

द्वितीय-तुर्ग्योरुपरि पूर्वः ॥ ९० ॥

द्वितीय-तुर्ग्योर्द्वित्व-प्रसङ्गे पूर्ववर्तिनौ ।

वर्गस्थौ भवतो वर्णावुपरिष्ठादित्यने ॥

शेषे यथा तु वक्खवाणं, वग्घो मुच्छा च निज्जरो ।

कटं तिथ्यं च गुप्फं च, निज्जरो निज्जरो तथा ।

आदेशे तु यथा-जकखो, घस्य नास्ति) अल्लो मज्जं च जिम्भलो ।

पट्टो बुद्धो च हन्थो चाऽऽलिद्धो पुप्फं प्रख्यते ।

तैलादौ (१॥८८॥) आकखलं, नक्खा नहा सेवादिषु (१॥९१॥) स्मृतम् ।
कइओ कइओ, समासे वा (२॥९१॥) प्रयुज्यते ।

दीर्घे वा ॥ ९१ ॥

दीर्घाच्चे तु शेषस्य, घकारस्य विभाषया ।

उपरि स्वात् पूर्ववर्णो, दिग्घो दीहो द्वयं यथा ।

न दीर्घानुस्वारात् ॥ ९२ ॥

दीर्घानुस्वाराभ्यां, लाक्षणिकावाक्येणिरूपायाम् ।

शेषस्यादेशस्य च, परस्य द्वित्वं विज्ञानीयान् ॥

लृढो फासो नोसासो-ऽला कणिके यथा-ऽऽस्य-माऽऽसं' स्यात् ।

पार्श्वे पार्श्वं, शीर्षे सीसं द्वेभ्यो भवेद् वेसो ।

वास्यं वासं, प्रेष्यः पेसो, आन्नमिराणत्ती ।

अचमात्यम्-‘आमालं’, आन्ना-आणा, ह्यनुस्वारात्- ।

अस्य-तेसं, चालाक्षणिके संभ्रा तु नन्धायाः ।

विज्ञो कंसाओ चेत्यादि तु नानाविधं लक्ष्यम् ।

र-होः ॥ ९३ ॥

रेफस्यापि हकारस्य न द्वित्वं स्यात् कदाचन ।

रेफो न शिष्यते क्वापि, तस्मादादेश इदयताम् ॥

सुन्दरं वम्हचरं परन्तं शेषस्य इत्येव तु ।

विहलो स्यात्, तथाऽऽदेशस्य रूपं च कदावणो ।

धृष्टशुम्ने णः ॥ ९४ ॥

धृष्टशुम्ने तु न द्वित्वं णस्याऽऽदेशस्य कर्हिचित् ।

धृष्टशुम्णे ततो रूपं, प्राकृते सिद्धिमृच्छति ।

कर्णिकारे वा ॥ ९५ ॥

कर्णिकारे न वा द्वित्वं णस्य शेषस्य, न यथा- ।

कर्णिकारो कर्णिआओ, द्वयं सिद्धिमुपागमत् ।

दप्ते ॥ ९६ ॥

दप्ते शेषस्य न द्वित्वं, दरिओ दप्ते उच्यते ।

समासे वा ॥ ९७ ॥

स्यान् शेषादेशयोर्द्वित्वं, समासे तु विभाषया ।

नङ्गामो नङ्गामो, अशेषादेशयोः क्वचित् ।

स-पिवासो स-पिवासो, अइसण-मऽइसणं ।

तैलादौ ॥ ९८ ॥

तैलादिषु यथालक्ष्यमनादेर्व्यञ्जनस्य तु ।

अन्यानन्त्यस्य वर्णस्य, द्वित्वं स्यादिति संमतम् ।

तेल्लं बहुत्तं मणुक्को, चिट्ठा वेङ्गमिष्यति ।

सोत्तं पेम्मं जुञ्जं स्यादनन्त्यस्य निदर्शनम् ।

आपे तु विस्सोअसिआ, पडिसोओ च भूरिशः ।

तैल-प्रभूत-मणुक्का ऋजु वीमा च यौवनम् ।

स्रोतो विचकिन्नं प्रेम, तैलादिः समुदाहृतः ॥

सेवादौ वा ॥ ९९ ॥

सेवादिषु यथालक्ष्यमनादेर्व्यञ्जनस्य वा ।

अन्यानन्त्यस्य वर्णस्य द्वित्वं स्यादिति कथ्यते ।

सेव्वा सेवा, मेहुं नीरं, नक्खा नहा, निहितो तु ।

निहिओ, वाहितो वाहितो, दइव्वं च दइव्वं स्यात् ॥

माउकं माउअमे-को एओ कोउहल्ल कोउहलं ।

थुल्लो धोरो हुत्तं हुअं मुक्को च मूओ च ॥

वाउल्लो च वाउल्लो, तुण्हको तुण्हओ विकल्पवशात् ।

मुक्को मूओ, खण्णु खण्णु, पिण्णं च थीणं च ॥

द्वित्वमनन्त्यस्य यथा-अम्हकरं तथाऽम्हकरं च ।

सोच्चिअ सोच्चिअ वा स्याद्, रूपं तच्चेअ तच्चेअ ।

सेवा नीडो निहित-मृदुक-व्याकुल स्थूत्र-मूका

एकस्तूष्णीक-चित्र-नख-चेअऽस्मदीयाश्च दैवम् ।

स्यानां हृतो निगदति मुनिः स्थाणु-कौतूहलं च

सेवादौ तद् ग्रहशशिमितं १६ व्याहृतश्चापि शब्दः ।

शाङ्गे डात् पूर्वोऽत् ॥ १०० ॥

शाङ्गे डात् प्रागकारः स्यात्, ‘सारङ्गं’ सिद्धिमश्नुते ।

द्विमा-श्लाघा-रत्नेऽन्यव्यञ्जनात् ॥ १०१ ॥

अन्तिमाद् व्यञ्जनात् प्रागत् च्मा-श्लाघा-रत्न इष्यते ।

द्विमा सलाहा रयणं, सूदमं सुहममाऽऽर्पतः ॥

स्नेहाग्न्योर्वा ॥ १०२ ॥

स्नेहेऽग्नौ यश्च संयोगस्तस्य मध्ये तु वाऽद् भवेत् ।

नेहो सणेहो, अगणी अग्णी रूपं विदुर्बुधाः ।

पुक्के लात् ॥ १०३ ॥

अः स्यात् पुक्के लकारात् प्राक् ‘पलक्खो’ सिद्धिमश्नुते ।

ह-श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् ॥ १०४ ॥

श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्या-ऽहेषु युक्तान्यवर्णतः ।

प्रागिकारो भवेदेषु पदेषु, तल्लक्ष्यतेऽधुना ।

सिरि हिरि, च कसिणो किरिआ दिठ्ठिआऽरिदा,

‘हयं नाणं क्रिया-हीणं’ इत्यापे क्वचिदिष्यते ।

श-प-तप्त-वज्रे वा ॥ १०५ ॥

तप्त-वज्र-श-प-वज्रे संयुक्तस्यान्यवर्णतः ।

प्रागिकारो विकल्पेन, भवेदित्युपदिश्यते ॥

(श) आयरिसो आयंसो, सुदरिसणो वा सुदंसणो, (प) वासा ।

वरिसा, वासं वरिसं, वरिस-सयं वाससयमिति च ॥

नित्यं क्वचिद् व्यवस्थित-विनापया दृश्यते-ऽपरिसो ।

हरिसो च परामरिसो, तविश्रो तत्तो, वइर वज्जं ॥

लात् ॥ १०६ ॥

संयुक्तस्य तु लादन्य-व्यञ्जनात् प्रागिकारता ।
किलिञ्चं च किलिणो च, कच्चिञ्च स्यात्-कमो पवो ॥

स्याद्-जव्य-चैत्य-चौर्यसमेपु यात् ॥ १०७ ॥

स्यादादिषु चौर्यशब्द-तुल्येषु निन्देषु च ।
संयुक्तस्य यकारात् प्रागिदादेशो विधीयते ॥
सिञ्चा यथा-सिञ्चावाश्रो, भविञ्चो चेइञ्चं तथा ।
(चौर्यसमाः) चोरिञ्चं धेरिञ्चं गम्भीरिञ्चं सोरिञ्चं वीरिञ्चं ॥

स्वप्ने नात् ॥ १०८ ॥

स्वप्नशब्दे नकारात् प्रागिकारः, सिविणो यथा ।

सिग्धे वाऽदितौ ॥ १०९ ॥

स्निग्धशब्दे नकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
सणिञ्चं च सिणिञ्चं च, पक्के निञ्चं निगद्यते ॥

कृष्णे वर्णे वा ॥ ११० ॥

वर्णे कृष्णे णकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
कसणो कसिणो कण्हो, विण्णो कण्हो प्रयुज्यते ॥

उच्चार्यति ॥ १११ ॥

अर्हत्-शब्दे हकारात् प्राग्, अदितौ स्तो भवन्ति च ।
अरहो अरिहो रूप-मरहो चेति सिध्यति ॥
अरहन्तो अरिहन्तो, अरुहन्तो च पठ्यते ।

पद्म-द्वय-मूर्ख-द्वारे वा ॥ ११२ ॥

पद्मे छुञ्चे च मूर्खे च द्वारे युक्तान्यवर्णतः ।
प्रागुद् वा, पञ्चमं पोम्मं, छम्मं च ङउमं तथा ॥
मूर्खो मुरुक्खो मुक्खो वा, दुवारं द्वारमुच्यते ।
पद्मे वारं च देरं च दारं चेति त्रयं स्मृतम् ॥

तन्वीतुल्येषु ॥ ११३ ॥

उदन्ता ङीप्रत्ययान्ताः, शब्दास्तन्वीसमाः स्मृताः ।
संयुक्तस्यान्यवर्णात् प्राग्, उकारस्तेषु पठ्यते ॥
तण्णवी लहुवी गरुवी, कच्चिदन्यत्रापि दृश्यते च यथा ।
सुप्पं जवति सुरग्घं, आर्पे-सुद्धं तु सुहुमं स्यात् ।

एकस्वरे इवः स्वे ॥ ११४ ॥

एकस्वरे पदे यौ श्वस्-स्व इत्येतौ तयोरिदं ।
वकारात् प्राग्, उकारः स्यात्, श्वः कृतं तु-‘सुवे कयं’ ।
‘सुवे जणा स्वे जनास्तु, कुत ‘एकस्वरे’ इति ? ।
स्वजनः-‘सयणो’ नात्र, यतोऽनेकस्वरे स्थितः ॥

ज्यायामीत् ॥ ११५ ॥

ज्या-शब्दे तु यकारात् प्राग्, ईत् स्यात् ‘जीआ’ ततो भवेत् ।

करेणू-वाराणस्याः र-णोर्व्यत्ययः ॥ ११६ ॥

वाराणस्यां करेणवां च, र-णयोर्व्यत्ययो ज्ञेयः ।
वाणारसी, कणेरु, स्त्री-निर्देशात् पुंसि नेष्यते ।

आलाने लनोः ॥ ११७ ॥

ल-नयोर्व्यत्ययादाला-नमाऽऽलानो प्रयुज्यते ।

अचलपुरे चलोः ॥ ११८ ॥

अचलपुरे तु शब्दे, च-लयोः स्थानभेदतः ।
प्रयुज्यतेऽत्रचपुरं युधैः प्राकृतवेदिभिः ।

महाराष्ट्रे हरोः ॥ ११९ ॥

‘मरहट्टं’ महाराष्ट्रे हरयोर्व्यत्ययाद् भवेत् ।

हृदे हृदोः ॥ १२० ॥

हृद-शब्दे ह-दयोर्व्यत्ययेन रूपं हृदो भवत्यत्र ।
‘हरण मह पुणरिण’ इत्यार्षे दृश्यते तत्तु ।

हरिताले र-लोर्नवा ॥ १२१ ॥

र-लयोर्व्यत्ययः कार्यो, हरिताले विकल्पनात् ।
सिद्धं ततो ‘हरिआलो, हलिआरो’ इति द्वयम् ।

लघुके व्रहोः ॥ १२२ ॥

लघुके घस्य इत्ये वा लहयोर्व्यत्ययः स्मृतः ।
हलुञ्चं लहुञ्चं, घस्य व्यत्यये न तु हो भवेत् [१] ॥

ललाटे ल-लोः ॥ १२३ ॥

ललाट-शब्दे लडयोर्व्यत्ययो वा विधीयते ।
णमालं च णलामं च, ललाटे चेति [१.२५७] लस्य णः [२] ।

ह्ये ह्योः ॥ १२४ ॥

ह्य-शब्दे ह-ययोर्वा स्यात् व्यत्ययः सद्य-गुह्ययोः ।
सयहो सज्जो, तथा गुह्यं गुज्जं, रूपे इमे मते ।

स्तोकस्य थोक्क-थोव-थेवाः ॥ १२५ ॥

थोक्क-थोव-थेवा वा स्युः, स्तोकाशब्दे त्रयः क्रमात् ।
थोक्कं थोवं च थेवं च, पक्के थोञ्चं विधीयते ।

दुहितु-जगिन्योर्धूआ-वहिण्यौ ॥ १२६ ॥

वा भवेद् दुहितुर्धूआ, जगिन्या वहिणी तथा ।
वहिणी भइणी, धूआ दुहिआ च विभाष्यते ॥

वृक्क-क्षिप्तयोः रुक्ख-छूढौ ॥ १२७ ॥

वृक्क-क्षिप्तशब्दयो-र्यथाक्रमं ‘रुक्ख’ ‘छूढ’ इति वा स्तः ।
रुक्खो वच्छो, छूढं खित्तं, उच्छूढमुक्खित्तं ॥

वनिताया विलया ॥ १२८ ॥

वनिताया विलया वा, विलया वणिआ ततः ।

गौणस्येपतः कूरः ॥ १२९ ॥

ईषच्छब्दस्य गौणस्य, कूरादेशो विजापया ।
विचव्व कूर-पिकेति, पक्के स्याद् ‘ईसि’ निर्वृतम् ॥

स्त्रिया इत्थी ॥ १३० ॥

स्त्री-शब्दस्य भवेदित्थी वा, ‘इत्थी थी’ प्रयुज्यते ।

धृतेर्दिहिः ॥ १३१ ॥

धृतेर्वा दिहिरादेश-स्ततः स्यातां दिही धिई ।

मार्जारस्य मज्जर-वज्जरौ ॥ १३२ ॥

मार्जारस्य विकल्पेन स्यातां मज्जर-वज्जरौ ।
मज्जरो वज्जरो, पक्के मज्जारो चाऽभिधीयते ।

वैडूर्यस्य वेरुलिञ्चं ॥ १३३ ॥

वेरुलिञ्चं इत्यादेशो, वा वैडूर्यस्य स्यात् ततः ।
वेरुलिञ्चं वेरुज्जं च, द्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

[१] घस्य व्यत्यये कृते पदादित्वाद् हो न प्राप्नोतीति एकरणम् । [२] “ललाटे च” [१.२५७] इति आदेशस्य ण-विधानादिह द्वितीयो लः स्थाने ।

एहिह एत्ताहे इदानीमः ॥ १३४ ॥

इदानीमो भवेद् एहिह, एत्ताहे च विकल्पनात् ।
इआणि एहिहम् एत्ताहे, त्रयं चैतत् प्ररूपितम् ।

पूर्वस्य पुरिमः ॥ १३५ ॥

पूर्वस्य पुरिमो वा स्यात्, पूर्व च पुरिमं तथा ।

त्रस्तस्य हित्य-तटौ ॥ १३६ ॥

प्रस्त-शब्दस्य वा स्यातां, हिट्-तटौ विकल्पनात् ।

हित्यं तटं च तथं च, त्रयं सिद्धिं समश्नुते ॥

बृहस्पतौ बहो जयः ॥ १३७ ॥

बृहस्पतौ बहस्य वा भयो निगद्यते पदे ।

भयस्सर्ज जयस्सर्ज भयस्सर्ज ततो भवेत् ।

बहस्सर्ज बहस्सर्ज बहस्सर्ज च पाङ्क्तिम् ।

इदुश्च यत्र 'वा बृहस्पतौ' (१ । १३८) इति प्रदर्शितौ ।

विहस्सर्ज विहस्सर्ज विहस्सर्ज बृहस्सर्ज ।

बृहस्सर्ज बृहस्सर्ज च तत्र यान्ति सिद्धिताम् ।

मञ्जिनोनय-शुक्ति-कुम्भाऽऽरब्ध-पदातेर्मङ्गलावह-

मिषि-त्रिका-दत्त पाङ्क्तिं ॥ १३८ ॥

मञ्जिनादेर्मङ्गलादिरादेशो वा विधीयते ।

मलिनं-मञ्जिनं मङ्गलं, उभयं-अवहं च अवहमिति केचित् ।

शुक्तिः-सिषी सुत्ती, कुम्भः-त्रिका च कुम्भो च ॥

आरब्धश्चादत्तो आरब्धो वा, पदातिरिति तु पदम् ।

पाङ्क्तौ च पयाई, 'उभयोक्तौ' जवेदायै ।

दंष्ट्राया दाहा ॥ १३९ ॥

दंष्ट्रा-शब्दस्य दाहा स्यात्, संस्मृतेऽप्ययमिष्यते ।

बहिषो बाहि-बाहिरौ ॥ १४० ॥

'बाहि बाहिरमित्येतौ' स्थाने द्वौ बहिषो मतौ ।

अधसो देहं ॥ १४१ ॥

देह इत्ययमादेशोऽधसो, हेतुमतो भवेत् ।

मातु-पितुः स्वसुः सिआ-गौ ॥ १४२ ॥

मातुः पितुः परः स्वसु-शब्दः, तस्य सिआ च छा ।

स्याद् माउच्छा माउसिआ, पिउच्छा च पि (उ) ऊसिया ।

निर्यचस्तिरिच्छः ॥ १४३ ॥

निरिच्छस्तिर्यचः स्थान आदेशो विनिगद्यते ।

'निरिच्छि पेच्छ' आये-तिरिआ' ऽपि प्रयुज्यते ॥

गृहस्य परोऽपतौ ॥ १४४ ॥

गृहस्य घर आदेशः, पतिशब्दः परो न चेत् ।

घर-सामी, राय-घरं पयौ-गदवहं पुनः ॥

शीलायर्थस्यैरः ॥ १४५ ॥

शील-धर्म-साध्वर्थे यो, विहितः प्रत्ययो भवेत् ।

हर इत्ययमादेशः, तस्य स्थाने विधीयते ॥

हासशीलस्तु-हासिरो, रोविरो लजिरो तथा ।

जस्मिरो वेविरो ऊस-सिरो च जमिरो ऽपि च ॥

तून एव इरं केचिदिच्छन्ति, नमिराऽऽदयः ।

तेषां मने न सिध्यति, तूनां बाधाऽत्र रादिना ॥

क्त्वस्तुपत्तुण-तुआणाः ॥ १४६ ॥

'तुम-अन्-तुण-तुआणाः' स्युः, स्थाने क्त्वाप्रत्ययस्य तु ।

(तुम) मोत्तुं (अत्) प्रमिअ (तूण) काऊण,
कट्टा-ऽऽपे (तुआण) नेत्तुआण च ।

इदमर्थस्य केरः ॥ १४७ ॥

प्रत्ययस्येदमर्थस्य, 'केर' आदेश इष्यते ।

तुम्हकेरो अम्हकेरो, युष्मदीयाऽस्मदीययोः ।

न स्यात् 'मर्भ-पक्खे' तु 'पाणिणीया' इहापि च ।

पर-राजज्यां क-मिकौ च ॥ १४८ ॥

प्रत्ययः पर-राजज्या-मिदमर्थः परोऽस्तु यः ।

तस्य स्थाने भवेतां तु, क-डिकौ केर इत्यपि ॥

परकीयं तु पारकं, पारकं पारकेरअं ।

राजकीयं तु राहकं रायकेरं च पठ्यते ।

युष्मदस्मदोऽव एवयः ॥ १४९ ॥

यः परो युष्मदस्मदज्यां प्रत्ययोऽऽदमर्थकः ।

एचचयस्तस्य, युष्माकमिदं यौष्माकमित्यदः ।

तुम्हेचचयं स्याद्, आस्माकं जयेदम्हेचयं तथा ।

वतेर्व्वः ॥ १५० ॥

प्रत्ययस्य वतेर्व्वः स्याद्, 'मुहुर्व्व' निदर्शयते ।

सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ १५१ ॥

सर्वाङ्गात् 'सर्वादेः पथ्यङ्के-[हैम० १।१] त्यादिना य ईनऽस्ति ।

तस्येकः स्यात्, सर्वा-ङ्गीणः-सर्व्वङ्गीणो गदितः ।

पथो णस्येकद् ॥ १५२ ॥

"नित्यं णः पन्थअ" [है० ६।४] सूत्रेणेतेन यः पथो णः स्यात् ।

तस्येकद् करणीयः, पन्थः पहिआ ततो भवति ।

ईयस्यात्मनो णयः ॥ १५३ ॥

आत्मनः पर ईयो यो, एवादेशोऽस्तु तस्य तु ।

आत्मीयं पठ्यते तेन, बुधैरऽप्यणयं पदम् ।

त्वस्य डिमा-त्तणौ वा ॥ १५४ ॥

त्व-प्रत्ययस्य वा स्यातां 'दिमा' 'त्तण' इमौ क्रमात् ।

पीणिमा पुप्फिमा, पीणत्तणं पुप्फत्तणं तथा ।

पक्के पीणत्तं पुप्फत्तं, एवमन्यन्निदर्शनम् ।

इहः पृथ्यादि-शब्देषु नियतत्वादयं विधिः ।

तदन्यप्रत्ययान्तेषु साम्प्रतं तु विधीयते ।

पीनता 'पीण्या' चेहाऽन्यभाषायां तु-पीणदा' ।

तेनेद् 'दा' तत्रः स्थाने, आदेशो न विधीयते ।

अनङ्गोठात् तैलस्य केद्वः ॥ १५५ ॥

अङ्गोठवर्जितात् शब्दात्, 'केद्वः' तैलस्य कथ्यते ।

कसुपल्लं, न चाऽङ्गोष्ठतेल्लमत्र प्रवर्तते ।

यत्तदेतदेतोरित्तिअ एतल्लक् च ॥ १५६ ॥

इत्तिओ यत्तदेतद्व्यः स्याद् रावादेरतेरिद ।

परिमाणार्थकस्याऽऽदेशो, लुक् स्यादेतदोऽपि च ।

एतावत् इत्तिअं, तावद् यावत् तित्तिअ जित्तिअं ।

इदंकिमश्च केत्तिअ-डेत्तिल-देदहाः ॥ १५७ ॥

शब्दज्या यत्तदेतद्व्यः किमिद्व्यं च यः परः ।

अतुर्वा रुवतुर्वा स्यात् तस्य स्थाने कित्तयः ।

डेदहो केत्तिओ डेत्तिलो, भवेदेतद्व्यं लुक् ।

एत्तिअं एत्तिलं एदहं स्याद्वियत् ।

केत्तिअं केत्तिअं केदहं स्यात् कियत् ।

जेत्तिअं जेत्तिलं जेदहं यावतः ।

तेस्तिअं तेस्तिअं तेहं तावतः ।

पस्तिअं पस्तिअं एधमेतावतः ।

पहं, चेदं सूरिजिर्वाहृतम् ॥

कृत्वसो हुत्तं ॥ १५८ ॥

“वारं कृत्वस्” [हेम०७१२] हि सूत्रेण यः कृत्वस्प्रत्ययः कृतः ।

तस्य स्थाने भवेद् ‘हुत्तं’ ‘स्यहुत्तं’ निदर्शनम् ।

कथं प्रियाजिमुखं तु ‘पियहुत्तं’ प्रयुज्यते ? ।

हुत्तेनाभिमुखार्थेन रूपसिद्धिर्निविध्यति ।

आदिवल्लोद्वाला-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥ १५९ ॥

आलुर्, इल्लो, मणो, वन्त-आल-उल्ल-इरः, तथा ।

इत्तो, मन्तो, यथालक्ष्यं, नवाऽऽदेशा मतोः स्मृताः ।

(आलु) नेहालू च दयालू (इल्ल) सोहिल्लो भवति जामइल्लो च ।

(उल्ल) मंसुल्लो दप्पुल्लो (आल) तथा जमालो च सहालो ॥

(वन्त) धणवन्त-भत्तिवन्तो (मन्त) हणुमन्तो भवति पुष्पमन्तो च ।

(इत्त) कव्वइत्तो माणइत्तो (इर) गव्विरो रेदिरो भवेत् ।

(मण) स्याद् ‘धणमणो,’ केषांचिद्, मादेशाद् हणुमा मतः ॥ [१]

तो दो तसो वा ॥ १६० ॥

प्रत्ययस्य तसः स्थाने ‘तो’ ‘दो’ वा भवतो, यथा ।

सव्वत्तो सव्वदो, पक्के भवेद् रूपं तु सव्वओ ।

त्रपो हि-ह-त्याः ॥ १६१ ॥

प्रत्ययस्य त्रपः स्थाने हि-ह-त्याः स्युरिमे त्रयः ।

निदर्शनं यत्र-तत्र-कुत्राणामिह दृश्यताम् ।

जहि वा जह वा जत्थ, तत्थ वा तहि वा तह ।

कहि वा कह वा कत्था-ऽछत्थ वाऽजहि वाऽअह ।

वैकादः सि सिअं इआ ॥ १६२ ॥

एक-शब्दात् परो यो दा-प्रत्ययस्तस्य वा त्रयः ।

‘इआ सिअं सि’ इत्येते, आदेशाः स्युर्यथाक्रमम् ॥

स्यादेकदा ‘एकसिअं,’ तथा ‘एकसिआ’ऽपरम् ।

‘एकसि’ त्रितयं चैतत्, पक्षे स्याद् ‘एगया’ पदम् । [२]

निह-डुल्लो नवे ॥ १६३ ॥

नासः परी डिह-कुल्लो, भवेऽर्थे प्रत्ययौ नितौ ।

गामल्लिआ, उशान्त्यन्ये, आत्वात्तौ [२१५६] प्रत्ययावपि । [३]

स्वार्थे कश्च वा ॥ १६४ ॥

स्वार्थे को डिह-कुल्लो च, नितौ वा प्रत्ययास्तयः ।

चन्द्रओ इहयं, क्वापि द्वित्वं-‘ बहुअयं ’ यथा ।

ककारोच्चारणं पैशाचिकभाषार्थमिष्यते ।

यथा वतनकं, इह इतोऽग्रे लक्ष्यते स्फुटम् ।

पुरा पुरो वा ‘पुरिल्लो’ ‘पल्लविल्लेण’ इत्यपि ।

उल्लः-पिउल्लओ इत्थुल्लो मुहुल्लं त्रयं मतम् ।

पक्षे-चन्द्रा इह बहु बहुअं मुहमित्यपि ।

स्यात् कुत्सादिविशिष्टे तु ‘कप्’ संस्कृतवेदेव च ।

यावद्विषयः कस्तु, नियतस्थान इत्येते ।

द्वौ नवैकाद्वा ॥ १६५ ॥

नवादेकाश्च वा स्वार्थे संयुक्ता ‘द्वौ’ प्रवर्तते ।

ततो नवल्लो एकल्लो, एओ एको नवोऽपि वा ।

सेवादित्वात् (२१६६) कस्य द्वित्वे ‘एकल्लो’ सिद्धिमृच्छति ।

[१] मतोरिति किम् ? धणी, अत्थिओ । [२] एकइआ ।

[३] पुरिल्लं, हेडिल्लं, उवरिल्ल, अप्पुल्लं ।

उपरेः संव्याने ॥ १६६ ॥

संव्यानेऽर्थे स्थितात् स्वार्थे द्वौ भवेद् उपरिह ।

‘अवरिल्लो’ ‘उवरि’ रूपमसंव्याने प्रतिष्ठितम् ।

भुवो मया नमया ॥ १६७ ॥

स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्यातां, भ्रूशब्दाद् डमया मया ।

भुमया भमया चमौ, शब्दैः सिद्धिमवाप्नुतः ।

शनैसो मिअम् ॥ १६८ ॥

शनैश्शब्दाद् भवेत् स्वार्थे, डिअम् तु ‘सणिअं’ यथा ।

मनाको नवा डयं च ॥ १६९ ॥

डयम् मिअम् च वा स्वार्थे, मनाकशब्दादिमौ यथा ।

मणयं मणिअं पक्के ‘मणा’ इत्यपि सिध्यति ।

मिश्राद्वालिअः ॥ १७० ॥

मिश्र-शब्दात् तु वा स्वार्थे, ‘मात्रिअः’ प्रत्ययो भवेत् ।

मीसादिअं तथा पक्के, ‘मीसं’ इत्यपि दृश्यते ।

रो दीर्घात् ॥ १७१ ॥

स्वार्थे दीर्घात् परो वा रः, दीहरं दीहमित्यपि ।

त्वादेः सः ॥ १७२ ॥

‘भावे त्वतद्’ (हेम०७११) हि सूत्रेण, यः त्वाऽऽदिर्विहितस्ततः ।

स्वार्थे स एव त्वादिर्वा, भवेदित्युपदिश्यते ।

मृडुकत्वेन ‘मउअत्तयाइ’ अनुवाद्यते ।

स्यात् कणिट्टयरो जिट्टयरो रूपं पृथग्विधम् ।

विद्युत्पत्र-पीतान्धाद्व्यः ॥ १७३ ॥

वा विद्युत्पत्रपीतान्धशब्दभ्यः स्वार्थिकोऽस्तु लः ।

विज्जुला पत्तलं अन्धद्वौ च पीवल पीअलं ।

पक्षे विज्जू च पत्तं च पीअं ‘अन्धो’ चतुष्टयम् ।

यमलस्य संस्कृतस्य ‘जमअं’ रूपमिष्यते ।

गोणादयः ॥ १७४ ॥

गोणादयो निपात्यन्ते, बहुलं लक्ष्यदर्शनात् ।

गोणो गावी च गौर्वाच्या, गावीओ गाव उच्यते ।

बइल्लो तु वल्लोवर्द्धः, आळ आप इतीरितः ।

‘पञ्चावष्ठा पणपञ्चा’ पञ्चपञ्चाशदित्येते ।

तेवष्ठा तु त्रिपञ्चाशत्, तेआलीसा त्रिवेदमित् * ।

विउसगो तु व्युत्सर्गः, वोसिरणं व्युत्सर्जनम् ।

‘बहिद्धा’ इत्ययं शब्दो बहिर्वा मैथुनार्थकः । [१]

‘णामुक्कसिअम्’-इत्येतत् कार्यं, कथं तु कचित् ।

मुव्वहइ उव्वहति, अपस्मारस्तु वम्वहो ।

कन्दुइ उत्पन्नं, धिक्धिक् गिळि णिळि च पठ्यते ।

‘धिगस्तु’ वाक्यमित्येतद् धिरत्थु प्रतिभण्यते ।

पणिसिद्धी पाडिसिद्धी, प्रतिस्पर्धाऽभिधीयते ।

चच्चिकं स्थासकः, सात्ती सक्खिणो, जन्म जम्मणं ।

निहेवणं तु निलयः, मघोणो मघवानिति ।

महान् महन्तो, आसीसा आशीरिति, भवान् पुनः ।

भवन्तो कुत्तचित् स्यातां इकारस्य दुभौ, यथा ।

वृहत्तरं वड्डयरं, स्याद् हिमोरो भिमोरो ।

ल्लस्य द्वौ दृश्यते क्वापि, कुल्लकः खुड्डो यथा ।

‘घायणो’ गायनो, ऽकारडम्-‘अत्थक्कं’ च, वड्डो ‘वड्डो’ ।

लज्जावती च लज्जालुङ्गी ककुदमित्यपि ।

* त्रिचत्वारिंशदित्यर्थः । [१] बहिस्तादयवा मैथुनम् ।

ककुप, ककुमित्येतत् कुतूहलपदस्य तु ।
 चूतो भवति मायदा, 'आगया' - असुराः तथा ।
 माकन्दः संसृतेऽपि स्यात्, भट्टिभो विष्णुरुच्यते ।
 इमशानं करली, खलं वेष्टुं, खलं दिनं तथा ।
 पौष्पं रजस्तु 'तिङ्गिच्छि', समर्थः पक्कलो, बली ।
 उज्जलो, पणको णलच्छो, शाखा साहुली मता ।
 कर्पासः पहली, ताम्बूलं मनं ऊसुरं इह ।
 पुंश्चली छिडई, चैवं सति वृक्ष्याणि भूरिशः ।
 वाऽधिकारात् पक्केऽथ यथादर्शनमिष्यते ।
 तेन गौः - 'गड्ढो' ईदृशं चापि प्रयुज्यते ।
 गोला गोआवरी चेमौ, गोला-गोदावरी-भवौ ।
 भाषाशब्दाश्च सन्तीह बहवस्तान् प्रवीर्यहम् ।
 आदिभ्यो लङ्गकको, विडिर-पञ्चडिओ च उज्जलो ।
 उप्पेहम्-विहम्पफम्-मम्पफरो अट्टमट्टो च ।
 पड्डिच्छिर-ढल्लफ्फन ज्ञयाथा भूरिशाऽभिधाशब्दाः [१] ।
 अचयासइ कुम्फुल्लव, उप्फावेई क्रियाशब्दाः ।
 अत एव कुष्ट-वृष्ट-वाक्य-विह्वलचेतसाम् ।
 वाचस्पति-प्रोक्त-प्रोत-विष्टरश्रवसां तथा ।
 अग्निचित्-सोमसुत्-सुगल-सुम्मादीनां च ज्ञेयसाम् ।
 क्रियादिप्रत्ययान्तानामनुक्तानां तु सूरिभिः ।
 प्रतीतिवैषम्यपरः, प्रयोगो न विधीयते ।
 किंतु शब्दान्तरैरेव, तदर्थोऽत्राऽभिधीयते ।
 वाचस्पतिगुम्, कुष्टः कुशलो, विष्टरश्रवाः ।
 हरिरित्यादिवद् द्वेभ्यो, भवेत् पर्यायसंज्ञकः ।
 सोपलगंस्य वृष्टस्य, प्रयोगः क्रियते युवैः ।
 परिघट्टं निहटं चेत्येवमादि निदर्शनम् ।
 अपि यथादर्शनं तु, न विरुद्धं किमप्यतः ।
 'यद्या मद्या विडता, ' तथैव 'सुअ-लक्षणाणुसारेण' ।
 'वक्कन्तरेसु अ पुणो, ' इत्याद्यापि विज्ञानीयान् ।

अव्ययम् ॥ १७५ ॥

अव्ययमिन्विधिकार आपादपरिपूर्णात् ।
 इतः परं ये वक्ष्यन्ते, ते सर्वेऽप्यव्ययभिधाः ।

तं वाक्योपन्यासे ॥ १७६ ॥

तमिति वाक्योपन्यासे, प्रयोक्तव्यं यथाविधि ।
 'तं तिअस-वन्दिमोक्खं' एवं सर्वत्र बुध्यताम् ।

आम अज्युपगमे ॥ १७७ ॥

आम-शब्दोऽज्युपगमे, वाच्ये साधु प्रयुज्यताम् ।
 तद्यथा- 'आम वहला वणोली' ईदृगुच्यते ।

णवि वैपरित्ये ॥ १७८ ॥

णवीति वैपरित्ये स्यात्, तथाहि- 'णवि हा वणे' ।

पुणरुक्तं कृतकरणे ॥ १७९ ॥

'पुणरुक्तम्' इतिशब्दः, कृतकरणेऽर्थे प्रयुज्यते हि, यथा-
 'अइ सुप्पइ पंमुलि ! गोसहेहि अइहि पुणरुक्तं' ॥ [७]

हन्दि विपाद-विकल्प-पश्चात्ताप-निश्चय-मन्ये ॥ १८० ॥

विपादे निश्चये सत्ये, पश्चात्तापे विकल्पने ।

[१] इत्यादयो महाराष्ट्रविदनादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽव-
 गन्तव्याः । [२] हे पांसुले ! त्वं निःसहैरङ्गः पुनरुक्तं [वारं
 वारं] स्वपिपि ।

'हन्दि' शब्दः प्रयुज्येत, वक्ष्यमेतद् निशम्यताम् ।

"हन्दि चलणे णओ सो, ण माणिओ हन्दि हुज्ज एत्ताहे
 हन्दि ण होही भणिरी, सा खिज्जइ हन्दि तुह कज्जे" । [१]

हन्द च गृहाणार्थे ॥ १८१ ॥

'हन्द' 'हन्दि' इमौ शब्दौ गृहाणार्थस्य वाचकौ ।

यथा- 'हन्द पलोएसु इमं' हन्दि गृहाण च ।

मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ॥ १८२ ॥

'मिव-पिव-विअ-विव-व-व्वा' अमी इवार्थे च वा प्रयुज्यन्ते ।

कुसुमं मिव, हंसो विव, कमलं विअ, चन्दणं पिव च ।

ससस्स व निम्माओ, खोरोओ सायरो व्व, पक्के तु ।

नीलुप्पलमात्रा इव, दिशाऽनया त्यन्यदपि बोध्यम् ।

जेण तेण लक्षणे ॥ १८३ ॥

जेण तेण इत्येतौ, सदा लक्षणे युधैः प्रयोक्तव्यौ ।

जेण जमरुअं कमलं, 'भमरुअं तेण कमलवणं' ।

एण चेअ चिअ च अवधारणे ॥ १८४ ॥

'एण चेअ च चिअ' इमे-उपधारणेऽर्थे यथा- 'गईए एण' ।

जं चेअ मउलणं ओ-अणाण, ते चेअ सप्पुरिसा ॥

अणुवणं तं चिअ का-मिणीण, सेवादित्थेनाद् द्वित्वे ।

'ते चिअ धन्ना' इत्यपि, स च य रुवेण, स च सीत्तेन ।

वत्ते निर्धारण-निश्चययोः ॥ १८५ ॥

निर्धारणे निश्चये, 'वत्ते' इतीदं, यथा- 'वत्ते सीहो' । [२]

अथि वत्ते सप्पुरिसो, धणंजओ खत्तिआणं तु । [३]

किरेर हिर किलार्थे वा ॥ १८६ ॥

'किर इर हिर' इत्येते, त्रयः किलार्थे हि ता प्रयुज्यन्ते ।

एते सोदाहरणाः, कथ्यन्ते तेऽवगन्तव्याः ।

'कल्लं किर खर-दिअओ' 'एवंकिल तेण सिविणए जणिआ' ।

'तरुस इर,' 'पिअ-वयंसो हिर' किल-शब्दोऽपि वा वाच्यः ।

णवरं केवले ॥ १८७ ॥

णवरं तु केवलार्थे, 'णवरं' 'नवरं' च कुत्रचिद् दृष्टम् ।

'णवरं पिआइ चिअ णि-व्वडन्ति' चैवं प्रयोक्तव्यम् ।

आनन्तर्ये णवरि ॥ १८८ ॥

आनन्तर्ये 'णवरि' प्रयुज्यते, तन्निदर्शनं चैतत् ।

'णवरि अ से रहु-वइणा,' 'णवरणवरि' सूत्रमेकेषाम् । [४]

अत्राहि निवारणे ॥ १८९ ॥

अर्थे निवारणे 'अत्राहि,' सुधीभिः समुदीरितम् ।

अत्राहि किं वाइण, वेहेणेति निदर्श्यते ।

अण णाई नवर्थे ॥ १९० ॥

'अण, णाई' इत्येतौ, युधैर्नओऽर्थे परं प्रयुज्यते ॥

अणचिन्तिअममुणन्ती, 'णाई रोसं करेमि' यथा ।

माई माऽर्थे ॥ १९१ ॥

'माई रोसं तु काहीअ,' अत्र माई तु माऽर्थकः ।

[१] हन्दि [विपादे] चरणे नतः सः, न मानितो हन्दि [वि-
 कल्पे] भविष्यति इदानीम् (नवा) । हन्दि [पश्चात्तापे] न ज-
 विष्यति भणिरी [जगनशर्मा] सा खिद्यते हन्दि [सत्यम्] तव
 कार्यं । [२] निश्चये-सिंह एवायम् । [३] निर्धारणे । [४]
 केचित्तु केवलान्तर्याययोः 'णवर-णवरि' इत्येकमेव सूत्रं कुर्व-
 ते, तन्मतं उभावप्युभयार्थौ ।

हृष्टी निर्वेदे ॥ १९२ ॥

‘हृष्टी’ इति निर्वेदे, हाधिक-शब्दस्य भवति वाऽऽदेशः ।
तस्माद् ‘हृष्टी हृष्टी’ तथा च ‘हा धाह धाह’ इति ।

वेवे भय-वारण-विपादे ॥ १९३ ॥

भय-वारण-विपादेषु, ‘वेवे’ इत्यभिधीयते ।
‘वेवे’ च भयं वेवे, च वारणे जुरणे अ वेवे चि ।
उल्लासिगी इति तुहं, वेवे चि मयच्छि ! किं गुणं ? ॥
किं उल्लासिगी उत्र जूरन्ती किं तु जीआए ।
उल्लासिगी वेवे चि तीर्णे भणिअं न विमहरिमी” [१] ॥

वेव च आमन्त्रणे ॥ १९४ ॥

वेवे वेव च आमन्त्रणे, यथा-भवति ‘वेव गोलं’ वा ।
‘वेवे’ मुरन्द्रे वह-सि पाणिअं चेदं वाक्यम् ।

मामि हला हले सख्या वा ॥ १९५ ॥

‘हला मामि, हले’ चेत सख्या आमन्त्रणे तु वा ।
पणवह माणस्स हला, ‘मामि’ हु सरिसखराण, ‘वि’ च कथितम् ।
‘हले’ हयासस्स’ तथा, पक्के-‘सहि’ परिसि चिअ गई’ तु ।

दे संमुखीकरणे च ॥ १९६ ॥

‘दे’ तु संमुखीकरणे, सख्या आमन्त्रणे च वक्तव्यम् ।
‘दे’ पसिअ ताव सुन्दरि’ ! ‘दे’ आ खु पसिअ निअत्तसु च ॥

हुं दान-पृच्छा-निवारणे ॥ १९७ ॥

स्याद् ‘हुं’ निवारणे दाने, पृच्छायां चापि, तद्यथा-
‘अप्पणो चिअ हुं गेगह’ ‘हुं’ निर्लज्ज ! लोमोसर ।
‘हुं’ च साहसु सज्जाव, एवमादि निदर्शनम् ।

हु खु निश्चय-वितर्क-संभावन-विस्मये ॥ १९८ ॥

‘हु’ ‘खु’ निश्चय-संभावन-वितर्क-विस्मय-पदेषु वक्तव्यौ ।
‘निश्चये’ ‘तं पि हु अचिअसिरी’, ‘तं खु सिरीए रहस्सं च’ ।
ऊहसंशयौ द्वावपि, वितर्क-वाच्यौ (ऊहे) हसइ खु एअं सा ।
‘न हु एवरं संगहिआ’ (संशये) खु जलहरो धूमवडलो खु ॥
(संभावने) ‘एअं खु हसइ’ इत्यपि, एवर इमंण हु तरीअं च ।
(विस्मये) को खु सहस्ससिरी, हुनाऽनुस्वारात् परो वाच्यः ।

ऊ गर्हाऽऽक्षेप-विस्मय-सूचने ॥ १९९ ॥

‘ऊ’ गर्हा-विस्मयाऽऽक्षेप-सूचनेषु प्रयुज्यते ।
(गर्हा) ‘ऊ णिललज्ज’ (सूचने) ‘ऊ केण, न विण्णायं गुणं तुह’ ।
(आक्षेपे) ‘ऊ गए भणिअं किं खु’ (विस्मये) ‘ऊ मुणिआहयं कह’ ।
आक्षेपः सोऽत्र, वाक्यस्य यद् विपर्यासवारणम् ।

थू कुत्सायाम् ॥ २०० ॥

कुत्सायां थू, यथा-‘लोओ निव्वज्जो थू’ प्रयुज्यते ।

रे अरे संभाषण-रतिकलहे ॥ २०१ ॥

संभाषणे तु ‘रे’ स्यात्, रतिकलहे संप्रयुज्यते च ‘अरे’ ।
रे हिअय ! मडह-सरिआ, ‘अरे’ मए मा करेसु उवहासं ।

हरे क्षेपे च ॥ २०२ ॥

[१] वेवे इति भये वेवे इति वारणे जुरणे [खेदे] च वेवे इति । उल्लासयन्त्या अपि (मया) तव वेवे इति मृगाकि ! किं ज्ञेयम् । किं उल्लासयन्त्या उत जूरन्त्या किं तु भीतया । उद्व-
टन्त्या (निपेधं कुर्वत्या) वेवे इति तया ज्ञातं न विस्मयः ।

क्षेपे रतिकलहे संभाषणविषये च कथ्यते तु ‘हरे’ ।
(क्षेपे) हरे णिव्वज्ज ! (रतिकलहे) हरे बहु-
बल्लह ! दुज्जण ! (संभाषणे) हरे पुरिसा ! ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ २०३ ॥

सूचनायां तथा पश्चात्तापे ‘ओ’ इति पठ्यते ।
‘ओ’ अविण्य तत्तिहे’ (पश्चात्तापे) ‘ओ’ लुआ इत्तिआए न’ ।
उतस्य तु विकल्पार्थवाचकस्यापि ‘ओ’ भवेत् ।
यथा ‘नहयले ओ विरपमीति’ निगद्यते ।

अवो सूचना-दुःख-संभाषणापराध विस्मयानन्दादरभय-
खेद-विपाद-पश्चात्तापे ॥ २०४ ॥

अवो दुःखे सूचनायामपराधे च विस्मये ।
संज्ञापणे भये खेदे, पश्चात्तापविपादयोः ।
आनन्दादरयोश्चापि प्रयोक्तव्यं हि, तद्यथा ।
[१] अवो दुक्करधारय ! (२) अवो हियं दन्नन्ति वयणाणि ।
[३] अवो किमिणं किमिणं, अपराधे विस्मये तु यथा-
[४] * अवो हरन्ति हिअयं, तह वि न वेसा हवन्ति जुवईण ।
[५] अवो किं पि रहस्यं, मुणन्ति धुत्ता जणभहिआ ॥
[६] अवो सुपहायमिणं (७) अवो अज्जमह सप्पलं जीअं ।
[८] अवो अइअम्मि तुमे, नवरं जइ सा न जूरिहइ ॥
[९] अवो न जामि वेत्ते, पश्चात्तापऽभिधीयते तु यथा ॥
[१०] “अवो तह तेण कया, अहं जह कस्स साहेमि” ? ।
[११] × “अवो नासेन्ति दिहिं, पुलं वड्ढेन्ति देन्ति रणरणं ।
पहिं तस्सेअ गुणा, ते चिअ अवो कहणु पअं ? ।

अइ संभावने ॥ २०५ ॥

अइ संभावने, अइ दिअर ! किं न पंचेसि ? ।

वणे निश्चय-विकल्पानुकम्प्ये च ॥ २०६ ॥

संभावनेऽनुकम्प्ये च विकल्पे निश्चये वणे ।
[निश्चये] वणे देमि ‘वणे होइ, न होइ’ स्याद् विकल्पने ।
दासो न मुच्चइ वणे, अनुकम्प्यो न मुच्यते ।
[संभावने] ‘नथि वणे जं न देइ’ विहि परिणामो’ यथा ।

मणे विमर्शे ॥ २०७ ॥

मणे विमर्शे, ‘मन्ये’ इत्यर्थेऽपीच्छन्ति केचन ।
किंस्वित् सूर्यो-‘मणे सूर्यो’ रूपमीदृग् विदुर्बुधाः ।

अम्मो आश्चर्ये ॥ २०८ ॥

आश्चर्येऽर्थे भवेद् अम्मो, ‘अम्मो’ कह तरिज्जइ ।
स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥ २०९ ॥

[१] सूचनायाम् (२) दुःखे [३] संभाषणे [४]
अपराधे [५] विस्मये [६] आनन्दे (७) आदरे
[८] ज्ञेये [९] खेदे [१०] विपादे [११] पश्चात्तापे ।
* अवो हरन्ति हृदयं तथाऽपि न द्वेष्या भवन्ति युवतीनाम् ।
अवो किमपि रहस्यं जानन्ति धूर्ता जनाभ्यकाः ॥
× अवो नाशयन्ति धूर्तिं पुत्रं वड्ढयन्ति ददति रणरणकम् ।
इदानीं तस्यैव गुणा त एव अवो कथं तु एतत् ॥

'स्वयम्' इत्यस्य वाच्ये वा, 'अप्पणो' संप्रयुज्यते ।
'अप्पणो' विसयं कम-लसरा विप्रसंति च ' ॥
'करणिजं सयं चेन्न, मुणसि' स्याद्वि पाकिकम् ।

प्रत्येकम्: पाकिकं पाकिक् ॥ २१० ॥

प्रत्येकम्: पाकिक्, पाकिक् च पदे भवेत् ।
पाडिकं पाडिक्, च पदे- 'पत्तेअ- 'मिष्यते ॥

उअ पश्य ॥ २११ ॥

'उअ' इत्यव्ययं पश्येत्यस्यार्थे वाऽनिर्धायते ।
"उअ निचलणिप्फंदा जिंसिणी-पत्तम्मि रेहइ वलाभा ।
निम्मल-मरगय-भायण-परिट्टिआ सङ्ग-सुत्ति व्व" ॥ [१]

इहग इतरथा ॥ २१२ ॥

'इहरा' इतरथाऽर्थे, प्रयोक्तव्यं विभाषया ।
'नीसामग्नेहि इहरा' पक्के- 'इसरहा' इति ॥

एकसरिअं भगिति मंप्रति ॥ २१३ ॥

सम्प्रत्यर्थे भगित्यर्थे स्याद् 'एकसरिअं' पदम् ।

मोउद्धा मुधा ॥ २१४ ॥

'मोउद्धा' इति पदं, मुधाऽर्थे प्रतिपाद्यते ।

दरार्धाल्पे ॥ २१५ ॥

'दर' इत्यव्ययम् ईपदर्थेऽर्थार्थे च पश्यते ।
'दर-विआसिअं' ईपदर्थे विकसितं तथा ॥

किणो प्रश्ने ॥ २१६ ॥

'किणो' इत्यव्ययं प्रश्ने, 'किणो धुवसि' ईदृशम् ।

इ-जे-रा: पादपूरणे ॥ २१७ ॥

इ-जे-रा इत्यमी शब्दा उच्यन्ते पादपूरणे ।
'न उणा इ च अच्चाई' 'अणुकुलं च वोत्तं जे' ॥
स्याद् 'गेपहइ र कवम-गोवी' वाक्ये र-पूरणम् ।
'अहो हंडो च हा हेहो, नाम हीसि अहाह च ॥
अहहाऽयि अरिहो' इत्याद्याः संस्कृतोपमाः ।

प्यादयः ॥ २१८ ॥

प्राकृते प्यादयः सर्वे, नियतार्थप्रवृत्तयः ।
प्रयोक्तव्याः, यथा- 'पि' 'वि' अप्यर्थे परिकीर्तितौ ॥

या भाषा भगवद्वचोभिरगमद् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,
यस्यां सन्त्ययुनाऽप्यमृनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।
तस्याः मंप्रति दुःपमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः
मंचाराय मया कृते विवरणे पादो द्वितीयो गतः ॥ १ ॥
इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-

तायां प्राकृतन्याकृतौ द्वितीयः पादः ।

[१] उअ इति पश्य इत्यर्थे, वलाका, विमिनीपथे कमलि-
नोपत्रे राजति । किंभूता वलाका?, निउचलनिपन्दा, निउचल्ला
बहिर्ग्रीवादिना, निपन्दाऽन्तर्ग्रीवादिना, केव?, निर्मलमरक-
तभाजनप्रतिष्ठिता शङ्खयुक्तिरिव ।

॥ * अर्हम् * ॥

॥ अथ तृतीयः पादः ॥

वीप्सात् स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ॥ १ ॥

'वीप्सा'र्थकात् पदात् स्यादेः स्थाने मः स्याद् विकल्पनात्
पदे स्वरादौ वीप्सायं परे, इत्युपदिश्यते ।
एकं स्यादेकमेकं, पक्के पक्केमिष्यते ।
अङ्गे अङ्गे तथा 'अङ्गमङ्गमि' प्रतिपाद्यते ।

अतः सेर्मोः ॥ २ ॥

नाम्नोऽदन्तात् प्रवेत् स्यादेः सेर्मो, 'वच्छो' यथा भवेत् ।

वैतत्तदः ॥ ३ ॥

एतत्तदोरतः स्यादेः सेः स्थाने 'मो' विकल्पनात् ।
'सो णरो' 'स णरो' 'एसो एम' चैवं निदर्शनम् ।

जशसोर्लुक् ॥ ४ ॥

नाम्नोऽदन्ताज्जशसौ यौ स्यादिसम्बन्धिनौ, तयोः ।
लुम् प्रवेत् तथा- 'वच्छा एष' 'वच्छे पि पेच्छ' च ।

अमोऽस्य ॥ ५ ॥

अतोऽमोऽस्य मुगाऽय्यो 'वच्छं पेच्छ' उदाहृतम् ।

टा-आमोर्णः ॥ ६ ॥

अतः परस्य 'टा' इत्येतस्याऽऽमश्चापि णो प्रवेत् ।
यथा- 'वच्छेण वच्छाण' इयं सिद्धिमुपागमत् ।

जिसो हि हिं हिं ॥ ७ ॥

मिसो 'हि हिं हिं' इत्येत आदेशाः स्युख्यः क्रमात् ।
रूपं 'वच्छेहि वच्छेहिं वच्छेहिं' च बुधा जगुः ।

इमेम् तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ॥ ८ ॥

अतोऽमोऽमी स्युः तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकोऽत्र पद ।
'वच्छाहिन्तो च वच्छतो वच्छा वच्छाव च क्वचित् ।
तथा वच्छाहि वच्छाओ' दोऽन्यज्ञापार्थ इष्यते ।

ज्यसम् तो-दो-दु-हि-हिन्तो-सुन्तो ॥ ९ ॥

अतो ज्यसो भवेत् 'तो-दो-हिन्तो-सुन्तो-दु-हि' क्रमात् ।
यथा- वच्छाव वच्छाहि वच्छेहि' प्रथमादृशम् ।
वच्छाहिन्तो वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो वच्छेसुन्तो ।
वच्छतो वच्छाओ चैवं, रूपं विद्वद्भ्यैरुक्तम् ।

इसः स्सः ॥ १० ॥

अतः परस्य तु इसः संयुक्तः 'स्सो' भवेद्विद ।
यथा- पिअस्स पेम्मस्स, शैत्यमुपकुम्भं त्वदः ।
उवकुम्भस्स सीअलत्तणमित्यनिर्धायते ।

मे म्म डेः ॥ ११ ॥

अतः परस्य डेडित् मे, म्मश्चाऽऽदेशौ यथाक्रमम् ।
वच्छे वच्छम्मि, देवम्मि देवं, तं तम्मि इत्यपि ।

द्वितीयेत्यादि [३।१३५] सूत्रेणाऽमः स्थाने डिर्विधायते ।

जस्-शस्-इसि-तो-दो द्वापि दीर्घः ॥ १२ ॥

जस्-शस्-इसि-तो-दो-दो-दो-दो, स्यादकारस्य दीर्घता ।

[१-२] वच्छा [३] वच्छाव वच्छाओ, वच्छा, वच्छाहि वा पुनः ।

[१-२] जसि शसि च [३] इसि ।

वच्छाहिनो च, वृक्षेभ्यः वच्छसो ह्रस्व [१४] सूत्रतः ।
वच्छाग्रो वच्छाउ [१५]। अमि-रूपं 'वच्छाण' सिध्यति ।
उसिग्रहेणैव सिद्धे, 'सो दो डु' - ग्रहेण किम् ?
एत्वस्य वाधनार्थाय ज्यसि, तस्य ग्रहो मतः ।

ज्यमि वा ॥ १३ ॥

ज्यसादेशे परे दीर्घो. वाऽकारस्य विधीयते ।
यथा- 'वच्छाहि वच्छेहि, ' तथाऽन्यदपि बुध्यताम् ।

टाण-शस्येत् ॥ १४ ॥

टाऽऽदेशे-णे च, शमि च, भवत्येत्वमतो, यथा ।
[शस्] वच्छे पेच्छ, [टा-ण] च वच्छेण, ऐति किम् ? अ-
प्पणा यतः ।

भिस्रज्यसुपि ॥ १५ ॥

भिस्र-ज्यस्र-सुप्सु भवत्येत्वमतः, तद्दर्शयाम्यहम् ।
वच्छेहिनो च वच्छेहि वच्छेसु त्रयमीरितम् । [७]

इदुतो दीर्घः ॥ १६ ॥

इकारोकारयोर्दीर्घो भिस्र-भ्यस्-सुप्सु परेषु च ।
गिरीहि च गिरीहिनो, गिरीसु च तरुसु च ।
तरुहि च तरुहिनो बुद्धीहि, नापि कुत्रचित् ।
' दिअभूमिसु दानजजोहिआइ ' तु यादृशम् । [८]

चतुरो वा ॥ १७ ॥

उकारान्तस्य चतुरो भिस्र-ज्यस्-सुप्सु परेषु वा ।
दीर्घो भवति, चउओ चऊओ, चउहि च वा ।
चऊहि, चउसु स्याद् वा चऊसु, इति बुध्यताम् ।

लुप्ते शमि ॥ १८ ॥

इदुतोः शसि लुप्ते तु दीर्घो भवति, तद्यथा ।
गिरी बुद्धी तरु घेणु पेच्छ, चैवं निदर्शनम् ।
' लुप्ते ' इति किम् ? ' गिरिणो, तरुणो पेच्छ ' यद् ज्ञेयम् ।
इदुतः किम् ? यथा- ' वच्छे पेच्छ ' नास्त्यत्र दीर्घता ।
जस्-शस्-[३१२] इत्यादिना योगः शसि दीर्घस्य यः कृतः ।
सोऽस्ति लक्ष्यानुरोधार्थो न सर्वत्र प्रवर्तते ।
णवि [३१२] प्रतिप्रसवार्थ [३१२५] शङ्काया विनिवृत्तये ।
' लुप्ते ' इति हि योगोऽस्ति, स ज्ञेयः सूक्ष्मदर्शिनः ।

अक्लीवे सौ ॥ १९ ॥

इदुतोः सौ भवेद् दीर्घः, स चाक्लीवे विधीयते ।
गिरी बुद्धी तरु घेणु, क्लीवे तु स्याद् दहिं महं ।
विकल्प्य केऽपि दीर्घत्वं तदभावं वदन्ति च ।
समादेश, यथा सिध्येत्-अग्निं वाउं निहिं विहुं ।

पुंसि जसो रुज रुओ वा ॥ २० ॥

इदुतः परस्य जसोऽउ अओ पुंसि वा जिनौ ।
अग्नाओ अग्नउ स्याताम्, 'अग्निणो' इति पात्तिकम् ।
'वायओ वायउ' प्राक्ते: 'वाउणो' -ऽध्यनिवन्मतम् ।
शेषे त्वदन्तवद्भावाद् अग्नी वाऊ च सिध्यतः ।

वोतो रुओ ॥ २१ ॥

उदन्तात् परस्य जसः, पुंसि वा 'उओ' डिदिष्यते ।
साहवो, साहओ पक्के साहु साहउ साहुणो ।

[४] सो [५] दो [६] डु [७] भिस्र-वच्छेहि, वच्छेहि,
वच्छेहि । ज्यस्-वच्छेहि, वच्छेहिनो, वच्छेसुतो । सुप्-वच्छे-
सु । [८] द्विजभूमिषु दानजजोहिआनि ।

जस्-शसोर्णो वा ॥ २२ ॥

इदुतः परयोः पुंसि जस्-शसोर्वाऽस्तु 'णो' इति ।
गिरिणो तरुणो, पक्के स्यातां रूपे 'गिरी तरु' । [१]

डमि-डमोः पुं-क्लीवे वा ॥ २३ ॥

इदुतो वा डसिडसोः, पुंसि क्लीवे च चाऽस्तु 'णो' ।
गिरिणो तरुणो रूपं दहिणो महुणो तथा ।
पक्के 'गिरीओ गिरीउ गिरीहिनो,' उनया दिशा ।
अन्येषामपि रूपाणि, हि-लुको न जविष्यतः ।
डसो 'गिरिस्स' इत्येकं पक्के रूपं प्रयुज्यते ।

टो णा ॥ २४ ॥

इदुद्व्यां पुंसि क्लीवे च, 'टा' इत्यस्य तु 'णा' ज्ञेयम् ।
गिरिणा च गामणिणा, तरुणा दहिणा यथा ।

क्लीवे स्वरान्म मेः ॥ २५ ॥

क्लीवे स्वरान्ताद् नाम्नः सेः, स्थाने मां व्यञ्जनं भवेत् ।
दहिं महं वणं पम्मं, केऽपीच्छन्त्यनुनासिकम् ॥ [२]

जस्-शस् ई-ई-णयः सप्राग्दीर्घाः ॥ २६ ॥

नाम्नः परयोर्जस्-शसोः क्लीवे ई-ई-णयस् त्रयः ।
एषु सन्सु भवेत् पूर्वस्वराणां दीर्घता, यथा ॥
ववणाई पङ्कयाई दहीई पङ्कयाणि च ।

स्त्रियामुदोतौ वा ॥ २७ ॥

नाम्नः परयोर्जस्-शसोः उदोतौ वा स्त्रियां मतौ ।
तयोस्तु परयोः पूर्वस्वरस्येष्टा च दीर्घता ॥
यथा बुद्धीउ, बुद्धीओ, सहीओ च सहीउ च ।
पक्के बुद्धी सही चैवमन्येऽप्युह्या विचारणात् ।

ईतः सेश्वाऽऽवा ॥ २८ ॥

सेर्जश्-शसोश्च वाऽऽकारः, स्त्रियामीतः परस्य तु ।
यथा एसा हसन्तीओ, गोरीओ सन्ति पेच्छ वा ।
पक्के हसन्ती गोरीओ, एवमन्यत्र बुध्यताम् ।

टा-डस्-डरदादिदेद् वा तु डंसः ॥ २९ ॥

नाम्नः परेषां स्त्रीलिङ्ग, टा-डस्- डीनां क्रमात् बुधैः ।
अद् आद् इद् पतञ्जलवारः, सप्राग्दीर्घाः प्रकीर्तिताः ।
केवलस्य डंसः स्थाने, सप्राग्दीर्घा अमी तु वा ।
यथा मुद्धाअ मुद्धाइ मुद्धाए च कयं विअं ।
कप्रत्यये मुद्धिआअ, मुद्धिआइ च कथ्यते ।
एवं सहीअ धेणुअ बहुआऽऽदि प्रयुज्यताम् ।
मुद्धाहिनो च मुद्धाउ मुद्धाओ चेति पात्तिकम् ।
शेषेऽदन्ता-[३१२४] तिदेशाद्धि, वा दीर्घत्वं जसादिना [३१२]

नात आत् ॥ ३० ॥

स्त्रियामातः परेषां तु, डसिटाडि-डसां न चाऽऽत् ।
भवेद् 'मालाअ मालाइ मालाए' चेति वै प्रथम् ।

प्रत्यये डीनेवा ॥ ३१ ॥

अणादि [हेम० २४] सूत्रतो यो डीरुक्तो, वा स स्त्रियामिह ।
आत् [हेम० २४] इत्याप् च ज्ञेयम् पक्के, साहणी साहणा यया ।

अजातेः पुंसः ॥ ३२ ॥

अजातिवाचिपुंल्लिङ्गात् स्त्रियां डीर्घा विधीयते ।

[१] जस्-शसोरिति द्वित्वमिदुत इत्यनेन यथासंख्याभा-
वार्थम् । [२] दहिं, महं । स्वरादिति इदुतो निवृत्त्यर्थम् ।

नीली नीला, हसमानो हसमाना, इमीए तु ।
स्याद् इमाए, इम ण तु, इमाण, अजिधीयते ॥
अजानेरिति किम् ? यद्वत् करिण। एतया अया ॥
अग्रामे तु विभाषये, तेन सस्कृतवत् सदा ॥
गौरी 'कुमारी' इत्यादौ, बुधैर्दोः प्रविधायते ॥

किं यत्तदोऽन्यमामि ॥ ३३ ॥

किं-यत्-तदन्यः स्त्रियां डीर्घा, न सौ आमि तथाऽमि च ॥
कौश्रो कौश्रो कौसु कामु, कीए काए यथा किमः ॥
तथैव जीश्रो जाश्रो च, तीश्रो ताश्रो ऽस्त यत्तदोः ॥
तेमऽन्यमामि ? का जा सा कं जं तं, काण जाण च ॥

गया-हरिःयोः ॥ ३४ ॥

बुयाहरिद्रयोरापः, प्रसङ्गे डीर्घिकल्पते ।
छाहं गया हलद्वा तु हलद्वा तेन भग्यते ॥

स्वस्त्रोदमी ॥ ३५ ॥

डाप्रत्ययः स्त्रियां स्वस्त्रादिभ्यः स्यात् तद्यथा सप्तः
दुहिश्रा दुहिश्राहि च, नणन्दा गवश्रा तथा ॥

हस्त्रोऽमि ॥ ३६ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽमि ह्रस्वः स्यात्, 'पेच्छ मालं नहं बहु' ।

नामन्यात् सौ मः ॥ ३७ ॥

आमन्यार्थात् परे सौ तु, तैव 'कलीवे स्वरान्मसेः' [३३५] ।
इति सुत्रेण सेमो, हे तण ! हे दहि ! हे महु ! ।

सो दीर्घो वा ॥ ३८ ॥

आमन्यार्थात् परे सौ तु 'अतः सेमो' [३२] अयं विधिः ।
'अकलीवे सौ' [३३६] चेति दीर्घः, द्वयं चैतद् विकल्प्यते ।
यथा-हे देव ! हे देवो ! हे हरी ! हे हरि ! द्वयम् ।
हे गुरु ! हे गुरु ! च, 'हे पट्टु हे पट्टु' इत्यपि ।
पपु प्राप्ते विकल्पोऽस्ति, अग्रामं त्विह दृश्यताम् ।
हे गोश्रमा ! हे गोश्रम ! हे हे कासव ! कासवा !

ऋतोऽद् वा ॥ ३९ ॥

ऋकारान्तस्य वाऽन्यं तु, भवेदामन्त्रणे हि सौ ।
हे पितः ! हे पित्र ततो, पक्के हे पित्ररं मतम् ।

नाम्यरं वा ॥ ४० ॥

आमन्त्रणे सौ ऋतः, संज्ञायां वा 'अरं' भवेत् ।
स्याद् हे पितः ! हे पित्ररं !, पक्के 'हे पित्र' इत्यपि ।
नाम्येति तु किम् ? हे कर्तः !, हे कर्तार ! इति स्मृतम् ।

वाऽऽप ए ॥ ४१ ॥

आमन्त्रणे सौ परे स्याद्, आप एव विभाषया ।
हे माले ! महिले !, पक्के-हे माला महिला ! मता ।
आपः किं नु ? हे पिउच्छा !, हे माउच्छा !, न चेह 'ए' ।
'अस्मो भग्यामि भणिण' आलं बाहुलकादिह ।

ईदृतोऽस्वः ॥ ४२ ॥

स्यादीदृदन्तयोऽस्वः, संवुद्धौ सौ परे यथा ।
हे गामणि ! हे समणि !, एवमन्यत्रिदर्शनम् ।

किपः ॥ ४३ ॥

ईदृदन्तस्य द्वस्वः स्यात्, क्विदन्तस्येति दृश्यताम् ।
गामणिणा खल्लपुणा, गामणिणो खल्लपुणा ।

ऋतामुदस्यमौगु वा ॥ ४४ ॥

सि-अम्-औ-वर्जिते स्यादौ ऋदन्तानाम् उद् अस्तु वा ।
जस्मि 'भत्तु भत्तुणो च जत्तस्रो भत्तउ' स्मृतम् ।
भत्तारा पात्तिकं रूपं, शसि भत्तु च जत्तुणो ।
भत्तारं चेति, टायां तु भत्तारेण च भत्तुणा ।
भिसि भत्तुहि जत्तारेहि रूपं, डसि भत्तुणो ।
जत्तुहिंतो च जत्तहि भत्तुश्रो भत्तुज स्मृतम् ।
भत्ताराहि च जत्ताराहिन्तो पात्तिकरूपतः ।
भत्ताराश्रो च भत्तारा भत्ताराउ प्रयुज्यते ।
जत्तुस्म भत्तुणो ऽसि भत्तारस्सेति पात्तिकम् ।
सुपि भत्तुमु पक्के तु, भत्तारेसु निगद्यते ।
व्याख्यार्थत्वाद् बहुव्यस्य नाम्न्यपि काव्युदस्तु वा ।
जस्-शस्-डस्-डसो जामाउणो च पिउणो पुनः ।
टायां तु पिउणा रूपं, भिसि रूपं पिउहि च ।
पिउसु सुपि पक्के तु पिउश्रा रूपमित्यते ।
अस्यमौस्विति किं प्रोक्तं ? (जस्)पिशारा(अस्)पिशरं(सि)पिशरा

आरः स्यादौ ॥ ४५ ॥

ऋतः स्थाने जवेद् आराऽऽदेशः स्यादौ परे, यथा- ।
भत्तारो, चैव भत्तारा, भत्तारं, परिपठ्यते ।
भत्तारे च जत्तारेहि, जत्तारेण डलेस्तया ।
लुप्तस्यापेक्षया तु 'भत्तार-विहिअं' मतम् ।

आ अरा मातुः ॥ ४६ ॥

मातृसम्यन्धिन ऋतः, स्यादौ तु आ अरा, मतौ ।
माश्राउ माश्ररा माश्रा, माश्राओ माश्रराउ च ।
माश्रराओ च माश्रं माश्ररं इत्यादि साध्यताम् ।
जनन्यर्थस्य आ-ऽऽदेशो देवतार्थस्य स्यादरा ।
यथा-माश्राए कुच्छीए, नमो मे माश्रराण च ।
'मातुरिद्वा' [१।१३५] इतीत्वेन, रूपं 'माईण' सिध्यति ।
ऋताम्-[३।४४] उत्त्वे तु 'माऊण अहं वन्दे' समन्निश्रं ।
स्यादौ किं नु ? माईदेवो, तथा माईगणो इति ।

नाम्यरः ॥ ४७ ॥

ऋदन्तस्याऽऽ इत्यन्तादेशो स्यादौ हि नामनि । [१]
पिशरा पिश्ररं पिश्रो, पिश्रणं पिश्ररेहिमित्यते रूपम् ।
'जामायरा, भायरा,' रूपं पितृतुल्यमनयोः स्यात् ।

आ सौ न वा ॥ ४८ ॥

ऋदन्तस्येह वाऽऽकारः, सौ परे तु विधीयते ।
पिश्रा जाया च जामाया, कत्ता, पक्के भवेद् 'अरः' ।
पिशरो जायरो कत्तारो च जामायरो तथा ।

राज्ञः ॥ ४९ ॥

राज्ञो न-लोपेऽन्यस्याऽऽत्वं, वा भवेत् सौ परे यथा ।
राया तथा च हे राआ ! 'रायाणो' चेति पात्तिकम् ।
शौरसेन्यां तु हे राया हे रायमिति ज्ञाप्यते ।
एवं हे अप्प ! हे अप्प ! इत्यादीनि विदुर्वुधाः ।

जस्-शस्-डसि-डसां णो ॥ ५० ॥

राजनशब्दान् परेषां वा, जस्-शस्-डसि-डसां हि 'णो' ।
रायाणो जस्-शसोः, राया जस्मि, राय च वा शस्मि ॥

[१] संज्ञायाम् ।

उन्मौ रणो राइणो च, पक्के नावाञ्जशम्यताम् ।
रायाहिन्तो च रायाहि, राया रायाउ इत्यपि ॥
रायाओ (उसि) राइणो रणो, पक्के रायस्स पठ्यते ।

दो णा ॥ ५१ ॥

राजन्-शब्दात् विकल्पेन, टा-स्थाने 'णा' विश्रीयते ।
रणो च राइणा, पक्के, रायेणेत्यपि सिद्ध्यति ॥

ईजस्य णो-णा-डौ ॥ ५२ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्यत्वे वा णो-णा-डिषु कथ्यते ।
राइणो पञ्च चिद्वन्ति आगन्तो वा ध्वनं यथा ॥
राइणा चैव, रायम्मि, पक्के रूपं निशम्यताम् ।
रणो रायम्मि रायाणो, राएण रायणा तथा ॥

इणममामा ॥ ५३ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येणम्, अमाम्भ्यां सह वेप्यते ।
राइणं वा ध्वनं पञ्च, रायं राइणं पाक्षिकम् ॥

ईज्जिस्सयसाम्भुपि ॥ ५४ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्यत्वं भिस्-भ्यसाम्-सुप्सु वेप्यते ।
राइहिन्तो च राइहि राइसुन्तो भवेद् ज्यसि ॥
जिसि राइहि, राइणं आमि, राइसु सुप्यदः ।
पक्के 'रायाणेहि' इत्यादीनि रूपाणि चकृते ॥

आजस्य टा-उसि-उस्सु सणाणोप्पवण् ॥ ५५ ॥

राजन्-शब्दस्य योऽस्याजोऽवयवस्तस्य भवेद् ॥
णा-णो-आदेशरूपेषु, टा-उसि-उस्सु वा मतः ॥
टायं रणो राइणा, उस्-उस्यो रणो च राइणो ।
सणाणोप्पविति किम् ? रायाओ रायस्स च राएण ॥

पुंस्यन आणो राजवच्च ॥ ५६ ॥

अन्नन्तस्य भवेद् 'आण' इति पुंसि विकल्पनात् ।
पक्के तु राजवत् कार्यं, यथादर्शनमिष्यते ॥
आणादेशे अतः सेडोः [३ । २] पवमादि प्रवर्तते ।
पक्के तु राज्ञः 'जस्' [३ । ५०] 'टोणा,' [३ । २४]
'इणम्' [३ । ४३] एतद् विधिष्यम् ॥

अप्पाणो अप्पाणा, अप्पाणं अप्पाणे ।

अप्पाणाओ अप्पाणासुन्तो पञ्चम्याम् ॥

अप्पाणेण अप्पाणेहि, टायं जिसि यथाक्रमम् ।

अप्पाणस्साऽऽप्पाणाण, उस्सि चाऽऽमि क्रमेण हि ॥

अप्पाणम्मि तथा अप्पा-णेषु डौ सुपि चोच्यते ।

अप्पाण-कयं, पक्के तु, राजवत् कार्यमीदृशताम् ।

अप्पा अप्पो च, हे अप्पा ! हे अप्प ! इयमीदृशम् ।

अप्पाणो जसि, अप्पाणो शसि, टायं तु अप्पणा ।

अप्पेहि भिसि, अप्पाणो अप्पाओऽप्पाव वै पुनः ।

अप्पाहि अप्पाहिन्तो अप्पा अप्पासुन्तो स्याद् ज्यसि ।

अप्पाणो ध्वनम्, अप्पाणं, अप्पे अप्पेषु कीर्यते ।

रायाणो चैव रायाणा 'एवं सर्वं विभाव्यताम् ।

पक्के तु राया इत्यादि, जुवाणो च जुआ तथा ।

बम्हाणो पाक्षिको बम्हा, अरूणाऽचाऽपि चेष्यते ।

उच्चाणो वा भवेद्-उच्चा, गावा गावाणो वा भवेत् ।

तथैव पूसा पूसाणो, तस्सा तस्खाणो इत्यपि ।

मुच्चाणो वा च मुच्चा स्यात्, 'साणो सा' इवा प्रकीर्तितः ।

सुकम्माणे पञ्च, शर्म सम्मं, क्रीचेऽव नेप्यते ।

आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥ ५७ ॥

आत्मशब्दाद् हि टा-स्थाने वा 'णिआ' 'णइआ' मता ।
अप्पाणिआऽप्पाणइआ, पक्केऽप्पाणेण' कथ्यते ।

अतः सर्वादेर्जसः ॥ ५८ ॥

भवेद्दन्तात् सर्वादेर्जसः स्थाने किदादह ।

सध्वे अन्ते च जे ते के कयं इयं तथा ।

डेः सिंस-म्मि-न्याः ॥ ५९ ॥

सर्वादीनामतो डेः स्युः सिंस-म्मि-न्यास्तु यथाक्रमम् ।

सध्वत्थ सध्वस्सि सध्वम्मि, अतः किम् ? अमुम्मि तु ।

न वाऽनिदमेतदो हि ॥ ६० ॥

इदमेतदौ विना सर्वादेर्दन्तात् परस्य डेः ।

हिमादेशो विकल्पेन, भवेदित्युपदिश्यते ।

सध्वहि अन्नहि, कियत्तद्व्योः स्याद् हि स्त्रियामपि ।

काहिं जाहिं च ताहिं च, कियत्तद्व्यो न डौ [३।३३] रिह ।

एतद् द्वयं बाहुवकं कार्यं, पक्के निशम्यताम् ।

सध्वत्थ सध्वस्सि सध्वम्मि चैवं बुध्यतां परम् ।

स्त्रियां तु पक्के काए च, कीए चैवं विचार्यताम् ।

इदमेतदोरिमस्सि, एअस्सि रूपमिष्यते ।

आमो मेमि ॥ ६१ ॥

अदन्तात् सर्वनाम्नः स्याद्, आमो 'डसि' विभाषया ।

सध्वस्सि अवरेस्सि च, जेसि तेसिमिमेस्सि च ।

पक्केऽवरेण सध्वाण जाण ताण इमाण च ।

स्त्रियां बाहुलकात्-सर्वासां सध्वस्सि प्रयुज्यते ।

कितद्व्यां मासः ॥ ६२ ॥

कितद्व्यां तु परस्यामः, स्थाने डासो विकल्प्यते ।

तास कास जवेत्, पक्के-तेसि केसि प्रयुज्यते ।

कियत्तद्व्यो डसः ॥ ६३ ॥

कियत्तद्व्यो डसः स्थाने, डासाऽऽदेशो विकल्प्यते ।

डसः स्स (३।१०) स्यापवादोऽयं, पक्के सोऽपि प्रवर्तते ।

कास कस्स जास जस्स, तास तस्स प्रयुज्यते ।

आदन्ताद्यां च कितद्व्या-मपि डासो विभाषया ।

कस्याः तस्याः कास तास, काए ताए च पाक्षिकम् ।

ईद्व्यः स्सा मे ॥ ६४ ॥

ईदन्तेज्यः किमादिभ्यो, डसः 'स्सा' 'से' विकल्पितौ ।

टाडस्-[३।२६] इत्यादिसूत्रस्यापवादोऽयं निरूपितः ।

तेन पक्केऽदादयोऽपि प्रवर्तन्ते, निदर्श्यते ।

'किस्सा कीसे कीअ कीआ, कीए कीइ' भवन्ति पद् ।

जिस्सा जीसे जीअ जीआ, जीए जीइ यदो मताः ।

'तिस्सा तीसे तीअ तीआ, तीए तीइ' इमे तदः ।

डहाहे माला इआ काले ॥ ६५ ॥

कियत्तद्व्यस्तु डेः स्थाने, 'माहे डाआ इआ' प्रयः ।

हिंसिम्मिन्थान् अपाकृत्य, कात्रे वाच्ये भवन्ति वा ।

काहे काला कइआ, जाहे जाला जइआ ।

ताहे ताआ तइआ, पक्के ते चापि मताः * ।

'काहिं कस्सि कम्मि कत्थ' रूपाणीमानि तत्र च ।

डमेम्हा ॥ ६६ ॥

* ताला जाअन्ति गुणा, जाला ते सहिअएहिं घणन्ति ।

कियत्तद्भ्यो डसः स्थाने, म्हाऽऽदेशो वा विधीयते ।
कम्हा जम्हा च तम्हा च, काओ जाओ तु पाङ्क्तिकम् ।

तदो डोः ॥ ६७ ॥

तदः परस्य तु डसेमौ ' वा. ' तम्हा ' च ' तो ' यथा ।

किमो मिणो-मीसौ ॥ ६८ ॥

किमः परस्य तु डसे-डिणो डीसौ च वा स्मृतौ ।

किणो कीस, तथा कम्हा, श्रीणि सिद्धिमुपागमन् ।

इदमेतत्-कि-यत्तद्भ्यष्टो मिणा ॥ ६९ ॥

इदं-यत्-तत्-किमेतद्भ्योऽदन्तेभ्यस् टो-मिणास्तु वा ।

इमेण इमिणा, जेण जिणां, एदेण एदिणा ।

किणा केण, तिणा तेण, एवं टाया डिणाविधिः ।

तदो णः स्यादौ कचित् ॥ ७० ॥

तदः स्थाने ण आदेशः, स्यादौ वक्ष्यानुसारतः ।

' णं तिअमा ' तां त्रिजटा, ' पेच्छणं ' पश्य तं यथा ।

तेन णेण, तथा णाण, तैः ताभिर् एहिं णहिं च ।

किमः कस्त्र-तसोश्च ॥ ७१ ॥

किमः को भवति स्यादौ, वतसोः परयोस्तथा ।

को के कं के केण, [त्र] कत्थ, [तस] कत्रो कत्तो कदो यथा ।

इदम् इमः ॥ ७२ ॥

पुंस्त्रियोरिदमः स्यादौ, स्यादिमो, हि ' इमो ' ' इमा ' ।

पुं-स्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ ॥ ७३ ॥

इदमः सौ परे पुंसि ' अयं ' वा ' इमिआ ' स्त्रियाम् ।

इमो इमा भवेत् पक्के, एवं रूपचतुष्टयम् ।

स्मि-स्सयोरत् ॥ ७४ ॥

इदमोऽस्त्वं विकल्पेन, स्मि-स्सयोः परयोरिह ।

अस्मि अस्स, इमादेश इमस्मि च इमस्स च ।

बहुलग्रहणादन्यत्राप्ययं संप्रवर्तते ।

एहि एभिः, आहि आभिर्, एसु एषु प्रयुज्यते ।

डर्पेन हः ॥ ७५ ॥

इदमः कृतेमादेशाद्, वा मेन सह होऽस्तु डेः ।

इह, पक्के-इमस्मि च, इमस्मि प्रतिपद्यते ।

न त्यः ॥ ७६ ॥

न ' त्यः ' [३।५६] स्यादिदमो डेस्तु, इहेमस्मि इमस्मि च ।

णोऽम्-शम्-टा-जिमि ॥ ७७ ॥

इदमो णोऽस्तु वाऽम्-शम्-टा-भिम्सु, णं णेण रोहि रो ।

पक्के इमं इमेणमहि इमे सिद्धिमाययुः ।

अमेणम् ॥ ७८ ॥

अमा सहैदमः स्थाने, ' इणम् ' वा स्याद्, इणं, इमं ।

क्लीवे स्यमेदमिणमो च ॥ ७९ ॥

' इदम् ' ' इणम् ' च ' इणमो ', क्लीवे नित्यममी त्रयः ।

स्यम्भ्यां सहैदमः स्थाने, भवन्तीति विभाव्यताम् ।

इदं इणं वा इणमो, धणं चिच्छ पेच्छ वा ।

किमः किं ॥ ८० ॥

क्लीवे प्रवर्तमानस्य, स्यम्भ्यां सह किमोऽस्तु किं ।

किं कुलं तुह, ' किं किं ते पडिहाद् ' यथा भवेत् ।

वेदं-तदेतदो डसाम्भ्यां से-सिमौ ॥ ८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येषां, घाऽऽम्भ्यां सह से-सिमौ ।

अस्य तस्य च वेतस्य शीलं-'से' शील-मुच्यते ।

एषां तेषां तथैतेषां शिबं-'सि' शील-मिष्यते ।

पक्के ' इमस्स चेमेसि इमाण, तस्स ताण च ।

तेसि, एअस्स एपसि एआण ' इति बुध्यताम् ।

कम्भिदामाऽपि से आदेशं वष्टीदंतदोरिह ॥

से-सिमौ त्रिषु लिङ्गेषु, तुल्यं रूपमवाप्नुतः ।

वेतदो डमेस् तो ताहे ॥ ८२ ॥

एतदः परस्य डमेस् ' तो, ताहे ' स्तो विकल्पनात् ।

एत्तो एत्ताहे, पक्के तु, पञ्च रूपाणि, तद्यथा— ।

एआहिन्तो च एआहि, एआ एआउ एआओ ॥

त्ये च तस्य लुक् ॥ ८३ ॥

एतद्-त्ये परे ' तो ताहे-' उनयोः परयोरपि ।

तकारस्य लुक्, ' एत्ताहे, एत्थ एत्तो ' इति त्रयम् ॥

एरदौतौ म्मौ वा ॥ ८४ ॥

एतद् आदिवर्णस्य, उच्चादेशे म्मौ अदीच्च वा ।

यथा-अयस्मि इयस्मि, पक्के एअस्मि भण्यते ॥

वैसेणमिणमो मिना ॥ ८५ ॥

सिना सहैतदो वा स्युः, एसेणम् इणमो त्रयः ।

इणं एसेणमो, एअं एसा एसो च पाङ्क्तिकम् ॥

तदश्च तः सोऽक्लीवे ॥ ८६ ॥

तदेतदोस्तस्य सः स्या-दक्लीवे सौ परे यथा— ।

सो पुरिसो, सा महिला, एसो एसा पिओ पिआ ॥

वाऽदसो दस्य होनोदाम् ॥ ८७ ॥

अदसो दस्य सौ हो वा, हो [३ । ३] आत् [४ । ४४८]

आप् [२ । ४] मश्च [३ । २५] नो ततः ।

अह पुरिसो, अह महिला, अह मोहो अह वणं च हसद् सआ ॥

पक्के तु मुरादेशो, [३ । ८८] अमू अमू त्रिषु अमुं रूपम् ।

मुः स्यादौ ॥ ८८ ॥

अदसो दस्य तु स्यादौ, मुरादेशोऽभिधीयते ।

अमू पुरिसो, अमुणो पुरिसा, च अमुं वणं ॥

ततो अमूदं वणादं, तथाऽमूणि वणाणि च ।

अमू माला, अमूओऽमूउ मालाओ, ऽमुणाऽतथा ॥

डसौ अमूओऽमूहिन्तोऽमूउ, ज्यसि निशम्यताम् ।

अमूहिन्तो अमूसुन्तो, अमुस्स अमुणो डसि ॥

आमि डौ सुपि चाऽमूण स्याद् अमुस्मि अमूसु च ।

म्मावयेऔ वा ॥ ८९ ॥

इकारान्तस्यादसो वा, उच्चादेशे म्मौ इआऽय च ।

ततोऽयस्मि इयस्मि डौ, स्यात् पक्के ' अमुस्मि ' इत्यपि ॥

युप्पदः तं तुं तुवं तुह तुपं सिना ॥ ९० ॥

युप्पदस्तु सिना साकं, तंतुं तुह तुवं तुपं ।

पञ्च रूपाणि सौ विद्या-दग्नेष्येवं विचिन्तयेत् ॥

जे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुम्हे उम्हे जसा ॥ ९१ ॥

तुम्हे उम्हे तुज्झ तुम्ह, भे तुब्भे च जसा सह ।

ब्भो म्हुज्जौ वेति [३।१०४] वचनात् तुम्हे तुज्जे तवोऽष्टकम् ।

तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुए अमा ॥ ए२ ॥

तुए तुमे तुमं तं तुं, तुवं तुह अमा सह ।

वो तुज्ज तुञ्जे तुह्णे उह्णे जे शमा ॥ ए३ ॥

वो तुज्ज तुञ्जे तुह्णे जे, उह्णे पङ्के शमा सह ।

‘वो म्हज्जो वेति’ [३१०४] वचनात्, तुह्णे तुज्जे ततोऽष्टकम् ।

भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा ॥ ए४ ॥

जे दि दे ते तइ तए, तुमाइ तुमए तुमं ।

तुमे तुमइ सार्धं तु, टया रुद्रमितं [११] पदम् ।

भे तुञ्जेहि उज्जेहि उम्हेहि तुह्णेहि उह्णेहि निसा ॥ ए५ ॥

तुह्णेहि उम्हेहि, तुम्हेहि उज्जेहि उम्हेहि ।

जे-‘वो म्ह-ज्जो’ [३१०४] सूत्रात्, तुम्हे तुञ्जे ततोऽष्टौ स्युः ।

तइ-तुव-तुम-तुह-तुम्हा डसौ ॥ ए६ ॥

तइ-तुव-तुम-तुह-तुम्हा डसौ युष्मदो भवन्त्यमी नित्यम् ।

त्तो दो दुहि हिन्तो लुक् डसं यथाप्राप्तमेव स्यात् ।

स्यात् तइत्तो तुवत्तो च, तुमत्तो च तुहत्तो च ।

तुम्हात्तो, ऽत्र तु तुम्हात्तो तुज्जत्तो, पूर्ववत् [३१०४] पुनः ।

एवं दो-डु-हि-हिन्तो-लुक् वप्युदाह्रियतां पुनः ।

त्वत्तः इत्यस्य तत्तोऽदो रूपमस्ति वलोपनात् ।

तुह तुञ्ज तहिन्तो डसिना ॥ ए७ ॥

तुह तुञ्ज तहिन्तो च, त्रयः स्युर्डसिना सह ।

तुम्हा तुञ्ज च वैकल्याद्, रूपपञ्चकमिष्यते ।

तुञ्ज-तुहोहोम्हा ज्यसि ॥ ए८ ॥

तुञ्ज, तुह, उह, उम्हा इत्यमी युष्मदो भ्यसि ।

भ्यसः स्थाने यथाप्राप्तमादेशाः [३१६] पूर्वदर्शिताः ।

तुम्हात्तो तुहत्तो उहत्तो उम्हात्तो ।

तुम्हात्तो तुञ्जत्तो वैकल्याद् परूरूपी ।

त्तो आदेशे यथा चेयं परूरूपी दर्शिता मया ।

एवं दो-डु-हि-हिन्तो-सुन्तोपुदाह्रियतां त्वया ।

तइ-तु-ते-तुम्हा-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुमे-तुमो-तुमाइ-दि-

दे-इ-ए-तुञ्जेज्जेहोम्हा डसा ॥ ए९ ॥

तइ ते तु तुहं तुम्हा, तुमो तुमं तुम्हा ।

तुमाइ तुव दे ए इ तुम्होवोहोहो, वा डसा ।

विकल्पनात् [३१०४] तुम्हा तुज्ज उम्हा उञ्ज चतुष्टयम् ।

एवं द्वाविंशती रूपाणिह जल्पन्ति कौविदाः ।

तु वो भे तुञ्ज तुञ्जं तुञ्जाण तुवाण तुमाण तुहाण

उम्हाण आमा ॥ १०० ॥

तुञ्जं, तुवाण, उम्हाण, तुमाण, तु, तुहाण भे ।

तुञ्ज, तुम्हाण, वो, आमा सह स्युर्युष्मदो दश ।

क्या स्यादे- [३१२७] रित्यनुस्वारे, सानुस्वारं णञ्चकम् ।

यथा-तुवाणं तुम्हाणं तुमाणं च तुहाणं च ।

उम्हाणं चेति वर्धन्ते णञ्च रूपाणि णस्य च ।

‘वो म्ह-ज्जो वेति’ [३१०४] वचनात्, पुनरष्टौ भवन्ति च ।

तुज्जं तुम्हाणं तुम्हाणं, तुज्ज्जाणं तुम्हा तुज्जं च ।

तुम्हाणं तुम्हामित्येवं, त्रयोविंशतिरामि तु ।

तुमे तुमए तुमाइ तइ तए डिना ॥ १०१ ॥

तुमे, तुमाइ, तुमए, तए, तइ, डिना सह ।

तु-तुव-तुम-तुह-तुम्हा डौ ॥ १०२ ॥

डौ युष्मदस् ‘तु तुव तुम, तुह तुम्हाः’ पञ्च तु स्युरादेशाः ।

डैस्तु यथाप्राप्तं स्यादादेशो दर्शितः पूर्वम् ॥

तुम्हि तुवम्हि तुमम्हि च, तुहम्हि तुम्हम्हि चात्र वैकल्यात् [३१०४]

तुम्हाम्हि च तुज्जम्हि च, रूपाण्यन्यानि बोध्यानि ।

सुपि ॥ १०३ ॥

सुपि युष्मदस् तु-तुव-तुम-तुह-तुम्हाः पञ्च तु स्युरादेशाः ।

तुसु च तुवेसु तुमसु च, तुहसु तुम्हसु रूपाणि ।

व्यस्य [३१०४] विकल्पाद् रूपद्वयं च तुम्हसु भवति तुज्जसु ।

सुप्येत्यस्य विकल्पं, केचित् कथयन्ति, तदपि यथा ।

तुम्हसु तुम्हासु तुज्जसु, तुवसु तुमसु तुहसु पदसंख्यम् ।

व्यस्याऽऽत्वमपि परः तु-ज्जासु च तुम्हासु तुज्जासु ॥

वो म्ह-ज्जो वा ॥ १०४ ॥

युष्मदादेशरूपेषु, यो द्विरुक्तोऽयम् उच्यते ।

तस्याऽऽदेशौ तु वा ‘म्ह-ज्जो,’ स्याताम्, सर्वमुदाहृतम् ।

अस्मदो म्मि अस्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना ॥ १०५ ॥

अस्मि अम्हि म्मि अहयं, अहं हं च सिना सह ।

अस्मदः पद् तु रूपाणि, सौ जवन्तीति बुध्यताम् ।

अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं जे जमा ॥ १०६ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह मो जे वयं, पद् स्युर्जसा सह ।

णे णं मि अस्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ॥ १०७ ॥

अस्मि अम्ह मिमं णे णं मि मं मम्ह ममं अहं ।

अमा सह दशाऽऽदेशाः संभवन्त्यस्मदोऽव तु ।

अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा ॥ १०८ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह णे च, चत्वारि स्युः शसा सह ।

मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा ॥ १०९ ॥

मि मे ममं णे मयाइ, ममाइ ममए मए ।

मइ, चेति नवादेशाः, सार्धं टा-प्रत्ययेन हि ।

अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे निसा ॥ ११० ॥

अम्हाहि अम्ह अम्हे णे, अम्हेहि स्युर्भिसा सह ।

मइ-मम-मह-मज्ज्जा डसौ ॥ १११ ॥

डसौ परे ‘मइ-मम-मह-मज्ज्जाः’ स्युरस्मदः ।

डसं यथाप्राप्तमेवाऽऽदेशाः स्युः पूर्वदर्शिताः ।

यथा मइत्तो मज्जत्तो, ममत्तो च महत्तो च ।

एवं दो-डु-हि-हिन्तो-लुक् वप्युदाह्रियतां पुनः ।

ममाम्हाँ ज्यसि ॥ ११२ ॥

भ्यसि स्यातां ममाम्हाँ द्वौ, यथाप्राप्तं भ्यसोऽपि च ।

अम्हाहिन्तो ममहिन्तो, अम्हासुन्तो ममत्तो च ।

ममसुन्तो ममासुन्तो अम्हेसुन्तो च अम्हात्तो ।

मे मइ मम मह महं मज्ज मज्जं अम्ह अम्हं डसा ॥ ११३ ॥

अम्हाऽम्हं मे मइ मम, मज्ज मज्जं महं मह ।

डसा सह नवादेशाः, संभवन्त्यस्मदोऽव तु ।

णे णो मज्ज अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण-

महाण मज्जाण आमा ॥ ११४ ॥

अम्हं महाण मज्जाण अम्होऽम्हाण ममाणे ।

पो अम्हं अम्हं मज्जं स्युर आमा सार्धं च पञ्च पद [११] ।

'क्यास्यादिरिति' [१२७] वा णस्य सानुस्वारं चतुष्टयम् ।

यथा महाणं मज्जाणं अम्हाणं च ममाणं च ।

मि मइ ममाउ मए मे डिना ॥ ११५ ॥

मए ममाइ मइ मे, मि, स्युः पञ्च डिना सह ।

अम्हं-मप-मह-मज्जा डौ ॥ ११६ ॥

अम्हं-मज्जा मम-महो, डौ स्युरेतेऽस्मदः परे ।

डेः स्थाने तु यथाप्राप्तमादेशः पूर्वदर्शितः ।

यथा ममम्मि मज्जम्मि, तथाऽम्हम्मि महम्मि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥

चत्वारोऽम्हादयोऽत्रापि, जवन्ति सुपि तद्यथा ।

यथा ममेसु मज्जेसु, अम्हेसु च महेसु च ।

सुप्येत्वं केऽपि वेच्छन्ति, तन्मतेऽम्हसु मज्जसु ।

ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।

केचिद् अम्हस्यात्वमपि, वाञ्छन्त्यम्हासु तन्मते ।

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ११८ ॥

त्रेः स्थाने ती तृतीयादौ, प्रत्यये परतो भवेत् ।

तीहन्तो तीसु तिण्हं च, तीहिं चेति प्रकीर्तितम् ।

द्वेर्दो वे ॥ ११९ ॥

द्विशब्दस्य तृतीयादौ 'दो' 'वे' स्तः, दोहि वेहि च ।

दोण्हं वेण्हं च दोहन्तो, वेहन्तो दोसु वेसु च ॥

दुवे दोस्मि वेस्मि च जम्-शमा ॥ १२० ॥

जम्-शस्भ्यां सहितस्य द्वे, स्थाने स्युः, दोस्मि, वेस्मि, च ।

डुवे, दो, वे, 'दुस्मि विस्मि' संयोगे [१२४] ह्रस्वदर्शनात् ॥

त्रेस्तिस्मिः ॥ १२१ ॥

जम्-शस्भ्यां सहितस्य त्रैः, स्थाने तिस्मि प्रयुज्यते ।

चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥ १२२ ॥

चतुर इत्यस्य जम्-शस्भ्यां, सहाऽऽदेशास्त्रयो मताः ।

यथा चत्तारि चत्तारो, चउरो आसि पेच्छु वा ॥

मंख्याया आमो एह एहं ॥ १२३ ॥

संख्याशब्दात् परस्याऽऽमो, 'एह एहं' एतद् द्वयं जवेत् ।

दोएह पञ्चएह सत्तएह, तिण्हं छुण्हं चउएह च ॥

दोण्हं तिण्हं चउण्हं पञ्चण्हं छुण्हं च सत्तण्हं ।

प्रतावाद् बहुलस्यमौ, विशत्यादेनं चाप्नुतः ॥

शेषेऽदन्तवत् ॥ १२४ ॥

इहोपयुक्तादन्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।

तत्र स्यादिविधिः सर्वोऽदन्तवत् सोऽतिदिश्यते ॥

येष्वादन्तादिशब्देषु, पूर्व कार्यं न दर्शितम् ।

तेष्वदन्ताधिकारोक्ता, लुगादि [३ । ४] विधिरिष्यते ॥

तत्र तावत् 'जम्-शसोऽलुक्' [३ । ४] विधिरयोऽतिदिश्यते ।

'मात्रा गिरी गुरु रेहन्ति वा पेच्छु' ययोच्यते ॥

'अमोऽस्य' [३ । ५] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरुं महिं पेच्छु, गामणिं खल्लुं यहुं ॥

'टा-ऽऽमोणः' [३ । ६] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

कयं हाहाण, मालाण गिरिण धणमीदृशम् ॥

टायस्तु टो णा [३ । ७] टाळम्भेः [३ । ८] इत्ययं दर्शितो विधिः ।

'भिसो हि हिं हिं' [३ । ७] इत्येतत् कार्यं चाप्यतिदिश्यते ॥

यथा गिरीहि मात्राहि गुरुहि च सहीहिं च ।

विद्यादेवं चातिदेशमनुस्वारेऽनुनासिके ॥

'डसेस् त्तो-दो-डु' [३ । ८] सूत्रस्य विधिरयोऽतिदिश्यते ।

मालाहन्तो च मात्राओ वुकीओ, हिमुकौ नहि [३ । ९] ॥

'भ्यसस् त्तो दो डु' [३ । ९] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

मालाहन्तो तथा मात्रासुन्तो, हिस्तु निपेत्स्यते [३ । १०] ॥

'डसः स्तः' [३ । १०] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरिस्सेति गुरुस्सेति दहिस्सेति महुस्स च ॥

'टा-डस् डेः' [३ । ११] इति सूत्रं तु स्त्रियां सम्यगुदाहृतम् ।

'मेम्मि डेः' [३ । ११] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

यथा 'गिरिम्मि' इत्यादि, डविधिस्तु निपेत्स्यते [३ । १२] ॥

'जस्-शस्-डसि त्तो' [३ । १२] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरी गुरु गिरीओ च, गुरुओ च गुरुण च ।

'भ्यसि वा' [३ । १३] इति सूत्रस्यातिदेशो नोपदिश्यते ।

'इडुतो दीर्घ' [३ । १४] सूत्रेण नित्यं दीर्घस्य शासनात् ।

टाण-शस्येत् [३ । १४] च 'भिस्-ज्यस्' [३ । १५]

इत्यतिदेशो निपेत्स्यते [३ । १२६] ॥

न दीर्घो णो ॥ १२५ ॥

इदन्तोऽदन्तयोर्जस्-शस्-डस्यादेशे परे णवि [३ । १२७]

न दीर्घः पूर्ववर्णस्य, अगिणो वाउणो यथा ।

डसेलुक् ॥ १२६ ॥

आकारान्तादिशब्देभ्यो, लुक् नैवादन्तवद् डसेः ।

मालाहन्तो च अग्गीओ, वाउओ-ऽस्ति निदर्शनम् ॥

ज्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥

हिर्नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् स्याद् ज्यसो डसेः ।

मालाहन्तो च मात्राओ, अग्गीहन्तो निदर्शनम् ॥

डेर्नेः ॥ १२८ ॥

'ने' नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् डेर्नेवेदिह ।

यथा-अगिगम्मि वाउम्मि, दहिम्मि च महुम्मि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥

टा-शस्-भिस्-भ्यस्-सुप्सु नैत्वम्, आदन्तादेरदन्तवत् ।

कयं हाहाण, मालाओ पेच्छु, मालाहि वा कयं ।

मालाहन्तो तथा मालासुन्तो मात्रासु अगिणो ।

वाउणो चेदं लक्ष्यं, विविधं प्रतिबुध्यताम् ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥

सर्वोसां हि विभक्तीनां, स्यादि-त्यादिप्रवर्तिनाम् ।

स्थाने द्विवचनस्येह, बहुत्वं संप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः पष्ठी ॥ १३१ ॥

स्थाने चतुर्थ्याः पष्ठी स्यात्, 'नमो देवस्स' ईदृशम् ।

तादर्थ्येऽर्वा ॥ १३२ ॥

तादर्थ्येऽर्वा चतुर्थ्येकवचनस्य विभाषया ।

पष्ठी, देवस्स देवाय, 'देवार्थ' तस्य बुध्यताम् ॥

वधाद् माइश्च वा ॥ १३३ ॥

वधशब्दात् तु तादर्थ्येऽर्वा पष्ठी माइ चाऽस्तु वा ।

वहाइ वहस्स वहाय वधार्थं त्रयं मतम् ।

कचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने पष्ठी कचिद् भवेत् ।

स।माधरस्स वन्दे,तिस्सा भरिमो मुहस्स,अम्हो अ (द्विती०पष्टी)
लच्छो धणस्स,मुक्का चिरस्स (तृती०पष्टी) चोरस्स वीहइ सा।
इअराई जाण बहुअम्भराई पायन्तिमिलुसेहिआण।(पञ्च०पष्टी)
'पिट्ठीपे केस-नारो' (सप्त० पष्टी) विचिन्तनीयं बुधैरेवम्।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ १३९ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित् ।
गामे वसामि,नयरे न जामि (द्वि० स०) मइ वेविराई मलिआई ।
लोए तिसु तेसु अल्लेकिआ अ पुहवी जहा भाइ (तृती०सप्त०)

पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

स्यातां तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः कुत्रचित् यथा ।

चोराट् विभेति 'चोरेण वीहइ' प्रतिपाद्यते ।

'अन्तेउरे महाराओ आगओ रमिउं' यथा ।

सप्तम्या द्वितीया ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने सद्भिः प्रयुज्यते ।

जवेदापे तृतीयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्थले ।

'विज्जुज्जायं रत्ति भरइ,' तृतीया तु-तेण कालेण ।

तेणं समएणं वा, चउवांसं जिणवरा पि' यथा ।

क्यङ्कोर्यलुक् ॥ १३८ ॥

क्यङन्तस्य क्यङ्पन्तस्य, यस्य वा लुक् भवेदिह ।

गरुआइ च गरुआअइ, अगुरुगुरुर्भवति, गुरुरिवाचरति ।

दमदमाइ दमदमाअ-इ, लोहिआइ लोहिआअइ च ।

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचैौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।

इचेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।

यथा-हसइ हसए, तथा वेवइ वेवए ।

'इचेचः' [४३१८] इति सूत्रस्य चकारावुपकारकौ ।

तृतीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् द्वितीयं त्रिकं भवेत् ।

सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।

यथा-हससि हससे, तथा वेवसि वेवसे ।

तृतीयस्य मिः ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।

मिरादेशस्तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।

यथा-हसामि वेवामि, भवेद् बाहुलकादिह ।

मिवेमैरिकारलोपो, न मरं न म्रिये तथा ।

'बहुजाणय रुसिउं' 'सकं' शक्नोमि गद्यते ।

बहुप्राद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।

तदन्यस्य त्रयो 'न्ति न्ते इरे' स्युः पदयोर्द्वयोः ।

हसिज्जन्ति रमिज्जन्ति वेवन्ति च हसन्ति च ।

उप्पज्जन्ते विच्छुहिरे वीहन्ते च पडुप्पिरे ।

एकत्वेऽपि क्वचिदिरे स्याच्च रूसइरे इति । [१]

मध्यमस्येत्या-हचौ ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति मध्यमं त्रिकम् ।

'इत्था-हचौ' तदन्यस्य, भवेतां पदयोर्द्वयोः ।

यथा-हसित्था हसह, वेवित्था अपि वेवह ।

[१] गुण्यतीत्यर्थः ।

'इत्था' अन्यत्रापि बहुलम्- 'यद्यत् रोचते' इदम् ।

वाक्यं 'जं जं ते रोइत्था,' ईदृशं संप्रयुज्यते ।

स्यात् चः 'इह-हचोर्हस्य' [४३६८] सूत्रस्यास्य विशेषकः ।

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।

'मो-मु-माः' स्युस्तदन्यस्य, पदयोरुभयोरपि ।

यथा हसामो हसामु हसाम, तुवराम च ।

तुवरामो तुवरामु, तथा अन्यत्रापि बुध्यताम् ।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ 'एच्, से' इत्येतौ परिकीर्तितौ ।

अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽन्यस्मादिति हि स्थितिः ।

हसए हससे-ऽतः किम् ?, गइ गसि न चेह तौ ।

अदन्ताद् 'एच् से' पवत्यवधारणवारणः ।

एवकारस्ततोऽदन्तात् सि-इचावपि सिध्यतः ।

अतो 'हसइ हससि' तथा वेवइ वेवसि ।

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेन, सहाऽस्तेः सिर्जवदिह ।

सिनेति किम् ? 'अत्थि तुमं' से आदेशे कृते सति ।

मि-मो-मैर्हिह-म्हो-म्हा वा ॥ १४७ ॥

अस्तेः स्थाने यथासंख्यं, 'मि-मो-मैः' सह वा त्रयः ।

'म्हिह-म्हो-म्ह' इत्यादेशास्तु भवति, तन्निदर्शयते ।

'एस म्हि' एषोऽस्मीत्यर्थः, गयम्हो च गयम्ह च ।

मुकाराग्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति मन्यताम् ।

पक्के-अत्थि अहं, अत्थि अम्हे, अम्हो वि अत्थि च ।

ननु सिद्धावस्थायां, 'म्हो' इति सिद्धं हि पञ्चमसुत्र [२१७४] बलात् ? ।

प्रायस्तु साध्यमानाऽवस्था मान्या विभक्तिविधौ ।

नो चेत् 'सव्वे, जे, के,' इत्याद्यर्थे बहूनि सूत्राणि ।

न विधेयानि स्युरतोऽङ्गीकार्य्या साध्यमानाऽत्र ।

अत्थिस्त्यादिना ॥ १४८ ॥

अस्तेः स्थाने जवेद् अत्थि-रादेशस्त्यादिभिः सह ।

अत्थि सो, अत्थि ते, अत्थि तुमं, अत्थि अहं तथा ।

अत्थि तुम्हे, अत्थि अम्हे, रूपवद्बुमुदाहृतम् ।

णेरदेदावावे ॥ १४९ ॥

णेः 'अत् एत् आव आवे' सन्त्वमी च यथाक्रमम् ।

दरिसइ कोरेइ करा-वइ च करावेइ, वा हसावेइ ।

हासेइ हसावइ वा, नैत्वं कापीह बाहुलकात् ।

जाणावेइ, न आवे इत्यादेशः प्रवर्त्तते कापि ।

तेन भवेदिह रूपं सिद्धं 'पाणइ' भावेइ' ।

गुर्वादेरविर्वा ॥ १५० ॥

गुर्वादेर्णैर् अविर्वा स्यात्, शोषितम्-सोसिअ तथा ।

सोसविअं, तोपितम्-तोसविअं तोसिअं यथा ॥

जमेरामो वा ॥ १५१ ॥

जमेः परस्य णेराड आदेशो वा विधीयते ।

भमाडइ भमामेइ, पक्के रूपं निशम्यताम् ।

जमावइ भमावेइ, भामेइ त्रयमिष्यते ।

लुगार्वा क्त-जाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

णेर्लुग् आवि जवेतां क्ते, प्रत्यये भावकर्मणोः ।

कराविअं कारिअं हासिअं चैव हसाविअं ।

[भावकर्म] कारीअइ च करावी-अइ कारिजइ तथा कराविजइ ।
हासोअइ च हासावी-अइ हासिजइ हासाविजइ ।

अदेह्युत्पादेरत आः ॥ १५३ ॥

भद्-एद्-लोपेषु जातेषु, णरादेरस्य 'आ' भवेत् ।
एति-कारिइ खामिइ, अति-पारइ मारइ ।
मुकि-कारिअं खामिअं, कारीअइ भवति वा च कारिजइ ।
खाम।अइ खामिजइ, किमदेह्युकि-इति ? कराविजइ ॥
कराविअं च करावी-अइ, आदेः किम् ? यथा संगामेइ ।
व्यवहितान्ययानं स्यात्-कारिअं, किम् ? अतश्च-दूसेइ ॥
आवे आवादेशेऽप्यादिरत आत्वमाह कोऽपि पुनः ।
कारावेइ च, 'हासाविओ जणां सामजोए च' ।

मौ वा ॥ १५४ ॥

अत आत्वं वाऽन्ताद् धातोर्भवतीह मौ परे हि यथा ।
हसमि हसामि, च जाणमि, जाणामि लिहामि, लिहामि यथा ।

इच्च मो-मु-मे वा ॥ १५५ ॥

अत इत्वं वाऽऽत्वं वाऽन्ताद् धातोः परेषु मु-मे-मोषु ।
मणिमु जणामु, भणामो, भणिमो, च भणाम भणिम यथा ।
पक्के तु स्यात् भणमो, जणमु भणम, 'वर्त्तमान' [३।१५८] सूत्रेण ।
एत्वं कृते, भणमो जणेमु सिद्धं भणेम तथा ।

क्ते ॥ १५६ ॥

अत इत्वं क्ते परे स्याद्, हसिअं हसिअं यथा ।
सिद्धावस्थापेकणात् तु गयमित्यादि सिध्यति ॥

एच क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥ १५७ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, भविष्यत्प्रत्यये तथा ।
एत्वम् इत्वम् अतः स्यातां, तत् क्रमेणह दृश्यताम् ।
(क्त्वा) हसिऊण हसेऊण (तुम्) हसेउं हसिउं तथा ।
(तव्य) हसिअव्वं हसेअव्वं (भविष्यत्) हसिदिइ हसेदिइ ।

वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ॥ १५८ ॥

पञ्चम्यां वर्तमानायां शतरि प्रत्यये तथा ।
परतोऽतो विकल्पेन स्थाने स्यादेत्वमत्र तु ।
हसइ हसेइ, हसिम हसेम, हसिमु हसेमु इह च भवन्ति । [१]
'हसउ हसेउ, सुणउ सुणेउ, इति विनुधा हि परिणिगदन्ति । [२]
वा हसन्तो हसेन्तो च, कचिन्नो-जयईत्यतः । [३]
आत्वं च दृश्यते क्वापि-'सुणार' इतिरूपतः ।

जा-ज्जे ॥ १५९ ॥

जा-ज्जयोः परयांस्य भवेदेत्वं ततो जवेत् ।
हसेज्ज च हसेज्जा च, 'होज्जा होज्ज' अतं विना ।

ईअ-इज्जा क्यस्य ॥ १६० ॥

चिज्यादीनां भावकर्मविधित्रे प्रयत्नयते ।
येषां न वृज्यते तेषां क्यस्य ईअ च इज्ज च ।
एतां भवेतामादेशा, हागोअइ हसिज्जइ ।
हसाअन्तो हसिज्जन्तो, पदिज्जइ पदीअइ ।
हसाअमाणां च हसिज्जमाणां, क्योऽपि वा क्वचित् ।
मए नवेज्ज तु मए नविज्जेज्ज भवेदिह ।

दृशि-वचेदीम-हुच्च ॥ १६१ ॥

दृशेवचेः परो यः क्यगतस्य स्तो 'डीस कुच्च' च ।

[१] वर्तमाना । [२] पञ्चमी । [३] शतृ ।

ईअ-इज्जापवादोऽयम्, यथा 'दीसइ' वुच्चइ ।

मी ही हीअ जूतार्थस्य ॥ १६२ ॥

प्रत्ययो योऽद्यतन्यादिर्भूतेऽर्थे विहितो भवेत् ।
तस्य जूतार्थसंज्ञस्य 'सी ही हीअ' जवन्त्यमी ।
व्यजनादीअ [३ । १६३] करणात् स्वरान्तादयमिष्यते ।
'कासी काही च काहीअ' अकार्पादि अकरोत् तथा ।
चकारेत्यर्थकाः, आपें- 'देविन्दो इणमव्ववी' ।
इत्यत्र सिद्धावस्थातः, प्रयुक्ता हास्तनी क्रिया ।

व्यजनादीअः ॥ १६३ ॥

व्यजनान्ताद् जवेद् धातोर्भूतार्थस्य तु 'ईअ' हि ।
बभूवाभूद्भवदित्यर्थे वाच्यं 'हुवीअ' तु ।
एवं 'अच्छीअ' आसिष्ट आसाञ्चक्रे तथाऽऽस्त वा ।
अगृह्णाद् अग्रहीत् जग्राह वा 'गेणहीअ' कथ्यते ।

तेनास्तेरास्यहेसी ॥ १६४ ॥

जूतार्थः प्रत्ययो योऽत्र कथितः सह तेन हि ।
अस्तेर्धातोः पदे स्याताम् 'आस्यहेसी' इमौ यथा ।
'तुमं अहं वा सो आसि' ये आसन्ति 'आसि ये'
एवम् 'अहेसि' इत्यस्य, सर्वं वाक्यं विभाव्यताम् ॥

जातु सप्तम्या इवा ॥ १६५ ॥

सप्तम्यादेशभूताद् हि, ज्जात् परो वा इरिष्यते ।
'होज्ज होज्ज' इत्येतत्-'भवेत्' इत्यर्थवोधकम् ।

जविष्यति हिरादिः ॥ १६६ ॥

जविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये पर इष्यते ।
तस्यैवादिर्हिरादेशो, यथा 'होहिइ' इत्ययम् ।
वा जविष्यति भविता, एवं होहिन्ति होहिसि ।
होहित्या वा हसिहिइ, तथा काहिइ बुध्यताम् ।

मि-मो-मु-मे स्सा हा नवा ॥ १६७ ॥

अर्थे जविष्यति परेषु मु-मो-मि-मेषु
'स्सा हा' इमौ हि विदधीत तदादिभूतौ ।
वाऽयं विधिर्हिमऽपवाच्य भवत्यतो हिः
पक्षे जवेदिति बुधैः परिज्ञावनीयम् ॥
होस्सामो होहामो, तथैव होस्सामि भवति होहामि ।
होस्सामु च होहामु च, भवति च होस्साम हाहाम ।
पक्के होहिमि हाहिम, होहिमु होहिमो च भवति रूपमिति ।
'हा' न कापि जवेदिह, यथा-हसिदिमो हसिस्सामो ।

मो-मु-मानां हिस्सा हित्या ॥ १६८ ॥

जविष्यति प्रवृत्तानां, मो-मु-मानां पुनर्मतौ ।
'हिस्सा' हित्या, इमौ धातोः परो वेत्युपदिश्यते ।
हसिहिस्सा हसिहित्या, हाहिस्सा पठ्यते च होहित्या ।
पक्षे होस्सामो हाहामो हाहिमो च रूपाणि ॥

मेः स्सं ॥ १६९ ॥

धातोः परो जविष्यति काले, मेः स्सं विकल्पतो जवति ।
हास्सं हासिस्सं, पक्के हाहिमि होस्सामि हाहामि ।

कृ-दाहं ॥ १७० ॥

करोतेश्च ददातेश्च, परः काले भविष्यति ।
विहितस्य हि 'मेः' स्थाने 'हम्' आदेशो विकल्प्यते ।
काहं दाहं करिष्यामि दास्यामीत्यर्थवोधकौ ।

पक्षे रूपद्वयं वेद्यं, यथा-काहिमि दाहिमि ।

श्रु-गमि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-गिदि-भिदि-भुजां
सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं वेच्छं जेच्छं
भोच्छं ॥ १७१ ॥

श्वादीनां दशधातूनां, ज्यन्तानां हि जविष्यति ।

सोच्छमित्यादयस्तेषां निपात्यन्ते पदे, यथा ।

सोच्छं श्रोष्यामि तथा, दच्छं द्रक्ष्यामि, मोच्छं मोक्ष्यामि ।

वोच्छं वक्ष्यामि पुनः, वेच्छं वेक्ष्यामि जानीहि ।

भेच्छं भेक्ष्यामि तथा, भोच्छं भोक्ष्ये च धीवरैरुक्तम् ।

संगच्छं संगस्ये, रोदिष्यामीति रोच्छमिति भवति ।

वेदिष्यामि च वेच्छं, तथैव गच्छं गमिष्यामि ।

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥ १७२ ॥

श्वादीनां धातूनां स्थाने सोच्छादयो यथासंख्यम् ।

भविष्यतीजादिष्वा-देशेषु स्युर, हिलुक् वा च ।

सांच्छिह वा तु सांच्छिहिह, एवं सोच्छिन्ति सांच्छिहन्ति तथा ।

सोच्छिसि सांच्छिहिसि स्यात्, सांच्छिस्था सांच्छिहस्था च ॥

सांच्छिह सांच्छिहिह स्यात्, सांच्छिमि सांच्छिहिमि भवति रूपम् ।

सांच्छिहसामि सांच्छिहामि सांच्छिहसं सांच्छिमो सोच्छं ॥

सांच्छिहिमो सांच्छिहसामो सांच्छिहामो सांच्छिहिसा च ।

रूपं च सांच्छिहस्था, एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥

गच्छिह वा तु गच्छिहिह, एवं गच्छिन्ति गच्छिहन्ति तथा ।

गच्छिसि गच्छिहिसि स्यात्, गच्छिस्था गच्छिहस्था च ॥

गच्छिह गच्छिहिह स्यात्, गच्छिमि गच्छिहिमि भवति रूपम् ।

गच्छिहसामि गच्छिहामि गच्छिहसं गच्छिमो गच्छं ॥

गच्छिहिमो गच्छिहसामो गच्छिहामो गच्छिहिसा च ।

रूपं च गच्छिहस्था एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥

रुदादीनां च धातूनामप्युदाहार्यमीदृशम् ।

दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिन्सूत्राणाम् ॥ १७३ ॥

विध्यादिषूपपन्नानाम्, एकत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।

त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युः ' दु सु मु ' क्रमात् ॥

हसउ सा, हससु तु, हसामु अहमित्यपि ।

एवं भवति पेच्छामु तथा पेच्छुउ पेच्छसु ॥

दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थं प्रतिपद्यताम् ।

सोर्हिवा ॥ १७४ ॥

कृतस्य पूर्वसूत्रेण सोः स्थाने हिर्विकल्प्यते ।

' वेहि देसु ' ततो रूपद्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

अत इज्जस्विज्जह्ज्जे-ल्लुको वा ॥ १७५ ॥

अतः परस्य सोः स्थाने ' इज्जे इज्जसु इज्जहि '

इत्येते लुक् च चत्वार आदेशाः परिकीर्तिताः ।

हसेज्जसु हसेज्जे च हसेज्जहि च वा, हस ।

पक्षे-हससु, किमतः ? यथा स्याद् होसु ग्राहि च ।

बहुषु न्तु ह मो ॥ १७६ ॥

विध्यादिषूपपन्नानां बहुत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।

त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युर ' न्तु ह मो ' क्रमात् ।

यथा-[न्तु] हसन्तु हसन्तु हसेयुं वा, [ह] हसह हसेत वा हसत ।

भवन्ति-[मो] हसामो च हसाम वा हसेम स्युरिति बोध्यम् ।

वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ॥ १७७ ॥

वर्तमानाभविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च यः कृतः ।

ए

प्रत्ययस्तस्य तु स्थाने, ' ज्ज ज्जा ' -ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।

[वर्तमाना] हसेज्ज च हसेज्जा च, पक्षे ' हसह ' सिद्ध्यति ।

पदेज्ज च पदेज्जा च, पक्षे- ' पदह ' इत्यपि ।

[जविष्यन्ती] पदेज्ज च पदेज्जा च, पक्षे पदिहिह स्मृतम् ।

[विध्यादिषु] हसेज्ज पक्षे, हसतु हसिज्जा च हसेज्ज च ।

एवं सर्वत्र बोद्धव्यं, तृतीये तु त्रिके यथा ।

अइवाएज्जा अइवायावेज्जा चेह पठ्यते ।

स्याद् न समणुजाणामि, समणुजाणज्जा न वा ।

अन्ये तु सुरयाऽन्यासामपि वाञ्छन्ति, तद्यथा ।

लकारदशके ' हांज्ज ' भवतीत्यादिवाचकम् ।

मध्ये च स्वरान्ताद् वा ॥ १७८ ॥

धातोः स्वरान्तात् प्रकृति-प्रत्ययान्तरगौ तथा ।

चात्प्रत्ययानां च स्थाने, ' ज्ज ज्जा ' -ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।

वर्तमाना-भविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च दर्शयते ।

[वर्तमाना] होज्जा होज्जइ होज्जाइ होज्ज, होइ तु पाक्षिकम् ।

होज्जा होज्जसि होज्जासि होज्ज, होसि तु पाक्षिकम् ।

[जविष्यन्ती] होज्जाहिह होज्जहिह, होज्जा होज्ज च पठ्यते ।

पक्षे ' होहिह ' इत्येतद् रूपं सिद्धिं प्रयाति च ।

होज्जाहिसि होज्जहिंसि, होज्ज होज्जा च होहिंसि ।

होज्जाहिमि होज्जहिमि, होज्जसामि ततः परम् ।

होज्जहामि च होज्जसं, होज्ज होज्जा-ऽऽदि बुध्यताम् ॥

[विध्यादिषु] होज्ज होज्जव होज्जाव होज्जा, जवतु वा जवेत् ।

पक्षे होव, स्वरान्तात् किम् ?-हसेज्जा च हसेज्ज च ॥

क्रियाऽतिपक्षेः ॥ १७९ ॥

क्रियाऽतिपक्षेः स्थाने तु, ' ज्ज ज्जा ' -ऽऽदेशौ प्रकीर्तितौ ।

अतो- ' अभविष्यद् ' इत्यर्थे ' हांज्ज होज्जा ' प्रयुज्यते ॥

न्त-माणौ ॥ १८० ॥

क्रियाऽतिपक्षेः स्थाने तु, ' न्त-माणौ ' इति भाषितौ ।

अतो ' होन्तो ' च ' होमाणो ' -ऽभविष्यद् ' इति बोधकौ ॥

" हरिण-छाणे हरिणं ! जइ सि हरिणाहिवं निवेसन्तो ।

न सहन्तो षिय तो राहुपरिहवं से जिअन्तस्स " * ॥

शत्रानशः ॥ १८१ ॥

' शत्रु-आनश् ' इत्यनयोर् ' न्त-माणौ ' स्तः पृथक् पृथक् ।

[शत्रु] हसन्तो हसमाणो च, [आनश्] वेवन्तो वेवमाणो च ॥

ई च स्त्रियाम् ॥ १८२ ॥

स्त्रियां शत्रानशोः स्थाने, ' ई, न्त-माणौ ' भवन्ति च ।

हसन्ती हसमाणी च, हसई च शत्रुस्त्रियम् ।

वेवन्ती वेवमाणी च वेवई त्रयमानशः ॥

या जाषा जगवद्रचोत्तिरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।

तस्याः संप्रति दुःपमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः

संचाराय मया कृते विवरणे पादस्तृतीयो गतः ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ तृतीयः पादः ।

* हरिणस्थाने हरिणाङ्क ! यदि त्वं हरिणाधिपं न्यवेक्ष्यः ।

नासादिप्यथा एव ततो राहुपरिभवं तस्य जीवतः ॥

तुल्यैर्यन्तस्य 'ओहामो' वा, तुलइ ओहामइ ।

विरिचरोलुण्मोलुण्म-पद्वत्थाः ॥ २६ ॥

विरिचरोलुण्मोलुण्म-पद्वत्थाः ।
ओलुण्डइ उल्लुण्डइ पद्वत्थइ वा विरेअइ च ।

तमराहोम-विहोमौ ॥ २७ ॥

तडेर्यन्तस्य वाऽऽहोम-विहोमौ भवतः क्रमात् ।
आहोमइ विहोडइ, पक्के 'तामइ' सिध्यति ।

मिश्रवर्षाल-मेलवौ ॥ २८ ॥

मिश्रयतेर्यन्तस्य तु, वा स्तो वःसाल-मेलवौ ।
वोसालइ मेलवइ, पक्के 'मिस्सइ' जायते ।

उच्छृङ्गेणुः ॥ २९ ॥

ण्यन्तस्योद्धलि-धातोः स्याद्, गुण्ठाऽऽदेशो विभाषया ।
ततो गुण्ठइ पक्के स्याद्, 'उच्छृङ्गे' क्रियापदम् ।

भ्रमेस्तात्रिअण्ट-तमाडौ ॥ ३० ॥

तालिअण्ट-तमाडौ द्वौ, भ्रमेर्यन्तस्य वा मतौ ।
स्यात् तालिअण्टइ तमाडइ चेति द्वयं, तथा ।
तमाडइ भमावइ, भामेइ त्रयमीरितम् ।

नशेर्विउड-नासव-हारव-विष्णगाल-पलावाः ॥ ३१ ॥

पलावो विउमो विष्णगालो नासव-हारवौ ।
एते पञ्च विकल्पेन स्युर्न्यन्तस्य नशेरिह ।
विष्णगालइ च पला-वइ हारवइ स्मृतम् ।
विउडइ नासवइ, पक्के 'नासइ' सिध्यति ।

दशोदवि-दंस-दखवः ॥ ३२ ॥

दावो दंसो दखवश्च, दशेर्यन्तस्य वा त्रयः ।
दावइ दंसइ दखवइ दरिसइ स्मृतम् ।

उदघटेरुगः ॥ ३३ ॥

एयन्तस्य वोदघटेर् उगः, उग्याडइ च उगइ ।

स्पृहः सिंहः ॥ ३४ ॥

स्पृहो एयन्तस्य 'सिह' इत्यादेशः, सिंहइ स्मृतम् ।

संजावेरामङ्गः ॥ ३५ ॥

संभावयतेर्धातोरासङ्गो वा विधीयते ।
भवेद् आसङ्गइ तथा, संभावइ च पाक्षिकम् ।

उन्नमेर्यन्तस्योन्नोल्लाल-गुलुगुञ्जोपेलाः ॥ ३६ ॥

उत्थोल्लाल-गुलुगुञ्जोपेला वा स्युर् उन्नमेः ।
उत्थोल्लालइ उल्लालइ, उपेलाइ तथा पुनः ।
गुलुगुञ्जइ, पक्के तु पदम् उन्नवइ स्मृतम् ।

प्रस्थापेः पट्टव-पेणवौ ॥ ३७ ॥

प्रस्थापयतेरादेशौ वा पट्टव-पेणवौ ।
पट्टवइ पेणवइ, पक्के पट्टावइ स्मृतम् ।

विज्ञपेर्वोकावुक्कौ ॥ ३८ ॥

वुक्कावुक्कौ विजानातेः, स्थाने स्यातां विनापया ।
स्याद् अवुक्कइ वोक्कइ, पक्के विण्णवइ स्मृतम् ।

अर्पेरात्तिव-चच्चुप्प-पणामाः ॥ ३९ ॥

त्रयो वाऽर्पयतेः स्थाने, पणामश्चच्चुप्पोऽत्तिवः ।
अत्तिवइ चच्चुप्पइ पणामइ, अप्पेइ वा ।

यापेर्जवः ॥ ४० ॥

जवो यापयतेर्वा जवइ, जावेइ वेप्यते ।

प्लावरोम्वाल-पव्वाडौ ॥ ४१ ॥

स्याताम् 'ओम्वाल-पाव्लौ' स्थाने प्लावयतेस्तु वा ।
ओम्वालइ पव्वालइ, पक्के 'पावेइ' सिध्यति ।

विकोशेः पक्खोडः ॥ ४२ ॥

वा विकोशयतेर्नामधातोः 'पक्खोड' इष्यते ।
'पक्खोडइ' ततः सिद्धं, पक्के रूपं 'विकोसइ' ।

रोमन्थेरोगाल-वगोलौ ॥ ४३ ॥

स्याताम् 'ओग्गाल-वग्गोलौ' रोमन्थेस्तु विनापया ।
ओग्गालइ वग्गोलइ, रोमन्थइ तु पाक्षिकम् ।

कमेण्हुवः ॥ ४४ ॥

स्यात् कमेः स्वार्थेर्यन्तस्य, णिहुवोऽत्र विकल्पनात् ।
प्रयुज्यते णिहुवइ, तथा कामेइ पाक्षिकम् ।

प्रकाशेण्हुवः ॥ ४५ ॥

ण्हुवः प्रकाशेर्यन्तस्य, वा पर्यासेइ ण्हुवइ ।

कम्पेर्विच्छोलः ॥ ४६ ॥

कम्पेर्यन्तस्य विच्छोलो वा, विच्छोइ कम्पेइ ।

आरोपेर्वल्लः ॥ ४७ ॥

एयन्तस्य वाऽऽरुहेः स्थाने वलाऽऽदेशोऽभिधीयते ।
रूपं 'वल्लइ' संसिद्धम्, आरोपेइ च पाक्षिकम् ।

दोले रङ्गोलः ॥ ४८ ॥

स्वार्थे एयन्तस्य तु दुल्लेः, रङ्गोलो वा विधीयते ।
सिद्धं रूपं ततो रङ्गोलइ 'दोलइ' पाक्षिकम् ।

रञ्जेः रावः ॥ ४९ ॥

रञ्जेर्यन्तस्य वा रावो, यथा-रावेइ रञ्जेइ ।

घटेः परिवाडः ॥ ५० ॥

परिवारो विकल्पेन घटेर्यन्तस्य जायते ।
संसिद्धं परिवाडइ, पक्के रूपं घमेइ च ।

वेष्टेः परिआलः ॥ ५१ ॥

वेष्टेर्यन्तस्य तु स्थाने 'परिआलो' विकल्पनात् ।
'परिआलेइ वेष्टेइ, द्वयं संसिद्धमृच्छति ।

क्रियः किणो वेस्तु के च ॥ ५२ ॥

णेरित्यत्र निवृत्तं च, क्रीणातेः किण इष्यते ।
वेः परस्य द्विरुक्तः के चात् किणश्चेति बुध्यताम् ।
रूपं किणइ विक्रेइ, तथा विक्रिणइ स्मृतम् ।

जियो भा-वीहौ ॥ ५३ ॥

भा-वीहौ च विज्ञेतेः स्तः, ज्ञाइ वीहइ भाइअं ।
बीहअं, बहुलाद् 'जीओ', इति रूपं च सिध्यति ।

आलीङ्गोऽल्ली ॥ ५४ ॥

आलीयतेर् भवेद् अल्ली, अल्लीणो च अल्लिअइ ।

निदीडेर्णिदीअ-णिलुक-णिरिग्य-लुक-लिक-दिह-

काः ॥ ५५ ॥

'लुक-णिलीअ-णिबुक्का, लिको दिहको णिरिग्य' इत्येते ।

आदेशास्तु निलीडो धातोः षड् वा प्रवर्तन्ते ।
सुक्क इ लिकइ लिक्कइ भवति णिलीअइ तथा णिलुक्कइ च ।
तथा णिरिक्कइ रूपं, पक्के वेद्यं निलिक्कइ तु ।

विन्नीडेविंरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीडोदेशां वा, विराइ विक्किज्जइ ।

रुते रुज्ज-रुएटो ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुज्ज-रुएटौ प्रकीर्तितौ ।

रुज्जइ रुएटइ ततः, पक्के रवइ सिध्यति ।

भुटेर्हणः ॥ ५८ ॥

भृणोतेर्वा इणो, हण-इ सुणइ सिद्धिमितः ।

भुर्गुवः ॥ ५९ ॥

भुनातेर्वा भुवो भुवइ स्याद् भुणइ पाक्किकम् ।

जुवेहो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

'हो हुव हव' इत्येते जुवः स्थाने विकल्पिताः ।

'होइ हुवइ हवइ' स्युर्, 'होन्ति हुवन्ति च हवन्ति' बहुवचने ।

पक्के भवइ भवन्ति च, जविउं पभवइ च परिभवइ ।

कच्चिदप्यपि यथा-जत्तं, उज्जुअइ स्मृतम् ।

अविति हुः ॥ ६१ ॥

विद्वज्जे प्रत्यये 'हु' स्याद्, भुवः स्थाने विज्ञापया ।

यथा हुन्ति, भवन् हुन्तां, किम् ? अविति, 'होइ' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वरुः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कर्त्तरि 'णिव्वरु' भुवः ।

पृथक् स्पष्टा वा जवती-त्यर्थे 'णिव्वरु' स्मृतम् ।

प्रजो हुप्पो वा ॥ ६३ ॥

प्रनुकर्तृकस्य जुवः, स्थाने हुप्पो विकल्प्यते ।

प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्यै-वाथोऽत्रेति विभाव्यताम् ।

अङ्गं चिअ पदुप्पइ, न, पक्के पभवइ च ।

क्ते हूः ॥ ६४ ॥

क्ते जुवो हूर्' अणुहयं, पदुअं दृशमीदृशम् ।

कृगः कुणः ॥ ६५ ॥

कृगः कुणो वा, कुणइ, करइ स्यात्तु पाक्किकम् ।

काणेकिते णिआरः ॥ ६६ ॥

काणेकितविषयस्य तु, कृगः पदे वा णिआर आदेशः ।

काणेकितं करोतीत्यर्थे वाच्यं 'णिआरइ' हि ।

निष्टम्भावप्रम्भे णिदुद-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवप्रम्भे च निष्टम्भे, कृगः संदाण-णिदुदौ ।

इत्यादेशो यथासंख्यं, विकल्पेनेह मुख्यताम् ।

णिदुदइ तु निष्टम्भं करोती-त्यर्थवाचकम् ।

'संदाणइ' अवप्रम्भं करोतीत्यर्थवाचकम् ।

अमे वावम्फः ॥ ६८ ॥

अमविषयस्य तु कृगो, वावम्फो वा विधीयते ।

अमं करोति इत्यर्थे, 'वावम्फइ' निगद्यते ।

मन्युनोष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मन्युनोष्ठमालिन्ये, 'णिव्वोलइ' कृगोऽस्तु वा ।

मालिनीकुरते स्वौष्ठं कुधा, 'णिव्वोलइ' स्मृतम् ।

शैथिल्यलम्बने पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिल्ये लम्बनेऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कृगो यथा ।

लम्बते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्लइ' ।

निष्पाताच्छोटे णीलुज्जः ॥ ७१ ॥

आच्छोटेऽर्थे च निष्पाते, 'णीलुज्जो' वा कृगो भवेत् ।

'णीलुज्जइ' निष्पतति, वाऽऽच्छोटेत्यति कथ्यते ।

कुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

कुरार्थस्य कृगः 'कम्म', इत्यादेशो विभावया ।

'कुरं करोति' इत्यर्थे, पदं 'कम्मइ' ज्ञेयते ।

चाटौ गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कृगो, 'गुललो' वा विधीयते ।

प्रयुज्यते 'गुललइ', 'चाटुकारं करोत्यतः' ।

स्मरेर्जर-भूर-जर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहो विम्हरो भूरः पयरः, सुमरो भरः ।

भलो लढो जरो वैते, नवादेशाः स्मरेर्मताः ।

भूरइ भरइ विम्हरइ, सुमरइ पयरइ च पम्हुहइ सरइ ।

जरइ भलइ लढइ ततः, स्मरेर्भवन्तीह रूपाणि ।

विस्सुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ॥ ७५ ॥

'पम्हुस विम्हर वीसर' इत्यादेशा भवन्ति विस्मरतेः ।

'पम्हुसइ विम्हरइ वीसरइ' च सिद्ध्यन्ति रूपाणि ।

व्याहगेः कोक्क-पोक्कौ ॥ ७६ ॥

व्याहरेर्वा स्याता-मादेशौ द्वौ हि 'कोक्क-पोक्कौ' च ।

कोक्कइ, ह्रस्वत्वे कुक्कइ पोक्कइ, 'वाहरइ' पक्के ।

प्रसरेः पयल्लोवेद्धौ ॥ ७७ ॥

उवेद्धश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरन्तरिमौ ।

उवेद्धइ पयल्लइ, पक्के प्रसरइ स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।

'मालइ महमहइ', गन्धे किं ? प्रसरइ च ।

निस्सरेणीहर-नील-धाम-वरहाडाः ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर् 'वरहाडो, नीलो धाडो च णीहरो' वा स्युः ।

वरहाडइ नीलइ णीहरइ च धाडइ च, नीसरइ ।

जाग्रेर्जगः ॥ ८० ॥

जागतेर् 'जग' इति तु, स्यादादेशो विभावया ।

रूपं 'जगइ' तेन स्यात्, पक्के 'जागरइ' स्मृतम् ।

व्याप्रेराअड्डः ॥ ८१ ॥

धातोर्वाप्रियतेः स्थाने, 'आअड्डो' वा विधीयते ।

आअड्डइ तथा 'वावरेइ' रूपं तु पाक्किकम् ।

संवृगेः साहर-साहट्टौ ॥ ८२ ॥

संवृणोतस्तु साहर-साहट्टौ वा पदे मतौ ।

साहट्टइ साहरइ, पक्के 'संवरइ' स्मृतम् ।

आट्टइः सन्नामः ॥ ८३ ॥

वाऽऽट्टिडः स्यात्तु 'सन्नामो', आदरइ सन्नामइ ।

प्रहणेः सारः ॥ ५४ ॥

सारः प्रहरतेः स्थाने, वा पहरइ सारइ ।

अवतरेरोह-आंगसौ ॥ ८९ ॥

‘आह ओरस’ इत्येतौ, वाऽवावतरतेमैतौ ।

ओहइ वा ओरसइ, पक्षे ‘आओरइ’ स्मृतम् ।

शकेश्वर-तर-तीर-पाराः ॥ ८६ ॥

चयस्तरस्तीरपारौ, चत्वारो वा शकेरिमे ।

तीरइ पारइ सकइ, चयइ तरइ, चयइ च त्यजतेः । [१]

तरतेरपि तु तरइ वा, तीरयतेरपि भवेत् तीरइ ।

पारयतेरपि भवेत्, रूपं ‘पारइ’ गच्छते । [२]

फक्कस्यकः ॥ ८७ ॥

थक्कस्तु फक्कतेः स्थाने भवेत्, ‘थक्कइ’ सिध्यति ।

श्लाघः सल्लहः ॥ ८८ ॥

श्लाघतेः सल्लहादेशो भवेत्, ‘सल्लहइ’ स्मृतम् ।

खचनेर्-अडः ॥ ८९ ॥

खचनेर् ‘वेअडो’ वा, ‘वेअडइ’ ‘खचइ’ स्मृतम् ।

पचेः सोल्ल-पउल्लौ ॥ ९० ॥

वा ‘सोल्ल-पउल्लौ’ इत्यादेशौ स्तः पचतेः स्थाने ।

‘सोल्लइ’ वा ‘पउल्लइ’, पक्षे ‘पयइ’ सिध्यति ।

मुचेइउड्डावडे-मेद्धोस्सिक-रेअव-णिल्लुउउ-धंसामाः ॥ ९१ ॥

मेद्धोऽवडेडो धंसामो, णिल्लुउउस्सिक-रेअवाः ।

उड्डावडेते मुचेः स्थाने, सप्तादेशा विकल्पिताः ।

णिल्लुउउइ उस्सिकइ, अउडेडइ रेअवइ च धंसामइ ।

उड्डावडेते, पक्षे ‘मुअइ’ च रूपं तु भवतीति ।

दुःखे णिव्वन्नः ॥ ९२ ॥

दुःखविषयस्य मुचेर्णिच्चन्नो वा विधीयते ।

‘दुःखं मुञ्चति’ इत्यर्थे ‘णिव्वन्नइ’ क्रियापदम् ।

वञ्चेर्वेहव-वेन्नव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥

वा वेहव-वेन्नव-जूरवा उमच्छाऽपि वञ्चतेः स्थाने ।

वेहवइ वेन्नवइ जूरवइ उमच्छइ च, वञ्चइ च ।

रचेरुगहावह-विमविड्डाः ॥ ९४ ॥

धातोः रचेर् उगहावह-विड्डाविड्डास्त्रयो भवन्त्येते ।

विमविड्डा उगहाइ च अवहइ, पक्षे रयइ भवति ।

समारचेरुवहृत्थ-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥

समारचेर उवहृत्थः, केलायः सारवः समारो वा ।

उवहृत्थइ केलायइ, समारयइ सारवइ समारइ च ।

सिचैः सिञ्च-सिम्पौ ॥ ९६ ॥

सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतेर्वा पदे स्मृतौ ।

सिञ्चं सिञ्चइ सिम्पइ, पक्षे सेअइ ज्ञायते ।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥

प्रच्छेः स्थाने ज्ञेयत् पुच्छादेशः, पुच्छति सिध्यति ।

गर्जेवुक्कः ॥ ९८ ॥

गर्जतेवुक्क इत्यादेशो वा, बुक्कइ, गज्जइ ।

[१] हानिं करोति । [२] कर्म समाप्नोति ।

वृषे ठिकः ॥ ९९ ॥

वृषे कर्तरि गजैर् वा, ठिकाऽऽदेशो विधीयते ।

‘ठिकइ’ ‘गर्जति वृषः’ इत्यर्थे परिपठ्यते ।

राजेरग्य-उज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ १०० ॥

अग्यो रीरो रेहः, उज्जश्च सहो भवन्तु वा राजेः ।

अग्यइ उज्जइ रीरइ, रेहइ रायइ च सहइ तथा ।

मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-वुड्ड-खुप्पाः ॥ १०१ ॥

आउड्डश्च णिउड्डो, वुड्डः खुप्पश्च मज्जतेर्वा स्युः ।

आउड्डइ च णिउड्डइ, वुड्डइ खुप्पइ च मज्जइ च ॥

पुञ्जेरारोल-वमाद्धौ ॥ १०२ ॥

आरोलश्च वमालश्च, पुञ्जेरेतौ विकल्पितौ ।

आरोलइ वमालइ, पक्षे ‘पुञ्जइ’ सिध्यति ।

लस्जेर्जीहः ॥ १०३ ॥

जीहो वा लज्जतेः स्थाने, यथा-जीहइ, लज्जइ ।

तिजेरोमुक्कः ॥ १०४ ॥

ओसुक्को वा तिजेः स्थाने, ओसुक्कइ च तेअणं ।

मृजेरुग्युस-लुज्ज-पुञ्च-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-

रोसाणाः ॥ १०५ ॥

उग्युसो रोसणो लुक्कः, पुञ्चः पुंसः फुसः पुसः ।

लुहो हुलो, नवादेशा विकल्पेन मृजेर्मताः ।

लुज्जइ पुञ्चइ पुंसइ, रोसाणइ फुसइ पुसइ तथा लुहइ ।

हुलइ उग्युसइ, पक्षे ‘मज्जइ’ इति सिद्धिमेति पदम् ।

जञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूर-विर-पविरज्ज-

करज्ज-नीरज्जाः ॥ १०६ ॥

मुसुमूरो विरो मूरः, सूरः सुडश्च वेमयः ।

पविरज्जः करज्जा नीरज्जा वा भज्जतेर्नव ।

मूरइ सूरइ सूरइ, मुसुमूरइ वेमयइ च पविरज्जइ ।

नीरज्जइ च करज्जइ, विरइ च पक्षे भवेद्-‘भज्जइ’ ।

अनुव्रजेः पणिअग्गः ॥ १०७ ॥

अनुव्रजेः ‘पणिअग्ग’ इत्यादेशो विकल्प्यते ।

‘पणिअग्गइ’ पक्षे तु-‘अण्वच्चइ’ सिध्यति ।

अर्जेर् विडवः ॥ १०८ ॥

अर्जधातोर्विकल्पेन, विडवाऽऽदेश इष्यते ।

प्रयुज्यते ‘विडवइ’ तथा ‘अज्जइ’ पात्तिकम् ।

युजो जुज्ज-जुज्ज-जुप्पाः ॥ १०९ ॥

युजः स्थाने ‘जुज्ज-जुज्ज-जुप्पा’ एते त्रयो मताः ।

जुज्जइ जुज्जइ तथा, जुप्पइ’ सिद्धिमागमन् ।

भुजो जुज्ज-जिम-जैम-कम्माएह-समाण-चमढ-चड्डाः ॥ ११० ॥

समाणश्चमढश्चड्डः, कम्मो भुजो जिमस्तथा ।

अएहो जैमो, भुजः स्थानेऽष्टादेशाः परिकीर्तिताः ।

‘जुज्जइ जिमइ च जैमइ, चमढइ कम्मइ चड्डइ समाणइ ।

‘अएहइ’ इति भुजधातोः, रूपं चेद्यं सुधीभिरतः ।

वोपेन कम्मवः ॥ १११ ॥

उपेन युक्तस्य भुजेः, ‘कम्मवो’ वा विधीयते ।

तेन सिद्धं ‘कम्मवइ,’ ‘उवहुज्जइ’ इत्यपि ।

घटेर्गदः ॥ ११२ ॥

घटेर्गदो वा, गदइ, घडइ स्यात्तु पाक्षिकम् ।

गमो गन्नः ॥ ११३ ॥

गमो गन्नः स्थाने, गमादेशो विकल्पनात् ।

ततः सिद्धं 'सगन्नइ' पक्षे 'सघन्नइ' स्मृतम् ।

हामेन स्फुटनेऽर्थः ॥ ११४ ॥

हामेन स्फुटनेऽर्थे तु, स्फुटः स्थाने मुरोऽस्तु वा ।

हामेन स्फुटनीत्यर्थे, रूप 'मुरइ' कथ्यते ।

पण्डिश्च-चिश्च प्र-चिश्चिद्-रीरु-टिविडिकाः ॥ ११५ ॥

पण्डिश्च-चिश्च-प्र-चिश्चिद्-रीरु-टिविडिकाः स्थाना ।

एते मण्ड-विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।

चिश्चिद्-चिश्चमइ, टिविडिकइ चिश्चइ ।

गंडइ तथा, 'मण्डइ', इति रूपं तु पाक्षिकम् ।

तुमे-नोड-तुड-खुड-खुडोक्खुडो-णिबुक्खु-लुकोल्लूराः ॥ ११६ ॥

तुकोल्लूरो तुड-खुडो, णिबुक्खु-खुडोक्खुडो ।

तं डोल्लुको, तुडः स्थाने, विनापा स्युग्मो नव ।

ताड-तुड-खुड-उल्लूकइ उक्खुडइ णिलुक्कइ च ।

खुडइ तुडइ उल्लूकइ, लुक्कइ रूपं तुमेरेतत् ।

धूर्गो धुन्न-धोन्न-धुम्म-पहन्नाः ॥ ११७ ॥

धुलो घालः पडल्लइ, धुम्मो धूर्णेरमी मताः ।

'धुलइ घालइ पडल्लइ धुम्मइ सिद्धयति ।

विवृतेर्दंसः ॥ ११८ ॥

दंसो वा विवृतेः स्थाने, दंसइ स्याद् विवृट् ।

क्वथेरट् ॥ ११९ ॥

क्वथेरटो वा, अटइ, पक्के-कडइ सिध्यति ।

ग्रन्थो गण्टः ॥ १२० ॥

ग्रन्थेर्गण्टोऽस्तु, गण्टइ, गण्टी सद्धिः प्रयुज्यते ।

मन्थेषुमन्न-विरोद्धौ ॥ १२१ ॥

धुमन्नश्च विरोलश्च, मन्थेरेनौ विकल्पितौ ।

रूपं धुमन्नइ विरोलइ, मन्थइ इत्यपि ।

हादेरवअच्छः ॥ १२२ ॥

हादेरवअच्छः स्यादच्छोऽप्यन्तस्यापि स्थले भवेत् ।

हादेरं हादयति वा, 'अवअच्छइ' उच्यते ।

अवकारस्तु अयन्तस्यापि प्रहार्थः प्रयुज्यते ।

नेः सदा मज्जः ॥ १२३ ॥

निपूर्वस्य सदा मज्जः, 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' ।

छिन्देद्दाव-णिच्छन्न-णिज्झो-णिज्झर-णिज्झर-

धृगः ॥ १२४ ॥

वा स्युर णिच्छन्न-णिज्झो, णिज्झुरो लुर-णिज्झरौ ।

तुहावश्च पमादेशाः, छिन्द-धातोः पदे यथा ।

णिच्छन्नइ णिज्झो, णिल्लुरइ णिज्झरइ तुहावइ च ।

लुरइ इति छिन्दधातोः, पक्षे 'छिन्दइ' मने रूपम् ।

आडा ओअन्दोदाडौ ॥ १२५ ॥

'ओअन्दोदालो' वा, स्याताम् आडा महात्र छिन्द-धातोः ।

'ओअन्दइ, उदाडइ' 'अच्छिन्दइ' इति विकल्पवशात् ।

मृदो मन्न-मद-परिट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नामाः ॥ १२६ ॥

खड्ड-चड्डौ च पन्नाडः, परिहट्टो मड्डो मलः ।

मड्डश्चापि मृदः स्थाने, समादेशाः प्रकीर्तिताः ।

पन्नामइ मड्डइ च, परिहट्टइ खड्डइ ।

मड्डइ चड्डइ तथा, मलइ प्रतिपठ्यते ।

स्पन्देरचुलुचुलः ॥ १२७ ॥

स्पन्देरचुलुचुलादेशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।

सिद्धं 'चुलुचुलइ' तु, पक्षे 'फन्दइ' इत्यपि ।

निरः पदेर्वलः ॥ १२८ ॥

निरः पूर्वस्य पदेः स्थाने, वडादेशो विकल्प्यते ।

'निर्वलइ निष्पज्जइ', इयं सिद्धिमगादिदम् ।

विमंत्रदेर्विअट्ट-विलोड-फंसाः ॥ १२९ ॥

विअट्टश्च विट्टो, फंसाश्चेति त्रयोऽपि वा ।

विसंपूर्वस्य तु वदेः, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।

विअट्टइ ततः सिद्धं, विलोडइ च फंसाइ ।

विसंयअइ चैतत्, पाक्षिकं रूपमिष्यते ।

शदो ऊरु-पक्खोमा ॥ १३० ॥

शदः स्तो ऊरु-पक्खोमा, ऊरुइ, वा पक्खोडइ ।

आक्रन्देर्णीहरः ॥ १३१ ॥

आक्रन्देर्णीहरो वा स्याद्, णीहरइ अक्रन्दइ ।

खिदेर् जूर-विसूरो ॥ १३२ ॥

खिदेर् जूर-विसूरो हा, स्यातामत्र विकल्पनात् ।

'विसूरइ' ततः सिद्धं, पक्षे जूरइ, खिज्जइ ।

रुधेरुत्थङ्गः ॥ १३३ ॥

रुधेरुत्थङ्ग इति वा, उत्थङ्गइ च रुधइ ।

निपेधेर्दकः ॥ १३४ ॥

हक्को निपेधेतेर् हक्कइ वा पक्षे निसेहइ ।

कुधेर्जूरः ॥ १३५ ॥

कुधेर्जूरौ विकल्पेन, 'जूरइ' 'कुज्जइ' इत्यपि ।

जनो जा-जम्मो ॥ १३६ ॥

जा-जम्मो जायतेः स्थाने, सिद्धं 'जाअइ जम्मइ' ।

तनेस्तरु-तड्ड-तड्डव-विगल्लाः ॥ १३७ ॥

तरु-तड्ड-तड्डव-विगल्लाश्चत्वारस्तनः स्थले वा स्युः ।

तड्डइ तरुइ तड्डवइ, तथा विगल्लइ, 'तणइ' पक्षे ।

तृपस्यिणः ॥ १३८ ॥

तृप्यतेस्तु पदे थिणः, 'थिणइ' प्रणिगद्यते ।

उपमपेरद्विअः ॥ १३९ ॥

द्वनगुणस्योपसृपेः, स्थाने वा 'अल्लिअ' मतः ।

ततः सिद्धं 'अल्लिअइ', 'उवसण्णइ' पाक्षिकम् ।

संतपेर्भङ्गः ॥ १४० ॥

संतपेर्भङ्ग इति वा, संतप्यइ च उज्जइ ।

व्यापेरोअगः ॥ १४१ ॥

व्यापेरोअगः स्थाने वा, व्यापेरोअगः 'ओअग्ग' इष्यते ।

‘ओश्रग्गइ’ ततः पक्षे, रूपं ‘वावेइ’ सिध्यति ।

समापेः समाणः ॥ १४२ ॥

समाप्नोतेः समाणो वा, समावेइ समाणइ ।

क्षिपेर्गलत्याडुक्ख-सोत्त-पेत्त-णोत्त-लुह-हुल-परी-

घत्ताः ॥ १४३ ॥

सोत्तपेत्तौ परी-घत्तौ, गलत्यश्च लुहो हुलः ।

अडुक्खो णोत्त इत्येते, नवादेशाः क्षिपेस्तु वा ।

अडुक्खइ च गलत्यइ, सोत्तइ पेत्तइ लुहइ हुत्तइ यत्तइ ।

णोत्तइ हस्वत्वे गुल्लइ परीइ, पाक्षिकं खिवइ ।

उत्क्षिपेर्गुलगुञ्जोत्थङ्गात्तयाञ्जुत्तोस्सिक-हक्खुवाः ॥ १४४ ॥

गुलगुञ्जोत्थङ्गाल्लत्थाञ्जुत्तोस्सिक-हक्खुवा वा स्युः ।

उत्पूर्वस्य तु क्षिप्, धातोः स्थाने पमादेशाः ।

गुलगुञ्जइ उत्थङ्गइ, अल्लत्थइ हक्खुवइ च उत्सिकइ ।

उञ्जुत्तइ इति पक्षे, रूपं वेद्यं तु ‘उत्खिवइ’ ।

आक्षिपेर्णीरवः ॥ १४५ ॥

आइपूर्वस्य क्षिपेर्धातोर्णीरवो वा विधीयते ।

ततः सिद्धं ‘णीरवइ,’ पक्षे ‘अक्खिवइ’ स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-त्तिस-लोटाः ॥ १४६ ॥

‘कमवस-लिस-लोटाः’ वा, स्युग्मी धातोः स्वपेः स्थले कमशः ।

लोटाइ लिसइ कमवसइ, भवति तु पक्षे ‘सुअइ’ रूपम् ।

वेपरायम्बायज्जौ ॥ १४७ ॥

वेपेर् ‘आयम्ब आयज्ज’ इत्यादेशौ विकल्पनात् ।

आयम्बइ तथा आयज्जइ, पक्षे तु ‘वेवइ’ ।

विलपेर्गल्ल-वरुवः ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन, ल्लो वडवडश्च वा ।

ल्लइ वडवरुइ, पक्षे विलवइ स्मृतम् ।

लिप्पो लिम्पः ॥ १४९ ॥

लिम्पस्तु लिम्पतेः स्थाने, ततो लिम्पइ सिध्यति ।

गुण्येर्विर-णम् ॥ १५० ॥

स्थाने धातेर्गुण्यतेवा, भवेतां द्वौ ‘विरो, णडः’ ।

विरइ णम् पक्षे, गुण्यइ सिद्धिमश्नुते ।

कृपोऽवहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु कृपेः स्थाने, ग्यन्तो भवति, तद्यथा ।

‘कृपां करोति’ इत्यर्थे, ‘अवहावेइ’ पठ्यते ।

प्रदीपेस्तेअव-सन्दुम-सन्धुकाञ्जुत्ताः ॥ १५२ ॥

‘तेअव-सन्दुम-सन्धुकाञ्जुत्ता’ वा प्रदीप्येतेरेते ।

सन्धुक्कइ अब्भुत्तइ, सन्दुमइ पर्यावइ तेअवइ ।

लुजेः संजावः ॥ १५३ ॥

संभावो लुज्यतेवा स्यात्, संभावइ च लुभइ ।

लुजेः खउर-पडुहौ ॥ १५४ ॥

खउरः पडुहो वा स्तः, लुजेर्धातोः पदे यथा ।

खउरइ पडुहइ, पक्षे ‘खुम्भइ’ सिध्यति ।

आडो रजेः रम्भ-ढवौ ॥ १५५ ॥

आडः परस्य तु रभेः, स्यातां रम्भो ढवश्च वा ।

आरम्भइ आवडइ, पक्षे ‘आरम्भइ’ स्मृतम् ।

उपात्तम्भेर्गल्ल-पचार-वेत्तवाः ॥ १५६ ॥

उपालम्भेत्तयो वा स्युर्गल्ल-पचार-वेत्तवाः ।

पचारइ वेत्तवइ, उपालम्भइ ल्लइ ।

अवेर्जम्भो जम्भा ॥ १५७ ॥

जम्भेर् जम्भा, न तु वेः परस्य, जम्भाइ भवति जम्भाअइ ।

किम् ? अवेरिति हि निषेधः, ‘सुकीलपसरो विअम्भइ अ’ ।

भागाक्रान्ते नमेर्णिमुढः ॥ १५८ ॥

भाराक्रान्ते तु कर्नेरि, णिमुढो वा नमेः स्मृतः ।

णिमुढइ, वा ‘णवइ,’ आक्रान्तो नमनीत्यतः ।

विश्रमेर्णिवा ॥ १५९ ॥

‘णिवा’ विश्राम्यतेवा ‘णिवाइ, वीम्मइ’ द्वयम् ।

आक्रमोहावात्थारचुन्दाः ॥ १६० ॥

आक्रमेः ‘चुन्द उत्थार ओहावो’ वा त्रयो मताः ।

ओहावइ उत्थारइ, वा अक्कमइ चुन्दइ ।

भ्रमेष्टिरिट्ठ-दुण्ण-दण्ण-चक्कम्भ-भम्मरु-भम-

रु-भमारु-तल्लअण्ट-ऊण्ट-ऊम्प-जुम-गुम-फुम-फु-

स-हुम-हुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चक्कम्भो भम्मरो ऊम्पष्टिरिट्ठो जुमो गुमः ।

दुण्णदुलो जमरो दण्णदलो भमारुः फुमः फुमः ।

तल्लअण्टस्तथा ऊण्टो, हुमो हुस-परी-पराः ।

इत्यमी भ्रमेष्टिरिष्टादेशा विकल्पनात् ।

टिरिट्ठलइ दुण्णदुलइ, दण्णदलइ तल्लअण्टइ च ऊण्टइ ।

भमडइ चक्कम्भइ भम्मरुइ भमारुइ जुमइ ऊम्पइ ।

गुमइ फुमइ फुसइ हुमइ, हुसइ परीइ च परइ जमइ पक्षे ।

भ्रमधातोरेह रूपं, विविधं वेद्यं सुधीज्जितु ।

गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुमाक्कुस-पच्चडु-पच्छ-

न्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअण्ट-

वाल-परिअण्ट-णिरिणास-णिणवावेसेहावहराः ॥ १६२ ॥

अई णी पदअोऽइच्छोऽणुवज्जोऽवज्जसोऽक्कुसः ।

पच्चडुो णिवहः पच्छन्दोऽवसेहश्च णिम्महः ।

परिअल्लः परिअल्लो, णिरिणासस्तथोक्कुसः ।

रम्भो णीणश्च णीलुक्कोऽवहरो वाल इत्यम ।

एकविंशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मताः ।

अणुवज्जइ पच्चडुइ, अवज्जसइ अक्कुसइ च पच्छन्दइ ।

णीणइ अईइ रम्भइ, णिरिणासइ णीइ णीलुक्कइ ।

पदअइ णिम्महइ अइच्छइ परिअल्लइ च उक्कुसइ बोधइ ।

अवसेहइ अवहरइ च, णिवहइ परिअल्लइ वा गच्छइ ॥

[णीहम्मइ आहम्मइ, पहम्मइ णिहम्मइ तु तथा हम्मइ ।

‘हम्म गतौ’ इति धातोर्गमूनि रूपाणि वेद्यानि ।]

आडा अहिपच्चुअः ॥ १६३ ॥

आडा सहितस्य गमेः, स्थाने वाऽस्त्वहिपच्चुअः ।

‘अहिपच्चुअइ’ स्याद् वा, तथा-ऽगच्छइ’ पाक्षिकम् ॥

ममा अग्निडः ॥ १६४ ॥

समा युक्तस्य तु गमेर्, ‘अग्निडो’ वा विधीयते ।

सिद्धं ततो ‘अग्निडइ,’ पक्षे-संगच्छइ स्मृतम् ।

अन्याङोम्मत्थः ॥ १६५ ॥

उम्मत्थस्तु गमेः स्थानेऽभ्याङ्ग्यां युक्तस्य वा भवेत् ।
'उम्मत्थइ' तथा-ऽभ्यागच्छइ' रूपद्वयं ततः ।

प्रत्याङ्ग पलोद्ः ॥ १६६ ॥

पलोद्ःस्तु गमेः प्रत्यङ्ग्यां युक्तस्य पदेऽस्तु वा ।
'पलोद्ः' तथा- 'पञ्चागच्छइ' स्यात्तु पाकिकम् ।

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥ १६७ ॥

शमेः पदे तु पडिसा-परिसामौ विकल्पितौ ।
'परिसामइ समइ, पडिसाइ' त्रयं शमेः ।

रमेः संखुडु-खेडुवभाव-किङ्किञ्च-कोट्टुम-

मोट्टाय-गांमर-वेड्याः ॥ १६८ ॥

मोट्टाया णीसरो वेडुः, किङ्किञ्चश्च कोट्टुमः ।
खेडुवभावौ च संखुडु, रमेवौ स्युरमी पदे ।
संखुडु उच्चावह, किङ्किञ्च कोट्टुमइ च मोट्टायइ ।
खेडुइ तथा णीसरइ, खेल्लइ पक्के 'रमइ' रूपम् ।

पूरुग्वाग्वावोप्पुमाहुमादिरेमाः ॥ १६९ ॥

'अहिरमोऽग्घवोऽग्घम उडुमोऽहुम' इत्यमी ।
पञ्चादेशा विकल्पेन, पूरुः स्थाने प्रकीर्तिताः ।
'अग्घमइ अग्घवइ, अहिरेमइ पूरइ ।
उडुमइ अहुमइ, 'सविकल्पमुदाहृतम् ।

त्वरस्तुवर-जअमौ ॥ १७० ॥

तुवरो जअरुधेमौ, भवेतां त्वरतेः पदे ।
सिद्धं रूपं तुवरइ, तथा जअरुइ स्मृतम् ।

त्यादिशत्रोस्तूः ॥ १७१ ॥

त्वरः शतरि त्यादौ च, तूरः-तूरन्तो तूरइ' ।

तूरोऽत्यादौ ॥ १७२ ॥

त्वरःऽत्यादौ तूरादेशाः, तूरन्तो तुरिओ यथा ।

क्षरः खिर-जर-पज्जर-पच्चइ-णिच्चल-णिट्टुआः ॥ १७३ ॥

णिच्चओ णिट्टुओ पच्चओ जरः पज्जरः खिरः ।

क्षरेते परादेशाः, भवन्तीति विभाव्यताम् ॥

पज्जरइ पच्चरइ, खिरइ जरइ तथा ।

णिच्चलइ णिट्टुअइ, एवं रूपाणि चत्तते ॥

उच्छल उत्थल्लः ॥ १७४ ॥

स्याद् 'उत्थल्ल' उच्छलतेः, रूपम् 'उत्थल्लइ' स्मृतम् ।

विगलेः थिप्प-णिट्टुहौ ॥ १७५ ॥

धानोर विगलतेः स्थाने, वा स्यातां 'थिप्प-णिट्टुहौ' ।

वा थिप्पइ णिट्टुहइ, पक्के 'विगलइ' स्मृतम् ॥

दलि-वल्पोर्विमट्ट-वम्फौ ॥ १७६ ॥

स्यातां विसट्ट-वम्फौ, वा दलि-वल्पोः पदे यथासंख्यम् ।

ततो 'विसट्टइ वम्फइ, ' पक्के रूपं दलइ यल्लइ ॥

त्रंशेः फिर-फिट्ट-फुर-फुट्ट-चुक्क-जुल्लाः ॥ १७७ ॥

वा स्युर त्रंशेः चुक्क-जुल्लौ, फिट्ट-फुट्टौ फिट्टः फुट्टः ।

फिट्टइ फुट्टइ चुक्कइ, फिट्टइ फुरइ भुल्लइ च भवति रूपम् ॥

पक्के 'मंसइ' रूपं, वेद्यं त्रंशेः सुत्रानिर्दिष्टम् ।

नशेणिरिणास-णिवहावमइ-परिसा-सेदावहराः ॥ १७८ ॥

णिरिणासश्च णिवहोऽवसेहः पडिसा तथा ।

सेदश्चावहरश्चेते, परादेशा नशेस्तु वा ॥

णिरिणासइ णिवहइ अवसेहइ परिसाइ अवहरइ सेहइ ।

पक्के 'नस्सइ' इत्यप्यमूनि रूपाणि नशधातोः ॥

अवात् काशो वासः ॥ १७९ ॥

अवात् परस्य काशस्तु, 'वासः, ' ओवासइ' स्मृतम् ।

सन्दिशेरप्पाहः ॥ १८० ॥

अप्पाहः सन्दिशेर वा स्यात्, अप्पाहइ सन्दिशइ ।

दशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्ज-वज्ज-सव्वव-

देक्खौ अक्खवक्खवक्खवक्ख-पुलोए-पुलाए-

निआवआस-पासाः ॥ १८१ ॥

वज्जो निअच्छ ओअक्खोऽवयज्जः सव्ववो निअः ।

अवयज्जोऽवयज्जः पेच्छो देक्खः पुल्लअस्तथा ॥

अवअक्खः पुलोएश्च पासाऽवक्खो, दशेर अमी ।

अवयज्जइ अवयज्जइ, वज्जइ पेच्छइ च सव्ववइ पासइ ॥

ओअक्खइ च निअच्छइ, देक्खइ अवअक्खइ पुलोएइ ।

अवआसइ अवक्खइ, निअइ च पुलएइ चेदशं रूपम् ॥

'निज्झाअइ' स्वरादत्यन्ते निध्यायतेः सिद्धम् ।

स्पृशः फाम-फंम-फरिस-ठिव-ठिहालुड्खालिहाः ॥ १८२ ॥

आलुङ्खः फरिसः फंसः, ठिवः फासः छिहालिहौ ।

इत्यमी स्पृशतेः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।

फासइ फंसइ फरिसइ, छिवइ छिहइ आलिहइ तथाऽऽलुङ्खइ ।

इति धातोः स्पृशतेरिह, रूपाणां सप्तकं भवति ।

प्रविशेरिअः ॥ १८३ ॥

धातोः प्रविशतेः स्थाने, रिआऽऽदेशो विकल्प्यते ।

सिद्धं 'रिअइ' पक्के तु, रूपं 'प्रविसइ' स्मृतम् ।

प्रान्मृश-मुपोमृसः ॥ १८४ ॥

प्रात् परस्य तु मुष्णाते-मृशतेश्च मृसो भवेत् ।

'प्रमृसइ' प्रमृशति, वा प्रमुष्णाति कथ्यते ।

पिपेणिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोअ-चट्टाः ॥ १८५ ॥

णिरिणासो णिरिणज्जो, रोअश्चट्टश्च वा पिपेर णिवहः ।

रोअश्च चट्टइ णिरिणासइ णिरिणज्जइ च पीसइ णिवहइ ।

भपेणुक्कः ॥ १८६ ॥

भपेणुक्को विकल्पेन, सिद्धं भसइ लुक्कइ ।

कूपेः कट्ट-साअट्टाञ्चाणञ्चायज्जाऽज्जाः ॥ १८७ ॥

कट्टः साअट्ट आट्टोऽयज्जोऽणज्जोऽञ्च इत्यमी ।

धातोः कूपेः परादेशाः, विकल्पेन प्रकीर्तिताः ।

आट्टइ साअट्टइ, कट्टइ अञ्चइ अणज्जइ अयज्जइ ।

पक्के 'करिसइ' रूपं, कूपधातोश्च संवद्यम् ।

असावक्खोरः ॥ १८८ ॥

अक्खोडस्तु कूपेः स्थाने-उथे कोशात् खड्गकर्पणे ।

'अक्खोडइ' असि कोशात्, कर्षतीति प्रतीतिकृत् ।

गवेपेणुएडुल्ल-दण्ढोल्ल-गमेस-घत्ताः ॥ १८९ ॥

घत्तो गमेसो दण्ढोल्लो, दुण्ढुल्लो वा गवेपतेः ।

दुण्ढुल्लइ दण्ढोल्लइ, गमेसइ च घत्तइ । [१]

[१] गवेसइ ।

श्लिपः सामगावयाम-परिक्रन्ताः ॥ १६० ॥

अवयासः सामगाः, परिक्रन्तश्च त्रयः श्लिपेर्वा स्युः ।

अवयासइ सामगाइ, परिक्रन्तइ, वा सिलेसइ च ।

प्रक्षेत्रोपपन्नः ॥ १६१ ॥

अज्ञेस्तु चोपपन्नो वा स्याद्, वा मक्खइ चोपपन्नइ ।

काङ्क्षेराहाहिलङ्गाहिलङ्गा-वच्च-वम्फ-मह-सिह-

विलुम्पाः ॥ १६२ ॥

अहिलङ्गोऽहिलङ्गो वम्फो विलुम्पो महः सिहः ।

आहो वच्चः काङ्क्षेतेर्वाऽष्टावांशो अमी मताः ।

अहिलङ्गइ अहिलङ्गइ, आहइ वच्चइ महइ विलुम्पइ च ।

वम्फइ सिहइ च, पक्के-‘कहइ’ इति सिद्धिमेति पदम् ।

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विग्मालाः ॥ १६३ ॥

पदे प्रतीक्षेर्वा स्युः, विग्मालः सामयो विहीरश्च ।

विग्मालइ च विहीरइ, सामयइ तथा पक्किखइ वा ।

तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १६४ ॥

तच्छइ चच्छो रम्पो, रम्फश्चैते तु तक्षेतेर्वा स्युः ।

तच्छइ चच्छइ रम्पइ, रम्फइ, तक्खइ तु वैकल्प्यात् ।

विकसेः कोआम-वोसट्ठो ॥ १६५ ॥

कोआसो वोसट्ठो, विकसेरेतो पदे तु वा भवतः ।

कोआसइ वोसट्ठइ, तथा विकलेपेन विअसइ च ।

हसेर्गुज्जः ॥ १६६ ॥

हसेर्गुज्जो विभाषा स्याद्, यथा हसइ गुज्जइ ।

संसेट्ठस-मिम्मो ॥ १६७ ॥

हसो डिम्भश्च वा स्यातां, संसेर्धातोः पदे यथा ।

हसइ मिम्भइ तथा, पक्के-‘संसइ’ सिध्यति ।

त्रसेर्नर-वोज्ज-वज्जाः ॥ १६८ ॥

वोज्जो वज्जो नरश्चैते, वा जयन्तु त्रसेः पदे ।

सिद्धं वोज्जइ डरइ, तथा तसइ वज्जइ ।

न्यसो णिम-णुमो ॥ १६९ ॥

न्यस्यतेः स्तो णिम-णुमौ, ‘णिमइ णुमइ’ यथा ।

पर्यसः पलोट्ठ-पल्लट्ठ-पल्लट्ठयाः ॥ १७० ॥

पर्यस्यतेः ‘पलोट्ठः, पल्लट्ठः पल्लट्ठ इति सन्तु हि ।

पल्लट्ठइ पल्लट्ठइ, तथा पलोट्ठइ भवति रूपम् ।

निउवसेर्जङ्गः ॥ १७१ ॥

भङ्गो वा निउवसेर्, नीससइ भङ्गइ च द्वयम् ।

उल्लसेरुमसोसुम्भ-णिद्धस-पुलआअ-गुज्जोद्वारोआः ॥ १७२ ॥

ऊसुम्भ ऊसलो गुज्जोद्वारः पुलआअ-णिद्धसौ ।

आरोआ, वा परादेशाः, उल्लसेस्तु पदे मताः ।

पुलआअइ गुज्जोद्वारइ, ‘गुज्जुद्वारं हस्वतस्तु,’ ऊसलइ ।

ऊसुम्भइ आरोआइ, तथा णिद्धसइ च उल्लसइ ।

जासेर्निमः ॥ १७३ ॥

भासेर्भिसो वा, ‘भिसइ,’ पक्के-‘जासइ’ इत्यपि ।

ग्रमेर्धिमः ॥ १७४ ॥

ग्रसेर्धिसो वा, धिसइ, पक्के ‘गसइ’ इत्यपि ।

अवाद् गादेर्वाहः ॥ १७५ ॥

अवाद् गाहेस्तु वाहो वा, ओवाइ ओगाहइ ।

आरुद्वेश्वर-वत्तर्गो ॥ १७६ ॥

चमो वत्तर्गश्चाम् द्वौ, भवेताम् आरुदेः पदे ।

वा वत्तर्गइ चडइ, तथा ऽऽरुइ पाकिक्कम् ।

मुहेर्गुम्म-गुम्मसौ ॥ १७७ ॥

वा गुम्म-गुम्मसौ स्यातां, मुहेर्धातोः पदे, यथा ।

वा गुम्मइ गुम्मइ, पक्के ‘मुज्जइ’ सिध्यति ।

द्वेरेर्दिक्कानुहो ॥ १७८ ॥

आनुहो वाऽहिक्कश्च, द्वेः स्थाने विकल्पितौ ।

अहिक्कइ आनुहइ, पक्के-रुहइ स्मृतम् ।

ग्रहो वत्त-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवागहिपच्चुआः ॥ १७९ ॥

वत्त-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआ ग्रहः स्युरमी ।

अहिपच्चुअइ वत्तइ निरुवारइ गेण्हइ हरइ पङ्गइ ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु येत् ॥ १८० ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, ‘घेद्’ आदेशो ग्रहेर्मेतः ।

[क्त्वा] स्याद् घेत्तुआण घेत्तूण, कच्चिन्नो-‘गेण्हअ’ स्मृतम् ।

[तुम्] घेत्तुं [तव्य] घेत्तव्वम् इत्येतत्, त्रिविधं त्रयमीरितम् ।

वचो वोत् ॥ १८१ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु वक्तेर् ‘वोत्’, इत्यादेशो विधीयते ।

‘वोत्तूण वोत्तुं वोत्तव्वं’, त्रयं चैतदुदाहृतम् ।

रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ १८२ ॥

तः स्याद् रुद-भुज-मुचां, क्त्वा-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।

भोत्तूण भोत्तुं भोत्तव्वं, ज्ञातव्यमनया दिशा ।

दृशस्तेन दृः ॥ १८३ ॥

दृशोऽन्त्यस्य तकारेण, सह छः प्रभवेद्, यथा ।

ददूण ददुं ददुव्वं, संप्रयुक्तं बुधैरिदम् ।

आः कृगो जृत-भविष्यतोश्च ॥ १८४ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु च तथा, काले भूते भविष्यति ।

कृगोऽन्त्यस्य तु ‘आ’ इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।

‘चकाराकार्षीदकरोत्,’ एषु ‘काहीअ’ भाष्यते ।

‘कर्ता कारिष्यतीत्यर्थे, पदे ‘काहिइ’ पठ्यते ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु काऊण, काऊं कायव्यमिष्यते ।

गमिष्यमाऽऽसां छः ॥ १८५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्त्यस्य, उकारादेश इष्यते ।

गच्छइ इच्छइ तथा, सिद्धं जच्छइ अच्छइ ।

जिदि-भिदो न्दः ॥ १८६ ॥

न्दः स्यात् जिदि-भिदोर् अन्ते, यथा-भिन्दइ भिन्दइ ।

गुध-बुध-गृध-रुध-मिध-मुहां ऊः ॥ १८७ ॥

स्यात् रुध-गुध-बुध-गृध-सिध-मुहां द्विरुक्तो ‘ऊ’ ईदशादेशः ।

कुऊइ जुऊइ वुऊइ, गिऊइ सिऊइ च मुऊइ च ।

रुधो न्ध-म्नौ च ॥ १८८ ॥

रुधो न्ध-म्नौ तु चात् ‘ज्जो’, रुधइ रुम्भइ रुम्भइ ।

सद्-पतोर्डः ॥ १८९ ॥

अन्ते सद्-पतोर्डः स्यात्, सडइ पडइ स्मृतम् ।

कवय-वर्धा ढः ॥ २२० ॥

कवयेर् वधेर् अन्तिमस्य, ढः स्यात् कढइ वढइ ।
बुधेः कृतगुणस्येद, वधेऽश्च ग्रहणं समम् ।

वेष्टः ॥ २२१ ॥

' वेष्ट वेष्टे ' इत्यस्य, धातोः 'कण्ट'-[२ । ७७] सूत्रतः ।
बहोपेऽन्त्यस्य ढा, 'वे'द्विज्जइ, वेदइ' इत्यपि ।

मां लः ॥ २२२ ॥

संवेष्टेतेरन्तिमस्य, 'लः' स्यात्, 'संवेष्टइ' स्मृतम् ।

वां दः ॥ २२३ ॥

वा 'ल' उद्धेष्टेतेर 'उव्वेत्तइ, उव्वेदइ' स्मृतम् ।

स्विदां जः ॥ २२४ ॥

स्विदिप्रकाराणां 'जः' स्यात्, अन्तिमस्य ठिरूपकः ।
सञ्चङ्ग-सिञ्जरीय संपज्जइ (खज्जइ स्मृतम् ।
बहुत्वं तु प्रयोगानुसरणार्थमिहोच्यते ।

वज-नृत-मदां चः ॥ २२५ ॥

अन्तिमस्य वज-नृत-मदानां 'चो' भवेदिद ।
वचचइ नचचइ तथा, मचचइ सिद्धिमाययुः ।

रुद-नमोर्वः ॥ २२६ ॥

रुद-नमोर् वा, रुवइ, रोवइ नवइ स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ २२७ ॥

उद्विजतेरन्त्यस्य वः, उव्वेवो च उद्विवइ ।

खाद-धावोर्लुक् ॥ २२८ ॥

खाद-धावोर्लुक् अन्ते स्यात्, खाइ खाग्रइ खाहिइ ।
स्याद् धाइ धाव धाहिइ, कचित्तो- 'धावइ' स्मृतम् ।
वत्समाना-भविष्यद्-विध्याद्येकवचनेषु हि ।
तेनेद नैव 'खादन्ति, धावन्ति' बहुलप्रहात् ।

सृजो रः ॥ २२९ ॥

सृजो धातोरात्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।
वोसिरामि वोसिरइ, तथा निसिरइ स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ २३० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तद्यथा ।
[शक्] सकइ [जिम] जिम्मइ [वग्] लगइ,
[मग्] मगइ [कुप्] कुप्पइ [सुट्] पलोदइ च [तुट्] तुटइ ।
[नट्] नट्सइ [अट्] परिअट्टइ [नट्] न-
ट्टइ [सिट्] सिट्टइ, अन्यदपि चैवम् ।

स्फुटि-चञ्जे ॥ २३१ ॥

स्फुटिश्चलेश्च वैकल्प्यं, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।
फुरइ फुट्टइ तथा, रुपं चलइ चलइ ।

प्रादेर्मिलिः ॥ २३२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेवा, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।
संमिल्लइ तथा संमीलइ, मीलइ ते चिना ।

उवर्णम्यावः ॥ २३३ ॥

अवर्णम्यावः धातूनामन्त्योवर्णस्य बुध्यताम् ।
[हुइ] निपदवइ [हु] निदवइ, [कु] कवइ प्रसृति स्मृतम् ।

अवर्णम्यावः ॥ २३४ ॥

अवर्णम्यावः, अवर्णम्यावः धात्वन्तवर्तिनः ।
यथा करइ धरइ, हरइ प्रमुखं मतम् ।

वृषादीनामरिः ॥ २३५ ॥

अरिर्वृषादिधातूनाम्, अवर्णम्यावः पदे जवेत् ।
वृषो 'वरिसइ' वृषो, तथा 'करिसइ' स्मृतम् ।
एवं मृषो 'मरिसइ', वृषो 'हरिसइ' स्मृतम् ।
अरिः संदृश्यते येषां, वेद्यास्ते हि वृषादयः ।

रुषादीनां दीर्घः ॥ २३६ ॥

रुषप्रभृतिधातूनां, स्वरस्य दीर्घो भवेद्, यथा रुसइ ।
तूसइ सूसइ दूसइ, पूसइ सीसइ, तथाऽन्यदपि ।

गुवर्णस्य गुणः ॥ २३७ ॥

गुवर्णोवर्णयोर्धातो-गुणः कित्यपि डित्यपि ।
यथा जेऊण नेऊण, नेइ उद्वेइ नेन्ति च ।
कचिन्नायं विधिर नीओ, उद्वीओ सिध्यतो यतः ।

स्वराणां स्वराः ॥ २३८ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, जवन्ति बहुलं स्वराः ।
सद्वहणं सद्वहणं, तथा धुवइ धावइ [१] ।
कचिन्नित्यं देइ देइ, आर्वे 'वेमि' प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनादन्ते ॥ २३९ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोरात्तेऽकार आगमो भवति ।
भमइ हसइ चुम्बइ उवममइ कुणइ सिञ्चइ च रुधइ ।
शवादीनां प्रयोगश्च, प्रायो नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरादनतो वा ॥ २४० ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्वाऽस्त्वदागमस्त्वन्ते ।
पाअइ पाइ च, धाअइ धाइ, मिलाअइ मिलाइ तथा ।
उव्वाअइ उव्वाइ च, होऊण च होंऊण इति भवति ।
'अनत' इति च किमुक्तम्?, यथा चिइच्छइ दुमुच्छइ च ।
चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो इस्वश्च । २४१ ।
चिज्यादीनामन्ते भवति णागमः, स्वरस्य ह्रस्वश्च ।
[चि] चिणइ [जि] जिणइ [श्रु] सुणइ [हु] हुणइ,
[स्तु] थुणइ [लू] लुणइ [पू] पुणइ [धू] धुणइ तथा ।
बहुलात् कापि विकटपो, जयइ जिणइ उच्चिणइ च उच्चेइ ।
जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

नवा कर्म-जात्रे वः क्यस्य च लुक् ॥ २४२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तानां, चिज्यादीनां विभाषया ।
वोऽन्ते, तत्सन्निधौ च क्यस्य लुक् स्यादित्येते ।
चिइवइ चिणिज्जइ, जिइवइ जिणिज्जइ,
सुव्वइ सुणिज्जइ, हुव्वइ हुणिज्जइ ।
धुव्वइ धुणिज्जइ, सुव्वइ लुणिज्जइ,
पुव्वइ पुणिज्जइ, धुव्वइ-धुणिज्जइ ।
एवं चिइविहिइत्यादि, रुपं काले भविष्यति ।

म्पश्चे ॥ २४३ ॥

जाव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिगो धातोर्विभाषया ।
म्पोऽन्ते, तत्सन्निधौ च क्यस्य लुक् स्यादित्येते ।
वर्तमाने 'चिणिज्जइ, तथा चिम्मइ चिइवइ' ।
'चिइविहिइ चिणिविहिइ, चिम्मिहिइ जविष्यति ।

[१] हवइ दिवइ । चिणइ चुणइ । रुवइ रोवइ ।

हन्-खनोऽन्त्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्वोर् हन्-खनोरत्र, भाव-कर्मप्रवृत्तयोः ।
अन्त्यस्य वा स्याद् भ्मः, तत्सन्निधौ क्यस्य चास्तु लुक् ।
[वर्तमाने] यथा हम्मइ खम्मइ, हणिज्जइ खणिज्जइ ।
[भविष्यति] हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ ।
कर्तर्यपि हनोऽयं स्याद्, हन्तीत्यर्थे तु ' हम्मइ ' ।
कचिन्न दृश्यते-'हन्तव्वं' 'हन्तूण' 'हन्ता' यथा ।

ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ॥ २४५ ॥

दुह-लिह-वह-रुधधातूनां ब्भो वाऽन्त्यस्य भावकर्मजुषाम् ।
मुक् च तत्सन्निधौ क्यस्य, भवेद् उद् वहरस्य ।
स्याद् छुहिज्जइ छुम्भइ, वा लिब्भइ विहिज्जइ ।
वुम्भइ वहिज्जइ रुब्भइ रुन्धिज्जइ स्मृतम् ।
दुम्भिहिइ छुहिहिइत्यादि काले भविष्यति ।

दहो ज्जः ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दहो धातोर् विज्ञापया ।
ज्जः स्याद्, अन्त्यस्य तत्सन्निधौ क्यस्यापि मुग् भवेत् ।
स्याद् वर्तमाने ज्ज्जइ, तथा रूपं डहिज्जइ ।
' डज्जिहिइ डहिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

वन्धो न्धः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, वन्धधातोर्विभाषया ।
ज्जः स्याद् अन्त्ययोस् तत्सन्निधौ क्यस्य चास्तु मुक् ।
स्याद् वर्तमाने वज्जइ, तथा वन्धिज्जइ स्मृतम् ।
' वज्जिहिइ वन्धिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

समनूपाद्रुधेः ॥ २४८ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, समनूपाद् रुधेस्तु वा ।
अन्त्यस्य वा ज्जः, तत्सन्निधौ क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
संरुज्जइ अणुरुज्जइ, उवरुज्जइ जवति, पात्तिकं तु यथा ।
संरुन्धिज्जइ अणुरुन्धिज्जइ उवरुन्धिज्जइ जवति ।
संरुज्जिहिइ संरुन्धिहिइत्यादि भविष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विज्ञापया ।
स्याद् द्वित्वमन्त्यस्य तत्सन्निधौ क्यस्य चास्तु मुक् ।
[गम्] गम्मइ गमिज्जइ [हस्] हस्सइ हसिज्जइ ।
[भण्] भण्णइ भणिज्जइ [लुप्] लुप्पइ लुविज्जइ ।
[रुक्] रुक्कइ रुविज्जइ [लृत्] लृम्भइ लृहिज्जइ ।
[कथ्] कथ्थइ कथिज्जइ [भुज्] भुज्जइ भुज्जिज्जइ ।
गम्मिहिइ गमिहिइत्यादि रूपं भविष्यति ।
रुद्-[४ । २२६] सूत्रेण कृतवाऽऽदेशोऽत्र रुदिरिष्यते ।

ह-कृ-तृ-जामीरः ॥ २५० ॥

धातूनां ह-कृ-तृ-जामीरः स्याद्, ईरादेशो विज्ञापया ।
क्यलुक् तत्सन्निधौ च, भवेदित्युपदिश्यते ।
हीरइ हरिज्जइ, कीरइ करिज्जइ ।
तीरइ त्रिज्जइ, जीरइ ज्रिज्जइ ।

अर्जेर्विदण्पः ॥ २५१ ॥

अर्जेर्विदण्पो वा तत्सन्निधौ क्यस्य चास्तु लुक् ।
विदण्पइ, विदविज्जइ, अज्जिज्जइ पात्तिकम् ।

ज्ञो णव्व-णज्जो ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेर्भवतः पदे ।
णव्वो णज्जश्च वा, तत्सन्निधौ क्यस्य चास्तु लुक् ।
णव्वइ णज्जइ, पक्के-जाणिज्जइ मुणिज्जइ ।
'मन-होणः' [२ । ४२] इति णादेशो, णाइज्जइ च सिध्यति ।
नञ्पूर्वकस्य जानातेर् 'अणाइज्जइ' पठ्यते ।

व्याहगेर्वाहिप्पः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, जवेद् व्याहरतेः पदे ।
वाहिप्पो वाऽत्र तत्सन्निधौ क्यस्यापि मुग् भवेत् ।
वाहिप्पइ तथा वाहारिज्जइ स्यान्निदर्शनम् ।

आरजेराठप्पः ॥ २५४ ॥

आरजेः कर्मभावे स्याद्, वाऽऽठप्पः क्यस्य चास्तु लुक् ।
आठप्पइ भवेत्, पक्के-'आठवीअइ' सिध्यति ।

स्निह-सिचोः सिप्पः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिप्पः स्यात् क्यस्य चास्तु मुक् ।
'स्निह्यते, सिच्यते' इत्येतयोरर्थेऽत्र ' सिप्पइ ' ।

ग्रहेर्घेप्पः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे ग्रहेर् घेप्पो, वा भवेत्, क्यस्य चास्तु लुक् ।
यथा ' घेप्पइ ' इत्येतत्, पक्के गिणिहज्जइ स्मृतम् ।

स्पृशेर्शिक्कप्पः ॥ २५७ ॥

स्पृशतेः कर्मभावे स्याद्, वा शिक्कप्पः, क्यस्य चास्तु लुक् ।
तेन 'शिक्कप्पइ' ससिद्धं, तथा रूपं ' शिक्कज्जइ ' ।

क्तेनाप्फुष्पादयः ॥ २५८ ॥

आक्रमिप्रवृत्तीनां तु, धातूनाम् अप्फुष्पादयः ।
अप्फुष्पो आक्रान्तः, चक्कोसं चक्कं, लुग्गो रुग्णः ।
वाढीणाऽतिक्रान्तः, पल्लहत्थं पल्लोहं वा पर्यस्तम् ।
फुडं स्पृष्टं, विकसितो बोसट्टो, निमिश्रं त्विदम् ।
स्थापितं, चक्खिअं आस्वादितं, क्लिप्तं तु ज्जोसिअं ।
निपातितो निसुट्टो स्याद्, हीसमाणं तु हेपितम् ।
वा प्रमृष्टः प्रमुषितः, पम्हुट्टो परिपठ्यते ।
लिहक्को नष्टो, जडं त्यक्तं, विदत्तं अर्जितं तथा ।
क्वित्तं स्पृष्टं, लुअं लुत्तं, भवेद् निच्छुद्धम् चद्धुम् ।
इत्यादयो वेदितव्याः, शब्दा लक्ष्यानुसारतः ।

धात्वोऽर्थान्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उक्तादर्थान् प्रवर्तन्तेऽर्थान्तरेऽपीह धातवः ।
उक्तो वन्निः प्राणनेऽर्थे, खादनेऽपि स वर्तते ।
यथा ' वलइ ' खादति, प्राणनं च करोति वा ।
एवं कल्लिश्च संख्याने, संज्ञानेऽपि स दृश्यते ।
यथा ' कलइ ' जानाति, संख्यानं च करोति वा ।
रिगिर्गतौ प्रवेशेऽपि, ' रिगइ ' विशन्त्यति च ।
काह्वतेः प्राकृते वम्फो, 'वम्फइ' खादतीच्छति ।
फक्कतेः स्थक्क आदेशस्ततः सिध्यति ' थक्कइ ' ।
नीचां गतिं करोतीति वा, विलम्बयतीति वा ।
धात्वोर्विदण्युपाख्यन्योर् ऊह्वादेशे तु ' भइइ ' ।
तस्यार्थ उपालभते, वा विलपति भाषते ।
एवं हि ' पडियालेइ', वा रक्षति प्रतीकने ।
केचित् कैश्चिदुपसर्गैर्नित्यमन्यार्थका मताः ।

'सहर' सवृत्तेति, स्यात् 'पहर' युज्यते ।
 'अहर' सवृत्तेति, 'तीहर' पुरीषमुच्यते ।
 क्रियात् 'बहर', 'आहर' च क्वादि, 'उच्युप' चटति ।
 पुनः पठ्यति 'पहर' स्यात् त्यजतीति 'परिहर' रूपम् ।
 'उच्युप' वृज्जति, 'पहर' तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थे ।
 यानि पदेश 'यवम', न सन्तर्नाथं 'उल्लुह' भवति ।
 एव बहुपसर्गात्, यवर्था भवतां वेषाः ।
 इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

॥ अथ शौरसेनी जापाऽऽरच्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्यामपुक्तस्य ॥ १६० ॥
 शौरसेन्यां तु नायायामपदादौ प्रवर्तितः ।
 तकारस्य दकारः स्यात्, न स युक्तो भवेद् यदि ।
 तदा मायादना पुरिद-पाद्वज्रेन मन्तिदो ।
 अनादाविति किम् ? तस्म, तथा, नेह प्रवर्तताम् * ।
 अयुक्तस्येति किम् ? मत्तो, अजजत्तो, सवन्तले ! ।
 अधः क्वचित् ॥ १६१ ॥
 शौरसेन्यां तु वर्णाधोवर्तमानस्य तस्य दः ।
 यथालक्ष्यं, महन्दां निश्चिदां अद्वेष्टे यथा ।
 वाऽऽदेस्तावति ॥ १६२ ॥
 तावच्छब्दे तकारस्य दो वा, दाव च ताव च ।
 आ आमन्त्ये मौ वेनो नः ॥ १६३ ॥
 एतो तकारस्याऽऽमन्त्ये, वाऽऽकारः सौ परं यथा ।
 भो मुदिआ ! कञ्चुआ ! जो तवस्मि ! मणस्सि ! वा । [१]
 मो वा ॥ १६४ ॥
 आमन्त्ये सौ परं तस्य, मकारो वा विधीयते ।
 भो राय ! भो सुकस्म !, जो भयवं कुलुमाउह ! ।
 पक्क तु भयव ! अन्तआरि ! चैवं प्रयुज्यते ।
 भवज्जगवतोः ॥ १६५ ॥
 भवद्-भगवते तस्य, मकारः सौ परं भवेत् ।
 भव ! चिन्तेदि किं एत्थ, भगवं ! च हुदासणो । [२]
 क्वचिदन्यत्रापि यथा-भयवं पागसासणे ।
 कयवं, संपाअयं सौसो, काहं करमि च ।
 नवा र्यो र्यः ॥ १६६ ॥
 वा र्यो र्यस्य भवेत् स्थाने, 'अर्यो सुर्यो' प्रपद्यते ।
 पत्ते कज्जपयवसा, अज्जे पज्जाउलो यथा ।
 यो थः ॥ १६७ ॥
 घस्य थो वा, यथा-णाथो णाहो वा स्यात् कथं कहं ।
 अपदादाविव, 'थाम, थेओ' नेह थकागता ।
 इह-इहोदस्य ॥ १६८ ॥
 इहशब्दे, इहादेशे [३ १६३] च हकारस्य थोऽस्तु वा
 इथ, दाथ, इज्जे पक्क-इह, होह निगद्यते ।
 त्रुवो जः ॥ १६९ ॥
 भवतेहंस्य भो वा स्यात्, भोदि होदि यथा इयम् ।
 * तथा करेथ जथा तस्म रादणिआ अणुकपणीया होमि ।
 [१] पक्क । [२] ममण भगवं महावीर ।

तथा भुवदि हवदि, भवदि हवदि स्मृतम् ।
 पूर्वस्य पुग्वः ॥ १७० ॥
 पूर्वशब्दस्य 'पुग्व' इत्यादेशो विकल्प्यते ।
 यथा-ऽपुग्वं नारुयं, पत्ते-ऽपुग्वं पदं मतम् ।
 क्व इय-दुगो ॥ १७१ ॥
 क्त्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम्, 'इय-दुगो' यथाक्रमम् ।
 यथा 'भविय' 'भोदण', पक्के 'जोत्ता' प्रयुज्यते ।
 कृ-गमो रुमुअः ॥ १७२ ॥
 कृ-गमित्यां परस्य क्त्वा, स्थाने वा 'अमुओ'ऽस्तु डित् ।
 सिद्धं कमुअ गमुअ, पत्ते रूपं निशम्यताम् ।
 कारदुण गच्छिदुण, तथा करिय गच्छिय ।
 दिरिचेचोः ॥ १७३ ॥
 दिरिचेचोः [३ १६६] भवेद्, नेदि देदि भोदि च होदि च ।
 अतो देश ॥ १७४ ॥
 अतः पर्योरिचेचोः, स्थाने 'दे दि' इमौ क्रमात् ।
 अचउदे अचउदि तथा, सिद्धं गचउदि गचउदे ।
 अतः किम् ? स्यात् 'वसुआदि' 'नेदि, भोदि' यथाऽत्र न ।
 नविप्यति स्मः ॥ १७५ ॥
 भविष्यदर्धे विहितं, प्रत्यये स्मिः परं भवेत् ।
 हिस्साहामपवादाऽयं, तथा रूपं भविस्सिदि ।
 अतो ठमेरुदो-मादू ॥ १७६ ॥
 अतः परस्य तु डसे, 'मादो डाडु' इमौ क्रिती ।
 'दुगादो र्येव' 'दुगाडु' इयं संसिचिसृजति ।
 इदानीमो दाणि ॥ १७७ ॥
 इदानीमः पदे 'दाणि' इत्यादेशोऽभिधीयते ।
 'अर्यो दाणि आणवेडु', व्यत्ययान् प्राकृतंऽपि च ।
 अतस्तत्रापि 'अन्नं च दाणि वोहि' प्रयुज्यते ।
 तस्मान् ताः ॥ १७८ ॥
 तस्माच्छब्दस्य 'ता' इत्यादेशो भवति, तद्यथा ।
 'माणेण एदिणाऽन्नं ता', 'ता जाव पविस्सामि च' ।
 मोऽन्त्याणो वेदेतोः ॥ १७९ ॥
 इदेतोः पर्योरिचेचोः, मात्र परां गागमोऽस्तु वा ।
 [इकारे]जुत्तं णिमं जुत्तमिणं [एकारे]किं एदं वा किमेदं च ।
 एवार्थे र्येव ॥ १८० ॥
 एवार्थे 'र्येव' इति तु, निपातोऽप्यभिधीयते ।
 मम र्येव वस्त्रणस्म, 'एसो मो र्येव' पद्यते ।
 हज्जे चेदथाहाने ॥ १८१ ॥
 चेदथाहाने भवेद् 'हज्जे', 'हज्जे चट्टिके !' यथा ।
 हीमाणहे विस्मय-निर्वदे ॥ १८२ ॥
 'हीमाणहे' निपातोऽयं, निर्वदे विस्मये तथा ।
 [विस्मये] जावन्त-वश्चा जणणी, मे च हीमाणहे, यथा ।
 [निर्वदे] हीमाणहे पलस्मन्ता, किं दुच्चवसिदेण वा ।
 णं नन्वर्ये ॥ १८३ ॥
 नन्वर्ये णमिति कुयैर्निपातः संप्रयुज्यते ।
 'अर्यमिस्सिह' आणत्तं, पुढमं र्येव णं 'यथा ।
 इदम् आये पदे वाक्यालङ्कारेऽपि च दृश्यते ।

नमोऽथु एं, जया एं च, तया एं, चैवमादयः ।

अम्महे हर्षे ॥ १८४ ॥

‘अम्महे’ इति निपातो, हर्षेऽर्थे संप्रयुज्यते ।

‘भवं सुपलिंगदिदो, सुमित्राए च अम्महे’ ।

हीही विदूषकस्य ॥ १८५ ॥

हर्षे विदूषकाणां तु, योत्ये ‘हीही’ निपात्यते ।

‘हीही’ पियवयस्सस्स, भो संपन्ना मणोरथा’ ।

शेषं प्राकृतवत् ॥ १८६ ॥

दीर्घ-[१४]तो दो-[४।२६०]ऽनयोर्मध्य, सूत्रयोर् यद्यदीरितम् ।

तत् सर्वं कार्यमत्रापि बाध्यं, भेदस्तु दर्शितः [१] ।

इति शैरसेनी भाषा समाप्ता ।

॥ अथ मागधी जापाऽऽरभ्यते ॥

अत एत सौ पुंसि मागध्याम् ॥ १८७ ॥

मागध्यां सौ परेऽकारस्यैकारः पुंसि जायते ।

एशे मेशे एष मेषः, एशे च पुलिशे तथा ।

‘भो भदन्त ! करोमीति भवेद् ‘जते ! करोमि भो’ ।

अतः किं नु ? ‘कली’ रूपं, किं पुंसीति ? ‘जले’ यथा । [१]

र-सोर्ल-शौ ॥ १८८ ॥

ल-तालव्यशकारौ स्तो, रेफ-दन्त्यसकारयोः ।

[र] नले कत्रे [स] शुद्धं हंशे (उभयोः) ‘शालशे पुलिशे’ तथा ।

“ब्रह्म-वश-नमिन्न-शुन्न-शिव-विअदिद-मन्दात्र-वायिदं हि-युगे।
वीन्न-यिणे पक्खालु, मम शयलमवय्य-यम्बालं” * ।

स-पांः संयोगे सोऽग्रीष्मे ॥ १८९ ॥

संयोगे स-पयोः सः स्याद्, न तु ग्रीष्मे कदाचन ।

ऊर्ध्वलोपादिसूत्राणामपवादाऽयमैरितः ।

[स] हस्ती बुहस्पदी मस्कत्री पस्ववदि विस्मये ।

[प] कस्टं, विस्नुं, शुस्क-दालुं, धनुस्वएम् च निस्फलं ।

‘अग्रीष्मे’ इति किम् ? ‘गिम्ह-वाशले’ नेह सो भवेत् ।

ट-ठयोः सटः ॥ १९० ॥

द्विरुक्त-टस्य, पाऽऽक्रान्त-ठस्य ‘सटो’ भवति द्वयोः ।

[ट] पस्टं, जस्टालिका, [ठ] ‘कोसटागालं, शुस्टु कदं’ यथा ।

स्थर्थयोस्तः ॥ १९१ ॥

‘स्थ-र्थ’ इत्येतयोः स्थाने, साक्रान्तस्तो विधीयते ।

[१] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोऽन्यच्छौर-
सेन्यां प्राकृतवदेव भवति । ‘दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ’ [१।४]
इत्यारभ्य, ‘तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य’ [४।२६०] ए-
तस्मात् सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि एषु यान्युदाहरणानि तेषु
मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्येव शौरसेन्यां भवन्ति, अस्मिन् पुनरेव-
विधानि प्रवन्तीति विभागः प्रतिपूर्वं स्वयमन्यूह्य दर्शनीयः ।
यथा अन्दावदी । जुवदि-जणो । मणसिला इत्यादि ।

[२] वदपि “पोरणमद्ध-मागह-भासा-निययं हवइ
सुत्तं” इत्यादिनाऽऽरभ्य अर्द्धमागधजापानियतत्वमाज्ञायि वृ-
द्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानान्न वक्ष्यमाणलक्षणस्य । कयरे
आगच्छद् । से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिए इत्यादि ।

* रभसवशनप्रसुरशिरोविगलितभन्दारराजितांहियुगः ।

वीराजिनः प्रक्षालयतु, मम सकलमवद्यज्जमालम् ॥

[स्थ] उवस्तिदे शुस्तिदे [थं] शस्तवाहेऽस्तवदी यथा ।

ज-य-यां यः ॥ १९२ ॥

पदाऽवयवभूतानां, ज-य-यानां पदेऽस्तु यः ।

[ज] अय्युणे दुय्यणे [य] मय्ये, अय्ये विख्याहने [य] यदि ।

आदेर्यो ज- [१।२४५] स्य बाधार्थं, यस्य यत्वं विधीयते ।

न्य-एय-ऊ-ऊजां ऊवः ॥ १९३ ॥

‘न्य-एय-ऊ-ऊज’ अमीपां तु, द्विरुक्तो ऊो विधीयते ।

[न्य] कऊजा [एय] पुऊजं च [ऊ] शव्वऊज,

[ऊज] अऊजवी च धणऊजए ।

व्रजो जः ॥ १९४ ॥

व्रजे जस्य द्विरुक्तो ऊो, यापवादाऽस्तु, ‘वऊजदि’ ।

छस्य श्रोऽनादौ ॥ १९५ ॥

अनादौ वर्तमानस्य, छस्य श्रः संविधीयते ।

‘पिश्चिले, उश्चत्रादि, पुश्चदि, गश्च’ निदर्शनम् ।

अयं लार्त्तणिकस्यापि, यथा आपन्नवत्सलः ।

‘आवन्नवच्छे’ चैतद्, भवेद् ‘आवन्नवश्च’ ।

अनादाविति किम् ? ‘छात्रे’ नेह श्रत्वं ‘भवेद्’ यथा ।

क्षस्य ऋकः ॥ १९६ ॥

अनादौ क्षस्य ऋको जिह्वामूलीयो, ‘लऋकशे’ यथा ।

स्कः प्रेक्षा-चक्षोः ॥ १९७ ॥

प्रेक्षेर् धातोस्तथाऽऽचक्षेः, क्षस्य स्कः ऋकस्य बाधकः ।

आचस्कदि पेस्कदि च, द्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

तिष्ठश्चिष्टः ॥ १९८ ॥

स्थाधातोस् ‘तिष्ठ’ इत्यस्य, ‘चिष्ठे’ भवति, चिष्टदि ।

अवर्णाद्वा डसो डाहः ॥ १९९ ॥

अवर्णात् परस्य तु डसः, स्थाने डाहो विकल्प्यते ।

‘पलिशाह इगे काली’ न कम्माह’ प्रयुज्यते ।

‘भीमशेणस्स पश्चादो दिगडीअदि’ तु पाक्षिकम् ।

आपो माहं वा ॥ २०० ॥

अवर्णाद् उत्तरस्याऽऽमो, विभाषा ‘माहं’ इष्यते ।

शयणाहं सुहं, पक्षे ‘नञ्चिन्दाणं’ इति स्मृतम् ।

व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि स्यात्, तदुदाहरणं यथा ।

ताहं तुम्हाहं अम्हाहं, कम्माहं सरिआहं च ।

अहं-वयमोहगे ॥ २०१ ॥

‘हगे’ इत्यमादेशः, पदेऽहं-वयमोर् भवेत् ।

‘शक्कावदालतित्थ-णिवाशी च धीवत्ते हगे’ ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ २०२ ॥

मागध्यां यदनुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते [१] ।

[१] ‘शेषं प्राकृतवत्’ [४-१८६] मागध्यामपि ‘दीर्घह्रस्वौ मि-
थो वृत्तौ’ [१-४] इत्यारभ्य ‘तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयु-
क्तस्य’ [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यान्यु-
दाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्येव मागध्याममू-
नि पुनरेवविधानि भवन्तीति विभागः स्वयमन्यूह्य दर्शनीयः ।

यथा 'हज्जे' [४२२] चतुर्गिके, हज्जे चतुर्लिके, इह ।
इति भागधा जापा समाप्ता ।

॥ अथ पैशाची जापाऽऽरभ्यते ॥

हो ज्ञः पैशाच्याम् ॥ ३०३ ॥

पैशाच्यां भाषायां, हस्य पदे ज्ञो विधीयते, स यथा ।
पञ्चा सञ्चा सन्वञ्चा विज्ञानं तथा ज्ञानं ।

राज्ञो वा चित्र ॥ ३०४ ॥

'राज्ञ' इत्यत्र शब्दे यो, हकारस्तस्य वाऽस्तु चित्र ।
राचित्रा लपितं, रञ्जा लपितं, राचित्रो धनं ।
रञ्जो धनं, ह इत्येव, 'राजा' नेह प्रवर्तते ।

न्य-एयोर्ज्ञः ॥ ३०५ ॥

न्यण्योः स्थाने 'ञ' आदेशः, 'पुञ्जाहं, कञ्जका' यथा ।

णो नः ॥ ३०६ ॥

णस्य नः स्यात्, 'गुणगनयुक्तो' यद्वद् 'गुणेन' च ।

तदोस्तः ॥ ३०७ ॥

त-दयोस्तो, [तस्य] भगवती पव्यती च सतं यथा ।

[दस्य] पतिसो सननं तामोतरो रमतु हांतु च ।

तकारस्यापि तादेश आदेशान्तर्वाधकः ।

'पताका, वेतिसो' इत्याद्यपि सिद्धं ततः पदम् ।

लो ङः ॥ ३०८ ॥

लस्य ङः स्यात्, कुळं सीळं कमळं सळिळं जळं ।

शषोः सः ॥ ३०९ ॥

श-षयोः सः [शस्य] सखा, [षस्य] किसानो विसमो यथा ।

'न कगचेति' [१३२४] सूत्रस्य, बाधकोऽयं विधिः स्मृतः ।

हृदये यस्य पः ॥ ३१० ॥

हृदये यस्य पत्तेन, सिद्धं 'हितपक्' पदम् ।

टोस्तुर्वा ॥ ३११ ॥

टोः स्थाने तु तुरादेशो, विभाषा संप्रवर्तते ।

कुतुम्बकं ततः सिद्धं, तथा रूपं कुटुम्बकम् ।

कन्वम्नूः ॥ ३१२ ॥

तूनः कन्वाप्रत्ययस्यास्तु, गन्तून हसितून च ।

कृन्-त्यूनां पृवः ॥ ३१३ ॥

'कृन्' इत्यस्य पदे 'कृन्-त्यूनां' तूनस्य बाधकौ ।

नकृन् नत्यून् नकृन् नत्यून् इति स्मृतम् ।

य-स्न-श्रां रिय-मिन-सटाः क्वचित् ॥ ३१४ ॥

स्न-य-श्रांतां मिन-रिय-सटाः स्युः क्रमनः क्वचित् ।

भाषां तु भारिया वेद्या, मिनानं स्नानमुच्यते ।

कष्टं तु कसटं बाध्यं, त्रयमेतदुदाहृतम् ।

क्वचिदिति किं ? सुनुमा, सुज्जो तिष्ठो यथा भवेत् ॥

क्यम्येरयः ॥ ३१५ ॥

क्यप्रत्ययस्य तु स्थाने, इय्यादेशोऽतिधीयते ।

रमिष्यते मिष्यते दिष्यते चैव पाठिष्यते ।

कृगो कीरः ॥ ३१६ ॥

कृगः परस्य 'कीरः' तु, क्यस्य स्थाने, विधीयते ।

'सम्मानं कीरते सञ्चस्स ख्येव' तु निदर्शनम् ॥

यादृशादेर्हुस्तिः ॥ ३१७ ॥

यादृशादिपदे यो 'ह', 'तस्य तिः क्रियते पदे ।

यातिसो तातिसो युम्हातिसो अम्हातिसो तथा ॥

केतिसो एतिसो अज्जातिसो चैव जवातिसो ।

इचेचः ॥ ३१८ ॥

'इचे चोः' [३१३६] तिः, नेति तेति, वसुआति च भोति च ।

आत्तेश्र ॥ ३१९ ॥

अतः परयोर् इचेचोः, पदे 'ते ति' इमौ मतौ ।

गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिति किम् ? नेति होति च ॥

भविष्यत्येय एव ॥ ३२० ॥

एय्य एव न तु स्तिः [४१७५] स्याद्, इचेचोस्तु, भविष्यति ।

तद्धन चितितं रञ्जा, का एसा तं हुवेय्य च ॥

अतो ङसेर्मातो-डातू ॥ ३२१ ॥

अतः परस्य तु ङसेः, 'डातो मातू' इमौ मतौ ।

यथा-तूरातु तूरातो, तुमातो च तुमातु च ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥ ३२२ ॥

सार्धं टा-प्रत्ययेन स्याद्, 'नेनो' तदिदमोः पदे ।

स्त्रीलिङ्गे तु तयोरेव, 'नाए' इत्यतिधीयते ॥

'नेन कत-सिनानेन तत्थ' पुंसि, स्त्रियां पुनः ।

पातग्ग-कुसुम-प्पतानेन नाए च पुजितो ॥

एति किं ? चिन्तयन्तो ताप समीपं गतो च सो ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३२३ ॥

पैशाच्यां यदनुक्तं तच्चौरसेनीवदिष्यते ॥

विशेषो दर्शितः सर्वः, तथापीपन्निशम्यताम् । [१]

न क-ग-च-जादि-पट्-शम्यन्त-सूत्रोक्तम् ॥ ३२४ ॥

क-ग-चः [११७७] पट्-शमी- [११६५] इत्ये-

तयोर् मध्येऽपि सूत्राः ।

यत् कार्यं दर्शितं सर्वं, न तदत्र प्रवर्तते ।

मकरकेतू, सगरपुस-वचनं, लपितं ।

विजयसेनेन, पापं, आयुधं चैव तेवरो ।

अन्येषामपि सूत्राणामेवमूह्यं मनीषया ।

इति पैशाची भाषा समाप्ता ।

॥ अथ चूलिकापैशाचिकजापा प्रारभ्यते ॥

चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥ ३२५ ॥

जापायां चूलिकापैशाचिकाख्यायां यथाक्रमम् ।

तृतीय-तुर्ययोर् आद्य-द्वितीयौ वर्गवर्णयोः ।

[१] अथ ससरारीरा जगव मकरध्रजो । पत्थ परिचमन्तो हु-
वेय्य । एवंविधाए भगवतीपकथं तापस-वेस-गहनं कतं ।
एतिसं अतिष्ठपुस्वं महाधनं तद्धनं । जगवं यदि सं वरं पयच्छसि
राजं च दाव लोक । ताव च तीप दूरातो ख्येव तिष्ठो सो आग-
च्छमानो राजा ।

नगरं नकरं तेन, मेघा मेघः प्रयुज्यते ।
एवं पञ्चसु वर्गेषु, लक्ष्यं बोध्यं मनीषिभिः ।
कचिल्लाकणिकस्यापि, पदे कार्यमिदं ज्ञेयम् ।
दाढा तात्रा ततो बोध्या, परिमा पटिमा तथा ।

रस्य द्रो वा ॥ ३९६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गौली' हरो 'हलो' ।
“पनमथ पनय-पकुपित-गौली-चञ्चनग-द्वग्ग-पतिविम्बम् ।
तससु नख-तप्पनेसु, एकातम-तनु-थलं लुहं ।
नचन्तस्स य लीला-पातुक्खेन कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्रा, सइला निपतन्ति तं हंरं नमथ” [१] ।

नादि-युज्योरन्येषाम् ॥ ३९७ ॥

अन्येषां तु मने, धातौ युजि चाऽऽदिमवर्णयोः ।
तृतीय-तुयंयोराद्यद्वितीयौ जघनो न तौ ।
यथा 'नियोजिते' इत्यतद् अत्रापि 'नियोजितं' ।
गतिर् 'गती' तथा घर्मो, 'घर्मो' विद्वद्भिरुच्यते ।

शेषं प्राग्वत् ॥ ३९८ ॥

अत्रानुक्तं तु यत् कार्यं, तत् पैशाचीवदिष्यते ।
यथेह नस्य एत्वं न, नस्य नत्वं तु सर्वतः ।
इति चूलिका-पैशाचिकभाषा समाप्ता ।

अथापभ्रंशभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे ॥ ३९९ ॥

अपभ्रंशे स्वराणां तु, स्थाने प्रायः स्वरा मताः ।
यथा-वाहा वाह वाहु, किन्नश्रो च किलिन्नश्रो ।
'अत्रापभ्रंश-भाषायां, विशेषो यस्य वक्ष्यते ।
तस्यापि शौरसेनीवत्, कार्यं प्राकृतवत् क्वचित् ।
इत्यर्थबोधकः 'प्रायःशब्दः' सूत्रे नियोजितः ।

स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥ ३९० ॥

प्रायः स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ, स्तो नाम्नोऽन्यस्वरस्य तु ।
[सौ] "ढोल्ला सामन्ना धण चम्पा-वष्ठी ।
णाइ सुवष्-रेह कल-वट्टइ दिम्मी ॥
[आमन्त्र्ये] ढोल्ला ! मइ तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु ।
निहए गमिही रत्तमी, दडवर होइ विहाणु ॥
[स्त्रियाम्] विट्टेए ! मइ भणिय तुहुं, मा कुरु वड्डी दिट्ठी ।
पुत्ति ! सकर्णी जल्लि जिवं, मारइ हिअइ पइट्ठि ॥
[जसि] एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग ।
एत्थ मुणीसिम जाणिअइ, जो नवि वाअइ वग्ग” [२] ॥

[१] प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाप्रप्रप्रतिविम्बम् ।
दशसु नखदर्पणेषु एकादशतनुधरं रुद्धम् ।
नृत्यतश्च लीलापादात्कंपेण कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्राः शैला निपतन्ति तं हंरं नमत ।
[२] नायकः इयामलः प्रिया चम्पावर्णा ।
ज्ञायते सुवर्णरेखा कपपट्टकं दत्ता ॥
नायक ! मया त्वं वारितो मा कुरु दीर्घमानम् ।
निज्या गमिष्यति रात्रिः शीघ्रं भवति विभातम् ॥
पुत्रिके ! मया त्वं भणिता मा कुरु वक्रां दृष्टिम् ।
पुत्रि ! सकर्णी भल्लियथा, मारयति हृदयं प्रविष्टा ॥
एते ते घोडका एषा स्थली एते ते निशिताः खड्गाः ।
अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि वाञ्छयति चल्गाम् ॥

अन्यसां च विभक्तीनामेवमृत्वा निदर्शनम् ।

स्यमोरस्योत् ॥ ३९१ ॥

अत उत्वं स्यमोः, 'चउमुहु छेमुहु' मित्यतः ।

“दइमुहु जुवण-भयंकरुतामिय-संकरुणिगउ रहवरिचमिअउ
चउमुहु छेमुहु जाइवि एक्कहि बाइवि पावइ दइवें घडिअउ” [१] ॥

सौ पुंस्योद्वा ॥ ३९२ ॥

नाम्नोऽकारस्य सौ पुंस्योद् वा, 'जो' 'सो' यथा भवेत् ।
“अगलिअ-नेह-निवट्ठाइ जोअणअक्युवि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोअखइ सो गउ” [२] ॥

पुंसीति किम्—

“अङ्गहि अहु न मिलिउ हलि ! अहरें अहरु न पत्तु ।
पिय जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्बइ सुरउ समन्तु” [३] ॥

एट्ठि ॥ ३९३ ॥

टायाम् एत्वमकारस्य, वसन्तेण नहेण च ।
“जे महु दिस्सा दिअहडा, दइए पवसन्तेण ।
ताण गणतिपे अहुलिउ जज्जरिआउ नहेण” [४] ॥

डिनेच्च ॥ ३९४ ॥

इदेतौ स्तो डिना साकम्, अकारस्य पदे यथा ।
'तले घल्लइ' इत्यत्र, 'तलि घल्लइ' वेप्यते ।
“सायुरु उप्परि तणु धरइ तडि यल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, संमाणेइ खलाइं” [५] ॥

जिस्सेट्ठा ॥ ३९५ ॥

अत एत्वं वा भिसि स्याद्, 'गुणेहि गुणहि' यथा ।
“गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल जिहिआ नुज्जन्ति ।
केसरि न लइइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति” [६] ॥

डमेरु हे-हू ॥ ३९६ ॥

अतः परस्य 'हे हु' इत्यादेशो स्तो डसेः पदे ।
वच्छहे वच्छहु यथा, रूपं वैजायिकं मतम् ।
“वच्छहे गिएहइ फलधं जणु कसुपल्लव वज्जेइ ।
तो वि महहुमु सुअणु जिवं, ते उच्छड्ढि धरेइ” [७] ॥

ज्यमो हुं ॥ ३९७ ॥

अतः परस्य तु पञ्चमी-बहुवचनस्य हुम् एति ।

- [१] दशमुखो भुवनजयङ्करस्तोषितशङ्करो निर्गतो रयवरे चटितः ।
चतुर्मुखं परमुखं च ध्यात्वैकस्मिन्नागित्वा ज्ञायते देवेन घटितः ॥
[२] अगलितस्नेहनिवृत्तानां योजनलङ्कमपि यातु ।
वर्षशतेनापि यो मिलति सखि ! सौख्यानां स स्थाने ॥
[३] अङ्गैरङ्गं न मिलितं सखि ! अधरेऽधरो न प्राप्तः ।
प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमेव सुरतं समाप्तम् ॥
[४] ये मम दत्ता दिवसा दयितेन प्रवसता ।
तान् गणयन्त्या अद्भुतो जर्जरिता नखेन ॥
[५] सागर उपरि तृणं धरति तले क्लिपति रत्नानि ।
स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति संमानयति खलान् ॥
[६] गुणैर्न संपदः कीर्तिः परं, फलानि त्रिखितानि नुज्जन्ति ।
केसरी न लज्जेन कपार्दिकामपि गज्जा लङ्कैर्गृह्णाते ॥
[७] वृक्षाद् गृह्णाति फलानि जनो कटुपल्लवान् वर्जयति ।
ततोऽपि महादुःमः सुजनो यथा, तान् उत्सङ्गे धरति ॥

"दुग्धशो पतिव खसु, अपणु जणु मरेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहु पमिस मित्र अन्तु वि चूरु करेइ" [१] ।

इमः सु-हो-स्मवः ॥ ३३८ ॥

अतः परस्य डसः पदे 'स्सु सु हो' इमे भवन्ति ।
'तसु सुअणस्सु परस्सु वा, दुद्धहो' निगदन्ति ।
"जो गुण गोवड सपणो, पयडा करइ परस्सु ।
तसु इउं कलिजुगि दुद्धहो वलि किज्जउं सुअणस्सु" [२] ॥

आपो हं ॥ ३३९ ॥

अतः परस्य 'हं' आमः, पदे स्यात्, 'तणहं' यथा ।
"तणहं तइज्जा भङ्गि नाय ते अवड-यसि वसन्ति ।
अह जणु लभिगि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति" [३] ॥

हुं चेदुदज्याम् ॥ ३४० ॥

इदुदभ्यां तु परस्याऽऽमो, भवेतां 'हुं हम्' इत्यम् ।
सिद्धं 'सउणिहं' तेन, 'तरहुं' च पदद्वयम् ।
प्रायोऽधिकाराद् 'हुं' काऽपि, सुपोऽपि 'हुम्' इत्यपि ।
"इइव घडावड वणि तरहुं सउणिहं पक्क फलाइं ।
सो वरि सुम्बु पइए णवि, कम्महिं खल-वयणाइं" [४] ॥

हामि-ज्यन्-डीनां हे-हुं-हयः ॥ ३४१ ॥

इदुदभ्यां तु परेषां भ्यस्-डामि-डीनां 'हि-हुं-हयः' ।
[डमेहं] तरुहं [भ्यसो हुं] तरुहुं रूपं,
तथा [डेहिं] कलिहिं सिध्यति ॥
"गिरिहे सिलायसु तरुहे फलु घेप्पइ तीमावन्तु ।
घरु मेहेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुवइ रन्तु ॥
तरुहुं वि वज्जलु फलु मुणि वि परिहणु असणु वहेति ।
सांमहुं पत्तिउ अमालउं आयरु भिच्छु गृहन्ति" [५] ॥

आटो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अतः परस्याष्टायास्तु, णानुस्वारौ मत्तौ, पदे ।
'इइपं पवसन्तेण, 'द्वविमौ सिद्धिसुच्चतः ।

पं चेदुतः ॥ ३४३ ॥

इदुदभ्यां टा-पदे 'पं' चात् णानुस्वारौ, मतास्त्रयः ।
अतः सिध्यन्ति रूपाणि, 'अग्नि अग्निण अग्निपं' ।
"अग्निपं उण्डउ होइ जणु, वापं सीयल तेव ।
जो पुण अग्नि सीअला, तसु उगइत्तणु केव" [६] ॥

[१] दुग्धशोनेन पतिवः खल आत्मानं जने मारयति ।
यथा गिरिशिङ्गे पतिना शिला (स्वम्) अन्यमपि चूर्णाकरोति ॥

[२] जो गुणान् गोपयति आत्मनः, प्रकटीकरोति परस्य ।
तस्याहं कलियुगे दुल्लेखस्य वलि क्रिये सुजनस्य ॥

[३] तृणानां तृतीया भङ्गी नापि, ततो अवटतइ वसन्ति ।
अथ जने लभिगवाऽपि उत्तरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति" ॥

[४] द्वयो धृत्यति वने तरुणा शकुन्तानां पक्कफलानि ।
तद् वरं सुखं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि" ॥

[५] गिरेः शिलानले नरोः फलं गृह्णति निःस्वामान्यः ।
गृहं मुक्त्वा मनुष्येभ्यः ततोऽपि न रोचतेऽग्रायम् ॥

तरुयोऽपि वटफलं फलं मुनयोऽपि परिधानमशनं लभन्ते ।
स्वामिन्य इयदग्नमायं भृत्या गृह्णन्ति ॥

[६] आग्नेयस्य भवति जगत् वानेन दीनलं तथा ।
यः पुनरङ्गनाऽपि शं तद्वस्त्रस्याप्यन्तं कथम् ? ॥

"विपिअ-आरउ जइवि पिउ, तोवि तं अणहि अज्जु ।
अग्निण दग्धा जइवि घर तो ते अग्नि कज्जु" [१] ॥

स्यम् जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

स्यम्-जस्-शसां लुगवास्तु, स्यम्-जसां स्यम्-शसां यथा-
"एइ ति घोडा एह थन्नि एइ ति निसिआ खग ।
एतु मुणीसिम जाणिअइ जो नवि वावइ वग्ग" ।

[अत्र स्यमजसां लुक्]

"जिचं जिचं वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिचं तिचं वम्महु निअय-सरु खर-पथरि तिक्खेइ" [२] ॥

[अत्र स्यमशसां लुक्]

पठ्याः ॥ ३४५ ॥

पठ्याः प्रायो लुगवास्तु, तदुदाहरणं यथा ।
"संगर-सअर्पहिं जु वप्पिअइ देवसु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तकुसहं गय-कुम्भइं दारन्तु" [३] ।
पृथग्भागः कृता वदयानुरोधार्थोऽत्र सूत्रयोः ।

आमन्थे जसो होः ॥ ३४६ ॥

आमन्थेऽथे जसः स्थाने 'हो' स्याल्लोपस्य बाधकः ।
स्याद् अप्रहो तरुणिहो, तथा तरुणहो यथा ।

निस्सुपोहिं ॥ ३४७ ॥

भिस्सुपोर् 'हि' भवेत् [सुप] 'मगेहिं' [जिस्] 'गुणेहिं' प्रयुज्यते ।

स्त्रियां जस्-शसोऽदोत् ॥ ३४८ ॥

स्त्रियां लोपापवादौ द्वावुदात्तौ जस्-शसोः पृथक् ।
यथा-जज्जरियाओ अंगुलिउ स्याद् द्वयं जसः ।
'विलासिणीओ सुन्दर-सव्वङ्गाउ' शमः स्मृतम् ।
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, भेदोऽत्र वचनस्य तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥

स्त्रियां टायाः पदे स्याद् 'ए' चन्दिमए च कान्तिए ।
"नियमुहकगहिं वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ॥
ससिमएकल चन्दिमए पुणु काइं न दूरे देक्खइ?" [४] ॥

डस्-डस्योर्हिं ॥ ३५० ॥

स्त्रियां 'हे' डस्-डस्योः स्याद्, धण्डे वालडे यथा ।

ज्यसामोर्हिः ॥ ३५१ ॥

स्त्रियां ज्यसामोः स्थाने हुः, 'वयंसिअहु' गद्यते ।

डेहिं ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां डेहिं, यथा 'महाम्' इत्येतत् 'महिहि' स्मृतम् ।

क्रीवे जस्-शसोरिं ॥ ३५३ ॥

क्रीवे 'इ' जस्-शसां स्थाने, 'गण्माइ' 'कुवइ' यथा ।

[१] विप्रियकारको यद्यपि प्रियस्तथाऽपि तमानयाद्य ।
अग्निना दग्धे यद्यपि गृहं ततोऽपि तेनाग्निना महत्कार्यम् ॥

[२] यथा यथा वक्तव्यं लोचनानां इयामला शिक्ते ।
तथा तथा मन्मथो निजशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥

[३] संगरशतेषु यो वर्णते पश्य मद'यं कान्तम् ।
अन्तिमत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ॥

[४] निजमुखकैरेरपि मुग्धा करमन्धकारे प्रत्येवकते ।
शशिभाकलं चन्द्रिकया पुनः कथं न दूरे पश्यति ? ॥

कान्तस्यात उं स्यमोः ॥ ३५४ ॥

क्लीवे ककारान्तनाम्नोऽत ' उं ' स्यात् परयोः स्यमोः ।
पसरिभउं तुच्छउं, भगउं चाऽन्विधीयते ।

सर्वादेडसेही ॥ ३५५ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, डसेही स्याद्, जहां तहां ।

किमो मिहे वा ॥ ३५६ ॥

किमोऽदन्ताद् डसेर् वा स्याद्, ' मिहे, ' रूपं ' किहे ' यथा ।

डेहिं ॥ ३५७ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, डेः स्थाने ' हिं ' यथा ' जहिं ' ।

यत्तकिज्यो डमो मासुर्नवा ॥ ३५८ ॥

यत्तकिभ्यो डसो डामुर्, अदन्तेज्यो विकल्प्यते ।

जासु तासु तथा कासु, सद्धिरेव निगद्यते ।

स्त्रियां डहे ॥ ३५९ ॥

यत्तकिभ्यो ' डहे ' वाऽस्तु, डसः स्थाने स्त्रियां यथा ।

जहं तहे कहे चेतत्, त्रयं सिद्धिं समश्नुते ।

यत्तदः स्यमोर्धुं त्रं ॥ ३६० ॥

यत्तदोस्तु पदे ' धुं ' ' त्रं, ' वा स्यातां परयोः स्यमोः ।

नाहु प्रह्णणि चिच्छदि, धुं त्रं रणि करदि न ।

इदम इमुः क्लीवे ॥ ३६१ ॥

इमुः स्यादिदमः क्लीवे, स्यमोर्, ' इमु कुलु ' स्मृतम् ।

एतदः स्त्री-पुं-क्लीवे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥

स्त्री-पुं-क्लीवे ' एह एहो, एहु ' स्यादेतदः स्यमोः ।

' कुमारी एह ' वा, ' एहु गणु ' ' एहो नरु ' स्मृतम् ।

एज्जम्-शसोः ॥ ३६३ ॥

एतदो जस्-शसोर् ' एहः, ' एह चिच्छन्ति पेच्छ वा ।

अदस ओइ ॥ ३६४ ॥

अदसो जस्-शसोर् ' ओइ, ' ओइ चिच्छन्ति पेच्छ वा ।

इदम आयः ॥ ३६५ ॥

आयः स्याद्, इदमः स्यादौ, आयहो आयइ यथा ।

सर्वस्य साहो वा ॥ ३६६ ॥

सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्धं ' साहु वि सवु वि ' ।

किमः काइ-कवणौ वा ॥ ३६७ ॥

वा किमः ' कवणो काइ, काइ दूरे न देखइ ।

' जण कज्ज कवणेण, ' पक्के ' गज्जहि किं खत्र ' ।

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥

युष्मदः सौ ' तुहुं ' इत्यादेशः स्यात्, त्वं ' तुहुं ' ततः ।

जस्-शमोस्तुम्हे तुम्हइ ॥ ३६९ ॥

युष्मदो जस्-शमोस् ' तुम्हे, तुम्हइ ' च पृथक् पृथक् ।

जाणइ तुम्हइ तुम्हे, तुम्हे पेच्छइ तुम्हइ ।

यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, जेदोऽत्र वचनस्य तु ॥

टा-डयमा पइं तइं ॥ ३७० ॥

' अम टा डि ' इत्येतैः सार्धं, युष्मदस्तु ' तइं ' पइं ' ।

' त्वां त्वया त्वयि ' इत्येषां, स्थाने वाच्यं ' तइं ' ' पइं ' ।

भिसा तुम्हेहिं ॥ ३७१ ॥

युष्मदस्तु भिसा साकं, ' तुम्हेहिं ' इति पठ्यते ।

डमिडस्त्र्यां तउ तुज्ज तुध ॥ ३७२ ॥

डमि-डस्त्र्यां सह ' तउ, तुज्ज, तुध ' च युष्मदः ।

' तव त्वत् ' अनयोः स्थाने, ' तुज्ज ' ' तुध ' ' तउ ' त्रयम् ।

ज्यसाम्भ्यां तुम्हइ ॥ ३७३ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं ज्यसाम्भ्यां, तुम्हइ मतम् ।

युष्मभ्यं तुम्हइ वाच्यं, तथा युष्माकमित्यपि ।

तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं सुपा ' तुम्हासु ' पठ्यते ।

सावस्सदा हउं ॥ ३७५ ॥

अस्मदः सौ परे रूपं, ' हउं ' इत्यभिधीयते ।

' डुल्लइ अहो कत्तज्जण हउं तसु ' निदर्शनम् ।

जस्-शसोरम्हे अम्हइ ॥ ३७६ ॥

अस्मदो जस्-शसोर् ' अम्हे अम्हइ ' च पृथक् पृथक् ।

टा-डयमा मइं ॥ ३७७ ॥

' अम टा डि ' इत्येतैः सार्धं, अस्मदस्तु भवेद् ' मइं ' ।

' मां मया मयि ' इत्येषां, स्थाने वाच्यं ' मइं ' सदा ।

अम्हेहिं जिमा ॥ ३७८ ॥

अस्मदस्तु भिसा साकम्, ' अम्हेहिं ' इति पठ्यते ।

महु मज्जु डमि-डस्त्र्याम् ॥ ३७९ ॥

डसिडस्त्र्यां सह ' महु मज्जु ' स्तोऽत्राऽस्मदः पदे ।

' मत्त ममेत्यनयोः स्थाने, ' महु मज्जु ' यथाक्रमम् ।

अम्हइ ज्यमाम्भ्याम् ॥ ३८० ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं ज्यसाम्भ्याम्, ' अम्हइ ' मतम् ।

अस्मभ्यम् ' अम्हइ ' वाच्यं, तथा चास्माकमित्यपि ।

सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं सुपा ' अम्हासु ' पठ्यते ।

त्यादेराद्यत्रयस्य बहुत्वे हिं नवा ॥ ३८२ ॥

त्यादीनां तु विनक्तीनां, यदायं त्रिकमुच्यते ।

तद्बहुत्वस्य ' हिं ' वा स्याद्, धरन्ति-धरहिं ' स्मृतम् ।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥

त्यादीनां तु विनक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।

तदाद्यवचनस्येह, हिरादेशो विकल्प्यते ।

' वण्णीहा ! पिउ पिउ भणवि, किच्छिउ ' रुअहिं ' हयास ! ।

तुह जलहे महु पुणु वल्लहे, विहुं वि न पूरिअ आस ।

[आत्मनपदे] वण्णीहा ! कइं वोस्सिएण, निगिण वारइ वार ।

सायरि भरिअइ विमलि-जलि, ' लहहिं ' न एकइ धार " * ।

एवं ' दिज्जहिं ' रूपं स्यात्, रुअसीत्यादि पात्तिकम् ।

बहुत्वे हुः ॥ ३८४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।

तद्बहुत्वस्य हुर्वा स्याद्, यथा- ' इच्छहु इच्छह ' ।

अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्यं त्रिकमुच्यते ।

' उं ' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा- ' कम्हामि कम्हउं ' ।

* वण्णीहा ! प्रिय प्रिय भणित्वाऽपि कियत् रोदिवि इताश ! ।

तव जलधरेण मम पुनर्वल्लभेन द्वयोरपि न पूरिता आशा ।

वण्णीहक ! किं कथनेन निवृण ! वारं वारम् ।

सागरे भूते विमलजलेन जलभसे नैकमपि धाराम् ॥

बहुत्रे हुं ॥ ३८६ ॥

त्यादीनां तु विप्रकीर्णानां, यद्-त्यं त्रिकमुच्यते ।
तद्वहुत्वस्य 'हुं' वा स्याद्, 'लहुहुं लहिमु' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिच्छदेत् ॥ ३८७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर वा स्युर, 'इच्छेत्' इमे त्रयः ।
[इति] "कुञ्जर ! सुमरि म सल्लइव सरला सास म मेल्लि ॥
कवल जि पाविय विहे-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि
[उत्त] भमरा ! एत्थु वि लिम्बइ केवि दियहडा विलम्बु ॥
घण-पत्तु ङाया-पहुमु फुल्लइ जावँ कयम्बु ।
[एत] प्रिय ! एम्बहि कार सेल्लु करि इडुहि तुहुं करवालु ॥
जे कावात्तिव वप्पुमा हेहि अभग्गु कवालु" ॥ [१]
पक्के सुमरहात्यादि, रूप बोध्यं मनीषिभिः ॥

वर्त्यति स्यस्य सः ॥ ३८८ ॥

भविष्यदर्थे त्यादीनां, स्यस्य सो वा विधीयते ।
यथा 'होसइ' इत्येतत्, पक्के होसिइ पठ्यते ॥

क्रियेः कीमु ॥ ३८९ ॥

'क्रिये' क्रियापदं त्वेतत्, वाऽत्र 'कीमु' निगद्यते ।
पक्के तु 'किञ्जउं वलि सुअणस्सु' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुच्चः ॥ ३९० ॥

पर्याप्त्यर्थे भुवो धातोः, पदे 'हुच्चः', 'पहुच्चइ' ।

वृगो भुवो वा ॥ ३९१ ॥

वृगो धातोर् भुवो वा स्याद्, 'भुवइ व्रोप्पिणु' स्मृतम् ।

व्रजेवृजः ॥ ३९२ ॥

व्रजतेस्तु वृजदेशो, वृजेप्पिणु वृजेप्पि च ।

दशः प्रस्सः ॥ ३९३ ॥

दशेर्धातोः पदे प्रस्साऽऽदेशः, 'प्रस्सइ' पश्यति ।

ग्रहेर्ग्राहः ॥ ३९४ ॥

गृहदेशो ग्रहेः स्थाने, 'पढ गृहेप्पिणु वतु' ।

तत्तयादीनां त्रेधादयः ॥ ३९५ ॥

तत्तयादीनां तु धातूनां, पदे त्रेधादयो मनाः ।
ये क्रियावाचका देश्या आदिशब्दप्रदा हि ते ॥
'जिउँ तिउँ निकम्मा हेवि सर जइ ससि गेल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोहिं मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥
चृकुल्लउ चूर्णीहोइ सइ मुद्धि कवोत्ति निहत्तउ ।
सामानल-जाल-भलक्किअउ वाह-सविल-संसित्तउ" ॥ [२]

[१] कुञ्जर ! सुमरि मा सल्लकान् सरलान् उवासान् मा सुञ्ज ।

कवला ये प्रामा विधिवशेन तान् चर मानं मा सुञ्ज ॥

भमरा ! अत्रापि निम्बे कियन्ति दिवसानि विहम्बस्व ।

घनपत्रवान् ङायावद्भूः फुल्लन्ति यावत् कदम्बः ॥

प्रिय ! इदानीं करे सेल्लु कुरु मुञ्च त्वं करवाल्म ।

यत्तु कापालिका वृगाका तान्ति अभग्गं कपालम् ॥

[२] यथा तथा तीक्ष्णान् लम्बा शरान् यदि शरीं अतक्कियत ।

ततो जगति नारीं मुखकमलेन सद्दशतां कामपि अन्नप्स्यत ॥

चूटकटचूर्णाभविष्यति मुखे ! कपोले निहितः ।

इवासान्नज्वालादग्धः वायसविव्रसंसिकः ॥

"अभ्रमवंचितुं ये पयइ पेम्मु निमत्तइ जाँव ।

सव्वासण-रित्त-संजवहो कर परिअत्ता ताँव ॥

हिअइ खुम्भइ गोरमी गयणि घुम्भइ मेहु ।

यासा-रात्ति-पवासुअहं विममा संकरु पडु ॥

अम्मि ! पओहर वज्जमा निच्छु जे संमुह थन्ति ।

महु कत्तहो समरङ्गणइ गय-घम भज्जिउ जन्ति ॥

पुत्तं जापं कवणु गुणु अवगुणु कवणु सुणु ।

जा यणीकी भुंहमी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।

तिसहे निवारणु पलुवि नाँव पर धुम्भइ असारु" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ग-त-थ-प-फां ग-घ-

द-ध-व-जाः ॥ ३९६ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेनाम् ।

'क-ग-त-थ-प-फ-' वर्णानां स्थाने 'ग-घ-द-ध-व-भाः' प्रायः ॥

[कस्य गः] "जं दिछउं सोम-भगणु असइहिं हसिउ निसङ्कु ।

पिय-माणुस-विच्छोह-गरु गिवि गिवि राहु मयङ्कु ॥

[खस्य घः] अम्माए सत्थावत्थेहिं सुधि चित्तिज्जइ माणु ।

पिप दिछे हल्लोहवेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥

तथपफानां धववजाः यथा-

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइ तसु पर सभलउं जम्मु ।

जासु न चाउ न चारहकि न य पम्हउ धम्मु" ॥ [२]

मोऽनुनासिको वो वा ॥ ३९७ ॥

अनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।

स्याद् वोऽनुनासिकस्, तेन कवँलु कमवु द्वयम् ॥

अयं लाक्षणिकस्यापि, जेवँ तेवँ इति स्मृतम् ।

वाऽथो रो लुक् ॥ ३९८ ॥

संयोगाऽध्यःस्थितस्येह, वा रेफस्य लुगिष्यते ।

'जइ केवइ पावीसु पिउ' पक्के 'प्रियेण' च ॥

अचूतोऽपि कचित् ॥ ३९९ ॥

रेफोऽत्राविद्यमानोऽपि कचिद् जवति, दर्शयते ।

[१] अनुवज्ज (मुक्ताक्षारय) द्वौ पादौ प्रेम (प्रिया) निवर्तते यावत् ।

सर्वाशनरिपुसंजवस्य कराः परिवृत्तास्तावत् ॥

हृदये शल्यायते गौरी गगने गर्जति मेघः ।

वर्षारात्रिप्रवासिकानां विषमं संकटमेतत् ॥

अम्भ ! पयोधरौ वर्जय मा नित्यं यौ संमुखौ तिष्ठतः ।

मम कान्तस्य समराङ्गेण गजघटा जङ्-क्त्वा यान्ति ॥

पुत्रेण जातेन को गुणः अपगुणः को मृतेन ।

या पैतृकी भूमिराकस्यते अपरेण ॥

तत्तावत् जले सागरस्य स तावान् विस्तारः ।

तृपाया निवारणे पलमपि नापि, परं शब्दायतेऽसारः ॥

[२] यद् दृष्टं सोमग्रहणमसनीभिर्हसितं निःशङ्कम् ।

प्रियमानसविक्रोभकरं गिल गिल राहो ! मृगाङ्गम् ॥

अम्भ ! स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानः ।

प्रिये दृष्टे औत्सुक्येन क आत्मानं चेतयते ॥

शपथं कृत्वा कथितं मया तस्य परं सफलं जन्म ।

यस्य न त्यागो न चारजटी न च प्रमृष्टो धर्मः ॥

“वासु महारिसि एव भणइ जइ सुइ-सत्यु परमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिविदिवि गङ्गा-एहाणु” ॥ [१]
कचिदिति किम् ? ‘बच्च दासेण वि जारह-स्वमिन्’ च ॥

आपट्टिपत्संपदां द इः ॥ ४०० ॥

विपदापत्संपदां स्याद्, दस्येकारः कचिद्, यथा- ।
रूपम् ‘आवइ’ ‘संपइ’ तथा ‘विवइ’ इत्यपि ॥
प्रायोऽधिकाराद् ‘गुणहिं न किति पर संपइ’ ।

कयं-यथा-तथां थादेरमेहेधा मितः ॥ ४०१ ॥

‘कथं यथा तथा’ एषां थादेरवयवस्य तु ।
‘इह इध एम इम’ इत्यादेशा दितः पृथक् ।
अतः ‘कथं’ ‘किह किध किम केम’ निगद्यते ।
‘यथा’ जिह जिधेत्यादि, ‘तथा’ तिह तिधादि च ।

यादक्-तादक्-कीदगीदशां दादेरमेहः ॥ ४०२ ॥

‘यादत्तादक्-कीदगीदश’ इत्येतेषां तु योऽस्ति दः ।
तदाद्यावयवस्येह, मेहादेशो विधीयते ।

‘मइ भणिअउ वल्लिराय ! तुहुं केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होइ वढ ! सइ नरायणु एहु” ॥ [२]

अतां मइसः ॥ ४०३ ॥

ईदश-कीदश-यादश-तादशशब्देषु दादिवर्णस्य ।
डइसाऽऽदेशो, जइसां तइसां कइसांऽइसां च यथा ।

यत्र-तत्रयोस्त्रस्य रुदेत्थवत्तु ॥ ४०४ ॥

‘एत्थु अत्तु’ डितौ त्रस्य, शब्दयोर्यत्र-तत्रयोः ।
‘जत्तु तत्तु जत्थु तेत्थु’ सिक्क रूपचतुष्टयम् ।

एत्थु कुत्रात्रे ॥ ४०५ ॥

कुत्राऽत्रयोस त्रशब्दस्य, पदे ‘एत्थु’ मिदिष्यते ।
केत्थु वि बेप्पिणु सिक्क, एत्थु जेत्थु वि तेत्थु वि ।

यावत्तावतोर्वाऽऽदेर्म उं महिं ॥ ४०६ ॥

यावत्तावदित्यनयोर्, वाऽऽदेरवयवस्य तु ।
म, उं, महिं चेत्येते स्युर, आदेशास्तु त्रयो यथा ।
जाउं ताउं, जाम ताम, जामहिं तामहिं तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्मेवडः ॥ ४०७ ॥

अत्वन्तयत्तदोर् यावत्तावतौ यौ, तयोः पुनः ।
वाऽऽदेरवयवस्येह, पदे वा ‘मेवडो’ ऽस्तु मित् ।
“जेवमु अन्तरु रावण-रामहं तेवडु अन्तरु पट्टण-गामहं” ।
पक्षे रूपं भवति जेत्तुलो, तावच्छब्दस्येह तेत्तुलो ।

वेदं किमोर्पादेः ॥ ४०८ ॥

अत्वन्तेदं-किमोर् ‘इयत्-कियतौ’ यौ तयोः पुनः ।
याऽऽदेरवयवस्येह, पदे वा ‘मेवडो’ ऽस्तु मित् ।
एत्तुलो केत्तुलो रूपं, तथा एवमु केवमु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्य, भवेद् आदावद् आगमः ।

‘अवरोप्परु’ इत्येतत्, ततः सिद्धं परस्पर ।

कादि-स्थैदेतोस्त्वार-झाघवम् ॥ ४१० ॥

पदेतोर् लघुताऽस्तु, प्रायः स्थितयोः कादिषु हि ।
सुधे चिन्तिजइ माणु, तसु इवं कवि-जुगि दुल्लहदो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

‘उं-हुं-हिं-हं’ इत्यमोषां, पदान्तानां तु भाषणे ।
कर्तव्यं झाघवं प्रायो, यथा लहहुं किज्जं ।

म्हो म्मो वा ॥ ४१२ ॥

प्राकृते पङ्क्त- [२।७४] सूत्रेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।
तस्य ‘म्मो’ वाऽत्र जायते, ‘गिरमो सिम्मो’ यथा पदम् ।

अन्यादशोऽनाइसावराइमौ ॥ ४१३ ॥

स्थाने त्वऽन्यादशस्यात्राऽन्नाइसः स्तोऽवराइसः ।

प्रापसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्ब-पगिम्बाः ॥ ४१४ ॥

‘पगिम्ब-प्राइव-प्राउ-प्राइम्बाः’ प्रायसः पदे ।

वाऽन्यथोऽनुः ॥ ४१५ ॥

‘अनुः’ स्याद् वाऽन्यथेत्यस्य, पक्षे स्याद् रूपम् ‘अन्नह’ ।

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥ ४१६ ॥

‘कहन्तिहु कउ’ स्यातामादेशो कुतसः पदे ।

ततस्तदोस्तोः ॥ ४१७ ॥

‘ततस् तदा’ इत्यनयोस्, ‘तो’ इत्यादेश इष्यते ।

“जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि ! मज्जु पियेण ।

अइ भग्गा अम्हहं तणा, तो तं मारिअडेण” ॥ [१]

एवं-परं-समं-धुवं-मा-मनाक् एम्ब पर समाणु धुवु मं

मणाउं ॥ ४१८ ॥

एवं ‘एम्ब’ तथा मा ‘मं’, धुवं धुवु, परं पर ।

मनाक् ‘मणाउं’ वक्तव्यं, समम अत्र ‘समाणु’ च ।

किन्नाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहं नाहिं ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवइ, दिवा दिवे, नहि नाहिं ।

सह सहम, इत्यभिधीयते, प्रायो, नैव सदा हि ।

[सहस्य सह] “जउ पवसन्ते सहं न गयअ न मुअ विओपं तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसमा, दिन्तेहिं सुहय-जणस्सु” । [२]

पश्चादेवमेवैवेदानीं-प्रत्युतेतमः पच्छइ एम्बइ जि एम्बाहिं

पच्चिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

पश्चात् पच्छइ, एव जि, इत एत्तहे, एवमेव एम्बइ च ।

भवतीदानीम एम्बाहिं, तथा प्रत्युतेति पच्चिउ ।

विपक्षोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्चं ॥ ४२१ ॥

उक्तं वुत्तं, वर्त्म विच्चं, विपक्षं वुन्नम् उच्यते ।

शीघ्रादीनां वहिह्लादयः ॥ ४२२ ॥

शीघ्रादेस्तु वहिह्लादिरादेशोऽत्र निगद्यते ।

शीघ्रं ‘वहिह्ल’ इत्युक्तं, भ्रुकटां घृहलः स्मृतः ।

[१] व्यासो महर्षिरेतद्गणति यदि श्रुतिशास्त्रं प्रमाणम् ।

मातृणां चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गास्नानम् ॥

[२] मया जणितो वल्लिराज ! त्वं कीदृग् मार्गेण एषः ।

यादक् तादृग् नाऽपि भवति मूर्ख ! स्वयं नारायण ईदृक् ॥

[१] यदि भग्नाः परकीयास्ततः सास्त्रे ! मम प्रियेण ।

अथ भग्ना आस्माकीनास्ततस्तेन मारितेन ॥

[२] यत् प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य ।

लज्ज्यते संदेशान् ददतीभिः सुभगजनस्य ॥

[घृहणः] 'जवे सुपुरिम तिर्यं घृहणं जिवै नइ तिर्यं घलणार ।
'जवे डोहूर तिर्यं कोटूरं दिआ विसूरि काइ' । [१]
'विद्याया' उपपद्यमंसर्गो, 'द्रव्यो' जयवानकः ।
आत्मीया' उपपद्य, इत्युक्तो 'निष्ठा' गाढ ईरतः ।
ट्रेहिर हट्टो, रचणस्तु रम्ये, खंडस्तु क्रीरते ।
स्यात् कोटुः कौतुके सक्तलस्वसाधारणे तथा ।
अद्भुतं डकर, हेस्तिः हेमाख, नवखो नवे ।
अवस्कन्दे दडवनः, पृथगर्थे जुअजुअः ।
नम्बन्धये केर-तणो, मूडे'ये वढ-नालिओ ।
मा जेष रिति मम्भोत्ता, यद्यर्थे वुडूर इत्यने ।
'यद्यद् दष्टं तत्तद्' इत्यर्थे जाइदिआ स्मृता ।

हुहु-धुग्वादयः शब्द-चेष्टानुकरणयोः ॥ ४२३ ॥

स्पुर हुहु-प्रभृतयः, शब्दानुकरणे तथा ।
चेष्टा अनुकरणे धुग्वादयः शब्दा व्यवस्थिताः ।
"मइ जाणितं वुडूस हउं पेम्म-डहि हुहु सति ।
नवरि अचिन्तिय मंपरिअ विणिय नाव भडत्ति ।
अज्जि नाहु महुज्जि गरि मिहत्था वन्देइ ।
ताचंजि विरहु गवक्खेहि मक्कहु-धुग्वाय देइ" । [२]

यममादयोऽनर्थकाः ॥ ४२४ ॥

'यइम्' इत्यादयः शब्दाः, निपाताः परिकीर्तिताः ।
वेद्या अनर्थकास्तेऽत्र, 'यइं खाइं' निदर्शनम् ।
नादर्थ्ये केहि-तेहि-रेसि-रेसि-तणेणाः ॥ ४२५ ॥
'केहि-तेहि-रसि-रेसि-तणेणा' इति पञ्च तु ।
निपाताः संप्रयोक्तव्यास्तादर्थ्यं यत्र गम्यन्ते ।
'ढोला पह परिहासडो अइम न कवणहि देसि ।
हउं छिज्जचं नउ केहि पिअ ! तुहुं पुणु अअहि रोसि" । [३]

पुनर्विनः स्वार्थे डुः ॥ ४२६ ॥

'पुनर् विना' इत्येताभ्यां, स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवेत् ।
पुनर्थे पुणु ततो, विनाऽर्थे 'विणु' सिध्यति ।

अवश्यमो नै-ढो ॥ ४२७ ॥

अवश्यमः परै 'नै-ढो' स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्मृतौ ।
नम्माट् अवश्यम् 'अवसै अवस' स्मर्यते बुधैः ।

एकशमो निः ॥ ४२८ ॥

स्वार्थे ढिर एकशम् शब्दाद्, रूपम् 'एकलि' संस्मृतम् ।

अ-नर-कुल्लाः स्वार्थिक-क-मुक् च ॥ ४२९ ॥

नाज्जः परे-'अनर कुल्ल' इत्यर्मा स्वार्थिकाख्यः ।
नम्भियांगे स्वार्थे क-प्रत्ययश्चेह लुप्यते ।

[१] यथा सुपुरुषस्तथा भगवत्कथा यथा नयस्तथा चतनानि ।
यथा गिर्यस्तथा कोटुराणि हृदय ! स्त्रियमे कथम् ? ।
[२] मया ज्ञातं वृद्धिप्यामि अहं प्रेमहृदे हुहुकरति ।
कवलमचिन्तित्वा संपतिता (संप्रान्ता) विप्रियनैः भटिति ॥
अद्यापि नाथो ममैव गृहे सिद्धार्थान् वन्दते ।
नायदेव विरहो गवाक्षेषु मरुटयेष्टाः ददाति ॥
[३] नायक ! एषा रतिः अन्यद्भुता न कुत्रापि दृष्टा ।
अहं द्वीये तय कृते प्रिय ! त्वं पुनरन्यस्वार्थे ॥

"विरहानल-जाल-करालिअउ पहिर पन्थि जं दिट्टउ ।
तं मेलवि सव्वाहिं पंथिअहिं सोजि किअउ अगिठ्ठउ" [१] ॥
रुमस्य 'दोसडा' डलस्य कुकुली निदर्श्यते ।

योगजार्थपाम् ॥ ४३० ॥

एषाम् अ-डड-कुल्लानां, योगजदेन निर्मिताः ।
जायन्ते प्रत्यया येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे कचिन्मताः ।
[रुमस्य] 'फोमेन्ति जे हिअरुउं' कित्तेति [१२६६] यमुक् मतः ।
[कुल्लस्य] 'सुअ्रीहांइसउ कुल्लउ' कुल्लमं शृणु- ।
[कुल्लम] "सामिपसाउ सलज्जुपिउ सीमा-सोधिहि वासु ।
पकिअवि बाहु-वुल्लमा धण मेल्लइ नीसासु" [२] ॥
आमि 'स्यादौ दाधि-दस्वौ'-[३३३०] इति दीवोऽत्र बुध्यताम् ।
'बाहु वल्ल उउ' तु, प्रत्ययत्रयसंभवम् ।

स्त्रियां तदन्ताड्ढीः ॥ ४३१ ॥

पूर्वसूचद्वयोक्तप्रत्ययान्ताद् ङीः स्त्रियां जवत् ।
"पहिआ दिठा गोरमी दिट्टा मग्गु निअन्त ।
असूसासेहि कञ्जुआ तितुज्वाण करन्त" [३] ॥

आन्तान्ताड्ढीः ॥ ४३२ ॥

स्त्रियाम् अप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्ताद् 'ङी'ऽस्मि नैव ङीः ।
"पिउ आइउ सुअ वत्तडां कुणि कन्नडइ पइठ ।
तहो विरहहो नासंतअहो धूलडिआ वि न दिट्टु" [४] ॥

अस्येदे ॥ ४३३ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽत इत्वं स्याद् आकारे प्रत्यये परे ।
'धूलडिआ वि दिठ न' इति वाक्ये विभाव्यताम् ।

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥ ४३४ ॥

युष्मदादिभ्य ईय प्रत्ययस्य 'डार' इध्यते ।
"संदेसै कां तुहारेण जं सङ्गहो न मिज्जिअइ ।
सुइणन्तरि पिणं पाणिपण पिअ ! पिआस किं भिज्जइ" [५] ॥
अम्हारा च महारा च. वयं चैवं निदर्शनम् ।

अतोर्केतुलः ॥ ४३५ ॥

इदं कियत्तदेतद्गोऽतोः स्थाने 'डेकुलो' भवेत् ।
एकुलो केकुलो जेकुलो च तेकुलो एत्तलो ।

त्रस्य तेत्तहे ॥ ४३६ ॥

सर्वादेश्च त्र-प्रत्ययस्य, पदे स्यात् 'डेत्तहे' यथा- ।
"एत्तहे तेत्तहे वीरघोर लच्छि विसण्डुल ठाइ ।
पिअ-पम्भट्टव गोरडी निळल कहिवि न ठाइ" [६] ॥

[१] विरहानलज्वालाकरालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ।
तत् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव कुतोऽग्रिष्ठः ॥

[२] स्वामिप्रसादः सलज्जप्रियः सीमासंधौ वासः ।
प्रकृत्य बाहुवत् नयिका मुञ्चति निश्वासम् ॥

[३] पथिक ! दृष्टा गौरी दृष्टा मार्गं पश्यन्ती ।
अशृच्छ्वासाभ्यां कञ्जुकं तेमितोद्गतं कुर्वन्ती ॥

[४] प्रिय आगतः श्रुता वार्ता ध्वनिः कर्णप्रविष्टः ।
तस्य 'विरहस्य नश्यतो' धूलिरपि न दृष्टा ॥

[५] संदेशेन कियत् युष्मदादेर्यत् सङ्गाय न मिल्यते ।
स्वप्नान्तरे पोतेन पानीयेन प्रिय ! पिपासा किं विद्यते ।

[६] अत्र तत्र वीरगृहे लङ्कमी विसम्पुला तिष्ठति ।
प्रियप्रपुष्टा गौरी निश्चला कापि न तिष्ठति ॥

त्व-तलोः पणः ॥ ४३७ ॥

प्रत्यययोस् त्व-तलोः स्यात्, 'पणः', वट्टपण' स्मृतम् ।

प्रायोऽधिकाराद् 'वट्टत्तणहो' इत्यपि सिध्यति ।

तव्यस्य इण्वत्तं एवत्तं एवा ॥ ४३८ ॥

इण्वत्तं एवत्तं एवा' तव्यस्य पदे त्रयः ।

"एउ गृह्णन्ति धुं मइ, जइ प्रिउ उव्वगिज्जइ ।

महु करिण्वत्तं किं पि एवि, मरिण्वत्तं पर देज्जइ ।

देसुच्चाडणु सिहिकडणु, घणकुट्टणु जं लोइ ।

मंजिट्टण अइरत्तिण, सव्वु सहव्वत्तं होइ ।

सोएवा पर वारिआ, पुण्णवइहिं समाणु ।

जग्गेवा पुणु को धरइ, जइ सो वेउ पमाणु ? " ॥ [१]

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥ ४३९ ॥

'अवि इवि इउ इ' इतीम, चत्वारः क्वः पदे भवन्ति, यथा ।

[१] जइ [ईव] चुम्बिवि च [अवि] विछोडावि,

[इउ] भज्जिउ रूपणि सिध्यन्ति ।

[अवि] "बाह विछेडावि जाहि तुहे, हउं तेधँव को दोसु ? ।

हिअय-ट्टिउ जइ नीसइ, जाणउं मुज्ज ! सरोसु ॥ " [२]

एण्येपिण्वेव्येविण्वः ॥ ४४० ॥

चत्वारः क्वः पदे 'एण्वि, एवि एण्विण्व विण्व' ।

सुत्रयोर्यः पृथग्योग उत्तरार्थः स इत्येते ।

"जेप्पि असेसु कसाय-वल्लु, देप्पिणु अमउ जयस्सु ।

लेवि महव्वय सिवु लइहि, भाणविणु तत्तस्सु ॥ " [३]

तुम एवमणणहमणहिं च ॥ ४४१ ॥

'अणहिं अणहं एवं, अण एण्विणु एविणु ।

एण्वि एवि' अमी अष्टौ, प्रत्ययस्य तुमः पदे ।

"देवं दुक्कुर निअय-धणु, करण न तउ पन्निहाइ ।

एवइ सुहु भुज्जणहं मणु, पर च्चुज्जणहिं न जाइ ।

जेप्पि चएण्विणु सयव धर, लेविणु तवु पालेवि ।

विणु सन्ते तित्थेसरण, को सक्कइ भुवणे वि ? ॥ " [४]

गमेरेपिण्वेप्योरेलुग् वा ॥ ४४२ ॥

गम-धातोः परौ यौ स्तः, 'एण्वि एण्विणु' इत्यम् ।

तयोर् एनो लुग् अत्रास्तु, विभाषेति विधीयते ।

"गम्पिणु वाणारसिहिं नर, अह उज्जेणिहिं गम्पि ।

मुआ परावहिं परम-पउ, दिव्वत्तरइं म जम्पि" । [५]

[१] एतद् गृहीत्वा यन्मया यदि प्रिय! उद्धार्यते ।

मम कर्तव्यं किमपि नापि, मर्तव्यं परं दीयते ॥

देशोच्चाटनं शिखिकथनं घनकुट्टनं यत्तलोके ।

मज्जिष्ठया अतिरक्तया सर्वं सोढव्यं प्रवति ॥

स्वपितव्यं परवारिता पुण्यवतीभिः समम् ।

जागर्तव्यं पुनः को विजति यदि स वेदः प्रमाणम् ॥

[२] बाहू विच्छेद्य यासि त्वं भवतु तथा को दोषः ? ।

हृदयस्थितो यदि निःसरासि जाने मुञ्ज ! सरोवः ॥

[३] जित्वाऽशेषं कषायबलं दत्त्वाऽभयं जगतः ।

लात्वा महाव्रतानि शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥

[४] दातुं दुष्करं निजकथनं कर्तुं न तपः प्रतिजति ।

पवमेव सुखं भोक्तुं मनः परं प्रोक्तुं न याति ॥

जेतुं त्यक्तुं सकक्षां धरां लातुं तपः पालयितुम् ।

विना शान्तिना तीर्थस्नानेन कः शक्नोति भुवनेऽपि ? ॥

[५] गत्वा वाराणस्यां नरा अयोऽज्जयिन्यां गत्वा ।

मृताः (स्त्रियन्ते) प्राप्नुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥

[पते] "गङ्गा गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिव-तित्थ गमेप्पि ।
कीददि तिदसावास-गउ, सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥ " [१]

तृनोऽण्वः ॥ ४४३ ॥

प्रत्ययस्य तृनः स्थानेऽणवाऽऽदेशो विधीयते ।

बोल्लणउ वज्जणउ, तथा जसणउ स्मृतम् ।

इवार्थे न-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥ ४४४ ॥

अपञ्चशे 'जणि जणु नाइ नावइ नं नउ' ।

इत्यमी षट् प्रयुज्यन्ते, इवार्थे क्रोविदैः सदा ।

[नाइ] "वत्तयावत्ति-निवडण-भण्ण, थण उड्डणुअ जाइ ।

वल्लह-विरह-महादहहो, थाह गवेसइ नाइ ॥ " [२]

लिङ्गमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥

अत्र लिङ्गं व्यभिचारि, प्रायो भवति तेन हि ।

स्त्रीपुनपुंसकं लिङ्गं, यथेष्टं संप्रवर्तते ।

"अम्भा लम्भा कुङ्गरिहिं, पट्टिउ ररुन्तउ जाइ ।

जो पहा गिरि-गिलण-मणु, सो किं घण्णे धणाइ ॥ " [३]

अत्र अम्भेति पुंस्त्वं हि, क्लीबस्य प्रतिपादितम् ।

एवमन्यासु गाथासु, स्वयं ब्रुत्वा विचार्यताम् ।

शौरसेनीवत् ॥ ४४६ ॥

अपञ्चशे शौरसेनीयत् कार्यं प्रायशः स्मृतम् ।

व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥

भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणानि तु यानि हि ।

तेषां च व्यत्ययः प्रायो, भवेदित्युपदिश्यते ।

तिष्ठश्चिष्टेति [४२९८] मागध्यां, यथा कार्यं प्रदर्शितम् ।

तत् पैशाची-शौरसेनी-प्राकृतेष्वपि जायते ।

अपञ्चशे तु रेफस्याधो वा लुक् स्यादीतीरितम् ।

मागध्यामपि तत् कार्यं, प्रवर्तते निदर्शनम् ।

न केवलं हि भापालक्षणानां व्यत्ययः कृतः ।

त्याद्यादिशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः ।

वर्तमाने प्रसिद्धा ये, ते चूनेऽपि भवन्ति तु ।

भूतकाले प्रसिद्धास्तु, वर्तमानेऽपि वीकृताः ।

यथा 'पेच्छइ' इत्येतत्, 'प्रेक्षाञ्जके' कचिन्मतम् ।

'आजासइ' 'आवभाषे', इत्यर्थे क्वापि दृश्यते ।

एवं 'सोहीअ' इति तु, शृणोतीत्यर्थकं कञित् ।

शिष्टप्रयोगतः सर्वे, बोध्यं सूक्ष्मदर्शिनः ।

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥

प्राकृतादिषु भाषासु, यत् कार्यं नेह दर्शितम् ।

सप्ताध्यायीनिबन्धेन, संस्कृतेन समं हि तत् ।

"हेठ-ट्टिय-सूर-निवारणाय, उत्तं अहो इव वहन्ती ।

जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी" । [४]

यद्यप्यत्र चतुर्थ्यास्तु, नादेशो दर्शितः कञित् ।

तथाऽपि सोऽनिदेशेन, सिद्धः संस्कृतवत् खलु ।

[१] गङ्गां गत्वा यो मृता यः शिवतीर्थं गत्वा ।

क्रीडति त्रिदशावासगतः स यमलोकं जित्वा ॥

[२] वल्लयावलिनिपतनभयेन नायिका ऊर्वचुजा याति ।

वल्लजविरहमहादहस्य स्ताघं गवेपयति इव ॥

[३] अम्भाणि लम्भानि पर्वतेषु पथिको रटन् याति ।

य इच्छति गिरिगलनमनाः स किं नायिकायाः धनानि ? ॥

[४] अधःस्थितसूरनिवारणाय छत्रमध इव वहन्ती ।

जयति सशेषा वराहश्वासदूरोत्किता पृथिवी ॥

उक्तं चापि भवत्यत्र, कार्यं संस्कृतवत् कश्चित् ।
'उरे उरम्मि' इत्येतौ, प्रयोगौ प्राकृते मतौ ।
उरर्मात्पि तस्यार्थे, कापि संस्कृतवन्मतम् ।
मिरे सिरम्मि मिरमि, सरम्मि सरसि सरे ।
इत्याद्यपि बुधैरेवं, वेद्यं लक्ष्यानुसारतः ।
मिच्छस्य ग्रहणं सूत्रे, मङ्गलार्थं प्रकीर्तितम् ।
येन वाचकवृन्दस्य, नित्यमभ्युदयोऽस्त्विति ।

या भाषा भगवद्वचाजिरगमन् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ॥
तस्याः संप्रति दुःषमारवशतो जातोऽपचारः पुनः
संचाराय मया कृतं विवरणं पादश्चतुर्थो गतः ॥१॥
इति श्रीवृहत्सौधर्मतपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ चतुर्थः पादः ।

तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं प्राकृतव्याकृतिः ।

अथ प्रशस्तिश्लोकाः--

श्रीसौधर्मवृहत्तपेतिविदिते गच्छे पुरा धर्मराट्
संजातः खलु रत्नसूरिरपरः सूरिः क्षमाऽऽख्यस्ततः ।
देवेन्द्रश्च ततो बभूव विबुधः, कल्याणसूरिर्महान्
आचार्यः सकलोपकारनिगतः सूरिः प्रमोदस्ततः ॥१॥
तच्छिष्यो निजगच्छकृत्यविशदीकर्ता स भट्टारको
राजेन्द्रान्निधकोशसंप्रणयने संजातचरिश्चमः ।
ग्रन्थानां सुविचारचारुचतुरो धर्मप्रचारोद्यतो
जैनाचार्यपदाङ्कितोऽहमधुना राजेन्द्रसूरिर्बुधः ॥२॥
दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन ।
विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥३॥
मोहनविजयेन पुनः प्रधानशिष्येण चूरि विज्ञप्तः ।
सकलजनोपकृतिश्चेदेवं करणे महान् लाभः ॥४॥
अत एव विक्रमाब्दे, भृंगसेनवविधुमिति दशम्यां तु ।
विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कृकसीनगरे ॥५॥
हेमचन्द्रसंगचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् ।
पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दं रम्यामकार्षमिमाम् ॥६॥
श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृतिः कृताऽवधानेन ।
स्वतलनं कापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात् ॥७॥

अथ सूत्रनिर्दिष्टानां गणानां नामानि ।

पादे. सूत्रे	पादे. सूत्रे
२ । १७ अङ्ग्यादिः	१ । ७० मांसादिः
१ । ३५ अञ्जल्यादिः	१ । १०७ मुकुलादिः
४ । २५८ अप्फुणादिः	४ । ३१७ यादृशादिः
१ । ५६ अभिज्ञादिः	४ । ४३४ युष्मदादिः
३ । १७२ इजादिः	४ । २३६ रुपादिः
१ । ६७ उत्खातादिः	१ । २६ वक्रादिः
१ । १३१ ऋत्वादिः	१ । ३३ वचनादिः
१ । १२८ कृपादिः	४ । ४२२ बहिल्लादिः
२ । ६ द्वेष्टकादिः	४ । २३५ वृषादिः
४ । २४९ गमादिः	१ । १५२ वैरादिः
१ । ३४ गुणादिः	१ । २८ विशत्यादिः
२ । १७४ गोणादिः	४ । २३० शकादिः
४ । ४२४ घडमादिः	१ । ५७ शम्यादिः
४ । ४२३ घुम्मादिः	१ । १८ शरदादिः
४ । ३९५ ब्रह्मादिः	४ । ४२२ शीघ्रादिः
४ । ३९५ तच्चादिः	२ । १४५ शीलादिः
२ । ९८ तैलादिः	१ । ७२ सदादिः
१ । ४० त्यदादिः	१ । ४४ समृद्ध्यादिः
२ । १७२ त्वादिः	३ । ५८ सर्वादिः
१ । १५१ दैत्यादिः	२ । ९९ सेवादिः
२ । ३० धूर्त्तादिः	३ । १७२ सोच्छादिः
१ । १०१ पानीयादिः	१ । १६० सौन्दर्यादिः
१ । १६२ पौरादिः	१ । ४६ स्वप्नादिः
२ । २१८ प्यादिः	३ । ३५ स्वप्नादिः
१ । २०६ प्रत्यादिः	१ । २५४ हरिद्रादिः
१ । २९ मांसादिः	४ । ४२३ हुहुर्वादिः

अथ प्राकृतसूत्राणां सूत्रसङ्ख्या ।

पादे.	सूत्रसङ्ख्या
१	२५१
२	२१८
३	१८२
४	४४८
४	१११६

॥ अग्निधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् २ ॥

॥ अथ प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ॥



पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
८	अर्द्धदेत्यादौ च । ८।१।१५१।	३८	अमेणम् । ८।३।७८।	६	आरुच गौरवे । ८।१।१६३।
२३	अइ संभावने । ८।२।१०५।	२४	अमोऽस्य । ८।३।५।	२७	आजस्य टाङ्क० । ८।३।५५।
६	अउः पौरादौ च । ८।१।१६२।	४५	अमहे हर्षे । ८।४।२८४।	४८	आहो पानुस्वारौ । ८।४।३४२।
२५	अक्लीवे सौ । ८।३।१६।	२३	अमो आश्चर्ये । ८।२।१०८।	६	आत्कर्मारे । ८।१।१००।
११	अक्लाठे लुः । ८।१।२००।	२६	अम्ह अम्हे अम्हो० । ८।३।१०६।	७	आत्कशा-मृदुक० । ८।१।१२७।
१६	अचवपुरे चलोः । ८।२।११८।	३०	अम्ह मम मह म० । ८।३।११६।	४६	आत्तिश्च । ८।४।३२६।
२५	अजातेः पुंसः । ८।३।३२।	४६	अम्ह हं ज्यसां० । ८।४।३८०।	२७	आत्मनष्टो णि० । ८।३।५७।
५२	अ-रुड-सुल्लाः० । ८।४।४२६।	२६	अम्हे अम्हो अम्ह० । ८।३।१०८।	३६	आहङ्कः सन्नामः । ८।४।८३।
२२	अण णाहं नअर्थे । ८।२।१६०।	२६	अम्हेहि अम्हाहि० । ८।३।११०।	८	आहते दिः । ८।१।१४३।
३३	अत इज्जस्विज्ज० । ८।३।१७५।	४६	अम्हेहि निस्सा । ८।४।३७८।	३	आदेः । ८।१।३६।
४५	अत एत्सौ पुंसि० । ८।४।२८७।	ए	अयौ वैत । ८।१।१६६।	१७	आदेः इमधुश्म० । ८।२।८६।
३१	अत एवैच् से । ८।३।१४५।	८	अरिहत्ते । ८।१।१४४।	१३	आदेयौ जः । ८।१।२४५।
११	अतसीसातवाह० । ८।१।२११।	४३	अर्जेविंदप्पः । ८।४।२५१।	२२	आनन्तये णवरि । ८।२।१८८।
५१	अतां रुइसः । ८।४।४०३।	३७	अर्जेविंदवः । ८।४।१०८।	५२	आन्तान्ताङ्गाः । ८।४।४३२।
४६	अतो ङसेडातो० । ८।४।३२१।	३५	अपेरल्लिव-चच्चु० । ८।४।३६।	५१	आपाद्विपत्संपदां० । ८।४।४००।
४४	अतो ङसेडादो० । ८।४।२९६।	२२	अलाहि निवारणे । ८।२।१८६।	२२	आम अभ्युपगमे । ८।२।१७७।
३	अतो डा विसर्गे० । ८।१।३७।	३७	अवतरेरोह-ओर० । ८।४।८५।	४८	आमन्ये जसो० । ८।४।३४६।
४४	अतो देश्च । ८।४।२७४।	४५	अवर्णाङ्गा ङसो० । ८।४।२६६।	४५	आमो डाहं वा । ८।४।३००।
१६	अतो रिआरिज्ज० । ८।२।६७।	१०	अवर्णो यश्रुतिः । ८।१।१८०।	२७	आमो डंसि । ८।३।६१।
५२	अतो र्मेत्तुन्नः । ८।४।४३५।	५२	अवश्यमो र्मेडौ । ८।४।४२७।	४८	आमो हं । ८।४।३३६।
३	अतः समृद्ध्यादौ० । ८।१।४४।	४०	अवात्काशो वा० । ८।४।१७६।	२	आयुरप्सरसांवा । ८।१।२०।
२७	अतः सर्वादे र्मेजं० । ८।३।५८।	४१	अवाद् गाह्वीहः । ८।४।२०५।	४३	आरभेरादण्यः । ८।४।२५४।
२४	अतः सेडाः । ८।३।२।	६	अवापोते च । ८।१।१७२।	४१	आरुहेश्चरु-व० । ८।४।२०६।
३१	अत्थि स्यादिना । ८।३।१४८।	३६	अविति हुः । ८।४।६१।	३५	आरोपेर्वलः । ८।४।४७।
१	अथ प्राकृतम् । ८।१।१।	३६	अवेज्जुम्भो जम्भा । ८।४।१५७।	२६	आरः स्यादौ । ८।३।४५।
४६	अदस ओइ । ८।४।३६४।	२२	अव्ययम् । ८।२।१७५।	५	आर्यायां यं० । ८।१।७७।
७	अदूतः सुदमे वा । ८।१।११८।	२३	अवो सूचनादुः० । ८।२।१०४।	१	आर्यम् । ८।१।३।
३२	अदेल्लुक्यादेरत० । ८।३।१५३।	४०	असावक्खोडः । ८।४।१८८।	१६	आलाने वनोः । ८।२।११७।
२०	अधसो हेट्टं । ८।२।१४१।	२६	अस्मदो मि अ० । ८।३।१०५।	३५	आलीङ्गाऽल्ली । ८।४।५४।
१७	अधो मनयाम् । ८।२।७८।	५२	अस्येदे । ८।४।४३३।	५१	आल्विल्लोल्लाल० । ८।२।१५५।
४४	अधः कचित् । ८।४।२६१।	४५	अहंघयमोर्हगे । ८।४।३०१।	१६	आश्चर्ये । ८।२।६६।
२०	अनङ्गाठात्तैल्लस्य० । ८।२।१५५।		आ	१६	आश्लिष्टे लघौ । ८।२।४६।
१८	अनादौ शेषादे० । ८।२।८६।	२६	आ अरा मातुः । ८।३।४६।	२६	आ सौ नषा । ८।३।४८।
५०	अनादौ स्वराद० । ८।४।३६६।	४४	आ आमन्ये सौ० । ८।४।२६३।		इ
६	अनुत्साहोत्सले० । ८।१।११४।	४१	आः कुगो भूत-भ० । ८।४।२१४।	५	इः सदादौ वा । ८।१।७२।
३७	अनुव्रजेः परिग्रमाः । ८।४।१०७।	३८	आक्रन्देर्णाहिरः । ८।४।१३१।	४	इः स्वप्नादौ । ८।१।४६।
४९	अन्यत्रयस्या० । ८।४।३८५।	३६	आक्रमेरोडावो० । ८।४।१६०।	४६	इचेचः । ८।४।३१८।
१	अन्यव्यञ्जनस्य । ८।१।११।	३६	आक्षिपेर्णीरवः । ८।४।१४५।	३२	इच्च मो-मु-मे वा । ८।३।१५५।
५१	अन्यादशोऽआइ० । ८।४।४१३।	३४	आघेराइग्घः । ८।४।१३।	२४	इजेराः पादपूरणे । ८।२।२१७।
१५	अभिमन्यौ जज्ञौ वा । ८।२।२५।	३६	आङा अहिप० । ८।४।१६३।	२७	इणममामा । ८।३।५३।
५०	अचूतोऽपि कचि० । ८।४।३६६।	३८	आङा ओअन्दो० । ८।४।१२५।	५	इत पट्ठा । ८।१।८५।
४०	अभ्याङोम्मत्थः । ८।४।१६५।	३६	आङो रभेः र० । ८।४।१५५।	३	इतेः स्वरासश्च० । ८।१।४२।
		५	आचार्ये चोऽच्च । ८।१।७३।	६	इतौ तो षाक्या० । ८।१।८१।

पृष्ठ.	सूत्र
७	इत्कादौ । ८ । १ । १२८ ।
११	इत्वे वेतसे । ८ । १ । २०७ ।
८	इत्सेन्धवशनैश्चरे । ८ । १ । १४६ ।
४९	इदम आयः । ८ । ४ । ३६५ ।
२८	इदम इमः । ८ । ३ । ७२ ।
४६	इदम इमुः कृषि । ८ । ४ । ३६१ ।
२०	इदमर्थस्य करः । ८ । २ । १४७ ।
२८	इदमेतत्किञ्चित् । ८ । ३ । ६६ ।
४३	इदानीमा दाणि । ८ । ४ । २७७ ।
३४	इदितो वा । ८ । ४ । १ ।
२५	इदुतो दीर्घः । ८ । ३ । १६ ।
८	इष्टुतो वृष्टवृष्टिपृ० । ८ । १ । १३७ ।
७	इदंतौ नूपुर वा । ८ । १ । १२३ ।
८	इददोष्टुन्ते । ८ । १ । १३६ ।
१०	इदं किमश्नोति० । ८ । २ । १५७ ।
१५	इन्धौ भा । ८ । २ । २८ ।
२७	इर्जस्य णोणाडौ । ८ । ३ । ५२ ।
६	इर्धुकुटौ । ८ । १ । ११० ।
५३	इवार्ये न-नउ० । ८ । ४ । ४४४ ।
२४	इहरा इतरथा । ८ । २ । २१२ ।
४४	इह इचोईस्य । ८ । ४ । १६८ ।

ई

२२	ईअ-इज्जौ क्य० । ८ । ३ । १६० ।
६	ईः छुने । ८ । १ । ११२ ।
५	ईः स्यान्धस्वा० । ८ । १ । ७४ ।
३३	ई च स्त्रियाम् । ८ । ३ । १८२ ।
२५	ईतः सेष्वाऽऽवा । ८ । ३ । ७८ ।
२६	ईदुनोर्हस्वः । ८ । ३ । ४२ ।
८	ईदु धैर्ये । ८ । १ । १५५ ।
२७	ईद्विभ्यमां सु० । ८ । ३ । ५४ ।
२७	ईद्वयः स्ता से । ८ । ३ । ६४ ।
२०	ईयस्यान्मनो गयः । ८ । २ । १५३ ।
६	ईर्जिह्वासिहत्रिंश० । ८ । १ । ६२ ।
७	ईर्वोद् व्युदे । ८ । १ । १२० ।
४	ईहरे वा । ८ । १ । ५१ ।

उ

२४	उअ पश्य । ८ । २ । २११ ।
५	उः साक्षास्तावके । ८ । १ । ७५ ।
१५	उच्चाहति । ८ । २ । १११ ।
८	उच्चिनीचैस्यग्रः । ८ । १ । १५४ ।
४०	उच्छुल उन्धुः । ८ । ४ । १७४ ।
६	उज्जोणं । ८ । १ । १०२ ।
६	उनो मुकुत्तादिष्वन्त । ८ । १ । १०७ ।
३६	उन्निपगुत्तगुत्त० । ८ । ४ । १४४ ।
५	उत्त मौन्द्यादी । ८ । १ । १६० ।
३४	उदृष्टकुङ्कु । ८ । ४ । १७ ।
८	उदुदोन्मृषि । ८ । १ । १३६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
७	उड्त्वादौ । ८ । १ । १३१ ।
५	उदाद्वाऽऽर्द्धे । ८ । १ । ८२ ।
३४	उदा ध्मा धुमा । ८ । ४ । ८ ।
३५	उदघट्टेरुगः । ८ । ४ । ३३ ।
३५	उदधूवेर्गुणः । ८ । ४ । १५ ।
३४	उदवातेरोरुम्मा० । ८ । ४ । ११ ।
४२	उद्विजः । ८ । ४ । २२७ ।
३५	उद्वेगस्यहोलाह० । ८ । ४ । ३६ ।
२१	उपरः संव्याने । ८ । २ । १६६ ।
३८	उपसर्पेर्ल्लिङ्गः । ८ । ४ । १३६ ।
३६	उपालम्भेर्भङ्ग० । ८ । ४ । १५६ ।
५	उमो निपण्ण । ८ । १ । १७४ ।
७	उर्ध्वहनुमत्कण्ठ्य० । ८ । १ । १२१ ।
४१	उल्लसेरुसत्रोसुम्न० । ८ । ४ । २०२ ।
४२	उवर्णस्यावः । ८ । ४ । २३३ ।

ऊ

८	ऊः स्तेने वा । ८ । १ । १४७ ।
२३	ऊर्गहाऽऽक्रेपवि० । ८ । २ । १६६ ।
५	ऊच्चोपे । ८ । १ । १७३ ।
११	ऊत्वे दुर्गसुभगे० । ८ । १ । १५२ ।
६	ऊत्सुभगमुसवे वा । ८ । १ । ११३ ।
५	ऊत्साच्यासे । ८ । १ । १५७ ।
५	ऊद् वाऽऽमारे । ८ । १ । ७६ ।
६	ऊर्ध्वनिविहीने वा । ८ । १ । १०३ ।

ऋ

१५	ऋ के वा । ८ । २ । १९ ।
८	ऋणञ्चपभर्त्तृपौ० । ८ । १ । १४१ ।
२६	ऋतामुदस्यमो० । ८ । ३ । ४४ ।
७	ऋतोऽन् । ८ । १ । १२६ ।
२६	ऋतोऽद् वा । ८ । ३ । ३५ ।
४१	ऋवर्णस्यारः । ८ । ४ । २३४ ।

लृ

८	लृत् इतिः क्लृप्त० । ८ । १ । १४५ ।
---	------------------------------------

ए

४६	एज्जमशसोः । ८ । ४ । ३६३ ।
४८	ए च्छुतः । ८ । ४ । ३४३ ।
४२	एकशसो मिः । ८ । ४ । ४२८ ।
१६	एकस्वेर श्वः स्वे । ८ । २ । ११४ ।
२४	एकसर्पिर्भगि० । ८ । २ । २१३ ।
३२	एष क्त्वातुप्त० । ८ । ३ । १५७ ।
८	एष दैवे । ८ । १ । १५३ ।
४	एच्छय्यादौ । ८ । १ । ५७ ।
४७	एष्टि । ८ । ४ । ३३३ ।
२०	एगिद एसादे ह० । ८ । २ । १३४ ।
८	एत् इहा वेदना० । ८ । १ । १४६ ।
१६	एतः पर्यन्ते । ८ । २ । ६५ ।
४६	एतदः स्त्रीपुङ्गी० । ८ । ४ । ३६२ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३०	एत् । ८ । ३ । १२६ ।
५	एत् त्रयोदशादौ० । ८ । १ । १६५ ।
५१	एत्सु कुत्रात्रे । ८ । ४ । ४०५ ।
६	एत् पायूपापीड० । ८ । १ । १०५ ।
१	एदातोः स्वरे । ८ । १ । ७ ।
५	एद् प्राहो । ८ । १ । ७८ ।
५३	एव्येष्णिक्वे० । ८ । ४ । ४४० ।
२८	एरदीतौ म्मौ वा । ८ । ३ । ८४ ।
५१	एवं-परं-समं० । ८ । ४ । ४१८ ।
४४	एवार्थे स्येव । ८ । ४ । २८० ।

ऐ

८	ऐत एत् । ८ । १ । १४८ ।
---	------------------------

ओ

६	ओश्च द्विधा रुगः । ८ । १ । १७७ ।
८	ओतोऽद्वाऽन्यो० । ८ । १ । १५६ ।
७	ओत्कुम्भाएनीत० । ८ । १ । १२४ ।
४	ओत्पश । ८ । १ । ६९ ।
६	ओत्पूतरबदर० । ८ । १ । १७० ।
७	ओत्संयोगे । ८ । १ । ११६ ।
५	ओदाल्यां पङ्क्तौ । ८ । १ । ८३ ।
३३	ओ सूचनापश्चा० । ८ । २ । २०३ ।

औ

६	औत औत । ८ । १ । १५५ ।
---	-----------------------

क

१०	कग च जतद० । ८ । १ । १७७ ।
१७	कग ट रुतदप० । ८ । २ । ७७ ।
१२	ककुदे हः । ८ । १ । १२५ ।
२	ककुमो हः । ८ । १ । २१ ।
३४	कथं चरपञ्च० । ८ । ४ । २ ।
५१	कथं यथा तथा० । ८ । ४ । ४०१ ।
१२	कदम्बे वा । ८ । १ । २२२ ।
१२	कदर्थिने वः । ८ । १ । १२४ ।
१२	कदल्यामदुमं । ८ । १ । २२० ।
१६	कन्दरिकामि० । ८ । २ । ३८ ।
१३	कवन्धे मयौ । ८ । १ । २३६ ।
३५	कमेर्गिद्वयः । ८ । ४ । ४४ ।
३५	कम्पेर्विच्छोलः । ८ । ४ । ४६ ।
१३	कर्वीरे णः । ८ । १ । २५३ ।
१६	करगुवाराण० । ८ । २ । ११६ ।
१८	कर्णिकारे वा । ८ । २ । ६५ ।
१६	कश्मीरे म्भो वा । ८ । २ । ६० ।
४१	काङ्क्षराहाहिल० । ८ । ४ । १६२ ।
३६	काण्किते णि० । ८ । ४ । ६६ ।
५१	कादिस्थेदोतोः । ८ । ४ । ४१० ।
४६	कान्तस्यात उ० । ८ । ४ । ३५४ ।
१७	कार्पापणे । ८ । २ । ७१ ।

पृष्ठ.	सूत्र
२७	कित्तद्वां मासः । ७ । ३ । ६२ ।
२६	कियत्तदोऽस्य० । ७ । ३ । ३३ ।
२७	कियत्तद्वा० । ७ । ३ । ६३ ।
४	किञ्चु के वा । ८ । १ । ८६ ।
२४	किणो प्रश्ने । ८ । २ । २१६ ।
२८	किमो मिणोमी० । ७ । ३ । ६८ ।
४६	किमो मिहे वा । ८ । ४ । ३५६ ।
२८	किमः कल्लत्तसा० । ८ । ३ । ७१ ।
४७	किमः काइं कव० । ७ । ४ । ३६७ ।
२७	किमः किं । ७ । ३ । ७० ।
१०	किराते चः । ८ । १ । १८३ ।
१३	किरिभरे रो रुः । ७ । १ । २५१ ।
२२	किरेरहिरकिन्ना० । ७ । २ । १८६ ।
५१	किन्नाथवादि० । ८ । ४ । ४१६ ।
१४	किसल्यकात्ता० । ८ । १ । २६६ ।
४१	कुतसं कउ० । ७ । ४ । ४१६ ।
७	कुत्तुहले वा ह० । ७ । १ । ११७ ।
१०	कुञ्जकर्परकीले० । ७ । १ । १८१ ।
१७	कूष्माण्ड्यां प्मा० । ८ । २ । ७३ ।
४४	कृगमो रुडुअः । ८ । ४ । २७२ ।
३६	कृगो कुणः । ७ । ४ । ६५ ।
४६	कृगो कीरः । ८ । ४ । ३१६ ।
१४	कृत्तिचत्तरे चः । ८ । २ । १२ ।
२१	कृत्वसो दुत्तं । ८ । २ । १५७ ।
३१	कृदो हं । ७ । ३ । १७० ।
३६	कृपाऽवहो णिः । ८ । ४ । १५१ ।
४०	कृपेः कहुसाअ० । ७ । ४ । १८७ ।
१६	कृष्णे वणं वा । ८ । २ । ११० ।
१३	कैटभे भो वः । ८ । १ । १४० ।
७	कौत्तयेके वा । ७ । १ । १६१ ।
३२	के । ८ । ३ । १५६ ।
४३	केनाप्फुण्णादयः । ७ । ४ । २५८ ।
३६	के हुः । ७ । ४ । ६४ ।
४४	क्व इअ-दूणो । ८ । ४ । २७१ ।
५३	क्व इ इउ इवि० । ८ । ४ । ४३९ ।
२०	क्वस्तुमत्तूणतु० । ७ । २ । १४६ ।
४६	क्वस्तूनः । ८ । ४ । ३११ ।
४१	क्वा तुम तयेषु० । ८ । ४ । २१० ।
२	क्वास्यादर्णस्वा० । ८ । १ । २७ ।
३१	क्यडोयलुक् । ८ । ३ । १३८ ।
४६	क्यस्येयः । ८ । ४ । ३१५ ।
३५	क्रियः किणो वे० । ८ । ४ । ५२ ।
३३	क्रियातिपत्तः । ८ । ३ । १७६ ।
५०	क्रियेः कासु । ८ । ४ । ३८६ ।
३८	क्रुधेर्जूरः । ८ । ४ । १३५ ।
४८	क्लोवे जशसो० । ८ । ४ । ३५३ ।
२८	क्लोवे स्यमदमि० । ७ । ३ । ७७ ।
२५	क्लोवे श्वरान्मसः । ८ । ३ । २५ ।
३०	कचिद्विचित्तियादिः । ८ । ३ । १३४ ।
४१	कथवर्धो ढः । ८ । ४ । २२० ।

पृष्ठ.	सूत्र
३७	कथे रट्टः । ८ । ४ । ११६ ।
२६	कियपः । ८ । ३ । ४३ ।
१४	कः खः कचित्तु० । ८ । २ । ३ ।
१५	क्षण उत्सवे । ७ । २ । २० ।
१५	कमायां कौ । ७ । २ । १७ ।
४०	करः खिरभर० । ७ । ४ । १७८ ।
४५	कस्य कः । ८ । ४ । २६६ ।
३६	किपेर्गत्तथाडु० । ८ । ४ । १४३ ।
२	कुधो हा । ८ । १ । १७ ।
३६	कुभेः खउरप० । ८ । ४ । १५४ ।
३६	कुरे कम्मः । ८ । ४ । ७२ ।
३४	कुणिज्जरो वा । ८ । ४ । १० ।
१८	कमाश्याघारत्तेऽ० । ८ । २ । १०१ ।
१४	कवेटकादौ । ८ । २ । ६ ।

ख

१०	खद्यधधमाम् । ८ । १ । १८७ ।
११	खचितपिशाच० । ८ । १ । १६३ ।
३७	खचेर्वअडः । ७ । ४ । ७७ ।
४२	खादधावोर्वुक । ७ । ४ । २२७ ।
३८	खिदेर्जूरविसुरौ । ८ । ४ । १३२ ।

ग

४३	गमादीनां द्वित्वम् । ८ । ४ । २४६ ।
४१	गमिष्यमासां ङः । ८ । ४ । २१५ ।
३६	गमेरुअइच्छाणुव० । ८ । ४ । १६२ ।
४३	गमेरेप्पिणवे० । ८ । ४ । ४४२ ।
३७	गर्जेर्वुकः । ८ । ४ । ७८ ।
१५	गर्ते रुः । ७ । ३ । ३५ ।
१६	गर्दभे वा । ७ । २ । ३७ ।
११	गर्भितातिमुक्तके० । ७ । १ । २०७ ।
४	गवये वः । ७ । १ । ५४ ।
४०	गवेषेर्दुल्लदंढो० । ८ । ४ । १७९ ।
६	गव्यञ्च आभः । ८ । १ । १५७ ।
३	गुणाद्याः क्लीवे वा । ७ । १ । ३४ ।
३६	गुप्येर्विरणडौ । ८ । ४ । १५० ।
६	गुरौ के वा । ८ । १ । १०६ ।
३१	गुर्वादंरविर्वा । ८ । ३ । १५० ।
२०	गृहस्य घरोऽपतौ । ७ । २ । १४४ ।
२१	गोणादयः । ८ । २ । १७४ ।
१६	गौणस्येयतः कूरः । ८ । २ । १२६ ।
७	गौणान्त्यस्य । ८ । १ । १३४ ।
१६	गमो वा । ८ । २ । ६२ ।
३८	ग्रन्थो गणनः । ८ । ४ । १२० ।
४१	ग्रसेर्घिसः । ८ । ४ । २०४ ।
५०	ग्रहेर्गृणहः । ८ । ४ । ३६४ ।
४३	ग्रहेर्घेयः । ८ । ४ । २५६ ।
४१	ग्रहो वल्लगेरुहरप० । ८ । ४ । २०९ ।

घ

५२	घदमाद्व्योऽन्यकाः । ८ । ४ । ४२४ ।
----	-----------------------------------

पृष्ठ.	सूत्र
५	घञ्जुस्वेर्वा । ८ । १ । ६७ ।
३५	घटेः परिवारः । ८ । ४ । ५० ।
३८	घटेर्गढः । ८ । ४ । ११२ ।
३८	घूर्णो घुव-घोल० । ८ । ४ । ११७ ।

ङ

२	ङअणनो व्यञ्जने । ८ । १ । २५ ।
४८	ङसः सुदोस्सवः । ७ । ४ । ३३७ ।
२४	ङसः स्सः । ८ । ३ । १० ।
२५	ङसिङसोः पुंकीवे० । ८ । ३ । २३ ।
४६	ङसिङस्य्या० । ८ । ४ । ३७२ ।
४८	ङसिभ्यस्ङानां० । ८ । ४ । ३४१ ।
२७	ङसेमर्हा । ८ । ३ । ६६ ।
३०	ङसेलुक् । ८ । ३ । १२६ ।
४७	ङसेहहृ । ८ । ४ । ३३६ ।
२४	ङसेस्तोदोदुहि० । ८ । ३ । ८ ।
४८	ङस्ङस्योर्हं । ८ । ४ । ३५० ।
४७	ङिनेच्च । ८ । ४ । ३३४ ।
२७	ङेर्डाहेमालाश्चा० । ८ । ३ । ६५ ।
३०	ङेरेः । ८ । ३ । १२८ ।
२८	ङेमेन हः । ८ । ३ । ७५ ।
४८	ङेर्हि । ८ । ४ । ३५२ ।
४६	ङेर्हि । ८ । ४ । ३५७ ।
२७	ङेः स्तिस्मिन्थाः । ८ । ३ । ५७ ।

च

४	चण्डखण्डिते णा० । ८ । १ । ५३ ।
३०	चतुरश्चत्तारो चउ० । ८ । ३ । १२२ ।
२५	चतुरो वा । ७ । ३ । १७ ।
३०	चतुर्याः पष्ठी । ७ । ३ । १३१ ।
१०	चन्धिकार्यां मः । ८ । १ । १८५ ।
११	चपेटापाटौ वा । ८ । १ । १६८ ।
३६	चाटौ गुल्लः । ८ । ४ । ७३ ।
४२	चिजिभुस्तुलु० । ८ । ४ । २४१ ।
१६	चिह्नं न्या वा । ८ । १ । ५० ।
४६	चूलिकापैशाचि० । ८ । ४ । ३२५ ।

छ

३४	छदेर्णेर्णमनूमस० । ८ । ४ । २१ ।
४५	छस्य श्रोऽनादौ । ८ । ४ । २७५ ।
११	छगे लः । ७ । १ । १६१ ।
१३	छायायां होऽका० । ८ । १ । २४६ ।
२६	छायाहस्त्रियोः । ८ । ३ । ३४ ।
४१	छिदिभिदो न्दः । ८ । ४ । २१६ ।
३८	छिदेर्छावर्ण० । ८ । ४ । १७४ ।
१५	छोऽव्यादौ । ७ । २ । १७ ।

ज

११	जटिन्ने जो भो० । ७ । १ । १७४ ।
४५	जद्ययां यः । ८ । ४ । २७२ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३०	जनो जा जम्मो । ० । ४ । १३६ ।
२५	जम्शम् ईहं । ८ । ३ । २६ ।
४९	जम्शसोरम्हं । ८ । ४ । ३७६ ।
२५	जम्शसोर्णो वा । ८ । ३ । २२ ।
२४	जम्शसोर्लुक् । ८ । ३ । ४ ।
४६	जम्शसोस्तु । ० । ४ । ३६६ ।
२४	जम्शम्डामि । ० । ३ । १२ ।
२६	जम्शम्डामि । ० । ३ । ४० ।
३६	जाप्रजंगः । ० । ४ । ८० ।
३४	जुगुप्सुर्भुक् । ८ । ४ । ४ ।
२२	जेण तेण्णं । ० । २ । १८३ ।
३२	जात्रे । ८ । ३ । १५९ ।
३२	जात सत्तम्या । ८ । ३ । १६५ ।
३४	हो जाणमुणो । ८ । ४ । ७ ।
१७	हो घः । ८ । २ । ०३ ।
४६	हो घ्नः पैशा । ८ । ४ । ३०३ ।
४	हो णव्हेण्णिहा । ८ । १ । ५६ ।
४३	हो णव्वण्णजौ । ० । ४ । २४२ ।
१६	ज्यायामीत् । ८ । २ । ११५ ।

ट

४८	ट ए । ० । ४ । ३४९ ।
२४	टाग्रामोर्णः । ८ । ३ । ६ ।
२५	टाङ्गस्डेरदादि । ८ । ३ । २९ ।
४९	टाङ्गयमा पइं तइं । ८ । ४ । ३७० ।
४९	टाङ्गयमा मइं । ० । ४ । ३७७ ।
२५	टाणशस्येत् । ८ । ३ । १४ ।
११	टो डः । ८ । १ । १६५ ।
२५	टो णा । ० । ३ । २४ ।
२७	टो णा । ० । ३ । ५१ ।
४६	टोस्तुर्वा । ८ । ४ । ३११ ।
४५	ट्टय्याः स्तः । ८ । ४ । २६० ।

ठ

११	ठो ढः । ८ । १ । १६६ ।
१५	ठोर्धस्विसंस्थुत्वे । ८ । २ । ३२ ।

ड

१३	डाहवो कतिपये । ८ । १ । २५० ।
२१	डिडुडुडो भवे । ८ । २ । १६३ ।
२४	डेम्मि डः । ८ । ३ । ११ ।
२६	डो दीर्घो वा । ० । ३ । ३८ ।
११	डो लः । ८ । १ । १०२ ।
१६	डकमोः । ० । २ । ५२ ।

ण

२२	णइच्चेमच्चिअण्णं । ८ । २ । १८४ ।
२२	णवरं केवले । ८ । २ । १८७ ।
२२	णवि वैपरीत्ये । ८ । २ । १७८ ।

पृष्ठ.	सूत्र
२६	णे णं मि अम्मि । ८ । ३ । १०७ ।
२६	णे णो मज्ज अम्हं । ८ । ३ । ११४ ।
३१	णेग्देदावावे । ८ । ३ । १४६ ।
४६	णो नः । ८ । ४ । ३०६ ।
२८	णोऽमशस्तान्नि । ८ । ३ । ७७ ।
४४	णं नन्वर्थे । ८ । ४ । २८३ ।

त

२६	तइ तु ते तुम्हं तुहं । ८ । ३ । ६६ ।
२६	तइ तुव तुम तुहं । ८ । ३ । ९६ ।
४१	तक्केस्तच्छच्चरम्प । ८ । ४ । १६४ ।
५०	तदयादीनां गोष्ठा । ८ । ४ । ३६५ ।
११	तगरत्रस्रतूवरं टः । ८ । १ । २०५ ।
३५	तमेराहोमविहोमौ । ८ । ४ । २७ ।
५१	ततस्तदोस्ताः । ८ । ४ । ४१७ ।
२८	तदश्च तः सोऽङ्कीवा । ८ । ३ । ०६ ।
४६	तदिदमोष्टा नेन स्त्रि । ८ । ४ । ३२२ ।
२८	तदो मोः । ८ । ३ । ६७ ।
२८	तदो णः स्यादो क । ८ । ३ । ७० ।
४६	तदोस्तः । ० । ४ । ३०७ ।
३०	तनेस्तस्मत्तुहं तुहं । ८ । ४ । १३७ ।
१९	तन्वीतुल्येषु । ० । २ । ११३ ।
५३	तव्यस्य इपव्वं । ८ । ४ । ४३८ ।
४४	तस्मात्ताः । ८ । ४ । २७८ ।
३०	तादर्थ्यडेर्वा । ० । ३ । १३१ ।
५२	तादर्थ्ये केहि तेहि । ८ । ४ । ४२५ ।
१६	ताम्रास्त्रे म्वः । ८ । २ । ५६ ।
३७	तिजेरोसुक्कः । ८ । ४ । १०४ ।
६	तिज्जिरो रः । ८ । १ । ९० ।
२०	तिर्यचस्तिरिच्छिः । ० । २ । १४३ ।
४५	तिष्ठश्चिष्ठः । ८ । ४ । २६० ।
१७	तीक्ष्णे णः । ० । २ । ८२ ।
६	तीर्थे हे । ८ । १ । १०४ ।
११	तुच्चे तश्चलौ वा । ८ । १ । २०४ ।
३०	तुम्हेस्तोरुत्तुहं । ८ । ४ । ११६ ।
२६	तु तुव तुम तुहं । ८ । ३ । १०२ ।
२६	तुम्ह तुय्दोहो । ८ । ३ । ६० ।
५३	तुम पवमण । ० । ४ । ४४१ ।
२६	तुमे तुमए तु । ८ । ३ । १०१ ।
४६	तुम्हासु सुपा । ८ । ४ । ३७४ ।
२६	तुय्हे तुम्ह तर्हि । ८ । ३ । ९७ ।
४०	तुरोऽत्यादौ । ८ । ४ । १७२ ।
३४	तुलरोहामः । ८ । ४ । २५ ।
२६	तु वो जे तुम्हं । ८ । ३ । १०० ।
३१	तृतीयस्य मिः । ० । ३ । १४१ ।
३१	तृतीयस्य मोमु । ८ । ३ । १४४ ।
५३	तृनोऽण्णश्चः । ८ । ४ । ४४३ ।
३८	तृपस्थिणः । ८ । ४ । १३० ।
३२	तेनास्तेरास्यहे । ० । ३ । १६४ ।
१०	तैलादौ । ८ । २ । ९८ ।

४४	तो दोऽनादौ शौ । ० । ४ । २६० ।
४	तोऽन्तरि । ८ । १ । ६० ।
२६	तं तुं तुमं तुवं तु । ८ । ३ । ९२ ।
२२	तं वाक्योपन्यासे । ८ । २ । १७६ ।
२१	तो दो तसो वा । ८ । २ । १६० ।
२८	तथे च तस्य सुक्क । ८ । ३ । ८३ ।
३	त्यदाद्यव्ययात् । ८ । १ । ४० ।
४०	त्यादिशत्रोस्तूरः । ० । ४ । १७१ ।
३१	त्यादीनामाद्यत्रयं । ८ । ३ । १३९ ।
१	त्यादेः । ८ । १ । ९ ।
४६	त्यादेराद्यत्रयं । ८ । ४ । ३८२ ।
१४	त्योऽचैत्ये । ८ । २ । १३ ।
२१	त्रपो हिहत्याः । ८ । २ । १६१ ।
४१	त्रसेर्दरवोजव । ० । ४ । १६० ।
२०	त्रस्तस्य दित्यतः । ८ । २ । १३६ ।
५२	त्रस्य मेत्तहे । ८ । ४ । ४३६ ।
३०	त्रेस्तिणिः । ८ । ३ । १२१ ।
३०	त्रेस्ती तृतीयादौ । ८ । ३ । ११८ ।
५३	त्वतद्वोः पणः । ० । ४ । ४३७ ।
१५	त्वय्यद्वयं चळु । ८ । २ । १५ ।
४०	त्वरस्तुवरजअमौ । ८ । ४ । १७० ।
२०	त्वस्य डिमात्तं । ० । २ । १५४ ।
२१	त्वादेः सः । ८ । २ । १७७ ।

थ

१४	थगावम्पन्दे । ० । २ । ६ ।
२३	थु कुत्सायाम् । ८ । २ । २०० ।
४४	थो घः । ८ । ४ । २६७ ।

द

४	दक्किणे हे । ८ । १ । ४५ ।
१६	दग्धविदग्धवृद्धि । ८ । २ । ४० ।
२४	दराधाद्वे । ० । २ । २१५ ।
४०	दलिवल्योर्विसद्व । ० । ४ । १७६ ।
१२	दशनदष्टदग्धदो । ० । १ । २१७ ।
१३	दशपापाणे हः । ८ । १ । २६२ ।
१७	दशार्हे । ० । २ । ८५ ।
४१	दद्वेराहिकलालु । ० । ४ । २०० ।
४३	दहो ञ्मः । ८ । ४ । २४६ ।
२	दिकुप्रावृषाः सः । ० । १ । १९ ।
४४	दिग्दिच्छाः । ८ । ४ । २७३ ।
१३	दिवसे सः । ० । १ । २६३ ।
१२	दीर्घो धो वा । ० । १ । २२३ ।
१	दीर्घह्रस्वौ मिथो । ० । १ । ४ ।
१०	दीर्घे वा । ८ । २ । ६१ ।
१७	दुःखदक्षिणतीर्थे । ८ । २ । ७२ ।
३४	दुःखे निव्वरः । ८ । ४ । ३ ।
३७	दुःखे निव्वलः । ८ । ४ । ६२ ।
७	दुकुत्त्रे वा लब्ध द्विः । ८ । १ । ११६ ।
१४	दुर्माद्व्युत्तुम्हणं । ८ । १ । २७० ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३०	दुवे दोषि वेष्मि० । ८ । ३ । १२० ।	४०	नशेणिरिणास० । ८ । ४ । १०८ ।	१६	पञ्चमसमूर्खद्वारे० । ८ । २ । ११२ ।
३३	हु-सु-मु-विध्यादि० । ८ । ३ । १७३ ।	३५	नशेविउरुनास० । ८ । ४ । ११ ।	२०	परराजस्यां क० । ८ । २ । १४८ ।
१६	हुहितुजगिन्याधू० । ८ । २ । १२६ ।	१	न श्रुदोः । ८ । १ । १२ ।	५१	परस्परस्यादिरः । ८ । ४ । ४०९ ।
३४	दूडो दूमः । ८ । ४ । २३ ।	२५	नात आत । ८ । १ । १० ।	४१	पर्यसः पलोदृ-पो ८ । ४ । २०० ।
१८	दस । ८ । २ । ६६ ।	४	नात्पुनर्यादाह वा । ८ । १ । ६५ ।	१६	पर्यस्तपर्याण० । ८ । २ । ६८ ।
४१	दशस्तेन दृः । ८ । ४ । २१३ ।	४७	नादियुज्योरन्ये० । ८ । ४ । ११० ।	१६	पर्यस्ते यदौ । ८ । २ । ४७ ।
३२	दृशि वचेर्मासकुचं । ८ । ३ । १६१ ।	२६	नामन्यात्सौ मः । ८ । १ । १७ ।	१३	पर्याणे मा वा । ८ । १ । २५२ ।
३५	दृशेदावदंशद० । ८ । ४ । ३२ ।	२६	नामन्यर वा । ८ । ३ । ४० ।	१२	पक्षिते वा । ८ । १ । १११ ।
४०	दृशो निश्चलपे० । ८ । ४ । १८१ ।	२६	नामन्यरः । ८ । ३ । ४० ।	५१	पञ्चादेवमेवैवे० । ८ । ४ । ४२० ।
८	दृशः क्विपटकस० । ८ । १ । १४२ ।	१०	नावर्णात्पः । ८ । १ । १७६ ।	१२	पाटिपरुषपरि० । ८ । १ । २३२ ।
५०	दृशः प्रस्तः । ८ । ४ । ३९३ ।	६	नाव्यावः । ८ । १ । १६५ ।	६	पानीयादिष्वित् । ८ । १ । १०१ ।
२३	दे समुखीकरणे च । ८ । २ । १६६ ।	१०	निकपस्फटिक० । ८ । १ । १७६ ।	१२	पापद्वौ रः । ८ । १ । २३५ ।
३५	दोलेरङ्गालः । ८ । ४ । ४८ ।	३४	निद्रातेरोहीरो० । ८ । ४ । १२ ।	५	पारापते रो वा । ८ । १ । ८० ।
१२	दंशदहोः । ८ । १ । २१८ ।	१२	निम्यनापिते ल० । ८ । १ । २३० ।	११	पिठेर हो वारश्च० । ८ । १ । २०१ ।
३०	दंष्ट्रया दाढा । ८ । २ । १३६ ।	३८	निरः पदेर्बलः । ८ । ४ । १२८ ।	३४	पिषेः पिञ्जरुद्ध० । ८ । ४ । १० ।
४६	दूनत्युना धूः । ८ । ४ । ३१३ ।	१	निर्दुरोर्वा । ८ । १ । १३ ।	४०	पिषेर्णिवहणि० । ८ । ४ । १८५ ।
१५	द्यययी जः । ८ । २ । २४ ।	३४	निर्मो निम्माण० । ८ । ४ । १९ ।	१२	पीते वा ले वा । ८ । १ । २१३ ।
१७	दुरो न वा । ८ । २ । ८० ।	३५	निलीङ्गेर्णिनी० । ८ । ४ । ५५ ।	२५	पुंसि जसो डर० । ८ । ३ । २० ।
५	द्वारे वा । ८ । १ । ७६ ।	७	निवृत्तवृन्दारके० । ८ । १ । १३२ ।	२८	पुस्त्रियोर्न वाड्य० । ८ । ३ । ७३ ।
१८	द्वितीयतुर्ययोरुप० । ८ । २ । ६० ।	३४	निवृत्तयोर्णिदो० । ८ । ४ । ३२ ।	२७	पुंस्यन आणो रा० । ८ । ३ । ५६ ।
३१	द्वितीयस्य सि से । ८ । ३ । १४० ।	१२	निशीथपृथिव्योर्वा । ८ । १ । २१६ ।	३७	पुञ्जरारोह्यमाहौ । ८ । ४ । १०२ ।
३१	द्वितीयातृतीययोः० । ८ । ३ । १३५ ।	५१	निश्चसेर्भङ्गः । ८ । ४ । २०१ ।	२२	पुणरुक्तं कृतकरणे । ८ । २ । १०६ ।
६	द्विन्योरुत् । ८ । १ । ९४ ।	१२	निपधे धो दः । ८ । १ । २१६ ।	५२	पुनर्विनः स्वार्थे० । ८ । ४ । ४२९ ।
३०	द्विवचनस्य बहुव० । ८ । ३ । १३० ।	३८	निपेधेर्हकः । ८ । ४ । १३४ ।	११	पुत्रागत्रागिन्योर्गो० । ८ । १ । १८० ।
३०	द्वेदो वे । ८ । ३ । ११९ ।	३६	निष्टम्भावष्टम्भे० । ८ । ४ । ६० ।	६	पुरुषे रोः । ८ । १ । १११ ।
ध		३६	निष्पाताच्छोटे० । ८ । ४ । ७१ ।	४४	पूर्वस्य पुरवः । ८ । ४ । १०० ।
		३	निष्प्रती आत्प० । ८ । १ । ३८ ।	२०	पूर्वस्य पुरिमः । ८ । १ । ११५ ।
		३६	निस्सरेर्णाहर० । ८ । ४ । ७९ ।	४०	पूररग्घाडाग्य० । ८ । ४ । १९६ ।
		६	नीरुपीठे वा । ८ । १ । १०६ ।	१०	पृथक् धो वा । ८ । १ । १८८ ।
		१२	नीपापीडे मो वा । ८ । १ । २३४ ।	३६	पृथक् रूपे णिव्व० । ८ । ४ । ६९ ।
		३८	नेः सदो मज्जः । ८ । ४ । १२३ ।	७	पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे । ८ । १ । १२९ ।
		१२	नो णः । ८ । १ । २२८ ।	१२	पो वः । ८ । १ । २११ ।
		३३	न्तमाणौ । ८ । ३ । १८० ।	२४	प्यादयः । ८ । १ । ११८ ।
		१६	न्मो मः । ८ । २ । ६१ ।	३५	प्रकाशेर्णुवः । ८ । ४ । ५५ ।
		४५	न्यणयङ्गजां ऽजः । ८ । ४ । २९३ ।	३०	प्रच्छः पुच्छः । ८ । ४ । ६७ ।
न		४६	न्यणयोर्जः । ८ । ४ । ३०५ ।	४१	प्रतीक्तेः सामय० । ८ । ४ । १६१ ।
		४१	न्यसो णिम० । ८ । ४ । १९९ ।	२५	प्रत्यये डीनेवा । ८ । ३ । ३१ ।
		प		४०	प्रत्याङा पलोदृः । ८ । ४ । १९९ ।
		४	पकाङ्कारललाटे० । ८ । १ । ४७ ।	११	प्रत्यादौ रुः । ८ । १ । २०६ ।
		१७	पङ्कमशंमस० । ८ । २ । ७४ ।	१५	प्रत्यये षश्च हो वा । ८ । २ । १४ ।
		३७	पचेः सोल्लपउल्लौ । ८ । ४ । ९० ।	२४	प्रत्येकमः पानि० । ८ । २ । २१० ।
		३१	पञ्चम्यास्तृतीया० । ८ । ३ । १३६ ।	४	प्रथमे पथोर्वा । ८ । १ । ५५ ।
		१६	पञ्चाशत्पञ्चद० । ८ । २ । ४३ ।	१२	प्रदीपि दोहदे लः । ८ । १ । २२१ ।
		५	पथिपृथिवीप्रति० । ८ । १ । ८८ ।	१६	प्रदीपेस्तेअवस० । ८ । ४ । १५२ ।
		२०	पथो णस्येकृ । ८ । २ । १५२ ।	१२	प्रभूते यः । ८ । १ । २३३ ।
१	पदयोः सन्धिर्वा । ८ । १ । ५ ।	१	प्रभौ हुण्णो वा । ८ । ४ । ६३ ।		
३	पदादपेर्वा । ८ । १ । ४१ ।	३	प्रवासीकौ । ८ । १ । ६५ ।		
५१	पदान्ते उङ्गिर्हो । ८ । ४ । ४११ ।	४०	प्रविशेरिअः । ८ । ४ । १८३ ।		
		३६	प्रसरेः पयसो० । ८ । ४ । ७७ ।		

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३४	प्रस्थापेः पट्टवपे० ॥ ८ । ३७ ।	४८	भिस्सुपोहि ॥ ८ । ४ । ३४७ ।	५	मात्रटि वा ॥ ८ । १ । ८१ ।
३७	प्रहणेः सारः ॥ ८ । ४ । ८४ ।	१६	भाष्मे ध्मः ॥ ८ । २ । ५४ ।	२३	मामि हला० ॥ ८ । २ । १६५ ।
४२	प्रदर्मलिः ॥ ८ । ४ । २३२ ।	३७	चुजो जुज्जजिम० ॥ ८ । ४ । ११० ।	१७	मार्जारस्य मञ्ज० ॥ ८ । २ । १३२ ।
४०	प्रामृशमुपेम्ह० ॥ ८ । ४ । १८४ ।	३६	चुवहोदुवहवाः ॥ ८ । ४ । ६० ।	५	मांसादिष्वनुस्वा० ॥ ८ । १ । ७० ।
५१	प्रायसः प्राउ प्रा० ॥ ८ । ४ । ४१५ ।	४४	चुवो जः ॥ ८ । ४ । २६६ ।	२	मांसादेवा ॥ ८ । १ । १७ ।
६	प्रावरणे सङ्गवा० ॥ ८ । १ । १७५ ।	५०	चुवः पर्यासां दु० ॥ ८ । ४ । ३६० ।	३०	मि मयि ममाइ० ॥ ८ । ३ । ११५ ।
२	प्रावृशरततर० ॥ ८ । १ । ११ ।	२८	मे तुम्मे तुम्भ० ॥ ८ । ३ । ११ ।	२६	मि मे ममं मम० ॥ ८ । ३ । १०९ ।
१८	प्लजे लात् ॥ ८ । २ । १०३ ।	२६	मे तुम्मेहि उज्जे० ॥ ८ । ३ । ६५ ।	३२	मि मो मुमे स्सा० ॥ ८ । ३ । १६७ ।
३५	प्लावेरोम्याल० ॥ ८ । ४ । ४१ ।	२६	मे दि दे ते तइत० ॥ ८ । ३ । ६४ ।	३१	मिमोमैम्हि म्हा० ॥ ८ । ३ । १४७ ।
फ		३०	भ्यसश्च हिः ॥ ८ । ३ । १२७ ।	५	मिरायाम् ॥ ८ । १ । ८७ ।
		२४	भ्यसस्तो दो० ॥ ८ । ३ । ६ ।	२२	मिव पिव विव० ॥ ८ । २ । १८२ ।
३७	फक्स्थकः ॥ ८ । ४ । ८७ ।	४८	भ्यसामोदुः ॥ ८ । ४ । ३५१ ।	२१	मिश्राद् रात्रिभ्यः ॥ ८ । २ । १७० ।
१२	फो भदौ ॥ ८ । १ । २३६ ।	४६	भ्यसामभ्यां० ॥ ८ । ४ । ३७३ ।	३५	मिश्रयीसालमे० ॥ ८ । ४ । २८ ।
व		२५	भ्यसि वा ॥ ८ । ३ । १३ ।	२८	मुः स्यादौ ॥ ८ । ३ । ८८ ।
		४७	भ्यसो हुं ॥ ८ । ४ । ३३७ ।	३७	मुञ्चश्चुवावहे० ॥ ८ । ४ । ७१ ।
४३	बन्धो न्यः ॥ ८ । ४ । २४७ ।	४०	भ्रंशोः फिरुफिट्ठ० ॥ ८ । ४ । १७७ ।	४१	मुहेगुम्मगुम्मसौ ॥ ८ । ४ । २०७ ।
२२	बन्ने निर्धारण० ॥ ८ । २ । १८५ ।	१३	भ्रमरे सो वा ॥ ८ । १ । २४४ ।	३७	मृजेरुभुसवुञ्ज० ॥ ८ । ४ । १०५ ।
२०	बदिसो बाहिं० ॥ ८ । २ । १४० ।	३१	भ्रमेराडो वा ॥ ८ । ३ । १५१ ।	३८	मृदां मलमद० ॥ ८ । ४ । १२६ ।
५०	बहुत्वे हुं ॥ ८ । ४ । ३८१ ।	३९	भ्रमेष्टिरिट्ठि० ॥ ८ । ४ । १६१ ।	३२	मेः स्सं ॥ ८ । ३ । १६६ ।
४६	बहुत्वे दुः ॥ ८ । ४ । ३८४ ।	३५	भ्रमेस्तालि० ॥ ८ । ४ । ३० ।	१२	मेधिशिधिरशि० ॥ ८ । १ । २१५ ।
१	बहुलम् ॥ ८ । १ । २ ।	२१	भ्रुवो मया डमया ॥ ८ । २ । १६७ ।	२६	मे मइ मम मह० ॥ ८ । ३ । ११३ ।
३३	बहुपु न्तु ह मो ॥ ८ । ३ । १७६ ।	म		५०	मोऽनुनासिको० ॥ ८ । ४ । ३६७ ।
३१	बहुष्वाद्यस्य० ॥ ८ । ३ । १४२ ।			२	मोऽनुस्वारः ॥ ८ । १ । २३ ।
१७	बाष्पे होऽश्रु० ॥ ८ । २ । ७० ।	२६	मइ मम मह म० ॥ ८ । ३ । १११ ।	४४	मोऽत्यादृणो वे० ॥ ८ । ४ । २७७ ।
३	बाहोरात् ॥ ८ । १ । ३६ ।	२३	मणे विमशं ॥ ८ । २ । २०७ ।	३२	मोमुमानां हि० ॥ ८ । ३ । १६८ ।
१२	बिसिन्यां भः ॥ ८ । १ । २३८ ।	३८	मणेश्चिञ्चि० ॥ ८ । ४ । ११५ ।	२४	मोरउज्जा मुधा ॥ ८ । २ । २१४ ।
३४	बुभुतिवीज्योर्णी० ॥ ८ । ४ । ५ ।	७	मधुके वा ॥ ८ । १ । १२२ ।	४४	मो वा ॥ ८ । ४ । २६४ ।
१७	बृहस्पतिवन० ॥ ८ । २ । ६६ ।	४६	मध्यत्रयस्याद्य० ॥ ८ । ४ । ३८३ ।	३२	मौ वा ॥ ८ । ३ । १५४ ।
२०	बृहस्पतौ बहो० ॥ ८ । २ । १३० ।	४	मध्यमकतमे० ॥ ८ । १ । ४८ ।	१६	मन्त्रोर्णः ॥ ८ । २ । ४२ ।
१२	बो वः ॥ ८ । १ । २३७ ।	३१	मध्यमस्येत्था० ॥ ८ । ३ । १४३ ।	४२	मन्त्रोः ॥ ८ । ४ । २४३ ।
४३	भो दुहलिह० ॥ ८ । ४ । २४५ ।	१७	मध्याह्ने दः ॥ ८ । २ । ८४ ।	२८	ममावयेथौ वा ॥ ८ । ३ । ८७ ।
२६	भो म्हाजौ वा ॥ ८ । ३ । १०४ ।	३३	मधे च स्वरा० ॥ ८ । ३ । १७८ ।	४१	मन्त्रोऽप्यडः ॥ ८ । ४ । १९१ ।
१६	ब्रह्मचर्यनृत्यसौ० ॥ ८ । २ । ६३ ।	२१	मनाको न वा डो० ॥ ८ । २ । १६६ ।	३४	म्लेवा पञ्चायौ ॥ ८ । ४ । १८ ।
४	ब्रह्मचर्ये चः ॥ ८ । १ । ५७ ।	३८	मन्थेयुमन्त्रवि० ॥ ८ । ४ । १२१ ।	५१	म्हो भो वा ॥ ८ । ४ । ४१२ ।
५०	बृगा ब्रुवो वा ॥ ८ । ४ । ३६१ ।	१३	मन्मथे वः ॥ ८ । १ । २४२ ।	य	
भ		३६	मन्युनौष्टमा० ॥ ८ । ४ । ६६ ।		
		१६	मन्यौ न्त्वा वा ॥ ८ । २ । ४४ ।	४६	यत्तत्किञ्चो० ॥ ८ । ४ । ३५८ ।
३७	भज्जेयमय-मु० ॥ ८ । ४ । १०६ ।	२६	ममाहो ज्यसि ॥ ८ । ३ । ११२ ।	२०	यत्तदेतदोतो० ॥ ८ । २ । १५६ ।
४४	जवद्भगवतोः ॥ ८ । ४ । २६५ ।	४	मयट्यद्वा ॥ ८ । १ । ५० ।	४६	यत्तदः स्यमोर्धु वं ॥ ८ । ४ । ३६० ।
४४	भविष्यति स्मिः ॥ ८ । ४ । २७५ ।	१०	मरकतमदकले० ॥ ८ । १ । १८२ ।	५१	यत्रतत्रयोस्त्रस्य० ॥ ८ । ४ । ४०४ ।
३२	भविष्याति दिगा० ॥ ८ । ३ । १६६ ।	२०	मलिनोभयशृ० ॥ ८ । २ । १३८ ।	१०	यमुनाचामुण्मा० ॥ ८ । १ । १७८ ।
४६	भविष्यत्यय पव ॥ ८ । ४ । ३२० ।	७	मसृगमृगाङ्गमृ० ॥ ८ । १ । १३० ।	१३	यष्ट्यां लः ॥ ८ । १ । २४७ ।
४०	भपेत्तुक्कः ॥ ८ । ४ । १८६ ।	३७	मस्जेराउट्टुणिउ० ॥ ८ । ४ । १०१ ।	५१	यादकतादक० ॥ ८ । ४ । ४०२ ।
१६	भस्मात्मनोः० ॥ ८ । २ । ४१ ।	३६	महमहो गन्धे ॥ ८ । ४ । ७८ ।	४६	यादशादेर्दुस्तिः ॥ ८ । ४ । ३१७ ।
३९	जाराकान्ते नमे० ॥ ८ । ४ । १५८ ।	५	महाराष्ट्र ॥ ८ । १ । ६७ ।	३५	यापेजवः ॥ ८ । ४ । ४० ।
४१	नामोमिमः ॥ ८ । ४ । २०३ ।	१६	महाराष्ट्र हरोः ॥ ८ । २ । ११६ ।	१४	यावत्तावज्जीवि० ॥ ८ । १ । २७१ ।
३५	नियो भायीदौ ॥ ८ । ४ । ५३ ।	४६	महु मज्जु डसि० ॥ ८ । ४ । ३७६ ।	५१	यावत्तावतोर्वा० ॥ ८ । ४ । ४०६ ।
४६	निमा तुम्हेहि ॥ ८ । ४ । ३७१ ।	२२	माइ माथे ॥ ८ । २ । १६१ ।	३७	युजो जुज्जुज्ज० ॥ ८ । ४ । १०९ ।
२४	निमो दि हिं हिं ॥ ८ । ३ । ७ ।	८	मानुस्त्रिडा ॥ ८ । १ । १३५ ।	४१	युधुयुधुध० ॥ ८ । ४ । २१७ ।
२५	भिस्सुप्सुपि ॥ ८ । ३ । १४ ।	२०	मानुपितुस्व० ॥ ८ । २ । १४२ ।	६	युधिष्ठिरे वा ॥ ८ । १ । ७६ ।
४७	निस्येडा ॥ ८ । ४ । ३३५ ।				

पृष्ठ.	सूत्र
४७	युवणस्य गुणः । ८ । ४ । २३७ ।
४७	युष्मदः सो तुहु । ८ । ४ । २६८ ।
२८	युष्मदस्तं तु तुवं । ८ । ३ । ६० ।
२०	युष्मदस्मदाऽज्ज । ८ । २ । १४९ ।
५२	युष्मदादेरी० । ८ । ४ । ४३४ ।
१३	युष्मदर्थपरं तः । ८ । १ । २४६ ।
५२	यागजाश्चैषाम् । ८ । ४ । ४३० ।

र

१४	रक्ते गो वा । ८ । २ । १० ।
३७	रत्नेरुगहावह० । ८ । ४ । ९४ ।
३५	रज्जेः रावः । ८ । ४ । ४९ ।
४०	रमेः संखुद्वे० । ८ । ४ । १६८ ।
४५	रसोर्लशौ । ८ । ४ । २८८ ।
४७	रस्य लो वा । ८ । ४ । ३२६ ।
१८	रहोः । ८ । २ । ९३ ।
३७	राजे रघ लज्ज० । ८ । ४ । १०० ।
४६	राज्ञो वा चिञ् । ८ । ४ । ३०४ ।
२६	राज्ञः । ८ । ३ । ४९ ।
१८	रात्रौ वा । ८ । २ । ८८ ।
८	रिः केवन्नस्य । ८ । १ । १४० ।
३६	रुते रुज्जरुपटौ । ८ । ४ । ५७ ।
४२	रुदनम्मोर्वः । ८ । ४ । २२६ ।
४१	रुदभुजमुचां० । ८ । ४ । २१२ ।
११	रुदित दिना षः । ८ । १ । २०९ ।
३८	रुधेरुत्थङ्गः । ८ । ४ । १३३ ।
४१	रुधो न्धम्भौ च । ८ । ४ । २१८ ।
४२	रुपादीनां दीर्घः । ८ । ४ । २३६ ।
२३	रे श्वरे संभाषण० । ८ । २ । २०१ ।
२१	रो दीर्घात् । ८ । २ । १७१ ।
३५	रोमन्थे रोग्गा० । ८ । ४ । ४३ ।
२	रो रा । ८ । १ । १६ ।
१५	रुस्याधूर्त्तादौ । ८ । २ । ३० ।
४६	रुस्तथां रिय० । ८ । ४ । ३१४ ।
७	लुकि दुरो वा । ८ । १ । ११५ ।
६	लुकि निरः । ८ । १ । ६३ ।
१८	रुपतसवज्जे वा । ८ । २ । १०५ ।
१८	रुश्रीन्हीकृतस्त्वं । ८ । २ । १०४ ।

ल

१६	लघुके लहोः । ८ । २ । १२२ ।
१३	लघाटे च । ८ । १ । २५७ ।
१६	ललाटे लहोः । ८ । २ । १२३ ।
३७	लस्तेर्जाहः । ८ । ४ । १०३ ।
१६	लात् । ८ । २ । १०६ ।
१३	लाहललाङ्गव० । ८ । १ । २५६ ।
५३	लिङ्गमतन्त्रम् । ८ । ४ । ४४५ ।
३६	लिपो लिम्पः । ८ । ४ । १४६ ।
१	लुक् । ८ । १ । १० ।
३१	लुगावी कभाव० । ८ । ३ । १५२ ।
१४	लुग्भाजनदनुज । ८ । १ । २६७ ।
३	लुप्तयवशप० । ८ । १ । ४३ ।
२५	लुप्ते शसि । ८ । ३ । १८ ।

३६	लुप्तेः संभावः । ८ । ४ । १५३ ।
४६	लाळः । ८ । ४ । ३०८ ।
२१	लो नवकाद्वा । ८ । २ । १६५ ।

व

२	वक्रादावन्तः । ८ । १ । २६ ।
४१	वन्नो वात् । ८ । ४ । २११ ।
३७	वञ्जवेहववेञ्जव० । ८ । ४ । ६३ ।
२३	वणे निश्चयवि० । ८ । २ । २०६ ।
२०	वतेर्वः । ८ । २ । १५० ।
३०	वधात् डाइश्च वा । ८ । ३ । १३३ ।
१६	वनिताया विल० । ८ । २ । १२८ ।
२	वर्गेऽन्यो वा । ८ । १ । ३० ।
३२	वर्तमानापञ्च० । ८ । ३ । १५८ ।
३३	वर्तमानाभवि० । ८ । ३ । १७७ ।
५०	वत्स्यति स्यस्य० । ८ । ४ । ३८८ ।
४	वल्युत्कर्षण्य० । ८ । १ । ५८ ।
ए	वा कदले । ८ । १ । १६७ ।
३	वाङ्मर्थवचना० । ८ । १ । ३३ ।
२८	वाऽदसो दस्य० । ८ । ३ । ८७ ।
४४	वाऽऽदेस्तावति । ८ । ४ । २६२ ।
१२	वाऽऽदौ । ८ । १ । २२६ ।
५०	वाऽधो रो लुक् । ८ । ४ । ३९८ ।
६	वा निर्भरे ना । ८ । १ । ६८ ।
५१	वाऽन्यथाऽनुः । ८ । ४ । ४१५ ।
२६	वाऽऽप ए । ८ । ३ । ४१ ।
८	वा वृहस्पतौ । ८ । १ । १३८ ।
१३	वाऽभिमन्यौ । ८ । १ । २४३ ।
५१	वा यत्तदोऽतोर्मे० । ८ । ४ । ४०७ ।
४	वाऽपी । ८ । १ । ६३ ।
४	वाऽलावरण्ये० । ८ । १ । ६६ ।
१६	वा विह्वले वौ० । ८ । २ । ५८ ।
४	वाऽव्ययोत्खाता० । ८ । १ । ६७ ।
२	वा स्वरे मश्च । ८ । १ । ५४ ।
२	विशत्यादलुक् । ८ । १ । २८ ।
४१	विकसेः कोश्र० । ८ । ४ । १६५ ।
३५	विकोशेः पक्खो० । ८ । ४ । ४२ ।
४०	विगलेः थिप्प० । ८ । ४ । १७५ ।
३५	विज्ञपेर्वोक्ता० । ८ । ४ । ३८ ।
१२	वितस्तिवस० । ८ । १ । २१४ ।
२१	विशुम्पवपीता० । ८ । २ । १७३ ।
३५	विरिचरोऽनुलो० । ८ । ४ । २६ ।
३९	विलपेर्भङ्गवम० । ८ । ४ । १४८ ।
३६	विलीङ्गिरी । ८ । ४ । ५६ ।
३८	विवृत्तेर्दसः । ८ । ४ । ११८ ।
३६	विश्रमेर्णिग्या । ८ । ४ । १५६ ।
५१	विपणोक्तवर्म० । ८ । ४ । ४२१ ।
१३	विपमे मो दो वा । ८ । १ । २४१ ।
३८	विसंवदेर्विश्रुद्ध० । ८ । ४ । १२६ ।
३६	विस्सुः पम्हुस-० । ८ । ४ । ७५ ।
२४	वीप्सात्स्यादेर्वी० । ८ । ३ । १ ।
१६	वृक्कितयोः रु० । ८ । २ । १२७ ।

१५	वृत्तप्रवृत्तमृत्ति० । ८ । २ । २९ ।
१५	वृत्ते एटः । ८ । २ । ३१ ।
१५	वृश्चिकेश्चर्चुर्वा । ८ । २ । १६ ।
८	वृषभे वा वा । ८ । १ । १३३ ।
४२	वृषादीनामरिः । ८ । ४ । २३५ ।
३७	वृषे द्विकः । ८ । ४ । ६६ ।
११	वृषौ णो वा । ८ । १ । २०३ ।
९	वृतः कर्णिकारे । ८ । १ । १६८ ।
५१	वेदंकिमोऽर्यादेः । ८ । ४ । ४०८ ।
२८	वेदंनदेतदो ड० । ८ । ३ । ८१ ।
३६	वेपरायम्वाय० । ८ । ४ । १४७ ।
३	वेमाञ्जल्याद्याः० । ८ । १ । ३५ ।
२३	वेध्व च ग्रामन्त्रणे । ८ । २ । १६४ ।
२३	वेध्वे त्रयवारण० । ८ । २ । १६३ ।
४७	वेष्टः । ८ । ४ । २२१ ।
३५	वेष्टः परित्रालः । ८ । ४ । ५१ ।
२१	वेकाहः सि सि० । ८ । २ । १६२ ।
१६	वेमूर्यस्य वेरुलियां । ८ । २ । १३३ ।
२०	वेतत्तदः । ८ । ३ । ३ ।
२८	वेतदो डसेस्त्तो० । ८ । ३ । ८२ ।
८	वेरादौ वा । ८ । १ । १५२ ।
२८	वेसेणमिणमो० । ८ । ३ । ८५ ।
२६	वोतुञ्जतुम्भे० । ८ । ३ । ६३ ।
२५	वोतो डवो । ८ । ३ । २१ ।
१३	वोत्तरीयानीय० । ८ । १ । २४८ ।
१६	वोत्साहो थो हश्च० । ८ । २ । ४८ ।
४२	वोदः । ८ । ४ । २२३ ।
६	वोपरौ । ८ । १ । १०८ ।
३७	वोपेन कम्मवः । ८ । ४ । १११ ।
१६	वोध्वे । ८ । २ । ५६ ।
१२	वोपध्वे । ८ । १ । २२७ ।
४२	व्यञ्जनाद्दन्ते । ८ । ४ । २३६ ।
३२	व्यञ्जनादीश्रः । ८ । ३ । १६३ ।
५३	व्यत्ययश्च । ८ । ४ । ४४७ ।
१४	व्याकरणप्राका० । ८ । १ । २६८ ।
३८	व्यापेराश्रमाः । ८ । ४ । १४१ ।
३६	व्यापेराश्रङ्गः । ८ । ४ । ८१ ।
३६	व्याहणेः काक्क० । ८ । ४ । ७६ ।
४३	व्याहणेर्वाहिप्पः । ८ । ४ । २५३ ।
४२	व्रजनुत्तमदो च्चः । ८ । ४ । २२५ ।
५०	व्रजेर्बुजः । ८ । ४ । ३६२ ।
४५	व्रजो जः । ८ । ४ । २६४ ।

श

४२	शकादीनां० । ८ । ४ । २३० ।
३७	शकेश्चयतरती० । ८ । ४ । ८६ ।
१४	शक्तमुक्तदृष्टण० । ८ । २ । २ ।
३३	शत्रानशः । ८ । ३ । १८१ ।
३८	शदो ऊरुपक्खो० । ८ । ४ । १३० ।
२१	शनैसो डिश्रम् । ८ । २ । १६८ ।
१३	शयरे वो मः । ८ । १ । २५८ ।
४०	शमेः पम्सिपाप० । ८ । ४ । १६७ ।
२	शरदादिरत्न । ८ । १ । १८ ।

पृष्ठ.	सूत्र
१३	शपोः सः । ८ । १ । १६० ।
१६	शपोः सः । ८ । ४ । ३०६ ।
१७	शाङ्गे डाल्पुवोऽन्त । ८ । २ । १०० ।
५	शिथिलेहुदे वा । ८ । १ । ७६ ।
१४	शिरायां वा । ८ । १ । २६६ ।
१०	शीकरे भहौ वा । ८ । १ । १८४ ।
५१	शीघ्रादीनां वहि० । ८ । ४ । ४२२ ।
२०	शीघ्राद्यर्थे स्वरः । ८ । २ । १४५ ।
१४	शुक्के ज्ञा वा । ८ । २ । ११ ।
१४	शुक्कस्कन्दे वा । ८ । २ । ५ ।
१०	शृङ्गले खः कः । ८ । १ । १७६ ।
४५	शेषं प्राकृतवत् । ८ । ४ । १८६ ।
४७	शेषं प्राकृतवत् । ८ । ४ । ३७८ ।
४५	शेषं शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ३०२ ।
४६	शेषं शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ३२३ ।
५३	शेषं संस्कृतवत् । ८ । ४ । ४४७ ।
३०	शेषेऽन्तवत् । ८ । ३ । १२४ ।
३६	शैथिल्यल० । ८ । ४ । ७० ।
५१	शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ४४६ ।
१७	भो हरिश्चन्द्रे । ८ । २ । ७७ ।
५	श्यामाके मः । ८ । १ । ७१ ।
३४	थदो धो दहः । ८ । ४ । ७८ ।
१६	थ्रद्धिर्मूर्ध्नाऽथ० । ८ । २ । ४१ ।
३६	थ्रमे वाक्स्फः । ८ । ४ । ६८ ।
३३	थुगमिरुदिविदि० । ८ । ३ । १७१ ।
३६	थुट्ठेर्हणः । ८ । ४ । ५८ ।
३०	थ्रुघः सलहः । ८ । ४ । ७७ ।
४१	थ्रुघेः सामग्राव० । ८ । ४ । १९० ।
१६	थ्रुम्पणि वा । ८ । २ । ५५ ।

प

१४	पदशमीशावसु० । ८ । १ । २६५ ।
४८	पट्टयाः । ८ । ४ । ३४५ ।
१४	पक्ककयोर्नाम्नि । ८ । २ । ४ ।
१५	पृथ्यानुप्रेष्टासंदष्टे । ८ । २ । ३४ ।
१६	पृथ्पयोः फः । ८ । २ । ५३ ।

स

१२	संख्यागज्जे रः । ८ । १ । २१६ ।
३०	संख्याया आमो० । ८ । ३ । १२३ ।
३७	संतोपेभङ्गः । ८ । ४ । १४० ।
४०	संदिशेरप्पादः । ८ । ४ । १८० ।
३५	संभावैगसङ्गः । ८ । ४ । ३५ ।
१४	संयुक्तस्य । ८ । २ । १ ।
३६	संवृगेः सादर० । ८ । ४ । ८२ ।
११	सयाशकटकैट० । ८ । १ । १९६ ।
४१	सदपतोर्डः । ८ । ४ । २१६ ।
११	समतौ रः । ८ । १ । २१० ।
४	सत्तपण्ये वा । ८ । १ । ४९ ।
३१	सत्तप्या द्वितीया । ८ । ३ । १३७ ।
३४	समः स्यः स्त्राः । ८ । ४ । १५ ।
४३	समनूपाद् रुधेः । ८ । ४ । २४८ ।
३६	समा अग्निदः । ८ । ४ । १६४ ।
३६	समापेः समाणः । ८ । ४ । १४२ ।
३७	समारचैवह० । ८ । ४ । ९५ ।

१८	समासे वा । ८ । २ । ९७ ।
३८	समो गलः । ८ । ४ । ११३ ।
४२	समो ह्रः । ८ । ४ । २२२ ।
१५	सम्मर्दवितर्दि० । ८ । २ । ३६ ।
१७	सर्वत्र लवराम० । ८ । २ । ७९ ।
४६	सर्वस्य सादो वा । ८ । ४ । ३६६ ।
२०	सर्वाङ्गादीनस्येकः । ८ । २ । १५१ ।
४६	सर्वादङ्गमेर्हा । ८ । ४ । ३५५ ।
४५	सर्पोः संयोगे सो० । ८ । ४ । २८६ ।
१५	साध्वसध्याह्यां ऊः । ८ । २ । २६ ।
१५	सामर्थ्यास्तुको० । ८ । २ । २२ ।
४६	सावस्मदा हउ० । ८ । ४ । ३७५ ।
३७	सिचेः सिञ्चसि० । ८ । ४ । ६६ ।
३१	सिनास्तेः सिः । ८ । ३ । १४६ ।
३२	सी ही दीअ भू० । ८ । ३ । १६२ ।
४६	सुपा अम्हासु । ८ । ४ । ३८१ ।
२६	सुपि । ८ । ३ । १०३ ।
३०	सुपि । ८ । ३ । ११७ ।
१७	सुद्धमश्रणक० । ८ । २ । ७५ ।
४२	सृजो रः । ८ । ४ । २९६ ।
१८	सेवादौ वा । ८ । २ । ६६ ।
७	सैन्ये वा । ८ । १ । १५० ।
३३	सोच्छादय इजा० । ८ । ३ । १७२ ।
३३	सोर्हिवा । ८ । ३ । १७४ ।
३७	सौ पुंस्योद्धा । ८ । ४ । ३३२ ।
४५	स्कः प्रेक्षाचक्रोः । ८ । ४ । २६७ ।
१६	स्तब्धे ठदौ । ८ । २ । ३६ ।
१४	स्तम्भे स्तो वा । ८ । २ । ८६ ।
१६	स्तवे वा । ८ । २ । ४६ ।
१६	स्तस्य धाऽसम० । ८ । २ । ४५ ।
१६	स्तोकस्य थोक्क० । ८ । २ । १२५ ।
१५	स्थानचतु० । ८ । २ । ३३ ।
१६	स्त्रिया इथी । ८ । २ । १३० ।
४८	स्त्रियां जस्र० । ८ । ४ । ३४८ ।
४६	स्त्रियां भहेः । ८ । ४ । ३५६ ।
५२	स्त्रियां तदन्तादीः । ८ । ४ । ४३१ ।
२२	स्त्रियामादवि० । ८ । १ । १५ ।
२५	स्त्रियामुदातौ वा । ८ । ३ । २७ ।
४५	स्थर्थयोस्तः । ८ । ४ । २६१ ।
६	स्थविरविचक्रि० । ८ । १ । १६६ ।
३४	स्थप्राथक्क० । ८ । ४ । १६ ।
१४	स्थानावहरे । ८ । २ । ७ ।
७	स्थूणातूण वा । ८ । १ । १२५ ।
१३	स्थूले लो रः । ८ । १ । २५५ ।
२	स्नमदामशिरो० । ८ । १ । ३२ ।
३४	स्नातिरन्नुत्तः । ८ । ४ । १४ ।
१६	स्निग्धे वाऽदितौ । ८ । २ । १०६ ।
४३	स्निहसिचोः सि० । ८ । ४ । २५५ ।
१३	स्तुपायां एहो वा० । ८ । १ । २६१ ।
१७	स्नेहान्यायो । ८ । २ । १०२ ।
३८	स्पन्देऽनुलुचुवः । ८ । ४ । १२७ ।
४३	स्पृशश्छिप्यः । ८ । ४ । २५७ ।
४०	स्पृशः फासफ० । ८ । ४ । १८२ ।
३५	स्पृष्टः सिहः । ८ । ४ । ३४ ।
१५	स्पृष्टायाम् । ८ । २ । २३ ।

११	स्फटिके वः । ८ । १ । १९० ।
४२	स्फुटिचवेः । ८ । ४ । २३१ ।
३६	स्मरभङ्गकुरजर० । ८ । ४ । ७५ ।
४७	स्यमोरस्यात् । ८ । ४ । ३३१ ।
४७	स्यमजस्रशासा० । ८ । ४ । ३४४ ।
४७	स्यादौ दीर्घ० । ८ । ४ । ३३० ।
१९	स्याद्भ्यनैत्य० । ८ । २ । १०७ ।
४१	संसर्हसमिभौ । ८ । ४ । १९७ ।
४	स्वपावुच । ८ । १ । ६४ ।
३९	स्वपेः कमवस० । ८ । ४ । १४६ ।
१३	स्वप्ननीव्यावा । ८ । १ । २५६ ।
१९	स्वप्ने नात् । ८ । २ । १०८ ।
२३	स्वयमोऽर्थे अण्पा० । ८ । २ । २०६ ।
१	स्वरस्याद्वले । ८ । १ । ७ ।
४२	स्वराणां स्वराः । ८ । ४ । १३८ ।
४७	स्वराणां स्वराः० । ८ । ४ । ३२९ ।
४२	स्वरादनतो वा । ८ । ४ । १४० ।
१०	स्वरादसंयुक्त० । ८ । १ । १७६ ।
२	स्वरेऽन्तरश्च । ८ । १ । १४ ।
२६	स्वस्मादेर्मा । ८ । ३ । ३५ ।
२१	स्वार्थे कश्च वा । ८ । २ । १६४ ।
४२	स्विदां जजः । ८ । ४ । १२४ ।
२८	स्विस्सयोरत् । ८ । ३ । ७४ ।

ह

४४	हञ्जे चेष्ट्याह्वाने । ८ । ४ । २७१ ।
४३	हन्धनोऽन्यस्य । ८ । ४ । १४४ ।
२२	हन्द च गृहणाणर्थे । ८ । २ । १७१ ।
२२	हन्दिविपादवि० । ८ । २ । १८० ।
२३	हन्दी निर्वेदे । ८ । २ । १९२ ।
१९	हरिताले ह्रो० । ८ । २ । १७१ ।
१३	हरिडादौ वः । ८ । १ । २५४ ।
६	हरीतक्यामी० । ८ । १ । ६९ ।
२३	हरे क्ते च । ८ । २ । २०२ ।
५१	हसेर्गुञ्जः । ८ । ४ । १६६ ।
३७	हासेन स्फुटैर्मुः । ८ । ४ । ११४ ।
५०	हिस्वयोरिदु । ८ । ४ । ३८७ ।
४४	हीमाणहे विसम० । ८ । ४ । २८२ ।
४५	हीही विदूषकस्य । ८ । ४ । २८५ ।
४८	हुं चदुद्ग्याम् । ८ । ४ । ३५० ।
२३	हुं दानपृच्छनि० । ८ । २ । ११७ ।
२३	हुं खु निश्चयवि० । ८ । २ । १६८ ।
५२	हुहुर्गुघादयः० । ८ । ४ । ५२३ ।
४३	हुहुर्गुजामीरः । ८ । ४ । २५० ।
४६	हुदये यस्य पः । ८ । ४ । ३१० ।
१३	हो घोऽनुस्वारत् । ८ । १ । २६४ ।
१६	हो ह्योः । ८ । २ । १२४ ।
१६	हुदे हुदोः । ८ । २ । १२० ।
१५	ह्रस्वात् थ्यश्च० । ८ । २ । २१ ।
२६	ह्रस्वाऽमि । ८ । ३ । ३६ ।
५	ह्रस्वः संयोगे० । ८ । १ । ७४ ।
३८	ह्रादेरवञ्चः । ८ । ४ । १२२ ।
१७	ह्रा वहः । ८ । २ । ७६ ।
१६	ह्रा भो वा । ८ । २ । ५७ ।

इति प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ।

॥ श्रीअनिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'वृद्ध' शब्दः ।

विभक्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वृद्धो ।	वृद्धा ।
द्वितीया	वृद्धं ।	वृद्धे, वृद्धा ।
तृतीया	वृद्धेणं, वृद्धेण ।	वृद्धेहि, वृद्धेहिँ, वृद्धेहिं ।
चतुर्थी	वृद्धाय, * वृद्धस्स ।	वृद्धाणं, वृद्धाण ।
पञ्चमी	वृद्धतो, वृद्धाओ, वृद्धाउ)	वृद्धतो, वृद्धाओ, वृद्धाउ, वृद्धाहि, वृद्धेहि,
,,	वृद्धाहि, वृद्धाहिन्तो, वृद्धा ।	(वृद्धाहिन्तो, वृद्धेहिन्तो, वृद्धासुन्तो, वृद्धेसुन्तो ।
षष्ठी	वृद्धस्स ।	वृद्धाणं, वृद्धाण ।
सप्तमी	वृद्धस्मि, वृद्धे ।	वृद्धेसुं, वृद्धेसु ।
संबोधनम्	हे वृद्ध, हे वृद्धो, हे वृद्धा ।	हे वृद्धा ।

आकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गोपा' शब्दः ।

विभक्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोपो ।	गोपा ।
द्वितीया	गोपां ।	गोपा ।
तृतीया	गोपाणं, गोपाण ।	गोपाहिं गोपाहिँ, गोपाहि ।
चतुर्थी	गोपे, गोपस्स ।	गोपाणं, गोपाण ।
पञ्चमी	गोपतो, गोपाओ, गोपाउ)	गोपतो, गोपाओ, गोपाउ, गोपाहिन्तो,
,,	गोपाहिन्तो ।	(गोपासुन्तो ।
षष्ठी	गोपस्स ।	गोपाणं, गोपाण ।
सप्तमी	गोपस्मि ।	गोपासुं, गोपासु ।
संबोधनम्	हे गोपो, हे गोपा ।	हे गोपा ।

इकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विभक्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणो, गिरी, गिरउ, गिरओ ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणो, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहिं, गिरीहिँ, गिरीहि ।
चतुर्थी	गिरिणो, गिरिस्म, गिरये ।	गिरीणं, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणो, गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ)	गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ, गिरीहिन्तो,
,,	गिरीहिन्तो ।	(गिरीसुन्तो ।
षष्ठी	गिरिणो, गिरिस्स ।	गिरीणं, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिस्मि ।	गिरीसुं, गिरीसु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणो, हे गिरी, हे गिरउ, हे गिरओ ।

ईकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गामणी ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गामणी ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
द्वितीया	गामणि ।	गामणिणो, गामणी ।
तृतीया	गामणिणा ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहिं ।
चतुर्थी	गामणये, गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
पञ्चमी	गामणिणो, गामणित्तो, गामणीओ)	गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिनतो,
,,	गामणीउ, गामणीहिनतो ।	(गामणीमुन्तो ।
षष्ठी	गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
सप्तमी	गामणिम्मि ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
संबोधनम्	हे गामणि, हे गामणी ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

उकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गुरु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गुरु ।	गुरुणो, गुरु, गुरओ, गुरउ, गुरवो * ।
द्वितीया	गुरुं ।	गुरुणो, गुरु ।
तृतीया	गुरुणा ।	गुरुहि, गुरुहिँ, गुरुहिं ।
चतुर्थी	गुरवे, गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरुणं, गुरुण ।
पञ्चमी	गुरुणो, गुरुत्तो गुरुओ, गुरुउ)	गुरुत्तो, गुरुओ, गुरुउ, गुरुहिनतो,
,,	गुरुहिनतो ।	(गुरुमुन्तो ।
षष्ठी	गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरुणं, गुरुण ।
सप्तमी	गुरुम्मि ।	गुरुसुं, गुरुसु ।
संबोधनम्	हे गुरु, हे गुरु ।	हे गुरुणो, हे गुरु, हे गुरउ, हे गुरओ, हे गुरवो ।

ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' खलपू ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	खलपू ।	खलपुणो, खलपू, खलपउ, खलपओ, खलपवा ।
द्वितीया	खलपुं ।	खलपुणो, खलपू ।
तृतीया	खलपुणा ।	खलपूहि, खलपूहिँ, खलपूहिं ।
चतुर्थी	खलपवे, खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
पञ्चमी	खलपुणो, खलपुत्तो, खलपूओ)	खलपुत्तो, खलपूओ, खलपूउ,
,,	खलपूउ, खलपूहिनतो ।	(खलपूहिनतो, खलपूमुन्तो ।
षष्ठी	खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
सप्तमी	खलपुम्मि ।	खलपूसुं, खलपूसु ।
संबोधनम्	हे खलपु, हे खलपू ।	हे खलपुणो, हे खलपू, हे खलपउ, हे खलपओ, हे खलपवो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' पितृ ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	पित्रा, पिअरो ।	पित्ररा, पिउणो, पिअउ, पिअओ, पिऊ ।
द्वितीया	पित्रं ।	पित्ररा, पिअरे, पिउणो, पिऊ ।
तृतीया	पित्रणा, पिअरेणं, पिअरेण ।	पित्ररेहि, पिअरेहिँ, पिअरेहिं, पिऊहि, पिऊहिँ, पिऊहिं ।

* ' वोटो नवो ' ॥ ७ । ३ । २१ ॥ उदन्तात् परस्य जसः पुंसि कित् अयो इत्यादेशो वा भवति । साद्वो ।

विभक्ति एकवचन ।

चतुर्थी पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।

पञ्चमी पिउणो, पिउत्तो, पिऊओ, पिऊउ, पिऊहि-)

” न्तो, पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)

” पिअराहिन्तो, पिअरा ।

षष्ठी पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।

सप्तमी पिअरम्मि, पिअरे, पिउम्मि ।

सम्बोधनम् हे पिअ, हे पिअर ।

बहुवचन ।

पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।

पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,

(पिअराहिन्तो, पिअरेहिन्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु-

न्तो, पिउत्तो, पिऊओ, पिऊउ, पिऊहिन्तो, पिऊसुन्तो ।

पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।

पिअरेसुं, पिअरेसु, पिऊसुं, पिऊसु ।

हे पिअरा, हे पिऊ, हे पिउणो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गो ‘जर्तु’ शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा भत्ता, जत्तारो ।

द्वितीया जत्तारं ।

तृतीया जत्तुणा, भत्तारेणं, जत्तारेण ।

चतुर्थी भत्तुणो, जत्तुस्स, जत्तारस्स ।

पञ्चमी जत्तुणो, जत्तुत्तो, जत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहिन्तो,)

” भत्तारत्तो, भत्ताराओ, जत्ताराउ, जत्ताराहि, भ-

” त्ताराहिन्तो, जत्तारा ।

षष्ठी भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।

सप्तमी भत्तुम्मि, भत्तारम्मि, भत्तारे ।

सम्बोधनम् हे जत्त, हे जत्तार ।

बहुवचन ।

भत्तुणो, भत्तू, भत्तउ, जत्तओ, जत्तारा ।

जत्तुणो, भत्तू, जत्तारं ।

भत्तारंहि, भत्तारंहिं, जत्तारंहि, भत्तूहि, भत्तूहिं, जत्तूहि ।

भत्तूणं, जत्तूण, भत्ताराणं, जत्ताराण ।

भत्तुत्तो, भत्तूओ, जत्तूउ, जत्तूहिन्तो, जत्तूसुन्तो, भ-

(त्तारत्तो, भत्ताराओ, जत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्तारंहि, भ-

(त्ताराहिन्तो, जत्तारंहिन्तो, जत्तारासुन्तो, भत्तारेसुन्तो ।

भत्तूणं, जत्तूण, भत्ताराणं, जत्ताराण ।

जत्तूसुं, जत्तूसु, भत्तारेसुं, भत्तारेसु ।

हे भत्तू, हे जत्तुणो, हे जत्तउ, हे भत्तओ, हे जत्तारा ।

नकारान्तस्यापि ‘राजन्’ शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा राया, रायाणो ।

द्वितीया रायाणं, रायं, राइणं ।

तृतीया रायाणं, रायाणं, राइणा, रखा, राइणं,

” राइण, रायणा ।

चतुर्थी रायाणस्स, रायाणो, रखो, राइणो, रायस्स ।

” ”

पञ्चमी रायाणत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि,)

” रायाणाहिन्तो, रायाणा, राइणो, रायाणो, रखो,)

” रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो,)

” राया ।

” ”

षष्ठी रायाणस्स, राइणो, रखो, रायाणो, रायस्स ।

” ”

सप्तमी रायाणम्मि, रायाणे, राइम्मि, रायम्मि, राइ ।

सम्बोधनम् हे रायाण, हे रायाणा, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ ।

बहुवचन ।

रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।

रायाणो, राइणो, रायाणे, राइ ।

रायाणंहि, रायाणंहिं, रायाणंहि, राइहिं, राइहिं, रा-

(इहि, राइहि, राइहिं, राइहि ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राइणं, राइण,

रायाणं, रायाण ।

राइत्तो, राइओ, राइउ, राइहिन्तो, राइसुन्तो, राया-

(णत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणंहि,

(रायाणाहिन्तो, रायाणंहिन्तो, रायाणासुन्तो, रायाणंसु-

(न्तो, रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राइहि, राया-

(हिन्तो, राइहिन्तो, रायासुन्तो, राइसुन्तो ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राइणं, राइण,

(रायाणं, रायाण ।

रायाणंसुं, रायाणंसु, राइंसुं, राइंसु, राइंसुं, राइंसु ।

हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

नकारान्तः पुँल्लिङ्गो ‘आत्मन्’ शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।

बहुवचन ।

अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पा ।

विज्ञाति एकवचन ।

द्वितीया अप्पाणं, अप्पं ।

तृतीया अप्पाणं, अप्पाणेण, अप्पेणं, अप्पेण, अप्प-

" णा, अप्पाणइआ, अप्पणिआ ।

चतुर्थी अप्पाणस्म, अप्पस्म, अप्पणो ।

पञ्चमी अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि,)

" अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणा, अप्पणो, अप्पत्तो, अप्पा-

" ओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिन्तो, अप्पा ।

"

षष्ठी अप्पाणस्म, अप्पस्म, अप्पणो ।

सप्तमी अप्पाणम्मि, अप्पाणे, अप्पम्मि, अप्पे ।

सम्बोधनम् हे अप्पाणो, हे अप्पो, हे अप्प ।

बहुवचन ।

अप्पाणे, अप्पाणो, अप्पे ।

अप्पाणेहिं, अप्पाणेहिं, अप्पाणेहि, अप्पेहिं, अप्पेहिं,
(अप्पेहि ।

अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।

अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि, अप्पा-
(णेहि, अप्पाणेहिन्तो, अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणसुन्तो,
(अप्पाणासुन्तो, अप्पत्तो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि,
(अप्पेहि, अप्पाहिन्तो, अप्पेहिन्तो, अप्पासुन्तो, अप्पेसुन्तो ।

अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।

अप्पाणसुं, अप्पाणसु, अप्पेसुं, अप्पेसु ।

हे अप्पाणो, हे अप्पाणा, हे अप्पा ।

॥ अथ सर्वादीनां पुँल्लिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विज्ञाति एकवचन ।

प्रथमा सव्वो ।

द्वितीया सव्वं ।

तृतीया सव्वेणं, सव्वेण ।

चतुर्थी सव्वस्स ।

पञ्चमी सव्वत्तो, सव्वाओ, सव्वाउ, सव्वाहिन्तो, स-

" व्वाहि, सव्वा ।

षष्ठी सव्वस्स ।

सप्तमी सव्वस्मि, सव्वम्मि, सव्वत्थ, सव्वहिं ।

सम्बोधनम् हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्वा ।

बहुवचन ।

सव्वे ।

सव्वे, सव्वा ।

सव्वेहिं, सव्वेहिं, सव्वेहि ।

सव्वेसिं, सव्वाणं, सव्वाण ।

सव्वत्तो, सव्वाओ सव्वाउ, सव्वाहि, सव्वेहि, सव्वा-
(हिन्तो, सव्वेहिन्तो, सव्वासुन्तो, सव्वेसुन्तो ।

सव्वेसिं, सव्वाणं, सव्वाण ।

सव्वेसुं, सव्वेसु ।

हे सव्वे ।

तथाऽकारान्तः पुँल्लिङ्गे 'विश्व' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा विस्सो ।

द्वितीया विस्सं ।

तृतीया विस्सेणं, विस्सेण ।

चतुर्थी विस्सस्स ।

पञ्चमी विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, वि-

" स्साहिन्तो, विस्सा ।

षष्ठी विस्सस्म ।

सप्तमी विस्सम्मि, विस्सम्मि, विस्सत्थ, विस्सहिं ।

सम्बोधनम् हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्सा ।

बहुवचन ।

विस्से ।

विस्से, विस्सा ।

विस्सेहिं, विस्सेहिं, विस्सेहि ।

विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, विस्सेहि, वि-
स्साहिन्तो, विस्सेहिन्तो, विस्सासुन्तो, विस्सेसुन्तो ।

विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सेसुं, विस्सेसु ।

हे विस्से ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गे 'उज्जय' शब्दः ।

विज्ञाति एकवचन ।

प्रथमा उज्जयो ।

द्वितीया उज्जयं ।

बहुवचन ।

उज्जये ।

उज्जयं, उज्जया ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया	उभयेणं, उभयेण ।	उभयेहिं, उजयेहिं, उजयेहि ।
चतुर्थी	उजयस्स ।	उभयेसिं, उभयाणं, उजयाण ।
पञ्चमी	उजयत्तो, उजयाओ, उभयाउ, उजयाहि, उ-	उभयत्तो, उजयाओ, उजयाउ, उजयाहि, उजयेहि, उ-
„	भयाहिन्तो, उभया ।	(भयाहिन्तो, उजयेहिन्तो, उभयामुन्तो, उभयेमुन्तो ।
षष्ठी	उभयस्स ।	उभयेसिं, उजयाणं, उजयाण ।
सप्तमी	उभयम्मि, उजयस्सि, उजयत्थ, उजयहिं ।	उभयेसुं, उभयेसु ।
सम्बोधनम्	हे उजय, हे उभयो, हे उभया ।	हे उजये ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' अन्य ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अणो ।	अण्णे ।
द्वितीया	अणं ।	अण्णे, अण्णा ।
तृतीया	अण्णेणं, अण्णेण ।	अण्णेहिं, अण्णेहिं, अण्णेहि ।
चतुर्थी	अणस्स ।	अण्णेसिं, अण्णाणं, अण्णाण ।
पञ्चमी	अणत्तो, अण्णाओ, अण्णाउ, अण्णाहि, अण्णा-	अणत्तो, अण्णाओ, अण्णाउ, अण्णाहि, अण्णेहि, अ-
„	हिन्तो, अण्णा ।	(ण्णाहिन्तो, अण्णेहिन्तो, अण्णामुन्तो, अण्णेमुन्तो ।
षष्ठी	अणस्स ।	अण्णेसिं, अण्णाणं, अण्णाण ।
सप्तमी	अणस्सिं, अणम्मि, अणत्थ, अणहिं ।	अण्णेसुं, अण्णेसु ।
सम्बोधनम्	हे अण, हे अणो, हे अण्णा ।	हे अण्णे ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' कतर ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	कयरो ।	कयरे ।
द्वितीया	कयरं ।	कयरे, कयरा ।
तृतीया	कयरेणं, कयरेण ।	कयरेहिं, कयरेहिं, कयरेहि ।
चतुर्थी	कयरस्स ।	कयरोसिं, कयराणं, कयराण ।
पञ्चमी	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि,)	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, कयरेहि, कय-
„	कयराहिन्तो, कयरा ।	राहिन्तो, कयरेहिन्तो, कयरामुन्तो, कयरेमुन्तो ।
षष्ठी	कयरस्स ।	कयरोसिं, कयराणं, कयराण ।
सप्तमी	कयरस्सिं, कयरम्मि, कयरत्थ, कयरहिं ।	कयरेसुं, कयरेसु ।
सम्बोधनम्	हे कयर, हे कयरो, हे कयरा ।	हे कयरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' अवर ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अवरो ।	अवरे ।
द्वितीया	अवरं ।	अवरे, अवरा ।
तृतीया	अवरेणं, अवरेण ।	अवरोहिं, अवरोहिं, अवरोहि ।
चतुर्थी	अवरस्स ।	अवरोसिं, अवराणं, अवराण ।
पञ्चमी	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अ-	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अवरोहि, अ-
„	वराहिन्तो, अवरा ।	वराहिन्तो, अवरोहिन्तो, अवरामुन्तो, अवरोमुन्तो ।

विभक्ति एकवचन ।

षष्ठी अवरस्स ।

सप्तमी अवरास्मि, अवरम्मि, अवरत्थ, अवराह ।

सम्बोधनम् हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।

बहुवचन ।

अवरोसिं, अवराणं, अवराण ।

अवरोसुं, अवरोसु ।

हे अवरो ।

अकारान्तः पुँद्विलिङ्ग ' इतर ' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इयरो ।

द्वितीया इयरं ।

तृतीया इयरेणं, इयरेण ।

चतुर्थी इयरस्स ।

पञ्चमी इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरा-)

,, इहन्तो, इयरा ।

षष्ठी इयरस्म ।

सप्तमी इयरस्मि, इयरम्मि, इयरत्थ, इयरहि ।

सम्बोधनम् हे इयर, हे इयरा, हे इयरो ।

बहुवचन ।

इयरे ।

इयरे, इयरा ।

इयरोहिं, इयरोहिँ, इयरहि ।

इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।

इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरोहि, इयराहि-

(न्तो, इयरोहिन्यो, इयरासुन्तो, इयरसुन्तो ।

इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।

इयरोसुं, इयरोसु ।

हे इयरे ।

पुँद्विलिङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जो ।

द्वितीया जं ।

तृतीया जेणं, जेण, जिणा ।

चतुर्थी जस्म ।

पञ्चमी जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जाहिन्यो, जा,)

,, जम्हा ।

षष्ठी जस्म ।

सप्तमी जस्मि, जम्मि, जत्थ, जहिं, जाहे, जाला,)

,, जइया ।

बहुवचन ।

जे ।

जे, जा ।

जेहिं, जेहिँ, जेहि ।

जेसिं, जाणं, जाण ।

जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जेहि, जाहिन्यो, जेहिन्यो,

(जामुन्तो, जेमुन्तो ।

जेसिं, जाणं, जाण ।

जेसुं, जेसु ।

,,

पुँद्विलिङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सो, णो ।

द्वितीया तं, णं ।

तृतीया तेणं, तेण, तिणा, नेणं, नेण ।

चतुर्थी ताम, तस्म, से, णस्म ।

पञ्चमी तम्हा, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहि, ताहिन्यो, ता, णम्हा,)

,, णत्तो, णाओ, णाउ, णाहि, णाहिन्यो, णा ।

,, ,,

षष्ठी ताम, तस्स, मे, णस्म ।

सप्तमी तस्मिं तत्थ, तम्मि, तहिं, तस्मिं, तम्मि, तत्थ,)

,, णहिं, नाहे, नाला, तइआ, णाहे, णाला, णइआ ।

बहुवचन ।

ते, णे ।

ते, ने, ता, णा ।

तेहिं, तेहिँ, तेहि, णेहिं, नेहिँ, नेहि ।

तेसिं, ताणं, ताण, सिं, नेसिं, नाणं, णाण ।

तत्तो, ताओ, ताउ, ताहि, तेहि, ताहिन्यो, तेहिन्यो, ता-

(मुन्तो, तेमुन्तां, णत्तो, णाओ, णाउ, णाहि, नेहि, णा-

(हिन्यो, नेहिन्यो, णामुन्तो, नेमुन्तो ।

तेसिं, ताणं, ताण, सिं, नेसिं, नाणं, णाण ।

तेसुं, तेसु, नेसुं, नेसु ।

,,

एकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एको ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेणं, एकेण ।	एकेहिं, एकेहिँ, एकेहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकत्तो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो,)	एकत्तो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकेहि, एकाहिन्तो,
एका ।	(एकेहिन्तो, एकामुन्तो, एकेसुन्तो ।
षष्ठी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकस्सिं, एकस्मि, एकत्थ, एकहिं ।	एकेसुं, एकेसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एगो ।	एगे ।
द्वितीया एगं ।	एगे, एगा ।
तृतीया एगणं, एगण ।	एगेहिं, एगेहिँ, एगेहि,
चतुर्थी एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
पञ्चमी एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिन्तो,)	एगत्तो, एगाओ, एगान, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो,
„ एगा ।	(एगेहिन्तो, एगामुन्तो, एगेसुन्तो ।
षष्ठी एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
सप्तमी एगस्सिं, एगस्मि, एगत्थ, एगहिं ।	एगेसुं, एगेसु ।

प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इको ।	इके ।
द्वितीया इकं ।	इके, इका ।
तृतीया इकेणं, इकेण ।	इकेहिं, इकेहिँ, इकेहि ।
चतुर्थी इकस्स ।	इकेसिं, इकाणं, इकाण ।
पञ्चमी इकत्तो, इकाओ, इकाउ, इकाहि, इकाहिन्तो,)	इकत्तो, इकाओ, इकाउ, इकाहि, इकेहि, इकाहिन्तो,
„ इका ।	(इकेहिन्तो, इकामुन्तो, इकेसुन्तो ।
षष्ठी इकस्स ।	इकेसिं, इकाणं, इकाण ।
सप्तमी इकस्सिं, इकस्मि, इकत्थ, इकहिं ।	इकेसुं, इकेसु ।

किंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा को ।	के ।
द्वितीया कं ।	के, का ।
तृतीया केणं, केण, किणा ।	केहिं, केहिँ, केहि ।
चतुर्थी कस्स, कास ।	केसिं, काणं, काण, कास ।
पञ्चमी कत्तो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा,)	कत्तो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो,
„ किणो, कीस ।	कामुन्तो, केसुन्तो ।

विभक्ति एकवचन ।

षष्ठी कस्म, कास-

सप्तमी कस्मि, कस्मि, कत्थ, कहि, काहे, काला, कइआ ।

बहुवचन ।

कस्मि, काणं, काणं, कास ।

कस्मं, कस्म ।

एतच्छब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसो, एस, इणं, इणमो ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एएणं, एएण, एइणा ।

चतुर्थी एअस्स, से ।

पञ्चमी एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिनतो,)

,, एआ, एत्तो, एत्ताहे ।

षष्ठी एअस्स, से ।

सप्तमी एअस्सि, एअस्मि, अयस्मि, ईयस्मि, एत्थ ।

बहुवचन ।

एए ।

एए, एआ ।

एएहि, एएहिं, एएहि ।

एएसि, एआणं, एआण, सि ।

एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहिनतो,

(एएहिनतो, एआसुन्तो, एएसुन्तो ।

एएसि, एआणं, एआण, सि ।

एएसं, एएसु ।

इदंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अयं, इमो ।

द्वितीया इमं, इणं, णं ।

तृतीया इमेणं, इमेण, ऐणं, ऐण, इमिणा ।

चतुर्थी इमस्स, अस्स, से ।

पञ्चमी इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिनतो, इमा ।

,, ,,

षष्ठी इमस्स, अस्स, से ।

सप्तमी अस्सि, इमस्सि, इमस्मि, इह ।

बहुवचन ।

इमे ।

इमे, इमा, ऐ, एा ।

इमेहि, इमेहिं, इमेहि, ऐहिं, ऐहि, ऐहि, ऐहिं, ऐहि ।

इमेमि, इमाणं, इमाण, सि ।

इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमेहि, इमाहिनतो, इमे-

हिनतो, इमासुन्तो, इमेसुन्तो ।

इमेसि, इमाणं, इमाण, सि ।

इमेसं, इमेसु ।

अदःशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अह, अमू ।

द्वितीया अमुं ।

तृतीया अमुणा ।

चतुर्थी अमुणो, अमुस्स ।

पञ्चमी अमुणो, अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिनतो ।

षष्ठी अमुणो, अमुस्स ।

सप्तमी अमुस्मि, अयस्मि, इअस्मि ।

बहुवचन ।

अमुणो, अमओ, अमवो, अमउ, अमू ।

अमुणो, अमू ।

अमूहि, अमूहिं, अमूहि ।

अमूणं, अमूण ।

अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिनतो, अमूसुन्तो ।

अमूणं, अमूण ।

अमूसं, अमूसु ।

अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः ।

आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा रमा ।

द्वितीया रमं ।

बहुवचन ।

रमाओ, रमाउ, रमा ।

रमाओ, रमाउ, रमा ।

विभक्ति एकवचन ।

तृतीया रमाए, रमाअ, रमाइ * ।

चतुर्थी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

पञ्चमी रमाए, रमाअ, रमाइ, रमतो, रमाओ, रमाउ,)

,, रमाहिनतो ।

षष्ठी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

सप्तमी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

सम्बोधनम् हे रमे, हे रमा ।

बहुवचन ।

रमाहिं, रमाहिँ, रमाहि ।

रमाणं, रमाण ।

रमतो, रमाओ, रमाउ, रमाहिनतो, रमासुन्तो ।

”

रमाणं, रमाण ।

रमासुं, रमासु ।

हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

इकान्तः स्त्रीलिङ्गो रुचिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा रुई + ।

द्वितीया रुई ।

तृतीया रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

चतुर्थी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

पञ्चमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुइतो, रुईओ, रुईउ,)

,, रुईहिनतो ।

षष्ठी रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।

सप्तमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

सम्बोधनम् हे रुई, हे रुइ ।

बहुवचन ।

रुईओ, रुईउ, रुई ।

रुईओ, रुईउ, रुई ।

रुईहिं, रुईहिँ, रुईहि ।

रुईणं, रुईण ।

रुइतो, रुईओ, रुईउ, रुईहिनतो, रुईसुन्तो ।

”

रुईणं, रुईण ।

रुईसुं, रुईसु ।

हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा नई, नईआ × ।

द्वितीया नई ।

तृतीया नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

चतुर्थी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

पञ्चमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नइतो, नईओ, नईउ,)

,, नईहिनतो ।

षष्ठी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

सप्तमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

सम्बोधनम् हे नई, हे नइ ।

बहुवचन ।

नइ, नईआ, नईउ, नईओ ।

नई, नईआ, नईउ, नईओ ।

नईहिं, नईहिँ, नईहि ।

नईणं, नईण ।

नइतो, नईओ, नईउ, नईहिनतो, नईसुन्तो ।

”

नईणं, नईण ।

नईसुं, नईसु ।

हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इत्थी, इत्थीआ ।

द्वितीया इत्थि ।

तृतीया इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।

बहुवचन ।

इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।

इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।

इत्थीहिं, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

* “ टाडस्डेरदादिदेद् वा तु डसेः ” ॥ ८ । ३ । २९ ॥ स्त्रियां वर्तमानात्मानः परेषां टाडस्डर्नां प्रत्येकम् अत्, आत्, इत्, पत् एते चत्वार आदेशाः समग्रदीर्घा जवन्ति, डसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । ‘ नात् आत् ’ ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वर्तमानादा-
दन्तात्मानः परेषां टाडस्डिङ्सीनामादादेशो न भवति । + ‘ अङ्गीबे सौ ’ ॥ ८ । ३ । १९ ॥ ह्रुतोऽङ्गीबे नपुंसकादन्यत्र सौ
दीर्घो जवति । बुद्धी × “ ईतः सेआवा ” ॥ ८ । ३ । २८ ॥ स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेजस्सुस्तोश्च स्थाने आकारो वा जवति ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

चतुर्थी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।

इत्थीणं, इत्थीण ।

पञ्चमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए, इत्थित्तो,

इत्थित्तो, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो इत्थीमुन्तो ।

,, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो ।

,,

षष्ठी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।

इत्थीणं, इत्थीण ।

सप्तमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।

इत्थीसुं, इत्थीसु ।

सम्बोधनम् हे इत्थी, हे इत्थि,

हे इत्थीओ, हे इत्थीउ, हे इत्थी, हे इत्थीआ ।

प्रकृत्यन्तरेण स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा थी, * थीआ ।

थी, थीओ, थीउ, थीआ ।

द्वितीया थि ।

थी, थीओ, थीउ, थीआ ।

तृतीया थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।

थीहिं, थीहिं, थीहि ।

चतुर्थी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।

थीणं, थीण ।

पञ्चमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए, थित्तो, थीओ, थीउ,

थित्तो, थीओ, थीउ, थीहिन्तो, थीमुन्तो ।

,, थीहिन्तो ।

,,

षष्ठी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।

थीणं, थीण ।

सप्तमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।

थीसुं, थीसु ।

सम्बोधनम् हे थी, हे थि ।

हे थीओ, हे थीउ, हे थी, हे थीआ ।

उकारान्तः स्त्रीलिङ्गो धेणुशब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा धेणू ।

धेणूउ, धेणूओ, धेणू ।

द्वितीया धेणुं ।

धेणूउ, धेणूओ, धेणू ।

तृतीया धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।

धेणूहिं, धेणूहिं, धेणूहि ।

चतुर्थी धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।

धेणूणं, धेणूण ।

पञ्चमी धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए, धेणूत्तो, धेणूओ,

धेणूत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो, धेणूमुन्तो ।

,, धेणूउ, धेणूहिन्तो ।

,,

षष्ठी धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।

धेणूणं, धेणूण ।

सप्तमी धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।

धेणूसुं, धेणूसु ।

सम्बोधनम् हे धेणू, हे धेणु ।

हे धेणूओ, हे धेणूउ, हे धेणू ।

उकारान्तः स्त्रीलिङ्गो वधूशब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा वधू ।

वधूउ, वधूओ, वधू ।

द्वितीया वधुं ।

वधूउ, वधूओ, वधू ।

तृतीया वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।

वधूहिं, वधूहिं, वधूहि ।

चतुर्थी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।

वधूणं, वधूण ।

पञ्चमी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए, वधूत्तो, वधूओ, वधूउ,

वधूत्तो, वधूओ, वधूउ, वधूहिन्तो, वधूसुन्तो ।

,, वधूहिन्तो ।

,,

* “ स्त्रिया इत्थी ” ॥ ८।२।१३० ॥ स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा भवति । पक्षे ‘ सर्वत्र लवरामवन्दे ’ ॥ ८।२।७९ ॥ इति रत्नोपे ‘ स्तस्य थोऽसमस्तस्तस्ये ’ ॥ ८।२।४५ ॥ ‘ स्तस्यं समस्तं च त्यक्त्वा, स्तस्य थादेश इष्यते ’ । इति ‘ थी ’ रूपं निष्पन्नम् ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जा ।

द्वितीया जं ।

तृतीया जाए, जाअ, जाइ ।

चतुर्थी जाए, जाअ, जाइ ।

पञ्चमी जाए, जाअ, जाइ, जत्तो, जाओ, जाउ, जा-

,, हिन्तो, जम्हा ।

षष्ठी जाए, जाअ, जाइ ।

सप्तमी जाए, जाअ, जाइ ।

बहुवचन ।

जाओ, जाउ, जा ।

जाओ, जाउ, जा ।

जाहिं, जाहिँ, जाहि ।

जाणं, जाण ।

जत्तो, जाओ, जाउ, जाहिन्तो, जासुन्तो ।

,,

जाणं, जाण ।

जासुं, जासु ।

प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जा * ।

द्वितीया जं ।

तृतीया जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।

चतुर्थी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।

पञ्चमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जित्तो, जीओ, जीउ,)

,, जीहिन्तो ।

षष्ठी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।

सप्तमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।

बहुवचन ।

जीओ, जीउ, जीआ, जी ।

जीओ, जीउ, जीआ, जी ।

जीहिं, जीहिँ, जीहि ।

जाणं, जाण ।

जित्तो, जीओ, जीउ, जीहिन्तो, जीसुन्तो ।

,,

जाणं, जाण ।

जीसुं, जीसु ।

तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सा, ता, एा × ।

द्वितीया तं, एं ।

तृतीया णाए, ताए, ताअ, ताइ ।

चतुर्थी ताए, ताअ, ताइ, तास + ।

पञ्चमी ताए, ताअ, ताइ, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तो, तम्हा ।

षष्ठी ताए, ताअ, ताइ, तास ।

सप्तमी ताए, ताअ, ताइ ।

बहुवचन ।

ताओ, ताउ, ता ।

ताओ, ताउ, ता ।

ताहिं, ताहिँ, ताहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि ।

ताणं, ताण, ताम ।

तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तासुन्तो ।

ताणं, ताण, तास ।

तासुं, तासु ।

प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सा, ता, एा ।

द्वितीया तं, एं ।

तृतीया तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।

चतुर्थी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

बहुवचन ।

तीओ, तीउ, तीआ, ती ।

तीओ, तीउ, तीआ, ती ।

तीहिं, तीहिँ, तीहि ।

ताणं, ताण ।

* 'कियत्तदोऽस्यमामि' ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ सि अम आम वजिते स्यादौ परे पभ्यः स्त्रियां डीर्वा । जाओ । अस्यमामीति किम । जा, जं, जाण । × 'तदो णः स्यादौ कचित्' ॥ ८ । ३ । ७० । तदः स्थाने स्यादौ परे ण आदेशो भवति क्वचिद् लक्ष्यानुसारेण । स्त्रियामपि । ह्युत्तमिअमुडी णं तियटा । तां त्रिजट्ठेयर्थः । त्रिजिअं च णाए, तयेत्यर्थः । णाहिं कयं, ताभिः कृतमित्यर्थः । + बहुलाधिकारात् कित्त्व्यामाकारान्ताभ्यामपि डासादेशो वा । तास ध्रणं । पत्ते ताए ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिचो, तीओ, तीउ, ती-

,, हिन्तो ।

षष्ठी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

सप्तमी तीअ तीआ, तीइ, तीए ।

बहुवचन ।

तिचो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीमुन्तो ।

,,

ताणं, ताण ।

तीसुं, तीसु ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया काए, काअ, काइ ।

चतुर्थी काए, काअ, काइ, कास ।

पञ्चमी काए, काअ, काइ, कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो,

,, कम्हा, कीस, किणो * ।

षष्ठी काए, काअ, काइ, कास ।

सप्तमी काए, काअ, काइ ।

बहुवचन ।

काओ, काउ, का ।

काओ, काउ, का ।

काहिं, काहिँ, काहि ।

काणं, काण, कास, केसिं + ।

कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।

,,

काणं, काण, कास, केसिं ।

कासुं, कासु ।

प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

चतुर्थी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

पञ्चमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किचो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।

षष्ठी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

सप्तमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

बहुवचन ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीहिं, कीहिँ, कीहि ।

काणं, काण, कास, केसिं ।

किचो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।

काणं, काण, कास, केसिं ।

कीसुं, कीसु ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसा, एस, इणं, इणमो x ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एआअ, एआइ, एआए ।

चतुर्थी एआअ, एआइ, एआए, से ।

पञ्चमी एआअ, एआइ, एआए, एत्तो÷, एआओ,)

,, एआउ, एताहिन्तो ।

षष्ठी एआअ, एआइ, एआए, से ।

सप्तमी एआअ, एआइ, एआए ।

बहुवचन ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआहिं, एआहिँ, एआहि ।

एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।

एत्तो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।

,,

एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।

एआसुं, एआसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एई, एस, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ “आमो डेसिं” ॥ ८ । ३ । ६१ । बहुव्याधिकारात् स्त्रियामपि । सखेसिं, केसिं । * “किमो निणोकीसो” ॥ ८ । ३ । ६२ ॥ x

“वैसेणमिणमो सिना” ॥ ८ । ३ । ८५ ॥ एतद्: सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा जवन्ति । एस गई । ÷ “रथे च तस्यलुक्” ॥ ८ । ३ । ८३ ॥ एतद्: रथे सो साहे परे तस्य लुक् । एत्थ, एत्तो, एत्ताहे ।

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया एङ् ।

तृतीया एङ्अ, एङ्आ, एङ्इ, एङ्ए ।

चतुर्थी एङ्अ, एङ्आ, एङ्इ, एङ्ए ।

पञ्चमी एङ्अ, एङ्आ, एङ्इ, एङ्ए एङ्तो, एङ्ओ, एङ्उ,)
एङ्हिन्तो ।

षष्ठी एङ्अ, एङ्आ, एङ्इ, एङ्ए ।

सप्तमी एङ्अ, एङ्आ, एङ्इ, एङ्ए ।

बहुवचन ।

एङ्ओ, एङ्उ, एङ्आ, एङ् ।

एङ्हि, एङ्हिँ, एङ्हि ।

एङ्णं, एङ्ण, ।

एङ्तो, एङ्ओ, एङ्उ, एङ्हिन्तो, एङ्सुन्तो ।

”

एङ्णं, एङ्ण ।

एङ्सुं, एङ्सु ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इमिआ, इमा * ।

द्वितीया इमं, इणं, एणं × ।

तृतीया इमाए, इमाइ, इमाअ, एमाए, एमाइ, एमाअ ।

”

चतुर्थी इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।

पञ्चमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इमतो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो ।

षष्ठी इमाए, इमाइ, इमाअ, से ।

सप्तमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।

बहुवचन ।

इमाओ, इमाउ, इमा ।

इमाओ, इमाउ, इमा, णाओ, णाउ, णा ।

इमाहिं, इमाहिँ, इमाहि, एमाहिं, एमाहिँ, एमाहि, आहिं,

आहिँ, आहि = ।

इमाणं, इमाण, सिं ।

इमतो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो, इमासुन्तो ।

इमाणं, इमाण, सिं ।

इमासुं, इमासु ।

प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इमिआ, इमी ।

द्वितीया इमिं ।

तृतीया इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

चतुर्थी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

पञ्चमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमितो, इमीओ,)
इमीउ, इमीहिन्तो ।

षष्ठी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

सप्तमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

बहुवचन ।

इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।

इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।

इमीहिं, इमीहिँ, इमीहि ।

इमीणं, इमीण ।

इमितो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो, इमीसुन्तो ।

”

इमीणं, इमीण ।

इमीसुं, इमीसु ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अह, अमू ।

द्वितीया अमुं ।

तृतीया अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

चतुर्थी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

पञ्चमी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुतो अमूओ,)
अमूउ, अमूहिन्तो ।

षष्ठी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

सप्तमी अयम्पि, अयम्पि, अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

बहुवचन ।

अमूउ, अमूओ अमू ।

अमूउ, अमूओ, अमू ।

अमूहिं, अमूहिँ, अमूहि ।

अमूणं, अमूण ।

अमुतो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो ।

”

अमूणं, अमूण ।

अमूसुं, अमूसु ।

* “पुंस्त्रियोर्नचाऽयमिमिआ सौ” ॥ ८।३।७३ ॥ एके ‘इदम इमः’ ॥ ८।३।७२ ॥ × ‘अमेणम’ ॥ ८।३।७८ ॥ ‘णोऽमशसुटाभि-
सि’ ॥ ८।३।७७ ॥ = ‘स्ति-स्तयोरत्’ ॥ ८।३।७४ ॥ बहुलाधिकारात् अन्यत्रापि जवति । आदि । + “वेदंतदेतदो ङसास्त्र्यां
से-सिमौ” ॥ ८।३।७१ ॥ ÷ “केमेन हः” ॥ ८।३।७५ ॥ इदमः कृतेमादेशात् परस्य ङेः स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति । इह ।

॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा मंगलं ॥

मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाइँ × ।

द्वितीया मंगलं ।

मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाइँ ।

शेषं ' वच्च ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वारिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा दहिं, दहि, दहिँ * ।

दहीइं, दहीइँ, दहीणि ।

द्वितीया दहिं ।

दहीइं, दहीइँ दहीणि ।

शेषं पुम्बत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा महुं महु, महुँ ।

महूइं, महूइँ, महूणि ।

द्वितीया महुं ।

महूइं, महूइँ, महूणि ।

शेषं ' गुरु ' शब्दवत् ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा जं ।

जाणि, जाइं, जाइँ ।

द्वितीया जं ।

जाणि, जाइं, जाइँ ।

शेषं पुम्बत् ।

एवं तच्छब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा एस, इणं, इणमो, एअं ।

एआणि, एआइं, एआइँ ।

द्वितीया एअं ।

एआणि, एआइं, एआइँ ।

शेषं पुम्बत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा इदं, इणं, इणमो = ।

इमाणि, इमाइँ, इमाइँ ।

द्वितीया इदं, इणं, इणमो ।

इमाणि, इमाइँ, इमाइँ ।

शेषं पुम्बत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अह, अमुं ÷ ।

अमूणि, अमूइं, अमूइँ ।

॥ * क्लीबे स्वरान्म सेः " । ८ । ३ । १५ ॥ × "जस्शस ई-इ-णयः सप्राग्वर्ध्याः " । ८ । ३ । १६ ॥ + " नामन्त्यान्सो मः " । ८ । ३ । १७ ॥ * दहि इति सिद्धापेक्षया । केचिदनुनासिकमपीच्छन्ति दहिँ । = " क्लीबे स्यमेदमिणमो च " ॥ ८ । ३ । ७६ ॥

इति स्यमर्च्यां सदितस्य इदम इणमो इणम आदेशाः । ÷ "वाऽदसो दस्य हो नोदाम्" ॥ ८ । ३ । ८७ ॥ "मुः स्यादौ" ॥ ८ । ३ । ८८ ॥

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

द्वितीया अमुं ।

अमूणि, अमून्, अमूँ ।

शेषं पुम्बत् ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा किं + ।

काणि, काइं, काई ।

द्वितीया किं ।

काणि, कारं, काई ।

शेषं पुम्बत् ।

॥ इति नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

॥ अथ संख्यावाचकशब्दाः ॥

पञ्चशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा ०

पंच ।

द्वितीया ०

पंच ।

तृतीया ०

पंचहिं, पंचिहँ, पंचहि * ।

चतुर्थी ०

पंचएहं, पंचएह × ।

पञ्चमी ०

पंचत्तो, पंचाओ, पंचाउ, पंचाहि, पंचेहि, पंचाहिन्तो,
(पंचेहिन्तो, पंचामुन्तो, पंचेमुन्तो ।

” ”

षष्ठी ०

पंचएहं, पंचएह ।

सप्तमी ०

पंचेमुं, पंचेसु ।

एवं उ, सप्त, अठ, नव, दशशब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

द्विशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा ०

दुवे, दोषि, दुषि, वेषि, विषि, दो, वे ।

द्वितीया ०

दुवे, दोषि, दुषि, वेषि, विषि, दो, वे ।

तृतीया ०

दोहिं, दोहिँ, दोहि, वेहिं, वेहिँ, वेहि ।

चतुर्थी ०

दोएहं, दुएहं, वेएहं, विएहं ।

पञ्चमी ०

दोहिन्तो, वेहिन्तो ।

षष्ठी ०

दोएहं, दुएहं, वेएहं, विएहं ।

सप्तमी ०

दोसुं, दोसु, वेसुं, वेसु ।

त्रिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा ०

तिषि ।

द्वितीया ०

तिषि ।

तृतीया ०

तीहिं, तीहिँ, तीहि ।

चतुर्थी ०

तिएहं, तिएह ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी ०

षष्ठी ०

सप्तमी ०

बहुवचन ।

तित्तो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीमुन्तो ।

तिएहं, तिएह ।

तीसुं, तीसु * ।

कतिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा ०

द्वितीया ०

तृतीया ०

चतुर्थी ०

पञ्चमी ०

षष्ठी ०

सप्तमी ०

बहुवचन ।

कइ ।

कइ ।

कईहिं, कईहिँ, कईहि ।

कइएहं, कइएह ।

कइत्तो, कईओ, कईउ, कईहिन्तो, कईमुन्तो ।

कइएहं, कइएह ।

कईसुं, कईसु ।

चतुर्शब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा ०

द्वितीया ०

तृतीया ०

चतुर्थी ०

पञ्चमी ०

षष्ठी ०

सप्तमी ०

बहुवचन ।

चत्तारो, चउरो, चत्तारि

चत्तारो, चउरो, चत्तारि

चऊहिं, चऊहिँ, चऊहि ।

चउएहं, चउएह ।

चउत्तो, चऊओ, चऊउ, चऊहिन्तो, चऊमुन्तो ।

चउएहं, चउएह ।

चऊसुं, चऊसु ।

युष्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा तं, तुं, तुवं, तुह, तुमं ।

द्वितीया तं, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे, तुए ।

तृतीया जे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे,)

,, तुमाइ ।

चतुर्थी तइ, तु, ते, तुमहं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमं,)

,, तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुन्न, तुज्ज, तुम्ह, उन्न,)

,, उज्ज, उम्ह, उय्ह ।

,, ,,

पञ्चमी तइत्तो, तईओ, तईउ, तईहिन्तो, तुवत्तो, तुवा-)

,, ओ, तुवाउ, तुवाहि, तुवाहिन्तो, तुवा, तुमत्तो,)

,, तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि, तुमाहिन्तो, तुमा,)

,, तुहत्तो, तुहाओ, तुहाउ, तुहहि, तुहाहिन्तो,)

,, तुहा, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो,)

,, उम्भत्तो, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो, तुम्भत्तो,)

बहुवचन ।

भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, उम्भे ।

वो, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, उम्भे, जे ।

भे, तुम्भेहिं, तुम्भेहिँ, तुम्भेहि, उम्भेहि, उम्भेहि, तुम्भे-

(हिं. उम्भेहिं ।

तु. वो, जे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

(तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे, तुम्भे.

* "ऋषास्यादेणैस्त्रयोर्वी" ॥ १२७ ॥ कःवायाः स्यादीनां च यौ णसु नयोरनुस्वारोऽन्तो वा भवति । वच्चेणं वच्चेण, वच्चेसुं वच्चेसु ।

विभक्ति एकवचन ।

..	तुम्हाहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हा, तुज्जत्तो, तुज्जा-
..	ओ, तुज्जाउ, तुज्जाहि, तुज्जाहिन्तो, तुज्जा,
..	तुम्ह, तुम्भ, तुम्ह, तुज्ज, तहिन्तो ।
..	..
..	..
षष्ठी	तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,
..	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुम्भ, तुम्ह, तुज्ज, उन्न,
..	उम्ह, उज्ज, उय्ह ।
..	..
सप्तमी	तुपे, तुमए, तुमाइ, तइ, तए, तुम्मि, तुवम्मि,
..	तुवस्सिन्, तुवत्त्य, तुमम्मि, तुमस्सि, तुमत्त्य, तुहम्मि,
..	तुहस्सि, तुहत्त्य, तुन्नम्मि, तुन्नस्सि, तुन्नत्त्य,
..	तुम्हम्मि, तुम्हस्सि, तुम्हत्त्य, तुज्जम्मि, तुज्ज-
..	स्सि, तुज्जत्त्य ।

बहुवचन ।

(तुम्हेहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हेहिन्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो,
(उम्हत्तो, उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हा-
(हिन्तो, उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो, उम्हत्तो,
(उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हाहिन्तो,
(उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो ।
तु, वो, भे, तुन्न, तुम्ह, तुज्ज, तुम्भं, तुम्हं, तुज्जं.
(तुज्जाणं, तुज्जाण, तुम्हाणं, तुम्हाण, तुज्जाणं, तुज्जाण
(तुमाणं, तुमाण, तुवाणं, तुवाण, तुहाणं, तुहाण, उम्हा-
(णं, उम्हाण ।
तुसुं, तुसु, तुवेसुं, तुवेसु, तुमेसुं, तुमेसु, तुहेसुं, तुहेसु, तु-
(व्नेसुं, तुव्नेसु, तुम्हेसुं, तुम्हेसु, तुज्जेसुं, तुज्जेसु, तुवसुं,
(तुवसु, तुमसुं, तुमसु, तुहसुं, तुहसु, तुन्नसुं, तुन्नसु,
(तुज्जसुं, तुज्जसु, तुम्हसुं, तुम्हसु, तुम्भासुं, तुम्भासु,
(तुम्हासुं, तुम्हासु, तुज्जासुं, तुज्जासु ।

अस्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	अहं, हं, अहयं, म्मि, अम्हि, अम्मि ।
द्वितीया	ए, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं अहं ।
तृतीया	मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ, ए ।
चतुर्थी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्ज, मज्जं, अम्ह, अम्हं ।
..	..
पञ्चमी	मइत्तो, मइओ, मइउ, मइहिन्तो, ममत्तो, ममाओ,
..	ममाउ, ममाहि, ममाहिन्तो, ममा, महत्तो, महा-
..	ओ, महाउ, महाहि, महाहिन्तो, महा, मज्जत्तो,
..	मज्जाओ, मज्जाउ, मज्जाहि, मज्जाहिन्तो, मज्जा ।
षष्ठी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्जं, मज्ज, अम्हं, अम्ह ।
..	..
सप्तमी	मि, मइ, ममाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हस्सि,
..	अम्हत्त्य, ममम्मि, ममस्सि, ममत्त्य, महम्मि, मह-
..	स्सि, महत्त्य, मज्जम्मि, मज्जस्सि, मज्जत्त्य ।

बहुवचन ।

अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भे ।
अम्हे, अम्हो, अम्ह, ए ।
अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे, णे ।
ए, एो, मज्ज, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं, अ-
(म्हाण, ममाणं, ममाण, ममाणं, महाण, मज्जाणं, मज्जाण ।
ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममेहि, ममाहिन्तो, ममे
(हिन्तो, ममेसुन्तो, ममासुन्तो, अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ,
(अम्हाहि, अम्हेहि, अम्हाहिन्तो, अम्हेहिन्तो, अम्हा-
(सुन्तो, अम्हेसुन्तो ।
ए, एो, मज्ज, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं,
(अम्हाण, ममाणं, ममाण, ममाणं, महाण, मज्जाणं, मज्जाण ।
अम्हेसुं, अम्हेसु, ममेसुं, ममेसु, महेसुं, महेसु, मज्जेसुं,
(मज्जेसु, अम्हसुं, अम्हसु, ममसुं, ममसु, मज्जसुं, मज्जसु,
(महसुं, महसु, अम्हासुं, अम्हासु ।

॥ इति प्राकृतशब्दरूपावलिः समाप्ता ॥

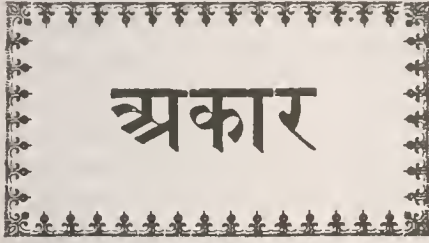
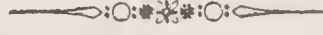
पठन्तु बालकाः सर्वे जैनानामितरे तथा । तस्मान्मयेयं प्राकृत-शब्दरूपावलिः कृता ॥ १ ॥



अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिवीरवाणी, वुह्विवुहनमंसिया या सा ।

वत्तव्वयं से वेमि, समासओ अक्खरक्कमसो ॥ १ ॥



अ-अ-पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामख्याते वर्णे, एका० । अहंति, आद्याक्षरेण तस्य ग्रहणात् सिक्के च । अशरीरति सि-
रुवाचकस्याद्याक्षरेण तद्ग्रहणात् । गा० । अवति रक्षति अतति
सातत्येन तिष्ठतीति वा अव-अत-वा-रु-विष्णौ, “अकारो विष्णु-
रुद्दिष्टः” वाच० । शिवे, ब्रह्मणि, वायौ, चन्द्रे, अग्नौ, ज्ञानौ, कम-
ठे, अन्तःपुरे, जृषणे, वरणे, कारणे, रणे, अजिने, गौरवे, एका० ।
अ-अव्य० अव प्रीणनादौ, इ स्वरादिवाद्ययत्वम् अभावे,
वाच० । प्रतिषेधे, “अमानोनाः प्रतिषेधे” आ० म० द्वि० । सू-
त्र० । अत्रोदाहरणम्, “नियरिसणं अघ्नो” अकारस्य तन्नाव-
प्रतिषेधे निदर्शनं यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटा-
दिकः पदार्थ इत्यर्थः । वृ० १ उ० । “अत्रावे न ह्यनोनः” इत्यम-
रटीकायां न आदेशोऽयमित्युक्तम् । स च आदेशः नखनमुच्य-
दिभिन्नशब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स
तु न अर्थे एव स्थानितुल्यार्थत्वादादेशस्य । वाच० । स्वल्पेऽर्थे,
अनुकम्पायां, सम्बोधने, अ अनन्त ! अधिकृते, अपासित्वं जाल-
म् ! “उपसर्गस्वरचिन्तकप्रतिरूपकाश्चेति” स्वरादिगणसूत्रे अ
इति सिद्धान्तकौमुद्यामुदाहृतं मनोरमायां च असंबोधने, अधि-
कृते, निषेधे चेति व्याख्यातम् । वाच० । “अपच्छिममारणति-
यसंलेहणाजोसणार्हि” अत्र अपश्चिमाः पश्चात्कालभाविन्यः ।
अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थ इति । स० ।

च-अव्य० कगचजतदपयवां प्रथो लुक्, उ० । १ । ७७ । इति
सूत्रेण चक्षोपः । न चाऽनादेरेव सः कचिदादेरपि विधानात् ।
सो अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चक्षुष्ये ।

प्रअ-अज-पुं० न जायते जन-रु-न० त० ईश्वरे, जीवे, ब्रह्मणि,
विष्णौ, हरे, ह्यग्रे, मेघरूपे प्रथमे राशौ, मात्त्रिकधातौ च । जन-
नशून्ये गगनादौ, त्रि० । अत्र विष्णोर्जायते इति । चन्द्रे, कामे,
दशरथपितरि रघुनृपपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यवंश्ये नृप-
भेदे, वाच० । प्राकृते ‘अजातेः पुंसः’ उ० । ३ । ३२ इति जातिपर्यु-
दासान्न लीधिकल्पः प्रा० । मेघशृङ्गचाम, गा० ।

अअगर-अजगर-पुं० अजं गगं गिरति गिरति गृ-अच् । वृह-
त्सर्पे, । अजगरमगस्त्यशापात् वृहत्सर्पजावापञ्च नहुपमधिकृत्य
कृतो ग्रन्थः अण्-आजगरम् । अजगरकथायाम्, न० । वाच० ।
अआवालग-अजापालक-पुं० ६ त० । गगरकृक, अजारकृण-
प्रवृत्ते प्रवृत्ते, वाचकभेदे च । वृ० ३ उ० । (तट्टत्तं किय-
कम्म शब्दे) ॥

अइ-अयि-अव्य० सम्भावने, अह संभावने ५ । २ । ५ । संजा-
वने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । “अइ दिअर ! किं न पेच्चसि,” अयि
देवर ! किञ्च प्रेक्षसे प्रा० ॥

गम्-धा० सक० पर० ज्वा० गतौ, गमेरु स्ति उ० । ४ । ६१ ।

इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइ-गच्छति प्रा० ।

अति-अव्य० अत-इ-पूजायाम्, उत्कर्षे, अतिक्रमणे, वि-
क्रमे, अबुद्धौ, भृशे, “विक्रमातिक्रमाबुद्धिभृशार्थातिशयेन्यती-
ति” गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अति-
मतिः । अबुद्धौ अतिगहनम् । बुद्धेरविषयः । भृशे अतिसम् ।
अतिशये अतिवंगः वाच० । “अति सर्वत्र वर्जयेत्” यतः “अइ-
रोसो अइ तोसो, अइहासो दुज्जेणेहि संवासो । अइउन्नसो य
वेसो, पंच वि गुरुअं पि बहुअं पि” ध० १ अधि० ॥

अ [दि] इ-[ति] इ-अदिति-स्त्री० न दीयते खण्ड्यते वृह-
त्वाद्-दो-किञ्च न० त० दातुं वेक्षुमयोग्यायां पृथिव्याम्, दिति-
र्वनुजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य
सुता वाच० । पुनर्वसुनक्षत्रस्याधिपतिर्देवता ज्यो० ६ पाहु० ।
“पुणव्वसु अइ देवयाप पणसं” सू० प्र० १० पाहु० ॥ जं० ॥
“दो अइ” पुनर्वस्वोर्द्वित्वादादिति द्वित्वम् । स्था० २ ग० ॥
अइउक्कस-अत्युत्कर्ष-त्रि० उत्कर्षमतिक्रान्तः । उत्कर्षरहिते,
“तवस्सी अइउक्कसो” तपस्वी साधुः अत्युत्कर्षः अहं तपस्वी-
त्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥

अइउब्भट-अत्युद्भट-त्रि० अतिशयितचेतश्चमत्कृतिकृति, “अ-
इउब्भटो अ वेसो” ध० २ अधि० ॥

अइंत-अतियत्-त्रि० प्रविशति, नि० चू० १६ उ० । “पढं
उसजं मुदेणं अइंतं पासइ” कल्प० ॥

अइदि [य] अ-अतीन्द्रिय-त्रि० अतिक्रान्तमिन्द्रियं तदवि-
षयत्वात् अत्या० स० वाच० । इन्द्रियज्ञानाऽगम्ये, अपृ० ॥
अतीन्द्रिया अर्था आगमेन उपपत्त्या च ज्ञायन्ते न केवलया यु-
क्त्या तदुक्तम् । “आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिकारणम् । अ-
तीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये” । १ । विशेष० । दर्श० ॥
कर्म० । अनु० । कथं न युक्तयेति चेत् ॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यशतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

यदि यावता कालेनातीन्द्रिया इन्द्रियागोचराः पदार्था धर्मा-
स्तिकायादयः हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमूहेन ज्ञायेरन् एतावता
कालेन परमात्मभावभ्रवणचिन्तननिदिध्यासनादिना स्वात्म-
स्वरूपे उपयोगोऽनुभवः कृतः स्यात् तदा तेषु धर्मास्तिकायादि-
षु बुद्ध्यात्मनि च निश्चयः कृतः स्यात् प्राज्ञैः इत्यनेन परब्रह्मचि-
न्तनकादमत्रेणात्मस्वरूपचिन्तने स्वपरावबोधो भवति तेन सद्भिः
स्वस्वनाशभावने मतिः कार्या येन निष्प्रयासतः स्वपरा “ जे
एगं जाणइ से सव्वं जाणति ” इति वचनात् बोधपरित्यागपरि-
णतिर्भवति ॥ ४ ॥ अष्ट० ॥ (ननु अतीन्द्रिया अर्थान् सत्येवेति
चेन्न । मद्भुक्तभ्रमणोपासकेनाऽन्ययूथिकाप्रतिवातप्राणसहगत-
पुद्गलरूपादतीन्द्रियार्थस्य सत्त्वप्रसाधनात् । मद्भुग मंहुग
शब्दे तद् छष्टव्यम्) अतीन्द्रियार्थज्ञानं वेदवाक्येभ्य ए-
वेति जैमिनीयाः । साक्षादतीन्द्रियार्थदर्शनस्तन्मतेऽभावात् य-
दुक्तम् “ अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते । नि-
त्येन्द्र्या वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः ॥ १ ॥ गा० (सम्भ-
वत्यतीन्द्रियार्थज्ञानं सर्वज्ञस्येति सव्वं शब्दे उपपादयिष्यते)
अइकंहुइय-अतिक्रमरूपित-न० अत्या० स० अतिशयिते नखै-
र्विलेखने, सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अ [ति] इकंत-अतिक्रान्त-त्रि० अत्या० स० अतिक्रमनीये,
प्रज्ञ० १ अध० ८।० ४ अ० । समुद्रजेटाधिपतौ च पुं० द्वी० ।
अइकाय-अतिकाय-पुं० अतिक्रान्तः कायात् अत्या० स०
महोरगविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ॥ महोरगेन्द्रे च स्था० २ गा० ।
(अग्रमहिष्यादयः स्वस्वस्थाने) वृहच्चरीरे, त्रि० “ उगाविसे
चरुघोरविसे महाविसे अइकाये महाकाय ” (सर्पवर्णकः) का-
यान् शरीराणि शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायः अत एव महाका-
यः । ज्ञा० १ अ० । अथवाऽतिकायानां मध्ये महाकायोऽतिकाय-
महाकायः ज० १।५ श० १ उ० । अत्युत्कटः कायोऽस्य । विक-
टदेहे, त्रि० रावणपुत्रे राक्षसजेदे, पुं० । वाच० ॥

अ (ति) इकंत-अतिक्रान्त-त्रि० अति-क्रम-क- । अतीते,
आचा० १ भु० ४ अ० १ उ० “ जेय बुद्धा अतिकंता ” सूत्र० १
भु० १।१ अ० । तीर्णे, विशेषे । आ० म० प्र० । पर्यन्तवर्तिनि,
जी० ३ प्रति० । औ० । त्यक्तवति, “ सव्वसिण्हेहाइकंता ” औ० ।

अ (ति) इकंतजोव्वण-अतिक्रान्तजोव्वण-त्रि० अत्या० स०
अतीततारुण्ये, “ अपत्तजोव्वणा अइकंतजोव्वणा ” स्था० ५ गा० ।

अ (ति) इकंतपञ्चस्वाण-अतिक्रान्तप्रत्याख्यान-न० अति-
क्रान्ते पर्वणि यत् क्रियते तदतिक्रान्तं तच्च तत्प्रत्याख्यानम् ।
प्रत्याख्यानजेदे, ध० २ अधि० । आध० । एवमेवातीते पर्युष-
णादौ करणादतिक्रान्तम् । आह च “ पज्जोसव्वणाए तव्वं, जो खलु न
करइ कारणज्जाए । गुरुवेयावच्छेणं, तवस्सिगेदणयाए व
॥ १ ॥ सो दाई तवोक्कम्मं, पक्खिज्जइ तं अइच्छिण काले । एवं
पच्चक्खमाणं, अइकंतं होइ नायव्वंति ” ॥ २ ॥ स्था० १० गा० ।
“ अतिक्रान्तं णाम पज्जोसव्वणाए तव्वं तेहि कारणेहि ण कीरति
गुरुतवस्सिगिगणकारणेहि सो अतिक्रान्तं करति तहेव विभा-
सा । आ० चू० । आव० ।

अइक्रम-अतिक्रम-पुं० अति०क्रम-घञ् अतिचारे, “ पाणाइवाय-
स्स घेरमणे एस वुत्ते अइक्रमे ” ध० ३ अधि० । सूत्र० अतिलङ्घने,

आचा० १ भु० ७ अ० । उपा० । विनाशे, आचा० १ भु० २ अ० । साधुक्रि-
योद्धने, आव० ४ अ० ।

अतिक्रमव्यतिक्रमादयः साधुक्रियोद्धनरूपास्तत्रातिक्रम-
स्याधाकर्माश्रित्य स्वरूपमित्थम् ।

आहाकम्म निमंतण, पडिमुणमाणो अतिक्रमो होई ।

पयजेयाइवइकम-गहिण तइओ तरो गिच्छिण ॥

कोऽपि आहो नावप्रतिबद्धो ज्ञातिप्रतिबद्धो गुणानुरक्तो वा
आधाकर्म निष्पाद्य निमन्त्रयति । यथा प्रगवन्पुष्पमिस्सिम-
स्मभूहे सिद्धमन्नमास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतामित्यदि ।
तत्प्रतिगृह्यति अन्युपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स
च तावद्यावदुपयोगपरिसमाप्तिः । किमुक्तं जवति । यत्प्रतिशृ-
णोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोत्तिष्ठति पात्राण्युद्धृष्टाति उद्धृष्ट च
गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति । एष समस्तोऽपि व्यापारोऽति-
क्रमः । उपयोगपरिसमाप्त्यनन्तरं च यदाधाकर्मप्रदणाय पद-
भेदं करोति आदिशब्दात्मार्गे गच्छति गृहं प्रविशति आधाक-
र्मप्रदणाय पात्रं प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिगृह्यति एष सर्वो-
ऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः (गहिण तइओति) आधाकर्मणि गृ-
हीते उपलक्षणमेतत् । यावद्वसतौ समानीते गुरुसमकृमाहोचि-
ते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च यावन्नाद्यापि
गिहति तावत्पृतीयोऽतिचारलक्षणो दोषः । गिहति त्वाधाकर्म-
ण्यनाचारः । एवं सर्वेष्वप्यौदेशिकादिषु जावनीयम् । पि० ।
धर्म० । व्य० । स्था० । ध० २० । आतु० । एवं भावना मूलगुणेषु
उत्तरगुणेषु च कार्या । अत्रायं विवेकः । मूलगुणेषु अतिक्रमा-
दित्रिभिस्त्रिभिश्चारित्रस्य मालिन्यं तस्य चाहोचनप्रतिक्रमणादिभिः
शुद्धिश्चतुर्थं तु जड एव तथा च सति पुनरुपस्थापनैव युज्यते ।
उत्तरगुणेषु चतुर्निरपि चरित्रस्य मालिन्यं न पुनर्भङ्ग इत्युक्ता
मूलोत्तरगुणातिचाराः । ध० ३ अधि० (ज्ञानदर्शनचारित्रजेदा-
दतिक्रमादीनां त्रैविध्यमिति संक्षिप्तेन शब्दे)

अइक्रमण-अतिक्रमण-न० अति-क्रम-ल्युट्-लङ्घने, विराधने,
ध० २ अधि० । आव० ।

अइक्रमणिज्ज-अतिक्रमणीय-त्रि० अतिलङ्घनीये, सूत्र० २ भु० ७ अ०
अइक्रमित्तु-अतिक्रम्य-अव्य० अति क्रम-त्वा-ल्यप्-उल्लङ्घये-
त्यर्थे, “ तं अइक्रमित्तु न पविसे ” दश० ५ अ० ।

अइगंजीर-अतिगमजीर-त्रि० अतीवातुच्छाशये, पंचा० २ वि० ।
अइगच्छमाण-अतिगच्छत्-त्रि० अति-गम+शतृ प्रविशति,
नि० चू० ए० ३० । ज्ञा० ।

अइग (य) त अतिगत-त्रि० अति-गम् क्त-प्रविष्टे, “ जे भि-
क्खू गाहावइकुलं अतिगते ” नि० चू० ३ उ० । प्राप्ते च । तं० ।
अइगम-अतिगम-पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र० ।

अइगमण-अतिगमन-न० प्रवेशमार्गे, ज्ञा० १ अ० ।

अइगुरु-अतिगुरु-पुं० अतिशयितो गुरुः पूज्यतमत्वात् प्रा० स०
“ त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति पिता माताऽऽचार्यश्चेति ” वाच० ।

अइचंद-अतिचन्द्र-पुं० पष्ठे लोकोत्तरमुद्धते, कल्प० ।

अइचरा-अतिचरा-स्त्री० अतिक्रम्य-स्वस्थानं सरोऽन्तरं चर-
ति गच्छति चर+अच् पश्चिन्याम, तत्पुन्याकारवत्त्वात् स्थलप-
श्चिन्यां पञ्चचारिण्यां लतायाञ्च । अतिक्रमणकारिणि, त्रि० वाच० ।

अइचित-अतिचिन्त-त्रि० अतीव चिन्ता यस्मिन्स्मृतिचिन्तम् ।

अतिचिन्तासहिते, झा० १ अ० ॥

अइच्च-अतीत्य-अव्य० अति-इ-त्वा-ल्यप्-त्यक्वेत्यर्थे, “स-
ञ्चाहं संग्राहं अइच्च श्रीरे” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ॥

अइच्छ-गम्-धा० च्वा० प० सक० । गमेरह अइच्छे । ७।४।६१ ।

इति सूत्रेण गमधातोरइच्छादेशः । गतौ, अइच्छह, गच्छति, प्रा० ।

अइच्छन्त-गच्छन्त-त्रि० विचरति, अतिक्रामति, उक्त० १७ अ० ।

अइच्छन्त-अतिच्छन्त-पुं० अतिक्रान्तश्चत्रम् । तुल्याकारेण
अत्या० स० । (गतिया) इति प्रसिद्धे स्यञ्जतृणविशेषे, (ताव-
मस्मान्ना) इति प्रसिद्धे जलतृणभेदे च । क्षीरस्वामिभेदे उत्रा
इत्येव नाम । उत्रातिक्रमकारिणि, त्रि० अतिक्रमेऽप्ययी० उत्रा-
तिक्रमे, अव्य० वाच० ॥

अइच्छपञ्चकराण-अदित्सा (अतिगच्छ) प्रत्याख्यान-
न०-प्रत्याख्यानभेदे, “ भिक्षुस्त्राहणमदाणा अइच्छन् ” भिक्षुणं
त्रिका प्राभृतिका आदिशब्दाद्वस्त्रादिपरिग्रहस्तेषामदाने अतिग-
च्छेति अदित्सेति वा घञनमतिगच्छप्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्या-
नं वा । भा० म० प्र० “अइ (च्छ) च्छा पञ्चकराणं बंधनसमणा-
णं । अइच्छन्ति ” अदित्साप्रत्याख्यानं हेतुब्रह्मण ! हेतुभ्रमण ! अदि-
त्सेति नाम दातुमनिच्छा न तु नास्ति यद्भवतां याचितं ततश्चादि-
त्सैव वस्तुनः प्रतिषेधात्मिकेति कृत्वा प्रत्याख्यातमिति गार्थार्थः ।
भाव० ६ अ० ॥

अइजाय-अतिजा (या) त-पुं० पितुः संपदमतिलङ्घय जा-
तः संवृत्तो वाऽतिक्रम्य वा तां यातः प्राप्तो विशिष्टतरसंपदं स-
मृच्छतर इत्यर्थः । इत्यतिजातोऽतियातो वा ऋषभवत् । सुतभेदे,
स्था० ४ ग० ॥

अइष्टिय-अतिष्ठित-त्रि० अतिक्रान्ते, उल्लङ्घितवति, उक्त० ७ अ० ।

अतिष्ठाय-अव्य० अतिक्रम्योद्धुष्टेत्यर्थे, उक्त० ७ अ० ॥

अइणञ्चल-अतिनिश्चल-त्रि० अतीव निष्प्रक्रमे, पंचा० १५ विव०

अइणिष्मदुरत्त-अतिस्निग्धमधुरत्त-न० घृतगुणादिवत् सु-
स्कारित्वरूपे एकोनविंशे वचनातिशये, स० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) त-अतीत-त्रि० अति-इ-त०
अतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० । आ० म० प्र० । दश० ।
विवक्षितसमयमवधीकृत्य नूतनमिति समयराशौ, ज्यो० १ पाद० ।
प्राकृते, अतिक्रान्तसमयजाविनि, विशेष० । आतु० (अतीतवस्तु-
नः सत्त्वविचारः सव्विषयश्चे) दूरीभूते च उक्त० १५ अ० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तद्धा-अतीताद्धा-स्त्री० अती-
तकाले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनन्तेषु पुत्र-
पराधर्तेषु, अनु० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तपञ्चकस्वाण-अतीतप्रत्याख्यान-
न० पूर्वकालकरणीये प्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ४ द्वा० । त० । प्र० ॥

अ (ति) इ (या) ताण-अतियान-न० नगरादौ राजादेः
प्रवेशे, स्था० ४ ग० ॥

अ (ति) इ (या) ताणकहा-अतियानकथा-स्त्री० रा-
जादेः नगरादौ प्रवेशकथायाम्, यथा “ सिय सिंधुरखंधगभो,
सियचमरो सेयपत्तन्नन्नहो । जणनयणकिरणसेओ, पसे पवि-
सह पुरे राया ” इति स्था० ४ ग० । राजकथाभेदे, (व्याख्या-
रायकहा शब्दे) ॥

अ (नि) इ (या) ताणगिह-अतियानगृह-न० नगरादि-
प्रवेशे यानि गृहाणि तेषु, स्था० ३ ग० ॥

अ (ति) इ (ता) याणिट्टि-अतियानट्टि-स्त्री० राजा-
देः नगरप्रवेशे सम्भवन्त्यां तोरणदृष्टशोभाजनसम्मर्दादिलङ्का-
णायामृद्धौ, स्था० ३ ग० ॥

अ (ई) इ (ती) [या] ताणागयस्साण-अतीतानागतज्ञान-
न० अतिक्रान्तानुत्पन्नार्थपरिच्छेदने, द्वा० २६ द्वा० ॥

अइताल-अनिताल-न० उच्चात्ते गेयदेशे, अनु० ।

अइतिक्खरोस-अतिनीङ्गणरोष-त्रि० ६ अ० । पुनः पुना रोषण-
शीले, दीर्घरोषिणि, वृ० २ उ० ।

अइतिव्व-अतितीव्र-त्रि० अत्युत्कटे, पंचा० १ विव० ।

अइतिव्वकम्मविगम-अतितीव्रकर्मविगम-पुं० ६ त० अत्युत्कट-
स्य कर्मणो ज्ञानावरणीयमिष्यात्वादेः विनाशे, पंचा० १ विव० ।

अइतुट्ठाण-अतित्रुट्ठाण-न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १ श्रु० १ अ०

अइतेआ-अतितेजा-स्त्री० चतुर्दश्यां राशौ, जं० ७ पङ्क्तौ । कल्प० ।

अइदंपज्ज-ऐदंपर्य्य-न० इदं परं प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं
तद्वाच्यं पेदंपर्य्यम् । वाक्यस्य तात्पर्य्यशक्तौ, यो० १ विव० । पूर्वोक्त-
तात्पर्य्ये, यो० १६ विव० । जावार्थगर्जे (प्रति०) तत्त्वे, पञ्चा०
१४ विव० ॥

अइदारुण-अतिदारुण-त्रि० महाभयानके, अष्ट० ।

अइदुक्ख-अतिदुःख-न० अतिदुःसहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अइदुक्खधम्म-अतिदुःखधर्म-त्रि० अतीव दुःखमसातवेदनी-
यं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, “ गा-
ढोवणीयं अइदुक्खधम्म ” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । अतिदुःखरूपो
धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति इदमुक्तं जवति । अकिनिमेषमात्र-
मपि काष्ठं न दुःखस्य विश्राम इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अइदुडिण-अतिदुर्दिन-न० अतिशयेन मेघमिरे, पि० ।

अइदुल्लह-अतिदुर्लभ-त्रि० अतिशयेन दुष्प्राप्ये, ग० २ अधि० ।

अइदुस्सह-अतिदुस्सह-त्रि० अत्यन्तदुःख्यासे, उक्त० १ ए अ०

अइदूर-अतिदूर-त्रि० अतिविप्रकृष्टे, रा० । औ० ।

अइदूसमा-अतिदुष्पमा-स्त्री० दुष्पमदुष्पमाऽऽख्ये अवसर्पि-
ण्याः षष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमे अरके, एतद्वर्णनञ्च तत्रैव ति० ।
नं० । ज्यो० ।

अइदेस-अतिदेश-पुं० अतिक्रम्य स्वविषयमुल्लङ्घय अन्यत्र वि-
षये देश अतिदेशः अतिदिश्यते वा करणे कर्मणि वा घञ् “ अ-
न्यत्रैव प्रणीतायाः, कृत्स्नाया धर्मसंहतेः । अन्यत्र कार्य्यतः प्रा-
प्ति-रतिदेशः स उच्यते ॥ प्राकृतात् कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु
कर्मसु । धर्मप्रवेशो येन स्यादतिदेशः स उच्यते ” इत्यधिक-
रणमात्राधृतात्रियुक्तवाक्योक्ते अन्यत्र प्राप्तेऽन्यधर्मं, तत्प्रापके
शास्त्रभेदे च । वाच० ।

अइधमंत-अतिधमन्-त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि० चू० १ उ०

अइधामिय-अतिधामित-त्रि० त्रामिते, अतिवर्तिते च प्रश्न० १
अध० द्वा० ३ अ० ।

अइधुत्त-अतिधूर्त-त्रि० अतीव प्रचूतं धूर्तमष्टप्रकारं कर्म यस्य

सोऽतिधनः । बहुलकर्मणि, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० १ उ० ।
अङ्परिणाम-अतिपरिणाम-वि० अतीव दुर्विदग्धे, वृ० १ उ० ।

अङ्परिणाम-अतिपाण्डुकम्बलशिला-स्त्री० मन्दरप-
र्वतस्य दक्षिणदिगात्तायामभिषेकशिखायाम्, स्था० २ उ० । "दो अ-
ङ्परिणाम-अतिपाण्डुकम्बलशिला-स्त्री० ४ उ० । पाण्डुकम्बलशिलेत्यस्या
नामान्तरमिति तत्रैव वर्णको वक्ष्यते । ज० १, ब० १ ।

अङ्परिणाम-अतिपताका-स्त्री० एका पताकामतिक्रम्य या प-
ताका साऽतिपताका । इ० १ अ० पताकोपरिवर्ति-यां पताका-
याम्, । दशा० । श्रौ० ।

अङ्परिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिव्याप्त्या परिणामो यदु-
क्तार्थपरिणामनं यस्य स तथा व्य० १ उ० । नि० चू० अपवादैकम-
नो, वृ० १ उ० । तद्वक्तव्यम् ॥

अतिपरिणामकमाह ॥

जो द्वयवेत्तकाल-जावकयं जं जहिं जया काले ।

तद्वेमुस्मत्तुर्मई, अङ्परिणामं वियाणाहि ॥

द्वयवेत्तकालभाववृत्तं यद्वस्तु यस्मिन् विकृष्टाध्वादौ यदा
कावे आत्यन्तिकदुर्भिक्षादौ जणितम् [तद्वेमुस्ति] तस्मिन् द्रव्या-
दिकृते अपवादिकवस्तुनि वेदया यस्य स तद्वेदयः पश्यामि ।
तावदत्र किमपि निश्चापदे ततस्तदेवावलम्बयिष्यामीत्यपवाद-
कमनिरित्यर्थः । तथा सूत्रादपवादश्रुतादुत्प्राबल्येन मतिरस्येत्यु-
न्मूलमिति । श्रुतोक्तापवादादप्यधिकापवादवृत्तिरिति भावस्त-
मेवचिधे साधुमतिपरिणामकं विज्ञानीहीति वृ० १ उ० ।

अथ प्रसङ्गादत्रैव परिणामकापरिणामातिपरिणामानां
सदृष्टान्तं स्वरूपम् दर्शयेत् ।

परिणामः जटत्येणं, मई उ परिणामगस्स कजेसु ।

विंए न तु परिणामः, अह्मिमः परिणामे तद्व्यो ॥

परिणामकस्य मतिः कार्येषु याथार्थ्येन यथार्थप्राहकतया परि-
णमति । अत एवासां परिणामक उच्यते । द्वितीये द्वितीयस्याप-
रिणामकस्य मतिर्न तु नैव परिणमते । अत एवासावपरिणामस्तृ-
तीये पुनरधिकां मतिमधिगच्छतीति परिणामकोऽभिधीयते एत-
देव स्पष्टयति ॥

दोमु विपरिणमः मई-मुस्मग्गववायओ उ पठमस्स ।

विइतस्म उ उस्सग्गे, अङ्परिणामे अ तइयस्म ॥

प्रथमस्य परिणामकस्य मतिरुत्सर्गापवादयोरपि परिणमति ।
किमुक्तं जवति । यः परिणामको भवति तस्योत्सर्गो प्राप्ते उ-
न्मूलं एव मतिः परिणमते । अपवादं प्राप्तेऽपवाद एव मतिः प-
रिणमते । यत्रोत्सर्गो वलीयान् तत्रोत्सर्गं समाचरति । यत्राप-
वादो बलवान् तत्रापवादं गृह्णाति । द्वितीयस्यापरिणामकस्य पु-
नरुत्सर्गो एव मतिः परिणमते । न पुनरपवादे । तृतीयस्य तु
अति अन्यर्थम् । अपवादं मतिः परिणमते । स च द्रव्यादिकार-
णे प्रतिभेयत्वानुज्ञातां ज्ञान्या न किञ्चित्परिहरति । कारणमन्त-
रेणापि प्रतिभेयते । अथ यदुक्तमासीन् (अंवाई दिट्ठोत्ति)
तदिदानीं नाद्यते । एतेषां परिणामकादीनां वयाणामपि जिज्ञासया
केचिदाचार्याः स्वशिष्यानिश्चयमनिदधुः आर्या ! आप्रैरस्माकं
प्रयोजनमस्तीत्युक्ते यः परिणामकः शिष्यः स वृथान् ।

त्रेयणमचेआणं वि य, केदहद्विज्ज ओकिन्तिया वा वि ।

अप्पा पुणो व वोचं, वीणासन्धं च वुत्तोमि ॥

त्रयवन् ! त्रैगुणैः प्रयोजनं तानि किं चेतनानि किं जावितानि

लवणदिग्निर्वासितानि उताजावितानि (केदहत्ति) किं प्रमा-
णानि किं महन्ति किं वा तूयानि (द्विज्जित्ति) किं पूर्वच्छिन्नानि
किं वा इदानीं जित्वा आनीतानि । अथवा (द्विज्जित्ति) किं
जिन्नानि खण्डीकृतानि किं वा सकलानि (किञ्चित्ति) कि-
यन्ति वा गणनायां द्विद्यादिसंख्याकान्यानेकानि वा अपिशब्दा-
त् किं बद्धास्थिकानि अवस्थास्थिकानि वा तरुणानि जरुणानि
वेत्यत्रापि प्रष्टव्यम् । इत्थं शिष्येणाभिहितं आचार्येण वक्तव्यं
सौम्य । त्वग्नानि सन्त्यग्रेऽपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासादिदानीं
स्मृतिपथमवतीर्णानीति । यद्वा पर्याप्तं तावदिदानीं प्रयोजने समा-
पतितं पुनर्नैवन्तं वक्ष्यामि भणिष्यामि । अथवा वत्स ! किं ममा-
ग्रेः कार्यं विमर्शार्थं किमयं विनीतो न वा परिणामको वा न वेति
विज्ञानार्थमुक्तोऽसीति । यः पुनरपरिणामकः स वृथा ।

किं ते पित्तपद्मावो, मा वयं एरिसाई जंपाहि ।

मा एं परे वि सोइ, कट्ठं पि नेच्छाम एयस्स ॥

भो आचार्य ! किं ते पित्तपद्मावः समजनि यदेवमुन्मत्तवदसं-
बद्धं प्रलपसि यद्येकवारं ममाग्रे जट्टितं बहिर्जलपितं नाम मा
पुनर्हितीयं चारमीदृशानि सावधानि वचनानि जल्पेति । यतो-
“मा णमि” त्येतत्त्वदीयं वचनं परोऽप्यन्योऽपि श्रोस्यति । वयं पुनः
कथमपि नेच्छाम एतस्यार्थस्याप्राप्तयनलक्षणस्य किं पुनः कर्तव्यं
तामित्यपिशब्दार्थः । यः पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालोसिं अइवत्तइ, अह्म वि इच्छा न भाणिउं तरिमो ।

किं एचिरस्स वुत्तं, अन्नाणि वि किं च आणेमि ॥

कुमाश्रमणा ! यदि युष्माकमाग्रेः प्रयोजनं तत इदानीमप्यान-
यामि यतः (सि इत्ति) एषामाग्राणां कावोऽतिवर्त्तते अति-
क्रामति । अथ तावत्तानि तरुणानि वर्तन्ते अत ऊर्ध्वं जरुणीज-
विष्यन्तीत्यर्थः । यद्वा अस्माकमप्याग्राणां ग्रहणे महती इच्छा-
परं किं कुर्मो न वयं यौष्माकीणभयज्जीता भणितुं किमपि (तरि-
मोत्ति) शक्नुमः । अथवा यद्याग्राण्यपि ग्रहीतुं कल्पन्ते ततः
किमियतश्चिरात्कावोक्तं वञ्चिताः स्मो घयमियन्तं कावमिति-
भावः । किं वा अन्यान्यपि मातुर्द्विधादीन्यानयामीति । अन-
योरपरिणामकातिपरिणामकार्योरेवं जट्टपत्तोराचार्येणमुत्तरं दा-
तव्यम् ।

नाभिप्पायं गिएहमि, असमत्ते चेव भाससां वयणे ।

मुत्तंविज्जलोणकए, भिन्ने अट्ठवा वि दोचंगे ॥

भो मुग्ध ! त्वं न मदीयमजिप्रायं गृह्णासि किन्तुत्सुकतया म-
दीये वचने असमाप्त एवेदं समयविरुद्धं निष्ठुरं वचनं भाषसे ।
मया पुनरेतेनाभिप्रायेणाभिहितम् (मुत्तंविज्जलोणक इत्यादि) मुक्तं
काञ्चित् तदेवात्यस्तं मुक्ताम्बुं तेन लवणेन वा कृतानि भावि-
तानि मुक्ताम्ललवणकृतानि जिन्नानि च । किमुक्तं जवति । न म-
या जवतः पार्श्वोदपरिणतान्याग्राणानावितानि किं तु चतुर्थ-
रसिकभावितानि वा लवणजावितानि वा दृश्यतो जावतश्च जि-
न्नानि परिणतानीति भावः । अथ वा (दोचंगत्ति) सामयिकी-
संज्ञा ओदनादिमूलापेक्षया जोजनस्य छिनीयाङ्गानि राक्षशा-
करूपाणि तानि मया आनायितानीति प्रक्रमः । “अंवाई” इत्य-
अदिशब्दसूचितौ वृक्षबीजदृष्टान्तादिभौ । आचार्या भणन्ति ।
आर्या ! “रुक्खेहिं वा पओअणंति ” अत्रापि परिणामकादीज-
लपस्तथैवावसानव्यः । नवरम् । अपरिणामकातिपरिणामकौ
प्रति स्मरिणा प्रतिवक्तव्यम् ।

निष्पावकोद्वाह-णि वेमि रुक्खाणि न हरिण रुक्खे ।

अविद्वविष्ठयाणि अ, भणामि न विरोहणममत्थे ॥

निष्पावा वद्धाः कोट्याः प्रतीतास्तदादीनि (रुक्खाणि) रुक्काणि इत्यादि तान्येवाहं ब्रवीमि न हारितास्तु सचित्तान् वृ-
क्षान् । तथा बीजान्यपि यानि अस्त्रभाषितानि विध्वस्तानि वा
व्यवच्छिन्नानि यानि कानि तान्यहं भणामि न विरोहणसमर्था-
नि पुनरुद्गुणद्वयनशक्तिकानीत्येष आप्रादिदृष्टान्तः । कथनाचार्ये-
णाभीष्टः स्थानैः “मुत्तंवित्र” इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा एवं परी-
क्ष्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निहाविगहापरिव-ज्जिएण गुत्तिदिण पंजलिणा ।

जत्ती बहुमाणेषु य, उवउत्तेण सुण्येयव्वं ॥

अज्जिकंखतेण सुभा-सियाः वयणाः अत्यमहुराः ।

विम्भियमुहेण हरिसा- गण हरिसं जणातेण ॥

निद्रायमाणः सन् न किंचिदप्यवधारयति । विकथायां क्रिय-
माणायां व्याघातो जयतीत्यतो निद्राविकथापरिवर्जितेन श्रोत-
व्यम् । गुप्तानि स्वस्वविषयप्रवृत्तिनिरोधेन संवृत्तानिन्द्रियाणि
यनासौ गुप्तंन्द्रियस्तेन । तथा प्राज्ञविना योजितकरयुगलेन ज-
क्त्या बहुमानेन च श्रोतव्यम् । जक्तिर्नाम गुरुणामिति कर्तव्यता-
यां निषकारचनादिकायां बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरुणामु-
परि आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्जङ्घी । जक्तिर्नामैकस्य न ब-
हुमानः, बहुमानो नामैकस्य न जक्तिः, एकस्य भक्तिरपि बहु-
मानोऽपि, एकस्य न जक्तिर्न वा बहुमान इति । अत्र च भक्तिव-
हुमानयोर्विशेषरूपकं शिवाख्यवानमन्तरभक्तयोर्मरुकपुत्रिन्द-
योदशहरणं तच्च सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न लिख्यते । यदि च
भक्ति बहुमानं वा न करोति तदा चतुर्जङ्घु । तथोपयुक्तेनान्यम-
मसा श्रोतव्यम् । “अज्जिकंखतेण” इत्यादिवचनानि श्रुतव्याख्या-
रूपाणि सुभाषितानि शोभनभणितानि अर्थमधुराणि जावार्थ-
सुस्वादिनि अभिकाङ्क्षता अभिसुख्येन वाञ्छता । तथा विस्मि-
तमुखेनापूर्वापूर्वश्रवणसमुद्भूतविस्मयस्मरवदनेन हर्षगतेन बहो
भमी प्रगवतः स्वगलतामुशोपमवगणय्यास्मन्निमित्तमेवं-
विधं सुशार्थव्याख्यानं कुर्वन्ति नानृणां भवेयममीषां परमोप-
कारिणामहमित्येवंविधं हर्षमागतः प्राप्तो हर्षागतस्तेन । तथा
शुरूणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्लबोचनतया च हर्षम्
अहो कथमयं संवेगरङ्गतरङ्गिमानसः परमागमव्याख्यानं शृणो-
तीतिस्त्रक्कणं प्रमादं जनयता श्रोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

आधारियसुत्तथो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स ।

सुपरिच्छिता य सुनिच्छि-यस्म इच्छागए पच्छा य ॥

कल्पव्यवहारदेः सूत्रार्थः सविशेषः सापवादः स्वगुरुसकाशा-
दवधारित आगृहीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणा-
मकस्य शिष्यस्य सुपरीक्ष्य पूर्वोक्ताप्रादिदृष्टान्तैः संपुत्र अवि-
संवादेन परीक्षां कृत्वा सुनिश्चितस्य प्रारब्धसूत्रार्थं प्रहीतव्ये
कृतनिश्चयस्य । यद्वा ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां यावज्जीवमपि विरा-
धनानकर्तव्येत्येवं संपुत्रिनिश्चितो निश्चयवान् यस्तु निश्चितस्तस्य
दीयते (इच्छागए पच्छति) अपरिणामकातिपरिणामकयोः
पुनर्यदा सा आत्मीया यथाक्रमं केवलतोत्सर्गापवादरुचिलकृपा
इच्छा गता नष्टा जवति तदा पश्चात्तयोः छेदश्रुतानि दातव्या-
नीति । उक्तं परिणामकद्वारम् । श्रु० १ उ० । (अत्रैव म-
रुकदृष्टान्तः स च पञ्चब्रह्मदे कारणिकतद्गुणावसरे वक्ष्यते)

अष्टपास-अतिपार्श्व-पुं० भरतक्षेत्रजागजिनसमकावजाते पेरव-
तजे तीर्थकरे, “अरजिणवरो य भरदे, अष्टपासजिणे य
परषण” ति० ।

अष्टपास-अतिपश्यत्-त्रि० अतीव असाधारणं पश्यति, ।
सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ अ० ।

अष्टप्मान-अतिप्रमाण-न० वारज्याऽतीते भोजने, पि० ।
(अष्टबहुशब्देऽस्य स्वरूपम्) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अन्या०
स० प्रमाणातिक्रान्ते, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमा-
णवति, प्रा० स० । अत्यन्तप्रमाणे, बृहत्प्रमाणे, न० वाच० ।
अष्टप्संग-अतिप्रसङ्ग-पुं० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विव० ।
अतिव्याप्तिस्त्रक्कणायामनिष्ठापसौ, पञ्चा० ६ विव० ॥

अष्टबल-अतिबल-त्रि० पुरुषान्तरबलान्यतिक्रान्तोऽतिबलः ।
प्रश्न० अध० ४ अ० । अतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यग्बले, ।
उपा० २ अ० । अतिशयबले, औ० । राय० । स० । भविष्यति
पञ्चमे वासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । शृणुदेवस्य
चतुर्थभवे महाबलनाम्नो राज्ञः पितामहे शतवत्सस्य पितरि, “गं-
धसमिद्रे विज्जाहरनगरे अष्टबलरक्षो णत्ता सयबलरायणो पुत्ते
महाबल्लो नाम राया जातो” । आ० म० प्र० । चूर्ण्यो तु “गंध-
समिद्धं णगरं राया रायी च विवुर्णयणो जणवयडितो सत-
वत्स रक्षो णगरं नत्तुतो अतिबलसुतो महाबल्लो नाम । आ०
म० द्वि० । आ० चूर्ण० । भरतचक्रिणः प्रपौत्रे च । स्था० ५ ग्रा० । आ०
चूर्ण० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ अ० । अत्यन्तवत्प्राधिकायां
पीतवर्णायां (वेनियात्ता) इति ख्यातायां लतायाम्, विश्वामित्रे-
ण रामाय दत्ते अस्त्रविद्याज्ञे च स्त्री० । अतिशयितं बलम् प्रा०
स० अत्यन्तं बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य
अत्यन्तबलमुक्ते, त्रि० “जयत्यतिबल्लो रामो लक्ष्मणश्च महाबल”
इति रामा० । अतिरथे च । वाच० ।

अष्टबहुय-अतिबहुक-न० अतिशयेन बहु-निजप्रमाणाऽन्य-
धिके भोजने, पि० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमष्टबहुं, अष्टबहुसो तिभि तिभिय परेणं ।

तं वि य अष्टप्माणं, जुंनइ जं वा अतिपपंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणाज्यधिकमि-
त्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यस्मिन् वारान् भुङ्क्ते शिष्यो वा वार-
ज्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः तदेव च वारज्यातीतमतिप्रमा-
णमुच्यते “अष्टप्माणे” त्यवयवो व्याख्यातः । अस्त्यैव प्रका-
रान्तरेण व्याख्यानमाह । छुङ्क्ते यद्वा अतृप्यन् पण “अष्टप्मा-
ण” इत्यस्य शब्दस्यार्थः । “अष्टप्माण” इत्यत्र च शानस्त्र-
त्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतसक्कणवशादिति पि० ।

अष्टबहुसो-अतिबहुशम्-अव्य० द्विषसमये त्रीन् वारान् त्रि-
ज्यो वा परतो भोजने, पि० । (स्वरूपमनन्तरमुक्तम्)

अष्टवेल-अतिबेला-अ० बेलामतिक्रम्याऽतिबलम् । पो यस्य कर्त-
व्यस्य काहोऽध्ययनं वा तां वेलांमतिबहुं ह्येत्यर्थे, सूत्र० १ अ० १४
अ० । “नातिबेदं उवाचरे” न मर्यादांलुक्कनमित्यर्थः कुर्यादात
आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

अष्टवेला अतिवेला-स्त्री० अन्यसमयातिशायिन्यां मर्यादायाम्,
साधुमर्यादायाम् उक्त० ३ अ० ।

अइजद-अतिजद-पुं कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रे, येन स्त्रीकन्ये
सति भद्रनामप्रातः पृथग्वय गृहाचर्यकरणं कृतम् तं ।

अइभङ्ग-अतिभङ्ग-अत्र० जददत्तेन, प्रति० ।

अइभङ्ग-अतिभङ्ग-स्त्री० प्रजासनामगणधरस्य मातरि, आ०
म० द्वि० । आ० चू० ।

अइनय-अतिनय-अत्र० ऐहलौकिकादीनि जयान्यतिक्रान्ते, प्र-
भ० अत्र० १ द्वा० ।

अइजार-अतिभार-पुं अत्यन्तं भारः । गुरुत्वे, पि० । वोदुम-
शक्ये भारे, प्रव० ४ द्वा० । अतीव जरणमतिभारः । प्रवृत्तस्य पूग-
कलाटेः स्कन्धपृष्ठादिधारोपणरूपे, आव० ६ अ० । धर्म० । प्र० ।
२० । प्रव० । तथाविधप्राक्तिकृतानां महाजारापोषणस्वरूपे, उ-
पा० १ अ० । प्रथमाणुवतस्य चतुर्थे प्रतिचारे, पंचा० १ विव०
" अतिभारो न आरोव्यवो पुर्व्वि चैव जा वाहण्या जीविगा
सा मोक्षया न होञ्च अत्रा जीविगा ताहे दुपश्रो जं सयं
उक्खिबइ शोयरेइ या भारं एयं वहाविजइ बइल्लणं जहा सा-
भाविपाओ वि भाराओ ऊणो उ कीरइ हलसगमेसु वि बेलाए
मुयइ आसहत्थीसु वि एसेव चिही आव० ६ अ० चू० ।

अइभाग-अतिभाग-पुं अतिभारेण वेगेन गच्छति, गम-रु-
३ त० खरे, अश्वतरे, गर्दनाद् वरुवायां जाने अश्वजेदे, वाच० ।

अइजारा रोवण-अतिभारारोपण-न० अतिशयितो जारोऽति-
जारो बोदुमशक्य इति यावत् तस्यारोपणं गोकरजरासभमनु-
प्यादेः स्कन्धे पृष्ठे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाणुवतस्य चतु-
र्थेऽतिचारे, प्र० २ अधि० । प्रश्न० ।

अइजूमि-अतिजूमि-स्त्री० एलुकापरजाम्, अननुज्ञाता गृह-
स्वयंवात्यतिज्ञाचरा नायान्तीत्यर्थः दश० = अ० । (तत्र गमने
निषिद्धमिति गोयश्चरिया शब्दे) अतिशयिता भूमिमर्यादा
प्रा० । म० । अतिक्रमऽप्ययी० मर्यादातिक्रमे, अश्व० । जूमि
मर्यादां याऽतिक्रान्ते, त्रि० वाच० ।

अइमंच-अतिमञ्च-पुं मञ्चापरितने विशिष्टमञ्चे, 'मञ्चाइमञ्च-
कवियं' औ० । दशा० । द्वा० ॥

अइमट्टिया-अतिमृत्तिका-स्त्री० कर्दमरूपायां मृत्तिकायाम्,
जी० ३ प्रति० ।

अइमट्टल-अतिमट्ट-पुं वयसाऽतिगिरिष्ठे, व्य० ३ उ० ॥

अइमाण-अतिमान-पुं अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादी-
नामिव महामाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने
कषायजेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अइमाय-अतिमात्र-त्रि० मात्रामतिक्रान्तः । मात्राऽधिके,
उत्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अइमाया-अतिमात्रा-स्त्री० उचितमात्राया अधिकमात्रायाम् ।

"अइमायापणभोयणं आदरित्ता जवइ" उत्त० १६ अ० । प्रश्न० ।

अतिमाया-स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्रमतिक्रम्य
वर्तमाने कषायजेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अइमुत्त (मुत्त) य-अतिमुत्तक-न० मुचो जावे कः । अतिश-
येन मुक्तं वन्धहीनता यस्य कष वाच० । यक्रादायन्तः पा१ । १६ ।
इति तृतीयस्य अनुस्वाराऽऽगमः आर्षं तु न प्रा० । तिन्दुकवृ-
क्षे, तादृशवृक्षे, वाच० । पुष्पप्रधाने वनस्पती, जं० १ चक्र० । वल्ली-
जेदे, प्रज्ञा० १ पद० । अतिमुक्तमण्यकाः जी० ३ प्रति० । विशे० ।

प्रज्ञागताजेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० । औ० कंसभ्रातरि, पुं० येन
वाल्मे देवकी स्वस्वसा प्रोक्ता 'त्वमष्ट पुत्रान् सदृशान् जन-
यिष्यसि' आ० म० द्वि० । आ० चू० । पोलासपुरवास्तव्ये
विजयरजस्य धीनाम् । देव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० गा० ।
तच्छब्दव्यता अन्तर्दृष्टाऽऽथ ।

तेणं काळेणं तेणं समएणं पोलासपुरे णयरे मिरिवणे
उज्जाणे तस्स एं पोलासपुरे णयरे विजये नामं राया
होत्था । तस्म एं विजयस्स रज्जो सिरि नामं देवी होत्था
वम्भो तत्थ एं विजयस्स रणो पुत्ते सिरि देवीए
अत्तत्त अइमुत्ते नामं कुमारे होत्था सुमाव्णं तेणं कालेणं
तेणं समएणं समणं ३ जाव सिरिवणे उज्जाणे विहर-
ति । तेणं कालेणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे
अंतेवामी इंदज्जती जहा पएणत्तीए जाव पोलासपुरे णय-
रे उच्च जाव अरुति इमं च एं अतिमुत्ते कुमारे एहाए जाव
विजूसिते वहाहिं दारएहि य भिंभएहि य कुमारेहि य
कुमारयाहि य सद्धिं संपरिवुडे माओ मिहातो पम्भिनिकख-
मइ पम्भिनिकखमइत्ता जेणेव इंदट्ठाणे तेणेव उवागते तेहिं
वहाहिं दारएहि य संपरिवुडे अजिरममाणे अभिरममाणे
विहरति । तते एं जगवं गोयमे पोलासपुरे णयरे उच्चनी-
य जाव अरुमाणे इंदट्ठाणस्स अदूरसामंतेण वीतिवयति !
तते शं से अइमुत्ते कुमारे जगवं गोयमं अदूरसामंतेण वीति
वयमाणं पासति पासतिता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवा-
गते भगवं गोयमं एवं वयासी । के एं भंते ! तुज्जे किं
वा अरुह तते एं भगवं गोयमं अतिमुत्तं कुमारं एवं वया-
सी अम्हे एं देवाणुप्पिया समणा निर्गंथा इरियाममिया
जाव वम्भजचारी उच्चनीय जाव अरुमाणे । तते एं अति-
मुत्ते कुमारे जगवं गोयमे एवं वयासी । अहं एं भंते !
तुज्जे जेणेव अहं तुज्जे भिक्खं दल्लोवमि चि कट्ठु भ-
गवं गोयमं अंगुलीति गेएहावि गेएहात्तिता जेणेव सते गि-
हे तेणेव उवागए तते एं सा भिरि देवी जगवं गोयमं एज्जमा-
णं पामति पासतिता हट्टतुट्ठा आसणाओ अञ्जुट्ठेति अञ्जु-
ट्ठित्तिता जेणेव जगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति उवागच्छति-
त्ता जगवं गोयमं तिव्वुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदति
नमंसति विउल्लेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पतिलाजति
पडिझाभतित्ता पम्भिविसज्जेति । तते एं से अइमुत्ते कुमारं
एवं वयासी । कहं शं भंते ! तुज्जे परिवसह । जगवं गो-
यमे अतिमुत्तं कुमारं एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पि-
या ! मम धम्मायरियत्ते धम्मोवएसए धम्मं नेतारिए मम-
णं ३ महावीरे आदिकरे जाव संपाविउकामे इहेव पोला-
सपुरस्स नगरस्स बहिया मिरिवणे उज्जाणे य उगगहं उ-
ग्गाहत्ता समणेण जाव जावेमाणे विहरति । तत्थ एं अ-
म्हे परिवसामो । तते एं से अतिमुत्ते कुमारे जगवं गोयमं

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अहं तुज्जेहिं सच्छि मम-
 णं ३ पायं वंदति अहासुहं तते णं से अइमुत्ते कुमार भ-
 गवं गोयमं सच्छि जेणेव समणे ३ तेणेव उवागच्छ-
 त्ति उवागच्छत्तित्ता समणं ३ तिकखुत्तो आयाहिणं
 पयाहिणं करोति जाव पज्जुवामति । तते णं जगवं गोयमे
 जेणेव समणे भगवं महावीरं तेणेव उवागते जाव पदिदंसेति
 पडिदंसेत्तित्ता संजमे तवसा आयाहिणं पयाहिणं विहरति ।
 तेणं समणं ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा क-
 हेइं से अतिमुत्ते समणं जगवञ्चं अंतिए धम्मं मोच्चा नि-
 सम्म हट्ठतुट्ठं जं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आपु-
 च्छामि तते णं अहं देवानुप्पिया अंतिते जाव पव्वयामि अ-
 हासुहं देवाणुप्पिया ! मा पक्खिं वं करेह । तते णं से अति-
 मुत्ते कुमारे जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागते जाव पव्वति ए
 तते णं अतिमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी वालेसि
 ताव तुमं पुत्ता ! अमं वच्चे किएह तुमं जाणसि धम्मं ।
 तते णं से अइमुत्ते कुमारे अम्मापितरो एवं खलु अहं
 अम्मयाओ जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण
 जाणामि तं चेव जाणामि । तते णं अइमुत्तं कुमारं अम्मा-
 पियरो एवं वयासी । कहं णं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि
 जाव तं चेव न जाणामि तेसि अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरे
 एवं वयासी जाणामि अहं अम्म जाओ जहा जातेण
 तहा अवस्सं मरियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाओ काहं वा
 कहं वा कहं वा केव चिरेणेव वा कालेण न जाणामि णं
 अम्म यो मे यातो केहिं कम्मायाणेहिं वा जीवा नेरइयति-
 रिकखजोणियमणुस्स देवेसु उववज्जंति । जाणामि णं अ-
 म्म यातो जहा सत्तेहिं कम्मायाणेहिं जीवा नेरइय जाव
 उववज्जंति । एवं खलु अहं अम्म यातो जं चेव जाणामि
 तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि
 तं इच्छामि णं अम्म यातो तुज्जेहिं अब्बणुएणाते समाणे
 जाव पव्वति ए । तते णं से अइमुत्ते कुमारे अम्मापियरो जा-
 हे नो संचाएति बहुहिं आघवति ४ तं इच्छामो ते जाया
 एगदिवसमात्रे रायसिंरिं पासेति पासेत्तित्ता । तते णं से
 आतमुत्ते कुमारे अम्मापिउवयणमणुयत्तमाणे तुसिणीए
 संचिछति । अजिसेओ जहा महावलस्स निकखमणं जाव
 मामाइयाति एकारस अंगाइं अहिज्जति अहिज्जत्तित्ता बहुहिं
 वासाति सामणपरियागं पावणेति पावणित्ता गुणरयणेणं
 तवां कम्मेणं जाव विपुले पव्वए सिच्छे अन्तं ५ वर्गं ।

अस्य सिद्धिविषयः स्थाविराणां प्रश्नो यथा-

तेणं कालेणं तेणं ममणं समणस्स भगवओ महावीर-
 स्स अंतवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे पगइजइए जाव
 विणीए । तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे अएणया कयाइं

मया वुट्ठिकायांसि निवयमाणंसि कक्खपक्किगहरयहरणमा-
 याए वहिया संपट्टिए विहारए । तए णं से अइमुत्ते कु-
 मारसमणे वाहयं वाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्ठियपाक्षिं
 वंधइ वंधइत्ता एावियामेव नाविओ विव पावमयं पकि-
 गहयं उदगंसि पवाहमाणे अजिरमइ । तं च थेरा अहक्खु
 जेणेव ममणे जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छं-
 तित्ता एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतवासी
 अइमुत्ते णामं कुमारसमणे । से णं जंते ! अइमुत्ते कुमारसमणे
 कइहिं भवगहणेहिं सिज्झिहति जाव अंतं करोहिनि ?
 अज्जोति समणे जयवं महावीरं ते थेरं एवं वयासी । एवं
 खलु अज्जो ! ममं अंतवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे
 पगइजइए जाव विणीए से णं अइमुत्ते कुमारसमणे एगेणं
 चेव भवगहणेणं सिज्झिहइ जाव अंतं करोहिइ । तं मा णं
 अज्जा ! तुज्जे अइमुत्तं कुमारसमणं हीलह निंदह खिसह
 गरिहह अवमसह तुज्जे णं देवाणुप्पिया अइमुत्तं कुमार-
 समणं अगिलाए संगिएहह अगिलाए उवागिएहह अगि-
 लाएणं जत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावस्सियं करेह । अइ-
 मुत्तेणं कुमारसमणे अंतकरे चेव अंतिसरीरिए चेव ।
 तए णं ते थेरा जगवंतो समणेणं भगवया महावीरेणं एवं
 वुत्ता समाणा ममणं भगवं महावीरं वंदंति वंदंत्तित्ता अइमुत्तं
 कुमारसमणं अगिलाए संगिएहंति जाव वेयावस्सियं करंति

कुमारसमणेति । पूर्वप्राज्ञातस्य तस्य प्रवृत्तित्वादाह च
 'अजिरसो पव्वइओ गिगंथं रोइऊण पावयणंति' एतदेव चाश्र-
 र्थमिहाऽन्यथा वर्षाष्टकादारात् प्रवृत्त्या स्यादिति (कक्खपकि-
 गहरयहरणमायाएति) कक्कायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादाय-
 त्यर्थः । (नावियामेति) नौका छोणिका मे ममेयमिति विक-
 लपयन्निति गम्यते "नाविओ दिव नायंति" नाविक इव नौबाहक
 इव नावं छोणी (अवंति) असावतिमुत्तकमुनिः प्रतिग्रहकं
 प्रवाहयन्नजिरमते एवं च तस्य रमणक्रिया बाधवस्थाबला-
 दिति (अहक्खुत्ति) अघालुः दृष्टवन्तस्ते चैतवीयामत्यन्ता-
 नुचिताश्चेष्टां दृष्ट्वा तमुपहसन्त इव जगवन्तं पप्रच्छुः । एतदेवाह
 "एवं खलु" इत्यादि (हीलहत्ति) जात्याशुद्धनतः (निंदहत्ति)
 मनसा (खिसहत्ति) जनसमकृष्टं (गरिहहत्ति) तत्समकृष्टं
 (अवमसहत्ति) तदुचितप्रतिपत्त्यकरणेन (परिजवहत्ति)
 कचित्पाठस्तत्र परिभवः समस्तपूर्वांकपदकरणेन (अगिला-
 पत्ति) अग्नान्या अखेदेन (संगिएहहत्ति) संगृहीतं स्वकिुरुत
 (उवागिएहहत्ति) उपगृहीतं उपग्रभं कुरुत एतदेवाह
 (वेयावस्सियंति) वेयावृत्त्यं कुरुतास्येति शेषः (अंतकरे चेवत्ति)
 भवच्छेदकरः स च दूरतरभवेऽपि स्यादत आह (अंतिसरी-
 रिए चेवत्ति) चरमशरीर इत्यर्थः भ० ५ श० ४ उ० ।
 अनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्ते च स्था० १० श० १ ।
 (तदपर एवायं त्रिविष्यतीति संभाव्यते)

अइमुत्तिञ्चय-अतिमुत्तिञ्चत-त्रि० विषयदोषदर्शनं प्रत्यभिमूढ-
 तामुपगते, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० ।

अमोह-अतिमोह-त्रि० अतीव मोहो यस्मिन्सदतिमोहम् ।
 अतिक्रामाशक्तौ, अतिशयितमोहयुते, ज्ञा० १ अ० ॥
 अयंचिय-अत्यञ्चय-अञ्च० अतिक्रमेत्यर्थं, स्था० ५ ठा० ।
 अःयच्च-अतिगत्य-अञ्च० अतिक्रमेत्यर्थं, आचा० १, शु० ६ अ० ।
 अञ्चय-अत्यदन्-नञ् अतिभक्षणे, "अणुकं पासाण्डयण-
 दुग्धञ्च" व्य० २ उ० ।
 अञ्चया-अजिका-अञ्च० छगलिकायाम्, वृ० १ उ० ।
 अञ्चया (य)त-अतिपात-त्रि० गते, "अश्वयो णराहिवो"
 उत्त० २० अ०

अञ्चयापरकत्व-अत्यात्मरक्त-त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परैः पापक-
 र्मभिः रक्तायस्यासावत्यात्मरक्तः । अतोवाऽऽत्मानं पापै ररुति,
 अञ्चयापरकत्वे दाडिणगामिण नेरुप' सूत्र० २ शु० २ अ० ।
 अ (ई) (ति) (त) इयार-अति (ती) चार-पु०
 अतिचरणमतिचारः । लङ्गते, सूत्र० २ शु० ७ अ० । तृतीये अपराधे,
 पो० ११ विव० आ० चू० । अतिक्रमे, अतिक्रम्य गमने, आव० ४
 अ० । प्रवृत्तौ व्रतस्यातिक्रमणे, व्य० १ उ० । चारित्र्यस्वरूपविशेषे,
 आ० म० छि० । आ० चू० । देशभङ्गेऽतिचागता यथा ननु
 हिंसैव श्रवकेण प्रत्याख्याता ततो वधा देकरणेऽपि न दोषो
 हिंसाविरतेरस्ति स्मृतत्वात् । अथ वधादयोऽपि प्रत्याख्याता-
 स्तदा तत्करणे व्रतभङ्ग एव विरतित्वरुनात् । किञ्च वधादीनां
 प्रत्याख्येयत्वे इत्येता विधीयते प्रतिव्रतमतिचाराणामाधिक्या-
 दिति एवं च न वधादीनामतिचारोति ? उच्यते-सत्यं हि संव
 प्रत्याख्याता न वधादयः केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्धतन्त्रेऽपि,
 प्रत्याख्याता दृष्ट्या हिंसापायत्वात् । तेषामेव चेत्तर्हि वधा-
 दिकरणे व्रतभङ्ग एव नातिचारो नियमस्यापात्रनामैवं यतो
 द्विविधं व्रतमन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च तत्र मारयामीति विकल्पा-
 नावेन यदा कोपाद्यावेशाशिरपेक्षतया वधादौ प्रवर्तते न च
 हिंसा भवति तदा निर्दयतया विरत्यनपेक्षप्रवृत्तत्वेनान्तर्वृत्त्या
 तस्य भङ्गः हिंसाया अभावाच्च बहिर्वृत्त्या पावनमिति देशस्यैव
 भङ्गनादेशस्यैव पात्रनादतिचारव्यपदेशः प्रवर्तते तदुक्तम्
 " न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः ।
 निपाद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्थानियमानपेक्षः ।
 मृत्योरत्रावश्रियमोऽस्ति तस्य, कोपाद्याहीनतया तु ज्ञः ।
 देशस्य भङ्गादनुपात्रनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति" ।
 यद्योक्तं व्रतेयना विधीयते इति तदप्ययुक्तं विशुद्धाहिंसासद्भावे
 हि वधादीनामभाव एव तत् स्थितमेतद्वधादयोऽतिचारा एवे-
 ति । यदा । अनातो गतदृशाकारादिनाऽतिक्रमादिना वा सर्वत्रा-
 निचारना हेया ध० २ अधि० (आध्यात्मिकश्रित्यातिचारना
 अङ्गम् अङ्गे दर्शना) अयं चातिचारः संक्षेपत एकविधः
 संक्षेपविस्तरस्तु द्विविधश्चिद्विधो यावदलंख्येयविधः संक्षेप-
 विस्तरतः पुनर्द्विविधः त्रिविधं प्रति विस्तर इत्येवमन्यत्रापि
 योऽयं विस्तरतस्त्वनन्तविधः आच० ४ अ० । स्था० । ध० ।
 आनु० । एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तरं दोषाधिक्यं प्राय-
 श्चित्ताधिक्यान् आध्यात्मिकमणा निमग्नितः सन् यः प्रतिशृणोति
 मोऽतिक्रमे वर्तते तद्गृहणनिमित्तं पदमेदं कुर्वन् व्यतिक्रमे
 गृह्णतेऽतीचारे भुञ्जतेऽतीचारे । एवमन्यदपि परिहासस्थान-
 मधिक्रमादिक्रमादयो ज्ञानातीचाराः एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् ।

अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु काव्यलघु अतीचारे
 मासगुरु द्वात्र्यां विशेषितं तद्यथा तपोगुरु काव्यगुरु च ।
 अनाचारे चतुर्गुरु यस्मात् गुरुकातीचारः चशब्दाऽनुक्तसमु-
 द्ययार्थः स चैतत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुक-
 स्तस्मादपि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतर-
 कोऽनाचारः ।

तत् इत्थं प्रायश्चित्तविशेषः

तत्थ जवे न उ सुत्ते, अतिक्रमादी उ वल्लिया केई ।

चोयग ! सुत्ते सुत्ते, अतिक्रमादी उ जोएज्जा ॥

तत्र एवमुक्तेन जवेऽतिशयोक्तस्य यथा न तु नैव सूत्रे निशी-
 थाध्ययनलक्षणे केचिदतिक्रमादय उपवर्णिताः सन्ति ततः कथं
 चत्वारोऽतिक्रमादयस्तत्रैवाध्ययने सिद्धा इति । सूरिराह चोदक !
 सर्वोपेय प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षादनु-
 क्तानपि सूत्रे सूत्रितान् अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्थतः सूचि-
 तत्वात् व्य० १ उ० ।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह ।

तिन्नि य गुरुगा म.सा,

विसेसिया तिणिण चउगुरु अंते ।

एण चव य लदुया,

विसोहिकोरीए पच्छित्ता ॥

त्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । क-
 थंचूता इत्याह विशेषितास्तपःकालविशेषिताः । किमुक्तं भव-
 ति । अतिक्रमे मासगुरुव्यतिक्रमेऽपि मासगुरुतीचारेऽपि मा-
 सगुरुरेते च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः । तथा अ-
 न्ते अनाचारलक्षणे दोषे चतुर्गुरु चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्तम् ।
 एते च मासगुर्यादयः प्रायश्चित्ता अतिक्रमादिष्वविशोधिकोऽर्थो
 द्रष्टव्याः विशोधिकोऽर्थोऽन्ते एव मासादयो लघुकाः प्रायश्चित्ता-
 नि । तद्यथा अतिक्रमे मासलघु व्यतिक्रमेऽपि मासलघु अतीचारे
 ऽपि मासलघु नवरमेते यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः व्य० १ उ० ।

ज्ञानातिचारादयस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।

उदेसज्झयणसुय-खंधंगेसु कमसो पमाइस्स ।

कालाइकमणाइसु, नाणावरणाइयारंसु ॥ ११ ॥

निर्वीए पुरिमहे, गजत्तमायं विलं च एणागाढे ।

पुरिमाई खमणं तं, अ.गाढे एवमत्थे वि ॥ २३ ॥

युगलमिह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवीर्याचार-
 पञ्चकृशतातीचारचक्रमालोच्यम् । तत्राद्या ज्ञानाचारस्याति-
 चारे ज्ञानाचारातिचारः सोऽष्टविधः तद्यथा अकाले स्वाध्याय-
 करणे कात्यातिचारः ॥ १ ॥ श्रुतमधिजिघांसोर्जातिमदावक्षेपेन
 गुरुव्यनियो वन्दनादिरूपाचारस्तस्य प्रयोजनं हीनं वा विनया-
 तिचारः ॥ २ ॥ श्रुते गुरौ वा बहुमानो दादः प्रतिव्यवशिष्यस्त-
 स्याकरणं बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम् आचामास्तादि
 तपसा योगविधानं तस्याऽकरणभुपधानाऽतिचारः ॥ ४ ॥ यपा-
 श्वं श्रुतमधीतं तं निहृतेऽपन्नपति अन्यं वा युगप्रधानमात्मनोऽ-
 ध्यापक निर्दिशति स्वयं वाऽधीतमित्याचष्टे एवं निह्वनानिधा-
 नातिचारः ॥ ५ ॥ व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमागमसूत्रं तस्मा-
 त्राक्षरविन्दुभिरूनमतिरिक्तं वा करोति संसृतं वा विधत्ते
 पर्यायैर्वा विदधाति यथा "धम्मो मंगलसङ्घि" भित्तादिस्थाने
 "पुणं कट्ठाणमुक्कासदयो संवर निज्जेरेति" व्यञ्जनातिचारः ६ ॥

आगमपदार्थस्यान्यथा परिकल्पनमर्थान्तिचारः । यथा अन्तरा-
सूत्रेऽवन्यथयनमध्ये आचरन्ती “आचरन्ती श्रोमन्ति विष्णुमुत्त-
रन्तीति” यावत् केचित् श्लोकेऽस्मिन् पापगिरिलोके विपराभू-
रन्तीति प्रस्तुतेऽर्थे अन्योऽर्थः परिकल्प्यते “आचरन्ती होइ देसो,
तत्थ च अरहट्ठकृत्वा केया । घट्टी मासा परिहियाहिं, हेउत्तं
होगो विपरासुसइ ॥ ७ ॥ यत्र च मृत्रार्थो द्वावि विनश्येने स
तदुभयानिचारो यथा “धम्मो मंगलमुक्किठो, अहिंसा गिरि-
मत्थए । देवा वितं नमंसंति, यस्म धम्मो सया मई” “अडागडे-
सु रंथेति, कट्टेसु रहकारओ । रत्तो जत्तंसि णो जत्थ, गहजो
जत्थ दीसिइ” ॥ ८ ॥ अयं च महीयानतिचारो यतः सूत्रा-
र्थोभयनाशे मोक्षाभावस्तदजावे दीक्षावैयर्थ्यमिति । एष चाष्ट-
विधोऽपि । ज्ञानाचारातिचारो द्विधा श्रोघतो विभागतश्च ।
तत्र विभागतः उद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिनः
प्रमादपरस्य काज्ञातिक्रमणादिष्वष्टसु ज्ञानाचारातिचारेषु जात-
ेषु क्रमशः क्रमेण तपोनिर्विकृतिकं पुरिमार्षकभक्ते आचारम्भं
च । अनागढे दशवैकादिकादिके श्रुते उद्देशकातिचारे अका-
लपात्रादिके निर्विकृतिकम् । अध्ययनातिचारे पुरिमार्षकश्रुतस्क-
न्धातिचारे एकजन्तुमङ्गातिचारे आचारम्भमित्यर्थः । आगाढे
तृत्तराध्ययनजगवत्यादिके श्रुते एतेष्वेवातिचारस्थानेषु पुरिमा-
र्षादिकृपणान्तमेव तपो जवति । एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम्
जीतम् । स्था० ।

अससमारम्भप्रत्याख्याता पृथिवीसमारम्भे
वर्तमानो व्रतं नातिचरति ॥

समणोवासगस्स एं जंते ! पुव्वामेव तसपाणसमारंभे
पच्चक्खाए जवइ पुठवीसमारंभे अप्पच्चक्खाए जवइ, से
य पुठविंखणमाणे अण्णयरं तनपाणं विहिंसेज्जा से णं भंते !
तं वय अइचरइ ? णो इण्णट्ठे समठे नो खत्तु से तस्स अ-
इवायाए आउट्ठइ । समणोवासयस्स एं जंते ! पुव्वामेव
वणप्फइसमारंभे पच्चक्खाए से य पुठविंखणमाणे अण्णय-
रस्स रुक्खस्स मूलं विंसेज्जा से एं जंते ! वयं अतिचरति ?
णो इण्णट्ठे समठे नो खत्तु से तस्स अइवायाए आउट्ठइ ॥

असवधः । (नो खव् से तस्स अइवायाए आउट्ठइत्ति) न
खल्वसौ तस्य वसप्राणस्यातिपाताय वधायवर्तते प्रवर्तते इति
न सङ्कल्पवधोऽसौ, सङ्कल्पवधोऽयं च निवृत्तोऽसौ । न चैवं
तस्य संपन्न इति नासावतिचरति व्रतम् भ० ७ श० १ उ० ।
(देवसिका अतिचाराः काउस्सग्गशब्दे) (मूत्रगुणातिचारा
उत्तरगुणातिचाराश्च मूत्रातिचारे प्रावश्चित्तमित्यवतरणमाश्रित्य
पच्छित्तशब्दे वक्ष्यन्ते)

सर्वेऽप्यतीचाराः संज्वलनकषायोदये भवन्तीत्याह ।

सर्वे वि य अङ्गारा, संजलणणं तु उदयओ होंति ।

मूत्रच्छेज्जं पुण होइ, वारमण्हं कसायाणं ॥ १५० ॥

सर्वेऽप्याद्योचनाप्रतिक्रमणोज्ञादिच्छेदपर्यन्तं प्रायश्चित्तशो-
ध्याः । अपिशब्दात्क्रियन्तोऽपि च अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्र-
विराधनाविशेषाः संज्वलनानामेवोदयतो ज्वन्ति । द्वादशानां
पुनः कषायाणामुदयतो मूलच्छेद्यं भवति । मूत्रेनाष्टमस्थानवर्तिना
प्रायश्चित्तं लियतेऽपनीयते यदोषजातं तन्मूलच्छेद्यम् । अशे-
षचारित्रोच्छेदकारीत्यर्थस्तदेवचूतं दोषजातं द्वादशानामन-
न्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानधरणद्वयानां कषायाणामु-

दये संजायते । अथवा इदं मूत्रच्छेद्यं दोषजातं यथामंजवतो यो-
ज्यते नयथा प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कोदये सर्वविरतिरू-
पस्य चारित्रस्य मूत्रच्छेद्यं सर्वनाशरूपं भवति । अप्रत्याख्यानक-
षायचतुष्कोदये तु देशविरतिचारित्रस्य अनन्तानुबन्धकषा-
यचतुष्कोदये पुनः सम्यक्त्वस्येति निर्युक्तिगार्थाः ॥ १५० ॥

ज्ञाप्यम् ।

अङ्गारा छेदंता, सर्वे संजलणहयवो होंति ।

समकसाओदयओ मूलच्छेज्जं वयारुहणं ॥ १५१ ॥

सप्तमस्थानवर्ती प्रायश्चित्तविशेषच्छेदस्तथाद्योचनादिना छे-
दान्तेन सप्तविधप्रायश्चित्तेनान्तो येषान्ते एकस्यान्तशब्दस्य
लोपच्छेदान्ताः सर्वेऽप्यतिचाराः संज्वलनकषायोदयजन्त्या ज-
वन्ति । शेषकषायाणां द्वादशानामुदये मूलच्छेद्यं समस्तचारि-
त्रोच्छेदकारकं दोषजातं जवति । तद्विशुद्ध्यै च प्रायश्चित्तं न पु-
नरपि व्रतारोपणमिति ।

अथवा यथामंजवं मूत्रच्छेद्यं योज्यते इत्येतदेवाह ।

अहवा मंजमूल-च्छेज्जं तइयकलुभोदये निययं ।

सम्पत्ताः मूल-च्छेज्जं पुण वारमण्हं पि ॥ १५२ ॥

तृतीयानां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदये संयमस्य सर्ववि-
रतिरूपस्य मूत्रच्छेद्यं नियतं निश्चितं जवति सम्यक्त्वादिमूल-
च्छेद्यं तु द्वादशानामप्युदये संपद्यत इति ।

अथ प्रेयमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

मूत्रच्छिज्जे सिद्धे, पुवं मूलगुणघाङ्गहणेणं ।

इह कीस पुणो गहणं, अङ्गारविमेषणत्थं ति ॥ १५३ ॥

पगयमहक्खायं ति य, अङ्गारे तस्मि चव मा जोए ।

तो मूलाच्छिज्जमिणं, सेमचरित्ते निओएइ ॥ १५४ ॥

आह तन्वन्तरनिर्दिष्टनिर्युक्तिगार्थाः “मूत्रगुणानां छेदं, न
ब्रह्म मूत्रगुणघायिणो उदये” इत्येनस्मिन्पूर्वार्द्धे मूत्रगुणघा-
तिग्रहणेन द्वादशकषायाणामुदये मूत्रच्छेद्यं सिद्धमेवेति किमिह
पुनस्तद्ग्रहणमत्रोत्तरमाह । अतिचारविशेषणार्थमिति । अति-
चाराणां विशेषव्यवस्थापनार्थमित्यर्थः । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह ।
(पगयमित्यादि) इदमुक्तं जवति “संजलणानां उदयं न ब्रह्म
चरणं अहक्खायमि” इत्यन्तरनिर्युक्तिगार्थात्तरार्द्धादिह यथा-
ख्यातचारित्रं प्रकृतमनुवर्तते ततश्च ‘सर्वे वि य अङ्गारा संजल-
णानां उदयओ होंति’ इत्येतानतिचारानन्तरानुवर्तमाने यथा-
ख्यातचारित्र एव शिष्यो योजयेत्तदेतन्मा चूततस्तेनेह पुनर-
पि मूत्रच्छेद्यमेतद्यथाख्यातवर्जिते शेषचारित्रे सामायिकादिके
नियोजयति । अस्यां हि मूलगार्थायां मूत्रच्छेद्यग्रहणात्पुनः-
शब्दविशेषणाच्चायमर्थः संपद्यते संज्वलनानामुदये शेषचारित्र-
स्य सर्वेऽप्यतिचारा जवन्ति द्वादशकषायाणामुदये पुनर्मूत्रच्छेद्यं
जवति । यस्यैवास्यां गार्थायां मूलच्छेद्यमुक्तं तस्यैवातिचारा अपि
न तु यथाख्यातचारित्रस्य कषायादयरहितत्वेन तस्य निरतिचा-
रत्वादिति गार्थाचतुष्टयार्थः १५४ । विशेष ३०० पत्रां आ०
म० । आ० चू० । दश० ॥

सातिचारस्य चरणस्य विपाककटुकताविचारः ॥

सम्भं वि आरियव्वं, अत्यपदजावणापहाणेणं ।

विमए अ ठाविअव्वं, वटु गुअगुरुसयासाओ ॥ १५५ ॥

सम्यक् सूक्ष्मेण न्यायेन विचारयितव्यस्यपदजावनाप्रधा-

नेन मत्ता तस्या एवेह प्रधानत्वात् । तथा विषये च स्थापयितव्यं तदर्थपदं कुत इत्याह बहुभुतगुरुसकाशात् स्वमनीषिकेति गार्थः ।

एतदेवाह ।

जहृ मृदुमात्राणां, वंजीपमुहाफलनिआणाणं ।

जं गुरुअं फलमुत्तं, एअं कहं घरुडं जुत्तीए ॥६६॥

यथा मृदुमात्राणां बहुचारित्रापराधानां किञ्चनानामित्याह । अस्य प्रमुखादिफलनिदानानां प्रमुखशब्दास्तुन्दरीपरिग्रहः आदिशब्दात्तपस्तेनप्रभृतीनां यदुरुफलमुत्तं सूत्रे स्त्रीत्वं किञ्चिद्विपरिवृत्त्यादिति एतत्कथं घटते युक्त्या काऽस्य विषय इति गार्थः । तथा ।

सऽएअम्मि अ एवं, कहं पमत्ताण धम्मचरणं तु ।

अःआरामयजूआ-ण हंदि मोक्खस्स हेउ त्ति ॥६७॥

सत्येनस्मिन्नेवं यथार्थ एव कथं प्रमत्तानामद्यतनसाधूनां धर्मचरणमेवं इन्दि मोक्खस्य हेतुरिति योगः नैवेत्यभिप्रायः । किञ्चनानामित्याह । अतिचाराश्रयचूतानां प्रचूततिचारवतामिति गार्थः ॥

मार्गानुसारिणां विकल्पमाह ।

एवं च यडइ एवं, पवज्जिअं जो निगिच्छुमइआरं ।

मुहुमं पि कुणइ सो खलु, तस्म विवागम्मि अइरोदो ॥६८॥

एवं च घटते एतदनन्तरोदितं प्रपद्य यश्चिकित्सां कुप्यादेरिति चारं तद्विरोधिने किमित्याह सूक्ष्ममपि करोति स खलु तस्यातिचारं विपाकेऽतिगैहो भवति दृष्टमेतदेवं दार्ष्टान्तिकेऽपि जविष्यतीति गार्थः ।

अतिचारकृपणहेतुमाह ।

पडिक्खज्जभवमाणं, पाएणं त म खवणहेऊ वि ।

णाओअणाइमित्तं, तेसि ओहेण तच्चावा ॥६९॥

प्रतिपक्षापयमानं किञ्चिच्छब्दे तुल्यगुणमधिकगुणं वा प्रायेण तस्यातिचारस्य कृपणहेतुरपि यदृच्छयापि ह्युचितादिप्रायोऽग्रहणं नालोचनामात्रम् । तथाविधभावशून्यं कुत इत्याह । तेषामपि ब्रह्मादीनां प्राणिनामोद्येन सामान्येन तद्वादाद्योचनादिमात्रज्ञायादिति गार्थः ।

एवमपत्ताणं पि हु, पइअइआरं विक्खहेऊणं ।

आमेवणेण दोमो, त्ति धम्मचरणं जहाभिहिअं ॥७०॥

एवं प्रमत्तानामपि साधूनां प्रत्यतिचारमतिचारं प्रति विपक्वेहेतूनां यथोक्ताध्यवसायानामासेधने सति न दोषोऽतिचारकृत्यात् इत्येवं धर्मचरणं यथाऽतिहितं शुद्धत्वान्मोक्षस्य हेतुरिति गार्थः ।

अत्रैवेदं तात्पर्यमाह ।

सम्पकयपमिआरं, बहुअं पि विसं न मारए जहृ उ ।

योवं पिअ विवरीअं, मागइ एसोवमा एत्य ॥७१॥

सम्यक्कृतप्रतीकारमगदमन्त्रादिना बहुपि विषं न मारयति । यथा भक्तिं मन्त्रोक्तमपि च विपरीतमकृतप्रतीकारं मारयति पपापमाऽत्रातिचारविचारे इति गार्थः ।

विपक्वमाह ।

जं पमिआरविगहिआ, पमाइणो तेमि पुण तयं विंति ।

हुगहिअमरोहरणा, अणिहकलयं पिमं जणिअं ॥७२॥

ये प्रतीकारविरहिता अतिचारेषु प्रमादितो ह्यस्यसाधवस्तेषां पुनस्तद्धर्मचरणं यथोदितं चिन्त्यं न भवतीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति दुर्गुहीतशरोदाहरणाच्छरोयथा दुर्गुहीतो हस्तमेवावकुन्तति श्रामण्यदुष्परागमृष्टनरकानुपकर्षतीत्यस्मादतिपक्वमप्येतद्धर्मचरणं ह्यस्वरूपं जणितं मनीषिजिरिति गार्थः ।

एतदेव सामान्येन ह्यव्यन्नाह ।

खुडइआराणं वि अ, मणुआइसु अमुहु मो फत्तं नेअं ।

इअंमु अ निरयाइसु, गुरुअं तं अन्नहा कत्तो ॥७३॥

कृष्णतिचाराणामेवौघतो धर्मसंबन्धिनां मनुष्यादिष्वनुजनफलं ज्ञेयं स्त्रीत्वदारिद्र्यादि आदिशब्दात्तथाविधतिर्यक्परिग्रहः । इतरेषां पुनर्महातिचाराणां नरकादिषु गुरुकं तदनुजनफलं काशाद्यशुभापक्या आदिशब्दात् क्लिष्टतिर्यक्परिग्रहः । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं तदन्यथा कुतकस्तस्य हेतुर्महातिचाराण्युक्तेति गार्थः ।

उपसंहरन्नाह ।

इयं विआराणां, सइ संवेगाउ चरणपरिवुट्ठी ।

इहरा मम्मच्छिमप-णितुह्यया दठं होइ दोसा य ॥७४॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विचारणायाम् सत्यां सदा संवेगादेतोः किमित्याह (चरणपरिवुट्ठिति) करणतया इतरथा खेचाराणामन्तरेण सम्मूर्च्छनजप्राणितुल्यता दृढतया करणेन असावयर्थं दोषाय जयति ज्ञातव्या प्रव्रज्यायामपीति गार्थः । पंचव० ३० छा० (श्रावकव्रतानामतिचाराः सम्यक्कृत्यातिचाराश्च स्वस्वस्थाने) यस्याप्रावतीचारगाथा नायाप्ति तेनाष्टौ नमस्कारा गण्यन्ते परं गाथाया उच्छ्वासा द्वाविंशद्व्यवन्ति नमस्कारचतुष्कस्यापि तथैव नमस्काराष्टकस्य तु चतुःषष्टिरुच्छ्वासा भवन्ति तत्कथमिति प्रश्ने ? उत्तरं यस्याष्टौ गाथा नायाप्ति तस्याष्टनमस्कारकायोत्सर्गः कार्यते न तूच्छ्वासमानमिति श्ये० उच्छ्वा० ६ प्र० । अतिक्रम्य स्वस्वभोगकाक्षमुल्लङ्घ्य चारः राज्यन्तरगमनम् अतिचारः । ज्योतिषोक्तैः भौमादिपञ्चकस्य स्वस्वाक्रान्तराशिषु जोगकाक्षमुल्लङ्घ्य राज्यन्तरगमनं, अतिचारस्य-“ रविर्मासं निशानाथः सपाददिवसमद्वयम् ” इत्यादिनोक्तजोगकाक्षभेदोच्छ्वासेन ग्रहणमतिशीघ्रतया अदपकाक्षेनैव आक्रान्तराशिमुपशृज्य राज्यन्तरगमनम् । वाच० ॥

अङ्क-अतिरक्त-त्रि० अत्यन्तो रक्तः रक्तवर्णः अनुरागयुक्तो वा अतिव्योदितवर्णः, अत्यन्तानुरक्ते च अन्यन्तरक्तवर्णः पुं० वाच० अतिरात्र-पुं० अतिशयिता रात्रिस्ततोऽस्यर्थे अत्र अधिकदिने दिनवृद्धौ, ते च षट् तद्यथा ॥

अङ्क-अङ्कपणना तं जहा चउत्थे पव्वे अहमे पव्वे दुवालसमे पव्वे सोलसमे पव्वे वीसइमे पव्वे चउवीसइमे पव्वे ।

(अङ्कपणना) अतिरात्रोऽधिकदिनं दिनवृद्धिरिति यावत् चतुर्थं पव्वे आपादशुक्लपक्व एवमिहैकान्तरितमासानां शुक्लपक्वाः सर्वत्र पर्वण्यीति, स्था० ६ प्रा० । संप्रत्यतिरात्रप्रतिपादनार्थमाह “ तथेत्यादि ” तत्र एकस्मिन् संवत्सरे खल्विमे षट् अतिरात्रा प्रहमास्तद्यथा ‘चउत्थे पव्वे’ इत्यादि इह कर्ममासमपेक्ष्य सूर्यमासचिन्तायामेकैकसूर्यतुपरिसमाप्तावैकैकोऽधिकोऽहोत्रः प्राप्यते तथाहि त्रिशता अहोरात्रैरेकः कर्ममासः सार्धत्रिशता अहोरात्रैरेकः सूर्यमासो मासद्वयमपेक्ष्य ऋतुः ततः एकसूर्यतुपरिसमाप्तौ कर्ममासद्वयमपेक्ष्य एकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यते सूर्यतु-अ आपादादिकस्ततः आपादादारभ्य चतुर्थे पर्वणि एकोऽधिको

ऽहोरात्रो जवन्त्यष्टमे पर्वणि गते द्वितीयः तृतीयो द्वादशे पर्वणि चतुर्थः पोरुशे, पञ्चमो विंशतितमे, षष्ठश्चतुर्विंशतितमे इति । अवमरात्रश्च कर्ममासद्वयमपेक्ष्य चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासाश्च श्रावणाद्यास्ततो वर्षाकालस्य श्रावणादिरित्युक्तं प्राक् । संप्रति यमपेक्ष्यात्रिरात्रा यं चापेक्ष्य अवमरात्रा जवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति ॥

उच्चं व य अङ्गत्ता, आङ्गाया हवन्ति माणाहि ।

छृच्चेव ओमरत्ता, चंदाह हवन्ति माणाहि ॥ १ ॥

अतिरात्रा भवन्ति आदित्यमपेक्ष्य किमुक्तं भवति आदित्यमासानपेक्ष्य कर्ममासचिन्तायां प्रतिवर्षं षट् अतिरात्रा जवन्तीति (माणाहि) जानीहि । तथा षट् अवमरात्रा जवन्ति चन्द्रात् चन्द्रमपेक्ष्य चन्द्रमासमधिकृत्य कर्ममासचिन्तायां प्रति संवत्सरं षट् अवमरात्रा भवन्तीत्यर्थ इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्ता अवमरात्रा अतिरात्राश्च च० प्र० ११ पादु० । ज्यो० । सू० प्र० ॥

अङ् (ति) रत्तकं वलसिला-अतिरत्तकम्वलशिला-स्त्री० म-न्दपर्वतस्योत्तरस्यां दिशि वर्तमानायामभिषेकशिलायाम्, “ दो अङ्गत्तकं वलसिलाया ” स्था० २ ठा० ।

अङ्गा-अचिरा-स्त्री० विश्वसेनभार्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मातरि, ती० ए क० । आच० । स० । प्रव० ।

अङ् (ए) रावण-ऐरावण-पुं० इन्द्रगजे, को० ।

अङ् (ति) रिक्त-अतिरिक्त-त्रि० अति-रिक्-क्त-अतिशयिते, श्रेष्ठे, भिन्ने, शून्ये च । तत्र भेदे “ अतिरिक्तमथापि यद् भवेदिति ” भाषा० । यस्य यावत्प्रमाणं युक्तं ततोऽधिकत्वे, वाच० । आचा० । अधिके, स्था० २ ठा० १ उ० । अतिप्रमाणे, स० । सूत्र० । अतिरेके, प्रश्न० सं० ५ द्वा० । भावे-क्त-अतिशये आधिक्ये च न० वाच० । नि० चू० ।

अङ् (ति) रिक्तसिज्जामणिय-अतिरिक्तशय्याशनिक-पुं० अतिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्यासनिकः । चतुर्थेऽसमाविस्थाने, स चाऽतिरिक्तायां शय्यायां ग्रहशालादिरूपायामन्येऽपि कीटिकादयः (कार्पटिकादयः) आवासयन्तीति तैः सहाधिकरणत्वादसमाधिस्थानमेव सहाधिकरणसम्भवादात्मपरावसमाधौ योजयतीति स० । दशा० । आ० चू० प्रश्न० ।

अङ्गुगय-अचिराङ्गत-त्रि० क्षणमात्रमुत्ते, रा० । प्रथमोदिते, “ अङ्गुगय वि सूर ” उक्त० ३ अ० । “ अङ्गुगयसमभ्यसुणिद्धचंदद्वसंठियणिडाला ” तं० ।

अङ्गुव-अतिरूप-पुं० अतिक्रान्तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेश्वरे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र) भूतभेदे च प्रज्ञा० १ पद ।

अङ् (ति) रेग-अतिरेक-पुं० अति-रिक्-घञ्-भेदे, प्राधान्ये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० २ उ० । आधिक्ये, ज्ञा० १ अ० । “ अङ्गरेगरेहंतसरिसे ” “ अतिरेकेण राजमानस्सन् सदृशः ” कल्प० । कर्मणि-घञ् । अधिकतरे, कल्प० ।

अङ् (ति) रेगसंठिय-अतिरेकसंस्थित-त्रि० अतिरेकेण संस्थितं यस्य सः । अतिशयितया संस्थानवति, “ कयलीखंभादरेगसंठिण ” जी० ३ प्रति० ।

अङ् [चि] रेण-अचिरेण-अव्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न० त० स्तोके काले, “ अचिरेण सिद्धिपासायं ” व्य० ८ उ० । विशे० ।

अङ्गरोम-अतिरोष-पुं० अतिशयितक्रोधे, “ अङ्गरोसो अङ्गरोसो, अङ्गरोसो दुज्जणेहि संवासो । अङ्गुम्भडो य वेसो, पंच वि गुरुयं पि लहुयं पि ” ध० २० ।

अङ् [चि] रोववमग-अचिरोपपन्नक-त्रि० न० त० अचि-रजाते, आच० ५ अ० ।

अङ्गरोहिय-अतिरोहित-त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुटऽर्थे, अव्यवहिते च वाच० ।

अङ् [ति] लोद्वय-अतिलोद्वय-त्रि० अतीव रसलम्पटे, उक्त० ११ अ० ।

अङ् [ति] वङ्गता-अति(व्रज्य)पत्य-अव्य० अति-पत्-वज्वा-कत्वा ल्यप् । अतिक्रम्येत्यर्थे, ज्ञा० ५ अ० । प्रविश्येत्यर्थे च प्रश्न० आश्च० ३ द्वा० ।

अङ्गवट्टण-अतिवर्तन-न० उल्लङ्घने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अङ् [ति] वाङ् [ति] न्-अतिपांतिन्-त्रि० अतीव पातयितुं शीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अङ्गवाङ्गता-अतिपातयितृ-त्रि० अति-पत्-णिच्-शीलाऽर्थे तृन् । प्राणिनां विनाशनशीले, “ यो पाणे अङ्गवाङ्गता भवइ ” स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अतिपात्य-अव्य० अति-पत्-क्त्वा-ल्यप्-प्राणिनो विनाश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अङ्गवाङ्गय-अतिपातिक-त्रि० अतिपतनमतिपातरस्स विद्यते यस्य सोऽतिपातिकः । प्राण्युपमर्दके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अङ्गवाङ्ग्या-अतिपातिका-स्त्री० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीचूतायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

अङ् [ति] वाणमाण-अतिपातयत्-त्रि० प्राणिन उपमर्दयति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अङ् (ति) वाय-अतिपात-पुं० अतिपतनमतिपातः । प्राण्युपमर्दने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विभ्रंशे, स्था० ५ ठा० । विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पा० ।

अतिवाद-पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अङ्गवास-अतिवर्ष-पुं० अतिशयवर्षे, वेगवद्वर्षणे, ज० ३ श० ६ उ० ।

अङ् (ति) वाहक-अतिव्याघात-त्रि० अतीव घाते, दुर्गन्धादिविशिष्टे, वृ० ४ उ० ।

अङ् [ति] विज्ज-अतिविद्धस्-त्रि० विदितागमसद्भावे, “ तम्हा इ (ति) विज्जो णो पमिसंजविज्जा ” आचा० १ श्रु० ४ अ० ।

अङ् [ति] विसय-अतिविषय-पुं० प्रबलपञ्चेन्द्रियव्याप्ये, तं० ।

अङ् [ति] विमाया-अति[विस्वादा][विषयगा][वृषाका]

[विषाचा] विपादा-स्त्री० अतिविपादाः दारुणविपादहेतुत्वात् १ यद्वा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विपादः क्रान्तो यासां तास्तथा २ यद्वा अतीति भृशं विषमतिविषम् आसमन्ताद् ददति पुरुषाणां विरक्ताः सत्यः, सूर्यक्रान्तावदिति अतिविपादाः ३ यद्वाऽतीति भृशं वर्ति नानाविधः स्वादो ह्यम्पत्य यासां ता अतिविस्थादास्तथा ४ अतिविषयगा अतिविषयात् प्रबलव्याप्यत्वात् पृष्ठीं नरकपृथिवीं गच्छन्ति चक्रव

निर्धारितवस्तुसङ्मातृवद्वा प्राकृतत्वात्तत्र यत्रोपसन्धिः ए यद्वा
अतिविषादा इष्टपुरुषाप्रप्तौ स्वेन्द्रियविषयाप्रप्तौ वाऽतिवि-
षादा यामां ताः ६ अतिकोपादत्युग्रं विषमदन्ति जकृत्यन्ति इति
अतिविषादाः ७ अतिवृत्ते महत्पुण्यं येषां तंऽतिवृत्तास्माध्वः तेषां
कायस्ते यम इवाचरन्ति चारित्र्यग्राह्यहरेणेति ८ यद्वा अतिवृ-
त्ताणां कायन्ति अनीयन्ति संयमग्रहज्वालनेनेति अतिवृत्ताकाः ९
यद्वा अतिवृत्ते लोकानां पुण्यरूपमहद्वने आनृशं चापन्ते चौर
इवाचरन्ति यास्तास्तथोक्ताः १० एता दश व्युत्पत्तयः । उष्ट-
स्वभावास्तु स्त्रीषु. नं० ।

अइ [ति] विमात्र-अतिविमात्र-त्रि० अत्यन्तविमात्रे, यम-
प्रजसंज्ञस्य दक्षिणपाश्वे वर्तमानायाम् राजधान्याम्, स्त्री० द्वी० ।

अइ [ति] गुट्टि-अतिगुट्टि-स्त्री० अति-वृत्-क्ति-अधिकवर्षे,
स० शस्योपधानकोपद्रवविशेषे, दर्श० ।

अइम-ईदृश-त्रि० अयमिय पश्यति इदम् दृश-कर्मकर्त्तरि-
क्ति-इशादेशो दीर्घः । अतः ईदृशः ८ । ४ । ३ इति सूत्रेणाप-
भ्रंशे ईदृशशब्दस्य अइसाऽऽदेशः । एतत्तुल्ये, प्रा० ।

अइमइय-अतिशयित-त्रि० विशेषिते, कं० ।

अइ (ति) मंकिदेश-अतिमंकिदेश-पुं० आत्यन्तिके चित्तमा-
लिन्ये, पं० १५ चि० ।

अइ [ति] मंधाण-अतिमंधाण-न० प्रख्यापने, आव० ४ अ० ।

अइ [ति] मंधाणपर-अतिमंधाणपर-त्रि० असङ्कृतगुणं गु-
णवन्तमाप्तान् स्यापयति, आव० ४ अ० ।

अइ [ति] मंप्रयोग-अतिमंप्रयोग-पुं० गार्ह्ये, “ अतिशयेन
उच्येण कस्त्रिकादिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । अतिशयप्र-
व्येण उच्यन्तरस्य संप्रयोगः, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अइ [ति] सकृणा-अतिप्रकृणा-स्त्री० अग्निर्ज्वलतिवति
इंधनानां समीरणायाम्, नि० चू० २ उ० ।

अइ [ति] शय-अतिशय-पुं० अति-शीर्ष् अच्-आधिक्ये,
अतिरेके, वाच० । प्रकंपभावे, नं० । अतिक्रान्तः शयं द-
स्तम् अथाः स० हस्तान्तिप्रक्रमकारके, त्रि० अतिशय-अस्य-
र्थेऽच् । अतिशयवति, वाच० (आचार्योपाध्यायः दीनानां तीर्थकृतां
चातिशयाः अइमंसशब्दे)

अइ [ति] मयणाणि-[न] अतिशयज्ञानिन्-पुं० अव-
धिष्ठानादिकलिते, व्य० १ उ० ।

अइ [ति] मयमंडयकाल-अतिशयानीतकाल-पुं० अतिश-
येन योऽनीतः कालः समयः स तथा (मकरोऽलाक्षणिकः)
अतिव्यवहिते काले, म० ।

अःमयमंदोह-अतिशयमंदोह-त्रि० अतिशयान् मंदुग्धे प्रपू-
रयति यत्तदतिशयसंश्लेषम् । अतिशयमंदोहबद्धे, अतिशयस-
मृहसंपन्ने, पं० १५ चि० ।

अःमरिअ-पेश्वर्य-न० ईश्वरस्य भावः । अइदैत्यादीं च ८१८
इति सूत्रेणैतः अइ इत्यादेशः । अणिमाद्यष्टविभृतिभेदे, प्रा० ।

अइ [ति] माइ [न]-अतिशायिन-त्रि० ऋद्धिमत्पु, के-
वलमनःपय्यायां उवाचिमद्युदंशपूर्णविस्तु, अमर्षोपध्यादिप्रान्त-
ऋद्धिषु, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

अइमिहिर-अतिश्रीभर-पुं० अतिशयिते श्रीभरे, (शोभासमूहे)
“ अइमिहिरमिहिरविमप्यनकंतसे. हंतचारुककुहं ” कल्प० ।

अइ [ति] सीय-अतिशो'त-त्रि० अतिशयिते शीते, स्था०
५ ठा० १ उ० । तिशयितं शीतम् प्रा० स० । अत्यन्तशीतल-
स्पर्शे, तद्विशिष्टे, त्रि० वाच० ।

अइ [ति] मुहुम-अतिमुहुम-त्रि० अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्ये,
पं० ११ चि० ।

अइ [ति] सेम-अतिशेष-पुं० अतिशये, आचार्योपाध्या-
यगणं पञ्च अतिशयाः ।

(सूत्रम्) आयरियउवज्जायस्स एं गणंसि पंच अतिसेमा
पणत्ता तं जहा आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स
पाये निगिज्जिय निगिज्जिय पप्फोहेमाणे वा पमज्जेमाणे
वा एण्डकमइ । आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स
उच्चारपासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा एण्डकमइ ।
आयरियउवज्जाए पनूच्चोवयावमियं करेज्जा इच्छा
एणं करेज्जा । आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स एगराई
वा दुराई वा एगाली वममाणे एण्डकमइ । आयरियउव-
ज्जाएवाहि उवस्सगस्स एगराई वा दुराई वा वममाणे
एण्डकमइ स्या० १ ठा० २ उ० । व्य० ६ उ० ॥

आचार्यआचार्योपाध्यायश्चेत्याचार्योपाध्यायः स हि केयांचिदा-
चार्यः केयांचिदुराध्यायस्तन एवमुक्तं यावता पुनः स नियमा-
दाचार्य एव तस्य गणे गणमध्ये पञ्च अतिशेषा अतिशयाः प्र-
ज्ञास्तत्तथा आचार्योपाध्यायानामुपाश्रयस्यान्तर्मध्ये पादान्
निगृह्य निगृह्य तथा पादा यतनया प्रस्फोटयितव्या यथा धृष्टिः
कस्यापि कृपकादने गच्छति एवं शिक्षयित्वा शिक्षयित्वा प्रस्फो-
टयतः प्रस्फोटको नातिक्रामति एव एकोऽतिशयः । यथा आचा-
र्योपाध्यायान् उपाश्रयस्यान्तरुद्धारं प्ररुद्धणं वा विगिञ्चयतो
व्युत्सृजतो विशेषक उच्चारदिपरिष्ठापको नातिक्रामति एव
द्वितीयस्तथा आचार्योपाध्यायः प्रचुरतो वैयावृत्यामच्छया
कारयेत् न वज्राभियोगतः “ आणा वज्राभियोगो निगंधाणं न
कण्ण काउमिति ” वचनात् एतृतीयः । तथा आचार्योपाध्या-
य उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेत् नातिक्रा-
मति नातीचारजाग्नयति एव चतुर्थः । आचार्योपाध्याय उपाश्र-
याद्वहिरेकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेत् नातिक्रामति इत्येव सूत्रसं-
क्षेपार्थः (व्य० ६ उ०) आचार्योपाध्यायस्य वसेतरन्तः पादप्र-
स्फोटनप्रमाजने इत्ययं प्रथमोऽतिशयस्तत्र भाष्यविस्तरः ।

वहिअंतो विवज्जामो, पणं सागारिचिच्छ मुहुत्तं ।

विइयपयं विच्छिण्णे, निरुद्धवमहीए यजणए ॥

वहिरन्तश्च यदि विपर्यासो वहिरनास्फोड्यान्तः प्रस्फोटनरूपस्त-
दा पञ्चकं पञ्चरात्रिन्द्रियं प्रायश्चित्तमय बहिः सागारिको व-
र्तते ततस्तिष्ठति मुहुत्तं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरन्तर्मुहुत्त-
मित्यर्थः । अथतावता कालेन सागारिको नापवाति तर्हि चिन्ता-
यपदमपवादपदमाश्रीयते । बहिः पादा अप्रस्फोटनाऽप्यन्तर्वसने,
प्रविश्यते तत्र विस्तीर्ण उपाश्रये अपरिभोगे प्रदेशे आचार्य-
पादाः प्रस्फोटयितव्याः निरुद्धायां संकटायां वसन्ता यत्राचार्य-
सत्कवण्टकाद्यवकाशस्तत्र यतनया यथा न कस्यापि धृष्टिर्गमनी-
त्येवंरूपया प्रस्फोटयितव्याः । एव द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विचरोपुरिदमाह ॥

वाहिं अपमज्जेते, पणिं गणियां उ मेसण मासो ।

अप्पमित्तं दुपेहा, पुव्वुत्ता सत्त जंगा उ ॥

आचार्यः कुलादिकार्येण निर्गतः प्रत्यागत उत्सर्गेण तावद्वसन् वसतेर्बहिर्गव पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति चेत्यर्थः । यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान् स्फोटयति तदा बहिरप्रमार्जने गणित आचार्यस्य प्रायश्चित्तं पञ्चकं शेषके साधौ बहिः पादान् अप्रमार्जयति ब्रह्मको मासः प्रायश्चित्तम् । तस्मात् बहिः पादान् प्रस्फोटयान्तः प्रवेष्टव्यं तच्च प्रस्फोटनं विधिना कर्तव्यम् । स चायं विधिः प्रत्युपेक्षते ततः प्रमार्जयति । अविधिः पुनरयं प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति ॥ २ ॥ प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति च ॥ ४ ॥ अत्राप्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासिकं चतुर्थे भङ्गे भङ्गाश्चत्वारस्तथा दुष्प्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ १ ॥ दुष्प्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः शेषेषु तु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं पञ्चरात्रिन्दिनम् एतदेवाह ॥ अप्रत्युपेक्षणे उपपन्नकणमेतत् अप्रमार्जने च । तथा दुष्प्रेक्षाधामत्राप्युपपन्नकणं ज्ञेयमिति दुष्प्रमार्जनेनायां च पूर्वोक्ताः कल्पाध्ययनोक्ताः सप्त भङ्गाः । तत्र चोक्तः प्रायश्चित्तविधिः ।

बहि अंतो विवज्जामो, पणं सागारिय असंतमि ।

सागारियमि उ चत्ते, अत्थंति मुहुत्तं थेरा ।

यदि सागारिके असति अविद्यमाने बहिरन्तर्विपर्यासो जवति बहिरनास्फोटयान्तः प्रस्फोटयतीत्यर्थः तदा गणितः प्रायश्चित्तं पञ्चकम् । अथ सागारिको बहिस्तिष्ठति सोऽपि च चत्तश्चो नाम मुहूर्त्तमात्रेण गन्ता तस्मिन्सागारिके चत्ते तिष्ठति मुहूर्त्तकमल्पार्थे कप्रत्ययोऽल्पं मुहूर्त्तं किमुक्तं जवति सप्ततावातिमात्रं सप्तपदातिक्रमणमात्रं वा कात्रं स्थविरास्तिष्ठति ।

थिरविक्षित्ते सागा-रिय अणुवउत्ते पमज्जिउं पविसे ।

निविविक्षितुवउत्ते, अंतो अ पमज्जणा तोह ॥

स्थिरो नाम यत्रावस्थायां ध्रुवकर्मिको व्याकृतिः कर्मणि कर्त्तव्ये व्याकुलस्तद्विपरीतोऽव्याकृतिः । उपयुक्त आचार्यान् दृष्ट्वा निर्गन्तमानस्तद्विपरीतोऽनुपयुक्तः । तत्र स्थिरे व्याकृतेऽनुपयुक्ते सागारिके विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रविशेत् स्थिरे निर्व्याकृते उपयुक्ते बहिः सागारिके सति वसतेरन्तः प्रमार्जना पादानाम् । अथाचार्यस्य पादाः किं स्वयमेवाचार्येण प्रस्फोटयितव्याः उतान्येन साधुना तत आह ।

आजिग्गहियसम अमति, तस्सेव रओहरेण अमयरे ।

पाउंछणुषिपणव, पुस्संति य अणुसुत्तं ॥

केनापि साधुना अनिग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य बहिर्निर्गतस्य प्रत्यागतस्य पादाः प्रस्फोटयितव्या इति स यद्यस्ति तर्हि तेन प्रमार्जनायोपस्थातव्यं तत्र आचार्यस्यात्मीयमन्यदौर्णिकं पादप्रोञ्जनकमन्येन साधुना पादप्रमार्जनेनापरिचुक्तं तेनाचार्यस्य पादान् प्रस्फोटयति । अयाभिग्रहिको न विद्यते तत आभिग्रहिकस्यासत्यत्वात् अन्यतरेण तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणेन और्णिकेन वा पादप्रोञ्जनकेनानन्यह्युक्तेन पादान् प्रोञ्जयति । यदि पुनरन्यापृतोऽपि निष्कारणमाचार्यस्य पादान् प्रमार्जयति तदा मासवधु । यथात्मीयेन रजोहरणेन पादप्रोञ्जनकेन वा अन्यपादप्रमार्जनेन परिचुक्तेन प्रमार्जयति तदापि मासवधु । यदि बहिर्वसते सागारिकस्तिष्ठतीत्याचार्यस्य पादा न प्रस्फोटितास्तर्हि वसतेरन्तः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्रायं विधिः ।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्पणओ वासए वविट्सस ।

एमेव निक्खुयस्स वि, नयरिं वाहिं चिरयरं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि तस्यां विपुलायां वसनावपरिभोगे अवकाशे आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः । अथ संकटा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मा यो वण्टकाद्यवकाशस्तत्र पर्यापथिकीं प्रतिक्रम्योपविष्टस्य पादाः प्रमार्जनीयास्ते च कुशलेन साधुना तथा प्रमार्जनीया यथा अन्ये साधवो धृत्या न व्रियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेवं जिहोरपि द्रष्टव्यं नवरं यदि बहिर्वसते सागारिकस्तिष्ठति ततश्चिरन्तरमपि कात्रं प्रतीकृतयावच्चत्तसागारिको द्यतिक्रामति । यदि पुनर्निष्ठुर्वसतेर्बहिः सागारिकाभावेऽपि पादावप्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशति तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासवधु ॥

निगिज्जिय पमज्जाहि, अभाणंतस्सेव मासियं गुरुणो ।

पायरयखमगादी, चोयग कज्जागते दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति कृत्वा वसतेरन्तः पादाः प्रस्फोटयितव्यास्ततः संकटायां वसतां पादान् प्रमार्जयितुमुपस्थितं साधुमाचार्यो ब्रूते आर्य ! निगृह्य पादान्प्रमार्ज्य । किमुक्तं भवति तथा यतनया पादान् प्रमार्ज्य यथा पादधृत्या न कोऽपि साधुव्रियते । अथैवं न ब्रूते तत एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्तं मासवधु । तथा पादरजसा कृपकादयः खरएन्ते तथा सति वक्ष्यमाणाः दोषाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्बहिर्गच्छति । सूरिराह कार्यागते कार्येषु समापतितेष्वगते दोषास्तस्माच्छ्रुति । अधुना “पायरयखमगादी” इत्येतत् व्याख्यानयति ॥

तवसोसितो व खमगो, इह्मिमुदो व कोवितो वा वि ।

मा भंरुणखमगादी, इति सुत्त निगिज्झए जयणा ॥

तपसा शोषितस्तपःशोषितः कृपकस्तस्य त्वलपेऽप्यपराधे कोपो जायते ततः स आचार्यपादप्रमार्जनेन धृत्या विकीर्णः कुपितो जवेत् कुपितश्च सन् जणमनं कृत्वा अन्यत्र गच्छेत् प्रविशेत् प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि क्रुद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रव्रजितः स पादधृत्याऽवकीर्णो रुष्टः सन् जणमनादि कुर्यात् । कोपितो नाम शैक्लकः कोऽपि रुष्टः प्रतिपद्येत तस्मात्कृपकादिर्मा भिरुनं कार्पादिति सूत्रे निगिज्जिय निगिज्जियेत्युक्तमस्याप्ययमर्थो यतभयेति ।

संप्रति “चोयग कज्जागते दोसा” इति व्याख्यानयति ॥

थाणे कुप्पति खमगो, किं चेव गुरुस्स निग्गमो भणितो ।

भमइ कुन्नगणकज्जे, चेइयनमणं च पव्वेसु ॥

स्थाने कुप्यति कृपकस्तथा हि स पादधृत्या अवकीर्यते ततो मा कोपं कार्षीत् । किं चैवं गुरोराचार्यस्य निर्गमः केन कारणेन भणितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निर्गमनम् आचार्य आह भणयते अत्रोत्तरं दीयते । कुन्नकार्यं उपलक्षणमेतत् सङ्गकार्यं च बहुविधे समापतिते तथा पूर्वसु पाकिकादिषु चैत्यानां सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्त्तव्यमिति हेतोश्चाचार्यस्य वसतेर्बहिर्निर्गमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निग्गमणे, जणाति तो वाहि चिट्ठिए पुंछे ।

वुच्चति बहि अत्थंते, चोयग गुरुणो इमे दोसा ॥

चोदको जणति यदि एवं कुलादिकार्यनिमित्तमाचार्यस्य निर्गमनं ततो निर्गमने सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्बहिः सागारिक-

स्तनस्तावद्वहिस्तिष्ठतु यावच्चक्षसागारिको व्युत्क्रान्तो जयति ततो बहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति कृपकादिदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्य आह उच्यते उत्तरं ज्ञपयत हेचोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतेर्बहिः तिष्ठत इमे वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तानेवाह ॥

तण्डुलहविअजाविय, वुद्धा वा अत्थमाणपुच्छादी ।

विण्ण गिलाणमादी, साहू सन्नी पम्बिउंते ॥

कुलादिकार्येण निर्गत आचार्य उष्णेन भाविते तृष्णा जायते ततस्तृष्णानिजुतो वसतिमागतो यदि बहिर्यसतेः प्रतीकृते यावत्सागारिकोऽपगच्छति ततस्तृष्णया उष्णेनादिशब्दादनागाढागाढपरितापनापरिग्रहः पीभिते मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्रविष्टस्ममृ प्रचुरं पानीयमापिवेत् । ततो जक्ताजीर्णतया ग्लानत्वं जवेदित्यादिपरिग्रहस्तथा वृद्धा उपवृक्कणमेतत् ब्राह्मशैकासहायादयश्चाचार्ये तिष्ठति प्रतीकृते ते च प्रतीकृमाणाः प्रथमद्वितीयपरिग्रहाभ्यां पीभिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् कृपकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीकृमाणा जोजनमकुर्वन्त औपधादिकं च गुरुणा विना अव्रजमाना गाढतरं ग्लानत्वाद्याप्नुवन्ति । तथा साधवः केचित्प्राधूर्षका गन्तुमनसस्तथा संज्ञिनः श्रावका अप्रम्यादिषु कृतजक्ताः पारणके भिक्षायामदत्तायामपारयन्त आचार्य प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति तत्र साधूनां दिवसो गरीयान् चढति तत्र चोष्णादिपरितापना दोषाः । संज्ञिनां चान्तरायमित्येष गाथासंकेतार्थः ॥

सांप्रतमेनामेव विवरीपुः प्रथमतः “ तण्डुलहविअभावि ”

इत्येतद् व्याख्यानयति

तण्डुलहजावियस्म, पडिच्छमाणस्स मुच्छमादी य ।

खप्पादिण गिलाणे, सुत्तयविराहणा चेव ॥

आचार्यः स्वरूपत उष्णेन भावितः कचित्कदाचित्प्रयोजनवशतो बहिर्गमनात् ततः कुलादिकार्येषु निर्गतस्तृष्णाभिजुतो वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकमपगच्छन्तं यावत्प्रतीकृते ततः प्रतीकृमाणस्य तृष्णया उष्णेन च तापितस्य मूर्च्छादयो भवन्ति आदिशब्दादनागाढादिपरितापनापरिग्रहस्तथा वसतिप्रविष्टोऽर्थाव तृष्णाभिजुतः स्मरस्य प्रचुरस्य पानीयस्यादानं प्रदणं कुर्यान् प्रचुरं पानीयं पिवेदित्यर्थः । ततो जक्ताजीर्णतया ग्लानो जयेत् तस्मिन् च ग्लाने सूत्राथपरिहाणिर्विराधना च तस्याचार्यस्य स्यात् ग्लानत्वेनाचार्यो म्रियेत इति नावः । अथवा सूत्रार्थपरिहाण्या अजानतां साधूनां ज्ञानादिविराधना स्यात् । सूत्रार्थानावतोऽजानन्तः साधवो ज्ञानादिविराधनां कुर्युरिति प्रावः ।

अधुना “ वुद्धावेति ” व्याख्यानार्थमाह ।

वुद्धामद्देसद्दादी, खमगो वा पारणे विजुक्खुतो ।

चिद्ध पम्बिउमाणो, न भुजेण लोडयमदिट्ठे ॥

वृद्धा वयोवृद्धा अमरदाः प्रथमद्वितीयपरीपदान् सोढुमसमर्थाः शैकका आदिशब्दात् ग्लानादन्नाचार्य प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति ते च तथा निष्ठन्तस्तृष्णादिभिः पीभिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति ग्लानस्य च गाढतरं ग्लानत्वमुपजायते । यदि पुनरागतमात्र एव वसतौ प्रविशति ततो यथायोगं वृद्धादीनामकावहीनं संपद्यते इति न काश्चिदोपः अधुना “ विनयेगिज्ञाणादि ” इत्येतद्व्याख्यानयति (अमरा वा इत्यादि) कृपको वा कोऽपि विक्लिष्टेन तपसा

वृत्तान्तो विनयेन पारणके बुद्धकार्तः प्रतीकृमाणस्तिष्ठति न तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न दृष्टमिति कृत्वा ।

परितावअंतराया, दोसा होंति अभुंजणे ।

जुंजणे अविणादीया, दोसा तत्थ भवंति य ॥

एवं क्षपकस्य विक्लिष्टतपसा क्लान्तस्य प्रतीकृणेनाजो जने महा-न परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ लुङ्गे तर्हि जोजने तत्राविनयादयो विनयः प्रतीत आदिशब्दाददृष्टाद्यनालोचितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमधिकृत्याह ।

गिलाणस्सोमहादी उ, न देंति गुरुणो विणा ।

ऊणाहिं व देज्जाहि, तस्म वेज्जा तिगच्छति ॥

ग्लानस्यौपधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिशब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा जनमधिकं वा दद्युस्तस्य च ग्लानस्याचार्य प्रतीकृमाणस्य वेज्जातिगच्छति ।

संप्रति “ साहूसन्नी ” इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गंतुमणा, वंदिय जो तेसि उएहसंतावो ।

पारणयपम्बिउंते, सप्पे वा अंतरायं तु ॥

प्राधूर्षकाः केचित्साधव आगतास्ते गन्तुमनसस्ते यद्याचार्यमवदित्वा अनापृच्छ्य गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्ततः प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति आचार्यश्चरेण वसतिं प्रविष्टस्तावदिवस आरुमन्तात्ततोऽभवत् ततो गुरुं वन्दित्वा व्रजतां य उष्णसंतापस्तेषां स आचार्यनिमित्तकस्तथा श्राद्धे अप्रम्यादिषु पर्यसु कृताभके पारणके आचार्य प्रतीकृमाणे अन्तरायं कृतं भवति ।

उपसंहारमाह ।

जम्हा एते दोसा, तम्हा वाहिं चिरं तु वसहीए ।

गुरुणा न चिट्ठियव्वं, तस्स न किं दोस होंते य ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्बहिश्चिरं स्थातव्यं निजुणा पुनश्चिरमपि स्थातव्यं यावच्चक्षसागारिको न प्रयाति ततो बहिः पादान्प्रमृज्यान्तर्वसतेः प्रवेष्टव्यम् । अत्र चोदक आह तस्य त्रिकोः किमेते अन्तरोदिता दोषा न भवन्ति ।

आचार्य आह ।

अण्णेगवहुणिग्गमणे, अब्बुट्ठणजाविया य हिंडंता ।

दसविह वेयावच्चे, सग्गामे वहिं च वायामो ॥

सीउएहमहा जिक्खा, न य हाणी वायणादिया तेसि ।

गुरुणो पुण ते नत्थी, तण्णमज्झितो य खेयस्से ॥

अनेकैः कारणैर्वहूनां निर्गमनमनेकबहुनिर्गमनं तस्मिन् तथा गुर्वादीनामच्युत्याने आसनप्रदानादौ च तथा जिकार्ये हिण्णमाना जाविता व्यायामितशरीराः । यदुक्तमनेकैः कारणैर्वहूनां निर्गमनं तत्र कारणान्याह दशाधिधर्मावृत्त्यानिमित्तं स्वग्रामे बहिः परग्रामे अनेकवारमनेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा भिक्षवो न च तेषां निजुणां वाचनादिका वाचनादिविषया हानिगुणाः पुनरनेके बहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तृष्णाद्यध्यासितुमसादिष्णव आचार्या वसनेर्बहिः सागारिके तिष्ठति बहु वसतेरन्तः प्रविशन्ति ततः श्रद्धेन कुशलेन पादान् प्रमार्जयन्ति ।

इदानीं भिक्षोरपि द्वितीयपदापवादमाह ।

धुवक्कम्मियं व नाउं, कजेण्णमेण वा अण्णतिपातिं ।

अव्वक्खित्ताउत्तं, न उ दिक्खति वाहि भिक्खुं वि ॥

वसतेर्बहिः सागारिकं भ्रूवकर्मिकं वा लोहकारादिकमन्येन वा कार्येणान्यमपि सागारिकमनतिपातिनमिच्छन्तं तथा अव्याप्तिममायुक्तं च ज्ञात्वा भिल्लुरपि बहिर्नोदीक्षेत न प्रतोक्षेत किन्तु वसतिं प्रविश्यात्मायावकाशे यतनयाऽऽत्मः । पादौ प्रमार्जयेत् । प्रथमोऽतिशयो गतः ।

आचार्योपाध्यायस्य अन्तरुपाध्यायस्य उच्चारप्रस्त्रवणत्यजननामा द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति द्वितीयं विभावयिषुरिदमाह ।

बहिर्गमणे च उगुरुगा, आणादी वाणि ए य मिच्छत्त ।

परियरणमणाजोगे, खरिमुहमरुण तिरिक्खादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं च त्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषाः । तथा “वाणि ए य मिच्छत्तमिति” वणिजे अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चादकुर्वति केषांश्चिन्मिथ्यात्वमुपजायते । इयमत्र भावना । आचार्यं संज्ञाभूमिं व्रजन्तं ततः प्रत्यागच्छन्तं च दृष्ट्वा वणिजो निजनिजापणे स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्तं च तथा वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये मन्यन्ते गुणवानेष आचार्यो येन वणिज एवमेतमभ्युपतिष्ठन्ति तस्मादस्माकमपि पूज्य इति तेऽपि पूजयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजति तदा चतुरो वारान् गमने प्रत्यागमने चोत्थातव्यं ते चालस्यं मन्यमाना अभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा आचार्यं दृष्ट्वाऽन्यतो मुखं कुर्वन्ति तांश्च तथा कुर्वतो दृष्ट्वा अन्ये चिन्तयन्ति नूनमेव प्रमादी जातो ज्ञातोऽपि गुणवानपि यदीदृशः पतति तर्हि न किञ्चिदिति ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति । तथा आचार्यं लोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा मरुके ब्राह्मणस्य मारबुद्ध्या प्रतिचरणं भवति । ततः संज्ञाभूमिं गतं विजने प्रदेशे मारयेत् तथा खरमुखीं नपुंसकीं दासीं वा प्रापयित्वा उद्वाहं कुर्यात् अनाभोगेन वा चनगहने प्रविष्टे तिर्यगादौ च गर्दभ्यादौ कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरोभयसमुत्था दोषाः एष गाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रति “वाणि ए य मिच्छत्तमिति” त्येतद्विभावयिषुराह ।

सुयवन्तं पि परिवा-रवं च वाणियंतरब्जणुट्टाणे ।

दुट्टाण निगममि य, हाणी य परमुहावप्पा ॥

संज्ञाभूमिं व्रजति ततः प्रत्यागच्छति वा तस्मिन्नाचार्यं श्रुतवानेष परिवारवांश्चेति मन्यमाना अन्तरा निजनिजापणेषु स्थिता वणिजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तः तेषां चोत्थानैः लोकस्य च भूयान् बहुमान आसीत् । कदाचिदाचार्यो द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो वारान् गच्छति प्रत्यागच्छति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानस्य हानिं कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य चिकीर्षवोऽभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा तमाचार्यं दृष्ट्वा परमुखा भवन्ति अन्यतो मुखं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अवर्णाः स्यात्तथाहि द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं दृष्ट्वा ते वदन्ति नूनमेव आचार्यो द्वौ ब्रह्मचारिणस्तमुद्दिशति तेन द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं याति ।

गुणवं तु जत्रो वणिगा, पूयंतषे वि सम्मुहा तस्मि ।

पडियं ति अणुट्टाणे, एविह नियत्ती अजिमुहाणं ॥

वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये चिन्तयन्ति । गुणवानाचार्यो यतो वणिजः पूजयन्ति एवं चिन्तयित्वा तेऽप्यन्ये तस्मिन्नाचार्यं सन्मुखा भवन्ति वारद्वयसंज्ञाभूमिगमने वणिजामनुत्थाने ते चिन्तयन्ति नूनमेव आचार्यः पतितः कथ-

मन्यथा वणिजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम । तथा च सति तेषामभिमुखानां द्विविधा निवृत्तिस्तथा ये श्रावकत्वं प्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्तयन्ति यद्येगोऽपि प्रधानो ज्ञाता कुशीलत्वं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं सर्वे जिनवचनमसारमिति मन्यमानाः श्रावकत्वाद्गतग्रहणाद्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति ।

संप्रति “पडियरणमणाभोगे” इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउट्टो त्ति व जोगे, पडियरिट्टो उन्नमारण मरुगा ।

खरियमुहसंगहं वा, लोकेउ तिरिक्खसंगहणं ॥

गुणावानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्यावृत्तोऽभवत् प्रणेतोऽभूत् धिग्जातीयानां केषांचित्पापीयसां तथा पूजामाचार्यस्य दृष्ट्वा महामत्सरो भवेत् मात्सर्येण संज्ञाभूमिगतमाचार्यं प्रतिवर्यं छन्ने प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जाविताद्वयपरोप्य गत्तादिषु प्रच्छन्ने प्रदेशे स्थगयेत् । तथा खरिका-मुखीं दासीं नपुंसकं वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य संग्रहं कुर्यात् यथा मैथुनमेव सेवमानो गृहीतस्तत उद्वाहः स्यात्तथा अनाभोगेनाचार्यो वनादिगुपिलमवकाशं संज्ञाव्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्यात्तत्र च (तिरिक्खत्ति) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वगता पश्चाद्वा प्रविष्टा भवेत् तां च केचित्प्रत्यनीका दृष्ट्वा उद्वाहं कुर्यात् । मूलगाथायां यदुक्तं (तिरिक्खादीति) तन्नादिशब्दव्याख्यानार्थमाह ।

आदिग्गहणा उग्गा, -मिगा व तह अन्नतिथिगा वावि ।

अहवा वि अणुट्टोमा, हवंतिमे वादिमादी य ॥

आदिग्रहणादुद्गामिका कुलटा तथा अन्यतीर्थिका वा परिरिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं गता पश्चाद्वा प्रविष्टाऽभवत् । तत्र चात्मपरोभयसमुत्था दोषाः संग्रहणादयश्च प्रागुक्ताः । अथवा इमे वक्ष्यमाणा अन्ये वाद्यादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव संजिघृक्षुर्द्वारगाथामाह ।

वादीदंमियमादी, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।

आवस्सगदिट्ठतो, कुमार अकरंतकरंत य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहवो दोषास्तथा सूत्रार्थानां गच्छस्य परिहाणिः । अथवा सूत्रार्थानां परिहाणिर्गच्छे च ज्ञानादीनां परिहाणिस्तथा आवश्यकमुच्चारवश्यकं कुर्वन्नकुर्वन्न कुमारो दृष्टान्तः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।

सन्नागतो त्ति पिट्ठे, जयातिमारो त्ति चेति परवादी ।

मा होही गिमिक्कभा, वच्चाभि अट्ठं विवाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुश्रुतमाचार्यं लोकपूजितं श्रुत्वा तेन समं वादं करिष्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संज्ञाभूमिं तदा गतस्तेन चागतेन वसतौ पृष्टं क आचार्यः साधुभिः कथितमाचार्याः संज्ञाभूमिं गता एवं श्रुत्वा स परप्रवादी ब्रूयात् स मम भयेन पलायितो यदिवामम भयेनार्तासारो जातः । अथवा मा भवत्वेपां हत्येति व्रजामि अलं पर्याप्तं विवादेन ।

अधुना “दरिडयमादीति” व्याख्यानयति ।

चंदगवेज्जासरिमं, आगमणं एय इध्मिंताणं ।

पव्वज्जसावजइग-इच्चादिगुणाण परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेनः कथमपि पुत्तलिका-ल्लिचन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सदृशं “काकतात्रीयवत्” राज्ञः

ऋद्धिमतां चान्येगमाचार्यसमीपे आगमनं आचार्यं च संज्ञा-
भूमि गते दृग्दिकदिशगतो भवेत् ततः संज्ञाभूमिं गतश्चा-
चार्य इति श्रुत्वा प्रतिनिवर्तन्ते यदि पुनः संज्ञाभूमिं न गता आ-
चार्या भवेयुस्ततो धर्मं श्रुत्वा कदाचित्ते प्रव्रज्यां गृहीयुः प्रव-
र्जितेषु च राजादिषु महतीं प्रवचनप्रभावना । तथा श्रावक-
त्वं केचित्कदाचित्प्रतिपद्यन्त यथा भद्रका वा भवेयुस्तथा च
सैत्यसाधूनां महानुपग्रहः । संज्ञाभूमिगमने चैतेषां गुणानां
हानिः । सम्रति " सुत्तत्थाणं च गच्छ परिहाणी " इत्येतद्व्या-
ख्यानार्थमाह ॥

सुत्तत्थे परिहाणी. वीथारं गंतुं जा पुणो एति ।

तथेव य वामरणे. सुत्तत्थेमुं न सीयंते ॥

विचारं विचारभूमिं गत्वा यावत् पुनरेति तावत्सूत्रार्थपरि-
हाणिः इयमत्र भावना संज्ञाभूमिर्दूरे भवेत्सूत्रपौरुष्यामर्थपौरु-
ष्यां चादिकृतायामाचार्यः संज्ञावान् ज्ञातस्ततो गतः संज्ञाभू-
मिं तत उद्घाट्याय पौरुष्यामर्थपौरुष्यां कालवेलायां समाग-
तस्ततः सूत्रार्थपरिहाणिः तद्भावाच्च शिष्याः प्रातीच्छि-
काश्चान्यं गणं व्रजन्ति ततो गच्छस्यापि परिहाणिस्तत्रैव पु-
नरुपाश्रये संज्ञाया व्युत्सजने सूत्रार्थेषु साधवो न सीदन्ति ।
अत्र चावश्यकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो दृष्टान्तः ॥

एवमेव भावयति ।

तीरगए ववहारं, खीरगते होंति तदिह उद्घाणे ।

कोमस्स द्वाणि परचम्पु-पेळण रज्जस्म अपसरथे ॥

कुमारस्याऽऽस्थाने समुपविष्टस्यार्थिनः प्रत्यर्थिनश्च व्यवहा-
रेणोपस्थितास्तेषां चोत्तरोत्तरेण व्यवहरतां व्यवहारस्तीरं
गतः परं नाद्यापि समाप्तिमुपयति तस्मिन्श्चासमाप्ते व्यवहारो
सति राजकुमारः संज्ञावान् ज्ञातस्तत उत्थाय संज्ञाभूमिं गतः
स च यावत्त्रायति तावदर्थिनः प्रत्यर्थिनश्च क्षीरोदकसंयोगा-
दिवदेकीभृतास्ततो राजकुमारस्य प्रत्यागतस्य तं व्रजते वयं
परम्परं स्वस्थीभृताः एवं सदा सर्वत्र समस्तादपि लक्षादि-
प्रमाणाद् दण्डायपदान् परिभ्रष्टास्ततः कोशस्य हानिर्जाता
तां च ज्ञात्वा परचम्पुः परवलमागच्छेत् तथा च राज्यस्य प्रेरण-
मेवोऽप्रशस्ते दृष्टान्तः । प्रशस्ते पुनर्दृष्टान्तः स्वयं भावनीयः ।
स चायं प्रथमत एवावश्यकमुच्चारोदः कृत्वा आस्थाने समु-
पविशति उपविष्टो यदि संज्ञावान् भवति ततः प्रच्छन्ने प्रदे-
शे व्युत्सजति एवं तस्य कुर्वतः प्रभूतं प्रभूततरं दण्डायपदं
जानं तथा च सति कोशस्य महती वृद्धिस्ततः परवलस्य प्रे-
रणं राज्यान्तरसंग्रहः । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । य आ-
चार्यो बहिस्संज्ञाभूमिं व्रजति तस्य प्रागुक्तप्रकारेण सूत्रार्थप-
रिहाणिस्तत्परिहाणया गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रा-
तीच्छिकानां चान्यत्र गगान्तरं गमनान् । यस्तु तत्रैवोपाश्रये
व्युत्सजति तस्य न किञ्चिदपि परिहीयते इति सर्वं सुस्थम् ।

एतदेवाह ।

वेत्ते सुत्तत्थाणं. न जेजए दंभियादिकहरणं वा ।

पच्छममयकोवे, पच्छा पुण सोदणा विणण ॥

यथा बहिर्निर्गन्तव्यमयं ग्रामादीनामन्तरपि सूत्रार्थानामपरि-
हाणिनिमित्तं दृग्दिकदिशानामागतानां धर्मकथाया अविव्रजनिमि-
त्तं च संज्ञाव्युत्सजनाय न गन्तव्यं किन्तुपाश्रयस्यान्तर्व्युत्सजनीयं
येन सूत्रार्थेना न जनकि, नापि दृग्दिकदिशानामागतानां धर्म-
कथनं विचिन्तयति । पूर्वमेव चोपयोगः कर्त्तव्यः किं मम संज्ञा ज्ञे-

य वा । तत्र यदि शङ्का तदा कृतावश्यकेन सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां
च सूत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तत्रापि न तावदासितव्यं यावदवश्य-
मुत्थये भवति किन्त्वयं । अत्रार्थं निदर्शनमेक आचार्य आनय-
कं शोधयित्वा तिष्ठति दृग्दिकश्च धर्ममश्रवणार्थमागत आचार्येण
धर्मकथा प्रागुक्ता स च धर्मकथाक्षिप्तो राजकुमारो धर्मं नृणव-
ज्जमीक्षणमभीक्षणं कार्यकीव्युत्सजनायोत्तिष्ठति आचार्यस्य
प्रच्छन्नो मूत्रकोशः समर्प्यते प्रच्छन्नं कायिकीमात्रकं साधवः
समर्पयन्ति तत्र कायिकी व्युत्सजति । ततो विनये लोको-
त्तरिके बलवति राज्ञः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव वि-
भावयिपुरिदमाह ॥

निद्धाहारो वि अहं, असइं उट्टेमि नेस कहयंते ।

पासगतो तं (सप्प) मत्तं, वत्तंतरियं पणामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्निग्ध आहारस्तथाऽपि कायिकीव्यु-
त्सर्गाय पुनःपुनरुत्तिष्ठामि । आचार्यस्तु कथयन् रूक्षाहारो-
ऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय नोत्तिष्ठति नूनं मध्ये य एष आचा-
र्यस्य पार्श्वे स्थितः जुल्लकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छन्नं व-
स्त्रान्तरितं प्रणमयति समर्पयति तत्र कायिकीमाचार्यो व्यु-
त्सजति एतच्च यदि पृच्छ्यते तर्ह्यविनयः कृतो भवति त-
स्मादुपायेन पृच्छामीति विचिन्त्येदं पृच्छति ॥

विणओ लोइयलोउ-त्तरिओत्त य वही ततो गंगा ।

कतोमुही अचलंतो, जणिति निवं आगिति जतो ॥

राजा सूरिमापृच्छति भगवन् ! किं लौकिको विनयो बली-
यान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्येणोक्तमयमर्थः परीक्षतां
परमेवं ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो बलीयान् तत्र परीक्षा
कर्तुमारब्धा आचार्येणोक्तं यस्तव दृष्टिप्रत्ययो यं वा कृत्वा
त्वं जानासि न एष विनयध्वंसी तं प्रेषय । यथा
कुनोमुखी गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो
राजा य आकृतिमान् यश्च दृष्टप्रत्ययस्तं प्रेषयति व्रज कुतो-
मुखी गङ्गा वहति सोऽचलन् तत्रैव स्थितो नृपं भणति यथा
पूर्वमुखी गङ्गा वहति लोकोऽप्यन्य एतन् जानाति । तत
आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये यं त्वं विषमकरणनाशादि-
भिर्विषमं जानासि । उक्तञ्च " विषमसमैर्विषमसमा, विषमैर्वि-
षमाः समैः समाचाराः । करचरणवदननासा कर्णोष्ठनिरीक्ष-
णैः पुरुषाः " विषमत्वाच्च विनयध्वंसं करिष्यतीति तं प्रेषय ।

रत्ता पयंसितो एस, वयओ अविणीयदंसणो समणो ।

पच्छागय उस्सणं, काउं आलोयए गुरुणो ॥

एवमाचार्येणोक्ते राज्ञा यो विषमकरचरणादिना अविनीतद-
र्शनः श्रमणः प्रदर्शित एष व्रजतु कया दिशा गङ्गा वहतीति
आचार्येण संप्रेषितः स आचार्यानापृच्छय तत्र गत्वा ततः प्र-
त्यागतैर्यथापथिक्याः कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोः पुरत आलोच-
यति कथमित्याह ।

आदिच्चदिमा लोयण-तरंगतणमाइया य पुव्वमुही ।

मोहो यदिसाए मा होउ, पुट्ठां त्ति जणो तदेव उणो वि ॥

हे भगवन् ! युष्मन्पादानापृच्छयाहं गङ्गातटं गतस्तत्र च गत्वा
सूर्यं निध्यांतवान् यत आदित्याहिग्विभागः सम्यक् ज्ञायते ए-
वमादित्यदिगालोचनं कृतं तथा तर्ह्येस्तृणादीनि पूर्वभिमुखा-
न्यूहमानानि दृष्टानि तत्र कदाचिद्दिग्मोहोऽपि स्यात्ततो मा भू-
द्दिग्मोह इत्यन्योऽपि जनस्त्रिसंख्याकः पृष्टः सोऽपि तथैवाह
यथा पूर्वभिमुखी गङ्गा वहतीति । एतच्च राज्ञा प्रत्ययि-

कप्रच्छन्नपुरुषैः परि (भावित) भावापितं तैरपि तथैव कथितम्
ततो राजा प्राह ।

वहदं धंयमारण-निव्यसयथ वहारलोगमि ।

भुवदंडो उत्तगितो, उच्छहमाणस्म तो वलितो ॥

लोके योऽस्माकमात्रां भनक्ति तस्य वधं लकुटादिप्रहरैस्ता-
मनं वन्धे निगडादिभिश्छेदं कर्षच्छेदादिकं केषाञ्चित् मा-
रणं विनाशनमपरेषां निर्विषयकरणमन्येषां धनापहारं कुम्भ-
स्तथाऽपि केचिदस्माकमात्रां भञ्जन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां
भञ्जतोमतानि न भयानि सन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लो-
कोत्तरिका आत्रां कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह “भ-
वदंडो” इत्यादि पश्चार्द्धे यस्तीर्थकरणधरादीनामात्रां भनक्ति
तस्य परभवे हस्तच्छेदनादीनि भवन्ति एष लोकोत्तरे भव-
दण्डः अस्माद्धीतस्य साधोरुत्सहमानस्य स्वशक्त्यनिगूह-
नेनोद्यमं कुर्वतो विनयो वलीयान् । एवं लोकोत्तरिका वि-
नयो वलिकः ।

अत्रैवापवादमाह ।

वितियपयं असतीए, छप्पाए उवस्सय व सागारो ।

न पवत्तति मन्ने वि, जे य समत्था समं तेहिं ॥

कुपद्वादीनिगमणे, नातिगर्भारि अपववायामि ।

वोसरियामि य गुरुणा, निसिरंति महंतदंडधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य संज्ञाभूमिमाचार्यो व्रजेन ।
तदेव द्वितीयपदमाह । उपाश्रये च पश्चात्कृते संज्ञाभूमिर्नास्ति
ततस्तस्या असति बहिर्ब्रजेत् । (अण्णाएत्ति) यत्र न जायते
एष आचार्यस्तत्रापि बहिर्ब्रजेत् । अथवा उपाश्रये सागारिको
द्विद्यते ततो बहिर्याति कस्यापि पुनरुपाश्रयस्य पश्चात्कृते वि-
द्यमानेऽपि संज्ञा न प्रवर्तते सोऽपि बहिर्याति एतैः कारणैर्व-
हिर्गमनम् तत्र ये समर्थस्तस्याः साधवस्तैः समं याति । तत्र
यानि कुपथादीनि कुपथादीनि तैर्गन्तव्यं तैर्गच्छतोऽपि प्रायः
पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तत्रापि यन्नातिगर्भारिं नानि विषम-
मप्रत्ययार्थं प्रत्ययार्थचिरहितं तत्राचार्यः संज्ञां व्युत्सृजति ।
येषां च सहायानां हस्ते महान्तो दण्डकास्ते महादण्डधरा-
श्चतसृष्वपि दिक्षु संरक्षणपरायणास्तिष्ठन्ति व्युत्सृष्टे च गु-
रुणा पुरीषे ते महादण्डधरास्ततस्तस्मिन् कस्मादेवं रक्षा
क्रियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च “जम्मि कुलं
आयत्तं, तं पुरिमं आयरेण रक्खहि” इत्यादि कथं पुनः स
रक्षितव्य इत्यत आह ।

जह राया तोसलिओ, मणिपरिमा रक्खए पयत्तेण ।

तह होइ रक्खिवव्वा, भिरिधरसरिमो य आयरितो ॥

यथा राजा तोसलिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा
भवत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसदृश एष आचार्यः ।

अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

पडिमुप्पत्ती वाणिय, उदहिप्पातो उवायणं भीतो ।

रयणजुगे जिणपडिमे, करेमि जइ उत्तरे विग्यं ॥

उप्पाउवममउत्तर-मविग्यए एकपरिमं वा ।

देवयद्धेण ततो, जाया विनिए वि पडिमा तो ॥

प्रतिमयोरुत्पत्तिर्वक्तव्या सा चैवमेकस्य वणिजः समुद्रं प्रव-
हणेनावगाढस्योत्पात उपस्थितः । ततः स आयाचितिकं क-

रोति यथा यदेतदौत्पातिकमुपशाम्यति अविघ्नेनोत्तरागमि च
ततोऽनयोर्द्वयोर्मणिरन्तयोर्द्वे मणिमयौ जिनप्रतिमे कारयि-
ष्यामि एवमौपयाचितिके कृते देवतानुभावेनौत्पातिकमुप-
शान्तमविघ्नं समुद्रोत्तरागमभूत् स चोन्तीर्षः सन् लोभेन एक-
स्मिन्मणिरत्ने एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया द्वि-
तीये मणिरत्ने द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । देव-
ताच्छन्देन ततो जाता द्वितीयेऽपि मणिरत्ने प्रतिमा ।

तो भत्तीए वणिता, मुस्सुमइ ता परेण जत्तेण ।

ता दीवएण परिमा, दीमंतिद्वरा उ रयणाइ ॥

ततः कारापरानन्तरं ते प्रतिमे वणिको भक्त्या परेण यत्ने-
न शुश्रूषते ततः तयोश्च प्रतिमयोरिदं प्रतिहार्यं ते प्रतिमे या-
वदीपकः पार्श्वे ध्रियते तावदीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्यते इ-
तथा दीपकाभावे सप्रकाशे अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्यते ॥

सोऊण पारिहेरं, राया घेत्तेण भिरिद्वरे वुहति ।

मंगलभत्तीए तो, एणति परेण जत्तेण ॥

इदमनन्तरादितं प्रतिहार्यं राजा तौसलिकः श्रुत्वा ते प्रति-
मे स्वयमेवावर्मायश्रीगृहके भाण्डारे क्षिपति मुञ्चति ततो
मङ्गलबुद्ध्या भक्त्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिंश्च
दिवसे ते प्रतिमे श्रीगृहमानीते ततः प्रभृति राज्ञः कोशादि-
षु वृद्धिरुपजाता । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं तत
एवं दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृहं प्रयत्नेन रक्ष-
यति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयस्ततः कथमत्र मणिमयप्रतिमा-
भ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मंगलभत्ती अदिया, उप्पजइ तारिमामि दव्वमि ।

रय एगमहणं तेणं, रयणञ्जतो तहारितो ॥

श्रीगृहे द्रविणं रक्षणीयं मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रविणमप्य-
तिप्रभूतमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमार्थकरणभक्तिश्चेति ।
प्रयत्नेन रक्षणे त्रीणि कारणानि तथा चाह । मङ्गलं मङ्गल-
बुद्धिर्भक्तिश्चाधिका तादृशे द्रव्ये समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहणं
यथा ते रत्नप्रतिमे कारणत्रयवशाद्विशिष्टेन प्रयत्नेन रक्षते
शुश्रूष्यते च तथा शिष्यराचार्यः प्रयत्नेन रक्षणीयः शुश्रूषणीय-
श्च । अथैवमाचार्यं रक्षितं शुश्रूषितं च को गुण इत्यत आह ।

पूयंति य रक्खयंति य, मीसा मव्वे गाणिं सया पयया ।

इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पयणे जम्हा ॥

गणितमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजय-
न्ति शुश्रूषन्ते च यस्मात्तपूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके
च गुणा भवन्ति इह लोके सूत्रार्थं तदुभयमुपयाति परलोके
सूत्रार्थाज्यामथीतार्थां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनम् । अथवा
पारलौकिका गुणाः “आयरिए वेयावच्चं करमाणे मट्ठानिज्जेर म-
हापज्जवसाणे भवति” इत्येवमादयः । गतो द्वितीयोऽतिशयः ।
संप्रति तृतीयमाह “इच्छाए पट्टं वेयावच्चं करेज्जा” इत्येवमु-
पमतिशयमभिधित्सुराह ।

जेणाहारो उ गणी, मवालवुहस्स होइ गच्छस्स ।

तो अतिमेसपज्जुत्तं, इमेहिं दारेहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणी आचार्यः सवालवुद्धस्य गच्छस्याधारस्त-
तस्तस्य भवत्यतिशेषप्रभुत्वमतिशायिप्रभुत्वं तच्चैर्भिर्बुद्ध्या
लौकिकैरेवगन्तव्यम् । तान्येवाह ॥

तित्ययरपवयणे नि-जारा य सावेक्खभत्तिवोच्चेतो ।

एषहि कारणेहि, अतिसेमा ह्येति आयरिए ॥

आचार्यन्तीर्थकरस्तीर्थकरानुकारी तथा सूत्रतोऽर्थतथाधी-
ती प्रवचने तथा तस्य धैर्यावृत्त्यकरणे महती निर्जरा भवति ।
तथा शिष्याः प्रतीच्छका आमानुग्रहद्वया सुखेयावृत्त्यं कुव-
न्तः सापेक्षा भवन्ति सापेक्षाणां च ज्ञेयान् ज्ञानादिज्ञानो मह-
ती निर्जरा इतरे त्वकुर्वन्तो निरपेक्षास्तेषां महान्संसारस्तथा
प्रकाशाचार्यस्य शिष्यमाणायां सकलस्यापि गच्छस्यानुग्रहकर-
णात्तीर्थस्याव्यवच्छेदः कृतो जवति । एतैः कारणैराचार्यस्य सू-
त्रोक्ता अतिशेषा भवन्त्यन्ये च वक्ष्यमाणा इति द्वारगाथासंज्ञे-
पार्थः । सांप्रतमेवा व्याख्या । तत्र प्रथमं तीर्थकरकल्पद्वारं व्या-
ख्यानयति ॥

देविंद चक्षुष्टी, मंडलिया ईसरा तलवग य ।

अभिगच्छन्ति जिणिदे, ते गोयरियं न हिंदन्ति ॥

जिनेन्द्रा जगद्यन्त उत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्राः शक्रप्रभृतयश्चकवर्त्ति-
न उपपन्नकणमन्त्रे यथायोगे च वक्ष्येदेवाश्च तथा माण्डविकाः
कतिपयमगुरुप्रभव ईश्वरास्तद्वराश्चाभिगच्छन्ति । ततोऽपि
ते गोचरचर्या न हि एरुन्ते ॥

संखादीया कोर्नी, मुराण निचं जिणे उवासंति ।

संमयवागरणाणि य. दणसा वयसा व पुच्छंते ॥

संख्यातीताः सुगणां कोटयां नित्यं सर्वकाशं जिनान् तीर्थकृत
उपासन्ते तथा सततं मनसा वचसा च पृच्छन्ति सुरादिकं
मनसा वचसा च संशयव्याकरणानि करोति । ततो भिक्षां न
हि एरुन्ते ।

उपपणणाणा जह नो अर्दंति,

चोत्तीमवुच्छातिसया जिणिदा ।

एवं गणी अष्टगुणोववेतो,

सत्था व तो हिंभइ ईहिमे तु ॥

यथा उत्पन्ने ज्ञाने जिनेन्द्राश्चतुस्त्रिंशत् बुद्धातिशयाः सर्वज्ञा-
तिशया देहसौगन्ध्यादयो येषां ते तथा भिक्षां न हि एरुन्ते । एवं
तीर्थकरदृष्टान्तेन गणी आचार्योऽष्टगुणोपेतोऽष्टविधगणिसं-
पदुपेतः शास्ता इव तीर्थकर इव ऋद्धिमान् न हि एरुन्ते ॥

गुरुहिंदणम्मि गुरुगा, वसभे लहुया न निवारयंतस्स ।

गीतार्गिने गुरुलहु, आणादीया वहु दोसा ॥

आचार्य भिक्षामटमीति व्यवसितं यदि वृषभो न निवारयति
तदा तस्यानिवारयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अथ
वृषभेण निवारितोऽपि न तिष्ठति तर्हि वृषभः शुद्धः आचार्यस्य
प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । तथा गीतार्थो भिक्षुश्च निवारय-
ति तदा तस्य मासगुरु अगीतार्थस्य भिक्षोरनिवारयतो
मासवधु । आचार्यस्य गीतार्थगीतार्थान्यां वारितस्यापि
गमने प्रत्येकं चतुर्गुरु । आह्लादय इमे वक्ष्यमाणा बहवो
दोषास्तानेवाह ।

वाते सिने गणालोए, कायकिलेमे अचिंतया ।

मेढी अकारगे वाल, गणाचिंदा वादिद्विणो ॥

भिक्षामटनो घानो वा प्रकुपितो भवति तथा अन्युष्णपरितापेन
पित्तमुद्दिक्ती भवति । तथा गणस्य गच्छस्य भिक्षाटनपरि-
श्रमन आलोकः कर्त्तव्यो न भवति । तथा भिक्षाटने काय-
क्लेशो जवति तस्मात् सूत्रार्थपरिहाणिस्तथा सूत्रार्थयोरचि-

न्ता भवति । तथा मेढीभूत आचार्यस्तस्मिन् भिक्षामटतिं
शिष्याणामात्मद्वाराभावात् प्राधृष्यकादीनां वात्सल्यकरणात्ता-
वः । तथा अकारकं चेत् छव्यं व्रजते तस्य भोजने ग्लानत्वम-
भोजने परिष्ठापनिकादोषः । तथा भिक्षामटतो व्याघ्रः श्वादिरूप-
तिष्ठेत् तत्र चात्मविश्रयनादोषस्ततो गणचिन्ता । तथा वादी
कोऽपि समगतः स च भिक्षागतमाचार्यं श्रुत्वा हीलयेत्
उड्डाहं वा कुर्यात् । तथा ऋद्धिमान् समृद्धः आचार्यो जवतीति
न स द्विष्टापथितव्य इत्येव द्वारगाथासंज्ञेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वातद्वारमाह ॥

भारेण वेयणाए, हिंदंते उच्चनीयसामो वा ।

बाहुकडिवायगहणं, विसमाकारेण मूलं वा ॥

भारेण भक्तभृतज्ञाजननरेण वेदना जवति । तथा कोऽपि
ग्रामो गिरौ निविष्टो भवेत् तत्र च कानिचित् नीचस्थानानि
तानि भारेण वेदनायां सत्यां द्विष्टमानस्य इवासो भवति तथा
कटेश्च वातग्रहणं जवति । तथा ग्रामे विषमाकारेण व्यवस्थिते
यत्र तत्र वा तिर्यकुशरीरं कृत्वा गच्छतः मूलं वा जवेत् ।

अच्छुएहतावितो उ, खच्छुदवाददीय उड्डुणई य ।

अपियणे असमाही, गेलणे सुत्तजंगादी ॥

तथा अन्युष्णेन परितापितः सन् खड्गं प्रचुरं छवं पानीयम-
तितृषित आददीत । तथा परितापजावनः पुनः पुनः पानीयमा-
पिवेत् तथा चाहारपानीयेन प्लावितः सन् न जीयेत् अजर-
णाच्च उर्दने वमनं जवेत् आदिशब्दात् आहाररुचिर्नोपजायते ।
अथवा पानीयं प्रभूतं न पिबति ततोऽसमाधिः । आहाररुचौ
च पुनर्भोजने ग्लानत्वं ग्लानत्वे च सूत्रजङ्गः सूत्रपौरुषीभङ्गः
आदिशब्दादर्थपौरुषीभङ्गश्च । गतं वातद्वारम् ।

अधुना पित्तद्वारमाह ॥

वदिया य पित्तमुच्छा, परणं उण्हेण वा वि वसहीए ।

आदियणे छड्डुणादी, सो चेव य पोरसीजंगो ॥

उष्णेन परितापितस्य चित्तप्रकृतेर्वहिः पित्तमूर्च्छावशतः तप-
नं भवेत् । तथा च सति भक्तभृतभाजनसाहितस्य उड्डाहः । व-
सतो वा पित्तमूर्च्छावशतः पतनं तत्र प्रभृतजलपानानन्तरमपि
प्रचुरजलादानं तथा च सति त एव उर्दनादयः प्रागुक्ता दोषाः
स एव सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्याश्च भङ्गः । गतं पित्तद्वारम् ॥

अधुना गणालोकद्वारमाह ॥

आलोगो तिप्पि वारे, गोणीण जहा तहेव गच्छे वि ।

नटं न नाहिति नियद-दीहसोही निसिज्जं च ॥

यथा गोपालस्तिसृषु वेद्यासु गवामात्रोक्तं करोति । तद्यथा
प्राक् प्रसरन्तीनां मध्यह्ने ग्रामासु स्थितानां विकालवेद्यायां-
गृहं प्रत्यागच्छन्तीनां यदि न करोति तदा न जानाति काचि-
न्नष्टा का वा गतेति एव आचार्येणापि तिसृषु वेद्यासु गच्छेऽ-
प्यात्रोक्तः कर्त्तव्यः । तद्यथा प्रातर्मध्यह्ने विकालवेद्यायां च तत्र
यदि प्रातर्गवश्यं कृतं गणात्रोक्तं न करोति तदा मासवधु नि-
त्तावेलायां द्वितीयं वारं गणात्रोक्तमकुर्वतो मासवधु तृतीयं वारं
विकालवेद्यायामप्यकुर्वतो मासवधु । तथाचार्यो यदि भिक्षां
नाटयति तदा तिसृषु वेद्यासु गणात्रोक्तं कर्त्तुं न शक्नोति भिक्षा-
मटन् कथं कुर्यात् गणात्रोक्ते चाक्रियमाणे इमे दोषाः । कोऽपि
साधुनेष्टो भवेत् स च नष्ट इति ज्ञात्वा प्रत्यानीयते गणात्रोक्ते
पुनरकृते नष्ट इत्येव न ह्ययते । तथा भिक्षाचार्यागमने कः स-

जिघृक्षः को वा नेति न ज्ञायते । तथा गणात्रोके अक्रियमाणे को दीर्घ कालं भिक्षाचर्या करोति को वा नेति केन ज्ञायते । तथा भिक्षामटल्याचार्ये जिज्ञाचर्यात् आगतानामावोचनायां कः शोधि करोति । तथा भिक्षां हिएडमने सूरौ कोऽपि गृहनिषयां बाहयत्येतन्न ज्ञायते ॥

सो आवस्मयहाणि, करेज्ज भिक्खवाहसा व अत्येज्जा ।

तेण तिसंजावोगं, सिस्माण करेऽ अत्यंतो ॥

भिक्षामटल्याचार्ये ये आवश्यककर्तव्या योगास्तेषां यः प्रमादतो हानिं करोति स न ज्ञायते तथा आचार्य एवास्माकं जिज्ञामानेष्यतीति केचित् जिज्ञाहसा वसतावेव तिष्ठेयुर्न भिक्षामट्युर्यत एवं गणात्रोकेऽक्रियमाणे इमे दोषास्तस्मात्तिसृष्वपि संध्यासु शिष्याणामात्रोके तिष्ठन् जिज्ञामहिमण्मनः करोति । गतं गणात्रोकेद्वारम् ॥

अधुना कायक्लेशद्वारमाह ।

हिंडंतो उव्वातो, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।

नासेहिति हिंडंतो, सुत्तं अत्थं च आणेणं ॥

दिएरुमानः पुनर्भिक्षां महान् कायक्लेश इति (उव्वातोत्ति) परिश्रान्तो भवति परिश्रान्तत्वात्सूत्रमर्थ इति शिष्येषु प्रतीच्छिकेपु च सूत्रार्थानां परिहाणिस्ततो गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रतीच्छिकानां चान्यत्रान्यत्र गणान्तरे संगमात् । तथा दिएरुमानः सूत्रमर्थं चारुकेणाक्षेपेणात्मनो नाशयिष्यति । गतं कायक्लेशद्वारम् ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह ।

जा आससिउं भुंजइ, भुत्तो खेयं च जाव परिणेइ ।

ताव गतो सो दिवसो, नइसती दाहिती किं वा ॥

यावद्भिक्षामर्थयित्वा कृणमात्रमाश्वस्य जुहुं जुक्तोऽपि च खेदं भिक्षाटनपरिश्रमं यावत्प्रतिनयति स्फोटयति तावद्दिवसः सकलोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेला यत्र सूत्रस्यार्थस्य वा चिन्तां करोति अचिन्तितं च विस्मृतिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किं दास्यति न किमपीति भावः । वाशब्दो दूषणसमुच्चये । एतदेव सुव्यक्तं ज्ञायति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रत्तिं पि न जग्गते समुग्धातो ।

न य अगुणेउं दिज्जइ, जइ दिज्जइ संकितो दुहतो ॥

नास्ति एका विविक्तोऽवसरो दिवसमध्ये यत्र सूत्रमर्थं वा चिन्तयति रात्रावपि समुद्रातः सम्यक् परिश्रान्तो न जागर्ति । न च सूत्रमर्थं वा अगुणयित्वा दीयते यदि पुनर्दीयते तर्हि द्विधातः सूत्रतोऽर्थतश्च शङ्कितो भवति । गतं चिन्ताद्वारम् ।

अधुना मेढिद्वारमाह ।

मेढीचूते वाहिं, जुंजण आदेसमाइ आगमणं ।

विणए गिज्जाणमादि, अत्थंतं मेहिसंदेसा ॥

आचार्यः सर्वस्यापि गच्छस्य मेढीचूतः मेढिरिति वा आधार इति वा चक्षुरिति वा एकार्थं स चेद्भिक्षां गच्छति ततः साधूनां वसतेर्यदिगृह्यता जोजनं स्यादेतदनन्तरमेव ज्ञाययिष्यते । तत एवं ज्ञायते केचिदादेशाः प्राघूर्णका आगच्छेयुरादिशब्दात्केचिद्व्याधिका वृद्धिपरिहीनास्ततस्तेषामादेशादीनामागमनं ज्ञात्वा कः प्राघूर्णकानां विश्रामणं संदेशं वा कुर्यात् ॥ को वा वृद्धिपरिहीनानां यन्नास्ति तस्य दानं प्राघूर्णकानामितरेषां च वात्सल्याकरणे विनयो न कृतः स्यात्तथा ज्ञान-

स्यादिशब्दात् वाक्वृक्षासहायानां च कः संदेशप्रदानेन चिन्तां कुर्यात् तिष्ठति जिज्ञामनटल्याचार्ये मेढः संदेशादादेशात् सर्वमदेशादि सुस्थं भवति ।

संप्रति यदुक्तं “ वाहिं जुंजणासि ” तद्भावयति ॥

आलोयदायणं वा, कस्स करेहासु कं च छंदेमो ।

आयरिए य अदंते, को अत्थि उ मुच्छहे अन्नो ॥

शिष्याः प्रतीच्छिकाश्च भिक्षां प्रविष्टाश्चिन्तयन्ति सूरिरपि जिज्ञार्थं निर्गतो भविष्यति ततो वयं संप्रति प्रतिश्रयं गत्वा कस्य पुरतः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दर्शयिष्यामः कं चान्यं साधुं तत्र गताश्चन्द्यामो निमन्त्रयामो यतो जिज्ञामटल्याचार्ये कोऽन्यः साधुः स्थातुमुत्सहते सर्वोऽपि जिज्ञां यातीति भावस्तथाहि सर्वे साधवो जिज्ञामटल्याचार्ये चिन्तयन्ति यदि स्वयमाचार्यो भिक्षां हिएरुते काऽस्माकं शक्तिः पश्चात् स्थातुं वयमपि यास्यामः । एवं सर्वस्यापि गमने निमन्त्रणाऽपि कस्य स्यादिति विचिन्त्य वहिरेव समुद्दिश्य वसतावागच्छेयुरिति । गतं मेढिद्वारम् ॥

इदानीमकारकद्वारमाह ॥

णिकासिते अकारगम्भि, दब्बे पमिसेहणा हवति दुक्खं ।

रायनिमंतणगहणे, खिसणवावारणा दुक्खं ॥

जिज्ञामटत आचार्यस्य यदकारकं तस्य तत् जिज्ञार्थं निष्काशितं तस्मिन् अकारके छव्ये भिक्षार्थं निष्काशिते प्रतिषेधनं ममैतदकारकमन्यदेहीति वक्तुं लज्जितो भवति दुःखं यदि पुनर्द्वजां मुक्त्वा ज्ञातिं तदाऽनन्तरं वक्ष्यमाणा गाथाद्वयोक्ता दोषास्तथा जिज्ञामटल्याचार्ये राजा मत्तवारणकस्थितेन दृष्टस्तत आकारयित्वा ज्ञातिं मम गृहे जिज्ञां गृहीत स प्राह न कल्पते राजपिएरु इति एवं निमन्त्रणानन्तरमग्रहणे राजा जण्णते साधो! किं तव पतद्बहे समस्ति ततो दर्शितेऽन्तप्रान्तादिके वासिकादौ च राजा तत् दृष्ट्वा खिसनं कुर्यात् । तथा आचार्योऽव्यधिको ज्ञेयत्वं स चेत् गणनादिनिमित्तं शिष्यान् प्रतीच्छिकांश्च व्यापारयेत् तथा भ्रान्तादीनां योग्यमानयेति ते चाव्यधिकं ज्ञात्वा परिभयमुत्पादयन्तीति तेषां व्यापारणे दुःखमेवेति चारगाथासमासार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीपुर्द्वजां मुक्त्वा अकारकछव्यप्रतिषेधने दोषास्तानेवाह ॥

जेणेय कारणेणं, सीसमिणं मुंडियं जदंतेण ।

वयणयरवासिणी वि हु, न मुंडिया ते कहिं जीहा ॥

येनैव कारणेन हेतुना भदन्तेन गुरुणा तव शीर्षमिदं मुणिरुतं तेनैव कारणेन तव जिह्वाऽपि वदनगृहनिवासिनी ममैतदकारकमन्यदेहीति ब्रुवाणा कथं न मुणिरुता येनैवं भाषते यथा ।

गयमागमम्भि लोए, सीसा वि तदेव तस्स गच्छंति ।

सयमेव दुद्धाजिब्भा, सीसे विणइस्सती केण ॥

गतागतोऽयं स्वज्ञावतो लोकः पितृस्वभावं पुत्रोऽनुकरोतीति ज्ञावः ततो गतागमेऽस्मिन् लोके यथाऽऽचार्यो गच्छति चेष्टते शिष्या अपि तस्य तथैव गच्छन्ति वर्त्तन्ते त्वं च स्वयमेवेत्यं दुष्टजिह्वस्ततः केन प्रकारेण शिष्यान्विनेष्यसि शिक्षयिष्यसि नैव कथञ्चनति । ततस्तेऽपि त्वत्सदृशा ज्ञविष्यन्तीति ।

पमिसेहंतमजोगं, अस्सम वि दुद्धहं हवइ जिक्खं ।

सद्धाभंगचियत्तं, जिब्भादोसो अवसो य ॥

अयोग्यमकारकं प्रतिबिध्यमानं महात्मपगुणं करोति कं

तस्मिन्नाह कोऽसावपगुण इत्याह इत्यस्यापि साधोर्लुप्ते भवति नैके नैते यदा तदा गृह्णीत्यदानात् । तथा अकारक-
स्य प्रतिषेधेन कस्या अपि मत्स्या अजाया भङ्गः अपरस्या
(अचियत्तं) अप्रीतिस्त्वनस्तद्वशादवगणो जिह्वादोष उत्पद्यते ।
संप्रति यदुक्तं राजनिमन्त्रणाग्रहणखिसनमिति तत्र तदेव
खिसनमाह ।

पुर्वि अदत्तदाणा, अकोविद्या उह उ संकलिस्संति ।

काऊण अंतगायं, नेच्छंतिट्टं वि दिज्जंते ॥

आन्तप्रान्तादौ च दर्शिते राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना गृयं तत
इहाकोविदा अन्तवद्वाः सन्तः क्लिश्यन्ते । तथाच राजपिण्ड
इत्यन्तरायं कृत्वा इष्टमपि दीयमानं जवन्तो नेच्छन्ति ।

गहणपरिनेहंजण, अजुजणे चैव मामियं लहुर्यं ।

समणुण्ण अज्जंते वा, विमेज्ज व मेहमादी य ॥

अकारकस्य ग्रहणे सति यद्यन्यः साधुभिः प्रतिषिध्यमानोऽपि
भुङ्क्ते तदा भ्रान्त्यमथ न भुङ्क्ते तदा अभोजने परिष्ठापनिका-
दापस्तत्र च प्रायश्चित्तं मामिकं ब्रुवु । तथा यथाचार्योऽल-
म्बिकस्तदा अमनोऽलम्बे वा शैककादयः खिसयुर्न किमपि
कार्यं गतो लज्जेन रिक्तेनस्याचार्यत्वम् ।

वावागिया मिनाणा-दियाण (गेहह) जोगंति ते तत्रो वेति
तुवते कीम न गेहह, हिंस्ताओ मयं चैव ॥

आचार्या ब्रह्मिहीनः सन् शिष्याभ्यान्निष्कांश्च व्यापारयेते
यथाभ्रान्तादौ भ्रान्तप्राप्त्यर्थं प्रवृत्तानां योग्यं गृह्णीत न एवं व्या-
पारिताः सन्तो वृत्ते युयं स्वयमेव द्विगुरुमाना गृह्णादिप्रायो-
ग्यं कस्मान्न गृह्णीत ।

एवाणाए परिभवो, वेति य दीमति य पामिस्सवं जे ।

आणह जाणमाणा, विमेन्ती एवमादीदि ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आजायाः परित्रव उत्पाद्यते यथा य-
दि गृयं प्रायोग्यं न लभ्ये वयं कथं ब्रह्मसामहे एवमुक्ते याथा-
चार्यो ब्रूते आर्या उद्यमेन किं न ब्रूयते तत एवमुक्ते कृष्टा वृत्ते
दृश्यते त्वयि ते भवतां प्रतिहार्यं मानिदयमाचार्यस्य स्वयमेव-
ज्ञानतः कस्मान्नानयत एवमादिनिस्त्रावर्धयन्तः खिसयन्ति
हीलयन्ति । गतमकारकद्वारम् ।

व्यावृद्धारमाह ।

वाटो य पाणमादी, दिट्ठो नत्थ होति उच्चेण ।

ओति य आत्तिओगो, विमे य इत्थीकए वा वि ॥

भिक्षामटितुं व्यावृद्धः श्वप्रभृतिकः कदाचिद्वृत्तिं तदा महत्य-
पभ्राजना तत्र दृष्टान्तद्वयेण यथा उच्यते परि ध्रियमाणं शोत्र-
ने अथः पतितं तु न किमपि एवमाचार्योऽपि वृद्धिः परिग्राहि-
तो गच्छन् शोभत तथा भिक्षाटनप्रवृत्तस्तु आदिपरिगृहीतो न
किमपि । तथा प्रतिरूपवानाचार्यो भवतीति लोतेन गाथायां स-
प्तमी नृत्तार्थोऽतियोगो वशीकरणे स्वीकृतं स्यात् । द्विषं वा केन-
चित्प्रतिषेधेन दीयते । एतदेवोत्तरार्थं व्याख्यातुमाह ।

मोण्डं अमपस्या, दट्ठं रुद्धं च नखणं कुन्धिया ।

तुर्वीतकमणिज्जस्सो, सो पुण मव्वे वि ते सत्तो ॥

युर्वीतकमनीयरूपतपाऽर्त्तिकदोषसंभावनया अयथा वटं
रुद्धं तर्त्तिकं नटानां नायकं कुम्भिता मोचयितुं न समर्थस्तेषां ता-

दकस्यजावात्स पुनर्युर्वीतकमनीयरूपस्तान् कुम्भितान्सर्वानपि के-
नापि दोषेण वटान् रुद्धांश्च मोचयितुं शक्तस्ततो यथा स प्र-
यत्नेन रट्टयेत् एवमाचार्योऽपि रक्षणीयोऽन्यथा दोषस्तथा चाह ।

एमेवायगियस्म वि, दोमा पमिस्सवं च सो होइ ।

दिज्जवि स भिच्छुवासो, अभिजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव तर्त्तिकस्येवाचार्यस्याप्यरक्षितस्य दोषा जवन्ति ।
तथाहि सोऽपि प्रतिरूपवान् भवति ततः कोऽपि निक्षुपासको
जितप्रयत्नप्रतापनामसहिष्णुर्विषं दद्यात्स्त्री वा काचिद्वपुश्च
अभियोगं कुर्यात् वशीकरणादि वा प्रयुज्जीत यस्मादेते दोषास्त-
स्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यभावाप-
त्तिस्तथा चाह ।

नखणहीणा वनडा, नायगहीणा च रुपिणी वा वि ।

वक्कं व तुंरहीणं, न हवति एवं गणो गणिणा ॥

यथा तर्त्तिकहीना नदा यथा नायकहीना रूपवती स्त्री यथा च
वक्त्रं तु एरुहीनं न भवति एवं गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि
न भवति तदेवं व्यावृद्धारं गतम् । इदानीं गणचिन्ताद्वारमाह ।

लाभालाजप्पाणि, अकारके वाट्टहुमादेसे ।

मेहखमए न नाहिति, चिट्ठो नाहिति न सव्वो ॥

केन पर्याप्तं लब्धं केन वा न लब्धमिति न ज्ञास्यति स्वयं भि-
क्षाटने परिश्रान्तत्वात्तथा अध्वनि मार्गे ये परिश्रान्ताः समागत-
प्राप्त्यर्थकाः तेषामिदं वाऽकारकं तथा बालान् वृष्टान् पूर्वान् गतां-
श्चादेशान् प्राप्त्यर्थकान् तथा शैकान् कृपकांश्च करणोपसाराकर-
णतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिश्रमणपरिश्रान्तत्वात् ति-
ष्ठन् पुनः सर्वान् यथोचित्येन ज्ञास्यति परिश्रमाज्ञात् । गते
गणचिन्ताद्वारम् ।

अधुना वादिद्वारमाह ।

सोऊण गतं खिसति, पमिच्छिउच्चा य वादिपेव्वेइ ।

अन्यंति सत्यचित्ते, न हंति दोसा तवादी य ॥

भिक्षामटितुं प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागतस्तेन साध-
व उक्ताः क आचार्याः साधुत्रिरुक्ते भिक्षाटनाय गतस्ततः स
त्रिकार्थं गतं श्रुत्वा खिसति हीनयति एतावत्तस्य पाणिमुत्थं स
स्वयं त्रिकामटति । ततः क्षणमात्रं प्रतीकृतः स आचार्य उद्भा-
न्तः समागतस्तेन समागते दृष्ट्वा वादी प्रेरयति । स च परिश्रान्त-
त्वाद्युत्तरं दातुमसमर्थस्तिष्ठति । पुनः स्वस्थचित्ते दोषास्तापाद्य
आदिशब्दात्तृपितादिपरिग्रहो जवति तथा च सति न वादि-
ना तस्य प्रेरणं किं तु जयति । वादी समागतो त्रिकार्थं गत
इति श्रुत्वा यदि गच्छेत्तदुपदर्शयति ॥

पागडियं माहणं, विणाणं चैव सुट्ठु ते गुरुणो ।

जइ सो विजाणमाणे, न वि तुवमणार्हतां हुंतो ॥

त्रिकार्थं गत इति वृत्ताणैर्नवद्विः सुष्टु अतिशयेन माहात्म्यं ग-
रिमन्नक्षणं विज्ञानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाता भवति
न चैव युष्माकमनादतो जयेत् । अधुना “ पमिच्छिउच्चा य वा-
दि पिव्वेइ ” इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पासाणियाणं च ह्येति परिचूतो ।

मेहादिभक्तगा वि य, दट्ठं अपुहं परिणमंति ॥

स त्रिक्राटनपरिश्रान्तः सन् न वि नैव उत्तराणि पश्यति
परिश्रमेण बुद्धेः सध्यापादनात्तथा च सति स प्राश्निकानामपि

सभ्यानामपि परिभूतो भवति ततो ये शैकुकादयो ये च भद्रका-
दयस्ते तन्मुखं निरुत्तरं दृष्ट्वा परिणमन्ति विपरिणामं प्रजन्ते ।

जिज्ञार्थमनन्दे पुनरिमे गुणाः ।

सुत्तथाण गुणाणं, विज्जामंता निमित्तजोगाणं ।

वीसत्थे पइरिक्खे, परिजिणइ रहस्ससुत्ते य ॥

सूत्रार्थानां तथा विद्यानां मन्त्राणां निमित्तशास्त्राणां योगशा-
स्त्राणां च गुणनं परावर्त्तनं भवति । तथा विश्वस्तः सन् प्रतिरि-
क्ते विविक्ते प्रदेशे रहस्यसूत्राणि परिजयति अत्यन्तं स्वच्यस्तानि
करोति तस्मान्न भिन्नार्थमदित्यमाचार्येण गतं वादिचारम् ।

इदानीमृद्धिमद्वारमाह ।

रम्मा वि दुवक्खरको, उवतो सव्वस्स उत्तमो होति ।

गच्छम्मि वि आयरितो, सव्वस्स वि उत्तमो होइ ॥

राज्ञा द्व्यक्करको दासो यद्यपि जात्या हीनस्तथाऽपि संस्था-
पितः सन् सर्वस्याप्युत्तमो जवति । उत्तमत्वाच्च यथा न कश्च-
न प्रेषणेन हिण्डाप्यते सोऽप्येवं यथा तथा गच्छेऽप्याचार्यः स-
र्वस्याप्युत्तमो जवतीति स सुतरां भिक्वां न हिण्डापयितव्यः ।

रायामच्चपुरोहिय, सेट्ठी मेणावतं तलवरा य ।

अभिगच्छंतायरिए, वहियं च इमं उदाहरणं ॥

यथा तीर्थकरश्चस्थकाले हिण्डमानोऽभ्युत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्रा-
द्यभिगमात्र हिण्डते । एवमाचार्यानापि आचार्यपदस्थापिता-
न् राजा अमात्यः पुरोहितः श्रेष्ठी सेनापतिः तलवराश्चाभिगच्छ-
न्ति ततस्तेऽपि भिक्वां न हिण्डन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहर-
णं तदेवाह ।

सोऊण य उवसंतो, मच्चो रम्भो तगं निवेदेइ ।

राया वितिए दिवसे, तइएऽमच्चो य देवी य ॥

राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः
स्वकमाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानतीवाचार्योऽमुकप्रदेशे
तिष्ठति ततो द्वितीयदिवसे राजा अमात्येन सह गतः धर्मं
श्रुत्वा परितुष्ट आगतो निजाग्रमहिष्याः परिकथयति अमात्येना-
प्यात्मीयज्ञार्यायाः कथितं ततोऽमात्यो देवी च तृतीयदिवसे ध-
र्मश्रवणाय समागते आचार्यो जिज्ञार्थं गतस्ततः ।

सोऊं पफिच्छऊण, वगया अहवा पफिच्छणे खिसा ।

ईरंति होंति दोसा, कारण पफिवत्तिकुसलेहि ॥

भिन्नार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलयित्वा गते । अथवा क्षणमात्रं
प्रतीक्ष्य हीलयन्त्यौ गते । यदि वा यावदाचार्य आगच्छति
तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयतः । अथवा प्रस्विन्नशरीरं परिगलत्प्र-
स्वेदमागते दृष्ट्वा खिसतो यदि वा क्रमेण सुष्ठु कृतं वन्दनं वा
सोमं कथयतो वा परिश्रमेण न सुष्ठु वचनविनिर्गमस्तत उ-
त्थिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इवैव भिन्नमदति किमाचा-
र्यत्वमेतस्य । एते जिज्ञां हिण्डमाने दोषाः । यदि पुनः कारणे
वक्ष्यमाणे भिन्नार्थं गतो भवेत् राजादयश्च तत्र गतास्ते च पृ-
च्छेयुः क्व गत आचार्यस्तत्र ये प्रतिपत्तिकुशलास्तैर्नन्दं प्रतिवक्त-
व्यं भिन्नार्थं गत इति किंतु चैत्यवन्दननिमित्तं गत इति । यदि
राजादय आचार्यमागच्छन्तं प्रतीक्षेरन् तदा येऽतीव दक्षा गी-
तार्थास्ते सुन्दरं पानकं प्रथमालिकां च सुन्दरं कल्पं चोत्पद्य-
न्ते च गृहीत्वाऽऽचार्यस्य कथयन्ति । तत आचार्यो मुखहस्तपा-
दादि प्रक्षाल्य प्रथमालिकां पानकं च कृत्वा अल्पं प्रावृत्य पात्रा-
द्यन्यस्य समर्प्य तादृशवेपो वसतावानीयते यथाऽनाख्या-

तोऽपि राजादिभिर्ज्ञायते एष आचार्य इति । ततो वसतिं प्राप्तस्व
पादप्रोच्छ्रनं पादप्रमार्जनार्थमादाय साधव उपतिष्ठन्ति । पादप्र-
मार्जनानन्तरं वसतेरन्तः प्रविश्य पूर्वरचितायां निषद्यायामुप-
विशति उपविष्टस्य चरणकल्पकरणाय कोऽपि साधुरुपदौकते
चरणप्रक्षालनानन्तरं च सर्वे साधवः पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतो वा
किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । एतदेवाह ।

कारणजिक्खस्स गते, वि कज्जमन्नं निवस्स साहिता ।

निज्जोगनयनपढमा, कमादिधुवणं मणुष्साइ ॥

कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे समापतिते भैक्षस्य गतेऽप्याचार्ये नृ-
पस्यान्यत्कार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्नियोगस्य नयनं ततः
क्रमादिप्रक्षालनं ततो मनोज्ञप्रथमालिकावितरणम् ।

कयकुरुकुय आसत्थो, पविसई पुव्वरइयनिसेज्जाए ।

पयया य होंति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥

कृतकुरुकुचः कृतकुलकुल आस्वस्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्व-
रचितायां निषद्यायामुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमीपेपवे-
शनप्रयतास्तथा भवन्ति यथा राजाऽपि चकितो जायते ।

अत्र परप्रश्नमाह ।

सीसा य परिच्छत्ता, चोयगवयणं कुटुंविसामणिया ।

दिट्ठतो दंरिएण, सावेक्खे चैव निरवेक्खे ॥

चोदकवचनमाचार्यं रक्षयित्वा शिष्या भिन्नार्थां प्रेषितास्तर्हि
ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुटुम्बगृहप्रदीपनदृष्टान्त-
स्तथा दण्डकेन दृष्टान्तः सापेक्षो निरपेक्षश्चाचार्य एष द्वार-
गाथात्तरार्थः ।

संप्रत्येनामेव विवरीषुः प्रथमतः “सीसा य परिच्छत्ता”

इति भावयति ।

वायादीया दोसा, गुरुस्स इतरोसि किं न ते होंति ।

रक्खयसिस्सच्चाए, हिंरुणतुट्ठे असमता य ॥

वातादयो दोषा गुरोर्भवन्ति इतरेषां साधूनां किं तेन जवन्ति
जवन्त्येवेति ज्ञावः । ततो हिण्डने हिण्डनदोषे तुल्ये आत्मनो
रक्षा क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेदं समञ्जसमित्य-
र्थः । अन्यच्च ॥

दसविहवेयावच्चे, निच्चं अब्भुट्टिया असदभावा ।

ते दाणिं परिभूआ-अणुज्जमंताण दंरुो य ॥

दशविधे आचार्यादिज्जेदतो दशप्रकारं वैयावृत्ये नित्यं सर्वका-
लमशत्रवाः सन्तोऽभ्युत्थितास्ते संप्रति वातादिदोषान्पश्य-
न्तिरपि जिज्ञातने प्रेष्यमाणाः परित्यक्तास्तथा दशविधे वैयावृ-
त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेषामनुद्यच्छतामाचार्यादिवैयावृत्याकरणे
यथाऽहं प्रायश्चित्तं दण्डो दीयते तदेवं “सीसा य परिच्छत्ता”
इति भावितम् ॥

इदानीं कुटुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥

वुट्ठीधन्नसुज्जरियं, कोछागारं रुज्जति कुटुंविसस ।

किं अम्ह मुहा देइ, केई तडियं न अण्णीणा ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्धा कालान्तररू-
पया धान्यं ददाति तथा च वृद्धा कौटुम्बिकस्य कोछागाराणि
धान्यसुसृजतानि जातानि । अन्यदा च तस्यैकं कोछागारं वृद्धिधा-
न्यसुसृजतं वह्निना प्रदीप्तेन दहते तत्र केचित्कर्षका विष्मापननि-
मित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोछागारे समागतास्तत्र केचित्कथयन्ति

किमेव कौटुम्बिकोऽस्माकं मुखा ददाति येन वयं विष्णापनार्थ-
मच्युयता भवामः ॥

एयस्स पत्तावेणं, जीवा अम्हेति एव नाऊण ।

अण्णे उ ममद्वीणा, विज्जाविण तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्तः स्म
जीव अनुप्रत्ययः जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समाहीनास्तत्र
समागता विष्णापनाय च प्रवृत्तास्ततो विष्णापिते कोष्ठागारे स
कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ हायागतं, करेसु तेमि अवहियं ।दन्नं ।

दट्ठंति न दिण्णिणरे, अकासगा दुक्खजीवी य ॥

ये विष्णापने सहायकत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं काष्ठान्तरवृद्धिर-
हितं धान्यं दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दुःखमित्युत्तरं
विधाय न दत्तं ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाताः ।
एव दृष्टान्तः ॥

सांप्रतमुपनयमभिधित्सुराह ॥

आयरिय कुटुवी वा, सामाणियथाणिया जवे साहू ।

वावाहअगणिनुद्धा, मुत्तन्था जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षक-
स्थानीयाः साधव आचार्यस्य जिज्ञासने वातादिव्यावाधा अग्नि-
तुल्या सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणां, करेति मुत्तत्पसंगहं येरा ।

हावेति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा
आचार्याः सूत्रार्थसंप्रदं कुर्वन्ति सूत्रार्थान्प्रयच्छन्ति यस्तदुदासी-
नस्तत्र हापयन्तीति न प्रयच्छन्तीति ज्ञायः स चोदासीना वत्त-
मानः केवलं सूत्रार्थयोग्यो भवति क्लेशभागी च संसारे जायते
गतं आपनद्वारम् ।

संप्रति दृष्टिरुक्कदृष्टान्तं विभावयिषुरिदमाह ॥

उप्पसकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंसे ।

अप्पाण गच्छमुज्जयं, पग्गियती तत्थिमं नायं ॥

उपपन्ने कारणे वक्ष्यमाणवृक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरा-
न्मानं गच्छमुज्जयं च परित्यजति तत्र चेदं वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदा-
हरणम् । तदवाह ।

मोउं पग्गलमायं, मत्सा एक्कागिओ उ जो राया ।

निगच्छति सो चयत्ती, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरपेक्षो राज्ये परवत्प्रमाणं श्रुत्वा वत्तवाहनान्यमेवयित्वा
सहसा एकाकी परवत्प्रस्य संमुखो निर्गच्छति स आत्मानं
राज्यमुभयं च त्यजति वत्तवाहनव्यतिरेकेण युष्मन्ते मरण-
भावात् । पञ्चमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा
भिक्षामट्टधान्यान् गच्छमुज्जयं च परित्यजति । उक्ता निरपेक्षद-
ष्टिरुक्कदृष्टान्तज्ञाना ।

संप्रति सापेक्षदृष्टिरुक्कदृष्टान्तभावनामाह ।

मावेनयो पुण राया, कुमारमादीहि पग्गलं खवियं ।

आजण, मयं पि जुञ्झइ, उवमा एमेव गच्छे वि ॥

सापेक्षः पुनः राजा प्रथमं कुमारमादीन् युद्धाय प्रेषयति ततः
कुमारादिभिः परवत्तं कृपयित्वा यदा कुमारं परवत्तं क्षपितं तदा
तस्मिन्नाजिते स्वयमपि राजा युज्यते एवमेवमा गच्छेऽपि दृष्ट्या ।

आचार्योऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असंस्तरणे स्वयमपि
द्विएडते एवं चात्मानं गच्छमुज्जयं निस्तारयतीति ज्ञायः ।
संप्रति यैः कारणैराचार्येण भिक्षार्थमट्टितव्यं तानि कारणान्याह ।

अप्पाणकक्खमाति, गल्लपादेसमाइएसुं तु ।

संथरमाणे भइतो, हिंमेज्ज असंथरंतम्मि ॥

अश्वानं प्रपन्नः सार्धेन सममाचार्यो गच्छंस्तत्र चासंस्तरणे
यदि सार्धिका आचार्यस्य गौरवेण प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेवा-
चार्यो द्विएरुते एवं कर्कशेऽपि क्षेत्रे भावनीयं तथा असति
सहायानामभावे को भिक्षामानीय ददातीति स्वयं द्विएरुते ।
तथा श्वाना बहवस्ततस्तेषां सर्वेषामपि गच्छसाधवः प्रयो-
ग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा श्वानप्रयोग्यमन्यः कोऽपि न व्रजते
तत आचार्यो द्विएरुते एवमादेशाः प्राघृष्टका आदिशब्दात्
वात्तवृक्षासहपरिग्रहस्तेष्वपि जावनीयम् । एतेषु विषयेषु असंस्-
तरति गच्छे नियमादाचार्यो द्विएडते अन्यथा प्रायश्चित्तसंभवा-
त्संस्तरति पुनर्भक्तो विकल्पितः द्विएरुते कदाचिन्न अच्युत-
विहारपरिकर्म कुर्वन् द्विएरुते शेषकावं नेत्यर्थः । एष द्वारगा-
थासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं संस्तरणे न द्विएरुते इति तत्र सं-
स्तरणं त्रिविधं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च तत्र जघन्यमधिकृत्याह ।

पंच वि आयरियादी, अत्थंते जहणए वि संथरणे ।

एमेव संथरंतं, सयमेव गणां अरुति गामे ॥

जघन्येऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपे संस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्ययप्र-
वर्त्तिस्त्विदगणावच्छेदिनस्तिष्ठन्ति जघन्येऽपीत्यपिशब्दः संभाव-
ने स चैतत्संज्ञायति । यदि तावत् जघन्येऽपि संस्तरणे प-
ञ्चाप्याचार्योदयस्तिष्ठन्ति ततो मध्यमे उत्कृष्टे संस्तरणे नियमा-
त्पञ्चमिरपि स्थातव्यम् । एवमपि जघन्येनापि संस्तरणेनासं-
स्तरति गच्छे स्वयमेव गणी आचार्यो ग्रामे भिक्षामट्टति स च
प्रतिलोमपरिपाट्या पर्यन्ते तथाहि जघन्येनापि असंस्तरति प्रथमं
गणावच्छेदको द्विएरुते तथाऽप्यसंस्तरणे स्थविराऽपि द्विएरुते
एवमप्यसंस्तरणे प्रवर्त्यते तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि त-
थापि चेन्न संस्तरति गच्छस्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उत्कृष्टसंस्तरणमाह ॥

मंडलगयाम्मि सूरे, उत्तिष्ठा जाव पट्टवणवेला ।

ता एंति जुत्तामेस-गया च उक्कोससंथरणे ॥

नजोमरुद्वस्य मध्यगते सुये मध्याहे इत्यर्थः भिक्षार्थमवतीर्ष-
स्ततः पर्याप्तं द्विएरुत्वा यावत् तृतीयपौरुष्या आदौ स्वाध्याय-
प्रस्थापनवेला तावत्स निवर्त्तते एतदुत्कृष्टं संस्तरणम् । अथवा तृ-
तीयपौरुष्या आदौ स्वाध्यायप्रस्थापनवेलायां स निवर्त्तते एत-
दुत्कृष्टं संस्तरणम् ।

मध्यमं जघन्यं चाह ।

सण्णतो आगयाणं, चउपोरिमि मज्झिमं हवति एयं ।

विमुयाविय मत्तदिणे, समतिऽत्थंते जहणं तु ॥

मध्याह्नादारज्य भिक्षार्थमवतीर्णानां पर्याप्तं द्विएरुत्वा वसता-
वागतानां जुत्तानां सञ्ज्ञातः सञ्ज्ञाजूमित आगतानां यदि चतु-
र्थी पौरुषी अवगाहते एतत् मध्यमं संस्तरणं भवति । मध्या-
ह्नादारभ्य भिक्षामट्टित्वा जुक्त्वा सञ्ज्ञाजूमितः प्रत्यागतमात्रेषु वि-
मुयावियसु, विशोधितेष्वस्तमये पुनर्दिने समति जघन्यं संस्-
रणमवसातव्यं तदेवमुक्तं जघन्यादिज्ञेदजिज्ञं संस्तरणम् ।

इदानीं मध्यादिद्वारव्याख्यानार्थमाह ॥

अप्पाणेऽसंथरणे, अकोवियाणं विकरण पल्लवे ।

एमेव कवरुम्भि वि, अगति चि सहायगा नत्थि ॥

अन्वानि साधेन समं व्रजतामसंस्तरणे भिक्कार्थमाचार्यो हि-
गमते । अथवा ते सहायाः अकोविदाः साधे च प्रत्नम्बान्यविक-
रणीकृतान्यस्वामीकृतानि व्रज्यन्ते तत आचार्यः स्वयमेव हि-
गमानस्तानि विकरणानि कृत्वा सन्निवर्त्तने अथवा ददतामु-
पदेशं ददाति विकरणानि कृत्वा ददधमिति । एवमकोविदानां
सहायानां जावे प्रलम्बविकरणनिमित्तमाचार्यो गच्छति । एव-
मेव कर्कशेऽपि केत्रे भिक्कार्थं गमनमाचार्यस्य भवति तत्रान्यसं-
स्तरणे अकोविदाः सहायजावे प्रत्नम्बविकरणाय वा गच्छन्तीति
तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव नि-
कामटति ।

बहुया तत्थ तरंता, अह गिह्वाणस्स सो परं लहति ।

एमेव य आदेने, सेमसु विजासबुद्धीए ॥

बहवस्तत्र गच्छे अतरन्तो ग्लानास्ततः सर्वेषां गच्छसाधवः प्रा-
योग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्लानस्य परं प्रायोग्यमन्यां न
लभते किंतु स एवाचार्यस्ततः स हिण्डते । एवमेवाददेशेषु प्र-
ग्लानकेषु शेषेषु च बावबुद्धासहेषु विभाषा विज्ञापणं तच्च बु-
द्ध्या कर्त्तव्यं तच्चैव यथादेशादयो बहवः सर्वेषां साधवः कर्त्तुं
न शक्नुवन्ति यदि वा स एवादेशादिप्रायोग्यं व्रजते नान्यः को-
ऽपि ततः स हिण्डते ।

संप्रति “ संथरमाणे भइओ इति ” व्याख्यानयति ।

अभुज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोसिरिति ।

ताव मयं सो हिंरुइ, इति भयणे संथरंतम्मि ॥

अन्युद्यतविहारपरिकर्मं कुर्वन् यावत् गणं न व्युत्सृजति ता-
वत्त्वयं स आचार्यो हिण्डते इत्येषा भजना संस्तरति गच्छे ।

अच्छाणादिमुवेहं, सुहसीलत्तेण जो करेज्जाहि ।

गुरुगा य जं च जत्थ व, सब्बपयत्तेण कायव्वं ॥

अध्वादिषु अध्वकर्कशादिष्वसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यालम्बनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यः करोति जिक्कां न हिण्डते इत्यर्थस्तस्य प्रायश्चित्तं च-
त्यारो गुरुकाः । यच्च तत्र वा अनागादपरितापनादि साधवः
प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तं तस्मात्सर्वप्रयत्नेना-
ध्वादिष्वसंस्तरणे जिक्काटनं कर्त्तव्यम् ।

सांप्रतमसंस्तरणयतनामाह ।

असती पणिलोमं तु, सग्गामे गणदाणसहेसु ।

पेसति विंतिए दिवसे, आवज्जइ मामियं गुरुयं ॥

असति अवमौदर्यादिना गच्छसंस्तरणाभावे प्रतिलोमं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमवसातव्यं तद्यथा प्रतिवृषभादि-
नाऽसंस्तरणे गणावच्छेदकः प्रतिवृषभादिभिः सह हिण्डते तथा
प्यसंस्तरणे स्थविरोऽपि तथा प्यसंस्तरणे प्रवर्त्तकोऽपि तथा-
प्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथाचेन्न संस्तरति तर्हि स्वग्रामे
दानश्राद्धेषु कुलेष्वाचार्यगमनं भवति तथापि चेदसंस्तरणं
तत आचार्योऽन्यान्यपि गृहाणि । तथा केनापि साधुना कस्मिंश्चि-
त्कुले ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं याचितं परं न लब्धम् । अथवा
तद्द्रव्यं तस्मिन्गृहे प्रभूतमस्ति अन्यत्र च न विद्यते तत्र यदि हि-
नीये दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तमेवाचार्यः प्रेषयति ततो
गुरुकं मासिकं प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति ।
तद्यथा प्रथमं गणावच्छेदकः प्रेष्यस्तेनालब्धे स्थविरस्तेनाप्य-

लब्धे प्रवर्त्तकस्तेनाप्यलब्धे उपाध्यायस्तेनाप्यलब्धे स्वयमा-
चार्यो व्रजति । यदि वा स गृहप्रभुर्यस्य गौरवं करोति स
प्रेषयितव्यः ।

सांप्रतमस्या एव गाथायाः पूर्वाद्धं भावयति ।

गणावज्जेदओ पुव्वं, ठवणकुल्लेसुं व हिंरुइ सगामे ।

एवं थेरपवित्तिं, अभिसेयं गुरुयपरिदोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वग्रामे स्थापनाकुलेषु हिण्डते एवं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं वक्तव्यं तद्यथा असंस्तरणे स्थविरो-
ऽपि हिण्डते तथाऽन्यसंस्तरणे अभिषेक उपाध्यायस्तथापि सं-
स्तरणाभावे गुरुरपि । अधुना “ पेसति विंतिए दिवसे ” इत्यादि
भावयति ।

ओभामिय पडिमिद्धं, तं चेव न तत्थ पट्टवेज्जा उ ।

पणिलोमं गणिमाद्री, गारवं जत्थ वा कुणति ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्कुले
अवभाषितं याचितमित्यर्थः । नञ्च गृहप्रभुणा प्रतिषिद्धमन्यत्र
तत् द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे ततो चित्तीयदिवसे तत्र
कुले न तमेव प्रेषयति किं तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिकं
यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुर्गौरवं करोति तं वा प्रेषयेत् ।

नित्यकरं चि समत्तं, अहुणा पावयणनिज्जरा चेव ।

वच्चंति दो व समगं, दुवाअसगं पवयणं तु ॥

तीर्थकर इति द्वारं समाप्तम् । अधुना प्रवचनं निज्जरा चेति हे
अपि द्वारे समकमेककालं व्रजतस्तत्र प्रवचनं नाम छादशाङ्क-
गणिपिटकम् ।

तं तु अहिज्जंताणं, वेयावचे उ निज्जरा तेसिं ।

कस्म भवे केरिसिया, सुत्तत्थे जहोत्तरं वलिया ॥

ननु द्वादशाङ्कं गणिपिटकमधीयानानां वैयावृत्ये क्रियमाणे
तेषां वैयावृत्यकराणां महती निज्जरा तदावरणीयस्य कर्मणः क्ष-
यकरणात् महापर्यवसानः पुनरन्यतन्वकर्मवन्धाभावात् । अत्र
शिष्यः प्राह । कस्य कीदृशी निज्जरा भवति । आचार्यः प्राह
सूत्रे अर्थं च यथोत्तरं वलिका एतदेव विभावयिषुराह ।

सुत्तावस्सगरादी, चोदमपुव्वाण तह जिणाणं च ।

जावे सुद्धममुद्धं, सुत्तत्थे मंरुत्ती चेव ॥

सूत्रमावश्यकानि यावच्चतुर्दशपूर्वाणि एतद्द्वारा यथो-
त्तरं महती महत्तरा निज्जरा एवमर्थेऽपि जावनीयम् । तथा
जिनानामप्येवंविधाजिनप्रवृत्तीनां यथोत्तरं वलिका निज्जरा ।
इयमत्र जावना । एक आवश्यकसूत्रधरस्य वैयावृत्यं करोति
अपरो द्वादशैकाधिकसूत्रधरवैयावृत्यकरस्तस्य आवश्यककरा-
न्महती निज्जरा एवमर्थस्तनाधस्तनतरश्रुतधरवैयावृत्यकरादुप-
र्युपरितरश्रुतधरवैयावृत्यकरो यथोत्तरं महानिर्जस्तावदवसेयो
यावन्नयोदशपूर्वधरवैयावृत्यकराच्चतुर्दशपूर्वधरवैयावृत्यकरो-
महानिर्जरः । एवमर्थेऽपि भावनीयं तदुभयचिन्तायां ग्लान-
वैयावृत्यकरार्द्धवैयावृत्यकरो महर्षिको नवरं निशीथकल्प-
व्यवहागर्थधराणां वैयावृत्यकरो महानिर्जरः । तथा श्रुतज्ञा-
निवैयावृत्यकरः । तथा जावः परिणामस्तस्मिन् शुद्धे अशुद्धे च
तदनुसारेण निर्जरा प्रवर्त्तते । तथा सूत्रार्थे युगपच्छिन्त्यमानं यथो-
त्तरं वलिका । तथा मण्डलीसूत्रार्थावधिकृत्य विचारणीया । इहा-
चार्यः प्रस्तुतस्तमधिकृत्य वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा तामाह ।

पावयणी खलु जम्हा, आयगितो तेण तस्म कुणमाणो
महतीए निज्जराए, वहाति साहू दमविहम्मि ॥

पावयणी प्रायचनिकः खलु यस्मादाचार्यस्तेन तस्य वैद्यावृत्यं कु-
र्वन् साधुमहत्यां निर्जरायां वर्त्तते एवं दशविधेऽपि वैद्यावृत्यं
नृणां निर्जराकृत्वा भावनीयम् । संप्रति यदुक्तं नाथे गृहे अगृहे
च तदनुसारतो निर्जरा जयतीति तत्र भावो व्यवहारतः गुरु-
वस्तुप्रज्ञावाद्भवतीति प्रतिपिपादयिषुराह ।

जारिसगं जं वत्थु, मृयं च निहं च ओहिमादीणं ।

तारिसतो च्चिय भावो, उप्पज्जति वत्थुतो जम्हा ॥

यादृशं यद्वस्तु प्रतिमादिकं यस्य यावच्च श्रुतं त्रयाणां चावृ-
त्त्यादीनां स्वप्नानि ये विशेषास्तस्माद्वस्तुतः श्रुताद्विशेषात्तादृशा-
न् नाथः परिणामो व्यवहारस्तादृश उत्पद्यते तदनुसारेण च
निज्जरा ततः पूर्वं श्रुतचिन्तायामर्थचिन्तायां तथा जिनानां च य-
थोत्तरं वलिका निर्जरोक्ता । तथा चैवमेव व्यवहारनयं प्रति-
पिपादयिषुराह ।

गुणज्जुद्धे दव्व-म्मि जेण मत्ताहियत्ताणं जावे ।

इति वत्थुतो इच्छाते, ववहारो निज्जरं विज्जं ॥

यत् यतो गुणवृत्तिष्ठं इच्छ्यं ततस्तस्मिन् येन कारणेन मात्रा-
धिकत्वं परिणाम इति अस्मात्कारणात् वस्तुतः प्रतिमाश्रुतादे-
र्यथोत्तरं गुणवृत्तिष्ठात् विपुलां निर्जराभिच्छति व्यवहारो व्यव-
हारनयः । एतदेव स्पष्टतरं जावयति ॥

लक्खणजुत्ता पक्खिमा, पासादीया समत्तलंकारा ।

पट्हायति जह व मणं, तह निज्जरं मो विद्याणाहि ॥

या प्रतिमा लक्षणयुक्ता प्रसादी मनःप्रसादकारणं समस्तालं-
कारा तां पश्यतो यथैव मनः प्रह्लादते तथा निर्जरां विजानाहि
यथाधिकं मनःप्रह्लादिततो महती निर्जरा मन्दमनःप्रह्लादो तु
मन्देति भावः ॥

मृयवं अतिमयजुत्तो, मुहोचितो तह वि तत्रगुणज्जुत्तो ।

जो सो मणप्पसातां, जायइ सो निज्जरं कुणति ॥

श्रुतवानेषः अत्राप्यनेके त्रेदास्तथा अतिशययुक्तो ऽवस्थापति-
शयोपेतो ऽत्राप्यवस्थादिविषये बहवस्तरतमविशेषाः सुखोचि-
तोऽपि तपसि स ब्राह्मण्यन्तरे गुणे ज्ञानादौ च युक्तस्तपोगु-
णोद्यत इत्येवं योऽसौ यादृशो मनःप्रसादो मनःप्रसत्तिपरिणा-
मो जायते स तादृशी निर्जरा करोति । तस्माद्वस्तुनो निर्जरेति
व्यवहारनयः । तदेवमुक्तं व्यवहारनयमतम् ।

अधुना निश्चयनयमतमाह ।

निश्चयतो पुण अप्प, जस्म वत्थुम्मि जायते भावो ।

नत्तो सो निज्जगो, जिण्णायम मीहआहरणं ॥

निश्चयतः पुनरप्येव महागुणाः गुणान्तराद्धीनगुणेऽपि व-
स्तुनि यस्य जायते तीव्रः शुभो जावस्तस्मात्तस्माद्गुणतरविषय-
भावयुक्तात् स हीनगुणविषयतीव्रशुभभावो निर्जराको महानि-
ज्जरतरः सद्भावस्यातीव शुभत्वात् । अत्र जिनगौतम-
निद उदाहरणम् । तच्चैवम् “ निविट्ठुत्तणे भयवया वरुमाण-
सामिणा सांढो निदतो, अधिति करेइ खुइल्लगेण निदतो हम्मि-
ति परिज्जवतो मोयमेणं सारहिच्चणेण मणुसासितो मा अधि-
ति करेइ तुमं पमुसांढो नरसांहेण मारियस्स तुज्ज को परिभ-
वो एवं सो अणुसासिज्जेतो मतो । ततो संसारं भमिक्ख भव-

वतो वरुमाणसामिस्स चरमतिथगरभावे रायगिहे नयरे क-
विस्स बंभणस्स य वरुणो जातो सो अणुसासितो य जहा एस्स
महप्पा तित्थं करो एयम्मि जो परिनिवसति सो पुग्गइ जाति ।
एवं सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयमसामीणा दिक्खा ।

एतदेवाह ।

सीहो तिविहनिहतां, भमिउं रायगिहं कविलवकुग ति ।

जिणवरकट्ठणमणुवमम, गोयमोवस मे दिक्खा य ॥

सिंहस्त्रिपृष्टेन निहतः संसारं भ्रमित्वा राजगृहे कपिलस्य ब्रा-
ह्मणस्य वटुकोऽनृत् जिनस्य वीरस्य कथनं तथाऽपि तस्यानु-
पशमो गौतमेन चानुशासने कृतेऽनृत् उपशमो दीक्षा च । अत्र
भगवदपेक्षया हीनगुणेऽपि गौतमे तस्य गुरुपरिणामो जायते
इति महती निर्जराऽभवदिति ।

संप्रति ‘सुत्तथे’ इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुज्जए, पुर्व्वि जणिया जहोत्तरं वल्लिया ।

मंरुल्लिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ जूयत्थं ॥

सूत्रे अर्थे तदुज्जयस्मिन् स्वस्थाननिर्जरा पूर्वं यथोत्तरं वल्लिका
वर्त्तवती जणिता । संप्रति पुनः सूत्रार्थतदुज्जयेषु युगपच्चित्त्य-
मानेषु यथोत्तरं निर्जरा बलवती । सांप्रतं ‘मंरुली चैवत्ति’ व्या-
ख्यानाधेमाह (मंरुलीए पुण इत्यादि) मंरुल्यां पुनर्भजना वि-
कल्पना यदि जानाति तत्र मंरुल्यां चृतार्थं सद्भूतमर्थं तदा
स महानिर्जरकः । इयमत्र भावना मंरुल्यां पठन्ति पाठय-
न्ति च तत्रावश्यकानि पठतां यथोत्तरं पठन्तो वल्लिकाः । अथ
जानाति वैद्यावृत्यकरो यथाऽधस्तनसूत्रपाठको ज्ञानादिभिर्गु-
णैरधिकतरस्ततोऽधस्तनश्रुतपाठकस्य वैद्यावृत्यकरणे महती
निर्जरा ददतां मध्ये य उपरितनश्रुतवाचकः स ज्ञानादिभिरधिक-
तर इति तद्वैद्यावृत्यकरणे महती निर्जरा । अथ जानाति वैद्या-
वृत्यकरो यथाऽधस्तनश्रुतवाचको ज्ञानादिभिरधिकतरस्ततोऽ-
धस्तनश्रुतवाचकस्य वैद्यावृत्यकरणे वर्त्तवती निर्जरा । वाचकप्रा-
तीक्षिकानां मध्ये यो वाचकस्तद्वैद्यावृत्यकरणे महती निर्जरा
अथ वैद्यावृत्यकरो जानात्येष प्रातीक्षिक आचार्यो वाच्यते
तत्प्रत्युज्वाहनमात्रं यावतां सर्वमेतस्यायति सूत्रतोऽर्थतश्चा-
धिकतर इति तदा तस्य प्रातीक्षिकस्य वैद्यावृत्यकृते महती
निर्जरा । इह सूत्रेऽर्थे तदुभये च यथोत्तरं वर्त्तवती निर्जरेत्युक्तम्
तत्र यथोत्तरं निर्जराया बलवतां जावयति ।

अत्थो उ महक्कित्तो, करणेणं घरस्म निप्पत्ती ।

अव्भुट्ठाण गुरुगा, रणो याणे य देवी य ॥

दृष्टान्तः सूत्रात् केवलान्तरार्थाद्वा स सूत्रार्थो महर्द्धिकः किं
कारणमिति चेत् उच्यते । अत्र कृतकरणेन गृहस्य निष्पत्तिः
इतश्च सूत्रार्थः स सूत्रो महर्द्धिकः सूत्रमंरुल्यामाचार्यादयः
प्राथमिकप्रभृतीनामनुष्ठानं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्यां पुनर्थस्य
समीपे अनुयोगं श्रुतवान् तमेकं मुक्त्वा अन्यस्य दीक्षागुरो-
रनुष्ठाने चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तं ततः सूत्रार्थो वर्त्तयान्
अत्रार्थे राक्षः शातवाहनस्य याने निर्गमने देव । दृष्टान्तः । एव
माथाकारार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीपुः कृतकरणेन गृहस्य

निष्पत्तिरिति दृष्टान्तं भावयति ।

आराहितो नरवती, तिहि उ पुरिसेहिं तेसि संदिसनि ।
अमुयपुरे सयसहस्स, घरं व एणसि दायव्वं ॥
पट्टग घेत्तूण गतो, उंरियं विनिया उ तःओ उभयं ।
निष्फल्लागो दोणि तहिं, मुहापट्टे उ सफल्लो उ ॥

एको नरपतिस्त्रिभिः पुरुषैराराधितस्ततः परितुष्टः स नरपति-
स्तेषां प्रत्येकं संदिशति । यथा अमुकपुरे सुन्दरं गृहं शतं सह-
स्रं च दीनाराणामित्येषां प्रत्येकं दातव्यमिति तत्रैकोऽयं संदेशं
पट्टके गृहीत्वा लेखयित्वा गतो द्वितीयः (उण्णिकां) मुद्रां
गृहीत्वा गतस्तृतीय उभयं पट्टके लेखयित्वा गतस्तत्र येन
पट्टकं तद्व्यतिरेकेण मुद्राप्रतिबिम्बमानं गृहीतं तौ ह्यपि निष्फल्लौ
जातौ । तथाहि ते त्रयोऽपि तत्रगरं गतास्तत्र य आयुक्तस्तस्य
समीपमुपागताः । पट्टकं मुद्रामुजयं च दर्शयन्ति तत्रायुक्तेन प्र-
थमो जणितो मुद्रां न पश्यामि कथं ददामि द्वितीयो जणितो
जानामि राज्ञो मुद्रां न पुदज्जानमि राज्ञः संदेशं किं दातव्य-
मिति । एवं तौ निष्फल्लौ जातौ यस्य तृतीयस्य मुद्रा पट्टकञ्च
स सफल्लस्तस्यायुक्तेन यथाङ्गसदानात् पप दृष्टान्तः ।

संप्रतिमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, सुत्तं अत्थो य उंरियट्ठाणे ।
उत्सग्गववायत्थो, उभयसरिच्छेय तेण वट्ठी ॥

एवममुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं सूत्रम् उण्णिका
मुद्रा तत्स्थानीयोऽर्थः उत्सर्गापवादस्य उभयसदृक्तेन च द्वौ
तस्योजयस्य ज्ञावात् ।

संप्रति 'अञ्जुछाणे गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

सुत्तस्स मंफ्तीए, नियमा उट्ठति आयरियमादी ।
मुत्तूण पत्रापंतं, न उ अत्थे दिक्खाणं गुरुं पि ॥

सूत्रमण्डल्यां वाचयन्त आचार्यादय आचार्योपाध्यायप्रभृतयः
प्राचूर्णकादीनामागच्छतां सर्वेषामपि नियमादुत्तिष्ठन्ति अञ्जुत्था-
नं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्यां पुनरुपविष्टः सन् यस्य समीपेऽनुयो-
गः श्रुतस्तमेकं प्रवाचयन्त मुक्त्वा अन्यं दीक्षुणमुक्षमपि नाञ्जु-
त्तिष्ठति यद्यञ्जुत्तिष्ठति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।
भोतारोऽपि यथाचार्ये अनञ्जुत्तिष्ठत्यञ्जुत्तिष्ठन्ति तदा तेषाम-
पि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगं श्रुतवान्
तस्य नाञ्जुत्तिष्ठति तर्हि तदाऽपि तस्य चतुर्गुरुकम् । अत्र द-
ष्टान्तो राज्ञो देवी तं ज्ञावयति ।

पतिलीलं करेमाणी, नोड्डिया सातवाहणं ॥

पुढवी नाम सा देवी, सो य रुद्धो तर्हि निवो ॥

राज्ञः शा (श्रि) तवाहनस्य पृथिवी नाम अग्रमहिषी अन्यदा सा
क्वापि निर्गते राज्ञि शेषाभिरन्तःपुरिकाजिदेवीभिः संपरिवृता
ज्ञातवाहनवेषमाधाय राज्ञ आस्थानिकायामुपपतिर्ब्रह्मा विरुम्ब-
मानाऽवतिष्ठते । राजा प्रत्यागतः प्रविष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पति-
ह्रीन्नां कुर्वन्ती पुथिवी नाम देवी शातवाहनं राजानमयात्तमपि
दृष्ट्वा नोत्थिता तस्या अनुत्थाने शेषा अपि देव्या नाञ्जुत्थितव-
त्यस्ततः स नृपो राजा तत्र रुष्टो ब्रूते त्वं तावन्महादेवी ततो म-
हादेवीत्वेन नाञ्जुत्थिता पताः किं त्वया चारिता यन्नाभ्युत्थानम-
कापुंस्ततो न सुन्दरमेतदिति ।

ततो एं आह सा देवी, अत्थाणीए तवाणहा ।

दासा वि सामियं एतं, नोड्डन्ति आवि पत्थिवं ॥

ततो राजात्तदनन्तरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह ।
तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि नाथाः संपूर्णगुणा पा-
थिवमपि स्वामिनमागच्छन्तं नाञ्जुत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकायाः
प्रत्यय एवैवः । तथाहि ।

तुंवावि गुरुणो मोत्तुं न वि उट्ठेनि कस्सइ ।

न ते लीला कया ह्तांती, उट्ठती हं म तोसितो ॥

त्वमप्यस्यामास्थानिकायामुपविष्टो गुरुन् मुक्त्वा नान्यस्य क-
स्यापि महीयसोऽप्युत्तिष्ठन्ति अहमपि तवास्थानिकायां त्वदीयां
ह्रीन्नां धरन्ती समुपविष्टा ततो न सपरिवाराऽञ्जुत्थिता यदि
पुनस्ते तव ह्रीन्ना न कृता स्वात्ततोऽहमञ्जुत्तिष्ठेयमित्येवं राजा
देव्या तोषितः । एवमत्रापि तीर्थकरस्थानीय आचार्योऽर्थमण्ड-
ल्यामुपविष्टः सन् न कस्याप्यभ्युत्तिष्ठति ॥

अमुमेवार्थं गौतमदृष्टान्तेन दृढयति ।

कहं ते गायमा अत्थ, मोत्तुं तित्थगरं मयं ।

न वि उट्ठेइ अन्नम्म, तग्गयं चेव गम्मति ॥

न खलु भगवान् गौतमोऽर्थं कथयन् स्वकामात्मीयं तीर्थकरं
मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तिष्ठति अभ्युत्थानं कृतवान् तदंतं
चेदानीं सर्वैरपि गम्यते तदनुष्ठितं सर्वमिदानीमनुष्ठेयते ततोऽ-
र्थं कथयन् न कस्याप्युत्तिष्ठेत् ।

संप्रति श्रवणविधिमाह ।

सोयव्वे उ विट्ठी पुण, अव्वक्खेवादि होइ नायव्वो ।

विकखेवम्मि य दोमा, आणादीया मुण्णेयव्वा ॥

श्रोतव्ये पुनर्यं विधिगव्यांक्रपादिर्जघनि ज्ञातव्य आदिशब्दा-
च्छिकथादिपरिग्रहस्तद्व्याक्रेपे पुनराज्ञादयः । आज्ञानवस्थामि-
थ्यात्वविराधनारूपदोषा ज्ञातव्याः । अत एवाञ्जुत्थानमपि न
क्रियते तस्मिन्सति व्याक्रेपादिसंभवात्तथा चैतदर्थमेव द्वारगा-
थाद्वयेनाह ।

काउस्सग्गे विकखे-वया य विकहा वि सोतिया पयते ।

उवणय वाउलणा वि य, अक्खेवो चेव आहरणं ॥

आरोवणा पस्वण, उग्गह निज्जरा य वाउलणा ।

एणहिं कारोहिं, अञ्जुछाणं तु पम्फुट्ठं ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कायोत्सर्गे कृते पतैः कारणैरञ्जुत्थानं
प्रति कुष्ठं निराकृतम् । कैः कारणैरत आह । " विकखेवया च
इति " व्याक्रेपस्य व्याक्रेपशब्दस्य ज्ञावः प्रवृत्तिनिमित्तं व्या-
क्रेप इत्यर्थः । अञ्जुत्थाने क्रियमाणे व्याक्रेपो भवति व्याक्रेपाच्च
विकथा चतुर्विधा प्रवर्तते तत्प्रवृत्तौ चेन्दिष्येन्नसा विश्रोत-
सिका संयमस्थानप्लावनमिति भावः । तस्मादञ्जुत्थानमकुर्वन्
प्रयतः शृणुयात् प्रयतो नाम कृताञ्जलिप्रग्रहो दृष्ट्या सुरिमुखार-
विन्दमेवेकमाणो बुभुषुषुभस्तथाऽञ्जुत्थाने क्रियमाणे उपन-
यस्य विषये व्याकुलना उपनयः कस्याप्यर्थे न क्रियेत । उप-
नयग्रहणमुपलक्षणं तेन यद्वहणं जातं तत् व्याकुलनात् भ्रश्यति
पृच्छा वा कर्तुमारब्धा विस्मृतिमुपयाति काशो वा व्याख्यानस्य
वृत्त्यतीति । तथा निरन्तरमविच्छेदेन ज्ञापमाणेऽस्य शृण्वतो
महान्याक्रेपस्तीव्रगुणपरिणामरूपो जायते अञ्जुत्थाने च तद्वत्
महान्याक्रेपस्तीव्रगुणपरिणामभावतो योऽवध्यादिब्रह्मः सं-
घातस्तथा च सति गुणपरिणामभावतो योऽवध्यादिब्रह्मः सं-
प्राव्यते तस्य विनाशोऽत्रार्थे चाहरणं ज्ञातं वक्तव्यम् । तथा
आरोवणायाः प्रायश्चित्तप्ररूपणे क्रियमाणे अञ्जुत्थाने व्याघा-
तो भवति, व्याघाताच्च सम्पगवग्रहो ग्रहणं न भवति न खलु

व्याक्रिसोऽवग्रहीतु शक्नोति किं व्याक्रित इति प्रतं तमेतत् ।
तथाऽप्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलना ततः सम्यक् श्रुतोपयोगो
न भवति तदज्ञावाच्च ज्ञानावरणो यस्य कर्मणो न निजरा । ए-
तैः कारणैरभ्युत्थाने प्रतिकुष्टम् ।

मां प्रतमेतदेव गाथाद्वयं विवरीषुः प्रथमतः " काउस्सगो
विक्खेवसा य " इति ज्ञापयति ॥

हठारियाए नंदीए, विक्खेवे गुरुतो जवे ।

अपसस्थ पमन्थं य, दिट्ठंतो हत्थिजावका ॥

अनुयोगारम्भार्थं कायोत्सर्गे कृते नन्दां इ न पञ्चकरूपाया-
मुत्तरितायामभ्युत्थानेनान्वेन वा प्रकारेण यो व्याक्रोपं करो-
ति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको मासस्तस्माद् व्याक्रोपो न कर्तव्यः ।
अत्राप्रशस्ते व्याक्रोपकरणे प्रशस्ते च व्याक्रोपकरणे दृष्टान्ता
हस्तिजावकाः इस्ती च शास्तीनां जावकाश्च । तत्राप्रशस्तं प्रातः-
पादयति ॥

नइ सालिं लुणार्त्तो, कोइ अत्थारिएहि उ ।

सेयं हत्थि तु दावेइ, धाविया ते य मग्गओ ॥

न वृना अहं साक्षिओ, वक्खेवेणेव तेण उ ।

वक्खेवावरयाणं तु, पोरिमीए व जज्जइ ॥

यथा कोऽपि कुटुम्बी निजे जेव "अत्थारिएहि तु" ये मूल्य-
प्रदानेन शास्त्रिजननाय कर्मकराः जेव क्षिप्यन्ते ते आस्तारिका-
न्तैर्लावयकधमपि सप्ताङ्कप्रतिष्ठितं श्वेतमारण्यहस्तिनमागतं
दृष्ट्वा दर्शयति तद्दर्शने च ते हस्तिनो मार्गतः पृष्ठतो धाविताः ।
आगतैरपि हस्तिनो रूपेण क्षिप्तैर्हस्तिरूपं वर्षयन्मृतेन व्याक्रो-
पेणा ते शास्त्रियो न लूना एवमिहापि अभ्युत्थानेन व्याक्रोपस्ता-
नां पौरुषीभक्तो जवति । व्याख्याने पुनर्न किमपि याति तस्मा-
द् व्याक्रोपो न विधेयः । प्रशस्ते व्याक्रोपकरणे दृष्टान्तः स्वयं जाव-
नीयः । स चैव एकः कौटुम्बिकः शास्त्रिजेव जावयति तस्य
सत्कया दास्या शास्त्रि लूनत्या सप्ताङ्कप्रतिष्ठितः श्वेतो वनहस्ती
चरन् दृष्टो दास्या ज्ञाते यदि शालिजावकानां कथयिष्यामि ततो
हस्तिनं दृष्ट्वा हस्तिनो रूपेणाक्षिप्ता हस्तिनो रूपं वर्षयन्त आसि-
ध्यन्ते एव च हस्ती दिनेऽस्मिन्नवकाशे दृश्यते ततः शास्त्रिनं
क्षिप्यन्ते यदा तु शास्त्रिः परिपुष्णो लूनाऽनवत् तदा सा दासी
हामिनः शास्त्रिजावकानां चाचकथत् ततस्तेरुक्तं किं तदा
न भ्यातं तदा दासी प्रादं शास्त्रिजावितव्यव्याघातो जविष्यतीति
हेतोस्ततः पदमुक्ते कौटुम्बिकः परितुष्टस्तेन च परितुष्टेन मस्त-
कप्रक्षालनतोऽदासी कृता । एवमिहापि व्याक्रोपो न करणीय-
स्तथा च सति जगद्यदाज्ञापरिपाक्षनतः कर्मकृत्येण शिष्टाम-
स्तकृत्यो जवति ।

मंप्रति विकयादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

विकइ चउत्थिहा वृत्ता, इंदिएहि विमोतिया ।

अंजलीपगइो चव, दिट्ठी वुत्थुवजुत्तया ॥

विकथा स्त्रीकथादिभेदाच्चतुर्विधोक्ता विप्रोतसिका इन्द्रियै-
रुपवृत्तमेतन् मनसा वाचा प्रयता अञ्जलिप्रवहो गुरोर्मुखे
दृष्टुं चतुर्पयुक्ता च ।

उपनयन्याकुलनेति व्याख्यानयति ।

नम्पते वाउत्थाना मां, अन्नहा वोवणिज्जइ ।

नायं वा करणे वा वि, पुच्छाअट्ठाव जस्मइ ॥

अभ्युत्थानेनान्वेन वा व्याकुलनायां स दर्शित उपनयो न-

श्यति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलनया अन्यथोपनीयते
ज्ञातं वा व्याकरणं वा पृच्छा वा कर्तुमारब्धा अज्ञा वा पौरुषी-
लक्षणा भ्रश्यति आक्षेपव्याख्यानार्थमाह ।

भासतो भावतो वावि, तिव्वं मे जायमाणसो ।

लजंतो ओहिद्वंजादी, जहा मुक्खिंवा मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भावकः भावको वा उत्तरविशिष्टावगाह-
नस्तोऽयमज्ञातमानसो ज्ञातपरमोक्षेपो यद्यभ्युत्थाने व्या-
क्षेपो नाभविष्यत् ततोऽवधिलाभादिकमलप्स्यत् यथा मुडि-
म्बको मुनिस्तथा मुडिम्बक आचार्यः परमकाष्ठीभूते शुभ-
ध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलब्धिमलप्स्यत् यदि तस्य पुष्पमित्रेण
ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत् परं सर्वसाधुसाध्वीप्रभृत्याकुलमभ-
वदिति तेन ध्यानव्याघातः कृतः ।

अधुना " आरोगणा परूवणेति " व्याख्यानार्थमाह ।

आरोगणमक्खेवं, दाउं कामो तहिं तु आयरितो ।

वाउलणाए पिट्ठइ, उत्थेलुजणे न ओगेएहे ॥

आरोगणां प्रायश्चित्तं तत्रार्थमणकल्याणाचार्यो दातुकामः प्रक-
पयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति ततो व्याकुल-
नया स्फिटति व्याकुलनेन प्रायश्चित्तप्रकरणं न तिष्ठतीति भाव-
स्तथा अवग्रहीतुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलनातो नावगृह्णाति ।

एकगो ओगिएहइ, विक्खिपंतस्म विस्मृतिं जाइ ।

इंदपुरे इंदत्तो, अज्जुणेतणो य दिट्ठंतो ॥

एकाग्रः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनर्व्याक्षिप्यमाणस्या-
वगृहीतमपि विस्मृतिं याति कुतोऽनवगृहीतार्थावग्रहणव्याक्षे-
पाच्च विस्मृतिगमने इन्द्रपुरपत्तने इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुताः दृ-
ष्टान्तस्तथा च तेषां कला अजयस्यतां प्रमादविकथादिव्याक्षेपाञ्च
किमप्यवगृहीतमभूत् यदपि किञ्चिदवगृहीतं तदपि विस्मृति-
मुपगतमत एव तै राधावेशो न कर्त्तुं शक्तिः । तथा अजुन-
स्तेनश्च दृष्टान्तस्तथाहि सोऽजुनकस्तेनोऽगडदत्तेन सह युध्य-
मानो न कथमप्यगडदत्तेन पराजेतुं शक्यते ततो निजजायाऽ-
तीव रूपवती सर्वालंकारविभूषिता रथस्य तुण्डे निवेशिता
ततः स्त्रीरूपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरणं विस्मृतिमुपगतमिति
सोऽगडदत्तेन विनाशितः । एवमिहापि व्याक्षेपात् श्रुतोपयोगः
प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए चव य दोसा, अब्बुट्ठाणे वि होंति नायव्वा ।

नवरं अब्बुट्ठाणं, इमेहिं तिहिं कारणेहिं तु ॥

यस्मात् श्रवणे कर्तव्ये व्याक्षेपादिषु क्रियमाणेष्वेतेऽनन्तरोक्ता
दोषास्तस्माद्व्याक्षेपादिग्रहितैः श्रोतव्यम् । एते एव च व्याक्षे-
पादयो दोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे भवन्ति तस्मादभ्यु-
त्थानमपि न कर्त्तव्यं नवरमभ्युत्थानमेभिर्द्वयमाणैस्त्रिभिः का-
रणैः कर्त्तव्यं तान्येवाह ।

पगयमपत्ते काले, अज्झयणुदेस अंगमुयखे ।

एएहिं कारणेहिं, अब्बुट्ठाणं तु अणुयोगो ॥

प्रकृते समाप्ते तथा कात्रे समाप्ते अध्ययनोद्देशाद्भूतस्कन्धेषु
वा समाप्तेषु यदि प्राधूर्मकाद्यागमनं भवति तदैतैः कारणैरभ्यु-
त्थानमनुयोगो भवति तत्र कालोऽध्ययनादिकं च प्रतीतं न
प्रकृतमिति । कल्पे व्यवहारे च प्रकृतप्रतिपादनार्थमाह ।

कप्पम्मि दोप्पि पगया, पलंबुत्तं च मासकप्पे य ।

दो चेव य ववहारे, पढमे दममे य जे जणिया ॥

कल्पे कल्पाध्ययने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बसूत्रं मासकल्पसूत्रं च व्यवहारे द्वे प्रकृते ये जणिते प्रथमे आरोपणसूत्रं दशमे पञ्चविधव्यवहारसूत्रम् । न केवलमेतदेव प्रकृतं किञ्चन्यदपि तथा चाह ।

पीडियातो य भव्वातो, चूलियातो तदेव य ।

निष्पत्ती कप्पनामस्स, ववहारस्स तदेव य ॥

सर्वाः प्रकल्पकल्पादिगताः पीठिकास्तथा सर्वाश्चलिकास्तथा कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा चैवेति वचनादन्येषां च दश-
बैकालिकप्रभृतीनां च निर्युक्तयः प्रकृताः ।

अत्रैवादेशान्तरमाह ।

अप्पो वि य आप्पो, जो रायणितो य तत्तय सोयव्वे ।

अणुओगधम्मयाए, किंक्कम्मं तस्स कायव्वं ॥

अन्योऽपि चादेशो मतान्तरं तत्र श्रोतव्ये यो रत्तिको रत्ता-
धिकोऽनुज्ञापक इत्यर्थः तस्य नन्द्यामुच्चारितायामनुयोगधर्म-
तया कृतिकर्म वन्दनं कर्तव्यम् । तथा ।

केवलिमादी चोदस, दसनवपुव्वी य उट्टणिज्जो उ ।

जे तीहि ऊणतरगा, समाणे अणुं न उट्टंति ॥

अर्थमपि कथयता समागच्छन् केवली अभ्युत्थातव्यः । आ-
दिशब्दात् मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी च परिगृह्यते तथा ये
तेभ्यो नवपूर्वधरादिभ्य ऊनतरास्तेनवपूर्वधरादिरभ्युत्थानी-
यस्तथाहि कथको यदि कालिकश्रुतधारी तर्हि तेनार्थमपि क-
थयता नवपूर्वी दशपूर्वी चतुर्दशपूर्वी वाऽभ्युत्थातव्यो नवपूर्विणा
दशपूर्वी दशपूर्विणा चतुर्दशपूर्वीति । तथा यदि समागच्छन्
समानः समानश्रुतोऽगुरुश्च तदा नेतरेऽभ्युत्तिष्ठन्ति । तदेवं प्र-
वचने निर्जरा चेति द्वारद्वयं गतम् ।

इदानीं सापेक्षद्वारमाह ।

सावेक्खे निरवेक्खे, गच्छे दिट्ठंतामसगणेण ।

राउल्लकज्जनिउत्तं, जह् गामेणं कयं सगरं ॥

अस्सामिबुद्धियाए, पणियं सडियं व न वि य रक्खंति ।

रणाणत्ते दंभो, सयं न दीसंति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्यैः प्रातीच्छिकैश्च सर्वे कर्त्तव्यं ते च तथा कु-
र्वन्तः सापेक्षा उच्यन्ते ये तु न कुर्वन्ति ते निरपेक्षास्तत्र सापे-
क्षे निरपेक्षे च गच्छे दृष्टान्तो ग्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन्
ग्रामे ग्रामेयकैः पुरुषैः राजकुलकार्यनियुक्तं शकटमेकं कृतं ततो
यत्तेन राजकुलेनाज्ञाप्यते धान्यं घृतघटादि वा नेतव्यमानेतव्यं
वाऽस्मिन् शकटे आरोप्य आनयन्ति नयन्ति वा । तथा नास्य क-
श्चित्स्वामीत्यस्वामिबुद्ध्याऽऽत्मनोऽपि कार्याणि तेन कुर्वन्ति अ-
स्वामिबुद्ध्यैव पतितं शटितं वा तस्य शकटस्य नापि रक्षन्ति
ततः कावेन गच्छता जगम् । अन्यदा राजकुलेन ते आज्ञप्ता धा-
न्यमानय तैः शकटाज्ञावान्तानीतं तत आज्ञाभङ्गोऽकारीति तेषां
दण्डः कृतः कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न दृश्यन्ते । एव
दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः ।

एवं न करेंति सीसा, काहंति पण्णियत्ति काऊण ।

ते वि य सीसत्ति ततो, हिंरणपेहादिसुं मिंणो ॥

एवं ग्रामेयकदृष्टान्तप्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाः करिष्यन्ती-

ति मत्वा न कुर्वन्तीति तेषां च प्रातीच्छिकाः शिष्याः करिष्य-
न्तीति बुद्ध्या न कुर्वन्ते ततः सीदन्नाचार्यः स्वयं जित्तामटति
स्वयं चोपकरणप्रेक्षादिकं विधत्ते इति हि एवमेव प्रेक्षादौ च निर-
पेक्षाः शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च शकटनियुक्तभृत्य इव दण्डनी-
याः जवन्ति विनाशं चोपयान्ति ।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह ।

सारावियं जेहिं सगरं रप्पा ते उक्करा य कया ।

इय जे करेंति गुरुणो, निज्जरलाभो य किर्त्ती य ॥

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे ग्रामेयकैः राजकुलकार्यनियुक्तं
शकटं कृतं तेन राजकीयं धान्यघृतघटाद्यानयन्ति नयन्ति च तच्च
शकटं तैः सम्यक् सारापितं ततो न कदाचिदाज्ञाभङ्गः कृत इति
परितुष्टेन राज्ञा ते उत्कराः करविहीनाः कृताः । एव दृष्टान्तोऽयम-
र्थोपनय इति एवमुक्तेन प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चात्मानु-
ग्रहबुद्ध्या ये गुरोः कृत्यं कुर्वन्ति तेषां महान् धनान् ज्ञानादि-
द्वान्नः कीर्त्तिश्च गतं सापेक्षद्वारम् ।

संप्रति प्रक्तिव्यवच्छेदद्वारमाह ।

दव्वे जावे जत्ती, दव्वे गणियाउ दूति जाराणं ।

जावम्मि सीसवग्गो, करेति जत्तिं सुयधरस्स ।

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणायां तीर्थस्याव्यवच्छेदो प्रक्तावक्रि-
यमाणायां तु तीर्थव्यवच्छेदः सा च प्रक्तिर्द्विधा द्रव्ये भावे च ।
तत्र यन्नाम गणिका भुजङ्गानां प्रक्तिं कुर्वन्ति द्रुतयो वा
जाराणां सा द्रव्ये द्रव्यभक्तिर्भावे जावविषया भक्तिः पुनरियं
यत् शिष्यवर्गः श्रुतधरस्य भक्तिं करोति । यद्यपि चान्योऽपि
गुरोर्द्वैकं करोति तथापि ममापि निर्जरा स्यादित्यात्मानुग्रहबु-
द्ध्याऽप्येनापि प्रक्तिः कर्त्तव्येति बोधार्थेनैतददृष्टान्तेन जावयति ।

जइवि य लोहसमाणो, गेएहइ खीणंतराणो उंछं ।

तह वि य गोयमसामी, पारणए गेएहए गुरुणो ॥

यद्यपि च लोहसमानो बोधार्थः क्षीणान्तरायस्य जगवतो वर्त्तमा-
नस्वामिनः सदैवोच्छ्रमेपणीयप्रक्तादिकं गृह्णाति । तस्य भग-
वद्वैयावृत्यकरत्वात् उक्तं च । “ धनो सो लोहज्जो खंतिखमो
पवरलोहसरिवन्नो जस्स जिणो पत्ता तो इच्छइ पाणीहिं चुत्तुं
जे ” तथापि गोतमः स्वामी स्वपारणके गुरोर्वर्त्तमानस्वामिनां
योभ्यं गृह्णाति एवमन्येनापि वैयावृत्यकरभावे यथायोग्यं गुरोः
कर्त्तव्यम् । तदेवं भक्तिर्व्याख्याताऽधुना तस्यां क्रियमाणायां यथा
तीर्थस्याव्यवच्छेदो भवति तथाह ।

गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छो अणुकंपितो महाजागो ।

गच्छाणुकंपयाए, अव्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥

गुरोरनुकम्पया अनुग्रहेण गच्छो महाचित्त्यशक्तिरनुकम्पितो
गृहीतो भवति गच्छानुकम्पया चाव्यवच्छित्तिरतीर्थस्य कृता ।

कह तेण नु होइ कयं, वेयावच्चं दसविहं जेण ।

तस्स पउत्ता अणुकं-पितो उ थेरो थिरसहावो ॥

कथं तेन दशविधं वैयावृत्यं कृतं येन स्थविर आचार्यः स्थविर-
स्वभावोऽनुत्सुकस्तस्य दशविधस्य वैयावृत्यस्य प्रयोक्ताऽनुक-
म्पितोऽनुगृहीतस्तत्करणे कृतं तेन दशविधमपि वैयावृत्यं
तत्प्ररूपणायास्तदधीनत्वादिति भावः । तदेवमव्यवच्छेदोऽपि
जावितः । अधुना ‘अतिसेसा पंच आयरिए’ इति व्याख्यानयति ॥

अत्रे वि अतिथि जणिया, अतिमेसा पंच होति आयरिए ।

जो अन्नस्म न कीरइ, नयातिचारो असति मेसे ॥

अतिशेषाः पञ्च भवन्त्याचार्ये इत्यनेन वचनेनान्येऽप्यतिशेषाः पञ्चार्थतो जणिताः सन्ति यः पञ्चानामन्यतरोऽप्यन्यस्यानाचार्यस्य न क्रियते न च शेषेऽनाचार्ये पञ्चानामेकतरस्मिन्नप्यक्रियमाणेऽतीचारः । तानेव पञ्चातिशयानाह ॥

जत्ते पाणे धुव्वण, पमंसणा हत्थपायसोए य ।

आयरिए अतिमेसा, अणातिमेसा अणायरिए ॥

उत्कृष्टं जलमुत्कृष्टं पानं मलिनोपधिधावने प्रशंसनं हस्तपादशौचं च । एते पञ्चातिशेषा अतिशया आचार्ये अनाचार्ये त्वनतिशया अनाचार्ये एते न कर्तव्या इति ज्ञावः ।

संप्रति रक्तादिव्याख्यानार्थमाह ।

कालसहावाणुमयं, जत्तं पाणं च अचित्तं खेत्ते ।

मलिनमलिणा य जाया, चोलादी तस्म धोवंति ॥

यत् कालानुमतं स्वभावानुकूलं चेत्यर्थः भक्तमाचार्यस्य आदेशमिति प्रथमोऽतिशयः । तथा यत् यत्र क्वेव अचित्तं पानीयं तत्संपाद्यमाचार्यस्येति द्वितीयोऽतिशयस्तथा चोलादीनि मलिनमलिनानि जातानि तस्याचार्यस्य प्रकाश्यन्ते किं कारणमिति चेदत आह ।

परवार्दीण अगम्मे, नेव अवणं कर्गिते मुडेहा ।

जह अकहितो वि नज्जइ, एस गणी णुजपरिहीणो ॥

यथा परवादिनामगम्यो जवति यथा च शुचिशैकाश्रोक्ताश्रयाः अवज्ञानं न कुर्वते यथा चाकथितोऽपि ज्ञायते एव गणी आचार्यस्तथाऽनुद्यमसौन्दर्यतत्परिहीणो मलिनमलिनवस्त्रप्रकाशनं कर्तव्यं न च एवं विभूषादोषप्रसक्तियत आह ।

जह उवगरणं मुज्जइ, परिहरमाणो अमु च्छतो साहू ।

तह खनु विमुद्धभावो, विभुष्वासाण प रजोगो ॥

यथा साधुरूपकरणं कर्मोपकरणममूर्च्छितः सन् परिहरन् परिभोगयन् शुद्धते न परिग्रहदोषेण त्रिप्यते अमूर्च्छितत्वात्तथाऽऽचार्योऽपि विशुद्धवाससां परिभोगेन विशुद्धजावः सन् शुद्ध्यतीति गतस्तृतीयोऽतिशयः ।

संप्रति प्रशंसनमाह ।

गंभीरो मद्वितो, अञ्जुवगयवच्छओ सिवो सोमो ।

वित्थिमाकुञ्जुपओ, दाया य कयसुतो सुयवं ॥

खंतादिगुणोवेओ, पढाणणाणनवसंजमावसतो ।

एमाइसत्तगुरुगुण, विकत्थणं संमणातिमये ॥

गम्भीरोऽपरिभ्रावी मर्दवितो मर्दवोपेतस्तथा अञ्जुपगतस्य शिष्यस्य प्रातीच्छिकस्य धनसलो यथाचित्तवान्सत्यकारो तथा शिवोऽनुपचयस्तथा सोमः शान्ताकृतिः तथा विस्तीर्णकुलोत्पन्नो दाता कृतज्ञः श्रुतवान् तथा कान्त्यादिगुणोपेतः प्रधानज्ञानतपः संयमानामावसथो गृहे एवमादीनां सनां गुरुणां नाविकथनं श्रावणमेवं चतुर्थः प्रशंसनातिशयः अथवा प्रशंसनस्य फलनात् ।

सग्गुणुक्किताणए, अवज्जवादीण चैव परिघातो ।

अवि होज्ज नमइणं, पुच्छाजिगमे दूविहवाजो ॥

सद्गुणोत्कीर्तनायां मद्वी निर्जेरा नवति तथा सद्गुणकीर्तनय अवर्णवादिनां प्रतिघातः कृतो भवति । अपि भवेद्यं

मदान गुणो गुणवन्तमाचार्यं धृत्वा बहूनां राजेश्वरतत्त्ववरप्रभुतीनां पृच्छार्थमजिगमो भवति । पृच्छानिमित्तमाचार्यसमीपमागच्छन्त आगताश्च धर्मं धृत्वा अगारधर्ममनगारधर्मं वा प्रतिपद्यन्ते इति द्विविधताभः ।

पञ्चमातिशयप्रतिपादनार्थमाह ।

करचरणनयणदसणा, ईधावणपंचमो उ अतिमेसो ।

आयरियस्स उ सययं, कायवो होति नियमेण ॥

करचरणनयनदशनादिप्रकालनं पञ्चमोऽतिशयः 'सततमाचार्यस्य नियमेन जवति कर्त्तव्यः । अत्र पर आह ।

मुहनयणदंतपाया-दिधावणे को गुणो ति ते बुद्धी ।

अग्गिमातिवाणिपटुया, होइ अणोत्तपया चैव ॥

मुखनयनपदादिधावने को गुण इति एषा ते बुद्धिः स्यात् अत्रोच्यते मुखदन्तादिप्रकाशनेऽग्निपटुता जातराग्निप्राबल्यं मतिपटुता वाक्पटुता च गयनपादादिप्रकाशने "अणोत्तपया" अन्नजनीयशीरता भवति । एष गुणो मुखादिप्रकाशने एते चातिशयाः पञ्च । उपलक्षणमन्यदपि यथायोगमाचार्यस्य कर्त्तव्यं तथा चाह ॥

असदस्म जेण जोगा-ण मंधाणं जह उ होइ थेरस्स ।

तं तं करेति तस्स उ, जह संजोगा न हायंति ॥

यथा स्थविरस्याशरस्य सतो येन येन क्रियमाणेन योगानां सन्धानं भवति तत्तत्तस्याचार्यस्य साधवः कुर्वन्ति तथा (से) तस्याचार्यस्य योगा न हीयन्ते न हानिमुपगच्छन्ति ।

एए पुण अतिसेमे, उवजीवे न यावि को वि दददेहो ।

निदरिमणं एत्थ जवे, अज्जसमुहा य मंगू अ ॥

एतान् पुनरतिशयान् कोऽप्याचार्यो दददेहः सन् नोपजीवति यस्त्वदददेहः सोऽशरो भूत्वा उपजीवति न तु तैरतिशयैर्गर्वं करोति हर्षं वा मनसि मन्यते । अत्र निदर्शनं जवत्यार्थसमुद्रो मद्भवाचार्यश्च ।

एतदेव निदर्शनद्वयं भावयति ।

अज्जसमुहा पुव्वल, कितिकम्मा तिप्पि तस्स कीरंति ।

मुत्तयपोरिमिसमु-द्वियाणं तइयं तु चरमाए ॥

आर्यसमुद्राः सूरयो दुर्बला दुर्बलशरीरास्ततस्तेऽतिशयानुपजीवितवन्तोऽनुपजीवने योगसंधानकरणाशक्तेस्तथा च तस्य प्रतिदिवसं त्रीणि कृतकर्मणि विश्रामणारूपाणि क्रियन्ते तद्यथा हे सूत्रार्थपौरुषीसमुपस्थितानां तृतीयं कृतकर्म चरमायां पौरुष्यामियमत्र भावना सूत्रपौरुषीसमाप्यनन्तरं यावन्निपया क्रियते तावत्प्रथमा विश्रामणा द्वितीयाऽर्थपौरुषीसमाप्यनन्तरं तृतीया चरमपौरुषी पर्यन्ते कालप्रतिक्रमणानन्तरम् ।

सहकुलेसु य तेसिं, दो वंगादी उ वीसु घेपंति ।

मंगुस्म न किइकम्मं, न य वीसुं घेपण किं वि ॥

आहकुलेषु जनेषु तेषामार्यसमुद्राणामाचार्याणां योस्यानि कुरादीनि द्वितीयाङ्गादौ मात्राकादौ विषयकं गृह्यन्ते आर्यमङ्गोः पुत्राचार्यस्य न कृतिकर्म क्रियते नापि तद्योग्यं पौत्रशिक्षादि किञ्चित् विषयकं मात्रकं गृह्यते किन्तु यदपि आहकुलेष्वपि प्रत्येकमुत्कृष्टं लभ्यते तदपि गृहीत्या ज्ञातोत्पत्तदृष्टे किप्यते विषयगानीतमपि न जुक्के तौ च छावप्याचार्यौ विहरन्तावन्यदा सांपारिके गनौ तत्र च द्वौ श्रावकावेकः शाकटिकोऽपरो वैकटिको

वैकटिको नाम सुरासन्धानकारी तौ द्वावपि श्रावकावार्थसमु-
क्षाणां योग्यमतिशायिपौ द्विकप्रवृत्तिकं विष्वक् मात्रके गृह्यमाण-
मार्थमङ्गनां पुनर्योग्यमेकस्मिन्नेव पतङ्गे गृह्यमाणं पश्यतो दृष्ट्वा-
ऽऽचार्यमङ्गसमीपमागच्छताम् ।

वैति ततो णं सद्मा, तुञ्ज वि वीमुं न प्रेप्पण् कीस ।

तो वैति अज्जमंगू, तुञ्ज चिय इत्थ दिट्ठतो ॥

ततः समीपागमनानन्तरं तौ श्रावकौ ब्रूयते किञ्चार्थसमुक्षा-
णामिव युष्माकमपि विष्वक् प्रायोग्यं गृह्यते ततो ब्रुवन्त्यार्थम-
ङ्गवः आचार्या अत्रार्थं यूयमेव दृष्टान्तः कथमित्याह ॥

जा जंमी दुव्वन्ना उ, तं तुञ्जे बंधह प्पयत्तेण ।

न वि बंधह वलियाउ, दुव्वलवल्लिए व कुंमी वि ॥

अहो शाकटिक ! या तव भग्वती गन्त्री दुर्वला तां यूयं प्रयत्नेन
बध्नीथ । ततः सा वदति यदि पुनरवद्धा ग्राहते तदा विनश्य-
ति या पुनर्बलिका तां नैव बध्नीथ । बन्धनस्थितिरकेणापि तस्या
बधनात् । वैकटिकं प्रति ब्रुवते भो वैकटिक ! या तव कुम्भी
दुर्वला तां वंशद्वैर्वध्वा तत्र मयं संधत्थ या तु वन्निका कुम्भी
तस्या बन्धमङ्गवाऽपि तत्र संधानं कुरुथ "दुव्वलवल्लिए व कुंमी
वि " एवं कुम्भयपि दुर्वला वन्निका च जग्वीवत् वक्तव्या ।
उक्तो दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं अज्जसमुदा, दुव्वल्लजंमी व संठवयणाण ।

धारंति सरिरं तु, वल्लिभंमीसरिसगवयं तु ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्वलभग्वती दुर्वला गन्त्री चात्मीयं शरीरं
संस्थापनया धारयति नेतरथा ततस्तेषां योग्यं विष्वक् मा-
त्रके गृह्यते वयं तु वन्निकजग्वीसदृशास्ततो न शरीरस्य सं-
स्थापनामपेक्षामहे ।

निष्पटिकम्मा वि अहं, जोगाण तरामि संधणं काउं ।

नेच्छामि य वितियंगे, वीमुं इति वैति ते मंगू ॥

निष्प्रतिकर्माऽपि योगानां संधानं कर्तुं शक्नोति ततो नेच्छामि
द्वितीये अङ्गे गात्रके विष्वक् गृह्यमाणमिति ते मङ्गवाचार्या ब्रुवते ।

न तरंति य तेण विणा, अज्जसमुदा उ तेण वीसं तु ।

इय अतिसेमा यरिए, सेमा पंतेण द्वाहंति ॥

आर्थसमुक्षाः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायोग्यग्रहणेन विना
योगानां सन्धानं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्प्रायोग्यं विष्वक्
गृह्यते एवं शेषाणामपि इत्यस्मात् कारणात् अनिशया अतिशया
आचार्ये भवन्ति शेषाः पुनः साधवः प्रान्तेन दादयन्ति आत्मानं
यापयन्ति गतस्तृतीयोऽतिशयः । आचार्याः पाठ्यायस्य वसतेरन्त-
र्बहिर्वा एकाकिवेन वास इति चतुर्थपञ्चमावतिशयो ।

संप्रति चतुर्थपञ्चमावतिशयावाह " अंतो उवस्सयस्स पगरायं
वा दुरायं वा " इत्यादिद्वकृणं (पूर्वोक्तं) विज्ञावधिपुरिदमाह ।

अंतो बहिं व वीमुं, वसमाणे मासियं तु जिकखुस्स ।

संजमआयविराहण, सुणे असुजोदतो होइ ॥

यदि भिक्षुरुपाश्रयस्यान्तरपवरके विष्वक् वसति यदि वा बहि-
रुपाश्रयात् शून्यगृहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासिकं न केव-
लमिदं प्रायश्चित्तं किन्तु दोषाश्च तानेवाह । अन्तर्बहिर्वा शून्य-
स्थाने वसतोऽशुभोदयोऽशुभकर्मोदयो जवति तद्गवाश्चात्म-
विराधना संयमविराधना च । एनामेव ज्ञावयति ॥

तन्भाववयोगेण, रहिए कम्मादि संजमे चेदो ।

मेरावलंविद्या मे, वेहाणसमादिनिवेदा ॥

तस्य ज्ञावस्तद्भावः पुंवेद इत्यर्थः । तस्मिन्नुपयोगस्तेन तद्भा-
वोपयोगेन विजने स्थाने च वर्त्तमानः सहायग्रहितो हस्तकर्मा-
दि कुर्यात् एवं संयमे संयमस्य भेदो विग्राधना । तथा कोऽप्य-
तिप्रवृत्तपुंवेदोदयोपीडित एवं चिन्तयेत् यथा मया मर्यादा सक-
लजनसमङ्गं गुरुपादसमीपेऽवब्रुमिषता संप्रति चाहमतिपीडित
आसितुं न शक्नोमि ततो निर्वेदात् वेहानसमुत्कलम्यनमादि-
शब्दादम्बद्धा आत्मघातादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना ।
तथा विहरता वा एकाकिना न स्थातव्यमाह यदि संयमाभिर्गत-
ज्ञावस्तनस्तस्य सहाया अपि किं करिष्यन्ति तत आह ॥

जइ वि य निग्गयत्तावो, तह वि य रक्खिज्जए स अस्सेहिं ।

वंसकडिद्वे जिन्ने, विवेणुनो पावए न महिं ॥

यद्यपि च न संयमात् निर्गतभावस्तथापि सोऽप्यैहस्तकर्मादि
वेहानमादि वा समाचरन् रक्ष्यते अत्रैवार्थे प्रतिवस्तूपमामाह ।
(वंसकरिद्वेत्ति) वेणुको वंशो महीं न प्राप्नोति अन्यैरन्यैर्वै-
शेषान्तराले स्ववितत्वात् एवं संयमभावान्निर्गतोऽपि शेषसा-
धुभिः सर्वथा पतन् रक्ष्यते तदेतद्विज्ञोरुक्तम् ।

इदानीं गणावच्छेदकाचार्ययोराह ॥

वीमु वसंते दप्पा, गणिआयरिए य होंति एमेव ।

सुत्तं पुण कारणियं, जिकखुस्स वि कारणे गुत्ता ॥

विष्वक् दृष्ट्यान्तं कारणमन्तरेण गणिनि गणावच्छेदके आचा-
र्ये च एवमेव जिहोरिव प्रायश्चित्तं संयमात्मविराधने च भव-
तः । यद्येवं तर्हि सूत्रमनवकाशमत आह । सूत्रं पुनः कारणि-
कं कारणमधिकृत्य प्रवृत्तं ततो नानवकाशं न केवलं गणावच्छे-
दकाचार्ययोः कारणे वसतेरन्तर्बहिर्वा वसनमनुज्ञातं किं तु भि-
होरपि कारणे बहिरन्तर्वा वसनस्यानुज्ञा ।

अथ किं तत्कारणं यदधिकृत्य सूत्रं प्रवृत्तमत आह ।

विज्जाणं परिवारो, पव्वे एए य देंति आयरिया ।

मासप्पमासियाणं, पव्वं पुण होइ मज्जेतु ॥

आचार्याः पर्वणि विद्यानां परिपाटीर्ददति विद्याः परावर्त्तन्ते
इति भावः । अथ पर्व किमुच्यते तत आह मासाई मासयोर्म-
ध्यं पुनः पर्व भवति । तदेवाह ।

पक्खस्स अठमी खनु, मासस्स य पक्खियं मुणंयव्वं ।

अस्स पि होइ पव्वं, उवरागो चंदमूराणं ॥

अर्द्धमासस्य पक्षात्मकस्य मध्यमाऽष्टमी सा खनु पर्व । मास-
स्य मध्यं पाक्षिकं पक्षेण निर्वृत्तं ज्ञातव्यं तच्च कृष्णचतुर्दशीरु-
पमवसानव्यं तत्र प्रायो विद्यामाधनोपचारप्रावात् बहुला-
दिका मासा इति वचनाच्च न केवलमेतदेव पर्व किन्वन्यदपि
पर्व भवति यत्रोपरागो ग्रहणं चन्द्रमूर्त्यो रेतोपु पर्वसु विद्या-
साधनप्रवृत्तिर्यद्येवं तत एकरात्रग्रहणं तत आह ।

चउदसीगहो होइ, कोइ अदवा वि सोलनिग्गहणं ।

वत्तं तु अणुज्जंतो, होइ दुरायं तिरायं वा ॥

कोऽपि विद्याया ग्रहश्चतुर्दश्यां भवति अथवा पौर्णमास्यां
गुरुपक्षप्रतिपदि विद्याया ग्रहणम् । किमुक्तं जवति कोऽपि
विद्याग्रहश्चतुर्दश्यां कृतः कोऽपि प्रतिपदि क्रियते इत्येव
विरात्रवसनमथ च केन दिवसेन व्यक्रमनुज्ञायमानं वि-

पाया प्रसां भवति । द्विगत्रं त्रिगत्रं वा विष्णुक वसन्तमिति ।
यदुक्तं नृसिंहिराजं चेति तत्र वाशब्दव्याख्यानार्थमाह ।

वासुदेव निमं पि, महापाणादं गु भो उ अत्तेजा ।

आयतिष्ठ भद्रस्मि, जह गाय चक्रवर्त्तादी ।

वासुदेवेन सूचयते त्रिगमपि कालं महा (पाणा) प्राणा-
दिषु ध्यानेषु स तिष्ठेत् स हि यावन्नाद्यापि विशिष्टलाभो भ-
वति तावन्न निवर्त्तने ध्यानाद्वैव दृष्टान्तमाह । यथा राजा
चक्रवर्त्त्यदिगदिशब्दाढासुदेवपरिग्रहः (आयतिष्ठ) प्रसाधि-
ते अर्द्धभगते वा न निवर्त्तने यावद्व्याध्यादिलाभो न भवतीति ।

अथ महाप्राणध्याने कः कियन्तं कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति
प्रतिपादनार्थमाह ।

वसन्तवास भद्रा-हिवस्म ह्यचेव वासुदेवाणं ।

तिष्ठि य मंभलियस्म, उम्मासा पागयजणस्म ॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षतो भवताधिपस्य चक्रवर्त्तिनो द्वादश
वर्षाणि यावत्तद् वर्षाणि वासुदेवानां चलदेवानाभित्यर्थः ।
वर्षाणि वर्षाणि मागडलिकस्य पगमासान् यावत् प्राकृतजनस्य ।

जे जत्य अदिगया खनु, अस्मादङ्कस्वमाइया रणा ।

तेमि जगणम्मि ऊणे, भुंजति भोण अदंकादी ॥

ये " अस्मादङ्कस्वमाइया " महाश्वपत्यादयो यत्राश्वभर-
णादौ राजा अधिकृता व्यापारितास्ते तेषामश्वदीनां भरणे
ऊने सति भोगान् अदण्डादीन् दण्डादिरहितान् भुङ्क्ते न तस्य
तथा भोगान् भुञ्जानस्य दण्डोऽपराधो वा अद्याप्यश्वादिभ-
रणभावात् पप दृष्टान्त उक्तः ।

संप्रति दार्शनिकयोजनामाह ।

इय पुव्वगयाधीते, बाहुसनामेव तम्मि एणं पच्छा ।

पियइ चि व अत्थपप, मिणइ चि व दो वि अविस्सा ॥

इत्येवममुना दृष्टान्तप्रकारेण पूर्वगते अर्धीते " बाहुसनामेव "
भद्रबाहुग्वि तन् पूर्वगतं पश्चात् महापानध्यानवलेन मिनोति
निष्प्रेरमानमेच्छया तावन्न निवर्त्तने ततश्चिरकालमपि वसति
तस्य न कोऽप्यपराधः प्रायश्चित्तं दण्डो वा । संप्रति महापान-
शब्दस्य व्युत्पत्तिमाह पियतीति वा मिनोतीति चेति द्वावपि
शब्दावेवावविस्सुद्धौ तन्वत एकार्थावित्यर्थः । तत एव व्य-
वृत्तिः पियति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तन् पानं महच्च तत्पानं
च महापानमिति ।

अंतो गणी वा गणो, विस्सेवो माहु होज्ज अगगहणं ।

वनत्तेदिं पगिक्खिन्ना, उ अन्थते कारणे तेदिं ॥

अन्तर्गणा गणो वा वाशब्दादेवं बहिरपि । इयमत्र भावना ।
यथाचार्यो वसन्तेरन्तस्ततो गणो बहिरवसति अथ गणोऽन्त-
स्तत आचार्यो बहिः किं कारणमाचार्यो गणश्च विष्णुक व-
सति तत आह विस्सेवो इत्यादि आचार्यस्य विद्यादिगुणा-
दिषु व्याप्तेः मा भूत् (अगगहणमिति) अयोग्यानां कार्यपत-
नतो विद्यादीनामग्रहणं भूयान् पनाभ्यां कारणाभ्यां वृषभैः
पगिन्तिनोऽन्तर्धीयो विष्णुमाचार्यो वसति । व्य० १ उ० ।

आचार्योऽप्यायस्य गणे सप्त अतिशयोः ।

आयसिउवज्जायस्म एणं गणंमि सत्त अइसेसा पणत्ता
तं जहा आयसिउवज्जायस्म अंतो उवस्सगस्म पाण निग-
ज्झिक्क ७ पण्ठोसेमाणे वा पमज्जेमाणेवा नाइक्कमइ एवं

जहा पंचगाणे जाववादि उवस्सगस्म एगरायं वा दुरायं वा
वसमाणे नाइक्कमइ उवगरणाइसेमे जत्तपाणाइसेसे ॥

एत द्वाव्यान्तमेवेति इदमधिकमुपकरणतिशेषः शेषसाधुभ्यः
सकाशान् प्रधानोज्ज्वलवस्त्राद्युपकरणतः उक्तं च । " आयसि-
यगिलाणां, मइला मइला पुणो वि धोवंति । मा हु गुरूण
अवगां, लोगम्मि अजिरणं इयरेत्ति " ॥ १ ॥ ग्लाने इत्यर्थः
भक्षणानातिशेषः पूज्यतरभक्षणानतेति उक्तं च " कलमोयणा
उ पयसा, परिहाणी जाव कोदवज्झजी । तत्थ उ मिउप्पतरं,
जत्थ य जं अचियं दोसु " ॥ १ ॥ (कोदवज्झज्जित्ति कोदव-
ज्जाउलये दोसुत्ति) क्षेत्रकालयोरिति गुणाश्च ते " मुत्तत्थधि-
रीकरणं, विण्णो गुरूय से य बहुमाणो । दाणवइसहुवुद्धो,
बुद्धोविलवज्झणं चेव त्ति " स्था० ७ गण॥ १ ॥

गणावच्छेदकस्य गणे द्वौ अतिशयोः ।

(सूत्रम्) गणावच्छेयस्म गणंसि एणं दो अइसेसा प-
मत्ता तं जहा गणावच्छेदए अंतो उवस्सगस्म एगरायं वा
दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ ? गणावच्छेदए वादि उ-
वस्सगस्म एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अतिक्रमइ ॥

" गणावच्छेयस्म गणंसि एणं " इत्यादि गणावच्छेदकस्य
गणे गणमध्ये द्वावतिशयो भवतस्तद्यथा गणावच्छेदक उपा-
श्रयस्यान्तः एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति ना-
तीचारभागभवति तथा गणावच्छेदको दहिरुपाश्रयादेकरा-
त्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति । एतौ च द्वावप्यतिश-
यो सूत्रोक्तौ गणावच्छेदकस्य द्रष्टव्यौ यो नियमादाचार्यो भ-
विष्यति यः पुनर्गणावच्छेदकत्वे वर्त्तमान आचार्यपदस्यानर्ह-
स्तस्येतौ द्वावप्यतिशयो न कल्पेते । भाष्यम् ।

पंचते अतिसेसा, आयसिउ व्हाति दोमि उ गणिस्स ।

भिक्षुस्स कारणम्मि उ, अतिसेसा पंच वा जणिया ॥

एते अनन्तरसूत्रोदिताः पञ्चातिशयो आचार्ये भवन्ति । द्वौ ग-
णिनो गणावच्छेदकस्य त्रिज्ज्ञोः पुनः कारणेऽप्यतिशयो भणि-
ताः । एतदेवाह ।

जे सत्ते अतिसेसा, आयसिउ अत्थतो व जे जणिया ।

ते कज्जे जयसेवी, भिक्षु वि न वाउमी जवाति ॥

येऽतिशेषा आचार्यसूत्रे साक्षादज्ञिहिता ये चान्ये पञ्चार्थतो
भणितस्तान् दशाप्यतिशयान् कार्ये कारणे समागते । " कज्जति
ना कारणंति वा एगहमिति " वचनात् (जयसेवीति) यतनया
सेवमानो भिक्षुरपि न वकुशत्वदोषेण गृह्यते इति भावः किं त-
त्कार्यमत आह ।

वालासहमतंतं, सुइवादिं पप इड्ठिमुं वा ।

दम वि भइयानिसेसा, निक्खुस्स जहक्कमं कज्जे ॥

वाङ्मसहमतर्गतं ग्लानं शुचिवादिनं ऋद्धिवृद्धे वा प्राप्य
दशाप्यतिशेषा त्रिज्ज्ञोः कार्ये समापतिते यथाक्रमं त्रिजिता विक-
ल्पिता भवन्तीति भावः तथा हि वाङ्मस्य हस्तपादादयः प्रकाल्य-
न्ते अन्ये चातिशयो यथासंज्ञं क्रियन्ते तथा असहो नामास-
मर्थस्तस्यापि यथाप्रयोगमतिशयोः क्रियन्ते । तथाऽतर्ग्नं ग्लानः
शुचिवादिं शौचप्रधानः शिष्य ऋद्धिवृद्धो राजादिः प्रव्रजित इ-
त्येवमपि दशाप्यतिशयो यथायोगं विधेयाः । व्य० ६ उ० ।

(जिनकल्पिकस्य द्वौ अतिशयो) " बुविहो तेसि " (जिनक-

लिपिकानाम्) “अइसओ नाणाइसओ सरीराइसओ य । नाणा-
इसओ ओहि , मणपज्जवसुत्तथ तडुजयं च । निवेत्ती अभि-
नवधा, सारीरा हौति अइसेसा ” पं० चू० ॥ (तीर्थकृतः च-
त्वारः मूलातिशयाः) “अपायापगमातिशयो ज्ञानातिशयः पूजा-
तिशयो वा गतिशयश्च ” पं० सू० । २०। स्या० । नं० ।

बुद्धस्य (तीर्थकृतः) चतुस्त्रिंशदतिशयाः ।

चोर्त्तीमं बुद्धाइसेसा पण्णात्ता तं जहा अवड्डियकेसमं-
सुरोमनहे ? निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी १ गोवखीर
पंसुरे मंससोणिण ३ पउमुप्पलगांधिए उस्सामनिस्सासे ४
पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५ आगा-
सगंयं चकं ६ आगासगंयं उत्तं ७ आगासगयाओ सेय-
वरचामराओ ८ आगासफालियामयं सपायपीढं सीहा-
सणं ९ आगासगओ कुरुभीसहस्सपरिमंभियाजिरामो
इंदज्जओ पुरओ गच्छइ १० जत्थ जत्थ वि य एं अर-
हंता जगवंता चिहंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि
य एं तक्खणादेव सच्छन्नपत्तपुप्फपल्लवसमाउल्लो सच्छत्तो
सज्जओ सघंठो सपरुगो अभोगवरपायवे अभिसंजायइ
११ ईसिं पिट्ठओ मउरुट्ठाणम्मि तेयमरुलं अभिसंजायइ
अंधकारे वि य एं दस दिसाओ पजासेइ १२ बहुसमरम-
णिज्जे भूमिजागे १३ अहोसिरा कंटया जायंति १४ उज्ज
विवरीया सुहफासा भवंति १५ सयिलेणं सुहफासेणं सु-
रज्जिणा मारुणं जोयणपरिमंरुलं सव्वओ समंता संपम-
ज्जिज्जइ १६ जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयरयरेण पकि-
ज्जइ १७ जलथलयभामुरपज्जतेणं विट्ठवियदसच्छवन्नेणं
कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमिच्छे पुप्फोवयारे किज्जइ १८
अमणुन्नाणं सदफरिसरसरुवगंधाणं अवकरिसो भवइ
मणुन्नाणं सदफरिसरसरुवगंधाणं पाउवभाओ जवइ १९
उज्जओ पासिं च एं अरहंताणं जगवंताणं दुवे जक्खा
करुगतुडियथंभियज्जुया चापरुक्खेवणं करंति २० पव्वा-
हरओ वि य एं हिययभमणीओ जोयणनीहारी सरो २१
भगवं च एं अद्धमागहीण जासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा
वि य एं अद्धमागही जासा जासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं
आरियमणारियाणं दुपयचउप्पयमियपमुपक्खिसरीसि-
वाणं अप्पण्णो हियसिवसुहदाए जासत्ताए परिणमइ २३
पुव्वबद्धवेरा वि य एं देवामुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिं-
नरकिपुरिसगरुद्धगंधवमहोरगा अरहओ पायमूले पसंत-
चित्तमाणसा धम्मं निमामंति २४ अन्नतिथियपावयणिया
वि य समांगया वंदंति २५ आगया समाणा अरहओ
पायमूले निप्पडिवयणा हवंति २६ जओ जओ वि य एं
अरहंतो भगवंतो विरहंति तओ तओ वि य एं जोयण-
पणवीसाणं ईती न जवइ २७ मारी न जवइ २८ सच-
कं न जवइ २९ परचकं न जवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१

अणवुट्ठी न भवइ ३२ दुग्धिक्खं न भवइ ३३ पुव्वुप्पन्ना
वि य एं उप्पाइया वाही खिप्पामेव उवसमंति ३४ । म। ३५

अथ चतुस्त्रिंशत्तमस्थानकं किमपि विवक्ष्यते (बुद्धाइसेसस्ति)
बुद्धानां तीर्थकृतानामप्यतिशेयाः अतिशयाः बुद्धातिशेयाः अव-
स्थितमवृत्तिस्वभावं केशाश्च शिरोजाः स्मश्रूणि च कूर्चरोमाणि
च शेषशरीरबोमानि नखाश्च प्रतीता इति द्वन्द्वैकत्वमित्येकः १
निरामया नीरोगा निरुपद्रवा निर्मला गात्रयष्टिस्तनुवृत्तेति द्विती-
यः २ गोक्षीरपाण्डुरं मांसशोणितमिति तृतीयः ३ तथा पशून् च
कमलं गन्धद्रव्यविशेषो वा यत्पद्ममिति रूढमुत्पन्नं च नीलो-
त्पलमुत्पलकुण्डं वा गन्धद्रव्यविशेषस्तयोर्गो गन्धः स यत्रास्ति
तत्तथोच्चासनिःश्वासमिति चतुर्थः ४ प्रकृच्छमाहारनिर्हारम्
अन्यवहरणमूत्रपुरीषोत्सर्गौ प्रच्छन्नत्वमेव स्फुटतरमाह अदृश्यं
मांसचक्षुषा न पुनरवध्यादिलोचनेन इति पञ्चमः ५ एतच्च द्विती-
यादिकमतिशयचतुष्कं जन्मप्रत्ययम् । आकाशके चक्रं पृष्ठं तथा
आकाशगतं व्योमवर्ति आकाशकं वा प्रकाशमित्यर्थः चक्रं धर्म-
चक्रमिति पष्ठः ६ आकाशके उग्रमिति सप्तमः एवमाकाशगं उग्रं
उग्रत्रयमित्यर्थः ७ आकाशके प्रकाशे श्वेतवरचामरे प्रकीर्णके
इत्यष्टमः ८ (आगासफालियामयस्ति) आकाशमिव यदत्यन्त-
मच्छं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सहपादपीठमिति नवमः ९
(आगासगओस्ति) आकासगतोऽत्यर्थं तुल्यमित्यर्थः कुट्टिजि-
त्तिवधुपताकाः संभाव्यन्ते तत्सहस्रैः परिमणिरुतश्चासावभि-
रामश्चातिरमणीय इति विग्रहः (इंदज्जओस्ति) शेषध्वजापे-
क्षया प्रतिमहत्वादिन्द्रश्चासौ ध्वजश्च इन्द्रध्वज इति (पुरओस्ति)
जिनस्याग्रतो गच्छतीति दशमः १० “ चिहंति वा निसीयंति
वेत्ति ” तिष्ठन्ति गतिनिवृत्त्या निषीदन्त्युपविशन्ति (तक्खणा-
देवास्ति) तत्क्षणमेवाकाशदीनमित्यर्थः पञ्चैः संब्रज इति वक्त-
व्यं प्राकृतत्वात् संकृन्नपत्र इत्युक्तं स चासौ पुष्पपल्लवसमाकुल-
श्चेति विग्रहः पल्लवा अङ्कुराः सच्छत्रः सध्वजः सघण्टः सपताको-
ऽशोकवरपादप इत्येकादशः ११ (ईसिंस्ति) ईषदल्पं (पिट्ठओस्ति)
पृष्ठतः पश्चाद्भागे (मउरुट्ठाणमिति) मस्तकप्रदेशे तेजामण्डलं
प्रभापटवमिति द्वादशः १२ बहुसमरमणीयो जृम्भिभाग इति त्रयो-
दशः १३ (अहोसिरास्ति) अधोमुखाः कण्टका भवन्तीति चतु-
र्दशः १४ ऋतवा विपरीताः कथमित्याह । सुखस्पर्शा भवन्तीति
पञ्चदशः १५ योजनं यावत् क्षेत्रशुद्धिः संवर्तकवातेनेति षोडशः
१६ (जुत्तफुसिएणस्ति) उचितविन्दुपातेनेति (निहयरयरे-
ण्यंति) वातोत्क्रातमाकाशवर्ति रजो भूवर्ती तु रेणुरिति ग-
न्धोदकवर्षाभिधानः सप्तदशः १७ जलस्थलजं यद्भास्वरं प्र-
भूतं च कुसुमं तेन वृत्तस्थापिता ऊर्द्धमुखेन दशाईवरेण प-
ञ्चवरेण जानुनोरुत्सेधस्य उच्चत्वस्य यत्प्रमाणं यस्य स
जानूत्सेधप्रमाणमात्रः पुष्पोपचारः पुष्पप्रकर इत्यष्टादशः १८
तथा (कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमधमधंतगंधुद्धयाभि-
रामे भवइस्ति) कालागुरुश्च गन्धद्रव्यविशेषः प्रवरकुंदुरुक्क-
श्च चीडाभिधानं गन्धद्रव्यं तुरुक्कं च शिहकाभिधानं गन्ध-
द्रव्यमिति द्वन्द्वस्तत एतल्लक्षणो यो धूपस्तस्य मधमघायमा-
नो बहुलसौरभ्यो यो गन्ध उद्धूत उद्धूतस्तेनाभिराममभि-
रमणीयं यत्तत्तथा स्थानं निषीदनस्थानमिति । प्रक्रम इत्येको
नविंशतितमः १९ तथा उभयोः “ पासिं च एं अरहंताणं भग-
वंताणं दुवे जक्खा कडयतुडियथंभियज्जुया चापरुक्खेवणं क-
रंतिस्ति ” कटकानि प्रकोष्ठाभरणविशेषास्त्रुटितानि बाह्याभर-
णविशेषास्तैरतिबहुत्वेन स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ ययो-

सौ तथा यत्तौ देवाविति विशानितमः २० बृहदाचनायामन-
न्तरोक्तमतिशयद्वयं नाधीयते अतस्तस्यां पूर्वेऽष्टादशैव अम-
नोहानां शब्दादीनामपकर्षोऽभाव इत्येकोनविंशतितमः १६ म-
नोहानां प्रादुर्भाव इति विशानितमः २० (पञ्चाहरश्रोति) प्रव्या-
हरतो व्याकुर्वतो भगवतः (हिययगमणीउत्ति) हृदयङ्गमः (जो-
यङ्गोहारोत्ति) योजनातिक्रमो स्वर इत्येकविंशः २१ (अद्धमा-
गहीयात्ति) प्राकृतादीनां षष्ठा भागविशेषाणां मध्ये या मागधी ना-
म भाषा 'रसोलसौ' मागध्यामित्यादिलक्षणवती सा असमा-
धितस्वकीयसमप्रलक्ष्णपदमागधीत्युच्यते तथा धर्ममाख्याति
तस्या एवातिक्रमत्वमिति त्र्याविंशः २२ (भासिज्जमाणीत्ति) भगवताऽभिधीयमाना (आरियमणारियाणंति) आर्यानार्यदे-
शोत्पन्नानां विपदा मनुष्याश्चतुष्पदा गवादयः मृगा आटव्याः
पशवो प्राभ्याः पक्षिणः प्रतीताः सर्गसृष्टा उरःपरिसर्पा भुजप-
रिसर्पाश्चेति तेषां किमात्मन आत्मतया आत्मीययेत्यर्थः भाषा
तया भाषाभावेन परिणमतीति संबन्धः । किं भूताऽसौ भा-
षेत्याह हितमभ्युदयः शिवं मोक्षः सुखं श्रवणकालोद्भवमा-
नन्दं इदानीति हितशिवसुखदेति त्रयोविंशः २३ पूर्वं भवा-
न्तरेऽनादिकाले वा जातिप्रत्ययबद्धं निकाचितं वैरममित्रभा-
षो येषां ते तथा तेऽपि च आसतां मध्ये देवा वैमानिका अ-
सुरा नागाश्च भवनपतिविशेषाः सुवर्णाः शोभनवर्णा एते
च ज्योतिष्का यक्षराक्षसाकिन्नराः किंपुरुषाः व्यन्तरभेदाः ग-
रुडागरुहलाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारा भवनपतिविशेषाः ग-
न्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा एव एतेषां द्वन्द्वः (पसंत-
चित्तमाणसत्ति) प्रशान्तानि समझूतानि चित्राणि रागद्वेषा-
द्यनेकविधविकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्तःकरणा-
नि येषां ते प्रशान्तचित्रमानसा धर्मे निशामयन्ति इति चतु-
र्विंशः २४ वृक्षवाइतया इदमन्यदातिशयद्वयमधीयते यदुत अ-
न्यतीर्थिकप्रावचनिका अपि च एं वन्दन्तो भगवन्तमिति ग-
म्यते इति पञ्चविंशः २५ आगताः सन्तोऽर्हतः पादमूले नि-
प्पतिवचना भवन्ति इति षड्विंशः २६ (जत्रो जत्रो वि य-
गंति) यत्र यत्रापि च देशे (तत्रो तत्रो त्ति) तत्र तत्राऽ-
पि च पञ्चविंशतियोजनेषु इतिर्व्याध्याशुपद्रवकारी प्रचुरमे-
षकादिप्राणिगण इति सप्तविंशः २७ मारिर्जनमारक इत्यष्टा-
विंशः २८ स्वचक्रं स्वकीयराजसैन्यं तदुपद्रवकारि न भव-
न्तीति एकोनविंशः २९ एवं परचक्रं परराजसैन्यमिति त्रिंशः
३० अतिवृष्टिरधिकवर्ष इत्येकत्रिंशः ३१ अनावृष्टिर्वर्षणाभाव
इति षात्रिंशः ३२ दुर्मितं दुष्काल इति त्रयस्त्रिंशः ३३ (उष्णा-
इयावाहिति) उष्णाता अनिष्टसूचका रुधिरवृष्ट्यादयस्तद्धे-
तुका येऽनर्थस्ते श्रौत्यातिकास्तथा व्याधयो ज्वराद्यास्तदु-
पशमोऽभाव इति चतुस्त्रिंशतमः ३४ अन्यच्च " पञ्चाहरश्रो " इति
आरम्भ येऽभिहितास्ते प्रभामण्डलं च कर्मक्षयकृताः
शेषा भवप्रत्ययेभ्योऽन्ये देवकृता इति एते च यदन्यथाऽपि
इश्यन्ते तन्मतान्तरमेव मन्तव्यमिति सम० ३४ स० (इवमत्र नि-
गमनं चत्वारो जन्मप्रवृत्तिर एकोनविंशतिः देवकृताः एका-
दश प्रातिकर्मणां कयाद्भवन्तीति चतुस्त्रिंशदतिशयाः उक्ताः
वर्ग०) । मन्त्रवचनस्य पञ्चविंशदतिशयाः ।

पण्तीमं सन्त्रयदण्डमेमापणत्ता ।

पञ्चविंशत् स्थानकं सुगमं नवरं सन्त्रयवचनातिशया आगमेन
इष्टा एते तु प्रस्थान्तरे दृष्टाः संज्ञाधितवचनं हि गुणवद्वक्तव्यं
तद्यथा संस्कारवत् १ उदात्तं २ उपचारोपेतं ३ गम्भीरशब्दम् ४
अनुनादि ५ दक्षिणम् ६ उपनीतरागं ७ महार्थं ८ अव्याहतपौ-

र्वापर्यम् ९ शिष्टम् १० असंदिग्धम् ११ अपहृतान्योत्तरम् १२
हृदयग्राहि १३ देशकालाव्यतीतम् १४ तत्त्वानुरूपम् १५ अप-
कीर्णप्रसृतम् १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतम् १७ अभिजातम् १८
अतिस्निग्धमधुरम् १९ अपरमर्मविद्धम् २० अर्थधर्माज्यासा-
नपेतम् २१ उदारम् २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तम् २३ उपग-
तश्लाघम् २४ अनपनीतम् २५ उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलम् २६
अदुतम् २७ अनतिविशम्भितम् २८ विभ्रमविक्रपकिलकिञ्चिना-
दिविमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रम् ३० आहितविशे-
षम् ३१ साकारम् ३२ सत्त्वपरिग्रहम् ३३ अपरिखेदितम् ३४
अव्युच्छेदम् ३५ चेतिवचनम् महानुजावैर्वक्तव्यमिति । तत्र
संस्कारवत्त्वं संस्कृतादिवृक्षणयुक्तत्वम् । उदात्तत्वमुच्चैर्गुणितम् ।
उपचारापेतत्वमप्राप्त्यता । गम्भीरशब्दं मेघस्येव ४ अनुनादित्वं
प्रतिरोपेतता ५ दक्षिणत्वं सरलत्वं ६ उपनीतरागत्वं माद्व-
कोशादिग्रामरागयुक्तता ७ एते सप्त शब्दापेक्षा अतिशयाः ।
अन्ये त्वर्थाश्रयास्तत्र महार्थत्वम् बृहदाभिधेयता ८ अव्याहत-
पौर्वापर्यत्वम् पूर्वापरवाक्याविरोधः ९ शिष्टत्वम् अभिमत-
सिद्धान्तोक्तार्थता वक्तुः शिष्टतासूचकत्वं वा १० असंदिग्धत्वम्
असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परदृष्ट्याविषयता १२
हृदयग्राहित्वम् श्रोतृमनोहरता १३ देशकालाव्यतीतत्वम् प्रस्ता-
वोचितता १४ तत्त्वानुरूपत्वम् विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता
१५ अपकीर्णप्रसृतत्वम् सुसंबन्धस्य सतः प्रसरणम् अथवाऽ
संबद्धाधिकारित्वातिविस्तरयोरजावः १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम्
परस्परं पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता १७ अभिजातत्वं
चक्षुःप्रतिपाद्यस्येव जूमिकानुसारिता १८ अतिस्निग्धमधुरत्वम्
घृतगुमादिवत् सुखकारित्वम् १९ अपरमर्मवेधित्वम् परमर्मा-
नुद्धृष्टस्वरूपत्वम् २० अर्थधर्माज्यासानपेतत्वम् अर्थधर्मप्रति-
बद्धत्वम् २१ उदारत्वम् अभिधेयार्थस्यानुच्छ्रित्यगुप्तं गुणवि-
शेषं वा २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्वमिति प्रतीतमेव २३
उपगतश्लाघत्वम् उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघता २४ अनपनीत-
त्वम् कारककालवचनविक्षादिव्यत्ययरूपवचनदोषापेतता २५
उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्वम् स्वविषये श्रोतृणां जनितमविच्छिन्नं
कौतुकं येन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् २६ अदुतत्वमनतिविलम्बि-
तत्वं च प्रतीतम् २७----२८ विभ्रमविक्रपकिलकिञ्चिनादिवि-
मुक्तत्वम् विभ्रमो वक्तुमनसो भ्रान्तता विक्रपस्तस्यैवाभिधेयार्थे
प्रत्यनासक्तता किञ्चिक्लिञ्चितं रोषमयानिश्चादिज्ञाचानां युग-
पदा सङ्करणमादिशब्दान्मनोदोषान्तरपरिग्रहस्तैर्विमुक्तं यत्त-
त्तथा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम् इष्ट-
जातयो वर्णनीयवस्तुरूपवर्णनानि ३० आहितविशेषत्वम् वच-
नान्तरापेक्षया दौकितविशेषता ३१ साकारत्वम् विच्छिन्नवर्ष-
पदवाक्यत्वेनाकारप्राप्तत्वम् ३२ सत्त्वपरिगृहीतत्वं साहसोपेतता
३३ अपरिखेदितत्वम् अनायाससंज्ञवः ३४ अव्युच्छेदित्वं विव-
क्षितार्थसम्यक्सिद्धिं यावदनवच्छिन्नवचनप्रमेयतेति ३५ सम० ।

सुत्रार्थाद्यतिशयाः ।

मुत्तये अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाड ।

विज्जजोगाड सुए, विसंति दुविहा अओ होंति ॥

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा सुत्रार्थातिशयाः सामाचार्यति-
शयाः विद्या योगा आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयास्तत्र-
विद्या स्तोत्रदेवताधिष्ठिता पूर्वसेवादिप्रक्रियासाध्या वा योगाः
पादद्वेषप्रवृत्तयो गगनगमनादिपङ्क्ताः । मन्त्राः पुरुषदेवताः,

पण्डितसिद्धा वा । यद्वा विद्या यागाश्चान्द्रान्मन्त्राश्च धृतं एवं
विशन्ति अन्तर्भवन्ति अतो द्विविधा अनिशयाः भवन्ति तत्र
सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यतिशयाश्चेत्येतेषामतिशयानामुप-
निषिः प्रवाचनाचार्यपर्युपामनया भवति वृ० १ उ० । अव-
ध्यादौ, श्री० । कर्मणि प्रत्ययः अतिक्रान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ०
अतिशिष्यते कर्मणि घञ् । स्वल्पाऽवशिष्टे; वाच० ।

अइसेसइहि-अतिशेषार्थि-पुं० अतिशेषा अवधिमनःपर्याय-
ज्ञानमयौषध्यादयोऽतिशयास्ते तैर्वा ऋक्षिरस्याऽसौ अतिशे-
पार्थिः । प्रथमे प्रवचनप्रज्ञावके, प्रव० १४ ठा० । नि० च० । दश०
अइसेमपत्त-अतिशेषप्राप्त-त्रि० आमयौषध्यादिलब्धीः प्राप्ते,
कल्प० ॥

अइसेसपहुत्त-अतिशेषप्रजुत्त-न० अतिशायिप्रभुत्वे, व्य० ६ उ० ।
अइनेसि (न)-अतिशेषिन्-त्रि० स्फांते, ओष० ।

अइसेसिय-अतिशेषित-त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ (ति) हि-अतिथि-पुं० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विश-
दैकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिथिः
“ तिथिपूर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं
विज्ञानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुरित्युक्लक्षणे (ध० २ अधि०)
तिथिपूर्वादिलौकिकव्यवहारपरिवर्जके भोजनकालोपस्था-
यिनि भिन्नविशेषे, ध० २ अधि० । आव० । आ० । आनु० ।
प्रति० । आचा० । आगन्तुके, भ० ११ श० ६ उ० ।

अइ (ति) हिपूत्रा-अतिथिपूजा-स्त्री० ६ त० आहारादि-
दानेनातिथेः सत्कारलक्षणे लोकोपचारविनयभेदे, द० ५
श० “ बलिबइस्सदेवं करेइत्ता अतिहिपूय करेइ करेइत्ता
तओ पच्छाअप्पणा आहारमाहारेइ” भ० ११ श० ६ उ० । नि०,
अइ (ति) द्विवन्न-अतिथिवन्न-न० अतिथेः शक्त्युपचये,
आचा० १ शु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ (ति) हिम-अतिहिम-न० अतिशयितहिमे, पिं० ।

अइ (ति) द्विवर्णमग-अतिथिवर्णीपक-पुं० अतिथिमा-
श्रित्य वर्णीपकः । अतिथिदानप्रशंसनेन तद्भक्तात् लिप्स्यमाने
याचकभेदे, स्था० ५ ठा० ।

सांप्रतमतिथिभक्तानां पुरतोऽतिथिप्रशंसारूपं वर्णीपकत्वं
यथा साधुर्विदधाति तथा दर्शयति ।

पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु कुसिए वा ।

जो पुण अप्पाखिन्नं, अतिहिं पूणइ तं दाणं ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदि वा अध्यु-
षिते आश्रिते ददाति भक्तादि यः पुनरध्वखिन्नमतिथिं पूज-
यति तदेवं जगति दानं प्रधानमिति शेषः । पिं० । नि० चू० ।

अइ (ति) हिंसविभाग-अतिथिसंविभाग-पुं० तिथिपूर्वा-
दिलौकिकव्यवहारत्यागाद् भोजनकालोपस्थायी श्रावक-
स्यातिथिः साधुरुच्यते तस्य संगतो निर्दोषो न्यायागतानां
कल्पनीयाभ्रपानादीनां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तः पश्चा-
त्कर्मोद्दिदोषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहबुद्ध्या दान-
मतिथिसंविभागः । यथा संविभागापरनामके चतुर्थं शिक्षा-
घटे, ध० ३ अधि० (तत्त्वं च)

अतिहिंसविभागो नाम नायागयाणं कर्णाणिज्जाणं अन्नं

पाणाणं दव्वाणं देसकान्नसद्धासकारकमञ्जुत्तं पराए
भत्ते ए आयाणुग्गहवृक्षीए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजक्षत्रियवि-
टशूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानं स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकव्यव-
हार्या तेन तादृशा न्यायेनागतानां प्राप्तानामनेनान्यायेनाग-
तानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जिताना-
मनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणामादि-
ग्रहणाद्वस्त्रपात्रौषधभेषजादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्य-
वच्छेदमाह । देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तं तत्र नानाव्रीहि-
कोद्वयकङ्कुगोधूमादिनिष्पत्तिभादेशः, सुभिन्नदुर्भिन्नादिः कालः,
विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा, अभ्युत्थानासनदानवन्द-
नानुव्रजनादिः सत्कारः, पाकस्य पेयादिपरिपाठ्या प्रदानं
क्रमः, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपक्षव्यव-
च्छेदमाह । परया प्रधानया भक्त्योत्पन्नेन फलप्राप्तौ भक्ति-
तमतिशयमाह । आत्मानुग्रहबुद्धेति न पुनर्यत्सुग्रहबुद्धेति
तथा ह्यात्मपरानुग्रहपरा एव यतः संयताः मूलगुणोत्तरगु-
णसंपन्नाः साधवः तेभ्यो दानमिति सूत्राक्षरार्थः आव० ६
अ० । अत्र वृद्धोक्ता सामाचारी श्रावकेण पोषधं पारयता
नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्त्वा
वा पारयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा
पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यदा देशकालो भवति तदात्मनो
विभूषां कृत्वा साधूस्तत्प्रश्रयं गत्वा निमन्त्रयते भिक्षां गृह्णी-
तेति । साधूनां का प्रतिपत्तिरुच्यते । तदा एकः पटलकमन्यो
मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेत्य मा अन्तरायदोषाः स्थाप-
नदोषा वा भवन्तु स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते
अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानीयस्तनस्तूह्यते । अथवा
नास्त्यसौ तदा न गृह्यते यतस्तद्वोद्वयं भवति । यदि पुनर्ध-
नं लगेत्तदा गृह्यते संस्थाप्यते च यो वोद्धाटपौरुष्यां पारयति
पारणकवानन्यो वा तस्मै तदीयते पश्चात्तेन श्रावकेण समं
संघाटको व्रजत्येको न व्रजेत् प्रेषयितुं साधुपुरतः श्रावकस्तु
मार्गतो गच्छति ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासेनोपनिमन्त्रयेत
यदि निविशेते तदा भ्रष्टमथ न निविशेते तथाऽपि विनयः प्रयु-
क्तो भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा
भाजनं धारयत्यथवा स्थित एवास्ते यावद्दत्तं साधू अपि
सावशेषं गृह्णीतः पश्चात्कर्मपरिहरणार्थं ततो दत्त्वा वन्दित्वा
च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पदानि ततः स्वयं भुङ्क्ते
यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् श्रावकेण न भोक्तव्यम् ।
यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न सन्ति तदा भोजनवेलायां
दिगवलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि सा-
धवोऽभविष्यंस्तदा निस्तारितोऽहमभविष्यमिति विभाषेति
गाथार्थः ३१ पंचा० १ विव० । ध० २० । ध० । आ० । “ एसा
विही णाणोसु बंभयारीसु भत्तीए गिी उग्गहं कुज्जा पारि-
उकामो य वरं इह परलोणे य दाणं फलं” आ० चू० ४ अ० ॥

अस्य पञ्चातिचाराः ।

तयाऽन्तरं च एं अहासंविभागस्स पंच अइआराजा-
णियव्वा न समारियव्वा । तं जहा सच्चित्तनिकखेवणया
१ सच्चित्तपेहणया २ कालाऽक्रमदाणे ३ परवेदसे ४
मच्छरया ५

यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्धतितस्येत्यर्थोऽज्ञादेः समिति मङ्गलत्वेन पञ्चात्मर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधये दान-
द्वारेण विभागकरणं यथा सविभागस्तस्य (सचित्तनिकलेवणे-
त्यादि) सावत्तु ब्रह्मादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मा-
तृभ्यामनतः सचित्तनिक्षेपणमेवं सचित्तेन फलादिना रथगनम-
सचित्तविधानम् २ कालातिक्रमः कालस्य साधुभोजनकाल-
स्यातिक्रम उल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालमून-
मधिकं च ज्ञात्वा साधवो न प्रहीष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च यथा-
५९ इत्याद्येवं विकलानां दानार्थमभ्युत्थानमतीतचार इति ३ ।
तथा परम्यपदेशः परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति
साधुनमन्नं भणत्वे जानन्तु साधवो यद्यस्यैतद्भक्षादिकं न-
येन तदा कथमस्मभ्यं न दद्यादिति साधुप्रत्ययार्थम् अथवा
ऽस्मादानान्ममान्नादेः पुण्यमस्त्विति भणनमिति ४ मत्सरिता
अरण्येण दत्तं किमहं तस्मादपि कृपणां हीनो वाऽतोऽहमपि
ददामीत्येवंरूपोदानप्रघर्षकविकल्पो मत्सरिता एते चाति-
चारा एव न भूया दानार्थमभ्युत्थानं दानपरिणतेष्वदृष्टित्वात् ।
भङ्गस्वरूपस्य चेदेवमभिधानात् यथा " दानं तगय दोसा, न
देह दिञ्जतयं च योगे ६ । दिन्ने वा परितपे ६, इति किवणत्ता
भवे भगो " १ उपा० १, अ० । घ० ।

अई (ति) १-अतीव-अ० अति-इव-समासः । अतिशयायं,
पंचा० १९, विच० । "अईव निचंधयारकृत्रिणसु " प्रश्न० आश्र०
२, डा० । "अईव सोमचारुचा" अतीव अतिशयेन सोमं दष्टिसु-
भगं चारु रूपं येषां तेऽनीय सोमचारुपाः जी० ३ प्रति० २ उ० ।

अउअ [य]-अयुत-त० चतुरशीत्या दक्षैर्गुणिते, अनु० । अ-
युताङ्गे, स्था० २, गा० । अनु० । जी० । जं० । दशसहस्रेषु, क-
न० । अमंवेष्ट, असंयुक्ते च वाच० ।

अउअंग-अयुताङ्ग-त० चतुरशीत्या दक्षैर्गुणिते अर्थनिपूरे, जी०
० प्रति० । जं० । कल्प० । स्था० । अनु० ।

अउअ सद्ध-अयुतसिद्ध-वि० कारणकपालादेरपृथग्भूततया
निर्देकायद्वये घटादौ, तथाभूते वैशेषिकेके द्रव्याश्रिते गुणे,
कर्मणि च वाच० । आ० म० । मम्म० । स्या० ।

अउउऊ-अयोधय -वि० परैर्योद्धमशक्ये, जी० ३ प्रति० ।
दुर्गतस्यान्परब्रह्मैः संग्रामयितुमशक्ये, स्था० ४, गा० ।

अउऊआ-अयोध्या-स्त्री० विनीताऽपरनामके पुरीजेदे,
तन्माहात्म्यम् ।

अउऊआ पण्डित्याह जहा अउऊआ अवज्जा कोसत्रा विणीया
सा केयं इक्ष्वाकुनृमी रायपुरी कोसत्रसि पसा सिरिउसत्र
अजिअभिनंदणमुमइअणेतजिणाणं तदा नयमस्स सिरिवी-
रगणहरस्स अवज्जाउणा जम्मनृमी रहुवेसऊवाणं दसरहराम-
भरहाईणं च उज्जाणं विमन्नवाहणाइ सत्त कुलगरा इत्थ उप्प-
आ वसमसामिणो रज्जाजिमेए मिदुणगोई निसीणीपत्तेयं उ-
दयं विन्तु पापसुअदं तथो मा हुविणीया पुरिसत्ति जणिअं स-
इणं तथो विणीयत्ति सा नयरी रुहा । जत्थ य महासईए सी-
याए अण्णाणं माहंतीए निअसीअवलेण अग्गी जअपूरा कओ सो
अजअपूगे नयरी दोहंती निअमाहण्णेण तीए चेव रक्खिअओ जाय
अहुतरहवसुहागोअस्स मज्जदूआ सया नवजोअणविधिष्ठा
बारसजोअणदीहा य जत्थ चकेसरी रयणमयायतणद्विअप-
दिमा संघविग्वं हरेइ । सोमुहजस्सो अ जत्थ धम्मरदोउ-

खरऊ नईए समं मिलित्ता सग्गदुवारंति पसिद्धमावन्नो जीए
उत्तरदिसाप बारसहि जोयणेहिं अट्ठावयनगवरो जत्थ भ-
गवं आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहसरेण सीहनिंसिज्जाययसं
ति कोसुअं कारियं नियनियवण्णपमाणसठाणजुत्ताणि अ च-
उवीसजिणाणं विवाइं टाघियाइं तत्थ पुच्चदारे उसमजियाणं
दाहिणदारे संभवाइणं चउणं, पच्छिमदुवारे सुपासाइणं अ-
ट्टएहं उत्तरदुवारे धम्मार्इणं दसएहं धूभसयं च भाउआणं
तेण च कारिअं । जीए नयरीए वत्थवा जण अट्ठावयउच्चव-
यासु किलिसु जओ असेरीसयपुरे नवंगवित्तिकारसाहास-
मुअवेहिं सिरिदेविंदसूरीहिं चत्तारि महाविवाइं दिव्वसत्तीए
गयणमग्गेण आणीआइं जत्थ अज्जवि नाभिरायस्स मंदिरे
जत्थ पासनाहवामिअसीयाकुंडं सहस्सधारां च पायारद्विओ
मत्तगयंदजक्खो अलाविज्जस्स अग्गे करिणो न संचरंति
संचरंति वा ता मरंति गोपयराईणि य अणेगाणि य लोइअति-
छाणि वरंति "पसा पुरी अउऊआ, सरउज्जाभिसिचचमाण-
गढमिच्छी । जिणसमयसत्तितीर्थी, जत्तपवित्तिअज्जा जयइ ॥
कइं पुण देविंदसुरिहिं चत्तारि विवाणि अउऊआपुअओ आणि-
याणित्ति जअइ सेरीसेयनयरे विहरंता आराहिअपउमावइध-
राणिदा उत्तावट्ठीयसिरे देविंदसुरिणो उ कुरुमि अण्ण ठाणे-
काउसग्गि कारिसु एवं बहुवारं कारिते दट्ठुण सावणहिं पुच्छियं
भयवं को विसेसो इत्थ काउसग्गकरणे सुरिहिं जणिअं इत्थ
पहाणफव्वहिं चिच्छ जीसे पासनाहपमिमा कीरइ सा य सत्तिहिं
अपामिहेरा हवइ तओ सावयवयणेणं पउमावइ अराहणत्थं
उववासतिगं कयं गुरुणा आगया जगवइ तीए आइट्टं जहा सो
पारए अंधो सुत्तहारो चिट्ठइ सा जइ इत्थ आगच्छइ अछमजत्तं
च करेइ सूरिए अत्थमिए फलाहिअं अंधाडउमादवइ अणुदिए
पडिपुअं संपाभेइ तओ निप्पज्जइ । तओ सावणहिं तदाहवणत्थं
सो पारए पुरिसा पछविआ सो आगओ तेहव धम्मिमादत्ता
धरणिंदधारिआ निप्पआ पमिमा धर्मितस्स सुत्तहारस्स पमि-
माएहिं अपमासा पाउभूओ । तमुविक्खिउणा उत्तरकाउं घ-
मिओ पुणो समारिणेण मसो दिट्ठो ढंकिआ वाहिआ रुहिरं निरस्-
रिउमारुअं तओ सूरिहिं जणिअं किमेयं तुमए कयं एवमि
मसे अत्थतं सा पमिमा अईव अज्जुअ अह वसमण्णभावा हुंता ।
तओ अंगुट्ठेणं चंपिउं थंभिअं सरुहिरं एवं तीसे पमिमाए नि-
पआए चउव्वं सं अआणि विवाणि खाणीहिता आणित्ता गावि-
आणितओ दिव्वसत्तीए अउऊआपुरओ तिप्पि महाविवाणि रत्तीए
गयणमग्गेण आणियाणि । चउत्थे वि आणिज्जमाणे विहाया
रयणी चउधारासेणेयग्गामे खिअमज्जे बिबं उविअं रामासि-
रिकुमारपात्तेण चालुकचक्कवइणा चउत्थं बिबं कारित्ता गाविअं ए
वं सेरीसे महप्पजायो पासनाहो अज्ज वि संघेण पूइज्जइ मि-
च्छावि उवइवं कारिअं न पारंति कुसुअधर्मित्तेण न तथा सत्ता-
वणा अवयवा दीसंति तम्मिअ गामे तं बिबं अज्ज वि चेइहरे पू-
इज्जइत्ति । इतिथी अयोध्याकल्पः समाप्तः ती० १२ कदप० । गच्छि-
त्तावतीविजये वर्तमाने पुरीयुगले च "दो अवज्जाओ" स्था० २, गा
अउ (तु) दा-अतुल-वि० अनन्यसङ्गो, आव० ६, अ० ।
द० । निरुपमे, उक्त० २० अ० । प्रधाने, आ० । नास्ति तुला शु-
भताया यस्यामिति तिलकवृत्ते, पुं० । वाच० ।
अओ-अतम्-अ० इदम् तसिद्ध-पतकेतुकार्यं, वाच० "अओ सव्वे
अहिंसिया " सूत्र० १, पु० १, अ० १ उ० ।

अओघण-अयोघन-पुं० बोहघने, अयोमये घने, “सीसं पि निंदति अओघणेहि” सूत्र० ५ अ० २ उ० ।

अओमय-अयोमय-त्रि० बोहमये विकारे, “अओमपणं संमास-पणं गहाय” सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अओमुह-अयोमुख-त्रि० अय इव मुखं यस्य बोहमुखे पद्यादौ, “पक्ष्वादि खञ्जति अओमुहेहि” सूत्र० १ अ० ५ अ० २ उ० । अयोमुखद्वीपनिवासिनि मनुष्ये, पुं० स्था० ५ ग० ॥

अओमुहद्वीप-अयोमुखद्वीप-पुं० गोकर्णनाम्नोऽन्तरद्वीपस्य परतो दक्षिणपश्चिमायां विदिशि पञ्चयोजनशतव्यतिक्रमेण स्थिते पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भे एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्रमे पञ्चवरवेदिकावनखण्डमण्डितवाह्यप्रदेशेऽन्तरद्वीपविशेषे, न० । प्रज्ञा० । स्था० ।

अंक-अङ्क-पुं० अङ्क-अञ् । शुल्कमणिविशेषे, उक्त० ३४ अ० । रत्नविशेषे, ज्ञा० १ अ० । ज० । ज्ञा० । रा० । सूत्र० । उक्त० । जी० । भ० । आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । नि० चू० । “पद्मासनोप-विष्टोऽसङ्करूपे आसनबन्धे, चन्द्र० ४ पाहु० । चन्द्रविम्बा-न्तर्गतमृगावयवे च । यज्ञोक्ते मृगादिव्यपदेशं लज्जते ज० २ वक्र० । सूर० । चिह्ने, चन्द्र २० पाहु० । लाञ्छने, औ० । उत्सङ्गे, व्य० ८ उ० । ज० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । दृश्यकव्यभेदे च पुं० न वाच० । दृश्यकव्यरूपकभेदे, एकत्वादिसंख्याबोधकरेखास-न्निवेशे नवसंख्यायाश्च पुं० वाच० ।

अंककंड-अङ्ककार्क-न० अङ्करत्नमये योजनशतवाहल्ये रत्न-प्रभायाः खरकाण्डस्य चतुर्दशे भागे, स्था० १० ग० ।

अंककरेह्र-अङ्ककरेह्र-न० वनस्पतिविशेषे, आचा० १ अ० १ अ० ५ उ० ।

अंकटिङ्ग-अङ्कस्थिति-स्त्री० संख्यारेखाविचित्रस्थापनरूपायां त्रयश्चत्वारिंशत्कलायाम्, कल्प० ।

अंकण-अङ्कन-न० अङ्क-ल्युट् । तप्तायःशलाकादिना गवाश्वानां चिह्नकरणे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । भ० । श्वशृगावचरणादिजि-लाञ्छनकरणे च आश्र० ४ अ० । अङ्क-करणे ल्युट् । अङ्कसा-धनद्रव्ये “गदागामीति” प्रसिद्धे, वाच० ।

अंकध (ह) र-अङ्कधर-पुं० ६ त० चन्द्रमसि, जी० ३ प्रति० । तं० । जं० ।

अंकधाङ्-अङ्कधात्री-स्त्री० उत्सङ्गस्थापिकायां धात्र्याम्, ज्ञा० १ अ० । नि० चू० । आचा० ।

अंकवणिय-अङ्कवणिज् (ज)-पुं० अङ्करत्नवणिजि, रा० ।

अंकमुह-अंकमुख-न० ६ त० पद्मासनोपविष्टस्य उत्सङ्गरू-पासनबन्धाग्रजागे, सूर० ५ पाहु० चं० ।

अंकमुहसंश्रिय-अङ्कमुखसंस्थित-त्रि० पद्मासनोपविष्टस्योत्स-ङ्गरूप आसनबन्धस्तस्य मुखमग्रभागोऽर्द्धबलयाकारस्तस्येव सं-स्थितं यस्य । अर्द्धबलयाकारसंस्थानसंस्थिते, सूर० ५ पाहु० । चन्द्र० ।

अंकलित्रि-अङ्कलिपि-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्द्वादशे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद० । स० ।

अंकमय-अङ्कमय-त्रि० अङ्करत्नमये, अङ्करत्नविकारे, अङ्क-रत्नप्रसुरे वा “अंकामया पक्खा पक्खवाहा” औ० । रा० । प्रति० ।

अंकार्य-अङ्कवती-स्त्री० महाविदेहरम्यविजये वर्तमानायां

राजधान्याम् । “रम्भे विजये अंकार्यं रायदाणी अंजणे वक्खारपच्चए” ज० ४ वक्र० “दो अंकार्यो” स्या० २ ग० । मन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वर्तमाने वक्खस्का-रपर्वते च स्था० ५ ग० ।

अंकिअ (य)-अङ्कित-त्रि० लाञ्छिते, आश्र० ४ अ० । औ० । अंकिइह-देशी० नटे, ज्ञा० १ अ० ।

अंकुडग-अङ्कुटक-पुं० नागदन्तके; जं० १ वक्र० ।

अंकुत्तरपास-अङ्कोत्तरपार्श्व-त्रि० अङ्का अङ्करत्नमया उत्तर-पार्श्वं यस्य तत् अङ्कोत्तरपार्श्वम् । अङ्करत्नमयोत्तरपार्श्वयु-क्ते द्वारे । रा० । जी० ।

अंकुर-अङ्कुर-पुं० न० अङ्क-उरच् । प्ररोहे, वृ० १ उ० । शाल्यादिवीजसूचौ, ज० ७ उ० ७ श० । काष्ठकृतावस्थावि-शेषजाजि प्रवाहे, जी० ३ प्रति० । स्था० । “दग्धे वीजे यथा-ऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मवीजे तथा दग्धे न रोहति भषाङ्कुरः” ध० २ अधि० । जले, शीघ्रोत्पत्तिसाधर्म्यात् । रुधिरं, लोम्भं, मुकुत्ते च वाच० ।

अंकुस-अङ्कुश-पुं० न० अङ्क उशच् वृणौ, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० ।

“अंकुसेण जहा णागो धम्मे संपन्निवाइओ” उक्त० २२ उ० । अङ्कुशकारे मुक्तादामावलम्बनाश्रयभूते चन्द्रोपके, जी० ३ प्रति० । स्था० । आ० म० छि० । विमानविशेषे, स० । देवार्चनायै वृक्षपल्लवाकर्षणार्थं परिव्राजकोपकरणविशेषे, औ० । पष्ठे बन्द-नकदोषे, तत्स्वरूपे च ।

उवगरणे हृत्पश्मि व, पित्तं णिवेसेति अंकुसं विति ।

यत्राङ्कुशेन गजमिव शिष्यः सूरिं तूर्ध्वस्थितं शयितं प्रयोजना-न्तरव्यग्रनोपकरणे चोत्पट्टककल्पादौ हस्ते वाऽवहृत्वा समाहृ-ष्य वन्दनकदानार्थमासने उपवेशयति तदङ्कुशवन्दनकमुच्यते नहि श्रीपूज्याः कदाचनान्युपकरणाद्याकर्षणमर्हन्त्यविनयावात् किं तु प्रणामं कृत्वा कृताञ्जलिपुटैर्विनयपूर्वकमिदमभिधीयते उपविशन्तु भगवन्तो येन वन्दनकं प्रयच्छामीत्यतो दोषदृष्टमि-दमिति । आवश्यकवृत्तौ तु रजोहरणमङ्कुशवत् करण्येन गृहीत्वा यत्र वन्दते तदङ्कुशमिति व्याख्यातम् । अन्ये तु अङ्कुशाक्रान्तस्य हस्तिन इव शिरोवनममोन्नमने कुर्वाणस्य यत्र वन्दनं तदङ्कुशमित्याहुः एतच्च द्वयमपि सूत्रानुयायि न भव-ति । तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता जानन्ति प्रव० २ द्वा० । भाष० । घ० । “अंकुसो दुविहो सूत्रे गंरुस्स रयहरणं गहाय भणति निवेस जा ते वंदामि अहवा दोहिं वि हत्थेहि अंकुसं जघा आ० सू० ३ उ० । प्रतिबन्धे च वाच० ।

अंकुसा-अंकुशा-स्त्री० अनन्तजिनस्य शासनदेवतायाम्, सा च देवी गौरवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा खड्गपाशयुक्तदक्षिणपा-णिद्वया फलकाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च प्रव० २७ द्वा० ॥

अंकेल्लणप्रहार-अंकेल्लणप्रहार-पुं० अश्वादीनां तर्जकविशे-पाघाते, अंकेल्लणप्रहारपरिवर्जियगे अंकेल्लणप्रहारपरिवर्जिताङ्गः अश्वचारमनोऽनुकूलत्वादेर्ल्लणप्रहाररहितशरीरे अश्वादौ, त्रि० जं० ४ वक्र० ।

अंकोष्ठ-अंकोट [ठ] [ल] पुं० अङ्कयते लक्ष्यते कीला-कारकण्टैः अङ्क-आट-आठ-आठ-वा । अंकोठेहः ७ । १ । २०० । इति सूत्रात् उस्य द्विरुक्तो लः प्रा० पीतवर्णसारे गन्धयुक्तपुष्पे दीर्घकण्टकयुक्ते रक्तवर्णफले वृक्षाविशेषे, वाच० एकास्थिकवृ-क्षभेदे, गुञ्जनेदे च प्रज्ञा० १ पद० । कल्प० ।

अंकोत्पत्तेः-अंकोट [३] तत्र- न० अङ्कोट-तत्र च अनङ्को-
मत्तैः स्य ऋतुः ८ । २ । ५५ । इत्यङ्कोटपुद्गलात् तैलप्रत्य-
यस्य ऋतुः । अङ्कोटस्तेहः प्रा० ॥

अंग-अङ्ग-अ० आत्मन्त्रणे, ज० ए श० ३३ उ० दशा० । ज्ञा० ।
आ० । सत्कारि च । "विमंग पुण अहं सज्जोवगमिञ्चो" स्था०
३ गा० अङ्गुल्यक्तिरूपगतिरिति अङ्गुलधारात्तज्जन्ते गभोत्पत्ते
राजस्य व्यक्तीतवन्ति जन्मप्रवृत्तेर्ग्रहयन्ते चेत्यङ्गानि । शिर-
उदरादिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रव० ८ टा० । आ० चू०
प्रज्ञा० ते चू० विरोधो उत्त० अङ्गान्यष्टौ शिरः प्रवृत्तीनि तदुक्तं
" सीसुरोत्तरपिष्टा, दो वाह ऊरुया य अट्टंगा " कर्म०रा० ।
" बाहुरुपुष्टिसिरउत्तरंगा " बाहू जुजद्वयम् ऊरू ऊरुद्वयं
पृष्ठिः प्रताता शिरो मस्तकमुरो वक्त्रः उदरं पोष्टमित्यष्टावङ्गान्यु-
च्यन्ते इह विभक्तिद्वेपः प्राकृतत्वात् कर्म० १ क० । आ० म० ।
गात्रं, श्रौ० । स्था० । वृत्त० । अवयवे, स्था० ७ टा० । " अट्ट-
गात्रं " ज्ञा० १ अ० । स० । स्था० दौकिकानि वेदस्य पञ्च-
ङ्गानि तद्यथा शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरणं ३ गन्धो ४ नि-
रुक्तं ५ ज्योतिषं ६ चेति आ० चू० २ अ० । अनु० । आ० म० ।
भाव० । लोकोत्तराणि प्रवचनस्य द्वादश अङ्गान्याचा-
राङ्गादीनि (तानि अंगपविद्रुशब्दे व्याख्यास्यन्ते) कारणे,
प्रति० । स्था० ।

अस्य निक्षेपमाह ।

णामंगं ठवंगं, दवंगं चैव होइ भावंगं ।

एसो खलु अंगस्म, एक्केवो चउच्चिहो होइ उत्त० नि०
नामाङ्गं स्थापनाङ्गं द्रव्याङ्गं चैव जवति भावाङ्गमेव खलु
(अंगस्त इति) प्राकृतत्वाद्द्वयस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गा-
थासमासार्थः । अत्र च नामस्थापने प्रसिद्धत्वाद्नाट्य द्रव्या-
ङ्गमभिधिसुगद ।

गयंगमोमहंगं, पज्जाउज्जं शरीरजुद्धंगं ।

एतो एक्केकं पि य, एगविहं होइ णायव्वं ॥

गन्धाङ्गमौषधाङ्गं (मज्जाउज्जं शरीरजुद्धंगं) विन्दोरलाङ्गणिकन्या
वृक्षशब्दस्य च प्रत्येकमभिसंयन्धात् मद्याङ्गमातोद्याङ्गं शरीराङ्ग
युक्ताङ्गमिति पाट्टिधम (एतोत्ति) सुव्यत्ययादेषु मध्ये एकै-
कमपि चानेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति गाथाकारार्थः । भावार्थ
तु विवक्षुराचार्यो " यथोद्देशं निर्देशमिति " न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्गं
प्रतिपादयन्नाह ।

जमदग्निजटा हरेणु-या मवगणिवसणयं मपिप्पियं ।

रुक्खस्म वाहिरा तथा, मल्लियवामियकोटिअग्घती ॥

उत्तीरदिग्गवेणं, पत्तं भददारुणो करिसो ।

मत्तपुष्पाण भागो य, भागो य तमालपत्तस्म ॥

एयं पण्हाणमयं, विद्धेवणं एम चैव पडवामो ।

वामवदत्ताकनो, उदयणमजिधारयंतीए ॥

तत्र जमदग्निजटा बालको हरेणुका प्रियङ्गुः भवरनिवसनकं
तमालपत्रं (मपिप्पियं) पिप्पिका ध्यामकास्यं गन्धद्रव्यं तथा सह
मपिप्पिकं वृक्षस्य च बाह्या न्वक् चानुर्यातकाङ्गं प्रतीतमेव
" मल्लियवामियत्ति " मल्लिका जातिस्तद्भाषितमनन्तरोरुद्रव्य-
जातं चूर्णीकृतमिति गम्यते कोटि (अग्घ इति) अहंति कोटि-
मृग्याहं जवति । मरार्धतोपवृक्षं चैतत् तथा उत्तीरं प्रसिद्धं
होवेरो बालकः पत्तं पञ्चमनयोस्तथा भददारुदेवदारोः कपः

" सयपुष्पाणति " वचनव्यत्ययात् शतपुष्पाया जागो जागश्च
तमालपत्रस्य भाग इह पलिका मात्रा । अस्य माहात्म्यमाह । एत
त्त्वानमेतद्विलेपनमेव चैव पट्टवासः वासवदत्तया चण्डप्रसाद-
दुहिवा कृतो विहित उदयनं घोणावत्सगजमजिधारयन्त्या चे-
तसि बहन्त्या अनेन परिचित्ताक्षेपकत्वमस्य माहात्म्यमुक्त-
मिति सूत्रार्थः । औषधाङ्गमाह ।

दोषि य रयणी महिद-फलं च तिप्पि य समुण्णगाई ।

सरभंव कणयमूलं, एसा उदगट्टमागुल्लिया ॥

एसा उ हणइ केजुं, तिमिरं अवहेरुगं मिरोरोगं ।

तेज्जगचाउत्थग-मृमगमप्पावरणं च ॥

द्वे रजन्यौ पिण्डदारुद्विद्वे माहेन्द्रफलं चेन्द्रयवा श्रीणि च
समूयणं त्रिकटुकं तस्याङ्गानि सुण्ठीपिप्पलीमरिचद्रव्याणि स-
रसं चार्द्रकनकमूलं विल्वमूलमेयोदकाष्टमेत्युदकमष्टमं यस्यां
सा च तथा गुटिका वटिका । अस्याः फलमाह । एसा तु हन्ति
कण्ठं तिमिरं (अवहेरुयति) अर्द्धशिरोरोगं समस्तशिरो-
व्यथाम् (तेज्जगचाउत्थगति) सुषां लोपे तार्त्तिकचातुर्थिकौ
रुद्ध्या ज्वरौ मूषकसर्पापराद्धमुन्द्राहिद्वयं चः समुच्चय इति
गाथाद्वयार्थः । मद्याङ्गमाह ।

सोलस दक्खाजागा, चउरो जागा य धावतीपुप्फे ।

आढगमो उच्छुरसे, मागहमाणेण मज्जंगं ॥ दारं ॥

(सोलसगाहा) पोरुश द्राक्षाजागाश्चवारो भागाश्च धात-
कीपुष्पे धातकीपुष्पविषयाः (आढगमोत्ति) आर्थवादादक
उच्छुरसविषयः आढक इह केन मानेनेत्याह । मागधमानेन " दो-
असइ " इत्यादिरूपेण मद्याङ्गं मदिराकारणं जवतीति गाथार्थः ।
आतोद्याङ्गमाह ।

एगं मगुंदात्त-मेगं अहिमारुदारुअं अग्गी ।

एगं साजियपोंरं, वच्चो आमोलनो होइ ॥

(एगंगाहा) एकं मकुन्दातूर्यमिति । एकैव मकुन्दा वादित्त-
विशेषो गन्धीरस्वरत्वादिना तूर्यकार्यकारित्वान् तूर्यमनेनास्या
विशिष्टमातोद्याङ्गत्वमवाह । किमेकैव मकुन्दातूर्यं सोपस्कार-
त्वाद्यैकमभिमारस्य वृक्षविशेषस्य दारुकं काष्ठमभिमारदारु-
कमग्निविशेषतोऽग्निजनकत्वाद्यथा वा एकं शास्त्रमलीपोण्डं
शास्त्रमलीपुष्पं बद्धमामोरुको जवति । आमोरुकं पुष्पोन्मिश्रो
बालवन्धविशेषः स्फारत्वादस्येत्यं दृष्टान्ताजिघासितयेदं व्या-
ख्यायते प्रसङ्गतो वाग्न्यामोरुकाङ्गयोरप्यभिधानमिति सू-
त्रार्थः । शरीराङ्गमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी बाहू य दोषि ऊरू य ।

एहोति अट्टंगा खलु, अंगोवंगाई सेसाई ॥

होति उवंगा कना, णासच्छीहत्यपादजंघा य ।

एहकेसमंसअंगुलि, ओट्टा खलु अंगुवंगाई [दारम्]

शिरश्च उरश्च प्राग्गुदरं " पिठ्ठि " प्राकृतत्वात्पृष्ठं बाहु द्वौ
ऊरू च पतन्यष्टाङ्गानि । प्राग्गतं लिङ्गव्यत्ययः खलुरवधारणे
एतान्येवाङ्गानि अङ्कोपाङ्गानि शेषाणि नखादीनि उपलक्षणत्वा-
दुपाङ्गानि च कर्णादीनि यत् उक्तम् । होति उवंगा कक्षा नासच्छी
जंघाहृत्पाया य । नहकेसमंसअंगुलि ओट्टा खलु अंगुवंगाणि
इति गाथार्थः ।

सांप्रतं युद्धाङ्गमाह ।

जाणायरणपहरणे, जुष्टे कुशलक्षणं व एतीति य ।

द्वखत्तं ववसातो, मरीरमारोगए चेव ॥

(दारम) (जाणायरणपहरणेति) यानं च हस्त्यादि तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुमत आवरणं च कवचादि सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च खट्वादि यानावरणप्रहरणानि यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति किं यानादिनेति युद्धे संग्रामं कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं सत्यप्यस्मिन्नीति विना न शत्रुजयनमतो नीतिश्चापक्रमादिलक्षणा सत्यामपि चास्यां दक्षत्वाधीनो जयस्ततो दक्षत्वमाशुकारित्वं सत्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरमर्थात्परिपूर्णाङ्गं तत्राप्यारोग्यमेव जयायेति (आरोगयति) आरोग्यता चः समुच्चये एवावधारणे ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः भावाङ्गमाह ।

जावंगं पि य दुविहं, सुतमंगं चेव णोसुतं अंगं ।

सुतमंगं वारसहा, चउव्विहं णोसुयज्जंगं ॥

भावाङ्गमपि च द्विविधम् (सुयमंगं चेवति) श्रुताङ्गं चैव नो-श्रुताङ्गं च । श्रुताङ्गं द्वादशधा आचारादि भावाङ्गता चास्य लायोपशमिकत्रावाप्तर्गतत्वात् । उक्तं च “ भावे खञ्जोवसमिण्णुवाल्संगं पि होति सुयणाणांति ” चतुर्विधं चतुष्पकारं नोश्रुताङ्गं तु नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थत्वादश्रुताङ्गं पुनः मकारश्च सर्वत्राद्यात्तुलिक इति गार्थार्थः । एतदेवाह ।

माणुस्सं धम्ममुत्ती, सच्चा तवसंजमस्मि विरयं च ।

एए जावंगा खलु, दुल्लभगा होति संसारे ॥

माणुष्यं मनुजत्वमस्य चादावुपन्यास एतद्भावे शेषाङ्गभावात् धर्मश्रुतिरहितप्रणीतधर्माकर्षणं श्रद्धा धर्मकरणाभिहापः । तपोऽनशनादिस्तत्प्रधानः संयमः पञ्चाश्रवविरमणादिस्तपः संयमो मध्यमपदज्ञोपी समासः । तपश्च संयमश्च तपःसंयममिति समाहारो वा तस्मिन्वीर्यं च वीर्यान्तरायङ्गयोपशमस्तुत्या शक्तिः । अस्य च द्विष्टस्याप्येकत्वेन विवक्षितत्वाद्योक्तसंख्या-विरोधः । एतानि जावाङ्गानि खलु निश्चितं दुर्लभकानि भवन्ति संसारे द्विष्टव्यत्ययश्च प्राकृतत्वादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र जावनीयमिति गार्थार्थः । इह व्याङ्गेषु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च संयमः प्रधानमिति । तदेकार्थिकान्याह ।

अंगं दसजागभेए, अवयव असगल्लुण्णियाखंने ।

देसे पदेसपव्वे, साहापरलपज्जवखिलं च ॥

दया य संजमे लज्जा, दुगुत्ता अच्छलणादि य ।

तितिकखा य अहिंसा य, हिरी नि एगट्टिया पदा ।

अङ्गदशभागो भेदोऽवयवोऽसकद्वरचूणः खण्डो देशः प्रदेशः पर्य्यशाखा पाटत्रं पर्य्यवः खिन्नं चेति शरीराङ्गपर्याया इति वृद्धाः । व्याख्यानिकस्त्वविशेषतोऽमी अङ्गपर्यायास्तथा (दसभागानि) दशभाग इति च भिन्नायेव पर्यायावित्याह । चः समुच्चयं सूत्रत्वाच्च सुपः क्वचिदध्वणमिति । संयमपर्यायानामह दया च संयमो लज्जा दुगुत्ता अच्छलना । इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः पर्यन्ते योद्व्यते तितिक्का चाहिंसा च हीश्चेत्येकार्थिकान्यानिनाभिधेयानि पदानि सुवन्तशब्दरूपाणि पर्यायाभिधानं च नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमिति गार्थाद्व्यर्थः । उक्तं ३ अ० स्था० । अज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्निति चतुर्विधं नामस्थाप-

नाऽव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने ध्रुमे द्रव्याङ्गं इशरीरत्र-व्यशरीरव्यतिरिक्तं शिरो बाह्यादि । जावनोऽयमेवाचारः आचाराङ्गम् आचारा १ ध्रु० १ अ० १ उ० । चित्ते, अङ्गजे कामे उपाये, प्रधानोपयोगिनि उपकरणे, फलवत्सन्निधायफलं तदङ्गमिति मीमांसा जन्मादिलब्धे, यस्मात्प्रत्ययधिधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गमिति पाणिनपरिज्ञापिते प्रत्ययार्वाधद्रुते शब्दभूते च वाच० । अप-भेदेवस्य द्वादश पुत्रे, कल्प० । तौ० जनपदविशेषे, यत्र चम्पा-नगरी ज्ञा० ८ अ० । प्रव० । स्था० । वृ० । कल्प० । सूत्र० ।

आङ्ग-पु० अङ्गानां राजा आङ्गः अङ्गदेशाधिपे, बहुल्येऽणो लुक् अङ्गा अङ्गदेशास्तद्वाजानो वा भक्तिरस्य अण् आङ्गः । अङ्गदेशभक्ते, अङ्गाजभक्ते वा त्रि० । अङ्गादागतम् आङ्गम् । अङ्गनिमित्ते कार्य्यं, वार्णादाङ्गं वलीयः इति परिज्ञाया वाच० । अङ्गं शरीरावयवस्तद्विकार आङ्गम् । देहावयवविकारे, स्था० ८ गा० । अङ्गे जवमाङ्गम् । शरीरात्पक्षे, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । अङ्गविषयमाङ्गम् । आव० ४ अ० । शिरःस्फुरणादौ, स्था० ८ गा० । शरीराऽवयवप्रमाणस्पन्दितादिधिकारफलोद्भावके महानिमित्त-भेदे, स० । अङ्गस्फुरणादितिः शरीरावयवस्पन्दनप्रमाणादि-भिर्बहिर्ह वर्तमानमतीतमनागतं वा युजं प्रशस्तमशुतं वाऽप्रश-स्तमन्यस्मै कथ्यते तद्भूयते आङ्गं निमित्तं यथा ‘मूर्ति स्फुर-त्याशु पृथिव्यवाप्तिः, स्थानप्रवृत्तिश्च ललाटेऽंशे । जूषाणमभ्ये प्रियसंगमः स्याशासाक्षिमध्ये च महार्थं त्रात’ इत्यादि प्रव० २५७ द्वा० “दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमजिघास्ये तत्फले स्त्रिया वामे । पृथि-वीलाभं शिरसि, स्थानविवृद्धिर्ललाटे स्यात्” इत्यादि स्था० ८ गा० (आङ्गनाम्नो महानिमित्तस्य सूत्रादिमानम्) “अंगस्स सय-सदस्सं, सुत्तवित्तीय कोडिविनेया । वक्खाणं अपरिमियं, इय-मेव य वत्तियं जाण” आय० ४ अ० । आ० चू० । स० ।

अंगअ-अङ्गज-पुं० अङ्गाज्जायते जन-र-पुत्रे, को० ज्ञा० । आ० चू० । दुहितरि, स्त्री० देहजातमात्रे, त्रि० रुधिरं, न० रोगे, पुं० लोमिन्, न० अङ्गं मनस्तस्माज्जायते कामे, पुं० वाच० । अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोधयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे, प्रज्ञा० २ पद० । जी० । ज० । ज्ञा० । स्था० १ रा० । औ० बाह्वि-वानरराजपुत्रे, वाच० ॥

अंगइ-अङ्गजित्-पुं० आवरतीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, नि० स्था० । (स च पार्श्वजिनान्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽनशनेन मृत्या चन्द्र-विमाने चऽत्वेनोपपन्न इति चंद्रशब्दे वक्ष्यते)

अंगइ (रि) सि-अङ्गर्षि-अङ्गर्षि-पुं० चम्पावास्तव्ये कौ-शिकार्थशिष्ये, तस्य जद्रत्वादङ्गर्षिरिति कौशिकार्थेण नाम कृतम् । आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० । आ० क० । तीर्थे० । (तेनोपशमं सति सामायिकमवाप्य केवलमधिगतमिति ऋज-वशब्दे वक्ष्यते)

अंगचूलिया-अङ्गचूलिका-स्त्री० अङ्गस्याऽऽचारादेरचूलिका यथाचाचारस्यनेकविधा इहास्तुतार्थसंप्राहिका चूलिका । वा-ञ्जिकश्रुतभेदे, पा० । मं० स्थानाङ्गसूत्रे तु संक्षेपिकाश्चामास्तु-तीयध्ययनत्वेनेत्युक्ता स्था० १० गा० ।

सम्प्रयुपलभ्यमानाङ्गचूलिकाग्रन्थस्येत्यमारम्भादिः ।

नमो सुअदेवयाए भगवईए नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्जायाणं नमो क्षोए सव्वसा-हूणं । तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं एवरी होत्था

वस्यो पुष्पभंदं चेत्ति । तेणं कात्तेणं तेणं समणं
समणस्स जगवओ महावीरस्स अंतवासी अज्जमोहम्म
णामं अणगारे । जाइमंपन्ने जहा उववाइए जाव चउणा-
णमंपन्ने । पंचाहिं अणगारसएहिं संपरिवुक्के पुव्वाणुपुव्वि
चरमाण जाव जेणव पुष्पभंदं चेइए अहापडिरुवं विहरइ
परिमा गिगया । धम्मं सोच्चा णिसम्म जामेव दिस्सि पा-
उञ्जुआ तामेव दिस्सि परिगया । तेणं कात्तेणं तेणं सम-
ण अज्जमुहम्मस्स अंतवासी अज्जजंवूणाम अणगारे ।
जायमइं जाव जेणव अज्जसोहम्मं सामी तेणव उवागच्छइ
उवागच्छइत्ता तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करइ करित्ता
वंदति एमंसति वंदित्ता एमंसित्ता जाव पज्जुवास-
ति एवं वयासी । जइ एं भंते समणेणं भगवया महावी-
रेणं जाव संपत्तेणं इकारस अंगाणं अयमट्ठे पन्नत्ते इका-
रस अंगाणं अंगचूलियाए केअट्ठ पन्नत्ते ततेणं अज्जमुह-
म्म अणगारे जंवूअणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंवू-
समणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमट्ठे पन्नत्ते ।
जंवूअंगचूलिया अंगचूलियाज्जूया णायव्वा । जहा कण-
यागिरिचूलिया सिआ । चत्तालीसं जोअणुच्चा कणयगि-
रम्मि रमणिज्जे दीसंति । जहा पुरिमित्थीणमच्छी ।
जहा य चूलियाए सिं सोज्जति मणिरयणमंभियमउरुणं
मउज्जियं दिप्पति तिलयरयणं जालं दिप्पति । विवि-
दनाणामणिवचियकुंरुलजुअलेणं कप्पे दिप्पति । तेहिं
विलिहिज्जमाणं गंडे दिप्पति । उन्नयनासाए विमलस-
मुत्ताइलं दिप्पति । कज्जलेणं विसाव्लोअणे दिप्पति ।
पंचसुगंधिणं तंवोलेणं वयणकमलं दिप्पति । गीवाजर-
णेणं गीवा दिप्पति । वरमुत्ताइलहारणं वच्छत्थइं दि-
प्पति । वरकणगयणखचियकमिमुत्तएणं कडं दिप्पति ।
नेठरेणं पाए दिप्पति । तहा अंगचूलियाए इकारसं अं-
गाणि दिप्पति । सा अंगचूलिया निगंथाणं निगंथीणं
सम्पं जाणिच्चा फासियव्वा तीरियव्वा किट्ठियव्वा भुज्जो
जुज्जो अट्ठा रुहेउआ सवागरणा गुरुपरंपरागमेण गहि-
यव्वा । तत एं अज्जमुहम्ममामिणा एवं वुत्ते ममाणे हट्ठ-
तुट्ठ चित्तमाणंदिणं जं एं वयासी । कह एं जंते ! गुरु-
परंपरागमो जहाइ । जंवूसमणेणं भगवया महावीरेणं तओ
आगमा पणत्ता । तं जहा अत्तागमे अणंतरागमे परंप-
रागमे अत्तओ अरहंताणं भगवंताणं अत्तागमे । सुत्तओ
गणदराणं अत्तागमे । गणहरसीसाणं अणतरागमे । तओ
परं मव्वेसि परंपरागमे ॥

(अस्य ग्रन्थस्य श्लोकमानमष्टौ शतानीति तत्रैव ग्रन्थसमाप्तौ
प्रतिपादितम् ।

अंगच्छ इय-अङ्गच्छ-वि० अङ्गेषु विभः । वृत्ताङ्गे, “ इमं

नक्खओदुसीसमुहविज्जस्यं करेइ धेयगच्छहियं अंगच्छहियं इमं
पुक्खफोमियं करेइ ” सूत्र० १ भु० २ अ० ।

अंगच्छे [य] द-अङ्गच्छेद-पुं० दूषितावयवकर्त्तने, “ अं-
गच्छेदो सञ्चितो सेसरक्खछा ” पंचा० १६ विघ० ।

अंग [अङ्ग] ए-अङ्गण (न)-न० अंगि-गतौ अङ्गयते गृ-
हाभिःसृत्य गम्यते ल्युट् । पृषोदरादित्वाद्वाणत्वम् । वगैऽन्त्यो
वा ८.१.३० इत्यनुस्वारस्य वा परस्वर्णः । प्रा० अजिरे, प्रश्न०
सं० २ द्वा० ४ अ० । गृहाग्रभागे, कल्प० । “ अंगणं मरुवट्ठायं ”
नि० चू० ३ उ० ।

अंगाणा-अङ्गना-स्त्री० अङ्गे स्वशरीरेपयोधरानितम्बजघनस्म-
रूपिकादिरूपे अनुरागो येषां ते अङ्गानुरागास्तान् अङ्गानुरा-
गान् कुर्वन्तीति अङ्गनाः स्त्रीषु, । तं० आचा० । नि० चू० ।

अंगादिया-अङ्गदिका-स्त्री० तीर्थविशेषे, यत्र श्रीमदजितस्वा-
मिशान्तिदेवताद्वयं श्रीब्रह्मेन्द्रदेवतावसरः ती० ४५ कल्प० ।

अंगप्पजव-अङ्गप्रभव-त्रि० अङ्गाद् दृष्टिवादादेः प्रभवउत्पत्ति-
रस्येति अङ्गप्रभवः । दृष्टिवादादेरुपपत्तेः, यथोत्तराध्ययने परावहा-
ध्ययनम् “ कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुग्गि जं सुत्तं । स-
णयं सोदाहरणं, ते चेव इहं पि णायव्वं ” उत्त० १ अ० ।

अंगप्पविट्ठ-अङ्गप्रविष्ट-न० इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भव-
न्ति तद्यथा द्वौ पादौ द्वे जङ्घे द्वे ऊरुणी द्वे गात्राङ्गे द्वौ बाहु
श्रीवा शिरश्च एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वा-
दशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम् । “ पायदुगं जं-
घोरु गायदुगं तु दो य बाहु य । गीवासिरं च पुरिसो, वार-
स अंगेसु य पविष्ठो ” श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टम् ॥
अङ्गभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेदे, नं० । स्था० । अनु० । पा० ।
अङ्गप्रविष्टस्यानङ्गप्रविष्टाद् जेद इह प्रदर्शयते ॥ “ अह जगवं तु-
ल्ले चेव सध्वनुमते को विसेसो । जहा इमं अंगप्पविट्ठं इमं अं-
गवाहिरंति । आयरिओ आह जे अरहंतेहिं भगवंतेहिं अतीता-
णागतवट्ठमाणदव्वविगखेत्तकात्तजावजहावत्थितदंसाहिं अत्थ-
परुविता ते गणहरेहिं परमवुत्तिसन्निवाद्गुणसंपन्नेहिं सयं चे-
व नित्यगरसकासातो उव्वभिक्कण सव्वसत्ताणं हियत्ताय सु-
त्ता तेण उव्वणिवत्ता तं अंगप्पविट्ठं आयादि दुवात्तसविहं ।
जं पुण अन्नेहिं विसुद्धागमवुट्ठिजुत्तेहिं थेरेहिं अण्णाज्याणं मणु-
याणं अप्पवुत्तिसत्तीणं बहुग्गाहकंति नाऊण तं चेव आयादि
सुयणाणं परंपरागयं अत्थतो गंथंतो य अतिबहुं ति काऊण अ-
ण्णकंपानिमित्तं दसवेयात्थियमदिपरुवितं अणेगभेदं अणंगप्पवि-
ट्ठं ” आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

गणधरधेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणओ वा ।

धुवचलविसेमओ वा, अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥

अङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वमेतद् भेदकारणं किमि-
त्याह गणधरा गौतमस्वाम्यादयस्तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्ग-
प्रविष्टमुच्यते विशेषः ॥ गणधरदेवा हि मूलज्ञतमाचारादिकं
श्रुतमुपरचयन्ति तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतव्यधिस्पष्टतया तद्वचयि-
तुमीशत्वान्न शेषाणां ततस्तत्कृतं सूत्रं मूलश्रुतमित्यङ्गप्रविष्टमु-
च्यते (नं) यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैः तदेकदेशमुपजीव्य विर-
चितं तदनङ्गप्रविष्टम् (नं) स्थविरास्तु भट्टबाहुस्वाम्यादय-
स्तद्वदृष्टं श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकमनङ्गप्रविष्टमङ्गवाह्यमुच्यते
अथवा वारत्रयं गणधरपुष्टस्य तीर्थकरस्य संबन्धनीय आवेशः

प्रतिवचनमुत्पादय्यधौव्यवाचकं पदत्रयमित्यर्थः तस्मान्नृपि-
न्रतदङ्गप्रविष्टं द्वादशाङ्गमेव विपा० २ भु० १० अ० । आदेशा यथा
“आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति एकमविकं यद्यायुष्क-
मभिमुखनामगोत्रं च । आर्यसमुद्रो द्विविधं बह्मायुष्कमभिमुख-
नामगोत्रं च । आर्यसुहस्ती एकमभिमुखनामगोत्रमिति । वृ०
१ उ० । मुक्तं मुक्तत्रयमप्रपूर्वकं यद् व्याकरणमर्थप्रतिपादनम्
(वि० २ भु० १० अ०) यथा वर्णदेवकुणाद्यामित्यादि ।
तथा मरुदेवी जगवती अनादिवनस्पतिकायिकातद्भवेन सिद्धा
इति (वृ० १ उ०) तस्मान्नृपिचमङ्गवाह्यमभिधीयते तच्चाव-
श्यकादिकं वाशब्दोऽङ्गानङ्गप्रविष्टे पूर्वोक्तभेदकारणान्यत्व-
सूचकः । तृतीयभेदकारणमाह (ध्रुवेति) ध्रुवं सर्वेषु तीर्थकर-
तोऽपि नृपिचमभि (विपा० २ भु० १० अ०) सर्वेषु क्षेत्रेषु
सर्वकालं चार्थक्रमं चाधिकृत्य एवमेव व्यवस्थितं ततस्तदङ्गप्र-
विष्टमुच्यते अङ्गप्रविष्टमङ्गचतुर्त्तं मूलचतुर्त्तमित्यर्थः । न० ॥ द्वा-
दशाङ्गमिति यत्पुनश्चलमनियतमनिश्चयनावि तत्तत्पुनश्चैका-
दिकप्रकीर्णकादिभूतमङ्गवाह्यं वाशब्दोऽत्रापि भेदकारणान्तर-
त्वसूचकः । इदमुक्तं भवति गणधरकृतं पदत्रयत्रयकृतीर्थकरा-
देशनिष्पन्नं ध्रुवं च यत् श्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते । तच्च द्वादशाङ्गी-
रूपमेव यत्पुनः स्थविरकृतमुक्तवार्थानभिधानं चतुर्त्तं च तदाव-
श्यकप्रकीर्णादि भूतमङ्गवाह्यमिति विशेषः ।

अङ्गप्रविष्टश्रुतभेदा यथा ।

से किं तं अंगणविट् अंगणविट् दुवालसविट् पन्नत्तं तं
जहा । आयारो १ सुयगनो २ गणं ३ समवाओ ४
विवाहपन्नत्ती ५ नायाथम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७
अंतगदसाओ ८ अनुत्तरोववाइयदसाओ ९ एहवा-
गरणां १० विवागसुयं ११ दिट्ठिवाओ य १२ ॥

अथ किं तदङ्गप्रविष्टं सूरिराह अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रकृतं त-
द्यथा आचारं सूत्रकृतमित्यादि न० आ० म० प्र० घ० (आचारा-
दीनामर्थः स्वस्वस्थाने) एतेषां मानं तथा हि ‘अचरसपयसहस्सा
आयारे १ दुगुणदुगुणसेसेसु । सुयगड २ गण ३ समवाय ४
भगवई ५ नायथम्मकहा ६ । ११ अंग उवासगदसा, ७ अंतगदं ८
अनुत्तरोववाइदसा ९ । एहवागरणं तहा, १० विवागसुय ११
मिगदसं अंगं’ दृष्टिवादे सर्वश्रुतसङ्गायेऽपि शेषश्रुतरचने हेतुः
विशेषः । आह ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिबध्नाति गणधर इत्या-
गमे श्रूयते पूर्वकरणादेव चैतानि पूर्वाण्यऽभिधीयन्ते तेषु च नि-
श्चयेषामपि वाङ्मयमवतरति अतश्चतुर्द्दशात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु
किं शेषाणामङ्गविरचनेन अङ्गवाह्यश्रुतरचनेन वा इत्याशङ्क्याह ॥

जइ वि य जूतावाए, सव्वस्स वि उगयस्स ओयारो ।

निव्वूहणा तहा वि हु, दुम्मेहे पप्प इत्थीया ॥

अशेषविशेषान्वितस्य समप्रवस्तुस्तोमस्य चूतस्य सङ्गतस्य
घादो भणनं यत्राऽसौ चूतवादः । अथवाऽनुगतव्यावृत्तापेतिशे-
षधर्मकज्ञापान्वितानां सभेदप्रज्ञेदानां चूतानां प्राणिनां वादो य-
त्राऽसौ भूतवादो दृष्टिवादः । दीर्घः च तकारस्यापत्वात्तत्र
अथपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि दु-
र्मेधसां तदवधारणाद्योग्यानां मन्दमतीनां तथा स्त्रीणां चानु-
ग्रहार्थं निव्वूहणा विरचना शेषश्रुतस्येति । विशेषः १८० पत्र० ।
अंगवाहिर-अंगवाह-न० द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य बहि-
र्यतिरेकेण स्थितमङ्गवाह्यम् । अङ्गवाह्यत्वेन व्यवस्थिते श्रुतवि-

शेषे, न० । एतद्भेदा यथा “अंगवाहिरे दुविहे पन्नत्तं तं जहा
आवस्सए चैव आवस्सयवइरित्ते चैव” स्था० १ ग० ॥ न० । अनु०
आ० चू० । रा० । कर्म० । (अङ्गप्रविष्टादस्य भेदोऽनन्तरमेव
अङ्गणविट् शब्दे उक्तः)

अंगवाहिरिया-अङ्गवाह्या-स्त्री० अङ्गान्याचारादीनि तेज्यो वा-
ह्या अङ्गवाह्याः । अनङ्गप्रविष्टायाम्, चन्द्रसूरजमृद्वीपद्वीपसागर-
प्रकृतयः ए अङ्गवाह्याः । स्था० ४ ग० ॥

अंगभंजण-अङ्गभञ्जन-न० शरीराऽवयवप्रमोदने, प्रश्न०
संव० ५ द्वा० ।

अंगभूय-अङ्गभूत-वि० कारणजृते, प्रव० १ द्वा० ।

अंगभंग-अङ्गाङ्ग-न० (प्राकृतेऽत्राङ्गणिको मकारः) अङ्गप्रत्य-
ङ्गेषु, “रायत्रयस्वणविराड्यंगमंगा” रा० । स० । शरीराऽवय-
वेषु, ज्ञा० ए अ० ।

अंगमंगिभावचार-अङ्गाङ्गिभावचार-पुं० परिणामपरिणामि-
जावगमने, द्वा० ।

अंगमंदिर-अङ्गमन्दिर-न० चम्पानगर्या बहिर्विद्यमाने चैत्ये,
“अंगमंदिरांसि चैत्यं सितं मल्लरामस्स सरीरं विप्पजहामि” ।
ज० १ श० १ उ० ।

अंगमहिया-अङ्गमर्दिका-स्त्री० शरीरमर्दनकारिण्यां दास्याम्,
“अछ अंगमहियाओ अछ उम्महियाओ” इहाङ्गमर्दिकानामु-
न्मर्दिकानां चाल्यबहुमर्दनकृतो विशेषः । भ० ११ श० ११ उ० ।
अंगरक्ख-अङ्गरक्ष-न० अङ्गं रक्षयति । अङ्ग रक्ष-अच चर्मणि,
ज्ञा० ३ अ० ।

अंगलूहण-अङ्गलूहण-न० अंशुकेनाङ्गस्य स्नानजक्किप्रताप-
नयने, ध० २ अधि० ।

अंगविज्जा-अङ्गविद्या-स्त्री० अङ्गरूपा व्याकरणादिशास्त्ररूपा
विद्या ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसंपादके व्याकरणादिशास्त्रे, वाच० ।
शिरःप्रभृत्यङ्गस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकायां विद्यायाम्, अङ्ग-
स्फुरणफलशास्त्रे, यथा “शिरसः स्फुरणे राज्यं, हृदयस्फुरणे
सुखम् । बाहोश्च मित्रसंलापो जह्नुयोज्ञांगसंगमः ॥ १ ॥” उक्त० ७
अ० । स्वनामख्यातेऽङ्गादिनिमित्तफलदेशके ग्रन्थविशेषे च ।
स च ग्रन्थः कुतो निर्युद्धः कति तत्राध्यायाः कियत्तो वा तत्र
विद्या इति तत्रैवादौ प्रदर्शितं । यथा अङ्गानि च विद्याश्च अ-
ङ्गविद्या । अङ्गविद्याव्यावर्णितेषु भौमान्तरिकादिषु हिलि हिलि
मातङ्गानि स्वाहा इत्यादिषु विद्यानुवादप्रसिद्धासु विद्यासु च ।
“अंगविज्जं च जे पउंजंति न हु ते समणा” उक्त० ८ अ० ।

अंगवियार-अङ्गविकार-पुं० ६ त० शिरःस्फुरणादौ, शरीर-
स्फुरणादितः शुभाशुभसूचके शास्त्रे, उक्त० १५ अ० ।

अङ्गविचार-पुं० ६ त० शरीरस्पर्शनस्य नेत्रादीनां स्फुरण-
वा विचारे । तद्विचारेण फलादेशके शास्त्रे च उक्त० १५ अ० ।
“अंगवियारं सरस्स विजयं जो विज्जाई न जीवई स जिक्खू”
उक्त० १५ अ० ।

अंगसंचाल-अङ्गसंचार-पुं० रोमोक्रमादिषु गात्रविचलनप्रकारे-
षु, “सुहुमेहि अंगसंचालेहि” आब० ५ अ० । ध० । द्वा० ।

अंगसुहफरिस (फासिय)-अङ्गस्पर्शक-वि० अङ्गस्य सुखः
सुखकारी स्वर्शो यस्य तत्तथा । क० । देहसुखहेतुस्पर्शयुक्ते,
भ० ११ श० ११ उ० ।

अंगादाण-आङ्गादान-१० अङ्गं शरीरं शिर आदीनि वा अङ्गा-
नि तेषामादानं प्रभवः प्रस्तुतिरङ्गादानम् । मेढं, अङ्गादानस्य सं-
चालनादिनिषेधस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।

[सूत्रम्] जे जिकवू अंगादाणं कट्टेण वा कडिचेण वा अंगु-
ल्लियाण वा मित्राणां वा संचालेइ संचालेतं वा साइज्जइ । १ ।

अङ्गं शरीरं शिरमादीणि वा अंगाणि तेषां आदानं अंगादा-
णं प्रभवो प्रस्तुतिरित्यर्थः । तं पुण अंगादाणं मेढं भण्णति तं
जो अङ्गणतरेण कट्टेण वा कडिचो वंसकपट्टी अंगुली प्रसिद्धा
वेवमादि सत्राणां तेषां जो संचालति साइज्जति वा तस्स मास-
गुरुं पच्छिंत्तं ॥

इदानीं णिज्जुत्तीए भण्णति ।

अंगाण उवंगाणं, अंगोवंगाण एयमादीणं ।

एतेणंगा ताणं, अणंतणं वा जवे वितियं ॥ १५ ॥

अंगाणि अष्टमिगादीणि उवंगा कणादीणि । अंगोवंगाणकखण्ण-
दी एतेसि सयं आदाणं कारणमिति तेण एयं अंगादाणं भण्णति ।
अहवा अणायत्तणं वा जवे वितियं णाम अंगादाणं ति ॥

अस्य व्याख्या ।

सीमं उगो य उदरं, पिट्ठी वाहू य दोष्णि ऊरुओ ।

एते अट्टंगा खलु, अंगोवंगाणि सेयाणि ॥ १६ ॥

शिरः प्रसिद्धं उरः स्तनप्रदेशः उदरं पोष्टं पिट्ठी पसिद्धा
दोष्णि वाहू दोष्णि ऊरु आणि एताणि अट्टंगाणि खलु अवधारणे
जणितं अवसेसा जे ते उवंगा अंगोवंगाण ते इमे य ।

होति उवंगा कणा, एामच्छी जंघहत्थवासा य ।

णह केगु मेगु अंगुलि, ततोवतत्तअंगुवंगाउ ॥ १७ ॥

कणा नासिगा अच्छी जंघा हत्था पादा य एवमादी सव्वे
उवंगा भवन्ति नहा वात्रा स्मभू अङ्गुली हस्ततत्तं हत्थतलाओ
समेता पासेसु अष्टाया उवतलं भण्णति । एते नखादि अंगोव-
गादीत्यर्थः तस्स संचालणसंभवो इमो ।

संचालणं तु तम्म, सणिमित्तं अणिमित्तए वा वि ।

आतपरतदुभए वा, अणंतं परंपरा चेव ॥ १८ ॥

तस्येति मेढस्य संचालणा सणिमित्तं उद्याहारं शरीरे य
इदमपि प्रथमसूत्र एव व्याख्यातम् (एतएवाविति) सणिमि-
त्ताणमित्तवज्जा सामखेण सव्वा विचालणा त्रिविधा अप्प-
सेण परेण वा उभएण वा । एकेका दुविधा अणंतं परंपरा
वा अणंतरेण हत्थेण परंपरेण कछादिणा एत एवाविति ।
अस्य व्याख्या ।

उद्याणिवेसुवंगण, उच्चत्तणगमणमादिएसि नए ।

ए य घट्टणवोमिगुं, चिप्पति ताणि पज्जलं जाव । १९ ।

उच्चत्तम्म णिमिपंतम्म वा लंघणीयं वा उल्लंघेतस्स सुत्तस्स
वा उच्चत्तणादि करेतस्स स गच्छंतस्स वा आदिसहातो पसि-
द्धेहणादिक्रिया एवमादि इतरा संचालणा सणं काश्यं वा
वोसिगुणं संचालेति काश्यपरिमारुणमित्तं ताव चिट्ठइ
जाव सयं चेव णिप्पगलं अणंतं परंपरे संचालणेमाणस्स
सामगुरुं आणादीणां य दोसा भवन्ति ॥

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं संवाहेज्ज वा पल्लिमदे-
ल्ल वा संवाहतं वा पल्लिपदं वा साइज्जति ॥ २० ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् संवाहति एकस्मिं परिमदति पुणो पुणो सा
संचाहणा सणिमित्ता वा अणिमित्ता वा पूर्ववत् । अणादिवि-
राहणा पूर्ववत् ॥

[सूत्रम्] जे जिकवू अंगादाणं तेह्णेण वा घएण वा
णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा संखेज्ज वा अ-
ब्भंगंतं वा संयंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे जिकवू पूर्ववत् तेह्यता पसिद्धा । वसा अयगरमच्छसू-
कराणं अब्भंगेति एकस्मिं संखेति पुणो पुणो अहवा धोवण
अब्भंगणं घट्टणं संखणं उच्चट्टणासूत्रे सणिमित्तअणिमित्ता-
या पूर्ववत् साइज्जणा तह्य आणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[सूत्रम्] जे जिकवू अंगादाणं ककेण वा लोहेण वा
पठमचुण्णेण वा एहाण्णेण वा चुण्णेहिं वा वणेहिं वा
उव्वट्टे वा परिवट्टे वा उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ५ ।

ककं उच्चट्टणयं छव्यसंयोगेन वा ककं क्रियते किंचिल्लोअं
हट्टछव्यं तेण वा उव्वट्टेति पल्लचूर्णेन वा एहाणं एहाणसेव ।
अहवा उव्वणणाणयं जणति तं पुण मामचूर्णदिमिणाणं मंथि-
यावणे अंगोवसणयं बुद्धति वणयो जो सुगंधो चंदनादिचू-
र्णानि जहा वट्टमाणचुण्णे पदवासादिवसनिमित्तानि निमित्तं
तदेव उव्वट्टेति एकस्मिं परिचट्टेति पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे जिकवू अंगादाणं संओदगवियडोण वा
उसिणोदगवियडोण उच्छोदोएज्ज वा पओएज्ज वा उच्छो-
दंतं वा पओयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

शीतमुदकं शीतोदकं वियडं वदगयजीवियं उसिणमुदकं
उसिणोदकं उच्छोदनेति सकृत् पओवणा पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे जिकवू अंगादाणं णिच्छोद्वइ णिच्छोलंतं
वा साइज्जति ॥ ७ ॥

णिच्छोद्वेति त्वचं अवणेति महामणिं प्रकाशयतीत्यर्थः ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं जिघति जिघंतं वा साइज्जइ । ८ ।

जे भिक्खू पूर्ववत् जिघति नासिकया आघ्रातीत्यर्थः । हत्थे-
ण वा मलठणं हवणं सिघति । एतेसि संचालणादीणं
जिघणावसाणां सत्तएह वि सुत्ताणं इमा सुत्तफासनिभासा-
सूत्र णि वक्तव्यानि ।

संचाहणमब्भंगण, उव्वट्टणधोवणे य एस कपो ।

णायवो णियमो उ, णिच्छट्टणजिघणाए य ॥ १०० ॥

संचाहणसूत्रे अब्भंगणासूत्रे उव्वट्टणासूत्रे धोवणासूत्रे एस गमो
त्ति संचालणासूत्रे जणिओ सो चेव य पगारा णायवो णियमो
अवस्सं णिच्छलणासूत्रे जिघणासूत्रे च । एतेसु देव सत्तसु वि
सुत्तेसु इमो दिट्ठो जहक्कमण ।

सीहासीविमअगी, भिट्ठी वग्ये य अयगरणारिदो ।

सत्तसु वि पदसु ते, अहारणा होति णायवो ॥ १०१ ॥

संचालणासुत्ते दिट्ठो । सीहो सुत्तो संचालितो जहा जीयंत-
गणे भवति एवं अंगादाणं संचालियं मोहुअयं जणयति । त-
तो चारित्रविराधता इमा आयविराहणा सुक्कखण मारज्ज-
णं वा कछाहणा संचालेति तं सयिंसं उलुत्तियल्लयं वा खयं
वा कट्टेण हवेज्जा । संचाहणासूत्रे इमो दिट्ठो । जो आसीविमं
सुइसुत्तं संवाहेति सो विवुद्धो तस्स जीवियंतकरो भवति ।

एवं अंगादाणं पि परिमहमाणस्स मोहुञ्जवो ततो चारित्रजी-
वियविणासो जवति । अञ्जणसूत्रे इमो दिट्ठतो इहरह वि-
ताव अग्गी उव्वति किं पुण घटादिणा सिचमाणो एवं अंगा-
दाणं वि मरिज्जमाणो सुट्ठत्तरं मोहुञ्जवो भवति । उव्वट्टणामूत्रे
इमो दिट्ठतो जट्ठी शस्त्रविशेषः सा सत्तावेण तिग्हा किमंग !
पुण णिसिया एवं अंगादाणसमुत्थो सत्तावेण मोहो दिप्पति कि-
मंग ! पुण उव्वट्टिते । उव्वट्टावणा सुत्ते इमो दिट्ठतो एगो वग्घो
सो अच्चिरोगेण गहिओ संबद्धा य अच्चो तस्स य एगेण वेज्जे-
ण वरियाए अक्खीणि अञ्जकण पउणीकताणि तेण सो चेव य
सद्धो एवं अंगादाणं पि सो इतरं चारित्रावनाशाय भवती-
त्यर्थः । णिज्जेलणासूत्रे इमो दिट्ठतो जहा अयगरस्स सुहप्प-
सुत्तस्स मुहं वियतेति तं तस्स अप्पवहाय भवति एवं अंगा-
दाणं पि णिज्जद्वियं चारित्रविनाशाय भवति । जिघणासूत्रे इ-
मो दिट्ठतो णरिदेति एगो राया तस्स वेज्जपमिसिद्धे अंदए जि-
घमाणस्स अंउड्ढो बाहो उछाइ त्तो गंधप्रियेण वा कुमारेण गंध-
मग्यायमाणेण अप्पा जीविया उअंसिओ एवं अंगादाणं जिघ-
माणो संजमजीवियाओ खुओ अणाइयं च संसारं जमिस्सति
त्ति सत्तसु वि पदेसु एते आहारणा भवन्तीत्यर्थः ॥ भणिओ
उस्सग्गो । इदानीं अववातो जप्पति ॥

तिवियपदमणपभे, अपदंसे मुत्तसकरपमेहे ।

मत्तसु वि पदेसु ते, वितियपदा होंति णायव्वा ॥१०२॥

वितियपदं अववायपदं मणप्पजो अनात्मवशः ग्रहगृहीत
इत्यर्थः । सो संचलणादी पदे सव्वे करेज्जा । अपदंसो पि-
त्ताइयं मुत्तसुक्कए पाषाणकः पमेहो रोगो संसत्तं काइयं भ-
रंतं अचलति एतेसु पदेसु सत्तसु वि जहासंभवं भाणियव्वा
भाणियं संजयाणं ।

इदानीं संजतीणं ।

एसेव गमो णियमा, संचालनवज्जित्तो उ वज्जाणं ।

सवाहणमादीसु, उवरिद्धेसु उसु पदेसु ॥१०३॥

एसेव पगारो सव्वो णियमा संचालणामुत्तविवज्जिओ सं-
वाहणादिसु उवरिद्धेसु उसु वि सुत्तेसु इत्यर्थः ।

[सूत्राणि] जे जक्खू अंगादाणं अनयरांमि अचित्तंमि
मोयगासि अणुपव्वेसित्ता सुक्कपोगले णिग्घाएत णिग्घायंतं
वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् अक्षतरं णाम बट्ठणं परुवियाणं अक्षतरं
अचित्तं णाम जीवविराहियं श्रवतीति श्रोत्रं तत्र अंगादाणं प-
विसेकण सुक्कपोगले णिग्घपति गाइयतीत्यर्थः साइज्जइ वा ।

इदानीं णिज्जुत्ती ।

अचित्तं सोत्तं पुण, देहे पडिमा जुतेतरं चेव ।

दुविधं तिविधमणंगे, एकेके तं पुणं कमसो ॥१०४॥

अचित्तं जीवविराहं सोत्तं द्विहं पुणसद्धो भेदप्पदरिसणे तं
अचित्तसोत्तं तिविहं देहजुयं पडिमजुयं चेरं च । एकेकस्स
पुणो इमो भेदो कमसो दच्चो । देहजुत्तं दुविहं पडिमाजुत्तं
तिविहं एगतरं अणेगहा । तत्थ देहे जुअं देहजुयं दुविहं इमं ।

तिरियमणुस्सिस्थीणं, जे खलु देहा भवंति जीवजहा ।

अपरिग्गहेतरा वि य, तं देहजुत्तं तु णातव्वं ॥१०५॥

तिरियमणुस्सिस्थीणं जे तहा जीवजहा जवंति खलु अवधारणे

पुण सरीरा अपडिग्गहा इतरा सपरिग्गहा । सचेतणं सपरि-
ग्गहं उपरिवक्खमाणं भविस्सति । एयं देहजुयं जवतीत्यर्थः ।
इदानीं पडिमाजुत्तं तिविहं परुविज्जति ।

तिरियमणुयदेवीण, जा य पडिमा अमन्निहितिओ ।

अपरिग्गहेतरा वि य, तं पडिमजुत्तं ति णायव्वं ॥१०६॥

तिरियपडिमा मणुयपडिमा देवपडिमा या असंनिहियाओ
संनिहियाओ अ । असंनिहियाओ दुविहा अपरिग्गहा इतरा
सपरिग्गहा य । जं एयविहाण त्रियं तं पडिमाजुत्तं ति णायव्वं ।

इदानीं एतरं अणेगविहं परुविज्जति ।

जुगग्घिणालियाकर-गीवेमाति सोतगं जं तु ।

देहवा विवरीत, तु एतरं तं मुणेयव्वं ॥१०७॥

जुगं वदिह्वाण खंधे आगेविज्जति लोगपसिद्धं तस्स छिहं
अक्षतरं वा । णालिआ वंसणलगादीणं छिहं करगीयाणीयभंरुग-
तस्स गीवा छिहं वा एवमादि सोतगं देहं सरीरं अचयंति ता-
मिति, अच्चा प्रतिमा तेसि विवरीतं अणंतबुत्तं जवति । इह
पुण असंनिहियअपरिग्गहेसु अधिकारो जं परिसं तं एतरं मु-
णेयव्वमित्यर्थः । एतेसि सीआणं अक्षतरं जो सुक्कपोगले णि-
ग्घातेति तस्स पच्चित्तं भप्पति ।

मासगुरुगादि छल्लहु, जहप्पए मज्झिमे य उक्कोसे ।

अपरिग्गहित्तचित्ते, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०८॥

देहजुए अपरिग्गहिते अचित्ते जहप्पए अदिष्टे मासगुरुं दिष्टे
चउलहु अट्ठोक्कंतीए वारियव्वं मज्झिमे अदिष्टं चउलहु दिष्टे
चउगुरुं उक्कोसते अदिष्टे चउगुरुं दिष्टे उल्लहु । तिरियमणुसा-
मक्षेण देहजुअं अपरिग्गहित्यं जणियं ।

इदानीं तिविहं परिग्गहित्यं भप्पति ।

चउल्लहुगादी मूलं, जहप्पगादिमि होति अचित्ते ।

तिविहेहिं पडिजुत्ते, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०९॥

इमा वि अट्ठोक्कंती वारणाया देहजुते अचित्ते यावच्च परि-
माहे जहप्पए अदिष्टे चउलहुअं दिष्टे चउगुरुअं कोहंविपरि-
ग्गहे जहप्पए अदिष्टे चउगुरुं दिष्टे उल्लहु दंभियपरिग्गहे जहप्पए
अदिष्टे लहुअं दिष्टे उगुरुअं एतेण चेव कम्मण तिपरिग्गहे म-
ज्झिमए चउगुरुगाद । छेदे गाति एतेण चेव कम्मण तिपरिग्गहे
उक्कोसए उल्लहुआदी मूत्रे ठाति जणियं देहजुअं ।

इदानीं पडिमाजुअं जप्पति ।

पडिमाजुअं वि एवं, अपरिग्गहएतरे असंणिहिते ।

अचित्तसोयमुत्ते, एसा भाणिता भवे सोधी ॥११०॥

पडिमाजुअं पि एवं चेव जाणियव्वं जहा देहजुअं अचित्तं
अपरिग्गहं तहा पडिमाजुअं असंणिहितं अपरिग्गहित्यं ॥
जहा देहजुअं अचित्तं सपरिग्गहं तहा पडिमाजुअं असंणिहित्यं
सपरिग्गहं भाणियव्वं । इतरेसु पुण जुगग्घिणालियादिसु मास-
गुरुं एत्थ सुत्तणिवातो एसा अचित्तसोयमुत्तेसोही जणिया ।

एते सामएणतरे, तु सोत्तए जे उदिएणमोहाओ ।

साणिमित्तमणिमित्तं वा, कुज्जा णिग्घत्तणादीणि ॥

एतेसि अचित्तसोआणादिविराहणं पावेइ इमा संजमविराहणा
रागगिसंजमिधण, काहो अह संजमे विगहणया ।

सुक्कखए य मरणं, अकिच्चकारि त्ति उव्वं ॥१११॥

राग एव अग्निः रागाग्निः संयम एव इत्थनं संयमेधनम्

अनस्तेन रागाग्निना संयमन्धनस्य दाघो जवति विनाश इत्यर्थः
इह इति एषा संयमविराधना इमा आत्मविराधनापुणो पुणो
विश्रापमाणस्स सुक्कफखण मरणं भवति ते या सुक्कफोग्गळे
खिण्णाएत्ता अकिञ्चकारिस्सि काउं अप्पाणं उच्चैथेति उक्ककं-
बोत्तिस्सि वुत्तं जयस्सि (अपवादमार्गस्तु ग्रन्थत एवावसेयः) जि०
चू० १ उ० । जीतकल्ले नयमपत्रे स्नेहादिना प्रवृत्तादिकं पञ्च-
कल्याणकप्रयदिनस्तमुक्कम (मैथुनप्रतिज्ञया अङ्गादानसंचालन
म मेइण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां
दृष्ट्वा जानकौतुकायाः देव्या उदाहरणं पल्लव शब्दे दर्शयिष्यते)
अं (ई) गार (ल)-अङ्गार-पु० न० अङ्ग-आरन् । पका-
ङ्गारवृत्तादे वा । २ । १ । ४७ । इति सूत्रेणादेरत इत्यं वा प्रा० ।
विगतधूमस्वाद्दह्यमानेन्धनादिके यादरतेजस्कायजेदे, उक्त०
३६ अ० । आचा० । पि० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । ज्ञा० ।
स्था० । ज्ञा० ॥ चारिवेन्धनस्य रागाग्निनाऽङ्गारस्येव करणे, ग०
७ अधि० । स्वाद्धसं तद्वातारं वा प्रशंसयतो भोजने आपतति
आहारदोषविशेषे, ध० ३ अधि० । पं० च० । प्रच० । उक्त० ॥
आचा० । तत्त्वं च ।

जे णं णिगंते वा णिभांधी वा फामुयं एमणिज्जं अ-
सणं पाणं खाइमं साइमं पकिगहेत्ता सम्मुच्छिण्णं गिच्छे
गदिण्णं अचभोवदणणं आहारमाहारेइ एस णं गोयमा !
सङ्गाले पाणभोयणे भ० ७ श० १ उ० ।

“रागे सङ्गाले” महा० ३ अ० । एतदेव सव्याख्यानमाह ।

तं होइ सङ्गालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो ।

तं पुणं होइ मधूमं, जं आहारेइ निर्दंतो ॥

तद्वदति जोजनं साङ्गारं यत्तत्तविशिष्टान्धरसास्वादवशतो
जाततद्विषयमूर्च्छः सन् अहो मिष्टमहो सुसंभृतमहो सस्मिन्
सुपक्वं सरसमित्येवं प्रशंसन्नाहारयति । तत्पुनर्भवति भोजनं स-
धूमं यत्तत्तविरूपरसगन्धास्वादतो जाततद्विषयव्यलीकचित्तः
सन्नहो रूपं क्वथितमपक्वमसंस्कृतमन्नवर्णं चेति निन्दन्ना-
हारयति । अयं तत्र भावार्थः । इह द्विविधा अङ्गाराः तद्यथा
द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः कृशानुदग्धाः खदिरादिवनस्प-
त्निविशेषाः भावतो रागाग्निना निर्दग्धं चरणेन्धनम् । धूमोऽपि
द्विधा तद्यथा द्रव्यतो जायतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धदग्धानां
काष्ठानां संबन्धी भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य मानस्य संव-
न्धी कलुषताघो निन्दात्मकः ततः सहाङ्गारेण यद्धर्त्तते तत्सा-
ङ्गारं धूमेन सह वर्तते यत्तत्सधूमम् ।

संप्रत्यङ्गारधूमयोर्वैकल्यमाह ।

अंगारत्तमपन्नं, जलमाणं इन्धणं सधूमं तु ।

अंगारत्ति पवुव्वइ, तं वि य ददुंगण धूमे ॥

अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलन्निन्धनं सधूममुच्यते तदेवेन्धनं दग्धे
धूमे गते सति अङ्गार इति । एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना
निर्दग्धं सन् अङ्गार इत्युच्यते । द्वेषाग्निना तु दह्यमानं चरणेन्ध-
नं सधूमं निन्दात्मककलुषभावरूपधूमसन्निभत्वात् ।

एतदेव ज्ञाययति ।

रागागिमंपल्लिनो, तुजंतो फामुयं पि आहारं ।

निदग्धंगालनिभं, करेइ चरणिधणं खिण्यं ॥

प्राक्कमत्याहारं तुज्जानो रागाग्निना संप्रदीतश्चरणेन्धनं नि-
र्दग्धाङ्गारनिभं क्षिप्रं करोति ।

दोसग्गी वि जलंतो, अप्पात्तियधूमधूविणं चरणं ।

अंगारमित्तमरिसं, जो न हवइ निदही ताव ॥

द्वेषाग्निरेव ज्वलन्निन्धनं अङ्गारत्तिरेव कलुषभाव एव धूमोऽङ्गार-
धूमस्तेन धूमेन चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति
तावत् निर्दह्यति

तत इदमागतम् ।

रागेण सङ्गालं, दोसेण सधूमं मुण्येयव्वं ।

छायाज्जीसं दोसा, बाधव्वा जोयणविहीए ॥

रागेण ध्मातस्य यद्भोजनं तत्साङ्गारं चरणेन्धनस्याङ्गारभूतत्वा-
त् । द्वेषेण ध्मातस्य तु यद्भोजनं तत्सधूमं निन्दात्मककलुषभाव-
रूपधूमसन्निभत्वात् पि० १० ए पत्र० । पं० चू० । भौमग्रहे, पुं०
रक्तवर्णं, न० तद्वति, वि० वाच० ।

आङ्गार-वि० अङ्गाराणामयमाङ्गारः । अङ्गारसंघनिधि, “इं-
गालं ग्रारियरासि” दश० ५ अ० ॥

अ (ई) गार (ल) कटिणी-अङ्गारकर्पिणी-स्त्री० अङ्गरो-
त्थापिकायामीपदक्रायायां होहमययष्टौ, भ० १६ श० १ उ० ।

अं [इ] गार [ल] कम्म-अङ्गारकर्मन्-न० अङ्गारविषयं
कर्माङ्गारकर्म । अङ्गाराणां करणविक्रयस्वरूपे कर्मादानत्वाद-
कर्तव्ये कर्मणि, एवमग्निव्यापाररूपं यदन्यदपीष्टकापाकादिकं
कर्म तदङ्गारकर्माच्यते अङ्गारशब्दस्य । तदन्योपलक्षणत्वात्
ज० ८ श० ५ उ० । समानस्वभावत्वात् उपा० १ अ० । यतो
योगशास्त्रे “अङ्गारभ्राष्ट्रकरणं, कुम्भायःस्वर्णकारिता । उगार-
त्वेष्टकापाका-विति ह्यङ्गारजीविका ॥ ध० २ अधि० । प्रच० ।
आव० । “इङ्गले दहिकणं विक्रिणंति तत्तु उक्तायपाणं यधो तन्न
कप्पति अहवा होहकारादि” आ० चू० ६ अ० । आ० ध० । पंचा० ।

अं [ई] गार [ल] कारिया-अङ्गारकारिका-स्त्री० अ-
ङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका ; अग्निशकटिकायाम्, ।

इंगालकारिणं जंतं ! अगणिकाए केवइयं कालं सं-
चिट्ठइ गायमा ! जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिणि रा-
इंदियाइं अण्वेत्य वाउकाए वक्कमइ ए विणा वाउकाइणं
अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका । न के-
वजं तस्यामशिकायो जवति (अण्वेत्यत्ति) अन्योऽप्यत्र
वायुकायो व्युत्क्रामति यत्ताश्चित्तव वायुरिति कृत्वा कस्मादेव-
मित्याह “ न विणेत्यादि ” । ज० १६ श० १ उ० ।

अं (ई) गार (ल) ग-अङ्गारक-पुं० अङ्गार-स्वार्थे-कन्-अ-
ङ्गारे, वाच० । मङ्गलनामके तारग्रहभेदे, स्था० ६ टा० । औ० ।

प्रश्न० । आद्ये महाग्रहे च कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । भ० ।
“दो इंगालगा” स्था० २ टा० । अङ्गारमिव इवायं कन् रक्त-
वर्णत्वात् । कुरण्टकवृत्ते, भुङ्गाराजवृत्ते च पुं० अल्पार्थे कन् र-
क्तवर्णत्वात् विस्फुलिङ्ग इति विख्याते अङ्गारजुडांशे, ग० वाच० ।

अं (ई) गार (ल) दा (दा) ह-अङ्गारदाह-पुं० अ-
ङ्गारा दहन्त्येव । यत्राङ्गाराणां दाहो भवति तादृशे स्थाने, नि०
चू० ३ उ० । आचा० । अङ्गारान् दहतीति अङ्गारदाहः । अङ्गार-
ाणां दाहके, वि० (अङ्गारदाहकेन तद्गुणमजानता चन्दनखोटी
दग्धेति चन्दनखोटीदृष्टान्तः सच आयरिय शब्दे) (मुत्ति.सु-
अमसदशमित्यत्राङ्गारदाहदृष्टान्तः सिद्ध शब्दे)

अं (इ) गार (ल) पतावणा-अङ्गारप्रतापना-स्त्री० अ-
ङ्गारेषु प्रतापनाऽङ्गारप्रतापना । शरीरस्य हीतकालादौ अङ्गा-
रेषु प्रतापनायाम्, प्रश्न० सं० ५ द्वा० ।

अं (इ) गार (ल) मद्ग-अङ्गारमर्दक-पुं० जीवाश्रद्धान-
तोऽङ्गाराणां मर्दनेनाङ्गारमर्दकति प्रसिद्धिं गते रुद्रदेवाभिधे
अभय्याचार्ये, तत्संविधानकं चैवं श्रूयते ।

“ सूरिर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारतः ।

समायातो महाजागः, पुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥

अथाऽत्र तिष्ठतस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।

गयां विसर्गवेद्यायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्रितः ॥ २ ॥

कन्नजानां शतैः शूरैः, शूकरः परिवारितः ।

पञ्चजिर्नञ्जजातीना-मस्मदाश्रयमागतः ॥ ३ ॥

ततस्ते कथयामासुः, सूरैः स्वप्नं तमद्भुतम् ।

सूरिस्तुवाश्र तस्यार्थं, साधूनां पृच्छताममुम् ॥ ४ ॥

सुसाधुपरिवारोऽद्य, सूरिरेष्यति कोऽपि वः ।

प्राघूर्णकः परं ज्ञेयो, नासाविति विनिश्चयः ॥ ५ ॥

यावज्जल्पत्यसौ तेषां, साधूनां सूरिरग्रतः ।

रुद्रदेवाजिधः सूरि-स्तावत्तत्र समागतः ॥ ६ ॥

शनैश्चर इव स्फार-सौम्यप्रहगणान्वितः ।

परएतत्कृतान्त-कल्पवृक्षगणान्वितः ॥ ७ ॥

कृता च तस्य तैस्तूर्ण-मञ्जुस्थानादिका क्रिया ।

आतिथेयी यथायोगं, स गच्छस्य यथागमम् ॥ ८ ॥

ततो विकालवेद्यायां, कोलाकारस्य तस्य तैः ।

परीक्षणाय निक्षिप्ताः, अङ्गाराः कायिकीलुचिः ॥ ९ ॥

स्वकीयाचार्यनिर्देशा-त्प्रच्छन्नैश्च तैः स्थितैः ।

वास्तव्यसाधुजिर्दृष्टा-स्ते प्राघूर्णकसाधवः ॥ १० ॥

पादसंचूर्णिताङ्गार-कृशत्काररवस्तुतौ ।

मिथ्याहुष्कृतमित्येत-द्गुणैः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥

कृशत्काररवस्थाने, कृतचिह्ना इतीच्छया ।

दिने निभात्रयिष्यामः, कृशत्कारः किमुद्भवः ॥ १२ ॥

आचार्यो रुद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकी लुचम् ।

कृशत्काररवं कुर्व-न्नङ्गारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥

जीवाश्रद्धानतो मूढो, वदंश्चैतज्जिनैः किल ।

जन्तवोऽमी विनिर्दिष्टाः, प्रमाणैर्ध्वजता अपि ॥ १४ ॥

वास्तव्यसाधुभिर्दृष्टो, यथादृष्टं च साधितम् ।

सूरिर्विजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥ १५ ॥

स एष शूकरो भद्रा-स्त एते वरहस्तिनः ।

स्वप्नेन सूचिता ये वा, न विधेयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥

तैः प्रभातेऽथ तच्छ्रुत्या, बाधितास्तूपपत्तिभिः ।

यथैवं चेष्टिते नाय-मभय इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥

त्याज्यो वोऽयं, षतो घोर-संसारतरुकारणम् ।

ततस्तैरप्युपायेन, क्रमेणासौ विविजितः ॥ १८ ॥

ते चाकल्लङ्घसाधुत्वं, विद्यायाथ दिवं गताः ।

नतोऽपि प्रच्युताः सन्तः, क्षेत्रेऽमुत्रैव भारते ॥ १९ ॥

श्रीवसन्तपुरे जाता, जितशत्रोर्महीपतेः ।

पुत्राः सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥

अन्यदा तान् सुरूपत्वात्, कलाकौशलयोगतः ।

सर्वत्र ख्यातकीर्तित्वा-त्सर्वानाशु न्यमन्त्रयत् ॥ २१ ॥

हस्तिनागपुरे राजा, कनकध्वजसंज्ञितः ।

स्वकन्याया वराश्राय, तान् स्वयंवरमण्ये ॥ २२ ॥

तत्रायतैः स तैर्दृष्टो, गुरुङ्गारमर्दकः ।

उपूत्वेन समुत्पन्नः, पृष्ठाखण्डमहाभरः ॥ २३ ॥

गङ्गावत्रिभ्यनस्युन्न-कुनुपोऽपेसत्वं रटन् ।

पामनः सर्वजीर्णाङ्गो, गतत्राणोऽतिष्ठः खितः ॥ २४ ॥

तमुष्मीक्रमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम् ।

जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां शुभभावतः ॥ २५ ॥

देवज-मोद्भवज्ञान-ज्ञातत्वात्तैरसौ स्फुटम् ।

करभः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं चञ्चनो गुरुः ॥ २६ ॥

ततस्ते चिन्तयामासु-र्ध्रिक् संसारविचेष्टितम् ।

येनैष तादृशज्ञान-मवाप्यापि कुत्रावतः ॥ २७ ॥

अवस्थामीदृशीं प्राप्तः, संसारं च त्रुमिष्यति ।

ततोऽसौ मोचितस्तेऽय-स्तत्स्वामिज्यः कृपापरैः ॥ २८ ॥

ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिर्धेदकारणम् ।

कामजोगपरित्यागा-त्ते प्रव्रज्यां प्रपेदिरे ॥ २९ ॥

ततः सुगतिसंताना-न्निर्वास्यत्यचिरादमी ।

अन्यः पुनरभव्यत्वाद्, जवागण्ये त्रुमिष्यतीति ॥ ३० ॥

(गाथार्थः १२) पंचा० १ विव० ॥

अं [इ] गार [ल] राति-अङ्गारराति-पुं० खदिराङ्गारपुञ्जै,
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० क० । आव० । आ० सू० ।

अं [इ] गारवर्द्ध-अङ्गारवर्द्ध-स्त्री० धुनुमारनृपसुतायाम्,
(तद्वक्तव्यता संवेगशब्दे वदयते)

अं [इ] गार [ल] सहस्र-अङ्गारसहस्र-न० ६ त० द्रघु-
तराणामग्निकणानां सहस्रे, स्था० ८ ग० ।

अं (इ) गालसंह्रिय-अङ्गारशू [ल] ल्य-त्रि० अङ्गारैरि-
व पक्के, ज० ११ श० ६ उ० ॥

अं (इ) गारा [ला] यतण-अङ्गारायतन-न० यत्राङ्गार-
परिकर्म क्रियते तस्मिन् गुहे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अं [इ] गारि [लि] य-अङ्गारित-त्रि० विवर्णोच्यते, आ-
चा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

आंगिरस-अङ्गिरस-पुं० गोतमगोवविशेषचूताङ्गिरःपुरुषाप्त्ये,
स्था० ७ ग० ।

अंगीकर-अङ्गीकृत-त्रि० अङ्गीकृतिच्यन्ते तत्पूर्वकात् कृषः कः
स्वीकृते, स्था० ५ ग० ‘अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयतीति’ चौ-
रपञ्चाशिका वाच० ।

अं [इ] गुअ-इङ्गु-पुं० इगि-उः इङ्गुः रोगः तं घाति खण्ड-
यति दो क “शिथिलेऽङ्गदे वा” ८ । १ । ८६ । इति सूत्रेण
प्राकृते आदेर्वा इत्वम् । तापसतरौ, प्रा० ।

अंगुष्ठ-अङ्गुष्ठ-पुं० अङ्गौ पाणौ प्राधान्येन तिष्ठति स्था-क-प-
त्वम् । हस्ताऽवयवे, स्था० १० ग० ।

अंगुटपासिण-अङ्गुष्ठप्रश्न-न० विद्याविशेषे, यथाऽङ्गुष्ठे देवता-
वतारः क्रियते तत्प्रतिपादके प्रश्नव्याकरणानां नयमे ध्ययने च
परमिदानींतने प्रश्नव्याकरणपुस्तके नदमुपलभ्यते स्था० १० ग० ।

अंगुम-पूरि-धा० पूर० णिच् पूरेरडाङ्गोऽङ्गमाङ्गमाहिरेमाः
८ । ४ । ६८ । इति सूत्रेण पूरेरङ्गुम इत्यादेशः । पूर्तौ, अङ्गुमेह
पूरयति प्रा० ।

अंगुल-अङ्गुल-पुं० अङ्गु उल० । हस्तपादशाखायाम्, वाच०
अष्टयवमध्यात्मके परिमाणज्ञेदे, न० “अङ्गुजवमज्जाओ से पगे

अंगुले" भ० ३ श० ७ उ० । उ० १० । स्था० । अगिरगीत्यादिद-
एकं पठितः अगिरगीत्यर्थो धातुर्गन्त्यर्थो ज्ञानार्थो अपि भवन्त्य-
तोऽङ्गुले प्रमाणतो ज्ञायते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलम् । मानवि-
शेषः प्रव० २५४ ब्रा० । तद्देश यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिविहे पण्त्ते तंजहा ।

आयंगुले उस्सेहंगुले पमाणंगुले ॥

अङ्गुले तिविहे प्रहते तद्यथा आत्माङ्गुलमुत्सेधाङ्गुले प्रमाणाङ्गुल-
म् । तत्र ये यस्मिन् कात्रे भरतसगरादयो मनुष्याः प्रमाणयुक्ता
भवन्ति तेषां च संबन्धी अत्रात्मा गृह्यते आत्मनामङ्गुलमात्मा-
ङ्गुलत एवाह आत्माङ्गुलम् ।

मे किं तं आयंगुले आयंगुले जेणं जे ए जया मणुस्सा
जवइ तेमि एं तथा अप्पणो अंगुलेणं डुवावस अंगुलाइं
एहं नवमुहा पुरिमे पमाणजुत्ते भवइ । दोषिए पुरिसे माण-
जुत्ते भवइ । अद्भारं तुल्यमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवइ
माणुम्माणपमाणजुत्ता लक्खणवंजणगुणेहिं उववेअ
उत्तमकुलप्पमूआ उत्तमपुरिमा मुणेअवा ? हुंति पुण
अहियपुरिमा, अट्ठसयं अंगुलाण उक्किटा । छप्पउइ
अट्ठमपुरिमा, चउत्तरं मज्झिमिद्वाओ । २ । हीणा वा
अहिया वा जे खलु सरसत्तमारपरिहीणा । ते उत्तमपु-
रिमाणं, अवसा पेसत्तणमुपैति । ३ । एएणं अंगुलपमा-
णेणं उ अंगुलाइं पादो, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थी-
ओ रयणी, दो रयणीओ कुत्थी, दो कुत्थीओ देनं, धणु-
जुगेनात्तिआ अक्खमुसले, दो धनूमहस्साइं गाउअं ।
चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं आयंगुलपमाणेणं किं
पञ्चोयणं ? एएणं आयंगुलेणं जे एं जया मनुस्सा हवंति
तेमि एं तथा एं आयंगुलेणं अग्रमत्तज्जाणदहनदी वा वि
पुक्खरिणो दोहि य गुजालिआओ सरासरपंतिआओ
मगमपंतिआओ विलपंतिआओ आरामुज्जाणकाणण-
वणवणमंवरणगडओ देउल्लसभापवाय्मखाइअपरिहाओ
पागारअट्ठायचरिअदारगोपुरपामायघरसरणन्नयणआवण-
मिधारुगतिगचउक्कचउम्मुहमहापहपहासगरहजानजुग-
गिल्लिविद्धिमिवेअमंदमाणिआओ लोहीओहकडाहकठि-
ल्लयनरुमत्तोवगरणपाईणि अज्जकल्लिआइं च जोअणइं
भविज्जेति मे समामओ तिविहे पण्त्ते तंजहा मूइअंगुले
पयंगुले वणंगुले अंगुलायया एगपएसिया सेठी मूइअंगु-
ले मूइमूइगुणिया पयंगुले पयं मूइए गुणितं वणंगुले
एगमि एं मूइअंगुलपयंगुलवणंगुलाणं कयरे कयरेहिं तो
अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विमेसाहिया वा सव्वथोवे
मूइअंगुले पयंगुले अमंखेज्जगुणे वणंगुणे अमंखेज्जगु-
णे मेनं आयंगुले ॥

ये जरतादयः प्रमाणयुक्ता यदा जवन्ति तेषां तदा स्वकीयम-
ङ्गुलमात्माङ्गुलमुच्यते इति शेषः । इदं च पुरुषाणां कात्यादिभेदे-
नानवर्णयतमानन्यादुनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम् । अनेनेत्यामाङ्गुलेन

पुरुषाणां प्रमाणयुक्ततादिनिर्णयं कुर्वन्नाह (अप्पणो अंगुले णं
डुवावसेत्यादि) यद्यस्यामीयमङ्गुलं तेनात्मनोऽङ्गुलेन द्वाद-
शाङ्गुलानि मुखं प्रमाणयुक्तं भवत्यनेन च मुखप्रमाणेन नव मुख-
ानि सर्वोऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलैर्न-
वभिर्मुखैरष्टोत्तरं शतमङ्गुलानां संपद्यते । ततश्चैतायुद्ध्यः पुरुषः
प्रमाणयुक्तो भवतीति परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्तताप्रति-
पादनार्थमाह । द्रौणिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति द्रौणी जल-
परिपूर्णा महती कुरिम्का तस्यां प्रवेशितो यः पुरुषो जलस्य
द्रौणे पूर्वोक्तस्वरूपं निष्काशयति द्रौणजलोनां वा तां पुरयति
स द्रौणिकः पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीमेत-
स्यैवोमानयुक्ततामाह । सारपुङ्गवराचितत्वात्तुवारोपितः सध-
र्करज्ज्वरं तुल्यपुरुष उमानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषाः यथोक्तैः
प्रमाणमानोमानैः अन्यैश्च सर्वैरेव गुणैः संपन्ना एव जवन्तीत्ये-
तद्विशयनाह (माणुम्माणगाहा) अनन्तरोक्तस्वरूपैर्मानोमान-
प्रमाणैर्युक्ता उत्तमपुरुषाश्चकवत्यादयो ज्ञातव्या इति संबन्धस्त-
था वक्त्राणां शङ्खस्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि मयीतिवकादीनि
गुणाः कान्त्यादयस्तैरुपेतास्तथोक्तमकुलान्युग्रादीनि तत्प्रसूता
इति गार्थार्थः । अथात्माङ्गुलेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमा-
णमाह (हुंति पुण गाहा) भवन्ति पुनरधिकपुरुषा उत्तमपुरुषा-
श्चकवत्यादयोऽष्टशतमङ्गुला (उच्चिच्छाउ) उच्चमिता उच्चैस्त्वेन
वा पुनःशब्दस्त्वेवामेवाधिकपुरुषादीनामनेकभेदतादर्शकः ।
आत्माङ्गुलेनैव पण्त्वत्यङ्गुलान्यधमपुरुषा भवन्ति (चउत्तरमज्ज-
मिद्वाउत्ति) तेनैवाङ्गुलेन चतुरत्तरमङ्गुलशतं मध्यमानः तुशब्दो
यथानुरूपशेषवक्त्राणादिभावप्रतिपादनपर इति गार्थार्थः । अधो-
त्तरशताङ्गुलमानाद्धीना अधिका वा ते किं जवन्तीत्याह (हीणा
वा गाहा) अष्टोत्तरशताङ्गुलहीना वा अधिका वा ये खलु स्वरः
सकलजनादेयत्वप्रकृतिगमनीरतादिगुणादङ्कतो ध्वनिः सत्यं दैन्य-
विनिर्मुक्तो मानसोऽवग्रहः सारः शुभपुङ्गवोपचयजः शरीरशक्ति-
विशेषस्तैः परिहीना सन्तस्ते उत्तमपुरुषाणां उपचितपुण्यप्राभा-
राणाम् अवशा अनिच्छन्तोऽप्यशुभकर्मवशतः प्रेष्यन्वमुपयान्ति
स्वरादिशेषवक्त्राणैककल्पसाहाय्यात् यथोक्तप्रमाणद्धीनाधिक्य-
मनिष्फलप्रदायि प्रतिपत्तव्यं तत्केवलमिह वक्ष्यते । जरतचक-
वत्यादीनां स्वाङ्गुलतो विशत्यधिकमङ्गुलशतप्रमाणानामपि निर्णी-
तत्वात् । महावीरादीनां च केपांचिन्मतेन चतुरशीत्याद्यङ्गुल-
प्रमाणत्वाद्भवन्ति विशिष्टाः स्वरादयः प्रधानफलदायिनो यत
उक्तम् “ अस्थिष्वर्यां सुखं मांसे त्वचि जोगाः स्त्रियोऽङ्गिपु ।
गतौ याने स्वरे चाक्षा, सर्वे सत्वे प्रतिष्ठितमिति ” गार्थार्थः ।
एतेनाङ्गुलप्रमाणेन षडङ्गुलानि पादः पादस्य मध्यतः प्रदेशः परङ्गु-
लविस्तीर्णः पादैकदेशत्वात्पादाः द्वौ च युग्मीकृतौ पादौ वित-
स्तिः द्वे च वितस्ती रतिर्हस्त इत्यर्थः । रत्तिद्वयं कुक्किः प्रत्येकं
कुक्किद्वयनिष्पन्नस्तु षट्प्रमाणविशेषादणुधनुयुगनादिकाऽङ्गुलमुस-
लवक्त्रा भवन्ति । अत्राक्ता धुरी शेषो गार्थार्थः । द्वे धनुःसह-
स्रे गव्यूतं चत्वारि गव्यूतानि योजनम् । “ एतेणं आयंगुलपमा-
णेणं किं पञ्चोअणमिति ” गार्थार्थं नवरं ये यदा मनुष्या भवन्ति
तेषां तदा आत्मनामङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकात्रसंज्ञवीन्यव-
ट्ठदादीनि मीयन्ते इति संटङ्कः । (अवटादीनां व्याख्या स्वस्व-
स्थाने) अनु० । तदेवमात्माङ्गुलेनात्मीयात्मीयकात्रसंभवीनि ध-
स्तूत्यद्यकात्रीनानि च योजनानि मीयन्ते । ये यत्र काले पुरुषा
भवन्ति तदपेक्षयाऽद्य शब्दो द्रष्टव्यः । इदं चात्माङ्गुलं सूच्यङ्गुला-
दिभेदत्रिविधं तत्र दीर्घमाङ्गुलायता बाह्व्यस्वैकप्रदेशिकी नभः

प्रदेशश्रेणिः सूच्यद्गुणमुच्यते । एतच्च सद्भावतोऽसंख्येयप्रदेश-
मप्यसत्कल्पनया सूच्याकारव्यवस्थापितप्रदेशत्रयनिष्पन्नं छ-
व्यम् । तद्यथा सूची सूच्यैव गुणिताप्रतराद्गुणम् । इदमपि पर-
मार्थतोऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असद्भावतस्त्वैवानन्तरदर्शि-
ता त्रिप्रदेशात्मिका सुचिस्तस्यैव अतः प्रत्येकं प्रदेशनिष्पन्नं सूची-
त्रयात्मकं नवप्रदेशसंख्यं संपद्यते । स्थापना प्रतरश्च सूच्या गु-
णिता दैर्घ्येण विष्कम्भतः पिरुतश्च समसंख्यं घनाद्गुणं भवति
दैर्घ्यादिषु त्रिष्वपि स्थानेषु समतावृत्तणस्यैव समयचर्यया
घनस्यैव रुढत्वात् प्रतराद्गुणं तु दैर्घ्यविष्कम्भाभ्यामेव समं न
पिरुतस्तस्यैकप्रदेशमात्रत्वादिति ज्ञावः । इदमपि वस्तुवृत्त्या
ऽसंख्येयप्रदेशमानम् । असत्प्ररूपणया तु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकं
पूर्वोक्तसूच्या अनन्तरोक्तनवप्रदेशात्मकं प्रतरे गुणिते एतावता-
मेव प्रदेशानां भावात् । एषा च स्थापना अनन्तरनिर्दिष्टा नवप्र-
देशात्मकप्रतरस्याध उपरि च नव नव प्रदेशान् दत्वा भावनी-
या । तथा दैर्घ्यविष्कम्भपिरुतस्तुल्यमिदमापद्यते “ एषसिणं
जंते ” इत्यादिना सूच्यद्गुणादिप्रदेशानामल्पबहुत्वाच्चिन्ता यथा-
निर्दिष्टन्यायानुसारतः सुखाद्यमयेति तदेतदात्माद्गुणमिति ॥

उत्सेधाङ्गुलनिर्णयार्थमाह ।

से किं तं उत्सेहंगुले ? उत्सेहंगुले अणेगविहे एणजे
तंजहा “परमाणू तसरेणूरहरेणू अणायं च वात्रस्त । द्विकखा
जूआ य जवो अट्टगुणविवट्टिआ कमसो ” ॥

उत्सेधः “अणंताणं मुहुमपरमाणुपोगल्लाणमित्यादि” क्रमेणो-
च्छ्रयो वृद्धिनयनं तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् अथ वा उत्सेधो
नारकादिशरीराणामुच्चैस्त्वं तत्स्वरूपनिर्णयार्थं ङ्गुलमुत्सेधाङ्गु-
लम् । तच्च कारणस्य परमाणुत्रसरेणवादेरनेकविधत्वादानेक-
विधं प्रकृतम् ॥ (परमाणवादीनां स्वरूपं स्वस्वस्थाने)

एष णं उत्सेहंगुलेणं किं पओअणं ? एष णं उत्सेहंगु-
लेणं एरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं सरीरोगाहणा
मविज्जंति ॥

(तदेवमेव आगाहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अवगाहना सर्वाऽप्य-
त्सेधाङ्गुलेन मीयते)

से समासओ निविहे पमत्ते तंजहा सूअंगुले पयरंगुले
घणंगुले एअंगुल्लयया एणपएसिया सेढी सइअंगुले सूई
सइए गुणिया पयरंगुले पयरं सइए गुणितं घणंगुले । ए-
सिणं सूअंगुल्लपयरंगुल्लयणंगुल्लाणं कयरं कयरंहितो अप्पे
वा बहुए वा तुवे वा विसेसाहिए वा सव्वयावे सूअंगुले
पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगुणे सेत्त
उत्सेहंगुले ॥

एतच्च सूचीप्रतरघनभेदाद्विधमात्माङ्गुलवद्भावनीयम् । उक्त-
मुत्सेधाङ्गुलम् ।

अथ प्रमाणाङ्गुलम् ।

से किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एणमेगस्स रत्नो चाउरंत-
चक्कवट्ठिस्तं अट्ट सोवाणिए काणारियणे छत्तवे दुवालसं-
सिए अट्टकाणिए अहिगरणंठाणसंठिए पणत्ते तस्स णं
एणमेगा कोसी उत्सेहंगुले विक्खंजा तं ममाणस्स जगवओ

महावीरस्स अण्णुलं त सहस्सगुणं पमाणंगुलं भवइ । ए-
णं अंगुल्लपमाणेणं छ अंगुलाइ पादो दुवालसंगुलाइ विह-
त्थी दो विहत्थीओ रयणी दो रयणीओ कुच्छी दा
कुच्छीओ धणू दो धणुमहस्साइ गाउअं चत्तारि गाउआइ
जोअणं । एणं पमाणंगुलेणं किं पओअणं एणं पमा-
णंगुलेणं पुढवीणं कंमाणं पातालाणं जवणाणं जवणपत्थ-
माणं निरयाणं निरयावल्लीणं निरयपत्थमाणं कप्पाणं
विमाणेण विमाणपत्थमाणं टंकाणं कुंमाणं सेट्ठाणं मिह-
रीणं पञ्जाराणं विजयाणं वक्खाएण वक्खहराणं पच्चयाणं
वेट्ठाणं वेइस्सणं वेइयाणं दाराणं तोणाणं दीवाणं समु-
दाएण आयामविक्खंजोच्चतोव्वेहपरिवस्सेवो मविज्जति ॥

सहस्रगुणिताङ्गुलत्सेधाङ्गुलप्रमाणाज्जातं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा
परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलं नातः परं बृहत्तर-
मङ्गुलमस्तीति भावः । यद्वा समस्तलोकव्यवहारद्विराज्या-
दिस्थितिप्रथमप्रमाणनाथेन प्रमाणज्ञतोऽस्मिन्नवसर्पिणीकाक्षे
तावद्युगादिदेवो जगतो वा तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमेतच्च काक-
णीरत्नस्वरूपपरिज्ञानेन शिष्यव्युत्पत्तिवृत्तं गुणाधिक्यमपश्यं
स्तद्द्वारेण निरूपयितुमाह । “ एणमेगस्स णं रखो इत्यादि ”
एकैकस्य राष्ट्रचतुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्टसौवर्णिकं काकणीरत्नं
पद्मल्लादिधर्मोपेतं प्रज्ञप्तं तस्यैकैका कोटिरुत्सेधाङ्गुलविष्कम्भा
तत्प्रमाणस्य जगवतो महावीरस्यार्षाङ्गुलं तत्सहस्रगुणं प्रमाणा-
ङ्गुलं जवतीति समुदायार्थः तच्चान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रि-
णां काकणीरत्नतुल्यताप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं निरूपचरितरा-
जशब्दविषयङ्गुपदार्थं राजग्रहणं दिक्त्रयजद्विजसमुद्भि-
मयत्पद्मैतपर्यन्तसीमाचतुष्टयवृत्तणाश्चत्वारोऽन्तास्तांश्चतुरोऽपि
चन्द्रेण वर्चयति पाद्वयतीति चतुरन्तचक्रवर्ती तस्य परिपूर्ण-
पद्मखण्डजगतभोक्तुरित्यर्थः । चत्वारि मधुरतृणफलाभ्येकसर्पपः,
पौरुष सर्पपा एकं धान्यमापफले, द्वे धान्यमापफले एका गुञ्जा,
पञ्च गुञ्जाः एकः कर्ममापकः, पौरुष कर्ममापकाः सुवर्णः,
एतैरष्टभिः काकणीरत्नं निष्पद्यते । एतानि च मधुरतृणफला-
दानि जगतचक्रवर्तिकादसंजगान्यव गृहन्ते अन्यथा काष्ठभेदे-
न तद्वैषम्यसंज्ञवे काकणीरत्नं सर्वचक्रिणां तुल्यं न स्यात्
तुल्यं चेप्यते तदिति चत्वारि चतुष्टयपि दिक्षु द्वे ऊर्क्षा-
ध इत्येवं पद्मल्लानि यत् तत् पद्मत्रयम् । अथ उपरि पा-
श्वन्तश्च प्रत्येकं चतुष्टयमश्रीणां ज्ञावात् । द्वादश अश्रयः
कोटयो यत्र तद् द्वादशाश्रिकं कर्णिकाः कोणास्तेषां च अथ
उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सद्भावादष्टकर्णिकम् । अथः क-
रणिः सुवर्णकारोपकरणं तत्संस्थानेन संस्थितं तत्सदृशाकारं
समचतुरस्रमिति यावत्प्रज्ञप्तं प्ररूपितं तस्य काकणीरत्नस्यैकैका
कोटिरुत्सेधाङ्गुलप्रमाणविष्कम्भा द्वादशाश्रय एकैकस्य उत्से-
धाङ्गुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थः । अस्य समचतुरस्रत्वादायामो
विष्कम्भश्च प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलप्रमाण इत्युक्तं ज्ञाति । यैव च
कोटिरुत्सेधाङ्गुला आयामो प्रतिपद्यते साऽध्वस्तियं ग्यवस्थापिता
विष्कम्भजागवतीत्यायामदिष्कम्भयोरकतरनिर्णयेऽप्यपरनिश्च-
यः स्यादवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव ग्रहणं तद्ग्रहणे चायामोऽपि
गृहीत एव समचतुरस्रत्वात्तस्येति तदेवं सर्वतः उत्सेधाङ्गुल-

प्रमाणमिदं सिद्धं तत्राप्यत्र चतुरङ्गुलप्रमाणसुवर्णा वरकागणी
नेवेति भूयते तन्मन्त्रान्तरं संभाव्यते । तत्राप्यं तु सर्ववेदिनो विद-
न्तीति । तदेकैककटिगनमुत्सेधाङ्गुलं श्रमणस्य भगवतो महा-
वीरस्यार्थाङ्गुलं कथमिदमुच्यते श्रीमहावीरस्य सप्तहस्तप्रमा-
णत्वादेकैकस्य हस्तस्य चतुर्विंशत्युत्सेधाङ्गुलमानत्वादष्टपृष्ठच-
धिकशताङ्गुलमानो भगवानुत्सेधाङ्गुलेन सिद्धो भवति स एव
स्वात्माङ्गुलेन मन्त्रान्तरमाश्रित्य स्वहस्तेन सार्द्धहस्तप्रयमानत्वा-
च्चतुरङ्गान्यङ्गुलमानो गीयतेऽतः सामर्थ्यादेकमुत्सेधाङ्गुलं श्रीम-
न्महावीरात्माङ्गुलापेतया अर्धाङ्गुलमेव भवति । येषां च मतेन
जगद्यानात्माङ्गुलनाष्टोत्तरशताङ्गुलभावाः सप्तहस्तेन सार्द्धहस्तचतु-
ष्टयमानत्वात्तन्मतेन भगवत एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुलं
तस्य च पञ्च नव जागा भवन्ति अष्टपृष्ठाधिकशतस्य अष्टोत्त-
रशतेन भागापहारे एतावत एव भावात् यन्मतेन तु जगद्यान्वि-
शत्यधिकमङ्गुलशतं स्वहस्तेन पञ्चहस्तमानत्वात्तन्मतेन जगद्यत
एकस्मिन्नात्माङ्गुल एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च द्वौ पञ्चमागौ भ-
वतः । अष्टपृष्ठाधिकशतस्य विंशताधिकशतेन भागे ह्यते इयत्
एव स्नाभात्तदेवमिहाद्यमतमपेक्ष्यैकमुत्सेधाङ्गुलं भगवदात्माङ्गु-
लस्यार्द्धरूपतया प्रोक्तमित्यवसेयमिति । तदुत्सेधाङ्गुलं सहस्रगु-
णितं प्रमाणाङ्गुलं भवति । कथमिदमवसीयते ? उच्यते जरत-
श्चक्रवर्ती प्रमाणाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च किल विंशतिशतमङ्गुलानां
जयति भरतात्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्य चैकरूपत्वात् उत्सेधाङ्गु-
लेन तु पञ्चधनुःशतमानत्वात्प्रतिधनुश्च षण्णवत्यङ्गुलसङ्ख्याया-
दष्टचत्वारिंशत्सहस्राण्यङ्गुलानां संप्रयन्तेऽतः सामर्थ्यादेकस्मिन्
प्रमाणाङ्गुले चत्वारि शतान्युत्सेधाङ्गुलानां भवन्ति । विशत्यधि-
कशतेन अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणां भागापहारे एतावतो ला-
जात् । यद्येवमुत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव स्यात्ततः
कथं सहस्रगुणमुक्तं तस्य किं तु प्रमाणाङ्गुलस्यार्द्धतृतीयोत्से-
धाङ्गुलरूपं बाह्वयमस्ति ततो यदा स्वकीयबाह्वयेन युक्तं य-
थावस्थितमेवेदं चिन्त्यते तदा उत्सेधाङ्गुलाच्चतुःशतगुणमेव भवति
यदा न्यद्धतृतीयोत्सेधाङ्गुललक्षणं बाह्वयेन शतचतुष्टयल-
क्षणं दैर्घ्यं गण्यते तदा अङ्गुलविष्कम्भा सहस्राङ्गुलदर्घ्या प्र-
माणाङ्गुलविषया सूचिर्जायते । इदमुक्तं जयति अर्द्धतृतीयाङ्गुल-
विष्कम्भे प्रमाणाङ्गुले तिस्रः श्रेणयः कल्पन्ते एकाऽङ्गुलविष्कम्भा
शतचतुष्टयदर्घ्या द्वितीयाऽपि तावन्मानैव तृतीयाऽपि दैर्घ्येण
चतुःशतमानैव विष्कम्भतस्यर्द्धाङ्गुलं ततोऽस्यापि दैर्घ्यद्वयं गृ-
हीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः संप्रयत्ते तथा च सत्यङ्गुलशतद्व-
यदर्घ्या अङ्गुलविष्कम्भा इयमपि सिद्धा । ततस्तिसृणामप्येता-
सामुपयुक्ता विवक्ष्यमाणेन उत्सेधाङ्गुलतोऽङ्गुलसहस्रदर्घ्या अङ्गु-
लविष्कम्भा प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । ततस्तमधि-
कृत्योत्सेधाङ्गुलात्तसहस्रगुणमुक्तं वस्तुनस्तु चतुःशतगुणमेव ।
अत एव पृथ्वीपर्वतध्रिमानादमाना अनेनैव चतुःशतगुणं न अ-
र्द्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्य विष्कम्भान्वितेन मीयन्ते न तु सहस्रगु-
णया अङ्गुलविष्कम्भया सूच्यन्ति शेषं भावितार्थं यावत् (पुढ-
वीर्णन्ति) रत्नप्रभादीनां (कंमाणन्ति) रत्नक्राण्मादीनां (पा-
तालाणन्ति) पाताञ्जल्यशातां (भवणाणन्ति) भवनपत्याया-
सादीनां (जयणपत्याणां) भवनप्रस्तदन्तरकप्रस्तदान्तरतेषां
(निरयाणन्ति) नरकायामानां (निरयाचलियाणन्ति) नरका-
वासपङ्क्तिनां निरयपथङ्गाणन्ति) नरेन्द्रात्मनवसतपञ्चानिध्रियत-
देव एकाद्यादिना प्रतिपादितानां नरकप्रस्तदानां शेषं प्रतीते

मवरम् (इकाणन्ति) जिह्विङ्गानां (कूमाणन्ति) रत्नकूटादीनां
(सेलाणन्ति) मुण्डपर्वतानां (सिंहरीणन्ति) पर्वतानामेव
शिखरवतां (पञ्भाराणन्ति) तेषामेवेषतानां (घेलाणन्ति) ज-
लधिबेलाविषयभूमीनामूर्द्धाधोभूमिमध्येऽवगाहाः तदेवम् “अं-
गुलविहतिथरयणी” त्यादिगाथापन्यस्ताङ्गुलादीनि योजनाव-
सानानि पदानि व्याख्यातानि ।

साम्प्रतं शेषाणि श्रेण्यादीनि व्याचिख्यासुराह ।

से समासश्चो तिविहे पण्त्ते तं जहा सेढीअंगुले पयरं-
गुले घणंगुले असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोमीओ सेढी
सेढीए गुणियाणं पयरं पयरं सेढीगुणियं लोगो संखेज्जए-
णं लोगो गुणियाओ संखेज्जा लोगा असंखेज्जएणं गुणियाओ
लोगो असंखेज्जा लोगा अणंतेणं लोगो गुणियाओ अ (णंता)
लोगा एएणिणं सेढीअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरं
कयरंहेतां अप्पे वा बहुए वा तुव्वं वा विसेसाहिए वा
सव्वयांवे सेढीअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले
असंखेज्जगुणे सेत्तं पमाणंगुले ।

अनन्तरनिर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासंख्येया यो-
जनकोटीकोट्यः संवर्त्तितसमचतुरस्रीकृतलोकस्यैका श्रेणिर्ज-
यति (सप्तरज्जुप्रमाणत्वं लोकस्य लोकाशब्दे) अनु० । तदिदं
सप्तरज्ज्वायामत्वाः प्रमाणाङ्गुलतोऽसंख्येययोजना कोटिकोठ्या-
यता एकप्रदेशिकी श्रेणिः सा च तथैव गुणिता प्रतरः सोऽपि
यथोक्तश्रेण्या गुणितो लोकः अयमपि संख्येयेन राशिना गुणि-
तः संख्येया लोकाः असंख्येयेन तु राशिना समाहतोऽसंख्ये-
या लोकाः अनन्तैश्च लोकेरलोकः ॥ अनु० ॥ प्रव० । आ०
म० प्र० । विशेष० । वात्स्यायनमुनौ, पुं० अङ्गौ पाणौ लीयते वा
रु-अङ्गुष्ठे, न० वाच० ।

अंगुलपोहत्तिय-अङ्गुलपृथक्त्विक-चि० अङ्गुलमुच्चूयाङ्गुलं पृथ-
क्त्वं हि द्विप्रभृतिरानवचय इति परिज्ञाया अङ्गुलपृथक्त्वं शरीरा-
वगाहनामानमेषामस्तीति अङ्गुलपृथक्त्विकाः अतोऽनेकस्वरा-
दितीक् प्रत्ययः जी० १ प्रति० । अङ्गुलद्विकादिशरीरावगाहना-
माने, प्रज्ञा० १ पद ।

अंगुलि (ली) अङ्गुलि- (ली) स्त्री० अङ्ग-उलि वा डीप् वा-
च० करपादशाखायाम्, तं० । औ० । प्रव० । गजकर्णिकावृत्ते,
गजशृण्मात्रे च पुंस्त्वमपि संवृताधरौष्टमङ्गुलिनेति शकु० वाच०
अंगुलिकोश-अङ्गालिकोश-पुं० अङ्गुलीनां रक्षार्थं ध्रियमाणे
तदावरणे चर्मादौ, रा० । तच्चारणे “अंगुलिकोसे पणमं” । नि०
चू० १ उ० ।

अंगुलि [ले] जग-अङ्गुलीयक-न० अङ्गुलौ भवमङ्गुलीयं
ततः कः । अङ्गुल्याजगणविशेषे, श्री० । उपा० । प्रव० । आ० ।
कल्प० । आ० । आ० म० प्र० ।

अंगुलिफोमण-अङ्गुलिस्फोटन-न० अङ्गुलीनां परस्परं ताम-
ने, कदिकाकरणे च तं० ।

अंगुलि नमुहा-अङ्गुलिभू-स्त्री० अङ्गुलीभ्रुवौ वा चावयतः
कायोत्सर्गस्थितिरूपे उत्सर्गदोषे, । तस्य च “अंगुलिजमुहा-
ओ वि य, चावतो नह य कुण्ड उत्सर्गम् । अङ्गुलवगणन-
द्वा, संवयणं च ज्ञेयाणं” आ० ५ अ० । प्रव० । आलाप-

कणनार्थमहुलोश्चाद्यन् तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापा-
रान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् भ्रूसंज्ञां कुर्वन् चकारादेवमेव
वा भ्रूत्यं कुर्वन्तुसंगं तिष्ठतीति अहुवीभ्रूदोषः प्रव० ५ द्वा० ।
अंगुलि [ली] विज्ञा-अहुलि [ली] विद्या-खी० आ-
घस्त्यां नगर्थ्यां बुद्धप्रकाशिते महाप्रज्ञावे विद्याभेदे, “ अंगुली-
विज्ञा य इत्थेव बुद्धेण संपयासिया महप्पज्ञावा ” ती० ३५ पत्र ।
अंगोवंग-अङ्गोपाङ्ग-अङ्गानि शिरःप्रभृत्यन्येषां उपाङ्गानि अङ्गा-
वयवभूतान्यहुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्ययवयवभूतान्यहुवीपर्य-
रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि
अङ्गोपाङ्गस्यादावसंख्येय इत्येकशेषः । इतरेतरयोगः शिरःप्रभृ-
तिषु, अहुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रज्ञा० २३ पद० । कर्म० ।
नहकेसमसु अंगुलिओट्टा खलु अंगुवंगाणि ” उक्त० ३ अ० ।
अंगोवंगणाम-अङ्गोपाङ्गनामन्-न० अङ्गोपाङ्गनिबन्धनं नाम अ-
ङ्गोपाङ्गनाम । नामकर्मभेदे, यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पु-
च्छला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गनाम । कर्म०
१ क० । अङ्गोपाङ्गनाम विविधं मन्तव्यं तथाहि औदारिकाङ्गोपा-
गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकामंण-
योस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव
इत्युक्तं विविधमङ्गोपाङ्गनाम । कर्म० ६ क० । प्रज्ञा० । प० सं० ।
प्रव० । आ० । आ० चू० ।

अंचि—अञ्चि—पुं० गन्ते, भ० १५ श० १ उ० ।

आञ्चि—पुं० आगमने, १५ श० १ उ० ।

अं च अ (त)—आञ्चित-त्रि० पूज्ये राजमान्ये पितृव्यादौ,
व्य० ४ उ० । सकृज्जने, भ० १५ श० १ उ० । पञ्चविंशतितमे-
नाट्यभेदे, रा० । आ० म० प्र० । जं० । दावसन्धौ, नि० चू० २३० ।
अं चि अं च य—अञ्चिताञ्चिक—पुं० अञ्चिते सकृज्जने अञ्चितेन
सकृज्जनेन वा देशेनाञ्चि पुनर्गमनमञ्चिताञ्चि । गतपूर्वदेशे तेन
वा पुनर्गमने अञ्चयाञ्चि अञ्चया गमनेन सह आञ्चिरागमन-
मञ्चयाञ्चि । गमागमे, “ णो कमह णो पक्कमह अं चियं चियं करेह
भ० १५ श० १ उ० । स्था० ।

अं चि अ [य] रिजिय—अञ्चितरिजित—न० नाट्यभेदे, रा० ।
आ० म० प्र० ।

अंचेत्ता—अंचयित्वा—अव्य० उत्पाटयित्वेत्यर्थे, आ० म० ज्ञा० ।

अं उ—देशी धा० उज्ज० प० आकर्षणे, अंति वासुदेवं अग्रतस्त-
स्मि आ० म० प्र० । विशेष० । भ० । कल्प० ।

अं उण—देशी० आकर्षणे, ओ० । नि० चू० ।

अंजण—अञ्जन—न० अञ्ज ल्युट् । नयनयोः कज्जवापदाने,
सूत्र० १ श्रु० ए अ० । तं० । तसायःशवाकया नेत्रयोः दुः-
खोत्पादने, कारतैलादिना देहस्य घृत्तणे च स० । अज्यतेऽ
नेन अञ्ज-करणे ल्युट् वाच० । कज्जले, ज्ञा० ६ अ० । सौवीरा-
दौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जं० । आ० म० प्र० । औ० । जी० ।
प्रज्ञा० । भाव० । रसाञ्जने, दश० ३ अ० । रत्नविशेषे, आ०
म० प्र० । रत्नप्रज्ञायाः खरकाण्डस्य दशमे भागे च । तदश-
योजनशतानि बाहव्येन प्रज्ञप्तम् स्था० १० गा० । वनस्पतिविशे-
षे, औ० । आ० म० प्र० । चन्द्रसूर्याणां लेडयानुबन्धचारिणां पुत्र-
ज्ञानां पञ्चमे पुत्रले, च० प्र० १० पाहु० । सु० प्र० । मन्दरस्य पूर्वेण
शीतोदाया महानद्या दक्षिणेन स्थिते यक्षस्कारपर्वतभेदे, स्था०
५ गा० । ज० । “ दो अंजणा ” स्था० २ गा० । द्वीपकुमारैरस्य

बेडम्बस्य तृतीये लोकपात्रे, भ० ३ श० ६ उ० । उदधिकुमारै-
रस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे लोकपात्रे, स्था० ४ गा० मन्दरस्य
पुरतो रुचकवरपर्वते, सप्तमे कूटे च पुं० । स्था० ८ गा० ।
अंजण—अञ्जनिका—खी० बह्मीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंजणकेसिया—अञ्जनकेशिका—खी० वनस्पतिविशेषे, भा० ।
म० प्र० । जं० । रा० । प्रज्ञा० ।

अंजणग—अञ्जनक—पुं० अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे-
कप्रत्ययः । कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनकाः उपमाने क-
प्रत्ययः । जं० २ वक्त्र० । नन्दीश्वरद्वीपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु
पर्वतभेदेषु, स्था० ४ गा० । प्रव० ।
अथ नन्दीश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वताः उच्यन्ते

एन्दीमरवरस्स एं दीवस्स चक्रात्ताविकवम्भस्स बहुमज्ज-
देसभाए चउदिमिं चतारि अंजणगपव्वया पएणत्ता तंज-
हा पुरच्छि मद्धे अंजणगपव्वए पच्चच्छिमिद्धे अंजणगप-
व्वए उत्तरिद्धे अंजणगपव्वए दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए
तेणं अंजणगपव्वयागा चतुरसीतिं जोयणमहस्साइं उहुं
उच्चत्तेणं, एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले दसजोयण-
सहस्साइं थरणिपले दसजोयणसहस्साइं आयापविकखंजेणं
ततो णंतरं चणं माताए पदेसपरिहाये माणामाणा उवरिं
एगमेगं जोयणसहस्सं आयापविकखंभेणं मूले एकतीसं
जोयणसहस्साइं उच्च तेवीतजोयणसते किंचि वितेसाहिए
परिक्खेवेणं सिहरितले तिसि जोयणसहस्साइं एगं च
छावद्धजोयणसतं किंचिवितेसाहियं परिक्खेवेणं पणत्ता
मूले विरियसा मज्झे संखित्ता उप्पिं तण्णया गोपुउसंठा-
णमंठिया अच्छा जाव पत्तेयं पत्तेयं पठमवरवेतिया परि-
क्खेवेणं पत्तेयं पत्तेयं वणमंरपरिक्खेत्ता वण्णो गोयमा !
तेसि एं अंजणपव्वयाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणि-
ज्जा ज्मिन्नागा पणत्ता से जहानामए आलिगपुक्खरेत्ति
वा जाव सयंति ।

ते अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीतियोजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन
एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मध्ये सातिरेकाणि दशयोजनसहस्रा-
णि विष्कम्भेन धरणिपले दश योजनसहस्राणि । तदनन्तरं च
मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपरि एकैकं योजनसहस्रं
विष्कम्भेन मूत्रे एकविंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयो-
विंशतियोजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि (३१६२३) परिक्रमे-
ण धरणिपले एकविंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविं-
शतियोजनानि देशोनानि [३१६२३] परिक्रमेण उपरि त्रीणि
योजनसहस्राणि एकं च द्वापष्टियोजनशतं किंचिद्विशेषाधिकं
[३१६२३] परिक्रमेण ततो मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्रिस्ता उप-
रि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वतमना अञ्ज-
नमया अञ्जनरत्नात्मकाः ‘अच्छा जाव परिक्खा’ इति प्राग्वत् प्र-
त्येकं पञ्चवरवेदिकाः परिक्रिताः प्रत्येकं वनखण्डपरिक्रिताः पञ्च-
वरवेदिका वनखण्डवर्णनं प्राग्वत् “तेसिणमित्यादि” तेषामञ्ज-
नपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयो ज्मिन्भागः प्र-
ज्ञप्तः तस्य ‘से जहानामए आलिगपुक्खरेत्ति वा इत्यादि’ वर्ण-

नं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनजागस्येष तावद्वक्तव्यं यावत् 'तत्थ
 एं बहुवे बाणमेतत्ता देवा देवीओ य आसयंति जाव विहरंति'
 तेसि एं बहुसमरमणिज्जाणं जूमिनागाणं बहु मज्झदे-
 मजाए पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि सिद्धायतणा एगमेकं जोय-
 णसयं आयामेणं पप्पासं जोयणाइं विक्खवेणं छावत्तरि
 जायणाति उहुं उच्चत्तेणं अणंगखनमयमन्निविद्धा वण-
 ओ गोयमा ! तेमि एं सिद्धायतणाणं पत्तेयं पत्तेयं चउ-
 दिमि चत्तारि दारा पणत्ता तंजहा देवदारे असुरदारे नाग-
 दारे भुवणदारे तत्थ एं चत्तारि देवा महिद्धिया जाव प-
 लिओवमद्वितिया पण्वमंति तं देवे असुरे नाग सुवणे
 तेणं दारा सोलसजोयणाइं उहुं उच्चत्तेणं अट्ट जायणाइं
 विक्खवेणं तावतियं पवेसेणं सेताव कणगवणओ जाव
 वणमाझाओ । तेसि एं दाराणं चउदिमि चत्तारि मुहमंरुवा
 पणत्ता ते एं मुहमंरुवा एगमेगं जोयणसां आया—
 मेणं पप्पासं जोयणाइं विक्खवेणं सातिरेगाइं सोलसजो-
 यणाइं उहुं उच्चत्तेणं वणओ तेसि एं मुहमंरुवाणं चउ-
 दिमि चत्तारि दारा पणत्ता ते एं दारा सोलस जोयणाइं
 उहुं उच्चत्तेणं अट्टजोयणाइं विक्खवेणं तावतियं चेव पवे-
 सेणं सेसं तं चेव जाव वणमाझाओ । एवं पिच्छावरमह-
 बा वि तं चेव पमाणं जे मुहमंरुवाण दारा वि तहेव
 णवरिं बहुमज्झदेसभाए पेच्छावरमंरुवाणं अक्खोन्नाम-
 णिपेदियाओ अट्टजोयणप्पमाणानो मीट्टासणा सपरि-
 वारा जाव दामा धृभा वि चउदिमि तहेव णवरिं सोलस
 जोयणप्पमाणा माउरेगाइं सोलस उच्चा सेसं तहेव । जिण-
 पट्टिमाओ चेडयत्तखा तहेव चउदिमि तं चेव पमाणं
 नडा विजयाए गयदार्णीए णवरिं मणिपेदियाओ सोलस
 जोयणप्पमाणाओ तेसि णं चेतियस्सखाणं चउदिमि च-
 त्तारि मणिपेदियाओ अट्ट जोयणविक्खवेणं चउजोयण-
 बाह्मजाओ महिद्धज्झयाणं चउसाट्ठिं जोयणुच्चा जोयणउ-
 वेह्मा जोयणविक्खवेणा सेसं तहेव एवं चउदिमि चत्तारि
 नंदापुक्खरिणीओ नवरिं खोयरमपडिपुत्ताओ जोयणसयं
 आयामेणं पप्पासं जोयणाइं विक्खवेणं दम जोयणाइं उ-
 वेहेणं मेसं तहेव । मणोगुलिया गोमाणमिया अरुया-
 लीमं अरुयालीमं सहस्माओ पुरच्छिमणे वि सोलसपञ्च-
 च्छिमेण वि सोलस सहस्मा दाहिणेण वि अट्ट सहस्मा उ-
 त्तरेण वि अट्ट सहस्माओ तहेव सेसं उच्चाया जूमिनागा
 जाव बहुमज्झदेसमभिभागे मणिपेदिया सोलस जोयणाइं
 आयामविक्खवेण अट्ट जोयणाइं बाह्मजेणं तेसि एं मणि-
 पेदियाणं उप्पि देवच्छंदगा सोलस जोयणाइं आयामविक्ख-
 वेण सातिरेगाइं सोलस जोयणाइं उहुं उच्चत्तेणं सव्वरय-
 णप्पमाओ अट्ट मयं त्रिणपदिमाणं सव्वो गो चेव गो

जहा वेमाणिया सिद्धायणस्म ॥

तेषां बहुसमरमणीयानां जूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं
 प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रहसं तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकं
 योजनशतमायामेन पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्ततियो-
 जनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि तद्व-
 र्णनं विजयदेवसुधर्मसभायद्वक्तव्यम् (तेसिणमित्यादि) तेषां
 सिद्धायतनानां प्रत्येकं चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दि-
 शि एकैकजावेन चत्वारि द्वाराणि प्रहसन्ति तद्यथा पूर्वोण पूर्व-
 स्यामेव दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम् । तत्र पूर्वस्यां दिशि
 द्वारं देवद्वारं देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र भावाद्वेव दक्षिणस्या-
 मसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् (तत्थे-
 त्यादि) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्हि-
 का यावत्पत्न्योपमस्थितयः पण्वसन्ति तद्यथा (देवेत्यादि)
 पूर्वद्वारे देवा देवनामा दक्षिणद्वारे असुरनामा पश्चिमद्वारे नाग-
 नामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा (तेषां दारा इत्यादि) तानि द्वा-
 राणि पञ्चाशद्योजनानि प्रत्येकमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि वि-
 ष्कम्भतः (तावद्वयं चेवति) तावन्त्येव अष्टावेव योजनाना-
 ति जावः । प्रवेशेन (सियावरकणगपूजिया इत्यादिवर्णकः विज-
 यदारस्येवेति विजयदारशब्दे भावयिष्यते)

तत्थ एं जेसिं पुरच्छिमिद्धेणं अंजणपव्वते तस्स एं चउ-
 दिमि चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ पणत्ताओ तंजहा एंदा-
 त्तरा य एंदा आणंदा णंदिवद्वणा । ताओ णंदापुक्खरि-
 णीओ एगमेगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खवेणं दस
 जोयणाइं उवेहेणं अच्चाओ सण्हाओ पत्तेयं पत्तेयं पञ-
 मवरवेत्तिया पत्तेयं पत्तेयं वणसंरुपरिक्खत्ता तत्थ तत्थ
 जाव तिसोपाणपमिस्सुवा तारणा तासि एं पुक्खरिणीणं
 बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं दहिमुहपव्वए पणत्ते तेणं
 दहिमुहपव्वया चउसाट्ठिं जोयणसहस्साइं उहुं उच्चत्तेणं एगं
 जोयणसहस्सं उवेहेणं सव्वतय समा पल्लगसंठाणसंठिता
 दसजोयणसहस्साइं विक्खम्भेणं एकतीसं जोयणसहस्साइं
 छव्व तेवीसजोयणसए परिक्खवेणं पणत्ता सव्वरयया-
 मता अच्चा जाव पमिस्सुवा पत्तेयं पत्तेयं पञमवरवेत्तिया
 नणसंरुवएण उ बहुसमरमणीयं जाव आसयंति सिद्धाय-
 यणं तं चेव पमाणं तं अंजणपव्वएण वत्तव्वया निरवसेसा
 जाणियव्वा जाव उप्पि अट्टमंगलया ॥

तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपर्वतेषु मध्ये योऽसौ पूर्वदिग्भावी अ-
 ञ्जनपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि ए-
 कैकनन्दपुष्करिणीभावेन चतस्रो नंदापुष्करिण्यः प्रहसन्त-
 यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिपेणा दक्षिणस्याममोघा अपरस्यां
 गोस्तुपा उत्तरस्यां सुदर्शना ताश्च पुष्करिण्य एकं योजनशत-
 सहस्रमायामविष्कम्भताभ्यां ग्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश
 सहस्राणि हे शते समविशत्यधिकत्रीणि गव्यूतानि अष्टाविंशं
 धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अष्टाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं
 परिक्षेपेण प्रहसाः । दश योजनानि उद्वेधेन “ अच्छाओ स-
 एहाओ रययमयकूलाओ इत्यादि ” जगत्पुपरि पुष्करिणीव-
 त्तिस्वदोषं घट्ठयं नधरं “ वट्टाओ समतीराओ खोदोदगपडि-

पुष्पाग्राओ " इति विशेषः । ताश्च प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिकृतिताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डेन परिकृतिताः । अत्रापि दमन्यदधिकं पुस्तकान्तरं दृश्यते " तामि एं पुक्खरिणीं पत्तेयं पत्तेयं चउदिसि चत्तारि वणसंभा पत्तत्ता तं जहा पुर-च्छिमेणं दाहिणेणं अवरेणं उत्तरेणं पुव्वेणं असोगवणं जाव जूयवणं उत्तरे पासे " एवं शेषाञ्जनपर्वतसंघर्षिणीनामपि नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम्- (तामिणमित्यादि) तासां पुष्करिणीनां बहुमध्यदेशनागे प्रत्येकं प्रत्येकं दधिमुखो दधिमुखनामा पर्वतः प्रज्ञप्तः (तेणमित्यादि) ते दधिमुखपर्वताश्चतुःषष्टि-योजनसहस्राणि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्धेन स-र्वत्र समाः पत्त्यसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि पट्टत्रयोविंशानि त्रयोविंशत्य-धिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः । सर्वात्मना स्फटि-कमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिकृतिताः प्रत्येकं १ वनखण्डेन परिकृतिताः (तेसिणमित्यादि) तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य च वर्णनं तावद्वक्तव्यं यावद्ब्रह्मो " वाणमन्तरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति " (तेसि-णमित्यादि) तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्य-देशनागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं सिद्धायतनवक्तव्यता प्रमाणादिका अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवद्वक्तव्या यावद-ष्टशतं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपकमुचुकानामिति ।

तत्थ णं जे से दक्खिणिल्ले णं अंजणपव्वए तस्स णं चउदिसि चत्तारि एंदापुक्खरिणीओ पत्तत्ताओ तंजहा रुद्धा य विमात्ता य कुमुया पुंरुगीणी तं चैव तंहेव दाहि-मुहपव्वया तं चैव पमाः जाव सिद्धायतणे ।

[तत्थ णं जे से दाहिणिल्लेणं अंजणपव्वए इत्यादि] दक्षि-णाञ्जनकपर्वतकस्यापि पूर्वदिग्भाज्यञ्जनकपर्वतस्यैव निरवशेषं वक्तव्यं नवरं नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्यां नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दि-वर्द्धना शेषं तथैव ॥

तत्थ णं जे से पच्छिमेणं अंजणपव्वए तस्स णं चउ-दिमि चत्तारि पुक्खरिणीओ पत्तत्ताओ तं जहा णंदेसिणा य अमोहा य गोत्थुना य सुदंसणा य तं चैव सर्वं भाणिय-व्वं जाव सिद्धायणं तत्थ जे से उत्तरिल्ले अंजणपव्व-ते तस्स णं चउदिसि चत्तारि नन्दापुक्खरिणीओ पत्तत्ता-ओ तंजहा विजया वेजयंती जयंती अपराजिता सेसं तहेव जाव सिद्धायणं सर्वो चेति य वण्णा णेयव्वा । तत्थ णं ब्रह्मे भवणवद्वाणमन्तरजोतिसवेमाणिया देवा चाउ-म्मासियपमिणसु संवच्चरेसु य अमोसु बहुजिणजम्पण-निक्खमणणाणुपपातपरिणिव्वाणमादिणसु य देवकज्जेसु य देवसमुदणसु य देवसमतीसु य देवमवाणसु य देवपओयणसु य एगंतओ सहिया समुवागया समाणा पमुदितपकोलिया अट्टहियाओ महामहिमाओ कारेमाणा पालेमाणा सुहं मुहेण विहरंति । कयस्सासहरिवाहणा य तत्थ दुवे देवा महिठिया जाव पत्तिओवमद्वितिया परिवसंति से तेण-

ट्टेणं गोयमा ! जाव निचे जोतिसं संखेज्जं ॥

पूर्वदिग्भाज्यञ्जनकपर्वतस्यैव पश्चिमदिग्भाज्यञ्जनपर्वतस्या-पि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकमुचुकानां नवरं नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्यां विशाखा अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी शेषं तथैव । एवमुत्तरदिग्भाज्यञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरमत्रापि नन्दा-पुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिशि विजया दक्षिणस्यां वेजयंती अपरस्यां जयंती उत्तरस्यामपराजिता शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकमुचुकानामिति पौरु-शानामपि चामूपां वापीनामपान्तराले प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकर-पर्वतो जिनभवनमस्मिन्तिशखरौ शास्त्रान्तरे अजिहितविति । सर्वसंख्यया नन्दीश्वरद्वीपे चापञ्चाशत्सिद्धायतनानि (तत्थ ण मित्यादि) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु णमिति पूर्ववत् ब्रह्मो प्रव-नपतिवाणमन्तराज्योतिष्कवैमानिका देवाश्चातुर्मासिकेषु पयु-षणायामन्येषु च बहुषु जिनजन्मनिष्क्रमणज्ञानोत्पादपरिनिर्वा-णादिषु देवकार्येषु देवसमितिषु एतदेव पर्यायद्वयेन व्याचष्टे देवसमवायेषु देवसमुदायेष्वागताः प्रमुदितप्रक्रीकृता अष्टा-दिकारूपा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति आसते । (अमुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथान्यत् गौतम ! नन्दीश्व-रद्वीपे चक्रवात्रविष्कम्भेन बहुमध्यदेशनागे चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां विदिशि एकैकजायेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रज्ञ-प्ताः तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीयो दक्षिणपूर्वस्यां तृतीयो दक्षिणापरस्यां चतुर्थ उत्तरापरस्याम् । (तेणमित्यादि) ते र-तिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकयोजनस-हस्रसमुद्धेन सर्वत्र समा भङ्गुरीसंस्थानसंस्थिता दशयोजन-सहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि पट्टत्रिंशानि योजनशतानि परिक्षेपेण सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत् प्र-तिरूपाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवरा-जस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा पश्चिमायामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्ण-नामिकाया अग्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया उत्तरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा । तत्र योऽसौ दक्षिणपूर्वो र-तिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य च-तसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञ-प्तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्याम-चिमाद्वी उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पद्मायाः पद्मनामिकाया अग्र-महिष्याः सुमनाः शिवायाः सौमनसा सोमाया अचिमाद्वी अ-ञ्जुकाया मनोरमा । तत्र योऽसौ दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वत-स्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्व-स्यां दिशि चूता दक्षिणस्यां चूतावतंसा अपरस्यां गोस्तूपा उ-त्तरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अग्रमहि-ष्या चूता राजधानी अप्सरसोश्चभूतावसन्तिका नवमिकयोगां-स्तूपा रोहिण्याः सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरप-र्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्र महिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोच्चया अपरस्यां सर्वरत्ना उत्तरस्यां रत्नसञ्ज्ञया । तत्र रत्नवसुनामिकाया अग्रमहिष्या

रत्ना वसुधासाया रत्नोच्चया वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुधारायाः सर्वसङ्ख्या । इयं रतिकरपर्वतचतुष्टयचतुष्टयता । केपुचित् पुस्तकेषु सर्वथा न दृश्यते कैलासहरिचाहननामानौ च द्वौ देवौ तत्र यथाक्रमं पूर्वाक्षापरगङ्गाधिपतौ महर्षिकौ यावत् पत्योपमन्वितिकौ परिवसतस्तत एव नन्द्या समृद्धा दुर्नदिसमृद्धाविति वचनान् ईश्वरः स्फातिमान् नतु नाम्नेति नन्दीश्वरः । तथाचाह । से एषण्ट्रेणमित्यादि उपमंहागवाक्यं प्रतीतं चन्द्रादिसंख्यासूत्रं प्राग्वन् जी० ३ प्रति० । स० । वनस्पतिविशेषे, रा० । दांअंजणा स्था० २३।० वायुकुमाररेखाणां तृतीये लोकपाले, भ० ३२।० ८० ।

अंजण [णा] गिरि-अञ्जनगिरि-पुं० कृष्णवर्णपर्वतविशेषे, झा० ८ स० । मन्दपर्वते भङ्गाश्रवने व्यवस्थिते चतुर्थे विष्णुस्तिकटे, स्था० ८० । तदधिपे देवे च ज० ४ वक्र० । (वर्णनं दिसादित्यशब्दे)

अंजणजोग-अञ्जनयोग-पुं० सप्तविंशकलाभेदे, कल्प० ।

अंजणपुलग-अञ्जनपुलक-पुं० रत्नभेदे, रा० । आ० म० प्र० । रत्नप्रतायाः पृथिव्याः खरकाण्डस्य एकादशे जागे, स्था० १० गा० । मन्दरस्य पूर्वे रुचकवरे पर्वते व्यवस्थितेऽष्टमे कूटे स्था० ८ गा० ॥

अंजणमूल-अञ्जनमूल-पुं० रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, द्वी० ।

अंजणरिष्ट-अञ्जनरिष्ट-पुं० वायुकुमाराणां चतुर्थे इन्द्रे, ज० ३ शृ० ८० ।

अंजणममुगग-अञ्जनममुद्रक-पुं० सुगन्धञ्जनाधारे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अंजणसन्नागा-अञ्जनशलाका-स्त्री० अङ्गणोरञ्जनार्थं शलाकायाम्, सूत्र० १ शृ० ५ अ० ।

अंजणसिद्ध-अञ्जनसिद्ध-पुं० अङ्गणोरञ्जनविशेषपञ्चरत्नेनादित्यां गते, पि० । नि० चू० । (यथा सुस्थिताभिधसूरिमुखाद्योनिप्राभृतोक्तमदृष्टीकरणमञ्जनं श्रुत्वा कृत्तुकचयेनादृश्यं चूत्वा अङ्गुलाऽऽहारो चुकः इत्यादि चुम्ब शब्दे)

अंजणा-अञ्जना-स्त्री० तृतीयनरकपृथिव्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रव० । जन्वाः सुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां व्यवस्थितायां पुष्करिण्याम्, ज० ४ वक्र० । जी० ।

अंजणिया अञ्जनिका-स्त्री० कञ्जलाधारचूतायां नविकायाम्, सूत्र० १ शृ० ४ अ० ।

अंजलि (ली) -स्त्री० पुं० अञ्जलि-पुं० - अञ्ज-अलि-वेमाञ्जनाद्याः स्त्रियाम् = १ । ३५ । इति प्राकृतसूत्रेण वा स्त्रीत्वम् । प्रा० । मुकुञ्जितकमलाकारकरद्वयरूपे (ज० ३ वक्र०) इ-स्तन्यामविशेषे, रा० । भ० । च० प्र० । दो विहन्था मउलकमलसंख्या अंजली नम्रति नि० चू० १ उ० । मुकुञ्जितहस्तयो-र्द्वारादमश्रेय, “ पणेण वा दोहि वा मउल्लिपिं हत्येहिं णिरात्र-संसिनेहिं अंजली नम्रति ” नि० चू० ५ उ० । द्वयोर्हस्तयोरेन्योन्यानन्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटरूपतया एकत्र मीलने च जी० ३ प्रति० । आ० म० प्र० । प्रज्ञादौ क्रियमाणे कायिक-त्रिनयभेदे, अञ्जलिप्रणामादौ यदि पुनः कथमप्येको हस्तः कृणिको नवति तदैकतरं हस्तमुत्पाद्य नमः क्रमाश्रमणेष्वेति वक्तव्यम् व्य० १ उ० । दा० १ दश० ।

अंजलिपमद-अञ्जलिपमद-पुं० हस्तजोम्ने, झा० १ अ० ।

अञ्जलिकरणरूपे विनयविशेषे, भ० १४ श० ३ उ० । प्रव० । सम्भोगनेत्रे च । स० (संजोग शब्दे निरूपणम्)

अंजलिवंध-अञ्जलिवन्ध-पुं० करकुञ्जलस्य शिरसि विधाने, दर्श० ।

अंज [स्] अञ्जम्-न० अनक्ति गच्छति मिथयति घाऽनेन अञ्जु गतौ मिश्रणे च भसुन् वेगे, वज्रे, औचित्ये च ‘अञ्जस उपसंख्यानमिति’ धातिकात् तृतीयायाः अलुक् । अञ्जसाकृतम् वाच० । प्रगुणे, न्याये, विशेषे ।

अंजिय-अञ्जित-त्रि० अञ्जि-क्त० कञ्जलेन स्रजिते, तेअंजि-यकत्रा निलग य ते कए” नि० चू० १ उ० ।

अंजु-कञ्जु-त्रि० प्रगुणे, अकुटिले, “ अप्पणो यवियकत्राहिं अयमंजुहिं दुम्मइ ” आचा० १ शृ० ५ अ० । मायाप्रपञ्चरहितत्वादवके, “अंजुधम्मं जहा तच्चं जिणानं तं सुणेह मे” सूत्र० १ शृ० ६ अ० । संयमे प्रगुणे अव्यभिचारिणि सूत्र० १ शृ० १ अ० । आचा० । व्यक्ते, सूत्र० १ शृ० १ अ० । निर्दोषत्वात्प्रकटे, सूत्र० २ शृ० ७ अ० ।

अंजुआ-अञ्जुका-स्त्री० अरनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० ।

अंजु-अञ्जु-स्त्री० धनदेवसार्धवाहदुहितरि, तद्वक्तव्यता चि-पाकश्रुते दुःखविपाकानां दशमेऽव्ययने श्रूयते स्था० १० गा० ।

जइ णं भंते ! समणेणं जगवया महावीरेणं दन्मस्स उक्खेदओ एवं खवु जंवू ! तेणं कालेणं तेणं समणं वप्पमाणपुरे णामे णयरे होत्था । विजयवप्पमाणे उज्जाणं माणिज्जे जक्खे विजयमित्ते राया । तत्थ एं धणदेवणामं मत्थवाहे होत्था । अहे पियंगुभारिया अंजुदारिया जाव सरीरा समोसरणं परिसा णिगया जाव पडिगया तेणं काट्ठेणं तेणं ममणं जेट्ठे जाव अरुमाणे जाव विजयमित्तस्स रस्सो गिहस्स अमोगवणियाए अदूरसामंते णं वीईवयमाणे पामइ पामइत्ता एगं इत्थियं मुक्कं चुक्खं णिम्मं किमिकिञ्चयं अट्ठिचम्मावणप्पं णीलसालगणि-यत्थं कट्ठाइं कलुणाइं विस्मराइं कूवमाणं पामइ पासइत्ता चित्ता तहेव जाव एवं वयासी एम णं भंते ! इत्थिया पु-व्वज्जे का आमी वागरणं एवं खवु गोयमा !

अञ्जुः पूर्वजवः ।

तेणं कालेणं तेणं समणं इहेव जंवूदीवेदीवे भारहे वासे इंदपुरे णामं णयरे तत्थ एं इंददत्ते राया पुढविसिरिणामं गणिया वप्पओ तएणं मा पुढविसिरिगणिया इंदपुरे णयरे वहवे राईमरं जाव प्पजिइओ वहुहिं चुप्पयंगेहि य जाव अभिओगिता उराट्ठाइं माणस्सगाइं जोगभोगाइं जुंजमाणे विहरइ । तए णं सा पुढविसिरिगणिया एए कम्माए य सकम्मा ४ सुवहु पावं समज्जिणित्ता पप्पत्तीसं वाससथाइं परमाउसं पालित्ता कालमासे काअं किच्चा उट्ठीए पुढवीए उक्कोसे णेरइत्ताए उववप्प । सा णं तओ उव्वट्ठित्ता

अंजु

अञ्ज्या वत्तमानभवः ।

इहेव वच्छमाणे णयरे धणदेवस्स सत्यवाहस्स पियंगु-
जारियाए कुच्चिसि दारियत्ताए उप्पस्सा तएणं मा पियं-
गुजारिया एवएहं मामाणं दारियंययाणं णामं अंजु सेसं
जहा देवदत्ताए । तएणं मे विजये राया आसयाहणियाए
णिज्जायमाणे जहा वेसमणदत्ते तहा अंजु पासइ एवरं अ-
प्पणो अट्ठावए वरइ जहा तेतली जाव अंजुए दारियाए
सद्धि उप्पि जाव विहरइ । तएणं तीसें अंजुदेवीए अप्पया
जोणीसूले पाउन्नूए या वि होत्था । तएणं से विजये राया
कोइंयियपुरिसे सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासीगच्छइ एं
देवा वच्छमाणपुरे णयरे सिंघारुग जाव एवं वयह एवं
खलु देवा विजए अंजुए देवीए जोणीसूले पाउन्नूए जो
एणं इच्छसि वा ६ जाव उग्घोसइ तएणं से बहवे वज्जा वा
६ इमं एयारुवं सोच्चा णिसम्म जेणेव विजए राया तेणेव
उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अंजुए देवीए बहवे उप्पत्ति-
याहिं ४ बुद्धिहिं परिणामेमाणा इच्छंति । अंजुए देवीए
जोणीसूले उवसामित्ते णो संचाएइ उवसामित्तए तएणं
ते बहवे विज्जा य जाहे णो संचाएइ अंजुए देवीए जोणी-
सूले उवसामित्तए ताहे संता तंता जामेव दिसं पाउन्नूए
तामेव दिसं पणिगया तएणं सा अंजु देवी ताए वेयणाए
अजिज्जूया समाणी सुक्का मुक्खा णिम्मंसा कट्टाई कट्टुणाई
बीसराई विलवइ । एवं खलु गोयमा ! अंजु देवी पुरा
जाव विहरइ अंजु एं जंते ! देवी कालमासे कालं किच्चा
काहिं गच्छिहिंति काहिं उववज्जिहिंति । गोयमा ! जहा
तेयस्सि चि ॥

ज्ञाताधर्मकथायां यथा तेतलिसुतनामा आमात्यः पोष्टिला-
भिधानां कलादस्तपिकादारश्रेष्ठिसुतामात्मार्थं याचयित्वाऽऽत्म-
नैव परिणीतवानेवमयमपीति दशमाध्ययनविवरणम् ।

अञ्ज्या भविष्यद्भवः ।

अंजु एं देवी नजइवासाई परमाउयं पावइत्ता कालमासे
काढं किच्चा इमीसे रयणप्पजाए णेरइयत्ताए उववस्से ।
एवं संसारां जहा पढो तहा णेयव्वं जाव वणस्सईसाणं ।
तओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता सव्वओ जहे णयरे मयूरत्ताए
पच्चायाहिंति से एं तत्थ साउणिणहिं बहिए समाणे
तत्थेव सव्वओ भदे णयरे सेट्टिकुत्तंसि पुत्तत्ताए पच्चा-
याहिंति से एं तत्थ उम्मुक्कतहारूवाणं थेराणं अंतिए
केवज्जि वोहिं बुज्जिहिंति बुज्जिहिंतिता पवज्ज सोहम्मे
सेणं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ३ काहिं गच्छिहिं-
ति काहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! महाविदेहे वासे जहा
पढे जाव सिज्जिहिंति जाव अंतं काहिंति । एवं खलु
अंबूसमणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दसमस्स

अज्जयणस्स अयमट्ठ पप्पत्ते सेवं जंते विपा० १० अ० ।
तत्तकव्यताप्रतिबद्धे कर्मविपाकानां दशमेऽध्ययने च स्था०
१० गा० । शकस्य चतुर्थ्यामग्रमहिष्यां च स्था० ८ गा० सा च
पूर्वभवे हस्तिनापुरे पद्माद् विजयायामुत्पन्ना पार्श्वोर्हतोऽन्तिके
प्रव्रजिता शकस्याग्रमहिषी जाता । स्थितिः सप्तपल्लवोपमा
महाविदेहेऽन्ते कल्पयति तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः
द्वितीयश्रुतस्य नवमवर्गस्य चतुर्थेऽध्ययने च. झा० १ श्रु० ॥

अंरु-आणरु-न० अमान्ति सम्प्रयागं यांति अनेनेति अम-रु
टवर्गादित्वेऽपि रुस्य नेत्वम् । पुंसोऽव्ययभेदे मुक्के, वाच० ।
पिपीलिकादीनां हिम्ये, वृ०४ उ० आचा० चतुरिन्द्रियकीटवि-
शेषनिर्वर्तितकोशकारे, विशेष० ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्क-
न्धस्य मयूराणरुक्कवकव्यताप्रतिबद्धे तृतीयेऽध्ययने, झा० १ अ० ।
आव० । प्रश्न० । स० । आ० चू० ।

तत्कथानकं चैवम् ।

जइ एं जंते ! समणेणं जगवया महावीरेणं जाव एवं खलु
जंवू तेणं काट्टेणं तेणं समणेणं चंपा नामं नयरी होत्था
वस्सओ तीसे णं चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरे च्छमे
दिसीजाए सुज्जूमिजाणे णामं उज्जाणे सव्वओ य सुरम्मे
एंदणवणं इव भूहसुरजिसीयलच्छायाए समणवच्चे तस्स
एणं सुज्जूमिभागस्म उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसम्मि मावूया
कच्छए होत्था वणएओ तत्थ एणं एगा वणमयूरी दो पुट्टे
परियागते पिट्टउंमी पंडुरे णिव्वणे निरुवहए भिन्नमुट्टि-
प्पमाणे मयूरी अंरुए पसवइ मएणं पक्खवाएणं संरक्खमा-
णी संगोवेमाणी संचिट्टेमाणी विहरइ । तत्थ णं चंपाए
णयरीए दुवे सत्यवाहदारगा परिवसंति तंजहा जिणदत्त-
पुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवहियया सह
पंसुकीलिया सह दारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया वस्सम-
मणुव्वयया अस्समस्सच्छंदाणवत्तया अस्समस्सहिययइ-
च्छियकारया अस्समस्सेसु गिहेसु किच्चाई करणिज्जाई
पच्चणुव्ववमाणं विहरंति । तए णं तेसिं सत्यवाहदारगाणं
अस्सया कयाई एगओ महियाणं समुवगयाणं सस्सिसस्साणं
सस्सिचिट्ठाणं एमेयारूवे मिहोक्कहासमुद्धावे समुप्पज्जित्था
जेणं देवाणुप्पिया अम्हं सुहं वा दुहं वा पव्वज्जां वा वि-
देसगमणं वा समुप्पज्जति तेणं अम्हे एगओ समेच्च णि-
च्छरियव्वं तिकट्टु अएणमस्सं एयारूवं संकेयं सुणंति सक-
म्मसंपत्ता जाया वि होत्था । तत्थ णं चंपाए नयरीए
देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अट्ठा जाव भत्तपाणा
चउसट्टिकलापंभिया चउसट्टिगणियागुणोववेया अनणती-
सं विसेसरमणणी एकवीसरइगुणप्पहाणा वत्तीसपुरिसोव-
यारकुसला एवंगमुत्तपडिवोहिया अट्ठारस देसं भासा-
विसारया सिंगारागारचारुवंसा संगयगयहसियजणियविहि-
यविज्ञासल्लियसंज्ञावनिउणजुत्तोववारकुसला कसिय-
ज्जया सहस्सज्जंजा विदिएणउत्तचापरवाव्ववीयाणिया क-

एणं रिहप्पयायी वि हात्था । वहुणं गणियासहस्साणं आ-
हेवच्चं जाव विहरति । तएणं तेमिं सत्थवाहदारयाणं
अएणया कयाऽं पुव्वाक्कएहकात्तममयंसि जिमियभुत्तुत्त-
रागयाणं ममाणाणं आयत्ताणं चोक्खाणं परमसूइज्जयाणं
सुहामणवग्गयाणं इमेयास्सुवे मिहो कट्ठागमुल्लावे समुप्प-
जित्था से एणं खलु देवाणुप्पिया कट्ठं जाव जल्लंते विपुलं
असणं पाणं खाइमं साइमं उक्खडावेत्ता तं विपुलं अस-
णं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंभवत्थं गहाय देवदत्ताए
गणियाए सद्धिं मज्झिमागमस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिंरिं
एच्च एवमवमाणा एणं विहरत्तए तिकट्ठुअज्जमाणस्स एय-
मट्ठं पमिस्सुणें पमिस्सुणेंत्ता कट्ठं पाउवन्त्तए कोहुंविपुसिसे
सदावेति सदावेत्ता एवं वयासी गच्छ एणं तुब्भे देवाणुप्पिए
विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उक्खडावेत्ता उक्खडावेत्ता
तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगं गहाय जेणव
सुज्झिमिभागे जेणव नंदापुक्खरिणी तेणव उवागच्छइ उ-
वागच्छइत्ता एणंए पुक्खरिणीए अदूरसामंते धूणा मंभवं
आहणंइं आमियसमज्झिओवत्तिंतं सुगंधं जाव कलियं क-
रंइ अम्हे पमिस्सुणें चिद्धह । तए एणं से सत्थवाहदा-
रगा इयं पि कोहुंविपुसिसे सदावेति सदावेत्ता एवं व-
यासी विप्पामेव बहुकरणुत्तज्जोइयं समरखुरवात्तिहा-
णं समज्झिदियतिकवपसंगहिणं रययामयवट्ठमुत्त-
रज्जुयपयकंचणखचियणत्थवग्गदेवग्गहिणं नीलोप्प-
लकयामेत्तएहिं पवग्गोणजुवाणएहिं एणाणामणिरयणकंच-
णयंदियाजापपरिक्खित्तं पवग्गलक्खणोवचियं जुत्तामेव
पहाणं उवणेइं ते वि तहेव उवणंति तएणं से सत्थवाह-
दाग्गा पट्टाया जाव सव्वमरीरपवहणं दुम्हंति जेणव दे-
वदत्ताए गणियाए गिहं तेणव उवागच्छति । पवहणाओ
पवोच्छंति देवदत्ताए गणियाए गेहं अणुपविंसंति तएणं सा
देवदत्ता गणिया ते सत्थवाहदारगा एज्जमाणे पामइ पा-
मइत्ता हट्ठुट्ठा आमणाओ अव्वुत्तेति अव्वुत्तित्ता मत्त-
ट्ठपयाइं अणुगच्छति अणुगच्छत्ता ते सत्थवाहदारए एवं
वयासी संदिसइ एणं तुमं देवाणुप्पिया किमागमणप्पआय-
णं तएणं ते सत्थवाहदारगा देवदत्तं गणियं एवं वयासी
इज्जामो णं देवाणुप्पिए तुब्भेहिं सद्धिं सुज्झिमिभागस्स उज्जा-
णस्स उज्जाणसिंरिं पच्चणुत्तवमाणा विहरत्तए । तएणं
सा देवदत्ता गणिया तेमिं सत्थवाहदारगाणं एयमट्ठं पडि-
सुणेंति पमिस्सुणेंत्ता एहाया कयवलिकम्मा किं ते पवरं
जाव मेरिममाणवेसा जेणव सत्थवाहदारए तेणव उवा-
गच्छति । तए एणं से सत्थवाहदाग्गा देवदत्ताए गणियाए
सद्धिं जाणं दुम्हंति चंपाए नयगीए भज्झं मज्झं जेणव
सुज्झिमिभागे उज्जाणे जेणव नंदापुक्खरिणी तेणव उवाग-

च्छति उवागच्छन्ति तत्ता पवहणतो पचोरुहन्ति णदापोक्ख-
रिणी ओगहन्ति जलमज्जणं करेन्ति जलकीमं करेन्ति एहाया
देवदत्ताए सद्धिं पचोरुहन्ति जेणेव थूणामंडवे तेणेव उवाग-
च्छन्ति उवागच्छन्ति तत्ता अणुप्पविमन्ति मव्वालेकारविनूसिया
आसत्था वीसत्था सुहामणवरगया देवदत्ताए गणियाए
सद्धिं तं विपुलं असणं पाणं खाइमं माइमं धूवपुष्कंधव-
त्थं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजइ एवं च णं विहरं-
ति जिमियन्तुत्तोत्तरंगया देवदत्ताए गणियाए सद्धिं विपु-
लाइं माणुस्सगाइं कामजोगाइं हुंजमाणा विहरन्ति तएणं से
सत्थवाहदारया पुव्वावरएहकालसमयंसि देवदत्ताए गणि-
याए सद्धिं थूणामंरुवाओ पढिनिक्खमन्ति इत्थसंगलिण्
सुज्झमिज्जागे बहुसु अलियघरेसु य कयन्नीघरेसु य दयाघरे-
सु य अच्छणघरेसु य पेच्छणघरेसु य पासणघरेसु य मोहण-
घरेसु य सावणघरेसु य जावणघरेसु य कुसुमघरेसु उज्जाणमिंरिं
पच्चणुब्बवमाणा विहरन्ति तए णं ते सत्थवाहदारया जेणेव
से मात्तुवया कच्छे तेणेव पदारेत्यगमणाए तए णं सा वणम-
यूरी ते सत्थवाहदारए एज्जमाणे पामति पामतित्ता जीया
तत्थ महया महया सदेणं केकारवं विणिमुयमाणा मालुया
कच्छाओ पढिनिक्खमइ । एगंसि रुक्खमालियं ठिच्चा ते
सत्थवाहदारए मालुयाकच्छेयं च पविसमाणा अणिमिसदि-
ट्ठीए पेहमाणी चिट्ठइ । तए णं ते सत्थवाहदारए अणममं
सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासी जहाणं देवाणुप्पिया एमा
वणमयूरी अम्हे एज्जमाणे पासित्ता भीया तत्थ तसिया उ-
व्विग्गा पत्ताया महया महया सदेणं जाव अम्हे मात्तुया
कच्छगं च पेहमाणी पेहमाणी चिट्ठति तं भवियव्वमेत्थका-
रणेणं । तिकट्ठु मात्तुया कत्थगं अंतो अणुप्पविमन्ति । तत्थ
णं दो पुट्ठे परिगणए जाव पासित्ता अणममं सदावेति
सदावेइत्ता एवं वयामी तं से यं खलु देवाणुप्पिया अम्हे
इमे वणमयूरी अंरुए सा णं जाइमंताणं कुकडियाणं अंरुए
सुपक्खिवावेत्तए तए णं ताओ जाइमंताओ कुकडियाओ
एए अंरुए य सएणं पक्खिवाएणं सा रक्खमाणीओ संगो-
वेमाणीओ विहरिस्संति । तए णं अम्ह एत्थदो कीद्वारवण-
गा मयूरीपायगा जविस्संति तिकट्ठु अणममस्स एयमट्ठं
पम्भिसुणइ पम्भिसुणेत्ता सए सए दासवेहए सदावेइ सदा-
वेइत्ता एवं वयासी गच्छइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! इमे अंरुए
गहाय सयाणं जाइमंताणं कुकडीए अंरुएसु पक्खिबह
जाव ते वि पक्खिवंति तए णं ते सत्थवाहदारगा देवदत्ता-
ए गणियाए सद्धिं सुज्झमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण-
मिंरिं पच्चणुब्बवमाणा विहरेत्ता तमेव जाणं दुरुढा समा-
णा जेणेव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव
उवागच्छइ उवागच्छइत्ता । देवदत्ताए गिहे अणुप्पविमन्ति

देवदत्ताए गणियाए विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दत्तयाति
सकारेति सम्माणेति देवदत्ताए गिहाउ पणिक्खमंति पणि
क्खिक्खमंति जेणैव सयाइं गिहाइं तेणैव उवागच्छंति सक-
म्मसंपत्तिता जाया वि होत्था । तत्थ एणं जे से सागरदत्तपुत्ते
सत्यवाहे से णं कट्ठं जाव जत्तं जेणैव से वणमयूरीअंडए ते-
णैव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंरुयंसि संकिए
कंविक्खे वित्तिगिच्छे समावणणे भेयसमावण्णे कवुससमावणणे
किणं समं मम एत्थ कीद्वानवणमयूरीपोयए जविस्संति उदाहु
नो जविस्संति त्ति कट्ठं तं मयूरी अंडयं अजिक्खणं अभिक्खणं
उव्वत्तइ परियत्तेति असारेति संसारेति चात्तेति घट्टेइ खो-
भेति अजिक्खणं अजिक्खणं कम्ममूलंसि टिट्ठियावेति तएणं
से मयूरीअंरुए अभिक्खणं अजिक्खणं उव्वत्तज्जमाणे
जाव टिट्ठियावेज्जमाणे पोच्चमे जाएया वि होत्था । तए णं
से सागरदत्तपुत्ते सत्यवाहदारए अएणया कयाइं जेणैव से
मयूरीअंरुए तेणैव उवागच्छति उवागच्छइत्ता तं मयूरी-
अंरुयं पोच्चमेव पासति पासइत्ता अहो एणं ममेसकीद्वानव-
णमयूरीपोच्चए जाए त्ति कट्ठं ओहयमणं जाव जिययाति
एवामेव समणाउसो जो अमहं निगंथे वा निगंथी वा
आयरियं उव्वज्जायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वए-
सु जाव उज्जीवनिकाएसु निगंथे पावयणे सार्विए जाव कल-
ससमावणणे से णं इह भवे चेव वट्ठणं समणाणं वट्ठणं समणी-
णं वट्ठणं सावयाणं वट्ठणं सावियाणं हीलणिज्जे निदाणज्ज
खिसणिज्जे गरहणिज्जे परिभवाणिज्जे परत्तोए वि य एणं
आगच्छइ वट्ठणि दंरुणाणि य जाव मणुपरियट्ठति ।
तएणं से जिणदत्तउत्ते जेणैव से मयूरीअंडए तेणैव उवा-
गच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि निस्संकिए भुव-
त्तणं ममेत्थ कीद्वानवणमयूरीपोयए जविस्सति त्ति कट्ठं तं
मयूरीअंडयं अजिक्खणं नो उव्वट्टेइ जाव नो टिट्ठियावेइ
तए णं से मयूरीअंडए अणुवत्तिज्जमाणे जाव अटिट्ठिया-
विज्जमाणे । तएणं कात्तेणं तएणं समणेणं उज्जिष्से मयूरीपोय-
ए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयूरपोययं पासइ
पासइत्ता हट्टुट्ठयहियए मयूरीपोसए सदावेइ सदावेइत्ता
एवं वयासी तुब्बे णं देवाणुप्पिया इमं मयूरपोययं वट्ठहिं
मयूरपोसणपाउग्गेहिं दव्वेहि आणुपुव्वेणं संरक्खमाणे
संगोवमाणे संवट्टेह एट्ठगं च सिक्खवावेह । तए णं से
मयूरपोसगा जिणदत्तस्स एयमट्ठं पणिसुणेति पणिसुणेइत्ता
तं मयूरपोययं गिएहेति जेणैव सए गिहे तेणैव उवागच्छइ
उवागच्छइत्ता तं मयूरपोययं जाव एट्ठगं सिक्खवावेति ।
तएणं से मयूरपोयए उम्मुक्कवाल्लजावे विजाय जोव्वण-
लक्खणवज्जणमाणुम्माणपमाणपणिएणपक्खपहुणकलावे
विचित्तापिच्छोसत्तचंदए नीलकंठए एच्चनसीलए एगाए

चप्पुक्कियाए कयाए समाणीए अणंगाइं णट्ठगसयाइं
केगाइं सयाणि य करमाणे विहरति । तएणं ते मयूरपोस-
गा तं मयूरपोययं उम्मुक्कवाल्ल जाव करमाणे पासिन्ता तं
मयूरपोययं गिएहंति गिएहंतिता जिणदत्तउत्ते उव्वणंति ।
तएणं से जिणदत्तउत्ते सत्यवाहदारए मयूरपोययं उम्मु-
क्क जाव करमाणे पासिन्ता हट्टुट्ठे तंसि विउलं जीवि-
यारिहपीयदानं दत्तइ पडिविस्सज्जे । तए णं से मयूरपो-
यए जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चप्पुक्कियाए कयाए समाणीएणं
गोत्ता भंगसिरोधरे सेयावगे उत्तरीयपइल्लपक्खे उक्खित्तचंद-
गाइयकलावे केकाइयमइय विमुच्चमाणे नच्चइ तएणं से जि-
णदत्तपुत्ते तं मयूरपोययं चंपाए णयरीए भिधामग जाव पहेसु
सएहि य साहास्सेएहि य सयसाहस्सिएहि य पणियएहि
जयं करमाणे विहरति एवामेव समणाउसो अमहं पि णि-
गंथो वा शिगंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु महव्वएसु उसु
जीवनिकाएसु निगंथे पावयणे निस्संकिए निक्खिए नि-
व्वित्तिगिच्छे सेणं इह जवे वट्ठणं समणेणं वट्ठणं समणीणं
जाव वित्तिव्वइस्संति एवं खलु जंबसमणेणं जगवया म-
हावीरेणं जाव संपत्तेणं तच्चस्स णायज्जभयणस्स अयमट्ठे
पक्कत्ते त्ति वेमि तच्चं णायज्जयणं सम्मत्तं ॥

टीका सुगमत्वाच्च गृहीता नवरम एवमेवेत्यादि उपनयनवच-
नमिति । जवन्ति चात्र गाथाः “जिणवरजासियभावे, सुभावस-
व्वेसु भावओ मइमं । नो कुज्जा संदेहं, संदेहो णत्थ हेओ त्ति १
निस्संदेहत्तं पुण, गुणहेऊ जं तओ तयं कज्जं । एत्थं दो सेट्ठि-
सुया, अंरुयगाही बदाहरणं २ (तथा) कथं इमइव्वेणं, त-
व्विहायरियविरहओ वावि । नेयग्गहणत्तणेणं, नाणावरणोदए-
णं च ३ हेऊदाहरणाणं, भवे य सइसुहुजन वुज्जिक्का । सव्व-
एणुमयमवितहं, तह वि इति चित्तए मइमं ४ अणुवकयपराणु-
ग्गह-परायणा जेजिणा जुगणवरा । जियरागहोस्समोहा, य नन्न-
हा वाइणो तेणं ५ तृतीयमध्ययनं विवरणतः समाप्तमिति ज्ञा०
३ अ० । पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुकुटाद्यनेकविधाएरुजभा-
एरुज्यवहारिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्र-
तिपादके कर्मविपाकानां द्वितीयेऽध्यने च स च निन्नको नरक-
ज्ञतस्तत उद्धृत्याभग्नसेननामा पट्टीपतिर्जातः । स च पुरिम-
तालनगरवास्तव्येन निरन्तरं देशवृषणातिकोपितेन विश्वास्या-
नीय प्रत्येकं नगरचत्वारेषु तदग्रतः पितृव्यपितृव्यानां प्रवृत्तिक-
स्वजनवर्गं विनाश्य तित्रशो मांसच्छेदनरुधिरमांसभोजनादि-
भिः कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा भाग्नसेन-
मितीदमध्ययनमुच्यते स्था० १० वा० ।

अंडउरु-अएरुपुट-न० कर्मधा-स- स्वकीये अएडके अएड-
कस्य पुटम । अएरुकस्य संबद्धद्वय्ये, दशा० ए अ० स० ।

अंरुक-अएरुक-न० जन्तुयोनविशेषे, प्रअ० आअ० २ द्वा० ।

अंरुकड-अएरुकृत-त्रि० आएरुजाते, सूत्र० १ अ० १ अ० ३
अ० । अएरुकप्रभूतवृत्तवादिनां मनसिस्थिमात्रकृते ते “संज्ञो

रुडकान् लोकां " सभूतो जातोऽण्डकाज्जन्तुयोनिविशेषालोकः
त्रिभिर्जगत्त्रयं निवृत्ततरनारकितिर्यमपः प्रश्नः साधः २ द्वा०

" पुंश्च आसि जगसिणं, पंचमहर्ष्यं वज्रियगर्भं ।

एगस्यजलेणं, महत्पमाणं तर्हि भंरं ॥ १ ॥

बाई पररणेणं, प्रोन्नते ह्यन्विउ सुरकात्रं ।

पुं पुनगजायं, अजंजमी य संवुत्त ॥ २ ॥

तन्ध मुगसुरनारग-समण्यसचउपयं जगं सचवं ।

उपयं जणियमिणं, पंचंरुपुराण-नग्यमि ॥ ४ ॥

माहणा समणा एगं, आह अंरुके जगे ।

अमो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसंवेदे ॥ १ ॥

ब्राह्मणा द्विजातयः श्रमणास्त्रिद्विगुणप्रभृतयः एके केचन पौ-
गणिका न सर्वे एवमादृक्त्वन्तो वदन्ति च । यथा जगदेतच्च-
गत्तमणमेन कृतमाणकृतम् । अण्डाज्जातमित्यर्थः । तथाहि
ते वदन्ति यदा न किंचिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं संसार-
स्तदा ब्रह्माण्डरूपस्त्वसृजत्तस्माच्च क्रमेण वृक्षात्पश्चाद् द्विधा-
भावमुपगतद्विधाधोविनागोऽनृत तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभू-
वन् । एवं पृथिव्यमेजोवायवाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरनि-
वेद्यादिसंस्थितिरनुदिति । तथा चोक्तं " आसीदिदं तमोजूत-
मप्रजातमलङ्गणम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः " ॥ १ ॥
एवंभूते चास्मिन् जगन्वर्त्मा ब्रह्मा तस्य जायस्तत्त्वं पदार्थजानं
नदग्रादि प्रक्रमेणाकार्यत्वं कृतवानिति । ते च ब्राह्मणादयः प-
रमाद्यमजानानाः सन्तो मृया वदन्ति अन्यथा च स्थितं तत्त्वम-
न्यथा प्रतिपादयन्तीत्यर्थः (सूत्र० । एतदसमीचिनम्) यतो यास्व-
प्सु तदणं तिसृष्टं ता यथाऽण्डमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि
नृत इत्यभ्युपगमे न काचिद्वाधा दृश्यते तथाऽसौ ब्रह्मा यावद-
णं सृजति तावत्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति किमनया कष्टया
युक्त्यसंगतया चाण्डपरिकल्पनया सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । नि०
चू० । भग्नस्य तिमिरगुहाप्रवेशे सप्तरात्रं वर्षं वर्षति नागकुमा-
रे, नरहो वि वस्मर्यणे खंधावारं उवेऊण उवरं उत्तरयणं उ-
वेउ मणिस्थयणं उत्तरयणं वन्धिनाए उवेइ नतो पभिइ क्षोगेण
अंसंनतं जगं पणीयं ति ॥ आ० म० प्र० ।

अण्डपञ्चव-अण्डप्रञ्चव-त्रि० अण्डः प्रञ्चव उत्पत्तिर्बस्य स
नथा । अण्डादुत्पत्ते, " जहाय अंरुपभवा वज्रागा " उक्त० ३ अ० ।

अण्डय-अण्डज-पुं० अण्डाज्जायतेऽण्डजः । हंसादौ, खचर-
पञ्चेन्द्रिययोनिसंग्रहेन्दे, ज० ७ श० ७ उ० । आचा० ।
विशे० । " अंरुया निविहा एणत्ता तंजहा इथी पुरिसा णपुं-
सका " अण्डजान्निविधा प्रश्नास्तद्यथा स्त्रियः पुरुषा नपुंस-
काश्च जावा० ३ प्रति० । शकुनिगृहकोकिलसरीसृपादि-
षु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० त्रयभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० ७
अ० ८ । आचा० । दश० । मन्त्रभेदेषु च । स्था० ३ ग० ।
अण्डेभ्यो हंसाद्यण्डकेभ्यो यजायते तदण्डजम् । सूत्रभेदे,
न. यथा क्वचित्पट्टसूत्रम् उक्त० २६ अ० । " अंडयं हंसगच्छादि "
अण्डाज्जातमण्डजं हंसपतङ्गश्चतुर्गिन्द्रियो जीवविशेषो गर्भ-
स्तु तन्निवर्तितः कोशकारो हंसस्य गर्भो हंसगर्भः तदुत्पत्तं
सृजमण्डजमुच्यते । तर्हि सूत्रे अण्डजं हंसगर्भादीति सामा-
नार्थकरणे चिरुच्यते हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणत्वादिति
चेत्तस्य कारणे कार्योपचारादविरोधः । कोशकारभवं सूत्रं
पट्टकसूत्रमिति लोके प्रतीतमण्डजमुच्यते इति हृदयम् ।
पञ्चेन्द्रियहंसगर्भसंभवम् । अनु० । विशे० । आ० म० प्र० ।

शणकादिवस्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । अण्डजो
हंसादिर्ममायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति अथवा अ-
ण्डकं मयूयादीनामिदं रमणकमयूरादि कारणमिति प्रति-
बन्धः स्यादित्यथवा अण्डजं पट्टसूत्रजमिति वा स्था० ६
ठा० । सूत्र० ।

अण्डमुदुम-अण्डमूढम्-न० अण्डमेव सूक्ष्मम् । प्रक्षिकाकीटि-
कागृहकोकिलाप्राह्मणीकृकलाशाद्यण्डकरूपे सूक्ष्मभेदे, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । दश० ।

मे किं तं अण्डमुदुमे ? अण्डमुदुमे पंचविहं पणत्ते तंजहा
उदंसंडे ? उक्कल्लिअंडे २ पिपील्लिअंडे ३ हासिअंडे ४
हल्लोहल्लिअंडे ५ जे निगंथे णं वा जाव पल्लेहियव्वे
जवइ मेत्तं अण्डमुदुमे ६ ।

" अण्डमुदुम उदंसंडे इत्यादि " उदंशः मधुमक्षिका मकु-
णाद्यास्तेषामण्डं उदंशाण्डम् १ उत्कलिकाण्डं लूतापुटाण्डम् २
पीपिलिकाण्डं कीटिकाण्डम् ३ हल्लिका गृहकोकिका प्रा-
ह्मणी वा तस्या अण्डम् ४ हल्लोहल्लिआ अहिलोडीसरडीक-
क्रिण्डी इत्येकार्थास्तस्या अण्डम् एतानि सूक्ष्माणि स्युः ।
कल्प० । स्था० ।

अण्डु-अण्डु (न)-न० काष्ठमयेषु लोहमयेषु वा हस्तयोः
पादयोर्वा बन्धनविशेषेषु, औ० ।

अंत-अन्त-पुं० अम् गच्छादसु तस्सेह अमणमंतो वसाणमे-
गत्यं अम् धानुर्गत्यादिष्वर्थेषु पठ्यते तस्येहान्त इति रूपं भ-
वति । अमनमन्तः । अवसाने, विशे० । स्था० । यस्मात्पूर्व-
मस्ति न परं सोऽन्तः अनु० । पर्यन्ते, आ० म० प्र० । सूत्र० ।
निक्षेपोऽस्य पड्विधः तद्यथा नामान्तः स्थापनान्तो द्र-
व्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भावान्तश्च । तत्र नामस्थापने प्र-
तीते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादि कालान्तः
समयाद्यन्तो भावान्त औदारिकादि आ० म० प्र० । आ०
चू० । परमकाष्ठायाम्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । परिसमाप्तौ,
विशे० । पारे, द्वा० १ अ० । समीपे, व्य० १ उ० । न० ।
स्था० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, स्था० ३
ठा० । प्रश्ना० । स त्रिविधः ।

तिविहे अंते पणत्ते तंजहा लोगेने वेयंते समयंते स्था० ३ ठा० ।

अमइ व जं तेणंते अमतीति वा यस्मात्तेनान्त इति कर्त्तरि
साध्यते । अवसाने गते, विशे० । देशे, " एगंतमंतं अवक्कमंति "
एकान्तं विजयमन्तं देशमवक्कामन्ति ज० ३ श० २ उ० । " अम
रोगे वा अंतो रोगो भंगो विणासपञ्जाओ " अम रोगे रुजो जङ्गे
अम-तन् रोगे, भङ्ग, विनाशे, । अन्तो रोगो जङ्गो विनाश इति
पर्यायशब्दा एते विशे० । स्था० । धर्म० । अन्त० । स० । न० ।
अन्तहेतुत्वादान्ते रागद्वेषयोश्च आचा० १ श्रु० ३ अ० " दोहिं
अंतोहिं अदिस्समाणो " आचा० १ श्रु० ३ अ० । जीर्णं, अव्यव-
हरणीये, त्रि० नि० चू० १ उ० । कृये, भेदे, व्यवच्छेदे, कल्प० ।
अन्त्य-न० दशभिर्गुणिते जज्ञाधिसख्याभेदे, कल्प० ।

अन्त्र-न० अन्यते वेहो बध्यतेऽनेनेति । अति-बन्धने वारणे पट्टन्
दृढबन्धने, " उक्ताः सार्द्धास्त्रयो व्यामाः पुंसामन्त्राणि सुरिजिः ।
अर्द्धव्यामेन हीनानि स्त्रीणामन्त्राणि निर्दिशेदिति वैद्यकोक्त-
परिमाणवति नारीभेदे, वाच० । सूत्र० । उदरमध्याऽवयववि-
शेषे च तं० ।

दो अंता पंच वामा पञ्चत्ता तंजहा धूर्तते य तणुयंते य
२ तत्थ एणं जे से धूर्तते तेणं उच्चारे परिणमइ तत्थ एणं जे
से तणुयंते तेणं पासवणे परिणमइ ॥

द्वे अन्त्रे प्रत्येकं पञ्च पञ्च व्यायामप्रमाणे प्रब्रजे जिनैः तद्यथा
स्थूलान्त्रं १ तन्त्रन्त्रम् २ तत्र यत्स्थूलान्त्रं तेनोच्चारः परिणमति ।
तत्र च यत्तन्त्रन्त्रं तेन प्रश्रवणं मूत्रं परिणमति तं । प्रतिबोधा-
र्थं भगवता वीरेण दृष्टे चतुर्थे स्वप्ने च. आ० म० द्वि० ।

आन्त-न० अन्ते जयमान्तम् । शुक्तावशेषे, पंचा० १ ए विव० ।
अरसतया सर्वधान्यान्तवर्तिनि बद्धचणकादौ, ज० ए श० ३३
उ० । स्था० “ लिप्पावमाइ अंतं ” निष्पावा बद्धाश्चणकाः
प्रतीताः आदिशब्दात्कुलमापादिकं च आन्तमित्युच्यते वृ०
१ उ० । झा० ।

अंत [र] अन्तर-अव्य० अम्-अरन् तुमागमश्च । वाच० ।
स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जन-
स्य स्वरे परे न लुक् अन्यत्र लुक् प्रा० मध्ये, । आ० म० द्वि० ।
रा० । आचा० । विशेष० । “ अंतरपणा ” अत्र स्वरपरत्वान्न लुक् ।
क्वचिद्भवत्यपि “ अंतोवरि ” प्रा० ।

अंतक (ग)-अन्तक-पुं० अन्तयति अन्तं करोति अन्त-णिच्-
एवुक् वाच० । मृत्यौ, “ समागमं कंखति अंतकस्स ” सूत्र० १
श्रु० ७ अ० । पर्यन्ते, “ जे एवं परिभासंति, अंतए ते
समाहिण ” सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अन्तवर्तिनि च. सूत्र० १
श्रु० १५ अ० ।

अंतकम्प-अन्तकर्मन्-न० अचलकर्मणि, औ० ।

अंतक(ग)र-अन्तकर-त्रि० अन्तस्य करः । संसारस्य तत्कार-
णस्य वा क्षयकारिणि, “ अंताणि धीरा सेवंति तेणं अंतकरा
इह ” सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । आ० म० द्वि० । भ० । स्था० ।

अंतकर (गर) जूमि-अन्तकर-(कृद्) जूमि-स्त्री० अन्तं
भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकराः (अन्तकृतो वा) तेषां भूमिः
कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः ।
मुक्तिगामिनां काले, सा द्विधा युगान्तकरभूमिः पर्यायान्तक-
रभूमिश्च ज० २ वृत्त० (यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमिः
सा तच्छब्दे वदयते)

अंतकाक्ष-अन्तकाक्ष-पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतकिरिया-अन्तक्रिया-स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावा-
दिह कर्मणामवसातव्यमन्यत्रागमे अन्तक्रियाशब्दस्य रूढ-
त्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया । कर्मान्तकरणे, मोक्षे, कृ-
त्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात् प्रज्ञा० १५ पद ।

अन्त्य(न्त)-क्रिया-स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया अ-
न्त्यस्य वा कर्मान्तस्य क्रियाऽन्त्यक्रिया । कृत्स्नकर्मक्षयलक्ष-
णायां मोक्षप्राप्तौ, भ० १ श० २ उ० । आ० म० प्र० । स० ।

चत्तारि अंतकिरियाओ पञ्चत्ता तंजहा तत्थ खलु इमा
पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि भवइ से एणं
मुढं जवित्ता अगाराओ अणगारियं पवइए संजमबहुले
संवरबहुले समाहिवहुले वुहे तोरट्टी उवहाणवं दुक्ख-
क्खवे तवस्सी । तस्स एणं एणो तहप्पगारे तवे भवइ णो
तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं प-

रियाएणं सिज्जइ वुज्झइ मुच्चइ परिणिज्जाइ सब्बदुक्खा-
णमंतं करइ जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कट्टी । पढमा
अंतकिरिया ।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीपहादिजनितं तथाविधा
वेदना दीर्घेण प्रवज्यापर्यायेण सिद्धिर्भवति तस्यैका यस्य तु
तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रवज्यापर्यायेण सिद्धिः स्या-
त्तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेण च पर्यायेण
सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेद-
नस्य ह्रस्वपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया
एकस्वरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विध्यमिति समुदायार्थः ।
अवयवार्थस्त्वयं चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रज्ञप्ता भगवतेति गम्यते
तत्रेति सप्तमी निर्द्धारणे तासु चतसृषु मध्य इत्यर्थः । खलुर्वा-
क्यालङ्कारे इयमनन्तरवक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासत्ता प्रथमा इ-
तरापेक्षया आद्या अन्तक्रिया । इह कश्चित् पुरुषः देवलोकान्
गत्वा ततोऽल्पैः स्तोकैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्या-
गतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अ-
थवा एकत्र जनित्वा ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायातः स
तथा लघुकर्मतयोत्पन्न इत्यर्थः । चकारो वक्ष्यमाणमहाक-
र्मपेक्षया समुच्चयार्थः । अपिः सम्भावने सम्भाव्यतेऽय-
मापे पत्न इत्यर्थः भवति स्यात् स इति । असौ एमिति वा-
क्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचनं भावतो रागा-
द्यपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः संसाराभिनन्दिनां
देहिनामावासभूतादविवेकगेहाभिष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारि-
ताम् अगारी गृही असंयतस्तत्प्रतिपेधादनगारी संयतस्तद्भा-
वस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः ।
अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः
प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः किंभूत इत्याह (संजमबहुलेत्ति) संयमेन
पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा । सं-
यमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । एवं संवरबहुलोऽपि
नवरमाश्रयनिरोधः संवरः अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादि-
भेदः । एवं च संयमबहुलग्रहणं प्राणातिपातविरतेः प्राधाम्य-
ख्यापनार्थम् । यतः “ एकं चिय एत्थ वयं, निदिट्ठं जिणघरेहि
सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण-भवसेसा तस्स रक्खट्ठत्ति ”
॥ १ ॥ एतच्च द्वितयमपि रागाद्युपशमयुक्कचित्तवृत्तेर्भवति । यत
आह सामाधिवहुलः समाधिस्तु प्रशमवाहिता ज्ञानादिर्धा-
रमाधिः पुनर्निःस्नेहस्यैव भवतीत्याह (लूहेत्ति) रूक्षः शरीरे
मनसि च द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन रूपः लूपयति वा कर्मम-
लमपनयतीति लूः कथमसावेवं संवृत्त इत्याह यतः (ती-
रट्टी) तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवं शीलस्तीरार्थी
तीरस्थायी वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् ‘ तीरट्टीति ’ अन
एवाह (उवहाणवंति) उपधीयते उपपृथ्यते श्रुतमनेनेति उपधानं
श्रुतिविषयस्तप उपचार इत्यर्थस्तद्वान् अत एव च (दुक्खक्ख-
वेत्ति) दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपयतीति दुःख-
क्षपः । कर्मक्षपणं च तपोहेतुकमित्यत आह । (तवस्सीति) त-
पोऽभ्यन्तरकर्मन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभधानलक्षण-
मस्ति यस्य स तपस्वी (तस्स एणं ति) यस्मैवंधिषस्तस्य एणं
वाक्यालङ्कारे नो तथाप्रकारमत्यन्तघोरं वर्द्धमानजिनस्येव त-
पोऽनशनादिर्भवति । तथा नो तथाप्रकारा अतिघोरैर्वोपसर्गा-
दिसम्पाद्या वेदना दुःखासिका जवति अल्पकर्मप्रत्यायातत्वा-

इति । ततश्च तत्तथाप्रकारमप्येकप्रत्यायातादिविशेषणक-
लापोपेतं पुरुषजातं पुरुषप्रकारो दीर्घेण बहुकालेन पर्यायेण
प्रप्रज्यालक्षणेन कर्मभूतेन सिध्यति । अणिमादियोगेन निष्ठिता-
र्थो वा विशेषतः सिद्धिगमनयोग्यो वा भवति सकलकर्मण्य-
कमोहनीयघातात् ततो घातिचतुष्टयघातेन बुध्यते केवलज्ञान-
प्रावात् समस्तवस्तूनि ततो मुख्यन्ते भवोपप्रादिकर्मभिः परि-
निर्वाति सकलकर्मदुष्टिकाव्यतिकरनिराकरणेन शीतोभव-
ताति । किमुक्तं जवतीत्याह सर्वदुःखानामन्तं करोति शारी-
रमानसानामित्यर्थः । अतथाविधतपोवेदनो दीर्घेणापि पर्याये-
ण किं कोऽपि सिद्ध इति शङ्कापनोदार्थमाह । “ जहासेइत्या-
दि ” यथाऽसौ प्रथमजिनप्रथमनन्दनो नन्दनशताग्रजन्मा जर-
तो राजा चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रदिग्म-
बल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता तस्या अयं स्वामित्वेने-
ति चातुरन्तः । स चासौ चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्राग्ज-
ये लघुकृतकर्मा सर्वार्थसिद्धिमानात् च्युत्वा चक्रवर्तितयात्पद्य
राज्यावस्थ एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वलक्षप्रज्यः अतथाविध-
तरोवेदन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमाश्रित्येति ॥

अहावरे दोच्चा अंतकिरिया महाकम्म पच्चाएया वि जवइ
से णं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमव-
हुत्ते संवरहुत्ते जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी तस्स
एणं तहप्पगारे तवे भवइ तहप्पगारा वेयणा जवइ तहप्पगारे
पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जइ जाव अंतं करेइ
जहा से गजमुकुमावे अणगारे दोच्चा अंतकिरिया ॥

अथानन्तरमपरा पूर्वापेक्षया अन्या द्वितीयस्थानेऽभिधानात् द्वि-
तीया महाकर्मजिगुरुकर्मजिः महाकर्मा वा सन् प्रत्यायातः प्र-
त्याजातो वा यः स तथा “ तस्स णमित्यादि ” तस्य महाकर्म-
प्रत्याजानत्वेन तत्कृपणाय तथाप्रकारं घोरे तपो भवति । एवं
वेदनाप्रपि कर्मोदयसम्पाद्यत्वादुपसर्गादीनामिति निरुद्धेनेति अ-
ल्पेन यथाऽसौ गजमुकुमारो विष्णोर्लघुघ्राता स हि भगवतोऽरि-
ष्टंभिजिननाथस्यास्तिके प्रज्यां प्रतिपद्य स्मशाने कृतकायो-
त्सर्गव्रज्जणमहातपाः शिरोनिहितजावलयमानाङ्गारजनितात्य-
न्तवेदनोऽप्येनैव पर्यायेण सिद्धानिति शेषं कण्ठ्यम् ।

अहावरे तच्चा अंतकिरिया महाकम्मपच्चाएया वि जवइ
से णं मुंढे जवित्ता अगाराओ जाव पव्वइए जहा दोच्चा
णवरं दीहेणं परियाएणं सिज्जइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं
करेइ जहा से सणकुमारं राया चाउरंतचक्खट्ठी । तच्चा अंत-
किरिया ३ ॥

“अहावरेत्यादि” कण्ठ्यं यथाऽसौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती
स हि महानाथः महावेदनश्च सरोगत्यात् दीर्घतरपर्यायेण च
सिद्धस्तद्वेव सिद्धभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति ॥

अहावरा चउत्त्या अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि
जवइ से णं मुंढे भवित्ता जाव पव्वइए संजमवहुत्ते जाव
तस्स एणं तहप्पगारे तवे भवइ नो तहप्पगारा वेयणा
भवइ तहप्पगारे पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जइ
जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा सा मरुदेवी जगवई
चउत्त्या अंतकिरिया ॥

“अहावरेत्यादि” कण्ठ्यं यथासौ मरुदेवी प्रथमजिनजननी सा
हिस्वावरत्वेऽपि क्षीणप्रायकर्मत्वेनाहपकर्मा अविद्यमानतपोवेदना
च सिद्धा गजवरारूढाया एवायुःसमाप्तौ सिद्धत्वादिति । एषा-
श्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीयं
देशदृष्टान्तत्वादेयां यतो मरुदेव्याः “मुएमे भवित्तेत्यादि” विशेष-
णानि कानिचित् न घटन्ते । अथवा फलतः सर्वसाधर्म्यमपि
मुएमनादिकार्यस्य सिद्धत्वस्य सिद्धत्वादिति स्था० ४ गा० १ उण

अन्तक्रियायाः सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते

तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइयअंतकिरिया, अणंतं एगसमय उव्वट्ठा ।

वित्थगरचक्खिवत्तदे-व वासुदेवमंलियरयणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतिस्थानेष्वन्तक्रिया ।
चिन्तनीया ततोऽन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परागता
वेत्येवमन्तरं चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिच्योऽन्तरमागताः
कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीति चिन्त्यं तत् “उव्वट्ठावति”
उट्टताः सन्तः कस्यां योनावुत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं तथा यत् उट्ट-
त्तास्तीर्थकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा मरुद्विकाश्चक्रव-
र्तिनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखाणि भवन्ति ततस्तानि क्रमेण
वक्तव्यानीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रकृदेव वदयति
तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामभिधित्सुराह ।

जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्थे ग-
तिए करेज्जा कत्थेगइए नो करेज्जा एवं नेरइए जाव वेमाणिए
जीवे णमिति वाक्यालंकृतो भदन्त ! अन्तक्रियामिति अन्तोऽ
वसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम् । अन्यत्रागमे
अन्तक्रियाशब्दस्य रुढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया कर्मा-
न्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः । कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात्
तां कुर्याद्भगवानाह । गौतम ! अस्यैकको यः कुर्यात् अस्यैकको
यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यतस्तथाविधभयत्वपरिपाकव-
शतो मनुष्यत्वादिकामविकलां सामग्रीमवाप्य तत्सामर्थ्यसमु-
द्भूतातिप्रयत्नवीर्योल्लासवशतः कृपकश्रेणिसमारोहणेन केवलज्ञा-
नमासाद्य घातीन्यपि कर्माणि क्षपयेत् स कुर्यात् अन्यस्तु न
कुर्याद्विपर्ययादिति । एवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदृग्मक्रमेण
तावद्भावनीया यावद्वैमानिकाः सूत्रतस्त्वैवम् “ नेरइयाणं भंते !
अंतक्रियां किरियं करेज्जा गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा अत्थेगइए
नो करेज्जा इत्यादि ”

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्त्तमानोऽन्तक्रियां करोति किं वा न
करोतीति विपुच्छिपुरिदमाह ॥

नेरइएणं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा गो-
यमा ! नो इण्ढे समेट्ठे एवं जाव वेमाणिएसु णवरं मणु-
स्सेसु अंतकिरियं करेज्जइ पुच्छा ! गोयमा ! अत्थेगति-
ए करेज्जा अत्थेगतिए नो करेज्जा एवं असुरकुमारे जाव
वेमाणिए । एवमेवं चउवीसं चउवीसा दंरुगा भवंति ॥

नेरइपणमित्यादि भगवानाह गौतम ! नायमर्थः समर्थो युक्तप-
त्र इत्यर्थः कथमिति चेदुच्यते इह कृत्स्नकर्मक्षयः प्रकर्षप्राप्तात्
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यसमुदायाद्भवति न च नैरयिकावस्थायां
चारित्र्यपरिणामस्तथा स्वाभाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु

वैमानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः । मनुष्येषु मध्ये समागतः सन् कश्चिदन्तक्रियां कुर्यात् यस्य परिपूर्णा चारित्रादिसामग्री कश्चिन्न कुर्यात् यस्तद्विक्रय इति एवमसुरकुमारादयोऽपि वैमानिकपर्यवसानाः प्रत्येकं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण धत्तव्यास्ततः परमेते चतुर्विंशतिदण्डकाश्चतुर्विंशतयो जवन्ति ।

अथ ते नैरयिकादयः स्वस्वनैरयिकादिजवेज्याऽनन्तरं मनुष्यजवे समागताः सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यगादिसं-व्यवधानेन परम्परागता इति निरूपयितुकाम आह ।

नेरइयाणं भंते ! किं अणंतरागया अंतकिरियं करंति परंपरागया अंतकिरियं करंति ? गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करंति परंपरागया वि अंतकिरियं करंति एवं रयणप्पजापुढविणेरइया वि जाव पंक्कप्पापुढविणेरइया धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति जाव अहेसत्तमा पुढविणेरइया असुरकुमारा जाव थणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति । तेजवाउवेइंदियतेइंदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति सेसा अनंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशर्कराबालुकापट्टप्रभाज्योऽनन्तरागता अपि धूमप्रभापृथिव्यादिज्यः पुनः परंपरागता एव तथा स्वाभाव्यादेनमेव विशेषं प्रतिपादयिषुः सूत्रसप्तकमाह । “ एवं रयणप्पजापुढविणेरइया वि इत्यादि ” सुगमम् असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसानाः पृथिव्यध्वनस्पतय-अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा आगता अपि । उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकरणाविरोधात् तथा केवलचक्षुरूपसंध्येः । तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः परम्परागता एव न त्वनन्तरागतास्तत्र तेजोवायूनामानन्तर्येण मनुष्यत्वस्यैवाप्राप्तेः द्विन्द्रियादीनां तु तथा जवस्वाभाव्यादिति । शेषास्तु तिर्यकपञ्चेन्द्रियादयो वैमानिकपर्यवसाना अनन्तरागता अपि परम्परागता अपि ।

नैरयिकादिभवेज्याऽनन्तरमागताः कियन्त एकरमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवंरूपं तृतीयं चारमन्निधित्सुराह ।

अणंतरागया णं भंते ! नेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस रयणप्पभा पुढविणेरइया वि एवं चेव जाव वायुयप्पजापुढविणेरइया । अणंतरागयाणं भंते ! पंक्कप्पापुढविणेरइया एगसमएणं केवतिया अंत करंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि । अणंतरागयाणं भंते ! असुरकुमारा एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरंति जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस । अणंतरागयाओ णं भंते !

असुरकुमारीओ एगसमएणं केवतियाओ अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं पंच एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा थणियकुमारा वि । अणंतरागया णं भंते ! पुढविकाइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एगो वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि एवं आउकाइया वि चत्तारि वाणस्सइकाइया उ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस तिरिक्खजोणिणीओ दस मणुस्सा दस मणुस्सीओ वीस वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पंच जोइसिया दम जोइसिणीओ वीस वेमाणिया अट्टसतं वेमाणिणीओ वीमं ॥

“ अणंतरागया णं भंते इत्यादि ” नैरयिकभवादनन्तरमव्यवधानेन मनुष्यजवमागता अनन्तरागता नैरयिका इति प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः सुरादिप्राग्भवपर्यायप्रतिपत्तिव्युदासार्थः एवमुत्तरवाचि तत्तत्प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः प्रयोजनं चिन्तनीयं शेषं कण्ठ्यम् ।

सम्प्रति तत उद्भूताः कस्यां योनावुपपद्यन्ते इति चतुर्थचारमन्निधित्सुराह ।

णेरइया णं भंते ! नेरइएहिंते अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एणो इण्ठे सम्भे । नेरइएणं भंते ! नेरइएहिंते अणंतरं उव्वट्ठित्ता असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे एवं निरंतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे । नेरइए णं जंते ! नेरइएहिंते अणंतरं उव्वट्ठित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिणिएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए उव्वज्जेज्जा अत्येगइए नो उव्वज्जेज्जा जे णं जंते ! नेरइएहिंते अणंतरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणिएसु उव्वज्जेज्जा से णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्येगइए लभेज्जा अत्येगतिए नो लभेज्जा । जे णं जंते ! केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलवोहिं बुज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए बुज्जेज्जा अत्येगइए नो बुज्जेज्जा । जे णं जंते ! बुज्जेज्जा से णं सद्देज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? गोयमा ! सद्देज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा । जे णं भंते ! सद्देज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणिवोहियनाणसुयनाणाइं उप्पादेज्जा गोयमा ! उप्पादेज्जा । जे णं जंते ! आभिणिवोहियनाणसुयनाणाइं उप्पादेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा वयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चक्खणं वा पोमहोववासं वा पम्भिवज्जित्तए ? गोयमा ! अत्येगतिए संचाएज्जा अत्येगइए नो संचाएज्जा । जे णं जंते ! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोमहोववासं वा पडिवज्जित्तए से णं ओहिनाणं उप्पादेज्जा गोयमा ! अत्येगतिए उप्पादेज्जा अत्येगतिए एणो उप्पादेज्जा । जे णं जंते ! ओहिनाणं उप्पादेज्जा से णं संचाएज्जा मुंहे जवित्ता आगाराओ

अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे । णेरइए
 णं जंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता मणुस्सेसु
 उव्वज्जेज्जा गो मा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अ-
 न्येगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे णं भंते ! उव्वज्जेज्जा
 से णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा !
 जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे णं भंते ! ओहि-
 नाण उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंके भत्तिता अगाराओ
 अणगारिए पव्वइत्तए ? गोयमा ! अत्येगतिए संचाएज्जा
 अत्येगतिए नो संचाएज्जा से णं भंते ! मुंके जत्तिता अगारा-
 ओ अणगारियं पव्वइत्तए से णं मणपज्जवनाणं उप्पाडे-
 ज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उप्पाडेज्जा अत्येगतिए नो
 उप्पाडेज्जा । जे णं जंते ! मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं
 केवलनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उप्पाडेज्जा
 अत्येगतिए नो उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! केवलनाणं
 उप्पाडेज्जा से णं सिज्जेज्जा बुज्जेज्जा मुत्तेज्जा सव्वदु-
 क्खाण अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्जेज्जा जाव सव्वदु-
 क्खाण अंतं करेज्जा । नेरइए णं जंते ! नेर.एहिंतो अणं-
 तरं उव्वट्ठित्ता वाणमंतरेसु जोइसियवेमाणिएसु उव्वज्जेज्जा ?
 गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे । असुरकुमारो णं भंते ! असुरकु-
 मारोहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा !
 णोइण्ठे समट्ठे । असुरकुमारो णं जंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता
 असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे एवं
 जाव यणियकुमारेसु । असुरकुमारो णं भंते ! असुरकुमा-
 रोहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा हंता
 गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जे-
 ज्जा । जे णं जंते ! उव्वज्जेज्जा से णं केवलपन्नत्तं
 धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे एवं
 आउवणस्सइसु वि । असुरकुमारो णं जंते ! असुरकुमारोहिंतो
 अणंतरं उव्वट्ठित्ता तेउवाउवेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु उव-
 वज्जेज्जा गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे अवसेसेसु पंचसु
 पंचिंदियतिरिक्खजोणियादिसु असुरकुमारेसु जहा नेरइ-
 ओ एवं जाव यणियकुमारो । पुढविकाइए णं भंते ! पुढ-
 विकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता णेरइएसु उव्वज्जेज्जा ?
 गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव
 यणियकुमारेसु । पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता
 पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जे-
 ज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे णं भंते ! उव्वज्जेज्जा
 से णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा !
 नो इण्ठे समट्ठे । एवं आउकाइयादिसु निरंतरं जाणिय-
 थ्वं जाव चउरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु
 जहा णेरइयाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पारुसेहो एवं

जहा पुढविकाइओ जणिओ तहा आउकाइओ वि वाण-
 स्सइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइए णं जंते ! तेउकाइए-
 हिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता णेरइएसु उव्वज्जेज्जा ! गोयमा ! नो
 इण्ठे समट्ठे एव असुरकुमारेसु वि जाव थाणियकुमारेसु
 वि । पुढविकाइयाउव उवणस्सइवइंदियतेइंदियचउरिंदि-
 एसु अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा से णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा
 सवणयाए गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे । तेउकाइए णं भंते !
 तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणि-
 एसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्ये-
 गतिए णो उव्व० जेणं उव्व० से णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभे-
 ज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्येगतिए नो
 लभेज्जा जे णं जंते ! केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए
 से णं केवलवोहिं बुज्जेज्जा गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे मणुस्स-
 वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे
 एवं जहेव तेउकाइए निरंतरं एवं वाउकाइए वि । वेइंदिएणं
 भंते ! वेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जे-
 ज्जा गोयमा ! जहा पुढविकाइए एवरं मणुसेसु जाव मणप-
 ज्जवनाणं उप्पाडेज्जा एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाव म-
 णपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा जे णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा
 से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे
 पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजो-
 णिएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गो-
 यमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जे-
 ज्जा जे णं भंते ! उव्वज्जेज्जा से णं केवलपन्नत्तं धम्मं
 लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्ये-
 गतिए नो लभेज्जा जे णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सव-
 णयाए से णं केवलवोहिं बुज्जेज्जा गोयमा ! अत्येगति-
 ए बुज्जेज्जा अत्येगतिए नो बुज्जेज्जा । जे णं केवलवो-
 हिं बुज्जेज्जा से णं सदहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा हंता गो-
 यमा ! जाव रोएज्जा । जे णं जंते ! सदहेज्जा जाव रोए-
 ज्जा से णं आज्जिणिवोहियनाणसुइनाणओहिनाणाइं उ-
 प्पाडेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पाडेज्जा जे णं भंते ! जाव उ-
 प्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीद्वं वा जाव पक्खिज्जत्तए
 गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव य-
 णियकुमारेसु एमिंदियविगलिंदिएसु जहा पुढविकाइए पं-
 चिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु य जहा नेरइयाणमंतर-
 रजोइसियवेमाणिएसु जहा णेरइएसु उव्वज्जेज्जा पुच्छा ज-
 णिया एवं मणुस्सेसु वि वाणमंतरजोइसियवेमाणिय० जहा
 असुरकुमारेसु ॥

(इतः पूर्वं टीका सुगमेति न गृहीता) नवरं जे णं भंते ! इत्या-
 दि मुएहो चूत्वा अनगरतां प्रव्रजितुं शक्नुयान्नवेति प्रश्नं जग-

वानाह नायमर्थः समर्थः तिरिष्वा जवस्वभावतः तथारूपपरिणामासंज्ञात् अनगारताया अभावे मनः पर्यवज्ञानस्य चाभावः सिरु एव यथा च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषयं सूत्रकपम्बकमुक्तं तथा मनुष्यविषयमपि वक्तव्यं नवरं मनुष्येषु सर्वजावसम्भवात् मनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानसूत्रे अधिकं प्रतिपादयति “ जे षं भंते ! संचाएज्जा मुंमे भविष्सा इत्यादि ” सुगमं नवरं सिञ्जेज्जा इत्यादि सिद्ध्येत् समस्ताणिभैश्वर्यादिसिद्धिजाक् भवेत् न बुध्येत् लोकालोकस्वरूपमशेषमवगच्छेत् मुच्येत् भवोपप्राहककर्माभिरपि । किमुक्तं जवति सर्वज्ञानामनं कुर्यात् वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिषेधो वक्तव्यो नैरयिकस्य भवस्याज्ञाव्याप्तेरयिकदेवभवयोग्यायुर्बन्धाऽसंभवात् तदेवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिद्वारकक्रमेण चिन्तितं साम्प्रतमसुरकुमारान् नैरयिकादिचतुर्विंशतिद्वारकक्रमेण चिन्तयति “ असुरकुमारान् जंते ” इत्यादि प्राग्वत् नवरमेते पृथिव्यम्बनस्पतिष्वधुतपद्यन्ते ईशानान्तदेवानां तेषूपादाविरोधात् तेषु चोत्पन्ना न केवलप्रज्ञं धर्मं लभन्ते । श्रवणतया श्रवणेन्द्रियस्याज्ञावात् शेषं सर्वं नैरयिकवत् । “ एवं जाव थणियकुमारा इति ” एवमसुरकुमारोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमाराः पृथिवीकायिका नैरयिकेषु च प्रतिषिध्यन्ते तेषां विशिष्टमनोऽज्ञासम्भवतस्तीव्रसंक्लेशविशुद्धाप्यवसायाज्ञावात् । शेषेषु तु सर्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते तद्योग्याध्यवसायस्थानसम्भवात् । तत्रापि च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु च नैरयिकवद्वक्तव्यमेवमप्यायिकवनस्पतिकायिकाश्च वक्तव्याः तेजस्कायिका वायुकायिकाश्च मनुष्येष्वपि प्रतिषेधनीयास्तेषामानन्तर्येण मनुष्येषूपदासंज्ञावात् असम्भवश्च किञ्चिदपरिणामतया मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वमनुष्यायुर्बन्धासम्भवात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषूपपन्नाः कवत्रिप्रज्ञं धर्मं श्रवणतया लभ्येरन् श्रवणेन्द्रियस्य भावात् । पुनस्तां केवलिकीं बोधिं नावबुध्येरन् संकिलषपरिणामत्वात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पृथिवीकायिकवत् देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषूपद्यन्ते नवरं पृथिवीकायिका मनुष्येष्वगता अन्तक्रियामपि कुर्वन्ते पुनरन्तक्रियां न कुर्वन्ति तथास्वज्ञावत्वात् मनःपर्यवज्ञानं पुनरुत्पादयेयुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च सर्वेष्वपि स्थानेषूपद्यन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिका असुरकुमारवद्भावनीया गतं चतुर्थद्वारम् । (लेख्याविशेषणेनान्तक्रियाविचारो मार्कदिक शब्दे) ।

इदानीं पञ्चमं तीर्थकरवक्तव्यतात्त्विकद्वारमभिधित्सुराह ।

रयणप्पभापुढविनेरइए णं जंते ! रयणप्पजापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्येगतिए नो लभेज्जा से केणट्ठेणं जंते ! एवं वुच्चइ अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा ? गोयमा ! जस्सन्नं रयणप्पजापुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं कम्माइं बच्चाइं पट्ठाइं कम्माइं पट्ठवियाइं णिविद्धाइं अभिनिविद्धाइं अभिसमन्नागयाइं उदिन्नाइं नो उवसंताइं हवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता णं तित्थगरत्तं लभेज्जा जस्सन्नं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं णो बच्चाइं जाव नो उदिन्नाइं उवसंताइं जवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं नो लजेज्जा से तेणट्ठेणं

गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्येगतिए लभेज्जा अत्येगतिए नो लभेज्जा । एवं जाव वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थगरत्तं लजेज्जा । पंकप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! पंकप्पभानेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमप्पजापुढविनेरइए णं पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरतिं पुण लजेज्जा तमाए पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरयाविरतिं पुण लजेज्जा अहेसत्तमाए पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे सम्मत्तं पुण लजेज्जा असुरकुमारे णं पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं जाव आउकाइए । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता उववज्जज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे केवलपप्पत्तं धम्मं लजेज्जा रुवणयाए एवं वाउकाइए वि । वणस्मइकाइए णं पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा वेइंदियतेइंदियचउरिंदिय पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणपप्पवनाणं उप्पादेज्जा पंचिंदियातिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिएणं पुच्चा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियाणं करेज्जा । सोहम्मदेवेणं जंते ! अणंतरं चइत्ता तित्थगरत्तं लजेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा एवं जहा रयणप्पजापुढविनेरइए एवं जाव सव्वट्ठसिद्धिगदेवे रयणप्पजापुढविनेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता चक्कवट्ठित्तं लजेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गोयमा ! जहा रयणप्पभापुढविनेरइयतित्थगरत्ते । सकरप्पजापुढविनेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता चक्कवट्ठित्तं लभेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव अहेसत्तमाए पुढविनेरइए तिरियमाणुएहिंतो पुच्चा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । जवणवइवाणमंतरजोइसियवमाणिएहिंतो पुच्चा ? गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा । एवं च बलदेवत्तं णवरं सकरापुढविनेरइए वि लभेज्जा एवं वासुदेवत्तं दोहिंतो पुढविहिंतो वेमाणिएहिंतो य अणुत्तरोववातियवज्जेहिंतो सेसेसु णो इणट्ठे समट्ठे । मरुलियत्तं अहेसत्तमाए तेउवाउवज्जेहिंतो सेणावइरयणत्तं गाहावइरयणत्तं वहुइरयणत्तं पुरोहियरयणत्तं इत्थियणत्तं च एवं चेव नवरं अणुत्तरोववाइयवज्जेहिंतो आसरयणत्तं हात्थियरयणत्तं च रयणप्पभाओ निरंतरं जाव सहस्सारो अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा । चकरयणत्तं चम्मरयणत्तं दंररयणत्तं छत्तरयणत्तं मणिरयणत्तं असिरयणत्तं कागिणिरयणत्तं पएसिं असुरकुमारोहिंतो आरद्धं निरंतरं जाव ईसाणाओ सेसेहिंतो नो इणट्ठे समट्ठे ।

एवं शर्करप्रज्ञावासुकप्रज्ञाविषयेऽपि सूत्रे वक्तव्ये पक्षप्रभापृ-
थिवीनैरयिकस्ततोऽनन्तरमुद्गतः संस्तीर्थकरत्वं न लभते अ-
न्तक्रियां पुनः कुर्यात्, धूमप्रज्ञापृथिवीनैरयिकोऽन्तक्रियामपि न
करोति सर्वविरतिं पुनर्जने, तमःप्रज्ञापृथिवीनैरयिकः सर्व-
विरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभते । अधः
सप्तमपृथिवीनैरयिकस्तामपि देशविरतिं न लभते परं सम्य-
क्त्यमात्रं लभते । असुरादयो यावद्वनस्पतिकादयोऽनन्तरमु-
द्गतास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्यात् । वसुदेवच-
रिते पुनः नागकुमारेज्योऽप्युद्गता अनन्तरमैरवतक्तेष्वस्यामिवा-
चसर्पिण्यां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदर्शितः तदर्थतत्वं के-
वलिनो विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्गता अन्तक्रियामपि न
कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामानन्तर्येणात्पादाभावादपि च ते तिर्यकृत्य-
म्नाः केवलप्रज्ञसं धर्म भवणतया लभेरन् न तु बाधिमित्युक्तं प्राग्
वनस्पतिकायिकाधनन्तरमुद्गतास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्त-
क्रियां पुनः कुर्यात् । द्वित्रिचतुरिन्ध्या अनन्तरमुद्गतास्तामपि न
कुर्वन्ति मनःपर्यवहानं पुनरुत्पादयेयुः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्य-
न्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्गतास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्त-
क्रियां पुनः कुर्यात् । सौधर्मादयः सर्वार्थसिद्धपर्यवसाना नैरयि-
कवक्तव्याः । गतं तीर्थकरद्वारम् । संप्रति चक्रवर्तित्वादीनि द्वा-
राण्युच्यन्ते तत्र चक्रवर्तित्वं रत्नप्रज्ञानैरयिकभवनपतिव्यन्तर-
ज्योतिष्कवैमानिकेज्यो न शेषेभ्यः दलदेववासुदेवत्वे शर्करा-
नोऽपि नवरं वासुदेवत्वे वैमानिकेज्योऽनुत्तरोपपातवर्ज्यो मा-
ण्डलिकत्वमधःसप्तमतेजोवायवर्ज्यः शेषेज्यः सर्वेज्योऽपि
स्थानेज्यः सेनापतिरत्नत्वं वार्षिकिरत्नत्वं पुरोहितरत्नत्वं स्त्री-
रत्नत्वमधःसप्तमपृथिवीतेजोवाय्वनुत्तरोपपन्नदेववर्ज्यः शेषे-
भ्यः स्थानेज्यः अश्वरत्नत्वं हस्तिरत्नत्वं रत्नप्रज्ञाया आरभ्य नि-
रन्तरं यावदासहस्राक्षरत्नत्वं दशरत्नत्वं दण्डरत्नत्वमसि
रत्नत्वं मणिरत्नत्वं काकिणिरत्नत्वं चासुरकुमारादारज्य नि-
रन्तरं यावद्विशानात् । सर्वत्र चिधियाक्यम् । “अन्धेगइए लभे-
ज्जा अन्धेगइए नो लभेज्जा ” इति वक्तव्यं प्रतिषेधे “ ना इण्ठे
समठे ” इति तदेवमुक्तानि द्वाराणि प्रज्ञा ० १ए पद । (तीर्थ-
कृतमन्तक्रिया तित्ययर शब्दे)

उप्रादयोऽस्मिन् धर्मेऽवगाहमाना अन्तक्रियां कुर्वन्ति ।

जे इमे भंते ! उग्गा जोगा राइष्ठा इक्खागा णाया कोर-
न्वा एए णं अस्सि धम्मे ओगाहइ ओगाहइत्ता अट्ठविहं
कम्मरयमलं पवाहिति पवाहितित्ता तओ पच्चा सिज्झ-
ति जाव अंतं करेति हंता गोयमा ! जे इजे उग्गा भोगा तं
चेव जाव अंतं करेति अन्धेगइया अस्सयेरेसु देवलांसु दे-
वत्ताए उववत्तारो जवंति ।

(अस्सि धम्मे च्छि) अस्मिन्नैर्ग्रन्थे धर्मे इति भ० २० श० ८३० ।

[जीवः सद्सदमितमेजनादिभाषं परिणमन्तान्तक्रियां
करोतीति मरुगपुस्त शब्दे]

केवलिन पथ अन्तक्रियां कुर्वन्तीति विचक्षुराह ।

उत्तमत्येणं जंते ! मण्णे तीतमणंतं सासयं समयं केवले-
णं संजमेणं केवलेणं संजरेणं केवलेणं वंभचेरवासेणं केव-
लीहि पवयणमायाहिं सिज्झिमु बुज्झिमु जाव सव्वदुक्खा-
णमंतं करिंमु ? गोयमा ! एणं इण्ठे समठे से कण्ठेणं जंते !
एवं बुचइ ते चेव जाव अंतं करिंमु ? गोयमा ! जे केइ अं-

तकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंमु वा
करिति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणंदसणधरा
अरहा जिणे केवली जचित्ता तओ पच्चा सिज्झंति मुच्चंति
परिनिवायंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंति करिस्संति
वा से तेण्णं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंमु पकु-
प्पे वि एवं चेव नवरं सिज्झंति जाणियन्वा अणागए वि
एवं चेव नवरं सिज्झिस्संति जाणियन्वा जहा छउमत्यो
तहा आहोहिओ वि तहा परमाहिओ वि तिन्नि तिन्नि आ-
लावगा भाणियन्वा ॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयो न पुनरकेवलिमात्रमुत्त-
रधावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति (केवलेणंति) असहाये-
न शुक्रेण वा परिपूर्णं वा असाधारणेन वा यदाह “केवलमेगं
सुखं सगलमसाधारणमणंतं च” (संजमेणंति) पृथिव्यादिरक्ष-
णरूपेण (संवरेणंति) इन्द्रियकषायनिरोधेन “सिज्झिंमु” इ-
त्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति एतच्च गौतमेनानेनाग्निप्रायेण
पृष्टं यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वेधिगुहाः संयमा यतयोऽ
पि भवन्ति विबुधसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति सा छद्म-
स्थस्यापि स्यादिति (अंतकरेति) भवान्तकारिणस्ते च दी-
र्घतरकाद्वापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह (अंतिमसरीरियावन्ति)
अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाश्चरमदेहा इत्यर्थः ।
वादादौ समुच्चये “ सव्वदुक्खाणमंतं करिंमु ” इत्यादौ “सि-
ज्झंति सिज्झंती” त्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात्स-
र्वदुःखान्तकरणस्येति (उप्पन्ननाणंदसणधरोति) उत्पन्ने ज्ञान-
दर्शने धारयन्ति ये ते तथा त्वनादिसंसिद्धज्ञाना अत एव (अर-
हास्ति) पूजार्हाः (जिणस्ति) रागादिजेतारस्ते उच्चस्था अपि
जवन्तीत्यत आह । केवलीति सर्वज्ञाः “सिज्झंती” त्यादिषु चतुर्षु
पदेषु वर्तमाननिर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् “सिज्झंति सिज्झंति
सिज्झिस्संति” इत्येवमतीतदिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव “सव्व-
दुक्खाण ” मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । “जहा उवम-
त्यो” इत्यादिरियं भावना “आहोहिणं जंते ! मण्णे तीतमणंतं
सासयमित्यादि” दण्डकत्रयं तत्र अधः परमावधेरधस्ताद्योऽव-
धिः सोऽथोऽवधिस्तेन यो व्यवहृत्यसावाधोवधिकः परिमित-
क्षेत्रविषयावधिकः (परमाहो हिओस्ति) परम आधोवधिकः
स परमाधोवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः (परमोहिओ-
स्ति) कचित्पात्रो व्यक्तश्च स च समस्तरूपिद्वय्यासंख्यातयो-
कमात्रालोकस्वरूपासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः (तिष्ठि-
आत्मावगच्छि) काश्चन्यवेदिनः केवलिनोऽप्येत एव त्रयो दण्ड-
काः विशेषस्तु सूत्रेणैव एवेति ।

केवली एं जंते ! मण्णे तीतमणंतं सासयं समयं जाव
अंतं करिंमु ? हंता गोयमा ! सिज्झंति जाव अंतं करिंमु
एते तिन्नि आलावगा जाणियन्वा । छउमत्यस्स जहा
नवरं सिज्झंति सिज्झंति सिज्झिस्संति । से एणं जंते !
तीतमणंतं सासयं समयं पकुप्पन्नं वा सासयं समयं अणा-
गयमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमस-
रीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंमु वा करिति वा करि-
स्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणंदसणधरा अरहा जिणे

केवली जविता तत्रो पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करि-
स्संति वा हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासपं जाव अंतं
करिस्संति वा से नूणं जंते ! उप्पन्नानाणदंसणधरे अरहा
जिणे केवली अलमत्थुत्ति वत्तव्वंसिया हंता गोयमा !
उप्पन्नानाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थुत्ति व-
त्तव्वंसिया सेवं जंते भंतेत्ति ॥

“से नूण” मित्यादिषु काव्यत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति (अलम-
त्थुत्ति) अत्रमस्तु पर्याप्तं भवतु नातः परं किञ्चिदज्ञानान्तरं प्रा-
ग्वक्तव्यमस्तीति एतद्वक्तव्यं स्याद् भवेत्सत्यत्वादस्येति ज०
१ श० ४ उ० । विनाशे, “उक्ख्वाणमंतं करिय काही अचिरेण
कावेण” ध० २ अधि० । अन्तो जवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया
भवच्छेद इत्यर्थस्तद्धेतुर्याऽऽराधना शैलेशरूपा सा अन्तक्रिये-
त्युपचारात् केवल्याराधनाभेदे, एषा च क्वाथिकज्ञानिकेवन्नाना-
मेव जवति स्था० २ ज० ।

रागद्वेषस्ये एवान्तक्रिया जवितुं शक्नोति ।

से नूणं जंते ! कंखापदोमे खीणं समणं णिग्गंये अंत-
करे भवइ अंतिमसरीरिणं वा बहुभोहे ति य एं पुंविं विह-
रित्ता अह पच्छा, संवुमे काझं करेइ तओ पच्छा सिज्झ-
इ वुज्जइ मुच्चइ जाव अंतं करेइ ? हंता गोयमा ! कंखापदो-
स खीणे जाव अंतं करेइ ध० १ श० ६ उ० ।

(जीवो यावदेजते तावन्नो अन्तक्रियां कर्तुं शक्नोतीति इरियाब-
हिया शब्दे) (आचार्य उपाध्यायो वाऽऽत्रान्या गणसंग्रहं कुर्वन्
कतिजिर्भवेः सिद्ध्यति इति गणसंग्रहकर शब्दे)

अंतकुल-अन्यकुल-न० शूद्रकुले, कल्प० । आ० म० द्वि० ।

अंतक्वरिया-अन्त्याङ्गरिका-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्नवमे लेख्य-
विधाने, प्रज्ञा० १ पद । त्रिपष्टितमकलायाञ्च कल्प० ।

अंतग-अन्तक-त्रि० विनाशकारिणि, सूत्र० १ भु० ए अ० ।

अन्तग-त्रि० अन्तं गच्छत्यन्तगः दुष्परित्यजे, “चिञ्चाण अंतगं
सो यं निरवेक्खो परिववण” सूत्र० १ भु० ए अ० । अन्तयति
अन्तं करोति अन्तं निच एवुब् मृत्यौ, वाच० ।

अंतगह-अन्तकृत (त)-पुं० अन्तो विनाशः स च कर्मणस्तत्फ-
लस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृताः । तीर्थकरादिषु, स० ।
स्था० । पा० । अन्त० । तं० । सूत्र० । अनु० । कल्प० ।

अंतगरुदसा-अन्तकृद् (त) दशा-स्त्री० बहु० अन्तो जवान्तः
कृतो विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तत्कृतव्यता प्रतिबद्धा दशा दशा-
ध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृद् (त) दशा इह चाष्टौ
वर्गा भवन्ति तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानांति तानि शब्दव्युत्प-
त्तेर्निमित्तीकृत्यान्तकृद् (त) दशाः । अष्टमेऽङ्के, अन्त० स्था० ।
स० । पा० । नं० । अनु० ।

आसां वर्गोऽध्ययनानि ।

तेणं कालेणं तेणं समणं चंपा नामं नयरी हंत्या पुष्प-
भदे चेतिणं वनसंने वस्सओ तेणं कालेणं तेणं समणं अज्ज-
सुहम्मे समोसरिते परिसा णिग्गया जाव पडिग्गता । तेणं का-
लेणं तेणं समणं अज्जसुहम्मे अंतेवासी अज्जजंबू जाव
पज्जुवासति एवं वयासी जतिं एं जंते ! समणेणं ३ जाव

संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवागगसाणं अयमट्ठे पप्पत्ते ।
अट्ठमस्स एं जंते ! अंगस्स अंतगहदसाणं समणेणं के
अट्ठे पप्पत्ते एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स
अंगस्स अंतगरुदसाणं अट्ठ वग्गा पप्पत्ता जतिं एं जंते !
समणेणं ३ जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगरुदसाणं
अट्ठ वग्गा पप्पत्ता पट्ठमस्स एं भंते ! वग्गस्स अंतगहदसाणं
समणेणं ३ जाव संपत्तेणं कति अज्जयणा पप्पत्ता एवं
खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंत-
गरुदसाणं पट्ठमस्स वग्गस्स दस अज्जयणा पप्पत्ता नं
जहा [अन्त० १ वर्ग०] नमी य मंगे सोमिञ्चे, रामगुत्ते
सुदंसणे । जमाली य जगाली य, किं कमे पट्ठपण्य ॥१॥
फाले अ अट्ठपुत्ते य, एमेते दस आहिया । स्था० १० ठा० ।

अन्तगमेत्यादि इह चाष्टौ वर्गोऽत्र प्रथमवर्गे दशाध्य-
यनानि तानि चामूनि (नमीत्यादि) सार्द्धं श्लोकमेतानि
च नमीत्यादिकान्यन्तकृतसाधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्कप्रथमवर्गे
अध्ययनसंग्रहे नोपलक्ष्यन्ते यतस्तत्राजिधीयते “ गोयम ! स-
मुहसागर, गंभीरे चेव होइ थिभिण य । अयले कंप्पिं खलु भ-
क्खोज पसेणइ विण्णुत्ति ॥१॥ ” ततो वाचनान्तरापेक्षाणीमा-
नीति सम्भावयामो न च जन्मान्तरनामापेक्षयैतानि भविष्यन्ती-
ति वाक्यं जन्मान्तराणां तत्रानभिधीयमानत्वादिति ॥

द्वितीये वर्गे इमानि ।

अक्खोमि १ सागरे खलु, २ समुद ३ हिम्वंत ४ अच-
लनामे य ५ । धरणे य ६ पूरणे य, ७ अजिचंदे चेव
अट्ठमए ॥

तृतीये वर्गे ।

जतिं एं भंते ! तच्चस्स उक्खेवओ एवं खलु जंबू अट्ठ-
मस्स अंगस्स तच्चस्स वग्गस्स तेरस अज्जयणा पप्पत्ता
तंजहा अणीयसेमे १ अणंतसेणे २ अजियमेणे ३ अणिह-
यरेसिओ ४ देवसेणे ५ सत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए ८ समूहं
ए दुम्मूहं १० कुवण ११ दारुण १२ अणाहिट्ठा १३ ॥

चतुर्थे वर्गे ।

जतिं एं जंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स
अंतगरुदसाणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पप्पत्ते ? एवं खलु
जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पप्पत्ता तंजहा जाह्मी ? मयाही २ उवयाही, ३ पुरि-
ससेणे य ४ वारिसणे य ५ । पज्जुएण ६ संवे ७ अनिरुद्धे,
८ सच्चलेमी य ए ददनेमी य १० ॥

पञ्चमे वर्गे ।

जतिं एं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स
अंतगरुदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पप्पत्ते एवं
खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पप्पत्ता पउमावतीए गोरी गंधारी लक्खणा सुसीमा
य । जंबुवती सत्तजामाय, रुप्पिणी सूझसिरी मूळदत्ता वि ।

पष्ठे वर्गे ।

जति एं जंते ! उट्टस्म उक्खेवतो एवरं सोलस अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा " मक्कायी ? किंमए चैव २ मांगरपा-
णी य ३ कामवे ४ खेमती ५ दितवरे चैव ६ केद्वाने ७ हरिचंदण ८ वाग्न ९ सुदंसणे १० पुण्णजदे ११ तह सुमणजदे १२ सुपडे १३ मोहति १४ मुत्ते १५ अन्नखे १६ अज्जयणेणं तु मोल्लमयं ॥ २ ॥

सममे वर्गे ।

जति णं जंते ! समणेणं मत्तमस्म वग्गस्म उक्खेवतो जाव तेम अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा " नंदा ? नह नंदवती २ नंदुत्तर ३ नंदिमेणिया ४ चैवामरुता ५ सुमरुता ६ महामरुता ७ मरुदेवा ८ य ? अट्टमी भदा ९ मुत्तदा य ? १० मुजया ? ११ सुमणाइया ? १२ जयदिप्पा ? ३ य बोद्ध्वा सेणियज्जजाण नामानि २ अष्टमे वर्गे ।

समणेणं जगवथा महावीरेणं जाव अट्टमस्म वग्गस्म उक्खेवतो जाव नवरं दस अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा " काली ? सुकाली २ महा-काही ३ कएहा ४ सुकएहा ६ य बीकएहा य ७ बोद्ध्वा रामकएहा ८ तहेव य । पउमसे-
णकएहा नवमी दममी महामेणकएहा य ॥

सर्वसंप्रदेह ।

अंतगरुदमाणं अट्टमस्म अंगस्म एगो सुयक्खंधो अट्ट व-
ग्गा अट्टमु चैव दिवसेसु उद्दिमंति तत्थ पढमविईयवग्गे दस दम उद्देसगा तउयवग्गे तेरस उद्देसगा चउत्त्यपंचमवग्गे दस दम उद्देसगा उट्टवग्गे सोलस उद्देसगा सत्तमवग्गे तेरस उद्दे-
सगा अट्टमवग्गे दस उद्देसगा सेसं जहा नायाधम्मकहाए ॥

विषयोऽन्तकृद्दशानाम् ।

मे किं तं अंतगरुदसाओ अंतगरुदसासु णं अंतगराणं
णगरां उज्जानाचैयवणराया अम्मापियरोममोमरणध-
म्मा धम्मकहा इह झोइअपरझोइअ इहिविमेसा भोगप-
रिक्खाया पच्चज्जाओ सुयपरिगाहा तवोवहाणां परिमाओ
वहुविहाओ रमा अज्जवं मदवं च सोअं च सच्चसदियं
मत्तरसविदो य संजमो उत्तमं च वंभं आकिंचिणया तवो-
किरियाओ ममिङ्गुत्तीओ चैव । तह अप्पमायजोगो मज्जा-
यज्जाणेण य उत्तमाणं दोएहं पि झक्खणां पत्ताण य सं-
जमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मक्खयम्मि जहा
केवल्लस्म झंभो परिगा ३ जत्तिओ य जह पाविओ
मुणींदि पावोवग्गाओ य जहिं जत्तियाणि जत्ताणि ठेअइ-
त्ता अंतगरुदसा मुणिवग्गे तमरयोधविमुक्को मोक्खमुहमणंतं
च पत्ता पए अन्ने य पवमाअयवित्त्यंणं पम्बेइ । सम० ।
अंतगरुदमाणं परिता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा,
संखिज्जा वेदा, संखिज्जा मिश्रोगा, संखिज्जाओ निजुत्ती-

ओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पम्बिक्कीओ,
से णं अंगअट्टयाए अष्टमे अंगे एगे सुयक्खंधे अट्ट उद्देसणका-
ला अट्ट समुद्देसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, पयमेणं
संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिता
तमा, अणंता थावरा, सासयकडनिवप्पनिकाइया जिणप-
न्नत्ता भावा आधविज्जंति पन्नविज्जंति परुविज्जंति दंसि-
ज्जंति निर्दंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया एवं
नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरुवणा आधविज्जइ
सेत्तं अंतगरुदसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्रासानाश्च संयमोत्तमं सर्वविरतिजितपरीपहाणाश्चतुर्विध-
कर्मक्षये सति यथा केवलस्य ज्ञानादेर्लाभः पर्यायः प्रव्रज्यायाः
लक्षणो यावत्तथा यावद्वर्षादिप्रमाणो यथा येन तपोविशेषश्च-
णादिना प्रकारेण पादितो मुनिभिः पादपोषणमश्च पादयोषणमा-
भिधानमनशनं प्रतिपन्नो यो मुनिर्यत्र शत्रुञ्जयपर्वतादौ यावन्ति
च भक्तानि भोजनानि वेदयित्वा अनशनानां हि प्रतिदिनं मत्त-
यच्छेदो भवति अन्तकृतो मुनिवरो जात इति शेषः । तमोरज-
श्रोघविप्रमुक्त एवं च सर्वेऽपि क्षेत्रकाद्यादिविशेषिता मुनयो मो-
क्षसुखमनुत्तरश्च प्राप्ता आख्यायन्त इति क्रियायोगः । एते अ-
न्ये "चेत्यादि" प्राग्वत् नवरं (दस अज्जयणंति) प्रथमवर्गा-
पेक्षयैव घटन्ते नन्यां तथैव व्याख्यातत्वात् यच्चेह पठ्यते
"सत्तमवगात्ति" तत्प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्षया यतोऽत्र सर्वेऽप्यष्ट-
वर्गा नन्यामपि तथा पठितत्वात्तदृष्टिश्चेयम् (अट्टवगात्ति) अत्र
वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वा सर्वाणि चैकवर्गगता-
नि युगपदुद्दिश्यन्ते ततो भणितं " अट्ट उद्देसणकाद्या " इत्यादि
इह च दश उद्देशनकाद्या अधीयन्ते इति नास्यान्निप्रायमवग-
च्छामः । तथा संख्यातानि पदशतसहस्राणि पदाग्रेणेति तानि
च किञ्च त्रयोविंशतिर्लक्षाणि चत्वारि च सहस्राणीति (अ-
ष्टवगात्ति) वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वेदित-
व्यः सर्वाणि चाध्ययनानि वर्षवर्गान्तर्गतानि युगपदुद्दिश्यन्ते
अत आह अष्टौ उद्देशनकाद्याः अष्टौ समुद्देशनकाद्याः संख्येया-
नि पदसहस्राणि पदाग्रेण च तानि च किञ्च त्रयोविंशतिर्लक्षाः
चत्वारः सहस्राः दशं पाठसिद्धं यावन्निरुद्धं नं० । " दस उद्दे-
सणकाद्या दस समुद्देसणकाद्या " स० ।

अंतगत (य) - अन्तगत - न० अन्तशब्दः यथ्यन्तवाची यथा
वनान्ते इत्यत्र ततश्चान्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम् । अ-
नुगामिकाऽवधिजेदे, इहार्धत्रयव्याख्या अन्ते गतमात्मप्रदेशानां
पर्यन्ते स्थितमन्तगतम् इयमत्र भावना इहावधिरूपधर्मानः कोऽ-
पि स्पर्शरूपतयोपपद्यते स्पर्शकं नामावधिरूपधर्माया गद्याक-
जालादिचारविनिर्गतप्रदीपप्रज्ञाया इव प्रतिनियतो विच्छेदवि-
शेषः । तथा चाह जिननङ्गणिक्रमाश्रमणः स्वोपकृज्जाप्यटी-
कायां स्पर्शकोऽयमवधिविच्छेदविशेष इति तानि चैकजीवस्य
संख्येयान्यसंख्येयानि वा जवन्ति । यत उक्तं मूलावश्यकप्रथम-
पौत्रिकायाम् " फट्टा वि असंखेज्जे, संखेज्जावि एगजीव-
स्सेति " तानि च विचित्ररूपाणि तथाहि कानिचित्पर्यन्तव-
न्तिष्वात्मप्रदेशपृथक्कृतं तत्रापि कानिचित् पुरतः कानिचि-
त्पृथक्कृतः कानिचिदधोनागे कानिचिदुपरितनभागे कानि-
चित्पथ्यवर्तिष्वात्मप्रदेशोपध्वविज्ञानमुपजायते तदात्मनोऽन्ते

पर्यन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्ति-
जिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानाभाशेषैरिति । अथ-
वा औदारिकशरीरस्य अन्ते गतं स्थितमन्तगतं कयाचिदेकदि-
शोपलम्भात् इदमपि स्पष्टकरूपमवधिज्ञानम् । अथवा सर्वेषां
मप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमनावेऽपि औदारिकशरीरान्ते क-
याऽपि दिशा यद्गशादुपलभ्यते तदप्यन्तगतम् । आह यदि सर्वा-
त्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते ए-
कदिशैव क्षयोपशमस्य संभवात् विचित्रो हि क्षयोपशमस्ततः
सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानामित्यनुत् एव स्तसामग्रीवशात् क्षयो-
पशमः संवृत्तो यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कयाचिद्विवक्षितया ए-
कदिशा पश्यतीति उक्तं च चूर्णैः । “ओरात्रियसरीरंते हियं ग-
यंति एगट्ठं तं चायप्पएसफड्ढावाहिण्णदिसेवलंभओ य अंत-
गडं ओहिनाणं जण्णइ । अहवा सव्वायप्परासविसुहेसु वि ओ-
रात्रियसरीरगते एगदिसि पासणागयंति अंतगयं भण्णइ ” तृ-
तीयोऽर्थः एकदिग्भाविनाऽवधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं तस्यां
वर्त्तते तदवधिज्ञानमवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्त्तमानत्वात्ततोऽन्ते
एकदिग्भूपस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमन्तगतम् ।

तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंतगयं अंतगयं तिविहं पण्णत्तं तंजहा पुरओ अंतगयं
मगओ अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरओ अं-
तगयं ? पुरओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा
चरुन्नियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पुरओ
काउं पणोद्धेमाणो पणोद्धेमाणो गच्छिज्जा सेत्तं पुरओ अ-
तगयं । से किं तं मगओ अंतगयं मगओ अंतगयं से जहा-
नामए केइ पुरिसे उक्कं वा चरुन्नियं वा अलातं वा मणिं वा
पईवं वा जोइं वा मगओ काउं अणुकदेमाणे अणुकदेमाणे
गच्छिज्जा सेत्तं मगओ अंतगयं । से किं तं पासओ अंत-
गयं पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चरु-
न्नियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पासओ काउं
परिकदेमाणे परिकदेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं पासओ अंतगयं
सेत्तं अंतगयं ॥

अथ किं तत् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रकृतं तद्य-
था पुरतोऽन्तगतमित्यादि । तत्र पुरतोऽवधिज्ञानिनः स्वयंपेक्ष-
या अग्रभागे अन्तगतं पुरतोऽन्तगतम् । तथा मार्गतः पृष्ठतोऽन्त-
गतं मार्गतोऽन्तगतम् । तथा पार्श्वतो द्वयोः पार्श्वयोरेकतरपार्श्वतो
वाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतम् (से ज
हेत्यादि) स विवक्षितो यथा नाम कश्चिद्व्युत्पन्नः अत्र सर्वेष्वपि
पदेषु एकारान्तत्वमतः सौ पुंसि इमानि मागधिकजापालकणा-
त्सर्वमधीदि प्रवचनमर्थमागधिकजापालकम् । अर्थमागधिकजा-
पया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः । ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिक-
भाषावृत्तमनुसरणीयम् । (उक्कं वौत्ति) उल्का दीपिका वा-
शब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः । चटुत्ती वा चटुली पर्यन्तज्वलित-
तृणपुष्पिका अलातं वा अलातमुल्लुम्बं च अग्रजागे ज्वलत्काष्ठमि-
त्यर्थः । मणिं वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वै ज्योतिः स एवाद्याधा-
रो ज्वलद्भस्मिः । आह च चूर्णिकृतं “जोइं स्ति मल्लगाइठिओ
अगणी जलंतो इति ” प्रदीपं वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽप्रतो
वा हस्ते दण्डादौ वा कृत्वा (पणोद्धेमाणे पणोद्धेमाणेत्ति) प्र-

णुदन् प्रणुदन् इस्तस्थितं दण्डाग्राद्यवस्थितं वा क्रमेण स्व-
गत्यनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एष दृष्टान्तः ।
उपनयस्तु स्वयमेव जावनीयः । तत उपसंहरति (सेत्तं पुरओ
अंतगयं) से शब्दः प्रतिवचनोपसंहारदर्शने तदेतन् पुरतोऽन्त-
गतम् । इयमत्र भावना । यथा स पुरुषः उल्कादिभिः पुरत
एव पश्यति नान्यत्र एवं येनावधिज्ञानेन तथाविधक्षयोपशमजा-
यतः पुरतः एव पश्यति नान्यत्र तदवधिज्ञानं पुरतोऽन्तगतम-
जिधीयते । एवं मार्गतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रं जावनीयं न-
वरम् (अणुकदेमाणे अणुकदेमाणेत्ति) इस्तगतं दण्डाग्रादिस्थितं
वा अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षन्
समाकर्षन्नित्यर्थः । तथा (पासाओ काउं परिकदेमाणे परिकदेमा-
णेत्ति) पार्श्वतो दक्षिणपार्श्वतोऽथवा घामपार्श्वतो यद्वा द्वयो-
रपि पार्श्वयोः उल्कादिकं हस्तस्थितं वा दण्डाग्रादिस्थितं वा प-
रिकर्षन् परिकर्षन् पार्श्वभागे कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः ।
नं० १९ पत्र० । (मध्यगतादस्य विशेषः आणुगामिय शब्दे)
अन्तगत-त्रि० अन्तान्तर्वर्त्तिनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अंतगगअ-अन्तर्गत-त्रि० तोऽन्तरि ८।१। ६० इति सूत्रस्य क्वा-
चित्कत्वाप्रान्तः शब्दे तस्यात एत्वम् । मध्यगते, प्रा० । अन्य-
न्तरे, अष्ट० ।

अंतचरय-आन्तचरक-पुं० पार्श्वचारिणि, अग्निप्रदविशेषधार-
के भिक्षाके, स्था० ५ ग० । यो हि अग्निप्रदविशेषात्क्षेत्रान्तरेषु
चरति स्था० ४ ग० ।

अतचारि[न] आन्तचारिन्-पुं० अन्तेन वृत्तावशेषेण बद्धादिप्र-
कृष्टेन चरन्तीति । अग्निप्रदविशेषधारके भिक्षाके, स्था० १०
ग० । सूत्र० ।

अंतजीवि (न्)-आन्तजीविन्-पुं० अन्तेन जीवितुं शीलमाज-
न्माऽपि यस्य स तथा । अग्निप्रदविशेषधारके भिक्षाके, स्था० ५
ग० । सूत्र० ।

अंतह-अन्तःस्थ-पुं० अन्तः स्पर्शाप्पणोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठतीति
स्था-क्विप् । यरल्लवाख्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्पर्शानां
शयसहस्रोप्पणां च मध्यस्थाः । वा विसर्गलोपऽन्तस्था अपि
मध्यस्थितमात्रे, त्रि० वाच० ।

अंतद्धाण-अन्तर्धान-न० अन्तर्-धा०-स्युद् । तिरोधाने,

शक्तिस्तम्भे तिरोधानं, कायरूपस्य संयमात् ।

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्य नास्त्यस्मिन् का-
ये रूपमिति संयमादूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपायाः शक्तेः स्तम्भे,
जावनावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं प्रवति चक्षुषः प्रकाश-
रूपस्य सात्विकस्य धर्मस्य तद्ग्रहणव्यापाराज्जावात्तथा संयम-
वान् योगी न केनचिद् दृश्यत इत्यर्थः । एवं शब्दादितिरोधानम-
पि ज्ञेयम् । तदुक्तं कायरूपसंयमात् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुषः
प्रकाशसंयोगेऽन्तर्धानम् । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति द्वा०
२६ द्वा० । अञ्जनविद्यादिनाऽदृश्यीभवने, नि० चू० १८० । व्यवधाने
च-व्य० २ उ० ।

अंतच्छाणपिंड-अन्तर्धानपिरम्-पुं० आत्मानमन्तर्हितं कृत्वा
गृहमाणे पिरमे, “अपपाणं अंतरहितं करेत्ता जो पिंमं गेएइइ
सो अंतच्छाणपिंमो जण्णति जो अंतच्छाणपिंडं जुंजइ जुंजंतं वा
साइजइ” आज्ञादयोऽत्र दोषाश्चतुर्बुध प्रायश्चित्तम् । नि० चू०
२ उ० । अशिवादिकारणेऽन्तर्धानपिरमुत्पादयेत् (अत्रोदहा-
रणं चुष्य शब्दे)

- अंतर्द्वाराणी (गिपा) ए-अन्तर्धानिका-ली० अन्तर्धानकारिणि
विद्याविशेषे, सूत्र० २ शु० २ सू० ।
- अन्तर्दि-अन्तर्दि-पु० व्यवधाने, हेम० ।
- अन्तर्द्वाराणी-अन्तर्धानी-त्रि० नष्टे, " नष्टेति वा विगणति वा
अन्तर्द्वाराणीति वा एगदा " आ० चु० १ अ० ॥
- अन्तर्पात्र-अन्तर्पात्र-पु० कण्ठगतदशपक्षकपात्रार्ध लु-
क = १ । २ । ७७ इति ककारार्धस्थस्य जीह्वामूल्यस्य लुक ।
मध्ये यतने, प्रा० ।
- अन्तर्भाव-अन्तर्भाव-पु० प्रवेशे, विशेषे ।
- अन्तर-अन्तर-न० मध्ये, आन्ता० १ शु० ६ अ० विशेषे, ध० १ अधि०
अवधौ, परिधानाङ्गके, अन्तर्धाने, जेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे
विशेषे, तादर्थ्यं, निरुद्धे, आत्मीये, विनाशे, बहिरर्थे, सङ्गो,
वाच० । सूत्रविशेषे, पानीयान्तरमिति सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते
ज्ञा० १ अ० व्यवधाने, जं १ वक्र० । स्वा० । अन्तं राति द-
दाति रा-क- । वि० । तं० । अघकाशे, भ० ७ शु० ८
उ० । प्रव० । सूत्र० । नि० ।
- [१] अन्तरस्य भेदाः ।
- [२] द्वीपपर्वतानां परस्परं व्यवधाने वक्तव्ये ईषत्प्राग्भारायाः
अलोकस्यान्तरमुक्तम् ।
- [३] कुल्लहिमवत्कूटस्थोपरितनाच्चरमान्ताद्वर्धधरपर्वतस्य स
मधरणितलस्यान्तरम् ।
- [४] गोस्तूभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद्वरुवामुखस्य पाश्चात्यचर-
मान्तस्यान्तरम् ।
- [५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।
- [६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्तागोस्तूभस्य पाश्चात्यचर-
मान्तस्यान्तरम् ।
- [७] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद्वेदिकान्ताद् धातकीखण्डस्य पा-
श्चात्यचरमान्तस्यान्तरम् ।
- [८] जिनान्तराणि ।
- [९] ऋषभाद्वीरस्यान्तरम् ।
- [१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरम् ।
- [११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरम् ।
- [१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।
- [१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।
- [१४] धातकीखण्डस्य द्वाराणामन्तरम् ।
- [१५] नन्दनवनस्याधस्तनाच्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काण्ड-
स्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।
- [१६] नरकपृथ्वीनां रत्नप्रजाकाण्डानामन्तरम् ।
- [१७] रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेरन्तरम् ।
- [१८] रत्नप्रजादीनां परस्परमन्तरम् ।
- [१९] निषधकूटस्थोपरितनाच्चरमान्तमधरणितलस्या-
न्तरं निरूप्य निषधपर्वतस्य रत्नप्रभायाः यदुमध्यदेश-
भागो निरूपितः ।
- [२०] पुष्करचरद्वाराणामन्तरम् ।
- [२१] मन्दराच्चरद्वीपाच्च गोस्तूभस्यान्तरम् ।
- [२२] मन्दराज्ञातमस्यान्तरम् ।
- [२३] मन्दराद्विषयस्यान्तरं निरूप्य महाहिमयतोऽन्तरं
प्रतिपादितम् महाहिमयदुष्मिकस्यापीति ईषत् महा-
हिमयन्मूत्रे प्रतिपादितम् ।

- [२४] लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरम् ।
- [२५] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम् ।
- [२६] वडवामुखादीनामधस्तनाच्चरमान्ताद्वलप्रभाया अध-
स्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।
- [२७] विमानकल्पानामन्तरम् ।
- [२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरं प्रतिपाद्य तस्मिन्नेव सू-
त्रे सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम् ।
- [२९] एकेन्द्रियाद्याश्रित्य कालतोऽन्तरम् ।
- [३०] कपायमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य कायमाश्रित्यान्तरं नि-
रूपितम् ।
- [३१] गतिमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाश्रित्य जीवानाम-
न्तरमभिहितम् ।
- [३२] असंस्थावरनासंस्थावरणामन्तरम् ।
- [३३] समग्रदृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।
- [३४] पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरमभिधाय कायादिपरितानामन्त-
रमभिहितम् ।
- [३५] पुष्कलमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाऽप्रथमसमय-
विशेषणैर्नैकेन्द्रियाणां नैरयिकादीनां चान्तरम् ।
- [३६] वादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोवादराणामन्तरम् ।
- [३७] सूक्ष्मस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाश्रित्य जीवानामन्तरं
निरूपितम् ।
- [३८] योगमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाश्रित्य जीवानाम-
न्तरं निरूपितम् ।
- [३९] वेदविशिष्टजीवानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदेन
वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीपुंशुसकानामन्तरं प्रति-
पादितम् ।
- [४०] औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा संज्ञावि-
शेषणेन अन्तरं निरूपितम् ।
- [४१] संयमविशेषणेनान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चा-
न्तरं निरूपितम् ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

चञ्चलविहे अन्तरे पण्यते तं जहा कट्टंतरे पम्हंतरे लोहं-
तरे पत्यंतरे एवामेव इत्येव वा पुरिसस्म वा चञ्चलविहे अं-
तरे पण्यते तं जहा कट्टंतरसमाणे पम्हंतरसमाणे लोहंतरस-
माणे पत्यंतरसमाणे ॥

काष्ठस्य च काष्ठस्य चेति काष्ठयोरन्तरं विशेषो रूपनिर्माणा-
दिभिः एवमेव काष्ठाद्यन्तरमिव पद्मकर्पासकृतादि पद्मणोर-
न्तरं विशिष्टसौकुमार्यादिभिल्लोहान्तरमत्यन्ताच्छेदकत्वादि-
भिः प्रस्तरान्तरं पाषाणान्तरं चिन्तितार्थप्रापणादिजिरेवमेव का-
ष्ठाद्यन्तरवत् स्त्रिया वा ल्यन्तरापेक्षया पुरुषस्य वा पुरुषान्तरा-
पेक्षया वाशब्दौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विध्यं प्रति निर्विशेष-
ताख्यापनार्थं काष्ठान्तरेण समानं तुल्यमन्तरं विशेषे विशि-
ष्टपदवियोग्यत्वादिना पद्मान्तरसमानं वचनसुकुमारतयैव
लोहान्तरसमानं स्नेहच्छेदेन परीपहादौ निर्भङ्गत्वादिभिश्च
प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तातिक्रान्तमनोरथपूरकत्वेन विशिष्टगु-
णवत् वन्द्यपदवीयोज्यत्वादिना चेति स्था० ४ । ग० ।

(२) द्वीपपर्वतादीनां परस्परं व्यवधानं दर्शयते तत्र ईषत्प्रा-
ग्भाराया अलोकस्य यथा
ईसिप्यन्ताराण एं भेत ! पुद्वीए अल्लोमस्स य केवइए

अवाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसूणं जोअणए अवाहाए अंतरं पण्त्ते ।

(देसूणं जोयणंति) इह सिद्धयद्वोक्तयोर्देशानं योजनमन्तरमुक्तम्, आवश्यकं तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्न्यूनताया अविषकृणान्न विरोधो मन्तव्य इति भ० ४ श० ८ उ० ।

[३] कुट्टहिमवत्कूटस्योपरितनाच्चरमान्ताद्वर्धर-
पर्वतस्य समधरणितवेऽन्तरम् ।

कुट्टहिमवन्तकूटस्य णं उवरिद्धाओ चरमन्ताओ कुट्टहिमवन्तस्य वासहरपव्वयस्स समधरणितवे एस णं उ जोयणसयाइं अवाहाए अंतरं पण्त्ते एवं मिहरिकूटस्य वि ।

इह जावार्थो हिमवान् योजनशतोच्चिन्नस्तत्कूटं पञ्चशतोच्चिन्नमिति सूत्रोक्तमन्तरमवतीति. स० ।

(४) गोस्तूभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् वरुवामुखस्य पाश्चात्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोयूजस्स णं आवासपव्वयस्स पुरच्छिमिद्धाओ चरमन्ताओ वलयामुहस्स महापायात्रस्स पच्चच्छिमिद्धे चरमन्ते एस णं वावन्नं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरं पण्त्ते ।

[गोष्ठ्येत्यादि] गोस्तूभस्य प्राच्यां लवणसमुद्रमध्यवर्तिनो वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादपसृत्य वरुवामुखस्य महापातालकलशस्य पश्चात्यचरमान्तो येन भवतीति गम्यते [एसणंति] एतदन्तरमध्येऽवाधया व्यवधानलक्षणमित्यर्थः द्विपञ्चाशद्योजनसहस्राणि भवन्तीत्युत्तरघटना । भावार्थस्त्वयम् इह ववणसमुद्रं पञ्चनवतियोजनसहस्राण्यवगाह्य पूर्वोदिषु दिक्षु चत्वारः क्रमेण वडवामुखकेतुकयूप-
केश्वराभिधाना महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बूपर्यन्ताद् द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य सहस्रविष्कम्भाश्चत्वार एव वेलन्धरनागराजपर्वताः गोस्तूभादयो भवन्ति । ततश्च पञ्चनवत्यास्त्रिचत्वारिंशत्यपकर्षितायां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्यन्तरं भवति स० ५१ सम० ।

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य केवइए अवाहाए अंतरं पण्त्ते ? गोयमा ! अउणासीइं जोअणसहस्साइं वावन्नं च जोअणाइं देसूणं च अद्वजोअणं दारस्स य दारस्स य अवाहाए अंतरं पण्त्ते जी० ।

जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् जदन्त ! द्वीपस्य संबन्धिनो द्वारस्य २ च कियत् किंप्रमाणम् (अवाहाए अंतरोत्ति) बाधा परस्परं संश्लेषतः पीरुनं नवाधा अवाधा तथा कियदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः प्रकृतम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु वर्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थमवाधा-
प्रदणम् अत्र निर्वचनं भगवानाह गौतम ! एकोनाशीतिर्योजन-
सहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनानि देशोनं चार्द्धयोजनं द्वारस्य द्वारस्य चावाधया अन्तरं प्रकृतम् । तथाहि जम्बूद्वीपपरिधिः प्राग्-
निर्दिष्टयोजनानि तिस्रो लक्षाः पौरुश सहस्राणि द्वे शते सप्त-
विंशत्यधिके (३१६२१७) क्रोशत्रयम् (३) अष्टविंशधनुःशतं (१२८) त्रयोदशाङ्गुलानि (१३) एकमर्काङ्गुलमिति । अस्माद्-
द्वारचतुष्कविस्तारोऽष्टादशयोजनरूपोऽपनीयते यत एकैकस्य द्वारस्य विस्तारो योजनानि चत्वारि चत्वारि (४) प्रतिद्वारम् ।
द्वारशाखाद्वयविस्तारश्च क्रोशत्रयं क्रोशत्रयम् । अस्मिन् द्वारस्य

शाखयोश्च परिमाणे चतुर्गुणे जातान्यष्टादश योजनानि (१८) ततस्तदपनयने शेषपरिधिसत्कस्यास्य योजनरूपस्य (३१६२०९) चतुर्नागलब्धानि योजनानि एकोनाशीतिः सहस्राणि द्वि-
पञ्चाशदधिकानि (७९०५२) क्रोशत्रैकः । तथा परिधिस-
त्कस्य क्रोशत्रयस्य धनुष्करणे जातानि धनुषांपद् सदास्त्रणि (६०००) एष च परिधिमन्कः अष्टाविंशत्यधिकधनुःशतस्य क्रेपे जातानि धनुषामेकपश्चिंशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि (६१२८) ततोऽस्य चतुर्भिर्भागे लब्धानि पञ्चदश शतानि द्वाविंशदधि-
कानि (१५३२) यानि च परिधिसत्कत्रयोदश अङ्गुलानि (१३) तेषामपि चतुर्भिर्भागे लब्धानि त्रीण्यङ्गुलानि (३) शेषे चैक-
स्मिन्नङ्गुले यवाः अष्टौ (८) एषु परिधिसत्कयवपञ्चक (५) क्रेपे जातास्त्रयोदश यवाः (१३) एषां च चतुर्भिर्भागे लब्धास्त्रयो-
यवाः (३) शेषे चैकस्मिन् ये यूकाः अष्टौ (८) आसु परिधि-
सत्कैकयूकाक्रेपे जाता नव (९) आसां चतुर्भिर्भागे लब्धे द्वे यूके (२) शेषस्याल्पत्वान्न विवक्षा । एतच्च सर्वं देशोनमेकं गम्यन्-
मिति जातं पूर्ववद्व्यवच्छेदेन सह देशोनमर्कयोजनमिति (ज०-
१वक्र०) “इममेवार्थं द्विर्वचं सुवचमिति” अध्वरूपत्रतो वरुसूत्रं
वाधवरुचिसत्त्वानुग्राहकमिति वा गाथयाऽऽह । “कट्टुडुवार पमा-
णं, अछारस जोयणाइं परिहाए । सोहियचउडिं विजत्ते, इणमो
दारंतरें होइ । अउणासीइसहस्सा, वावण्णा अउ जोयणं तूणं ।
दारस्स य दारस्स य, अंतरमेयं विणिहिट्ठुं” जी० ३ प्रति० । स० ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् गोस्तूभस्य
पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरमाह ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्धाओ चरमन्ताओ, गोथू-
भस्स णं आवासपव्वयस्स पच्चच्छिमिद्धे चरमन्ते एसणं वाधा-
लीसं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरं पण्त्ते । एवं चउडिंसि
पि दगजासे संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिद्धाओ चरमन्ताओ त्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपसून्य गोस्तूभस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंबन्धिनः पाश्चात्य-
सीमान्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति [एसणंति]
एतदन्तरं द्विचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि प्रकृतमन्तरशब्देन
विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यन आह [अवाहाएत्ति] व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थः ।

(७) जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद् वेदिकान्ताद् धातकी-
खण्डस्य पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्धाओ वेइयन्ताओ धाय-
इखंरुचक्कवालस्स पच्चच्छिमिद्धे चरमन्ते सत्तजोयणसयसह-
स्साइं अवाहाए अंतरं पण्त्ते ।

तत्र लकं जम्बूद्वीपस्य द्वे ववणस्य चत्वारि धातकीखण्डस्येति
सप्त लक्षाण्यन्तरं सूत्रोक्तमभवतीति [७०००००] ।

(८) जिनान्तराणि ।

जम्मा जम्मा जम्मा, सिवं सिवा जम्ममुक्खओ मुक्खा ४।
इय चउजिणंतराई, इत्य चउत्थं तु नायवं २६ । सत्त०
१६५ द्रा० ।

सांप्रतं यश्चक्रवर्ती बाहुदेवो वा यस्मिन् जिने जिनान्तरे वाऽऽ-
सीत् तत् प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेन जिनान्तरागमनं तत्रा-
पि तावत् प्रसंगत एव कालतो जिनाम्तराणि निर्दिश्यन्ते “ च-

सभाभ्यो कोमिलकम्, ५० अजियाभ्यो कोमिलकम् ३०। सभं-
भ्यो कोमिलकम् १० अभिनन्दनभ्यो कोडिलकम् ९ सुमतिकोडी-
भ्यो उ नवसहस्तेहि ९० पउमपभभ्यो कोमीनंतव सहस्तेहि
९ सुगलो कोमी नवसहस्तेहि ९०० चंदपभो कोमीभ्यो नवती
६० पुष्पदंतो कोमीउ नवदिभ्यो ६ सयलो कोमीऊणाऊणा १००
सा [६६२६०००) वरिसाई सेज्जंभो सागरोपमाई ५४ वासुपु-
भ्यो तीससागराई ३० विमभ्यो सागरोवमाई ४ धम्मो सागरो-
वमाई ३ ऊणाई १ पल्लिवचउभ्योहि ३ संतिपल्लियकं कुपुप-
ल्लियचउभ्यो ४ ऊणाभ्यो वासकोडीसहस्तेण १ अरो वास-
कोमीसहस्सं १ मल्ली वरिसल्लकवउपपन्ना ५४ मुणिसुव्वभ्यो
वरिसल्लकं ६ नमो वरिसल्लकं ५ अरिठ्ठनेमि वरिसल्लहस्सं
२३७५० पासो वाससयाई २५० वद्धमाणा जितंतराई " इह
वासम्मोहाय सर्वेषामेव जिनचक्रवर्तिवासुदेवानां यो यस्मिन्
काशेऽन्तरे वा चक्रवर्ती वासुदेवो वा नविष्यति बभूव वा त-
स्यान्तरव्यावर्णितप्रमाणायुःसमन्वितस्व सुखपरिक्लान्तमयं
प्रतिपादनोपायः ।

" बर्त्तासं घरयाई, काठं तिरिया य तार्हि रेहाई ।

उद्वाययाई काठं, पंच घराई तअमो पढमो ॥

पन्नरस जिणनिरंतर-सुन्नडुमां तिजिण सुन्नतिमां च ।

दो जिणसुन्नाजिण्ठो, सुन्नजिणो सुन्न दोषि जिणा ॥

[वित्तीयपंतिद्वयणा]

दो चक्कि सुन्नतेरस, पण चक्की सुन्नचक्कि दो सुन्ना ।

चक्की सुन्नडुव्वक्की, सुन्नं चक्की दुसुन्नं च ।

(तृतीयपंतिद्वयणा)

इस सुन्न पंच केसव, पण सुन्नं केसि सुन्नकेसी च ।

दो सुन्नकेसवे वि य, सुन्नडुमं केसव तिसुन्नं ॥

स्वप्न चैवम् ।

॥ (स्म चेहैव सप्त षष्ठितमे पत्रे विमिश्रिते) ॥

प्रसङ्गादायुः शरीरप्रमाणं च ।

(९) ऋषभाद् वीरस्य ।

उत्तमस्त भगवभो महावीरस्य य एगा सागरोवमकोटा-
कोडी अक्काहाए अंतरे पसुत्ते ।

प्राकृतत्वेन श्रीऋषभ इति वाच्ये व्यत्ययेन निर्देशः कृतः एक-
सागरोवमकोटाकोटी द्वित्ववार्तिशता वर्षसहस्रैः किञ्चित्साधि-
कैरुनाऽप्यल्पत्वाद्विशेषस्याविशेषितोक्तेति स०। क६७०। वीर-
महापद्मयोः " सुलसीहसहसाई, वासा सत्तेव पंच मासाई ।
वीरमहापद्ममाणं, अंतरमेयं विणिहिट्टुं " ति० ।

[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरं यथा ।

चंदमण्डलस्स एं भंते ! चंदमण्डलस्स चंदमण्डलस्स केवइआए
अवाहाए अंतरे पसुत्ते ? गोयमा ! पणतीसं पलतीसं
जोअण्णाई तीमं च एगसट्टिजाए जोअणस्स एगस—
ट्टिजागं च एगं सत्तेहा उच्चा चत्वारि तुप्पिअजाए
चंदमण्डलस्स ९ अवाहाए अंतरे पसुत्ते ।

चन्द्रमण्डलस्य मन्दन्त ! चन्द्रमण्डलस्य कियत्था अवाधया
अन्तरं प्रहसं गौतम ! पञ्चविंशत्योजनानि त्रिंशच्चैकषष्टिभागान्
योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तत्रिंशत्वा चतुरदशस्यैका-
भागान् एतच्च चन्द्रमण्डलस्य अवाधया अन्तरं प्रहसम अत्र
अप्रमत्तवारिदशस्यैका यथा समभवन्ति तथान्तरं व्यावृत्तस्य
जं ७ वट्ठ० ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरमाह ।

चंदातो सूरस्स य, सूरु चंदस्स अंतरं होइ ।

पष्सासहस्साई, तु जोयणाणं अण्णुणाई ॥ २७ ॥

सूरस्स च सूरस्स य, ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।

वही तु माणुसनगस्स, जोयणाणं सतसहस्सं ॥ २८ ॥

मानुषनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं
चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं
लक्षम् । तथाहि चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्रा व्यवस्थि-
ताश्चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि
(५००००) ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं योजनानां
लक्षं भवतीति सु० प्र० १९ पाटु० । (६० प०)

वे जोयणाणि सूरस्स, मंडझाणं तु हवइ अंतरिया ।

चंदस्स वि पणतीसं, साहीया होइ नायव्वा ॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्त-
रमेवान्तर्ध्वं भट्टजादित्वात् स्वार्थे यणप्रत्ययः ततस्तीत्यविवक्षायां
ङीप्त्यये आन्तरी अन्तरमेव आन्तर्ध्वं आन्तरिका जवति
हे योजने पुनश्चन्द्रस्य आन्तरिका भवति ज्ञातव्या पञ्चविंशत्यो-
जनानि साधिकानि पञ्चविंशत् योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टि-
भागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशद्विंशस्य
सत्कामन्तरावो प्राण इत्यर्थः ज्यो० १० पाटु० ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबुद्वीपे एं जंते ! दीवे ताराए अ ताराए अ केवइ अवाहाए
अंतरे पसुत्ते गोयमा ! दुविहे अंतरे पसुत्ते तंजहा बाघाए अ
निव्वाग्याए अ । निव्वाघाए जहस्येणं पंचधसुसयाई लको-
सेणं दो गाउआई । बाघाए जहस्येणं दोषि ठावडे जोअण-
सए उकोसेणं बारस जोअणसहस्साई । दोषि अ बायाले
जोअणसए तारावस्स तारावस्स अवाहाए अंतरे पसुत्ते

जम्बुद्वीपे मन्दन्त ! द्वीपे तारायास्तारायाश्च कियद्बाधया अ-
न्तरं प्रहसं जगवानाह । गौतम ! द्विविधं व्याघातिकं निर्व्याघा-
तिकं च । तत्र व्याघातः पर्वतादिस्फुरन्नं तत्र भयं व्याघातिकं
निर्व्याघातिकं व्याघातिकाभिर्गतं स्वाभाविकमित्यर्थस्तत्र यन्नि-
र्व्याघातिकं तज्जघन्यतः पञ्चधनुःसतानि उत्कृष्टतो द्वे गव्युते
एतच्च जगत्स्वभावादेवावगन्तव्यं यच्च व्याघातिकं तज्जघन्यतो
द्वे योजनशते पद्मषष्ठधिके एतच्च निष्प्रकृटादिकमपेक्ष्य वेदि-
तव्यं तथाहि निष्प्रपर्वतः स्वभावतोऽप्युच्चैश्चत्वारि योजनशता-
नि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतोच्चानि कूटानि तानि च मूलं
पञ्चयोजनशतान्यावामविष्कम्भजान्यां मध्ये त्रीणि योजनशतानि
पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अर्द्धतृतीये द्वे योजनशते तेषां चोप-
रितनमागसमश्रेणिप्रदेशे तथा जगत्स्वाभाव्यादृष्टावष्टौ योजना-
न्यबाधया कृत्वा ताराविमानानि परिभ्रमन्ति ततो जघन्यतो व्या-
घातिकमन्तरं द्वे योजनशते पद्मषष्ठधिकं जवतः उत्कर्षतो द्वाद-
शयोजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्वित्ववार्तिशदधिके । एतच्च
मेरुमपेक्ष्य छल्लयम् । तथाहि मेरौ दशयोजनसहस्राणि मेरो-
भ्योभयतोऽबाधया एकदशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि ततः
सर्वसंख्यामीढने भवन्ति द्वादश योजनसहस्राणि द्वे च योजने
शते द्वित्ववार्तिशदधिके एतत्तारागुपस्य अन्तरं प्रहसमिति जं०
७ वट्ठ० । जी० । जं० प्र० ।

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

ता केवतियं तं दुवे सूरिया अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो ढ पक्खित्तिओ पणत्ताओ तत्थ एगे एवमाहंसु ता एगं जोयणसहस्सं एगं च तेतीसं च जोयणसतं अस्ममस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहिताति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अन्नम-मस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु । ता एगे जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसयं अस्ममस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । ३ । एगं दीवं एगं समुदं अस्ममस्स अंतरं कट्टु । ४ । दो दीवे दो समुदे अस्ममस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति । ५ । ति नि दीवे ति नि समुदे अन्नमन्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहिपति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । ६ । वयं पुण एवं बयासी ता पंच पंच जोयणां पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अस्ममस्स अंतरं अजिवट्टेमाणे वा निवट्टेमाणे वा सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तत्थ एं को हेओ त्ति वदेज्जा ता अयणं जंवूदीवे दीवे जाव परिवेवेणं पणत्ते ता जदा एं एगे दुवे सूरिया सव्वज्जंतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति तदा एं एवणउतिजोयणसहस्साइं ढ चच्चात्ते जोयणसते अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तता एं उत्तमकट्टपत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे जवति जट्टाणिया दुवात्तसमुहुत्ता राई भवति ते णिक्खममाणा सूरिया एवं संवच्चरं अयमिणे पढमंसि अहोरत्तंसि अर्द्धिनतरांतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । ता जता एं एते दुवे सूरिया अभितरांतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति तदा एं नवनउति जोयणसहस्साइं ढ पणत्ताले जोयणमते पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तता एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ता राती जवति । दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया ते णिक्खममाणे सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि अर्द्धिभतरं तच्चं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति ता जता एं दुवे सूरिया अर्द्धिभतरं तच्चं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति तया एं नवनउदं जोयणसहस्साइं ढ इक्कावणियजोयणमए णव य एगट्ठिभागे जोयणस्स अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिपति वदेज्जा । तदा एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणो दुवालसमुहुत्ता राई जवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्ते-

हिं अधिया । एवं खलु एते एवाएणं णिक्खममाणा एगे दुवे सूरिया तता एंतरतो तदांतरं मंरुलातो मंरुलं संक्रममाणा संक्रममाणा पंच पंच जोयणां पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंरुले अस्ममस्स अंतरं अधिवट्टेमाणा अभिवट्टेमाणा सव्वबाहिरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति तता एं एगं जोयणसतसहस्सं ढच्च सट्ठिजोयणसते अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता एं उत्तमकट्टपत्ता उक्कोसिया अट्टारसमुहुत्ता राई जवति जट्टाणिया दुवात्तसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस एं पढमे ढम्मामे एस एं पढमस्स ढम्मामस्स पज्जवसाणे ते य वि समाणे दुवे सूरिया दोच्चे ढम्मामे अयमीणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिरांतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया बाहिरांतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति तदा एं एगं जोयणसयसहस्सं ढच्च चउप्पणं जोयणसते छत्तीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तदा एं अट्टारसमुहुत्ता राई भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं आहिपति ते पविसमाणा सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति ता जता एं एते दुवे सूरिया बाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । तता एं एगं जोयणसयसहस्सं ढच्च अरुयाले जोयणसते वावणं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता एं अट्टारसमुहुत्ता राई भवति । चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे जवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिपति । एवं खलु एते एवाएणं पविसमाणा एते दुवे सूरिया ततांतरतो तदांतरं मंडलाओ मंरुलं संक्रममाणा पंच पंच जोयणां पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अस्ममस्स अंतरं णिवट्टेमाणे णिवट्टेमाणे सव्वज्जंतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वज्जंतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । तता एं एवणउतिजोयणसहस्साइं ढच्च चत्ताले जोयणसते अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता एं उत्तमं कट्ट पत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति जट्टाणिया दुवात्तसमुहुत्ता राई जवति । एस एं दोच्चे ढम्मामे एस एं दोच्चस्स ढम्मामस्स पज्जवसाणे । एस एं आइच्चे संवच्चरे एस एं आइच्चसंवच्चरस्स पज्जवसाणे चउत्थं पाहुरुपाहुरुं समत्तं ।

(ता केवयं पए दुवे सूरिया इत्यादि) ता इति प्राञ्च

पतौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपगतौ कियत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति भगवान् वदेत् एवं जगवन्ता गौतमेन प्रश्ने कृते सति शेषकुमतविषयतत्त्वबुद्ध्युदासार्थं परमतरूपाः प्रतिपत्तीर्द्शयति । “तत्थ खलु इमाग्नो इत्यादि” तत्र परस्परमन्तरचिन्तायां खलु निश्चितमिमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः षट् प्रतिपत्तयो यथास्वरुचिवस्त्वव्युपगमवृक्षणास्तैस्तैस्तीर्थान्तरगौरैराश्रीयमाणाः प्रवृत्तास्ता एव दर्शयति “तत्थेगे इत्यादि” तेषां षष्ठां तत्प्रतिपत्तिरूपकाणां तीर्थकानां मध्ये एके तीर्थान्तरायाः प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येवमाहुः “ता एगमित्यादि” ता इति पूर्ववद्भावनीयम् एकं योजनसदस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परस्यान्तरं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चारं चरतश्चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहारमाह । “ एके एवमाहुरिति ” । एवं सर्वत्राप्यङ्कुरयोजना कर्त्तव्या । एके पुनर्द्वितीयास्तृतीयान्तराया एवमाहुरेकं योजनसदस्रमेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके तृतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसदस्रमेकं च पञ्चविंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनश्चतुर्था एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रौ परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके षष्ठाः पुनरेवमाहुः त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति । एते च सर्वे तीर्थान्तराया मिथ्यावादिनोऽप्यथार्यवस्तुव्यवस्थापनात् । तथा चाह (वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरासादितकेवलज्ञानलाभाः परतीर्थिकस्यापितवस्तुव्यवस्थाव्युदासेन एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमुपलभ्य वदामः । कथं वदथ सूर्यं जगवन्त इत्याह (ता पंचेत्यादि) ‘ता इति’ आस्तामन्यद्वक्तव्यमिदं तावत्कथ्यते द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्कामन्तौ प्रतिमण्डलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणे निवर्चयन्तौ वाशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये (निबुद्धे-माणा वा इति) सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्तौ प्रतिमण्डलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं च एकषष्टिभागान् योजनस्य निर्वर्चयन्तौ पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणात् हापयन्तौ वाशब्दः पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये सूर्यौ चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । एवमुक्ते भगवान् गौतमो निजशिष्यनिःशङ्कितत्वव्यवस्थापनार्थं नृपः प्रश्नयति । (तत्थमित्यादि) तत्र एवंविधाया वस्तुतत्त्वव्यवस्थाया अदगमे को हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेत् भगवान्माह (ता अयन्नमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत्परिपूर्णं स्वयं परिभाषनीयम् । (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्याङ्गकारे एतौ जम्बूद्वीपप्रसिद्धौ जारतैरावतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसदस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरेमण्डले द्वयोः सूर्ययोः परस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपो योजनलक्षप्रमाणविष्कम्भस्तत्रैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरति । द्वितीयोऽप्यशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य अशीत्यधिकं च शतं द्वाभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि (३६०) नवत्रिं

एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाल्लङ्घ्यरूपादपनीयन्ते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरे द्वयोःपि सूर्ययोश्चरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षे प्रातः उत्कर्षक उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति जघन्या सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः (ते निष्कमममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तौ द्वावपि सूर्यौ निष्कामन्तौ नव सूर्यसंवत्सरमाददानौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमे अहोरात्रे (अग्निभतराण्तरमिति) सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा एतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्येत्येतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतश्चरन्तावाख्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्य अपरे च द्वे योजने विक्रम्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मण्डले चरति । एवं द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते गुणिते च सति पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति एतावदधिकपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्र प्राप्यते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति द्वाभ्यां (एगद्विभागमुहुत्तेहिं ति) मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनः । द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका (ता निष्कमममाणा इत्यादि) ततस्तस्मादपि द्वितीयान्मण्डलान्निष्कामन्तौ सूर्यौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य द्वितीये अहोरात्रे अभ्यन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा णमिति पूर्ववत् एतौ द्वौ सूर्यौ अभ्यन्तरतृतीयं सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा तस्मिंस्तृतीयमण्डलचारचरणकाले नवनवतियोजनसहस्राणि षट् च शतानि एकपञ्चाशदधिकानि योजनानां नव चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत्, तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरकरणमिति चेदुच्यते इहाप्येकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरद्वितीयमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने विक्रम्य चारं चरति द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजनेऽष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति । एतावत्पूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्राधिकं प्राप्यते इति भवति यथोक्तमन्त्रान्तरपरिमाणम् (तया णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले चारं चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति चतुर्भिः [एगद्विभागमुहुत्तेहिं ति] प्राकृतत्वात्पदव्यत्यासस्ततोऽयमर्थः मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूनः, द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिका (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमेतेनोपायेन प्रतिमण्डलमेकतोऽप्येकः सूर्यो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् विक्रम्य चारं चरत्यपरतोऽप्यपरः सूर्योऽपीत्येवंरूपेण निष्कामन्तौ एतौ जम्बूद्वी-

पगतौ द्वौ सूर्यौ पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्तदनन्तरान्महासदनन्तरं
मण्डलं संक्रमन्तौ एकैकस्मिन्मण्डले पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तर-
परिमाणापेक्षया पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशत् चैकपृष्ठिभागा-
न् योजनस्य परस्परमन्त्रिवर्द्धयन्तौ नवसूर्यसंयत्सरसत्के अशी-
त्यधिकशततमे अहोरात्रे प्रथमपणमासपर्यवसानभूते सर्व-
बाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः । (ता जया णमित्यादि)
ततो यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं
चरतस्तदा तावेकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि पृष्ठधिकानि
(१००६६०) परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । कथमेतद्व-
सेयमिति चेत् उच्यते इह प्रति मण्डलं पञ्च योजनानि पञ्चत्रिं-
शच्चैकपृष्ठिभागा योजनस्येत्यन्तरपरिमाणचिन्तायामभिवर्द्धमा-
नं प्राप्यते सर्वाङ्ग्यन्तराच्च मण्डलात्सर्वबाह्यं मण्डलं ज्यशी-
त्यधिकशततमं ततः पञ्च योजनानि ज्यशीत्यधिकेन शतेन गु-
ण्यन्ते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि योजनानामेकप-
ृष्ठिभागाश्च पञ्चत्रिंशत्संख्यारूपज्यशीत्यधिकेन शतेन ण्यन्ते
जातानि तेषां चतुःषष्टिशतानि पञ्चोत्तराणि (६४०५) तेषामे-
कपृष्ठया भागे हृते द्वयं पञ्चोत्तरं योजनशतम् (१०५)
एतन्प्राक्तेन योजनराशौ प्रक्षिप्यते जातानि दश शतानि विंश-
त्यधिकानि योजनानि (१०७०) एतत्सर्वाङ्ग्यन्तरमण्डलगता-
न्तरपरिमाणे नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि चत्वारिंश-
दधिकानि (६६६४०) इत्येवंरूपे प्रक्षिप्यते ततो यथोक्तं सर्व-
बाह्ये मण्डले अन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा
सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता परमप्रकर्षप्रा-
प्ता उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति जघन्यश्च द्वादशमुहूर्तो
दिवसः “एसणं पढमे उम्मासे” इत्यादि प्राभवन् (ते पविसमाणा
इत्यादि) तौ ततः सर्वबाह्यान्मण्डलादङ्ग्यन्तरं प्रविशन्ताः ।
सूर्यौ द्वितीयपणमासमाददानौ द्वितीयस्य पणमासस्य प्रथमे
अहोरात्रे बाह्यान्तरं सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाङ्गनन्तरं द्वितीयं
मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा
एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मन्तरमर्वाङ्गं द्वितीयं मण्डलमुपसं-
क्रम्य चारं चरतस्तदा एकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतुः-
पञ्चादशधिकानि षट्त्रिंशति चैकपृष्ठिभागान् योजनस्य परस्पर-
मन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्यातविति वदेत् कथमंता-
वतस्त्रिःसर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाङ्गं द्वितीये मण्डले परस्परमन्त-
रकरणमिति चेत् उच्यते इहैकोऽपि सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलगतान्-
ष्टाचत्वारिंशदेकपृष्ठिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने
अङ्ग्यन्तरं प्रविशन्सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाङ्गं द्वितीये मण्डले
चारं चरति अपरेऽपि ततः सर्वबाह्यगतादन्तरपरिमाणाद्वा-
न्तरपरिमाणं पञ्चत्रिंशत्तैः पञ्चत्रिंशता चैकपृष्ठिभागैर्वाङ्गं ज-
नस्ये नं प्राप्यते इति नवति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् [तथा ण-
मित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मन्तरादर्वाङ्गं द्वितीयमण्डलचारचरण-
काले अष्टादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति द्वाभ्यां तु मुहूर्तैकपृष्ठिभागा-
न्यामनाः, द्वादशमुहूर्तो दिवसो दान्यां मुहूर्तैकपृष्ठिभागान्याम-
धिकः [ते पविसमाणा इत्यादि] ततस्तस्मादपि सर्वबाह्यमण्डला-
दर्वाङ्गं द्वितीयमण्डलादङ्ग्यन्तरं प्रविशन्तौ तौ द्वौ सूर्यौ द्वितीय-
स्य पणमासस्य द्वितीये अहोरात्रे (बाहिरतच्चंति) सर्वबाह्यान्म-
ण्डलादर्वाङ्गं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता ज-
या णमित्यादि) तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वा-
ङ्गं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा एकं योजनश-
तसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चा-

शतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः प्रागुक्तयुक्त्या पूर्वमएकलगतादन्तरपरिमाणोदन्तान्तरपरिमाण-
मस्य पञ्चनिर्याजैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य हीन-
त्वात् [तथा एमित्यादि] तदा सर्वब्रह्मान्मएकलतादर्वाक्तनतृती-
यमएकलचारचरणकात्रे अष्टदशमुहूर्ता रात्रिर्भवति चतुर्भिर्मु-
हूर्तैरेकषष्टिभागैः । द्वादशमुहूर्ता दिवसश्चतुर्जिह्वैरेकषष्टिभागे-
मुहूर्तरधिकः [एवं खलु इत्यादि] एवमुक्तप्रकारेण खलु नि-
श्चितमेतेनोपायेन एकतोऽप्येकः सूर्याऽभ्यन्तरं प्रविशन् पूर्वपूर्व-
मएकलगतादन्तरपरिमाणोदन्तरे विवक्षितं मएकत्रे अन्तरप-
रिमाणं याष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् छे च योजने हापय-
त्यरतोऽप्यपरः सूर्य इत्येवंरूपेण एतौ जम्बूद्वीपगतौ सूर्यौ तद-
न्तरान्मएकलतादन्तन्तरमएकलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मएकत्रे
पूर्वपूर्वमएकलगतादन्तरपरिमाणान् अनन्तरे अनन्तरे विव-
क्षितं मएकत्रे पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान्
योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाणं निर्येष्टयन्तौ हापयन्तादित्य-
र्थः । द्वितीयस्य षण्मासस्य त्र्यशीत्याधिकशततमे अहोरात्रे स-
र्वसंवत्सरपर्यवसाननूते सर्वाज्यन्तरं मएकलमुपसंक्रम्य चारं
चरतः [ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्य-
न्तरं मएकलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनस-
हस्राणि यद् योजनशतानि चत्वारिंशानि चत्वारिंशदधिकानि
परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । अत्र चैवंरूपान्तरपरिमाणे
भावना प्रागेव कृता शेषं सुगमम् । सू० प्र० १ पाहु० । च० प्र० ।
ज्यो० । मं० । जं० । [मन्दरात् कियत्याऽबाधया ज्योति-
ष्का इत्यादि श्रवाहा शब्दे]

(१४) धातुकीखण्डस्य चारणामन्तरं यथा ।

धायइसंस्स एं जंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एम
णं केवतिय अवाहए अतरे पस्सत्ते ? गोयमा ! दस जौयण-
सतसहस्साइं सत्तावीमं च जौयणसहस्साइं सत्त य पण-
तांसे जो ५० सते तिस्सि य कोसे दारस्स य दारस्स य आ-
वाहाए अतरे पस्सत्ते ।

घातकीखण्डस्य भदन्त! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्पर-
मेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरितत्वाद् (व्या-
घातेन) व्यवधानेन प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! दश योजनशतस-
हस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चविंशानि द्वार-
स्य परस्परमन्तरमबाधया प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य
द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं साध्दानि चत्वारि
योजनानि । ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने
जातान्यष्टादश योजनानि तान्यनन्तरोक्तात्परिखापरिमाणात्
(४११०६६१) शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदमेक-
चत्वारिंशल्लक्षा दश सहस्राणि नव शतानि त्रिचत्वारिंशदधि-
कानि (४११०६४३) एतेषां चतुर्भिर्भागे द्वेते लब्धं यथोक्तं
द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तं च “ पण्तीसा सप्त सया, स-
त्तावीसा सहस्स दस लब्धा । धायइसंडे दारं-तरं तु अवरं
च कोसतिथं ” जी० ३ प्रति० ।

(१५) नन्दनवनस्याधस्तनाश्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काण्ड-
स्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

नंदएवणस्स एं हेट्ठिआओ चरमंताओ सोगंधियस्स कं-
मस्स हेट्ठिआ चरिमंते एस एं पंचार्साइं जोयणसयाइं अ-
बाहाए अंतर पम्भत्ते ॥

नन्दनवनस्य मेरोः पञ्चयोजनशतोच्छ्रितायां प्रथममेखलायां
न्यवस्थितस्याधस्त्याच्चरमान्तात् सौगन्धिककाण्डस्य रत्न-
प्रभापृथिव्याः खरकाण्डाभिधा १२थमकाण्डस्यावान्तरका-
ण्डभूतस्याष्टमस्य सौगन्धिककाभिधानरत्नमयस्य सौ-
गन्धिककाण्डस्याधस्त्यश्चरमान्तः पञ्चाशीतियोजनशतान्य-
न्तरमाश्रित्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेरोः सम्बन्धीनि
प्रत्येकं सहस्रप्रमाणत्वादवान्तरकाण्डानामष्टमकाण्डमशीति-
शतानीति । स० ।

(१६) नरकपृथ्वीनां रत्नप्रभाकाण्डानामन्तरम् ।

इमी से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-
रिमंतातो हेडिद्धे चरिमंते एस एं केवतियं अवाधाए अंतर
पण्त्ते ? गोयमा ! असी उत्तरं जोयणससहस्सां अवा-
धाए अंतरे पण्त्ते । इमी से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढ-
वीए उवरिद्धातो चरिमंतातो खरकण्डस्य हेडिद्धे चरिमंते
एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे पण्त्ते ? गोयमा ! सा-
लस जोयणसहस्सां अवाधाए अंतरे पण्त्ते । इमी-
से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो चरिमंतातो
रयणस कण्डस्य हेडिद्धे चरिमंते एस एं केवतियं अवा-
धाए अंतरे पण्त्ते ? गोयमा ! एकं जोयणसहस्सं अवाधाए
अंतरे पण्त्ते ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथ-
मस्य खरकाण्डविभागस्य (उवरिद्धातो इति) उपरितना-
च्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनश्चरमान्तश्चरमपर्यन्तः (एस
णमित्यादि) एतत्सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं किय-
योजनप्रमाणम् अवाधया अन्तरव्याघातरूपया प्रज्ञप्तं भग-
वानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाण-
मन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए रयणकण्डस्य
उवरिद्धातो चरिमंतातो वडरस कण्डस्य उवरिद्धे चरिमंते
एस एं भंते ! केवतियं अवाधाए अंतरे पण्त्ते ? गोयमा !
एकं जोयणसहस्सं अवाधाए अंतरे पण्त्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः
रत्नकाण्डस्य उपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो वज्रकाण्डस्योप-
रितनश्चरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमवाधया प्रज्ञप्तं
भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं रत्न-
काण्डाधस्तनचरमान्तस्य वज्रकाण्डोपरितनचरमान्तस्य च
परस्परसंलग्नतया उजयत्रापि तुल्यप्रमाणजावात् ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-
रिमंतातो वडरस कण्डस्य हेडिद्धे चरिमंते एस एं भंते !
केवतियं अवाधाए अंतरे पण्त्ते गोयमा ! दो जोयणसह-
स्सां अवाधाए अंतरे पण्त्ते एवं जाव रिट्ठस्य उवरिद्धे
पन्नरस जोयणसहस्सां हेडिद्धे चरिमंते सोलम जोयणस-
हस्सां ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् वज्रकाण्डस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतत् अन्तरं

कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे
अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं काण्डे काण्डे द्वौ द्वौ चावाप-
कौ वक्तव्यौ काण्डस्य चाधनस्तने चरमान्ते चिन्त्यमानं योज-
नसहस्रपरिवृद्धिः कर्त्तव्या यावत् रिष्टस्य काण्डस्याधस्तने
चरमान्ते चिन्त्यमाने षोडश योजनसहस्राणि अवाधया प्रज्ञप्त-
मिति वक्तव्यम् जी० ३ प्रति० ।

इमी से एं रयणप्पजाए पुढवीए वडरकण्डस्य उवरि-
द्धातो चरिमंतातो दोहियक्खकण्डस्य हेडिद्धे चरिमंते एस
एं तिन्नि जोयणसहस्सां अवाधाए अंतरे पण्त्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अयमिह ज्ञावार्थः रत्नप्रभापृथिव्याः
प्रथमस्य पोरुशविभागस्य खरकाण्डाभिधानकाण्डस्य वज्रका-
ण्डं नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैकूर्यकाण्डं तृतीयं बोहिताकका-
ण्डं चतुर्थं तानि च प्रत्येकं साहस्रिकाणीति त्रयाणां यथोक्तमन्तरं
जवतीति स० ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-
रिमंतातो पंकवहुलस्य कण्डस्य उवरिद्धे चरिमंते एस एं
अवाधाए केवतियं अंतरे पण्त्ते ? गोयमा ! सोलस जो-
यणसहस्सां अवाधाए अंतरे पण्त्ते हेडिद्धे चरिमंते एकं
जोयणसयसहस्सं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्योपरितनाच्च-
रमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्य काण्डस्योपरितनश्चरमान्तस्तत्
कियत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम !
पोरुश योजनसहस्राणि अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । [इमी से
णमित्यादि] अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्ड-
स्योपरितनात् चरमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्योपरितनश्च-
रमान्त एतदन्तरं कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम !
एकं योजनशतसहस्रमवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

पंकबहुलस्य णं कण्डस्य उवरिद्धातो चरिमंतातो हेडिद्धे
चरिमंते एस एं चोरासीजोयणसयसहस्सां अवाधाए
अंतरे पण्त्ते ॥

श्रेयांसजिनं पङ्कबहुलं कण्डं द्वितीयं तस्य च बाहल्यं चतुरशी-
तिः सहस्राणीति यथोक्तसूत्रार्थ इति स० ।

आयबहुलस्य उवरि एकं जोयणसयसहस्सं हेडिद्धे चरि-
मंते असी उत्तरं जोयणसयसहस्सं । घणोदधिस्य उवरिद्धे
असी उत्तरं जोयणसयसहस्सं हेडिद्धे चरिमंते दो जोय-
णसयसहस्सां ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् परतोऽव्यबहुलस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतदन्त-
रं कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! अशीत्युत्तरं यो-
जनशतसहस्रं घनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्ठे एतदेव निर्वच-
नमशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम् । अधस्तने पृष्ठे इदं निर्वचनं द्वे
योजनशतसहस्रे अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

(१७) रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेः ॥

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए घणवातस्य उव-
रिद्धे चरिमंते दो जोयणसयसहस्सां हेडिद्धे चरिमंते असं-
खेज्जां जोयणसयसहस्सां इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए

पुढवीए तणुवातस्स उवरिद्धे चरिंमंते असंखेज्जाइं जायण-
मतसहस्साइं अवाधाए अंतरे हेट्ठिद्धे वि संखेज्जाइं जायण-
मतसहस्साइं एवं उवासंतरं वि ।

घनवातस्योपरितने चरमान्ते पृष्ठे इवमेव निर्वचनं घनोदध-
धस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं सं-
लग्नत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमान्ते एतन्निर्वचनम् । असं-
ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रकृतम् । एवं
तनुवातस्योपरितने चरमान्ते अवकाशान्तरस्याप्युपरितने चरमा-
न्ते इत्यमेव निर्वचनं वक्तव्यम् । असंख्येयानि योजनशतसह-
स्राण्यबाधया अन्तरं प्रकृतमिति । सूत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रा-
पि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिज्ञावनीयः सुगमत्वात् ।

सकरप्पभाए णं भंते ! पुढवीए उवरिद्धातो चरिंमंतानो हेट्ठिद्धे
चरिंमंते एस णं केवतियं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते गोयमा !
वत्तीमुत्तरं जायणमतसहस्सं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते । सकर-
प्पजाए णं भंते ! पुढवीए उवरि घणोदधिसस हेट्ठिद्धे चरिंमंते
केवतियं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते गोयमा ! वावणुत्तरं जायणसय-
सहस्सं अवाधाए घणवातस्स असंखेज्जाइं जायणसहस्साइं प-
प्पत्ताइं एवं जाव उवासंतरस्स वि जाव अहेसत्तमाए । एवरं
जोसे जं बाहद्धं तेण घणोदही संबधेयव्वो बुद्धीए सकरप्प-
भाए अणुमारेण घणोदधिसहिताणं इमं पमाणं । बाबुयप्प-
भाए अडयालीमुत्तरं जायणमतसहस्सं पंकप्पभाए पुढवीए
चत्तालीमुत्तरं जायणमतसहस्सं धूमप्पजाए पुढवीए अट्ट-
तीमुत्तरं जायणमतसहस्सं तमाए पुढवीए छत्तीमुत्तरं
जायणमतसहस्सं अथस्सत्तमाए पुढवीए अट्टावीमुत्तरं जाय-
णमतसहस्सं जाव अहेसत्तमाए । एस णं भंते ! पुढवीए
उवरिद्धातो चरिंमंतानो उवासंतरस्स हेट्ठिद्धे चरिंमंते केव-
नियं अवाधाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! असंखेज्जाइं जाय-
णमतसहस्साइं अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

द्वितीयस्या नदन्त ! अस्याः पृथिव्या उपरितनाभरमान्तात्
परतो योऽधस्तनभरमान्त एतत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरं
प्रकृतं भगवानाह गौतम ! द्वात्रिंशदुत्तरं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकं
योजनशतसहस्रम् अबाधया अन्तरं प्रकृतं घनोदधेरुपरितने
चरमान्ते पृष्ठे एतदेव निर्वचनं द्वात्रिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम्
अधस्तने चरमान्ते पृष्ठे द्दं निर्वचनं द्विपञ्चाशदुत्तरं योजन-
शतसहस्रम् । एतदेव घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि
घनवातस्याधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशान्तरयोरु-
परितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्त-
व्यमसंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रकृतमिति
वक्तव्यमिति ज्ञावः (तस्मात् णं जंते इत्यादि) तृतीयस्या नदन्त !
पृथिव्या उपरितनाभरमान्तात् अधस्तनभरमान्त एतदन्तरं
कियत् अबाधया प्रकृतं भगवानाह । अष्टाविंशत्युत्तरम् अष्टा-
विंशतिसहस्राधिकं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रकृतम् ।
एतदेव घनोदधेरुपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्वचनम् अध-
स्तनचरमान्तपृच्छायामष्टाविंशत्युत्तरं योजनशतसहस्रम-
बाधया अन्तरं प्रकृतमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्योपरित-

ने चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवाताव-
काशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्र-
भायां तथा वक्तव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमपृथिवीविप-
यसुत्राण्यपि भावनीयानि जी० ३ प्रति०

छट्ठीए पुढवं ए वहुमज्जेदसभायाओ छट्ठस घणोदहि-
स्स हेट्ठिद्धे चरिंमंते एस णं एगूणासीतिजोयणसहस्साइं
अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

अस्य जावार्थः षष्ठपृथिवी हि बाह्व्यतो योजनानां षड् षो-
डश सहस्राणि भवन्ति । घनोदधयस्तु यद्यपि सप्तापि प्रत्येकं
विंशतिसहस्राणि स्युस्तथाप्येतस्य ग्रन्थस्य मतेन षष्ठ्यामसावे-
कविंशतिः संभाव्यते तदेवं षष्ठपृथिवीबाह्व्यार्कमष्टपञ्चाशत्
घनोदधिप्रमाणं चैकविंशतिरित्येवमेकोनाशीतिर्भवति । ग्रन्था-
न्तरमतेन तु सर्वघनोदधीनां विंशतियोजनसहस्रबाह्व्यत्वा-
त्पञ्चमीमाश्रित्येवं सूत्रमवसेयं यतस्तद्बाह्व्यमष्टादशोत्तरं षड्-
मुक्तं यत आह । “पढमा सीइसहस्सा, १ वत्तीसा २ अट्ठीस
३ वीसा य ४ । अट्ठार ५ सोव ६ अट्ठय, ७ सहस्सवक्खोवरिं
कुज्जत्ति” ॥ १ ॥ अथवा षष्ठ्याः सहस्राधिकोऽपि मध्यभागो
विवक्षित एवमर्थसूत्रकत्वाद्बहुशब्दस्येति ॥ १८ ॥

[१८] रत्नप्रभादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमी से णं जंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सकरप्पजाए य
पुढवीए केवइयं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! असंखे-
ज्जाइं जोअणसहस्साइं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते । सकर-
प्पजाए णं भंते ! पुढवीए बाव्यप्पजाए य पुढवीए केव-
इय एवं चेव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्त-
माए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवइयं अवाधाए
अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं
अवाधाए अंतरे पप्पत्ते । इमी से णं जंते ! रयणप्पभाए
पुढवीए जोइसियस्स केवइयं पुच्छा, गोयमा ! सत्तणउजो-
अणसए अवाधाए अंतरे पप्पत्ते ॥

“ इमी से णमित्यादि ” (अवाहे अंतरेत्ति) बाधा परस्परं
संश्लेषतः पीडनं न बाधा अवाधा तथा अबाधया, अबाधया
यदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्व-
र्थेषु वर्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थ-
मबाधाप्रहरणम् (असंखेज्जाइं जायणसहस्साइं ति) इह योजनं
प्रायः प्रमाणाद्गुलनिष्पन्नं ग्राह्यं “ नगपुढाविचिमाणां मिणसु-
यमाणुलेणं तु ” इत्यत्र नगादिग्रहणस्योपलक्षणत्वाद-
न्यथा आदित्यप्रकाशोदरेपि प्रमाणयोजनाप्रमेयता स्यात्तथा
बाधा लोकप्रायेषु तत्प्रकाशाप्राप्तिः प्राप्नोत्यात्माद्गुलस्यानिय-
तत्वेनाव्यवहाराङ्गतया रविप्रकाशस्योच्छ्रययोजनप्रमेयत्वा-
त्तस्य चातिलघुत्वेन प्रमाणयोजनप्रमितक्षेत्राणामप्राप्तिरिति ।
यच्चेष्टप्राग्भारायाः पृथिव्या लोकान्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रया-
द्गुलनिष्पन्नयोजनप्रमेयमित्यनुमीयते यतस्तस्य योजनस्योप-
रितनक्रोशस्य पञ्चागे सिद्धावगाहना धनुस्त्रिभागयुक्तत्रयस्त्रि-
शदधिकधनुःशतत्रयमानाऽभिहिता भावोच्छ्रययोजनाश्रयण-
त एषं युज्यत इति उक्तं च “ ईसिप्पभाराए, उवरिं खलु जो-
अणस्स जोकोसो । कोसस्स य छ्छाए, सिद्धाणोगाहणा
मणिय ति ” भ० १४ श० ७ उ० ।

[१६] निषधकूटस्य उपरितलाच्छिखरतलात्सम-
धरणितुलस्यान्तरम् ।

निसदकूमस्य णं उवरिल्लाओ मिहरतलाओ णिसदस्स
वासहरपव्वयस्स समभरणितत्थे एस णं नवजोयणसयाई
अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं नीलवंतकूडस्स वि ॥

(निसदकूडस्स णमित्यादि) इहायम्भावः निषधकूटं पञ्च-
शतोच्छ्रितं निषधश्च चतुःशतोच्छ्रित इति यथोक्तमन्तरम्भव-
तीति । स० ।

निषधपर्वतस्य रत्नप्रभाया बहुमध्यदेशभागो यथा ।

निमदस्स णं वासहरपव्वयस्स उवरिल्लाओ सिहरतलाओ
इमी से णं रयणप्पजाए पुढवीए पढमस्स कंरुस्स बहुम-
ज्जदेसभाए एस णं नवजोयणसयाई अवाहाए अंतरे प-
प्पत्ते एवं नीलवंतस्स वि ।

(टीका नास्तीति न गृहीता) स० १६२ पत्र.

[२०] पुष्करवरद्वाराणामन्तरम् ।

पुष्करवरस्स णं जंते! दीवस्स दारस्स य दारस्य य एस
णं केयतिथं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! “अरुया-
लसयसहस्सा, बावीसं खलु भवे सहस्साई । अगुणुत्तराई
चउरौ, दारंतरं पुष्करवरस्स ” ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम । अष्टचत्वारिंशत् योजन-
शतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि
एकोनसप्ततिद्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणम् ।
तथाहि चतुर्धामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश यो-
जनानि तानि पुष्करवरद्वीपरिरयपरिमाणात् (१६२८६८४)
इत्येवंरूपात् शोधयन्ते शोधितेषु च तेषु जातमिदमेका योज-
नकोटी द्विनवतिशतसहस्राणि एकोननवतिसहस्राणि अष्टौ
शतानि षट्सप्तत्यधिकानि (१६२८६८७६) तेषां चतुर्भिर्भागे
इते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं (४८२२४६६)
मिति जी० ३ प्रति ।

[२१] मन्दराद् गोस्तूभादीनामन्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
यूजस्स आवासपव्वयस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
अट्ठासीं जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं
चउसु वि दिसासु नेयव्वं स० १४६ पत्र ।

मेरोः पूर्वान्तात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रमा-
नत्वात् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तू-
भस्य व्यवस्थितत्वात्तस्य च सहस्रविष्कम्भत्वाद्यथोक्तः सूत्रा-
र्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिग्व्यवस्थितान् दका-
धभासशङ्खदकसीमास्थान् बेसन्धरनागराजनिवासपर्वताना-
श्रित्य बाध्यमत एवाह ‘एवं चउसु वि दिसासु नेयव्वमिति’ स० ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
यूभस्स णं आवासपव्वयस्स पञ्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
बायालीसं जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं
चउहिंसि पि दगभासे संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिल्लाओत्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपसृत्य गोस्तूभ-
स्यावासपर्वतस्य बेसन्धरनागराजसंबन्धिनः पाश्चात्यसीमा-

न्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति (एसंति) एत-
दन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि प्रहस्रमन्तरशब्देन विशे-
षोऽप्यभिधीयते इत्यत आह (अवाहाएत्ति) व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थः स० १०६ पत्र ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पञ्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
यूभस्स णं आवासपव्वयस्स पञ्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
सत्ताणउई जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं
चउहिंसि पि ।

भावाथोऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चा-
शत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तूभ इति यथोक्तमे-
वान्तरमिति स० १५२ पत्र ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स बहुमज्जदेसभागाओ गोयूजस्स
आवासपव्वयस्स पञ्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं वाणउई जो-
यणसहस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं चउाह वि आ-
वासपव्वयाणं ॥

भावाथो मेरुमध्यभागात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत् सहस्राणि
ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यतिक्रम्य गोस्तूभपर्वत इति
सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति । एवं शेषाणामपि स० १४९ पत्र ।

[२२] मन्दराज्ञौतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
यमदीवस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं सत्तसट्ठिं जोयणस-
हस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते ।

मेरोः पूर्वान्ताज्जम्बूद्वीपोऽपरस्यां दिशि जगतीबाह्यान्तर्पथव-
सानः पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावदस्ति ततः परं द्वादश-
योजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमद्रमध्ये गौतमद्वीपाजिधा-
नो द्वीपोऽस्ति तमधिकृत्य सूत्रार्थः सम्भवति । पञ्चपञ्चाशतो
द्वादशानां च सप्तषष्टित्वभावात् । यद्यपि सूत्रपुस्तकेषु गौतम-
शब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीवाजिगमादिषु लवणस-
मुद्रे गौतमचन्द्रविद्वीपान् विना द्विपान्तरस्याश्रयमाणत्वादि-
ति । स० १२५ पत्र ।

मंदरस्स पव्वयस्स पञ्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोयमदी-
वस्स पञ्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं एगूणसत्तरिं जोय-
णसहस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते ॥

लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य
द्वादशसहस्रमानः सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेभवने-
नालंकृतो गौतमद्वीपो नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो मेरोः
पश्चिमान्तादेकोनसप्ततिसहस्राणि भवन्ति पञ्चचत्वारिंशतो
जम्बूद्वीपसम्बन्धिनां द्वादशानामन्तरसम्बन्धिनां द्वादशानामेवं
द्वीपविष्कम्भसम्बन्धिनां च मीलनादिति ।

(२३) मन्दरस्य दक्षभासस्यान्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स दक्खिणिह्वाओ चरमंताओ दगभा-
सस्स आवासपव्वयस्स उत्तरिल्ले चरमंते एस णं सत्तासीं
जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं मंदरस्स पञ्च-
त्थिमिल्लाओ चरमंताओ संखस्स वा पुरत्थिमिल्ले चरमंते एवं
चेव मंदरस्स उत्तरिल्लाओ चरमंताओ दगसंमस्स आवा-

सपञ्चयस्स दाहिणिस्ते चरमंते एस एं सत्तासीइ जोयण-
सहस्साइ अवाहाए अंतरे पणत्ते स० १६० पत्र ।

महाहिमवतोऽन्तरं यथा ॥

महाहिमवंतस्स वासहरपञ्चयस्स समधरणिंतले एस एं
सत्तजोयणसयाइ अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं रुप्पि-
कूस्स वि ॥

जावायोऽयं हिमवान् योजनशतद्वयोच्चित्तस्तकूटं च पञ्च-
शताच्चित्तमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० १४४ पत्र ।

महाहिमवंतकस्स एं उवरिमंताओ सोगंधियस्स कं-
स्म हेड्डिल्ले चरमंते एस एं सत्तासीइजोयणसयाइ अवा-
हाए अंतरे पणत्ते एवं रुप्पिकूस्स वि ।

महाहिमवति द्वितीयवर्षधरपर्वते अष्टौ सिंहायतनकूटमहा-
हिमवत्कूटादीनि कूटानि भवन्ति तानि पञ्चशतोच्चित्तानि तत्र
महाहिमवत्कूटस्य पञ्च शतानि चे शते महाहिमवत्तृतीयधरोच्च-
यस्य अशीतिश्च शतानि प्रत्येकं सहस्रमानानामष्टानां सौगन्धि-
ककाण्डावसानानां रत्नप्रभासरकाण्डावान्तरकाण्डानामित्येवं
मीलिते सप्ताशीतिरन्तरम्भवतीति । (एवं रुप्पिकूस्सवित्ति)
रुक्मिणि पञ्चमवर्षधरे यद् द्वितीयं रुक्मिकूटाभिधानं कूटं तस्या-
प्यन्तरं महाहिमवत्कूटस्येव वाच्यं समानप्रमाणत्वाद् द्वयो-
रपीति स० १३७ पत्र ।

महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्यान्तरं यथा ।

महाहिमवंतस्स एं वासहरपञ्चयस्स उवरिद्धाओ चरमं-
ताओ सोगंधियस्स कंस्म हेड्डिल्ले चरमंते एस एं बासीइ
जोयणसयाइ अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

महाहिमवतो द्वितीयवर्षधरपर्वतस्य योजनशतद्वयोच्चित्तस्य
(उवरिद्धाओत्ते) उपरितनाम्बरमान्तात् सौगन्धिककाण्डस्या-
धस्तनम्बरमान्तो द्यशीतियोजनशतानि कथं रत्नप्रज्ञापृथिव्यां
हि त्रीणि काण्डानि सरकाण्डपङ्ककाण्डाद्बहुलकाण्डानि सर-
काण्डं पङ्ककाण्डमन्बहुलकाण्डं चेति । तत्र प्रथमं काण्डं
बोरुहाविधं तद्यथा रत्नकाण्डं १ वज्रकाण्डम् २ एवं वैरूर्यं ३
लोहिताक ४ मसारगम्भ ५ हंसगर्ज ६ पुष्पक ७ सौगन्धिक ८
ज्योतीरसा ९ च्छना १० इज्जनपुष्पक ११ रजत १२ जातरूप १३
पङ्क १४ स्फटिक १५ रिष्टकाण्डं चेति १६ एतानि च प्रत्येकं सहस्र
प्रमाणानि ततश्च सौगन्धिककाण्डस्याष्टमत्वाद्दशीतिशतानि द्वे
च शते महाहिमवदुच्च्य इत्येवं अशीतिशतानीति एवं रुक्मि-
णोऽपि पञ्चमवर्षधरस्य वाच्यं महाहिमवत्समानोच्च्यत्वा-
त्तस्येति स० १६५ पत्र ।

(१४) लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरं यथा ।

लवणस्स एं समुद्रस्स पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ पञ्च-
त्थिमिद्धे चरमंते एस्स एं पंचजोयणसयसहस्साइ अवा-
हाए अंतरे पणत्ते ॥

तत्र जम्बूद्वीपस्य लङ्कं चत्वारि च लवणस्येति पञ्च । स०
१६५ पत्र० ।

(१५) लवणसमुद्रद्वाराख्यानन्तरं यथा ।

लवणस्स एं समुद्रस्स दारस्य य दारस्स य केवइयं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! तिस्मि जोयणसयसहस्साइ

पंचाणउइसहस्साइ दुस्मि य असीए जोयणसए कोसं
दारंतरे लवणे जाव अवाहाए अंतरे पणत्ते ॥

लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [एसणमिति] एत-
त् अन्तरं कियत्वा अवाधया अन्तरावत्वाद् व्याघातरूपया प्रज्ञप्तं
जगवानाह गौतम ! त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चनवति-
सहस्राणि अशीती द्वे योजनशते क्रोशधैको द्वारस्य द्वारस्यावा-
धया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं चत्वा-
रि योजनानि एकैकस्मिन् द्वारे एकैव द्वारशाखा क्रोशाहल्याद्
द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैकस्मिन् द्वारे सामस्येन चित्त्य-
माने सार्द्धयोजनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते चतुर्णामपि च द्वारणा-
मेकत्र पृथुत्वमीदृशे जातान्यष्टादश योजनानि तानि लवणसमु-
द्रपरिरयपरिमाणात् पञ्चदशशतसहस्राणि एकाशीतिः
सहस्राणि एकोनचत्वारिंशद्योजनशतमित्येवं परिमाणादपनीय
च यच्छेषं तस्य चतुर्भिर्भागैर्हृते यद्वागच्छति तत् द्वारणां पर-
स्परमन्तरपरिमाणं तच्च यथोक्तमेव । उक्तं च “असीया दोञ्जि
सया, पणनउइसहस्सतिस्मि लक्खा य । कोसो य अंतरे सा-
गरस्स दाराण विधेयं” जी० ३ प्रति ।

[१६] वरुवामुखादीनामधस्तनाम्बरमान्ताद्रत्न-
प्रज्ञाया अधस्तनम्बरमान्तः ।

वलयामुहस्स एं पायालस्स हिड्डिद्धाओ चरमंताओ
इमीसे रयणप्पजाए पुढवीए हेड्डिद्धे चरमंते एस एं
एगणासि जोयणसहस्साइ अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
केउस्स वि जूयस्स वि ईसरस्स वि ।

तत्र [वलयामुहस्सत्ति] वरुवामुखान्निधानस्य पूर्वदिग्व्यव-
स्थितस्य [पायालस्सत्ति] महापातालकलशस्याधस्तनचरमा-
न्ताद्रत्नप्रज्ञापृथ्वीचरमान्त एकोनाशीत्या सहस्रेषु जवति । कथं
रत्नप्रज्ञा हि अशीतिसहस्राधिकं योजनानां लङ्कं वादस्यते ज-
वति तस्याधैकं समुद्रावगाहसहस्रं परिहृत्याऽधो दक्षप्रमाणा-
वगाहो बलयामुखपातालकलशो भवति ततस्तन्मन्त्रान्तात्
पृथिवीचरमान्तो यथोक्तान्तरमेव जवति । एवमन्येऽपि प्रयो
वाच्या इति स० १३६ पत्र ।

[१७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

जोइसियस्स एं जंते ! सोहम्मीसाणाण य कप्पाणं
केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! असंखेज्जाइ जोअणसहस्साइ
जाव अंतरे पणत्ते सोहम्मीसाणाणं भंते ! सणकुमार-
माहिंदाण य केवइयं एवं चेव सणकुमारमाहिंदाणं भंते !
बंभल्लोगस्स कप्पस्स केवइयं एवं चेव बंभल्लोगस्स एं जंते !
लंतगस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव लंतगस्स एं जंते !
महासुकस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव महासुकस्स य
कप्पस्स सहस्सारस्स य एवं सहस्सारस्स आणयपाणयक-
प्पाणं एवं आणयपाणयाणं आरणच्चुयाणं कप्पाणं एवं
आरणच्चुयाणं गेविज्जगविमाणाण य एवं गेविज्जगविमा-
णाणं अणत्तरविमाणाण य एवं अणत्तरविमाणाणं जंते !
ईसिप्पन्भाराए पुढवीए केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! दुवालस
जोयणे अवाहाए अंतरे पणत्ते ज० १४ ग० ८ ख० ।

[टीका सुगमत्वाच्च गृहीता]

[विवक्षितस्वप्नावपरित्यागे सति पुनस्तद्वाचाप्राप्तिविरहे आनु-
पूर्वाद्द्रव्याणामन्तरम आणुपुर्वी शब्दे]

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरम ।

छुमत्यआहारगस्स एणं जेतं ! केवतियं कालं अंतरं होइ
गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं दो समय। केव-
त्तिआहारगस्स णं अंतरं अजहएणमणुक्कोमेणं तिणिण स-
मया छुमत्यअणाहारगस्स अंतरं जहएणेणं खुड्ढगभव-
ग्गहणं दुममऊणं उक्कोसेणं अमंखेज्जं काव्वं जाव अंगुल-
स्स अमंखेज्जतिभागं । सिक्खेवल्लिअणाहारगस्स सातं-
यस्स अपज्जवमियस्स एतिय अंतरं सजोगिजवत्यकेव-
ल्लिअणाहारगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं वि अंतो-
मुहुत्तं अजोगिजवत्यकेवल्लिअणाहारगस्स नतिय अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येन श्रुत्वाकभवग्रहणं
द्विसमयोनमुत्कर्षतोऽसंख्येयं काव्वं यावद्दुल्लस्यासंख्येयो भा-
गः याद्वानेव हि छद्मस्थस्याहारकस्य कालस्तदेव छद्मस्थाना-
हारकस्यान्तरं छद्मस्थानाहारकस्य च जघन्यतः कालोऽन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽसंख्येयाः उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुल-
स्यासंख्येयो भागः एतावन्तं काव्वं सनतमविग्रहेणोत्पादसंजया-
त् । ततः छद्मस्थानाहारकस्य च जघन्यतः उत्कर्षतश्चेतावदन्तरं
चेति जी० ३ प्रति० । [अधिकं खुड्ढगभवग्रहणशब्दे नवरम]
सयोगिभवस्थकेवल्लयनाहारकस्यान्तरमभिधित्सुराह । “ स-
जोगिभवस्थकेवल्लिअणाहारगस्स णं जेतं ” इत्यादि प्रश्नसूत्रं सु-
गमं जगवानाह । गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्त-
र्मुहूर्त्तं समुद्घातप्रतिपत्तेरन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तैर्न शैलेशीप्रतिपत्ति-
भावात् नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमवसातव्यम-
न्यथोभयपदोपन्यासाप्योगात् अयोगिभवस्थकेवल्लयनाहारकसु-
त्रे नास्त्यन्तरमयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एवं
सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराज्ञावो भाव-
नीयः जी० ३ प्रति० ॥

[२९] इन्द्रियमाश्रित्यान्तरम ।

एगिंदियस्स एणं भंते ! एगिंदियस्स अंतरं कालतो केव चिरं
होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरो-
वमसहस्साइं संखेज्जवासमग्गहियाइं । वेइंदियस्स एणं भंते !
अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतो-
मुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो एवं तेइंदियस्स वि चउ-
रिंदियस्स वि एरइयस्स वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स
वि मणूसस्स वि देवस्स वि सन्वेसिं अंतरं भाणियव्वं ॥

अन्तरचिन्तायामेकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वे सा-
गरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरयिकति-
र्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां जघन्यतः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो
वनस्पतिकालः [सर्व० जी० ८ प्रति] “एगिंदियस्स णं जेतं ! अंतरं
कालतो केव चिरं होइ” इति प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गौतम !
जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्चैकेन्द्रियादुद्भूतं द्वीन्द्रियादावन्तर्मुहूर्त्तं
स्थित्वा जूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यम् । उत्कर्षतो द्वे

सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके यावानेव हि व्रसकायस्य
कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं व्रसकायस्थितिका-
लश्च यथोक्तप्रमाण एव तथा वदयति । “ तसकाए णं भंते !
तसकायसि कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहु-
त्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासा अग्गहियाइं”
द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसूत्रेषु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तच्च पूर्वप्रकारे-
ण भावनीयमुत्कर्षतः सर्वत्रापि वनस्पतिकालः द्वीन्द्रियादिन्द्रियः
उद्भूतवनस्पतिषु यथोक्तप्रमाणमन्तरमपि काव्वमवस्थानात्
यथैवामूनि पञ्चसूत्राण्यन्तरविषयाण्यौघिकान्युक्तानि तथैव
पर्याप्तविषयाणि अपर्याप्तविषयाण्यपि भावनीयानि तानि चैवम् ।
“ एगिंदियअपज्जेत्तं ” इत्यादि एवं पञ्च पर्याप्तसूत्राण्यपि वक्तव्या-
नि । जी० ५ प्रति० । [उत्पादमधिकृत्यान्तरम उववाय शब्दे]

[३०] कपायमाश्रित्यान्तरम ।

कोइकसाईं-माणकसाईं-मायाकसाईं एणं भंते ! अंतरं ?
गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं लोभ-
कमायियस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि
अंतोमुहुत्तं कसाईं तदेव जहा हेडा ।

क्रोधकपायिणोऽन्तरं जघन्येनैकं समयं तदुपशमसमयानन्तरं
मरणे जूयः कस्यापि तदुदयात् उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव मानक-
पायिमायाकपायिसूत्रे अपि वक्तव्ये “ लोभकसायियस्स अंतरं
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अकसाईं तदेव
जहा हेडा ” । सर्व० जी० ४ प्रति० ।

कायमाश्रित्यान्तरम ।

पुढवीकाइयस्स एणं जेतं ! केवतियं कालं अंतरं होति
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो
एवं आउतेउवाउकाइयतसकाइयाण वि वणस्सइकायियस्स
पुढविकालो एवं पज्जत्तगाण वि वणस्सतिकालो । वणस्सइ-
काइयाणं पुढविकालो पज्जत्तगाण वि एवं चेव वणस्सति-
काव्वो पज्जत्ताणं वणस्सतीणं पुढविकालो ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं पृथिवी-
कायादुद्भूत्याऽन्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन
कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तकालः प्रागु-
क्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः पृथिवीकायादुद्भूत्यैना-
घन्तं काव्वं वनस्पतिष्ववस्थानसम्भवात् एवमभेजोवायुव्रस-
सूत्राण्यपि ज्ञावनीयानि वनस्पतिसूत्रे उत्कर्षतोऽसंख्येयं काव्वं
“असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ काव्वतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा”
इति वक्तव्यं वनस्पतिकायादुद्भूत्या पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते
च सर्वेष्वप्युत्कर्षतोऽप्येतावत्काव्वभावात् जी० ६ प्रति० ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं यथा ।

नेरइयस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्म-
तिकालो एवं मव्वाणं तिरीक्खजोणियवज्जाणं तिरीक्ख-
जोणियाणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसत-
पुहुत्तं सातिरेगं ॥

नैरयिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तच्च नरकादुद्भूतस्य तिर्य-
ग्मनुष्यगर्भे एवाशुभाध्यवसायेन मरणतः परिभाषनीयं सानु-
बन्धकर्मफलमेतदिति तात्पर्यार्थः । उत्कर्षतोऽनन्तं काव्वं स

चानन्तः कालो वनस्पतिकालो नरकादुद्भूतस्य पारम्पर्येणा-
नन्तं काष्ठं वनस्पतिव्यवस्थानात् तिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्यतोऽ-
न्तर्मुहूर्त्तं तच्च तिर्यग्योनिकसूत्रादुद्भूत्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा
त्रय तिर्यग्योनिकसूत्रेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यमुत्कर्षतः सागरो-
पमशतपृथक्च सातिरेकं तिर्यग्योनिकसूत्रे मनुष्यसूत्रे मानुषी-
सूत्रे देवसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः
जी० ७ प्रति० ।

नैरयिकस्य ।

नैरयमणुस्मदेवाणं य अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहूर्त्तं उ-
क्तेमेणं सागरोपमसपहूर्त्तं साङ्गेणं ॥

नैरयिकस्य भदन्त ! अन्तरं नैरयिकत्वात्परिप्रष्टव्यं भूय आ-
नैरयिकत्वप्राप्तेरपान्तरात् काष्ठतः कियच्चिरं भवति कियन्तं काष्ठं
यावद्व्यवतीत्यर्थः । भगवानाह जघन्यनान्तर्मुहूर्त्तं कथमिति चेत्
उच्यते नरकादुद्भूतं मनुष्यभवे तिर्यग्नये वा अन्तर्मुहूर्त्तं स्थि-
त्वा भूयो नरकेपृथग्वात् । तत्र मनुष्यभवे भावना इयं कश्चि-
न्नरकादुद्भूतं गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो
विशिष्टसंज्ञानोपेतो वैक्रियवृद्धिमान् राज्याद्याकाङ्क्षी परचक्रा-
द्युपडवमाकर्ण्य स्वशक्तिप्रभावतश्चतुर्ङ्गं सैन्यं विकुर्वित्वा सं-
ग्रामयित्वा महारौड्यानोपगतो गर्भस्थ एव काष्ठं करोति
कृत्वा च कालं ज्ञेयो नरकेपृथग्यते तत एवमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्नये
नरकादुद्भूतो गर्भज्युक्तान्तिकतः कुलमत्यत्येनोत्पन्नश्च महा-
रौड्यानोपगतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति
उत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठः परम्परया च वनस्पतिवृत्तादादवसात-
व्यस्तथाचाह वनस्पतिकालः स च प्रागेवाक्तः तिर्यग्योनिकवि-
षयं प्रश्नसूत्रं पूर्ववत् तिर्यचनं जघन्यनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च कस्यापि
तिर्यक्त्वेन मुक्त्वा मनुष्यभवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा ज्ञेयः तिर्यक्त्वे-
नोत्पद्यमानस्य द्रष्टव्यम् उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथ-
क्च तच्च नैरयैयं देवनारकमनुष्यप्रवध्रमणेनावसातव्यं मनु-
ष्यविषयमपि प्रश्नसूत्रं तथैव निर्वचनं जघन्यनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च
मनुष्यभवाद्भूतस्य तिर्यग्नयेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा ज्ञेयो मनुष्यत्वेनो-
त्पद्यमानस्यावसातव्यम् उत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं स चानन्तकालः
प्रागुक्तो वनस्पतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नसूत्रं सुगमं तिर्यचनं
जघन्यनान्तर्मुहूर्त्तं कश्चिन् देवतयाद् व्युत्वा गर्भजमनुष्यत्वे-
नोत्पद्य सर्वभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतस्तथा-
विधस्य श्रमणोपासकस्य वा धर्मध्यानोपगतो गर्भस्थ एव
काष्ठं करोति कालं च कृत्वा देवेपृथग्यते ततः एवमन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः काष्ठो यथोक्तस्वरूपो वनस्प-
तिकालः प्रतिपत्तव्यः जी० ४ प्रति० । (गुणस्थानकाव्याधि-
त्यान्तरं गुणछाणं शब्दे)

चरिमाणं भंते ! चरिमएत्ति कालतो केव चिरं होति
गोयमा ! चरिमे अणादिए सवज्जवासिए अचरिमे दुविहे
अणादिए वा अपज्जवासिए सार्ताए वा अपज्जवासिए
दोएहं पि नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसित-
स्य नास्त्यन्तरं चरमत्वापगमे सति पुनश्चरमत्वायोगात् अचरम-
स्यापि अनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्त्यन्तरं
विद्यमानश्चरमत्वात् जी० ४ प्रति० ।

ज्ञानमाश्रित्य जीधानामन्तरम् ।

आणिस्म अंतरं जहमेणं अंतोमुहूर्त्तं उक्तेमेणं णं काष्ठं

अवहं पोग्गलपरियट् देसुणं अन्नाणिस्स दोएह वि आदि-
द्वाणं एत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवासियस्स जहणेणं
अंतोमुहूर्त्तं उक्तेमेणं वावडिं सागरोवमाइं सातिरेकाइं ।

ज्ञानिनो भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति जगवानाह
गौतम ! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वेन
सदा तद्वाचापरित्यागात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्य-
नान्तर्मुहूर्त्तमेतावता मिथ्यादर्शनकाष्ठेन व्यवधानेन ज्ञेयोऽपि
ज्ञाननावान् उत्कर्षेण अनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पि-
ण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देसेनं सम्यग्दृष्टेः स-
म्यक्त्वान् प्रतिपतितस्य एतावन्तं कालं मिथ्यात्वमनुचूय तद-
न्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादनात् “अन्नाणिस्स णं जन्ते !” इत्या-
दि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादेवमनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं
मवातकेवलज्ञानस्य प्रतिपाताभावात् सादिपर्यवसितस्य जघ-
न्यनान्तर्मुहूर्त्तं जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्य एतावन्मात्रत्वात्
उत्कर्षतः पदपट्टि सागरोपमाणि सातिरेकाणि एतावतोऽपि काला-
दादृश्यं सम्यग्दर्शनप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

आजिनिबोधिकादेरन्तरम् ।

आजिणिबोहियणाणिस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहणेणं अंतोमुहूर्त्तं उक्तेमेणं अ-
णंतं कालं जाव अवहं पोग्गलपरियट् देसुणं एवं सुयणा-
णिस्स वि आहिणाणिस्स वि मणपज्जवणाणिस्स वि के-
वलणाणिस्स एं भंते ! अंतरं मादियस्स अपज्जवमिय-
स्स एत्थि अंतरं । मत्ति अणणाणिस्स णं भंते ! अंतरं
अणादियस्स अपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं । अणाइ-
यस्स सपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्ज-
वमियस्स जहणेणं अंतोमुहूर्त्तं उक्तेमेणं व्हावडिं साग-
रोवमाइं सातिरेगाइं एवं सुयणाणिस्स वि विजंगणाणि-
स्स एं भंते ! अंतरं जहणेणं अंतोमुहूर्त्तं उक्तेमेणं वण-
स्सइकाळो ।

अन्तरचित्तायामाभिनिबोधिकज्ञानिनोऽन्तरं जघन्यनान्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं देशानम् । एवं
श्रुतज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तरं वक्तव्यम् । केवलज्ञानिनः
साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं मत्यज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्चानाद्य-
पर्यवसितस्यानादिसपर्यवसितस्य च नास्त्यन्तरं सादिपर्यव-
सितस्य जघन्यनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पदपट्टिः सागरोपमाणि
विभङ्गज्ञानिनः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं वनस्प-
तिकालः जी० सर्वजी० ७ प्रति० । आ० चू० । ज० ।

(३२) व्रसस्थावरनोव्रसस्थावराणामन्तरम् ।

तस्स एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! ज-
हणेणं अंतोमुहूर्त्तं उक्तेमेणं वणस्मइकालो थावरस्स एं
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहणेणं अंतो-
मुहूर्त्तं उक्तेमेणं असंखेज्जाओ ओमप्पिणिउस्मप्पिणीओ ।
सुगमं नवरमसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्र-
तोऽसंख्येया लोका इत्येतावत्प्रमाणमन्तरं तेजस्कायिकवायु-

कायिकमध्ये गमनेनावसातव्यमन्यत्र गतावेतावत्प्रमाणस्यान्तरस्यासंभवात् “ तस्स णं भेत ! अंतरमित्यादि ” सुगमं नवरं “ उक्कोसेण वणस्सइकालो ” इति उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वक्तव्यः स चैवम् । “ उक्कोसेण अणंतं कावमणंतोओ उस्सप्पिणीओ कालतो खेत्तो अणंठा ढोगा असंखेज्जा पोगलपरियद्धा तेणं पोगलपरियद्धा आवलिया असंखेज्जइभागो ” इति एतावत्प्रमाणं चान्तरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यमन्यत्र गतावेतावतोऽन्तरस्यात्रज्यमानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तसस्स णं अंतरं वणस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो
तसस्स नो थावरस्स णत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० ५ प्रति० ।

दर्शनमाश्रित्य जीवानाम् ।

चक्रखुदंसणस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं ढक्कोसेणं
वणस्सत्तिकाद्धो अचक्रखुदंसणस्स तुविहस्स एत्थि अंतरं
ओहिदंसणस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं ढक्कोसेणं वणस्सइ-
कालो केवलदंसणस्स एत्थि अंतरं ।

अचक्षुर्दर्शनिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं प्रमाणेन अचक्षुर्दर्शनज-
बेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः
अचक्षुर्दर्शनिनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वा-
त् अनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अचक्षुर्दर्शनत्वापगमे
द्रूयोऽचक्षुर्दर्शनत्वायोगात् क्लीणघातिकर्मणः प्रतिपातासंभवात्
अवधिदर्शनिनो जघन्येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयानन्तर-
समय एव कस्यापि पुनस्तज्ज्ञाभभावात् कच्चिन्दन्तर्मुहूर्त्तमिति
पाठः स च सुगमः तावता व्यवधानेन पुनस्तज्ज्ञाभभावात् । न
चायं निर्मूलः पाठो मूलटीकाकारेणापि मतान्तरेण समर्थितत्वा-
त् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः तावतः काढादूर्द्धमवश्यमवधिदर्श-
नसंभवादनादिदिम्यादष्टेरप्यविरोधात् ज्ञानं हि सम्यक्त्वं स
चैव न दर्शनमपीति ज्ञावना केवलदर्शनिनः साद्यपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० ३ प्रति० ।

(३३) दृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

सम्मादिट्ठिस्स अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि
अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अववुं पोगलपरियइं देसूणं
मिच्छादिट्ठिस्स अणादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अं-
तरं अणादियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । साइय-
स्स सपज्जवसियस्स जहप्पेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं द्वाव-
ट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । सम्मामिच्छादिट्ठिस्स जह-
प्पेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अववुं पो-
गलपरियइं देसूणं ।

“सम्महिट्टिस्सणं जंते इत्यादि” प्रश्नसूत्रं सुगमं जगवानाह गौतम ! साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्त्यान्तर्मुहूर्तेन भूयः कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः । उत्कर्षतोऽनन्तकालं यावदपार्द्धं पुत्रपरावर्त्तं मिथ्यादृष्टिसूत्रेनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपरित्यागात् अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरमनादित्वात् अन्यथाऽनादित्वायोगात् । सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि सातिरैकाणि सम्यग्दर्शनकाल एव हि मिथ्यादर्शनस्य प्रायोऽन्तरं सम्य-

भर्द्शनकावश्च जयन्त्यत उत्कर्षतश्चैतावानिति । सम्यग्मिथ्याद-
ष्टिसूत्रे जयन्त्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्त्यान्तर्मु-
हूर्त्तं न ज्ञयः कस्यापि सम्यग्दर्शनभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं
यावदपार्द्धं पुञ्जलपरावर्त्तं देशेन यदि सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्र-
तिपतितस्य ज्ञयः सम्यग्मिथ्यादर्शनव्याजस्तत एतावता काष्ठेन
नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० (निर्यन्थानामन्तरं
निगन्ध शब्दे)

(३४) पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरम् ।

पञ्चत्तगस्स अंतरं जह्मोणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अ-
तोमुहुत्तं अपञ्चत्तगस्स जह्मणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं
सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं तद्दयस्स एत्थि अंतरं

अन्तरचित्तायां पर्याप्तकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमन्तरम् अपर्याप्तकाव एव हि पर्याप्तकस्यान्तरम् । अपर्याप्तकावस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम् अपर्याप्तकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं पर्याप्तकावस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोपर्याप्तनोअपर्याप्तस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

परीतानामन्तरम् ।

कायपरित्तस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सत्तिकाद्धो संसारपरित्तस्स एत्थि अंतरं कायअपरित्तस्स
जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंख्वेज्जं कालं । पुढवि-
कालो संसारअपरित्तस्स अणातियस्स अपज्जवसियस्स
एत्थि अंतरं । अणादियस्स सपज्जवासेयस्स एत्थि अंतरं
नोपरित्तणोअपरित्तस्स वि एत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं साधार-
णेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा जूयः प्रत्येकशरीरेष्वागमनात् उत्कर्षतो-
ऽन्तं कावं स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकाल-
स्तावन्तं कावं साधारणेष्ववस्थानात् । संसारपरीतविषयं प्रश्न-
सूत्रं सुगमं जगवानाह गौतम ! नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे
पुनः संसारपरीतत्वाज्जावात् मुक्तस्य प्रतिपातासंभवात् ।
कायापरीतसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्रत्येकशरीरेष्वन्तर्मुहूर्त्तं
स्थित्वा जूयः कायापरीतेषु कस्याप्यागमनसंज्ञवात् उत्कर्ष-
तोऽसंख्येयं कावं यावत् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः
कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरजव-
भ्रमणकाव्यस्योत्कर्षतोऽप्येतावन्मात्रत्वात् । तथा चाह । पृथि-
वीकाव्यः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरकाल इत्यर्थः । संसारापरी-
तसूत्रे अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वाद्नादिप-
र्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसार-
परीतत्वस्यासंभवात् । नोपरीतनोअपरीतस्यापि साद्यपर्यव-
सितस्य नास्त्यन्तरं अपर्यवसितत्वात् जी० १ प्रति० ।

[३५] पुङ्गवमाश्रिन्यान्तरम् ।

परमाणुपोगलस्त एणं जंते ! सव्वेयस्स कालत्रो केव
चिरं अंतरं होइ ? गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं
एकं समयं उक्कोमेणं असंखेज्जं कात्तिं । परट्ठाणंतरं पडुच्च
जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं एवं चेव । एिरेयस्स के-
वड०सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं आब-

लियाए असंखेज्जइजागं, परट्टाणंतरं पमुच्च जहणेणं
एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं दुपदेसियस्स एणं भंते !
खंधस्स देमेयस्स केवइयं कात्तं अंतरं होइ ? गोयमा !
मट्टाणंतरं पमुच्च जहणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कात्तं परट्टाणंतरं पमुच्च जहणेणं एकं समयं उक्कोसेणं
अणंतं कात्तं । सव्वेयस्स केवइयं कालं एवं चेव जहा
देमेयस्स । णिरेयस्स केवइयं कालं मट्टाणंतरं पमुच्च जहणे-
णं एकं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइजागं,
परट्टाणंतरं पमुच्च जहणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं
कालं एव जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोगलस्स भंते !
सव्वेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! णत्थि
अंतरं णिरेयाणं केवइयं णत्थि अंतरं दुपदेसियाणं जेत !
खंधाणं देमेयाणं केवइयं कालं अंतरं सव्वेयाणं केवइ
णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइ णत्थि अंतरं एव जाव
अणंतपदेमियाणं ज० २५ श० ४ उ० ।

[टीका नास्तीति न व्याख्याता]

परमाणुपोगलस्स एणं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहणेणं एणं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कालं दुपदेसियस्स एणं जंते ! खंधस्स अंतरं कात्तओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहणेणं एणं समयं उक्कोसेणं अणंतं
कालं एवं जाव अणंतपदेमियाणं । एगपएसोगाढस्स एणं
जंते ! पोगलस्स सेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ
गोयमा ! जहणेणं एणं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं
एव जाव असंखेज्जपएसोगाढे । एगपएसोगाढस्स एणं
जंते ! निरेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा !
मट्टाणेणं एणं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइ-
जागं एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे वणणं धरसफाममुह-
मपरिणयाणं एणसिं जं चेव अंतरं पि भाणियव्वं । सदप-
रिणयस्स एणं भंते ! पोगलस्स अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहणेणं एणं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कालं असदपरिणयस्स एणं जंते ! पोगलस्स अंतरं काल-
ओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहणेणं एणं समयं उक्कोसेणं
आवलियाए असंखेज्जइजागं ज० २५ श० ७ उ० ।

(टीका सुगमं वाच्यं गृहीता)

प्रथमसमयाप्रथमसमयविशेषणैकेन्द्रियाणां

नैरायिकादीनां चान्तरं यथा ।

पदमसमयपरिणयिणी जंते ! केवतियं कात्तं अंतरं होति ?
गोयमा ! जहणेणं दो खुट्टाईं जवग्गहणाईं समयोणाईं
उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिणयिणी अंतरं
जहणेणं खुट्टागजवग्गहणं समयोहियं उक्कोसेणं दो-
सागरोवमसहसाईं संखेज्जा वा समब्भाहियाईं सेसाणं सव्वे-

तिं पदमसमयपरिणयिणी जहणेणं दो खुट्टाईं जवग्गहणाईं सम-
योणाईं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिणयिणी
सेसाणं जहणेणं खुट्टागजवग्गहणं समयोहियं उक्कोसेणं
वणस्सतिकालो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य जन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भव-
ति जगवानाह गौतम ! जघन्यतो चे खुल्लकजवग्रहणे समयोने
ते च खुल्लकदीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानतः पुनरेकेन्द्रिय-
स्वेवोत्पद्यमानस्यावसानव्ये तथा होकं प्रथमसमयान्तमेके-
न्द्रियकुल्लकभवग्रहणमेव द्वितीयं सम्पूर्णमेव द्वीन्द्रियाद्यन्य-
तमकुल्लकजवग्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स चानन्ता
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ताः लोका असं-
ख्येयाः पुल्लपरावर्ता आव लकया असंख्येयो भाग इत्ये-
वं स्वरूपं तथाहि एतावन्तं हि कात्तं सोऽप्रथमसमयः न तु प्र-
थमसमयस्ततो द्वीन्द्रियादिषु खुल्लकजवग्रहणमेवाऽवस्था-
य पुनरेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानः प्रथमे समये प्रथमसमय इति
भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य
जघन्यमन्तरं खुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्चैकेन्द्रियजवगत-
चक्रमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र मृतस्य द्वीन्द्रिया-
दिखुल्लकजवग्रहणे व्यवधाने सति भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पन्न-
स्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम् । एतावन्तं कालमप्रथमस-
मयान्तराभावात् उत्कर्षतो चे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षा-
ज्यधिके द्वीन्द्रियादिभवग्रहणस्योत्कर्षतोऽपि सातत्येनैताव-
न्तं कालं संभवात् । प्रथमसमयद्वीन्द्रियस्य जघन्यनान्तरं हे
खुल्लकजवग्रहणे समयोने तद्यथा एकं द्वीन्द्रियकुल्लकजवग्र-
हणमेव प्रथमसमयोने द्वितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियत्रीन्द्रिया-
द्यन्यतमं कुल्लकभवग्रहणम् एवं प्रथमसमयं त्रीन्द्रियखुल्लकभव-
ग्रहणमेव प्रथमसमयोने द्वितीयं सम्पूर्णमेवैकेन्द्रियस्य जघन्यम-
न्तरं खुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्च द्वीन्द्रियजवादुद्धृत्यान्यत्र
खुल्लकजवं स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयाति-
क्रमे वेदितव्यम् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवस-
र्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असंख्येयाः पुल्लपरावर्ता
आवलिकाया असंख्येयो भागः एतावांश्च द्वीन्द्रियजवादुद्धृत्यै-
तावन्तं कालं वनस्पतिषु स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य
प्रथमसमयान्तराभावात् प्रथमसमयव्यतिरेकतुःपञ्चेन्द्रि-
याणामपि जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं भावनाऽप्येतदनुसारेण
स्वयं ज्ञावनीया ज० १० प्रति० ।

पदमसमयपरिणयिणी जंते ! अंतरं कालतो केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहणेणं दसवाससहसाईं अंतोमुहुत्तम-
ब्जाहियाईं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिणयि-
यस्स एणं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ ? गोयमा !
जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । पदमसमय-
परिणयजोणिणं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं हो-
ति ? गोयमा ! जहणेणं दो खुट्टाईं जवग्गहणाईं समयोणा-
ईं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिणयिणी-
यस्स एणं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ?
गोयमा ! जहणेणं दो खुट्टाईं जवग्गहणाईं समयो-
हियं उक्कोसेणं सागरोवमसमयपुहुत्तं सातिरेणं । पदमसमय-

माणस्सस्म एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गो-
यमा ! जहसेणं दो खुडायं जेवग्गहणं समयूणाइं उक्कोसेणं
वणप्फतिकालो अपढममयमणस्सस्म एं जंते ! अंतरं
जहसेणं खुडायं भवग्गहणं समयारियं उक्कोसेणं वणप्फति-
कालो देवस्म एं अंतरं जहा नेरनियस्स । पढममयसि-
स्सस्म एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अं-
तरं । अपढममयसिस्सस्म एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! सादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं ।

प्रथमसमयसिद्धस्य नास्त्यन्तरं न्युः प्रथमसमयसिद्धत्वा-
ज्वाद् अप्रथमसमयसिद्धस्यापि नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।
जी० १० प्रति० ।

(३६) वादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोवादराणामन्तरं यथा—

अंतरं वायरस्म वायरवनस्मतिकातिसस् णिओयस्स वाय-
रणिओयस्स एतेसि चउएह वि पुढविकालो जाव असं-
खेज्जा होया मेमाणं वणस्सतिकाओ एवं पज्जत्तगाणं
अपज्जत्तगाणं वि अंतरं आदे य वायरतरु उस्सप्पिणी-
ओसप्पिणीओ एवं वायरनिओए कावमसंखेज्जतरं सेसा-
णं वणस्मतिकालो ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं जगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्ष-
तोऽसंख्येयं काव्रं सममेव काव्रक्रेत्राभ्यां निरूपयति असंख्येया
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः काव्रतः क्रेत्रतोऽसंख्येया होका यदेव हि
सूक्ष्मस्य सतः कायस्थितिपरिमाणं तदेव वादरस्यान्तरपरिमाणं
सूक्ष्मस्य च कायस्थितिपरिमाणमेतावति वादरपृथिवीकायिक-
सूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो
वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्वरूपो वेदितव्यः एवं वादराकायिकवाद-
रतेजस्कायिकवादरवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सामा-
न्यतो वादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो-
ऽसंख्येयं काव्रं स चासंख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः
स चैवम असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः काव्रतः क्रेत्रतोऽसं-
ख्येया होकाः प्रत्येकवादरवनस्पतिकायिकसूत्रं वादरपृथिवीका-
यिकसूत्रवत्सामान्यतो निगोदसूत्रं सामान्यतो वादरवनस्पतिका-
यिकसूत्रवत् वादरवसकायिकसूत्रं वादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्
पथमपर्याप्तविषया दशसूत्री पर्याप्तविषया च दशसूत्री यथोक्त-
क्रमेण वक्तव्या नानात्वाजावात् । जी० ६ प्रति० ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरम् ।

सुहुमस्स णं जंते ! केवतियं काव्रं अंतरं होति ? गोयमा !
जहसेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अमंखेज्जं काव्रं कालओ
असंखेज्जातो उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ खेत्तओ अंगु-
लस्स असंखेज्जतिजागो एवं सुहुमवणस्सतिकाइयस्म वि
सुहुमनिओयस्स वि जाव असंखेज्जतिजागो पुढविकाइया-
णं वणस्सतिकाओ एवं अपज्जत्तगाणं पज्जत्तगाणं वि ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्मा-
दुहृत्य वादरपृथिव्यादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा न्युः सूक्ष्मपृथि-
व्यादौ कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽसंख्येयं काव्रं काव्रक्रेत्राभ्यां
निरूपयति असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः काव्रत एषा मार्ग-
श्चाक्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्येयो जागः किमुक्तं भवति अङ्गुलमात्रक्रे-

त्रस्यासंख्येयतमे जागे ये आकाशप्रदेशास्ते प्रतिसमयमेकैकप्र-
देशापहारं यावन्निरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्हेषा भवन्ति
तावन्य इति “सुहुमपुढविकाइयस्स णं भंते” इत्यादि प्रश्नसूत्रं
सुगमं जगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तद्भावेना प्राग्वत्
उत्कर्षतोऽनन्तं काव्रं “जाव आवन्नियाए असंखेज्जभागा इति”
यावत्करणादेव परिपूर्णः पाठः “अणन्ताओ उस्सप्पिणीओस-
प्पिणीओ काव्रतो खेत्ततो अणन्ता लोगा असंखेज्जा पोगलपरि-
यट्ठा नेणं पोगलपरियट्ठा आवन्नियाए असंखेज्जज्जागो ” अ-
स्य व्याख्या पूर्ववत् जावना त्वेवं सूक्ष्मपृथिवीकायिको हि सू-
क्ष्मपृथिवीकायिकभवादुहृत्यान्तर्येण पारंपर्येण वा वनस्प-
तिवपि मध्ये गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽप्येतावन्तं काव्रं निष्ठुता-
ति जवानि यथोक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूक्ष्माकायिकतेजस्कायिक-
वायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सूक्ष्मवनस्पतिकायिकसूत्रं
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयकालः पृथिवीकावो वक्त-
व्यः स चैवम “असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ का-
व्रतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा ” इति । सूक्ष्मवनस्पतिकायज-
वाद्दुहृतो हि वादरवनस्पतिषु सूक्ष्मवादरपृथिव्यादिषु चो-
त्पद्यते तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽप्येतावन्तं काव्रमवस्थानमिति
यथोक्तप्रमाणमेवान्तरमेवं सूक्ष्मनिगोदस्याप्यन्तरं वक्तव्यं यथा
चेयमौघिकी सप्तसूत्री उक्ता तथा अपर्याप्तविषया च सप्तसूत्री
वक्तव्या नानात्वाजावात् जी० ६ प्रति० ।

सुहुमस्स अंतरं वायरकावो वायरस्स अंतरं सुहुमकावो
ततियस्स एत्थि अंतरं ।

सूक्ष्मस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमसं-
ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः काव्रतः क्रेत्रतोऽङ्गुलस्य संख्येय-
भागो वादरकावो जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावत्प्रमाणत्वात् । वा-
दरस्यान्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं काव्रमनन्ता उ-
त्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्रेत्रतोऽसंख्येया होका सूक्ष्म-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चेतावत्काव्रप्रमाणत्वात् नोसूक्ष्मनोवाद-
रस्य साद्यपर्यवसितस्य हेतौ पट्टा निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां
विनर्त्तनां प्रायो दर्शनामिति न्यायात् ततोऽयमर्थः साद्यपर्यव-
सितत्वान्नास्त्यन्तरमन्यथा अपर्यवसितत्वायोगात् जी० ३ प्रति०

जवमिद्धभवसिद्धिनोभवोसिद्धभवसिद्धिकानामन्तरम्

भवसिद्धिरस्म एत्थि अंतरं एवं अभवसिद्धिरस्स वि
ततियस्स एत्थि अंतरं ।

अभवसिद्धिकोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा जवसिद्धिकत्वायो-
गात् । अभवसिद्धिकात् अभवसिद्धिकस्यानादिसपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरं जवसिद्धिकत्वापगमे पुनर्जवसिद्धिकत्वायोगात्
जी० ३ प्रति० ।

जापामाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

जापमगस्स णं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणन्तं कालं वणस्मतिका-
लो अभामगस्स सातियस्म अपज्जवमियस्म एत्थि अं-
तरं सातियस्म पपज्जवमियस्स जहएणं एकं समयं उक्को-
सेणं अंतोमुहुत्तं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्ष-
तो वनस्पतिकालः अत्रापेककालस्य भाषकान्तरत्वात् अभा-
वकसूत्रे साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् अपर्यवसितत्वाद् सा-

दिसपर्यवसितस्य जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जाप-
ककालस्याभापकान्तरत्वात् तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चेता-
वन्मात्रत्वात् । जी० २ प्रति० ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरम् ।

मणजोगिस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सतिकालो तदेव वणजोगिस्स वि कायजोगिस्स जहएणेणं
एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं अजोगिस्स एत्थि अंतरं ।
अन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं विग्रहसमयादारभ्य औदारिकशरीरपर्याप्त-
कश्च यावदवमन्तर्मुहूर्त्तं छण्ड्यमिति (अत्रत्या टीका उस्तु-
त्तपरुवणा शब्दे) ।

लेइयामाश्रित्य जीवानाम् ।

कएहलेसस्म एं भंते ! अंतरं कालओकेव चिरं होति ?
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीससागरोव-
माई अंतोमुहुत्तमव्वहियाई । एवं नीलस्स वि काऊलेस-
स्स वि । तेउलेस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होई ?
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो
एवं पम्हवेसस्म वि सुक्कलेसस्म वि दोएह वि एवमंतरं ।
अत्तेमस्स णं जंते ! अंतरं काइतो केव चिरं होई ? गोयमा !
मादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

कृष्णवेइयाकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्मनुष्याणामन्त-
र्मुहूर्त्तं लेइयापगवत्तं नात् उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्य-
न्तर्मुहूर्त्तान्यधिकानि शुक्ललेइयाकृष्णकालस्य कृष्णलेइयान्त-
रोत्कृष्टकालत्वात् । एवं नीललेइयाकापोतवेइयोरपि जघन्यत
उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् । तेजःपद्मशुक्लानामन्तरं जघतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रतीत एवेति । अवेइयस्य
साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

(३९) वेदविशिष्टजीवानामन्तरम् ।

मवेदगस्म एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं अणादियस्स
सज्जवसियस्स वि एत्थि अंतरं । मादियस्स सपज्जव-
सियस्स जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।
अवेदगस्म णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं सातियस्स सप-
ज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं । अणंतं-
कालं जाव अवहं पोग्गलपरियट्टं देस्सणं ।

प्रश्नपूर्वं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्यापर्यवसितस्य स-
वेदकस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात्
अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अनादिसपर्यव-
सितो ह्यपातगात्रे उपशमश्रेणिं प्रतिपद्य जायं क्षीणवेदो न च
क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वं प्रतिपातनात्वात् । सादिकस्य सपर्य-
वसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैकं समयमन्तरं द्वितीयं वारमुपश-
मश्रेणिं प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरं कस्यापि मरणसंज्ञा-
त् उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं द्वितीयं वारमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्योपशान्त-
वेदकस्य श्रेणिममामेकं पुनः सवेदकत्वभावात् । अवेदकमुत्रे
सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तरं क्षीणवेदस्य पुनः

सवेदकत्वाभावात् वेदानां निर्मूलकार्पकपितत्वात् । सादिकस्य
सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुपशमश्रेणिं समाप्तौ सवे-
दकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तं नोपशमश्रेणिं लाभतोऽवेदकत्वोपपत्तेः
उत्कर्षतोऽनन्तं कालम् अनन्ता तत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः
क्षेत्रतोऽपार्धं पुञ्जलपरावर्त्तं देशोनमेकं वारमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्य
तत्रावेदको ज्ञात्वा श्रेणिं समाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरेतावता कालेन
श्रेणिं प्रतिपत्ताववेदकत्वोपपत्तेः । जी० सर्वजी ० २ प्रति० ।

वेदविशेषाधिशिष्टानां स्त्रीणां पुंसां नपुंसकानां चान्तरम् ।

इत्थि ए एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अनंतं कालं वणस्सतिकाल-
लो एवं सव्वासिं तिरिक्खत्थीणं मणुसित्थीणं मणुसित्थी-
ए खेत्तं पमुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-
कालो । धम्मचरणं पमुच्च जहएणेणं समओ उक्कोसेणं
अणंतं कालं जाव अवहं पोग्गलपरियट्टं देस्सणं एवं जाव
पुव्वविदेहं अववविदेहियाओ । अकम्मजूपगमणस्सीणं
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जम्म एं पमुच्च
जहएणेणं दसवाससहस्साई अंतोमुहुत्तमव्वहियाई उक्कोसे-
णं वणस्सइकाइतो सहरणं पमुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं वणस्सइकाइतो एवं जाव अंतरदीवियाओ । देवि-
त्थियाणं सव्वासिं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सतिकालो ।

स्त्रिया भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं जवति स्त्री भूत्वा स्त्रीत्वा-
त् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः । एवं गौत-
मेन प्रश्ने कृते सति जगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं
कथमिति चेत् उच्यते इह काचित् स्त्री स्त्रीत्वान्मरणेन च्युत्वा
भवान्तरे नपुंसकवेदं पुरुषवेदं वाऽन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय स्त्रीत्वेनो-
त्पद्यते तत एवं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जवति उत्कर्षतो वनस्पति-
कालोऽसंख्येयपुञ्जलपरावर्त्ताख्यो वक्तव्यस्तावता कालेनामुक्तौ
सत्यां नियोगतः स्त्रीत्वयोगात् । स च वनस्पतिकाल एवं वक्त-
व्यः “ अणंताओ ओसप्पिणउस्सप्पिणीओ कालओ खेत्तओ
अणंता होगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरियट्टा
भावहियाए असंखेज्जभागो इति ” एवमौघिकतियं कृत्वा स्त्रीणां
जज्ञचरत्थचरत्थचरस्त्रीणामौघिकमनुष्यस्त्रीणां च जघन्यतः
उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यमभिधापोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभा-
षणीयः । कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रियाः क्षेत्रं कर्मभूमिक्षेत्रं प्रतीत्य
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं वनस्पतिकालप्रमाणं
यावत् धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैकं समयं सर्वजघन्यस्य सम-
यत्वात् उत्कर्षेणानन्तं कालं देशोनमपार्धं पुञ्जलपरावर्त्तं यावत्
नातो ह्यधिकतरश्चरणव्यधिपातकालासंपूर्णस्याप्यपार्धं पुञ्जलपरा-
वर्त्तस्य दर्शनलव्यधिपातकालस्य तत्र प्रतिपेधात् । एवं भरते-
रायतमनुष्यस्त्रियाः पूर्वविदेहापरविदेहस्त्रियाश्च क्षेत्रतो धर्म-
चरणं वा आश्रित्य वक्तव्यम् । अकम्मजूपगमणस्य स्त्रिया जम्म
प्रतीत्यान्तरं जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तान्यधिकानि
कथमिति चेदुच्यते इह काचिदकर्मजूमिका स्त्री भूत्वा जघन्य-
स्थितिषु देवपूषणा तत्र दशवर्षसहस्राण्यगुः परिपाल्य
तत्कृते च्युत्वा कर्मजूमिषु मनुष्यपुरुषत्वेन मनुष्यस्त्रीत्वेन
द्योत्पद्यते देवेभ्योऽनन्तरमकर्मजूमौ न जन्मेति कर्मभूमिपूपा-

दिता ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं भूत्वा ज्ञूयोऽप्यकर्मजमिजस्त्रीत्वेन जायते इति भवन्ति जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताज्यधिकानि उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । अकर्मजमिजस्त्रियाः (कर्मजमिजस्त्रियाः) कर्मजमिषु संहृत्य तावता कालेन तथाविधनुद्धिपरावृत्त्या ज्ञयस्तत्रैव नयनात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं तावता कालेन कर्मजम्युत्पत्तिवत् संहरणमपि नियागता जवेत् । तथाहि काचिदकर्मजमिका कर्मजमौ संहृता सा च स्वायुःक्रयानन्तरमनन्तं कालं वनस्पत्यादिषु संसृत्य ज्ञूयोऽप्यकर्मजमौ समुत्पन्ना । ततः केनापि संहृतेति यथोक्तं संहरणस्योत्कृष्टकालमानम् । एवं हैमवत-हैरण्यवतहरिर्वर्षस्य कवर्षदेवकुरुत्तरकुर्वन्तरजुमिकामपि जन्मतः संहरणतश्च प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं सूत्रपाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञावनीयः । संप्रति देवस्त्रीणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह (देवस्त्रियाणां जने इत्यादि) देवस्त्रिया जदन्त ! अन्तरं कावतः कियच्चिरं जवति भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कस्याश्चित् देवस्त्रिया देवीभवात् च्युताया गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येष्टपद्य पर्याप्तिपरिसमाप्तिसमनन्तरं तथाध्यवसायमरणेन पुनर्देवीत्वेनोत्पत्तिसंज्ञयात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च सुप्रतीत एवमसुरकुमारदेव्या आरभ्य तावदीशान-देवस्त्रिया उत्कृष्टमन्तरं वक्तव्यं पाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञावनीयः जी० २ प्रति० ।

पुरिसस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं वणस्सइकात्तो तिरिक्खजो-णियपुरिसाणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइ-कालो एवं जाव खहयरतिरिक्खजोहियपुरिमाणं ॥

पुरुषाणामिति पूर्ववत् भदन्त ! अन्तरं कावतः कियच्चिरं भवति पुरुषः पुरुषत्वात् परिभ्रष्टः सन् पुनः कियता कालेन तद्वाप्नोतीत्यर्थः । तत्र भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं समयादनन्तरं ज्ञूयोऽपि पुरुषत्वमवाप्नोतीति जावः । इयमत्र जावना यदा कश्चित् पुरुष उपशमश्रेणिं गतः उपशान्ते पुरुषवेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं प्रियते तदाऽसौ नियमादिवपुरुषेष्टपद्यते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य । ननु स्त्रीनपुंसकयोरपि श्रेणिलाभो भवति तत्कस्माद-नयोरप्येवमेकः समयोऽन्तरं न भवति उच्यते स्त्रिया नपुंसकस्य च श्रेण्यारूढाववेदकजावान्तरं मरणे तथाविधशुभाध्यवसायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात् । उत्कर्षतो वनस्पति-कालः । स चैवमजिलपनीयः “अणता उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणता ढोगा असंखेज्जा पुग्गवपरियट्ठा तेणं पुग्गवपरियट्ठा आवत्तियाए असंखेज्जइमागो इति ” तदेवं सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमभिधाय संप्रति तिर्यक्पुरुषविषयमतिदेशमाह ” (जं तिरिक्खजोणित्थीणमंतरमित्यादि) यत्तिर्यग्योनित्थीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिर्यग्योनिकपुरुषाणामप्यविशेषितं वक्तव्यं तच्चैवं सामान्यतस्तिर्यक्पुरुषस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तावत्कावस्थितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावृत्ताख्यः तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियागतः पुरुषत्वयोगात् । एवं विशेषचिन्तायां जघनचरपुरुषस्य स्थलचरपुरुषस्य खचरपुरुषस्यापि प्रत्येकं जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् ।

सम्प्रति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमाह ।

मणुस्मपुरिसाणं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! खेत्तं पमुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-तिकालो धम्मचरणं पमुच्च जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंता उस्सप्पिणीओ जाव अवहं पोग्गव-परियट्ठं देसूणं कम्मजूमकाणं जाव विदेहो जाव धम्मचरणे एको समओ सेसं जहत्थीणं जाव अंतरदीवकाणं ॥

यन्मनुष्यस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषाणामपि वक्तव्यं तच्चैवं सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य जघन्यतः क्षेत्रमधिकृत्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तच्च प्रागिव भावनीयम् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालो धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यत एकं समयं चरणपरिणामात्परिभ्रष्टस्य समयानन्तरं भूयोऽपि कस्यचित् चरणप्रतिपत्तिसंभवात् उत्कर्षतो देशेनोऽपार्ष्टुफलपरावृत्तः एवं भरतैरावतकर्मजमकमनुष्यपुरुषस्य पूर्वविदेहापरविदेहाकर्मजमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं सामान्यतोऽकर्मजमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताज्यधिकानि । अकर्मजमकमनुष्यपुरुषत्वेन मृतस्य जघन्यस्थितिषु देवेष्टपद्य ततोऽपि च्युत्वा कर्मजमिषु स्त्रीत्वेन पुरुषत्वेन वात्पद्य कस्याप्यकर्मजमकत्वेन ज्ञूयोऽप्युत्पादात् देवभवात् च्युत्वा अनन्तरमकर्मजमिषु मनुष्यत्वेन तिर्यक्संज्ञिपञ्चिन्द्रियत्वेन उत्पादाज्ञावाद्वापन्तराद्ये कर्मजमिषुत्पादा-भिधानमुत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमकर्मजमेः कर्मजमिषु संहृत्यान्तर्मुहूर्त्ता-नन्तरं तथाविधनुद्धिपरावृत्तादिजावतो ज्ञयस्तत्रैव नयनसंज्ञयात् उत्कर्षतो वनस्पतिकाल एतावतः काशादूर्ध्वकर्मजमिषुष्टपत्तिवत् संहरणस्यापि नियागता भावात् । एवं हैमवतहैरण्यवतादिष्वप्यकर्मजमिषु जन्मतः संहरणतश्च जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं यावदन्तरादीपकाकर्मजमकमनुष्यपुरुषत्व-वक्तव्यता ।

संप्रति देवपुरुषाणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह ।

देवपुरिसाणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-कात्तो भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सरो जह-ण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । आनतदेव-पुरिसाणं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं जाव गेवज्जगदेवपु-रिसाणं वि अनुत्तरोववातियदेवपुरिसाणं जहण्णेणं वामपुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइ सागरोवमाइ अनुत्तराणं अंतरे एको आत्तावओ ॥

देवपुरुषस्य जदन्त ! कावतः कियच्चिरमन्तरं जवति भगवानाह । गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं देवज्जवात् च्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येष्टपद्य पर्याप्तिपरिसमाप्तिसमनन्तरं तथाविधशुभाध्यवसायमरणेन ज्ञूयोऽपि कस्यापि देवत्वेनोत्पादसंज्ञयात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः एवमसुरकुमारादारभ्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पदेवपुरुषस्यान्तरम् आनतकल्पदेवस्यान्तरं जघन्येन वर्षेष्टपद्य कस्मादेतावदिहान्तरमिति चेत् उच्यते इह यो गर्भस्थः सर्वाजिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः स शुभाध्यवसायोपेतो

मृतः सन् भानतकल्पादारतो ये देवास्तेष्वप्यते नाऽऽन-
तादिषु तस्य तावन्मात्रकालस्य तन्मोहाध्यवसायविशुद्धभावा-
त् ततो यः अनन्तादिप्रच्युतः सन् तूयोऽप्यनन्तादिप्रच्युते
स निःशान्तिरिवमवाप्य चरित्रं चाष्टमे वर्षे तन उक्तं जघन्यतो
वर्षपृथक्चमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवं प्राणतारणान्युत्कर्ष-
न्यप्रेष्यकेदेवपुराणांमपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यतः उत्कर्षतश्च
वक्तव्यम् । अनुत्तरोपपातिककल्पातीतदेवपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तरं
वर्षपृथक्चमुत्कर्षतः संख्येयानि सागरोपमाणि सातिरे-
काणि तत्र संख्येयानि सागरोपमाणि तदन्यधैमानिकेषु संख्ये-
यवरोत्पत्त्या सातिरेकाणि मनुष्यभवे तत्र सामान्याभिधानेऽ-
प्येतत् अपराजितान्तमवगन्तव्यं सर्वार्थसिद्धे सकृदेवोत्पादत-
स्तत्रान्तरसंभवात् । अन्ये त्वनिदधति जवनवासिन आरज्य
आ ईशानादमरस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं सनत्कुमारादार-
ज्यासहस्रात् नव दिनानि भानतकल्पादारज्याच्युतकल्पं
यावन्नय मासा नवसु प्रेयेयकेषु सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जेष्व-
नुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि प्रेयेयकान् यावत् सधर्तापि
उत्कर्षतो वनस्पतिकालः विजयादिषु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे
सागरोपमे उक्तं च “ आ ईशानादमरस्य अन्तरं हीण्यं मुहूर्त्त-
तो आ सहस्रसं अच्युयणुत्तरदिणमासेवासनवधावरकालुको-
सो सव्यद्वितीयश्चो नव उवयाश्चो दो अपरा विजयादिसु इति ”
नैरयिकनपुंसकानामन्तरम् ।

अक्रमभूमकमणुस्सणपुंसणं जंते ? गोयमा ! जम्म णं
पडुच्च जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं (अंतोमु-
हुत्तपहुत्तं) संहरणं पडुच्च जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं
देमुणा पुव्वकोमं सव्वेसिं जाव अंतरदीवगाणं । एणुपुंग-
स्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जह-
मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपहुत्तं सातिरेगं
नैरइयणपुंसगम्म णं जंते ! केवतियं कात्तं अंतरं होति
जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तरुकात्तो । रतणप्पजापुढ-
विनैरइयणपुंसगस्स जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तरु-
कात्तो एवं सव्वेसिं जाव अहेसत्तमा तिरिक्खजोणियणपुं-
सकस्स जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपहु-
त्तं सातिरेगं ।

णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति
नपुंसको ज्ञेया नपुंसकत्वाद् भ्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुंस-
को भवतीत्यर्थः भगवानाह । गौतम ! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमता-
यता पुरुषादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथ-
क्च सातिरेकं पुरुषादिकालस्य एतावदेव संभवात् तथा चात्र
संग्रहणीयाः “ इत्थिनपुंसां संचि-टणेषु पुरिसंतरे य समऊ-
श्चो । पुरिसनपुंसां संचि-टणंतरे सागरपुहुत्तं ॥ १ ॥ ” अस्या-
ङ्गरगमनिका “ संचि-टणा नाम ” सातन्त्यनावस्थानं तत्र स्त्रिया
नपुंसकस्य च सातन्त्यनावस्थाने पुरुषान्तरे च जघन्यत एकः स-
मयस्तथा च प्रागभिहितम् “ इत्थीणं भंते ! इत्थीति कालतो
केव चिरं होइ गोयमा ! एगेणं आदिसेणं जह्मेणं एगं समयं
इत्यादि ” तथा “ नपुंसगेणं नपुंसगेति कालतो केव चिरं होइ
गोयमा ! जह्मेणं एक्कं समयमि-यादि ” तथा “ पुरिसस्स णं
भंते ! अंतरं कात्ततो केव चिरं होइ गोयमा ! जह्मेणं एक्कं स-
ममि-यादि ” तथा पुरुषस्य च नपुंसकस्य यथाक्रमं (संचिट्णं)

सातन्त्येनावस्थानमन्तरं चोत्कर्षतः सागरपृथक्त्वं पदैकदेशे
पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपृथक्त्वं तथा च प्रागभिहि-
तं “ पुरिसेणं जंते ! पुरिससि कालतो कियच्चिरं (केव चिरं)
होइ गोयमा ! जह्मेणं (जह्मेणं) अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सा-
गरोवमसतपहुत्तं सातिरेगं ” नपुंसकान्तरात्कर्षप्रतिपादकं चे-
दमेवाधिरुतं सूत्रमिति । तथा सामान्यतो नैरयिकनपुंसकस्यान्तरं
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सप्तमनरकपृथिव्या उच्यते तन्दुलमत्स्या-
दिजनेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः सप्तमनरकपृथिवीगमनस्य च अ-
वधानात् प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम् जी० २ प्रति० ।

तिरश्चामन्तरम् ।

एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जह्मेणं अंतोमु-
हुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइ संखेज्जवासमम्भहियाइं
पुढविआउतेउवाऊणं जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं व-
णस्सतिकालो वणस्सतिकाइयाणं जह्मेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं अमंखेज्जं कात्तं जाव अमंखेज्जा लोया सेसणं
वेदियादीणं जाव खहयराणं जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्को-
सेणं वणस्सतिकालो ।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्यग्योनिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतो-
ऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् । अत्र ज्ञा-
वना प्रागिव विशेषचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्यग्योनिक-
नपुंसकस्यान्तर्मुहूर्त्तं तावता द्वीन्द्रियादिकालेन व्यवधानात्
उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके वसकायस्त्रि-
तिकालस्य एकेन्द्रियत्वव्यवधायकस्योत्कर्षतोऽप्येतावत् एव
संभवात् । पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघ-
न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवमप्यायिकेतजस्का-
यिकायिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानामपि वक्तव्यं व-
नस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् स चासंख्येयः कात्तोऽसं-
ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः ।
किमुक्तं भवत्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकाप-
हारे यावत् उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो जवन्ति तावत् इत्यर्थः । वन-
स्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षत एतावन्तं कालमवस्थानसं-
भवात् तदनन्तरं संसारिणो नियमेन भूयोऽपि वनस्पतिकायि-
कत्वेनोत्पादभावात् । द्वीन्द्रियवीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिय-
तिर्यग्योनिकनपुंसकानां जलचरस्थलचरखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकनपुंसकानां सामान्यतो नपुंसकस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कात्तो वनस्पतिकालो यथा-
क्तस्वरूपः प्रतिपत्तव्यः ।

मनुष्यनपुंसकस्य ।

मणुस्सणपुंसकस्स खेत्तं पडुच्च जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उ-
क्कोसेणं वणस्सतिकात्तो धम्मचरणं पडुच्च जह्मेणं एगं स-
मयं उक्कोसेणं अणंतं कात्तं जाव अवहं पोगलपरियट्ठं दे-
सूणं । एवं कम्मज्जमगस्स वि भग्गेरवयस्स पुव्वविदेहअ-
वरविदेहकस्स वि अकम्मज्जमकमणुस्सणपुंसकस्स णं भंते !
केवतियं कात्तं० जम्मणं पडुच्च जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्को-
सेणं वणस्सतिकालो संहरणं पडुच्च जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उक्को-
सेणं वणस्सतिकालो एवं जाव अंतरदीवगन्ति ।

कर्ममममनुष्यनपुंसकस्यान्तरं क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयं यावत् चरणद्विधापातस्य सर्वजघन्यस्य एकसामयिकत्वात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं तमेवानन्तं कालं निर्धारयति " अणताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कावतो खेत्ततो अणंता सोगा अवहं पोगगलपरियट्टं देसूणमिति" एवं जरतैरवतपूर्वविदेहापरविदेहकर्मममनुष्यनपुंसकानामपि क्षेत्रं धर्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षं चान्तरं प्रत्येकं वक्तव्यम् । अकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेतावता गत्यन्तरादिकालेन व्यवधानत्रायात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । तच्चैवं कोऽपि कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकेनाप्यकर्मभूमौ संहतः स च मागधपुरुषदृष्टान्तबलादकर्मममनुष्य इति व्यपदिश्यते ततः कियत्कालानन्तरं तथाविधधुद्धिपरावर्त्तनजावतो भूयोऽपि कर्मभूमौ संहतस्तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं धृत्या पुनरप्यकर्मममनुष्यताः उत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवं विशेषचिन्तायां हेमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकर्षदेवकुत्तरकुर्वकर्मममनुष्यनपुंसकानामन्तरापीकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । पं० सं० ।

(४०) औदारिकदिशरीरविशिष्टानामन्तरम् ।

ओरालियसरीरस्स अंतरं जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं तेत्तोसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमन्नहियाइं वेउव्वियसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं काइं वणस्सतिकालो आहारगसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं काइं जाव अवहं पोगगलपरियट्टं देसूणं तेयगकम्मगसरीरस्स य दुविहा एत्थि अंतरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतः एकः समयः स च द्विसामायिक्यामपान्तरालगतौ भावनीयः । प्रथमे समये कर्मणशरीरोपेतत्वात् उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि उत्कर्षे वैक्रियकाव इति भावः । वैक्रियशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सङ्कटैक्रियकरणे यावता कालेन पुनर्वैक्रियकरणात् मानवदेवेषु भावात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः प्रकट एव आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सङ्कटकरणे एतावता कालेन पुनः करणात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धे पुञ्जपरावर्त्तम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । (संघातपरिशादकरणयोरन्तरं करण शब्दे)

संज्ञाविशेषणेनान्तरम् ।

संक्षिप्त अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-इकालो असंक्षिप्त अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं मागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं ततियस्स एत्थि अंतरं ।

अन्तरचिन्तायां संज्ञिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालम् । स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः । असंज्ञिकालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चेतावत्प्रमाणत्वात् । असंज्ञिनोऽन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं संज्ञिकावस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चेतावत्प्रमाणत्वात् नोसंज्ञिनोऽसंज्ञिनः साद्यसपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

(४१) संयमविशेषणेनान्तरम् ।

संजयस्स संजयासंजयस्स दोएह वि अंतरं जहण्णेणं अ-

तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवहं पोगगलपरियट्टं देसूणं । असंजयस्स आदिपुवे एत्थि अंतरं साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोमी चउत्थगस्स एत्थि अंतरं ।

संयतस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तावता कालेन पुनः कस्यापि संयतत्वभावात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुञ्जपरावर्त्तं देशो-नम् एतावतः कालादूर्ध्वं पूर्वमवाप्तसंयमस्य नियमतः संयमलाभात् । संयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं तस्य प्रतिपातासंभवात् । सादिसपर्यवसितस्य जघन्यत एकं समयं स चैकसमयः प्राग्व्यावर्षितः संयतसमय एवमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी असंयतत्वव्यवधायकस्य संयतकालस्य संयतासंयतकालस्य वा उत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् संयतासंयतस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तद्भावापत्ते एतावता कालेन तद्भावासिद्धेः । उत्कर्षतः संयतवत् त्रितयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात् । जी० सर्वजी० ३ प्रति० । (सामायिकादिसंयतानामन्तरं संजय शब्दे) सिद्धासिद्धयोः ।

सिद्धस्स एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! सातीयस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । असिद्धस्स एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! अणातीयस्स अपज्जवसियस्स अणातीयस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तानां प्रायो दर्शनमिति" न्यायात् हेतोः पट्टी ततोऽयमर्थो यस्मात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तस्मात्नास्त्यन्तरमन्यथाऽपर्यवसितत्वायोगात् । असिद्धसूत्रे असिद्धस्यानादिकस्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वाप्रच्युतेः अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं भूयोऽसिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अंतरंग-अन्तरङ्ग-पुं० अन्तरं सदृशमङ्ग यस्य । अस्यन्तप्रिये, बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये अन्तर्भूतानि अङ्गानि निमित्तानि यस्य । व्याकरणोक्ते परित्यगबहिरङ्गवाधके कार्यभेदे, तद्वोधके शास्त्रे च वाच० । अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्ग एव विधिर्वलवान् आ० म० द्वि० । अभ्यन्तरे, त्रि० तं० । विशेष० (काल शब्दे पददुदाहरणम्)

अंतरंजिया-अन्तरङ्गिका-स्त्री० नगरीभेदे, यत्र भूतगृहं चैत्यं बलश्री राजा त्रैराशिकानामुत्पत्तिश्चाभूत्, उत्त० ३ अ० । वि० । आ० म० द्वि० । कल्प० । स्था० । आ० चू० ।

अंतरंगगोत्रिया-अन्तराण्णकगोत्रिका-स्त्री० अण्णकोशाभ्यन्तरस्य गोत्रिकायाम्, महा० ४ अ० ।

अंतरकंद-अन्तरकन्द- पुं० अनन्तजीवात्मकघनस्पतिभेदे प्रज्ञा० १ पद० ।

अंतर (रा) कप्प-अन्तर (रा) कल्प- पुं० चारित्राणामन्तरस्वरूपे कल्पभेदे, तद्वर्णनमित्थम् ।

गिह्विसकप्पो एसो, एतो वोच्छामि अंतराकप्पं ।
 संखेवपिभियत्थं, गुरुवएसं जहाकमसो ॥ दारं ॥
 पंचट्टाणमसंखा, वारसगं चेव तिणिह वितियाणं ।
 अज्जत्थकरणणण-ट्टया य एसोतराकप्पो ॥
 सामादिसंजतादी, पंचदवरणं तु तेसि एकेहं ।
 संजमठाणमसंखा, एकेहं तत्थ ठाणम्मि ॥
 होंति अणंता चारि-त्तपज्जवा ताण संखगुणियाणी ।
 एकं संजमकसग-कंडसंखा य छट्टाणं ॥
 उट्टाणा संखेज्जा, संजममेढी तु होति बोधव्वा ।
 सामादियदेदमंजम-ठाणाणं तुं अमंखेज्जा ॥
 परिहारसंजमट्टाण, ताहे लग्गांति ते असंखागा ।
 गंतुं ण होंति डिष्ठा, ताहे तत्तो पुणो परतो ॥
 वट्ठंति जे अमंखा, सामादियदेदसंजमट्टाणा ।
 सामादियदेदट्टाणा, ताहे डिष्ठा भवन्ती तु ॥
 तो मुहुमएगट्टाणा, ते वि अमंखेज्जगं तु वोच्छिन्ना ।
 तस्स अपच्छिमट्टाणा, अणंतगुणवट्ठितं णियमा ॥
 एकं परमविमुच्चं, होति अहक्खाय संजमट्टाणं ।
 पंचममंखतिगं तं, वारस गयारपमिमाओ ॥ दारं ॥
 मुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि एवमकप्पवितो ।
 एते तिणिह तिया खड्डु, एतेमिं एकमेकस्स ॥
 अंतरमंजमट्टाणा, होति अमंखातु तेमि सव्वेसिं ।
 होति उविहा तु मोही, करणे अवजत्थतो चेव ॥
 तो दो वी कायव्वा, एणट्टाए वउत्तेणं ।
 एसो अंतरकप्पो पं० भा० ॥

इयानि अंतरकप्पो गाहा-(पंचट्टाण) अंतरकप्पो नाम पंच-
 विहं चारित्तं सामादियमाइ एकेकस्स असंखेज्जाइ संजमट्टा-
 णाइ अंतरं वारसत्ति वारस भिक्खुपाडिमाओ तासिं पि तहेव
 अंतरं तिप्पि तिगतिसु च परिहारिणा एव चत्तारि परिहारिया
 अणुपरिहारिया वि चत्तारि एसो कप्पट्टिओ । एएसिं असं-
 खेज्जाइ अंतरा संजमट्टाणाइ तेसु पुण सव्वेसु वि उविहा
 सोही अमंखसोही य करणसोही य । दो वि कायव्वाओ
 नाणट्टया एवं नाणनिमित्तं वा नाणोवउत्तो वा जं करेइ तत्थ वि
 अवमंथकरणं पडुच्च निजराविसेसो करणविसोहीए वि वाहि-
 रए अवमंथओ चेव निजराविसेसो एस अंतरकप्पो । पं० चू०
 अंतरकरण-अन्तरकरण-न० यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणानि-
 वृत्तिकरणभेदभिन्ने सम्यक्त्वौपयिककरणे, पं० सं० १ ट्टा०
 [तट्टत्तं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च]

अंतरगय-अन्तर्गत-वि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ ट्टा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-न० गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं
 राजदन्तादित्वात् अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृह-
 योर्वा अन्तराले, वृ० ३ उ० । गृहयोरन्तराले स्थानादि न
 कर्तव्यम् “ गिहंतरणिसिज्जा य त्ति ” अनाचारत्वेन तस्य
 कथनान् ।

(सूत्रम्) नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अंतरा-
 गिहम्मि चिद्धित्तए वा निमीयत्तए वा तुअट्टत्तए वा निदाइ-
 त्तए वा पयडाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
 वा आहारं आहारित्तए उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा
 मिधाणं वा परिट्टवित्तए सज्जायं वा करित्तए भाणं वा
 भाइत्तए काउस्सगं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह पुण एवं
 जाणिज्जा वाहिए जराउणो तवस्स । दुव्वले किद्धंते मु-
 च्छिज्ज वा पवमिज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि चिद्धि-
 त्तए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरं गृहे गृहस्य
 गृहयोर्वा अन्तरे मध्ये राजदन्तादित्वादाप्यत्वाद्वा अन्तरशब्द-
 स्य पूर्वनिपातः स्थातुं वा निपञ्चुं वा यावत्करणात्त्वभ्यर्तयितुं
 वा निष्ठापयितुं वा प्रचक्षयितुं वा असनं वा पानं वा खादिमं
 वा स्वादिमं वा आहृत्यमुच्चारं वा प्रस्वणं वा खेलं वा सिंघाणं वा
 परिष्ठापयितुं स्वाध्यायं वा कर्तुं ध्यानं वा ध्यातुं (काउस्स-
 गंति) कार्योत्सर्गवृत्तं वा स्थातुं स्थानं कर्तुं सूत्रेणैवापवादं
 दर्शयति । अथ पुनरेवं जानीयात् (वाहिं इत्यादि) व्याधि-
 तो ग्लानो जराजीर्णः स्थविरस्तपस्वी क्षपको दुर्बलो ग्लानत्वा-
 दधुनैवोत्थितोऽसमर्थश्चरीरः एतेषां मध्यादन्यतमस्तपसा भि-
 क्षापार्यट्टनेन वा कत्रान्तः परिश्रान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं
 कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावत् कार्योत्सर्गं
 वा कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः ।

मञ्जावमसम्भावे, छुएह गिहाणंतरं तु सम्भावे ।

पासपुरोहकअंगण, मज्झंति य होतसञ्जावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सञ्जावतोऽसञ्जावतश्च । शुद्धयार्गृहयोर्दन्त-
 रं मध्यं तत्सञ्जावो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पार्श्वतः पुरोहके
 अङ्गणे गृहमध्ये वा तत्सञ्जावगृहान्तरं भवति एतस्मिन् द्विवि-
 धेऽपि भिक्षाद्यर्थे निर्गतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुडुंतरजिच्चीए, णिवसणे गिहे तहेव रत्थाए ।

वायंतगणे लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

द्वयोः कुडयोरन्तरे (जिच्चीपत्ति) सट्टितपतितस्याभिनव-
 क्रियमाणस्य वा गृहस्य जिच्चौ निवेशितश्चारित्रप्रभृतीनां गृहा-
 णामाजोगे (गिहिति) गृहपार्श्वे रथ्यायां प्रतीतायामेतेषु स्था-
 नेषु तिष्ठतश्चतुर्बधुकाः तत्राप्याज्ञादयो दोषा मन्तव्यास्तन्निमित्तं
 प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति ज्ञावः । तथा-

खरिए खरिया सुएहा, एट्टे वट्टे खरे व संकिज्जा ।

खिएणे य अगणिकाए, दारे वित्तिं व केण तिरियक्खं ॥

खरको दासः खरिका दासी स्नुषा वधूः वृत्तखरस्तुरङ्गमः एतेषु
 नष्टेषु साधुः शङ्क्येत यः श्रमणकः कस्ये अत्र गृहान्तरं उपविष्टः
 आसीत् तेन हृतं भविष्यति । द्वारे वा श्रमणेन उद्घाटिते स्तेनः
 प्रविश्य हृतवानिति (वेत्तिस्ति) वेत्तं केनचित् खातं दत्तमि-
 त्यर्थः अग्निकाया वा केनापि दत्तो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य
 वृत्तिं वा छित्वा केनापि सुवर्णादिकमपि हृतं स्यात् तिर्यग्यो-
 नीयो वा गोमहिषीप्रभृतिर्को मृतो भवेत् तत्रापि शङ्कायां ग्रह-
 णाकर्षणादयो दोषा यत एवमतो गृहान्तरं स्यात्तद्व्ययम् ।

अथ सूत्रोक्तं द्वितीयपदं भावयति ।

उच्छुद्धमरीरे वा, उच्छुद्धतपसोमि ते व जे होज्ज ।

थेरे जुष्मदिद्वे, वीसंभणवेसहतसंके ॥

उच्छुद्धं रोगाघातं शरीरं यस्य स उच्छुद्धशरीरो वाशब्दः उत्तरापेक्षया विकल्पार्थं पुर्ववोऽधुनेति तत्त्वानः तपःशोषितो वा विकृष्टतपोनिष्ठप्रदेहो जवेत् यो वा स्थविरो जीर्णः पष्ठिवर्षा-तिक्रान्तजन्मपर्यायः सोऽपि यदि महान् सर्वेभ्योऽपि वृद्धतर एते विश्रामग्रहणार्थं गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह च व्याधितोदये उत्सर्गतो जिह्वाटनं न कार्यते परमान्मत्राधिकारणापेक्षया भिक्षा-मटतां प्राकृतस्तत्रावतारो मन्तव्यः स च व्याधितादिविश्रम्भण-वेपः संविग्नवेषधारी हतशङ्कश्च हास्यादिविकारविकलतया अ-संजावनीयव्यतीकशङ्कः सन् तत्र स्थानादीनि पदानि कुर्यात् ।

अहवा ओसहहेउं, संखमिसंधारणं व वामासु ।

वाघाए वा तत्थ उ, जयणाए कप्पती ठाउं ॥

सूत्रोक्तस्तावदपवादो दर्शितः । अयार्थतः प्रकारान्तरेणाभ्यु-च्यते इत्यत्र वाशब्दार्थः औषधहेतोर्दातारं गृहे अस्वाधीनं प्र-तीकृते संखण्ड्यां वा यावद्वेला भवति संघाटकसाधुर्वा याव-द्वक्तृपानभूतं भाजनं वसतां विमोच्य समागच्छति वर्षासु वा गृहं प्रविष्टानां वर्षे निपतेत् वधूवरयागमनेन वा रथ्यायां व्या-घातो जवेत् तावत्तत्रैव गृहान्तरे यतनया वक्ष्यमाणया स्थातुं कल्पते एष द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीपुरौषधिसंखमिद्वारे व्याख्यानयति ।

पासंसि ओसहाई, ओसहदाता व तत्थ असह्दीणो ।

संखमि अमती कावो, उद्धंते वा परिच्छंति ॥

ग्लानस्यौषधानि पेष्टव्यानि तत्र पेपणशिला प्रतिश्रये नेतुं न कल्पते अतस्तेषां चागारिणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेपन्ति । औषधमार्गणार्थं वा कस्यापि गृहं गताः स चौषधदाता त-दानीं तत्रास्वाधीनोऽतस्तं प्रतीक्षमाणैः स्थानच्यम् । संखडी वा कापि वर्तते तत्र वसेत्कालोऽद्यापि देशकालो न भवति गृहस्वामिना चोक्तं प्रतीक्षध्वं क्षणमेकं यावद्वेला भवति तत-स्तस्मिन्नयस्मिन् वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं गृहाङ्गणमापूर्य भोक्तुमुपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपतिष्ठतः प्रतीक्षन्ते ।

संघाटकद्वारमाह ।

एगयर उभयओ वा, अलंजे अहव वा उभयलंभे ।

वसहिं जाणे एगो, ता इअरो चिट्ई दूरे ॥

एकतरस्य भक्तस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्ल-भतायामित्यर्थः । [आहच] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतरं लब्धं तेन च भाजनमापूरितं ततः संघाटकस्य मध्याद्यावदे-कस्तद्भाजनं वसति नयति तावदितरः साधुरगारिणां दूरं भूत्वा तिष्ठति एष चूर्थमिप्रायः । पुनरयं भक्तस्य पानकस्य उभयस्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रकं च तस्मिन् दिने अनाभोगेन न गृहीतं ततो यावदेको मात्रकं वसतेरानयति तावदितरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षाद्वारमाह ।

वामासु च वासंते, अणुष्मचिचाण तत्थ एवाहे ।

अंतरंगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिट्ईति ॥

वर्षासु वा कापि गृहे गतानां वर्षे वर्षति गृहस्वामिनमनु-

क्षाप्य तत्रानावाधे अवकाशे अन्तरगृहे वा गृहे वा द्वावपि संघाटकसाधू यतनया विकथादिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

परिशीपनिवेपंते, तस्स अंतेउरे गतो फिरिए ।

गुग्गहनिव्वहजावे, वाघातां एवमादीसु ॥

प्रत्यनीकं समागच्छन्तं दृष्ट्वा यावदसौ अतिव्रजति तावदेकान्ते निलीय तिष्ठन्ति नृपो वा सम्मुखेनेति तस्य वा नृपस्यान्तः-पुरं गजो वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावदसौ स्फटितो जव-ति तावत्तत्रैवासते (गुग्गहस्ति) दण्डिकौ द्विजौ वा द्वौ परस्परं विग्रहं कुर्वन्तौ समागच्छतो निर्वहं वधूवरं ततो महता वि-च्छेदं समायाति आदिशब्देन गौष्टिका गीतं गायन्तः समा-यान्ति एवमादिषु कारणेषु व्याघातस्तत्रैवं प्रतीक्षणलक्षणो भवति । तत्र च तिष्ठतामियं यतना ॥

अयाणगुत्ता विकहाविहीणा,

अच्छणणणणे व त्रिया पविछा ।

अत्यंति ते संतमुहा णिविठुं,

भजंति वा मेसपदे जहुत्ते ॥

आदानैरिन्द्रियैर्गुप्तास्तथा विकथया भक्तकथादिरूपया वि-शेषेण हस्तसंज्ञादेरपि परिहारेण हीनास्त्यक्तास्तत्र गृहान्तरे अच्छन्ने लुब्धे वा प्रदेशे ऊर्ध्वस्थिता उपविष्टा वा ते साधवः शान्तमुखा आसते । निवेश्य चोपविश्य शेषाण्यपि स्वाध्याय-विधानादीनि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते न च दोष-मापद्यन्ते । कथमिति चेदुच्यते ।

थाणं च कालं च तहेव वत्थुं,

आसज्ज जो दोसकरे तु ठाणे ।

तेणेव अन्नस्म अदोसवंते,

जवंति रोगिस्स व ओसहाई ।

स्थानं च स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तं भूमागादि कालं च ऋतुवद्धा-दिकं तथैव वस्तु तरुणनीरोगादिकं पुरुषद्वयमासाद्य यान्ये-कस्य गृहान्तरे स्थाननिषदनादीनि स्थानानि दोषकारीणि भवन्ति तान्येवान्यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्थानकालपुरुषवस्तुसा-चिव्याददोषवन्ति रोगिण इवौषधानि । यथा किञ्च यान्यौषधा-न्येकस्य पित्तरोगिणा दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वातरोगि-णो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे धर्मकथा न कथनीया ।

[सूत्रम्] नो कप्पति निर्गंथाण वा निर्गंथीण वा अंतर-गिहम्मि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइखित्तए वा वि-चावित्तए वा किट्ठित्तए वा पंवेयित्तए वा नन्नत्थ एगना-एण वा एगवागरणेन वा एगगाहाए वा एगसिद्धोएण वा सेविय ठिच्चा नो चेव एं अठिच्चा ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गथं वा पञ्चगथं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा । एत-देवापवदद्वाद । "नन्नत्थ" इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः स एकज्ञाताद्वा एकगाथाया वा एकश्लोकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः । सूत्रे च पञ्चम्यास्थाने तृतीयानिर्देशः प्राकृतत्वात् । अपि च एकगाथादिव्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नैवास्थित्वा भिक्षां पर्यट-ता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।

अत्र विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति ।

संहियकृष्णमादि-स्वर्णं तु पदच्छेदो विचागो उ ।

मुत्तन्धोकिट्टणया, पवेतणं तप्फन्नं जाण ॥

इदं संहिताया अस्खलितपदोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तदा-
स्यान्तमुच्यते तच्चेदं व्रतसमितिकथायाणां धारणरक्षणविनि-
ग्रहाः सम्यग्दण्डेन्यश्चोपरमो धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च एवं भिक्षां-
गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति । यस्तु पद-
च्छेदः ' मो ' इति पादपुण्ये स विभागो विज्ञावना ज्ञायते यथा
वनानां धारणं समितानां रक्षणं कथायाणां निग्रह इत्यादि ।
यत्तु सूत्रार्थं कथनं सा उक्तोक्तेना सा चेत्यं वतानि प्राणानिपा-
नादिविरमणरूपाणि तेषां सम्यगग्रमत्तेन धारणं कर्तव्यम् ।
समितय ईर्ष्यासमित्यादयस्तासामेकाग्रमत्तेन रक्षणं विधेय-
मित्यादिकस्य धर्मस्य यत्कृत्तमैहिकामुष्मिकव्याभयवृत्तं तत्प्र-
रूपणं प्रवेदन्तं जानीयात् यथा जगत्प्रणीतममुं धर्ममुत्तिष्ठन्
इदं भुवनवन्दनीयतायशःप्रवादादयो गुणा उपर्दाकन्ते परत्र
च स्वर्गापवर्गसौख्यप्राप्तिर्भवतीति एवं इत्योकादेराख्यानादिषु
भिक्षां गतेन विधीयमानेषु दोषानाह ।

एका वि ता मद्दल्ला, किमंग पुण हौति पंच गाढाओ ।

माद्वण लहुगा आणा-दिदोसा ते चेविमे अस्से ॥

एवं संहितादिविस्तारेण व्याख्यायमाना तावदेकाऽपि गा-
था महती महाप्रमाणा भवति किमङ्ग पुनः पञ्च गाथाः । अतो
यद्येकामपि गाथां कथयति तदेव चतुर्लघुका आन्नादयश्च
दोषाः । तथा चतुरङ्गमादिहृतनष्टाङ्गादयस्त एवान्तरगृहोक्ता
दोषा भवन्ति । इमे च वक्ष्यमाणा अन्ये दोषास्तानेवाह ।

अङ्गीकारगपौन्यग-स्वररूपमस्वरगा चेव ।

साद्वरणपरिणत्ते, गिज्ञाणलहुगाइ जा चरिमं ॥

भिक्षां पर्यटन् कमप्यगारिणमशुद्धां गाथां पठन्तं श्रुत्वा व्र-
वीति विनाशितेयं न्वया गाथा । तथा (अङ्गीकारगति) गा-
थाया अर्द्धमहं करोमि अर्द्धं पुनस्त्यया कर्तव्यम् । (पुन्यगति)
पुस्तकादेव शास्त्रमर्थीतं भवता न पुनर्गुरुमुखात् । (स्वरर-
गति) किमेवं स्वर ईवारटनं करोमि (अस्वरगा चेवति) अ-
न्तरगण्येव तावद्वाच्यं जानीते अतः पट्टिकामानयाहं भवन्तं
तानि शिष्यामि इत्यादिब्रुवाणो यावत्तत्र व्याक्षेपं करोति ता-
वन् इमे दोषाः (साधारणंति) साधारणं सर्वेषु मिलितेषु
यन्मगडल्यां भोजनं तन्निमित्तमितरे साधवः तं प्रतीक्षमाणा-
स्तिष्ठन्ति (पडणिचित्ति) तेन साधुना कश्चिन् ग्लानः प्रति-
ष्ठनः अद्याहं भवतः प्रायोग्यमानेप्यामीति ततस्तेन वेलावि-
लम्बेन यदसौ ग्लानः परितापादि प्राप्नोति तत्र चतुर्लघु-
कादि चरमं पाराश्रिकं यावत्प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथा-
समासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव व्याख्यानयति ।

जग्गविभग्गा गाढा, भणई हीणा च जा तुमे जणिता ।

अहं मे करोमि अस्सं, तुम मे अस्सं पमाहेहि ॥

साधुभिक्षां गतः सुपाणिद्वयव्यापनार्थं गृहस्थं पठन्तं श्रुत्वा
व्रवीति येयं न्वया गाथा भणित्वा सा भग्नविभग्गा इति भणति
हीणा वा कृता । यद्वा अर्द्धं (मे) तस्या गाथाया अहं क-
रोमि अर्द्धं पुनस्त्वं प्रसाधय इत्येवमभिनवा गाथा क्रियते ।

पौन्यगपञ्चगपडियं, किं गडामि गमहु एव अभिलापं ।

अकयमुह ! फलयमाणय, जा ते लिखवं तु पंचगं ॥

पुस्तकप्रत्ययादेव भवता पठितेन गुरुमुखात् अतः किमेतेन
प्रयासेन किं वा त्वमेव रासन्न इव अभिलापं विस्तारमागदमि ।
यद्वा अकृतमङ्गरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं यस्यासावकृतमुखस्त-
स्यामन्त्रणं हे अकृतमुख ! अपठिताशिक्षित ! एवं भवाच्च किमपि
ज्ञास्यति अतः फलकं पट्टिकामानय येन तव योग्यानि पञ्चा-
प्राण्यङ्गराणि विख्यन्तामस्मानिः । एवं भिक्षां पर्यटन् यदि विक-
स्यते तत इदं प्रायश्चित्तम् ।

सहुगादी कृग्गुरुगा, तवकालविमैमिया चउगुरुगा ।

अधिकरणमुत्तरुत्तर-एसणमंकाइ फिमियम्मि ॥

गाथायामर्जीकारके च चतुर्लघु, पुस्तके चतुर्गुरु, अङ्गरशि-
क्षणे परलघु, स्वररटने परगुरु, । अथवा तपःकाव्यविशेषिता-
श्चतुर्लघुकाः तद्यथा गाथामर्जीकारकयोस्तपःकालाभ्यां लघुकाः
पुस्तके कालेन गुरुका अङ्गेषु तपसा गुरुकाः स्वररटने तपसा
कालेन च गुरुकाः । अधिकरणं च कलहस्तेन समं ज्ञायति उ-
त्तरोत्तरा उक्तिप्रत्युक्तीः कुर्वाणस्य च तस्य भिक्षायां देशकालः
स्फिडति तस्मिन् स्फिडिते पर्यटनैरण्योः प्रेरणं कुर्यात् अकाल-
चारिणश्च शठकादयो दोषा जयन्ति ।

वागिएहति इय सो जाव, तेण ता गदिय भायणा इयरे ।

अत्थेते अंतगा य, एमेव य जो पमिमुत्तो ॥

यावदसौ तेन सममुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वन् व्यागृह्णाति व्याक्ते-
पण वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहीतज्ञाजनाः सन्तः
आसते ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लानः प्रतिक्षमस्त्वद्यो-
ग्यं प्रायोग्यमद्य मया आनेतव्यमित्यर्थः ततस्तस्मिन्नापि तावन्तं
कालं वृत्तुंति तिष्ठति तस्य साधारणतया जयति ।

कात्ताइकमदाणे, दोइ गिज्ञाणस्स रोगपमिबुद्धी ।

परितावणगाढाति, चउलहुगा जाव चरिमपदं ॥

कात्तानिकमेण च ग्लानस्य ज्ञतपानदाने रोगपरिबुद्धिर्भवति
ततश्च यदसावनागाढपरितापादिकं प्राप्नोति तत्र चतुर्लघुका-
दिप्रायश्चित्तं यावत् कालगते चरमपदं पाराश्रिकम् । द्विती-
यपदे गोचरप्रविष्टोऽपि परेण स्पृष्टः सन् कथयेत् । किं कारणमि-
ति चेष्ट्यते ।

किं जाणंति य चरगा, हलं जट्टिचाण जे उ पव्वइया ।

एवंविधो अवणो, मा होहिइ तेण कदयंति ॥

यदा परेण प्रज्ञिता अपि न कथयन्ति तदा स चिन्तयति किमे-
ते चरका जानन्ति ये हलं परित्यज्य प्रव्रजिताः एवंविधोऽवर्णः
प्रवचनस्य मा जूत् तेन कारणेन कथयन्ति । अथ "एगनाएण-
वा" इत्यादिसूचपदव्याख्यासयाऽऽह ।

एगं नायं उदगं, वागरणमर्दिसन्नक्खणो धम्मो ।

गाढादिं मिलोगेहि व, समासतो तं पि विच्चा एणं ॥

परप्रज्ञितेन विवक्षितार्थसमर्थनार्थमेकं ज्ञानमभिधातव्यं तत्र
चोदकदृष्टान्तो भवति व्याकरणं निर्वचनं यथा केनचित् धर्मल-
क्षणं पृष्ठस्ततः प्रतिब्रूयात् अहिंसावृत्तौ धर्मः । अथवा गाथाभिः
प्रश्नैर्वा समासतो धर्मकथनं कर्तव्यं तदपि च स्थित्वा नोपवि-
ष्टेन न वा भिक्षां हिण्मृजनेनेति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथेनामेव विवृणोति ।

नजइ अणेण अन्ये, एणं दिट्ठं इति व एगदं ।

वागराणं पुण जा ज-स्स धम्मता होति अत्थस्स ॥

ज्ञायते अनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातं दृष्टान्त इति चैकार्थं व्याकरणं पुनर्या यस्य मोक्षादर्थस्य धर्मता स्वभावस्तस्य निर्वचनम् । अथादृक्दृष्टान्तो भाव्यते “एगो साहू उभामगभिक्षायारियाए धेजे गामं वच्चइत्थं अंतरा गिहत्थां मिथितो ते दो वि वच्चेता अंतरापहे उदगं उत्तिण्णा सो अगारो गामं पविट्ठो तस्स य भगिणी अत्थि तीए घरं पाहुणगो गतो । साहू वि भिक्षं हिंसो तं घरं गतो जगिणीए पुरेकम्मं कथं साहुणा पडिसिद्धं । भगिणीए कहियं कीस न गिएहसि । साहू भणइ उदगसमारंजो न वट्ठइ । अगारा जणंति जे मए समं पंथे उदगं उत्तिण्णो सि ने किह कप्पइ अहो मायाविणो दुद्धिधम्मणो सि । साहू जणइ न वयं मायाविणो न वा दुद्धिधम्मणो किं तु “पप्पं खु परिहरामो, अप्पपं विवज्जं ण विज्जति हु । पप्पं खु सावज्जं, वज्जंतो होइ अणवज्जो” प्राप्यमेव परिहर्तुं शक्यमेव दयं परिहरामः अप्राप्यस्य परिहर्तुमशक्यस्य मार्गक्रमायातादकवाहकादर्विवर्जकः परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्यं सावयं पुरःकर्मादिकं वर्जयन् अनवयो निर्दोषो भवति । अपि च नायमेकान्तो यदेकत्रानवद्यतया दृष्टं तदन्यत्र प्राप्यमवद्यमेव ज्ञवति । तथाहि ।

चिरपाहुणतो भगिणिं, अवयामितो अदोसवं होति ।

तुं चेव मज्ज सकर्खा, गरहिज्जइ अम्माहिं काट्ठे ॥

चिरकालादायातः प्राघूर्णको जगिनीमवकाशमानः सस्नेहमाविद्धन् अदोषवान् भवति । तथा चात्र त्वमेव मम साक्षी प्रमाणं सांप्रतमेव भवता चिरप्राघूर्णकतया जगिनीपरिष्वङ्गस्य कृतत्वादिनि ज्ञावः । तामेव च जगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वजन् गृह्यते निन्द्यते अत्रापि त्वमेव प्रमाणमिति । तथा ।

पादेहि अधोतोहि वि, आक्रमिय तम्मि कीरती अच्चा ।

सीमण वि संकिज्जति, मच्चेव चितीकया उविओ ॥

अर्चा प्रतिमा सा यावन्नाद्यापि प्रतिष्ठिता तावद्धौतैरपि पादैराक्रम्योपरि चढित्वाऽपि क्रियते । सैव प्रतिमा चितीकृता चैत्यत्वेन व्यवस्थापिता शीर्षेणापि स्प्रष्टुं शङ्क्यते शिरसा स्पृशद्भिरपि शङ्का विधीयत इति ज्ञावः ।

केइ सरीरावयवा, देहत्था पूया न पुण विउता ।

सोहिज्जंति वणमुहा, मलम्मि वूढे ए सव्वे उ ॥

केचित् शरीरावयवा दन्तकेशनखादयो देहस्थाः सन्तः पूजिताः प्रशस्ता भवन्ति न पुनर्विमुताः शरीरावयवगृह्यताः । तथा व्रणमुख्यान्पि श्रोत्रचक्षुःपायुप्रवृत्तीनि मदे व्यूढे सति न सर्वाण्यपि शोध्यन्ते किंतु कानिचिदेवेति ।

जइ एगत्थुवल्लं, मवत्थ वि एवमण्णमी मोहा ।

जूमीतो होति कण्णं, किण सुवण्णा पुणो जूमी ॥

यदि नाम एकत्र यदुपलब्धं सर्वत्रापि तेन भवितव्यमित्येवं मोहादज्ञानान् मन्यसे ततः कथय भूमीतः कनकमुत्पद्यमानं दृश्यते ततः सुवर्णात्पुनरपि किं न भूमिः सम्पद्यते ।

तम्हा उ अणेगंतो, ए दिट्ठमेगत्थ सव्वहिं होति ।

लोए भक्खमभक्खं, पिज्जमपिज्जं च दिट्ठाइ ॥

तस्मादनेकान्तोऽनियमो यः कीदृश इत्याह । नैकत्र दृष्टं सर्वत्रापि भवतीति । तथाच लोके प्राण्यङ्गत्वे समानेऽप्योदनपाकानादिकं भदयं मांसवसादिकमभदयं तक्रजलादिकं पेयं

मद्यरुधिरादिकमपेयमित्यादीनि पृथक् व्यवस्थोत्तराणि दृष्टानि तथात्रापि उदकसमारम्भादौ मन्तव्यानि गतमेकज्ञातम् ।

अथैकव्याकरणेन यथा धनोऽभिधीयते तथा दर्शयति ।

जं इच्छसि अण्णतो, जं व ए इच्छमि अण्णतो ।

तं इच्छ परस्म वि यं, इत्तियं जिएसासणयं ॥

यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिकमात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तोमिच्छ आत्मवत् परमपि पश्यति भावः । एतावत् जिनशासनमियन्मात्रो जिनोपदेश इति । गाथया पुनरित्थं धर्म उपदिश्यते ।

सव्वारंजपरिग्गह-एणक्खेवो सव्वज्जतसमया य ।

एक्कगमणममाहा-णया अह एत्तिओ मोक्खो ॥

सर्वस्य सूत्रमवादराद्यशेषजीवविषयस्यारम्भस्य सर्वस्य च सचित्ताचित्तमिश्रभेदमिन्नस्य परिग्रहस्य यो निक्षेपः स न्यासो यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रमनःसमाधानता, अथैव एतावान् मोक्ष उच्यते । कारणे कार्यापचारादेषो मोक्षोपाय इत्यर्थः । श्लोकेन यथा ।

सव्वज्जतप्पज्जतस्स, मम्मं जूताइ पासउ ।

पिहिया सम्पस्स दंरस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥

पाठसिद्धः । ये तु संस्कृतरुचयस्तेषामित्थं गाथया श्लोकेन वा धर्मकथा क्रियते । “व्रतसमितिकपायाणां, धारणरक्षणविनिग्रहाः सम्यक् । दण्डेभ्यश्चोपरमो, धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च ॥ यत्र प्राणिवधो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम् । तत्रात्मनिग्रहो दृष्टः स धर्ममपि रोचयेत् ” ।

अथ किं कारणं स्थित्वा धर्मः कथनीय इत्याशङ्क्याह ।

इरियावहियावणे, सिद्धं ए गिएहए अतो उच्चि ।

जइही परिणीए, अभिओगे चउएह वि परेण ॥

ईर्यापथिकी चक्रमणक्रिया तां कुर्वन् यदि कथयति तदा लोके अवर्णा भवति दुर्दृष्टधर्माणोऽमी यदेवं गच्छन्तो धर्मं कथयन्ति अपि च शिष्टमपि कथितमपि धर्मेमेवं श्रोता न गृह्णाति । अतः स्थित्वा एकश्लोकादि कथनीयम् । अथापवाद उच्यते कश्चिद्भद्रको धर्मश्रद्धानुः श्रद्धिमान् धर्मं पृच्छति ततः सत्वानुकम्पया प्रवचनोपग्रहकरश्च भविष्यतीति कृत्वा तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा बहुतरा वा गाथा उपविश्य कथयितव्याः । प्रत्यनीको वा कश्चिद् व्यतिव्रजति तं प्रतीक्षमाणस्तावद्धर्मं कथयेत् यावदसौ व्यतीतो ज्ञवति । यद्वा स प्रत्यनीकः सहसा दृष्टो भवेत् ततो यः सव्यधिकः स उपशमेनानिमित्तं बहुविधमुपदेशं दद्यात् । दण्डिकस्य वा अभियोगो वलात्कारो भवेत् । किमुक्तं ज्ञवति । एकश्लोकेन धर्मे उपदिष्टे दण्डिको ब्रूयात् कथय कथय मे संप्रति महती श्रद्धा वर्तते ततश्चतुर्णां श्लोकानां परतोऽपि कथयेत् । आह कीदृशी पुनः कथा कथयितव्या कीदृशी वा नेति ।

सिंगाररसुत्तिजिया, मोहमई पुंफुका हसहसेति ।

जं पुण माणुस्सकहं, समणेण नु सा कह्येव्वा ॥

यां कथां शृण्वतः श्रोतुः स्त्रीसुवर्णकादिश्रवणजनितो रसस्स गृह्यारो नाम रसस्तेनोत्तेजिना सती मोहमयी पुंफुका (हसहसति) जाज्वल्यते सा कथं श्रवणेन कथयितव्या ।

समणेण कह्येव्वा, तवनिमकहा विरागमंजुत्ता ।

जं मोज्जण मणूसो. वच्चइ भवेगणिव्वेयं ॥

नपोऽनशनादि नियमा इन्द्रियनिग्रहास्तप्रधाना कथा तपो-
नियमकथा विरागसंयुक्ता न निदानादिता रागादिसंगता श्र-
मणेन कथयितव्या यां श्रुत्वा मनुष्यः श्रोता संवेगनिर्वेदं व्रजति ।
संवगे मोक्षाभिलाषो निर्वेदः संसारवैराग्यम् ।

महाव्रतानि न गृहान्तरं कथनीयानि ।

(मृत्रम्) नो कप्पड निगंथाणं वा निगंथीणं वा अंतर्गमिहम्मि
इमां पंचमहव्वयां सजावणां आइखित्तए वा विजावि-
त्तए वा किट्ठित्तए वा पवेयत्तए वा नन्नत्थ एगनाएण वा
जाव सिल्लएण वा सेविय विच्चा नो चेव ण अट्ठिच्चा ।

अस्य व्याख्या प्राक्सूत्रवद् द्रष्टव्या । नवरम्-इमानि स्वयमनु-
चर्यमानानि पञ्च महाव्रतानि सभावनानि प्रतिव्रतं ज्ञावनापञ्चा-
युक्तानि आख्यातुं वा विजावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा
न कल्पते । आख्यानं नाम साधूनां पञ्च महाव्रतानि ज्ञावनायुक्ता-
नि पट्कायरक्कणसारणि भवन्ति । चिभाषनं तु प्राणातिपाताङ्गि-
रमणं यावत्परिग्रहाद्विरमणमिति । ज्ञावनास्तु “इरियासमिए स-
या जए इत्यादि” गार्थोक्तस्वरूपाः पट्कायास्तु पृथिव्यादयः को-
र्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा जगवती सदेवमनु-
जासुरस्य लोकस्य पूज्या त्राणं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि एवं स-
र्वेषामपि प्रशक्त्याकरणाङ्गोक्तान् गुणात्कीर्त्तयति प्रवेदने तु म-
हाव्रतानुपालनानुस्वर्गोऽपवर्गो वा प्राप्यत इति सूत्रार्थः । परः
प्राह । ननु पूर्वसूत्रेण गतार्थमिदमतः किमर्थमारभ्यते उच्यते ।

गहियागहियविसेमा, गाथासुत्ता तु होति वयमुत्ते ।

णिहेसकतो व जेवे, परिमाणकतो व विसेयो ॥

गाथासूत्राद्गतसूत्रे पठितो ग्रथितः विशेषो मन्तव्यः किमुक्तं भव-
ति अनन्तरसूत्रे च उगाहं वा पंचगाहं वा इत्येकं ताश्च गाथा ग्रथि-
ता भवन्ति इमानि तु महाव्रतानि ग्रथितानि अग्रथितानि वा भवे-
युग्रथितानि नाम पट्पाठबन्धेन वा श्लोकबन्धेन वा वक्ष्यति क-
थयति अग्रथितानि तु मुक्कलैरेव वचनैरन्यभिधीयन्ते यदा
निर्देशः कृतोऽत्र वेदोपाय भवति अनन्तरसूत्रे चतुर्गाथं पञ्चगाथं
वा कथयितुं न कल्पते इत्युद्देशमात्रमेव कृतम् अत्र तु महाव्र-
तानि सभावनाकार्त्तनत्वेन तस्यैव विशेषनिर्देशः क्रियते । परि-
माणकतो वा विशेषो विज्ञेयः । यदधस्तनसूत्रे धर्मस्वरूपमुक्तं
तदस्यात्र महाव्रतमञ्चकमिति संख्यया विशेषो निरूप्यते ।

अथात्रैव दोषानाह ।

पंचपटव्वयतुंगं, जिणवयणं जावणापिण्णदुंगं ।

माहणव्वहुगा आणाइ-दोषं जं वा णिसिज्जाए ॥

इह जिनवचनं मेरुसदृशं पञ्चत्रिंशद्वाव्रतैस्तुङ्गमुच्छ्रितं पञ्च-
महाव्रतमयोच्चित्रमित्यर्थस्तस्यैव महाव्रतोच्चित्रस्य रक्कणार्थं
भावनाभिः पञ्चविंशतिसंख्याकाभिः पिनरुं गाढतरं नियन्त्रित-
मीदृशं जिनवचनमन्तरगृहे उपविश्य कथयन् अतुर्विधुकाः आ-
ह्लादयो दोषाः । यद्वा गृहनिषयायां वाहिनायां प्रायश्चित्तं यच्च
दोषजालं न दापयते । तथा महाव्रतपञ्चकविषया दोषा भवन्ति ।
प्राणवधमापयते प्राणवधो वा शङ्कयते । एवं यावत्परिग्रहमापयते
परिग्रहे वा शङ्कयते । तथाहि ।

पाणवहम्मि गुविणो, कप्पडादाणए य संकाओ ।

जणिऊण दाइ कोइ, मोनमियं संकाया साणे ॥

गृहे उपविश्य साधुधर्मं कथयति गुविणो । च तस्यान्तिके उ-
पविश्य शृणोति यावच्चार्त्ता तत्र तिष्ठति तावत्तदीयगर्भस्याहो-
रव्यवच्छेदेन विपत्तिर्भवति । एवं प्राणवधो लगति । तथा ध-
र्मं कथयतः काचिद्विरतिका शृणवत्येवापान्तराले कायिक-
चूर्मि गच्छेत् स च पुनस्तत्रैवास्ते ततः सपत्नी छिद्रं लब्ध्वा-
तत्तनयं मिषेण साधोरग्रतो निपात्य द्वावयति एवं प्राणातिपात-
विषया शङ्का जयेत् । तथा यत्तीर्थकरैः प्रतिपिच्छं तन्मया न क-
र्त्तव्यमिति प्रतिज्ञातैः प्रतिपिच्छं निषयां वाहयतो मृषावादो भव-
ति । यद्वा स्वमुखेनैव गृहनिषयां निषिध्य पश्चादात्मनैव तां परि-
भुज्जानो मृषावादमापद्यते । अथवा स दिने दिने तस्या अविर-
तिकाया अग्रे धर्मं कथयति ततो गृहस्वमिना भणितो मे मम
गृहं नायासीरिति । साधुना ज्ञातम् । आगमिष्यन्ति ते गृहं पा-
णशुनका एवमुक्त्वाऽपि जिह्वाबोलतदिदोषेण तदेव गृहं व्र-
जन् भणितोऽपि तेन गृहस्थेन वारितोऽपि कश्चिदिति एवं मृषा-
वादमाप्नोति । स च गृहस्था द्रष्टा किं पाणशुनकः संवृत्तोऽ-
स्तीति । यद्वा गृहस्थो जोजनं कुर्वन् धर्मं शृण्वतीमगारिं किम-
प्युक्तं द्वितीयाङ्गं याचेत् सा द्रष्टा तु ना भक्तिम् । अगारो
द्रष्टा जानास्यहं तं श्वानं येन ज्ञातमिति । एवं मृषावादवि-
षया शङ्का भवेत् । अथास्या एव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे ।

खुहिया पिपासिया वा, मंदस्वेणं न तस्स उट्ठेइ ।

गज्जरस्स अंतरायं, वाधिज्जइ संनिरोधेणं ॥

गुर्विणी धर्मकथां शृण्वती क्षुधिता वा पिपासिता वा भ-
वेत् सा च तस्य साधोः संवन्धिना मन्दाक्षेण लज्जमाना ति-
ष्ठति ततो गर्भस्यान्तरायं भवति । तेन चाहारव्यवच्छेदलक्ष-
णेन संनिरोधेन स गर्भो बाध्यते । ततो व्यापत्तिमप्यसौ
प्राप्नुयादिति प्राणवधमापद्यते ।

अथ प्राणवधविषयशङ्कां दर्शयति ।

उक्खिवितो सो हत्था, चुत्तो तस्सगतो णिवाभित्ता ।

सुणते य वियारगते, हाह त्ति स वित्तिणी कुणति ॥

अविरतिकाया अग्रे स धर्मं कथयति सा चापान्तराले का-
यिकार्थं निर्गता ततस्तस्यां शृण्वत्यां श्राविकायां विचार-
भूमौ गतायां सपत्नी तदीयं पुत्रं तस्य साधोरग्रतः उत्तिष्ठ्य
भूमौ सहसैव निपातयति निपात्य च अहो अनेन श्रमणेन
अयं पुत्र उत्तिष्ठः सन्नेतदीयहस्ताच्छ्रुतो विपन्न इति महता
शब्देन हातिपूर्त्कारं करोति । ततो भूयान् लोको मिलितस्तं
साधुं तत्र स्थितं दृष्ट्वा शङ्कां कुर्यात् किमेतत्सत्यमेवेदमिति ।
मृषावादोपप्रकाशः सप्रपञ्चमुक्त इति न भूयो भाव्यते ।

अथादत्तादानमैथुनयोर्दोषानाह ।

सयमेव कोइ हुद्धो, अपहरती तं पमुच्च कम्मकरी ।

वाणिगिणी मेहुणए, बहुसो य चिरं च संका य ॥

कश्चिद्वती लुब्धः सन् विजनं मत्वा स्वयमेव सुवर्णकलिकां
मुद्रिकापहरति एवमदत्तादानमापद्यते । तं वा संयतं प्र-
तीत्य “साधुरत्रार्थं शङ्कित्यते नाहमिति” कृत्वा कर्मकारी का-
चिदपहरेत् । वाणिजिका वा कश्चित्प्रोषितभर्तृका तया समं
मैथुनविषया आत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवन्ति । अथवा
यत्र प्रोषितपतिकास्तिष्ठन्ति तत्रासौ बहुशो वारं व्रजति
चिरं च नाभिः सह कन्दर्पं कुर्वाणस्तिष्ठति ततश्चतुर्थवि-
षये शङ्कयेत ।

अथ परिग्रहदोषमाह ।

धम्मं कहेइ जस्स उ, तम्मि उ वीयाए गए संते ।

मारक्खणपरिग्रहो, परेण दिट्ठम्मि उट्ठाहो ॥

यस्य श्रावकादेरग्रे धर्मं कथयति स ब्रूयात् यावदहं कायिको व्युत्सृज्य अत्र समागच्छामि तावद्भवता गृहं रक्षणीयमेव-
मुक्त्वा तत्र विचारभूमौ गते स संयतो यावत्तद्गृहं संरक्षति
तावत्परिग्रहदोषमापद्यते तदेवं गृहं रक्षन् परेण दृष्टः स शङ्कां
कुर्यात् नूनमेतस्यापि हिरण्यं सुवर्णं वा विद्यते उट्ठाहं च स
कुर्यात् अत्रो अयं भ्रमणकः सपरिग्रह इति । यत एते दोषा
अतो नान्तरगृहे धर्मकथा कसर्व्या ।

द्वितीयपदमाह ।

एगं एायं उदकं, वागरणमहिंसद्वक्खणो धम्मो ।

गाहाहिं मिलोगेहि य, समासतो तं पि उच्चा एं ॥

गतार्थम् । वृ० ३ उ० ।

अंतरजाय-अन्तरजात-न० भाषाछव्यजातभेदे, यानि दव्या-
णि अन्तरात्रे समश्रेण्यामेव निस्पृष्टानि तानि ज्ञापापरिणामं
जजन्ते तान्यन्तरजातमुच्यते आचा० २ ध्रु० ४ अ० ।

अंतरणई (दी)-अन्तरनदी-खी० छुद्रनदीपु,

यत्र यावत्प्राप्तान्तरनद्यस्तत्प्रतिपादयति ।

जंवूमंदरस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं
तओ अंतरणईओ पणत्ता तेजहा गाहावई दहवई पंकवई ।
जंवूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं तओ
अंतरणईओ पणत्ता तेजहा तत्तजला मत्तजला उम्मत्तज-
ला । जंवूमंदरपच्छिमेणं सीओदाए महाणईए दाहिणेणं
तओ अंतरणईओ पणत्ता तेजहा खीरोदा सीहसोया अतो-
वाहिणी । जंवूमंदरपच्छिमेणं सीओदाए महाणईए
उत्तरेणं तओ अंतरणईओ पणत्ता तेजहा उम्मिमालिणी
फेणमाझिणी गंजीरमालिणी । एवं धायइखंडदीवपुरच्छि-
मद्धे वि । अकम्मजूमिओ आठवेत्ता जाव अंतरणदीओ
त्ति एिरवसेसं जाणियव्वं जाव पुक्खवरदीवकूपच्छिम्म-
द्धे तडेव एिरवसेसं जाणियव्वं ।

अन्तरनदीनां विष्कम्भः पञ्चविंशत्यधिकं । योजनशतमिति
स्था० ३ ग्रा० ॥

जंवूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणदीए उज्जयकूले उ अंत-
रणईओ पणत्ताओ तेजहा गाहावई दहवई पंकवई तत्तजला
मत्तजला उम्मत्तजला । जंवूमंदरपच्छिमेणं सीओयाए
महाणईए उज्जयकूले उ अंतरणईओ पणत्ता तेजहा खीरोदा
सीहसोया अतोवाहिणी उम्मिमालिणी फेणमाझिणी गं-
जीरमालिणी स्था० ६ ग्रा० ॥

संग्रहेण

दो गाहावईओ दो दहवईओ दो पंकवईओ दो तत्तजला-
ओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरोदाओ दो
सीहसोयाओ दो अतोवाहिणीओ दो उम्मिमालिणीओ
दो फेणमालिणीओ दो गंभीरमालिणीओ ॥

चित्रकूटपद्मकूटवक्रस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवर्षधरपर्वतनित-
म्बव्यवस्थितत्वात् ग्राहवतीकुण्डाद्विष्णुतोरणविनिर्गता अष्टा-
विंशतिनदीसहस्रपरिवाग शीताधिगामिनी सुकच्छमहाकच्छ-
विजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी । एवं यथायोगं द्वयोर्द्वि-
योर्वक्रस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्वादशा-
प्यन्तरनद्यो योज्यास्तद्विधत्वं च पूर्ववदिति स्था० २ ग्रा० (पूर्व-
पश्चिमाक्षोपेक्षया द्विगुणत्वादिति)

अंतरंगीव-अन्तरद्वीप-पुं० अन्तरशब्दो मध्यवाची अन्तरे लव-
णसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः प्रज्ञा० १ पदः । अथवा
अन्तरं परस्परं विभागस्तत्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः । एकोरु-
कादिषु अष्टाविंशतिविधद्वीपजनेषु, स्था० ४ ग्रा० ।

सं किं तं अंतरंगीवया ? अंतरंगीवया अछावीसविहा प-
णत्ता एगोरुया अहामिया वेसाणिया पंगोली ? ह्यकन्न
गयकन्ना गोकन्ना सकन्निन्ना २ आयंसमुहा मेदमुहा अय-
मुहा गोमुहा ३ आसमुहा हत्थिमुहा सीहमुहा वग्गमुहा
४ आसकन्ना सीहकन्ना अकन्ना कण्णपाउरणा ५ उक्का-
मुहा मेदमुहा विज्जुमुहा विज्जुदंता ६ वणदंता लडदंता
गृहदंता सुद्धदंता ७ सेत्तं अंतरंगीवगा ।

सं किं तमित्यादि सुगमं नवरमष्टाविंशतिविधा इति यादृशा
एवं यावत्प्रमाणा यावदपान्तशत्रा यन्नामानो हिमवत्पर्वतपूर्वा-
परदिग्व्यवस्थिता अष्टाविंशतिविधा अन्तरद्वीपास्तादृशा एव
तावत्प्रमाणास्तावदपान्तरावास्तन्नामान एवं शिखरिपर्वतपूर्वाप-
रदिग्व्यवस्थिता अपि ततोऽन्यन्तसदृशतया व्यक्तिभेदमनपेक्ष्य
अन्तरद्वीपा अष्टाविंशति विधा एव विवक्षिता इति तज्ज्ञाता म-
नुष्या अपि अष्टाविंशतिविधा उक्तास्तानेव नामग्राहमुपदर्श-
यति “ तेजहा एगोरुया इत्यादि ” एते सप्त चतुष्का अष्टाविं-
शतिसंख्यत्वात् एते च प्रत्येकं हिमयति शिखरिणि तत्र हिम-
वत्ततया तावद्भाव्यन्ते (प्रज्ञा० १ पदः) इह एकोरुकादिनामा-
नो द्वीपाः परं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अन्येको-
रुकादय उक्ताः यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चात्रा
इति । जीवा० ३ प्रति० । एतेषु सप्तसु चतुष्केषु प्रथमश्चतु-
ष्कः । तथा च एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं पिपृच्छिपुराह ।

काहि एं भंते ! दाहिणिद्व्याणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुवदीवे
णामं दीवे पन्नत्ते ? गोयमा ! जंवदीवे मंदरस्स पव्वयस्स
दाहिणेणं छुद्धहिमवत्तस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमि-
द्व्याओ चरिमंताओ व्रवणममुइं तिष्ठि जोयणसयाइं उग्गा-
हिता एत्थ एं दाहिणिद्व्याणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुवदीवे
नामं दीवे पणत्ते तिन्नि जोयणसयाइं आयामविकखंजेणं एव
एकूणपण्णे जोयणसए किंचि विसेमूणे परिकखेवणं । से णं
एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसमेणं सव्वओ समंता
संपरिकखेत्ता से णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उद्धं उच्च-
त्तेणं पंच धण्णमेयाइं विकखेवणं एगोरुयदीवसमंता परि-
कखेवणं पन्नत्ता । तीपेणं पउमवरवेइयाए अयमेयारुव व-
न्नात्रामे पन्नत्ते तेजहा वयरामया निम्मा एवं वेतिया व-
न्नओ जहा रायपसेणीए तहा भाणियव्वा । सेणं पउम-

वग्वेद्या एगेणं वणमंसेणं सव्वओ ममंता संपरिकिखत्ता
मे णं वणमंसेणं देसूणां दो जोयणां चकवालाविकखं-
भेणं वेद्या ममए परिकेवेवेणं पन्नत्ते से णं वणखंमे कएहे
किएहोवभासे एवं जहा रायपसेणज्जे वणसंडवन्नओ त-
हेव निग्वमेसं भाणियव्वं । तएण य वन्नगंधफामो मद्दो
तएणं वा वीओपायपव्वयगा पुढविमिला पट्टगा य जा-
णियव्वा जाव तत्थ णं वहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ
य आमयंति जाव विहरंति । एगुरुयदीवस्स णं दीवस्स
ओतो बहुममगणिज्जे जूमिजागे पन्नत्ते से जहानामए
आलिगपुक्खंगे वा एवं सयणीए भाणियव्वे जाव पुढवि-
मिजापट्टगं ति । तत्थ णं वहवे एगुरुयदीवया मणुस्सा य
मणुस्सीओ य आमयंति जाव विहरंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
तत्थ तत्थ देमे तहिं तहिं वहवे उदायका मोहालका
कोहालका कतमाला नत्तमाना एट्टमाला मिंगमाला सं-
खमाला दंतमाला सेलमाला गाम दुमगणा पन्नत्ता मम-
णाउमो ! कुमविकुमविसुद्धरुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव
वीयमंतो पत्तेहिय पुप्फेहि य अच्छन्नपक्किञ्चना मिरीए
अईव २ सोभेमाणा ओयसोनेमाणा चिट्ठांति । एगुरुयदीवे णं
दीवे तत्थ तत्थ वहवे हेरुयालवणा हेरुयालवणा मेरुया-
लवणा मेरुयालवणा मालवणा मरलवणा मन्नपणवणा
पूयफलिवणा खज्जरीवणा नालिएगवणा कुसविकुस जाव
चिट्ठांति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ वहवे तिलयालउत्ता
नगोटा जाव गयरुक्खा एंदिरुक्खा कुसविकुस जाव चि-
ट्ठांति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ पउमलयाओ नागज-
याओ जाव मोमलयाओ निच्चं कुममियाओ एवं दयावन्नओ
जहा उववाडिणं जाव पेरुक्खाओ । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ
वहवे मिरियगुम्मा जाव महाजाडगुम्मा तणगुम्मा दमच्छ-
वन्नं कुमुपं कुमुपेति जेणं वायविहुलगसाला । एगुरुयदी-
वम्म बहुममगणिज्जं जूमिभागं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं
कंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ वणगईओ पन्नत्ता-
ओ ताओ णं वनगईओ किएहाओ किएहोवभामाओ जाव
ग्ग्माओ मद्दामेहण्णिगुरुक्खंज्याओ जाव महता गंधधणिं सुयं-
ताओ पामाड्याओ । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ वहवे मत्तंगा
नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउमो ! जहा मे चंदपभमणिमि-
लागवग्गीधुयवग्गणिमृजायफलपुप्फचोणिज्जा संमार-
वहुदुव्वजुत्तिमंमारकात्तमंधियआमवपहुमेग्गिहाभदुट्टजा-
उपमन्नंतज्जगा म ताओ खज्जग्गुदियामारका विमायण-
मुपक्खोयग्गवग्गमुग्गवग्गणसगंधफरिमजुत्तवत्तवीग्गिय-
ग्गिणामा मज्जविही य बहुप्पगारा तहेव ते मत्तंगया वि दुम-
गणा अणेगवहुविविहवीमसा परिणयाए मज्जविहीए उव-

वेया फलेहिं पुत्ता विव विमट्ठंति कुमविकुमविसुद्धरुक्खमूला
जाव चिट्ठांति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ वहवे भिंगंगा णाम
दुमगणा पन्नत्ता समणाउमो ! जहा से चारगघडकरगक-
लसककरिपायकंचाणिउल्लूकवद्धणिसुपइट्टकविट्ठा पारावस-
गा भिंगारा करोमिसरंगपरंगपत्तीयात्तणिद्वगचवलियअ-
यपलगवालविचित्तवट्टकमणितट्टकमिप्पिखारपिणद्धकंचण-
मणिरयणभत्तिविचित्तविभायणविहिवहुप्पगारा तहेव तेसिं
जिंगगेया वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीमसा परिणय-
त्ताए भायणविहीए उववेया फलेहिं पुएणा विव विमट्ठंति
कुसविकुस जाव चिट्ठांति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ वहवे
तुरुयंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउमो ! जहा
से आलिगपणवदहरपहुमिंरुमाभंभातहारंजकिणियख-
रमुहिमुयंगसंखियपरिद्वए पव्वगा परिवायणिव्वंसवेणुवी-
गोसुग्गोसगविपंचमहत्तिकच्छत्तिरिक्खसतकलाकंसालता -
लसकसंपत्ताओ आतोअविहीए एणउणगंधव्वसमयकुस-
लेहिं फांदिया तिट्ठाणकरणमुच्छा तहेव ते तुमियंगा
वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीमसा परिणयाए ततवितत-
बंधणसिराए चउच्चिहाए आतोज्जविहीए उववेया फलेहिं
पुएणा विव विमट्ठंति कुसविकुमविसुद्धरुक्खमूलाओ जाव
चिट्ठांति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ वहवे दीवमिहा
णाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउमो ! जहा से संभवि-
रागममए नवनिमीहिपतिणो विदीविया चकवात्तचंदे पभूय-
वट्टिपलित्तज्जणेहिं विउज्जद्विय तिमिरमद्दए कणगनिकर-
कुममियपारिजायवणप्पगासे कंचणमणिरयणविमलमहरि-
हत्तवणिज्जुज्जलविचित्तदंसाहिं दीवियाहिं सहसा पज्जा-
द्विओ सवियणिच्छतेयदिपंतविमलगहगणसमयप्पदाहिं वि
तिमिरकरकमूरपसरिउज्जोवविद्वियाहिं जालाउज्जलपह-
सियाभिरामाहिं सोज्जमाणाहिं सोज्जमाणा तहेव ते दीवसि-
हा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीमसा परिणयाए उज्जो-
यविहीए उववेया फलेहिं कुसविकुस जाव चिट्ठांति ।
एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ वहवे जोडंसिया नाम दुमगणा
पन्नत्ता समणाउमो ! जहा से अचिरुग्गयसरयसूरमंरुत्त-
परंतउक्कामहस्सदिपंतविज्जुज्जलत्तहुयवहुनिज्जूमजालि-
निच्छंतथोयतत्तवणिज्जकिंसुया सोगजासुयणकुसुमविपउ-
द्वियपुंजमणिरयणकिरणजज्जहिंगुत्तयतिरयस्सुवाइरेग्गुवा त-
हेव ते जोतिसिहा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीमसा
परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया सुहलेसा मंदलेसा मंदा-
तवलेसा कूदाणद्विया अन्नोन्नममोगाहाहिं हेसाहिं माए
पभाए तेयसा सव्वओ समंताओ जासंति उज्जोवंति
पजासंति कुसविकुस वि जाव चिट्ठांति । एगुरुयदीवे णं

दीवे तत्थ बहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
 जहा से पेच्छाघरे व्व चित्ते एमेव कुसुमदाममाला कुलु-
 ज्जलेमा जासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकझिए विरद्वियविचि-
 त्तमल्लसिरिसमुदप्पगारंभे गंधिमवेढिमपूरिमसंघयमेणं मद्धेणं
 छेयसिरियविजागरप्पणं सव्वओ समंता चेव ममणुवप्पे प-
 विरललंबंतविप्पइडेहिं पंचवन्नेहिं कुसुमदामेहिं सोजमाणा
 वनमालकतग्गए चेव दिप्पमाणे तहेव ते चित्तंगा वि दुम-
 गणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए मद्धविहीए उव-
 वेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
 तत्थ बहवे चित्तरसा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
 जहा से सुगंधवरकलममाझितंतुलविसिच्छिणिरुवयदुद्धर-
 प्पे सारयवयमंखंभमहुमेलिए अरसे परमन्ने देज्जउत्त-
 मेगवन्नगंधमत्ते रसो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणे-
 हिं सूपपुरिसेहिं सज्जिए चाउरकप्पमेयसित्ते व ओदणे
 कल्लमसाझिणव्वतिए विवक्केसेवप्पमिउविसयसगल्लसित्थे
 अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पणिपुन्नदव्वुवक्खडे सुसक्कए
 वल्लगंधरसफरिसजुत्तवन्नवीरियपरिणामे इंदियवन्नवप्पणे
 खुप्पिवासासहणे पहाणगुलकटियखंडमच्छंमिउवणीय व्व
 मोयगे सएहसमितिगन्नेहवेज्जा । परमइट्ठगसंजुत्ते जहेव
 ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिण-
 याए भायणविहीए उववेया कुसविकुस जाव चिट्ठंति ।
 एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पाण-
 त्ता समणाउसो ! जहा से हारदुद्धारवेटणगमउरुकुंडलवा-
 सुजूमहेमजाझमणिजाझकणगजाझगसुत्तगउचितियकडग-
 खडुयएगावलिकंतमुत्तमगरगउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तमचूझा-
 मणिकणगतिलगफुट्टगसिद्धत्थियकल्लवालिससिसूरुत्तसज-
 चक्कगतल्लभंगेयतुडियहत्थमाझगवन्नखदीनारमाझिया चंद-
 मूरमाझिया हरिसयकेयूरवन्नियपाझंवन्नगुलिज्जकंचीमेह-
 लाकलावपयरकपायजालयंठियखंखिणिरयणोरुजाझन्नमि-
 वरनेउरवन्नणमाझिया कणगणिगमालिया कंचणमणि-
 रयणभत्तिचित्तव्वचूसणविही बहुप्पगारा तहेव ते मणियंगा
 वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए चूसणवि-
 हीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
 तत्थ बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
 जहा से पागारट्टाझगचरियागोपुरपासायागासतलगमंडवए-
 गसाझगचाउसाझगन्नघरमोहणपरवल जिघरचित्तसाझ-
 गमालियजत्तिघरवहतंसंनंदियावत्तसंठियावत्तपंफुरतलपुरुमा
 झहम्मियअहवणंथवलहरअद्धसागहंविन्भतसेल्लदमेत्तसंठि-
 यकूदारगसुविहिकोड्डगअणेगघरसरणल्लेणआवेणविहंगजाझ-
 चंदनिव्वूहअपवरककरोत्ताझिचंदसाझिविभत्तिकझिता जव-

णविही बहुविगप्पा तहेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगवहु-
 विविहविस्ससा परिणयाए सुहारुद्धणसुद्धोत्तागए सुहनिक्ख-
 मणपवेसाए दहरमोपाणपंतिकझियाए पडरित्ताए सुहविहाराए
 मणाणुकूलाए भवणविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चि-
 ट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे अणिगणा नाम दुमगणा
 पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अणेगआइगग्गोमतणुयकंव-
 लदुगद्वकोमेज्जकाझमियपट्टचीणअंसुतवन्नावरणातवारवा-
 णगपच्छन्नाभरणचित्तमहिणगकल्लाणगजिगमेहद्वकज्जल-
 बहुवन्नरत्तपीयसुक्किद्वमरकयमिगद्वोमहेमप्परल्लगअवरतगसि-
 धुत्तसभदामिद्वविंगकझिगनझिणतंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही
 बहुप्पगारा हवेज्ज वरपट्टणुग्गता वएणरागकाझिया तहेव ते
 अणिगणा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए
 वत्थविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति ॥ १० ॥ एगु-
 रुयदीवे णं जंते ! दीवे मणुयाणं केरिसए आगारभावपडो-
 यारे पप्पत्ते ! गोयमा ! ते णं मणुया अणतिवरसोमचारूवा
 भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा जोगमस्सिरीया सुजायसव्वं-
 गसुंदरंगा सुपइडियकुम्भचारुचलणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकु-
 माद्वकोमद्वतला नगणगरमगरसागरचक्कंकरंकरंकरंक्ख-
 णंकियचञ्जणा अणगुव्वसुसाहयंगुलिया उल्लयतणुयतंव-
 णिप्पणखा संत्रियसुसल्लिद्वगुग्गुप्फा एणकुर्विदावत्तवट्टा-
 णुपुव्वजंघा सामुग्गनिमुग्गगूढजाणुगतससणसुजातसप्पिभो-
 रुवरवारणमत्ततुद्वविक्रमविद्वान्सितगती सुजातवरतुरगगम्भ-
 देमा आइन्नहतो व्व णिरुव्वेवा पमुइयवरतुरगसीहअइ-
 रंगवट्टियकमी साहयसोणिंदमुसलदप्पणणिगारितवरकणग-
 ठरुसरिसवरवइरवलितमज्जा उज्जुअसमसंहितसुजायजच्च-
 तणुक्सिणणिप्पआदेज्जलउहसुकुमालमउयमणिज्जरोम-
 राई गंगावत्तयपयाहिणावत्ततरंगजंजुररविकिरणतरुणवो-
 धियअकोसा तंतपउमगंजीरविगरुणाभा ऊसविहगसुजायपी-
 णकुच्छी ऊसोदरा सुइकरणी पइहविगरुणा जामन्नत्तपासा
 संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितमाइतपीणरइतपासा
 अकरंदुयकणगरुयगनिम्ममसुजायनिरुव्वहयदेहधारी पसत्थ-
 ठत्तीसल्लक्खणधरा कणगसिद्धातल्लुज्जपसत्थसमतलउव-
 चियविचिन्नपिहुद्ववच्चा सिरिविचिन्नकियवच्चा पुरवफझि-
 हवट्टियजुया जुयगीसरविपुल्लजोगआयाणफलिहउच्चूद-
 दीहवाहुजुगसन्निभपीणरइयपीवरपउट्टसंत्रियउवचियघणा-
 थिरसुवप्पसुसल्लिद्वपुव्वसंधी रत्ततल्लोवइत्तमउयमंसल्लपमत्थल-
 कल्लणसुजायअच्चिद्वजालयाणी पीवरवट्टियसुजायकोमद्ववरं-
 गुलीआ तंवतझिणसुतिरतिद्व (रुचिर) निद्वलुक्खा (नखा)
 चंदपाणिलेहा मूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा
 दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदमूरसंखचक्कदिग्गामोवत्थियपा-

णिजेहा अणगवगलखणुत्तमपमत्यसुविश्यपाणिलेहा वरम
 द्विमवगहसीदमद्वलभभणागवगविउलउत्तमदखंधा च-
 ठंगुलमुणपमाणकंबुवरसरिमगीवा अवहितसुविज्जत्तमु-
 जाताचित्तमंसुमंसलमंडियपमत्यमद्वलविउलहणुया उतवित-
 निलप्पवालविंफलमन्निजाभगेहा पंडुरमसिमगलाविम-
 लनिम्मलमंसवदधियणगोवीरफेणदग्गमुणालियाभवन्न--
 दंतमेदी अवंसदंता अफुमियदंता अविरज्जदंता मुसिणि-
 च्चदंता मुजातदंता एगदंतामहि व्व अणगदंता हुतवहनि-
 च्चंतथोतत्तवणिज्जत्तवन्नताज्जुजीहा गुरुजायतउज्जुतुंग-
 णासा अवदानियपौरगीयणयणा कोकामितधवलपत्त-
 वंता आणामियचावरुडलकिाहवज्जगडयसंठियमंगतआ-
 यतमुजाततणुकमिणनिष्कुमया अद्वीणपमाणुत्तसव-
 णा मुम्मवणा पीणमंसलकत्ताद्वेसभागा अइरुगयवावन्नचं-
 दमंडियपमत्यविच्छन्नमणिडाला उरुवडपरिपुन्नसोम-
 वयणा उत्तागरुत्तिमंगदंसा धणनिचियसुवप्पलक्खणुव-
 यकुडागारणिज्जपिमियमिग हुतवहनिष्चंतथोतत्तवणिज्ज-
 रत्तकेमंतकेमजूमिमापत्तिपौरुयणणिचियओडियमिउविमय
 पमत्यमुदुमन्नक्खणमुगंधमुंदरज्जुयमांगजिगणीवकज्जलप-
 ददुमगयणिच्चणिकुंरुवणिचियकुंरुचियपयाहिणावत्तमुद्ध--
 मिरिया लक्खणवज्जणगुणोववेया मुजायमुविभत्तमरूवा
 पामाडया दग्गिमणिज्जा अजिरूवा पडिरूवा । ते णं मणुया
 ओदम्मग हंमम्मग कौचम्मग एंदिपोसा मीहम्मग मीह-
 योसा मंजुम्मग मंजुयोसा मुम्मग निग्गोसा ज्ञायाउज्जो-
 ड्यंगमंगा वज्जगिमदनागयमंवयणा ममचउरंसंठाणमं-
 ठिया मिणिच्चव्वी निगयंका उत्तमपसत्यअइमेमनिरुवम-
 तणु जल्लपन्नकल्लकंमययदोसाविज्जियसरीरा निरुवमले-
 वा अणुलोमवाउवेगा कंकगहणी कपोतपरिणामा सउनि-
 पोमविठितरोरुपरिणया विग्गहियउन्नयकुच्छी पउमप्यन्न-
 मग्गिमंथनिम्मानमुग्गहियवयणा अट्टधणुमयज्जानिया तेभिं
 मणुयाणं चउमट्टिपडिकरुगा पन्नत्ता समणाउमो ! ते एं
 मणुया पगडभट्टया पगडविणीया पगडउवमंता पगडपणु-
 कोदुपाणमायालोत्ता मिउमदवसंपन्ना अर्द्धाणा भट्टया वि-
 णिया अपिच्छा अमणिहिमंचया अचंका विमिमंतरपवि-
 मणा जट्टिद्वियकामगामिणो यंते मणुयगणा पन्नत्ता समणा-
 उमो ! तेमि णं भंते ! मणुयाणं केवतिकालस्स अट्टागट्टे ममु-
 प्यज्जइ ! गोयमा ! चउन्वभत्तस्स अट्टागट्टे ममुप्यज्जइ एगुरु-
 यमणुडं भंते ! केरिमण आगारभावपद्मोयोरपल्लने ! गोयमा !
 ताओ णं मणुडओ मुजायमच्चंगमुंदरीओ पट्टाणमहिलागु-
 णोहिं जुत्ता अचंतविमपमाणपउममुमावन्नकुम्मसंठियविमि-
 द्दचन्नणा उज्जुमउयपीवरनिरंतमुमातचन्नंगुद्धीओ अ-
 वट्टमयगतियतलिणंतेवमुविणिच्चणया सोमरहियवडल-

इमंडियअजहन्नपसत्यलक्खणअकोप्पजंघजुयत्ता मुणिमि-
 यमुग्गज्जाणु मंसल्लमुवप्पसंधा कयद्विखंजातिरेगसंठिया णिव्व
 णसुमावमउयकोमन्नअविरज्जममसहंतमुजातवट्टपीवरनिरंतगो-
 रुअअट्टावयदीविपट्टसंठिया पसत्यविच्छिणपिहुल्लसोणिवद-
 णायामप्पमाणुगुणियविसावमंसल्लमुवप्पजहल्लवरधारिणि-
 उवज्जविगडयपमत्यलक्खणणिरोदरा तिवालियतणुणामियम-
 ज्जियाओ उज्जुयमममहियज्जत्तणुकमिणणिच्चआदेज्जल
 हकमुविभत्तकंतमुजायसो जंतरुडलरमणिज्जगेमराई गंगावत्त-
 कप्पयाहिणावत्ततरंजंरुरविकिरणतरुणवोधियअकोसायं-
 तपउमगंजीरविगरुणाजा अणुवभरुपमत्यपीणकुच्छी सन्न-
 यपामा मंगयपामा मुजायपामा मियमरियपणिरइयपासा अ-
 करंरुयकणुगळ्यगनिम्मल्लमुजायणिरुवहयगायल्लट्टी कंचण-
 कल्लमपमाणमममहियमुजायालद्वचूचुयआमन्नममन्नजुगन्न-
 वट्टियअचुत्तुयरतियसंठियपयोधराओ जुजंगअणुपुव्वत-
 णुयगोपुच्छवट्टसममहियणमियआएज्जलालियवाहाओ तं-
 वणहा मंसल्लगहत्था पीवरकोमलवरंगुलीओ णिच्चपा-
 णिलेहा रविमसिमंसवचकसोत्थियविज्जत्तमुविरतियपाणि-
 लेहा पीणुस्यकक्खवक्खवत्थियपदेसा परिपुष्पगलक्खोला
 चउरंगुलमुप्पमाणकंबुवरसरिमगीवा मंसल्लसंठियपसत्यह-
 णुगा दालिमपुष्पगसासपीवरपल्लवकुंरुचियवराधरा सुंदरोत्त-
 रोट्टा दधिदगरयचंदकुंदवामंनिमउलअच्छिदविमलदसणा
 रत्तुप्पलत्तमउयमुमावत्ताज्जुजीहा कणयरमउन्नअकुमिलअ-
 वज्जुगयउज्जुतुंगणासा सारयनवकमलकुमुदकुवलयाविमु-
 क्कमउलदल्लनिगरमरिमलक्खणअंकियकंतनयणा पत्तल-
 धवलायततंवज्जोयणाओ आणमितचावरुडलकिाहभराइमं-
 ठियसंगयआययमुजायतणुकमिणनिष्कुमया अद्वीणप-
 माणुत्तमवणा मुम्मवणा पीणमद्वरमणिज्जगंडलेहा चउरं-
 सपसत्यसमणिडाला कोमुदीरयणीकरविमलपरिपुन्नसोम-
 वयणा उत्तमयउत्तिमंगा कुमिल्लसुसिणिच्चदीहसिरया
 उत्तज्जयजुवधूजदामिणिकमंसल्लकुल्लसवाविसोत्थियपडा -
 गजवमच्चकुम्मरहवरमगरज्जयमुक्कथावन्नअकुमअट्टावयवी-
 ईमुपडकम्मज्जरसिरियाजिसेयनोरणमेइणीउदधिवरज्जव-
 णगिरिवरआयंसल्लियगयउमज्जमीहचमरउत्तमपसत्यकु-
 चीमलक्खणधरीओ हंसमसिगईओ कोदल्लमहुरगिरसुस्स-
 राओ कत्ताओ सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवत्तिपत्तिया-
 वंगहुवन्नवाही दोभग्गसोगमुक्काओ वत्तेणयनगण थोचूण-
 मुमियाओ मव्जावसिगारचारुवसा संगतगतहसियभणिय-
 चिट्ठियविज्जाससंज्ञाविनज्जणुत्तोवयारकुसल्ला सुंदरवणजह-
 णवयणकज्जचरणयणवत्तवन्नरुवमोव्वणविभासकलिया
 नेदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ अच्छेरगपिच्छ-
 णिज्जा पामाइतानो दग्गिमणिज्जातो अजिरूवाओ पडिरूवाओ

तासि णं जंते ! मणुईणं केवतिकादस्म आहारहे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्थजत्तस्म आहारहे समुप्पज्जइ । ते णं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुढवीपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! तीमे णं जंते ! पुढवीए केरिसेए अस्साए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए गुद्वेइ वा खंरुइ वा सकराइ वा मच्छंडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्परुमोतेवति वा पुप्पत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा अकोसियाति वा विजताति वा महाविजयाति वा पायसोवमाइ वा उवमाइ वा अएणोवमाइ वा चउरके गोखीरे चउट्टाणे परिणए गुडखंरुमच्छंदिउवणीए मंदग्गिकडिए वस्सेणं उववेए जाव फामेणं जवे एतारुवेसि ता नो इण्ठे समट्ठे । तीसे णं पुढवीए एत्तो इट्ठपराए चेव जाव मणामतराए चेव । आमाएणं भंते ! पुप्फफलाणं केरिमए आसाए पणत्ते ? गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्ठिस्स कट्ठाणपवरजोयणे सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नेणं उववेए गंधेणं उववेए रसेणं उववेए फासेणं उववेए आसायाणिज्जे बीसायणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे वीहिणिज्जे मयणिज्जे सव्विदियगायपल्हायणिज्जे भवे ता रुवे मिया नो इण्ठे समट्ठे । तेसि णं पुप्फफलाणं इत्तो इट्ठतराणं चेव जाव अस्साएणं पन्नत्ते । ते णं भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कहिं वसहिं उव्वेति ? गोयमा ! रुक्खगेहालयाणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! ते णं भंते ! रुक्खा किं संत्रिया पणत्ता ? गोयमा ! कूमागारसंत्रिया पच्चाघरसंत्रिया उत्तागारसंत्रिया ऊयसंत्रिया धूमसंत्रिया तोरणसंत्रिया गोपुरसंत्रिया पाद्वगसंत्रिया अट्टाद्वगसंत्रिया पासायसंत्रिया हम्मिउत्तसंत्रिया गक्खसंत्रिया वाद्वगपातियसंत्रिया वलभीसंत्रिया अएणे तत्थ बहवे वरजवणसयणासणविसिद्धसंठाणसंत्रिया सुभसीतलक्काया णं ते दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा एणो इण्ठे समट्ठे रुक्खगेहालया णं मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गाभाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेसाइ वा एणो इण्ठे समट्ठे । जइत्थियकामगामिणो णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे असीइ वा मसीइ वा किसीति वा विवणीइ वा पणीइ वा वाणिज्जाइ वा नो इण्ठे समट्ठे । ववगयअसिमसिकिसीविवणिपणियवाणिज्जवज्जा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे हिरण्णेइ वा सुवन्नेइ वा कंसेइ वा हूसेइ वा मणीइ वा मुत्तिएइ वा त्रिपुल्लवणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिद्धपवामंत-

सारसावयज्जे वा हंता ! अत्थि णो चेव एंतेसि मणुयाणं तिच्चे ममत्तिजावे समुप्पज्जइ । अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवेणं दीवे रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तल्लवरेइ वा माडंविएइ वा कोकुंविएइ वा इम्भेइ वा सेट्ठिएइ वा सेणावई वा सत्थवादेइ वा नो इण्ठे समट्ठे ववगयइहिस्सकामएणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ? अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगति वा जाइद्वगाइ वा कम्मगाराइ वा भोरापुरिसाइ वा नो इण्ठे समट्ठे ववगयआभोगिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ? अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे माताति वा पियाइ वा जायाइ वा जयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा सुएहाइ वा हंता ? अत्थि नो चेव एंतेसि णं मणुयाणं तिच्चे पेम्मवंधणे समुप्पज्जइ पयणुपेम्मवंधणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अरीइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा बहगाइ वा पडणीइ वा पच्चामित्ताइ वा एणो इण्ठे समट्ठे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे मिताइ वा वयंसाइ वा ग्रहियाति वा सुहीति वा सुहीयाइ वा महाभागाति वा संगतियाति वा नो इण्ठे समट्ठे ववगयपेमाणुरागा णं ते मणुयगणा पणत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्नाइ वा सट्ठाइ वा थालिपागाइ वा चोलोवणतणाइ वा सीमंतोवणतणाइ वा पितिपिंडनिवेयणाइ वा नो इण्ठे समट्ठे ववगयआवाहविवाहजन्नसञ्चथालिपागचोलोवणसीमंतोवणतणपितिपिंडनिवेदणा णं ते मणुयगणा पणत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे इंदमहाइ वा रुदमहाइ वा खंदमहाइ वा सिवमहाति वा वेसमणमहाति वा मुगुंदमहाति वा नागमहाइ वा जक्खमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तल्लगमहाइ वा नंदिमहाइ वा इंदमहाइ वा पच्चयमहाति वा रुक्खमहाइ वा चेतियमहाइ वा धूजमहाइ वा एणो इण्ठे समट्ठे ववगयमहातिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे नरुपिच्छाइ वा एट्ठपेच्छाति वा मत्थपेच्छाति वा मुट्ठियपेच्छाति वा विरुम्बगपेच्छाति वा कहकपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्खवाइगपेच्छाति वा द्वासगपेच्छाति वा द्वेखपेच्छाति वा मंखपेच्छाति वा तणइद्वपेच्छाति वा तुंववीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा कहयापेच्छाइ वा एणो इण्ठे समट्ठे ववगयकोऊहत्ता णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि

एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे सगमाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिल्लोति वा पञ्जीति वा थिल्लाइ वा पवहणाइ वा सीथाइ वा संदमाणियाइ वा नो इण्ठे समेटे पादचारविहारिणो एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे आमाइ वा हत्थीइ वा उट्ठाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खगाइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि नो चेव एणं तेमि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे गावीइ वा महिसीइ वा उट्ठाति वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एणं तेमि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे सीहाइ वा बग्गाइ वा दीविवाइ वा अन्थाइ वा परम्सगाइ वा सियाल्लाइ वा विडालाइ वा मुणगाइ वा कोल्लमुणगाति वा कौकलियाइ वा ससगाइ वा दित्तवित्तलानि वा चिन्नुलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एणं अन्नमन्नस्म तेमि वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा उप्पायंति उविच्छेयं वा करेंति । पगइभद्गा एणं ते सावयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे साहीइ वा वीहीइ वा गोहमाइ वा इक्खूइ वा तिन्नाय वा हंता ! अत्थि नो चेव एणं तेमि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा पाइ वा घंमीइ वा जिगूइ वा उवाएइ वा विसमेइ वा विजलेइ वा धुत्तीइ वा रेणुति वा पंकेइ वा वलणीइ वा एणो इण्ठे समेटे । एगुरुयदीवे एणं दीवे वहुमममाणिजे जूमिजागे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे खाणुइ वा कंटाणइ वा करीमहाइ वा मक्कराइ वा तणकयवगाइ वा सत्तकयवगाइ वा असुईइ वा पूईइ वा छुत्तिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा एणो इण्ठे समेटे ववगयखाणुकंटकरीमहमकरतणकयवर असुइपूईयछुत्तिगंधमचोक्खवज्जिणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे दंसाइ वा ममगाति वा पिमुगाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा ठिक्कुणाइ वा नो इण्ठे समेटे ववगयदंममगपिमुगजूयालिक्खठिक्कुणपरिवज्जिणं एणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा हंता अत्थि नो चेव एणं ते अन्नपन्नस्म तेमि वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा उविच्छेयं वा करेंति पगइभद्गा एणं ते वात्तगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे गहदंरुति वा गहमुमल्लाइ वा गहगज्जियाइ वा गहजुप्पाइ वा गहसंघाटाइ वा गहअवमच्चा अवजाइ वा अवन्नक्खाइ वा संभाइ वा गंधव्वणगगइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापयाइ वा दि-

सादाहाइ वा णिग्गाइ वा फंसुविष्ठीइ वा जूयाइ वा जक्खालित्ताइ वा धूमियाइ वा माहियाति वा रउग्गायाइ वा चंदोवरागाइ वा सूरुवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सुरपरिवेसाइ वा पम्पिचंदाइ वा पम्पिमूराइ वा इंदधणुआइ वा उगमच्छाइ वा अमोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पडीणवायाइ वा जाव सुद्धयायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेसदाहाइ वा वाणक्खयजणक्खयकुल्लक्खयभणक्खयवसणज्जतमणारयाइ वा नो इण्ठे समेटे । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे डिंवाइ वा रुमराइ वा कलहाइ वा बोत्ताइ वा खाराइ वा वेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इण्ठे समेटे ववगयमिवरुमरकलहबोलखारवेरिविरुद्धरज्जविवज्जिया एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे महानुप्पाइ वा वा महासंगामाइ वा महामत्थपडणाइ वा महापुरिसपहाणाइ वा महारुधिरपरुणाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा दुब्बुइयाइ वा कुल्लरोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा मंरुल्लरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अच्छिवेयणाइ वा कन्नवेयणाइ वा नक्खेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छूइ वा खमराइ वा कोट्टाइ वा कुमाति वा दगोवराइ वा अरिसाइ वा अजिरगाइ वा जगंदलाइ वा इंदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा नागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा जूयग्गहाइ वा उव्वेवग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा एगाहियाइ वा वेयाहियाइ वा तेयाहियाइ वा चाउत्थगाहियाइ वा हिययमूलाइ वा मत्थगमूलाइ वा पासमूलाइ वा कुच्छिमूलाइ वा जोलिमूलाइ वा गाममारं वा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणज्जतमणारियं वा नो इण्ठे समेटे ववगयरोगायंका एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे अइवासाइ वा मंदवासाइ वा सुवुट्ठीइ वा मंदवुट्ठीइ वा उदवाहीइ वा पवाहाइ वा दगुब्भेयाइ वा दगुप्पीलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वमणभूतमणारियाइ वा नो इण्ठे समेटे ववगयवगोवद्गा एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे आयागराइ वा तंवागराइ वा सीमागराइ वा सुवन्नागराइ वा रयणागराइ वा वइरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरणवासाइ वा सुवन्नवासाइ वा रयणवासाइ वा वरवासाइ वा आजरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा वीयं वा सगंथं वा समल्लं वा मवन्नं वा सचुन्नं वा सखीरवुट्ठीइ वा रयणवुट्ठीइ वा

अंतरदीव

हिरण्यवुष्टीः वा सुन्नं तदेव जाव चुन्नवुष्टीः वा सुकालाः वा दुकालाः वा सुभिक्षाः वा दुभिक्षाः वा अप्पग्याः वा महग्याः वा कयाः वा विकयाः वा मं-
णिहीः वा संचयाः वा निभीः वा निहाणाः वा चिर-
पोराणाः वा पहीणमामियाः वा पहीणसुयाः वा पही-
णोत्तागाः जाः इमाः गामागरनगरखेरुक्कवडमंनवदोहमु-
हपड णामसंवाहसन्निवेशेसु सिंघारुगतिगचउक्कचचरचउ-
म्मुहमहापहमेसु नगरनिष्क्रमेसु सुसाणगिरिकंदरसंतिस-
लोवच्चाणभवणगिहेसु सन्निवित्ता चिडंतिनो इण्टे समटे
एगुर्यदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केवइयं कालं
त्रिं पणत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं पत्तिओवमस्स असंखेज्जइ-
भागं अमंखेज्जति भागेणं ऊणं उकोमेणं पत्तिओवमस्स
असंखेज्जइजागं । ते णं जंते ! मणुया कात्तमासे कात्तं किच्चा
कहिं गच्छंति कहिं उवज्जंति गोयमा ! ते णं मणुया उ-
म्मासावमेसाउआ मिहुणाः पसवंति अउणासीं राइदियाइं
मिहुणाः सारक्खंति संगोवंति मारखित्ता उस्समित्ता णि-
स्समित्ता कासित्ता छित्तिता अकिट्ठा अव्वहिया अपरि-
याविया सुहं सुहेणं कालमामे कालं किच्चा अण्यरेसु देव-
लोएसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति देवन्नोगपरिग्गहिया णं
ते मणुयगणा पणत्ता समणउमो ॥

एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं पिपूच्छिपुराह । कहिं णं भंते !
इत्यादि क जदन्त ! दाक्षिणात्यानामिह एकोरुकादयो मनुष्याः
शिखरिण्यपि पर्वते विद्यन्ते ते च मेरोरुत्तरदिग्भर्तिन इति तद्व्यव-
च्छेदार्थं दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरुकमनुष्याणामेकोरुक-
द्वीपः प्रज्ञतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्य-
त्रासंभवादस्मिन् जम्बूद्वीपद्वीपे इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य
मेरुदक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिमवद्वर्षभरपर्वतस्य कुल्लग्रहणं म-
हाहिमवद्वर्षभरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पूर्वस्मात् पूर्वरुपाच्चरमान्तात्
उत्तरपूर्वेण उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनश-
तान्यवगाह्यान्तरे कुल्लहिमवद्वर्षाया उपरि दाक्षिणात्यानामे-
कोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञतः स च त्रीणि
योजनशतान्यायामविष्कम्भेन समाहारो बृद्धः आयामेन वि-
ष्कम्भेन भेत्यर्थः । नवैकोनपञ्चाशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि
नवयोजनशतानि (९४९) परिक्षेपेण प्रज्ञतः परिक्षेपेण परिमा-
णगणितभावना विष्कम्भः “ वग्गदहदहसु गुण-करणीचहस्स
परिरओ होइ ” इति कारणवशात् स्वयं कर्त्तव्या सुगमत्वात्
“ से णमित्यादि ” स एकोरुकनामा द्वीप एकया पञ्चवरवेदि-
कया एकेन वनखण्णेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समंततः सामस्येन
परिक्षितः । तत्र पञ्चवरवेदिकावर्णको वनखण्णवर्णकश्च
वक्ष्यमाणजम्बूद्वीपजगत्पुपरि पञ्चवरवेदिकावर्णखण्णवर्णकवत्
भावनीयः । स च तावत् यावच्चरममासयतीति पदम् ।
“ एगुर्यदीवस्स णं भंते ! इत्यादि ” एकोरुकद्वीपस्य णमिति
पूर्ववत् भदन्त ! कीदृशः क इव दृश्यः आकारभवप्रत्यवतारः
जूम्यादिस्वरूपसम्भवः प्रज्ञतः जगवानाह गौतम ! एकोरुकद्वीपे
बहुसमरमणीयः प्रभूतसमः सन् रम्यो जूमिभागः प्रज्ञतः “ से

जहा णामए आविगपुक्खरेइ वा इत्यादि ” उत्तरकुसुमस्ताव-
दनुसर्त्तव्यो यावदनुसज्जतामूर्त्तं नवरमत्र नानात्वमिदं मनुष्याः
अष्टौ धनुःशतान्युच्छ्रिता वक्तव्याश्चतुःषष्टिपृष्ठकरणकाः पृष्ठ-
वंशा बृहत्प्रमाणानाहिते बहवो भवन्ति एकोनाशीति च
रात्रिन्दिवानि स्वापत्यान्युपपालयन्ति स्थितिस्तेषां जघन्येन
देशोनः पट्योपमासंख्येयभागः पतदेव व्याचष्टे पट्योपमासं-
ख्येयभागन्यून उत्कर्षतः परिपूर्णः पट्योपमासंख्येयभागः
जी० ३ प्रति० ।

कहिं णं जंते ! दाक्षिणिल्लाणं आभामियमणुयाणं आज्ञा-
सियदीवे नामं दीवे पणत्ते ? गोयमा ! जम्बूदीवे दीवे तदेव
कुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणपूर्वचिडिमिल्ला-
तो चरिमंताओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणं सेसं जहा ए-
गुर्याणं निरवसेसं सव्वं ॥

क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां प्राभाषिकद्वीपानामन्तरद्वीपः प्रज्ञतो
भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि
कुल्लहिमवतो वर्षभरपर्वतस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वेण
दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं कुल्लहिमवद्वर्षाया उपरि त्रीणि
योजनशतान्यवगाह्यान्तरे दृष्टाया उपरि दाक्षिणात्यानामा-
प्राषिकमनुष्याणामप्राभाषिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञतः शेषवक्तव्यता
एकोरुकवद्वक्तव्या यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहिं णं भंते ! दाक्षिणात्याणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गो-
यमा ! जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं कुल्लहिमवं-
तस्स वामहरपव्वयस्स दाहिणेणं पच्चिडिमिल्लाओ चरिमंता-
ओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणा सेसं जहा एगुर्याणं ।

“ कहिं णं जंते इत्यादि ” क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां वैशाखि-
कमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञतः जगवानाह गौ-
तम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिम-
वतो वर्षभरपर्वतस्य पश्चात्पाश्चाच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दि-
शि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्या अत्रान्तरे दाक्षि-
णात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञतः
शेषं यथा एकोरुकाणां तथा वक्तव्यं यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहिं णं भंते ! दाक्षिणिल्लाणं नंगोन्नियमणुस्साणं पुच्छा
गोयमा ! जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं कुल्ल-
हिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपच्चिडिमिल्लाओ चरि-
मंताओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणसयाइं सेसं जहा एगु-
र्यमणुस्साणं ।

क भदन्त ! नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः
प्रज्ञतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षि-
णस्यां दिशि कुल्लहिमवतो वर्षभरस्य पश्चात्पाश्चाच्चरमान्तात्
उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि यो-
जनशतानि अवगाह्यान्तरे दृष्टाया उपरि नाङ्गोलिकमनुष्याणां
नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञतः शेषमेकोरुकवत् वक्तव्यं या-
वत् स्थितिसूत्रम् । जी० ३ प्रति० । स्था० । नं० । कर्म० ।

द्वितीयश्चतुष्कः ।

कहिं णं भंते ! दाक्षिणिल्लाणं हयकस्समणुस्साणं हयक-
न्दीवे नामं दीवे पणत्ते ? गोयमा ! एगुर्यदीवस्स उत्तर-

पुरच्छिमिद्वाओ चरिमंताओ लवणसमुद्रं चत्तारि जोयण-
मयाई उगाहेत्ता एत्थ एं दाहिणिद्वाणं हयकन्नमणुस्माणं
हयकन्नदीवे नामं दीवे पन्नत्तं चत्तारि जोयणसयाई आ-
यामविक्कम्भेणं वारममया पन्नउट्टा किंचि विमंमृणाई परि-
कम्भेणं एगाए पडमयवेडयाए अवमेसं जहा एगुरुयाणं ॥

क भद्रतः ! हयकर्षमनुष्याणां हयकर्षाढीपो नाम ढीपः प्रज्ञप्तः
जगवानाह । गौतम ! एकोरुकढीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् उत्त-
रपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं चत्वारि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे
क्षुद्धहिमवद्वेष्टायाः उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तादपि चतुर्यो-
जनशतान्तरे दाहिणान्द्यानां हयकर्षमनुष्याणां हयकर्षो नाम
ढीपः प्रज्ञप्तः स च चत्वारि योजनशतान्यायामविक्कम्भेन द्वा-
दश पञ्चपष्ठानि योजनशतानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्रमेण
शेषं यथा एकोरुकमनुष्याणाम् ।

काहि एं जंते ! दाहिणिद्वाणं गयकन्नमणुस्माणं पुच्छा ?
गोयमा ! आतामियदीवस्म दाहिणपुरच्छिमिद्वाओ चरिमं-
ताओ लवणसमुद्रं चत्तारि जोयणमयाई मेसं जहा हयकन्नाणं
एवमातापिकढीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि
चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे क्षुद्धहिम-
वद्वेष्टाया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताद् चतुर्योजनशतान्तरे गजक-
र्षमनुष्याणां गजकर्षो नाम ढीपः प्रज्ञप्तः आयामविक्कम्भपरि-
धिपरिमाणं हयकर्षाढीपवत् ।

एवं गोकन्नमणुस्माणं पुच्छा ? वेसालियदीवस्म दाहिण-
पुव्वच्छिमिद्वाओ चरिमंताओ लवणसमुद्रं चत्तारि जोय-
णमयाई मेसं जहा हयकन्नाणं ।

ताहोत्तिकढीपस्य पश्चिमान्ताच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमेन
चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे क्षुद्धहि-
मवद्वेष्टाया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्योजनशतान्तरे गोक-
र्षमनुष्याणां गोकर्षाढीपो नाम ढीपः प्रज्ञप्तः आयामविक्कम्भ-
परिधिपरिमाणं हयकर्षाढीपवत् ॥

मकुलिकाण्णं पुच्छा ? गोयमा ! नंगोसियदीवस्स
उत्तरपुव्वच्छिमिद्वाओ चरिमंताओ लवणसमुद्रं चत्तारि
जोयणसयाई मेसं जहा हयकन्नाणं ।

ताहोत्तिकढीपस्य पश्चिमाच्चरमान्तात् उत्तरपश्चिमायां दिशि
लवणसमुद्रमवगाह्य चत्वारि योजनशतानि अत्रान्तरे क्षुद्धहि-
मवद्वेष्टाया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताच्चतुर्योजनशतान्तरे दा-
हिणान्द्यानां शङ्कुलीकर्णमनुष्याणां शङ्कुलीकर्णाढीपो नाम
ढीपः प्रज्ञप्तः । आयामविक्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्षाढीप-
वत् । पञ्चवरवेदिकावनखएरुमनुष्यादिस्वरूपं च समस्तमेको-
रुकढीपवत् जी० १ प्रति० । स्था० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तृतीयश्चतुष्कः ।

तेसि एं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्रं पंच पंच
जोयणसयाई ओगाहेत्ता एत्थ एं चत्तारि अंतरदीवा पण्ण-
त्ता तंजहा आयममृहदीवे मेहगमुहदीवे अओपुहदीवे
गोमुहदीवे । तेसु एं दीवेसु चउत्विदामणुस्मा भाणियव्वा ।

एतेषामपि हयकर्षादीनां परतो पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादि-
विदिक् प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतानि व्यतिक्रम्य पञ्चयोज-

नशतायामविक्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्रे-
पाः पूर्वोत्तरमाएषववरवेदिकावनखएरुमणिरुतवाहप्रदेशाः ज-
म्बूद्वीपवेदिकातः पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुख १ मे-
पदमुख २ अयोमुख ३ गोमुख ४ नामानश्चत्वारो ढीपास्तद्यथा
हयकर्षस्य परतो आदर्शमुखो गजकर्षस्य परतो मेहदमुखः
गोकर्षस्य परतोऽयोमुखः शङ्कुलीकर्षस्य परतो गोमुख इति
एवमग्रेऽपि ज्ञातव्या कार्या प्रज्ञा० १ पदः । जी० कर्म० ।

चतुर्थश्चतुष्कः ।

तेसि एं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्रं उ उ जो-
यणसयाई ओगाहेत्ता एत्थ एं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता
तंजहा आसमुहदीवे हत्थिमुहदीवे सीहमुहदीवे वग्गमुहदीवे
तेसु एं दीवेसु मणुस्मा भाणियव्वा ॥

एतेषां मण्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां ढीपानां परतो ज्ञयोजपि
यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक् प्रत्येकं लवणसमुद्रं पद योजनश-
तान्यवगाह्य पद योजनशतायामविक्कम्भान्ताः सप्तनवत्यधिका-
ष्टादशयोजनपरिक्रेपाः पञ्चवरवेदिकावनखएरुमणिरुतपरिसरा
जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् पर्ययोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखह-
स्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो ढीपा वक्तव्यास्तद्य-
था आदर्शमुखस्य परतोऽश्वमुखः मेहदमुखस्य परतो हस्तिमुखः
आयाममुखस्य परतो सिंहमुखः गोमुखस्य परतो व्याघ्रमुखः ।

पञ्चमश्चतुष्कः ।

तेसि एं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्रं सत्त सत्त
जोयणमयाई ओगाहेत्ता एत्थ एं चत्तारि अंतरदीवा प-
ण्णत्ता तंजहा आयमकण्णदीवे हत्थिकण्णदीवे अकण्णदीवे
कण्णपाउरणदीवे । तेसु एं दीवेसु मणुया भाणिय-
व्वा । स्था० ४ गा० ।

एतेषामप्यश्वमुखादीनां चतुर्णां ढीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वो-
त्तरादिविदिक् प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतानि लवणसमुद्रम-
वगाह्य सप्तयोजनशतायामविक्कम्भान्ताष्टादशधिकद्वविंशति-
योजनशतपरिरयाः पञ्चवरवेदिकावनखएरुममवगाह्य जम्बूद्वी-
पवेदिकान्तात् सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्षहस्तिकर्णा-
कर्णैककर्णप्रावरणनामानश्चत्वारो ढीपा वाच्यास्तद्यथा अ-
श्वमुखस्य परतोऽश्वकर्णः हस्तिमुखस्य परतो हस्तिकर्णः
सिंहमुखस्य परतोऽकर्णः व्याघ्रमुखस्य परतो कर्णप्रावरणः
जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

षष्ठश्चतुष्कः ।

तेसु एं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्रं अट्ट अ-
ट्ट जोयणसयाई ओगाहेत्ता एत्थ एं चत्तारि अंतरदीवा
पण्णत्ता तंजहा उकामुहदीवे मेहमुहदीवे विज्जुमुहदीवे विज्जु-
दंतदीवे तेसु एं दीवेसु मणुस्मा जाणियव्वा स्था० ४ गा० ।

तत एतेषामष्टकर्णादीनां चतुर्णां ढीपानां परतो यथाक्रमं
पूर्वोत्तरादिविदिक् प्रत्येकमष्टं अष्टं योजनशतानि लवणसमु-
द्रमवगाह्याष्टयोजनशतायामविक्कम्भा एकोनविंशदधिकपञ्च-
विंशतियोजनशतपरिक्रेपाः पञ्चवरवेदिकावनखएरुमणिरुत-
परिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्ताष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्का-
मुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युहस्ताभिधानाश्चत्वारो ढीपा वक्त-

व्यास्तयथा अश्चकर्णस्य परतो उल्कामुखः हरिकर्णस्य परतो मेघमुखः अकर्णस्य परतो विद्युन्मुखः कर्णप्रावरणस्य परतो विद्युद्दन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तेषु णं दीवाणं चउसु वि दिमासु लवणममुदं एव एव जोयणसयाइ ओगाहिता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पणत्ता तंजहा घणदंतदीवे लट्टदंतदीवे गूढदंतदीवे सुद्ध-
दंतदीवे । तेषु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्मा परिवमंति तंजहा घणदंता लट्टदंता गूढदंता सुद्धदंता ।

एतेषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रमव-
गाह्य नवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टा-
विंशतियोजनशतपञ्चवरधेदिकावनखारुसमवगृह्णा जम्बूद्वीप-
धेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलट्टदन्तगूढदन्त-
शुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपास्तद्यथा उल्कामुखस्य परतो घ-
नदन्तः मेघमुखस्य परतो लट्टदन्तः विद्युन्मुखस्य परतो गूढद-
न्तः विद्युद्दन्तस्य परतो शुद्धदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थं संग्रहगाथाः ।

“ चुल्लहिमवंतपुत्र्या-वरेण विदिसासु सागरं तिस्र ।
गंतूर्णतरद्वीवा, तिष्ठि सए हौंति विरिथिष्ठा ॥ १ ॥
अउणावणनवसए, किंचूणे परिहिपसिमे नामा ।
एगोरुय आभासिय, वेसाणी चव लंगुवी ॥ २ ॥
एणसि दीवाणं, परओ चत्तारि जोयणसयाइ ।
ओगाहिकण लवणं, स परिदिसि चउसयपमाणा ॥ ३ ॥
चत्तारंतरदीवा, हयगयगोकषासंकुलीकषा ।
एवं पंच सयाइ, उ सत्त अठे व नव चव ॥ ४ ॥
ओगाहिकण लवणं, विस्खंभोगाहसरिसया भणिया ।
चउरो चउरो दीवा, इमेहि नामेहि नायव्वा ॥ ५ ॥
आयंसमंदगमुहा, अओमुहा गोमुहा य चउरंते ।
अस्समुहा इत्थिमुहा, सीहमुहा चव वणमुहा ॥ ६ ॥
तत्तो य अस्सकषा, इत्थिअकषा अकषापाउरणा ।
उक्कामुह मेहमुहा, विज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥
घणदंत लट्टदंता, निगूढदंता य सुद्धदंता य ।
वासहरे सिहरम्मि वि, एवं चिय अठवीसावि ॥ ८ ॥
अंतरदीवेसु नरा, धणुसयअद्धसिया सया मुइया ।
पालिति मिहुणधम्मं, पलुस्स असंखजागाओ ॥ ९ ॥
चउसहि पिट्टिकरं-रुगाणि मणुयाण वच्चपालणया ।
अउणासीइ तु दिणा, चउत्थभसणे आहारो त्ति ॥ १० ॥
स्था० ४ त्र० । एतेषामेव द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भ-
परिरयपरिमाणसंग्रहगाथापट्कमाह ।

पदमम्मि तिष्ठि उ सया, सेसाण सतोत्तरा नवउज्जा च ।
ओगाहण विस्खंजं, दीवाणं परिरयं वोच्छं ॥
पदमचउकपरिरया, वीयचउकस्स परिरओ अहिओ ।
सोव्वेहि तिहि उ जोयण-सएहि एमेव सेसाणं ।
एगोरुयपरिखेवो, नव चव सयाइ अउएणपएणाइ ॥
बारसपएण्टाई, हयकषाणं परिखेवो ।
पएणरस एकमीया, आयंसमुहाण परिरओ होइ ।
अट्टारसनउयाओ, आसमुहाणं परिखेवो ।

वावीमं तेराइ, परिखेवो होइ आमकएणाण ॥

पएवास अउएतीमा, उक्कामुहपरिरओ होइ ।

दो चव सहस्साइ, अट्टेव सया हवंति पणयाला ॥

घणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिखेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के चित्यमाने त्रीणि योजनशतानि अवगाहना
लवणसमुद्रावगाहं विष्कम्भं च विष्कम्भप्रहरणादायामोऽपि
गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जार्नाहि इति क्रियाशेषः । शेषाणां द्वी-
पचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अवगाहनाविष्कम्भं
तावज्जानीयान् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के चत्वारि
शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त श-
तानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं द्वीपाना-
मेकोरुक्प्रभृतीनां परिरयप्रमाणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहय-
ति “ पदमचउक्केत्यादि ” प्रथमचतुष्कपरिरयात् प्रथमद्वीपच-
तुष्कपरिरयपरिमाणत्वात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयद्वीपचतु-
ष्टयस्य परिरयः परिरयपरिमाणमधिकः पोरुशैः पोरुशोत्त-
रैस्त्रिभिर्योजनशतैरेवमेवानेनैव प्रकारेण शेषाणां द्वीपानां द्वीप-
चतुष्काणां परिरयपरिमाणमधिकं पूर्वपूर्वचतुष्कपरिरयपरिमा-
णादवसातः प्रमेतदेव चैतेन दर्शयति (एकोरुकेत्यादि) एको-
रुक्परिकेप एकोरुकोपत्राकृतप्रथमद्वीपचतुष्कपरिकेपो नव श-
तानि एकोनपञ्चाशदधिकानि ततस्त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्त-
रेषु प्रक्षिप्तेषु “ हयकषाणमिति ” बहुवचनात् हयकर्णप्रमुखाणां
द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिकेपो जयति स च द्वादश योज-
नशतानि पञ्चषष्ठ्यधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु पोरु-
शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) आदर्शमुखप्रमुखाणां
तृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति तच्च पञ्च-
दशयोजनशतान्येकाशीत्याधिकानि ततो ज्ञेयोऽपि त्रिषु योजन-
शतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) अश्वमुखप्र-
भृतीनां चतुर्थानां चतुर्णां द्वीपानां परिकेपस्तद्यथा अष्टादशयो-
जनशतानि सप्तनवत्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु पोरु-
शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आसकएणाणंति) अश्वकर्णप्रमुखाणां
चतुर्णां द्वीपानां परिकेपो भवति तद्यथा द्वाविंशति-
योजनशतानि त्रयोदश्याधिकानि ततो ज्ञेयोऽपि त्रिषु योजनश-
तेषु पोरुशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु उल्कामुखपरिरयः उल्कामुखप्रमुखप-
ष्टद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं जयति तद्यथा पञ्चविंशतियोजनश-
तानि एकोनविंशदधिकानि ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु पोरु-
शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसप्तद्वीपचतु-
ष्कस्य परिकेपस्तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंश-
दधिकानि (विसेसमहिओइति) किंचिद्विशेषमधिकोऽधिकृतः
परिकेपः पञ्चचत्वारिंशानि किंचिद्विशेषाधिकानीति ज्ञातव्यः ।
इदं पदमन्ते ऽजिहितत्वात्सर्वत्राप्यभिसंबन्धनीयं तेन सर्वत्रापि
किंचिद्विशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणमवसातव्यम् तदे-
वमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वसं-
ख्यया अष्टाविंशतिः एवं हिमवतुल्यवर्णप्रमाणे पञ्चद्वयप्रमाणा-
यामविष्कम्भावगाहपुणरुकीकहृदोपशोभितशिखरिण्यपि पर्वते
लवणोदादणवजलसंस्पर्शादप्यन्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्रित-
सुषु विदिक्षु एकोरुकादिनामानोऽभ्युष्णापान्तराश्रयामविष्कम्भा
अष्टाविंशतिसंख्या द्वीपा वेदितव्याः ।

काहि णं भंते ! उत्तरिद्वीपं एगुरयमणुस्साणं एगुरयदी-

वे नामं दीवे पणत्ता ! गोयमा ! जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स
पव्वयस्स उत्तरेणं मिहरिस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुर-
च्छिमिद्धाओ चरिमंताओ ब्रवणममुहं तिन्नि जेयणस-
यां ओगाहिता एवं जहा दाहणिद्धाणं तहा उत्तरिद्धाणं
भाणियव्वं णवरं मिहरिस्स वामहरपव्वयस्स विदिसासु
एवं जाव मुद्धदंतदीवेत्ति जाव सेत्तं अंतरदीवगा ॥

“कहि णं जंते ! एगुरुयेत्यादि” सर्वे तदेव नवरमुत्तरेण विभा-
षा कर्त्तव्या सर्वसंख्यया पदपञ्चाशदन्तरद्वीपाः । उपसंहारमा-
ह । सेत्तमन्तरदीवगा ते एते अन्तरद्वीपका इति ॥ जी० ३
प्रति० ॥ प्रज्ञा० । स्था० । ज० । कर्म० । पतक्रता मनुष्या अन्ये-
तन्नामान उपचाराद्भवन्ति । तात्स्थ्यात्तद्वपदेशो यथा पञ्चा-
शदशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाश इति प्रज्ञा० १ पद० । जी० । स्था० ।
अंतरदीवग [य] अन्तरद्वीपग [ज]-पुं० अन्तरद्वीपेषु गता
अन्तरद्वीपगाः प्रज्ञा० १ पद० । तेषु जाता वा अन्तरद्वीपजाः ।
नं० । एकोरुकाद्यन्तरद्वीपवासिगर्भव्युत्क्रातिकमनुष्यभेदेषु, ते
च एकोरुकादिनामानोऽष्टाविंशतिर्दाक्षिणात्योत्तराहभेदेन भि-
द्यमानाः पदपञ्चाशत् कर्म० १ क० । स्था० । आ० म० द्वि० ।
(तद्वर्णकोऽन्तरमेव अंतरदीवशब्दे दर्शितः)

अंतरदीववेदिया-अन्तरद्वीपवेदिका-स्त्री० द्वीपान्तरवेदिका-
याम, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां चाराणि सन्ति न वेति प्रश्ने
जगत्यां चाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपेषु वेदिका जगत्याः
स्थानेऽस्ति अतो वेदिकायामपि द्वाराणि संभाव्यन्ते इत्येन० ४
उद्धा० ३८ प्र० ।

अंतरदीविया-अन्तरद्वीपिका-स्त्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य
क्षीपायेते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः ।
अन्तरद्वीपवास्तव्यमनुष्यस्त्रीषु, स्था० ३ ग० । जी० । (व-
क्तव्यता चासामंतरदीवशब्दे दर्शिता) ।

अंतरप्धा-अन्तरप्धा-स्त्री० अन्तरकाले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ।
अन्तर्धा-स्त्री० अन्तर्धाने, “सह अन्तरप्धा” स्मृतेर्ध्रंशोऽन्तर्धानं
किं मया परिगृहीतं कया मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमि-
त्यर्थः आचा० ६ अ० ।

अन्तरपद्मी-अन्तरपद्मी-स्त्री० मूलकेत्रात्सार्वक्षिगव्यूतस्थे प्रा-
मविशेषे, प्रय० ७ द्वा० । वृ० ।

अन्तरप्पा-अन्तरात्मन-पुं० अन्तर्मध्यरूप आत्मा शरीररूप इ-
त्यन्तरात्मेति भ० २० श० १ उ० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४
इति सूत्रेणान्यथ्यञ्जनस्य स्वरे परे लुक् निषिद्धः प्रा० । जीवे,
प्रश्न० संव० १ द्वा० । अष्ट० । आत्मभेदे, यो हि सकर्मावस्था-
यामपि आत्मनि ज्ञानायुपयोगलक्षणं शुद्धचैतन्यलक्षणे महान-
न्दस्वरूपं निर्विकारामृताव्यावायिकरूपं समस्तपरभावमुक्ते आ-
त्मवृद्धिः (सः) अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकतः क्षीणमो-
हं यावन् अन्तरात्मा उच्यते अष्ट० ११ अष्ट० ।

अन्तरभाव-अन्तरभाव-पुं० परमार्थे, पञ्चा० १८ चित्र० ।

अन्तरभावविहण-अन्तरभावविहीन-त्रि० परमार्थवियुक्तं,
पञ्चा० १८ चित्र० ।

अन्तरभाषा-अन्तरभाषा-स्त्री० गुरोर्भाषमाणस्य विचारभाषणे,
ध० २ अधि० आच० । विहरन् साधुः चैरैः पृष्टः “आयत्ति
उच्यन्ते वा संभासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयत्तिउच्यन्ते-

यस्स ज्ञासमाणस्स वा वियागरमाणस्स वा खो अंतराज्ञासं
करेज्जा ” आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

अंतराहिय-अन्तर्हित-त्रि० व्यवहिते, “ अन्तराहियाए पुढ-
वीए ” आचा० २ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

अंतरा-अन्तरा-अव्य० अन्तरेति इण्-भा-निकटे, वर्जने, मेदि-
नी-वाच० । अन्तगले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विशेष० । आचा० ।
मध्ये, “ इच्छा इयारमाणंतु अंतरायं विस्मीयइ ” सूत्र० श्रु० ३ अ० ।
अर्वागर्थे च. कल्प० “ अंतरा वि य से कप्पइ नो से कप्पइ ”
अर्वागपि कल्पते परं न कल्पते कर्म० ५ क० ।

अंतरा (य) इय-अन्तराय-न० पुं० अन्तरा दातृप्रतिप्रा-
हकयोरन्तर्भाषागारिकवद् विघ्नहेतुतया अयते गच्छती-
त्यन्तरायम् उक्तं ३३ अ० । अन्तरा अय-अच्-प्रव० १ द्वा० ।
जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यवधानापादनाय एति गच्छ-
तीति अन्तरायम् । अन्तरा-इ-अच्-प० सं० ३ द्वा० । कर्म० ।
अन्तर्मध्ये दातृप्रतिप्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायः । जी-
वस्य दानादिविघ्नकारकेऽष्टमे कर्मभेदे, यथा राजा कस्यैचि-
दातुमुपदिशति तत्र भाषागारिकोऽन्तराले विघ्नरुद् भवति
तदन्तरायकर्माऽष्टमम् भवति उक्तं ३३ अ० । “ जह राया
दाणां, न कुणइ भंडारिणं विकूलमि । एवं जेणं जीवो,
कम्मं तं अंतरायंति ” स्था० ।

तद्भेदा यथा-

अंतराए कम्मे दुविहे पणत्ते तंजहा पुरुषणविणा-
सिए चेव पिहितिय आगामिपहं स्था० २ ग० ।

(पुरुषणविणासिएचेवत्ति) प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं बन्धवस्तु इत्यर्थो
विनाशितमुपहतं येन तत्तथा । पागान्तरेण प्रत्युत्पन्नं विनाशय-
तीत्यर्थं शीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि चैव समुच्चये इत्येकमन्यच्च पि-
धत्ते च निरुणद्धि च अगामिनो बन्धवस्य वस्तुनः पन्थाः
आगामिपथः तमिति कचेदागामिपथानिति दृश्यते कचिच्च
(आगमपहंति) तत्र च लाजमार्गमित्यर्थः । स्था० २ ग० ।

अंतराए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पणत्ते ? गोयमा !
पंचविहे पणत्ते तंजहा दाणंतराए जाव वीरियंतराए
प्रज्ञा० २९ पद० ।

तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्र-
दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायं
यथा यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानम-
पि दीयमानमर्थजातं याच्ञाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न
ब्रभते तन्नामान्तरायं तथा यदुदयवशात् सत्यपि विशिष्टाहा-
रादिसंभवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा प्रवृत्त-
कार्पण्यानोत्सहते ज्ञेयं तद्भोगान्तरायमेवमुपभोगान्तरायमपि
भावनीयम् । नवरं जोगोपजोगयोरयं विशेषः सकृत् श्रुयते इति
जोगः ‘आहारपुष्पमाई उ, उवभोगो उ पुणो पुणे । उवभुज्जइ व-
त्थवित्रयाइ’ तथा यदुदयात्सत्यपि निरुज्जि शरीरे यौवनिकाया-
मपि वर्तमानोऽल्पप्राणो जवति यद्वलवत्यपि शरीरे साध्योऽपि
प्रयोजनेऽपि हीनसत्त्वतया प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायम् प्रज्ञा० २३ पद० ।

दाणे द्वाभे य भोगे य, उवजोगे वीरिए तहा ।

पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं उक्तं ३३ अ० ॥

एतच्च भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह ।

सिरिहरियसमं एयं, जह पमिकूलेण तेण रायाई ।

न कुणइ दाणईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥

प्रियो गृहं श्रीगृहं भाण्डागारं तद्विद्यते यस्य स श्रीगृहको
भाण्डागारिकस्तेन समं तुल्यमेतदन्तरायकर्म यथा तेन श्री-
गृहकेण प्रतिकूलेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशब्दात् श्रे-
ष्ठोऽथर्वतलवरादिपरिग्रहः न करोति कर्तुं न पारयति दानादि
आदिशब्दाच्च लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । एवमुक्ता श्रीगृ-
हकदृष्टान्तेन विघ्नेनान्तरायकर्मणा जीवोऽपि जन्तुरपि दा-
नादि कर्तुं न पारयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्तरायं कर्म ।
कर्ष० १ कर्म० । पं० सं० । आ० । (अनुभागादयोऽस्य अणु-
भागादिशब्देषु) (बन्धोदयसत्तास्थानान्यस्य कम्म शब्दे)
विघ्ने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

योगस्यान्तरायाः ।

प्रत्यूहा बाधयःस्त्यानं, प्रमादालस्यविघ्नमाः ।

संदेहविरतीन्मूय-लाजश्राप्यनवस्थितिः ॥ ७ ॥

(प्रत्यूहा इति) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रा-
न्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविघ्नेपास्तेऽ-
न्तराया इति सूत्रम् । द्वा० १६ द्वा० । विघ्नकरणे, स्था० ४४० ।
व्यवच्छेदे, “जे अंतरायां चेणइ” स० । शक्यभावे च ।
“नन्तत्थ अंतरायां परगेहे णिसीयण” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।
आन्तरायाक-न० विघ्ने, प्रश्न० संव० ३ द्वा० । बहुप्रत्यवाये,
आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अंतरापह-अन्तरापथ- पुं० विवाक्षितस्थानयोरन्तरालमात्रं,
भ० २ श० १ उ० ।

अंतरायबहुल-अन्तरायबहुल-त्रि० विघ्नप्रचुरे, तं० ।

अंतरायवर्ग-अन्तरायवर्ग-पुं० अन्तरायप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० ।

अंतराक्ष-अंतराल-न० अन्तरं सीमानमाराति गृह्णाति-आ-रा-
क-रस्य द्वावम वाच० । मध्ये, विशेष० । संकार्णवर्गे च पुं०
तद्वर्तिनि त्रि० वाच० ।

अंतरावण-अंतरापण-पुं० अन्तरे ग्रामादीनामर्द्धपथे आपणाः
अन्तरापणाः प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । राजमार्गप्रवृत्तिमध्यभाग-
वर्तिषु दृष्टेषु, विपा० १ श्रु० ३ अ० । वीथीषु दृष्टमार्गेषु, वृ० १
उ० । “अंतरावणाओ घमपडण गिएहंति” परिखोदकमार्गान्त-
राववर्तिनो दृष्टात् कुम्भकारसम्बन्धिन इत्यर्थः ज्ञा० १२ अ० ।
अंतरावणगिह-अन्तरापणगृह-न० गृहविशेषे, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीण एगओ व उहओ वा ।

तत्थ गिहं अंतरावण-गिहं तु सयमावणो चेव ॥

अथेत्यानन्तर्ये अन्तरापणो नाम वीथी दृष्टमार्ग इत्यर्थः सा
एकतो वा एकपार्श्वेन (उहओ विति) द्वाभ्यां वा पार्श्वोभ्यां
भवेत् तत्र यद्गृहं तदन्तरापणगृहमुच्यते वृ० १ उ० ।

अन्तरावास-अन्तरवर्ष-पुं० अन्तरमवसरो वर्षस्य वृष्ट्यत्रासा-
वन्तरवर्षः । वर्षाकाले, ज० १५ श० १ उ० ।

अन्तरावास-पुं० अन्तरेऽपि जिगमिषतः क्षेत्रमप्राप्याऽपि यत्र
सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षा-
काले, ज० १५ श० १ उ० । “अण्डिये गामं नीसाप पढमं अंतरा-
वासं उवागण” कल्प० ।

अंतरि (लि) कख-अन्तरि (री) क्ष-न० अन्तः स्वर्गपृ-
थिव्योर्मध्ये ईदृश्यते इक्ष-कर्मणि घञ्-अन्तः ऋक्काणि अस्य वा
पृषोदरादित्वात्पङ्क्तं ह्रस्वः ऋकारस्य रित्त्वं वा वाच० । अन्तर्मध्ये
ईक्षा दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षम भ० १७ श० १० उ० । आकाशे,
विशे० “अंतर्निष्कवृत्ति एं वृया, गुज्जाणुचरियत्ति यदश० ७ अ०
आन्तरिक्ष-न० अन्तरिक्षमाकाशं तत्र प्रवमान्तरिक्षम् । गन्ध-
र्वनगरादौ, स्था० ८ ग० । उत्त० । मेघादिके, सूत्र० २ श्रु० २
अ० । ग्रहाणामुदयास्तादिपरिज्ञानात्मके, कल्प० । उदकापात-
धूमकेतुप्रमुखानामुदयविचारविद्यावृत्तये, (उत्त० १५ अ०)
आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदिके वा चतुर्थे
महानिमित्तशास्त्रे, स० । “ग्रहवेधभूअदहासपमुहं जमेतरि-
कखंतं” प्रव० १५७ द्वा० । ग्रहवेधचूतादृहासप्रमुखमान्त-
रिक्षं निमित्तम् । तत्र ग्रहवेधो ग्रहस्य ग्रहमध्येन निर्गमः ।
चूतादृहासोऽन्तिमहानाकाशे आकिङ्किङ्किटारावः यथा “जिनत्ति
सोममध्येन, ग्रहेष्वन्यतमो यदा । तदा राजन्यं विद्यात्प्रजाको-
भं च दारुण” मित्यादि प्रमुखग्रहणार्धवर्धनगरादिपरिग्रहः ।
यथा “कपिष्वे शस्यपाताय, माञ्जिष्ठं हरणं गवाम् । अव्यक्तवर्णं
कुरुते बलक्षोभं न संशयः । गन्धर्वनगरं ज्ञेयं, सप्राकारं संतोर-
णम् । सोम्यां दिशं समाश्रित्य, राक्षस्तन्निजयं करमित्यादि”
प्रव० २५७ द्वा० । अस्य सूत्रं सहस्रप्रमाणं वृत्तिर्लक्षप्रमाणा
वार्तिकं कोटिप्रमाणम् स० ७९ पत्र- । आव० ।

अंतरि (लि) कखजाय-अन्तरिक्षजात-त्रि० स्कन्धमञ्चक-
प्रासादादौ, भुव उपरिवर्तिपदार्थजाते, आचा० २ श्रु० ५ अ० ।
अंतरि (लि) कखपनिवस-अन्तरिक्षप्रतिपन्न-त्रि० आ-
काशगते, उपा० २ अ० । जं० ।

अंतरि (लि) कखपासणाह-अन्तरिक्षपार्श्वनाथ-पुं० श्री-
पुरेऽन्तरिक्षस्यपार्श्वनाथप्रतिमायाम्,

तत्कल्प इत्यम् ।

‘पयडपहावनिवासं, पासं पणमित्तु सिरिपुरं नगरं । किचेमि
अंतरिक्ष-द्विअतप्पमिमाइ कप्पलवं’ पुर्व्वि लंकापुरीए द-
सगीवेण अरुचकिणा माली सुमालिनामानो निअगाओ
लग्गा केणावि पेसिया तेसिं ढविमाणेरूदाइ तह पहे व-
चंताणं समागया भेअणवेत्ता । फल्लवरुण्ण चितियं मए
ताव अज्ज जिणपमिमाकरंमिया ओसगगेण घरे विसा-
रिआ एएसिं च दुएह वि पुन्नवंताणं देवपुयाए अकयाए
न कत्थ वि भोयणं तओ देवयावसरकरंमिअमदद्दु ममोवरि
पकुविससंति त्ति । तेण विज्जावलेण पविचवात्तुआए अहि-
णवा भाविजिणपासनाहपडिमा निम्मविआ । माळिसुमा-
लिहिं तं पूइत्ता जोअणं कयं तओ तेसु तह मग्गे पडिएसु
सा पडिमा आमन्नसरोवरमज्जे अखंमिअरूवा चेव तत्थ
त्रिया । काळकमेण तस्स सरोवरस्स जलं अप्पिअअं जलज-
रिअं खकुगं व दीसइ । तओ काळंतरेण विंगउद्धीदेसे विंग-
द्वनयरं तत्थ सिरपालो नाम नरवई हुत्था । सो अगादको-
दविदुरिअसव्वंगो अन्नयरोहिं हऊहिं बाहिं गओ ते तत्थ पि-

वासाए झगाए तम्मि खुडुकुमेणं पत्तो तत्थ पाणिअं पीअं
मुहं हत्था प पक्खाज्जिया । तओ ते अंगावयवा जाया
नीरोगा कणयकमज्जलच्छाया । तओ घरं गयस्म रत्तो
महादेवी तमच्छेरं दहुं पुच्छिच्छा मामि ! कत्थ वि तुम्हेहिं
अज्ज एहाणाइ कयं राएण जहट्ठियं पत्तं देवीए चित्तियं
अहो मामि ! मा दिव्वं ति वीयदिणे राया तत्थ नीओ तीए
सव्वंणं पक्खालियं जाओ पुण्ण रावसरीरावयवो राया, तओ
देवीए बलिपुआइअं काऊण भणिअं जो इत्थ देवया विसि-
सो चिट्ठ सो पयमेउ अण्णाणं । तओ घरं पचाए देवीए
सुमिणंतरे देवपाए जणिअं इत्थ भावित्थयरपासनाह-
पडिमा चिट्ठ तस्स पभावेणं रत्तो आरुगं संजायं एअं
पडिं सगमे आराविरुण सत्तदिस्सजाए त्ति णिज्जुत्तिता
आममुत्तंतुमित्तरस्सीए रत्ता मयं सारहिहूणं सट्ठाणं
पञ्चाले अयाइमा । जत्थेव निओ पच्छा हुत्थं पटोइस्सइ
तत्थेव पडिमा ठाडिइ । तओ नरनाहेण तं खुडुगजलमा-
लोइऊण मा पडिमा लच्छा । तेण तहेव काउं पडिमा चा-
ल्लिआ कित्तिअं पि जूमि गएण रत्ता किं पडिमा एइ न
वि त्ति मिहावलोइअं कयं पडिमा तत्थेव अंतर्गिरिखे ठि-
आ । सगमे अगओ हुत्तं नीसरिओ रत्ता पडिमा अ-
द्धाणि अधिइए गया । तत्थेव य सिरिपुरं नामं नयरं नि-
अनामोवन्नक्खियं निवेसिअं चेइअं च तहिं कारियं । तत्थ
पडिमा अणेगमदूसवपुव्वं ठाविआ प्यइत्तं पुड्वि पड्ढि-
कात्तं अज्जवि सा पडिमा तहेव अंतर्गिरिखे चिट्ठइ । पुव्वि
किर सा वाहकिअं यमं सिरिम्मि वहुंती नारी पडिमाए सी-
हासणवल्लोसिं वरिमु काळेण जूमिगेचरुणेण वा मिच्छाइ-
इमिअकालाणुजावेण वा अहो अटो दीसंती जाव मंपइ
नारी मित्तं पडिमाए हिट्ठे मंचरइ पड्विपयाहायमीहास-
णजूमिअंतरात्ते दीसइ जया य सा पडिमा सगरुमारोवि-
आ नया देवी खित्तवालो अमहेव पडिमाओण मगत्तेण
मिद्वुद्धाणं अन्नयरो पुत्तो अंवाए देवीए गहिओ अ-
ओ अए ठाविओ तओ खित्तवात्तस्स आणती दिन्ता
जहा एसदारओ ताए आणेअव्वो नेणावि अइउत्तात्तं वलं
तेण नाणीओ तओ देवीए रुंयएण समत्थइ अह सो अं-
तवालमामे दीमइ एवं अंवाए वि खित्तवात्तेहिं मेवि-
ज्जमाणे धरणिंदपउपावईहिं च कयपडिहेरो मा पडिमा
मच्चलोणहिं पड्जइ अंतर्गिरिखडिअपासनादकणे जहासु-
अं किं पि मिगनिणपहमूरिहिं जिहिओ सपरोंवयारकए
अन्तरिक्कपार्श्वनाथकल्पः ती० ५२ क० ।

अंतर्गि (जि) कवोदय-अन्तरिक्कोदक-न० अन्तरिक्के उदक
मन्तरीकोदकम् । यथोदकं, नि० चू० १ उ० यज्जलमाकाशा-
त्पतदेव गृह्यते ” उपा० १ अ० ।

अंतरिज्ज-अन्तरीय-न० अन्तरे भवं महादित्वाच्छः “ नामौ
धृतं च यद्वस्त्र-माच्छादयति जानुनी । अन्तरीयं प्रशस्तं त-द-
च्छिन्नमुभयान्तयो ” रित्येवंलक्षणे परिधानवस्त्रे, वाच० शय्या-
या अधस्तने वस्त्रे च । “ अंतरिज्जं णाम णियंसणं अहवा अं-
तरिज्जं णाम जं मेज्जाए हेठिज्जं पोत्तं ” नि० चू० १५ उ० ।
आचा० । प्रवाचथे-बुअ् अन्तरीयकः तद्भवे, त्रि० वाच० ।
अंतर्गिज्जिया-अन्तरीया-स्त्री० स्थविरात्कामर्द्धनिर्गतस्य वेपपा-
तित (धंसवामिय) गणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० १८१ पत्र ।
अंतरिय-अन्तरित-त्रि० अन्तर-इण्-कर्त्तरि क्तः । अन्तर्गते,
अन्तरे व्यवधानं करोतीति णिचि-कर्मणि-क्तः । व्यवधापिते,
तिरस्कृते, अच्छादिते, वाच० व्यवहिते, विशेषेण अ० म० द्वि०
अन्तरिया-अन्तरिका-स्त्री० अन्तस्य विच्छेदस्य कारणमन्तरि-
का स्त्रीलिङ्गशब्दः विवक्षितवस्तुनः समाप्तौ, “ भ्रान्तरियाए
वट्टमाणस्स ” आरब्धध्यानस्य समाप्तिपूर्वस्यानारम्भणमित्य-
र्थः जं० २ वक्त० ।

आन्तरिका-स्त्री० अन्तर्मेवान्तर्यं ज्ञेयज्ञादित्वात्स्वार्थेपु अण्
ततः स्त्रीत्वविचक्षायां डीप् प्रत्यये आन्तरी आन्तर्येव आन्तरि-
का । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० १० पाहु० । लघ्वन्तरे च. रा० ॥
अंतरुच्छुय-अन्तरिच्छुय-पुं० इध्रुपर्वमध्ये, आचा० २ थु० १
अ० “ उभयोपेररुहियं अंतरुच्छुयं होति ” नि० चू० १६ उ० ।
अंतरेण-अन्तरेण-अव्य० अन्तरेति इण्-ण-टवर्गादित्वेऽपि
णस्य नेऽसंज्ञकत्वम् । मध्यार्थे, वाच० । चिनार्थे च. उत्त० १ अ०
अहारमंतरेण नाम अहाराजावेन नि० चू० १ उ० ।

अंतव (त)-अन्तवत्-त्रि० अन्तोऽस्यास्ती अन्तवान् । परि-
मिते, “ अंतवणिइए लोए इति धीरोति पासइ ” अन्तवान् लोकाः
सप्तद्वीपाः वसुंधरेति परिमाणेकस्तादृक्परिमाणेनेत्यर्थः ।
सूत्र० १ थु० १ अ० ।

अंतवाल-अन्तपात्त-पुं० अन्तं तच्चक्रिण आदेश्येदशसम्बन्धिनं
पालयति उपद्रवादिष्य इत्यन्तपात्तः । पूर्वदिगादिदेशलोकानां
देवादिकृतसमस्तोपद्रवनिवारके, जं० ३ वक्त० आ० म० ।
अंतविकट्टियंतमाल-अन्तविकर्षितान्त्रमात्त-त्रि० शृगालादि-
जिरूपाटितोदरमध्यावयवे, तं० ।

अंतमुह-अन्तमुख-न० परिणाममुखे, “ मासैरष्टनिरहा च
पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेध-
ते ” सूत्र० १ थु० ४ अ० ।

अंतमो-अन्तशस्-अव्य० अन्त-शस् निरघशोपत इत्यर्थे,
“ सल्लं कंतति अंतसो ” सूत्र० १ थु० ८ अ० । विपाककाले इत्य-
र्थः सूत्र० १ थु० ८ अ० । यावज्जीवमित्यर्थे, “ मणसा वयसा चेव
कायसा चेव अंतसो ” सूत्र० १ थु० ११ अ० कथञ्चित्कार्य-
निस्तरे, “ भक्तपाणे अ अन्तसो ” जके पाने चान्तशः सम्यगु-
पयोगवता जायमिति सूत्र० १ थु० १ अ० ।

अंतावेइ (ई)-अन्तर्वेदि (दी)-स्त्री० अन्तर्गता वेदिर्यत्र
देशे । दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्ता ८ । १४ । इति ह्रस्वस्य दीर्घः ।
ब्रह्मावत्तदेशे, प्रा० । वाच० ।

अंताहार-अन्त्याहार-पुं० अन्त्ये भवमन्त्ये जघन्यधान्यं बह्ना-
दि आहारो यस्य । कृतरसपरित्यागे, औ० । सूत्र० । स्था० ।

अंति (न)-अन्तिन्-त्रि० अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽ-
स्यास्तीत्यन्तो । जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्तिनि,
स्था० १० ठा० ।

अंतिअ [य]-अन्तिक-न० अन्त्यते संघभ्यते सामीप्येन
अन्त-घञ् । वाच० । समीपे, तं० । सूत्र० । उत्त० । स्था० ।
विशे० । उत्त० । “ बुद्धार्णं अंतीए सया ” उत्त० १ अ० ।
आ० म० द्वि० । नि० । भ० । रा० । पर्यवसाने, “ अह भिक्षू
गिलापज्जा, आहारस्सेव अंतिया ” आचा० १ ध्रु० ८ अ० ।
पाश्चै च “ देवाणंदाए माहणीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा ”
कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरतीत्यन्तिकः ।
पर्यन्तवासिनि, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० ।

अंतिम-अन्तिम-त्रि० अन्ते भवमन्तिमम् । चरमे, स्था० १
ठा० । यतः परं न किञ्चिदस्ति विशे० ।

अंतिमराज्ञा-अन्तिमरात्रिका-स्त्री० अन्तिमाऽन्तिमभागरू-
पाश्र्वयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरा-
त्रिका । रात्रेरवसाने, स्था० १० ठा० । भ० ।

अंतिमसंघयणतिग-अन्तिमसंहननत्रिक-न० अर्द्धनाराचसं-
हननकालिकासंहननसेवार्तसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।
अंतिममारीरिय-अन्तिमश (शा) रीरिक-त्रि० अन्ते भव-
मन्तिमं चरमं तच्च तच्छरीरं चेत्यन्तिमशरीरं तत्र भवा अ-
न्तिमशरीरिकी दीर्घत्वं च प्राकृतशैल्या । चरमदेहभवेषु क्रि-
यादिषु, स्था० १ ठा० ।

अंतेआरि (न) अन्तश्चारिन्-त्रि० अन्तश्चरति अन्तरं चर-
णिनि । तोऽन्तरि ८।१।६०। इति अत एत्वम् । मध्यगामिनि, प्रा० ।
अंतेउ [पु] र-अन्तःपुर-न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्म
वाच० । तोऽन्तरि ८।१।६०। इत्यन्तःशब्दस्यात एत्वम् प्रा० ।
अवरोधे, राजस्त्रीणां निवासगृहे, रा० । ज्ञा० । “ चिय अंतेउर
घरदारपवेसी ” श्री० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

[सूत्रम्] जे भिक्षू रायंतेपुरं पविसइ पविसंतं वा
साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गाथया व्याख्यानयति ।

अन्तेउरं च तिविधं, जुष्णं एव च कसगाणं च ।

एकैकं पि य द्दुविधं, सत्थाणत्थं च परत्थाणे ॥१॥

रक्षो अंतेपुरं तिविधं एहंसियं जोव्वणाओ अपरिभुज्जमा-
णीओ अत्थति एयं जुष्णंतेपुरं । जोव्वणं पत्ताओ परिभुज्जमा-
णीओ जत्थ अत्थति तं एवंतेपुरं । अपत्तजोव्वणाणं रायदु-
हियाणं संगओ कसंतेपुरं । तं सेत्तओ एकैकं दुविधं सट्ठाणे
परट्ठाणे य । सट्ठाणत्थं रायघरे एव परट्ठाणत्थं वसंतादिसु
उज्जाणियागयं ।

एते सामप्पतरं, रक्षो अंतेउरं तु जो पविसे ।

सो आणाअणवत्थं, पिच्छत्तविराधणं पावे ॥ १॥

इमे दोषाः ।

दंरुअरिखगदोवा-रिएहिं वरिसवखं चुइजेहिं ।

णितेहि अन्तिहेहि य, वाघातो होइ निखुस्स ॥२॥

इमं वक्तव्यं ।

दंरुधरो दंरुअरिखओ, दोवारिज्जा तु दारिहा ।

वरिसवरट्ठविप्पिति, कंचुगिपुरिसा महत्तरगा ॥ ३॥

दंरुगदियदत्थो सव्वतो अंतेपुरं रक्खइ रक्षा घइष्सेण इत्थि पुरि-
सं वा अंतेपुरं णीणेति पवेसेति वा एस दंडरक्खितो । दोवारि-
या दारं चैव जं संमेवैति द्विकेति ता तप्पिया रक्षो आणत्तीए
अंतेपुरियसमीवं गच्छंति । अंतेपुरिया णंतीए वा रक्षो समी-
वं गच्छंति जं रक्षो समीवं अंतेपुरिया णयंति आणेति चादिउ-
एहायं वा कहकहिते कुवियं वा पसादंति कहंति य रक्षो विदि-
ते कारणे अणुत्तां वि जे अगतां काउं वयंति ते महत्तरगा ।
अप्पे य इमे दोसा ॥

अप्पे व होंति दोसा, आइप्पो गुम्मतणइत्थीओ ।

तप्पीसाए पवेसो, तिस्खमण्या जवे दुड्डा ॥ ३३ ॥

पूर्ववत् ।

सदादिइंदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं मीवे ।

सिंमारकहाकहणे, एगतरुज्ज ए य बहु दोमा ॥ ३३ ॥

तत्थ गीयादिसद्वेवओगेण इत्थि एसणं वा ण सोहेति
तहिं वा पुच्छितो सिंमारकहं कहेज्ज । तत्थ य आयपरोज्जय-
समुत्था दोसा एते सट्ठाणत्थे दोसा । इमे परट्ठाणे ।

केहिता वहोंति दोसा, केरिसगा कथणगिएहणादीया ।

गव्वो पायसिउत्तं, सिंगाराणं व संजरणं ॥ ३४ ॥

उज्जाणादिट्ठियासु कोइ साधू कोउगेण गच्छेज्ज ते चैव पु-
व्वविण्णया दोसा सिंगारकहाकहणे वा गएहणादिया दोसा
अंतेपुरे धम्मकहा णाणगव्वं गच्छेज्ज ओरालसरीरो वा गव्वं क-
रेज्ज अंतेउरपवेसे ओज्झातितो म्हिह अत्थे पदादिकणं करंते
पाउसदोसा भवन्ति सिंगारे य सोउं पुव्वरयकीलिते सुमरेज्ज
अहवा पाउ दट्ठु अप्पणो पुव्वसिंगारे संभरेज्ज पच्छा पणिगम-
णादी दोसा हव्वेज्ज ।

वितियपदमणानगे, विसंधिपरिखेवसेज्जसंधारे ।

हयमादी दुड्डाणे, संघकुलगणाण कज्जे व ॥ ३५ ॥

अणाभोगेण पविट्ठो अहवा अंतेपुरं परट्ठाणत्थं साधुणा णातं
पयाओ अंतेपुरिअत्ति पुव्वभासेण पविट्ठो अयाणंतो अहवा
साधू उज्जाणादिसु ठिता रायंतेपुरं च सव्वओ समंता आग-
ओ परिषेदिय ठियं अस्सवसहिअभावे य तं वसहिं अंतेपुरं म-
ज्जेण अत्तिंति णिति वा । अहवा संधारगस्स पच्छप्पणाणहेओ
पविट्ठो अहवा सीहवग्घमहिंसादियाण दुड्डाण परुणीयस्स वा
जया रायंतेपुरं पविसेज्जा अस्सतो णत्थि णीसरणो वा तो क-
ज्जेति कुलगणसंघकज्जेसु वा पविसेज्जा तत्थ देवी इव्वसा-
रायणं उपणेति अंतेपुरपविट्ठो रायदट्ठयो नि० चू० ए व० ।

अंतेउरपरिवारसंपरिवुड-अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत्त-त्रि० अन्तः
पुरं च परिवारश्च अन्तःपुरलक्षणो वा परिवारो यः सः ।
ताभ्यां तेन वा संपरिवृत्तः । अन्तःपुरलक्षणेन परिवारेण अ-
न्तःपुरेण परिवारेण वा संपरिवृत्ते, ज्ञा० ८ अ० ।

अंतेउरिया-अन्तःपुरिकी-स्त्री० अन्तःपुरे विद्या अन्तपु-
रिकी । रोगिप्रागुण्यकारके विद्याज्जेदे, यया आतुरस्य नाम गृ-
हीत्वा आत्मनोऽङ्गमपमाजयति आतुरश्च प्रगुणो जायते सा आ-
न्तःपुरिकी व्य० ५ व० ।

अंतेवासि (न) अन्तेवासिन्-पुं अन्ते समीपे वस्तुं चारित्र-
क्रियायां वस्तुं शीलं स्वभावो यस्येत्यन्तेवासी । दशा० ४ अ० ।

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी । शिष्ये, स्था०
च० प्र० । जं० । मूर० । रा० । भ० ।

अन्तेवासिनां जेदप्रतिपादनार्थमाह ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्ता तंजहा उद्देमणतेवासी नाम ए-
गे नोवायणतेवासी, वायणतेवासी नाम एगे नो उद्देमण-
तेवासी, एग उद्देमणतेवासी वि वायणतेवासी वि, एगे नो
उद्देमणतेवासी वि नो वायणतेवासी वि ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

परुचायगियं होइ, अंतेवासी उ मेदणा ।

अतिगम्वभासमामन्नं, समीपं चैव आदियं ॥

अधस्तनान्तरसूत्रे आचार्याः प्रोक्ताः आचार्यं च प्रतीत्यान्ते-
वासी भवति ततोऽन्तेवासिसूत्रमित्येषां मेलनः संबन्धः । अ-
त्रान्तेवासी तत्र योऽन्तश्चदस्तद्याख्यानार्थमेकाधिकान्याह ।
अन्तं नाम अन्तिकमभ्यास आसन्नं समीपं चाख्यानं तत्र वस-
तीत्येवंशीलोऽन्तेवासी ।

संप्रति भङ्गनायनार्थमाह ।

जह चैव उ आयरिया, अंतेवासीति हांति एमेव ।

अंतं य वमति जम्हा, अंतेवासी ततो होइ ॥

यथा चैव आचार्या उद्देशनादिजेदतश्चतुर्द्धा जयन्ति एवमेव
अन्तेवासिनोऽपि यस्मादाचार्यस्यान्ते वसति तस्माद्भवत्वाचा-
र्यवचतुर्द्धाऽन्तेवासी । इयमत्र जायता यो यस्यान्ते उद्देशनमेवा-
धिकृत्य वसति वसन्ते स तं प्रत्युद्देशनान्तेवासी । यस्य त्वन्ते वा-
चनमेवाधिकृत्य वसति तस्य वाचनान्तेवासी । यश्चोद्देशनं वा-
चनां वाधिकृत्य यस्यान्ते वसति स तं प्रत्युत्तयान्तेवासी । य-
स्य त्वन्ते नोद्देशनं नापि वाचनमाधिकृत्यान्ते वसति किं तु ध-
र्मश्रवणमधिकृत्य स तं प्रत्युभयविक्रो धर्मान्तेवासी । उद्दे-
शनान्तेवासी वाचनान्तेवासी वा । तत्र कश्चित्त्रिभिरपि प्रकारैः
सामान्यतो भवति कश्चिद् द्वाभ्यां कश्चिदकैकेन । व्य० १० उ० ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्ता तंजहा पव्वावणतेवासी एो
उवट्टावणतेवासी, उवट्टावणतेवासी, एाममेणे णो पव्वावणते-
वासी, पव्वावणतेवासी वि उवट्टावणतेवासी वि, एगे णो
पव्वावणतेवासी णो उवट्टावणतेवासी ॥

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी शिष्यः । प्रवा-
जयथा दीजयथा अन्तेवासी प्रवाजनान्तेवासी दीजित इत्यर्थः ।
उपस्थापमान्तेवासी महाव्रतारोपणतः शिष्य इति चतुर्थमङ्ग-
कस्यः क इत्याह धर्मान्तेवासीति धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो
धर्मोर्धितयोपसम्पन्नो वेत्यर्थः । स्था० ४ डा० ।

वीगन्तेवासिनां वर्णकः ।

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्म जगवओ महावीरस्म
अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइआ
भोगपव्वइया गइमणान्तोग्गव्वचित्तअपव्वइआ भरा
जोश सेणावडपनत्थारो मेट्ठी इदधे अणे बहवे एवमाइणो
उत्तमजानिकुलरूवविणयविमारावमाज्ञावम्मविक्रमपहाण -
मोत्तमगकंतियुत्ता बहुयणधम्मणिचयपरियाज्जाफिअया णर-
वड्ढणाइडिअभोगा मुहसंपत्तिआ किपागफलावमं च

मुणिअ विसयसोवस्सं जल्लुब्धुअसमाणं कुसग्गजल्लिंदुचं-
चलं जीवियं च एाऊण अशुवमिणं रययमिव पडग्गद्वमं
मंविधु, एत्ताणं चइत्ता हिरमं जाव पव्वइआ । अप्पेगइआ
अरुमामपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं दुमामा
तिमासा जाव एकारस । अप्पेगइया वासपरिआया दुवा-
स तिवामा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजमेणं तवसा
अप्पाणं भावेमाणां विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समणं
समणस्म भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे एिणग्गथा
भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव केवल-
णाणी । अप्पेगइआ मणवल्लिआ वयवलिआ कायवलिआ
अप्पेगइआ मणेणं सावाणुग्गहसमत्था ३ अप्पेगइआ खे-
लोमहिपत्ता एवं जल्लोमहि विप्पोसहि आमोसहि सव्वोसाह
अप्पेगइआ कोट्टबुद्धी एवं वीअबुद्धी परुबुद्धी अप्पेगइया
पयाणुमारी अप्पेगइआ संजिन्नमीआ अप्पेगइया खीरा-
सवा अप्पेगइआ महवासवा अप्पेगइआ सप्पिआमवा अ-
प्पेगइआ अक्खीणमहाणसिआ एवं उज्जुमती अप्पेगइआ
विउल्लमई विउव्विणिहृपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासा-
तिवाइणो । अप्पेगइआ कएगावलिं तवोकम्मं पक्खिणा एवं
एकावलिं खुड्ढाकसीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिविणा अप्पे-
गइया महालयं सीहानिक्कीलियं तवोकम्मं पडिविणा जइप-
डिमं महाभइपरिमं सव्वतो जइपडिमं आयं विलव्वमाणं
तवोकम्मं पक्खिणा मामिअं जिक्खुपडिमं एवं दोमासिअं
परिमं तिमामिअं परिमं जाव सत्तमासिअं भिक्खुपरिमं
परिविणा पढमं राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिविणा जाव तच्चं
सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पक्खिणा । अहोराइंदियं जिक्खु-
पढमं परिविणा इकराइंदियं भिक्खुपरिमं पडिविणा सत्त-
मत्तमिअं जिक्खुपडिमं अट्ठमिअं भिक्खुपरिमं एवण-
वमिअं जिक्खुपरिमं दसदसमिअं जिक्खुपडिमं खुड्डिय-
मोअपरिमं परिविणा महद्वियं मोअपरिमं परिविणा जव-
मज्झं चंदपडिमं परिविणा वज्जमज्झं चंदपरिमं परिविणा
संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणां विहरंति औ० ७९ पत्र ।

(मनोवलिकादीनामर्थः स्वस्वशब्दे)

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्म भगवओ महावीरस्स
अंतेवासी बहवे येरा जगवंतो जातिमंप्पसा कुलसंपसा
वलसंपपणा रुवमंपपणा विणयसंपपणा एाणसंपपणा
दंमणमंपपणा चरित्तसंपपणा लज्जामंपपणा लाघवमंपपणा
उ अंसंतिअंसी वच्चंसी जसंसी जिअकोहा जियमाण
जिअमाया जिअतोभा जिअइंदिया जिअणिदा जिअप-
रीसहा जीविआसमरणभयविप्पमुक्का वयप्पहाणा गुण-
प्पहाणा कणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा

निच्छयपट्टाणा अजवपट्टाणा मदवपट्टाणा लायवप-
ट्टाणा खंतिपट्टाणा मुत्तिपट्टाणा विज्जापट्टाणा मंतप-
ट्टाणा वेअपट्टाणा वंभपट्टाणा नयपट्टाणा नियमपट्टा-
णा सच्चपट्टाणा मोअपट्टाणा चारुवणा लज्जातवस्सी
जिइंदिआ सोही अणियाणा अप्पमुआ अवहिद्वेस्सा
अप्पदिलेस्सा सुसामसुरया दंता इणमेव णिगंथे पावयणं
पुरओ काउं विहरंति तेसि णं जगवंताणं आयावादीं विदि-
ता भवंति परवादी विदिता जवंति आयावादीं जमइत्ता
लवणमिव मत्तमातंगा आच्छिदपसिणवागरणं रथणकरं-
रुगसमाणा कुत्तिआवणत्तुआ परवादिपरमदणा दुवा-
लसंगिणो मम्मत्तगणिपिंरुगथगा मव्वक्खरमसिवाइणो
सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा
इव अवितहं वा करमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं जावे-
माणा विहरंति । तेणं काळेणं तेणं समएणं सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी वद्वे अणगारा
भगवंतो इरिआममिआ भामासमिआ एसणानमिआ
आदाणजेरुमत्तनिकखेवणासमिआ उच्चरापासवणखेलसि-
घाणजल्लपारिट्टावणियासमिआ मणगुत्ता वयगुत्ता कायगु-
त्ता गुत्तिदिया गुत्तवंभयारा अममा अकिंचणा उिणगन्था
उिणमोआ निरुवद्वेवा कंमपातीव मुक्तोआ मंख इव
निरंगणा जीवो विव अप्पमिहयगती जच्चकणं पिव जा-
तरूवा आदरिसफलगा विव पगडभावा कुम्भो इव गुत्ति-
दिआ पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा गगणमिव निरालंवाणा
अणिद्वो इव निरालया चंद इव सोमलेसा सूर इव तेअ-
द्वेसा सागरो इव गंधीरा विहग इव मव्वओ विप्पमुक्का मंदर
इव अप्पकंपा सायरसद्विलं व सुच्छिदिआया खग्गविसाणं
व एगजाया जारंरुपक्खी व अप्पमत्ता कुंजगे इव सोही-
रा वमजो इव जायत्यामा सीहो इव दुप्परिमा वसुंधरा
इव मव्वफामविमहा सुहुअहुआसणो इव तेअमा जंजेता
नत्थि णं तेसि णं भगवंताणं कत्थय पडिवंधे । मे अपडि-
वंधे चउव्विहं पप्पत्ते तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ
भावओ । दव्वओ णं सचित्ताचित्तमीमएसु दव्वेसु, खेत्तओ
गामे वा एगरे वा गस्सेवाखेत्ते वा खद्वे वा धरे वा अंगणे-
वा, कालओ समए वा आवलिआए वा जाव आयणे वा
असत्तरे वा दीहकालसंजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा
मायाए वा द्रोहे वा भए वा हामे वा एवं तेमि णं जवइ तेणं
जगवंतो वामावासवज्जं अट्ट गिम्हहेमंतिआणि मासाणि
गामे एगराइआ एगरे पंचराइआ वामी चंदणसमाणकप्पा
समझेडुक्कंवा समसुहउक्खा इहओगपरओगअप्पमिवच्छा
संमारपारगामी कम्मणिग्घायणट्टाए अब्भुद्धिआ वि-
हरंति ॥ औ० १०१ पत्र ।

(पदार्थमात्रविन्यसिनी टीकेति न विन्यस्ता) (तेसि णं ज-
गवंताणं एते णं विहारेणं विहारमाणा णं इमेयारूपे अज्जितर-
ए बाहिरए तवोवहाणे होत्था तंजहा अभिभंतरए उव्विहे बाहिर-
ए उव्विहे इत्यादितव आदिगध्वेषु प्रदर्शयिष्यते । तेणं काळेणं
तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स वद्वे अणगारा
जगवंतो अप्पेगइया आयावधरा इत्याद्यणगारशब्दे) ।

वीरान्तेवासिनः कति सन्त्यन्तीति पृच्छा ।

तेणं काळेणं तेणं समएणं गहामुक्काओ कप्पाओ महास-
ग्गाओ विमाणाओ दो देवा मद्विद्या जाव महाणुभागा
समणस्स जगवओ महावीरस्स अतियं पाउव्वत्तुया । तए
णं ते देवा समणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति न-
मंसंति वंदंतिता नमंसंतिता मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं
पुच्छंति । कऽ णं देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिं-
ति जाव अंतं करेद्विहिं ? तए णं समणे जगवं महावीरं
तेहिं देवेहिं मणसा पुच्छे तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं ए-
यारूवं वागरणं वागरेइ एवं खद्वु देवाणुप्पिया ममं सत्त
अंतेवासिसयाइं मिज्झिहिंति जाव अंतं करेद्विहिं तए णं
ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्टेणं मण-
सा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा दृष्टतुड
जाव हियया समणं जगवं महावीरं वंदंति एमंसंति मण-
सा चेव सुस्सुसमाणा एमंसमाणा अजिमुहा जाव पज्जु-
वामंति भ० ५ श० ९ उ० ।

इहापि टीका प्रसिद्धशब्दार्थमात्रविन्यसिनीति न गृहीता ।

अन्तो-अन्तर-अध्य० मध्ये, दशा० १ अ० । “अंतो पश्चिमाह गं-
सि” आचा० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । ज्ञा० । प्रअ० । आव० ।
स्व० । “एवामेव मायी मायं कट्टु अंतो अंतोज्जियाइ” अन्तर-
न्तःक्रियया धमायन्ति इन्धनैर्दीप्यन्ते स्था० ८ ग्रा० ।

अंतोअंत-अन्तोपान्त-पुं० सान्तमध्ये, “तुमं चेव णं संति-
यं वत्थं अंतोअंतेण पस्सिलेहिस्सामि” त्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तो-
पान्तेन प्रत्युपेक्षितं गृहीयाम । अन्तःसहितमन्तोपान्तकरपस्मि-
लेह्यादिग्रहणकरे, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

अंतोकरण-अन्तःकरण-न० कृ-करणे-ल्युट् । अन्तरज्यन्त-
रस्थं करणं कर्मधा० । तदृत्तिपदार्थानां सुखादीनां करणं
ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसुखादिसाधने, अज्यन्तरे मनोबुद्धिचि-
त्तादिपदभिन्नप्यमाने इन्द्रिये, वाच० । तच्चान्तःकरणं स्मृति-
प्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पाहंवृत्त्याकारेण चित्तबुद्धिमसोऽह-
ङ्कारशब्दैर्व्यवहृत्यते न० ।

अंतोखरियत्ता-अन्तःखरिका-स्त्री० नगराभ्यन्तरवेष्ट्यात्वे,
विशिष्टवेष्ट्यात्वे च । “दोच्चं पि रायगिहे एयरे अंतोखरियत्ता-
ए उववज्झिहिंति” ज० १५ श० १ उ० ।

अंतोगिरिपरिरय-अन्तर्गिरिपरिरय-पुं० गिरेरन्तः परिक्रमे,
जी० ३ प्रति० ।

अन्तोजल-अन्तर्जल-न० जलाज्यन्तरे, “अन्तो जले वि एवं
मुज्झंतां फासइव्वपिच्छंते” व० ६ उ० ।

अंतोणाय-अन्तर्नाद-त्रि० हृदये सद्यः समागच्छति, "होपउं मुहं हृदये संतोणायं गच्छे रवं" आ० ४ अ० ।

अंतोणियसणी-अन्तर्निवसनी-स्त्री० आर्याणामौघिकोपधिने-दे, तत्स्वरूपम् ॥ "अंतोणियमणी पुण, झीणतरा जाय अद्ध-जंघातो" । अन्तर्निवसनी पुनरुपरिकटिजागादारज्याधोऽर्धज-हा बाधद् भवति सा च परिधानकाले हीनतरा परिधीयते मा नूदनावृता जनोपहास्येति" वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।

अंतोदहणसील-अन्तर्दहनशील-त्रि० हृदयस्य दुःखाग्निना दाहके, "कुंकुया विव अंतोदहणसीलाओ" (नाय्यः) कुंकुकः करीषामिस्तद्वत् अन्तर्दहनशीलाः पुरुषाणामन्तर्दुःखाग्निना ज्वालनत्वात् । उक्तं च " पुत्रश्च मुखो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विद्यामकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति कायम् " तं० ४६ पत्र ।

अंतोदुष्ट-अन्तर्दुष्ट-पुं० दुतादिदोषतो नवहीराद्यजावेन सांभ्यत्वात् अभ्यन्तरदोषयुते षणभेदे, शठतया संवृताकारत्वाद् हृदयदुष्टे पुरुषभेदे च पुं० स्था० ४ ग० ।

अंतोभूम-अन्तर्भूम-पुं० अभ्यन्तरभूमे, गृहादिनिरुद्धभूमे, आ० ४ अ० ।

अंतोमन्त्रोवसाणिय-अन्तर्मध्यावसानिक-पुं० लोकमध्यावसानिकारूपे अभिनयभेदे, नाट्यकुशलेभ्यो ऽयं विशेषतो घेदि-तव्यः रा० ।

अंतोमुह-अन्तर्मुख-न० अभ्यन्तरद्वारे, "अंतोमुहस्स अस-धी उभयमुहे तस्स बाहिरं पिहए" वृ० १ उ० ।

अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त-न० मुहूर्त्तस्य घटिकाद्वयवृत्तस्य कालविशेषस्यान्तर्मध्ये ऽन्तर्मुहूर्त्तम् । निपातनादेवात्र अन्तः-शब्दस्य पूर्वनिपातः न० । भिन्नमुहूर्त्तं, आ० ५ अ० ।

अंतोलिप्त-अन्तर्लिप्त-त्रि० अन्तर्मध्ये लिप्तमन्तर्लिप्तम् । मध्ये ले-पेनोपदिग्धे, " घमिन्तोलिप्तं " वृ० १ उ० ।

अंतोवृत्त-अन्तर्वृत्त-त्रि० मध्ये वृत्तसंस्थानसंस्थिते, ते णं णरगा अंतोवृत्ता बहि चडरंसा " बाह्व्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्ये वृत्ता सूत्र० २ ध्रु० २ अ० ।

अंतोवृत्ति-अन्तर्वृत्ति-स्त्री० पक्वीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तौ, यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः रा० ६ पत्र ।

अंतोवाहिणी-अन्तर्वाहिनी-स्त्री० मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे प्रवहन्त्यामन्तरनद्याम्, स्था० ३ ग० । " कुमुए विजए अरजा रायहाणी अंतोवाहिणी णई " ज० ४ वृत्त० ।

अंतोवीमंज-अन्तोविश्रमज-पुं० अन्तर्विश्रमजः तं० स० । तोऽन्तरीत्यस्य काचित्कन्वात्रान्तस्यैवम् । चित्तविश्रामे, " अंतो-वीमंजनिवेसिआणं " प्रा० ।

अंतोसल्ल-अन्तःशल्य-त्रि० अन्तर्मध्ये शल्यं यस्य अदृश्यमा-ममित्यर्थः तत्तथा । बहिरनुपलब्ध्यमाणे षणभेदे, स्था० ४ ग० । अनुदृततोमरादौ, भ० २ श० ५ उ० । अन्तर्मध्ये मनसीत्यर्थः । शल्यमिव शल्यमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशल्यः । अजिमानादि-भिरनालोचितातिचारे, स० ५१ पत्र ।

अंतोसहृदयग-अन्तःशल्यमृत्तक-त्रि० अनुदृतभावशल्येषु मन्थयन्तिमह्लादिशल्येषु वा सन्तु नृतेषु, औ० २५६ पत्र ।

अंतोसहृदयग-अन्तःशल्यमृत्तक-न० अन्तःशल्यस्य स्रव्य-तोऽनुदृततोमरादेर्जावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्य-मरणम् । बालमरणभेदे, ज० २ श० १ उ० । स० ।

तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्तुयमयेण वावि दुच्चारियं ।

जेण कहति गुरुणं, एण हु ते आराहमा होंति ।

गारवयंकणिवूमा, अङ्गारं जे परस्स ण कहति ।

दंसणणाणचरित्ते, समल्लमरणं हवति तेसिं उत्त० नि० ।

तत्र वज्रया अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकया गौरवेण च सातर्द्धिसगौरवात्मकेन मा लूममालोचनाहमाचार्यमुपसर्पत-स्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोनुष्ठानाभेदेन च ऋद्धिरससाता-जावसंजव इति बहुश्रुतमेदेन वा बहुश्रुतोऽहं तत्कथमदृष्टतोऽयं-मम शल्यमुद्धरिष्यति कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं दास्याम्यपत्रा-जना हीयं ममेत्यजिमानेन आपः पूरणे ये गुरुकर्माणां न कथय-न्ति नातोचयन्ति केषां गुरुणामातोचनाहणामाचार्यादीनां किं तत् दुश्चरितं दुरनुष्ठितमिति संबन्धः । न हु नैव तेऽनन्तरमुक्त-रूपाः आराधयन्त्यविकलतया निष्पादयन्ति सम्यग्दर्शनादी-नीत्याराधका भवन्ति । ततः किमित्याह । गौरवपङ्क इव कालुष्यहेतुतया तस्मिन्निबुना इति प्राकृतत्वान्निमग्ना इव निम-ग्नास्तत्कोलीकृततया वज्रामदयोरपि प्रागुपादाने यदिह गौर-वस्यैवोपादानं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम् । अतिचारमपरा-धं परस्याचार्यादेर्न कथयन्ति किं विषयमित्याह । दर्शनज्ञान-चारित्र्ये दर्शनज्ञानचारित्र्यविषयं दर्शनविषयं शङ्कादिज्ञानविषयं कालातिक्रमादि चारित्र्यविषयम् । समित्यनुपादानादिशल्यमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधानं प्रत्यवध्यतया सह तेनेति सशल्यं तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणं तच्चान्तःशल्यमरणं भवति । तेषां गौरवपङ्कमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥

अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह ।

एतं समल्लमरणं, मरिज्जण महाभए दुरंतम्मि ।

सुचिरं भमंति जावा, देही संसारकंतारे ॥ उत्त० नि०

एतदुक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः । सुख्यस्ययाद्वा एतेन सशल्यमरणेन मृत्वा त्यक्त्वा प्राणान् जीवा इति संबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति क संसारः कान्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारस्तस्मि-न्निहित संतङ्कः । कीदृशि महद्भयं यस्मिन्स्तन्महाभयं तस्मिन्स्था दुःखेनान्तःपर्यन्तो यस्य तदुन्तं तस्मिन् । तथा दीर्घे अ-नादौ केषांचिदपर्यवसिते चेति तत्सर्वथा परिहर्तव्यमेवेति भाव इति गाथार्थः । प्रव० १५७ द्वा० ।

अंत्रमी-स्त्री०-अन्त्र-न० अपभ्रंशे स्वार्थिकप्रत्यये कृते । लिङ्ग-मतन्त्रम् दा० ४५१ इति नपुंसकस्याऽपि स्त्रीत्वम् । उर्वरम-ध्याऽवयवभेदे, " पादविलगनी अंत्रमी " प्रा० ।

अंद्रू-अन्द्रू-स्त्री० अन्धते बध्यतेऽनेनेति अदि-कू-वाच० ।

निगडे, "अंद्रू सुपक्विलप्यविहज देहे " सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० ।

अंदेउर-अन्तःपुर-न० अधःकचिद् दा० ४२६ इति शौरसेन्यां तकारस्य दकारः । राजस्त्राणां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग-आन्दोलक-पुं० यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमान्दो-लयन्ति ते आन्दोलकाः । हिण्डोल इति लोकप्रसिद्धेषु, औ० ३ प्रति० । रा० । जं० । दोलनकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

अंशोला (द्व) ए-अ (आ) न्दोन्न-न० दृक्शाखादौ खे-
लने, घ० २ अधि० । करणे-घञ्-हिण्डोल इति प्रसिद्धे आन्दो-
लनयन्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घ्यते
तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अंध-अन्ध-त्रि० अन्ध-अन्ध-नयनरहिते, द्वा० १२ द्वा० । यो० ।
पञ्चा० । सूत्र० । स चान्धो द्विधा जात्यन्धः पश्चाद्वा हीनने-
त्रोऽपगतचक्षुः सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स चान्धो द्रव्यतो
भावतश्च । तत्रैकेन्द्रियद्वौन्द्रियत्रौन्द्रियाः द्रव्यभावान्धाः । च-
तुरिन्द्रियादयस्तु मिथ्यादृष्टयो जावान्धाः उक्तञ्च “ एकं हि
चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्वज्जिरेव सह संवसति द्वितीयम् ।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्यापमार्गचलने खलु
कोऽपराधः ” सम्यग्दृष्ट्यस्तूपहतनयना द्रव्यान्धास्त एव स-
चक्षुषो न द्रव्यतो नापि भावतस्तदेषामन्धत्वं द्रव्यभावभेदभि-
न्नेकान्तेन दुःखजननमघाप्रोतीत्युक्तञ्च “ जीवशेष मृतोऽन्धो,
यस्यात्सर्वक्रियासु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिनकर-स्तमो-
न्धकाराण्येषनिमग्नः ” “ लोकद्रव्यव्यसनवह्निविदीपिताङ्ग-मन्धं
समीक्ष्य कृपणं परयष्टिनेयम् । को नोद्विजेत भयकृज्जननादि-
वोप्रातः, कृष्णाहिनैकनिचितादिव चान्धगर्भात् ” आचा० १
श्रु० २ अ० ३ उ० । अन्ध इवान्धः । अज्ञाने, ज्ञानरहिते, “ ए-
षणं अंधा मूढा तमपविद्धा ” म० ७ श० ७ उ० । “ तिष्ठतो
व्रजतो वापि, यस्य चक्षुर्न दूरगमः । चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा,
परिमाडन्ध उच्यते ” इत्युक्तलक्षणे परिमार्भेदे, वाच० ।
पुं० । अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-चु० प्रेरणे-णिच् अच् । अन्ध-
करणे, अच् वा अन्धकारे, तमसि, अज्ञाने च । जले, न.
मेदि० । वाच० ।

अन्ध-पुं० अन्ध-रन्० । देशभेदे, स च देशः जगन्नाथादूर्ज-
गादर्वाक् श्रीममरात्मकात् तावदन्ध्राभिर्देश इत्युक्तः वाच० ।
तद्देशोपपन्ने जने च. व्य० ७ उ० । स च स्लेच्छत्वेनोक्तः प्रज्ञा० १
पदः । प्रअ० । प्रघ० । सूत्र० । वैदेहेन कारावरस्य स्त्रियासु-
त्पादिते अन्त्यजभेदे, व्याघ्रभेदे इति काश्यपः वाच० ।

अंधकटङ्गज-अन्धकण्टकीय-न० अन्धस्यावितर्कितकण्टको-
पगमनरूपेऽवितर्कितोपगमने, आचा० १ श्रु० १ अ० ।

अंधकट-अन्धकृत्-त्रि० स्वरूपावलोकनशक्तिविकले, अष्ट०

२ अष्ट० । अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्धकृत् अष्ट० ।

अंधका (या) र-अन्धकार-पुं० न० अन्धं करोति कृ-अण्

उप० । वाच० । कृष्णजृतेष्वादिजघ्ने, अरुणभवसमुद्रोद्भवत-

मस्काये च. तं० ४६ पत्र. । बहुव्रतमोनिहृष्ये, अनु० ।

स्था० । ज्ञा० । तच्च तज्जोद्रव्यसामान्यानावरूपमिति नैयायिकाः

वाच० । “ काष्ठं महलं तं पिय वियाण तं अंधयारं ति ” इत्युक्त-

लक्षणः पुल्लपरिणाम इति समयविदः सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अन्यत्रापि “ संहयारवज्जोभो, पहागायातघेइया । घनगंधर-

साफासा पोग्गलाणं तु लक्खणं ” उक्त० २ अ० । नच तमसः

पौल्लक्षिकत्वमसिद्धं चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः प्रदीपाद्वैकल्यम् ।

अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं प्रतिज्ञासे आलोकमपेक्षते नचैवं

तमस्तत्कथं चाक्षुषं मेवम् उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्र-

तिज्ञासात् । येस्त्वस्मदादिनिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं

विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते विचित्रत्वाद्वा-

वानां कथमप्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोका-

पेक्षदर्शनाः प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षा इति सिद्धं

तमश्चाक्षुषम् । रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते । शैत्यस्पर्-
शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिचिरावयवत्वमप्रतिघातित्वम-
नुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानस्वप्नावयवविध्यप्रविभागत्य-
मित्यादीनि तमसः पौल्लक्षिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्य-
स्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि स्या० ६ पत्र. ।

सर्वाजन्यन्तरं मण्डलमधिकृत्यान्धकारसंस्थितिं प्रति-

पिपादयिषुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह ।

तता एं किसंठिता अंधकारसंठिता आहिताति वदेज्जा ।
ता उद्धीमुहकलंबुतापुष्पगठिता आहितेति वदेज्जा । अं-
तासंकुमा बाहिं वित्थमा तं चैव जाव ता से एं दुवं वाहाता
अणवद्धितातो भवति तं सव्वब्भंतरिता चैव वाहा सव्व-
बाहिरिता चैव वाहा । तीसे एं सव्वब्भंतरिता वाहा मंदरं
पव्वयं तेणं ह्म जोंयणसहस्साइं तिप्पि य चउव्वीसे जो-
यणसते उ विदसजागे जोयणस्स परिकखेवेणं । ता से एं
परिकखेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता जे एं मंद-
रस्स पव्वस्स परिकखेवेणं तं परिकखेवं दाहिं गुणिता द-
सहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम एं परि-
कखेवविसेसे आहिताति वदेज्जा । ता से एं सव्वबाहिरिता
वाहा लवणसमुद्धं तेणं तेवट्ठि जोंयणसहस्साइं दाप्पि य
पणयाले जोयणसते उच्च दसजागे जोयणस्स परिकखेवेणं
ता से एं परिकखेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । तां
जे एं जंबुदीवस्स दीवस्म परिकखेवेण परिकखेवं दाहिं गु-
णिता दसहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एस
एं परिकखेवविसेसे आहिताति० ता मे एं अंधकारे केवतितं
आयमणं आहितानि० ता अट्टत्तरि जोंयणसहस्साइं तिप्पि
य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिजागं च आयामेणं आहितेति
वदेज्जा तता ण उत्तमकट्टे उक्कोसे अट्टारस मुहुत्ते दिवसे जवति
जह्मिस्सिया डुवालम मुहुत्ता राती भवति । ता जता एं सूरिए
सव्वबाहिरं मंरुलं उवमं कामित्ता चारं चरति ता उद्धीमुह-
कलंबुतापुष्पसंठिता तावकखेचसंठिता अंतो संकुमा बाहिं
वित्थमा जाव सव्वब्भंतरिया चैव वाहा सव्वबाहिरिता
चैव वाहा । ता से एं सव्वब्भंतरिता वाहा मंदरपव्वतेणं
उ जोयणसहस्साइं तिप्पि य चउव्वीसे जोयणसते ह्म
दसजागे जोयणस्स एवं जंपमाणं अब्भंतरमंहेले अंधका-
रसंठिते तं इमाए वि तावखेत्तं संठित्ती ऐतव्वा । बाहिर-
मंरुले आयामो सव्वत्थ वि एक्को तया एं किसंठिता
अंधकारसंठिता आहिताति वदेज्जा । ता उद्धीमुहकलंबुता
पुष्पसंठिता अंधकारसंठिता आहिताति वदेज्जा । अंतो
संकुमा बाहिं वित्थमा तं चैव जाव सव्वब्भंतरिता वाहा
सव्वबाहिरिता आहिता चैव वाहा । ता से एं सव्वब्भंत-
रिता वाहा मंदरपव्वयं तेणं एव जोयणसहस्साइं चत्तारि
य उल्लमांति जोंयणसते एव दमभागे एवं जंपमाणे अब्भं-

तरमंरुत्रिण सूरिण तावत्तन्त्रित्ति, ए नं चेव णेयवं
जाव आतामो ता जता एं उत्तमंरुकोसा अठारसमुहुत्ता
राती जवति जहृण ए दुवात्रसमुहुत्ते दिवसे भवति ।

तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले (किं संतिश्रुति) किं
संस्थितं संस्थानं यस्याः । यद्वा कस्येव संस्थानं संस्थिति-
र्यस्याः सा किंसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् ।
भगवानाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्द्धीकृतकल-
म्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् ।
सा चान्तर्मण्डलि विष्कम्भमधिकृत्य (संकुडा) संकुचिता
बहिर्लेखणदिशि विस्तृता । नथा अन्तर्मण्डलि वृत्ता ऊर्द्ध-
बलयाकारा सर्वतो वृत्ता मेरुगतौ द्वौ देशभागौ व्याप्य तस्या-
वस्थितत्वात् । बहिर्लेखणदिशि पृथुला विस्तीर्णा एतदेव
संस्थानकथनेन स्पष्टयति " अतो अंकमुहसंतिश्रुति बाहिं स-
त्थिमुहसंतिश्रुति " अनयोः पदयोर्व्याख्याने प्राग्वत् वेदितव्यम् ।
" उभयोपासेणमित्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्र-
संस्थितेर्द्विविधवशाद् द्विधा व्यवस्थिताया मेरुपर्वतस्योभय-
पार्श्वेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगते
वाहे ते आर्यामेन आर्यामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्त-
द्यथा पञ्चत्वारिंशत् योजनसहस्राणि (४५०००) द्वे च वाहे
विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवतस्तद्यथा
सर्वाभ्यन्तरा सर्ववाहा च एतयोश्च व्याख्यानं प्रागिव द्रष्ट-
व्यम् । ततः सर्वाभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमा-
णमभिधित्सुराह (तासेणमित्यादि) तस्या अन्धकारसंस्थितेः
सर्वाभ्यन्तरवाहा मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे सा च
पर्युयोजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि
(६३२४) परं दश भागा योजनस्य (६) यावत् परिक्षेपे-
णाख्याता इति वदेत् । अमुमेवार्थं स्पष्टावबोधनार्थं पृच्छति
(ता सेणं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थिते-
र्यथोक्तः परिमाणपरिक्षेपविशेषो मन्दरपरिष्यपरिक्षेपेण
विशेषः कृतः । कस्मात्कारणादाख्यातो नानाधिको वेति भग-
वान् वदेत् एवं प्रश्ने कृते भगवानाह । ता इति प्राग्वत् । यो
णमिति वाक्यालङ्कारे मन्दरपर्वतस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणः
नं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वाभ्यां गुणनमिति
चेदुच्यते इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्य-
योरैकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र
तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण दश भागास्त्रयः प्र-
काश्या भवन्ति । अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या
दश भागास्तत उभयमालने परं दश भागा भवन्ति तेषां
त्रयाणां दशानां भागानामपान्तरात्रे द्वौ द्वौ दशभागौ रजनो
तनो द्वाभ्यां गुणनं तौ च दशजागाविति दशभिर्भागहरणं द-
शभिर्भागहरणे यथोक्तं मन्दरस्य समीपे अन्धकारसंस्थिति-
परिमाणमागच्छति । तथाहि मेरुपर्वतपरिष्यपरिमाणमेकत्रिंश-
द्योजनसहस्राणि पद शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि (३१६२३)
एतानि द्वाभ्यां गुणयन्ते जातानि त्रिपष्टिसहस्राणि षे शते प-
दचत्वारिंशदधिकं (६३२४६) एतेषां च दशभिर्भागे हुते ल-
ब्धानि परं योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिका-
नि । परं दश भागा योजनस्य (६३२४) (६) तत एव एतावान-
नन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्दरपरिष्यपरि-
क्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तमन्धकार-

संस्थितः सर्वाभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । अधुना
सर्ववाहाया वाहाया आह । " तासेणं इत्यादि " तस्या अन्ध-
कारसंस्थितेः सर्ववाहा वाहा लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्र-
समीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिष्यपरि-
क्षेपेणाख्याता त्रिपष्टिर्द्योजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चत्वारिंश-
द्योजनशते परं दशभागा योजनस्य यावत् (६३२४५) (६) एत-
देव स्पष्टं स्वशिष्यान्वबोधयितुं भगवान् गौतमः पृच्छति " ता-
सेणं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः स
एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिष्यपरिक्षेपेण (१०)
विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो नानाधिको वेति वदेत् भग-
वान् वर्द्धमानस्वामी आह " ता जे णं इत्यादि " ता इति पूर्व-
वत् यो णमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपः प्रागुक्त-
प्रमाणस्तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा दशत्रिंशत्त्वा दशभिर्वि-
भज्य अत्र च करणं प्रागेवोक्तं दशभिर्भागं विहयमाणं यथोक्त-
मन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिष्यपरिक्षेपमागच्छति । तथाहि
जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि द्वाकाणि परं दशसहस्रा-
णि द्वे शते अष्टाविंशत्यधिकं (३१६२७) तद् द्वाभ्यां गुणयते
जातानि परं लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि पद-
पञ्चाशदधिकानि (६३२४५६) तेषां दशभिर्भागे हुते लब्धा-
नि त्रिपष्टिर्द्योजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चत्वारिंशदधिकं पदं
च दशभागा योजनस्य (६३२४५) (६) तत एव एतावाननन्त-
रोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपप-
रिष्यपरिक्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तं स-
र्ववाहाया अपि वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । " सम्प्र-
ति सामस्येनान्धकारस्थितेरायामप्रमाणमाह " । " तासेणं
इत्यादि " । इदं चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितिगतायाम-
परिमाणवद्भावनीयं समानजाधनिकत्वात् । अत्रैव सर्वाभ्यन्त-
रे मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययोर्विषयसरात्रिमुहसंत्तप्रमाणमाह ।
" तया एं इत्यादि " सुगमं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थि-
तिमन्धकारसंस्थितिं चाभिधाय सम्प्रति सर्ववाहामण्डले ताम-
भिधित्सुराह " ता जया णमित्यादि " ता इति पूर्ववदेव यदा
सूर्यः सर्ववाहामण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थिता
तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति जगवान्वदेत् । भगवानाह । " ता
उर्द्धीमुहेत्यादि " पूर्ववद्वाख्येया " ता से णं इत्यादि " तस्याश्च
तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरवाहाऽभ्यन्तरमेरुसमीपे सा च
परिक्षेपेण मन्दरपरिष्यपरिक्षेपेण परं योजनसहस्राणि त्रीणि
शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) पदं च दशभागा
योजनस्य (६) आख्यातानि मयेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः ।
" एवं इत्यादि " एवमुक्ते सति कारणे यदभ्यन्तरमण्डलगतसूर्ये-
ऽन्धकारसंस्थितेः प्रमाणमुक्तं तद्वाह्यं वाह्यमण्डलगते सूर्येऽस्या
अपि तापक्षेत्रसंस्थितेः परिमाणं ज्ञातव्यम् । तच्चैवम " ता से
णं परिक्षेपविषयसकतो आदिशति । जेणं मन्दरस्स पवयस्स
परिक्षेपे तं दोहिं भागेहिं हिरमाणे एस णं परिक्षेपविषयसे
आदिशति वपज्जा ता जेणं जम्बुद्वीपस्स दीवस्स परिक्षेपे
दोहिं गुणिता दसहिं छिता दसहिं भागेहिं हिरमाणे एस णं
परिक्षेपविषयसे आदिशति वपज्जा ता से णं तावक्खित्ते
केवदयं आर्यामेणं आदिशति वपज्जा । ततोसीहिं जोअणसह-
स्साहिं तिप्पि अ ततोसीहिं जोअणतिभागं आर्यामेण आदिशति
वपज्जा " इदं सकलमपि सुगमं नवरं मन्दरपरिष्यपरिष्य-
गुणनं तत्रेदं कारणम् इह सर्ववाहो मण्डले चारं चरतोः सूर्ययो-

तत्परिमाणाः (परास्ति) पराः प्रकृष्टाः स्थितितो दीर्घायुष
इत्यर्थः इति प्रश्नः हन्तेत्याद्युत्तरमिति । ५० १८ श० ४ उ० ।
यदुच्चं जन्म नृपमेदे, “ वारवतीए एयरीए अंभगघसिह एामं
राया परिवसइ महया हिमवेत वषश्चो तस्स एं अंभगव-
सिहस्स रफो धारणी एामं देवी होत्था ” अन्त० । अस्थक-
वहेर्दश पुत्ताः “ समुदे १ सागरे २ गंभीरे ३ थिमिए ४ अ-
यले ५ कंपिले ६ अस्थोमे ७ पसेणई ८ विणहुरई ९ एते नेव
एतेपां प्रथमो गौतम इति दश-अन्त० १ वर्ग० । “ अहं व

मोगरायस्स तं च सि अंधगवण्डिहणो" त्वं च भवसि अन्ध-
कवृषेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते " दश० २ अ० । ग० ।
अंधतम-अन्धतमस-न० अन्धकारे, तत्रान्धतमसस्तेजोरूपा-
न्तरस्य संक्रमे, "असुरियं नाम महाभितायं अंधतमं दुष्पतरं
महंतं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । (अत्र प्राकृतत्वादन्धतम इति)
अंधतमस-अन्धतमस-न० अन्धं करोतीत्यन्धयति अन्धयती-
त्यन्धं तच्च तमश्चेति अन्धतमसम् । समवाच्यात्तमस इत्यप्र-
त्ययः । निविडान्धकारे, स्या० ६८ पत्र० ।

अंधतामिस-अन्धतामिस-न० तमिष्ठा तमस्सन्ततिः । तमि-
ष्वैव तामिसम् । अन्धयतीत्यन्धम् कर्म-स० । निविडान्ध-
कारे, साङ्गधशास्त्रप्रसिद्धे भयविशेषविषयकेऽमिनिवेशे, पुं०
स्या० ३६ पत्र० । देहे नष्टे अहमेव नष्ट इत्यज्ञाने च. वाच० ।
अंधपुर-अन्धपुर-न० नगरभेदे, यत्र अन्धो राजाऽन्धभ-
क्तः वृ० ४ उ० ।

अंधुरिस-अन्धपुर-पु जात्यन्धे, यथा मृगापुत्रः वि० १ अ० ।
अंध-अन्ध-पुं० प्राकृते " विद्युत्पत्रपीतान्धाह्नः ॥ २१७३ इति
स्वार्थे लः प्रा० । चक्षुर्द्वयहीने, वृ० ४ उ० । नि० चू० (अन्ध-
हान्तो व्युद्ग्राहितशब्दे-सिक्खाशब्देऽप्यन्धहान्तः)

अंधारुव-अन्धरूप-त्रि० अन्धाकृतौ, " तप एं सामिया देवी
तदा रूपं हुंडं अंधारुवं पासइ " विपा० १ अ० ।

अंधिया-अन्धिका-स्त्री० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उक्त० ३६
अ० । प्रज्ञा० । जी० ।

अंधि (धे) लृग-अन्ध-पुं० अन्ध एवान्धिल्लकः । जात्यन्धे,
प्रश्न० आध० १ डा० । चक्षुर्विकले, पि० । प्रश्न० ।

अंधी-अन्धी-स्त्री० अन्धदेशजस्त्रियाम्, " अन्धीणां च धुवं
लाला-चलितं भूतले मुखे । आसज्य राज्यमारं स्वं, सुखं स्व-
पिति मन्मथः " आध० ४ अ० ।

अंध-अन्ध-पुं० पञ्चदशासुरनिकायान्तर्धर्तिपरमाधार्मिकनि-
कायानां प्रथमे परमाधार्मिके, यो देवो नारकान्मरतले नीत्वा
विमुञ्चत्येवमन्ध इत्युच्यते ज० ३ श० ६ उ० ।

ते चाग्धाभिधाः परमाधार्मिका यादृक्कां वेदनां परस्परोदी-
णदुःखं चोत्पादयन्ति तां दर्शयितुमाह ।

पार्हेति पहाहेति य, इणिति विधंति तद् इणिसुंभंति ।

मुंचंति अंधरतले, अंधा खलु तत्थ णेरइया ॥ ७० ॥

" धार्हेतीत्यादि " तत्राग्धाभिधानाः परमाधार्मिकाः स्वमघ-
नाश्रकावासं गत्वा क्रीडया नारकान् अत्राणान् सारमेयानिध
शूलादिप्रहारैस्तुदन्तो [धार्हेतिचि] प्रेरयन्ति । स्थानात् स्था-
नान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः । तथा (पहाहेतिचि) स्वेच्छयेत-
श्चेतश्चाऽनायं जुमयन्ति । तथाऽम्बरतले प्रक्षिप्य पुनर्निपतन्ते
मुक्तादिना प्रन्नि । तथा शूलादिना विच्यन्ति तथा (निसं-
मंतिचि) कृकादिकायां गृहीत्वा जुमौ पातयन्ति । अथोमुखमथो-
क्षिप्याम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमादिकया विह्वलनया तत्र नरक-
पृथिवीषु नारकान् कदधंयन्ति सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आध० आ०
चू० । (अंधरीसशब्देऽपि)

अम्ह-न० अम-ल-तक्के, रसभेदे, पुं० तद्वति, त्रि० वाच० ।

आम्ह-त्रि० तक्रादिसंस्कृते, ज० ३ वक्त० प्र० ॥

आम्ह-पुं० अम गत्यादिषु रन् दीर्घञ्च । ऋस्यः संयोगे दी-

र्घस्य ण । १ ८४ इति सूत्रेण आदेर्हस्यत्वम् । प्रा० । चूत-
वृक्के, स्था० दर्श० (पार्श्वस्थादिजिः संसर्गे क्षेत्रनाशे आम्हकदृष्टा-
स्तः क्षेत्रशब्दे) तस्य फलम् अण् तस्य लुक् आम्हफले नपुं. अणु० ।
अप्रासुकामग्रहणनिषेधो यथा ।

अहं निक्खू इच्छेज्जा अंवं जोत्तए वा सेज्जं पुण अंवं
जाणेज्जा सअंरं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंवं अफासुयं
जाव णो पढिगाहेज्जा । से निक्खू वा भिक्खुणी वा से-
ज्जं पुण अंवं जाणेज्जा अप्पंरं जाव संताणं अतिरिच्छ-
च्छिणं अबोच्छिणं अफासुयं जाव णो पढिगाहेज्जा । से भि-
क्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अंवं जाणेज्जा अप्पंरं
जाव संताणं तिरिच्छच्छिणं बोच्छिणं फासुयं जाव प-
ढिगाहेज्जा । से निक्खू वा निक्खुणी वा अभिक्खेज्जा
अंवं भित्तगं वा अंवेपेसियं वा अंवेचोयं वा अंवेमादगं
वा अंवेदादगं वा जोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जा-
णेज्जा अंवेजित्तगं जाव अंवेदादगं वा सअंरं जाव सं-
ताणं अफासुयं जाव णो पढिगाहेज्जा । से भिक्खू वा
निक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंवेजित्तगं वा अप्पंरं
जाव संताणं अतिरिच्छच्छिणं वा अफासुयं जाव णो प-
ढिगाहेज्जा । से भिक्खू वा निक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणे-
ज्जा अंवेभित्तगं वा अप्पंरं जाव संताणं तिरिच्छच्छि-
णं बोच्छिणं फासुयं जाव पढिगाहेज्जा ॥

से इत्यादि स भिक्षुः कदाचिदाग्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं
याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आत्मानं प्रोक्तुमिच्छेत्तत्रात्मानं साएरं
ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृहीयादिति । किंच
'से त्यादि' स भिक्षुर्यत्पुनरात्ममद्वेषणमल्पसन्तानकं वा जानी-
यार्तिकत्वतिरस्त्रीनच्छिन्नं तिरस्त्रीनमपटितं तथा व्यवच्छिन्नं न
स्मरुतं यावदप्रासुकं न प्रतिगृहीयादिति । तथा "से इत्यादि"
स भिक्षुरप्यल्पसन्तानकं तिरस्त्रीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं
यावदप्रासुकं कारणे सति गृहीयादिति । एवमाग्रावयवसंबन्धि-
सूत्रत्रयमपि नेयमिति । नवरम् । "अंवेजित्तयं" आम्हार्हम् "अंवे-
पेसी" आम्हफाली (अंवेचोयंगति) आम्हच्छिन्नीसात्रगं (रसं-
दादगंगति) आम्हगृह्मस्वरूपानीति । आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू सचित्तं अंवं जुजइ अंवं भुंजंते वा
साइज्जइ । ५ । जे निक्खू सचित्तं अंवं विदसइ विरुसंतं वा
साइज्जइ । ६ ।

एवं सचित्तपश्रुतिरे वि दो सुत्ता । एते उउरो सुत्ता एतेसि
इमो अथो । सचित्तं णाम सजीघं चतुर्धरसास्वादं गुणणिष्फ-
णं णामं अंवं जुज पालनान्यवहारयोः इह ज्ञेयणे दृष्टव्यो
आणादी चउत्तहुं च पच्छित्तं । एवं वितियसुत्तं पि णवरं विरुस-
णं निक्खणं विविर्हो पगारेहि रुसति विरुसइ एवं पइट्टिए
वि णवरं चउभंगो । सचित्तं पइट्टिरुते पइट्टितं सचित्तं, अचि-
त्ते अचित्तं सचित्तसु आदिहेसु शंसु भंगेसु चउत्तहुं । चरिमेसु
दोसु मासलहुं । इमो सुत्ताफासो ।

सचित्तं वा अंवं, सचित्तपट्टिद्वयं च दुविहं तु ।

जो जुंजे विरुणे सो, दणअगाढं भोदि तो भवति । ३ ।

आगाढफरुसमीसग, दममुद्देसम्मि वसियं पुव्वं ।
तं चेव वज्जवत्थो, सो पावति आणमादीणि ॥ ४ ॥
सच्चित्तं सच्चित्ते पइट्ठियं वा एयं चेव दुव्विहं सेसं कंठं ।
अमिलाताजिणवं वा, अपक्कं सच्चित्तदोति त्रिषं वा ।
तं चियं सयं मिज्ञातं, रुक्खगयं सचेयणपतिट्ठं ॥ ५ ॥

जं अभिणवं त्रिषं अभिज्ञाणं तं सच्चित्तं जवति । जं च रुक्खे
चेव द्वितं अच्छिषं वरुट्ठियं अवद्धट्ठियं वा अपक्कं वा तं पि
सच्चित्तं । तं चियं तदेव अंवादिं पल्लवरुक्खे चेव ट्ठियं दुव्वा-
यमादिणा अप्पणा वा अप्पज्जति भावं मिलणं ते सेवयणपति-
ट्ठियं भण्णति ।

अहवा जं वद्धट्ठियं, बाहिरं पक्कं तं वियं णपतिट्ठं ।

विविहं दमणेयं जं वा, अक्खुंदति विडसणे होति ॥ ६ ॥

जं वा पल्लवं बाहिरं कमाहपक्कं अतो सचेयणं वीयं तं वा स-
च्चित्तपतिट्ठियं भण्णति । अपतीतत्वं अनपतीतत्वं च गुणेन वा
सह कप्पूरेण वा सह तथाभ्येन वा लवणचातुर्जातकवासा-
दिना सह एसा विविहद्वसणा अक्खुंद इति चक्खिखं मुंचति
अन्योन्यं गहेहि वा अक्खुंदति नखपदा वि द्वातीत्यर्थः । एसा वा
विरुसणा भण्णति । एवं परिते भणियं अणंते वि एवं च नवरं
चउगुरुपच्छित्तं । सच्चित्ते सच्चित्तं पतिट्ठिते य दोसु वि सुत्तेसु
इमो अववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पवे, जुंजे अविकोविणं य अप्पज्जा ।

जाणंते वावि पुणो गिलाण अद्दाणओमेव ॥ ७ ॥

खेत्तादिगो अणप्पभो वा जुंजति सेहो वा अविकोविथ-
राओ अजाणतो रोगोवसमणिमित्तं वेज्जं वा दसतो गिलाणो वा
जुंजे अद्दाणोमेसु वा असंथरंता जुंजंता विसुद्धा इमो दोसुवि
विडवमाणसुत्ते अववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पवे, विडसे अवितेव अप्पज्जे ।

जाणंतेयावि पुणो, गिलाण अद्दाणओमेव ॥ ८ ॥

कंठेणवरं चोदग आह-विरुसणा वीक्षा तं अववाते माकरेउ ।
आचार्य आह । जरट्वाहिरकमाहं तं अवणेणं खायंतस्स अव-
वादी ण दोसो । जइ वा पल्लवस्स जो उवकारी ववणादिके
तेण सह तं जुंजंतस्स ण दोसो । कोमलं जरटं वा इमंति परि-
ष्ठाहेउं णहमादीहि वि अखुद्देजा ।

(सूचम्) जे भिक्खू सच्चित्तं अंवं वा अंगपेसियं वा

अंवंभित्तिं वा अंवंसालगं वा अंवंचोयगं वा जुंजइ जुंजंतं
वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू सच्चित्तं अंवं वा अंगपे-
सियं वा अंवंभित्तिं वा अंवंसालगं वा अंवंचोयगं वा अं-
वचोयगं वा विरुसइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू
सच्चित्तपइट्ठियं अंवं जुंजइ जुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे
भिक्खू सच्चित्तपइट्ठियं अंवं विरुसइ विरुसंतं वा साइज्जइ
॥ १० ॥ जे भिक्खू सच्चित्तपइट्ठियं अंवं वा अंगपेसियं वा
अंवंसालगं वा अंवंचोयगं वा अंवंचोयगं वा जुंजइ जुंजंतं
वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू सच्चित्तपइट्ठियं अंवं वा अंग-
पेसियं वा अंवंभित्तिं वा अंवंसालगं वा अंवंचोयगं वा
अंवंचोयगं वा विरुसइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

पते उ सुत्तपदा विरुसणाए वि द्धेयं पतेसि इमो अथो अंवं
संकलं एकेणइ ऊणं चोदग आह आदिह्वेसु चउसु सुत्तेसु ण प-
ल्लवणसंकलपं चेव भणियं । आचार्य आह सत्त्वं किंतु तत् पल्लव-
त्तणेण पज्जत्तं वंछियं गहियं इमं तु पल्लवत्तणं अपज्जत्तं अय-
ट्ठियं अविपक्करं सत्त्वादसकलमेवत्यर्थः । पेसी दीहागारा अहं-
भित्तं बाहिरा छट्ठी सावं जणइ । अदीहं वि समचक्रलियागा-
रेण जं खंरंतं गलं भण्णति एदरणिभागारा जे केसरा तं चोयं
भण्णति । इमो सुत्तफासो । गाहा ।

एसेव गमओनिदा-रुगलेमोद्वेयमिमं चोए ।

चउसु वि सुत्तेसु भवे, पुव्वं अवराम्मि य पदे उ ॥ ९ ॥

अंगं पेसिज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति मेसं कंठं । अहवा आ-
दिह्वेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो भणितो सो चेव गमो अंगगा-
दिह्वेसु छुसु पदेसु सविरुसणेसु भाणियथो । चोदगाह णणु-
पदमसुत्तेसु जणितो चेव अथो किं पुणो अंगगादियाणं गह-
णं । आचार्य आह । गाहा ॥

एवं ताव अभिषं, अस्सेव पुणो इमो भेदो ।

रुगलंतु होइ खंडं, सालं पुण बाहिरा छट्ठी ॥ १० ॥

एवं ताव आदिह्वेसु चउसु सुत्तेसु अजिणगगहणं । अहवा
आदिसुत्तेसु अविसिठं गहणं इह विसिठं गहणं कथं । अह-
वा मा कोइ वि तिहिति अजिणभक्खणिज्जं भिषं अभक्ख-
णिज्जं भिषं पुण जक्खंतेण अंगपेसिमादिगायिणि सिज्जं-
ति । रुगलंतु पच्छं कंठं । गाहा ।

जित्तं तु होइ अछं, चोयं जे तस्स केसरा होंति ।

सुहपएहकरं हारि, तेण तु अंमकयं सुत्तं ॥

पुव्वं कंठं चोदगाहा किं अणेमाओ वंवादिवा फला ज-
क्खा जेण अंवं चेव णिसिज्जति । आचार्य आह । एगगहणागहणं
तज्जातीयाणंति सत्त्वे संगहिया । अंवं पुण सुहपएह पच्छं
अंवेण सुहं पट्हाति पस्पंदते इत्यर्थः । किंच हारितं जिह्वेन्द्रिय-
प्रीतिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अंवं सूत्रप्रतिबन्धः कृ-
तः । अन्वाचार्याभिप्रायेण गाथा ।

अंवे केणतिऊणं, रुगलं भित्तगं चउभागो ।

चोयणतया उ जणति, सगलं पुण अक्खुयं जाण ॥ ११ ॥

थोवेण ऊणं अंवं भण्णति रुगलं अहं भण्णति भिषं चउ-
भागादितया चोयणं भण्णति नरकादिभक्खण सावं जणति ।
अक्खुं अंगसावमित्यर्थः पेसी पूर्ववत् ।

सच्चित्तं च फलेहिं, अंगपल्लं वा तु सुत्तिता सत्त्वे ।

अंगपल्लंवेहि पुणो, मूळं चेव कया मुया य ॥ १२ ॥

नि० चू० १५ उ० ।

अंगक-अस्वक-न० अस्वति शीघ्रं नक्कप्रस्थानपर्यन्तं गच्छ-
ति अस्व एवुइ १ नेत्रे, अस्वयते स्नेहेतोपशब्दते घञ् स्वाधे
क-२ पितरि, वाच० ।

अम्लक० पुं० अलपोऽम्लः अल्पार्थे कन् वक्तुचक्षुके वाच० ।

आम्रक-न० चूतफले, पि० ।

अंगगहिया-आम्रकास्थि-न० आम्रकस्य फलविशेषस्यास्थानं
आतपं दत्तेषु शुष्काम्रफलास्थिषु, अनु० ।

अंगपेसिया-आम्रकपेशिका-स्त्री० आम्रफलखण्डे, अनु० ।

अवचोयग-न० आम्बत्त-स्त्री० आम्बत्तयाम्, आचा० २-
धु० १ अ० २ उ० ।

अवट्ट-अम्बट्ट-पु० अम्बट्ट चिकित्सकत्वाय तन्त्रस्थापनार्थं
निष्ठेन अभिप्रेति स्था. क. पद्यम् । चिकित्सके, वाच० ।
ब्राह्मणेन वैश्यायां जतिऽनान्नरजातीये, सूत्र० १ ध्रु० ए अ० ।
आचा० अयं जात्याऽऽर्यत्वेनेत्यजातिव्येन चोपदिशितः स्था०
६ ता० । प्रहा० । देशभेदे, हस्तिपके, च । यथिकायाम् स्त्री०
स्वार्थे कन् अन इवे अम्बट्टिकाऽप्यत्र "वामनहामी" इति ख्या-
तायां लतायाम्, वाच० ।

अव (म्) ऋ-अम्ब (म्) ङ-पु० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे
अ० । तद्वक्तव्यता चैवम् ।

अम्बट्टशिष्याणामनशनेन मृत्वा देवलोके उपपानः ।

तेणं कात्रेणं तेणं समणं अम्मरुस्स परिव्वायगस्स मत्त
अनेवमिसयाइं गिम्हकात्तममयंमि जेड्डामूलं मारंसि गंगाए
महानइएओ उज्जकूले कपिल्लपुरातो एगराओ पुरिमतालं
एगंरं संरठिआ विहारए । तएणं तेमिं परिव्वायगाणं
तीमे अगामियाए तिस्रोवायाए दीहमछाए अरुवीए किं-
चिदेमंतग्गणुपत्ताणं मे पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परि-
चुत्तमाणे भाणि तएणं ते परिव्वाया जीणेदका समाणा
तएहाए परिज्वमाणा पणिरिउदगदानारमपस्समाणा अणु-
ममं मदावेत्ति अणुममं मदावेत्ता एवं वयासी एवं खलु
देवाणुप्पिया अम्ह इमीमे अगामिआए जाव अडवी ए-
गंवि देमंतग्गणुपत्ताणं मे उदए जावज्जीणे तं मेयं खलु
देवाणुप्पिया अम्ह इमीमे अगामियाए जाव अडवीए-
उदगदानारम्म सव्वओ ममेता मग्गणं गवेमणं करित्ता
कट्टु अणुममस्स अंतिए एअमट्टं पमिमुणंति पमिमुणंति-
त्ता तीमे अगामियाए जाव अरुवीए उदगदानारम्म सव्व-
ओ ममेता मग्गणगवेमणं कण्डे करित्ता उदगदानारमलभ-
माणा दोच्चं पि अणुममं मदावेइ मदावेइत्ता एवं वयासी
इहसं देवाणुप्पिया उदगदानागे णत्थि । तं एणो खलु कप्पइ
अम्ह अदिमं गिणहेत्तए अदिमं मति जित्तए तं माणं अम्हे
इदाणि आवड कात्तं पि अदिमं गिणहामो अदिमं सादि-
ज्जापो माणं अम्हे तवल्लोवे जविम्मइ । तं मेयं खलु
अम्हं देवाणुप्पिया तिंदरुयं कुंडियाओ य कंचणि
याओ य कगेरियाओ य जिसियाओ य अणालए
य अकुमए य केमरीयाओ य पवित्तए य गणेत्तिया
ओ य उच्चणय वीहणाओ अपाउआओ अ धाउरत्ताओ
य एगंतं पमिन्ता गंगामहाणइं ओगाहिन्ता बालुअमंथा-
रए संथरित्ता मंझेहणाज्जाओमियाणं भत्तपाणयाइपच्च-
क्खित्ताणं पाडओवगयाणं कालं अणवकंखमाणं
विहरित्तए तिकट्टु अणुममस्स अंतिए एअमट्टं पमिमुणंति
अणुममस्स अंतिए पमिमुणित्ता तिंदरुयं जाव एगंतं

पमेइ पमेइत्ता गंगामहाणइं ओगाहेइ ओगाहेइत्ता बेलुआ-
संथारए संथरंति बालुया संथारयं दुरुहिंति बालुहिंति ता
पुरत्थाजिमुहा संपालियं कनिसन्ना करयय जाव कट्टु एवं
वयासी णमोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोत्थुणं सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स नमोत्थुणं
अंवरुस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मयरियस्स धम्मोवदेस-
गस्स पुव्वेणं अम्हे अम्मरुस्स परिव्वायगस्स अंति-
ए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए मूमावा-
ए अदिममादाणं पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणे
पच्चक्खाए जावज्जीवाए थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जा-
वज्जीवाए । इदाणि अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतियं सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए एवं
जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं
कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कल्लहं अव्वभक्खाणं पेसु-
खं परपरिवायं अरइरइमायामोसं मिच्छादंमणसद्धं अकर-
णिज्जं जोगपच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं
खाइमं साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए
जंपिय इमं सरिंरं इट्ठं कंतं पियं मणुखं मणामं धेज्जं वेसासि-
यं संपतं बहुमतं अणुमतं भंरुकरंडकसमाणं माणं सीयं माणं
उएहं माणं खुहा माणं पिवासा माणं बाला माणं चोरा
माणं दंसा माणं मसगा माणं वातियं पित्तियं संनिवाइयं
विविहा रोगातंकापरीसहोवमग्गा फुसं तु तिकट्टु एतं पिणं
चरेमहिं ऊसामणीसामेहिं वासिगमि तिकट्टु संझेहणा अ-
सणा असिया जत्तपाणा पमियाइक्खिया पाओवगया
कात्तं अणवकंखमाणं विहरंति तए णं ते परिव्वाया बहुइं
भत्ताइं अणसणाए उेतिन्ति उेतिन्ता आलोइयपमिक्कतो
समाहिपत्ता कालमामे कात्तंकिच्चा वंभलोए कप्पे देवत्ताए
उववणा तेहिं तेमिं गई दससागरोवमाइं इडिं पत्तत्ता प-
रओगस्स आराहगा सेमं तं चैव १३ ॥ औ० ॥

एते च यद्यपि देशविरतिमन्तस्तथापि परिव्राजकक्रियया ब्र-
ह्मलोकं गता इत्यवसेयमन्यथैतद्गणनं वृथैव स्याद्देशविरतिफलं
त्येषां परब्रह्मकाराधक्यमेवेति न च ब्रह्मलोकगमनं परिव्राजक-
क्रियाफलमेवामेवोच्यते अन्येषामपि मिथ्यादृशां कपिलप्रभृ-
तीनां तस्योक्तत्वादिति । औ० । ज० । अम्बट्टस्य व्रतग्रहणम् ।

बहुजणेणं भंते ! अणुममस्स एवमाइक्खंति एवं जामइं
एवं परुवेइ एवं खलु अंवरे परिव्वायाए कपिल्लपुरे णयरे
घरामते आहारमाहारेति घरमतेवसहिउ ते तीसे कहमेयं भंते !
एवं गोयमा ! जसं से बहू जणो अणुममस्स एवमाइक्खइं
जाव एवं परुवेति एवं खलु अंवरे परिव्वाए कपिल्लपुरे जाव
घरसते वमहि उवेइ सव्वेणं समट्टे अहं पि एणं गोयमा !
एवमाइक्खामि जाव एवं परुवेमि एवं खलु अंवरे परि-
व्वायाए जाव वमहि उवेइ सव्वेणं समट्टे अहं पि एणं गोयमा !

अंयडे परिव्वायाए जाव वसहिं उवेइ गोयमा ! अम्मरुस्स एणं परिव्वायगस्स पगइजदयाए जाव विणीयाए उट्ठं उट्ठेणं अतिक्रिखत्तेणं तवोक्कम्मेणं उट्ठं वाहाओ पग्गिन्निय पू सूरान्निमुहस्स आतावणज्जूमीए आतावेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं पमत्थेहिं लेसाहिं विसुञ्जमाणीहिं अन्नया कयाइ तदावरणिज्जाणं कम्माणं जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहायमगणगवेसणकरेमाणस्स वोरियलच्छीए वेउव्वियलच्छीए ओहिणाणन्नद्धी समुप्पसा । तएणं से अम्मरे परिव्वायए ताए वोरियलच्छीए वेउव्वियलच्छीए ओहिणाणलच्छीए समुप्पसाए । जणविम्हावणहेउं कंप्पिद्वपुरे घरसते जाव वसहिं उवेइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ अंयडे परिव्वायए कंप्पिद्वपुरे नगरे घरमए जाव वसहिं उव्वेते । पभूणं जेतं ! अंयडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंने जवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए णोत्तिण्डे मपट्टे गोयमा ! अम्मरेणं परिव्वायए समणोवासए अजिगयजीवाजीवे जाव अप्पाणं जावेमाणे विहरति एवरं ऊमियफलिहे अवंगुदुवारे चियत्तंते पुरयरदारपवेसीएवं ण बुच्चति अम्मरुस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणातिवाते पक्कखाते जावज्जीवाए जाव परिग्गहे एवरं सव्वे मेहुणे पच्चकखाते जावज्जीवाए अम्मडस्स णं णो कप्पइ अक्खसोतप्पमाणमेत्तं पि जलं सयएहं उत्तरहं उत्तरित्तए । एस्सत्य अच्चाणगमणेणं अम्मरुस्सणं णो कप्पइ मगमं एवं चेव जाणियव्वं । जाव एस्सत्य एगा एगं गामट्टियाए अंवरुस्सणं परिव्वायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा उदेसिए वा सीसजाएति वा अज्जोअरएइ वा पूइक्कमे वा कीयगमेति वा पामिचेइ वा णिअणिसिच्छेइ वा अभिइरेइ वा ट्ठइत्तए वा रइत्तए वा कंतारज्जत्तेइ वा दुब्भिकखजत्तेइ वा पाहुणकजत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वदालयाभत्तेइ वा जोत्तए वा पाइत्तए वा अंवरुस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ मूलजोयणे वा जाव बीयभोयणे वा भोत्तए वा पाइत्तए वा अंवरुस्स णं परिव्वायगस्स चउव्विहे अणत्थादंडे पक्कखाए जावज्जीवाए तंजहा अवज्झाणापरिए पमादायरिए हिंसपयाणे पावक्कम्भोवदेमे अंवरुस्स कप्पइ मागहए अ आठए जलस्स पडिग्गाहत्तिए सेवियवहमाणए नो चेव णं अवहमाणए जाव मे वि पूए नो चेव णं अपरिपूए मे वि य सावज्जेत्ति काज्जं णो चेव णं अणवज्जे से विय जीवाइ कट्ठ णो चेव णं अजीवा से विय दिस्से णो चेव णं अदिस्से से वि य दंतहत्थपायचारुवमक्खान्नणट्टताए पवित्तए वा णो चेव णं सिणाइत्तए अंवरुस्स णं परिव्वायगस्स कप्पइ मागहएय आठए जलमपारुग्गहित्तए से वि य वयमाणे दिन्ने नो चेव णं आदिस्स स तव

य सिणाइत्तए णो चेव णं हत्थपादचारुवमसपक्खालयणट्टयाए पवित्तए वा अंवरुस्स परिव्वायगस्स णो कप्पइ अन्नउत्थिया वा अम्मउत्थितदेवयाणि वा अम्मउत्थितपरिग्गाहियाणि वा चेइयाइ वंदित्तए वा णमंसित्तए वा जाव पज्जुवामित्तए वा अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ।

[एणत्थ अरहंतेहिचित्ति] न कल्पते इह योऽयं नेति प्रतिषेधः सोऽन्यत्रार्थद्वयः अर्हेतो वज्जयित्वेत्यर्थः । स हि किञ्च परिव्राजकव्यधारकाऽतोऽन्ययुधिकदेवतावन्दनादिनिषेधे अर्हेतामपि वन्दनादिनिषेधो मात्रादिति कृत्वा णत्थेत्याद्यधीतं, औ० । भ० ।

अम्मरुस्स मूत्तोपपातः ।

कालमामे कालं किञ्चा कहिं गच्छहिंति कहिं उव्वज्जिहिति ? गोयमा ! अंयडेणं परिव्वायए उच्चावहंति सीलव्वयगुणवेरमणपक्कखाणपोमट्टोववामेहिं अप्पाणं जावेमाणे बहुइं वामाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्तए पाउणिता मासियाए संझेहणाए अप्पाणं जूमित्ता सट्ठि जत्ताइ अणसणाइं अदिता आञ्जोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते काञ्चमासे कालं किञ्चा वंभञ्जोए कप्पे देवत्ताए उव्वज्जेहिंति तत्थ णं अप्पेगइयाणं देवाणं दसमागरोवमाइं त्रिती पप्पत्ता तत्थ णं अम्मरुस्स वि देवस्स दसमागरोवमाइं त्रिती । से णं भंते ! अंयडे देवत्ताओ देवन्नोगाओ आउक्खएणं जवक्खएणं द्विक्खएणं अणंतं चइ चइत्ता कहिं गच्छहिंति कहिं उव्वज्जइत्ति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइकुलाइं जवंति अट्ठाइं दित्ताइं वित्ताइं विच्छिस्सविउल्लजवणमयणासए जाणवाहणाइं बहुधए जायरुवरयत्ताइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छइइयपउरभत्तपाणाइं बहुदामीदामगोमहिमवेलगप्पज्ज्याइं बहुजणस्स अपारज्ज्याइं तहप्पगोरमु कुलेसु पुमत्ता पव्वायाहिंति । तएणं तस्स दारगस्स गव्वत्थस्स चेव समाणस्स अम्मपिती णं धम्मं दहपतिस्सो भविस्सइ मे णं तत्थ एवएहं मामाणं बहुपप्पिपुष्साणं अच्छट्टमाणराइंदियाणं वीतिकंताणं मुकुमालपाणिपाए जाव समिसोमाकारे कंतं पियदंमणे सुरूवे दारए पयाहिंति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे छिती पक्कियं काहिंति तइयदिवसे चंदसरदंसाणियं काहिंति उट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति एक्कारसमे दिवसे वीतिकंति एव्वते अमुइ जावइ कम्मं करणे संपत्ते वारसमे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारुवं गुणं गुणणिप्पन्नं णामधेज्जं काहिंति जम्हाणं अम्हं इमंसि दारगंसि गव्वत्थंसि चेव समाणंसि धम्मं दहपतिस्सा तं होऊणं अम्ह दारए दहपइस्सणामेणं तत्तेणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति "दहपइस्सत्ति" तं दहपइस्सं दारगं अम्मापियरो सातिरेगच्छवासजानं जाणित्ता मोभ-

णमि तिहिकरणदिवमणस्वत्तमुहुत्तमि कलायारियस्स उव-
 षेहिंति । तए णं से कलायारिए तं दढपइस्सं दारगं वेहा-
 नियाओ गणियप्पहाणाओ सत्तणरूपपज्जवसाणाओ
 वावत्तरिकलाओ सुत्ततो य अत्थतो य करणतो य सेहा-
 विहिति । ओ० (कलानामानि कलाशब्दे) सिक्खावेत्ता
 अम्मापित्तिणं उवणेहिंति तए णं तस्स दढपइस्सं दारगस्स
 अम्मापियरो तं कलायारियं विपुलेणं असणपाणखाइमेणं
 माइमेणं बन्धगंधमद्वालंकारेण य सकारेहिंति सम्माणेहिंति
 मकारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दल-
 स्मनि विपुलं विपुलेत्ता पन्निबिमज्जेहिंति तए णं से दढपइ-
 दारए वावत्तरिकलापंदिणं नवंगमुत्तपन्निवोहिये अट्टारस-
 देभीत्तामाविमाणं गीतरतो गंधव्वण्णकुसले हयजोही
 गयजोही रट्टजोही बाहुजोही बाहुप्पमही वियात्तचारी
 साहमिए अन्नं भोगममये आविजविस्सति तते णं दढपइ
 णं दारगं अम्मापियरो वावत्तरिकलापंदिअं जाव अलं
 जंगसमन्थं वियाणित्ता विपुलेहिं अस्सजोगेहिं वेणजोगेहिं
 कयजोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवणिमंतेहिंति ।
 तए णं से दढपइस्सं दारए तेहिं विजलेहिं अस्सभो-
 गेहिं जाव सयणजोगेहिं णो सज्जिहिंति णो रज्जिहिं-
 ति णो गिञ्जिहिंति णो अव्वज्जिहिंति से जहाणामए
 उप्पत्तेइ वा पत्तमेइ वा कुम्भेइ वा नमिणेइ वा सुभ-
 गेत्ति वा सुगंथेत्ति वा पोंडरीएत्ति वा महापोंडरीएत्ति
 वा मत्तपत्तेइ वा महस्सपत्तेइ वा सतसहस्सपत्तेइ वा
 पंके जाते जत्ते मंवेइ णोवत्तिप्पइ पंकरणं णोवत्तिप्पइ
 जलरणं एवमेव दढपइस्सं वि दारए कामेहिं जाते भोगे-
 हिं मंवेइ णो वलिप्पहिंति कामरणं णोवलिप्पहिंति मो-
 गरणं णोवत्तिप्पहिंति । मित्तणाइणियगमयणसंविधिपरि-
 जणं सेणं तट्टारूवाणं थेगणं अंतिए केवलं वोहिं बुज्झि-
 हिंति । केवलवोहिं बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्व
 हिंति । से णं जविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिति
 जाव गुत्तवंधयारी तस्म णं जगवंतस्स एते णं विहारेणं
 विहरमाणस्म अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निगवरणे क-
 मिणे पटिपुष्से केवलवरणाणंदंमणे समुप्पज्जेहिंति । ततेणं
 मे दढपइस्सं केवलं बहूइ वामाई केवली परियाणं पाउणिहिंती
 पाउणिहिंत्ता माभियाणं मेलइणाए अण्णाणं कुसित्ता सट्ठि
 तत्ताइ अणमणाणं वेत्ता जस्सट्टाए कीरणं एगभावे मुं-
 त्तवावे अन्हाणए अदंतवणए केमलोए वंभचेरवासे अ-
 व्वत्तकं अणोवाइणकं जमिसेत्ता फल्लहमेत्ता कट्टसेत्ता
 पन्धपवेमो व्वत्तावल्लं वित्तीए परोहिं दीत्तणाओ
 विवणाओ गिंदणाओ गरहणाओ तात्तगाओ तज्ज-

णाओ परिजवणाओ पव्वहणाओ उच्चावया गामकंटा
 वावीसं परीसहोवसग्गा अहियासज्जंति । तमट्टमारा-
 हिंत्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्जिहिंति बुज्झि-
 हिंति मुच्चहिंति परिणिव्वाहिंति सव्वडुक्खाणमंतं करेहिं-
 ति ओ० । ज० ।

परिमाजके विद्याधरश्रमणोपासके च अस्य वक्तव्यता ।

चम्पायां नगर्यामम्बमो विद्याधरश्रावको महावीररसमीपे भ्र-
 ममुपश्रुत्य राजगृहं प्रस्थितः स च गच्छन् भगवता बहुसत्त्वो-
 पकाराय भणितो यथा सुत्रसाध्याविकायाः कुशलवार्त्ता कथ-
 य स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्याखिलोकनाथः स्व-
 कीयकुशलवार्त्ता प्रेषयति, कः पुनस्तस्या गुण इति तावत्सम्य-
 क्त्यं परीक्षे, ततः परिमाजकवेधधारिणा गत्वा तेन भणितो
 सा, आयुष्मति ! धर्म्मो भवत्या भविष्यतीत्यस्मभ्यं भक्त्या भो-
 जनं देहि तथा जणितं येज्यो दत्ते भवत्यसौ ते विदिता एव, त-
 तोऽसावकाशविरचिततामरसासनासीनो जनं विस्मापयति
 स्म, ततस्तं जनो जोजनेन निमग्नयामास स तु नैच्छत् ।
 लोकास्तं पप्रच्छ कस्य भगवन् ! भोजनेन भागधेयवतां
 मासकृपणकपर्यंतं संबर्द्धयिष्यसि । स प्रतिभणति स्म सुल-
 सायाः । ततो लोकस्तस्या वर्द्धनकं न्यवेदयत् । यथा तव
 गेहे भिक्षुरयं बुभुक्षुः तथाऽन्यथायि किं पाखाण्डिभिरस्माकमि-
 ति लोकास्तस्मै न्यवेदयत् । तेनापि व्यज्ञायि परमसम्यक्दृष्टि-
 रेषा या महातिशयदर्शनेनापि न दृष्टव्यामोहमगमदिति ततो
 लोकं सहासौ तर्हे नैपेधिकीं कुर्वन्पञ्चनमस्कारमुच्चारयन्
 प्रविवेश । साऽप्यन्युत्थानादिकां प्रतिपात्तिकरोत् तेनाप्यसा-
 धुपवृंहितेति । स्था० ६३० । अयमागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां देवो
 नाम द्वाविंशस्तीर्थं हृद् चूत्वा धर्म्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यति यावत्सर्वदुः-
 खानामन्तं करिष्यति । स्था० ६४० । ती० । आ० म० द्वि० ।
 नि० चू० । ही० । अयं पूर्वोक्तादम्बरपरिमाजकादन्य एव ।
 तदुक्तम् । यथापपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधीयते
 सोऽन्य इति सम्ज्ञायते । इति स्था० ६४० । नि० चू० ।

अंबभा(दा)लग-आम्रडालक-न० आम्रसूहमखण्डेषु, आचा०
 थु० २ अ० ७ ।

अंबत्त-अ (आ) म्लत्त्व-न० (अम्लरसवत्) “अंबत्तणेण
 जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगंमि ” विशेष० ।

अंबदेव-आम्रदेव-पुं० नेमिचन्द्रसूरिकृताऽऽख्यानकमणिकोश-
 स्योपरि टीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, जै० ६० ।

अंबपलंवकोरव-आम्रपलम्बकोरक-न० आम्रचूतस्तस्य प्रल-
 म्बः फलं तस्य कोरकं तन्निष्पादकं मुकुटमाम्रफलकोरकम् कोरक-
 विशेषः, एवं यः पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकारक-
 फलं जनयत्यसावाग्रप्रलम्बकोरकसमान उच्यते, स्था० ७४० ।

अंबपल्लवपविजित्ति-आम्रपल्लवपविजित्ति-न. नाट्यविधिनेत्रे, रा.

अंबपेमिया-आम्रपेशी-स्त्री० आम्रस्य पेशीय शुष्काग्रकोशे, वाच०

आम्रपेशी-स्त्री० आम्रफलयां । आचा० २ थु० ७ अ० ७ ।

अंबफल-आम्रफल-न० रसालफले, व्य० ९३० (सागारिकस्या-
 म्रफलानि आम्रवृक्षश्चारेपित इत्येतत्कल्पते न वेति सागारीय-
 पिम्लशब्दे) ।

अंबचित्तय-आम्रचित्तक-न० आम्राद्धे आचा० २ थु० ७ अ० २३० ।

अंबर-अम्बर-न० अम्बेव मातेव जननसाधर्म्यादम्या जलं तस्य
राणाहानाभिरुक्तितोऽम्बरम् आकाशे । भ० २ श० २ उ० । द्वा०
चखे, नि० चू० १ उ० । आ० म० प्र० । सूत्र० । आवा० प्रश्न० ।
स्वनामख्याते गन्धकड्ये, अभ्रकधातौ च, वाच० ।

अंबरतल-अम्बरतल-न० आकाशतले, रा० । ज्ञा० ।

अंबरतिन्नय-अम्बरतिन्नक- पुं० धातुकीखण्डस्थे पर्वतजेदे,
यत्र मङ्गलावतीविजयवर्त्तिनन्दिग्रामसन्निवेशस्थदरिद्रकुलजा-
तनिर्नायिका नाम कन्या मातुः खाद्यमनवाप्य तद्वचनेन गत्वा
पकफलानि गृहीतवती । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

अंबरतिलया-अम्बरतिन्नका-स्त्री० नगरीभेदे यत्र दत्तारिदर्प-
विमर्दनो महाराजः । दर्श० ।

अंबरवत्थ-अम्बरवत्स-न० स्वच्छतया अम्बरतुल्यानि वस्त्राणि
अम्बरवस्त्राणि स्वच्छवस्त्रेषु । कल्प० ।

अंबरस-अम्बरस-न० अम्बा पूर्वोक्तयुक्त्या जलं तदूपो रसो
यस्मान्निरुक्तितोऽम्बरसम् आकाशे, ज० २० श० २ उ० ।

अंबरि (री) स-अम्बरि (री) प-पुं० न० अम्ब्यते पच्यतेऽत्र
अम्ब-अरिप नि० वा दीर्घः भर्जनपात्रे, अम्बरीसमपि वाच० । ज्ञा०,
ज० ३ श० ६ उ० । प्रव० । काष्ठके, लोहकाराम्बरीषे वा, जी० ३ प्रति ।

अंबरि (री) स (सि)-अम्बरिप (रीष) ऋषि (पिं)-
पुं० यस्तु नारकान् निहितान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा
भ्राष्ट्रापाकयोग्यान् करोतीत्यसावम्बरीपस्य भ्राष्ट्रस्य संबन्धाद-
म्बरीष इति द्वितीयपरमाधार्मिकः, प्रव० १८० द्वा० । ज० । स० ।
ओहयहयेय तद्विं, णिस्मन्ने कप्पणीहिं कप्पन्ति ।

विदुल्लगचदुल्लगन्निने, अंबरिसी तस्य णेरड् ॥ १११ ॥

(ओहण्ट्यादि) उप सामीप्येन मुक्तादिना हता उपहताः
पुनरप्युपहता एव खड्गादिना हता उपहतहतास्ताभारकान्
तस्यां नरकपृथिव्यां निःसंज्ञकान् नष्टसंज्ञकान् मूर्च्छितान्सतः
कर्षणीभिः कल्पयन्ति भिन्न्तीतश्चेतश्च पाटयन्ति । तथा द्विद-
वचदुल्लगच्छिन्नानिति मध्यपाटितान् खंडशश्चिन्नान्श्च नारकां-
स्तत्र नरकपृथिव्यामर्वापिनामानोऽसुराः कुर्वन्तीति सूत्र० ५
श्रु० ५ अ० । आवा० प्रव० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अंबरिसि-अम्बरकृषि (पिं)-पुं० उज्जयिनीवास्तव्ये ब्राह्मण-
जेदे, यस्य मालुक्या प्रिया निम्बः सुतः (इति विणओवगय शब्दे
वक्ष्यते) आ० क० । आवा० । आ० चू० ।

अंबवण-आम्बवण-न० आम्रस्य वनम् । नित्यं णत्वम् । आम्रवृ-
क्षसमुदायात्मके वने, वाच० । आवा० ।

अंबसमाण-अम्बसमान-पुं० “अंबपरिसेहिं अंबो नतेहिं सिद्धिं
तु ववहारो” येषु वचनेषुकेषु परस्य शरीरं विरुविमायते तानि
अम्बानि अम्बैः परस्यैव वचनैर्व्यवहारं न सिद्धिं नयति सोऽम्ल-
वचनयोगादम्ल इति इत्युक्तवृत्तणे दुर्व्यवहारिणि । व्य० १ उ० ।

अंबसाववण-आम्बसालवन-न० आम्रफले आम्रैः शास्त्रैश्चाति-
प्रचुरतयोपलक्षिते वने तद्योगादाम्लकल्पाया ईशानकोणस्थे
चैत्ये च “ आम्लकल्पाय णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दि-
सीभाए अंबसाववणे णामं चेइए होत्था पोराणे जाव पभिरू-
वे” पूर्णजलचैत्यवदस्य वर्णकः । रा० । उक्त० । ग० । आ० म०
द्वि० । आवा० । ज्ञा० । आ० चू० ।

अंबहुंदि-अम्बहुणि-स्त्री० देवीभेदे । महा० २ अ०

अंबा-अम्बा-स्त्री० अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते अम्बा । कर्मणि घञ् ।

वाच० । मातरि । उक्त० ३ अ० । स्था० । श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठा-
तृदेवतायां च सा च, अम्बादेवीकनककान्तरुचिः सिंहवाहना च-
तुर्भुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वयासिपुत्राकुशाधिष्ठितवा-
मकरद्वया च । प्रव० २७ द्वा० । तस्याः प्रतिमा यथा-अहिच्छत्राया अ-
विदूरे (सरुक्तेत्रे पार्श्वस्वामिनश्चैत्यप्राकारसमीपे श्रीनेमिमुर्तिम-
हिता सिद्धवुरुकक्षिता आम्रलुम्बिहस्ता सिंहवाहना अम्बादेवी)
तिष्ठति, ती० ७ कल्प० । प्रतिष्ठानपुरपत्तने ऐरवतमेखलायां कृष्णेन
अम्बादेवीप्रतिमा कृता “ तत्थय अंबाए सेण उववासतिगेण ”
ती० २ कल्प० । अम्बष्टावतायां, काशीराजकन्यायां च, । वच० ।

अंबाजख-अम्बायक्ष-पुं० यत्तजेदे. “ गोवांमि णिरुद्धा,
समणा रोसेण मिसिमिसाए ता । अंबाजखो य जणति, एवम-
वाहेहि संघंति” ति० ।

अंबारुग-आम्ब्रातक-पुं० आम्र इवातति आम्ब्रात् किञ्चिद्धी-
नरसफलकत्वात्, अत्-पवुव् (आमडा) १ वृक्षे २ तत्फले, न०
आम्ब्रेण तत्फलरसेन तकते प्रकाशते । आन्तक हासे अच् । शु-
ष्काग्रसनिर्मिते (आमर्) ड्यभेदे, तत्करणप्रकारः भाव-
प्र० उक्तः । यथा “आम्ब्रस्य सहकारस्य, कटेर्विस्तरितो रसः ।
धर्मशुष्को मुहुर्दत्त, आम्रातक इति स्मृतः ” वाच० । प्रज्ञा० ।
अनु० । आवा० ।

अंबाडिय-आम्ब्रित-त्रि० आम्ब्र इव कृतः खरणिते, आ० म०
द्वि० “चमडेति खरंटेति अंबाडेत्तिसि वुत्तं जवति” नि० चू० ४ उ० ।

अंबातव-अम्बातपस्-न० अम्बोद्देशेन कृतं तपः अम्बातपः दौ-
किकफलप्रदे तपोभेदे, तच्च अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशना-
दि विधेयं नेमिनाथाऽम्बिकापूजा येति, पञ्चा० १ ए विव० ।

अंबावल्ली-अम्बलवल्ली-स्त्री० अम्बलरसवती वल्ली त्रि० पर्णिका-
नामकन्दभेदे, वाच० वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंबिआ (या)-अम्बिका-स्त्री० अम्बैव । कन्, मातरि, दुर्गायां,
वाच० । नेमितीर्थाधिपदेवतायां, तस्याः प्रतिमा मधुरायाम् “इत्थं
कुवेरो नरवाहणो अंबिआ सीहवाहणा” ती० १० कल्प० । उज्ज-
यन्तशैलशिखरेऽवलोकनशिखरात्प्राक् “अंबियाए भवणं दीस-
इ” ती० ५ कल्प० । टिप्पुर्णामम्बिकामूर्तिः “अम्बिकाद्वारसमीप-
वर्ती, धीक्रेत्रपात्रो जुजपट्टभास्वरः । सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनाग्नि-
नौ, संघस्य विघ्नौघमपोहतः कृणात्” ती० ४४ कल्प० । पञ्च-
मवासुदेवमातरि च । स० । आवा० ।

अंबियासमय-अम्बिकासमय-पुं० उज्जयन्तशैले गिरिप्रद्युम्ना-
वतरे स्वनामख्याते तीर्थजेदे । “ गिरिपज्जुषवयारे, अंबिअ-
समए व नामेणं । तत्थ वि पीआपुढवी, हिमवाए होइ घरहेमं ”
ती० ४ कल्प० ।

अंबिणी-अम्बिनी-स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमब्राह्मण-
जार्यायाम् । ती० ५६ कल्प० । (कोहंडिदेवकल्पशब्दे)

अंबिल-अम्बिल-अ (आ) म्ल-पुं० अम्-कृः प्राकृते “बात्”
०ः २६ । इति सूत्रेण संयुक्तकारात्पूर्वमिदागमः, प्रा० । अग्नि-
दीपनादिभूति अम्बिकाद्याश्रिते रसभेदे, “ अम्बोऽग्निदीप्तिकृत्
स्निग्धः, शोकपित्तकफावहः । क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवाता-
नुलोमकः ” ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । अनु० । ज० ।

एगं अंबिले-आश्रयणक्लेदनकृदन्धः । स्था० १ ठा० । अम्बलरस-

वति, त्र० तत्रादिमंस्कृते, हा० १९ स्तो० तत्कारनालकादौ, ल०
कात्रिके स्था० १० डा० सोवीरे, स्था० १० डा० वाच० 'कलाल-
घरेषु अघ्निलमात्र' कल्पपात्रगृहेषु किलाभ्रशब्दसमुच्चयि-
ते सुग चित्तवृत्ति स्निग्धपरहाराथमभ्रं स्वादूच्यते, अनु० ।
अंघ्रिलणाम्-अभ्रिलनामन् न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जी-
वशरामस्नीकादिष्वन्ता भवति तदभ्रनाम, कर्म० १, कर्म० ।
अंघ्रिलगम्-अभ्रलगम्-पुं० क० स० अभ्रं रसे, तठति, वि०
वाच० अभ्रलगम् तद्वत् । प्रभ्र० संव० ५ डा० ।
अंघ्रिलगमपरिणय-अभ्रलगमपरिणत-पुं० 'अभ्रलेतसादिव-
दभ्ररमपरिणामं गते पुच्छते, प्रज्ञा० १, पद० ।
अंघ्रिलिभा-अभ्रिलिका-स्त्री० अभ्रैव स्वार्थं कन् १ तित्तिङ्गाम्,
कृत्राभ्रलिकेत्यपि सा च १ पलाशीव्रतायां ३ श्वेताभ्रलिकायां
४ कुत्राभ्रलिकायाश्च, राजनि० । ज० ३ वृत्त० ।
अंघ्रिलोदग-अभ्रलोदक-न० कात्रिकवस्त्रनावत एवाभ्रपरि-
णामे, जत्रे, जी० १, प्रति० प्रज्ञा० ।
अंघ्रिणाह-अभ्रुनाथ-पुं० सनुदे, व्य० ६ उ० ।
अंघ्रिवृध-अभ्रुस्तम्भ-पुं० जलनिरोधरूपे त्रयोदशे कला-
भेदे, कल्प० ।
अंघ्रुवकिव (ण)-अभ्रुनक्तिन्-पुं० जलमात्रभक्के वानप्र-
स्थभेदे, औ० । नि० ।
अंघ्रुवामि (न्)-अभ्रुवामिन्- पुं० अभ्रुप्रधाने देशे वसति,
वम-णिनि-ङीप् । पाटशावृक्ते, जत्रवासिमात्रे, वि० वाच० ।
वानप्रस्थभेदेषु, पुं० ये जलनिमग्ना एवासते । औ० ।
अंघ्र-अभ्रम्-न० आप्यते । आप्-अभ्रम् । उदके तुम्भौ चेति
उणा० अभ्रः शब्दे अभ्रन् वा । वाच० । जत्रे, प्रति० । अभ्र० ।
अंघ्र-अंश-म-पुं० अंश (श) नावे अन् । चिताने, स्था० ३
टा० । कर्माण अच् । जागे, विशेष० । आ० च० । प्रति० । आचा० करणे
अच् । अवयवे, पञ्चा० ९ विव० । जेदे, विशेष० । जेदाः विकल्पा अंशा
इत्यन्तर्यामिणम् । आ० म० प्र० । आच० । पर्याये, विशेष० । स्कन्धे
श्च, ज्ञा० १८ अ० ।
अंघ्र (मा) गय-अंश (श) गन्-त्रि० स्कन्धदेशमागते, विपा०
१, श्र० ३ अ० । स्कन्धावस्थिते, ज्ञा० १८ अ० ।
अंघ्रलग-अंश-पुं० स्कन्धे, तं० ।
अंघ्रि-अभ्रि-स्त्री० । अभ्र-किः । कोटौ, स्था० ८ ज्ञा० ।
अंघ्रिया-अंशिका-स्त्री० । अंश एवांशिका । स्वार्थं कप्रत्ययः ।
भागे, " सागारियस्स अंघ्रिया अविभक्ता " वृ० ३ उ० ।
" अंघ्रियाश्रो गामडमार्श्रो " अंशिका तु यत्र ग्रामस्यार्धम् ।
आदिशब्दात् विभगं वा चतुर्भागे वा गत्वा स्थितः स ग्राम-
स्यांश एवांशिका, नि० चू० ३ उ० ।
अंघ्रिन्-न० चक्रिकाकारं गेगभेदे, " अंघ्रिया अघ्रिमा ता य अ-
हिद्वारेण नाम्नाय वनेषु वा तर्धति " नि० चू० ३ उ० । तस्म (आ-
नापयतः) " अंघ्रिया आत्रेव नं चेय विज्जो अदकवु इस्सि
पान्दि पान्दिता अंघ्रियाश्रो विदेत्ता " (अंघ्रियाश्रोति) अ-
र्शानि तानि चानामिकासकानि चूर्णिकारः, त० १६ ज्ञा० ३
उ० । प्रति० (श्रेयं अणगाशब्दे)
अंघ्रु-अंघ्रु-पुं० अंश मृग-कु किरणं, सूत्रं, सूत्रमांशं, प्रकाशं,
प्रकाशं गेगं च, वाच० ।

अश्रु-न० अश्रुते व्याप्नोति नेत्रमदर्शनाय । अश-कृत् । प्राकृतं ।
वकादावन्तः ३१ । २६ इति सूत्रेण अनुस्वारागमः, प्रा० नेत्रजत्रं,
वाच० । " गुरुदुःखभरकं तस्स अंसुणि वाएण जं जत्रं गालियं
तं अगमन्तायणं तस्स मुदमाईसु ए वि हांजा " महा० ६ अ० ।
" अंसुपुण्णयणे तित्थयरसरीरयं तिकखुत्तो " जं २ वृत्त० ।
'अंसुपुणेहि णयणेहि उरं मे परिसिंचे' उक्तं ३० अ० ।
अंसुय-अंशुक-न० चानविषये वहिस्तादुपपन्ने सूत्रे, अनु० ।
आ० म० प्र० । " अम्भेतरहीरे जं उपज्जति तं अंसुयं " नि०
चू० ९ उ० । आचा० । अंशुकं रुद्धपट्टस्तन्निष्पन्नमशुकम्, वृ०
२ उ० । बह्वविशेषे, ज्ञा० १, आ० ज० । जी० । पत्रे च, अंशु स्वार्थं
कन् । अंशुशब्दार्थं, पुं० । वाच० ।
अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-त्रि० । ९ त० । अंश (स) योः स्क-
न्धयोरुपसक्तं दग्ने यन् स्कन्धलग्ने, कल्प० ।
अकङ् (ति)-अकत्ति-त्रि० न कति न संख्याता इत्यकति
असंख्यातेषु अनन्तेषु, स्था० ३ ज्ञा० । भ० ।
अकङ् (ति) संचिय-अकनिसञ्चित-पुं० न कति न संख्याता
इत्यकति असंख्याता अनन्ता वा तत्र ये अकत्यकति असंख्याता
असंख्याता एकैकसमये उत्पन्नाः सन्तस्तथैव संचितास्ते अकति
सञ्चिताः । स्था० ३१, ज्ञा० । एकसमयेऽसंख्यातात्पादेनानन्तो-
त्पादेन च पिण्डितेषु नैरयिकादिषु (अत्र दण्डकक्रमेण नैर-
यिकादीनामकतिसंचितत्वमुपपातशब्दे) ज० २ श० १० उ० ।
अकटग-अकाटक-त्रि० न० व० । कण्टकरहितेषु न तेषु
मध्ये वज्रादिवृक्षाः सन्तीति, जी० ३ प्रति । पाषाणादिङ्-
व्यकण्टकविकटेषु, आच० ५ अ० । प्रतिस्पृष्टिगोचरे (राज्ये)
" ओढयकटयं मल्लियकटयं अकटयं " ज्ञा० १ अ० ।
स्था० । सूत्र० ।
अकट्ठ-अकाट्ठ-न० । न० त० । अप्रस्तावे, अनवसरे, आतु० ।
" एथ मया अकट्ठे विणक्षिया तं कारणं सुणह " आ० म० प्र० ।
अकात्रे, वृ० १ उ० ।
अकट्ठयग-अकाट्ठयक-पुं० न कट्ठयते इत्यकट्ठयकः
स्था० ५ डा० । अकाट्ठयनकारके अभिग्रहविशेषवति, प्रभ्र०
संव० १ डा० ।
अकंत-अकान्त-त्रि० कान्तः कान्तियोगात्, स्था० ८ ज्ञा० । न का-
न्तोऽकान्तः । जी० १ प्रति० । स्वरूपेणाकमनीयं, उपा० ८ अ० ।
भ० । प्रभ्र० ।
अकंततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपेणाप्यकमनीयतरे, जी० ३
प्रति० । वि० ।
अकंतता-अकान्तता-स्त्री० असुन्दरतायाम्, भ० ६ श० २ उ० ।
अकंतदुःख-अकान्तदुःख-त्रि० अकान्तमनभिमतं दुःखं येषा-
न्तोऽकान्तदुःखाः अनजितमाशानेषु सूत्र० १ श्रु० १ अ०
" अकंतदुःखं तसथावगा दुहो अवूमए " आचा० २ श्रु० २ अ० ।
दुःखद्विदुःसु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।
अकंतस्मर-अकान्तस्मर-त्रि० ६ व० अकान्तियुक्तस्मरे,
स्था० ८ डा० ।
अकट्ठाप (न)-अकट्ठापिन्-त्रि० कट्ठापिन्नापननापितादि-
विकट्टे, व्य० १ उ० ।
अकंप-अकम्प-त्रि० स्वरूपनिष्ठे, अभ्र० । अकान्त्ये, " नाणंमि

इंसणमि य, तवे चरित्ते य चउसु वि अकंप ” अकम्पोऽङ्को-
ज्यो देवैरप्यचाल्य इत्यर्थे, आनु० ।

अकंपिय-अकम्पित-पुं० । न० त० । श्रीमहावीरस्याष्टमे गणधरे,
स० (अस्यागारपर्यायादयो गणधरशब्दे) आ० चू० । आ०
म० द्वि० । कल्प० । (अयमकम्पितनामा छिजोपाध्यायो
वीरादिकं गतो भगवता नामगोप्राप्त्याभाष्य) वि० “आ-
इड्डा य जिणेणं, जाइजराभरणविष्पमुक्केणं । नामेण य गुत्तेण
य, सच्चन्तम्भवेदरिसीणं ॥ किं मन्ने नेरइया, अत्थि नत्थित्ति
संसओ तुज्ज, वेदपयाणं अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ”
(इत्याशुक्त इति नारयशब्दे प्रदर्शयिष्यते)

अककसनमा-अककसज्जापा-खी० अतिशयोक्त्या ह्यमत्स-
रपूर्वायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अककसवेयणिज्ज-अककसवेदनीय-न० अककशेन सुखेन
वेद्यन्ते यानि तानि अककशवेदनीयानि जगतादीनामिव सुख-
वेदनीयेषु कर्मसु ॥ अत्र दण्डकः “अत्थिणं भंते जीवाणं अकक-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जति ? हंता अत्थि कहणं जंते ! जीवा-
णं अककसवेयणिज्जा कम्मा कज्जति ! गोयमा ! पाणाइवायवे-
रमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं काहविवेगेणं जाव मिच्छादंस-
णसल्लविवेगेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अककस-
वेयणिज्जा कम्मा कज्जति अत्थिणं भंते ! नेरइयाणं अकक-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जति णोइण्ठे समट्ठे एवं जाव वेमा-
णियाणं खवरं मणुस्साणं जं जीवाणं । भ० ७ श० ६ उ० ।

अकज्ज-अकारय-न० अप्रशस्तं कार्यम् अप्राशस्त्येन त० कुत्सि-
तकार्ये, निषिद्धकार्ये च । कर्त्तव्यभिन्ने, त्रि० वाच० आचा० ।

अकज्जमाण-अक्रियमाण-त्रि० न० त० वर्त्तमानकाले अ-
निवर्त्तमाने भ० १ श० १० उ० ।

अकज्जमाणकम-अक्रियमाणकृत-त्रि० क्रियमाणं वर्त्तमान-
काले कृतं चातीतकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं (वर्त्तमाना-
तीतकालयोरनिर्यत्यमानानां निवृत्ते) “अकिञ्चं दुक्खं अफु-
सं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं ” भ० १ श० १० उ० ।

अकड-अकापु-त्रि० न० व० काष्ठरहिते अनिन्धने, “जंसीज-
लंते अगणी अकट्ठो ” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अकर-अकृत-त्रि० न० त० अविहिते । “ कडं कडित्ति भा-
सिज्जा, अकडं नो कडित्ति य ” उक्त० १ अ० “अकडं करि-
स्सामित्ति मसमणे ” यदपरेण न कृतम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ।

अकरजोगि (न्)-अकृतयोगिन्-पुं० यतनया योगमकृत-
वति, व्य० ३ उ० । अकृतयोगी अगीतार्थः चीन् वारान् कल्पमेप-
णीयं वा परिभाष्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽकल्पमनेपणी-
यमपि प्राही । व्य० १० उ० । “अकडजोगित्ति दारं तिगुणं प-
च्छइति निसंखा तिप्पि गुणीओ तिगुणं असंथरानीसु
तिप्पि वारा एसणीयं सप्पिसिओ जाता ततियवाराण वि ण
लज्जति तदा चउत्थपरिवाडीए अणेसणीयं घेत्तव्यं एवं ति-
गुणं जोगं काऊण जोगो व्यापारः वितियवाराण्णेव अणेस-
णीयं गेएहत्ति जो सो अकडजोगी भवति अकरजोगित्ति
गयं ” नि० चू० १ उ० ।

अकडपायच्छित्त-अकृतप्रायश्चित्त-त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन
अननुष्ठितविशोधः “ जे भिक्खू साहिगरणं अवियउसविय-
पाहुडं अकडपायच्छित्तं ” नि० चू० १० उ० ।

अकरसामायारि-अकृतसामाचारि-पुं० ३ व० अवितथा मण्ड-
ल्युपसंपत्तसामाचारीमकुर्वति, वृ० ३ उ० । एवंविधां (सामाचारी-
शब्दे वक्ष्यमाणां उपसम्पन्नमण्डलीविषयां द्विविधामपि सा-
माचारीं यो न करोति सोऽकृतसामाचारीक उच्यते, वृ० १ उ० ।
अकटिण-अकटिन-त्रि० कामले, जी० ३ प्रति ।

अकण-अकर्ण-पुं० सिंहमुखद्वीपस्य नैर्ऋतकोणे (अन्तरद्वी-
पशब्दोक्त) प्रमाणे अन्तरद्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च, स्था० ४
ग० । प्रज्ञा० न० । कर्णरहिते, वाच० ।

अकण्टिण-अकर्णच्छिन्न-अच्छिन्नकर्ण त्रि० न द्विनौ
कर्णौ यस्य स तथा । अकृतश्रवणे, नि० चू० १४ उ० ।

अकत्तण-अकर्त्तन-त्रि० उच्चस्थं फलं कर्तितुं शीघ्रमस्य । कृत-
युच् न० त० । उच्चत्वविरोधिह्रस्वत्ववति खर्वे, कृत-भावे ल्युट्
न० व० वेदनकर्तरि त्रि० वाच० ।

अकत्तिम-अकृत्रिम-त्रि० न कृत्रिमः । न० त० कृत्रिमजिन्ने, स्वजा
वसिस्ते, वाच० “अकत्तिमेहिं चेव कत्तिमेहिं चेव” ज० २ वक्क०

अकप्प-अकट्प-पुं० कल्पो न्याय्यो विधिराचारश्चरणकरण-
व्यापार इति यावत् । न कल्पोऽकल्पः । अतद्रूप इत्यर्थः । थ० ६
अधि० अविधौ चरकादिदीक्षायाम्, अग्राह्ये, पंचा० १२ विव० ।
आव० । आ० चू० । अकृत्ये, अयोग्ये, “अकप्पं परियाणामि
कप्पं उयसंपज्जामि ” आव० ४ अ० । दर्पादौ, व्य० १ उ० ।
अभोज्ये, “जडकम्मं अकप्पं तत्थिक्कं ” पि० “अकप्पं पडिगा-
हेज्ज, चउत्थाइ जहाजोग कप्पं वा । पडिसेहेइ उवछा-वणं
गोयर पविट्ठो उ ” । महा० ७ अ० । दृषणीये । नि० चू० १५
उ० । अनाचारे, कल्प० । अकल्पः अमर्यादा अनीतिः अनुपदश
इत्यन्तर्धान्तरम्, पं० चू० । पिएडशय्यावस्त्रपात्ररूपचतुष्टयेऽक-
ल्पनीये, व्य० २ उ० । “वयउक्कं कायउक्कं, अकप्पो गिहिजायणं”
अकल्पः शिक्षकस्थापनाकल्पादिः । दश० ६ अ० । तत्राकल्पो
द्विविधः शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्पस्थापनाकल्पश्च तत्र
शिक्षकस्थापनाकल्पः अनर्थातपिगुनिर्युक्त्यादिनानीतमाहा-
रादि न कल्पते इत्युक्तं च “अणहीया खलु जेणं, पिरेस-
णसेज्जवत्थपाएसा । तेणाणियाणि जतिणो, कप्पंति न पिरे-
माइणि ॥ उववर्द्धमि ण अणया, वासावासेउ दो वि णो सेहा ।
दिक्खिअज्जेती पायं, उवणाकप्पो इमो होइ ” अकल्पस्थाप-
नाकल्पं त्वाह ॥

जाइं चत्तारिज्जुज्जाड, इसिणा हारमाइणि ।

ताइं विहिणा वज्जंतो, मंजपं अणुपालए ॥ ४७ ॥

सूत्रं व्याख्या-यानि चत्वार्यभोज्यानि संयमापकारित्वेनाकल्पनी-
यानि ऋषीणां साधूनामाहारादीन्याहारशय्यावस्त्रपात्राणि
तानि तु विधिना वर्जयन् संयमं सप्तदशप्रकारमनुपालयेत् ।
तदस्यागं संयमाभावादिति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ।

पिंडसेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।

अकप्पियं न इच्छिज्जा, परिगाहिज्ज कप्पियं ॥ ४८ ॥

पिएडशय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्स्वरूपं प्रगटा-
र्थमकल्पिकं नेच्छेत् प्रतिगृहीयात् कल्पिकं यथोचितमिति
सूत्रार्थः । अकल्पिके दोषमाह ।

जे नियागं ममायंति, कियमुदेमियाहं ।

वहं ते अणुजाणंति, ईडं वुत्तं महेमिणा ॥ ४९ ॥

ये केचन द्रव्यसाध्यादयो द्रव्यलिकुधारिणः (नियोगंति) नित्यमामन्त्रितं पिरुडं (ममायन्तीति) परिगृह्णन्ति । तथा क्रीत-मुद्देशिकाहृतम् । एतानि यथा जुल्लकाचारकथायां बध्नं व्रस-साध्यादिघातं ते द्रव्यसाध्यादयोऽनुजानन्ति । दातृप्रवृत्त्यनुमो-दनेनेत्युक्तं च महर्षिणा वर्धमानेनेति सूत्रार्थः । यस्मादेवम् ।

तस्मा अमणपाणाइं, कियमुद्देशियाहर्न ।

वज्जयंति त्रियप्पाणो, निग्गया धम्मज्जाविणो ॥५०॥

तस्मादशनपानादि चतुर्विधमपि यथादितं क्रीतमौद्देशिक-माहृतं वर्जयति स्थितात्मानो महासत्त्वा निर्ग्रन्थाः साधवो धर्मजीविनः संयमैकजीविनः इति सूत्रार्थः । उक्तोऽकल्पः । दश० ६ अ० जीत० पं० चू० पं० भा० । "अपरिग्रहणा अकल्पंमि-हारे पलंवादीसलोममम जिणादि हौति उवहीए सेज्जाए द-गसाला अकल्पसेहा य जे अन्ने " पं० क० चू० । पं० भा० ।

एतो अकल्पं वोच्छामि णिक्खि एणिरणुक्कपो पुप्फफ-लाणं च सारणं कुणति जं च एह एवमादीं सव्वं तं जाणसु अकल्पं जो तु किं वं ए करेती दुक्खभेसुं तु सव्वसत्तेसुं णिरवेक्खो रीयादिमु पयत्तइ णिक्खिो सोतुं महसा वय-साए ए व परिताडणमादिविंदियादाणं काऊण नाणु-नप्पइ णिरणुक्कपो हवति एमो सत्तट्टमउणोसु मट्टाणासे-वणाए सट्टाणं गच्छागादंमि तु कारणंमि वितियं भवेउणं सत्तट्टमट्टाणाइ उ कप्पो चेव तह अकप्पो य ते निक्कार-रणसेवी यावति सट्टाणं पच्छिक्तं पत्तंमि कारणे पुण रा-यट्टादियंमि आगाडे जयणा य करेमाणो हेउियकप्पो वि निट्टाणं दारं । पं० चू० ।

"इयानि अकप्पो गाहा नामणिओ नामणी धंभणीओ विज्जा-ओ पउंजइ अट्टवेयाली नाम जो उटुठं नेऊण पमिपावेइ वेयाली उट्टेवउ गम्भादाणं परिसारेइ संमुच्छियं पांडइ जोणिपाहुंडं वा करेइ अणेषु य एवमाइसु पावायपणेषु वट्टइ गाहा तसए-निदियनसपाणइमसगाइविच्छिप वा सेमेइमे वा संमुच्छावेइ मुत्ताणपरणअभिओगाईह माहंसरिं वा आहव्वणं वा पउंजइ रुडा दिव्वणं वेमडंरं वा अगणिकायं थंभइ गाहा निक्कोवो नाम निग्गियो निरयुक्कपो पुप्फफलयाणि य विरुंसेइ विज्जा-ओ पग्गुमादि पउंजइ एवमाइ कम्मकरो सो अकप्पो एयाणि पुण ओकल्पअकल्पाणि निक्कारणे करेतो अट्टाणपच्छिक्तमावज्जइ । एतदर्थं गाहा सत्तट्टमउणोसु गच्छमाइसु पुण कारणेसु य रायट्टमाइसु असियाइसु य कारणेसु जयणाए करेत्तस ओकल्पा कप्पा विइयं टाणं भवति किं पुण तं वितियं टाणं एक-प्पो चेव सो भवइ एस अकप्पो" पं० चू० [अपरिणतादेरकल्प-स्याग्राह्यताऽपरिणयादिशब्देपु वक्ष्यते] अस्थितकल्पं च, य. ४ उ. ३ । अकल्पट्टावणाकल्प-अकल्पस्थापनाकल्प-पुं० अनेपणीयपि-गुरुशय्यावस्त्रपात्रवस्त्राणोऽकल्पनेदे, जीत० ।

अकल्पट्टिय-अकल्पस्थित-पुं० कल्पे दशविधे आचेलुक्यादौ संपूर्णे न स्थिताः अकल्पस्थिताः चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तृषु, वृ० ४ उ० मध्यमट्टाविंशतिजिनसाधुषु महाविदेहेषु च, जीत० [कल्प-स्थितानामर्थाय कृतं कल्पते कल्पस्थितानां नदर्थं कृतं कल्पते कल्पस्थितानां नेतरथा]

जे कमे कप्पट्टियाणं कप्पइ से अकप्पट्टियाणं, नो कप्पइ कप्पट्टियाणं । जे कडे अकप्पट्टियाणं नो से कप्पइ कप्पट्टियाणं, कप्पइ से अकप्पट्टियाणं । कप्पे ट्टिया कप्प-ट्टिया णो कप्पे ट्टिया अकप्पट्टिया ।

यदशनादिकं कृतं विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते तदकल्पस्थितानां, न कल्पते कल्पस्थितानां । इहाचेलुक्या-दौ दशविधे कल्पेऽवस्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयाम-धर्मप्रतिपत्ता इति भावः । ये पुनरेतस्मिन् कल्पे संपूर्णे न स्थिता-स्ते अकल्पस्थिताश्चतुर्यामधर्मप्रतिपत्तार इत्यर्थः । ततः पाञ्चया-मिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यामिकानां कल्पते इत्युक्तं भवति तथा यदकल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामर्थाय कृतं नो स क-ल्पते कल्पस्थितानां, पाञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तदक-ल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामत्रैव व्युत्पत्तिमाह कल्पे आचेलु-क्यादौ दशविधे स्थिताः कल्पस्थिता न कल्पे स्थिता अकल्प-स्थिताः । एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

कप्पट्टिपरुवणाता, पंचेव महव्वया चउज्जामा ।

कप्पट्टियाण पणगं, अकप्पचउज्जाम सेहे वि ॥

कल्पस्थितः प्रथमतः प्ररूपणा कर्त्तव्या । तद्यथा । पूर्वपश्चिम-साधूनां कल्पस्थितिः पञ्चमहाव्रतरूपा मध्यमसाधूनां महाविदेह-साधूनां च कल्पस्थितिश्चतुर्यामधर्मप्रतिपत्तार ततो ये कल्पस्थितास्ते पां (पणगंति) पञ्चैव महाव्रतानि जवन्ति अकल्पस्थितानां तु चत्वारो यामाश्चत्वारि महाव्रतानि जवन्ति नापरिगृहीता स्त्री जुज्यत इति कृत्वा चतुर्थव्रतपरिग्रहवतामेव तेषां अन्तर्जवती-ति भावः । यश्च पूर्वपश्चिमतीर्थंकरसाधूनामपि सम्बन्धी सैकस्या-पि सामायिकसंयत इति कृत्वा चातुर्यामिकोऽकल्पस्थितश्च मन्तव्यः यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति प्ररूपिता कल्पस्थितिः । इह " जे कमे कप्पट्टियाण " इत्यादिना आध्यात्मसूचितमतस्तस्य उत्पत्तिमाह ।

मालीघयगुल्लगोर-सावसु वट्ठीफलेसु जातेसु ।

पप्पट्टकरणसट्टा, आट्टाकम्मे णिमंतणता ॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्चादस्य चानवः शालिः भूयान् गृहे समायतस्ततः स चिन्तयति पूर्वं यतीनामदत्त्वा ममात्मना परि-जोक्तुं न युक्त इति परिभाष्याध्याकर्म कुर्यात् एवं घृते गुरो गोर-स-नवे यवतुल्यादिवट्ठीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः आदः (करणंति) आध्याकर्म कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात् । तस्य चाध्याकर्मणोऽमृत्युकार्यकपदानि ।

आट्टा आट्टयकम्मे, अत्ताहम्मये अत्तकम्मे य ।

ते पुण आट्टाकम्मे, णायव्वे कप्पते कस्स ॥

आध्याकर्म, अध्याकर्म, आत्मघ्न, आत्मकर्म, चेति चत्वारि नामानि तत्र साधूनामधेयप्राणिघातेन यत्कर्म परुकायविनाशेना-शनादिनिष्पादनं तदाध्याकर्म । तथाविशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्त्यात्मानमाविशुद्धसंयमस्थानेषु यदाध्याकरोति तदध्याकर्म आत्मानं ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूपविनाशयतीत्यात्मघ्नः । यत्पाचका-दिसम्बन्धि कर्म पाकादिवस्त्राणां ज्ञानावरणं यादिलक्षणं वा तदा-त्मनः सम्बन्धि क्रियते, अनेनेत्यात्मकर्म । तत्पुनराध्याकर्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा यडा कस्य तीर्थं कथं कल्पते न कल्प-ते वेत्यमीनिर्द्धारोऽज्ञातव्यं, तान्येव दर्शयति ।

संघस्म पुरिममज्झिम-समणानां चैव समणीणां ।

चउएहं उवस्सयाण, कायव्वा मग्गणा होति ॥

आध्यात्मिककारि सामान्येन विशेषेण वा संघस्योद्देशं कुर्यात् तत्र सामान्येनाविशेषितं संघमुद्दिशति विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यमं वा पश्चिमं वा संघं चेत्तस्मिन् प्रणिधत्ते श्रमणानामप्योद्यतो विज्ञागतश्च निर्देशं करोति, तत्रोद्यतो विशेषितश्रमणानां विज्ञागतः पाञ्चयामिकश्रमणानां चातुर्यामिकश्रमणानामेवं श्रमणीनामपि वक्तव्यं तथा चतुर्णांमुपाश्रयाणामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कर्त्तव्या भवति, तत्र चत्वार उपाश्रया इमे पाञ्चयामिकानां श्रमणानामुपाश्रयमुद्दिशतीत्येकः पाञ्चयामिकानामेव श्रमणानां द्वितीयः, एवं चातुर्यामिकश्रमणश्रमणीनामप्येवं भावयति ।

संघं समुद्दिशित्वा, पट्ठो वित्तिओ य समणसमणीओ ।

तत्तिओ उवस्सए खमु, चउत्तयओ एगपुरिसस्स ॥

आध्यात्मिककारि प्रथमो दानश्राद्धादिः संघं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याध्यात्मिकं करोति । द्वितीयः श्रमणश्रमणीः प्रणिधाय करोति । तृतीय उपाश्रयानुद्दिश्य करोति । चतुर्थ एकपुरुषस्योद्देशं कृत्वा करोति ।

अत्र यथाकर्म कल्पाकल्पविधिमाह ।

जदि सव्वं उदिसिउं, संघं करोति दोएहं वि ए कप्पे ।

अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्तय वि तहेव ॥

यदीत्यन्युपगमे यदि नाम ऋषभस्वामिनोऽजितस्वामिनश्च तीर्थमेकत्र मिलितं जवति पार्श्वस्वामिवर्द्धमानस्वामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तत्कालमङ्गीकृत्यायं विधिरजिधीयते, सर्वमपि संघं सामान्येनोद्दिश्य यदाध्यात्मिकं करोति । यद्वा द्वयोरपि पाञ्चयामिकचातुर्यामिकसंघयोरनं कल्पते अथ सर्वान् श्रमणान् सामान्येनोद्दिशति तत्रापि श्रमणानामपि सामान्येनोद्देशेन तथैव सर्वेषामपि पाञ्चयामिकानां चातुर्यामिकानां न कल्पते एवं श्रमणीनामपि सामान्येनोद्देशे सर्वसामकल्प्यम् ।

अथ विभागोद्देशे विधिमाह ।

जं पुण पुरिसं संघं, उद्दिशती मज्झिमस्स तो कप्पो ।

मज्झिमउद्दिष्टे पुण, दोएहं पि अकप्पितं होति ॥

यदि पुनः पूर्वऋषभस्वामिसत्कं संघमुद्दिशति ततो मध्यमस्याजितस्वामिसंघस्य कल्पते अथ मध्यमं संघमुद्दिशति तदा द्वयोरपि पूर्वमध्यमसंघयोरकल्पं जवति, एवं पश्चिमतीर्थकरसत्कसंघमुद्दिश्य कृतं मध्यमस्य कल्पते मध्यमस्य कृतं द्वयोरपि न कल्पते ।

एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वमुद्दिष्टे ।

मज्झिमगाणं कप्पे, तेसि कडं दोएहं वि ए कप्पं ॥

एवमेव श्रमणवर्गे श्रमणीवर्गे पूर्वेषामृषभस्वामिसंबन्धिनानां श्रमणानां श्रमणीनां वा यदुद्दिष्टमुद्दिश्य कृतं तन्माध्यमिकानां श्रमणश्रमणीनां कल्पते तेषां मध्यमानामर्थाय कृतमुभयेषामपि पूर्वमध्यमानां साधुसाध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिममध्यमानामपि वक्तव्यम् ।

अथैकपुरुषोद्देशे विधिमाह ।

पुरिमाणं एगस्स वि, कयं तु सव्वंसि पुरिमचरिमाणं ।

चरिमाणं ए वि कप्पे, उवणामत्तगहणं तहिं नत्थि ॥

पूर्वेषामृषभस्वामिसत्कानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृतं सर्वेषामपि पूर्वपश्चिमानामकल्प्यं पश्चिमानामप्येकस्यार्थाय कृतं सर्वेषां पूर्वपश्चिमानामकल्प्यम् । एतच्च स्थापनामात्रं प्ररूपणामात्रं संज्ञाविज्ञानार्थं क्रियते बहुकालान्तरत्वेन पूर्वपश्चिमसाधूनामेकत्रासंभवान् तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटने मध्यमानां तु यदि सामान्येनैकं साधुमुद्दिश्य कृतं नत एकं न गृहीते शेषाणां कल्प्यते अथ किमप्येकं विशेष्य कृतं ततस्तस्यैवाकल्प्यं शेषाणां सर्वेषामपि कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेषामपि तत्र कल्पते ।

अथोपाश्रयोद्देशे विधिमाह ।

एवमुपस्सय पुरिसे, उद्दिष्टणं ते तु पच्छिमा भुज्जो ।

मज्झिमं तु वज्जाणं, कप्पे उद्दिष्टसम पुव्वे ॥

एवं यदि सामान्येनोपाश्रयानामुद्देशं करोति तदा सर्वेषामकल्प्यम् । अथ पूर्वेषामाद्यतीर्थकरसाधूनामुपाश्रयानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पश्चिमानामुपलक्षणत्वात्पूर्वं वा साधवः सर्वेऽपि न भुज्जते मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधूनामुपाश्रयान् सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्वपश्चिमानां सर्वेषामकल्प्यम् । अथ क्रियत एव मध्यमोपाश्रयानुद्दिशति ततस्तद्वर्जानान्तेषूपपाश्रयेषु ये श्रमणास्तान् वर्जयित्वा शेषाणां मध्यमश्रमणश्रमणीनां कल्पते (उद्दिष्टसमपुव्वेति) पूर्वं साधवः ऋषभस्वामिसत्का भगवन्ते ते उद्दिष्टसमये साधुमुद्दिश्य कृतं तत्तुल्याः । एकमुद्दिश्य कृतं सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः । एवं तावत्पूर्वेषां मध्यमानां च भणितम् ।

अथ मध्यमानां पश्चिमानां वा अभिधीयते ।

सव्वे समणा समणी, मज्झिमगा चैव पच्छिमा चैव ।

मज्झिमसमणसमणी, पच्छिमगा समणसमणीतो ॥

सर्वे श्रमणाः श्रमण्यो वा यदुद्दिश्यन्ते तदा सर्वेषामकल्प्यं (मज्झिमगा चेवत्ति) अथ मध्यमाः श्रमणाः श्रमण्यो वा उद्दिष्टास्ततो मध्यमानां पश्चिमानां च सर्वेषामकल्प्यम् (पच्छिमाचेवत्ति) पश्चिमानां श्रमणश्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्प्यं मध्यमानां कल्प्यं मध्यमश्रमणानामुद्दिष्टं मध्यमसाध्वीनां कल्पते मध्यमश्रमणीनामुद्दिष्टं मध्यमसाधूनां कल्पते पश्चिमश्रमणीनामुद्दिष्टं पश्चिमसाधुसाध्वीनां न कल्पते मध्यमानामुभयेषामपि कल्पते । एवं पश्चिमश्रमणीनामप्युद्दिष्टे वक्तव्यम् ।

उवसयगणिय विभाअत्र, उज्जुगज्झा य वंजज्झा य ।

मज्झिमगउज्जुपप्पा, पेच्छासप्पायगागमणं ॥

अथोपाश्रयेषु साधून् गणितविभाजितान् करोति गणितानामित्येतां पञ्चादिसंख्याकानां दातव्यं विभाजिता अमुकस्यामुकस्येति नामोत्कीर्त्तनेन निर्धारिताः अत्र चतुर्भङ्गी यथा गणिता अपि विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिता २ विभाजिता न गणिता ३ न गणिता न विभाजिता ४ अत्र प्रथमभङ्गे मध्यमानां गणितविभाजितानामेवाकल्प्यं शेषाणां कल्पते । द्वितीयभङ्गे यावत् प्रमाणैर्न गृहीतं तावत् सर्वेषामकल्प्यं गणितप्रमाणैर्गृहीतं मध्यमानां शेषाणां कल्प्यम् । तृतीयभङ्गे यावत् सदृशानामनस्तेषां सर्वेषां सममकल्प्यं शेषाणां कल्प्यम् । चतुर्थभङ्गे सर्वेषां कल्प्यं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते (साधूनां कल्पस्थित्यात् कल्पस्थितत्वाकारणं कप्पशब्दे) वृ० एतेन कारणेन चातुर्यामिकपाञ्चयामिकानामाध्यात्मिकप्रहणे विशेषः कृत इति प्रक्रमः ।

अथ द्वितीयपदमाह ।

आयारिण अजिमेगे, जिक्कुम्मि गिन्नाणए य भयणाओ ।
भिक्कुम्मडविपवेमे, चउपरिवट्टे तओ गहणं ॥

आचार्याजिपेकभिक्कुणामेकतमः सर्वे वा भूताना भवेयुः तत्र सर्वेषामपि योग्यमुद्रमादिदोषशुद्धं ग्रहीतव्यम् अत्रच्यमाने पञ्चपरिवट्टाण्या यतिन्या चतुर्गुरुके यदा प्राप्तं जयति तदा आ-
धाकर्मणो भजना सेवना भवति अथवा भजना नाम आचा-
र्यस्याभिप्रेक्ष्य गीतार्थभिक्कोश्च येन दोषेणाशुद्धमानीतं तत्प-
रिमुट्टमेव कथ्यते । यः पुनरनीतार्थोऽपरिणामको वा तस्य न
निवेद्यते । अशिवार्थदिभिर्वा कारणैरदृशीमध्वानं प्रवेष्टुमजिलप-
ति तत्र प्रथममेव शुद्धोऽध्वकल्पस्त्रिरुवस्त्रान् वारान् गन्धयते
यदा न दृश्यते तदा चतुर्थे परिवर्ते पञ्चपरिवट्टाण्याधाकर्मिकस्य
ग्रहणं करोति ।

अध्वनिर्गतानां चायं विधिः ।

चउगे चउत्यभत्ते, आयंविन्नएगउण पुग्गिमहं ।

णिव्वीयगदायव्वं, मयं व पुव्वोगाहं कुज्जा ॥

आचार्यः स्वयमेव चतुष्कल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तत्र च-
त्वारि चतुर्थभक्तानि चत्वारि आचामाप्तानि चत्वार्येकस्थाना-
नि एकासनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वार्धानि चत्वारि निर्वृत्ति-
कानि च जयन्ति । ततः शेषा अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं च-
तुष्कल्याणकं प्रतिपद्यन्ते । योऽपरिणामिकस्तस्य पञ्चकल्याण-
कं दानार्थं तत्र चतुर्थभक्तादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवन्ति
स्ययं आचार्यः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यावग्रहणं कुर्यात् येन शेषाः
सुखेनैव प्रतिपद्यन्ते यत्पूर्वं प्रतिसिद्धं वक्ति एवं भूयोऽ-
नुज्ञायते अनुज्ञानं चेति ।

अतः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयत इत्याह ।

कात्तशरीरावेक्खं, जगम्म भावं जिणा वियाणिचा ।

तह तह दिमंति धम्मं, जिज्जति कम्मं जहा अग्विलं ॥

कालशरीरावेक्खं कालस्य शरीरस्य च यादृशः परिणामो व-
त्तं वा तदनु रूपं जगतो मनुष्यद्वोकस्य स्वभावं विज्ञाय जिना-
स्तार्थिकराः तथा तथा विधिप्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपदिश-
न्ति यथा अग्विलमपि कर्म क्षीयते यच्चानुज्ञाते प्रायश्चित्त-
दानं तदनवस्थाप्रसंगवारणाय । सू० ४ उ० ।

अकपिपिय-अकल्पक-पुं० अगतिार्थे, “ किं वा अकपिपणं,
गहियं फामुयं तु नं होइ ” व्य० १, उ० अनेपणिये, वि० “ अकपिपयं
ण इच्छिज्जा पमिगाहेज्ज कपिपयं ” दश० ४ अ० ॥

जे जम्मि देसजाण, अकपिपयं जेण जेण कालेण ।

बुत्ताणि अन्नपाणे, वि कागणं मुत्तनिदिट्ठं ॥५॥

मगहाउ मगहमाद्धी-णं ओयणमुगह यं हवइ भुज्जं ।

मीयलगं तु अभुज्जं, कुंयुममाणं रमज्जेणं ॥६॥

तेमिं तु नंदुत्तादे, एगेनेणं जवे अप्पिज्जं तु ।

पिरालु य पव्वंके, पविबुत्ता मा वि य अभुज्जा ॥७॥

वाल्लगकोडिमरिमा, उरुपरिमप्पा तद्धिं सुहुपदेहा ।

संमुच्चिंति अणेगा, दुप्पिक्खा ममचक्खुणा ॥८॥

तामि य चेव पपमे, उगट्टं मालुअं हवइ जक्खं ।

संयत्तगंमि य जन्नजा, रमया समुच्चंति य अणेगा ॥९॥

मरिसवमाणं मुग्गेण, मासायां अंबवेण जं रद्धं ।

एगंतेण अजक्खं, तहिं मंक्का जवे सुहुमा ॥१०॥

मासा मूलपसिद्धा, परिवुत्ता संजयाणपसिद्धं ।

मच्छाय संमुच्चंति, न सरण्णमंउत्ता वहे ॥११॥

सो पच्चलजाया ? अय-तको उगणियाहिं सिद्धाओ ।

परिमुच्चंमि य विविहा, मव्वे पंचिदिया हुंति ॥१२॥

आमे तके सिद्धे, कुमुंनसुगं अकपिपयं निचं ।

वात्तसरिसा अणेगा, सप्पा संमुच्चिमा तत्थ ॥१३॥

जवमागरन्नानां ? परिवुच्चं नेव कपिपयं होइ ।

संमुच्चंति अणेगा, मच्छा जलुआ सहस्साइं ॥१४॥

एगंतेण अपेयं, खारं दुरजाइयं तहिं देसे ।

संसइमं तत्थ जिया, गंडुवया सप्पमंक्का ॥१५॥

दहियं तिरत्तिपुव्वं, अकपिपयंति जलूयसंघाया ।

गुलवाणिअं अपेयं, पहरंमि गण तहिं देसे ॥१६॥

गुलवाणियं अपेयं, अंकाओगजीवसंजवो तत्थ ।

जवपाणियं अपेयं, सेमाण य उएहतोयाणि ॥१७॥

एगंतेण अभक्खा; परिवुत्ता मामुपोत्तिआ तत्थ ।

संमुच्चंति निगाया, तेहि य जीवा बहुविहा य ॥१८॥

अन्नगपिडगगव्वा, भंडुकाया परन्नपरिवुत्ता ।

पुव्वएहे सा कप्पइ, अवरएहे तंतुआ जीवा ॥१९॥

जक्खा य पंचरत्तं, तु मायगा देसमंडले तम्मि ।

एगंतेण न कप्पइ, मीयलकूरो अतुसिणो अ ॥२०॥

आयागं पडिसिद्धो, जंमितासी ? अलंजई भत्तं ।

आयारियपरिभट्टा, पाणिवहकरा अ माहूआ ॥२१॥

मूत्तगल्लहा चंचु अ, तत्थ य संसज्जए मुहुत्तेणं ।

न हु मूत्तगसंत्ता, कंदफलाइ उ मंमत्ते ॥२२॥

सव्वं तिलगयआमं, गोरममामं तु रत्तिपज्जसियं ।

लट्ठार्सीइचूया, संसज्जए मुहुत्तेणं ॥२३॥

उवरुक्खलगतियेयं, पत्तेयं तन्निरत्तकालेयं ।

विज्जलयणद्वभाइ ? सुहुमुहाइसु संसत्ते ॥२४॥

एवं जुज्जं मगहे, विसए तहेव समासओ भणियं ।

मगहा इव नायव्वं, जाव कडिगाउ नेपालं ॥२५॥

दविमं वा विरुवामो ? एयंमि य देसमंडले पत्ता ।

पाणाणि य भक्खाणि य, नायव्वाइ पत्तेणं ॥२६॥

मिगियकुडंगकुसंजी, करमियअग्गे सव्विक्कामाया ।

एसा निगायजोणी, परिवुत्ता होइ अब्भक्खा ॥२७॥

कुहवतंदुत्तजाओ, दगकूलं पंचरत्तिपरिवुच्चं ।

एगंतेण अपेयं, जत्तयरपरिणाण जायंति ॥ २८ ॥

पूरियमंडकमिआ, मासा वथुला य देसला जाया ।

हुंति अभक्खा कुंथुअ-भक्खअमसगाण सा जोणी ॥२९॥

कुच्छ न तंदुलउदगं, कूरो जो होइ रत्तिपरिवुच्छं ।
 एगंतेण अपेयं, बहुविहसत्ताण सा जोणी ॥ १६ ॥
 गुलपाणियं तु पेयं, मज्झएहे विच्छुपाणियं चैव ।
 सेमं काल न पेयं, तेसु वि जीवा अणमविहा ॥ ३० ॥
 आजारसरडीए, करंवगे द्दगन्नतक्कसिद्धो अ ।
 एगंतेण अभक्खो, सो ऊ उएहो अ मत्तिजेणं ॥ ३१ ॥
 समुच्छंति निगोया, तस्सा पंचिदिया अणमविहा ।
 सुहुमा जइहिं दिद्धा, तज्जोणीया बहू जीवा ॥ ३२ ॥
 सूरणकंदो भीमे-हिं सीसिओ ? एगरत्तिपरिवुच्छो ।
 एगंतेण अभक्खो, तेसि निगोया य मंडुका ॥ ३३ ॥
 द्वागलतक्के सिद्धो, उगणेहिं किएहकंगुओ जीओ ।
 धूलं करिहिं मासो, परिवुच्छो तत्थ बहुयया ॥ ३४ ॥
 पंचन्नवमुत्तकंदा, अकप्पिया सिद्धयारिनिच्चं पी ।
 पत्ता कसाणवचयं, सोरद्धा जारदेसंमि ॥ ३५ ॥
 चउहिं पयारेहिं सया, न कप्पए कंगुओ तहिं देमे ।
 जो अंबलंमि सिद्धो, तत्थयमावन्निया जीवा ॥ ३६ ॥
 उएहे संमुच्छंमि य, अणमजीवा निगोयसंजाणा ।
 सीयलयंमि य मच्छा, रहरेण संजिया दहवे ॥ ३७ ॥
 द्वागन्नतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरे हि कडेहिं ।
 उएहे निगोयजीवा, सीयन्नए तंतुया हुंति ॥ ३८ ॥
 तक्कं विलंमि सिद्धो, मामो लणएयरएन्नमाममि ।
 उएहंमि तया जीवा, सीयलए हुंतिय निगोया ॥ ४० ॥
 माहिसत्तक्के द्वागलेहिं, सिद्धओ जइति कंगुओ होइ ।
 समुच्छंति अणेगा, सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४१ ॥
 चट्ठापत्तंतिद्वं-मि सिद्धयं उएहयं च अगिणीए ।
 उप्पज्जंति अणेगा, सीयलए किएहया जीवा ॥ ४२ ॥
 अविन्नमिच्छविगाली, एगंतेणं च सा वि पणिसिद्धा ।
 उएहंमि तया जीवा, निगोयजीवा य सीयन्नए ॥ ४३ ॥
 सात्तासरमाकंगुओ, एए तिन्नि च उएहया कूरा ।
 परिहरियवा निच्चं सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४४ ॥
 द्वागन्नतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरेहिं कडेहिं ।
 तिल्लयसल्लूगमिस्सो, निगोयपंचिदिया हुंति ॥ ४५ ॥
 निग्गंथाण अभक्खं, मज्झसागं तिरत्ति परिवुच्छं ।
 कुंयुतमायनिगोया, उप्पज्जंति य बहुय जीवा ॥ ४६ ॥
 मासाविहुपरिवुच्छा, एगंतेण वि हुंति अभक्खा ।
 हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिदिया तत्थ ॥ ४७ ॥
 सतु अजक्खा भक्खा, भक्खा परिवुच्छजेसुरहदेममि ।
 पेत्तामुहुकुक्कुमिया, पंचिदियजीवजोणी सा ॥ ४८ ॥
 एगं जामं चक्खा, पूखरिया कुंथुआ भवे पच्छा ।
 एगंतेण अजक्खा, परिवुच्छा मासपोत्तीया ॥ ४९ ॥
 उप्पज्जंति निगोया, जीवा पंचिदिया बहुविहा य ।

दुविहेसु सोयगेसुं, परिवुच्छाडसु तहिं देसे ॥ ५० ॥
 गोसत्तखाइयाणं, गोणीणं गोरसेण जं मिस्सं ।
 संसप्पइ रमएहिं, खणेण वात्तगसरिसेहिं ॥ ५१ ॥
 सव्वेसु वि देमेसुं, परिवुसियाइं अकप्पणिजाइं ।
 अमणं पाणमज्जखं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५२ ॥
 जा परिवुच्छं जुजइ, एगरमं चउविहं पि आहारं ।
 सा बहुविहजीवाणं, करेइ अंतं अयाणंतो ॥ ५३ ॥
 जो नाही पडिवात्ति, णाणादेमेसु सत्तभणिणं ।
 सो संजमं अविकलं, करेइ साहु य परिहरंतो ॥ ५४ ॥
 अंकुल्लघाणियाए, वायान्नट्टीइ जो य इक्खुरमो ।
 मच्छाममुच्छंति अ, तक्कादं मव्वदेसेसु ॥ ५५ ॥
 संसत्तयणिज्जुत्ती, एसा साहुहिं चैव पडिअवा ।
 अत्थो पुण सव्वेहिं वि, सोयव्वो साहुपासाओ ॥ ५६ ॥
 सं० नि० । आचा० ।

अकट्ठिपत्त-त्रि० अयोग्ये, ग० १ अत्रि० ।

अकव्वर-पुं० पारसीकोऽयं शब्दः दिल्लीनगराधिपतौ, म्बे-
 च्छराज, स हीगविजयप्रतिष्ठापितः “ यो जीवाजयदानमिन्मि-
 ममिपात् स्वीयं यशोमिद्धिम, एगमासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले
 च्चामण्डवेऽवीवदत् । जेजे धार्मिकतामधम्मरसिको म्बे-
 च्छाग्रिमोऽकव्वरः, श्रुत्वा यद्वदनादनाविलमतिधर्मोपदेशं
 शुजम ॥ १ ॥ कल्प० ॥

अकम्म-अकर्मन्-न० त० कर्मकरणाच्चावे, वृ० १ उ० आ-
 श्रयनिगोधे, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । न विद्यते कर्मास्येति (क्ली-
 णकर्मणि) पुं० आचा० १ ध्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणा गतिः ।

अत्थि एणं भंते ! अकम्मस्स गइ पणायइ हंता अत्थि
 कएहं भंते ! अकम्मस्स गइ पणायइ गोयमा ! निस्संगयाए
 निरंगणयाए गइपरिणामेणं वंथणउयणयाए निरिधणयाए
 पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गइ पणायइ कएहं भंते ! नि-
 स्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गइ प-
 णायइ गोयमा ! मे जहा नामए केउ पुरिमे सुकं तुवं निच्छइ
 निरुवहयं आणुपुव्वीए परिकम्ममाणं २ दब्भेहिं कुसेहि-
 य वेदेइ अट्ठहिं मट्ठियालेवेहिं छिपइ उएहं दन्नयइ जूइ जूइ
 सुकं समाणं अत्थाहमतारमपोरुमियंमि उदगंमि पक्खिजेज्जा
 से न्णं गोयमा ! मे तुवे तेमिं अट्ठएहं मट्ठियालेवाणं गुरुयत्ताए-
 भारियत्ताए गुरुयसंजारियत्ताए सन्निलतलमइवत्ता अहे
 धरणिजलपइट्ठाणं भवइ हंता हवइ अहे एणं से तुवे तेमिं
 अट्ठएहं मट्ठियालेवाणं परिकखणं धरणिजलमइवत्ता
 उप्पि मलिलपइट्ठाणं भवइ हंता भवइ एवं खहु गोयमा !
 निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स
 गइ पणायइ कएहं भंते ! वंथनउयणयाए अकम्मस्स
 गइ पणायइ गोयमा ! मे जहा नामए कलमिं वलियाइ वा

मुग्गमिवलियाइ वा माममिवलियाइ वा सिंवलिमिवलियाइ वा एरुमिजियाइ वा उएहेदिण्णा सुक्का ममाणी फुडित्ताणं एगंतमंतं गच्छइ एवं खवु गोयमा ! कहएहं जंते ! निरिण्णयाए अकम्मस्स गई गोयमा ! से जहा नामए धूमस्स डंथण-विप्पमुक्कस्स उहुं वीसमाए निव्वायाएणं गई पवत्तइ एवं खवु गोयमा ! कहएहं भंते ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पमात्ता गोयमा ! मे जहानामए कंरुस्स कोदंरुविप्पमुक्कस्स लक्खानिमुहं निव्वायाएणं गई पवत्तइ एवं खवु गोयमा ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई वपवत्तइ एवं खवु गोयमा ! नीभंगयाए निरंगणयाए जाव पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ ।

(गइ पमायइत्ति) गतिः प्रज्ञायतेऽच्युपगम्यते इति यावत् (निस्संगयाएत्ति) निःसङ्गतया कर्ममत्तापगमेन (निरंगणयाएत्ति) नीरागतया मोहापगमेन (गइपरिणामेणंति) गतिस्वभावतया अत्रावुज्जयस्येव (वंधणयेयणयाएत्ति) कर्मवन्धन-च्छेदेन एरण्णफलस्येव (निरंधणयाएत्ति) कर्मेन्धनविमोचनेन धूमस्येव (पुव्वप्पओगेणंति) सकर्मतायां गतिपरिणाम-वत्त्वेन बाणस्येवेति एतदेव विवृण्वन्नाह (कहएहामित्यादि) (निरुयहयंति) वातायनुपहतं (दंभेहिंयत्ति) दंभैः समूहैः (कुसेहिंयत्ति) कुशैर्दंभैरेव छिन्नमूलैः (चूईभूइत्ति) जूयों जूयः (अन्धाहेत्यादि) इह मकारौ प्राकृतप्रज्ञवाचनोऽस्ताद्येऽत एवातारेऽत एवापौरुषेयैऽपुरुषप्रमाणे (कत्तसिबलियाइ वा) कलायानिधानधान्यफलिका (सिंवलिंत्ति) वृक्षविशेषः (एरुमिजियाइ वा) एरण्णफलं (एगंतमंतं गच्छइत्ति) एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽनन्तमन्ते चूजागं गच्छति इह च वीजस्य गमनेऽपि यन् कत्राय सिम्बलिकादि । तदुक्तं “तत्तयोरभेदोपचारादिनि” (उहुं वीसमाएत्ति) उर्ध्वं विस्त्रसया स्वप्तायेन (निश्वायाएणंति) कटायाच्छादनात्तावात्, भ० ७श० १ उ० (अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति) आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । न विद्यते कर्मास्येति अकर्मा कर्मरहिते, वीर्यान्तरायकृयजनिते जीवस्य महज्जे वीर्ये, “किन्तु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चइ । कम्ममेगे पवुदेति, अकम्मं वा वि मुच्चया” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अकम्मओ-अकमतस्-अच्य० कर्माणि विनेत्यर्थे, “एणं अकम्मओ विनत्तिजावं परिणमइ” ज० १२ श० ५ उ० ।

अकम्मंन-अकर्माश-पुं० न विद्यते कर्माशो यस्य सोऽकर्माशः । कर्मव्यवधिप्रमुक्ते “अपत्तियं अकम्मंमे, एयमट्ठमिगे सुए ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विगतघातिकर्मणि स्नातकभेदे, भ० १५ श० ६ उ० ।

अकम्मकारि [न्]-अकर्मकारिन्-प्रि० स्वभूमिकानुचितकर्मकारिणि, प्रश्न० आथ० २ डा० ।

अकम्मग-अकर्मेक-प्रि० नास्ति कर्म यस्य बहु० कप । व्याकरणोक्तं कर्मशून्ये धातौ । “लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः” ३ । ४ । ६९ इति [पाणिनिः] “फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः” इति हरिः । श्रियां टापि कापि अत इत्यम् अकर्मिका “प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया” इति हरिः । वाच० । अविकृतिकर्मका अकर्मका ज्ञवन्ति । यथा, पश्य मृगो धावति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकम्मजूमग-अकर्मजूमक-पुं० कर्म कृषिवाणिज्यादि मोक्षा-नुष्ठानं वा तद्विकला जूमियेपान्ते अकर्मजूमस्ते एवाकर्मजूमका आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः । जीवा० १ प्रति । अकर्मजूमिजेपु गभंज्युक्तातिकमनुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च त्रिंशद्विधाः ।

से किं तं अकम्मभूमिगा ? अकम्मजूमिगा तीसति-विहा पमात्ता तेजहा पंचहिं हेमवएहिं पंचहिं हेरणवएहिं पंचहिं हरिवामेहिं पंचहिं रम्मगवासेहिं पंचहिं देवकुरुएहिं पंचहिं उत्तरकुरुएहिं सेत्तं अकम्मभूमिगा ।

अथ केते अकर्मभूमिकाः ? सूरिराह अकर्मजूमिकास्त्रिंशद्विधाः प्रज्ञाः । तच्च त्रिंशद्विधत्वं क्षेत्रज्ञदात् । तथा आह । “तं जहा पंचहिं हेमवएहिं” इत्यादि । पञ्चभिर्देवरण्यव-तैः पञ्चभिर्हरिवर्षैः पञ्चभिः रम्यकवर्षैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः पञ्चभिस्तत्तत्कुरुभिर्भिद्यमानास्त्रिंशद्विधा ज्ञवन्ति । पमां पञ्चानां त्रिंशत्संख्यात्मकत्वात् तत्र पञ्चसु हेमवतेषु मनुष्या गत्यतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया पत्योपमायुषो वज्रपवनाराचसंहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः चतुष्पष्टिपृष्ठकरणकाश्चतुर्थीतिक्रमभोजिनः एकांताशीतिदिनान्यपत्यपालकाः । उक्तं च “गात्रयमुच्चापल-ओ-वमाउणो वज्जरिसहसंधयणा । हेमवए रन्नवए, अहमि-दनरा मिहुणवासी ॥ १ ॥ चउसट्ठिपिट्ठकरं-रयाणमणुयाण तेसिमाहारो । जत्तस्स चउत्थस्से-गुणसिइदिणवच्चपाल-णया ” ॥ २ ॥ पञ्चसु हरिवर्षेषु पञ्चसु रम्यकेषु द्विपत्योपमा-युषो द्विगत्यतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया वज्रपवनाराचसंहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः पष्ठभक्तातिक्रमाहारप्राहिणोऽष्टाविंशत्य-धिकशतसंख्यपृष्ठकरणकाश्चतुष्पष्टिदिनान्यपत्यपालकाः (आ-ह च “हरिवासरम्मएसु, आउपमाणं सरीरमुस्सेहो । पविओ-वमाणि दोस्सि य, दोस्सि य कोमुस्सिया भणिया ॥ १ ॥ वट्ठस्स य आहारो, चउसट्ठिदिणाणि पालणा तेसि । पिट्ठकरंमाणसयं, अ-छावीसे मुण्येयव्वं ” ॥ २ ॥ पञ्चसु देवकुरुषु पञ्चसुत्तरकुरुषु त्रिपत्यो-पमायुषो गत्यतित्रयप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः समचतुरस्रसंस्था-ना वज्रपवनाराचसंहननिनः पट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणपृष्ठ-करणका अष्टमनक्तातिक्रमाहारिण एकांताश्रिदिनान्यपत्य-पालकाः । तथातं च “दोसु चि कुरुसु मणुया, तिपट्ठपरमाउसो तिकोसुच्चा । पिट्ठकरंरसयाइ, दोउप्पन्नाइ मणुयाण ॥ १ ॥ सुसमसुसमाणजावं, अणुभवमाणाणवच्चगोवणया । अउणा पन्नदिणाइ, अट्ठमनत्तस्स आहारो ” ॥ २ ॥ एतेषु सर्वेष्वपि क्षेत्रज्ञैस्तरद्वीपेष्विव मनुष्याणामुपयोगाः कल्पद्रुमसम्पादिताः नवरमन्तरद्वीपापत्तया पञ्चसु हेरणवतेषु मनुष्याणामुत्थानब-लवीर्यादिकं कल्पपादपफलानामास्वादेशं जूमेमांभुर्यमित्येवमा-दिका भावाः पर्यायानधिकृत्यानन्तगुणा छट्ठ्यास्तेऽप्योऽपि पञ्चसु हरिवर्षेषु पञ्चसु रम्यकवर्षेषु अनन्तगुणास्तेऽप्योऽपि पञ्चसु देव-कुरुषु पञ्चसुत्तरकुरुष्वनन्तगुणाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । आ० म० छि० । एषां कल्पवृक्षाः-

अकम्मभूमयाणं मणुआणं दसविहा रुक्खा उवजोगत्ताए उवन्थिया पणत्ता । तेजहा-पत्तंगया य भिगा, तुमि-अंगा दीव-जोइ-चित्तंगा । चित्तरसा मणिअंगा, गेहागारा अणगिया य ॥

तथा अकर्मभूमिकानां भोगजूमिजन्मनां मनुष्याणां दशविधा (रुक्वति) कल्पवृक्षाः (उवभोगत्तापत्ति) उपभोग्यत्वाय

(उवत्थियत्ति) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः । तत्र मत्ताङ्गकाः मद्यकारणच्युताः (जिगत्ति) भाजनदायिनः (तुमियंगत्ति) तुर्याङ्गसम्पादकाः (दीवत्ति) दीपशिखाः प्रदीपकार्यकारिणः (जोइत्ति) ज्योतिरग्निस्तत्कार्यकारिण इति (चित्तंगत्ति) चित्राङ्गाः पुष्पदायिनः चित्ररसाः जोजनदायिनः मण्यङ्गा आनर-पदायिनः गेहाकाराः भवनत्वेनोपकारिणः अनग्नत्वं सवस्त्रत्वं तस्तेतुत्वादनग्ना इति, स० १० सम० ।

अकम्मज्जमि-अकर्मज्जमि-स्त्री० न० कृष्यादिकर्मरहिताः । क-
ल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हेमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चक-
देवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकैरण्यवतपञ्चकरुपास्त्रि-
शदकर्मज्जमयः । न० । इत्येतासु जोगज्जमिषु, प्रश्न० आश्र० ५
द्वा० । स्था० । प्रव० ।

जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तओ अकम्म-
भूमीओ पस्सत्ताओ तंजहा-हेमवए हरिवासे देवकुरा । जंबुद्वी-
वे दीवे मंदरस्स उत्तरेणं तओ अकम्मज्जमिओ पस्सत्ताओ
तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे एरन्वए (स्था० ३ ग० ४ उ०)
जम्बुद्वीवे दीवे देवकुरुत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मज्ज-
मीओ पस्सत्ताओ तंजहा-हेमवए हेरस्सवए हरिवासे रम्म-
गवासे, स्था० ४ ग० ।

सर्वसङ्ग्रहे ।

जंबुद्वीवेदीवेउ अकम्मज्जमीओ पस्सत्ताओ । तंजहा-हेमवए
हेरस्सवए हरिवासे रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा । धायइखं न-
दीवपुरच्छिमफेणं उ अकम्मज्जमीओ पस्सत्ताओ । तंजहा-हेम-
वए जहा जंबुद्वीवे तहा जाव अंतरणईओ जाव पुक्खवरदीव-
हे पच्चत्थिमफे भाणियव्वं (स्था० ६ ग०) कइविहे णं जंते !
अकम्मभूमीओ पस्सत्ताओ ? गोयमा ! तीसं अकम्मज्ज-
मीओ पस्सत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरस्सवयाइं ।
पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तर-
कुराइं एयासु णं भंते ! तीसासु अकम्मज्जमीसु अत्थि
उस्सप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा ? णो इण्णहे समचे ।
भ० १० श० ८ उ० ।

अकम्मज्जमिय-अकर्मभूमिज-पुं० अकर्मज्जमिषु जाता अकर्म-
ज्जमिजा गर्भजमनुष्यभेदेषु, न० ।

अकम्मज्जमिओ-अकर्मज्जमिजा-स्त्री० अकर्मज्जमिभोगज्जमि-
स्तत्र जाता अकर्मज्जमिजा जोगज्जमिजगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्य-
स्त्रीषु, स्था० ३ ग० १ उ० ।

से किं तं अकम्मज्जमियाओ अकम्मज्जमियाओ तीसति-वि-
धाओ पस्सत्ताओ । तंजहा-पंचसु हेमवएषु पंचसु हेरस्सवएषु
पंचसु हरिवासेषु पंचसु रम्मगवासेषु पंचसु देवकुरुषु पंचसु
उत्तरकुरुषु सेत्तं अकम्मज्जमगणस्सीओ । जी० १ प्रति० ।
अकम्मया-अकर्मता-स्त्री० कर्मणामभावे, अस्याः फलं यथा-

अहानयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तावसेसाउए जोगनिरोहं
करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पन्निवाइयं सुक्कजाणं भायमाणे
तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ मणजोगं निरुंजइत्ता वइजोगं

निरुंभइ वइजोगं निरुंजइत्ता कायजोगं निरुंभइ कायजोगं
निरुंभइत्ता आणापाणनिरोहं करेइ आणापाणनिरोहं
करेइत्ता इसि पंच रदस्मक्खरुवारप्पाएय णं अणगारं समु-
च्छिन्नकिरियं अणियइइ सुक्कजाणं क्रियायमाणे वेय-
णिज्जं आउयं नामं गोयं च एए चत्तारि वि कम्मं से जुग-
वं खवेइ ॥११॥ तओ ओराअियकम्माइं च सव्वाहिं विप्प-
जहस्साहिं विप्पजहिता उज्जुसेदी पत्ते अफुसमाणगई उहुं
एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारावउत्ते मिज्जइ
वुज्जइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वहुक्खाणं अंतं करेइ ॥१३॥

शैलेस्यकर्मताद्वारमर्थतो व्याचिख्यासुराह (अहेति) केव-
लाऽवाप्त्यनन्तरमायुष्कं जीवितमन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं पाल-
यित्वा अन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणः अद्वा कालोऽन्तर्मुहूर्त्ताद्वा तदशेष
मुद्ररितं यस्मिन्स्तदन्तर्मुहूर्त्ताद्वावशेषम् । तथाविधमायुरस्येति
अन्तर्मुहूर्त्ताद्वावशेषायुष्कः सन् पाठान्तरतश्चान्तर्मुहूर्त्तावशे-
षायुष्कः । पठन्ति च “ अंतोमुहुत्तअद्वावसेसा ” इति प्राकृ-
तत्वादन्तर्मुहूर्त्तावशेषाद्वायाम् (जोगनिरोहं करेमाणिति)
योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपत्तनशोलमप्रति-
पात्यधःपतनाभावात् शुक्लध्यानं “समुदायेषुहि प्रवृत्ताः श-
ब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते” इति शुक्लध्यानतृतीयभेदं ध्यायं-
स्तत्प्रथमतया तदाद्यतया मनसो योगो मनोयोगः मनोद्रव्य-
साचिद्व्यजनितो व्यापारस्तं निरुणद्धि । तत्र च पर्याप्तमात्रस्य
संज्ञिनो जघन्ययोगिनो यावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनितश्च या-
वान् व्यापारस्तदसंख्यगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि तद्व्यापारं
प्रतिसमयं निरुन्धन् तदसंख्येयसमयैस्तत्सर्वनिरोधं करोति ।
यत उक्तम् “पज्जत्तमित्तसप्पि-स्सजत्तियाइं जहस्सजोगिस्स ।
होति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो” ॥ तयसंखगुण-
विहीणे, समए २ निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं, कु-
णइ असंखेज्जसमएहिं ” तदनन्तरं च वाचोवाचि वा योगो
वाग्योगो भाषाद्रव्यसाचिद्व्यजनितो जीवव्यापारस्तं निरु-
णद्धि तत्र च पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवाग्योगपर्यायेभ्योऽसं-
ख्यगुणविहीनास्तत्पर्यायान्समये २ निरुन्धन्नसंख्येयसमयेः
सर्ववाग्योगं निरुणद्धि । यत उक्तम् “ पज्जत्तमेत्तवैदिय, जह-
स्सवइजोगपज्जवा जे उ । तदसंखगुणविहीणा, समए.२ निरुं-
भंतो ॥ सव्ववइजोगरोहं, संखादीपहिं कुणइ समएहिं ।
आणापाणनिरोहं, पढमसमओयसुहुमपणगत्ति ” आनापा-
नाउच्छ्वासनिःश्वासौ तन्निरोधं करोति सकलकाययोगनि-
रोधोपलक्षणं चैतत्तं च कुर्वन् प्रथमसमयोत्पन्नसूक्ष्मपनक-
जघन्यकाययोगतोऽसंख्येयगुणहीनं काययोगमैकैकसमये
निरुन्धन् देहाग्निभागं च मुञ्चन्नसंख्येयसमयैरेव सर्वं निरुण-
द्धि । उक्तं च । “ जो किर जहन्नजोगो, संखेज्जगुणहीणस्मि
इक्किक्के । समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ रंभइ
सकायजोगं, संखाइएहिं चेव समएहिं । तो काययोगनिरोहो,
सेलेसीभावणामेति ” इत्थं योगत्रयनिरोधं विधाय (इसि-
त्ति) ईषदिति स्वल्पप्रयत्नापेक्षया पञ्चानां ह्रस्वाक्षराणां
अइउऊलृ इत्येवंरूपाणामुच्चारो भणनं तस्याद्वाकाद्यो यावता
उच्चार्यन्ते ईषत्पञ्च, ह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्वा तस्यां च (णमिति) प्रा-
ग्वत् अनगारः समुच्छिन्नोपरता क्रिया मनोव्यापारादिरूपा य-
स्मिन्स्तत् समुच्छिन्नक्रियं न निवर्तते कर्मकृयात् प्रागित्येवंशी-

अथापरं चतुर्थं दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्या-
यते । इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणाप्यागोपा-
लाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्यते इति । तदिहापि तथाभूत-
एवोच्चारित इति । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषो लुब्धकादिकः
कच्छे वा यावद् वनदुर्गे वा गत्वा मृगेर्हरिणैराट्यपशुनिवृत्ति-
वर्त्तनं यस्य स मृगवृत्तिकः स चैवंभूतो मृगेषु संकल्पो यस्या-
सौ मृगसंकल्पः॥ एतदेव दर्शयति । मृगेषु प्रणिधानमन्तःकर-
णवृत्तियस्यासौ मृगप्रणिधानः क मृगान्द्रक्ष्यामीत्येतदध्यव-
सायी सन् मृगवधार्थं कच्छ्यादिषु गन्ता भवति । तत्र च गतः
स दृष्ट्वा मृगानेते मृगा इत्ययं कृत्वा तेषां मध्येऽन्यतरस्य मृगस्य-
वधार्थमिषुं शरम् (आयामेतत्ति) आयामेन समाकृष्य मृगमु-
द्दिश्य निस्सृजति स चैवंसंकल्पो भवति । तथाऽहं मृगं हनि-
ष्यामीति इषुं क्षिप्तवान् । स च तेनेषुणा तित्तिरादिकं पक्षिवि-
शेषं व्यापदयिता भवति, तदेवं खट्वसावन्यस्यार्थाय निक्षिप्तो
दण्डो यदान्यं स्पृशति घातयति तदा 'अकस्माद्दण्ड' इत्यु-
च्यते ॥ १० ॥ अथुना वनस्पतिमुद्दिश्याकस्माद्दण्ड उच्यते
(से जहेत्यादि) तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः कृषीधलादिः शा-
ल्यादधीन्यजातस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्य-
शुद्धिं कुर्वाणः सन् अन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शस्त्रं
दात्रादिकं निस्सृजेत् स च श्यामादिकं तृणं छेत्स्यामीति कृ-
त्वाऽकस्माच्छालिं वा रालकं वा छिद्याद्रक्षणीयस्यैवासावक-
स्मान्छेत्ता भवति । इत्येवमन्यस्यार्थान्यायकृतेऽन्यं वा स्पृश-
ति छिनत्ति । यदि वा स्पृशतीत्यनेनापि परितापं करोतीति द-

शयति । तदेवं खलु तस्य तत्कर्तुस्तत्प्रत्ययिकमकस्माद्दण्ड-
मित्तं सावद्यमिति पापमाधीयते संवद्भवे । तदेतच्चतुर्थदण्ड-
समादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥ ११ ॥ सूत्रं
२ श्रु २ अ० ।

अकम्हा (म्हा) भय-अकस्मान्नय-न० अकस्मादेव बाह्य-
निमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य राज्यादौ भयमकस्माद्भ-
यम्, आद्य० ४ अ० । स्था० । बाह्यनिमित्तनिरपेक्षे स्वविकल्पा-
ज्जाते भयभेदे, स० ७ सम० । आ० चू० नि० चू० । अकस्मात् सह-
सैव विश्रब्धस्मार्तध्वनिश्रवणाद्भयमकस्माद्भयम् । यथा हस्त्या-
गच्छतीत्यादिभयणापुत्रसन्म, दर्श० ।

अकय-अकृत-त्रि० कृ कर्मणि कः । न० त० । कृतजिज्ञे, अन्यथा-
कृते, बलपूर्वकृते, ऋणलेख्यपत्रादौ, साध्वर्थं दाबकेन पाकतोऽ-
यिहिते, प्रश्न० संब० १ द्वा० “ अकयमकारियमसंकल्पियमणा-
हयं ” ज० ७ श० १ उ० । (एकदेशग्रहणेन ग्रहणात्) अकृ-
तकरणे, अगृहीतप्रायश्चित्ते, व्य० १ उ० । जावे कः । अभावाथै,
न० त० करणाभावे, निवृत्तौ, वाच० ।

अकयकरण-अकृतकरण-पुं० पष्ठाष्टमादिजिस्तपोविशेषैरप-
रिकर्मितशरीरे, प्रायश्चित्तयोग्ये पुरुषजदे, व्य० १ उ० । “ अ-
कयकरणाय पुविहा, अहिगया अणहिगया य बोधवा ” व्य० १
उ० । अकृतकरणा द्विविधाः । अधिगता अनधिगताश्च । तत्र ये
अगृहीतसूत्रार्थास्ते अनधिगताः । गृहीतसूत्रार्थास्तु अधिगताः,
व्य० १ उ० ।

अकयसु-अकृतज्ञ-त्रि० कृतमुपकारं परसंबन्धिनं न जानाती-
त्यकृतज्ञः, स्था० ४ टा० ४ उ० । ज्ञा० । क० । असमर्थं स० ।
कृतोपकारास्मारके कृतज्ञे, वाच० ।

अकयसुया-अकृतज्ञता-स्त्री० अकृतज्ञस्य जावस्तत्ता । कृतप्र-
तायाम्, “ चगदि गणेहि संते गुणे णासेज्जा तज्जहा-कोहेणं प-
णिणिवेसेणं अकयसुयाय मिच्छत्ताहिणिवेसेणं ” स्था० ४
गा० ४ उ० ।

अकयपुस-अकृतपुण्य-त्रि० अविहितपुण्ये, विपा० १ श्रु ७
अ० “ अकयपुस जणमणोरहा विवच्चित्तिस्समार्णी ” ज्ञा० ए अ० ।

अकयप (ए)-अकृतात्मन्-त्रि० अयतेन्द्रिये, “ सुखमात्य-
न्तिकं यत्तद्, बुद्धिआहमतीन्द्रियम् । तं हि मोक्षं विजानीयाद् दु-
ष्प्रापमकृतात्मजिः, स्था० ।

अकयमुह-अकृतमुख-त्रि० अकृतमङ्गरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं
यस्यासावकृतमुखः । अपठितशिक्षिते, “ पोथ्यगपञ्चपठियं, किं
रुसे एस हुव्व अदिवायं । अकयमुहफल्लगमाणय-जाते वि-
क्खंतु पंचगा ” वृ० ३ उ० ।

अकयसमायारीय-अकृतसमाचारीक-पुं० उपसंपद्विषयाया
मण्डवविषयायाश्च द्विविधाया अपि समाचार्या अकारके,
वृ० १ उ० ।

अकयसुय-अकृतश्रुत-पुं० अगीतार्थे-व्य० ६ उ० । अगृहीतो-
चितसूत्रार्थे, तदुभये, व्य० ४ उ० ।

अकरंरुग-अकरंरुक-त्रि० करंरुको वंशप्रथितः समतलक-
स्तस्यैवाकारो यस्य तत्करंरुकम् न करंरुकमकरंरुकम्,
औ० । करंरुकाकाररहिते दीर्घे, समचतुरस्रे, वा “ अकरंरुयंमि
भाणे, इत्थो रुक्कं जहा न घट्टेत्ति ” वृ० ३ उ० ।

अकरंरुय-अकरंरुक-त्रि० अविद्यमानं मांसलतया अनुपल

द्यमाणं करंरुकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्यासौऽकरंरुकः ।
जी० ३ प्रति० । मांसलतयाऽनुपलब्ध्यमाणपृष्ठवंशास्थिके,
औ० । मांसोपचितत्वादविद्यमानपृष्ठपाश्चास्थिके, तं० । प्रश्न० ।
“ अकरंरुयकणगगरुयगणिम्मवसुजायणिस्वहयदेहधारी ”
जी० ३ प्रति० ।

अकरण-अकरण-न० । कृ० जावे ल्युट्, । अर्थाजावे, न० त०
अव्यापारे, आचा० १ श्रु० ए अ० । १ उ० । अनासेवने, आद्य० ।
६ अ० । पञ्चा० । परिहरणे, आ० चू० १ अ० । अकरणाभन्दकर-
णं श्रेयः । अकरणं च न्यायादिमते करणाभावः, मीमांसकवेदा-
न्तिमते निवृत्तिः, अकरणीये मैथुने, “ जइ सेवंतअकरणं, पंचणहं
विवाहिरा हुति ” व्य० ३ उ० । संस्कारहीनतारूपे, साधन (हेतु)
दोषे, यथाऽनित्यः शब्दः कृतकत्वस्मादिति । अत्र कृतकत्वाद-
ति वक्तव्ये कृतकत्वस्मादिति संस्काररहितोऽशुद्ध उक्तः ।
रत्ना० ८ परि० ।

अकरणया-अकरणाता-स्त्री० करणनिषेधरूपतायाम्, भ० १५ हा०
१ उ० “ अकरणयाए अबुडित्तए ” न पुनः करिष्यामीत्यन्यु-
पस्थानुमच्युपगन्तुमिति, स्था० २ गा० १ उ० । अनासेवनायाम्,
ध० ३ अधि० । “ सज्जायस्स अकरणयाए उमओ कात्तं ”
आद्य० ४ अ० ।

अकरणओ-अकरणतस्-अव्य० अकरणमाश्रित्येत्यर्थः । अकुर्वत्
इति यावत्, “ अकरणओ णं सादुक्खा ” भ० १ श० १ उ० ।
अकरणणियम-अकरणनियम-पुं० अनासेवननियमे, “ अ-
संप्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्रयः । सर्वतोऽस्मादकरणो, नि-
यमः पापगोचरः ” ॥ द्वा० २० द्वा० ॥

अकरणि-अकरणि-स्त्री० नञ् । कृ. आक्रोशे अनिः । करणं माचू-
दित्याक्रोशात्मके शापे, ‘ तस्याकरणिरवास्तु ’ इति, वाच० । प्रश्न० ।
अकरणिज्ज-अकरणीय-स्त्री० न० त० सामान्येनाकर्तव्ये, आव०
४ अ० । आ० चू० “ इच्छामि पणिकमिउं, अकण्णो अविराहिओ
अकरणिज्जो ” आव० ४ अ० । अकर्तव्ये, इहोक्तपरलोकवि-
रुद्धत्वादकार्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । “ अप्पाणेणं
अकरणिज्जं पावकम्मं तं णो अण्णसी ” आचा० १ श्रु० ५ अ०
३ उ० । असत्ये, “ मिच्छन्ति वा वितहन्ति वा असंखति वा
असंखयन्ति वा अकरणीयन्ति वा पगट्ठा, ” आ० चू० १ अ० ।
अकरणोदय-अकरणोदय-त्रि० भाविकालमाश्रित्याकरणस्यैवो-
दयो यस्मिन्निति तत्तथा (अनागते कालेऽकरणत्वेनोदयं प्रा-
प्स्यति) “ उत्थाने निर्वेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्याः ”
पो० १५ विध० ।

अकलंक-अकलङ्क-पुं० विद्वद्भेदे, अकलङ्कोप्याह-द्विविधं प्रत्यक्ष-
ज्ञानम् । सांख्यवहारिकं मुख्यं च, इत्यादि न० त० कलङ्करहिते च, त्रि०
अकलुण-अकरुण-त्रि० नास्ति करुणा यस्य यत्र वा, दैन्यशून्ये
च, वाच० । निर्दये, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकलुस-अकलुष-त्रि० न० ब० कोधादिकालुष्यरहिते, अणु०
द्वेषवर्जिते, अन्त० ७ वर्गः ।

अकसाइ (न)-अकपायिन्-पुं० कपाया विद्यन्ते यस्यासौ
कपायी न कपायी अकपायी, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । कपा-
योदयरहिते, प्रज्ञा० ३ पद ।

अकसाय-अकपाय-त्रि० कपायरहिते, “ अकपायं अहक्खायं,

लुप्तमन्थस्स जिणस्स वा” । उक्तं २८ अ० अकपायाः अशान्त-
माहादयश्चत्वारः सिद्धाश्च, स्था० ४ टा० ।

अकमिण--अकृत्स्न--त्रि० अपरिपूर्णं, प्रति० । पञ्चा० ।

अकमिणपवत्तय--अकृत्स्नप्रवर्तक--पुं० अकृत्स्नमपरिपूर्णं संयमं
प्रवत्तयन्ति विदधति ये ते तथा । देशविरते, “अकसिणपवत्तया-
णं, विरपाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे,
दव्वन्थयकूवदिठ्ठो ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अकमिणसंजम--अकृत्स्नसंयम--पुं० देशविरते, प्रति० ।

अकमिणमंजमवंत--अकृत्स्नसंयमवत्--पुं० देशविरतिमति श्राद्धे

“किं योभ्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या जगुः, प्रति० ।

अकसिणा--अकृत्स्ना--स्त्री० चतुर्थे आरोपणभेदे, स्था० ५ टा०

२ उ० । यस्यां षाण्मासाधिकं भोष्यते तस्यां हि तदतिरिक्त-
जाटनेनापरिपूर्णत्वादिति, स्था० ५ टा० २ उ० व्य० । नि० च० ।

अकहा--अकथा--स्त्री० मिथ्यादृष्टिना अज्ञानिना विद्वत्स्थेन वा
गृहिणा कथ्यमानायां कथायाम्, । तल्लक्षणम् ।

मिच्छन्तं वेयंतो, जं अन्नाणीं कहं परिकहेइ ।

झिगत्थो व गिही वा, मा अकहा देसिया समए ॥२१॥

मिथ्यात्वमिति । मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदयन् विपाकेन यां कां-
चित् अज्ञानी कथां कथयति । अज्ञानित्वं चाऽस्य मिथ्यादृष्टिवादेव
यद्येवं नाथोऽज्ञानिप्रद्वेषेन मिथ्यावेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारादि-
ति चेन्न प्रदेशानुभववेदकेन सम्यग्दृष्टिना व्यभिचारादिति । किं-
विशिष्टोऽस्माद्विग्रह-विद्वत्स्थो वा स्वयंप्रवृत्तिनाऽङ्गारमर्हकादिः
गृही वा यः कश्चिदितर एव । सा एवं प्ररूपकप्रयुक्तयुक्त्या श्रोत-
र्यपि प्रज्ञापकतुल्यपरिणामनिवन्धना कथा दर्शिता समये । ततः
प्रतिविशिष्टकथाफलजावादिति गार्थार्थः ॥२१॥ दश० ३ अ० ।
अकाइय--अकायिक--पुं० नास्ति कायः (औदारिकादिः पृथि-
व्यादिपदकायस्तदन्यो वा) येषां ते अकायास्त एवाकायिकाः ।
सिद्धपु, ज० ८ श० २ उ० ।

अकाम--अकाम--पुं० कर्मन काम इच्छा, न कामो ऽकामः । अनि-
च्छायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ उ० । उपरोधशीलतायाम् “ तं च हुञ्ज
अकामेणं, विमणेणं पमिच्छियं” दश० ४ अ० ६ ब० । इच्छाम-
दनकामरहिते, आत्मा निर्जराद्यनभिज्ञापिणि, निरभिप्राये, भ०
१ श० १ उ० । मोक्षं च, तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेः । उक्तं १५ अ०

अकामअण्हाणग--अकामान्नानक--पुं० अकामान्नानरहिते,
“अकामअण्हाणगर्मायावदंसमसगमेयजल्लमल्लपंकपरितावं”
अकामानामन्नानादिभिर्यः परितापः परिदाहः स तथा । अका-
मा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा निर्जराद्यनभि-
लापिणामन्नानादिभिः परितापे, श्रौ० । अस्नानादिभिः परिदाहे,
निरतिप्राये वा, भ० १ श० १ उ० ।

अकामकाम--अकामकाम--त्रि० कामानिच्छामदनकामभेदान् का-
मयते प्रार्थयते यः स कामकामो न तथा अकामकामः । न विद्यते
कामस्य कामोऽभिज्ञापो यस्य स अकामकामः कामानिज्ञाप-
रहिते, अकामो मोक्षाभिज्ञापस्तत्र सकलानिज्ञापनिवृत्तेः, तं
कामयते यः स तथा (मोक्षार्थिनि) “ संथवं जहेज्ज अकाम-
कामे” उक्तं १५ अ० ।

अकामकिञ्च--अकामकृत्य--त्रि० कर्मन काम इच्छा न कामो-
ऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्याभावकामकृत्यः । अनिच्छाकारि-
णि, । सूत्र० २ श्रु० ६ अ०

अकामग--अकामक--त्रि० कर्मणि प्रत्ययः । अनभिलषणीये, प्रश्न०
आश्र० १ द्वा० । कर्तरि एवुव् । अनिच्छति, “ अकामगं परि-
कम्मं, कोउ ते धारिउ मरिहति” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।
अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रतानुष्ठानं
कुर्याणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवति
यदि वा (अकामगंति) वारुक्क्यावस्थायां मदनं च्छाकामरहितं
पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वाभवसरप्राप्तः कर्मणि प्रवृत्तं
वारयितुमर्हतीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । ज्ञा० । विषयादि
वाञ्छारहिते, तं० । प्रश्न० ।

अकामलुहा--अकामलुधा--स्त्री० निर्जराद्यनभिज्ञापिणां प्रथम-
परिपहसहने, भ० १ श० १ उ० ।

अकामणिगरण--अकामनिकरण--त्रि० अनिच्छाप्रत्यये, तद्यथा ।

ए एं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा तमपरुलमोहजालपझिच्छप्पा
अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वत्तवं मिया हंता गोयमा!
जे इमे अमसिणो पाणा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया
उट्ठा जाव वेयणं वेदंतीति वत्तवं सिया । अत्थि एं भंते !
पजू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ हंता अत्थि कहएहं भंते !
पजू वि अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे एं नो
पजू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रुवाई जे णं एं पजू पुर-
ओ रुवाई अणिज्जाइत्ताणं पासित्तए जे एं नो पजू
मागाओ रुवाई अणवयक्खित्ताणं पासित्तए जे णं नो पजू
पासओ रुवाई अणुलोएत्ता एं पासित्तए एस एं अकामनि-
करणं वेदणं वेदेइ अत्थि एं जंते ! पजू वि पकामनिकरणं
वेयणं वेदेइ हंता कहएहं समुहस्स जाव वेदणं वेदेइ जे एं
नो पजू समुहस्स पारंगमेत्तए जे एं नो पजू पारगयाइं रुवाई
पासित्तए जे एं नो पजू देवलोणं गमित्तए जे एं नो पजू दे-
वल्लोगगयाइं रुवाई पासित्तए एस एं गोयमा ! पजू वि पका-
मनिकरणं वेदणं वेदेइ ।

(अंधति) अन्धा इवान्धा अज्ञानाः (मूढसि) मूढास्तत्त्व-
श्रुतान्प्रति एत एवोपमयोच्यन्ते (तमप्पविट्ठसि) तमःप्रवि-
ष्टा इव तमःप्रविष्टाः (तमपरुलमोहजालपझिच्छप्पसि) तमः-
पटलमिव तमःपटलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीयं तदेव जालं
मोहजावं ताज्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा (अकाम-
निगरणसि) अकामो वेदानुभवेऽनिच्छा अमनस्कत्वात्मक एव
निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भावः ।
तद्यथा । भवतीत्येवं वेदनां सुखदुःखरूपां वेदनं वा संवेदनं
वेदयन्त्यनुभवन्तीति अथासंज्ञिविपक्षमाश्रित्याह (अत्थीत्यादि)
अस्त्ययं पक्षो यदुत । (पजूवित्ति) प्रचुरपि संज्ञित्वेन यथावद्
रूपादिज्ञानं समर्थोऽप्यास्तामसंज्ञित्वेनाऽप्रभुरित्यपिशब्दार्थः ।
अकामनिकरणमनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् । अन्ये त्वाहुः । अका-
मेनाऽनिच्छया निकरणं क्रियाया इष्टार्थप्राप्तिलक्षणया अभावो
यत्र वेदने तत्तथा । यद्यथा । भवतीत्येवं वेदनां वेदयन्तीति प्रश्नः,
उत्तरन्तु (जेणंति) यः प्राणी संज्ञित्वेनोपायसद्भावेन च हेया-
दीनां हानादौ समर्थोऽपि (नोपहुत्ति) न समर्थः विनाप्रदी-
पेनान्धकारे रूपाणि (पासित्तएत्ति) छुप्तेभ्योऽकामप्रत्ययं

वेदयतीति संबन्धः (पुराओत्ति) अग्रतः (अणिज्जापत्ताणंति) अनिर्धाय चक्षुरव्यापार्य । (मगाउत्ति) । पृष्ठतः (अणवय-
स्त्रिखत्ताणंति) अनवेद्य पश्चाद्भागमनवलोकयेति अकामनिक-
रणवेदनां वेदयन्तीत्युक्तमथ तद्विपर्ययमाह (अन्धीणमित्यादि)
प्रचुरपि संज्ञित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि (पकामनिकरणंति)
प्रकाम ईप्सितार्थाऽप्राप्तितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽजिलापः । स
एव निकरणमिष्टार्थसाधकक्रियाणामभावो यत्र, तत्र प्रकामनि-
करणम् । तद्यथा भवति एवं वेदनां वेदयतीति प्रश्नः उत्तरन्तु
(जेणमित्यादि) यो न प्रचुरः समुद्रस्य पारं गन्तुं न तत्रतः प्रव्याप्राप्त्य-
र्थिन्वे सत्यपि तथाविधसत्यैकत्वत्वात् एव च, यो न प्रभुः
समुद्रस्य पारगतानि रूपाणि द्रष्टुं स तत्रताऽभिलाषातिरेकात्
प्रकामनिकरणवेदनां वेदयतीति । ज० ७ श० ७ ३० ।

अकामणिज्जरा-अकामनिर्जरा-स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्य-
नभिलाषेण निर्जरा कर्मनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यत्सा अ-
कामनिर्जरा । निर्जरानभिलाषेणैव बुभुक्षादिसहने, स्था० ४
ठा० ४ उ० । औ० । कर्म० । (अकामनिर्जरया असंयता व्यन्त-
रेषूपपद्यन्ते इति 'वन्तर' शब्दे व्याख्यास्यामि)

अकामतण्हा-अकामतृण्णा-स्त्री० निर्जराद्यनभिलाषिणां सतां
तृषि, भ० १ श० १ उ० । औ० ।

अकामवंभेचरवाम-अकामब्रह्मचर्यवास-पुं० अकामानां नि-
र्जराद्यनभिलाषिणां सतामकामो वा निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण
रूपादिपरिभोगाभावमात्रलक्षणेन वासो रात्रौ शयनमकाम-
ब्रह्मचर्यवासः । (फलानभिसन्धिनां ब्रह्मचर्यसेवने) ज० १ श०
१ उ० । औ० ।

अकाममरण-अकाममरण-न० अकामेन अनीप्सितत्वेन धि-
यतेऽस्मिन् इति अकाममरणम् । घालमरणे, " घालाणं च अ-
कामं तु, मरणं असहं भवे " उक्त० ५ अ० । ('घालमरण' शब्दे
एतद्विवरिष्यते)

अकामिय-अकामिक-त्रि० न० य० निरभिलाषे, " तहेव संता
तंतापरितंता अकामिया " विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया-अकामिका-स्त्री० अनिच्छायाम् । " अकामियाप
चिणंति दुक्खं " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकाय-अकाय-पुं० न० य० पृथिव्यादिपञ्चधिकायविरहिते,
स्था० २ ठा० ३ उ० । औदारिकादिकायपञ्चकविप्रमुक्ते (वा)
सिद्धे, प्रव० १४६ द्वा० । आच० । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्वेन
कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारग-अकारक-पुं० (न करोति भोजने रुचिम्) भक्षद्वेयरूपे,
रोगविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । उपा० अपथ्ये, औ० ।
[अकर्त्तरि] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवाइ (ए)-अकारकवादिन्-पुं० अकारकं वदन्ति
तच्छीलाः, आत्मनोऽमूर्तत्वानित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः
निष्क्रियत्वमेवाभ्युपगमेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ('णि-
क्रियवाइ' शब्दे चैतेषां मतं तत्खण्डनं च कारिष्यते)

अकारण-अकारण-त्रि० नास्ति करणं हेतुरुद्देश्यं वा यस्य हेतुर-
हिते, उद्देश्यरहिते च । वृ० १३। कारणभिन्ने, न० वाच० । यदा तपः-
स्वाध्यायवैयाकृत्यादिकारणपङ्क्तं विना बलवीर्याद्यर्थं सरसा-
हारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोष इत्येवंलक्षणे पञ्चमे
परिभागेपण्याया दोषे, उक्त० २४ अ० ।

अकारचित्त-अकारयत्-त्रि० आरम्भकयकारणे परमव्यापार-
यति । " आरम्भनियत्ताणं, अकिणंताणं अकारचित्ताणं । ध-
म्मद्वा दायव्वं " वृ० १ उ० ।

अकारिय-अकारित-त्रि० अन्यैरकारिते, प्रश्न० संव० १ द्वा० ।

अकात्त-अकात्त-पुं० अप्राशस्त्ये, न० त० अप्राशस्तकाले, विहि-
तकर्मसु पर्युदस्ततयाऽजिहिते, गुरुशुकाद्यस्तकात्वादौ, अप्रस्ता-
वे, उक्त० १ अ० । कर्तव्याऽनवसरे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । वृ० ।
अवर्षासु, " अकाले वरिसइ " स्था० ७ ठा० । अप्राप्तः कालो यस्य
" प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः " इति वा० अ-
न्यलोपश्च । अप्राप्तकाले, अनुचितकाले, पदार्थे । अति कालः
कृष्णः, न० त० । कृष्णविरुद्धशुभ्रवर्णे, न० व० । कृष्णत्व विरोधि-
शुभ्रत्ववति, त्रि० । वाच० ।

अकात्तपमिवोहि(ए)-अकालप्रतिबोधिन्-त्रि० (असमये व्याप्रि-
यमाणे) " मित्रक्खणि अणारियाणि दुस्सम्पणाणि दुष्पप्रव-
णिज्जाणि अकालपमिवोहीणि " अकात्तप्रतिबोधीनि । न तेषां
कश्चित् पर्यटनकावोऽस्ति अर्करात्रावपि मृगयादौ गमनस-
म्भवात् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० चू० ।

अकालपठण-अकालपठन-न० असमयवाचनायाम्, पञ्चा० ।
१५ विव० ।

अकात्तपरिहीण-अकालपरिहीण-न० परिहाणिः परिहीणं का-
विलम्बः न विद्यते परिहीणं यत्र प्रादुर्भवने तत् कात्तप-
रिहीणम् (शीघ्रप्रकटीभवने) " अकालपरिहीणं चैव सूरि-
याजस्स अंतियं पाउम्भवह " रा० ।

अकालपरिभोगि (ए) अकात्तपरिभोगिन्-त्रि० रात्रौ सर्वा-
दरेण वृत्ताने, " अकालपमिवोहीणि अकालपरिभोईणि "
नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अकालमच्चु-अकात्तमृत्यु-पुं० अकाल एव जीवितभ्रंशे, " प-
ढमो अकालमच्चू, तहिं तावफलेण दारको उहते " आव० १ अ० ।
अकालवासि (ए) अकालवर्षिन्-पुं० अनवसरवर्षिणि मेघे,
तद्वदनवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवृत्ते पुरुषे च ।
स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अकात्तसज्जायकर (कारिन्)-अकालस्वाध्यायकर (कारिन्)-
पुं० असमाधिस्थानविशेषे, " अकात्ते सज्जायकारी य कात्तियसुयं
उग्घारुपोरुसीए पढइयंत[?] देवया असमाहिप योजयति "
इत्यसमाधिस्थानत्वं तस्य । आच० ४ अ० । स० ।

अकासि-देशी-पर्याप्ते, दे० ना० ।

अकाहल-अकाहल-त्रि० अममनाक्रे, प्रश्न० संव० २ द्वा० ।

अकिंचण-अकिञ्चन-त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनक-
नकादि अस्तीति अकिञ्चनः । निष्परिग्रहे, उक्त० ३ अ० । आच० ।
आ० चू० । स्था० । औ० । प्रश्न० । आचा० । ज्ञा० । हिरण्यादि-
मिथ्यात्वादिछल्यज्ञापककिञ्चनविनिर्मुक्ते, दश० ६ अ० । " समणा-
भविस्सामो भ, अणगारा अकिंचणा अजुत्ता प " सूत्र० २ श्रु० १
अ० । इरिद्धे, वाच० ।

अकिंचणकर-अकिञ्चनकर-त्रि० अकिञ्चित्संपादके, अकिञ्चना-
नां साधूनां प्रयोजनकरे, " व्यवहारइच्छिप वाप्य अकिंचणकरे-
य " योऽपि कश्चित्सधूनां प्रयत्नीकः सोऽपि तेषां राजादि-

कुमारप्रसजितानां भयतो न किञ्चित् करोति । अथवा ऽकिञ्चनानां साधूनां यदि कथमपि केनाप्यर्थज्ञाने प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत् सर्वं लोके प्रायोऽप्राथित एव करोति, व्य० २ उ० ।

अकिञ्चण्या-अकिञ्चनता-स्त्री० न विद्यते किञ्चनद्वयज्ञान-मस्येत्यकिञ्चनस्वरूपा ऽकिञ्चनता । निपरिग्रहितायाम्, “चउ-विहा अकिञ्चण्या पञ्चत्ता तंजहा मणअकिञ्चण्या वडअकिञ्चण्या कायअकिञ्चण्या उचकरणअकिञ्चण्या ” अकिञ्चनता च मनःप्रभृतिभिरुपकरणैरेकया च भवतीति चातुर्विध्यम् । स्था० ४ टा० ३ उ० । चतुर्थस्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्वीकारलक्षणे यमभेदे, टा० टा० ११ ।

अकिञ्चिकर-अकिञ्चिन्कर-पुं० हेत्वाज्ञानभेदे, स च यथा प्रतीते प्रत्यक्षादिनिराकृते च, साध्ये हेतुरकिञ्चिन्करः प्रतीयते । यथा-शब्दः श्रावणः शब्दत्वात् प्रत्यक्षादिनिराकृते । यथानुष्णः कृष्णवर्मा ज्ञेयत्वात् । पत्न्या वनिता, मेवनीया पुरुषत्वादित्यादि र० ६ परि० (अस्य हेत्वाभासत्वमयुक्तमिति हेतुज्ञानास'शब्दे)

अकिञ्च-अकृत्य-न० त० । कृ-क्यप् । अप्राशस्त्ये । अकरणीये, साधूनामविधेये, पञ्चा० १५ विव० । स्था० । प्रश्न० । “ अकिञ्चमप्यणा काउं कयमेण्ण भासइ अकिञ्चं पाणाइवायादि अप्यणा काउं कयमेतेण्ण भासइ अणस्स उच्छेहेइ ” (समहामोहं प्रकरोति) आब० ४ अ० । न कृत्यमस्य । न० व० । कर्मरहिते, त्रि० वाच० ।

अकिञ्चउण-अकृत्यस्थान-न० कृत्यस्य करणस्य स्थानमाश्रयः कृत्यस्थानं तन्निषेधोऽकृत्यस्थानम् । मूलगुणादिप्रति-सेवारूपेऽकार्यविशेषे, भ० ८ श० ६ उ० ।

अन्नयरं तु अकिञ्चं, मृद्वगुणे चैव उत्तरगुणे य ।

मूलं न मव्वदेमं, एमेव य उत्तरगुणेषु ॥

अन्यतरदकृत्यं पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तरगुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदेशं वा सर्वथा मूलगुणस्योच्छेदे देशतो वेत्यर्थः । एवमेवानेनैव प्रकारेणोत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयम् । तद्यथा । उत्तरगुणस्यापि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्या-नान्तरमाह ।

अहवा पणगादीये, मामादीये वि जाव उम्माया ।

एवं तपोऽग्निं खलु, उदादिचउणहमेणयरं ॥

(अहवेति) अकृत्यस्थानस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने पञ्चकादिकं रात्रिदिवपञ्चकप्रभृति, प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं यदि वा मामादिकं तच्च नावद्यावत्पणमासाः एतन् खलु अकृत्यस्थानं तपोऽहं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हं यदि वा उदादीनां चतुर्णां प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानम् । व्य० १ उ० ।

अकिञ्ज-अक्रय-वि० क्रेयानर्हं “सुक्रियं वा सुविकीयं, अकिञ्ज किञ्जमेव वा” दशा० ७ अ० ।

अकिट्ट-अकृष्ट-त्रि० अत्रिलिखिते, भ० ३ श० २ उ० ।

अकिण्त-अकीणन्-स्त्री० यस्मादिक्रयमकुर्वाणै, वृ० १ उ० ।

अकिन्ति-अकीन्ति-स्त्री० सर्वदिग्ग्यायाऽसाधुवादे, ग० १ अधि० दानपुण्यफलप्रवादे, दशा० १ च्छि० । दानकृताया एकदिनामिन्या वा प्रमिष्टेरावे, श्री० “अकिन्ति मे वा मिया” स्या० ७ ग० ।

अक्रिय-अक्रिय-पुं० । न० व० । कायिकयाधिकरणिकयादि-

क्रियावर्जिते, स्था० ७ टा० । कायिकयादिक्रियाभिष्वङ्गवर्जिते, प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० १५ श० ७ उ० । न विद्यन्तेऽनभ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येषान्तेऽक्रियाः । नास्तिकेषु, “अक्रियगहुमुहदुरुसि ” न० । नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः । संवृत्तात्मकतया सांप्रसारिककर्माऽव्यधिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अक्रिरिया-अक्रिया-स्त्री० नञिह दुःशब्दाद्यौ यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः । ततश्चाक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामो-कसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति । एषा मिथ्यात्वभेदत्वेन दर्शिता, स्था० ३ ग० ३ उ० । “अक्रिरिया तिविहा पञ्चत्ता तंजहा पञ्चांगक्रिरिया समुदाणक्रिरिया अज्ञानक्रिरिया” अक्रिया हि अज्ञानाभना क्रियैवाताऽक्रिया । त्रिविधेत्यभिधाय ऽपि प्रयोग इत्यादिना क्रियैवाकृति । स्था० ३ ग० ३ उ० । सूत्र० । क्रिया ऽस्तीति रूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी सैव यथा वस्तुविषयतया कुत्सिता अक्रिया नञः कुत्सार्थत्वात् नास्तिक्ये, स्था० ८ ग० । नास्तिकवादे, “अक्रिरियं परियाणामि किरियं उव-संपज्जामि” ध० ३ अधि० । योगनिरोधे, स्था० ८ टा० । “एका अक्रिरिया” एका अक्रिया योगनिरोधवृत्तकणा, नास्तिकत्वे वा । स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिस्पन्दे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सर्वक्रियाविगमे च । ध० २ अधि० । क्रियाया अभावे, भ० २ ए श० २ उ० ।

अक्रिरियाआय-अक्रियात्मन्-पुं० अक्रिय आत्मा येषामच्युप-गमे ते अक्रियात्मानः । सांख्येषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोगमि अक्रीरियाया, अन्नेण पुडा धुयमादिसंति ।

आरंभसत्ता गठिता य लोण, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥

ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामच्युपगमे ते-ऽक्रियात्मानः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते । तथा चोक्तम् । “अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शन” इति तु शब्दो विशेषण, स चैत-द्विशिनाष्टि । अमूर्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्य-ते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमौदौ न घ-टते इत्यभिप्रायवता मोक्षसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियावाददर्श-नेऽपि धृतं मोक्षं तदभावमादिशन्ति प्रतिपादयन्ति । ते तु पच-नपाचनादिके स्नानार्थं जलावगाहनरूपे वाऽग्निमेव सावद्ये सत्ता अध्युपगमा लोके मोक्षैकहेतुमूत्रं धर्मं श्रुतचारित्राख्यं न जान-न्ति कुमारग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अक्रिरिय (या) वाड (न)-अक्रियावादिन्-पुं० क्रिया अस्तीतिरूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी, सैवाऽयथावस्तु-विषयतया कुत्सिता अक्रिया, नञः कुत्सार्थत्वात्, तामक्रियां व-दन्तीत्येवंशीला अक्रियावादिनः । यथाऽवस्थितं हि वस्तुनेका-न्तात्मकं, तन्नास्त्येकान्तात्मकमेव वास्तीति प्रतिपत्तिमत्सु नास्ति-केषु, स्था० ८ ग० । ते चाऽष्ट “अष्ट अक्रिरियावादी पञ्चत्ता तं जहा एकावादी अणिक्रियाइ मितवादी निमित्तवादी सायवादी समुच्छेदवादी णियावादी ण संति परलोगवादी ” स्था० ४ ग० ४ उ० । (ऐक्यवाद्यादिपदानामर्थो निजनिजस्थानेषु) अक्रियाक्रियाया अन्ताव यदन्ति तच्छीला अक्रियावादिनः न कस्य-चिन्प्रतिकूलमनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति उत्पत्त्य-नन्तरमेव विनाशदित्येवं वदन्सु, न० । ज० । तथा चाहुरेके । क-णिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया “भूतियेषां क्रिया

सैव कारकं सैव चोच्यते” न०। अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां घटितुं शीलं येपान्तेऽक्रियावादिनः । भ० २६ श० २ उ० । नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । नास्ति माता नास्ति पितेत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, उक्त० ३ अ० । आचा० । ते चाशीतिः “अकिरियवाइ ए होइ चुलसी-ई” सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

इह जीवाइ पयाइ, पुषं पावं विणा ठविज्जंति ।

तेसिमहोजायम्मि, ठविज्जए सपरसद्दुगं ॥ २०८ ॥

तस्स वि अहो द्विहिज्जइ, कालजदिच्चाइपयदुगसपेयं ।

नियइस्सहावईसर, अप्पात्ति इमं पयचउकं ॥ २०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रक्रमे जीवादीनि पूर्वोक्तानि पुण्यपापवर्जितानि नवसप्तपदानि परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्थाप्यते स्वतः परत इति द्वे पदे न्यस्येते इत्यर्थः । असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तस्मिन्सिद्धापत्तेः । तस्यापि च स्वपरशब्दद्विकस्याधस्तात् कालयदच्छारूपपदद्वयसमेतमेतन्नियतिस्वभावेश्वरात्मलक्षणं पदचतुष्कं त्रिख्यते, काव्यदच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मरूपाणि षट् पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः । इह यदच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रियावादिनस्ततः प्राग्यदच्छा नोपन्यस्ता । अथ विकल्पानिज्ञापमाह ।

पढमे भंगे जीवो, नत्थि सओ कालओ तयणु बीए ।

परओ वि नत्थि जीवो, कालाइ य भंगगादोन्नि ॥ २१० ॥

एव जइच्चाइहिं वि, पएहिं भंगदुगं दुगं पत्तं ।

मिद्वियावि ते डुवावस-संपत्ता जीवतत्तेण ॥ २११ ॥

नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो जङ्गः । तदनु नास्ति जीवः परतः कालत इति द्वितीयो भङ्गः । एतौ द्वौ च भङ्गौ कावेन लब्धौ, एवं यदच्छादिभिरपि पञ्चजिः पदैः प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ जायेते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश । अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः । नवरं यदच्छात इति यदच्छावादिनां मते । अथ गाथा । के ते यदच्छावादिनः उच्यन्ते । इह ये भावानां सत्तापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति किन्तु यदच्छया ते यदच्छावादिनस्तथा त एवमाहुर्न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् तथाहि-शालुकादपि शालुको जायते गोमयादपि, अग्नेरप्यऽग्निर्जायते अरुणिकाष्ठादपि, धूमादपि जायते धूमः अग्नीन्धनसंपर्कादपि, कन्दादपि जायते कदलीवीजादपि, वटादयोऽपि बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः कचिदपि कार्यकारणजः इति । यदच्छातः कचिद् किंचिज्जवतीति प्रतिपत्तव्यं, न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मानं प्रेक्षान्तः परिक्लेशयन्ति । एते च द्वादश विकल्पा जीवनत्वेन जीवपदेन संप्राप्ता वक्ष्याः । एवमजीवादिभिरपि पशूभिः पदैः प्रत्येकं द्वादश विकल्पाः प्राप्ताः । ततो द्वादशभिः सप्त गुणिता जाता चतुरशीतिः । सर्वसंख्यया चाक्रियावादिनामेते जेदा जवन्तीति । प्रव० २०६ द्वा० । सूत्र० । स्था० । ध० । आव० ।

साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः गाथापश्चार्द्धमाह ।

लवावसंकीयअण्णागएहिं, णो किरियमाहुंसु अकिरियवादी ।

लवं कर्म तस्मादपशंकिंतुमपसर्तुं शीलं येपान्ते लवापशं-किनो लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्-

क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति । उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः । तद्यथा “बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः । न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः” तथा बौद्धानामयमज्युपगमो यथा कृणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यस्थितानां च कुतः क्रियेत्यक्रियावादित्वम् । योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमज्युपगमः । तद्यथा विचार्यमाणाः पदार्था न कथंचिदप्यात्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलम् । तथाह्यवयवी तत्त्वातत्त्वाज्यां विचार्यमाणो न घटं प्राञ्चति नाप्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यन्ते । विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्त्तस्य निराकारतया न स्वरूपं विभर्ति । तथा चोक्तं “यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा । यद्येतत् स्वयमर्थेन्द्र्यो, रोचते तत्र के वयम्” इति प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धास्तत्राऽनागतैः कृष्णैः चशब्दादतीतैश्च वर्तमानकृष्णस्यासङ्गनेन क्रिया नापि च तज्जनितः कर्मबन्ध इति । तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापज्ञापितया लवावशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्वव्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्यास्तदेवं लोकायतिकाबौद्धाः सांख्या अनुपसंख्यया अपरिज्ञानेनैवेत्येतत्पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तस्तथैव तत्त्वाज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः । तद्यथा । अस्माकमेवमज्युपगमोऽर्थोऽवज्ञासते गुज्यमानको भवतीति । तदेवं श्लोकपूर्वाद्धं काकाकिंगोलकन्यायनाक्रियावादिमतेऽप्यायेज्यमिति ।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह ।

सम्मिस्सभावं व गिरा गहीए, से मुम्मई होइ अण्णाणुवाइ ।

इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहुंसु उह्वायतणं च कम्मं । १॥

स्वकीयया गिरा वाचा स्वाज्युगमेनैव गृहीते तस्मिन्नर्थेनान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽयातस्यार्थस्य गिरा प्रतिषेधं कुर्वाणाः संमिश्रीभावमस्तित्वं नास्तित्वापगमं ते लोकायतिकादयः कुर्वन्ति, चशब्दात् प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथाहि । लोकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतयात्मानं कर्त्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापञ्चांश्च शिष्यानवश्यमज्युपगच्छेयुः सर्वशून्यत्वे त्वस्य तृतीयस्याभावान्मिश्रीभावो व्यत्ययो वा । बौद्धा अपि मिश्रीभावमेवमुपगताः । तद्यथा, “गन्ता च नास्ति कश्चि-कृतयः पशू बौद्धशासने प्रोक्ताः । गम्यत इति च गतिः स्या-च्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ॥ १ ॥ तथा कर्म च नास्ति फलं चास्तीत्यसति चात्मनि कारके कथं पशू गतयो ज्ञानसन्तानस्यापि सन्तानव्यतिरेकेण संवृत्तिसत्त्वात् कृष्णस्य चास्थितत्वेन क्रियाभावान्न नानागतिसम्भवः सर्वाण्यपि कर्माण्यवधनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे तथा पञ्चजातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तद्यथा “मातापितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुद्धिरमुत्पाद्य । अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्वा च पञ्चैते ॥ १ ॥ निरन्तरमावीचिनरकं यान्ति एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणयनमयुक्तिसङ्गतं स्यात् तथा जातिजरामरणरोगशोकोत्तममध्यमाध्रमत्त्वानि च न स्युः एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवास्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति तथा “गन्धर्वनगरतुल्या, माया स्वप्नोपपातधनसदृशी । मृगतृणानां हारां बुचन्द्रिकात्रातचक्रसमा” इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिश्रीभावोपगमनं बौद्धानामिति । यदि वा नानाविधकर्मविपाकाज्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति । तथा चोक्तं “यदि शून्यस्तवपक्को, मत्पत्तनिवारकः कथं भवति । अथ मन्यसे न शून्य-स्तथापि मत्पक्क एवासौ” इत्यादि, तदेवं

बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमन्युपगम्य प्रवृत्तियोगात्मोक्तसद्भावं प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्वात्मा प्रतिपादयन्ति । ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः संमिश्रीभावं व्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटन्ते, वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव सक्रियत्वं तेषां स्वात्मा प्रतिपाद्यते, तदेवं लोकायतिकाः सर्वे ज्ञावाभ्युपगमेन क्रियाभावं प्रतिपादयन्ति । बौद्धाश्च कृष्णिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चक्रियामेवाज्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः संमिश्रोभावं स्वात्मा चैव प्रतिपाद्यन्ते । तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भावं च स्वाभ्युपगमेनैव संमिश्रीभावं व्रजन्ति । व्यत्ययं चैतत्प्रतिपादितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्धनुष्टुष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तरं दातुमसमर्थो यत्किञ्चनजापितया (मुमुक्षु इहो-इति) गच्छन्नापित्वेनाऽव्यक्तभाषी जवति । यदि वा प्राकृतशैल्या द्वान्दस्त्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः । तद्यथा । मूकादपि मूको मूकमूको जवति । एतदेव दर्शयति । स्यादादिभोक्तं साधनमनुवादिनं शीतमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी सहेतुजिर्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः । अनुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति । तद्यथा । इदमसद्भ्युपगतं दर्शनम् एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिवाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः । इदं चैवंभूतमपि सदित्याह । द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः । यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव । यदि त्वेतदस्मीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जरणं प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात् । तत्समाश्रयणं चेहामुत्र वेदना चारुपारदारिकादीनामिव । ते हि करचरणनासिकादीनामिहेव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विम्वनामनुभवन्त्यमुत्र च नरकादौ वेदनां समनुभवन्तीति । एवमन्यदपि कर्मोपपन्नमन्युपगम्यते । तच्चेदम् ! प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि पूर्ववत् । तथेदमकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम्, इहेव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् । तच्चेदमविज्ञोपचिनं परज्ञोपचितमीर्षापथं स्वप्नादिकं चेति । तदेवं स्याद्वादिनाभिमुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तराक्त्या नीत्या प्रतिपादयन्ति तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ उवाचतनं उलं 'नयकम्बो देवदत्त' इत्यादिकमाहुस्तन्तः । चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति । यदि वा परायनतानि उपादानकारणानि आश्रयद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्परमायतनं कर्मैवममाहुरिति ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेव तदूपायाह ।

ते एवमकवन्ति अब्रज्जमाणा, विरुवरुवाणि अक्रियवाद् ।
जेमायउत्ता बहवे मणूमा, भमंति संसारमणोवदग्गं ॥ ६ ॥

(ते एवमकवन्ति) ते चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्रन्ते । सद्भावमुपगमना मिथ्यामलपटलजृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो विरूपरूपाणि नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति । तद्यथा । दानेन महाज्ञो, देहिनां सुरगतिश्च शीघ्रेण । भावनया च विमुक्ति-रूपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥ तथा पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतान्येव चत्वारि ज्ञानानि विद्यन्ते

नापरः कश्चित्सुखदुःखभागात्मा विद्यते । यदि चैतान्यप्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति स्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकानि च यद्विचन्द्रादिप्रतिज्ञासरूपत्वात्सर्वस्येति । तथा सर्वे कृष्णिकं निरात्मकं मुक्तिस्तु शून्यता दृष्टेस्तदर्थः शेषभावना इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमनुपगमना यद्दर्शनमादाय गृहीत्वा बहवो मनुष्याः संसारमनवदग्रमपर्यवसानमरहृद्यदीन्यायेन भ्रमन्ति पर्यटन्ति । तथाहि लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्येन प्रमाणमस्ति । तथा चोक्तम् । "तत्त्वान्युपहृतानीति, युक्त्यजावेन सिध्यति । नास्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सत्" न च तत्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । अतीतानागतजावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेस्ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तकृष्णिकत्वेन चस्तत्त्वाभावः प्रसज्जति । तथाहि । यद्वार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत् । न कृष्णः क्रमेणार्थक्रियां करोति । कृष्णिकत्वहानिर्नापि योगपदेन तत्कार्याणामेकस्मिन्नेव कृष्णे सर्वकार्यापत्तेन चैतदुद्दर्शमष्टं वा । न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिमन्तरेण गुणभूतस्य संकल्पना प्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्तप्रायम् । यद्योक्तं 'दानेन महाभोग' इत्यादि तदार्हतैरपि कथंचिदिष्यत एवेति न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । अक्रियैव परलोकासाधनायाऽश्रमित्येवं वदितुं शीलं येषान्तेऽक्रियावादिनः । ज्ञानवादिषु अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किंक्रियया चित्तशुद्धिरेव कार्या ते च बौद्धा इति, ज० ३० श० १ उ० । तेषां हि यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः । तथा चोक्तम् । "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटीवापि, सिध्यते नात्र संशयः" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धर्मधर्मिणोरत्रेदोपचागात् समवसरणविशेष च । भ० २६ श० २ उ० (अक्रियावादिनः कीदृशा किं किं च प्रकुर्वन्तीति 'वादिसमवसरण' शब्दे दृश्यं मिथ्यादृष्टिवर्णके) "अक्रियवादी वि जवति नो हियवादी नो हियपणे नोहिय दियनोसम्मावादी णो णितियावादी ण संति परलोकवादी" दशा० ६ अ० ।

अकील-अकील-त्रि० न० ७० शङ्करहिते, ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

अकुओ (तो) भय-अकुतोन्नय-त्रि० न विद्यते कुतः कस्माद् भयं यस्य तत् कुतश्चिदपि भयशून्ये, "चित्ते परिणतं यस्य चरित्रमकुतोभयम् । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो ज्ञयम्" अष्ट० १७ । न विद्यते कुतश्चित्तोः केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽकुतोभयः । संयमे, "अणाप अजिसमेच्चा अकुओभयं" आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकुंचियाग-अकुञ्चिकाक-त्रि० कुञ्चिकाविग्रहिते, पि० ।

अकुंठाइ-अकुण्ठादि-पुं० सम्पूर्णपाण्यादौ, प्रव० ६४ द्वा० ।

अकुक्कुय-अकुक्कुच-त्रि० न० ७० हस्तपादमुखादिविरूपचेष्टारहिते । व्य० ३ उ० । ईषन्मुखविकाररहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सुसाणे सुसगारे वा, स्वस्वमूत्रे व एगओ ।

अकुक्कुओ णिसीएज्जा, ए य चित्तासए परं ॥

अकुक्कुओऽशिष्टचेष्टारहितो निषीदेत् तिष्ठेत्, यद्वा, अकुक्कुचः कुन्धादिविराधनाजयात् कर्मबन्धहेतुत्वेन कुम्भितं हस्तपादादिनिग्रहरन्दमानो निषीदेत् । वृत्त० ३ अ० ।

अकुकूज-त्रि० आपत्वाप्राकृते तथात्वम्, कुत्सितं कूजति पी-
रितः सत्राकन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः, कुत्सितकूजना
कर्त्तरि, उक्त० ११ अ० ।

अकौकुच्य-त्रि० नास्ति कौकुच्यं त्राणरुषिद्वेष्टा यस्य सोऽकौ-
कुच्यः । सम्यक्साधुमुद्रायुक्ते, उक्त० १६ अ० ।

अकुडिल-अकुटिल-त्रि० न० त० अमायिनि, व्य० ३ उ० ।

अवके, जं० १ वक्० । ऋजौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकुतूहल-अकुतूल-त्रि० न विद्यते कुतूहलं यस्य स अकुतू-
हलः, कुडकेन्द्रजालभग्नविद्यानाटकादीनामविलोकके । “नी-
याविस्ती अचयत्रे, अताई अकुहले ” उक्त० १० अ० ।

अकुमारचूय-अकुमारजत-त्रि० अकुमारव्रजचारिणि, “अकुमा-
रभूय जे केइ कुमारचूय तिहंवए ” । स० ३० सम० ।

अकुय-अकुच-त्रि० कुचस्पर्शने, न कुचतयि कुचः । इगुपान्त्य-
लक्षणः कप्रत्ययः । व्य० ८ उ० । निश्चये, नि० चू० १ उ० ।

अकुसल-अकुशल-त्रि० अनजिज्ञे, पं० व० ४ द्वा० वक्तव्यावक्तव्य-
विनागानिपुण । प्रश्न० आश्र० २ द्वा० स्थूलमतौ, “तसथावर-
हिंसाय, जणा अकुसला उलपंति” दश० १ अ० अशोभने च ।
श्रौ० । न कुशलं मङ्गलमस्य, मङ्गलविरोधमङ्गलयुक्ते, न० त० ।
कुशलविरोधिनि अजज्ञे, न० वाच० ।

अकुमलकर्मोदय-अकुशलकर्मोदय-पुं० अशुभकर्मोद-
ये, अकर्मानुभावे च । ध० २ अधि० ।

अकुसलचित्तिणरोह-अकुशलचित्तिनिरोध-पुं० आर्त्तध्याना-
दिप्रतिषेधनाऽकुशलमनोनिरोधे, दश० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिरौह-अकुशलजोगनिरोध-पुं० अकुशलानां
मनोवाक्काययोगानां व्यापारणां निरोधः अकुशलजोगनिरोधः ।
मनआदिविविचकरणैरायुक्ततायाम्, आद्य० ।

अकुसलणिवित्तिरूप-अकुशलनिवृत्तिरूप-त्रि० सपापारम्भो
परमणस्वभावे, पञ्चा० ७ विव० ।

अकुसील-अकुशील-पुं० न कुशीलोऽकुशीलः । कुशीलभिन्ने,
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अकुहय-अकुहक-त्रि० न० त० । इन्द्रजालादिकुहकरहिते,
“ अलोलुप अकुहए अमाई, अपीसुणे आवि अहीणविस्ती ”
दश० ६ अ० १ उ० ।

अकू (कू) र-अकूर-पुं० न० त० । अतैद्राकारे । दर्श० ।

अक्लिष्टाध्यवसाये, क्रूरे हि परच्छिद्रान्वेषणलम्पटः कलुष-
मनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभाग् न भवतीति (अकूरत्वं
पञ्चमः श्रावकगुणः) प्रव० २३६ द्वा० । ध० ।

कूरो किलिडभावो, मम्मं धम्मं न साहिउं तरइ ।

इय सो न इत्य जोगो, जोगो पुण होइ अकूरो ॥ ११ ॥

कूरः क्लिष्टभावो मत्सरादिदूषितपरिणामः सम्यङ् निष्क-
लङ्कं धर्मं न नैव साधयितुमाराधयितुं (तरइत्ति) शक्नोति
समरविजयकुमारवत् । इत्यस्मादेतोरसौ नैवात्र शुद्धधर्मं
योग्य उचितः । पुनरेवकारार्थः । ततो योग्योऽकूर एव की-
र्तिचन्द्रनृपवदिति । तयोः कथा चैवम्—

बहुसाहारा पुत्रा-गसोहिया उच्चसालगेहिन्ना ।

आरामभूमिसरिसा, चंपा नामेण अत्थि पुरी ॥ १ ॥

तत्तत्थि कित्तिचंदो, नरनाहो सुयणकुमयवणचंदो ।

तस्स कण्ठो भाया, जुवगया समरविजउ त्ति ॥ २ ॥

अह हणियरायपसरो, समियरओ मलियअंवरो सदओ ।

अंगीकयभद्वओ, पत्तो सुमुणि व्व घणम्मओ ॥ ३ ॥

तंमिय समए नारं-धनीरपुरेण अइवहु वहंती ।

भवणोवगिट्ठिणं, दिट्ठा सरिया नरिंदेणं ॥ ४ ॥

तो कोऊहलआउल-हियओ वंधवजुओ तहिं गंतुं ।

चडइ निवो इक्काण, तरीइ सेमासु सेसजणो ॥ ५ ॥

जा ते कीलंति तहिं, ता उवरिं जलहरम्मि वुडम्मि ।

सो कोवि नइपवाहो, पत्तो अइनिव्ववेगेण ॥ ६ ॥

निज्जंति कट्ठियाओ, अन्नदिसासु जेण वेडीओ ।

थोवो वि तत्थ न फुरइ, वावरो कन्नधाराणं ॥ ७ ॥

तो सरियामज्झगओ, तडडिओ पुक्करेइ पुरलोओ ।

अह पसुपवणहया निव-दोणा उ अंदेसणं पत्ता ॥ ८ ॥

लगा दीहतमाला-भिहाणअडवीए सा कहिं रुक्खे ।

तत्तो उत्तरइ निवो, कडवयपरिवारबंधुजुओ ॥ ९ ॥

जा वीसमेइ संतो, तत्तीरे ताव पिच्छइ नरिंदो ।

नइपरखणियपुत्तभि-दरपयमं सुमणिरयणनिहिं ॥ १० ॥

गंतुण तत्थ सम्मं, पासिय दंसइ समरविजयस्स ।

चत्थियं च तस्स चित्तं, त्रासुररयणुच्चयं दट्ठं ॥ ११ ॥

चित्तइ सहावकूरो, मारिचु नियं इमं पगिहामि ।

तं रज्जं सुहसज्जं, अणिष्ठियं रयणनिहिमेयं ॥ १२ ॥

रत्तो मुक्को घाओ, पुरीइ बोयम्मि पुक्करंतम्मि ।

हाहा किमियं ति विचि-तिऊण वंचाविओ तेण ॥ १३ ॥

भणइ य अकूरमणो, निवइ वाहाइ तं धरेऊण ।

नियकुअणुच्चियमसमं, किं जायतए इमं विदियं ॥ १४ ॥

जइ कज्जं रज्जेणं, निहिणा इमिणा व ता तुमं चेव ।

गिह्वाहि आहिमुक्को, समर धरेमो वयं तु वयं ॥ १५ ॥

तं सो निसुणिय अमुणिय, कोवविवागो विवेगपरिमुक्को ।

विच्छेकिऊण वाहं, ओसरिओ निवसगासाओ ॥ १६ ॥

जस्स निमित्तं अनिमि-त्तवइरिणो वंधुणो वि इय हंति ।

अव्वमिणिणा निहिणामे, तं मुत्तु निवो गओ सपुरं ॥ १७ ॥

समरो भमराव्विसंमा, पुत्तवसाओ पुराट्ठियं पि तयं ।

रयणनिहाणमदट्ठं, चित्तइ रत्ता धुवं तांय ॥ १८ ॥

तो जाओ चारहमो, चरमो लुंइ वंधुणा देसं ।

सामंतेहिं धरिउं, कयावि नीओ निवसमीवे ॥ १९ ॥

मुक्को अणेण रज्जे, निमंतिओ चित्तं गओ एवं ।

गहियव्वं रज्जमिणं, हवेण नहु दिज्ज मेएणं ॥ २० ॥

एवं कयाइ देहे, भंमोरे जणवए य मो चुक्को ।

पत्तो निवेण मुक्को, रज्जेण भत्थिओ य दट्ठं ॥ २१ ॥

तो जाओ जणवाओ, नियह अहो सोयराण सविसेसं ।

एगस्स दुज्जणत्तं, असरिसमन्नस्स सुयणत्तं ॥ २२ ॥

गुरुवेरग्गो राया, अइविरसे वासरे खिवइ जाय ।

ता तत्थ समोसरिओ, पवोहनामा पवरनाणी ॥ २३ ॥

चलिओ पमोयकव्विओ, तन्नमणत्थं निवो सपरिचारो ।

निसुणिय धम्मं पुत्तइ, समए नियबंधवचरित्तं ॥ २४ ॥

जेपइ गुरु विपेदे-सु मंगले मंगलावइ विजए ।

सोगंधिपुरे सागर-कुरंगया मयणमिट्ठिसुया ॥ २५ ॥

पदमवयसमुच्चियाहि, कीलाहिं ते कयावि कीव्रता ।

पिच्छंति वालगदुगं, तह एगं बालियं रम्मं ॥ २६ ॥

पुत्रा य तेहि एष, के तुभे ता भणाइ ताणेगां ।
 अतिथय मेहनामा, निवई जगतीतलपसिखो ॥ २७ ॥
 तस्सत्थि वहरिक्किर-इकेसरी रायकेसरी तणओ ।
 तप्पुत्तोऽहं सागर, महासओ सागरऽभिहाणो ॥ २८ ॥
 मम तणओ पुड विणओ, एसो उ परिग्गहाऽभिहासुत्ति ।
 वडसानरस्स धूया, एसो किर कुरयानाम ॥ २९ ॥
 इय सुणिय हरिसिया ते, कीडंति पस्परं तओ मित्ति ।
 निम्मेइ सागगे सह, मिसुहि न उ कुरयाएवि ॥ ३० ॥
 कुणइ कुरंगो मित्ति, तेहि समं कुरयाइ सविसेसं ।
 जयाभित्तयत्तिक्कमा, पत्ता ते तारतारुज्जं ॥ ३१ ॥
 अह मित्तपेरियमणा, द्विणोवज्जणकए गहियजंटा ।
 पियरेहि चारिया वि हू, चलिया देसंतरम्मि इमे ॥ ३२ ॥
 भिन्नेहि अंतरा अ-तरायवसओ य गहियचूरिधणा ।
 उच्चरियधोवड्वा, धववपुरं पट्ठणं पत्ता ॥ ३३ ॥
 दविणण तेण तहियं, गहिउं हट्टं कुणंति ववसायं ।
 दीणारसहस्सपुगं, दुक्खसहस्सेहिं अज्जंति ॥ ३४ ॥
 तो वड्ठियवड्ठएहा, कप्पासतित्राइ भंरसालाओ ।
 पकुणंति करिसणं पि हू, उच्चुक्खित्ताई कारंति ॥ ३५ ॥
 तससंसत्ततित्राणं, निपीत्रणं गुडियमाइ बवहारं ।
 कारंति एव जाया, ताणं दीणारपणसहसा ॥ ३६ ॥
 तो तहसगे इच्छा, कमेण वक्खे वि जाव तं मिडियं ।
 अह कोमि पुरणिग्ग, जाया मित्ताणुजावेण ॥ ३७ ॥
 तो गुरुगंतीनिवहा, पडिया देसंतरेसु विविहेसु ।
 जज्जडिमि पोयसंघा-यवत्तिया करहमंरुलिया ॥ ३८ ॥
 गहियाइ निवकुलाओ, पट्ठेण बहूणि सुक्कणाइ ।
 विहिया धणगणियाओ, वड्ठा उ दयाइ हेडाओ ॥ ३९ ॥
 इच्छाइ पावकोमिहिं, जा कोमि वि तंसि संमिडिया ।
 तो पावमित्तवसओ, उववन्ना रयणकोडिग्ग ॥ ४० ॥
 अह खिविक्कण सव्वं, पोए ते पथिया रयणभूमि ।
 ताकुरया विलग्गा, गाढं कळे कुरंगस्स ॥ ४१ ॥
 जंपइ हंत हंतुं, अंसहरमिमं करेसु अप्पवसं ।
 सयलं दविणमिणं जं, धणिणां सव्वेवि इह सुयणा ॥ ४२ ॥
 इय सा जंपइ निच्चं, तहेव तं परिणयं इमस्स तओ ।
 पक्खिवड् सागरं सा-गरम्मि लहिरुण सो त्रिहं ॥ ४३ ॥
 असुहज्जाणोवगओ, जलहिज्जुणीवपीवियसरीरो ।
 मरिक्कण तइयनरग-म्मिनारओ सागरो जाओ ॥ ४४ ॥
 काउं मयक्किच्चं जा-उगस्स दिट्ठो कुरंगओ हियए ।
 जा जाइ किपि दूरं, ता कुट्टं पवडणं ऊत्ति ॥ ४५ ॥
 बुद्धो घोओ गलियं, कयाणगे फलदयं लहिय एसो ।
 कह कहवि तुरियदिवसे, पत्तो नारान्हित्तीरम्मि ॥ ४६ ॥
 अज्जिणिय थण्णेए, भुंजिस्सं इय विचित्तिरो धणियं ।
 भमिगे वणम्मि हरिणा, हणिओ धूमप्पहं पत्तो ॥ ४७ ॥
 तो भमिय नवें ते दो, वि कहवि अज्जणनगे हरी जाया ।
 इक्कगुदण्यं जुज्जिय, चउत्थनरए गया मरिउं ॥ ४८ ॥
 तो अहिणो इगनिहिणो, कए कुणंता महत्तयं जुज्जं ।
 विज्जायमुच्चजाणा, पत्ता धूमप्पहं पुढवि ॥ ४९ ॥
 अह बहूभवपज्जेने, एगस्स वणिस्स जविय जज्जाओ ।
 तम्मि मए विदवकए, जुज्जिय मरिउं गया त्रिट्ठि ॥ ५० ॥
 भमिय नवें पुण जाया, तणया निवइस्स उवरए तम्मि ।
 कव्वदंता रज्जकए, मरिउं पत्ता तमतमाए ॥ ५१ ॥

एवं दव्वनिमित्तं, सहियाओ तेहि वेयणा विविहा ।
 न य तं कस्सइ दिन्नं, परिपुत्तं तं सयं नेव ॥ ५२ ॥
 अह पुव्वभवे काउं, अन्नाणतवं तहाविहं किपि ।
 जाओ सागरजीवो, तं निव इयरोउ तुहवंधू ॥ ५३ ॥
 तुम्हाणवि पच्चक्खो, इओ परं समरयिजयवुत्तं ।
 सो काही उवसगं, इक्कसि तुह गहियचरणस्स ॥ ५४ ॥
 तो कुरयाइ सहिओ, अहिओ तस्स थावराण जीवाणं ।
 दुसहदुहदहियदेहा, भमिहीही जवमणंतमिमो ॥ ५५ ॥
 इअ सुणिअ गयवेर-ग्गपरिगओ गिण्ठए वयं राया ।
 नियभाइणज्जहरिक्कुम-रवसहसंकमियरज्जधुरो ॥ ५६ ॥
 कमसो अइतव सोसिय, देहो बहुपडिय सुख सिद्धंते ।
 अम्भुज्जयं विहारं, उज्जयचित्तो पवज्जेइ ॥ ५७ ॥
 कस्सवि नगरस्स वहिं, पव्वववाहू छिओ य सो जयवं ।
 दिट्ठो पाविठेणं, समरणं कहिवि गमिरेणं ॥ ५८ ॥
 वइरं सुमरंतेणं, दणिओ खगेण कंथराइ मुणी ।
 गुरुवेयणाभिभूओ, पमिओ धरणीयळे सहसा ॥ ५९ ॥
 चित्तइ रे जीव ! तए, अन्नाणवसा विवेगरहिण ।
 बियणाओ अयणाओ, नरएसु अणंतसो पत्ता ॥ ६० ॥
 गुरुजरवडणं कणदो-दवाहसीउल्लुखुहपिवासाइ ।
 दुस्सहदुहदंदोली, तिरिपसु वि विसहिया यहुसो ॥ ६१ ॥
 ना धीर मा विसीयसु, इमासु अइअप्पवेयणासु तुमं ।
 को उत्तरिउं जलहिं, निव्वुए गुण्णई नीरं ॥ ६२ ॥
 वज्जेसु कूरजावं, विसुद्धचित्तो जिपसु सव्वेसु ।
 थहुक्कम्मखयसहाओ विसेसओ समरविजयम्मि ॥ ६३ ॥
 तं लच्छा इह धम्मो, जं न कया कुरया पुरावि तए ।
 इय चित्तं चित्तो, पावेण समं स पाणेहिं ॥ ६४ ॥
 सुहसारे सहसारे, सो उववन्नो सुरो सुकयपुत्रो ।
 तत्तो चविय विदेहे, बहिही मुत्ति समुत्तावि ॥ ६५ ॥
 श्रुत्वेत्यशुचपरिणामविरामहेतोः,
 श्रीकीर्तिचन्द्रनरचन्द्रचरित्रमुच्चैः ।
 प्रव्या नरा जननमृत्युजरादिर्जीता,
 अकूरतागुणमगौणधिया दधधम् ॥ ६६ ॥ ध० २० ।

अकवन्न-अकवन्न-त्रि० न विद्यते केवलमस्मिन्नित्यकेवलम् ।

अशुचे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

अकोऊहद्व-अकोतूहद्व-त्रि० न० व० स० नरनर्तकादिषु, अ-
 कौतुके, “नो मावए नो वि य माविअप्पा, अकोऊहल्ले य सया
 सपुज्जो ” दश० ए अ० ३ उ० ।

अकोप्प-अकोप्य-त्रि० अकोपनीये, अदूषणीये, वृ० १ उ०
 “अकोप्पजंघजुयवा ” अकोप्यमेवेप्यं रम्यं जङ्घायुगलं यासां
 तास्तथा । प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकोविय-अकोपित-त्रि० अदूषणीये, “आरियं उवसंपज्जे, स-
 व्वधम्ममकोवियं” । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अकोविद-पुं० श्रुतेन वयसा चाऽप्राप्तयोग्यताके, व्य० १ उ० ।
 अपणिरुते, सञ्ज्ञास्त्रावबोधरहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० “आ-
 रंजाइ न संकंति, अवियत्ता अकोविया ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३
 उ० । सम्यग्ज्ञानानिपुणे, “वणे मूढे जहा जंतू, मूढे पेयाण्णा-
 मिए । दो वि एए अकोविथा, तिच्चं सोयं तियच्चइ ” सूत्र० १
 श्रु० १ अ० ३ उ० । दश० । पि० ।

अकोवियप (ए)-अकोविदात्मन्-पुं० सम्यक्परिज्ञानवि-
कत्रे, वृ० १ उ० ।

अकोहण-अक्रोधन-त्रि० क्रोधरहिते, “एस्यमोक्षो भमुसे
वरं वि, अकोहणे सधरते तवस्सी” सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
अक्रंतं-देशी-प्रवृत्ते, दे० ना० ।

अक्रंत-आक्रान्त-त्रि० आक्रम-कः । अवष्टब्धे, आचा० १ श्रु० ६
अ० ५ उ० । अभिभूते, स्वोपरिगत्या व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० १
अ० ४ उ० । भावे कः । आक्रमणे, नं० । भ० १ श० ३ उ० । आ-
क्रान्ते, पादादिना चूतलादौ प्रयति । अचित्तवायुकायिकभेदे,
पुं० स्था० ५ टा० ३ उ० ।

अक्रंतदुःख-दुःखाक्रान्त-त्रि० आक्रान्ता अभिभूता दुःखेन
शारीरमानसेनाऽऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः (दुःखाजिघृतेषु)
सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । “सन्वे अक्रंतदुःखाय, अत्रोसवे
अहिसिया” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अक्रंद-आक्रन्द-पुं० आक्रन्द-घञ् । सारवे रोदने, वाच० । तदा-
त्मके एकचत्वारिंशे उत्कृष्टाऽऽशतनाभेदे, आक्रंदरुदितविशेषं
पुत्रकलत्रादिविशेषेण ते विधत्ते । प्रव० ३८ द्वा० । आह्वाने, शब्दे च,
कर्मणि घञ् । मित्रे, भ्रातरि च, आधारि घञ् । दारुणे युक्ते, दुःखि
नां रोदनस्थाने च । आक्रन्दयति-अच् पारिणिग्राहपाश्चादवर्तिनि
नृपभेदे, ‘पारिणिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दञ्च मण्डले’ मनु० ।
अक्रंदण-आक्रन्दन-न० । आ+क्रन्द-ल्युट् । महता शब्देन वि-
रवणे, आव० ४ अ० । आह्वाने च, वाच० ।

अक्रतूवरी-अक्रतु (तू) वरी-स्त्री० गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अक्रत्थल-अक्रत्थल-न० मधुरास्थस्थलभेदे, ती० ६ कल्प ।

अक्रम-आक्रम-पुं० आक्रम-घञ् । अवृद्धिः । बलेनाऽतिक्रमणे,
अजिभवे, व्याप्तौ, आग्रहे च । वाच० । प्राकृते “आक्रमे रोहावो-
चगरुदा” ४।१।५६। इति सूत्रेणाक्रमेण्य आदेशाः वा ओहावइ
उच्छावइ लुङ् । अक्रमइ आक्रमते, प्रा० । आक्रमणमाक्रमः । परा-
जये, उच्छेदे, आ० म० प्र० । बलात्कारे, आव० ४ अ० । आक्रम्यते
परलोकोऽनेन । करणे घञ् । परलोकप्राप्तिसाधने विद्याकर्मादौ,
कृताक्रमणे, अभिभूते, व्याप्ते, आग्रहे च । वाच० ॥

अक्रमण-आक्रमण-न० अभिभवने, विशेष० । पादेनाक्रूरणे,
आव० ४ अ० ।

अक्रमित्ता-आक्रम्य-अ० आक्रमणं कृत्वेत्यर्थे “भीमरुवेहि अ-
क्रमित्ता दददादा गाढं” प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

अक्रशाला-देशी० बलात्कारे, ईप्समत्तायां स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्रा-देशी-भगिन्याम्, दे० ना० ।

अक्रासीदेवी-स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ६ कल्प ।

अक्रिष्ट-अक्रिष्ट-त्रि० न० त० अवाधिते, निर्वेदने, भ० ३ श०
२ उ० । स्वशरीरोत्थलकेशरहिते, जी० ३ प्रति ।

अक्कुष्टं-देशी० अभ्यासिते, दे० ना० ।

अकुप्त-गम-धा० गतौ, “गमेरइ अइच्छाणुवज्जावसज्जो-
कुप्ताऽकुप्तः” ४।१६१। इति सूत्रेण गमेरकुप्ताऽऽदेशः । अकु-
प्तइ, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्रेज्ज (य)-अक्रेय-त्रि० अक्रयणीये, स्था० ६ टा० ।

अक्रो-देशी-दूते, दे० ना० ।

अक्रोरण-आक्रोरन-न० संग्रहे, विशेष० श्रु० अ० ।

अक्रोमो-देशी-छागे, दे० ना० ।

अक्रोस-अक्रोश-न० वर्षायोग्यक्षेत्रविशेषे, यस्य मूलनिबन्धा-
त्परतः पक्षां दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु
अटवीजलश्वापदः सन्ति, तेन पर्वतनदीव्याघातेन च गमनं
भिक्षाचर्या च न सम्भवति, तन्मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम् ।
व्य० १० उ० ।

आक्रोश-पुं० आक्रुश-घञ् । दुर्वचने, भ० ८ श० ८ उ० ।

निष्ठुरवचने, आव० ४ अ० । असभ्यभाषायाम्, उत्त० २
अ० । विरुद्धचिन्तने, शापे, निन्दायां च । वाच० ।

अक्रोसग-आक्रोशक-त्रि० दुर्वचनवादिनि, उत्त० २ अ० ।

अक्रोसणा-आक्रोशना-स्त्री० मृतोऽसि त्वमित्यादिवचनेषु,
ज्ञा० १६ अ० ।

अक्रोसपरि (री) सह-आक्रोशपरि (री) षह-पुं० आ-

क्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मकः स एव परीषहः आक्रोशप-
रीषहः द्वादशे परीषहे, उत्त० २ अ० । आक्रोशोऽनिष्टवचनं,
तच्छ्रुत्वा सत्येतराद्योचनया न कुप्येत् किन्तु सहेतु आव० ४ अ० ।

“आक्रुष्टोऽपि हि नाक्रोशेत्, क्रमाश्रमणतां विदन् । प्रत्युताक्रुष्ट-
रि यतिश्चित्तयेष्टुपकारिताम् ” ध० ३ अधि० । “नाक्रुष्टो मु-
निराक्रोशे-त्सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः । अपेक्षेतोपकारित्वं न तु द्वेषं
कदाचन ” आव० १ अ० । आ० म० द्वि० । तथादि सत्यं, कः
कोपः, शिष्ययति हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति ।
अनृतं चेत् सुतरां कोपो न कर्तव्यः । उक्तं च “आक्रुष्टेन मति-
मता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः,
स्यादनृतं किमिह कोपेन ” इत्यादि परिभाष्य न कोपं कुर्यात् ।
प्रव० ८६ द्वा० । “चाणक्यः किमयं द्विजातिरथवा शूरोऽथवा
तापसः, किं वा तत्त्वनिवेशोपश्रवमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा । इ-
त्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्नां रूढो न हि
चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ।” पुनर्गालीं, श्रुतेति वि-
चिन्तयेत् । “ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो जवन्तः, घयमपि त-
दभावात् गालिदानेऽप्यशक्ताः । जगति विदितमेतद्दीयते विद्य-
मानं, ददतु शशविषाणं ये महात्यागिनोऽपि ॥१॥” इति वि-
चार्य समत्वेन तिष्ठेत् । उत्त० २ अ० । “अक्रोस गहणमारण,
धम्मम्भंसाणवालसुवज्जाणं । लाभं मन्नइ धीरो, जहुत्तराणं
अभावस्मि” सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । पतदेव सूत्रकृदाह ।

अक्रोसेज्ज परो जिकखुं,

न तेसिं परिंसंजले ।

सरिसो होइ बालाणं,

तम्हा भिक्खु न संजले ॥ २४ ॥

आक्रोशेत्तिरस्क्रुर्यात् । परोऽन्यो धर्मापेक्षया धर्मवाह्य आत्म-
व्यतिरिक्तो वा जिह्मं यतिं यथा धिङ्मुण् । किमिह त्वमागतोऽसि
ति (न तेसिति) सूक्तवचनस्य च व्यत्ययान्न तस्मै प्रतिसंज्वलेत्
निर्यातनं प्रति । ततश्चाक्रोशदानतो न संज्वलेदेतन्निर्यातनार्थम्,
देहदाहलोहितपातप्रत्याक्रोशभिघातादिभिरग्निवन्न दीप्येत, सं-
ज्वलनकोपमपि न कुर्यादिति । संज्वलेदित्युपादानं किमेवमुपदि-
श्यत इत्याह सदृशः समानो भवति संज्वलनिति प्रक्रमः । केयं?
बालानामज्ञानां, तथाविधकूपकवत् । यथा कश्चित् कूपको देवत-

या गुणैरावर्जितया सततमजित्यते, उच्यते च मम कार्यमावेदनी-
यम् । अन्यदेकैकं धिग्जातिना सह योऽनुभूयते न च ब्रह्मवता धु-
क्तामशरीरो भुवि पातितस्तान्निध, रात्रौ देवता बन्दितामा-
याता कृपकस्तूर्णामास्ते । ततश्चासौ देवतयाऽभिहितो, भगवन् !
किं मयाऽपराद्धम् । स प्राह । न तस्य त्वया दुरात्मनो ममापका-
रिणः किञ्चित्कृतम् । सोऽवादीन् न मया विशेषः कोऽप्युपलब्धः,
यथाऽयं धर्मणोऽयं धिग्जातिरिति यतः कोपाविष्टौ द्वावपि समानौ
संप्रकाशितौ । ततः सती प्रेरणेनेति प्रतिपन्नं क्षणकेनेति । उक्तमे-
वार्थं निगमयितुमाह । (तद्भक्ति) यस्मात्सदृशो भवति बा-
लानां तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेदिति सूत्रार्थः ।

रुत्थोपदेशमाह ।

मोचा एं फरसा जासा. दारुणा गामकंटया ।

तुसिणीओ उवेहिजा, ए ताओ मणमी करे ॥२५॥

श्रुत्वाऽऽकर्ण्य णमिति वाक्यालंकारं पश्याः कर्कशा ज्ञाया गिरः।
दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणास्ताः ग्राम
इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः प्रतिकूलशब्दादवः
कण्टकत्वं त्रैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविघ्नहेतुतया च
तदेकदेशत्वेन च पश्यन्नाया अपि तथोक्ताः । भाषाविशेषणत्वे-
ऽपि चात्राविष्टद्विह्वलतापुल्लिङ्गता, तूर्णशीलेन कोपात्प्रतिपुरु-
षभाषी एवंविधश्च । “ जो सहइ उ गामकंटए, उक्रोसपहार-
तज्जणायत्ति ” इत्यागमं परिज्ञायन्नुपेक्षेतावधीरयेत् । प्रक्र-
मात्पश्यन्नाया एव कथमित्याह न ता मनसि कुर्याद्, ज्ञापिणि
द्वेषाकरणेनेति सूत्रार्थः । उक्तं २ अ० ।

कम्पता दुग्भगा चैव, इच्छाऽऽहंमु पुढोजणा ॥ ६ ॥

पृथक्जनाः प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा इत्येवमाहुरित्येवमुक्तव-
न्तः । तद्यथा । य एते यतयः जलाविघ्नदेहा लुञ्जितशिरसः क्रुधा-
दिवेदनाग्रस्तास्ते एतैः पूर्वोच्चरितैः कर्मजिरार्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः
फलमनुभवन्ति । यदि वा कर्मजिः कृष्यादिभिरार्तास्तत्कर्तुमसम-
था उडिन्ना सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैव पुत्र-
दारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामच्युपगता इति ।
एते मदे अचार्यता, गामेसु णगरेसु वा ।

तय मंदा विसीगंति, संगाममिव जीरुया ॥७॥

एतान् पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारकादिरूपान् श-
ब्दान् सादृशकनुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थि-
ताः, तत्र तस्मिन् आक्रोशे सति मन्दा अज्ञानवृष्टप्रकृतयो विपी-
दन्ति विमनस्का जयन्ति संयमाद् भ्रजयन्ति तथा, भीरवः संग्रामे
रणशिरसि अक्रान्तामिशक्तिनाराचाकुले रटपटहशङ्खज्वरी-
नादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्याऽयशःपटहमङ्गी-
कृत्य जयन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादसत्त्वाः संयमे वि-
र्यादन्ति । सूत्रं १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अत्रार्जुनमात्राकारपिकथा ।

रायगिहं मालारो, अज्जुणओ तम्म जज्ज खंदमिरी ।

मोगगण्णी गोट्टी, मुदंमणो वंदंओणीनि ॥ उक्तं नि० ।

गजगृहे मालाकारोऽर्जुनकस्तस्य त्रार्या स्कंदश्रीः मुद्रगपाणि-
यंतो गोष्टी मुदंशो (वंदणीति) वंदनार्थं निर्गच्छन्तीति गा-
थाकारार्थः, ज्ञावार्थस्तु संप्रदायगम्यः । उक्तं ३ अ० । (स
च ‘अज्जुण’ शब्दे)

जो मद्दइ हु गामकंटए, अक्रोशपहारतज्जणाओ अ ।

जयजैरवसहमपहासे, सममुहदुखसहे य जे स जिकवू ॥

किञ्च (जो सहइत्ति) यः खलु महात्मा सहते सम्यग्रामकण्ट-
कान् ग्रामा इन्द्रियाणि, तद्दुःखहेतवः कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह,
आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति । तत्राक्रोशो जकारादिभिः, प्र-
हारः कशादिभिः, तर्जना अस्यादिभिः, तथा भैरवभया अत्यन्त-
रौघभयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थाने इति गम्यते
तत्तथा तस्मिन्, वेताद्यादिकृतार्तनादादृहास इत्यर्थः । अत्रोपस-
र्गेषु सन्तु समसुखदुःखसहस्य याऽवलितभावः स भिक्षुरिति
सूत्रार्थः । द० १० अ० ।

अक्रोशपरि (री) महविजय-आक्रोशपरि (री) पह-
विजय-पुं० मिथ्यादर्शनादृष्टमोदीरितदुर्वर्त्तासि ज्ञानिदावदाही-
नि क्रोधदुतवहोदीपनपरिष्ठानि शृण्वन्तोऽपि तत्प्रतीकारं कर्तु-
मपि शक्नुवन्तो ‘दुरन्तः क्रोधादिकपायोदयानिमित्तपापकर्मवि-
पाक’ इति चिन्तयतः कपायलवमात्रस्यापि स्वहृदयेऽनव-
काशदाने, पंचा १३ विव० ।

अक्रोह-अक्रोध-त्रि० न० ब० क्रोधोदयविरहिते, । विफली-
कृतक्रोधे, त्रि० । नञः स्वल्पार्थत्वात् स्वल्पक्रोधे, जं०२ वत्त० ।
क्रोधमकुर्वणि, उक्तं २ अ० । “ सं गूणं भंते ! अक्रोहत्तं अ-
माणत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणानं निमग्धानं पसत्यं ? हंता
गोयमा ! अक्रोहत्तं जाव पसत्यं ” भ० १ श० ए उ० ।

अखरम्मिअं-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना०

अखर-अङ्ग-पुं० जीवे, आ० म० प्र० । स्था० उजयत्रापि “मा-
वाविद्यमिकमिहानिक्पणी” इत्यादिना औणादिकः सप्रत्ययः ।
आ० म० प्र० ।

जीवो अखरो अत्य-व्यावर्णभोग्यगुणानिओएण ।

अक्रस्तावज्जीव उच्यते, केन हेतुनेत्याह (अत्यव्यावर्णेत्यादि)
अर्थव्यापनभोजनगुणान्वितो येन तेनाक्रो जीवः । इदमुक्तं भव-
ति “अज्ञां व्याप्तौ” अश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौ-
णादिकनिपातनादक्रो जीवः । अथवा “अश भोजने” अश्नाति
समस्तत्रिभुवनान्तर्वर्त्तिनो देवलोकसमूह्यादीनर्थान् पाहयति
जुङ्गं वेति निपातनादक्रो जीवः । अश्नातेर्भोजनार्थत्वाद्, भुजे-
श्च पाहनाज्यवहारार्थत्वादिति भावः । इत्येवमर्थं व्यापनभोज-
नगुणयुक्तत्वेन जीवस्याक्तत्वं सिद्धं भवति । विशेष० । इन्द्रिये,
न० “ खमक्कमिन्द्रियं प्रोक्तं, हृषीकं करणं स्मृतम् ” इति वच-
नात् । “ अखरस्स पोग्गन्नमया, जं द्वेदियमणपरा होति ”
आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । विशेषानि० चू० । दश० । अश्ना-
ति नवनीतादिकमित्यङ्गः । धुरि, (चक्रनाभौ) उक्तं १ अ० । “ अ-
क्खमंगम्मि सोयइ ” । उक्तं ५ अ० अनु० । औ० । जं० । ज० ।
चतुर्भिहंस्तेर्निष्पन्नेऽवमानविशेषे, अनु० । ज्यो० । व्यावहारिको-
ऽङ्गः पण्यवत्यङ्गुलमानं भवति । स० ६६ सम० । अङ्ग इत्यङ्गोपाङ्ग-
दानवश्चेति द्रमपुष्पिकाऽध्ययनं, दश. १ अ० । चन्दनक, अस्मिन् हि
अनाकारवर्त्ता साध्वादेः स्थापनां कृत्वाऽऽवश्यकक्रियां कुर्वतः
स्थापनाऽऽवश्यकं भवति । अनु० । आच० । तद्दे उक्तं पृथ-
ग्विष्टोपधिविशेषे, “अक्खसंयारो वा, एगमणेगंगिओ अउक्का-
सो । पोन्धगपणनं फन्नं, उक्कोसावग्गाहो सज्जो” ध० ३
अधि० ग० पि० । पं० व० । रुद्राक्षफलविशेषे, अणु० ३-वर्गः ।
पाशके, कपर्दके, “कजए अपराजिए जहो, अक्खेहि कुसखेहि
दीवयं” सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । विनीतके, रावणसुतभेदे, सपे,

जातान्धे, गरुडे च, तृत्थे, सौवर्चले, कर्पपरिमाणे च, न० वाच० ।
अक्षय-अक्षतिक-त्रि० अक्षये, “अक्षयवीरणं अप्पाणं
कम्मबंधणेणं मुहरि” अक्षतिकबीजेन अक्षयेण दुःखहेतुनेत्य-
र्थः । प्रश्न० आश्र० १ डा० ।

अक्षयओदय-अक्षयोदक-त्रि० अक्षयं शाश्वतमविनाशयुक्तं
जलं यस्य सोऽक्षयोदकः । नित्यसञ्चलभूते, “जहा से सयं-
चुरमणे उदही अक्षयओदय” उक्त० ११ अ० ।

अक्षयचर्म-अक्षचर्म-न० जलापकर्षणकोशे, “अक्षयचर्मं
उच्छगंडदेसं” डा० ६ अ० ।

अक्षयवेत्त-देशी-सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अक्षयविद्वा-अक्षनिवका-स्त्री० गन्ध्याम्, पि० ।

अक्षयपाय-अक्षपाद-पुं० अक्षं नेत्रं दर्शनसाधनतया जातं पा-
देऽस्य न्यायसूत्रकारके गौतममुनौ, स हि स्वमतदूषकस्य व्या-
सस्य मुखदर्शनं चक्षुषा न करणीयमिति प्रतिज्ञाय पश्चाद् व्या-
सेन प्रसादितः पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवानिति पौराणिकी
कथा । वाच० । अक्षपादमते किञ्च षोडश पदार्थाः । “प्रमाणप्रमेय-
संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवित-
रङ्गोद्वेगाभासच्छब्दजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाग्निश्रेयसाऽ-
धिगमः” इति वचनात् । इत्याद्यन्यत्र प्ररूपयिष्यते । स्या० ।
“अक्षपादेनाक्ते ग्रन्थे च” विशेष० । आ० म० प्र० ।

अक्षय-अक्षय-त्रि० क्रमते क्रमः । अच् । न० त० । असमर्थे, क-
म-भावे अङ्, अभावार्थे, न० त० । क्रमाभावे, ईर्ष्यायाम्, स्त्री०
वाच० । अयुक्तत्वे, स्था० ३ गा० ३ उ० । अनुचितत्वे असम-
र्थत्वे, स्था० ५ गा० १ उ० ।

अक्षय-अक्षय-न० अक्षाद् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन-रः ।
इन्द्रियविषयसन्निकर्षोत्पत्तेः प्रत्यक्षज्ञाने, वाच० । “अक्षयापा-
रमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्ष-
भवं ज्ञेयत्वं” आ० म० छि० ।

अक्षय-पुं० बहु० न क्षताः । अक्षयकृतगुणे, दर्श० । प्रव० ।
पञ्चा० । सस्यमात्रे, । न० क्ययुक्तजिघे, उत्कर्षान्विते, अविदा-
रिते, यवे च, त्रि० क्षणभावे, वाच० । परिपूर्णं, स० १ स० ।
प्रश्न० । क० न० त० क्षयाभावे, न० वाच० ।

अक्षय-त्रि० नाऽस्य क्षयोऽस्तीत्यक्षयः न० । अपर्यवसाने,
आव० ४ अ० । अप्रणाशिनि, पञ्चा० ४ विव० । स० । “सि-
वमयलमहश्मरणांतमकत्रयमव्यावाहमपुणरावत्तियं सिद्धिगइना-
मधेयं त्राणं संपाविउकामे” अक्षयं क्षयरहितं साधनतत्त्वत्वात् ।
कल्प० । अनाशंसाद्यपर्यवप्तिकत्वात् भ० १ श० १ उ० ।
विनाशकरणाज्जावात् । जी० ३ प्रति० । रा० ध० । “स पञ्चया
अक्षयसागरे वा, महोदही वा विअणंतपारे” स भगवान्
प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञान इत्यर्थः । सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अक्षयणिहि-अक्षयनिधि-पुं० देवजाण्णागारे, अक्षययणि-
हि च अणुवदेस्सामि” विपा० १ शु० ७ अ० । अव्यये भा-
एणागारे । डा० १ शु० २ अ० ॥

अक्षययणिहितव-अक्षयनिधितपस्-न० लौकिकफलप्रदे त-
पोज्जेद, यत्र जिनविम्बस्य पुरतः स्थापितकक्षशः प्रतिदिनं प्र-
क्षिप्यमाणतणुलमुष्णया यावद्भिर्दिनैः पूर्यते तावन्ति दिना-
न्येकाशनेनाऽकारितपोऽक्षयनिधितपः । पञ्चा० ५ विव० ।

अक्षयणीवि-अक्षयनीवि-स्त्री० अक्षया चासौ नीविश्च भ-

क्षयनीविः । पो० ६ विव० । अव्यये मूलधने, येन जीर्णोच्चृतस्य
देवकुलस्योद्धारः करिष्यते । डा० १ शु० २ अ० ।
अक्षयतइया-अक्षयतृतीया-स्त्री० कर्म-स० । वैशाखशुक्ल-
तृतीयायाम्, “वैशाखमासिराजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका । अक्षया
सा तिथिः प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता । तस्यां दानादिकं सर्व-
मक्षयं समुदाहृतमिति, वाच० । तन्माहात्म्यकथा चैवम-
प्रणिपत्य प्रभुं पार्श्वे श्रीचिन्तामणिसंज्ञकम् । अथाक्षयतृतीयाया
व्याख्यानं लिख्यते मया ॥ १ ॥ एतदेवाह श्रुतकेवली भगवान्
भद्रबाहुः । “उसभस्स हु पारणण, इक्सुरसो आसि लोग
नाहस्स । सेसाणं परमंभं, अमियरस्ससोवमं आसी ॥ १ ॥
घुट्टं च अहो दाणं, दिव्वाणि आहियाणि तूराणि । देवा विस-
न्निवडिआ, वसुहारा चैव बुट्ठीय ॥ २ ॥ भवणं धरणेण भुवणं,
जसेण भयवं रसेण पडिहत्थो । अप्पा निरुवमसुक्खं, सुपत्त-
दाणं महग्गयिअं ॥ ३ ॥ रिसहेण समं पत्तं, निरवज्जं इक्खु-
रससमं दाणं । सेयंससमो भावो, हविज्ज जइमंगियं हुज्जा ॥ ४ ॥”
इति । एतासां गाथानां भावार्थः कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहि-
श्रीभूयभदेवस्वामिनो जीवः सर्वार्थसिद्धिमानात् च्युत्वाऽऽ-
पादकृष्णचतुर्थ्यां तिथौ नाभिनाम्नः कुलकरस्य भार्याया मरु-
देव्याः कुत्तावचतीर्णः । नवमासान् चत्वारि दिनानि च तत्रो-
षित्वा चैत्रकृष्णाष्टम्यां निशीथसमये जन्म जगृहे । तदानीं
विष्टपत्रयं विदित्युते । क्षणं नारकैरपि जीवैः शमध्यगामि ।
तदनु पदपञ्चाशद्विकुमारिकाणामासनानि चकम्पिरे । ताभ्या-
वधिज्ञानेन भगवतो जनिमवगम्य जन्मस्थानमासाद्य च स्वस्व-
कार्यं संपाद्य निजनिकेतनानि प्रत्यगमन् । ततश्चतुष्पष्टिसं-
ख्यकानामिन्द्राणामपि विष्टराश्वेलुः । तेऽप्यवधिज्ञानेनैव भग-
वतो जनुग्रहणं विदित्वा सौधर्म्येन्द्रव्यतिरिक्ता अन्ये त्रिप-
ष्टिरिन्द्रा हेमाद्रिं प्रतिजग्मुः । ततः सौधर्म्येन्द्रोऽपि जन्मस्थानं
समागत्य तत्रस्थेभ्यो मातृप्रमुखेभ्यो जनेभ्योऽवस्थापिनीं निद्रां
दत्त्वा मातृसन्निधौ स्वशक्त्या रचितं भगवत्प्रतिविम्बं निधाय
भगवन्तमुज्जाभ्यां पाणिभ्यां गृहीत्वा कनकाद्रिं समाययौ । तत्र
च चतुष्पष्टिसंख्यकैरिन्द्रैः संभूय स्नात्रमहोत्सवं कृत्वा ततः
सौधर्म्यविरहितैरन्यैरिन्द्रैरष्टमो नन्दीश्वरद्वीपो जग्मे । सौध-
र्म्येन्द्रस्तु भगवज्जनन्याः सन्निकृष्टे बालकं पूर्ववत् संस्थाप्य
अवस्थापिनीं निद्रां पूर्वनिहितं भगवत्प्रतिविम्बं चापहृत्य “न-
मो रत्नकुक्षिधारिण्यै” इत्युक्त्वा मातरं प्रणिपत्य ततो भग-
वन्तं च नमस्कृत्य नन्दीश्वरद्वीपमवर्जित् । तत्र सर्व इन्द्रा
अष्टाद्विकमहोत्सवं विधाय निजनिजसुरालयं समासदन् ।
अथ स भगवान् सौधर्म्येन्द्रसंचारितामृतवन्तं निजाङ्गुष्ठमेव
चुचूय । मातृस्तन्यपानं न चकार आऽज्ञाशनात् तीर्थङ्कराणां
तादृशाचरितत्वात् । ततः क्रमेण पिता ‘ऋषभ’ इति भग-
वतो नाम विदधे । इन्द्रस्तु तदानीमिच्छाकुर्वंशमतिष्ठित् ।
विंशतिलक्षपूर्वपर्यन्तं भगवान् कुमारावस्थायामेवातिष्ठत् ।
वासवो विनीताख्यां नगरं कारयित्वा भगवते प्रायच्छत् रा-
ज्याभिषेकं चाकरोत् । आत्रिपष्टिलक्षपूर्ववर्षं महाराजपदवी-
मनुवभूव । सुनन्दा सुमङ्गला चेति द्वे पत्न्यौ भगवतो बभू-
वतुः । तयोर्भरतबाहुवलीप्रमुखं सूनशतमजनिष्ट । तथा आ-
दित्ययशःसोमयशःप्रभृतयो बहवः पौत्रा अभूवन् । ततो भग-
वान् अयोध्याराज्यं ज्येष्ठपुत्राय भरताय ददौ, बाहुवलिने च
तत्तशिलाराज्यमदान् । अन्येभ्योऽपि तन्जनेभ्यो यथाहं देश-
नगरादिराज्यं प्रदाय स्वयं चैत्रकृष्णाष्टम्यां दीप्तां जगृहे, आ-

हारार्थं प्रतिग्रामं विजहार च, भद्रपुरुषास्तु साधूनामाहार-
दानं न विदुरतो भित्तां याचमानाय भगवते मणिमाणिक्या-
दीन्सुत्तमवस्तून्वेवोपाजहः । भगवता त्यक्तपरिग्रहत्वात्
दीयमानमपि तत्सर्वं न जगृहे, अतः सर्वतः पर्यटन् चतुर्वि-
गाहाररहित एव किञ्चिदधिकमेकं वर्षमतिष्ठत् । अस्मिन्नेवा-
सरे गजपुरनगरे बाहुबलिनः प्रपौत्रः सोमयशःपुत्रः श्रेयां-
सकुमारोऽभूत्, तत्र भगवान् ऋषभदेव आहारार्थं विहरन्ना-
जगाम । तदा नरकं श्रेयांसकुमारः " मेरुपर्वतः कृष्णबभूव,
मया चामृतकलशैश्छालयित्वा स शुक्लीकृतः " इतीदृशं स्वप्न-
मपश्यन् । तस्यामेव निशि तस्मिन्नेव पत्तने सुबुद्धिनामा श्रे-
ष्ठपि " सूर्यस्य किरणसहस्रं भूमौ निपपात श्रेयांसकुमा-
रस्तु तदुत्थाप्य पुनः सूर्यबिम्बे संयुयोज " इति स्वप्नमद्रा-
त्तात् । पुनः सोमयशा भूपतिरपि " अचुररिपुसमवरुद्धो
व्याकुलः कश्चन सुभटो यदा तान् स्वरिपून् जेतुं नाशकत्, तदा
श्रेयांसकुमारेण तस्य साहाय्यमकारि, येन स तत्क्षणमेव स-
र्वान् विजित्ये " इति स्वप्नं निरीक्षाञ्चक्रे । एवं स्वप्नत्रयं त्रयः
पुरुषा अद्राजुः । ततः प्रजाते सर्वे राजसभामुपसंगम्य य-
थास्वं स्वप्नं प्रत्युचुः । तदवधार्य " अद्य श्रेयांसकुमारस्यापूर्व-
लाभो भविष्यति " इति सर्वे सभ्या व्याजहुः । एतस्मि-
न्तरे सदाऽप्रतिवद्धविहार्यप्रमत्तो भगवान् भित्तार्थं प्र-
निगृहे परिभ्रमन् तत्र श्रेयांसकुमारनिकेतनमुपतस्थे । तमाग-
च्छन्तं जगवन्तं समवशोक्य कुमारोऽन्तः जहर्प । अन्ये च जना
अदृष्टचरसाधुमुद्राः पादाभ्यामेव पर्यटन्तं तमवशोक्य हस्त्यश्व-
प्रभृतीनि विविधवस्तूनि समुपाहरन् । भगवांस्तु किमपि नो-
पाददे । तेन ते लोकाः कोलाहलं कृत्वा विषममानसा चिन्तय-
न्ति स्म, यतो जगवान् अस्मरुस्तदत्तं किमपि नोपादत्ते, जातु
अस्मासु कुरु इवोपलभ्यत इति । ते तु युगवत्त्वावस्थामचिरेणै-
वाहासिपुरतः साधुनिज्ञादानविधिं न विदन्ति । अथ श्रेयांस-
कुमारो जगवतः साधुमुद्रां समवशोक्य ' ईदृशी मुद्रा मया पूर्वं
कुत्रापि निरीकृता ' इत्येवमूहापां हो कुर्वन् तदानीं तस्य मतिज्ञान-
भेदभूतं जातिस्मरणज्ञानं समजनि । तेन ज्ञानेन ' भगवता साकं
नव ब्रवा मे व्यतीताः ' इत्यादि सर्वे सोऽबुध्यत । तत्र " धण १
मिहुणो २ मुर ३ महच्च ४, लवियंग ५ वयरजंग ६ मिहुणो य
७ । सोहम्म ८ विज्ज ९ अचुय १०, चक्की ११ सच्च १२
उसभो य १३ " ॥ इति गार्थोक्तानां त्रयोदशप्रधानां मध्ये प्रथ-
मे भवे जगवान् सार्थवाहोऽभूत्, द्वितीये युगविक्रिः, तृतीये
देवता, चतुर्थे महाबलनामा राजा, पञ्चमे वल्लिताङ्गनामको
देवोऽभवत् । श्रेयांसकुमारस्तु प्रथमे भवे स्त्रीत्वजातौ धर्मि-
णीनामिका स्त्री समजनि । एवं क्रमेण वल्लिताङ्गदेवाद्यतारस्य
भगवतः स्वयंप्रजाख्या देवो बभूव । ततश्चयुत्या वल्लिताङ्गदेव-
जीवः षष्ठे भवे यज्जन्धराख्यो राजाऽभवत्, स्वयंप्रभा च तस्य
श्रीमतीत्याख्या राजपत्नी बभूव । एवं सप्तमे भवे चोर्मा युगविक-
्रौ बभूवतुः । अष्टमे सार्धमदेवशोक उर्मादेवो समजनिपाताम् ।
नवमे भगवान् जीवानन्दाभिधो वैद्यः, श्रेयांसजीवस्तु केशवा-
ख्यः श्रेष्ठपुत्रः संजातः । तत्रापि द्वयोरतीवमित्रता बभूव । ततो
दशमे जवेऽच्युतदेवशोक उर्मा मित्रदेवो संजातौ एकादशे ज-
गवान् चक्रवर्ती श्रेयांसश्च सारथिः । द्वादशे चोर्मा सर्वार्थसिद्धि-
विमाने देवौ । तत आर्युषि क्रीणे सति त्रयोदशे भवे भगवतो
जांवाऽयमृषभदेवोऽहञ्च श्रेयांसकुमारोऽस्मि । एवं स श्रेयांसो जा-
तिस्मरणज्ञानेन प्राक्तनानां नवभवानां स्वरूपमवेदीत् तेषु भ-

वेषु पूर्वं साधुक्रियामाकाङ्क्षीत्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यचिन्त-
यत् यत् संसारिजीवानां कीदृशमज्ञानित्वं जवति येन त्रिलोकी-
प्रभुं राज्यपदवीं तृणवत् विसृज्य विषयभोगरूपं सांसारिकसुखं
किंपाकफलमिव विदित्वा साधुत्वं गृहीत्वा च कर्मवन्धनविमो-
चनाय प्रयतमानं रागद्वेषाद्यनेकानर्थकारणीकृतं परिग्रहं परमा-
णुमात्रमप्यस्वीकुर्वाणं जगवन्तं नावेदिषुः । यः सर्वथा निर्ग-
न्धो निष्परिग्रहः स कथं पुनर्हस्यश्वक्यास्वर्णमणिमाणिक्य-
मुक्ताफलादीन् परिग्रहान् प्रहीष्यति ? । एवं बुद्ध्वा स श्रेयांस-
कुमारो निजप्रासादगवाक्षात् तूर्णमधः समवतीर्य जगवतश्चर-
णोपकरणं समाययौ जगवन्तं त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धु-
निमग्नो वचन्दे च । पुनरर्जुवं बद्ध्वा भगवन्तं तुष्टाव व्यजिज्ञपञ्च
। हे स्वामिन् ! मयि कृपा विधीयतामहं संसारतापतप्तोऽस्मि ।
अतो मे संसारान्निस्तारः क्रियताम् । अष्टादशकोटाकोटिसाग-
रोपमपर्यन्तविच्छिन्नो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रका-
श्यताम् । मम गृहे उपहाररूपेण समागतान् इक्षुरसपूर्णान्
शुद्धाहारभूतान् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समाददातु । इति
वचो निशम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिक्षुरसं छव्यक्षेत्र-
कालजायानुकूलं निरवद्याहारं समवगम्य श्रेयांसनिकेतनमुपेत्य
निजहस्ताञ्जलौ सर्वं युगपज्जग्राह । यतो भगवता पाणिपात्र-
द्विधिमता ज्ञयते, तेनैव स निखिलोऽष्टोत्तरशतघटरसोऽञ्जलि-
प्रविवेश । रसग्रहणसमये चैकविन्दुरपि ज्ञमौ न निपपात ।
यद्यप्ययमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसीऽभूत् यदि च शत-
सहस्रलक्षपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि प्रविवेशत् ।
एवं भगवते विशुद्धाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य तनौ न
ममौ । पुनर्व्यचिन्तयत् त्रिलोकीपुण्योऽनन्तगुणनिधिर्भगवान्
ऋषजदेवो यन्मे हस्तेनाहारमाददे तन्मयि परमप्रसादं व्यध-
त् । भगवते निर्दोषाहारं ददतो मे सर्वः पापसन्तापः क्रीणः ।
यावत् स एवं विचिन्तयति तावच्छर्पनिर्जरा देवाः पञ्च दिव्यानि
प्रकटीचक्रुः, ' अहोदानमहोदानम् ' एवं प्रजल्पन्तो देवदुन्दुभी-
न् च वादयांचक्रिरे । तिर्यग्जम्भकाख्यास्त्रिदशः साध्वद्वादश-
कोटिसुवर्णदीनाराणां रत्नानां च वृष्टिमकार्षुः । तदा श्रेयांस-
गृहं सुवर्णदीनारै रत्नैः समृद्ध्यादिभिश्च परिपूर्णं समजनि ।
विष्टपत्रयं धनधान्यादिभिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्यात्मा निरुप-
मसुखराजनं संजातम् । तदारज्य लोके सर्वे साधूनां भिक्षा-
दानविधिं विदञ्चक्रुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् देशे विहरति
तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापीतया न भवन्ति स्म, सकलगृहाण्य-
पि परमोत्तमाहारपूर्णानि वमबुः, येन अकिञ्चना अपि जगवते
परमात्रं प्रयच्छन्ति स्म तस्यातिशयविशिष्टत्वात् । अस्मिन्
वैशाखशुक्लतृतीयादिमे जगवतः श्रीऋषजदेवस्य पारणा श्रेयां-
सगृहे इक्षुरसेन निर्वृत्ता । इदं च दानं श्रेयांसस्याक्षयसुखका-
रणीकृतं संजातमतोऽस्यास्तृतीयायाः ' अक्षयतृतीया ' ' इक्षु-
तृतीया ' वा संज्ञा लोके प्रार्थितम् । अत्र कश्चित् प्रश्नं करोति,
त्रैलोक्यनाथस्य भगवतो वर्षमेकं ज्ञानान्तरायः कथम् ? । अत्रो-
च्यते कल्पविवरणे प्रदर्श्यमानमन्तरायनिदानं कर्म । तथाहि ।
पूर्वभवे जगवान् मार्गे गच्छन् खले धान्यानि खादतो वृषजान्
कृपीवक्षैस्ताड्यमानानवशोक्य संजातकरुणस्तान् प्रावोचत्,
अरे रे मूर्खाः कृपाणाः ! एतान् बुभुक्षन् यूयं न तारयत किन्तु
मुखबन्धनीं निर्मायैतेषां मुखानि बध्नीत । तदा नैते किमपि
भोक्तुं शक्नुयन्ति । तदा ते प्रत्युचुः, वयं न तां निर्मातुं जानीमः ।
ततो जगवान् तत्रोपाविश्य स्वहस्तेन तां निर्माय तया च वृषजमु-

खं बद्धा तान् प्रादर्शयत् । तथा वरुमुखो वृषजो महता कष्टेन
पष्टुत्तरशतत्रयकृत्यः श्वासानमुञ्चत्, अतस्तत्रोपाजितमन्तराय-
कर्म दीक्षाग्रहणसमये प्रादुर्भूयैकवर्षानन्तरमद्योपशमतामवापे-
ति । अथास्य दानस्य प्रज्ञावेण श्रेयांसो मोक्षपदवीमवाप्स्यति ।
भगवांश्चैकसहस्रं वर्षाणि त्र्यस्रस्थावस्थायामतिष्ठत् । एकसहस्र-
वर्षानन्तरं पूर्ववर्षावधिकवर्षावस्थायां स्थित्वाऽनेकान् ज-
व्यजीवान् प्रतिबोधयन् चित्रचार । ततोऽष्टापदपर्वतोपरि नश्व-
रमिमं लोकमपास्य मोक्षमवाप । अतोऽक्षयतृतीयादिने भव्य-
जीवानां सुपात्रेदानं, शीघ्रपालनं, तपस्याऽचरणं, ज्ञावनाज्ञाव-
नं, देवपूजनं, स्नात्रमहोत्सवादिर्कं च कर्म विधीयत इति ॥

तद्यप्ययं ह्येतत् पूर्वाचार्यैर्विनिर्मितम् ।

माहात्म्यं लिखितं सारं मया राजेन्द्रसूरिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्ठम् । के ऋतवः पूर्व-
मतिक्रान्ताः को वा सम्प्रति वर्त्तते ? । तत्र प्रथमाया अक्षयतृती-
यायाः प्राक् युगस्यादित आरभ्य पर्वण्यतिक्रान्तानि एको-
नविंशतिः । तत एकोनविंशतिर्ध्रियते धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते
जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयायां किल-
पृष्ठमिति पर्वण्यमुपरि तिस्रस्तथयः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते
अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति च कालेऽवमरात्राः पञ्च ज-
वन्ति, ततः पञ्च पात्यन्ते जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२९३) ते
द्वाभ्यां गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि षट्पष्ट्याधिकानि (५६६)
तान्येकषष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि षट् शतानि सप्तविंशत्य-
धिकानि (६९७) तेषां द्वाविंशतिशतेन जगहरणं द्वाभ्याः
पञ्च ते च षड्भिर्भागं न सहन्ते इति न तेषां षड्भिर्भागहारः,
शेषास्त्वंशा उच्यन्ति सप्तदश, तेषामर्द्धजाताः सार्द्धाष्टौ, आगतं,
पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोः प्रवर्त्तमानस्याष्टौ
दिवसा गता नवमो वर्त्तते इति । सू० प्र० १२ पादु०

अकरखयपूया-अकृतपूजा-स्त्री० जिनप्रतिमानां पुरतोऽखण्डत-
रमुद्वसमर्पणे, तन्माहात्म्यविषये शुक्कथानकं विजयचन्द्र-
चरित्रालिख्यते । तद्यथा--

अखंरुफुर्भियचुक्ख-क्खएहि पुंजत्तयं जिणिदस्स ।
पुरओ नरा कुणतो, पावंति अखंभियसुहाइ ॥ १ ॥
जइ जिणपुरओ चुक्ख-क्खएहि पुंजत्तयं कुणतेणं ।
कीरमिहुणेण पत्तं, अखंभियं सासयं सुक्खं ॥ २ ॥
अत्थित्थ जरहवासे, सिरिपुरनयरस्स बाहिरज्जाणे ।
रिस्सहजिणेसरज्जुवणं, देवविमाणं व रमणीयं ॥ ३ ॥
भवणस्स तस्स पुरओ, सहयारमहादुमुत्ति सच्छाओ ।
अनुज्जेनेहरत्तं, सुअमिहुणं तम्मि परिवसइ ॥ ४ ॥
अह अन्नया कयाई, भणिओ सो तीइ अत्तणो जत्ता ।
आणेइ मोहवो मे, सीसं इह साव्विस्सित्ताओ ॥ ५ ॥
जणिया सो तेण पिण, एयं सिरिकंतराणो खिन्तं ।
जो पयम्मि वि सीसं, गिह्वाइ सीसं निवो तस्स ॥ ६ ॥
भणिओ तीए सामिय!, तुह सरिसो नत्थि इत्थिकापुरिसो ।
जो भज्जं पि य मरणं, इच्छसि नियजीवल्लोहेण ॥ ७ ॥
इय भणिओ सो तीए, जज्जाए जीवियस्स निरुक्खो ।
गंतूण साव्विस्सित्ते, आणइ सो सालिसीसाण ॥ ८ ॥
एवं सो पइदियहं, रक्खंताणं पि रायपुरिसाणं ।
आणेइ मंजरीओ, भज्जाएसेण सो निब्बं ॥ ९ ॥
अह अन्नया नरिंदो, समागओ तम्मि सालिस्सित्तिम्मि ।
पिच्छइ सरणविलत्तं, तं खिन्तं पणंदसम्मि ॥ १० ॥

पुछो य आयरेणं, पुइवीपालेण सालिया वुत्ति ।
किं इत्थ इमं दीसइ, सउणेहिं विणासियं खिन्तं ॥ ११ ॥
सामिय ! इक्को कीरो, गच्छइ सो सालिमंजरी धित्तं ।
रक्खिजंतो वि ददं, चोरुव ण्णुत्ति नासेइ ॥ १२ ॥
जणिओ सो नरवइणा, मंभियपासेहिं तं गहेऊणं ।
आणेइ मज्जपासे, हणेइ चोरुव तं छुट्ठं ॥ १३ ॥
(आणयव्वां पासे, सहसो चोरुव अइडुट्ठो । इतिपागान्तरम्)
अइ अन्नदिणे कीरो, रायाएसेण तेण पुरिसेणं ।
पासनिबद्धो निज्जइ, सुईए पिच्छमाणीए ॥ १४ ॥
पुछविलग्गा धावइ, अंजुजत्ता पुज्जोयणा सुई ।
पत्ता दइएण समं, सुडुक्खिया रायभवणम्मि ॥ १५ ॥
अछाणत्ति राया, विन्नत्तो तेण सालिपुरिसेणं ।
देवेसो सो सूओ, बद्धो चोरुव आणीओ ॥ १६ ॥
तं दट्ठणं राया, खणं गहिरुण जाव पहणइ ।
ता सहसस्सिय सुई, नियपइणो अंतरे पभिया ॥ १७ ॥
पभणइ सुई पहणसु, निस्संको अज्ज मज्ज देहम्मि ।
मुंचसु सामिय ! एयं, महजीवियदायगं जीयं ॥ १८ ॥
तुह सालीए उवरिं, संजाओ देव मोहलो मज्ज ।
सो तणसरिसं काउं, नियजीयं महवि ओयम्मि ॥ १९ ॥
हसिरुण जणइ राया, कीर ! तुमं पभिओत्ति विक्खाओ ।
महिलाकज्जे जीयं, जो चयसि वियक्खणो कइणु ॥ २० ॥
पज्जणइ सुई सामिय, ! अच्छउ ता जणजिजणयवित्ताइ ।
नियजीवियं पि बड्डइ, पुरिसो महिवाणुराएण ॥ २१ ॥
तं नत्थि जं न कीरइ, वसणासत्तेहिं कामलुहेहिं ।
ता अच्छइ इयरज्जाओ, हरेण देहट्ठयं दिन्नं ॥ २२ ॥
जह सिरिदेवीइ कए, देवतुमं जीवियं पि छुट्ठइ ।
तह अन्नो वि हु बड्डइ, को दोसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥
तीइ वयणेण राया, चित्तइ हियएण विहियं इंतो ।
कइ एसा पक्खिणिआ, वियाणए मज्ज वुत्तं ॥ २४ ॥
पज्जणइ राया भइ, दिट्ठंतो कइ कओ अहं तुमए ।
साहसु सव्वं एयं, अइगरुयं कोउयं मज्ज ॥ २५ ॥
पज्जणइ कीरी निसुणसु, दिट्ठंतो इत्थ जह तुमं जाओ ।
आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! परिवायगा एगा ॥ २६ ॥
बहुकूडकैवरभरिया, भत्ता जा रुह्खंदेवाणं ।
सा तुह जज्जाइ चिरं, सिरिया देविण उवयरिया ॥ २७ ॥
नरवइणोहं जज्जा, बहुभज्जो एस मज्जभत्तारो ।
कम्मवसेण जाया, सव्वेसि दूहवा अहयं ॥ २८ ॥
ता तह कुणसु पसायं, जयवइ जइ होमि वल्लहा पइणो ।
महजीविणए जीइइ, मरइ मरंतीइ किं बहुणा ॥ २९ ॥
जणिआ एसा वच्चे, गिह्वाइ तुमं ओसहीवलयं ।
तं देसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुह जत्ता ॥ ३० ॥
भयवइ भवणपेवेसो, वि नत्थि कइ दंसणं समं तेणं ।
कइ ओसहीवलयं, देमि अहं तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥
जइ एवं ता भइ, गहिरुणं अज्ज महसयासाओ ।
साहुसु पगगमणा, मंतं सोहमसंजणणं ॥ ३२ ॥
भणिणए सुहमुहुत्ते, दिन्नो पव्वाइयाइ सो मंतो ।
पूअं काऊण पुणा, तीए वि पभिच्छिओ विहिणा ॥ ३३ ॥
जा जायइ सा देवी, तं मंतं पइदिणं पयत्तेण ।
ता सहसा नरवइणा, पभिहारी पेसिया भणइ ॥ ३४ ॥
आणवइ देवि देवो, जह तुमए अज्ज वासभवणम्मि ।

अगत्यमवस्मं, कुवियप्पो नेव कायव्यो ॥ ३५ ॥
 रयणी-कयसिगारा, समंतओ रायलोयपरियरिया ।
 कयिणीखंधारुद्धा, समागया रायभवणम्मि ॥ ३६ ॥
 नरवरकयसम्माणा, दोढगं देवि सेसमहिन्नाणं ।
 मोहमां गहिकुणं, संजाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥
 पुंजइ इच्छियसुक्खं, संतुट्ठा देइ इच्छियं दाणं ।
 रुद्धा पुण सा जेमि, ताणं च विणिग्गहं कुणइ ॥ ३८ ॥
 रुह अन्नदिणे पुट्ठा, तीए परिवाइया इमा देवी ।
 वच्चे तुह संपन्ना, मणोरहा इच्छिया जेउं ॥ ३९ ॥
 भयवइ तं नत्थि जए, तुह पयभत्ताण जं न संजवई ।
 तह विहु जयवइ अज्ज वि, हियंयं दोलायए मज्ज ॥ ४० ॥
 जह जीवइ महजीवं, तियाइ अह मरइ महमरंतीए ।
 जा जासिज्जइ नेहो, महउवरिं नरवरिंदस्स ॥ ४१ ॥
 जइ एवं ता गिहसु, नामं महमूलियाय एयाए ।
 जेण तुमं मयजीवा, लक्खीयासि जीवमाणा वि ॥ ४२ ॥
 बीयाइ मलियाए, नासं दाऊण तुह करिस्सामि ।
 देहं पुणन्नवं चिय, मा भीयसु मज्ज पासत्था ॥ ४३ ॥
 एवंति पभणिकुणं, गहिउं देवाए मग्गियावलंयं ।
 सा वि अ समप्पिकुणं, संपत्ता निययगणम्मि ॥ ४४ ॥
 अह सा नरवइ पासे, सुत्ता गहिकुण ओसही नासं ।
 ता दिट्ठा निच्छिआ, नरवइणा विगयजीवव्य ॥ ४५ ॥
 एत्तो आकंदरओ, उच्छलिओ ज्जत्ति राइणो जवणे ।
 देवी मया मयत्ति य, धाहावइ नरवइ लोओ ॥ ४६ ॥
 नरवइआएसेणं, मिलिया बहुमंतविज्जकुसला य ।
 तह वि य सा परिचत्ता, मइत्ति दट्ठुण निच्छिआ ॥ ४७ ॥
 भणिओ मंतोहि निवे, किज्जउ एयाइ अगिसक्कारो ।
 भणिया ते नरवइणा, मज्जवि किज्जउ सह इमाए ॥ ४८ ॥
 चलणविलग्गो लोओ, पभणइ न ह देव परिसं जुत्तं ।
 भणइ सुपुक्खं राओ, नेहस्स न पुग्गि मग्गाओ ॥ ४९ ॥
 ता मा कुणह विज्जंयं, कट्ठह वहु चंदीणधणं पउरं ।
 इय जणिकुणं राया, संचत्तिओ पिअयमासहिओ ॥ ५० ॥
 वज्जिर नूरवेणं, रोविं नरनारिपउरनिवहेण ।
 पुरितो गयणयत्तं, संपत्तो पेयगणम्मि ॥ ५१ ॥
 जा विग्गकण चिअयं, राया आरुहइ पिअयमासहिओ ।
 ता दृगाउ रयंति, पत्ता परिवाइया तत्थ ॥ ५२ ॥
 भणिओ तीए तुमंयं, मा एवं देवसाहसं कुणसु ।
 भणियं तुमए जयवइ, महजीयं पिअयमासहिंयं ॥ ५३ ॥
 जइ एवं तो विसहसु, खणमेगं मा ह कायरो होसु ।
 जीवायंमि अवस्मं, तुह दइअं बोअपच्चक्खं ॥ ५४ ॥
 तं वयणं सोऊणं, ऊमसियं तस्स राइणो चित्तं ।
 न ह जीवियस्स लाहे, जह लाहे तीइ जज्जाए ॥ ५५ ॥
 जयवइ कुणसु पमायं, जीवायसु मज्ज वल्लहं दइअं ।
 तीए वि दू देवाणं, दिओ संजावणी नासो ॥ ५६ ॥
 तस्स पत्तावेणं चिय, मा देवी सयन्नलोयपच्चक्खं ।
 उज्जीविया य समयं, नरवइणो जीवियामाए ॥ ५७ ॥
 नं जीवियंति नाउं, आणंदजवुल्लोयणो लोओ ।
 नच्चइ उम्मियवाहो, वज्जिरवदुत्तमनिवहेण ॥ ५८ ॥
 मइयगातरणंदि, पाए परिवाइयाइ पुणं ।
 पमणइ अज्ज अज्जं, जं मग्गमि नं पणामेमि ॥ ५९ ॥
 भाणओ तीए राया, सुपुग्गिसमह नत्थि किं पि करणिज्जं ।

जिकखागहणेण अहं, संतुठा नयरमज्जम्मि ॥ ६० ॥
 गयवरखंधारुद्धं, काऊणं निययपिययमाराया ।
 संपत्तो नियभवणे, आणंदमहसवं कुणइ ॥ ६१ ॥
 फडिहमयभित्तघमिओ, कंचणसोवाणयंभनिम्मविया ।
 काराविया निवेणं, मदिया अज्जाइ तुछेणं ॥ ६२ ॥
 पव्वइया सा नरवर-मरिकुणं अट्ठुण दोसेणं ।
 संजाया सुहसूई, साहं पत्ता तुह सयासे ॥ ६३ ॥
 दट्ठुणं देव ! तुमं, तुह पासपरिछियं महादेवि ।
 जायं जाईसरणं, संभरिअं तुह मए चरिअं ॥ ६४ ॥
 सोऊण तीइ वयणं, रोवंती भणइ सा महादेवी ।
 भयवइ कह मरिकुणं, संजाया पक्खिणी तुमंयं ॥ ६५ ॥
 मा भूपसि किसेयरि, पुक्खित्ता अज्जमज्जज्जमेण ।
 कम्मवसेणं जीवो, तं नत्थिहं जं न पावेइ ॥ ६६ ॥
 तेण तुमं दिछंतो, दिओ नरनाहमहिविया विसए ।
 सोऊण इमं राया, संतुट्ठो सूइगं भणए ॥ ६७ ॥
 सच्चो दिछंतोहं, दिओ तुम एत्थ महिलिया विसए ।
 ता तुछोहं पज्जणसु, जं इहं तं पणामेमि ॥ ६८ ॥
 पज्जणइ सुई निसुणसु, महइछो नाह अत्तणो जत्ता ।
 ता तस्स देसु जीयं, न ह कज्जं किं पि अक्षेण ॥ ६९ ॥
 इसिकुण भणइ देवी, देव तुमं कुणसु मज्जवयणेण ।
 एयाए पीईदाणं, ज्ञोयणदाणं च निच्चंपि ॥ ७० ॥
 भणिया सा नरवइणा, वच्चसु जइ जहिंछियं गणं ।
 मुक्कोय एस जत्ता, तुट्ठुणं तुज्ज वयणेण ॥ ७१ ॥
 भणिओ य साविवात्ता, एयाणं तंउल्लाणदाणं च ।
 पइदियहं दाव्वं, रासिं काऊण मित्तंते ॥ ७२ ॥
 जं आणवेइ देवां, इय भणिए भणइ कीरमिहुणं पि ।
 एस पसाओ सामिय, ! इय भणिउं ज्जत्ति उट्ठोणं ॥ ७३ ॥
 पुव्वुत्ते चूअडुमे, गंतुणं पुन्नमोहवा सुई ।
 नियनियम्मि पसूया, निप्पन्नं अंडयडुगंति ॥ ७४ ॥
 अह तम्मि चय समये, तीए सवक्की वि निययनीम्मि ।
 तम्मि डुमम्मि पसूया, संपुन्नं अंडगं एगं ॥ ७५ ॥
 जा सा चूणि निमित्तं, विणिमाया तं दुमं पमुत्तुणं ।
 ता मच्छुरेण पढमा, आणइ तं अरुगं तीए ॥ ७६ ॥
 जा पच्छिमा न पिच्छइ, समागया तत्थ अत्तणो अरुं ।
 ता सफरिअ विलोडइ, धरणियत्ते पुक्खसंतत्ता ॥ ७७ ॥
 तं विलयंति य दट्ठुं, पच्छावायेण तवियहिययाए ।
 पढमाए नेऊणं, पुणो वि तत्थेव तं मुक्कं ॥ ७८ ॥
 धरणियत्ते लुलिकुणं, अयं आरुहइ जाव नीरम्मि ।
 ता पिच्छइ तं इरुं, सा कीरिय अमयसित्तव ॥ ७९ ॥
 वरुं च तं निमित्तं, कम्मं पढमाए दारुणविवागं ।
 पच्छावायेण हयं, धरियं चिय एगभवदुक्खं ॥ ८० ॥
 तम्मिय अंडयजुयले, संजाया सूइगा य सुअगो अ ।
 कीव्रंति वणनिगुंजे, समयंचिअ जणणिज्जणोहि ॥ ८१ ॥
 खए तंउल्लकूमे, नरवइवयणाउ सालिखित्तम्मि ।
 चंचुपुडे गहिकुणं, वच्चइ तं कीरमिहुणं ति ॥ ८२ ॥
 अह अन्नया कयाई, चारणसमणो समागओ नाणी ।
 रिमहजिणेसरभवणं, वंदणहेउं जिणिंदस्स ॥ ८३ ॥
 पुरत्तरनारिनरिंदो, देवं पुण्णक्खएहिं पुणं ।
 पुच्छइ नमिकुण मुणिं, अक्खयपूयाफत्तं राया ॥ ८४ ॥
 अक्खरफुमियचोक्ख-क्खएहिं पुंजत्तयं जिणिंदस्स ।

पुरश्चो नरा कुणतो, पावन्ति अखंडियसुहाइ ॥ ८५ ॥
 इय गुरुवयणं सोऽं, अकखयपूया समुच्चलं लोओ ।
 दछणं सा सुई, पभणइ निअअत्तणो कंतं ॥ ८६ ॥
 अहो वि नाह ! एवं, अकखयपुंजत्तएण जिणनाहं ।
 पूणो अचिरेण, सिद्धिसुहं जेण पावेमो ॥ ८७ ॥
 एवं तीए जणिऊ-ण चंचुपुमे खिविय चोक्खक्खएहिं ।
 रइअं जिणिदपुरओ, पुंजतिअं कीरमिहुणेण ॥ ८८ ॥
 भणिअं अवच्चजुअलं, जणणीजणएहिं जिणवरिदस्स ।
 पुरओ मुंचह अक्खे, पावह जेणक्खयं सुक्खं ॥ ८९ ॥
 इय पइदियहं काठं, अकखयपूअं जिणिदभत्तीए ।
 आउक्खए गयाइ, चत्तारि वि देवलोगम्मि ॥ ९० ॥
 त्रुत्तण देवसुक्खं, सो सुअजीवो पुणो वि चविऊण ।
 संजाओ हेमपुरे, राया हेमप्पहो नाम ॥ ९१ ॥
 सो वि य सुईजीवो, तत्तो चविऊण देवलोगाओ ।
 हेमप्पहस्स भज्जा, जाया जयसुंदरी नाम ॥ ९२ ॥
 सा पच्छिमा वि सुई, संसारं हिंमिऊण सा जाया ।
 हेमप्पहस्स रत्तो, रत्तामा जारिया दुइया ॥ ९३ ॥
 अत्ताओ वि कम्मणं, पंचसया जाव जारिया तस्स ।
 जायाओ पुण इट्ठा, पढमा ते भारिया दो वि ॥ ९४ ॥
 (संजाया पुण इट्ठा, पढमाओ भारिया दुत्ति) इति पाठान्तरम् ।
 अह अत्ताया नरिंदो, दूसहजरतावतावियसरीरो ।
 चंदणजलुद्धिओ वि हु, बोवइ चूमीइ अप्पाणं ॥ ९५ ॥
 एवं असणविट्ठणो, चिछइ जा तिन्नि सत्तए राया ।
 ता मंतंतकुसत्ता, विज्जा वि परं मुहा जाया ॥ ९६ ॥
 उगघोसयइ सत्ती, दिज्जंति य बहुविदाइ दानाइ ।
 जिणनवणेसु य पूआ, देवयआराहणाओ य ॥ ९७ ॥
 रयणी य पच्छिमडे, पयमी होऊण रक्खसो भणइ ।
 किं सुत्तो सि नरेसर ! भणइ निवो कह णु मह निदा ॥ ९८ ॥
 ओआरणं करेउं, अप्पाणं जइ नरिंद ! तुह भज्जा ।
 षक्खिवइ अग्गिक्कुं, तो जीअं अन्नहा नत्थि ॥ ९९ ॥
 इअ भणिऊण नरिंदं, विणिग्गओ रक्खसो नियछाणं ।
 राया विम्हियहियओ, चित्तइ किं इंदजालु त्ति ॥ १०० ॥
 किं वा दुक्खत्तेणं, अज्ज मए एस सुविणगो दिट्ठो ।
 अहवा न होइ सुविणो, पच्चक्खो रक्खसो एसो ॥ १०१ ॥
 इत्तो विनयपसहिया, बोलीणा जामिणी नरिंदस्स ।
 उदयाचवम्मि च्छिओ, सरो वि हु कमलिणीनाहो ॥ १०२ ॥
 रयणीए वुत्तंतो, नरवइणा साहियो सुमंतिस्स ।
 तेण वि भणिउं किज्जउ, देव ! इमं जीयकज्जम्मि ॥ १०३ ॥
 परजीएणं नियजी-यरक्खणं न हु कुणंति सप्पुरिसा ।
 ता होउ मज्ज विहियं, इय भणिओ राइणा मंती ॥ १०४ ॥
 सहाविऊण सव्वाउ, मंतिणा नग्गइस्स जज्जाओ ।
 कहिओ रक्खसभणिओ, वुत्तंतो ताण नीसेसो ॥ १०५ ॥
 सोऊण मंतिवयणं, सव्वाओ नियजियस्स लेहिण ।
 ठाउं अहोमुहीओ, न दिंति मंतिस्स पडिवयणं ॥ १०६ ॥
 पप्फुल्लवयणकमला, उठेउं जणइ रई महादेवी ।
 मह जीविणए देवो, जइ जीवइ किं न पज्जत्तं ॥ १०७ ॥
 इय भणिए सो मंती, जवणगवक्खस्स हिट्ठभूमीए ।
 काराविऊण कुंडं, आरोहइ अगुरुकट्टेहिं ॥ १०८ ॥
 सा वि य कयसिगारा, नमिऊणं जणइ अत्तणो कंतं ।
 सामिय ! मह जीवणं, जीवसु निवडामि कुंममि ॥ १०९ ॥

जणइ सदुक्खं राया, मज्ज कए देवि ! चयसु मा जीयं ।
 अणुहवियव्वं च मए, सयमव पुराकयं कम्म ॥ ११० ॥
 पज्जणइ चत्तएविज्जग्गा, सामिय ! मा भणसु एसं वयणं ।
 जं जाइ तुज्ज कज्जे, तं सुलहं जीवियं मज्ज ॥ १११ ॥
 ओआरणं करेउं, अप्पाणं सावला वि नरवइणो ।
 भवणगवक्खे ठाउं, जलिणं कुंममि पक्खिवइ ॥ ११२ ॥
 अह सो रक्खसनाहो, तीसे सत्तेण तोसिओ सहमा ।
 अप्पत्ते वि य कुंडं, हुयासदूरं समुक्खिवइ ॥ ११३ ॥
 भणिया रक्खसवइणा, तुट्ठा हं अज्ज तुज्ज सत्तेण ।
 मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं तुज्ज किं बहुणा ॥ ११४ ॥
 जणणिजणएहिं दिओ, हेमपहो महवरो किमन्नेण ।
 मग्गसु तह वि हु भदे, देवाणं न दंसणं विहलं ॥ ११५ ॥
 जइ एवं ता एसो, मह भत्ता देव तुह पसाएण ।
 जीवउ वाहिविहीणो, चिरकालं होउ एस वरो ॥ ११६ ॥
 एवं ति पभणिऊणं, दिव्वालेकारभूसियं काउं ।
 कंचणपउमे मुत्तं, देवो हु अदंसणीहओ ॥ ११७ ॥
 जीव तुमं भणइ जणो, सीमे पुप्फक्खए खिबेऊण ।
 नियजीवियदाणेणं, जीए जीवाविओ भत्ता ॥ ११८ ॥
 तुट्ठो तुह सत्तेणं, वग्गसु वरं जंपिए पियं तुज्ज ।
 भणिया पइणा पभणइ, देव वरो मह तुमं चेव ॥ ११९ ॥
 जीवियमुल्लेण तुंए, वसीकओ हं सया वि कमलच्छि ।
 ता अन्नं कग्गीयं, भणसु तुमं भणइ सा हसिउं ॥ १२० ॥
 जइ एवं ता चिट्ठउ, एस वरो सामि ! तुह सयासम्मि ।
 अवसरवडियं एयं, पच्छिइस्सं तुह सयासाओ ॥ १२१ ॥
 अह अत्ताया रईए, भणिया पुत्तत्थितीइ कुलदेवी ।
 जयसुंदरिपुत्तेणं, देमि वलिं होउ मह पुत्तो ॥ १२२ ॥
 भवियध्वयावसेणं, जाया दुन्हं पि ताए वरपुत्ता ।
 बहुलक्खणसंपुत्ता, सुहजणया जणणिजणयाणं ॥ १२३ ॥
 तुट्ठा रई वि चित्तइ, दिओ कुलदेवमाइ मह पुत्तो ।
 जयसुंदरिपुत्तेणं, कह कायव्वा मए पूआ ॥ १२४ ॥
 एवं चिंतंतीए, लद्धो पूयाइ सादुणो वाओ ।
 नरवइवरेण रज्जं, काऊण वसे करिस्सामि ॥ १२५ ॥
 इय चित्तिऊण तीए, अवसरपत्ताइ पभणिओ राया ।
 जो पुट्ठि पडिवत्तो, सो दिज्जउ मह वरो सामि ॥ १२६ ॥
 मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं जीवियं पि किं बहुणा ।
 जइ एवं ता दिज्जउ, मह रज्जं पंचदियहाइ ॥ १२७ ॥
 एवं त्ति पभणिऊणं, दिन्नं तुह पिये मए रज्जं ।
 पडिवत्तं तं तीए, महापसाउ त्ति काऊणं ॥ १२८ ॥
 पालइ सा तं रज्जं, पत्तो रयणीए पच्छिमे जामे ।
 जयसुंदरीइ पुत्तं, आणावइ रोयमाणीए ॥ १२९ ॥
 तं न्हाविऊण वालं, चंदणपुप्फक्खएहिं पूएउं ।
 पडलयउवरिं काउं, ठावइ दासीइ सीसम्मि ॥ १३० ॥
 वच्चइ परियणसहिया, उज्जाणे देवयाइ भवणम्मि ।
 वज्जिगत्तूररेणं, नच्चिर नरनारिलोएण ॥ १३१ ॥
 अह विज्जाहरवइणा, कंचणपुरसामिणए सुरेण ।
 वच्चंतेण नहेणं, दिट्ठो सो दारगो तेण ॥ १३२ ॥
 उज्जोयंतो गयणं, दिणयरेतेउ व्व निययतेएण ।
 गहिऊण तेण अलक्खं, अन्नं मयवालं मुत्तं ॥ १३३ ॥
 भणिया सुत्ता भज्जा, जंघोयखिवाव्वं ठवेऊण ।
 उट्ठह वट्ठं किं नोयारि, पिच्छसु नियदारं जायं ॥ १३४ ॥

किं हससि तुमं सामिय !, हसिष्या हं निष्पिणेण देवेण ।
 किं कइया वि सुयद्दह, बंधापुत्तं च पसेवेइ ॥ १३५ ॥
 पभणइ पहसियवयणे, जइ मह वयणेण नत्थि सहदणं ।
 ता पिच्छेहि सयं चिय, नियपुत्तं रयणरासिं व ॥ १३६ ॥
 इय संसयहिययाप, परमत्थं साहिक्कण सा भणिया ।
 नियपुत्तविगहियाणं, अमहाणं एस पुत्तो त्ति ॥ १३७ ॥
 पत्तिवच्चिक्कण एयं, नीओ नयरम्मि सो य पइदियहं ।
 परिवक्खेइ कलाहिं, सियपक्खगओ मियंकु व्व ॥ १३८ ॥
 सा वि य रइमयबालं, सीसोयरि नामिक्कण देवीए ।
 आफालइ तं पुत्तओ, वत्थं वसियायले तुहा ॥ १३९ ॥
 गंतूण तओ भवणे, संपुत्तमणोरहा सुहं वसइ ।
 जयसुंदरी वि दियहा, सुयविरहे दुक्खिया गमइ ॥ १४० ॥
 कयविज्जाहरतामो, मयणकुमारुत्ति गहियवरविज्जो ।
 वच्चतो गयणयत्ते, पिच्छइ तं अत्तणो जणणिं ॥ १४१ ॥
 भवणगवक्खारुढा, सुयसोयज्जरंतनयणसखिजेहि ।
 अइनेहनिज्जरंणं, उक्खित्ता मयणकुमरेण ॥ १४२ ॥
 तं दट्टण कुमारं, हरिसवस्सं च नयणमञ्जिलेन ।
 सिचंती अवलोयइ, पुणो पुणो निरुदिछीए ॥ १४३ ॥
 उक्खियवाहो लोओ, धाहावइ पुरवइए मज्झम्मि ।
 एसा हरिज्जइ घरिणी, नरवइणो उच्चकंठेण ॥ १४४ ॥
 अइसूरो वि हु राया, पयचारी किं करेइ गयणत्थे ।
 खुज्जउ किं कुणइ फत्ते, तरुसिहरपयछिप दिट्ठु ॥ १४५ ॥
 चितइ मणम्मि राया, दुक्खं खयखारसन्निहं जायं ।
 एगं सुअस्स मरणं, वीअं पुण जारियाहरणं ॥ १४६ ॥
 एयं दुक्खियहियओ, चिछइ राया नियम्मि नयरम्मि ।
 अहवा घरिणीहरणे, भण कस्स न जायए दुक्खं ॥ १४७ ॥
 अवट्ठिविसएण नाउं, पुत्तं तं मृदगाइ देवीए ।
 मइ ज्ञाया नियज्जणणी, घरिणीबुद्धिइ अवहरण ॥ १४८ ॥
 नियपुरपच्चासन्नं, सरवरपत्तीइ चूयगयाए ।
 जणणामहिओ कुमरो, जा चिछइ ताव सा देवी ॥ १४९ ॥
 वानररूपं तइ वा-नरीइ काऊण चूयसाहाए ।
 पभणइ वानररूपी, कामयत्तिथं इमं भज्जे ॥ १५० ॥
 निविओ वि एत्थ पक्खिओ, नित्थपभावेण लहइ मणुअत्तं ।
 मणुओ वि हु देवत्तं, पावइ नत्थिअत्थ संदेहो ॥ १५१ ॥
 ता खु पेच्छसु दोअि वि म-णुसाइ पक्खवेदेवभूआइ ।
 एआइ मणे काउं, निवडामो इत्थ नित्थम्मि ॥ १५२ ॥
 जेण तुमं माणुम्मिया, अइहं पुण परिमो मणुस्सुत्ति ।
 हांहामि त्ति पभाणिओ, को नामं गिगहइ इमस्स ॥ १५३ ॥
 जां निअज्जणणिं पि इहं, घरिणीबुद्धिइ नेइ हरिक्कण ।
 तस्स वि पावस्स तुमं, सामियरुवम्मि अहिवासां ॥ १५४ ॥
 मांऊण वानरीए, तं वयणं दो वि विह्वअमणाइ ।
 चित्तंति कइं एसा, मइ जणणी सा वि कइ पुत्तो ॥ १५५ ॥
 नेहेणं हरिए वि हु, एसा मइ जणइ जणणिवुद्धि त्ति ।
 सा वि य चित्तइ एसा, मइ पुत्तो उअरजाओ त्ति ॥ १५६ ॥
 पुच्छइ संसयहियओ, कुमरो तं वानरि पयत्तणं ।
 भइ ! किं सच्चमिणं, जं तुमए भासियं वयणं ॥ १५७ ॥
 तीए नणियं सच्चं, जइ अज्ज वि तुज्झ अत्थि संदेहो ।
 ता एयम्मि निगुत्ते, पुच्छसु वरनाणिणं साहुं ॥ १५८ ॥
 इय नणिकुणं सहसा, वानररुत्तअलं अदस्सणीदुअं ।
 सो वि य विह्वहियओ, पुच्छइ तं मुणिवरं गंतु ॥ १५९ ॥

भयवं ! किं तं सच्चं, जं भणियं वानरीइ मह पुरओ ।
 मुणिवइणा वि हु भणिओ, सच्चं तं होइ नहु अत्तिअं ॥ १६० ॥
 निचवं चिट्ठामि विओ, कम्मक्खयकारणम्मि जायंतो ।
 हेमपुरे सविसेसं, साहिस्सइ केवली तुज्ज ॥ १६१ ॥
 इय भणिओ तं नमिउं, सहिओ जणणीइ सो गओ गेहं ।
 जणणिजणएहिं दिट्ठो, हरिसियहियएहिं सो विमणो ॥ १६२ ॥
 एगंतं ठविक्कणं, चलणवल्लगेण पुच्छिया जणणं ।
 अम्मो साहेसु कुनं, कइ जणण। मज्झ को जणओ ॥ १६३ ॥
 चितइ सा सविइका, किं एसो अज्ज पुच्छए एयं ।
 पभणइ पुत्तय ! अइ यं, तुह जणणी एस जणओ त्ति ॥ १६४ ॥
 सच्चं अम्मो एयं, तइ वि हु पच्छामि जम्मदायारे ।
 तं परमत्थं पुत्तय !, तुइ जाणइ एस जणउ त्ति ॥ १६५ ॥
 तेण वि परितुट्ठेणं, कहिउं परलाइवइयरो तस्स ।
 तइ पुण जणओ पुत्तय, विज्जाओ किंचि नहु सम्मं ॥ १६६ ॥
 भणिओ कुमरेण पुणो, एसा जा ताव आणिया नारी ।
 सा वानरीइ सिछा, एसा तुह जम्मजणणि त्ति ॥ १६७ ॥
 मुणिया वि हु पुछेणं, एयं चिय साहिक्कण भणिओ हं ।
 हेमपुरे गंतूणं, पुच्छसु तं केवलिं एयं ॥ १६८ ॥
 तो ताव तत्थ गंतुं, पुच्छामो केवलिं निरवसेसं ।
 जेणसो संदेहो, तुइइ मह जुज्जंतु व्व ॥ १६९ ॥
 इय भणिकुणं कुमरो, चलिओ सह निययजणणिजणएहिं ।
 (इय भणिकुणं चलिओ सहिओ सह जणणि जणयलोएहिं
 इति पाठान्तरम्)

संपत्तो हेमपुरे, केवलियो पायमूलम्मि ॥ १७० ॥
 भत्तिभरनिअरंगो, केवलियो पायपंकयं नमिउं ।
 उवविछो धरणियले, सपरियणो सुरकुमार व्व ॥ १७१ ॥
 जयसुंदरी वि देवी, बहुदारिसहस्समज्झयारम्मि ।
 नियपुत्तेण समेया, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७२ ॥
 हेमपभो वि य राया, नियपुरनरनारिलोयपरियरिओ ।
 उवविछो गुरुमूले, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७३ ॥
 पत्थावं लहिकुणं, नरनाहो भणइ केवलिं नमिउं ।
 भयवं ! सा मह भज्जा, जयसुंदरि केण अवहरिया ॥ १७४ ॥
 भणिओ सो केवलियो, हरिया नरनाह ! निययपुत्तेण ।
 विह्वहियओ पभणइ, भयवं ! कइ तीइ पुत्तु त्ति ॥ १७५ ॥
 जो आसि तीइ पुत्तो, सो वालो चैव हयकयंतेण ।
 कवलीकओ महायस, वीओ पुत्तो वि से नत्थि ॥ १७६ ॥
 अलियं न तुमइ वयणं, वीओ पुत्तो वि तिय से नत्थि ।
 इय विह्वडियकज्जं पिव, संतावं संसओ कुणइ ॥ १७७ ॥
 भणइ मुणियो नरवर ! सच्चं मा कुणसु संसयं एत्थ ।
 भयवं ! कहसु कइं चिय, अइगरुअं कोउअं मज्झ ॥ १७८ ॥
 कुलदेवयपूयाए, बुत्तंतो ताव तस्स परिकहिओ ।
 जा वेयवृपुराओ, समागओ तम्मि उज्जारे ॥ १७९ ॥
 विष्णारियनयणजुओ, जोयइ नरवइ तमुज्जाणं ।
 तो विह्वडियसंदेहो, कुमरो वि हु नमइ तं जणयं ॥ १८० ॥
 आलिगिकुण पुत्तं, अंसुजलभरियलोयणो राया ।
 रोयंतो बहुदुक्खं, दुक्खेण य बोहिओ गुरुणा ॥ १८१ ॥
 (रोयंतो वि हु दुक्खं दुक्खेण विबोहिओ गुरुणा
 इति पाठान्तरम्)

जयसुंदरी वि पइणो, चलणे गहिकुण तीइ तइ रुअं ।

जह देवाण वि परिसा, बहुदुक्खसमाउत्ता जाया ॥ १८२ ॥
 (जह देवाण वि दुक्खं, परिसा मज्जे समावघ्नं इत्यपि)
 पुणे य रुयंतीए, भयवं ! मह केण ! कम्मणा एसो ।
 जाओ पुत्तविभोगो, सोल्लसवरिसाण अइदुसहो ॥ १८३ ॥
 सोल्लसमुहुत्तागं, सुइभवे जं सुइदुहे ठविया ।
 अरं हरिण तए, सुअविरहो तेण तुह जाओ ॥ १८४ ॥
 जो दुक्खं व सुहं वा, तिहत्तुसमित्तं पि देइ अनस्स ।
 सो बीअ व सुखित्ते, परवोए बहुफलं लहए ॥ १८५ ॥
 सोउं गुरुणो वयणं, गुरुपच्चायावतावियमणाए ।
 जम्मंतरदुच्चरियं, खमाविया सा रई तीए ॥ १८६ ॥
 तीए वि उट्ठिअं, जणिआ जयसुंदरी वि नमिऊणं ।
 खमसु तुमं पि महासइ, जं जणियं तुज्ज सुयदुक्खं ॥ १८७ ॥
 जणिआ गुरुणा पुन्न वि, जं वरं मच्छरेण गुरु कम्मं ।
 तं अज्ज खामणाए, खावयं तुहेहिं नीसेसं ॥ १८८ ॥
 जणइ नरिंदो भयवं, ! अन्नभवे कि कयं पावं ।
 जेण सह सुंदरीए, कुमरेण य पावियं रज्जं ॥ १८९ ॥
 जह सुगजम्ममि तए, जिणपुरओ अकखपहिं खिविऊण ।
 संपत्त देवत्तं, रज्जं तह साहिंयं गुरुणा ॥ १९० ॥
 जं जम्मंतरविहिंयं, अकखयपुजत्तयं जिणिदस्स ।
 तस्स फलं तुह अज्ज वि, तइयजेव सासयं ठाणं ॥ १९१ ॥
 इय भणिए सो राया, रज्जं दाऊण रइयपुत्तस्स ।
 जयसुंदरिकुमरजुओ, पव्वइवं गुरुसर्मावमि ॥ १९२ ॥
 पव्वज्जं पाठेउं, सहिओ दइआइ तह य पुत्तेण ।
 मरिऊण समुप्पनो, सत्तमकप्पमि सुरनाहो ॥ १९३ ॥
 तत्तो चुओ समानो, वरूण स माणुसत्तणं परमं ।
 पाविहिसि कम्ममुक्को, अकखयसुक्खं गओ मुक्खं ॥ १९४ ॥
 जह राया तह जाया, कुमरो देवत्तणमि जा देवी ।
 चत्तारि वि पत्ताइं, अकखयसुक्खमि मुक्खमि ॥ १९५ ॥

अकखयायार-अकृताचार-पुं० ६ व० । स्थापितादिपरिहारिणि
 आचारवति साधौ, “आहाकम्मुदेसिय, ठवियरइयकीयकारियं
 ठेज्जं । उब्भिष्साहरुमाले, वर्णाभगाजीवणिकाए परिहरति-
 सणं पाणं, सेज्जोवहिपूतिसंकिंयमीसं । अकखयमभिष्ममए,
 संकिलिं वासए जुत्तो” एतानि (आध्यात्मिकानि) योऽशनपा-
 नादिश्रयोपार्थीश्च परिहरति । तथा पूर्तिं संशंकितं मिश्रम, उप-
 लक्षणमेतत् अकखयपूरकादिकं च यश्चावश्यके युक्तः सोऽकृ-
 ताचारः । व्य० ३ उ० ।

अकखयायारया-अक्षताचारता-स्त्री० परिपूर्णाचारतायाम् व्य०
 ३ उ० ।

अकखयायारमंपस-अकृताचारसंपन्न-त्रि० अकृतेनाचारेण सं-
 पन्नः । अकृताचारसंपन्न, व्य० ३ उ० ।

अकखर-अक्षर-न० न कर्तृतीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रच्यव-
 त इति कृत्वाऽक्षरम् परे तत्त्वे, “ज्योतिः परं परस्तात्, तमसो यद्-
 गीयते महामुनिभिः । आदित्यवर्णममलं, ब्रह्माद्यैरक्षरं परं ब्रह्म”
 यो० १५ वि० । न कर्तृति न विनश्यतीत्यक्षरम् । केवलज्ञाने,
 “सर्वजीवानं पि यणं अकखरस्स अणंतभाउणिच्चुग्घाडिओ”
 विशेषः । क्षरं संचञ्चने, न कर्तृतीति अक्षरम् । ज्ञाने, चेतनायाम्, ।
 न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रच्यवते ततोऽक्षरमिति, आ० म० प्र० ।

न कखरइ अणुवओगे, वि अकखरं सो य चेयणाजावो ।

अविमुञ्चनयाणमयं, मुञ्चनयाणकखरं चैव ।

‘क्षरं संचञ्चने’ न कर्तृति न चञ्चत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवते इ-
 त्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा
 च तन्मतानुसारिणो मीमांसका नित्यं शब्दमातिष्ठमानाः प्र-
 तीता एव । वृ० १ उ०) एतच्च नैगमादीनामविशुद्धनयानां मतं
 शुद्धानां तु ऋजुसूत्रादीनां ज्ञानं कर्तृमेव न त्वक्षरमिति ।

कुत इत्याह—

उवओगे चिय नाणं, मुञ्चा इच्छंति जन्न तविरहे ।

उप्पायजंगुरा वा, जं तेसिं सव्वपज्जाया ॥

यस्माच्चक्षुर्नया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे,
 घटादरेपि ज्ञानवत्त्वप्रसङ्गात् । अथवा यस्मात्तेषां शुद्धनयानां
 सर्वेऽपि मृदादिपर्याया घटादयो भावा उत्पादभङ्गुरा उत्पत्ति-
 मन्तो विनश्वराश्चेत्यर्थः । न पुनः केचिन्नित्यत्वादक्षरा इति
 भावः । अतो ज्ञानमप्युत्पादभङ्गुरत्वेन कर्तृमेवेति प्रकृतम् । अ-
 शुद्धनयानां तु सर्वभावानामप्यवस्थितत्वाज्ज्ञानमप्यऽक्षरमि-
 ति । एवं तावदभिलापहेतोर्यिज्ञानस्याक्षरतानक्षरता चाक्षरा ॥

इदानीं साभिलापविज्ञानविषयभूतानामभिलाष्यार्था-
 नामप्यक्षराऽनक्षरते नयविभागेनाह ।

अभिलप्पा वि य अत्था, सव्वे दव्वट्टयाए जं निच्चा ।

पज्जाएणानिच्चा, तेण खरा अकखरा चैव ॥

अभिलप्स्या अप्यर्था घटव्योमादयः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकन-
 याभिप्रायेण नित्यत्वादक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्व-
 नित्यत्वात् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मास्तिकाया-
 दयः । वृ० १ उ०)

अथ परोऽतिव्याप्तिमुद्गावयन्नाह ।

एवं सव्वं चिय ना-एणकखरं जमविसेसियं मुत्ते ।

अविमुञ्चनयमएणं, को सुयनाणे मइविसेसो ॥

यदि न क्षरतीत्यक्षरमुच्यते एवं सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि
 ज्ञानमविशुद्धनयमतेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपा-
 विचलनाद्यतश्चाविशेषितं सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । त-
 द्वा “सर्वजीवानं पि यणं अकखरस्स अणंतभाओ निच्चु-
 ग्घाडियओत्ति” तत्र ह्यक्षरशब्देनाविशेषितमेव ज्ञानमभिप्रेतं
 न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुद्धनया-
 भिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र श्रुतज्ञाने को मतिविशेषो येनो-
 च्यते ‘अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतम्’ इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना-एणकखरं तह विरुद्धिओ वओ ।

जसइ अकखरमिहरा, न खरइ सव्वं सज्जावाओ ॥

यद्यप्यविशुद्धनयाभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि
 भावा अक्षरास्तथापि रूढिवशाद्वर्णा एवेहाक्षरं भण्यते इतर-
 था तु यथा त्वं भण्यसि तथैवाशुद्धनयमतेन सर्वमपि वस्तुस्व-
 भावाक्षरं क्षरत्येवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः,
 पङ्के जातं पङ्कजम्, इत्याद्यविशिष्टार्थप्रतिपादका अपि शब्दा
 रूढिवशाद्विशेषा एव वर्तन्ते, तथाऽत्राप्यक्षरशब्दो वर्ण एव
 वर्तते । वर्णं च श्रुतमेवेत्यतस्तदेवाक्षरानक्षररूपमुच्यते इति ।
 विशेषः । न० ।

अत्ये य खरु न य जेणखरं तेणं ।

अर्थानभिधेयान् शरति संशब्दयतीति निरुक्तिविधिनार्थकार-
लापादक्षरम् । अथवा क्षीयत इति क्षरम् । अन्योन्यवर्णसं-
योगे अनन्तानर्थान् प्रतिपादयति न च स्वयं क्षीयते तेनाक्ष-
रमिति भावः । वर्णे, स च स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भवति ।
विशेऽ । तत्र रुडिवशादक्षरं वर्णं इत्युक्तम् ॥

तच्च त्रिविधं भवतीति दर्शयति ।

मे किं तं अक्षरमुयं १ त्रिविधं पञ्चत्वं । तं जहा मन्त्र-
खरं वंजणखरं लक्ष्मिखरं । मे किं तं सन्त्रखरं २ अ-
क्षरम्स मंजराणां गिः । सेतं सन्त्रखरं । मे किं तं वंजणखरं
वंजणखरं अक्षरम्स वंजणाजिलावा सेतं वंजणखरं ।
मे किं तं लक्ष्मिखरं लक्ष्मिखरं अक्षरलक्ष्मिस्स
लक्ष्मिखरं समुपज्जइ । तं जहा सोइदियलक्ष्मिखरं
चकिंदियलक्ष्मिखरं घाणिदियलक्ष्मिखरं रसणिदिय-
लक्ष्मिखरं फासिंदियलक्ष्मिखरं नोइदियलक्ष्मिखरं सेतं
लक्ष्मिखरं मेतं अक्षरमुयं ।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तदक्षरश्रुतं ? मृगिराह-अक्ष-
रश्रुतं त्रिविधं प्रहसं तद्यथा संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लक्ष्यक्षरम् ।
तत्र ' क्षर संचलने ' न क्षरति न चलतीत्यक्षरं ज्ञानम् । तद्धि
जीवस्वाभाव्यादनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवते । यद्यपि च
सर्वज्ञानामेवमविशेषेणाक्षरं प्राप्नोति तथापीह धृतज्ञानस्य प्र-
स्तावादक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषमित्यभूतभावाक्षरकार-
णं चाकारादिवर्णज्ञानम्, ततस्तदप्युपचारादक्षरमुच्यते, तत-
श्चाक्षरं च तच्छ्रुतं च श्रुतज्ञानं चाक्षरश्रुतं भावश्रुतमित्यर्थः ।
तच्च लक्ष्यक्षरश्रुतं वेदितव्यम् । तथा अक्षरान्तरकमकारादि-
वर्णान्तरकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तच्च संज्ञाक्षरं व्य-
ञ्जनाक्षरं च द्रष्टव्यम् । अथ किं तन् संज्ञाक्षरम् । अक्षर-
न्याकारादेः संस्थानाकृतिः संस्थानाकारः । तथाहि-सं-
ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा नाम तन्निबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञा-
क्षरम् । संज्ञा च निबन्धनमाकृतिविशेषः । आकृतिवि-
शेष एव नाम्नः करणात् व्यवहरणाच्च । ततोऽक्षरस्य
पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते ।
तच्च ग्राह्यादित्रिविधेऽनेनोक्तप्रकारम् । तत्र नागरीलिपिम-
धिकृत्य प्रदर्शयते, मध्यस्थापितचुल्लीसंक्षिप्तसदृशो रेखा-
संक्षिप्तविशेषेणकारः । वर्क्याक्षरं सारमेयपुच्छसंक्षि-
प्तसदृशो ढकार इत्यादि तदेतत्संज्ञाक्षरम् । अथ किं तद्
व्यञ्जनाक्षरम् । आचार्य आह-व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभि-
धेयः । तथाहि-व्यञ्जनेऽनेनार्थः प्रदीपनघट इव व्यञ्जना-
व्यकारमकारादिकवर्णज्ञानं तस्य विवर्तिताभिव्यञ्जकत्वात् ।
व्यञ्जने च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरं ततो युक्तमुक्तं व्यञ्जनाक्षर-
मक्षरस्य व्यञ्जनाभिधेयः । अक्षरस्याकारादेर्वर्णज्ञानस्य व्यञ्ज-
नेन अत्र ज्ञायते अतः । व्यञ्जकत्वेनाभिलाष उच्चारणमर्थव्यञ्जक-
त्वेनाच्चार्यमाणमकारादिवर्णज्ञानमित्यर्थः (से किं तमित्यादि)
अथ किं तत् लक्ष्यक्षरम् । लक्ष्यरूपयोगः, स चेह प्रस्तावात्
शब्दार्थपर्यालोचनानुसारं गृह्यते, लक्ष्यरूपमक्षरं लक्ष्यक्षरं
भावश्रुतमित्यर्थः । (अक्षरलक्ष्यस्त्वित्यादि) अक्षरंऽक्षरस्यो-
च्चारणोपगम या लक्ष्यस्य सोऽक्षरलक्ष्यकस्तस्याकारादक्षर-
नुविद्धश्रुतलक्ष्यमभिव्यक्तमित्यर्थः । लक्ष्यक्षरं ज्ञायश्रुतं समुप-

पद्यते, शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्या-
लोचनानुसारं ' शङ्खोऽयम् ' इत्याद्यक्षरानुविद्धं विज्ञानमुप-
जायत इत्यर्थः ।

नन्विदं लक्ष्यक्षरं संज्ञानामेव पुरुषादीनामुपपद्यते नासंज्ञि-
नामकेन्द्रियादीनां तेषामकारादिवर्णानामवगमे उच्चारणं वा ल-
क्ष्यसंभवात् । न हि तेषां परोपदेशो श्रवणं संभवति येनाकारादि-
वर्णानामवगमादि भवेत् । अथ चैकेन्द्रियादीनामपि भावश्रुत-
मिष्यते । तथाहि-पार्थिवादीनामपि भावश्रुतमुपवर्ण्यते " द्रव्य-
सुयाजावमि वि, भावसुयं पथिवादिणं " इति वचनप्रामाण्या-
त् । ज्ञायश्रुतं च शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिविज्ञानं शब्दार्थपर्या-
लोचनं चाक्षरमन्तरेण न भवतीति सत्यमेतत् । किं यद्यपि
तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशश्रवणासंभवस्तथापि तेषां तथा-
विधित्तयोपशमाभावतः कश्चिद्व्यक्तोऽक्षरज्ञानो जयति यद्ग्राह-
दक्षरानुपपत्तं श्रुतज्ञानमुपजायते इत्थं चेतदङ्गीकर्तव्यम् । तथा-
हि-तेषामप्याहाराद्यभिज्ञाप उपजायते, अज्ञिज्ञापश्च प्रार्थना, सा
च यदीदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानुविद्धैव,
ततस्तेषामपि काचिद्व्यक्ताक्षरलक्ष्यश्रवणं प्रतिपत्तव्या तत-
स्तेषामपि लक्ष्यक्षरं भवतीति न कश्चिदोपः । तच्च लक्ष्य-
क्षरं पोढा । तद्यथा (श्रोत्रेन्द्रियलक्ष्यक्षरमित्यादि,) इह
यत् श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शङ्खोऽयमित्याद्यक्षरानु-
विद्धं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारं विज्ञानं तत् श्रोत्रेन्द्रियलक्ष्यक्ष-
रं तस्य श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तत्वात् । यत्पुनश्चक्षुषा आम्नफलाद्युपल-
भ्याम्नफलमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनान्तरकं विज्ञानं
तच्चक्षुरिन्द्रियलक्ष्यक्षरमेव । श्रोत्रेन्द्रियलक्ष्यक्षरमपि ज्ञायनीय-
म् (सेतमित्यादि) तदेतत् लक्ष्यक्षरं तदेतदक्षरश्रुतम् । नं० ।
वृ० । कल्प० । आ० चू० विशेष० ॥

अत्याभिवंजगं वं-जणखरं इच्छितेतरं वदतो ।

रुवं च पगासेणं, विज्जति अत्थो जज्जो तेणं ॥

इह यद्विवर्तितं तदेव यदि वदति यथा अश्वं भणिष्यामीति
तदेवं वृत्ते तदा तदीप्सितमन्यद्विवर्तिताऽन्यच्चेदुच्चरति तदा
तदितरादनीप्सितमीप्सितमितरं वा वदतो यदर्थान्नियञ्जकम-
जिधानं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । अथ कस्माद्व्यञ्जनाक्षरमुच्यते
नाभिधानाक्षरमत आह-रूपमिव घटादिकमिव प्रकाशेन
दीपादिना तमसि वर्तमानम् अर्थो घटादिर्यतो यस्माद्व्यज्यते
प्रकटीक्रियते तेन कारणेन व्यञ्जनाक्षरमित्युच्यते ॥

तं पुण जहत्यनियतं, अजहत्यं वा वि वंजणं दुविहं ।

एगमणेगपरिययं, एमेव य अक्षरेमं पि ॥

तन् पुनर्व्यञ्जने द्विविधम् यथार्थनियतमयथार्थं च । यथार्थ-
नियतं नामान्वर्थयुक्तं, यथा कृपयतीति कृपणः, तपतीति तपन
इत्यादि । अयथार्थं यथा-नेन्द्रं गोपयति तथापीन्द्रगोपकः ।
न पञ्चमश्नाति तथापि पञ्चाश इत्यादि । अथवा तद् व्यञ्जने
द्विधा एकपर्यायमनेकपर्यायं च । एकः पर्यायोऽभिधेयो यस्य
तदेकपर्यायम् । यथा अलोकः स्थणिरुलमित्यादि । अलोकशब्देन
ह्यलोकान्वलक्षण एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्थणिरुलशब्देन
स्थणिरुलस्त्वमेकमिति । अनेक पर्याया अभिधेया यस्य तदनेक-
पर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन हि जीवोऽप्युच्यते
सन्वोऽपि प्राण्यपि भूतोऽपि च । जीवादयश्च प्रतिनियतविशे-
षाः । तथा चोक्तम् । " प्राणा द्विविधतुः प्रोक्ता, भूताश्च तरवः
स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाङ्ग्याः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः " ततो

भवति सामान्येन जीवशब्दस्यानेकपर्यायाजिधायकत्वमिति । एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेष्वपि दृष्टव्यम् । तद्यथा—द्विविधं व्यञ्जनभेदाक्षरभेदेनाक्षरं च । एकाक्षरं धीः श्रीरित्यादि । अनेकाक्षरं वीणा लता मात्रा इत्यादि ।

सक्यपाययज्ञासा-विणिजुत्तं देसतो अणेगविहं ।

अजिहाणं अजिधेया-तो होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विप्रकारं संस्कृतं प्राकृतभाषाविनियुक्तं च, यथा-वृक्षः रुक्खो इति । देशतो नानादेशानाश्रित्य अनेकविधम्, यथा-मागधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां चौरोऽन्ध्राणामिमा-कुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयात् भिन्नमभिन्नं च । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावमाह-

खुरअग्गिभोगुच्चा-रणम्मि जम्हाउ वयणसवणाणं ।

न वि ठेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेण जिन्नं तु ॥

यस्मात् खुरशब्दोच्चारणे अग्निशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चारणे च यथाक्रमं वदतो वदनस्य श्रवणः श्रवणस्य न ह्येदो नापि दाहो नापि पूरणमतो ज्ञायतेऽभिधेयादभिधानं भिन्नम्, अन्यथा तादात्म्यबन्धनात् खुरादयोऽपि तत्र सन्तीति वदनस्य श्रवणस्य च वेदादिप्रसङ्गः । अजिन्नत्वं नाम संबद्धत्वम् । तथा च लोकेऽप्यभिन्नशब्दः संबद्धवाची व्यवहियते यथाऽयमस्माकं खादनपानेनाभिन्नः संबद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संबद्धत्वं भावयति-

जम्हाउ भोगे अजि-हियम्मि तत्थेव पच्चओ होई ।

न य होइ सो अणत्ते, तेण अजिन्नं तदत्थातो ॥

यस्मान्मोदके अजिहिते तत्रैव मोदके प्रत्ययो ज्ञवति नान्यत्र, न च स नियमेन तत्र प्रत्ययोऽन्यत्वेऽसंबद्धत्वे सति भवति संबद्धान्नावतो नियामकान्नावेनान्यत्रापि तत्प्रत्ययप्रसक्तेः, तेन कारणेन ज्ञायते तदभिधानमर्थादभिन्नमर्थेन सह वाच्यवाचक-भावसंबद्धम् ।

एकैकमक्षरस्स उ, सप्पज्जाया ह्वंति इयरे य ।

संबद्धमसंबद्धा, एकैका ते भवे वुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यकराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णस्त्रिधा-ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । पुनरैकैको द्विधा-सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽवर्णः । उक्तं च-"ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च, त्रैस्वर्योपनयेन च । अनुनासिकभेदाच्च, संख्यातोऽष्टादशात्मकः" एते अवर्णस्य त्रयः पर्यायाः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगत एव यावन्तो घटन्ते संयोगास्तावत्संयोगवशतो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्तदर्थभिधायकत्वस्वभावास्तेऽपि तस्य स्वपर्याया इतरे तत्रा-सन्तः परपर्यायाः । एवमिवर्णादीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च वक्तव्याः । येषुपि परपर्यायास्तेऽपि तस्येति व्यपदिश्यन्ते । व्यवच्छेद्यतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति । ते च स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च एकैकं द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-संबद्धा असंबद्धाश्च ।

एतदेव भावयति-

अत्थित्ते संबद्धा, हुंति अकारस्म पज्जाया जे उ ।

ते चैव असंबद्धा, नत्थित्ते एं तु सव्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संबद्धा भवन्ति, नास्तित्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंबद्धाः, तत्र तेषां नास्तित्वाभावात् ।

एमेव असन्ता वि उ, नत्थित्ते णं तु ह्योति संबद्धा ।

ते चैव असंबद्धा, अत्थित्ते एं अजावत्ता ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेणासन्तः परपर्याया, अपि नास्तित्वेन ज्ञवन्ति संबद्धाः । ते चैव परपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, तेषाम-स्तित्वस्य तत्राभावत्वात् ।

अत्रैव निदर्शनमाह-

घमसदे घमकारा, ह्वंति संबद्धपज्जाया एते ।

ते चैव असंबद्धा, ह्वंति रहमदमार्हसु ॥

घटशब्दे ये घकारटकाराकारास्तेषां ये पर्यायास्ते एते भवन्ति । तत्रास्तित्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव घकारटकाराकारपर्यायाः रथशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्वेनासंबद्धाः, तेषां तत्राभावात् । तदेवमस्तित्वेन स्वपर्यायास्तत्र संबद्धा अन्यत्र चासंबद्धा उपदर्शिताः । एतदुपदर्शनेनैतदर्थोदापन्नम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तित्वेनासंबद्धा अन्यत्र तु संबद्धाः । तथा ये रथशब्दस्य स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न संबद्धास्तेषां तत्रासत्वात् त एव च रथशब्दे नास्तित्वेनासंबद्धा घटशब्दे तु संबद्धा इति । तदेवं स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च प्रत्येकं संबद्धा असंबद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायान् दर्शयति-

मंजुत्तामंजुत्तं, इय लज्जते जेसु जेसु अत्थेसु ।

विणिओगमक्खरं ते-सिं ह्योति सभावपज्जाया ॥

इत्येवं घटशब्दरथशब्दादिगतेन प्रकारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽक्षरमकारादिकं येषु येष्वर्थेषु विनियोगं लभत ते तेषां स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमायातम् अपरे परपर्याया इति । तदेवमभिहितं व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधाना-च्चाभिहितं त्रिविधमप्यक्षरम् । वृ० १ उ० ।

लब्धक्षरमाह-

जो अक्षरोवलंभो, सा लब्धी तं च होइ विष्ठाणं ।

इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥

योऽक्षरस्योपलम्भो लाभः सा लम्भनं लब्धिः, तल्लब्धक्षर-मित्यर्थः । तच्च किमित्याह-इन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानु-सारि विज्ञानं श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यश्च तज्ज्ञानोपयोगो यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशम एतौ ह्यवपि लब्धक्षरमिति भावार्थः । उक्तं त्रिविधमक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यश्रुतं किं वा भवश्रुतमित्याह-

द्ववसुयं सप्पावं-जणक्खरं जावसुत्तमियरं तु ।

मइसुयविसेसणम्मि वि, मोत्तूणं द्ववसुत्तं ति ॥४॥

संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं चेते द्वे अपि भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्य-श्रुतम्, इतरत्तु लब्धक्षरं भावश्रुतम् । अत्र विनियः प्राह-ननु पूर्वं मतिश्रुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता "सोइदिओवलंभो, होइ सुयं सेसयं तु महनाणं । मोत्तूणं द्ववसुयं, अक्खरवलंभो य सेसेसु ति" अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य संग्रहोऽस्ति, श्रुतविचारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यथास्त तर्हि दर्शयतां कथ-

ममौ ! अथ नास्ति तर्ह्यत्रापि किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः
पूर्वापरग्रन्थसंवादं दिदर्शयिषुस्तत्राप्यस्याक्षरत्रयस्य संग्रह-
मुपदर्शयति (मसुयत्यादि) मतिभूतविशेषणेऽपि मतिभूतभे-
दाचक्षरेऽपि "सांदिश्रोवलक्षी" इत्यादिगाथायां "मोक्षुणं
द्वयसुय" इत्यनेन गाथावयवेन किमित्याह—

द्वयसुयं मणुक्खर-मणुक्खरं भोति भावसुयसुत्तं ।

मोक्षोवलक्षिण्यणे, ए वंजणं भावसुत्तं च ॥

संज्ञाक्षरमुक्तम्, कथंभूतमित्याह-द्रव्यभूतं भावकारणत्वात्
द्रव्यभूतरूपम् "अक्षरग्लंभा य सेसेसुत्ति" अनेन व्यवयवेन
लक्ष्यक्षरमुक्तमिति शेषः । कथंभूतमित्याह-भावभूतं विज्ञाना-
त्मकत्वात् भावभूतरूपं "सांदिश्रोवलक्षी होइ सुयं" इत्य-
नेन व्यवयवेन श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्भयस्य शब्दस्येति बहुव्रीहि-
समासाश्रयणात्, व्यञ्जने व्यञ्जनाक्षरमुक्तम् । श्रोत्रेन्द्रिय-
स्योपलब्धिर्विज्ञानमिति पृष्ठासमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि
लक्ष्यक्षरं भावभूतरूपमभिहितमित्येवं न पूर्वापरविसंवादः ।

ननु लक्ष्यक्षरं कथं प्रमाता लभत इत्याह—

पञ्चकवमिदियमणे-हि लब्धं द्विगेण वक्खरं कोइ ।

द्विगमणुमाणमणे, मारिक्खाई पभासंति ॥

तच्छाक्षरं लक्ष्यक्षरं कश्चिन्प्रत्यक्षं लभते प्रत्यक्षरूपतयैव
कस्यचिदुपजायत इत्यर्थः । काभ्यां कृत्वा इत्याह-इन्द्रियमनो-
भ्याम्, इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् व्यवहारप्रत्यक्षं तत्र कस्यचि-
ल्लक्ष्यक्षरं श्रुतज्ञानरूपमुपजायत इत्यर्थः । अन्यत्तु लिङ्गेन धूमा-
दिना तदुत्पद्यते, धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा अग्न्यादिज्ञानरूपं तत्क-
स्यचिदुपजायत इत्यर्थः । लिङ्गं किमुच्यते इत्याह-अनुमा-
नमिति । ननु लिङ्गग्रहणं संयन्धस्मरणभ्यामनु पश्चात्मानमनु-
मानं लिङ्गज्ञं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत्-
सत्यम्, किं तु कारणं कार्योपचारादप्यनुमानम्, यथा प्रत्यक्ष-
ज्ञानजनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । तदिह तात्पर्यम्-लक्ष्यक्षरं
श्रुतज्ञानमुच्यते । तच्छेन्द्रियमनोनिमित्तं प्रत्यक्षं वा स्यादनु-
मानं वा स्यादन्यत्, शेषस्यात्मप्रत्यक्षस्यावध्यादिरूपत्वादिति
भावः । सादृश्यादिभ्यो जायमानत्वात्तदनुमानं पञ्चविधमिति
केचिन्प्रभाषन्ते । विशेषः ।

सामन्नविसेमेण य, दुविहा लक्ष्मी पढमा अजेया य ।

निविहा य आणवलक्ष्मी, उवलक्ष्मी पंचहा विद्या ॥

लक्ष्मिलक्ष्यक्षरं द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा-सामान्येन विशेषे-
ण च । सामान्यलक्ष्यक्षरं विशेषलक्ष्यक्षरं चेति भावः । तत्र
प्राथमिकी सामान्योपलब्धिः । सामान्योपलक्ष्यक्षरमनेदसामान्ये
भेदात्तावात् । इहोपलक्ष्यक्षरमुपलक्ष्यपञ्चज्ञानस्तस्या अपि प्ररू-
पणा कृत्येत्येत्यत आह-विविधा विप्रकारा अनुपलब्धिर्था पु-
नर्दिनीया विशेषोपलब्धिर्विशेषोपलक्ष्यक्षरं सा पञ्चधा पञ्च-
प्रकारा । वृत् ? ३७ ।

सांप्रतमङ्गश्रुतायिक्कारोदय यदुक्तं मूत्रे "अक्षरग्लंभिअस्स
लक्षिअक्षरं समुपज्जइ" इति तत्र प्रथमुत्थापयन्नाह—

अक्षरग्लंभा मणी-ण होज्ज पुग्गिमाइवण्णविण्णण्णं ।

कत्तो उ अमणीणं, जणियं च सुयस्मि तेमिं पि ॥

पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्णविज्ञानरूपोऽक्षरग्लानः संज्ञिनां
समनस्कजायानां भवेच्छब्दधामदे एतदसंज्ञिनां चामनस्कानां
कुत एतद्वर्णविज्ञानं भवति ? न कुतश्चिदित्यर्थः । अक्षरग्लानस्य
परोपदेशत्रयान्मनोविकलानां नु तदसंज्ञानात्, मा नुत्तेनां तर्हि

तदित्याह-भणितं च वर्णविज्ञानं श्रुतं तेषामप्येकेन्द्रियाद्यसंज्ञि-
नाम् "परिदिद्याणं मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य" इत्यादिवच-
नात्, न हि श्रुतज्ञाननक्षरमन्तरेण संभवति तदेतत्कथं श्रद्धात-
व्यमिति ? अत्रोत्तरमाह—

जह चेयणमकित्तिप-ममणीण तह होहि नाणं पि ।

थोवत्ति नावलब्भइ, जीवत्तमिव इंदियाईणं ॥

यथा चैतन्यं जीवत्वमकृत्रिमस्वप्नावमाहारादिसंज्ञाद्वारेणा-
संज्ञिनामवगम्यते तथा लक्ष्यक्षरात्मकसमूहज्ञानमपि तेषाम-
वगन्तव्यम्, स्तोकात्वात् स्थूलदर्शिभिस्तन्नोपलब्ध्यते जीवत्व-
मिव पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम् । एकशब्दस्य चेह द्वोपः, भामा
सत्यज्ञानेत्यादिदर्शनादिति । यदपि परोपदेशजत्वमक्षर-
स्योच्यते तदपि संज्ञाध्यञ्जनाक्षरयोरेवावसेयम् । लक्ष्यक्षरं
तु क्षयापशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव
च मुख्यतयेह प्रस्तुतम् । तत्तु संज्ञाध्यञ्जनाक्षरं श्रुतज्ञानाधि-
कारादिति । दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा मणीणमण-क्खराणं असइ नरवण्विण्णणे ।

लक्ष्मिक्खरं ति भणइ, किमपि चि तहा असमणीणं ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे नवाक्षराणां केषांचिदतीव सु-
गन्धप्रकृतीनां पुत्रिद्वालगोपालगवादीनामसत्यापि नकारादिव-
र्णविशेषविज्ञाने लक्ष्यक्षरं किमपीदृश्यते नरादिवर्णोच्चारणे त-
च्छ्रवणादिनिमुखनिरीक्षणदर्शनाच्च । गौरपि हि स्वव्यावृत्तादि-
शब्देनाकारिता सती स्वनाम जानीते प्रवृत्तानिवृत्त्यादि चकु-
र्वती दृश्यते, न चैषां गवादीनां तथाविधपरोपदेशः समस्ति ।
अथवास्ति लक्ष्यक्षरं नरादिविज्ञानसद्भावात् । एवमसंज्ञिनामपि
किमपि तदेष्टव्यमिति । तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यत्र
यावच्च लक्ष्यक्षरम् ॥

अथैकैकस्याकाराद्यक्षरस्य यावन्तः पर्याया

भवन्ति तदेतद्विशेषतो दर्शयति—

एकैकमक्खरं पुण, सपरपज्जायभेयओ जिन्नं ।

तं सव्वदव्वपज्जा-यरासिमाणं मुणेयव्वं ॥

इह भिन्नं पृथगेकैकमपि तदकाराद्यक्षरं पुनः स्वपर्यायभेदतः
सर्वाणि यानि द्रव्याणि तत्पर्यायराशिमानं ज्ञातव्यम् । इद-
मुक्तं जवति-इह समस्तत्रिचुवनवर्त्तानि यानि परमाणुद्वयणु-
कादीन्येकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि ये च सर्वेऽपि
वर्णास्तदभिधेयाश्चार्थास्तेषां सर्वेषामपि पिएरुतो यः पर्याय-
राशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य जवति, तन्मध्ये ह्य-
कारस्य केचित्स्तोकाः स्वपर्यायास्ते चानन्ताः, शेषास्त्वनन्तगुणाः
पर्याया इत्येवं सर्वसंग्रहः । अयं च सर्वोऽपि सर्वद्रव्यपर्याय-
राशिः सद्भावतोऽनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसंकल्पनया किल वृत्तं
पदार्थाश्चाकारकारादयो धर्मास्तिकायादयः सर्वाकाशप्रदेशस-
हिताः सर्वेऽपि किल सहस्रं तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वद्रव्यग-
तलक्ष्णपर्यायराशिमध्यादस्तित्वेन संबद्धाः किल शतप्रमाणाः
स्वपर्यायाः, शेषास्तु नास्तित्वेन संबद्धाः सर्वेऽपि परपर्यायाः । ए-
वमिक्कारादेः परमाणुयणुकादेश्चैकैकस्य द्रव्यस्य वाच्यमिति ।
आह-के पुनः स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्याह—

जे लब्भइ केवलोम-वण्णसहिओ व पज्जवायारो ।

ते तम्म सपज्जाया, मेसा परपज्जया सव्वे ॥

यानुदात्तानुदात्तसानुनासिकानिरनुनासिकादीनामसङ्गतान्

पर्यायान् केवलान्यवर्णेन संयुक्तोऽन्यवर्णसंयुक्तो वाऽकारो लभतेऽनुजवति तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्तेऽस्तित्वेन संबद्धत्वात् । तेनान्तास्तद्वाच्यस्य विष्णुपरमाणादिव्यस्यानन्तत्वात्तद्वाच्यप्रतिपादनशक्तेश्चास्य ज्ञितत्वात्, अन्यथा तत्प्रतिपाद्यस्य सर्वस्याप्येकत्वप्रसङ्गाद्वैक्यवर्णवाच्यत्वात् । शेषास्तिवकारादिसंबन्धिनो घटादिगताश्चास्य परपर्यायास्तेष्वप्यव्यावृत्तित्वेन नास्तित्वेन संबन्धात्, एवमिकारादीनामपि ज्ञावनीयम् । अक्षरविचारस्य चेह प्रकान्तत्वादेकैकमक्षरं सर्वद्रव्यपर्यायराशिमानमुच्यते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाणुद्वयगुणकघटादिव्याणामिदमेव पर्यायमानं छद्ममिति । एवमुक्ते सति परः प्राह—

जइ ते परपञ्जाया, न तस्स अहं तस्स न परपञ्जाया ।

जं तम्मि असंबद्धा, तो परपञ्जायववएसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये त्वमी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्, ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति विरोधः । तदुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । यस्मात्कारणान्तस्मिन्नकारे काराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि संबद्धा एवेत्यतस्तेषामपि व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्वपर्यायत्वं न विरुध्यते । अस्तित्वेन तु घटादिपर्याया घटादिष्वेव संबद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्याया व्यपदिश्यन्ते इति भावः । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपमस्तित्वं नास्तित्वं च । ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिवद्धास्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन संबद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदख्यापनपरां च स्वपरशब्दौ, न त्वेकेषां तत्र सर्वथा संबन्धनिराकरणपरौ, अतोऽक्षरघटादिपर्यायाः अस्तित्वेनासंबद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते न पुनः सर्वथा, ते तत्र संबद्धा नास्तित्वेन तत्रापि संबद्धाः न चैकस्योभयत्र संबन्धो न युक्त एकस्यापि हिमवदोदंशद्वयेन पूर्वापरसमुद्रादिसंबन्धात् । यदि ह्येकैव रूपेणैकस्याभयत्र संबन्ध इष्येत तदा स्याद्विरोधः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र च संबन्धात् । सत्त्वेन तत्र संबन्धादसत्त्वेन त्वकृदादिषु । असत्त्वमभावत्वाद्वस्तुनो रूपमेव न भवति खरविषाणवदिति चेदयुक्तम् खरविषाणकल्पत्वस्य वस्त्वभावेऽसिद्धत्वात् न हि प्रागभावप्रध्वं साभावघटाभावपटाभावादिवस्त्वभावविशेषणवत्खरविषाणादिविषाण विशेषणं संभवति, तेषां सर्वोऽप्याख्याविरहलक्षणं निरभिलष्ये पष्ठभूतवर्त्तारूपेऽत्यन्ताभावमात्र एव व्यवहारिभिः संकेतितत्वात् । न च पष्ठभूतवद्वस्त्वभावोऽप्यस्माज्जिर्नारूपोऽभ्युपगम्यते, नीरूपस्य निरभिलष्यत्वेन प्रागभावादिविशेषणानुपपत्तेः, किं तु यथैव मृत्पिण्डादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारादिव्यावृत्तिमात्रात् प्रागभाव इति व्यपदिश्यते, यथावा कपाद्यादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारः परमात्रात् प्रध्वंसाभावोऽजिधीयते, तद्वत्पर्यायान्तरापन्नोऽक्षरादिभाव एव घटादिवस्त्वभावः प्रतिपाद्यते, न तु सर्वथैवाभावस्तथा, सर्वथा न किञ्चिद्रूपस्यानभिलष्यत्वात् । न च वक्तव्यं खरविषाणादिशब्देन सांख्यिकमलप्यत एवेति निरभिलष्यताख्यापनार्थमेव संकेतमात्रज्ञाविनां खरविषाणादिशब्दानां व्यवहारिजिस्तत्र निवेशात् । किं न-यदि घटादिपर्यायाणामक्षरे नास्तित्वेन संबन्धो नेष्यते तर्हि नास्तित्वेनास्तित्वयोरन्यान्वयवच्छेदरूपत्वादस्तित्वेन तेषां तत्र संबन्धः स्यात्तथा च सत्यक्षरस्यापि घटादिरूपतैव स्यात्, एवं च सति सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयेत्, ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः ।

न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादीनां व्यवस्थितानां नास्तित्वलक्षणं रूपं कथमक्षरे प्राप्तं, रूपिणामन्तरेण रूपायोगात् । अथ तेऽपि तत्र सन्ति तर्हि विश्वैकत्वमिति घटादिपर्यायाणां घटादीन् विहायान्यत्र नास्तित्वेन व्याप्तेरिष्टत्वान् अन्यथा स्वपरभावायोगादत एव कथंचिद्विश्वैकताऽप्यवाधिकैव । छद्मादिरूपतया तदेकत्वस्याप्यभ्युपगमादतो गम्भीरमिदं स्थिरबुद्धिभिः परिभावेनीयम्, तस्मात् घटादिपर्याया नास्तित्वेनाक्षरेऽपि संबद्धा इति तत्पर्याया अच्येते अस्तित्वेन घटादिवैव संबद्धा न त्वक्षरे इति परपर्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति ।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरे असंबद्धत्वेन परपर्याया व्यपदिश्यन्ते तर्हि ते तस्य कथमुच्यन्ते इत्याह—

चायमपञ्जाया वि-सेसाइणा तस्स जमुवउज्जंति ।

सधणमिवांसंवद्धं, जवंति तो पञ्जाया तस्स ॥

ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति यतोऽक्षरस्यापि ते उपयुज्यन्ते उपयोगं याति । केनन्याह-त्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्यागेन स्वपर्यायविशेषणेन चोपयोगादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-घटादिपर्यायाः सत्त्वेनाक्षरे असंबद्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्यागेनाज्ञावेनोपयुज्यमानत्वात् । यदि हि तत्र तेषामज्ञावेन न जवेत्तर्हि तदक्षरं घटादिष्वप्यव्यावृत्तं न सिध्येत्तत्रापि घटादिपर्यायाणां ज्ञावादिति । ततोऽक्षरस्य त्यागेनाज्ञावेनोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवन्ति तथा स्वपर्यायाणां विशेषणेन विशेषव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया अपि तस्य जवन्ति, न हि परपर्यायव्यवस्था स्वपर्यायाः केचिद्वेदेन सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरपेक्षिकत्वात्प्रयोगः । इत्थं यद्यस्योपयुज्यते तद्वदवत्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा-देवदत्तादेः स्वधनम् । उपयुज्यते च त्यागस्वपर्यायविशेषणादिज्ञावेन घटादिपर्याया अप्यक्षरस्यातस्ते तस्यापि जवन्तीति । एवमक्षरपर्याया अपि घटादीनां च इति । एतदेव भावयति—

सधणमसंवद्धं पि हु, चेयणं पि व नरे जहा तस्स ।

उवउज्जइ-त्ति सधणं, भस्सइ तह तस्स पञ्जाया ॥

इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽत्मनि संबद्धं तथा स्वधनम्, असंबद्धमपि स्वधनेन तस्य लोके भग्यते । कुत उपयुज्यत इति कृत्वा तथाऽक्षरे असंबद्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षरस्य पर्याया भवन्ति । अमुमेवार्थं दृष्टान्तान्तरेण साधयति—

जहं दंसणनाणचरि-त्तगोयरा सव्वद्वपपञ्जाया ।

सच्छेयनेयकिरिया-फलोवओगि ति भिन्ना वि ॥

जइणो मपपञ्जाया इव, सक्कज्जनिप्फाइग ति सधणं च ।

आणायचायफज्जा, तह सव्वे सव्ववन्नाणं ॥

इह यथा सर्वद्रव्यपर्याया जिज्ञा अपि संयतेरेव भवन्ति यतेः संबन्धिनो व्यपदिश्यन्ते । कुत इत्याह—स्वकार्यनिष्पादका इति हेतौरेतदपि कुत इत्याह—श्रद्धेयज्ञेयक्रियाफलोपयोगिनो यन्तरिति कृत्वा श्रद्धेयत्वेनोपयोगात्, ज्ञेयत्वेनोपयोगात्, त्यागादानादिक्रियारूपं यच्चूचानज्ञानफलं तदुपयोग्यमन्वयति । कथं नूतनास्ते सर्वद्रव्यपर्याया इत्याह-दर्शनज्ञा-रिचगोचराः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविषयजृताः, ते हि सम्यग्दर्शनेन श्रद्धेयन्ते ज्ञानेन तु ज्ञायन्ते चारित्रस्याप्याहारवस्त्रपानाद्युपकरणेप-जशिक्षादिद्वारेणोपश्रम्भहेतवो बहवो जवन्ति 'अव्यवस्था' इति रक्षा' इति वचनात् । अथवा 'पदमम्मि सव्वज्जनिप्फा' इति

य सन्वद्वारं । सेसा महज्वया खलु, तद्विहारेण द्वाणं " इति ध्वनादेते सर्वेऽपि ज्ञानदर्शनचारिप्रगोचराः प्रतानां चारित्रात्मकत्वाच्चारित्रस्य च ज्ञानदर्शनाज्यां विनाभावाभावात् । व्युत्पद्यते भ्रष्टयेत्याद्युपयोगिनमन्तरेण भ्रष्टानाद्ययोगाद्विषयमन्तरेण विषयिणोऽनुपपत्तेः । के यथा स्वकार्यनिष्पादकाः सन्तो यतेर्नवन्तीत्याह—यथा ज्ञानदर्शनादिरूपाः स्वपर्यायाः स्वधनं वा यथा भिन्नमपि द्वन्द्वत्वादेर्भवति तथा सर्वेऽपि द्रव्यपर्यायाः स्यागाज्ञानफलत्वान्प्रत्येकं सर्वेषामप्यकारादिवर्णानामुपपन्नकृत्वात् घटादीनां भिन्ना अपि भवन्तीति ।

न चैतदुत्सृज्यमिति दर्शयति—

एगं जाणं सर्वं, जाणं सर्वं च जाणमगं चि ।

इय सन्वमजाणतो, नागारं सन्वहा मुणइ ॥

इह सूत्रेऽप्युक्तं "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ चि" । किमुक्तं भवति, एकं किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नवयुख्यमानः सर्वलोकाश्लोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति सर्ववस्तुपरिज्ञाने नान्तरीयत्वादेव वस्तुज्ञानस्य । सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येकपरिज्ञानस्य नान्तरियकत्वात् एतच्च प्रागापि ज्ञातमेवेत्यतः सर्वं सर्वपर्यायोपेतं यस्त्वजानानो नाकाररूपमङ्गरं सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति वस्तु, तस्माच्छेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिज्ञातैरेव एकमङ्गरं कुरं ज्ञायते नान्यथेति भावः । यदि नामैवं तथापि प्रस्तुते घटादिपर्यायाणामङ्गरपर्यायत्वे किमायातमित्याह—

जेमु अनाएमु तओ, न नज्जए नज्जए य नाएमु ।

किं तस्स ते न धम्मा, घनस्म रुवाधम्म व्व ॥

तत्तस्माद्येषु घटादिपर्यायेष्वज्ञातेषु यदेकं प्रस्तुतमङ्गरं न ज्ञायते, ज्ञातेषु च ज्ञायते ते घटादिपरपर्यायाः कथं न तस्य धर्मा अपि तु धर्मा एव, यथा घटस्य रूपादयः, प्रयोगः—येषामनुपलब्धौ यन्तोपलभ्यते उपलब्धौ चोपलभ्यते तस्य ते धर्मा एव यथा घटस्य रूपादयः नोपलब्ध्यते च प्रस्तुतमेकमङ्गरं समस्तघटादिपरपर्यायानामनुपलब्धौ, उपलब्ध्यते च तदुपलब्धाविति ते तस्य धर्मा इति । इह चाङ्गरं विचारयितव्यं प्रस्तुतमित्येतावन्मात्रेणैव तत्सर्वपर्यायराशिप्रमाणं साधितं, न चैतदेव केवलमित्यभूतं छुट्य किं त्वस्ति यत्किमपि वस्तु तत्सर्वमित्यनुतमेव, सर्वस्यापि व्यवृत्तिरूपतया परपर्यायासङ्गावादि ।

नहि नवरमक्खरं पि, सव्वपज्जायमसुमणं पि ।

जं वत्तुमत्थि होए, तं सव्वं सव्वपज्जायं ॥

गतायैव । यद्येवं किमङ्करमेवाङ्गीकृत्येदं पर्यायमानमुक्तमिति भाष्यकार एवोत्तरमाह—

इह अक्षरादिगागो, पद्मदणिज्जा ए जेण तव्विसओ ।

ते चित्तिज्जेतं वं, कइ भागो सव्वजावाणं ॥

इहाङ्गराधिकारो यस्मात्प्रस्तुतोऽनन्तस्यैवेदं पर्यायमानमुक्तं छुट्यम् । उपलब्ध्यते च सर्वं यत्स्वित्थमेव, भवन्त्येवं किं तु प्रस्तुतस्याङ्करस्य के स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्यादि निवेद्यतामित्याह (पन्नवणिज्जेत्यादि) तस्य सामान्यनाकाराङ्करस्य स्वपर्यायो विषयस्त्वद्विषयो येन यतः । के इत्याह—प्रज्ञापनीया अभिलाष्याः पर्याया न पुनरभिलाष्याः अतस्ते एव

चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते । कथमित्याह—कतिथो भागस्तेषां भवति, केषां सर्वजावानां सर्वेषामभिलाष्यानभिलाष्यपर्यायाणां समुदितानामित्यर्थः । इदमुक्तं जवति—अभिलाष्यं वस्तु सर्वमङ्करेणोच्यतेऽतस्तदभिधानशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिलाष्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते, शेषास्त्वनभिलाष्याः परपर्यायाः । अतस्तेऽभिलाष्याः स्वपरपर्यायाः सर्वपर्यायाणां कतिथो भागो जवतीत्येवं विचिन्त्यत इति । कथमित्याह—

पसव्वसिज्जा जावा, वसुण सपज्जया तथा थोवा ।

सेसा परपज्जाया, तो णंतगुणा निरभिलप्पा ॥

यतः प्रज्ञापनीया अभिलाष्या जावाः सामान्येन वर्णानामकारादीनां स्वपर्यायास्ततः स्तोका अनन्ततमजागवर्त्तिनः शेषास्तु निरभिलाष्याः प्रज्ञापयितुमशक्याः सर्वेऽपि परपर्याया इत्यतः स्वपर्यायेज्योऽनन्तगुणाः सर्वस्यापि हि वस्तुनो लोकाश्लोकाकाशं विहाय स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्त्वनन्तगुणाः, लोकाश्लोकाकाशस्य तु केवलस्याप्यनन्तगुणत्वात् । शेषपदार्थानां तु समुदितानामपि तदनन्तजागवर्त्तित्वाच्छिपरीतं छुट्यम् । स्तोकाः परपर्यायाः स्वपर्यायास्त्वनन्तगुणाः । अत्र विनियानुग्रहार्थं स्थापना काचिन्निदर्शयते—तद्यथा—सर्वाकाशप्रदेशाशेरन्ये सर्वेऽपि धर्मास्तिकायप्रदेशपरमाणुद्व्यणुकादयः पदार्थाः सङ्गावतोऽनन्ता अपि कल्पनीयाः किल, देशसर्वाकाशप्रदेशपदार्थास्तु केवला अपि किल शतं प्रतिपदार्थं च पञ्च स्वपर्यायाः । एवं च सति धर्मास्तिकायप्रदेशादीनां सर्वेषामपि पदार्थानां पञ्चाशदेव स्वपर्यायाः, ते च ननसः परपर्यायाः स्तोकाश्च स्वपर्यायाणां तु पञ्चशतानि, बहवश्चामी परपर्यायभ्यस्तस्माच्छेषपदार्थानां सर्वेषामपि ननसोऽनन्तजागवर्त्तित्वान्ननसस्तु केवलस्यापि तेज्योऽनन्तगुणत्वात् स्वपरपर्यायाल्पबहुत्ववैपरीत्यं छुट्यमिति । ननसोऽन्यपदार्थानां च तेनैव निदर्शनं स्वपर्यायाणां स्तोकात्वं परपर्यायाणां तु बहुत्वं परिभाषनीयम् । तथाहि—किलैकास्मिन् धर्मास्तिकायप्रदेशे पञ्च स्वपर्यायाः, परपर्यायाणां तु पञ्चवत्त्वारिंशदधिकानि पञ्च शतानि । एवमङ्गरपरमाण्वादावपि वाच्यमित्यत्र विस्तरेणेति ।

अथ परो ज्ञाप्यस्यागमेन सह विरोधमुद्गावयति—

नणु सव्वागासपए—सपज्जया वसुमाणमाहं ।

इह सव्वद्वपज्जा—यमाणगहणं किमर्थं ति ॥

नन्वित्यसूयायाम्, सर्वस्य लोकाश्लोकवर्त्तिन आकाशस्य प्रदेशास्तेषां मिश्रिता ये सर्वेऽपि पर्यायास्ते वर्णस्य पर्यायाणां सूत्रे मानं परिमाणमादिष्टम् । सर्वाकाशप्रदेशानां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायास्तावन्त एकस्याङ्करस्य पर्याया भवन्ति इत्येतावदेवागमे प्रोक्तमित्यर्थः । इह तु "तं सव्वद्वपज्जायरासिमाणं मुणय्यं" इत्यत्र किमिति सर्वद्रव्यपर्यायमानग्रहणं कृतम् । इदमुक्तं भवति—"सव्वागासपसगं सव्वागासयपसहि अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निणज्जसि" नन्दिसूत्रे प्रोक्तम् । एतच्च वृत्तौ तत्र व्याख्यातम् । तद्यथा—सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशं लोकाश्लोकाकाशमित्यर्थः । तस्य च प्रदेशा निर्विभागास्तेषामग्रं परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः किमनन्तगुणितम् । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामगुरुद्रव्यपर्यायाणां सङ्गावत्पर्यायाङ्करं पर्यायपरिमाणाङ्करं निष्पद्यत इति । तदेवमागमे केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमङ्गरपर्यायमानमुक्तम् । अत्र तु धर्माधर्माकाशपुञ्जजीवास्तिकायकाललक्ष्-

णसर्वद्वयपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यते इति कथं न विरोधः ?
इति । अत्रोत्तरमाह-

यौव त्ति न निदिष्टा, इहुरा धम्मत्थियाइपज्जाया ।

के सपरपज्जायाणं, इवंतु किं होतु वाज्जावा ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेऽनन्तजागवर्त्तिन इति कृत्वा नन्दि-
सूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्वयाणां पर्यायाननिर्दिष्टानां नि-
हिताः साक्षात् किन्तु य एवं तेज्योऽतिवहवोऽनन्तगुणास्त एव
सर्वाकाशपर्यायाः साक्षादुक्ताः । अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्या-
या अपि नन्दि-सूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा यद्येतज्जाज्युपगम्य-
ते तदा ते धर्मास्तिकायादिपर्याया अक्षरस्वपरपर्यायाणामध्या-
त्मे भवन्तु ? , किं स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ? , किं वाऽभावः
खरविषाणरूपो भवतु ? इति त्रयी गतिः । त्रिचुवने हि ये पर्या-
यास्तैः सर्वैरप्यक्षरादेर्वस्तुनः स्वपर्यायैर्वा जवितव्यं, परपर्या-
यैर्वा, अन्यथाऽज्ञावप्रसङ्गात् । तथाहि-ये केचन कचित्पर्यायाः
सन्ति तेऽक्षरादिवस्तुनः स्वपरपर्यायाऽन्यतरूपा जवन्त्येव,
यथा रूपादयः । ये त्वक्षरादेः स्वपर्यायाः परपर्याया वा न भवन्ति
ते न सन्त्येव, यथा खरविषाणैर्देवैर्दृष्टादयः । तस्मात्तस्मास्तिकाया-
दिपर्यायाः सूत्रे स्तोकात्वेनानुक्ता अपि ' जे एणं जाणइ ' इत्यादि-
सूत्रप्रामाण्यादर्थतोऽक्षरस्य परपर्यायत्वेनोक्ता द्रष्टव्या इति ।

अथान्यत् प्रेरयति-

किमणंतगुणा जणिया, जमगुरुलहुपज्जाया पएसम्मि ।

एकेकम्मि अणंता, पसुत्ता वीयरगहिं ॥

ननु " सत्त्वागासपपसंघं अणंतगुणियं " इत्यत्र किमित्या-
काशप्रदेशाः सूत्रे अनन्तगुणा भणिताः । अत्रोत्तरमाह-(जमि-
त्यादि) यद्यस्मात्कारणात् एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे, अगुरुलघुप-
र्याया वीतरागैस्तीर्थकरणधरैरनन्ताः प्रज्ञाः प्ररूपिताः । तत-
श्चायमभिप्रायः-इह निश्चयमतेन वादरं वस्तु सर्वमपि गुरु लघु
सूक्ष्मं चाऽगुरुलघु, तत्राऽगुरुलघुवस्तुसंबन्धिनः पर्याया अप्य-
गुरुलघवः समयेऽभिधीयन्ते । आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽत-
स्तं च, तत्पर्याया अप्यगुरुलघवो भण्यन्ते । तेषु प्रत्येकमनन्ताः
सन्त्यतः सर्वाकाशप्रदेशाग्रं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणमुक्तमिति
भाव इति । न केवलमप्यक्षरं संज्ञाक्षराद्युच्यते किन्तु ज्ञानम-
पि । तत्र शिष्यः प्रश्नयति- कियत्प्रमाणं तदक्षरमुच्यते, स-
र्वाकाशप्रदेशेऽनन्तगुणं कियमेतावत्प्रमाणमुच्यते ? । इहै-
कैक आकाशप्रदेशः खल्वनन्तरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तः । ते च
सर्वेऽप्यगुरुलघुपर्याया ज्ञाने ज्ञायन्ते । न च येन स्वभावेनैको
ज्ञायते तेनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, किन्त्वन्येन स्वभावे-
न । ततो यावन्तो गुरुलघुपर्यायास्तावन्तो ज्ञानस्वभावाः ।
उक्तं च- " जावइय पज्जवा ते, तावइया तेसु नाणभेया वि । "
इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेऽनन्तगुणः । आह च-
बृहद्भाष्ये-" अक्षरमुच्चइ नाणं, पुण होज्जाहि किं पमाणं
तु । भणइ अणंतगुणियं, सत्त्वागासपपसंघं ॥ किह होइ अणं-
तगुणं, सत्त्वागासपपसरासीतो । भणइ जं एकेको, आगास-
स्स पपदेसा उ ॥ संजुत्तो णं तेहिं, अगुरुलहुपज्जवेहिं नियमेण ।
तेण उ अणंतगुणियं, सत्त्वागासपपसंघं ॥ " पुनरपि शिष्यः
प्राह-कथमेतद्वसीयत एकैक आकाशप्रदेशोऽनन्तरगुरुलघु-
पर्यायरूपेत् ? । उच्यते-इह द्विविधं वस्तु-रूपिद्रव्यमरूपिद्रव्यं
च । तत्र रूपिद्रव्यं चतुर्धा । तद्यथा-गुरुलघु अगुरुलघु च ।
एतदप्युच्यते-व्यवहारतो निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव-गुरुलघु अग-
रुलघु च । वृ० ।

संप्रति यथा ज्ञानं सर्वाकाशप्रदेशेऽनन्तगुणं

भवति तथा दर्शयति-

उवन्नप्पी अगुरुलहु-संयोगसरादिणो य पज्जाया ।

एतेण हुंतणंता, मत्त्वागा सपपसंघं ॥

चतुर्णामप्यस्तिकायानां पुत्रत्वास्तिकायस्य च ये अगुरुलघवः
पर्यायाः, उपलक्षणमेतत् वादरस्कन्धानाम् । अगुरुलघुपर्यायाश्च
यावन्तश्चाक्षरेषु स्वरूपतोऽभिलाषभेदतो वा संयोगा यैश्चादा-
त्तादिभिः स्वरैरञ्जितप्यन्ते भावाः, आदिशब्दाद् यच्चाये शकुन-
रुतादिगताः स्वरविशेषा ये च जीवपुत्रगताश्चेष्टाविशेषास्तं
सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां सर्वेषामप्युपलक्षणं भवति । न च येन
स्वभावैकस्य तेनैवान्यस्य, किन्तु भिन्नं । तदेतेन प्रकारेण
ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेऽनन्तगुणाः । वृ० १ उ० ।

प्रकारान्तरेण प्रेरयन्नाह-

तत्त्वाविसेसयं ना-एमक्खरं इह सुयक्खरं पमय ।

तं किह केवलपज्जा-यमाणतुल्लं हविज्जाहि ॥

(तत्थेति) " सत्त्वागासपपसंघं सत्त्वागासपपसंघं अणंतगु-
णियं पज्जवक्खरं निपपज्जइ " इत्यत्र सूत्रे नन्दिध्यायने अविशे-
षितं सामान्येनैव (नाएमक्खरं ति) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्,
अविशेषाभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात्तदेव तत्राक्षरं ग-
म्यते । इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकाराच्छ्रुताक्षरमकाराद्येवाक्ष-
रशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह-तद्या-
कारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेत् कथंचिदि-
त्यर्थः । अयमभिप्रायः-केवलस्य सर्वद्वयपर्यायवस्तुत्वाद्भव-
तु सर्वद्वयपर्यायमानता, श्रुतस्य तु तदनन्तजागविषयत्वात्कथं
तत्पर्यायमानतुल्यतेति ? अत्रोच्यते-ननु तत्रापि " अक्षरस-
स्त्रीसम्मं साइयं खनु " इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यायसितश्रुते विचा-
र्यमाणे " सत्त्वागासपपसंघं " इत्यादिसूत्रं पठ्यते, अतो यथेह
तथा तत्रापि श्रुताधिकारादक्षरमकाराद्येव गम्यते, न तु केवल-
क्षरम् । अथ द्वैत-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते " सत्त्व-
जीवाणं अक्खरस्स अणंतजागो निचुत्तुगामियसोत्ति " एतस्मा-
त्केवलक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सकलछादशाङ्गविदो सं-
पूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य सद्भावाः सर्वजीवानामक्षरस्याऽनन्तभागो
नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तेः । अहो ! असमीक्षिताभिधा-
नं, यत एवं सति केवलज्ञानं संपूर्णस्यापि केवलक्षरसद्भावात्स-
र्वजीवानामक्षरस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्याऽर्थस्याऽनुप-
पत्तिरिव । अथ मनुष्ये तत्राऽविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि
प्रकरणादपिशब्दाद्वा केवलितो विहायाऽन्येषामेवाऽक्षरस्याऽ-
नन्तभागो नित्योद्घाट इति केवलक्षरग्रहणेऽविरोधः । हन्त !
तदेतच्छ्रुताक्षरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीव-
ग्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा समस्तद्वादशाङ्गविदो विहा-
याऽन्येषामेवासदादीनामक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इती-
हापि शक्यत एव वक्तुम् । तस्मात्तत्रेह च श्रुताक्षरमकाराद्येव
गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताक्षरं, तत्र केवलक्षरमपि जवतु, न च
श्रुताक्षरस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुद्ध्यते । कथमित्याह-

सयपज्जवेहि तं के-वज्जेण तुल्लं न होज्ज न पेहिं ।

सयपपज्जाणहिं, तुल्लं तं केवल्लेणैव ॥

स्वकाः स्वकीया अकारकाराकारादयोऽनुगताः पर्यायाः श्रुतज्ञान

स्वपर्याया इत्यर्थः। तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छ्रुताकरं केवलेन केवलाङ्गेण तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायानन्तप्रागवर्तित्वात् । तच्छ्रुतज्ञान स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायराशि-प्रमाणं, सर्वत्रापि ते तु व्यापारात् । तथाहि-लोकैः समस्तद्रव्याणां विप्रकृतः पर्यायराशिर्नान्तानन्तस्वरूपोऽप्यस्य कल्पनया किञ्च लक्ष्मः पतन्मध्याच्छ्रुतज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किञ्च शतं, तदुत्त-लक्ष तु परपर्यायाः, केवलज्ञानस्ये तल्लक्षमपि पर्यायाणामुपल-भ्यते, सर्वोपलब्धिस्वभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिर्विशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः, इत्योपलब्धिस्वभावत्वात् ज्ञानस्य । एवं च सति लक्षपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शतं स्व-पर्यायाणाम्, अत्र तैस्तत्केवलपर्यायराशितुल्यं न जवेदिति स्थितम् । तर्हि परपर्यायैस्तत्तस्य तुल्यं भविष्यतीत्याह-न परै-र्नापि परपर्यायैस्तत् केवलेन तुल्यं भवेत् । तथाहि-घटादि-व्यावृत्तिरूपाः परपर्यायास्तस्य विद्यन्तेऽनन्तानन्ताः, कल्पन-या तु शतानलक्षमास्तथापि सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्या न भवन्ति, सर्वपर्यायानन्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भावत-स्त्वनन्तात्मकेन स्वपर्यायराशिना न्यूनत्वात् केवलस्य तु संपूर्ण-सर्वपर्यायराशिमानत्वादिति । स्वपरपर्यायैस्तु तत्केवलपर्यायतु-ल्यमेव । केवलवत्तस्यापि सर्वद्रव्यपर्यायप्रमाणत्वादिति । आह-यद्येवं केवलेन सहाऽस्य को विशेषः? उच्यते, अस्ति विशेषः यतः-

अविसेमकेवलं पुण, सयपज्जाएहि चेव तत्तुल्यं ।

जण्ये पइ ते स-व्वभाववावार विण्णुत्तं ॥

उभयत्र सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणत्वे तुल्येऽपि श्रुतकेवल-योरस्ति विशेष इत्येवं पुनः शब्दोऽत्र विशेष्योक्तार्थः । कः पुनरसौ विशेष इत्याह-आवशेपेण पर्यायसामान्येन युक्तं केवलमविशेषकेवलं स्वपरविशेषरहितैः सामान्यत एवाऽनन्त-पर्यायैर्युक्तं केवलज्ञानमविशेषकेवलमित्यर्थः । तदेव श्रुतं केवलं स्वपर्यायैरेव तत्तुल्यं, तेन प्रमानुवर्त्तमानसर्वद्रव्यपर्यायराशि-ना तुल्यं तत्तुल्यं, श्रुतज्ञानं तु समुद्दितायैव स्वपरपर्यायैस्तत्तुल्य-मिति विशेष इति भावः । कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावन्तः स्वपर्याया इत्याह- (जण्येयमिन्द्रादि) यद्यस्मात्तत्केवलज्ञान सर्वद्रव्यपर्यायलक्षणं इयं प्रति सर्वज्ञावेपु निःशेषज्ञातव्यपदार्थेषु योऽसौ परिच्छेदलक्षणा व्यापारस्तत्र विनिर्युक्तं प्रतिसमर्थं प्रवृत्तमिन्द्रियार्थः । इदमुक्तं जयति । केवलज्ञानं सर्वानपि सर्वद्रव्यपर्यायान् जानाति । ते च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवर्दिन-यमेतेन तदपतया परिणताः, ततो ज्ञानमयत्वात् केवलास्य स्व-पर्याया एव जयन्ति, अतः केवलज्ञानं तैरेव सर्वद्रव्यपर्यायराशि-तुल्यं भवति । श्रुतादिज्ञानानि तु सर्वद्रव्यपर्यायराशेरनन्तम-मेव ज्ञानं जानन्त्यतस्तेषां स्वपर्याया एतावन्त एव भवन्त्यतो न श्रुतज्ञानं स्वपर्यायैस्तत्तुल्यं, तदन्तर्भागवत्तिस्वपर्यायमानत्वा-दिति श्रुतकेवलस्य विशेषः । अत्र पक्षे केवलस्य परपर्यायविवक्षा न कृता । ये हि केवलस्य निःशेषज्ञेयगता विषयभूताः पर्यायास्ते ज्ञानेनैव ज्ञानयमेतेन ज्ञानरूपत्वादर्थोपस्थित्यैव स्वपर्यायाः प्रोक्ता न तु पर्यायाभावः प्रोक्तः । यस्तु स्थित्या पुनरिदमपि स्वपरपर्या-यान्वयमेव दर्शयति-

क्वमुमहावं पइ तं, पि सपरपज्जायजेयओ जिनं ।

तं जेण जीवभावो, भिन्ना य तओ घटाड्यं ॥

वस्तुस्वभावं प्रति यथार्थस्थितं वस्तुस्वरूपमाश्रित्य तदपि

केवलं ज्ञानमकाराद्यङ्गरवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव न तु यथाक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः । कुत इत्याह--येन कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभावः प्रतिनियतो जीवपर्यायो न घ-टादिस्वरूपं तन्नापि घटादयस्तत्स्वभावाः किन्तु ततो जिघ्रा इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया जवेयुः, सर्व-संकर्षकत्वादिप्रसङ्गात् । तस्मादमूर्त्तत्वाच्चैतनत्वसर्ववस्तुत्वाप्रति-पातिव्यनिरावरणत्वादयः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः । घटादिप-र्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्यायाः । अन्ये तु व्याचक्षते-स-र्वद्रव्यगताः सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जानाति, येन च स्व-भावैकं पर्यायं जानाति न तेनैवापरमपि, किन्तु स्वभावभेदेन, अ-न्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्यपर्यायराशि-तुल्याः स्वभावजैदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, सर्वद्रव्य-पर्यायास्तु परपर्याया इत्येवं स्वपर्यायपरपर्यायाश्चोक्तयेऽपि पर-स्परं तुल्याः केवलस्येति । एवं च सति किं स्थितमित्याह-

अविसेसयं पि सुत्ते, अखरपज्जायमाणमाइट्टं ।

सुयकेवलखराणं, एवं दोण्हं पि न विरुद्धं ॥

एवं सत्यविशिष्टमपि तन्दिस्त्रे यत्सर्वाकाशप्रदेशाग्रमनन्त-गुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमादिष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य वा न विरुद्धं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तन्यायनार्थतो द्वयोरपि स-मानपर्यायत्वात्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपरपर्यायास्ता-वन्निरादं तुल्या एव । स्वपर्यायास्तु 'यद्यप्यन्ये तु व्याचक्षते' इत्यादिनाऽऽगमेनानन्तरमेव केवलस्य भूयांसः प्रोक्तास्तथापि तेभ्यो व्यावृत्तव्यवन्तः श्रुतस्य परपर्याया वर्द्धन्त इति तदेवं द्वयोरपि सामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि ग्रहणे सूत्रे न किमपि श्रूयत इति । नन्वेतत्सर्वपर्यायपरिमाणमक्षरं किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽव्रियते न वेत्याह-

तस्स उ अणंतजाणो, निच्चुग्गाडो य सव्वजीवाणं ।

जणिओ सुयम्मि केवल्लि-वज्जाणं ति विहभेओ वि ॥

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणाङ्गरस्यानन्तभागे नित्योदघाटितः सर्वदैवानावृतः केवलवर्जानां सर्वजीवानां ज-घन्यमध्यमेत्कुष्ठत्रिविधजेदोऽपि श्रुते भणितः प्रतिपादित इति ।

तत्र सर्वजघन्यस्याऽङ्गराऽनन्तभागस्य स्वरूपमाह-

सो पुण सव्वजहन्तो, चेयणं नावरज्जइ कयाइ ।

उक्कोसावरणम्मि वि, जलयच्छुन्नकभासोव्व ॥

स पुनः सर्वजघन्योऽङ्गरानन्तभाग आत्मनो जीवत्वनिबन्धनं चैतन्यमात्रं, तच्च तावन्मात्रमुत्कृष्टावरणेऽपि सति जीवस्य कदा चिदपि नाव्रियते न तिरस्क्रियते, अजीवत्वप्रसङ्गात् । यथा-सु-ष्टुपि जलदच्छन्नस्याकस्याऽऽदित्यस्य भासः प्रकाशो दिनरात्रि-विज्ञागनिबन्धनं किञ्चित्प्रज्ञामात्रं कदापि नाऽऽव्रियते, एवं जी-वस्यापि चैतन्यमात्रं कदाचिद्वाऽऽव्रियत इति भाव इति । केषां पुनरसौ सर्वजघन्योऽङ्गराऽनन्तभागः प्राप्यत इत्याह--

थोण्हिसहियणाणा-वरणोदयओ स पत्थिवाइणं ।

वेदियाइयाणं, परिवट्ठए कमविमोहीए ॥

स्यानर्हिमहानिघोदयसहितोत्कृष्टज्ञानावरणोदयादसौ सर्व-जघन्योऽङ्गरानन्तभागः पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां प्राप्यते, ततः क्रमविशुद्ध्या दीर्घाद्यादीनामसौ क्रमेण वर्द्धत इति । तर्ह्युत्कृष्टो मध्यमश्च केषां मन्तव्य इत्याह-

उक्कोसो उक्कोसय-सुयणाणविओ तओ वसेमाणं ।

होइ विमज्जो मज्जे छट्ठाणगयाण पाएण ॥ ४७ ॥

स एवाकराऽनन्तजाग उत्कृष्टो भवत्युत्कृष्टश्रुतज्ञानविदः संपूर्ण-
श्रुतज्ञानस्येत्यर्थः । अत्राह-नन्वस्य कथमकराऽनन्तभागो या-
वता श्रुतज्ञानाऽङ्करं संपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु
संलुलितसामान्यश्रुतकेवलज्ञाकराऽपेक्षयैवास्याऽङ्करानन्तभागो वि-
वक्षितः, “ केवलविज्जाणं तिविहभेओ वि ” इत्यनन्तरवचनात् ।
अन्यथा हि यथा केवलिनः संपूर्णकेवलाऽङ्करयुक्तत्वेनाकराऽनन्त-
भागस्त्रिविधाऽपि न संभवतीति तद्वर्जनं कृतम् । एवं संपूर्णश्रु-
तज्ञानिनोऽपि समस्तश्रुताऽङ्करयुक्तत्वेनाकराऽनन्तभागस्त्रिवि-
धाऽपि न संभवतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्माच्च संमिलि-
तसामान्याकरापेक्षयैवास्याङ्करानन्तभागः प्राक्तः, सामान्ये वाऽ-
ङ्करे विवक्षिते केवलज्ञाकरापेक्षया श्रुतज्ञानाकरस्य संपूर्णस्याप्य-
नन्तभागवर्तित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्वपर्यायेत्यर्थः । श्रुतज्ञान-
स्वपर्यायाणामनन्तभागवर्तित्वात् तस्य परोक्तविषयत्वेनास्पष्ट-
त्वाच्चेति । यच्च समुदितस्वपर्यायाऽपेक्षया श्रुतकेवलज्ञाकरयो-
स्तुल्यत्वं तदिह न विवक्षितमेवेति । अन्ये तु “ सो उण स-
वजहन्ना चेवम् ” इत्यादिगाथायां स पुनरङ्करत्वाभ इति व्याच-
कृते, इदं चाऽनेकदोषाऽन्वितत्वाज्जनभङ्गणिकमाश्रमणपूज्य-
टीकायां चाऽदर्शनादसङ्गतमेव लक्ष्यामः । तथा हि-“ तस्स
उ अणंतभागो निच्चुग्घामो ” इत्याद्यनन्तरगाथायामङ्कराऽनन्त-
जाग एव प्रकृतः, अङ्करलाजस्वऽनन्तरपरामर्शना तच्छब्देन कु-
तो वक्ष्यः ? किमाकाशात्पतितः ? । किं च, यद्यङ्करत्वाज इतीह
व्याख्यायते तर्हि “ केवलविज्जाणं तिविहभेओ वि ” इत्यत्र कि-
मिति केवलिनो वर्जनं कृतं ?, यथा हि श्रुताङ्करमाश्रित्योत्कृष्टोऽङ्क-
रत्वाभः संपूर्णश्रुतज्ञानवता वक्ष्यते तथा केवलाङ्करमङ्गीकृत्यो-
त्कृष्टोऽसौ केवलिनोऽपि वक्ष्यत एव, किं तद्वर्जनस्य फलम् ? । त-
माश्रमणपूज्यैश्च “ थोणद्धि ” इत्यादिगाथायामिदं व्याख्यातम्-
स च किल जघन्याऽनन्तजाग इत्यादि । अथ सामान्यमङ्करं नह
प्रक्रमे गृह्यते किन्तु श्रुताङ्करमेवेति । तदयुक्तम्, चिरन्तनटीकाद्व-
येऽप्यङ्करस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च-विशेषतोऽत्र
श्रुताङ्करे गृह्यमाणे तस्य श्रुताङ्करस्याऽनन्तभागः सर्वजी-
वानां नित्योद्घाट इति व्याख्यानमापद्यते । एतच्चाऽयुक्तम्,
संपूर्णश्रुतज्ञानिनां ततोऽनन्तजागादिहीनश्रुतज्ञानवतां च श्रुताङ्क-
रानन्तजागवत्त्वानुपपत्तेः । किं च, “ सो उण केवलविज्जाणं ति-
विहभेओ वि ” इत्येतदसंबद्धमेव स्यात्, केवलिनः सर्वथैव श्रुता-
ङ्करस्यासंज्ञेन तद्वर्जनस्याऽऽनर्थक्यप्रसङ्गाच्चेति, परमार्थं चेह
केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्तीत्यलं प्रसङ्गम् । विमध्यममङ्करान-
न्तभागमाह-ततस्तस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानविदोऽवशेषाणामेकेन्द्रि-
यसंपूर्णश्रुतज्ञानिनो मध्ये वर्तमानानां षट्संस्थानपतितानामनन्त-
भागदिगतानां प्रायेण विमध्यो मध्यमाङ्करानन्तभागो भवति,
एकस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽवशेषाः केचित् श्रुतमाश्रित्य तुल्या
अपि भवन्त्यत उक्तप्रायेणावशेषाणां विमध्यम इति । अयमर्थः-
विवक्षितादेकस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽविशेषाणामपि केषांचिदु-
त्कृष्टश्रुतज्ञानवतां तत्तुल्य एवाऽङ्करानन्तभागो भवति न तु
विमध्यम उत्कृष्ट इत्यर्थः । इति सततचत्वारिंशद्गाथार्थः ।
इत्यङ्करश्रुतं समाप्तम् । विशेष० ॥

पत्तेयमक्खराई, अक्खरसंजोय जत्तिया द्रोए ।

एवइया सुयणाणे, पयसीओ होंति नायव्वा ॥

एकमेकं प्रति प्रत्येकमङ्कराण्यकारादीन्वनैकभेदानि । यथा-

अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा-ह्रस्वो
दीर्घः प्युतश्चेति । पुनरैकैकस्त्रिविधः-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च ।
इत्येवमकारोऽष्टादशभेदः । एवमिकारादिष्वपि यथासंभवं भेद-
जालमभिधानीयमिति । तथाऽङ्कराणां संयोगा अङ्करसंयोगा
द्व्यादयो यावन्तो लोके, यथा-घटः पट इत्यादि, व्याघ्रः स्त्रीत्यादि ।
एवमेतेऽनन्ताः संयोगाः, तत्राप्येकैकः स्वपरपर्यायापेक्षयाऽनन्त-
पर्यायः, अत एतावत्यः श्रुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति
निर्युक्तिगार्थः ।

अथ भाष्यम्—

संजुत्तासंजुत्ता-ए ताणमैकक्खराईमंजोगा ।

होंति अणंता तत्थ वि, एकैको एतंपज्जाओ ।

एकमङ्करमादिर्येषां द्वादीनां तान्येकाङ्करादीनि, तेषां संयोगा
एकाङ्करादिसंयोगाः, ते अनन्ता भवन्ति । केषां ये एकाङ्करादिसं-
योगा इत्याह-तेषामकारककाराद्यङ्कराणाम् । कथंभूतानामि-
त्याह-संयुक्तासंयुक्तानाम् । तत्र संयुक्तैकाङ्करसंयोगो यथा-
अग्निः प्राप्त इत्यादि । असंयुक्तैकाङ्करसंयोगो यथा-घटः पट
इत्यादि । एते चाङ्करसंयोगा अनन्ताः । एकैकश्च संयोगः स्व-
परपर्यायैः पूर्वानिहितन्यायेनाऽनन्तपर्याय इति ॥

अथ परमतमाशङ्क्योत्तरमाह—

संविज्जक्खरजोगा, होंति अणंता कहं जमजिधेयं ।

पंचत्थिकायगोयर-मन्नोन्नविलक्खणमणंतं ॥

संख्येयानि च तान्यकाराद्यङ्कराणि, तेषां योगाः संयोगाः कथ-
मनन्ता भवन्ति न घटन्त एवेति भावः । अत्रोत्तरमाह-यद्य-
स्मात्संख्येयानामप्यङ्कराणामभिधेयमनन्तम् । कथं ज्ञातमित्याह-
अन्योन्यविलक्षणं परस्परविसदृशम् । किं विषयमित्याह-पञ्चा-
स्तिकायगोचरं पञ्चास्तिकायगतस्कन्धदेशप्रदेशपरमाणुका-
दिकम्, अभिधेयानन्त्याच्चाभिधानस्याप्यानन्त्यमवसेयमिति ।

एतदेव भावयति—

अणुओ पएसवुह्ठी-ए जिन्नरूवाइ धुवमणंताइ ।

जं कमसो द्वावाइ, हवंति भिन्नाजिहाणाइ ॥

इहास्मादणुतः परमाणुतः प्रारभ्य क्रमशः प्रदेशवृद्ध्या पुन-
लास्तिकायेऽपि ध्रुवं सर्वदैवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्रव्याणि
प्राप्यन्ते भिन्नाभिन्नानि चैतानि, यथा-परमाणुर्द्व्यणुकस्य-
णुकश्चतुरणुको यावदनन्तप्रदेशिक इति, प्रत्येकं चानेकाभिधाना-
न्येतानि, तद्यथा-अणुः परमाणुनिर्देशो निरवयवो निःप्रदेश
अप्रदेश इति, तथा द्व्यणुको द्विप्रदेशिको द्विजेटो द्व्यवयवः । इ-
त्यादि सर्वद्रव्यसर्वपर्यायेष्वायोजनीयम् । यस्माच्चैवमभिधेयम-
नन्तं विसदृशरूपं जिन्नाभिधानं च तस्मादिकमित्याह—

तेणाभिहाणमाणं, अभिधेयाणंतपज्जवसमाणं ।

जं च सुयस्मि वि भणियं, अणंतगमपज्जयं सुत्तं ॥

यतोऽभिधेयमनन्तं जिन्नरूपं जिन्नाभिधानं तेन कारणेना-
ङ्करसंयोगरूपाणामभिधानानां यत्संख्यारूपं मानं परिमाणं त-
दपि जवति । कियदित्याह-अभिधेयजेटेनाऽभिधानस्यापि जे-
दात् न हि येनैव रूपेण घटादिशब्दे अकारादिवर्णाः संयुक्तास्ते-
नैव स्वरूपेण पटादिशब्देऽपि अभिधेयैकत्वप्रसङ्गात्, करुपशब्दा-
भिधेयत्वात् घटतत्स्वरूपवदिति, अतोऽभिधेयानन्त्यादभिधा-
नानन्त्यमिति यत्ततः सूत्रेऽप्यजिहितम् । “ अणंतागमा अणंता
पज्जवा ” इत्यतः स्थितमेतत् “ संजुत्तासंजुत्ताणं ” इत्यादीति
गायाचतुष्टयार्थः । विशेष० ॥

उत्तमं भावस्वरभो, अणस्वरं होज्ज वंजणस्वरभो ।

मज्झाणं सुत्तं पुण, उभयं पि अणस्वरं करउ ॥

ईडाकुरं तावद्विविधम्-इत्याकुरं भावाकुरं च । तत्र छव्या-
कुरं पुस्तकादिन्यस्ताकारादिरूपं, ताद्यादिकारणजन्यः शब्दो
वा । एतच्च व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनाकुरमप्युच्यते, भावाकुरं
त्वतः स्फुरदकारादिवर्णज्ञानरूपम् । एवं च सति (नावस्वर-
भो त्ति) नावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञानं ज्ञयेत् । कथंभूतमित्याह-
(उभयं ति) उभयरूपमकुरवदनकुरं चेत्यर्थः । मतिज्ञानज्ञेदे-
हवप्रहे भावाकुरं नास्तीति तदनकुरमुच्यते । ईहादिपुतु तद्भेदे-
षु तदेतेषु तदस्तीति मतिज्ञानमकुरवत् प्रतिपादितमिति भावः ।
(अनस्वरं होज्ज त्ति) व्यञ्जनाक्षरं विद्यते, तस्य छव्यश्रुतत्वेन-
रुदन्वात् द्रव्यमतिव्येनाप्रसिद्धत्वादिति (सुत्तं पुणो त्ति) सूत्रं
श्रुतज्ञानं पुनरुभयमपि छव्यश्रुतं भावश्रुतं चेत्यर्थः । विशेषः ।
अकारादिलब्धकुराणामन्यतरस्मिन् । कर्म० १ कर्म० । करणशू-
न्ये, त्रि० उज्ज्वले, मोक्षे च । न० वाच० ।

अक्षरगुण-अक्षरगुण-पुं० ६ त० स० । अकारादीनामकरा-
णां गुणोऽनन्तागमपर्यायवत्त्वमुच्चारणं च, अन्यथाऽर्थस्य प्रति-
पादयितुमशक्यत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्षरगुणमसंघटना-अक्षरगुणमसिंघटना-स्त्री० अक्षरगु-
णेन मतेः (मतिज्ञानस्य) संघटना, भावश्रुतस्य छव्यश्रुतं
प्रकाशतेऽक्षरगुणस्य मत्या संघटनायां वृद्ध्या रचनायां च । सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्षरपुट्टिया-अक्षरपुट्टिका-स्त्री० ब्राह्म्या शिपेनं वमे हेखवि-
धाने । प्रज्ञा० १ पद ।

अक्षरलंज-अक्षरलान्त-पुं० पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्ण-
विज्ञाने, “ अक्षरखंनो सप्ती-ए होज्ज पुरिसाइवमविष्माणं ।
कत्तो असप्तीणं, जणियं च सुयम्म तेसि पि ” विशेषः । सूत्र० ।

अक्षरविमुच्छ-अक्षरविमुच्छ-त्रि० पदैरक्षरैर्वाऽलङ्कृते, पं० चू० ।
अक्षरसंवच्छ-अक्षरसंवच्छ-पुं० वर्णव्यक्तिमति, स्था० २ शा० ३
उ० । (अस्य व्याख्या ‘भासा’ शब्दे)

अक्षरमसिवाय-अक्षरसन्निपात-पुं० अक्षराणां सन्निपाताः
संयोगाः । राय० । अकारादि (वर्ण) संयोगेषु, “ अजिणाणं
जिणसंका-माणं सच्चस्वरसमिवायाणं ” स्था० ३ शा० ४ उ० ।

अक्षरमम-अक्षरमम-न० (अक्षरैः समो यत्र) गेयस्वरभेदे,
यत्र अक्षरे दीर्घे दीर्घस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः,
सानुनासिके सानुनासिकस्तदक्षरसममिति, स्था० ३ शा० ५ ।

अक्षरममाम-अक्षरममाम-पुं० अकारादिलब्धकुराणां द्वा-
दिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अक्षरवाया-देशी-दिगेत्यर्थे, देश० ना० १ वर्ग ।

अक्षरवल-देशी-पुं० (अक्षरोऽ) इति प्रसिद्धे, वृक्षे, तन्फले
च, न० प्रज्ञा० १ पद ।

अक्षरलिभं-देशी-प्रतिफलिते, देश० ना० १ वर्ग ।

अक्षरक्षिय-अस्वक्षित-त्रि० न० त० । अप्रच्युते, स्पर्शकर्तव्ये,
अप्रमत्ते, वाच० । उपपन्नशक्यायाकुञ्चनुतागे, लाङ्गलमिच स्ख-
लति यन्स्खलितं, न तथाऽस्खलितम् । सूत्रगुणभेदे, अनु० ।
न० आ० म० प्र० ।

अक्षरलियचरित्त-अस्वक्षितचारित्र-पुं० अस्खलितमतिचार-
रहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्यासौ अस्खलितचारित्रः । नि-
रतिचारचारित्रे, ईदृशेन साकं केवल्यपि विहरेत् । “ गीयत्थे
जे सुसंविगे, अणावस्सी ददव्वए । अक्षरलियचरित्ते य,
रागदोसविवज्जए ” ग० १ अधि० ।

अक्षरलिपाइगुणयुत-अक्षरक्षितादिगुणयुत-त्रि० अस्वक्षि-
तममिनमव्यत्याग्रेमितमित्यादिगुणयुक्ते, “ अस्वक्षितादिगुणयु-
तैः स्तोत्रैश्च महामतिप्रथितैः ” षो० ए विव० ।

अक्षरवाडग-अक्षपाटक-पुं० अक्षे व्यवहारे पाटयति दीप्यते ।
पट्टाप्रौ-एवुत् । व्यवहारनिर्णेतरी धर्माध्यक्षे, वाच० । चतुरस्त्रा-
कारे (आसने,) “ तेसि णं बहुमज्जदेसजाए पत्तेयं २ वडरा-
मया अक्षरवारुगा पण्णा ” जी० ३ प्रति० ।

अक्षरसुत्तमाला-अक्षसूत्रमाला-स्त्री० अक्षा रुद्राक्षाः फलवि-
शेषास्तेषां सम्बन्धिनी सूत्रप्रतिबद्धा माला आध्वी या सा तथा
सैव गण्यमानैर्निर्मासतयाऽतिव्यक्तत्वात् । रुद्राक्षमालायाम्,
“ अक्षरसुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहि ” अणु० ३ वर्ग ।

अक्षरसोय-अक्षस्रोतस्-न० चक्रभूःप्रवेशरन्ध्रे, ज० ७ शा० ६ उ० ।

अक्षरमायप्पमाण-अक्षस्रोतःप्रमाण-त्रि० अक्षस्रोतश्चक्रभूः-
प्रवेशरन्ध्रे, तदेव प्रमाणमक्षस्रोतःप्रमाणम् । ज० ७ शा० ६ उ० ।
चक्रनाभिलिङ्गप्रमाणे, औ० ।

अक्षरसोयप्पमाणमेत्त-अक्षस्रोतःप्रमाणमात्र-त्रि० अक्षस्रोतः
प्रमाणेन मात्रा परिमाणमवगाहतो यस्य स तथा । (चक्रनाभि-
लिङ्गप्रमिताऽवगाहे) “ तेणं काव्हेणं तेणं समएणं गंगासिधुओ
महाणइत्तो रहपहवित्थराओ अक्षरसोयप्पमाणमेत्तं जलं
वाज्जिहि त्ति ” म० ७ शा० ६ उ० ।

अक्षरवा-आख्या-स्त्री० आ-ख्यायतेऽनया । आ-ख्या-अह् ।
वाच० । अभिधाने, “ कावो उ वंदक्खा, ” वन्दाख्या इत्य-
भिधानम् । स कावः प्रतिपत्तव्यः । वृ० ३ उ० ।

अक्षरवाइय-आख्यातिक-न० पठति लुक्के इत्यादि (आख्यात-
निष्पत्ते) यवनेदे, आ० म० द्वि० । विशेषः । धावतीत्याख्याति-
कम्, क्रियाप्रधानत्वात् । अनु० । साध्यक्रियापदे, ‘ यथाऽकरोत्
करोति करिष्यति ’ प्रश्न० संव० २ द्वा० ।

अक्षरवाइयट्ठाण-आख्यायिकास्थान-न० कथानकस्थाने, आ-
चा० २ ध्रु० १ अ० ।

अक्षरवाइयाणिस्मय-आख्यायिकानिश्रित-न० आख्यायिका
प्रतिबद्धेऽसत्प्रज्ञापे, एव नवमेो सुप्राज्ञेदः । स्था० १० द्वा० ।

अक्षरवाइया-आख्यायिका-स्त्री० आ-ख्या-एवुत् । कल्पितक-
थायाम्, संथा० यथा तरङ्गवतीमग्नयवतीप्रभृतयः, वृ० १ उ० ।

अक्षरवाडं-आख्यातुम्-अव्य० आख्याने कर्तुमित्यर्थे, “ न य
दिदं सुयं सव्यं जिक्खु अक्खाउमरिदइ ” दश० ५ अ० ।

अक्षरवाग-आख्याक-पुं० म्लेच्छविशेषे, सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० ॥

अक्षरवाग-आखाटक-पुं० प्रेक्षाकारिजनासनभूते, स्था० ४
शा० २ उ० । चतुरस्त्रे श्लोकप्रतीतिऽर्थे, स्था० ३ शा० ३ उ० “ ते-
सि णं बहुसमरमणिज्जाणे भूमिभागाणं बहुमज्जदेसभाए पत्तेयं
२ वडरामए अक्षरवाडए ” राय० ।

अकखाण-आख्यान-न० । आ-ख्या, चक्रिह वा, ल्युट् । आ-
भिमुख्येनादरेण वा ख्यापनं प्रकथनमभिधानं वा । “ अ-
कखाणं खावणाभिहाणं वा ” आभिमुख्येनाऽऽदरेण वा
प्रकथनेऽभिधानं च, विशेष० । निवेदने, ध्र० १ अधि० । अ-
भिधाने, पञ्चा० २ विव० । आख्यानकानि धूर्ताऽऽख्यानकादी-
नि । वृ० २ उ० । नि० चू० ॥

अकखाय-आख्यात-त्रि० आ-ख्या-क्तः । पूर्वतीर्थकरण-
धरादिभिः प्रतिपादिते, सत्र० १ श्रु० ३ अ० । आव० । “ सं-
ति मे य दुवे गणा, अकखाया मारणंति य ” ॥ उत्त० ए अ० ।
समन्तात्कथिते, उत्त० २ अ० । “ सुयं मे आउसं तेणं भग-
वया एवमकखायं ” आ मर्यादया जीवाऽजीवलक्षणसंकी-
र्णतारूपतयाऽऽतिविधिना वा समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणे-
न ख्यातं कथितमाख्यातमात्मादिचस्तुजातमिति गम्यते । स्था०
१ ग० । सूत्र० । द० । भणिते, संथा० । तिङ्-पे प्रत्यये, भाव
एव साध्यतया लिङादिरभिधीयते न कर्ता “ पूर्वापरीभूतं ज्ञा-
वमाख्यातमाचष्टे ” इतिवचनात् । सम्म० ।

अकखायपव्वज्जा-आख्यातप्रव्वज्या-स्त्री० आख्यातेन धर्मद-
र्शनेन आख्यातस्य वा प्रव्वज्येत्यभिहितस्य गुरुभिर्या साऽख्या-
तप्रव्वज्या । प्रव्वज्याभेदे, स्था० ३ ग० २ उ० । “ अकखा-
याए जंबू धम्मं अकखादिपभवस्स ” पं० भा० । “ अकखाया-
ए सुदंसणो सेट्ठी सामिणा संवोहिओ ” पं० चू० ।

अकखि-अक्षि-न० अश्नुते विषयान्, अग्-क्सि । नेत्रे, वाच० ।
“ अकखिह य णासाहि य जिम्भाहि य ओट्टेहि य ” विपा० १
श्रु० २ अ० । “ ते अंजिअकखितिव्वप ” नि० चू० १ उ० ।

अकखितर-अक्ष्यन्तर-न० ६ त० । नेत्ररन्ध्रे, (विपा०)
“ अकखितरेसु दुवे ” (नाड्यौ) विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकखित्त-आक्षिप्त-त्रि० आ-क्षिप्-क्तः । कृताक्षेपे, यस्याक्षेपः
कृतस्तस्मिन् । वाच० आकृष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । उपलभिते,
ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । आवाजिते, दशा० ३ अ० । उपन्यस्ते च,
पंचा० १२ विव० ।

अकखि (कखे) त्त-अक्षेत्र-न० । न० त० । क्षेत्राभावे, “ मग्गणा
खेत्त अकखेत्ते ” एकक्षेत्रस्थितानां मार्गणा कर्तव्या, कस्य क्षेत्रं
भवति कस्य वा न भवति क्षेत्रमित्यर्थः । व्य० ४ उ० ।
क्षेत्रभिन्ने बहिरर्थे, “ अकखेत्तुवस्सए पुच्छमाणे दूरावलि-
य मासो ” अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये उपाश्रयविषया मार्गणा
कर्तव्या । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्तव्येत्युक्तं तत्र
तावदक्षेत्रमाह- “ एहाणाणुजाण अद्धा-णसीसए कुल्लगणे
चउके य । गामाह्वाणमंतर-महेय उज्जाणमादीसु । इंदकील-
मणेग्गाहो जत्थ राया जेहि वपंच इमे । अमच्चपुरोहिया सेट्ठी,
सेणावति सत्थवाहो य ” व्य० ४ उ० । जंदिसं वाग्रतो तं दिसं
अकखुज्जाणं जाय खेत्तं भवति परओ अकखेत्तं ” नि० चू० १ उ० ।

अकखित्तणियंमाण-आक्षिप्तनिवसन-त्रि० ३ व० । आकृष्टप-
रिधानवस्त्रे, “ अकखित्तणियंसणा मखिणडंडिखंरुवसणा ”
प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकखिराग-अक्षिराग-पुं० अक्षणां रागो रञ्जनम् । सौवीरादि-
केऽञ्जने, “ आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धवघायकम्मगं । उच्छेज्जणं

च ककं च, तं विज्जं परियाणिया ” ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

अकखिवण-आक्षेपण-न० चित्तव्यग्रतापादने, प्रश्न० आश्र० ३ अ० ।
अकखिविउं-आक्षेपुम्-अव्य० आ-क्षिप्-तुमुन् । स्वीकर्तुमि-
त्यर्थे, नि० ।

अकखिविउकाम-आक्षेपुकाम-त्रि० स्वीकर्तुकामे, नि० चू० १ उ० ।

अकखिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० नेत्रपीमात्मके रोगज्जेदे, विपा०
१ श्रु० ४ अ० ।

अकखीण-अक्षीण-त्रि०, न० त० । अश्नुति, औ० क्लमनुपगते,

प्रज्ञा० २६ पद । “ अक्षीणा विरतज्वरा हि गृहिणः ” प्रति० । “ ना
मगोयस्स वा कम्मस्स अकखीणस्स अवेइयस्स ” अक्षीणस्य
स्थितेरक्षयेण । कल्प० । “ अकखीणद्ववसारा ” प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकखीणपरिभोइ (ए) अक्षीणपरिभोगिन्-पुं० अक्षीण-
मक्षीणायुष्कमप्रासुकं परिभुञ्जते इत्येवं शीघ्रा अक्षीणपरिभोगि-
नः । अप्रासुकपरिभोगिषु, इन्द्रप्रत्ययस्य स्वार्थकत्वाद्, अनपग-
ताहारशक्तिषु, “ आजीवियसमयस्स णं अयमठे पणत्ते अ-
कखीणपरिभोइणो सव्वसत्ता ” ज० ८ श० ५ उ० ।

अकखीणमहाणसिय-अक्षीणमहानसिक-पुं० महानसमन्-
पाकस्थानं तदाश्रितत्वाद्वाऽन्नमपि महानसमुच्यते, ततश्चाक्षीणं
पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमचुक्तं सत् तथाविधल-
ब्धिविशेषादश्नुतिं, तच्च तन्महानसं च भिक्षालब्धं भोजनमक्षी-
णमहानसं तदस्ति येषां ते तथा । औ० । अक्षीणमहानसी नाम
लब्धिसुपपन्नेषु, येषामसाधारणान्तरायक्योपशमाददपमात्र-
मपि पात्रपतितमन्नं गौतमादीनामिव पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि
दीयमानं स्वयमेवाचुक्तं न क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः । उक्तं
च- “ अकखीणमहाणसिओ, निक्खं जेणाणीयं पुणे तेण ।
परिचुत्ते चिय खिज्जइ, यहुएहि वि न पुण अन्नेहि ” ॥ १ ॥
ग० २ अधि० । अकखीणमहाणसियस्स निक्खं ण अन्नेण णिट्ठ-
विज्जइ, तस्मि जिमिते णिछाति । आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० ।

अकखीणमहाणसी-अक्षीणमहानसी-स्त्री० लब्धिज्जेदे, येना-
नीतं नैकं बहुभिरपि लक्षसंख्यैरप्यन्यैस्तृप्तिताऽपि चुक्तं न
क्षीयते यावदात्मना न हृङ्क्ते किन्तु तेनैव चुक्तं निष्ठां याति, त-
स्याक्षीणमहानसी लब्धिः । प्रव० २७० द्वा० । विशेष० ।

अकखीणमहालय-अक्षीणमहालय-पुं० लब्धिविशेषमवा-
प्तेषु, ते च यत्र परिमितभूषदेशऽवतिष्ठन्ते तत्रासंख्याता अपि
देवास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परवाधारहितास्तीर्थ-
करणपदीव सुखमासते इति । ग० २ अधि० ।

अकखीरमधु (हु) सप्पिय-अक्षीरमधुमर्पिष्क-पुं० न० व० ।
दुग्धैर्वाऽधृतवर्जके अजिग्रहविशेषधारके, प्रश्न० संघ० १ द्वा० ।

अकखुआ-अकून-त्रि० आर्पत्वाङ्कारः । अप्रतिहतं,
ध० ३ अधि० ।

अकखुआआरचरित्त-अक्षताकारचरित्त-पुं० अकृत आकारः
स्वरूपं यस्य अक्षताकारमतीचारैरप्रतिहतस्वरूपं चरित्रं येषां ते
तथा । निरतिचारचरित्रेषु, “ अट्टारस सीलंगधग अकखुआ-
आरचरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ”
ध० ३ अधि० ।

अकवुद-अकवुद-त्रि० । न० त० । अमर्दिने, नि० च० १० उ० ।
 " अकवुदं पदं पुदवी उदगं होइ पुहओ वि " वृ० १ उ० ।
 अकवुद-अकवुद-पु० । न० त० । अनुत्तानमतौ, ध० १ अधि० ।
 ध० २० । अकवुद, कवुदो ह्यौचित्येन उच्यते करणाशक्तत्वात्
 तस्य अनाय सासनप्रभावनाय चात्रमिति तद्विषयस्य प्रथमथा-
 वकवुदवत्त्वम् । पंचा० ७ वि० २० । अकवुद, कवुदो हि परोपता-
 पितत्वाज्जनद्वेयेन कृतं तदायतनं तन्मत्सरेण जनद्वेयं स्था-
 दिति । तद्विषयस्य प्रथमथावकवुदवत्त्वम् । पंचा० २ वि० ० ।
 तेन निष्पादितं सर्वानन्ददायितया हितं जयति । दर्श० ।

अस्य विस्तरेण प्रतिपादनम्—

खुदो त्ति अगंजीरो, उत्ताणमई न साहए धम्मं ।

सपरोवयारमत्तो, अकवुदो तेण इह जुगो ॥ ८ ॥

यद्यपि धुदशब्दस्तुच्छकृदरिच्छप्रवृत्तिष्वर्थेषु वर्तते तथा-
 पीह कृच्छ इत्यगमोऽर उच्यते, तुच्छ इति कृत्वा स पुनरुत्तानम् ।
 निरनिपुणविषय इति हेतोर्न साधयति नाराधयति धर्मं, भीमवत्,
 तस्य मूढमर्मासिद्धत्वात् । उक्तं च— "सूक्ष्मवृत्त्या स विज्ञेयो,
 धर्मो धर्माधिभिर्नरैः । अन्यथा धर्मबुद्धयैव, तद्विघातः प्रसज्यते
 ॥ १ ॥ गृहीत्या ग्लानमैषज्यं, प्रदानाभिप्रहं यथा । तदप्राप्तौ त-
 दन्तेऽन्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥ गृहीतोऽतिग्रहश्रेष्ठो, ग्लानो
 जातो न च क्वचित् । अहो ! मे धन्यता कष्टं, न सिद्धमभि-
 धाञ्छितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादानं, ग्लानभावाजिसन्धिमतः ।
 साधूनां तत्ततो यत्तद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मनिः" ॥४॥ इति, एतद्विप-
 रीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः ।
 अकवुदः सूक्ष्मदर्शी सुपर्यालोचितकारी तेन कारणेनेह धर्मग्रहणे
 योग्याधिकारी स्यात्, सोमवत् । तयोः कथा चैवम्—

नगणकलियं मुजइ-च्छंदं पि व कणयकूरुपुरमत्थि ।

तथामि वामथो वा-सउ ध्व विबुद्धपिओ राया ॥ १ ॥

कमला य कमलसेणा, मुलोयणा नाम तिन्नि तरुणीओ ।

भूमीवइडुहियाओ, दुस्सहपियविरहदुहियाओ ॥ २ ॥

अन्नायसरुयाओ, अन्नुत्तं पि ह तहिं रुयंतीओ ।

समदुहदुहिय त्ति त्रिया, एगत्थ गमंति दिवसाइ ॥ ३ ॥

तथेगा मुगुणेहि, अवागणो वामणो उ रुवेण ।

सम्मं निययकत्ताहि, रंजइ निवपनिइसयत्तपुरं ॥ ४ ॥

कइया वि निवेणुत्तो, सो जह इह विरहडुहियतरुणीओ ।

जइ रंजिदिही नृणं, तो तुह नजइ कलुकरिओ ॥ ५ ॥

धोवमिणं ति स भणिरो, रओऽणुत्ताइ बहुवयंसत्तुओ ।

पत्तो ताणं नवणे, कइइ विविहं कइतावे ॥ ६ ॥

पणेण वयंसेणं, वुत्तं किमिमाहि मिच ! वत्ताहि ।

किं पि मुइमुइयचारियं, कइसु तओ कइइ इयरो वि ॥ ७ ॥

महिमहिलानात्थयत्त-निलयं व पुरं इहत्थि निलयपुरं ।

तथ्य य पुरियमगग-मणोरहो मणिरहो राया ॥ ८ ॥

मुइसुइसोलाजयविम-लमालइ मात्तइ त्ति मे दइया ।

पत्ता य तुयणअक्रम-णविक्रमो विक्रमो नाम ॥ ९ ॥

नियमंदिरमंनिहण, गिदमिं कम्मि वि कया वि संजाए ।

सो मुणइ सयणमुइयं, केण वि णं पडिज्जंतं ॥ १० ॥

नियपुत्तपमाणं गुण-विश्यादमां मुज्जणदुज्जणविमेषो ।

नजइ नेगत्थात्रिण-दिं तेण निउणा निगंति महिं ॥ ११ ॥

ते मुणिय मुणिय मवगणि-य परियणं देसदंसणसतणो ।

कुमरो रयणाइ पुरा-उ निगओ खगवग्गकरो ॥ १२ ॥

सो वच्चंते संतो, अग्गे मग्गे निणइ कं पि नरं ।

निटुरपहारविहुरं, पिवासियं महियले पडियं ॥ १३ ॥

तो सरवराउ सव्विहं, गदिहत्तु उप्पन्नपुत्तकारुनो ।

तं पाइत्ता पवण-पयणओ कुणइ पउणतणुं ॥ १४ ॥

पुच्छइ य भो महायस !, कोसि तुमं किं इमा अवत्था ते ? ।

सो जणइ सुयणसिररय-ण ! सुणसु सिद्धु त्ति हं जोई ॥ १५ ॥

विज्जावलिणं विप-कखजोइणा उलपहारिणा अहयं ।

एयमवत्थं नीओ, तए पुणो पगुणिओ सगुणो ॥ १६ ॥

तो सो तोसेणं गरु-मंतमपिप्पु नरवरसुयस्स ।

सछाणं संपत्तो, कुमरो पुण इत्थं नयरमि ॥ १७ ॥

निसि मयणगिहं वुत्थो, चिट्ठइ जा सुद्धु जगिरो कुमरो ।

ता तथेगा तरुणी, समागया पूइउं मयणं ॥ १८ ॥

घदि नीहरितं जप्पइ, अम्मो वणदेवया सुणइ सम्मं ।

इह वासवनरवइणो, सुहिया कमत्त त्ति हं इहिया ॥ १९ ॥

मणिरहसुयस्स विक्रम-कुमरस्सुज्जगुणागुरापण ।

दिशा पिउणा सो पुण, इण्हि न नज्जइ किंहि पि गओ ॥ २० ॥

जह मइ इह नउ जाओ, सो भत्ता तो परत्थं वि हविज्जा ।

इय पभणिअ उल्लवइ, वमविमविणि जाव सा अप्पं ॥ २१ ॥

मा कुणसु साहसं इय, जणिरो लुरियाइ णिदिउं पासं ।

कमलं कमलसुकोमल-वयणेहिं संवइ कुमरो ॥ २२ ॥

इत्तो तस्सुद्धिकए, जमचउगरपरिवुओ तहिं पत्तो ।

वासवनिवो वि कुमरं, दहं दिट्ठो भणइ एयं ॥ २३ ॥

तिलयपुरे अम्मोहि, गणहि मणिरहसमित्तमिलणत्थं ।

तं वावत्ते दिट्ठो, दक्खिन्नसुपुत्तवर ! कुमर ! ॥ २४ ॥

निच्चणरत्ता एसा, पइ कमला कमविणि ध्व दिण्णनाहे ।

तुह दाहिणकरमेलण-वसा सुइं वइउं मइ उहिया ॥ २५ ॥

इय महुरगहिरभणिइ, पत्थिओ वासवेण नरवइणा ।

विक्रमकुमरो कमलं, परिणइ तिविक्रमु ध्व तओ ॥ २६ ॥

गोसे तोसेणं पुरं, पवेसिओ निवइणा सभज्जो सो ।

तीइ समं कीत्ततो, चिछइ निवदिन्नपासाए ॥ २७ ॥

तो किं अग्गे कमला-इ जंपिए भणिय रायसेवाए ।

समओ त्ति गओ खुज्जो, वीयदिणे कहइ पुण एयं ॥ २८ ॥

कइया वि सुणिय रयणाइ, कलुणमइ रुयंतरमणीए ।

तस्सइणुसारेण य, स गओ कुमरो मसाणमि ॥ २९ ॥

दिट्ठा वाहज्जविल-विबोललोयणजुया तहिं जुवई ।

तीए पुरओ जोई, तह कुंरं जलिरजलणजुयं ॥ ३० ॥

होउं लयंतरे पउ-रपउरिसो जाव चिछए कुमरो ।

विसमसरपसरविहुरो, तो जोई भणइ तं वालं ॥ ३१ ॥

पसिय चिह्य सियमयवत्त-पत्तनयणं ममं करिय दइयं ।

चूलामणिं ध्व तं हो-सु सयलरमणीयरमणीणं ॥ ३२ ॥

सा रुयमाणी पभणइ, किं अप्पमणत्थयं कयत्थेसि ।

जइमि हरी मयणो वा, तहा वि तुमए न मे कज्जे ॥ ३३ ॥

अह रुदो सो जोई, वत्ता वि जा गिण्हिही करेण तयं ।

ता पुक्करियं तीए, हहा ! अणाहा इमा पुदवी ॥ ३४ ॥

जं मिग्गिपुरपहुजयसे-णनिवइडुहिया अहं कमलसेणा ।

दिशा पिउणा मणिरह-निवसुयविक्रमकुमारस्स ॥ ३५ ॥

संपइ विज्जावलिओ, अदह ! अस्सत्तं करइ को वि इमो ।

इय निसुणिय पयसियको-वविअमो भणइ कुमरो तं ॥ ३६ ॥

पुरिसो हवेसु सत्थं, कोसु समरेसु देवयं इट्ठं ।

परमहिलमहिलसंतो, रे रे पाविट्ठ ! नछोसि ॥ ३७ ॥

तो खल्वभिलो जोई, भणइ परिथीपसंगवारणओ ।
 निवडंतो हं नरए, साहु तए रक्खिओ कुमर ! ॥ ३७ ॥
 उवयारओ त्ति दावं, रुवपरावित्तकारिणि विज्जं ।
 पणइ जोगी मत्ते, गुरुविक्रमसाहंसगुणेहिं ॥ ३८ ॥
 तुह पइ इमीइ दिछी, वड्ढेणं तंसि विक्रमकुमारो ।
 इयरो वि साहइ अहो, तुहिगियागारकुसलत्तं ॥ ४० ॥
 तो जोगि पत्थिओ तं, बाडं परिणित्तु तं विसज्जेउं ।
 तीए जुओ कुमारो, नियभवणुज्जाणमणुपत्तो ॥ ४१ ॥
 ता किं जायं तस्सग्ग-ओ त्ति पुट्ठमि कमलसेणाए ।
 ओल्लगाए वेत्त त्ति, जंपिउं निग्गओ खुज्जो ॥ ४२ ॥
 अथ तइयवासरम्मि, आगंतुं कहइ तथ पुण एव ।
 कुमरो जावुज्जाणो, कीलइ सह कमलसेणाए ॥ ४३ ॥
 परकज्जसज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कुणसु त्ति ताव तं कोइ ।
 आह कुमारो वि जणइ, करेमि जीवियफडं एअं ॥ ४४ ॥
 तयणु विमाणाखुओ, कुमरो बेयद्धिकणयपुरपहुणो ।
 विजयनिवस्स समीवे, नीओ सो तेण इय भणिओ ॥ ४५ ॥
 कुमर ! मह अत्थि सत्तु, भट्ठिपुरसामिधूमकेउनिवो ।
 तं अकमिउं आरा-हियाइ कुवदेवयाइ मए ॥ ४६ ॥
 तव्विजयक्खमो तं, कुमर ! पभणिओ गिएहता इमा विज्जा ।
 आगासगामिणीमा-इयाउ तह चेव सो कुणइ ॥ ४७ ॥
 अह साहियबहुविज्जं, इयगयघडसुहकामिसंघमियं ।
 कुमरं इतं निसुणिय, संखुहो धूमकेउनिवो ॥ ४८ ॥
 अत्तुच्छलच्छिविच्छु-मंमियं उरुं गओ रज्जं ।
 तं गहिय महियसत्तु, पत्तो कुमरो वि सछाणं ॥ ४९ ॥
 हरिसुकरिसपरेणं, रत्ता वि सुलोयणं निययधूयं ।
 परिणाविओ कुमारो, चिट्ठइ तथेव कइ वि दिणे ॥ ५० ॥
 दट्ठु पुव्वपियाओ, कया वि कुमरो सुलोयणासहिओ ।
 इत्थेव पुणो नयरे, नियभवणुज्जाणमाओ ॥ ५१ ॥
 सो कथं गओ त्ति सुलो-यणाइ पुच्छिम वामणो हसिरो ।
 नो तुम्हे विव अग्गे, खणिया इय वुत्तु नीहरिओ ॥ ५२ ॥
 नियनियचरियसवणओ, नियनियतणुनिउणफुरणओ ताहिं ।
 कयरुवपरावत्तो, नियभत्ता तक्किओ खुज्जो ॥ ५३ ॥
 अह रायपहे खुज्जो, गच्छंतो सुणिय कम्मि वि गिहम्मि ।
 करुणसरं तो कं पि हु, पुच्छइ रोइज्जए किमिह ? ॥ ५४ ॥
 सो जणइ तिलयमंति-स्स पुत्तिया सरसइ त्ति नामेण ।
 भवणोवरि कीलंती, रक्का कसिणेण उरगेण ॥ ५५ ॥
 चत्ता नरिद्विदा-रणाइ तो तीइ मायपियसयणा ।
 उम्मुककंठमुकं-उवज्जिया इय रुयंति बहु ॥ ५६ ॥
 तं सोउ भणइ खुज्जो, गच्छामो भइ मंतिगेहम्मि ।
 पिच्छामि तयं बाडं, अहमवि उज्जेमि तह किं पि ॥ ५७ ॥
 इय वुत्तु मंतिजवण-म्मि वामणो तयणु तेण सह पत्तो ।
 पणइ पोढमंत-प्पभावओ जत्ति तं बाडं ॥ ५८ ॥
 नियविन्नाणं व तुमं, सरुवमविदंससु त्ति सचिवेण ।
 सो पत्थिओ खणेणं, नकुव्व जाओ सहावत्थो ॥ ५९ ॥
 तस्स पहाणं रुवं, दट्ठु अश्विहिओ तिलयमंती ।
 जा चिट्ठइ ता पढियं, मागहविदेण पयमिमं ॥ ६० ॥
 मणिरहनिवकुलससहर !, हरहारकरेणुधवजसप्पसर ! ।
 पसरियतिहुयणविक्रम !, विक्रमवर ! कुमर ! जय सुचिरं ॥ ६१ ॥
 तो मंती वरकुलरु-वविक्रमं विक्रमं निपऊण ।

कुमरीइ पाणिगहणं, कारावइ दट्ठुदुमणो ॥ ६२ ॥
 तं सुणिय जाणितं निय-सुयाइ कमलाइ पिययमं हिट्ठो ।
 वासवराया कारइ, महुसवं सव्वनयरम्मि ॥ ६३ ॥
 तत्तो मंतिगिहाओ, नीओ नियमंदिरं विज्जइए ।
 सो सव्वपियाहि जुओ, सुदेण चिछइ सुरु व्व तहिं ॥ ६४ ॥
 कइया वि जणयलेहेण पेरिओ पुच्छिउं ससुररायं ।
 चउहि वि जज्जाहि समं, कुमरो पत्तो तिन्नयनयरे ॥ ६५ ॥
 पणओ य जणणिजणए, इत्तो उज्जाणपात्रएण निओ ।
 विन्नत्तो सिरिअकडं--कसुरिआगमणकडणेण ॥ ६६ ॥
 तो ज्ञासुरभूइजुओ, स कुमारो मारत्तासणु व्व निवो ।
 चड्ढिओ गुरुनमणत्थं, रायपहे नियइ नरमेणं ॥ ६७ ॥
 अइसलवलंतकिमिवहु--वज्जावमच्छिमच्छियाच्छिअं ।
 निक्किच्छुसत्थिर--सिरहरमइदीणदीणसरं ॥ ६८ ॥
 तं दट्ठुमणिछमरिछ-मंरुलम्मि व विसायमव्विणमुहो ।
 पत्तो गुरुवपासे, नमिउं निसुणेइ धम्मकहं ॥ ६९ ॥
 जीवो अणाइतणुक-म्मबंअसंजोगओ सया दुट्ठिओ ।
 भमइ अणाइवणस्सइ--मज्झगओ णंतपरियट्ठे ॥ ७० ॥
 तो वायरेसु तत्तो, तसत्तणं कह वि पावए जीवो ।
 वहुकम्मो य तओ जइ, पावइ पंविदियत्तं च ॥ ७१ ॥
 पुन्रविट्ठणा य तओ, न अज्जस्सित्ते वड्ढे मणुयत्तं ।
 लक्खे वि अज्जस्सित्ते, न कुलं जाइ वलं रुवं ॥ ७२ ॥
 एयं पि कहवि पावइ, अप्पाऊ या हविज्ज वाहिहो ।
 दीहाउओ निरोगो हविज्ज जइ पुन्रजोएण ॥ ७३ ॥
 पत्ते नीरोगत्ते, दंसणनाणस्स आवरणओ य ।
 न य पावइ जिणधम्मं, विवेयपरिवज्जिओ जीवो ॥ ७४ ॥
 लज्जण वि जिणधम्मं, दंसणमोहणियकम्मउदएण ।
 संकाइकलुसियमणो, गुरुवयणं नेव सहइह ॥ ७५ ॥
 अह निम्मलसंमत्तो, जहट्ठियं सहइह गुरुवयणं ।
 नाणावरणस्सुदए, संसिज्जं तं न वुज्जइ ॥ ७६ ॥
 कह संसियं पि वुज्जइ, सयं पि सहइह वोहए अन्नं ।
 चारित्तमोहदोसण, संजमं न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥
 खीणे चरित्तमोहे, विमलतवं संजमं च जो कुणइ ।
 सो पावइ मुत्तिसुहं इय भणियं खीणरागेहिं ॥ ७८ ॥
 चुल्लगपासगधन्ने, जुए रयणे य सुमिणचक्के य ।
 चम्मजुगे परमाणू, दस दिट्ठंता सुयपसिद्धा ॥ ७९ ॥
 एएहिं इमं सव्वं, मणुयत्ताइ कमेण दुल्लज्जं ।
 लडुं करेह सहलं, काऊण जिणिदवरधम्मं ॥ ८० ॥
 अह समए भणइ निवो, भयवं ! किं दुक्कयं कयं तेण ? ।
 उक्किट्ठकुट्ठिपणं, तो इह जंपेइ मुनिनाहो ॥ ८१ ॥
 मणिंसुंदरमंदिररे-हिरम्मि मणिमंदिरम्मि नयरम्मि ।
 दो सोमभीमनामा, कुलपुत्ता निच्चमविउत्ता ॥ ८२ ॥
 पढमो एत्ताणमइ, अश्वघुटो भइओ विणीओ य ।
 तव्विवरीओ बीओ, परपेसणजोविणो दो वि ॥ ८३ ॥
 अन्नदिणे दिनमणिकिरणभासुरं सुरगिरि व उत्तुंगं ।
 कथं वि वच्चं तहिं, तेहिं जिणमंदिरं दिट्ठं ॥ ८४ ॥
 सुहुममइ सोमो जणइ, भीम ! सुकयं कयं न किं पि पुरा ।
 अग्गेहि तेण नूणं, परपेसत्तणमिणं पत्तं ॥ ८५ ॥
 जं तुल्ले वि नरत्ते, एगे पट्ठणो पयाइणो अन्ने ।
 तं सुकयदुक्कयफलं, अकारणं दवइ किं कज्जं ॥ ८६ ॥

तो पणमासो देवं, देवो य जलंजलिं दुहसयाणं ।
 उन्नाणमई बाया-स्रभावओ भणइ अह भामो ॥ ७७ ॥
 न य अन्थि जूयपंचगपवं-चअहिओ जिउ च्विय जयम्मि ।
 हे सोम ! योमकुसुमं, व तयणु देवाइणो किहणु ॥ ७८ ॥
 पासेमितुंडअइचंड-तंरुवारं बरेहि किं मुरु ! ।
 देवो देवु सि मुहा-कयत्यसे अप्पमप्पमई ॥ ८६ ॥
 इय धारिओ वि तेणं, सोमो सोमु व्व सुद्धमइजुणो ।
 गंतुं जिणमवणे भुव-ण बंधवं नमइ समियतमो ॥ ९० ॥
 गहिउं रुवगकुसुमे, पुणइ जिणं पराइ जत्तीए ।
 तप्पुणवसा अज्जइ, स वोहिवीयं नराउजुयं ॥ ९१ ॥
 मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिरहनरिइ ! तुह पुत्तो ।
 पम्पुअपुअसारो, मारो इव विक्रमकुमारो ॥ ९२ ॥
 ज्रीमो उण खुदमई, जिणाइनिदणपरायणो मरिउं ।
 जाओ एसो कुठी, पुअओ जमिहि जवमणंतं च ॥ ९३ ॥
 अह जायजाइसरणो, कुमरो हरिसुद्धसंतरोमंचो ।
 नमिउं गुरुपयकमलं, गिएइ गहिधम्ममइरम्मं ॥ ९४ ॥
 मणिरहगियो वि विक्रम-कुमरे संकमियउज्जपअमारो ।
 गहियवओ उप्पानिय, केवलनाणो गओ सिद्धि ॥ ९५ ॥
 जिणमंदिरजिणपमिमा-जिणरहजत्ताकरावणुज्जुत्तो ।
 मुणिजणसेवणसत्तो, दइसंमत्तो विमलचित्तो ॥ ९६ ॥
 संपुअकओ पम्पु-अमरुवो इणियदुरियतमपसरो ।
 विक्रमराया राउ-व्व कुवलयं कुणइ सुहकलियं ॥ ९७ ॥
 अन्नम्मि दिणे निवइ, नियपुत्तनिहितगरुयरउज्जधुरो ।
 अकलंकसूरिपासे, पव्वज्जं संपव्वजेइ ॥ ९८ ॥
 अक्खुदो गंजीरो, सुद्धमई सुयमहिज्जिउं बहुयं ।
 विहिणा मरिउं पत्तो, दिवम्मि ब्रह्मही कमेण सिवं ॥ ९९ ॥

भुत्वेति गंभीरगुणस्य वैभवं,
 मदान्तमुत्तानमतश्च वै भवं ।

अच्छाधनाः आरुजनाः समाहिता-

अकृद्गतां धत्त सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ ध० २० ।

अक्खुपुरि-अत्तपुरि-खी० नगरीभेदे, यत्त सूर्यप्रभो ग्रहपतिः,
 सूर्यस्तस्य नार्या, तस्याः सूरप्रभाया दारिकाः सूर्यस्य अ-
 प्रमहिर्यान्वेन जाताः । ज्ञा० १ श्रु० ।

अक्खेव-आक्षेप-पुं० आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कायाम्, आ० म०
 ङि० । पूर्वपक्षे, विशेष० । आ-क्षिप्, क्षिप् प्रेरणे मर्यादोपदि-
 ष्टमर्थमाक्षिपति न सम्यगेतदिति । किमाक्षिपति ?, आह-द्रि-
 विधमेव सूत्रम् । यत्संक्षेपकं, यद्वा विस्तारकं । संक्षेपकं सामा-
 यिकम्, विस्तारकं चतुर्दशपूर्वाणि । एवमेव नमस्कारः । नापि
 संक्षेपणोपदिष्टः, नापि विस्तरतः । एतावती च परिकल्पना तृती-
 या नास्ति । “नमो सिद्धाणं ति णिवुया गहिया णमो साहूणं ति
 संमारण्या गहिया एवं संखेवो वित्तरो, णमो अरहंताणं णमो
 सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो चोदसपुब्बिणं २ जाव णमो
 आयतरगाणं णमो आमोसहिपत्ताणं एवमादि पथेत्तरे णं काय-
 व्यो जेण ण कीरति तेण छुट्टुत्ति अक्खेवदारं” । आ० चू० १ श्रु० ।

“अक्खेवो मुत्तदोसा पुत्ता वा” आक्षेपो नाम यत्सूत्रदोषा उच्य-
 न्ते, पृच्छा वा क्रियते, वृ० १ उ० । परद्रव्याक्षेपस्वरूपे एकोन-
 विंशतिनेम गौणचौथे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । भर्त्सने, अपवादे,
 आक्षेपे, धनादिन्यासरूपे निक्षेपे, अर्थावच्छेदने, निवेशने,
 उपस्थाने, अनुमाने, यथा जातिशक्तिवादिनामाक्षेपान् व्यक्तं-
 बोधः । सतिरस्कारवचने च, वाच० ।

अक्खेवणी-आक्षेपणी-खी० आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकृष्य-
 ते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी, कथाभेदे, सा चतुर्विधा-“अक्खेवणी
 कदा चउव्विहा पप्पत्ता, तं जहा-आयारक्खेवणी यवहारक्खेव-
 णी पप्पत्तिक्खेवणी दिट्ठिवायक्खेवणी” स्था० ४ ग० ।

आयारे ववहारे, पन्नत्ती चेव दिट्ठिवाए य ।

एसा चउव्विहा खलु, कहा उ अक्खेवणी होइ । १२०० ।

आचारो लोचास्नानादिः, व्यवहारः कथंचिदापन्नदोषव्यपोहा-
 य प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रज्ञातिश्चैव संशयापन्नस्य मधुरवचनैः
 प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रापेक्षया सूक्ष्मजीवादिजावकथनम् ।
 अन्ये त्वनिदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचारा-
 दभिधानादिति । एषाऽनन्तरोदिता चतुर्विधा । खलुशब्दो विशेष-
 पणार्थः । श्रोत्रापेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्यानेकप्रकारेति कथा
 त्वाक्षेपणी भवति । तुरेवकारार्थः । कथैव प्रज्ञापकेनोच्यमाना
 नान्येन । आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्रार्णित्याक्षेप-
 णी भवतीति गार्थार्थः । इदानीमस्या रसमाह-

विज्जा चरणं च तवो, य पुरिसकारो य समिइगुत्तीओ ।

उवइस्सइ खलु जहियं, कहाइ अक्खेवणीइ रसो । १२०१ ।

विद्या ज्ञानमत्यन्तोपकारि भावतमोभेदकं, चरणं चारित्र्यं स-
 मप्रविरतिरूपम्, तपोऽनशनादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रून् प्रति
 स्ववीर्योत्कर्षलक्षणः, समितिगुणयः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदि-
 श्यते खलु श्रोत्रभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र क-
 चिदसावुपदेशः कथाया श्रोत्रेणैव रसो निप्यन्दः सार
 इति गार्थार्थः । दश० नि० ३ अ० ध० । ग० औ० । द्वा० (इयं
 कस्मै कथयितव्येति ‘धम्मकहा’ शब्दे)

अक्खेवि (ण)-आक्षेपिन्-त्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणा-
 दिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः (वशीकरणादिना
 परद्रव्यमुद्धु) प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खोम-कृष्-धा० असेः कोशात्कर्षणे, “असावक्खोडः”
 ८ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण असिचिपयस्य कृपेरक्खोडादेशः । अ-
 क्खोडइ । असि कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

अक्कोट (ऋ)-पुं० आ+अत्त-ओट-ओड-शैलपीलुवृत्ते,
 ‘अक्खोट’ इतिलोके प्रसिद्धः । वाच० । तत्फले, न० ।
 प्रश्ना० १७ पद ।

अक्खोरुभंग-अक्कोटजङ्ग-पुं० खोटभङ्गशब्दार्थे, “खोटभंगो
 ति वा उक्कोडभंगो ति वा अक्खोडभंगो ति वा एगट्टं”
 व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अक्खोज-अक्कोज-त्रि० न० ब० लोभवर्जिते, “अक्खोभे सा-
 गरो व्व धिमिए” प्रश्न० सम्ब० ५ द्वा० । अचलितस्वरूपे,
 “एत्थुस्सगो अक्खोभो होइ जिणाचिप्पो” पंचा० ४ विव० ।
 “अक्खोहस्स भगवओ संघसमुदस्स” अत्तोभ्यस्य परी
 पढोपसर्गसंभवेऽपि निष्पकम्पस्य, न० । अन्धकवृष्णेर्धरि-
 र्यां जाते पुत्रे, स च द्वारावत्यां नगर्यामन्धकवृष्णेर्धरिण्यां
 देव्यामुत्पन्नोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः शत्रुञ्जये संलेखनां
 कृत्वा सिद्ध इत्यन्तकृद्दशासु सूचितम् । तद्वृत्त्यताप्रति-
 बद्धेऽन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने च ।
 अन्त० १ वर्ग० । स्था० ।

अक्खोवज्जण-अक्कोपाज्जन-न० शकटधूर्ध्वक्षणे, “अक्खोव-

जणवणाणुलेवणभूयं ” अक्षोपाञ्जनवणानुलेपनभूतम् (अहारम्) अक्षोपाञ्जनं च शकटधूर्ध्वक्षरणं, वणानुलेपनं च क्षतस्थौषधेन विलेपनम्, अक्षोपाञ्जनवणानुलेपने, ते इव विवक्षितार्थसिद्धिरसादिनिरभिष्वङ्गनासाधर्म्याद्यः सोऽक्षोपाञ्जनवणानुलेपनभूतस्तम्, क्रियाविशेषणं वा । भ० ७ श० १ उ० ।
अखंड-अखण्ड-त्रि० । न० व० । पौर्णमासीचन्द्रविम्बवत् (स्था० ५ ठा० १ उ०) संपूर्णविषये, आ० म० द्वि० । तं० ज्ञा० । सर्वधर्मास्तिकायादिकं संपूर्णं देशदैशिककल्पनारहितमखण्डं वस्तु । विशेषः । ‘सुहृदुरुजोगो तद्वय-एसेवणा आभवमखंडा’ आभवमखण्डा आजन्माऽऽसंसारं वा । ल० । पञ्चा० । “संघनगरभट्टं ते अखंडचरित्तपागारा ” अखण्डमविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत्तथा । न० ।

अखण्डणारज्ज-अखण्डज्ञानराज्य-त्रि० अचूर्णितज्ञानराज्ये, “चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम्” । अष्ट० १७ अष्ट० ।
अखण्डदंत-अखण्डदन्त-त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः (जी० ३ प्रति०) परिपूर्णदशनेषु, जं० २ वक्त० । औ० ।

अखंडिय-अखण्डित-त्रि० परिपूर्णं, पंचा० १८ विव० ।
अखण्डियसील-अखण्डितशील-त्रि० अजग्नचारित्र्ये, पं० चू० ।
अखिल-अखिल-त्रि० न खिल्यते न कणश आदीयते, खिलक । न० त० । वाच० । समस्तं, अष्ट० ८ अष्ट० । “अखिले अगिद्धे अणिप य चारी ” अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्र्यैः संपूर्णः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । “अखिलगुणाधिकसद्यो-गसारसदृश-यागपरः” । पौ० ६ विव० ।

अखिलसंपया-अखिलसंपद-स्त्री० सर्वसंपत्तौ, “आधीनां परमौषध-मव्याहतमखिलसंपदां बीजम्” पौ० १५ विव० ।
अखेद-अखेद-पुं० अव्याकुलतायाम्, “अखेदो देवकार्यदा-वन्यत्राद्वेप एव च” द्वा० २० द्वा० ।

अखेम-अक्षेम-त्रि० सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् क्रोधाद्युपद्रवसहिते पुरुषजाते च । स्था० ४ ग० २ उ० ।

अखेमरूप-अक्षेमरूप-पुं० आकारेण सोपद्रवे मार्गे, तच्छत छव्यलिङ्गवर्जितं, स्था० ४ ग० २ उ० ।

अखेयण-अखेदङ्ग-त्रि० अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
अकुशले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग-अग-पुं० न गच्छतीत्यगः । वृक्के, आ० म० द्वि० । नि० चू० । विशेषः । पर्वते, कल्प० । गमनाकर्तारं शुष्मादौ, त्रि० । न गच्छति वक्रगत्या पश्चिममित्यगः । सुयें, तस्य हिं वक्रगत्याभावः ज्योतिषप्रसिद्धः । वाच० ।

अगत्र-असुर-पुं० “गौणादयः” । ण० । २ । ७४ । इति सूत्रेण असुरशब्दस्य ‘अगत्र’ इति निपातः । दैत्ये, प्रा० ।

अगडसमावण-अगतिसमापन्न-पुं० अगति नरकादिं गच्छति । नैरयिकादौ,

उविहा णेरइया पणत्ता तं जहा-गडसमावणगा चेव अगडसमावन्नगा चेव जाव वेमाणिया ।

गतिदण्ठके गतिसमापन्नका नरकं गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ये गताः । अथवा गतिसमापन्ना नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु छव्यनारकाः,

अथवा चलस्थिरत्वापेक्षया ते इत्या इति । स्था० २ ग० २ उ० ।
अगंगिम-अग्रन्यिम-न० कदलीफलेषु, खण्माखणीकृतेषु वा फलेषु, वृ० १ उ० । अथकल्पे, “सकृदययगुहमीसा खज्जुरअगंगिमा वत्तंमि” अगंगिमा णाम कयवया अण्णे भण्णंति मर-इहविसए फलाण कयवकप्पमाणाओ पि मीओ पक्कमि राखि बहुक्किओ भवंताणि फलाणि खंमाखंमाणि कयाणि घेण्णंति । नि० चू० १६ उ० ।

अगंगिगेहो-देशी-यौवनोन्मत्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अगङ्गय-अकण्डूयक-पुं० कण्डूयनाकारकेऽभिग्रहविशेष-धारके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगंय-अग्रन्य-पुं० न विद्यते ग्रन्थः सबाह्याच्यन्तरोऽस्य-त्यग्रन्थः । निर्ग्रन्थे, “पावं कम्मं अकुच्चमाणे एस मइं अगंथे वियादिप ” आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अगंध-अगन्ध-त्रि० नञः कुत्सार्थत्वाद्-अतीव दुर्गन्धे, वृ० १ उ० ।

अगंधण-अगन्धन-पुं० नागजातिजदे, नागानां भेदद्वयम्-गन्धनोऽगन्धनश्च । तत्र अगन्धना नागा मन्त्रैराकृष्टाः “अवि मरणमज्जवस्संति ण य वंतमापिवंति” । “नेच्छति वंतयं ज्ञेयं कुद्धे जाया अगंधणे” दश० २ अ० ।

अगच्छमान-अगच्छत्-त्रि० । न गच्छत् न० त० पैशाच्यां न णत्वम् । अचलति, प्रा० ।

अगड-अकृत-पुं० अकृते, “सगामे मा वीसुं, वसेज्ज अगमे असुवे से” ज्य० ६ उ० । गर्त्ते, वृ० ३ उ० ।

अगरुतरु-अवटतट-पुं० कूपतटे, विशेषः ।

अगरुदत्त-अगरुदत्त-पुं० शङ्खपुरे सुन्दरनृपस्य सुलसायां जातेऽगडदत्ते पुत्रे, अथ तत्कथा लिख्यते-शङ्खपुरे सुन्दरनृपः । तस्य सुलसा प्रिया । तस्मिन्तोऽगरुदत्तः । स च सप्त व्यसनानि सेवते स्म । लोकानां गृहेष्वप्यन्यायं करोति स्म । लोकैस्तदुपलभ्या राज्ञे दत्ताः । राज्ञा स निर्वासितो गतो वाराणस्यां पवनचण्डोपाध्यायगृहे स्थितः । द्विसप्ततिकलावान् जातः । गृहोद्याने कलाभ्यासं कुर्वन् प्रत्यासन्नगृहगवाक्षस्थया प्रधानश्रेष्ठिमुतया मदनमञ्जर्या तदपमोहितया च तया प्रक्षिप्तः पुष्पस्तवकः । सञ्जातप्रीतिस्तन्मय एव जातः । अन्यदा तुरगारूढः स नगरमध्ये गन्तव्यस्तस्मिन् । तावता ईदृशो लोके कोवाहलः श्रुतः, यथा-“किं चक्षिउ व्व समुदो, किं वा ज्ञिओ हुआसणो धीरो । किं पत्ता रिउसेणा, तदिदंमो निवकिओ किं वा ? ॥१॥ मं-वेण वि परिचत्तो, मारंतो सुंमिगोयं पत्तो । सवडं मुहं चव्वंतं कालु व्व अकारणे कुळो ” ॥ २ ॥ तावता तेन कुमारेण अश्वं मुक्त्वा स हस्ती गजमदनयिष्या दान्तः । पश्चात्तमारुह्य राजकुलासन्नमायातो राज्ञा दृष्ट आकारितो मानपूर्वम् । कुमारेण तं गजमावानस्तम्भे बद्ध्वा राज्ञः प्रणामः कृतः । राज्ञा चिन्तितम्-कश्चिन्महापुरुषोऽयम्, यतोऽत्यन्तविनीतो दृश्यते । यतः-“साली भरेण तोये-ण जलहरा फल्लरेण तवसिहरा । विणएण य सण्णुरिसा, नमंति नहु कस्सइ भएण ” ॥ ततो विजयराजितेन राज्ञा तस्य कुलादिकं पृष्टम्, किंभान् कलान्यासः कृतः ? इत्यपि पृष्टम् । कुमारस्तु वज्रास्त्रेण तं किञ्चिज्ज्ञात्वा । उपाध्यायेन तस्य

कलादिकं सर्वविधानिपुण्यं च कथितम् । कुमारवृत्तान्तं श्रुत्वा चमत्कृतो नृपतः । अथ तस्मिन्नेवावसरे राज्ञः पुरो नगरलोकः प्राभूत् मुक्त्वा एवमूचिवाह-हे देव ! त्वत्नगरं कुर्वेत्सदृशं किय-दिनानि यावदाहं त्वं साम्प्रतं घोरपुरतुल्यमस्ति । केनापि तस्करेण निगन्तरं मुष्यते, अतस्त्वं रक्षां कुरु । राज्ञा तत्रारक्षा आकारिता भूता वचनानिस्तजिताः । तैरुक्तम्-महाराज ! किं कियते, कोऽपि प्रचगरस्तस्करोऽस्ति, बहुपकमेऽपि न दृश्यते । ततः कुमारणोक्तम्-गजन् ! अहं समद्विनेमध्ये तस्करकर्पणं चेक्षकरोमिततोऽग्निप्रवेशं कर्म्मिषामीति प्रतिज्ञा कृता । राज्ञा तु पुरत्रोकप्राभूत् कुमारय दत्तम् । कुमारस्तत उन्धाय चौरस्थानानि विचारयति स्म । "वेसाणं मंदिरं सु, पाणामांगं सु जूयमाणं सु । कुञ्जगिठानं सु अ, उज्जाण-निवाणं सु साहा सु ॥ १ ॥ मज्जुसुद्धवले सु य, चच्चरचउहहसुद्ध-माना सु । एणं सु टाणं सु जआ पाएणं नक्करो होइ" ॥२॥ एवं चौर-स्थानानि पश्यतः कुमारस्य परं दिनानि गतानि । पश्चात्सप्तमदिने नगगद्गहिगन्वाऽथः स्थितः चिन्तयति स्म-"विज्जउ सीसं अहं-उ वंघणं चयउ सच्चहा वच्चरी । पडिबन्नपालणे सु पु-रिसाणं ज होउ नं होउ" ॥ १ ॥ एवं चिन्तयन्तस्मां कुमार इतस्ततो दिनवत्रोक्तं करोति स्म । तस्मिन्नेवावसरे एकः परिहितधातुवस्त्रो मुण्डितशिरःकुचस्त्रिदण्डधारी चामरहस्तः किमपि वृत्तुर्-र्षति शब्दं मुखेन कुर्वणः परिव्राजकस्तत्रायातः । कुमारेण दृष्ट-श्चिन्तितश्च-अयमवश्यं चौरः, यतोऽस्य लक्षणानीदृशानि सन्ति— " करिमुत्तमानुयदण्णो, विमात्रवच्चयत्रो पुरुस-वेमो । तवज्जुवणो रउहो, रत्तच्छो दीहजयो य" ॥१॥ एवं चि-न्तयतः कुमारस्य तेन कथितम्-अहो सन्धुर ! कस्त्वमाया-तः ? केन कारणेन पृथिभ्यां भ्रमसि ? । कुमारेण भणितम्-उज्जा-यनीतोऽहमत्रायातः दारिद्र्यभग्नो भ्रमामि । परिव्राजक उवाच-पुत्र ! त्वं मा खेदं कुरु, अथ तव दारिद्र्यं छिन्तयिष्यामि, समीहितमर्थं ददामि । ततो द्विचमं यावता तत्र स्थितौ । रात्रौ कुमारसहितश्चौरः कस्यचिद्विषयस्य गृहं गतः । तत्र खात्रं दत्तवान् । तत्र स्वयं प्रविष्टः । कुमारस्तु बहिः स्थितः । परिव्राजकेन द्रव्यचृताः पेटि-कास्ततो बहिष्कर्त्तिताः । ताः खात्रमुखे कुमारसमीपे मुक्त्वा स्व-यमन्यत्र कचिक्त्वा दारिद्र्यतप्ताः पुरुषा अनेके आनीताः । तेषां शिरसि ताः पेटिका दत्त्वा कुमारेण समं स्वयं बहिर्गतः । स ता-पसः कुमारं प्रत्येवमुवाच-कुमार ! कृणुमात्रं बहिस्तिष्ठामः, निद्रा-मुखमनुजयामः । परिव्राजकेनेत्युक्ते सर्वेऽपि पुरुषास्तत्र सुप्ताः, कप-टनिद्रया परिव्राजकोऽपि सुप्तः । कुमारोऽपि नो तादृशानां विश्वा-सः कार्य इति कपटनिद्रयैव सुप्तः । तावता स परिव्राजक उन्धाय तान् सर्वान् कङ्कपय्या मारयामास । यावत् कुमारसमीपे समा-यानि स्म तावत् कुमार उन्धाय तं खड्गेन जङ्घाद्वये जघान । त्रिणे जङ्घाद्वये न तत्रैव पतितः कुमारं प्रत्येवमुवाच-वत्स ! अहं तु ज-ङ्घनामा चौरः ममेह उभयाने पातालगृहमस्ति । तत्र वीरपत्नीना-म्मां मम भगिन्यस्ति । अत्र वटपादपस्य मूले गत्वा तस्याः समीपे शब्दं कुरु । यथा सा त्वमिगृहद्वारमुद्घाटयति त्वञ्च स्वस्वामि-नं करोति । सङ्केतदानार्थं मत्खड्गं गृहाणेत्युक्ते कुमारस्तत्खड्गं गृहीत्वा तत्र गतः । स तु तत्रैव मृतः । कुमारेण सा शब्दिताऽऽ-गता द्वारमुद्घाटयामास । कुमारेण भ्रातुः खड्गं दर्शयित्वा स्व-रूपमुक्तम् । तस्या अन्तः खेदो जातः परं न मुखं खेदं दर्शयामा-न । मध्ये आकारितः कुमारः पश्येद्दे शायितः । उक्तञ्च-तव वि-लेपनायर्थं चन्दनादिकमहमानयामीति । ततो निर्गता । कुमारेण चिन्तितम्-प्रायः स्त्रीणां विश्वासो न कार्यः । यतः-शास्त्रे इमे

दोषाः प्रायो निरूपिताः - " माया अन्नियं सोमो, मूढत्वं माहसं असोयत्तं । निमत्तिया नहं चिय, महिलाणं सहावया दांभा " एतस्यास्तु तथाविधचौरभगिन्या विश्वासो नैव कार्यः । सा विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुक्त्वाऽप्यत्र गृहकोणे स्थितः । सा बहिर्गत्वा यत्रप्रयोगेण शय्यापगि शिलां मुमोच । तया शय्या चूर्णिता । ततः कुमारेण सा सद्यः साक्रोशं केशेषु धृता राज्ञः स-मीपमानिता । प्रोक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः । राज्ञा तदभूमिगृहान् समस्तं वित्तमानाय लोकेज्यो दत्तम् । कुमारेण सा जीवन्ती मोक्षिता । पश्चान्तृपाग्रहात् कुमारेण नृपसुता कमलसेनानाम्नी परिणीता । नृपेण कुमाराय सहस्रं ग्रामा दत्ताः, शतं गजा दत्ताः, दश सहस्राण्यथवा दत्ताः, लक्षं पदातयो दत्ताः । ततः सु-खेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म । अन्यदा कलाज्याससमये यया श्रे-ष्ठिमुतया सह प्रीतिर्जाताऽऽसीत्तया मदनमञ्जर्या कुमारसमीपे दृती प्रेषिता । तया उक्तम्-तव गुणानुरक्ता तवैवेयं पत्नी जिवितुं वाञ्छति । कुमारेणाप्युक्तम्-यदाऽहं शङ्खपुरं यास्यामि तदा त्वां गृहीत्वा यास्यामीति तस्यै त्वया वक्तव्यम् । अथान्यदा तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमाराकारणाय समेताः । कुमारस्तु तेषां वचनमाकर्ण्य पितुर्मित्रनाथ नृशमुत्कण्ठितः इवशूरं पृष्ठा कम-लसेनया समं चञ्चितः । चलनसमये च मदनमञ्जरी आकारिता । साऽपि कुमारेण समं चञ्चिता । ताभ्यां प्रियाभ्यां सह सैन्यवृत्तः कुमारः पथि चञ्चन् बहून् भिल्लान् संमुखमापततो ददर्श । तदा कुमारसैन्येनैतैः समं युद्धं कृतम् । जन्मे कुमारसैन्यं भिल्लैर्बु-ध्निवृत्तमितस्ततो गतम् । जिल्लपतिस्तु कुमारस्य समायातः । उन्ध-वृद्धिना कुमारेण स्वपत्नी रथाग्रभागे निवेशिता । तस्या रूपेण मोहङ्कृतो भिल्लपतिः कुमारेण हतः । पतिते च तस्मिन् सर्वेऽपि जिल्ला नष्टाः । कुमारस्तु तेनैव एकेन रथेन गच्छन्नेष मह-तः सार्थस्य मित्रितः । सार्थोऽपि सनाथ इव मार्गे चञ्चति स्म । कियन्मार्गे गत्वा सार्थिकैः कुमाराय एवमुक्तम्-कुमार ! इतः प्र-ध्वरमार्गे भयं वर्तते, ततः प्रध्वरमार्गे विहाय अपरेण मार्गेण गम्य-ते । कुमारणोक्तम्-किं त्रयम् ? । ते कथयन्ति स्म-अस्मिन् प्रध्वर-मार्गे महत्यटवी समप्यति, तस्या मध्ये महानेकश्रौरां दुर्योधन-नामा वर्तते, द्वितीयस्तु गजार्जवं कुर्वन् विषमो गजो वर्तते । तृ-तीयो दृष्टिविषमो वर्तते । चतुर्थो दारुणो व्याघ्रो वर्तते । एवं च-त्वारि भयानि तत्र वर्तन्ते । कुमारः प्राह-एतेषां मध्ये नैकस्यापि भयं कुरुत । चञ्चत सत्वरं मार्गे । कुशलैरेव शङ्खपुरे यास्यामः । ततः सर्वेऽपि तस्मिन्नेवाध्वनि चञ्चिताः । अग्रे गच्छतां तेषां दुर्यो-धनश्चौरस्त्रिदण्डभागु मिलितः । सोऽपि पात्थोऽहं शङ्खपुरे समे-प्यामीति वदन् सार्थेन सार्धं चलति स्म । मार्गे चैकः सन्निवेशः समायातः । तदा त्रिदण्डना उक्तम्-मम उपलब्धितोऽयं सन्निवे-शो वर्तते । तेनात्र गत्वा मया दध्यादि आनीयते, यदि भवद्भ्यो रुचिः स्यात् । सार्थिकैरुक्तम्-आनीयताम् । ततस्तेन तदन्तर्गत्वा आनीतं दध्यादिविषमिश्रितं कृत्वा सर्वे पायिताः । ततो मृताः सर्वे सार्थिकाः । अगदत्तं न जार्याद्वययुतेन न पीतमिति न मृतः सः । त्रिदण्डो पुनः सन्निवेशमध्ये गत्वा कियत्परिवारयुतो गृहीतशस्त्रः कुमारमारणायऽऽयातः । कुमारेण खड्गं गृहीत्वा संमुखं गत्वा घोरसंग्रामकरणेन स हतः । परिवारस्तु नष्टः । नृमौ पतता तेन चौरैरेवमुक्तम्-अहं दुर्योधनश्चौरः प्रसि-द्धः, त्वयाऽहं हतो न जीविष्यामि, परं मम बहु द्रव्यं वर्तते, मम भगिनी जयश्रीनाम्नी चैतद्वनमध्येऽस्ति, तन् त्वया गृही-तव्यं सा च पत्नी कार्यः । कुमारस्तत्र गतः । साऽऽहूता सामाया-

ता । दृष्टः कुमारः । ज्ञातस्तथा ज्ञातृवृत्तान्तः । तथा कुमारोऽपि गुह्यामध्ये आकारितः । तत्र गच्छन्मदनमञ्जर्या वारितस्तां तत्रैव मुक्त्वा कुमारोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गं यावद्भूतेन कुमारेण प्रचरन्कुण्डलादङ्गप्रजन्मतरुकोटिनिष्ठगिरितटः सवेगं संमुख-मागच्छन् यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः । ततः कुमारो रथा-दुत्तीय गजामिमुखं प्रचक्षितः । उत्तरीयवस्त्रवेष्टिकां कृत्वा गजाग्रे मुमोच । गजस्तत्प्रहारार्थं शुण्मादङ्गमधः क्षिपन् यावदीपन्न-तस्तावत् कुमारस्तदन्तर्द्वये पादौ कृत्वा तस्य स्कन्धेऽधिरूढः वज्र-कठिनाभ्यां स्वमुष्टिभ्यां तत्कुम्भस्थलद्वयं जघान । कुमारेण प्रका-ममितस्ततो भ्रामयित्वा स गजो वशीकृतः । पश्चात् स गजो गौरिव शान्तीकृतो मुक्तश्च । तत्रैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गं यावद्भूतं कुमारस्तावत् कुण्डलीकृतज्ञा-ङ्गलः स्वरवेण गिरिप्रतिशब्दान् विस्तारयन् विद्युच्चञ्चललोचनः सर्पोपमां रसनां स्वमुखकुहराभिष्कासयन् सिंहः सामायातः । तेनापि समं कुमारो युद्धं कृतवान् । कुमारेण कर्कशप्रहारैर्जर्जरितः सिंहस्तत्रैव पतितः । कुमारस्ततोऽग्रे चलितः । सर्वोऽप्युपपन्नो मार्गं विद्यथैव निवारितः । कुशलेन कुमारः स्त्रीद्ययसंयुतः शङ्ख-पुरे प्राप्तः । प्रवेशमहोत्सवः प्रकामं पितृभ्यां कृतः । सर्वेषां पौरा-णां परमानन्दः सम्पन्नः । तत्र सुखेन कुमारस्तिष्ठति स्म । अन्यदा वसन्ते मदनमञ्जर्या सह कुमार एकाक्येव क्रीडावने गतः । तत्र रात्रौ मदनमञ्जरी सर्पेण दृष्टा मृतेव सज्जाता । कुमारस्तु तन्मोहादग्नौ प्रविशन् गगनमार्गेण गच्छता विद्याधरेण वारितः । विद्यावद्वेन सा जीविता । विद्याधरस्तु स्वस्थानं गतः । कुमार-स्तथा समं रात्रिवासार्य कस्मिंश्चिद्देवकुत्रे गतः । तत्र तां मुक्त्वा उद्योतकरणाय अग्निमानेतुं कुमारो बहिर्गतः । तदानीं तत्र पञ्च पुरुषाः पूर्वं कुमारदत्तदुर्धनचौरभ्रातरः कुमारवधाय पृष्ठ आगताः । इतस्ततो भ्रान्ताः कुमारस्थानमत्र भ्रमानास्समाग-ताः सन्ति स्म । तैस्तु तत्र दीपको विहितः । मदनमञ्जर्या तेषां मध्ये लघुभ्रातृ रूपं विज्ञेयकितम् । रूपाक्षितया तस्यैव प्रार्थना विहि-ता । त्वं मम भर्ता भव, अहं तव पत्नी भवामि । तेनोक्तम्-तव जर्जरितजीवति सति कथमेवं ज्ञवति ? सा प्राह-तमहं मार-यिष्यामि । तदानीमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः । आगच्छ-न्तं कुमारं दृष्ट्वा तथा तत्रस्थो दीपो विध्यापितः । तत्रायातेन कुमारेण पृष्ठम्-अत्रोद्योतः कथमनूत ? । तथा उक्तम्-तव-हस्तस्थस्याग्नेरेवोद्योतः । सरद्वेन तेन तथैवाङ्गीकृतम् । मदनमञ्जर्या हस्ते खड्गं गृहीतम् । कुमारोऽग्निप्रज्वालनार्थं ग्रीवामधश्चकार । तावता तथा कुमारवधार्थं खड्गः प्रति-काशान्निष्कासितः । तस्याश्चरित्रं दृष्ट्वा चौरलघुभ्रातुर्वै-राग्यमुत्पन्नम् । पश्चादस्या हस्तात्तेन खड्गोऽन्यत्र पा-तितः । पश्चापि भ्रातरस्ततः कुमाराऽलक्षिताः शनैः शनैर्नि-र्गताः कस्मिंश्चिद्वने गताः । तत्र चैत्यमेकमुत्तुङ्गं दृष्टम् । तत्र सातिशयज्ञानी साधुर्दृष्टः । तत्समीपे तैः पञ्चभिरपि दीप्ता गृहीता । तदाज्ञां पालयन्तः संयमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म । कुमारेण नैतत्किमपि ज्ञातम् । अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्जर्या रात्रिमेकामुपित्वा प्रभाते स्वगृहे समायातः । कियद्दिनानन्तर-मश्यापहत एक एवागडदत्तकुमारस्तस्मिन्नेव वने तत्रैव चैत्ये गतः । तत्र देवान्नमस्कृत्य साधवो वन्दिताः । गुरुणा देशना कृता । कुमारेण पृष्ठम्- भगवन् ! क एते पञ्चापि भ्रातर इव साधवः, कथमेषां वैराग्यमुत्पन्नम् ? । कथमेभिर्यौवनभरेऽपि मृतं गृहीतम् ? । एवं कुमारेण पृष्ठे गुरुः प्राह सर्वं तदीयं वृ-

त्तान्तम् । कुमारस्तच्चरित्रं श्रुत्वा युवतीस्वरूपमेवं विचिन्त-यति स्म “अगुरजंति खण्णं, जुवइओ खणेण पुणो विरजंति । अन्नुरागनिरया, हलिदगागु व्व चलपमा ” ॥ १ ॥ इति वि-चिन्त्य कुमारोऽपि वैराग्यात्प्रव्रजितः । यथाऽसौ अगडदत्तः प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्वावासुप्तोऽपि इह लोके परलोके च सुखी जातः । उक्तं ४ अ० । इयं कथोत्तराव्य-यनस्य बृहदृत्तावपि दृश्यते । तत्रायं विशेषः (जितशत्रुनामा राजा । तस्य सारथिरमोघरथनामा । अमोघरथस्य स्त्री यशो-मतिः, पुत्रश्चागडदत्तः । तस्य पितरि मृते माता भृशं रोद । तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोदनहेतुं पप्रच्छ । तदा माता प्रत्युवाच—पुत्र ! अयममोघप्रहारी सारथिस्त्वदीयपितृपद-मनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्यास्तदा कथमेवं भवेत् ? । पुत्रोऽन्ययुङ्क्तो मां कलामध्यापयिष्यतीति ? । माता प्रत्यागा-दीत्-कौशाम्बीनगर्या दृढप्रहारीत्याह्वयः कलाचार्यो विद्यते, तं त्वमुपनिष्ठेति । स मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र गत्वा क-लामध्यगीष्ट । ततो राजसर्मा प्रविवेश । तं दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः । राजा तु प्रसन्नताविरहित एव केवलमुचिताचारं परिपाल-यन् तस्मै किमपि दातुमियेव । स तु राजस्तदनादरदानमव-गम्य नाहमीदृशं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय न जग्राह । तदानीमनेके नागरिकाः “चौरोऽस्मान् बाधते” इति राज्ञः पुरो व्यजिज्ञपन् । राजा तलारत्नम् [कोट्टपालम्] आहूय न्य-गादीत्-भोस्तलारत्न ! भवता सप्तभिरहोरात्रैश्चौरो निग्रही-तव्यः । इत्याकर्ण्यगडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्चक्रे-महाराज ! अहं सप्तभिर्दिनैस्तं चौरं निग्रहीतुं प्रभवामीति) अन्यत्सर्वं समा-नम् । उक्तं ० ।

अगरुदहुर-अवटदहुर-पुं० कूपमण्डूके, ज्ञा० ८ अ० ।

अगरुमह-अवटमह-पुं० कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अगद्विय-अग्रयित-त्रि० अप्रतिवद्धे, आहारे वाऽगृद्धे, “अ-ष्ठाप अगद्वीप अदुद्धे अदीर्णे अविमणे” प्रश्न० १ संब० द्वा० । मुक्तलैरेव वचनैरभिधीयमाने, वृ० ३ उ० ।

अगणि-अग्नि-पुं० अङ्गति ऊर्ध्वं चञ्चति । अग्नि-नि, नलोपः । वाच० । वन्हौ, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । उक्तं ० । “चत्तारि अगणिआ समारभित्ता जेहि कूरकम्माभि तवैति बालं” सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । “अंगारं अगणिं अग्निं, अलायं वा सजो-इयं । ए उज्जिजा ए घट्टिज्जा, नो एं णिदवावप मणी” । दश० ८ अ० । प्रदीपनके, व्य० १ उ० । (अग्नेः सर्वो विषयः ‘ते-उकाइय’ शब्दे)

अगणिआहिय-अग्न्याहित-पुं० अग्निराहितो यैः । “वाऽऽ-हिताग्न्यादिषु ” २।२।३।७ इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपा-तः । अग्न्याहिता आहिताग्नयः । कृतवन्धाधानेषु, श्रीकृष्णभजि-नेशचिन्तायामग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारणेनाहिताग्नय इति तत एव च प्रसिद्धः । आ० म० प्र० ।

अगणिकंरुगट्टाण-अग्निकाणकस्थान- न० अग्निप्रवेशस्थाने, “अगणिकंरुगट्टाणेषु अक्षयंसि वा तहप्पगारंसि णो उ-च्चारं पासवणं व्वोसिरेज्जा ” आचा० २ श्रु० १० अ० ।

अगणिकाय-अग्निकाय-पुं० तेजस्काये, भ० ७ श० १० उ० ।

अनु०। (अस्य विषयः सर्व एव 'तेजःकाय' शब्दे) नवरम्-
अगणिकाय एं भंते ! अहुणोज्जालिए समाणे महाकम्मतरा-
ए चैव महाकिरियतराए चैव महस्मवतराए चैव महावेय-
णतराए चैव नवइ, अह एं समए २ वोक्कसिज्जमाणे वाञ्छि-
ज्जमाणे चरिमकाद्वसमयंसि इंगालचूए मुम्मुरचूए ञारिय-
चूए तत्रो पच्छा अप्पकम्मतराए चैव किरिया आसव अप्प-
वेयणतराए चैव भवइ ? । हुंता, गोयमा ! अगणिकाय एं
अहुणोज्जालिए समाणे तं चैव ।

(अगणीत्यादि अहुणोज्जालिए स्ति) अधुनोज्ज्वलितः सद्यः प्र-
दीप्तः (महाकम्मतराए स्ति) विध्याप्यमानानलापेक्षयाऽतिशयेन
महान्ति ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः ।
एवमन्यापि नवरं, क्रिया दाहरूपा । आश्रयो नवकर्मोपादान-
हेतुः । वेदना पीडा । ज्ञावना तत्कर्मजन्या परस्परशरीरसम्बन्ध-
जन्या वा (वोक्कसिज्जमाणे स्ति) व्यपकृत्यमाणोऽपकर्षं गच्छ-
न् (अप्पकम्मतराए स्ति) अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः
स्तोकार्थः । क्लारावस्थायां त्वज्ञावार्थः । भ० ५ श० ६ उ० ।
काशोदायिप्रश्नेन अन्त्युज्ज्वाल्यकविध्यापकयोः कतरो महाकर्मति
विचारितम् । भ० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव-अग्निजीव-पुं० अन्त्यश्च ते जीवाश्च अग्निजी-
वाः तेजस्कायिकेषु, विशे० (अग्निजीवानां परिमाणमवधिः
'ओहि' शब्दे उक्तम्) ।

अगणिजीवसरीर-अग्निजीवशरीर-न० तेजस्कायजीवबद्ध-
शरीरे, जीवान्तरशरीराणामग्निजीवशरीरत्वम् ।

अह भंते ! उदस्रे कुम्मासे सुराए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सि-
या ? । गोयमा ! उदस्रे कुम्मासे सुराए जे घणे दव्वे एए एणं पुव्व-
जावपणवणं पकुच्च वणस्मइ जीवसरीरा तत्रो पच्छा स-
त्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिज्जामिया अगणिज्जूसि-
या अगणिसंविद्या अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइवा
वत्तव्वंसिया सुराए य जे दव्वे एएणं पुव्वजावपणवणं पकुच्च
आउजीवसरीरा तत्रो पच्छा सत्थातीया जाव अगणिसरीरा
इ वत्तव्वंसिया । अह भंते ! अये तंवे तउए सीसए उव्वे कस-
पट्टियाए एणं किंसरीराइ वत्तव्वंसिया ? गोयमा ! अये तंवे तउए
सीसए उव्वे कसपट्टियाए एणं पुव्वभावपणवणं पकुच्च
पुढवीजीवसरीरा तत्रो पच्छा सत्थाइया जाव अगणिसरी-
राइ वत्तव्वंसिया । अह भंते ! अधी अट्टिज्जामे चम्मे चम्प-
ज्जामे रोमे २ सिंगे २ खुरे २ नहे २ किए एणं किंसरीराइ
वत्तव्वंसिया ? , गोयमा ! अधी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे
एए एणं तसपाणजीवसरीरा अट्टिज्जामे चम्पज्जामे रोम-
ज्जामे सिंगखुरणहज्जामे एए एणं पुव्वभावपणवणं पकुच्च
तसपाणजीवसरीरा तत्रो पच्छा सत्थाइया जाव अगणि-
त्ति वत्तव्वंसिया । अह भंते ! इंगाले ञारिए बुमे गो-
मए एए एणं किंसरीराइ वत्तव्वंसिया ? । गोयमा ! इंगाले
ञारिए बुमे गोमए एए एणं पुव्वभावपणवणं एए एणं-

दियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि जाव पंचिदिय-
जीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि तओ पच्छा सत्थाइया
जाव अगणिजीव वत्तव्वंसिया ।

[अहेत्यादि एएणं ति] एतानि नमित्यवङ्कारे (किंसरीर-
त्ति) केषां शरीराणि किंशरीराणि (सुराए य जे घणे स्ति)
सुरायां द्वे द्रव्ये स्याताम-घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च । तत्र यद् घनद्रव्य-
म्, (पुव्वभावपणवणं पकुच्च स्ति) अतीतपर्यायप्ररूपणामङ्गी-
कृत्य घनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो घनस्पतयः (तत्रो
पच्छ स्ति) घनस्पतिजीवशरीरवाच्यत्वान्तरमग्निजीवशरीराणी-
ति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्तीत्याह
(सत्थातीय स्ति) शस्त्रेणोदुखन्नमुशयन्त्रकादिना, कारणचूतेन
अतीतानि अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शस्त्रातीतानि (सत्थ-
परिणामिय स्ति) शस्त्रेण परिणामितानि कृताभिनवपर्यायाणि
शस्त्रपरिणामितानि । ततश्च (अगणिज्जामिय स्ति)
वन्दिना ध्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा
(अगणिज्जूसिय स्ति) अग्निना जोषितानि पूर्वस्वभावकृपणात्
अग्निसेवितानि वा जुषी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयो-
गात् (अगणिपरिणामियाइ स्ति) संजाताग्निपरिणामानि, औप्य-
योगादिति । अथवा 'सत्थातीया' इत्यादौ शस्त्रमग्निरेव, 'अग-
णिज्जामिया' इत्यादि तु तद्व्याख्यानमेवेति । (उव्वे स्ति) इह
दग्धपापाणः (कसपट्टिय स्ति) कपपट्टः (अट्टिज्जामे ति) अ-
स्थिध्यामं चाग्निना श्यामलोक्तमापादितपर्यायान्तरमि-
त्यर्थः । (इंगाहेत्यादि) अङ्गारो निज्वलितेऽधनम् (ञारिए स्ति)
क्षारिकं भस्म (बुसे स्ति) वुसम् (गोमय स्ति) उगणम् ।
इह वुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धवस्थौ प्राहौ, अन्यथा
अग्निध्यामितादिवक्ष्यमाणविशेषणानामनुपपत्तिः स्यादिति ।
एते पूर्वभावप्रकाशनां प्रतीत्य एकेन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयो-
गेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकेन्द्रियशरीराणी-
त्यर्थः अपिः समुच्चये । यावत्करणाद् द्वौन्द्रियजीवशरीरप्रयोग-
परिणामिता अपीत्यादि दृश्यम् । द्वौन्द्रियादिजीवशरीरपरिणत-
त्वं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेऽपि । तत्र पूर्वमङ्गारो
भस्म चैकेन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकेन्द्रियादिशरीराणा-
मिन्धनत्वात् । वुसं तु यवगोधूमहरितावस्थायामेकेन्द्रियशरी-
रम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् । द्वौन्द्रियादी-
नां तु गवादिभिर्भक्षणे द्वौन्द्रियादिशरीरमपि । भ० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्जामिय-अग्निध्यात-त्रि० ३ त० अग्निना दग्धे, (ज०)

अग्निध्यामित-त्रि० अग्निनेपद्गधे, अग्निना स्वकीयवर्णत्या-
जनाद् ध्यामीकृते, ज० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्जूसिय-अग्निजोषित-त्रि० अग्निसेविते, जुषी प्री-
तिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । ज० ५ श० २ उ० ।

अग्निजोषित-त्रि० पूर्वस्वभावकृपणात् (भ० ५ श० २ उ०)
अग्निना कृपिते, भ० १५ श० १ उ० ।

अगणिणिक्खत्त-अग्निनिक्षिप्त-त्रि० अग्न्यावुपरि निक्षिप्ते,
"अगणिणिक्खत्तं अफासुयं अणे सणिज्जं वाजे संते णो पडिगा-
हेज्जा" आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अगणिपरिणामिय-अग्निपरिणमित-त्रि० ३ त० औप्ययो-

गाद् सञ्जाताग्निपरिष्मये, भ० ५ श० २ उ० । पूर्वस्वभावत्या-
जनेनाऽऽत्मजावं नीते, भ० १५ श० १ उ० ।

अग्निमुह-अग्निमुख-पुं० अग्निमुखमिव यस्य । देवे, द्रुतद्रव्यं
हि देवैरग्निरूपमुखद्वारेणैवाश्रयते “ द्रव्यं वहति देवानाम् ”
इति श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । “ अग्निमुखा वै देवाः ” इति च
श्रुतिः, इति वेदविदः । वाच० । ऋषभदेवचित्तायामग्निकमारा
वदनैः खल्वग्निं प्रक्षिप्तवन्तः, तत एव नियन्धनाल्लोके “ अग्निमु-
खा वै देवाः ” इति प्रसिद्धम्, इति समयविदः । आ० भ०
प्र० । आ० चू० । अग्निमुखं प्रधानमुपास्यो यस्य । अग्निहो-
त्रिणि द्विजे, वाच० ।

अगत (द) अगद-पुं० नास्ति गदो रोगो यस्मात् ५ व०, औ-
पधे, नि० चू० ११ उ० । परमौपधे, पं० व० ३ द्वा० । नकुवायौ-
पधे, नि० चू० १ उ० । ६ व० रोगशून्ये, त्रि० । “ गद भाषणे ”
अच्, न० त० अकथके, त्रि० । वाच० ।

अगस्थि-अगस्ति-पुं० अगं बिभ्याचक्षमस्यति । अस्-किञ् ।
शकन्धादिः । अगस्त्यनामके मुनौ, “ अगस्त्यस्यापत्यानि, व-
हुषु यजो लुक्, तद्गोत्रापत्येषु व० व० । तत्सम्बन्धित्वात्
दक्षिणस्यां दिशि, बृहत्संहितायामस्य गगनमण्डले दक्षिणस्यां
तारारूपेण स्थितिरुक्ता । वक्रवृक्ते, वाच० । अष्टाशीतिमहाप्रहा-
णां पञ्चचत्वारिंशे महाप्रहे, “ दो अगस्थी ” स्था० २ रा० ३
उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । जं० । कल्प० ।

अगम-अगम-पुं० न गच्छतीति । यम-अच् । न० त० । वृक्षे, अ-
गन्तरि, त्रि० । वाच० । आकाशे, न०, तस्मिन् गमनक्रियारहितत्वेना-
गमम् । भ० २० श० २ उ० ।

अगमिय-अगमिक-न० न गमिकमगमिकम् । प्रायो गाथाश्लो-
कवेषकाद्यसदृशपाठात्मके श्रुतभेदे, तच्चैवंविधं प्रायः [विशे०]
आचारादिकालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात् । तथाचाह-
“ अगमियं काशियसुयं ” न० । आ० भ० प्र० । कर्म० । वृ० ।
अगम्-अगम्य-त्रि० न गन्तुमर्हति । गम-यत् । न० त० । ग-
मनानर्हास्तु स्नुषादिषु, चाण्डालादिकार्यां च, “ फासेरुण
अगम्मं, भणाइ सुमिणे गओ अगम्मं ति ” स्पृष्ट्वा कायेनेति ग-
म्यते । अगम्यां स्नुषां चाण्डालादिकं वा स्त्रियमिति शेषः ।
व्य० १ उ० ।

अगम्मगामि (ण) अगम्यगामिन्-त्रि० जगिन्याद्यभिगन्तरि,
प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अगरजा-अगर्भा-स्त्री० न व०, सुविप्रक्ताकृतया अरहस्यायां
वाण्याम्, औ० । “ अगरजाए अम्ममाणए सव्वक्खरसंखिवा-
याए ” (जिनवाण्या) तत्र, अगर्भया व्यक्तवर्णोपयेत्यर्थः ।
उपा० २ अ० ।

अगरहिय-अगर्हित-त्रि० (आहारविषये) अकृतगर्हो, प्रश्न०
१ सम्ब० द्वा० ।

अगर्ही-त्रि० अनित्ये, “ से अगरहिण अच्चे जे समाहिण ”
आचा० १ शु० ८ अ० ८ उ० ।

अगरु-अगरु-न० अगरुचन्दनाख्ये गन्धिकद्रव्ये “ कुष्ठं त-
गरं अगरुं संपिष्टं सम्मुसिरेण ” सूत्र० १ शु० ४ अ०
२ उ० । प्रश्न० । नि-चू० । उपा० । आचा० । “ संखतिसागुनु-
चंदणाइ ” नि० चू० २ उ० ।

अगरुगंधिय-अगरुगन्धित-त्रि० अगरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण
जातोऽस्येति अगरुगन्धितम् । अगरुचन्दनेन धूपिते, तं० ।

अगरुपुद्-अगरुपुट-पुं० ६ त० अगरुनामकगन्धद्रव्यस्य पुटे,

“ अगरुपुडाण वा द्ववंगपुमाण वा वासपुडाण वा ” । जं० १ वृ० ।
अगरुलहय-अगरुलघुक-न० न विद्येते गुरुलघुनी यस्मिंस्त-
दगुरुलघुकम्, परिष्मामोपेतमृतद्रव्यत्वादगुरुलघुकम् । परतत्त्वे,
“ नित्यं प्रकृतिवियुक्तं, लोकाश्लोकावलोकनाभोगम् । स्तिमित-
तरङ्गोदधिसम-मवर्णमस्पर्शमगुरुलघु ” । बो० १५ विष० । नगुरुकम-
धोगमनस्वभावं न लघुकमूर्ध्वगमनस्वभावं यद् द्रव्यं तदगुरुल-
घुकम् । अत्यन्तसूक्ष्मे भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, स्था १० रा० १ उ० ।

अथ ‘ किं गुरुलघु किं वा अगुरुलघु ’ इति शङ्कायां

तत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-

ओरात्रियवेउव्विय-आहारगतये गुरुलहू दव्वा ।

कम्मणमणभासाई, एयाई अगुरुलहयाई ॥

इह द्वौ नयौ-व्यवहारनयो निश्चयनयश्च । तत्र व्यवहारन-
यः प्राह-चतुर्था द्रव्यं, तद्यथा-किञ्चिद् गुरु, किञ्चिद्व्यु, किञ्चिद् गुरुलघु, किञ्चिद् गुरुलघु । तत्र यद्द्वै तिर्यग्या प्रक्षिप्तम-
पि पुनर्निर्गमाद्भ्यो निपतति द्रव्यं तद् गुरु । तद्यथा-श्लेष्मादि ।
यत्तु द्रव्यं निर्गत एवोर्ध्वगतिस्वभावं तद्व्यु । यथा-दीपकलि-
कादि । यत्पुनर्नोर्ध्वगतिस्वभावं नाप्यधोगतिस्वभावं किन्तु स्व-
भावेनैव तिर्यग्गतिधर्मकं तद् गुरुलघु, यथा-वायुः । यत्तुर्ध्वा-
ध्वस्तिर्गतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा
गच्छति तद् गुरुलघु । यथा-व्योम परमाणादि । उक्तं च-

गुरुलहयं उभयं वि, नोभयमिति वावहारियनयस ।

दव्वं वेहुं दीवो, वाऊ वोमं जहासंखं ॥

निश्चयनयः पुनरेवमाह-न सर्वगुर्वैकान्तेन किमपि वस्त्वस्ति,
गुरोरपि श्लेष्मादेः प्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात् । नाप्येकान्तेन
सर्वत्रव्यप्यस्ति, अतिलघोरपि वाय्वादेः कतरानुनादिनाऽधो-
गमनादिदर्शनात् । तस्माद् द्विविधमेव वस्तु । तद्यथा-गुरुल-
घु, अगुरुलघु च । तत्र यद् बादरं भृङ्गधरादिकं तत्सर्वं गुरुलघु,
शेषं तु भाषाप्राणापानमनोवर्गणादिकं परमाणुद्वयगुणकयोमा-
दिकं च सर्वमगुरुलघु । उक्तं च-

निच्छयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।

बायरमिह गुरुलहयं, अगुरुलहुं सेसयं दव्वं ॥

तत्रेयं गाथा निश्चयनयमतेन । पदार्थव्याख्या चैवम-औदा-
रिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि अपराण्यपि तैजसद्रव्यप्रत्या-
सन्नानि तदाभासानि वादरूपत्वाद् गुरुलघूनि गुरुलघुस्वभा-
वानि । कर्मणमनोनापाद्रव्याणि तु आदिशब्दत्वापाना-
व्याणि जायाद्रव्यार्वाग्वर्तीनि भाषाभासानि । अपराण्यपि च
परमाणुद्वयगुणादीनि, व्योमादीनि चैतानि अगुरुलघुस्वभावा-
नि । वक्ष्यमाणगाथाद्वयसंबन्धः । एवं पूर्व किल क्षेत्रकालसं-
न्धिनोः केवलयोरहुत्वावलिकासंख्येयादिविभागकल्पनया पर-
स्पोपनिबन्ध उक्तः । आ० भ० प्र० ।

इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-

जा तेयं सरीरं, गुरुलहूदव्वाणि कायजोगो य ।

मणसा अगुरुलहूणि अ-रुविदव्वाय सव्वे वि ॥

औदारिकशरीरादारन्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणि
यश्च तेषामेव संबन्धी काययोगः शरीरव्यापारः, एतत्सर्वं गुरु-
लघुकमिति निर्देशः । यानि तु मनोनापाप्रयोगाण्युपशृङ्खलत्वा-
दानपानकर्मणप्रयोगाणि तदपान्तरात्रवर्त्तानि च द्रव्याणि या-

नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायवृक्षणाभ्युप-
द्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा वायरबोदी-कलेवग गुरुलहु जवे सव्वो ।

मुहमाणंतपदेसो, अगुरुलहु जाव परमाणू ॥

अथवेति प्रकारान्तरस्योक्ते । वादरा बोद्धिः शरीरं येषां ते वादर-
बोद्धयो वादरनामकमौदयवर्तिना जीवा इत्यर्थः, तेषां सबन्धी-
नि यानि कलेवराणि यानि वाऽपराण्यपि वादरपरिणतानि त-
त्सद्व्यादीनि अक्रवापगन्धर्वपुत्रप्रवृत्तीनि वा वस्तुनि तानि
सर्वाण्यपि गुरुलघून्गुच्यन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकमौदयवर्ति-
नां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अ-
नन्तप्रादेशिकादीनि परमाणुपुद्गलं यावत् इत्यादि तानि सर्वा-
ण्यगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

ववहारनयं पप्प उ, गुर्या लहुया य मीसगा चेव ।

लेहुपदीवगमारुय, एवं जीवाण कम्माइं ॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गोक्त्य त्रिविधानि छव्याणि भवन्ति । त-
द्यथा-गुरुकानि लघुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलघुमिश्राणीत्य-
र्थः । तत्र यानि तिर्यग्गूर्ध्वं वा प्रक्षिप्ताण्यपि स्वभावादेवाधो
निपतन्ते तानि गुरुकाणि, यथा-क्षेपुप्रवृत्तीनि । यानि तूर्द्धग-
तिस्वभावानि तानि लघुकाणि, यथा-प्रदीपकादीनि । यानि
तु नाधोगतिस्वभावानि नवा तूर्द्धगतिस्वभावानि किं तर्हि
तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि, यथा-मारुतो वायुस्त-
त्प्रवृत्तीनि । एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधानि भवन्ति-गुरु-
णि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र यैरमी जीवा अधोर्गतिं नीयन्ते
तानि गुरुकाणि, यैस्तु त एवोर्द्धगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकाणि,
यैः पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरु-
लघुकानीति । तदेवं व्यवहारनयान्निप्रायेण समर्थितः कर्मणां
गुरुलघुत्वपरिणामः । वृ० १ उ० ।

एतदेव सर्वमभिप्रेत्य सूत्रमुदाह—

सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तण्णवाए य लहुए ? गोय-
मा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । एवं नो अगुरुयल-
हुए । सत्तमे यणवाए सत्तमे यणोदही । सत्तमा पुढवी उवा-
संतराइं मत्वाइं जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तण्णवाए एवं गुरु-
यलहुए यणवाययणउदहिपुढवीदीवा य सागरावासा । ने-
रइयाणं भंते ! किं गुर्या जाव अगुरुलहुया ? गोयमा ! नो
गुर्या नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुलहुया वि । से केण-
ट्ठेण ? गोयमा ! वेउच्चियतेयाइं पकुच्च नो गुर्या नो लहुया
गुरुयलहुया नो अगुरुयलहुया । जीवं च कम्मं च पकुच्च नो
गुर्या नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया, से तेणट्ठे-
णं एवं जाव वेमाणिया, नवं णाणत्तं जाणियच्चं मगींदिं
धम्मनिकाए जाव जीवन्धिकाए चउत्थपएणं । पोगल-
निकाए णं भंते ! किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुय-
लहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए वि अ-
गुरुयलहुए वि । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! गुरुयलहुयद-

व्वाइं पकुच्च णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहु-
ए, अगुरुयलहुयदव्वाइं पकुच्च नो गुरुए नो लहुए नो गुरुय-
लहुए अगुरुयलहुए, ममया कम्माणि य चउत्थपएणं । क-
एहत्तेस्साणं भंते ! किं गुर्या जाव अगुरुयलहुया ? गोयमा !
नो गुर्या नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से
केणट्ठेणं ? गोयमा ! दव्वत्तेस्सं पकुच्च तइयपएणं भावत्तेस्सं
पकुच्च चउत्थपएणं, एवं जाव सुकत्तेस्सा । दिट्ठीदंसणना-
णअन्नाणसप्पाओ चउत्थपएणं णेयव्वाइं हेडिड्ढा चचारि
सरीरा नायव्वा, तइएणं कम्मयं चउत्थपएणं पएणं मणजोणं
वइजोणे चउत्थपएणं पदेणं कायजोणो तइयपएणं पएणं मागा-
रोवओणो अणागारोवओणो चउत्थपएणं सव्वदव्वाओ
सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोगलत्थिकाओ । अतीतद्धा
अणागयद्धा मव्वच्चा चउत्थपएणं पएणं ।

(सत्तमणमित्यादि) इह चेयं गुरुलघुत्ववस्था—

निच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।

ववहारओ उ जुज्जइ, वायरस्सधेसु णाणेषु ॥ १ ॥

अगुरुलहुं चउ फासा, अरुविदव्वा य हौति नायव्वा ।

सेसा उ अछ फासा, गुरुलहुया निच्छयणयस्स ॥ २ ॥

(चउ फासं त्ति) सूक्ष्मपरिणामानि (अछ फासं त्ति) वादराणि
गुरुलघुलघून् रूपि अगुरुलघुलघून् त्वरूपि रूपि वेति । व्यवहा-
रन्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनानि-गुरुत्रोष्ट्रो-
धोगमनात्, लघुधूमं कर्ध्वगमनात्, गुरुलघुर्वायुस्तिर्यग्गमनात्,
अगुरुलघ्वाकाशं तत्स्वभावत्वादिति । एतानि चावकाशान्तरा-
दि सूत्राण्येतन्नाथानुसारिणावगन्तव्यानि । तद्यथा—“उवासचाय-
घणउदहि-पुढवीदीवा य सागरावासा । नेरइयाइ अरिथिय, स-
मयाकम्माइं वेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणणाणे, सन्नसरीरा य
जोगउवओणे । दव्वपपसा पज्जव, तीया आगामिसंवद्धं त्ति” ॥ २ ॥

(वेउच्चियतेयाइं पकुच्चं त्ति) नारका वैक्रियतैजसशरीरं
प्रतीत्य गुरुकलघुका एव । यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मके ते, ए-
ताश्च गुरुकलघुका एव । यदाह—“ओरावियवेउच्चिय-आहार-
गतेय गुरुलहु दव्वत्ति” । (जीवं च कम्मं च पकुच्चं त्ति) जीवा-
पेक्षया कर्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुका एव,
जीवस्यारुपित्वेन गुरुलघुत्वात् । कर्मणशरीरस्य च कर्मव-
र्गणात्मकत्वात्कर्मणवर्गणायां चागुरुलघुत्वात् । आह च—
“कम्मणमणनासाइं, एयाइं अगुरुलहुयाइं ति” (नारकं जाणि-
यच्चं सरीरेइं ति) यस्य यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि
ज्ञात्वा असुरादिमृत्राण्यध्वेयानीति हृदयम् । तत्रासुरादिदेवा
नारकवद्वाच्याः । पृथिव्यादयस्तु औदारिकतैजसे प्रतीत्य गुरु-
लघवः, जीवं कर्मणं च प्रतीत्यागुरुलघवः । वायवस्तु औदा-
रिकवैक्रियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघवः । एवं पञ्चेन्द्रियतिर्य-
ग्वागपि मनुष्यास्तौदारिकवैक्रियतैजसादारकाणि प्रतीत्येति
(धम्मनिकायं त्ति) इह यावत्करणात्, “अहम्मन्धिकाए आगा-
सन्धिकाए” इति दृश्यम् (चउत्थपएणं ति) एते अगुरुलघु-
इत्यनेन पदेन वाच्याः । शेषाणां तु निषेधः कार्यः, धर्मास्तिकाया-
दीनामरूपितया अगुरुलघुत्वादिति । पुक्लास्तिकायसुत्रे उत्तरं नि-
श्चयनयाश्रितम्, एकान्तगुरुलघुनोस्तन्मतेनात्रावात् (गुरुयलहुय
दव्वाइं ति) औदारिकादीनि ४ (अगुरुलहुयदव्वाइं ति) कर्मे-

णादीनि (समया कस्माणि य चउत्थपणं ति) समया अमृ-
ताः कर्माणि च कर्मणवर्गणात्मकानीत्यगुरुलघुत्वमेवम् ।
(द्रव्यलसं पदुच्च तद्व्यपणं ति) द्रव्यतः कृष्णलेश्या औदारि-
कादिशरीरवर्णः, औदारिकादिकश्च गुरुलघ्विति कृत्वा गुरुल-
घ्वित्यनेन तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्यः । ज्ञावलेइया तु जीवपरि-
णतिः, तस्याश्रामूर्त्तत्वादगुरुलघ्वित्यनेन व्यपदेश्य इत्यन आह
(भावत्रेसं पदुच्च चउत्थपणं ति) (दिष्टिदिसणेत्यादि)
दृष्ट्यादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वादगुरुलघुवृत्तकणेन चतु-
र्थपदेन वाच्यानि । अज्ञानपदं त्विद ज्ञानविपक्वत्वाद्धीतम्,
अन्यथा द्वारेषु ज्ञानपदमेव दृश्यते (हेछिल्ले छि) औदारि-
कादीनि । (तद्व्यपणं ति) गुरुलघुपदेन गुरुलघुवर्ग-
णात्मकत्वात् । (कम्मणा चउत्थपणं ति) अगरुलघुद्रव्यात्म-
कत्वात् कर्मणशरीराणां मनोयोगवाग्योगौ चतुर्थपदेन वाच्यौ,
तद्व्याणामगुरुलघुत्वात्, काययोगः कर्मणवर्जस्तृतीयेन गुरु-
लघुत्वात्तद्व्याणामिति । (सर्वद्रव्येत्यादि) सर्वद्रव्याणि ध-
र्मास्तिकायादीनि सर्वप्रदेशास्तेषामेव निर्विभागा अंशाः सर्वपर्य-
वावर्णोपयोगादयो द्रव्यधर्माः, एते पुल्लास्तिकायवद् व्यपदे-
इयाः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन वेत्यर्थः । यतः सूक्ष्माण्यमूर्तानि
च द्रव्याण्यगुरुलघूनि, इतराणि तु गुरुलघूनि । प्रदेशपर्यवास्तु
तत्तद्रव्यसम्बन्धत्वेन तत्तत्स्वभावा इति । भ० १ श० ९ उ० ।
संप्रति गुरुलघुद्रव्याणामगुरुलघुद्रव्याणां चाल्पबहुत्वेन वर्ग-
णाश्चिन्त्यते-तत्र बादरस्कन्धेषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदजिघ्रेश्व-
कोत्तरवृक्षा प्रवर्द्धमाना वर्गणा अनन्ता भवन्ति । ताश्च ताव-
द्द्रव्या यावत्सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्धः ।

ततो य वर्गणाओ, सुहमाण जवंत एतंगुणियाओ ।

परमाणुण य एका, संखेरपदेससंखाता ।

ताभ्यः समस्तबादरस्कन्धगताभ्यो वर्गणाभ्यः सूक्ष्माणां सूक्ष्मा-
नन्तप्रदेशकस्कन्धानामनन्तगुणिता वर्गणास्तथा परमाणूनां स-
मस्तानामेका वर्गणा । (संखेरत्ति) संख्येयप्रदेशेषु द्व्यादिप्रभृ-
त्युत्कृष्टं संख्यातं यावत् संख्याताः संख्यातस्य संख्यातजेदभा-
वात् । इतरस्मिन्नसंख्येयप्रदेशे असंख्येया वर्गणाः, असंख्यात-
स्य संख्यातभेदभिन्नत्वात् ।

इय पोगन्नकायम्मि य, स्ववत्थोवा उ गुरुलहु दव्वा ।

उजयपडिसेडिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदर्शितेन प्रकारेण पुल्लाकाये पुल्लास्तिकाये
गुरुलघुद्रव्याणि सर्वस्तोकानि उभयप्रतिपेधितानि संज्ञात-
गुरुलघुप्रतिपेधानि अगरुलघूनीत्यर्थः । पुनर्द्रव्याणि अनन्त-
कल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुद्रव्येष्व-
प्यस्ति, तत आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि ।
संप्रति पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन चिन्त्यते-इह पञ्चराशयः
क्रमेण स्थाप्यन्ते । तद्यथा-परमाणुराशिः, संख्यातप्रदेशकस्क-
न्धराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, सूक्ष्मानन्तप्रदेशक-
स्कन्धराशिः, बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिश्च । तत्र बादरान-
न्तप्रदेशकस्कन्धराशौ योऽन्तिपदः सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्ध-
स्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगरुलघुपर्यायाः,
इह बादरस्कन्धेष्वप्यगुरुलघवः पर्यायाः सन्ति परमुत्कलिता
गुरुलघुपर्याया इति । त एव तत्र शेषकालं गण्यन्ते, संप्रति
तु वस्तुस्थितिश्चिन्त्यते । इत्यल्पबहुत्वचिन्तायां ते चिन्तिताः ।
तत्सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धाद् येऽधस्तना बादरस्कन्धास्तेषु

गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहान्या द्रष्टव्याः । अगरुलघु-
पर्यायाः पुनरनन्तगुणवृद्धाः । एवं च तावद् ज्ञानव्यं यावत्सर्व-
जघन्यो बादरस्कन्धः । उक्तं च- “ परमाणुसंखसंखा, सुह-
माण ताण वायराणं च । एणसिं रासीतो, कमेण सव्वे ठवे-
ऊणं ॥ तेसिं जो अंतिसओ, सव्वुकोसो य वायरो खंधो ।
तस्स बहू गुरुलहुया, अगरुलहु पज्जवा थोवा ॥ तत्तो
हिट्ठा हुत्ता, अणंतहाणिए गुरुलहुवुट्ठी । एवं ता जाव
जहन्तो ति ” ॥

एतदेवाह-

ते गुरुलघुपज्जाया, पल्लाच्छेदेण वोगसित्ताणं ।

जा वायरो जहणो, अणंतहाणिए हायंतो ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः प्रब्रालेदनकेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्कृष्य
पृथक्कृत्वा सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धाद्धस्तनेषु बादरस्कन्धे-
ष्वनन्तगुणहान्या हीयमानास्तावद् द्रष्टव्या यावद् जघन्यो वा-
दरस्कन्धः । अगरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणवृद्धा प्रव-
र्द्धमानाः, ततः परं सूक्ष्मानन्तप्रदेशादिषु स्कन्धेषु केवला
अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणवृद्धा प्रवर्द्धमाना द्र-
ष्टव्याः । ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- “ तेण परं
सुहुमाओ, अणंतवुट्ठिए नवर वट्ठता । अगरुलहु छिय केवल,
जा परमाणू य तो नेया ” तदेवं पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन
चिन्तितम् । सांप्रतमरूपि द्रव्यं चिन्त्यते- तच्चतुर्द्धा, तद्यथा-
धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवा-
स्तिकायश्च ।

तेषां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह-

केण हविज्ज विरोहो, अगरुलघुपज्जवाण उ अमुत्ते ।

अचंतममंजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स ॥

यन्नामूर्त्तै धर्मास्तिकायादौ तद्विपक्षस्य गुरुलघुपर्यायजात-
स्यात्यन्तमेकान्तेनासंयोगोऽघटना तत्रागुरुलघुपर्यायाणां केन
विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित् । ततः केनापि विना-
शाभावात्सदैव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगरुलघुपर्यायाः ।

तथाचाह-

एवं तु अणंतेहिं, अगरुलघुपज्जवेहिं संजुत्तं ।

होइ अमुत्तं दव्वं, अरुविकायाण चाउत्तं ॥

एवं तु सति चतुर्णामप्यरूपिकायानामरूपिणामस्तिकायानां
धर्मास्तिकायप्रभृतीनामेकैकाख्यं यदमूर्त्तं द्रव्यं तद् भवति
प्रत्येकमनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तम् । तदेवंभावित एकैक
आकाशप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यायैर्वैरुपेतः । वृ० १ उ० ।

अगरुलहुचउत्क-अगुरुलघुचउत्क- न० अगरुलघूपधातप-
राधातोच्छ्वासलक्षणनामकर्मप्रकृतिचतुष्टये, कर्म० १ कर्म ।
अगरुलहुणाम-अगुरुलघुनामन्- न० नामकर्मभेदे, यदु-
दयादगुरुलघु स्वयं शरीरं जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगरुलहुउदया ।

अगुरुलघूदयादगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य अङ्गं शरीरं न गुरु
न लघु जायते भवति, किन्तु अगरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे
हि वोदुमशक्यं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाणं
धारयितुं न पार्येत, यदुदयाजन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि
गुरुलघु किन्तु अगरुलघुपरिणामपरिणतं भवति, तद्गुरु-
लघुनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । आ० । पं० सं० ।

अगरुलहृपरिणाम-अगरुलहृपुपरिणाम-पुं० अगरुलहृपुके-
ष परिणामः, परिणामपरिणामयतोरभेदः अगरुलहृपुपरिणामः ।
अजीवपरिणामनेदे, स्था० १० ठा० । अगरुलहृपरिणामस्तु पर-
माणोरारण्य यावदन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूत्रमाः । सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अगरुलहृपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ! गोयमा !

एगागारं पणत्ते ।

अगरुलहृपरिणामो भावादिपुल्लानां "कम्मणमणभासाई पया-
ई अगरुलहृयाई" इति वचनात् । तथा अमूर्तद्रव्याणां चाकाशा-
दीनाम् । अगरुलहृपरिणामग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अगरुलहृपु-
परिणामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौदारिकादिद्रव्याणां तैजसद्रव्यपर्य-
न्तानामवसेयः । " ओरावियवेउव्विय-आहारगतेय गुरु-
लहृ दव्वा । " इति वचनात् । प्रज्ञा० १३ पद ।

अगरुवर-अगरुवर-पुं० कृष्णागरो, ज्ञा० १७ अ० ।

अगलंत-अगलंत-त्रि० अग्राविणि, " असती मोयमहीए कय-
कप्प अगलंत सत्तए णिसिरे " व्य० ७ उ० ।

अगलिय-अगलित-त्रि० अपतिते, " अगलियेअणहणिवट्टा-हं
जोअण वक्खु विज्जाउ । वरिससएण वि जो मिल-इ स हि सो-
क्खइ सो छाउ य " । प्रा० १ पाद ।

अगविट-अगवेपित-त्रि० गवेपणया अपरिभाविते, "अगविट-
स्स उ गहणे, न होइनय अगहियस्स परिभोगो । " पिं० "अ-
गविट्ठा य गविट्ठा, णिप्पस्सा धारणदिसासु" व्य० ४ उ० ।

अगट्ठणवग्गणा-अगट्ठणवर्गणा-स्त्री० अल्पपरमाणुरूपत्वेन
स्थूयपरिणामतया च स्वभावाज्जीवानां ग्रहेऽसमागच्छन्तीषु
वर्गणासु, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (आसां स्पष्टं स्वरूपं
'वग्गणा' शब्दे दर्शयिष्यते)

अगट्ठिय-अगट्ठीत-त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० १७ विव० ।

अगट्ठियगट्ठण-अगट्ठीतग्रहण-न० साधुभिरस्वीकृतभक्तादि-
दातव्यद्रव्ये, "पंडिबधेणिरागरणे, केइ अण्णे अगट्ठियगट्ठणस्स"
पञ्चा० १७ विव० ।

अगट्ठिद्वगराय-अगट्ठिलकराज-पुं० राजनेदे, (ती०) तत्क-
या चैवम्-केइ पुण अगट्ठिलगरायअक्खणगविहीए कालाइ-
दोसो वि अप्पाणं निव्वाहइस्संति, तं च अक्खणयमेव पञ्च-
वंति पुब्बायरिया-पुट्ठि किर पुट्ठिपुणीए पुण्णो नाम राया । त-
स्स मंती सुबुट्ठी नाम । अन्नया लोणदेवो नाम नेमित्तिओ आग-
ओ । सो य सुबुट्ठिमंतिणा आगमेसिं कालं पुट्ठो । तेण भणियम्-
मासाणेतरे इत्थ जलदरो वरिसिस्सइ । तस्स जलं जो पाहिइ
सो मव्वो वि गह्वीभूओ भविस्सइ । किंत्तए वि काले गय
सुबुट्ठी नवस्सइ । तज्जवपाणेण पुणो जणा सुत्थीभविस्संति ।
तओ मंतिणा तं राइणो विअत्तं । रक्खा वि परदग्घोसेण वारिसं-
गह्वो जणो आइठो । जणेण वि तस्संगहो कओ । मासेण बुट्ठो
मेहो । तं च संगहियं नीरं कात्रेण निट्ठियिअं षोणहिं नवोदगं
चैव पाउमादत्तं । तओ गह्वीभूओ मव्वओआ सामेताइ गा-
यंति नत्तंति सिज्जाए वि चिंटो । केवलं राया अमच्चो अ
संगहियं जलं न निट्ठियंति । तं चैव दो वि सुत्था चिंटंति ।
तओ सामेताईहि विसरिअं चिंठे रायअमच्चोई निरिक्खिऊण
परप्परं मंतिअं । जहा गह्वीभू राया मंती य । एए अमर्हाईतो वि
विसारसीयारा । तओ एए अयसारिऊण अवरे अप्पतुल्लायारं

रायाणं उवाविस्सामो ! मंती ऊण तेसिं मंतं नाऊण राइणो विअ-
वैइ । रक्खा वुत्तं-कह मे एहुंनो अप्पा रक्खियव्वो विदेहनंति-
दतुल्लं हवइ । मंतिणा भणियं-महागय ! अगट्ठिहिं पि अमर्हाई
गह्वीभूओऊण गायव्वं । न अन्नदा मुक्खो । तओ कित्तिमगह्वीभू-
ओउं ते रायमच्चो तेसिं मज्जे निअसंपयं रक्खंता चिंटंति ।
तओ ते सामेताइ तुठा, अहो ! रायमच्चो विअमहसरिसा सज्जा-
यत्ति । उवाएण तेण तेहि अप्पा रक्खिओ । तओ कालंतरेण सुह-
बुट्ठी जाया । नवोदगे पीए सव्वे षोणा पगइमावक्खा सुत्था संवु-
त्ता । एवं दूसमकाले गीयत्थकुलिगीहिं सह सरिसो होऊण
वट्ठंता अप्पणो समयं भाविणं पमिवाहितो अप्पाणं निव्वाहइ-
स्संति । ती० २१ कट्ठप० ।

अगाढ-अगाढ-त्रि० अवगाढे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगाढपण-अगाढपण-त्रि० अगाढा तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा बुद्धियस्य
सोऽगाढप्रज्ञः । परमार्थपर्यवसितबुद्धौ, " अगाढपण्णेषु वि भा-
वियप्पा, अन्नं जणं सपन्न परिहवेज्जा । " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अ (आ) गार-अगार-न० गृहे, दश० १ अ० । अगैरुमह-
पदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् । दशा० १० अ० । विशेष० । स्था० ॥
अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । आ० म०,
द्वि० । (अगारनिक्षेपः) अगारं द्विविधं ध्वजभावमेदात् । तत्र द्र-
व्यागारमगैरुमहपदादिभिर्निर्वृत्तम् । भावागारं पुनरगैविपाक-
कालेऽपि जीवविपाकितया शरीरपुट्टत्वादपि बहिःप्रवृत्तिरहि-
तैरन्तानुबन्धादिभिर्निर्वृत्तं कपायमोहनीयम् । " समरेसु य
अगारेसु, संधीसु य महापहे " अगारेषु शुन्यगृहेषु । उक्तं
१ अ० । " अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा " सूत्र० १
श्रु० ३ अ० २ उ० विशेष० । अगारं द्विविधम्-खातमुच्छ्रितं च ।
तत्र खातं तृमिगृहादि, उच्छ्रितमुच्छ्रेयण कृतम्, उभयं भूमि-
गृहस्योपरि प्रासादः । पञ्चा० १ विव० । स्थाने च । " सिंगारा-
गारचारुवेसा " श्रौ० । अगारं गृहं तद्योगाद् । विशेष० । अगारं
गृहं तदेषां (वा) बिद्यते इत्यर्थादिगणत्वाच्चप्रत्ययः । गृहस्थे,
पुं० । दश० १ अ० ।

अगारस्थ-अगारस्थ-पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगारं-
स्थाः । गृहस्थेषु, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० ॥

अ (आ) गारधम्म-अगारधम्म-पुं० न गच्छन्तीत्या गृहा-
स्तैः कृतमा समन्ताद्वाजत इत्यगारं गृहम् । तत्र स्थितानां ध-
र्मोऽगारधर्मः । शाकपार्थिवादित्यान्मध्यमपदलोपी समासः ।
देशविरतौ, आ० म० टि० ।

पंच य अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च होंति तिन्नेव ।

सिक्खावयाइं चउरो, गिहधम्मो वारसविहो य । १३ ।

पञ्चाणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरत्यादीनि गुणव्रतानि च
भवन्ति, त्रीण्येव दिग्व्रतादीनि शिक्षापदानि चत्वारि सामायि-
कादीनि, गृहधर्मो द्वादशविधस्तु पप एवाणुव्रतादिः । अणुव्रता-
दिस्वरूपं चावश्यके चर्चितत्वाशक्तमिति गाथार्थः । दश० नि० ६
अ० । ध० । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठा-
नरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः, चकार
उक्तसमुच्चय इति । तत्रायं भेदं दशभिः श्लोकैर्दर्शयति—

" तत्र सामान्यतो गृहधम्मो न्यायार्जितं धनम् ।

वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥

शिष्टाचारप्रशंसाऽरि-परमवर्ग्यजनं तथा ।

इन्द्रियाणां जय उपश्रुतस्थानविवर्जितम् ॥ ६ ॥

सुप्रातिवेदिमके स्थाने, नातिप्रकटगुप्तके ।

अनेकनिर्गमचार-गृहस्य विनिवेशनम् ॥ ७ ॥

पापभीरुक्ताख्याता, देशाचारप्रपादनम् ।

सर्वेष्वनपवादित्वं, नृपादिषु विशेषतः ॥ ८ ॥

आयोचितव्ययो वेपों, विभवाद्यनुसारतः ।

मातृपित्रर्चनं सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९ ॥

अजीर्णेऽभोजनं काले, श्रुक्तिः सम्पदलोभता ।

वृत्तस्थज्ञानवृद्धार्हा, गर्हितप्यप्रवर्त्तनम् ॥ १० ॥

भर्त्तव्यजरणं दीर्घ-दृष्टिधर्मश्रुतिर्दया ।

अष्टबुद्धिगुणैर्योगः, पक्वपातो गुणेषु च ॥ ११ ॥

सदाऽनजिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्वहम् ।

यथार्हमतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥

अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम् ।

अदेशकात्राचरणं, वलावन्नविचारणम् ॥ १३ ॥

यथार्थलोकायात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।

ऋहीः सौम्यता चेति जिनेः, प्रज्ञतो हितकारिणिः ॥ १४ ॥

(दशजिः कुत्रकम्)

तत्र तयोः सामान्यविशेषरूपयोर्गृहस्थधर्मयोर्वक्तुमुपक्रान्तयोर्मध्ये
सामान्यतो गृहिधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकर-
णशौचैर्जिनैर्दृष्टिः प्रज्ञतोः प्ररूपित इत्यनेन संबन्धः ॥ ध० १ अधि० ।

(न्यायार्जितधननिपदानामर्थः 'णायजिज्य' शब्दे)

अगारबंधण-अगारवन्धन-न० क० स० । पुत्रकवन्नधानधान्या-

दिरूपे गृहपाशे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ॥ " एवं समुद्रिप

जिक्खू, वोसिज्जा गारबंधणं " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अगारव-अगौरव-त्रि० न० ब० । ऋक्ष्यादिगौरववर्जिते, प्रश्न०

५ सम्ब० द्वा० ।

अगारवाम-अगारवाम-पुं० गृहवासे, " अगारवासमज्जे व-

सित्ता " ज० १५ श० १ उ० ।

इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे य इहं दुहावहं ।

विऊंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ? ॥ १० ॥

(इहलोग इत्यादि) इहाऽस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं

दुःखमावहति, (विऊ ति) विद्याः जानीहि । तथाहि-- " अर्था-

नामर्जने दुःख-मर्जितानां च रूढणे । आये दुःखं व्यये दुःखं,

धिगर्थं दुःखजाजनम् ॥ ११ ॥ तथाहि-- " रेवापयः किसलयानि च

सल्लकीनां विन्ध्योपकण्ठविपिने स्वकुलं च हित्वा । किं ताम्यसि

त्तिप ! गतोऽसि वशं करिण्याः स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परा-

याः " ॥ १२ ॥ परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मजं

दुःखं जयति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादाना-

दिति भावः तथैतदुपाजितमपि विभ्वंसनधर्मं विशरारुस्वभावं

गत्वरमित्यर्थः, इत्येवं विद्वान् जानन् कः सकर्णोऽगारवासं

गृहवासमावसेत्, गृहवासं वाऽनुबन्धीयादिति ? । उक्तं च " दाराः

परिजवकाराः बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः । कोऽयं जनस्य मोहो ?,

ये रिपवस्तेषु सुदृढाशा " ॥ १३ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुवं पाणेहि संजए ।

समता सन्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगेयं ॥ १३ ॥

अगारमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः

(अणुपुवं ति) आनुपूर्व्या श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिब्रह्मणया

प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग् यतः संयतस्तदुपमर्दाभिबृत्तः, कि-

मिति ? यतः समता समभावः आत्मपरतुल्यता, सर्वत्र यतौ गृ-

हस्थे च यदि चैकेन्द्रियादौ श्रयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने
तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां
लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधा-
री यतिरिति । " सेभो अगारवासां त्ति, इह भिक्खू न चित्त-
ए " उक्त० २ अ० ।

अगारि (ण) अगारिन्-पुं० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आचा० क० । " अगारिणां वि समणा भवंतु, सेवंति उ ते वि तह
पगारं " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अगारिकम्म-अगारिकर्म्मन्-न० अगारिणां कर्माऽनुष्ठानम् । गृ-

हस्थानां सावद्य आरम्भे, जातिमदादिके च । " णिक्खम्म से से-

वह गारिकम्मं, ण पारए होइ विमांयणाए " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगारियंग-अगार्यङ्ग-न० अगारिणां गृहस्थानामङ्गं कारण-

म् । जात्यादिके मदस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगारी-अगारी-स्त्री० गृहस्थस्त्रियाम्, व्य० १ उ० ।

अगारीपविबंध-अगारीप्रतिबन्ध-पुं० अगार्याः प्रतिबन्धोऽगारि-

प्रतिबन्धः । यत्रागार्या विषये आत्मपरोक्षयसमुत्था दोषा इत्ये-

वरूपे गृहियोंपिप्रतिबन्धे, व्य० ४ उ० ।

अगाह-अगाध-त्रि० गम्भीरे, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

अगिज्ज-अग्राह्य-त्रि० हस्तादिना ग्रहीतुमशक्ये, " तओ अ-

गिज्जा पणत्ता, तं जहा-- समए पपसे परमाणू " स्था० ३

ग० २ उ० । अनाश्लेष्ये, " अणेगणरज्जुयाऽगिज्जे " औ० ।

अप्रमेये, रा० ।

अगिहयव्व-अग्रहीतव्य-त्रि० । न ग्रहीतव्योऽग्रहीतव्यः । हेये,

उपेक्षणं च । उभयोरपि कार्यसाधकत्वात् । " गज्जो जो क-

ज्जसाहो होइ " इति कार्यसाधकस्यैव ग्राह्यत्वोक्तेः " णायम्मि

गेहिहयव्वम्मि, अगेहिहयव्वम्मि चेव अत्थम्मि " उक्त० १ अ० ।

आव० ।

अगिच्छ-अगृच्छ-त्रि० न० त० अनध्युपपन्ने अमूर्जिते, " अगि-

के सदफासेसु, आरंजेसु अणिसिप " सूत्र० १ श्रु० ६ अ०

" उवहिम्मि अमुच्छिप अगिद्धे अणायउं पण्णपुण्णाय "

अगृद्धः प्रतिबन्धाभावेन । दश० १० अ० ।

अगिलाइ-अग्लानि-स्त्री० अखंडे, स्था० ८ ग० १ भ० । " अगि-

वाइ अणाजीवी, णायव्वो वीरियायारो " पंचा० १५ विव० । अ-

गिल्लानाम णां मनोवाक्कापेहिं अजज्जरमाणेत्यर्थः " नि० चू० १ उ० ।

अगिला-अग्लानि-स्त्री० निजैरार्थमात्मोत्साहे, व्य० ४ उ० । गिल्ला-

व्याख्यानार्थमाह-- " निववेट्टिं व कुणतो, जो कुणई परिसा गिल्ला

होइ । पमिलेहुच्चणई, वेयावन्नियं तु पुव्वुत्तं " यो नाम नृपवेष्टिं

राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्यं करोति एतादृशी भवति गिला-

ग्लानिस्तस्यः प्रतिषेधोऽगिला । तया करणीयं वैयावृत्यम्, किं

तदित्यत आह-प्रतिलेखोत्थापनादिकं भारण्डस्य प्रत्युपेक्षणमु-

पविष्टस्योत्थापनमादिशब्दात् भिन्नानयनादिपरिग्रहः, एतत्पू-

र्वोक्तं वैयावृत्यम् । व्य० १ उ० । " अगिलापणं भत्तेणं पाणेणं

विण्णणं वेयावडियं करेइ " भ० ५ श० ४ उ० ।

अगिलाय-अग्लान-पुं० अग्लाने, " कुज्जा भिक्खू गिला-

णस्स, अगिलाए समाहिप " भिन्नुः साधुग्लानस्य वैयावृ-

त्त्यग्लानोऽपरिभ्रान्तः कुर्यात्, सम्यक् समाधिना ग्लानस्य

वा समाधिमुत्पादयेदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।
अगीय-अगीत-पुं० अगीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अगीय-अगीतार्थ-पुं० न० व० । अनधिगताचारप्रकल्पा-
दिनिशीधान्तर्धत्तार्थे, जी० १ प्रति० (अगीतार्थो येन हेतुश्रु-
तार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा परं विस्मारितः । वृ० १ उ० ।

अथागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखावहो भवतीत्याह-

अगीयस्स वयणेण, अमिश्रं पि न घुंए ।

जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसिअं ॥४६॥

परमत्थो न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।

न तेण अजरामरो हुत्था, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्व्याख्या-अगीतार्थस्य (संविग्गा नाम एगे नो गीय-
त्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २, संविग्गा नाम एगे
गीयत्था वि ३, नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४)
पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थभङ्गतुल्यस्य वचनेन अमृतमपि (न घुंए
त्ति) न पिबेत् । अगीतार्थोपदेशेनामृतवद् दृश्यमानं सुन्दरम-
प्यनुष्ठानं न कुर्यादिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भ-
वेत् यद्गीतार्थदेशितमगीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-
परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तद् विपं हाला-
हलं (खु त्ति) निश्चितं, न तेन अजरामरो मोक्षसुखभागं भ-
वेत् । तत्तत्तणादेव निधनं विनाशमनन्तजन्ममरणलक्षणं व-
जेत् प्राप्नुयात्, अगीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसं-
सारहेतुत्वान् । उक्तं च-“ जं जयइ अगीयत्थो, जं च अगी-
यत्थनस्सिअो होइ । वट्टवेइ य गच्छं, अणंतसंसारिअो
होइ ॥ १ ॥ कह उ जयंतो साहु, वट्टवेइ य जो उ गच्छं तु ।
संजमजुत्तो होइ, अणंतसंसारिअो भणिअो ॥ २ ॥ द्ववं खित्तं
कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाअो यं । न वि जाणइ अगीअो,
उस्सग्गाववाइयं चैव ॥ ३ ॥ जहडियद्वं ए जाणइ, सच्चित्ता-
चित्तमीसिअं चैव । कप्पाकणं च तहा, जोगं वा जस्स जं
होइ ॥ ४ ॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विप्रमादरेति गाथा-
चङ्चन्दसी । ग० २ अधि० महा० । “अवहुस्सुए अगीय-त्थेणि-
सिरए वा धारए व गणं । नद्देसियं तस्स, मासा चत्तारि
भारिया होति” वृ० १ उ० । (इत्यगीतार्थस्य गच्छुधारणनिषे-
धो ‘गच्छह’ शब्दे) “अगीयत्थो दायव्वस्स धारेयव्वस्स वा
अकप्पिअो” उच्यते तर्त्तकादृष्टान्तेन गाथा-“जह नद्दे जह न-
ट्टिया, अयाणंनिया विवज्जासं । करेइ गिज्जमाणे, नद्दे णट्टिया
य गरहिया य ” ॥ १ ॥ भवइ एवमगीयत्थो अगीयत्थो य न सक्केइ
समायरिउं पडिलेहणाइ उवदिसिउं वा परेसुं” पं० चू० वृ०
नि० चू० । (अगीतार्थो गच्छुधारणां कर्त्तुं न शक्नोतीति ‘ग-
च्छुधारणा’ शब्दे) अगीतार्थो दुस्स्याज्यस्तत्सङ्गेन दुःखप्राप्तिः
“अगीयत्थत्तदोमेणं, गोयमा ! ईसरेण उ । जंपंतं तं निसा-
मेत्ता, लहु गीयत्थो मुणी भवे ” महा० ६ अ० । (‘ईसर’ शब्दे
अभि० राजेन्द्र-टि० ता० पृ० ६४५ तत्कथानकम्) “सारा-
सारमयागित्ता, अगीयत्थत्तदोसअो । चितियमेतेणाविरज्जाए,
पावगं जं समज्जियं । तेणं तीए अहं ताए, जा जा होहि नित्यं-
तणा । नारयनिरियकुमाण-मन्त्तं सोआ को थिइं लभे ?” (र-
ज्जदिया) शब्दे कथानकम्) “अगीयत्थत्तदोमेणं, भावमुद्धि
ण पावण । विणा भावमुद्धाण, म्कलुसमाणसो मुणी भवे । अ-
गुणोवकलुसहियत्तं अगीयत्थत्तदोसअो । काऊणं लक्खण-

जाए, पत्ता दुक्खपरंपरा । तम्हा तं णाउ वुद्धीहिं, सव्वभावेण
सव्वहा । गीयत्थेहिं भवित्ताणं, कायव्वं निकलुसं मणं”
(महा० ६ अ०) “शाल्यादिबीजयुतोपाश्रये न स्वेयमिति निषेध्य
द्वितीयपदे ‘विइयपयकारणम्मि पुंवि वसभा पमज्ज जत-
णाए’ इत्याद्युक्त्वा, “अगीयत्थस्स न कप्प-इ तिविहं ज-
यणं तु सो न जाणाइ । अणुन्नवणाए जयणाए, जयणं सप-
क्खपरपक्खजयणं च ” (वृ० २ उ०) इत्यगीतार्थस्य त्रिविध-
यतनाज्ञानप्रदर्शनं ‘वसइ’ शब्दे । अगीतार्थेन साकं
न विहरेत् । “गीयत्थो य विहारो, वीअो गीयत्थणि-
स्सिअो होइ ” इत्यनेन ‘विहार’ शब्दे दर्शयिष्यमाणे-
न निषेत्स्यमानत्वात्)

अणहीयपरमत्था वि, गोयमा ! संजए भवे ।

तम्हा ते वि विवज्जिजा, दुग्गईपंधदायगे ॥ ४३ ॥

हे गौतम ! ये संयता अपि संयमवन्तोऽपि (अणहीयपरम-
त्थे त्ति) अनधीता अनज्यस्ताः परमार्थो आगमरहस्यानि वैस्ते
अनधीतपरमार्थाः, अगीतार्था इत्यर्थः । ते यस्मात् अज्ञातद्वय-
क्तेत्रकालजावौचित्या जवन्तीति शेषः । तस्मान्नानगीतार्थान् वि-
वर्जयेत् । विहारे एकत्र निवासे वा दूरतस्त्यजेत् । अपिशब्दोऽ
त्र भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजित एव । किंभूतान् दुर्गतिप-
थदायकान् तिर्यग्राककुमानुपकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापकानित्य-
र्थः । ग० २ अधि० । अगीतार्थेन सह सङ्गो न करणीयः । “अगी-
यत्थस्स कुसीलेहिं, संगं तिविहेण वज्जइ । मोक्खमग्गंसिमे
विग्घे, पढम्मी तेणगे जहा ॥ पज्जियं हुयवहं दंठुं, णीसंको
तत्थ पविसिअो । अत्ताणं पि रुहिज्जासि, नो कुसीलं समज्जि-
ए ॥ वासलक्खं पि सलीए, संभिअो अच्चियासुहं । अगीय-
त्थेण समं पक्कं, खणकं पि न से वसे ॥ विणा वि तंतमेतहिं,
घोरादिठ्ठिविसं अहिं । रसंतं पि समज्जीया, णागीयत्थं कुसील-
गं ॥ विसं खाएज्ज हालाहलं तं । किर मारेइ भक्खणं ।
ए करे गीयत्थसंसर्गिं, विठवे लक्खं जइ तहिं ॥ सीहं वग्घं
पिसायं व, घोरेरूपं भयंकरं । ओगिअमावं पि वीएज्जा, ण कुसी-
लमगं गीयत्थे । सत्तज्जमंतरं सत्तुं, अवमज्जिज्जा सहोयरं ।
वयनियमं जो विराहेज्जा, जणयं पि क्खेतयं तिअो ॥ महा० ।
६ अ० । अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारेऽनन्तसंसारितैकागति-
क्यनाथावेति प्रश्नः । १४ । अत्रोत्तरम्-अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्यवि-
हारेऽनन्तसंसारिता प्रायिकीति ज्ञायते, कर्मपरिणतेर्वैचित्र्यादि-
ति । सेन० १ उद्भा० ।

अगुण-अगुण-पुं० दोषे, न० । गुणविरोधिनि दोषे, गुणरहिते,
त्रि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पुं० अगुणे एव कस्यचिद् गुणत्वेन वि-
परिणममाणे, स चक्रविषयः यथा गौर्गद्विरसज्जातकिणस्कन्धो
गोगणस्य मध्ये सुखनैवात्ति ! तथा च “गुणानामेव दौर्जन्या-
द्विर धुव्यो नियुज्यते । असंजातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्ग-
द्विः ” ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्व-न० अविद्यमानगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वम् ।
गुणानां च, “अज्जयणगुणी भिक्खु, न सेस इइ णो पइअ को
हेऊ । अगुणत्ता इइ हेऊ, को दिठ्ठो सुवण्णमिव ” दश० १० अ० ।
अगुणपेहि (ण)-अगुणप्रेक्षिन्-त्रि० अगुणान् प्रेक्षते तच्छी-
लश्च यः । अगुणदर्शनशीले, दश० ५ अ० ।

अगुणवज्ज-अगुणवर्ज-त्रि० अगुणान् दोषान् वर्जयति सतोऽ-
पि न गृह्णाति इत्यगुणवर्जकः । सतामप्यगुणानामग्राहेकः, न० ।
अगुत्त-अगुप्त-त्रि० गुप्तिरहिते, “केवलमेव अगुत्तो, सहसा
णाजोगपञ्चयपेहि” व्य० १ उ० । “असमितो मित्ति कीस
सहसा अगुत्तो वा” अगुत्तो गुप्तिप्रमत्तः । पञ्चा० १६ विव० ।
अगुत्ति-अगुप्ति-स्त्री० मनःप्रभृतीनां कुशदानां निवर्त्तनेऽकुश-
लानां प्रवर्त्तने, स्था० ३ ग० १ उ० ।

तत्रो अगुत्तीओ पणत्ताओ, तं जहा-मणअगुत्ती वयअगुत्ती
कायअगुत्ती । एवं एणरइयाणं जाव थणियकुमाराणं पंचि-
दियतिरिक्खजोणियाणं असंजयमणुस्साणं वाणमंतराणं
जोइसियाणं वेमाणियाणं ।

तत्रो इत्यादि कण्ठ्यम् । विशेषतश्चतुर्विंशतिदण्डके एता अति-
दिशन्नाह-एवमित्यादि (एवमिति) सामान्यसूत्रवन्तारका-
दीनां तिस्रो गुप्तयो वाच्याः, शेषं कण्ठ्यम्, नवरम्, इहैकेन्द्रिय-
विकलेन्द्रिया नोक्ताः, वाङ्मनसयोस्तेषां यथायोगमसंज्ञवात् ।
संयतमनुष्या अपि नोक्तास्तेषां गुप्तिप्रतिपादनादिति । स्था०
३ ग० १ उ० । इच्छाया अगोपनरूपे त्रयोविंशे गौणपरिग्रहे,
प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० । नि० चू० ।

अगुरुल्लहुचउक्क-अगुरुल्लघुचतुप्फ-न० । नामकर्मप्रकृतिचतुष्टये,
कर्म० १ क० (व्याख्या चास्य ‘कम्म’ शब्दे)

अगुरुल्लहुणाम-अगुरुल्लहुणामन्-न० । नामकर्मजदे, कर्म० १ क०
(निरूपणमस्य ‘अगरुल्लहुणाम’ शब्दे) ।

अगुरुल्लहुय-अगुरुल्लघुक-न० अत्यन्तसूक्ष्मे जायामनःकर्मज-
व्यादौ, स्था० १० ग० (स्पष्टमेतद् ‘अगरुल्लहुय’ शब्दे) ।

अगुरुल्लहुयपरिणाम-अगुरुल्लघुकपरिणाम-पुं० अजीवपरिणा-
मभेदे, स्था० १० ग० (प्ररूपणा चास्य ‘अगरुल्लहुयपरिणाम’ शब्दे)

अगुरुवर-अगुरुवर-पुं० कृष्णागरौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अगोविय-अगोपित-त्रि० प्रकटे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अगोरसव्वय-अगोरसव्वत-पुं० गोरसमात्राऽभङ्गके, ‘पयोव्रतो
न दध्यत्ति, न पयोऽस्ति दध्यव्रतः । अगोरसव्वतो नोभे, तस्मात्त-
त्त्वं त्रयात्मकम् ” ॥१॥ आवा० ४ अ० ।

अग-अग्र-न० अङ्ग-रक्, नक्षोपः । उपरिभागे, शेषभागे,
आलम्बने, पूर्वभागे, वाच० ।

इदानीं अग्रे स्ति दारं दसजेदं भण्ति-

दव्वो १ गाहण २ आए-

स ३ काल ४ कम ५ गणण ६ संचए ७ जावे ८ ।

अगं भावो ए तु पहा-

एवहुय उपचारतो तिविहं १० ॥ ४ए ॥

णामउवणाओ गताओ । दव्वगं दुविहं-आगमओ णो आग-
मओ य । आगमओ जाणए अणुवउत्ते, णो आगमओ जाणगस-
रीरं भव्वसरीरं जाणगभव्वसरीरवहरित्तं तिविहं तं दिसंति ।

तिविहं पुण दव्वगं, सच्चित्तं मीसगं च अच्चित्तं ।

स्वखगं दस उवचित्त-अवचित्त तस्सेव कुंतगं ॥ ५० ॥

(तिविहं ति) तिज्येयं, पुणसहो दव्वगावधारणार्थं । सच्चित्तं
मीसगं च अचित्तं । पञ्चद्वेणं जहासंखं उदाहरणा-सच्चित्तं वृ-

त्ताग्रं । सेमीसे देसो । उवच्चियं णाम देसो सच्चित्तो, अवच्चियं
णामदेसो अच्चित्तो, जहा सीयमी, ईसिं दट्टमित्तं स्वखगं च ।
अचित्तं कुंतगं गतं ॥ १ ॥

इदानीं ओगाहणगं-

ओगाहणगं सान-त्तणगाण उस्सुअचउत्थजागो णं ।

मंदरविवज्जिताणं, जं चोगाहं तु जावतियं ॥ ५१ ॥

अंजणगदहिमुखाणं, कुंतलरुयगवग्मंदरणं च ।

ओगाहो उ सहस्से, सेमा पादं समो गाढा ॥ ५२ ॥

अवगाहनमवगाहः । अश्वस्ताप्येवश इत्यर्थः । तस्सगं अवगा-
हणगं । शश्वक्चवन्तीति शश्वताः, एगा पञ्चता । ते य जे जंवुही-
वे वेयह्माइणो ते वेपंति ण सेसदीवेसु, तेसि उस्सुअचउत्थभा-
गो अवगाहो जवति । जहा वेयह्मे पणुव्यासं जोयणाणुस्सुओ ते-
सि चउत्थजागेण उज्जोयणाणि मणताणि । तस्स चवावगाहो
जवति, सो अवगाहो वेयह्मुस्स भवति । एवं सेसाण विणयं । मं-
दरो मेरु तं वज्जेऊण एवं चउजगावगाहलक्खणं भणितं तस्स
उ सहस्समेवावगाहो । जं वा अणदिहस्स वन्थुणो जावतियं
ओगाहं तस्स अगं ओगाहणगं । गयं ओगाहणगं ॥ २ ॥

इदानीं आपसगं-

आदेसगं पंचं-गुलादि जं पच्छिमं तु आदिस्सं ।

तं पुरिसाण व जाजय, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५३ ॥

(आदेसमांति) आदेशो निर्देश इत्यर्थः । तेण आदेसेण अगं
आदेशगं । तत्पुदाहरणं-पंचगुलादि पंचएहं अंगुलिद्वयाणं
कम्मट्टिताणं जदि पच्छिमं आदिस्सति तं आदेसगं जवति ।
आदेसकारणं इमं-भोयणकाले जहा सत्तहाणे बहुआण कम्म-
ट्टिताण इमं बहुयं भोजयसु त्ति आदिस्सति । एवं कम्माइकज्जेसु
वि नेयं । गयं आदेसगं ॥ ३ ॥

कालगं-कमग्गे एगा गाहा । ते भण्ति-

काव्वगं सव्वद्धा, कमगचनुधा तु दव्वमादीयं ।

खंथोगाहठितीसु य, जावेसु य अंतिमा जे ते ॥ ५४ ॥

कलनं कालः तस्स अगं काव्वगं, सव्वद्धा, कदं ? समयो
आवन्निया लवो मुहत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खो मासो
उऊ अयणं संवच्चरो जुगपत्तिओवमं सागरोवमं ओसप्पिणी
उस्सप्पिणी पुमालपरियदो तीतळमणागतद्धा सव्वद्धा एवं सव्वे-
सि अगं भवति । वृहत्त्वात् कालगं गयं ॥ ४ ॥ इदानीं कमगं-
कमो परिवाडी, परिवासीए अगं कमगं, तं चउव्विहं देवक-
मगं आदिस्सदातो खेत्तकमगं काव्वकमगं जावकमगं चेति ।
पच्छद्वेणं जहासंखेण उदाहरणा-खंध इति दव्वगं । ओगाह
इति खित्तगं । त्रितासु य स्ति कालगं । भावेसु य स्ति जावगं ।
एतेसि चउएह वि अंतिमा जे ते अगं भवति । उदाहरणं
जहा-दुपएसिओ चउपंचसत्तडुणवदस्सपएसिओ असंखं,
एवं जाव णंताणंतपएसितो खंधो । ततो परं अणो
वृहत्तरो न जवति सो खंधो दव्वगं । एवं एगपएसोगा-
ढादि जाव असंखेयपदेसावगाहो सुहुमखंधो सव्वलोणे ततो प-
रं अणो उक्कोसावगाहणंतरो न जवति । स एव खेत्तगं ।
एवं एगसमयचित्तियं दव्वं दुसमयचित्तियं जाव असंखेज्ज-
समयचित्तियं जं तो परं अणं उक्कोसतरिट्ठित्तुत्तं ण जवति
तं काव्वगं । चसहो जातिभेयमवेक्ख उदाहरणं, जहा-पुढावि-
काइयस्स अंतो मुहत्तादारज्ज जाव वासीवरिससहस्ससि-
तिओ कालजुत्तो भयांत, एवं सेसेसु वि णेयं । चित्तसु परमा-

पुण्य एवमस्य आदारम्भ जाव असंखकालद्विती जाता । परमाणु-
द्वितीता परं भक्षे परमाणु उक्तासतराद्वितीओ ण भवति, तं
परमाणु जानीत काहम् । एवं जीवाजीवेषु उवउज्जं खेयं, एवं च-
सदो भवक्षेति, भावगं एगगुणकालम्भ सि जाव अणुतगुणका-
लम्भ सि भावजुतं तं भावगं जवति । ततो परं भक्षो उक्तास-
सतरो ण जवति, एतं भावगं । गतं कमगं ॥ ५ ॥ इदानीं गण-
णगं-एगादो जाव सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पयइति
तेण गणणा ते सीसपहेलिया अगं । गतं गणणगं ॥ ६ ॥

संचय-जावगा, दो वि जसंति—

तणमंचयमादीणं, जं उवरि पहाण खाइगो जावो ।

जीवादिउक्कए पुण, बहुयगं पज्जवा हौति ॥ ५५ ॥

तणाणि दग्गादीणि तेसि चउपिदनेत्यर्थः । तस्स वयस्स उ-
वरि जा पुली तं तणगं भसति, आदिसदातो कटुपलालाती
दट्टवो । गपं संचणगं ॥ ७ ॥ इदानीं जावगं मूलदारगाहाए
भसियं ॥ ८ ॥ (अगं भावो तु स्ति) तं एवं वत्तध्वं भावो अ-
गं । किमुक्तं भवति-भाव एव अगं जावगं बन्धानुलोभ्यात् ।
(अगं जावो उ) तं भावगं दुविहं-आगमओ णो आगमओ य ।
आगमओ जाणए उवउत्ते, णो आगमओ । इमं ति विहं-पहाणभा-
वगं बहुयजावगं उवचारजावगं, एवं ति विहं । तुशब्देऽर्थज्ञाप-
नार्थः । ज्ञापयति-जहा एतेण ति विहं भावगणेण सहितो दश-
विहग्गाणिकखेवो जवति, तथ पहाणभावगं उदइयादीण जा-
वाण समीवओ पहाणे स्वातिगो भावो पहाणो स्ति गयं । इदा-
णि बहुयगं भसति—

जीवा पोगलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।

थोवा एंताएता, विमेममद्विया दुवे एंता ॥ ५६ ॥

जीवा आदी जस्स उक्कगस्स तं जीवाइल्लुक्कं, तं चिमं
पोगल्ला जीवा समयाद्व्वा पदेसा पज्जया चेति । एयंमि उक्के
सच्चय्थो वा जीवा जीवेहितो पोगल्ला अणुतगुणा पोगल्लेहितो स-
मया अनंतगुणा समपदितो दव्वा विसंसाहिता दव्वेहितो पदेसा
अणुतगुणा । जहासंखेण तेण भसति-बहुयगं पज्जवा हौति बहु-
स्तेण अगं बहुयगं बहुत्वेनाग्रं पर्याया भवन्तीति वाक्यशेषः । पुण-
सदो बहुत्वावधारणत्थो दट्टवो । गतं बहुयगं । इयानि उवचा-
रणं-उवचरणं उवचारो नामग्रहणम्, अधिगममित्यर्थः । स च
जीवाजीवभावेषु संभवति । जीवाजीवेषु औदयिकादिषु अजी-
वभावेषु वर्णादिषु । तथ जीवाजीवजावाणं पिट्ठिमो जो घेप्प-
इ सो उवचारगं भावगं जवति । इह तु जीवसुत्तभावोवचा-
रणं दुविहं-सगलसुत्तभावोवचारगं देससुत्तभावोवचारगं
च । तथ सगलसुयजावोवचारगं दिट्ठिवातो दिट्ठिवातचूला
वा देससुत्तभावोवचारगं परुष भसति । तं चिमं चैव पक-
प्पज्जयणं । कइं ? जओ भसति—

पंचण्ह वि अगगा एं, उवयारेणिदं पंचमं अगं ।

जं उवचरित्तु ताइं, तस्सुवयारो ए इहरा तु ॥ ५७ ॥

(पंचण्ह वि इति) पंच संखा (अगगां ति) आयरणगणं ते
य पंच चूलाओ । अविमदो पंचग्गावहारणत्थे भरणति । ण-
गारो देसिवयणेण पायपुरेण । जहा-समणे णं रुक्खा णं गुच्छा णं
ति । उपचरणं उपचारः, तेण उवचारेण करणभूतेण (इदमिति)
अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अगं ति) पंचमं अगं उपचारेण
अगं न भवति । एवं वितियतनियचउरगा वि भवन्ति । पं-

चमचूलगं उवयारगं अगं जवति, तेण जसति पंचमं अगं ।
शिष्य आह-कथम् ? आचार्य आह- (जमिति) जं यस्मात् कार-
णात् (उवचरित्तु स्ति) उवचरित्तु गृहीत्वा (ताइं ति) चउरो
अगगाइं (तस्से ति) आचारप्रकल्पस्य उपचारो ग्रहणं । ण इति
प्रतिपेधे (इहरा तु) तेष्वगृहीतेषु सीसो पुच्छति-एतद्दस-
विहवक्खाणे कयमेण अग्गेणाहिकारो भसति ? ।

उपचारेण तु पगतं, उवचरित्तुतीतगमितमेगट्ठा ।

उवचारमेत्तमेयं, केसिंचि ए तं कमो जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खातो । पगतं अहिगारः, प्रयोजनेनेत्यर्थः । तुश-
ब्दो अवधारणे पादपुरेण वा उवयारसदृशपञ्चयत्थं एगट्ठिया
भसति । उवचारो स्ति वा अहितंति वा आगमियं ति वा गृहीतं
ति वा एगट्ठं (उवचारमेत्तमेयं ति) जमेयं पंचमं अगं अगत्ते-
णोवचरिज्जस्ति, एतं उपचारमात्रं । उवचारमेत्तं नाम कल्पनामा-
त्रं । कइं ? जेण पदमचूलाए वि अगसदो पवत्तइ, एवं वितियच-
उसु वि अगसदो पवत्त स्ति । तम्हा सव्वाणि अग्गाणि । सव्वगा-
पसंगे य एगगा कप्पणा जा सा उपचारमात्रं जवति । केपांचि-
दान्धार्याणामेवमाद्यगुरुप्रणीतार्थानुसारी गुरुराह- (ण तं क-
मो जम्हा इति) ण स्ति पमिंहे (तं ति) केइ मयक-
प्पणा ण घमतीति वक्खेसं । कमो स्ति नाम परिवारी । अनुक-
म इत्यर्थः (जम्हे स्ति) चउसु वि चूलासहितसु परीदय पंचमी
चूला दिज्जति, तम्हा कमावचारा पंचमी चूला अगं भवति । उव-
चारेण अगगा वि अगं वक्खेसं दट्टवमिति । गतं मूलगदारं
॥ ६॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अगं च मूलं च विगिंच धीरे ।

अग्रं भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयम् । मूलं घातिकर्मचतुष्टयं, यदि वा
मोहनीयं मूलम् । शेषाणि त्वग्रं, यदि वा मिथ्यात्वं मूलं, शेषं त्व-
ग्रम् । तदेवं सर्वमग्रं मूलं च (विगिंच इति) त्यजापनय पृथक्करु ।
तदनेनेदमुक्तं जवति-न कर्मणः पौद्गलिकस्यात्यन्तिककृत्याऽपि-
त्वात्मनः पृथक्करणम्, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्व-
मिति चेत्तद्वशाच्छेषप्रकृतिबन्धः । यत उक्तम्- “ न मोहयति
वृत्त्यबन्ध उदितस्त्वया कर्मणां, न चैकाविधबन्धनं प्रकृतिबन्ध-
तो यो महान् । अनादिजवंहतुरेष न च बध्यते नासकृत, त्वयाऽ-
तिकुटिवा गतिः कुशलकर्मणां दक्षिता” ॥१॥ तथा चागमः-“ कइं
जंते ! जीवा अट्ठकम्मपगडीओ वंधंति ? । गोयमा ! णाणावर-
णिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ ।
दरिसणावरणिज्जकम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं निय-
च्छइ । दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ ।
मिच्छत्तेणं उदिण्णणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ वंधइ”
कयोऽपि मोहनीयक्याविनाभावी । उक्तञ्च-“ णायगमिं हए
सत्ते, जहा सेणा विणस्सति । एवं कम्मा दिणस्सन्ति, मोह-
णिज्जे खयं गए” ॥१॥ इत्यादि । अथवा, मूलमसंयमः कर्म वा,
अग्रं संयमतपसी मोको वा, ते मूलग्रे धीरोऽङ्कोज्यो धीविरा-
जितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय । आचा० १
धु० ३ अ० २ उ० । परिमाणं, न० । विशे० । सु० प्र० । स्था० ।
“ अगं ति वा परिमाणं ति वा एगट्ठा” । आ० चू० १ अ० ।
उत्त० । “ अन्ते जेणव देसगो तेणव उवागए । देसगं देशान्तम् ।
ज्ञा० १५ अ० । उत्कर्षे, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । त्रि०
ऋषिर्दे, पुं० । वाच० ।

अग्र्य-त्रि० अग्रे जवमध्यम् । प्रधाने, अन्त० ७ वर्ग० । पो० ।
नि० चू० । भ० । झा० । सूत्र० । अत्यन्तोत्कृष्टे च । सूत्र० १ श्रु० २
अ० ३ उ० । जं० । अग्रे जातो यः । जेष्ठे भ्रातरि, त्रि० वाच० ।

अग्गओ-अग्रतस्-अग्र्यः । अग्रे अग्राद् वा । अग्र-तसिच् । प्राकृते
“अतो मो विसर्गस्य ” । ८ । १ । ३७ । इति सूत्रेण अतः स्था-
ने मो इत्यादेशः, ड इत् । प्रा० । पूर्ववृत्तौ, पूर्वभागावधिके
च । वाच० ।

अग्गंथ-अग्रन्य-पुं० निर्ग्रन्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अग्गकेस-अग्रकेश-पुं० अग्रभूतेषु केशेषु, भ० ए श० ३३ उ० ।

अग्गकखंधो-देशी-रणमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गजाय-अग्रजात-न० । वनस्पतीनामग्रभागे जाते, “अ-
ग्गजायाणि मूत्रजायाणि वा खंधजायाणि वा ” आचा० १
श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अग्गजिम्भा-अग्रजिह्वा-स्त्री० अग्रजुता जिह्वा अग्रजिह्वा । जिह्वाग्रे,
“सज्जं च अग्गजिम्भाए, उरेण रिसहं सरं” (सज्जमित्यादि) च-
कारोऽत्रावधारणे । परूजमेव प्रथमस्वरजकृणं ब्रूयात् । कयत्या-
ह-अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा, जिह्वाग्रमित्यर्थस्तथा । इह यद्यपि
परूजभणने स्थानान्तराण्यपि कण्ठादीनि व्याप्रियन्ते, अग्रजिह्वा
च स्वरान्तरेषु व्याप्रियते, तथापि सा तत्र बहुव्यापारवतीति
कृत्वा तथा तमेव ब्रूयादित्युक्तम् । इदमत्र हृदयम्-परूजस्वरोऽग्रे
जिह्वां प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिमासादयति तदपेक्षया सा स्वर-
स्थानमुच्यते । एवमन्यत्रापि भावना कार्या । अनु० ।

अग्गतावसग-अग्रतापसक-पुं० । ऋषिभेदे, यद्गोत्रे धनिष्ठान-
कृत्रम् । “धणिष्ठाणक्वत्ते किं गोत्ते पसुत्ते ? । अग्गतावसगोत्ते
पसुत्ते ” । सू० प्र० १० पाठ० । चं० । जं० ।

अग्गदारणिज्जामग-अग्रदारनिर्य्यामक-पुं० अग्रद्वारमूलाव-
स्थापके, ग्नानप्रतिचारिणि च । प्रव० ७२ द्वा० ।

अग्गद्ध-अग्रार्ध-न० । पूर्वाद्धं, नि० चू० १ उ० ।

अग्गपल्लव-अग्रपल्लव-पुं० न० । प्रपल्लवानामग्रभागे, इमे अ-
ग्गपल्लवा-“तल्लणाग्निपरिल्लोप, कविट्ठं अंवाड अंवाए चेव ।
एयं अग्गपल्लवं, ऐयव्वं आणुपुब्बीए ” ॥ १४ ॥ जणपदसिद्धा
एते । (आणुपुब्बि स्ति) एसे च तल्लादिगा । नि० चू० १५ उ० ।

अग्गवीय-अग्रवीज-पुं० अग्रे बीजं येषामुत्पद्यते ते तथा । तल-
ताक्षीसहकारादिषु शाल्यादिषु च अग्रचाण्येवोत्पत्तौ कारणतां
प्रतिपद्यन्ते येषां कोरएट्कादीनां ते अग्रबीजाः । कोरएट्कादिषु
बीजप्रकारेषु वनस्पतिषु, सूत्र० २ सू० ६ अ० । स्था० विशेष० ।
आ० म० द्वि० । अग्गवीया १ मूत्रवीया २ पोरवीया ३ खंधवीया
४ इत्यादयो वनस्पतिभेदाः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गपिंन-अग्र (ग्र) पिण्ड-पुं० तत्कणोत्तीर्णोदनादिस्था-
ल्या अव्यापारितायाः शिखायाम्, (उपरितने भागे) प्रव० २
द्वा० । शाल्योदनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यमाने
पिण्डे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जा-

एज्जा, अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंनं पि-
क्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंनं हीरमाणं पेहाए, अग्गपिंनं
परिजाइजमाणं पेहाए, अग्गपिंनं परिजुजमाणं पेहाए, अ-
ग्गपिंनं परिद्ववेज्जमाणं पेहाए, पुरा असिणाइ वा अवहा-
राति वा पुरा जत्थेसु समणमाहणअतिट्ठिकिवणवणिमगा
खण्डं २ उवसंक्रमंति, से हंता अहमपि खण्डं उवसं-
कामि, माइट्ठाणं संफामे णो एवं करेज्जा ।

(संभिक्षू तेत्यादि) स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुन-
रेवं जानीयात् ! तद्यथा-अग्रपिण्डो निष्पन्नस्य शाब्दोदनादेरा-
हारस्य देवताद्यर्थं स्तोकास्तोकाद्वारस्तमुत्क्रियमाणं दृष्ट्वा तथाऽ
न्यत्र निक्रियमाणं तथा विद्वयमाणं नीयमानं देवतायतनादौ तथा
परिजुज्यमानं विभज्यमानं स्तोकास्तोकात्मन्येन्यो दीयमानं तथा
परिजुज्यमानं तथा त्यज्यमानं देवतायतनाच्चतुर्दिक्षु क्रियमाणं
तथा (पुरा असिणाइ वंति) पुरा पूर्वमन्ये श्रमणादयो येषु अ-
ग्रपिण्डमशितवन्तस्तथा पूर्वमपहतवन्तो व्यवस्थयाऽऽव्यवस्थया
वा गृहीतवन्तः । तदभिप्रायेण पुनरपि पूर्वमिव वयमत्र द्रव्या-
मह इति । यत्राग्रपिण्डादौ श्रमणादयः (खण्डं खण्डं ति) त्वरित-
मुपक्रामन्ति स भिक्षुरेतदपेक्षया कश्चिदेवं कुर्यादालोचयेद्यथा-
हंतेति वाक्योपन्यासार्थः । अहमपि त्वरितमुपसंक्रमामि । एवं
च कुर्वन् भिक्षुर्मातृस्थानं संस्पृशेदित्यतो नैवं कुर्यादिति ।
आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । काकपिण्डायाम् “अग्गपिंडमि
वा वायसा संथमा सखिवइया ” अग्रपिण्डे काकपिण्डायां वा
वहिक्रिस्तायां वायसाः सन्निपतिता जवेयुः । आचा० २ श्रु० १
अ० ५ उ० ।

जे भिक्खू णितियं अग्गपिंनं भुंजइ, जुंजंतं वा साइज्जइ ३ ? ।

णितियं भुवं सासतमित्यर्थः । अग्रं वरं प्रधानं ग्रहवा जं प-
दमं दिज्जति सो पुण जत्तट्ठो भिक्खामेत्तं वा होज्जा । एस सु-
त्तत्थो । अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

एतिए तु अग्गपिंडे, णिमतणो वीलना य परिमाणे ।

साजाविण गिही दो, तिप्पि य कप्पंति तु कमेण । २ ? ३ ।

णितियग्गा सुत्ते वक्खाया । गिहत्यो णिमेत्ति, साहू उ वील-
णं करेति, साहू चेव परिमाणं करेति । साभावियं गिहत्यो
दो तिप्पि आइट्ठाण कप्पंति, साजावियं कप्पति । णिमतणो
वीलणपरिमाणानं । इमाओ तिप्पि वक्खाणगाहातो—

जगवं ! अणुगहं ता, करहि मज्जति जणति आमंति ।

किं दाहिसि जेणिट्ठो, गयस्स तं दाहिसि ण वत्ति । २ ? ४ ।

दाहामि ति य जणिते, तं केवतियं व केचिरं वा वि ? ।

दाहिसि तुमं ण दाहिसि, दिस्सेदिस्से व किं तेण ? । २ ? ५ ।

जावतिणिट्ठो ते, जच्चिरकालं च रोयए तुम्हा ।

तं तावतियं तच्चिर, दाहामि अहं अपरिहोणं ॥ २ ? ६ ॥

गिही णिमेत्ति-भगवं ! अणुगहं करेह मज्ज, घरे जत्तं गेरह-
ह । साहू भणति-करेम अणुगहं, किं दाहिसि ? । गिही जणति-
जेण जेइट्ठो । साहू उ वीलणं करेति, माहणो जणति-घरं गयस्स
तं दाहिसि वा ण वा ? । गिहिणो दाहामि ति य जणिते, साहू प-
रिमाणं कारवैतो भणति-तं परिमाणओ केवतियं केव चिरं वा
कालं दाहिसि ? । प्रथमपादोत्तरं साहू आह-दाहिसि तुमं

ण दाहिसि । इत्तमपि तन् अदत्तवद् अप्पयम् । स्वल्पत्वा-
द् । मुदम्भा द्वितीयपादोत्तमाह जावतिण्ण भत्तेण इदो
जे जावतिये वा काले तुम्मिदो । गिदी पुजो जणति-किं बहणा
भणिएण, जे तुत्ते रोयमेदस्से जावतिय जत्तिये वा काले, तमदं
अपरिदोण अपरिसंते दाहामि त्ति । गिमन्तो पीलणपरि-
माणेसु वि मासलहुं पत्तिउत्ते । चोदग आह—

साभावितं च उचियं, चोदगपुच्छाण पत्तिमो को वि ।

दोमो चतुर्विधम्मिणितियम्मिय अग्गपिंडम्मि॥२१॥

साभावि णितिय कप्पति, अणिमंतगा वीज्ज अपग्गिणे य ।

जं वा वि य समुदाणी, संजिक्खं दिज्ज सायूणं ॥२१॥

सातावियं जे अप्पणो इच्छास्से उचियं दिणे दिणे जतियं
रद्धं ते चोदो भणति । परिस्सेसा भाविण णिमंतगापीज्जणा-
दिदि भिक्खामेति एमवि अक्कप्पाअएणहा माहूण कप्पेसाभा-
वियउच्चि वि णिमंतगादिणहि इमे दासा-

निष्पसे वि सअट्ठा, उग्गमदोमा उ उचितगादीया ।

उत्तं जंवे जम्हा, तम्हा सा य वज्जणिज्जा उ ॥२१॥

अपणट्ठा वि निष्पसे उग्गमादिदोसा जवन्ति । निकाचितो-
हमिति अवश्यं दातव्यम् । कुन्गादिषु स्थापयति तस्मान्निमं-
तणादिपिणो वर्यः ।

उक्कोपण अहिंसकण, अज्झोयरण तहेव ऐकंती ।

असत्थ भोगणम्मिय, कति पामिच्च कम्मे य ॥ २२० ॥

अवस्सदायस्वे अतिष्णए माहुणो भागच्छति उचियपुव्वस्स
उसक्कण करेज्जा, उस्सुरे आगच्छति अनिहिसकणं करेज्ज, अज्झो-
यरयं वा करेज्ज । गिकातिओ त्ति काउं जतिते अण्णत्थ णि-
मंतिया तहा वि तद्दुए किण्ण वा पामिच्चेज्ज वा आहाकम्मं
वा करेज्ज । कारणे पुण णिकायणा पिंसे गणहेज्ज । इमे कारणा—

अभिवे ओमोयरिण, रायहुट्टे भए व गेल्लणे ।

अच्छाणरोहए वा, जयणा गहणंतु गीतत्थे ॥ २२१ ॥

अस्मिन्नगहितो ण लब्धमिति णिमंतगाएणसु वि गेहेज्ज । अथवा अ-
भिवे कारणद्वितो अस्मिन्नगहित्यकुलाणि य परिहरंतो अगहित्यकु-
लेसु अपायंतो णिमंतगा वीज्जणादिषु वि गेहेज्ज, ओमे वि अप-
यंतो । एवं रायहुट्टे तएसु वि अयंतो गच्छंतो वा गिज्ञाणपाउग्गं
वा णिमंतगातिणसु गेगहेज्ज । अज्जाणे रोहए वा अपुव्वंतो गी-
तत्थो पणपग्गिहाणीए जयणाए जोह मासलहुं पत्ते ताहे णो-
यणा पिंसे गेगहति । ति० चू० १ उ० ।

अग्गपूया-अग्रपूजा-आ० “ गंधज्वणद्वयाद्य-त्रयणजव्वास्ति-
याइ दीयाइ । जे किच्चंतं मव्वं, पि ओअरइ अगपूयाए ” इत्ये-
वं लक्षणं जिनप्रतिमापुरतः पूजामेदे, भ० १ अग्रि० ।

अग्गपट्ठारि (ए)-अग्रपट्ठारिन्-पुं० । पुरः प्रहरणशीले,
“ चोरपट्ठि गतो तत्थ अग्गपट्ठारि णिमंसो य चोरसेणावति-
मनो ” आच० १ अ० । आ० म० टि० ।

अग्गमहिंसी-अग्रमहिंसी-आ० अग्रदूता प्रधाना महिंसी, रा-
जतारयायाम्, आ० ४ भा० २, उ० । प्रधानतारयायाम्, उपा० २
अ० । पट्टरायाम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । अथ देवेन्द्राणा-
मग्रमहिष्यः प्रदर्शयन्ते—

तत्र सुवनपतीन्द्राणामग्रमहिष्यः—

चमरस्स एं भंते ! अमुग्गिंदस्स अमुग्गुमाररणो कइ
अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ ? । अज्जो ! पंच अग्गम-
हिंसीओ पएणत्ताओ, तं जहा-काली रायी रयणी विज्जु
पेहा । तत्थ एं एग्गेगाए देवीए अट्टट्टेवीसहस्सपरिवारो
पएणत्तो, पभू णं ताओ एग्गेगाए देवीए अएणाइ अट्ट-
ट्टेवीसहस्साइ परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वा-
वणेणं चत्तालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुम्हि । पजू एं भंते !
चमरे अमुग्गिंदे अमुग्गुमारगया चमरचंचाए रायहाणीए
सज्जाए मुहम्माए चमरंसि सीहासणंसितुम्हिणं सच्चि दि-
व्वाइ जोगजोगाइ जुंजमाणे विहरित्तए ? । एणो इणट्टे
समट्टे, से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ, णो पजू ! चमरे अमु-
ग्गिंदे अमुग्गुमारगया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरि-
त्तए । अज्जो ! चमरस्स एं अमुग्गिंदस्स अमुग्गुमाररणो च-
मरचंचाए रायहाणीए सज्जाए मुहम्माए माणवए चेइए
खंते वइरापणसु गोलवट्टममुग्गणसु बहूओ जिणमक-
हाओ सणित्तिओ चिट्ठेति, जाओ एं चमरस्स अ-
मुग्गिंदस्स अमुग्गुमाररणो अणंसि च बहूणं अमुग्गुमा-
राणं देवाण य देवीण य अचणिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंम-
णिज्जाओ पुयाणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ
कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ जवंति ।
तेमिं पणिहाणे णो पजू ! सेतेणट्टेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ-
णो पजू चमरे अमुग्गिंदे अमुग्गुमारगया चमरचंचाए रायहाणीए
जाव विहरित्तए पजू एं ! अज्जो ! चमरे अमुग्गिंदे अमुग्गुमारगया
चमरचंचाए रायहाणीए सज्जाए मुहम्माए चमरंसि सीहा-
सणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अ-
स्सहिं च बहूहिं अमुग्गुमारोहिं देवेहिय देवीहिय मद्धि संपरि-
वुत्तं महयाहय जाव जुंजमाणे विहरित्तए केवलं परियारि-
ट्ठीए एणो चेव एं मेहुणवत्तियं ॥ भ० १० श० ५ उ० ॥

आसां पूर्वजवः—

तेणं काले एं तेणं समए एं रायगिहे णामं नयरी होत्था ।
वस्सओ तस्म-एणं रायगिहस्स नगरस्स वहिआ उत्तरपुर-
च्छिमे दिमिज्जागे तत्थ एं गुणसिले चेइए नामं चेइए
होत्था । वस्सओ-तेणं कात्रेणं तेणं समएणं समएस्स भग-
वओ महावीरस्स अंतवामी अज्जमुहम्मं नामं थेरा भग-
वंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव चउदसपुव्वी चउत्ताणो-
वगया पंचहिं अणमारमएहिं सच्चि संपरिवुत्ता पुव्वाण-
पुव्वि चरमाणो गामाणुगामं दूइज्जमाणो मुहं मुहेणं जेणे-
व रायगिहे नयरे गुणसिले चेइए जाव संजमेणं तवसा
अप्पाणं जावेमाणे विहरति । परिमा निगया । धम्मो क-
हिओ, परिमा जावेव दिवं पाउभूया तामेव दिसिं पणि-

गया । तेणं काले णं तेणं समए णं अज्जसुहम्मस्स अणगा-
रस्स अंतेवासी अज्जजंबू नामं अणगारे जाव पज्जुवास-
माणे एवं वयासी-जइ णं जंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं
उट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खन्धस्स नायज्जयणस्स
अयमट्ठे पप्पत्ते, दोच्चस्स णं जंते ! सुयक्खन्धस्स धम्म-
कहाणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पप्पत्ते, एवं
खलु जंबू ! धम्मकहा णं दसवग्गापणत्ता । तं जहा-चरम-
स्स अग्गमहिंसीणं पढमवग्गे ॥ १ ॥ बन्नियस्स वइरो-
यणिंदस्स वइरोयरन्नो अग्गमहिंसीणं वीए वग्गे ॥ २ ॥
असुरिंदवज्जियाणं दाहिणिद्व्याणं ईदाणं तइए वग्गे ॥ ३ ॥
उत्तरिद्व्याणं असुरिंदवज्जियाणं जवणवासिइंदाणं अग्गम-
हिंसीणं चउत्थे वग्गे ॥ ४ ॥ दाहिणिद्व्याणं बाणमंतराणं
इंदाणं अग्गमहिंसीणं पंचमे वग्गे ॥ ५ ॥ उत्तरिद्व्याणं वा-
णमंतराणं इंदाणं अग्गमहिंसीणं उट्ठे वग्गे ॥ ६ ॥ चंद-
स्स अग्गमहिंसीणं सत्तमे वग्गे ॥ ७ ॥ सूरस्स अग्गमहिं-
सीणं अट्ठमे वग्गे ॥ ८ ॥ सक्कस्स अग्गमहिंसीणं नवमे
वग्गे ॥ ९ ॥ ईसाणस्स अग्गमहिंसीणं दसमे वग्गे ॥ १० ॥
जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं दसवग्गा
पन्नता । पढमस्स णं जंते ! वग्गस्स समणे णं जाव संपत्ते णं
के अट्ठे पणत्ते ? । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं प-
ढमस्स वग्गस्स पंच अज्जभयणा पन्नत्ता । तं जहा-कात्ती १
राई २ रयणी ३ विज्जा ४ महा विज्जा ५ । जइ णं भंते !
समणे णं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्जभयणा
पन्नत्ता । पढमस्स णं जंते ! अज्जयणं समणे णं जाव संपत्ते णं
के अट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कात्ते णं तेणं समए णं
रायगिहे नगरे गुणसिल्ले चैइए, सेणिए राया, चिल्लणाए दे-
वीए, सामी समोसरिए, परिसा निग्गया । जाव परिसा पज्जु-
वासति तेणं कात्ते णं तेणं समए णं कात्ती देवी
चमरचंचाए रायहाणीए कात्तवर्गिसगजवणे कालांसि सी-
हासणंसि चउहिं सामाणियसाहसीहिं चउहिं मयहरिया-
हिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्त-
हिं अणीयाहिं वतीहिं सोलसाहिं आयरक्खदेवसाहसीहिं
अचेहिं य बहुएहिं कालवर्गिसयभवणवासीहिं असुरकुमारे-
हिं देवेहिं य देवीहिं य सद्धिं संपरिवुत्ता महयाहय जाव वि-
हरइ, इमं च णं केवलकणं जंबूदीवे दीवे णं विउत्ते णं ओ-
हिणा आभोएमाणी पासइ । जत्थ समणं जगवं महावीरं
जंबूदीवे दीवे चारहे वासे रायगिहे नगरे गुणसिल्ले चैइए
अहापक्खिं ओगाहइ, ओगाहइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं
भावेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठुट्ठचित्तमाणंदिया पीडमण
जाव हियया सीहासणाओ उब्भुट्ठेइ, उब्भुट्ठेइत्ता पायपीडा-

ओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता करयन्न जाव कट्ठु एवं वयासी-
नमोऽत्थु णं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थु णं समणस्स
भगवओ महावीरस्स जाव संपाविकामस्स । वंदामि णं
जगवं ! ते तत्थ गयं इह गया तिकट्ठु वंदइ णमंसइ सीहास-
णवरगंसि पुरत्थाजिमुहे सुहनिस्सने तए णं तीसे कालीए
देवीए इमेया रूवे जाव समुप्पज्जित्था । सेयं खलु समणं भ-
गवं महावीरं वंदित्ता जाव पज्जुवासित्तए तिकट्ठु एवं सं-
पेहइ, संपेहइत्ता आभिओगिअदेवं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं
वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया समणे जगवं महावीरे एवं
जहां सूरियाभे तहेव आणतियं देइ जाव दिव्वं सुरवराजि-
रामगमणं जोगं करेइ, करेइत्ता जाव पच्चुप्पिणह ते वि तहे-
व करेत्ता जाव पच्चुप्पिणंति, नवरं, जोयणसहस्सवित्थिन्न
जाणं, सेसं तहेव नाम गोयं साहेइ, तहेव नट्ठविहिं उवदंसेइ,
उवदंसेइत्ता जाव पक्खिया (जंतेत्ति) भगवं गोयमे ! समणे
जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-कालीए णं जंते !
देवी सा दिव्वा देवद्वीओ कहिं गया कूडागारसालादिउंतो ? ।
अहो णं जंते ! कात्तीदेवी महद्धिया कालीए णं भंते ! देवीए सा
दिव्वा देवद्वीए किष्सा लप्पा किष्सा पन्नत्ता अजिसमन्ना गया-
एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेणं काले णं
तेणं समए णं इहेव जंबूदीवे भारहे वासे आमलकप्पा नामं न-
यरी होत्था । वप्पओ-अंवसाववणे चैइए जियसत्तुराया । तत्थ
णं आमलकप्पाए नयरीए काले नामं गाहावती होत्था । अट्ठे
जाव अपरिचूए तस्स णं कालस्स गाहावइस्स कात्तसिरीए
नामं भारिया होत्था सुकुमात्ता जाव सुरूवा । तस्स णं कात्त-
स्स गाहावतस्स धूया कालसिरीए चारियाए अत्तया का-
ली णामं दारिया होत्था । वप्पा वट्ठुकुमारी जुष्सा जुष्सुकुमारी
पडियपूयत्थणी निव्विन्नवरा वरगपरिवज्जियावि होत्था ।
तेणं काले णं तेणं समए णं पासे अरहा पुरिसा दाणिए
आइगरे जहा वप्पमाणसामी, णवरं, एवुस्सेहे सोत्तस-
हिं समणसाहस्सिहिं अट्ठत्तीसाए अज्जिआसाहस्सिहिं
सद्धिं संपरिवुडे जाव अंवसाववणे समोसट्ठे, परिसा णि-
ग्गया जाव पज्जुवासति । तते णं सा कात्ती दारिया इमी-
से कहाए लप्पत्ता समाणी हट्ठु हट्ठु जाव हियया जेणेव
अम्मापियरो तेणेव उवागज्जति, उवागज्जित्ता करयल जाव-
एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ पासे अरहा पुरिसा-
दाणीए आइगरे जाव विहरइ । तं इच्छामि णं अम्मया-
ओ तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स णं अरहओ
पुरिसादाणीयस्स पायवंदणमित्तए । अहासुहं देवाणु-
प्पिया मा पक्खिं करेह । तस्स णं सा काली दारि-
आ अम्मापिइहिं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठुट्ठु जाव
हियया एहाया कयवत्तिकम्मा] कयकोउयमंगलपायच्छित्ता

सुख्खावेसाति मंगलाति वत्थाति पवरपरिहिया अप्प-
महग्गाभरणाङ्गकियसरीरा चेन्निआ चक्कवालपरिकिन्ना
साओ गिहातो पम्पिक्खमइ, पम्पिक्खमइत्ता जेणेव
वाहिरिया उवट्टाणमाला जेणेव धम्मियजाणपवरं तेणेव
उवागच्छति, उवागच्छत्ता धम्मियजाणपवरं दुरुहा ।
तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा
देवाणंदाए जहापज्जुवामइ । तए णं पासे अरहा पुरिसा-
दाणीए कालीए दारियाए तीमे महइ, महइत्ता महाद्वियाए
परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स
ए अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णि-
सम्म हट्ठुत्ता जाव हियया पासस्स ए अरहओ पुरिसा-
दाणीयस्स तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सदहामि
यां जंते ! निगंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्बे वयह जं
नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आपुच्चा मि तएणं अहं
देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पि-
या मा पडिबंथं करेह । तए णं सा काद्विदारिया पासेणं अ-
रहा पुरिसादाणीए ए एवं वुत्ता समाणी हट्ठुत्ता जाव हि-
यया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जा-
णपवरं दुरुहइ, दुरुहइत्ता पासस्स ए अरहओ पुरिसादाणीए
अंतियाओ अंबसालवणचेइयाओ पम्पिक्खमइ, पडिनि-
क्खमइत्ता जेणेव आमलकप्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छत्ता आमलकप्पं नयरिमज्झं मज्जेणं जेणेव वा-
हिरिआ उवट्टाणमाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता धम्मियं जाणपवरं उवइ, उवइत्ता धम्मियाओ जाण-
पवगाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अम्मापियरो तेणे-
व उवागच्छति, उवागच्छत्ता करयत्तपरिग्गहिअं एवं
वयासी-एवं खलु अम्मयाओ मए पामस्स ए अरहाओ
अंतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अ-
भिरुइ । तए णं अहं अम्मयाओ संसारभउव्विग्गा जी-
या जम्ममरणं इच्छामि एं तुब्बेहिं अब्बणुत्ताया समाणी
पामस्स ए अरहओ अंतिए मुंदा जवित्ता आगाराओ अ-
णगरियं पव्वइत्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया मा पम्पिक्खं करेह ।
तए णं काद्वे गाहावइ विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
उवक्खवावेति, उवक्खवावेत्ति मित्तनातिनियगसयणसंबं-
धीपरियणं आमंतइ । आमंतइत्ता ततो पच्चा एहाए जाव विपु-
ल्लेणं पुप्फवत्तयंगं धमद्वाङ्गकारेणं सक्कारित्ता संमाणित्ता तस्सेव
मित्तणानिणियगसयणसंबंधिपरियणस्स पुरओ कालीदा-
रियं सेयापीएहिं कत्तमेहिं एहवेइ, एहवेइत्ता सव्वालंकार-
विभूमियं करेइ, करेइत्ता पुरिमसहस्सवाहिणीयं सीयं दुरुह-
इ, दुरुहइत्ता मित्तनाति जाव परियणसब्धिं संपरिवुडे स-
व्वट्ठीए जाव रवंणं आमलकप्पानयरिं मज्झं मज्जेणं नि-

गच्छइ, निगच्छइत्ता जेणेव अंबसालवणे चेइए तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छत्ता उताइए तित्थयराइं पासइ २ सीयं ठ-
वेइ, ठवेइत्ता काद्विया दारिया सीयातो पच्चोरुहाति, पच्चो-
रुहइत्ता तते एं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ का-
उं जेणेव पासं अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छति, उ-
वागच्छत्ता वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया का-
द्वियदारिया अहं भूया इहा कंता जाव किमंण ! पुण पास-
णयाए एस एं देवाणुप्पिया संसारजिउव्विग्गा इच्छइ देवा-
णुप्पियाणं अंतिए मुंडे जवित्ता, जाव पव्वइत्तए तं एयन्नं
देवाणुप्पियाणं सिसिणिं भिक्खं दलयाओ पम्पिक्खं तु णं
देवाणुप्पिया सिसिणिं भिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया मा-
पम्पिक्खं करेह । तए णं सा काली देवी कुमारी पासं अ-
रिहं वंदइ, वंदइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमति,
अवक्कमइत्ता सयमेव आजरणमद्वाङ्गकारा मुयति, मुयति-
त्ता सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासं अरहा पुरिसादाणि-
ए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छत्ता पासं अरहं तिक्खुत्तो
वंदंति नमंसंति, एवं वयासी-आद्वि ! तेणं मंते ! दोए एवं
जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासं अरिहा
पुरिसादाणीए काद्वीए सयमेव पुप्फचूलाए अज्जाए सि-
सिणियत्ताए दलयइ । तए णं सा पुप्फचूला अज्जा काद्वि
कुमारिं सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरति,
तते एं सा काद्वी अज्जया इरिया समिता जाव
गुत्तवंभचारिणी । तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाए
अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ,
अहिज्जइत्ता बहुहिं चउत्थं जाव विहरति । तए णं सा
काली अज्जा अब्बया कयाइं सररीपासिओसिआ जाया
वि होत्था । अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थं धोवइ, पाए धो-
वेइ, सीसं धोवेइ, मुहं धोवेइ, थणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा य
धोवेइ, गुज्झंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ वियट्ठाणं वा सेज्जं
वा निसीहियं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अब्बुक्खित्ता तओ
पच्छा आसइ वा, सयइ वा तएणं सा पुप्फचूला अज्जा का-
द्वि अज्जि एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणी-
णं निगंथीणं सररीपाउसीयाणं होतए तुमं च एं देवाणु-
प्पिया सररीपाउसीया जाया वि होत्था । अभिक्खणं
अभिक्खणं हत्था धोवसि, जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं
तुमं देवाणुप्पिआ एयस्स टाणस्स आलोएहिं जाव पाय-
च्छित्तं पम्पिज्जाहि । तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूला-
अज्जाए एयमठं नो आढाइ जाव तुसिणीया संचिछइ, त
एणं ताओ पुप्फचूलाओ अज्जाओ काद्वि अज्जं अभिक्खणं
२ हीड्वेति, निंदंति, खिसंति, गरहंति, अवमाणंति, अभिक्खणं
२ एयमठं निवारंति, तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं

निगंथीहि अभिक्खणं २ हीलिज्जमाणीए जाव वि-
हरिज्जमाणीए इमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुपज्जित्या,
जया एं अहं अगारवासमज्जे वसित्ता तया एं अहं सयं-
वसा, जप्पजित्ति च एं अहं मुंठा भवित्ता अगाराओ
अणगारियं पव्वइया तप्पजित्ति च णं अहं परवसा
जाया । तं सेयं खलु मम कद्धं पाउ पनायाए
रयणीए जाव जलंते पान्निक्कयं उवसंपज्जित्ता णं वि-
हरित्ते पान्निक्कयं उवस्सयं गेहइ, गेहइत्ता तत्थ णं अणा-
वारिआ अणोहट्ठिआ सच्छंदमती अभिक्खणं २ हत्थे
धोवेइ, जाव आसयइ वा सयइ वा तए एं सा काळी
अज्जा पासत्था पासत्थविहारी कुसीझा कुसीझविहारी अ-
हाउंदा अहाउंदविहारी संसत्ता संसत्तविहारी बहूणि वा-
साणि सामन्नपरियागं पाउणिच्चा अप्पमासीयाए द्वेइणाए
अत्ताणं जूमेइ, जूमेइत्ता तीमं जत्ताइं अणसणाइं उेदित्ता
तस्स उाणस्स अणाउोइय अपडिक्कंता काळे मासे कालं कि-
च्चा चमरचंचाए रायट्ठाणीए काळि वरिसिए भवणे उववाय-
सजाए देवसयणिज्जंसि देवदूमंतरिआ अंगुलस्स असंखेज्जइ
जागमेत्ताए ओगाहणाए काळी देवी देवित्ताए उववन्नाए ।
तए णं सा काळी देवी अवहुणेववन्ना समाणी पंचविहा-
ए पज्जत्तीए जहा सूरियाभे जाव भासामणपज्जत्तीए ।
तए एं सा काली देवी चउएहं सामाणियसाहस्सीणं जाव
अन्नेसिं च बहूणं काळी वरिसगजवणवासीणं असुरकु-
माराणं देवाणं य देवीए य आहेवच्चं जाव विहरइ, एवं
खट्ठु गोयमा ! काळीए देवीए सा दिव्वा देवद्वी लप्पा पन्न-
त्ता अज्जिमएणा गया । काळीए एं भंते ! देवीए केवति-
यं कालं उित्ती पएणत्ता ? । गोयमा ! अट्ठाइज्जा तिपडिओ-
वमाइं उित्ती पन्नत्ता, काळीए एं भंते ! देवी ताओ देवओ-
गाओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता काहिं गच्छहिंति काहिं उववज्जि-
हिंति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिह्दिइ, एवं
खट्ठु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पढमज्ज-
यणस्स अयमट्ठे पएत्ते ति वेमि [पढमं अज्जयनं सम्मत्तं] । १ ।
जतिणं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं पढमस्स
वग्गस्स पढमज्जयणस्स अयमट्ठे पएत्ते, वितियुस्स एं भंते !
अज्जयणस्स समणे एं जाव संपत्ते एं केअट्ठे पएणत्ते ? ।
एवं खट्ठु जंबू ! तेणं काळे एं तेणं समए एं रायगिहे नगरे
गुणसिन्नए चेइए सामी समोसट्ठे परिसा निगगया जाव पज्जु-
वासइ । तेणं काळे एं तेणं समए एं राई देवी चमरचंचाए रा-
यहाणीए, एवं जहा काली तहेव आगया नट्ठविहिं उवदंसेत्ता
जाव पणिगया [भंते त्ति] जगवं गोयमे ! पुव्वज्जपुच्छा । एवं

खलु गोयमा ! तेषं काले णं तेषं समए णं आमन्नकप्पा नयरी
अंवसालवणे चेइए जियमत्तू राया, राई गाहावई रायमिरी
भारिया राई दारिया पासस्स समोमरणं राई दारिया जहेव
कात्थी तहेव णिक्खित्ता तदेव सरीरपाउसिया, तं चेव सव्वं
जाव अंतं काहिति, एवं खलु जंबू ! वीयज्जयणस्स निवरेवओ
॥२॥ जति णं भंतं ! तइयस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ, एवं
खलु जंबू ! रायगिहे नयेर गुणमिद्धे चेइए० एवं जहेव राई तहेव
रयणी वि, नवरं, आमलकप्पा नयरी, रयणी गाहावती रयण-
सिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव, जाव अंतं काहिति
॥३॥ एवं विज्जू वि, आमन्नकप्पा नयरी, विज्जू गाहावती
विज्जुसिरी नारिआ विज्जू दारिया, सेमं तहेव ॥४॥ एवं मे-
हावो आमन्नकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ
मेहा दारिआ, सेसं तहेव । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं
धम्मकहा णं पढमस्स वगस्स अयमद्वे पणत्ते । शा० २ श्रु० १ वर्ग ।

चमरस्स णं जंते ! असुरिंदस्स असुरकुमाररखो सोमस्स महारखो कइ अगमहिंसीओ पस्सत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ पस्सत्ताओ । तं जहा— कणया कणगन्नया चित्तगुत्ता वसुंधरा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं परिवारो पएणत्तो । पन्नू ! एं ताओ एगमेगा देवी अस्स एगमेगं देवीसहस्सपरिवारं विउव्वित्तए ? एवामेव सपुग्वावरो एं चत्तारि देवीसहस्सा सेत्तं तुडिए । पन्नू एं जंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररखो सोम महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहस्माए सोमं सि सीहासणं सितुन्निए एं अवसेमं जहा चमरस्स, णवरं, परिवारो जहा सूरियाभस्स, मेसं तं चेव, जाव णो चेव एं मेहुणवत्तियं । चमरस्स एं जंते ! जाव रखो जमस्स महारखो कइ अगमहिंसीओ ? । एवं चेव, एवरं, जमाए रायहाणीए०, सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, णवरं, वरुणाए रायहाणीए०, एवं वेसमणस्स वि, णवरं, वेसमणाए रायहाणीए०, सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । वडिस्स णं जंते ! वडरोयणिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! पंच अगमहिंसीओ पस्सत्ताओ । तं जहा— सुंभा णिसुंजा रंभा निरंजा मदणा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए अट्टड०, सेसं जहा चमरस्स, एवरं, वलिचंचाए रायहाणीए परिवारो जहा मोओदेवए, सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । वलिस्स णं भंते ! वडरोयणिंदस्स वडरोयणरखो सोमस्स महारखो कइ अगमहिंसीओ पस्सत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ पएणत्ताओ । तं जहा— मीणा सुभदा विज्जुआ असणी । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, सेसं जहा चमरस्स । एवं जाव वेसमणस्स । भ० १० श० ५ उ० ।

आसां पूर्वभवः—

जइ एं भेंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं दोच्चस्म
वग्गस्म उक्खेवओ । एवं खलु जंवू ! समणे एं जाव संपत्ते
णं दोच्चस्म वग्गस्म पंच अज्जणा पणत्ता । तं जहा-मुंभा
१ तिमुंभा २ रंभा ३ निरंभा ४ मदणा ५ । जइ एं जेंते !
समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकट्टा एं दोच्चस्म वग्गस्म पंच
अज्जयणा पणत्ता । दोच्चस्म एं भेंते ! वग्गस्म पढमज्ज-
यणस्म केअट्टे पणत्ते ? । एवं खलु जंवू ! तेणं काळे एं तेणं
समणे एं रायगिहे गुणसिले चेइए, सामी समोसंढे, परिसां
जाव पज्जुवासति । तेणं काळे एं तेणं समणे एं मुंभा देवी व-
ल्लिचेचाए रायहाणीए मुंजवडिसए जवणे मुंभेमि मिहाम-
णंसि कात्तिगमणे एं जाव एट्टविट्ठि उवदंमेत्ता जाव पडिगया
पुव्वजवपुच्छा । मावन्थी नयरी, कोट्टए चेइए, जियसत्त राया,
मुंभे गाढावडि, मुंजमिरी भारिआ, मुंजा दारिया, मेसं जहा
कात्तीए, नवरं, अरुपुत्ति पलिओवमाइं ठिती, एवं खलु
जंवू ! उक्खेवओ पढमस्म अज्जयणस्म, एवं सेमा विचचारि
अज्जयणा मावन्थीए, नवरं, माया पिया धूसिगितिनामया ।
एवं खलु जंवू ! निक्खेवओ वीयस्म वग्गस्म । शा० २५० १ अ०

धरणस्य—

धरणस्म एं भेंते ! णागकुमारिंदस्म णागकुमारणो कइ
अग्गमहिमीओ पणत्ताओ ? । अज्जो ! उ पणत्ताओ । तं जहा-
अन्ना मक्का मतेरा सोदापिणी इंदा घणविज्जुया । तन्थ एं एग-
मेगाए देवीए उ उ देवीमदहस्माइं परिहारं विउवित्त-
ए, एवापव मपुव्वावणेणं उत्तीमं देविमदहस्माइं, मेत्तं तुडिए ।
पत्त ! एं भेंते ! धरणं, मेसं ते चेव, एवरं, धरणए रायहाणीए
धरणंसि मीहामणंसि मओ परिवारो, मेसं ते चेव । धर-
णस्म एं जेंते ! णागकुमारिंदस्म कालवात्तस्म जोगवात्तस्म
महागणो कइ अग्गमहिमीओ पणत्ताओ ? । अज्जो !
चचारि अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-असोगा
विमत्ता मुप्पता मुदंमणा । तन्थ एं एगमेगाए देवीए०,
अवेवमं जहा चमरजोगपालाणं, मेमाणं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

जूयाणंदस्म एं भेंते ! पुच्छा । अज्जो ! उ अग्गमहिमीओ
पणत्ताओ । तं जहा-रूया रूयंमा सुख्वा रूयगावडि रूयकांता
रूपपता । तन्थ एं एगमेगाए देवीए, अवमेसं जहा धरणस्म ।
जूयाणंदस्म एं भेंते ! णागकुमारस्म चित्तस्म पुच्छा । अज्जो !
चचारि अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-मुंभेदा मुभदा
मुजाया मुमणा । तन्थ एं एगमेगाए देवीए०, अवमेसं जहा
चमरजोगपालाणं । एवं मेमाणं वि तिण्हि वि लोगपालाणं
नहा, दाहिणिट्ठा इंदा, तेमि जहा धरणस्म । लोगपालाणं
वि, तेमि जहा धरणलोगपालाणं । उज्जिंदाणं जहा जूयाणं-

दस्म । लोगपालाणं वि, तेमि जहा जूयाणंदस्म जोगपाला-
णं, एवरं, इंदाणं मव्वेसि रायहाणीओ सीहामणाणि य
सरिमणापगाणि, परिवारो जहा मोओदेसए, लोगपालाणं
सव्वेसि रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिमणापगाणि
परिवारो जहा चमरजोगपालाणं । ज० १० श० ५ उ० ॥

भूतानन्दसुत्रे-(एवमिति) यथा कात्तपालस्य तथाऽन्येषामपि,
नवरं, तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः । धरणस्य दक्षिणनागकुमा-
रनिकायिन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्यो यथा २ यन्नामिकास्त-
था २ तन्नामिका एव सर्वेषां दक्षिणात्यानां शेषाणामशानां वे-
णुदेवहरिकान्ताग्निशखपुर्णजलकान्तमितगतितेवन्नम्वघोपाख्या-
नामिन्द्राणां ये लोकपालाः सुत्रे दर्शितास्तेषां सर्वेषामिति ।
यथा च भूतानन्दस्यौदीच्यनगराजस्य तथा शेषाणामशानामौ-
दीच्येन्द्राणां वेणुदालिहरिसहाग्रिमाणववसिष्ठजव्रभामितथा-
हनप्रभञ्जनमहाघोषाख्यानां ये लोकपालास्तेषामपीति । एतदे-
वाह—जहा धरणस्सत्यादि ।

आसां पूर्वभवः—

उक्खेवओ तइयवग्गस्म । एवं खलु जंवू ! समणे एं जाव संप-
त्ते एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्जयणा पणत्ता । तं
जहा-पढमे अज्जयणे जाव चउप्पन्नचित्ते अज्जयणे । जइ एं
भेंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकट्टा एं तइयस्स वग्गस्स
चउप्पन्ना अज्जयणा पणत्ता । पढमस्स एं भेंते ! अज्जयण-
स्स समणे एं जाव संपत्ते एं केअट्टे पणत्ते ? । एवं खलु जंवू !
तेणं काळे एं तेणं समणे एं रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए
सामी समोसंढे, परिसा निगया जाव पज्जुवासति । तेणं
काले एं तेणं समणे एं अलादेवी धरणा रायहाणीए अद्दाव-
डिसं जवणे अन्नंसि सिहामणंसि, एवं कात्ती गमणे एं जाव
नट्टविट्ठे उवदंमेत्ता पडिगया पुव्वजवपुच्छा । वाणारसीए
काममहावणे चेइए अद्दे गाढावती अलजसिरी भारिआ अ-
लादारिया, मेसं जहा कात्तीए, नवरं, धरणस्स अग्गमहि-
मिताए उववाओ साइरं अरुपलियावमं ठिती, मेसं तदेवा
एवं खलु निक्खेवओ पढमज्जयणस्स । एवं कमा मक्का मतेरा
सोदापिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ पयाओ धरणस्स
अग्गमहिमीओ । एते इ अज्जयणा वेणुदेवस्स अवसेसा
जाणियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्जयणा ।
एए चेव दाहिणिट्ठाणं इंदाणं चउप्पन्नं अज्जयणा भवंति,
मव्वाओ वि वाणारसीए काममहावणे चेइए तइयवग्गस्स
निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंवू !
समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकट्टा एं चउत्थस्स वग्गस्स
चउप्पन्ना अज्जयणा पणत्ता । तं जहा-पढमे अज्जयणे जाव
चउप्पन्न इमे अज्जयणे, पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ ।
एवं खलु जंवू ! तेणं काले एं तेणं समणे एं रायगिहे समोसरणं
जाव परिसा पज्जुवासइ । तेणं काले एं तेणं समणे एं रूया
देवी रूयाणंदारायहाणीए रूयगावडिसं जवणे रूयगंसि

सीहामणंसि जहा काञ्चिए तहा, नवरं, पुव्वजवे चंपाए पुन्न-
जदे चेइए रूपे गाहावनी रूयगसिरी जारिआ रूया दारिया,
सेसं तहेव, नवरं, जूयाणंदा अग्गमहिमिआए उववाओ देमू-
णं पलिआवमट्ठिती निक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! सुरूवा
वि रूयंसा वि रूअगावई वि रूअकंता वि रूयप्पजा
वि, एयाए चेव उत्तरिद्व्याणं इंदाणं भाणियव्वाओ जाव महा-
पोसस्स । निक्खेवओ चउत्तयस्स वग्गस्स । ज्ञा० २ शु० १ वग्ग ।

अन्तरेंद्राणां कालस्य—

काञ्चस्स णं भंते ! पिमायइंदस्स पिसायरसो कइ अग्ग-
महिमीओ पणत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमीओ
पणत्ताओ । तं जहा-कमत्ता कमलप्पजा उप्पत्ता सुदंसा । त-
त्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चम-
रलोगपालाणं, परिवारो तहेव, एवरं, काञ्चाए रायहाणीए
कालंसि सीहामणंसि, सेसं तं चेव, एवं महाकालस्स वि ।

सुरूपस्य—

सुरूवस्स णं जंते ! जूइंदस्स जूयरसो पुच्छा । अज्जो !
चत्तारि अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-रूयवई
वहुरूवा सुरूवा सुभगा । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा
कालस्स, एवं पक्खिवस्स वि ।

पुण्यभक्षस्य—

पुण्णजइस्स णं भंते ! जक्खिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! च-
त्तारि अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-पुष्पा बहुपु-
त्तिया उत्तमा तारया । तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं जहा
काञ्चस्स, एवं माणिजइस्स वि ।

जीममहाभीमयोः—

जीमस्स णं जंते ! रक्खसिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्ता-
रि अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-पञ्चमा पञ्चमावई
कणगा रयणप्पभा । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं जहा
कालस्स, एवं महाजीमस्स वि ।

किन्नरस्य—

किण्णरस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
हिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-वडिंसा केतुमई रइसेणा
रइप्पिया । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं किंपुरिसस्स वि ।

सुपुरुषस्य—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमीओ
पणत्ताओ । तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुप्फवई । तत्थ
णं एगमेगा देवी०, सेसं तं चेव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिकायस्य—

अइकायस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमीओ
पणत्ताओ । तं जहा-जुयगा भुयगवई महाकच्छा फुटा ।
तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं महाकाञ्चस्स वि ।

गीतरतेः—

गीयरइस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहि-

सीओ पणत्ताओ । तं जहा-सुघोसा विमत्ता सुस्सरा म-
रस्सई । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं गीयजसस्स वि । सन्वे-
सिं एएसिं जहा कालस्स, नवरं, सरिसनामगाओ रायहा-
णीओ सीहासणाणि य, सेसं तं चेव । ज० १० श० ५ उ० ।

आसां पूर्वभवः—

पंचमवग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव वत्तीसं
अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा—

कमत्ता कमलप्पभा, उप्पत्ता य सुदंसेणा ।

रूववई वहुरूवा, सुरूवा सुभगा वि य ॥ १ ॥

पुन्ना बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य ।

पञ्चमावती सुमई, कणगा कणगप्पजा ॥ २ ॥

वक्केमा केउमई च, रइमेणा रइप्पिया ।

रोहिणी नवमिया वि, हिरी पुप्फवई इय ॥ ३ ॥

जुयगा जुयगावती, महाकच्छा फुटाइया ।

सुघोसा विमत्ता चेव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उक्खेवओ पठमज्जयणस्स । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं
तेणं समए णं रायगिहे णयरे समोसरणं जाव पज्जुवासइ ।
तेणं काले णं तेणं समए णं कमत्ता देवी कमत्ताए रायहाणीए
कमलवर्णिसए जवणे कमलंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा
काञ्चीए तहेव, नवरं, पुव्वजवे नागपुरे एगरे सहसंबवणे
उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्स कमलसिरी भारिया कमत्ता
दारिया पासस्स णं अंतिए निक्खंता, काञ्चस्स पिसायकुमा-
रिंदस्स अग्गमहिमीओ अरूपपत्तिओवमट्ठिती, एवं सेसावि
अज्जयणा । दाहिणिद्व्याणं वाणमंतरिंदाणं भाणियव्वाओ स-
व्वाओ, नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे मायापियरो धूयासिरि-
सनामया डिती अरूपलितोवमं । पंचमो वग्गो सम्मत्तो ॥ ५ ॥
बड्डो वि वग्गो पंचमसरिमो, नवरं, महाकाञ्चिंदाणं उत्तरि-
द्व्याणं इंदाणं अग्गमहिमीओ पुव्वजवे साएए एगरे उत्तरकु-
रुउज्जाणे मायापियरो धूयासिरिणामया सेसं तं चेव ।
बड्डो वग्गो सम्मत्तो । ज्ञा० २ शु० ६ व० ।

ज्योतिष्केन्द्राणाम्—

चंद्रस्स णं जंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो कति अग्ग-
महिमीओ पणत्ताओ ? । चत्तारि अग्गमहिमीओ पणत्ताओ ।
तं जहा-चंद्रप्पभा जोसिणाजा अच्चिमात्ती पभंकरा । तत्थ णं
एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्सीओ परिवारो
पणत्तो । पच्चू ! णं ततो एगमेगा देवी अन्नाइं चत्तारि चत्ता-
रि देवसाहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वाव-
रेणं सोत्तसदेवीसाहस्सीओ पणत्ताओ, सेत्तं तुमिण ।

(चंद्रस्स णं भंते ! इत्यादि) चन्द्रस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य
ज्योतिषराजस्य कति कियत्संख्याका अग्रमहिष्यः प्रज्ञाताः ? ।
जगवानाह—गौतम ! चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञाताः । तद्यथा—च-
न्द्रप्रजा (जोसिणाभेत्ति) ज्योत्स्नाभा, अर्चिमात्ती, प्रभङ्करा ।

(तत्थ णमित्थादि) तत्र तामु चतसृष्वग्रमहिणीषु मध्ये एकैकस्या देव्याश्चाचारि २ देवीसहस्राणि परिवारः प्रज्जमः । किमु-क्तं भवति । एकैका अग्रमहिणी चतुर्णां चतुर्णां देवीसहस्राणां पट्टराज्ञीनामैकैका च सा द्रुथंभूताऽग्रमहिणी, परिचारणावसरे तथाविधां ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रदेवेच्छामुपलज्य प्रचुरग्न्याति आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं स्वात्माविकानि, पुनरेवमेव उक्तप्रकारेणैव पूर्वापरमीलनेन पारुशदेवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य जवन्ति । "सत्तं तुमिण" तदेव तावत् श्रुतिकमन्तःपुरं व्यपदिश्यते ।

सत्तायामभोगः-

पचू ! णं जंते ! चंदे जोतिमिंदे जोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सत्ताए सुधम्माए चंदंमि सीहामणंसि तुमिणए सच्चि दिव्वाइं भोगभोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए ?। गोयमा ! नो इण्णहे समट्ठे । मे केण्णहे णं भंते ! एवं वुच्चइ ? नो पचू ! चंदे जोइसराया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंमि सीहामणंसि तुमिण एं सच्चि विपुलं भोगभोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए ?। गोयमा ! चंदस्स णं जोतिमिंदस्स जोइसरया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुधम्माए माणवगंसि चेनियखंजंमि वड्ढगमेयसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहुयाओ जिणसकट्ठाओ चिट्ठंति, जाओ णं चंदस्स जोतिमिंदस्स जोतिसरया अण्णोसिं च वड्ढंणं जोतिसयाणं देवाण य देवीण य अब्बणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ तामि णं पणिट्ठाए नो पचू ! चंदे जोइसराया चंदवडिंसए जाव चंदंमि सीहामणंसि जुंजमाणे विहरित्तए, मे तेण्णहे गोयमा ! नो पचू ! चंदजोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंमि सीहामणंसि तुमिणए सच्चि दिव्वाइं जोगजोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए अदुत्तरं च णं गोयमा ! नो पचू ! चंदजोतिमिंदे जोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सत्ताए सुधम्माए चंदंमि सीहामणंसि चउहिं सामाणियसहस्सीहिं जाव सोल्लसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य वड्ढहिं जोतिमिण्हिं देवेहि य देवीहि य सच्चि संपरिवुडे महयाहयणट्टगीयवाड्यतंतं तन्नलानुमियणमुडंगपकुप्पवाड्यवेणं दिव्वाइं भोगजोगाईं जुंजमाणा विहरित्तए केवलपरियारतूमिणए सच्चि जोगजोगाईं चोसट्ठिए वुच्चिण नो चेव णं मेहुणवत्तियं ।

(पचू णं जंते ! इत्यादि) प्रतुर्भेदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने सत्तायां सुधर्मायां चन्द्रसिंहासने श्रुतिकमन्तःपुरेण सच्चि दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जमानो विहर्तुमासितुं भगवानाह- गौतम ! नायमर्थः समर्थः । अथैव कारणं पृच्छति- (मे केण्णहेणमित्यादि) तदेव भगवानाह- गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावतंसके विमाने सत्तायां सुधर्मायां माणवकचैत्यस्तस्मिन् वज्रमयेषु गोलवृत्तममुक्तेषु ते च यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधानीगत सुधर्मासभायामिव द्रष्टव्यम् । बहूनि जिनसत्त्वानि सच्चिक्रिमानि

तिष्ठन्ति यानि । सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य अर्चनीयानि पुष्पादिभिर्वन्दनीयानि विशिष्टैः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पूजनीयानि वस्त्रादिभिः सत्कारणीयानि आदरप्रतिपत्त्या सम्माननीयानि जिनेोचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मंगलं चैत्यमिति पुर्युपासनीयानि (तासि पणिट्ठाए त्ति) तेषां प्रतिजिया तानि आश्रित्य नो प्रभुश्चन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने यावद्विहर्तव्यमिति । (पचू णं गोयमा ! इत्यादि) प्रभुर्गौतम ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने सत्तायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिणीभिः सपरिवारानिस्तिसृभिः पर्पद्भिः सप्तभिस्तीकाधिपतिभिः पारुशभिरात्मरक्ककदेवसदस्रैरन्यैश्च बहुभिर्ज्योतिषैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतो महयाहयत्यादि पूर्ववद् दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहर्तुमिति न पुनर्मथुनप्रत्ययं मैथुननिमित्तं दिव्यान् स्पर्शादीन् भोगान् भुञ्जानो विहर्तुं प्रभुरिति ।

सूर्यस्याग्रमहिष्यः-

सूरस्स णं भंते ! जोतिमिंदस्स जोतिमरन्नो कति अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-सूरिप्पजा आतपाभा अच्चिमाली पजंकरा । एवं अवसेसं जहा चंदस्स, णवरं, सूरिवडिंसके विमाणे सूरंमि सीहामणंसि तद्देव ।

(सूरस्स णं भंते ! इत्यादि) सूरस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिष्यः प्रज्जमाः ?। जगवानाह-गौतम ! चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्जमाः । तद्यथा-सूरप्रभा आतपाभा अच्चिमात्री पजंकरा । 'तत्थ णं एगमेगाए देवीए' इत्यादि चन्द्रवत् तावद् यक्तव्यं, यावद् नो चेव णं मेहुणवत्तियं, नवरं, सूर्यावतंसके विमाने सूर्यसिंहासने इति वक्तव्यम्, शेषं तथैव । जी० ४ प्रति० । स्था० ।

अङ्गारकादीनाम्-

इंगालस्स णं भंते ! महागहस्स कति अग्गमहिंसीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-विजया वेजयंती जयंती अपराजिता । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, मेसं तं चेव, जहा चंदस्स, णवरं, इंगालवडिंसए विमाणे इंगालगंसि सीहामणंसि, मेसं तं चेव, एवं वियाल्लस्स वि । एवं अट्ठासीए वि महागहाणं वत्तव्या णिरवमेसा भाणियन्वा जाव जावकेउस्स, णवरं, वडिंसगा सीहामणाणि य सरिसणामगाणि, मेसं तं चेव । भ० १० श० ५ उ० । जीवा० । स्था० ।

आस्रां पूर्वभवः-

सत्तमवगस्स उक्खेवो । एवं खलु जंवू ! जाव चत्तारि अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा-सूरप्पभा आयंवा अच्चिमाली पजंकरा । पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंवू ! तेणं कात्ते णं तेणं समए णं रायगिहे समोमरणं जाव परि-सा पज्जुवासति । तेणं कात्ते णं तेणं समए णं मूरप्पजा देवी सूरंमि विमाणंसि सूरप्पजंसि सीहामणंसि सेसं जहा कालिण तहा, नवरं, पुण्वभवो अक्खुपुरीए नयरे सूरप्पभस्स

गाहावस्स सूरसिरिए भारियाए सूरप्पजा दारिया सूर-
स्म अग्गमहिमी त्रिती अरुपत्तिओवमं पंचहिं वाससएहिं
अब्भट्ठियं, सेसं जहा कालिए । एवं सेसाओ वि मव्वाओ
अक्खुपुरीए नयरीए [सत्तमवग्गो सम्मतो] ॥७॥ अट्टमस्स
वग्गस्म उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्जयणा
पन्नत्ता । तं जहा-चंदप्पभा दीतिप्पजा अचिमाली पट्टंकरा ।
पट्टमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले
एणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवा-
सइ । तेणं काले णं तेणं समएणं चंदप्पजा देवी चंदप्पजंसि
सीहासणंसि, सेसं जहा कालिए, नवरं, पुव्वभवे महुराए न-
यरीए भंकीवमिसए उज्जाणे चंदप्पजे गाहावई चंदसि-
री भारिया चंदप्पभा दारिआ चंदस्स अग्गमहिमी त्रिती
अट्टपत्तिओवमं पन्नासं वाससहस्सेहिं अब्भट्ठियं, सेसं जहा
कालीए, एवं सेसाओ वि महुराए नयरीए मायापियरो
धुयसिरीनामया [अट्टमो वग्गो सम्मतो] ॥८॥ २ शु० ।

वैमानिकानां शक्रस्य—

सकस्स एणं भंते ! देविंदस्स देवरणो पुच्छा । अज्जो ! अट्ट
अग्गमहिमीओ पएणत्ताओ । तं जहा-पडमा सिवा सेवा
अंजू अमला अचर्रा नवमिया रोहिणी । तत्थ एणं एगमे-
गाए देवीए सोत्तस २ देवीसहस्सपरिवारो पएणत्तो । पभू !
एणं ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं सोत्तस २ देविसहस्सा-
इं परिवारं विउवित्तए । एवामेव सपुव्वावरणं अट्टावी-
सुत्तरं देवीसयसहस्सं परिवारो विउवित्तए, सेत्तं तुमिए ।
ज० १० श० ५ उ० ।

उपासकदशह्कटीकायां कामदेववक्तव्यतायामभयदेवसुरिणा
अग्रमहिषीपरिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमालिने चत्वारि-
ंशत्सहस्राणि । ति लिखितम्, तच्चिन्त्यम् । ज० १० श० ५ उ० ।

जोगः—

पभू ! णं भंते ! सके देविंदे देवराया सोहम्मए कप्पे सोह-
म्मवमिसए विमाणे सजाए सुहम्मए सकंसि सीहासणंसि
तुडिए णं सच्चि, सेसं जहा चमरस्स, एवरं, परिवारो जहा
मोओदेसए ।

शक्रलोकपालानाम्—

सकस्स एणं भंते ! देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो
कति अग्गमहिमीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमी-
ओ पएणत्ताओ । तं जहा-रोहिणी मदणा चित्ता सोमा । तत्थ
एणं एगं, सेसं जहा चमरलोगपालाणं, एवरं, सयंपजे विमाणे
सभाए सुहम्मए सोमंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं जाव
वेसमणस्स, एवरं, विमाणं जहा तइयसए । ज० १० श०
५ उ० । सकस्स एणं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारणो
सत्त अग्गमहिमीओ पएणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।

ईशानस्य—

ईमाणस्स एणं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! अट्ट अग्गमहिमीओ
पएणत्ताओ । तं जहा-कएहा कएहराती रामा रामरक्खिया
वमू वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा । तत्थ एणं एगमेगाए०, सेसं
जहा सकस्स । भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

ईशानलोकपालानाम्—

ईमाणस्स एणं भंते ! देविंदस्स देवरणो सोमस्स महार-
णो कति अग्गमहिमीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
हिमीओ पएणत्ताओ । तं जहा-पुटवी राई रयणी विज्जू ।
तत्थ एणं, सेसं जहा सकस्स दोगपालाणं । एवं जाव वरु-
णस्स, एवरं, विमाणा जहा चउत्थमए, सेसं तं चेव जाव णो
चेव एणं मेहुणवत्तियं । ज० १० श० ५ उ० । सकस्स एणं
देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो उ अग्गमहिमीओ
पएणत्ताओ । सकस्स एणं देविंदस्स देवरणो जमस्स महार-
णो उ अग्गमहिमीओ पएणत्ताओ । स्था० ६ उ० । ईसा-
णस्स एणं देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो सत्त अग्गम-
सीओ पएणत्ताओ । ईमाणस्स एणं देविंदस्स देवरणो जमस्स
महारणो सत्त अग्गमहिमीओ पएणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।
ईमाणस्स एणं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारणो नव
अग्गमहिमीओ पन्नत्ताओ । स्था० ८ उ० ।

आसां पूर्वजवः—

नवमस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव अट्ट अज्जयणा
पन्नत्ता । तं जहा-पडमा सिवा सुई अंजू रोहिणी नवमिया ३य
अचला अपचर्रा । पट्टमज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु
जंबू ! तेणं काले एणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं परिसा
जाव पज्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समएणं पडमावई देवी
सोहम्मए कप्पे पडमवडिसए विमाणे सभाए सुहम्मए पड-
मंसि सीहासणंसि, जहा कालीए, एवं अट्ट वि अज्जयणे
कालीगमएणं नेयव्वा, नवरं, सावत्तियए दो जणीओ हत्थि-
णाउरे दो जणीओ कं पिट्ठपुरे दो जणीओ सामए दो जणी-
ओ पडमे पियरो विजया मायरो सव्वाओवि पामस्स अं-
तिए पवइया सकस्स अग्गमहिमीओ तिई सत्तपलित्तोव-
माइं महाविदेहे अंतं काहिंति [नवमो वग्गो सम्मतो] ॥ ८ ॥
दममस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव अट्ट अज्जयणा-
पन्नत्ता । तं जहा-कएहा य कएहराई रामा तहा रामर-
क्खिया वसुया वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा चेव । ईसाणे
पट्टमज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले एणं
तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं परिसा पज्जुवासइ । तेणं
काले णं तेणं समएणं कएहा देवी ईसाणे कप्पे कएहवडिं-
सए विमाणे सजाए सुहम्मए कएहंसि सीहासणंसि०,
सेसं जहा कालीए । एवं अट्ट वि अज्जयणा काली-

गमणं नेयव्या, नवरं, पुव्वत्ते वाणारमीए नयरीए
दो जणीओ गयगिहे नगरे दो जणीओ सावत्थीए दो ज-
णीओ कोसंबीए दो जणीओ गमपिया धम्मा माया मव्वा-
वि पामम्म अरहओ अंतिए पव्वइयाओ पुप्फचूलाए ज-
जाए मिमिणीयत्ता ईसाणस्स अगमहिमीओ उतिनी नव-
पलिओवमाइं मद्दाविदेहे वाग्गे सिज्जिहिड जाव सव्वकुखा-
णं अंतं काहिड । एवं खलु जेवू ! निक्खेवगो [दसमो वग्गो
मम्मनो] ज्ञा० २ श्रु० ।

कृष्णस्याग्रमहिप्यः—

कएदस्स णं वामुदेवम्म अट्ट अगमहिमीओ०, अरहओ
णं अट्टिनेमिम्म अंतियं मुंसा भवित्ता अगागाओ अणगारि-
यं पव्वइत्ता निष्ठाओ जाव सव्वकुखप्पहीणाओ । तं
जहा-पउमावडं य गोरी.गंधारी लक्खणा मुमीमा य । जेवू-
वडं सव्वपा रुप्पिणी अगमहिमीओ ॥ १ ॥ स्या० ८ उ० ।
अन्यत्रासां कथानकम् (भासां राजधान्यो ' रक्षकपव्वय '
शब्दे दर्शिताः)

अगम-अग्रम-पुं० अग्र्यः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्र्यरसाः ।
गृह्णारसोऽपादकेषु रत्यादिषु, गृह्णारसे च । उक्तं १४ अ० ।
रसाग्र-न० रसानां सुखानामग्रम् । प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्व-
निपातः । सुखप्रधाने, उक्तं १४ अ० ।

मुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिक्खिया अगमसप्पज्जा
कीदशाः कामगुणाः ? । अग्रयसप्रचृताः-अग्रयः प्रधानो रसो
येन्यस्ते अग्रयसाः, गृह्णारसोऽपादका इत्यर्थः । यदुक्तम्—“र-
तिमात्स्यान्नङ्गारैः, प्रियजनगन्धर्वकामसेवाजिः । उपवनगमनवि-
हारैः गृह्णारसः समुद्भवति ” ॥ १ ॥ अग्रयसश्च ते प्रचृ-
ताश्च अग्रयसप्रचृताः, प्रचुरा इत्यर्थः । अथवा अग्रयसेन गृ-
ह्णारसेन प्रचुरास्तान् कामगुणान् (अग्रयसं त्ति) चशब्दस्य
गम्यमानत्वात् अग्रया रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभृताः प्रचु-
राः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिशुद्धितुवा-
च्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्तकत्वात् । कामगुणविशेषणं वा,
अग्रया रसास्त एव गृह्णारदयो वा येषु ते तथा । वृक्षास्त्वाहुः-
रसानां सुखानामग्रं रसाग्रं ये कामगुणाः । सूत्रे च प्राकृतत्वा-
दग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः । उक्तं १४ अ० ।

अगन्न-अर्गल-न० परशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाठु० ।
अर्ग-कलत्र-न्यङ्कादित्वात् कुन्वम् । कपाटमध्यस्थे रोधके, क-
लत्रे, कपाटे च । वाच० । “अगन्नं फल्लिहं दारं, कवामं वा वि-
संजय । अग्रं विद्या ण चिट्ठिजा, गोअग्रगगओ मुण्णि” ॥ १ ॥ अर्ग-
त्वे गोपादिसंबन्धितम् । दश० ५ अ० २ उ० ।

अगन्नपामग-अर्गलपाशक-पुं० यत्रार्गला निक्खिप्यन्ते तेषु,
आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अगन्नपामाय-अर्गलपामाद-पुं० स्त्री० । यत्रार्गला निक्खिप्यन्ते
तेषु, ज्ञा० ३ प्रति० । ज्ञा० आह च जीवाभिगमसूत्रटीकाकारः-
अर्गलापामादो यत्रार्गला नियम्यन्ते । ग० ।

अगन्ता-अर्गला-स्त्री० अर्ग-कलत्र । न्यङ्कादित्वात् कुन्वम् ।
कुत्रागले, गौरादिभ्याद् डीप्, स्वार्थे कन्, अर्गलिकाऽन्यत्रार्थे,

विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री० न० । वाच० । “अगन्ता अग-
लपासाया य वहरामहेतो ” रा० ।

अगग्वीय-अग्रवीज-न० । अग्रे बीजं येषां ते तथा, को-
रण्टकादयः । अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रबीजाः । ग्रीह्यादिषु,
स्था० ४ उ० १ उ० ।

अगवेओ-देशी-नदीपूरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अगामिर-अग्रशिरम्-न० शिरोऽग्रे, “घणनिचियसुवक्खवक्ख-
खुन्नयकुमागारणिजाणेरुवमपिन्नियग्गसिरा ” तं० ।

अगमिहर-अग्रशिखर-न० वनस्पत्यादीनां शिखराग्रे, “सो
हियवरं कुरग्गसिहरा ” । औ० । रा० ।

अगमुयस्खन्ध-अग्रश्रुतस्कन्ध-पुं० आचाराङ्गस्य द्वितीये श्रुत-
स्कन्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अगसोएमा-अग्रशुण्मा-स्त्री० शुण्माग्रे, उपा० २ अ० ।

अग्रह-आग्रह-पुं० आ-ग्रह-अच् । समताऽभिनिवेशे, प्रति० ।
मिथ्याभिनिवेशे, पो० १२ विव० । आवेशे, आसक्तौ, आक्रमे,
अनुग्रहे, ग्रहणे च । वाच० ।

अग्रहच्छेदकारि (ए)-आग्रहच्छेदकारिन्-त्रि० मूर्गावि-
च्छेदके, “समाधिराज एतच्च, ददे तत्तत्त्वदर्शनम् । आग्रहच्छेद-
कार्येतत्, तदेतदमृतं परम् ” ॥ १ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

अग्रहण-अग्रहण-न० अनादरे, “भद्रा पुण अमाहणं, जानं-
तो वा विपरिणमेक्कासो ” वृ० ३ उ० । अनुपादाने, उक्तं २
अ० । “एसणमण्णसणिज्जं, तिहं अग्रहणभोयणणयाणं” । उक्तं
नि० १ ख० ।

अग्रहणवर्गणा-अग्रहणवर्गणा-स्त्री० वर्गणाग्रे, कर्म० ६ कर्म ।

अग्रहस्त-अग्रहस्त-पुं० अग्रश्चासौ हस्तश्चेति गुणगुणिनोर-
भेदात् । क० स० । हस्तस्याग्रभागे, वाच० । हस्ताग्रे, अनु० ।
अग्रहि (ए)-आग्रहिन्-त्रि० अग्निनिवेशिनि, “आग्रही-
वत ! निनीयति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । ऋपात-
रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरिति निवेशम् ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १
अ० ३ उ० ।

अग्राणीअ-अग्राणी (नी) क-न० अग्रश्च तदनीकं चेति गुण-
गुणिनोरभेदात् । क० स०, णत्वम् । वाच० । सैन्याग्रभागे, ‘जेणेव
भरहस्स एणो अग्राणिअं तेणेव उवागच्छंति’ जं० ३ वत्त० ।

अग्रा (गे) णीअ-अग्रायणीय-न० अग्रं परिमाणं, तस्या-
यने गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वैरुच्य-
दिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि द्वितीयपूर्वं, तत्र हि-द्वितीयम-
ग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयने गमनं, परिच्छेद इत्य-
र्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वैरुच्यदिपरिमाणपरिच्छेदका-
रीति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वैरुच्यणां सर्वपर्यायाणां
सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्तं चूर्णिहृ-
ता-“वीड्यं अग्गेणीयं तथ्य सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजी-
वाण य अम्मं परिमाणं वञ्चिज्जइत्ति” । अग्गेणीयं तस्य पदपरि-
माणं पण्णवतिपददानसहस्राणि । न० । संथा० । “अग्गेणीयपु-
व्वस्स णं चोदसव्ववुडुवालसचूडिया वत्थू पणत्ता ” । न० ।

अग्नि-अग्नि-पुं० अहृत्युद्धं गच्छति, अग्नि-नि, नलोपः । “स्ने-
हान्योवां ” ८ । २ । १०२ । इति प्राकृतसूत्रेण वाऽनयोर्म-

ध्वऽकारः । अग्नि, अग्नी । प्रा० । वैश्वानरे, पि० । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चोत्रयपामपि परस्परदर्शनेन बहवो दोषा भवन्तीति दर्शनायाग्निदृष्टान्तप्ररूपे अग्निनिकेप उक्तः । यथा-

दुविहो य होइ अग्नी, दव्वग्नी चेव तह य भावग्नी ।

दव्वग्निम्मि अगारी, पुरिसो व घरं पलीवित्तो ॥

द्विविधश्च जवत्याग्निः, तद्यथा—द्व्याग्निश्चैव भावाग्निश्च । द्रव्याग्नौ चित्त्यमाने अगारी अविरनिकापुरुषो वा गृहं प्रदीपयन् यथा सर्वस्वं दहति, एवं साध्वी वा साधुर्वा सजीवगृहं सदनं सत्वाग्निना प्रदीपयन् चारित्र्यसर्वस्वं दहतीति निर्युक्तिगाथासंकेतार्थः । अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्द्व्याग्निं विवृणोति—

तस्य पुण होइ दव्वे, दहणादिणेगलक्खणा अग्नी ।

नामोदयपच्चइयं, दिप्पइ देहं समासज्ज ॥

तत्र तयोर्द्व्याग्निभावाभ्यामर्थे द्रव्याग्निः पुनरयं भवति—यः खलु दहनान्यनेकवृत्तणोऽग्निः, दहनं भस्मीकरणं तल्लक्षणः । आदिशब्दात् पचनप्रकाशनलक्षणश्च । देहमिन्धनकाष्ठादिकं समासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुष्णस्पर्शादिनामकर्मादयाद् दीप्यते, स द्रव्याग्निरुच्यते ।

किमर्थं पुनरयं द्रव्याग्निरिति चेदत आह—

दव्वाइसन्निकरिसा, उप्पन्नो ताणि चेव रुहमाणो ।

दव्वग्निं त्ति उ वुच्चइ, आदिमभावाइजुत्तो वि ॥

द्रव्यमूर्ध्वो व्यवस्थितमरणिकाष्ठं, तस्य, आदिशब्दात् पुरुषप्रयत्नादेश्च यः सन्निकर्षः समायोगस्तस्मादुत्पन्नः, तान्येव काष्ठादीनि द्रव्याणि दहन् यद्यप्यादिमेतौ दधिकलक्षणेन भावेन युक्तोऽग्निनामकर्मादयेनेत्यर्थः, आदिशब्दात्पारिणामिकादि—भावेन च युक्तो वर्तते तथापि द्रव्याग्निः प्रोच्यते, द्रव्यादुत्पन्नो द्रव्याणां वा दाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाश्रयणात् ।

स पुनः कथं दीप्यत इत्याह—

सो पुणिधणमासज्ज, दिप्पति सीदती य तदभावा ।

नाणत्तं पि य लभए, इधणपरिमाणतो चेव ॥

स पुनर्द्रव्याग्निरिन्धनं तृणकाष्ठादिकमासाद्य दीप्यते, सीदती च विनश्यति, तदभावादिन्धनाभावात् । नानात्वं विशेषस्तदपि च लभते, इन्धनतः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा—तृणाग्निः काष्ठाग्निरित्यादि । परिमाणतो यथा—महति तृणादाविन्धने महान् भवति, अल्पे चेन्धने स्वल्प इत्युक्तो द्रव्याग्निः ।

अथ भावाग्निं निर्युक्तिगाथापर्यन्तं व्याचष्टे—

भावम्मि होइ वेदो, इत्तो तिविहो नपुंसगादी उ ।

जइ तासि तहं अत्थि, किं पुण तासि तयं नत्थि ? ॥

जावे जावाग्निर्वेदाख्य इत ऊर्द्धं वक्तव्यो भवति । स च वेदस्त्रिविधो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अत्र परः प्राह—यदि तासां संवतीनां तर्कं मोहनीयं स्यात् तर्हि गुप्सुकोऽग्निदृष्टान्तोऽपि सफलः स्यात्, किं पुनः परं तासां तर्कं मोहनीयं नास्ति, अतः कुतस्तासां भावान्तेः संभवो जवेदिति भावः । एतच्छ्रुत्वा भावधिष्यते । अथानन्तरोक्तभावाग्निस्वरूपं स्पष्टयति—

उदयं पत्तो वेदो, भावग्नी होइ तदुवओगेणं ।

जावो चरित्तमादी, ते रुहई तेण जावग्नी ॥

वेदः स्त्रीवेदादिरुदयं प्राप्तः सन्, तस्य स्त्रीवेदादिसंबन्धी य उपयोगः पुरुषाभिज्ञापादिऽक्षणस्तेन हेतुभूतेन भावाग्निर्भवति ।

कुत इत्याह—भावश्चारित्र्यादिकपरिणामस्तं जावं येन कारणेन दहति तेन जावाग्निरुच्यते । जावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरिति व्युत्पत्तेः । कथं पुनर्देहतीति चेदुच्यते—

जह व सार्हाणरणे, जवणे कस्मइ पमायदप्पेणं ।

रुज्जंति समादित्ते, अनिच्छमाणस्स वि वमूणि ॥

इयं संदंसेणसंभा—मणेहि संदीपिओ मयणवन्ही ।

वमनादोगुणरणे, रुहइ अनिच्छस्म वि पमाया ॥

यथा वा स्वार्थानरत्ने पञ्चरागादिवहुरत्नकालिते जवने प्रमादेन दपेण वा समादीप्ते प्रज्वालिते सति कस्यचिद्विज्यादेरनिच्छतोऽपि वसूनि रत्नानि दहन्ते (इयं स्ति) एवं संदर्शनमवलोकनं, संभाषणं मिथः कथा, ताज्यां संदीपितः प्रज्वालितो मदनवहिरनिच्छतोऽपि साधुसाध्वीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्नानि ब्रह्मचर्यतपःसंयमप्रवृत्तयो ये गुणास्त एव दौर्गत्यदुःखापहारितया रत्नानि प्रमादादहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं उच्यति—

सुक्खिखणवाजवज्जा—भिदीवितो दिप्पते ऽहियं वन्ही ।

दिट्ठिधणरागानिल—समीरितो वि इय जावग्नी ॥

शुष्केन्धनेन वायुवलेन वाऽभिदीपितो यथा वह्निरधिकं दीप्यते (इयं स्ति) एवं दृष्टिरूपं यदिन्धनं यश्च रागरूपोऽनिवो वायुस्ताज्यां समीरित उदीपितो भृशं भावाग्निरपि दीप्यते । वृ० १ उ० । कल्प० । (अग्नेर्वर्णको 'वीर' शब्दे) (अग्नेः प्रथमोत्पादादयः 'उसह' शब्दे) वह्निनामके लोकान्तिकदेवे, आ० म० प्र० । कृत्तिकानक्षत्रस्य देवतायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । "कत्तिया अग्निदेवयाए" ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । "दो अग्नीओ" स्था० २७० ३ उ० । "चत्तारि अग्नी जावजमा" । अग्निरिति कृत्तिकानक्षत्रस्य देवता यावद्यम इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अग्नि (अ) य—अग्निक—पुं० यमशिष्ये यमदग्निनामके तापसे, "यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तः पार्श्वेऽग्निकोऽगमत् । प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरे तप्यते तपः ॥ यमशिष्योऽग्निक इति यमदग््निरिति श्रुतः " आ० क० । आव० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । (अस्य कथानकं 'कोह' शब्दे)

अग्निओ—देशी—इन्द्रगोपकीटविशेष, मन्दं च । दे० ना० १ वर्ग ।

अग्निकज्ज—अग्निकार्यं—न० यागादिविधौ, स्था० ।

अग्निकारिया—अग्निकारिका—स्त्री० अग्निकर्मणि, साधूनां द्रव्याग्निकारिकाद्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता । प्रति० । ('अग्निहोतृ' शब्दे चैतद् दृश्यम्)

अग्निकुमार—अग्निकुमार—पुं० अग्निश्चासौ कुमारश्च कुमारवच्छ्रेष्ठमान इति ज्वनपतिदेवजदे, प्रज्ञा० १ पद । (अन्तराग्रमहिष्यादयस्तत्तच्छब्द एव दृश्याः) ('ज्वणवइ' शब्दे चाऽस्य वर्णादिकम्)

अग्निकुमाराहवण—अग्निकुमाराह्वान—न० तैजसदेवसंकीर्तने, "अग्निकुमाराहवणे धूवं पगे इह वैति" पञ्चा० २ विव० ।

अग्निच्च—आग्नेय—पुं० उत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये आग्नेयाभविमानवास्तव्येऽष्टमे लोकान्तिकदेवे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० । ज० । ज्ञा० । ('लोकान्तिग' शब्देऽस्य सर्ववृत्तम्)

अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-न० उत्तरयोः कृष्णराज्ययोमये वर्त्तमाने
 नै शानेयनामलोकात्तिकदेवविमाने, स्था० पृ० ३३०॥ ३३०॥ ३३०॥
 अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-पुं० दीपसमुच्चविशेषाधिपतौ, द्वी० ।
 अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-पुं० धीवीरस्याष्टमे भवे विप्रजेदं, धी-
 वीरस्याष्टमे भवे चैत्यसाध्वेशे च । पण्डितकृपुर्वायुष्कोऽग्निगन्धर्वो
 नाम विप्रस्त्रिदण्डाभूत्वा मृतः । कल्प० । आ० चू० ।
 अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-पुं० जगतकेशजपार्थजिनसमकालजाते
 पेरवतकेशजे तीर्थकरे, ति० । भद्रबाहोद्वितीये शिष्ये, कल्प० ।
 अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-न० वज्रै ररारभस्मीकरणवृक्षेण शा-
 रीरदण्डे, प्रश्न० ? प्राश्न० ६०॥

अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-पुं० दीपसमुच्चविशेषाधिपतौ, द्वी० ।
 अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-पुं० चण्डप्रद्योतनृपतेः रथरत्ने, आ० क० ।
 अग्निगन्धर्व-अग्निगन्धर्व-पुं० मन्दरसन्निवेशजाते ब्राह्मणजेदं, धी-
 वीरस्य दशमभवे, मन्दरसन्निवेशे पदपञ्चाशद्वृक्षपूर्वायुष्कोऽग्नि-
 गन्धर्वनामा ब्राह्मणस्त्रिदण्डाभूत्वा मृतः । कल्प० । आ० चू० । आ०
 म० प्र० । श्रीमते महावीरस्य द्वितीये गणधरे, (अस्याऽऽयुरादिः
 'गणहर' शब्दे, नवरमिन्द्रभूतौ प्रवर्जिते)

तं पव्वइअं सोउं, वीओ आगच्छई अमरिमेणं ।

वच्चापि एमाणेमि, पराजिणिता ए तं समणं ॥

तमिन्द्रभूतिं प्रवर्जितं श्रुत्वा द्वितीयोऽग्निगन्धर्वनामा तत्सोदर्यवधु-
 रन्तरेऽमर्षेणाकुलितचेताः समागच्छति जगत्समीपम् । केना-
 निप्रायेणेत्याह-(वच्चापि णमिति) व्रजाति णमिति वाक्यालङ्कारे ।
 आनयामि निजम्रातमिन्द्रभूतिम् । तत इति गम्यते, णेत्ययमपि
 वाक्यालङ्कारे । तं श्रमणमिन्द्रजालिकं कमपि पराजित्येति ।
 पुनरपि किं चिन्तयन्नसावागत इत्याह—

उलिओ द्दलाइणा सो, मन्ने माणंदजाजिओ वा वि ।

को जाणइ कट्ट वत्तं, चाइ वट्टमाणी मे ॥

दुर्जयस्त्रिभुवनस्यापि मद्भानेन्द्रभूतिः, केवलमहमिदं मन्ये
 उलादिना उलितोऽसौ तेन धूर्त्तैर्न लुप्तजानिनिग्रहस्थानग्रहण-
 निपुणैर्न, येन केनापि दुष्टेन भ्रामितो मद्भुवुरित्यर्थः । अथवा
 मायैन्द्रजादिकः कोऽपि निश्चितमसौ, येन तस्यापि जगदुरो-
 म्भ्रान्तुर्भ्रामिते चेतः । तस्मात्किं बहुना, को जानाति तद्वाद्वाक्यकं
 तयास्तत्र कथं वृत्तं, मत्परां कृत्वा । इत ऊर्द्धं पुनर्मयि तत्र गते
 (मे) तस्य तदिन्द्रजादयतिकर्मप्रमितमानसस्य स्वचरन्तारमरवा-
 तचन्दनमात्रवृंहितचेतसः श्रमणकस्य (वट्टमाणि सि) या का-
 चिच्छात्ता वर्त्तनी वा भविष्यति, तां द्रष्टव्यं समग्रोऽपि द्रोक्
 इति । किं च तेन तत्र गच्छता प्राक्तमिन्याह—

सो पक्खंतग्गेगं, पि जाइ जइ मे तओ मि तस्सेव ।

मीमत्तं द्वेज्ज गओ, तत्तो पत्तो जिणसगामे ॥

को जानाति तार्वादिन्द्रभूतिस्तेन कथमपि तत्र निर्जितो न ।
 किंतु एकस्मापि पत्तान्तरं पञ्चविंशं मे स यदि याल्ययमुध्यते,
 मद्रिहितस्य सहेतुदादरणस्य पञ्चविंशस्य स यद्युत्तरप्रदा-
 नेन कथमपि पारं गच्छतांति हृदयम् । ततः, मीति वाक्याल-
 ङ्कारे । तस्यैव श्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति निश्चयः ।
 तत इत्यादिवागर्जितं कृत्वा जिनस्य श्रीमन्महावीरस्या-
 न्तिकं प्राप्त इति । ततः किमित्याह—

आजासियो जिणेणं, जाइजरागरणविप्पमुक्केणं ।

नामेण य गोत्तेण य, सव्वेणु सव्वदरिसीणं ॥

आभाषितश्च संलपितश्च जातिजरागरणविप्रमुक्तेन सर्वज्ञे-
 न सर्वदर्शिना च जिनेन । कथं ? नाम्ना च हे अग्निभूते ! गोत्रेण
 च हे गौतमसगोत्र ! इति । इत्थं च नामगोत्राभ्यां संलपितस्य
 तस्य चिन्ताऽभूत् । अहो ! नामापि मम विजानाति, अथवा ज-
 गत्प्रसिद्धोऽहं, कः किल मां न वेत्ति ? यदि हि मे हृद्गतं संशयं
 शास्यत्यपनेष्यति वा तदा भवेन्मम विस्मय इति चिन्तयति
 तस्मिन् भगवानाह—

किं मन्ने अत्थि कम्पं, उयाहु नत्थि चि संसओ तुज्ज ।

वेयपयाण य अत्थं, न याणियो तेमि मो अत्थो ।

हे अग्निभूते गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत क्रि-
 यते मिथ्यात्वादित्येतुसमन्वितेन जीवेनेति कर्म ज्ञानावर-
 णादिकं तत्किमस्ति न वेति ? नत्वयमनुचितस्तव संशयः ।
 अयं हि भवतो विरुद्धवेदपदनिबन्धनो वर्तते, तेषां च वेदप-
 दानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि । तेषां च वेदपदा-
 नामयं वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति । विशेषः (इति विरुद्धवेदपदा-
 नामार्थव्याख्या पुरस्सरमसौ यथा ज्ञानावरणादिकं कर्म ग्राहित-
 स्तथा चास्मिन्नेव ग्रन्थे 'कम्म' शब्दे तृती० २४६ पृष्ठे वक्ष्यते)
 तं च प्रवर्जितं श्रुत्वा, दध्यौ तद्बान्धवोऽपरः ।

अपि जातु द्रवेदस्मि-हिंमानी प्रज्वलेदपि ॥ १ ॥

वह्निः शीतः स्थिरो वायुः, संभवेन्न तु बान्धवः ।

हारयेदिति प्रप्रच्छ, लोकानश्रद्धधृद् भृशम् ॥ २ ॥

ततश्च निश्चये जाते, चिन्तयामास चेतसि ।

गत्वा जित्वा च तं धूर्त्तं, वालयाभि सहोदरम् ॥ ३ ॥

सोऽप्येवमागतः शीघ्रं, प्रभुणा प्रापिनस्तथा ।

संदेहं तस्य चित्तस्य, व्यक्तीकृत्यावद्विजुः ॥ ४ ॥

हे गौतमाग्निभूते ! कः, संदेहस्तव कर्मणः ? ।

कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्फुटम् ? ॥ ५ ॥

स चायं " पुरुष एवेदं सर्वं यद्वृत्तं यच्च भाव्यं-

म " इत्यादि । तत्र ५ इति वाक्यालङ्कारे, यद् भूत-
 मतीतकाले, यच्च भाव्यं भाविकाले, तत्सर्वमिदं पुरुष
 एव आत्मैव । एवकारः कर्मेश्वरादिनिषेधार्थः । अवेन च
 वचनेन यन्नरामरतिर्यूपर्वतपृथिव्यादिकं वस्तु दृश्यते तत्स-
 र्वमात्मैव । ततः कर्मनिषेधः स्फुट एव । किं च । अमू-
 र्तस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्मणाऽनुग्रह उपघातश्च कथं भवति ? ।
 यथा आकाशस्य चन्दनादिना मण्डनं खड्गादिना खण्डनं च
 न संभवति; तस्मात् कर्म नास्ति इति तत्र चेतसि वर्त्तते । परं
 हे अग्निभूते ! नायमर्थः समर्थः । यत इमानि पदानि पुरुष-
 स्तुतिपराणि । यथा-त्रिविधानि वेदपदानि-कानिचिद्विधि-
 प्रतिपादकानि । यथा-"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादीनि ।
 कानिचिदनुवादपराणि । यथा-"द्वादश मासाः संवत्सरः" इ-
 त्यादीनि । कानिचित् स्तुतिपराणि । यथा-"इदं पुरुष एव "
 इत्यादीनि । ततोऽनेन पुरुषस्य महिमा प्रतीयते न तु कर्माद्य-
 भावः । यथा 'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके ।
 सर्वभूतमयां विष्णु-स्तस्माद्विष्णुमयं जगत्' ॥ १ ॥ अनेन हि
 वाक्येन विष्णोर्महिमा प्रतीयते, नत्वन्यवस्तूनामभावः । किं च,
 अमूर्तस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्मणा कथमनुग्रहापघातौ ? । नद-
 प्युक्तम्, यदमूर्तस्यापि ज्ञानस्य मद्यादिनोपघातो ब्राह्म्या-

द्यौषधेन चानुग्रहो दृष्ट एव । किं च । कर्म विना एकः सुखी अन्यो दुःखी, एकः प्रभुः, अन्यः किङ्कर इत्यादि प्रत्यक्षं जगद्वैचित्र्यं कथं नाम संभवतीति श्रुत्वा गतसंशयः प्रवर्जितः । इति द्वितीयो गणधरः । कल्प० । आ० म० प्र. (अन्यद् 'गणधर' शब्दे ऋष्यम्) पावकविभूत्यां, वीर्यं च । स्त्री० ६ व० । वह्निसम्भवे, त्रि० वाच० ।

अग्निमानव-अग्निमानव-पुं० । दक्षिणात्यानामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ग्रा० ३ उ० । ज० । (अग्रमहिषीलोकपालादयश्चास्य 'अग्रमहिषीलोकपालादि' शब्देषु निरूपिताः)

अग्निमात्री-अग्निमाली-स्त्री० । रतिकरपर्वतस्योत्तरेण स्थितायां शक्राग्रमहिष्याम्, द्वी० ।

अग्निमिता-अग्निमित्रा-स्त्री० । पोद्गासनगरवास्तवस्याजीविकमतेपासकस्येभ्यकुम्भकारस्य सहालपुत्रस्य भार्यायाम्, उपा० ७ अ० ('सहालपुत्र' शब्देऽस्या वक्तव्यता)

अग्निमेह-अग्निमेघ-पुं० । अग्निवद्वाहकारिजले मेघे, ज० ७ रा० ६ उ० ।

अग्निग-अग्निग-पुं० । जस्मकाभिधाने वायुविकारे, विपा० १ श्रु० १ अ० । इन्द्रदत्तेन राज्ञा स्वमन्त्रिसुतायामुत्पादितस्य सुरेन्द्रदत्तस्य दास्यां जाते पुत्रे, ('मणुस्म' शब्दे चैतद्विवृतिः) आ० चू० १ अ० । आ० क० । वत्सगोत्रावान्तर्गतगोत्रे, स्था० ७ ग्रा० ।

अग्निलिय-अग्निम-पुं० । अग्ने भवः । अग्र-डिमचू । ज्येष्ठजातरि, श्रेष्ठ, वाच० । "अग्निलिया पच्छिलिया सेसं सादूण पाउमं" । पं० व० २ द्वा० ।

अग्निह्वय-अग्नि-पुं० । पञ्चपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । " दो अग्निह्वा " स्था० २ ग्रा० । उ० ।

अग्निवेश-अग्निवेश-पुं० । लोकप्रसिद्धे ऋषिजेदे, नं० ।

अग्निवेश-पुं० । पक्षस्य चतुर्दशे दिने, जं० १ वत्त० । कल्प० । ज० । दिवसस्य द्वाविंशतितमे मुहूर्त्ते, चं० प्र० । १० पाहु० ।

अग्निवेशायण-अग्निवेशायन-पुं० । अग्निवेशस्यापन्यमग्निवेशः । गर्गादेशजिति यप्रत्ययः । तस्याऽपत्यमग्निवेशायनः । अग्निवेशायणपौत्रं, नं० । तजोत्रजाते च । यथा-सुधर्मा गणधरः । आ० म० छि० । कल्प० । गोश्रावस्य महर्षिपुत्रस्य पञ्चमे दिक्चरे, भ० १५ रा० १ उ० । द्वाविंशे दिवसमुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

अग्निसंस्कार-अग्निसंस्कार-पुं० । अग्निना संस्कारो मन्त्रपूर्वकदाहः । विधानेन अग्निकृतदाहे, वाच० । " जावण्या अग्निसंस्कारो " ध्यापना नामाग्निसंस्कारः, स च जगत्तत्तत् ऋषयस्य निर्वाणप्राप्तस्याऽन्येषां च साधूनामिद्विवाकूनामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पञ्चाद्वेकेऽपि संज्ञातः । आ० म० छि० ।

अग्निमप्यजा-अग्निमप्यजा-स्त्री० । अवसर्पिण्यां द्वादशतीर्थकरस्य वासुपूज्यस्य दीक्षासमय उपयुक्तशिबिकायाम्, स० ।

अग्निसम्प (ण) अग्निशर्पन्-पुं० । तीव्रकोपान्विते ऋषिभेदे, वाच० । यमुपहसता गुणसेनेन नवभवानुपगङ्गि वैरं वर्द्धितम् । खनामख्याते ब्राह्मणजेदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । (अस्य कथानकं ' सीओसणिज ' शब्दे ऋष्यम्)

अग्निसाहिय-अग्निसाधिक-त्रि० । अग्नेर्दायभाक्त्वेन साधारणे, यथा- " हिरणे य सुवसे य जाव सावज्ञे अग्निसाहिप चोरसाहिप रायसाहिप मच्चुसाहिप " इत्यादि । भ० ए रा० १३ उ० । द्वा० ।

अग्निमिह-अग्निशिख-पुं० । अग्नेरिव अग्निमिव वा शिखा यस्य । कुङ्कुमवृक्ते, कुसुम्भवृक्ते च । वाच० । अवसर्पिण्याः सप्तमदत्तनामकवासुदेवनन्दननामकवलदेवयोः पितरि, ति० । स० । आव० । औत्तराणामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ग्रा० । ज्वलनशिखनाम्नो राज्ञा मित्रे च । उक्त० १३ अ० । अग्निनृत्यजटावति, त्रि० । अग्निशिखेव शिखाग्रमस्य द्वाङ्गवृक्ते, स्त्री० । अग्निनृत्याग्रभागे, त्रि० । स्वर्णे, कुसुम्भपुष्पे च । न० । ६ त० । अग्निज्वालायाम्, स्त्री० । वाच० । स्था० ।

अग्निमिहाचारण-अग्निशिखाचारण-पुं० । अग्निशिखासुपादाय तेजस्कान्तविराधयस्तु स्वयमदहमानेषु पादविहारनिपुणेषु चारणेभेदेषु, प्रव० ६० द्वा० ।

अग्निमण-अग्निमण-पुं० । वर्तमानायामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजसम्भवजिनसमकाङ्क्षिकैरवतजे तीर्थकरे, " भरहे य संजवजिणो, ऐरवए अग्निमणजिनचंदो " ति० । जारतजारिष्टनेमिसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे च, " जरहे अरिष्टणेमि, ऐरवए अग्निमणजिनचंदो " ति० । प्रव० ।

अग्निहोत-अग्निहोत्र-न० । अग्नये हुयतेऽत्र । हु-त्र । ४ त० । मन्त्रकरणवह्निस्थापनानन्तरं तदुद्देश्यकदोमे, वाच० । तत्स्वरूपं च समये वर्णिताद् लौकिकप्रतिदिनकृत्यादवगन्तव्यम् । यथा 'सिव' शब्दे शिवराजपिचरित्रोपाख्याने वर्णितम् । तच्च नित्यं कास्यं च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जरामर्थं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं, तज्जरामर्थमेव, यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति' [आ० म० द्वि० । विशेषे] श्रुत्या, 'नित्यस्य उपसद्भिश्चरित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोतीति' श्रुत्या च, कास्यस्य विधानमुक्तम् । वाच० । एतच्चाकिञ्चित्करमिति सिद्धान्ते दर्शितम्—

हुण एगे पवयंति मौक्खं ॥ १९ ॥

एके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मौक्खं प्रतिपादयन्ति । ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा घृतादिर्निर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मौक्खाग्निहोत्रं जुह्वन्ति, शेषास्त्वप्युदाययन्ति । युक्तिं चात्र त आहुः-यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनामलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽन्यान्तरं पापमिति ।

इति पूर्वपक्षमुद्भावय—

हुतेण जे सिद्धिमुदाहर्गति
सायं च पायं अगाणिं फुसंता ।

एयं मिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा

अग्निं फुसंताण कुकम्पिणं पि ॥ २० ॥

"अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वर्गकामः" इत्यस्माद्वाक्याद् ये केचन मुढा हुतेनाग्नौ हव्यप्रक्षेपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिकां स्वर्गावाप्तिलक्षणासुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति । कथंभूताः, सायमपराहणे विकाले वा, प्रातः प्रत्यूषे वाऽग्निं स्पृशन्ता यथेष्टे-हव्यैरग्निं तर्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिलषन्ति । आहुश्चैवं ते-यथा अग्निकार्यास्यादेव सिद्धिरिति । तत्र च यद्येवमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्नेवेत्, ततस्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्यं जस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि जस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिण्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मति ! यदप्युच्यते-अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि

युक्तिविकलत्वाद् बाह्याप्रमेव । विष्ठादिभक्त्येन चाम्नेस्तेषां बहुतरदोषोत्पत्तेरिति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । यदप्यनिहितम्-देवताऽतिभिषिपितृप्रीतिस्पादकत्वाद् वेदविहिता हि सा न दोषाय इति । तदपि चित्तधर्मः । यतो देवानां संकल्पमात्रेण तन्मात्राभिमत-हार्गपुत्रज्ञसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदावजितनुगुप्तिनपयुमांसाद्याहुतिप्रतिगृह।ताविस्त्रैव पुःसंभवा, औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वात्पुण्यमवाधः । न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्यङ्गेन सिद्धम् । " चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता " इति त्रैमिनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च मृगेन्द्रः- " शब्देतरत्वे युगप-द्विन्नदेशेषु यष्टुषु । न सा प्रयाति सान्निध्यं, मूर्त्तत्वादस्म-दादिवत् " ॥१॥ इति । सेति देवता । हृयमानस्य च वस्तुनो भस्मी-जावमात्रेण पलज्जात् तदुपनागजनिता देवतानां प्रीतिः प्रला-पमात्रम् । अपि च । योऽयं त्रेताऽग्निः स त्र्यम्बिंशत्कोटिदेवता-नां मुखम्, " अग्निमुखा वै देवाः " इति श्रुतेः । ततश्चोत्तम-मध्यमाधमदेवानामेकैकैव मुखेन जुञ्जानानामन्योन्याच्छि-ष्टभुक्तिप्रसङ्गः । तथाच ते तुरङ्गकेन्योऽप्यतिरिच्यन्ते । तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे जुञ्जते, न पुनरेकैकैव वदनेन । किञ्च । एकस्मिन् वपुषि वदनयाहुस्य कचन श्रूयते, यत् पुनरनेकशरी-रस्येकं मुखमिति महदाश्चर्यम् । सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृतं यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराधोऽप्यथ नि-न्दादिना विराद्धस्ततश्चैकैकैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्यो-च्चारणसंकरः प्रसज्यते । अन्यच्च । मुखं देहस्य नवमो भागस्त-दपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मक-त्वं त्रिवृत्तनवननजस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यते, इत्यत्र-ति चर्चया । यच्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलाव्यभिचारस्त-त्प्रीणितदेवताऽनुग्रहेतुक उक्तः । सोऽप्यनैकान्तिकः । क्वचि-ह्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न तदाहिनाहुतिभोजनजमा तदनुग्रहः, किं तु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानो स्वोद्देशनिर्वर्त्तितं पूजापचारं यदा स्वस्थानावस्थि-तः सन् जानाते तदा तत्कर्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्का-याणाञ्चावशान्साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानो जाना-नोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन्न साधयति, स्व्यक्तेवकाल-त्रावादि सहकारिसाध्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलभभात् । स च पूजापचारः पञ्चविंशसन्व्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या ? । यच्च गगन्नज्जालहो-मान् परगाष्ट्वर्शकृतिसिद्धा देव्याः परितोषानुमानम् । तत्र कः किमाह ? । कासांचित् शुद्धदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात् । केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो न पुनस्तद्वक्त्या । नि-म्बपत्रकटुकनैत्राऽऽरानालधूमादीनां हृयमानद्रव्याणामपि तद्-भोग्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु तत्सहकारिसमवधानसन्धि-वागधकानां भक्तिरयं तत्तत्फलं जनयति, अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात् । स्या० ११ श्रे० ॥ ननु " न वि जाणामि वेद्यमुहं न वि जन्मानं जं मुहं ति " जयघोषेण पृष्टो विजयघोषोऽशक्त उ-त्तरदाने " वेद्याणं च मुहं बहि, बृहि जग्माणं जं मुहं ति " जयघोष-मेवं जिज्ञासमानः " अग्निहोत्रं तमुहा वेद्या जग्मां वेद्यमां मुहं " । इति तथ्यवृत्तमवमानो विजयघोषः प्रयवाज । उक्त० १५ अ० । इत्यग्निहोत्रस्य सिद्धांतेऽपि कर्तव्यत्वमन्युपगतं कथं दृश्यते ? । सन्त्यम् । न तत्र प्राणित्रयप्रधानं द्रव्याग्निहोत्रं गृह्यते, किं तर्हि ध्यातानिहोत्रम् । तथाच तदीका-अग्निहोत्रमग्निकारिका, सा

चेह " कर्मन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्याना-ग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका " ॥१॥ इत्यादिरूपा परिगृह्यते । तदेव मुखं प्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुखा वेदाः । वेदानां हि दध्या-देरिव नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि- " नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिषु । औपधेय्योऽमृतं यद्द-हेदेष्वार-ण्यकं तथा " ॥१॥ तत्र च दशप्रकार एव धर्म उक्तः । तथा च तद्व-चः- " सत्यं तपः संतोषः संयमश्चारित्रमार्जवं क्रमा धृतिः श्रद्धा अहिंसेत्येतद्दशविधमिह धामेति " । तत्र च धामशब्देन धर्म एव विवक्षितः । एतदनुसारि चोक्तस्वरूपमवाग्निहोत्रमिति । उ-क्त० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं हारिभद्राष्टके—

कर्मन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः ।

धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽष्टप्रकारं, तदेव दाह्य-त्वादपनेयत्वादिन्धनमिवेन्धनं कर्मन्धनं तत्समाश्रित्याङ्गीकृत्या-ग्निकारिका कार्यति योगः । किंविधा ? , दृढा कर्मन्धनदाहं प्रति प्रत्यज्ञा । तथा सद्भावना शुद्धरूपा या जीवस्य वासना सैवा-हुतिर्धृतादिप्रक्षेपलक्षणा यस्यां सा तथा । केन करणभूतेनत्या-ह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वाच्चुक्कृद्धानं तच्चाग्निरि-वाग्निधर्मध्यानं च तदग्निश्च धर्मध्यानाग्निस्तेन कार्या विधेया । केनेत्याह-दीक्षितेन प्रवर्जितेन । काऽसौ ? , अग्निकारिका अग्निक-र्मेति । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्—दीक्षितस्य द्रव्याग्निकारिका अनुचिता, तस्या जृतोपमदरूपत्वात्, तस्य च तन्निवृत्तत्वेन तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनसंस्थितिरिति प्रागुक्तम् । गृहस्थस्य तु सर्वथा जृतोपमर्दानिवृत्तत्वेनाधिका-रित्वात्तां करोत्यपि । अत एव धूपदहनदीपप्रबोधादिना प्रका-रेण द्रव्याग्निकारिकामपि कुर्वन्त्याहृतगृहस्था इति । अनेन श्लोकेनेदमुक्तं भवति—यदि हे कुतार्थिकाः ! यूयं दीक्षितास्तदा कर्मलक्षणाः समिधः कृत्वा धर्मध्यानलक्षणमग्निं प्रज्वाल्य सद्भावनाहुतिप्रक्षेपतोऽग्निकारिका कार्या, नवन्त्या, तस्या दी-क्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हन्त ! गृहस्थास्तत्तुल्या वा, ततः कुरुष्व द्रव्याग्निकारिकामिति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेति परसि-

द्धांतेनैव प्रसाध्यन्नाह—

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च ।

शास्त्र उक्तो यतः सृष्टे, शिवधर्मोत्तरे ह्यदः ॥ २ ॥

दीक्षा प्रव्रज्या, मोक्षार्थं सकलकर्मनिर्मुक्तिनिमित्तमाख्याता त-त्स्वरूपज्ञैर्निगदिता । यत एव ततस्तां प्रतिपन्नेन मोक्षसाधक-मेवानुष्ठानमाश्रयणीयं न पुनर्द्रव्याग्निकारिकेति हृदयम् । द्र-व्याग्निकारिकैव साधनं मोक्षस्येत्याशङ्क्य निराकरणायाह- (ज्ञानध्यानफलं स चेति) स पुनर्मोक्षो विज्ञानिशुभ्रैकाग्रत्वयोः साध्यो वर्त्तते न पुनर्द्रव्याग्निकारिकाया इति भावना । कथमि-दमवसितं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्तस्येति चेदत आह-शास्त्रे उक्तः आगमे ज्ञानध्यानफलतयाऽभिहित इत्यर्थः । यद्यपि हि प्रत्यक्षा-नुमानयोरस्माधतीन्द्रियत्वेनागोचरस्तथाऽप्यगममार्तिहितत्वात् ज्ञानफलतयाऽसौ प्रतिपत्तव्यः । आगमश्च प्रमाणतया सर्वमोक्ष-वादिनिरञ्ज्युपगत एव । यद्यपि च बौद्धैः स तथा नेप्यते, त-थापि संशयविशेषनिबन्धनतया प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वात् तैः क-थंचिदप्युपगत एवेति । अथ कथमवसितमिदं यद्दुत शास्त्रेऽसौ

तत्फलतयाऽग्निहित इत्याशङ्क्याह-यतो यस्मात्कारणात् सूत्र-
मर्थसूचकं वाक्यं शिवधर्मोत्तरे शिवधर्माभिधाने पराजितमते
शैवागमविशेषे, हिरित वाक्यालंकारे । अद एतद्वक्ष्यमाण-
मिति । अतो-भवद्व्युपगतशास्त्रं मोक्षस्य ज्ञानादिफलतयोक्त-
त्वान्न मोक्षार्थिना दीक्षितेनानधिकृता द्रव्याग्निकारिका का-
र्येति ज्ञावार्थ इति ॥ २ ॥

तदेव सूत्रं दर्शयन्नाह—

पूजया विपुलं राज्य-मग्निकार्येण संपदः ।

तपः पापविशुद्धयर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥ ३ ॥

पूजया देवतायाः पुण्याद्यर्चनलक्षणया न तु तदन्यया, तदन्य-
स्यास्तपोज्ञानरूपत्वेन पापविशुद्धिमोक्षयोरेव संपादकत्वाद् । वि-
पुलं विस्तीर्णं राज्यं राजभावो भवति, नत्कारकस्येति गम्यते ।
तथा अग्निकार्येण अग्नावग्निना वा कार्यं कृत्यमग्निकार्यम्, तेन
द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, न ज्ञावाग्निकारिकया, तस्या ध्यानरूप-
त्वेन मुक्तिसाधकत्वात् । संपदः समुच्चयो जवन्तीति गम्यम् ।
तथा तपोऽनशनादि, पापविशुद्धयर्थमशुभकर्मक्षयाय भवति ।
तथा ज्ञानमवबोधविशेषः, ध्यानं च शुभचित्तकाप्रतालक्षणम्, च
शब्दः समुच्चये, मुक्तिदं मोक्षप्रदं जवन्तीति शिवधर्मोत्तरग्रन्थ-
सूत्रार्थ इति ॥ ३ ॥

एवं तावत् पराज्युपगमेनैव द्रव्याग्निकारिकाकरणं दीक्षितस्य
दूषितम्, अथ तस्यैव पूजां पुनरग्निकारिकां च प्रकारान्तरेण
दूषयन्नाह—

पापं च राज्यसंपत्सु, संभवत्यनर्थं ततः ।

न तद्वैतोरूपादान-मिति मम्यग् विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

न केवलं समुक्तोऽग्निकारिकाकरणमपार्थक्यम्, पापं चाशुभं कर्म
च, राज्यसंपत्सु नरपतित्वसमृद्धिषु पूजाग्निकारिकाकरणान-
न्तरं फलभूतासु सतीषु, संभवति संजायते । यत एवं ततस्त-
स्मादनर्थं निरवद्यं ते नैव भवति, तद्वैतोः राज्यसंपत्कारणयोः
पूजाग्निकारिकारूपयोरूपादानमाश्रयणमिति । एतदनन्तरं पू-
जाग्निकारिकयोरूपादानस्य सपापत्वं सम्यक् स्वसिद्धान्तावि-
रोधेन विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । सुपर्यालोचितकारिणो
हि भवन्ति समुक्तव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्सु पापं भवतीत्युक्तं तदेवाश्रित्याक्षेपः क्रियते,

ननु राज्यसंपद्भावे भवतु नाम पापम्, दानादिना तु
तस्य शुद्धिर्निविध्यतीत्याशङ्क्याह—

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥ ५ ॥

विशोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादिजन्यपापस्य तपसा,
अवधारणस्येह संबन्धात्तपसैव अनशनादिनैव, तपः पापवि-
शुद्धयर्थमिति वचनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना,
दानेन ज्ञेयानामेतीति वचनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पूजाग्निक-
ारिके युक्ते इति । इह च द्रव्याग्निकारिकाया एव मुख्यं दूषणं,
पूजायास्तु प्रासङ्गिकमित्यग्निकारिकाया एव निगमनमाह—(त-
दियं नान्यथा युक्तेति) यस्मात् समुक्तोऽर्थेयं पापसाधनसंप-
द्वेतुज्जातं च, तत्तस्मादियमग्निकारिका, नैव, अन्यथा धर्मध्याना-
ग्निकारिकायाः प्रकारान्तरापन्ना, द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, युक्ता सं-
गतेति । विशोधनार्हपापसंपादकसंपन्नमित्तत्वेन द्रव्याग्निका-
रिकाया अकरणीयत्वं व्यासस्यापि न्यायतः संमतमिति दर्शय-
न्नाह-तथा चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽस्मदुक्तार्थसंवादा
भवति, तथैव उक्तमग्निहितं, महात्मना परमस्वभावेन, व्यासनेति

शेषः । इह च यन्मिथ्यादृष्टेरपि व्यासस्य महात्मत्वान्निधान-
माचार्येण कृतं, तत्परसंमतानुकरणमात्रमात्मनो माध्यस्थ्य-
विष्करणार्थमिति न दृष्टम् । संमतश्च परस्य माहात्म्यतया व्या-
सः । अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परप्रतीतिजननायोपन्यस्तमिति ॥ ५ ॥

तदेवाह—

धर्मार्थं यस्य विज्ञेहा, तस्यानीहा गरीयसी ।

प्रकालनाष्टि पङ्क्तस्य, दूरादस्पृशेनं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मार्थं धर्मनिमित्तं, यस्य पुंसः, विज्ञेहा द्रव्योपार्जनचेष्टा कृषिवा-
णिज्यादिका, तस्य पुरुषस्य, अनीहा अचेष्टा वित्तानुपार्जनमेव, ग-
रीयसी श्रेयसितरा, सङ्गततरेत्यर्थः । अयमभिप्रायः-वित्तार्थं चेष्टा-
यामवश्यं पापं भवति, तच्चोपार्जितवित्तवितरणेनावश्यं शोध-
नीयं जवति । एवं च वित्तार्थमचेष्टैव वरतरा, वित्तवितरणविशो-
ध्यपापान्नावात्, परिग्रहारम्भवर्जनात्मकत्वेन चेष्टाया एव च धर्म-
त्वादिति । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-प्रकालनाष्टिवाचनात् सकाशाद् हिर्ष-
स्मात्, पङ्क्तस्याशुचिरूपकर्दमस्य दूराद् विप्रकर्षादस्पृशेनमश्लेषण
मेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति-यदि पङ्क्तं करचरणादिरव्य-
वः क्षिप्याऽपि प्रकालनीयस्तदा वरमस्ति एव, एवं यद्यग्निकारि-
कां विधाय संपद उपार्जनीयास्तज्जन्यपातकं च पुनर्दानेन शोधनी-
यं, तदा सैवाग्निकारिका वरमकृतेति । प्रयोगश्चेह-न विधेया मुमु-
क्षुणा द्रव्याग्निकारिका, तत्संपाद्यस्य कर्मपङ्क्तस्य पुनः शो-
धनीयत्वात्, पादादेः पङ्क्तेरपवादिति । एवं तर्हि गृहस्थेनापि पू-
जादि न कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्था न राज्यादिनिमित्तं
पूजां कुर्वन्ति । न च राज्याद्यावर्जितमवद्यं दानेन शोधयिष्याम
इति मन्यन्ते, मोक्षार्थमेव तेषां पूजादौ प्रवृत्तेः । मोक्षार्थतया च
विहितस्यागमानुसारिणो वीतरागपूजादेर्मोक्ष एव मुख्यं फलम्,
राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणः पूजादिकं नावि-
धेयम्, दीक्षितेतरेयोश्च अनुष्ठानस्यानन्तर्यपारंपर्यकृत एव फले
विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितस्यापि संपदर्थित्वे सति युक्ता द्रव्याग्निका-
रिक्त्याशङ्कानिराकरणायाह—

मोक्षाध्वसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा जुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्य-इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

मोक्षा निर्वाणम्, तस्याध्वा मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचरणलक्षण-
स्तस्य सेवाऽनुष्ठानं मोक्षाध्वसेवा, तथा, चशब्दः पुनःशब्दार्थः ।
ततश्चाग्निकारिकायाः कार्यभूताः संपदः पापहेतुतया अशुभाः,
मोक्षाध्वमेवया पुनः शुभतरा जवन्तीत्यर्थो वक्ष्यते । अवधार-
णार्थो वा चशब्दः, तेन मोक्षाध्वसेवयैव, नाग्निकारिकाकर-
णत एता अनन्तरोदिता अग्निकारिकाफलभूताः संपदः, प्रायो
वाहुल्येन । प्रायोग्रहणं च कस्यापि मोक्षाध्वसेवाजव एव नि-
र्वाणभावान्न जायन्त एवेति ज्ञापनार्थम् । शुभतरा अग्निकारि-
काकरणेभ्यः सकाशात्प्रशस्ततराः । भुवि पृथिव्यां, जायन्ते भव-
न्ति । हिशब्दो यस्मादर्थः, अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मा-
न्मोक्षाध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च संपदो जायन्ते, त-
स्मादियमग्निक्रिया नान्यथा युक्तेति प्रक्रमः । मोक्षाध्वसेवया
शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्क्यामाह-
इहेयमनन्तरोदिता सच्छास्त्रसंस्थितिराविसंवादागमव्यवस्था;
यदाह—“मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य, महाज्युदयलब्धयः । संजायन्तेऽनु-
पङ्केण, पलावं सत्कृपाविस ” ॥ १ ॥ समुक्षूणां च शास्त्रं प्रमाण-
मेव । यदाऽऽह—“न मानमागमादन्यद्, समुक्षूणां हि विद्यते ।
मोक्षमार्गं ततस्तत्र, यतितव्यं मनीषिभिरिति ” ॥ ७ ॥

स्य परसमयसमाधायणेनैव ऽव्याग्निकारिकाकरण
निराकुर्वन्नाह—

ष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गं, सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्वोक्ता, मैव न्याय्याऽग्निकारिका ॥ ८ ॥

इत्यनेन दायते स्मेतोष्टम्, पूर्यते स्मेति प्तम्, ष्टे च पूर्त्तं चे-
तं ष्टापूर्त्तमिति समाहारद्वन्द्वः ष्टादसत्याष्टेष्टापूर्त्तम् । तत्तत्स्वरूपं
चेदम्—“अन्तर्वेद्यां तु यदत्तं, ब्राह्मणानां समं हतः । ऋत्विगिर्म-
न्मस्मैस्कारि-रिष्टं तदभिधीयते ॥ चापः कृपनडागानि, देवतायत-
नानि च । अन्नप्रदानमरामाः, पूर्त्तं तदभिधीयते ॥ २॥” तदेवमुक्तं
स्वरूपमिष्टापूर्त्तम्, न नैव, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इहायमग्नि-
प्रायः—अग्निकारिका न मोक्षाङ्गमष्टकमस्वरूपात् । तस्या यतोऽन्त-
र्वेद्यामाहुतिप्राधान्येन कर्माणामप्यन्त इति । कुतस्तत्र मोक्षाङ्गमि-
त्याह—सकामस्याभ्युदयानिवापिणः, यस्मात्तदित्येव वाक्यश-
र्पा इत्यः । उपवर्णितमुपदिष्टम्, भवदयमिच्छान्ति एव यतः श्रु-
यते—“स्वर्गकामो यजेत ” इत्यादि धृतिवचनम् । तथा “ष्टा-
पूर्त्तं मन्यमाना वरिष्टं, नान्यच्छ्रेयो यं ऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य
पृष्ठे सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ” इति ।
अथाकामस्य का वातैरन्याशङ्क्याह—अकामस्य स्वर्गपुत्राद्यनाश-
सावतो ममृक्षाः, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थस्य विशेषाभिधायकः ।
योका कर्मन्धनमित्यादिना प्रतिपादिता, सैव, नान्या पराज्युपग-
ता, न्याय्या न्यायादनपेता । न्यायश्च दर्शित एव । अग्निकारिकाऽ-
ग्निक्रियेति ॥ ८ ॥ इति चतुर्थाष्टकविवरणम् ॥ ८० ४ अष्टम् ।
अग्निहोत्रसम्बन्धित्वाद् हविषि, यज्ञे च ॥ ८० ॥ वाच० ।

अग्निहोत्रात्तवाह (७) अग्निहोत्रादिन-पुं० अग्निहोत्रादेव
स्वर्गगमनमिच्छति, तस्मिन्नुपेयुक्तिवादिनि, “ जे अग्निहो-
त्रवादी जज्ञसोयं जे य इच्छति ” इत्यग्निहोत्रवादिनां कुशिल-
न्यं दर्शितम् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

अग्न्युज्जाण-अग्न्याद्यान-न० नगरादेर्वहिः प्रधानोद्याने, “ ह-
विर्होमं जस्म नयस्म वहिया अग्न्युज्जाणे सन्धस्मिन्वेसं क-
रन्ति ” ॥ ८० १० अ० । आ० म० द्वि० । आ० च० ।

अग्नेत्र-आग्नेय-त्रि० अग्नेरिदम्, आग्नेदेवतास्य वा ढक । अ-
ग्निदेवताके हविर्गादा, वाच० । शास्त्रभेदे च । न० । सूत्र० १
श्रु० ८ अ० ।

अग्नेर्दि (णी) आग्नेयी-स्त्री० अग्निदेवता यस्याः सा आग्ने-
यी । दक्षिणपूर्वस्यां विदिशि, (‘दिमा’ शब्दे वक्तव्यता) न०
१ श्रु० १ उ० । म्या० । आ० म० द्वि० ।

अग्नेर्णीय-अग्न्यार्णीय-न० । चतुर्दशपूर्वाणां मध्ये द्वितीयपूर्वे,
(अथ्य विस्तरस्तु ‘अग्न्यार्णीय’ शब्दे) न० । म्या० ।

अग्नेन (य) ण-अग्नेन-त्रि० । अग्ने भवति, अग्ने-ट्यु । पौर-
स्ये, आ० म० प्र० ।

अग्नेोदय-अग्नेोदक-न० । उपरितन उदके, “लवणस्स णं तमु-
दस्स मट्ठि णागमाहस्मीओ अग्नेोदयं धरन्ति ” अग्नेोदयति-
पोडगमहस्योच्छ्रिताया वेलाया यष्टुर्वा गयूतिद्वयमानं वृष्टि-
दानिभ्यतावे तदग्नेोदकम् । जीवा० ३ प्रति० ।

अग्न्य-राज्ञ-था० दीप्तौ, न्यादि०, उभ०, अक०, सेट्, कणादिः ।
वाच० । “ राज्ञेय्यग्रजसहस्ररिगेहाः ” ८ । ४ । १०० । इति
राज्ञेय्यः । अग्न्यः, राज्ञति, राजते । प्रा० ।

अग्न्य-पुं० अहं-वच् । रजतादिद्रव्यरूपे मूल्ये, वाच० । संथा० ।

अधो मन्त्र्यभेदे, “ उवणस्समंहे अतिथिवेत्तं धरन्ति वा णाग-
याया अग्निमिहा विज्जाइ वा ” अग्नादयो मन्त्र्यकच्छपविश-
याः । जी० ३ प्रति० ।

अह्-करणे यच् । न्यङ्कादिभ्यात् कुन्वम् । पूजोपचारं दूर्वाङ्ग-
तादा, वाच० । पुष्पादिषु पूजाद्रव्येषु, ज्ञा० १६ अ० ।

अर्घ्य-त्रि० अर्घ्याय देये यत्तदर्घ्यम् । पूजार्थं देये जज्ञादौ, अ-
र्धं ऽव्याणि च “ आपः क्षीरं कुशाग्रं च, दधि सर्पिः सतगुरुम् ।
ययः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽयः प्रकीर्तितः ” ॥ १ ॥ वाच० ।

अग्न्या-पूर-धा० पूर्त्ता, प्रीणनं च । दिवा०, आत्म०, सक०, से-
ट् । चुग०, उभ०, सक०, सेट् । वाच० । प्राकृते “ पूरेरग्न्याडोयवाहु-
मांगुमाहिरमाः ” ८ । ४ । १६८ । इति पूरेरग्न्याभादेशः । अग्न्या-
रुह, पुर्यते, पुरयति वा । प्रा० ।

अग्न्याग-आग्रातक-पुं० गुच्छयनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अग्न्या-देशी, अपामार्गे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्न्या-देशी, तृप्त्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्न्याय-आग्राय-अव्य० । नासिकया गन्धं गृहीत्वैत्यर्थः । “सुर-
जिग्मघाणि वा अग्न्याय से तन्ध आसाय वक्रियाण मुच्छिप ”
आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । आ० म० प्र० ।

अग्न्यायमाण-आजिघ्रत-त्रि० । उन्मिद्धति गन्धे नासिकया गृ-
ह्णाति, “ महया गन्धरुणि मुयंते अग्न्यायमाणीओ दोहसे विणि-
ति ” ज्ञा० ८ अ० । आ० म० द्वि० ।

अग्निय-अर्घित-त्रि० । अर्घ-क्त, अर्घः संजातोऽस्य इतच्च्वा ।
वह्ममूल्ये, “ अग्नियं नाम वह्ममोहं ” नि० चू० २ उ० ।

अय-अय-न० । अय-भावेऽच् । पापे, वाच० । “ ब्राह्मणो जि-
व्येते नाघि-नियोगप्रतिपत्तिमान् ” अष्ट० २८ अष्ट० । कर्त्तरि अच् ।
पापकारके, त्रि० । व्यसने, छुत्वे च । न० । पूतनायकासुरयो-
जानरि असुरतेदे, पुं० । वाच० ।

अयण-अयन-त्रि० । न० त० । अददे, ओ० । विरले, पि० ।

अयाङ्गी-अयातिनी-स्त्री० ज्ञानदर्शनादिगुणानां मध्ये न कि-
ञ्चिद् गुणं प्रन्तीत्येवंशित्रा अयातिन्यः । ज्ञानादिगुणानामयातनाम-
करणशीलासु कर्मप्रकृतिषु, अयातिन्यः प्रकृतयो ज्ञानादिगुणं न
प्रप्ति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावाऽपि तस्करैः सह वर्त-
मानस्तस्कर इव दृश्यते, एवेमेता अपि यातिनीभिः सह विद्यमा-
नास्तद्वया इव भवन्ति । यदाहुः श्रीशिवशर्मस्मृतिप्रवराः—“अयमे-
सा पयमीओ, अयाद्यादि पलियभागा” पलियभागुत्ति । सादृश्यं
यातिन्ये च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् (ताश्च पञ्चमप्रतिमं-
ख्याका अभिधीयन्ते, इत्यादि ‘कम्म’ शब्दे तृतीयभागे २६५
पत्रे प्रतिपादितम्)

अयाङ्गस-अयातिरम-पुं० ज्ञानादिगुणस्य स्वकार्यसाधने प्र-
त्यसामर्थ्याकारके रसस्पर्द्धकमङ्गाने, पं० सं० ३ द्वा० ।

अयातिरमस्वरूपमाह—

जाण न विमओ याइ-नणम्मि ताणं पि सव्वयाइस्सो ।

जायइ याइसमासे-ण चोरया वेव चोराणं ॥ ३६ ॥

यासां प्रकृतीनां यातिन्यमधिकृत्य न कोऽपि विषयो न किमपि
ज्ञानादिगुणं यातयतीत्यर्थः, तासामपि यातिसकाशेन सर्वधा-
तिप्रकृतिसंपर्कतो जायते संवयातिरसः । अत्रैव निदर्शनमाह—
यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता । पं० सं० ३ द्वा० ।

अधुणित (य)--अधुणित--त्रि० घुणैरविद्धे, वृ० १३० ।

अचं (चं) कारियभट्टा-अचङ्कारितभट्टा-स्त्री० धन्यश्रेष्ठिनो जट्टयां जार्यायामुत्पादितायामुपायव्यवहृत्वादतिस्नेहन न केनचि-
देवा चङ्कारयितव्येति स्नानमन्यातायां सुतायाम्, ग० २ अधि० अ-
मानफले अचंकारितभट्टादाहरणम् । यथा-खितिपतिद्वियं नगरं ।
जियसत्त्वाया धारिणी देवी । सुवुद्धी सचिवो । तत्थ य नगरे धणो
नाम सेट्ठी । तस्स जट्टा णाम भारिया । तस्स य घ्या जट्टा । सा य
माउपियभाउयाण य उवायल्ल्हा । मायपितादि य सव्वपरिजणं
जणति-एसा ण य केण वि किंचि चंकारेयव्व ति । ताहे
लोणेण सेकयं णामं अचंकारियभट्ट ति । सा य अतीव रूववती
बहुसु वणिगकुलेसु वरिज्जति । धणो य सेट्ठी भणइ-जो एयं ण चं-
कारेदिति तस्सेसा दिज्जहि ति, एवं वरगे परिसेहति । अण-
याए सन्निवेण वरिया । धणेण भणियं-जइ ण किंचि वि अवराहं
चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो । तेण य पमिसुयं । तस्स दिष्ठा
भारिया । सो तं न चंकारेति । सो य अमचे रातीए जामेण रा-
यकज्जाणि समाणेउं आगच्छति । सा तं दिणे खिसति-सवेव्वाए
नागच्छति ति । ततो सेवेलाए एतुमल्लत्तो । अण्णया एण्णा चिं-
ता जाया-किमेसो मंती सेवेव्वाए गच्छति ? । एण्णो अण्णेहिं कहियं-
एस जारियाए आण्णजगंण करेति ति । अण्णया एण्णा भणियं-इमं
परिसं तारिसं च कज्जं सेवेलाए तुमे ण गंतव्वं । सो उस्सुयन्नु-
तो वि रायाणुवत्तीए ठितो । सा य रुढा दारं बन्धेउं ठिआ । अ-
मच्चओ आगओ । उस्सुरो दारमुग्घाडेहि ति बहुजणिये वि जा-
हे ण उग्घाडेति, ताहे तेण चिरं अत्थिऊण भणिया-तुमं ण चे-
व सामिणी होज्जासि ति । अहो ! मे आलो अंगीकओ, ताहे सा
अहमावोहि ति भणिया दारमुग्घाभिउं पिउघरं गया, सव्वालं-
कारविभुसिआ अंतरा चोरेहिं गहिया । तीसे सव्वालंकारे घेतु
चोरेहिं सेणावतिसस उवणीया । तेण सा भणिया-मम महिला
होहि ति । सो तं वव्हेण ण जुंजति । सा वि तं णेच्छति । ताहे तेण वि
सा जलूगवेज्जस्स इत्थे विक्किया । तेण वि सा जणिया-मम ज-
ज्जा भवाहि ति । तं पि अणिज्जंती तेणावि रुसिपण भणिया-पा
णीयातो जलूगा गेहहि ति । सा अप्पाणं णवणीएण मंखिउं
जलमवगाहइ । एवं जलूगाओ गिरहति । सा तं अण्णुरूवं कम्मं
करेति, ण य सीलभंगं इच्छति । सा तेण रुहिरसावेण विरूव-
लावणा जाया । इतो य तस्स भाया दूयकिचेण तत्थागओ । तेण
सा अण्णसरिसि ति काउं पुच्छिया । तीए कहियं । तेण दव्वेण
मोयाविया । अण्णिया य वमणवियेयेहिं पुण णवसरीरा जा-
या । अमच्चेण पच्छा णियघरमाणिया, सव्वसामिणी ठविया ।
ताहे कोहपुस्सरस्स माणस्स दोसं दट्ठुं अभिगगहो गहियो ।
ए मए कोहो माणो वा कायव्वो । तस्स घरे सयसहस्सपागं
तेल्लमत्थि । तं च साहुणा वणसंरोहणत्थं ओसहं मगियं । तीये
दासचेडी आणत्ता-आणेहि ति । तीए आणंतीए सह तेल्लणं
भायणं भिषं । एवं तिषि भायणाणि भिषाणि, ण य सा रुढा ।
निसु सयसहस्सेसु विणट्ठेसु चउत्थवाराए अप्पणा उट्ठेऊण
दिषं । जइ तीए कोहपुस्सरो मेरुसरिसो माणो निज्जिओ ।
साहुणीहिं सुट्ठुतरं णिहंतव्वो ति । ग० २ अधि० ।

अचंवल-अचञ्चल-त्रि० वशीकृतेन्द्रिये, प्रव० ६४ द्वा० । 'चं-
चल' शब्दे प्रतिपादयिष्यमाणे चञ्चलविपरीते अनुयागधव-
णार्हे, वृ० १३० ।

अचंर-अचण्ड-त्रि० । न० त० । अतीवकोपे, तं० । निष्कार-

णप्रबलकोपरहिते, प्रथ० ४ आश्र० द्वा० । स० । सौम्ये, "मा
अचंडालियं कासी" उक्त० १ अ० ।

अचकि (ए)-अचक्रिन्-पुं० न चक्री । नञः पर्युदासवा-
चकत्वेन सदृशग्राहकत्वात् सामान्यपार्थिवे, वृ० १ उ० ।

अचक्रिय-अचकित-त्रि० अत्रासिते, "समुद्गंभीरसमा दु-
रासया, अचक्रिया केणइ दुष्पहंसया" उक्त० ११ अ० ।

अचक्रव-ट्ठ-धा० चालुपज्ञाने, भ्यादि०, पर०, सक०, अ-
निट् । वाच० । "दशो निअच्छुपेच्छावयच्छावयज्ज-
सच्चवेदकेवो अक्खाचक्खा" । ॥३१॥२०॥ इत्यादिना सूत्रेणाच-
क्खादेशः । अचक्रवइ, पश्यति । प्रा० ।

अचक्रु-अचक्रु-न० । न० त० । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टये,
मनसि च । कर्म० १ कर्म० । जी० । उक्त० । न० व० । चक्षुर्द-
र्शनवर्जिते, कर्म० ४ कर्म० ।

अचक्रुदंसण-अचक्षुर्दर्शन-न० । अचक्षुपा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियच-
तुष्टयेन मनसा वा दर्शनं यत्तदचक्षुर्दर्शनम् । स्था० ६ द्वा० ।
चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिः स्वस्वविषयस्य सामान्यग्रहणस्वरूपो
दर्शनभेदे, पं० सं० १ द्वा० । कर्म० । स्था० । ("दंसण" शब्दे
वक्ष्यते सर्वम्)

अचक्रुदंसणावरण-अचक्षुर्दर्शनावरण-न० । अचक्षुर्दर्शन-
स्यावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, स्था० ६ द्वा० ।

अचक्रुफास-अचक्षुःस्पर्श-पुं० । अन्धकारे, "पुरओ पवाए
पिट्ठओ हत्थिभयदुहओ अचक्रुफासो मज्जे सरा णिवयं-
ति" ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

अचक्रुय-अचक्षुः-त्रि० । अन्धे, "अचक्रुओवनेयारं, वुडि
अप्पेसए गिरा" व्य० १ उ० ।

अचक्रुविमय-अचक्षुर्विषय-पुं० । ६ त० । चक्षुरगोचरे, "अ-
चक्रू विमयो जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहया" अचक्षुर्विषयो यत्र
न चक्षुषो व्यापारो यत्रेत्यर्थः । दश० ५ अ० ४ उ० ।

अचक्रुत्त-अचक्षुः-त्रि० । चक्षुषाऽदृश्ये, प्रथ० १ आश्र० द्वा० ।

अचक्रुस्स-अचक्षुः-त्रि० । द्रष्टुमनिष्टे, वृ० ३ उ० ।

अचयंत-अशक्तवत्-त्रि० । असमर्थे, "चोइया भिक्खवरिया,
अचयंतो जघित्तए" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अचर-अचर-पुं० । न० त० । पृथिव्यादिषु स्थावरेषु, दर्श० ।
चलनशून्ये, त्रि० । ज्योतिषोक्तवृषसिंहवृश्चिककुम्भराशिसंज्ञेषु
स्थिरराशिषु, वाच० ।

अचरग-अचरक-त्रि० । अनुपभोक्तुरि, "चारिच्चरकसंज्ञविन्य-
चरकचारणविधानतश्चरमे" पौ० ११ विव० ।

अचर (रि) म-अचरम-त्रि० । न० त० । प्रान्तिममध्यवर्तिनि,
तच्चापेक्षिकं, तस्य चरमापेक्षाभावात् । यथातथाविधान्य-
शरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरम् । प्रज्ञा० ६ पद० ।
(सर्वेषां चरमाचरमन्वं 'चरम' शब्दे दर्शयिष्यते) चरमभि-
क्षेषु नारकादिषु वैमानिकपर्व्यन्तेषु जीवेषु, ते हि अचरमाः
येषां भव्यत्वे सत्यपि चरमो भवो न भविष्यति, न निर्वा-
स्यन्तीत्यर्थः । स्था० १ द्वा० २ उ० । "पुविहा सव्वजीवा प-
क्खस्ता-चरमा चेव अचरमा चेव" स्था० २ द्वा० ४ उ० ।

अचरिमे दुविहे पणते । तं जहा-अणदिण वा अप-
ज्जवमिण्, सादिण वा अपज्जवमिण् ।

अचरमो द्विविधः-अनाद्यपर्यवसितः साद्यपर्यवसितश्च ।
तत्राऽनाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्धः ।
प्रश्ना० १६ पद ।

अचर (रि) मंतपण-अचरमान्तप्रदेश-पुं० अचरम एव क-
स्याप्यपेतयाऽनन्तवर्तित्वाद्भेदे, प्रश्ना० ९ पद । ('चरम' शब्दे-
ऽचरमान्तप्रदेशत्वपृच्छा कारिष्यते) ।

अचर (रि) मममय-अचरमममय-पुं० चरममयादन्यस्मिन्
यावच्छैलेत्यवस्थाचरमसमये, नं० ।

अचर (रि) मावट्ट-अचरमावट्ट-चरमपुल्लपगावतांदवाक्
समये, अण० १= अण० ।

अच (य) ल-अचल-त्रि० । न० त० । निष्प्रकल्पे, "अयत्रे भव-
भरणे" कल्प० । "अणिहे अचले चले अवहिल्लेस्मे परिव-
प" । न चलतीत्यचलः परीपहोपमर्गत्रानेरितोऽपि । आचा० १ श्रु०
६ अ० ५ उ० । "अचले जे समादिण" यद्यप्यमाविक्रितप्रदेशे स्वतः
शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणान्न चलतीत्यचलः । आ-
चा० १ श्रु० = अ० ८ उ० । "अचले जगवं! गीइज्जा" आचा० १ श्रु०
६ अ० ३ उ० । 'अचले जह मंदरे गिगिरे' अचला निश्चलः परीप-
हादिभिः । प्रश्न० ५, संव० ६० । "सिचमयलमरुयमकवयमण-
तमवावाडमपुणराविति सिठगअणामधेयं त्राणं संपत्ताणं"
अचलम, स्वामाधिकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपेक्षात् । जी० ३
प्रति० । स० । ल० । भ० । औ० । स्पन्दनाद्विजितत्वात् । प्रश्न०
४ संव० ६० । रा० । धा० । दशाहार्णाणं पण्डे दशार्हपुरुषे, अन्त० १ वर्ग ।
पूर्वतवे मल्लिनाथजीवस्य महाबलनाम्नो बालवयस्ये, स च तेन
सह प्रव्रजितो विपुत्रं तपः कृत्वाऽनशनेन मृत्वा जयन्तविमाने
उपपन्नो देशान्ति २० सागरोपमाणि स्थितिं पारपात्य च्युतः
प्रतिवृद्धो ननेकवाकुगजो जातः । मल्लिनाथेन च सह प्रव्रज्यां
गृहीत्वा सिठः । आ० १ श्रु० = अ० । ('मल्ली' शब्दे चेतद् विस्तरेण)
अवसर्पिण्यां प्रथमे ब्रह्मदेवे, प्रव० १० ए ६० । आच० ।
स० । (स च प्रजापतेर्भट्टानाम्भ्यां भार्यायां जातः, तस्य
भागिनी मृगावती । तां तस्य पिता प्रजापतिश्चक्रे, इति
जायात्वेन कल्पयित्वा तस्यां त्रिविष्टपनामानं दशमे वासुदेवं
जनयामास । अचलश्च माहिष्मती नामपुरी सह मत्स्येऽऽख्याया
मात्रा गतः । इति 'वीर' शब्दे न्येकत्र दर्शयिष्यते) गृहे, दे०
ना० १ वर्ग । तद्वक्तव्यता समासेन-

पुत्तो पयावतिम्म, जहा अयलो वि कुच्छिमंजुओ ।

गेरुपडिक्खपट्ठणे, निविट्ठु अयलो ति दो वि जणा । ११ ।

अयलं निविट्ठु दोन वि, मंगांमे आमि दोवि रायाणं ।

हंतूण मव्वदादि ण, दादिणजगहं अउजणं ति ॥ १३ ॥

उपपण्णयणविट्ठवा, कोमिमिलाण वल्लं तुल्लेऊणं ।

अऊत्तगहादिमेयं, अह अयल निविट्ठुणां पत्ता ॥ १४ ॥

चकं मुदग्गिमणं मे, मंग्वा वि य एव पंचजम्मनामो ति ।

नंद्यनामो आर्मी, गिमुमोणियमंरितो आर्मी ॥ १५ ॥

मात्रा य वेजयंती, विचित्तरयणावमोदियारंजा ।

मारिक्खा जा जणियं, पणममण उदगयम्म ॥ १६ ॥

सत्तुजणस्म जयकरं, जायं दवियारिजीवउच्छावं ।

जीवानिग्योमेणं, सत्तु सहसा पण्ड जस्स ॥ १७ ॥

कोमुभमणी य दिव्वा, वच्छत्थत्तज्जसणो तिविट्ठस्म ।

अच्छीए परिगट्ठिओ, रयणुत्तमस्सरसंगट्ठिओ ॥ १८ ॥

अमरपरिगट्ठियाई, संत वि रयणाइ अह तिविट्ठस्म ।

अमरेणु ज्जसणेणु य, एयाई अजिअणुवाइ ॥ १९ ॥

वहइ ह्री वि हलं जो, पणयजिभं व तिकखवइरवउ ।

पवरं समरमहाभर-विट्ठत्ताक्कीण जीवहरं ॥ २० ॥

माणंदं वा णंदिय, आसं पि य सत्तुमुकसययद्वं ।

मुमद्वं से जे मट्टपुर-जंजणकुसद्वं वडरसारं ॥ २१ ॥

सव्वा उ पंचमाधं, कुममासवल्लोत्तल्लप्पयं विउद्वं ।

मणिकुंरुद्वं च वामं, कुवेरवरआमारारामं ॥ २२ ॥

अचल्लस्म वि अमरपरि-ग्गाहई एयाई पवररयणाई ।

सत्तूणं अजियाई, समरगुणपट्ठाणगयाई ॥ २३ ॥

वट्ठमउडाण निच्चं, रउजधुरवट्ठणधोरवमजाणं ।

जोइनरिंदाजाणं, सोल्लमरातीसहस्साइ ॥ २४ ॥

वायालीमं झक्खा, हयाण रट्ठगयवराण पडिपुष्सा ।

अट्ठयदेवसहस्सा, अभिउग्गा सव्वकज्जेसु ॥ २५ ॥

अडयाज्जाकोडीओ, पाइक्कमयाण रणसमत्थाणं ।

सोल्लसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवराणं ॥ २६ ॥

पण्णासं विज्जाहर-नगराण सजणवयाई रम्माणं ।

पव्वंतराज्जवासी, नेगो य फणग्गधम्मउरु ॥ २७ ॥

नेगाई सहस्साई, गामागरनगरपट्ठाणादीणं ।

वेयहृदाहिणेण उ, पुव्वावरअंतरावियाणं ॥ २८ ॥

हुरियानुमाणमहणं, अवसे वसमाणइतु नरवड्ढो ।

दाहिणभरहं सयलं, भुंजति तिल्लाण पक्खिक्खा ॥ २९ ॥

सोल्लससाहस्मातो नरवड्ढाणयाण रुवक्कलियाणं ।

तवेइ य चिय जणवड्ढ-कट्ठाणीतो तिविट्ठस्म ॥ ३० ॥

इय वत्तोमसहस्सा, चारुपत्तीण ता तिविट्ठस्म ।

धारिणिपामोक्खाण य, अट्ठमहस्साइ अयलस्म ॥ ३१ ॥

उत्तियमगरवयाणं, विदिणवरद्धत्तवाज्जवियाणं ।

सोल्लसगणियसहस्सा, वसंतमेणापट्ठाणाणं ॥ ३२ ॥

एवंतु मण जणियं, अयलतिविट्ठाण दोएहवि जणाणांति० ।

"अयत्रे बलदेवे, असीई धण्डं उट्ठं उच्चत्तेणं होत्था" स० ८
सम० । मनोहरपुत्रे, (स चापरविदेह शत्रिलावतीविजये
वीनशोकायां नगर्यां जितशत्रोः राज्ञो मनोहरिभार्यायामुत्पन्नो
वत्तदेवो जातः । पितर्युपरते मानरि प्रव्रज्यां गृहीत्वा मृतायां
त्वान्तं कल्पे देवत्वेनोपपन्नायामट्ठ्यां गत्वा साश्वे विभी-
षणनाम्नि भ्रातरि मृते तत्रैवागत्य तद्वरूपं विकुर्य देवरू-
पया मात्रा मिलित उक्तश्चानित्यां मनुजार्द्धं ज्ञात्वा परलोकहिते
कुर्यति । ततः प्रव्रजितो मृत्वा बलिताङ्गको देवो जात इति,
एतत्सर्वं व्यासेनाऽऽत्मनोऽष्टनवसम्बन्धं प्रारूपयत् श्रेयांसः,

इति 'उसन्न' शब्दे द्वि० भा० ११३३ पृष्ठे वक्ष्यति) आ० चू० १
अ० । आ० म० प्र० । निर्ययपुरात्रीश्वरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते,
स च स्वगवेषितकपटयोगिनो वधं दृष्ट्वा संवेगमापद्य प्रव्रजितो
मुनीश्वरो जातः । तच्चरितं चैवम्—

भयरहिणं निभयपुर-म्मि पुत्रजणविद्विगलरुहसो वि ।
रायासि रामचंद्रो, सलकलणो रामचंद्रं व ॥ १ ॥
तस्स गुरुगउरवपयं, अयत्रो नामेण अत्यि सामंतो ।
नयसच्चसोयसौमी-रयाइगुणरयणुरयणनिही ॥ २ ॥
कइया वि सो नरिंदो, सभागओ जूरिसारपरिवारो ।
दुक्खजरसूइगाए, गिराइ पउरेहि इय जणिओ ॥ ३ ॥
देव ! न दीसइ चोरो, न य खत्तो न वि य चरणसंचारो ।
केण वि तह वि मुसिज्जइ, अदिठरुवेण पुरमेयं ॥ ४ ॥
तं सोउं कुविणं, भणियं रत्ता अहो सुहउसंघा ! ।
किं को वि तकरं तं, निग्गहिउं भे समत्थु त्ति ? ॥ ५ ॥
जो किं पि न बिंति भमा, ता अयत्रो आह देव ! मह देसु ।
आएसं नणु कित्तिय—मिंसं एसो वराओ त्ति ॥ ६ ॥
रत्ता सहत्थतंबो-वदाणपुवं पयंपिओ स इमं ।
तह कुणसु जइ ! सिग्गं, जह व्वभइ तक्करो एसो ॥ ७ ॥
जइ पक्खंतो चोरं, न लहेमि अहं विसामि तो जलणं ।
इय काउ पइसं सो, विणिग्गओ रायजवणाओ ॥ ८ ॥
परिजमिओ पुरमज्जे, सिंघारुगतिगचवक्कमाइसु ।
लखो न को वि चोरो, नोहरिओ तयणु नयराओ ॥ ९ ॥
करकलियखग्गदंडो, निविडीकयपरियरो दढपइओ ।
सो रयणिपढमपहरे, पत्तो कुंडामिहमसाणे ॥ १० ॥
तत्थ अइकमुयकक्ख-रुरंतधूरुमुकुंधुप्पिच्छे ।
भल्लुककक्कपरिक्क-पिक्कपिक्कारवे व रुहे ॥ ११ ॥
एगत्थ काव्वेया-वज्जावसंजणियकिन्नकिन्नारावे ।
अन्नत्थ मुक्कपुट्ट-दुहासपरिजमियभूयउत्ते ॥ १२ ॥
जा अखुहिओ अयलो, अयत्रो इव जाइ किं पि जूभागं ।
ता साहगगहणपरं, पिसायमेगं स पिच्छेइ ॥ १३ ॥
तं पइ भणइ महायस ! साहगपुरिसं हणेसि किं एयं ? ।
आह पिसाओ इमिणा, पसाइओ हं दिणे सत्त ॥ १४ ॥
संपइ अइबुहिणं, मए इमो मग्गिओ महामंसं ।
न तरइ दाउं खुदो, ता एयं लहु हणिस्सामि ॥ १५ ॥
परउवयारपहाणां, अयलो पच्चाह मुंच नरमेयं ।
तुह देमि महामंसं, अहमियं मन्नइ पिसाओ वि ॥ १६ ॥
तो बुरियाए छित्तुं, नियमंसं स तस्स वियरेइ ।
असइ पिसाओ वि अहो !, अभुत्तपुवं ति जंपतो ॥ १७ ॥
उक्कित्तिऊण जह जह, अयलो से देइ मंसखंमाइं ।
तह तह दिव्वोसहिंविहि-कयं व्व बुद्धिं बुहा जाइ ॥ १८ ॥
नीसेसमंसवियत्रं, निए वि सयलं कलेवरं अयलो ।
अह जीवियनिरंविक्खो, सीसं पि हु णितुमारओ ॥ १९ ॥
धरिऊण पिसाएणं, दाहिणदत्थेण सत्ततुठेण ।
भणिओ सो अन्नमेए-णं साहसेणं वरेसु वरं ॥ २० ॥
अयत्रो भणेइ साहग-इट्ठं पकरेसु जइसि तुट्ठो मे ।
एवं कयं चिय मए, मग्गसु अन्नं पि आह सुरो ॥ २१ ॥
अयलो जंपइ तुज्ज वि, किं सीसइ अमरमुणियकज्जस्स ।
नाउं ओहिबलेणं, तं कज्जं आह इय अमरो ॥ २२ ॥
तं अयल ! गच्छ सगिदे, वीसत्थो होसु मुंचसु विसायं ।
एसो चोरपबंभो, गोसे सयलो फुमो होही ॥ २३ ॥

इय भणिय गत्रो अमरो, अयत्रो वि विसिद्धेहवावत्रो ।
निययावासे पत्तो, निच्छित्तो लहइ निहं च ॥ २४ ॥
ववगयनिदो अयत्रो, पए पिसाएण पज्जिणओ जइ ! ।
तं तकरवुत्तंतं, निसुणसु सो आह कहसु फुमं ॥ २५ ॥
एयस्स पुरस्स वहि पुव्वदिमाआसमे वसइ जोगी ।
पव्वयत्रो से सिद्धो, कविलक्खो चरुओ अत्थि ॥ २६ ॥
तेणं हरेइ नयरे, सो सारं रमइ निसि जहिच्चाए ।
काऊण जोगिरुवं, दिवसे पुण कहइ धम्मकहं ॥ २७ ॥
तस्सासमज्जमिहरे, चिच्छइ अवहार्यदव्वसव्वासं ।
मा काहिसि इह संसय-मिय भणिय तिग्गहिओ देवो ॥ २८ ॥
अह काउ गोसकिच्चं, अयत्रो कइवयजणाणुगो पत्तो ।
सुणकइयआसमे त-त्थ तेण दिट्ठो कयरजोगी ॥ २९ ॥
ठाऊण य तत्थ खणं, अयत्रो पत्तो नरिंदपयमूले ।
निवपुट्ठो एगंते, कहइ तं चोरवुत्तंतं ॥ ३० ॥
को इत्थ पच्चओ इय, नरवरपुट्ठो पयंपए अयत्रो ।
तस्सासमज्जमिगिद-म्मि मोसजायं सयलमत्थि ॥ ३१ ॥
तो सिरवियणामिसवस-विसज्जियासेसपरियणो राया ।
सुत्तो तयणु जणणं, पारद्धा विविहउवयारा ॥ ३२ ॥
जाओ न य को वि गुणो, आहूया मंतवाइपमुहजणा !
ते वि अकयपरियारा, गया विलक्खा सगणेसु ॥ ३३ ॥
तो सुविसन्नमणेण व, सो जोगी वाहराविओ रत्ता ।
संभासितमारद्धो, सायरदिन्नासणो य तयं ॥ ३४ ॥
पुरिसे य पेसिऊणं, खणाविओ तस्स आसमो ऊत्ति ।
निग्गयमसेसमोसं, आणीयं रायजवणम्मि ॥ ३५ ॥
आहुओ तव्वेवं, महायणो दंसियं तयं मोसं ।
उवलक्खिऊण जं ज-स्स आसि तं तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥
अह वुत्तो सो जोगी, रे रे पासंभियाहम ! अणज्ज ! ।
को एसो वुत्तंत्तो, सो भीओ जंपइ न किं पि ॥ ३७ ॥
चेमो दूरीदुओ, सिच्छवज्जम्मि दुज्जणु व्व लहुं ।
सुवहुं विडंविउं सो, जोगी माराविओ रत्ता ॥ ३८ ॥
इय द्धु तस्स मरणं, अयलो चित्तेइ फुरियवेरग्गो ।
हा ! कह जीवा धणव्व-विमोहिया जंति इह निहणं ॥ ३९ ॥
धणव्वोणेणं जीवो, हणेइ जीवे सया मुंसं वइइ ।
पियपुत्तमित्तसुकल-त्तपमुहव्वोपं पि वंचेइ ॥ ४० ॥
इह बोइयतुच्छपत्रो-यणत्थमित्थं अकिञ्चलक्खं पि ।
काउं कंखइ जीवो, न य पिच्छइ तक्कं दुक्खं ॥ ४१ ॥
अइगरुपलोहमुग्गर-पहारभरगाढविहुरियसरिरी ।
हा ! किह णु दुग्गदुग्गइ अवमे निवमंतिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥
ता सयव्वोदसंखोह-निविमसरधोरणीखव्वणदक्खं ।
कवयं पिव पव्वज्जं, संपइ गिएहामि दढसत्तो ॥ ४३ ॥
इय जा अच्चओ अच्चविय-संवेगजरो विंचितए चित्त ।
ता तत्थ समोसरिओ, सूरी गुणसुंदरो नाम ॥ ४४ ॥
सुच्चा गुरुणो तक्खण, स आगमो आगओ गुरुसगासे ।
पणमियतप्पयपउमं, आसणो उच्चियदेसम्मि ॥ ४५ ॥
तयणु जवपरमनिव्वेय-कारिणी लोहमोहनिम्महिणी ।
विसयाणुरागपायव-करिणी संवेयसंजणणी ॥ ४६ ॥
संसारसमुत्थसमत्थ-वत्थुविगुणत्तपयरुणपहाणा ।
सुइसुहकरेहि वयणे-हि देसणा सूरिणा विहिया ॥ ४७ ॥
तं सोउं पम्बुछो, अयलो पुच्छे वि कह वि नरनाहं ।
गुरुणो तस्स समीवे, संविग्गो गिएहए दिक्खं ॥ ४८ ॥

पमिन्नपुविहीमक्खो, गुरुणा सह विहरण महीवत्तण ।
 अरुहते अरिहते, आगहए सम्ममरुहते ॥ ४९ ॥
 पवयणवच्छपरो, जायइ सिद्धे सया तुहसमिद्धे ।
 सिवफलतरुणो गुरुणो, मेवइ देसणविणयजुत्तो ॥ ५० ॥
 सुपवयपज्जायधरे, धरे सुवहस्सुए तवस्सी य ।
 जह उच्चिय आगहए, सन्निकसत्ताणोवभोगपरो ॥ ५१ ॥
 स।ववपसु आव-स्सपसु परिहरए दूरमइयारे ।
 अपुव्वनणग्गहणं, सुयभन्निपरायणो कुणइ ॥ ५२ ॥
 तरत्ता निक्काय्याणं, कम्माण खउत्ति कुणइ गरुयतयं ।
 खजलवज्जाणवत्तो, मुण्णिण भत्ताइ वियरेइ ॥ ५३ ॥
 पमिन्नगस्स मयस्स व, नामइ चरणं सुयं अगुणणाए ।
 न हु वेयावच्चच्चियं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥ ५४ ॥
 इय चित्तो वेया-वच्च एकुणइ अतिप्पमाणमणो ।
 पवयणपजावणपरो, कुणइ समाहिं च संघस्स ॥ ५५ ॥
 पवमणुत्तरदेसण-नाणन्नरित्ते अतिप्पमाणस्स ।
 उभानवकारिणो सु-ज्जमाणसुपसत्थलेस्स ॥ ५६ ॥
 अज्जिपत्तिथंकरना-मकम्मणो तस्स अचलसाहुस्स ।
 सव्वासाहिपमुहाओ, जायाओ विविहलकीओ ॥ ५७ ॥
 इत्तो निभयपुरे रामचंदरत्तो विसिध्विज्जेहि ।
 पयडिज्जेत्तेसु वि स वहुभेसज्जे सहपओगेसु ॥ ५८ ॥
 बहुमेततंवाइ-हि कारमाणसु अवि सुकिरियासु ।
 रोगेण मरंति करी-त्तो आदत्तो निवो जाओ ॥ ५९ ॥
 अइ गुरुणा गुन्नाओ, अचलमुणी तत्थ आगओ तइया ।
 पत्तो निवो मणिं तं, नमिय निसन्तो उच्चियदेसे ॥ ६० ॥
 मुणिया वि निवइजुगो, सहसणपूलमूलपरिकलिओ ।
 पंचाणुव्वयग्गओ, तिगुणव्वयगरुयसाहीयो ॥ ६१ ॥
 सिक्खवाचपमिसाहो, निम्मलवहुनियमकुसुमसंकिन्तो ।
 सुरमणुयसमिद्धिलो, कहिओ गिहिधम्मकप्पतरु ॥ ६२ ॥
 इय सोउ निवो जंपइ, पट् ! धम्ममिमं रुमीहिमो काउं ।
 किं तु अकावे सिंधुर-संदोहं दट्ठ मरमाणं ॥ ६३ ॥
 न गिंहे न बाहिं न जणे, न कारणे न य दिणे न रयणीए ।
 मह संपइ संपज्जइ, रइ मणां पि मुणिपवरा ! ॥ ६४ ॥
 तो कहसु किं पि जणे, सुत्थमणो हं करामि धम्ममिमं ।
 इय रत्ता पुणदत्तं, बुत्तो वि हु सुमुणिसद्वलो ॥ ६५ ॥
 मावज्जकज्जवज्जा, सन्नाणो वि हु न किं पि जा भणइ ।
 ता मुणिसमावडियग्ग-यरण एवं निवो बुत्तो ॥ ६६ ॥
 बहुलडिसमिद्धिसम-न्नियस्स एयस्स समणसीहस्स ।
 पयरेग्गहिं संफुसि-य कुणसु सज्जं करिसमूहं ॥ ६७ ॥
 तं मुणिय निवो तुट्ठो, मुणिपयसंफुसियरेणुनियरेण ।
 करिनियरं सव्वं पि हु, आमरिसावेइ तिक्खुत्तो ॥ ६८ ॥
 विसमिव पीऊसहयं, तमं य दिवसयरंकरणपडिरुद्धं ।
 वेगेण रोगजायं, तं नट्ठं कुंजरकुलाओ ॥ ६९ ॥
 तं पिच्छि वि अचलुयियं, अणुतहरिसो इमं भणइ राया ।
 भयवं ! वारणवाही, केण निमित्तेण संजाओ ? ॥ ७० ॥
 मुणिया भणियं नववर ! जो जोइ घाइओ तथा तुमए ।
 मरिउं अकामनिज्जर-वम्भण सो रक्खसो जाओ ॥ ७१ ॥
 मरिऊण पुव्ववडरं, स तुह सरीरम्मि अण्णभवमाणो ।
 एयं पि होउ दुक्खं, ति कामि दंतीण रोगमरं ॥ ७२ ॥
 मह चरणरेणुपुट्ठा, संपद ने वाहिणो समुवसेता ।
 सो रक्खसो पणट्ठो, सज्जं जायं करिक्कुडवं ॥ ७३ ॥
 मुणिमाहण्यमण्यं, दट्ठं गहियसुद्धगिहिधम्मो ।

तुट्ठो राया पवयण-पभावगो सावओ जाओ ॥ ७४ ॥
 अयलो वि अतिप्पंतो, चरणाइसु काउ अणसणं सुमणो ।
 सोहम्मे उववओ, तत्तो य बुओ विदेहम्मि ॥ ७५ ॥
 कच्छाविजए, सिरिजय-पुरीहरओ पुरंदरजसस्स ।
 देवी सुदंसणाए, चउदसवरसुमिणकयसूओ ॥ ७६ ॥
 गम्भे पाउम्भूओ, समुच्चियसमए य जम्ममणुपत्तो ।
 अहिसित्तो स सुरासुर-वग्गेण सुमेरुसिहरम्मि ॥ ७७ ॥
 कयजयमित्तिमहाणो, उच्चिण समयम्मि पव्वइउकामो ।
 लोगतियतियसेहिं, सविसेसबुद्धिउच्छाहो ॥ ७८ ॥
 लोगाणं संवच्छुर-मच्छिन्नविदिन्नविहवसंभारो ।
 चउसट्ठिसुरेसरविहिय-गरुयनिकखमणवरमहिमा ॥ ७९ ॥
 तिजयं पगजयं पि व, पगत्थागयसुरासुरनरेहिं ।
 कुणमाणो पडिवओ, निस्सामन्नं ससामन्नं ॥ ८० ॥
 तो सुक्कज्जाणानल-समूलनिहइघाइकम्मदुमो ।
 उप्पन्नकेवलालोय-लोइयासेसतइलुको ॥ ८१ ॥
 सीहासणोवविओ, सिरउवरिं धगिय सेयजुत्तित्तो ।
 नियदेहदुवालसगुण-महत्तकंकिन्निकयसोहो ॥ ८२ ॥
 चाव्रियासियवरचमरो, पुरओ पक्खित्तकुसुमवरपयरो ।
 निज्जियादिणयरमंरुव-भामंरुवखंभियतमोहो ॥ ८३ ॥
 सुरपहयडुंहुइस्सर-पयभियदुज्जेयभाविरउविजओ ।
 सव्वसजासाणुगदि-व्ववाणिहवतिजयसंदोहो ॥ ८४ ॥
 पायभियसुगइमगो, पमिवोहियभूरिजावभवियजणो ।
 विहरित्ता चिरकालं, अणंतमुहसंपयं पत्तो ॥ ८५ ॥
 श्रीजैनशासनवनीतवनीरदस्य
 श्रुत्वेति वृत्तमचलस्य मुनीश्वरस्य ।
 सज्ज्ञानदर्शनतपश्चरणादिकेषु
 श्रद्धामतृप्तमनसो मुनयो विधत्त ॥ ८६ ॥ ४० २० ॥

अच (य) दृष्टाण-अचलस्थान-न०। अचओ निष्प्रकम्पः परमा-
 एवादिर्भवति, तस्य स्थानमचलस्थानम् । निरजःकावे, अचलं च
 तस्थानं चावस्थानमचलस्थानमिति व्युत्पत्तयो । निरजःकावश्च
 परमाएवादीनामयम-“ परमाणुपोगले णं जंते ! निरेए काव-
 ओ केव चिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं पक्कं समयं उक्कोसणं
 असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उसप्पिणी ओस्सप्पिणीतो” ॥ १५०
 १ उ० । नि० ८० । अचलस्थानं तु चतुर्थो, सादिसपर्यवसानभे-
 दात् । तद्यथा-सादिसपर्यवसानं परमाएवादेर्दृश्यस्यैकप्रदेशा-
 दाववस्थानं जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतथासंख्येयकालमिति ।
 साद्यपर्यवसानं सिद्धानां भविष्यदकारूपम्, अनादिसपर्यवसा-
 नमतीताद्वारूपस्य शैलेश्वरस्थान्त्यसमये कामर्णतैजसशरी-
 रज्यत्त्वानां चेति; अनाद्यपर्यवसानं धर्माधर्माकाशानामिति ।
 आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अच (य) दृष्टाण-अचलपुर-न०। आनीरदेशान्तर्गते ब्रह्म-
 पासने पुरजेदे, कल्प० । (‘अंभदीविया’ शब्दे कथा चास्य)
 “अयत्तपुरा णिक्खंत, कालियसुयआणुओगिण धीरे ” । न० ।

अच (य) लजाया-अचलभ्राता-पुं०। श्रीमहावीरस्य नव-
 मे गणधरे, शिशो० । आ० म० द्वि० । कल्प० । (तस्य पुरादिकं
 ‘गणहर’ शब्दे वक्ष्यते)

अच (य) द्वा-अचद्वा-स्त्री०। शक्रस्य देवन्दस्य सप्तम्यामग्रहि-
 प्याम, झा० २ श्रु० । (तःकथा प्र० जा० १७३ पृष्ठे ‘अग्रमहिमी’ शब्दे)

अच (य) लिय-अचलित-न०। वस्त्रं शरीरं वा न चलितं

कृतं यत्र तदचलितम् । अप्रमादप्रत्युपेक्षणभेदे, स्था० ६ टा० ।
ध० । ओष० । अत्र चतुर्भङ्गी यथा—“वत्थं अचलियं अप्पाणं
अचलियं; तथा वत्थं चलियं अप्पाणं अचलियं; तथा वत्थं
चलियं अप्पाणं अचलियं; तथा वत्थं अचलियं अप्पाणं अचलियं ।
एत्थं पढमो भंगो मुञ्चो” । ६ त० । अनारब्धचलनक्रिये, त्रि० । “अ-
चलियभावो पवत्तो य” । प० व० ४ टा० । नि० चू० ।

अचवचन-अचवचन-त्रि० । चवचवेति शब्दरहिते, प्रश्न० १
संव० टा० । “असुरसुरं अचवचवं आहारमाहारेइ” । त्र० ७
श० १ उ० ।

अचवल-अचवल-त्रि० । न० त० । स्थिरस्वभावे, व्य० ३ उ० ।
“गतिगणनासभावा-दिपहिण वि कुणति चंचलत्वं तु । गाणं
गणिताण भवे, अचवचो सोऽमुण्यवो” प० भा० । प० चू० ।
अचवलत्वं चतुर्धा ज्ञवति-गत्याऽचवलः १, स्थित्याऽचवलः
२, भाषयाऽचवलः ३, भावनाऽचवलः ४ । गत्याऽचवलः शीघ्रचा-
री न भवति १ । स्थित्याऽचवलः स्थिरास्तिष्ठन्पि शरीरहस्तपादा-
दिकमचाद्यनू स्थिरास्तिष्ठति २ । भाषयाऽचवलः सत्येऽर्थेऽनागतेऽसमाप्ते
सत्येवाऽग्रतः गृह्णाति ४ । (एवंभूतः शिष्यः) “णीया—
वित्ती अचवचे, अमाइ अकृहले” उक्त० १० अ० ।
कायिकादिचापद्वयरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० टा० । “अतुरि-
यमचवलमसंजते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ” अचवलं मान-
सचापद्वयरहितम् । भ० १ श० ५ उ० । “अतिणिणे अचवचे, अ-
प्पभासी मियासणे” अचवलो भवेत् सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः ।
दश० ८ अ० । विशेषः १० । ‘अचवला’ गत्या कायचा-
पल्यवर्जितया । कल्प० । “अचवला” अचपला मनो-
वाक्कायस्यैर्यात् । स० ।

अचाइय-अशक्त-त्रि० । असमर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
“जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउँ मणमाणं । त-
मचाइयं तरुणमपत्तजातं ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेजा” ॥१४॥
सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अचाएंत-अशक्तवत्-त्रि० । असमर्थे, “अवावाध अचाएंतो ने-
च्छइ अप्पचेत्तए एए” व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

अचाग-अत्याग-पुं० । त्यागपरिहारे, ध० २ अधि० ।

अचारुया-अचारुता-स्त्री० । असुन्दरत्वे, “बुधविज्ञेयं त्वचारु-
तया” प० १ विव० ।

अचालणिज्ज-अचालनीय-त्रि० । स्यैर्यादभ्रंशनीये, “अभि-
गयजीवाजीवा, अचालणिज्जाउ पवयणाओ” दर्श० ।

अचित-अचिन्त्य-त्रि० । चिन्तयितुमनुमापकहेत्वभावेन तर्क-
यितुमशक्यं, शक्यार्थं कर्मणि एयत् । न० त० । वाच० । अनि-
र्वचनीये, टा० १६ टा० ।

अचितगुणसमुदय-अचिन्त्यगुणसमुदय-न० । अचिन्त्यो गुण-
समुदयो ज्ञानादिसमुदयो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदयम् । पर-
तत्त्वे, “तनुकरणादिविरहितं, तच्चाचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम्”
प० १५ विव० ।

अचितचिंतामणि-अचिन्त्यचिन्तामणि-पुं० । चिन्ताऽतिक्रान्ताऽ-
पवर्गविधायकत्वेन चिन्तामणिरत्नरूपे तीर्थकरे, प० सू० ३ सू० ।

अचित्त-अचिन्तन-न० । न० त० चिन्तनाभावे, यत्कदाचिद्

रूपादिकं दृष्टं तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः ।
“अचित्तं चेव अचित्तं च” उक्त० ३२ अ० ।

अचित्तसत्ति-अचिन्त्यशक्ति-स्त्री० । अनिर्वचनीयस्वधैर्यश्ला-
से, “अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते” टा० १६ टा० ।
अचित्त-अचेष्ट-त्रि० । अविद्यमानचेष्टे, आच० ३ अ० ।

अचित्त-अचित्त-त्रि० । न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तमचेत-
नम् । जीवरहितं, आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० । आच० ।
अनु० । नि० चू० । सूत्र० । सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः—
प्रायः सर्वाणि धान्यानि । धानकजीराऽजमकविग्रहार्ता-
सूअरार्दखसखसप्रभृतिर्व्यक्ताः सर्वाणि फलपत्राणि
लवणखारीक्षारकः रक्तसैन्धवसुञ्जलादिश्चित्रिमः क्षारो मृत्-
खट्विणिर्कादि आर्द्रदन्तकाष्ठादि च व्यवहारे सचित्ता-
नि । जले निक्षेपिताश्चणकगोधूमादिकणाश्चणकमुष्णादिदाल-
यश्च क्लिप्ता अपि कच्चित्रिकासंभवान्मिश्राः, तथा पूर्वं लव-
णादिप्रदानं वाष्पादिप्रदानं बाल्कादिक्षेपे वा विना सेकिता-
श्चणका गोधूमयुगंधर्यादिधानाः क्षारादिप्रदानं विना लोलि-
ततिला ओलकउविकाः पृथुकसेकितफलिकाः पर्पटकादयो
मरिचरजिकावधारादिमात्रसंस्कृतचिर्भटिकादीनि सचित्ता-
न्तर्वीजानि सर्वपक्फलानि च मिश्राणि । यदिने तिलकुट्टिः
कृता तद्दिने मिश्रा, मध्येऽन्नसेटिकादिक्षेपे तु मुहूर्तादनुप्रासु-
का, दक्षिणमालवादी प्रभूततरगुडक्षेपेण तद्दिनेऽपि तस्याः प्रा-
सुकत्वव्यवहारः । वृक्षात्तत्कालगृहीतं गुंदलाक्षाद्याल्यदि, ता-
त्कालिको नालिकेरनिम्बूकनिम्बाभ्रेद्वादीनां रसस्तात्कालिकं
तिलादितैलं, तत्कालभग्नं निर्वीजीकृतं नालिकेरशृङ्गाटकपूगी-
फलादि, निर्वीजीकृतानि पक्फलानि, गाढमर्दितं निष्कणं जी-
रकाजमकादि च मुहूर्ते यावन्मिश्राणि, मुहूर्तादूर्ध्वं तु प्रासुका-
नीति व्यवहृतेः । अन्यदपि प्रवलाग्नेयोगे विना यत्प्रासुकी-
कृतं स्यात्तन्मुहूर्तावधि मिश्रं, तदनु प्रासुकं व्यवह्रियते । यथा
प्रासुकं नीरादि । तथा कच्चफलानि, कच्चधान्यानि, गाढं मर्दि-
तमपि लवणादि च प्रायोऽग्न्यादिप्रवल्गुं विना न प्रासुका-
नि । योजनशतात्परत आगतानि हरीतकीखारिकीकीसिमि-
सिद्राक्षाक्षर्जूरमरीचपिप्पलीजातिफलवदामवायमात्तोटकन-
मिजापिस्ताचिणीकवायस्फटिकानुकारिसैन्धवादिनिस्तार्जिका-
विरुलवणादिः कृत्रिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमृदादि-
कम्, पलालवङ्गजावित्रीशुष्कमुस्ताकोङ्कणादिपक्कदलीफ-
लान्युत्कलितशृङ्गाटकपूगादीनि च प्रासुकानीति व्यवहारो
दृश्यते । उक्तमपि श्रीकल्पे—

जोअणसयं तु गंतुं, अणहारेण तु भंरुमंक्ती ।

वायागणिधूमेण य, विष्टत्थं होइ झोणइ ॥ १ ॥

लवणादिकं तु स्वस्थानाद् गच्छन् प्रत्यहं यदुबहुतरादिक-
मेण विध्वंस्यमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वधैव विध्वस्तम-
चित्तं भवति । शस्त्राभावे योजनशतगमनमात्रेणैव कथमचित्ती-
जयतीत्याह—अनाहारेण यद्युपनिक्षेपशदिकं साधारणं तत्
ततो व्यवस्थितं सोपष्टम्भकाहारविच्छेदाद् विध्वंस्यते । तच्च ल-
वणादिकं भाण्डसंक्रान्त्या पूर्वस्मात् १ ज्ञातनादपरभाजनेषु ।
यद्वा । पूर्वस्या भाण्डशाखाया अपरस्यां भाण्डशाखायां संक्र-
ममाणं विध्वंस्यते तथा यातेन वा अग्निना वा महानसादौ
धूमेन वा लवणादिकं विध्वस्तं जयति । ‘लोणाइ’ इति । अत्रादि-
शब्दादमी छट्याः—

हग्यालमणोमिलपि-पत्री अ खज्जूर मुदिआ अजया ।

आइन्नमणाइन्ना. ते विहु एमेव नायवा ॥ २ ॥

हरिताले मन शिवा पिपली च खज्जूर एते प्रसिद्धाः, मृत्वी-
का डाडा, अभया हरितकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनश-
तगमनादिभिः कारणैरचित्तोभयतो ज्ञातव्याः । परमेकंऽत्रा-
चीर्णा अपरेऽत्राचीर्णाः । तत्र पिपलीहरितकीप्रभृतय आचीर्णा
इति गृह्यन्ते । खज्जूरः मृत्वीकादयः पुनरत्राचीर्णा इति न गृह्यन्ते । २ ।

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह-

आमृद्वणो ओरुद्वणे. णिमिअण गोणाडणं च गाउम्हा ।

भोमाहारचहेण. उवक्कमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शकटादिषु व्रवणादीनां यदि ज्ञेयो ज्ञय आरोहणमवरोहणं च
तथा यत् तन्मित्र शकटादीं व्रवणादिज्ञानेपरि मनुष्या निषी-
दन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पिष्टादिगात्रोष्मा, तेन वा
परिणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिकः पृथिव्यादिक आ-
हारस्त द्रव्यचन्द्रे तस्य परिणामः उपक्रमः-शस्त्रम्, तच्च त्रिधा-
म्यकायपरकायतुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा-लवणा-
दकं मधुरादकस्य, कृष्णदुग्धं पाण्डुरूपस्य । परकायशस्त्रं यथा-
अनरुदकस्य, उदकं चानेनेति । तदुभयशस्त्रं यथा-उदकं शु-
क्लादकस्येत्यादि । एवमादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणा-
नि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उत्पलपउमाई पुण, उहे दिहाई जाम न धरिंति ।

भोमारगजुहिआओ, उहे वूढा चिरं हुंति ॥ ४ ॥

मगदंतिअपुफाई, उदकचूढाई जाम न धरिंति ।

उत्पलपउमाई पुण, उदए वूढा चिरं हुंति ॥ ५ ॥

उत्पलानि पद्मानि च उदकयोनिकत्वादुष्णे आतपे दत्तानि
यामे प्रहरमात्रं कात्रं न ध्रियन्ते नावतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहराद्वर्ग-
वाचित्तं जवन्ति । मृत्तरकानि-मगदंतिकापुष्पाणि यूथिकापुष्पा-
णि च उष्णयोनिकत्वादुष्णे क्षिप्तानि चिरमपि कात्रं भवन्ति,
सचित्तान्येव तिष्ठन्तीति ज्ञावः । मगदंतिकापुष्पाणि उदके क्षि-
प्तानि याममपि न ध्रियन्ते, उत्पलपद्मानि पुनरुदके क्षिप्तानि चि-
रमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पत्ताणं पुष्पाणं, सरहुफलाणं तहेव हरिआणं ।

विंशिमि मिलाणम्मि य, णायव्वं जीवविपज्जं ॥ ६ ॥

पत्राणां पुष्पाणां शरफुल्लानामवच्छास्थिकफलानां वास्तुला-
दीनां सामान्यतस्तत्पवनस्पतीनां वृत्ते मूलनात्रे म्लाने सति
ज्ञातव्यं जीवविप्रयुक्तमेतत्पत्रादिकमिति (श्रीकटपवृत्तौ शाल्या-
दिधान्यानां तु श्रोपञ्चमाङ्गे पशुशतकसप्तमोद्देशके सचित्ताचि-
त्तव्यतिरागपञ्चमुक्तः, स च 'जाणि' शब्दे दर्शयिष्यते) कपांस-
स्याचित्तना त्रिवर्षानन्तरं स्यात् । यदुक्तं श्रीकटपवृद्धज्ञाये-

सेरुगं तिवरिमाड गिएहंति ।

सेरुकं त्रिवर्षातीति विध्वस्तयोनिकमेव कल्पते । सेरुकः क-
पांस इति । तद्वृत्तौ विद्यम्य तु मिश्रतायेवमुक्तं पूर्वमुरभिः-
“ पणदिनमासां वृष्टे, अचात्रिओ सावणे अ भट्टवण । चउ आ-
साण कत्तिअ-मगसिगपोसेसु तिज्जि दिणा ॥ १ ॥ पणपहर माह
फगुण, पहरा चत्ताणि चेत्तवेसाहे । जिहामाहे तिपहर, तेण
परं हाइ अचित्तो ” ॥ २ ॥ चालितस्तु मुदृत्तादूर्ध्वमचित्तः,
तस्य चाचिर्चाभूतानन्तरं चित्तशतकात्रमात्रं तु शास्त्रं न दृश्यते,

परं छव्यादिविशेषेण वर्णादिविपरिणामभवेन यावत् कल्पते ।
उष्णनीरं तु त्रिदण्डोत्कलिताधधि मिश्रम् । यदुक्तं पिरुनिर्युक्तौ-

उसिणोदगमणुवत्ते, दंमे वासे य पडिअमित्तम्मि ।

मात्तुणादंसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥

अनुदृष्टेषु त्रिदण्डपूर्वकालेषु जलमुष्णं मिश्रं, ततः परमचित्त-
म् । तथा येषं वृष्टौ पतितमात्रायां ग्रामादिषु प्रभूतमनुष्यप्रचार-
चूर्मौ यज्ञत्रं तद् यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम्, अरण्यभूमौ तु
यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चाद्विपतत् सचित्तम् । आ-
देशात्रिकं मुक्त्वा तन्मुष्णोदकमबहुप्रसन्नं मिश्रम्, अतिस्वच्छीचूतं
त्वचित्तम् । अत्र त्रय आदेशाः । यथा केचिद्वदन्ति-तएमुलोदके
तएमुक्षप्रकालनज्राएमादन्यत्र ज्राएमे किप्यमाणे वृष्टित्वा ज्ञा-
एडपाश्वे लग्ना विन्दवो यावन्न शाम्यन्ति तावन्मिश्रम् । अपरे-
तथैव याता यावद्बहुदा न शाम्यन्ति तावत् । अन्ये तु-यावत्त-
एमुदा न सिद्ध्यन्ति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा रुक्तेतरज्राएड-
पचनान्निसम्भवदिभिः, एषु कान्नियमस्याभावात्, ततोऽति-
स्वच्छीचूतमेवाचित्तम् ।

तिव्वोदगस्स गहणं, केड ज्ञाणेषु अमूड पडिमेहो ।

गिहिजायणंनु गहणं, उिअवासे मीसगं जारो ॥ ७ ॥

तीव्रोदकं हि धूमधूम्राकृतदिनकरकरसम्पर्कसोष्मतीव्रसम्प-
कादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणेन काचिद्विग्राधना । केचिदाहुः-स्व-
भाजनेषु तद् ग्राह्यम् । अत्राचार्यः प्राह-अशुचित्वात्स्वपात्रेषु
ग्रहणप्रतिषेधः, ततो गृहभाजने कुपिरुकादौ ग्राह्यम् । वर्पति मे-
घे च तन्मिश्रम्, ततः स्थिते वर्षेऽन्तर्मुदृत्तादूर्ध्वं ग्राह्यम् । जलं
हि केवलं प्रासुकीचूतमपि प्रहरत्रयादूर्ध्वं भूयः सचित्तं स्या-
दतस्तन्मध्ये क्षारः केप्यः, एवं स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिरुनि-
र्युक्तिवृत्तौ तन्मुलधावनोदकानि प्रथमद्वितीयतृतीयान्यचिर-
कृतानि मिश्राणि, चिरं तिष्ठन्ति त्वचित्तानि, चतुर्थ्यादिधावनानि
तु चिरं स्थितान्यपि सचित्तानि । प्रासुकजत्रादिकाज्ञमानमेव-
मुक्तं प्रवचनसारोक्तारादौ-“उसिणोदगं तिदंशु-क्कालिअं फासु-
अ जलं जइ कपं । नवरि गिलाणाइकए, पहरतिगोवरि विधरि-
अव्वं ॥ १ ॥ जायइ सचित्तपासे, गिम्हासु उ पहरपंचगस्सुवरि ।
चउपहरुवरि सिसिरे, वासासु जलं तिपहरुवरि ” ॥ २ ॥ तथा-
श्चेतनस्यापि कङ्कुकमुज्जरीतकीकुलिकादेरविनष्टयोनिरक्त-
णार्थं निःशुक्तादिपरिहारार्थं च न दन्तादिनिर्भेज्यते । यदुक्तं
श्रीआघनिर्युक्तिपञ्चसप्ततितमगाथावृत्तौ-अचित्तानामपि केषा-
ञ्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गुडूचीमुष्मादीनाम् । तथा-
हि-गुरुची शुष्काऽपि जलसेकात्तादात्म्यं भजतीति दृश्यते,
एवं कङ्कुकमुष्मादिरपि, अतो योनिरक्षणार्थमचेतनयतना न्याय-
वत्येवेति । ४० २ अधि० । वृ० । नि० चू० । पि० ।

एतदेवाऽन्यच्च सङ्ग्रहेण-

अह एयाणं जं जं, कालपमाणं भणामि सव्वेसि ।

भत्तं सिद्धं वियव्वं, कट्टद्वं हिंसुसहिंयं जं ॥ ६२ ॥

पुष्पफलपत्तसायं, वीयच्छाली विणा य अमफत्तं ।

मंडपूवाइयं जल-लणसीवडीयप्परुया ॥ ६३ ॥

चउपहरमाणमेसिं, ओयणमेदवारजामजगराए ।

तह नकरवन्नमुभिण, अदिहं परिमाणमवि वुत्तं ॥ ६४ ॥

दहितकरगईणं, कयसागाण सोलजामं च ।

वासासु पक्ख हेमं-त मासुसिएण वीसदिणमाणं ॥ ६५ ॥

पक्कन्नयकालो विउ, विणेशो कुलिकोए पक्कशो ।

वासासु एगदिणं वा, चत्रियरसं जल्यं जं जाइ ॥ ६६ ॥
 निव्विगयं पक्कन्ने, असणजुयं तस्सिमं व परिमाणं ।
 उच्चुवियारगयाणं, चत्रियरसे तं तहा जाण ॥ ६७ ॥
 ययतिव्वगुमाईणं, वप्परसगंधपमुहपज्जासे ।
 कावपरिमाणमुत्तं, जाणिज्जा ना तहा पायं ॥ ६८ ॥
 इत्थं य चत्रियरसमि, जीया वेइंदिया समुच्चंति ।
 पुण्णि एगिंदिया, वट्ठंति दुवे वि समगं वा ॥ ६९ ॥
 अचित्तजज्ञे सचित्ती-जवणे एगिंदिया समुच्चंति ।
 अरणं सुज्जियमितिए, पणिंदी समुच्चिमा हुंति ॥ ७० ॥
 तिन्नमुग्गमसूरचवल्लय-मासकुल्लथयकलायतुवरिणं ।
 वल्लाण वट्ठचणयाण, पंचगवरिसप्पमाणं च ॥ ७१ ॥
 साविविदिजयजुगंधरि-गोहमतिणधसुतिव्वकपासाणं ।
 वासतिर्यं परिमाणं, तत्तो विहंसए जोणी ॥ ७२ ॥
 लुट्ठा कंगू अयसी, सणकोरुसगवरट्ठसिद्धया ।
 एव्वकुहयमेही, मूलगवीया चवट्ठा य ॥ ७३ ॥
 पट्टियाणं वत्ताणं, उक्कोसट्ठिइ सत्तवासाइं ।
 होइ जहण्णे पुणो, अंतमुहुत्तं समग्गाणं ॥ ७४ ॥
 पिप्परिखज्जूरमिरी-मुद्दिय अभया वदाम खारिक्का ।
 एव्वा जाइफत्तं पुण, केकोवं चारु कुडिया य ॥ ७५ ॥
 विहंसिज्जइ जोणी, एणसिं जलथश्रोवभोगेहिं ।
 संघारयजलफलाइ, घाणं जोणी तहा चित्ता ॥ ७६ ॥
 जोयणसयं जलमि, थलमि सट्ठीइ भेरुसंकंती ।
 वायागणिधूमेहिं, पविद्धजोणी हवइ तोसिं ॥ ७७ ॥
 हरियावववणमणसिन्न-पूगसेवालनाशिकेरा य ।
 एमेव अणाइसा, विहत्था अवि मुणेयव्वा ॥ ७८ ॥
 सीयासिधवपासक-रणीकर्यहिं गुल्लजाइवर्मिगनागाई ।
 अचित्तजोणिया कं-दासणोद्दयमिदलमज्जिहा ॥ ७९ ॥
 पिट्ठं मिस्समसुद्धं, एणचउतियदिणपमाणमापक्खं ।
 सावणासोयपोसे-सु जुयव्वमि वए अणुओगो ॥ ८० ॥
 पप्पचउतियजामाण, मादुंग चित्तजुयलजिहउमे ।
 तह जजियधस्राणं, दालीण विपज्जए पायं ॥ ८१ ॥
 चालियव्वमियतुसरहिय, सुद्धं जा ताव मिस्सियं नेयं ।
 व्वाणजुयं जं सागं, भज्जियनव्विण तं सुद्धं ॥ ८२ ॥
 अण्णे जणंति भज्जिय-धस्राणं पक्कतत्रियमिव कावो ।
 सत्तपणदसदसदिणं, वासाइसु मिस्सव्वाणस्स ॥ ८३ ॥
 अंतमुहुत्तं मोद-स्स चोवीसजाम धाउपत्तगयं ।
 गोमुत्तं जइ केवव-महिंसा इमं रसविज्जासे ॥ ८४ ॥
 खइमितले विव्वासे, तिन्नउपप्पजामसुसिणनीरस्स ।
 वासाइसु प्पमाणं, फासुजव्वस्सावि एमेव ॥ ८५ ॥

उस्सेइम १ संसेइम, २
 तंदुव्वनीरं ३ तिलोदगं ४ वा वि ।
 तुस ५ जव ६ आयामं ७ वा
 सोवीरं ८ सुद्धवियरं च ए ॥ ८६ ॥
 अं व १० कविट्ठा ११ मनगं १२,
 भंवारग १३ माउडिग १४ खज्जूरं १५ ।
 दक्खा १६ दारिम १७ कैरं १८,
 चिंचा १९ नारिअर २० कोव्वजलं २१ ॥ ८७ ॥

पुव्वानियं भत्तठे, उठे तिन्नतुसज्जवांदगं भणियं ।
 आ जामं सोवीरं, अट्ठमे उस्सिणं नीरं च ॥ ८८ ॥
 मत्थमसित्थं गलियं, तियदं कुल्लियपरिमियमलं वं ।

परकडजई ण कप्पइ, न कप्पइ अण्णमरुदेसे ॥ ८९ ॥
 उस्सेइम संसेइम, तंदुव्वतिन्नतुसज्जयाण नीरं च ।
 आ जामं सोवीरं, सुद्धं वियरं जलं जवट्ठा ॥ ९० ॥
 तिहव्वा तमालपत्तं, मुत्थयकुट्टं च खयरमाईहिं ।
 फासुकयं खज्जाइहि, कारणभा कप्पणिज्जं तु ॥ ९१ ॥
 जिह तवे भत्तट्ठे, पमिमुवहासु अभिगहायामे ।
 सट्ठाणं जियकप्पइ, उएहजन्ने अणसणे वि तहा ॥ ९२ ॥
 फलचिंचोदगमिगजा-ममाजामं धम्मनीरमुहुत्ततिगं ।
 उच्चुरसे सोवीरं जामदुगं धोयणं तिमुहु ॥ ९३ ॥
 वप्परसगंधपज्जव-भेययिमिस्सं खु हवइ फासुजजं ।
 सक्करगुरुखंडाई, वन्धुविनेएहि परिणमियं ॥ ९४ ॥
 गोएव्वगमहिंसाणं, खीरं पण अट्ठदसदिणायुवरि सुद्धं ।
 तिदिणायुवरि वल्लो, नवप्पसूयाण एमेव ॥ ९५ ॥
 चउपहरोवरि जायं, दहि मुद्धं हवइ कप्पणिज्जं च ॥
 तक्करजुयखीरेयी, वीयदिणं होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥
 निष्पीरं तिलमिस्सं, संघाणं तह वियारियफलाणं ।
 अचित्तनोइणो पुण, कप्पइ तक्करमणुगलियं ॥ ९७ ॥
 निव्वल्लिनिच्छियफत्तं, जामगमामुहुत्तमुवरि कयं ।
 वियलं तक्करमिस्सं, न कप्पमुसिणीकएण विणा ॥ ९८ ॥
 मोयाफलं पमोली, धोसामोलं च रुक्खगुंदाई ।
 तणमित्थं जं नो, हवइ तं देवडीचिची ॥ ९९ ॥
 उक्किजहसमज्जिम-नेएहि होइ तिविहमज्जत्तं ।
 चउहा सचित्तपरि-च्चाएणुकिट्ठनेएण ॥ १०० ॥
 तिविहमि अभिगहे खल्लु, न कप्पइ सचित्तवावारो ।
 तत्थाणाहारवत्तु, कप्पइ सव्वावि रयणीए ॥ १०१ ॥
 आयं विलमवि तिविहं, उक्किजहसमज्जिमवणहिं ।
 तिविहं जं वियलं पू-याइं पक्कए वि तत्थ ॥ १०२ ॥
 सियसिधवसुं विमिरी, मेही सोवच्चलं च विडव्वणं ।
 हिंसुगुंधिसुयाइ य, पक्कए साइमं वत्तु ॥ १०३ ॥
 कारणजाएण जइ ण, असणे सिद्धं हविज्ज विमियं वा ।
 पिट्ठं जज्ञेण रद्धं, धुधेरिट्ठाइ सिद्धेण ॥ १०४ ॥
 पप्पडवरया रुक्खा, सिद्धा तिगपीकया हवइ कप्पा ।
 भज्जियधणं तिणधस्र, कट्ठदत्तं सिणेहवियलं जं ॥ १०५ ॥
 सव्वाणं धस्राणं, पि हु या उक्केण सिद्धिसाइमयं ।
 वेससत्थाए इह, विट्ठया तीइ अकप्पं च ॥ १०६ ॥ व्र० प्र० ।
 अचित्त-वि० अकथुरे, वृ० ५ उ० ।

अचित्तद्वियकप्प-अचित्तद्वयकल्प-पुं० । अचित्तद्व्याणा-
 माहारादीनामुपयोगविधिविशेषे, “ अचित्तद्वियकप्पं, एत्तो
 वोच्चं समासेणं । आहारे उवहिमि य. ओवसणे तह य पस्स-
 वणे ॥ १ ॥ पयसं निसज्जगणे, दंरे वंमे चिन्नमिन्निणी अवज्ञे-
 हणिया वस्राणं सो-चणे दंतसोहणे च ॥ २ ॥ पिप्पलगसूतिण-
 क्खा-णव्वेदणे च व सोलसं मज्जा । हारो खल्लु द्विविहो व्रो-इयलो-
 उत्तरे णायव्वो ॥ ३ ॥ तिविहो तु लोइओ खल्लु, तत्थ इमो होति
 णायव्वो” । पं० जा० पं० चू० (‘आहार’ प्रभृतिशब्दे पु विवृतिः)
 अचित्तद्वयसंघ-अचित्तद्वयस्कन्ध-पुं० । अविद्यमानचित्ताऽ
 चित्तः, स चाऽसौ द्वयस्कन्धः । द्विप्रदेशिकादिपुल्लस्कन्धरूपे
 अचेतने द्वयस्कन्धभेदे, अनु० ।

अचित्तद्वयचूला-अचित्तद्वयचूला-खी० चू० मणिकुन्ताप्र-
 सिंहकर्णप्रासादपादपाद्ये, नि० चू० १३० ।

संतेहि त्रिणिगंथा, अचेदगा हांति चेदोहि ॥

एवं जीर्णैः पुराणैः, खरिभूतैश्चिन्तैः, असर्जितनुप्रावृत्तैः स्वल्पप्रमाणतया सर्वस्मिन् शरीरे अप्रावृत्तैः, प्रमाणैः हीनैरित्यर्थः । न च नित्यं सदैव प्रावृत्तैः किन्तु शीतादिकारणसद्भावे एवंविधैश्चेलैः, साद्विरपि विद्यमानैरपि, निर्ग्रन्था अचेलो जयति ।

अत्र पराजिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

एवं दुर्गतपट्टिया, अचेलगा ह्येति ते जने बुद्धी ।

ते खलु असंतीर्ण, धागंति ए धम्मबुद्धी ।

यदि जीर्णखरितादिभिर्वस्त्रैः प्रावृत्तैः साधवोऽचेलकास्तत एवं दुर्गताश्च दरिद्राः पथिकाश्च पान्था दुर्गतपथिकास्तेऽप्यचेलका भवन्तीति ते भवेद् बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते ते खलु दुर्गतपथिका असत्तया नवव्यूतसदृशकादीनां वस्त्राणामसम्पत्त्या परिजार्णादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धर्मबुद्ध्या । अतो भावतस्तद्विषयमूच्छ्रापरिणामस्यानिवृत्तत्वान्नैतेऽचेलकाः । साधवस्तु सति लाभे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णखरितादीनि धर्मबुद्ध्या धारयन्तीत्यचेलो उच्यन्ते ।

यद्येवमचेलास्ततः किमित्याह—

आचेलकको धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमगाण जिणणं, ह्येति अचेलो सचेलो वा ॥

अचेलकस्य ज्ञाव आचेलकस्य, तदस्यास्तीत्याचेलकस्य । अन्नादेराकृतिगणत्वादप्रत्ययः । एवंविधो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जितस्य तीर्थे जयति । मध्यमकानां तु जिनानामचेलः सचेलो वा जयति ।

इदमेव भावयति—

परिमाण पाउत्ता, एणातिकमते उ मज्झिमा समणा ।

पुरिमचरिमाण अमह-द्वणा इ जिष्सां मोमोत्तुं ॥

मध्यमा मध्यतीर्थकरस्तकाः साधवः प्रतिमया वा जगन्तया प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहामूल्यादिनिर्वासोभिराच्छादितवपुषो नातिक्रामन्ति, जगन्तयामाज्ञामिति गम्यते । पूर्वचरमाणानां तु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधूनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि, भिन्नानि वा कृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदशकानि चेत्यर्थः । परमिमानि कारणानि मुक्त्वा तान्येवाह—

आमज्ज खेत्तकप्पं, वासावासे अजावितो असहू ।

कात्ते अच्चाणम्मि य, सागरि तेणो व पाउरणं ॥

क्षेत्रकल्पं देशविशेषाचारमासाद्याभिन्नान्यपि प्राप्नुयन्ते, यथा सिन्धुविषये तादृशानि प्रावृत्त्य हि एरन्ते । वर्षावासे वा वर्षाकल्पं प्रावृत्त्य हि एरन्ते । अभावितः शैकः कृत्स्नानि प्रावृत्यो हि एरन्ते यावद्भावितो जयति । असाहिष्णुः शीतमुष्णं वा नाधिसोढुं शक्नोति ततः कृत्स्नं प्रावृणुयात् । कात्ते वा प्रत्युपे भिक्षार्थं प्रविशन् प्रावृत्त्य निर्गच्छेत् । अध्वनि वा प्रावृता गच्छन्ति । यत्सागारिकप्रतिघट्टप्रतिश्रये स्थितास्ततः प्रावृताः सन्तः कारिकादिचुवं गच्छन्ति, स्तेना वा पथि वर्तन्ते, तत उत्कृष्टोपधिस्कन्धं कक्षायां वा विण्टिकां कृत्वोपरि सर्वाङ्गीणप्रावृता गच्छन्ति । एतेषु कारणेषु कृत्स्नस्थोपधेः प्रावरणं कर्तव्यम् । तथा-

निरुवहयल्लिगभेदे, गुरुगा कर्पति कारणज्जाए ।

गेल्लसुन्नोयरोगे, सरीरेवेतावन्नियमादी ॥

निरुपहतो नाम नीरोगस्तस्य लिङ्गभेदं कुर्वन्तश्चतुर्गुरुकाः । अथवा निरुपहतं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदे चतुर्गुरु । तस्य च लिङ्गभेदस्येमे भेदाः—

खंधे दुवार संजति, गरुलदंसे य पट्टलिगदुवे ।

लहुगो लहुगो य तिम्रु वि, चउगुरुओ दोमु मूत्तं तु ॥

स्कन्धे कल्पं शीर्षद्वारिकां वा करोति । मासलधु संयती प्रावरणं करोति, चतुर्लधु गरुडपक्षिकं प्रावृणोति, अर्धशकृतं करोति, कटीपट्टकं बध्नाति । एतेषु त्रिष्वपि चतुर्गुरु गृहस्थलिङ्गं परलिङ्गं वा करोति । द्वयोरपि मूलम् । द्वितीयपदे तु कारणज्ञाने लिङ्गभेदोऽपि कर्तुं कल्पते । कुवेत्याह-ग्लानत्वं कस्यापि विद्यते । तस्याद्वर्त्तनमुपदेशनमुत्थापनं वा कुर्वन् कटीपट्टकं बध्नीयात् । लोचं वा अन्यस्य साधोः कुर्वाणः पट्टकं बध्नाति । (रोगिणि) कस्यापि रोगिणोऽर्शांसि लम्बन्ते, द्वौ वृषणौ वा शूना, स कटीपट्टकं बध्नीयात् । गृहलिङ्गान्यलिङ्गयोग्यमपवादः—

असिंवे ओमोवरिए, रायदुट्टे व वादिदुट्टे वा ।

आगाढ अन्नक्षिगं, कात्तकखंवा व गमणं वा ॥

स्वपन्नप्राप्ते आगाढे अशिवे अन्यलिङ्गं कृत्वा तत्रैव कालक्षेपं कुर्वन्ति, अन्यत्र वा गच्छन्ति । एवं राजद्विष्टे राक्षि साधूनामुपरि द्वेषमापन्ने, वादिद्विष्टे वा वादपराजिते कापि वादिति व्यपरोपणादिकं कर्तुकामे एवंविधे कारणे आगाढे अन्यलिङ्गमुपलक्षणत्वाद्गृहलिङ्गं कृत्वा कालक्षेपं वा गमनं वा विधेयम् । वृ० ६ उ० । पं० भा० । पं० चू० । पंचा० । पं० सं० । आ० । कल्प० । जीत० । प्र० । स्था० । (तिन्नुकोद्याने केशीकुमारेण चातुर्यामपञ्चयामधर्मभेदहेतुप्रश्नकारकेण “ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो । देसिओ वड्ढमाणेणं, पासेण य महायसा ” (उत्त० २३ अ०) इत्याचेलकस्य धर्मस्य कथं वीरतीर्थे सत्त्वं पार्श्वतीर्थेऽसत्त्वमिति पृष्टो गौतमो विभेदकारणं ‘ गौयमकेसिज ’ शब्दे वक्ष्यते) महापद्मस्य भविष्यत्प्रथमतार्थिकरस्य समयेऽप्यचेलकधर्मो भविष्यति । स्था० ए डा० ।

पञ्चभिः प्रकारैरचेलकः प्रशस्तो भवति—

पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे जवड् । तं जहा-अप्पा-पडिलेहा, लावविए पसत्थे, खंवे सानिए, तवे अणु-सुए, विउले इंदियनिगहे ॥

(पञ्च हीत्यादि) प्रतीतम्, नवरं, न विद्यन्ते चेतानि वासांसि यस्यासावचेत्तकः, स च जिनकटिपक्षिणः, तदज्ञावादेव । तथा स्वविरकलिपकश्चात्पाटपमूल्यसप्रमाणजीर्णमश्विनवसनत्वादिति प्रशस्तः, प्रशंसितस्तीर्थकरादिभिरिति गम्यते । अल्पाप्रत्युपेक्षा अचेत्तकस्य स्यादिति गम्यं प्रत्युपेक्षणार्थं, तथाविधोपधेरज्ञावान् । एवं च न स्वाध्यायादिपरिमन्थ इति । तथा लघं ज्ञावो लाघवं तदेव ज्ञावविकं, द्रव्यतो भावतोऽपि रागादिपयाज्जावात् प्रशस्तमनिर्ग्रन्थं स्यात् । तथा रूपं नेपथ्यं वैश्वसिकं विश्वासप्रयोजनमलिप्सुतासूचकत्वान् स्यादिति । तथा तप उपकरणसंज्ञीनतरूपमनुहातं जिनानुमतं स्यात् । तथा विपुत्रो महानिन्ध्यनिग्रहः स्यात्, उपकरणं विना स्पर्शनप्रतिकूलशीतवाता पादिसहनदिदिति । स्था० ए डा० ३ उ० । (प्रतिमां प्रतिपन्नो वस्त्रत्रयवान् चतुर्थं वस्त्रमन्वेपयन् लब्ध्वा च तद्देमन्ते तस्मिन् जीर्णं, “अडुवा एगसाने अडुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अजिसमणगते भवति ति” ‘मरण’ शब्दे दर्शयिष्यते) ॥ (अचेलस्य निर्ग्रन्थस्य संचित्रिकाभिर्निर्ग्रन्थीतिः संवासः ‘संवास’ शब्दे उच्यते)

अचेलगधम्म-अचेत्तकधर्म-पुं० । अविद्यमानानि जिनकटिप-

कविशेषपेक्षया असत्तादेव, स्थविरकल्पिकापेक्षया तु जी-
र्णमलिनवृद्धनश्वेताल्पत्वादिना चेन्नानि वस्त्राणि यस्मिन् स
तथा धर्मधारित्रय, स नामैव धर्मश्चात्रैकधर्मः । अचेलकथायै
द्वाविंशतिर्धर्मकाः प्रहस्य श्रुतपत्रवीरतीर्थसम्मते साध्याचारैः ॥ १०
६ ॥ (यथा च धर्मस्तथाऽनन्तरम् 'अचेल' शब्दे दर्शितः)
अचेलपरि (री) सट्ट-अचेलपरि (री) पट्ट-पुं० । अचे-
ल चेलाभायो जितकल्पिकादानाम्, अन्येषां तु भिन्नमहप-
मूल्यं च चेन्नमप्यचेलम् अचस्वाशीलवत्, तदेव परीपट्टोऽचेल-
परीपट्टः । उक्तं २ अ० । अचेलतायां जीर्णापूर्णमक्षिनादिचे-
लत्वे वृद्धादिन्याऽऽकाङ्क्षायकरणेन परिपह्यमाणत्वादिति ।
भ० ८ श० ८ उ० । पट्टे परीपट्टे, प्रश्न० ५ संव० द्वा० स० । अ-
महामत्यानि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत् । आच०
४ अ० । न च तथाविधवस्त्रः सन् मम प्राक् परिगृहीतं वस्त्रं
नास्ति, नापि तथाविधो दातेति दैन्यं गच्छेत् ; अन्यथाभसम्भा-
वनया प्रमुदितमानसश्च न भवेदिति । प्रव० ८६ द्वा० । यथा-
" नाऽस्मि वासोऽशुभं चेतत्, तत्रेच्छेत्साध्वसाधु वा । नाग्न्येन
विष्णुतो जानन्, लाभोऽलानविचित्तमि" ॥ १॥ ध० ३ अधि० ।
" जानानिनापिऽपि यति-स्वयस्त्रयवर्णवर्जितः । वासोऽकल्पं
न गृह्णीया-दग्निं नोऽज्वालयेदपि " ॥ १॥ आच० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकार आह—

परिजुषेहि वस्येहि, होक्खामिति अचेन्नए ।

किंवा सचेन्नए होक्खं, इइ जिक्खू ए चित्ते ॥

परिजीर्णे, समन्ताद् हानिमुपगतैर्वस्त्रैः शाटकादिभिः (हो-
क्खामिति) इतिर्निन्तक्रमः, ततो भविष्यास्यचेन्नकश्चेन्नकविक्रो-
ऽल्पदिनभाविष्यादेयामिति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । अथवा सचेन्न-
कश्चेन्नान्वितो भविष्यामि, परिजीर्णवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चित् आ-
रुः सुन्दरतण्डुलि वस्त्राणि दास्यतीति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । इदमु-
क्तं भवति-जीर्णवस्त्रः सन्नसमः प्राक् परिगृहीतं न परं वस्त्रम-
स्ति, न च तथाविधो दातेति न दैन्यं गच्छेद्, तत्रान्यलाभसंभाव-
नया प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः । इत्थं जीर्णादिवस्त्रतया-
ऽचेलं स्वविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरीपट्ट उक्तः । संप्रति तमेव
सामान्येनाह—

एगयाऽचेलए होई, सचेले वा वि एगया ।

एयं धम्महियं णत्ता, एणणी णो परिदेवण ॥ १३ ॥

एकदैकस्मिन्कात्रे जितकल्पप्रतिपत्तौ, स्थविरकल्पेऽपि दुर्ल-
भवस्त्राणामैव सदैवा चेन्नाभावेन, सति वा चेन्ने विना वर्षादी-
नितमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इत्यवस्त्रो भव-
ति । पश्यते च- 'अचेन्नए, सयं होति' तत्र स्वयमेवात्मनैव
न परानियोगतः सचेन्नः स्वयस्त्राण्येकदा स्थविरकल्पकत्वे
तथाविधाऽभ्यन्तेनावरणे सति । यद्येवं ततः किमित्याह—एतदि-
त्यवस्थौचिन्त्येन सचेन्नत्यमचेन्नत्वं च धर्मो यतिधर्मस्तस्मै हि
तमुपकारकं धर्महितं, ज्ञात्वाऽवबुध्य, तत्राचेलकत्वस्य धर्म-
हितत्वमप्यप्रत्युपेक्षादिभिः । यथाकम्—'पंचादिं गणोदिं पुरिम-
पच्छिमाणं अरहंताणं भगवताणं अचेन्नए पमत्थे भवति । तं
जडा-अपापमिद्वेडा वेसःसिए स्ये १ तवे २ अणुमण ३ लाघ-
वपसत्थे ४ विउले उदियणिगहे ५ नि' । सचेन्नत्वस्य तु धर्मो-
पकारित्वमभ्याधारस्मृतिधारकत्वेन संयमफलत्वात् । ज्ञानी
नमो एव प्रायस्त्रयगतारकास्तद्वजनयादेव च मया सत्यपि
वासांस्त्याज्यन्त इत्येवमोपपत्त्याह परिदेवयेत् । किमुक्तं भवति-

अचेन्नः सन् किमिदानीं शीतादिपीडितस्य मम शरणमिति न
दैन्यमात्रम्वेन इति सूत्रार्थः । उक्तं २ अ० ।

अत्र ' एवं धम्महियं णत्तेति ' सूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह—

वीतजये देवदत्ता, गंधारं सावगं पमियरित्ता ।

लज्जं मयंगुहियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जेणिं ॥

दङ्गूण चेम्मिपरणं, पभावई पव्वइतु कालगया ।

पुक्खरकरणं गहणं, दस पुरपज्जोयमुयणं च ॥

माया य रुद्धमोमा, पिया य एणामेण सोमदेवो त्ति ।

जाया य फग्गुरक्खिय, तोसद्धिपुत्ता य आयरिया ॥

सीहगिरिजदगुत्ते, वड्ढरक्खमणा पठित्तु पुव्वगयं ।

पव्ववितो य जाया, रक्खियक्खमणेहि जणओ य ॥

उक्तं नि० ॥

गाथाचतुष्टयम् । वीतजये देवदत्ता गंधारं आवकं प्रतिजा-
मर्या लज्जेतशताहुविक्रानां, प्रयतेनानीतो उज्जयिनीं, दृष्ट्वा चेटीम-
रणं प्रनावती प्रवज्य कात्रं गता, पुष्करकरणं, ग्रहणं, दशपुरप्रद्यो-
तमोचने च, माता च रुद्धसोमा, पिता च नाम्ना सोमदेव इति,
भ्राता च फग्गुरकितः, तोसद्धिपुत्राश्चाचार्याः । सिंहगिरिभद्र-
गुप्तान्यां यज्ञक्रमणः पठित्वा पूर्वगतं प्रवाजितश्च भ्राता रक्कि-
तक्षमणैर्जेनकश्चेति गाथाचतुष्टयाक्षरार्थः । जायार्थस्तु-वृद्धसं
प्रदायादवसेयः । स चायं (जीवितस्याभिप्रतिमावक्तव्यता आ-
र्यरक्तिरसुरिणां दशपुरमागमनावधि 'अज्जरक्खिय' शब्दे वक्तव्य-
ते) उक्तं ३ अ० । अथार्थरक्तिरसुरिणां तत्र स्वमातृभगिनीप्रमुखः
सर्वसांसारिकवर्गो दीक्षां प्रादितः । पिता तु प्रतिबोधिताऽ-
पि साधुलिङ्गं न गृह्णाति । स्वज्ञातीयजनानां लज्जां च वहति ।
आचार्या दीक्षाग्रहणाय तस्य बहु कथयन्ति । ततः स कथ-
यति-पृथुवस्त्रयुगलयज्ञोपवीतकमण्डलुच्छ्रविकोपानद्भिः समं
चेद् दीक्षां ददासि तदा ज्ञामि । ततो लानं दृष्ट्वा तादृशमेव
तं गुरुः प्रवाजितवान् । प्रादितश्चरणकरणस्वाध्यायम् । अन्यदा
चैत्यवन्दनार्थं गता आचार्यास्तत्र साधुशिक्षिता गृहस्थस्मिन्-
का वदन्ति—एनं उचिणं मुक्त्वा सर्वान् साधून् वन्दामहे । ततः
स वृद्धो वक्ति-मम पुत्रनप्त्रादय एते वन्दिताः, अहं कस्माच्च
वन्दितः? किमया दीक्षा न गृहीता? त आहुः-किं दीक्षितस्य उच-
कमण्डलवादीनि स्युः । ततो गुरुध्यागतेषु स वृद्धो वक्ति-पुत्र ! मम
स्मिन्का अपि हसन्ति, ततो न कार्यं उच्येन । एवं प्रयोगेण
क्रमतो धौतिकवस्त्रं मुक्त्वा सर्वं त्याजितः बहुशस्तथा प्रयोगक-
रणेऽपि धौतिकं न मुञ्चति स्म । अन्यदा एकः साधुर्गृहीतानशनः
स्वर्गं गतः । तत आचार्यैर्वृक्षस्य धौतिकत्याजनाय साधून् प्रत्येव-
मुक्तम्—य एनं मृतमाधुं व्युत्सृष्टं स्कन्धेन वहति, तस्य महत् पु-
ण्यम् । ततः स स्वविगं वक्ति-पुत्राऽयं किं बहुनिर्जरा? आचार्या
आहुः-वाढम् । ततः स वक्ति-अहं वहामि । आचार्या वदन्ति-
अत्रापसंगां जायन्ते, चेटरूपणि लग्यन्ते, यदि शक्यतेऽधिसोढुं
तदा वरं, यदि क्रोभो भविष्यति तदा शुभमस्माकं भविष्यति,
एवं स्थिरकृत्य स तत्र निर्यजितः, साधुसाध्वीसमुदायः पृष्ठे
स्थितः यावत्तेन साधुशब्दं स्कन्धे समारोप्य वोढुमारब्धं, तावत्त-
स्य धौतिकं गुरुशिक्षितस्मिन्कैराकर्षितम्, स लज्जया याव-
त्तस्माधुशब्दं स्कन्धान्मुञ्चति तावदन्यैरुक्तम्—मा मुञ्च २, एकं
चात्रपट्टको दवरकेन कृत्वा कटौ बद्धः । स तु व्रजयातसाधुश-

वं द्वारभूमिं यावद्दूह्य तत्र ध्युन्मृज्य पश्चादागतो वक्ति-पुत्र !
अथ महानुपमगो जानः । आहुराचार्याः-आनीयतां धौतिकं,
परिधाप्यताम् । ततः स वक्ति-अथाऽलं धौतिकेन, यद् दृष्टव्यं
तद् दृष्टमेव । अथ चोलपट्ट एवास्तु । पूर्वं तेनाऽचेन्नपरीपहो न
सोढः, पश्चात् सोढः । उक्तं २ अ० ।

एतदेवाचेन्नतासदनं प्रत्यपादि यथा—

एयं खुमुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विभूतक-
प्पे णिज्जोसइत्ता, जे अचेन्ने परिजुसिते तस्स एं भिक्खु-
स्स णो एवं जवति, परिजुएणे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि सुत्तं
जाइस्सामि मूइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्क-
सिस्सामि वोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि,
अदुवा तत्थ परिकमंत्तं जुज्जो अचेलं तण्णासा फुसंति
सीयफामा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति
एगयरे अएणयरे विरूवरूवे फामे अहियासेत्ति अचेले
झाघवं आगममाण्णा, तवे से अभिसमएणागए जवति, जहेयं
भगवता पवेदितं, तमेव अजिसमेच्चा सव्वतो, सव्वत्ताए
सम्मत्तमेव समभिजाणिया, एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं
पुव्वाइं वासाणि रीयमाण्णाणं दवियाणं पाम अहियासियं
आगयपएणाण्णाणं किंसा वाहा भवंति । पयणुए मंसमोणिए
विस्सेणिं कट्टु परिणएण एस तिष्ठे मुत्ते विरए वियाहि-
ए ति वेमि ।

एतद्यत् पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा, खुर्वाक्यान्नङ्कारे, आदीयत इत्या-
दानं कर्म, आदीयत इति वाऽनेन कर्मोत्पादनं कर्मोपादानम् ।
तच्च धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिभोषयितेति
संबन्धः । किंभूतः ? सदा सर्वकात्रं सुदुर्लभातो धर्मोऽस्येति स्वा-
ख्यातधर्मा संसारजीरुत्वाद्यधारेपितज्जरवाहीत्यर्थः, तथा वि-
धूतः क्षुण्णः सम्यक् स्पृष्टः कल्प आचारो येन स तथा, स एवंभूतो
मुनिरादानं भोषयित्वा आदानमपनेप्यति । कथं पुनस्तदादानं
वस्त्रादि स्यादु येन तद् जोषयितव्यं भवेदित्याह—(ज अचेल इत्या-
दि) अल्पार्थं नञ्, यथा-अयं पुमानहः स्वल्पज्ञान इत्यर्थः । यः
साधुर्नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यतोऽचेन्नोऽल्पचेल इत्यर्थः । संयमे
पर्युषितो व्यवस्थित इति तस्य भिक्षोर्नैतद्भवति नैतत्कल्पते ।
यथा परिजीर्णं मे वस्त्रमचेलकोऽहं जविष्यामि, न मेऽत्र त्वक्त्रा-
णं जविष्यति, ततश्च शीताद्यदितस्य किं शरणं मे स्याद् वस्त्रं
विनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्येत्य वस्त्रं याचिष्ये, तस्य
वा जीर्णस्य वस्त्रस्य संधानाय सूत्रं याचिष्ये, सूचीं याचिष्ये
वा, आस्ताज्यां सूचीसूत्राज्यां जीर्णवस्त्ररन्ध्रं संधास्यामि, पाटितं
सीविष्यामि, लघु वा सदपरशकललगनत उत्कर्षयिष्यामि,
दीर्घं वा सत् खण्णपनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि । एवं च कृतं स-
त्परिधास्यामि, तथा प्रावरिस्यामीत्याद्यास्तन्धानोपहृतः सत्यपि
जीर्णादिवस्त्रसद्भावे यद्भवविषयताध्यवसायिनो धर्मकप्रवणस्य
तु भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति । यदि वा जिनकल्पिकाभिः प्राये-
णैवेतत् सूत्रं व्याख्येयम् । तद्यथा—(ज अचेल इत्यादि) नास्याचेन्नं
वस्त्रमस्तीत्यचेन्नः छिद्रपाणितात्पाणिपात्रः । पाणिपात्रत्वात्पा-
त्रादिसप्तविधतन्त्रियोगरहितोऽजिग्रहविशेषात् त्यक्तकल्पत्रयः ।
केवलं रजोहरणमुखवस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैत-

द् भवति, यथा परिजीर्णं मे वस्त्रं सन्निद्रं पाटितं चैव्येवमादिव-
स्त्रगनमपध्यातं न भवति, धर्मिणोऽभावाज्जर्मभावः । सति च
धर्मिणि धर्मान्वेषणं न्याय्यमिति सत्यं वचस्तथेदमपि तस्य न
भवत्येव । यथा परं वस्त्रमहं याचिष्ये इत्यादि पूर्ववन्नेयम् । यो-
ऽपि त्रिद्रपाणितात्पात्रनियोगसमन्वितः कल्पत्रयान्यतरयुक्तो-
ऽसावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्गतमपध्यातं न विधत्ते, यथा
कृतस्याल्पपरिकर्मणो ग्रहणात् सूचिमूत्रान्वेषणं न करोति ।
तस्य चाचेलस्याल्पचेन्नस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्वि-
धेयं तदाह—(अदुवा इत्यादि) तस्य ह्यचेलतया परिवसतो
जीर्णवस्त्रादिकृतमपध्यातं न जवति, अथैवेतत् स्यात्तत्राचेलन्वे
पराक्रममाणं (जुज्जो) पुनस्तं साधुमचेलं कचिद् ग्रामादौ त्व-
क्त्राणाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः परुपास्तृणै-
र्वा जनिताः स्पर्शा दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृ-
शन्ति, तांश्च सम्यगदीनमनसाऽतिसहत इति संबन्धः । तथा
शीतस्पर्शाः स्पृशन्त्युपतापयन्ति, तेजउष्णस्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा
दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति । तेषां तु परीपहणामेकतरे विरूढा
दंशमशकतृणस्पर्शादयः प्रादुर्ज्वेयुः, शीतोष्णादिपरीपहणां
वा परस्परविरूढानामन्यतरे प्रादुर्ज्वेयुः । प्रत्येकं बहुवचननिर्दे-
शश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्यासंयुक्त इति । एतदेव दर्शयति-विरूपं
र्षाभत्सं मनोनयनानाहादि विविधं वा मन्दादिभेदादप्येषां ते वि-
रूपरूपाः । केते?, स्पर्शा दुःखविशेषास्तदापादकास्तृणादिस्पर्शा
वा, तान् सम्यक्करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसौ?, अ-
चेन्नोऽपगतचेन्नोऽल्पचेन्नो वाऽचेन्नस्वरूपो वा सम्यक् तितिकते ।
किमभिसन्ध्य परिपहानधिसहत इत्यत्र आह—(लाघवमित्यादि)
लघोर्जाघो लाघवं, छव्यतो भावतश्च, छव्यतो ह्युपकरणलाघवं,
जावतः कर्मलाघवम् । आगमयन्नवगमयन्नुध्यमान इति यावद्-
धिसहते परीपहोपसर्गानिति । नागाजुर्नयास्तु पठन्ति—“ एवं
खलु से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खयकारणं करोति ” एव-
मुक्तक्रमेण जावन्नाघवार्थमुपकरणलाघवं तपश्च करोतीति भा-
वार्थः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणलाघवेन कर्म-
लाघवमागमयन्तं कर्मलाघवेन चोपकरणलाघवमागमयतस्तृ-
णादिस्पर्शानधिसहमानस्य तपः कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिस-
मन्वागतं जवति । सम्यगाभिमुख्येन सोढुं भवति । एतच्च न मयोच्य-
त इत्येतद्दर्शयितुमाह—(जहेयं इत्यादि) यथा येन प्रकारेण दमिति
यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्, जगवता वीरवर्धमानस्वामिना, प्रकर्षे-
णाऽऽदौ वा वेदितं प्रवेदितमिति । यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः
किमित्याह—(तमेव इत्यादि) तदुपकरणलाघवमाहारलाघवं वा-
ऽभिसमेत्य ज्ञात्वा, एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघवं ज्ञात्वेत्यर्थः ।
कथमिति चेदुच्यते-सर्वत इति छव्यतः क्षेत्रतः काज्ञतो भावतश्च ।
तत्र द्रव्यत आहारोपकरणादौ, क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतो-
ऽहनि रात्रौ वा, दुर्भिक्षादौ वा । सर्वात्मनेति । भावतः कृत्रिम-
कल्काद्यभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रशस्तं शोभनमेकं सङ्गतं
वा तत्वं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्—“ प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः सं-
गत एव च । इत्येतैरुपस्पृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ” ॥१॥ तदेवं-
चूतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिमुख्येन जानी-
यात् परिच्छिन्नात् तथा ह्यचेन्नोऽप्येकचेन्नादिकं नावमन्येत, यत
उक्तम्—“ जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेन्नगो व संयरइ । ए हु ते
हीव्वेति परं, सव्वे वि हु ते जिणा णाए ॥१॥ तथा—“ जेखलु तिम-
रिसकप्पा, संघयणधियादिकारणं जणियं । पप्पणवमणयहीणं,
अप्पणं मण्णइ तेहि ॥१॥ सव्वे वि जिणा णाए, जहाविहि कम्म-

खचणमहाप । विहरति उज्जुया खबु , सम्मं अभिजाणई एवं ' ॥२॥ इति । यदि वा तदेव लाघवमजिसमेत्य सर्वतोऽव्यादिना सर्वात्मनादिना सम्यक्त्वमेव सम्यग्भिजानीयात् तीर्थकरणधरोपदेशात् सम्यक् कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाशक्यानुष्ठानम् । चरहरतक्कचूडाञ्जकाररत्नोपदेशयद् जवतः कचब्रमुपन्यस्यते . अपि त्वयैवदुभिश्चरकात्रमासेवितमित्येतदशयितुमाह- (एवमित्यादि) एवमित्येवञ्चतया पर्युषितानां तृणादिस्पर्शानभिसहमानानां तेषां महावीराणां सकलज्ञाकचमन्त्रनिकारिणां चिररात्रं प्रनूतकालं यावज्जीवमित्यर्थः । तदेव विशेषतो दर्शयति-पूर्वाणि प्रभूतानि रीयमाणानां संयमानुष्ठाने गच्छतां . पूर्वस्य तु परिमाणं वर्णाणां सप्ततिः कोटिब्रह्माः पञ्च वा शतकोटिसहस्रास्तथा प्रनूतानि वर्णाणि रीयमाणानां तत्र नाभेयादारभ्य शीतलं दशमनीयङ्करं यावत्पूर्वसंख्यासद्भावात् पूर्वाणीत्युक्तम् । तत्र आरभ्य श्रेयांसादारभ्य वर्षसंख्याप्रवृत्तेर्वर्षाणीत्युक्तमिति । तथा व्याणां ज्ञेयानां मुक्तिगमनयोग्यानां पश्यावधार्य , यत्तृणस्पर्शादिकं पूर्वमभिहितं , तदज्ञिपोढव्यमिति सम्यक्करणेन स्पर्शतिसहनं कृतमेतदवगच्छेति । एतच्चापि सहमानानां यस्यात्तदाह- (आगय इत्यादि) आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा , तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परीपहातिसहनेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा सत्यपि महोपसर्गपरीपहादाववगतप्रज्ञानत्वाद्वाधाः पीडाः कृशा जवन्ति , कर्मकृपणाद्योत्थितस्य शरीरमात्रपीडाकारिणः परीपहोपसर्गान् सहायानिति मन्यमानस्य न मनःपीमोत्पद्यत इति । तदुक्तम्—“निष्माणेऽपरोविषय , अपाणभ्रो न वियणं सरीराणं । अप्पाणोच्चिय हिपस्स , न उण्ण दुक्खं परो वेत्ति” ॥१॥ इत्यादि । शरीरस्य तु पीडा जवत्येवेति दर्शयितुमाह- (पयण्ण इत्यादि) प्रतनुके च , मांसं च शोणितं च मांसशोणिते , द्वे अपि । तस्य हि कृशाद्वारत्वादल्पाहारत्वाच्च प्रायशः खलत्वेनैवाहारः परिणमति , न रसत्वेन कारणात्रावाच्च प्रतनुकं च शोणितं तत्तनुत्वात् मांसमपीति , ततो मेदोऽस्यादीन्यपि । यदि वा प्रायशो रुक्वं वातघ्नं भवति वातप्रधानस्य च प्रतनुतैव मांसशोणितयोरचेलतया च तृणस्पर्शादिशुद्धिर्भावेन शरीरोपतापात्प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति संबन्धः । तथा संसारश्रेणी संसारावतरणी रागद्वेषकापायसंतनिस्तां काल्यादिना विभ्रंशेन कृत्वा तथा परिज्ञात्वा च समत्वज्ञावतया । तद्यथा—जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वौ त्रीन् वा विभर्ति , स्थविरकल्पिको वा मासार्द्धमासकल्पकस्तथा विकृष्टाविकृष्टतपधारी प्रत्यहं भोजी कूरगडुको वा । एते सर्वेऽपि तीर्थेकृच्छनानुसारतः परस्परातिन्द्या संस्तृणन्ति सम्यक्त्वदर्शन इति । उक्तं च—“ जो वि दुवत्थतिवत्थो , एगेण अचेलगो व संथरइ । न हु ते हीयैति परं , राव्ये वि हु ते जिणा णाए” ॥१॥ तथा जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपक्षो वा कश्चित्कदाचित्यमपि माभानात्मकत्वेन जिज्ञां न वज्जेत तथाऽप्यसौ कूरगडुकमपि यथोदन्मुगमस्त्वमित्येवं न हीयत्यति तदेवं समत्वदृष्टिप्रज्ञया विश्रेणीकृत्यैव उक्तलक्षणो मुनिस्तीर्णः संसारसागरम् , एव एव मुक्तः सर्वमङ्गेभ्यो विरतः सर्वसावधानुष्ठानेभ्यो व्याख्यातो नापर इति ब्रवीमि । इति शब्दः पूर्ववत् । आचा० १५०६५०२३० ।

अचेलपरि(री)मद्विजय-अचेलपरि(री)पद्विजय-पुं० उत्तम धृतिसंघननादिधिकलानामिदानीन्तनसाधूनां तृणप्रदणानवसेवापरिहारतः संयमस्फीतिनिमित्तं खण्डितादपमृत्युपरिजीर्णा-सर्वजीर्णानि वस्त्राणि धारयन्तःमाचेलक्यपरीपहसहने, पं० सं० ।

संजमजोगनिमित्तं , परिजुष्ठादीणि धारयन्तस्स ।

कह न परीसहसहणं , जइ णो सइ निम्ममत्तस्स ॥

आचेलक्यमुक्तप्रकारेण तावदौपचारिकं ततस्तथारूपाचेलक्या-सेवनं परीपहसहनमप्यौपचारिकमेव स्यात् । तथा च सति कुतो मोक्षावाप्तिरुपचरितस्य निरुपचरितार्थक्रियाकारित्वायोगात् , न हि माणवको दहनोपचारादाधीयते पाके इति यद्येवं तर्हि कल्पनीयमाहारमपि क्षुब्धानस्य न सम्यक् क्षुत्परीपहसहनं भवेत् भवदुक्तन्यायेन सर्वथा आहारपरित्यागत एव तत्सहनोपपत्तेः । एवं च सति जगवानप्यहंन् क्षुत्परीपहजेता न जवेत् । सोऽपि हि भगवान् उग्रस्यावस्थायां जयन्मतेनापि कल्पनीयमाहारमुपचुङ्के । न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपचुब्जानोऽपि क्षुत्परीपहजेता नेष्टः , ततो यथाऽनेपणीयाकल्पनीयभोजनपरित्यागतः क्षुत्परीपहसहनमिष्टं , तथा महामूल्यानेपणीयाकल्पनीयवस्त्रपरित्यागत आचेलक्यपरीपहसहनमिष्टमप्यम् । न च वाच्यम्—एवं तर्हि कमनीयकामिर्नाजनपरिजोगपरिहारतः कारेणैवविरुपवामनेत्रापरिभोगमपि कुर्वतः स्त्रीपरीपहसहनप्रसङ्ग इति , स्त्रीपरिभोगस्यान्यत्र सर्वात्मना सूत्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात् । न चैवं परिजीर्णादपमृत्युवस्त्रपरिजोगः सूत्रान्तरेण प्रतिषिद्धः , ततो नातिप्रसङ्गावाप्तिः , कृतं प्रसङ्गेन । विस्तरेण तु धर्मसंग्रहणीटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः । पं० सं० ४ द्वा० ।

अचेलिआ-अचेलिका-स्त्री० । वस्त्ररहितायां स्त्रियाम् , निर्ग्रन्थ्याऽचेलिकया न भवितव्यम् । वृ० ५ उ० ।

नो कप्पइ निगंथीए अचेलियाए हुंतए ।

नो कल्प्यते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकया वस्त्ररहितया प्रवितुमेव सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

वुत्तो अचेलधम्मो , इति काइ अचेलगतणं ववष्ठा ।

जिनकप्पो वज्जाणं , निवारिओ होइ एवं तु ॥

अचेलको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाष्य काचिदचेलकत्वं व्यधस्येत कर्तुमजिलपेत् , अतस्तन्निषेधार्थमिदं सूत्रं कृतम् , अचेलकत्वप्रतिषेधेन आचार्याणां जिनकल्पोऽप्येवमनेनैव सूत्रेणैव निवारितो मन्तव्यः । कुत इत्याह—

अजिअम्मि साहसम्मि , इत्थी ण वए अचेलिआ होउं ।

साइसमन्नं पि करे , तेणैव अइप्पसंगेणं ॥

कुलभाविताविणेच्छति , अचेलयं किमु सई कुले जाया ? ।

धिकारदुक्किआणं , तित्थुच्छेओ दुलभाविती ॥

साधवे भये तरुणादिदुतोपसर्गसमुत्थे अजिते सति अचेलिका भवितुं स्त्री निर्ग्रन्थी न शक्नुयात् । अथ जवति ततस्तेनैवातिप्रसङ्गनाचेलताद्वक्त्रेणान्वदपि चतुर्थसेवादिकं साहसं कुर्यात् , तथा कुलदाऽपि तावद् नेच्छत्यचेलतां किं पुनः कुत्रे जाता सती साध्वी । अचेलतां प्रतिपन्नानां चार्थिकाणां (धिकारदुक्किआणंति) लोकापवादनुगुप्सितानां तीर्थोच्छेदः , दुर्बला च वृत्तिर्भवति , न कोऽपि प्रव्रजति , न वा जन्तुपानादिकं ददातीत्यर्थः ॥

गुरुमा अचेलिगाणं , समलं व दुमंजियं गरहियं च ।

होइ परपत्थणिजा, विइयं अछाणमाईसु ॥

अत एव यथार्थिका अचेलिका न भवन्ति, यतस्तासां चतुर्गुणा आज्ञादयश्च दोषाः । तथा चेलरहितां संयतीं समवां मन्नादिग्यदेहां दृष्ट्वा लोको जुगुप्सितं जुगुप्सां कुर्यात् । आः कष्टमिदं लोक एता- दृश्यवस्था, परलोके तु पापतरा भविष्यति । गदितं च गह्रं प्रवचनस्य कुर्यात्-असारं सर्वमेतद्दर्शनमिति । अचेलिका च परस्य प्रार्थनीया भवति । अत्र द्वितीयपदमध्वादिषु विविक्ता- नां मन्तव्यम् । अपि च-

पुणरावित्तिनिवारण-उदिप्पमोहो व ददु पेत्तेजा ।

पडिवंभो समणाई, भिन्निदोसा य नगिणाए ॥

अचेलामार्गो दृष्ट्वा प्रवज्याभिमुखानामपि कुत्रस्त्रीणां पुनरावृ- त्तिर्भवति, प्रवज्यां न ग्रहयुरित्यर्थः । अन्यो वा कश्चिन्निवार- णं कुर्यात्, किमेतासां कापालिनीनां समीपे प्रवजितेनेति । यच्च- कश्चिदुदीर्णमोहस्तामप्रावृतां दृष्ट्वा कर्मगुरुकतया प्रेरयेत्, साऽपि तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्यात्, प्रतिगमनादीनि वा विदध्यात् । भिन्निरुमदोषाश्च ज्ञेयुः, यत पते नग्नाया दोषा अतोऽचेलया न भवितव्यम् । द्वितीयपदे संयत्या अध्वनि स्तेनैर्विविक्तायास्ततो न किमपि वस्त्रं भवेत् । आदिशब्दात् किञ्चित्ता यक्ताविष्टा वा वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमचेलोऽपि भवतीति । वृ० ५ उ० नि० चू० । अचोइय-अचोदित-त्रि० । अप्रेरिते, “वित्तो अचोइओ णिच्चं, खिप्पं इवइ सुचोइए” उक्त० १ अ० ।

अचोप्पमा-अचोपहा-स्त्री० । निस्तुपाख्ये अक्षेपकृते पेयद्रव्ये, ध० ३ अधि० ।

अचोरिय-अचौर्य-न० । अव्य० । चोरताभावे, “अचोरियं करे- तं” अचौर्यं कुर्वन्तं, चौरतामकुर्वानमित्यर्थः । प्रश्न० २ अश्र० द्वा० । अच-अर्च-धा० पूजायाम्, उभ०,च्वादि०, सक०, सेट् । अच- ति, अचते, आनचं, आनचं, आर्चात्, आर्चिष्ट । चुरा०, उज०, सक०, सेट् । अर्चयति, अर्चयते । वाच० । “अच्छे मुत्ते महाभा- गा, एति किञ्चण अच्चिमो ” उक्त० १२ अ० ।

अर्च-त्रि० । अर्चति यः सः । अर्च-अर्च । “कगच्चजतदपयवां प्रायो लुक् ” ८ । १ । ७७ । इत्यसंयुक्तस्यैव लुग्विधायकत्वेन न लुक् । पूजके, प्रा० । कालविशेषात्मकत्वभेदे च, यस्मिन् हि भ्रमणो भगवान् महावीरो निर्वृतः । कल्प० ।

अर्च्य-त्रि० । पूज्ये, स्था० ३ गा० १ उ० ।

अचंग-अत्यङ्ग-न० । अतिशायिषु कारणेषु, “वज्जणमणंतुं- वरि, अचंगणं च भोगओ माणं ” । अत्यङ्गानीत्यतिशयीनि जोगस्य कारणान्यवयवा मधुमयमांसादीनि रात्रिजोजनस्रक्- चन्दनाङ्गनादीनि च । पञ्चा० १ विव० ।

अचंचंतकाल-अत्यन्तकाल-त्रि० । अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः, अत्यन्तः कालो यत्र सोऽत्यन्तकालः । अस्मीमकाक्षिके, “अचंचंत- कालस्स समूखस्स, सर्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ” उक्त० ३२ अ० ।

अचंचंतथावर-अत्यन्तस्थावर-पुं० स्त्री० । अनादिस्थावरे, “मरु- देवा अचंचंतथावरा सिद्धा ” मरुदेवा अत्यन्तस्थावरा अनादि- वनस्पतिराशेरुद्धृत्य सिद्धाः । आ० म० द्वि० ।

अचंचंतपरम-अत्यन्तपरम-त्रि० । अधिकोत्कृष्टे, “अचंचंतपरमो- णासी, अउलो रुवविमिहओ ” उक्त० २० अ० ।

अचंचंतभावसार-अत्यन्तभावसार-त्रि० । अतीवप्रशस्ताभ्यव- सायप्रधाने, पञ्चा० १४ विव० ।

अचंचंतविमुद्ध-अत्यन्तविमुद्ध-त्रि० । सर्वथा निर्दोषे, स्था० ए गा० । “अचंचंतविमुद्धदीहरायकुत्तवंसप्पसूय ” अत्यन्तं विशुद्धः सर्वथा निर्दोषो दीर्घश्च पुरुषपरम्परापेक्षया यो राज्ञां भूपादानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसूतो जातो यः स तथा । स्था० ए गा० ।

अचंचंतसंकिन्नेस-अत्यन्तसंक्लेश-पुं० । अतिनिविडतया रागद्वे- पपरिणामे, ध० १ अधि० ।

अचंचंतमुपरिसुद्ध-अत्यन्तमुपरिशुद्ध-त्रि० । अतिनिर्मलतरे, पञ्चा० १४ विव० ।

अचंचंतसुद्धि (ए)-अत्यन्तसुखिन्-त्रि० । निरतिशयसुखा- ऽऽप्नुते, “तो होइ अचंचंतसुद्धी कयथो ” उक्त० ३२ अ० ।

अचंचंतान्नाव-अत्यन्तान्नाव-पुं० । अत्यन्तोऽन्तमतिक्रान्तो नित्योऽ- भावः । क० सं० । नास्तीति वाक्याभिव्यक्त्या नानाश्रागभाव- निष्ठे संसर्गाभावे, वाच० । अत्यन्तान्नावमुपादिशन्ति- काव- त्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिगत्यान्ताभाव इति । अती- तानागतवर्त्तमानरूपकावत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणाम- निवृत्तिरकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते । निदर्शयन्ति-यथा चेतनाचेतनयोरिति, न खलु चेतनमात्मत- त्वमचेतनपुत्रलात्मकतामचकलत्कलयति कलत्रियस्यति वा, तच्च- तन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुत्रत्वत्वं, चेतनस्वरूपमचेतनत्ववि- रोधात् । रत्ना० ३ परि० ।

अचंचंतिय-अत्यन्तिक-त्रि० । अत्यन्त-भकार्थे उभ् । अतिशयेन जाते, वाच० । सर्वकालान्नाविनि, “णेगंतणचंचंतिय ऊदए वं, वयंति ते दोवि गुणोदयम्मि” सूत्र० २ धु० ६ अ० । सोऽत्यन्तिको दुःखविगमः सोऽपवर्गः । अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन जवतीत्यात्यन्तिको दुःखविगमः । ध० १ अधि० ।

अचंचंतोसप्प-अत्यन्तावसन्न-पुं० । अवसन्नेष्वेव प्रप्राजितेषु, सं- विघ्नेः प्रप्राजितमात्रेष्वेवावसन्नतया विहृतेषु च । “अचंचंतोसप्पे- सु य, परव्विगड्डो य मूलकम्मे य । भिक्खुम्मि य विहियतवोऽ- णवट्टपारंच्चियं पत्तं ॥ ” जीत० ।

अचंचक्खर-अत्यक्षर-त्रि० । एकादिनिरक्षरैरधिके, “अनत्यक्ख- रत्वं हि सूत्रगुणः ” इत्ययं दोषः । अनु० । विशेषः । आव० । आ० म० प्र० । आ० चू० । ध० ।

अचंचण-अर्चन-न० । पुष्पादिभिः सत्करणे, “अचंचणं सेवणं चैव, मणसा वि ण पत्थए ” । उक्त० ३५ अ० ।

अचंचणा-अर्चना-स्त्री० । अर्च-युच् । पूजायाम्, वाच० । “गन्धै- र्मात्यैर्विनिर्गद्गद्गद्परिमलैरुत्तैर्धूपदीपैः, साध्नायैः प्राज्यभेदे- भक्ष्यरूपहृतैः पाकचूतैः फलैश्च । अम्भःसम्पूर्णपत्रैरिति दि- जिनपतेरर्चनामष्टभेदाः, कुर्वाणा वेश्मजाजः परमपदसुखस्तोम- मारालुजन्ते ” ॥ १ ॥ ध० ३ अधि० ।

अचिणिज्ज-अचर्नीय-त्रि० । अर्च-अर्चायर् । चन्दनगन्धादिभिः
संस्कारणैः, " अचर्चणिज्जे चन्दणिज्जे कल्लणं मंगलं देवयं चेइ-
यं " औ० । उपा० । जी० । भ० । झा० ।

अचर्चणिआ-अर्चनिका-स्त्री० । सिद्धायतने जितप्रतिमाद्यर्चने,
भ० ४ श० १ उ० ।

अचर्चन्व-अत्यर्थ-त० । अतिक्रान्तमर्थमनुरूपत्वरूपम् । आतिश-
ये, तद्वति च । त्रि० । अन्येय, अन्य० स० । अर्थाभावे, अन्य० स० ।
वाच० । " अंगारपलितककल्पअचर्चन्वसीयवेयणा " प्रश्न०
२ आश्र० डा० ।

अचर्चन्वत्त-अत्यर्थत्व-त० । महार्थत्वाऽपरपर्याये परिपुष्टार्था-
निधायितारूपेऽष्टमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अच्य-अन्य-पुं० । अति-अण-अच् । अतिक्रमे, अभावे, विना-
शे, दोषे, कृत्रे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽवश्यंजावाभावे,
वाच० । प्रत्ययाय, वृ० ३ उ० । आत्वन्तिके विनाशे च ।
वृ० ४ उ० ।

अचर्ल्लणि-अत्यालीन-त्रि० । अतीवान्यर्थमाहीने आसक्ते, प्रा० ।

अचचसण-अत्यज्ञ-न० । अतिशयितमज्ञानम् । अतिभोजने,
वाच० । प्रतिपदादीनां पञ्चदशदिवसानां (तिथीनां) लोको-
त्तरसंज्ञया द्वादशे दिनसे, पुं० । चं० प्र० १० पाहु० ।

अचर्चा-अर्चा-स्त्री० । अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारादिभिरित्यर्चा ।
देहे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । सूत्र० । स्था० । "दुविहृष्टा प-
निमेयरसमिहितेतर अचित्तसच्चित्ते" अर्चा द्विविधा । तद्यथा-
सचित्ता अचित्ता च । तत्राचित्ता द्विविधा-प्रतिमा इतरा च ।
इतरा नाम स्त्रीशरीरं निर्जीवम् । एकैकं पुनर्द्विधा-सन्निहिता, अ-
सन्निहिता च । व्य० ६ उ० । " एगच्छाए पुण एगे भयंतारो
भवन्ति " एके पुनरेकयाऽर्च्यैकेन शरीरेणैकस्माद् भवात् सि-
द्धिगतिं गन्तारो ज्ञवन्ति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । क्रोधाध्यवसा-
यानिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । स्था० ।
लेख्यायाम्, " इओ विस्समाणस्स, पुणो संवोहिदुल्लहा ।
दुल्लभाओ तदच्छाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे " अर्चा लेख्याऽन्तः-
परिणतिः, अर्चा मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।
पूजायां च, " मध्यान्होऽर्चा सत्पात्र-दानपूर्वन्तु भोजनम् "
ध० ३ अधि० ।

अर्चाडम्प-अत्याकर्ण-त्रि० । जनसंकुश्रत्वादतीवाकीर्णैः,
" अर्चाडम्पा चित्ते णो परस्म णिक्खमणपवेत्ताए " आचा०
१ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अर्चाचर-अन्याचर-त्रि० । नृशं खाने, " अर्चाचरं वा वि स-
मिक्खेवकणं, मिय तत्रो घेत्तु दलित्तु तस्स " वृ० १ उ० ।

अर्चागाढ-अन्यागाढ-त० । अत्यन्तद्वेष्टादिभये, " अर्चागाढे
वमिया, णिकियन्नो जइ व होज्ज जयणाए " वृ० २ उ० ।

अर्चावेष्टा-अन्यावेष्टन-त० । अतीवाऽऽवेष्टनेन परिनापने, नि०
चू० १२ उ० ।

अर्चामगया-अन्यामनना-स्त्री० । अन्यन्तं सतनमासनमु-
पवेशनं यस्य सोऽन्यासनस्तद्भावस्तत्ता । सतनमुपवेशने,
स्था० ९ डा० ।

अन्यज्ञना-स्त्री० । अतिमात्रमज्ञानमन्यज्ञनं तदेवाऽन्यज्ञनता ।

दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । प्रमाणाधिकजोने, स्था० ६ गा० ।
अर्चामगया-अत्यासन-त्रि० । अतिनिकटे, " एखासखे णाइदरे सु-
स्सुसमाणे " भ० १ श० १ उ० । रा० । सू० प्र० ।

अर्चासाइत्तए-अत्याशातयितुप्-अव्य० । गयाया अंशयितुमि-
त्यर्थे, " तं इच्छामि ण देवाणुप्पिषा सक्कं देविदं सयमेव अच्चा-
साइत्तए । ज० १ श० २ उ० ।

अर्चामाइय-अत्याशातित-त्रि० । उपसर्गिते, " से य अच्चा-
साइए समणे परिकुविए " स्था० १० गा० ।

अर्चासाएमाण-अत्याशातयत्-त्रि० । उपसर्गं कुर्वति, स्था०
१० गा० ।

अर्चामायणा-अत्याशातना-स्त्री० । साधादीनां जात्याद्यु-
घाटनादिद्विज्ञापयाम्, कर्म० १ कर्म० । आत्यन्तिक्यामाशा-
तनायाम्, स्था० १० गा० ।

जे निक्खू जदंत ! अण्णयरीए अर्चामायणाए अर्चा-
साइए अर्चासाएंतं वा साइज्जइ चि । नि० चू० १० उ० ।
(अ० रा० २ जा० ४९८ पृष्ठे ' आसायणा ' शब्दे वक्ष्यते)

अर्चाहार-अत्याहार-पुं० । प्रभूताऽऽहारे, " अर्चाहारेण स-
इइ अइणिडेण विसया उइज्जंति " । आव० ४ अ० ।

अर्चि-अर्चि-स्त्री० । अर्च-इत् । अर्चिप्-न० । अर्च-इसि ।
वाच० । किरणे, रा० । झा० । शरीरस्थरत्नादितेजोज्वालायाम्,
" अर्चिपे तेपणं लेसाए दसादिसाए उज्जोएमाणे " ज०
२ श० ५ उ० । प्रज्ञा० । जी० । उपा० । औ० । शरीरनिर्गततेजो-
ज्वालायाम्, स्था० ८ गा० । वेष्टायाम्, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
दाहप्रतिबद्धे ज्वालाविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । झा० ।
स्था० । अनलविच्छिन्नायां ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । " एए
बादरेतजसो भेदः " प्रज्ञा० १ पद । दश० । दीपशिखायाम्,
उत्त० ३ अ० । प्रथमकृष्णराजेरज्यन्तरपूर्वयोरवकाशान्तरे
स्थिते लोकान्तिकविमाने, ज० ६ श० ५ उ० ।

अर्चिमालि (ए)-अर्चिर्मालिन्-त्रि० । अर्चीषि किरणा-
स्तेषां माला, सा अस्यातीति अर्चिर्माही । सर्वतः कि-
रणमाहापरिवृते, " अर्चिमालिभासरासिवधामे " (सौध-
र्मकल्पः) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रज्ञा० । आदित्ये, पुं० । सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरवकाशान्तरे (स्थिते)
लोकान्तिकविमानजदे, ज० ६ श० ५ उ० ।

अर्चिमालिपभ-अर्चिर्मालिप्रभ-त्रि० । अर्चिर्माली आदित्य-
स्तद्वत्प्रभाम्नि शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्माहप्रभाणि सूर्यवत्
किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अर्चिमालिणी-अर्चिर्मालिनी-स्त्री० । सूर्याचन्द्रमसोस्तृतीया-
यामग्रमहिष्याम्, ज० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । ज० ।
जी० । स्था० । (अनयोर्भवत्रयकथाऽत्रैव १७२ पृष्ठे ' अग्र-
महिषी ' शब्दे प्रोक्ता) दक्षिणपौरस्त्यरतिप्रपद्येतस्य प-
श्चिमदिशि, शक्रस्य सेवानामन्यास्तृतीयाया अग्रमहिष्या लक्ष-
योजनप्रमाणायां राजधान्यां च । स्था० ४ गा० १ उ० ।

अर्चिचय-अर्चित-त्रि० । चन्दनादिना चर्चिते, झा० १ श्रु० १ अ० ।
महाध्वे, वृ० ३ उ० । प्रमाणीकृते, नि० चू० २ उ० । मान्ये,
" जं जस्स अर्चिचयं तस्स पूयणिज्जं तमस्सिया लिंगं " । ज्ञा-

वे कप्रत्यय इति चित्त्यम, भावप्रत्यये द्विद्वविशेषणानुपपत्तेः ।
व्य० १ उ० । “अचितं यत् तत् पूर्वं निपतति । यथा-मातापितरौ,
वासुदेवाजुनाविति ” । नि० चू० १ उ० ।

अच्चिसहस्रमात्राणिज-अर्चिःसहस्रमात्रनीय-त्रि० अर्चि-
पां किरणानां सहस्रैर्मात्रनीयं परिवारणीयम् । ज्ञा० १ अ० ।
रा० । मणिरत्नप्रभाज्वात्रानां सहस्रैः परिवारणीये, किमुक्तं
भवति । एवं नाम अत्यद्भुतैर्मणिरत्नप्रभाज्वात्रैराकलितमवभा-
ति, यथा-नूतमिदं न स्वाभाविकं किन्तु विशिष्टविद्याशक्ति-
मत्पुरुषप्रपञ्चप्रभावितमिति । “अच्चिसहस्रमात्राणिजं रूवगस-
हस्रकलियं भिसमाणं भिम्भिसमाणं चक्षुस्त्रोयणलेस्सं ”
आ० म० प्र० । रा० । जी० ।

अच्चिसहस्रमाला-अर्चिःसहस्रमाला-स्त्री० । दीप्तिसहस्रमाला-
भावलीपु, ज० १० श० ५ उ० ।

अच्चिसहस्रमालिनीया-अर्चिःसहस्रमालिनिका-स्त्री० अर्चिः
सहस्रमाला दीप्तिसहस्रमालाभावदयः सन्ति यस्यां सा तथा ।
स्वार्थिककप्रत्यये च अर्चिःसहस्रमालिनिका । दीप्तिसहस्रपरिवृ-
तायाम्, ज० १० श० ५ उ० ।

अर्चोकरण-अर्चिकरण-न० अकर्तव्या अर्चा अनर्चा, अनर्चाया-
अर्चाकरणमर्चिकरणम् । अचूततद्भावे च्विः । राजादीनां
गुणवर्णने, नि चू० ४ उ० ।

जे जिकखू रायरक्खियं अर्चीकरेइ अर्चीकरंतं
वा साइज्जइ । ३ । जे भिक्खू एगगरक्खियं अर्चीकरेइ अर्ची-
करंतं वा साइज्जइ । ४ । जे भिक्खू एगगरक्खियं अर्चीकरेइ
अर्चीकरंतं वा साइज्जइ । ५ । जे भिक्खू सव्वारक्खियं अ-
र्चीकरेइ अर्चीकरंतं वा साइज्जइ । ६ । (नि० चू०) जे भिक्खू
गामरक्खियं अर्चीकरेइ अर्चीकरंतं वा साइज्जइ । जे भि-
क्खू देसरक्खियं अर्चीकरेइ अर्चीकरंतं वा साइज्जइ । जे
भिक्खू सीमरक्खियं अर्चीकरेइ अर्चीकरंतं वा साइज्जइ ।
जे जिकखू रणो रक्खियं अर्चीकरेइ अर्चीकरंतं वा सा-
इज्जइ । जे जिकखू रणो रक्खियं अर्चीकरेइ अर्चीकरंतं वा सा-
इज्जइ । नि० चू० ५ उ० ।

अर्चीकरणं रणो, गुणवयणं तं समासओ दुविधं ।

संतमसंतं च तद्वा, पञ्चकखपरोक्खमेकैकं ॥ १५ ॥

रणो अर्चीकरणं किं गुणवक्खणं सौन्दर्यादि तं दुविधं संतं
असंतं च एकैकं पञ्चकखं परोक्खं ।

एत्तो एगगरेणं, अर्चीकरणेण जो तु रायाणं ।

अर्चीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥

इमं गुणवयणं-

एकत्तो हिमवंतो, अण्णतमो सादवाहणो राया ।

समभारतरोक्कंता, तेण ए वद्धत्थए पुहइ ॥ १७ ॥

राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तमुहिणो वा ।

भिक्खुस्स व संबंधी, संबंधे सुही तवं सोच्चा ॥ १८ ॥

संजमविग्यकरे वा, सरीरवाधाकरे व जिकखुस्स ।

अण्णदोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गो ॥ १९ ॥

गङ्गाम्बरायदुट्टो, वेरज्जविरुक्खरोहमद्धाने ।

उवमुज्जावणिकखम-णुवएमकज्जमत्थेसु वि य ॥ २० ॥

एतेहिं कारणेहिं, अर्चीकरणं तु होति कातव्वं ।

रायारक्खियणागर-णैगममव्वे वि एस गमा ॥ २१ ॥

नि० चू० ५ उ० ।

अर्चुकर्म-अत्युत्कट-त्रि० अत्यन्त उत्कटः । अत्यन्तोप्रे, वाच० ।

अर्च्युन्नते, आ० म० प्र० ।

अर्चुगकम्म-अत्युग्रकर्मन्-न० । कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव०
२२४ द्वा० ।

अर्चुगकम्मरुहण-अत्युग्रकर्मदहन-त्रि० अत्युग्रं कर्कशवेद-
नीयं यत्कर्म तस्य दहनोऽपनायकः । कर्कशवेदनीयस्य कर्मणो-
ऽपनायके, “संकेपान्निरेपेक्षाणां, यतीनां धर्मे ईरितः । अत्यु-
ग्रकर्मदहनो, गहनोऽप्रविहारतः ” ॥ १ ॥ ध० ४ अधि० ।

अर्चुचिय-अत्युचित-त्रि० लोकानामतिश्लाघनीये, “गर्भयोगे-
ऽपि मातृणां, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया ” द्वा० १४ द्वा० ।

अर्चुद्विय-अत्युत्थित-त्रि० । अतीवाकार्यकरणं प्रत्युत्थिते,
“दासीत्वेनाऽत्यन्तमुत्थिता” इति । दास्या अपि दास्याम्, स्त्री० ।
“अर्चुधियाए घमदासिए वा अगारिणं वा समयाणुसिग्गि”
सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अर्चुएह-अत्युष्ण-त्रि० । अतीवोष्ण उष्णधर्मो यत्र सोऽत्यु-
ष्णः । अतिशयितोष्णस्वभावे, स्था० ५ ग्रा० ३ उ० ।

अर्चुदय-अत्युदक-न० । महामहति वर्षे, “सभए वा सत्ताणं,
अर्चुदये सुखतरुणं वा णेइ ” ओ० प्रज्जतजले, जी० ३ प्रति० ।
अर्चुय-अर्चुत-पुं० । सौधर्मावतंसकादिसकलविमानप्रधाना-
च्युतावतंसकाजिधानविमानविशेषोपलक्षिते द्वादशे देवलोके,
अनु० । दर्श० । नि० चू० । प्रव० । स० । आरणाच्युतयोरेका-
दशद्वादशयोः कल्पयोरिन्द्रे च । स्था० २ ग्रा० ३ उ० ।

अर्चुया-अर्चुता-स्त्री० । श्रीपद्मप्रज्ञस्य शासनदेव्याम्, सा
च मतान्तरेण श्यामा (नागनी) देवी श्यामवर्णा नरवाहना
चतुर्भुजा वरदवाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकाजययुतवामपा-
णिद्वया च । श्रीकुन्धोः शासनदेव्यां च, सा च मतान्तरेण
वत्ताजिधाना कनकच्छविमैयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकशूला-
न्वितदक्षिणपाणिद्वया भुशुण्णिपश्चान्वितवामपाणिद्वया च ।
प्रव० २७ द्वा० ।

अर्चुव्वाय-अत्युद्धात-त्रि० । अतीवोद्धातः परिश्रान्तः । नृशं
श्रान्ते, “अर्चुव्वाया वसुवैत्ति” वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अर्चुसिण-अत्युष्ण-त्रि० । अतीव तप्त श्रोतनादिके, “अर्चु-
सिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा” आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।
अर्च्छ-आस्-धा० उपवेशने । अदादि०, आ०, अक०, सेट् ।

प्राकृते “गमिष्यमासां ङः” ट । ४ । २१४ । इति प्राकृतसूत्रेण
अर्च्छस्य ङः । अर्च्छइ, आस्ते । प्रा० । “अर्च्छति अवज्ञोऽपि य
लहुगा” ॥ अर्च्छति ति ॥ प्रतीकृता व्य० १ उ० । “अर्च्छेज्ज वा चिद-
ज्ज वा” ॥ आसीत सामान्यतः । तं० । भ० । अधिपूर्वः अधिरोहणे,
सक० । गगनमध्यमध्यास्ते, वाच० ।

अर्च्छ-अय्य० । न उच्यते दृष्टिः, सम्मुखत्वात् । लो-क । न०-
त० । अभिमुखे, “अर्च्छ गत्यर्थवदेषु” १ । ४ । ६९ । इति पाणिनिश्रुते

अच्छगत्य, अच्छोद्य इत्युदाहृत्य, अतिमुख गत्वा अभिमुखमु-
क्त्वोति व्याकृतम् । सि० कौ० त० २० ।

अच्छ-त्रि० । न गयति दृष्टिम् । गो-क । न० त० । आकाश-
स्फटिकरत्नवदतिस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पदा जी० । आ० म० प्र० ।
भ० । औ० । स्था० । रा० । जं० । निर्मले, ज्ञा० १ शु० १२ अ० ।
पञ्चा० । भ० । अनादित्रे, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्दिर्निर्म-
लप्रदेशे, जी० ३ प्रति० । “अच्छा स एहा ब्रह्मा णीरया णिष्पंका”
मेरौ, पुं० । सुनिर्मलजाम्बूनदरत्नवहुलत्वात्तस्य “तच्छासि
णं पञ्चयंसि” च० प्र० ५ पादुगा सु० प्र० । जी० । आर्यदेशभेदे,
स्फटिके च । पुं० । प्रव० २७५ द्वागन चक्षुति भक्षयति नाशित-
सत्त्वम् । ग-भक्षणे-क । न० त० । वाच० । ऋके, आचा०
२ शु० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जी० । प्रज्ञा० । ज० । एष
सनखपदभेदः । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स-त्रि० । अपः सनाति । सन-ना । प्राकृते “ह्रस्वात् श्यश्च-
सप्सामनिश्चये” ॥ २ । २१ । इति प्सभागस्य चक्षुः । प्रा० ।
अपां विशेषगुणीभूते रसे, वाच० ।

अच्छे-देशी-अत्यर्थे, शीघ्रे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छन्द-अच्छन्द-त्रि० । नास्ति उन्दो यस्याः । अस्ववशे । “अ-
च्छन्दा जे ण ह्रजंति ण से चाइति वुच्चई” दश० २ अ० । अ-
भिप्रायशून्ये च । वाच० ।

अच्छन्दग-अच्छन्दक-पुं० । मोराकप्रामसन्निवेशस्ये पास्त्राणिरुति,
“मोराप सकारं सको अच्छिन्द कविओ” आ० क० । (स
मोराके वसन्मन्त्रतन्त्रज्ञो लोकपूजितस्तत्र समागतस्तत्र समाग-
तस्य श्रीवीरस्य पुरतः सिद्धार्थव्यन्तरेणाऽच्छेद्यमिदमिति प्र-
तिज्ञाय गृहीतं तृणं छिन्दन् शक्रेण वज्रं प्रक्षिप्य त्रिभुवनाद्गुली-
कृतो जैतरुपहसित इति ‘वीर’ शब्दे वक्ष्यते) आ० चू० ।
आ० म० छि० ।

अच्छण-आसन-न० । अवस्थाने, ग० १ अधि० । ज्ञा० । पर्युपास-
ने, वृ० ३ उ० । प्रतिश्रवणे, “अच्छण अवज्ञागणे वा” व्य० १ उ० ।
अक्षण-पुं० । अर्हिसायाम्, दश० ८ अ० ।

अच्छणपरग-आसनगृहक-न० । अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा
नदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकयाऽवतिष्ठन्ते । जी० ३ प्रति० । जं० ।
अच्छणजोय-अक्षणयोग-पुं० । अर्हिसाध्यापारे, “तेसि अच्छ-
णजोयणं णित्त्वं होयव्वं” तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनार्हि-
साध्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० ८ अ० ।

अच्छाणन्य-अच्छन्नस्थ-त्रि० । अच्छन्नप्रदेशे स्थिते, वृ० ३ उ० ।
अच्छति (दि) त-आच्छादित-त्रि० । निरुद्धे, “संणद्धवका-
क्षतिन व्य” प्रश्न० ४ संव० द्वा० ।

अच्छत्तय-अच्छत्रक-त्रि० । न० ब० । अत्ररहिते, वीरमहापद्मयोरुत्र-
को धर्मा मतः “अदंतवणे अच्छत्तवण अणुवाणहण” स्था० ९ ग० ।
अच्छद्रव-अच्छद्रव-पुं० । स्वच्छोदके, पं० व० २ द्वा० ।

अच्छर्धी-अच्छर्धी-त्रि० । ६ ब० । विमलबुद्धौ, “विष्णुः
प्रातः प्रभुं नत्वा, साधुंश्चापृच्छदच्छर्धीः” आ० क० ।

अच्छभल्ल-अच्छन्नल्ल-पुं० । ऋके, व्य० १० उ० । व्याघ्रविशेषे
च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अच्छमाण-आर्मान-त्रि० । तिष्ठति, “सुचिरमपि अच्छमाणो”
पं० ब० ३ द्वा० । द्वा० ।

अच्छरगणसंघसंविद्विष्णु-अप्सरोगणसंघसंविकीर्ण-त्रि० । अ-
प्सरोगणानां संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा
व्याप्ता अप्सरागणसंघसंविकीर्णा । अप्सरोयूथसंपरिवृते, “अ-
च्छरगणसंघसंविक्लिष्टा दिव्वतुभियमधुरसहसंपद्या” । जी०
३ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस-अच्छरस-त्रि० । अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः । प्रत्या-
सनवस्तुप्रतिविम्बाधारयुतेष्विवाऽतिनिर्मलेषु, जी० ३ प्रति० ।

अच्छरसा-अप्सरस्-स्त्री० । व० व० । अद्भ्यः सगन्ति उक्ता-
चक्षुः । सू-असन् । अप्सरसः “ह्रस्वात् श्यश्चसप्साम-
निश्चये” ८ । २१ । इति सूत्रेण प्राकृते ‘प्स’ भागस्य ‘च्छ’
आदेशः । प्रा० । “आयुरप्सरसोवा” ८ । १ । २० । इति सूत्रेण
च अत्यव्यञ्जनस्य वा सः प्रा० । देवीमात्रे, रूपेण देवीकल्पा-
यां स्त्रियां च । “णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओ उत्तर-
कुरुमाणसच्छराओ अच्छेरगपेच्छिणियाओ तिमि पलिओवमा-
ई परमाउं पालयित्ता ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं” प्रश्न० ४
आश्र० द्वा० । औ० । (आसां वर्णकम् ‘उत्तरकुरु’ शब्दे वक्ष्यामः)

अच्छरसांतकुल-अच्छरसतटकुल-न० । अच्छो रसो येषु तेऽ-
च्छरसाः प्रत्यासनवस्तुप्रतिविम्बाधारयुता इवातिनिर्मला इत्य-
र्थः । अच्छरसाश्च ते तटकुला अच्छरसतटकुलाः । पूर्वपदस्य
दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । श्वेतेषु दिव्यतण्डुलेषु, रा० । “अच्छेहि
सेणहिं रयणामर्हि अच्छरसतटकुलेहि अछट्टमंगवे आलिहई”
रा० । जी० । आ० म० प्र० ।

अच्छरा-अप्सरा-स्त्री० । शकस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पृथ्वा-
मग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ग० । भ० । ती० । (तस्याः पूर्वाऽपर-
भवकथा एतस्मिन्नेव ज्ञाते १७३ पृष्ठे ‘अग्रमहिर्सा’ शब्देऽदर्शि)
अच्छराणिवाय-अप्सरानिपात-पुं० । चण्डिकायां, तत्करण-
काले च । यावता कालेन चण्डिका क्रियते तावान् काष्ठोऽप्यप्स-
रोनिपातशब्देनाजिधीयते “अच्छरानिवातेहिं तिसत्तखुत्तो
अणुपरियत्ताणं हव्वमागच्छेस्सा” जी० ३ प्रति । सूत्र० । ज० ।

अच्छवि-अच्छवि-पुं० । न० ब० । योगनिरोधेनाविद्यमानशरीरे
स्नातकाख्यनिर्ग्रन्थभेदे, अत्र चत्वारोऽनुवादाः-‘अव्य-
थक’ इत्येकः । अवियोगाच्छविः शरीरं तद्योगनिरोधेन यस्य ना-
स्त्यसौ ‘अच्छविक’ इत्यन्ये । कृपा सच्छेदे व्यापारस्तस्या
अस्तित्वात् कृपी, तन्निषेधात् ‘अकृपी’ इत्यन्ये । घातिकर्मचतुष्ट-
यकृपणानन्तरं वा तत्कृपणाभावाद्कृपीत्युच्यते । भ० २५
श० ६ उ० ।

अच्छविकर-अकृपिकर पुं० । न कपिः स्वपरयोरायासो यः सः,
तत्करणशीलो न भवति सोऽकृपिकरः । ज० २५ श० ७ उ० ।
व्यथाविशेषस्याऽकारके प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ८ ग० ।

अच्छविमलमलिलपुष्प-अच्छविमलमलिलपूर्ण-त्रि० । अ-
च्छेन स्वरूपतः स्फटिकवच्चक्षुद्धेन विमलेनाऽऽगन्तुकमलरहिते-
न मलिलेन पूर्णः । स्फटिककल्पस्वच्छनिर्मलजलभूते, रा० । जी० ।

अच्छा-अच्छा-स्त्री० । वरुणदेशप्रतिषद्धे पुरीभेदे, आर्यदेशग-
णनायां वरुणा अच्छा । वरुणा नगरी, अच्छा देशः । अन्ये तु
वरुणा देशः, अच्छापुरीत्याहुः । प्रव २७१ द्वा० । सूत्र० ।

अप्सा-त्रि० । अपो जलानि सनति ददाति । सन्-विच् । जल-
दातरि, वाच० ।

अच्छादणा-आच्छादना-खं०। स्थगने, “सतस्स अच्छायणाप मगस्स” । व्य० ३ उ० ।

अच्छि-अक्षि-न०। अश्रुते विषयान्। अग्-किस । “गोऽक्ष्या-दौ” ८ । २ । २१७ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य क्षमागस्य नः । प्रा० । “द्वितीयतुर्ययोरुपरिपुत्रः” । ७ । २ । ९० । इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः । प्रा० । लोचने, तं० । दशा० । “वाऽक्ष्यर्थवचनायाः” ८ । १ । ३२ । इति वा पुंस्त्वम् “अज्ज वि सासइते अच्छी नञ्चा वि आइ तेणस्स अच्छीइ” अज्जलयादिपाठादक्षिशब्दः खं० लिङ्गेऽपि । प्रा० । “एसा अच्छी” उपा० २ अ० । (अक्ष्णोऽप्राप्यकारित्वम् ‘इदिय’ शब्दे द्वि० भा० ५५७ पृष्ठे छप्यम्)

अच्छायणा-आच्छादना-खं० । स्थगने, (‘अच्छादणा’ शब्दसमानार्थः)

अ (आ) चिञ्जदण-आच्छेदन्-न०। एकवारमीयद्वाच्छेदने, “एककस्ति ईपद् वा आच्छिदणं” नि० चू० ३ उ० । “पायपुं-रणमाच्छिदइ वा” आच्छिनन्ति बलादुद्वाहयतीति । स्था० ७ ग० १ उ० । “आच्छिदिहि च्छि-ईपच्छेत्स्यतीति । भ० १५ श० १ उ० ।

अ (आ) चिञ्जदित्ता (य)-आच्छिद्य-अव्य० । आ-च्छिद्य-इत्यप् । हस्तादुद्वाहनेनापहृत्येत्यर्थे, उपा० ७ अ० । “अच्छि-दिय जं भिच्चसामिमादीणं” पञ्चा० १३ विव० । आचा० ।

अ (आ) चिञ्जदमाण-आच्छिन्दन्-त्रि० । ईपत्सकृद् वा चिन्दति (“सन्धजाए णं आच्छिदमाणे” ज० ७ श० ३ उ० ।

अच्छिक्क-देशी-अस्पृष्टे, “अच्छिक्कोवहिपेहे” व्य० १ उ० ।

अच्छिचमहण-अक्षिचमहन्-न० । चक्षुषोर्मलने, वृ० २ उ० ।

अच्छिञ्ज-अच्छेद्य-न० । न० त० । वेत्तुमशक्ये, (स्था०)

तथो अच्छेज्जा पणत्ता । तं जहा-समए पण्णे परमाणु ।

एवमजेज्जा अरज्जा अगिज्जा अणद्धा अमज्जा अपएसा

तथो अविभाज्मा ।

वेत्तुमशक्या बुद्ध्या लुटिकादिशब्देण वेत्यच्छेद्या, अच्छे—द्यत्वे समयादित्वायोगादिति । समयः कालविशेषः, प्रदेशो धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां निरवयवोऽष्टः परमाणुरस्कन्धः पुद्गल इति । उक्तं च—“सत्थेण सुतिक्खेण वि, च्छेत्तुं भेत्तुं च जं किरन सक्कं । तं परमाणुं सिखा, वयंति आइ पमाणानं” ॥१॥ एवमिति पूर्वसूत्राभिज्ञापसूचनार्थ इति, अभेद्याः सूच्यादिना, अदाह्या अग्निहारादिना, अग्राह्या हस्तादिना, न विद्यते अर्द्धं येषामित्यनर्द्धाः, विज्ञागच्छाज्जावात्, अमरूपा विभागत्रयाभावात् । अत एवाह—अप्रदेशा निरवयवाः, अत एवाविभाज्या विजक्तुमशक्याः । अथवा विभागेन निर्वृत्ता विज्ञागिमास्तन्निषेधादविभागिमाः । स्था० ३ ग० २ उ० । “लोणे अच्छिज्जभेज्जा” छेद्यः शस्त्रादिना, तन्निषेधादच्छेद्यः । अव्यपरमाणौ, भ० २० श० ६ उ० ।

अच्छेद्य-न०। आच्छिद्यते अनिच्छतोऽपि भृतकपुत्रादेः सकाशान् साधुदानाय परिगृह्यते यत्तदाच्छेद्यम् । पि० । “अच्छेज्ज वा गिदिय, जं सामी भिच्चमार्दणं” । आच्छेद्यं चाऽऽच्छेद्या-ख्यः पुनर्दोषः । आच्छिद्यापहृत्य यद् भक्तादिकं स्वामी प्रभुः भृत्यादीनां कर्मकरादीनां सत्कं ददाति तदिति । पञ्चा० १४ विव० । चतुर्दशेदूगमदोषदुष्टे, तदभेदोपचारात् चतुर्दशे उदूगमदोषे च । ग० १ अधि० ।

तदभेदाः—

अच्छेज्जं पि य निविहं, पभू य सामी य तेणए चव ।
अच्छेज्जं परिकुट्टं, समणाण न कप्पए पेत्तुं ॥

आच्छेद्यमपि प्रागुक्तद्वयार्थं त्रिविधं त्रिप्रकारम् । तद्यथा—प्रभौ प्रभुविषयं प्रभुरूपकर्त्रीश्रतार्थः । एवं स्वामिनि स्वामि-विषयं, स्तेनकविषयं च । एतच्च त्रिविधमप्याच्छेद्यं तीर्थकरग-णधरैः प्रतिकुष्टं निराकृतमतः श्रमणानां तत्तद् गृहीतुं न कल्पते ।

तत्र प्रथमतः प्रभुविषयं भावयति—

गोवालए य जयूए-ऽवरए पुत्ते य भूय सुएहाए ।

अचियत्तसंखमाई, केइ पठस्सं जहा गोवा ॥

प्रभुकर्तृकमाच्छेद्यं गोपालके गोपालविषयं, तथा भृतकः कर्म-करस्तच्छिष्यम् । अक्षरको ह्यक्षरको ह्यक्षरकानिधानो दास इ-त्यर्थः, तद्विषयम् । पुत्रविषयं, दुहितृविषयं, स्नुषाविषयम् । उप-लक्षणमेतद् भार्यादिविषयं च । अत्रैव दापमाह—(अचियत्त-त्यादि) अचियत्तमप्रीतिः, संखमं कलहः, आदिशब्दादा-त्मपोतादिपरिग्रहः । केचित् पुनः प्रद्वेषमपि साधौ गच्छति । यथा—गोपो गोपालकः ।

एतमेव दृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

गोवपयं अच्छेत्तुं, दिक्कं तु जइस्स भइ दिणे पट्टणा ।

पयजा णूणं दइ, खिमइ जेइ खे चेमा ॥

पणियरण पओम एं, जावं नाउं जइस्स आलावा ।

तन्निव्वंथा गहियं, हंदि उ मुक्कोसि मा वीयं ॥

वसन्तपुरं तगरम् । तत्र जिनदासो नामश्रावकः । तस्य भार्या रु-किमणी । जिनदासस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः । स चा-ष्टमेऽष्टमे दिने सर्वासामपि गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, तथैव तस्य प्रथमतो धृतत्वात् । अन्यदा च साधुसंघाटके भिक्षायै तत्रागमत् । इतश्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानवा-रकः, ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यो दुग्ध्वा महती पारिकु-ष्ठेनाऽऽपूर्णा । जिनदासश्च जिनवचनजावितान्तःकरणतया साधुसंघाटकं परमपात्रभूतमायातमवलोक्य भक्तितो यथेच्छं भक्तपानादिकं तस्मै दत्तवान् । ततो दुग्धान्तानि जोजनानीति परिज्ञाय अकितरलितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं बलेनाच्छि-द्य कतिपयं ददौ । ततः स गोपालो मनसि साधोरुपरि मत्ताक् प्रद्वेषं ययौ, परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः । ततस्तत्परोज्जा-जनं कतिपयन्यूनं स्वगृहे नीतवान् । तच्च तथाजूनं न्यूनमवलो-क्य भार्या सरोपं पृष्ठवती—किमिति न्यूनमिदं पयोभाजनमिति ? । ततो गोपेन यथावस्थिते कथिते साऽपि साधूनाक्रोष्टुं प्रावर्त्तत । चेष्टरूपाणि च दुग्धं स्तोकमवलोक्य किमस्माकं जविष्यती-ति रोदितुं प्रवृत्तानि । तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुलमवे-त्य स गोपः संजातसाधुविषयमहाक्रोपः साधून् व्यापादयितुं चलितवान् । दृष्टश्च निजार्थं परिभ्रमन् कापि प्रदेशे साधुः । ततः प्रधावितो लकुटमुखाख्य साधोः पृष्ठतः । साधुरपि कथमपि पश्चादवलोक्य तं गोपं तथाभूतं कोपावृणयनयनालोच्य परिभा-वयामास—नूनमेतस्य दुग्धं बलादाच्छिद्य जिनदासेन मह्यं दद, तेन मारणार्थमेव कुपित एव समागच्छन्नुपलभ्यते । ततः साधु-विशेषतः प्रसन्नवदनो नृत्वा तस्यैव संमुखं प्रत्यागन्तुं प्रवर्त्त-ते स । यभाण च—यथा भो ज्ञोः कीरमुदनिमुक्तक ! तव प्रभुनिर्वच्येन मया तदानो दुग्धमात्रं गृहीतम्, संप्रति तु गृहाण त्वमात्मीयं दुग्धमिति । एवं चोक्ते सत्युपशान्तकोपः साधुं प्रति स्वस्वभावं प्रकटितवान्—यथा भोः साधो !

मुचिहितः । तत्र मरणार्थमहमिदानीमागतः, परं संप्रति त्वद्वचन-
नमूनपरिप्रेक्षित उपशमाम मे सर्वोऽपि कोपानलः । ततो गृहाण
त्वमवेदं दुग्धम्, मुक्तश्चाकृतप्रापणो मया, परं भूयोऽप्यवमाच्छे-
द्यं न गृह्णत इति निवृत्तः गोपः स्वस्थानं च गतः साधुरिति ।
सुत्र सुगम, तत्र (पयसा पूर्णं नि) विनक्तिशेषात् पयोनाज-
नं न्यूनं दृष्ट्वा (भोई इति) भोग्या ज्ञायं इत्यर्थः (रुयेति)
मदान्तः । इदीत्यामन्त्रणे । तन्निबन्धात् तदीयजितदासाख्यप्रभु-
तिबन्धाद् गृहीतम् । ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि संप्रति मा द्वितीयं
वाग्मेव गृहीथाः ।

संप्रति गोपालविषय एव 'अचियत्तसंखडाइ' इत्येतद्या-
चिख्यासुराह—

नानिचिदं लब्धं, दासो वि न जुज्जए रिंते जत्ता ।

दोन्नेगयर पओमं, जं काही अंतगयं च ॥

प्रभुणा बलादाच्छिद्यमानं दुग्धं कोऽपि गोपो रुष्टः प्रभोः
संमुखमेवमपि वृषाणः संभाष्यते । यथा-किमिति मदीयं दुग्धं
बलादागृह्णामि न खल्वनिर्विघ्नमुपाजितमिह किमपि व्रज्यते,
ततो मया स्वशरीरायासवलेनेदं दुग्धमुपाजितम्, अतः कथमत्र
प्रभवामि ? । न हि दास्यपि, आस्तामुक्तमवेद्यादिकमित्यपिश-
ब्दार्थः । नक्तन्तं नक्तदानमृते भरणपोषणमृत इत्यर्थः । जुज्यते
भोक्तुं लब्धते । ततो मदीयं नोजनमिदमतो न ते तत्र प्रभुत्वा-
वकाशः । एवं चोक्ते सति कदाचित् द्वयोरपि प्रभुगोपालवयोः
परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रद्वेषो वर्तते । प्रद्वेषे प्रवर्धमाने
यत् करिष्यति धनहरणमारणादिकं तत्स्वयमेव आच्छेद्यादाने
दोषत्वेन विज्ञेयम् । तथा यच्चान्तरायं गोपालकस्य तत्कुटुम्बस्य
च, तदपि दोषत्वेन विज्ञेयमिति । तदेव 'गोवाद्यए' इत्यादि
व्याख्यातम् । एतदनुसारेण च नृनकादावपि यथायोगमप्री-
त्यादिकं संभावनीयमिति ।

संप्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विज्ञावयिषुराह—

मामी चारजरा वा, संजयदहूण तेसि अट्टाए ।

कलुणाणं अच्छेज्जं, साहण न कप्पए वेत्तुं ॥

इह स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः, ग्रामादिनायकः स्वामी । चार-
जरा वा स्वामिनया वा, तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते । संयता-
न दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां द्रिड-
कौटुम्बिकादीनां संवष्ट्याच्छिद्य यद्दाति तस्माधूनां न कल्पते ।
एतदेव व्यक्तं भावयति—

आहारोवदिमई, जइ अट्टाए उ केइ अच्छेज्जे ।

मेखरिअसंखडाए, तं भोएहंते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी नरो वा यतानामर्थाय केषांचित्संबन्धि
आहारोपध्यादिकं संखड्या कलटकरणेन, असंखड्या अकलह-
नाच्चेन । कोऽपि हि तत्संबन्धिं बलादाच्छिद्यमाने कलटं करोति,
कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति । तत उक्तं संखड्या
असंखड्या चेति । बलादाच्छिद्य यानिन्यां यद् ददाति तद्यतीनां
न कल्पते । एतस्तदगृह्णतामिमं दोषाः ।

तानेवाह—

अचियत्तमंतगयं, तेनादुसं एणणेगवोच्छेओ ।

निच्छरणाई दोसा, तस्म अल्लंजे य जं पावे ॥

येषां सत्कामाच्छिद्य बलान् स्वामिना दीयते तेषामचियत्त-
मप्रतिरूपं जायते । तथा तेषाम् (अंतरायं) दीयमानवस्तु-

परिजोगहानिः कृता भवति । तथा इत्थं साधूनामाददानानां
स्तेनाहृतं भवति, दीयमानवस्तुनायकेनानुज्ञानत्वात् । तथा
येषां संबन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते न कदाचित् प्रद्वि-
ष्टाः सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधोर्भक्तपानव्यवच्छेदं कुर्वन्ति,
यथा-अनेन संप्रति बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं ततः कालान्त-
रेऽप्यस्मै न किमपि दातव्यमस्माज्जरिति । अथवा सामान्यतः
प्रद्वेषमुपयान्ति, यथा-अनेन संयतेन बलादस्माकं भक्तादि गृह्य-
ते तस्मात् कात्यान्तरे न कस्माद्यपि संयताय दातव्यमित्यनेक-
साधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः । तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पूर्वमुपा-
ध्यायं दत्तः तस्मान्निष्काशयन्ति । आदिशब्दात् खरपरुषाणि
भाष्येने इति परिगृह्यते । तथा तस्योपाश्रयस्याऽऽभावे यत्किम-
पि कष्टं प्राप्नुवन्ति तदप्याच्छेद्यादाननिमित्तमिति दोषः ।

संप्रति स्तेनाच्छेद्यं ज्ञावयति—

तेणा व संजयट्ठा, कलुणाणं अप्पणो व अट्टाए ।

तेय पओमं जं वा, न कप्पई कप्प एण्णायं ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति जट्टका जयन्ति । सं-
यता अपि कापि द्रिडसार्धेन सह व्रजन्ति । ततस्तान् जि-
ज्ञावेद्यायां जिज्ञामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा संयतार्थाय संयतानामर्थाय,
यद्वा-स्वस्यात्मनोऽर्थाय तेषां करुणानां कृपास्थानानां द्रिड-
सार्धमानुषाणां सकाशादाच्छिद्य यद्दाति स्तेनास्ततस्तेनाच्छे-
द्यं छष्टव्यम् । तच्च साधूनां न कल्पते, यतस्तस्मिन् गृह्यमाणे येषां
संबन्धि तद् द्रव्यं ते पूर्वोक्तप्रकारेण एकानेकसाधूनां ज्ञतव्य-
वच्छेदं कुर्वन्ति । यद्वा-प्रद्वेषं रोपमुपयान्ति । तथा च सति सा-
र्थान्निष्काशनम्, कात्यान्तरेऽपि तेषां पार्श्वे उपाश्रयाप्रतिग्रह-
इत्यादयो दोषाः । यदि पुनस्तदपि सार्थिका वक्ष्यमाणप्रकारेणा-
नुजानते तर्हि कल्पते ।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभदा तेणा, आयंते वा असंधरे जइणं ।

जइ देति न धेत्तव्वं, निच्छुभ वोच्छेउ मा होज्जा ॥

पयसत्तुयदिङ्गंतो, समण्णनाया व धेत्तुणं पच्छा ।

देति जइ गतेसि वि य, समण्णनाया य जुंजंति ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतभट्टका जयन्ति, साधवश्च क-
दाचित् द्रिडसार्धेन सह क्वापि व्रजन्ति । ततस्तेषां साधूनां
भिक्षावेलायामसंस्तरे अनिर्वाहं ते स्तेनाः स्वग्रामाभिमुखं प्र-
त्यागच्छन्तः, वाशब्दात् स्वग्रामादप्यत्र गच्छन्तो वा, यदि ते-
षां द्रिडसार्धमानुषाणां बलादाच्छिद्य भक्तादि प्रयच्छन्ति,
तर्हि न ग्राह्यं, यद् मा भूत् निजोन्नः सार्थानाम्, एकानेक-
साधूनां तेन्यो भक्तादिव्यवच्छेदो वा । यदि पुनस्तदपि सार्थि-
काः स्तेनैर्बलाद्वाध्यमाना एव व्रज्यते-यथाऽस्माकमिह घृतशकु-
दृष्टन्त उपातिष्ठत । घृतं हि सक्तुमध्ये प्रक्षिप्तं विशिष्टसंयोगाय
जायते, एवमस्माकमप्यवश्यं चौरैर्गृहीतव्यम्, ततो यदि चौरा
अपि युष्मभ्यं दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति । तत
एवं सार्थिकैरनुज्ञाताः साधवो दीयमानं गृह्णन्ति । पश्चाच्चौरैरप्य-
पगतेषु नृयोर्षप तद् द्रव्यं गृहीतं ते समर्पयन्ति । तदानीं
चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संप्रति ते गतास्तत एतदान्मीयं द्र-
व्यं गृह्णथ इति । एवं चोक्ते सति यदि तेऽपि समनुजानते ।
यथा-युष्मभ्यमेतदस्माभिर्दत्तमिति तर्हि जुज्जते, कल्पनीयत्वा-
दिति । अनेन कप्य गुन्नायमित्यवयवो व्याख्यातः । पि० । नि०

चू० आच्छेये प्रायश्चित्तम्-‘अच्छिञ्जे अणिसिष्ठे य चउवहु’ पं०
चू० । सर्वस्मिन्नाच्छेये आचामाम्लम् । जीत० । दशा० । ध० । प्र-
अ० । दर्श० । वृ० । पं० वा० व्या० पंचा० । स्था० । सूत्र० । उक्त० ।
आचा० । (आच्छेद्याहारग्रहणनिषेधः ‘एसणा’ शब्दे, आच्छेद्य-
पात्रग्रहणनिषेधः ‘पत्त’ शब्दे, आच्छेद्यवसतौ स्थाननिषेधो
‘वसद्’ शब्दे द्रष्टव्यः)

अच्छिजंती-आच्छिद्यमाना-स्त्री० । तुम्बवीणादिवादनप्रकारेण
वाद्यमानायाम्, “तुम्बकाणं तुम्बवीणाणं वाञ्छन्ताणं” आच० १ अ० ।
अच्छिणिमीडिय-अक्षिनिमीडित-न० । अक्षिनिकोचे, जी० ३
प्रति० ।

अच्छिणिमीडियमेत्त-अक्षिनिमीलितमात्र-न० । अक्षिनिको-
चकालमात्रे, “अच्छिणिमीलियमेत्तं, णत्थि सुहे दुक्खमेव
अणुवद्धं । एरण्ण एणइयाणं, अहोणिसं पच्चमाणाणं ” ॥ १ ॥
जी० ३ प्रति० ।

अच्छिप्त-अच्छिन्न-त्रि० । छिद्-कर्मणि क्त । अपृथग्भूते, स्था०
१० ग० । अस्खलिते, अनवरते च । पं० व० १ द्वा० । (छि-
न्नमच्छिन्नं चेत्यादिशिकस्य भेदद्वयं कृत्वाऽच्छिन्नस्य व्याख्या-
नम् ‘उद्देशिअ’ शब्दे द्वि० जा० ८१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

आच्छिन्न-त्रि० । आ-छिद्-क्त । बलेन गृहीते, सम्यक्-
छिन्ने च । वाच० । प्रतिनियतकालविवक्षारहिते, वृ० १ उ० ।

अच्छिप्तच्छेदण्य-अच्छिन्नच्छेदनय-पुं० । सूत्रमच्छिन्नच्छेदेने-
च्छति । नयभेदे, यथा ‘धम्मो मंगलमुक्किष्ठ’ इति श्लोकोऽर्थतो
द्वितीयादिश्लोकमपेक्षमाणः । स० २२ सम० ।

अच्छिप्तच्छेदण्य-अच्छिन्नच्छेदनयिक-न० । अच्छिप्तच्छे-
दनयवति सूत्रे, “अच्छिप्तच्छेदण्यइयाइं आजीवियसुत्तपरि-
वाडीए ” स० २२ सम० ।

अच्छिन्तण्य-अच्छिन्तनय-पुं० । नित्यवादिनि अव्याप्तिके,
विशे० । प्रव० ।

अच्छिद्-अच्छिद्-त्रि० । न छिद् तत्तत्कार्येषु प्रमादादिना
स्खलनं रन्ध्रं वा यत्र । प्रमादादिना स्खलनरहिते, “अच्छिद्दं
च भवत्येतत्सर्वेषां च शिवाय नः ” रन्ध्ररहिते, वाच० । अ-
विरले, जं० २ वक्त० “गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य पक्षां
दिक्चराणां चतुर्थे दिक्चरे, पुं० । भ० १५ श० १ उ० ।

अच्छिद्दजात्र-अच्छिद्दजात्र-न० । अविचरे, यत्किञ्चिद्वस्तु-
समूहे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अच्छिद्दजालपाणि-अच्छिद्दजालपाणि-पुं० । अच्छिद्दजालौ
विवक्षिताङ्गुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी हस्तौ यस्य स तथा ।
अविचराङ्गुलिसमुदयवद्दहस्तके, “अच्छिद्दजालपाणी पीव-
रकोमलवराङ्गुली ” इति करयोः सुलक्षणम् । औ० । प्रश्न० ।

अच्छिद्दपत्त-अच्छिद्दपत्र-त्रि० । अच्छिद्द्राणि पत्राणि यस्य सः ।
नीरन्ध्रपर्णं, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । “अच्छिद्दपत्ता अविरल-
पत्ता अचाईणपत्ता अणइइपत्ता णिणुयजरदयंरुपत्ता ” (इति
पत्रवर्णनाद् वृत्तवर्णकः) अच्छिद्द्राणि पत्राणि येषां ते अच्छि-
द्दपत्राः । किमुक्तं भवति । न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोष-
तो वा गड्ढिकादिरीतिरुपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्राण्यभ-
विष्यन्, इत्यच्छिद्दपत्राः । अथवा एवं नामान्योन्यशाखाप्र-
शाखानुप्रवेशात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागप्य-
पान्तरालरूपं छिद्रं नोपलभ्यत इति । तथा चाह-“अविरल-
पत्ताइति ” रा० । जी० । जं० ।

अच्छिद्दपमिणवागरण-अच्छिद्द्रप्रश्रव्याकरण-पुं० । अच्छिद्द्रा-
ण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्रव्याकरणानि येषां ते तथा ।
अविरलप्रश्नोत्तरेषु, निर्दूषप्रश्नोत्तरेषु च । भ० २ श० ५ उ० । औ० ।
अच्छिद्दविमलदसण-अच्छिद्दविमलदशन-पुं० स्त्री० । अच्छि-
द्द्रा विमला दशना यासां तास्तथा । अविरलस्वच्छुरदना-
याम्, जं० २ वक्त० ।

अच्छिपत्त-अक्षिपत्र-न० । अक्षिपक्ष्मणि, भ० १४ श० ८ उ० ।
अच्छिवेद्ग-अक्षिवेधक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त०
३६ अ० । जीवा० ।

अच्छिमल-अक्षिमल-पुं० । दूषिकादौ, तं० नेत्रमले, “अच्छि-
मलो दूषिकादि ” नि० चू० ३ उ० ।

अच्छिरोरुय-अक्षिरोडक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त०
३६ अ० । जी० ।

अच्छिल-अक्षिल-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त० ३६ अ० ।

अच्छिवहणं-देशी-निर्मालने, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छिविआच्छि-देशी-परस्परमाकर्षणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० । ७ त० । लोचनयोर्दुःखा-
नुभवने, उक्त० २ अ० । “योरुशानां रोगानां द्वादशोऽयम् ” उपा०-
४ अ० । ज्ञा० ।

अच्छिहृत्वा-देशी-द्वेष्ये, वेषे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छी-आच्छी-स्त्री० । अच्यनामकदेशोद्भवयां स्त्रियाम्,
प्रज्ञा० ११ पद ।

अच्छुय-अप्सुज-त्रि० । अप्सु जले तद्देहतौ अन्तरिक्षे वा जाय-
ते । जन-ड, अलुक स० । जलजाते, वाच० ।

आस्तुत-त्रि०-आच्छादिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अच्छुरण-आस्तरण-न० । प्रस्तरणे, नि० चू० १५ उ० । दांवा-
नवादिभये, यद् भूमावास्तीर्यते प्रलम्बादिवितरणाय वा यत्त-
दास्तरणम् । एतत्प्रायश्चर्ममयं जघति । साधूनामौपग्रहिकोपधा-
वन्तर्भवति । वृ० ३ उ० ।

अच्छुरिय-आच्छुरित-न० । आ-चुर-क्त । सशब्दहासे, नखा-
घाते, नखवाद्ये च । आस्तीर्णे, वृ० १ उ० ।

अच्छुल्लूढ-अच्छोल्लूढ-त्रि० । स्वस्थानं त्याजिते, वृ० १ उ० ।

अच्छेज-अच्छेद्य-न० । छेत्तुमशक्ये, स्था० ३ ग० २ उ० ।

अच्छेद-अच्छेद-न० । “जम्हा तु अञ्जोच्छिन्ती, सो कुण्ठीणा-
णचरणमादीणं । तम्हा खलु अच्छेदं, गुणप्पसिद्धं हवति णामं ”
॥ १७ ॥ गौणानुज्ञायाम्, पं० भा० ।

अच्छेरे (ग)-आश्चर्य्य-न० । आविस्मयतश्चर्य्यन्तेऽवगम्यन्ते
इत्याश्चर्याणि । आ-चर-यत् ; सकारः कारस्करादित्वात् ।
स्था० ६ ग० । प्राकृते “ह्रस्वात् थ्यश्चत्सामनिश्चये ” ८ । २ । २१ ।
इति अभागस्य ङः, तुक् च । प्रा० । भोत्तरस्याऽकारस्य वा एत्व-
म् । तत् “आश्चर्य्ये” ८ । २ । ६६ । इति एतः परस्य र्यस्य रः,
अच्छेरे । एत्वानावे “अतो रिआरिज्जरीअं” ॥ ८ । २ । ६७ ॥ इति
अकारात् परस्य र्यस्य रिअर रिज्जरीअ इत्येत आदेशाः । अ-
च्छेरिअं, अच्छरअं, अच्छरिज्जं, अच्छरीअं । प्रा० । अद्वुतेषु, “रि-
रुत्थमियसमिद्धं, भारद्वासं जिणिंदकालम्मि । बहुअच्छेरय
पुणं, उसनाओ जाव वीरजिणो” ॥ १ । दससु विवासे सेवं, दस

दस मन्हेरगाइ जायाई । उस्सपिणिप एवं , तितुमालीइ भणियाई ” ॥ १ ॥ ति० ॥

दस अच्छेरगा पसत्ता । तं जहा-“ उवमग गम्भहरणं , ज्यी नित्यं अभाविष्या परिषा । कएहसस अवरकंका , उत्तरणं चंदमूराणं ॥ १ ॥ हरिवंसकुपुपत्ती , चमरुपाओ य अट्टमयमिच्छा । असंसजएमु पूया , दस वि अणेतए कालेण ” ॥ २ ॥

उपसृज्यते क्लिप्यते व्याप्यते प्राणी धर्मादेरित्युपसर्गाः, देवादि-
कृतोपपन्नाः । ते च भगवतो महावीरस्य उग्रस्थकाक्षे कैयविका-
ले च नरामरतिर्यक्कृता अमृवन् । इदं च किल न कदाचिदूत-
पूर्वम् । तीर्थकरा हि अनुत्तरपुण्यसंभारतया नोपसर्गभाजनम्,
अपि तु सकलनरामरतिरश्चां सत्कारादिस्थानमेवेत्यनन्तकाल-
भाव्ययमयां लोकंऽद्वतोऽनृद इति । १ । तथा गर्भस्य उदरसत्त्वस्य
द्वरणमुदरान्तरसंक्रामणं गर्भहरणम् । एतदपि तीर्थकरपेक्षयाऽ-
नूतपूर्वं सङ्गवतो महावीरस्य जातम् । पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमे-
पिदेवेन देवानन्दामभिधानब्राह्मणयुदराचिशलाऽभिधानाया राज-
पत्न्या उदरसंक्रामणात् । एतदप्यनन्तकालजातित्वादाश्चर्यमेवेति २
तथा स्त्री योपित, तस्यास्तीर्थकरत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं द्वादशाङ्गं,
महो वा, स्त्रीतीर्थं हि पुरुषसिंहाः पुरुषवरगन्धहस्तिनखिनुव-
नेऽप्यव्याहतप्रनुजावाः प्रवर्तयन्ति । इह त्ववसर्पिण्यां मिथिज्ञा-
नगरोपतेः कुम्भकमहाराजस्य दुहित्वा मन्त्र्याभिधाना एकोनविं-
शतितमतीर्थकरस्थानोत्पन्ना तीर्थं प्रवर्तितवतीत्यनन्तकालजा-
तत्वादास्य तावस्याश्चर्यतेति । ३ । तथा अज्यया अयोध्या चा-
रित्रधर्मस्य, परित् तीर्थद्वारसमवसरणश्रोतृलोकः । श्रूयते हि-
भगवतो वज्रमानस्य जूम्भिकग्रामनगराद् बहिरुपग्रेकवलस्य
तदनन्तरमिन्नितचतुर्विधदेविकायविरचितसमवसरणस्य ज-
न्मिन्कुतूहलाकृष्टसमायातानेकनरामरविशिष्टतिरश्चां स्वस्वजापा-
नुसारिणाऽतिमनोहारिणा महाध्वनिना कल्पपरिपालनैव
धर्मकया बभूव, यतो न केनापि तत्र विरतिः प्रतिपन्ना, न चैतत्
तीर्थकृतः कस्यापि भूतपूर्वमिति दमाश्चर्यमिति ॥ ४ ॥ तथा
कृष्णस्य तवमवासुदेवस्य ‘अपरकङ्का’ राजधानी गतिविषया
जातेन्यप्यजातपूर्वत्वादाश्चर्यम् । श्रूयते हि-पाण्डवभार्या द्रौ-
पदी धातकीस्रगमनरतक्रेत्रापरकङ्काराजधानीनिवासिना पद्म-
राजेन देवसामर्थ्येनापहृता । द्वारावतीवास्तव्यश्च कृष्णो वासु-
देवो नारदादुपवृध्धतद्यातिकरः समाराधितमुस्थिताभिधानव-
वणसमुद्राधिपतिदेवः पञ्चतिः पाण्डवैः सह द्वियोजनलक्षप्रमा-
णं जलधिमतिक्रम्य पद्मराजं रणधिमर्देन विजित्य द्रौपदीमा-
नान्तवान् । तत्र च कपिब्रह्मासुदेवो मुनिसुव्रतजिनात् कृष्णवासु-
देवागमनचार्तामुपलब्ध सवहुमानं कृष्णदर्शनाधमागतः । कृष्ण-
श्च तदा समुद्रमुल्लङ्घयति स्म । ततस्तेन पाञ्चजन्यः पुरितः ।
कृष्णनापि नैथ्यः । ततः परस्परं शङ्खशब्दध्वनमजायतेति ॥ ५ ॥
तथा भगवतो महावीरस्य चन्दनाधमचतुर्गणमाकाशान्समवसर-
णभूम्यां चन्द्रमूययोः शादवर्तविमानोपेतयोर्विभूव । इदमप्याश्च-
र्यमेवेति ॥ ६ ॥ तथा हरेः पुरुषविशेषस्य वंशः पुत्रपौत्रादिपर-
म्परा हरिवंशस्तद्वृक्षेण यत्कुलम् । तस्योत्पत्तिकुलं हननेका,
ततो हरिवंशेन विशेष्यते । एतदप्याश्चर्यमेवेति । श्रूयते हि-भर-
तक्रेत्रापेक्षया यत्तृतीयं हरिवंशव्यं मिथुनक्रेत्रं, ततः केनापि
पूर्वविरोधिना व्यन्तरसुरेण मिथुनकमेकं ततः क्रेत्रं क्रियम्, तच्च

पुण्यानुभावाद्राज्यं प्राप्तम्, ततो हरिवंशजातहरिनाम्नःपुरुषाद्यो
वंशः स तथेति ॥ ७ ॥ तथा चमरस्यासुरकुमारराजस्योत्पत्त-
नमूर्ध्वगमनं चमरोत्पातः, सोऽप्याकस्मिन्त्वादाश्चर्यमिति ।
श्रूयते हि-चमरचञ्चाराजधानीनिवासी चमरेन्द्रोऽभिनवोत्पन्नः
सन्तूर्ध्वमवधिनाऽऽश्लोकयामास । ततः स्वशीर्षोपरि सौधर्मव्यव-
स्थितशक्रं ददर्श । ततो मत्सराभ्रातः शक्रतिरस्काराहितमनि-
रिहागत्य जगवन्तं महावीरं उग्रस्थावस्थमेकरात्रिकीं प्रतिमां
प्रतिपन्नं सुसुमारनगराद्यानवर्त्तिनं सवहुमानं प्रणम्य जगवस्त्व-
त्पादपङ्कजचनं मे शरणमरिपराजितस्येति विकल्पविरचितद्यो-
ररूपो वृक्षयोजनमानशरीरः परिघरत्नप्रहरणं परितो घ्रामयन्
गजन्नास्फाटयन् देवांस्तत्रासयन्नुत्पपात् । सौधर्मावतंसकविमान-
वेदिकायां पादन्यासं कृत्वा शक्रमाक्रोशयामास । शक्रोऽपि
कोपाज्जाज्वल्यमानस्फारस्फुटिद्विशतसमाकुलं कुक्षिं तं प्रति
मुमोच । स च जयाप्रतिनिवर्त्य भगवत्पादौ शरणं प्रपदे । श-
क्रोऽप्यविधिज्ञानावगततद्व्यतिकरस्तीर्थकराशातनाभयाच्छीघ्र-
मागत्य वज्रमुपसंजहार । बभाण च-मुक्तोऽस्यहो ! जगवतः
प्रसादान्नास्ति मत्तस्ते जयमिति ॥ ८ ॥ तथाष्टभिरतीर्थकं
शतमष्टशतम्, अष्टशतं च ते सिद्धा निर्वृत्ता अष्टशत-
सिद्धाः । इदमप्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यमिति । तथा असं-
यता असंयमवन्त आरम्भपरिग्रहप्रसङ्गा अब्रह्मचारिण-
स्तेषु पूजा सत्कारोऽसंयतपूजा । सर्वदा हि किल संयता एव
पूजार्हाः, अस्यां त्ववसर्पिण्यां विपरीतं जातमित्याश्चर्यम् । १० ।
अत एवाह दशाप्येतानि अनन्तेन कालनानन्तकालात्संवृत्ता-
न्यस्यामवसर्पिण्यामिति । स्था० १० टा० ।

मे भयवं ! अत्यि केई जेण मिणमो परमगुरूणं पि अद्वय-
णिज्जं परमसरणफुर्न पयर्न पयडपयडं परमकङ्काणं कस्मि-
णकमट्टदुक्खनिट्ठवणं पवयणं अडक्केज्ज वा पडक्केज्ज वा
खंडेज्ज वा विराट्ठिज्ज वा आमाइज्ज वा से मणसा वा व-
यसा वा कायसा वा जाव एं वयसि गोयमाणं तेणं का-
क्षेणं पखित्तमाणेणं सयं दस अच्छेरगे जविंसु । तत्थेणं
अमंखेज्जे अभवे अमंखेज्जे मिच्छादिद्वे अमंखेज्जे मासा-
यणदव्वज्जिणं मासीय सट्ठत्ताए । संभेणं सकारिज्ज ते ए-
त्थए धम्मे गत्ति काऊणं वद्वे अदिट्ठकल्लाणे जइ एणं पवय-
णमव्वुवगमंति । तत्थुवगमिं रसल्लोत्ताए विमयलोत्ताए
ए छुदंतियदासेणं अणुदियेहिं जइद्वियं मगं निट्ठवं-
ति । उम्भगं च ऊमपिप्यंति सव्वे तेणं काले एं इमं
परमगुरूणं पि अलंघणिज्जं पवयणं जाव णं आमायंति ।
से भयवं ! कयरेणं तेणं कालेणं दस अच्छेरगे जविंसु । गो-
यसा ! एं इमे तेणं कालेणं दस अच्छेरगे जवन्ति । तं जहा-
नित्थयराणं उवमगा, गवत्तसंकमणे, वामा दित्थयरे, दित्थ-
यरस्म एं देसणाए अभव्वसमुद्राए णं परिषा, वंदियमवि-
माणाणं चंदाइचाणं दित्थयरमवसरणे, आगमणं वा-
सुदेवाणं, संखेज्जणीए अन्नयरणे वा रायकउदंणं परो-
परमेलावगो । इह इत्तु भारदे खेने हरिवंसकुपुपत्तीण,
चमरुपाए पगसमए णं अट्टसयमिच्छिमणं, असंजयाणं

पूया कारणे त्ति । महा० ५ अ० । कल्प० । प्रव० । पं०
व० । धर्षा णाम सत्यवाहो, तस्म य पुवे अचरेरगाणि
चउसमुदसारजूया मुत्तावल्ली, धूया । आ० म० द्वि० ।

अचरेरपेज्जिज्ज-आश्चर्यप्रेक्षणीय-त्रि० । अहो ! किमिद-
मिति कौतुकेन सौष्टवादशनीये, जी० २ प्रति० ।

अचरेरवंत-आश्चर्यवत्-त्रि० । चमत्कारवति, “ वक्तुमाश्चर्य-
वान् भवेत् ” अष्ट० ४ अष्ट० ।

अच्रोमण-आस्फोटन-न० । आ-स्फुट्-ल्युट्-पृ० । अहुत्ति-
मोदने, वाच० । वस्त्राणां रजकैरिव शिलायामास्फालने, पि० ।

अच्रोमणं-देशी-मृगयायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्रोदग-अच्छोदक-न० । स्वच्छपानीये, रा० ।

अच्रोदगपरिहृत्य-अच्छोदकप्रतिहस्त-त्रि० । स्वच्छपानीय-
परिपूर्णे, “ ताउ णं पाइओ अच्छोदगपडिहत्ताओ ” रा० ।

अजंगम-अजङ्गम-त्रि० । गमनशक्तिविकले, व्य० १ उ० । ज-
ङ्गावलपरिहीने, “ बुद्धो खलु समधिगतो, अजंगमो सो य
जंगमविसेसो ” व्य० ८ उ० ।

अजजर-अजर्जर-त्रि० । जराहते, जी० ३ प्रति० ।

अजणियकसिया-अजनिक्तकन्यिका-स्त्री० । केनचिदजनि-
तस्य प्रव्रज्यायाम्, “ उद्वायणसंबोही, पउमावती देवसहसि; वच्च
अणुबंधो मणको; कन्नाए अंजणिओ तु केणइ वि पुत्तो जाय त्ति;
जो तूसो होति अजणियकन्नी तु णिवति-सुतात्ति दोन्नि वि निस्संताइं
तु भातुभंभाइं । अन्नदा रायसुओ तु णिसाए होयप्पणो कुणति
ठड्डहामि पमाते चलणाहो कातुं कालपमियरत्ती पोगलभेदागमण ।
अह णिवतिपसु बाव्हेसु वो-सरिया, ते तस्स य सिरोरुहा तंमि चेव ठाणमि ।
तत्थ य पवत्तिणीए य अहागता गामं गंतुमणा । अह तीए रायडुडिया न वं-
दितुं संपदेसे । अह तम्मि उवचिदुणवरित्तीए पमात्तुगं सह समो-
गाढं तज्जाए सह स धेत्तुं तेस्सि रज्जे सुक्कपोगलाइएहे तुज्जम्मि
सन्निवेसे । अह सुक्कं जोणि गोगाढंतो गम्भो आसूतो । अह पोहं
वंदिउं पयत्तं च सुणिया य सुविहिया हि पुष्ठा वेती तु न वि जाणे
अतिसयणाणी थेरा य पुच्छित्ता तेहिं सिट्ठा । जहावुत्तं होही
जुगप्पहापो रक्खह णं अप्पमादेणं जं मं ससूकुलेसु संव-
द्धितो गोत्तणामकतकेसीए । सा तु अजणकणी पच्चज्जा होति
णायत्वा ” पं० भा० । पं० चू० ।

अजमेरु-अजमेरु-पुं० । प्रियग्रन्थसुरप्रतिष्ठाधिष्ठानसुभटपाद्वज्र-
पालपाक्षितद्वर्षपुरनिकटस्थे ‘ अजमेर ’ इतीदानीं प्रसिद्धे नगर-
जेदे, कल्प० ।

अजय-अयत-पुं० । न विद्यते यत् यतिर्यस्येति सर्वसावद्यविर-
तिहीने, कर्म० ४ कर्म । गृहस्थकलषे साधौ, ग० १ अधि० ।
अविरतसम्यग्दृष्टौ, कल्प० । कर्म० ८० । अयलवति च, श्रौ० ।
यतनाभावे, न० । “ अजयं चरमाणो य प्राणजूयाइ हिंसइ ”
अयतमनुपदेशं न सूत्राज्ञयेति क्रियाविशेषणमेतत्, चरन्
गच्छन् । दश० ४ अ० ।

अजयचउ-अयतचतुर-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टिनोपवृत्तिकेपु चतुर्षु
तृतीयादि-गुणस्थानवर्तिषु, “ मिच्छ अजयचउआऊ ” कर्म० ५ कर्म ।

अजयणकारि (ण्)-अयतनकारिन्-पुं० । अयतनया कार्य-

कारणि, “ अजयणकारिस्सेवं, कज्जे परद्वच्चिंगकारिस्स ”
अजयणं जो करोत्ति सो भणत्ति अजयणकारी “ णिक्कारणप-
मिसेवी, अजयणकारी व कारणे साहू ” । नि० चू० १ उ० ।

अजयणा-अयतना-स्त्री० । यतनाऽभाव इर्याद्यशोधने, “ अज-
यणाए पकुच्चंति, पाहुणगणं अवच्चन्ना ” ग० ३ अधि० ।

अजयदेव-अजयदेव-पुं० । दाउत्ततावादानामकाइ स्वेच्छनगरादा-
गच्छतां जिनप्रभसूरीणां जट्टारके राज इति प्रतिष्ठितनामदातरि
त्रयोदशशतनवाशीतितमवर्षकात्रिके नरेश्वरजेदे, ती० ४६ कदप० ।

अजयभाव-अयतजाव-त्रि० । ६ व० । असंयताध्यवसाये,
“ परस्स तं देइ सवग्गे होइ अदिगरणमजयजावस्स ” अय-
तभावस्य अयतोऽशुद्धाऽऽहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितो
भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा । पि० ।

अजयसेवि (ण्)-अयतसेविन्-त्रि० । अयतनया प्रतिसेवके,
“ वोयं गमियंमि य अजयसेविम्मि ” व्य० १ उ० ।

अजर-अजर-पुं० । नास्ति जरा यस्य । देवे, जराज्ञान्ये, त्रि० ।

वाच० । “ उम्मुक्कम्मकवया अजरा अमरा असंगया ” सि-
द्धा अजराः, वयसोऽज्ञावात् । श्रौ० । नास्ति जराऽस्याः, धृत-
कुमारीवृक्षे, तस्य जराऽभावात्तत्त्वम् । वाच० । वृद्धदारकवृक्षे,
पुं० । गृहगोधिकायाम्, स्त्री० । न विद्यते जरा यस्य तदजरम् ।
आ० म० प्र० ।

अजरामर-अजरामर-न० । जरा वयोदानि; मरणं मरः, स्वरा-
न्तत्वादच्युत्प्रत्ययः । न विद्यते जरामरौ यत्र तदजरामरम् । मोक्षे,
विशे० । ज० । तं० । ६ व० । वार्धक्यमृत्युरहिते, त्रि० “ अहोय-
राओ परितप्पमाणे, अठे सुमुदं अजरामरे व्व ” अजरामरव-
द्भावः, क्लिश्यते धनकाम्यया ” सूत्र० १ श्रु० १० अ० । “ एत्थि कोइ
जगम्मि अजरामरो ” । महा० ७ अ० । मम्मणाख्ये वणि-
ग्भेदे, पुं० । (तत्कथा ‘ मम्मण ’ शब्दे ऋष्या)

अजस-अयशस्-न० । विरोधे, न०त० । अस्माद्यायाम्, असद्वृत्त-
तया निन्दायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ग० । सर्वदिग्गामिन्याः प्र-
सिद्धरभावे, ज० ए श० ३३ उ० । अपराक्रमकृते, न्यूनत्वे च ।
“ इहेव धम्मो अजसो अकित्ती ” । दश० १ चूलि० । अवर्ण-
वाद्भाषायाम्, नि० चू० ११ उ० ।

अजसकारग-अयशःकारक-त्रि० । सर्वदिग्गामिन्याः प्रसिद्धेः
प्रतिषेधके, भ० ए श० ३३ उ० ।

अजसक्तिणाम-अयशःकीर्तिनामन्-न० । नामकर्मजेदे, य-
दुदयाद्यशःकीर्ती न भवतस्तदयशःकीर्तिनाम् । कर्म० १ कर्म० ।
यदुदयवशात्मध्यस्थजनस्याप्यप्रशस्यो भवति तदयशःकीर्ति-
नाम् । कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । आ० ।

अजसजणग-अयशोजनक-त्रि० । निन्दनीयतादिकारके, ग० २
अधि० ।

अजसबहुल-अयशोबहुल-त्रि० । अयशोऽस्माद्याऽसद्वृत्ततया
निन्दा तद्वहुलः, यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठा-
नानि विद्यन्ते तेषु तेषु कर्मसु करवरणवृद्धनादिषु अयशो-
जाजि, “ णियडिबहुले साइवहुले अजसबहुल, उस्सत्तस-
पाणघाती ” सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अजससयविसप्पमाणहिय-अयशःशतविरर्षदृश्य-त्रि० ।
न यशःशतानि अयशःशतानि, तेषु विरर्षद् विस्तारं गच्छद्

इदं मानसं यस्य स तथा, प्रवृत्तास्त्राघाविस्तृतमनस्के, " अजससयविसप्पमाणहिययाणं कइयवपणत्तीणं " (स्त्रीणां) तं ।
अजस्म-अजस्म-ना० न० त० जस्-र । अनवरते, "आमरणंतम-जस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा " पञ्चा० = वि० । प्रका-सावस्थायिनि वस्तुमात्रे, वि० । वाच० ।

अजहमुक्कोस-अजयन्योत्कृष्ट-वि० । न जघन्योत्कृष्ट स्थितिर्यस्य सः, एवं स्थितिशब्दलोपात् तथा । मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने, आ० म० द्वि० ।

अजहमुक्कोसपणसिय-अजयन्योत्कर्षप्रदेशिक-पुं० । जघन्या-श्लोकार्थाश्च जघन्योत्कर्षाः, न तथा ये तेऽजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः, ते प्रदेशाः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः । मध्यमप्रदेशानिषेधे, स्था० १ ग० १ उ० ।

अजहत्थ-अययार्य-न० । पञ्चाशादावयथावदर्थके नामभेदे, स्था० १ ग० १ उ० ।

अजाइय-अयाचिन-वि० । अयाच्छया वक्ष्ये, अदत्तादाने च । "मुमावायं बहिष्ठं च, उगहं च अजाइयं । सत्था दाणाइ हो-गंसि, तं विज्जं परिजाणिया" ॥१॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अजाणंत-अजानत-अजानान-वि० । अनवबुध्यमाने, " अजाणंता मुसंवदे " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कल्पाऽकल्पम-जानति अगीतार्थे, पुं० । वृ० ३ उ० ।

अजाणय-अङ्ग-वि० । न जानाति । ज्ञा-क । न० त० । स्वल्प-ज्ञाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । " एवं विण्णस्सिन्नंगे, अप्पला उ अजाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञानशून्ये, सूत्रे, वेदान्तिमतसिद्धाज्ञानरूपपदार्थवति च । वाच० ।

अजाणिय-अज्ञात्वा-अव्य० । अविज्ञायत्यर्थे, नि० चू० ६ उ० ।

अजाणिया-अङ्गिका-स्त्री० । न-ङ्गिका, ङ्गिकाविलङ्गणायां स-म्यक् परिज्ञानरहितायां पर्यदि, " अजाणिया जहा जा होइ पणम्महुरा मियत्रावयसीहकुक्कुमयजूया रयणमिव असंज-विया अजाणिया सा जवे परिसा " या ताप्रचूरकण्ठीरवकुर-ङ्गपोनवत्प्रकृत्या मुग्धस्वभावा असंस्यापितजात्यरत्नमिवान्तर्गु-णविशिष्टगुणसमृद्धा सुखप्रज्ञापनीया पर्यत् सा अङ्गिका । उ-क्तं च-" पगई सुइअयाणिय, मियत्रावयसीहकुक्कुमयजूया । रयणमिव असंजविया, सुहसगण्णयागुणसमिद्धा " ॥ १ ॥ न० ।
अजानू-अङ्गा-स्त्री० । अङ्गस्य हिंसादेहेतुस्वरूपफलाविदुषो ज्ञा-नाद् व्यावृत्तौ, स्था० २ ग० ४ उ० ।

अजाप-अजान-वि० । न० त० । अनिष्पन्ने, श्रुतसम्पदनुपेतत-याऽब्रह्मन्मन्त्राभे सार्था, तद्व्यतिरेकाकल्पभेदे च । पुं० । "गीयथ जायकणो, अगिओ खलु भवे अजाओ अ" अगीतः स्वव्यगीतार्थगुणं विहारः पुनर्भवेदजानोऽज्ञातकल्पः, अव्यक्तत्वे-न ज्ञातव्यत्वात् । थ० ३ अवि० । पञ्चा० ।

अजायकप्पिय-अजानकल्पित-पुं० । अगीतार्थे, "पगविहारो अजायकप्पियो जो भवे उवगकप्पे" ग० १ अधि० ।

अजिअ-अजित-वि० । न० त० । अपराजिते, "अजिये महत्थं" (जिनाबाम्) अजितामशेषपरप्रवचनाज्ञानिपरजिताम्, दर्श० । आच० । जिघातोद्भिकर्मकत्वादिनिर्जितशब्दो, अ-पराजितदेशादौ चास्य प्रवृत्तिः, एकस्य कर्मणोऽविवक्षाया-मन्यस्य विवक्षायां, तथैव कर्मणि कः । भूरिप्रयोगस्तु-अनिर्जित-

शत्रावेव । तथा च 'गौणे कर्मणि दुहादेः' इत्युक्तेः, गौणकर्मण एवाजिघाननियमात् तस्यैव जयकर्मतायां केनाऽभिधातुं योग्य-त्वम्, न च नास्त्येयामजितो देश इत्यादौ गौणकर्मणोऽविवक्त-यैव जयप्राप्तदेशादौ जितशब्दप्रयोगात् ततो न असमास इति नेदः । रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च । वाच० । परीषदादिभिरनिर्जितो गर्भस्थे भगवति जननीयूते राज्ञा न जित इत्यजितः । थ० २ अधि० । अवसर्पिण्या द्वितीये तीर्थक-रे, "अक्खेसु जेण अजिया, जणणी अजितो जिणे तम्हा" अक्के-पु अङ्गविषयेण कारणेन भगवतो जननी अजिता गर्भस्थे भग-वत्यभूतस्मादजितो जितः । अत्र वृद्धसंप्रदायः-"जगवतो अ-म्मापियरो जूयं रमंति, पढमं राया जिणिया इतो जाहे भयवं आयाओ ताहे देवी जिणाइओ राया ततो अक्खेसु कुमारप्रभावात् देवी अजिय ति, अजियो से नामं कयं" । आ० म० द्वि० आ० चू० । थ० स० कल्प० । (अन्तरायुरादिकमस्य 'तिथ्यर' शब्दे वक्ष्यते) भाविनि द्वितीये बलदेवे, ती० २१ कल्प० । श्रीसुवि-धिजिनस्य यक्के च । स च श्वेतवर्णः कर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातु-त्रिङ्गलसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुन्तकलितवामपाणि-द्वयश्च । प्रथ० २७ द्वा० ।

अजिअदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, विजयसिंहस्य गुरौ, "जातौ तस्य (गुरुचन्द्रस्य) विनयौ, सूरियशोभदनेमि-चन्द्राहौ । ताभ्यां मुनीन्द्रचन्द्रः श्रीमुनिचन्द्रो गुरुः सम-चूत ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसुरिः प्राच्यस्तस्माद्भूत शिष्य-वरः । वादीति देवसूरिद्वितीयशिष्यस्तदीयोऽभूत् ॥ २ ॥ तत्राऽऽदिमाद् वभासे गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपासिंहः" । ग० ३ अधि० । अन्योऽप्येतन्नामा (वि० सं० १२७३ वर्षे) आसीत् । स च भानुप्रभसूरेः शिष्यः, योगविधिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता । जै० ६० ।

अजिअपभ-अजितप्रभ-पुं० । स्वनामख्याते गणिनि । स च (वि० सं० १२८२ वर्षे) गुर्जरधरिण्यां विद्यापुर (बीजापुर) प्रान्ते व्यवर्षा-त्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामानं ग्रन्थं च व्यरीरचत् । जै० ६० ।

अजिअवला-अजितवला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याम्, सा च गौरवर्णा लोहासनाधिरूढा चतुर्भुजा वरदपाशकाधि-ष्टितदक्षिणकरद्वया बीजापुरकाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । प्रथ० २७ द्वा० ।

अजिअसंह-अजितासिंह-पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्जलगच्छीये सुरौ, स च (वि० सं० १२८३ वर्षे) जिनदेवेन पित्रा जिनदेव्यां नाम मातरि जन्म ब्रह्मा सिंहप्रजसूरिपादमूले प्रवव्राज, देवे-न्द्रसिंहनामानं च शिष्यं प्राव्राजयत् । जै० ६० ।

अजिअसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपे जारतवर्षेऽतीताया-मुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुवकरे, स्था० १० ग० । कौशाम्ब्या अधिपतौ धारणीवल्लभे नृपतिभेदे, " कौशाम्बीत्यस्ति पूतत्रा-जितसेनो महीपतिः । धारणीन्याभिधा देवी, तत्र धर्मवसुगुरुः " ॥१॥ आ० क० । आच० । आ० चू० । (तत्कथा 'अण्णाय' शब्दे वक्ष्यते) श्रावस्तीनगरीं समवसृत् यशोभङ्गायाः कीर्तिमन्या म-हत्तरिकायाः प्रव्राजकं आचार्यनेदे, ('अलोह' शब्दे कथा द्रष्ट-व्या) आ० चू० । आच० । दर्श० । अजितसेनो नाम अतयदेवसूरि-शिष्यः राजगच्छीयवाद्महर्षिवनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता, यन्समये (वि० सं० १२१३ वर्षे) अञ्जलगच्छुः समजनि । जै० ६० । आ० क० । महिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानाम्न्यां आर्यायामुत्पन्ने पुत्रे, स चाऽरिष्टनेमेरुस्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जे सिद्धः । अन्त० ४ वर्ग ।

अजिआ-अजिता-स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दनजिनस्य प्रवर्तिन्याम्, “अजिण्दणस्स अजिआ, कासवी सुमती-जिण्दस्स” ति० ।

अजिइंदिय-अजितेन्द्रिय-त्रि० । न जितानि धोत्रादीनिन्द्रियाणि येन स तथा । इन्द्रियावशे, “अजिइंदियसोवहिया, वहगा जइ ते णाम पुज्जति” दश० नि० १ अ० । असर्वज्ञत्वे, स्था० ५ डा० ।

अजिण-अजिन-न० । अजति क्षिपति रज आदि आवरणेन । अज-इनच्, न व्यादेशः । वाच० । मृगादिचर्मणि, उक्त० ५ अ० । आचा० । सूत्र० । चर्मधारित्वे, “चीराजिणं नगिणिणं, जडीसंघाडिमंडिणं” उक्त० ५ अ० । न जिनोऽजिनः । न० त० । अवीतरागे, भ० १५ श० १ उ० । असर्वज्ञे, पुं० । “अजिणा जिणसंकासा जिणाइ वाऽवितहं वागरेमाणा” । औ० । कल्प० । स्था० ।

अजिण-अजीर्ण-न० । अजरणे परिपाकमनागते, त्रि० । अजीर्णेऽभोजनम् । एतदपि गृहिभिर्धर्मोऽयमस्माकमिति बुद्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णेऽजरणे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णे परिपाकमनागते पूर्वभोजनेऽर्धजीर्णे इत्यर्थः । अभोजनं भोजनत्यागः । अजीर्णभोजने हि सर्वरोगमूलस्य वृद्धिरेव कृता भवति । यदाह-“अजीर्णप्रभवा रोगाः” इति । तत्राजीर्णे चतुर्विधम्-“आमं विदग्धं विष्टग्धं, रसशेषं तथा परम् । आमे तु ङ्वगन्धित्वं, विदग्धे धूमगन्धिता ॥१॥ विष्टग्धे गात्रभङ्गोऽत्र, रसशेषे तु जाम्वता” ङ्वगन्धित्वमिति । द्रवस्य गूथस्य कुथिततक्रादिरिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वमिति । “मलवातयोर्विगन्धो, विरूजेदो गात्रगौरवमरौच्यम् । अविशुद्धश्चोद्गारः, पडजीर्णव्यक्लिङ्गानि” ॥१॥ “मूर्च्छां प्रलापो वमथुः, प्रसेकः सदनं भ्रमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं वाऽप्यजीर्णतः” ॥१॥ प्रसेक इत्यधिकनिष्ठोचनप्रवृत्तिः, सदनमित्यङ्गलानिरिति । ध० १ अधि० । “जिघ्राजिषे अभोयणं बहुसो” जीर्णाजीर्णे च भोजने बहुशः, एष आयुष उपक्रमः । अस्माद् प्रियन्ते प्राणिन इत्यर्थः । आच० १ अ० । जी० । एतत्प्रतीकारो यथा-“भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का, स्निग्धस्य जन्तोर्वलिनोऽन्नकाले । पूर्वं स शुण्ठीमभयामशङ्कः, संप्राश्य भुञ्जीत हितं हि पथ्यम्” ॥१॥ इति चक्रः । “अजीर्णे भोजने वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम्” इति वैद्यके । कत्तरि क्तः । जीर्णे-वृद्धः, तदभिधे, त्रि० । वाच० ।

अजिम्मकंतणयणा-अजिह्वकान्तनयना-स्त्री० । अजिह्वेऽमन्दे भद्रभावतया निर्विकारचपलः इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां तास्तथा । सुभगत्वयतत्व सहजचपलत्वभाजनलोचनासु, “अजिम्मकंतणयणा पत्तलध्वलायतत्रायतंवल्लोअणाओ” ज० २ वत्त० ।

अजिय-अजित-त्रि० । अपराजिते, (‘अजिअ’ शब्देऽस्य विस्तरः) अजियदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, (निरूपणमस्य ‘अजिअदेव’ शब्दे)

अजिगप्पज-अजितप्रज-पुं० । स्वनामख्याते गणिनि, (विशेषोऽस्य ‘अजिअप्पभ’ शब्दे)

अजियवला-अजितवला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याम्, (‘अजिअवला’ शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह-अजितमिह-पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्जलगच्छीये सूरौ, (‘अजिअसीह’ शब्देऽत्र ङप्रत्ययः)

अजियसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपस्थचतुर्थे कुलकरे, (स्पष्टोऽयं ‘अजिअसेण’ शब्दे)

अजिया-अजिता-स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दनजिनस्य प्रवर्तिन्याम्, (अस्मिन् विषये ‘अजिआ’ शब्दो द्रष्टव्यः) अजीर-अजीर्ण-न० । आहारस्याऽजरणे, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । व्य० १ उ० । ज० । ज्ञा० । वि० । उपा० ।

अजीव-अजीव-पुं० । न जीवा अजीवाः । जीवविपरीतस्वरूपेषु धर्माधर्माकाशपुञ्जलास्तिकायाद्वासमयेषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च चतुर्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः, यदा पुञ्जलद्रव्यमजीवरूपं सकलगुणपर्यायविकलतया कल्प्यते, तदा तद्वतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य पुञ्जलस्वरूपस्य दशविधपरिणामोऽजीव इति प्रक्रमः । ततः शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः । तथाच संप्रदायः-शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः शुभाश्चाशुभाश्चेति । उक्त० ३५ अ० ।

एतेषां द्रव्यतः क्षेत्रतः कावतो भावतश्च व्याख्या—

रुविणो य अरूवी य, अजीवा दुविहा जवे ।

अरूवी दसहा वुत्ता, रुविणो वि चउव्विहा ॥ ४ ॥

अजीवा द्विविधा भवेयुः, एके अजीवा रूपिणो रूपवन्तः, च पुनरन्ये अजीवा अरूपिणोऽरूपवन्तः । तत्र रूपं स्पर्शाद्याश्रय-भूतं मूर्तं तदस्ति येषु ते रूपिणः, तद्वतिरिक्ता अरूपिण इत्यर्थः । तत्रारूपिणोऽजीवा दशधा उक्ताः, रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधत्वमाह—

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।

अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।

अप्पासमयए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरूपी अजीव एवं दशधा भवेदिति द्वितीयगाथायामन्वयः । प्रथमं धर्मास्तिकायः-धरति जीवपुञ्जद्वौ प्रतिगमनोपकारिणो निधर्मस्तस्याऽस्तयः प्रदेशसद्भावास्तेषां कायः समूहो धर्मास्तिकायः, सर्वदेशानुगतसमानपरिणतिमद् द्रव्यमिति भावः ॥ १ ॥ पुनस्तद्देशस्य धर्मास्तिकायस्य कतमो विभागो देश-स्तृतीयचतुर्थादिनागस्तद्देशो धर्मास्तिकायदेशः ॥ २ ॥ तथा पुनस्तत्प्रदेशस्तस्य धर्मास्तिकायविभागस्य अतिसूक्ष्मो निरंशोऽंशः प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशस्तर्थाकाराख्यातः कथितः ॥ ३ ॥ एवमधर्मो जीवपुञ्जलोः स्थिरकारी धर्मास्तिकायाद्विरुद्धोऽधर्मास्तिकायः ॥ ४ ॥ पुनस्तस्य अधर्मास्तिकायस्यापि देशस्तद्देश एकः कश्चिद्भागोऽधर्मास्तिकायदेशः ॥ ५ ॥ एवं पुनस्तस्याधर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽंशस्तत्प्रदेश आख्यातोऽधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यनेन परं जेदा अरूपिणोऽजीवद्रव्यस्य । अथ शेषाश्चत्वार उच्यन्ते-आकाश इति सप्तमो भेदः । आकाशमाकाशास्तिकायः, जीवपुञ्जलो-रवकाशदायि आकाशम् ॥ ७ ॥ तस्याऽऽकाशस्य देशः कतमो विभाग आकाशास्तिकायदेशः ॥ ८ ॥ तस्य आकाशास्तिकाय-

स्य निरंशो देशस्तत्प्रदेशः साकाशास्तिकायप्रदेशः ॥ ६ ॥
दशमो भेदश्चाष्टासमयः अष्टा कात्रो वर्त्तमानलक्षणस्तद्रूपः
समयोऽष्टासमयः अस्यैव एव त्रेदो निर्विभागात्वात् । देशप्रदे-
शावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अरुपिणो
ज्ञेयाः ॥ ६ ॥

एतान् अरुपिणः क्षेत्रत आह--

धर्माधर्मं य दो एए, लोमिता वियाहिया ।

लोमालोमं य आगामे, समए समयखित्ति ॥ ७ ॥

धर्माधर्मौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोक-
मात्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणा लोकास्तावत्परिमाणौ धर्मा-
स्तिकायाधर्मास्तिकायौ । चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्तावित्यने-
नालोके धर्माधर्मौ न स्तः । आकाशं लोकाद्योके वर्त्तते इत्यनेना-
ऽऽकाशास्तिकायः चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्य स्थितः, ततो
बहिर्लोकमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः । स-
मयः समयदिकः कात्रः समयक्षेत्रिको व्याख्यातः । समयोप-
पन्नं क्षेत्रं सार्द्धद्वयद्वीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्रं, तत्र भवः
समयक्षेत्रिकः । सार्द्धद्वयद्वीपेभ्यो बहिस्तु समय आवल्लिका-
दिवसमासादिकालत्रेदो मनुष्यलोकाभावाच्च विवक्षितः ॥ ७ ॥

पुनरेतावेव कालत आह--

धर्माधर्मागामा ति-त्रि वि एए अणाइया ।

अपज्जवमिया चेव, सव्वच्छं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

धर्माधर्माकाशानि एतानि त्रीण्यपि सर्वार्थे इति सर्वकात्रं
सर्वदा स्वस्वरूपापरित्यागेन नित्यानि अनादीनि च पुनरपर्य-
वसितानि अन्तर्हितानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह--

समए वि संतं पप्प, एवमेव वियाहिया ।

आएसं पप्प सार्हए, सपज्जवसिए वि य ॥

समयोऽपि कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्माधर्माकाशानि अना-
द्यनन्तानि; तथा कालोऽपि अनाद्यनन्त इत्यर्थः । किं कृत्वा ?
सन्नतिं प्राप्य, अपरापरोत्पत्तिरूपप्रवाहात्मिकामाश्रित्य,
कोऽर्थः?, यदा हि कालस्योत्पत्तिर्विलोक्ष्यते तदा कालस्याऽऽ-
दिरपि नास्ति, अन्तोऽपि नास्तीत्यर्थः । पुनरादेशं प्राप्य का-
र्यारम्भमाश्रित्य कालः सादिक आदिसहितः, तथा सपर्यव-
सितोऽवसानसहितो व्याख्यातः । यदा च यत् किञ्चित् कार्यं
यस्मिन् काल आरभ्यते तदा तत्कार्यारम्भवशात् कालस्या-
प्युपाधिवशादादिः, एवं कार्यारम्भसमाप्तौ कालस्याऽप्यन्तो
व्याख्यात इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ रुपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदा उच्यन्ते--

खंधा य खंधेसा य, तप्पएमा तहेव य ।

परमाणवो य दोधवा, रुपिणो वि चउच्चिहा ॥ १० ॥

रुपिणोऽप्यजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्प्रकाराः । के ते भेदास्तामाह-
स्कन्धाः--यत्र पुत्रे परमाणवो विचट्टनाद् मिलनाच्च न्यूना-
अधिका अपि भवन्ति, एतादृशाः परमाणुपुञ्जाः स्कन्धाः १,
स्कन्धदेशाः २, तथा तत्प्रदेशाः तेषां स्कन्धानां निर्विभागा
अंशाः स्कन्धप्रदेशाः ३; तथैवेति पूर्ववत्; च पुनः परमाणवो
बोद्धव्याः, परमाणव एव परस्परममिलिता इत्यर्थः । ४। एवं
चत्वारो रुपिणश्चतुर्विधा बोद्धव्या इति भावः । अत्र च मु-

ख्यवृत्त्या परमाणुद्रव्यस्य द्वौ भेदौ-परमाणवः स्कन्धाश्च । दे-
शप्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणूनां लक्षणमाह-

एगत्तेण पटुत्तेण, खंधा य परमाणुओ ।

लोएगदेशे लोए य, भइवा ते उ खित्तओ ॥

इतो कावविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउच्चिहं ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः पृथक्त्वेन
लोकैकदेशे च पुनर्लोकै क्षेत्रतो भङ्गव्याः । तत्र केचित् स्कन्धाः
परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणतिरूपेण लक्ष्यन्ते । अथ च
स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणवन्तरैरसङ्घातरूपेण
लक्ष्यन्ते इत्यध्याहारः । इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम् । अथ च
क्षेत्रत आह-ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति तत्स्कन्धपरमाणूनां
ग्रहणेऽपि परमाणूनामेकप्रदेशावस्थानत्वात् ते परमाणवः
स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र भङ्गव्या भजनीया दर्शनीया
इति यावत् । ते हि विचित्रत्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे तिष्ठन्ति ।
इतः क्षेत्रप्ररूपणतोऽनन्तरं तेषां स्कन्धानां परमाणूनां चतु-
र्विधं कालभेदं वदये, साद्यनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदेन
कथयिष्यामि । इदं च सूत्रं पट्पादं गाथेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।

ठिई परुच्च सार्हया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्नतिमपरापरोत्पत्तिप्रवाहरूपं
प्राप्याऽनादय आदिरहितास्तथाऽपर्यवसिता अन्तरहिताः
स्थितिं प्रतीत्य क्षेत्रावस्थानरूपं स्थितिमङ्गीकृत्य सादिकाः,
सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वेऽपि कियत्कालमेयां स्थितिरित्याह-

अमंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।

अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणूनां चोत्कृष्टाऽसंख्यकालं स्थितिः जघ-
न्यिका एकसमया स्थितिः । एषाऽजीवानां रुपिणां पुद्गलानां
स्थितिव्याख्याता ॥ १३ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर्गतमन्तरमाह-

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।

अजीवाण य रूवीणं, अंतरे यं वियाहिया ॥ १४ ॥

अजीवानां रुपिणां पुद्गलानां स्कन्धदेशप्रदेशपरमाणूनाम-
न्तरं विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्तत्क्षेत्रप्राप्तेर्व्यव-
धानमन्तरमुत्कृष्टमनन्तकालं भवति । जघन्यकमेकसमयं या-
वद्भवति । इदमन्तरं तीर्थकरैर्व्याख्यातम्-पुद्गलानां हि विव-
क्षितक्षेत्रावस्थितिः प्रच्युतानां कदाचित्समयावल्लिकादि-
संख्यातकावतो वा पक्ष्योपमादेर्यावदनन्तकालादपि तत्क्षेत्र-
त्वावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ भावतः पुद्गलानाह-

वन्नओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा ।

संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥ १५ ॥

तेषां पुद्गलानां परिणामो वर्णतो गन्धतो रसतः स्पर्शतस्तथा
संस्थानतश्च पञ्चधा प्रज्ञप्रकारो ज्ञेयः । यतो हि पूरणगलनध-
र्माणः पुद्गलास्तेषामेव परिणतिः सम्भवति । परिणमनं स्वस्व-
रूपावस्थितानां पुद्गलानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानादिरन्यथाभ-
वनं परिणामः । स पुद्गलानां पञ्चप्रकार इत्यर्थः । (उक्तं)

पुल्लानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानानां जेदान् वदये । अथ तेषां क्रमेण प्रत्येकं संख्यां वदति । तद्यथा-एकस्मिन्नेकस्मिन् पुद्ग-
लाश्रितवर्णं गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च,
एवं सर्वेऽपि विंशतिविंशतिभेदा जवन्ति । कृष्णनीलबोहित-
पीतशुक्लानां पञ्चवर्णानां प्रत्येकं २ विंशतिभेदमीदृशान् शतं
भेदा वर्णपुद्गलस्य । अथ गन्धयोर्द्वयोः पद्चत्वारिंशद्भेदाः जव-
न्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च । एवं विं-
शतिभेदाः । प्रत्येकं २ तित्कटुकपायाम्बुमधुरादिपञ्चभि-
र्जकाः सन्तः शतं जेदा जवन्ति । अथ स्पर्शभेदाः
षट्त्रिंशदधिकशतम् । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, रसाः
पञ्च, संस्थानानि पञ्च । एवं सप्तदश जेदाः । ते च खरमृदुगुरु-
लघुरूक्षस्निग्धशीतोष्णपुद्गलैरष्टाभिर्गुणितः । षट्त्रिंशदधिकं
शतं भेदा भवन्ति । प्रज्ञापनायां स्पर्शपुद्गलानां चतुरशी-
त्यधिकशतं भेदा उक्ताः सन्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च,
गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः षट्, एवं गृह्यन्ते । यतो हि यत्र खरस्पर्शः पु-
द्गलो गणयते, तत्र तदा मृदुः पुद्गलो न गणयते । यत्र स्निग्धो
गणयते, तदा तत्र रूक्षो न गणयते । परस्परविरोधिनौ हि एक-
त्र न तिष्ठतः, तस्मात् स्पर्शाः षट्, संस्थानानि पञ्च, एवं सर्वे
मिश्रितास्तनूयोविंशतिर्भवन्ति । ते त्रयोविंशतिभेदाः प्रत्येकं खर-
मृदुगुरुलघुरूक्षस्निग्धशीतोष्णाद्यष्टाभिः पुद्गलैर्गुणितः चतु-
रशीत्यधिकशतं भेदा भवन्ति । वीतरागोक्तं वचः प्रमाणम्,
येन यादृशं ज्ञातं तेन तादृशं व्याख्यातम्, तत्त्वं केवली वेद ।

अथोपसंहारेणोत्तरग्रन्थसम्बन्धमाह--

एसा अजीवविभक्ती, समासेण वियाहिया ।

एसाऽजीवविभक्तिः समासेन संक्षेपेण व्याख्याता । उक्तं ३६
अ० दश० ज० । प्रज्ञा० । जी० । आ० । आ० चू० न० । सूत्र० ।
दर्श० । स्था० । “णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सखं णिवेसए”
सूत्र० । (‘अत्थिवाय’ शब्दे व्याख्यास्यामः)

अजीवआणवणिया-अजीवाज्ञापनिका-स्त्री० । आज्ञापनिका-
जन्यः कर्मबन्धोऽप्याज्ञापनिका । अजीवविषयाऽज्ञापनिका अ-
जीवाज्ञापनिका । ‘अजीवमाज्ञापयत’ इत्यादेशनरूपाया आज्ञाप-
निक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ गा० १ उ० ।

अजीवानायनी-स्त्री० । अजीवविषया आनायनी, “अजीवमाना-
यनम् । आनायनरूपायाः क्रियाया जेदे, स्था० २ गा० १ उ० ।

अजीवआरंजिया-अजीवारम्भिका-स्त्री० । या चाजीवान्
जीवकलेवरणि पिष्टादिमयाजीवाकूर्तिश्च वस्त्रादीन् वाऽऽर-
भमाणस्य सा अजीवारम्भिका । आरम्भिक्याः क्रियाया जेदे,
स्था० २ गा० १ उ० ।

अजीवकाय-अजीवकाय-पुं० । अजीवाश्च तेऽचेतनाः कायाश्च
राशयोऽजीवकायाः । जीवविपरीतेषु धर्माधर्माकाशपुल्लेषु,
भ० ७ श० १० उ० ।

अजीवकायअसंजम-अजीवकायासंयम-पुं० । पुस्तकादीनाम-
जीवकायानां ग्रहणपरिभोगानुपरमेण तत्समाश्रितजीवविघाते,
स्था० ७ गा० ।

अजीवकायअसमारंज-अजीवकायासमारम्भ-पुं० । पुस्त-
कादीनां ग्रहणपरिभोगतस्तदाश्रितजीवानां परितोपकरणे,
स्था० ७ गा० ।

अजीवकायआरंभ-अजीवकायारम्भ-पुं० । पुस्तकादीनां ग्रह-
णपरिभोगतस्तदाश्रितजीवानामुपप्लवणे, स्था० ७ गा० ।

अजीवकायसंजम-अजीवकायसंयम-पुं० । पुस्तकादीनामजीव-
कायानां ग्रहणपरिभोगोपरमे, स्था० ७ गा० । आव० । प्रश्न० ।

अजीवकिरिया-अजीवक्रिया-स्त्री० । जीवस्य पुल्लसमुदाय-
स्य यत्कर्मैर्याप्यं तथा परिणमनं साऽजीवक्रिया । “अजीव-
किरिया डुविहा पणत्ता । तं जहा-इरियावहिया चेव, संप-
राइया चेव ” स्था० २ गा० २ उ० ।

अजीवाणिसिय-अजीवनिःश्रित-त्रि० । अजीवाश्रिते, स्था० ७ गा० ।

अजीवनिःसृत-त्रि० । अजीवेभ्यो निर्गते, स्था० ७ गा० ।

अजीवद्वयविजक्ति-अजीवद्वयविजक्ति-स्त्री० । अजीवद्वया-
णां विज्ञागरूपे विभक्तिभेदे, अजीवद्वयविजक्तिस्तु रूप्यरूपि-
द्वयजेदाद् द्विधा । तत्र रूपिद्वयविजक्तिश्चतुर्धा । तद्यथा-स्क-
न्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः, परमाणुपुल्लश्च । अरूपि-
द्वयविभक्तिर्दशधा । तद्यथा-धर्मास्तिकाया धर्मास्तिकायस्य
देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः । एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं
त्रिजेदा लुपट्या । अस्मासमयश्च दशम इति । सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अजीवदिट्टिया-अजीवदृष्टिका (जा)-स्त्री० । अजीवानां चित्र-
कर्मादीनां दर्शनार्थं गच्छतो गतिक्रियारूपे दृष्टिकायाः क्रियाया
जेदे, स्था० २ गा० १ उ० ।

अजीवदेश-अजीवदेश-पुं० । धर्माधर्मास्तिकायादिदेशेषु, भ०
१६ श० ७ उ० ।

अजीवधम्म-अजीवधर्म-पुं० । अचेतनानां मूर्तिमतां द्रव्याणां
वर्णगन्धरसस्पर्शेषु, अमूर्तिमतां द्रव्याणां धर्माधर्माकाशानां ग-
त्यादिकेषु धर्मेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अजीवपज्जव-अजीवपर्याय-पुं० । अजीवानां पर्यायेषु, प्रज्ञा०
पर्याया गुणा विशेषा धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । प्रज्ञा० ५ पद ।

अजीवपज्जवा णं जेते ! कइविहा पणत्ता ? । गोयमा !
डुविहा पणत्ता । तं जहा-रुविअजीवपज्जवा य अरु-
विअजीवपज्जवा य । अरुविअजीवपज्जवा णं जेते !
कतिविहा पणत्ता ? । गोयमा ! दमविहा पणत्ता ? ।
तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिका-
यस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे,
अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । आगासत्थिकाए, आगास-
त्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा । अद्धासमए ।
रुविअजीवपज्जवा णं जेते ! कतिविहा पणत्ता ? । गो-
यमा ! चउविहा पणत्ता । तं जहा-खंधा, खंधदेसा,
खंधपदेसा, परमाणुपोगत्ता । ते णं भंते ! किं संखेज्जा, अ-
संखेज्जा, अणंता ? । गोयमा ! नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा,

अणंता । मे वेणुदे णं जंते ! एवं बुवइ, नो संखिज्जा, नो
असंखिज्जा, अणंता ?। गोयमा ! अणंता परमाणुपोगला,
अणंता दुपपमिया खंधा, जाव अनंता दमपएमिया खंधा,
अणंता संखिज्जपदेमिया खंधा, अनंता असंखिज्जपदेमि-
या खंधा, अणंता अणंतपदेमिया खंधा, मे तेणदे णं गो-
यमा ! एवं बुवइ, ते णं नो संखेज्जा, नो असंखिज्जा, अ-
णंता । प्रज्ञा० ४ पद ।

अजीवपञ्चवणा-अजीवप्रज्ञापना-स्त्री० । अजीवानां प्रज्ञापनाऽ
जीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनाभेदे प्रज्ञा० ।

मे किंतं अजीवपणवणा ?। अजीवपणवणा उविहा
पणवणा । तं जहा-रुविअजीवपणवणा, अरुविअजी-
विपणवणा य । मे किंतं अरुविअजीवपणवणा ?। अ-
रुविअजीवपणवणा दमविहा पणवणा । तं जहा-धम्मत्थि-
काए, धम्मत्थिकायस्म देमे, धम्मत्थिकायस्म पणसा । अथ-
धम्मत्थिकाए, अथधम्मत्थिकायस्म देमे, अथधम्मत्थिकायस्म
पणसा । आगामत्थिकाए, आगामत्थिकायस्म देमे, आगा-
मत्थिकायस्म पणसा, अष्टाममए । सेत्तं अरुविअजीवप-
णवणा । मे किंतं रुविअजीवपणवणा ?। रुविअजीव-
पणवणा चउविहा पणवणा । तं जहा-खंधा, खंधदेसा,
खंधपणसा, परमाणुपोगला । ते समामओ पंचविहा प-
णवणा । तं जहा-वणपणवणा, गंधपणवणा, रसपणवणा,
फासपणवणा, संजाणपणवणा । जे वणपणवणा ते समा
मओ पंचविहा पणवणा । तं जहा-कालवणपणवणा, नी-
लवणपणवणा, लोहवणपणवणा, हासिद्वणप-
णवणा, मुक्खिद्वणपणवणा ।

अर्मापाम्थकमेपण्यासे किं प्रयोजनम् ?। उच्यते-इह धर्मास्ति-
काय इति पदं मङ्गलभूतम्, आदौ धर्मशब्दान्वितत्वात् । पदार्थप्ररू-
पणा च तन्मते प्रथमत उक्तिरावर्तते, ततो मङ्गलार्थमादौ धर्मा-
स्तिकायस्योपादानम् । धर्मास्तिकायप्रतिपक्षचूतश्चाधर्मास्तिका-
यस्तन्मदन्तरमधर्मास्तिकायस्य । द्वयोरपि चानयोरधारचू-
तनाकाशमिति तदन्तरमाकाशस्तिकायस्य । ततः पुनरजीव-
नाधर्म्यादृशसमयस्य । अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायां विवृतं भ-
वतस्तद्विचूचं तस्मादर्थयोः जीवपुङ्गवानामस्खलितप्रचारप्रवृ-
त्तौ लोकाश्लोकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः । अस्ति च श्लोकालोकव्यवस्थाः
तत्र तत्र प्रदेशे संवत्सरादृशान् । ततो यावति केवद्वयगाढौ (ध-
र्माधर्मा) तावत्प्रमाणौ लोकः, शेषस्त्वश्लोक इति सिद्धम् । उक्तं च-
“ धर्माधर्मविभुश्रवत्, सर्वेषु च जीवपुङ्गवविचारान् ।
नाश्लोकः कश्चिन्म्यात, न च सम्मतमेतदार्थोणाम् ॥ १ ॥
तस्मादसौ धर्मा-वचनादौ व्याप्य श्लोकं सर्वम् ।
एवं हि परिचिह्नतः, सिद्ध्यति लोकस्तद्विभुत्वात् ” ॥ २ ॥
तत एव लोकश्लोकव्यवस्थाद्वित् धर्माधर्मास्तिकायावित्यनयो-
रादुपपादनम् । तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिका-
यस्य, तन्प्रतिपक्षत्वात्ततोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकालोक-
व्यापिवादाकाशस्तिकायस्य, तदन्तरं लोके समयासमयके-
व्यवस्थाकारित्यादृशसमयस्य । एवमागमानुसारेणान्यदपि यु-

क्त्यनुपाति वक्तव्यमित्यत्र प्रसङ्गेन । प्रकृतोपसंहारमाह- (सेत्तं
अरुविअजीवपणवणा) सैषा अरुप्यजीवप्रज्ञापना । पुनराह वि-
नेयः- (सं किंतमित्यादि) अथ का सा रूप्यजीवप्रज्ञापना ?। सूरि-
राह-रूप्यजीवप्रज्ञापना चतुर्विधा प्रज्ञा । तथा-स्कन्धाः-स्क-
न्दन्ति दृष्यन्ति, धीयन्ते च पुष्यन्ते पुङ्गवानां विचरन्तेन चरन्तेन
वेति स्कन्धाः । पृषोदरादित्वाद् रूपनिष्पत्तिः । अत्र बहुधा
वचनं पुङ्गवस्कन्धानामानन्त्यव्यापनार्थम् । तत्रानन्त्यमनुपप-
न्नम्, आगमेऽभिधानात् । तथाचाजीवशब्दे उक्तम्-“द्वयतो णं
पुगवत्थिकाए णंता दव्वा” इत्यादि । स्कन्धदेशाः स्कन्धानामेव
स्कन्धत्वपरिणाममजहन्तो बुद्धिपरिकल्पिता छयादिप्रदेशात्म-
का विभागाः । अत्रापि बहुवचनमन्तप्रदेशिकेषु तथाविधेषु
स्कन्धेषु प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम् । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरि-
णामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा ज्ञायाः,
परमाणव इत्यर्थः, स्कन्धप्रदेशाः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशा-
नन्तत्वसम्भावनार्थम् । (परमाणुपुङ्गवा इति) परमाश्च ते अणवश्च
परमाणवो निर्विभागवच्चरूपाः, ते च ते पुङ्गवाश्च परमाणुपुङ्गवाः
स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणव इत्यर्थः । (ते समा-
सओ इत्यादि) ते स्कन्धादयो यथासम्भवं समासतः सङ्क्षेपेण
पञ्चविधाः प्रज्ञाः । तथा-वर्णपरिणता वर्णतः परिणताः, वर्ण-
भाज इत्यर्थः । एवं गन्धपरिणताः, रसपरिणताः, स्पर्शपरिण-
ताः, संस्थानपरिणताः । परिणता इत्यतीतकालनिर्देशो
वर्तमानानागतकालोपलक्षणम् । वर्तमानानागतत्वमन्तरणाती-
तत्वस्यासम्भवात् । तथाहि-यो वर्तमानत्वमतिक्रान्तः सो-
ऽतीतो भवति । वर्तमानत्वं च सोऽनुजवति योऽनागतत्वम-
तिक्रान्तवान् । उक्तञ्च-“ भवति स नामातीतो, यः प्राप्नो नाम
वर्तमानत्वम् । एष्यश्च नाम स जवति, यः प्राप्स्यति वर्तमान-
त्वम् ” ॥ १ ॥ ततो वर्णपरिणता इति वर्णरूपतया परि-
णताः परिणमन्तीति परिणमिष्यन्तीति वा द्रष्टव्यम् । एवं गन्ध-
रसपरिणता इत्याद्यपि परिभाषनीयम् । प्रज्ञा० १ पद ।

अजीवपरिणाम-अजीवपरिणाम-पुं० । ६ त० । पुङ्गवानां परि-
णामे, “दसविहे अजीवपरिणामे पणुत्ते । तं जहा-बंधणपरिणा-
मे, गड्यपरिणामे, ठाणपरिणामे, जेदवन्नरसपरिणामे, गंधपरि-
णामे, फासपरिणामे, अगदयलहुयसदपरिणामे” (बन्धनपरि-
णामादीनां व्याख्याऽन्यत्र) स्या० १० गा० ।

अजीवपाउसिया-अजीवप्राद्वेषिकी-स्त्री० । अजीवं पापाणादौ
स्खलितस्य प्रदेष्टादजीवप्राद्वेषिकी । स्या० २ गा० १ उ० ।
अजीवस्योपरि प्रदेष्टाद्याः क्रियाः, प्रदेष्टकरणमेव वा । प्राद्वेषि-
क्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ० ।

अजीवपारुचिया-अजीवप्रातीतिकी-स्त्री० । अजीवं प्रतत्य यो
गगद्वेष्टोद्भवस्तज्जो यो बन्धः सा अजीवप्रातीतिकी । प्रातीति-
क्याः क्रियाया भेदे, स्या० २ टा० १ उ० ।

अजीवपुट्टिया-अजीवपृष्टिका (जा) (स्पृष्टिका) -स्त्री० ।
अजीवं गगद्वेष्टाद्यां पृच्छतः स्पृशतो वा क्रियात्मके, पृष्टिका-
(जा) (स्पृष्टिका) याः क्रियाया जेदे, स्या० २ टा० १ उ० ।

अजीवमिरिसया-अजीवमिश्रिता-स्त्री० । सत्यमृषानेदे, यदा यदा
प्रभृतेषु मृतेषु स्तेकेषु जीवेषु एकत्र राशीकृतेषु शङ्कादिषु एवं
वदति-अहो ! महानयं मृतोऽजीवराशिरिति तदा सा अजीवमि-
श्रिता, अस्या अपि सत्यमृषान्वयम्, मृतेषु सत्यत्वात्, जीवेषु
मृषात्वात् । प्रज्ञा० ११ पद ।

अजीवरासि-अजीवराशि-पुं० । राशिभेदे, स० ।

अजीवरासी। दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-रूवी अजीवरासी,
अरूवी अजीवरासी य । से किंतं अरूवी अजीवरासी ?।
अरूवी अजीवरासी दसविहा पन्नत्ता । धम्मत्थिकाए० जाव
अप्पासमए । रूवी अजीवरासी अणेगविहा ।

तत्राजीवराशिर्द्विविधः, रूप्यरूपिभेदान् । तत्रारूप्यजीवरा-
शिर्दशधा-धर्मास्तिकायस्तद्देशस्तत्प्रदेशश्चेति । एवमधर्मास्तिका-
याकाशास्तिकायावपि वाच्यौ । एवं नव । दशमोऽद्धासमय
इति । रूप्यजीवराशिश्चतुर्धा-स्कन्धाः, देशाः, प्रदेशाः, परमाणव-
श्चेति । ते च वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानभेदतः पञ्चविधाः । सं-
योगतोऽनेकविधा इति । स० ।

अजीवविजय-अजीवविचय-पुं० न० । धर्माऽधर्माकाशका-
लपुल्लानामनन्तपर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तने, स-
म्म० ४ ख० ।

अजीववेयारणिया-अजीववैदारणिका-अजीववैक्रयणिका-
अजीववैचारणिका-अजीववैतारणिका-स्त्री०। अजीवं वि-
दारयति स्फोटयति, अजीवमसमानभागेषु विक्रीणाति, द्वैभा-
षिको विचारयति, पुरुषादिविप्रतारणवुल्लयाऽजीवं भण्यते ता-
दृशमेतदिति यत्सा तथा । अजीववैदा- (वैक्रय-) (वैचा-)
(वैता-) रणिव्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवमामन्तोवणिवाद्या-अजीवमामन्तोपनिपातिकी-स्त्री० ।
कस्यापि रथो रूपवानस्ति, न च जनो यथा यथा प्रलोकयति
प्रशंसति च, तथा तथा तत्त्वामी हृष्यतीति । रथादौ हृष्यतः
क्रियात्मके सामन्तोपनिपातिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २
ठा० १ उ० ।

अजीवसाहस्रिया-अजीवस्वाहस्तिका-स्त्री०। स्वहस्तगृही-
तेनैवाजीवेन खड्गादिनाऽजीवं मारयति सा अजीवस्वाह-
स्तिकी, स्वहस्तेनाजीवं ताडयतोऽजीवस्वाहस्तिका । स्वाह-
स्तिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवापचक्राणकिरिया-अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० ।
अजीवेषु मद्यादिषु अप्रत्याख्यानार्त्तकर्मबन्धनरूपेऽप्रत्याख्या-
नक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवाभिगम-अजीवाजिगम-पुं० । ६त०। गुणप्रत्ययावध्या-
दिप्रत्यक्षतः पुल्लास्तिकायाभिगमे, स्था० ३ ठा० २ उ० । “से
किंतं अजीवाभिगमे ?। अजीवाजिगमे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-
रूविअजीवाभिगमे य, अरूविअजीवाभिगमे य । से किंतं अरू-
विअजीवाभिगमे ?। अरूविअजीवाभिगमे दसविहे पन्नत्ते । तं
जहा-धम्मत्थिकाए एवं जहा पन्नवणाए जाव । सेत्तं अरूवि-
अजीवाभिगमे० ” । जी० १ प्रति० ।

अजीवुभव-अजीवोदज्जव-त्रि०। अजीवप्रभवे, दश० १ अ०।
अजु-अयु-त्रि०। युक्तमिश्रणे इत्ययं परैरमिश्रणे चेत्यर्थेऽभिधी-
यते । अतो यौति पृथग्भवति इति यु-विचि, छान्दसत्वाद्
गुणाभावः । न युरयुः । अपृथग्भूते, “ धियोऽयो नः प्रचोद-
यात् ” जैनगायत्री ।

अजुअन्नवणा-देशी-अम्लिकावृक्षे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुअन्नवणो-देशी-सप्तच्छदनामके वृक्षविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुओ-देशी-सप्तच्छदवृक्षविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुगल्लिअ-अयुगल्लित-त्रि०। असमश्रेणिस्थे, “अजुगल्लिआ,
अतुरंता, विगहरहिआ वयंति पढमं तु ” ध० ५ अधि० ।
पं० व० । ओ० ।

अजुल्लदेव-अजीर्णदेव-पुं० । अज्जावुदीनाऽऽगमनसमयात्प्रा-
ग्भाविनि जैननरेन्द्रभेदे, ती० २७ कल्प० ।

अजुत्त-अयुक्त-त्रि० । युज-क्त । न० त० । विषयान्तरासक्त-
या कर्तव्येष्वनवाहिते, अनुचिने, आपक्ते, असंयुक्ते, “ अयुक्तः
प्राकृतः स्तब्धः ” अयुक्तोऽनवहितः । अयोग्ये, वहिर्मुखे, युक्ति-
शून्ये, अनियोजिते च । वाच० । वृद्ध्या चिन्त्यमाने अनुपपत्ति-
क्रमे सूत्रदोषविशेषपट्टे, न० । यथा-“ तेषां कटनटभ्रष्ट-गंजानां
मदविन्नुजिः । प्रावत्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ” ॥१॥
इत्यादि । विशेष० । आ० म० द्वि० । अनु० । वृ० ।

अजुत्तरूव-अयुक्तरूप-त्रि० । न० व० । असंगतरूपे, अनुचित-
वेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अजूरण्या-अजीर्णता-(अजरण्या)-स्त्री० । शरीरजीर्णत्वाऽ-
विधाने, पा० । ध० । शरीरापचयकारिशोकानुत्पादने, “ व-
हुणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खण्याए असोयण्याए अजूर-
ण्याए ” । भ० ७ ठा० ६ उ० ।

अजोग-अयोग-पुं०। न० त० । शैलेशीकरणे, सकलयोगचाप्य-
रहिते योगे च । “ प्रीतिप्रकृतिचोसङ्गैः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।
तस्याद्योगयोगात्तेमोक्कयोगः क्रमाद् भवेत् ” ॥१॥ अष्ट० २८ अष्ट० ।
“ तत्रायोगाद्योगमुख्याद्, भवोपग्राहिकर्मणाम् । कृत्यं कृत्वा प्र-
यात्युच्चैः, परमानन्दमन्दिरम् ” ॥१॥ द्वा० २५ द्वा० “ अतस्त्वयोगो
योगानां, योगः पर उदाहृतः । मोक्षयोजनजावेन, कर्मसंन्यास-
वक्त्रणः ” ॥१॥ ल० । अद्यापारं, द्वा० २५ द्वा० । असम्भवे च । द्वा०
१० द्वा० । अप्राशस्त्ये, न० त० । ज्योतिषोक्ते तिथिवारादीनां
पट्टे योगे, “ अयोगः सिद्धियोगश्च, द्वावैतौ भवतौ यदि । अ-
योगो हन्यते तत्र, सिद्धियोगः प्रवर्तते ” ॥१॥ राजमार्तएम् । न०
व० । विधुरे, कूटे, कठिनोदये, सुश्रुतोक्ते धमनापशमनीये रोग-
ज्जेदे च । यत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णा मूत्राणि दाहश्च भवति तमयो-
गमित्याचकृते, तमाशु वमयेदिति । वाच० ।

अजोगया-अयोगता-स्त्री०। योगनिरोधोत्तरं शैलेशीकरणात्प्रा-
भवर्तमानायामवस्थायाम्, औ० “ योगनिरोहं करेइ, करेइत्ता
अजोगत्तं पाउणइ, अजोगत्तं पाउणित्ता ईसिं रहस्स० ” औ० ।
अजोगरूव-अयोगरूप-त्रि० । ६ व० । अघटमानके, “ अजोग-
रूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण य संभक्काउं ” सूत्र० २
श्रु० ६ अ० ।

अजोगि (ए)-अयोगिन्-पुं०। न सन्ति योगा यस्य । स्था० २
ठा० १ उ० । बहुव्रीहेर्मत्वर्थीय इति । यथा-सर्वधनी । सर्वध-
नादेराकृतिगणत्वात् । दर्श० । न योगीति वा योऽसावयो-
गी । स्था० २ ठा० १ उ० । निरुद्धयोगे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
शैलेश्यवस्थायाम् सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। आव०। कर्म०। कथमयो-
गित्वमसावुपगच्छतीति चेत् ? , उच्यते-स भगवान् सयो-
गिकेवब्री जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुकृष्टतो देशानां पृथकोऽपि विहृत्य
कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुदघातं करोति, यस्य वेदनी-
यादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति ।
(‘ केवलिसमुग्धाय ’ शब्दे चेतद् वक्ष्यामः) भवोपग्राहिकर्म-
क्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्याने

प्रतिपिन्सुयौगनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं बादरकाययो-
गेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम् । ततः सूक्ष्मका-
ययोगेन बादरकाययोगं, तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं
च । सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्ति शुक्रध्यानं ध्यायन्
स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि । अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्त-
रस्य तदाऽसत्त्वान् । तदुध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपू-
रणेन संकुचितदेहविभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समु-
त्सन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्रध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्व-
पञ्चाक्षरोद्विग्लमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविशति । कर्म० २ कर्म० ।

अजोगिकेवलि (ए)—अयोगिकेवलि-पुं० । अयोगी चाऽसौ
केवली च अयोगिकेवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते,
स० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्ति शुक्रध्यानं ध्यातवांश्चा-
योगिकेवली निःशेषितमलकलङ्कोऽयामशुद्धनिजस्वभाव ऊ-
र्ध्वगतिपरिणामः स्वाभाव्याग्निवातप्रदेशप्रदीप्तशिखावदूर्ध्वं
गच्छत्येकसमयनाऽऽलोकान्तात् । सम्म० ५ ख० । कर्म० । अयं
च शैलेशीकरणं चरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्ध-
नत्वादष्टमृत्तिकालेपि लिमाधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेप-
जलनलमर्यादोर्ध्वगामि नद्याविधाऽलावुवदूर्ध्वलोकान्ते गच्छ-
ति, नापरतोऽपि, मन्यस्य जलकल्पं गत्युपष्टम्भकधर्मास्ति-
कायाभावान् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत् स्वाका-
शप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशादूर्ध्वमवगाहमानो विवक्षित-
समयाच्च समयान्तरमसंपृशन् गच्छति । तदुक्तमावश्यकचू-
र्णौ—“जत्ति ए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उहुं उज्जु-
गं गच्छइ नवंकं वीयं च समयं न फुसइ ति” । दुःषमान्ध-
कारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्रगणिपूज्या
अप्याहुः—“उज्जुसेदापडिवसो, समये समयंतरं अफुसमाणो ।
एगसमयेण सिग्भइ, अह सागारोवउत्तो सो” ॥ १ ॥ कर्म० २
कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवलिगुणगण—अयोगिकेवलिगुणस्थान-न० । ६ त० ।
चतुर्दश गुणस्थाने, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयो-
गी चासौ केवली च अयोगिकेवली । तस्य गुणस्थानम-
योगिकेलिगुणस्थानम्, तस्मिन् धर्तमानः कर्मक्षपणाय
व्युपरतक्रियमनिवृत्ति ध्यानमारोहति । आह च—“स ततो
देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्न-
क्रियमनमस्कं परं ध्यानम् ॥ १ ॥ एवमसावयोगिकेवली स्थितिघाता-
दिग्रहितो यान्मुदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्रियेणानुभवन्
क्षपयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संभवन्ति तानिवेद्यमा-
नासु प्रकृतिपुस्तिवृत्तसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया
वा वेद्यमानस्तावद् याति यावद्योग्यवस्थाद्विकचरमसमयः,
तस्मिन् द्विचरमसमये देवगतिदेवानुपूर्वांशरीरपञ्चकबन्धनप-
ञ्चकसंघातपञ्चकसंस्थानयद्वाहोपाङ्गत्रयसंहननपट्टवर्णादिविश-
तिपराघातोपघातागुरुबलवृद्धासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिस्त्रि-
रास्थिरश्रुताद्युभयस्वरदुःस्वरदुर्भगप्रत्येकानादेयायशः क्रीर्ति-
निर्माणापर्याप्तकर्तृचैर्गोत्रसातामातान्यतरानुदितवेदनस्वरूपा-
णि द्विमननिमंख्यानि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्रियमुपगच्छन्ति ।
चरमसमये स्तिवृत्तसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये संक्रम्यमा-
णवान् । संक्रमश्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपो मूर्तप्रकृत्यभिन्नासु परप्रकृ-
तिषु दृश्यः—“मूर्तप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृ-
तीः” इति वचनात् । चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनायमनु-

प्यगतिमनुष्यानुपूर्वामनुष्यायुःपञ्चद्विजजातित्रससुजगादेयय—
शःक्रीर्तिपर्याप्तवादरतीर्थकराचैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां
सत्ताव्यवच्छेदः । अन्ये पुनराहुः—मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये
व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिवृत्तसंक्रमा-
भावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्त-
स्तामां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्व्यानाम्नां तु चतु-
र्णामपि क्षेत्रविपाकतया जवापान्तराद्भगतावेवोदयः, तेन भ-
वस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंजवाद्यायोग्यावस्था द्विचरम-
समये एव, मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मतेन द्विच-
रमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, चरमसमये द्वाद-
शानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारि-
समुत्थस्वजावविशेषादेरारुफलमिव भगवानपि कर्मसंबन्धनि-
मोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावाविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते गच्छ-
ति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहाव-
गाढस्तावदेव प्रदेशानुर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाश्चा-
न्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । उक्तं चाऽऽवश्यकचूर्णौ—“जत्ति-
ए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उहुं उज्जुगं गच्छइ,
नवंकं वीयं च समयं न फुसइ ति” तत्र च गतः सन् भगवान्
शाश्वतं कालमवतिष्ठते । पं० सं० १ द्वा० ।

अजोगिजदत्य—अयोगिजवस्थ-पुं० । अयोगी चासौ भवस्थ-
आयोगिभवस्थः । शैलेश्वरस्थामुपगते, न० ।

अजोगिजवस्थकेवलगाण—अयोगिजवस्थकेवलज्ञान-न० । ६-
त० । शैलेशीकरणव्यवस्थितस्य केवलज्ञाने, न० । (‘केवलज्ञाने’
शब्दे व्याख्याऽस्य दृष्ट्या)

अजोगिसंतिगा—अयोगिसत्ताका—स्त्री० । अयोगिकेवलिनि स-
त्ता यासां ता अयोगिसत्ताकाः । चतुर्दशगुणस्थानिनि लब्ध-
सत्ताकासु प्रकृतिषु, पं० सं० १ द्वा० ।

अजोग—अयोग्य—त्रि० । अनुचिते, पञ्चा० १० विध० ।

अजोगिज्यू—अयोनिज्यू—न० । विध्वस्तयोनौ प्ररोहासमर्थे, .
दश० ।

अजोगिण्य—अयोनिक—पुं० । न० ब० । सिद्धे, स्था० १३ ग० १ उ० ।

अजोसिय—अनुष्टु—त्रि० । असेविते, “जे विषयवणा अजोसिया”
सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अज्ज—अर्ज—धा० । प्रतिपत्ते । आदि०, पर०, सक०, सेट् “अर्जे-
विट्ठवः” ८ । ४ । १०८ । इति प्राकृतसूत्रेण विदवादेशाज्ञावे,
अज्जइ, अर्जति । आनर्ज । आर्जीत् । प्रा० । अज्जिज्जइ, अ-
र्ज्यते । प्रा० । अर्ज संस्कारे, चुरा०, उज्ज०, सक०, सेट् । अर्जय-
ति—ते । आर्जिजत्—त । “अनुपपन्नं पितृद्वयं, श्रमेण यदुपा-
र्जयेत्” स्मृतिः । वाच० ।

अर्जु—त्रि० । न० त० । “हो अः” ८ । १ । ८३ । इति असोपे
द्वित्वं जस्य । ज्ञानराहिते मूर्खे, प्रा० ।

अय—अव्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपातः सप्तम्यर्थे ।
उत्त० ३ अ० । सूत्र० । वर्तमानदिने, नि० चू० ए० उ० । “अजो ! अ-
ज्जमहं सफलं जीअं” प्रा० । अद्यतया वाऽधुनातनतया वर्तमान-
काल इत्यर्थः । भ० १४ श० ए० उ० । वैजारपर्वतस्याऽधःस्थे
द्वे, पुं० । भ० १ श० ५ उ० ।

अज्ज—न० । अप्यु जायते । जन-८ । ७ त० । पद्मे, सङ्के, पुं० न० ।

निचुलवृक्के, तस्य जलप्रायजवत्वात् तथात्वम् । चन्द्रे, धन्वन्तरौ च (पुं०) तयोः समुद्रजातत्वात् तथात्वम् । चन्द्रनामके कर्पूर, पुं० । जलजातमात्रे, (त्रि०) वाच० । दशार्बुदसंख्यायां, शतकोटिसंख्यायां, तत्संख्येये च (न०,) कल्प० ।

आर्य-त्रि० । ऋ-वत् । “आर्यः स्वामिवैश्ययोः” ३। १। १०३ । इति पाणिनिसूत्रात् स्वामिनि वैश्ये च वाच्ये एततोऽपवादो यत् । स्वामिनि, भ० ३ श० २ उ० ।

आर्य-त्रि० । आरात् सर्वहेयधर्मेज्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः । प्रज्ञा० १ पद । न० । आव० । पापकर्मवहिर्भूतत्वेनापापे, स्था० ४ ग० २ उ० । ज० । साधौ, कल्प० । वृ० । “अणायरियज्ज्जाणं, आस-इत् सइत् वा” दश० ६ अ० । चारिचार्दे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आर्यकर्मकारिणि अजुगुप्सितकारिणि, व्य० १ उ० । सुजने, वृ० १ उ० । आमन्त्रणे आर्यशब्दप्रयोगः “अज्जो! सामाइयं जाणा-मो” हे आर्य !, ओकारान्तता सम्बोधनप्राकृतत्वात् । भ० १ श० ६ उ० । “एस एं अज्जो कएहे वासुदेवे” अज्जो ति आमन्त्रणवचनम् । भगवान् महावीरः कित्वा साधूनामन्त्रयति-हे आर्याः ! । स्था० ६ ग० । “अज्जो ति समणे जगवं महावीरं गोयमाइसम-णे णिगंथे आमंतित्ता एवं वयासी” । स्था० ३ ग० २ उ० । मातामहे, नि० । पितामहे, ज्ञा० ८ अ० । गोत्रप्रवर्तके ऋषिभेदे, पुं० । यद्गोत्रे जीतधरः, “वंदे संमिद्धं अ-ज्जजीयधरं” शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरना-मा सूरिरासीत् । न० ।

अज्जसिवाक्षिय-आर्यर्षिपालित-पुं० स्त्री० । आर्यशान्तिश्रेणि-कस्य मातरसगोत्रस्य चतुर्थे यथापत्ये अन्तेवासिनि, कल्प० । आ-र्यर्षिपालितान्निःसृतायां शाखायाम्, स्त्री० । “धेरिंहितो अज्जसि-वाक्षियर्हितो इत्थं णं अज्जसिवाक्षिया साहा णिगया” । कल्प० ।

अज्जउत्त-आर्यपुत्र-पुं० । ६ त० । अपापकर्मवतोर्मातापित्रोः पुत्रे, स्था० ८ ग० ।

अज्जओ-देशी-सुरसगुरेदयोस्तृणजेदयोः, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जकएह-आर्यकृष्ण-पुं० । दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवचूतेर्गु-रौ, आ० म० द्वि० । उत्त० । विशेष० । आ० चू० । (‘बोमिय’ शब्दे किञ्चित् विशेषं वक्ष्यामः)

अज्जकम्म-आर्यकर्मन्-न० । आर्य हेयधर्मेज्यो नृशंसतादिज्यो दूरयातं कर्म । शिष्टजनोचिते अनुष्ठाने, “जइ तंसि भोए चइअं असतो अज्जाइं कम्माइं करेह रायं” उत्त० १३ अ० ।

अज्जकालग-आर्यकालक-पुं० । स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे श्या-मार्यापरनामके आचार्ये, न० । (‘सम्प्रवाय’ शब्देऽस्य तत्का-रित्वं द्रष्टव्यम्) आ० म० छि० । आ० चू० ।

अज्जखउरु-आर्यखपुट-पुं० । विद्यासिद्धे आचार्यभेदे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । (‘विज्जासिद्ध’ शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अज्जग-आर्यक-पुं० । पितामहे, व्य० १ उ० । ज्ञा० । आ० म० प्र० । “अज्जए पज्जए वावि वप्पुल्ल पिउ त्ति य। माउला भा-इणिज्जे त्ति पुत्तो नत्त पइत्तिय” ॥ १ ॥ दश० ७ अ० । “अज्जयपज्जयपिउपज्जयाण य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य” भ० ६ श० ३३ उ० ।

आयक-पुं० भूतृणे, नि० चू० ११ उ० ।

अज्जगंग-आर्यगङ्गा-पुं० । द्वैकियनिहवमतप्रवर्तके निहवाऽऽचार्य-भेदे, “उल्लुकातीरक्रेत्रे महागिरिशिष्यो धनशुभो नाम । अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गा नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदा-ऽऽचार्यास्त्वपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गानदीमुत्तरति स्म । स च खलवाटः । ततस्तस्योप-रिष्ठादुष्णेन दह्यते स्म खल्ली, अधस्तात् नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते स्म । ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोद-यादसौ चिन्तितवान्-अहो! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौर्ण्यं च वे-द्यि । अतोऽनुभवविरुद्धत्वाच्चेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति वि-चिन्त्य गुरुज्यो निवेदयामास । ततस्तैवद्वयमाणयुक्तिभिः प्रज्ञा-पितोऽसौ यदा स्वाग्रहप्रस्तवुद्धित्वाच्च किञ्चिदप्रतिपद्यते स्म, तदा उद्घाट्य बाह्यः कृतः स विहरन् राजगृहनगरमागतः । तत्र च महातपस्तीरप्रभवनामिन् प्रस्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गाः पर्यपुरःसरं युगपत्क्रि-याद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तम-वादीत्-अरे दुष्ट शिष्यक ! किमेवं प्रज्ञापयसि, यतोऽत्रैव प्रदे-शे समवसूतेन श्रीमद्ब्रह्मानन्दस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम्, तच्चेह स्थितेन मयाऽपि श्रुतम् । तर्हि ततोऽपि लघुतरः प्ररूपको जवान् येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति ? तत्परित्यजैनां कूटप्ररूपणाम् अन्यथा नाशयित्या-मीत्यादि । नूननयवाक्यैर्युक्तिवचनेश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति । अत्र ज्ञाप्यम्-“नइमुल्ल-गमुत्तरओ, सपरसीय जन्नमज्जगंगस्स । सूरान्नित्तसिरसो, उ-सिणवेयणोभयउ लग्गो” ॥ (अ) यमसंगाहो जुगवं, उज्जयकिरि-याय उवओगो त्ति । जं दो वि समयमेव य, सीओसिणवेयणाओ मे” ॥ २ ॥ गतार्थेव । विशेष० । (‘दोकिरिय’ शब्दे एतन्मतम्)

अज्जघोस-आर्यघोष-पुं० । पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स्था० ८ ग० । कल्प० ।

अज्जचंदणा-आर्यचन्दना-स्त्री० । भगवतो महावीरस्य प्रथम-शिष्यायाम्, कल्प० । आ० चू० । आ० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चेवम्—

“इतश्च नगरी चम्पा नरेन्द्रो दधिवाहनः ।

तामादातुं शतानीको, नौसैन्येन स्म गच्छति ॥ २४ ॥

निशेकया गतश्चम्पा-मवेष्टयद्विचिन्तिताम् ।

चम्पापतिः पत्न्यापिष्ट, तदानीं दधिवाहनः ॥ २५ ॥

यद्ग्राहो घोषितस्तत्र, शतानीकमहीभुजा ।

तदनीकभटाश्चम्पां, स्वेच्छया मुमुक्षुस्ततः ॥ २६ ॥

औष्ट्रिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवल्ग्वनाम् ।

यसुमत्या समं पुत्र्या, नश्यन्तीं धारिणीं तदा ॥ २७ ॥

कृतकृत्यः शतानीको, निजं नगरमागमत ।

औष्ट्रिकोऽप्याह लोकानां, पत्येषा मे भविष्यति ॥ २८ ॥

विक्रेष्य कन्यकां चैतां, राक्षी श्रुत्वेति दुःखिता ।

मृता हृदयसंघटात्, स्वशीलभ्रंशशङ्कया ॥ २९ ॥

दधिवाहनौष्ट्रिकोऽथा-न्तर्युक्तं नोक्तमिदं मया ।

सुताऽथ रुदती तेन, नीता संबोध्य चादुभिः ॥ ३० ॥

चतुष्पथेऽथ विक्रेतुं, दत्त्वा मूर्ध्नि तृणं धृताम् ।

कन्यामनन्यसामान्यां, दृष्ट्वा श्रेष्ठी धनावहः ॥ ३१ ॥

दधौ राक्षः सुता कस्या-पीश्वरस्याथवा जवेत् ।

तन्माऽऽपदापन्नसौ, कापि हीनकुलं गता ॥ ३२ ॥
 बाण्यं स्वजनैर्जातु, मिलेदस्मद्गृहे स्थिता ।
 पत्यर्थितमथ ज्ञयं, दत्त्वा तामग्रहीकृतः ॥ ३३ ॥
 नान्वा सा स्वगृहे पृष्टा, कथं ! काऽस्मीति नावदत् ।
 तृतेत्यथ प्रपन्ना सा, श्रेष्ठिना मूलयाऽपि च ॥ ३४ ॥
 विखेत्त स्वच्छया श्रेष्ठि-गृहे स्वे वंदमनीव सा ।
 सुवाग्विनयशीलाय-गृहलोको वशीकृतः ॥ ३५ ॥
 स लोकस्तां ततोऽवादीत्, तैर्गुणैश्चन्दनेत्यसौ ।
 ततोऽपितीयमन्यन्तान्माऽऽदृष्टिर्ध्वविश्रुतम् ॥ ३६ ॥
 प्राप्तेऽन्यदा मध्यमाह्ने, श्रेष्ठी मन्दिरमागमत् ।
 कोऽप्यङ्घ्रिजात्रको नासीत्, तदाऽर्द्धाकिष्ट चन्दना ॥ ३७ ॥
 श्रेष्ठिना वार्यमाणाऽपि, वज्रादङ्घ्रिजात्रयत् पदै ।
 जात्रयन्त्यास्तदा तस्याः, वृष्टिता केशवल्ली ॥ ३८ ॥
 पतन्ती पाणियपृथैव, धृत्वा श्रेष्ठी वयस्य ताम् ।
 सार्द्धायां मा पतेद् भूमौ, मूलैकत गवाकृगा ॥ ३९ ॥
 अन्वितयत्ततो मूला, मया कार्यं विनाशितम् ।
 यद्येतामुद्धरेत् श्रेष्ठी, तदाऽहं पतिता बहिः ॥ ४० ॥
 व्याधिर्यावन्मुकुमार-स्तावदेतं त्रिनक्षत्रम् ।
 गते श्रेष्ठि-न्याऽऽदृष्ट्य, नापितं ताममुगडयत् ॥ ४१ ॥
 निगमैर्यत्रयित्वाऽऽदृष्टी, कृता कापि गृहान्तरे ।
 श्रेष्ठिनोऽचारिकथयन्, सर्वेः परिजनोऽनया ॥ ४२ ॥
 मूला मूलगृहे ऽयामाद, भोक्तुं श्रेष्ठी गृहाऽऽगतः ।
 क्व चन्दनेति पप्रच्छ, मृगार्थतो न कोऽप्यवक् ॥ ४३ ॥
 सोऽङ्घ्रिजात्रमागमा सा, भविष्यत्यथोपरि ।
 पृष्टा निदयपि नाऽऽख्याता, ज्ञातं सुप्ता भविष्यति ॥ ४४ ॥
 द्वितीयेऽप्यहि नादर्शि, तृतीयेऽप्यनवेक्ष्य ताम् ।
 ऊचे श्रेष्ठो न यो जानन्नख्याता स हनिष्यते ॥ ४५ ॥
 ततः स्थविरया दास्यै-कया मज्जीवितेन सा ।
 जीवाभिन्याचक्षतेऽस्य, चन्दनाचारकक्रियाम् ॥ ४६ ॥
 दृष्ट्वा तावत्तं भङ्ग्या, तद्द्वारमुदघाटयत् ।
 ध्रुत्प्राप्ता निरीक्ष्येता-माध्वास्याथ धनावहः ॥ ४७ ॥
 पश्यन्, भोज्यं कृते तस्याः, नापश्यत् किंचनपि सः ।
 कुलमायान् वीक्ष्य दत्त्वाऽऽस्यै, सूर्पकोणे निधाय तान् ॥ ४८ ॥
 निगडानां भञ्जनाया-ऽगात्कर्मारगृहे स्वयम् ।
 तदा सा कुलमस्मार्याद्, दुःखपूरेण दुःखिता ॥ ४९ ॥
 क मे राजकुलं तादृग, दुर्दशा केयमीदृशी ? ।
 किं मया प्राक् कृतं कर्म, विपाकोऽयं यतोऽभवत् ? ॥ ५० ॥
 स्वौकसि ध्यासनस्यापि, तपसः पारणादिने ।
 साधर्मिकाणां वात्सल्यं, कृत्वा पारणकं व्यधाम् ॥ ५१ ॥
 कस्याप्यदत्त्वा किमपि, पष्टं पारणकं कथम् ? ।
 अश्रमात्यतिथेर्मार्गं, पश्यन्त्याऽऽस्तेऽस्ति सा न तु ॥ ५२ ॥
 मध्येऽद्विमेकं देहल्याः, वहिष्कृत्या द्वितीयकम् ।
 द्वारशास्त्राविलम्बाऽऽस्ते, रुदती मन्दमुन्मनाः ॥ ५३ ॥
 तदाऽगाद्गवान् वीरो, भिन्नार्थं तमवेक्ष्य सा ।
 अहो ! पात्रं मया प्राप्तं, किञ्चित्पुण्यं ममास्यपि ॥ ५४ ॥
 नाचितं वः प्रभो ! देयं, परं कृत्वा कृपां मयि ।
 कल्पेन चेदादृष्ट्यं, ब्रान्याऽथावधिना प्रभुः ॥ ५५ ॥
 पूर्णोऽद्याभिग्रह इति, पाणिपात्रमधारयत् ।
 कुलमापान्मान् ददा सर्वान्, धन्यं मन्वाऽतिभक्तिः ॥ ५६ ॥
 सार्द्धादशकोट्यस्तु, पतन्त्यस्य तद्गृहे ।

चेलोत्क्षेपः पुष्पगन्ध-वृष्टयो दुन्दुभिध्वनिः ॥ ५७ ॥
 केशपाशस्तथैवाभू-न्निगडानि च पादयोः ।
 स्वर्णनूपुरतां भेजु-र्वपुःकान्तिर्नवाऽभवत् ॥ ५८ ॥
 तन्तृणाञ्चन्दना चके, सुरैः सर्वाङ्गभूषिता ।
 आययौ देवराद् शकः, प्रमोदभरनिर्भरः ॥ ५९ ॥
 दुन्दुभिध्वनिमाकर्ण्य, ज्ञात्वा पारणकं प्रभोः ।
 शतानीकः सपत्नीको-ऽप्यागमद्भनवेष्टमनि ॥ ६० ॥
 धाड्यानीतः संपुलोऽभूद्, दधिवाहनकञ्चुकी ।
 सोऽप्यागान् तत्र तां वीक्ष्य, तद्गृहोः प्रणिपत्य च ॥ ६१ ॥
 मुक्तकण्ठं रुदन् सोऽथ, कैपेत्यप्रच्छि भूभुजा ? ।
 सोऽवक् चमपेशपुत्रीयं, वसुमत्यभिधानतः ॥ ६२ ॥
 तादृश्यपि कथं प्रप्य-भावं प्राप्तेति रोदिमि ? ।
 मृगावती तदाकर्ण्य-वोचन्मेऽसौ स्वसुः सुता ॥ ६३ ॥
 अमात्योऽपि सपत्नीक-स्तत्रैत्यावन्दत प्रभुम् ।
 पञ्चाहन्त्यूनपगमास्याः, कृत्वा पारणकं प्रभुः ॥ ६४ ॥
 निर्ययौ कनकं गृह्णन्, भूपः शक्रेण वारितः ।
 यस्मै दास्यत्यसौ स्वर्ण-मेतत्तस्य भविष्यति ॥ ६५ ॥
 सा पृष्टा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठी तदाददे ।
 शक्रेणाऽभाणि राजाऽथ, स गोप्या चन्दना त्वया ॥ ६६ ॥
 आस्वामिज्ञानमेषा यत्, शिष्याऽऽद्या भाविनी प्रजोः ।
 चन्दनाऽस्थाकृहे राज्ञः, शकाद्याः स्वावयं ययुः ॥ ६७ ॥
 लोकनिन्द्याऽजवन्मूला, स्तुता चन्दनया पुनः ।
 दुर्दशैवं न चेन्मे स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ? ॥ ६८ ॥
 धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रजोः ।
 बभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥ ६९ ॥ आ० क० ।
 स्था० । अनयैव काली- (अन्त० ८ वर्ग) देवानन्दाप्रभृतयः प्रवा-
 जिताः । भ० ए श० ३३ उ० । उपालम्भे, दश० १ अ० ।
 अञ्जजं-आर्यजम्-पुं० । सुधर्मस्वामिनः शिष्ये, “ अञ्जसु-
 हम् अंतेवासी अञ्जजं जाव पञ्जुवासति ” अन्त० १ वर्ग ।
 अञ्जजस्विणी-आर्ययक्षिणी-स्त्री० । अरिष्टनेमिः प्रथमशि-
 प्यायाम्, कल्प० ।
 अञ्जमयंत-आर्यजयन्त-पुं० । आर्यवज्जसेनस्य तृतीये शि-
 प्ये, कल्प० ।
 अञ्जजयंती-आर्यजयन्ती-स्त्री० । स्थविरादार्यरथाभिर्ग-
 तायां शाखायाम्, “ थेरहितो णं अञ्जरहेहितो णं इत्थ णं अ-
 ञ्जजयंती साहा णिगया ” कल्प० । आर्यजयन्ताभिर्गतायां
 शाखायां च । “ थेराओ अञ्जजयंताओ अञ्जजयंती साहा
 णिगया ” । कल्प० ।
 अञ्जजीयध (ह) र-आर्यजीतधर-पुं० । आरात्सर्वहेयधर्मभ्यो-
 ऽर्वाग्यातमार्यधर्म, जीतमिति सूत्रमुच्यते । जीतं, स्थितिः, कल्पः,
 मर्यादा, व्यवस्था, इति हि पर्यायाः । मर्यादाकरणं च सूत्र-
 मुच्यते । ‘ धृत् धारणे ’ ध्रियते, धारयतीति वा धरः । लिहादि-
 न्य इत्यच्यप्रत्ययः । आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः । सूत्र-
 सम्पन्ने, आर्यश्चासौ जीतधरः । आर्यगोत्रे शाण्डिल्यशिष्ये
 जीतधरनामके सूरौ, “ वंदे कोसियगुप्तं, संडिल्लं अञ्जजीयधरं ”
 इत्यत्राऽऽर्यजीतधरशब्दस्य प्रदर्शितार्थद्वयपरतया व्याख्या-
 नात् । न० ।
 अञ्जण-अर्जन-न० । अर्ज-ल्युट् । ग्रहणे, विशेष० ।

आव० । सम्पादने, स्वामित्वसंपादके व्यापारभेदे च । वाच० ।
अञ्जणकृत्--आर्यनक्षत्र--पुं० । आर्यनक्षत्रस्य शिष्ये, कल्प० ।
अञ्जणदिल-आर्यनन्दिल--पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यना-
गहस्तिगुरौ,

नाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणयणिच्चकालमुज्जुत्तं ।

अज्ञानदिलखमाणं, सिरसा वंदे य संतमाणं ॥

आर्यमङ्गोरपि शिष्यमार्यनन्दिलकृपणं प्रसन्नमनसं शमरिक्त-
द्विष्टान्तःकरणं शिरसा वन्दे । कथंचूतमित्याह-ज्ञानं धृतज्ञा-
नदर्शने, सम्यक्त्वे, चशब्दाच्चारित्रे च, तथा तपसि यथायो-
गमनशनादिरूपे, विनये ज्ञानविनयादिरूपे, नित्यकालमुद्युक्तमप्र-
मादिनम् । न० । अनेनैवार्यनन्दिलेन धरणेन्द्रपत्न्या नागेन्द्राया
'नमिष्यति' शब्दादि स्तोत्रं कृतम् । जै० ३० ।

अञ्जणाइल--आर्यनागिल--पुं० । आर्यवज्रसेनस्य प्रथमेऽन्ते-
वासिनि, कल्प० ।

अञ्जणाइला--आर्यनागिला--स्त्री० । स्थविरादार्यनागिलान्नि-
र्गतायां शाखायाम्, "थेराओ अञ्जणाइलाओ अञ्जणाइला सा-
हा णिगया " कल्प० ।

अञ्जणाइली--आर्यनागिली--स्त्री० । आर्यवज्रसेनानिर्गतायां
शाखायाम्, "थेरेहिंतो अञ्जवइरसेणिणहिंतो इत्थ णं अञ्ज-
णाइली साहा णिगया " कल्प० ।

अञ्जणिता--अर्जयित्वा--अव्य० उपादायेत्यर्थे, " एतदुक्खं
भवमज्जणिता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं " सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

अञ्जतावस--आर्यतापस--पुं० । आर्यवज्रसेनस्य चतुर्थेऽन्तेवा-
सिनि, कल्प० ।

अञ्जतावसी--आर्यतापसी--स्त्री० । आर्यतापसान्निःसृतायां
शाखायाम्, "थेराओ अञ्जतावसाओ अञ्जतावसी साहा णि-
गया " कल्प० ।

अञ्जता--अद्यता--स्त्री० । वर्त्तमानकालतायाम्, " अञ्जका-
लिना अञ्जत्ता वा " कल्प० ।

आर्यता--स्त्री० । पापकर्मबाहिर्भूततायाम्, " जे इमे अञ्जताए
समणा णिग्गंथा विहरंति " अष्ट० २ अष्ट० कल्प० । भ० ।

अञ्जयूत्रभट्ट--आर्यसूत्रभट्ट--पुं० । आर्यसंचूतविजयस्य शि-
ष्ये महागिरिसुहस्तिनगुरौ, कल्प० । आव० ।

अञ्जदिस्स--आर्यदत्त--पुं० । पार्वनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।
"पासस्स अञ्जदिण्णो पढमो अछेव गणहरा " ति० । इन्द्र-
त्तस्य काश्यपगोत्रस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिश्रेणिकः सिंह-
गिरिश्च । कल्प० ।

अञ्जद्वय-आर्यार्जक-पुं० । आर्यार्जकनाम्नि वीरशिष्ये, ("अद्वय"
शब्दे कथा चास्य) सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अञ्जधम्म-आर्यधर्म-पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये जङ्गुमगुरौ, " वं-
दामि अञ्जधम्मं, तत्तो वंदेय जङ्गुस्से य" । न० । आर्यसिंहस्य
शिष्ये आर्यशारिख्यस्य गुरौ, कल्प० ।

अञ्जपत्तम-आर्यपद्म-पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अञ्जपत्तमा--आर्यपद्मा--स्त्री० । आर्यपद्माद्विनिःसृतायां शा-

खायाम्, "थेरेहिंतो अञ्जपत्तमेहिंतो इत्थ णं अञ्जपत्तमा साहा
णिगया " कल्प० ।

अञ्जपुंगुत्त-आर्यपुङ्गुत्त-पुं० । वारूपपरिभाषितेषु बाह्यार्थान्नावात्
केवलवृत्त्यात्मसु अर्थेषु, अने० ४ अधि० ।

अञ्जपूसगिरि-आर्यपुष्पगिरि-पुं० । आर्यरथस्य शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जपोमिल-आर्यपोमिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य द्वितीये शि-
ष्ये, कल्प० ।

अञ्जपोमिला-आर्यपोमिला--स्त्री० । आर्यपोमिलान्निर्गताया
शाखायाम्, "थेराओ अञ्जपोमिलाओ अञ्जपोमिला साहा णि-
गया " कल्प० ।

अञ्जप्पभव-आर्यप्रभव-पुं० । आर्यजम्बवान्नः काश्यपगोत्र-
स्य शिष्ये, कल्प० । ('प्रभव' शब्दे वक्तव्यता चास्य)

अञ्जप्पजिइ-अद्यप्रवृत्ति-अव्य० । इतो वर्त्तमानदिनादार-
भ्येत्यर्थे, " एो खलु भंत ! कप्पइ, अञ्जप्पजिइ अमउत्थियां
वा" उपा० १ अ० । प्रति० ।

अञ्जफग्गुमित्त-आर्यफलगुमित्त-पुं० । आर्यपुष्पगिरिः शिष्ये
आर्यधनगिरिगुरौ, कल्प० ।

अञ्जम (ए)--अर्यमन्-पुं० । अर्थे अष्टं मिमीते । मा-कनिन् ।
सूर्ये, आदित्यजेदे, पितृणां राजनि, वाच० । अर्यमनामके देव-
विशेषं, जं० ७ वक्त्र० । अनु० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्यार्यमा दे-
वतेति । ज्यो० ६ पाद० । अर्यमदेवोपवृत्तिके उत्तरफाल्गुनीन-
क्षत्रे, ज्यो० १५ पाद० । चं० प्र० । सू० प्र० । ग० । " दा अञ्ज-
मा " स्था० २ ग० ३ उ० ।

अञ्जमंगु-आर्यमङ्गु-पुं० । आर्यसमुद्रस्य शिष्ये,

भणगं करगं णणगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।

वंदामि अञ्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥

जणगमित्यादि । आर्यसमुद्रस्यापि शिष्यमार्यमङ्गुं वन्दे । किञ्चू-
तमित्याह-जणकं कालिकादिसूत्रार्थमनवरतं भणति प्रतिपाद-
यतीति भणः, भण एव भणकः । "कश्च" इति प्राकृतवृत्तज्ञसू-
त्रात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तम् । तथा कारकं कालिकादिसूत्रोक्तमेवो-
पधिप्रत्युपेक्षणादिरूपक्रियाकलापं करोति कारयतीति वा कार-
कः, तम् । तथा धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता, तं ध्यातारम् ।
इह यद्यपि सामान्यतः कारकमिति वचनेन ध्यातारमिति वि-
शेषणं गतार्थम्, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधानं ध्यानस्य प्रधा-
नपरत्वाकाङ्क्षाख्यापनार्थमिति । यत एव जणकं कारकं ध्यातारं
वा, अत एव प्रभावकम् । ज्ञानदर्शनगुणानाम्, एकग्रहणे तज्जाती-
यग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया
राजते इति धीरः, तम् । तथा श्रुतसागरपारगम् । न० । "तेन प्र-
मादेनातिलोभतो यत्कृत्वं नावाप्तम् " ध० २० ।

इह अञ्जमंगुसूरी, ससमयपरसमयकणयकसवट्टो ।

यहुभत्तिजुत्तसुस्सु-ससिस्ससुत्तत्थदाणपरो ॥ १ ॥

सद्धम्मदंसणाए, पम्भोहियज्जवियवोयसंदोहो ।

कइया वि विहरिणं, पत्तो महुराइ नयरीए ॥ २ ॥

सो गाढपमायपिसाय-गहियदिययो विमुक्कतवचरणो ।

गारवतिगपम्भो, सट्टसु ममत्तसंजुत्तो ॥ ३ ॥

अणवरयभत्तजणदि-ज्जमाणरुइरत्तवत्थजेण ।

वुत्थो तहिं चिय चिरं, दूरज्जियउज्जुयविहारो ॥ ४ ॥

वडासिदिलयसामन्नो, निस्सामन्नं पमायमच्चइत्ता ।
 कालेण मरिय जाओ, जक्खो तथेव निद्धमणे ॥ ४ ॥
 मुण्डिं नियनारेणं, पुच्चन्नवं तो विचित्तए एयं ।
 हा हा पावेण मए, पमायमयमत्तचित्तेण ॥ ६ ॥
 पम्पुन्नपुन्नवम्भं, दोगच्चहरं महानिहाणं व ।
 वरुं पि जिणमयमिणं, कहं नु विहवत्तमुपणीयं ? ॥ ७ ॥
 माणुस्सखित्तजार्हं-पमुह वरुं पि धम्मसामग्गि ।
 हा हा पमायमच्च, इत्तो कत्तो लहिस्सामि ? ॥ ८ ॥
 हा जीव ! पाव तइया, इद्धीरसगारवाण विरसत्तं ।
 सुत्तत्थजाणगेण वि, इयासन ह लक्खियं तइया ॥ ९ ॥
 चउदसपुच्चधरा वि हु, पमायओ जंति णंतकाएसु ।
 एयं पि ह हा हा पा-वं जीवनतए तथा सरियं ॥ १० ॥
 धिद्धी मइसुहमत्तं, धिद्धी गारवपमायपडियम्मं ।
 धिद्धी परोवएस-एवाणपंमिच्चमच्चत्तं ॥ ११ ॥
 एवं पमायपुच्चिल-सियं नियं जायपरमनिच्चेश्रो ।
 निदंते दिवसाइ, गमेइ सो गुत्तिखित्तु व्व ॥ १२ ॥
 अइ तेण पणसेणं, वियारज्जमीइ गच्छमाणा ते ।
 इच्छुण नियविणेप, तेसि पम्भोवहणनिमित्तं ॥ १३ ॥
 जक्खपम्मिमाहुआओ, दीहं निस्सारिउं त्रिओ जीहं ।
 तं च पओइय मुणिणो, आसन्नीहोउ इय विति ॥ १४ ॥
 जो कोइ इत्थ देवो, जक्खो रक्खो व किनरो वा वि ।
 सो पयमं चिय पत्तणउ, न किपि एयं वयं मुणिमो ॥ १५ ॥
 तो सविसायं जक्खो, जंपइ भो भो तवस्सिणो ! सोहं ।
 तुन्ह गुरु किरियाए, सुपमत्तो अञ्जमंगु त्ति ॥ १६ ॥
 माह्म हि वि पडिनणियं, विसन्नहियणहि हा सुयनिहाण ! ।
 किइ देव ! दुग्गइमिमं, पत्तेसि अहो ! महच्छुरियं ॥ १७ ॥
 जक्खो वि आह न इमं, वुरुं इह साहुणो महाभागा ! ।
 एस चिच्च होइ गई, पमायवससिद्धिचरणणं ॥ १८ ॥
 ओसन्नविहारीणं, इद्धीरससायगारवगुरुणं ।
 वम्मुक्कसाहुकिरिया—जराण अम्हारिसाण फुरुं ॥ १९ ॥
 इय मज्ज कुदेवत्तं, भो भो मुणिणो ! वियाणुं सम्मं ।
 जइ सुगइए कज्जं, जइ भीया कुगइगमणाओ ॥ २० ॥
 ता गयसयत्तपमाया, विहारकरणुज्जुया चरणजुत्ता ।
 गारवरहिया अममा, होह सया तिव्वतवकलिया ॥ २१ ॥
 भो भो देवाणुणिय !, सम्मं पम्भोवहिया तए अम्हे ।
 इय जंपिय ते मुणिणो, पम्भिवन्ना संजमुज्जोयं ॥ २२ ॥
 इति सूरिरार्यमहु—महुत्तफलमवभत प्रमादवशात् ।
 तद्यतयः शुनमतयः !, सदोद्यता जवत चरणजरे ॥ २३ ॥
 (इत्यार्यमहुकथा) दर्श० । ती० । आ० चू० । नि० चू० ।

अञ्जमणग—आर्यमणक—पुं० । श्रीशर्यमनवसुरिपुञ्ज ,

इदि मासेहि अदिअं, अञ्जयणमिणं तु अञ्जमणगेणं ।

उम्माया परियाओ, अह कालगओ समादीए ॥ ३९ ॥

पद्मिनीमासैरधीतं पठितमध्ययनमिदं तु अधीयत इत्यध्ययनम्,
 इदमेव दशवैकात्रिकाख्यं शास्त्रम् । केनार्धीतमित्याह—आर्यमण-
 केन त्रावाराधनयोगात्, आराद् यातः सर्वहेयधर्मैश्च इत्यर्थः ।
 आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहः । तेन परमासाः पर्याय
 इति, तस्यार्यमणकस्य परमासा एव प्रव्रज्याकालः, अ-
 व्यतीतवित्त्यान् । अत एवाह—अथ कालगतः समाधिनेति यथो-
 कशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तरं कालगतः । आगमोकेन विधिनाः

मृतः, समाधिना शुभहेयाध्यानयोगेनेति गाथार्थः । अत्र चैवं
 वृद्धवादः—यथा तेनैतावता श्रुतेनाराधितम्, एवमप्येवमेतदा-
 राधनानुष्ठानत आराधका भवन्विति ।

आणंदंअमुपायं, कासी सिज्जंजवा तहिं थेरा ।

जसभइस्स य पुच्छा, कहणा अ विआहणासंघे ॥ ४० ॥

आनन्दाश्रुपातमहो ! आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणमकार्षुः
 कृतवन्तः, शर्यमनवाः प्राग् व्यावर्णितस्वरूपाः । तत्र तस्मिन् काव-
 गते स्थविराः श्रुतपर्यायवृद्धाः प्रवचनगुरवः । पूजार्थं बहुवच-
 नमिति । यशोज्ञद्रस्य च शर्यमभवप्रधानशिष्यस्य गुर्वश्रुपातद-
 र्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा—भगवन् !
 किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता । कथना च भगवतः—संसारस्नेह ईदृ-
 शः स्वतो ममायमित्येवंरूपा । नशब्दादनुतापश्च यशोभक्षादीना-
 म-अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, न तत् कृतमिदमस्मा-
 भिरित्युक्तप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थं मया न कथितं, नात्र जवतां
 दोषो गुरुपरिसंस्थापनं च विचारणासङ्ग इति शर्यमनवेना-
 व्यायुपमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्व्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते
 विचारणासङ्गे कावहासदोषात् प्रभूतस्त्वानामिदमवोपकारक-
 मतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंचूता स्थापना वेति गाथार्थः ।

अञ्जमहागिरि—आर्यमहागिरि—पुं० । आर्यस्युत्तमभद्रस्य ऐला-
 पत्यसगोत्रे शिष्ये, नं० । अयञ्ज जिनकल्पिकवपुत्रविहारः रा-
 जपिण्डोपभोजिन आर्यसुहस्तिनः स्वर्गुरुशिष्यादपि सतः वि-
 संभोगमुत्पाद्य पृथग्गच्छं कृत्वा विजहार । तदाप्रवृत्त्येव गच्छ-
 पृथक्त्वमासीत् । ('संभोग' शब्दे चेतद् वदयामि)

अञ्जरक्ख-आर्यरक्ष—पुं० । आर्यनक्त्रस्य शिष्ये, "थेरस्स णं अ-
 ज्जणक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अञ्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासव-
 गोत्ते" अयं रक्षितार्याद् भिक्षोऽभिज्ञो वेत्यत्र कल्पसूत्रसुवोधिका-
 टीकाकृतां विप्रतिपत्तयः—'थेरे अञ्जरक्ख त्ति' अहो ! इत
 किरणावलीकारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धिभाजोऽप्यनाभोगवित्तसितम्,
 यतो येन श्रीतोसत्तिपुत्राचार्यशिष्याः श्रीवज्रस्वामिपाश्वेऽधीत-
 साधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीश्रीआर्यरक्षितास्ते जिघ्राः, एते च
 श्रीवज्रस्वामिच्यः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवमस्थानभाद्रिनो
 नाम्ना चार्थरक्षा इत्येवमनयोरार्यरक्षितार्थरक्षयोः स्फुटं जेदं
 विस्मृत्याऽऽर्यरक्ष्याने आर्यरक्षितव्यतिकरं लिखितवान् । कल्प० ।

अञ्जरक्खिय—आर्यरक्षित—पुं० । सोमदेवदिजेन रुद्रसोमायां
 नार्यायामुत्पादिते तोसलिपुत्राचार्यशिष्ये वज्रस्वामिसमीपेऽधी-
 तसाधिकनवपूर्वे स्थविरभेदे, " वंदामि अञ्जरक्खिय, खमणे
 रक्खियचरित्तसव्वंगे । रयणकरंरुगनूओ, अणुगोओ रक्खि-
 ओ जेहिं " ॥१॥ नं० । तदुत्पत्तिस्त्वेवम्—

" माया य रुद्रसोमा, पिआ य नामेण सोमदेवु त्ति ।

जाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ॥ २४ ॥

निज्जमणभइगुत्ते, वीसुं पढणं च तस्स पुच्चगयं ।

पच्चाविओ अ भाया, रक्खिअखमणेहि जणओ त्ति" ॥२५॥

"आस्ते पुरं दशपुरं, सारं दशदिशामिव ।

सोमदेवो द्विजस्तत्र, रुद्रसोमा च तन्निगा ॥ १ ॥

तस्यार्थरक्षितः सूनुरनुजः फल्गुरक्षितः " ।

(दशपुरोत्पत्तिः 'दसउर' शब्दे छप्यया) आ० क० ।

उत्पन्ना रक्षितस्तत्र, शास्त्रं यावदचूत्पितुः ।

तत्रैवाधीतवांस्ताव-दथागात् पाटलीपुरम् ॥७६॥

चतुर्दशापि तत्रासौ, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
 अथागच्छदशपुरं, राजाऽगात्तस्य संमुखम् ॥ ७७ ॥
 उत्तमिमतपताकेऽत्र, ब्रह्मोति ब्रह्मणैः स्तुतः ।
 अधिरूढः करिस्कन्धे, प्रविवेशोत्सवेन सः ॥ ७८ ॥
 स्वगृहे वाद्यशालायां, स्थितो लोकार्थमग्रहीत् ।
 पुरोधसः सूनुरिति, न वा कैः कैरपूज्यत ? ॥ ७९ ॥
 सुदर्णरत्नवस्त्राद्यै-स्तदगृहं प्राभृतैर्जुतम् ।
 अथान्तर्जवनं गत्वा, जननीमञ्जवाद्यत् ॥ ८० ॥
 वत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, मध्यस्थेव स्थिता प्रसूः ।
 सोऽवदत् किं न ते मात-स्तुष्टिर्मद्विद्ययाऽजवत् ? ॥ ८१ ॥
 सत्त्वानां वधकृद्धत्सा-ऽधीतं बह्वपि पाप्मने ।
 तुष्याम्यहं दृष्टिवादं, पठित्वा चेत्त्वमागमः ॥ ८२ ॥
 स दध्यौ तमधीत्याम्नां, तोषये किं ममापरैः ? ।
 दृष्टिवादस्य नामापि, तावदाह्वाद्यत्यलम् ॥ ८३ ॥
 अस्य काध्यापका मातः !, साऽऽख्यदिक्षुगृहे निजे ।
 सन्ति तोसद्विपुत्राख्याः, आचार्याः श्वेतवाससः ॥ ८४ ॥
 तं प्रगेऽध्येतुमारप्से, मातर्मैवाधृतिं कृथाः ।
 अथोत्थाय प्रभातेऽपि, नत्वाऽम्बां प्रस्थितः सुधीः ॥ ८५ ॥
 रक्षितं द्रष्टुमागच्छत्, ग्रामात्प्रियसुहृत्पितुः ।
 नवेकुयष्टिकाः सार्द्धा, विभ्रतामृतहेतवे ॥ ८६ ॥
 पुरस्तं प्रेक्ष्य सोऽप्राकृत, कस्त्वं भोः ! रक्षितोऽस्म्यहम् ।
 तमयाविज्ञय सस्नेह-मूचे त्वां द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥
 सोऽवदद्याम्यहं कार्या-द्यायास्त्वं मद्गृहे पुनः ।
 रक्षितः प्रैकतादौ मा-मिति मातुर्निवेदयेः ॥ ८८ ॥
 तेन तत्कथितं गत्वा, माता दध्याविदं ततः ।
 नवपूर्वाणि सार्द्धानि, मत्पुत्रोऽध्येष्यते स्फुटम् ॥ ८९ ॥
 सोऽपि दध्यौ नवाध्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
 अध्येष्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञायते शकुनादतः ॥ ९० ॥
 ततः सेकुगृहे यातो, दध्यौ यामि किमब्रुवत् ? ।
 एतद्भक्तेन केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥
 इति यावद् बहिः सोऽस्थात्, तावदागादुपाश्रयम् ।
 दहुरश्रावको गाढं, व्यधाक्षैपेधिकीप्रथम् ॥ ९२ ॥
 ईर्यादिवंदनं सर्वं, स चकार खरस्वरम् ।
 अनुगस्तस्य तत्सर्वं, मेधावी सोऽपि निर्ममे ॥ ९३ ॥
 भ्रात्रेनावन्दि तेनेति, ज्ञातो नव्यः स सूरभिः ।
 पृष्टोऽथ भोः ! कुतो धर्मा-ऽऽप्तिस्ते सोऽब्रवीदिति ॥ ९४ ॥
 साधुभिः कथितं पूज्याः !, रक्षितः भ्राविकासुतः ।
 ह्यः प्रवेशोऽभवद्यस्य, विमर्देन महीयसा ॥ ९५ ॥
 आचार्याः साहुरस्माकं, दीक्षयाऽधीयते हि सः ।
 परिपाठ्या च सोऽवादी-दस्त्वेवं नाहमुत्सुकः ॥ ९६ ॥
 किं त्वन्न स्यान्न मे पूज्याः !, प्रव्रज्या यन्तुपादयः ।
 बलान्मां मोचयेयुस्तां, यामो देशान्तरं ततः ॥ ९७ ॥
 अथाऽऽख्यदक्षितस्तेषां, जनन्या प्रेषितः प्रजो ! ।
 युष्माकं संनिधौ दृष्टि-वादमध्येतुमागमम् ॥ ९८ ॥
 सोऽदीक्ष्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽसौ शिष्यचैरिका ।
 तेनाथैकादशाङ्गानि, पठितान्यचिरादपि ॥ ९९ ॥
 दृष्टिवादो गुणैः पार्श्वे, योऽनूत्तमपि सोऽपठत् ।
 सोऽथाध्येतुं दशपूर्वां, वज्रस्वाम्यन्तिकेऽचलत् ॥ १०० ॥
 याति तेनान्तरात्रे च, श्रीभद्रगुप्तसूरयः ।
 अवन्त्यां वन्दितास्तैः स, धन्य इत्युपबृंहितः ॥ १०१ ॥
 तैरुक्तं मम निर्यामो, नास्त्यन्यस्त्वं ततो जव ।

स तत्प्रतिश्रणोति स्म, नोद्विह्यं गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥
 कालं कुर्वद्भिरुचे तै-मां वात्सीवज्रसंनिधौ ।
 वसेद्यस्तैः सदैकाम-प्युषां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥
 पठेभिन्नाश्रयस्थस्त-त्तथेति स्वीचकार सः ।
 तेषां स्वर्गमेन सोऽगात्, धीवज्रस्वामिसंनिधौ ॥ १०४ ॥
 दृष्टश्च तैरपि स्वप्नः, किञ्चित् किन्तुदृतं पयः ।
 सावशेषश्रुतग्राही, तत्प्रतीच्छ समेष्यति ॥ १०५ ॥
 इति यावद्विमृष्टं तैः, रक्षितस्तावदागतः ।
 पृष्टस्तोसद्विपुत्राणां, किं शिष्योऽस्म्यार्यरक्षितः ॥ १०६ ॥
 एवमुक्तेऽवदद्वज्रः, स्वागतं तव वत्स ! किम् ? ।
 कस्थितोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिः स्थोऽध्येष्यसे कथम् ? ॥ १०७ ॥
 स ऊचे भगवन् ! भद्र-गुप्तोऽऽदेशाद्विदः स्थितः ।
 वज्रस्वाम्युपयुज्योचे, गुरुक्तं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥
 ततोऽध्येतुं प्रवृत्तो जाक, नव पूर्वाण्यधीतवान् ।
 प्रारेभे दशमं पूर्व-मार्यवज्रस्ततोऽभगत् ॥ १०९ ॥
 यविकानि त्रिशत्युक्त-परिकर्मसमान्यदो ! ।
 पत्राऽऽदौ जिनसंख्यानि, कष्टात्तान्यथ सोऽपठत् ॥ ११० ॥
 इतस्तन्मातापितरौ, शोकार्त्ताविति दध्यतुः ।
 उद्योते कर्तुमिष्टे चे-दन्धकारान्तरं ह्यदः ॥ १११ ॥
 यन्नैत्यद्यापि नः पुत्रोऽ-थाहूतोऽप्यागमेत्तु सः ।
 अथानुजं तमाह्वानं, प्रद्वैष्टां फल्गुरक्षितम् ॥ ११२ ॥
 सोऽन्यथाह्वातरागच्छ, व्रतार्थी ते जनोऽखिवः ।
 स ऊचे सत्यमेतच्चे-त्तत्त्वमादौ परिव्रज ॥ ११३ ॥
 लग्नः प्रव्रज्य सोऽध्येतु-मधीयन् रक्षितोऽग्रतः ।
 यविकैर्धृषितोऽप्राकृत, शेषमस्य कियत्प्रभो ! ? ॥ ११४ ॥
 स्वाम्यूचे सर्पपं मेरो-र्विन्दुमन्धेस्त्वमग्रहीः ।
 ततो दध्यौ विपष्मात्मा, दुष्प्रापं पारमस्य मे ॥ ११५ ॥
 अथापृच्छत्प्रभो ! यामि, ज्ञाता मामाह्वयत्यलम् ।
 आहुस्तेऽधीष्व तस्याथ, पौनःपुन्येन पृच्छतः ॥ ११६ ॥
 उपयुज्य गुरुज्ञे, पूर्व स्यास्यत्यदो मयि ।
 व्यसृजत्तं दशपुरं, सानुजः सोऽथ जग्मिवान् ॥ ११७ ॥
 वज्रस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणापथम् ।
 श्रेष्मत्पुत्रोऽऽनायितां गुरुरी-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥
 मुखे क्लेश्यामि नृक्त्वेति, भोजनान्ते स्मृता न सा ।
 विकाशे च प्रतिकान्तौ, मुखपातीहताऽपतत् ॥ ११९ ॥
 वपयोगादथ ज्ञात-माः ! प्रमादोऽन्तिके मृतिः ॥
 प्रमादे संयमो नास्ति, युज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥
 द्वादशाब्दं च दुर्भिक्षं, तदा सप्तवहाः पथाः ।
 विद्यापिण्डं तदानीय, वज्रः साधूनभोजयत् ॥ १२१ ॥
 अथोचे तान्न भिक्षाऽस्ति, विद्यापिण्डेन वर्त्तनम् ।
 ऊचुस्ते व्रतहान्या किं, क्रियतेऽनशनं न भोः ! ? ॥ १२२ ॥
 वज्रसेनोऽन्तिषद् ज्ञात्वा, प्राक् प्रैषीत्यनुशिष्य तु ।
 यत्र त्वं लभसे भिक्षां, वक्त्रजान्नात्तदा मुने ! ॥ १२३ ॥
 गतं दुर्भिक्षमित्येत-द्विज्ञाय स्थानमाचरेः ।
 वज्रस्वामी पुनर्भक्तं, विमोक्तं सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥
 लघुः कुल्लक एकस्तु, तिष्ठत्युक्लोऽपि साधुभिः ।
 नास्यादाख्याय भयाना-नथ व्यामोह्य तं गतः ॥ १२५ ॥
 शैलमेकमयारुक्त्वा, कुल्लकोऽप्यनु तत्पदैः ।
 नितम्बे तद्विरेः स्थित्वा, पादपोषगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥
 तापेन तु कृणमिव, विदीय थां स जग्मिवान् ।

सुरैस्तन्महिमा चक्रे, किमिदं मुनयोऽवदन् ? ॥ १२७ ॥
 आचक्षुर्गुरवस्तेषां, कुलः स्वार्थमसाधयत् ।
 ऊचुस्ते दुष्करं तर्हि, नास्माकं स्वार्थसाधनम् ॥ १२८ ॥
 प्रत्यनीकाऽमरी तत्र, धाविका रूपजाग मुनीन् ।
 न्यमन्त्रयन्नक्तपानैः, पारणे क्रियतामिति ॥ १२९ ॥
 प्रत्यनीकेति तां ज्ञात्वा, गुरवोऽन्यं गिरिं ययुः ।
 कायोत्सर्गमधिष्ठायै, चक्रुः साऽऽगत्य तानवक् ॥ १३० ॥
 पूज्याः सन्तु सुखेनात्र, ततस्तत्र समाधिना ।
 चक्रुः कालं रथेनैत्य, शक्रस्ताननमत् ततः ॥ १३१ ॥
 प्रदक्षिणां रथस्थोऽदा-दृक्कादीनप्यनामयत् ।
 ते तथैवास्थुराद्रिः स, तद्वधावत्तं हन्यन्तु ॥ १३२ ॥
 (तस्मिन् नगवन्ते भद्रनारायं दसपुत्रा वृच्छिन्ना । आ० म० द्वि०)
 वज्रसेनस्तु यः प्रैषि, स सोपारं पुरं गतः ।
 धान्यमादाय लक्षणा-ऽपाक्रीत्तत्रेश्वरी तदा ॥ १३३ ॥
 दध्यौ चात्र विपं कृत्वा, स्मृत्वा पञ्चनमस्तुतम् ।
 कुर्मः समाधिना काल-मिति तत्प्रगुणीकृतम् ॥ १३४ ॥
 स चागात्तद्गृहे साधु-स्तेन तं प्रतिलाज्य सा ।
 स्वमाख्याञ्चिन्तितं तस्य, सोऽववीन्मा कथा ददम् ॥ १३५ ॥
 यत्र लक्षाभिमिताऽऽप्तिः, स्यात्तत्राऽऽशु सुनिजिता ।
 वज्रस्वामीदमूचे मां, नान्यथा भावि तद्वचः ॥ १३६ ॥
 तण्डुलानां तदैवास्त-पेतास्तत्र समागमन् ।
 सुनिजकं सहसा ज्ञातं, कुटुम्बं प्रत्यवोधितत् ॥ १३७ ॥
 चन्द्रनागेन्द्रविद्यानृ-दसुरैः सममोश्वरीम् ।
 अदीक्ष्यच्चक्रसेन-स्तेज्योऽनुद्वज्रसन्ततिः ॥ १३८ ॥
 इतश्च रक्ताचार्यैः, गतेदेशपुरं तदा ।
 प्रवाज्य स्वजनान् सर्वान्, सौजन्यं प्रकटीकृतम् ॥ १३९ ॥
 स्नेहात् पिताऽपि तैः सार्द्ध-मास्ते गृह्णाति तद् व्रतम् ।
 धृते सुनास्तुषादीनां, पुरो नावसरस्त्रये ॥ १४० ॥
 उक्तः पुत्रेण सोऽवादीत्, प्रवाज्याभ्यहं परम् ।
 उपानत्कुण्डिकाच्छत्र-वस्त्रयुगमोपवीतनृत् ॥ १४१ ॥
 ददिरे पितुराचार्याः, प्रपद्येदमपि व्रतम् ।
 स च तत्पालयामास, ब्रह्मवेपं तु नामुचत् ॥ १४२ ॥
 अथोचुः शिक्षिता मित्राः, सर्वान् वन्दामहे मुनीन् ।
 मुक्त्वा व्रत्रिणमेकं तु, तत्पराभवतोऽथ सः ॥ १४३ ॥
 ऊचे पुत्रेण पुत्राऽलं, गुरुरप्याह साम्प्रतम् ।
 तापे दयाः पटी मौञ्जा-धेवं सर्वाण्यमोचयत् ॥ १४४ ॥
 अन्यदोपगते साधौ, साधवः पूर्वसंज्ञिताः ।
 अदंष्ट्रिर्विक्रया बोधुं, गुरुमूत्रमुपस्थिताः ॥ १४५ ॥
 स्थविरोऽप्युचिन्वान् पुत्रं, श्रेयश्चेत्तद्वहाम्यहम् ।
 गुरुः स्माहोपमर्गः स्यान्, स सखो मेऽन्यथा कितिः ॥ १४६ ॥
 तत्रोक्तिरे स संधानां, गच्छतां पथि डिम्भकैः ।
 कट्यंशुके दृतेऽप्यस्थात्, तूर्णान् माऽनृदं गुरोः कितिः ॥ १४७ ॥
 साधुभिश्च तदैवास्य, वरुश्चोत्पटः पुरः ।
 अथाऽऽगतानां गुरवः, शाटकानायनेऽवदन् ॥ १४८ ॥
 द्रष्टव्यं दृष्टमेवेदं, स्याद्योऽलपट एव तत् ।
 पितुर्निष्ठादनार्थं च, गुरुः साधून् रहोऽन्यथात् ॥ १४९ ॥
 भिक्षामानीय भुञ्जीध्वं, मां स दत्त पितुर्मम ।
 त्रिकः कार्या पितुर्मदत्त, साक्षादुक्तवा मुनीनिति ॥ १५० ॥
 आपृञ्चार्यमगाद् ग्राम-मामन्तास्मि पितः ! प्रगे ।
 सर्वेऽप्याहुन तस्यादु-र्विद्वैकैकशोऽथ ते ॥ १५१ ॥

दध्यौ रुष्टोऽथ संप्राप्ते, सुनावाख्यास्यतेऽखिलम् ।
 आचार्याः प्रातरायाताः, पृष्टस्तातोऽखिलं जगौ ॥ १५२ ॥
 किं च त्वं नात्रविष्यश्चे-न्नाजीविष्यमहोऽप्यहम् ।
 ततः सर्वेऽपि गुरुजि-निरभर्त्सयन्त साधवः ॥ १५३ ॥
 पात्रमानय तातान्न-मानेभ्यामि स्वयं तव ।
 अहमप्येतदानीतं, ज्ञोद्ये नैवाऽथ हे पितः ! ॥ १५४ ॥
 सोऽथ दध्यौ लोकपूज्यो, जिज्ञां यास्यत्यसौ कथम् ? ।
 ततोऽहमेव यास्यामी-त्युक्त्वा भैक्षाय सोऽगमत् ॥ १५५ ॥
 सोऽयैकत्र गृहेऽविल-दपद्वारेऽवदद् गृही ।
 साधो ! चारेण किं नैषि, सोऽवदद् मूर्ख ! वेत्सि नो ॥ १५६ ॥
 किं द्वारं किमपद्वारं, प्रविशन्त्या गृहे श्रियः ।
 तं गृही शकुनं मत्वा, ददौ स्थालेन मोदकान् ॥ १५७ ॥
 आगत्यालोचयत्तान् स, तत्संख्यान् वीक्ष्य सूरयः ।
 ऊचुः शिष्या भविष्यति, द्वाविंशजिजसन्ततौ ॥ १५८ ॥
 कुटुम्बमिति साधूनां, लाजं स प्रथमं ददौ ।
 आनीयादात्स्वयं पश्चात्, सखण्डाज्यं सपायसम् ॥ १५९ ॥
 स एवं वृद्धिसम्पन्नो-ऽनुदं बालाद्युपकारकः ।
 तदा दुर्बलिकापुष्पः, पुष्पां च घृतवस्त्रयोः ॥ १६० ॥
 गुर्विण्या धिग् यया पञ्जि-र्मसैर्यन्-नीलितं घृतम् ।
 घृतपुष्पस्य तद्व्यात्, साऽपि तद्विधिरदीदृशी ॥ १६१ ॥
 निर्वीरा काऽपि कष्टेन, कर्तनात् शाटकं व्यधात् ।
 वस्त्रपुष्पस्य तद्व्यात्, साऽप्यन्येषां किमुच्यते ? ॥ १६२ ॥
 तत्र दुर्बलिकापुष्पो-ऽधिगतां नवपूर्विकाम् ।
 दुर्बलोऽभूत्स्मरन्नित्यं, विस्मारयति चास्मरन् ॥ १६३ ॥
 सौगतैर्भावितास्तस्य, स्वजना गुरुमूचिरे ।
 अस्माकं जिज्ञासो ध्यान-परा न ध्यानमस्ति वः ॥ १६४ ॥
 ध्यानाद् दुर्बलिकापुष्पो, दुर्बलोऽयं गुरुर्जगौ ।
 तान्याहुर्गृहवासोऽनृत्, स्निग्धाहारादसौ बली ॥ १६५ ॥
 न स वोऽस्ति गुरुः स्नाह, घृतपुष्पाद्बहुः स नः ।
 प्रत्ययश्चेन्न वो नीत्वा, स्वगृहे पोष्यतामयम् ॥ १६६ ॥
 ततस्तैः पोषितोऽत्यन्तं, पूर्वध्यानात्तथैव सः ।
 अथाध्यानः कृतः पूज्यैः, प्रान्तजोऽन्योऽप्यनुदं बली ॥ १६७ ॥
 ततस्तानि प्रवृत्तानि, आवकत्वं प्रपेदिरे ।
 तत्र गच्छे च चत्वारो, मुख्यास्तिष्ठन्ति साधवः ॥ १६८ ॥
 आद्यो दुर्बलिकापुष्पो, द्वितीयः फल्गुरक्षितः ।
 विन्ध्यस्तृतीयको गोष्ठा-मादिषश्च चतुर्थकः ॥ १६९ ॥
 विन्ध्यस्तैश्चपि मेधावी, सूत्रप्रदणधारणे ।
 गुरुनुवाच मण्डल्या-मात्रापाऽऽप्तिश्चिरान्मम ॥ १७० ॥
 गुरुर्दुर्बलिकापुष्पं, ततोऽस्यालापकं ददौ ।
 दिनानि कतिचिद्वत्त्वा, धाचनानां तस्य सोऽन्यथात् ॥ १७१ ॥
 वाचनां ददतोऽमुष्य, पूर्वं मे नवमे प्रज्ञो ! ।
 विस्मरिष्यत्यतः पूज्या-देशोऽस्तु मम कीदृशः ? ॥ १७२ ॥
 अथैवं दध्युराचार्याः, यद्यमुष्यापि विस्मृतिः ।
 भविष्यति ध्रुवं प्रज्ञा-दीनां हानिरतः परम् ॥ १७३ ॥
 चतुर्ध्वकैकसूत्रार्थ-ख्याने स्यात्कोऽपि न क्रमः ।
 ततोऽनुयोगांश्चतुरः, पार्थक्येन व्यधात् प्रवृत्तः ॥ १७४ ॥

चातुर्विध्यमाह—

“कालिअसुअं च इस्सिमा-सिआइं तइअो अ सूरपन्ननी ।
 सज्जो व दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो” ॥

काविकश्रुतमेकादशाङ्गरूपं करणचरणानुयोगः, ऋषिजातिनाति
उत्तराध्ययनानि धर्मकयानुयोगः, सूर्यप्रज्ञप्त्यादीनि गणितानु-
योगः, दृष्टिवादश्च, सर्वोऽपि उच्यतेऽनुयोगः; दृष्टिवादोऽङ्गुल-
ऋषिभिर्भाषितत्वात् । कल्पादीनामपि तर्हि धर्मकथाऽनुयोग-
त्वम् । तत्रेत्याह-

“जं च महाकल्पसुभं, जाणि अ सेसाणि ह्येअसुत्ताणि ।

चरणकरणाणुओगो--सि काविअथे उवगयाणि ” ॥ १ ॥

यच्च महाकल्पश्रुतमेकादशाङ्गरूपम्, यानि च शेषाणि निशी-
थादीनि वेदसूत्राणि, चरणकरणानुयोग इति चरणकरणानु-
योगशृङ्गेण कालिकार्थे कालिकश्रुतसक्तेऽर्थे उपगतानि सम्ब-
द्धानीत्यर्थः ।

अथार्यरक्षिताचार्याः, मथुरां नगरीं गताः ।

तत्र यक्षगुहायां च, व्यन्तरायतेन स्थिताः ॥ १७५ ॥

ततः शक्रो विदेहान्तः, श्रीसीमन्धरसन्निधौ ।

निगोदजीवानप्राक्की-द्भगवान् व्याचकार तान् ॥ १७६ ॥

अथोच भर्तेऽप्येवं, निगोदान् वक्ति कश्चन ?

जगवान्चिवानार्य-रक्षिताः सन्ति सुरयः ॥ १७७ ॥

भिक्षागे साधुवृन्दं च, वृक्षग्राह्यरूपजाक ।

शक्रोऽज्यागत्य पप्रच्छ, कियदायुः प्रभो ! मम ॥ १७८ ॥

जणितं यवकेष्वायु-ज्याथ प्राप्तेषु तेषु ते ।

यावत्तदायुरीक्षन्ते, तावद् द्वे सागरे गते ॥ १७९ ॥

अथोत्पाठ्य जुवावूचे, शक्रस्त्वं सोऽवर्षीततः ।

हेतुं स्वागमने तेऽथ, निगोदान् स्वामिवज्जगुः ॥ १८० ॥

ततस्तुष्टः प्रणम्योच, शक्रो यामीति तेऽभ्यधुः ।

तावदागमयस्व त्वं, यावदायान्ति साधवः ॥ १८१ ॥

ये चत्वा निश्चलास्ते स्यु-यैत त्वां वोढ्य दीक्षिताः ।

स ऊचेऽष्टपाः करिष्यन्ति, निदानं वीक्ष्य माममी ॥ १८२ ॥

तेऽभ्यधुः कुरु तच्चिह्नं-मथ यक्षगुहामुखम् ।

शक्रोऽन्यथा विधायाना-दाजग्मुश्च तपोधनाः ॥ १८३ ॥

ते च चारं न वीक्षन्ते, गुरवस्तानथाज्यधुः ।

शक्रो चारं व्यधादि-धमित एव ततोऽधुना ॥ १८४ ॥

ऊचुस्ते किं मूढर्त्तं न, धृतोऽस्माकं निरीक्षितम् ? ।

शक्रोक्तमथ ते तेषा-माख्यन् दुःखमथ स्थिताः ॥ १८५ ॥

अथान्यदा दशपुरं, यान्ति स्म गुरवः क्रमात् ।

मयुरां नास्तिकस्त्वागात्, सर्वे नास्तीति स ध्रुवन् ॥ १८६ ॥

सङ्गः सङ्घाटकं प्रैषीद्, गुरुं ज्ञापयितुं ततः ।

तैर्गोष्ठामाहिलः प्रैषि, व्यग्रहीतं स वादिनम् ॥ १८७ ॥

श्रावकैरथ तत्रैव, चतुर्मासीं स कारितः ।

इतश्चायुर्निजं ज्ञात्वा, गुरवो गच्छन्मूर्चिरे ॥ १८८ ॥

आचार्यः कोऽस्तु वः स्माहुः, स्वजनाः फल्गुरक्षिताः ।

स्यान्नोष्ठामाहिलो वाऽपि, पुष्पस्त्वज्जिमतो गुरोः ॥ १८९ ॥

शब्दयित्वा च निःशेषान्, गुरुदृष्टान्तमूचिवान् ।

निष्पावतैलहृद्यानां, क्रियन्तेऽधोमुखाः कुटाः ॥ १९० ॥

सर्वे निर्यान्ति निष्पावा-स्तैलांशाः सन्ति केचन ।

तिष्ठत्याज्यं पुनः प्राज्य-मेवमेतेष्वहं त्रिषु ॥ १९१ ॥

पुष्पं प्रति श्रुतेनाहं, निष्पावकुटसन्निभः ।

घृतकुम्भः पुनर्गोष्ठा-माहिलं मातुषं प्रति ॥ १९२ ॥

फल्गुरक्षितमाश्रित्य, तैलकुम्भसमस्तथा ।

तदाचार्योऽस्तु वः पुष्प-स्तैरपि प्रत्यपद्यत ॥ १९३ ॥

नवाऽऽचार्यं तथा साधून-नुशिष्यं यथोचितम् ।

विधायानशनं शुद्धं, स्वर्गलोकमगाद् गुरुः ॥ १९४ ॥

तद् गोष्ठामाहिलेनापि, श्रुतं यद् वामगाद् गुरुः ।

निष्पावकुटदृष्टान्तात्, पुष्पश्च स्वपदे कृतः ॥ १९५ ॥

स गोष्ठामाहिलोऽर्थेत्य, पृथक् तस्यै तदाश्रयात् ।

कर्मबन्धविचारोऽभू-न्निहवः सोऽन्यथोक्तितः ॥ १९६ ॥ आ०क० ।

देविद्वंद्विण्डि, महाणुभावेहि रविखयजेहि ।

जुगमासज्जविभक्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥

देवेन्द्रवन्दिर्देर्महानुभावैरार्यरक्षितैर्दुर्वात्रिकापुष्पमित्रप्राङ्मप्य-

तिगुपिलतयाऽनुयोगस्य विस्मृतसुत्रार्थमवबोध्य युगमासाद्य

प्रवचनहिताय विज्ञक्तः पृथग् व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः

कृतश्चतुर्धा, चतुर्षु स्थानेषु नियुक्तः चरणकरणानुयोगादिरिति ।

आ० म० द्वि० । उत्त० । आ० चू० । ध० २० । दर्श० । ती० ।

विशे० । स्था० । अञ्चलगच्छस्थापके आचार्ये च । अयं च

(विक्रमसं० ११३६ वर्षे) दन्तालीनामग्रामे द्रोणश्रेष्ठिनो देदीना-

म्याज्यार्यायाः जातः, (विक्रमसं० ११४२ वर्षे) प्रव्रजितः, (वि-

क्रमसं० ११६९ वर्षे) विधिपक्व- (अञ्चल-) गच्छमस्थापयत्,

(विक्रमसं० १२२६ वर्षे) ए१ वर्षजन्मपर्यायो मृत्वा देवलोके

गतः । जै० ६० ।

अञ्जरविखयमीस-आर्यरक्षितमिश्र-पुं० । अनुयोगचातुर्विध्य-

कारके रक्षिताचार्ये, सूत्र० १ अ० १ उ० ।

अञ्जरह-आर्यरथ-पुं० । आर्यवज्रस्वामिनस्तृतीये शिष्ये, कल्प० ।

अज्ज-आय-पुं० । मूच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अञ्जव-आर्जव-न० । ऋजोः रागद्वेषवत्त्वज्जितस्य सामायिक-

वतः कर्म भावो वा आर्जवम् । संवरे, स्था० ५ उ० १ उ० । ऋ-

जुभाव आर्जवम् । आव० । मनोवाक्कायविक्रियाविरहे मायारा-

हित्ये, ध० ८ अ० १ प्रव० । व्य० । पंचा० । आचा० । कल्प० । आव० ।

ज्ञा० । परस्मिन्नकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे, दश० १० अ० ।

एतच्च वीरेणाज्यनुज्ञातम् । स्था० ५ उ० १ उ० । एतत्तृतीय-

श्रमणधर्मः । स्था० २ उ० १ उ० । दशमो योगसंग्रहः । स०

३१ सम० । आव० । “ चंपाए कोसिअज्जो, अंगरिसो रुहए अ

आएत्ती । पंथगज्जो इजसावि अ, अम्भक्खाणे असंवेही ” ॥ १ ॥

चम्पायां कौशिकार्योऽभू-कुपाध्यायो महामतिः ।

तस्याद्योऽङ्गश्रुतिः शिष्यो, ग्रन्थिच्छिद्रुद्रकोऽपरः ॥ १ ॥

उपाध्यायेन दार्वर्थं, द्वावपि प्रेषितौ वने ।

दारुभारं गृहीत्वैति, सायमङ्गश्रुतिर्वनात् ॥ २ ॥

रुद्रो रत्नं दिवा सायं, स्मृत्वा बहिरधावत् ।

दध्यौ वीक्ष्य तमायान्तं, गुरुर्नःसारयाम्यमुम् ॥ ३ ॥

इतो ज्योतिर्यशा वत्स-पार्श्वो नीत्वाऽन्नमात्मनः ।

पुत्रस्य पञ्चकस्यार्थं, वलन्ती दारुकाष्ठवृत् ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा तेनाथ तां हत्वाऽऽ-दाय तदारुभारकम् ।

शीघ्रं मार्गान्तरेणेत्य, गुरोस्त्रे करो धुनन् ॥ ५ ॥

आख्यद्वः प्रियशिष्येण, ज्योतिर्यशा व्यनाश्यत ।

आगतः सोऽथ गुरुणा, ययौ निस्सारितोऽऽवीम ॥ ६ ॥

तत्र शृद्ध्वा मनोऽध्यानात्, जातजातिस्मृतिर्व्रतम् ।

सोऽवाप केवलं चाथ, महिमानं व्यधुः सुराः ॥ ७ ॥

देवैः कथितमेतस्या-ऽभ्याख्यानं प्रददेऽमुना ।

रुद्रको हीलिनो लोके, दध्यौ सत्यं मया ददे ॥ ८ ॥

अभ्याख्यानमिति ध्यायन्, सोऽगात्प्रत्येकबुद्धताम् ।

उपाध्यायः सपत्नीकः, प्रव्रज्य प्राप केवलम् ॥ ९ ॥

नत्वारोऽपि ययुः सिद्धि-मेवं कर्त्तव्यमार्जवम् । आ० क० ।
आ० चू० । हाव० ।

अञ्जवइर-आर्यवज्ज- (वैर)-पुं० । आरात्सर्वदेयधर्मभ्यो यातः
प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यर्थः, स चासौ वज्जश्च । आ० म० द्वि० ।
धनगिरेः सुनन्दायां नार्यायामुत्पादिते पुत्रे आर्यसिंहगिरेः शिष्ये ।
के ते आर्यवैरा इति स्तवद्वारेण तदुत्पत्तिमाह—

तुंबवणमंनिवेसा-उ निगयं पिउमगासमद्वीणं ।

उम्मासिअं उमु जुअं, माऊ अ समन्निअं वंदे ॥ १ ॥

तुम्बवनसन्निवेशान्निर्गतं पितृसकाशमालीनं पाण्मासिकं पट्ट-
सु जीवनिकायेषु युतं प्रयत्नवन्तं मात्रा च समन्वितं वन्दे । एष-
गाथाऽन्तरार्थः । भावार्थस्तु कथातोऽतन्तव्यः ।

कथा चयम्—

शक्रस्य लोकपः श्रीद-स्तस्य सामन्तिकः पुनः ।

अनृद्धजिवभोजीवः, प्राग्भवे जृम्भकामरः ॥ २ ॥

इतश्च पृष्ठचम्पायां, श्रीवीरः समवासरत् ।

सुभूमिभाग उद्याने, शालस्तत्र नृपः पुरि ॥ ३ ॥

युवराजो महाशाल-स्तयोऽर्यामिर्यशोमती ।

पिउरो रमणस्तस्याः, गागलिस्तनयः पुनः ॥ ४ ॥

शालः धृत्या प्रनेर्धर्म, वतायानुजमूचिवान् ।

राज्ये त्वं विश सांस्वादीद्, न वनेऽप्यस्मि ते नु किम् ? ॥ ५ ॥

समानोयाथ काष्पिल्या, गागलि स्वस्वसुः सुतम् ।

राज्येऽभिषिच्य तं तौ द्वौ, पार्श्वे प्रावजनां प्रजाः ॥ ६ ॥

साऽपि तद्गनी जाता, श्रमणोपासिका ततः ।

तावप्येकादशाक्षान्प-ध्यगापातां महाक्रयि ॥ ७ ॥

विहरन्तन्यदा स्वामी, ययौ राजगृहे पुरे ।

ततोऽपि चम्पां नगरीं, प्रति प्रातिष्ठन प्रभुः ॥ ८ ॥

मुनी शालमहाशास्त्रौ, प्रभुं पप्रच्छतुस्तदा ।

आवां यावः पृष्ठचम्पां, कोऽपि स्यात्तत्र धर्मवान् ॥ ९ ॥

ज्ञात्वाऽवबोधं तौ तत्र, प्रैषयन्तौ तमाश्रितौ ।

ततः स्वामी ययौ चम्पां, पृष्ठचम्पां च गौतमः ॥ १० ॥

समातापितृकस्तत्र, गागलिगौतमान्तिके ।

श्रुत्वा धर्मं सुतं राज्ये, निवेद्य व्रतमग्रहीत् ॥ ११ ॥

यातां मार्गेऽथ चम्पायां, स्वजनव्रतहर्षतः ।

प्रातौ शालमहाशास्त्रौ, निधानमिव केवलम् ॥ १२ ॥

समातापितृकस्याथ, गागलेरपि केवलम् ।

अत्रामुप्रायदावेतौ, मेमेति ध्यायतोऽभवत् ॥ १३ ॥

अथ चम्पां ययौ स्वामी, गौतमस्तत्परिच्छदः ।

प्रभुं प्रदक्षिणाकृत्य, प्रणिनमुः पुरोऽनवत् ॥ १४ ॥

इत एव प्रभुं नन्तुं, तानिन्याचष्ट गौतमः ।

प्रभुर्गौतममुच मा, केवल्याशातनां कथाः ॥ १५ ॥

गौतमोऽथ प्रभुं नत्वा, क्रमयामास तान् जमी ।

गौतमं केवलाऽऽनमि-स्त्रिंशं मन्वाऽदिशप्रभुः ॥ १६ ॥

अष्टापदं तपोलब्ध्या-ऽऽरोहेद्यः स्यान्मस केवली ।

उत्तच्छास्त्रार्थदेव-मुत्तान् श्रुत्वाऽथ तां गिरम् ॥ १७ ॥

अष्टापदोपकण्ठस्था-स्तापसास्तपसा कृशाः ।

कौण्डिन्यदत्तशैवाला, एकद्विच्यन्तरेऽहनि ॥ १८ ॥

आदिकन्दशुष्ककन्द-शुष्कशैवाग्रभोजनाः ।

आरुक्कन पदिका एक-द्विजास्तेऽपि तपःक्रमात् ॥ १९ ॥

गौतमोऽपि प्रभुं पृष्ट्वा-ऽष्टापदादिसुपेविचान् ।

दृष्ट्वा ते तं मिथः प्राहुः, स्युषोऽप्यपोऽधिरोक्ष्यति ॥ २० ॥

तपःकृशा अपि वयं, न शक्नुम इतः परम् ।

गौतमस्तावदकाशू-न्निश्रं कृत्वाऽऽरुहोह तम् ॥ २१ ॥

तद्वृत्तविस्मितास्तेऽथ, दध्युर्यद्येवमप्यति ।

ततोऽमुष्य वयं शिष्याः, नविष्यामो महाक्रयैः ॥ २२ ॥

नत्वाऽहंतः प्रभुश्चैश्यां, दिश्यशोकतरोस्तले ।

तत्र पृथ्वीशिखापट्टं, तामवात्सीद्विजावरीम् ॥ २३ ॥

आगादष्टापदं नन्तुं, तत्र वैश्रवणस्तदा ।

जृम्भकेण समं सख्या, नत्वा सर्वान् जिनाथ ॥ २४ ॥

स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽच्येत्य गौतममानम् ।

कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगीर्व्यधात् ॥ २५ ॥

अन्ताहारपन्ताहारे-त्यादिकं साधुवर्णनम् ।

तच्छ्रुत्वा मुखमाद्योक्य, मिथस्तौ ढासितौ सुरौ ॥ २६ ॥

एवं साधुगुणानाह, स्वयमीदृक् पुनः प्रभुः ।

ज्ञात्वाऽऽर्यस्तन्मनः पुण-रीकाध्ययनमूचिवान् ॥ २७ ॥

न दौर्बल्यं बलित्वं वा, सक्त्यै किं तु जावना ।

श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानात्, प्रीतो नत्वा प्रतीयवान् ॥ २८ ॥

जृम्भकस्तु प्रतिबुद्धः, श्रुत्वा सम्यक्त्वमाददे ।

सर्वं च प्रज्ञया पुण-रीकाध्ययनमग्रहीत् ॥ २९ ॥

गौतमस्तु द्वितीयोऽह्य-ष्टापदादिरवातरत् ।

भीतास्ते प्रभुमाहर्तुं, शिष्यं कुरु गुरुर्भव ॥ ३० ॥

स्वाम्यथादाद् व्रतं तेषां, वेशान् शासनदेवताः ।

पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टास्ते प्रभुमन्यधुः ॥ ३१ ॥

दृष्टान्तिश्चेत्तदस्त्वद्य, पायसं घृतखण्डयुक् ।

तदैवानीय तत्स्वामी, तानूचे ज्ञोक्तुमास्यत ॥ ३२ ॥

दध्युस्ते नो भविष्यन्ति, नेयतां तिलकान्यपि ।

परं गुरुवचः कार्यं, न विचार्य नृपोक्तवत् ॥ ३३ ॥

आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यक्तीणमदानसः ।

आतृप्तिं ज्ञोजयित्वा ता-नश्राति स्स स्वयं ततः ॥ ३४ ॥

शतानां तेषु पञ्चानां, लुञ्जानानां महाशिनाम् ।

ध्यायतां गौतमीं लब्धि, जज्ञे केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥

गच्छतां च प्रनृपान्ते, विलोक्य प्राभवीं श्रियम् ।

पञ्चशत्या द्व्यष्टजुजां, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥

एकान्तरजुजां चासौत्, श्रीवीरजिनदर्शने ।

गौतमस्तैः समं भर्तु-र्ददौ तिस्रः प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥

नवीनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलपिर्पदम् ।

गौतमः स्माह तानेवं, नमत त्रिजगत्पतिम् ॥ ३८ ॥

स्वाम्याहाशातनामिन्द्र-जृते ! केवलानां व्यधाः ।

नत्वा प्रभुं ददौ मिथ्या-दुष्कृतं तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥

गौतमेऽथाधृतिं सुष्टु, प्रपन्ने स्वाम्यवोचत ।

अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्पीर्गौतमाऽधृतिम् ॥ ४० ॥

तृणद्विद्वज्चर्मोणां-कटवत्कस्यचित्पुनः ।

कोऽपि क्वापि भवेत्स्नेहो, मेघोणांकटवत्तु ते ॥ ४१ ॥

तत्र स्नेहे चिरजने, प्रावृषीव व्यपेयुपि ।

केवलज्ञानहंसस्ते, हृत्सरस्यां स रंस्यते ॥ ४२ ॥

उद्दिश्य गौतमं लोक-प्रतिबोधकृते तथा ।

आदिशद्रुमपत्रीया-ध्ययनं भगवांस्तदा ॥ ४३ ॥

इतश्चावन्तिदेशोर्वी-हृदि हारतटोपमः ।

सन्निवेशस्तुम्बवन-नामा धामाद्भुतश्रियाम् ॥ ४४ ॥

तत्रेच्यसूधनगरि-व्रतार्थी पितरौ पुनः ।

तन्कृते वृणुतः कन्यां, यस्य तं संन्यसेधयत् ॥ ४५ ॥

स्वयम्बराऽथ तस्यातृत्, सुनन्दा धनपालसूः ।
 विवाहिताऽथ सा तेन, तथा रूढोऽथ स वतात् ॥ ४६ ॥
 अथान्यदा स्वतः स्थानात्, स च्युत्वा जृम्भकामरः ।
 सुनन्दाकुक्किासारं-ऽवातरत्कलहसवत् ॥ ४७ ॥
 तवाधारोऽभवद्भावी-त्युक्त्वा धनगिरिः प्रियाम् ।
 अहृत्सिंहगिरिः शिष्यः, शालकात्संमितादनु ॥ ४८ ॥
 जातं च तनये जन्मो-त्सवे स्फूर्जति काऽप्यवक् ।
 पिता चेत् प्राव्रजिष्यन्ना-स्यान्नविष्यद्धरं तदा ॥ ४९ ॥
 स संज्ञी तद्वचः श्रुत्वा-ऽज्ञासीमे मलयनृपिता ।
 एवं चिन्तयतस्तस्य, जाता जातिस्मृतिः शिशोः ॥ ५० ॥
 अहर्निशं ततोऽरोर्दात्, माता निर्विद्यते यथा ।
 प्रव्रज्यान्निमुखं पश्चा-देवं परमासिकाऽगमत् ॥ ५१ ॥
 अन्यदा समवासाधीत्, तत्र सिंहगिरिर्गुरुः ।
 समितौ धनगिरिश्च, पश्यावः स्वजनानिति ॥ ५२ ॥
 यावदातो गुरुं पृष्ट्वा, शकुनस्तावदृचिचान् ।
 ततस्तौ सुरयोऽवोचन्, ज्ञावी लाभोऽयं वां महान् ॥ ५३ ॥
 सचित्तं वाप्यचित्तं वा, ग्राह्यं तत् तौ ततो गतौ ।
 सुनन्दा ससखीवृन्दा, दृष्ट्वा तावित्यवोचत ॥ ५४ ॥
 कान्तेयन्ति दिनान्यर्जः, पाल्यते स्म मया तव ।
 त्वमेनं गोपयेदानीं, रुदतोच्चाटिताऽमुना ॥ ५५ ॥
 तेनोचे माऽस्तु ते पश्चा-त्तापः सोऽचञ्च निःस्पृहा ।
 कृत्वाऽथ साक्षिणोऽग्राहि, सोऽन्दार्हः पात्रवन्धने ॥ ५६ ॥
 व्रतप्राप्तं च तत्काञ्च, रोदनाद्विरराम सः ।
 अथायातो मुनेर्दोष्णा-ऽदात्रीतोऽधः करं गुरुः ॥ ५७ ॥
 अतिजारात्तथाऽहैवं, साधो ! वज्रं किमानयः ? ।
 आकृष्यालोच्य तं वाञ्छं, बाल्यमाप्तमिव स्मरम् ॥ ५८ ॥
 भाव्येप शासनाधारो, वज्रस्वामी गुरुस्ततः ।
 साध्वीशय्यातरीणां तं, नीविबन्धानुमार्पयत् ॥ ५९ ॥
 प्रहृष्यन्प्रासुकाहार-स्नानमण्डनखेलनैः ।
 तत्रावर्द्धिष्ट वज्रः स, सार्धं गुरुमनोरथैः ॥ ६० ॥
 वहिर्व्याहर्षुराचार्याः, सुनन्दाऽमार्गयत्सुतम् ।
 उचुस्ता एष निकृपो, गुरुणां नार्थ्यते परैः ॥ ६१ ॥
 आगमन्गुरुवस्तत्र, वज्रे जाते त्रिवापिके ।
 सुनन्दा याचते सुतं, गुरुवस्त्वर्पयन्ति न ॥ ६२ ॥
 विवादोऽथामवघ्राज-कुले जातश्च निर्णयः ।
 यदग्रतः सुतस्तस्याऽऽहृतो याति यदन्तिके ॥ ६३ ॥
 ससंधो गुरुरेकत्र, नन्दाऽन्यत्र सनागरा ।
 अविक्कदभितो भूपं, वज्रस्तु नृपतेः पुरः ॥ ६४ ॥
 राजोचे शब्दयत्वादौ, पिता स्त्रीपाक्त्रिका जगुः ।
 स्वामिन्नम्बाऽऽह्वयत्वादौ, दयास्थानमियं यतः ॥ ६५ ॥
 प्राग् राजोक्तऽह्वयन्माता, खाद्यखेलनचाटुभिः ।
 वीक्ष्याप्यभ्यां परं सोऽस्थात्, नाचालीत्किन्वचिन्तयत् ॥ ६६ ॥
 पालनस्थोऽभ्युपश्रुत्या, योऽर्थ्यतैकादशाङ्ककः ।
 सोऽहं मोहं जनन्याः किं, यामि सङ्गं विवद्वक्ष्य तत् ॥ ६७ ॥
 व्रतस्थे मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।
 राज्ञा प्रोक्तः पिताऽवोचत्, वचस्तं प्रति तद्यथा ॥ ६८ ॥
 “ जइसि कयञ्जवसाओ, धम्मञ्जयमूसिअं इमं वइरं ।
 गिन्ह लहुं रथहरणं, कम्मरयप्पमज्जणं धीर ! ” ॥ ६९ ॥
 तच्छ्रुत्वा तत्क्षणदेत्य, स रजोहृतिमाददे ।
 तदैवादीकिं गुरुणा, सपौरोऽप्यधुनानृपः ॥ ७० ॥

दध्यावथ सुनन्दाऽपि, धाता भर्ता सुतश्च मे ।
 प्राव्रजन्किं ममान्येन, साऽपि प्रव्रजिता ततः ॥ ७१ ॥
 वज्रं तत्रैव संस्थाप्य, साधुभिः पञ्चपैवृतम् ।
 व्यहार्युर्गुरवोऽन्यत्र, यत्रैकत्र यतिस्थितिः ॥ ७२ ॥
 अथाष्टवर्षो वज्रपि-र्यहरदुरुभिः समम् ।
 जग्मुश्च गुरवोऽवन्त्यां, वृष्टिश्च प्रावृतत्तदा ॥ ७३ ॥
 तस्य प्राग्गवामित्राणि, व्रजन्तो जृम्भकामराः ।
 दृष्ट्वा तं तत्र तैः सार्धं, कृत्वा तस्युः परीक्षितम् ॥ ७४ ॥
 रान्ध्वा न्यमन्त्रयद्वज्रं, विप्रुपो वीक्ष्य संस्थिताः ।
 पुनराह्वन् स्थिते वर्षे, गतस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥
 रुज्यतः पक्कूष्माणसं, क्षेत्रतस्तृज्यन्यसौ ।
 कावतः प्रथमं वर्षा, भावतो दायकाः पुनः ॥ ७६ ॥
 अभूरुपृशो निर्निमेषा, देवा इत्याददे न तत् ।
 तेऽथ तृष्ठा निवेद्य स्वं, विद्यां वैकुर्विर्को ददुः ॥ ७७ ॥
 चूयोऽवन्त्यां पुरि ज्येष्ठे, वज्रे बाह्यवृत्तं गते ।
 प्राग्बद्धिधाय सार्धं ते, घृतपूर्णैर्यमन्त्रयन् ॥ ७८ ॥
 द्रव्यादिकोपयोगेन, ज्ञात्वा नात्तेषु तेष्वपि ।
 तस्याकाशगमां विद्यां, दत्त्वाऽगुः स्वं निरुप्य ते ॥ ७९ ॥
 निर्मुक्तिकारोऽप्येतदेवाह-

“ जो गुज्जगेहि बाझो, निर्मतिओ भोअणण वासंते ।
 नेच्छइ विणीअविणओ, तं वयरारिसिं नमंसाभि ” ॥ १ ॥
 गुह्यकैर्दैवैः वासंते वर्षति नेच्छति विनीतत्रिनयोऽभ्यस्तचिनयः ।

तथा—

“ उज्जेणीए जो जं-भगेहि आणक्खिऊण धुअमहिअं ।
 अक्खीणमहानसिअं, सीहगिरिपसंसिअं वेद ” ॥ १ ॥
 आणक्खिऊण परीक्ष्य, स्तुतो वचनैः, महितो विद्यादातेन ।
 तच्छिष्यान् पठतः श्रुत्यै-कादशाङ्गी स्थिराऽभवत् ।
 श्रुतं पूर्वगमप्यात्तं, यत्किञ्चित्पठता श्रुतम् ॥ ७० ॥
 पठेयुक्तोऽपठन् नित्यं, तमेवालापकं मुहुः ।
 अपरान्पठतः श्रुयन्, गृह्णानश्च ततः श्रुतम् ॥ ८१ ॥
 जिज्ञार्थमन्यदा साधु-व्राते याते हि मध्यमे ।
 वहिर्जूमौ गुरौ प्राप्ते, तस्यौ वज्रः प्रतिश्रये ॥ ८२ ॥
 अथान्यस्य स मण्डल्या, मध्ये त्रियतिवेष्टिकाः ।
 मध्ये स्थितः स्वयमदात्, क्रमेणाङ्गादिवाचनाम् ॥ ८३ ॥
 आयाताः सुरयो दध्यु-मुनयो द्राक् किमाययुः ? ।
 स्वरमाकर्ण्य गम्भीरं, ज्ञातं वज्रविजृम्भितम् ॥ ८४ ॥
 अपस्त्य कृणं स्थित्वा, व्यधुर्नैवेधिकी ध्वनिम् ।
 यथास्थानेऽपि मुक्त्वा ताः, प्रामाङ्गीत्स गुरोः पदौ ॥ ८५ ॥
 ज्ञातं त्वमुं श्रुतधरं, माऽवजानन्तु साधवः ।
 इत्याचार्या विहारार्थं, चक्षिताः पञ्चपान् दिनान् ॥ ८६ ॥
 योगिनः स्माहुरस्माकं, भावी को वाचनागुरुः ? ।
 गुरवो वज्रमादिक्-स्ते तथेति प्रपेदिरे ॥ ८७ ॥
 साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासयित्वाऽऽसने प्रगे ।
 योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशन् ॥ ८८ ॥
 वाचनां स तथाऽऽदत्त, मन्दा अण्यपठन् यथा ।
 अधीतमपि तैः स्पष्टी-कर्तुं पृष्टं स शिष्टवान् ॥ ८९ ॥
 अथ ते साधवो दध्यु-गुरूणां बहवो दिनाः ।
 चेद्वगन्ति तदाऽस्माकं, श्रुतस्कन्धः समाप्यते ॥ ९० ॥
 गुरोरधीयतेऽह्वाय, तत्पौरुष्याऽपि वज्रतः !
 इत्येवं सर्वसाधूनां, वज्रो बहुमतोऽभवत् ॥ ९१ ॥

ज्ञापितस्ते वज्रगुणा-नित्याचार्याः समादयुः ।
आप्राप्नुयन्तिनो जज्ञे, स्वाध्यायो वस्त ऊचिरं ॥ ९२ ॥
जज्ञे किं त्वेय एवास्तु, म्यामिन् ! नो वाचनागुरुः ।
गुरुचेऽमुनोपात्तं, कर्णाघानात् धृतं ततः ॥ ९३ ॥
युज्यते वाचनां दातु, नास्य स्वयमतदग्रहे ।
ज्ञातं यो वज्रमाहात्म्यं, वाचनाऽदाप्यपीयती ॥ ९४ ॥
यस्त्वस्याऽऽसीद् गुरुः सर्वं, श्रुते वज्रस्य तद्ददौ ।
विहरन्त्यदऽऽयासीत्, पुरं दशपुराह्वयम् ॥ ९५ ॥
वृक्षावासे सन्त्यवन्त्यां, श्रीभङ्गुमसूरयः ।
तेभ्योऽन्यधुनमादातुं, वज्रः प्रैषि द्विसाधुयुक् ॥ ९६ ॥
तदा च भद्रगुमायाः, स्वभेऽपश्यन् यथा मम ।
पतद्ग्रहं क्रीरभूतं, पीत्वाऽऽगन्तुः समाश्वसीत् ॥ ९७ ॥
नाधुनां प्रातराचख्यु-स्तेऽन्योन्यफत्रमूचिरे ।
गुरुचे प्रतीच्छोमे, त्रास्यत्येत्याखिलं श्रुतम् ॥ ९८ ॥
वज्रेऽन्यस्थाद्विहितक-मदृश्यायान एव हि ।
हान्येदेशादुरुवज्रं, माहात्म्ये तव गृहवान् ॥ ९९ ॥
तेषां पार्श्वेऽथ वज्रपि-देशपूर्वमधीतवान् ।
यद्येदेशस्तत्रानुज्ञं-त्यागादशपुरेऽनु सः ॥ १०० ॥
तत्रानुयागानुज्ञायां, वयस्यैस्तस्य जुम्भकैः ।
इन्द्राद्यैर्गतिमादना-मिव चक्रे महात्मदः ॥ १०१ ॥
अमुमेवार्थं ग्रन्थकृदाह—

“ जस्म अणुत्ताए वा-यनत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि ।
देवदि कया मदिमा, पयाणुत्तारि नमंसांमि ” ॥ १ ॥
यस्याऽनुज्ञाते वाचकत्वे आचार्यत्वे, शेषं स्पष्टम् ।
अथान्यदा सिद्धगिरि-देवा वज्रमुनेर्गणम् ।
विधायानशाने श्रीमान्, ययौ स्वर्गं समाधिन ॥ १०२ ॥
वज्रस्वाम्यथ संयुक्तः, साधुनां पञ्चभिः शनैः ।
सर्वतः प्रसरन्कांति-व्यहरद्गोधयन् जनम् ॥ १०३ ॥
तत्र पाटलीपुत्रे, श्रेष्ठः श्रेष्ठः धर्मा धनः ।
तन्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुत्रोमजा ॥ १०४ ॥
साध्यस्तथानशास्त्रास्था-श्च कुर्वज्रगुणस्तुतिम् ।
वज्रमेव परीयन्ती, श्रुत्वा तं रुक्मिणी स्थिता ॥ १०५ ॥
आगच्छतोऽन्येतेकान् मा, वरकान् प्रत्यपेक्ष्यन् ।
साध्व्योऽन्यधुने हे जज्ञे !, व्रती परिणयत्यसौ ॥ १०६ ॥
साऽवदत् मां न वज्रपि, परिणेष्यति चेत्ततः ।
प्रव्रजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो द्वि पतिवर्मगाः ॥ १०७ ॥
विहरन् पाटलीपुत्रे, वज्रोऽन्यन्येयुगागमन् ।
निर्ययौ संमुखस्तस्य, नगरेणः सनागरः ॥ १०८ ॥
दृष्ट्वाऽऽयातो वृन्दवृन्द-दिव्यरूपान् बहून्मुनीन् ।
राज्ञोचै सैव वज्रस्ते-ऽन्यधुनस्तथैकाग्र्यकः ॥ १०९ ॥
मा भूयैरजनकैभः, इति वज्रगुरुस्तदा ।
कृत्वा बभूवपरावृत्ति-मागच्छन्तस्तिष्ठन्तर्थाः ॥ ११० ॥
पश्चिमस्यार्धके दृष्टो, वज्रः स्वल्पपरिचरुदः ।
मानन्दं वन्दितो राज्ञा, तन उद्यानवेश्मनि ॥ १११ ॥
धर्ममाख्यप्रभुः क्रीरा-श्रवत्रविचर्जितोदितम् ।
तेनक्तिमनोः द्रमातृन्, नाऽविदत् कृत्तृपतथा ॥ ११२ ॥
अन्तःपुरे तदाचख्यौ, वन्दितुं ते तदप्यगात् ।
श्रुत्वा श्रेष्ठिमुता लोकान्, रुक्मिणी जनकं ययौ ॥ ११३ ॥
आयातोऽस्यैव वज्रः सः, तान् ! तस्मै प्रदेदि माम् ।
सोऽथ शृङ्गारयित्वा तां, निन्ये मादं स्वकोटिभिः ॥ ११४ ॥

भगवान् धर्ममाचख्यौ, लोकः सर्वोऽपि रञ्जितः ।
दृष्ट्वा चास्य यथाऽनेके, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥
ज्ञात्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमनुजम् ।
कृत्वाऽन्येष्टुः स्वरूपस्थः, केवलीवोपविष्टवान् ॥ ११६ ॥
तं वीक्ष्योवाच लोकोऽस्य, सहजं रूपमीदृशम् ।
प्राथ्योऽङ्गनानां मा जृव-मित्यास्ते मथ्यरूपजाक् ॥ ११७ ॥
नृपोऽपि विस्मितः स्मर, शक्तिरेवाऽपि वोऽस्ति किम् ? ।
लब्धोरनेकाः साधुनां, तदाख्यः नृपतेर्गुरुः ॥ ११८ ॥
श्रेष्ठिना मन्त्रिपुत्राद्यै-स्तानुपास्थज्जगौ च सः ।
मदन्ता चेदूयतिन्यस्तु, जगृह साऽपि तद्वतम् ॥ ११९ ॥
अमुमेवार्थमाह—

“ जो कक्षाइ धणेण य, निमंतिओ जुवणम्मि गिहवइणा ।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं वयररिसि नमंसांमि ” ॥ १२० ॥
पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।
महापरिज्ञाध्ययना-द्विद्योदधे ननोगमा ॥ १२१ ॥
“ जेणुछारिआ विज्ञा, आगासगमा महापरिज्ञाओ ।
वंदामि अञ्जवहरं, अपाच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १२२ ॥
जणइ अ आदिमिज्ञा, जंयुदीवं इमाइ विज्जाए ।
गंतूण माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ ॥ १२३ ॥
जणइ अ धारेअव्या, न हु दायव्या मए इमा विज्जा ।
अप्पकिआ य मणुआ, हांहिति अओ परं अन्ने ” ॥ १२४ ॥
वज्रोऽथाऽगात् पूर्वदेशा-द्विहरन्नुत्तरापथम् ।
अनृचच तत्र दुर्जिकं, पथानोऽपथिकाः स्थिताः ॥ १२५ ॥
ततः सङ्घ उपगम्याऽ-वादीक्षितारयेति तम् ।
पट्टेऽथ विद्यया सङ्घ-मारोप्य प्रस्थितः प्रभुः ॥ १२६ ॥
शय्यातरस्तु चार्यथे, गतोऽन्यायाद्विद्वेष्य तान् ।
शिखां त्रिन्वाऽवदहज्जं, प्रभो ! साधर्मिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥
अथेदं स्मरता सूत्रं, सोऽन्यध्यारोपितः पट्टे ।
(“ सादम्मिअवच्छल-म्मि वज्जुया य सज्जाए ।
चरणकरणम्मि अ तहा, तिथस्स पभावणाए य ” ॥ १ ॥)
पश्चादुत्पतितः स्वामी, प्राप्तो नाम्ना पुरीं पुरीम् ॥ १२८ ॥
मुज्जिकं वर्त्तते तत्र, श्रावकास्तत्र भूरयः ।
तत्र ताथागतः श्राद्धो, राजा तेऽहं यवस्ततः ॥ १२९ ॥
आर्हतानां च तेषां च, चैत्येषु स्पर्धया पुनः ।
कुर्वतां स्नातृपूजादि, जैनेभ्यस्तत्पराभवः ॥ १३० ॥
न्यवार्यन्ताथ तैः पुष्पा-ण्यहतां राजवर्चसा ।
श्राद्धाः पुर्युषणायां च, पुष्पाभावं गुरुं जगुः ॥ १३१ ॥
प्रभो ! जैत्रेषु युष्मासु, शासनं वोऽभितृयते ।
अथोत्पत्य ययौ वज्रः, कृणामाहेश्वरीं पुरीम् ॥ १३२ ॥
दृताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भः प्रजायते ।
भगवन्पितृमित्रं च, तद्धितस्तस्य चिन्तकः ॥ १३३ ॥
प्रभुं दृष्ट्वाऽधदत्तोपा-त्किं वोऽत्रागमकारणम् ? ।
स्वाम्युच पुष्पसम्प्राप्तिः, स सादानुग्रहो मम ॥ १३४ ॥
स्वाम्युचै सुमनसोऽभि-मेलनेययाचदम्यहम् ? ।
नुदं हिमवति स्वामी, ययौ श्रीमन्निधौ ततः ॥ १३५ ॥
देवार्चाथोपात्तपद्मा, पद्मा पद्मदत्तदा ।
प्रेक्ष्य प्रभुं प्रमोदेन, प्रणुन्ना प्राणमधर्षीः ॥ १३६ ॥
ऊचैऽथादियतां स्वामी, सोऽवदत्पद्मपथम् ।
साऽप्यसत्तं गृहीत्वा स, दृताशनगृहेऽगमत् ॥ १३७ ॥
विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निधाय च ।

जुम्भकैः कृतसंगीतः, पञ्चमूले स्वयं स्थितः ॥ १३४ ॥
व्योम्ना पुर्या उपर्यागा-दचिरे सौगतास्ततः ।
अहो ! अस्मत्प्रातिहार्यं, देवा अप्याययुर्दिवः ॥ १३५ ॥
तद्विहारमथोल्लङ्घ्य, गतास्ते चैत्यमर्हतः ।
तन्माहात्म्यं नृपः प्रेक्ष्य, सपौराऽप्यार्हतोऽभवत् ॥ १३६ ॥

उक्तमेवार्थमाह—

“माहेसरीउ सेसा, पुरिअं नीआ हुआसणगिहाओ ।
गयणतलमइवइत्ता, वइरेण महाणुजावेण” ॥ १ ॥
माहेइवर्या नगर्याः सकाशात् सखामिकात् नत्वरण्यादेरखामि-
कात् प्रस्तावात्पुष्पसंपदिति केयम् । वज्रेण महानुभावेन हुताशन-
व्यन्तरगृहभूताऽऽरामात् गगनतलमतिव्यतीत्य अतिशयेन उल्ल-
ङ्घ्य पुरिकां पुरीनाम्नीं नगर्यां नीता, एवं विहरन् वज्रस्वामी श्रीमा-
लपुरं गतः । इत्यन्तं कालं यावदनुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, ततः
पृथक्त्वमज्ञातित्याह—

“अपुहत्ते अनुओगो, चत्तारि दुवारभासए एगो ।
पुहत्ताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ अवुच्छिन्ना” ॥ १ ॥
आ०क० । आ० म० । आ०चू० । वि० । पंचा० । ओघ० । ध० २० ।
कल्प० । तं० । (अस्य वज्रस्वामिनोऽनशनं कृत्वा देवलोकगमनं
‘अज्जरक्खिय’ शब्देऽत्रैवजागे २१२ पृष्ठे उक्तम्) अस्य वज्रस्वामिनो
जन्म (वि० सं० १६) (सर्वायुः ८८) (वि० सं० ११४ वर्षे) स्वर्गं गतः
जै० इ० । अत्रकाव्यानि—“मोहाब्धिश्चुलुकीचक्रे, येन बाधेन ली-
लया । स्त्रीनदीस्नेहपूरस्तं वज्रपिप्लावयेत्कथम् ?” ॥ १ ॥ आ०क० ।
“वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य जइगुत्तं च । तत्तो य अज्जव-
इरं, तवनियमगुणेहि वयरसमं” । ने० । “समजनि वज्रस्वा-
मी, जुम्भकदेवार्पितस्फुरदविद्यः । बाल्येऽपि जातजाति-स्मृतिः
प्रज्जश्मरदशपूर्वी” ॥ १ ॥ ग० ४ अधि० । अस्याचार्यस्य शिष्य-
सम्पद—“थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी
थेरे अज्जवइरसेणे उक्कोसियगोत्ते” । “थेरे अज्जपउमे थेरे अज्ज-
रहे” । कल्प० । (तीर्थोक्ताविकमत एतन्मरणे स्थानाङ्गव्युच्छेदः)
“तेरसवरिससपहिं, पण्णासासमहिणहि वोच्छेदो ।
अज्जवइरस्स मरणे, गणस्स जिणेहिं निहिट्ठो” ॥ १ ॥ ति० ।

अज्जवइरसेण-आर्यवज्जसेन-पुं० । आर्यवज्जस्य शिष्ये, कल्प० ।
अज्जवइरी-आर्यवज्जी-स्त्री० । आर्यवज्जान्निःसृतायां शाखायां-
म्, “थेरेहिंतो णं अज्जवइरहिंतो णं गोयमसगोत्तेहिंतो इत्थ
णं अज्जवइरी साहा णिग्गया” । कल्प० ।

अज्जवइरण-आर्जवस्थान-न० । आर्जवं सम्वरस्तस्य स्थाना-
नि भेदा आर्जवस्थानानि । साध्वार्जवादिषु सम्वरभेदेषु,
पंच अज्जवइणा पणत्ता । तं जहा-साहुअज्जवं साहुमदवं
साहुलायवं साहुवंती साहुमोत्ती ।

साधु सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वेन शोभनमार्जवं मायानिग्रहस्ततः
कर्मधारयः, साधोर्वा यतेरार्जवं साध्वार्जवम् । एवं शेषाण्यपि ।
स्था० ५ ग० १ उ० ।

अज्जवइहाण-आर्जवप्रधान-त्रि० । मायोदयनिग्रहप्रधाने, त्रि० ।
अज्जवभाव-आर्जवभाव-पुं० । अशुभतायाम्, “मायं चज्ज-
वभावेण” द० ८ अ० ।

अज्जवया-आर्जवता-स्त्री० । मायावर्जनात्मके धमणभेदे, पा० ।

अस्याः फलम्—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? अकिंचणाए णं

काउज्जुययं जामुज्जुययं अविस्वायणं जणयइ । अवि-
स्वायणसंपणयाए जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ४९
लोज्जाविनाजाविनी च मायेति तदभावेऽवश्यं ज्ञावार्जवमतस्त-
दाह- (अज्जवयाएत्ति) सूत्रवाद् अज्जुवकस्तद्भाव आर्जवम्, तेन
मायापरिहाररूपेण कायेन, अज्जुव अज्जुकः कायः अज्जुकस्तद्भा-
वस्तत्ता, कुञ्जदिवेषभ्रविकारायकरणतः प्राञ्जविता, ताम् तथा
ज्ञावाऽभिप्रायस्तस्मिन्तेन वा अज्जुकता भावः अज्जुकता, यदन्य-
द्विचिन्तयन् लोके भक्त्यादिनिमित्तमन्यद्वाचा कायेन वा स-
माचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायां अज्जुकता भाषणुकता, य-
दुपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषणं तत्परित्यागात्मिका,
तथाऽविविस्वादनं पराविप्रतारणं जनयति, तथा विधिश्चा-
विविस्वादनसम्पन्नतयोपलक्षणत्वात् कायज्जुकतादिसम्पन्नतया
च जीवो धर्मस्याराधको भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वेनान्यज-
न्मन्यपि तद्वामेः । उक्त० १९ अ० ।

अज्जविय-आर्जव-न० । मायावकतापरित्यागात् (आचा०)

अमायित्वे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अज्जवेरुय-आर्यवेदक-न० । श्रीगुमाहारीतसगोत्रान्निःसृतस्य
चारणगणस्य पष्ठे कुञ्जे, कल्प० ।

अज्जसमिय-आर्यसमित-पुं० । आर्यवज्रस्वामिमातुः सुनन्दाया
जातरि आर्यसिंहगिरिशिष्ये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ०
चू० । येन योगप्रभावादचक्षुरामन्तब्रह्मद्वीपे पादक्षेपेन जलो-
परि गच्छन्तं तापसं जित्वा तं सानुगं प्रवाज्य ब्रह्मद्वी-
पिका शाखा निर्गमिता । कल्प० । (‘धर्मदीविया’ शब्दे
वद्व्यामि)

अज्जसमुद्-आर्यसमुद्-पुं० । उदधिनामनि आचार्यभेदे, ज-
ह्वाबलपरिचीणानामुदधिनाम्नामार्यसमुद्राणामपराक्रमं म-
रणमभूदिति वृद्धप्रसिद्धिः । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम-आर्यश्याम-पुं० । आरात् सर्वहेयधर्मभ्यो यातः
प्राप्तो गुणैरित्यार्यः, स चासौ श्यामश्च आर्यश्यामः ।
प्रज्ञापनाकृतिकालकाचार्यनामके आचार्ये, प्रज्ञापनासूत्रक-
रणप्रयोजनादि तदुपक्रम एवाक्तम्—“वायगवरवंसाओ, ते-
वीस इमेण धीरपुरिसेण । दुद्धररेयण मुणिणा, पुव्वसुयसमि-
द्धवुद्धीणं” ॥ ३ ॥ “सुयसागरा वि एऊ-ए जेण सुयसयणमु-
त्तमं दिण्णं । सीसगणस्स भगवओ, तस्स णमो अज्जसा-
मस्स” ॥ ४२ ॥ (‘पणवणा’ शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

अज्जमुहत्थि (ए)-आर्यसुहृत्स्तिन-पुं० । आर्यस्थूलभ-
रस्य शिष्ये स्थविरे, आव० ४ अ० । यैरार्यसुहृत्स्तिभिर्दीक्षितो
द्रमको मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । (‘संपइ’
शब्देऽस्य कथानकम्)

अज्जसुहम्म (ए)-आर्यसुधर्मन्-पुं० । अमणस्य भगवतो
महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्स्वरूपं चेदम्-कुल्लागसन्निवेशे
धम्मिल्लविप्रस्य भार्या महिला, तयोः सुतश्चतुर्दशविद्यापात्र-
म् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रवर्जितः । त्रिंशद्वर्षानि वीरसेवा कृता वीर-
निर्वाणाद् द्वादशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च केवलम् ।
ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्वं परिपाल्य शतवर्षायुषं जम्बूस्वा-
मिने स्वपदे संस्थाप्य शिवं गतः । अन्त० १ वर्ग० । अणु० । स० ।
अज्जसेणिय-आर्यसैनिक-पुं० । आर्यशान्ति सैनिकस्य द्वि-
तीये शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जसेणिया-आर्यमैत्रिकी-स्त्री०। आर्यसैनिकाभिर्गतायां शास्त्रायाम्, " धेरहितो णं अञ्जसेणिएहितो इत्थ णं अञ्जसेणिया साहा णिगया " कल्प० ।

अञ्जा-आद्या-स्त्री० । आदौ भवा. दिनादित्वात् यत् । वाच० ' गवि ' इति केचित् । अम्यकायाम्, दे० मा० १ वर्गे० ।

आर्या-स्त्री० । ऋ-एयत् । प्रशान्तरूपायां दुर्गायाम्, ज्ञा० ८ अ०, ग० । सप्तचतुष्कलगणादिव्यवस्थानियक्ते मात्राद्वन्द्वसि, जे० २ वक्त्र० । आर्यैष संस्कृतेतरभाषासु गाथासंज्ञा । ग० १ अधि० । आर्यारचनं हि एकविंशतिरूपायां कलायां गण्यते (तच्च ' कला ' शब्दे तु ज्ञा० पुष्ट ३७३ द्रष्टव्यम्) । ज्ञा० १ अ० । साध्यायाम्, ग० ३ अधि० । आर्याभामाचार्याः सूचनिकामात्रमत्र दर्शयते विस्तरस्तु यथास्मानम् (' एकागि ' शब्दे एकाकित्वनिषेधो वक्ष्यते)

आर्याया गृहिसमकं पुष्टभाषणे दोषमाह—

जत्य जयारमयारं, समणी जेपइ गिहत्थपच्चखं ।

पच्चखं ममारं, अञ्जा पक्खिवइ अप्पाणं ॥११०॥

यत्र गच्छे (जयारमयारमिति) अवाच्यपुष्टगालिरूपं जकार-मकारसहितं वचनं या श्रमणी गृहस्थप्रत्यक् गृहिसमकं जटप-ति । हे गौतम ! तत्र गच्छे सा आर्या आत्मानं संसारे प्रत्यक् सा-क्रातु प्रक्षिपतीति ॥ ११० ॥ (' गारत्थियवयण ' शब्दे दोषं प्रायश्चित्तं च वक्ष्यामः)

अथार्याया विचित्रवस्त्रपरिधाने दोषमाह—

गणि ! गोअम ! जा उचित्रं, सेअवत्थं विवज्जिउं ।

मेवए चित्तरूपाणि, न सा अञ्जा विआहिआ ॥१११॥

हे गणिन् गौतम ! याऽऽर्या उचितं श्वेतवस्त्रं विवर्ज्य चित्ररूपाणि विविधवर्णानि विविधानि चित्राणि वा वस्त्राणि सेवते, उपवृत्तगुणान्पात्रदण्डाद्यपि चित्ररूपं सेवते, सा आर्या न कथि-तेति । विषमाक्षरेति गाथाद्वन्द्वः ॥ १११ ॥

अथार्याया गृहस्थादीनां सीवनादिकरणे दोषमाह—

मविणं तुण्णं जरणं, गिहत्थाणं तु जा करे ।

तिल्लमुव्वट्ठणं चावि, अप्पणो य परस्स य ॥११२॥

या आर्या गृहस्थानां तु शब्दादन्यतीर्थिकादीनां च वस्त्रकम्बल-चीनांशुकादिसंबन्धि सीवनं, तुण्णं, [जरणमिति] भरणं करो-ति, तथा या आत्मनश्च स्वस्य परस्य च गृहस्थस्मिन्भादेः (तिल्ल-नि) नैलाच्यङ्गम् (उव्वट्ठणंति) सुरभिच्यूणादिनोद्धर्तनं च अर्पति-शब्दान्नयनाञ्जनमुखप्रक्षालनमग्ननादिकं च करोति, न सा आ-र्या व्याहृतेति पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । तस्याः पार्श्वस्थादि-त्वसमासादनात् । ग० ३ अधि० (अत्र सुनघ्रा काली चेत्युदा-हरणे ' बहुपुत्तिआ ' काली ' शब्दयोः गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्या)

अथ गाथात्रयेण गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्याः दर्शयति-

गच्छइ सविलासगई, सयणीयं तूलिअं सविज्जोअं ।

उव्वट्ठइ सरिणं, सिणाणमईणि जा कुणइ ॥ ११४ ॥

गेहेसु गिहत्थाणं, गंतुण कदा कहेइ काही आ ।

तरुणाइ अट्ठिवरंते, अणुजाणे साइ परिणीया ॥११५॥

याऽऽर्या सविज्जोअं यथा स्यात्तथा सविलासा गतिर्यस्याः सा सविलासगतिर्गच्छति, तथा शयनीयं पत्यङ्गादि वा तूलिकां च संस्कृतकृतादिभूतामर्कतूलादिभूतां वा, तथा या शरीरमु-द्धर्तयति, तथा या स्नानादीनि च करोति । अथवा सविलासः

गतिर्गच्छति तथा शयनीयं तूलिकां च (सविज्जोअंति) उच्छी-र्वकसहितं सेवते । शेषं तथैव । तथा गृहस्थानां गृहेषु गत्वा उपलक्षणत्वात् उपाश्रयेऽपि स्थिता संयमयोगान् मुक्त्वा या कारिका कथिकवृत्तणोपेता आर्या कथा धर्मविषयाः संसार-व्यापारविषया वा कथयति, तथा या तरुणादीन् पुरुषान् अजि-पतत अजिमुखमाच्छ्रितोऽनुजानाति सुन्दरमागमनं जवतां पुनराग-मनं विधेयम्, कार्यं क्वाप्यमित्यादिप्रकारेण ' ई जे इराः पादपूरणे ' ना१२१७ इति प्राकृतसूत्रोक्तेरकारः पादपूरणार्थः । गच्छस्य प्रत्य-नीका शत्रुतुल्या स्यात्, भगवदाज्ञाविराधकत्वादिति ॥ १५ ॥

वृद्धाणं तरुणाणं, रत्ति अञ्जा कहेइ जा धम्मं ।

सा गणिणी गुणसायर ! पडिणीया होइ गच्छस्स २१६ वृद्धानां स्थविराणां, तरुणानां युनां, पुरुषाणां (रत्ति ति) " सप्तम्या द्वितीया " ना११३५ इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् । रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्मं ति) धर्मकथां कथयति, उपलक्षणत्वाद् दिवसेऽपि या केवल-पुरुषाणां धर्मकथां कथयति, हे गुणसागर ! हे ह्यक्षभूते ! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीग्रहणेन शे-पसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति ॥ ११६ ॥

अथ यथा श्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधानत्वं-

स्यात् तथा दर्शयति-

जत्य य समणीणमसं-खमाइं गच्छुम्मि नेव जायंति ।

तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासाउ नो जत्य ॥ ११७ ॥

यत्र च गणे श्रमणीनां परस्परम् (असंखमानि) कलहा नैव जायन्ते नैवोत्पद्यन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां जायाः ' मामा अइ वाप जाई ' इत्यादिका अथवा गृहस्थैः सह सावद्यजाया गृहस्थजायास्ता नोच्यन्ते, स गच्छः गच्छवरः सकलगच्छप्रधा-नः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ स्वच्छन्दाः श्रमणो यत् प्रकुर्वन्ति

तन्नाथापञ्चकेन प्रकटयति—

जो जत्तो वा जाओ, नाऽऽलोअइ दिवसपक्खिअं वा विं ।

सच्छन्दा समणीओ, मयहरिआए न ठायंति ॥ ११८ ॥

यो यावान् वा अतिचार इति शेषः । जातः उत्पन्नः, तं तथा दैवसिकं पाक्किं वा अणिशब्दाच्चातुर्मासिकं सांवत्सरिकं वाऽतीचारं नाऽऽलोचयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्वेच्छाचारिण्यः श्रमण्यः, तथा महत्तरिकाया साध्या आज्ञा-यामिति शेषः । न तिष्ठन्ति इति ॥ ११८ ॥

विटलियाणि पउंजति, गिह्वाणमेहीण मेव तपंति ।

अणगाढे आगाढं, करंति आगाढि अणगाढं ॥ ११९ ॥

विण्टलिकानि निमित्तादीनि विण्टलं निमित्तादीन्योद्यनिर्युक्तिवृ-त्त्यादौ व्याख्यानात् । तानि प्रयुज्जते। अत्रापि वचनव्यत्ययः प्राकृत-त्वादेव । तथा ग्लानाश्च रोगिण्यः शैत्यश्च नवदीकिता इति द्वन्द्वः । अतस्ता नैव तर्पयन्ति-औषधभेषजवस्त्रपात्रज्ञानदानादिना नैव प्रीणयन्तीत्यर्थः । अत्र सूत्रे " कच्चिद् द्वितीयादेः " ना११३५ इति प्राकृतसूत्रेण द्वितीयास्थाने पठ्यते । यथा—' सीमाधरस्स वंदे-त्ति ' तथा आगाढमवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं, न आगाढं अनागाढं तस्मिन् अनागाढे, कार्यं इति शेषः । आगाढ-मवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा आगाढेऽवश्यकर्त्त-व्ये कार्येऽनागाढं कार्यं, येन कृतेन विनाऽपि सरति तत्कार्यं कुर्वन्ती

त्यर्थः । अथवा अनागादयोगानुष्ठानं वर्तमाने आगादयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा आगादयोगानुष्ठानेऽनागादयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति कर्तुं पदं पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । एवमप्रेतनगाथाप्रिकेऽपीति ॥ ११९ ॥

अजयाए पकुवन्ति, पाहुणगाण अवच्छला ।

चित्तलयाणि असेवन्ति, चित्ता रयहरणे तहा ॥ १२० ॥

अयतनया ईर्याद्यशोधनेन प्रकुर्वन्ति गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राचूर्णकानां ग्रामान्तराद्यागतसाध्वीनामवत्सला निर्दो-
यिशुनान्नपानादिना भक्तिं न कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा चित्राणि, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात् । चकारः समुच्चये । विचित्राणि वस्त्राणि इति शेषः । सेवन्ते परिदधति, तथा चित्रा-
णि पञ्चवर्णगुल्लादिरचनोपेतानि रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति । स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति, चिपमाकुरेति गाथाच्छन्दः ॥ १२० ॥

गड्विन्धमाइएहिं अगार-बिगार तह पयासंति ।

जह वुह्मगाण मोहो, समुदरइ किं तु तरुणाणं ॥ १२१ ॥

स्वच्छन्दाः श्रमण्यो गतिविश्रमादि (अगारविगारत्ति) अत्र वि-
भक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनाद्याकृतिं,
विकारं च मुखनयनादिविकृतिं, यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाकृ-
तेर्विकारो विकृतिस्तं तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृ-
क्षानाम्, अपेक्ष्यमानत्वात् स्थविराणामपि, मोहः कामानुरागः,
समुदीर्यते समुत्पद्यते, किं पुनस्तुरुणानाम्?, तेषां सुतरां समुत्प-
द्यत एवेत्यर्थः । तुः पुनरर्थः ॥ १२१ ॥

बहुसो उच्छावन्ती, मुहनयणे हृत्थपायकक्खाओ ।

गिण्हेइ रागमंरुल, सोइदिअ तह य कव्वडे ॥ १२२ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकक्षाश्च बहुशो वारं वारं उच्छालयन्ति
स्वच्छन्दाः श्रमण्यः, तथा रागमण्डलं वसन्तादिरागसमूहं अ-
प्रेतनं 'तह यत्ति' पदस्य 'गिण्हेइ' इति पदेन सह संबन्धात् (तह य
गिण्हेइ त्ति) तथैव गृह्णन्ति तथैव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कव-
डे त्ति) कल्पस्थाः समयपरिभाषया वाद्यकास्तेषामपि श्रोत्रे-
न्द्रियं भ्रवणन्द्रियम्, 'गिण्हेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धा-
द् गृह्णन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणे कार्योपचारात् रागो
रागोत्पत्तिहेतुर्वस्तु, यथा-मुखे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽञ्जनादि, म-
स्तके सीमन्तादि, बलाटे तिब्रकादि, कण्ठे कुसुममालादि, अथरे
ताम्बूलरागादि, शरीरे चन्दनलेपादि; तस्य मण्डलं समूहं
तथा गृह्णन्ति यथा वायानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुपलक्षणत्वादन्यदि-
न्द्रियचतुष्कं मनश्च गृह्णन्ति हरन्ति । अत्रोत्तरार्द्धे पात्रान्तरम् ।
यथा- 'गिण्हेइ' रामण मंडण, भोर्यति व ताड कव्वडे' । अस्यार्थः-
गृहस्थवाद्यकानां ग्रहणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जुश्रीरुने, मण्डनं वा
प्रसाधनम्; यदि वा ताः कल्पस्थान् गृहस्थवाद्यकान् ज्ञेययन्ति ।
अत्रापि गाथायां विज्रकिलोपविभक्तित्वययवचनव्यत्ययाः
प्राकृतत्वादेवेति ॥ १२२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्थ य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी य अंतरे सुर्यइ ।

गोअम ! तं गच्छवरं, वरणाणचरित्तआहारं ॥ १२३ ॥

यत्र च गणे स्थविरा, ततस्तुरुणी, पुनः स्थविरा, ततस्तुरुणीत्ये-
वमन्तरिताः साध्व्यः स्वपन्तीति भावार्थः । तरुणीनां निरन्तरश-
यने हि परस्परजङ्घाकरस्तनादिस्पर्शनेन पूर्वकीर्तितस्मरणादि-
दोषः स्यादतः स्थविरान्तरिता एव ताः शेरते । हे गौतम ! वर-
ज्ञानचारित्राधारं तं गच्छवरं जानीहीति ॥ १२३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथाप्रयेण दर्शयति-

धोअंति कंठिआओ, पोअंती तह य दिनि पोत्ताणि ।

गिहिकज्जचित्तगाओ, नहु अज्जा गोअमा ! ताओ ॥ १२४ ॥

कण्ठिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण क्षालयन्ति, तथा
(पोअंति त्ति) मुक्ताफलविदुमादीनि प्रांतयन्ति, गृहस्थानामि-
ति गम्यते । तथा च (पोत्ताणि त्ति) बालकाद्यर्थं वस्त्राणि दद-
ति, चकारादीपद् ध्वजटिकादिकमपि ददति । अथवा 'पोत्ता-
णि त्ति' जलाद्रीकृतवस्त्राणि ददति, मलस्फोटनाय शरीरे धर्ष-
यन्तीत्यर्थः । तथा गृहिकार्यचिन्तिका अगारकृत्यकारणतत्प-
राः, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या 'नहु' नैव भवन्तीति गाथार्थः ॥ १२४ ॥

खरघोराइट्टाणे, वयंति ते ना वि तत्थ वचंति ।

वेसत्थीमंसमी, उवस्सयाओ समीवम्मि ॥ १२५ ॥

खरा गर्दभाः, घोटाकास्तुरङ्गमाः; आदिशब्दाद् इत्यादयः,
तेषां स्थाने या व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसमोद्देशके-
"तह चैव हत्थिसाला, घोडगसाला न चैव आसन्ना । जंति तह
जंतसाला, कोहीयत्तं च कुव्वन्ति" । अथवा [खर त्ति] खरका
दासाः, घोटा भट्टाः, अयं चानयोः शब्दयोरर्थः; आदिशब्दान्
शूतकारादयः, तेषां स्थाने व्रजन्ति. ते वा गर्दभाश्वादयो दासभ-
ट्टादयो वा, तत्राऽऽर्थिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तीत्यर्थः । श्री-
व्यवहारभाष्यसमोद्देशके त्विदं प्रथमपदस्य पाठान्तरम्- 'थ-
लिघोडाइट्टाणे त्ति' तत्र स्थाल्या देवद्रोण्यः, तत्र घोटा ऋङ्गराः,
अत्रादिशब्दस्तेषामेव देवडिङ्गराणामनेकभेदव्यापनार्थः; तेषां
स्थाने व्रजन्ति । तथा स्थलीघोटादेवडिङ्गरापरपर्यायास्तत्रा-
र्थिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेश्यास्त्रीसंसर्गा पुमान् सदैव
यासां समीपे वसति, यदि वा वेश्यागृहसमीपे यासामुपा-
श्रयः, ता आर्थिका न भवन्तीति शेषः ॥ १२५ ॥

सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकहाविकटपेसण गिहीणं ।

गिहिनिस्सिज्जं वाहिं-ति मंथवं तह करंतीओ ॥ १२६ ॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयो-
गाः । 'लुक्कायजोग त्ति' पाठे तु षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनाल-
क्षणो व्यापारो याभिस्ताः षट्कायमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो
गृहिणा धर्मकथानामाख्याने, विकथानां च स्त्रीकथादीनां क-
रणे, प्रेषणे प्रेरणे च नानारूपे गृहिणामुक्ताः, तथा या गृहिनि-
पद्यां बाधन्ते गृहे निपद्यामुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः संस्तवं
परिचयं गृहस्थैः सह कुर्वन्त्यो वर्तन्ते, ताः साध्व्यो न भव-
न्तीति ॥ १२६ ॥ ग० ३ अधि० ।

अथ गाथात्रयेण वचनगुप्तिमाश्रित्य साध्याचारं दर्शयति-

जत्थुत्तरपडिउत्तर, वुडिआ अज्जा उ साहुणा सच्चि ।

पलवंति सुरुद्धा वा, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥ १२७ ॥

यत्र गणे आर्या साधुना सार्द्धमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा (वुडिअ
त्ति) वृक्षा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनात्, तथा सुरुद्धा
अपि भृशं सरोषा अपि प्रवृत्तपन्ति प्रकर्षेण वदन्ति । हे गौतम ! तेन
गच्छेन किम् ?, न किमपीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

जत्थ य गच्छे गोयम !, उप्पसे कारणम्मि अज्जाओ ।

गणिणीपिडिठिआओ, जासंती मउअमहेण ॥ १२८ ॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारणे उत्पन्ने (अज्जाओ
त्ति) आर्याः साध्व्यो गणिनीपृष्ठस्थिता मृदुकशब्देन भाषन्ते
स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ १२८ ॥

माऊए दुहियाए, मुण्हाए अह्वन जइणिमार्डणं ।
जन्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविभेयं तयं गच्छं ॥१३१॥
यत्र गच्छे त्रायां मातुः दुहितुः स्तुत्याया अथवा भगिन्यादीनां
सन्निधि (गुत्तिविभेयं ति) गुत्तिवचनगुत्तिदेवा भङ्गा यस्मात्तद्
गुत्तिविभेदम्, नात्रकोद्घाटकमित्यर्थः । वचनमिति शेषः ।
नाख्याति इदमुक्तं भवति-हे मातः ! हे स्तुपं ! हे भगिनि ! इत्य-
दिनात्रकोद्घाटकवचनेन मात्रादीनाज्ञापयति । यदुक्तं श्रीदशवै-
कात्रिके सप्तमाध्याये- ' वज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउ-
मियं ति अ । पिउस्सिए भायणिज्जति, धूण नत्तुणियत्तिय' ॥१॥
॥ १५ ॥ तथा- ' वज्जिए पज्जिए वा वि, वण्णुत्तु पिउं ति अ ।
माउवा भायणिज्जति, पुत्ते नत्तुणियत्तिय' ॥१८॥ अथवा ममेयं
नाता ममेयं दुहितेत्यादि, अहमस्या वा माता अहमस्या वा
दुहिता अहमस्या वा यधृटीत्यादि वा नात्रकोद्घाटनवचनं
कारणं विना न जल्पति । अथवा मात्रादीनामपि ' गुत्तिविभे-
यं ति ' गोपनीयमर्थं न कथयतिः स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

अथ गाथाश्रयेण साध्वीस्वरूपवक्तव्यताशेषमाह-

दंमणियारं कुणई, चरित्तनामं जणेइ मिच्छत्तं ।

दुएण वि कग्गाएऽज्जा, विहारभेयं करेमाणा ॥१३२॥
दर्शनानिचारं करोति, चारित्रनाशं, मिथ्यात्वं च जनयति, द्व-
योरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः, आर्याः किं कुर्वाणाः?, विहार-
अगमोक्तविधिना विचरणम्, तस्य भेदो मर्यादाहङ्गनम्, तं
कुर्वाणाः ॥१३२॥ ग० ३ अधि० ।

आर्याणां ज्ञापणप्रकारः-

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूणं ।

तम्हा धम्मवएसं, मुत्तुं अन्नं न भासिज्जा ॥ १३३ ॥
तद् धर्मोपदेशव्यतिरिक्तं वाक्यं, मूत्रं कारणं यत्र संसारजनने
तत्तम्मूलं, तद्यथा स्यात्तथा हे गौतम ! आर्याऽपि साध्यपि नूनं
निश्चितं संसारं जनयति विवर्धयति, यस्मात् इति शेषः । तस्मा-
द्धर्मोपदेशं मुक्त्वा अन्यदर्धमार्या न ज्ञापेत् ॥१३३॥

मासे माने ऊ जा, अज्जा एगसित्थेण पारए कलहे ।

गिहत्थजासाहिं, सव्वं तीइ निरत्थयं ॥ १३४ ॥

' मासे मासे ऊ ' इत्यत्र ' कियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ' इति
मूत्रेण सप्तमी । वीप्सायां चिर्वचनम् । तुश्चैवकारार्थः । ततश्च
मासे मासे एव नवर्द्धमासादौ या आर्या साध्वी एकासिकथेन
एककणेन पारयेत् पारणकं कुर्यात् । (कलहे ति) कलहयेच्च
कलहं कुर्यात् गृहस्थजायाभिर्ममोद्घाटनज्ञापप्रदानजकारम-
कागादिवचनैरित्यर्थः । अथवा कलहे राटौ गृहस्थजायाभिः क्रि-
यमाणे सतीति शेषः । सर्वे तपः प्रवृत्ति धर्मानुष्ठानं तस्याः निरर्थकं
निष्फलमिति । विषमाकरोति गाथाचन्द्रः ॥१३४॥ ग० ३ अधि० ।

अन्यच्च साध्वीनामनाचरितम्-

जत्थ य तेरमहत्थे, अज्जाओ परिहरंति नाणधरे ।

माणमा सुयदेवमिव, सत्त्वमवि त्थी परिहरंति ॥

इतिहासखेडुकंद-पण्णाहवादनं कीरण जत्थ ।

धावणद्वणलंघण-मयारजयारुत्तचरणं ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।

दिट्ठीविसादिजग्गी, विमं व वज्जिज्जइ स गच्छे ॥

जन्थित्थीकरफरिसं, लिगी अरहा विसयमावे करेज्जा ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणवाहा ॥

मूत्रगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकालियं पि वृद्धिसंपन्नं ।

उत्तमकुत्रे वि जायं, निद्धामिज्जइ जहि तहि गच्छं ॥

जत्थ हिरण्णसुवण्णे, जणधन्ने कंसदोमफलिहाणं ।

सयणाण आमणाण य, नयपरिभोगो तयं गच्छं ॥

जत्थ हिरण्णसुवण्णं, हत्थेण परागयं पि नोच्छिप्पे ।

कारणसमप्पियं पि हु, खणानिमिसप्पं पि तं गच्छं ॥

दुद्धरवंजवयपाल-णट्ठ अज्जाण चवलचित्ताणं ।

सतसहस्सं परिहरे-ज्जण वी जत्थत्थि तं गच्छं ॥

जत्थुत्तरचरुपण्डित्तरेहि अज्जा उ साहुणा साप्पिं ।

पलवंति सकुप्पा वि य, गोयम ! किं तेण गच्छेण ॥

जत्थ य गोयम ! बहुवि-प्पकट्ठोद्वचंचलमणाणं ।

अज्जाणमण्डिज्जइ, जणियं तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्थ कखंगसरीरो, माहू अणमाहु णिच्च हत्थमया ।

उठ्ठं गच्छेज्ज वहिं, गोयम ! गच्छम्मि का मेग ? ॥

जत्थ य अज्जाहि समं, संलावुद्धावमाइ ववहारं ।

मोत्तुं धम्मवएसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ? ॥

भवमणियत्थविहारं, णिययविहारं ए ताव साहुणं ।

कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वत्ता ? ॥

निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते नाणदंसणचरित्ते ।

सयलारंभवमुक्के, अप्पण्विक्खे मदेहे वि ॥

आयारमायरंते, एगखेत्ते वि गोयमा ! मुण्णिणो ।

वासमयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे जणिए ॥

जत्थ समुदेसकाले, साहुणं मंभल्लीइ अज्जाओ ।

गोयम ! उवंति पादे, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥

जत्थ य हत्थसए वि य, रयणीवारं चउएहमूणाओ ।

उठ्ठं दसएहमसइं, करेत्ति अज्जाउ णो तयं गच्छं ॥

अववाएण वि कारण-वभेण अज्जा चउएहमूणाओ ।

गोयम ! वीपरिसकं-ति जत्थ तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्थ य गोयम ! माहू, अज्जाहि समं पहम्मि अछूण ।

अववाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्थ य तिसाट्ठिभेयं, चक्खूरागगुदीराणि साहू ।

अज्जाओ निरिक्खेज्जा, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमादि विविहउवगरणं ।

परिभुंजइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

अइ दुलहं जेसज्जं, बलवुद्धिविवहूणं वि पुट्टिकरं ।

अज्जालद्धं भुंजइ का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥

साऊण गइ सुकुमावि-याए तह ससगज्जसगज्जणीए ।

ताव न वीसमियव्वं, सेयट्ठी धम्मिओ जाव ॥

दढचारित्तं मोत्तुं, आयारियं मयहरं च गुणरासिं ।

अज्जा वज्जावेई, तं अणगारं न तं गच्छं ॥

घणगज्जिय कुहुकुहुय, विज्जुदुगेज्ज मूढहिययाओ ।

होज्ज वावारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
 पच्चक्खा सुयदेवी, ते च वल्लीइ सुराहि अणुया वि ।
 जत्थ एरिसए कुञ्जा, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
 गोयम ! पंचमहव्वय-गुत्तीणं दमविहस्स भम्मस्स ।
 एकं कह वि खज्जिज्जइ, इत्थी रज्जं न तं गच्छं ॥
 दिण्णदिकिखस्स दमग-स्स अभिमुहा अज्जवंदणा अज्जा ।
 निच्छइ आमणगहणं, मो विण्णओ मव्वअज्जाणं ॥
 वाससयदिकिखाए, अज्जाए अज्जदिकिखओ साहू ।
 जत्तिभरनिञ्जराए, वंदणविण्णण सो पुज्जो॥महा०५अ॥
 (उपध्यादिकम् ' उवहि ' आदिशब्देषु चि० जा० १०६०
 पृष्ठे दृष्टव्यम्) नि० चू० । ग० ।

अञ्जाकल्प-आर्याकल्प-पुं० आर्याणामेव साध्वीनामेव क-
 लपते इत्यार्याकल्पः । साध्व्यानीताऽऽहारः, ग० ।

आर्याव्यतिकरेण गच्छस्वरूपमेव गाथादशकेनाह-
 जत्थ य अञ्जाकल्पो, पाणुच्चाए वि रोरदुब्बिक्खे ।

न य परिज्जजइ सहमा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥६१॥

यत्र च गणे आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याक-
 ल्पः, साध्व्यानीताहार इत्यर्थः । प्राणत्यागेऽपि मरणगमने-
 ऽपि, रोरदुर्भित्ते दारुणदुष्काले, न च नैव, परिभुज्यते साधुभि-
 रिति शेषः । कथम्? सहसेति । अविमृश्य संयमस्य विराधना-
 विराधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षेत्, संयमे च तिष्ठति आ-
 त्मानमेव रक्षेत्, आत्मानं च रक्षन् हिंसादिदोषाद् मुच्यते ।
 मुक्तस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसा-
 दिदोषप्रतिसेवनकालेऽप्यविरतिः, तस्याशये विशुद्धतया
 विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं चौघनियुक्तौ गाथायाम्-“सव्वत्थ
 संजमं सं-जमाउ अण्णामेव रक्खता । मुच्चइ वायाओ
 पु-णो विसोही न याविरई” ॥१॥ ततो विमृश्य परिभुज्यतेऽपि
 अन्निकापुत्राचार्यैरिव । यदाह-“अन्नियपुत्तायिरिओ, भत्तं पाणं
 च पुण्णचूलाए । उवणीयं भुज्जंतो, वंभवयेण सो अलंगज्जा” ॥१॥
 हे गौतम ! स गच्छो भणितः । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादित-
 ति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । (अन्निकापुत्राचार्यसंबन्धश्च ‘ अ-
 क्षिआउत्त ’ शब्दे वक्ष्यते)

अज्जाणंदिल-आर्यनन्दिल-पुं० आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनाग-
 हस्तिगुरौ, नं० (व्याख्याऽस्य ‘ अज्जणंदिल ’ शब्दे दृष्टव्या)

अञ्जालम्-आर्यालब्ध-त्रि० साध्वीं प्राप्ते, ग० २ अधि० ।

जत्थ य अञ्जालम्, पढिगहमाई वि विविहउवगरणं ।

परिभुज्जइ साहूहि, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥६१॥

यत्र च गणे आर्यालब्धं साध्वीप्राप्तं पतद्ग्रहादिकं विविध-
 मुपकरणमपि किं पुनराहारादिकमित्यपिशब्दार्थः । कारणं विना
 साधुभिः परिभुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छः?, न कीदृशो-
 ऽपि नन्ववाऽऽर्यालब्धत्वं पतद्ग्रहाद्युपकरणस्य कथं संभवति?,
 आर्याणां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपात्रस्यैव ग्रहणनिषेधात्,
 ग्रहणे च प्रायश्चित्तम्, अनेके दोषाश्च । उक्तं च यतिजीतकल्प-
 प्रकरणे-“गुरुउवहिअ परिबेहे, ण्णय्यअसोहिकमिततग्गहणे ।
 बहुगा गुरुगज्जाणं, संयमेव वत्थपायगिहे ” ॥ १ ॥ अस्याः
 किञ्चिदूनपश्चाद्वृत्तिलेशो यथा-आर्याणां संयतीनां गृहस्थ-
 सकाशात् स्वयमेव वस्त्रपात्रग्रहणे चतुर्गुणाः । यतः संय-

तीनां गृहस्थेभ्यः स्वयमेव वस्त्रादिग्रहणेऽनेके दोषाः संभवन्ति ।
 तथाहि-संयतीनां गृहस्थाद्वस्त्राणि गृह्णीतुं दृष्ट्वा कंठोऽप्यजिनवस्त्राद्यो
 मिथ्यात्वं गच्छेत्, निग्रन्थोऽपि भार्ती गृह्णीतीति शङ्कते वा । गृह-
 स्थो वा वस्त्राणि दत्त्वा मैथुनमवभाषेत्, प्रतिपिक्के चपामेव व-
 स्त्राणि गृहीत्वोक्तं न करोतीत्युदाहि कुर्यात् । स्त्री च स्वभावे-
 नाद्यपसत्या, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽल्पेनापि धोत्रेण धा-
 जिता चाकार्यमपि करोति, बहुमोहा च स्त्री, ततः पुरुषैः सह
 संलापं कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णीत्याश्च तस्याः पुरुषसंपर्कतो मोहो
 दीप्यते, उदाररूपां वा संयतीं दृष्ट्वा कर्मणादिना कश्चिदंशकु-
 र्यात् । वशीकृता च चारित्रविराधनां करोति, तस्मात्निग्रन्थीभि-
 र्गृहस्थेभ्यः स्वयं वस्त्राणि न ग्राह्याणि, किन्तु तानि गणधरेण
 दातव्यानि । तत्रायं विधिः-संयती प्रायोग्यमुपधिमत्पाद्य सम-
 दिनानि स्थापयति, ततः कल्पं कृत्वा स्वविरं स्थविरां वा परि-
 धाययति, यदि नास्ति विकारस्ततः सुन्दरम् । एवं परीक्षाम-
 कृत्वा यदि ददाति, तदा चतुर्गुरुकम् । तं च परीक्षितमुपधिमा-
 चार्यो गणित्याः प्रयच्छति, गणिनी च संयतीनां विधिना ददा-
 ति । अथाचार्यः स्वयं न तासां ददाति तदा चतुर्गुरुकम्, यतः
 काचित्मन्दधर्मा जणेदस्याश्चोत्तरं दत्तं तेनपाऽस्येष्टा यौवनस्था
 च एवमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येण प्रवर्त्तिन्या एव हस्ते
 दातव्यमित्यादि । एतच्च निशार्थपञ्चदशोद्देशकचूर्णावपि सवि-
 स्तरमस्तीति । अत्रोच्यते-यदुक्तं भवता, तत् सत्यं, परं संज्ञयेव,
 श्रमणान्नावादौ आर्यावधत्त्वमुपकरणस्य श्रमणासङ्गावाद्
 निग्रन्थीनामपि स्वविरादिक्रमेण स्वयमेव वस्त्रग्रहणस्यानुज्ञा-
 नात् । उक्तं च निशार्थपञ्चदशोद्देशकचूर्णाविव-यथा चायग
 आह-यद्येवं, सूत्रस्य नैरर्थक्यं प्रसज्यते । आयरिओ आह-

‘असइ समणाण चोअग !, जायंते निमंतणे तह चेव ।

जायंति धेरिय सती, व मीसगा मोत्तुमे णो” ॥ १ ॥

हे चोदग ! समणाणं असति धेरियाओ वत्थे जायंते, निमंतणे
 वत्थं वा गेहंति, जहा साहू तथा ताओ वि, धेरिणं असति
 तरुणी व ति मिसाउ जायंति इमे णे मोत्तुमित्यादि । अत्र
 वस्त्रग्रहणवत्पात्रग्रहणमनुक्तमपि श्रमणाभावादावनुज्ञातं सं-
 भाष्यते ॥ ६१ ॥

अइदुल्लह-जेसज्जं, बलबुद्धिविवहृणं पि पुड्डिकरं ।

अञ्जालम् जुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ६२ ॥

यत्र गणे, अपिशब्दस्य प्रतिविशेषणं संबन्धात् अतिदुर्ल-
 भमपि अतिशयेन दुष्प्राप्यमपि । अत्र विजक्तलोपः प्राकृतत्वा-
 त् । समासो वा भैषज्यशब्देन सह । तथा बलबुद्धिविवर्धनमपि,
 तत्र बलं शरीरसामर्थ्यं, बुद्धिर्मेधा, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपचय-
 कार्यपि, भैषज्यमौषधमार्यावृद्धं साध्व्यानीतं नुज्यते, साधु-
 भिरिति शेषः । हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा तत्र गच्छे?,
 न काचिदपीत्यर्थः । मेरेति मर्यादावाची देशीशब्दः । ॥ ६२ ॥

एगो एगित्थिए सच्चि, जत्थ चिट्ठिज्ज गोअमा ! ।

संजई विमेमेण, निमेरं तं तु जामिमो ॥ ६३ ॥

एक एकाकी साधुरेकाकिन्यास्त्रिया मार्थ हे गौतम ! यत्र ति-
 ष्ठेत् तं गच्छं निमेरं निर्मर्यादं ज्ञापामहे वयम् । संयत्या च एका-
 किन्या एकाकी यत्र साधुस्तिष्ठेत् तं तु गच्छं विशेषेण निमेरं
 भाषामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्व्या च सार्धमे-
 काकिनः साधोर्थदेकत्र स्थानवर्जनं तत्तेषामेकान्ते परस्परमङ्ग-
 प्रत्यङ्गादिदर्शनाऽऽलापादिकरणतो दोषोत्पत्तेः संभवात् । किं-

च-प्रतीतमेकान्तेऽपि धेनिकचेलुणयोः रूपादिदर्शनेन धीमन्महा-
वीरसाधुसाध्वीनां निदानकरणादिदोषोत्पत्तिः संजातते धीद-
शाशुतस्कन्धे तथोपज्ञम्भादिति । अनुपपन्नः ॥ ए३ ॥ ग० २ अधि०
महा० । आव० । ('अग्निआउत्त' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)
अज्ञावेयव-आज्ञापयितव्य-वि० । आज्ञाप्य समाज्ञापयितव्ये,
"अहं णं अज्ञावेयवो अस्मि अज्ञावेयवा " सूत्र० २ ध्रु० २ अ०
अज्ञासंसर्गी-आर्यासंसर्गी-स्त्री० । साध्वीपरिचये, ग० ।

आर्यासंसर्गवर्जने कारणमाह—

वज्जेह अपमत्ता, अज्ञासंसर्गि अग्निविसमरिती ।
अज्ञाणचरो साहू, दृढः अकिञ्चित् खु अचिरेण ॥ ६३ ॥
वर्जयत मुञ्चतः अपमत्ताः प्रमादवर्जिताः सन्तो ज्ञोः साधवः !
यूयम् काः?, आर्यासंसर्गोः साध्वीपरिचयान् । अत्र शसो लोपः
प्राकृतत्वात् । उपसर्गेऽग्निविषयसदृशीरुपलक्षणत्वात् व्याघ्रविष-
धरादिसदृशीश्च, खुयस्मादर्थे । ततोऽयमर्थः—यस्मात्कारणात्
आर्यानुचरः साधुर्मुनिर्वर्जिते प्राप्नोति अकीर्तिमसाधुवादमचि-
रेण स्तोककालेनेति ॥ ६३ ॥

धेरस्म तवस्मिस्स, बहुस्सुअस्स व पमाणजूयस्स ।

अज्ञासंसर्गीए, जणजंपणयं हविज्जाहि ॥ ६४ ॥

स्थविरस्य वृक्षस्य तपस्विनो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वाऽ-
धीतवद्भागमस्य प्रमाणजनस्य वा सर्वजनमान्यस्य एवंविध-
स्यापि साधोः आर्यासंसर्ग्या साध्वीपरिचयेन (जणजंपणयं
ति) जनवचनीयता जनापवाद इत्यर्थः, भवेदिति ॥ ६४ ॥

अय यद्येवंविधस्यार्यासंसर्ग्या जनापवादः स्यात्तर्हि—

एतद्वीपरीतस्य का कथेत्याह—

किं पुण तरुणां अवहु-स्सुअ न य विगिट्ठतवचरणो ।

अज्ञासंसर्गीए, जणवंचणयं न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

तरुणा युवा अबहुश्रुतश्चागमपरिज्ञानरहितः, न चापि बहुवि-
कृतपञ्चरणो न दशमादितपःकर्ता; एवंविधो मुनिरार्यासंसर्ग्या
जनवचनीयतां किं पुनर्न प्राप्नुयात्?, अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः
॥ ६५ ॥ ग० २ अधि० ।

अज्ञासाठ-आर्यापाठ-पुं० । श्रीवीरसिद्धे चतुर्दशाधिकव-
र्षशतद्वयेऽतिक्रान्ते उत्पन्नाव्यक्तदृष्टीनां गुरोः, ते चाऽऽर्यापाठा-
निधा आचार्याः श्वेताभ्यां नगर्थ्या समवस्त्य तत्रैव हृदयशू-
नारोगतो मृन्ना सौधमे उपपद्य पुनः शरीरमधिष्ठाय कश्चित्स्व-
शिष्यमाचार्यं कृत्वा दिवं गता इति । तच्चिन्त्याश्चाव्यक्तदृष्टयोऽन-
वन् । आ० क० । उक्त० आ० म० ('अव्यक्तिय' शब्देऽस्य विस्तरः)

अज्जिअ-अर्जित-वि० । उत्पादिते; उक्त० १ अ० । उपार्जिते,
" धम्मज्जियं च ववहारं, वुद्धेहायरियं सया " उक्त० १ अ० ।
मञ्जिते, " अद्भुविहं कममूलं, बहुपहि भवेहि अज्जियं पावं "
मंथा० । नि० नृ० । उक्त० ।

अज्जिअज्ञान-आर्यिकालाज-पुं० । आर्यिकालाभ्यो ज्ञान-
आर्यिकालाजः । साध्वीनां तवत्प्रपात्रादौ, आव० ।

अज्जिअज्ञाभे गिद्धा, मण्ण नानेण जे अमंतुद्धा ।

जिक्कवायगियाजग्गा, अण्णियपुत्तं ववडंमि ॥ ११७ ॥

आर्यिकान्यो लानः तस्मिन् गृष्टा आसक्ताः, स्वकीयेनात्मीये-
न लानेन ये असन्तुष्टा मन्दधर्मा भिक्षार्चयया भग्नाः भिक्षाऽ-
टनेन निर्विघ्ना इत्यर्थः । ते हि सुसाधुना चोदिताः सन्तः अभ-

व्योऽयं तपस्विनामिति अभिक्षापुत्रमाचार्या व्यदिशन्त्याल-
म्बनत्वेनेति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

कथम्?—

अन्नियपुत्तायारिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।

उवणीयं जुजंतो, तेणैव भवेय अंतगडो ॥ ११८ ॥

अकरार्थो निगदसिद्धः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (तच्च
'अन्नियउत्त' शब्दे वक्ष्यते) तेन मन्दमतय इदमालम्बनं कु-
र्वन्तः सन्तः, इदमपरं नेकन्ते । किमत आह—

गयसीसगणा ओमे, भिक्खायारिआ अपचच्चं पेरं ।

निगमंति सहो विसदो, अज्जिअलाभं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तम्, (ओमे) दुर्भिक्षे जिक्का-
चर्यायाम्, (अपचच्चो) असमर्थः, जिक्काचर्यायामपचच्च अस-
मर्थस्तं स्थविरं वृक्षमेवंगुणयुक्तं न गणयन्ति नाहोचयन्ति, स-
हा विसदाः समर्थाः, अपिशब्दात् सहायादिगुणयुक्तत्वेऽपि सत्र-
मायाविन आर्यिकालाभं वेयं गवेययन्ति अन्वेयन्त इति गाथा-
र्थः ॥ ११९ ॥ आव० ३ अ० ।

अज्जिआ-आर्यिका-स्त्री० । मातुर्मातरि, दश० ७ अ० । पिता-
महाम्, वृ० १ उ० ; ग० । साध्व्यां चा " जानीते जिनवचनं, अद्भुत्ते
चार्यिकासकलम् । नास्यास्यसम्भवोऽस्या-नादृष्टविरो-
धगतिरस्ति " ॥ १ ॥ ध० २ अधि० ।

अज्जु-अय-अव्य० । अपनृंशे उकारान्तत्वम् । अस्मिन्नहनि,
" विष्पिययारउ जइवि, पिउतो वि तं आणही अज्जु " प्रा० ।

अज्जुण-अर्जुन-पुं० । अर्ज-उन्नत् । ककुभपर्याये, औ० । बहु-
बीजकवृक्षजेदे, प्रज्ञा० १ पद० । ज्ञा० रा० । तत्पुष्पे, तच्च सु-
रजि भवति । ज्ञा० १ ध्रु० ए अ० । तृणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० । आ-
चा० । स्वनामख्याते पाण्डुरस्वर्णे, जं० ३ वक्त्र० । गोशालस्य
महद्विपुत्रस्य षष्ठे गौतमपुत्रे दिक्कचरे, भ० १५ श० १ उ० । " अ-
ज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि " ज० १४ श० १
उ० । हैहयवंश्ये कृतवीर्याऽपत्ये नृपजेदे, भूतावमानी हैहयश्चा-
र्जुनः । ध० १ अधि० । पाण्डुराजस्य तृतीये आत्मजे, ज्ञा० १
ध्रु० १६ अ० । (विवाहादि चास्य 'दोवइ' शब्दे दृष्टव्यम्)
" अज्जुणगुट्टं व तस्स जाणइ " उपा० २ अ० ।

अज्जुण-अर्जुन-पुं० । माहाकारजेदे, अन्त० तत्कथा चैवम्-

ते णं काले णं ते णं समएणं रायगिहे णयरे गुणसिद्धए चेइ-
ए, सेणिए राया, चेद्वणा देवी, तत्थ णं रायगिहे णयरे
अज्जुणए नामा मालागारे परिवसति । अद्दे जाव
अपरिजृते तस्स णं अज्जुणयस्स मालागारस्स बंधुमती-
नामं जारिया होत्था । सुमालस्स तस्स णं अज्जुणयस्स मा-
लागारस्स रायगिहस्स नगरस्स वहिया । एत्थ णं महं एगे
पुप्फारामे होत्था, किन्हे जाव निकुलं वचूते दमरुवणकुसु-
मेइ पामा ते तस्स णं पुप्फारामस्स अदूरमामंते एत्थ णं
अज्जुणयस्स मालागारस्स अज्जयपज्जयपिडपज्जयागते अ-
ण्णकुलपरीसं परंपरागते मोगरपाणस्स जक्कवाययणे हो-
त्था, पोराणे दिव्वे सच्चे सच्चवातिए जहा पुष्पभदे तत्थ

पं मोग्गरपाणिस्स एणं महं पन्नमहस्सनिप्पणअओमयमो-
ग्गरं गहाय चिट्ठति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बालप्पजि-
तिं चैव मोग्गरपाणिजक्खस्स जत्तेया वि होत्था, कल्ला-
कल्लिं पच्छियपभिया ति गेएहोवेति, गेएहोवेतित्ता रायगि-
हातो णगराओ पभिनिकखमति, पडिनिकखमत्ता जेणेव पु-
प्फारामे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता पु-
प्फचयं करोति, करोतित्ता अग्गाई वराई पुप्फाई गहाय जे-
णेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छतित्ता मोग्गरपाणिजक्खस्स महरिह पुप्फ-
च्चणं करोति, करोतित्ता जाणुपांत पभित्ते पणामं करोति,
करोतित्ता ततो पच्छा रायमग्गंसि विति कप्पेमाणे विहरति,
तत्थ एणं रायगिहे नगरे ब्रह्मिजनानां गोट्टी परिवसति, अद्या
जाव अपरिभ्रया जकयसुकया या वि होत्था, तं रायगिहे
णयरे अस्सया कयाई पमोये घुट्टे या वि होत्था, तस्सेव अञ्जु-
णए मालागारे कल्लपभुयतराएहिं पुप्फेहिं कज्जंमि तिकट्टु
पच्चूसकाजसमयंसि बंधुमतीए जारियाए सद्धिं पच्छिय प-
डियाई गेएहति, गेएहतित्ता सयाउ गिहातो पभिनिकखमति,
पभिनिकखतित्ता रायगिहं णयरे मज्झं मज्जेणं निगच्छे,
निगच्छत्ता जेणेव पुप्फारामे उज्जाणे तेणेव उवाग-
च्छति, उवागच्छतित्ता बंधुमतीए जारियाए सद्धिं पुप्फच्चयं
करोति, तीसे लद्धियाए गोष्ठी; तत्थ गोष्ठिद्वया पुरिसा जेणेव
मोग्गरपाणिस्स जक्खायतणे तेणेव उवागया अजिर-
ममाणा चिट्ठति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बंधुमतीए
जारियाए सद्धिं पुप्फच्चयं करोति, करोतित्ता पच्छीयं भरेति
अग्गाई पुप्फाई मिहाई जेणेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स
जक्खायअणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता ते छ गो-
ट्टीद्वया पुरिसा अञ्जुणए मालागारे बंधुमतीजारियाए सद्धिं
एज्जमाणं पासंति, पासंतित्ता अणमणं एवं वयासी-एस
एणं देवाणुप्पिया ! अञ्जुणमालागारे बंधुमतीए जारियाए स-
द्धिं हव्वमागच्छति, हव्वमागच्छतित्ता तं सेयं खलु देवा-
णुप्पिय ! अहं अञ्जुणयं मालागारं अउरुयबंधणयं क-
रोति, करोतित्ता बंधुमतीए भारियाए सद्धिं विपुलाई भोग-
भोगाई जुंजमाणाणं विहरत्तए तिकट्टु एयमट्टं अण-
माणस्स पडिमुणति, पडिमुणतित्ता कवांमंतरेसु निलुक्कति,
निब्रद्धा निप्फदा तुमिणि एया पञ्चा चिट्ठति, तस्से अञ्जु-
णए मालागारे बंधुमतीए जारियाए सद्धिं जेणेव मोग्गर-
जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता आलोए
पणामं करोति, करोतित्ता महरिहं पुप्फच्चणं करोति, जाणुपायं
परणामं करोति, तत्ते एणं ते उ गोष्ठिद्वया पुरिसा दवदव्वस्स
कवांमंतरेहिं तो निग्गच्छंति, निग्गच्छंतित्ता अञ्जुणयं मा-
ल्लागारं गेएहंति, गेएहतित्ता अबरुगं बंधणं करोति, बंधुमती-

मालागाराए सद्धिं विट्ठत्ताई भोगजोगाई जुंजमाणा विहर-
ति, तस्स अञ्जुणयस्स माल्लागारस्स अयं अप्पसत्थीए । एवं
खलु अहं वाट्ठप्पभितिं चैव मोग्गरपाणिस्स भगवतो कल्ला-
कल्लिं जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जयणं इहं मरिहंते सुव्व-
त्तेणं एस कट्टे तत्तेणं से मोग्गरपाणिजक्खे अञ्जुणयस्स
माल्लागारस्स अयमेयारुवं अवत्थियं जाव वियाणित्ता
अञ्जुणयस्स माल्लागारस्स मरीरयं अणुपविमति, अणुप-
विसतित्ता तत्तत्तत्तदसंबद्धाई छिंदति, छिंदतित्ता तं पन्नस-
हस्सनिप्पणं अन्नमयं मोग्गरं गेएहति, ते इत्थी सत्तमे छ
पुरिसे घाएइ तस्से अञ्जुणए माल्लागारे मोग्गरपाणिणा ज-
क्खेण अणाइहे समणे रायगिहस्स णगरस्स परिपेरं तेणं
कल्लाकल्लिं उ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तए एणं
रायगिहे णयरे सिंघारुग जाव महापट्टेसु बहुजणो अस्सम-
स्स एवमाइक्खति०४ । एवंखलु देवाणुप्पिय ! अञ्जुणए
माल्लागारं मोग्गरपाणिणा अणाइहे समणे रायगिहे णयरे
वट्ठिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तत्ते एणं
से मेणिए राया इमीसे कहाए ब्रह्महे समणे कोहुंवि स-
दावेति, सदावेतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! एणं
अञ्जुणमाल्लागारे जाव घाएमाणे विहरति, तंमाणं तुज्जेके-
इकट्टस्स वा तस्सस्स वा पाणियस्स वा पुप्फफट्ठाणं वा अट्ठाए
संतिरं निग्गच्छउमाणं तस्स सररीयस्स बावत्ती भविस्सति,
तिकट्टु दोब्बं पि तच्चं पि घोसणघोसेहति, घोसणघोसेहतित्ता
खिप्पा मम एयं माणत्तियं पच्चप्पिणंति, तए णं कोहुं-
विय जाव पच्चपिणंति, तत्थ एणं रायगिहे णगरे सुदंसणे
नामे सेट्टी परिवसति, अट्टे तस्से सुदंसणे समणो वासए या
वि होत्था, अज्जिगयजीवाजीवे जाव विहरति । तेणं काले एणं
ते एणं समए एणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसंहुं जाव वि-
हरति, तं रायगिहे णयरे सिंघारुगबहुजणो अस्समस्स एव-
माइक्खति जाव किमंग ! पुण विपुलस्स अट्टस्स गहणताए
ते तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्टं मुखा निसम्म
अवत्थियते० ५ । एवं खलु समणे एणं जाव विहरति, तं गच्छा-
मि, एणं वंदामि, एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता जेणेव अम्मापियरो
तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता करयल० एवं वयासी-
एवं खलु अम्मायाओ समणे जाव विहरति, तं गच्छामि एणं
समणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जुवामामि, तत्ते एणं ते
सुदंसणं सेट्टी अम्मापियरो एव वयासी-एवं खलु पुत्ता
अञ्जुणए माल्लागारे जाव घाएमाणे विहरति, तंमाणं तुमं
पुत्ता समणं जगवं महावीरं वंदंति, पज्जुवासंति, निग्गच्छाहि-
माणं तवमरीरस्स वा विति भविस्सति, तुमणं इह गए चैव स-
मणं भगवं महावीरं वंदाहि, तए एणं मे सुदंसणे सेट्टी अम्मापि-

गरो एवं वयानी-किं एं अम्पयातो समणं भगवं महावीरं इह-
मागते इह पत्तं इह सम्पामं इह गते चेव वंदिस्सामि, तं गच्छा-
मि, णं अहं अम्पयाउ तुज्झेहिं अञ्जुणत्ताते समाणे समणं
भगवं महावीरं वंदति, तं सुदंसणं मेघी अम्पापियरो जा से नो
मंचाएति, बहुहिं आगवणेहिय ४ जाव पस्सेहिं संता तंता
पग्गिंता तीहे एवं वयामी-अहामुहं तत्ते एं से सुदंसणे अ-
म्पापिनीहिं अञ्जुणत्ताते समाणे एह्माति, सुच्छया वेसाइं जाव
मरीरं मयातो गिहातो पडिनिक्खमति, पमिणिक्खमतिता
पायावेह्माच्चरिंणं गायगिहं णयरं मज्जं मज्जेणं निगच्छति,
निगच्छतिता मोगगरपाणिस्स जक्खस्स जक्खवायतणे अऊर-
नापंतं एं जेणेव गुणमील्लए चेति ए जेणेव समणे जगवं तेणेव
पाहिंनेत्यगमणाए तत्ते एं मे मोगगरपाणी जक्खं सुदंसणं स-
मणो वामयं अदूरसामंतं एं वीयीवयमाणे पामति, पामतिता
आमुरुते ५ तं पल्लसहस्सनिष्फणं अओमयमोगगरं उद्वालेमाणे
जेणेव सुदंसणे समणो वासए तेणेव पहारेत्थगमणाए तत्ते
णं से सुदंसणे समणो वामए मोगगरपाणिं जक्खं एज्जमाणं
पामति, पामतिता अजीते अतत्थे अणुच्चिग्गे अक्खुमिने
अचिन्नए असंपंतं वन्थंतेणं जूमी पमज्जति, पमज्जतिता
करयन्नएवं वयामी-एपोत्थु एं अरहंताणं जाव संपत्ताणं;
नमोत्थु एं समणस्स भगवं जाव मंथाविउकामस्स पुब्बं पि
णमए समणस्स जगवओ महावीरस्स अंति ए थूलए
पाणातिवानं पच्चक्खाए जावजीवाए थूलए मूमावाए
थूलए अदिण्णादाणे सदारमंतोसे करे जावजीवाए तं
इदाणिं पि ए तस्सेव अंतिअं सव्वं पाणातिवायं पच्च-
क्खामि जावजीवाए, मूमावायं अदत्तादाणं मेहुणपरिगहं
पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं कोहं जाव मिच्छादंसणम-
द्धं पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं अमणं पाणं खाइमं
माइमं चउच्चिहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए, जति
णं एतो उवमयातो मुच्चिस्सामि, तो मे कप्पई पारे तत्ते ।
अह एं एतो उवमयातो न मुच्चिस्सामि, तो मे तहा
पच्चक्खाए वि तिकट्टु मागारं पमिं पडिवज्जति । से
मोगगरपाणी जक्खं तं पल्लसहस्सनिष्फणं अओमयं मोग-
गरं उद्वालेमाणे ९ जेणेव सुदंसणे समणो वामए तेणेव
उवागते नो चेव एं मंचाएति सुदंसणं समणो वामयं तेयमा
समज्जिपडिताने । तत्ते एं मे मोगगरपाणी जक्खं सुदंसणं सम-
णो वासयं सव्वओ ममंताओ परिशोलमाणे ९ जाहे नो मंचा-
एति सुदंसणं समणो वामयं तेयमा समज्जिपडिते ताहे सुदं-
सणस्स समणो वासयस्स पुरतो मपक्खं सपमिदिसिं उच्चि
मुदंसणं समणो वासयं आणमिमाए दिट्ठीए मुचिरं निरिक्ख-
ति, निरिक्खतिता अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स मरीरं विप्प-
जह्वि । तं पल्लसहस्सनिष्फणं अओमयं मोगगरं गहाय जामे-

व दिंसि पाउज्जते तामेव दिंसि पमिगते । तए णं अञ्जुणए
मालागारे मोगगरपाणिणा जक्खेणं विप्पमुक्किस्समाणे ध-
सति धरणीयतलांसि, सव्वं गेहं निवाइए ते सुदंसणे समणो
वामए निरुवमगगम्मि तिकट्टु पमिं पारेति, तत्ते एं से
अञ्जुणए मालागारे ततो मुहुसंतरेण आसत्ये समाणे उट्ठेति,
उट्ठेतिता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी-तुज्झेणं
देवाणुप्पिया ! कहिं वामं पथिया ! तत्ते एं से सुदंसणे समणो
वामए अञ्जुणयं मालागारं एवं वयासी-एवं खलु देवाणु-
प्पिया ! अहं सुदंसणे नाम समणो वासए अज्जिगयजीवाजीवे
गुणसिद्धे चेइए समणं जगवं महावीरस्स वंदते, सपथिए
तमे अञ्जुणए मात्तागारे सुदंसणं समणो वासयं एवं वया-
सी-तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अहमवि तुमए सच्छिं समणं
जगवं महावीरस्स वंदिए जाव पज्जुवासिए । अहामुहं देवाणु-
प्पिया ! तत्ते णं से सुदंसणे समणो वासए अञ्जुणएणं मात्ता-
गारेणं सच्छिं जेणेव गुणसिलए चेति ए जेणेव समणे जगवं
महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतिता अञ्जुणएणं
मालागारेणं सच्छिं समणं भगवं महावीरं तिकवुत्तो जाव पज्जु-
वामति । तत्तेणं से समणे भगवं महावीरे सुदंसणं समणो वा-
सए अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स तिसयद्धम्मकहामुदंसणे सम-
णो वासए पमिगते तसे अञ्जुणए मात्तागारे समणस्स भगवतो
महावीरस्स अंति ए धम्मं सोचा इडुतुडा सदहामि, णं जंते !
निगमं पावयणं जाव अञ्जुट्ठेमि, अहामुहं तमे अञ्जुणए
उत्तरपुरच्छिमे य सयमेव पंचमृष्टियं लोयं करेति, करेतिता
जाव अणगारे जाते जाव विहरति, तत्ते एं से अञ्जुणए अ-
णगारे जं चेव दिवसं मुंमे ० जाव पव्वइए तं चेव दिवसं सम-
णं जगवं महावीरं महावीरस्स वंदति, वंदतिता इमे एया-
रुवं उगहं उगिगहेति, कप्पाति, मं जावजीवाए छट्ठं छट्ठेण
अनिकखत्तेण तवौकस्मेणं अप्पाणं जावेमाणस्स विहरितिए
तिकट्टु अयमेयारुवं उगहं उगिगहेति, जावजीवाए विह-
रति, तत्ते एं अञ्जुणए अणगारे उट्ठक्खमणपारणयंसि
पढमपोरसीए सज्झायं करेति, जहा गोयममामी जाव अ-
रुति, तत्ते एं से अञ्जुणयं अणगारं रायगिहे णयरं उच्च-
नीचं च जाव अरुमाणं बह्वे इत्थी उ य पुरिसा य रुहरा
य महला य जुवाणा य एवं वयासी-इमे एं मे पितामातरं
इमे एं मे मां मारिया जायजगिणीजज्जा पुत्ते धूया सुएहा मा
मारिया, इमे एं मे अस्से य मयणमंबंधे परियणं मा मारेति, ति-
कट्टु अप्पेगइया अक्कोसंति, अप्पेगइया हीअंति, अप्पे ० निदंति,
अप्पे ० खिसति, अप्पेगइया गरहंति, अप्पे ० तज्जेति, तत्ते-
एं मे अञ्जुणए अणगारे तेहिं बह्माहं पुरसेहिं महत्थे
य जाव अक्कोसिज्ज मा जाव तात्थेणेते संमणसा वि अ पउ-

सस्ममाणे समं सहति, समं स्वपति, तितिवस्व, अहिज्जमा-
णे अहियासेइ, समं सहमाणे क्वमतो तितिवस्वति, अहिया-
सेति, रायगिहे णयरे ऊंचनीचमज्जिमकुलाइं अरुमाणे जइ
भत्तं हजति, तो पाणं न हभति, जइ पाणं हभइ, तो जत्तं
न हभइ, तत्ते णं ते अञ्जुणए अणगारे अदीणे अविमणे
अकलुसे अणाइहे अवीमादी अपरित्तजोगी अरुति, अ-
रुतित्ता रायगिहातो नगरातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खम-
त्तिता, जेणेव गुणसिलए चेइए जेणव समणे भगवं महावीरे
जहेव गोतममामी जाव पडिदंसेते २ समणं भगवं महावीरे
अवभणुस्सते समाणे अजुद्धिते ४ विद्वमिव पणगज्जतेण
अप्पाणेण तमाहारं आहारेति, आहारेत्तिता तत्ते णं समणे
भगवं महावीरे अन्नया कयाति, कयात्तिता रायगिहाओ
पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमत्तिता वहिया जणविहं विहारं
विहरति, तत्ते णं से अञ्जुणए अणगारे तेणं उरालेणं
विपुद्धेणं पयत्तेणं पगहिणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं
अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुसे उम्मासे सामसपरियागं
पाउणाति, अरुमामियाए संझेहणाए अप्पाणं जुमेति, ती-
सं भत्ताइं अणसणाए उदेति, उदेत्तिता जमडाते कीरति,
कीरत्तिता जाव सिद्धे ॥ अंतं ६ वर्गं ३ अं ।

स्वनामस्थाने तस्करभेदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । (तस्य
शब्दासक्तत्वात् 'सह' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अञ्जुणसुवस-अर्जुनसुवर्ण-न० । श्वेतकाञ्चन, औ० ।

अज्जोग-अयोग-पुं० । "सेवादौ वा" ॥ ८ । २ । ६६ ॥ इति प्राकृ-
तवृक्षणाञ्जस्य वा छित्वम् । योगवर्जितं, पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जोगि (ए)-अयोगिन्-पुं० । सेवादित्वाद् जद्वित्वम् । अ-
योगिकेवत्रिणि, " अज्जोगो अज्जोगी, संमत्तसज्जोगमि होति
जोगाउ " पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जुओ-देशी-प्रातिवेशिमके, दे० ना० १ वर्गं ० ।

अज्जुत्त-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्त्तते इत्यध्यात्मम् ।
चेतसि, दश० १ अ० । आचा० । प्रच० । स्थान० । ध्याने, आवा० ५ अ० ।
सम्यग्धर्मध्यानादिभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आत्मानमधि-
कृत्य यद्वर्त्तते तदध्यात्मम् । सुखदुःखादौ, "जे अज्जुत्तं (त्तं) त्यं जाण
इ से वहिया जाणइ, जे वहिया जाणइ से अज्जुत्तं जाणइ" आ-
चा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (आत्मनि इति अध्यात्मम्, 'अव्ययं विज्ञ०'
॥ १ । १६ ॥ इति पाणिनिमुच्यते समासः) आत्मनीत्यर्थे, उक्तं १ अ० ।
अध्यात्मस्य-न० । अध्यात्मं मनस्तस्मिन् तिष्ठत्यध्यात्मस्थम्,
प्राकृतत्वाद्दर्शलोपः, इष्टसंयोगानिष्टसंयोगादिहेतुभ्यो जाते सु-
खदुःखादौ, उक्तं । "अज्जुत्तं सव्वओ सव्वं, दिस्समाणे
पियायए" उक्तं ६ अ० ।

अज्जुत्तओग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायाम्,
धर्मध्याने च । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । योगभेदे च, तल्लक्षणम्-तत्राऽ-
नादिपरजाव औदयिकभावरमर्णयतां धर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टि-
हेतुं क्रियां कुर्वन् अधर्मे धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामय-
निःसंगशुद्धात्मभावनाज्ञावितान्तःकरणस्य स्वभाव एव धर्म
इति योगवृत्त्याऽध्यात्मयोगः । अष्ट० ८ अष्ट० ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।

मैत्र्यादिजावसंयुक्त-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ १ ॥

(औचित्यादिति) औचित्यादुचितप्रवृत्तिवृक्षणाद् वृत्तयुक्त-
स्याऽऽद्युत्तमहाव्रतसमन्वितस्य वचनाज्जिनागमात्तत्त्वचिन्तनं
जीवादिपदार्थसार्थपर्यालोचनं मैत्र्यादिभावैर्मैत्रीकरणाभिमितो-
पेक्षावृक्षणः समन्वितं सहितमध्यात्मं तद्विदोऽध्यात्मज्ञानारां
विदुर्जायते । द्वा० १८ द्वा० । " अज्जुत्तओगं गयमाणम्-
स्स " आचा० १ श्रु० ।

अज्जुत्तओगमाहणजुत्त-अध्यात्मयोगमाधनयुक्त-पुं० । अ-
ध्यात्मं मनस्तस्य योगा व्यापारा धर्मध्यानादयस्तेषां साध-
नान्येकाग्रतादीनि तैर्युक्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । चित्तैका-
ग्रताऽऽदिभाजि, उक्तं २६ अ० । " निव्विकारे णं जीवे वड-
गुत्ते अज्जुत्तओगसाहणजुत्ते या वि भवइ " उक्तं २६ अ० ।
अज्जुत्तओगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० अध्या-
त्मयोगेन सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धमवदात-
मादानं चरित्रं यस्य स तथा । शुभचेतसा विशुद्धचारित्र्ये,
" अज्जुत्तओगसुद्धादाणे उवट्टिए ठिअप्पा संखाए परद-
त्तभोई भिक्खू ति वच्चे " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जुत्तकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । केनापि कथञ्चना-
प्यपरिभूतस्य दौर्मेनस्यकरणरूपेऽष्टमे क्रियास्थाने, स्था० ५
ठा० २ उ० । कोङ्कणसाधारिव यदि सुताः सम्प्रति तत्रवृत्त-
राणि संज्वलयन्ति तदा भव्यमित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया ।
ध० ३ अधि० ।

अज्जुत्तज्जाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । अध्यात्मना शु-
भमनसा ध्यानं यत्तेन युक्तो यः स तथा । प्रशस्तध्यानापयुक्तं,
प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्जुत्तदंरु-अध्यात्मदंरु-पुं० । शोकाद्यभिभवेऽष्टमक्रिया-
स्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्जुत्तदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कपाये, सूत्र० ।

कोइ च माणं च तहेव मायं,

लोभं चउत्तं अज्जुत्तदोसा ।

एआणि वंता अरहा महेसी,

ए कुव्वई पाव ए कारवेइ ॥ १२६ ॥

(कोइ चेत्यादि) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छे-
दो भवतीति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कार-
णमत एतानध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान्
वान्त्वा परित्यज्याऽसौ भगवानर्हस्तार्थकृद् जातः । तथा म-
हर्षिश्च । एषं परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषान् भ-
वन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः पापं सावधमनुष्ठानं करोति,
नाप्यन्यैः कारयतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्जुत्तमयपरिक्खा-अध्यात्ममत्तपरीक्षा-स्त्री० । नामानुरूपा-
भिधेये, शतप्रन्थीकृता नयविजयशिष्येण यशोविजयवाच-
केन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० । द्वा० ।

अज्जुत्तरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश०
१० अ० ।

अज्जुत्तवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं०-आध्यात्मिकप्रत्ययि-
क-न० । आत्मनि अधि अध्यात्मम् । तत्र भव आध्यात्मिको द-

एडस्तत्प्रत्ययिकम् । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्निमित्तमे-
व दुर्मेना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरा-
वगाढः संतिष्ठते । सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

एतदेव सूत्रकारो व्यस्यन्नाह—

अहारे अष्टमे किरियाठाणे अङ्गुत्तवत्ति ए त्ति आहि-
ज्ज मे महा णामए केइ पुरिमे णत्थि णं केइ किं विमं-
वादेति समयेव हीणे दीणे छडे छम्पणे ओहयमणमंकप्पे
चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतन्नपल्लवमुहे अट्टज्जाणावे-
गए भूमिगयदिट्ठिए भियाइ तस्स णं अङ्गुत्तवत्तया आसं-
मइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ, तं कोहे माणे माया
लोहे अङ्गुत्तमेव कोहमाणमायालोहे एवं खलु तस्स त-
प्पन्नियं सावज्जंति आहिज्जइ अष्टमे किरियाठाणे अङ्गु-
त्तवत्ति ए त्ति आहि ए ॥ १६ ॥

अथापरमष्टमं क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवमा-
ख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषचित्तोपेक्षाप्रधानस्तस्य च
नास्ति कश्चिद्विस्वादिता न तस्य कश्चिद्विस्वादेन परिज्ञावे-
न वा सद्भूतोद्भावेन वा चित्तदुःखमुत्पादयति, तथाप्यसौ
स्वयमेव वर्णापसदवद् हीनो दुर्गतवद् हीनो दुश्चित्ततया दुष्टो दुर्मे-
नास्तथोपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । चिन्तै-
व शोक इति सागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकश्चिन्ताशोकः सागर
इव चिन्ताशोकसागरः । तथानूतश्च यदवस्थो जयति तद्दर्शय-
ति-करतले पर्यस्ते मुखं यस्य स तथा अहर्निशं भवति, तथाऽऽ-
र्त्तध्यानोपगतोऽपगतसद्भिर्वेकतया धर्मध्यानदूरवर्ती निर्निमित्त-
मेव द्रष्टोपहतवस्त्वयायति । तस्यैवं चिन्ताशोकसागरावगाढस्य
सत आध्यात्मिकान्यन्तःकरणोद्भवानि मनःसंस्तान्यसंशयि-
तानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि
प्रवृत्ति, तानि चैवं समाख्यायन्ते; तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मान-
स्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं क्रोधमान-
मायालोभा आत्मनोऽधि भवन्त्याध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्टं
मनो भवति । तदेव तस्य दुर्मेनसः क्रोधमानमायालोभवत् एव-
मेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्तं सावद्यं क-
र्माऽऽधीयते संशयते । तदेवमेतत्क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमा-
ख्यातमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अङ्गुत्तवयण-अध्यात्मवचन-न० । आत्मन्यधि अध्यात्मम्,
तच्च तद्वचनम् । हृदयगते वचनभेदे, पौरुषवचनानां सप्तमि-
दम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । आत्मन्यधि अध्यात्मं हृद-
यं तं तत्परिहारेणान्यद् भणियतस्तदेव । सहसा पतिते वचने,
विशे० । आचा० ।

अङ्गुत्तविंदु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामधेये ग्रन्थभेदे, “ये
यावन्तोऽध्वस्तवन्था अद्वयन्, जेदज्ञानान्यास एवात्र मूलम् । ये
यावन्तो ध्वस्तवन्था भवन्ति, जेदज्ञानाभाव एवात्र बीजम्” ॥१॥
इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ।

अङ्गुत्तविसीयण-अध्यात्मविपीदन-न० । संयमकष्टमनुजय
मनसि विवर्षीप्रवने, सूत्र० ।

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो जीरु वेहइ ।

वज्रयं गृह्णं गुणं, को जाणइ पराजयं ? ॥ १ ॥

(जहेत्यादि) दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भव-

त्यत आदावेव दृष्टान्तमाह-यथा कश्चिद्जीरुरकृतकरणः सं-
ग्रामकाले परानीकयुष्माऽवसरे समुपस्थितः पृष्ठतः प्रेङ्गते आदा-
वेवाऽऽपत्प्रतीकारहेतुचूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति । तदे-
व दर्शयति-(वज्रयमिति) यत्रोदकं वज्रयाकारेण व्यवस्थित-
मुदकरहिता वा गर्ता दुःस्वनिर्गमप्रवेशास्तथा गहनं धवादिवृ-
क्षैः कटिस्तस्थानीयम् (गुणं ति) प्रचञ्चन् गिरिगुहादिकम् । किमि-
त्यसावेवमवलोकयति ? यत एवं मन्यते तत्रैवचूतं तुमुवे संग्रामे
सुजटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति ? यतो
देवायत्ताः कार्यसिद्धयः स्तोकैरपि बहवो जीयन्ते इति ॥१॥

किञ्च-

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।

पराजिया वसप्पामो, इति जीरु अवहेइ ॥२॥

मुहुर्तानामेकस्य वा मुहुर्तस्यापरो मुहुर्तः कालविशेषलक्ष-
णोऽवसरस्तादृग्भवति यत्र जयः पराजयो वा संभाव्यते, त-
त्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयमपसर्पामो नश्याम इत्येतदपि
संभाव्यते, अस्मद्विधानमिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं
शरणमपेक्षते ॥२॥

श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं तु समणा एगे, अवलं नच्चा ण अप्पगं ।

अणागयं जयं दिस्स, अ विकंपंति मं सुयं ॥३॥

यथा संग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति किमत्र मम
पराभद्रस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति, एवमेव
श्रमणाः प्रवृत्तिता एके केचनाऽदृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मा-
नमवलं यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव
भयं दृष्टोत्प्रेद्य । तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां
ग्लानावस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमार्जाविकाभ-
यमुत्प्रेद्य विकल्पयन्ति परिकल्पयन्ति मन्यन्ते, इदं व्याकरणं,
गणितं, ज्योतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतम-
धीतं ममाऽयमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥

एतच्चैते विकल्पयन्तीत्याह-

को जाणइ विज्जातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।

चोइज्जंता पक्खामो, एण णो अत्थि पक्खियं ॥४॥

अल्पसत्त्वाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहुनि प्रमाद-
स्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानाति कः परिच्छिन्नचित्तं व्यापातं
संयमजीविताद् भ्रज्यन्तम् । केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः
स्यादिति । किं स्त्रीतः स्त्रीपरीषदाद् उतोदकात् स्नानार्थमुदका-
सेवनान्निलाषादित्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न नोऽस्माकं किं-
चन प्रकल्पितं पूर्वोपाजितद्वयजातमस्ति, यत्तस्यामवस्थाया-
मुपयोगं समेत्य यास्यति, अतश्चोद्यमानाः परेणापृच्छ्यमानाः ह-
स्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं वा प्रवक्ष्यामः कथ-
यिष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः संप्रधार्य व्याकरणा-
दौ श्रुते प्रयतन्ते इति । न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावा-
प्तिर्भवतीति । तथा चोक्तम्—“ उपशमफलाद्विद्यार्वाजात्फलं
धनमिच्छताम्, भवति विफलो यथायासस्तदत्र किमद्व्युत्तम् ?
न नियतफलाः कर्तुर्जायाः फलांतरमीशते, जनयति खलु वीहे-
वीजं न जातु यवाङ्कुरम्” ॥१॥

उपसंहारार्थमाह—

इच्चैवं पल्लेहंति, वलया पार्लेहिणो ।

वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविद्या ॥ ९ ॥

इत्येवमिति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः । यथा भीरवः संग्रामे प्रवि-
विक्लवो बलयादिकं प्रत्यपेक्षिणो भवन्तीत्येवं तेऽपि प्रवर्जिता
मन्दभाष्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्याकरणादिकं जी-
वनोपायत्वेन प्रत्यपेक्षन्ते परिकल्पयन्ति । किंभूताः विचिकि-
त्सा चित्तविप्लुतिः, किमेनं संयमभारमुत्किंसमन्तं नेतुं वयं सम-
र्थाः, उत नेतीत्येवंचूताः । तथा चोक्तम्—“ लुक्खमणुएहमणि-
ययं, कालाङ्कतं भायणं विरसं । जूमीसयणं दोओ, असिणा-
णं शेनचेरं च ” ॥ १ ॥ तां समापन्नाः समागताः । यथा पन्थानं
प्रत्यकोविदा अनिपुणाः—किमयं पन्था विवक्तिं भूभागं या-
स्यत्युत नेति?, इत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि
संयमभारवहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं
जीविकार्थं प्रत्यपेक्षन्त इति ॥ ५ ॥

साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—

जे उ संगमकालाम्पि, नाया सूरपुरंगमा ।

णो ते पिट्टमुवोर्हति, किं परं मरणं सिया ? ॥ ६ ॥

ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः, संग्रामकाले परा-
नीकयुद्धावसरे ज्ञातारो लोकविदिताः, कथम्?, दूराणामग्रग-
मिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, एवंभूताः संग्रामं
प्रविशन्तो न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते न दुर्गादिकमापन्नाणाय पर्यालोच-
यन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयोऽपि त्वेवं मन्यन्ते—किमपरमत्रा-
स्माकं भविष्यति, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतम्, यशः प्रवा-
हमिच्छतामस्माकं स्तोत्रं वर्तत इति । तथा चोक्तम्—“ विश-
रासुभिरविनश्वर-मतिचपलैः स्थासु वाञ्छतां विशदम् । प्राणै-
र्यदि च सुराणां, भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? ” ॥ ६ ॥

तदेवं सुनटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं समुट्टिणं भिक्खू, वोसिज्जाऽगारवंधणं ।

आरंजं तिरियं कट्टु, आतत्ताए परिव्वण ॥ ७ ॥

एवमित्यादि । यथा-सुभट्टा ज्ञातारो नामतः कुलतः शौर्यतः
शिक्षातश्च, तथा सन्निवद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभट्ट-
समितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवशोकयन्ति । एवं भिक्खुरपि साधु-
रपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकपायादिकमरिच-
नं जेतुं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः । तथा चोक्तम्—
“कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचेदियाणि य । पुज्जयं चेवमप्पा-
णं, सव्वमप्पे जिणं जियं” ॥ १ ॥ किं कृत्वा समुत्थितः? इति दर्शयति-
व्युत्सृज्य त्यक्त्वा, अगारबन्धनं गृहपाशम् तथा आरंजनं सावद्या-
नुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्वाऽपहस्तयित्वाऽऽत्मनो ज्ञाय आत्मत्वमशेष-
कर्मकलङ्कारहितं तस्मै आत्मत्वाय । यदि वा आत्मा मोक्षः, संय-
मो वा, तज्ज्ञावस्तस्मै तदर्थं, परि समंताद् वजेत् संयमानुष्ठानक्रि-
यायां दत्ताज्ञानो भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ सूत्रं १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
अज्जत्तविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
सूत्रं १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अज्जत्तविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । ३ त० ।

विशुद्धभावे, “जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग-
स्स । सा होइ णिउजरफला, अज्जत्तविसोहिजुत्तस्स” ॥ १ ॥ ओ० ।

अज्जत्तवेइ (ण) -अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्व-
रूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्जत्तसंघुद-अध्यात्ममवृत्त-त्रि० । अध्यात्मं मनस्तेन संवृतः ।

स्त्रीजोगादत्तमनासि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । “वद्गुत्ते
अज्जत्तसंघुदे परिवज्जए सया पावं” आचा० १ श्रु० ४ अ० ४
उ० । सूत्रं ० ।

अज्जत्तसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानु-
सारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्जत्तसुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादन-
शास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्जत्तसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशु-
द्धिरेव फलदानवाह्यशुद्धिः, जगतचक्रवर्तिनः बाह्यकरणस्य रजो-
हरणादेरभावेऽपि अध्यात्मशुद्ध्यैव केवलोत्पत्तेः । प्रसन्नचन्द्र-
स्य च बाह्यकरणवतोऽपि आन्तरिककरणविकलस्य सममपृथि-
वीप्रायोग्यकर्मवन्धात् पश्चाद्वर्तित्या अध्यात्मशुद्ध्यैव मोक्षगम-
नात् । आ० चू० १ अ० ।

अज्जत्तसोहि अध्यात्मशोधि-त्रि० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १
अ० । (वर्णनमस्य ‘अज्जत्तसुद्धि’ शब्दे कृतम्)

अज्जत्तिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मानि अधि-अध्यात्मम्, तत्र
भव आध्यात्मिकः । आत्मविषये, आ० म० प्र० । भ० । वि० ।
ज्ञा० । नि० । “अज्जत्तियं चित्तिणं” आत्मनि क्रियमाणे, “पर-
किरियं अज्जत्तियं संसेइयं णो तं सातिणं” आचा० २ श्रु० १३
अ० । आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, आध्यात्मिकं दुःखं द्वि-
विधम्-शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनि-
मित्तम्; मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् ।
सर्वं चेतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति साङ्गधाः ।
स्या० । अध्यात्मनि मनसि भव आध्यात्मिकः । बाह्यनिमित्तान-
पेक्षे शोकाग्निभवे; “अष्टमं क्रियास्थानमेतत्” स० ।

अज्जत्तियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । आत्मन्याधि इति
अध्यात्मम्, तत्र जवमाध्यात्मिकम् । आन्तरशक्तिजनितं सात्त्वि-
कमित्यर्थः । तच्च वीर्यं चेति । “उज्जमधितिधीरत्तं; सौमीरत्तं
खमा य गंजीरं । उवओगयोगतव सं-जमादि य होइ अज्जु-
प्पो” ॥ १ ॥ इत्युक्तेः उद्यमधृत्वादौ, सूत्रं १ श्रु० ८ अ० ।

अज्जत्त-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्तत इत्यध्यात्मम् ।
सम्यग्धर्मध्यानादिज्ञावनायाम्, सूत्रं १ श्रु० ८ अ० ।

अज्जत्तयोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणता-
याम्, धर्मध्याने च । सूत्रं १ श्रु० १६ अ० । (निरूपणमस्य ‘अ-
ज्जत्तयोग’ शब्दे कृतम्)

अज्जत्तयोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्तै-
काग्रतादिज्ञाजि, उक्त० २६ अ० ।

अज्जत्तयोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
भचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्रं १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जत्तजोग-अध्यात्मयोग-पुं० । योगभेदे, अष्ट० ६ अष्ट० ।
(वक्तव्यताऽस्य ‘अज्जत्तयोग’ शब्दे)

अज्जत्तजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्तै-
काग्रतादिज्ञाजि, उक्त० २६ अ० ।

अज्जत्तजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
भचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्रं १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जत्तजजाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानो-
पयुक्ते, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा० ।

अभक्त्यदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।
 अभक्त्यदोष-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, शब्द० १४ अष्ट० ।
 अभक्त्यमपरिक्खा-अध्यात्ममत्तपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयवाचकं कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।
 अभक्त्यपर्य-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।
 अभक्त्यवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।
 अभक्त्यवयवण-अध्यात्मवचन-न० । पोरुशवचनानां सप्तमे वचने, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।
 अभक्त्यविपीपण-अध्यात्मविपीदन-न० । संयमकष्टमनुजय मनसि विपक्वाभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (विवृतिरस्य 'अभक्त्यविपीपण' शब्दे निरूपिता)
 अभक्त्यविमुक्त-अध्यात्मविमुक्त-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।
 अभक्त्यविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोध्युक्त-त्रि० । विशुद्धभावे, श्रौ० ।
 अभक्त्यवेड (ए)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।
 अभक्त्यसंवृत्त-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादत्तमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।
 अभक्त्यसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।
 अभक्त्यमुद्-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।
 अभक्त्यमुद्दि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।
 अभक्त्यसोहि-अध्यात्मशोधिन्-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।
 अभक्त्यिय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० म० प्र० । आन्तरोपायसाधये सुखदुःखादौ, स्या० ।
 अभक्त्यियवीर्य-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।
 अभक्त्योवाहिसंवन-अध्यस्तोपाधिसम्बन्ध-पुं० । आत्मनि प्राप्तपुल्लसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलरूपकस्यैव, सदृशं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जस्तत्र विमुह्यति" ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।
 अभक्त्य-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आद्य० १ अ० ।
 अभक्त्यप्राग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणशुद्धे धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यप्रागमाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अभक्त्यप्रागमाहण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शुद्धचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यपिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । अष्टमे क्रियास्थाने, स्या० ५ उ० २ उ० ।
 अभक्त्यप्राग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायां धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यप्रागमाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्तकाप्रतादि प्राप्ति, उक्त० २ए अ० ।
 अभक्त्यप्रागमाहण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शुभभावेन विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यप्रागमाहणजुत्त-अध्यात्मसाधनयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।
 अभक्त्यपदं-अध्यात्मदण्ड-पुं० । शोकाद्यजिज्ञासुरूपे अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।
 अभक्त्यपदोष-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यपविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनामख्याते ग्रन्थे, अष्ट० १४ अष्ट० ।
 अभक्त्यपमपरिक्खा-अध्यात्ममत्तपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयकृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।
 अभक्त्यपर्य-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।
 अभक्त्यवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।
 अभक्त्यवयवण-अध्यात्मवचन-न० । हृदयगते वचनभेदे, पोरुशवचनानां सप्तममिदम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।
 अभक्त्यविपीपण-अध्यात्मविपीदन-न० । संयमकष्टमनुजय मनसि विपक्वाभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
 अभक्त्यविमुक्त-अध्यात्मविमुक्त-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।
 अभक्त्यविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोध्युक्त-त्रि० । विशुद्धभावे, श्रौ० ।
 अभक्त्यवेड (ए)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।
 अभक्त्यसंवृत्त-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादत्तमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।
 अभक्त्यसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।
 अभक्त्यमुद्-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।
 अभक्त्यमुद्दि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।
 अभक्त्यसोहि-अध्यात्मशोधिन्-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।
 अभक्त्यिय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० म० प्र० । आन्तरोपायसाधये सुखदुःखादौ, स्या० ।
 अभक्त्यियवीर्य-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।
 अभक्त्योवाहिसंवन-अध्यस्तोपाधिसम्बन्ध-पुं० । आत्मनि प्राप्तपुल्लसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलरूपकस्यैव, सदृशं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जस्तत्र विमुह्यति" ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।
 अभक्त्य-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आद्य० १ अ० ।
 अभक्त्यप्राग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणशुद्धे धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।
 अभक्त्यप्रागमाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जप्पियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-म० । उद्यमधृत्वादौ,
सूत्र० १, शु० ८ अ० ।

अज्जयण-अध्ययन-न०। अधीयते ज्ञायन्ते एभिरित्यध्ययनानि ।
नामसु (वाचकशब्देषु), “ता क धं देवताणं अज्जयणं आहिताति-
वण्जा ” चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० । अधीयते विनेयादिकमेण
गुरुस्मयी इत्यध्ययनम् । विशिष्टार्थध्वनिसंदर्भरूपे श्रुतज्ज्ञे, जी०
१ प्रति० । “अज्जयणं पिय तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुजए चेव”
विशे० । तन्निक्षेपो यथा-

से किंतं अज्जयणे? । अज्जयणे चतुर्विहे पण्णत्ते । तं जहा-
णामज्जयणे, उवणज्जयणे, दव्वज्जयणे, भावज्जयणे । एा-
मद्ववणाओ पुव्ववप्पिआओ । से किंतं दव्वज्जयणे? । दव्वज्ज-
यणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ, एाआगमओ अ ।
मे किंतं आगमओ दव्वज्जयणे? । आगमओ दव्वज्जयणे जस्स
एां अज्जयणं चि पदं मिक्खितं तितं जितं मितं परिजितं जाव
एवं जावइआ अणुवउत्ता आगमओ तावइआइं दव्वज्ज-
यणाइं । एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा
जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्जयणे । से किंतं णो आगमओ दव्व-
ज्जयणे? । णो आगमओ दव्वज्जयणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-
जाणगसरीरदव्वज्जयणे, भविअसरीरदव्वज्जयणे, जाणग-
सरीरजविअसरीरवइरित्ते दव्वज्जयणे । से किंतं जाणगसरी-
रदव्वज्जयणे? । जाणगसरीरदव्वज्जयणे अज्जयणपदस्थाहि-
गारजाणयस्स जं सरीरं ववगयचुअचाविअचत्तेदहं जीववि-
प्पजहं जाव अहोणं इमेणं सरीरस्समुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भा-
वेणं अज्जयणे चि पदं आघवितं जाव उवदंसितं जहा-को दिट्ठं
तो-अयं घयकुंभे आसी, अयं महकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरी-
रदव्वज्जयणे । से किंतं भवियसरीरदव्वज्जयणे? । भवियस-
रीरदव्वज्जयणे जे जीवे जोणिजम्पणनिकखंते इमेणं चेव आ-
दत्तएणं सरीरस्समुस्सएणं जिणदिट्ठेणं जावेणं अज्जयणे चि
पदं से अकावे मिक्खिस्ससति, न ताव सिक्खति, जहा-को दि-
ट्ठतो-अयं महकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे जविस्सइ, सेत्तं भ-
विअसरीरदव्वज्जयणे । से किंतं जाणगसरीरजविअसरीरवइ-
रित्ते दव्वज्जयणे? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्ज-
यणे पत्तयपोत्थयलिखितं, सेत्तं जाणगसरीरभवियसरीरवइ-
रित्ते दव्वज्जयणे । सेत्तं णो आगमओ दव्वज्जयणे । से किंतं भा-
वज्जयणे? । भावज्जयणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ
एा आगमओ अ । से किंतं नो आगमओ भावज्जयणे? । अ-
ज्जप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचओ उवचिआणं । अणु-
वचउ न वियाणं, तस्मा अज्जयणमिच्छइ ॥ १ ॥ सेत्तं णो
आगमओ भावज्जयणे, सेत्तं भावज्जयणे, सेत्तं अज्जयणे ।
(से किंतं अज्जयणे इत्यादि) नामस्थापना, अव्यजावभेदात् ।
चतुर्विधोऽप्यध्ययनशब्दस्य निक्षेपः । तत्र नामादिविचारः सर्वो-
ऽपि पूर्वोक्तव्यावश्यकानुसारेण वाच्यः, यावन्मो आगमतो प्रा-
वाध्ययने । अज्जप्पस्सायणमित्यादिगाथाव्याख्या-अस्य सचिस्त-
स्य आणयणं, इह निरुक्तविधिना प्राकृतस्वाभाव्याच्च पकारस-

काराऽऽकारणकारवृत्तणमध्यगतघणं चतुष्टयत्रोपे अज्जयणमिति
भवति, अध्यात्मं चेतस्तस्यायनमध्ययनमुच्यते इति ज्ञावः । आ-
नीयते च सामायिकाद्यध्ययने शोभनं चेतोऽस्मिन् सत्यगुणक-
र्मप्रयन्धनात् । अत एवाह-कर्मणामुपचितानां प्रागुपनिबद्धानां
यतोऽपचयो हासोऽस्मिन् सति विद्यते नयानां चानुपचयो व-
न्धो यस्तस्माद्धीदं यथोक्तशब्दार्थप्रतिपत्तेः ‘अज्जयणं’ प्राकृत-
भाषायामिच्छन्ति सूरयः, संस्कृते त्विदमध्ययनमुच्यते इति ।
सामायिकादिकं चाध्ययनं ज्ञानक्रियासमुद्भात्मकम् । ततश्चागम-
स्यैकदेशवृत्तित्वान्नो आगमतोऽध्ययनमिदमुक्तमिति गाथार्थः ।
अनु० “जण सुहण्णज्जयणं, अज्जप्पणयणं महियणयणं वा ।
वाहस्स संजमस्स व, मोक्खस्स व जं तमज्जयणं” । १ । इह नैरु-
क्तेन विधिना प्राकृतस्वाभाव्याच्च सिद्धम् । विशे० । आ० म० द्वि० ।

निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह-

अधिगममंति व अत्था, अणण अधिगं व णयणमिच्छंति ।

अधिगं व साहु गच्छति, तस्मा अज्जयणमिच्छंति । उक्त० नि०
अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वाऽर्था जीवाद्योऽनेनाधिकं वा
नयनं प्रापणं मर्यादात्मनि ज्ञानादीनामनेनेतीच्छन्ति, विद्वां-
स इति शेषः । अधिकमनर्गत्वं शीघ्रतरमिति यावत्, वा सर्वत्र
विकल्पार्थः । (साहु चि) साधयति पौरुषेयीभिविशिष्टक्रिया-
जिरपवर्गमिति साधुर्गच्छति यानर्थान् मुक्तिम्, अनेनेत्यत्रापि यो-
ज्यते, यस्मादेवमेवं च ततः किमित्याह-तस्मादध्ययनमिच्छ-
न्ति, निरुक्तिविधिनाऽर्थनिर्देशपरत्वाद् वा । अस्यायतेरेतेर्वा अधि-
पूर्वस्याध्ययनमिच्छन्तीति वाऽभिधानम् । सर्वत्र सुत्रार्थावा-
धया व्याख्याविकल्पानां पूर्वार्थसंमतत्वेनाहुष्टव्यापना-
र्थमिति गाथार्थः । उक्त० १ अ० । अनु० । आ० म० । दश०
स्था० । सूत्र० । अधीयते इत्यध्ययनम् । कर्मणि ल्युट् । पठ्य-
माने, आव० ४ अ० । धर्मप्रज्ञौ, दश० ४ अ० । “अध्ययनानि
दुलोक्युतानि ”

चोयालीसं अज्जयणा इसिजासिया दियालोगच्छुया
भामिया ।

चतुश्चत्वारिंशतं (इसिभासिय चि) ऋषिभाषिताध्ययनानि
कालिकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयच्छुयाभासिय चि) देवलो-
कच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभाषितानि । क-
चित्पाठस्तु-“ देवलोयच्छुयाणं चोयालीसं इसिभासियज्जयणा
पन्नत्ता ” । सम० ४३ सम० । अधि-इड्-जावे ल्युट् । पुनः पु-
नर्ग्रन्थाज्यासे, विशे० । स्वाध्याये, षो० १३ विध० । पठने, गु-
रुमुखोच्चारणानुसारिणि उच्चारणे च । वाच० । (पठनवक्तव्यताऽ
खिला ‘उहेस्’ ‘वायणा’ ‘उवसंपया’ इत्यदिशब्देषु द्रष्टव्या)
अज्जयणकप्प-अध्ययनकल्प-पुं० । योग्यताऽनुसारेण वाचना-
दानसामाचार्याम्, पं० भा० ।

वक्खातां सुतकप्पो, एतो वोच्छामि अज्जयणकप्पं ।

दायवं जेण विहिणा, जग्गुणजुत्तस्स वा तं तु ॥

जोए परियाए अण-रिहे अरहे य विणयपण्णत्ते ।

सुत्तत्थ तदुभएसुं, जे अज्जयणेसु अणुभागा ॥

जस्सागाढो जोगो, तं आगाढे ए चेव दायवं ।

अणगाढे अणगाढं, एतो वोच्छामि परियाणं ॥

जं राखपरिमाणं, जणितं सुत्तामि तिवरिसादीयं ।

ते तेणं माणेणं, उदिसियव्वं जवे सुत्तं ॥
 खुडियविसाणयविज-त्तिमादि दीहे च जूयमायाए ।
 एवि दिज्जांति अणरिहे. अणरिहेत्ते तु इमो होंति ॥
 निनिणिण् चलचित्ते, गाणं गाणिण् य पुव्वलचरित्ते ।
 आयारिय पारिभावी, वामायट्टे य पिसुणं य ॥
 आदी अदिट्ठभावे, अकुरुममायारिण् तरुणभम्मे ।
 गव्वितपःइहणिएहइ, उदसुत्ते वज्जितो अउरुहरो ॥
 अकुलीणो ति य दुम्मे-हो दमगे मंदवुद्धि ति ।
 अवियपलाभलप्पी, सीसो परिजवइ आयारिण् ॥
 मो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियतो य मिक्खवउ चेव ।
 मो मिक्खितो वि निविहो, सुत्ते अत्ये य तदुजयणं ॥
 एतेमि अणरिहाणं, जे पन्निक्खवाउ होंति मव्वेसि ।
 परिणामगा य जे तु, ते अरिहा होंति णायव्वा ॥
 एतारिमे विणीतो, सुत्ते अत्ये य जत्तिया भेदा ।
 अज्जयणा वेसजुया, सेणा अमेसए देज्जा ॥ पं० जा० ।

('सुय' शब्देऽस्य विस्तरः छद्मः)

अज्जयणगुणानि उक्त-अध्ययनगुणानियुक्त-वि० । प्रकान्तशा-
 स्त्रनिष्पन्दभृते प्रकान्ताध्ययनाजिहितगुणसमन्विते, दश० ए
 अ० ४ उ० ।

अज्जयणगुणि (ण)-अध्ययनगुणिन्-वि० । प्रकान्ताध्यय-
 नोक्तगुणवति, दश० १० अ० ।

अज्जयणल्लक-अध्ययनपट्क-न० । आवश्यकनामभृते, तस्य
 नामायािकादिपरुध्ययनकलापात्मकत्वात् । विशेष० ।

अज्जयणल्लकवग-अध्ययनपट्कवर्ग-पुं० । आवश्यके, पडध्य-
 यनकलापात्मकत्वात्तस्य । विशेष० । अनु० ।

अज्जवसाण-अध्यवसान-न० । अतिहर्षविपादाज्यामधिकम-
 वसानं चिन्तनमध्यवसानम् । विशेष० । रागस्नेहभयात्मकेऽध्य-
 वसाये, स्वा० ७ टा० । रागभयस्नेहभेदान्त्रिविधमध्यवसानम् ।
 (तन्निमित्तक आयुज्जोदे डि० भा० १० पृष्ठे 'आउ' शब्दे वक्ष्यते)
 अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मानस्यापरिणतो,
 हा० १ श्रु० १ अ० । उक्त० । "मणसंकप्पेत्ति वा अज्जवसाण-
 ति वा एगट्ठा" नि० चू० १० उ० । प्रकपितोऽपि प्रयत्नभेदे, अनु० ।
 विशेष० । आ० ।

एणइयाणं जंते ! केवतिया अज्जवसाणा पसत्ता ? ।

गोयमा ! असंखिज्जा अज्जवसाणा पसत्ता ते णं जंते !
 किं पमन्या, अपमन्या ? । गोयमा ! पसत्या वि अपसत्या
 वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

अध्यवसायचिन्तायां प्रत्येकनैरयिकादीनामसंख्येयाध्यवसाना-
 नि प्रत्येकं प्रायोऽन्यान्याध्यवसायनात्वात् । प्रज्ञा० ३४ पद ।
 अन्तःकरणे, आ० म० डि० । उपा० । प्रज्ञा० । आच० ।

अज्जवसाणजोगणिव्वत्तिय-अध्यवसानयोगनिर्वर्तित-वि० ।
 अध्यवसानं जीवपरिणामः, योगश्च मनःप्रभृतित्यापारस्तान्यां
 निर्वर्तितो यः स तथा । परिणामेन मनोयोगादिना चासाधितं,
 म० २५ श्रु० ८ उ० ।

अज्जवसाणणिव्वत्तिय-अध्यवसाननिर्वर्तित-वि० । मनःप-
 रिणतिसाध्ये, " अज्जवसाणणिव्वत्तियं करणोवाणं से य
 काले तं गाणं विप्पज्जहिता " अध्यवसाननिर्वर्तितेन उल्लो-
 तव्यं मयेत्येवंरूपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । म० २५ श्रु० ८ उ० ।

अज्जवसाणावरणिज्ज-अध्यवसानावरणीय-न० । अध्य-
 वसानस्याऽऽवरणरूपं कर्मभेदे, म० ६ श्रु० ३१ उ० ।

अज्जवसाय-अध्यवसाय-पुं० । अधि-अव-पौ-घञ् । इदमेवेति
 विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्म इति नैयायिकाः । बुद्धिधर्म
 इति वेदान्तिनः । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धिः
 रजस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रकः सोऽयमध्यवसाय इति
 वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति साङ्ख्याः । उत्साहे,
 वाच० । संकल्पे, आच० ३ अ० । सूत्रमेव आत्मनः परिणामविशेषेषु,
 आच० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अनुभागबन्धस्थाने, "अनुभाग-
 बन्धगाणं, अज्जवसाया व एगट्ठा" पं० सं० ३ हा० । पं० चू० ।
 अज्जवसायट्ठाण-अध्यवसायस्थान-न० । परिणामस्थाने, तानि
 करणत्रयेऽसंख्यानि । अष्ट० ५ अष्ट० । ('करण' शब्दे तू० जा०
 ३६१ पृष्ठे दृश्यानि चैतानि)

अज्जवसिञ्चं-निवापिते, मुख्ये च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जवमिय-अध्यवसित-न० । अध्यवसाये, अनु० ।

अज्जस्सं-देशी-आकृष्टे, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जहिय-आत्महित-न० । आत्मनां हितमात्महितम् ।
 स्वहिते, प्रश्न० १ संव० हा० ।

अज्जा-देशी-असत्याम्, शुभायाम्, नववध्वाम्, तरुणायाम्,
 एतस्यां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जाय-अध्याय-पुं० । आ मर्यादया प्रवचनोक्तेन प्रकारेण
 पठनमध्यायः । स्वाध्यायकरणे, प्रव० । अध्ययने, आव० ४ अ० ।
 स्था० । कर्मणि घञ् । वेदादिशास्त्रस्यैकार्थकविषयसमाप्ति-
 द्योतके विश्रामस्थानरूपे अंशविशेषे, वाच० ।

अज्जारुह-अध्यारुह-पुं० । उपर्युपर्यध्यारोहन्तीति अध्यारुहाः ।
 वृक्षोपरिजातेषु वृक्षान्निधानेषु कामवृक्षाभिधानेषु वा वनस्पतिषु,
 सूत्र० । ते च वल्लीवृक्षान्निधाना इति वृक्षाणां शास्त्राप्ररोहे च । सूत्र०
 २ श्रु० ३ अ० । प्रज्ञा० । आच० । (अध्यारुहतयोत्पन्नानां जीवा-
 नामाहारशरीरवर्णादिव्यवस्था 'वणस्सइ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जारोव-अध्यारोप-पुं० । अधि-आ-रुह-णिच्-पान्ता-
 देशः-घञ् । अतस्मिन् तद्वुद्धौ, यथा-रज्जौ सर्पधीः । वाच० ।
 भ्रान्तौ, यो० ४ चिव० ।

अज्जारोवण-अध्यारोपण-न० । अधि-रुह-णिच् । पान्तादेशः,
 ल्युट् । अतिशयेनाऽऽरोपणे धान्यादेर्वपने, वाच० । पर्य्यनु-
 योजने, विशेष० ।

अज्जारोवमंरुल-अध्यारोपमण्डल-न० । अध्यारोपो भ्रान्ति-
 स्तया मण्डलं मण्डलाकारम् । मिथ्याज्ञानेन वृत्ताऽऽकाराऽऽ
 रोपणे, " आगमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तत्त्वतोऽसदेव " यो० ४ चिव० ।

अज्जारोह-अध्यारोह-पुं० । वृक्षाणां शास्त्राप्ररोहे, सूत्र० २
 श्रु० ३ अ० ।

अज्जावय-अध्यापक-पुं० । अध्यापयति । अधि-इह-णिच्,

एवम् । अध्ययनकारयितरि, वाच० । उपाध्याये च, “अज्जा-
व्याणे पडिकूलभासी ” उत्त० १२ अ० । आ० म० । आ० चू० ।
अज्जावसत-अध्यावसत्-त्रि० । मध्ये वर्तमाने, “गिहमज्जा-
वसतस्स ” गृहमध्यावसतः-गृहे वर्तमानस्य । उपा० १ अ० ।
अज्जावसित्ता-अध्युष्य-अव्य० । मध्ये वर्तयित्वेत्यर्थे, “पंच-
तिथ्यग्रा कुमारवासमज्जावसित्ता ” स्था० ४ डा० ३ उ० ।
अधिष्ठायेत्यर्थे च । वाच० ।

अज्जासणा-अध्यासना-स्त्री० । सहने, उत्त० २ अ० । (परी-
षहणामध्यासहना ‘परीसह’ शब्दे दृष्ट्या)

अज्जाहार-अध्याहार-पुं० । अध्यारुह्यते ज्ञानायाऽनुसन्धी-
यते । अधि-आ-ह-घञ् । आकाङ्क्षाविषयपदानुसन्धाने, ऊहे,
तर्के, अपूर्वोत्प्रेक्षणे च । वाच० । व्याख्याऽङ्गमेव । आचा० १
श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अज्जीण-अङ्गीण-न० । अर्थिभ्योऽनवरतं दीयमानमपि वर्द्धत
एव, न तु क्षीयत इत्यङ्गीणम् । अथवा व्यवच्छिन्ननयमतेन
सर्वदैव व्यवच्छेदादलीकवदक्षीणम् । विशेष० । आ० म० ।
सामायिकचतुर्विंशतिस्तवात्मक अध्ययने, अनु० ।

अस्य निक्षेपः-

से किंतं अज्जीणे ? । अज्जीणे चतुर्विधे पस्यते । तं जहा-
णामज्जीणे, ठवणज्जीणे, दव्वज्जीणे, जावज्जीणे । नामउ-
वणाओ पुवं वसिआओ । से किंतं दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे
दुविहे पस्यते । तं जहा-आगमओ अ, एणोआगमओ अ । से किं-
तं आगमओ दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे जस्स एं अज्जीणे चि-
पदं सिक्खित्तं जितं भितं परिजितं जाव सेत्तं आगमओ दव्व-
ज्जीणे । से किंतं नो आगमओ दव्वज्जीणे ? । नोआ० दव्व-
ज्जीणे ति विहे पस्यते । तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्जीणे, जवि
असरीरदव्वज्जीणे, जाणगसरीरजविअसरीरवइरित्ते दव्व-
ज्जीणे । से किंतं जाणगसरीरदव्वज्जीणे ? । जाणगसरीरदव्व-
ज्जीणे अज्जीणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगय-
चुअचाविअचत्तदं जहा दव्वज्जयणे तथा जाणिअवं जाव
सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्जीणे । से किंतं जविअसरीरदव्वज्जी-
णे ? । जविअसरीरदव्वज्जीणे जे जीवे जोणिजम्मणिनिक्खं-
ति जहा दव्वज्जीणे जाव सेत्तं जविअसरीरदव्वज्जीणे ।
से किंतं जाणगसरीरजविअसरीरवइरित्ते दव्वज्जीणे ? ।
दव्वज्जीणे सव्वागाससेदी सेत्तं जाणगसरीरजविअसरी-
रवइरित्ते दव्वज्जीणे, सेत्तं नो आगमओ दव्वज्जीणे, सेत्तं
दव्वज्जीणे । से किंतं जावज्जीणे ? । भावज्जीणे दुविहे
पस्यते । तं जहा-आगमओ अ, नो आगमओ अ । से किंतं आ-
गमओ भावज्जीणे ? । जावज्जीणे जाणए उवइत्ते । सेत्तं आ-
गमओ भावज्जीणे । से किंतं नो आगमओ भावज्जीणे ? ।
जह दीवा दीवसत्तं, पइप्पए दीप्पए अ सो दीवो । दीवसमा
आयरिआ, दिप्पंति परं च दीवंति ॥ १ ॥ सेत्तं नो आ-
गमओ जावज्जीणे, सेत्तं जावज्जीणे, सेत्तं अज्जीणे ॥

अत्रापि तथैव विचारः, या तु (सव्वागाससेदी ति)
सर्वाकाशं लोकालोकनभःस्वरूपम्, अस्य संबन्धभ्रष्टः प्रदे-
शापहारतोऽपह्नियमाणाऽपि न कदाचित् क्षीयते, अतो ज-
शरीरभग्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्य-
ता चास्याऽऽकाशद्रव्यान्तर्गतत्वादिति । अत्र वृद्धा व्याचक्षते-
यस्माच्चतुर्दशपूर्वविद आगमोपयुक्तस्यान्तर्मुहूर्तमात्रोपयोग-
काले येऽर्थोपलम्भोपयोगपर्यायास्ते प्रतिसमयमेकैकापहारे-
णानन्ताभिरप्युत्सर्पिणीभिर्नापह्नियन्ते, अतो भावाक्षीणतेहा-
वसेया । नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिष्येभ्यः सामायिका-
दिश्रुतप्रदानेऽपि स्वात्मन्यनाशादित्यतदेवाह— (जह दीवा)
यथा दीपादन्धिनूतादीपशतं प्रदीप्यते प्रवर्तते, स च मूलभूतो
दीपस्तथापि तेनैव रूपेण प्रवर्तते, न तु स्वयं क्षयमुपयाति । प्र-
कृते संबन्धयन्नाह-एवं दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते स्वयं वि-
वर्तितश्रुतत्वेन तथैवावतिष्ठन्ते, परं च शिष्यवर्गो दीपयन्ति-श्रुत-
सम्पदं लभन्त्यन्ति । अत्र नो आगतो भावाक्षीणता श्रुतदायका-
चार्योपयोगस्यागमत्वाद्, वाक्काययोगयोश्चागमत्वाद्भावनीयेति
वृद्धा व्याचक्षते इति गाथार्थः । अनु० । यथा दीपाद् दीपशतं प्रदी-
प्यते ज्वलति, सोऽपि च दीप्यते दीपः, न पुनरन्यान्यदीपोपत्ता-
वपि क्षीयते । तथा किमित्याह-दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते सम-
स्तशास्त्रार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिष्यं दीपय-
न्ति शास्त्रार्थप्रकाशनशक्तियुक्तं कुर्वन्ति । इह च तात्स्थ्यात्तद्व्य-
पदेश इत्याचार्यशब्देन श्रुतज्ञानमेव चोक्तम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुत-
त्वात्, तस्यैव चाक्षयत्वसंभवादिति गाथार्थः । उत्त० १ अ० ।
अज्जीणज्जंजय-अक्षीणज्जंजक-त्रि० । अक्षीणकलहे,
आव० ४ अ० ।

अज्जुववष्ण-अध्युपपन्न-त्रि० । अधिकमत्यर्थमुपपन्नस्तच्चित्त-
स्तदात्मकः । विषयपरिभोगायतजीविते, आचा० १ श्रु० १ अ०
७ उ० । स्था० । भ० । अधिकं तदेकाग्रतां गते, ज्ञा० २ अ० । वि० ।
भ० । जातानुरागे, व्य० २ उ० । मूर्च्छिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८
उ० । गृहे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । “मुच्छिष्टे गिद्धे गटिपे अज्जु-
ववष्णे य ” इति एकार्थाः । वि० । “अज्जोववष्णा कामेहिं, चो-
इज्जंता गया गिहं ” अध्युपपन्नाः कामगतिचिन्ताः । सूत्र० १
श्रु० ३ अ० २ उ० । अज्जोववष्णा कामेहिं मुच्छिया ” अध्युप-
पन्ना गृह्णाः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पौनःपुन्येनाभिलषमाणे,
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आधिक्येन भोगेषु बन्धे, सूत्र० २ श्रु० १
अ० । स्था० ।

अज्जुसिर-अशुषिर-त्रि० । न० ब० । अशुषिररहिते, रा० ।
“अज्जुसिरं जत्थ कोट्टरं नत्थि ” नि० चू० २ उ० । तृणाद्य-
नवच्छिन्ने, ध० ३ अधि० । कुशवनतृणादौ, संस्कारकभेदे च । नि०
चू० २ उ० ।

अज्जुसिरतण-अशुषिरतण-न० । दर्जादौ, शुषिररहिते तृणे
च । जीत० ।

अज्जेमणा-अध्येषणा-स्त्री० । अधि-श्-यु-दाप् । सत्कारपूर्व-
कनियोगे, सम्म० । अधिका पणना प्रार्थना । अधिकमर्थने, स्त्री० ।
वाच० ।

अज्जोयरय-अध्यवपूरक-पुं० । अधि आधिक्येनाध्यवपूरतं
स्वार्थदत्ताधिभयणादेः साध्यागमनमवगम्य तपोभ्यमङ्गसि-
द्ध्यर्थं प्राचुर्येण भरषमव्यवपूरः । स एव सार्थिककप्रसयवि-
धानाध्यवपूरकः नचोगाद्भक्ष्याप्यव्यवपूरकः । प्रब० ६७

द्वा० स्वार्थमूलाद् ग्रहणे कृते साध्याद्यर्थमधिकतरकणप्रतेपणे-
न भक्तादौ संपादिते सति, तत्र सम्भवति षोडशे उद्गमदोषे,
भ० ६ श० ३३ उ० । “सचाएण मूलमाहणे, अज्जोयर होइ प-
क्खेवो” स्था० ६ ग० । ६० । ७० । आचा० । पंचा० ।

अधुनाऽध्यवपूरकद्वारमाह-

अज्जोयरओ तिविहो, जावत्तिय मयरमीस पामंडे ।

मूळमि य पुव्वकए, ओयरई तिएह अट्टाए ॥

अध्यवपूरकस्त्रिकारः । तद्यथा- (जावत्तिय इति) स्वगृह-
मिश्रयोः शब्दयोरत्रापि संबन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः (स
वर्गमीस ति) अत्र साधुशब्दोऽध्याह्रियते, स्वगृहसाधुमिश्रः ।
(पासंडे इति) अत्रापि यथायोगं स्वगृहमिश्रशब्दसंबन्धः ।
स्वगृहपापणमिश्रः । स्वगृहभ्रमणमिश्रः स्वगृहपापणमिश्र-
ऽन्तर्भावितः पृथग् नोक्तः । त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्ष-
णमाह- (मूलमीत्यादि) मूले आरम्भेऽग्निसंधुत्तलस्थालीज-
लप्रतेपादिरूपे, पूर्वं यावदर्थिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं
निष्पादिते पश्चात् यथासंभवं अयाणां यावदर्थिकादीनाम-
र्थायावनारयति, अधिकतरान् तण्कुलादीन् प्रतिपति, ए-
वोऽध्यवपूरकः । अत एव चास्य मिश्रजाताद्भेदः । यतो मिश्र-
जाते तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च
मिश्रं निष्पाद्यते, यत् पुनरारभ्यते स्वार्थं, पश्चात्प्रभृतानर्थिनः
पापण्डिनः साधून् वा समागतानवगम्य तेषामर्थायाधिकतर-
जलतण्कुलादि प्रतिप्यते, सोऽध्यवपूरकः, इति मिश्रजाता-
दस्य भेदः ।

अनुमेव भेदं दर्शयति-

नंदुल नल आयाणे, पुप्फकत्रे सागवेमणे लोणे ।

परिमाणे नाप्पत्तं, अज्जोयर मीसजाए य ॥

इह व्यत्ययोऽप्यासाम् इति वचनात् सप्तमी-यथायोगं पष्ठयथं
तृतीयायथं वेदितव्या । ततोऽयमर्थः-अध्यवपूरकस्य मिश्रजातस्य
च परस्परं नानात्वं हि तण्कुलपुष्पकलशाकवेशनलवणादान-
काले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम् । तथाहि-मिश्रजाते
प्रथमत एव स्थाल्यां प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च त-
ण्कुलाः कण्ठनादिनिरूपकम्यन्ते, फलादिकमपि च प्रथमत एव
प्रभृततरं संरज्यते । अध्यवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोततरं
तण्कुलादि गृह्यते, पश्चाद् यावदर्थिकादिनिमित्तमधिकतरं तण्कु-
लादि प्रक्षिप्यते, तस्मात्तण्कुलादीनामादानकात्रे यद् विचित्रं
परिमाणं तन्मिश्राध्यवपूरके विशोधिकदौ नानात्वमवसेषम् ।

संप्रत्यध्यवपूरकस्य कष्टपविधिमाह-

जावत्तिण विमोही, सघरपापंमिमामए पृडे ।

द्धिमे विमोहि दिन्न-म्मि कणइ न कणइ मेमं ॥

यावदर्थिके स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरके शुरुभक्तमध्य-
पतिते यदि तावन्मात्रमपनीयन्ते ततो विशोधिकभवति । अत-
एव स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरको विशोधिकोऽयं वदयते ।
स्वगृहपापण्डिमिश्रे, उपलक्षणव्यान् स्वगृहसाधुमिश्रे च शुरु-
भक्तमध्यपतिते प्रतिर्भवति, न कल्पते तद्भक्तम्, प्रतिशंपुष्टं न-
वनीत्यर्थः । तथा विशोधौ विशोधिकोऽदिरूपे यावदर्थिकाध्यव-
पूरके त्रिंशे यावन्तः कणाः कार्पाटिकाद्यर्थं पश्चात् क्षिप्त्वास्ताव-
न्मात्रे स्थाल्याः पृथक्कृते, कार्पाटिकादिभ्यो वा दत्ते सति, शेष-
मुर्द्धारतं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । शेषं पुनः स्वगृहपापण्डि-
मिश्रस्वगृहसाधुमिश्राध्यवपूरकं न कल्पते । किमुक्तं भवति ? ।

गृहीतं तत्तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृते, दत्तं वा पापण्ड्यादि-
न्यस्तथापि यत् शेषं, तत्र कल्पते इति ।

‘ जावत्तिण विमोही ’ इत्यवयवं विशेषतो व्याख्यानयति-
त्रिंशमि तत्रो उक्त-द्वियमि पुष्टकए कणइ मेमं ।

आहवणाए दिन्नं, व तत्तियं कणए मेमं ॥

विशोधिकोऽदिरूपे यावदर्थिकेऽध्यवपूरके यावदर्थिकं पश्चात्
प्रक्षिप्तं गवन्मात्रे त्रिंशे पृथक्कृते, तत्र वेदो रेखयाऽपि जवति,
तत आह- (तत्रो उक्तद्वियमि) तत्स्वस्थादुत्कर्षित उत्पादिते,
इहोत्कर्षितं स्वस्थानादुत्पाद्य शेषभक्तस्योपरि निक्षिप्तमपि भ-
ष्यते, ततो विशेषणान्तरमाह-पृथक्कृते स्थाल्या बहिर्निष्का-
शिते, शेषं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । अथवा आजवनया उद्दे-
शेन, न तु शिष्यादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पाटिकादिभ्यो
दत्तं स्यात् ततः शेषं कल्पते । पि० । तत्र प्रायश्चित्तं प्रत्येकं
मासगुरु । वृ० १ उ० । “ यावत्तिय अज्जोयरए मासगुरु, सघ-
रपासंर अज्जोयरए मासगुरु ” । पि० चू० । अध्यवपूरकान्तर्भेदद्वयं
एकाशनकम् । जी० । पंचा० ।

अज्जोववज्जणा-देशी-क्रोडाभरणे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्जोववज्जणा-अध्युपपादना-स्त्री० । कचिदिन्द्रियायेंध्युप-
पत्तौ, अभिषेद्धे च । “ तिविहा अज्जोववज्जणा-जाणू, अजाणू,
वित्तिगिच्छा ” तत्र जानतो विषयजन्यमर्थं या तत्राध्युपपत्तिः
सा जाणू । या त्वजानतः सा अजाणू । या तु संशयवतः सा विचि-
कित्सा । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अज्जोववज्ज-अध्युपपत्त-त्रि० । विषयपरिजोगायतजीविते,
आचा० ।

अज्जोववाय-अध्युपपात-पुं० । ग्रहणैकाग्रचित्ततायाम्, “ पर-
स्मिन् अज्जोववायलोभज्जण्णाइ ” पात्राणि परस्यान्यस्य अ-
ध्युपपातं च ग्रहणैकाग्रचित्ततां बोधं मूर्च्छां जनयन्ति यानि
तानि अध्युपपातलोभजनानि । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्ज-कृप्-धा० आकर्षणे, विवेखने च । तुदा०, आत्म०, सक०,
अनिट् । “ कृपेः कट्टसाअट्टाअज्जण्णज्जाइइट्टाः ” ॥ ७।४।१७७॥
इति कृपेरञ्चादेशः । अज्जइ, कृपते । प्रा० ।

अज्जिअ-अज्जित-त्रि० । अज्ज-कृत् । वर्गेऽन्त्यो वा । ७ । १ ।

३० । इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । पूजिते, आकुञ्चिते च । प्रा० ।

अज्ज-अज्ज-त्रि० । “ न्यएयइज्जां अज्जः ” ॥ ८।१२६३ ॥ इति सूत्रं
मागध्यां इत्य अज्जः, द्विरुक्तो अकार इत्यर्थः । मूर्त्ते, प्रा० ।

अज्ज-त्रि० । न्यस्य स्थानं द्विरुक्तो अकारः । त्रिंशे, सद्देशे च । ए-
वमेतद्व्यतिता अण्युदाहार्याः । प्रा० ।

अज्जलि-अज्जलि-पुं० । अज्ज-अलि, “ न्यएयइज्जां अज्जः ” ॥ ७।
४ । २६२ । इति मागध्यां अज्ज इति भागस्य अज्जः । संयुतकर-
पुटे, प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । ज्वा०, सक०, पर०, सेट् । “ शकादीनां
द्विवम् ” ॥ ७।४।२६६ इति द्विवम् । परिअट्टइ, पर्यटति । प्रा० ।

अट्ट-क्वय-धा० निष्पाके । ज्वा०, पर०, सक०, सेट् । “ क्वथेरट्टः ”
॥ ८।१११६ इति क्वथेरट्ट इत्यादेशः । अट्टइ, क्वथति । प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-पुं० । अट्टयति नाद्रियतेऽयद् यत्र । अट्ट-आधारे
घञ् । प्रासादस्योपरि गृहे, प्राकारोपरिस्थसैन्यगृहे च । यत्र स्थि-
ता हि नरा अन्यान् हीनतया नाद्रियन्ते । यस्मिन् वसतश्चा-

भ्योक्तपेक्षादरः । वाच० । “ अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा ”
भाचा० २ भु० ११ अ० । अट्टपतेऽतिक्रम्यतेऽनेनत्यट्टः । आका-
शे, ज० २० श० १ उ० ।

आर्त-वि० अर्तिः शारीरमानसी पीडा, तत्र जव आर्तः ।
आचा० १ भु० २ अ० ५ उ० । पीमिते, सूत्र० १ भु० १० अ० ।
दुःखिते, आचा० १ भु० ४ अ० २ उ० । मोहोदयेन आर्त्ते,
आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, औ० ।
मोहोदयादगणितकार्याकार्यविवेके च । आचा० १ भु० ६ अ०
१ उ० । अस्य निक्षेपः—“ अट्ट लोप परिजुषे दुस्संवाहे
अविजाणए ” । आचा० १ भु० १ अ० १ उ० । (‘पुढविकाय’ शब्दे
एतत्सूत्रव्याख्यानं वक्ष्यते)

अट्टे चउन्विहे खनु, दन्वे नदिमादि जत्थ तणकछा ।

आवत्ते पमिया, से व सुवणादि आवट्टे ॥

आर्त्तः खनु चतुर्विधः । तद्यथा-नामार्त्तः, स्थापनार्त्तः, द्रव्यार्त्तः,
भावात्तश्च । तत्र नामस्थापने सुप्रतीते । द्रव्यार्त्तोऽपि नोआगम-
तो कशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि
आवत्तन्ते, यच्च वा सुवर्णाद्यावत्तन्ते, स द्रव्यः । आ सवर्तः प-
रिभ्रमणेन कृतानि गतानि यत्र यो वा स आर्त्त इति व्युत्पत्तेः ।

अट्टवा अत्तीजूतो, सचित्तादिहि होइ दवम्पि ।

जावे कोहादीहिं, उ अजिजूतो हाति अट्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्त्तः स
द्रव्यार्त्तः, द्रव्यैरातो द्रव्यार्त्त इति व्युत्पत्तेः । कोधादिभिरजि-
भूतो नो आगमतो भावार्त्तः । तदेवमार्त्तशब्दार्थ उक्तः । व्य० ४
उ० । आचा० । ऋतस्य पीमितस्येदं वचनमिति कृत्वा पोरुशे
गौणालोके, प्रश्न० २ आश्च० द्वा० । ऋतं दुक्खं, तत्र भवमार्त्तम् ।
यदि वा आर्त्तः पीडा, पातनं च, तत्र जवमार्त्तम् ” ध० २ अधि० ।
प्रव० । क्लिष्टे, आव० ४ अ० । विषयानुरञ्जिते, ध० ३ अधि० ।
इष्टविषयसंयोगाभिलाषे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा० । एतदात्मके शो-
काकन्दविज्ञेयनादिलक्षणे वा ध्यानभेदे, आव० ४ अ० । ज्ञा० ।
अट्ट-देशी-कशे, दुर्वले, गुरौ, महति, शुकपक्षिणि, सुखे, सौ-
ख्ये, धृष्टे, विपाते, अलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनौ, असत्ये च ।
दे० ना० १ वर्ग ।

अट्ट-देशी-कथने, दे० ना० १ वर्ग ।

अट्टक-अट्टक-पुं० (आट्टो) कुट्टित्वेपरुतरूपे पात्रकिल्लपूर-
के द्रव्ये, वृ० १ उ० ।

अट्टज्जाण-अर्तिध्यान-न० । ऋतं दुःखम् । उक्तं हि-ऋतशब्दो
दुःखपर्यायवाच्याश्रीयते । ऋते जवमार्त्तम्, उक्त० ३० अ० ।
ऋतं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम् । ऋते वा पीमिते भवमा-
र्त्तम् । स्था० ४ उ० १ उ० । आव० । तच्च तद् ध्यानं च । आर्त्तभावं
गत आर्त्तः, आर्त्तस्य वा ध्यानमार्त्तध्यानम् । आ० चू० ४ अ० ।
मनोज्ञामनोऽज्ञवस्तुवियोगसंयोगादिनिबन्धनचित्तविप्लवक्षणे
ध्यानभेदे, स० १ सम० । “ राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु,
स्त्रीगन्धमाह्वयमणिरत्नविभूषणेषु । इच्छाजिज्ञासमतिमात्रमुपैति
मोहा-रुचानं तदार्त्तमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ” ॥१॥ दश० १ अ० ।
“ भवकारणमट्टरूपाह ” । आर्त्तध्यानं स्वविषयवृत्तजनेद-
तश्चतुर्थः । उक्तं च भगवता वाचकमुल्लेखेन—आर्त्तममनो-
ज्ञानां संप्रयोगे, तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः, वेदना-
याश्च विपरीतम्, मनोज्ञानां निदानं चेत्यादि । आव० ४ अ० ।

“ अट्टज्जाणे चउन्विहे पम्यत्ते ” चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा ।

अमणुजसंप्रयोगसंपन्नत्ते तस्स विप्यओगसितिसमसागए
यावि भवइ ॥

अमनोऽज्ञस्यानिष्टस्य ‘असमणुजस्स त्ति’ पाठान्तरे अस्वमनो-
ज्ञस्यानात्मप्रियस्य शब्दादिविषयस्य, तत्साधनवस्तुनो वा सं-
प्रयोगः संबन्धस्तन संप्रयुक्तः संबद्धोऽमनोऽज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो-
ऽस्वमनोऽज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति, अ-
मनोऽज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयोगाय वियोगार्थं स्मृतिश्चिन्ता, तां सम-
न्वागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सोऽभेदापचारादार्त्तमिति ।
वाऽपीतिशब्दः विकल्पापेक्षया समुच्चयार्थः । अथवा मनोऽज्ञसं-
प्रयोगसंप्रयुक्तो यः प्राणी, तस्य प्राणिनः विप्रयोगे प्रक्रमादमनो-
ज्ञशब्दादिवस्तुनां वियोजने, स्मृतिश्चिन्तनम्, तस्याः समन्वागतः
समागमनं समन्वाहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतं वाऽपीति
तथैव जवति, आर्त्तध्यानमिति प्रक्रमः । अथवाऽमनोऽज्ञसंप्रयो-
गसंप्रयुक्ते प्राणिनि, तस्येति अमनोऽज्ञशब्दादेर्विप्रयोगस्मृति-
समन्वागतमार्त्तध्यानमिति ।

अमणुज्जाणं सदा-इविसयवत्थूण दोसमझस्स ।

धणिअं विओगचित्तेण-मसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

अमनोऽज्ञानमिति । मनसोऽनुकूलानि मनोऽज्ञानि, इष्टानीत्यर्थः । न
मनोऽज्ञानि अमनोऽज्ञानि, तेषाम्, अपामित्यत आह-शब्दादिविषयव-
स्तुनामिति । शब्दादयश्चेते विषयाश्च, आदिशब्दाद्वर्णादिपरिग्र-
हः । विपीदन्त्येतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषयाः-इन्द्रियगोचराः,
वस्तूनि तु तदाधारचूतानि रासभादीनि । ततश्च शब्दादि-
विषयाश्च, वस्तूनि चेति विग्रहः । तेषाम्, किंसंप्राप्तानां सताम् ?
धर्णियमत्यर्थम्, वियोगचिन्तनं विप्रयोगचिन्तेति योगः ।
कथं नु नामैजिर्वियोगः स्यादिति ज्ञावः । अनेन वर्तमानकाल-
ग्रहः । तथा सति च वियोगेऽसंप्रयोगानुस्मरणं, कथमेभिः सहैवं
संप्रयोगाभाव इत्यनेन वाऽनागतकालग्रहः । चशब्दात्पूर्वमपि वि-
युक्तासंप्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य
सत इदं वियोगचिन्तनादि ? अत आह-छेपमलिनस्य, जन्तो-
रिति गम्यते । तत्राप्रतीतिलक्षणो द्वेषः, तेन मञ्जिनस्य, तदाक्रान्त-
मूर्त्तिरिति गायार्थः । इति प्रथमो भेदः ।

साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह-

तह मूलपीसरोगा-इवेअणाए विओगपणिहाणं ।

तयसंपओगचित्ता, तप्पडिआराउल्लमणस्स ॥७॥

तथेति धर्णियमत्यर्थमेव । शूलशिरोरोगादिवेदनाया इत्यत्र
शूलशिरोरोगौ प्रसिद्धौ । आदिशब्दाच्छेपरोगातद्वपरिग्रहः । त-
तश्च शूलशिरोरोगादिज्यो वेदना । वेद्यत इति वेदना । तस्याः
किम् ? वियोगप्रणिधानम्, वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः । अनेन
वर्त्तमानकालग्रहः । अनागतमधिकृत्याह-तदसंप्रयोगचिन्तेति,
तस्या वेदनायाः कथंचिद्भावे सति असंप्रयोगचिन्ता, कथं
पुनर्ममानयाऽऽयत्या संप्रयोगो न स्यादिति चिन्ता चार्त्तध्यानमेव
गृह्यते । अनेन वर्त्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि
कृत एव वेदितव्यः । तत्र ज्ञावनाऽनन्तरगाथायां कृतैव । किं विशि-
ष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानादि ? अत आह-तत्प्रतीकारे वेद-
नाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुलं व्यग्रं मनोऽन्तःकरणं यस्य स
तथाविधस्तस्यावियोगप्रणिधानाद्यासंध्यानमिति गायार्थः ।
उक्तो द्वितीयो जेदः । आव० ४ अ० ।

सधुना तृतीयमुपदेश्यब्राह्म-

आतंकसंप्रयोगसंपरते तस्म विष्प्रयोगसितिसमष्टाग-
ए यावि भवइ ॥

आतङ्को रोगः इति । स्था० ४ ग० १ उ० ।

इष्टाणं विसर्ग-ए वेष्मणाए अ रागरक्तस्म ।

अविष्प्रोगज्जवसाणं, तह संभोगाजिज्ञामो अ ॥८॥

इष्टाणां मनोज्ञानां विषयादीनामिति । विषयाः पूर्वोक्ताः आदि-
शब्दाश्चतुष्टयपरिग्रहः । तथा वेदनायाश्च इष्टाया इति वर्तते । किम्?,
अविष्प्रोगाध्यवसानमिति योगः । अविष्प्रयोगदृढाध्यवसाय इति
ज्ञावः । अनेन च वर्तमानकालग्रहः, तथा संयोगाजिज्ञा-
श्चेति, तत्र तथेति । धर्णियस्मिन्त्येनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः ।
संयोगाजिज्ञासः-कथं ममैभिर्विषयादिभिरायत्त्यां संश्रब्धः?, इ-
तीच्छा । अनेन च अनागतकालग्रह इति वृत्ता व्याचक्षते । चश-
ब्दात्पूर्ववदतीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदमवियो-
गाध्यवसानादि । अत आह-रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते ।
तत्रानिष्यङ्गसङ्गो रागः, तेन रक्तस्य तद्भावितमूर्तेरिति गा-
थार्थः । उक्तस्तृतीयो जेदः । आव० ४ अ० ।

साम्प्रतं चतुर्थमभिधित्तुराह-

परिकुसिय कामजोगसंप्रयोगसंपरते तस्म अविष्प्रओ-
गमितिसमष्टागए यावि भवइ ॥

(परिकुसिय स्ति) निषेविता ये कामाः कमनीया जोगाः
शब्दादयः । अथवा कामौ शब्दरूपे, जोगा गन्धरसस्पर्शाः ।
कामभोगाः कामानां वा शब्दादीनां यो भोगस्तैस्तेन वा
संप्रयुक्तः । पात्रान्तरे तु तेषां तस्य वा संप्रयोगस्तेन संप्रयुक्तो
यः स तथा । अथवा (परिकुसिय स्ति) परिक्रीणो जरादिना, स
चासौ कामजोगसंप्रयुक्तश्च यस्तस्य, तेषामेवाविष्प्रयोगस्मृतः स-
मन्वागतं समन्वाहारस्तदपि जवत्यार्थध्यानमिति । स्था० ४ ग०

देविदचक्राष्टि-त्तणाइ गुणरिक्खित्यणामइयं ।

अइमं निआणचित्तणमन्नाणाणुगयमच्चंतं ॥६॥

दीव्यतीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवे-
न्द्राश्चमरादयः । तथा चक्रं प्रहरणं, तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं
शालिमेयमिति चक्रवर्तिनो जरादायः । आदिशब्दाद् बलदेवा-
दिपरिग्रहः । अमीषां गुणरूपयो देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिगुणरूपयः ।
तत्र गुणास्तु रूपादयः, ऋक्षिस्तु विनूतिः, तत्प्रार्थनात्मकं
तथाऽप्राप्तयमित्यर्थः । किं तद्?, अधमं जघन्यं, निदानचिन्तनं नि-
दानाध्यवसायः, अहमनेन तपस्यागादिना देवेन्द्रः स्यामित्यादि-
रूपः । आह-किमिति तदधममुच्यते?, तस्मादज्ञानानुगतम्, अत्य-
न्तम्, तथा च नाज्ञानिनो विद्याय सांसारिकसुखेऽन्येषामभिलाष
उपजायते । उक्तं च- " अज्ञानान्ध्राश्चतुलवनितानापाक्विक्रिपि-
तास्ते, कामे सक्तिं दधति विनवाजोगानुक्ताजने वा । विद्वच्चिन्तं
भवति हि महम्मोक्षकाङ्क्षकतानं, नाल्पस्कन्धे चिदपिनि कष्टत्यं-
समिन्ति गजेन्द्रः" ॥१॥ इति गाथार्थः । उक्तश्चतुर्थो जेदः । आव०
४ अ० । द्वितीयं वृद्धभधनादिविषयं, चतुर्थं तत्संपाद्यशब्दादि-
जोगावयवमिति जेदोऽनयोर्भावनीयः । शास्त्रान्तरे (आवश्य-
कं) तु द्वितीयचतुर्थेयोरेकत्वेन तृतीयवर्गं, चतुर्थं तत्र निदानमु-
क्तम् । उक्तं च-"अमणुष्माणं सदाणं" इत्यादि । स्था० ४ ग० १ उ० ।
साम्प्रतमिदं यथाभूतस्य भवति यद्वर्धनं चेदमिति तदेतदजि-
घातुकाम आह-

एयं चतुर्विहं रा-गदोषमोहकिम्पस्स जीवस्स ।

अष्टाङ्गाणं संसा-रवृणं तिरिअगइमूलं ॥१०॥

एतदनन्तरोदितं चतुर्विधं चतुःप्रकारं रागदोषमोहम्, किं तस्य?
रागादिज्ञातस्येत्यर्थः । कस्य?, जीवस्य आत्मनः । किम्?, आ-
संध्यानमिति । तथा चतुष्टयमपि किं विशिष्टम्?, इत्यत आह-
संसारवर्द्धनम्, शोघतस्तिथ्यगतिमूलं विशेष इति गाथार्थः
आह-साधोरपि शुद्धवेदनाभिभूतस्यासमाधानादासंध्यानप्रा-
प्तिरित्यत्रोच्यते, रागादिवशावर्तिनो भवत्येव, न पुनरन्यस्ये-
ति । आह च ग्रन्थकारः-

मज्जत्तस्म उ मुणियो, सकम्पपरिणाममणिअमेअं ति ।

वत्युस्सदावचित्तण-परस्स सम्मं सद्धंतस्म ॥ ११ ॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, रागदोषयोगिति गम्यते । तस्य मध्य-
स्थस्य, तुशब्द एवकारार्थः, स चाऽवधारणे । मध्यस्थस्यैव नेतर-
स्य । मनुते जगतीस्त्रिकावावस्थामिति मुनिः, तस्य मुनेः, साधारि-
त्यर्थः । स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् उल्लादि, यच्च प्राकर्मविपरिणा-
मिदैवाद्दशुभमापन्नति न तत्र परिताप्या जवन्ति सन्तः । उक्तं च
परममुनिभिः-"पुर्व्वं च खलु जो कमाणं कम्माणं पुविआणं
उप्परिकंताणं वेइत्ता मोक्खो नत्थि, अवेइत्ता तवसा वा जोस-
इत्ता" इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वभावचित्तनपरस्य सम्यक्शोभ-
नाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम्?, अपि तु ध-
र्ममनिदानमिति वदयतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ परिहृताऽऽश-
ङ्का, गतः प्रथमपक्षः ।

द्वितीयतृतीयावधिकृत्याह-

कुणमो व पसत्थालं-बणस्स पडिआरमणसावज्जं ।

तवसंजमपडिआरं, च सेवओ धम्ममणिआणं ॥ १२ ॥

कुर्वतो वा, कस्य?, प्रशस्नं ज्ञानाद्युपकारकम्, आलम्ब्यत इत्या-
म्बनं प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च-"कोहं
अच्छिन्तिमित्यादि" प्रशस्तमात्रम्बनं वृत्तं यस्यासौ प्रशस्ताल-
म्बनः, तस्य । किं कुर्वतः?, इत्यत आह-प्रतीकारं चिकित्सादृक्कणम्,
किंविशिष्टम्?, अल्पसावद्यम्, अघट्यं पापं, सहावघेन सावद्यम् ।
अल्पशब्देऽभाववाचकः स्तोत्रवचनो वा । अघट्यं सावद्यं यस्मि-
न्सावत्पसावद्यस्तं धर्ममनिदानमेवेति योगः । कुतः?, निर्दोष-
त्वात् । निर्दोषत्वं च वचनप्राप्त्यात् । उक्तं च-"गीयत्थो जय-
णाए कडजोगी कारणमि निहोसो" । इत्याद्यागमस्योत्सर्गापवा-
दरूपत्वात् । अन्यथा परलोकस्य सार्धायमुभयव्यवत्वात्, साधु
चेतदिति । तथा तपःसंयमप्रतीकारं च सेवमानस्येति । तपःसं-
मावेव प्रतीकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते । तं च सेवमा-
नस्य, चशब्दात् पूर्वोक्तप्रतीकारं च । किम्?, धर्मं धर्मध्यानमेव भ-
वति, कथम्?, सेवमानस्यानिदानमिति क्रियाविशेषणम्, देवेन्द्रा-
दिनिदानरहितमित्यर्थः । आह-कृत्स्नकर्मसंयान्मोहो भवत्विति-
दमपि निदानमेव उच्यते, सत्यम् । तदपि निश्चयतः प्रतिपिद्धमेव ।
कथम्?, "मोक्खे जने च सर्वत्र, निरुपटो मुनिसत्तमः । प्रकृत्यभ्या-
सयोगेन, यत उक्तो जिनगमे" ॥१॥ इति । तथापि तु भावनायामप-
रिणतं सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव । अनेनैव प्रकारेण
तस्य चित्तशुद्धेः, क्रियाप्रवृत्तियोगाश्चेत्यत्र बहु वक्तव्यम्, तन्नु
नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥१२॥ अन्ये पुनरिदं गा-
थादयं चतुर्भेदमप्यार्थध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया
व्याचक्षते, न च तदत्यन्तसुन्दरम्, प्रथमतृतीयपक्षद्वये सस्यगाश-

झाया एवानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आर्तध्यानसंसारव-
र्द्धनमिति, तत्कथमुच्यते ?, वीजत्वात् ।

वीजत्वमेव दर्शयन्नाह-

रागो दोसो मोहो, जेणं संसारहेअओ जणिआ ।

अट्टमि अ ते तिन्नि वि, तो तं संसारतरुवीअं ॥ १३ ॥

रागो दोसो मोहश्च येन कारणेन संसारहेतवः संसारकारणा-
नि भणिता उक्ताः, परममुनिभिरिति गम्यते । आर्त्तं चार्त्तध्याने च
त्रयोऽपि ते रागादयः संजयन्ति यत एव, ततस्तत्संसारतरुवीजं भ-
ववृत्तकारणमित्यर्थः । आह-यद्येवमोघत एव संसारतरुवी-
जं ततश्च निर्यग्गतिमुद्गमिति किमर्थमजिधीयते ? उच्यते-तिर्य-
ग्गतिगमननिवन्धनत्वेनैव संसारतरुवीजमिति । अन्ये तु व्याच-
कृते-तिर्यग्गतावेव प्रवृत्तसत्त्वसंज्ञवात्स्थितिवहुत्वाच्च संसारो-
पचार इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमार्त्तध्यायिनो लेइयाः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकात्ता, वेसाओ णाइसंक्किलिद्धाओ ।

अट्टज्जाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ १४ ॥

कापोतनीलकण्ठा वेइयाः किञ्चूताः?, नतिसंक्लिष्टा रौद्रध्यानवे-
श्यापेक्षया नार्तावाशुज्ञानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत-
आह-आर्त्तध्यानेपगतस्य, जन्तोः इति गम्यते । किनिवन्धना
एताः ?, इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः । तत्र-“कृष्णादिष्व-
साचिञ्चयात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, ले-
इयाशब्दः प्रयुज्यते” ॥ १॥ एताश्च कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ॥
१४ ॥ आव० ४ अ० ।

आह-कथं पुनरोद्यत एवात्तं ध्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गे-
ज्यः; तान्येवोपदर्शयन्नाह-

अट्टस्स णं भ्माणस्स चत्तारि द्वक्खणा पन्नता । तं जहा-
कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

लक्ष्यते निर्णयते परोक्षमपि चिच्चवृत्तिरूपत्वात् आर्त्तध्यानमे-
भिरिति वृत्तणानि । तत्र क्रन्दनता-महता शब्देन विरवणम्, शो-
चनता-दीनता, तेपनता-तिषेः कृणार्थत्वाद्भ्रुविमोचनम्, परि-
देवनता-पुनः पुनः क्लिष्टभाषणमिति । एतानि चैष्टवियोगानिष्ट-
संयोगारोगवेदनाजनितशोकरूपस्थेवात्तस्य वृत्तणानि ।

(स्था० ४ ग्रा० १ उ०) यत आह-

तस्स कंदणसोअणपरिदेवणताडणाइं द्विगाइं ।

इट्ठाणिट्ठविओगा-विओगाविअणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

तस्यार्त्तध्यायिनः, आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि । तत्राक्रन्दनं महता
शब्देन विरवणम्, शोचनं त्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेव-
नं पुनः २ क्लिष्टभाषणम्, तारुनमुरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनादि,
एतानि लिङ्गानि चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवेद-
नानिमित्तानि । तत्रैष्टवियोगनिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगनि-
मित्तानि, वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थः ॥ १५ ॥

किं चान्यत्-

निंदइं निअयकयाइं, पसंमईं विम्हिओ विज्जईंओ ।

पत्थइं तासु रज्जइं, तयज्जणपरायणो होई ॥ १६ ॥

निन्दति च कुन्सति च निजकृतानि आत्मकृतानि अल्पफलवि-
फलानि, कर्मशिल्पकलावाणिज्यादीन्येतद्भ्यते । तथा प्रशंसति
स्त्वैगि बहु मन्यते सविस्मयः साश्चर्यः विजृम्भीतः परसंपद इ-

त्यर्थः । तथा प्रार्थयते अभिब्रूयति, परविभूतीरिति । तथा ताम्
रज्यते-तास्विति प्राप्तासु विजृम्भीतु रागं गच्छति, तथा तदर्ज-
नपरायणो भवति-तासां विजृम्भीतानामर्जन उपादाने परायण उ-
द्युक्तस्तदर्जनपरायण इति । ततो यश्चैवचृते भवत्यसावप्यात्तं
ध्यायतीति गाथार्थः ॥ १६ ॥

किञ्च-

सदाइविसयगिद्धो, मद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।

जिणमयमणविकखंतो, वट्ठइ अट्टम्मि जाणम्मि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु गृह्यो मूर्च्छितः,
काङ्क्षवानित्यर्थः । तथा सद्धर्मपराङ्मुखः प्रमादपरः । तत्र दुर्गता
प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, संश्रालौ धर्मश्च सद्धर्मः,
कान्त्यादिकश्चरणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराङ्मुखः । प्रमादपरो
मद्यादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्त्तं ध्यान
इति । तत्र जिनास्तीर्थकरास्तेषां मतमागमरूपम्, प्रवचनमित्यर्थः ।
तदनपेक्षमाणस्तन्निरपेक्ष इत्यर्थः । किम्?, वर्त्तते, आर्त्तध्याने । इति
गाथार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतमिदमार्त्तध्यानसंज्ञयमधिहृत्य यदनुगतं यदर्हं च
वर्तते तदेतदभिधित्सुराह-

तयविरयदेसविरय-प्पमायपरसंजयाणुगज्जाणं ।

सुव्वं पमायमूलं, वज्जेअव्वं जइज्जेणं ॥ १८ ॥

तदार्त्तध्यानमिति योगः । अविरतदेशविरतप्रमादपरसंयतानु-
गतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरता
एकद्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्टाश्च,
ते संयताश्च, ताननुगच्छतीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तः संयता-
नामिति भावः । इदं च स्वरूपतः सर्वं प्रमादमुद्गं वर्त्तते, यत-
श्चैवमतो वर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन?, यतिजनेन साधुशोकेन,
उपलक्षणत्वात् श्रावकजनेन च । परित्यागाहर्त्वादेवास्येति गा-
थार्थः ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । ४० । प्रव० । ग० । द्वा० ।

अट्टज्जाणवियप्प-आर्त्तध्यानविकल्प- पुं० । अशुभध्यानभेदे,
“जो एत्थ अभिस्संगो, संतासंतेसु पावहेउ च्छि । अट्टज्जाण-
वियप्पो, स इमीए संगओ रुवं” ॥ १॥ पं० १ द्वा० ।

अट्टज्जाणवेरग्ग-आर्त्तध्यानवैराग्य-न० । आर्त्तध्यानं च तद्
वैराग्यम् । वैराग्यभेदे, हा० । तद्वृत्तणम्-

इष्टेतरवियोगादि-निमित्तं प्रायशो हि यत् ।

यथाशक्त्यपि हेयादा-वप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥ १९ ॥

उद्वेगकृद्विपादाद्य-मात्मघातादिकारणम् ।

आर्त्तध्यानं ह्यदो मुख्यं, वैराग्यं लोकोक्तो मतम् ॥ २० ॥

इष्टश्च प्रियः, इतरश्चानिष्टः, इष्टेतरौ विषयाविति गम्यते । तयोर्थ-
थासङ्गहेन यो वियोगादिविरहसंप्रयोगौ, स निमित्तं कारणं
यस्य तदिष्टेतरवियोगादिनिमित्तम्, प्रायशो बाहुल्येन न पुनरिष्टे-
तरवियोगादिनिमित्तमेव, स्वविकल्पनिमित्तस्यापि तस्य संभ-
वान् । हिशब्दो यस्मादर्थः । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः । य-
दिनि वैराग्यमद एतदार्त्तध्यानमेवेति संबन्धः । कुतस्तदार्त्त-
ध्यानमेव न पुनर्यथावैराग्यमित्याह-यस्माद्यथाशक्त्यपि
सामर्थ्यानुसूयमानां श्रद्धाऽतिशयाच्छ्रुतार्थाक्रमतः हेयादौ
हेयोपादेयवस्तुविषये क्रमेणाप्रवृत्त्यादिवर्जितं निवर्तनविरहितं
यत्किल यथावद्वैराग्यं भवति तस्मिन्निद्रियार्थप्रापद्वयेषु च तपोध्या-

नादिषु यथाशक्ति निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात् । इदं तु तद्वर्जितं यस्मात् तस्य आर्त्तध्यानमेवेति भावः । तथा उद्वेगं मनःस्वास्थ्यचक्षुषं करोतीति उद्वेगकृत्, तथा विपादाः दैन्यं, तेनाऽऽव्य परिपूर्णं विपादाऽऽव्यम्, अनेन मनोदुःखहेतुताऽस्योक्ता । अथ शारीरदुःखहेतुतामस्यैवाह—आत्मेह रुद्धितः स्वशरीरम्, तस्य घातादि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुरात्मघातादि-कारणम्, आर्त्तध्यानम् । हिंसादस्यैवकारार्थत्वादात्तध्यानमेव अद इति सव्यनितमेव । किंभूतमित्याह—मुखे जयं मुख्यं प्रधानम्, निरुपचरितमित्यर्थः । ननु यथाध्यानं तत्तदा कस्माद्विराग्यतयो-क्तमित्याह—वैराग्यमुक्तनिर्वचनं लोकनां, लोकं पृथग्जनमाश्रित्य तद्वैराग्यर्थो न पुनस्तत्त्वतो मतं समेतं तत्त्वविदुर्गामिति । हा० १० अष्ट० ।

अट्टज्जाणोवगय—आर्त्तध्यानोपगत—त्रि० अपगतसद्विवेकतया धमेध्यानदुर्धर्तिनि आर्त्तध्यानध्यायिनि, “अट्टज्जाणोवगण, जू-मिगयदिष्टि ए जिज्याहं” सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अट्टट्टाहम—अट्टट्टाहम—पुं० उच्चैर्हसनरूपे हासविशेषे, उपा० १ अ० । “जीमे अट्टट्टाहसं मुयंते वाहावेह” आ० म० द्वि० । आ० । अट्टट्टा—देशी—पाते, दे० ना० १ वर्गे ।

अट्टण—अट्टन—न० । अट्टयते परिच्ययते रिपुरनेन । अट्ट—करणे लुगट् । चक्राकारफलकास्त्रे, जावे व्युट् । अनादरे, न० । वाच० । स्वनामख्याने मल्ले, पुं० । उक्त० ४ अ० । तत्कथा चैवम्—उज्जेयिन्यां जितशत्रुपस्य अट्टनमल्लो वसन्ते स्म । स च प्रतिवर्षं सोपारके गत्वा सिद्धिगिरं राज्ञः सभायां मल्लान् विजित्य जयपताकां लाति स्म । अथदा राज्ञ एव चिन्तितम्—परदेशीयोऽयमट्टनमल्लो मत्स-जायां जित्वा बहु दुर्व्यं प्राप्नोति, मदीयः कोऽपि मल्लो न जयति, नैनदरम्, एवं हि ममैव महत्त्वकृतिर्जायते । इति मत्वा कश्चिद्बलवन्तं मत्स्यीनरं दृष्ट्वा स्वमल्लं चकार । तस्य चरितमेव मल्लविद्या समायाता । ‘मत्स्यी मल्ल’ इति नाम तस्य कृतम् । अन्यदा अट्टनमल्लः सोपारके समायातस्तेन समं राज्ञा मत्स्यीमल्लस्य युद्धं कारितम्, जितो मत्स्यीमल्लः । अट्टनः पराजितः स्वनगरे गत एव चिन्तयति स्म—मत्स्यीमल्लस्य तास्यायेन बलवृद्धिः, मम तु वार्द्धक्येन बलहानिः, ततोऽयं स्वपक्षपातिनं मल्लं करोमि । ततोऽस्मै बलवान् पुष्टं विलोकयन् जगुकच्छदेशे समागतः । तत्र हरिणीग्रामं एकः कर्पक एकेन करेण हस्तं बाधयन् द्वितीयेन फलहीमुत्पादयन् दृष्टः । स प्रोज्ञनाय स्वस्थानके सार्धं नीतः । तस्य बहु भोजनं दृष्टम् । उत्सर्गसमये च सुदृढमल्पं पुरीषं दृष्ट्वा मल्ल-विद्यां ग्राहिता । ‘फलहीमल्ल’ इति तस्य नाम कृतम् । अट्टनः सो-पारके फलहीमल्लं गृहीत्वा गतः । राज्ञा मत्स्यीमल्लेन समं फल-हीमल्लस्य युद्धं कारितम् । प्रथमे दिवसे द्वयोः समतैव जाता । अट्टनेन सोपारके फलहीमल्लः पृष्टः—पुत्र ! तवाङ्गे क प्रहारा-व्यगताः ? तेन स्वाङ्गप्रहारस्थानानि दर्शितानि । अट्टनेनौपधिरसेन नानि स्थानानि तथा मर्दितानि यथाऽस्मै पुनर्नवीभूतः । मत्स्यी-मल्लस्यापि राज्ञा पृष्टम्—अथ तवाङ्गे प्रहारा लग्नास्तथा तान् द-र्शय ? फलहीमल्लः पुनर्नवीभूतः श्रूयते । मत्स्यीमल्लो अभिमानात् स्वस्थानं न दर्शयति स्म, वक्ति स्म च—अहं पुनर्नवीभूतः फलही-पितरं जयामि । द्वितीयदिवसे पुनर्गुह्यामरे द्वयोरपि साम्यमेव जातम् । तृतीयदिवसे मत्स्यीमल्लो जितः फलहीमल्लेन । अ-ट्टनेन स्वपगतवः स्मारितः । ततो मत्स्यीमल्लेनान्याययुद्धाचर-णेन फलहीमल्लस्य मस्तकं शिखम् । शिखोऽट्टनमल्लो गत उज्ज-

यिनीम् । तत्र विमुक्तयुद्धव्यापारः स्वगुहे तिष्ठति स्म । परं जराक्रान्ति इति न कस्मैचित् कार्या ब्रूयम् इति स्वजनैः पराजयते स्म । अन्यद् स्वजनापमानं दृष्ट्वा ताननापृच्छधैव कौशार्थी नगरीं गतः । तत्र वर्षं मेकं यावद्भायनं भक्तिवान् । ततोऽत्यन्तबलवान् जातः । उज्जयि-न्यां राजपर्वदि मल्लमहे प्रवर्त्तमाने पुनर्नवागतयौवनेन अट्टनमल्ले समागत्य राज्ञो नीरङ्गणनामा महामल्लो जितः । राज्ञा तु मदीयोऽ-भ्रागन्तुकेनानेन जित इति कृत्या न प्रशंसितः । लोकाऽपि राज्ञ-शंसामन्तेरेण मौनजाकृ जातः । अट्टनस्तु स्वस्वरूपज्ञापनाय सभां पक्रिणः प्रत्याह—जो जोः पत्तिणः?, मृत—अट्टनेन नीरङ्गणो जितः ततो राज्ञा उपलक्षितः । मदीयं पचायमट्टनमल्ल इति कृत्या सत्कृतं बहु द्रव्यं चास्मै राज्ञा दत्तम् । स्वजनस्तं तथाभूतं श्रुत्वा सम्-स्वमागत्य मिश्रितः । सत्कारादि चकार । अट्टनेन चिन्तितम्—द्र-व्यशोभादेते मम साम्प्रतं सत्कारं कुर्वन्ति, पश्चाच्चिद्व्यं मामप-मानयिष्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चित् प्राणाय भविष्यति यावद्दहं सावधानकरोऽस्मि तावत्प्रवजामीति विचार्य गुरो-समीपेऽट्टनेन दीक्षा गृहीतेति । “जरोवणीअस्स दु नत्ति ताणं” उक्त० ४ अ० । आ० चू० । आ० ।

अट्टन—न० । गमने, ध० ३ अधि० । व्यायामे, औ० ।

अट्टणसाला—अट्टनशास्त्रा—स्त्री० । व्यायामशास्त्रायाम्, झा० ।

तदर्थकः—

जेणेव अट्टणसाल्य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्त अट्टणसालं अणुप्पविसति, अणेगवायामजोगवगणवाम-णमल्लयुद्धकरणेहिं संते परिसंते सयपागसहस्सपागेहिं सुग-धवरतेल्लमाएहिं पीयणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दुप्पणिज्जेहिं मदिणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं सत्विदियगायपन्हायणिज्जेहिं अट्ठिभगेहिं अट्ठिभगिणं समाणे तेवचम्मंसि पणिपुसुपाणि पायसुकुमात्रकोमल्लतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहिं पट्टेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउणेहिं निउणसिप्पोवगतेहिं जिय-रिस्सपेहिं अट्ठिभगणपरिमदणुच्चइकरणगुणनिम्माएहिं । द्विसुहाए मंससुहाए तथासुहाए रोमसुहाए चउच्चिहा संवाहणाए संवाहिणं समाणे अवगंयपरिस्समे नरिंदे अ-णमालातो पणिनिक्खमेति । झा० १ अ० । आ० चू० । औ० । अट्टणियट्ठियचित्त—आर्त्तनिवर्तिताचित्त—त्रि० । आर्त्तं निवर्त्ति-चित्तं येस्त आर्त्तनिवर्त्तितचित्ताः । आर्त्ताद्वा निवर्त्तितं चित्तं ये आर्त्तनिवर्त्तितचित्ताः । क्लिष्टाध्यवसायिषु, औ० । “अट्टणियं यचित्ता, जह जीवा दुस्सवसागरमुवेति” म० १ श० १ उ० । आर्त्तनिरर्दितचित्त—त्रि० । क्लिष्टपरिणामे, आर्त्तेन नितरामां तमनुगतं चित्तं येषां ते तथा । औ० ।

अट्टनर—आर्त्तनर—न० । अतिशयिते आर्त्तध्याने, “पज्जिज्ज माणाऽट्टनरं रसंति” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अट्टदुहट्ट—आर्त्तदुर्धट्ट—त्रि० । ६त० । आर्त्तनाम्नो ध्यानविशेषः दुःखग, उपा० १ अ० ।

आर्त्तदुःखार्त्त—त्रि० । ३ त० । आर्त्तेन दुःखरीडिते, उपा० अ० । आर्त्तेश्चासौ दुःखातः । मनसा देहेन च दुःखिते, विदो अट्टदुहट्टवसट्ट—आर्त्तदुर्धट्टवशार्त्त—त्रि० । आर्त्तस्य ध्यानविशे-

पस्य यो दुर्घटो दुःस्थगो दुर्निरोधो वशः पारतन्त्र्यं, तेनार्त्तः पी-
डित आर्त्तदुर्घटवशात्तः । असमाधिप्राप्ते, ज्ञा० ८ अ० ।
आर्त्तदुःखार्त्तवशात्तः-त्रि० । आर्त्तेन दुःखात् आर्त्तदुःखार्त्तवशा-
त्तः वशेन च विषयपारतन्त्र्येण ऋतः परिगतो वशात्तः ।
ततः कर्मधारयः । क्लिष्टाध्यवसायेन विषयव्यवहाराय च
दुःखिते, उपा० २ अ० । आर्त्तो मनसा दुःखितः, दुःखात्तो
देहेन, वशात्तस्तु इन्द्रियवशेन पीडितः । ततः कर्मधारयः ।
विपा० १ श्रु० १ अ० । मनसा, देहेनेन्द्रियवशेन च पीडिते,
“जहा णं तुणं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरो-
विइज्ज” उपा० २ अ० ।

अष्टदुहट्टवचित्त-आर्त्तदुःखार्त्तवचित्त-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्त-
तं चित्तं येषां ते तथा । क्लिष्टाध्यवसायतो दुःखितमनस्केषु, औ० ।
अष्टदुहट्टवगय-आर्त्तदुर्घटोपगत-त्रि० । आर्त्तमात्तध्यानं, दुर्घटं
दुःस्थगनीयं दुर्वाग्यमित्यर्थः, उपगतः प्राप्तो यः स तथा ।
दुर्निवार्योत्तध्यानवति, विपा० १ श्रु० २ अ० ।
अष्टमस्य-आर्त्तमतिक-पुं० । आर्त्तं आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्त-
मतिकाः । आर्त्तध्यानोपयुक्ते, आतु० ।

अष्टवस-आर्त्तवश-पुं० । आर्त्तध्यानवश्यतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।
अष्टवसट्टदुहट्ट-आर्त्तवशात्तदुःखार्त्त-त्रि० । आर्त्तवशमात्तध्यान-
वश्यतामृतो गतो, दुःखार्त्तश्च यः स तथा । आर्त्तध्यानविवशी-
भूतदुःखिते, “अष्टवसट्टदुहट्टे काले मासे कालं किञ्चा”
ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अष्टवसट्टोवगय-आर्त्तवशार्त्तोपगत-त्रि० । आर्त्तवशार्त्तश्च स उ-
पगतश्चेति समासः । आर्त्तध्यानसामर्थ्येनार्त्तं, आ० ।

अष्टस्सर-आर्त्तस्वर-त्रि० । दुःखेन शब्दायमाने, “अष्टस्सरे ते
कलुणं रसंते” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अष्टहास-अष्टहास-पुं० । अष्टेनातिशयेन हासः । ३ त० । हस-
घञ् । उच्चहासे, वाच० “अष्टहासजीसणो” आव० ४ अ० ।

अष्टालग-अष्टालक-पुं० न० । अष्ट इव प्रासादगृहमिव अलति
पर्याप्तो जवति । अल-अच् । वाच० । प्राकारोपरिवर्त्याश्रयवि-
शेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । जं० । स० । जी० । ज्ञा० । नि०
चू० । ज० । प्रज्ञा० । आचा० । रा० । अनु० । प्राकारकोष्ठकोप-
रिवर्तिनि मन्दिरे, “पागारं कारवित्ता णं, गोपुरद्वालगाणि य”
उत्त० ६ अ० ।

अष्टि-आर्त्ति-स्त्री० । शरीरमानस्यां पीडायाम्, आचा० १ श्रु० २
अ० ५ उ० । यातनायाम्, घ० २ अधि० ।

अष्टियचित्त-आर्त्तितचित्त-त्रि० । आर्त्तिना आर्त्ताद् वा ध्यान-
विशेषादाकुञ्चं चित्तं येषां ते आर्त्तितचित्ताः । शोकादिपीडिते,
“अष्टा अष्टियचित्ता” उपा० २ अ० ।

अष्ट-अर्थ-पुं० । भावकर्मादौ यथायथमच् । “स्त्यानचतुर्थार्थं
वा” ८ । २ । २३ । इति संयुक्तस्य वा उः । प्रा० । प्रयोजने,
नि० चू० १ उ० । कल्प० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । स्था० । ज्ञा० ।
आव० । “अम्हं अप्पणो अट्टाई चेइयाई जवंति” आचा० २
श्रु० २ अ० २ उ० । प्रयोजन एव उः, यदा तु धनमुच्यते तदा
उा न स्यात् । अत्थो धनम् । आर्पे तु जवति-“अद्या वयं न
सिक्खिज्जा, वेहाइयं च णो वए” इत्यत्र अर्थत इत्यर्थो धनधा-
न्यहिरण्यादिक इति व्याख्यानात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जाविप्रयोजने, “अट्टं वा हेचं वा समणस्सउ विरट्ठिणं कंहेमो”
व्य० २ उ० । धर्मविषयेऽर्थित्वे, उत्त० ३ अ० । कार्ये, स्था० ५
ग० २ उ० । मोक्षे, तत्कारणजने संयमे च । “अष्टे परिहायती
बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंणि” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निवृत्तौ,
ज्ञा० १ अ० । सूत्राभिधेये, प्राकृतत्वाद् नपुंसकत्वमप्यर्थशब्दस्या-
पा० । अजिधेये (वाच्ये), सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । वस्तुनि,
“स नूणं कामदेवा अष्टे समष्टे हंता । अट्टि” अस्त्येषोऽर्थ इत्य-
र्थः । अथवा मयोदितं वस्तु समर्थः संगतः । उपा० २ अ० ।
“अट्टिदे अष्टे पन्नत्ते । तं जहा-संसयअष्टे, वुग्गहअट्टे, अणुजोगी,
अणुसोमे, तहणाणे, अतहणाणं” स्था० ६ ग० । (टीकाऽस्य ‘पट्ट’
शब्दे ऋष्या) अर्थते गम्यत इत्यर्थः । अर्त्तैरौणादिकः धनः ।
हेये उपादेये वा वस्तुनि, उजयस्याप्यर्थ्यमानत्वात् । उत्त० १
अ० । आ० चू० । नि० । विषयजोगादिके, आचा० १ श्रु० ३
अ० ३ उ० । सूत्र० । (अष्टस्वरूपतामप्राप्तस्यार्थशब्दस्य अर्था ‘अ-
त्थ’ शब्दे वक्ष्यन्ते)

अष्टून-त्रि० । व० व० । अष्ट-व्याप्तौ कनिद्, तुद् च । सङ्ख्या-
भेदे, तत्संख्यान्विते च । वाच० । प्रज्ञा० ।

अष्टग-अष्टाङ्ग-त्रि० । अष्टावङ्गानि यस्य तदष्टाङ्गम् । यमनियमा-
दावष्टाङ्गयोगे, वाच० ।

अष्टगणिमिक्त-अष्टाङ्गनिमित्त-न० । भौमम् १, उत्पातम् २,
स्वप्नः ३, आन्तरिक्षम् ४, आङ्ग ५, स्वरं ६, लक्षणं ७, व्यञ्जनम्
८; इत्येवं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखादिसुखके
निमित्ते, सूत्र० ।

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च,

निमित्तं देहं च उपाइयं च ।

अष्टगमेयं बहवे आहिता,

दोगंसि जाणंति अण्णागनाइ ॥ ए ॥

सांवत्सरमिति उद्यौतिपम्, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तम-
धीत्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । चशब्दादान्तरव्याह्यभेदजि-
घम् । निमित्तं वाक्प्रशस्तशकुनादिकम् । देहं भवं देहम्, मषक-
तिव्रकादि । उत्पाति जवमैत्पातिकमुल्कापातदिग्दाहनिर्घातभू-
मिकम्पादिकम् । तथाऽष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य । तद्यथा-जौम-
मुत्पातमान्तरिक्षमाङ्गं स्वरं लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपम् । नवमपू-
र्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गतं सुखदुःखजीवितमरणलाजाऽद्याभा-
दिसंस्वचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तुनि अना-
गतानि च जानन्ति परिच्छिदन्ति । न च शून्यादिवादेऽप्येतद् घ-
टते, तस्मादप्रमाणिकमेव तैरभिधीयत इति । एवं व्याख्याते
सति आह परः-ननु व्यञ्जिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते । तथाहि-
चतुर्दशपूर्वविदामपि पदस्थानपतितत्वमागमे उद्घुष्यते, किं
पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् । अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशा-
स्त्राणामानुष्ठेनेन चन्द्रसा त्रयोदशशतानि सूत्रम्, तावन्त्येव सह-
स्राणि वृत्तिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिज्ञापति । अङ्गस्य त्र-
योदशसहस्राणि सूत्रम्, तत्परिमाणलक्षणा वृत्तिः, अपरिमितं
वार्तिकमिति ॥

तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः पदस्थानपतितत्वेन
व्यञ्जिचारित्वमत इदमाह—

केई निमित्ता तहिया जवंति,

केसि च तं विप्पमिण्णि एणं ।

ते विज्ञभावं अणहज्जमाणा,

आहं सु विज्ञापरिमोक्त्वमेव ॥ १० ॥

मन्दसत्त्वात्माकृतशैल्या वा विज्ञानव्ययः । कानिचिन्निमित्तानि तथ्यानि सन्धानि प्रयति । केषांचित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा बुद्धिवैकल्यात्तथाविधप्रयोजनमाभावेन तन्निमित्तज्ञानं विपर्यासं व्यप्ययमेति । अर्हतानामपि निमित्तव्यभिचारः समुपलभ्यते, किं पुनस्तीर्थिकानाम् ? तदेवं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपलभ्यते । अक्रियावादिनो विद्यासद्भावमनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा, ते (आहं सु विज्ञापरिमोक्त्वमेव) विद्यायाः श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोक्षं परित्यागमादुरुक्तवन्तः । यदि वा क्रियाया अज्ञावाद् विद्याया ज्ञानेनैव मोक्षं सर्वकर्मच्युतिवृत्तकणमाहुरिति । क्वचिच्चरमपादस्यैव पाठः—“जाणानु ज्ञो सि वयंति मेदंति” विद्यामनधीत्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोकं भावान् स्वयं जानीमः, एवं मन्दा जडा वदन्ति । न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहि—कस्य चित्कचित्तुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, क्वचित् शक्तिसद्भावेऽपि कार्यावघातदर्शनात्, अतो निमित्तबलेनादेशविधायिनां मृषावाद् एव केवलमिति । नैतदस्ति । नहि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विमंवादोऽस्ति । यदपि पटस्थानपतितत्वमुद्धोष्यते, तदपि पुरुषाश्रितज्ञयोपशमयशेन । न च प्रमाणाभासव्यभिचारे सम्यक्प्रमाणव्यभिचाराशङ्कां कर्तुं युज्यते । तथाहि—मरुमरीचिकानिचये जलप्रादि प्रत्यक्षं व्यभिचरतीति कृत्वा किं सत्यजलप्रादिनोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारे युक्तिसंगतो भवति ? न हि मशकवर्तिग्निसिद्धानुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि व्यभिचारः । न हि सुविवेचितं कार्यकारणं व्यभिचरतीति । नतश्च प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्यैव । सुविवेचितं निमित्तं ध्रुतमपि न व्यभिचरतीति । यश्च क्लृप्तेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन व्यभिचारः शङ्क्यते, सोऽनुपपन्नः । तथाहि—कार्याकृतात् क्लृप्तेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिः साऽपान्तरालेऽन्तरशोभननिमित्तबलात्संजातयेवमवगन्तव्यम् । शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतरनिमित्तबलात्कार्यव्याघात इति । तथा च धृतिः—किल बुरुः स्वशिष्यनाट्योक्तवान् । यथा—द्वादशवार्षिकमत्र दुर्निजं भविष्यतीत्यतो देशान्तराणि गच्छत यूयम् । ते तद्वचनाच्छ्रुतस्तेनैव प्रतिषिद्धाः । यथा—मा गच्छत यूयमिहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः संजातस्तत्प्रतावात्सुभिक्षं भविष्यति । न तदेवमन्तरापरनिमित्तसद्भात्तव्यभिचाराशङ्कति स्थितम् ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । “ अट्टनिमित्तगाहं, दिव्युपातंतत्रिक्ख भोमं च । अंगं सरत्तक्खण वं—जणं च तिविदि पुणेक्केकं ” ॥ १॥ म० ११ श० ११ उ० ।

अष्टांगमिम्ब—अष्टाङ्गमिम्बक—पुं० । अष्टस्वद्वेषु पुण्येषु, ज० ११ श० ११ उ० ।

अष्टांगमहाणिमिम्ब—अष्टाङ्गमहानिमिम्ब—न० । अष्टाङ्गानि यत्र, एवंविधं यद् महानिमिम्बं शास्त्रम् । आङ्गस्वमेत्याद्यश्रवणे जाविपदार्थमृचके स्वप्नादिफलव्युत्पादके ग्रन्थे, कल्प० ।

अष्टांगमहाणिमिम्बमुत्तन्धधारय—अष्टाङ्गमहानिमिम्बसूत्रार्थधारक—त्रि० । अष्टाङ्गमहावयवं यन्महानिमिम्बं परोक्षार्थप्रतिपत्तिकारणव्युत्पादकं महाशास्त्रम्, तस्य यो सूत्रार्थो नौ धारयन्ति ये ते तथा । अर्थात्तादृशमहानिमिम्बशास्त्रसूत्राभिधेयेषु, ज्ञा० १ म० ।

अष्टांगिया—अष्टाङ्गिकी—स्त्री० । अष्टभिरङ्गैर्निर्वृत्तायाम्, “प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे” प० १६ विव० ।

अष्टकषिय—अष्टकार्षिक—त्रि० । ३० स० । अष्टकोणविभाग, स्था० ८ ठा० ।

अष्टकम्पगंती विमोषण—अष्टकर्मग्रन्थि विमोचक—त्रि० । अष्टक—मरुपो यो ग्रन्थिस्तस्य विमोचकः । ज्ञानावरणीयादिकर्मणां कृपके, प्रश्न० ५ सम्ब० ३० ।

अष्टकम्पतनुषणवंधण—अष्टकर्मतनुषणवन्धन—न० । ३, त० । अष्टकर्मवृत्तैस्तनुभिर्धने बन्धने, “वेढंता कोसिकारकीडो व्व अप्पणं अष्टकम्पतनुषणवंधणं” प्रश्न० ३ आश्र० ३० ।

अष्टकम्पमूरुणतव—अष्टकर्मसूदनतपस्—न० । अष्टानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सूदनं विनाशनं यस्मात्तदष्टकर्मसूदनं तपः । तपोभेदे, प्रव० १७१ द्वा० । पंचा० ।

अष्टकर—अर्थकर—पुं० । अर्थान् हिताहितप्राप्तिपरिहारादीन् राजादीनां दिग्गजादौ तथोपदेशतः करोतीति अर्थकरः । मन्त्रिणि, नैमित्तिके च । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अष्टग—अष्टक—न० । अष्टौ परिमाणस्य प्रत्येकमष्टाध्यायात्मके ऋग्वेदंशनेदे, पाणिनेरष्टाध्यायीसूत्रे च । वाचा अष्टपद्यात्मके प्रकरणे, तादृशैर्द्वात्रिंशता घटिते ग्रन्थे च । यथा हरिश्चन्द्रसूरिविरचितमष्टकम्, तस्य जिनेश्वराचार्यकृता तच्छिष्यश्रीमदभयदेवसूरिप्रतिसंस्कृता च वृत्तिः । द्वात्रिंशदष्टकानि, तेषु—प्रथमं महादेवाष्टकम्, द्वितीयं स्नानाष्टकम्, तृतीयं पूजाष्टकम्, चतुर्थमार्गिकाष्टकम्, पञ्चमं भिक्षाष्टकम्, षष्ठं पिण्डविशुद्धयष्टकम्, सप्तमं भोजनाष्टकम्, अष्टमं प्रत्याख्यानाष्टकम्, नवमं ज्ञानाष्टकम्, दशमं वैराग्याष्टकम्, एकादशं तपोष्टकम्, द्वादशं वादाष्टकम्, त्रयोदशं धर्माष्टकम्, चतुर्दशं द्रव्यास्तिकाष्टकम्, पञ्चदशं पर्यायाष्टकम्, षोडशमनेकान्तवादाष्टकम्, सप्तदशं मांसभक्षणाष्टकम्, अष्टादशं मांसभक्षणादृष्टकम्, एकोनविंशं मद्याष्टकम्, विंशतितमं मधुनाष्टकम्, एकविंशं सूक्ष्मवृद्धयष्टकम्, द्वाविंशं भावशुष्यष्टकम्, त्रयोविंशं शासनमालिन्याष्टकम्, चतुर्विंशं पुण्यापुण्यविचाराष्टकम्, पञ्चविंशमौचित्यप्रवृत्त्यष्टकम्, षड्विंशं तीर्थकरदानाष्टकम्, सप्तविंशं तीर्थकृतां महादानयुक्तत्वाष्टकम्, अष्टाविंशं तीर्थकृतां राज्याष्टकम्, एकोनत्रिंशं सामायिकाष्टकम्, त्रिंशत्तमं केवलाष्टकम्, एकत्रिंशं तीर्थकृतां धर्मदेशनाष्टकम्, द्वात्रिंशं सिद्धाष्टकम्, अन्ते च “अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम् । विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः” ॥ १ ॥ हा० । यथा वा श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायेन ज्ञानसाराख्यो द्वात्रिंशदष्टकप्रमाणो ग्रन्थो विरचितः, तस्य देवचन्द्रगणिना ज्ञानमञ्जरी नाम टीका कृता, तस्य च द्वात्रिंशतोऽष्टकानां नामाभिधेयौ तत्रैवान्ते दर्शितौ । “पूर्णां मग्नः स्थिरो मोहा, ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः । त्यागी क्रियापरस्तुतो, निर्लेपो तिसृष्टो मुनिः” ॥ १ ॥ विद्याविवेकसंपन्नो, मध्यस्थो भयवर्जितः । अनात्मशंसकस्तत्त्व—दृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥ २ ॥ ध्याता कर्मविपाकानामुद्दिमो प्रवधारिधेः । लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः, शास्त्रदृग्निष्पारिग्रहः ॥ ३ ॥ ” अष्ट० ३२ अष्ट० ।

अष्टगुणोपवेय—अष्टगुणोपपेत—न० । अष्टजिगुणैरुपपेतमष्टगुणोपपेतम् । पूर्णादिगुणाष्टकयुते ज्ञेये । ते चाष्टावमी गुणाः—पूर्णं रक्तमंशकं व्यक्तमविपुष्टं मधुरं समं सललितं च । तथा

चोक्तम्—“पुष्पं रत्नं च अलं-कियं च वत्तं तदेव अविपुट्टं । महु-
रं समं सन्नविद्यं, अट्टगुणा होति गेयस्स” ॥१॥ जी० ३ प्रति० ।
अट्टचक्रवाहपट्टाण-अट्टचक्रवालप्रतिष्ठान-त्रि० । अट्टचक्र-
प्रतिष्ठिते, “एगमेगेणं महणिण्हो अट्टचक्रवालपट्टाणे अट्ट
अट्ट जोअणाइ उट्ट उच्चत्तेणं ” जी० ३ प्रति० ।
अट्टजाय-अट्टजात-न० । जातशब्दे भेदवाचकः । अर्थभेदे, नि०
चू० १ उ० । धनार्थिनि, व्य० २ उ० ।

सूत्रम्—

अट्टजायं निक्खुं गिहायमाणं नो कप्पइ । तस्स गणाव-
च्छेदयस्स निज्जुहिच्चए अगिलाए कण्णिज्जं वेणावाडियं
जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के, उतो पच्छा अहा लहुस्सगे
नामं ववहारे पट्टविषय्वे सिया ॥

साम्प्रतमर्थजातं भिज्जुं ग्हायन्तमित्यत्र योऽर्थजातशब्दस्तदु-
त्पत्तिप्रतिपादनार्थमाह—

अत्येण जस्स कज्जं, संजातं एस अट्टजातो य ।

सो पुण संजमभावा, चाभिज्जंतो परिगिलाई ॥

अर्थेनार्थितया जातं कार्यं यस्य । संबन्धविवक्षायामत्र षष्ठी,
येनेत्यर्थः । सोऽर्थजातः । गमकत्वादेवमपि समासः । उपल-
क्षणमेतत् । तैनेवमपि व्युत्पत्तिरवसातव्या-अर्थः प्रयोजनं
जातोऽस्येत्यर्थजातः । पक्षद्वयेऽपि कान्तस्य परनिपातः, सु-
खादिगणे दर्शनात् । स पुनः कथं ग्लायतीति चेदत आह-स
पुनः प्रथमतः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितः संयमभावाद् चाल्यमानः
निष्कास्यमानः परिगलायति । द्वितीयव्युत्पत्तिपक्षे प्रयोजना-
निष्पत्त्या ग्लायति, तस्योभयस्यापि अगिलया प्राशुकस्वरूपया
वक्ष्यमाणं वैयावृत्यं करणीयम्, यावद् रोगातङ्कादिव रोगात-
ङ्कात् संयमभावचलनात् प्रयोजनानिष्पादनाच्च विप्रयुक्तः
स्यात् । ततः पञ्चाद्यतिक्रमप्याचरितं भीषणादि, तद्विषये यथा
लघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापितः स्यादिति ।

सम्प्रति निर्युक्तिरुक्तं येषु संयमस्थितस्याप्यर्थजातमुत्पाद्यते,
तान्याभिधित्सुराह—

सेवगपुरिसो ओमे, आवन्न अणत्त वोहिगे तेणे ।

एण्हि अट्टजातं, उप्पज्जइ संजमत्रियस्स ॥

सेवकपुरुषे सेवकपुरुषविषये, एवमतमे दुर्भित्ते, तथाऽऽपन्ने
दासत्वं समापन्ने, तथा विदेशान्तरगमने उत्तमार्गेनानाप्ते, तथा
बोधिकैरपहरणे, स्तेनैरपहरणे च । बोधिकाः-अनार्थम्लेच्छाः,
स्तेना आर्यजनपदजाता अपि शरीरापहारिणः । एतैः कारणै-
रर्थजातं प्रयोजनजातमुत्पद्यते, संयमस्थितस्यापीति । एष नि-
र्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥

साम्प्रतमेनामेव विवरीतुकामः प्रथममाह—

अपरिग्गहगणियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ आलत्तो ।

सा तं अतिरागेणं, पणयए हु अट्टजाया य ॥

सा रूविण ति काउं, रक्खाऽऽणैया उ खंधवारेण ।

इयो तीए विउतो, दुक्खत्तो चेय निक्खंतो ॥

पच्चागय तं सोउं, निक्खंतं वेइ गंतु एं तहियं ।

बहुयं मे उवउत्तं, जइ दिज्जइ तो विसज्जामि ॥

न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा, सा चा-
सौ गणिका च अपरिग्रहगणिका, तथा, कोऽपि राजादीनां से-

वकः पुरुष आलपितः संभाषितः । आलप्य च स्वगृहमानी-
तः । सा अर्थजाता सती तं पुरुषमतिरागेणाऽतिरागवशा-
त्प्रणयते प्रसादयति । अन्यदा सा गणिका रूपिणी अतिशयेन
रूपवतीति कृत्वा राज्ञा स्कन्धावारेण कटकेन गच्छता आत्मना
सहानीता । इतरोऽपि च सेवकपुरुषस्तथा गणिकया वियुक्तो
दुःखार्त्तः । प्रियाविप्रयोगपीकितो निष्क्रान्तस्तथारूपाणामन्तिके
प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः । सा च वेद्या राज्ञा सद् प्रत्यागता तं पुरुषं
न पश्यति स्म, गवेययितुमारब्धः । ततः कस्यापि पार्श्वे निष्क्रान्तं
श्रुत्वा यत्र स तिष्ठति स्म, तस्यां वसतौ गत्वा तान् स्थविरान्
ब्रूने-बहुकं प्रभूतं मम तु हृदयमनेनोपयुक्तमात्मोपयोगं नीतम्, हृ-
कमित्यर्थः ; तद्यदि दीयते ततो विसृजामि ॥

एवमुक्ते यत् कर्तव्यं स्थविरैस्तदाह—

सरज्जेववप्पजेयं, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि ।

वरधणुमयवेम पुस्स-भूती कुसलो मुहुमे य भ्राणम्मि ॥

गुट्टिकाप्रयोगतस्तस्य स्वरभेदं वर्णभेदं वा स्थविराः कुर्वन्ति,
यथा सा तं न प्रत्यभिजानाति, यदि वा ग्रामान्तरादिप्रेषणेना-
न्तर्धानं व्यवधानं क्रियते । अथवा तथाविधौपश्रययोगतो विरे-
चनं कार्यते येन स ग्लान इव ब्रूयते, कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञा-
त्वा सा तं मुञ्चति । अथवा शक्तौ सत्यां यथा ब्रह्मदत्तहिरण्यं
धनुःपुत्रेण वरधनुना मृतकवेपः कृतस्तथैव निश्चला निरुच्छ्वासः
सूक्ष्ममुच्छ्वसन् तिष्ठति, येन मृत इति ज्ञात्वा तथा विसृज्यते ।
यदि वा पुष्पचूतिराचार्यः सूक्ष्मे ध्याने कुशलः सन् ध्यानवशाद्
निश्चलो निरुच्छ्वासोऽप्यतिष्ठत् तथा तेनापि सूक्ष्मध्यानकुशलेन
तथा स्थातव्यं येन सा मृत इत्यवगम्य विमुञ्चति ।

एषां प्रयोगाणामभावे—

अणुसिद्धिं उच्चरती, गमेति एं मित्तणायगादीहिं ।

एवं पि अट्टजायं, करंति मुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

तस्या गणिकाया यानि मित्राणि, ये च ज्ञातयः, आदिशब्दात्तद-
न्यतथाविधपरिग्रहः । तैः स्थविरास्तां गमयन्ति बोधयन्ति, येना-
नुशिष्टमुच्चरति, मुत्कञ्चनं करोतीति भावः । एवमपि अतिष्ठ-
न्त्यां तस्यां यदुक्तं सूत्रे तत्कुर्वन्ति, “स मोचयितव्यः”
इति सूत्रे मोचनस्याभिधानात् । तथा चोक्तम्—“ताहे सो मो-
क्खेयव्वो एवं सुत्ते भणियं” इति । गतं सेवकपुरुषचारम् ।

अधुनाऽवमद्वारमाह—

सुकुटुवो निक्खंतो, अव्वत्तं दारगं तु निक्खिस्सविओ ।

मित्तस्स घरे सो वि य, कालगतो तोऽवमं जायं ॥

तत्थ अणादिज्जंतो, तस्स उ पुत्तेहि सो तओ चेओ ।

पोलंतो आवणो, दासत्तं तस्स आगमणं ॥

मथुरायां किञ्च नगर्यां कोऽपि वणिक् अव्यक्तं बाह्यं, दारकं पुत्रं,
मित्रस्य गृहे निक्षिप्य सकुटुम्बो निष्क्रान्तः, सोऽपि च मित्रचू-
तः पुरुषः काश्च गतः । (तो त्ति) तस्मात्तस्य कालगमनादनन्त-
रमवमं दुर्भिक्षं जातम् । तत्र च दुर्भिक्षे तस्य मित्रस्य पुत्रैः स चे-
नोऽनाश्रित्यमाणोऽन्यत्रान्यत्र घोलति परिभ्रमति, स च तथा
परिभ्रमन् कस्यापि गृहे दासत्वमापन्नः । तस्य च पितुर्यथावि-
हासक्रमं विहरतस्तस्यामेव मथुरायामागमनं जातम् । तेन च
सर्वं तज्ज्ञातम् ।

सम्प्रति तन्मोचने विधिमभिधित्सुराह—

अणुसाम कइए उवियं, भीसए ववहार लिंगं जं जत्थ ।

दृग्भागं गवेसण, पंचे जयणा य जा जत्थ ॥

पुर्वमनुशासने तस्य कर्तव्यम्, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापय्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यन्निष्कामता स्थापितं इत्यं तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्याज्ञावेतिजकानां तस्य वा भीषणमुत्पादनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिप्रति यतो यत्र निष्कं पूज्यते, ततस्तत्र परिगृह्य स मोचनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दूरेणाच्छिन्नस्वामिकृतया, दूरदेशव्यवधानेन वा यन्निधाने तस्याभोगः कर्तव्यः, नदनन्तरं तस्य गवेसणया च गमने पथि मार्गे यतना यथौघनि-युक्तवृत्ता तथा कर्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासुखमिति द्वारगाथासंकेतार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विचरीषुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह—

नित्थिस्सो तुज्झपरे, रिसिपुत्तो मुंच होहिई धम्मो ।

धम्मकहापमंगेण, कट्ठणं थावच्चपुत्तस्स ॥

एव ऋषिपुत्रस्तत्र गृहेऽवमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णीऽधुना व्रतप्रहरणार्थमुद्यत इत्यमुं मुञ्च, तवापि प्रभूतो धर्मो जविष्यतीति । एतावता गतमनुशासनद्वारम् । नदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च कथनं स्थापय्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापय्यापुत्रो व्रतं त्रिवृत्तुर्व्यासुंदेयेन महता निष्कमणमहिम्ना निष्काशय पार्श्वस्थितेन व्रतप्रहरणं कारितः । एवं युष्माभिरपि कर्तव्यम् ।

तद् वि य अउंते उविंयं, जीसणं ववहारं निखमंतेण ।

तं येत्तूणं देज्जइ, तस्सासइए इमं कुज्जा ।

तथापि च, अनुशासने कथने च कृते इत्यर्थः । अतिष्ठति स्थापितं देयम्, जीषणं वा करणीयम्, व्यवहारे वा समाकर्षणीयः । तत्र स्थापितं नावयति—तेन पित्रा निष्कामता यत्किमपि स्थापितं इत्यमस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपव्रजणमेतत् । तेनैतदपि द्रष्टव्यम्—अग्निवः कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य यत्किमप्यर्थजातं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छान्तेरयः कोऽपि शैकक उपस्थितस्तस्य इस्ते यद् इत्यमवतिष्ठते, तद् गृहीत्वा तस्मै दीयते, तस्य इत्यस्यास्त्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

नीयद्वाण तस्स व, जीसणं रायउत्ते सयं वावि ।

अविस्सिमो अम्हे, कट्ठं व द्वाज्जा न तुज्जत्ति ।

ववहारेणं अट्ठयं, जागं पेच्चापि बहुतरागं भे ।

अच्चियलिंगं च करं, पम्पवणा दावणट्ठाए ॥

निजकानामात्मीयानां स्वजनानां, तस्य वा जीषणं कर्तव्यम् । यथा वयमविरिक्ता अविभक्तस्थिता वृत्तामहे, ततो मोचयन्तमदी-यं पुत्रं, कथं वा केन युष्माकं न लज्जाऽनुद् यदेवं मदीयपुत्रो दास-त्वमापन्नोऽद्यापि धृतो वर्त्तते इह । अथैवमुक्तं ते इत्यं न प्रयच्छन्ति तत इदमपि वक्तव्यम्—राजकुत्रं गत्वा व्यवहारेणाप्यहं भागं बहुतरकं प्रभूततरकं ग्रहीष्यामि (भ) जवनां पार्श्वे; तद् वर-निदानीं स्तोत्रं प्रयच्छथ । एवं तेषां भीषणं कर्तव्यम् । यदि वा येन गृहीतो वर्त्तते तस्य भीषणं विधेयम्, यथा यदि मोचनीयं तर्हि मोचय, अन्यथा भवतस्तं शापं दास्यामि येन न त्यस, नेदं वा तव कुटुम्बकमिति । एवं भीषणेऽपि कृते यदि न मुञ्चति, यदि वा ते स्वजना न किमपि प्रयच्छन्ति, तदा स्वयं राजकुत्रे गत्वा निजकैः सह व्यवहारः करणीयः, व्यवहारं च कृत्वा जाग आत्मीयो गृहीत्वा तस्मै दातव्यः । यद्वा-स एव राजकुत्रे

व्यवहारेणाप्यते; तत्र च गत्वा वक्तव्यम्—यथाऽयमुपिपुत्रो व्रतं जिघृक्षुः केनापि कपटेन धृतस्तं न वर्त्तते, यूयं च धर्मव्या-पारनिष्ठास्ततो यथाऽयं धर्ममाचरति, यथा चामीषामृषीणां समाधिरुपजायते तथा यतध्वमिति । अस्यापि प्रकारस्याभावे यद्यत्र त्रिङ्गमर्चितं तत्परिगृह्यं दापनार्थम्, विवर्त्तितथात्रकमोच-नार्थमित्यर्थः । तत्त्रिङ्गधारिणां मध्ये ये महान्तस्तेषां प्रहापना कर्त्तव्या, येन ते मोचयन्ति ।

सम्प्रति दृग्भागगेत्यादि व्याख्यानार्थमाह—

पुट्ठा व अपुट्ठा वा, चुयसामिनिहिं कहिति ओहाई ।

येत्तूणं जावदट्ठा, पुणरवि सा रक्खणा जयणा ॥

यदि वा अवध्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दाद्विशिष्टश्रु-तज्ञानिपरिग्रहः । पृष्टा वा अपृष्टा वा तथाविधं तस्य प्रयोजनं ज्ञात्वा च्युतस्वामिकं निधिमुत्सन्नस्वामिकं निधिं कथयन्ति, तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्याचित्त्वात् । ततो यावदर्थः, यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरपि तस्य निधिमंरक्षणं कर्तव्यम् । प्रत्यागच्छता च यतनाविधिर्या, सा चाग्रे स्वयमेव व-द्यते ।

सोऊण अट्ठजायं, अट्ठं पमिजगए य आयरिओ ।

संघारुयं वि देंति य, पडिजगइ णं गिलाणं पि ॥

निधियग्रहणार्थं मार्गे गच्छन्तमर्थजातं साधुं श्रुत्वा सांभोगि-को वाऽऽचार्योऽर्थं प्रतिजागतिं उत्पादयति । यदि पुनस्तस्य द्वितीयः संघाटको न विद्येत, ततः संघाटकमपि ददाति । अथ कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागति न तृपेक्षते, जि नाज्ञाविराधनप्रसक्तेः ॥

यदुक्तमन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह—

काउं निसीहियं जा-ट्ठजायमावेयणं च गुरुहत्थे ।

दाऊणं पमिक्कमणं, मा पेहंता मिगा पेसो ॥

यत्रान्यगणे स प्राचूणक आयाति, तत्र नैपेधिकीं कृत्वा, 'नमः क्रमाश्रमणेभ्यः' इत्यादिवा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य च यद-र्थजातं तद्गुरुभ्य आवेदयति कथयति । आवेद्य च तदर्थजातं गुरुहस्ते दत्त्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थित इति वेदय-त आह—मा प्रेक्षमाणा मृगा इव-मृगा अगीतार्थाः कुलकादयः पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थितं तद् निरीक्षते, अस्मद्गुरुणां समर्पित-मिति विरूपसंकल्पेऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जत्थेति' तद्व्याख्यानार्थमाह—

सन्नी व सावको वा, निरुविण देज्ज अट्ठजातस्स ।

पच्चुप्पसुनिहाणे, कारणजाए गहणसोही ॥

यत्र संज्ञी सिद्धपुत्रः श्रावको वा वर्त्तते तत्र गत्वा तस्मै स्वरूपं निवेदनीयं, प्रज्ञापना च कर्त्तव्या । ततो यत्तत्रतेन प्रत्युत्प-न्नं तव नियानं गृहीतं वर्त्तते तस्यार्थजातस्य मध्यात्कतिप-यान् जागान् दद्यात् । स्वयं तदानीं प्रज्ञापनातो वा गीतार्थ-त्वात् । अस्य प्रकारस्याज्ञावे यन्निधाने दूरमवगाढं वर्त्तते, तत-स्तेन उत्खन्य दीयमानमधिकृते कारणजाते गृहानोऽपि श्रुतः, भगवदाज्ञावर्त्तनात् । गतमवमद्वारम् ।

इदानीमापन्नद्वारमाह—

थोयं पि थरेमाणो, कप्पइ दासत्तमेव अददंते ।

परदेसम्मि वि लब्धति, वाणि यथम्मो भमेस ति ॥

स्तोकमपि ऋणं शेषं धारयन् कश्चिदेशं कोऽपि पुरुषः, ततः (अद्वन्द्वे त्ति) अददानः कावकमेण प्रवृद्ध्या, दासत्वमेव प्रतिपद्यते । तस्यैव दासत्वमापन्नस्य, स्वदेशे दीक्षा न दातव्या । अथ कदाचित्परदेशे गतः सन्नविदितस्वरूपोऽशिवादिकारणतो वा दीक्षितो भवेत् । तत्र च वणिज्जा वाणिज्यार्थं गतेन दृष्टो भवेत् । तत्रायं किल न्यायः—परदेशमपि गता वणिज आत्मीयं ब्रम्हन्ते, तत एवं वणिग्धर्मे व्यवस्थिते स एवं ब्रूयात् 'मम एव दास' इति न मुञ्चिष्येऽमुमिति ।

तत्र यत्कर्त्तव्यं तत्प्रतिपादनार्थं चारुगाथामाह—

नाहं विदस्रआहर-णमाइ विज्जा य मंत जोगा य ।

नेमित्त राय धम्मे, पासंढ गणे धणे चेव ॥

यस्तव दासत्वमापन्नो वर्त्तते, न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्विदेशे जातः, त्वं तु सदृक्ततया विप्रबन्धोऽसि, अयं सम्भूतजनविदितो वर्त्तते तत एवं न वक्तव्यं, किं तु स्थापत्यापुत्राद्याहरणं कथनीयम्, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणतः प्रतिबुद्धो मुक्तलयति । आदिशब्दात् गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्त्तव्यमिति ग्रहः । एतेषां प्रयोगाणामभावे विद्या मन्त्रो योगो वा, ते प्रयोक्तव्याः, यैः परिगृहीतः सन् मुक्तलयति । तेषामप्यभावे निमित्तेनातीतानागतविषयेण राजा, उपलक्षणमेतत्, तदन्यो वा नगरप्रधान आर्वजनीयः, येन तत्प्रभावात्स प्रेर्यते, धर्मो वा कथनीयो राजादीनाम्, येन स आवृताः सन्तस्तं प्रेरयन्ति । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे पापएकान् सहायान् कुर्यात् । यद्वा यो गणः सारस्वतादिको बलीयान् तं सहायं कुर्यात् । तदभावे दूराभोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन मोचयेत् । एष चारुगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीपुराह—

सारक्खण जंपासि, जातो अन्नत्थ ते वि आमंति ।

बहुजणविष्णायम्मि उ, थावच्चसुयादिआहरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अयं तद्देशे जात इति, तत एवं ब्रूयात् । अहमन्यत्र विदेशे जातस्त्वं तु साहचर्येण विप्रबन्ध एवमसमञ्जसं जल्पसि । एवमुक्ते तेऽपि तत्रत्या आमित्रमेतद् यथाऽयं वदतीति साक्षिणो जायन्ते, अथ तद्देशजाततया प्रभूतजनविदितो वर्त्तते, ततस्तस्मिन्बहुजनविज्ञते पूर्वोक्तं न वक्तव्यम्, किन्तु प्रबोधनाय स्थापत्यापुत्राद्याहरणं कथनीयम् ।

विज्जा मंता जोगा, अंतद्दाणं विरेयणं वा वि ।

वरधणु य पुस्सभूती, गुलिया सुहुमे य जाणम्मि ॥

विद्यादयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन तैरभियोजितः सन् मुक्तलयति । आहरणमादीत्यत्रादिशब्दव्याख्यानार्थमाह—गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतत् । वर्णजेदं कारयेत्, यदि वा अन्तर्धानं ग्रामान्तरप्रेषणेन व्यवधानम्, विरेचनं वा ग्लानतोपदर्शनाय कारयितव्यो यत्कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञात्वा विसृज्यते । यदि वा वरधनुरिव गुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिराचार्य इव सूक्ष्मध्यानवशतो निश्चला निरुद्धासः तथा स्याद् येन मृत इति ज्ञात्वा परित्यज्यते ।

असतीए विणवेती, रायाणं सो व होज्जउ अ निन्नो ।

तो से कहिज्ज धम्मो, अण्णिच्छमाणा इमं कुज्जा ॥

एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं विज्ञापयन्ति । यथा—

तपस्विनमिह परलोकनिःस्पृहमेनं व्रताद्यापयतीति; अथासौ राजा तेन भिक्षो व्युद्वाहितो वर्त्तते । ततः स तस्य राज्ञः प्रतिबोधनाय, धर्मः कथ्यते, अथ स धर्मं नेच्छति, ततस्तास्मिन् धर्ममनिच्छति, उपलक्षणमेतत्, निमित्तेन वाऽतीतानागतरूपेण वार्यमाणे इदं वदयमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

पासंढे व सहाए, गेएहइ तुज्झं पि एसिं हुज्जा ।

होहोमोह सहाया, तुज्झ वि जो वा गणो बलिआं ॥

पापएकान् वा सहायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न ब्रवन्ति, तत इदं तान् प्रति वक्तव्यम्—युष्माकमपीदं प्रयोजनं भवेद् ब्रविष्यति तदा युष्माकमपि वयं सहाया भविष्यामः । एवं तासहयान् कृत्वा तद्वलतः स प्रेरणीयः, यदि वा यो गणो बलीयान् तं सहायं परिगृह्णीते ।

एसिं असतीए, संता वि जया न होतिउ सहाया ।

ठवणा दूराभोगे, लिंगेण व एसिउं देंति ॥

एतेषां पापएकानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टास्ते सहायाः कर्त्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न ब्रवन्ति, तदा (ठवणं त्ति) निष्कामता या छव्यस्य स्थापना कृता तद्धानतः स मोचयितव्यः । यदि वा दूराभोगेन प्रागुक्तप्रकारेण, अथवा यद्यत्र त्रिङ्गमर्चितं, तेन धनमोषित्वा उत्पाद्य ददति, तस्मै वरधूपभाः । गतमापन्नद्वारम् ।

इदानीमनासद्वारमाह—

एमेव अणत्तस्स वि, तवतुल्लणा नवरि एत्थ नाणत्तं ।

जं जस्स होइ भंरुं, सो देति मंपतिगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनैव दासत्वापन्नगतेन प्रकारेण अनासस्यापि प्रागुक्तशब्दार्थस्य मोक्षणे यतना द्रष्टव्या, नवरम्, अत्र धनदानचिन्तायां नानात्वम् । किं तदित्याह—तपस्तुलना कर्त्तव्या । सा चैवं जण्यते—साधवस्तपोधना अहिरण्यसुवर्षाः, लोकेऽपि यद्यस्य ज्ञाणं ब्रवति, स तत्तस्मै उत्तमर्णाय ददाति । अस्माकं च पार्श्वे धर्मस्ततस्त्वमपि धर्मं गृहाण ।

एवमुक्ते स प्राह—

जोऽणेण कतो धम्मो, तं देउ न एत्तिंयं समं तुलइ ।

हीणं जावेताहिं, तावइयं विज्जयंभणया ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सर्वं मह्यं ददातु, एवमुक्ते साधुनिर्वर्त्तक्यम्, नैतावद्दूढम्, यतो नैतावत्समं तुलति । स प्राह—एकेन संवत्सरेण हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिषेधनीयं चेद् द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां हीनं दत्त । एवं तावत् विभाषा कर्त्तव्या—यावदेकेन दिवसेन कृतो योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो वक्तव्यम्—नाज्यधिकं दक्षः किन्तु यावत्तद् गृहीतं मुहूर्तादिकृतेन धर्मेण तोल्यमानं समं तुलति तावत्प्रयच्छामः । एवमुक्ते यदि तोलनाय ढौकते, तदा विद्यादिज्ञिस्तुला स्तम्भनीया, येन क्षणमात्रकृतेनापि धर्मेण न समं तोलयतीति । धर्मतोलनं च धर्माधिकरणिकनीतिशास्त्रप्रसिद्धमस्ति, ततोऽवसातव्यम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तवं, वाणियधम्मेण ताहे सुच्छो उ ।

को पुण वाणियधम्मो, सामुदे संजंसे इणमो ॥

वत्याणानरणाणि य, सत्वं गड्डितु एगविदेण ।

पोयस्मि विवष्मि उ, वाणियधम्मे हवइ सुच्छो ॥

एयं इमो वि साहू, तुज्जं नियमं च सारमुत्तुणं ।

निकम्बतो तुज्जं धरे, कण्डे इण्हि तु वाणिज्जं ॥

यदि पुनरुक्तप्रकारेण कणमात्रकृतस्यापि धर्मस्यालाभेन नेच्छे-
त् तपो प्रहीतुम् । ततो वक्तव्यम्-वणिग्धर्मणे वणिग्न्वायेन एव
शुद्धः स ग्राह-कः पुनर्वणिग्धर्मो यनैव शुद्धः क्रियते ? साध-
यो वदन्ति-समुद्धे सप्रमे गमनेऽयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह-(वत्था-
याभरणेत्यादि) यथा वणिक् श्रुणं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमव-
गाढः, तत्र पोतं प्रवहणे विपन्ने आत्मीयानि परकीयानि च प्रजु-
तानि वस्त्राण्याभरणानि, चशब्दाच्छेषमपि च नानाविधं क्रया-
णकं सर्वं छर्द्यित्वा परित्यज्य, एकवृन्देन, ज्ञावप्रधान एकशब्दः-
एकतैव वृन्दं, तेनैकाकी उत्तीर्णो, वणिग्धर्मे वणिग्न्वाये शुद्धो
भवति, न ऋणं दाप्यते । एवमयमपि साधुस्तव सत्कमात्मीयं
च सारं सर्वं तव गृहे मुक्त्वा निष्क्रान्तः संसारसमुद्रादुत्तीर्ण
इति शुद्धः, न धनिका ऋणमात्मीयं याचितुं हभन्ते, तस्मान्न
किञ्चिद्व तवाऽऽदेयमस्तीति । करोत्विदानीमेव स्वेच्छया त-
पोवाणिज्यम्, पोतभ्रष्टवाणिगिव निरक्षरो वाणिज्यमिति । गतम-
नासद्वारम् ।

अधुना बोधिकस्तेन वारप्रतिपादनार्थमाह-

बोहियतेणेहि हिण, विमग्गणा साहुणो नियममो य ।

अणुसामणमादीतो, एसेव कपो निरवसेसो ॥

बोधिकाः स्तेनाश्च प्रागुक्तस्वरूपाः, तेहते साधौ नियमशो
नियमेन साधोविमार्गणं कर्त्तव्यम्, तस्मिन् विमार्गणे कर्त्तव्येऽ-
नुशासनादिकोऽनुशिष्टिप्रदानादिको धनप्रदानपर्यन्त एव एवा-
नन्तरोदितः क्रमो निरवशेषो घटितव्यः ।

संप्रत्युपमंहागव्याजेन शिक्षामपवादं चाह-

तम्हा अपगयत्ते, दिक्खिज्जाऽणारिण वजेज्जा ।

अप्पाण अणाजोगा, विदेम असिवादिमं दो वि ॥

यस्मान्परायत्तदीक्षणोऽनार्यदेशगमने चेत दोवास्तस्मादपरा-
यत्तान् दीक्षेत, अनार्याश्च देशान् वर्जयेत् । अत्रैवापवाद-
माह-(अप्पाण त्ति) अप्पाणं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेते करि-
ष्यन्तीति हेतोः परायत्तानपि दीक्षेत । यदिवाऽनाजोगतः प्र-
व्रजयेत् । विदेशस्थान् वा स्वरूपमजानतो दीक्षेत । पुनरशि-
वादिषु कारणेषु (दो वि त्ति) द्वे अपि परायत्तदीक्षणानार्यदे-
शगमनेऽपि कुर्यात् । किमुक्तं नवति-अशिवादिषु कारणेषु स-
मुपास्थितेषु परायत्तानपि गच्छोपग्रहनिमित्तं दीक्षेत, अना-
र्यान्पि देशान् विहरेदिति । व्य० २ उ० । एतत्पुरुषस्थार्थजात-
त्वमुपदर्शितम् ।

अयं संपत्त्याऽर्थजातत्वमुच्यते-

अट्टजायं गिगंथे गिगंथं गिएदमाणे वा अवलंयमाणे
वा णाङ्कमइ ॥

अर्थः कार्यमुपग्राजततः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जानं यथा साऽ-
र्थजाता पतिचौरादिना संयमाश्चादयमानेत्यर्थः । स्था० ५
ग० २ उ० ।

इह गाथा-

अट्टेण जायकज्जं, मंजायं एस अट्टजाया उ ।

तं पुण संयमभावा, चालिज्जंतं समवत्तंवे ॥ १ ॥

अर्थनार्थतया संजातं कार्यं यथा । यद्वा-अर्थेन द्रव्येण जातमु-
त्पन्नं कार्यं यस्याः सा अर्थजाता । गमकत्वादेवमपि समासः ।

उपलक्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिः कर्तव्या । अर्थः प्रयोजनं
जातमस्या इत्यर्थजाता । कथं पुनरस्या अवलम्बनं क्रियत इ-
त्याह-तां पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितां, संयमज्ञावाच्छाद्यमानाम् ।
द्वितीयतृतीयव्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याभावेन प्रयोजनानिष्पत्त्या वा
स्मिदन्तां समवलम्बेन-साहाय्यकरणेन सम्यग्भारयेत्; उप-
लक्षणत्वाद् गृहीयादपि । श्रु० ६ उ० । (संयमस्थिताया निर्ग्रन्थ्या
अर्थजातवक्तव्यता निरवशेषा निर्ग्रन्थस्यैव भावनीया, केवलं
स्यमिहापः कार्यो भवतीति बृहत्कल्पोक्ता साऽत्र नाप्यस्ता) ।

अट्टजुत्त-अर्थयुक्त-त्रि० । अर्थेन हेयोपादेयात्मकेन युक्तान्यन्वि-
तानि अर्थयुक्तानि । हेयोपादेयाभिधायकेषु आगमवचनादिषु,
अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्षे उपादेय-
तया सङ्गतेषु वचनादिषु, “अट्टजुत्ताणि सिक्खेज्जा, णिरछाणि
उ वज्जए” उक्त० १ अ० ।

अट्टट्टमिका-अष्टाष्टमिका-खी० । अष्टावष्टमानि दिनानि यस्यां
साऽष्टाष्टमिका । यस्यां हि अष्टौ दिनाष्टकानि भवन्ति तस्याम-
ष्टौ अष्टमानि जवन्त्येवेति । चतुष्पष्टदिननिष्पन्नायां जिश्रुप्रति-
मायाम्, स० ।

अट्टट्टमियाणं जिक्खूपडिमा चउमट्टीए राइंदिएहि दो-
हि य अट्टासीएहि, भिक्खासएहिं अट्टासुत्तं जाव भवइ ।

भिभ्रुप्रतिमाऽभिग्रहविशेषः । अष्टावष्टकानि यतोऽसौ भवन्त्य-
तश्चतुष्पष्ट्या रात्रिर्दिवः सा पालिता जवति, तथा प्रथमेऽष्टके
प्रतिदिनमेकैका भिक्षा, एका दत्तिर्जौजन्त्य पानकस्य च, एवं
द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टावष्टायिति संकलनया द्वे शते भिक्षा-
णामष्टाशीत्यधिके भवतः । अत उक्तं द्वात्र्यं चेत्यादि यावत्करणा-
त् । “अहाकप्वं अहामग्गं फासिया पाविया सोहिया तीरिया
कित्तिया सम्मं आणाए आराहिया वि भवइ” इति दृश्यम् ।
स० ६४ सम० । स्था० । अष्टाष्टकिकायामष्टक आदिरष्टक उ-
त्तरमष्टको गच्छः । तत्राष्टवृत्तानो गच्छ उत्तरेणाष्टकेन युतः क्रि-
यते, जाता चतुष्पष्टिः, सा उत्तरहीना आदियुता क्रियते, तथापि
संब चतुष्पष्टिः । एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतदादिनाऽष्ट-
केन युतं क्रियते, जाता द्वासप्ततिः ७२ । सा गच्छार्कन चतुष्केण
गुण्यते, जाने षे शते अष्टाशीत्यधिके । व्य० ए० उ० । प्रव० अन्त० ।
अट्टट्टाण-अष्टस्यानक-न० । प्रज्ञापनाया अष्टमे स्थाने, “एवं
जहा अट्टट्टाणे” स्था० १० ग० ।

अट्टणाम-अष्टणामन्-न० । अष्टविधपदार्थनामनि, “से कितं
अट्टणामे ? । अट्टणामे अट्टविहा वयणविभत्ती” अनु० (‘वय-
णविभत्ति’ शब्दं निरूपितमेतत्) ।

अट्टदंसिण-अर्थदर्शिन-त्रि० । यथावस्थितमर्थं यथा गुरुस-
काशादवधारितमर्थं प्रतिपाद्यं छट्पृशीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी ।
सत्पदार्थवेत्तरि, “समाववेज्जा पमिपुत्रभासी, निसामिया
सामिय अट्टदंसो” सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अट्टदुग्ग-अर्थदुर्ग-त्रि० । अर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमम् ।
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । परमार्थतो विचार्यमाणे गहने दुर्गिज्ञेये,
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परमार्थतो दुरुत्तरे, “इओ चुतेसु
डहमट्टदुग्गं” सूत्र० १ श्रु० १० अ० ए० उ० ।

अट्टपणसिय-अष्टप्रदेशिक-त्रि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन्नित्यष्टप्र-
देशिकः । स्वार्थिकप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशाष्टकनिष्पन्ने,
“एथ णं अट्टपणसिए रयगे” स्था० १० ग० ।

अष्टपद (य) चिन्तण—अर्थपदचिन्तन—न० । अर्थ्यमाणं विचार्यमाणं यत्पदं वाक्यादिः पठ्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः । तस्य चिन्तनं भावनं विचारणं, स्वविषये स्थापनमिति यावत् । विचारणीयस्य वाक्यादेरर्थपर्यालोचने, योऽयं जावः सृष्टमेकिकया जावनाप्रधानेन सताऽर्थपदं विचारणीयं, विचार्य च बहुश्रुतसकाशा-त्स्वविषये स्थापयितव्यम् । अर्थपदचिन्तनं विना सम्यग्धर्मश्रद्धानमेव न घटते । तथा च परमार्थे “ सुच्चा य धम्मं अरहंतभासिअं, समाहिअं अछपओवसुद्धं ” इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्य स्वविषये स्थापयितव्यम् । तद्यथा—यदि सृष्टमोऽप्यतिचारो ब्राह्मीसुन्दर्यादीनामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां कथं चारित्रं मोक्षहेतुत्वेन घटते?, प्रमृतातिचारवत्त्वात् । अत्रयं समाधानजावना—यः प्रमजितः सूक्ष्ममप्यतिचारं करोति, तस्य विपाकोऽतिरौक्ष एव, परं प्रतिपक्काध्यवसायः प्रायस्तस्य कृपणहेतुर्नाशोचनादिमात्रम्; ब्राह्मयादीनामपि तद्भावात् । प्रतिपक्काध्यवसायश्च-क्रोधादिषु क्रमादिः संवरभावोक्तः । एवं च प्रमत्तानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणाधिकगुणप्रतिपक्काध्यवसायवतां धर्मचरणमविरुद्धम्, सम्यक्कृतप्रतीकारस्य विषयेवातिचारस्य स्वकार्याक्रमत्वात् । नन्वेवं प्रतिपक्काध्यवसायस्यैवातिचारप्रतीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उच्छिद्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्तादियतनाव्यवहारे तुल्यतामप्राप्नुवति प्रतिपक्काध्यवसायस्य विशेषणस्य धौव्यात् । तदुत्कर्षकेणैव च विशेष्यस्य साफल्यात् । विशेष्यविशेषणजावे विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽयत्तो दुष्परिहर एव । तथाप्यसकृत्प्रमादाचरणकृतमतिक्रमजातं प्रतिपक्काध्यवसायेन कथं परिह्रियेत?, असकृत्कृतस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्यविषयत्वादिति चेन्मैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसायस्यैव ग्रहणात् । एकेनापि बलवता प्रतिपक्केण परिचूयते बहुलमप्यनर्थजातं, कर्मजनिताश्चातिचारादेरात्मस्वभावसमुत्पत्तस्य स्लोकस्यापि प्रतिपक्काध्यवसायस्य बलवत्त्वमुपदेशपदादिप्रसिद्धमेव । स्यादेतत् । मनसो विकाराः प्रतिपक्काध्यवसायनिवर्त्या जवन्तु, कायिकप्रतिसेवनारूपा अतिचारास्तु कथं तेन निवर्त्तन्तु ? इति चेन्मैवम्, संज्वलनोदयजनि तत्वेनातिचाराणामपि मानसविकारत्वात्, छत्ररूपकायिकप्रतिसेवनादीनां तु अदूरविप्रकर्षेणैव निवृत्तिरिति दिक् । ध० ३ अधि० ।

अष्टपद (य) परुवणया—अर्थपदप्ररूपणता—स्त्री० । अर्थकथयणुकस्कन्धादि, तथुक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं, तस्य प्ररूपणं कथनं, तदजावोऽर्थपदप्ररूपणता । इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा, अयञ्च तदजिधेयरुगणकादिरर्थः संज्ञी, इत्येवं संज्ञा-संज्ञिसंबन्धकथने “ से किंतं पेगमवचहारणं अणोवणिहिया दव्याणुपुव्वी ? । पंचविहा पमज्जा । तं जहा-अष्टपदपरुवणया ” (इत्यादि सर्वे चिन्तीयभागे १३१ पृष्ठे ‘ आणुपुव्वी ’ शब्दे वक्ष्यामः) अनु० ।

अष्टपदोवसुद्ध—अर्थपदोपशुद्ध—त्रि० । अर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातम् । सद्युक्तिके, सच्छेत्तुके च । अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचके, “ सोच्छा य धम्मं अरहंतभासिअं, समाहितं अछपदोवसुद्धं ”

सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अष्टपिठणिष्ठिया—अष्टपिठनिष्ठिता—स्त्री० । अष्टभिः शास्त्रप्रसिद्धैः पिठैर्निष्ठिताऽष्टपिठनिष्ठिता । प्रज्ञा० १७ पद० । अष्टवारपिठप्रदाननिष्पन्ने सुराभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अष्टपुष्पी—अष्टपुष्पी—स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्यष्टपुष्पी । पूजार्थके पुष्पाष्टके, पुष्पाष्टकनिष्पाद्यायां पूजायां च । हा० । अष्टपुष्पी समारुघाता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

अशुक्तेतरजेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिजिः ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पूजायां साऽष्टपुष्पी । नदादि-दर्शनाच्च ईप्रत्ययः । इयं च जघन्यपदमाश्रित्योच्यते, न द्वित्रिचतुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । यद्वक्ष्यति—“ स्तोकेर्वा बहुभिर्वाऽपि ” इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजने कारणत्वं वक्ष्यति । द्विधेत्यस्येह संबन्धात् द्वान्यां प्रकारान्यां द्विधा द्विप्रकारा समारुघाता सम्यगभिहिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरिति संबध्यते । तत्त्वज्ञता अर्था जीवादयस्तान्, तत्त्वेन वा परमार्थवृत्त्याऽर्थान् पश्यन्तीत्येवं शीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विधेत्याह—अशुक्तेतरजेदेन, अशुक्ता च सावद्यतया, इतरा च निरवद्यतया, अशुक्तेतर, ताभ्यां कृत्वा तयोर्वा भेदो विलक्षणता अशुक्तेतरभेदस्तेन, इह चेतराशब्दस्य पुष्पद्वावः, “ वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भावाः ” इति वचनात् । फलतस्तान् निरूपयन्नाह—स्वर्गमोक्षप्रसाधनी; आद्या देवलोकासाधनी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पात्रान्तेर तु-स्वर्गमोक्षप्रसाधनास्तेतद्विधा । एतदेव कथम्?, अशुक्तेतरजेदेन इत्येवं पदयोजना कार्येति ॥ १ ॥

अशुक्तां श्लोकाद्वयेन तावदाह—

शुद्धागमैर्यथालानं, प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।

स्तोकेर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्जात्यादिसंभवं ॥ २ ॥

अष्टपायविनिर्मुक्त—तदुत्पत्त्युत्पन्नतये ।

दीयते देवदेवाय, या सा शुद्धेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

शुद्धो निर्दोष आगमः प्राप्स्युपाया येषां तानि शुद्धागमानि, न्यायोपात्तचित्तेनाचौर्येण वा गृहीतानीत्यर्थः । पुष्पैर्दीयते देवदेवाय या सा शुद्धेत्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्याह—लाभस्यानतिक्रमेण यथालाभं, प्रवचनप्रभावानर्थमुदाराजनेन मालिकाद्यथालाभगृहीतैर्देशकाद्यापेक्षया चोत्तममध्यमजघन्येषु यानि बन्धानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्रैरपरिस्त्रानैः, शुचिभाजनैः पवित्रपटवकाद्याधरैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि न मनोनिवृत्तिमापादयेदितिः स्तोकेरुपैः, प्रत्यपायापगमं पुष्पदानादष्टजिरित्यर्थः । बहुभिर्भूरिजिस्तदुद्देशेनादानात् । वाशब्दौ स्तोके ब्रह्मपुष्पपूजयोर्वहुमानप्रधानस्य फलं प्रत्यविशेषप्रतिपादनार्थी । अपिशब्दस्तु समुच्चयायं इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादि-संज्ञवैर्मालतीप्रभृतिप्रभैः, आदिशब्दाच्चिकित्वादिपरिग्रहः । इह कश्चिदाह—जात्यादिग्रहणं सुवर्णादिमुनसां निषेधार्थम् । जात्यादिकुसुमानि हि सरुदारोपितानि निर्माल्यमिति कृत्वा न पुनः पुनरारोप्यन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि भवन्ति, निर्माल्यारोपणदोषश्चैवं प्रसज्यत इति । एतच्चायुक्तम्—“ कंचणमोक्षिरयणा-इदामर्हि च विविहेहि ” इत्यनेन तेषामनुज्ञातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः किमाह ? । किन्तु यदा नोत्तार्यन्ते तदा निर्माल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् । जात्यादिकुसुमानि हि कात्यातिक्रमेण विगन्धानि भवन्तीत्यवश्यमुत्तारणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेति नावश्यमुत्तारणीयानि, तथाविधविगन्धत्वाभावादेव । तेषां पुनरारोपणोऽपि न तथाविधो दोष इति मन्यते । यदपि कैश्चिदुच्यते—अवज्ञारारोपणमयुक्तं, वीतरागाकारस्याज्ञाप्रसातेः । तदपि न युक्तम् । पुष्पारोपणेऽपि तथाप्रसङ्गात् । यथा हि आजरणाणि

वीतरागस्य नोपपद्यन्ते, एवं पुष्पाण्यपि, उज्जयेषामपि सरागै-
राचरितत्वादिति । अष्टपुष्पीविधाने कारणमाह-अपराधोऽनर्थ-
स्तद्धेतुत्वाद्वाप्या ज्ञानावरणादयः, अष्टापपायाः समाहृताः
अष्टापपायम्, तस्माद्विशेषेण प्रकारान्तरेणैव, दग्धरज्जुकलक-
रणतः प्रबोपप्राप्तिभ्यश्चतुर्थं इत्यर्थः । नितरां निःसत्ताकतया
चतुर्थं एव घातिकर्मभ्यो मुक्तः भवेतः । धात्वर्थमात्रवृत्ति वा
विशद्भूतिः शब्दाविति । विनिर्मुक्त इव विनिर्मुक्तः, अष्टापपायवि-
निर्मुक्तस्तथा, तस्मादष्टापपायविनिर्मुक्तत्वात्तथा उक्त्यान् यस्याः
सा तदु-या, गुणा सन्तःज्ञानदर्शनादयस्तेषां भूतिः प्रादुर्भावः,
त एव वा भूतिर्लक्ष्मीगुणभूतिः, तदु-या गुणचतुर्थस्य स तथा ।
अष्टापपायविनिर्मुक्तस्तदु-यागुणभूतिश्च यः स तथा, तस्मै । यगपीह
गुणीभूतं विनिर्मुक्तं, कप्रत्ययार्थस्यैव प्रधानत्वात्, तथापि
तच्छब्देन तदेव परामृश्यते, वक्त्रा तथैव विवक्षितत्वात् । दृष्ट-
व्यं न्यायः । यथा-सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति
तद्व्युत्पाद्यत इत्यादाविति । दीयते चित्तीर्यते, देवदेवाय स्तु-
त्यस्तुत्याय, याऽष्टपुष्पी सा शुद्धाऽसावया, उदाहृता सर्वज्ञैर-
भिहितेति । नन्वाष्टापपायविनिर्मुक्तत्वात् एतद्विनिर्मुक्तत्वात्
गुणवृत्तिर्यस्येत्यनेनैवाष्टपुष्पीविबन्धनस्यावसीयमानत्वात्किं त-
च्छब्दापादानेनेति । नैवम्, अष्टापपायविनिर्मुक्त्या दीयते इत्यनेना-
ष्टपुष्पीनिबन्धनमाह । तदु-यागुणभूतं इत्यनेन चतुःपुष्पिकाया
प्रसन्नज्ञानदर्शनमुख्योऽयं चतुष्टयपुष्पादष्टकर्मविनिर्मुक्तिप्रसन्न-
गुणानाम्, अष्टापपायविनिर्मुक्त्यायेत्यनेनैवावसितमिदमिति चेन्न,
सिद्धानां हि कैश्चित् प्रकृतिवियोगाद् ज्ञानाभावः, शरी-
रमनसेरात्रादीनां भावः, विषयात्रावाच्च सुखात्रावो भाष्यते,
तन्मत्तव्युदासार्थत्वादित्यमुपन्यासः, तदाऽऽवारकज्ञेयं हि तेषां
न्यायप्राप्तत्वात् । यद्येवं ज्ञानावरणपञ्चकज्ञेयं केवलिनो
ज्ञानपञ्चकप्रसङ्गः, न चेप्यते, “ ननुस्मि ज्ञानमतिथि ए नारो ”
इतिवचनं दिति । नैवम् । केवलज्ञानेनैव शेषज्ञानज्ञेयस्य प्रकाशि-
तत्वेन तेषामनर्थकत्वाद्दृष्टव्यमुपदिश्यत इति । एतेन तु पूर्वार्त्तेन
ये मन्यन्ते जिनविम्बप्रतिष्ठायामवस्थात्रयम्, कल्प्यते तेन बाह्या-
वस्थात्रयं स्नानम्, निष्क्रमणावस्थांचितं रथारोपणपुष्पपूजादि-
कम्, केवल्यवस्थात्रयं च बन्धने प्रवर्तते इति, तन्मतमपाकरोति ।
नष्टाष्टापपायविनिर्मुक्तिद्वारेण पूजा क्रियमाणा गृहस्यावस्थां वि-
पर्याकरोति, किंतु केवल्यवस्थांमैव । ननु चिन्तनीयमिदं यद-
ष्टापपायविनिर्मुक्तिमालम्ब्य केवल्यवस्थायां पूजा कार्येति, यतो
न चारित्रिणः स्नानादयो घटन्ते । तद्व्याप्तिनामपि तत्प्रसक्तेः ।
न च तच्चरितं सताऽऽलम्बनीयम्, अन्यथा परिणताकायादिप-
रिहार आचरणनिषेधार्थः कथं स्यात्? श्रूयते हि-एकदा स्वत्रावतः
परिणतं तडागोदरस्थाक्कायं तिलराशिं स्थण्डिलदेशं च दृष्ट्वाऽ-
पि त्रगवान् महावीरस्तत्रप्रयोजनवतोऽपि साधून् तत्संघनार्थं
न प्रवर्तितवान् । मा एतदेवास्मच्चरितमालम्ब्य सुरयोऽन्यास्तेषु
प्रवर्तयन्तु, साधवश्च मा तथैव प्रवर्तन्तामिति । सत्यम्, किन्तु वि-
म्बकलपोऽस्य र्हात मन्यते, यथैव त्रावर्हति च वर्तितव्यं न त-
थैव स्थापनादहन्यर्पति त्रावः अत एव भगवत्समीपे गीतमाह-
यः साधवस्तिष्ठन्ति स्म । तद्विम्बसमीपावस्थाने तु तेषां निषेध
उक्तः । यदाह-“ जह वि न आहकम्मं, त्रयिककयं तह वि व-
ज्जयेतेहि । जप्पी ब्रह्म होऽ कया, इहग आसायणा परमा ” ॥१॥
तथा-“ दुष्मिभगंघमवस्मावि, तणुरपि सण्डाणि य । उभयो उ-
वहो चेव, तेणट्ठन्ति न चेहए ” ॥२॥ तेनैवार्थिका दग्धकं स्थाप-
नाचार्यं स्थापयति । अन्यथा यथा भावाचार्यसमीपे नावश्यकं

कुर्वन्ति, तथा स्थापनाचार्यसमीपेऽपि न कुर्युः, न च ताः प्रव-
र्तिनीं स्थापयन्तीति वाच्यम् । प्रतिक्रमणकाज्ञ एव चैत्यवन्दना-
वसरे महावीरादेरवश्यं कल्पनीयत्वेन तद्दोषस्य समानत्वा-
त्, नह्याचार्य एव पुरुषो न भगवान् । नच वीतरागत्वेऽपि
भगवत्समीपे आर्यचन्दनाचार्यिका रात्रौ न स्थुः । ननु प्रतिक्रम-
णादिकालेऽहंस्थापनां कृत्वा चैत्यवन्दने क्रियमाण आशातनादो-
षप्रसङ्ग इति नैवम् । जिनायतनेऽपि चैत्यवन्दनस्यानुष्ठातत्वात् ।
यदाह-“ निसकम्मनिसकडे वा, वि चेहए सव्वहिं पुई तिप्पि ।
वेत्तबचेह्याणि व, नाउं एक्केकिया वा वि ” ॥ १ ॥ इत्यलं प्र-
सङ्गेनेति ॥ ३ ॥

अथुक्ताऽष्टपुष्पी स्वरूपत उक्ता, सैव स्वर्गप्रसाधनीति
यदुक्तं तदधुना प्रदर्शयन्माह--

संकीर्णेषा स्वरूपेण, छव्याद्भावप्रसत्तितः ।

पुण्यवन्धनिमित्तत्वा-द्विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥ ४ ॥

संकीर्णा अवघेन व्यामिश्रा, एषाऽतन्तरोक्ताऽष्टपुष्पी, स्वरूपेण
स्वभावेन । कथमित्याह-छव्यात् पुष्पादेः सकाशाद् भावप्रसूति-
तो प्रगवति चित्तप्रसादोत्पत्तेः । इदमुक्तं भवति-पुष्पादिछव्यो-
पयोगादवघं, शुभभावश्च स्यातामिति संकीर्णत्वम् । इदं च न क-
र्मकृपणनिमित्तमपि तु पुण्यवन्धनिमित्तमेवेत्यत आह-पुण्यस्य
शुभकर्मणो वन्धो बन्धनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्यवन्धनिमित्तं
तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्पुण्यवन्धनिमित्तत्वाच्चेतोर्विज्ञेयाऽवघेया, स्व-
र्गसाधनी देवलोकाप्रसिद्धेति । उपलक्षणत्वात् सुमानुषत्वसा-
धनी, पारंपर्येण भावपूजानिबन्धनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधनी चेति
छद्म्यमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधातुमाह-

या पुनर्जाविनैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः ।

परिपूर्णत्वतोऽम्भानै-रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥

याऽष्टपुष्पी, पुनःशब्द उक्तवक्ष्यमाणार्थयोर्विशेषणोतनार्थः ।
त्रावजैरात्मपरिणतिसंभवैः, पुष्पैरिव पुष्पैर्वक्ष्यमाणवृक्षैरात्म-
धर्मविशेषैः, किं नृतेः?, शास्त्रोक्तिगुणसंगतैः, शास्त्रमागमस्तस्या-
क्तिर्नेणितिराज्ञेत्यर्थः । अथवा शास्त्रोक्तिरेव गुणोद्वरकस्तत्सं-
गतैः । एतेनैषां मात्रारूपतोक्ता, तथा च द्रव्यपुष्पाण्यपि यदा माह्नां
कृत्वाऽऽरोप्यन्ते तदाऽष्टावपायापगमान् स्मृत्वा रोपणीयानीति
दर्शितम् । पात्रान्तरे तु-शास्त्रोक्तगुणसंगतैरिति, तथा शास्त्रायस-
मित्यादिगुणांपतैरित्यर्थः । पुनः किं नृतेस्तैरित्याह-परिपूर्णत्वतो
ऽम्भानैः परिपूर्णतया सकलजीवमृपावादादिविषयत्वेन निरति-
चारतया वाऽम्भानैर्भानिमनुपगतैः अत एव च परिपूर्णत्वादेव,
सुगन्धिभिः सद्गन्धोपेतैः, परिपूर्णताधर्म एवैषामम्भानिसुगन्धि-
तालक्षणी पुष्पधर्मो द्रष्टव्यावित्यर्थः । विधीयते सा शुक्ल्येवं-
रूपः श्लोकावसाने वाक्यशेषो छद्म्य इति ॥ ५ ॥

नामतस्तान्येवाह-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।

गुरुनाक्तिस्तपो ज्ञानं, मत्पुष्पाणि प्रचकृते ॥ ६ ॥

प्रसन्नतायोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तदभावाऽहिंसा, सैकं
पुष्पम् । तथा सद्गुणोदितं सत्यम्, अनुनात्रावो द्वितीयम् । तथा
स्तेनस्य चोरस्य कर्म भावो वा स्तेयं चौर्यं तदभावाऽस्तेयमि-
ति तृतीयम् । तथा ब्रह्म कुशलं कर्म तदेव चर्यते सेव्यत इति
चर्यम् । ब्रह्मचर्यं, मनोवाक्यैः कामसेवनवर्जनमित्यर्थः, तच्चतु-
र्थम् । तथा नास्ति सङ्गोऽभिचङ्गो यस्य सोऽसङ्गस्तद्भावो-

ऽसङ्गता, धर्मोपकरणानिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरण-
स्यापरिग्रहत्वात् । यदाह- “ जं पि वत्यं व पायं वा, कंयले
पायपुंरुणं । तं पि संजमलज्जहा, धारंति परिहरंति य ॥१॥ न
मो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताण्णा । मुच्चा परिग्गहो वुत्तो,
इह वुत्तं महेसिणा ॥२॥ ” इतरथा शरीराहाराद्यपि परिग्रहः
स्यादिति पञ्चमम् । तथा गृणानि शास्त्रार्थमिति गुरुः । आह
च- “ धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्वेज्यो धर्म-
शास्त्रार्थ-देशको गुरुच्यते ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमान-
श्च, गुरुभक्तिरिति षष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनशनादि ।
आह च- “ रसरुधिरमांसमेदो-ऽस्थिमज्जशुक्राण्यनेन तप्यन्ते ।
कर्माणि वा ऽशुभानीत्यतस्तपो नाम नैरुक्तम् ॥१॥ इति सप्तमम् ।
तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानम्, सम्यक्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुज्ञातो
बोध इत्यष्टमम् । इह समुच्चयाजिधायी चशब्दो छप्यः ।
सतपुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तेन च विवर्कितार्थसाधकतया छव्य-
पुष्पापेक्षया सन्ति शोभनानि पुष्पाणीव पुष्पाणि, भावपुष्पा-
णीत्यर्थः । प्रचक्रेत शुद्धाष्टपुष्पीस्वरूपज्ञाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥

उक्तमेवार्थं वाक्यान्तरेणाह-

एभिर्देवाभिर्देवाय, बहुमानपुरस्सरा ।

दीयते पालनाद् या तु, सा वै शुष्पेत्युदाहता ॥ ७ ॥

एभिर्नन्तरोदितैर्भावपुष्पैः, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देवः
पूज्यत्वाद् देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमानः प्रीतियो-
गः पुरस्सरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्सरा, दीयते वित्तीयते ।
कथमित्याह- पालनादहिसादिपुष्पाणां परिरक्षणद्वारेण, तत्पा-
लने हि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आज्ञाकरणमेव च सर्व-
था कृतकृत्यस्य तस्य पूजाकरणम्; नह्याज्ञां विराधयता शे-
षपूजोद्यतेनाप्यसाधारणधितो जवति, आश्वेश्वरमहाराजवदिति ।
या तु यैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, शुष्का निरवद्या, इतिरेवंप्रकारा-
र्थः, उदाहता तत्त्ववेदिनिरभिहितेति ॥ ७ ॥

अथ शुष्काया एव मोक्षसाधनीयत्वं दर्शयन् विशेषेण

सत्संमतत्वं प्रतिपादयन्नाह-

प्रशस्तो ह्यनया भाव-स्ततः कर्मकृत्यो ध्रुवः ।

कर्मकृत्याच्च निर्वाण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

प्रशस्तः प्रशस्यः शुद्धः, दिशब्दो यस्मादर्थः, ततश्च यस्मात्प्र-
शस्तोऽनयाऽनन्तरोदितत्वेन प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव
आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्द्रव्याष्टपुष्प्या जीवो-
पमर्द्रव्याश्रितत्वात्तस्याः । ततः प्रशस्तज्ञावात्, कर्मकृत्यो ज्ञानाव-
रणादिकर्मविलयो जवति, ध्रुवोऽवश्यंभावी, कर्मकृत्याश्रित-
स्वरूपात् । चशब्दः पुनरर्थः । निर्वाणं मोक्षो भवतीति मोक्ष-
साधनीयमतः प्रशस्तज्ञावज्यकर्मकृत्यसाध्यनिर्वाणसाधनत्वा-
देया शुष्काष्टपुष्पी, सतां विदुषां, यतीनामित्यर्थः, मता विधेयत्वे-
नेष्टा, न पुनर्द्रव्याष्टपुष्पी । ततो हे कुतार्थिकाः ! यदि यूयं यत-
यस्तदा ज्ञावपूजामेव कुरुतेत्युक्तं जवति । अथवा यतो अन-
या निर्वाणमतः सतां विदुषामेवा संमतेति ॥ ८ ॥ इति तृतीया-
ष्टकविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अष्टबुद्धिगुण-अष्टबुद्धिगुण-पुं० । क० स० । शुश्रूषादिषु अ-
ष्टसु बुद्धिगुणेषु, तैरष्टबुद्धिगुणैर्योगः समागमः कर्तव्यः ।
(एष सामान्यगृहिधर्मः) बुद्धिगुणाः शुश्रूषादयः, ते त्व-
मी- “ शुश्रूषा श्रवणं चैव, प्रदणं धारणं तथा । उदोऽपोहोऽर्ध-
विक्रानं, तत्त्वज्ञानं च श्रीगुणाः ॥ ” १ ॥ शुश्रूषादिनिर्दिष्टं उपहित-

प्रकष्टः पुमान् कदाचिदकल्याणमाप्नोति, एते च बुद्धिगुणा यथा
सम्भवन् प्राप्ताः । ध० १ अधि० ।

अट्टजाना-अष्टभागिका-स्त्री० । अष्टमे भागे वर्तत इत्यष्टजा-
गिका । षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपलमानायां माणिकायाम्, मा-
णिकाया (घटकपर्यायायाः) अष्टमभागवर्तित्वात्, द्वाविंश-
त्यत्रप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु० । भ० ।

अट्टमण्ड-अष्टमदिक-त्रि० । अष्टौ मदस्थानानि येषां तेऽष्टम-
दिकाः । अष्टसु मदस्थानेषु प्रमत्तेषु, “ जे पुण अट्टमण्डो, प-
त्रियपसम्माऽपसम्मा य ” आनु० ।

अट्टमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टगुणितानि अष्ट वा मङ्गलानि ।
स्वनामख्यातेषु श्रीवत्सादिषु, “ तस्स णं असोणवरपायवस्स
ववरिं वहवे अट्टमंगलगा पम्मा । तं जहा-सोवत्थिय १ सिरि-
वत्था २ गुंदियावत्त ३ बद्धमाणग ४ जहासण ५ कवत्त ६
मच्च ७ दप्पण ८ । ” तत्र अष्टावष्टाविति वीप्साकरणात् प्रत्येकं
तेऽष्टाविति वृद्धाः । अन्ये त्वष्टाविति संख्या, अष्टमङ्गलानीति
च संज्ञा । औ० । ज्ञा० । आ० चू० । आ० म० प्र० । भ० । जं० ।
रा० । बोकेऽपि च- “ मृगराजो वृषो नागः, कलशो व्यजनं
तथा । वैजयन्ती तथा भेरी, दीप इत्यष्ट मङ्गलम् ॥१॥ लोकेऽस्मिन्
मङ्गलात्यष्टौ, ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य-
आपो राजा तथाऽष्टमः ” ॥ २ ॥ वाच० ।

अट्टमभक्त-अष्टमभक्त-न० । एकैकस्मिन् दिने द्विवारं भोजनौ-
चित्येन दिनत्रयस्य षष्ठां ज्ञातानामुत्तरपारणकदिनयोरैकैकस्य
भक्तस्य च त्यागेनाष्टमभक्तं त्याज्यं यत्र तत्तथा, इति व्युत्पत्त्या
समयपरिज्ञापया वा उपवासत्रये, “ तए णं से जरहे राया अट्ट-
मभक्तंसि परिणममाणंसि पोसहसात्ताओ पडिणिक्खमह ”
जं० ३ वक्त० । पंचा० ।

अट्टमभक्तिय-अष्टमभक्तिक-त्रि० । दिनत्रयमनाहारिणि, जं०
३ वक्त० ।

अट्टमयमहण-अष्टमदमयन-त्रि० । अष्टमदस्थानाशके, प्रश्न०
५ सम्ब० द्वा० ।

अट्टमहापामिहेर-अष्टमहाप्रातिहार्य-न० । अर्हतां पूजौपयिके-
षु अशोकवृक्षादिषु, “ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनि-
धामरमासनं च । जामरुहं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि
जितेश्वराणाम् ” ॥१॥ न० ।

अट्टमिपोसहिय-अष्टमीपौषधिक-त्रि० । अष्टम्याः पौषध उप-
वासादिकोऽष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमीपौषधिकाः ।
अष्टम्याः पौषधव्रते क्रियमाणेषूत्सवेषु, आचा० ७, शु० १
अ० २ उ० ।

अट्टमी-अष्टमी-स्त्री० । अष्टानां पुरणी पोरुशकदात्मकचन्द्र-
स्याष्टमकक्षा । क्रियारूपायां स्वनामख्यातायां त्रिधौ, वाच० ।
“ चाउहसि पन्नरसि, वज्जेजा अट्टमिं च णवमिं च । गट्ठिं च
चउत्थिं वारसि च सेसासु देजाहि ॥१॥ ” विशेष० । वृद्धवैयाकरण-
संमते विभक्तिभेदे, “ अट्टमी आमन्तणी भवे ” अष्टमी संवृद्धि-
रामन्त्रणी भवेत्, आमन्त्रणार्थं विधीयत इत्यर्थः । अनु० । “ अष्टम्या-
मन्त्रणी भवेत् ” इति । सु श्री जसिति प्रथमाऽपीयं विभक्तिरामन्त्र-
णवृत्तस्यार्थस्य कर्मकरणादिवत् द्विगुणार्थमात्रातिरिक्तस्य प्रति-
पादकत्वेनाष्टमुक्ता । स्वा० ८ उ० । “ आमन्तणे भावे अट्टमी उज्जहा
हे जुवाण ! ति ” आमन्त्रणे भावे अष्टमी तु यथा-हे युवन्नि, वृ-

सूत्रेणाक्षरदशनेन चैयमष्टमी गण्यते, ऐदंयुगानां त्वसौ प्र-
थमैवेति मन्यमिति । अनु० । अष्टसंख्यापूरणं च, अष्ट-क ।
अष्टं संपातं व्याप्तिं वा माति, मा-क, गौरा०-डीप् । कोटावता-
याम, वाच० ।

अष्टमुत्ति-अष्टमूर्ति-पुं० । अष्टौ जूयादयो मूर्तयोऽस्य । शिवे,
“ कितिजलपवनहुताशन-यजमानाऽऽकाशचन्द्रसूर्याख्याः ।
इति मूर्तयो महेश्वर-सम्बन्धिन्यो नवन्त्यष्टौ ” ॥१॥ स्था० ६ डा० ।
अष्टममंपुनत्त-अष्टमसमंप्रयुक्त-त्रि० । ३ त० । अष्टनिः शृङ्गा-
रादिभी रसैः सम्यक् प्रकर्षेण युक्ते, जी० ३ प्रति० ।

अष्टविह-अष्टविध-त्रि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्ट-
प्रकार, भ० १५ श० १ उ० ५० । पञ्चा० । “ अष्टविहकम्मन-
मण्डपमिच्छामि ” अष्टविधकर्मैव तमःपट्टमन्धकारसमूहस्तेन
प्रत्यवच्छिन्नानि तथा ” विशेष० ।

अष्टमस्या-अर्थशतिका-त्रि० । अर्थशतानि यासु सन्ति ता
अर्थशतिकाः । अथवा-अर्थानामिष्टकार्याणां शतानि याभ्यस्ता
अर्थशताना एवार्थशतिकाः । स्वार्थे कप्रत्ययः । अर्थशतोत्पा-
दिकासु वागादिषु, “ अपुणरुत्ताहिं अष्टमस्याहिं वमूर्हिं अण-
वरये अनिणंदंता य ” ज० २ वक्र० । भ० ।

अष्टमंशान-अष्टमङ्गान-पुं० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तवृत्ता-
सु, “ संघारो ति वा लयति वा पगारो ति वा एगदं ” इति
वचनात् । ६० १ उ० ।

अष्टमय-अष्टमन-न० । अष्टानिरधिकं शतम् । अष्टोत्तरशते,
स्था० १० डा० ।

अष्टमयमिद-अष्टमशतमिद-पुं० । अष्टशतं च ते सिद्धाश्च नि-
वृत्ता अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये ऋषयस्त्वामिना सह
निवृत्तिं गतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इदञ्चाऽनन्तकालजातमिति
नवममाश्रयमुच्यते इति । स्था० १० डा० । कटप० । अत्र गुण-
विजयगणिना कृतस्य प्रश्नस्य हीरविजयसरिदत्तमुरत्तम् । ऋष-
यस्त्वामी अष्टमशतानैकस्मिन्नेव समये सिद्धाः । इदं चाश्रयं-तत्र
बाह्वृष्यायायुराश्रिता का गतिः ? । इदं च तन्प्रतिपादकग्रन्था-
नामप्रसाधनपूर्वं निर्णयकारि प्रसाध्यमिति ॥ ५ ॥ उत्तरम्-अत्र
'अष्टमयसिद्धा' अस्मिन्नेवाश्रये बाह्वृषलेरायुषोऽपवर्त्तनमन्तर्भ-
वति । यथा-हरिवंशकुलपत्ति” ति, आश्रये हरिवर्षक्रेत्रातीतस्य
युगत्रयायुरपवर्त्तने शरीरवधुकरणं नरकगमनादि चान्तर्भव-
तीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अष्टमदृस-अष्टमदृस-न० । अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्येषु, “ वङ्गाम-
यवर्थाणिउणजोऽयअष्टसदृसं वरकंचणं सलणिम्मिण्ण ” औ० ।

अष्टमामय-अष्टमामयिक-त्रि० । अष्टौ समया यस्मिन्सोऽष्टसम-
यः, स एवाष्टमायिकः । समयाष्टकोद्भव, स्था० ८ डा० ।
“ केवलिसमुष्णं अष्टमामये पक्षे ” औ० ।

अष्टमेण-अष्टमेन-पुं० । वत्सगोत्रजे पुरुषभेदे, तदपत्येषु च ।
स्था० ७ डा० ।

अष्टमेन-पुं० । पुरुषविशेष, स्था० ७ डा० ।

अष्टमोवणि-अष्टमोवणिक-त्रि० । षोडशकर्ममापामकमु-
वर्णमानाष्टकमिने, “ एगमेगम्स गं रजो चाररंतचक्रवटिस्स
अष्टमोवणि-काकिणिरयणे ” स्था० ८ डा० ।

अष्टदृत्ति-अष्ट (दृ) मन्ति-त्रि० । अष्टाधिकायां सप्तति-

संख्यायाम्, “ अष्टदृत्तरीष सुवर्णकुमारदीवकुमारावाससय-
सहस्तराणं ” स० ।

अष्टा-अष्टा-स्त्री० । प्रववजिगोः स्तोककेशग्रहणे, “ गिएहह
गुरुवउत्तो, अष्टा से तिन्नि अच्छिन्ना ” । प० व० १ डा० । मुष्टौ,
“ चउहिं अछाहिं लोयं करेइ ” ज० २ वत्त० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमास्था । प्रतिष्ठायाम्, सूत्र० २ श्रु० १

अ० । आ-स्था-अङ् । आलम्बने, अपेक्षायां, श्रद्धायां,
स्थितौ, यत्ने, आदरे, सभायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अष्टाण-अस्थान-न० । अनुचिते स्थाने, स्था० ६ डा० । वेश्या-
पातकादौ कुस्थाने, व्य० २ उ० । प्र० । अयुक्ते, “ अष्टाण-
मेयं कुसला वयंति, दगेण जे सिद्धिमुदाहरति ” सूत्र० १ श्रु०
७ अ० ।

अष्टाण्डवणा-अस्थानस्थापना-स्त्री० । गुर्ववग्रहादिकं अस्था-
ने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमाद-
प्रत्युपेक्षणाभेदे, स्था० ७ डा० ।

अष्टाणमंनव-अस्थानमण्डप-पुं० । उपस्थानगृहे, स्था० ५ डा०
१ उ० ।

अष्टाणिय-अस्थान (नि) क-न० । अभाजने, अनाधारे,
“ अछाणिण होइ वृह गुणाणं, जेणणण संकाइ मुसं वपज्जा ”
सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अष्टादंरु-अर्थदण्ड-पुं० । अर्थेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोज-
नेन दण्डो हिंसा अर्थदण्डः । स० ए सम० । प्रसानां
स्थावराणां वाऽऽत्मनः परस्य वोपकाराय हिंसायाम्, स्था० ५
डा० २ उ० ।

अष्टादंरुवत्तिथि-अर्थदण्डवत्तिथि-पुं० न० । आत्मार्थाय स्वप्रयो-
जनकते दण्डोऽर्थदण्डः । पापोपादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रिया-
स्थाने, सूत्र० । तत्स्वरूपं च—

पदमे दंरुसमादाणे अष्टादंरुवत्तिथि ति आदिज्जइ, से जहा
णामप केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा आगारहेउं
वा परिवारहेउं वा मिच्छहेउं वा णागहेउं वा जूतहेउं वा
जक्खहेउं वा तं दंरुं तमथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिमि-
रिति, अणेण वि णिमिरावेंति, अण्ण वि णिमिरितं सम-
ण्णजाणइ, एवं खलु तस्स तत्पत्तिं सावज्जति, आहिज्जइ, प-
दमे दंरुसमादाणे अष्टा अष्टादंडवत्तिथि ति आदिज्जइ ॥१॥

यन्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्डमित्येवमाख्यायते,
तस्यायमर्थः—तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहणमनुक्तो
पल्लवार्थम् । सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राण्यात्मनिमित्तमात्मार्थं
तथाऽग्निज्ञानिमित्तं स्वजनाद्यर्थं तथाऽगारं गृहं तन्निमित्तं, तथा
परिवारो दासकर्मकरादिकः परिकरो वा गृहादभृत्यादिक-
स्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभृत्यकाद्यर्थं, तथाचतुर् स्वपरोपघात-
रूपं दण्डं तस्यस्थावरेषु स्वयमेव निमृजति निक्षिपति, दण्ड-
मिव दण्डमुपरि पातयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोती-
त्यर्थः । तथाऽन्येनापि कारयत्यपरं दण्डं निमृजति, निमृजन्ते
समनुजानीति । एवं कृतकारितानुमतिभिरेव तस्याऽनात्मज्ञस्य
तत्प्रत्ययिकं सावद्यक्रियोपात्तं कर्माधीयते संबध्यत इति ।
पतन्प्रथमदण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातमिति ॥ १ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० । आ० चू० । आच० ।

अष्टायमाण-अनिष्टन्-त्रि० स्थितिमकुर्वति, “ तद्विद्य अष्टायमाणं गोणं ” पञ्चा० १६ विव० ।

अष्टार-अष्टादशन्-त्रि० प्राकृतत्वादन्त्यद्वयोपः । अष्टाधिकेषु दशसु, “ एष सञ्चे वि अष्टारा ” पञ्चा० ३ विव० ।

अष्टारस-अष्टादशन्-त्रि० । अष्टौ च दश च, अष्टाधिका वा दश अष्टादशन् । (अष्टारह) सङ्ख्यायां, तत्सङ्ख्येये च । वाच० । “पठमे ऽम्मासे अत्यि अष्टारसमुदुत्ताराती” सू० प्र० १ पाहु० ।

अष्टारसकम्मकारण-अष्टादशकर्मकारण-न० । अष्टादशचौ-रप्रसूतिहेतौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अष्टारमट्टाण-अष्टादशस्यान-न० । क० स० । प्रतिसेवनीयेषु अष्टादशसु स्थानेषु, दश० ।

इह खलु भो पञ्चइएणं उप्पसदुक्खेणं संजमे अरइसमावसचिनेणं ओहाणुपेहिणा अणाइएणं चैव हरस्सिगयंकुसपोयपपागाभूआइं इमाइं अष्टारमट्टाणाइं मम्मं संपक्खिहेहिअव्वाइं हवंति । तं जहा-हंजो दुस्समाइं दुप्पजीवी । १ ।

इह खलु ज्ञोः प्रव्रजितेन, इहेति जिनप्रवचने, खलुशब्दोऽवधारणे । स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामः । ज्ञो इत्यामन्त्रणे । प्रव्रजितेन साधुना, किंविशिष्टेनेत्याह—उत्पन्नदुःखेन संजात-शीतादिशारीरस्त्रीनिपद्यदिमानसदुःखेन, संयमे व्यावर्णितस्वरूपे, अरतिसमापन्नचित्तेनोद्वेगगताभिप्रायेण, संयमनिर्विण्णभावेनेत्यर्थः । स एव विशेष्यते-अवधावनोत्प्रेक्षणा-अवधावनमपसरणं, संयमादुत्प्रावल्येन प्रेक्षितं शीघ्रं यस्य स तथाविधस्तेन, उत्प्रव्रजितुकामेनेति भावः । अनवधावितेनैवानुत्प्रव्रजितेनैव, अमूनि बहुयमाणवृत्तान्यष्टादशस्थानानि, सम्यग्ज्ञावसारं संप्रत्युपेक्षितव्यानि सुपूजावोचनीयानि, जवन्तीति योगः । अवधावितस्य तु प्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति । तान्येव विशेष्यन्ते-हरइसमिगजाकुशपोतपताकाभूतानि अभ्वल्लदीनगजाकुशबोहित्यसितपट-तुल्यानि । एतदुक्तं भवति-यथा इयादीनः मुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवस्तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां भावसत्त्वानामिति । यतश्चैवमतः सम्यक् संप्रत्युपेक्षितव्यानि भवन्ति । खलुशब्दावधारणयोगात् सम्यगेव संप्रत्युपेक्षितव्यान्येषेत्यर्थः । (तं जहेत्यादि) तद्यथेत्युपन्यासार्थः । हंभो दुःपमायां दुष्प्रजोविन इति, ‘ हंजो ’ शिष्यामन्त्रणे । दुःपमायामधमकाळाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारजोगापेक्षया जीवितुं शीलं येषां ते, दुष्प्रजोविनः प्राणिन इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्शनात् । उदारभोगरहितेन च विरुम्बनाप्रायेण कुगतिहेतुना किं गृहाश्रमेणेति, संप्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् । १ ।

बहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा । २ । जुज्जो असायबहुत्ता मणुस्सा । ३ । इमे अ मे दुक्खेन चिरका-दोवट्ठाइं भविस्सई । ४ । ओमणणपुरकारे । ५ । वं-तस्स य परिपायणं । ६ । अहरगइवामोवसंपया । ७ । दुब्बहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिपासमज्जे वसंताणं । ८ । आयंके से वहाय होइ । ९ । संकप्पे से वहाय होइ । १० । सोवकेसे गिहवासे । ११ । निस्वकेसे परिआए

। १२ । वंभे गिहवामे । १३ । मुक्के परिआए । १४ । सावज्जे गिहवासे । १५ । अणवज्जे परिआए । १६ । बहुमाहार-णा गिहीणं कामभोगा । १७ । पत्तेअं पुन्नपावं । १८ । अ-णिचे खलु भो मणुस्साणं जीविणं कुसग्गजलविदुच्चंवे, बहु च खलु भो पावं कम्मं पगडं, पाधाणं च खलु जो कमाणं कम्माणं पुंविं दुच्चिन्नाणं दुप्पमिकंताणं वेइत्ता, मुक्खो नत्थि अवेइत्ता, तवमा वा जोसइत्ता अष्टारसमं पयं जवइ । भवइ अ इत्थं सिद्धोगो-

तथा-वधव इत्तरा गृहिणां कामभोगाः, दुःपमायामिति वर्तते । सन्तोऽपि वधवस्तुच्छाः । प्रकृत्यैव तुपमुष्टिवदसाराः, इत्तरा अवपकात्राः गृहिणां गृहस्थानां कामभोगा मदनकामप्रधानाः शब्दादयो विषयाः विपाककटवश्च न देवानामिव विपरीताः अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं स्थानम् । २ । तथा-नृयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः, दुःपमायामिति वर्तते एव । पुनश्च स्वातिबहुला मायाप्रचुराः, मनुष्या इति प्राणिनः, न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्वहितानां च कीदृशं सुखम् ? तथा मायावन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् । ३ । तथा-इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि न विष्यति, इदं चानु-ज्जमानं, मम श्रामण्यमनुपालयतो, दुःखं शारीरमानसं कर्मफलं परीषहजनितं, न चिरकाद्वमुपस्थातुं शीघ्रं भविष्यति, श्रामण्यपात्रनेन परीषहनिराकृतेः, कर्मनिर्जरेणात्संयमराज्यप्राप्तेः, इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाश्रमेणेति ? संप्रत्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम् । ४ । तथा-(श्रामजण च्छि) न्यूनजनपूजा, प्रव्रजितो हि धर्मप्रभावाद्वाजामात्यादिभिरन्यु-त्थानासनाञ्जलिप्रदहादिभिः पूज्यते । उत्प्रव्रजितेन तु न्यूनजगस्यापि स्वयसनगुप्तयेभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा वेष्टिप्रयोक्तुः खरकर्मणो नियम्यत एव, इहैवेदमधर्मकलमतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम् । ५ । एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया । तथा वान्तस्य प्रत्यापानम्, भुक्तोज्जितपरिभोग इत्यर्थः । अयं च श्वगृगावादिक्लृप्तसत्त्वाचरितः सतां निन्दो व्याधिदुःखजनकः । वान्ताश्च जोगाः, प्रव्रज्याङ्गीकरणेनैतत् प्रत्यापानमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् । ६ । तथाऽधरगतिवासो-पसंपन्, अधोगतिर्नैरकतिर्यगातिस्तस्यां वसनमधोगतिर्नासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसंपत्तामीप्येनाङ्गीकरणं यदेतदुत्प्रव्रजनमेवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् । ७ । तथा दुर्लभः खलु भोः गृहिणां धर्मे इति प्रमादबहुलत्वाद् दुर्लभ एव, ‘ भो ’ इत्यामन्त्रणे । गृहस्थानां परमनिर्वृतिजनको धर्मः । किंविशिष्टानामित्याह- गृहपाशमध्ये वसतामित्यत्र गृहपाशशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्मध्ये वसतामनादिभवाभ्यासादकारणं क्षेहबन्धनमेतच्चिन्तनीयमित्यष्टमं स्थानम् । ८ । तथाऽऽतङ्कस्तस्य वधाय भवति; आतङ्कः सद्योघाती विसूचिकादिरोगः, तस्य गृहिणो धर्म-बन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति । तथा वधश्चानेक-वधहेतुरेवं चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् । ९ । तथा संकल्पस्तस्य वधाय भवति; संकल्प इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिसो मानस आतङ्कः, तस्य गृहिणः, तथाचेष्टायोगाद् मिथ्या-विकल्पाभ्यासेन प्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवत्येतच्चिन्तनीयमिति

सत्त्वं पाणाश्वायं, अलियमदत्तं च मेहुणं सत्त्वं ।
 सत्त्वं परिगृहं तह, राईजत्तं च बोसिग्गिपो ॥ ? ॥
 मत्त्वं कोहं माणं, मायं लोत्तं च रागदोमे य ।

कलहं अन्नकृपाणं पेमृत्तं पगरीवायं ॥ २ ॥

मायः-मोसं मिच्छा-दंमणसद्वं नहव वोसिरिमो ।

अंतिमऊमामस्मि य, देहं पि जिणाउपचक्रं ॥ ३ ॥

सर्वं सप्रमेदं प्राणानिर्गतं, तथा-सर्वमर्लाकं मृपावादं, तथा-सर्वमदत्तमदत्तादानं, तथा-सर्वं मेधुनं, तथा-सर्वं परिग्रहं, तथा-सर्वं रात्रिभक्तं रजनिभोजनं, व्युत्सृजामः परिहरामः । तथा-सर्वं क्रोधं, मानं, मायां, लोभं च, रागद्वेषौ च, तथा-कलहं, अभ्याख्यानं, पैशुन्यं, परपरिवादं, मायां, मृपा, मिथ्यादर्शनशल्यं च, तथैव सप्रतिहं व्युत्सृजामः । एतान्यष्टादशपापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न केवलमेतान्येव किन्तु अन्तिमे उच्छ्वासं, परलोकगमनसमय इत्यर्थः, देहमपि निजशरीरमपि, व्युत्सृजामः, तथापि ममत्वमोचनाद् जिनादिप्रत्यङ्गं दीर्घकरसिद्धानां सम्प्रतिमिति । प्रव० २३७८० ।

अष्टारसर्वजणाउल-अष्टादशव्यञ्जनाकुल-त्रि० । अष्टादश-भिलोकप्रतातैर्व्यञ्जनेः शालनतक्रादिभिराकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवा अष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम्, शाकपाथिवादिदर्शनाद्देदशब्दलोपः । सूपाद्यष्टादशव्यञ्जनसङ्कीर्णं, च० प्र० । अष्टादश च भेदा इमे-“सूत्रो १ दणो २ जवणं, ३ तिस्सि य मंसाइ ६ गोरसो ७ जूसो ८ भक्खा ९ गुललावणिया, १० मूलफला ११ हरियगं १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसालू य १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चैव १७ । अष्टारसमो सागो १८, णिरुवहस्रो लोइस्रो पिंडो ” ॥ २ ॥ च० प्र० २० पाहु० । स्था० । भ० ।

अष्टारसविहिप्पयारदेसीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रकार-रदेशीजापाविशारद-पुं० स्त्री० । अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टादशभिर्वा विधिभिर्भेदैः प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्याः सा तथा, तस्यां देशीभाषायां देशभेदेन वर्णावलीरूपायां विशारदः परिडितो यः स तथा । अष्टादशभाभिन्नदेशीभाषापरिडिते, “ अष्टार-सविहिप्पयारदेसीभासाविसारय गीयरइगंधव्वणइकुसले हयजोही ” इति १ श्रु० १ अ० ।

अष्टारससीलंगमहस्म-अष्टादशशीलाङ्गसहस्र-न० । शी-लभेदानामष्टादशसहस्रेषु, पञ्चा० ।

तानि चैवम्-

नपिऊण वरुमाणं, सीलंगमाइं समासओ वोच्छं ।

ममणाय मुविहियाणं, गुरुवण्णमाणसारेण ॥ १ ॥

नन्वा प्रणम्य, वर्द्धमानं महावीरं, शीलाङ्गानि चारित्रांशरूपाणि, तत्कारणानि वा, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये भणिष्यामि । केषां संबन्धीनि इत्याह-श्रमणानां यतीनां, सुविहितानां सदनुष्ठानानां, गुरुपदेशानुसारेण जिनादिवचनानुवृत्त्येति गाथार्थः ॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

सीलंगाय सहस्सा, अष्टारस एत्थ हौति णियमेणं ।

जावेणं ममणाय, अखंरुचारित्तुत्ताणं ॥ २ ॥

शीलाङ्गानां चारित्रांशानां, सहस्राष्टादश, अत्र-श्रमणधर्मे, प्रवचने वा, भवन्ति स्युः । नियमेन, परित्यज्य, नन्यूनान्यधिकानि चेति भावः । कथमित्याह-भावेन परिणामेन, सद्वृत्त्या तु कष्टप्रतिसेवया न्यूनान्यपि स्युर्गति भावः । केषामित्याह-श्रमणानां यतीनां न तु श्रवकाणां, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसंख्या-

वतांसंजयात् । अथवा भावेन श्रमणानां न तु उच्यश्रमणानाम्, तेषामपि किञ्चिदानामित्याह-अस्मिन्नुच्यश्रमणानां सकलचरणोपेतानां, न तु दुर्पप्रतिसेवया खीरानुचरणांशानाम् । नन्वस्मिन्-चरणा एव सर्वविरता जयन्ति, नन्वास्मिन् सर्वविरतत्वप्रसंगात्, तथा ‘पञ्चिज्जइ अइक्कमइ पंच’ इत्यागमप्रामाण्यात् सर्वविरतः पञ्चापि महाव्रतानि प्रतिपद्यतेऽतिक्रामति च पञ्चाप्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरते देशखारुतमिति? अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, किं तु प्रतिपत्यपेक्षं सर्वविरतत्वं, परिपालनापेक्षया न्यूनथापि संजयन्नकपायोदयान्स्यात् । अत एवांतिम-“संवे वि य अइयारा, संजलणाणं उदयस्रो हौति” इति, अतिचारा हि चरणदेशखारुतरूपा एवेति । तथैकव्रतानि क्रमे सर्वातिक्रम इति यदुक्तं, तदपि वैवाक्यकम् । विवक्षा चैवम्-“वेयस्स जाव दाणं, तव अइक्कमइ चैव एगं पि । एगं अइक्कमंनो, अइक्कमे पंचमूत्रेणं ” ॥ १ ॥ एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफलं स्यात् । अन्यथा मूलाद्येव, तस्माद्यवहारनयनश्चातिचारसंनयः, निश्चयतस्तु सर्वविरतितया जङ्ग एवेत्येवं प्रसंगेनेति गाथार्थः ॥ २ ॥

कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि

भवन्तीत्याह---

जोए करणं मस्सा-इंदियज्जमादि ममणधम्मं य ।

सीलंगमहस्साणं, अष्टारमगस्म णिप्पत्ती ॥ ३ ॥

योगे व्यापारे विषयज्ञेते, करणे योगस्यैव साधकत्वे, संज्ञादानि चत्वारि पदानि द्वन्द्वकत्ववन्ति । तत्र संज्ञासु चेतनाविशेषतृतासु, इन्द्रियेष्वेकेषु, चूम्यादिषु पृथिव्यादिजीवकायेष्वजीवकाये च, श्रमणधर्मे च ज्ञान्यादीं, शीलाङ्गसहस्राणां प्रस्तुतानाम्, अष्टादशपरिमाणमस्य वृन्दस्येष्टादशकं, तस्य, निष्पत्तिः सिद्धिर्भवतीति गाथार्थः ॥ ३ ॥

योगादीनेव व्याख्यातुमाह-

करणादि तिस्सि जोगा, मणमादीणि उ हवंति करणाई ।

आहारादी सस्सा, चउ मस्सा इंदिया पंच ॥ ४ ॥

भोमादी एव जीवा, अजीवकाओ य ममणधम्मो उ ।

खंतादि दसपगो, एवं त्रिए जावणा एमा ॥ ५ ॥

(करणाइ स्ति) सूत्रान्वाकरणादयः, करणकारणानुमतयस्त्रयो योगा भवन्ति । तथा मन आदीनि तु मनोवचनकायरूपाणि, पुनर्जयन्ति स्युः, करणानि त्रीण्येव; तथा आहारादयः आहारभयमेधुनपरिग्रहविषयाः वेदनीयभयमोद्देवदंमहलोन्नकपायोदयसंपाद्याध्यवसायविशेषरूपाः संज्ञाः, (चउ स्ति) चतस्रः संज्ञा जयन्ति । तथा-श्रोत्रादीनि श्रोत्रचक्षुर्ग्राणरसनस्पर्शनादीन्द्रियाणि पञ्च भवन्तीति । तथा-भूम्यादयः पृथिव्यप्तेजोवायुधनरूपनिष्ठिचित्तुः पञ्चेन्द्रिया तव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्तु अजीवगणिः पुनर्देशमो यः परिहार्यतयोक्तः । स च महाव्रतानि वस्त्रपात्राण विकटहिरण्यादीनि च, तथा-पुस्तकानि तृत्वाद्यप्रत्युपेक्षितानि प्रावारादिदुष्प्रत्युपेक्षितानि, कौडवादिनृणां त्र्यजादिचर्मणि चागमप्रतिष्ठानाति । तथा-श्रमणधर्मस्तु यतिधर्मः पुनर्ज्ञान्यादिः ज्ञानिमाद्वैवाजैवमुक्तिरूपः संयमसत्यमौचाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यरूपो दशप्रकारो दशविध इति । एवंचि पचमुक्तयत्येत, स्थिते औत्तराध्ययेण पट्टकादी व्यवस्थिते, द्विचिचतुष्षडदशसंख्येषुमूत्रपदं रुद्रापभावना मङ्गकप्रकाशना, एषा अतन्तव-व्यमाणलक्षणेति गाथादुयर्थः ॥ ५ ॥

तामेवाह-

ए करति मणेण आहा-रमणविपजदगो उ णियमेण ।
सोइदियमंहुडो पु-ठविकायारंज खंतिजुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणलक्षणः प्रथमयोग उपात्तः । मनसंति प्रथ-
मकरणम् । (आहारमणविपजदगो उ ति) आहारसंज्ञाविप्रदी-
णः । अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा नित्यमेनावश्यतया श्रोत्रेन्द्रियसं-
वृत्तो निरुद्धरागादिमन्त्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियम् ।
एवंविधः सन् किं करोतीत्याह-पृथिवीकायारम्भं पृथ्वीजीव-
हिसाम्, अनेन च प्रथमजीवस्थानम् । कान्तियुतः कान्तिसंपन्नः,
अनेन प्रथमधर्मणधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्जावित-
मिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ शेषाणि नायतिदेशतो दर्शयन्नाह-

इय महवादिजोगा, पुढवीकाए जवंति दम जेया ।
आठकायादीसु वि, इय एते पिणियं तु मयं ॥ ७ ॥
सोइदिण एयं, मेमेहि वि जे इमं तओ पंचो ।
आहारमणजोगा, इय मेसाहिं सहस्महुगं ॥ ८ ॥
एयं मणेण वडमा-दिणसु एयं ति उस्महस्माइं ।

ण कइ मेमेहिं पि य, एए मव्वे वि अट्टारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्तभिलापेन, मार्दवादियोगान् मार्दवाजवा-
दिपदसंयोगेन, पृथिवीकायं पृथिवीकायमाश्रित्य, पृथिवीकाय-
समारम्भमित्यभिलापेनैत्यर्थः भवन्ति स्युः, दश भेदा दश शील-
विकल्पाः, अप्कायादिपञ्चपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशे-
त्यभ्येहसंबन्धनार्थ इति । अनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः ।
(पिणियं तु ति) प्राकृतत्वात्पिण्डताः पुनः सन्तः, अथवा पि-
ण्डितं पिण्डमाश्रित्य, शतं शतसंख्याः स्युरिति, श्रोत्रेन्द्रियैत-
च्छ्रुतं लब्धम्, शेषेषु च चतुरिन्द्रियादिभिः, यद्यस्मादिदं शतं प्र-
त्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः । एतानि चाहा-
रसंज्ञायोगाल्लब्धानि इति । एवं शेषाभिस्तिसृभिः पञ्च पञ्चश-
तानि स्युः, एवं च सर्वमीलने सहस्रद्वयं स्यादिति । एतत् सह-
हस्राद्वितीयं मनसा लब्धं (वडमादिणसु ति) वागाद्योर्ध्वचन-
काययोः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एवं, पदसहस्राणि न क-
रोतीति अत्र कारणपदे स्युः । शेषयोगपि च कारणानुमत्योरि-
त्यर्थः । पद पद सहस्राणि स्युः । एते अनन्तरोक्ताः, सर्वेऽपि
शीलभेदाः पिण्डिताः सन्तः, (अट्टार ति) प्राकृतत्वादष्टादशस-
हस्राणि भवन्तीति गाथात्रयार्थः ॥ ९ ॥ नन्वेकयोग एवाष्टादश-
सहस्राणि स्युर्यदा तु द्वादिसंयोगजन्या इह क्षिप्यन्ते तदा बहु-
तराः स्युः । तथाहि-एकद्व्यादिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः,
एवं कारणेषु, संज्ञापु पञ्चदश, इन्द्रियेष्वेकत्रिंशद्, भौम्यादिषु त्र-
योविंशत्यधिकं सहस्रम्, एवं क्षमादिष्वपि । इत्येषां च राशीनां
परम्पराभ्यासे द्वे कोटिस्सहस्रे, त्रीणि कोटीशतानि, चतुरशीति-
कोटीनामेकपञ्चाशत्सहस्राणि, त्रिषष्टिसहस्राणि, द्वे शते, पञ्चषष्टि-
श्चेति [२३८४४१६३२६४] : ततः किमष्टादशैव सहस्राण्यु-
क्तानि ? उच्यते-यदि श्रावकधर्मवदन्यतरभङ्गेन सर्वविरति-
प्रतिपत्तिः स्यात्, तदा युज्येत, तद्भङ्गेन तत्रैवमेकतरस्यापि शी-
लाङ्गकल्पस्य शेषसंज्ञाव पञ्च भावान् । अन्यथा सर्वविरतिरेव
न स्यादित्येतदेवाह-

अन्य इमं विमयं, अइदंपज्जं तु घुष्टिमंतेहिं ।

एकंपि सुपरिमुट्ठं, मीलिंगं मेसमकभावे ॥ १० ॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विज्ञेयं ज्ञातव्यम् । (अइदंपज्जं
ति) इदं परं प्रधानमंत्रेतीदं परं, तद्भावे एदंपर्यं तत्त्वमातुशब्दः पु-
नःशब्दार्थः । तद्भावेना चैवम्-शीलाङ्गसहस्राण्यष्टादश भव-
न्ति । एदंपर्यं पुनरेपिचदं ज्ञेयं, बुद्धिमज्जिबुधैः किं तदित्याह-एक-
मपि अपिशब्दाद् बहुन्यपि, सुपरिशुद्धं निरतिचारं, शीलाङ्गं चर-
णांशः, शेषसंज्ञाव नदन्यशः । लाङ्गसत्तायामेव, तदेवं समुदितान्य-
धैतानि जवतीति न द्वादिसंयोगभङ्गकोपादानमपि तु सर्वपद्वा-
न्यभङ्गस्येयमष्टादशसहस्रांशतोक्ता । यथा त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य
नवांशतेति । इह च सुपरिशुद्धमिति विशेषणाद्व्यवहारनयमते-
नापरिशुद्धानि पात्रनायामन्यतरस्याभावेऽपि स्युरिति दर्शितम् ।
एवं हि संज्वलनोदयश्चरितार्थो जवेदिति; चरणैकदेशभङ्गहेतु-
त्वात् तस्य । अत एव यो मन्यते लवणं भक्त्यामीति तेन (मुनिना)
मनसा न करोत्याह-रसंज्ञाविहीनो रसनेन्द्रियसंवृतः पृथिवीकाय-
समारम्भमुक्तिसंपन्न इत्येतदेकं तद्भङ्गम् । तद्भङ्गे च प्रतिक्रमणादि-
प्रायश्चित्तेन शुद्धिः स्यात्, अन्यथा मूढेनैव स्यादिति गाथार्थः ॥ १० ॥

अनन्तरगाथार्थं समर्थयन्नाह-

एको वाऽऽयपएसोऽसंख्येयपएसंगओ जह तु ।

एतं पि तद्वा णेयं, सतत्तचाओ इहरहा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि, आस्तामनेकः । आत्मप्रदेशो जीवांशः । असंख्येयप्रदेशसं-
गत एव संख्यातीतांशसमन्वित एव भवति, तस्य तथास्वप्नावत्त्वा-
त् । यथा यद्वत्, तुशब्द एवकारार्थः । तत्प्रयोगश्च दर्शित एव । एत-
दपि शीलाङ्गमपि, तथा तद्भङ्गे पशीलाङ्गसमन्वितमेव, ज्ञेयं ज्ञातव्य-
म्, शेषानपेक्षत्वे तस्य को दोष इत्याह-स्वतत्त्वत्यागः सर्वविर-
तिलक्षणशीलाङ्गहानिः स्यात् । इतरथा तु एकतायां पुनरित्यर्थः ।
समुदितान्येतानि सर्वविरतिशीलाङ्गतामापद्यन्ते । अन्यथा पुनः
सर्वविरतिशीलाङ्गतां त्यजन्तीति जावनेति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इदमेव समर्थयन्नाह-

जम्हा समग्गमेयं, पि सव्वसावज्जजोगविरई उ ।

तत्तेणेगसरूवं, ण खंरूपत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणात्समग्रं परिपूर्णमेव, सदा दैशिकमित्यर्थः । एत-
दपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः सन्नात्मा स्यात् । सर्वसावंध-
योगविरतिः समस्तपापव्यापारनिवृत्तिर्भवति, तत्स्वभावमित्यर्थः ।
तुशब्द एवकारार्थः । योजितश्च-तथा च-तत्त्वेन सर्वनिवृत्तिरूप-
त्वेन हेतुना एकस्वरूपमष्टादशसहस्रांशमेव । अन्यथा सर्ववि-
रतिव्यागाद्, न खण्डरूपत्वमेकांशवैकल्यम्, उपैत्युपयाती-
ति । प्रयोगोऽत्र-यद्यपेक्षया स्वतत्त्वं लज्जेत तत् तन्मूनतायां तत्र
भवति । यथा-प्रदेशहीन आत्मा, यथा वा शतमेकाद्यनवे, द्वस-
ते च सर्वस्वापेक्षया सर्वविरतिः स्वतत्त्वम्, अत एकादिशी-
लाङ्गविकलोऽसौ न जवतीति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तार्थ एव विशेषाभिधानायाह-

एयं च एत्थ एवं, विरतीजावं पनुच दट्ठवं ।

न उ वज्झं पि पविर्त्तिं, जं सा जावं विणावि भवे ॥ १३ ॥

एतच्च एतत् पुनः शीलम्, अत्र शीलाङ्गप्रक्रमे, एवमख-
ण्डरूपं, विरतिभावं सावधयोगविरमणपरिणामं, प्रतीत्याश्रि-
त्य, द्रष्टव्यं ज्ञेयम् । न तु न पुनः, बाह्यमपि कायवाक्संबन्धिनी-
मपि, अपिशब्दः समुच्चयः प्रवृत्तिं चेष्टाम् ; कुत एतदेव-
मित्याह-यद् यस्मात्, सा बाह्या प्रतिपत्तिः, भावमध्यवसायं, वि-
नाऽपि अन्तरेणापि अपिशब्दाद्भावेन सहापि, भवेत् स्यादिति
गाथार्थः ॥ १३ ॥ पंचा० १४ विव० आच० । ध० । पं० व० । द० ।

अट्टारससेणि-अष्टादशश्रेणि-खी०। कुम्भकारादिषु अष्टादश-
सु रात्रः प्रजासु, जं०। अष्टादशश्रेण्यश्वेमाः-“कुम्भार१ पट्टद्वि२,
सुवष्णकारा य३ सूत्रकारा य४। गंधव्या ५ कासवगा ६, मा-
लाकारा य७ कजकरा ८ ॥१॥ तंबोलिआ ९ य एए, नवप्प-
यारा य एरुआ भणिआ। अह एं णवप्पयारे, कारुअवण्णे
पवक्खामि ॥ २ ॥ चम्मयर १ जंतपीलग २, गंडुअ ३ छिप-
य ४ कंसकारा य ५। सीवग ६ गुआर ७ भिल्ला ८, धीवरण ९
वण्णइ अट्टदस” ॥३॥ चित्रकारादयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति ।
“तए ण ताओ अट्टारससेणिप्पसेणीओ भरहेणं रत्ता एवं बु-
त्ता समाणीओ हट्टाओ” जं० ३ वत्त० ।

अट्टारसय-अष्टादशक-त्रि० । अष्टादशवर्षप्रमाणे, “ते वरिसा
होइ एवा, अट्टारसिया उ हरिया होइ” अष्टादशिका अष्टा-
दशवर्षप्रमाणा । व्य० ४ उ० ।

अट्टालोभि (ए)-अर्थालोभिन्-त्रि० । अर्थोऽत्र कुप्यादि-
स्तत्र आ समन्तालोभः अर्थलोभः स विद्यते यस्येति समन्त-
तो धनलुब्धे, “अहोयराओ परियप्पमाणे कालाकालसमुट्टा-
ई संजोगट्टी अट्टालोभी” आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अट्टावण-अष्ट (ष्टा) पञ्चाशत्-खी०। अष्टाधिका पञ्चाशत्
अष्टपञ्चाशत्; अष्ट च पञ्चाशच्च अष्टपञ्चाशदिति वा । “अ
ट्टावन” इति प्रसिद्धायां संख्यायां, तत्संख्येयं च । “पढमदो-
च्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्टावणं गिरयावाससयसहस्सा”
स० ५८ सम० ।

अट्टावय-अर्थपद-न० । अर्थत इत्यर्थो धनधान्यहिरण्यादि-
कः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपद-
म् । चाणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अष्टापद-न० । द्यूतकीडाविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । द्यूतफत्र-
के, जं० २ वक्क० । प्रश्न० । द्वाप्तसप्तकलासु चैयं त्रयोदशी कला ।
ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स० । द्यूतसामान्ये, जं० २ वक्क० । नि०
चू० । “अष्टावयणं सिक्खिज्जा” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अथवा-अष्टौ
अष्टौ पदानि पङ्कावस्य । वृत्तौ संख्याशब्दस्य वीप्सार्थत्वाङ्गी-
कारः, आत्वम्, अर्चवार्दिः । शारीफलके; अष्टसु धातुषु पदं
प्रतिष्ठा यस्य, स्वर्णे; उपचारात् स्वर्णमयेऽपि, शरभे, लूतायां च ।
(पुं०) तयोरष्टपदत्वात् । अष्टं यथा स्यात्तथा पद्यते, कृमौः
अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीवके; अष्टाभिः सिद्धिजिरापद्यते । (आ-
पद-अप् । ३ त०) अणिमाद्यष्टसिद्धयुक्तत्वे, कैशासे च । पुं० ।
वाच० । स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, यत्र ऋषभदेवः सिद्धः ।
पञ्चा० १ ए विव० । आ० म० प्र० । कल्प० । “अष्टावयम्मि
सेले, चउदसभत्तेण सो महगिसीणं । दसहिं सहसेहिं समं,
णिग्वाणमणुत्तरं पत्तो” ॥ १ ॥ आ० क० । जं० । संथा० । नं० ।
(गौतमस्याष्टापदगमनं तत्र तापसप्रवाजन्म ‘अज्जवडर’ शब्देऽ
त्रैव भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आ० क० । भ० । आ० म०
द्वि० । एतस्मादेव चास्य तीर्थत्वम् । तन्माहात्म्यं यथा—

वरधर्मकीर्तिश्रुतजो, विद्यानन्दाश्रितः पवित्रयुतः ।
देवेन्द्रवन्दितो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १ ॥
ऋषभसुता नवनवति-बहुवलिप्रभृतयः प्रवरयतयः ।
यस्मिन्नभजन्मृतं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥
अयुजन्निवृत्तियागं, वियोगभीरय इव प्रजोः समकम् ।
यत्रपिदशसहस्राः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ३ ॥
यत्राष्ट पुत्रपुत्राः, युगपद वृषभेण नवनवतिपुत्राः ।

समयैकेन शिवमगुः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ४ ॥
रत्नत्रयमिव मूर्त्तं, स्तूपत्रितयं चित्रित्रयस्थानं ।
यत्रास्थापयदिन्द्रः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ५ ॥
सिंहायतनप्रतिमं, सिंहायपद्येति यत्र सुचतुर्धा ।
भरतोऽरच्यच्चैत्यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ६ ॥
यत्र विराजति चैत्यं, योजनदीर्घं तदष्टपयुमानम् ।
कोशत्रयोच्चमुच्चैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ७ ॥
यत्र भ्रातृप्रतिमाः, व्यधाच्चतुर्विंशतिर्जितप्रतिमाः ।
जगतः सात्मप्रतिमाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ८ ॥
स्वस्वाकृतिमितिवर्णाङ्क-वर्णितान् वर्तमानजिनविम्बान् ।
भरतो वर्णितवानिह, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ९ ॥
सप्रतिमा नवनवति, बन्धुस्तृपांस्तथाऽईतस्तृपम् ।
यत्रारच्यच्चक्री, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १० ॥
(‘उत्तम’ शब्दे द्वि० भा० ११५१ पृष्ठे वक्तव्यताऽस्य वक्ष्यते)
जगतेन मोहसिंहं, हन्तुमिष्टापदः कृताष्टपदः ।
गुशुभेऽष्टयोजनो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ११ ॥
यस्मिन्ननेककोट्यो, महर्षयो जगतचक्रवर्त्याद्याः ।
सिद्धिं साधितवन्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १२ ॥

(‘जरह’ शब्देऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)

सगरसुताये सर्वा-र्थशिवगतीन् भगवजगवन्दर्शयन् ।
यत्र सुबुद्धिरकथयन्, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १३ ॥
परिखासागरमकर-न्त सागराः सानराऽऽज्ञया यत्र ।
परितो रक्षति कृतये, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १४ ॥
क्वात्रयितुमिव स्वनो, जैनो यो गङ्गया धितः परितः ।
संततमुल्लोलकरैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १५ ॥

(‘गंगा’ शब्दे कथाऽस्य द्रष्टव्या)

यत्र जिनतिशकदाना-द्मयन्त्याऽऽपे कृतानुरूपफलम् ।
जालस्वप्नावतिलकं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १६ ॥
(‘दमयन्ती’ शब्दे कथंवा निरूपयिष्यते)
यमकूपारे कोपात्, क्षिपन्नलं बाहिनाऽङ्घ्रिणाऽऽक्रम्य ।
आरावि रावणोऽरं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १७ ॥
जुगतन्त्या जिनमहकु-ल्लङ्घनोऽवाप यत्र धरणेन्द्रात् ।
विजयामोघां शक्तिं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १८ ॥

(‘रावण’ शब्दे कथंयं प्ररूपयिष्यते)

चतुरश्चतुरोऽष्टादश, द्वौ प्राच्यादिदिक्षु जिनविम्बान् ।
यत्रावन्दनं गणभृतं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १९ ॥
अचलेऽत्रोदयमचलं, म्बशक्तिवन्दितजिनो जनो व्रजते ।
वीरोऽवर्णयदिति यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २० ॥
प्रजुभणितपुण्डरीका-ध्ययनाध्ययनात् सुरोऽत्र दशमोऽच्युत् ।
दशपूर्विपुण्डरीकाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २१ ॥
यत्र स्तुतजिननाथो-ऽदीक्षत तापसशतानि पंचदश ।
श्रीगौतमगणनाथः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २२ ॥

(‘अज्जवडर’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठे कथंयं निरूपिता)
इत्यष्टापदपर्वत इव योऽष्टापदमपि चिरस्थायी ।
व्यावर्णिं महातीर्थं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २३ ॥
भरतचक्रवर्तिकारितचैत्यानामिदानीं सत्त्वे प्रश्नोत्तरे—
नवप्रापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारिताः सिंहायपद्यप्रमुखप्रासा-
दास्तत्तन्विम्बानि चाद्ययावत्कथं स्थितानि सन्ति?, तथा श्रीशत्रु-
जपर्वतेऽपि भरतकारितानि तान्येव प्रासादविम्बानि कथं न स्थिता-

नि । यत्तत्त्वाऽभ्युपगता उच्चार्यताः श्रूयन्ते, तेनाष्टापदं कस्य-
सांनिध्यं, शशुभ्रये च कस्य न ।, यदेतावान् जेद इति व्यक्त्या
प्रसाध्यमाने । उत्तरम्-अष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारितप्रासा-
दादीनां स्थानस्य निरूपयन्नाह, देवादिसान्निध्यात् च “केवद्वयं
पुनः कावे आश्रयणं अवसिज्जिह्वम्” । ततो तेण अमेघेण
भागभ्र-जय इमासो सोमपिणि । त मे केवविजिणाणं भंतिर
सुय” इत्याह यमुदेवहिण्डवः कर्मभद्रावाचनायावदवस्थानं
शुक्लमेव । शशुभ्रये तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधे-
वादिसान्निध्याभावाच्च, भरतकारितप्रासादादीनामवस्थाव-
दवस्थानाभाव इति संभाव्यते । तत्त्वं तु तत्त्वविद्वेद्यमिति ।
ही०४ प्रका० किञ्च-अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता?,
कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति?, विष्णुऋषिगणेशप्रभः । तदुत्तरम्-
अथ अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा श्रीऋषभदेवशिष्येण कृतंति
श्रीशशुभ्रयमाहात्म्यमध्ये कथितमस्तीति । (ही०) अष्टापद-
गिरौ स्वर्कायलब्ध्या ये जिनप्रतिमां वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगा-
मिन इत्युत्तराणि सन्ति, तथा च सन्ति ये विद्याधरयमिनस्त-
था राजसवातरचारणभेदभिन्ना अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तुं
शक्नान्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा
कालिधिः?, यथा तत्र गम्यते, तथा गौतमादिवत्तद्भवसिद्धिगा-
मिनो भवन्तीति । तथा अष्टापदगिरौ ये तपःसंयमोत्थलब्ध्या
यात्रां कुर्वन्ति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ता-
क्षगनुपलम्भान् । ही० १ प्रका० ।

अष्टावयवाः (ण) -अष्टापदवादिन-पुं० । इन्द्रभूतिना सह
वर्गजिनसर्मापं समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अष्टावर्ग-अष्टाविंशति-स्त्री० । अष्टाऽधिका विंशतिः । अष्ट
च विंशतिश्चाष्टाविंशतिः । ‘अष्टावर्गस’ अष्टाधिकविंशति-
संख्यायाम्, “तिष्ठिय केने अष्टावर्गसं धणुसयं” ज० १ वृत्त० ।

अष्टाह-अष्टाह-त० । अष्टानामहं समाहारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अष्टाहिया-अष्टाहिका-स्त्री० । अष्टानामहं समाहारोऽष्टाहम्, त
दन्ति यस्यां महिमायां साऽष्टाहिका । महिमामात्रे, व्युत्पत्तेः
प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।
ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अष्टदेवसिकयां च । “अष्टाहिया य महिमा,
सम्मे अणुबंधगाहिणा केद” पञ्चा० ८ विव० । आ० म० प्र० ।

(अष्टाहिकायां गथावायाः स्वरूपम् ‘अणुजाण’ शब्दे वक्ष्यते)
अष्टि-अस्थि-न० । अस्यते । अस-स्थिन् । “ठाऽस्थिविसंस्फु-
ले” ॥ ७।१।३२॥ इति संयुक्तस्य धस्य ठः । प्रा० । कीकशे
प्रश्न० १ आश्र० ४० । आ० कुलके, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।
कुल्ये पञ्चमे धातो, तं० । स्था० । सास्थिके सरजस्के कापा-
लिके, “अष्टी विज्ञा कुच्छित्तभिकम्” वृ० १ उ० ।

अष्टि (ण) -अर्थिन-वि० । अर्थोऽस्याऽस्तीत्यर्थः । प्रयोजन-
वर्ति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अष्टिग्राम-अस्थिकग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, तत्र
वर्गजिनः समवानरत् । तदेतन्मर्थमुक्तम्—

‘अस्थिकग्राम’ इत्याख्या, कथं जानति कथ्यते ।

ग्रामोऽयं वधेमानोऽन्ते, वेगवत्यस्य नद्यभूत् ॥ १२ ॥

मग्यादिपण्यपूर्णानां मनसां पञ्चभिः शतैः ।

धनदेवो वणिक् तत्रा-यातः प्रेक्ष्य महानर्दाम् ॥ १३ ॥

महोन्नमके सर्वेषु, शकटेषु नियोज्य सः ।

न ७२० अर्थावकाशं स्नात्वा तद्विपुलमयम् ॥ १४ ॥

अतिभाराकर्षणेन, सोऽथान्तस्फुटितो वृषः ।

तस्य छायां विधायथ, ग्राम्यानाकार्यं तत्पुरः ॥ १५ ॥

चारिचारिकृते तस्य, तेषां द्रविणमार्पयत् ।

पाल्योऽयमिति चोक्त्वा तान्, साश्रुदकं स वणिग् ययौ ॥ १६ ॥

ग्राम्या विभज्य तद् द्रव्यं, सर्वे जगृहिरे सयम् ।

तस्यासौ निर्दयो ग्राम-धारि वारि न कोऽप्यदान् ॥ १७ ॥

आस्तां किंचित्करिष्यन्ति, दयया मे प्रतिक्रियाम् ।

मत्स्वामिदत्तद्रव्येणा-प्येते किंचिन्न कुर्वन्ते ॥ १८ ॥

ततः प्रहेषमापन्न-स्तद्ग्रामोपरि सत्वरः ।

सोऽकामनिर्जरायोगात्, चुचृषावाधितो मृतः ॥ १९ ॥

यत्तोऽभूत् शूलपाण्याख्यो, ग्रामेऽत्रैव पुरो वने ।

उपयुक्तोऽथ सोऽज्ञासीत्, तद्वपुः सं ददर्श च ॥ २० ॥

मारिं तद्ग्रामलोकस्य, स विचक्रे ततः क्रुधा ।

तद्वोको मर्चुमारंजे-ऽभूवंस्तैरस्थिसंचयाः ॥ २१ ॥

कारितैरपि रक्ताद्यै-मर्स्त्रिंशशशाम सा ।

ग्रामान्तरेष्वगुर्लोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥

अचिन्तयंस्ते तत्रस्थैः, कोऽप्यस्माज्जिर्विराधितः ।

यामस्तत्रैव तद्ग्रामे, तत्प्रसादनहेतवे ॥ २३ ॥

अथागतास्तदर्थं ते, प्रचकुर्विपुलां वलिम् ।

समन्ततः क्षिपन्तोऽथ, ग्रामस्याज्यधुरमुखाः ॥ २४ ॥

देवो वा दानवो वाऽपि, यः कश्चित्कुपितोऽस्ति नः ।

शरणं नः स एवास्तु, क्लाम्यत्वागः प्रसीदतु ॥ २५ ॥

यत्तोऽन्तरिके सोऽवादीत्, क्लामणां कुरुतायुना ।

वणिग्दत्तधनेनापि, तदा गोर्न तृणाद्यदुः ॥ २६ ॥

वलीवर्दः स मृत्वाऽहं, शूलपाणिः सुरोऽभवम् ।

तेन वैरेण वः सर्वान्, मारयामि ततोऽधुना ॥ २७ ॥

तेऽथ तं भक्तिमग्राङ्गाः, दैन्यात् प्रज्ञपयन्नदः ।

कृतोऽस्माभिरयं मन्तुः, शान्त्यै कर्त्तव्यमादिश ॥ २८ ॥

तद्दैन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-नूचे मन्मारितास्थिभिः ।

कृत्वा कूटं तदुपरि, कुरुतायतनं मम ॥ २९ ॥

मध्ये विधाय मे मूर्तिं, वलीवर्दस्य चैकतः ।

पूजयेयुर्नमस्येयु-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥

तथैव विदधुस्ते च, मारिश्चापि न्यवर्त्तत ।

इन्द्रशर्मा भूतिं दत्त्वा, प्रार्थ्यस्तस्यार्चकः कृतः ॥ ३१ ॥

वीक्ष्यास्थिकूटं पथिकै-रस्थिग्राम इतीरितः ।

‘अस्थिकग्राम’ इत्याख्या ग्रामस्यास्य तदाद्यभूत् ॥ ३२ ॥

आ० क० । कल्प० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । स्था० ।

अष्टिकच्छन्न-अस्थिकच्छप-पुं० । अस्थिवह्वे कच्छपभेदे,
प्रज्ञा० १ पद ।

अष्टिकठिण-अस्थिकठिन-त्रि० । अस्थिभिः कठिनम् । कीक-
शैरमृदुनि, तं० ।

कठिनास्थिक-त्रि० । कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथा ।
अमृदुकीकशके, “अष्टिकठिणे सिरणहारुबंधणे” तं० ।

अट्टिग-अस्थिक-न० । द्रुके, प्रश्न० २ आश्र० ४० । कापालिके,
पुं० । द्य० २ उ० । अबद्धवीजे अनिपन्ने फले, न० । वृ० १ उ० ।

आ (अ) र्थिक-न० । अर्थेन इत्यर्थो मोक्षः, स प्रयोजनम-
स्येत्यार्थिकम् “तदस्य प्रयोजनम्” इति उक्तं । अथवाऽर्थः स

एव प्रयोजनरूपोऽस्यास्तीति अर्थिकम् “शत इतिवर्त्तौ” ५।१।
११५ इति उक्तं । उक्त० १ अ० । मोक्षोत्पादके, “पसन्ना वा-

जइस्संति, विउत्तं अट्टियं सुयं ” उक्तं १ अ० । अभिवापिणि,
सूत्रं १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अट्टिग (य) कट्टिट्टिय-अस्थिककाष्ठोत्थित-त्रि० । अस्थि-
कान्येव काष्ठानि, काष्ठिन्यसाधर्म्यात्, तेभ्यो यदुत्थितं तत्तथा ।
कठिनकीकशेभ्यः समुत्थिते देहे, ज० ६ श० ३३ उ० ।

अट्टिचम्मसिरत्ता-अस्थिचर्मशिरावत्ता-स्त्री० । अस्थीनि च
चर्म च शिराश्च स्नायवो विद्यन्ते यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता ।
अस्थिचर्मशिरामात्रशालित्वे, (धनानगरस्य) ‘अट्टिचम्म-
सिरत्ताए पणायंति णो चेव णं मंससोणियत्ताए धनं अणगारं’
अस्थिचर्मशिरावत्तया प्रज्ञायेते तदुत्पादावेताविति, न पुनर्मा-
ंसशोणितवत्तया, तयोः क्लीणत्वादिति । अणु० २ वर्ग० ।

अट्टिचम्मावणच्छ-अस्थिचर्मावनच्छ-त्रि० । अस्थीनि चर्माव-
नछानि यस्य सोऽस्थिचर्मावनच्छः । कृशत्वाच्चर्मलग्नकीकशके,
“अट्टिचम्मावणच्छे किमिकिडिन्नूए किंसे धम्मणि संतए याचि
होत्था ” ज० २ श० १ उ० ।

अट्टिजुच्छ-अस्थियुच्छ-न० । योऽधप्रतियोधयोरस्थिभिः संप्र-
हारं, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्टिज्जाम-अस्थिध्याम-न० । अस्थि च तद् ध्यामं चाग्निना
श्यामवीकृतम् । आपादितपर्यायान्तरेऽस्थिनि, भ० ५ श० २ उ० ।

अट्टिदाममय-अस्थिदामशत-न० । हट्टमालाशते, तं० ।

अट्टिधमणि संताण संतय-अस्थिधमनिमन्तानसन्त-त्रि० । अ-
स्थिधमन्यः सन्तानेन परम्परया सन्ततं व्याप्तं यत्तदस्थिधम-
निसन्ततम् । अस्थिधमनिपरम्परया व्याप्ते, “अट्टिधमणि संतान-
संतयं सञ्चओ समंता परिसमंतं च ” तं० ।

अट्टिजंजण-अस्थिभञ्जन-न० । कीकशजञ्जनरूपे शरीरदण्डे,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अट्टिमिंजा-अस्थिमिज्जा-स्त्री० । अस्थिभ्यरसे, स्था० ३ गा०
४ उ० । तं० ।

अट्टिमिंजाणुमारि(ण)-अस्थिमिज्जानुसारिन्-त्रि० । अस्थि-
मिज्जान्तधातुव्यापके, स्था० ६ गा० ।

अट्टिमिंजापेमाणुरागरत्त-अस्थिमिज्जाप्रेमानुरागरत्त-त्रि० ।
अस्थीनि च कीकशानि मिज्जा च तन्मध्यवर्तिधातुरस्थिमिज्जा-
स्ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्मादिरागेण रक्ता
इव रक्ता येषां ते तथा । अथवाऽस्थिमिज्जासु जिनशासनगतप्रेमानु-
रागेण रक्ता येते तथा । भ० २ श० ४ उ० । सम्यक्त्ववासितान्तश्च-
तःसु, सूत्रं २ श्रु० ७ अ० । “अयमाउसो णिगंथे पावयणे अट्टे
अयं परमठे सेसे अणठे” इत्येवमुल्लेखेन सम्यक्त्वविषयः, ज्ञा० ५
अ० । दशा० । दर्श० । गा० ।

अट्टिय-अर्थित-त्रि० । वाञ्छिते, उक्तं १ अ० ।

अस्थित-त्रि० । अव्यवस्थिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अट्टियकप्प-अस्थितकट्टप-पुं० । क० स० । अनवस्थितसमा-
चारं, पञ्चा० ।

अस्थितकट्टपानिधानायाह-

उमु अट्टिओ उ कप्पो, एत्तो मज्झिमज्झिण्ण विण्णेओ ।

णो सययमेवणिज्जो, अण्णिच्चमेरामरूवो त्ति ॥ ७ ॥

पदसु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु, अस्थितस्तु अनवस्थितः पुनः
कट्टपः समाचारः, (एत्तो ति) एतेभ्य एव दर्शयः पदेष्वो, मध्या-

नां मध्यमजितानां, तन्माधूनामित्यर्थः । विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कुतो-
ऽस्थितोऽयमित्याह-नो नैव, सततसेवनीयः सदाविधेयो,
दशस्थानकापेक्षया । एतदपि कुत इत्याह-अनित्यमर्यादा-
भरूपोऽनित्यव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा । ते हि दशानां स्था-
नानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति
भाव इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

पदस्त्ववस्थितः कट्टप इत्युक्तमय तानि दर्शयन्त्याह-

आचेल्लवकुदेमिय-पमिकमणराथपिंरुमांसु ।

पञ्जुमणाकप्पमि य, अट्टियकप्पो मुण्येव्वो ॥ ८ ॥

आचेल्लकयोद्देशिकप्रतिक्रमणराजपिण्डमांसेषु प्रतीतेषु विप-
यवृत्तेषु, पर्युपणाकट्टपे च वर्षाकालसमाचारं, चः समुच्चये ।
अस्थितकट्टपाऽजिहितायां (मुण्येव्वो ति) ज्ञातव्य इति
गाथार्थः ॥ ८ ॥

एवमपि शेषपदापेक्षया स्थितकट्टप एवेति दर्शयन्त्याह-

सेमसु ट्टियकप्पो, मज्झिमणां पि होइ विसेओ ।

चउमु उताउमु अउता, एत्तो चिचय भणियमेयं तु ॥ ९ ॥

शेषेषु तु प्रागुक्तैः पदस्योऽन्येषु पुनः शय्यातरपिण्डादिषु,
स्थितकट्टप उक्तार्थः, मध्यमकानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि
न केवलमाद्यचरमाणां, भवति स्याद्, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । उक्तमेवा-
र्थमागमेन समर्थयन्त्याह-चतुर्षु स्थानकेषु शय्यातरपिण्डादेषु, स्थि-
ताः परिहारादिषुऽवस्थिताः, पदसु आचेल्लकयादिषु अस्थिता
अनवस्थिताः कदाचित्परिहारादिषु मध्यमजिनसाधवः,
अत एव पूर्वोक्तार्थवशादेव, जणितमुक्तमागमे, एतत् इदम्,
अनन्तरोक्तम् । तुशब्दः पूरणे, इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

शेषेषु स्थितः कट्टप इत्युक्तमर्थतदेव स्पष्टयन्त्याह-

सिज्जायरपिंरुमि य, चाउज्जामे य पुरिसजेट्टे य ।

कितिकम्मस्स य करणे, ट्टियकप्पो मज्झिमाणं पि ॥ १० ॥

शय्यातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्ह-
तग्रहचर्यत्वेन चतुःसंख्यानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्थांशम,
तत्र च; पुरुष एव ज्येष्ठः पुरुषज्येष्ठस्तत्र च, कृतिकर्मणश्च वन्दन-
कस्य; चशब्दाः समुच्चयार्थाः । करणे विधाने, स्थितकट्टपः प्रतीतः,
मध्यमानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमा-
णामिति गाथार्थः ॥ १० ॥ पंचा० १७ विव० । पं० भा० । पं० चू० ।
(‘अनेव’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८ पृष्ठे अस्थितकट्टपो
व्यक्तविस्तरः)

.....अहुणा वोच्छामि अट्टितं कप्पं ।

संखेवपिंडियत्थं, जह जणियमणं नणाणीहिं ॥

वत्थे पाए गहणे, उक्कोमज्झमणमि अट्टिओ तु ।

ट्टियमट्टिते विमेषो, परुविता सत्त कप्पमि ॥

वत्थाणि य पाताणि य, मज्झिमनित्यं करण कप्पमि ।

वत्थप्पमाण वेगे, अट्टियकप्पो समक्खाओ ॥

मांझगरूयं पि वत्थं, अट्टामपन्नं रूवज्जहणं ।

एत्तो य मतमहस्सं, उक्कोमपोत्तं तु णायत्तं ॥

जहणग अट्टामसगं, वत्थं पुण माहुणो अणुएणातं ।

एत्तो अनिरित्तं पुण, णाणुप्पातं भवे वत्थं ॥

जिण्येराणं कप्पं, अहुणा वोच्छामि आहुपुव्वीए ।

जं जत्थ जहा णिवयति, ममासतो तं जहा सुणसु ॥
 जिणवेराणं कप्पं, जम्हा उट्ठितम्मि अट्टिए चव ।
 उतअट्ठितकप्पाणं, तम्हा अंतग्गता एते ॥
 जो तु विसेमो एत्थं, तं तु ममासेण एवरि वक्खामि ।
 जिणयेगाणं कप्पे, जिणकप्पे ता इमं वोच्चं ॥
 दुयमत्तगे तियचउ-ककेगस्स अट्टएगउदेणं ।
 अवि होज्ज काज्जकरणं, पुणरावर्त्ता ण वि य तेसिं ॥
 पिंसेमणा उ सत्त उ, हवंति पाणेमणा उ सत्तव ।
 चउ मेज्ज वत्थ पाते, तिसे ते चउकगा होंति ॥
 दोल्लादिमाउ सत्तसु, अवणेउं सेसमायं च ।
 अट्टहोति उदेो, दो दो अवणे चउकेसु ॥
 गेएहंति उवरिमासुं, तत्थ अवि घेत्तु अणतरियाए ।
 हेडिला पुण गेएहति, जदि विकरे काज्जकिरियं तु ॥
 अणत्तिगहेण एविता, गिएहंति विही तु एम जिणकप्पे ।
 अहुणा उ थेरकप्पो, वोच्चामि विहिं ममासेणं ॥
 गहणे चउव्विहम्मि, विनिए गहणं तु परमजत्तेणं ।
 जं पाणवीयरहियं, हवेज्ज तरमाणए सोही ॥
 गहणं चउव्विहंती, वत्थं पातं च मेज्ज आहारो ।
 एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु वीयस्स ॥
 वितियं पातं जण्णति, किं कारणं तस्स गहण पढमं तु ।
 तेण वि ण वोन्निपडिमा-गिहिभायणभोगहाणी य ॥
 अहवा चउव्विहं तू, असणादी तत्थ भोज्जगहणं तु ।
 तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥
 अमतीए फासुयस्स, वसहिए एकं उविय सहिए वा ।
 किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खओ होज्जा ॥
 तरमाणे गेएहंती, सुद्धं अतरो पेद्वेय संथरे ।
 संथरं तो तु गेएहति, पावति सट्टाणपच्छित्तं ॥
 सेत्तं एए दमए व, अणेण ठाणेण वा भवगहणं ।
 एत्तो त्ति गादिरित्तं, उग्गमउप्पायणेषणासुद्धं ॥
 जणियं नि कप्पति त्ती, तस्स असतीए असुद्धं पि ।
 एतो तु थेरकप्पो, पं० भा० ॥

इयाणि अट्टियकप्पो । तत्थ गाहा-‘वत्थे पाए’ त्ति । वत्थाणि सय-
 सहम्ममोलाणि वि घेप्पंति, मज्झिमाणं तित्थगराणं, सेसं पुण जं
 त्रियकप्पियाणं भणियं तं भाणियव्वं । जहा-सत्तविहकप्पे ताओ
 चव, गसो एम त्रियकप्पो । इयाणि जिणकप्पो । तत्थ गाहा-‘दुय-
 सत्तगे’ त्ति । सत्त पिंसेमणाओ, सत्त पाणेमणाओ अहवा पिं-
 सेमउग्गपडिमाओ य, तियचउके सेज्जपडिमाओ य ष वत्थप-
 डिमाओ ष पायपडिमाओ ष एयासिं अट्टउदेओ दो आउ वणे-
 कणं सेमाहिए संति आहागइ एयासु एसमाणा जइ न वनेति
 तो अविकालकिरिया होज्जा, न य हेडिह्वासु गेएहंति, एसजि-
 षकप्पो । इयाणि थेरकप्पो । गाहा-‘गहणं चउव्विहम्मि’ त्ति । वत्थं
 पायं आहागे सेज्जा चउव्वहवि असइ, पढमं पायं घेप्पइ, किं का-
 रणं? तेण वि पडिमा चव, अहवा असणाइ पढमं, तत्थ विइयं पा-

णग्गहणं परमपयत्तेणं मयमाणो, पढमं संथरमाणो तसपाणबी-
 यरहिया कंदमूलसहिए गेएहइ, अंतरंतो पुण तसपाणसाहिए वा
 बीयकंदमूलसहिए वा गेएहइ, किं कारणं? तेण विणा आसुं पा-
 णक्खओ होज्जा, तरमाणो सुद्धं गेएहंजा, अतरंतो पेद्वेज्जा । गाहा-
 ‘सत्त दुय तिप्पि पिंसेमणापाणेसणाओदसए’ त्ति । दस एसणा-
 दोसा । ‘अणेगहाणे त्ति’ उग्गमाइअं न दस सोलस । ‘एत्तो त्ति’
 गादिरित्तं नाम उग्गमउप्पायणएसणासुद्धं, तद्विवरीयं जं एतेहिं
 चव उग्गमाईहिं असुद्धं, तं गेएहंजा गच्छसारक्खणहेउं, गच्छ-
 वासीहिं भणियं नामकारणे कप्पइ, इयरहान कप्पइ । एस थेरक-
 प्पो । पं० चू० । (अस्थितकल्पप्रसङ्गाद् जिनस्थविरकल्पावप्युक्तौ)
 अट्टियकप्प (ए) अस्थितात्मन्-त्रि० । चञ्चलाचित्ततयाऽस्थिर-
 स्वभावे, “ अट्टियप्पा भविस्ससि ” उक्त० २३ अ० ।

अट्टिरक्ख-अस्थिसरजस्क-पुं० । कापालिके, व्य० ७ उ० ।
 अट्टिमुहा-अस्थिसुखा-स्त्री० । अस्थिनां सुखहेतुत्वादस्थिसुखा ।
 श्री० । अस्थिनां सुखकारिण्यां संवाधनायाम्, कल्प० ।
 अट्टुत्तर-अट्टोत्तर-त्रि० । ६ ब० । अष्टाभिरधिके, “अट्टुत्तर सयस-
 हस्सं पीददाणं दलयति ” अष्टोत्तरं शतसहस्रं त्र्यं रजतस्य
 तुष्टिदानं ददाति स्मेति । श्री० ।
 अट्टुत्तरसयकूड-अट्टोत्तरशतकूट-पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते, तस्य ता-
 वत्प्रमाणकूटत्वात् । ती० १ कल्प० ।
 अट्टुत्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० । अर्थस्योत्पत्तिर्यस्मात् । व्यवहारे;
 अर्थो व्यवहारादुत्पद्यते इति तस्य तथात्वम् । व्य० २ उ० ।
 अट्टुस्सास-अट्टोच्छ्वास-पुं० । पञ्चनमस्कारे, “अट्टुस्सासे अहवा
 अणुग्गहाइ उडाएज्जा ” पं० व० २ द्वा० ।
 अट्टुस्सेह-अष्टोत्सेध-त्रि० । अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रयो ये-
 पां ते तथा । अष्टयोजनोच्चे, “चक्रट्टपइछाणा अट्टुस्सेहा य ”
 स्था० ६ ठा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ, । ज्वादि०, सक०, पर०, सेट् । वाच० ।
 ‘अरुंति संसारे’ प्रश्न० १ आश्र० छा० ।
 अट्ट-पुं० । लोमपक्षिभेदे, जीव० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।
 अवट्ट-पुं० । अव-अट्टन् । “ यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट्ट-
 प्रावारकदेवकुलैवमेवेवः ” ८ । १ । २७१ । इति सूत्रेण अन्तर्वर्त्त-
 मानस्य वस्य लोपः । कूपे , प्रा० ।

अट्टुज्झिअं-देशी-पुरुषायिते , विपरीतरते च । दे० ना०
 १ वर्ग ।

अट्टुज्झ-अट्टा-त्रि० । अग्निकारादिना भइमवदकरणीये,
 “तत्रो अट्टेज्जा पण्णात्ता । तं जहा-समए पएसे परमाणु” स्था० २
 गा० ४ उ० । “अट्टुज्झकुल्ले अट्टुसुवसे य गुणा भणिया ”
 दश० १० अ० ।

अट्टु-अट्ट-न० । चतुरशीतिललैर्गुणितेऽट्टाङ्के, स्था० २ गा०
 ४ उ० । “चउरासीइ अट्टुमंगसयसहस्साइ से एगे अट्टुमे ”
 अनु० । जी० । भ० । जं० । कर्म० ।

अट्टुमंग-अट्टाङ्क-न० । चतुरशीत्या लैर्गुणिते वृष्टिते, “चउ-
 रासीइ तुमियसयसहस्साइ से एगे अट्टुमे ” अनु० । वाचना-
 न्तरमतेन चतुरशीतिलकगुणिते महावृष्टिते, ज्यो० २ पाहु० भ० ।

अमण-अटन-न० चरणे, गमने च । स्था० ६ टा० । अम० ५० ।

अमणी-देशी-मार्गे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमपञ्चाण-देशो-न० । ञाटेषु स्वनामप्रसिद्धेऽन्यत्र विद्विरिति
ख्याते वाहनभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अममाण-अटन-त्रि० । गच्छति, “अणाउत्रो संवच्छुरस्वमणसि
अममाणे ” आ० म० प्र० ।

अमया-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयणा-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वर्ग ।

अडयाल-अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्-त्रि० । अष्ट च चत्वारिंशच्च,
अष्टाधिका वा चत्वारिंशत् । (अडतालिस) द्यूनपञ्चाशति,
आव० ।

अडयाल-देशी-प्रशंसायाम्, प्रज्ञा० २ पद । जं० । स० ।
जी० । प्रव० ।

अडयालकयवणमाल-अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्कृतवनमाल-त्रि० ।
अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्ना विच्छिन्नतयः कृता वनमाला येषु तानि
अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि । अष्टचत्वारिंशद्विधविच्छेदवद्धन-
मालायुतेषु, जी० ३ प्रति० ।

अडयालकृतवनमाल-देशी-“ अरुयात्र ” शब्दो देशीवचनत्वा-
त्प्रशंसावाचोत्पन्नपदमेव निरूपितम् । तेन कृता वनमाला येषु
तानि । प्रशस्तकृतवनमालेषु, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

अडयालकोष्ठरक्ष-अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचित-त्रि० । अष्टच-
त्वारिंशद्भेदभिन्नविच्छिन्नकलिताः कोष्ठका अपवरका रचिताः
स्वयमेव रचनां प्राप्ता येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचितानि ।
सुखादिगणे दर्शनात्पात्तिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । “ अरुया-
ल ” शब्दो देशीवचनत्वात्प्रशंसावाची वा । प्रज्ञा० २ पद ।
अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविच्छिन्नचन्द्रो गोपुररचितेषु, “ अरुया-
लकोष्ठरक्षया अरुयालकयवणमाला ” स० । जं० । जी० ।

अटवि-अटवि (वी)-स्त्री० । अटति मृगयाद्यर्थिनो यत्र ।
अट्-अवि, वा डीप् । कान्तारः, स्था० ५ टा० २ उ० । अरण्ये, तं० ।

तद्भेदाः सव्याख्याकाः-

“ अरवि सपववायं, घोत्रेउं देसिआवपसेणं ।

पाविनि जहिछपुरं, भवारवि पी तहा जीया ॥ १ ॥

पाविनि निवुइपुरं, जिणोवइहेण चेष मगणं ।

अरवीई दिसिअत्तं, एवं नेअं जिणिदाणं ॥ २ ॥

इहाटवी द्विधा-रुव्याटवी, ज्ञावाटवी च । तयोः कथा—

इहास्ति हास्तिकाश्वीय-रथपादातिसंकुलम् ।

यस्यपुरमुर्वीस्थ-मध्यधःकारि यद्विवः ॥ १ ॥

सार्धवाहो धनस्तत्र, गर्तुं देशान्तरं प्रति ।

प्रस्थितः कारयामास, घोषणां पुरि सर्वतः ॥ २ ॥

यः कोऽप्यस्ति श्रियासुः स, सर्वोऽप्येतु मया सह ।

मिलितानां च सर्वेषां-माष्यन्मार्गेगुणागुणान् ॥ ३ ॥

तत्रैकः सरलोऽन्वाऽन्यो, वक्रश्चेत्तन गम्यते ।

मनाक् सुखेन किं श्विष्ट-पुरावाप्तिश्चिराद्भवेत् ॥ ४ ॥

यः पुनः सरलः पन्था, अस्ते मित्रति सोऽपि च ।

गम्यते सत्वरं तेन, कष्टेन महता परम् ॥ ५ ॥

तत्रादिनोऽपि मार्गे स्तः, सिंहव्याघ्रौ विज्रीपणौ ।

भूतानां त्यक्तमार्गिणां, तावन्तथाय नान्यथा ॥ ६ ॥

इष्टपूर्वदेशेन यावत्, तावत्तौ चानुधावतः ।

तत्रैके तरवः सन्ति, पत्रपुष्पफलाट्टताः ॥ ७ ॥

तच्छायाश्चपि विश्रान्ति-र्न कार्या मृत्यवे हि ताः ।

ये जीर्णशोषिण्युक्ताः, स्थेयमीपत्तदाश्रये ॥ ८ ॥

मनोङ्कुरुपलावण्या, मनोहरगिरे नराः ।

नृयांसो मार्गपाश्वस्था-स्तत्राऽऽह्वयन्ति वत्सवाः ॥ ९ ॥

श्रव्यं न तद्वचो मोक्षया, न मच्छिक्का कदाचन ।

दादग्निः प्रववन्नमार्गे, विध्याप्यः सतनोद्यतैः ॥ १० ॥

अविध्यातः पुनः सर्व, नियमान्निर्दहत्यसौ ।

अग्रेऽनिदुर्गः शैलोऽस्ति, सोपयोगिः स लङ्घ्यते ॥ ११ ॥

अन्यथा ब्रह्मणे तु स्यान्, स्वलनाद्यैर्मृतिः क्वचित् ।

पुरस्तादस्ति गुपिल-गह्वरा वंशजालिका ॥ १२ ॥

सा विव्रङ्ख्या भगित्येव, तत्रस्थानां महापदः ।

अदृशीयानस्ति गर्तोऽग्रे, सर्वदा तन्ममीपगः ॥ १३ ॥

द्विजो मनोरथाभिख्या, वक्त्येनं पुरयेति सः ।

वचस्तस्यावमन्तव्यं, पूर्यः स्तोकाऽपि नैव सः ॥ १४ ॥

वर्द्धते पूर्यमाणः स, खनित्रैः स्वयमानवन् ।

तथा पञ्चप्रकाराणि, स्निग्धमुग्धानि वर्णतः ॥ १५ ॥

न प्रेक्ष्याणि न भक्ष्याणि, किपाकानां फलानि च ।

द्वाविंशतिः करालास्तु, वेतान्ना विड्वन्ति च ॥ १६ ॥

न गण्यास्ते तथासारा, आहारास्तत्र दुर्लभाः ।

ह्यौ यामौ निर्यपि स्यापः, सर्वदाऽपि प्रयाणकम् ॥ १७ ॥

गच्छद्भिस्त्वमश्रान्त-मटवी लङ्घ्यते वधु ।

प्राप्यते पुरमिष्टं च, तत्र चाऽऽसाद्यते सुखम् ॥ १८ ॥

तत्र केचित् समं तेन, प्रवृत्ताः सरलाध्वना ।

धनरेण पुनः केचित्, स प्रशस्तेऽहि निर्ययौ ॥ १९ ॥

पृष्ठानुगामिलोकानां, शिखादौ वर्म वेदिनुम् ।

गतागतध्वमानं च, लिखन् वर्णान् जगाम सः ॥ २० ॥

तच्चिदेशकतो येऽत्र, शिखितानुसृताश्च ये ।

ते सर्वेऽपि समं तेन, संप्राप्ताः पुरमीप्सितम् ॥ २१ ॥

निषिद्धकारिणो ये च, याता यास्यान्ति वा न ते ।

जिनन्दः सार्धवाहोऽत्र, घोषणा धर्मदेशना ॥ २२ ॥

पान्थाः संसारिणो जीवा, भवो ज्ञावाटवी पुनः ।

ऋजुमार्गेः साधुधर्मो, गृहिधर्मस्तनोऽपरः ।

सिंहव्याघ्रौ रागद्वेषौ, वासनार्थानुगामिनौ ॥ २३ ॥

वसत्यः ख्यादिसंस्काः, सद्बृहत्कथायया समाः ।

जरदूतुकोपमानास्तु, निरवद्याः प्रतिश्रयाः ॥ २४ ॥

पार्श्वस्थाद्याः पुनः पार्श्व-स्थाह्वात्पुरुषोपमाः ।

ज्वलद्वातान्नः क्रोधो, मानो दुर्गमहीश्वरः ॥ २५ ॥

वंशजात्रिः पुनर्माया, श्लोत्रो गर्त्तस्तु दुर्जरः ।

फलप्रायाश्च विषया, वेतालास्तु परीपहाः ॥ २६ ॥

दुर्लभं चैषणीयान्नं, ध्यानं ह्यौ प्रहरौ निशि ।

प्रयाणे तूयमो नित्यं, मोक्षश्चेत्तत्पत्तनम् ॥ २७ ॥

शिलादौ वर्णलिखनं, सिद्धान्तग्रन्थनिर्मितिः ।

पञ्चाङ्गाविमुनीन्द्राणां, गतगम्याध्वसंविदे ॥ २८ ॥

इष्टपूः प्रातिसाहाय्या-न्नम्यते सार्धपो यथा ।

एवं मोक्षपुरावाप्यु-पकारो नम्यते जिनः ॥ २९ ॥ आ० क० ।

अमविजम्भण-अटविजम्भन्-न० । कान्तारजम्भकणे दुःखे,

प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अडविदेनदुग्गवामि ण - अडविदेशदुग्गवामिन्-पुं० अडविदेशे
जलस्थयदुग्गवामि दुग्गं वसति जौगदी, प्रश्न० ३ शाश्व० ङा०
अडाव (वी) वाम-अडवि (वी) वाम-पुं० अडविदेशे.
" उडविदेशेपया असरणा अमवीवासं उड्वेति " प्रश्न० ३
शाश्व० ङा० ।

अमसाटि-अध (प्ता) पटि-खीः अट च पटिष्ठ, अटिधि-
का वा पटिः । (अमसट) अटिधिकपटिस्थित्यायाम्, " विम-
त्रस्म णं अरहस्यो अमसाटि समणसामस्सोओ " स० ६ ए सम० ।
अमाडा-देशी-नधत्थं, दे० ना० १ वर्ग ।

अमिद्ध-अटिन्-पुं० । चर्मपक्तिनेदे, प्रश्न० १ पद० जी० ।

अडा-देशी-कृप, दे० ना० १ वर्ग ।

अटोत्रिका-अटोलिका-खी० । यवनाम्नो राज्ञः पुत्र्यां गर्दभराज-
स्य जगिन्नाम, वृ० १ उ० ।

अटुक्ख-क्रिप-धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, अनिद् "क्रिप-
गंत्थाडुक्ख" ॥ ८ ॥ ४ । १३२ ॥ इति सूत्रेण अटुक्खादेशः ।
अटुक्खद्, क्रिपति । प्रा० ।

अट्टिया-अट्टिका-खी० । उपदेशमात्ररूपे शास्त्रानिवद्धे मल्लानां
करणविशेषे, विशेष० । आ० म० ।

अट्ट-अर्थ-ना० ऋध-यञ । "अट्टिर्मूर्धार्धेऽन्ते वा" ॥ ८ ॥ २ ।
४१ ॥ इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा ङः । प्रा० ।

आटय-त्रि० । आ-धै-कः पृषो० । युक्ते, विशिष्टे च । वाच० । ऋ-
डया परिपूर्णं, नि० । औ० । धनधान्यादिभिः परिपूर्णं, भ० २
श० ५ उ० । समृद्धं, ज० १९ श० ३२ उ० । स्था० । धनवति,
स्था० ९ गा० । महति च । संथा० ।

अट्टअकली-देशी-कट्यां हस्त (पाणि) निवेशे, दे० ना० १ वर्ग ।

अट्टकवेत्त-अर्थक्रेत्र-न० । अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्य चन्द्रेण
सह योगमदनुवत्सु तन्त्रेषु, च० प्र० । अर्थक्रेत्राणि नक्षत्राणि पद० ।
तद्यथा-उत्तराणाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराऽऽषाढा, रोहि-
णी, पुनर्वसु, विशाखा चेति । च० प्र० १० पाहु० ।

अट्टग-आटय-त्रि० । युक्ते, परिपूर्णं च । पंचा० १२ विच० । "सं-
जमनचट्टगस्स उ, अविगण्णं तहकारो" आ० म० द्वि० ।

अट्टगत्त-अर्थगत्त-पुं० । अट्टे रात्रे; अत्त समा० । निशीथे, "अ-
ट्टगत्त आगता दारं मग्ग" आ० म० द्वि० ।

अट्टाऽल-अर्थतृतीय-त्रि० । व० व० । अर्थं तृतीयं येषां तेऽर्थ-
तृतीयाः । अवयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः । (अट्टाई)
साधुद्वयोः, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । "अट्टाऽल्लं गुग्गुहण-
मुत्सेहं" न० । ग० । आ० म० ।

अट्टाऽलदीव-अर्थतृतीयदीव-पुं० । अर्थं तृतीयं येषां तेऽर्थतृती-
याः, ते च तेऽर्थपात्रेति समासः । अर्थतृतीयदीवाः । जम्बूदीप-
धानीकास्वर्गपुष्करादलक्ष्मणा साधुदीपद्वये, भ० ९ श० ३ उ० ।

अट्टाऽलदीवममुदतदेकदेशभाग-अर्थतृतीयदीवममुदतदे-
कदेशभाग-पुं० । जम्बूदीपधानीकास्वर्गपुष्करादलक्ष्मणापलवणस-
मुद्रकाशेऽधिसमुद्राणां विवर्जितं भागं, "सादारणं पशुञ्च अ-
ट्टाऽलदीवममुदतदेकदेशभाग होज्जा" भ० ९ श० ३ उ० ।

अट्टापकन्ति-अट्टापकान्ति-खी० । अट्टस्याऽसमप्रविभागरु-

पस्य एकदेशस्य वा एकादिपदार्थकस्यापक्रमणमवस्थानं, दो-
षस्य तु दूषादिपदसङ्घातरूपस्यैकदेशस्योर्द्ध्वं गमनं यस्यां रञ्च-
नायां सा समयपरिभाषयाऽर्थापकान्तिरुच्यते । इत्युक्तनिरुक्तिम-
त्यां तपोरचनायाम्, विशेष० ।

अट्टेज्ज-आट्यत्त-न० । धनपतित्वे, तस्य सुखकारणत्वात्
सुखभेदे च । स्था० १० गा० ।

आट्टेज्या-खी० । आट्ट्यः क्रियमाणा इज्या पूजा आट्ट्येज्या, प्रा-
कृतत्वात् "अट्टेज्जं" ति । धनिकृतसत्कारे, स्था० १० गा० ।

अट्टारुग-अट्टारुक-पुं० । अर्थ ऊरुकाद् विभजतीति निरुत्ताद-
र्द्धोरुकः । साध्वीनामौपग्रहिकापधिविशेषे, ध० ३ अधि० । "अ-
ट्टारुगो उ दोगिह वि गिणिहउ णादण कमीभागं" अट्टारुको-
ऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तकपट्टावुपरिष्ठाद् गृहीत्वा सर्व क-
टीभागमासादयति । स च मल्लचत्रनाकृतिः केवलमुपरि ऊरुद्वये
च कशाबद्धः । वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० व० ।

अण-अव्य० । नञर्थे, "अण णाई नञर्थे" । ङ । २ । १९० । एतौ
नञर्थे प्रयोक्तव्यौ । "अण चित्तिअममुण्ति" प्रा० ।

अण-अण-न० । कुत्सिते, कुत्सितत्वाद्गन्ति कुत्सितानि कर-
णानि शब्दयन्ति; अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्घा । पापे, विशेष० । आ०
म० । अण वणेति दण्डकधातुः । अणति गच्छति तासु तासु यो-
निषु जांवाऽनेनेति । पापे, आ० म० द्वि० । भ० । शब्दकरणगा-
ल्यादिप्रदाने, तं० । अणन्त्यनेन जन्तुश्रुतगुणितिकं संसारमित्यणम् ।
कर्मणि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । शब्दे, गतौ च । विशेष० । अण-
रणेत्यादि दण्डकधातुः । अणन्तीवाऽविकलहेतुत्वेनासातवेद्यं
नरकाद्यायुक्तं शब्दयन्तीत्याणाः । क्रोधादिषु चतुर्षु कथा-
येषु, विशेष० ।

अण-न० । एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादनन्तानुबन्धिषु
क्रोधादिषु चतुर्षु कथायेषु, विशेष० । "अण दस नपुंसिन्धी-वेयं
उक्कं च पुरिसवेयं च" विशेष० । आ० म० प्र० ।

अणस्-न० । शकटे, अण इव अनःशरीरे, तस्याऽन्तरात्मसारथि-
ना प्रवर्तनीयत्वात् । जै० गा० ।

अण-न० । व्यवहारकदेशद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । अष्टप्रकारे
कर्मणि, उत्त० १ अ० । आव० ।

अणइ-अनति-अव्य० । अतीति अव्ययमतिक्रमार्थं, न अति
अनति । अनतिक्रान्ते, तं० ।

अणइकमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि० । व्यञ्जिचारयितुमश-
क्यं, "अणइकमणिज्जाई वागरणाई" भ० १५ श० १ उ० ।

अणइप्पगम्-अनतिप्रकट-त्रि० । अनतिप्रकाशे, ध० १ अधि० ।

अणइवत्तिय-अनतिपत्त्य-अव्य० । अनतिक्रम्यत्यर्थं, "अणइव-
त्तिय सव्वेसि पाणाणं" आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

अणइवर-अनतिवर-न० । प्रधाने, न विद्यतेऽतिवरं यस्मात्त-
दनतिवरम् । सर्वश्रेष्ठे, औ० ।

अणइवरसोमचारुरूप-अनतिवरसोमचारुरूप-त्रि० । अतीव
अतिशयेन सोमं दृष्टिमुभयं चारुरूपं येषां ते तथा । यदा-अ-
तीति अव्ययमतिक्रमार्थं, न अति अनति; सौम्यं च तन्चारु च
सौम्यचारु, सौम्यचारु च तदृपं च सौम्यचारुरूपम्, वरं च तत्सौ-

म्यचारुस्य च वरसौम्यचारुस्यम् । अनन्तानि अनन्तिक्रान्तं वर-
सौम्यचारुस्यं येषां ते अनन्तिवरसौम्यचारुस्यः । देवमनुष्या-
दिभिः स्वलावण्यगुणादिभिर्गजिनरूपेषु. न० । “ तेणं मणुष्या
अण्डवर्गसौम्यचारुस्यं भोगुत्तमा ” न० । आ० ।

अण्डवाण्माण-अनन्तिपातयन्-त्रि० । प्राणाद्यनिपातमकुर्वन्ति,
“ अण्डवाण्माणं अण्डवाण्माणं ” आचा० १५०८३०३३३० ।
अण्डविलंविषत्-अनन्तिविलम्बितत्वं-न० । अष्टाविंशे सत्य-
वचनानि शयं, रा० ।

अण्डमंथान्-अनन्तिमंथान्-न० । न अनन्तिमंथानमनन्तिस-
न्धानम् । दर्श० । अवञ्चने, “ भियगाऽण्डमंथानं सासयवुदी य
जयणा य ” पञ्चा० ७ विव० ।

अण्ड-देशी-ऋणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्डग-अनङ्ग-न० । नास्ति अङ्गमाकारो यस्य । आकाश, चित्ते
च । वाच० । अङ्गानि मैथुनापेक्षया योनिर्महन् च, तद् व्यतिरि-
क्तान्यनङ्गानि । कुचक्रोखदनादिषु, पञ्चा० १ विव० । आहा-
र्यं त्रिङ्गादौ, स्था० ५ ग्रा० २ उ० । मोहोदयोद्भूततन्त्रिमैथुना-
ध्यवसायाख्ये कामे, आच० ६ अ० । स च पुंसः-स्त्रीपुंनपुंसक-
सेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा, वेदोदयात् । तथा-स्त्रियोऽपि पुरु-
षनपुंसकस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । नपुंसकस्यापि-नपुं-
सकपुरुषस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । प्रव० ६ द्वा० । प्र० ।
कामदेव, पुं० । एका० कोश । आनन्दपुरे नगरे जितारिराजस्य
विश्वस्तायां भार्यायां जाते पुत्रे, ग० २ अधि० । वृ० ।

अण्गकिङ्गा (कीमा) -अनङ्गकीङ्गा-स्त्री० । अनङ्गानि कु-
चक्रोखदनादिनि तेषु कीङ्गनमनङ्गकीङ्गा । योनिर्महन् योरन्यत्र
रमणे, पञ्चा० ३ विव० । आव० । अनङ्गो मोहोदयोद्भूतस्तीव्रो
मैथुनाध्यवसायाख्यः कामो भयते, तेन तस्मिन् वा कीमा
अनङ्गकीमा । समाप्तप्रयोजनस्यापि स्वलिङ्गेनाऽऽहार्यैः काष्ठ-
पुस्तफलमृत्तिकाचर्मादि घटितप्रयोजनैर्योषिद्वाच्यप्रदेशासेव-
ने, आच० ६ अ० । पञ्चा० । स्वलिङ्गेन कृतकृत्योऽपि योषि-
तामवाच्यदेशं ज्ञेया ज्ञयः कुश्रति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्तन-
खकदर्थनादिप्रकारैश्च मोहनीयकर्मवशात्तथा कीमति यथा
प्रवक्ष्ये रागः समुज्ज्वलते इति तत्त्वम् । प्रव० ६ द्वा० । ध० ।
अनङ्गः कामस्तप्रधाना कीमा, परदारेषु अधरदशनाऽलिङ्गना-
दिकरणे, वात्स्यायनाद्युक्तचतुरशीतिकरणासेवने च । ध० २
अधि० । अनङ्गकीमनमप्यत्र । पञ्चा० १ विव० । अयं च स्वदार-
संतुष्टेस्तुनीयश्चतुर्थो वाऽतिचारः श्रावकेण न समाचरितव्यः ।
अतिचारताऽस्य स्वदारोऽप्यन्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादा-
लिङ्गनादि व्रतमालिङ्ग्यादिति । उपा० १ अ० । ध० २० । आ० ।
अस्यादावर्थक्रियालक्षणे सम्प्राप्तकामभेदे, प्रव० १६९ द्वा० ।
‘ अष्टावर्षे गा वृच्यस्ता यस्याः साऽनङ्गकीमा ’ इत्युक्तलक्षणे
मात्रावृत्तभेदे, वाच० ।

अण्गपमिसेविणी-अनङ्गप्रतिसेविनी-स्त्री० । मैथुने प्रधान-
मङ्गं मेहनं भगश्च, तत्प्रतिषेधोऽनङ्गप्रतिसेविनी, तेनाऽनङ्गेनाहार्यलिङ्गदि-
ना, अनङ्गं वा मुखदौ, प्रतिसेवाऽस्ति यस्याः । अनङ्गं वा काम-
मपरापरपुरुषसंपर्कतोऽतिशयेन प्रतिसेवते इत्येवंशीला अनङ्ग-
प्रतिसेविनी तथाविध्वेदयावत् आहार्यत्रिङ्गादिना, मुखदौ वा,
बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायाः । एतादृशी स्त्री गर्भं न धार-
यति । स्था० ५ ग्रा० २ उ० ।

अण्गपविष्ट-अनङ्गप्रविष्ट-न०.त० स० । स्थविरैर्जज्ञवाहुसामि-

प्रभृतिभिर्गचार्यैरुपनिषदे आवश्यकनिष्ठकन्यादौ धृतविशेष,
आ० म प्र० । न० । वृ० । विशेषः । (‘ अण्गपविष्ट ’ शब्देऽत्रैव ज्ञागे
३० पृष्ठेऽप्य विशेषस्वरूपमुक्तम्)

अण्गमंजरी-अनङ्गमंजरी-स्त्री० । पृथिवीचूर्ननरताथस्य
रेखायां सुतायाम्, दर्श० ।

अण्गमेण-अनङ्गमेण-पुं० । सुवर्णकारभेदे, ‘ कुमारनन्दी ’
इति तस्य नामान्तरम् । वृ० ४ उ० । (तत्कथा ‘ दसवर ’ शब्दे
दर्शयिष्यते) ग० २ अधि० । नि० । तं० ।

अण्गसेणा-अनङ्गसेना-स्त्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजा-
तायां प्रधानगणिकायाम्, आ० चू० । नि० । अन्तः । आ० म० ।

अण्णत-अनन्त-त्रि० । नाऽस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । निरन्वयनाशे-
नानश्यमाने, अपरिमिते, निरवधिके च । “ अण्णते णिण् लोए
सासए ण विणस्सति ” नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । न निरन्वयना-
शेन नश्यतीत्युक्तं जयतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । न० ।
अक्रय, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अपर्यवसाने, दर्श० । सूत्र० ।
नाऽस्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम् । केवज्ञानमनोऽनन्तत्वात् । द्व० ।
रा० । प्रश्न० । अनन्तार्थविषयत्वाद् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अप-
र्यवसितत्वात् । दशा० १० अ० । स्था० । अनन्तार्थविषयज्ञान-
स्वरूपत्वात् । स० १ सम० । अविनाशित्वात् । ज० २ वक्र० ।
केवज्ञाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आकाशे च, (न०) तस्यान्तव-
र्जितत्वात् । भ० १२ शा० १० उ० । भरतक्षेत्रजे अवसर्पिण्याश्च-
तुर्दशे तीर्थकरे, अनन्तकर्माश्रयादानन्तः । अनन्तानि वा ज्ञा-
नादीनि अस्येति । “ सञ्चेहि वि अण्णता कम्मसा जिया सञ्चेसि
च अण्णताणि णाणादीणि वि रयणविचित्तमणंतं दामं सुमिणे
ततो अण्णतो ” रत्नविचित्रं रत्नखचितमनन्तमति महाप्रमाणं दामं
स्वप्ने जनन्या दृष्टमतो मतोऽनन्त इति । आ० म० द्वि० । अन-
न्तान् कर्माशान् जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित् ।
तथा गर्भस्थे जनन्याऽनन्तरत्नदाम्नि दृष्टे जयति च त्रिचुवनेऽप्य-
नन्तजित्, भीमो जीमसेन इतिवदन्त इति । ध० २ अधि० ।
(अनन्तक्रियाऽन्तरादि ‘ तिथयर ’ शब्दे वक्ष्यते) साधार-
णजीवे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्णत-अनन्तजित्-पुं० । अवसर्पिण्याश्चतुर्दशे तीर्थकरे,
ध० २ अधि० ।

अण्णतंस-अनन्तांश-पुं० । अनन्ततमोऽंशो भागोऽनन्तांशः । अ-
नन्ततमे भागे, विशेषः ।

अण्णतकर-अनन्तकर-त्रि० । संसारपारगमनाऽसमर्थे, “ तेणाति
संजोगमविष्णुहाय, कायोवगा णंतकरा जवति ” । कायोपगास्त-
दुपमदर्भप्रवृत्ताः संसारस्यानन्तकराः स्युः ; संसारस्यान्त-
करा न भवन्तीत्यर्थः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अण्णतकाय-अनन्तकायिक-पुं० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र
तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे वनस्पतिभेदे, ध० २ अधि० ।
प० घ० । (लक्षणादि चास्य ‘ अण्णतजीव ’ शब्दे वक्ष्यते)

अण्णतकाय-अनन्तकाय-पुं० । अनन्तजीवे वनस्पतौ, प० घ० ४ द्वा० ।

अण्णतकाल-अनन्तकाल-पुं० । अपर्यवसितकाले, प्रश्न० ३
आश्र० द्वा० ।

अण्णतकिति-अनन्तकीर्ति-पुं० । धर्मदासगणपरनामके उपदे-
शमालाकृति आचार्ये, ज० ६० ।

अणंतवृत्तो-अनन्तकृत्वम्-अथ०। अनन्तवारानित्यर्थः । “अ-
हं भवे । जंवे णेरदयत्ताए उवयसपुंये हंता गोयमा ! असति
अदुवा अणंतवृत्तो ” ज० १२ श० ६ उ० ।

अणंतग (य) अनन्तक-न० । गणनासंख्याभेदे, स्था० ।

तच्च पञ्चाभा—

पंचविहे अणंतए पणत्ते । तं जहा-णामाणंतए, उवणाणं-
तए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पणसाणंतए ॥ अहवा पंच-
विहे अणंतए पणत्ते । तं जहा-एगओणंतए, दुहओणंतए,
देमवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ॥

पंचविहेत्यादिसुब्रह्मं प्रतीतिार्थम्, नवरं, नाम्ना अनन्तकं नामा-
नन्तकम्, अनन्तकमिति यस्य नाम यथासमयजापयाऽवस्थ-
मिति । स्थापनैव स्थापनया वा अनन्तकं स्थापनाऽनन्तकम्,
अनन्तकमिति कल्पनयाऽह्यादित्यामः कृशरीरादिव्यतिरिक्तम्,
द्रव्याणामणवादीनां गणनीयानामनन्तकं द्रव्यानन्तकं, गणना
संख्याने ननु गणनमनन्तकमविचक्षिताऽणवादिंसंख्येयविषयः सं-
ख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां संख्येयानामनन्तकं प्रदेशा-
नन्तकमिति । एकत एकतांशनायामलक्षणानन्तकमेकतोऽनन्त-
कम्-एकश्रेणीकं क्षेत्रम्, द्विधा आयामविस्ताराभ्यामनन्तकं द्विधा-
ऽनन्तकं-प्रतरक्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो रुचकापक्षयोः पूर्वाद्यन्यतरदिग्भ-
जणो देशस्तस्य विस्तारो विष्कम्भस्तस्य प्रदेशापेक्षयाऽनन्तकं
देशविस्तारानन्तकम्, सर्वाकाशस्य तु चतुर्थम्, शाश्वतं च त-
दनन्तकं च शाश्वतानन्तकमनाद्यपर्यवसितं यज्जीवादिद्रव्यम्,
अनन्तसमयस्थितिकत्वादिति । स्था० ५ ग्रा० ३ उ० ।

दमविहे अणंतए पणत्ते । तं जहा-णामाणंतए, उवणाणं-
तए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पणसाणंतए, एगओ-
णंतए, दुहओणंतए, देमवित्थाराणंतए, सव्ववित्थारा-
णंतए, सामयाणंतए ।

नामानन्तकम्-अनन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा
संवेचनादेवस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थाप-
नानन्तकं-यदनादायनन्तकमिति स्थाप्यते । द्रव्यानन्तकं-जीवद्र-
व्याणां पुत्रद्रव्याणां वा यदनन्तकम्, गणनाऽनन्तकं-यदेको द्वौ
त्रय इत्येवं संख्याता असंख्याता अनन्ता इति संख्यामानव्य-
पेक्षं संख्यामात्रतया संख्यातमात्रं व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्त-
कम्-आकाशप्रदेशानां यदानन्तमिति । एकतोऽनन्तकम्, अती-
ताऽनागतानाऽद्वा वा द्विधाऽनन्तकम्, सर्वाद्वा देशविस्तारा-
नन्तकम्-एक आकाशप्रतरः । सर्वविस्तारानन्तकं सर्वाकाशा-
स्तिकाय इति । शाश्वतानन्तकमकृत्यं जीवादि द्रव्यमिति ।
स्था० १० ग्रा० ।

मे किंते अणंतए ? अणंतए त्रिविहे पणत्ते । तं जहा-
परिचाणंतए, जुत्ताणंतए, अणंताणंतए । मे किंते परिचा-
णंतए ? परिचाणंतए त्रिविहे पणत्ते । तं जहा-जहण-
ए, उक्कोसए, अजहणमणुक्कोसए । मे किंते जुत्ताणं-
तए ? जुत्ताणंतए त्रिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए,
उक्कोसए, अजहणमणुक्कोसए । मे किंते अणंताणंतए ?
अणंताणंतए द्विविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए,
अजहणमणुक्कोसए ।

अनन्तकमपि-परीक्षानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकम् ।
अत्रायनन्तभेदद्वये जघन्यादिभेदात् प्रत्येकं त्रैविध्यम् । अनन्ता-
नन्तकं तु-जघन्यमजघन्योत्कृष्टमेव जवतीति । उत्कृष्टानन्तानन्त-
कस्य काव्यसंज्ञादिति सर्वमपीदमष्टविधम् । अनु० ।

जहणयं परिचाणंतयं केवड्यं होइ ? जहणयं असंख्ये-
ज्जामंखेज्जयमेत्ताणं रामीणं अणमणव्वासो पडिपुणो
जहणयं परिचाणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए अमंखेज्जा-
संखेज्जए खवं पक्खित्तं जहणयं परिचाणंतयं होइ,
तेण परं अजहणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं प-
रिचाणंतयं ए पावइ । उक्कोसयं परिचाणंतयं केवड्यं होइ ?
जहणयं परिचाणंतयमेत्ताणं रामीणं अणमणव्वासो
खूणो उक्कोसयं परिचाणंतयं होइ, अहवा जहणयं
जुत्ताणंतयं खूणं उक्कोसयं परिचाणंतयं होइ । जहणयं
जुत्ताणंतयं केवड्यं होइ ? जहणयं परिचाणंतयमेत्ताणं रा-
सीणं अणमणव्वासो पडिपुणो जहणयं जुत्ताणंतयं होइ,
अहवा उक्कोसए परिचाणंतए खवं पक्खित्तं जहणयं जुत्ता-
णंतयं होइ, अभवसिद्धिआ वि तात्तिआ होइ, तेण परं अज-
हणमणुक्कोसयाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतयं ए पावइ ।
उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केवड्यं होइ ? जहणयं जुत्ताणंतएणं
अभवसिद्धिआ गुणिता अणमणव्वासो खूणो उक्कोसयं
जुत्ताणंतयं होइ, अहवा जहणयं अणंताणंतयं खूणं
उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ । जहणयं अणंताणंतयं केवड्यं
होइ ? जहणयं जुत्ताणंतएणं अजवसिद्धिआ गुणिआ
अणमणव्वासो पडिपुणो जहणयं अणंताणंतयं होइ, अ-
हवा उक्कोसए जुत्ताणंतए खवं पक्खित्तं जहणयं अणंता-
णंतयं होइ, तेण परं अजहणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं ।

जघन्यपरीक्षानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावत्संख्येयानां
राशीनां प्रत्येकं जघन्यपरीक्षानन्तकप्रमाणानां पूर्ववदन्योऽथा-
न्यासरूपानुत्कृष्टं परीक्षानन्तकं भवति । ‘अहवा जहणयं जु-
त्ताणंतयमित्यादि’ स्पष्टम् । ‘जहणयं जुत्ताणंतयं केत्तियमित्या-
दि’ व्याख्यातार्थमेव । ‘अहवा उक्कोसयं परिचाणंतयं’ इत्यादि
सुबोधम् । जघन्ये च युक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि जवन्त्यभव-
सिद्धिका अपि जीवाः केवलानि तावन्त एव दृष्टान्तः । तेण पर-
मित्यादि’ कण्ठ्यम् । ‘उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केत्तियमित्यादि’
जघन्येन युक्तानन्तकेनाभयराशिगुणिते रूपाने सन्नुत्कृष्टं युक्ता-
नन्तकं जवति, तेन तु रूपेण सह जघन्यमनन्तानन्तकं सम्पद्यते ।
अत एवाह-‘अहवा जहणयं अणंताणंतयमित्यादि’ गतार्थम् ।
‘जहणयं अणंताणंतयं केत्तियमित्यादि’ जावितार्थमेव । ‘अहवा
उक्कोसए जुत्ताणंतए इत्यादि’ प्रतीतिमेव । ‘तेण परं अजहणमणु-
क्कोसयाइं इत्यादि’ जघन्यादनन्तानन्तकात्परतः सर्वाण्यपि अज-
घन्योत्कृष्टान्यवानन्तानन्तकस्य स्थानानि भवन्ति, उत्कृष्टमनन्ता-
नन्तकं नास्त्येवेत्यत्रिप्रायः । अन्ये न्याचार्याः प्रतिपादयन्ति-
अजघन्यमनन्तानन्तकं वाच्यं पूर्वं वर्धते, ततश्चैते पडनन्तकाः
प्रज्ञेयाः प्रक्षिप्यन्ते । तत्रथा-

“सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गला चैव ।
सव्वमवोगागासं, ण्णपेतेऽण्णं पक्खेवा” ॥ १ ॥

अथमर्थः—सर्वे सृष्टमवादननिगोदजीवाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे वनस्पतिजन्तवः, सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, सर्वपुष्पलघ्वयसमूहः, सर्वावोकाकाशप्रदेशराशिः। एते च प्रत्येकमनन्तस्वरूपाः षट् प्रकृत्याः, एतैश्च प्रकृत्यैर्व्यो राशिर्जायते, स पुनरापि वारत्रयं पूर्ववद्भवति, तथाऽप्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं न जवति; ततश्च केवलज्ञानकेवलदशनपर्यायाः प्रकृष्यन्ते । एवं च सत्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं सम्पद्यते, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य संगृहीतत्वात् । अतः परं वस्तु सर्वस्यैव संख्याविषयस्याज्ञावादि-
ति ज्ञावः । सूत्राभिप्रायस्तु—इत्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते; अजघन्यात्कृष्टस्थानानामेव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति ज्ञावः । सूत्रे च यत्र कुत्रापि अनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं दृष्टव्यम्, तदेवं प्ररूपितमनन्तकम् । अनु० ।

इदानीं नवविधमसंख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं
निरूपयितुमिच्छुर्गाथायुगमाह—

रुवजुयं तु परिता-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।

जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥ ७७ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं संख्येयकं, रूपयुतं तु रूपैकेन सर्वपणं पुनर्युक्तं सल्लघु जघन्यं परीत्तासंख्यं परीत्तासंख्येयकं भवति । इदमत्र हृदयम्—इह येनैकेन सर्वपरूपेण रहितोऽनन्तरोहिष्ठो राशिरुत्कृष्टसंख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निकृषो यदा क्रियते तदा तदेवोत्कृष्टं संख्यातकं जघन्यं परीत्तासंख्यातकं भवतीति । इह च जघन्यपरीत्तासंख्येयकेऽग्निहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीत्तयुक्तनिजपदभेदतत्त्वज्ञेदानामप्यसंख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टभेदौ पश्चादल्पवक्तव्यत्वात्प्ररूपयिष्येते । अतोऽधुना जघन्ययुक्तासंख्यातकं तावदाह—(अस्स रासि अब्भासे इत्यादि) अस्स राशेर्जघन्यपरीत्तासंख्येयकगतराशेः, अजघन्यासे परस्परगुणने सति, लघु जघन्यं, युक्तासंख्येयकं भवति, तच्चावलिकासमयपरिमाणम् । आवलिका—“असंखिज्जाणं समयणं समुदयसामिदसमागमेण ” इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा, तस्याः समया निर्विभागाः काश्चविभागाः, तत्परिमाणमावलिकासमयपरिमाणम्; जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमाणा आवलिका इत्यर्थः । एतदुक्तं जवति-जघन्यपरीत्तासंख्येयकसंबन्धीनि यावन्ति सर्वपञ्चकृणानि रूपाणि तान्येकैकशः पृथक् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीत्तासंख्यातकप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते । तेषां च राशीनां परस्परमज्यासो विधीयते । इहैवं ज्ञावना-असत्कल्पनया किञ्च जघन्यपरीत्तासंख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते; तानि विविच्यन्ते-जाताः पञ्चैककाः १११११ एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तद्यथा— $\frac{१११११}{५५५५५}$ अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता

जाता पञ्चविंशतिः । साऽपि पञ्चभिरभ्यासे जातं पञ्चविंशतम् । इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्परभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकविंशच्छतानि ३१२५ । एवं कल्पनया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसंख्येयरूपो जघन्ययुक्तासंख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघन्यासंख्यातासंख्यातकज्ञेदस्य जघन्यपरीत्ता-

नन्तकादिस्वरूपाणां त्रयाणां जघन्यानन्तकज्ञेदानां च स्वरूपमन्तिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह—

वि ति चउ पंचम गुणणे, कमा मगामंख पढपचउसत्ता—

ऽण्णं ते रुवजुया, मज्झमा रुवूण गुरु पच्चा ॥ ७९ ॥

इह ‘संखिज्जगमसंखमित्यादि’ गाथोपन्यस्तमुत्कृष्टं संख्यातकम् । उत्कृष्टसंख्यातकादिभौद्धसप्तपदापेक्षया संख्यातकाद्यनेदाविक-

परी० सं० १	युक्ता सं० ३	असंख्या सं० ४	लानि यानि प-
परी० अ० २	युक्तानं० ६	अनन्तानन्त० ७	रीत्तासंख्यात-

कादीनि पदपदानि तानि परीत्तासंख्यातकानन्तानन्तकभेदद्वयविकल्पानि द्वित्रिचतुःपञ्चसंख्यात्वेन प्रोक्तानि, ततो द्वित्रिचतुःपञ्चमगुणने द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योन्याङ्गासे सति, क्रमात् क्रमेण, (सगासंख त्ति) प्राकृतत्वात् सप्तमासंख्यातम् । स्थापनापेक्षया जघन्यासंख्यातासंख्यातकम् । (पढमचउसत्ताऽण्णं त्ति) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि, तत्र प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकं चतुर्थानन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं जवतीति । इह जघन्य

जघ० सं० १	मध्य० सं० २	उत्क० सं० ३	मध्यमोत्कृष्टभेद-
परी० अ० ज० १	परी० अ० म० २	प० अ० उ० ३	तोऽसंख्येयान-
यु० अ० ज० ४	यु० अ० म० ५	यु० अ० उ० ६	न्तकयोः प्रत्ये-
अ० अ० ज० ७	अ० अ० म० ८	अ० अ० उ० ९	कं नवविधत्वात्
प० अ० ज० १	प० अ० म० २	प० अ० उ० ३	प्रदर्शितभेदानां
यु० अ० ज० ४	यु० अ० म० ५	यु० अ० उ० ६	सप्तमप्रथमादि-
अ० अ० ज० ७	अ० अ० म० ८	अ० अ० उ० ९	संख्याने संग-

चउत एव । इदमत्रैदं पर्यम्—द्वितीये युक्तासंख्यातकपदवाच्ये जघन्ययुक्तासंख्यातकवृत्तणे राशौ विवृते सति यावन्ति रूपाणि तावत्सु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासंख्यातकमाना राशयोऽप्यसनीयास्ततस्तेषां राशीनां परस्परतारुने यो राशिर्भवति, तत् सप्तमासंख्येयकं मन्तव्यम् । तृतीये त्वसंख्येयकासंख्येयकपदवाच्ये जघन्यासंख्येयकासंख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावतामेव जघन्यासंख्येयकासंख्येयकराशीनामन्योन्यगुणने सति यो राशिः संपद्यते तत्प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकमवसेयम् । चतुर्थे तु परीत्तानन्तकपदवाच्ये जघन्यपरीत्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्संख्यानां जघन्यपरीत्तानन्तकराशीनां परस्परमभ्यासे यावान् राशिर्भवति तच्चतुर्थमनन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति । पञ्चमे युक्तानन्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणने यावान् राशिः संपद्यते तत्सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवति । आह—परीत्तासंख्यातक १ युक्तासंख्यातक २ असंख्यातासंख्यातक ३ परीत्तानन्तक ४ युक्तानन्तक ५ अनन्तानन्तक ६ वृत्तकृणाः परमपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टाः, मध्यमा उत्कृष्टाश्चेते कथं मन्तव्या इत्याह—(ते रुवजुया इत्यादि) ते अनन्तरोहिष्ठा जघन्याः परमपि राशयो रूपैकैकवृत्तकृणेन युताः समन्विताः । रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—मध्या मध्यमाः, जघन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीत्तासंख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रकृते मध्यमो भवति । उपवृत्तकृणं चैतत्—नैकरूपप्रकृते एव मध्यमगणनं, किन्त्वैकैकरूपनिर्कृतेऽयं तावन्मध्यमो मन्तव्यो यावदुत्कृष्टपरीत्तासंख्येयकराशिर्न जवतीत्येवमनया दिशा जघन्ययुक्तासंख्यातकादयोऽपि

राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमाः संपद्यन्ते, तदनु चै-
कैकरूपवृद्ध्या तावन्मध्यमा अवसंया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपदं
नासादयन्ताति । तद्धेतो परमपि किस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्ती-
त्याह- (रूपेण गुरुपक्षे त्ति) रूपैरेकैकवृद्धेणेताना-यूना रूपानाः
सन्तस्ते एव प्रागभिहिता जघन्या राशयः । तेशब्द आनुसंगेहा-
पि संबन्धनीयः । किं भवतीत्याह-गुरुत्वं उत्कृष्टाः, पाश्चात्याः
पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमेव जावना-जघन्ययुक्तासंख्यात-
कराशिरैकेन रूपेण न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षासंख्येय-
कस्वरूपो भवति । जघन्यासंख्यातासंख्यातकराशिस्तु एकैकं
रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासंख्यातकस्वरूपो भवति ।
जघन्यपरीक्षान्तकराशिः पुनरैकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उ-
त्कृष्टसंख्यातकस्वरूपो भवति । जघन्ययुक्तान्तकराशिरैकेन-
रूपेणः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षान्तकस्वरूपो भवति । जघन्यान्-
तान्तकराशिरैकपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तान्तकस्वरूपो
भवतीति ॥ ७६ ॥

इदं च संख्येयकान्तकभेदानामित्थं प्ररूपणमागमभिप्रायत
उक्तम् । कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते, अत एवाह—

इय मुत्तुचं अन्ने, वगियमिक्किं चउन्थयमसंखं ।

होइ असंखामंखं, लहू खवजुयं तु तं मज्जं ॥ ७७ ॥

इति पुरोक्तप्रकरणे यदसंख्यातकान्तकस्वरूपं प्रतिपादितं, त-
त्सूत्रेऽनुयोगद्वारावृद्धे सिद्धान्ते उक्तं निगदितम् । कर्म०४कर्म (अ-
त्र मतान्तरम् 'असंखिज' शब्दे व्याख्यास्यते) । मृताच्छादनसमर्थं
वस्त्रे, आच०४अ० नवप्रवचनप्रसिद्धे अनन्तकाये, पंचा०४ विघ० ।
अनन्तग-वि० । अन्ते गच्छतीत्यन्तगः, नाऽन्तगः अनन्तगः ।
अविनाशिनि, " चिच्छा अणंतगं सोयं, निरवेकखो परिचय्य "
सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

अणंतगुणिय-अनन्तगुणित-वि० । अनन्तगुणिते, विशेष० ।

अणंतयाइ (ए)-अनन्तयानिन्-पुं० । अनन्तविषयतया अन-
न्ते ज्ञानदर्शने हन्तुं चिनाशयितुं शीघ्रं येषां तेऽनन्तघातिनः ।
ज्ञानदर्शनचिनाशयशब्देषु ज्ञानावरणीयादिकर्मपर्यवेषु, " पस-
न्थजोगपरिवारे य णे अणगारे अणंतघाइपज्जे खवेइ " उक्त०
२६ अ० ।

अणंतचक्रवु-अनन्तचक्रुप-पुं० । अनन्त ज्ञयानन्ततयानित्यतया
वा चक्रुरिय चक्रुः केवलं ज्ञानं यस्य, अनन्तस्य वा लोकस्य पदा-
र्थप्रकाशकतया वा चक्रुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्रुः । सूत्र०
१ ध्रु० ६ अ० । अनन्तमपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद् वाऽनन्तं
चक्रुरिय केवलज्ञानं यस्य स तथा । केवलज्ञानिनि, " तिरुं स-
मुदं च महाभवेयं, अतयंकरे वारि अणंतचक्रवु " सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

अणंतजिण-अनन्तजिन-पुं० । अनन्तश्चासौ ज्ञानान्ततया नित्य-
तया वा जिनश्च रागद्वेषजयनादनन्तजिनः । अवसर्पिण्याश्चतु-
र्दशे नार्थकरे, आच० । कटप० । प्रव० ।

अणंतजीव-अनन्तजीव-पुं० । अनन्तकायिके घनरूपतिनेदे,
स्त्रा० ३ उ० १ उ० ।

अनन्तजीवस्य भेदान्मृद्वृद्धे चैथम्—

तणमूलकंदमूलो, वंसीमृत्ति ति याऽवरे उ ।

मंमेजममंमिज्जा, वोधव्वा णंतजीवा य ॥ १ ॥

मिंवाडगम्म गुच्छो, अणेगजीवो उ हंति णायव्वो ।

पत्ता पत्तेय जीवा, दोणि य जीवा फले भणिया ॥ २ ॥

जस्स मूत्रस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अणंतजीवे उ से मूले, जे यावणे तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से कंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से खंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स तथाण भग्गाए, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवा तथा सा उ, जे यावन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥

जस्स साव्वस्स भग्गस्स, समो जंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ मे साव्वे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ५ ॥

जस्स पवाव्वस्स जग्गस्स, समो जंगो य दीसई ।

अणंतजीवे पवाले से, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ६ ॥

जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो जंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से पत्ते, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ७ ॥

जस्स पुप्फस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से पुप्फे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ८ ॥

जस्स फलस्स जग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे फले से उ, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ९ ॥

जस्स वीयस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से वीए, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १० ॥

तृणमूलं कन्दमूलं यच्चापरं वंशीमूत्रम्, एतेषां मध्ये क्वचि-
ज्जातिभेदतो देशभेदतो वा सह्यता जीवाः, क्वचिदसंख्याताः,
क्वचिदनन्ताश्च ज्ञातव्याः । (सिंघारुगस्सत्यादि) शृङ्गाटकस्य
यो गुच्छः सोऽनेकजीवो जयतीति ज्ञातव्यः; त्वक्कुशाखादी-
नामनेकजीवात्मकत्वात् । केवलं तत्रापि यानि पत्राणि तानि प्र-
त्येकजीवानि, फले पुनः प्रत्येकमेकैकस्मिन् द्वौ २ जीवौ भणितौ ।
(जस्स मूत्रस्सत्यादि) यस्य मूलस्य जग्नस्य सतः सप्त एकान्-
तरूपश्चक्राकारो भङ्गः प्रकर्षेण दृश्यते, तस्मैजमनन्तजीवमव-
सेयम् । (जे यावन्ने तहा इति) यान्यपि चान्यानि अभग्गानि
तथाप्रकाराणि अधिकृतमूत्रभग्नसमप्रकाराणि तान्यप्यनन्तजी-
वानि ज्ञातव्यानि । एवं कन्दस्कन्धत्वक्कुशाखप्रवाहपत्रपुष्पफल-
बीजविषया अपि न च व्याख्येयाः ॥ १० ॥ प्रज्ञा० १ पद ।

अधुना मृदादिगतानां बलकलरूपाणां लक्ष्मीनामनन्त-

जीवत्वपरिज्ञानार्थं लक्षणमाह—

जस्स मूलस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी जवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवणा तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवणा तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंथस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी जवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवणा तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स मालाइ कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवणा तहाविहा ॥ ४ ॥

यस्य मूलस्य काष्ठाद् मध्यसारात् छल्ली बलकलरूपा बहलतरा

भवति, सा अनन्तजीवाज्ञातव्या । (जा याऽवस्था तद् इति) याऽपि चान्या, अधिभूतया अनन्तजीवत्वेन निश्चितया समानरूपा ब्रह्मी, साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका ज्ञातव्या । एवं कन्दस्कन्ध-शाखाविषया अपि तिस्रो गाथाः परिभाषनीयाः । प्रज्ञा ० १ पद । यदुक्तं 'जरस मूत्रस भग्नस समो भगो य दीर्घः' इत्यादि तदेव लक्षणं स्पष्टं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

चक्रागं भजमाणस्म, गंती चुम्बणो जवे ।

गूढवीसरिभेदेण, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ १ ॥

चक्रकं चक्राकारमेकान्तेन समं भङ्गस्थानं यस्य भज्यमानस्य मूलकन्दस्कन्धवक्त्राखापत्रपुष्पादिभेदवति, तन्मूत्रादिकमनन्त-जीवं विजानीहि इति सम्बन्धः । तथा 'गंती चुम्बणो जवे' इति । ग्रन्थिः पर्व सामान्यतो भङ्गस्थानं वा स यस्य ज्ञयमानस्य चूर्ण-न रजसा घनो व्याप्तो जवति, अथवा यस्य पत्रादेर्भज्यमानस्य चक्राकारं जङ्गरजसा ग्रन्थिस्थानं व्याप्तिं च विना पृथिवीसदृश-न भेदेन जङ्गस्थानं भवति, सूर्यकरनिकरप्रतप्तकेदारतरिकाप्रतरख-एरुस्येव समो भङ्गो भवतीति ज्ञावः । तमनन्तकायं विजानीहि । १ ।

पुनरपि लक्षणांतरमाह—

गूढसिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।

जं पि य पण्डसंथि, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २ ॥

यत्पत्रं सच्छीरं निःक्षीरं वा गूढसिराकमलद्रवमाणशिराविशेषं, यदपि च पण्डसन्धिः सर्वथाऽनुपलब्ध्यमाणपत्रार्द्धद्रवसन्धिः, तदनन्तजीवं विजानीहि ॥ २ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगतं विशेषमभिधिसुराह—

पुष्पा जलया धलया, विटवष्ठा य णालिवष्ठा य ।

संखिज्जमसंखेज्जा, बोधव्वा णंतजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा-जलजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थल-जानि कोरएट्टादीनि, एतान्यपि च प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-कानि चिद् वृन्तवद्धानि-अतिमुक्तकप्रभृतीनि, कानिचिन्नालवद्धानि-जातिपुष्पप्रभृतीनि, अत्रैतेषां मध्ये कानिचित्पत्रादिगतजीवापेक्षया सहस्रधेयजीवानि, कतिचिदसहस्रधेयजीवानि, कानिचिदनन्तजीवानि यथागमं बोधयानि ॥ ३ ॥

अत्रैव किञ्चिद्विशेषमाह—

जे केइ नालिया वद्धा, पुष्पा संखेज्जजीविया ।

णिहुया अणंतजीवा, जे याऽवसो तहाविहा ॥ ४ ॥

पउमुप्पझिणी कंदे, अंतरकंदे तहेव भिह्वी य ।

एते अणंतजीवा, एगो जीवो भिस मुणाले ॥ ५ ॥

यानि कानिचिद् नालिकावद्धानि पुष्पाणि जात्यादिगतानि तानि सर्वाण्यपि सहस्रयातजीवकानि ज्ञानि तानि तीर्थकरणधरैः । स्निह् स्निह्पुष्पं पुनरनन्तजीवम्, चान्यपि चान्यानि स्निह्पुष्पक-ल्पानि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि ज्ञातव्यानि । (पउमुप्पझिणी कंदेत्यादि) पझिनीकन्दः, उत्पझिनीकन्दः, अन्तरकन्दो जलजवनस्पतिविशेषः कन्दः, फिल्लिका वनस्पतिविशेष-रूपा, एते सर्वेऽनन्तजीवाः, नवरं पञ्चिन्यादीनां विशेषः, मृणाले च; एकजीवात्मके विशमृणाले इति ज्ञावः ॥ ५ ॥ प्रज्ञा ० १ पद ।

मण्णाए मज्जाए, उव्वेहलिया य कुट्टणकुट्टके ।

एए अणंतजीवा, कुट्टके होइ जयणाओ ॥ ६ ॥

एते कुट्टादिवनस्पतिविशेषा लोकाः प्रत्येतस्याः । एते च

अनन्तजीवात्मकाः, नवरं कण्डुके जजनाः स हि कोऽपि देशविशेषादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक इति ॥ ६ ॥

किं बीजजीव एव मूत्रादिजीवो जवति, उतान्यस्तास्मिन्नपक्रान्ते उत्पद्यते इति परप्रश्नमाशङ्क्याह—

जोणिज्जुए बीए, जीवो वक्कमइ सो व अणो वा ।

जो वि अमूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए ॥ ७ ॥

बीजं योनिभूतं योन्यवस्थां प्राप्नोति, योनिपरिणाममुद्भतीति भा-वः । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च । तत्र यदा बीजं योन्यवस्थानं जहाति, अथ चोर्जितं जन्तुना तदा तत् योनिभूतमित्यभिधीयते । उर्जितं च जन्तुना निश्चय-तो नावगन्तुं शक्यते, ततोऽनतिशायिना सम्प्रति सचेतनमचे-तनं वा अविवक्षस्त्योनिं योनिभूतमिति व्यवहियते । विध्वस्त-योनि तु नियमादचेतनत्वादयोनिभूतमिति । अथ योनिरिति कि-मभिधीयते ? उच्यते-जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविवक्षस्तशक्तिकं तत्र-स्थजीवपरिणमनशक्तिसम्पन्नमिति भावः । तस्मिन् बीजे यो-निभूते जीवो व्युत्क्रामति उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वा आगत्य तत्रोत्पद्यते । किमुक्तं भवति-तदा बीजनिवर्त्तकेन जीवेन स्वायुषः कृयाद् बीजपरित्यागः कृतो भवति । तस्य च बीजस्य पुनरप्युत्क्रांताऽवनिर्संयोगरूपसामग्रीसम्भवस्तदा क-दाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मूत्रादिनामगोत्रं निबद्ध्य तत्रागत्य परिणमतिः कदाचिदन्यः पृथिवीकायिकादिजीवः । 'योऽपि च मूत्रे जीव इति' य एव मूलतया परिणमते जीवः 'सोऽपि पत्रे प्रथमतयेति' स एव प्रथमपत्रतयाऽपि च प-रिणमते, इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । आह—यद्येवं " सर्वो वि किसलओ खलु, उगममाणो अणंतओ भ-णिओ " इत्यादि वक्ष्यमाणं कथं न विरुध्यते ? उच्य-ते-इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्छ्रानावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयावस्थां नियमतोऽनन्ता जीवाः कुर्वन्ति । पुनश्च तेषु स्थितिक्रियात्परिणतेषु अ-सावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनुं स्वशरीरतया परिणमय्य ताव-द्वर्त्तते यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः । अन्ये तु व्याचक्रते-प्र-थमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य समुच्छ्रानावस्था, तेन एकजीवकर्-तृके मूलप्रथमपत्रे इति । किमुक्तं जवति—मूलसमुच्छ्रानावस्थे एकजीवकर्तृके, एतच्च नियमप्रदर्शनार्थमुक्तम् । मूलसमुच्छ्रानाव-स्थे एकजीवपरिणमिते एव । शेषं तु किसलयादिनाऽवश्यं मूल-जीवपरिणामाविर्भावितमिति । ततः 'सर्वो वि किसलओ खलु, उगममाणो अणंतओ भणिओ ' इत्यादि वक्ष्यमाणमविरुद्धम् । मूलसमुच्छ्रानावस्थानिर्वर्तनाऽरम्भकाले किसलयत्वाभावादिति । आह-प्रत्येकशरीरे वनस्पतिकायिकानां सर्वकायशरीरावस्था-मधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुत कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्त-जीवन्यमपि सम्भवति ? तथा साधारणवनस्पतिकायिकाना-मपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमुत कदाचित्प्रत्येकशरीरत्वम-पि भवति ? ।

तत आह—

सर्वो वि किसलओ खलु, उगममाणो अणंतओ भणिओ ।

सो चेव विवहंतो, होइ परित्तो अणंतो वा ॥ ८ ॥

इह सर्वशब्दः परिशेषवाची । सर्वोऽपि वनस्पतिकायः प्रत्ये-कशरीरः साधारण एव किसलयावस्थामुपगतः सन् अनन्त

कायस्त्रीर्यकरणधरैर्भणितः । स एव किसलयरूपः अनन्तकायिकः प्रवृत्तिं गच्छन् अनन्तो वा भवति परीक्षो वा । कथम् ? । उच्यते-यदि साधारणं शरीरं निर्वर्त्यते तदसाधारण एव भवति, सद्यः प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येक इति । कियतः काश्चादूर्ध्वं प्रत्येको भवति इति चेदुच्यते-अतर्मुहूर्त्ताः । तथाहि-निगोदानामुक्त्यन्तोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् स्थितिरुक्ता, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो विवर्त्तमानः प्रत्येको भवतीति । प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साविषयत्वादनन्तजीवस्य च अनन्तजन्तुमत्ताननिपातनमित्तत्वाद् भक्षणं वर्ज्यम् । यतः-“नृच्यो नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्चाङ्गानिर्यगुणो, ह्यज्ञाया ज्वलनो यथोत्तरमर्मा संख्यातिगा भाषिताः । तेच्यो नृजलवायवः समधिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रमं, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितास्तेच्योऽप्यनन्ता नगाः ” ॥ १ ॥ तानि आर्यदेशप्रसिद्धानि द्वात्रिंशत् । तदाहुः-

मन्वा प कंदर्वा, मूरणकंदो अ वज्रकंदो अ ।

अद्भ्य हलिदा य तद्वा, अल्लं तह अल्लकचूरो ॥ १ ॥

सत्तावरी विराली, कुँआरि तह थोहरी गद्गोई अ ।

लमुणं वंमकरिल्ला, गज्जर लूणो अ तह लोढा ॥ २ ॥

गिरिकप्पि किमलिपत्ता, खरिमुआ थेग अल्ल मुत्था य ।

तह वृणस्सखल्ली, खिल्लहमो अमयवल्ली य ॥ ३ ॥

मूला तह चूमिरुहा, विरुहा तह ठकवत्थुओ पढमो ।

सूअरवल्लो अ तद्वा, पल्लको कोपल्लंविद्धिआ ॥ ४ ॥

आवृ तह पिंडालू, हवंति एए अणंतनमेणं ।

अन्नमणंतं नेअं, लक्खणजुत्तीइ समयाओ ॥ ५ ॥

सर्वेव कन्दजातिरनन्तकायिका इति सम्बन्धः । कन्दो नाम भूमध्यगोवृक्षावयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव ग्राह्याः, शुष्काणां तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहेमसूरिरप्येवमेव ‘आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः । शुष्कस्य तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति’ इति योगशास्त्रसूत्रवृत्त्याह । अथ तानेव कांश्चित्कन्दान् व्याप्रियमाणत्वाच्चामत आह-मूरणकन्दोऽर्शोऽग्नः कन्दविशेषः १, वज्रकन्दोऽपि कन्दविशेष एव २, आर्द्रो अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतैव ३, आर्द्रकं गृह्येयम् ४, आर्द्रकचूर्णस्तिक्तद्रव्यविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी ६ वराङ्गिके ७ वल्लीभेदौ । कुमारी मांसव्रणप्रणाशकारपत्रा प्रतीतैव ८, थोहरी स्नुहीतरुः ९, गुरुची वल्लीविशेषः प्रतीत एव १०, वृक्षानं कन्दविशेषः ११, वंशकरिल्लानि कोमलानिनवयं-शावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गजंरकाणि सर्वजनविदिता-न्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः-येन द्रव्येन सज्जिका नि-पद्यते १४, लोढकः पश्चिमीकन्दः १५, गिरिकर्णिका वल्लीविशेषः १६, किशलयरूपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादर्वाकू वीजस्योच्च-नावस्थावृक्षपाणि सर्वाण्यप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचि-देव १७, खरिमुकाः कन्दभेदाः १८, थेगोऽपि कन्दविशेष एव १९, आर्द्रो मुस्ता प्रतीता २०, वृषणापरपर्यायस्य भ्रमरनाम्नो वृक्षस्य छत्रिस्त्वयः, न न्येव्येऽवयवाः २१, खिल्लहडो लोकप्रसिद्धः कन्दः २२, अमृतवल्ली वल्लीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः २४, भूमिरुहाणि वृक्षाकागणि वर्षाकालभवानि भूमिस्फोट-कानानि प्रसिद्धानि २५, विरुढान्यङ्कुरितानि द्विदलधान्या-नि २६, ठक्कास्तुलः शाकावयवः, स च प्रथमोद्भूत एवानन्त-

कायिको न तु च्छिन्नप्ररूढः २७, शकरसंज्ञको वल्लः, स एवा-नन्तकायिको न तु धान्यवल्लः २८, पल्लयङ्कः शाकभेदः २९, को-मलाम्लिका अश्वत्थास्थिका चिञ्चिका ३०, आलुक ३१, पि-ण्डालुकौ ३२ कन्दभेदौ । एते पूर्वोक्ताः पदार्था द्वात्रिंशत्सं-ख्याका अनन्तकायनामभिर्भवन्तीत्यर्थः । न चैतावन्येवान-न्तकायिकानि किन्त्वन्येऽपि, तथाऽऽह-“अन्यदपि” पूर्वोक्ता-तिरिक्कमनन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणविचा-रण्या, समयात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा-

घोसकरीरं कुर ति-रुयं अइकोमलं वगाईणि ।

वरुणवमनिं वयाई-ए अंकुराई अणंताई ॥ १ ॥

घोषातकीकरीरयोरङ्कुराः, तथाऽतिकोमलान्यवद्धास्थिकानि तिन्दुकाम्रफलादीनि, तथा वरुणवटनिम्बादीनामङ्कुरा अनन्तकायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्-“गूढासिरसंधिपव्वं, स मभंगमहिरुहं च छिन्नरुहं । साहारणं सरीरं, तद्विवरीअं च पत्तेअं” ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः स्युः, ते हे-याः । यतश्च-“चत्वारो नरकद्वाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् । पर-स्त्रासंगमश्चैव, संधानानन्तकायिके ” ॥ १ ॥ उक्तमनन्तकायि-कम् । ध० २ अधि० । (अनन्तकायिकस्यादाने प्रायश्चित्तं ‘पलंव’ शब्दे प्रदर्शयिष्यते) ।

अह जंते ! आलुए मूलए भिंगवेरे हरिली सिरिली सिसिरदी किट्टिया निरिया ठीरविरालिया कण्हकंदे व-जकंदे मूरणकंदे खेळूडे अइमुत्था पिंरुहलिदा लो-हाणि हूथिहूविजागा अस्सकणी सीहकणी सादंकी मुमुंकी जेयाऽवणणे तहप्पगारा सन्वे ते अणंतजीवा विवि-हमत्ता ! हंता गोयमा ! आलुए मूलए० जाव अणंतजीवा विविहमत्ता ॥ भ० ७ श० २ उ० । प्रज्ञा० ।

जे भिक्खू अणंतकायसंमिस्सं जुत्तं आहारं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्ज ५ ।

जे जिक्खू अणंतिकातो मूलकंदो अल्लगफमादि वा एवमादि संमिस्सं जो भुंजति तस्स चउगुरु ॥

जे भिक्खू अस्सणादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ५३ ॥

आणादिया दोसा हवंति; इमे दोसा-

तं कायपरिव्वयओ, तेण य वत्तेण समं वयति ।

अतिखण्डे अणुचित्ते, ए य विमूतिकादीणि आयाए ॥ ५४ ॥

इमा आयविराहणा-तेण रसालेण अतिखण्डेण अणुत्तेण य वि-मूतिकादी भवेमरेज्ज वा अजीरंतो वा अणनरो रोगांतको भवे-ज्ज, एवं आयविराहणा, जम्हा एते दोसा तम्हा ए भोतव्वं; कारणे तु जुंजेज्जा ।

असिंवे ओमोयरिण, रायहुड्डे भण च गेलणे ।

अच्छाण गेहण वा, जयणा इमा तत्थ कायव्वा ॥ ५५ ॥

पूर्ववत् इमे वक्खमाणजयणा-

ओमं तिभागमहे, तिभाग आर्यविले चउत्थादी ।

निम्मिस्से मिस्सेया, परिच्छं ते य जा जतणा ॥ ५६ ॥

जह णव मुत्ते वक्खमाणो जहा वा पेढे भणिया तद्वा वत्तव्वा ।

इमो से अक्खरत्थो-ओमं एसणिज्जं जुंजति, तिजागेण वा ऊणं एसणिज्जं जुंजति, अरु वा एसणिज्जं, तिभागं वा एसणिज्जं, आयंबिलेण वा अत्थति । चउत्थं वा करेति, ण य अणंतकायं तम्मिस्सं भुंजति जाहे णिम्मिस्सं लब्धति, जाहे णिम्मिस्सं ण व्वज्जाति ताहे परीत्तकायमिस्सं गेहइति, जाहे तं पि न लब्धति ताहे अणंतकायमिस्सं गेहइति, जा य पणगादिजयणा सा दच्छवा । नि० चू० १० उ० ।

अणंतजीविअ-अनन्तजीविक-पुं० । अनन्तकायिकवनस्पतौ, भ० ८ श० ३ उ० ।

अणंतणाण-अनन्तज्ञान-न० । अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया यस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम् । केवलज्ञाने, दश० २ अ० ।

अणंतणाणदंसि-(ए)अनन्तज्ञानदर्शिन्-पुं० । अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी । केवलज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतणाणि (ए) अनन्तज्ञानिन्-पुं० । अनन्तमविनाश्य-नन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं विशेषप्राहकं यस्यासावनन्त-ज्ञानी । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उत्पन्नकेवलज्ञाने तीर्थकरे, ज्यो० ६ पाहु० । स० ।

अणंतदंसि (ए) अनन्तदर्शिन्-पुं० । अनन्तमविनाश्यनन्त-पदार्थपरिच्छेदकं दर्शनं सामान्यार्थपरिच्छेदकं यस्य स अनन्तदर्शी । उत्पन्नकेवलदर्शने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपएसिय-अनन्तप्रदेशिक-पुं० । अनन्तपरणवात्मके स्कन्धे, ज० ८ श० २ उ० ।

अणंतपार-अनन्तपार-स्त्री० । अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य कालस्य स अनन्तपारः । अन्तविरहितपर्यन्ते, “ केण अणंतं पारं, संसारं हिंरुई जीवो? ” आतु० । “ से पत्तया अक्खयसा-गरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपासि (ए) अनन्तदर्शिन्-पुं० । ऐरवते भविष्यति वि-शतितमे तीर्थकृति, ति० ।

अणंतमिस्सिया-अनन्तमिश्रिता-स्त्री० । मूलकादिकमनन्त-कायं, तस्यैव सत्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचित् प्रत्ये-कधनस्पतिना मिश्रमवशोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति वदतः सत्यमृषाज्ञापामेदे, प्रज्ञा० ११ पद० थ० ।

अणंतमीसय-अनन्तमिश्रक-न० । अनन्तविषयकं मिश्रक-मनन्तमिश्रकम् । सत्यमृषामेदे, यथा मूलकन्दादौ परीतपत्रा-दिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः । स्था० १० ग० ।

अणंतमोह-अनन्तमोह-त्रि० । अनन्तोऽपर्यवसितस्तद्भावा-पेक्षया प्रायस्तस्याऽनपगमाद् मुह्यते येनाऽसौ मोहो ज्ञा-नावरणदर्शनमोहनीयत्वकः । ततश्चानन्तो मोहोऽस्येत्यनन्त-मोहः । उक्त० ४ अ० । अविनाशिदर्शनावरणमोहनीयकर्मणि, ‘ दीवप्पण्ण्डे व अणंतमोहे, नेया उ यं द्धुमदधुमेव ’ उक्त० ४ अ० ।

अणंतर-अनन्तर-त्रि० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं यस्य । ६ ब० । अव्यवहिते, न० । पञ्चा० । निर्व्यवधाने, “ अणं-तरं देवलोए अणंतरं मणुस्सए भवे किं परं ” । भ० १४ श० ७ उ० । कल्प० । “ अणंतरं चयं चइत्ता ” अव्य-वहितं च्यवने कृत्वेत्यर्थः । (ज्ञा० ८ अ०) देवत्रयसम्बन्धिनं देहं त्यक्त्वेत्यर्थः । अथवाऽनन्तरम्-आयुःकयाद्यनन्तरं (चयं ति) च्यवने (चइत्त ति) व्युत्वा, महाविदेहे अनन्तरं शरीरं

त्यक्त्वा, च्यवने वा कृत्वा । विपा० १ श्रु० १ अ० । न विद्यते-ऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः । वर्तमानसमये, स्था० १० ग० ।

अणंतरखेतोगाढ-अनन्तरक्षेत्रावगाढ-त्रि० । आत्मशरीरा-वगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढे, ‘ नो अणंतरखे-त्तोगाढे पोग्गत्रे अत्तमायाए आहारैति ’ । ज० ६ श० १० उ० ।

अणंतरखेदोववसग-अनन्तरखेदोपपन्नक-त्रि० । अनन्तरं स-मयाद्यव्यवहितं खेदेन दुःखेनोपपन्नमुत्पादक्षेत्रप्राप्तिलक्षणं ये-षां तेऽनन्तरखेदोपपन्नकाः । खेदप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तिषु नैरयिकादिषु, ज० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्वन्धश्च ‘आउ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरगंडिय-अनन्तरग्रन्थित-त्रि० । ३ त० । प्रथमग्रन्थि-नामनन्तरव्यवस्थितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रन्थिते, ज० ५ श० ३ उ० ।

अणंतरच्छेय-अनन्तरच्छेद-पुं० । स्वाङ्गैर्नैव द्वैधीकरणे, “ णह-दंतादि अणंतरं णहेहि दंतहि वा जं छिदति तं अणंतरच्छेयो जप्पति ” नि० चू० १ उ० ।

अणंतरणिग्गय-अनन्तरनिर्गत-त्रि० । निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या गतं गमनं निर्गतम् । अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां तेऽनन्तरनिर्गताः । प्रथमसमये नगरादेरुच्छ्रितेषु स्थानान्तरप्राप्तेषु, भ० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्वन्धश्च ‘आउ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरदिट्ठतय-अनन्तरदृष्टान्तक-पुं० । यः सत्यनन्तरप्रयुक्तो-ऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायाज्ञं न जवति तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ० ।

अणंतरपज्जत्त-अनन्तरपर्याप्त-पुं० । न विद्यते पर्याप्तत्वेऽन्तरं येषां तेऽनन्तराः, ते च ते पर्याप्तकाश्चेत्यनन्तरपर्याप्तकाः । प्रथ-मसमयपर्याप्तकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ग० ।

अणंतरपच्चाकम-अनन्तरपश्चात्कृत-त्रि० । अनन्तरं व्यवधाने-न पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतः । व्यवधानेन पश्चात्कृते, चं० प्र० ८ पाहु० ।

अणंतरपरंपरअणिग्गय-अनन्तरपरम्परानिर्गत-पुं० । प्रथमसम-यान्निर्गतेषु, ये हि नरकादुद्घृत्ताः सन्तो विग्रहगतौ वर्तन्ते न ताव-दुत्पादक्षेत्रमासादयन्ति, तेषामनन्तरजावेन परस्परजावेन चोत्पा-दक्षेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयेनानिर्गतत्वात् । ज० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्वन्धश्च ‘आउ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरपरंपरअणुववसग-अनन्तरपरम्परानुपपन्नक-पुं० । अनन्तरमव्यवधानं परम्परं च द्वित्रादिसमयरूपमविद्यमानमुप-पन्नमुत्पादो येषां ते तथा । विग्रहगतिकेषु, विग्रहगतौ हि द्विवि-धस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति । ज० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपरंपरखेदानुववसग-अनन्तरपरम्परखेदानुपपन्नक-पुं० । अनन्तरं परम्परं खेदेन नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा । विग्रहगतिवर्तिषु, भ० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपुरक्खड-अनन्तरपुरस्कृत-त्रि० । स्वाव्यवहितोत्तरव-र्तिनि, “ अणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि ” अनन्तरमव्यवधानेन पुरस्कृतोऽग्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः । अनन्तरं द्वितीय इ-त्यर्थः । सू० प्र० ८ पाहु० । चं० प्र० ।

अणंतरमुदाणकिरिया-अनन्तरसमुदानक्रिया-स्त्री० । ना-स्यनन्तरं व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहिता । सा च

समुदागक्रिया च । क० सं० । प्रथमसमयवर्तिसमुदागक्रियाया-
म. स्था० ३ टा० २ उ० ।

अणंतगमसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधान-
मर्थान् समयेन येषां तेऽनन्तरा, ते च सिद्धाश्चानन्तरासिद्धाः ।
सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमानेषु सिद्धेषु. प्रज्ञा० १ पद० । स्था० ।

अणंतरहित्य-अनन्तरहित-त्रि० । अव्यवहिते. आचा० १ भु० १
अ० ३ उ० । सचित्ते. आच० ३ अ० । “जे भिक्खू माउग्गामस्स
मेहुणवडियाए अणंतरहियाए पुढर्वाए णिसियावेज्ज वा” अन-
न्तरहितया. अनंतरहिया णाम सचित्ता । ति० चू० ७ उ० ।

अणंतरागम-अनन्तरागम-पुं० । आगमभेदे. अर्थापत्तया गण-
धराणामनन्तरागमः । सूत्रापेक्षया गणधराणिष्याणामनन्तरा-
गमः । सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अणंतराहारग-अनन्तराहारक-पुं० । अनन्तरानव्यवहितान्
जीवप्रदेशराकान्ततया स्पृष्टतया वा पुञ्जलानाहारयन्तित्यन-
न्तराहारकाः । जीवप्रदेशैः स्पृष्टानां पुञ्जलानामाहारकेषु नैर-
यिकादिषु. स्था० १० टा० । अनन्तरमुपपानक्षेत्रप्राप्तिसमयमेव
आहारयन्ति इत्यनन्तराहाराः । प्रज्ञा० ३४ पद० । प्रथमसमया-
हारकेषु. स्था० १० टा० । (‘आहार’ शब्दे अनन्तराहारग्रहणं
शरीरस्य निष्पत्तिरित्येवमादिक्रमो द्वि० भागे वक्ष्यते)

अणंतरिय-अनन्तरित-त्रि० । न० त० । अव्यवहितं, विशेष० ।

अणंतरोगाढग-अनन्तरावगाढक-पुं० । अनन्तरं संप्रत्येव स-
मये कचिदाकाशदेशेऽवगाढा आश्रितास्त एवानन्तरावगा-
ढकाः । प्रथमसमयावगाढकेषु विवक्षितं क्षेत्रं द्रव्यं वाऽपेक्षया-
व्यवधानेनावगाढेषु नैरयिकादिजीवेषु. स्था० २ टा० १ उ० ।

अणंतरोपनिधा-अनन्तरोपनिधा-स्त्री० । उपनिधानमुपनिधा,
धातूनामनेकार्थत्वान्मार्गमित्यर्थः । अनन्तरेणोपनिधाऽनन्त-
रोपनिधा । अनन्तरयोगस्थानमधिकृत्य उत्तरस्य योगस्थानस्य
मार्गणं. पं० सं० ५ टा० । क० प्र० ।

अणंतरोपपन्नग-अनन्तरोपपन्नक-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यव-
धानमस्येन्यनन्तरः वर्तमानः समयः । तत्रोपपन्नकाः, स्था०
१० टा० । न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपन्ने उपपाने
येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः । प्रथमसमयान्पन्नेषु. भ० १३ श०
१ उ० । येषामुपपन्नानामेकाऽपि समया नानिक्कान्ते एते ।
स्था० १० टा० । एकस्मादनन्तरमुपपन्नेषु नैरयिकादिषु वैमानि-
कपर्यन्तेषु. स्था० २ टा० २ उ० ।

अणंतवर्गभङ्ग-अनन्तवर्गजक्त-त्रि० । अनन्तवर्गापवर्तिते,
“सोऽणंतवर्गभङ्गो सञ्जागामेण माण्डजा” श्री० ।

अणंतवर्तिपाणुपेदा-अनन्तवृत्तिनानुप्रेक्षा-स्त्री० । अनन्ता
अन्यन्तं प्रभृता वृत्तिवर्तनं यस्यामावनन्तवृत्तिः, तस्या अनु-
प्रेक्षा अनन्तवृत्तिनाऽनुप्रेक्षा । भवसन्तानस्यानन्तवृत्तिनाऽनु-
चिन्तनरूपायां शुक्लध्यानस्य प्रथमानुप्रेक्षायाम्, यथा-‘पस अ-
णाई जीवो, संसारसागरो व्व दत्तागो । नात्यतिरियनरामर-
भवेमु परिहिड्डण जीवो’ ॥१॥ स्था० ४ टा० १ उ० । श्री० । भ० ।
अनन्तवर्तिनानुप्रेक्षा-स्त्री० । अनन्ततया वर्तते इति अनन्तव-
र्ती, तद्वाच्यतन्ता, भवसन्तानस्येति गम्यते; तस्या अनुप्रेक्षा ।
शुक्लध्यानभेदे. स्था० ४ टा० १ उ० ।

अणंतविजय-अनन्तविजय-पुं० । भरतक्षेत्रे भविष्यति चतुर्विं-
शे तीर्थकरे, सं० । ति० । युधिष्ठिरशङ्खे, वाच० ।

अणंतविष्णु-अनन्तविज्ञान-पुं० । अनन्तमप्रतिपाति, विशि-
ष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं, केवलाख्यविज्ञानं ततोऽनन्तं
विज्ञानं यस्य सोऽनन्तः । केवलित्ति, स्था० १ श्लो० ।

अणंतवीर्य-अनन्तवीर्य-पुं० । जमदग्निनाथ्याया रेणुका-
याः स्वसुःपत्यौ कार्तवीर्यपितरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।
आ० क० । दर्श० । भरतक्षेत्रे भविष्यति त्रयोविंशे तीर्थ-
करे, ती० २१ कल्प० ।

अणंतसंसारि-अनन्तसंसारिक-पुं० । अनन्तश्चासौ संसार-
श्चानन्तसंसारः, सोऽस्यास्तीत्यनन्तसंसारिकः । ‘अतोऽनेकस्व-
रात्’ इतीकप्रत्ययः । अपरिमितसंसारे, रा० । प्रति० । नैर-
यिकादिवैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० २ टा० २ उ० ।

अथ केनाजितमनस्तसंसारित्वम् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—

जे पुण गुरुपादिणीया, बहुमोहा ससवला कुसीला य ।

असमाहिणा मरंति उ, ते हुंति अणंतसंसारी ॥६॥

(जे पुण) ये पुनः, शृणुत्यभिधत्ते तत्त्वमिति गुरुः, तं प्रति, ज्ञा-
नाद्यवर्णवाद्जापणादिना प्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः, तथा बहुमोहा-
स्त्रिशन्मोहनीयस्थानवर्तिनः, सद् शबलैकविशत्या शबलस्था-
नैर्वर्तन्ते ये ते सशबलाः, कुत्सितं शीघ्रमाचारो येषां ते कुशी-
लाः । चः समुच्चये । एवंविधा येऽसमाधिनाऽऽनर्गदजावे वर्त-
माना म्रियन्ते, तेऽनन्तसंसारिणो भवन्तीति । आनु० ।

अणंतसमयसिद्ध-अनन्तसमयसिद्ध-पुं० । अनन्तेषु समयेषु
एकैकसिद्धे, स्था० १ टा० १ उ० ।

अणंतसेण-अनन्तमेन-पुं० । तृतीयायामवसर्पिण्यां जाते च-
तुर्थकुलकरे, सं० । भद्रिलपुरवास्तव्यस्य नागगृहपतेः सु-
रसानाभ्यां जार्यायां जाते पुत्रे; तत्कथा अन्तर्दृशयास्तृती-
ये वर्गे द्वितीयाध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽर्णाय-
स्येव ज्ञावनीया (अन्त०) । अस्य द्वाविंशद्धार्याः, द्वाविंशत्क एव
दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्, शत्रुञ्जये
सिद्धिः । वस्तुतस्तु अयं वसुदेवदेवकीसुतः । अन्त० ४ वर्ग ।

अणंतमो-अनन्तशस्-अथ० । बहुवारमित्यर्थः, निरवधिक-
काव्रमित्यर्थः च । सूत्र० १ भु० १ अ० ३ उ० । “गन्धमेस्सं-
ति णंतसो” इति । अनन्तशो निर्विच्छेदमिति वृत्तिकारः ।
सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अणंतद्वियकामुय-अनन्तादितकामुक-त्रि० । मोक्ककामुके, दश०
६ अ० २ उ० ।

अणंताणंत-अनन्तानन्त-त्रि० । अनन्तेन गुणिता अनन्ताः ।
अनन्तगुणितेषु अनन्तेषु, भ० १४ श० २ उ० ।

अणंताणुबंधि [ण]-अनन्तानुबन्धिन्-पुं० । अनन्तं संसारं
जवमनुबन्धाति अघिच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी । अ-
नन्तो वाऽनुबन्धो यस्येन्यनन्तानुबन्धी । सस्यदर्शनसहभावि-
क्षमास्वरूपपशमादिचरणलवनिबन्धिनि क्रोधादिकपाये, स्था०
४ टा० १ उ० । यद्वाचि-“यस्मादनन्तं संसार-मनुबन्धिं देहि-
नः । ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञा तेषु निवेशिता” ॥१॥ ते च चत्वारः
क्रोधमानमायालंभाः । यद्यपि चैतेषां शेषकथायोदयरहिताना-
मुद्यो नास्ति, तथाऽप्यवश्यमनन्तसंसारमूत्रकारणमित्यात्वो-

इयाऽऽरूपकत्वाद्पोमवानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः । शेषकपाया
ह्यवश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपत्यनस्तेषामुदययोगपद्ये सत्यपि
नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेवैतन्नामेति । कर्म० १ कर्म० ।
('कसाय' शब्देऽपि तृ०भा०३६७पृष्ठे भावितमेतद् विस्तरतः)
अण्ताणुबंधिविसंजोयणा--अनन्तानुबन्धिविसंजोयना-स्त्री०।
अनन्तानुबन्धिनः कपायाणां विषमयोजनायाम्, (विनाशे)। अन-
न्तानुबन्धिनः कपायाणामुपशमनास्थाने विसंजोयना भवति ।
क० प्र० (तत्प्रकार 'उपसम' शब्दे द्वि०जा०१०२८ पृष्ठे वक्ष्यते)
अण्तिप-अनन्तिक-न०। अन्तिकमासन्नं तन्निषेधादनन्तिकम्,
नञोऽव्यपत्त्यत्वात् । अनासन्ने, भ० ५ श० ४ उ० ।

अण्दमाण-अनन्दमत्-त्रि०। सौख्यमनुज्जति, तं० ।

अण्दिय-अनन्दित-त्रि० । अधोक्षोक्तवासिन्यामष्टम्यां दिक्कु-
मार्याम्, आ० क० ।

अण्ध-अनन्ध-पुं०। अन्धपुरनगरेश्वरे राक्षि, "अन्धपुरं नगरं
तत्थ अण्धो राया " वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अण्विन्न-अनाम्न-त्रि०। न० त०। स्वस्वादादचक्षिते, आचा०
२ श्रु० १ अ० ७ उ० । अनाम्नीचूते जीवितविप्रमुक्ते पानकादौ,
नि० चू० १९ उ० ।

अण्सुवाइ [ए]-अनश्रुपातिन्-पुं० । न अश्रु पातयतीति
मार्गादिखेदेष्वपि अनश्रुपातनशास्त्रे शुभाश्वादौ, " जं अचंरुपा-
मि अदंरुपामि अण्सुवाइ " जं० ३ वक्० ।

अणकम्प-अनःकर्मन्-न०। अनः शकटम्, तत्कर्म अनःकर्म । शकटश-
कटाङ्गघटनखेटनविक्रयादौ, घ०। एतच्च पापप्रकृतीनां कारणमि-
ति कृत्वा श्रावकेण त्यक्तव्यम् । यदाह-"शकटानां तदङ्गानां, घट-
नं खेटनं तथा । विक्रयश्चेति शकटा-जीविका परिकीर्तिता"॥१॥
तत्र शकटानामिति चतुष्पदवाह्यानां वाहनानां, तदङ्गानां चका-
दीनां घटनं स्वयं परेण वा निष्पादनं, खेटनं वाहनं च शकटाना-
मेव सम्भवति, स्वयं परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तदङ्गा-
नां चेदं कर्मापि सकलचूतेपमर्दजननं गवादीनां च बध्नव्या-
दिहेतुः । घ० २ अधि० ।

अणकर-ऋणकर-पुं०। ऋणं पापं करोतीति ऋणकरः। चतुर्विंशे
गौणप्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणक [कख] अनक्ष-पुं० । म्लेच्छभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणकजिएण-अनासाभिन्न-त्रि० । अनस्तिते बलीवदादौ,
" अणिलुंजिएहिं अणकभिणेहिं गोंणहिं तसपाणविवज्जिएहिं
चित्तेहिं चित्ति कण्पमाणा विहरंति " भ० ८ श० ५ उ० ।

अणक्खरसुय-अनक्रश्रुत-न० । द्वेवैतितिशिरःकम्पनादिनि-
मित्ते मामाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपे अभिप्रायपरिज्ञान-
स्वरूपेऽक्षरश्रुतविपक्षचूते श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

से किं ते अणक्खरसुयं ? अणक्खरसुयं अणमविहं पमुत्तं ।
तं जहा-"ऊससियं नीमसियं, निच्छूढं खामियं च ङ्गीयं
च । निर्दिमयिय पणुसारं, अणक्खरं उलियाईयं" ॥१॥ सेत्तं
अणक्खरसुयं ॥

अथ किं तदनक्रश्रुतम्-अनक्रात्मकं श्रुतमनक्रश्रुतम् । आचा-
र्य आह-अनक्रश्रुतमनेकविधम्-अनेकप्रकारं प्रहसम् । तद्यथा-
(ऊससियमित्यादि) उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम्, भावे निष्प्राप्य-

यः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम्, निष्ठीवनं निष्ठृतम्, काशनं
काशितम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । छिक्का कृतम्, एपाऽपि ।
चशब्दः समुच्चयार्थः, परमस्य व्यवहितः प्रयोगः । मेटिकादिकं
चेत्येवं उच्यते । तथा निःसिद्धितम् । अनुस्वारवत्-अनुस्वार-
मित्यर्थः । तथा मेटिकादिकं चानक्रं श्रुतम् । न० ।

अथ ज्ञाप्यम्-

ऊससियाई दव्वमु-यमेत्तमद्वया मुओवउत्तम् ।

सव्वो वि य वावारो, सुयमिह तो किं न चेद्वा वि ? ॥

इहोच्छ्वसितादि अनक्रश्रुतं, छ्वयश्रुतमात्रमेवाधगन्तव्यम्;
शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च ज्ञावश्रुतस्य कारणमेव; यच्च कारणं
तद्व्यमेव जवतीति ज्ञावः । जयति च तर्थावधोच्छ्वसितनिःश्व-
सितादिश्रवणे शशकोऽयमित्यादि ज्ञानम् । एवं विशिष्टाभि-
सन्धिपूर्वकनिष्ठयूक्तकासितश्रुतादिश्रवणेऽप्यात्मज्ञानादि ज्ञानं
वाच्यमिति । अथवा श्रुतज्ञानापयुक्तस्यात्मनः सर्वान्मनवोप-
योगात्सर्वोऽप्युच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेह प्रतिपत्तव्यः-
मित्युच्छ्वसितादयः श्रुतं भवन्त्येवेति । आह-यद्येवं ततो गमना-
गमनचञ्चनस्पन्दनादिरूपाऽपि चेष्टा व्यापार एव, ततः श्रुताप्युक्त-
संबन्धिनी एपाऽपि किं श्रुतं न जवति ? । उच्यते-कः किमाह ? ।
प्राप्तेत्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुतं, किन्तु-

रूढी य ते सुयं सु-च्चइ च्ति चेद्वा न सुच्चइ कयाइ ।

अहिगमया वण्णा इव, जमणुस्मारादयो तणं ॥

उक्तन्यायेन श्रुतत्वप्राप्तौ समानायामपि तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतं,
न शिरोधूननकरचलनादिचेष्टा ; यतः शास्त्रलोकप्रसिद्धा
रूढिरियं तत उच्छ्वसिताद्येव श्रुतं रूढं, न चेष्टेत्यर्थः । श्रूयते
इति श्रुतमिति चान्वर्थवशात् । तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतम्, न चेष्टे-
त्येवं चशब्दः पक्षान्तरसूचको भिन्नक्रमश्च । करादिचेष्टा तु
दृश्यत्वात्कदापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुतं स्यात् ? इत्यर्थः ।
अनुस्वारादयस्त्वकारादिवर्णा इवार्थस्याधिगमका, एवेति तेन
कारणेन ते निर्विवादमेव श्रुतमिति गाथार्थः । इत्यनक्रश्रुतमि-
ति विशेषः ।

टिट्ठि च्ति नंदगोव-स्म वालि वत्थे निवारइ ।

टिट्ठि च्ति य मुच्छडण, सेसा लट्ठीनिवाएण ॥

नन्दगोपस्य बालिका केशादिकं रज्ज्वती वस्त्रकान् बालगो-
पान् टिट्ठि इत्यनुकरणानुरूपमनुकार्यमुच्चरन्ती निवारयति । तथा
ये मुग्धा हरिणादयस्तानपि टिट्ठि इत्येवं निवारयति । शेषास्तु
सण्णभृतीन् यष्टिनिपातेन निवारयति । अत्र टिट्ठि इत्येतदन-
क्रमपि वत्सादीनां प्रतिपक्षलक्षणार्थप्रतिषेधहेतुरूपं जायेत,
इत्यनक्रश्रुतम् । वृ० १ उ० । कर्म० । विशेषः ।

अणगरहिय-अगर्हित-त्रि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवि-
तत्वात् सामायिकं, आ० म० द्वि० ।

अणगार-अनगार-पुं० । अनगारशब्दो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नश्च । अ-

व्युत्पन्नः साधौ, " अनगरो मुनिर्मीनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती ।
श्रमणः कृपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः" ॥१॥ इति । उक्तं । व्यु-
त्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-उच्यते ज्ञावभेदात् । तत्र उच्यते आगमै-
र्दृष्टमदृष्टादिजिनिवृत्तम्, भावागारं पुनरगोविपाककालेऽपि जीव-
विपाकनया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहितैरनन्तानुब-
न्धादिजिनिर्द्वृत्तं कपायमोहनीयम् । तत्र उच्यते आगारपक्षे नञ-
तु निषेधे । अविद्यमानगृह्ये; भावागारपक्षे त्वत्पक्षकपायमोहनीये;

कपायमोहनीयं हि कर्म । न च कर्मणः स्थित्यादिभ्यस्त्वे विर-
निसम्भवाः । यत आगमः— " तत्तत्तत् पयसीयं, अभिभूतं य
कोडकोटी । काकूण सागराणं, जइ लहइ चउएहमण्यरं" ॥१॥
इत्यादि । उक्तं १ अ० ।

(१) एतन्निष्केपः—

अणगारे निरुक्तेषां, चउविहो दुविहो हाइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतां, आगमतां हाइ सां तिविहो ॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य एिएहवाइसु ।
जावे सम्मदिट्ठी, अणगरासा विणिम्मको ॥ उक्तं नि० ।
स्पष्टमिदं गाथाद्ययम्, नवरं, तद्व्यतिरिक्तं निहवादिषु, आदि-
शब्दादन्येष्वपि चारित्रपरिणामि विना गृहानावयत् । निन्दारणे
सप्तमी । ततश्च यस्तेषु मध्ये अणगारत्वेन बोके रुढ इत्युपस्का-
रः स तद्व्यतिरिक्तो ऋत्यानगारः, भावे सम्यग् दृष्टिः सम्यग्-
ज्ञानान्, निश्चयतो यस्म्यकृत्यं तन्मौनमिति । चारित्रो च अगा-
रवासनानगारवासनं वा, प्राकृतत्वात् तृतीयायै पञ्चमी । विशेष-
पेण तत्प्रतिषेधपरित्यागरूपेण, निर्मुक्तस्त्यक्तः, विनिर्मुक्तोऽन-
गार इति प्रक्रमः । उक्तं ३४ अ० । अ० प्रज्ञा० स० । सूत्र० । नि०
चू० । द्वा० । सू० प्र० । रा० । ज० । आचा० । परित्यक्तद्वय-
जावगृहे, न० । सामान्यसाधौ, भ० १५ श० १ उ० । गृहरहिते,
सूत्र० २ श्रु० १ अ० । त्यक्तगृहव्यापारे, आचा० २ श्रु० ६ अ०
२ उ० । द्वा० । पुत्रदुहितृनुतुपाज्ञातिशयादिरहिते, आचा० १
श्रु० २ अ० ५ उ० । भिज्ञौ, स्था० ६ रा० १० उ० ।

(२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः—

ते एं काले एं तेणं समए एं समणस्स जगवओ महावीरस्स
बहवे अणगारा जगवतो अप्पेगइआ आयारधरा जाव विवाग-
सुअधरा (तत्थ तत्थ) तहिं तहिं देसे देसे गच्छागच्छं गुम्मागुम्मं
फुडाफुडं अप्पेगइआ वायंति, अप्पेगइआ पडिपुच्छंति, अप्पे-
गइआ परियट्ठंति, अप्पेगइआ आणुपेहंति, अप्पेगइआ अक्खे-
वणीओ विक्खेवणीओ संवेअणीओ णिव्वेअणीओ चउ-
व्विटाओ कहाओ कहंति । अप्पेगइआ उट्ठं जाणू अहो सिरा
जाणकोटोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं जावेमाणा विहरं-
ति संसारजउव्विग्गा जीआ जम्मण जरमरणकरणं गंभीरउ-
क्खपक्खुजिअपउग्गमन्निलं संजोगविओगवीचीचिंतापसंग-
पपरिअवहंभमहद्विविउल्लकल्लोत्तकल्लुणाविलाविअलोत्तक-
ल्लकल्लंतवोलवहुत्तं अवमाणणफेणतिव्विक्खिसणपुलंपुल-
पपत्तुओगवेअणपग्गिभविणियायफरुसथरिसणासमावडि-
अकट्ठिणकम्मपमन्यतरंगंतनिच्चमच्चुजयतो अपट्ठे क-
मायपायालमंकुलं भवमयमहस्सकलुसजलसंचयं पतिजयं
अपरिमिअमहिन्न्यकलुसमतिवाउवेगे उच्छुम्ममाणदगरयरं-
धआरवरफेणपउरआमापिवासवत्तं मोहमहावत्तजोगभम-
माणगुपमाणुत्तलंतपच्चोणपत्तपाणियपमायचंरुवहुदुसा-
वयसमाद्वयुप्पायमाणपत्तारधोरकंदियमहारवरवंतजरवरवं
आणणाणभंभंतमच्छपग्गिहत्थअणिहुतिदिनमट्टामगरतुरिअ-
चरियवओगुवभमाणसंभंतवत्तलंचललंचलंतयुम्मंतजलसमूहं
अरुत्तियविमायमोगमिच्छत्तसंज्ञसंकमं अणाइसंताणकम्म-

बंधणकिट्ठेसच्चिक्खिल्लदुत्तारं अमरासुरनरतिरियनिरयगइग-
मणकुडिलपरिवत्तविउल्लवेलं चउरंतमहंतमणवदग्गसुदसंसा-
रसागरं जीमदरिसणिज्जं तरंति, धीइधणिअनिप्पकंपेण तुरि-
यं चवत्तं संवरवेरग्गतुरंगकूवयसुसंपउत्तेणं एणसितविगल-
मूसिएणं सम्मत्तविसुक्कलक्खणिज्जामएणं धीरा संजमपोएण
सील्लकलिआ पसत्थज्जाणतववायपणोद्धिअपहाविएण उ-
ज्जमववसायग्गहियाणज्जरणजयणउवओगणाणदंसणवि-
सुद्धवयभंरुजरिअसारा जिणवरवयणोवदिट्ठमगेण अकु-
रिलेण सिद्धमहापट्टणाभिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुइ-
सुसंभाससुपएहसासा गामे गामे एगरायं एगरे एगरे पंच-
रायं दूइज्जया जिइंदिया णिब्भया गयजया सच्चित्ताचित्त-
मीसिएसु दव्वेसु विरागइंगया संजया विरया मुत्ता वहुआ
णिरवकंत्वा साहू णिहुआ चरंति धम्मं ॥

‘अप्पेगइआ आयारधरेत्यादि’ प्रतीतम् । कचित् दृश्यते (तत्थ
तत्थं ति) उद्यानादौ (तहिं तहिं ति) तदंशोक्रमेवाह-देश
देशे अवग्रहभागी वीप्साकरणं वाऽऽधारवाहुत्येन साधुवाहु-
ल्यप्रतिपादनार्थम् (गच्छागच्छं ति) एकाचार्यपरिवारो गच्छः
गच्छे गच्छे गत्वा गच्छागच्छि, वाचयन्तीति योगः । दग्डा-
दगड्यादिवच्छब्दासिद्धिः । एवं गुम्मागुम्मं फुडाफुडं च; न-
वरं, गुल्मं गच्छैकदेशः उपाध्यायाधिष्ठितः, फुटुकं लघुतरो
गच्छदेश एव गणावच्छेदिकाधिष्ठित इति । अथ प्राकृतवा-
चना- (वायंति) सूत्रवाचनां ददति (पडिपुच्छंति
ति) सूत्रार्थं पृच्छन्ति (परियट्ठंति) परिवर्तयन्ति तावेव
(अणुपेहंति ति) अनुप्रेक्षन्ते तावेव चिन्तयन्ति (अ-
क्खेवणीओ ति) आक्षिप्यते मोहात् तत्त्वं प्रत्याकृष्यते श्रोता
यकाभिरित्याक्षेपणः (विक्खेवणीओ ति) विक्षिप्यते कुमा-
र्गविमुखो विधीयते श्रोता यकाभिस्ता विक्षेपणः (संवेय-
णीओ ति) संवेद्यते मोक्षसुखामिलापी विधीयते श्रोता य-
काभिस्ता संवेदन्यः (निव्वेयणीओ ति) निर्वेद्यते संसारनि-
र्विण्णे विधीयते श्रोता यकाभिस्ता निर्वेदन्यः । तथा (उट्ठं
जाणू अहो सिर ति) शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौप्रहिकनि-
पद्याया अभावाच्चोक्तुकासनाः सन्तोऽपदिश्यन्ते ऊर्द्धं जा-
नूनी येनां ते ऊर्द्धं जानवः, अधः शिरसोऽधोमुखाः, नोर्द्धं तिर्य-
ग्वा वक्षिमतदृष्टय इत्यर्थः । (भाणकोटोवगय ति) ध्यानरूपो
यः कोष्ठस्तमुपगता ये ते तथा, ध्यानकोष्ठप्रवेशनेन संवृतेन्द्रिय-
मनोवृत्तिध्याना इत्यर्थः, संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्तो वि-
हरन्तीति । प्रकारान्तरेण स एवोच्यते- (संसारजउव्विग्ग ति)
प्रतीतम् । (जम्मण जरमरणेत्यादि) जन्मजरामरणान्येव करणा-
नि साधनानि यस्य तत्तथा तच्च तद्गंभीरदुःखं च तदेव प्र-
क्षुभितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा; तं संसारसागरं तरन्ती-
ति योगः । (संजोगविओगेत्यादि) संयोगवियोगा एव वी-
चयस्तरङ्गा यत्र स तथा, चिन्ताप्रसङ्गाश्चिन्तासातत्यमित्यर्थः,
स एव प्रसृतं प्रसरो यस्य स तथा, बन्धाः हननानि, बन्धाः
संयमनानि, तान्येव महान्तो दीर्घा विपुलाश्च विस्तोर्णाः क-
ल्लोला महोर्मयो यत्र स तथा, करुणानि विलपितानि यत्र स
तथा, स चासौ लोभश्च स एव कलकलायमानो यो वोक्तो
ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा-ततः संयोगादिपदानां कर्म-
धारयः । अतस्तम्, (अवमाणेत्यादि) अपमानमवापूजनमेव,

फेनो यत्र स तथा । तीव्रखिसनं चात्यर्थनिन्दा, पुलुपुलप्रभूता अनवरतोद्भूता या रोगवेदना । पाठान्तरे-तीव्रखिसनप्रलुम्पितानि च, प्रभूतरोगवेदनाश्च; परिभवविनिपातश्च पराभिभवसम्पर्कः । परुषधर्मणाश्च निष्ठुरवचननिर्भत्सनानि, समापितानि समापन्नानि वृद्धानि यानि कठिनानि कर्कशोदयानि, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि, तानि चेति वृद्धः; ततः एतान्येव ये प्रस्तराः पापाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गैः रिङ्गद्वीचिभिश्चलद्, नित्यं ध्रुवं, मृत्युभयमेव मरणभीतिरवे, तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः । अथवा अपमानफेनमिति तोयपृष्ठस्य विशेषणमतो बहुव्रीहिरेवास्तु, तम्, [कसायेत्यादि] कषाय एव पातालाः पातालकषायास्तैः संकुलो यः स तथा तम्, [भवसयसहस्सेत्यादि] भवशतसहस्राण्येव कलुषां जलानां संचयो यत्र स तथा तम्, पूर्वं जननादिजन्यदुःखस्य सलिलतोक्ता, इह तु भवानां जननादिधर्मवतां जनिविशेषसमुदायतोक्तेति न पुनरुक्तत्वमिति [पदभयंति] व्यक्तम्, [अपरिमित्यादि] अपरिमिता अपरिमाणा या महच्छृङ्खला बृहदभिलाषा सा येषां ते लोकास्तेषां कलुषा मलिना या मतिः सैव वायुवेगस्तेन 'उद्भुममाणं उद्भुवमाणं वा' उत्पाद्यमानं यदुदकरज उदकरेणुसमूहः, तस्य रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा, वरफेनेनेव प्रचुराशापिपासाभिः, तत्र प्रचुरा बहुश आशाः अप्राप्तार्थानां प्रातिसम्भावनाः, पिपासास्तु-तेषामेवाकाङ्क्षाः, अतस्ताभिर्धवल इव धवलो यः स तथा, ततः कर्मधारयः; अतस्तम्, [मोहमहावत्तेत्यादि] मोहरूपे महावर्त्ते भोगरूपं भ्राम्यन्मण्डलेन भ्रमद् गुण्यद्व्याकुलीभवत्, उच्छुल्लत् उत्पतत्, प्रत्यवनिपतच्छाधःपतत्, पानीयं जलं यत्र स तथा, प्रमादा मद्यादयस्त एव चण्डवहुदुष्टपापदाः रौद्रभूरिचुद्रव्यालास्तैर्यं समाहताः प्रहता उद्धावन्तश्च उत्तिष्ठन्तो वा विविधं चेष्टमानाः; समुद्रपक्षे मत्स्यादयः, संसारपक्षे पुरुषादयः, तेषां प्राग्भारः पूरो वा समूहो यत्र स तथा, तथा घोरो यः क्रन्दितमहारवः स एव रवन्प्रतिशब्दकरणतः शब्दायमानो भैरवरवो भीमघोषो यत्र स तथा, तत्पदत्रयस्य कर्मधारयः, ततस्तम्, [अक्षान्भमन्तेत्यादि] अज्ञानान्येव भ्रमन्तो मत्स्याः (परिहृत्थंति) दृक्ता यत्र स तथा, अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकारास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (खो-खुन्नमाणेति) जृशं कुञ्जमाणो, नृत्यन्ति नृत्यंश्च चपन्नानां मध्ये चञ्चलश्चास्थिरत्वेन, चञ्चलं स्थानान्तरगमनेन, घूर्णश्च ज्ञाम्यन् जलसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र जरुसमूहो यत्र स तथा; ततः कर्मधारयः, ततस्तम्, [अरतिजयेत्यादि] अरतिभयविपादशोकमिथ्यात्वानि प्रतीतानि, तान्येव शैलास्तैः संकटो यः स तथा, तम् । (अणुइसंताणेत्यादि) अनादिसन्तानमनादिप्रवाहं यत् कर्मवन्धनं तच्च, क्लेशश्च रागादयस्तल्लक्षणं यच्चिक्खिद्धं कर्दमस्तेन सुष्ठु दुस्तारो यः स तथा, तम्, [अमरासुरेत्यादि] अमरासुरतिर्यङ्गनिरयगतिपु यक्रमनं तदेव कुटिलपरिवर्त्तावर्तपरिवर्त्तना विपुला च विस्तीर्णा येषां जलवृद्धिलक्षणा यत्र स तथा, तम्, (चउरंतमहंतंति) चतुर्विभागं दिग्भेदगतिज्ज्ञेदाज्यां महान्तं च महायामम्, (अणुवदग्मंति) अनवदग्रमनन्तमित्यर्थः, विस्तीर्णं संसारसागरमिति व्यक्तम् । (भीमदरिसाण्जंति) भीमो दृश्यत इति भीमदर्शनीयस्तं, तरन्ति लङ्घयन्ति संयमपोतेनोति योगः । किम्भूतेन (धीर्दृष्टिश्चाणिष्पकंषेणंति) धृतिरज्जुबन्धनेन, धनिकमत्यर्थं, निष्प्रकम्पोऽविचलो यः स, मध्यमपदलोपाद् धृतिधनिक-

निष्प्रकम्पस्तेन त्वरितं, चपन्नमति त्वरितं यथा ज्वतीत्येवं तरन्ति । (संवरवेरग्मेत्यादि) संवरः प्राणातिपातादिविरतिरूपः, वैराग्यं कषायनिग्रहः, एतल्लक्षणो यस्तुल्ल उच्चः कूपकस्तमविशेषस्तेन, सुष्ठु संप्रयुक्तो यः स तथा, तेन [णाणेत्यादि] ज्ञानमेव सितः सितपटः स विमल उच्छिद्रो यत्र स तथा तेन; णकारश्चेह प्राकृतशैलीप्रभवः [सम्मत्तेत्यादि] सम्यक्स्वरूपो विशुद्धो निर्दोषो ब्रह्मोऽवाप्तो निर्यामकः कर्णधारो यत्र स तथा, तेन, धीराः अक्कोजाः, संयमपोतेन शीघ्रकञ्चिता इति च प्रतीतम् । (पसत्तेत्यादि) प्रशस्तं ध्यानं धर्मादि तद्वत् यत्तपः स एव वातो वायुस्तेन यत् प्रणोदितं प्रेरणं तेन प्रधाविता वेगेन चञ्चिता यः स तथा, तेन; संयमपोतेनिति प्रकृतम् । (उज्जमववसायेत्यादि) उच्चमअनालस्यं, व्यवसायो वस्तुनिर्णयः, सद्वापावो वा, ताज्यां मूत्रकट्पाज्यां यद् गृहीतं क्रीतं निर्जरणयतनोपयोगज्ञानदर्शनविशुद्धव्रतरूपं भाणुरक्रयाणकं तस्य भरितः संयमपोतभरणेन पिण्डितः सारो यैस्ते तथा; श्रमणवरसारथाहा इति योगः । तत्र निर्जरणं तपः, यतना बहुदोषत्यागेनाल्पदोषाश्रयणम्, उपयोगः सावधानता, ज्ञानदर्शनाज्यां विशुद्धानि व्रतानि, अथवा ज्ञानदर्शने च निशुच्चव्रतानि चेति समासः । व्रतानि च महाव्रतानि । पाठान्तरे- (णाणदसणेत्यादि) तत्र ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव विशुद्धवरभाणुरं, तेन भरितः सारो यैस्ते तथा । [जिणवरेत्यादि] व्यक्तम् । (सुसुइ इत्यादि) सुश्रुतयः सम्यक्श्रुतग्रन्थाः, सत्सिद्धान्ता वा, सुश्रुचर्या वा, सुखः सम्भाषो येषां, सुखेन वा सम्भाष्यन्त इति सुसम्भाषाः, शोभनाः प्रश्नाः, सुखेन वा प्रश्न्यन्ते ये ते सुप्रश्नाः, शोभना आशाः वाञ्छा येषां ते स्वाशाः । अथवा सुखेन प्रश्न्यन्ते शास्यन्ते च शिक्ष्यन्ते ये ते सुप्रश्नशास्याः, शोभनानि वा प्रश्नशास्यानि पृच्छाधान्यानि येषां ते तथा, अथवा सुप्रश्नाः शस्याश्च प्रशंसनीयाः, ततः कर्मधारय इति । (दूज्जयंति) ऊचन्तो वसन्तः, अनेकार्थत्वाकातूनम् । (णिभयंति) भयमोहनीयोदयनिषेधात् । (गयभयंति) उदयविकलताकारणात् । (संजयंति) संयमवन्तः । कुत इत्याह- (विरयंति) यतो निवृत्ताः हिंसादिज्याः, तपसि वा विशेषेण रता विरताः ' विरया ' वा निरौत्सुक्याः विरजसा वा अपापाः । ' संचयाओ विरयंति ' कथंचिद् दृश्यते, तत्र सन्निधेर्विवृत्ता इत्यर्थः । (मुत्तंति) मुक्ताः प्रत्येन, (ब्रह्मंति) ब्रह्मका अटोपधिवात्, (णिरवकंखंति) अप्राप्तार्थाकाङ्क्षावियुक्ताः (साट्टं) मोक्षसाधनात्, (णिहत्ता) निवृत्ताः प्रशान्तवृत्तयः, चरन्ति । [धम्मंति] व्यक्तम् । अत्र साधुवर्णकं जितेन्द्रियत्वादीनि विशेषणानि बहुशोऽधीतानि, तानि च गमान्तरतया निरवस्थानि, यत् पुनरत्रैव गमे पुनरुक्तमवज्ञासते, तत् स्तवत्वान्न दुष्टम् । यदाह- "सज्जायज्जाणववओ-सहेसु उवएसथुइपणामेसु । संतगुण-कित्तणसु य, न हुंति पुनरुत्तदासाओ" ॥१॥ औ० । "तिहिं णाणेहिं संपन्ने अणुगारे अणुइयं अणवदग्मं दीहमद्धं चाउरंतसंसार-कंतारं विईवणज्जा । तं जहा-अणिदाणयाए दिहिसंपन्नयाए जो-गवाहियाए " स्था० ३ गा० । (सर्वेषां पदानां व्याख्या स्वस्थाने द्रष्टव्या)

(३) पृथिवीकायिकादिहिंसकानामनगारत्वं न भवति-

पवयंति य अणुगारा, ए य तेसि गुणेहिं जेहि अणुगारा ।

पुढाविं विहिसमाणा, न होंति वायाइ अणुगारा ॥८८॥

अणुगारवाइणो पुढ-विहिसगा निग्गुणा अगारिसमा ।

निदोमंति य मइला, विरइ पुग्गुंछाइ मइलतरा ॥१००॥

आचा० नि० ।

इदं हेके कुतीर्थिका यतिवर्गमास्थाय एवञ्च प्रवदन्ति-वयम-
नगागः प्रवजिताः न च तेषु गुणेषु निरवधानुष्ठानरूपेषु वर्तन्ते
येष्वनगराः । यथा चानगरगुणेषु न वर्तन्ते तद्वर्तयति-यतस्तेऽह-
निशं पृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणो दृश्यन्ते गुदपाणिपादप्रकाश-
नाथम् । अथवाऽपि निलेपनिर्गन्धत्वं कर्तुं शक्यम् । अतश्च ते गुण-
कलापशून्याः, न वा आश्रयेण युक्तिनिरपेक्षेणानगरता जयतीत्यनेन
प्रयोगः सूचितः । तत्र गाथापूर्वाधेन प्रतिज्ञा, पश्चाधेन हेतुः, उत्त-
रगाथाधेन साधर्म्यदृष्टान्तः । स सायं प्रयोगः-तीर्थिका यत्य-
भिधानवादिनाऽपि यतिगुणेषु न वर्तन्ते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तत्वा-
त्, इह येयं पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न वर्तन्ते, गृ-
हस्थवत् । साम्प्रतं दृष्टान्तगमैर्निगमनमाह-[अणेत्यादि] अनगा-
रवादिनः-वयं यतय इति वदन्शीलाः पृथिवीकायविहिंसकाः
सन्तो निर्गुणाः, यतोऽगारसमा गृहस्थतुल्या जयन्ति ।
अभ्युक्ष्यमाह-'सचेतना पृथिवी' इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन त-
त्समारम्भवर्तिनः सदापि अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं
मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुक्तत्वान्मलिनाः कबुधितद्वयाः,
पुनश्चातिप्रगल्भतया साधुजनाश्रिताया निरवधानुष्ठानात्मिका-
या विरक्तेः सुगुप्तया निन्दया मन्त्रिनतग भवन्ति । अनया च
साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्वं प्रदर्शितं भवतीति । आचारः १, श्रु०
१, अ० २, ३० । "अणगारे पासंडी, चरगे तह वंभणे चेव"
इति । दश० १० अ० । "बुद्धः प्रवजितो मुक्तो-ऽनगारश्चरकस्त-
थः" । द्वा० २७ द्वा० ।

(४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिध्यति, किन्तु संवृत इति
सावनारमाह-ननु सत्यपि ज्ञानादेर्मोक्षहेतुत्वे दर्शन एव यति-
तत्त्वम्, तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् । यदाह-"भट्टेण चरित्ताओ, सु-
दुयरं दंसणं गेहयथं । सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया ए
सिज्झंति" ॥१॥ इति यो मन्येत तं शिक्यितुं प्रश्नयन्नाह-

अमंबुद्धे एं जंते ! अणगारे सिज्झति बुज्झति मुचति
परिणिव्वाति सव्वलुक्खणमंतं करेति ? ।

प्रश्नमुचं सुगमम् । उत्तरमाह-

गोयमा ! एणो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठे एं जंते ! जाव
अंतं न करेति ? । गोयमा ! अमंबुद्धे अणगारे आउयवज्जा-
ओ सत्तकम्मपगडीओ सिद्धिबंधणवच्चाओ धणियबंध-
णवच्चाओ पकरेइ, हस्सकाल्लद्वितीयाओ दीहकाल्लद्विती-
याओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुजावाओ पकरेइ,
अप्पपदेमगाओ बहुपदेमगाओ पकरेइ । आउयं च एं
कम्मं मिय वंधइ, मिय नो वंधइ, असायावेयणिज्जं च एं
कम्मं भुज्जो जुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च एं अणव-
यगं दीहमप्पं चाउरंतंमंसारकंतारं अणुपरियट्ठति, से ते-
णट्ठे एं गोयमा ! अमंबुद्धे अणगारे णो मिज्झइ ॥

एतदपि कण्ठ्यम् । नवरं (नो इणट्ठे समट्ठे ति) नो नैव,
अयमन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्कोऽर्थो भावः, समर्थो वद्वचन, वद्वय-
माणदूषणमुक्तप्रहारजर्जरित्वान् । [आउयवज्जाओ ति]
यस्मादिकच भवप्रदो मर्कटोऽयं अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकाव एव, आयुषो
बन्धः, तत्र उक्तम्-आयुवर्जा इति । [सिद्धिबन्धणवच्चाओ ति]
श्रुत्यबन्धनं स्पृष्टता वा, वरुता वा, निधत्तता वा, तेन वद्धा
आत्मप्रदेष्टो सु सम्बन्धिताः, पूर्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य

कथञ्चिदभावादि शिथिलबन्धनवद्धाः । एताश्चाशुजा एव
द्रष्टव्याः, असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात् । ताः किमित्याह--
[धणियबंधणवच्चाओ पकरेइ ति] गाढतरबन्धनवच्चावस्था वा,
निधत्तावस्था वा, निष्काचितावस्था वा प्रकरोति । प्रशब्दस्यादि-
कर्माधत्वात्कर्तुमारज्यते, असंवृतत्वस्य शुभयोगरूपत्वेन गाढ-
तरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात् । आह च-"जो गायपडिपपसं ति" पौनः-
पुन्यजावे त्वसंवृतत्वस्य ताः करोतीत्येवेति । तथा-हस्वकाव-
स्थितिका दीर्घकावस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिरुपात्तस्य
कर्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः, असंवृत-
त्वस्य कपायरूपत्वेन स्थितिबन्धहेतुत्वात् । आह च-"ठिइमणु-
जागं कसायओ कुणइ ति" । तथा [मंदाणुजावेत्यादि] इहानुभा-
वो विपाकः, रसविशेष इत्यर्थः, ततश्च मंदाणुभावाः परिपेक्ष-
वरसाः सतीर्गाढरसाः प्रकरोति । असंवृतत्वस्य कपायरूपत्वा-
देवानुभागवन्धस्य च कपायप्रत्ययत्वादिति । [अप्पपदेमगा-
दि] अल्पं स्तोत्रं प्रदेशाग्रं कर्मदक्षिणपरिमाणं यासां तास्तथा,
ताः बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्ययत्वाद्-
संवृतत्वस्य च योगरूपत्वादिति । [आउयं चेत्यादि] आयुः,
पुनः, कर्म, स्यात् कदाचिद्, वध्नाति, स्यान्न वध्नाति । यस्मात्त्रि-
जगाद्यवशेषायुषः परजवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिजगादि-
स्तद् वध्नाति, अन्यदा न वध्नातीति तथा । [असाए इत्यादि]
असातवेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म पुनर्भूयाभूयः पुनरुपचि-
नोति उपचितं करोति । ननु कर्मसप्तकान्तर्वर्तिनत्वाद्सातवेद-
नीयस्य पूर्वोक्तविशेषणस्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किमेतद्-
ग्रहणेन ? । इत्यत्रोच्यते--असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीति-
प्रतिपादनेन भयजननादसंवृतत्वपरिहारार्थमिदमित्युष्टमिति ।
[अणाइयं ति] अनादिकं अविद्यमानादिकम्, अज्ञातिकं वा
अविद्यमानस्वजनम्, ऋणं वा अतीतम्, ऋणजन्यदुःस्थताऽति-
क्रान्तदुःस्थतानिमित्ततयेति ऋणातीतम् । अणं वा अणकं
पापमतिशयेनेतं गतम्--अणातीतम् [अणवयगं ति] 'अवय-
गं ति' देशीवचनोऽन्तवाचकस्ततस्तश्चिपेधात् 'अणवयगं'
अनन्तमित्यर्थः । अथवा अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य तत्तथा,
तद्विषेधादनवनताग्रमेतदेवर्णनाशादनवताग्रमिति । अथवा अन-
वगतमपरिच्छिन्नमग्रं परिमाणं यस्य तत्तथा । अतएव [दीहम-
प्पं ति] दीर्घाद्धं दीर्घकाव, दीर्घाध्वं वा दीर्घमार्गम् । [चाउरंतं
ति] चतुरन्तदेवादिगातिनेदात्पूर्वादिदिग्भेदाच्च चतुर्विजगं तदेव
स्वार्थकाणप्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तम् । [संसारकंतारं ति]
जवारण्यम् [अणुपरियट्ठइ ति] पुनःपुनर्जन्मतीति ॥

असंवृतस्य तावदिदं फलं, संवृतस्य तु यस्यात्तदाह-

संबुद्धे एं जंते ! अणगारे सिज्झइ ? । इता सिज्झइ
जाव अंतं करेइ । से केणट्ठे णं भंते ! एवं बुच्चइ ? । गोयमा !
संबुद्धे एं अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ
धणियबंधणवच्चाओ सिद्धिबन्धणवच्चाओ पकरेइ, दीह-
काल्लद्वितीयाओ हस्सकाल्लद्वितीयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभा-
वाओ मंदाणुजावाओ पकरेइ, बहुपदेमगाओ अप्पपदेमगा-
ओ पकरेइ, आउयं च एं कम्मं न वंधइ, असायावेयणिज्जं
च एं कम्मं णो भुज्जो जुज्जो उवचिणइ, अणादीयं च णं
अणवदगं दीहमप्पं चाउरंतंमंसारकंतारं वीइवयइ । से तेण-
ट्ठे एं गोयमा ! एवं संबुद्धे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ ।

(संवृते नमित्यादि) व्यक्तम्, नवरं, संवृतोऽतगारः प्रमत्तसंय-
तादिः, स च चरमशरीरः स्यादचरमशरीरो वा, तत्र यश्चरम-
शरीरस्तदपेक्षयेद् सूत्रम्, यैस्त्वेवचरमशरीरस्तदपेक्षया परम्परया
सूत्रार्थोऽवसेयः । तनु पारम्पर्येणासंवृतस्यापि सूत्रोक्तार्थस्या-
वश्यंभावः, यतः शुक्लपात्रिकस्यापि मोक्षोऽवश्यंजायी, तदेवं
संवृतासंवृतयोः फलतो जेदाज्ञाव एवेति । अत्रोच्यते-सत्यम्,
किन्तु यत्संवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतः समाधुनवप्रमाणम् ।
यतो वक्ष्यति-“जहन्नियं चारित्ताराहणं आराहिता सत्तजव-
गहणेहि सिञ्जइति” । यच्छाऽसंवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतो-
ऽपाङ्खेपुत्रपरारवर्तमानमपि स्यात्, विराधनाफलत्वात् तस्येति ।
(वीईवइत्ति) व्यतिव्रजति, व्यतिक्रामतीत्यर्थः । भ० १ श० १ उ० ।
(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगाहना--

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे एं जंते ! जावि-
यपा असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ? हंता ओगाहे-
ज्जा । से एं तत्थ जिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ? एं ओ इण्ठे
समठे, एं ओ खलु तत्थ सत्थं कमइ । एवं जहा पंचमसए
परमाणुपोगले वत्तववा जाव । अणगारे एं जंते ! भावि-
यपा उदावत्तं वा जाव । एं ओ खलु तत्थ सत्थं कमइ ।

[रायगिहे इत्यादि] इह चानगारस्य कुरधारादिषु प्रवेशो
वैक्रियव्यधिसामर्थ्यादवसेयः । [एवं जहा पंचमसए इत्यादि]
अनेन च यत्सुचितं तदिदम्-अणगारे एं जंते ! भावियप्पा अण-
णिकायस्स मज्जं मज्जेणं वीईवइज्जा ?, हंता वीईवइज्जा, से
णं तत्थ जिज्जाएज्जा ? । नो इण्ठे समठे, नो खलु तत्थ सत्थं
कमइ ” इत्यादि । भ० १८ श० १० उ० ।

[६] अनगारस्य जक्तप्रत्याख्यातुराहारः—

जत्तपच्चक्खायए एं भंते ! अणगारे मुच्छिए अज्जोव-
वषे आहारमाहारेइ, अहे एं वीससाए कालं करेइ, तत्रो
पच्छा अमुच्छिए अगिच्छे जाव अणज्जोववण्णे आहार-
महारेति ? । हंता गोयमा ! जत्तपच्चक्खायए एं अणगारं तं
चेव । से केण्ठे एं भंते ! एवं वुच्चइ जत्तपच्चक्खायए एं तं
चेव ? । गोयमा ! जत्तपच्चक्खायए एं अणगारे मुच्छिए जाव
अज्जोववण्णे आहारे भवइ, अहे एं वीससाए कालं करेइ,
तत्रो पच्छा अमुच्छिए जाव आहारे भवइ, से तेण्ठे एं जाव
आहारमाहारेइ ॥

(भत्तेत्यादि) तत्र (भत्तपच्चक्खाय एं ति) अनशनी मुच्छि-
तः संजातमूर्च्छः जाताहारसंरक्षणानुबन्धस्तद्दोषविषये वा
मूढः ‘मुच्छो मोहसमुन्नाययोः’ इति वचनात् ; यावत्करणा-
दिदं दृश्यम्—(गदिए) ग्रथित आहारविषयस्नेहतनुभिः स-
न्दर्भितः, ‘ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे’ इति वचनात् । (गिरे) गृ-
हः प्राप्ताहार आसक्तः, अतृप्तत्वेन वा तदाकाङ्क्षावान्, ‘गृधु’ अ-
भिकाङ्क्षायाम्’ इति वचनात् । (अज्जोववषे ति) अभ्युपपन्नोऽप्रा-
प्ताहारचिन्तायामाधिक्येनोपपन्नः । आहारं वायुतैलाद्यङ्गादि-
कम्, ओदनादिकं वाऽन्यवहार्यं तीव्रजुहेदनीयकर्मोदयादसमाधौ
सति तदुपशमनाय प्रयुक्तमाहारयत्पुपभुङ्गे । (अहे एं ति) अधा-
रानन्तरं विस्त्रमया स्वभायत एव, (कांति ति) कालो मरणं,
काय इव कालो मारणान्तिकसमुद्घातः, तं करोति याति । (तत्रो
पच्छ ति) ततो मारणान्तिकसमुद्घातात्पश्चात् तस्मान्निवृत्त

इत्यर्थः । अमूर्च्छतादिविशेषणविशेषित आहारमाहारयति, प्र-
शान्तपरिणामसङ्गावादिति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्—[हंतागोयमेत्यादि]
अनेन तु प्रश्नार्थ एवाच्युपगतः, कस्यापि जक्तप्रत्याख्यातुरेवंवृत्त-
भावस्य सङ्गावादिति । भ० १४ श० ७ उ० ।

[७] शैलेशीप्रतिपन्नस्यानगारस्य एजना—

सेट्ठेसिपक्खिवाए एं भंते ! अणगारे मया समियं ए-
यति वेयति जाव तं तं जावं परिणमइ ? । एं ओ इण्ठे समठे, ए-
णत्थेगेणं परप्पभोगेणं ॥

(नो इण्ठे समठे ति) योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयो-
गादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैकैकं शैलेश्यामेजनादि
जयति, न करणान्तरेणेति जावः । भ० १७ श० ३ उ० ।

[८] अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मवेद्याशरीरं जानाति-
अणगारे एं जंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मवेस्सं ए
जाणइ, ए पासइ, तं पुण जीवसरुविं सकम्मवेस्सं जाणइ,
पासइ ? । हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो
जाव पासइ ।

(अणगारे नमित्यादि) अनगारो भावितात्मा संयमजावनया
वासितान्तःकरणः, आत्मनः संवन्धिनी कर्मणो योग्या वेद्या
कृष्णादिका, कर्मणो वा लेइया, “ लिश श्रेष्ठेण ” इति वचना-
त् । संवन्धः कर्मवेद्या, तां न जानाति विशेषतो न पश्यति च,
सामान्यतः कृष्णादिवेद्यायाः, कर्मद्रव्यश्रेष्ठेणस्य चातिसुद्धम-
त्वेन छास्थज्ञानागोचरत्वात् । (तं पुण जीवं ति) । यो जीवः
कर्मलेइयावांस्तं पुनर्जावमात्मानं (सरुविं ति) सह रूपेण
रूपरूपवतोरज्जेदोपचाराच्छरीरेण वर्तते योऽसौ [समासान्तवि-
धिः] सरूपी, तं सरूपिणम्-सशरीरमित्यर्थः । अत एव सक-
र्मलेइयं कर्मलेइयया सह वर्त्तमानं जानाति शरीरस्य चक्रुग्राहा-
त्वाद् जीवस्य च कथंचिच्छरीराव्यतिरेकादिति “ सरुविं सकम्म-
वेस्सं ति ” । भ० १४ श० ७ उ० । (अनगारस्य अनायुक्तं गच्छतः
क्रियाः ‘ किरिया ’ शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

(९) अनगारस्य जावितात्मनः क्रिया—

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारस्स एं जंते ! भा-
वियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स
पायस्स अहे कुक्कुरुपोते वा वट्टापोते वा कुलिंगच्छाए वा
परियावज्जेज्जा, तस्सा एं जंते ! किं इरियावहिया किरिया
कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! अणगारस्स
णं जावियप्पणो जाव तस्स एं इरियावहिया किरिया क-
ज्जइ, एं ओ संपराइया किरिया कज्जइ ! से केण्ठे एं भं ।
एवं वुच्चइ ? । जहा सत्तमसए संवुद्धेसए जाव अट्ठो णि-
क्खित्तो सेवं भंते ! जंतेति जाव विहरइ । तए एं समणे
जगवं महावीरे जाव विहरइ ॥

(पुरओ ति) अग्रतः (दुहओ ति) द्विधाऽन्तराऽन्तरा पार्श्वतः
पृष्ठतश्चेत्यर्थः (जुगमायाए ति) यूपमात्रया दृष्ट्या (पेहाए ति)
प्रक्ष्य (रीयं ति) गतं गमनं, (रीयमाणस्स ति) कुर्वत इत्यर्थः ।
(कुक्कुरुपो ति) कुक्कुटस्मिन् (वट्टापो ति) इह वर्तका
पक्षिविशेषः । (कुलिंगच्छाप ति) पिपीलिकादिसदृशः (प-
रियावज्जेज्ज ति) पर्यापद्येत स्मियेत, एवं जहा सत्तमसए इत्या-

दि) अनेन च यत्सुचितं तस्यार्थदेश एवम्-अथ केनार्थेन भ-
दन्तैवमुच्यते ? गौतम ! यस्य कोधादयो व्यचिच्छन्ना भवन्ति
तस्यैवापिष्येष्य क्रिया जवतीत्यादि । [जाव अतो निखिस्सो
ति] "से केणट्ठे एं जेतं !" इत्यादिवाक्यस्य निगमनं शब्दादित्यर्थः ।
तच्च [से तेणट्ठे एं गोयमेत्यादि] इति प्राग्गमनमाश्रित्य विचारः
कृतः । अथ तदेवाधित्यात्ययूधिकमतनिषेधतः स एवोच्यते-
[तण्णमित्यादि] भ० १८ श० ८ उ० ।

अणगारस्म एं जेतं ! जावियप्पणो उट्ठं उट्ठे एं अणि-
क्खित्ते एं जाव आयावेमाणस्स तस्म एं पुरच्छिमेणं अ-
वहं दिवसं एं कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव ऊरुं वा आऊं-
टावेत्तए वा पमारेत्तए वा पच्चच्छिमे णं अवहं दिवसं कप्पइ,
हत्थं वा पादं वा जाव ऊरुं वा आऊंटावेत्तए वा पमारेत्तए
वा तस्म य अंसिओ लंवइ तं चेव विज्जे अदक्खु, इसिं
पामेइ, पामेइत्ता अंसियाओ छिंदेज्जा, से एणं जेतं ! जे छिं-
देज्जा, तस्स कइ किरिया कज्जइ ?, जस्म छिज्जइ एं तस्स
किरिया कज्जइ ?, णत्थेगेणं धम्मंतराएणं ? । हंता
गोयमा ! जे छिंदइ जाव धम्मंतराएणं से एं भंते ! भंते चि ।

(पुरच्छिमेणं ति) पूर्वभागे पूर्वाह्ने इत्यर्थः । (अवहं ति) अ-
पगतार्द्धमर्द्धदिवसं यावद् न कल्पते हस्ताद्याकुण्टयितुं, का-
योत्सर्गव्यवस्थितत्वात् । (पच्चच्छिमेणं ति) पश्चिमभागे
(अवहं दिवसं ति) दिनार्द्धं यावत् कल्पते हस्ताद्याकुण्टयि-
तुं, कायोत्सर्गाभावात् । तदेतच्च चूर्ण्यनुसारितया व्याख्यातम् ।
[तस्म य चि] तस्य पुनः साधारेवंकायोत्सर्गाभिग्रहवतः
(अंसियाओ ति) । अर्शांसि, तानि च नासिकासत्कानीति
चूर्णिकारः । (तं च चि) तं चानगरं कृतकायोत्सर्गं लम्ब-
मानार्शसम्, (अदक्खु ति) अद्राक्षीत् । ततश्चार्शमां छेदार्थम्
(इसिं पाडेइ ति) मनागनगरं भूम्यां पातयति, नापातित-
स्यार्शच्छेदः कर्तुं शक्यत इति । (तस्स चि) वैद्यस्य, क्रिया
व्यापाररूपा, सा च शुभा धर्मवुद्ध्या । छिन्दानस्य लोभा-
दिना क्रियेत त्वशुभा भवति (जस्स छिज्जइ चि) यस्य सा-
धारश्रीसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति, निर्व्यापारत्वात् ।
किं सर्वथा क्रियाया अभावः ?, मैवम् । अत आह-(नत्थेत्या-
दि) न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्माद्धर्मान्तरायाद्ध-
र्मान्तरायलक्षणा क्रिया, तस्यापि भवतीति भावः । धर्मा-
न्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदादर्शश्लेदानुमोदनाद् वेति । भ०
१६ श० ३ उ० ।

(१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया-

रायगिहे जाव एवं वयासी-संवुरुस्म एं भंते ! अणगा-
रस्म वीडपंथे ठिच्चा पुरओ रुवाइं निज्झायमाणस्स मग्ग-
ओ रुवाइं अवयक्खमाणस्म पामओ रुवाइं अवज्जोण्मा-
णस्म उट्ठं रुवाइं उट्ठोणमाणस्म अहे रुवाइं आलोण-
माणस्म तस्म णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! संवुरुस्म अणगा-
रस्म वीडपंथे ठिच्चा जाव तस्म एं णो इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठे एं भंते !
एवं वुच्चइ, संवुरुं जाव संपराइया किरिया कज्जइ ? । गो-

यमा ! जस्स एं कोहमाणमायालोजा एवं जहा सत्तमसए
पढमुद्देमए जाव से एं उस्सुत्तमेव रीयइ । से तेणट्ठे एं जाव
संपराइया किरिया कज्जइ । संवुरुस्स एं भंते ! अणगा-
रस्स अवीडपंथे ठिच्चा पुरओ रुवाइं निज्झायमाणस्स
जाव तस्स एं जेतं ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
पुच्चा । गोयमा ! संवुरुं जाव तस्म एं इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, एं संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठे एं
जेतं ! जहा सत्तमसए सत्तमुद्देमए जाव से एं अहासुत्तमेव
रीयइ, से तेणट्ठे एं जाव एं संपराइया किरिया कज्जइ ।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र (संवुरुस्स चि) संवृतस्य सामा-
न्येन प्राणातिपाताद्यास्त्वद्वारसंवरोपेतस्य (वीडपंथे ठिच्च चि)
वीचिशब्दः सम्प्रयोगे । स च सम्प्रयोगो द्वयोर्भवति । ततश्चह
कपायाणां जीवस्य च सम्यग्धो वीचिशब्दवाच्यः, ततश्च वी-
चिमतः कपायवतः, मतुप्रत्ययस्य पृष्ठ्याश्च लोपस्य दर्शनात् ।
अथवा " विचिरं पृथग्भावं " इति वचनाद् विविच्य पृथ-
ग्भूय यथाख्यातसंयमात्कपायोदयमनपवार्येत्यर्थः । अथवा
विचिन्त्य रागविकल्पावित्यर्थः । अथवा विरूपा कृतिः कि-
या सरागत्वाद् यस्मिन्नवस्थाने तद्विकृति यथा भवतीत्येवं
स्थित्वा (पंथे चि) मार्गे (अवयक्खमाणस्स चि) अव-
काङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य वा, पथिग्रहणस्य चोपलक्षणत्वाद्-
न्यत्राप्याधारे स्थित्वेति द्रष्टव्यम् । (नो इरियावहिया किरि-
या कज्जइ चि) न केवलयोगप्रत्यया कर्मबन्धक्रिया भव-
ति, सकपायत्वात्तस्येति (जस्स एं कोहमाणमायालोभा) इह-
एवं जहेत्याद्यतिशयादिदं दृश्यम्-(वाचिच्छन्ना भवन्ति तस्स
एं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स एं कोहमाणमायालो-
भा अवाचिच्छन्ना भवन्ति तस्स एं संपराइया किरिया कज्जइ,
अहासुत्तं रियं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उ-
स्सुत्तं रीयं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ चि)
व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (से एं उस्सुत्तमेव चि) स पुन-
रुत्सृष्टमेवागमातिक्रमणत एव (रीयइ चि) गच्छति 'संवुडस्से-
त्यादि' इत्युक्ताविपर्ययसूत्रम्, तत्र च [अवीड चि] अवीचिमतोऽ
कपायसम्यग्धवतोऽविविच्य वा अपृथग्भूय यथाऽऽख्यातसंय-
मात् अविचिन्त्य वा रागविकल्पाभावेनेत्यर्थः । अविकृतिर्वा
यथा भवतीति । भ० १० श० २ उ० ।

संवुरुस्स णं भंते ! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स
जाव आउत्तं वत्थपरिगहं कवलं पायपुच्छणं गेहमाण-
स्स वा निखिक्खमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरिया-
वहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? ।
संवुडस्म णं अणगारस्म जाव तस्स एं इरियावहिया
किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ । से के-
णट्ठे एं जेतं ! एवं वुच्चइ संवुरुस्स एं जाव नो संप-
राइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! जस्स णं कोह-
माणमायालोजा वोच्छिण्णा भवन्ति तस्स एं इरियाव-
हिया किरिया कज्जइ, तदेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स
संपराइया किरिया कज्जइ, से एं अहासुत्तमेव रीयइ, से

तेण्ठे एं गोयमा ! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ।
जं० ७ श० ७ उ० ।

(११) अनगारस्य गत्युपपादौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारं एं भंते ! जावियप्पा चरमं देवावासं वीड्कंते परमं देवावासं असंपत्ते एत्थं एं अंतरालं कांठं करेज्जा, तस्म एं जंते ! कहिं गई कहिं उववाए पन्नत्ते ? । गोयमा ! जे से तत्थ परिस्सओ तल्लेस्मा देवावासमा तहिं तस्स गई, तहिं तस्स उववाए पाणत्ते । से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पक्खिण्ड, से य तत्थ गए नो विराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपजित्ताणं विहरइ ।

[चरमं देवावासं वीड्कंते परमं देवावासं असंपत्ते ति] चरममर्वाभागवर्तिनं स्थित्यादिजिदेवावासं सौधर्मादिदेवलोकां व्यतिक्रान्तो लङ्घितस्तदुपपातहेतुभूतलेइयापरिणामपेक्षया परमं परजागवर्तिनं स्थित्यादिजिरेव देवावासं सनत्कुमारादिदेवलोकाकमसंप्राप्तोऽप्राप्तस्तदुपपातहेतुभूतलेइयापरिणामपेक्षयैव । इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वथ्यवसायस्यानेपूत्तरोत्तरेषु वर्तमान आराङ्गागस्थितसौधर्मादिगतदेवस्थित्यादिवन्ध्यतामतिक्रान्तः परभागवर्तिसनत्कुमारादिगतदेवस्थित्यादिवन्ध्ययोग्यतां चाप्राप्तः । [एत्थं एं अंतरं ति] इहावसरे [कांठं करेज्जा ति] म्रियते यस्तस्य कोत्पाद इति प्रश्नः । उत्तरं तु- [जे से तत्थ ति] अथ ये तत्रेति तयोश्चरमदेवावासपरमदेवावासयोः परिपार्श्वतः समीपे सौधर्मादिरासन्नाः सनत्कुमारादेर्वा आसन्नास्तयोर्मध्यभागे ईशानादौ इत्यर्थः । [तल्लेस्सा देवावासं ति] यस्यां ज्ञेययायां वर्तमानः साधुमृतः सा लेइया येषु ते तल्लेइया देवावासाः [तहिं ति] तेषु देवावासेषु तस्यानगारस्य गतिर्भवतीति, यत उच्यते- 'जल्लेस्से मरइ जिण, तल्लेस्से चेव उववजे' इति । [से य ति] स पुनरनगारस्तत्र मध्यजागवर्तिनि देवावासे गतः [विराहेज्जा ति] येन ज्ञेय्यापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्तं परिणामं यदि विराधयेत् तदा [कम्मलेस्सामेव ति] कर्मणः सकाशात् ज्ञेया जीवपरिणतिः सा कर्मज्ञेया, जावलेइयेत्यर्थः । तामेव प्रतिपतति-तस्या एव प्रतिपतति अशुजतरतां याति, न तु द्रव्यलेइयायाः प्रतिपतति । सा हि प्राक्तन्येवास्ते ऋण्यतोऽवस्थितलेइयात्वादेवानामिति पक्कान्तरमाह- [से य तत्थेत्यादि] सोऽनगारस्तत्र मध्यमदेवावासे गतः सन् यदि न विराधयेत् तं परिणामं, तदा तामेव ज्ञेय्या ययोत्पन्न उपसंपद्याश्रित्य विहरत्यास्त इति । इदं सामान्यं देवावासमाश्रित्योक्तम् ।

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह-

अणगारं एं जंते ! जावियप्पा चरमं असुरकुमारावासं वीड्कंते, परमं असुरं एवं चेव० एवं जाव थणियकुमारावासं जोइसियावासं एवं वेमाणियावासं जाव विहरति ॥

ननु यो भावितात्माऽनगारः स कथमसुरकुमारेषूपत्यस्यते, विराधितसंयमानां तत्रोत्पादादिति ? । उच्यते-पूर्वकालपेक्षया भावितात्मत्वमन्तकात्रे च संयमविराधनासद्भावादसुकुमारादितयोपपाद इति न दोषः । बाव्रतपस्वी वाऽयं भावितात्मा छद्म्य इति । भ० १४ श० १ उ० ।

(१२) असंवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा-

असंवुत्ते एं जंते ! अणगारं वाहिरए पोग्गळे अपरियाइत्ता पभू एगवणं एगरूवं विउव्वित्ते ? । गोयमा ! एं इण्ठे समंठे । असंवुत्ते एं जंते ! अणगारं वाहिरए पोग्गळे परियाइत्ता पत्तु ! एगवणं एगरूवं जाव । हंता । पत्तु ! मे भंते ! किं इह गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, तत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, अस्सत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ ? । गोयमा ! इह गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, नो तत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, नो अस्सत्थ गए पोग्गळे जाव विउव्वइ, एवं एगवणं अणेगरूवं चउजंगो जहा उट्टसए नवमे उट्टेसए तदा इहावि भाणियव्वं, नवरं अणगारं इह गए य पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, सेसं तं चेव जाव जुक्खपोग्गलं णिच्छ-पोग्गलत्ताए परिणामत्ताए ? । हंता । पभू ! से जंते ! किं इह गए पोग्गळे परियाइत्ता जाव नो अस्सत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ ।

असंवृतः प्रमत्तः (इह गए ति) इह पृच्छको गौतमः, तदेपकया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इहगतान् नरलोकाव्यवस्थितान् (तत्थ गए ति) वैकियं कृत्वा तत्र यास्यति तत्र व्यवस्थितानित्यर्थः । (अस्सत्थ गए ति) उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रितानित्यर्थः । (नवरं ति) अयं विशेषः- (इह इति) इह शतं, अनगार इति, इहगतान् पुकलानिति च वाच्यम् ; तत्र तु देवइति, तत्र गतानिति चोक्तमिति । भ० ७ श० ६ उ० ।

[१३] केयाघटिकाशकृणकृत्यादिविकुर्वणा-

रायगिहे जाव एवं वयासी-मे जहाणामए केइ पुरिमे केयाघडियं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारं वि जावियप्पा केयाघडिया किच्चइत्थगएणं अप्पाणेणं उट्ठं वेहासं उप्पएज्जा ? । हंता गोयमा ! जाव समुप्पएज्जा । अणगारं एं जंते ! भावियप्पा केवइयाइं पत्तु ! केयाघडियं किच्चइत्थगयाइं रुवाइं विउव्वित्ते ? । गोयमा ! मे जहाणामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थं एवं जहा तइयसए पंचमोदेसए जाव एं चेव एं संपत्तीए विउव्विमु वा विउव्विति वा विउव्विस्संति वा से जहाणामए केइ पुरिसे हिरसपोर्णि गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारं वि भावियप्पा हिरसपोर्णि हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं सेसंतं चेव । एवं सुवसपोर्णि एवं रयणपोर्णि वयरपेडि वत्थपोर्णि आचरणपोर्णि, एवं वियज्जकिंमुंवाकिं चम्मकिं कंवत्तकिं, एवं अयनारं तंबजारं तउयभारं सीमगजारं हिरसभारं सुवसजारं वइरजारं से जहाणामए वग्गुत्ती सिया दोवि पाए उलंवि य उलंवि उट्ठं पाया अहो सिग चिटेज्जा, एवामेव अणगारं वि जावियप्पा वग्गुत्ती किच्चगएणं अप्पाणेणं उट्ठं वेहासं । एवं जसो वइयवत्तव्वया भाणियव्वा जाव विउव्विस्संति वा मे जहाणामए जसोया सिया

उदगंसि कायं वि उव्विहिय उव्विहिय गच्छेज्जा, एवामेव
मेसं जहा वग्गुलीए मे जहाणामए वीयं वियगसउणे सिया
दोवि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अ-
णगारे, मेसं तं चेव । मे जहाणामए पाक्खिविरालए मिया
रुक्खाओ रुक्खं रेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, मेसं
तं चेव । से जहाणामए जीवं जीवगसउणे सिया, दो वि
पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे,
मेसं तं चेव । से जहाणामए हेसं सिया तीराओ तीरं अजि-
रममाणे अभिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे हेमकिच्च-
गएणं अप्पाणेणं, मेसं तं चेव । मे जहाणामए समुद्वायसए
मिया वीईओ वीई रेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव तदेव । से
जहाणामए केइ पुरिमे चकं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अण-
गारे जावियप्पा चककिच्चहत्थगएणं अप्पाणेणं, मेसं जहा
केयायमियाए, एवं उत्तं, एवं चम्मं, से जहा केइ पुरिसे रयणं
गहाय गच्छेज्जा एवं चेव । एवं वइए वेरुलियं जाव रिठं
एवं उप्पलहत्थगं पउमहत्थगं कुमुदहत्थगं एवं जाव । से
जहाणामए केइ पुरिमे महस्सपत्तगं गहाय गच्छेज्जा, एवं
चेव । से जहाणामए केइ पुरिमे जिसं अवदालिय अवदा-
लिय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि जिसं किच्चगएणं अ-
प्पाणेणं तं चेव, से जहाणामए मुणाद्विया सिया उदगंसि
कायं उम्मज्जिअ उम्मज्जिअ चिट्ठेज्जा, एवामेव सेसं जहा
वग्गुलीए, से जहाणामए वणखंडं सिया किएहे किएहो-
भासे जाव निकुखं नूए पासादीए ४, एवामेव अणगारे
भावियप्पा वणखंरकिच्चगएणं अप्पाणेणं उट्ठं वेहासं उ-
प्पणज्जा, मेसं तं चेव । से जहाणामए पुक्खरिणी मिया
चउक्रोणा समतीरा अणुपुव्वसु जाय जाव सहुसइय महुर-
सरणादिया पामादीया ४ एवामेव अणगारे वि जाविय-
प्पा पोक्खरिणी किच्चगएणं अप्पाणेणं उट्ठं वेहासं उप्प-
णज्जा ? । हेता उप्पणज्जा अणगारेणं भंते ! जावियप्पा
केवयाइं पत्तु ! पोक्खरिणी किच्चगयाइं रुवाइं विउव्वित्तए ?
मेसं तं चेव जाव विउव्विस्संति वा । से जंते ! किं मायी वि-
उव्वड, अमायी विउव्वड ? । गोंयमा ! मायी विउव्वड, एो
अमायी विउव्वड, मायीणं तस्म उणस्म अणालोइय एवं
जहा तइयमए चउपुइमए जाव अत्थि तस्म आराहणा ॥

(रायगिहेय्यादि) (केयाघमियं ति) रज्जुप्रान्तवच्चट्टिका के-
याघट्टिया (किच्चहत्थगएणं ति) केयाघट्टिकावक्कणं यत्कृत्यं का-
यं तच्छस्ते गतं यस्य स तथा, तेनात्मना [वेहासं ति] विजक्ति-
विपरिणामाद्विहायस्याकाशे केयाघट्टिया [किच्च हत्थ गयाइं
ति] केयाघट्टिकालङ्करणं कृत्यं दस्ते गतं येषां तानि तथा [हि-
रस्सपत्तं ति] हिरण्यमण्डपं (वियमकिलं ति) विदलानां च-
शाह्मनो यः कटः स तथा तं (संवुकिडं ति) चीरणकटं [च-
म्मकिं ति] चम्मकं तं खट्वादिदं [कंयवकिं ति] औष्मा-

मयं कंबलं जीनादि [वग्गुली ति] चर्मपक्कः पक्विशेषः ।
[वग्गुलिक्किच्चगए ति] वग्गुलीवक्कणं कृत्यं कार्यं गतं प्राप्तं येन स
तथा, तद्वपनां गत इत्यर्थः । [एवं जणावश्यवत्तव्वया ज्ञाणिय-
व्वा] इत्यनेनेदं सूचितम् । “हेता उप्पणज्जा, अणगारेणं भंते !
भावियप्पा केवयाइं पत्तु ! वग्गुलिस्सुवाइं विउव्वित्तए ? । गोंयमा !
से जहाणामए जुवाणं जुवाणं हत्थेणं हत्थं गिरहेज्जेत्यादि ”
[जलोय ति] जलोका जलजो द्वीन्द्रियजीव विशेषः । [उ-
व्विहिय ति] उद्वृण्ण २ उद्वेगं २ इत्यर्थः । [वीयं वीयग-
सउणे ति] वीजं बीजकाभिधानः शकुनिः स्यात् [दोवि पाए ति]
चावपि पादौ । [समतुरंगेमाणे ति] समौ तुल्यौ तुरङ्गस्या-
श्वस्य समुक्तेपणं कुर्वन् समतुरङ्गयमाणः समकमुत्पाटयन्नित्य-
र्थः । (पडिखविराअए ति) जीवविशेषः [डेवेमाणे ति] अति-
कामाग्नित्यर्थः [वीईओ वीई ति] कल्लावात्कल्लोवम्-वेरुलियम् ।
इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-“लोहियक्खं मसारगल्लं इंसगच्छं
पुल्लगं सोगंधियं जोईरसं अंकं अंजणं रयणं जायरूवं अंजणपु-
ल्लगं फल्लिहं ति ” । “कुमुदहत्थगं” इत्यत्र तु एवं यावत्करणादिदं
दृश्यम्-“ नल्लिणहत्थगं सुजगहत्थगं सोगंधियहत्थगं पुंरूरी-
यहत्थगं महापुंरूरीयहत्थगं सयवतहत्थगं ति ” । [भिसे ति]
विशं मृणालं [अवदाविय ति] अवदायं दारयित्वा [मुणा-
लिय ति] नल्लिनीकायं [उम्मज्जिय ति] कायमुन्मज्जय उन्मज्जं
कृत्वा [किएहे किएहो ज्ञासे ति] कृष्णः कृष्णवर्णो जनवत्स्व-
रूपेण कृष्ण एवायज्ञासते ऋषूणां प्रतिभातीति कृष्णावभासः । इह
यावत्करणादिदं दृश्यम्-“ नीले नीलोभासे हरिणं हरिओभासे
सीए सीओभासे निक्कं निक्कोजासे तिव्वे तिच्चोजासे किएहे कि-
एहच्चाए नीले नीलच्चाए हरिणं हरियच्चाए सीये सीयच्चाए
तिव्वे तिव्वच्चाए घणकडिच्चाए रम्मे महामेहनिउरंबचूए ति ”
तत्र च [नीले नीलोजासे ति] प्रदेशान्तरे, [हरिणं हरिओजा-
से ति] प्रदेशान्तर एव । नीलश्च मयूरगलवत्, हरितस्तु शुक्-
पिच्छवत्, हरितालाभ इति च वृक्षाः । [सीए सीओजासे ति]
शीतः स्पर्शपेक्षया, वल्ल्याद्याक्रान्तत्वादिति च वृक्षाः [निक्के नि-
क्कोभासे ति] स्निग्धो रुक्त्ववर्जितः [तिव्वे तिच्चोजासे ति]
तीक्ष्णो वर्षादिगुणप्रकर्षवान् [किएहे किएहच्चाए ति] इह कृ-
ष्णशब्दः कृष्णच्चाय इत्यस्य विशेषणमिति न पुनरुक्तता । तथाहि-
कृष्णः सन् कृष्णच्चायः, गायो चादित्यावरणजन्यो वस्तुविशेषः ।
एवमुत्तरपदेष्वपि [घणकडियच्चाए ति] अन्त्योऽन्यं शाखानुप्रवे-
शाद्धलनिरन्तरच्चाय इत्यर्थः । “अणुपुव्वसुजाय” इत्यत्र याव-
त्करणादेवं दृश्यम्-“अणुपुव्वसुजायवप्पगंजीरसीयलजला”
आनुपुव्वेण सुजाता वप्पा यत्र, गम्भीरं शीतलं च जलं यत्र सा
तथा इत्यादि । [सहुसइय महुरसरणादिय ति] इदमेवं दृश्यम्-
“ सुयवरहिणमयणसालूकोइल्लकोरुक्किगारककोडलकजीव-
जीयकनेदीमुहकचिल्लपिंगलक्खगकारंडचक्रयायकलहंससार-
सअणेगसउणगणमिहुणविरइयसहुणइयमहुरसरणाइय ति ”
तत्र शुकादीनां सारसान्तानामनेकेषां शकुनगणानां मिथुने-
विरचितं शब्दोपेतिकं चोपेतशब्दकं मधुरस्वरं च नादितं ल-
गितं यस्याः सा तथेति । ज० १३ श० ६ उ० ।

[१४] अणगारस्य भावितात्मनो विकुर्वणा बाह्यं पुद्-

गत्रापर्यादानपूर्वकं स्त्रीरूपस्य—

अणगारेणं जंते ! जावियप्पा बाहिरए पोंगल्ले अपपरि-
याइत्ता प्रभू ! एणं महं इत्थिरूयं वा जाव संदमाणिरूयं

वा विकुर्वित्तए ?। गोयमा ! एणो इण्ठे समेट्ठे । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा वाहिरए पांगले परियाडत्ता पच्चू ! एणं महं इत्थिरुव्वं वा जाव मंदमाणियरुव्वं वा विकुर्वित्तए ?। हंता । पच्चू ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पच्चू ! इत्थिरुवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! मे जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे गेएणज्जा, चक्कस्स वा नाजी अरगा उत्ता सिया, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्वियसमुग्याएणं समोहणइ जाव पच्चू ! णं ?। गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा केवलकणं जंबुदीवं दीवं बहहिं इत्थिरुवेहिं आयन्नं वित्तिकिएणं जाव एस णं गोयमा ! अणगरस्स जावियप्पाणे अयमेयारुव्वं विसए विसयमेत्ते बुइए नो चेव णं संपत्तीए विकुर्विसु वा ३ , एवं परिवारिए नेयव्वं जाव संपाणिया । मे जहानामए केइ पुरिमेअमिचम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा अमिचम्मपायं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पइज्जा । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पच्चू ! अमिचम्महत्थकिच्चगयाइं रुवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! मे जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे गेएणहज्जा तं चेव जाव विउव्विसु वा ३ , से जहानामए केइ पुरिमे एगओ पडागं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे जावियप्पा एगओ पमागा हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता गोयमा !। अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाएणं पच्चू ! एगओ पमागा हत्थकिच्चगयाइं रुवाइं विउव्वित्तए, एवं जाव विकुर्विसु वा ३ , एवं दुहओ पमागं पि से जहानामए केइ पुरिमे एगओ जएणोवइ तं काउं गच्छेज्जा । एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओ जएणोवइ य किच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पच्चू ! एगओ जसोवइयं किच्चगयाइं रुवाइं विउव्वित्तए, तं चेव जाव विकुर्विसु वा ३ । एवं दुहओ जसोवइयं पि । से जहानामए केइ पुरिमे एगओ पल्लहत्थियं काउं चिठेज्जा, एवामेव अणगारे भावियप्पा तं चेव जाव विउव्विसु वा ३ । एवं दुहओ पल्लहत्थियं पि, से जहानामए केइ पुरिमे एगओ पन्नियंके काउं चिठेज्जा, तं चेव विकुर्विसु वा ३ । एवं दुहओ पन्नियंके पि । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा वाहिरए पांगले अपरियाडत्ता पच्चू ! एणं महं आमरुव्वं वा हत्थिरुव्वं वा मीहरुव्वं वा वग्यवग्गदीविय अच्छतरच्छपरासरुव्वं वा अभिजुंजित्तए ?। णो इण्ठे समेट्ठे । अणगारे णं एवं वाहिरए पांगले परियाडत्ता पच्चू ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा एणं महं आसरुव्वं वा अजिउंजित्ता अणेगाइं जोयणाइं

गमित्तए ?। हंता । पच्चू ! मे जंते ! किं आइट्ठीए गच्छइ, परिट्ठीए गच्छइ ?। गोयमा ! आयट्ठीए गच्छइ नो परिट्ठीए । एवं आयकम्मुणा परकम्मुणा आयप्पअंगेणं परप्पयोगेणं उस्सओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ । मे णं भंते ! किं अणगारे आसे ?। गोयमा ! अणगारे णं मे नो खलु से आमे, एवं जाव पगामरुव्वं वा । से भंते ! किं मायी विकुर्वइ, अमायी विकुर्वइ ?। गोयमा ! मायी विकुर्वइ, नो अमायी विकुर्वइ । मायीणं जंते ! तस्स ठाणस्स अणालोइयपस्सिकंते काउं करइ कहिं उव्वज्जइ ?। गोयमा ! अस्सयेरेमु अभियोगेमु देवन्नोगेमु देवत्ताए उव्वज्जइ । अमायीणं तस्म ठाणस्स आलोइय पडिकंते कालं करइ, कहिं उव्वज्जइ ?। गोयमा ! अस्सयेरेमु अणजियोगिएमु देवन्नोएमु देवत्ताए उव्वज्जइ, सेवं भंते ! जंतेति । गाहा —“ इत्थी असीपमागा, जसोवइए य होइ बोधव्वो । पल्लहत्थियं य पन्नियंके, अभियोगविकुर्वणा मायी ॥१॥ ” तइयसए पंचमोदसे सम्मत्तो । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियन्नप्पीए वेउव्वियन्नप्पीए विभंगनाणन्नप्पीए वाणारमिं नगरिं समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रुवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एणो तहाजावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ । से केण्ठे णं जंते ! एवं बुवइ—नो तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तस्स णं एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रुवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्ठे णं जाव पासइ, अणगारे णं जंते ! मायी मिच्छदिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रुवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ, एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रुवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चामे भवइ, से तेण्ठे णं जाव अस्सहाभावं जाणइ पासइ, अणगारे णं जंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलप्पीए वेउव्वियन्नप्पीए विजंगलप्पीए वाणारमिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतराए एणं महं जगवयवगं समोहए समोहएत्ता वाणारमिं नगरिं रायगिहं तं च अंतरा एणं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एणो तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाभावं जाणइ पासइ । से केण्ठे णं जाव पासइ ?। गोयमा ! तस्म खलु एवं जवइ, एस खलु वाणारमीए नयरीए एस खलु रायगिहे नगरे एस खलु अंतरा एणं महं

जणवयवगं नो खलु एम महं वीरियलक्ष्मी वेउव्वियलक्ष्मी विभंगनाणलक्ष्मी इही जुत्ती जमे वले वीरिए पुरिमकारपर-
कमे लक्ष्मे पत्ते अभिसमणगए, सेमे दंसणे विवचामे भवइ,
से तेण्डे णं जाव पामइ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अ-
मायी सम्मदिही वीरियलक्ष्मी वेउव्वियलक्ष्मी ओहिनाण-
लक्ष्मी गयगिहे नगरं समोहए समोहणित्ता वाणारसीए
नयरीए रुवाइ जाणइ पासइ ? इहा जाणइ पासइ । से भंते !
किं तहानावं जाणइ पासइ, अणहानावं जाणइ पासइ ?
गोयमा ! तहाभावं जाणइ पासइ, नो अणहानावं जाणइ
पामइ । से केण्डे णं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! तस्म णं
एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समो-
हणित्ता वाणारसीए नगरीए रुवाइ जाणामि पामामि ।
सेमे दंसणे अविपच्चामे जवइ, से तेण्डे णं गोयमा ! एवं
वुच्चइ । वीओ वि आलावगो एवं चेव, एवरं वाणारसीए
नयरीए समोहणा णेयव्वो । रायगिहे नगरे रुवाइ जा-
णइ पासइ अणगारे णं भंते ! जावियप्पा अमायी स-
म्मदिही वीरियलक्ष्मी वेउव्वियलक्ष्मी ओहिनाणलक्ष्मी-
ए रायगिहे वाणारसी नगरिं च अंतरा एगं महं जणवय-
वगं समोहए समोहणित्ता रायगिहं नगरं वाणारसीं च न-
गरिं तं च अंतरा एगं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ?
इहा जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहानावं जाणइ पा-
सइ, अणहानावं जाणइ पासइ ? गोयमा ! तहानावं
जाणइ पामइ, नो अणहानावं जाणइ पासइ । से केण्डे
णं ? गोयमा ! तस्म णं एवं जवइ, नो खलु एम रायगिहे
णो खलु एम वाणारसी नगरी नो खलु एम अंतरा एगं
जणवयवगं एम खलु ममं वीरियलक्ष्मी वेउव्वियलक्ष्मी
ओहिनाणलक्ष्मी इही जुत्ती जमे वले वीरिए पुरिमकार-
परकमे लक्ष्मे पत्ते अजिसमणगए सेमे दंसणे अविपच्चासे
जवइ, से तेण्डे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ, तहानावं जाणइ
पासइ, नो अणहानावं जाणइ पासइ । अणगारे णं
भंते ! जावियप्पा बाहिरए पोगगले अपरियाइत्ता पजू !
एगं महं गामरुवं वा नगररुवं वा जाव सन्निवेशरुवं वा
विकुव्वित्तए ? गोयमा ! णो एण्डे समट्टे । एवं विनिओ
वि आलावओ, नवरं बाहिरए पोगगले परियाइत्ता । पजू !
अणगारे णं भंते ! केवइयाइं पजू ! गामरुवाइं विकुव्वित्तए
? गोयमा ! से जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे मे-
एट्टेजा तं चेव जाव विकुव्वित्ति वा ३ । एवं जाव साण-
वेसरुवं वा ३ ।

[असिचर्मपात्रं गहाए न्ति] असिचर्मपात्रं स्फुरकः ।
अथवा असिश्च खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशको वा,
असिचर्मपात्रं तद् गृहीत्वा । [असिचर्मपात्रदन्त्यकिञ्च-

गणं अप्पाणेणं ति] असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा
कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्म-
धारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा असिचर्मपात्रं कृत्यं
हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृतः, तेन, प्राकृ-
तत्वाच्चैवं समासः । अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्त-
करणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । [पलियंके न्ति] आसन-
विशेषः प्रतीतश्च [विग न्ति] वृकः । [दीविय न्ति] चतुष्पद-
विशेषः । [अल्लु न्ति] ऋतः । [तरल्लु न्ति] व्याघ्रविशेषः ।
[एरासर न्ति] शरभः । तथाऽन्यान्यपि शृगालादिपदानि वा-
चनान्तरे दृश्यन्ते । [अभिजुजित्तए न्ति] अभियोक्तुं विद्याऽऽ-
दिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च स्वस्यानुप्रवेशेन-
नाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाह्यपुद्गलान् विना न स्या-
दिति कृत्योच्यते [नो बाहिरए पोगगले अपरियाइत्त न्ति] [अ-
णगारेणं से न्ति] अनगार एवासौ तत्त्वतोऽनगारस्यैवाऽश्वा-
द्यनुप्रवेशेन व्याप्रियमाणत्वात् [मायी अभिजुजइ न्ति] कषाय-
वानभियुक्त इत्यर्थः । अधिकृतवाचनायां ' मायीविउव्वइ न्ति '
दृश्यते । तत्र चाभियोगोऽपि विकुर्वणेति मन्तव्यम्, विक्रियारू-
पत्वात्तस्येति । [अन्नयरेसु न्ति] आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता
भवन्तीति कृत्वा अन्यत्रेण्वित्युक्तम्, केषुचिदित्यर्थः । व्युत्प-
द्यते चाभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु करोति च
विद्यादिलब्धपुण्यवकाऽभियोगभावनाम् । यदाह- 'मंता जोगं
काउं, भूर्इकम्मं तु जे पउंजंति । साइरंसइहिहेउं, अभिओगं
जावणं कुणइ ॥ १ ॥ ' इत्यादिसङ्ग्रहागथा गतार्था (इति
तृतीयशतके पञ्चमः) विकुर्वणाधिकारसम्बन्ध एष पष्ठ उद्दे-
शकः, तस्य चाद्यसूत्रम् । (अणगारे णमित्यादि) अनगारो गृह-
वासत्यागाद्वाचितात्मा स्वसमयानुसारिप्रशमादिभिर्मायात्यु-
पलक्षणत्वात् कषायवान् । सम्यग्दृष्टिरप्येवं स्यादित्याह-मिथ्या-
दृष्टिरन्यतीर्थिक इत्यर्थः । वीर्यलक्ष्यादिभिः करणचूताभिर्वारा-
णसीं नगरीं (संमोहपत्ति) विकुर्वितवान् राजगृहं नगरे रूपा-
णि पशुपुरुषप्रासादप्रभृतीनि जानाति पश्यति विभङ्गज्ञानलक्ष्या
(नो तहा भावं न्ति) यथा वस्तु तथा जावोऽजिज्ञंस्धिर्यज्ञं ज्ञाने
तत्तयाभावम् । अथवा यथैव संवेद्यते तथैव भावो बाह्यं वस्तु
यत्र तत्तयाभावम्, अन्यथा भावो यत्र तदन्यथाजावम् । क्रिया-
विशेषणे चेमे । स हि मन्यतेऽहं राजगृहं नगरं समवहतो वारा-
णस्या रूपाणि जानामि पश्यामीत्येवम् । (से न्ति) तस्याऽनगारस्य
[से न्ति] असौ दर्शने विपर्यासो विपर्ययो भवति; अन्यदीय-
रूपाणामन्यदीयतया विकल्पितत्वात् । दिङ्मोहादिव पूर्वामपि
पश्चिमां मन्यमानस्येति क्वचित् [सेसे दंसणे विवरीए विवच्चा-
से न्ति] दृश्यते तत्र च तस्य तद्दर्शनं विपरीतं क्षेत्रव्यत्ययेनेति
कृत्वा विपर्यासो मिथ्येत्यर्थः । एवं द्वितीयसूत्रमपि । तृतीये तु
[वाणारसीं नगरीं रायगिहं नगरं अंतराए एगं महं जणवयवगं
समोहए न्ति] वाराणसीं राजगृहं तयोरेव चान्तरालवर्तिनं जन-
पदवर्गं देशसमूहं समवहतो विकुर्वितवान्, तथैव च तानि
विभङ्गतो जानाति पश्यति केवलं नो तथाजावम्, यतोऽसौ वैक्रि-
याण्यपि तानि मन्यते स्याभाविक्कानीति [जरसे न्ति] यशोदे-
नुत्वाद्यशः [नगररुवं वा] इह यावत्क्रणादिदं दृश्यम्- " निगम-
रुवं वा, रायहाणिरुवं वा, खेडरुवं वा, कवरुवं वा, मरुव-
रुवं वा, दोणमुहरुवं वा, पट्टणरुवं वा आगररुवं वा, आसम-
रुवं वा, संवाहरुवं वत्ति " ज० ३ दा० ६ उ० ।

[१५] अनगारस्य भावितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिवर्शनम्—

अणगारे एं जंते ! जावियप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ, बाहिं पासइ चउजंगो ? एवं किं मूलं पासइ, कंदं पासइ च-
उजंगो, मूलं पासइ, खंभं पासइ चउजंगो । एवं मूलेणं वी-
जं संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं जोएयव्वं जाववीयं ।
एवं जाव पुप्फेण समं वीयं संजोएयव्वं । अणगारे एं
जंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पासइ, वीयं पासइ
चउभंगो ॥

[अंतो त्ति] मध्यं काष्ठसारादि, [बाहिं ति] बहिर्वर्तित्वकृप-
त्रसञ्चयादि । [एवं मूत्रेणमित्यादि] एवमिति मूलकन्दमूत्राभि-
लापेन मुत्रेण सह कन्दादिपदानि वाच्यानि, यावद् वीजपदम् ।
तत्र च मूलं १, कन्दः २, स्कन्धः ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रवालं ६,
पत्रं ७, पुष्पं ८, फलं ९, बीजं १० चेति दश पदानि । पर्यां च प-
ञ्चत्वारिंशद्विकसंयोगाः । एतावन्त्येव चतुर्जङ्घीसूत्राय-
ध्येयानीति । एतदेव दर्शयितुमाह—[एवं कंदेण वीत्यादि] भ०
३ श० ४ उ० ।

[१६] अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुद्गलादानपूर्वके
उल्लङ्घनप्रलङ्घने—

अणगारे एं जंते ! जावियप्पा बाहिरए पोग्गले अप-
रियाइत्ता पन्नू ! वेजारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा पल्लंघेत्तए वा ? ।
गोयमा ! एं इण्ण्डे सम्भे । अणगारे एं जंते ! जावियप्पा
बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पन्नू ! वैभारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा
पल्लंघेत्तए वा ? हंता । पन्नू ! अणगारे एं जंते ! भावियप्पा
बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे
रूवाइं एवइयाइं विउव्वित्ता वेजारपव्वयं अंतो अणुप्प-
विसित्ता पभू ! समं वा विसमं करेत्तए, विसमं वा
समं करेत्तए ? । गोयमा ! नो इण्ण्डे सम्भे, एवं चेव
वित्तिओ वि अलावगो, एववं परियाइत्ता । पन्नू ! से भंते !
किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा ! मायी
विकुव्वइ, एं अमायी विकुव्वइ । से केण्डे एं जंते !
एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा !
मायीणं पणीयं पाणजोयणं जोच्चा भोच्चा वामेइ, तस्स
एं तेणं पणीएणं पाणजोयणे णं अट्ठि अट्ठि मिंजा बहुली
जंवंति, पयण्ण मंससोणिए भवइ, जे वि य से अहा बायरा
पोग्गला ते वि य से परिणमंति । सोइंदियत्ताए जाव फा-
लिंदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिंजकेसमंसूरोमनहताए सुक्कत्ताए
सोणियत्ताए अमायीणं वूहं पाणजोयणं भोच्चा भोच्चा
एं वामेइ, तस्स एं तेणं वूहेणं पाणजोयणे एं अट्ठिअट्ठि-
मिंजापयणुजवंति बहुले मंससोणिए जे वि य से अहा बादरा
पोग्गला ते वि य से परिणमंति । तं जहा—उच्चारत्ताए
जाव सोणियत्ताए से तेण्डे एं जाव नो अमायी विकुव्वइ ।
मायीणं तस्स ठाणस्स अणालोइय पम्भिकंते काळं करेइ.

नत्थि तस्स आराहणा, अमायीणं तस्स ठाणस्स आलो-
इय पम्भिकंते काळं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा, से वं
जंते ! जंते त्ति ।

[बाहिरए त्ति] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्यर्थः ।
[वैभारं ति] वैभारमिधानं राजगृहकीडापर्वतं [उल्लंघित्तए
वेत्त्यादि] तत्रोल्लङ्घनं सकृत्, प्रलङ्घनं पुनःपुनरिति [नो इण्डे
सम्भे त्ति] वैक्रियपुद्गलपर्यादानं विना वैक्रियकरणस्यैवाभा-
वात् । बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु सति पर्वतस्योल्लङ्घनादौ प्रभुः
स्यात्, महतः पर्वतातिक्रामिणः शरीरस्य सम्भवादिति ।
[जावइयाइं इत्यादि] यावन्ति रूपाणि पशुपुरुषादिरूपाणि
[एवइयाइं ति] एतावन्ति [विउव्वित्त त्ति] वैक्रियाणि
कृत्वा वैभारं पर्वतं समं सन्तं विपमं, विपमं तु समं, कर्तुमिति
सम्बन्धः किं कृत्येत्याह—अन्तर्मध्ये वैभारस्यैवानुप्रविश्य [मायी
ति] मायावानुपलक्षणत्वादस्य सकपायप्रमत्त इति यावत् ।
प्रमत्तो हि न वैक्रियं कुरुत इति । [पणीयं ति] प्रणीतं गद्वत्स्नेह-
विदुकम् [भोच्चा २ वामेइ त्ति] वमनं करोति विरेचनं वा करो-
ति, वर्णवलाद्यर्थं यथाप्रणीतभोजनं तद्वमनं च विक्रियास्वभावं
मायित्वाद् भवति, एवं वैक्रियकरणमपीति तात्पर्यम् । [बहली-
जवंति त्ति] घनीजवन्ति, प्रणीतसामर्थ्यात् [पयण्ण त्ति] अन्न-
नम् [अहाबायर त्ति] यथोचितवादरा आहारपुङ्गवा इत्यर्थः ।
‘परिणमंति’ श्रोत्रेन्द्रियादिवेन, अन्यथा शरीरदार्ढ्याऽसंज्ञवा-
त् । [लुहं ति] रुद्धमप्रणीतम् [नो वामेइ त्ति] अकपायितया
विक्रियायामनर्थित्वात् ‘पासवणत्ताए’ इह यावत्करणादिदं
दृश्यम्—“खेलत्ताए सिंघाणत्ताए वंतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए
त्ति” रूक्षजोजिन उच्चारदित्यैवाहारादिपुङ्गवाः परिणमन्ति,
अन्यथा शरीरस्यासारताऽनापत्तेरिति । माय्यमायिनोः फलमाह—
[मायीणमित्यादि] [तस्स ठाण त्ति] तस्मात् स्थानात् विकुर्वणा-
करणात्, प्रणीतभोजनलक्षणाद् वा [अमायीणमित्यादि] परम-
मायित्वाद् वैक्रियं, प्रणीतभोजनं वा कृतवान्, पश्चाद् जातानु-
तापोऽमायी सन् तस्मात् स्थानात् आलोचितप्रतिक्रान्तः सन्
कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनेति । भ० ३ श० ४ उ० ।
[१७] वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति—

अणगारे एं भंते ! जावियप्पा देवं वेउव्विय समुग्घाएणं
समोहय जाणरूवे एं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा !
अत्येगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ ? । अत्येगइए एं
जाणं पासइ, नो देवं पासइ २ । अत्येगइए देवं पि जाणं पि
पासइ ३ । अत्येगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४ ।
अणगारे एं भंते ! जावियप्पा देविं विउव्विय समुग्घाएणं
समोहय जाणरूवे एं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा !
एवं चेव । अणगारे एं भंते ! जावियप्पा देवं सदेवियं
वेउव्विय समुग्घाएणं समोहय जाणरूवे एं जायमाणं जा-
णइ पासइ ? । गोयमा ! अत्येगइए देवं सदेवियं पासइ, नो
जाणं पासइ । एणं अजिद्धावेणं चत्तारि भंगा ॥

तत्र भावितात्मा संयमतपोऽन्याभेदविधानामनगराणां हि प्रा-
योऽवधिज्ञानाधिविधयो भवन्तीति कृत्वा भावितात्मैत्युक्तम्;
विहितोत्तरवैक्रियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण शिविकायाका-

रयता, वैक्रियधिमननेत्यर्थः । यान्तं गच्छन्तं, ज्ञानेन दर्शनेन ।
उत्तरमिह चतुर्भङ्गाविचित्रत्वाद्बोधिज्ञानस्येति । भ० ३ श० ३
उ० । [अणगारस्य भावितात्मनः केवलीसमुद्घातसमयवहनस्य,
मारणान्तिकसमुद्घातसमयवहनस्य वा चरमपुञ्जलाः सर्वत्रोक्तं
स्पृष्टातिष्ठति इति 'केवलसमुद्घात' शब्दे तृतीयनागे वक्ष्यते]

(१) अनगारस्य निकृष्टः ।

(२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः ।

(३) पृथ्वीकायिकादिदिसकानामनगारत्वं न भवति ।

(४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिद्ध्यति ।

(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगाहना ।

(६) अनगारस्य भक्तप्रत्याख्यातुराहारः ।

(७) शैवेशीप्रतिपन्नस्यानगारस्य एजना ।

(८) अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेइयाशरीरं जानाति ।

(९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया ।

(१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया ।

(११) अनगारस्य गत्युपपादौ ।

(१२) असंवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा ।

(१३) केयाघटिकालकृणकृत्यादिविकुर्वणा ।

(१४) अनगारस्य भावितात्मनः स्त्रीरूपस्य बाह्यपुञ्जलादा-
नपूर्वकं विकुर्वणा ।

(१५) अनगारस्य भावितात्मनो वृत्तमूलस्कन्धादिदर्शनम् ।

(१६) अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुञ्जलादानपूर्वकमुल्ल-
ह्नप्रलहने ।

(१७) वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति ।

ऋणकार-पुं० । ऋणमिव कालान्तरकेशानुभवहेतुतया ऋ-
णमष्टप्रकारं कर्म, तत्करोतीति कोऽर्थः-तथा २ गुरुवचनविप-
रातप्रवृत्तिभिरुपचिनोतीति ऋणकारः । दुःशिष्ये, उक्त० १ अ० ।
अणगारगुण-अनगारगुण-पुं० । ६ त० । साधोः व्रतपदके-
न्द्रियाभिप्रहादिषु सप्तविंशतिगुणेषु, उक्त० ३१ अ० ।

सत्तावीसं अणगारगुणा पण्यन्ता । तं जहा-पाणाइवाया-
ओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरम-
णं मेहृणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं सोइंदिय-
निग्गहे चक्खिंदियनिग्गहे घाणिंदियनिग्गहे जिह्जिंदियनि-
ग्गहे फासिंदियनिग्गहे कोहविवेगे माणविवेगे मायाविवेगे
द्वोनविवेगे जावसच्चे करणसच्चे जोगसच्चे खमाविरा-
गया मणमपाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया
णाणमंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्तसंपन्नया वेयणअहिया-
मणया मारणंतियअहियासणया ॥

अनगाराणां साधूनां, गुणाश्चारित्रविशेषाः अनगारगुणाः,
तत्र महाव्रतानि पञ्च (५) पञ्चेन्द्रियनिग्रहाश्च पञ्च (१०)
क्रोधादिविवेकाश्चत्वारः (१४) सत्यानि त्रीणि । तत्र भावसत्यं-
शुद्धान्तरात्मना, करणसत्यं-यत्प्रतिलेखनादिक्रियाः । तां यथो-
क्तं सम्यगुपयुक्तः कुरुते । योगसत्यं-योगानां मनःप्रभृतनाम-
वितथत्वम् [१७] क्षमाऽनभिष्यक्तकोधमानस्वरूपस्य द्वेषसं-
श्रितस्याप्राप्तिमात्रस्याभावः । अथवा क्रोधमानयोर्दयनिरो-
धः, क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोर्निरोधः, प्रागेवा-
भिहित इति न पुनरुक्ताऽपीति (१८) विरागता-अभिष्वङ्ग-
मात्रस्य भावः । अथवा मायालोभयोरनुदयो मायालोभविवे-

कशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागेभिहित इतीहापि
न पुनरुक्तेति (१९) मनोवाकायाणां समाहरणता, पाठा-न-
रतः-समत्वाहरणता अकुशलानां निरोधाख्यः (२२) ज्ञा-
नादिसंपन्नतास्तिस्रः (२५) वेदनाऽतिसहनता शीतायतिसं-
हनम् (२६) मारणान्तिकानिसहनता-कल्याणमित्रबुद्ध्या मा-
रणान्तिकोपसर्गसहनमिति (२७) स० २७ सम० । उक्त० ।
प्रश्न० । जीत० । आ० सू० । संथा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह-

से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया जासा-
समिया एसणासमिया आयाणंमत्तणिक्खेवणासमिया
उच्चारपासवणखेलमिधाणजञ्चपरिष्ठावणियासमिया मण-
समिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता काय-
गुत्ता गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तवंभचारी अकोहा अमाणा अ-
माया अलोजा संता पमंता उवसंता परिणिवुत्ता अणा-
सवा अगंथा विन्नसोया निरुवलेवा कंसपाइ व मुक्ततोया
संख इव णिरंजणा जीव इव अपफिहयगती गगणतत्रं
पि व निरालंघणा वाउरिव अपफिवंधा सारदसलिल इव
सुच्छिहियया पुक्खरपत्त इव निरुवलेवा कुम्भो इव गुत्तिंदि-
या विहग इव विप्पमुक्का खगिगिसाणं व एगजाया भारंड-
पक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंकीरा वसजो इव जातत्थि-
मा सीहो इव दुप्परसा मंदरो इव अप्पकंपा सागरो इव
गंजीरा चंदो इव सोमलेसा सूर्रो इव दित्तेया जच्चकंच-
णगंच इव जातरूवा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहु-
यहुयासणो विव तेयसा जल्लंता एत्थि एं ॥ ७० ॥ तस्मिं
जगवंताणं कत्थवि पविबंधे भवइ, से पडिबंधे चउविविहे
पण्यन्ते । तं जहा-अंडएइ वा (वोरुजेइ वा) पो-
यएइ वा उग्गहेइ वा पग्गहेइ वा जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति
तन्नं तन्नं दिसं अपडिबद्धा सुइज्जया अप्पन्नहुज्जया अप्प-
गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं जावेमाणे विहरंति ॥ ७१ ॥
तस्मिं एं भगवंताणं इमा एतारूवा जाया माया वित्ती होत्था ।
तं जहा-चउत्थे भत्ते उट्ठे जत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे जत्ते
दुवालसमे भत्ते चउदसमे जत्ते अष्टमासिए जत्ते मासिए भत्ते
दोमासिए तिमासिए चाउम्मासिए पंचमासिए ठम्मासिए
अदुत्तरं च एं उक्खित्तचरया निक्खित्तचरया उक्खि-
त्तणिक्खित्तचरया अंतचरया पंतचरया सूहचरया
समुदाणचरया संसट्ठचरया असंसट्ठचरया तज्जातसंसट्ठच-
रया दिट्ठलाभिया अप्पिड्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अप्पुट्ठला-
भिया जिक्खुत्ताभिया अभिक्खुत्ताभिया अन्नायचरया
अन्नायदोगचरया उवनिहिया संखादत्तिया परिमितपिंक्वा-
इया मुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विर-
साहारा लूदाहारा तुच्चाहारा अंतजीवी पंतजीवी आ-
यंविद्धिया पुरिमिट्टिया विगइया अमज्जमंसा ससिणो सो-
णियामरसजोइट्ठाणाइया पमिमाठाणाइया उक्कइआस-

णिया णेसज्जिया वीरमणिया दंदायतिया द्वागंरुसाङ्गो
अण्णान्ना अणत्तया अकंहुया अण्णदुहा धुतकेसमंरोमन-
हा मव्वगा य पडिकमविप्पमुक्ता चिट्ठंति ॥ ७२ ॥ तेणं
एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूंसं वामाई सामन्नपरियाणं
पाउणंति बहु बहु आवाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि
वा बहुंसं जत्ताई पच्चखाइ, पच्चखाइत्ता बहुंसं वामाई अ-
णसणाई ङेदंति, अणसणाई ङेदित्ता जस्मट्ठाए कीरति
नग्गजावे मुंरुभावे अण्णहाणजावे अदंतवणगे अद्धत्तए अ-
णोवाहणए जूमिसेज्जा फलगतसेज्जा कट्ठसेज्जा केसट्ठोए वंज-
चेरवासं परधरपवेमे लप्प्ता अलप्प्तामाणा अमाणणाओ ही-
लणाओ निंदणाओ खिसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ ता-
लणाओ उच्चावया गामकंटगा वावीसं परीसहोवसगं अहिया
सिज्जंति, तपट्ठं आराहंति, तपट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सा-
मनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कमिणं
पमिपुसं केवल्लवरणाणदंसणसमुप्पांमंति, समुप्पादंतित्ता
ततो पच्चा सिज्जंति वुज्जंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वा-
यंति सव्वदुक्खाणं अंतं करंति ॥ ७३ ॥

तद्यथा नाम केचनोत्तमसंज्ञनधृतिबोधोपेता अनगारा भगव-
न्तो ज्वन्तीति । ते पञ्चजिः समितिभिः समिताः, एवमित्युपदर्श-
ने । औपपातिकमाचाराङ्गसंबन्धिप्रथममुपाङ्गं तत्र साधुगुणाः
प्रबन्धेन व्यावर्त्यन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण दृष्टव्यमित्यतिदे-
शः । यावद्धूतमपनीतं केशश्मश्रुदोमनखादिकं यैस्ते, तथा
सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्ता निष्प्रतिकर्मशरीरास्तिष्ठन्तीति ॥ ७० ॥
॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ते चोपप्रविहारिणः प्रव्रज्यामनुपाद्य वाधारूपे
रोगतङ्के समुत्पन्नेऽनुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यानं विदधति, किं बहु-
नोक्तेन-यत्कृतं यमयोगोत्तकवन्निरास्वादः कर्वालधारामार्गव-
द् दुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपाद्यते, तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्राख्यमाराध्य, अव्याहतमनन्तं मोक्षकारणं केवलज्ञानमा-
प्नुवन्ति, केवलज्ञानावाप्तेरुर्ध्वं सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षम-
वाप्नुवन्तीति । सूत्रं २ श्रु० २ अ० ।

अणगारचरित्तधम्म-अनगारचरित्रधर्म-पुं० । अगारं नास्ति
येषां तेऽनगाराः साधवः, तेषां चारित्रधर्मः महाव्रतादिपावनरूपे
चारित्रधर्मजदे, “अणगारचरित्तधम्मं दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-
सरागसंजमे, वीयरगसंजमे” स्था० २ शा० १ उ० । [व्याख्या
चास्य स्वस्वस्थाने दृष्टव्या]

अणगारधम्म-अनगारधर्म-पुं० । ६ त० । सर्वविरतिचारित्रे य-
तिधर्मं, औ० ।

अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंरे
भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वड्स्सं सव्वाओ पाणाइ-
वायाओ वेरमणं मुसावायअदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहराई-
ओअणाओ वेरमणं अयमाउमो ! अणगारसामइए धम्मं
पण्णत्ते । एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निगंथे वा नि-
गंथी वा विहरेमाणे आणाए आराहए जवति ॥

अथाधिकृतवाचना-इह खलु-इहैव, मर्त्यलोके, [सव्वओ स-

व्वयाए सि] सर्वतः-द्रव्यतो ज्ञातव्येत्यर्थः । सर्वात्मना स-
र्वान् क्रोधादीनात्मपरिणामानाश्रित्येत्यर्थः । एते च मुण्डोभू-
त्वैत्यस्य विशेषणे, अनगारिता प्रव्रजितस्येत्यन्तस्य वा [अय-
माउमो चित्ति] अयमायुष्मन् ! [अणगारसामइए चित्ति] अनगाराणां
समये समाचारे, सिद्धान्ते वा ज्ञोऽनगारसामयिको, अनगार-
सामयिकं वा [सिक्खाए चित्ति] शिक्षायामभ्यासे [आणाए चित्ति]
आज्ञाया विहरन् आराधको भवति ज्ञानादीनाम् । अथवा आ-
ज्ञाया जिनोपदेशस्याराधको जयतीति । औ० ।

साधुधर्ममाह—

खंती य मइवज्जव, मुत्ती तवसंजमे अ वोधव्वे ।

सचं सोयं आकिं-चणं च वंजं च जइधम्मो ॥ १४ ॥

क्रान्तिश्च, मार्दवम्, आर्जवम्, मुक्तिः, तपःसंयमौ च बोद्धव्यौ;
सत्यं, शौचम्, आकिञ्चन्यं, ब्रह्मचर्यं च यतिधर्म इति गाथाक-
रार्थः ॥ १४ ॥ दश० नि० ६ अ० ।

सापेक्षो निरपेक्षश्च, यतिधर्मो द्विधा मतः ।

सापेक्षस्तत्र शिक्षायै, गुर्वन्तेवासिताऽन्वहम् ॥

यतिधर्म उक्तलक्षणः मुनिसंबन्ध्यनुष्ठानविशेषः, द्विधा द्वाज्यां
प्रकाराभ्यां, मतः प्ररूपितः, जिनैरिति शेषः । द्वैविध्यमेवाह-
सापेक्षो निरपेक्षश्चेति । तत्र गुरुगच्छादिसाहाय्यमपेक्षमाणो यः
प्रव्रज्यां परिपालयति स सापेक्षः । इतरस्तु निरपेक्षो यतिः, ग-
च्छाद्यपेक्षारहित इत्यर्थः । तयोर्धर्मोऽपि क्रमेण गच्छावासलक्षणं
जिनकल्पादिलक्षणं सापेक्षो निरपेक्षश्चोच्यते, धर्मधर्मिणो-
रभेदोपचारात् । तत्र तयोः सापेक्षनिरपेक्षयतिधर्मयोर्मध्यात्
अयं सापेक्षयतिधर्मो भवतीति क्रियासंबन्धः । एवमप्यपि यो-
ज्यम् । स च यथा शिक्षाया इत्यादि । तत्र शिक्षा अन्यासः ।
सा च द्विधा—ग्रहणशिक्षाऽऽसेवनाशिक्षा चेति । तत्र ग्रहण-
शिक्षा—प्रतिदिनसूत्रार्थग्रहणाज्यासः । आसेवनाशिक्षा—प्रति-
दिनक्रियाऽभ्यासः । तस्यैतदर्थं न तद्दूरपूर्वार्थमिति भावः ।
ध० २ अधि० ।

अणगारमगगड्-अनगारमार्गगति-स्त्री० । ६ त० । सम्यग्दृष्टे-
स्तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण निर्मुक्तस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु,
सिद्धिगतौ च । उक्त० ।

एषां चोत्तराध्ययनानां पञ्चत्रिंशेऽध्ययने दर्शितानि सूत्राणि-
मुणेरह मेगगमणे, मगं बुद्धेहि देसियं ।

जमायरंतो जिक्खू य, दुक्ख्वाणंतकरो जवे ॥ १ ॥

शृणुत आकर्णयत, मे मम, कथयत इति शेषः । एकाग्रमनसः
कोऽर्थः-अनन्यगतचित्ताः सन्तः, शिष्या इति शेषः । किं तदित्याह-
मार्गमुक्तरूपं प्रक्रमांमुक्तैर्बुद्धैरवगतयथास्थितवस्तुतत्त्वैरुपपन्न-
केवलैरहंभिः श्रुतकेवलजिनिर्गणधरादिभिर्वैयुक्तं भवति । देशि-
तं प्रतिपादितम् । अर्थतः सूत्रतश्च । तमेव विशेषयितुमाह-[ज-
मिति] मार्गमाचरन् आसेवमानो, भिक्षुरनगारो, दुःखानां शा-
रीरमानसानामन्तः पर्यन्तः तत्करणशीलोऽन्तकरो, भवेत्
स्यात्, सकलकर्मनिर्मूलनत इति ज्ञावः । तदनेनासेव्यासेवक-
संबन्धेनाऽनगारसंबन्धिमागं, तत्फलं च मुक्तिगतिरिति
दर्शनम् । ततश्चानगारमार्गं, तन्नतिं च शृणुत इत्यर्थं वक्तुं भव-
तीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह—

गिहवासं परिचवज्ज, पव्वज्जामसिस्सओ मुणी ।

इमे संगे वियाणज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥ २ ॥

गृहवासं गृहावस्थानं, यदि वा गृहमेव पारवश्यहेतुतया पा-
शां गृहपाशस्तं, परित्यज्य परिहृत्य, प्रव्रज्यां सर्वसङ्गपरि-
त्यागलक्षणं भागवतीं दीक्षाम्, आश्रितः प्रतिपन्नः, मुनिः, इमान्
प्रतिप्राणिप्रतीततया प्रत्यक्षान्, सङ्गान् पुत्रकन्यादींस्तत्प्रति-
बन्धान् वा, विजानीयाद् भवहेतवोऽस्मांति विशेषेणावबुध्यते,
निश्चयतो निष्कलस्योऽसत्त्वात् ज्ञानस्य च विरतिफलत्वात्
प्रत्याचक्षीतेत्युक्तं भवति । संगशब्दव्युत्पत्तिमाह—[जेहिं ति]
सुव्यवस्थायाद् येषु, सज्जन्ते प्रतिवध्यन्ते, अथवा ये संगैः सज्जन्ते
संश्रयन्ते, ज्ञानावरणादिकर्मण्येति गम्यते । के ते ? । मानवा
मनुष्याः, उपव्रज्यत्वादप्येति जन्तवः ॥ २ ॥

तदेव हिंसं अजिपं, चोज्जं अवज्जंसेवणं ।

इच्छाकामं च लोहं च, संजओ परिवज्जणं ॥ ३ ॥

तथेति समुच्चये । एवेति पूरणे । हिंसा प्राणज्यपरोपणम्,
अग्नीकमृतभाषणम्, चौर्यमदत्तादानम्, अब्रह्मसेवनं मैथु-
नाचरणम्, इच्छारूपः काम इच्छाकामस्तं चाप्राप्तवस्तुकाङ्क्षारूपं,
लोभं च लब्धवस्तुविषयगृह्णात्मकम्, अनेनोभयेनापि परिग्रह
उक्तः । परिग्रहं च संयतो यतिः, परिवर्जयेत् परिहरेत् । अनेन
मुन्नगुणा उक्ताः । एतदवस्थितस्यापि च शरीरिणोऽवश्यमाश्र-
याहाराभ्यां प्रयोजनं, तयोश्च तदतिचारहेतुत्वमपि क्रयोश्चि-
त्स्यादिति मन्वानस्तत्परिहाराय सूत्रपटकेन तावदाश्रयचिन्तां
प्रतियतते ॥ ३ ॥

मनोहरं चित्तधरं, मल्लभूवण वासियं ।

मकवासं पंरुल्लोयं, मणमा वि न पत्थणं ॥ ४ ॥

[मनोहरं ति] चित्ताङ्गपकं, किं तत् ? चित्रप्रधानं गृहाम् । तदापि
कीदृशम् ? , माल्यैर्प्राथितपुष्पैर्धूपनैश्च काञ्चागुरुतुल्यकादिसम्ब-
न्धितिर्यामितं सुरजीकृतं, माल्यधूपनवासितं, सह कपाटन वर्तत
इति मकपाटम्, तदपि पाण्डुरोल्लोचं श्वेतवस्त्रविनूयितं, मनसा-
पि, आस्तां वचसा, न प्रार्थयेत् नाभिलषेत्, किं पुनस्तत्र
निष्ठेदिति भावः ॥ ४ ॥

किं पुनरेवमुपदिश्यत इत्याह—

इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिस्सम्मि उवस्सणं ।

इकुराइ निवारं उ, कामरागविवदणं ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, तुरिति यस्माद्, निकोरनगरस्य
तादृशे तथाभूते उपाश्रये, दुःखेन क्रियन्ते-करोतेः सर्वधात्वर्थ-
त्वाच्छ्रयन्ते दुष्कराणि, दुःशकानीत्यर्थः । तुरेवकार्थः । दुष्क-
राण्येव धारयितुमुन्मार्गप्रवृत्तिनिषेधतो मागे एव व्यवस्थापयि-
तुम् । पञ्चने च-‘दुष्कराणि निवारिणं ति’ । तत्रापि निवारयितुमि-
ति नियन्त्रितुं, स्वयविषये प्रवृत्तिरिति गम्यते । कीदृशम् ? , काम्य-
मानत्वात् कामममनोक्षा इन्द्रियविषयास्तेषु रागोऽभिप्रेतस्त-
स्य विवर्द्धने विशेषेण वृद्धिहेतौ कामरागविवर्द्धने, तथाविध-
चित्तव्याङ्ग्यसंभवात् । कस्यचिन्मूलगुणस्य कथंचिदतिचार-
संतवे दोष इत्येवमुपदिश्यत इति ज्ञावः ॥ ५ ॥

एवं तर्हि क कीदृशं स्यादयम् ? —

मुसाणे मुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगणं ।

परिके परकसे वा, वामं तथाभिरायणं ॥ ६ ॥

इमंशानि प्रेतभूमौ, शून्यागारे उद्भासितगृहे, वा-विकल्पे, वृक्षमूले

वा पादपसमीपे, एकदेत्येकस्मिन्स्थानविधकाले । पठ्यते चैवम-
पि-‘एगोत्ति’ एकको रागद्वेषवियुक्तोऽसहायो वा, तथाविधयो-
स्यतायां, पारक्ये वा परसम्बन्धिनि तथाविधप्रतिबन्धेनास्वीकृतं ।
पाठान्तरतः— “ परिके ” देशीभाष्यैकान्ते ख्याद्यसंकुले,
परकृते-परैरन्यैर्निष्पादिते, स्वार्थमिति गम्यते । वा समुच्चये ।
वासमवस्थानं, तत्र इमशानादौ, अभिरौचयेत् प्रतिज्ञासयेत् ।
अर्थादात्मनो त्रिकुरित्युत्तरेण योगः ॥ ६ ॥

फामुयम्मि अणावाहे, इत्थीहिं अणजिहुए ।

तत्थ मंकप्पणं वामं, भिक्खू परमसंजणं ॥ ७ ॥

प्रासुके अचित्तीभूतभूतारूपे, तथा-अविद्यमाना बाधा, आत्म-
नः परेषां वाऽऽगन्तुकसत्त्वानां गृहस्थानां च यस्मिन्स्थिता
तस्मिन्, तथा-स्त्रीजिरङ्गनाभिः, उपलक्षणत्वात् पण्यकादिजि-
श्चानभिदुते, तदुपपन्नवहित इत्यर्थः । एतानि हि मुक्तिपथप्रतिप-
न्थित्वेन तत्प्रवृत्तानामुपपन्नवहेतुभूतानीत्येवमभिधानम् । तत्रति
प्रागुक्तविशेषणविशिष्ट इमशानादौ सम्यक्कल्पयेत् कुर्यात् । किम् ?
वासम्, भिक्षुणशीतो त्रिकुः । स च शाक्यादिरपि स्यादत आह-
परमः प्रधानः, स चेह मौक्तस्तदर्थं सम्यक् यतते परमसंयतः,
जिनमार्गप्रतिपन्न इत्युक्तं भवति । तस्यैव मुक्तिमार्गं प्रति वस्तु-
तः सम्यग् यत्नसंभवात् । प्राग्वासं तत्राजिरोचयेदित्युक्तं, रुचि-
मात्रेणैव कश्चित्तुष्येदिति । तत्र संकल्पयद्वासमित्यभिधानम् ॥ ७ ॥

ननु किमिह परकृत इति विशेषणमुक्तमित्याशङ्क्याह—

न सयं गिहाइ कुवेज्जा, नेव अज्जेहिं कारणं ।

गिहकम्मममारम्भे, जूयाणं दिस्सणं वट्ठो ॥ ८ ॥

न स्वयमात्मना, गृहाणि उपाश्रयरूपाणि, कुर्वीत विदधीत, नै-
वाऽन्यैर्गृहस्थादिभिः, कारयेद्विधापयेत्, उपलक्षणत्वान्नापि कुर्व-
न्तमनुमन्येत् । किमिति ? , यतो गृहनिष्पत्त्यर्थं कर्म गृहकर्म, इष्ट-
कामृदानयनादि, तदेव समारम्भः, प्राणिनां परितोपकरणत्वात् ।
उक्तं हि-‘परितोपकरणो भवे समारम्भोत्ति’ । यद्वा-तस्य समार-
म्भः प्रवर्तनं गृहकर्मसमारम्भः, तस्मिन्, जूतानामेकेन्द्रियादिप्रा-
णिनां, दृश्यते प्रत्यक्षत एवोपवर्ज्यते, कोऽसौ ? , यथो विनाशः ।

जूतातां वध इत्युक्तं तत्र मा भूत् केषां-

चिदेवासावित्याशङ्क्याह—

तसाणं यावराणं च, मुहुमाणं वायराणं य ।

तम्हा गिहममारंभं, संजओ परिवज्जणं ॥ ९ ॥

व्रसानां द्वीप्त्रियादीनां, स्थावराणां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम्,
चः समुच्चये । तेषामपि सूक्ष्माणामतिशुद्धाणां शरीरा-
पेक्षया; जीवप्रदेशापेक्षया तस्यामूर्ततयैव प्रायो व्यवहारायोगाद्,
वादराणां चैवमेव, स्थूलानाम् । यद्वा-सूक्ष्मनामकर्मोदयान्मू-
क्षमाणं, तेषामपि प्रमादतो भावहिंसासंज्ञवात् । वादरनामक-
र्मोदयाच्च वादराणाम् । उपसंहर्तुमाह-[तम्हा ति] यस्मादेवभूत-
वधस्तस्माद् गृहसमारम्भं संयतः सम्यग्हिंसादिच्य उपर-
तः, अनगार इत्यर्थः । परिवर्जयेत् परिहरेत् ॥ ९ ॥

इत्थमाश्रयचिन्तां विधायाहारचिन्तामाह—

तदेव जत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।

पाणजृयदयट्ठाणं, न पणं न पयावणं ॥ १० ॥

तथैव तेनैव प्रकारेण, भक्तानि च शाल्योदनादीनि, पीयन्त इ-
ति पानानि च पयःप्रवृत्तीनि, भक्तपानानि; तेषु पचनानि च
स्वयं विक्रेदापादनकथनानि, पाचनानि च तान्येवान्यैः पचन-

पाचनानि, तेषु च भूतवधो दृश्यते इति प्रक्रमः । ततः किमि-
त्याह--प्राणा द्विन्द्रियादयः, चूतानि पृथिव्यादीनि, तेषां दया
रक्षणम्, प्राणभूतदया । तदर्थम्-तद्धेतोः । किमुक्तं ज्वति-पचन-
पाचनप्रवृत्तानां यः संभवी जीवोपधातः स मा जृदिति न पचे-
त्, स्वता भक्तादीनि प्रक्रमः । नापि पाचयेत्, तदेवायं—
रिति ॥ १० ॥

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

जलधन्निस्सिया जीवा, पुढवीकट्टानिस्सिया ।

दृष्टानि जलपाणेषु, तम्हा भिक्खु न पयावए ॥ ११ ॥

जलं च पानीयं, धान्यं च शाक्यादि, तन्निःश्रितास्तत्रान्यत्र च
उत्पद्य ये तन्निःश्रयाः स्थिताः-पूतरकचुजगेलिकपिपीलिका-
प्रजृतयः । उपलक्षणत्वात् तद्रूपाश्च जीवाः प्राणिनः । एवं
पृथ्वीकायनिःश्रिता एकैन्द्रियादयो हन्यन्ते, भक्तपात्रेषु प्रक्रमात्
पच्यमानादिषु । यत एवं तस्माद् भिक्खुर्न पाचयेत् । अत्र अपेगं-
म्यमानत्वात् पाचयेदपि न, किं पुनः स्वयं पचेत् । अनुमतिनि-
षेधोपलक्षणं चेतत् ॥ ११ ॥

अपरं च—

विसप्पे मव्वओ धारे, बहुपाणिविणासणे ।

नात्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवए ॥ १२ ॥

विसर्पतीति विसर्पसं, स्वल्पमपि बहु भवति । यत उक्तम्—
“अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं” इत्यादि । सर्वतः सर्वासु
दिक्षु, धारेव धारा जीवविनाशिका शक्तिरस्येति सर्वतो धारम्,
सर्वदिगयस्थितजन्तूपघातकत्वात् । उक्तं च—“पार्श्वपरुणं वा
वि” इत्यादि । अतएव बहुधा प्राणविनाशनमनेकजीवजीवि-
तव्यपरोपकं, नास्ति न विद्यते, ज्योतिःसमम्-अग्नि तुल्यम्, शस्यन्ते
हिंस्यन्तेऽनेन प्राणिन इति शस्त्रं प्रहरणम्, अस्यादिति गम्यते ।
तस्याविसर्पित्वादसर्वतो धारत्वादल्पजन्तूपघातत्वाच्चेति ज्ञातव्यं ।
सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत् । यस्माद्वं तस्माद्, ज्योतिर्वैश्वान-
रम्, न दीपयेत् न उवाचयेत् । अनेन च पचनस्याग्निवत्त्वनाऽवि-
नाभावित्वान्न तत्परिहार एव समर्थितः । इत्थं च विशेषप्रक्रमेऽपि
सामान्याभिधानं प्रसङ्गतः शीतापनोदादिप्रयोजनेनापि तद्वारम्भ-
निषेधार्थम्, आधाकर्मदिक्षा विशुद्धकोटिरनेनैवार्थतः परिहार्या-
का, तदपरिहारे ह्यवश्यं भाविपचनानुमत्यादिप्रसङ्ग इति ॥ १२ ॥
नन्वेवं जीववधनिमित्तत्वमेव पचनादिनिषेधे निषेधनम्, तच्च
नास्ति क्रयविक्रययोरिति, युक्तमेवाज्यां निर्वहणमिति कस्यचि-
दाशङ्का स्यात्, अतस्तदपनोदनाद्यहिरण्यादिपरिग्रहपूर्वकत्वाच्-
योस्तन्निषेधपूर्वकत्वे सूत्रवयेण तत्परिहारमाह—

हिरन्नं जायरूवं च, मणसा वि न पत्थए ।

समझेछुकंणए भिक्खू, विरए कयविक्रए ॥ १३ ॥

हिरण्यं कनकम्, जातरूपं रूप्यम् । चकारोऽनुक्तशेषधनधान्यादि-
समुच्चये । मनसाऽपि चित्तेनापि, आस्तां वाचा, न प्रार्थयेद्-ममा-
मुक्तं स्यादिति । अपेगम्यमानत्वात्प्रार्थयेदपि न, किं पुनः परिगृही-
यात् । कीदृशः सन्?, समे कोऽर्थः—प्रतिबन्धाभावतस्तुल्ये, तेषुका-
ञ्चने मृतपिण्डाणामकनकोऽस्येति समझेछुकाञ्चनः, एवंविधश्च सन्
भिक्खुर्विरतो निवृत्तः, स्यादिति शेषः । कुतः?, क्रयो-मूल्येनान्य-
संबन्धेन तथाविधवस्तुनः स्वीकारः, विक्रयश्च-तस्यैवात्मीयस्य
तथाविधवस्तुजातेनान्यस्य दानम्, क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रय-
मिति समाहारः, तस्मात् । पञ्चमर्थं सममी, विषये सममी वा ।

तत्र च क्रयविक्रयविषये विरत इति-विरतिमानित्यर्थः ॥ १३ ॥

किमित्येवमत आह—

क्रिणंते कइओ होइ, विक्रणंते ग वाणिओ ।

कयविक्रयम्मि वट्ठो, भिक्खू न हवइ तारिसो ॥ १४ ॥

क्रीणन् परकीयं वस्तु मूल्येनादानः, क्रयोऽस्यास्तीति क्रयिको
ज्वति, तथाविधेतरलोकरुदश एव भवति । विक्रीणानश्च स्व-
कीयं वस्तु तथैव परस्य ददद् वणिग्भवति, वाणिज्यप्रवृत्तत्वा-
दिति भावः, अतएव क्रयविक्रये उक्तरूपे, वर्तमानः प्रवृत्तेमानो,
भिक्खुर्न तादृशो भवति, गम्यमानत्वाद् यादृशः सूत्राजिहितो
भावभिक्खुरिति ॥ १४ ॥

किमित्याह—

भिक्षिखयव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा जिकखुवित्तिणा ।

कयविक्रयां महादोसो, जिकखावित्ती सुहावहा ॥ १५ ॥

जिक्रितव्यं याचितव्यम्, तथाविधं वस्त्विति गम्यते । न नैव,
क्रेतव्यं मूल्येन ग्रहीतव्यम्, केन?, भिक्षुणा । कीदृशः?, जिक्रयैव
वृत्तिवर्तनं निर्वहणं यस्यासौ भिक्षावृत्तिस्तेन । उक्तं हि—“सव्यं
से जाइयं होइ, नत्थि किञ्चि अजाइयं” । क्रयविक्रयवद् भिक्षाऽपि
सदोषैव भविष्यतीति मन्दधीर्मयेत, तत आह-क्रयश्च विक्रयश्च
क्रयविक्रयम्, व्यवच्छेदफलत्वादस्य, तदेव महादोषः उक्तन्यायतः,
विद्वज्ज्यत्ययश्च प्राग्वत् इति । जिक्राया वृत्तिः शुभ्रमिह लोकर-
लोकयोः कल्याणं, सुखं वा तदावहति समन्तात् प्रापयतीति
शुभावहा, सुखावहा वा । एतेन क्रीतदोषपरिहार उक्तः, स चा-
शेषविशुद्धकोटीगतदोषपरिहारोपलक्षणम् ॥ १५ ॥

जिक्रितव्यमित्युक्तं, तच्च दानश्च दानदिवश्मनि कचिदेकत्रैव
स्यादत आह—

समुयाणं उठमेसेजा, जहासुत्तमणिदियं ।

लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिण्णवायं चरे मुणी ॥ १६ ॥

समुदानं भैक्ष्यम्, न त्वेकभिक्षामेव, तच्चोऽम्भिवोऽम्भ-अन्या-
न्यवेश्मनःस्वल्पस्वल्पमात्राणां मीक्षनाम्भुकरवृत्त्या हि भ्रमत
इदमेव भवतीत्येवमुक्तम्, एष्येन्नैवेपयेत् । एतच्छोत्सूत्रमपि
स्यात् । अत आह-सूत्रमागमस्तदनतिक्रमेण यथासूत्रमागमाभि-
हितोऽन्वेषणाद्यबाधात् । इत्युक्तं ज्वति-तत एवानिन्दितं शिष्टा-
निन्देन स्वपरप्रशंसादिहेतुनोत्पादितं जात्यादिजुगुप्सितजनसं-
बन्धिवान् ज्वति । तथा ज्ञानश्च अज्ञानश्च ज्ञानाज्ञानं, तस्मिन्,
संतुष्टश्चादनादेः प्राप्ताप्राप्तौ च संतोषवान्, न तु वाञ्छाविधु-
रितचित्त इति ज्ञातव्यं । इह च लाभेऽपि वाञ्छा-उत्तरोत्तरवस्तु-
विषयत्वेन भावनीया । पिण्डव्यत इति पिण्डो जिक्रा, तस्य
पातः पतनम्, प्रक्रमात् पात्रेऽस्मिन्निति पिण्डपातं भिक्षादनम्, तद्
चन्दोऽसेवेत, मुनिरिति तपस्वी । पात्रान्तरतः-पिण्डस्य पातः
पिण्डपातस्तं गवेषयेदन्वेषयेत् । उभयत्र च वाक्यान्तरविषय-
त्वादपौनरुक्त्यम् ॥ १६ ॥

इत्थं च पिण्डमवाप्य यथा जुञ्जीत तथाऽऽह—

अज्ञोले न रमे गिच्छे, जिञ्जादंते अमुच्छिण्ण ।

न रमहाए जुंजेजा, जवण्णहाए महामुणी ॥ १७ ॥

अलोचनः सरसाश्रे प्राप्ते लाम्यव्यवान् न, रसे स्निग्धमधुरादौ
गृह्योऽप्राप्तावजिकाङ्क्षावान्, कथं चैवंविधः? । यतो [जिञ्जादंते
त्ति] प्राकृतत्वादान्ता वशीकृता जिह्वा रसना येनासौ दान्त-
जिह्वा, अत एवामुच्छिन्नतः सन्निधेरकरणेन नःकाशे चाग्निवद्वा-

भावेन। उक्तं हि—“णो वामातो हणूयाओ, दाहिणे दाहिणाउ वा।
वामं संचालए” एवंविधश्च सन्नेव [रसघाए ति] रसार्थं
सरसमिदमहमास्वादयामीति, भातुविशयो वा रसः। स च शे-
षभातृपलक्षण, ततस्तदुपचयः स्यादित्येतदर्थं न चुञ्जित ताभ्य-
वहरन्। किमर्थं तर्हि? यापना-निर्वाहः, स चार्थासंय-
मस्य, तदर्थं महामुनिः प्रधानतस्वी। अनेन पिण्डविशुद्धि-
रुक्ता। तदेवमादौ मूलगुणान् विधेयतयाऽभिधाय तत्प्रतिपा-
दनाथमाश्रयाहारचिन्ताद्वारेण उत्तरगुणाश्च उक्ताः ॥ १७ ॥
संप्रति तद्व्यभिन्नस्तत् एवात्मन्युत्पन्नबहुमानः कश्चिद्वर्तना-
दि प्रार्थयेदिति तन्निषेधार्थमाह—

अचणं सेवणं चैव, वंदणं पूयणं तदा ।

ऽह्मीसकारमप्माणं, पणमा वि न पत्थए ॥ १८ ॥

अर्चनां पुण्यादिभिः पूजाम्, सेवनां निषद्यादिविषयां, स्थस्ति-
कादिन्यासात्मिकां वा। चः समुच्चये; एवोऽन्यारणे, नेत्यनेन
संभन्स्यते। वन्दनं नमस्तुभ्यमित्यादि वाचाऽभीष्टवचनम्, पू-
जनं विशिष्टवस्त्रादिभिः प्रतिज्ञाजनम्। तथेति समुच्चये। क-
ञ्चिच्च आचक्रोपकरणदि संपदाऽमर्षौपध्यादिरूपा वा, सत्कार-
श्चार्थप्रदानादि, संमानश्च अङ्गुष्ठानादि, ऋद्धिसत्कार-
संमानम्, ततो मनसाऽपि, आस्तां वाचा, नैव प्रार्थयेत्-ममैवं
स्थादित्यतिव्रजेत् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह—

मुक्कञ्जाणं क्रियाएज्जा, अनियाणं अकिंचणं ।

वोमट्काए विहरेंज्जा, जाव कालम्म पज्जओ ॥ १९ ॥

शुक्लध्यानमुक्करूपं यथा भवत्येवं ध्यायेच्चिन्तयेत्। अनिदानो-
पविद्यमाननिदानः, अकिञ्चनः प्रवृत्तः, व्युत्पद्य इव व्युत्पद्यः का-
यः शरीरं येन स तथा, विहरेतः अप्रतिवृत्तिहारतयेति गम्य-
ते। यावदिति मर्यादायाम्, कालस्येति मृत्योः, [पज्जओ ति]
पर्यायः परिपाटी, प्रस्ताव इति यावत्। यावत्परणसमयः क्रम-
प्राप्ते भवतीति तावः ॥ १९ ॥

एवंविधाऽनगरगुणस्थश्च यावदायुर्विहृत्य मृत्युसमये

यन्मृत्या यन्फलमवाप्नोति तदाह—

निज्जृद्धिक्कण आट्ठारं, कात्थम्ममे उवट्ठिए ।

चड्ठण माणुमं वोदिं, पट्ठ दुक्खे विमुच्चड ॥ २० ॥

(निज्जृद्धिक्कण ति) परित्यज्य, आहारमशनादि, तत्परित्याग-
श्च संलम्बनाक्रमेणैव, जगति तत्करणे बहुतरङ्गोपसंतवान्।
तथा चागमः—“देहस्मि अमंविहिण, सहसा धाट्ठि खिज्जमा-
वोदिं। जायठ अट्ठज्जाणं, सरोरिणो चरिमकालम्म” ॥ १ ॥ कदा?;
कालधर्मे आयुःकयत्रकणे मृत्युस्वनावे, उपस्थिते प्रत्यासर्जान्ते,
त्यक्त्वाऽपदाय, [माणुसं ति] मानुषी मनुष्यसम्बन्धिनीम,
वोदिं शरीरम्, प्रभुः—वीर्यान्तरायकृततां विशिष्टसामर्थ्यवान्,
[दुक्खे ति] दुःखैः शारीरमानसैः, विमुच्यते-विशेषेण मुच्यते,
तन्निवन्धनकर्मापगतं इति तावः ॥ २० ॥

कहिंशः सन्नित्याह—

निम्पमां निग्दंकारो, वीयगगो अणामवो ।

संपत्तो केवळे नाणं, मामए परिनिव्वुसे ॥ २१ ॥—ति वेमि ॥

निम्पमाऽपगतममकारः, निग्दंकारोऽऽममुक्कजातीय इत्याद्यहं-
काररहितः, ईदृशकुतः?, वीतरागः प्राग्जिगनरागद्वेषः, तथाऽना-
श्रवः कर्माश्रयरहितः, मिथ्यात्वादिनन्देन्यत्वात्। संप्राप्तः, केव-

लज्ञानम्-उत्तररूपम्। शाश्वतम्, कदाचिदव्यवच्छेदात्। परिनि-
र्वृतोऽस्वास्थ्यदंतुकर्माजायतः सर्वथा स्वस्थीकृतः, इत्येकविंश-
तिसूत्रभावार्थः ॥ २१ ॥ उक्तं ३५ अ०। स०।

अणगारमट्ठेमि-अनगारमहर्षि-पुं०। अनगाराश्च ते महर्षय-
श्चेति। अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु, स०।

अणगारवाड्(ण)अनगारवादिन्-पुं०। यतिवेषमास्थितेषु अ-
नगारगुणरहितेषु अनगारमन्येषु शाक्यादिषु, आच्चा० १ भु० १
अ० २ उ०। [“अनगार” शब्देऽत्रैव भागे २७० पृष्ठे भावितं चैतद्
यत् शाक्यादयो नानगाराः]

अणगारसामाड्य-अनगारसामायिक-त्रि०। अनगाराणां स-
मये भव इति। अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा भवे,
औ०। स्था०।

अनगारसीह-अनगारमिह-पुं०। मुनिसिंहे, “एवं धुणित्ताण
स रायसीहं परमाइ जत्तीए” उक्तं २० अ०।

अनगारसुय-अनगारश्रुत-न०। आचारश्रुतापरनामके सूत्रकृता-
ङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चमाध्यायने, सूत्र०। (“आयारसुय”
शब्दे द्वि० भा० ३६१ पृष्ठस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्)।

अणगारि (ण)-अनगारिन्-पुं०। अगारी गृही असंयतस्तत्प्र-
तिषेधादनगारी। संयते, प्रश्न०।

अणगारिय-अनगारिक-त्रि०। न विद्यते अगारं यस्येत्यनगारः
साधुस्तस्येदमिति। अनगारसम्बन्धिनि सर्वविरतिसामायिका-
दौ, विशेष०।

अणगारिया-अनगारिता-स्त्री०। अगारी गृही असंयतः, तत्प्र-
तिषेधादनगारी संयतः, तद्भावस्तत्ता। साधुतायाम्, स्था०
४ भा० १ उ०।

अणगाल-अनगाल-पुं०। दुष्काले, वृ० ३ उ०।

अणगिण-अनगन्-पुं०। सुषमसुषमायां जरतवर्षे कर्मजूमिषु
च सदा भवति कल्पवृक्षजन्दे, ति०। अनेषु कल्पपादपेषु
अत्यर्थं बहुप्रकाराणि वस्त्राणि विश्रस्ता त एवातिसूक्ष्मसुकुमा-
रदेवदुमानुकाराणि मनोहराणि निर्मलानि उपजायन्ते। तं०।
जी०। अदिगम्भरे, आच्छादनविशिष्टे च। वाच०।

अणग्य-अनर्घ्य-स्त्री०। सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्ये, आव०

४ अ०। अर्धगोचरातीते, संथा०। “सत्त्वे वि य सिद्धंता,
साद्व्यवयणामया सतेल्लोका। जिण्वयणस्स भगवओ, न तुल्ल-
मियं अणग्गेयं” ॥ १ ॥ यथाऽवस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलप-
रणेतृशास्त्रार्थादविद्यमानमूल्यमनर्घ्यम्। अथवा ऋणग्धमिति,
तत्र ऋणं पूर्वजवपरम्परोपात्तमष्टप्रकारं कर्म, तद् हन्ति यत्तत्
ऋणघ्नम्। दर्श०।

अणग्ययणचूड-अनर्घ्यरत्नचूड-पुं०। भृगुपत्तने श्रीमुनिसुवते
देवे, त्रृगुपत्तने अनर्घ्यरत्नचूडः श्रीमुनिसुवतः। ती० ४४ कल्प।

अणग्य-अनग्य-त्रि०। नास्ति अर्घ्यं पापं दुःखं व्यसनं कालुष्यं
वा यस्य। पापशून्ये, मलशून्ये, स्वच्छे, वाच०। शोभने, पं० व०
१ भा०। दर्श०। व्यावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिवाचकमिथ्यात्वमालिन्ये,
“संविग्नस्तच्छ्रुतेरेवं, ज्ञाततत्त्वा नरानघः” ध० १ अधि०।

अणग्यमय-अनग्यमत-त्रि०। ६ त०। अवदातबुद्धौ, पं० व० ४ भा०।

अणवउक्क-अनन्तानुबन्धितुक्क-न०। अनन्तानुबन्धिको-
धमात्तमायालोभाद्ये कपाये, कर्म० २ कर्म।

अणञ्चन्ति-अनात्यन्तिक-पुं० । सहायिनं मुक्त्वाऽप्रतिनिवर्ति-
ष्यति सहायभेदे, वृ० ४ उ० ।

अणञ्चकर-अनत्यङ्कर-न० । एकादिभिरङ्करैरधिकमत्यङ्करं,
न तथा अनत्यङ्करम् । अनु० । एकेनाप्यङ्करेणानधिके, आ० म० प्र० ।
अणञ्चावि-अनर्ति-न० । वस्त्रमात्मानं वा न नर्त्तितं न नृत्य-
वदिव कृतं यत्र तदनर्तितं प्रत्युपेक्षणम् । अप्रमादप्रत्युपेक्षणभेदे,
स्था० । वस्त्रं नर्तयत्यात्मानं चेत्येवमिह चत्वारो भङ्गाः-“ वस्त्रे
अप्याणमि य चरहं अणञ्चावि ” स्था० ६ ग्रा० १ उ० । पं०
व० । औ० । “ अणञ्चणं सरीरे वस्त्रे वा, सरीरे उक्तेषणं, वस्त्रे वि-
विकारा करेति, अणञ्चावि अणञ्चावि ” नि० चू० ८ उ० ।

अणञ्चासायणाशील-अनत्याशातनाशील-पुं० । अतीवायं
सम्पत्त्वादिलाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना, तस्याः
शीलं तत्करणस्वभावात्मकमस्येत्याशातनाशीलः, न तथाऽ-
नत्याशातनाशीलः गुरुपरिवारादिकृतिः । आचार्यादीनामभ-
क्तिनिन्दाहीलावर्णवादाद्याशातनानिवारके, उक्तं २६ अ० ।

अणञ्चासायणाविणय-अनत्याशातनाविनय-पुं० । अत्या-
शातनं शातना, तन्निषेधरूपो विनयोऽनत्याशातनाविनयः । भ०
२५ श० ७ उ० । दर्शनविनयभेदे, औ० ।

से किं तं अणञ्चासायणाविणय ? अणञ्चासायणा-
विणय पणयालीसविहे पष्यते । तं जहा-अरहंताणं अण-
ञ्चासायणा अरहंतपष्यत्तस्स धम्मस्स अणञ्चासायणा
आयरियाणं अणञ्चासायणा उवज्जायाणं अणञ्चासा-
यणा थेराणं अणञ्चासायणा कुल्लस्स अणञ्चासाय-
णा गणस्स अणञ्चासायणा संघस्स अणञ्चासायणा
किरियाए अणञ्चासायणा संजोगस्स अणञ्चासाय-
णा आभिणिबोदियणाणस्स अणञ्चासायणा जाव
केवल्लणाणस्स अणञ्चासायणा एएँसि चैव भत्तिबहु-
माणे एं एएँसि चैव वल्लसंजलणया, सेत्तं अणञ्चासाय-
णा विणय, सेत्तं दंसणविणय ॥

(किरियाए अणञ्चासायणयत्ति) इह क्रिया-अस्ति परलो-
कोऽस्त्यात्माऽस्ति च सकलक्लेशकलङ्कितं मुक्तिपदमित्यादि
प्ररूपणान्तिका गृह्यते । (संभोगस्स अणञ्चासायणयत्ति)
सम्भोगस्य समानधार्मिकाणां परस्परेण भक्त्यादिदानग्रहण-
रूपस्यानत्याशातनाविपर्यासवत्करणपरिवर्जनम् (भत्तिबहु-
माणे एंति) इह णंकारो वाक्यालङ्कारे, भक्त्या सह बहुमानो
भक्तिबहुमानः, भक्तिश्चेह बाह्या परिजुष्टिः; बहुमानश्चान्तरः
प्रीतियोगः (वल्लसंजलणयत्ति) सद्भूतगुणवर्णनेन यशोदी-
पनम् । भ० २५ श० ७ उ० ।

अणञ्च-कृष्-धा० । आकर्षणे, विलेखने च । तुदा०, आत्म०,
सक०, अनिद् । स्वादि०, पर०, सक०, अनिद् । “ कृषेः कष्टसा-
अङ्गाञ्चाणञ्चायञ्चाइञ्चाः ” ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति कृषेरण-
ञ्चादेशः । अणञ्चइ-कृषते, कर्षति वा । प्रा० ।

अणञ्चिआरं-देशी-अच्छिन्न, दे० ना० १ वर्ग ।

अणञ्छेय-कृणञ्छेद-पुं० । उत्तमर्णाद् गृहीतद्रव्यस्योच्छेदे,
ध० । अणञ्छेदे च न विलम्बनीयम् । तदुक्तम्-“ धर्मारम्भे
अणञ्छेदे, कन्यादाने धनागमे । शत्रुघातेऽतिरोगे च, काल-

क्षेपं न कारयेत् ” ॥ १ ॥ स्वनिर्वाहान्तमया अणदनाशक्तेन नृत्त-
मर्णगृहे कर्मकरणादिनाऽपि अणमुच्छेद्यम्, अन्यथा भवान्तरे
तद्गृहे कर्मकरमाहिषवृषभकरभरासभादित्वस्यापि संभवात् ।
उत्तमर्षेणाऽपि सर्वथा अणदनाशक्को न याच्यः, मुधाऽऽत्तध्या-
नक्लेशपापवृद्ध्यादिप्रादुर्भावात्, किन्तु यदा शक्नोति तदा
दद्याः नो चेदिदं मे धर्मपदे भूयादिति वाच्यः, न तु अणसंब-
न्धश्चिरं स्थाप्यः, तथा सत्यायुः समाप्तौ भवान्तरे ह्ययोर्मिथः-
संबन्धवैरवृद्ध्याद्यापत्तेः । ध० २ अधि० ।

अणञ्ज-अनार्य-पुं० । आराद्यातं सर्वहेयधर्मैभ्य इत्यार्यम्,
न आर्यमनार्यम् । आव० ४ अ० । आर्येतरं, कुरे च । प्रश्न०
४ आश्र० द्वा० । पापकर्मणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । अनार्य इ-
वानार्यः । म्लेच्छचेष्टिते, दश० १ चू० । अनार्यलोककरणात्,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । अनार्यप्रयुक्ते, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।
अनार्य-त्रि० । अन्यायोपेते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणञ्जधम्म-अनार्यधर्म-पुं० । अनार्य्याणामिव धर्मः स्वभा-
वो येषां ते तथा, अनार्यकर्मकारित्वात् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।
कुरकर्मकारिषु, “ इधेवमाहंसु अणञ्जधम्मं, अणारिया बाल-
रसेसु गिद्धा ” सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अणञ्जनाव-अनार्यनाव-पुं० । क्रोधादिमति पुरुषजाते, स्था०
४ ग्रा० २ उ० ।

अणञ्जवसाय-अनध्यवसाय-पुं० । आलोचनामात्रे अध्यव-
सायाभावे, रत्ना० ।

अथानध्यवसायस्वरूपं प्ररूपयन्ति-

किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ॥ १३ ॥

अस्पृष्टविशिष्टविशेषं किमित्युल्लेखेनोत्पद्यमानं ज्ञानमात्रमन-
ध्यवसायः । प्रोच्यते-समारोपरूपत्वं चास्यौपचारिकम्, अत-
स्मिंस्तदध्यवसायस्य तल्लक्षणस्याभावात् । समारोपनिमित्तं
तु यथार्थापरिच्छेदकत्वम् । उदाहरन्ति-

यथा-गच्छतरतृणस्पर्शज्ञानम् ॥ १४ ॥

गच्छतः प्रमातृस्त्वृणस्पर्शविषयं ज्ञानमन्यत्रासक्तचित्तत्वादेवं-
जातीयकमेवंनामकमिदं वस्तित्वादिविशेषानुल्लेखि किमपि
मया स्पृष्टमित्यालोचनमात्रमित्यर्थः । प्रत्यक्षयोग्यविषयभाय-
मनध्यवसायः । एतदुदाहरणदिशा च परोक्षयोग्यविषयोऽप्यन-
ध्यवसायोऽवसेयः । यथा-कस्यचिदपरिज्ञातगोजातीयस्य पुंसः
कचनवननिकुञ्जे सास्नामात्रदर्शनात् पिरुमात्रमनुमाय को नु
खसु अत्र प्रदेशे प्राणी स्यादित्यादि । रत्ना० १ परि० ।

अणञ्जोषण-अनध्युपपन्न-त्रि० । अमूर्च्छते, आचा० २
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणद्व्यकिति-अनर्तकीर्ति-त्रि० । अनर्ता कीर्तिर्यस्य । सकल-
दोषविगमतोऽवाधितकीर्तिके, “ तहेव विजओ राया, अणद्व्य-
कित्तिपवण ” आर्पत्वादनार्तं आर्नध्यानविकलः । कीर्त्यादि-
नाऽनाथादिदानोच्छ्रया प्रसिद्धोपलक्षितः । उक्तं १८ अ० ।

अणद्व-अनर्थ-पुं० । अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति
पर्यायाः । अर्थस्याभावोऽनर्थः । अ० । अप्रयोजने, भाष० ६ अ० ।
निष्प्रयोजने, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । गुणहानौ, ज्ञा० ६ अ० ।
उपघाते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्था० ।

अणद्व-अनर्थक-पुं० । अष्टाविंश गौणपरिमहे, तस्य परमा-
र्थवृत्त्या निरर्थकत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अण्टकाग-अनर्थकारक-प्र० । पुरुषार्थोपघातके, प्रश्न०
२ आ० ६० । अनर्ते, पुं० । अर्तध्यानरहिते, वृत्त० २ अ० ।
अण्टपगड-अन्यार्थप्रकृत-प्रि० । साधुनिमित्ते नियतिते, "अ
नर्त पंगडं ज्ञेयं, प्रद्वजसयणासणं " दश० ८ अ० ।

अण्टादंड-अनर्थदाह-पुं० । अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-
वास्तुभूतधन्यं शरीरपरिपालनादिविषयं तदर्थं आरम्भो ज्ञ-
तोपमर्दोऽर्थदहः । दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः ।
अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदहः, स चैवंभूत उपमर्दनलक्षणो
दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदह उच्यते, तद्विपरीतोऽ-
नर्थदण्डः । आव० ४ अ० । निप्रयोजनं दिमादिकरणे, आनु० ।
इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निप्रयोजनततोपमर्दनात्मनो निग्रहे,
पंचा० १ वि० । स च द्रव्यतः-यदकारणे राजकुले दण्ड्यते ।
जायतस्तु-निष्कारणं ज्ञानादीनां हानिः । वृ० १ उ० । आव० ।
" जो पुण सरडाईणं, थावरकायं च वणव्याईअं । मारेतु वि-
दिक्क ण व, उंने एसो अण्टाए " ॥ १ ॥ प्रव० २५४ द्वा० ।

अट्टावेर दोच्चे दंडसमादाणे अण्टादंडवत्ति ए चि आ-
हिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिमे जे इमे तसा पाणा भ-
वंति, ते एो अच्चाए एो अजिणाए एो मंसाए एो सो-
णियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए
वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए एहाए एहा-
रणाए अष्टीए अट्टिमजाए एो हिंसमुमत्ति एो हिंसि-
मेत्ति एो हिंसिसंनिमेत्ति एो पुत्तपोमणाए एो पसुपोस-
णयाए एो अगारपरिवृद्धणताए एो सपणमाहणवत्तणा-
हेउं एो तस्स सरीरगस्स किंचिविपरिया दित्ता भवंति, से
दंता वेत्ता जेत्ता हुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्वइत्ता उज्जिउं
वाले वेरस्स आभागी भवंति अण्टादंडे ॥ ६॥ से जहा-
णामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा-
इक्काइ वा कडिणाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ
वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्पगाइ वा पप्पान्नाइ
वा ते एो पुत्तपोमणाए एो पसुपोमणाए एो आगारप-
रिवृद्धणयाए एो सपणमाहणपोसणयाए एो तस्स सरीर-
गस्स किंचि विपरियाइत्ता जवंति, से दंता वेत्ता भेत्ता हुं-
पइत्ता विलुंपइत्ता उद्वइत्ता उज्जिउं वाले वेरस्स आ-
भागी अण्टादंडे ॥ ७॥ से जहाणामए केइ पुरिसे क-
च्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा बल्यंसि
वा गूयंसि वा गहणंसि वा गहणविदुगंसि वा वणंसि
वा वणविदुगंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुगंसि वा
तणाइं ऊवविय मयमेव अगणिकायं णिभिरिति, अण्ठे-
ण वि अगणिकायं णिभिरावेति, अण्ठं पि अगणिकायं णि-
भिरितं समणुजाणइ अण्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्प-
नियं मावज्जेति आहिज्जइ, दोच्चे दंडसमादाणे अण्टादंड-
वत्ति ए चि आहिण ॥ ८॥

अथापरं द्वितीयं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकामित्यभिधी-

यते । तदधुना व्याख्यायते । तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषो निर्नि-
मित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति । तदेव दर्शयितुमाह-
[जे इमे इत्यादि] ये केचनानी संसारान्तर्वर्तिनः प्रत्यक्षा अभ्यष्टाद-
यः प्राणिनस्तांश्चासौ हिंसन्नर्था शरीरं, नो नैव, अर्थायै हिनस्ति,
तथाऽजिनं चर्म, नापि तदर्थमेव, नैव मांसशोणितद्वयपित्तवसा-
पिच्छपुच्छबालशृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानखस्नायवस्थिमज्जा इत्येवमा-
दिकं कारणमुद्दिश्य, नैव हिंसिषुर्नापि हिंसयिष्यति मां मदीयं चेति
कारणमुद्दिश्य, तथा नो पुत्रपोषणायेति-पुत्रादिकं पोषयिष्यामीत्ये
तदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय,
तथाऽगारं गृहं तस्य परिवृंहणमुपचर्यस्तदर्थं वा न हिनस्ति, तथा
न श्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतुं, तथा यत्नेन पात्रयितुमारब्धं नो तस्य
शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणव्यपरोपणं भवति, इत्ये-
वमादिकं कारणमनपेक्ष्यैवासौ क्रौर्या तच्छीलतया, व्यसनेन
वा प्राणिनां हन्ता भवति दण्डादिभिः । तथा वेत्ता भवति क-
र्णनासिकाविकर्तनतः, तथा जेत्ता शूलादिना, तथा सुम्पयिताऽ-
न्यतराङ्गावयवविकर्तनतः, तथा विलुम्पयिता अद्रुत्पादनच-
र्मविकर्तनकरपादादिच्छेदनतः, परमाधार्मिकवत्प्राणिनां निर्नि-
मित्तमेव नानाविधोपायैः पीनोपादको भवति, तथा जीविता-
दध्यपञ्चावयिता भवति । स च सच्चिदेकमुज्जित्वा, आत्मानं वा
परित्यज्य, बालवद्बालोऽङ्गोऽसमीकृतकारितया जन्मान्तरानुव-
न्धिना वैरस्य भागी भवति ॥ ६ ॥ तदेवं निर्निमित्तमेवं पञ्च-
न्द्रियप्राणिपीरुनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति, तथा प्रतिपादितम् ।
अधुना स्थावरानधिभूतयोच्यते—(से जहेत्यादि) यथा कश्चि-
त्पुरुषो निर्विवेकः पथि गच्छन् वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादिना
प्रध्वंसयन् फलनिरेपेकस्तच्छीवतया व्रजति । एतदेव दर्शयति-
(जे इमे इत्यादि) ये केचनानी प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिका-
याः प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा-इक्ष्वाक्यादयो वनस्पतिविशेषा उक्ता-
नार्थाः, तदिहेक्ष्वा ममानया प्रयोजनमित्येवमभिसंधाय न वि-
नष्टि, केवलं तत्पत्रपुष्पादिनिरपेकस्तच्छीवतया जिनसीत्येतत्स-
र्वत्र योजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय,
नागारप्रतिवृंहणाय, न श्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य किं-
चित्प्राणं नविष्यतीति केवलमेवासौ वनस्पतिहन्ता वेत्तेत्यादि
यावद् जन्मान्तरानुवन्धिनो वैरस्य भागी भवति । अयं वनस्प-
त्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽजिहितः ॥ ७ ॥ सांप्रतमग्न्याश्रितमाह—
(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषः सदसद्विवेकवि-
कलतया कच्छादिकेषु दशसु स्थानेषु घनदुर्गपर्वतेषु तृणानि कु-
शोषीकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वाधःस्थाने कृत्वाऽग्निकायं हुतभुजं
निसृजति प्रक्षेपयति, अन्येन वाऽग्निं कायं बहुसंवापकारी दवा-
र्थं निसर्जयति प्रक्षेपयति, अन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते, त-
देवं योगत्रिकेण कृतकारितानुमतिभिस्तस्य यत्किंचनकारिण-
स्तत्प्रत्ययिकं द्रवदाननिमित्तं सावद्यं कर्म महापातकमाख्यातं,
द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातमिति ॥ ८ ॥ सूत्र० २ भु०
२ अ० । आ० चू० ।

अण्टादंडवेरमण-अनर्थदाहविरमण-न० । अर्थः प्रयोजनम्,
तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दण्डघते आत्माऽनेनेति दण्डो निग्रहः, अनर्थ-
न दण्डोऽनर्थदहः । इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निप्रयोजनभू-
तोपमर्दनात्मनो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्तस्य वा विरमणं विर-
तिः । तृतीये गुणव्रते, पंचा० १ वि० । उपा० । "तथा एतं च
णं अण्ठवदंडे च उज्जिहे पण्ठे । तं जहा-अथज्जाणायरिप
पमायारिप हिंसप्याणं पावकमोक्षपसे । तस्स एं अण्ठा-

दंडवेरमणस्स समणोवासगस्स पंच अइयारा जाणियव्वा,
न समायरियव्वा । तं जहा—“एहाणावट्टणवन्नग-विलेवणे सह-
रुवरसगंधे । वत्थासणआभरणे, पम्पिकमणे देवस्सियं सव्वं
॥१॥ कंदप्पे १ कुकुड्ढे २, मोहरिए असंजुताहिकरणे ४ य । उ-
वभोगपरिभोगातिरित्ते—” ३ पा० १ अ० । अस्यानर्थदण्डवेरमण-
स्स श्रमणोपासकेन अमी पञ्चातीचारा ज्ञातव्या न समाचरि-
तव्याः । आव० ६ अ० । व्याख्या ‘कंदप्प’ आदिशब्देषु द्रष्टव्या)

अण्णट्ठाबंधि-अनर्थवन्धिन्-पुं० । पक्षमध्ये अनर्थकं निष्प्रयोजन-
मेकवारोपरि द्वौ श्रौत चतुरो वा वारान् कम्बासु बन्धान् ददाति,
चतुरपरि बहूनि अट्टकानि वा बध्नाति, तथा च स्वाध्यायवि-
घ्नपलिमन्थादयो दोषाः, यदि चैकाङ्गिकं चम्पकादिपदे लभ्य-
ते तदा तदेव ग्राह्यम्, बन्धनादिपलिमन्थपरिहारात् । कल्प० ।

अण्णण-अनटन-न० । अन्नमणे, पंचा० १३ विव० ।

अण्णो-देशी । जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्णिप्पित्तु-अनर्प्य-अव्य० । प्रतीपमनर्प्येत्यर्थे, “अपमिह-
दुमण्णिप्पित्तु संपव्वए” ‘अण्णिप्पित्तु’-न प्रतीपं अर्पयतीत्य-
र्थः । नि० चू० २ उ० ।

अण्णुओग-अननुयोग-पुं० । अनुयोगविपर्यस्ते अननुरूपे यो-
गे, विशेषे० ।

नामादिभेदात्सप्तविधमनुयोगं व्याख्याय तद्विपक्षभूतमननु-
योगं विभलिषुक्तोपसंहारं प्रस्तावनां चाह--

एसोऽण्णुरुवजोगो, गओऽण्णुओगो इओ विवज्जत्थं ।

जो सो अण्णुओगो, तत्थे-मे होंति दिहंता ॥१॥

तदेवं गतो भणित एयोऽनुरूपयोगोऽनुयोगः सप्तविधोऽपि ।
अथ विपर्यस्तमेतद्विपर्ययेण योऽयमननुयोगः, स उच्यते, तत्र
चैते वक्ष्यमाणदृष्टान्ता भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तेऽननुयोगदृष्टान्ता इत्याह--

वत्तगगोणी खुज्जा, सज्जाए चैव बाहिरुद्धावे ।

गामद्वए य वयणे, सत्ते यं होंति भावम्मि ॥ २ ॥

सावगज्जा सत्तव-इए य कोकणगदारए नउल ।

कमलामेला संव-स्स साहसं सेणिए कोवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदात्सप्तविधस्तथाऽननुयोगो यथासं-
भवं वक्तव्यः । तत्र नामस्थापने सुगमे, अव्यानुयोगस्तत्प्रसंगतः ।
द्रव्यानुयोगे च वत्सगौरुदाहरणम् । क्षेत्रे त्वननुयोगानुयोगयोः
कुञ्ज उदाहरणम् । काले स्वाध्यायः । वचने पुनरुदाहरणद्वयम्,
तद्यथा-बधिरोद्धापः, ग्रामेयकश्च । ज्ञाये तु सप्तोदाहरणानि जय-
न्ति, तद्यथा--आवकभार्या १ साप्तपदिकः पुरुषः २ कोङ्कणक-
दारकः ३ नकुलः ४, कमलामेला ५, शम्भस्य साहसम्, ६ श्रे-
णिककोप ७ अथेति निर्युक्तिगथासंक्षेपार्थः ॥ ३ ॥

अथ विस्तरतो वत्सगौरुदाहरणं भाष्यकारः प्राह-
स्वीरं न देइ सम्मं, परवत्तनिओयओ जहा गावी ।

ओइज्ज व परडुप्पं, करेज्ज देहोवरोहं वा ॥

यथा काचिच्छलादिका गौरव्यस्या बहुलादिकायाः संबन्धि-
निगोदोदकेन वत्से नियुक्ते सत्यननुयोगोऽयमिति कृत्वा तन्निर्वा-
गतः स्वीरं दुग्धं सम्यग् न ददाति । अथवा न तावता तिष्ठेत् कि-
न्तु परडुग्धम्-अस्यस्या अपि गोः सत्कं दुग्धमप्येऽपि गोदोहनि-
कायां व्यवस्थितमुद्धलन्ती र्द्धयेत् त्याजयेत्, यदि वा देहोपरो-

धं क्षत्ताप्रहारादिभिर्जानुजङ्गादिना देहवाधामपि कुर्यादित्यर्थः ।

तथा किमित्याशङ्क्य प्रस्तुते योजयन्नाह--

तह न चरणं पमूते, परपज्जायविणिओगओ दव्वं ।

पुव्वचरणोवघायं, करेइ देहोवरोहं वा ॥

जिणवयणसायणाओ, उम्मायातंकमरणवसणाइ ।

पावेज्ज सव्वज्जोवं, स वोहिलाभोवघायं वा ॥

दव्वविज्जसाओ, साहणभेओ तओ चरणभेओ ।

तत्तो मोक्खाजावो, मोक्खाजावेऽफला दिक्खा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या-यदा जीवादिद्रव्यमजीवादिधर्मैः प्ररू-
पयति, अजीवादिद्रव्यं वा जीवादिधर्मैः प्ररूपयति, तदित्यं
प्ररूप्यमाणं तद् द्रव्यमनुयोगतो दुग्धस्थानीयं चरणं चरित्रं
न प्रसूते । परपर्यायविनियोगतो विपर्यासात्तदुक्तुः, तन्न भव-
तीत्यर्थः । न चैतावता तिष्ठति, किन्त्वित्थमननुयोगं कुर्वतः
पूर्वप्राप्तचरणोपघातं च करोति, तथेत्थमवधिप्ररूपणप्रवृत्तस्य
रोगाद्युत्पत्तदेहस्याप्युपरोधं बाधां विदधाति । किञ्चेत्थं जिन-
वचनाशातनोत्पत्तेरुन्मादात्तङ्कमरणव्यसनान्यापि प्राप्नुयात्, तथा
सर्वव्रतलोपं, बोधिशान्तोपघातं च प्राप्नुयादिति । ननु कथं-
चिद्विपर्यायप्ररूपणमात्रादेवैतावन्तो दोषा स्युरित्याह--“(द्ववावि-
वज्जासत्यादि) विपरीतप्ररूपणे हि द्रव्यस्य विपर्यासो भव-
ति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्ज्ञेयोऽन्यथाभावो
जायते, ततः साधनभेदाच्चरणजेदस्तङ्गेदात् तत्साध्यस्य
मोक्षस्याजावप्रसङ्गः, उपायाभावे उपेयासिद्धेः । ततो मोक्षा-
भावे निष्कवेव दीक्षा, मोक्षार्थमेव तत्पतिपत्तिस्तत्तदभावे
निरर्थकैव सति । तदेवं अव्याननुयोगे निर्दिष्टा दोषाः ।

अथ द्रव्यस्य सम्यगनुयोगे गुणानाह--

सम्मं पयं पयच्छइ, सवच्छविणिओगओ जहा धेणू ।

तह सयपज्जवजोया, दव्वं चरणं तओ मोक्खो ॥

यथा परवत्सपरिहारेण स्ववत्सविनियोगतो गौः सम्यक् पयः
प्रयच्छति तथा स्वकर्पर्याययोगाद् द्रव्यं, तत्तश्चरणं, ततो मोक्षः प्रा-
प्यत इति । तदेवं अव्याननुयोगे च दोषगुणयोर्वत्सगोदृष्टान्त उक्तः ।

अथ क्षेत्राद्यननुयोगे दोषांस्तदनुयोगे तु

गुणास्सोदाहरणानतिदिशन्नाह--

एवं खेत्ताईसु वि, सधम्मविणिओगओऽण्णुओग ति ।

विवरीए विवरीओ, सोदाहरणोऽण्णुगंतव्वो ॥

एवमुक्तानुसारेण, क्षेत्रकालवचनभावेष्वपि स्वधर्मविनियो-
गतः आत्मोचितधर्मयोजनात्, अनुयोगः । विपरीते तु-वि-
परीतधर्मयोजने तु, विपरीतोऽननुयोगः सोदाहरणः स्वबुद्ध्या,
प्रधान्तराद्वाऽनुगन्तव्यो ज्ञातव्यः ।

तत्रेत्थमतिदिष्टेऽपि मुग्धविनेयानुग्रहार्थं किञ्चिदुच्यते-तत्र
क्षेत्रतोऽननुयोगेऽनुयोगे च कुञ्जोदाहरणमभिधीयते-प्रतिष्ठा-
ननगरे शालिवाहनो नाम राजा । स च प्रतिवर्षं समागत्य
भृगुकच्छे नरोवाहननृपं रुणञ्चि स्म । ऋतुबध्ने च काले तत्र
स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं गच्छति स्म । अन्यदा च रोहक
समागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभाम-
एरुपिकायां पतङ्गहकमन्तरेणापि भूमौ निष्पृतम् । तस्य च रा-
ज्ञः पतङ्गहधारिणी कुञ्जा समस्ति स्म । तथा तातीषभावकृत्या
लक्षितम्-नूनं परिजिहासुर्वि स्थानं नरपतिर्थास्यति प्रजाते
स्वनगरं, तेनेत्यमिह निष्ठीवतीति संचिन्त्य निगदितं कथ-

मयातमपरिविनश्य यानशात्रिकस्य । ततस्तेन प्रगुणीकृत्य या-
नस्यगच्छत एव राज्ञः पुत्रोऽपि प्रवर्तितानि, तत्पृष्ठतश्च सर्वो-
ऽपि स्कन्धावारः प्रवृत्तो गन्तुम् । अपातं च न ज्ञोमणस्य कटकधू-
त्रिनिकणं । तत्रस्थितं विस्मितमनसा तत्राधिपेन-तनु कस्या-
पि प्रयाणक न कथितं धूरीभयात्किञ्चाहं स्वल्पपरिच्छेदो भू-
त्वा सैन्यस्य पुरत एव यास्याम्येतच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथ-
मिदं कटकत्रोकेन विज्ञातमिति । परम्परया शोधयता विज्ञाता
कुञ्जा । पृष्ट्या च तथा कथितं सर्वमपि यथावृत्तम् । तदत्र सना-
मणस्यकादिक्लेषेण निष्ठायनस्य अननुयोग, निष्ठायनादिरक्त-
णप्रमार्जितोपलेपनादिरक्तस्त्वनुयोगः । एवमेकान्तनित्यमेकमप्रदेशं
चाकाशं प्ररूपयतोऽनुयोगः, स्याद्वाद्वाञ्छितं तु तदेव प्ररूप-
यतोऽनुयोग इति ।

कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायदृष्टान्तः-तद्यथा-एकः सा-
धुः प्रादौषिककालग्रहणानन्तरं काञ्चिकभुजमनीनामपि तदुण-
नवेत्रामजानानः परावर्तयते स्म । ततः सम्यग्दृष्टिदेवतया चि-
न्तितम-वोध्याम्यमुं, मा चून्मिथ्यादृष्टिदेवताञ्जमस्य, ततो
मथितकारूपेण मथितभृतमेव घटं मस्तके निधाय तस्यैव सा-
धारणिके गतागतानि कुर्वतो 'मथितं व्रज्यते' इति महता शब्दे-
न पुनः पुनर्वीषयती परिध्नयति स्म । ततोऽन्युद्वेजितेन साधुना
प्रोक्तम्-अहो ! जगत्यात्तकविक्रयवेला ? । ततो मथितकारिक-
याऽन्यवोचि-अहो ! तथापि स्वाध्यायवेला ? । ततो विस्मितः सा-
धुरूपयुज्य मित्यादुष्कृतं ददाति स्म । ततोऽस्मात्स्वाध्यायविधा-
नेन मित्यादृष्टिदेवताविहितचञ्चलानि भवन्त्यतः पुनरप्येवं मा का-
र्योऽस्त्वमित्यादि साधुर्द्वेवतयाऽनुशासितः । इत्येव स्वाध्यायस्य
काञ्चाननुयोगः, काञ्चानुपपन्नस्तदनुयोगः, प्रस्तुतेऽपि काञ्चधर्मा-
णां वैरीन्यावैरीन्यप्ररूपणे अननुयोगाऽनुयोगौ वाच्यमिति ।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोरुदाहरणद्वयमुच्यते-तत्र
प्रथमं बधिरोल्लापः । तत्र चैकस्मिन् ग्रामे बधिरकुटुम्बं परिवस-
न्ति स्म । स्थविरः, स्थविरा, पुत्रो, वधूश्च । अन्यदा च पुत्रः क्लेशं
वाहयन् पथिकैर्मार्गं पृष्टो बधिरतया ब्रवीति-गृहजातौ मम बन्धो-
वर्धविमौ, न पुनरन्यस्य सत्कौ । ततो बधिरोऽयमिति विज्ञाय गताः
पथिकाः । ततो तत्तं गृहीत्वा वधूः समायाता । शृङ्गितौ पथिकै-
र्बन्धवर्धविन्यादि निवेदितं तेन तस्याः । तथा च प्रोक्तम्-कारमव-
रणं वेति न जानाम्यहम्, एतत्त्वदीयजनस्यैव हि संस्कृतम् । ततो
गृहं गतया तथाऽपि क्लारादिभणनव्यतिकरो निवेदितः । स्थविर-
या च कर्तव्यतया प्रोक्तम्-स्थूत्रं सूक्ष्मं वा भवत्वित्दं, स्थविरस्य प-
रिधानं भविष्यतीति । निवेदितं चैतन्सातुशयचित्तया स्थविरया
गृहमागतस्य स्थविरस्य । तेनाऽपि विन्यता प्रोक्तम्-तव जीवितं
पित्रामि, यथेकमपि तिलमहं भक्षयामीति । एवमेकवचनादिकम-
प्युक्तम् । द्विवचनादितया यः शृणोति तथैव चान्यस्य प्ररूपयति,
तस्याननुयोगः, यथावच्छ्रवणनिरूपणे त्वनुयोग इति ॥ वचना-
नुयोगस्यैवेह प्राधान्यस्यापनार्थवचनविषयमेव चिन्तीयं ग्रामेय-
कोदाहरणमुच्यते-तत्र चैकस्मिन्नगरे कस्याश्चिन्महिलाया जतो
मृतः, तत्रेधनजलादिकेन बाधिता निर्वहन्ती वधुना निजन-
नयेन सह ग्रामं गताऽसौ । ततो वृद्धिं गतेन पुत्रेण सा पृष्टा-मदी-
यापितुः का जीविका आसीत् ? । तथा प्रोक्तम्-राजसेवा । तेनोक्तम्-
अहमपि तां करोमि ? । तथा प्रोक्तम्-पुत्र ! दुष्कराऽसौ, महता
विनयेन क्रियते । कीदृशः पुनरसौ विनयः ? । तथा प्रोक्तम्-सर्व-
स्यापि दृष्टस्य प्रणामः कार्यः, नोचैवैक्या सर्वस्यापि प्रवर्तितव्यम्,
परञ्चन्दानुवृत्तपर्यं सर्वत्र भवितव्यम् । एवं करिष्यामीत्य-

न्युपगम्य चालितोऽयं राजधानीम् । सम्मुखे मार्गे च हरिणेष्वा-
गच्छत्सु वृक्षमूलेष्वकुष्ठधनुर्धयो निर्लिना व्याधा दृष्टाः । तेषां
च तं महता शब्देन योत्कारः कृतः, तत्स्वस्ताः प्रपञ्चाप्य गता द-
रिणाः । ततो व्याधैः कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ । ततस्तेनोक्तम्-जनन्याऽहं
शिक्षितः-दृष्टस्य सर्वस्यापि योत्कारः कर्तव्य इत्यादि । ततश्च क्र-
ज्जगमिति ज्ञात्वा मुक्तस्तैः, शिक्षितश्च-यथा-ईदृशे दृष्टे निर्द्वानैर-
वनतैः शब्दमकुर्वद्भिः शनैर्वा जल्पद्विनिर्जृतमागम्यते । तदनुप-
गम्य पुरतो गन्तुं प्रवृत्तोऽसौ । दृष्टाश्च वस्त्राणि कालयन्तो रज-
कास्तेषां च वस्त्राणि तस्करैर्नित्यमपहियन्ते स्म, ततस्तत्र-दिने
वृगुनादिव्यग्रपाणयो रजकाः प्रच्छन्नोपविष्टा हेरयन्तस्तिष्ठन्ति
स्म । आगतश्चाजलवन्नवनतगात्रो निश्रीयमानः शनैः सः तत्र ग्रामे-
यकाः । स एव चौर इति कृत्वा कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ रजकैः । सद्भावे
च कथिते मुक्तस्तैः शिक्षितश्च-यथेदृशे कस्मिंश्चिद् दृष्टे एवमुच्य-
ते, यथा-ऊषकारोऽत्र पततु, शुद्धं च भवत्विति । इदं चाऽन्युप-
गम्य प्रवृत्तः पुरतो गन्तुम् । ततो दृष्टं क्वचिद्ग्रामे बहुभिर्मङ्गलैः
प्रथमं हलयादनस्य दिवसकरणं क्रियमाणम् । तत उक्तम्-ऊषे-
त्यादि । ततस्तैरपि कुर्यावलैः पिष्टितो बद्धश्च, सद्भावे ज्ञाते मुक्तः,
शिक्षितश्च-यथेदृशे कापि दृष्टे प्रोच्यते, यथा-गन्धोऽत्र श्रियन्तां,
बद्धव भवतु, सदैव चेदमास्त्विति । अभ्युपगतं च तेनेदम् ।
अन्यत्र च मृतके बहिर्नीयमाने प्रोक्तामिदम् । तत्रापि कुट्टितो बद्ध-
श्च, सद्भावे कथने च मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशं मा भूद्ववतां क-
दाचिदपि, वियोगश्चेदृशो नास्त्विति । एतच्चान्यत्र विवाहे प्रोक्तम्-
तत्रापि तथैव बद्धः, सद्भावे परिज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशे
प्रोच्यते-सदैवं पश्यस्वीदृशानि भवन्तः, शाश्वतश्च भवत्वित्त्सं-
वन्धः, मा चूदिह वियोग इति । इदं चाऽन्यत्र क्वचिद्विगमबद्धं
राजानमवलोक्य मुवाणस्तथैव कदर्थयित्वा मुक्तः, शिक्षितश्च-
यथेदृशो वियोगः शीघ्रं भवत्वनेन, एवं च मा चूत्कदाचिदपीत्य-
भिधीयते । एतच्चान्यत्र क्वचिद्वाङ्मा संघो जल्पमाने प्रोक्तं, तत-
स्तत्रापि तथैव कदर्थितः । एवं स्थाने २ कदर्थ्यमानोऽन्यदा क-
स्यापि विभवतः प्रमुक्तस्य उक्कुरस्य सेवां विधातुमारब्धः, त-
त्र चान्यदा गृहे आमूखविकायां सिद्धायां ग्रामसभाजनसमूहः,
मध्ये उपविष्टस्य उक्कुरस्य शीतलीभूता एषा प्रोक्तुमयोग्या
भविष्यतीति ज्ञायया तदाकारणाय प्रेषितो ग्रामेयकः । तेनापि
तस्य जनसमूहस्य शृण्वतो महता शब्देन प्रोक्तम्-आगच्छ
उक्कुर ! शीघ्रमेव गृहं, चुङ्क्व, आमूखविका शीतलीभवति
स्थिताऽसौ, ततो लज्जितउक्कुरो गृहं गतस्ततो वाढं तामयित्वा
शिक्षितोऽसौ, यथा नेऽयं कुर्वणैर्गृहप्रयोजनानि भण्यन्ते, किं तु
वस्त्रेण मुखं स्थगयित्वा कर्णाभ्यर्णे च स्थित्वा शनैः कथ्यन्ते ।
ततोऽन्यदा बहिर्द्वीते गृहे गतो ग्रामसजायां, शनैरप्रतः स्थि-
त्या वस्त्रं च मुखद्वारे दत्त्वा कथितं तत्तस्य कर्णं । ततः
संभ्रमाद् धावितो गृहान्निमुखः उक्कुरो, दग्धं च सर्वस्वं सर्वमपि
गृहं, ततः कुपितेन वाढं तामितोऽसौ उक्कुरेण, जणितश्च निश्च-
कण ! प्रथममेव धूमे निर्गते जलाचाम्बधूत्रिभस्मादिकं किमिति
त्वया न निक्षिप्त, महता च शब्देन किमिति त्वया न पृक्तम् ? ।
तेनोक्तम्-अन्यदा इत्थं करिष्यामीति । ततः कदाचिद्विहितस्नानो
घृणायोपविष्टः उक्कुरः, निर्गतो च प्रच्छन्नपटस्योपरि अग्रह-
ध्माशिखां दृष्ट्वा च ग्रामेयकेन क्षिप्ता चोत्पाट्या तदुपर्याचाम्बधू-
तमहास्थाङ्गी, जलधूनीनस्मादिकं च; तथा च पृक्तं महाङ्गिः
शङ्कैरिति । ततोऽन्यथाऽयमिति निष्कासितो गृहात् । एवं शिष्यो-
ऽपि यावन्मात्रं वचनं गुरुः कथयति तावन्मात्रमेव स्वयं द्रव्य-

क्वत्रकालपराभिप्रायौचित्यपरिज्ञानशून्यो यो वक्ति, तस्य वचनानुयोगः, यस्तु उच्यते क्वत्राद्यौचित्येन वक्ति तस्य तदनुयोग इति ।

भावानुयोगानुयोगयोः सप्तोदाहरणानि—

तत्र श्रावकभार्यादाहरणमाह—एकेन गृहीतानुव्रतेन तरुण-
श्रावकेण श्रावकजायां स्तीवरूपवती कृताऽद्वैतरूपशृङ्गारा निजप-
त्न्या एव सखी कदाचिद् दृष्टा । गाढमधुपपञ्चन तस्यां, परं ह-
ज्जादिना किमपि वक्तुमशक्नुवंस्तःप्राप्तिचिन्तया च प्रतिदिनम-
तोव दुर्बलो भवन्निर्वन्धेन पृष्ठं कारणं स्वनार्यया, कथितं च कथं
कथमपि तेन । तथा चातीवदृक्कृतया प्रोक्तम्—एतावन्मात्रेऽप्यर्थे
किं खिद्यसे? प्रथममेव ममेतत्किं न कथितम्? स्वार्थानां हि मम सा,
आनयामि सन्वरमेवेति । ततोऽन्यदिने भणितो भर्ता-तथा अच्यु-
पगतं सहर्षया तथा युष्मत्समीहितं, प्रदोष एवागमिष्यति, परं ल-
ज्जाबुतया वासभवनप्रविष्टमात्राऽपि प्रदीपं विध्यापयिष्यति। तेनो-
क्तम्—एवं ज्वतु, किमिच्छं विनश्यति, ततो वयस्यायाः सकाशार्त्तिक-
चिन्तिमत्तमुद्गाह्य याचिन्तानि तथा तदीयानि स्वजन्तुदृष्टपूर्वाणि
प्रधानवस्त्राण्यभरणानि च, ततो गुटिकादिप्रयोगतो विहितस-
खीसदृशस्वरादिस्वरूपा तथैव कृतशृङ्गारा तत्सदृशवर्णितेन
विश्रामैश्चाश्रिता तस्यैव श्रावस्य भार्या सन्निहितवरकुसुमता-
म्बूत्रश्रीखण्डागुरुकर्पूरकस्तूरिकादिसमस्तभोगाङ्गं विहितामल-
प्रदीपावलोके रमणीये वासभवने सविलासमन्वविशत् । ततो दृष्टा
सोत्कण्ठविस्फारितदृशा त्रिदशकल्लोहिनीपुलिनप्रतिस्पर्धिप-
द्यङ्कोपविष्टेन जगित्येव नयनमनसोऽमृतवृष्टिभिर्वाधाना तनै-
पा । तथा च दृष्टमात्रया विध्यापितः प्रदीपः । कीर्तितं विविधगो-
ष्ठ्यप्रबन्धपूर्वकं तथा सह निर्भरं तेन । गतायां च तस्यां प्रत्युपसि-
चिन्तितमनेन—“सयलसुरासुरपणमिय-चलणेहि जिणेहि जंदि-
यं अण्णियं । तं परजवसंचलयं, अहह ! मणहारियं सील” ॥ १ ॥ इ-
त्यादिसंवेगवशोत्पन्नपश्चात्तापमहानलप्लुष्यमानान्तःकरणः प्र-
तिदिनमधिकतरं दुर्बलीभवत्यसौ । ततो निर्वन्धेन भार्यया पृष्ठो निः-
श्वस्य सखेदं व्रवीति स्म—प्रिये ! यतश्चिरकालानुपाजितस्वर्गाप-
वर्णनिबन्धनव्रतखण्डनेनामुना कृतं मया तदकर्तव्यं यद् बाह्यशा-
नामप्यविधेयम् । ततः कुरी भवाम्यहमनया चिन्तया । ततो भार्य-
या संवेगवशी भूतं व्यावृत्तं च तच्चेनो विज्ञाय कथितः सर्वोऽपि यथा
वृत्तः । सद्भावसाजिज्ञानकथनादिजिह्वं समुत्पादिता प्रतीतिस्त-
स्य, ततः स्वस्थान्तोऽयमिति । तदेवं स्वकलत्रमपि परकलत्रा-
भिप्रायेण तुलानस्य तस्य ज्ञावानुयोगः, यथाऽवस्थितावगमे
ज्ञावानुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् स्वरूपवैरीत्येन प्ररूपय-
तो ज्ञावानुयोगः, यथावस्थिततत्प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।
सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकस्तदुदाहरणमुच्यते—
एकस्मिन्प्रत्यन्तग्रामे कोऽपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च
साध्वादिदर्शनिनां संबन्धिनं धर्मकदाचिदपि न शृणोति स्म ।
न च तदन्तिके कदाचिदपि व्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयं ददा-
ति स्म । यतो दयाव्रतां परधनपरकलत्रनिवृत्त्यादिगुणप्रतिपत्तिं
चैते उपदेक्ष्यन्ति, न च पात्रयितुमर्हं शक्नोमोति । अन्यदा च वर्षा-
सत्रसमायातास्तत्र कथमपि साधवः, तेषां च तत्र वसतिमन्वेष्टय-
तां कौतुकिदृष्टुभिः सेवकनरमित्रैर्यामीणैरुक्तम्—अत्रेथं नृतो भ-
वनामनीव भक्तोऽनुकगृहे श्रावकस्तिष्ठति, वसत्यादिना न किञ्चि-
त्कुलं करिष्यति; तच्छ्रुत् तत्रेति; कृतं तत्तथैव तैः । स च तेषां पुर-
तोऽपि स्थितानां संमुखमपि नावबोक्तव्यं स्म । तत एकेन सा-
धुना शेषसाधूनामजिमुखमुक्तम्—स एष न भवति, प्रवञ्चिता वा
तैर्भाम्यैर्कैर्यम् । ततस्तेन संजान्तेनोक्तम्—किं किं भणथ युयम् ?

ततस्तेः कथितं सर्वमपि भाषितम्, ततस्तेन चिन्तितम्—अहो !
मत्तोऽपि ते निकृष्टायैरेतेऽपि प्रवञ्चिताः, तस्माद् मा नृबन्धमीदृ-
च तदुपहासपात्रम् । अतोऽनिष्टमपि करोम्येतदिति विचिन्त्योक्तम्—
तिष्ठत मम निराकुलशालायामेतस्याम्, परं मम धर्माङ्कुरं न क-
थनीयम् । प्रतिपन्नमेतत्तैः स्थिताश्च सुखेन तत्र चतुर्मासकाल्यं
यावत् । ततो विजिहीर्षुजिस्तेरनुव्रजनाथमागतस्य शय्यातरस्य
कटपोऽयमिति दत्ताऽनुशास्तिः । ततो मद्यमांसजीवघातादिवि-
रतिं कर्तुमशक्नुयतस्तस्यातिशयज्ञानितयाऽग्रे प्रतिवाधगुणं प-
श्यद्भिर्गुरुभिः साप्तपदिकं व्रतं दत्तम् । किञ्चित्पञ्चेन्द्रियप्राणिनं
जिघांसुना यावता कालेन सप्तपदान्यवष्यन्त्यन्ते, तावन्तं कालं
प्रतीक्ष्य इन्तव्योऽसाविति । प्रतिपन्नमेतत्तेन । गताश्च साधवोऽन्य-
त्र । अन्यदा चास्मौ सेवकनरश्चौर्यार्थं गतः कापि, ततोऽपशकु-
नादिकारणेन स्वल्पेनैव कालेन प्रतिनिवृत्तः । कीदृशो मन्परोक्तिं
मदीयगृहे समाचार इति जिज्ञासुर्निशीथे प्रच्छन्न एव प्रविष्टो
निजगृहे, तस्मिन् दिने तदीयजगिनी ग्रामान्तरादागता, तथा
च कनचिद् हेतुना विहितपुरुषनेपथ्यया नटा नृत्यन्तो निरीकि-
ताः । ततोऽसौ प्रचलनिष्ठावशीकृतपुरुषवैषैव भ्रातृजायायाः स-
मीपे प्रदीपावलोकादिरम्यवासभवनगतपत्यङ्क एव निर्जरं प्रसुता ।
तेनाऽपि च तद्वन्धुना अकस्मादेव गृहप्रविष्टेन दृष्टं तत्तादृशम् ।
ततश्चिन्तितमनेन—अहो ! विनष्टं मद्गृहम् । विष्टः कोऽप्ययं मद्भा-
र्यासमीपे प्रसुतस्तिष्ठतीति कोपावशादात्तकृपाणः, ततः स्मृतं
व्रतं, विलासितं च सप्तपदापसरणकालम् । अत्रान्तरे तद्भगिनी-
बाहुव्रतिका निष्ठावशेन तद्भार्यया मस्तकेनाक्रान्ता, ततः पा-
ञ्चमानया तद्भगिन्या प्रोक्तम्—हवे ! मृश्व मम बाहुं, दूयऽल्यर्थ-
महम् । ततः स्वरविशेषेण ज्ञाताऽनेन स्वभगिनी । अहो ! निकृष्टोऽहं,
मनगेव मया न कृतमिदमकार्यम् । तत उचित्ये तत्संज्ञं भ-
गिनीभार्ये । कथितश्च सर्वैः स्वव्यतिकरः परस्परम् । ततो य-
थोक्तानिग्रहमात्रस्याप्येवं नृतं फलमुद्दीक्ष्य संभिन्नः प्रव्रजितोऽ-
साविति । तदत्र स्वभगिनीमपि परपुरुषाभिप्रायेण जिघांसोस्तस्य
ज्ञावानुयोगः ; यथाऽवस्थितावगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुत-
योजना तु श्रावकभार्यादाहरणवदिति ।

कोङ्कणकदारकोदाहरणम्—

यथा कोङ्कणकविषये एकस्य पुरुषस्य श्वपुदारकोऽस्ति स्म । ज्ञार्या
तु मृता, अन्यां च परिणेतुमिच्छतोऽपि सपत्नीपुत्राऽस्यास्तीति
न कोपि ददाति स्म । अन्यदा च सहैव तेन दारकेणासावरणे का-
ष्ठानां गतः, तत्र च कस्यापि पित्रा काण्डं मुक्तं, तदान्यनाय च
दारकः प्रेषितः, गतश्चायम्, अत्रान्तरे दुष्टपितुस्तस्य ज्ञातितं चित्तं,
यदस्य दारकस्य सत्कारणेनान्यां जाया मम न कोपि ददाति ।
ततोऽन्यत्काण्डं क्रिप्त्वा विष्टोऽसौ दारकः, ततो महता स्वरे-
णोक्तं बाह्वकेन—तात ! किनेतत्काण्डं व्या मूक्तम्, विष्टो हान-
नाहम् । ततो निर्घृणेन पित्राऽन्यत् काण्डं मुक्तम् । ततो ज्ञातं द-
ारकेण—हन्त ! चुक्का मारयत्येष मामिति । वस्वरं रटश्चिह्नेन तेन
मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यस्य बाणं मुञ्चताऽपि ज्ञानोगत एतादृ-
विष्ट इत्येवमवबुध्यमानस्य ज्ञावानुयोगः, पश्चाद्यथावस्थिता-
वगमे तस्य ज्ञावानुयोगः । अथवा संरक्ताहमपि तं बाह्वकं मारया-
मोत्यध्ववस्यतः पितुर्भावानुयोगः, तच्छ्रुत्वाध्यत्साये तु ज्ञावानु-
योगः । एवं विपरीतज्ञावप्ररूपणे भावानुयोगः, अविपरीतभावा-
प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।

अथ नकुलोदाहरणम्—

यथा पदानेः कस्यचिद् जार्यां गुर्विणी जाता, नकुलिका च

काचिद् गृहकृत्वाद्याभिता गुर्विणी, पदातिनायया सह एकस्यां रज्ज्यां प्रसूता । तस्या नकुलो जातः, इतरस्यास्तु पुत्रः, ततोऽस्य समीपे नकुलः सदैव तिष्ठति स्म । अन्यदा च पदातिना-यया द्वारे कण्डयन्त्या मध्ये मञ्जिकायां स्थापितो बालकः स-पेण दृष्टो मृतश्च । ततो मञ्जिकाया उत्तरं नकुलेन दृष्टो विषधरः खरुशः कृत्वा मारितश्च; ततो द्वारे पदातिभार्यायाः समीपे गत्वा शोणितोपनिषत्कायवयवोऽसौ चाटूनि कर्तुमारब्धः, दृष्टश्च तथा । ततो नूनं मदीयपुत्रं मारयित्वा भक्तितोऽनेनेति विचिन्त्य कोपावेशान्मुशलेन हत्वा मारितो नकुलः । गता च पुत्रसमीपे । दृष्टश्च पुत्रेण सह यिनष्टः सर्पः, ज्ञातं च यथा सर्पो निदृष्टस्ततो हन्तेत्ये निरपराधोऽप्युपकार्यपि मया नि-कृष्टया इतो वराको नकुलः, इति विचिन्त्य द्विगुणतरं शोकमापन्ना । पूर्वमपराधिनं विज्ञाय नकुलं प्रत्यास्तस्या ज्ञानानुयोग इति; य-थावस्थितावगमे त्वनुयोगः । प्रस्तुतयोजना त्वन्तरोक्त्यादिति ।

अथ कमलामेलादाहरणम्—

तत्र द्वारावत्यां नगर्या बलदेवपुत्रो निषधः, तस्यापि सूनुः साग-रचन्द्रः, स च रूपेणातीवोत्कृष्टः, शम्भ्यादीनां च कुमारणां सर्वे-यामप्यतिप्रियः, तस्यामेव च द्वारावत्यां नगर्यामन्यस्य राज्ञो दु-हिता कमला नाम समस्ति स्म । सा चांप्रसेनतनयस्य नभःसेनकु-मारस्य दत्ता वृता च तिष्ठति स्म । अन्यदा च तत्र नारदः सागर-चन्द्रस्य समीपं गतः । तेनाप्युत्थाय उपवेश्य प्रणम्य च पृष्टः— दृष्टं भगवन् ! आश्चर्यं किमपि क्वापि ? नारदेनोक्तम्—दृष्टं कमला-मेलातिधानराजपुत्रिकाया न खलु ममैव किन्तु भुवनत्रयस्या-प्याश्चर्यकारि रूपम् । सागरचन्द्रेणोक्तम्—किं दत्ता कस्यचिःसा ? नारदेनोक्तम्—दत्ता परं नाद्यापि परिणीता । कथं पुनर्मम सा संप-त्यते ? इति सागरचन्द्रेणोक्ते, न जानाम्येतदहमित्यजिधाय गतो नारदः । सागरचन्द्रस्तु तद्दिनादारभ्य न शयानो नाप्यासीनः क्वापि रतिं लभते, तामेव कन्यकां फलकादिप्यालिखन्, तन्नाम-मात्रजापं चानवरतं कुर्वन्नास्ते स्म । नारदोऽपि कमलामेलाऽन्तिकं गतः । तयाऽपि तथैवाश्चर्यं किमपि दृष्टम्, इति पृष्टः कलहदर्शन-प्रियतया स प्राह—दृष्टमाश्चर्यद्वयं मया—सागरचन्द्रे सुरूपत्वं, नभः-सेने तु कुरूपत्वं । ततो ऋगित्येव सा विरक्ता नभःसेने, अनुरक्ता च सागरचन्द्रे । तन्प्राप्तिचिन्ताऽऽतुरा च समाश्वसिता नारदेन सा-वत्से ! स्थिरीभव संपत्स्यते अचिरादेव तवायमित्युक्त्वा गतः सागरचन्द्रसमीपे । इच्छति त्वां सेत्यभिधाय गतः । ततो विरहा-वस्थाव्यपिते प्रलपति च सागरचन्द्रे, अतः सर्वोऽपि मात्रादिस्व-जनवर्गः स्त्रियन्ते यादृशाः, तद्व्रान्तरे समायातः कथमपि साग-रचन्द्रसमीपे शम्भुकुमारः, दृष्टश्च तेनासौ तदवस्थाः, ततः पृष्टतस्त-स्य स्थित्वा इत्यन्येनाच्छादितं तदङ्किणी शम्भेन । सागरचन्द्रेणो-क्तम्—किं कमलामेला ? शम्भेनोक्तम्—नाहं कमलामेला, किन्तु कमला-मेलाऽहम् । ततः सागरचन्द्रेण शम्भ्योऽयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्—सत्य-मेव कमलसमदीर्घलोचनां कमलामेलां मेलायिष्यासि, कोऽत्रार्थोऽ-न्यः समर्थ इति । ततोऽर्थैर्यदुक्तमारिः पीतमद्यः परवशीभूतः शम्भो प्रादितस्तदापनप्रतिज्ञाम् । उच्छिर्णं च मदभावे विचिन्तितं शम्भेन-ग्रहं । अलं मयाऽन्युपगतम्, अशक्यं ह्येतद्वस्तु, कथमियं प्रतिज्ञा निर्वाहयिष्यते, ततः प्रयुज्य पार्श्वीप्रज्ञसिद्धिं याचिता शम्भेन । विवाहादिवसे च बहुनिर्वाहवकुमारैः परिवृतेन तेन सुरङ्गां पा-तयित्वा पितृगृहादाकृष्य नीता बहिरुद्याने कमलामेला । नारदं च साङ्किणं कृत्वा कारितस्तस्याणिप्रदणसंबन्धः सागरचन्द्रस्य । ततः सर्वेऽपि कृतविद्याधररूपाः क्रीरन्तस्तिष्ठन्ति स्म । उद्या-

ने पितृभ्रसुरपाङ्क्तिर्कैश्चान्येषयद्भिर्दृष्टा कृतविद्याधररूपा मवपरि-णीतवेषधारिणी च क्रीरन्ती कमलामेला । विद्याधरैरपहृत्य प-रिणीता कमलामेलेति कथितं तैर्वासुदेवस्येति । निर्गतश्च विद्या-धरोपरि कुपितः सबलवाहनोऽसौ, हस्त्रं च महदायोधनं ताव-द्यावत्पञ्चाङ्गम्भः परिहृत्यैक्यरूपः पतितो जनकस्याङ्घ्रियुग्मे । ततश्चोपसंहृतः सङ्ग्रामः, दत्ता च कृष्णेन कमलामेला सागरच-न्द्रस्यैव । गताश्च सर्वे स्वस्वस्थानम् । तत्र सागरचन्द्रस्य शम्भं कम-लामेलां मन्यमानस्य ज्ञानानुयोगः, यथावस्थितावगमे तु ज्ञा-वानुयोगः । विपरीतादिप्रकरणयोजना तु प्रस्तुता पूर्ववदिति । शम्भसाहसोदाहरणमिति वचनान्तरे शम्भस्यादाहरणम-वासु-देवाच्चेपजाश्च सदैव धृणाति जाडभवती—समस्तानामप्यालीनां मन्दिरं त्वत्पुत्रः शम्भ एति । ततो जाडभवत्या विष्णुरभिहितः—मया पुत्रसत्त्वा एकाऽप्यालिने दृष्टा । विष्णुना प्रोक्तम्—आगच्छ येनाद्य दर्शयामि । ततो जाडभवती उत्कृष्टलावण्यमाजीरीरूपं कारिता, स्वयं पुनराभीररूपं कृत्वा दारुहस्तः स्वयं पृष्ठे व्यव-स्थितः । अग्रतस्तु मस्तकन्यस्तदधिहणिरुका जाडभवती कृता, प्रविष्टोऽथ दधिविक्रयार्थं नगरीमध्ये । दृष्टा च शम्भेन माता । तदुत्कृष्टरूपा आभीरीति विज्ञाय प्रोक्ता शम्भेनैवा—आगच्छ मदगृहं सर्वस्यापि त्वदीयदध्नो यावन्मात्रं मूल्यं याचसे तदहं दास्या-मीत्यग्रतः स्वयं पृष्ठतस्त्वाभीरी पश्चात्त्वाभीरः । स्वतः शून्यदेव-कुलिकायामेकस्यां गत्वा प्रोक्ता शम्भेनाभीरी—प्रविश एतन्म-ध्ये, मुञ्च दधि । तथा च विरूपाजिप्रायं तं विज्ञाय प्रोक्तम्—नाहम् प्रविशामि, द्वारास्थिताया एव गृहाण दधि, प्रयच्छ मूल्यम् । बलादपि प्रवेशयिष्यामीत्यभिधाय गृहीता शम्भेन सा बाहौ, ततो धावित्वा द्वितीयबाहौ बलम् आभीरः । द्वयोरपि चाकर्षणं विकर्षणं कुर्वतोऽनेन भाररुम् । ततः कृतं सहजरूपमात्मनो, जाडभवत्याश्च विष्णुना । तच्च दृष्ट्वा लज्जितो नष्टः शम्भः, नाग-च्छति चावसरेऽपि लज्जया राजकुले । ततोऽन्यदिने विष्णु—नियुक्तवृद्धत्वरूपैः कष्टेनानीयमानः कुरिकया वंशकीर्तकं घट्टय-आगच्छत्यसौ । प्रणामे च कृते पृष्ठे वासुदेवेन शम्भः—किमेतत् कुरिकया घट्टयते । तेनोक्तम्—कीर्तकोऽयम् । किमर्थं पुनरसौ ? यः पर्युषितानतीतजल्पान्वदिष्यति तन्मुखे आह्ननार्थमिति । तद-त्र शम्भस्य मातरर्मयाजीरीं मन्यमानस्य भावानुयोगः, पश्चा-द्यथावदवगमे तु ज्ञानानुयोगः । प्रस्तुतयोजना तु पूर्ववदिति ।

अथ श्रेणिककोपोदाहरणम्—

राजगृहे नगरे समवसृतस्य भगवतः श्रीमन्महावीरस्य श्रेणिक-नराधिपो राक्ष्या चेद्वनया सह माघमासे हिमकणप्रवर्षिणि महाशीते पतति वन्दनार्थं गतः । ततो निवर्तमानस्य च तस्य, राक्ष्या चेद्वनया मार्गासन्नः तपःकर्षितशरीरः सर्वथोऽप्यनावर-णो मेरुशिखरमिव निष्प्रकम्पः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽजिनवकायेत्सर्गे स्थितः संस्थायां दृष्टः कोऽपि तपस्वी । गताऽसौ तद्गुणानेव मन-सि ध्यायन्ती गृहम्, सुप्ता च रज्ज्यामनेकशीतापहर्तृप्रावरणप्रा-वृता पल्लवङ्गं, निर्गतश्च प्रावरणेन्यो बहिस्ताकथमप्येकः करः, शीताभिजृत्तश्चायमतीव स्तब्धीभूतः, तदनुसारेण च समस्तमपि शरीरं तथा व्याप्तं शीतेन यथा निजान्नरऽपि जागीरतं तथा । तता क्रिसो इस्तः प्रावरणमध्ये, स्थितश्च हृदये स तथा कायो-त्सर्गस्याथो महामुनिः, तद्गुणात्पञ्चातुल्यबहुमानया विस्मितया च प्रोक्तं तथा—स तपस्वी किं करिष्यतीति, यद्येकेनाप्यावरण-बहिर्निर्गतेन इस्तेनाहमेतावतीं शीतबाधां प्राप्ता, तर्ह्यरण्ये निरा-वरणे रुक्मतपःकपितश्चैवंविधमहाशीतवाधितः स तपस्वी किं

करिष्यतीति तस्याश्चित्ताजिप्रायः, अयं चेष्ट्यालुतया श्रेणिकनृप-
स्यान्यथापरिणतः-नूनमनया कस्यापि सङ्गतो दत्तस्तदन्तिके
च मयि सन्निहिते गन्तुमशक्ता, ततस्तश्चित्तखेदं चेतसि निधा-
य पतदुक्तम् । ततो महता खेदेन तस्य विभाता रजनी । चञ्चितः
श्रीमन्महावीरस्यान्तिकम् । गच्छता चातिकोपावेशान्तिरूपितोऽ-
भयकुमारः-सर्वाभिरैवान्तःपुरिकाजिः सह प्रदीपय सर्वाण्यन्तः-
पुरगृहाणि । ततोऽभयकुमारेण चिन्तितम्-केनाप्याभिनवोऽपन्न-
कोपावेशेनैवमसौ वक्ति, प्रथमकोपे च यदुच्यते तत्क्रियमाणं
न खलु परिणतौ सुखयति । अथवाऽनुवर्तनीयं गुरूणां वचनमतः
ज्ञान्यां हस्तिशास्त्रामेकां प्रदीप्य प्रस्थितः सोऽपि भगवच्छन्दना-
थम् । इतश्च भगवान्पृष्ठः श्रेणिकराजन-भगवन् ! चेष्टणा किमे-
कपत्नी, अनेकपत्नी वा ? । भगवता प्रोक्तम्-एकपत्नीति । ततो
निवृत्तः सत्वरमेव गृहाभिमुखमभयकुमारनिवारणाय । मार्गे चा-
गच्छन्वीक्रितोऽसौ पृष्ठश्च-किं दग्धमन्तःपुरम् ? । तेनोक्तम्-दग्धम् ।
राज्ञा प्रकुपितेनाऽन्यथायि-त्वमपि तत्रैव प्रविश्य किं न दग्धोऽ-
सि ? । कुमारेणोक्तम्-किं ममाग्निप्रवेशेन ? , वतमेव ग्रहीष्याम्यह-
म्, ततो मा चूदस्य महान् खेद इति कथितं यथावदेवेति । तदत्र
सुशीलामपि चेष्टणां कुशीलां मन्यमानस्य राज्ञो भावानुयोगः,
यथावदवगमने च तदनुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् विपरीत-
स्वरूपान् प्ररूपयतो भावानुयोगः, यथाऽवस्थितस्वरूपास्तु
तान् प्ररूपयतो भावानुयोग इति । विशेषः । विषा० ।

अणुचीड्य-अननुचित-त्रि० । शास्त्रानुज्ञाते, “ जो तु अ-
कारणसेवा सा सत्त्वा अणुचीयातो हौति, जा अकारणतो प-
रिसेवा गुणदोसे अचित्तिरुण सा अणुचीति ” नि०चू० १ उ० ।
अणुपालण-अननुपादन-न० । न० त० । अनासेवने, आव०
६ अ० । पंचा० । “ पोसहोचवासस्स सम्ममणुपालणया ”
पोषधोपवासातिचारः । उपा० १ अ० ।

अणुवाङ् (ए)-अननुपातिन्-त्रि० । सिद्धान्तेन सहाऽघट-
मानके, व्य० १ उ० ।

अणुवाय-अननुपात-पुं० । अनागमने, पंचा० ७ वि० ।

अणुसासणा-अननुशासना-स्त्री० । शिक्षाया अभावे, ज्ञा०
१ श्रु० १३ अ० ।

अणुस-अनन्य-त्रि० । अभिज्ञे, विशेषः । “ अणुसं अभिषं ”
अपृथगित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । मोक्षमार्गादन्योऽसंयमः, ना-
न्योऽनन्यः । ज्ञानादौ, “ अणुसं चरमाणे से ण रुषे ण छणा-
वप ” आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणुसोय-अनन्यनेय-त्रि० । अन्येन नेत्राऽनेतव्ये, “ जेतारो अ-
ज्ञेसि अणुसोयेया बुद्धा हु ते अंतकमा हवन्ति ” न च स्वयं बुद्ध-
त्वादन्येन नीयन्ते तत्त्वावबोधं कार्यन्ते इत्यनन्यनेयाः, हिता-
हितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः ।
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुसदंसि (ए) अनन्यदर्शिन-पुं० । अन्यद् ऊर्षु शीलमस्ये-
त्यन्यदर्शी यस्तथा, नासावनन्यदर्शी । यथावस्थितपदार्थरूप-
रि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुसपरम-अनन्यपरम-पुं० । न विद्यतेऽन्यः परमः प्रधानो य-
स्मादित्यनन्यपरमः । संयमे, “ अणुसपरमं णाणी, णो पमाण-
कयाइ वि ” । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसमण-अनन्यमनस्-त्रि० । न विद्यते अन्यद् धर्मध्यानल-

कणान्मनो यस्य सोऽनन्यमनाः । एकाग्रचित्ते, संथा० । भग-
वन्मनसि, औ० ।

अणुसहावाङ् (ए) अनन्यथावादिन्-पुं० । सत्यवक्त्रि, “ अ-
णुवक्यपराणुगह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा । जिअराग-
दोसमोहा, अनसहावाङ्गो तेण ” ॥ १ ॥ आवा० ४ अ० ।

अणुसाराम-अनन्याराम-त्रि० । मोक्षमार्गादन्यचारममाणे, आ-
चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुहय-अनाश्रव-पुं० । न० त० । नवकर्माऽनादाने, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० । स्था० ।

अणुहयकर-अनाश्रवकर-पुं० । प्राणातिपाताद्याश्रवकरणर-
हिते पञ्चमे प्रशस्तमनोविनयभेदे, ज० ७५ श० ७ उ० । स्था० ।

अणुहयत्त-अनंहस्कत्व-न० । न विद्यते श्रंढः पापं यस्मिन्
तत् अनंहस्कम्, तस्य भावोऽनंहस्कत्वम् । अविद्यमानकर्मत्वे,
“ संजमेण अणुहयत्तं जणयइ ” उक्त० १ अ० ।

अणतिक्रमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि० । न० त० । अचाल-
नीये, भ० २ श० ५ उ० । दश० ।

अणतिक्रमणिज्जवयण-अनतिक्रमणीयवचन-त्रि० । अनतिक्र-
मणीयं वचनं येषां ते । वचनानतिक्रामकेषु, “ अम्मापिउणं अ-
णइक्कमणिज्जवयणा ” अम्मापित्रोः सत्कमनातिक्रमणीयं वचनं
येषां ते तथा । औ० ।

अणुतिचार-अनतिचार-त्रि० । न विद्यन्ते अतिचारा यस्मिन् ।
अतिचाररहिते, ध० ३ अधि० ।

अणुतिवाङ् (ए)-अनतिपातिन्-पुं० । अतिपतनमतिपातः प्राप्स्यु-
पमर्दनं, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपा-
तिकः । अहिंसके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणुतिविलं वियत्त-अनतिविलम्बित्व-न० । अतिविलम्बरा-
हित्यरूपे वचनातिशये, औ० ।

अणुत्त-अणुत्त-पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारके,
ग० १ अधि० । ऋणपीकिते, स्था० ३ ज० ४ उ० । स न दी-
कणीयः । ध० ३ अधि० । पं० भा० । पं० चू० ।

अनात्त-अपरिगृहीते, ध० २ अधि० । स्था० ।

इयाणि अणुत्ते—

सञ्चितं अञ्चितं, वा मीसगजोयणे तु धारंति ।

समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसं दिक्खा ४ ? ?

कंठा । इमे दोसा—

अथ सो य अकित्ती या, तम्मूत्ता गंतहिं पवयणस्स ।

अणुपोव्वरुभं भूमिया, सव्वे एयारिसा मग्गा ॥ ४ ? ?

अणं रिणं, पोव्वरुं मइलं, चक्कवरायपरिजवे अणुणुपोव्वदो,
(ऊर्षु रिप ति) ऊर्षु रिणो अदिजंति वणिपहिं अणे-
गप्पगरे रोउ पुव्वयणोहिं ऊर्षु रिणो ऊर्षु रिणो ऊर्षु रिणो ऊर्षु रिणो
वा ऊर्षु रिणो सव्वे एयारिसा । एत्ते गेहणकट्टणादिया दोसा ।

इमं वितियपदं गाहा—

दाणेण से तोमितो, अहवा वीसज्जितो पडु एं ।

अट्ठाणपरविदेसे, दिक्खा से उत्तमाऽऽवदो ॥ ४ ? ?

अट्ठपदं दाणेण तोसिएण धणिण विसज्जितो (पडु ति)

धनितो मध्यमि अद्विजे तेण विसञ्जितो पञ्चाविज्जति, सेसं कर। अणत्ते गतमिति । नि० चू० ११ उ० ।

अणत्त-देश। निर्मात्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अणत्तद्विषय-अनात्मार्थिक-त्रि० । नान्मार्थ एव यस्यास्त्यसाव-
नात्मार्थिकः । परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ मध्य० डा० ।

अणत्तपण-अनात्मप्रज्ञ-त्रि० । नात्मने हिताय प्रज्ञा येषां ते
अनात्मप्रज्ञाः । व्यर्थबुद्धिषु, " परो विस्मियमाणे अणत्तपणे "
आचा० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अणत्तव-अनात्मवन्-त्रि० । अकषायो हात्मा भवति, स्वस्व-
रूपावस्थितत्वात्, तडाग्र भवति यः सोऽनात्मवान् । सकषा-
ये, स्था० ६ डा० ।

अणत्तागमण-अनात्तागमन-न० । अनात्ता अपरिगृहीता-चेष्टया,
स्वेरिणी, प्रोषितजर्तुका, कुलाङ्गना वाऽनाथा, तस्यां गमनम् ।
अपरिगृहीतागमने स्वदारमन्तोषातिचारं, ध० २ अधि० ।

अणत्त्य-अनर्थ-पुं० । अनर्थहेतुत्वाद् गौणे एकविंशे परिग्रहे,
प्रश्न० ५ आश्र० डा० ।

अणत्त्यक-अनर्थक-पुं० । परमार्थवृत्त्या निरर्थके अष्टाविंशे
गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० डा० । निप्रयोजने, पंचा० ६ विव० ।

अणत्त्यकारण-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपघातकारके,
प्रश्न० ३ आश्र० डा० ।

अणत्त्यन्तर-अनर्थान्तर-न० । अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्, न विद्यतेऽ-
र्थान्तरं यस्य पर्याये । एकार्थे शब्दे, " योग्यमहमित्यनर्थान्तरम् "
आ० म० द्वि० ।

अणत्त्यगंय-अनर्थग्रन्थ-पुं० । न० त० । ज्ञावधनयुक्ते, औ० ।

अणत्त्यचूल-अनर्थचूर-पुं० । निजगुणोपाजितनामके रत्नव-
न्याः सुते, दर्श० ।

अणत्त्यदंड-अनर्थदण्ड-न० । अनर्थदण्डो निप्र-
योजनं हिंसादिकरणं तस्य ध्यानम् । दुर्दान्तमत्ततया ढीपायनं
रुष्टीकुर्वतां शास्त्रादीनामिव, वक्रमण्डलीं सर्पविशेषरूपां घ्नतो
गह्वरस्तस्येव, विष्णुश्रीदेवीस्वर्गसंदेशकथननिपुणस्य वा बाल-
स्येव, ध्यानं, आतु० ।

अणत्त्यफलद-अनर्थफलद-त्रि० । स्वपरयोरपकाररूपफलदा-
यके, पञ्चा० ३ विव० ।

अणत्त्यधियसंकल्प-अनस्तमितसंकल्प-पुं० । अनस्तमिते सूर्ये
संकल्पो भोजनभिलाषो यस्य । अनिष्टरात्रिभोजने दिवाजो-
ज्जिनि, वृ० १ उ० ।

अणत्त्यवाय-अनर्थवाद-पुं० । निप्रयोजने जल्पे, प्रश्न०
२ मध्य० डा० ।

अणत्त्यादंड-अनर्थदण्ड-पुं० । निप्रयोजनहिंसाकरणे, आतु० ।

(' अणदादंड ' शब्देऽत्रैव भागे २८४ पृष्ठे चास्य विवृतिः)
अणत्त्यादंडवेगमण-अनर्थदण्डाविगमण-न० । तृतीये गुणघने,
पंचा० १ विव० (' अणदादंडवेगमण ' शब्देऽत्रैव भागे २८५
पृष्ठेऽस्य चिस्तरः)

अणत्त्यधारण-अणत्त्यधारक-पुं० । ऋणं व्यवहारकदेयं द्रव्यं, तद्यो
धारयति । अधमर्णे, जा० १७ अ० ।

अणत्त्यचोद-अनःप्रचोद-पुं० । अनः शकटं प्रचोदयति प्रेर-

यति । विष्णौ, शैशवे हि विष्णुना चरणेन शकटं पर्यस्तमिति
श्रुतेः । " धियो योऽनः प्रचोदयात् " जै० गा० ।

अणत्त (९५) उज्ज-अनात्मज्ञ-त्रि० । अनात्मवशे ग्रहगृहीते,
क्षिप्तचित्तादौ च । नि० चू० १ उ० ।

अणत्तधिकारि (ण)-अनधिकारिन्-पुं० । अधिकारिविरुद्धे, ल० ।

अणत्त-अनर्थ-त्रि० । न विद्यतेऽर्थं येषामित्यनर्थाः । निर्वि-
भागेषु, " समयः प्रदेशः परमाणव एते अनर्थाः " स्था० ३
डा० २ उ० ।

अणत्तपन्निय-अप्रकृष्टिक-पुं० । व्यन्तरनिकायोपरिवर्तिनि व्य-
न्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० डा० । स्था० । औ० । ते च रत्नप्र-
भाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रे अध उपरि च
दशयोजनशतरहिते वसन्ति । प्रव० १९४ डा० ।

अणत्तपगंय-अनर्थग्रन्थ-त्रि० । अनर्थ्योऽनर्थपर्यायोऽदौकनीयः
परेषामाध्यात्मिकत्वाद् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादिर्यस्य
सोऽनर्थग्रन्थ इति । परेभ्योऽदातव्यज्ञानादिके, स्था० ६ डा० ।
अनल्पग्रन्थ-त्रि० । न० ब० । बह्वागमे, औ० ।

अनात्मग्रन्थ-त्रि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी
ग्रन्थो हिरण्यादिर्यस्य । अपरिग्रहे, औ० । सूत्र० ।

अणत्तपिय-अनर्पित-न० । अविशेषिते, यथा जीवज्ज्यं सं-
सारी, संसार्यपि त्रसरूपं, त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियं, तदपि नररू-
पमित्यादि तु अर्पितं विशेषितं विशेषः । स्था० १० डा० ।

अणत्तपियण्य-अनर्पितनय-पुं० । अनर्पितमविशेषितं सामा-
न्यमुच्यते, तद्वादी नयोऽनर्पितनयः । सामान्यमेवास्ति न वि-
शेष इत्येवं वादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशेषः । आ० चू० ।

अणत्तवल-अणत्तवल-पुं० । ऋणे ग्रहीतव्ये बलं यस्येति । बलव-
त्युत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० डा० ।

अणत्तवलजणिय-अणत्तवलभणित-पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्यं
देहीत्येवमभिहिते अधमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० डा० ।

अणत्तजन-अनभ्र-त्रि० । अभ्ररहिते, डा० २४ डा० ।

अणत्तभय-अनभ्रक-त्रि० । अभ्रकरहिते, तं० ।

अणत्तभुवगय-अनभ्युपगत-त्रि० । श्रुतसंपदानुपसंपन्ने अनि-
वेदितात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणत्तभंजग-अणत्तभंजक-पुं० । ऋणं देयं द्रव्यं भञ्जयति न ददति
ये ते । उत्तमर्णेभ्य ऋणं गृहीत्वाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० डा० ।

अणत्तजिओग-अनभियोग-पुं० । न अभियोगोऽनभियोगः ।
अनभियोक्तव्ये, औ० ।

अणत्तजिक्त-अनजिक्रान्त-त्रि० । न अभिक्रान्तो जीविताद-
नभिक्रान्त इति । सचेतने, आचा० २ ध्रु० १ अ० १ उ० । अनतिल-
क्षिते, आचा० १ ध्रु० ४ अ० ४ उ० । अन्यैरनभिक्रान्तायामपरिभु-
क्तायां दोषविशेषविशिष्टायां वसन्तौ, स्त्री० ग० । अधि० आचा० ।
अणत्तजिक्तकिरिया-अनजिक्रान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिजिर-
नघसेचितपूर्वायां वसन्तौ, सा चानजिक्रान्तत्वादेवाऽकल्पनी-
या । आचा० २ ध्रु० २ अ० २ उ० ।

अणत्तजिक्तसंयोग-अनजिक्रान्तसंयोग-पुं० । अनजिक्रान्तोऽन-
तिवर्द्धितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकज्जवादिकृतोऽसंयम-

संयोगो वा येनाऽसावनभिक्रान्तसंयोगः । परिग्रहप्रस्तेऽसंयते, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणजिगम-अनभिगम-पुं० । न० त० विस्तरबोधानावे, भ० २ श० १ उ० । सम्यगप्रतिपत्तौ, ध० ३ अधि० । पा० ।

अणभिगमिहय-अनभिग्रहिह-न० । अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः स यत्रास्ति तदभिग्रहिकं, तद्विपरीतमनभिग्रहिकम् । मिथ्यात्व-ज्जेदे, स्था० २ ग्रा० १ उ० । तच्च प्राकृतजनानां सर्वे देवा बन्धानिन्दनीयाः, एवं सर्वे गुरुवः, सर्वे धर्मा इत्याद्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । “अणभिगमिहयमिच्छादंसणे दुविदे पस्यते । तंजहा-सप-ज्जवसिए चेव अपज्जवसिए चेव” अनभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्य-वसितमितरस्यापर्यवसितमिति । स्था० २ ग्रा० १ उ० ।

अनभिग्रहित-पुं० । अभिग्रहिकमिथ्यात्वरहिते, वृ० १ उ० ।

अणभिगमिहयकुदिट्टि-अनजिगृहीतकुदृष्टि-पुं० । अनजिगृहीता अनङ्गीकृता कुदृष्टिर्वैद्वमतादिरूपा येन सोऽनजिगृहीतकुदृष्टिः । संक्षेपरुचौ, येन मिथ्यात्विनां कुमतमङ्गीकृतं नास्तीत्यर्थः । उक्तं २८ अ० ।

अणभिगमिहयसिज्जासणिय-अनजिगृहीतशय्यासनिक-पुं० । न अनजिगृहीते शय्यासने येन सोऽनजिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकप्रत्ययः । शय्यासनविषयकाभिग्रहरहिते, “नो क-प्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अणभिगमिहयसिज्जासणिप-णं हुत्तए ” कल्प० ।

अणभिगमिहयपुम्पपाव-अनजिगृहीतपुण्यपाप-त्रि० । अनधिग-तपुण्यपापे, अविदितपुण्यपापकमेहेतौ च । प्रश्न० २ आश्र० ६ अ० ।

अणभिगमिहया-अनभिगृहीता-स्त्री० । अर्थानभिग्रहेण नि-त्यादिवदुच्यमानायां भाषायाम्, “अणभिगमिहया भासा, भासा य अभिगमहं निवोधत्वा ” । भ० १० श० ३ उ० ।

अणनिणिवेस-अनजिनिवेश-पुं० । अतत्त्वेऽभिनिवेशाभावे, अ-नाभागे च । पंचा० ११ विव० । अभिनिवेशराहित्ये, अभिनिवेश-श्च नीतिपथमनागतस्यापि पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यार-म्भः । ध० १ अधि० ।

अणनिपेय-अनजिप्रेत-पुं० । अनजिप्रेतार्थविषये संयोगे, उ-क्तं १ अ० । पं० सं० ।

अणजिचूय-अनभिचूत-त्रि० । नाभिचूतोऽनजिचूतः । अनुकू-लप्रतिकूलोपसर्गैः परतीर्थिकैर्वाऽजातानिभवे, आचा० १ श्रु० २ अ० ।

अणभिलप्प-अनजिलाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनायोगे, आ० म० प्र० । “पस्यवणिज्जा ज्ञावा, अणंतभागे उ अणजिलप्पाणं ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० ।

अणजिस्संग-अनभिप्पङ्ग-पुं० । निष्प्रतिबन्धे, पंचा० १४ वि० ।

अणभिय-अनजीत-पुं० । अण वणेति दण्डकधातुः, अणति गच्छति तासु तासु योनिषु जावोऽनेनेत्येण पापं, तस्माद् जीतः । असावद्ययोगे, आ० म० छि० ।

अणजिस्संगओ-अनभिप्पङ्गतम्-अव्य० । अनिप्पङ्गाभावादि-त्यर्थे, पंचा० ४ विव० ।

अणभिहिय-अनजिहित-न० । आत्मन एवेच्छयाऽभणितलक्-णे, वृ० १ उ० । स्वसिद्धान्तानुपदिष्टरूपे सूत्रदोषज्जेदे, यथा-सममः पदार्थो वेशेषिकस्य, प्रकृतिपुरुषाज्यधिकं वा सादृश्य-

स्य, दुःखं समुदायमार्गनिरोधलक्षणं, चतुरार्यसत्यादानातिरि-क्तं वा बौद्धस्येत्यादि । अनु० । आ० म० छि० । विशेष० ।

अणराय-अराजक-न० । राज्ञोऽभावे, प्राक्तनस्य राज्ञो मरणे संजाते सति यावदद्यापि राजा युवराजश्चैतैः द्वावपि नाभिषि-क्तौ तावदराजकं भण्यते, वृ० १ उ० । (‘विहार’शब्दे व्याख्या)

अणारिक-देशा-न० । दधिक्तीरादौ, नि० चू० १६ उ० ।

अणल-अनल-पुं० । नास्ति अलः पर्याप्तियस्य, बहुदुःखदहन-ऽपि तृप्तेरभावात् । न० ब० । वन्हौ, अनलदैवतत्वात् कृत्तिकान-क्रे, चित्रकवृक्के, पुं० । तस्य सर्वतः पर्याप्तत्वेऽपि पर्याप्तः स्त्री-माभावात्तत्त्वम् । भ्रूतातके वृक्के च । वाच० । प्रश्न० । स्था० । आष० । न अलोऽनलः । अप्रत्यक्षे अपर्याप्ते अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । असमर्थे, आ० म० छि० ।

अनलमित्यस्य—

कामं खलु अलसदो, तिविहो पज्जन्तहिं पगतं ।

अणलो अपचलो च य, ह्योति अजोगो व एगट्ठा २२१

चोदक आह—ननु अलशब्दः त्रिष्वर्थेषु दृष्टः, तथा-पर्याप्त, भूषणे, वारणे च । आचार्य आह—यथापि त्रिष्वप्यर्थेषु दृष्टः तथापि अर्थवशादत्र पर्याप्ते दृष्टव्यः, न अलोऽनलः, अपचलः अचोम्यश्च एते एकार्याः । नि० चू० ११ उ० ।

अणलंकि-अनलङ्कृत-त्रि० । न० त० । मुकुटादिभिरविनृषिते, भ० २ श० १ उ० ।

अणलंकिविनृसिय-अनलङ्कृतविनृषित-त्रि० । न० त० । अ-लङ्कृतं मुकुटादिभिः, विनृषितं वस्त्रादिभिः, तन्निषेधादनल-ङ्कृतं विनृषितम् । मुकुटादिभिर्वस्त्रादिभिर्वा शोभामप्रापिते, ज० २ श० १ उ० ।

अणल्लगिरि-अनल्लगिरि-पुं० । चण्डप्रद्योतनूपतेर्हस्तिरत्ने, उ-क्तं १ अ० । “स्त्रीरत्नं च शिवा देवी, गजोऽनल्लगिरिः पुनः” । आ० क० ।

अणल्लस-अनल्लस-त्रि० । उत्साहवति, दश० १ अ० ।

अणल्लान्नतणवणस्सङ्गणणिस्मिय-अनल्लान्नतणवणस्स-तिगणनिःश्रित-त्रि० । अनल्लस्तेजस्कायोऽनिलो वायुकायस्तृण-वनस्पतिगणो वादरवनस्पतीनां समुदायः, एतन्निःश्रिताः । तेजस्कायाद्युपजीवकेषु त्रसेषु, प्रश्न० १ आश्र० ६ अ० ।

अणल्लिय-अनल्लिक-न० । सत्ये, वृ० १ उ० ।

अणल्लियणज्ज-देशी-त्रि० । अनाश्रयणीये अयोग्ये, “वि-सवल्लीअणल्लियणिऽजाओ” । स्त्रियः विषवल्लीवद् हास्यद्व-विषयतावत् अनाश्रयणीयाः सर्वथा सङ्गादिकर्तुमयोग्याः, तत्कायप्राणप्रयाणहेतुत्वात् । पर्वतकस्य राज्ञो नन्दपुत्रोविषक-न्यावत् । तं० ।

अणव-अणवत्-पुं० । दिवसस्य पूर्वशे लोकोत्तरमुहूर्त्ते, कल्प० । चं० प्र० ।

अणवकंस्वमाण-अनवकाङ्कित-त्रि० । विहर्तुमिच्छति, क-ल्प० । स्था० ।

अणवकंस्वत्तिया-अनवकाङ्क्षप्रत्यया-स्त्री० । अनवकाङ्क्षा स्वशरीराद्यनपेक्षत्वं सैव प्रत्ययो यस्याः साऽनवकाङ्क्षप्रत्यया । इहलोकापरलोकापापानपेक्षस्य क्रियाभेदे, स्था० २ ग्रा० १ उ० ।

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पसता । आयशरीर-
अणवकंखवत्तिया चेव, परशरीरअणवकंखवत्तिया चेव ।
तत्रात्मशरीरागवकाङ्क्षप्रत्यया सा स्वशरीरस्वतिकाकारिकर्मा-
णि कुर्वतः, तथा परशरीरस्वतिकाकाराणि तु कुर्वतां द्वितीयेति ।
आ० २ ठा० १ उ० । "अणवकंखवत्तिया इहलोगे परलोगे य ।
इहलोगे अणवकंखवत्तिया लोगविच्छाणि विचारिकादीणि
करोति जेण वहावधादीणि इहेव पावति, परलोगे अणवकंख-
वत्तिया अट्टरुद्धाती इदियपराभूतो हिंसादिकम्माणि करे-
माहो परलोगे नावकंखति " आ० चू० ४ अ० ।

अणवकंखा-अनवकाङ्क्षा-स्त्री० । अनाकाङ्क्षायां स्वशरीराद्य-
नपेक्षत्वे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणवगप-अनवगत-त्रि० । अपरिहृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणवगल्ल-अनवकल्प-पुं० । जरसा पीडिते, अनु० । अत्य-
न्तवृद्धे, पं० व० १ ठा० १ प्र० ।

अणवजुय-अनवयुत-त्रि० । न० त० । अपृथग्भूते, व्य० ७ उ० ।

अणवज्ज-अनवज्य(अणवज्यं)-न० । अवयं पापं, नास्मिन्नव-
यमस्तौत्यनवयम । सामायिकं, विशेष० । आ० चू० । सावय-
योगप्रत्याख्यानात्मकत्वात्तस्य । आ० म० द्वि० ।

पावमवज्जं मामा-इयं अपावं ति तो तदणवज्जं ।

पावमणंति व जम्हा, वजिज्जइतेण तदयेसं ॥

अणवज्जस्य कुत्सितार्थत्वाद्गन्ति कुत्सितानि करणानि श-
ब्दयन्ति, अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्वा, अणं पापमुच्यते । तदशेषं
सर्वमपि वर्ज्यते परिह्रियते यस्मात्तेन सामायिकेन अणं वर्ज-
यतीति वा, ततः सामायिकमणवर्ज्यमुच्यते इति शेषः ।
विशे० ।

इदानीमनवयद्वारम् । तत्र कथानकम्-वसन्तपुरे नगरे जिय-
सन् राया । धारिणी देवी । तीसे पुत्तो धम्मरुई । सो य राया
येरो । अन्नया तावसो पवइउकामो धम्मरुईस्स रज्जं दाउ-
मिच्छइ । सो मायरं पुच्छइ-कीस तातो रज्जं परिव्वयइ ? ।
सो भणइ-रज्जं संसारवहुणं । सो भणइ-मम वि न कज्जं ।
ततो सो वि सह पियरेण तावसो जाओ । तथ अमावसा
होहि ति गइओ थोसेइ आसमेसु-कल्ले अमावसा होहि इ-
तो पुष्पफलाणं संगहं करेह । कल्ले नट्टइ छिदिउं । धम्मरुई
चिनेइ-जर सव्वकालं न छिदिज्जा तो सुंदरं होज्जा । अणया
साहु अमावसाए तावसासमस्स अदूरेण थोलंति । ते धम्म-
रुई पेच्छिऊण भणति-भयवं ! किं तुम्हे अणकुट्टी नत्थि तो
अरवि जाह । ते भणति-अम्हं जावज्जीवं अणकुट्टी । सो
संभंतो चिंतिउमारुओ-साहु वि गया जाईसंभरिया पत्ते य-
बुद्धो जातो ।

अमुमेवार्थमभिधित्सुगह-

मोऊण अणाउट्ठि, अणजितो वज्जियाण अणगंतुं ।

अणवज्जयं उवगतां, धम्मरुई नाम अणगारो ॥

धुत्वा आकर्ण्य, आकुट्टनमाकुट्टिः छेदनं हिंसेत्यर्थः । न
आकुट्टिरनाकुट्टिः, तां सर्वकालिकीमाकर्ण्य अणमीनः अण
वणंति दण्डकधानुः, अणति गच्छन्ति नासु नासु योनिषु जीवो
अनेनानि अणं पापं, परित्यज्य सावययोगमित्यर्थः । अणस्य
वज्यं अणवज्यं न्नद्रवस्तमणवज्यंतामुपगतः प्राप्तः साधुः
सद्वृत्त इति भावः । धम्मरुचिर्नाम अनगरः । गन्तमन्यद्वार-

रम् । आ० म० द्वि० । निर्दोषे, भ० ५ श० ६ उ० । उत्त० ।
पापाभावे कर्मोपचयाभावे, "अणवज्जमतहं तेसि" कुतोऽपि
हेतोः केवलमनसः प्रवृत्तेऽपि अनवयं पापाभावः, कर्मोपच-
याभावो वा नवतीति । सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० । कामादि-
पापव्यापाराप्ररूपके, विशेष० । गुणविशेषविशिष्टे सूत्रे, अनवय-
मगर्ह्यमहिंसाप्रतिपादकम् । यतः "षट्शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां
मध्येऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाः न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः" ॥१॥
इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० द्वि० । अनु० ।
पीमानुपादके, अपापे वाक्ये "सच्छेसु वा अणवज्जं वयंति"
सूत्र० १ भु० ६ अ० । ('सच्छ' शब्देऽस्य विवृतिः)

अणवज्जगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । सुदर्शनापरनामिकायां भगवतो
महावीरस्य दुहितरि जमाद्विगृहियाम, विशेष० । उत्त० ।

अणवज्जजोग-अनवद्ययोग-पुं० । कुशलानुष्ठाने, "अणवज्जजो-
गमंगं" अनवयं योगं कुशलानुष्ठानमेकं सकलकुशलानुष्ठानानाम-
नवद्ययोगत्वाव्यभिचारात् । पा० ।

अणवज्जया-अणवज्यता-स्त्री० । अणस्य पापस्य वर्ज्योऽणव-
ज्यस्तद्भावोऽणवज्यता । संवरे, आ० म० द्वि० ।

अणवट्ठ-अनवस्थ-पुं० । अनवस्थाप्ये, व्य० १ उ० ।

अणवट्ठप्प-अनवस्थाप्य-न० । अवस्थाप्यत इत्यवस्थाप्यस्य, तन्नि-
पेधादनवस्थाप्यम् । दुष्टतापरिणामस्याऽकृततपोविशेषस्य व्रता-
नामनारोपणे, ध० ३ अधि० । ग० । औ० । यो हि आसेविता-
तिचारविशेषः सन्ननाचरिततपोविशेषः, तदोपोपरतो महाव्र-
तेषु नावस्थाप्यते नाधिक्रियते इति; तदतिचारजाते तच्छुक्र-
रूपे, नवमे प्रायश्चित्ते च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । यत्र प्रति-
सेवते उत्थापनायामप्ययोग्यत्वेन यावदनाचीर्णतपाः पश्चाच्च-
र्णतपाः पुनर्महाव्रतेषु स्थाप्यते तत् । जीत० । व्य० ।

अनवस्थापनीयाः—

ततो अणवट्ठप्पा पन्नत्ता तं जहा-साहम्मियाणं तेषं करेमाणे
अन्नधम्मियाणं तेषं करेमाणे, हत्थादालं दक्षेमाणे ॥

त्रयोऽनवस्थाप्यास्तत्कृणादेव व्रतेष्वनवस्थापनीयाः प्रहृष्टाः ।
तद्यथा-साधर्मिकाः साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधेः शिष्या-
देवा स्तैन्यं चौर्यं कुर्वाणः । अन्यधार्मिकाः शाक्यादयो गृहस्था
वा, तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेन तामनं ह-
स्तातालं, सूत्रे च तकारस्य दकारभ्रुतिः, अर्पित्वात्, तं दक्षमाणो व-
दन् यष्टिमुष्टिलगुमादिभिरात्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः ।
अथवा हस्तालम्बेति पाठः । हस्तालम्ब इव हस्तालम्बोऽशिवादि-
प्रशमनार्थमभिचारकमन्त्रादिप्रयोगस्तं दक्षमाणः कुर्वन् । यद्वा-
'हत्थादाणं दक्षमाणेति' पाठः । सूत्रार्थादानमयोपादानकारणमष्टा-
ङ्गनिमित्तं दत्तप्रयुज्जानः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । वृ० ४ उ० । जीत० ।

अथ विस्तरार्थं विज्जणपुराह—

आसायणपदिमेवी, अणवट्ठप्पो वि होति दुविहो तु ।

एक्केको वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥

आशातनाऽनवस्थाप्यः, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्चेत्यनवस्थाप्यो
द्विविधो भवति । न केवलं पाराञ्चिक इत्यपिशब्दार्थः । पुन-
रेकैकोऽपि द्विविधः—सचारित्रोऽचारित्रश्चेति । एतौ द्वावपि
जेदौ पाराञ्चिकवद्वक्तव्यौ ।

अथाशातनाऽनवस्थाप्यमाह—

तित्ययरपवणमुत्ते, आपरिये गणहरे महिईए ।

एते आसादेते, पाञ्चिते मगणा होई ॥

तीर्थकरप्रवचनं श्रुतम्, आचार्यः, गणधरः, महर्जिकश्चेति ।
एतानाशातयतः प्रायश्चित्तमार्गेणा भवति । अर्माणां चाशातनाः
पाराञ्चिकवद्भाषनीयाः ।

प्रायश्चित्तमार्गेणा पुनरियम्-

पढमवितिण्णु नवमं, सेसे एकेक चउगुरू होंति ।

सव्वे आसादेतां, अणवट्टप्पो उ मो होई ॥

प्रथमद्वितीयायास्तीर्थकरसङ्घाशातनायारुपाध्यायस्य नवम-
मनवस्थाप्यं भवति, शेषेषु श्रुतादिषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्नाशा-
त्यमाने चतुर्गुरवो भवन्ति । अथ सर्वाणि चतुर्थेष्वपि श्रुतादी-
नि आशातयति, ततोऽसायनवस्थाप्यो ज्ञवति । उक्त आशात-
नाऽनवस्थाप्यः ।

अथ प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यमाह-

पन्निसेवणअणवट्टो, तिविहो सो हांइ आणुपुव्वीए ।

साहम्मियऽसुधम्मिय, हत्थादालं वदलमाणं ॥

यः प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः सूत्रे साक्षादुक्तः स आनपूर्व्यात्रि-
विधो भवति-साधर्मिकस्तैन्यकारी, अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी,
हस्तातालं ददत् ।

तत्र साधर्मिकस्तैन्यं तावदाह-

साहम्मि तेषु उवधि-वावारणजामणा य पढवणा ।

सेहे आहारविही, जा जहि आरोवणा जणिता ॥

साधर्मिकाणामुपधेर्वस्त्रपात्रादिलक्षणस्य स्तैन्यं करोति [वा-
वारणं चित्] गुरुजिरुपधेरुत्पादनाय व्यापारणा प्रेषणा कृता, अत-
स्तमुत्पाद्य गुरुणामनिवेद्यान्तरात्रे स्वयमेवाधितिष्ठति [जामणा
य चित्] उपकरणं सङ्गावेनाऽसङ्गावेन वा ध्यामितं दग्धं भ-
वेत्, तद्व्याजेन श्रावकमज्यर्थं वस्त्रादिकं गृहीत्वा स्वयमेव
शुद्धं [पछवणं चित्] केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते
ऽपराचार्यस्य ढाकनाय प्रतिग्रहः प्रेषितस्तमसावन्तरा स्वयमेव
स्वीकरोति [सेहं चित्] शैलविषयं स्तैन्यं करोति [आहारवि-
हि चित्] दानश्रद्धादिषु स्थापनाकुत्रेषु गुरुजिरननुज्ञात आहार-
विधिमशनादिकं माहोत्तरप्रकरं गृह्णाति । एतेषु स्थानेषु साधर्मि-
कस्तैन्यं ज्ञवति । अत्र च यायत्रस्थाने आरोपणा प्रायश्चित्ताप-
रपर्याया भणिता, सा तत्र वक्तव्या । एष निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीपुराह-

उवहिस्स आसियावण सेहमसेहे य दिइदिइ य ।

सेहे मूलं जणितं, अणवट्टप्पा य पारंची ॥

इहोपधेः, 'आसियावणं' स्तैन्यमित्येकार्थः । तच्च शैलौ वा कुर्या-
दशैलौ वा । उत्रापि-दृष्टं वा स्तैन्यं कुर्यात्, अदृष्टं वा । तत्र शैले
मूलं यावत्प्रायश्चित्तं भणितम् ; उपाध्यायस्यानवस्थाप्यपर्यन्त-
म् ; आचार्यस्य पाराञ्चिकान्तम् ।

एतदेव भावयति-

सेहो चि अगीयत्थो, जो वा गीतो अण्हिसंपन्नो ।

उवही पुण वत्थादी, सपरिगह एतरो तिविहो ॥

शैल इतिपदेनागीतार्थो ज्ञयते । यो वा गीतार्थोऽपि अनृ-
क्षिसंपन्न आचार्यपदादिसमृद्धिमप्राप्तः, सोऽपि शैले इहोच्यते ।
उपधेः पुनर्वस्त्रादिकः, आदिशब्दात्पात्रपरिग्रहस्तत्परिगृहीतः
स्यात्, इतरो वाऽपरिगृहीतः स्यात् । पुनरेकैकस्त्रिविधः-
जग्रन्थो मध्यम् उक्तम् ।

अथ 'सेहे मूलं' इत्यादि पश्चार्थं व्याख्यानयति-

अतो वहिं निवेसण-वारुगमुज्जाणसीमितिकंते ।

मास चउ च्छलहु गुरू, छेदी मूलं तह दुगं वा ॥

अन्तः प्रतिश्रयाच्यन्तरं साधर्मिकाणामुपधिमदृष्टं शैलः स्तेन-
यति तदा मासलघु, वसन्तेर्वहिरदृष्टमेव स्तेनयति तदा मास-
गुरु, निवेशनस्यान्तर्मासगुरुकं, वहिश्चतुर्त्रेषुकं, वाऽकस्यान्तश्च-
तुर्लघुकम्, वहिश्चतुर्गुरुकम्, उद्यानस्यान्तः पद्मघु, वहिः पर्-
गुरु, सीमाया अन्तः पद्मगुरु, अतिक्रान्तायां तु तस्यां वहिः
वेदः (मूलं तह दुगं व चित्) मूलं, तथा द्विकं वा-अनवस्थाप्य-
पाराञ्चिकयुगम् ।

एतदेव भावयति-

एवं ताव अदिट्ठे, दिट्ठे पढमं पदं परिहवेत्ता ।

तं चेव असंहे वी, अदिट्ठ दिट्ठे पुणो एकं ॥

एवं तावददृष्टे स्तैन्ये क्रियमाणे शैलस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । दृष्टे
तु प्रथमं मासलघुलक्षणं पदं परिहाप्य परिहृत्य मासगुरुका-
दारब्धं मूलं यावद्वक्तव्यम् । अशैल उपाध्यायस्तस्यापि अदृष्टे
तावदेव मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि ज्ञव-
न्ति । दृष्टे पुनरेकं मासगुरुलक्षणं पदं हसति, चतुर्त्रेषुकादार-
ब्धमनवस्थाप्ये निष्ठां यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यदृष्टेऽनवस्था-
प्यान्तमेव । दृष्टे तु चतुर्गुरुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति । गते
साधर्मिकोपधिस्तैन्यद्वारम् ।

अथ व्यापारणाद्वारमाह-

वावारिय आणेहा, वहीं घेत्तूण उवहि गिएहंति ।

लु णो अदिति लहुगा, अणवट्टप्पो य आदेसा ॥

व्यापारिता नाम गुरुभिः प्रेषिताः, यथा-[आणेहं चित्] उप-
धिमुत्पद्यानयत । ते चैवमुक्ता अनेकविधमुपधि गृहीत्यो गृही-
त्वोत्पाद्य वहिरेवाचार्यसमापमप्राप्ता उपधि गृह्णन्ति-इदं तव, इदं
ममेति विज्ञेय स्वयमेव स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः । एवं गृह्णतां मासल-
घु, आगता आचार्यस्य न ददति, तदा चतुर्त्रेषवः । प्रस्तुतसूत्रा-
देशाद्वा स स्वच्छन्दवस्तुग्राहकः साधुवर्गोऽनवस्थाप्यो भव-
ति । गतं व्यापारणाद्वारम् ।

अथ ध्यामनाद्वारम्-सा च ध्यामनाद्विविधा-सती, असती

च । तत्र सर्तो तावदाह-

दहु निमंतण लुक्के, -ऽणापुच्छा तत्थ गंतु तं जणति ।

जोमिय उवधी अहमह, तेहं पेसितो गाहत णातो य ॥

आचार्याः केनापि विरूपरूपैर्वस्त्रैर्मन्त्रितास्तैश्च तानि प्रति-
पिद्धानि, एकश्च साधुस्तां निमन्त्रणां श्रुत्वा तानि च सुन्द-
राणि वस्त्राणि दृष्ट्वा लुब्धो लोभं गतः । तत आचार्यमना-
पृच्छ (तमिति) तं श्रावकं तत्र गत्वा भणति-अस्माक-
मुपधिर्ध्यामितो दग्धः, ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकाशे
वस्त्रार्थं प्रेषितः, एवमुक्ते दत्तस्तेनोपधिः, स च गृहीत्वा गतः,
अन्ये च साधव आगताः । श्रद्धेन भणितम्-युष्माकमुपधि-
र्दग्ध इति कृत्वा यो भवद्भिः साधुः प्रेषितस्तस्य नूतनोपधि-
र्दत्तो विद्यते, यदि न पर्याप्तं ततो भूयोऽपि ददामीति । सा-
धवो ब्रुवन्ते-नास्माकमुपधिर्दग्धः, नवा वयं कमपि प्रेषयामः,
एवं स लोभाभिभूतः साधुस्तेन श्रावकेण ज्ञातः यथा-गुरुणां
पृच्छामन्तरेणायं गृहीतवान् ।

ततश्च किं भवतीत्याह-

लहुगा अणुगहम्मि, गुरुगा अप्पित्तियम्मि कायव्वा ।

मूलं वा जणमज्जे, वोच्चेद पमज्जणा सेसे ॥

एष तेन साधुना स्तैन्येन वस्त्रेषु गृहीतेषु यद्यप्यसौ श्राद्धोऽनुग्रहं मन्यते-यथापि तथापि ददामीति साधव इति, तथापि चतुर्लघवः । अथवाऽप्रतिष्ठां करोति, ततश्चतुर्गुरुवः प्रायश्चित्तं कर्तव्यः । अथासौ स्तेनोऽयमिति शब्दं जनमध्ये विस्तारयति, तदा मूलम् । यच्च शेषद्रव्याणां शेषसाधुना वा व्यवच्छेदं (पमज्जणं च) प्रसंगतः करोति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ सर्ती ध्यामनां दर्शयति-

मुव्वत्तामिअोऽवधि-पेसण गहिंते य अंतरा लुद्धो ।

लहुगो अदेत गुरुगा, अणवदृष्टो य आदेसे ॥

अथ सुव्यक्तं सत्यमेव ध्यामितोपधिरुग्भस्तिथैव प्रेषणं कृतम्, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निमग्नतास्तस्मादन्यस्याद्वा श्रावकाद् वस्त्रादिकमुपधि गृहीत्वा अन्तरालुद्धो लोभाभिभूतो यदि गृह्णाति, तदा लघुको मासः । आगते यदि गुरुणां न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरुवः । तेऽत्रादेशा अनवस्थाप्या भवन्ति । गतं ध्यामनाद्वारम् ।

अथ प्रस्थापनाद्वारमाह-

उकोम मनिज्जोगो, पणिगहो अंतरा गहण लुद्धो ।

लहुगा अदेति गुरुगा, अणवदृष्टो वा आदेसा ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य द्वौ कनहेतोः प्रतिग्रहः प्रेषितः । स चांशुः उच्छेदोपधिरूपः, यद्वा-वृत्तसमचतुरस्रवर्णाढ्यतादिगुणोपेतः, तथा सह नियोगेन पात्रकवन्धादिना यः स सनियोगः । एवंविधस्य प्रतिग्रहस्यान्तराल एवामौ लुद्धो ग्रहणं स्वीकरणं करोति, तत्र चतुर्लघु । तत्र गतस्तेषां सूरीणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरुवः । तत्रादेशेन वा अनवस्थाप्योऽसौ द्रष्टव्यः । गतं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैलद्वारमाह-

पव्वावणिज्ज वादि, उवेत्तु भिक्खुस्स अतिगते संते ।

मेहस्स आसियावण, अनिधारेति य पावयणी ॥

कोऽपि साधुः प्रवाजनीयं सशिखाकं शैलं गृहीत्वा प्रस्थितः, तं भिक्षाकाले कापि ग्रामे बहिः स्थापयित्वा भैक्षार्थमतिगतः प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् परः साधुस्तं शैलं दृष्ट्वा विप्रतार्य च तस्य 'आसियावणं' अपहरणं करोति, साधुविरहितो वा एकाकी कमपि साधुमभिधारयन् शैलो व्रजेत्, तमपरः साधुर्विप्रतार्य प्रवाजयेत्, एतौ द्वावपि यदा प्रायचनिकौ जातौ, तदा द्वावपि शैलो स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति संग्रहायासमाप्त्यर्थः ।

अथनामेव विवृणोति-

मसादिगओ अद्वा-णिओ व वणदणग पुच्छ से होमि ।

सो कत्थ मज्ज कज्जे, उतपिवांसिन् वा अहनि ॥

सन्नाभूमिगत आदिशब्दाद्भिक्षादिपरिष्ठापनिकार्थं निर्गतः कोऽपि साधुः शैलं दृष्ट्वा, अथवा अच्यनिकः पथिकोऽसौ साधुस्ततः पथि गच्छन् शैलं दृष्ट्वा, तेन च वन्दनं कृते सति, साधुः पृच्छति-कोऽसि त्वं, कुत आगतः, क्वा प्रस्थितः ? शैलः प्राह-अमुकेन साधुना साद्धं प्रस्थितः प्रवर्जितुकामः, शैलोऽस्म्यहम् । साधुः पृच्छति-स साधुः संप्रति क्वा गतः ?

शैलो भणति-स मम कार्ये बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भक्षणानार्थं पर्यटति ।

मज्झ मिएमणपाणं, उवजीवणकंपणा य सुच्छो उ ।

पुट्टमपुट्टे कहणा, एमेव य इहरहा दोसो ॥

ततः स साधुर्पक्षीयमिदमन्नपानमुपजीव नृच्छेवेति कुर्वाणो यदि साधर्मिकोऽयमित्यनुकम्पया ददाति, तदा शुद्धः । शैलेण पृष्टो अपृष्टो वा यद्ययमेवानुकम्पया धर्मकथां करोति, तदा शुद्धः । इतरथा अपहरणार्थं जक्रपानं ददतो धर्मं च कथयतो दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति-

जत्ते पाणवण निगू-हणा य वावार ऊपणा चेव ।

पत्थावण सयहरणा, सेहे अन्वत्त वत्ते य ॥

अपहरणार्थं जक्रपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुगतः प्रज्ञापयति । तत्र स शैल आहतः सन् जणति-जचत एव सकाशेऽहं प्रवर्जामीति किन्तु न शक्नोमि येनानीतस्तत्पुरतः स्थातुं ततो मां गुपिले प्रदेशे निगूहता ततोऽसौ तं व्यापारयति-अमुकत्र निव्रीय तिष्ठेति । तनस्तं तत्र निव्रीतं साधुः पलालादिना ऊपयति, स्थगयतीत्यर्थः । अन्यैः सार्धमन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिनं वा प्रेषयति, अमुकत्र ग्रामादौ व्रज, अहमग्रेऽमुष्मिन्दिवसे तत्रागमिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृहीत्वा तमपहरति, एतानि पट्टपदानि भवन्ति । तद्यथा-जक्रप्रदानं १, धर्मकथा २, निगूहनावचनं ३, व्यापारणं ४, ऊपनं ५, प्रस्थानं स्वयंहरणं ६ चेति । एतेषु पट्टसु शैलं व्यक्तेऽव्यक्ते च प्रायश्चित्तमिदं भवति-

गुरु चउलहु चउगुरु उलहु उगुरुगमेव वेदो य ।

जिक्खुगणापरियाणं, मूत्तं अणवदृष्ट पारंची ॥

भिक्षुर्गुरुव्यक्तशैलस्यापहरणार्थं भक्तं ददाति, तदा मासगुरुः धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघुः निगूहनवचने चतुर्गुरुः व्यापारणे पट्टलघुः ऊपने पट्टगुरुः प्रस्थापने स्वयं हरणे वा वेदः । एवमव्यक्तशैले भणितम् । अव्यक्तो नाम-यस्याद्यापि श्मश्रु न संजातम् । यस्तु व्यक्तः संजातश्मश्रुः, तस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावत् भिक्षोः प्रायश्चित्तम्, गणितं उपाध्यायस्य चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्यं तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकादारब्धं पाराश्रिकं पर्यवस्यति । एवं सप्तहायं शैलं भणितम् ।

यः पुनरसहायोऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह-

अजिधारं पवयंते, पुच्छो पव्वामहं अमुगकुलं ।

पाणवणजत्तदाणे, तहेव सेसा पदा एत्थी ॥

कोऽपि शैल एकाकी कमप्याचार्यमभिधारयन् प्रव्रज्याभिमुखो व्रजति, तेन कच्चिद् ग्रामे पथि वा साधुं दृष्ट्वा वन्दनं कृतम् । साधुना पृष्टः-क गच्छसि ? स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पादसूत्रे प्रव्रजनार्थं व्रजामि । एवमुक्ते यदि जिह्वुरव्यक्तशैलकस्य जक्रदानं करोति, तदा मासगुरुः धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघुः व्यक्तशैलस्य जक्रदाने चतुर्लघुः धर्मकथायां चतुर्गुरुः उपाध्यायाचार्ययोर्व्यथाक्रमं पट्टगुरुकं च भवति । अथस्तनमेकैकं पट्टं नृहसतीति ज्ञातः । शेषाणां तु निगूहनव्यापारणऊपनादीनि पदानि न सन्ति, असहायत्वात् । तदज्ञावात्प्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एते चाऽपरे दोषाः-

आणादणंतसंसा-रियत्तं बोहियदुल्लजत्तं वा ।

साहम्मियतेस्सम्मा, पमत्त उल्लणाऽभिकरणं च ॥

शैकृत्पहरत आज्ञाभङ्गादयो दोषा जवन्ति, अनन्तसंसारिक-
त्वं च भगवतामाज्ञाजङ्गाद्वयति । बोधेश्च पुत्रभत्वं जायते,
सार्धमिहस्तैर्न्यं च कुर्वाणः प्रमत्तो भवति; प्रमत्तस्य च प्रान्ते
देवतया वृत्त्या जवति । यस्य च सेवन्धी सोऽपह्रियते, तेन
सममधिकरणं कलह उपजायते । एवं तावत्पुरुषविषयादयो
दोषा उक्ताः ।

अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

एमेव य इत्यीए, अजिधारेति ए तद् वयंतीए ।

वत्तवत्ताए गम, जहेव पुरिसस्म नायव्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैकृत्काया अभिधारन्त्याः, तथा (वयंतीए
त्ति) ससहायायाः प्रव्रजितुं व्रजन्त्याः, व्यक्ताया अव्यक्तायाश्च
गमः स एव ज्ञातव्यो यथा पुरुषस्योक्तः ।

अथ प्रावचनिकपदं व्याचष्टे—

एवं तु मो अवहिओ, जाहे जाओ मयं तु पावयणी ।

निष्कारणे य गहिओ, पवयति ताहे पुरिद्वीएणं ॥

एवमनन्तरोक्तैः प्रकारैः स शैकृत्कोऽपहृतः सन् यदा स्वयमेव
प्रावचनिको जातः, अन्यो वा निष्कारणे यः केनापि गृहीतः,
स आत्मनो दिक्परिच्छेदं कृत्वा भूयोऽपि बोधिशभाभावात्
पूर्वेषामेवाचार्याणामन्तिके प्रव्रजति ।

अत्रस्न व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जएगतरजुत्तो ।

धारंति तमेव गणं, जाव हसो कारणज्जाते ॥

येन स शैकृत्को निष्कारणमपहृतस्तस्यार्थे अपरः कोऽप्याचार्यः
पदयोग्यो न विद्यते, ततोऽन्यस्याभावे, यद्वा-गुरावाचार्येऽ
ज्युद्यतस्यैकतरेण युक्तं अज्युद्यतमरणमज्युद्यतविहारं वा
प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्तेषां निष्पन्नो ना-
स्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति, यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न
इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः, सोऽपि तमेव
गणं धारयति ।

किं पुनस्तत्कारणमित्याह—

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कान्निगानुओगे एं ।

अज्जा कारणजाते, कप्पति सेहाऽवहारो उ ॥

कोऽप्याचार्यो बहुश्रुतः, तस्य पूर्वगते किञ्चिच्छ्रुतं प्राप्तं वा,
कालिकानुयोगेऽपि श्रुतस्कन्धोऽध्ययनं वा, विद्यते, तस्यान्यस्य
नास्ति, ततो यद्यन्यस्य न संक्राम्यते, तदा तद् व्यवच्छिद्येत । एवं
पूर्वगते कालिकानुयोगे च व्यवच्छेदं ज्ञात्वा तं च संप्रस्थितं शैकृत्
ग्रहणधारणसमर्थं विज्ञाय भक्तादानधर्मकथादिभिर्विपरिणा-
मभ्रम्पनादीन्यपि कुर्वाणः शुद्धः । यद्वा-तस्याचार्यस्य नास्ति
कोऽप्यार्याणां प्रवर्तकस्ततस्तासामपि कारणजाते शैकृत्पह-
रेत्, एवं कल्प्यते शैकृत्पाहारः कर्तुम् ।

तस्य च कारणेऽपहृतस्य को विधिरित्याह—

कारणजाए अवहिअ, गण धारंती तु अवहरंतस्म ।

जा एगो निष्फणो, पच्छा से अप्पणो इच्छा ॥

यः कारणजातेऽपहृतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एव
विनेयो जवति । अथ येन कारणेनापहृतस्तत्कारणं न पूरयति
तदा पूर्वेषामेव भवति, नापहरतः । स च कारणापहृतस्तस्मि-
न्गणे तावदास्ते यावदेको गोतार्थो निष्पन्नः, पश्चात्तस्यात्मीया
इच्छा-तत्र वा निष्ठिति पूर्वेषां वा सकाशे गच्छति । यस्तु

निष्कारणे अपहृतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमान्पूर्वेषामन्तिके
गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैकृत्पाहारम् ।

अथाहारविधिधारमाह—

ठवणापरम्मि लहुगो, मायी गुरुगो अणुग्गहे लहुग ।

अप्पित्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥

दानश्रद्धादिकुत्रं स्थापनागृहं जग्यते, तस्मिन् य आचार्यैरसं-
दिष्टोऽननुज्ञातो वा प्रविशति, तस्य मासलघु । अथवा प्राघूर्णक-
ग्लानार्थमहमिहायात इति तेषां आक्षानां पुरतो मायां करोति,
ततो मायिनो मासगुरुकम्, एवमुक्ते यदि ते श्रद्धा अनुग्रहोऽ-
यमिति मन्यन्ते, तदा चतुर्लघु । अथाप्रीतिकं कुर्वन्ति, ततश्चतु-
र्गुरुः, यश्च तद्दृष्टव्यवच्छेदादि दोषदोषाणां प्रसज्जनाप्रसज्जात्
तान्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

अज्ज अहं निदिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व साहई एवं ।

पाहुणगगिज्ञाणट्ठा, तं च पञ्जेजेति तो वित्तियं ॥

कश्चिदाचार्यैरसंदिष्टः स्थापनाकुत्रेषु प्रविश्य पृष्ठोऽपृष्ठो वा इदं
जगति-अद्याहं गुरुजिः संदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासलघु ।
यदि च पूर्वं संदिष्टसंघाटकप्रविष्ट आसीत्, आर्क्षेच तस्यासंदिष्ट-
स्याग्रे इदं भणितं भवेत्-संदिष्टसंघाटकस्य दत्तमिति । ततो यदि
ब्रूयात्-प्राघूर्णकार्थं ग्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एवं ते
श्रद्धाजनं मायया यदि प्रज्ञोजयति, ततो द्वितीयं मासगुरु । ते
च आक्षा विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाचार्यादीनां प्रायोग्यं न
दद्युः, ततः शुद्धं शुद्धेनाप्येतत्प्रायश्चित्तं भाव्यम् ।

आयरिगिलाण गुरुगा, वहुगा य हवंति खमणपाहुणए ।

गुरुगो य वालवुट्ठे, मेमे मव्वेसु मासलहु ॥

आचार्यस्य ग्लानस्य च प्रायोग्यमददानेषु श्राद्धेषु चतुर्गुरुः ।
कृपणकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्यमददानेषु चतुर्गुरुः । बाल-
बुद्धानां प्रायोग्ये अलभ्यमाने गुरुमासः । शेषाणामेतद्व्यति-
रिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोग्ये अलभ्यमाने मासलघु । गतं साध-
र्मिकस्तैन्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्तैन्यमाह—

परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य ।

तेसिं तेषं तिबिहं, आहारे उपधि सच्चित्ते ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधा-बिह-
प्रविष्टाः, गृहस्थाश्च । बिहप्रविष्टाः शाक्यादयः, गृहस्थाः प्रती-
ताः, तेषामुजयंयामपि स्तैन्यं विविधम्-आहारविषयमुपधि-
विषयं सच्चित्तविषयं चेति ।

तत्राहारविषयं तावदाह—

जिक्खण संखमीए, विकरणरूप्पेण जुंजई भुक्के ।

आभोगणमुच्छंसण-पवणहीला दुरप्पाओ ॥

भिक्षुवो बौद्धास्तेषां सदस्वरूपां कश्चिल्लुब्धो विकरणरूपेण
विक्षुविवेकेन भुक्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं जुञ्जानं
यदि कोऽप्याभोगयति उपलब्धयति, तदा चतुर्लघुः । एवमुप-
लब्धय यद्यसामुख्यं कोऽर्थः निर्भर्त्सनं करोति, ततश्चतुर्गुरुकाः ।
प्रवचनहीनां वा ते कुर्युः- यथा दुरात्मानोऽमी भोजननिमि-
त्तमेव प्रव्रजिता इति ।

सपि च-

गिहवासे वि वरागा, धुवं कख एते अदिहकक्षाणा ।

गल्लए णवरि ण वलितो, एएमि सत्युणा चे । ॥

गृहवासेऽप्येते घराका धुवं निश्चिन्नेमेवाहृष्टकल्याणाः, एतेषां च यां नार्थकृता दुश्चरितामाहारगुह्यादिचर्यामुपदिशता गल्लवाः एव तत्र न वदितः, सोपं तु सर्वमपि कृतमिति ज्ञावः । गतमाहारविषयं स्तैन्यम् ।

अथोपधिविषयमाह-

उवस्सए उवहि उवे-तुं गतभिकखुम्मि गिएहती लहुगा ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकट्टुडुहणनिव्विसए ॥

उपाध्ये नवे, उपधिमुपकरणं, स्थापयित्वा कश्चिद्विक्रमो वैको भिक्षां गतस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधि गृह्णाति, तदा चतुर्गवः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य ग्रहणं करोति, तदा चतुर्गुरवः । राजकुलान्निमुखमाकर्षणे परं गुरवः । व्यवहारं कारयितुमारब्धे वेदः । पश्चात्कृते सति मूत्रम् । उडुहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयाज्ञापने पाराश्रिकम् ।

अथ सचित्तविषयं स्तैन्यमाह-

सचित्ते खुड्ढादी, चउरो गुरुगा य दोस अण्णादी ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकट्टुडुहणनिव्विसए ॥

सचित्ते स्तैन्य चिन्त्यमाने भिक्षुकादेः सम्बन्धिनं कुल्लकम्, आदि-शब्दादकुल्लकं वा यद्यपहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । ग्रहणकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोडुहनिर्विषयाज्ञापनादयश्च दोषाः प्राग्वन्मन्तव्याः ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

गहणे गुरुगा उमाम, कट्टणे छेओ होइ ववहारे ।

पच्छा करम्मि मूलं, उडुहणविरंगणे नवमं ॥ १ ॥

उडावणनिव्विसए, एगमणेगे य दोस पारंची ।

अणवद्वप्पा दोमु य, दोमु उ पारंचिओ होइ ॥ २ ॥

गाथाद्वयं गतार्थम् ।

खुडुं व खुडियं वा, एति अवत्तं अपुच्छियं तेषं ।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्तणायं च नाऊणं ॥

कुल्लको वा कुल्लिका वा योऽव्यक्तः, स यस्य शाक्यादेः सम्बन्धी, तमपृष्ट्वा यदि तं कुल्लकं कुल्लिकां वा नयति, ततः स्तेनः अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी स मन्तव्यः, चतुर्गुरवः च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तस्तत्र नास्ति पृच्छा । तामन्तरेणापि स प्रव्रज्जनायः किं सर्वथैवानेनेत्याशङ्कयाह-क्रेवस्थानं च ज्ञात्वा । किमुक्तं भवति-यदि विवर्जितं क्रेवं शाक्यादिभाविनं राजधल्ल-जनादिकं वा तेषां तत्र ध्वं, तदा पृच्छामन्तरेण व्यक्तोऽपि प्रव्र-जयितुं न कल्पते, अन्यथा तु कल्पते इति । एवं तत्र लिङ्गप्रचि-ष्टानां स्तैन्यमुक्तम् ।

अथ गृहस्थानां तदेवाह-

एमेव होंति तेषं, निविहं गारत्थियाण जं वुत्तं ।

गट्टणादिगा य दोसा, सविमंसतग जवे तेसु ॥

एवंमवागारस्थानामपि त्रिविधम्-आहारादिभेदाद्विप्रकारं, स्तैन्यं भवति, यदनन्तरमेव परतीर्थिकानामुक्तम् । तेषु च गृहस्थे-

षु आहारादिकं स्तेनयतां ग्रहणादयो दोषाः सविशेषतया जवे-युः । ते हि राजकुले करादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्वलेन समधि-कतरान् ग्रहणाकर्षणादीन् कारययुः ।

कथं पुनरमीषामाहारादिकं स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिष्टादी, तंतुण खुड्ढादियं भणितपुवं ।

पिष्टम्मि य कप्पट्ठी, संगभण पम्मिग्गे कुसन्ना ॥

आहारे, पिष्टादिकं बहिर्घिरहितं दृष्ट्वा कुल्लकः स्तेनयति, उप-धा, [तंतुं चित्] सूत्राष्टिकाम्, उपलक्षणत्वाद्वाह्यादिकं वा, अपहर-ति, सचित्ते, कुल्लकं वा स्तेनयति । एवं यदेव पूर्वं परतीर्थिकानां जणितं, तदेवात्रापि मन्तव्यम् । कथं पुनः पिष्टां स्तेनयति-(पिष्ट-स्मीत्यादि)काश्चित्कुल्लिका भिक्षामट्टस्यः किंचिद् गृहं प्रविष्टास्त-त्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तच्च दृष्ट्वा तासां मध्यादेका कल्प-स्थिका पिष्टपिण्डिकां गृहीत्वा पतद्ग्रहे प्रक्षिप्तवती । सात्रा-विरतिकया दृष्टा । ततो जणितम्-एनां पिष्टपिण्डिकामत्रैव स्थापय, ततस्तया कुल्लिकया कुशलत्वेनान्यस्याः संघट्टिकाया अन्तरं प्रक्षिप्ता । एवं सूत्राष्टिकामपि दक्षत्वेनापहरेत् ।

अथ सचित्तविषयं विधिमाह-

नीएहिं अविदिन्नं, अप्पत्तवयं पुमं एा दिविस्वत्ती ।

अपरिग्गहो उ कप्पति, विज्जं जो ससदोमेहिं ॥

निजकैर्मातृपितृप्रवृत्तिभिः स्वजनैरवितोषमथ नमप्राप्तवयस-मध्यक्तं पुमांसं न दीक्षयति । यदि पुनरपरिगृहीतोऽव्यक्तः स शे-पदोपैवालजमव्याधितादिनिर्विमुक्तस्तर्हि प्रव्रजयितुं कल्प्यते ।

अपरिग्गहा उ नारी, एा जवति तो मा एा कप्पति अदिस्सा ।

सा वि य हु काचि कप्पति, जह पउमा खुडुमाता य ॥

नारी स्त्री सा प्रायेणापरिग्रहा न जवति; पितृपतिप्रवृत्तीनाम-न्यतरेण परिगृहीता जवतीति भावः । ततो नामावदत्ता सती कल्पते प्रव्रजयितुम् । साऽपि च काचिदत्ताऽपि कल्पते । यथा पद्मावती देवी-करकणकुमाता प्रव्रजिता, यथा वा क्षुल्लककु-मारमाता योगसंग्रहानिहिता यशोभञ्जा नास्ती प्रव्रजिता ।

अथ द्वितीयपदमाह-

विइयपयं आहारे, अच्चाणे हंसमादिये उवही ।

उवउज्जिऊण पुच्चिं, होहिंति जुगप्पहाण चि ॥

द्वितीयपदमाहारादिषु त्रिष्वप्यभिधीयते । तत्राहारेऽध्वानं प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा उपलक्षणत्वादशिवदौ वर्त्त-माना असंस्तरणे अदत्तमपि ज्ञापनं गृह्णीयुः । आगा-दे कारणे उपधिमपि हंसादेः सम्बन्धना प्रयोगेणोत्पादयेत् । सचित्तविषयेऽपि भविष्यन्त्यमी युगप्रधाना इत्यादिकं दृढा-लम्बनं पूर्वं प्रथममेवोपयुज्य परिभाष्य गृहस्थकुल्लकान् अन्य-तीर्थकुल्लकान् वा हरेत् ।

इदमेव भावयति-

असिवं ओप बिहं वा, पविमिउकामो ततो वउत्तिस्सा ।

नियलिं गअप्पतित्थियग, जायइ अदिणे तु गेएहंति ॥

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवोऽशिवगृहीता भक्तपा-नलाभाभावान्न संस्तरयुः । अवमं दुर्भिक्षं तत्र वा भक्तपानं न लभेरन् । विहमध्वानं वा प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा न सं-स्तरयुः । ततः स्वलिङ्गिनो वा स्थलिका-देवद्रोणिः, तस्यां याच-न्ते, यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृह्णन्ति । अथ बल-

चन्तस्ते, दारुणप्रकृतयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं, प्रच्छन्नं वा गृह्णीयुः । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमलभमानाः स्वयमपि गृह्णन्ति । असंस्तरणे उपधिरप्येवमेव स्तैन्यप्रयोगेण ग्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्चेदं, पुंस्वगण कास्त्रियाणुओमे य ।

गिहि अस्सतिथियं वा, हरेज्ज एतेहिं हेतूहिं ॥

पूर्वगते कालिकानुयोगे वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा यां गृहस्थकुल-कोऽन्यतीर्थिककुलको वा ग्रहणधारणमेधावी, स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि गृह्णीयात् । एतैरेवमादिभिर्हेतुभिः कारणैर्गृहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् । गतमन्यधार्मिक-स्तैन्यम् ।

अथ 'हत्थादालं दलमाणे' इत्यादिपदत्रयं विवरीपुराह-

हत्थाताले हत्था-लंवेत्त्यादाणे य वोधव्वा उ ।

एतेनि णाणत्तं, वोच्चामी आणुपुव्वीए ॥

हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति त्रिधा पाठोऽत्र बोद्धव्यः । एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्याऽहम् ।

तत्र हस्तातालं तावद्विवृणोति-

उक्किष्मि य गुरुगो, दंमो पडियमि होइ जयणा उ ।

एवं खु बोइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणत्वात् खड्गादिभिश्च यदा ताडनं, स हस्तातालः । स च द्विधा-लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके हस्ताताले पुरुषवधाय खड्गादावुत्कीर्णं गुरुको रूपकाणाम-शीतिसहस्रलक्षणो दण्डो भवति । पतिते तु प्रहारे यदि कथमपि न मृतस्तदा भजना देशे देशे अपरापरदण्डलक्षणा भवति । अथ मृतस्तेदेवाशीतिसहस्रं दण्डः । एवं खुरवधारणे, लौकिकानां दण्डो भवति । लोकोत्तरिकानां तु दण्डमतः परं वक्ष्यामि ।

हत्थेण व पादेण व, अणवदृष्टो उ होति उगिस्से ।

पडियमि होति जयणा, उदवणे होति चरिमपदं ॥

हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यष्टिमुष्ट्यादिभिर्वा यः साधुः स्वपक्षस्य परपक्षस्य च प्रहारमुज्जिरति सोऽनवस्थाप्यो भवति, पतिते तु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य एव । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपदं पाराञ्चिकं भवति ।

अत्रेदं द्वितीयपदम्-

आयरिय विणयगाहण, कारणजाते व वोधिकादीसु ।

करणं वा पडिमाए, तत्थ तु भेदोपममण वा ॥

आचार्यः कुलकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि दद्यात् । कारणजाते वा गुरुगच्छप्रभृतीनामात्यन्तिके विनाशे प्राप्ते, वोधिकस्तेनादिष्वपि हस्तातालं प्रयुज्जीत । पञ्चाङ्गेन हस्तालम्बमाह- (करणं वा इत्यादि) अशिवपुराचरोधादौ तत्प्रशमनार्थं प्रतिमां पुत्तलिकां करोति, तत्र अभिचारिकमन्त्रं परिजपन् तत्रैव प्रतिमाया भेदं करोति; ततस्तस्योपद्रवस्य प्रशमनं भवति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अत एनां विवृणोति-

विणयस्स उ गाहणया, कणामोडणखड्गचवेमहिं ।

सावेक्ख इत्थतालं, दत्ताति मम्माणि फेन्तो ॥

इह विनयशब्दः शिखाग्रामपि वर्तते । यत उक्तम्-'विनयः

शिक्षाप्रण्योरिति' । ततोऽयमर्थः-विनयस्य ग्रहणशिक्षायां आसेवनाशिक्षायां वा कर्णामोडकेन खड्गाभिश्चपेटाजिर्वा सापेक्षा जीवनापेक्षां कुर्वन्, अत एव मर्माणि स्फेदयन्-येषु प्रदेशेष्वहताः सन्तो म्रियन्ते तानि परिहरन् आचार्यः कुलकस्य हस्तातालं ददाति । अत्र परः प्राह-ननु परस्य परितापं क्रियमाणे अशातवेदनीयकर्मवन्धो जघति तत्कथमसायनुज्ञायते ? । उच्यते-

कामं परपरितापो, असायहेतु जिणेहिं पणत्तो ।

आत-परहितकरो पुण, इच्छेज्जः दुस्सले खलु उ ॥

काममनुमतमस्माकं परपरितापो जिनैरशातहेतुः प्रज्ञतः, परं परपरितापो दुःशब्दे मारुवके शिक्षया दुर्ग्रहे दुर्विनीते शिष्ये खलु निश्चितमिष्यत एव । कुन इत्याह-(आतपरहित्यकरोति) हेतौ प्रथमा, भावप्रधानश्च निर्देशः । ततोऽयमर्थः-आत्मनः परस्य च हितकरत्वात्, तत्रात्मनः शिष्याशिक्षां ग्राह्यतः कर्मनिर्जरा-त्वाजः । परस्य तु सम्यग्गृहीतशिक्षस्य यथावच्छरणकरणानु-पालनादयो भूयांसो गुणाः पुनः शब्दो विशेषणम् । स चैतद्विशि-नष्टि-यो दुष्टाध्यवसायनया परपरितापः क्रियते स एवाशात-हेतुः प्रज्ञतः, यस्तु शुद्धाध्यवसायेन आत्मपरहितकरः क्रियते स नैवाशातहेतुरिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टन्तेन दृढयति-

सिपं णेउणियट्ठा, याते वि सहंति लोइया गुरुणो ।

ए य मधुरणिच्चया ते, ए हांति एसेविहं उवमा ॥

शिल्पानि रथकारकर्मप्रभृतीनि, नैपुण्यानि च द्विपिगणिता-दिकलाकौशलानि, तदर्थं लौकिकाः शिक्षका गुरोराचार्यस्य या-तान् परिसहन्ते, न च तथा ते, तदानीं दारुणा अपि मधुरनि-श्चयाः, तैः सुन्दराः क्रियन्ते, तेनैवापरिणामा न जघन्ति, किन्तु शिल्पादिपरिज्ञाने वृत्तिवाभजनपूजनीयतादिना परिणामस्ते-षां सुन्दरो जघतीति ज्ञावः । एषैवोपमा इह प्रस्तुतार्थे मन्तव्या, यथा तेषां ते याता हितास्तथा प्रस्तुतस्यापि दुर्विनीतस्य शिष्यस्येति भावः ।

अत्रायं बृहज्जाप्ये उक्तः सोपमेयोऽपरो दृष्टान्तः-

अहवा वि रोगियस्सा, ओसह विज्जहिं दिज्जए पुण्वि ।

पच्चा ताव्वेतुमवी, देहाहियट्ठा पडिज्जइ से ॥

इय नवरोगिणस्स वि, अणुकूलं ण तु सारणा पुण्वि ।

पच्चा पक्किलेण वि, परलोगहियट्ठा कायव्वा ॥

(ओसहति) विभक्तिद्वोपादौषधमिति मन्तव्यम् । अत एव साधुरेवंविधो जघेत-

संविगो मइविओ, अमुई अणुवत्तओ विसेसन् ।

उज्जुत्त अवहितंतो, इच्छियमत्थं सइइ साहू ॥

संविगो मोक्षाभिग्राही, मार्वाविकः स्वभावकोमलः, अमोची गुरुणामोचनशीलः, अनुवर्तकस्तेषामेव उन्दोऽनुवर्ती, विशेष-ज्ञो वस्त्ववस्तुविभागवेदी, उद्युक्तः स्वाध्यायादौ, अपहृतातो वैद्यावृत्त्यादौ, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च लभते ।

अथ कारणजाते 'दाहिगाइमुत्ति' पदं व्याचष्टे-

वोहिकतेणजयादिसु, गणस्स गणिणो व अच्चए पत्ते ।

इच्छंति हत्थतालं, कालातिचरं च सज्जं वा ॥

वोधिकस्तेनभये, शादिशब्दात् श्लाघदादिभयेषु वा यदि

गणस्य गणस्य गणितो वा साचार्यस्य अत्यय आत्यन्तिको विनाशः प्राप्तः, तदा कालानिचारं वा कालानिक्रमेण, सद्यो वा तत्कालमेव, हस्तनाशमिच्छन्ति, गीतार्थो इति गम्यते ।

अथ हस्ताक्षरम् व्याख्यानयति—

अमित्रं पुरोवर्गेषु, एमादीं वदममसु अजिज्ञता ।

संज्ञायपञ्चया खलु अणुसु य एवमादीसु ॥

मरणभयेणऽभिज्ञते, ते नातुं देवते बुभामते ।

परिमं कातं मज्जं, विंशतिं मने परिजवंतो ॥

अशिवेन लोको भूयान् स्त्रियते, पर्यलेन वा पुनस्यन्तादुपक-
ट, तत्र बहिः कटकयौधेराज्यन्तगणां कटकमर्दः क्रियते, अन्नक्याडा कृथा स्त्रियते, आदिशब्दाद् गलगणकादिभिर्वा रो-
गादिनः प्रभूतो जना मरणमश्नुते । एवमादिभिर्वैशसैर्दुःखैरभि-
ज्ञतास्ते पौरजनाः संज्ञातप्रत्यया ये उत्र पुरे आचार्यो बहुभूतो
गुणवांस्तपस्वी स शक्तो वैशसमिदं निरोद्धुं नान्यः कश्चिदिति ।
(समिति) सम्यग् जातः प्रत्ययो येषां ते तथा, न केवलमत्रैव
किन्तु अन्येष्वप्येवमादिषु संज्ञातप्रत्ययास्ते संज्ञय तमाचार्यमु-
पासने-शरणमुपगताः प्राञ्जलिपुटाः पादपतितास्तितृप्ति । ततः
स एवाचार्यस्तान् पौरजनान् मरणत्रयेनाभिज्ञतान् देवतामिवा-
त्मानं पयुपासीनान् हात्वा तदनुकम्पापरीतचित्तः प्रतिमां कृत्वा
तत आभचारिकमन्त्रान् परिजपन् तां प्रतिमां मध्यन्तारे विध्यति,
ततो नष्टा सा कुलदेवता, प्रशमितः सर्वोऽप्युपद्रवः । एवंविधह-
स्ताक्षरवदाथो यदा अच्युत्तिष्ठति तदा तत्कालमेव नोपस्थाप्यते
किन्तु कियन्तमपि कात्रं गच्छ एव वसन् व्यामर्दनं कार्यते ।

अथार्थादानमाह—

अणुं पणानि निमित्तं, जायण पणिसंज्ञा सज्जि मे वा ।

वणिय पुच्छ य तदा, सारण उज्जावणविणामे ॥

कस्याप्याचार्यस्य भागिनेयो व्रतं परित्यज्य मुक्तत्वापयति । तत्र
आचार्यस्य अनुकम्पा-कथमयं द्रव्यमन्तरेण गृहवासमध्यासि-
ष्यते इत्येवंवक्तव्यं बनूव । स च निमित्तेऽतीवकुशल इति
नैनाशयज्जितेयोद्वेयोर्वणिजोरस्तिके भागिनेयं रूपकयाचनाय
प्रेषितवान्, स च तत्रैकेन वणिजा-किं मम शकुनिका रूपका-
न् हृदते, एवमुक्त्वा निविष्टः, द्वितीयेन तु रूपकनवलकानां
दर्शना कृत्वा । द्वितीये च वर्षे द्वाभ्यामपि वणिग्न्यां पुष्पा
कृत्वा, तत आचार्येण सारणा कयाणकग्रहणविषया शिक्षा दत्ता,
ततो येन रूपका न दत्तास्तस्य सर्वस्वविनाशः समजनि, येन तु
दत्तास्तस्योद्भावनं महार्थिकतासंपादनं कृतवान् । एष निर्यु-
क्तिगाथाऽहं गायः । ४० ४ ३० ।

भाषार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्छेदम्—

“यणित्वावृत्तयिण्यां द्वौ, प्रायः पृष्टा गुरुं सदा ।

पणायमानौ पण्योधेः, परमार्माडमीयतुः ॥ १ ॥

औग्गुद् गुरुणां जामेयो, नोगार्थी व्रतमन्यदा ।

ततस्तेः रूपयोचे स, विनाऽर्थः किं करिष्यसि ? ॥ २ ॥

तथाहि वणिजो नौ त्वं, भणाऽर्थं मे प्रयच्छतम् ।

गुरुं देशास्ततः सोऽपि, गत्वा नौ भणति स्म तत् ॥ ३ ॥

अथैकः स्माह जोः ! कस्मा-दस्माकं द्रव्यसंचयः ।

शकुनी रूपकान् भद्र !, कुत्रापि हृदतेऽत्र किम् ? ॥ ४ ॥

अदौ कयद् द्वितीयस्तु, तस्यग्रे जनिणं बहु ।

ऊचे देव ! गृह्णाण त्वं, यथेच्छं सोऽपि चाग्रहीत ॥ ५ ॥

द्वितीयेऽप्ये स तैर्द्रव्य-प्रदः पृच्छन्नजयत ।

कीर्णीहि तृणकाष्ठानि, स्थापयश्च पुराद् बहिः ॥ ६ ॥

द्वितीयकस्तु तैरुक्तः क्रीत्वा स्नेहं गुडं कणान् ।

वस्त्रकार्पासकाष्ठादीन्, पुरमध्ये निधेहि भोः ! ॥ ७ ॥

वर्षाग्रेमे समस्तेषु, च्छादितेष्वथ वेश्मसु ।

दग्धं सर्वं पुरं जज्ञे, तृणकाष्ठमहर्घता ॥ ८ ॥

प्राज्यं तदाऽज्ययद्विस्तं, गुरुजामेयवित्तदः ।

दग्धं सर्वं द्वितीयस्य, सोऽथाज्येत्यावद् गुरुम् ॥ ९ ॥

किं न ज्ञातमिदं पूज्याः, गार्ढं प्लुष्टोऽहमेषमः ।

निमित्तपृच्छं निमित्तं नः शकुनी हृदतेऽत्र किम् ? ॥ १० ॥

तथाऽन्यथाऽपि वा किञ्चित्, स्यात्कथंचन मे धनम् ।

ततो कष्टं गुरुं ज्ञात्वाऽत्यर्थं क्रमयति स्म सः ॥ ११ ॥ जीत० ।

उज्जेणीओससं, दो वणिया पुच्छियं ववहरंति ।

जोगाजिलास तव्वय, मुंचंति ए रुवण सज्जणी ॥ १ ॥

एगो व एणुलदायण, त्रितिणं जत्तिणं तहिं एको ।

अस्समि हायणमि य, गेणहामो किंति पुच्छंति ? ॥ २ ॥

तणकट्टेनेहधम्मं, गिएदह कप्पासदूमगुल्लमादी ।

अंतो वद्धिं च उवणा, हग्गी सज्जणी ण य निमित्तम् ॥ ३ ॥

इति तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः, नवरं, मित्रकेण वणिजा भागिनेय
उच्यते—[जत्तिणं तहिं एको स्ति] यावन्तो युष्मज्यं रोचन्ते तावतो
नवलकान् गृह्णीत, एवं द्वितीयेन वणिजो भणितम् ; तत्र तेषां
मध्ये एको नवलको गृहीतः । अन्यस्मिन् हायने वर्षे इत्यर्थः ।
द्वयं वस्त्रमुच्यते, (सज्जणी न य निमित्तं ति) न च नैव मम
शकुनिका निमित्तं हृदते ।

एथारिमो य पुरिसो, अणवदृष्टो उ सो सुदेसमि ।

नेतूण अणुदेसं, चिट्ट उवचावणा तस्म ॥

एतादृशोऽर्थो दानकारी यः पुरुषोऽभ्युत्तिष्ठते स स्वदेशेऽनव-
स्थाप्यो न महाव्रतेषु स्थाप्यते, किं तु तमन्यदेशं नीत्वा तस्य
च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ।

कुत इति चेदुच्यते—

पुव्वज्जासा जासे-ज्ज किञ्चि गोरवसिणेहनयतो वा ।

न सहइ परीनहं पि य, णाणं कहुव्व कच्छुहो ॥

तनैमित्तिकं लोकः पूर्वाज्यासाभिमितं पृच्छेत्, सोऽपि ऋद्धि-
गौरवतः स्नेहाद्वा नयाद् वा किञ्चिद्वाजादिकं तत्र स्थितो जायते ।
अपि च स ज्ञानविषयं परीषदं तत्र न सहते, सोऽहं न शक्नोतीत्य-
र्थः । यथा कच्छूः पामा तद्वान् पुरुषः, कण्डूं स्पर्शितं विनाशितुं
न शक्नोति ; एवंमेवोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्थातुं
शक्त इति भावः ।

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विशेषरूपनार्थं भूयोऽप्याह—

तद्गस्स दोमि मोत्तुं, दव्वे जावे य सेस जयणा उ ।

परिमिद्धालिंकरणं, करणा अस्सत्य तत्थेव ॥

इह ‘साधर्मियतेस्मियं करमाणे’ इत्यादि सूत्रक्रमप्रामाण्येन ह-
त्थातावनस्तूनीय उच्यते । स च त्रिधा-हस्तातालो हस्ताक्षरयो-
ऽंशदानं चेति । तत्राद्ये द्वे पदे मुक्त्वा यच्छेषमर्थादानाख्यं तृतीयं
पदं तत्र ह्वयतो भायतश्च लिङ्गप्रदाने भजना भवति । कथमि-
त्याह—(परिमिद्धालिंकरणं) उत्तरत्र कारणे इत्यभिधास्यमानत्वा-
दिह निष्कारणमिति गम्यते । ततो निष्कारणे प्रतिबिम्बमर्थादा-

लिंगेण द्वात्रिंशो, जणित्रो पञ्चावणाऽगृहिहो ॥

क्रियते तथाविधापराधकारित्वा-महाव्रतेषु शिङ्गे वा नाऽवस्था-
प्य इत्यनवस्थाप्यः । स चतुर्धा-शिङ्गतः, क्षेत्रतः, कावतः,
तपोविशेषनश्चेति शिङ्गं द्विधा-ऽव्ये च जाये च । तत्र ऽव्यशि-
ङ्ग रजोहरणादि, भावलिङ्गं महाव्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-ऽव्य-
शिङ्गं भावलिङ्गेन चानवस्थाप्य इत्येको जङ्गः । द्रव्यलिङ्गेनाव-
स्थाप्यो न भावलिङ्गेनेति द्वितीयः । जावलिङ्गेनानवस्थाप्यो
न द्रव्यलिङ्गेनेति तृतीयः । उजाज्यामप्यनवस्थाप्य इति चतुर्थः ।
एत ऽव्यशिङ्गेन भावलिङ्गेन चाऽनवस्थाप्यः प्रथमभङ्गस्थः
प्रपञ्जनाऽनहो भणितः ।

लिङ्गानवस्थाप्यदिचतुर्धियमेव धित्वन्नाह-

अप्रतिविरतोऽसौ, न भावलिङ्गारिहोऽणवदृष्टो ।

जो जत्य जेण दूमड, पडिमिच्छो तत्य मां खित्तो ॥

अप्रतिविरतः सार्धमिकान्यधार्मिकस्तैः प्रपञ्चचित्तत्वेना-
निवृत्तः स्वपङ्कपरपङ्कप्रहरणोद्यतश्च निरपेक्षानुपशान्तवैरो यः
स द्रव्यभावलिङ्गाज्यामनवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथमभङ्गवर्ती
क्रियते । हस्ताभ्रम्बदाया अर्थादानकरो वाऽवसन्नादिकश्च तत्त-
दायानिवृत्ता न जावलिङ्गार्हः । अयं भावः-स ऽव्यशिङ्गो भव-
ति न भावलिङ्गमर्हति, भावलिङ्गमपेक्षानवस्थाप्यतृतीयजङ्गवर्ती
जघनतीत्यर्थः । द्वितीयचतुर्थभङ्गीपुनर्न संभवतः, क्षेत्रतोऽनवस्था-
प्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कर्मणा दृश्यते स तद्दोषकरणानिवृत्तोऽपि
क्षेत्रे प्रतिविष्टो महाव्रतेषु स्थापने निराकृतो यथार्थादानकारी
तत्रैव क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वजायासात् तं लोको
निमित्तं पृच्छेत्, स च तं निमित्तज्ञानजमृष्टिगौरवं मोदुमन्त्रमः
कदाचित् कथयेत्, ततोऽन्यत्र नीत्योपस्थाप्य उत्तमार्थप्रतिप-
क्षस्य पुनस्तत्रापि स्वस्थानेऽपि स्थितस्य महावृत्तारोपः कार्य
एव । उक्तौ लिङ्गक्षेत्राऽनवस्थाप्यौ । जीत० ।

जलियमिच्छं कालं, तवसा उ जहन्नणं छम्मासा ।

मंवच्छरमुक्कोसं, आमायइ जो जिणइणं ॥ ए१ ॥

यो यावन्तं कालं दोषाक्षोपरमते तावन्तं कालमनवस्थाप्यः
क्रियते । तपसा त्वनवस्थाप्यो द्विधा-आशातनाऽनवस्थाप्यः,
प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थक्रमस्तुभुना-
चार्यमहद्विक्रमणधराणामाशाननां यः कुर्यात् । यथा-तीर्थकरैः
भवोपायकुत्रैरपि गृहयामत्यागादिकाऽतिकर्कशा देशना कृता;
यदि च गृहवासो न श्रेयान् ततः किमिति स्वयं गृहवासे वस-
ति स्म, नेगांश्च शुकवन्त इत्येवं कृतोऽधिक्रमः । सङ्गं च दृष्ट्वा
ऽपहृषा वदेत्-हं १ दृष्ट्वा मयाऽरण्येऽपि सङ्गाः शृगालश्चानवृक-
चित्रकादीनामिति । श्रुते चैवमधिक्रमि यथा-“कायावयाय
निच्चिय, पुणो वि निच्चिय पमायपया । सुक्खस्स देसणाए,
तोइम जेण ॥ हि किं कज्जं ॥ १ ॥ ” आचार्यं च ज्ञात्वादिभिरधिक्रि-
पात् । महर्दिकाश्च गणत्रतो गौतमादयः, ये वा यस्मिन् युगे प्रधा-
नभूताः, तान् ऋद्धिर्मा गौरवप्रमकाः कथका इव शोकावज-
नायता इत्यादिवाक्यैरधिक्रिपात् । स आशातनाकारिण्वादाशा-
तनतयाऽनवस्थाप्यः । स जगन्त्येन पणामान् उत्कर्षतः संकस्-
र यावत् तपः कुर्वन् कर्तव्यः, तावता च तपसा कृपिताऽऽशा-
तनानितिकर्मत्वादृष्ट्यं महाव्रतेषु स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनव-
स्थाप्यश्चोत्तरगाथायां वदयते ।

मा चेयम्—

वासं वारमवासा, पमिसेवी कारणान् मवो वि ।

योवं थोवनं वा, वहिज्ज मूचिज्ज वा सन्वं ॥ ए२ ॥

प्रतिसेवी प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः सार्धमिकान्यधार्मिकस्तेना-
ज्यां हस्तातालादिजिञ्च भवति, स च जघन्यतो वर्षम्, उग्रपुतां
छादश वर्षाणि, तदनन्तरं व्रतेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः
संननादिगुणयुक्त एव क्रियते, अन्यस्य तु मूलमेव दीयते ।

अथ कीदृशगुणयुक्तस्यानवस्थाप्यं दीयत इत्याह—

“संहणधिरियआगम-सुत्तथविट्ठो जो समभो य ।

तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे यगहियत्थो ॥ १ ॥

तिलतुसमतिभागमित्तं, वि जस्स असुभो न विज्जई भावो ।

निज्जुहणारिहो सो, सेसे निज्जुहणा नत्थि ॥ २ ॥

एयगुणसंपत्तो, पावइ अणवदृष्टमुत्तमगुणोहो ।

एयगुणविप्पहुणं, तारिसगम्मी भवं मूत्वं ॥ ३ ॥ ”

[तपसी] तपश्चरणवान् [निग्गहजुत्तो] जिनेन्द्रियः [नि-
ज्जुहणारिहो] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादतस्त्वनन्यसाध्यकु-
लगणसङ्घकार्यकारी, बहुजनसार्धं च कार्यं शृङ्खवादितमुच्य-
ते, तत्साधकश्चायमित्यतः कारणान्सर्वोऽपि द्विप्रकारोऽपि आ-
शातनेनावस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुमुखात् सङ्गा-
देशात् स्तोके स्तोकतरं वा, मासद्वयं मासैकमात्रं वा अनवस्था-
प्यतपो वहेत् । सङ्घो वा सार्धोपष्टमादिकेनैवायमनवस्था-
प्यशोधमत्तं चारमत्तं कालयिष्यतीति सर्वं मुञ्चेत्, अनवस्था-
प्यतपो न कारयेदित्यर्थः । जीत० । वृ० ।

यस्त्वनवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह—

आमायणा जहणे, उम्मासुक्कोस वारस उ मासा ।

वासं वारममासे, पमिसेवो कारणे भणिओ ॥

इत्तिरियं निक्खेवं, काउं वन्नं गणं गमित्ताणं ।

दव्वाइ सुहे वियरणं, निरुवस्सग्गह उवस्सग्गो ॥

अपेच्चय निच्चयया, आणाभंगो य जंतणा सगणे ।

परगणे न होति एए, आणा थिरया जयं चेव ॥

गाथापदकं यथा पाराश्रिके व्याख्यातं तथैवात्र मन्तव्यम्, नवरं,
[दव्वाइसुहे वियरणं] इत्येकैककालजावेषु गुणेषु प्रशस्तेषु;
द्रव्यतो वटवृक्षादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रतः इक्षुक्षेत्रादौ, कावतः पूर्वाह्णे,
जावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारादिवक्षेषु, गुरुणां विकटनामाक्षेपनां
ददाति । तत आचार्यो भणन्ति-“ एय साहुस्स अणवदृष्टतव-
स्स निरुवसम्मनिमिच्छं तमि काउसम्मं ति । अन्नथूससिप-
णं ” इत्यादि चोसिराभीति यावत् । ततश्चतुर्विंशतिक्रममुच्चार्या-
चार्यो भणन्ति-एव तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्भिः सार्धमात्रा-
पादिकं विधास्यति, स्वयमप्येतेन सार्धमात्रापादिकं परिहरध्व-
मिति । वृ० ४ उ० ।

वंदइ नइ वंदिज्जइ, परिहारतवं सुदुच्चरं चगइ ।

संवासो से कप्पइ, नाववणाइणि सेसाणि ॥ ए३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरणकालं यावत् स्वगणं गीतांथे नि-
क्षिप्याचार्य उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु इत्येकैककालजावेषु,
तत्र इत्यतो घटादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रतः इक्षुक्षेत्रादौ कुसु-
मितवनस्त्रपद्मप्रदक्षिणाचर्तजलपद्मसरश्चैत्यगृहादिषु, कालतः
पूर्वाह्णे, जावतः प्रशस्तेषु चन्द्रताराबलेषु, संध्यागतादि-
नक्षत्रवर्जमालोचनां प्रयुक्ते स्वानिचारं प्रकाशयति । आशो-
च ।ऽनन्तरं जगन्त्येन मासमुत्कर्षतः पणमासादिकमनवस्था-
प्यतपःप्रपद्यमाने आलोचनादायकः कायोत्सर्गं करोति । “ ए-
यस्स आयरियस्स अणवदृष्टतवस्स निरुवसम्मनिमिच्छं तमि

काऽस्सगं अन्नय उस्ससिणं, इत्यादि' वोसिरामि' इति यावत् चतुर्थिंशतिस्तवमुच्चिन्य पारयित्वा चतुर्थिंशतिस्तवमुच्चार्या-
ऽऽचार्यो वक्ति—“एस तवं पक्खिज्झ, न किञ्चि आन्नवइ माइ
आन्नवह । अत्तट्टचिन्तगस्स उ, वायाओ भे न कायवो । ” एष
युष्मान्नालपिप्यति, युष्माभिरपि नालाप्यः, एष सूत्रार्थे शरीर-
वार्ता वा न प्रकथयति, युष्माभिरपि न वृत्त्यः । खेज्जमल्लकमा-
त्रादिकं वा नास्य ग्राह्यमर्पणीयं वा, उपकरणं परस्परं न प्रति-
वेक्ष्यं, भक्तपानं परस्परं न ग्राह्यम् । संघाटकोऽस्य न मेलनीयः ।
अनेन सहैकमण्डल्यां न भोक्तव्यम्, किमप्यनेन सार्धं न
कार्यं कार्यमिति । अधुना गाथाऽङ्गारार्थः—प्रतिपन्नाऽनवस्थाप्यत-
पः शैक्वादीनपि वन्दते, न चासौ वन्द्यते । परिहारतपश्च पारि-
हारिकसाधूनां तपः श्रीष्मे चतुर्थपष्ठाष्टमानि, शिशिरे पष्ठाष्टम-
शमानि, वर्षास्त्रष्टमदशमद्वाशानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि, पार-
णके च निर्लेपः, भक्तमित्येवं रूपं सुदुश्चरं चरति । संवासः स-
हवासो गच्छेत्तास्य एकक्षेत्रे एकोपाश्रये एकस्मिन् पार्श्वे शेष-
साधुपरिभोग्यप्रदेशे कल्पते, नालपनादीनि शेषाणि; इत्येष
संक्षेपतोऽनवस्थाप्यविधिः । उक्तमनवस्थाप्यार्हम् । जीत० ।

पञ्चविधं तपः प्रतिपद्य यदसौ विदधाति तदुपदर्शयति—
सेहाई वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।

विहरइ वारसवासे, अणवट्टप्पो गणे चेव ॥

शैक्वादीनपि वन्दमानो जिनकल्पिक इव प्रगृहीतमहातपाः
पारणके निर्लेपं भक्तपानं गृहीतव्यमित्याद्यनेकाजिप्रदयुक्तं
चतुर्थपष्ठादिकं विपुलं परिहारतपः कुर्वन्निति भावः । एवंवि-
धोऽनवस्थाप्यो गण एव गच्छन्तगत एवोत्कर्षतो द्वादश
वर्षाणि विहरति ।

इदमेव ज्ञाययति—

अणवट्टं वहमाणो, वंदइ सो मेहमायिणो मव्वे ।

संवासो मे कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥

परगणेऽनवस्थाप्यं वहमानः स उपाध्यायादिः शैक्वादीनपि
सर्वान् साधून् वन्दते, तस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाश्रये एक-
स्मिन् पार्श्वे शेषसाधुजनापरिभोग्ये प्रदेशे संवासं कर्तुं क-
ल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

आन्नावणपमिपुच्छण-परियट्टुण्णवंदणं मत्ते ।

परिलेहणसंघाडग-भत्तदाणमंभुजणा चेव ॥ १०९ ॥

आन्नापनं स साधुभिः सह न कार्यते, सर्वेषामपि स करो-
ति, तस्य पुनः साधवो न कुर्वन्ति, (मत्ते स्ति) खेज्जमात्रादिप्रत्य-
र्पणं तस्य न क्रियते, सोऽपि तेषां न करोति । उपकरणं परस्परं
न प्रत्यपेक्षन्ते, संघाटकेन परस्परं न भवन्ति । भक्तदानम-
न्योन्यं न कुर्वन्ति । एकत्र मण्डल्यां न संभुजते । यच्चान्यत् किं-
चित्करणीयम्, तत्तेन सार्धं न कुर्वन्ति । ‘संघो न लभइ कज्ज’
इत्यादिगाथाः पाराश्रिकवट्टएव्याः । वृ० ४ उ० (अनवस्थाप्य-
स्य गृहिभूतस्यागृहिभूतस्य चोपस्थापना ‘उवघावणा’ शब्दे
द्वि० भा० ८ ए० पृष्ठे वक्ष्यते) तपोऽनवस्थाप्यस्य चतुर्दशपूर्वधरे
श्रीभद्राहुस्वामिनि व्युच्छिन्नः । “अणवट्टप्पो तघसा, तघ
पारंन्विय दावि वुच्छिन्ना । चउदसपुव्वधरम्मि, धरंति सेसाउ
जा तिथं ” ॥ १ ॥ जीत० ।

अणवट्टप्या-अनवस्थाप्यता-स्त्री० । येन पुनः प्रतिसेषितेन
उत्थापनाया अप्ययोग्यः सन् कश्चिन्काष्ठं न व्रतेषु स्थाप्यते

तदनवस्थाप्यताऽर्हत्त्वानदवस्थाप्यता प्रायश्चित्तम् । यद्वा-यथो-
क्तं तपो यावच्च कृतं तावच्च व्रतेषु लिङ्गे वाऽवस्थाप्यत इत्यनव-
स्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यता । नवमप्रायश्चित्ते, प्रव० ९८
ट्रा० । आच० । पंचा० ।

अणवट्टपारिह-अनवस्थाप्यार्ह-न० । नवमप्रायश्चित्ते, स्था० य-
स्मिन्नासेविते कश्चन काष्ठं व्रतेष्वनवस्थाप्यं कृत्वा पश्चाच्चर्चयित्वा
तद्दोषोपरतो व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थाप्यार्हम् । स्था० १२ ट्रा० ।

अणवट्टप्पावत्ति-अनवस्थाप्यत्वावत्ति-स्त्री० । (उपचारात्)

अनवस्थाप्याख्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीषु प्रतिसेवासु, जीत० ।
अणवट्टाण-अनवस्थान-न० । न० त० । सामायिककालावधे-
रपूर्णे यथा कथञ्चिद्वाऽनादृत्य करणे, एष सामायिकस्य
पञ्चमोऽतिचारः । उपा० १ अ० धर्म० ।

अणवट्टिय-अनवस्थित-त्रि० । अनियतप्रमाणे, “अणवट्टि-
त्ताणं तत्थ खलु राइंदिया पमत्ता ” चं० प्र०८ पाहु० । अस्थिरे
कल्पानुयोगाश्रवणानर्हभेदे, वृ० ।

तत्रानवस्थितं तावदाह-

दुविहो लिगविहारो, एक्केको चेव होइ दुविहो उ ।

चउरो य अणुग्याया, तत्थ वि आणाणो दोसा ॥

अनवस्थितो द्विविधः । तद्यथा-लिङ्गानवस्थितो विहारान-
वस्थितश्च । एकैकः पुनरपि द्विविधो भवति । तदुभयमपि
द्वैविध्यमनन्तरगाथायां वक्ष्यते । चत्वारश्च मासा अनुद्धाता
गुरुवः, उपलक्षणत्वाल्लघुमासादिकं वा अत्र यत् प्रायश्चित्तं
भवति, तत्तु यथास्थानमेव भावयिष्यते । तत्राऽपि लिङ्गानव-
स्थितविहारानवस्थितयोरप्याज्ञादयो दोषा छुष्ट्याः ।

अथैनामेव गाथां व्याख्यानयति-

गिहिलिग अन्नझिगं, जो उ करइ स झिगओ दुविहो ।

चरणे गणे अ अथिरो, विहार अणवट्टिओ एसो ॥

गृहिलिङ्गं गृहस्थानां वेषम्, अन्यलिङ्गमतीर्थिकानां नेपथ्यम् ।
यः साधुः, तुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि? दर्पणे यो लि-
ङ्गद्वयं करोति, स एष लिङ्गतो द्विविधोऽनवस्थितः । अस्य च
द्विविधस्यापि मूलं यथा चोलपट्टकं बध्नत एकत उभयतो वा
स्कन्धोपरि कल्पाञ्चलानामारोपणरूपं गरुडपालिकं प्रावृणव-
त उत्तरासङ्गरूपमर्द्धासम्यासं कुर्वतः प्रत्येकं चत्वारो गुरु-
मासाः, द्वावपि बाहू छादयित्वा संयती प्रावरणमातन्वानस्य
चत्वारो लघवः, कल्पेन शिरस्थगनरूपां शीर्षद्वारिकां कुर्वतो
मासलघु, चतुष्कलं मुत्कलं वा कल्पं स्कन्धोपरि कृत्वा गो-
पुच्छवदधोलम्बमानं कुर्वतो मासलघु । एतेऽपि लिङ्गाऽनव-
स्थितेऽन्तर्भवन्ति । तथा चरणे चारित्र्ये अस्थिरो यः पुनः पुनः
आरित्राः प्रातिपतति, तस्य यदि सूत्रं ‘ददाति तदा चतुर्लघु,
अर्थं ददाति तदा चतुर्गुरु, गणे गच्छे अस्थिरः पुनरीणाकणं
संक्रामति । एष द्विविधोऽपि विहारानवस्थितः । एतद्विपरीतस्य
स्वल्लिङ्गावस्थितस्य संविग्नविहारावस्थितस्य च दातव्यं यदि
न ददाति, तदा तथैव सूत्रे चतुर्लघु, अर्थं चतुर्गुरु । गतमनव-
स्थितद्वारम् । वृ० १ उ० । स्था० । (आचेलक्यादयः षडनव-
स्थितकल्पाः ‘कप्प’ शब्दे त० ज्ञा० ११६ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) “अ-
णवट्टियस्स करणया ” अनवस्थितस्याल्पकालीनस्यानिय-
तस्य सामायिकस्य करणमनवस्थितकरणमल्पकालकरण-

नन्वेव त्यजति. यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा०
१ अ० । पचा० । धा० । आच० ।

अणवद्विषयि चित्तं अनवस्थितचित्तं-त्रि० । एकत्र स्थापिता-
ना. कर्मण्यवहितं. नि० चू० १ उ० ।

अणवद्वि० । त० । यमंत्राण-अनवस्थितसंस्थान-न० । सतत-
चारप्रवृत्त्या सम्यगवस्थाने, जी० ३ प्रति० ।

अणवरागयत-अनपत्नीतन्व-न० । कारककालवचनलिङ्गादि-
व्यत्ययरूपवचनदोषापेक्षारूपे पञ्चविंशे सत्यवचनातिशये,
म० ३५ सम० । ग० । श्रौ० ।

अणवतपण्या-अनवत्राप्यता-स्त्री० । अपतापयितुं लङ्घयि-
तुमर्हः शक्यो वा अपत्राप्यो लङ्घनीयः, न तथाऽनवत्राप्यस्त-
दभावोऽनवत्राप्यता । होनसर्वाङ्गव्ये, उक्त० १ अ० । अल-
ज्जनीयाङ्गतायाम्, स्था० ८ टा० ।

अणवतागण-अनवतागण-न० । न० त० । अनुपस्थापने,
ध० २ अधि० ।

अणवत्या-अनवस्था-स्त्री० । अव-स्था-अङ् । अवस्थितिः ।
न० त० । अवस्थाभावे, तर्कदोषविशेषे च । उपपाद्यस्य समर्थ-
नाय उपपादकस्यानुसरणे तर्कः, यत्र तर्कं उपपाद्योपपादक-
योर्विधान्तिर्नास्ति तादृशतर्कस्यानवस्थादोषः । तत्र स तर्को
न ग्राह्यः । वाच० । अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावर्तनरूपा
प्रसिद्धैव, इह तु अनवस्थाचक्रयोनौमकत एव विशेषो लभ्यते
न पुनरर्थकृतः । कश्चिद् यद्व्यति-सामान्यविशेषवादे चक्रक-
मनवस्थानिवृत्तेरिति । अत्र हि चक्रके साध्ये अनवस्थानिवृत्ति-
लक्षणो हेतुरप्यस्मत्तः । अतो ब्रूयतेऽनवस्थैव चक्रवत् पुनः
पुनर्भ्रमणा च चक्रकमित्युच्यते इति । अने० १ अधि० । कश्चिदप्य-
वस्थानाऽप्राप्तौ, विशेष० । अनाश्वास, दर्श० । किञ्चिदकार्यं
कुर्यान्तं दृष्ट्वाऽप्येवमपि तथाकरणे, व्य० ७ उ० । यथा कि-
मयमेवविधं करोति किमहेमेतन्न करिष्यामीत्येवंरूपा । (तत्स्व-
रूपं च 'पलव' शब्दे वक्ष्यते)

अणवदग्र-अनवताग्र-त्रि० । अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य त-
त्तथा तन्निषेधादनवनताग्रम्, नदेव वर्णनाशादनवताग्रमिति ।
आसन्नाग्रं अनवगतमपरिचिन्मग्रं परिमाणं यस्य तत्तथा । अ-
परिचिन्मन्ते, म० १ श्रु० १ उ० ।

अनवदग्र-त्रि० न विद्यतेऽवदग्रं पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदग्र
इति । अपर्यन्ते अनन्ते, सूत्र० २, श्रु० २ अ० । सम० ३० । न० ।
प्रश्न० । अपर्यवसाने, सूत्र० २, श्रु० ५ अ० । अपरिमिते, नि०
चू० २ उ० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अणवयविक्रिया-अनवेक्ष्य-अध्य० । पश्चाद् जगमनवलोकयेत्य-
र्थे, "जेणं नो पभृ मगग्रे रुवाइ अणवयविक्रियाणां पालित्ता-
प." म० ७ श्रु० ७ उ० ।

अणवयवग्नं-दर्श-अवयवग्नं इति दर्शयचनोऽनवाचकः, नन-
स्त्रिषेधादणवयवग्नं । अनन्ते, म० १ श्रु० १ उ० ।

अणवयवमाण-अनपवदन्-त्रि० । अपवदन् अन्यथैव व्यवस्थि-
तं वस्त्वन्यथावदन्नपवदन् । न अपवदन् अनपवदन् । प्राकृ-
तत्वादापेक्षाद् वा पकारोपः । मृयावादमकुर्वन्ति, व्य० ३ उ० ।

अणवयव-अनवगन्-त्रि० । अव-रम-नावे कः । अवरतं विग-
मन्तन्नास्ति यस्य व्य० । निरन्तरे, विश्रामशून्ये च । वाच० ।

निरन्तरे, कदप० । सन्ते, म० ६ श्रु० ३३ उ० । पंचा० ।
आचा० । ज० । सकलकाले, आ० म० छि० ।

अणववाच्च-अनपवादित्व-न० । सर्वेषु जघन्योत्तममध्यमजे-
देषु जन्तुषु अपवादमश्लाघां करोतीत्येवं शीलोऽपवादी, नापवा-
दी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्तत्त्वम् । अपवाद्भाष-
णे, पणपवादे हि बहुदोषः । यदाह वाचकचक्रवर्ती-"परपरिज-
वपरिवादा-दात्मोत्कर्षाच्च वध्यते कर्म । नीचैर्गोत्रं प्रतिजव-म-
नेकजवकोटिदुर्मोचम्" ॥१॥ इति । तदेवं सकलजनगोचरोऽप्य-
वर्णवादो न श्रेयासः, किं पुनर्नृपामात्यपुरोहितादिषु बहुजनमा-
न्येषु । नृपाद्यवर्णवादानु प्राणनाशादिदोषादिति । ध० १ अधि० ।

अणवाय-अनपाय-त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, " आगमवचन-
परिणति-भेवरोगसदौपधं यदनपायम् " षो० ५ विव० ।

अणविक्रिया-अनपेक्षता-स्त्री० । शिक्कारहितत्वे, ग० १ अधि० ।

अणवेक्यमाण-अनपेक्षमाण-त्रि० । शरीरनिरपेक्षे, " धुणे उ-
राले अणुवेहमाणे, चिच्छा ए सोयं अणवेक्यमाणे " सूत्र० १
श्रु० १० अ० ।

अणवे (त्रि) क्त्वा-अनपेक्षा-स्त्री० । स्वपरविशेषाकरणे,
व्य० ३ उ० ।

अणमाण-अनशन-न० । अश्नयते भुज्यते इत्यनशनम् । अशेषा-
हारप्रत्याख्याने, उक्त० । एकस्मादुपवासादारभ्य वाणमासिक-
पर्यन्ते, उक्त० ३० अ० । पा० । आहारत्यागरूपे वाह्यतपोनेदे,
स्था० ६ टा० । ग० ।

से किं तं अणमाणे ? अणमाणे लुविहे पण्त्ते । तं जहा-
इत्तरिणं य, आवकहिणं य । से किं तं इत्तरिणं ? इत्तरिणं
अणेगविहे पण्त्ते । तं जहा-चउत्ते भत्ते, उट्टे भत्ते, अट्टमे
भत्ते, दुसमे भत्ते, पुत्रादसमे जत्ते, चउदसमे भत्ते, अट्टमा-
सिणं भत्ते, मामिणं भत्ते, दोमसिणं जत्ते, तिमासिणं जत्ते,
जाव उम्मासिणं जत्ते, मेत्तं इत्तरिणं । से किं तं आवकहिणं ?
आवकहिणं लुविहे पण्त्ते । तं जहा-पाओवगमेण य, ज-
त्तपच्चक्वाणेण य । ज० २५ श्रु० ७ उ० ।

अनशनं द्विधा-इत्यर्गं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरं चतुर्थादि प-
ण्मासान्तमिदं तीर्थमाश्रित्येति, यावत् कथिकं त्वाजन्मजावि
त्रिधा-पादपोषगमनेद्वितमरणभक्तपरिज्ञाभेदात् । एतच्च प्रायो
द्याख्यातमिति । स्था० ६ टा० । तत्रेत्वरं परिमितकालम्, तत्पु-
नः श्रीमहावीरतीर्थे नमस्कारसहितादिपण्मासान्तं, श्रीनाभयती-
र्थेद्वितीयं संवत्सरपर्यन्तं, मध्यमतीर्थकरतीर्थे अष्टौ मासान्,
यावत्कथिकं पुनराजन्मभावि । तत्पुनश्च प्राज्ञेदोषधिविशेषत-
स्त्रिया । यथा-पादपोषगमनम्, इद्वितमरणम्, भक्तपरिज्ञा चेति ।
प्रव० ६ टा० ।

इत्तरिय मगणकाला य, अणमाणे लुविहा जवे ।

इत्तरिया मावकंया, निरवकंखउ वेइज्जिया ॥ ए ॥

(इत्तरिय ति) इत्यर्गं इत्यर्कं स्वल्पकालं नियतकालावधि-
कमित्यर्थः, मरणावसानः कावो यस्य तन्मरणकालम् । प्रा-
यःमध्यमपदत्रोपी भमासः यावज्जीवमित्यर्थः । यद्वा-मरणं का-

लोऽवसरो यस्य तन्मरणकालम् । चः समुच्चये । अश्यते जुध्यत इ-
त्यशनम्, अशेषाहाराभिधानमेतत् । उक्तं हि—“सद्यो वि य आ-
हारो, असणं सद्यो वि बुध्य पाणं । सद्यो वि खादमं चिय, सद्यो
वि य साधमं होइ” ॥१॥ ततश्चाविद्यमानं देशतः सर्वतो वाऽशन-
मस्मिन्नित्यनशनं, द्विविधं द्विः प्रकारं भवेत्, तत्र [इत्तरियत्ति]
इत्वरकं सहावकाङ्क्षया घटिकाद्वयाद्युत्तरकात्रं ज्ञानाभिलाष-
रूपया वर्तते इति सांवकाङ्क्षम्, निष्क्रान्तमाकाङ्क्षातो निराकाङ्क्ष-
म्, तज्जन्मनि ज्ञानाशंसाभावान्, तुल्यस्य भिन्नकमन्वात् ।
द्वितीयं पुनर्मरणकाङ्क्षम् । पाठांतरतश्च निरवकाङ्क्षं द्वितीयम् ।

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण उव्विहो ।

मेहितवो पयरतवो, यणो य तह होइ यणे य ॥ १० ॥

ततो य वगवगो, पंचम उट्टओ पडन्नतवो ।

पणइच्छियचित्तवो, नायव्वो होइ इत्तरियो ॥ ११ ॥

ययोद्देशं निर्देश इति न्यायतः इत्वरकानशनस्य ज्ञेयानाह—
यत्तदित्तरकं तपः इत्वरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तत्समासेन
संक्षेपेण पक्षिधं विस्तरेण तु बहुतरभेदमिति भावः । पक्षिध-
त्वमेवाह—(सेहितवो इत्यादि) अत्र च श्रेणिः पङ्क्तिस्तदुप-
पन्नं तपः श्रेणितपस्तच्चतुर्थ्यादिक्रमेण क्रियमाणमिह परमासा-
नं परिगृह्यते, तथा श्रेणिरैव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, त-
दुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चाध्यामोहार्थं चतुर्थपष्ठपद-
शमाख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिविवक्ष्यते । सा च चतुर्गुणिता
पोरुशपदात्मकः प्रतरो भवति । अयं च आयामतो विस्तरत-
श्च तुल्य इति । अस्य स्थापनोपाय उच्यते—

“ एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्तयोऽत्र यथाक्रमम् ।

एकादींश्च निवेद्यान्ते, क्रमात्पङ्क्तिं प्रपूरयेत् ” ॥

अस्यार्थः—एकः आदिर्येषां ते एकादयः एककद्विकत्रिकच-
तुष्कास्ते आद्या यासु ता एकाद्याद्याः, व्यवस्थाप्या न्यसनीयाः,
पङ्क्तयः श्रेणयो, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण, कोऽर्थः—प्रथमा एकाद्या
एककादारज्य संस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारज्य, तृती-
या त्रिकाद्या, त्रिकादारज्य, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारज्य ।
आह—पदं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति, द्वितीयाद्यास्तु न
पर्यन्त एव, तत्कथं पूरणीयाः ? उच्यते—एकादींश्च निवेश्य व्यव-
स्थाप्य, अन्त इत्यर्थः, क्रमादिति क्रममाश्रित्य, पङ्क्तिमपूर्यमाणं श्रेणीं,
पूरयेत् परिपूर्णा कुर्यात् । तत्र च द्वितीयपङ्क्तौ द्विकात्रिकचतु-
ष्कानामग्रे एककः, तृतीयपङ्क्तौ त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको
द्विकश्च, चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्कावसाने एकद्वित्रिकाः स्थाप्यन्ते ।

स्थापना चेयम्—

प्रक्रमाद् घन इति घनतपः, चः पू-
रणे, तथेति समुच्चये, भवतीति
क्रिया प्रतितपोनेदं योजनीया ।
अत्र च पोरुशपदात्मकः प्रतरः
पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गु-
णिता घनो भवति आगतं चतुः

चतुर्थं०	पष्ठं०	अ०	द०
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

पष्टि ६४, स्थापना तु पूर्विकैव, नवरं, बाहुल्यतोऽपि पदचतुष्टया-
त्मकत्वं विशेष एतदुपपन्नं तपो घनतप उच्यते । चः समुच्च-
ये । तथा भवति वर्गश्रेतीहापि प्रक्रमादग्रे इति वर्गतपः, तत्र
च घन एव घनेन गुणितो वर्गो ज्ञवति, ततश्चतुष्पष्टिश्रुतुष्पष्ट्येव
गुणिता जातानि पञ्चवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, एतदु-

पलक्षितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपमाऽनन्तरं वर्ग २ इति वर्ग २
तपः, तुः समुच्चये । पञ्चमं पञ्चसंख्यापरगुणम्, अत्र वर्ग एव यदा
वर्गेण गुण्यते तदा वर्गे वर्गो भवति, तथाच चत्वारि सहस्राणि
पञ्चवत्यधिकानि तावन्तैव गुणितानि जातैककोटिः, समपष्टि-
लक्षाः, समसप्ततिसहस्राणि, ङे शते षोडशाधिके । अङ्गुतोऽपि
१६७७७२१६ । एतदुपपन्नं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । एवं
पदचतुष्टयमाश्रित्य श्रेण्यादितपो दर्शितम् । एतदनुसारेण पञ्चा-
दिपदेष्वप्यतन्परिज्ञाना कार्या । पष्ठकं प्रकीर्णकतपो यत श्रे-
ण्यादिनियतरचनादिरहितं स्वशक्त्यपेक्षं यथा कथंचिद्विधीयते.
तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषवर्गितं यच्चमध्यवज्रप्रतिमादि
च । इत्थं भेदाननिधाय उपसंहारमाह—(मणइच्छियचित्तवो-
त्ति) मनसश्चित्तस्य ईप्सितं इष्टिचोऽनेकप्रकारोऽर्थः स्व-
र्गापवर्गादिस्तेजोलेख्यादिर्वा यस्मान् तन्मनोऽप्सितचित्तार्थं
ज्ञातव्यं भवतीत्येवमं प्रक्रमादनशनस्य तपः । उक्तं ३ अ० ।
(कियत्कात्रिकेनाऽनशनं कियती । निर्जरा जवतीति 'अण-
इलाय' शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति मरणकालभनशनं वक्तुमाह—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियादिया ।

सवियारमवीयाग, कायचेट्टं पई भवं ॥ १२ ॥

(जा सा अणसणा इति) प्राकृतत्वादत्र स्त्रीत्वम्, यदनशनं
मरणे मरणावसरे द्विविधं, तद्विशेषणार्थं कथितं व्याख्यातं,
तीर्थश्रुदादिभिरिति गम्यते । द्विविध्यमेवाह—सह विचारेण
चेष्टात्मकेन वर्तते यत्तत्सविचारं, तद्विपरितमविचारम् । विचा-
रश्च कायवाङ्मनोभेदात् त्रिविधमिति । तद्विशेषपरिज्ञानार्थमाह—
कायचेष्टाम्, उद्धर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रि-
त्य, जवेत् स्यात् । तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिद्विनीमरणं
च । तथाहि—जक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्ती गुरुदत्ताहोचनो
मरणाद्येतो विधिना संलेखनां विधाय ततस्त्रिविधं चतुर्विधं
चाऽऽहारं प्रत्याचष्टेः स च समास्तुतमृदुसंनारकं समुत्सृज्य
शरीराद्युपकरणममत्वः स्वयमेवोद्वाहितनमस्कारः समीपवर्ति-
साधुदत्तनमस्कारो वा सत्यां शक्तौ स्वयमुद्धर्तते, परिवर्तते च,
शक्तिविकलतायां चापरेरपि किञ्चित्कारयति । यत उक्तम् “वि-
यरुणमधुघ्राणं, उच्चियं संलेहणं च काऊणं । पचवखति आ-
हारं, निविहं च चउव्विहं वा वि ॥ उव्वत्तइ परियत्तइ, मयमो-
णावि कारणं किञ्चि । जत्थ समत्थो नवरं, समाहिजणयं अप-
भिवद्धो ॥” इद्विनीमरणमप्युक्त्यायतः प्रतिपद्य शुद्धस्थितिरु-
लस्थानामेकाग्रयेव कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यातस्तत्स्थगिरु-
स्थानचञ्चायात उष्णमुष्णावस्थायां स्वयं संक्रामति । तथा चाह-
“इंगियमरणविहाणं, आपव्वज्जं तु वियरुणं दाउं । संलेहणं च
काउं, जहासमाही महाकाशं ॥१॥ पचवखति आहारं, चउव्विहं
नियमओ गुरुसगासे । इंगियदेसम्मि तहा, चिट्ठिपि हु इंगियं
कुणइ ॥ उव्वत्तइ परियत्तइ, काइयमाईमु होइ उ विलासो ।
किञ्चं पि अण्णच्चिय, हुंजइ नियमेण धीवलिओ ” ॥
अविचारं तु पादपोषणमनं तत्र हि सध्याघानाध्याघानभेदतो
द्विज्जेदपि पादपवन्निश्चेष्टनयैव स्वीयते । तथा च तद्विधिः—
“अभिवंदितुण देवे, जहाविहिं सेसएय गुणमाइ । पचवखत्तात्तु
तओ, तयंतिण सव्वसमाहारं ॥ सज्जावम्मि ठियप्पा, मम्मं
सिद्धंतभणियमगेणं । गिरिकंदरं तु गंतं, पायवगमणं अह
करति ॥ सव्वत्थापभिवद्धो, देवो य पमायगणामह नाउ ।

जयज्जीवं चिदुह . निश्चिदो पायवसमाणो ॥ ”

पुनरपि द्वैविध्यं प्रकारान्तरेणाह—

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य अहिया ।

नीद्वारिमनीहार ।, आहारच्छेओ य दांसु वि ॥ १३ ॥

अथयेति प्रकारान्तरमुच्यते. सह परिकर्मणा स्थाननिपदनत्वमुच्यते. तनादिना विधानमनादिना च वर्तते यत्तत्सपरिकर्म. अपरिकर्म च तद्विपरीतमाख्यते कथितम् । तत्र सपरिकर्म जन्तुप्रत्याख्याना-
मिद्विनीमरणं चैकत्र स्वयमेव वा कृतस्य अन्यत्र तु स्वयं विहि-
तस्य, उद्धर्तनादिचेष्टासमपरिकर्मणोऽनुष्ठानात् । तथा चाह—“आय
परिकर्मम्, भक्तपरिकारो दो अणुणाया । पराजिज्ञया य ई-
गिणि, चउविहाहाउचिदो य ॥ नाणुनिस्सोय तुयदुह, तिरि-
याहि जहा समाहोय । सयमेव य सो कुणइ, उवसण परीस-
हहिया मे” । अपरिकर्म च पादपोषणमनम्, निष्प्रतिकर्मताया एव
तत्राभिधानात् । तथा चागमः—“समविसममि य पडिओ, अ-
उह जह पायवोय निक्कणो । निच्चरनिष्पडिकम्मो, निक्खिवइ
जं जहि ओं ॥ तं चिय होइ तद्विचिय, एवरं चरणं परपओ-
गाओ । वायाइहि तरस्स व, पमिणीयाइहि तहि तरस्स” ॥ यद्वा-
परिकर्म संज्ञेयना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतमपरि-
कर्म । तत्र च व्याघाते त्रयमप्येतत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पा-
दितशिष्यः संलखनापूर्वकमेव विधत्ते, अन्यथा अतिध्यानसंज्ञ-
वात् । उक्तं च—“देहमि असंविदिप, सइसा धातुहि विज्जमाणोहि ।
जायति अट्टक्काणं, सरारिणो चरिमकालमि” । इति सपरिकर्मो-
च्यते । यन्पुनर्याघाते गिरिमित्तिपतनाभिघातादिरूपे संलख-
नामविधायिव जन्तुप्रत्याख्यानादि क्रियते, तदपरिकर्म । उक्तं चा-
गमे—“आभिघाउ वा विज्जुगिरि-मित्तिकोणगा य वा होउजा ।
संवहहत्थपाया, दायावापण होउजाहि ॥ एणहि कारणेहि, वा
घातिसमरण होइ नायव्वं । परिकम्ममकाउणं, पच्चक्खाती
नओ भत्तं” । तथा निर्हरणं निर्हारो गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादे-
र्वह्निर्गमनं, तद्विचये यत्र तद्विहारी, तद्व्यदनिहारी, यदुत्था-
तुकामेन वृत्तिकादौ विधायते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपो-
षणमनविषयम्, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात् । तेषां चागमः
“पच्चक्खाती काउं, णेयव्वं जाय होइ वोच्चित्ती । पंचतले ऊ-
णय सो, पायोवगमं परिणोय ॥ तं दुविहं नायव्वं, नीहारिं चेव
तइ अणोहारिं । वडिया गामादीणं, गिरिकंदरमाइ नीहारिं ॥
षइयाइसु जं ओं, उदुओ मणाणगाइ अणहारिं । तम्हा पायव-
गमणं, जं उवमा पायवणेत्थं” । आहारोऽशनादिस्तच्छेदस्तन्नि-
राकरणमाहारच्छेदः । शूद्रयोरपि सपरिकर्मापरिकर्मणोर्नि-
र्हार्यनिर्हारिणोश्च सम इति शेषः । उभयत्र तद्व्यवच्छेदस्य
तुल्यत्वादिनि सूत्रपञ्चकार्थः । उक्तमनशनम् । उक्तं ३० अ० ।
स्या० । ओ० । (अनशनविधानं, येन येनाशनं कृतं तत्तच्छे-
दोऽप्युच्यते, यथा ‘खंदग’ शब्दे ‘मयकुमार’ शब्दे ‘मरण’ शब्दे च
विशिष्टो विधिः) अपरिमोमे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । तथा दाय-
ज्वरी कश्चदनशनं कृत्वा राज्ञ्यामपि जलपानं विधत्ते । यद्वा-
हियाशनशनमेव न करोति । यत्र रात्रौ सर्वथा जलत्यागाशक्तेन ते-
नाहारम्यागरूपमनशनं तु विधेयमेवेति ज्ञातमस्ति । तथाऽनश-
निना आह्वेनाऽचित्तमेव जज्ञं पर्यंतदण्डपुण्यमेवेति ही० १ प्रका० ।
“ नंदं नंदं सुमंदं य, वे पुत्रेऽणसणं करं ” (इति तन्मुहूर्तम्)
गणि० प्र० ।

अणानय-अनशित-त्रि० । न अशितोऽनशितः । अनुक्ते, “न-

यवं पदीणमणसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो ” आ०
म० प्र० ।

अणसूत्रा-देशी-आसन्नप्रसवे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणह-अनघ-विनाऽघमस्याऽस्तीति अनघः । निरवद्यानुष्ठा-
यिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अपापे, आव० ४ अ० । नि-
दोपे, औ० । प्रश्न० । अकृते, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० ।

अणहृत्पण्यं-देशी-अनघे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहवीय-अनघवीज-पुं० । अविनष्टवीजे, वृ० ४० उ० ।
नि० चू० ।

अणहसमग-अनघसमग्र-त्रि० । अनघमकृतं न पुनरपान्त-
रालं केनापि चोरादिना विवृतं समग्रं छव्यं ज्ञाप्योपकरणादि
यस्य सतथा । तत्स्वकादिनाऽनुगृहीतसर्वस्वे, च० प्र० २० पाहु० ।
निर्दूषणे, अहीनपरिवारे, “ वद्धे कयकज्जे अणहसमगो णि-
यगं घरं इवमागं ” अनघत्वं निर्दूषणतया समग्रत्वमहीनधन-
परिवारतया । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अणहारओ-देशी-खल्ले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहिवखट्ट-अनधिग्वादनार्थ-पुं० । अविषमसमुद्देशनार्थं,
“ तासि पच्चयदेउं अणहिवखटा अ कलहो अ ” वृ० १ उ० ।

अणहिय-अनधिगत-त्रि० । अगीतार्थं, व्य० १ उ० । अन-
न्तरभाविनि, विंश० । अविज्ञाने, व्य० १ उ० ।

अणहियपुणपाव-अनधिगतपुण्यपाप-त्रि० । सूत्रार्थकथने-
ऽप्यविज्ञातपुण्यपापे, “ अणहियपुणपावं उवचावंतस्स चउ
गुरू होंति ” व्य० ४ उ० ।

अणहिजमाण-अनधीयमान-त्रि० । अपठति, “ ते विज्ज-
माणा अणहिजमाणा, आहंसु विजा परिमोक्खमेव ” सूत्र०
१ श्रु० १२ अ० ।

अणहिणिविह-अनजिनिविष्ट-त्रि० । अतत्त्वाभिनिवेशवर्जितं,
पंचा० ३ विव० ।

अणहियास-अनधिमह-पुं० । असहिष्णौ, वृ० १ उ० ।

अणहिलपा (वा) मणय-अनहिलपाटकनगर-न० ।
गुर्जरधारिण्यां सरस्वतीनदीतीरे ‘पाटण’ इतीदानीं ख्याते
नगरे, यत्रारिष्टनेमिः पूज्यते । “पणमि अ अरिष्टनेमी, अणहिल-
पुरपट्टणावयंसस्स । वेजाण गच्छणिस्सिय, अरिष्टनेमिस्स कि-
त्तिमो कप्पं ” ती० २६ कल्प । [‘अरिष्टनेमि’ शब्दे दर्शयि-
ष्यतेऽयं कल्पः] यत्र अजयदेवसुरभिर्ग्रन्था विरचिताः । यथोक्तं
पञ्चाशके—“चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते च सिद्धयम् ।
धवलकपुरे वसत्यां, धनपत्योर्वकुलचन्द्रिकयोः । अणहिलपा-
टकनगरे, सङ्ख्यैर्वर्तमानबुधमुख्यैः । श्रीद्रोणाचार्याद्यैर्वि-
द्विभिः शोधिता चेति ” पञ्चा० १६ विव० । भगवतीवृत्त्यन्त-
“ अष्टाविंशतियुते, वर्षसहस्रे शतेन चाज्यधिके । अणहिलपा-
टकनगरे, कृतेयमच्युतप्रतिवसतां ” म० ४२ ज्ञा० १ उ० ।

अणही-अनधी-स्त्री० । पाद्विज्ञानकनगरे कपर्दिनामधेयस्य
ग्राममहत्तरस्य भार्यायाम्, ती० ३३ कल्प ।

अणहीय-अनधीत-त्रि० । अनज्यस्ते, ग० १ अधि० ।

अणहीयपरमत्य-अनधीतपरमार्थ-पुं० । अनधीता अनभ्यस्ता

परमार्था आगमरहस्यानि येस्तेऽनधीतपरमार्थाः । अगी-
तार्थं, “ जे अण्हायपरमत्ये गोयमा ! संजए जवे ”
ग० १ अधि० ।

अणाइ-अनादि-त्रि० । न विद्यते आदिः प्राथम्यमस्येत्यनादिः ।
उक्त० १ अ० । अप्राथम्ये, हा० ३० अष्ट० । पं० सं० । आदि-
विकले, उक्त० १ अ० । इत्या० आ० म० । नास्याऽऽदिरस्यना-
दिः । संसारे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आदिरहिते, स्था० ३
शा० १ उ० ।

अणाइज्जणाम[ए]अनादेयनामन्-न० । नामकर्मभेदेः कर्म० १
कर्म० प्रव० आ० । यदुदयवशादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयव-
चनो जवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याज्युत्थानादि समा-
चरति । पं० सं० ३ द्वा० ।

अणाइ (ए) जवयणपच्चायाय-अनादेयवचनप्रत्याजात-
त्रि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचन-
जन्मसु, ज० ७ शा० ६ उ० ।

अणाइणिहण-अनादिनिधन-त्रि० । आदिः प्रथमं निधनं प-
र्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स
अनादिनिधनः । दर्श० । सम्म० । अनाद्यपर्यवसते, अनुपन्न-
शाश्वते च । आवा० ४ अ० ।

अणाइसु-अनाचीर्ण-त्रि० । अनासेविते, महापुरुषैरनाचीर्णम्
[नाऽऽचरणीयम्] वृ० १ उ० । तदेवाशङ्क्य परः प्राह-यदि
यद्यत्प्राचीनगुरुनिराचीर्णं तत्प्राप्त्यैरप्याचरितव्यं, तर्हि ती-
र्थकरैः प्राकारत्रयकृत्रयप्रवृत्तिकाप्रावृत्तिका तेषामेवार्थाय सु-
दैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तद् वयमपि असन्निमित्तकृतं
किं नोपजीवामः ? । सूरिराह-

कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तह वि हु न मव्वसाहम्मा ।
गुरुणो जं तु अइसए, पाहुमिभाई समुपजीवे ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं यदनुगुरवो धर्माः, तथापि न सर्वथा-
साधर्म्याच्चिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधर्म्यादेव । तथाहि-गुरव-
स्तीर्थकराः, यत्तु यत्पुनरतिशयान् प्रावृत्तिकादीन् कोऽर्थः प्रा-
वृत्तिका सूरैर्निरादिक्ता समवसरणरचना, आदिशब्दादवस्थि-
तनखरोमाधोमुखकण्टकादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः, तान्, समु-
पजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्म-
ता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृतामितरेषां च साधूनां सामा-
न्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा च्यमनाचीर्णंति दृश्यते ।

सगन्दहसभोमे, अवि अ विसेसेण विरहियतरं से ।

तह वि खलु अणाइन्नं, एसअणुधम्मो पवयणस्स ॥

यदा स भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगरादुदा-
यननरैर्द्वप्रवाजानार्थं सिन्धुसौवीरदेशावतंस वीतभयं नगरं प्र-
स्थितस्तदा किलापान्तरालं बहवः साधवः क्षुधात्तास्तृपादितः
संज्ञावाधिताश्च बचूवुः, यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलवृता-
नि शकटानि, पानीयपूर्णश्च हृदः, समजौमं च गर्ताविद्यादिवर्जि-
तं स्थण्डिलमनवत् । अपि च-विशेषेण तत्तिलोदकस्थण्डिलजा-
तं विरहिततरम, अतिशयेनाऽऽगन्तुकैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः ।
तथापि खलु भगवताऽनाचीर्णं, नानुज्ञातं च, एषोऽनुधर्मः प्रवच-
स्य तीर्थस्य, सर्वैरपि वचनमध्यमध्यासनैः शस्त्रोपहृतपरिहार-
वृत्तय एव च धर्माऽनुगतव्य इति भावः ।

अथैतदेव विवृणोति-

वक्कंतजोणि थंमिल-अतमा दिन्ना ठिई अवि दुहाई ।

तह वि न गेएहंमु जिणो, माहु पमंगो असन्त्यहए ॥

यत्र जगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावासितान्या-
सन्, तेषु च तिलानां व्युत्क्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहता अप्यायुःसंज्ञ-
येणाचिन्तीभूताः ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पे-
रक्षित्यत्र आह-स्थण्डिले स्थिताः । एवंविधा अपि वसैः संस-
क्ता भविष्यन्तीत्याह-अत्रसास्तद्भवगन्तुकत्रसविरहिताः, ति-
लशकटस्वामिभिश्च गृहस्थैर्देवैश्च । एतेन चाऽदत्तादानदोषोऽपि
तेषु नास्तीत्युक्तं जवति । अपि च-ते साधवः क्षुधापीकृता आयुषः
स्थितिज्ञयमकार्षुः तथापि जिने वर्द्धमानस्वामी नाग्रहीत्, मा
भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः । तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मदीयमालम्बनं
कृत्वा मत्सन्तानवर्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहृतमग्रहीषुति
भावः । युक्तियुक्तं चेत्तत् प्रमाणस्थपुरुषालाम् । यत् उक्तम्—
“ प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः । धिषीदन्ति प्रमा-
णानि प्रमाणस्थैर्विस्संयुतैः ” ॥ १ ॥

एमेव य निज्जीवे, दहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने ।

समजोमे अ अवि ठिती, जिमिताऽऽसन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च हृदे निर्जीवे यथाऽऽयुष्कृत्तयादचिन्तीभूते अचित्त-
पृथिव्यां च स्थिते त्रसवर्जिते च उदके पानीये हृदस्वामिना च
दत्ते तृपादितानां स्थितिक्रयकारणेऽपि जगवानानुजानीते स्म, मा
नृत्प्रसंग इति, तथा स्वामी तृतीयपौरुष्यां जिमितमात्रैः सा-
धुभिः सार्द्धमकामटवीं प्रपन्नः सन्तिसंज्ञाया आवाधा, यद्वा-
[आसन्नं च] नावासन्नता साधूनां समजनि । तत्र समभौमं गत्-
गोष्पदविलादिवर्जितं यथा स्थितिक्रयं व्युत्क्रान्तयोनिकपृथिवीकं
त्रसप्राणविरहितं स्थण्डिलं वर्तते, अपरं च शस्त्रोपहृतं स्थण्डि-
लं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञावाधिताः स्थिति-
क्रयं कुर्वन्ति, तथापि भगवानानुज्ञां करोति, यथाऽत्र व्युत्सृज-
तेति, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, इत्येषोऽनुधर्मः प्रवचनस्येति स-
र्वत्र योज्यम् । वृ० १ उ० । नि० चू० [फलविषयाऽऽचीर्णताऽऽ-
नाचीर्णता च ‘पलम्ब’ शब्दे वक्ष्यते]

अणाइवन्ध-अनादिवन्ध-पुं० । यस्त्वनादिकाद्यात् सन्तानप्रा-
वेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिवन्धः । कर्मव-
न्धज्जेदं, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाइभव-अनादिभव-पुं० । निष्प्राथम्यसंसारे, पंचा० ३ विव० ।

अणाइभवद्वलिंग-अनादिजवद्वलिंग-न० । अनादिजवे नि-
ष्प्राथम्यसंसारे यानि इत्यल्लिङ्गानि भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव-
जितादिनेपथ्यचरणवृत्तणानि तानि तथा । संसारे परतीर्थक-
प्रवजितेषु, “ एतो उ विभागओ अणाइभवद्वलिंगओ चेव ”
पंचा० ३ विव० ।

अणाइय-अज्ञातिक-त्रि० । अविद्यमानस्वजने, भ० १ शा० १ उ० ।

अणातीत-त्रि० । अणमणकं पापमतिशयेनेतं गतमणातीतम् ।
पापं प्राप्ते, भ० १ शा० १ उ० ।

अनादिक-त्रि० । अविद्यमानादिके, ज० १ शा० १ उ० । स्था० ।
नास्यादिः प्रथमोत्पत्तिविद्यते इत्यनादिकः । चतुर्दशरज्ज्वात्मके
लोके, धर्माऽधर्मादिकं वा इत्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

अणातीत-त्रि० । अणमतीतम्, अणजन्मदुःस्थितानिमित्ततया
संसारे, भ० १ शा० १ उ० ।

अणाइल-अनाविल-त्रि० । सकलपे, "अणाइलेया अकसाइ मुके, सकेय देवाहिबई तुमं " यथा चासौ सागरोऽनाविलोऽकमुप-जज्ञ एवं जगवानपि तथाविधकर्मज्ञेऽज्ञात्वादकलुषज्ञान इति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " णोनागे वणलोपजा, लिधसोए अ-णाविले । अणाइले सयादते, संधिपत्ते अणेविसं " यथाऽना-विशोऽकमुपां रागद्वेषाऽसंयुक्ततया भ्रमरहितोऽनाकुत्रो वा, वि-षयाप्रवृत्तः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । हाभादिनिरपेक्षे, " णो तुच्छे णो य विकपइजा, अणाइलेया अकसाइ भिक्खू " अ-नाविशो होनादि निरोक्ताः । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणाइमंतुत्तय-अनादिमयुक्तक-पुं० । न विद्यते आदिः प्राथम्य-मस्येत्यनादिः । स चेह प्रमातृ संयोगस्तेन संमिते, "अणो-णाणुगयाणं, इमं च तं च तिविभयणमनुत्तं" इत्यागमादिभा-गानावेन युक्तः श्लिष्टोऽनादिसंयुक्तः स एवानादिसंयुक्तकः । यद्वा-संयोगः संयुक्तस्ततोऽनादिसंयुक्तमस्येत्यनादिसंयुक्तकम् । कर्मणाऽनादिसंयोगसंयुक्ते जीवे, उक्त० १ अ० ।

अणाइसंताण-अनादिमन्तान-पुं० । अनादिप्रवाहके, औ० । " अणाइसंताणकम्मबंधणकिंसेचिक्खिस्सुहुत्तारं " अनादिः सन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणाइमिच्छंत-अनादिमिच्छान्त-पुं० । अमनमन्तो वाच्यवाच-करूपतया परिच्छेदोऽनादिसिद्धासावन्तानादिसिद्धान्तः । अनादिकालादारभ्येदं वाचकमिदं तु वाच्यमित्येवं सिद्धे प्रति-ष्ठिते परिच्छेदे, अनु० ।

अणाउ-अनायुप-पुं० । न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यानायुः । दुष्कर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तिविरहे जिने, " अ-णुत्तरे सवजगंसि विज्जे, गंधा अतीते अजए अणाऊ " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अपगतायुःकर्मणि सिद्धे, " तं सहहाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवादिब आगमिस्सं " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जीवनेदे, स्था० २ उ० १ उ० ।

अणाउट्टी-अनाकुट्टी-पुं० । " कुट्टं च्छेदने " आकुट्टेनमाकुट्टः, स विद्यते यस्यास्याकुट्टी, नाकुट्टी अनाकुट्टी । अहिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । आ० म० द्वि० । " जाणं काएण णाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति । पुट्ठा संवेदइ परं, अवियत्तं कलुसावज्जे " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ('कम्म' शब्दे चैतद् तृतीयजगो ३३० पृष्ठे स्पष्टो न विव्यति) ।

अणाउट्टिया-अनाकुट्टिका-स्त्री० । अनुपेत्य करणे, पंचा० १६ विव० ।

अणाउत्त-अनायुक्त-त्रि० । न० त० । अनाभोगवति अनुपयुक्ते, स्था० २ उ० १ उ० । उक्त० । असावधाने, औ० । आलस्य-भाजि प्रत्युपेक्षाऽनुपयुक्ते, उक्त० १७ अ० ।

अणाउत्तआइणया-अनायुक्तादानता-स्त्री० । अनायुक्तोऽना-जोगवाननुपयुक्त इत्यर्थः । तस्यादानता अनायुक्तादानता । अनायुक्तस्य वस्त्रादिविषये प्रदणतायाम्, अनाजोगप्रत्ययक्रिया-भेदे, स्था० २ उ० १ उ० ।

अणाउत्तपमज्जया-अनायुक्तप्रमार्जनता-स्त्री० । ६ त० । अनायुक्तस्य पात्रादिविषयप्रमार्जनताकूपे अनाजोगप्रत्ययक्रिया-भेदे, इह द्वयोः शब्दयोः ताप्रत्ययः स्वार्थिकः । प्राकृतत्वेन अनादीनां भावविचक्षणवति । स्था० २ उ० १ उ० ।

अणाउत्त-अनाकुल-त्रि० । समुद्रवस्त्रादिभिः परीपहंपसर्ग-

रकुच्यति, " जत्थथमिए अणाउले, समविसमाई मुणी हिया सए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । सूत्रार्थादनुत्तरति, " सव्वे अणोए परिवज्जयंते, अणाउलेया अकसाइ भिक्खू " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । " गवंपि अणाउलो संवच्चरस्समणंसि " आ० म० प्र० । अन्त० । क्रोधादिरहिते, दश० १ अ० । औत्सुक्य-रहिते, वृ० १ उ० ।

अणाउलया-अनाकुलता-स्त्री० । निराकुलतायाम्, " सर्वत्रा-नाकुलता-यतिनावाऽय्यपरसमासेन " पा० १३ विव० ।

अणाएम्-अनादेश-पुं० । आकृति मर्यादया विशेषरूपानतिक्र-मात्मिकया दिश्यते कथ्यते इत्यादेशो विशेषः, न आदेशोऽना-देशः । सामान्ये, उक्त० १ अ० । (सोदाहरणोऽयं 'संजोग' शब्दे एव प्रदर्शयिष्यते)

अणाग-अनागति-स्त्री० । न० त० । अनागमने, अशेषकर्मच्यु-तिरूपायां लोकाप्राऽऽकाशदेशस्थानरूपायां वा सिद्धौ, " गइं च जो जाणइ णागइं च " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणागता-अनागत्य-अव्य० । आगमनमकृत्येत्यर्थे, स्था० ३ उ० २ उ० ।

अणागत (य)-अनागत-त्रि० । न आगतोऽनागतः । वर्तमा-नत्वमप्राप्ते जविष्यति, स्था० ३ उ० ४ उ० । समयादौ पुद्गल-परावर्तान्ते काले भविष्यत्कालसम्बन्धिनि, सम्म० । सूत्र० । " अणागयमपस्संत्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा । ते पच्चा परितप्पंति, खीणे आवस्मि जोव्वणे " अनागतमेष्यत्कामानिवृत्तानां नर-कादियातनास्थानेषु महादुःखमपश्यन्तोऽपश्यंल्लोचयन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । " तेतिय उप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जा-णंति तहागयाइं " अनागतानि च भवान्तरभावीनि सुखदुःखा-दीनि । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " जे य बुद्धा अतिकंता, जे य बुद्धा अणागया " अनागता भविष्यदन्तकालभाविनः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अणागत (य) काल-अनागतकाल-पुं० । विवक्षितं वर्तमानं समयमवधीकृत्य भाविनि समयराशौ, ज्यो० १ पाहु० ।

अणागतप्पा-अनागताप्पा-स्त्री० । आगामिपूषण्णुलपरा-वर्तेषु, कर्म० ४ कर्म० ।

अणागत (य) कालगहण-अनागतकालग्रहण-न० । ज-विष्यत्कालग्राह्यस्य वस्तुनः परिच्छेदात्मके विशेषदृष्टानुमान-भेदे, अनु० ।

से किं तं अणागयकालगहणं ? । अणागयकालगहणं-अभस्स निम्ममत्तं, कसिणायगिरी सविज्जुआ मेहा । थणियं वाउज्जामो, सज्जारत्तापण्ठा य ॥१॥

वारुणं वा महिंदं वा अस्सरं वा उप्पायं पसत्थं पा-मिन्ता तेण माहिज्जइ । जहा-सुवुट्ठि जविस्सइ । सेत्तं अणा-गयकालगहणं ॥

गाथा सुगमा, नयरं, स्तनितं मेघगर्जितं (वाउज्जामोत्ति) तथा-विधो दृष्टव्यभिचारः । प्रदक्षिणं दिक्षु भ्रमन प्रशस्तो वानः (वारु-णं ति) आर्द्रामृतादिनक्षत्रप्रजवं, माहेन्द्रोर्वाहिण्येष्टादिनक्षत्र-संभवम्, अन्यतरमुत्पातमुदकापातदिग्दाहादिकं, प्रशस्तं वृष्ट्य-व्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनुमीयते, यथा-सुवृष्टिश्च भविष्यति, तद-व्यभिचारिणामनुनिर्भवत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्श-

नाथथाऽप्यवदिति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मलत्वादयो वृष्टिर्न व्यजि-
चरन्ति, अतः प्रतिपन्नैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति । अनु० ।

अणागम-अनागम-पुं० अनागमने, आच्० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । अपौ-
रुषेयादौ आगमे, आगमवृत्तकणविहीनत्वात्तस्य । रथा० १० टा० ।
अणागमणधम्म-अनागमनधर्म्म-त्रि० । अनागमनं धर्म्मो येषां
ते यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वात् । न पुनर्गृहप्रत्यागमने-
प्सुषु, आच्० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अणागयपच्चक्खाण-अनागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यान-
भेदे भविष्यति प्रत्याख्याने, आव० । अनागतकरणादनागतपर्यु-
पणादावाचार्यादिवैयर्थ्यकरणान्तरायसद्भावाद्धारत एव त-
त्तत्तपःकरणे, रथा० ।

उक्तं च—

होही पज्जोसवणा, ममयतया अंतराइयं होज्जा ।
गुरुवेयावच्चेणं, तवस्मिगेलस्यया एव ॥ ५ ॥
सो दाइ तवोक्कम्मं, पडिवज्जइ तं अणागए काले ।
एवं पच्चक्खाणं, अणागयं होइ नायव्वं ॥ ६ ॥

भविष्यति पर्युपणा मम च तदाऽन्तरायं भवेत् । केन हेतुनेत्यत
आह-गुरुवैयावृत्त्येन तपस्विग्नान्तया वेत्युपलक्षणमिति गाथा-
समासार्थः (सो दाइत्ति) स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्यते तदनागते
कात्रे एतत्प्रत्याख्यानमेवंभूतमनागतकरणादनागतं ज्ञातव्यं ज्ञव-
तीति गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ “इमो पुण एत्थ जावत्था-अणा-
गयं पच्चक्खाणं, जहा अणागयं तवं करेज्जा पज्जोसवणा
गहणेण एत्थविगिट्ठं कीरइ, सव्वजहन्नो अट्ठमं, जहा पज्जोसव-
णाप तहा चाउम्मासिए णट्ठं पक्खिए अम्भत्तं अण्णसु य
एहाण्णजाणदिसु तहिं मम अंतराइयं होज्जा, गुरुआयरिया
तेस्मिं कायव्वं, ते किं ण करेति असद् होज्जा अहवा अन्ना काइ
आणत्तिथा होज्जा कायच्चिन्था गामंतरादि सहस्स वा आणे-
यव्वं सरीरवेयावरिया वा ताहे सो उववासं करेइ, गुरुवेया-
वच्चं न सक्केइ जो अन्नो दोएहवि समत्थो सो करेउ, जो वा
अन्नो समत्थो उववासस्स सो करेउ नत्थि न वा लभेज्जा ण-
यणि० जाव विधि ताहे सो चेव पुव्वं उववासं काळणं पच्छा त-
द्विसं भुजेज्जा तवस्सी नाम खामओ तस्स कायव्वं होज्जा
तो किं तदा न करेइ सो तीरं पत्तो पज्जोसवणा ऊसारिया
(असद्हुत्ति) वा सयं पाराविओ ताहे य सयं हिंडिमसमत्थो
जाणि अम्भासे ताणि वच्चओ नत्थि व्वभइ सेसे जहा गुरुम्मि
विभासा गेवन्नं जाणइ जहा तहिं दिवसे असद्हु होइ विज्जेण
वा भणियं अमुगं दिवसं (कारहत्ति) अहवा सयं चेव जाणाति
सगंमरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असद्हु होइ (सामित्ति) सेसे वि-
भासा जहा गुरुम्मि कारणकुलगणसंग्रआयरियगच्छे वा तहेव
विभासा पच्छा सो अणागते काले काळण पच्छा जुंजेज्जा
पज्जोसवणादिसु तस्स जा किर निज्जरा पज्जोसवणादिहिं त-
हेव सा अणागते काले भवति ॥ गतमनागतद्वारम् । आव०
६ अ० । आनु० । ध० । ल० प्र० ।

अणागलिय-अनर्गलित-त्रि० । अनिवारिते, भ० १५ श० १ उ० ।

अनाकलित-त्रि० । अप्रमेये, भ० १५ श० १ उ० । उपा० ।

अणागलियचंरुतिव्वरोस-अनर्गलितचरुतीव्वरोष-त्रि० ।

अनिवारितचरुतीव्वरोषे, भ० १५ श० १ उ० ।

अनाकलितचरुतीव्वरोष-त्रि० । अनाकलिताप्रमेयचरुती-
व्वरोषे, “अनागलियचंरुतिव्वरोसं समुहत्तरियं च वलं धम्मं

तं दिट्ठिविसं सप्पं संघट्ठेति” । भ० १५ श० १ उ० । उपा० । ज्ञा० ।
अणागाढ-अनागाढ-वि० । अनभिगृहीतदर्शनविशेषे, हृ० १
उ० । आगाढमिध्रे कारणे, व्य० ३ उ० । [‘आगाढ’ शब्दे द्विती-
यजागे ८६ पृष्ठे व्याख्यास्यते] अथ किमिदमागाढं किं वा अ-
नागाढम् ? । उच्यते-“अहिदद्विसधिसुइय-सज्जक्खयसूलमा-
गाढं” । अहिना सर्पेण दष्टः कश्चित्, यिषं वा केनचिद् भक्ता-
दिमिश्रे दत्तं, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्रयकारि
या कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघातिं सर्वमप्यागा-
ढम् । एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुञ्जादिरोगात्मकमनागाढम् ।
हृ० १ उ० । नि० चू० । अनागाढं योगे भवे उत्तराध्ययनादौ
श्रुते, नि० चू० ४ उ० ।

अणागार-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्तराका-
रादयो विच्छिन्नप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तुर्यसिस्तदनाकारम् ।
रथा० १० टा० । अविद्यमानमहत्तराद्याकारे, प्रव० २३ द्वा० ।
अविद्यमानाकारे प्रत्याख्यानभेदे, दक्षिणप्रयोजनसम्भवा-
न्नावे कान्तारवृत्तिर्नादौ महत्तराद्याकारमनुधारयद्विजिर्विधी-
यते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसहसाकारा-
वुच्चारयितव्यावेव काष्ठाङ्गुल्यादौमुखे प्रक्षेपणतो जज्ञो मा चृदि-
ति । अतोऽनाभोगसहसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । भ०
७ श० २ उ० । ह० प्र० । अनाकारं नाम तत् किन्तु केवलमि-
हानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च द्वावाकारौ भणितव्यौ,
येन कदाचिदनाभोगतोऽज्ञानतः सहसा वा रभसेन तुणादि
मुखे क्षिपेन्नपतेच्छ कुतोऽपि इति कृताकारचिकमापि शैषैर्महत्त-
राकारादिभिराकारैः रहितमनाकारमभिधीयते । इदं चानाकारं
कदा विधीयते ? । अत्राह-“दुग्धिक्खवित्तिक्ता-रगाढरोगाए
कुज्जा” दुग्धिके वृष्ट्यभावे हि एरुमानैरपि भिक्षा न लज्यते,
तत इदं प्रत्याख्यानं कृत्वा म्रियते । वृत्तिकान्तारे वा, वर्त्तते
शरीरं यथा सा वृत्तिर्भिक्षादिका तद्विषये कान्तारमिव कान्तारं
तत्र यथाऽष्टव्यां भिक्षा न लज्यते तथा सिएणल्ल्यादिषु स्वप्ना-
वाऽऽत्तद्विज्ञाकीर्णेषु शासनद्विषेवाधिष्ठितेषु भिक्षादि नाऽऽ-
साद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्याद्यप्रतिविधये गाढतर-
रोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारे केशरिकशोरादिज-
न्यमानायामापादि कुर्यादिति । प्रव० ४ द्वा० । अविद्यमान आ-
कारो भेदो ग्राह्यस्यास्येत्यनाकारम् । सम्म० । अतिकान्तविशेषे
सामान्यालम्ब्यानि दर्शने, “साकारे सेषाणे अणागारे दंसणे”
सम्म० । “मइसुयवहिमणकेवल-विहंगमइसुयणाणसागारा”
सह आकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण “आ-
गारो उ विसेसा” इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्ते इति साका-
राणि । अयमर्थः-वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनानि अनाका-
राणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यवि-
शेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव
हि शास्त्रमात्रवकुलाशोकचस्पकदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्य-
क्तिरूपतयाऽवधारितं तस्मिन्कर्मवशोक्तयतः सामान्येन वृक्ष-
मात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति, तत्सामा-
न्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, ‘निर्दिशं विशेषाणामग्रहो दर्शन-
मुच्यते’ इति वचनप्राप्त्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य
तावत्तमात्रशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं, तमेव महीरुहमुत्प-
श्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति, तदिशे-
वरूपं साकारं ज्ञानमप्रमेयम् । प्रमा च पारमेष्ठ्यप्रवचन-
प्रवीणचेतसः प्रतिपाद्यन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तते इति

कृत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणावाधितप्रतीतिवशात्सर्वम-
पि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति । कर्म०
४ कर्म० । “चक्षुः स्रक्चक्षुः ओही केवलदंसणअणागार” दर्श-
नशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्च कुर्यादर्शना १ उच्यते दर्शना २ उच्यते दर्श-
नेन ३ केवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा व-
स्तुसामान्यांशात्मकं प्रदणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यश-
ेषेन्द्रियचक्षुष्येन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशात्मकं प्रदणं तद-
चक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना रूपिन्द्रियमर्यादया दर्शनं सामान्यांशा-
त्मकमवधिदर्शनम् ३, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेष-
रूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशप्रदणं तत्केवलदर्शनमिति । किरूपा-
ण्येतानि दर्शनान्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्त-
त्वे सन्त्यपि न विद्यन्ते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकारा-
णि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अणाजीव-अनाजीविक-पुं० । निःस्पृहे, दश० ३ अ० । “अणि-
लाह अणाजीवे नायवो सो तवायारो ” ग० १ अधि० ।

अणाजीवि (ण)-अनाजीविन्-त्रि० । न आजीवी अनाजीवी ।
अनाशंसिनि, नि० चू० १ उ० ।

अणामो-देशी-जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणाद्यमाण-अनाडियमाण-त्रि० । अनादरयति, आचा० २
श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणादिय-अनादृत-न० । न० त० । आ-द-भावे-क्त । अनादरे सं-
भ्रम-हिते, आच० ३ अ० । “आयरकरणं आढा, तद्विवरीयं अणा-
दियं होइ” । आदरः संभ्रमस्तत्करणमादृतता, सा यत्र न जयति
तदनादृतमुच्यते । इत्येवंरूपं भन्दनदोषाणां प्रथमे दोषे, वृ० ३
उ० आच० आ० चू० । ध० आदरः संभ्रमः, तत्करणमादृतम् ।
आर्यत्वादादियं तद्विपरीतं तद्विदितमनादृतं जयति । प्रव० २ द्वा० ।
अनादरेण वन्दने, एव वन्दनकस्य प्रथमदोषः । आ० चू० ३ अ० ।
तिरस्कृते, त्रि० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये गृहपतिर्नदे, पुं० । तत्क-
थानिरयावल्याः ३ वर्गे १० अध्ययने सूचिताऽस्ति । तत्रैव पञ्चमा-
ध्ययनोक्तपुण्यतदस्यैव ज्ञावनीया । सारार्थस्तु-अणादियगृहप-
तिः काकन्दीनां नगर्यां समवसृतानां स्थविराणामन्तिके प्रवृज्यां
गृहीत्वा श्रुतमर्थीत्य तपः कृत्वा आम्रमण्डपमुपादय अनशनेन का-
ले कृत्वा सौधं कलेषु अणादियविमानं द्विसागरापमायुक्त-
या देवत्वेनापपन्नः, ततश्च युत्वा महाविदेहं संस्थति । नि० ।
आदृता आदरक्रियाविपर्ययिताः, शेषा जम्बूद्वीपगता देवा येना-
त्मता इत्यदृतं महर्द्धिकवर्माक्रमणं सोऽनदृतः । जी० ३ प्रति० ।
अनर्द्धिक-पुं० । जम्बूद्वीपाधिष्ठानदेवे, उक्त० ११ अ० । “ज-
म्बूद्वीपादिर्वयं अणादियो” द्वि० । जी० । स्था० । (‘जम्बूद्वीपस्य’
शब्दस्य वक्तव्यता)

अणादिया-अनादृता-स्त्री० । अनादृतादनादृताया सा अनादृता,
नन्दिप्रेणस्येव अनादृतस्य वा शिथिलस्य वा सा तथा । स्था०
१० उ० । “रोगनियए सादिकखा अणादिया रामकण्ठपुञ्जवे ”
पं० ना० पं० चू० । अनादृतस्य जम्बूद्वीपाधिपतेः राजधान्याम्,
जी० ३ प्रति० ।

अणाणा-अनाज्ञा-स्त्री० । आह्वयते इत्याज्ञा हिताहितप्राप्तिप-
रिहारतया सर्वत्रोपदेशस्तद्विपर्ययोऽनाज्ञा । तीर्थकरानुपदिष्टे
स्वमनीयिकया आचरितेऽनाचारे, आचा० ।

अणाणाए एगे सोवद्वाना, आणाणाए एगे निरुवद्वाना,

एवं ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं ।

इह तीर्थङ्करगणधरादिनोपदेशगोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते-
यदि वा सर्वभावसंभावित्वाद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अ-
नाज्ञाऽनुपदेशः स्वमनीयिकाचरितोऽनाचारस्तथाऽनाज्ञया तस्यां
वा एकेन्द्रियवशगा दुर्गति जिगमिषवः स्वाभिमानग्रहप्रस्ताः ।
सह उपस्थानेन धर्मचरणज्ञासोद्यमेन वर्तते इति सोपस्थानाः,
किल धर्ममपि प्रवृजिताः सदसर्गमविशेषविवेकविकलाः साव-
धारम्भतया वर्तन्ते । एके तु न कुमारगोपसितान्तःकरणाः किन्तु
आज्ञस्यावर्णस्तन्नाद्युपगृहितवृक्ष्य आज्ञायां तीर्थकरोपदेशप्र-
णीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानमुद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः,
सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः । एतत्कुमारगोपस्थानं सन्मा-
र्गावसीदनं च द्वयमपि ते तव गुरुविनेयोपगतस्य दुर्गतहेतु-
त्वान्मा जूदिति सुधर्मस्वामी स्वमनीयिकापरिहारार्थमाह-(एव-
मित्यादि) । एतत्पूर्वोक्तं यदि वा अनाज्ञायां निरुपस्थानत्वमा-
ज्ञायां च सोपस्थानत्वमित्येतत्कुशलस्य तीर्थकृतो दर्शनमभि-
प्रायः, यदि वैतद् वक्ष्यमाणं कुशलस्य दर्शनम् । आचा० १
श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणाणत्त-अनानात्व-न० । भेदवर्जिते, स्था० १ उ० ।

अणाणय-अनाङ्गक-तीर्थकरोपदेशशून्ये स्वैरिति, आचा० १
श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणाणुगामिय-अनानुगामिक-त्रि० । न अनुगच्छति इति
कालान्तरमुपकारित्वेनाननुयातरि, स्था० ५ उ० १ उ० । अनु-
जानुवन्धे, स्था० ६ उ० । न अनुगामिकमनानुगामिकम् । शृ-
ङ्खलाप्रतिवृत्तप्रदीपसदृशे गच्छन्तमननुगच्छति अवधिज्ञानविशे-
षे, न० । तच्च—

से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ? अणाणुगामियं
ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइष्टाणं
काउं तस्सेव जोइष्टाणस्म परि परेतैहिं २ परिघोलेमाणं
परिघोलेमाणे तमेव जोइष्टाणं पासइ, अणत्थगए नो
पासइ, एवमेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव सुप्पज्जइ,
तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा संवच्चाणि वा
असंवच्चाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ अणत्थगए न
पासइ, सेतं अणाणुगामियं ओहिनाणं ।

अथ किं तत् अनानुगामिकमवधिज्ञानम् ? सुरिराह-अनानुगा-
मिकमवधिज्ञानं स विवर्जितः, यथा नाम-कश्चिद्विरुपः पूर्णः सुख-
दुःखानामिति । पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुष एकं महज्ज्योतिः स्थान-
मग्निस्थानं कुर्यात् कस्मिंश्चित्स्थाने, अनेकज्वालाशतसंकुलमग्नि-
प्रदीपं वा स्थूलवर्तिज्वालाऽनुरूपमुपादयेदित्यर्थः । ततस्तत्कृत्वा
तस्यैव ज्योतिःस्थापनस्य परि पर्यन्तेषु २ परितः सर्वासु दिक्षु पर्य-
न्तेषु परिपूर्णान् परिभ्रमन् इत्यर्थः । तदेव ज्योतिःस्थानं ज्योतिः-
स्थानप्रकाशितकेंद्रं पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति । एव
दृष्टान्तः । उपनयमाह-एवमेव अनेनैव प्रकारेणानानुगामिकमव-
धिज्ञानं यत्रैव केंद्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्य-
वस्थितः सन् सङ्ख्येयानि असङ्ख्येयानि वा योजनानि स्वावगा-
हक्रेण सह संबद्धानि असंबद्धानि वा अवधिभ्रष्टाऽपि जा-
यमानः स्वावगाहदेशादारभ्य निरन्तरं प्रकाशयति कोऽपि पुन-
रपान्तराद्ये अन्तरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, तत उच्यते-सम्ब-

कान्यसंश्रद्धानि वंति जानाति विशेषाकारेण परिच्छिन्नन्ति,
पश्यति सामान्याकरेणावबुध्यते, अन्यत्र देशान्तरगते नैव पश्य-
ति; अवधिज्ञानावरणकूपोपशमस्य तत्क्षेत्रसापेक्षत्वात् । तदेव-
मुक्तमनानुगामिकम् । न० । कर्म० ।

अणुगामि-अनानुगाम-त्रि० । अनाशक्ते, 'से' एसणं जाण म-
णेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणुगामि' सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणुगतावि-(ए)-अनानुतापिन्-पुं० । अपवादपदेन कायाना-
मुपद्रवेऽपि कृते पश्चादनुतापराहिते, व्य० २ उ० । हा ! दुष्ट कृत-
मित्यादि पश्चात्तापमकुर्वति निःशङ्के, निर्दये च प्रवर्तमाने,
वृ० ३ उ० ।

अणुगताविति दारम-

वितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुतप्पते पच्छा ।

सो होति अणुगतावी, किं पुण दप्पेण सेविता ? ॥४७२॥

वितियं अववातपदं, तेण अववातपदेण जो साहू परा पुढविकाया
तेजोसंघट्टणपरितावणउद्वेगणे वा तावणं करेत्ता, पच्छा णाणुत-
प्पति, जहा-हा ! दुष्ट कथं, सो होति अणुगतावी-अपच्छतावीत्य-
र्थः । कारणवितियपदेण जयणाए पस्सिसेविकुण अपच्छतावियाणो
अणुगतावी पस्सिसेवा जवति, किं पुण जो दप्पेण पस्सिसेविता
नानुतप्पते इत्यर्थः । अणुगतावि ति गतम् । नो० चू० १ उ० ।

अणुगपुव्वी-अनानुपूर्वी-स्त्री० । न अनानुपूर्वी अनानुपूर्वी, अनानु-
पूर्वीपश्चानुपूर्वीरूपप्रकारद्वयातिरिक्तस्वरूपायामपरिपाटी, अनु० ।
(अनानुपूर्व्या अनानुपूर्व्या सह सम्मिलितो विषयः 'अणुगपुव्वी'
शब्दे द्वितीयनागे १३१ पृष्ठे वक्ष्यते, लोकालोकादीनां पूर्वपश्चा-
द्भावोऽनानुपूर्वीत्यादि च 'रोहा' शब्दे वक्ष्यते)

अणुगवन्धि(ए)-अननुवन्धिन्-न० । नानुवन्धोऽननुवन्धः, सो-
ऽस्त्यस्मिन्निति । न विद्यतेऽनुवन्धः सातत्यं प्रस्फोटकादीनां
यत्र तदनुवन्धि, इन् समासान्तोऽत्र वृद्धयः । नानुवन्धि अननुव-
न्धि । स्था० ६ ठा० । अप्रमादप्रत्युपेक्षणविधिभेदे, प्रत्युपेक्षणं च
न निरन्तरमास्त्रोटादि, किं तर्हि, सान्तरं सविच्छेदमिति तत्त्वम् ।
धर्म० ३ अधि० । औ० । नि० चू० । उक्त० ।

अणुगवन्ति [ए]-अननुवन्तिन्-त्रि० । प्रकृत्यैव निष्ठुरे, वृ० १ उ० ।

अणुगवाइ [ए]-अननुवादिन्-पुं० । वादिनोक्तं साधनमनु-
वदितुं शीलमस्येत्यनुवादी, तत्प्रतिषेधादननुवादी । व्याकुलम-
नस्त्वेनानुवादमपि कर्तुमशक्ते, " से मुम्मुई होइ अणाणुवाइ "
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुगवीडुत्तु-अननुविचिन्त्य-अव्य० । पश्चादविचार्येत्यर्थे,
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुगतावय-अनातापक-त्रि० । संस्तारकपात्रादीनामातपेऽ-
दातरि, [साधौ] कल्प० ।

अणुगतीय-अनातीत-पुं० । आ समन्तादतीत इतो गतोऽनाद्यन-
न्तसंसारे आतीतः, न आतीतोऽनातीतः । संसारार्णवपारगमि-
नि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणुगदि-अनादि-त्रि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उक्त० ४ अ० ।
आ० म० द्वि० । ज० ।

अणुगदिय-अनादृत-पुं० । जम्बूद्वीपाधिपतौ व्यन्तरसुरे,
उक्त० १० अ० ।

अनादिक-पुं० । नास्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्यनादिकः । चतु-
र्दशरज्ज्वात्मके धर्माधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।
दोषविशेषे, वृ० ३ उ० [व्युत्पत्तिस्तु 'अणादिय' शब्दे निरूपिता]
प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, त्रि० । न० ब० । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।
अणादिक-त्रि० । अणं पापकर्म आदिकारणं यस्य सोऽणादि-
कः । पापकार्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणुतीत-त्रि० । अधर्मेण देयद्वयमतिक्रान्ते, " पंचविहो पञ्चतो
जिणेहि इह अणहवो अणादियो " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणुपुच्छियचारि(ए)-अनापृच्छयचारिन्-पुं० । गणमनापृ-
च्छय चरति क्षेत्रान्तरसंक्रमादि करोतीत्येवंशीलोऽनापृच्छयचा-
री । नो आपृच्छय चारिणि पञ्चमं विग्रहस्थानं प्राप्ते, स्था०
१ ठा० १ उ० ।

अणुवाह-अनावाध-पुं० । अवकाशे, वृ० ३ उ० । बाधाव-
जिते, दश० ६ अ० । न विद्यते आवाधा जन्मजरामरणकृत्पिपा-
सादिका यत्र तदनावाधम् । स्वाभाविकबाधापगमतो मोक्षसुखे,
स्था० १० ठा० । स्वाध्यायाद्यन्तरायकारणरहिते, उक्त० ३५ अ० ।
" होइ अणुवाहणिमित्त-मचेयणमणाउलो निहअं " अनावाधा-
निमित्तमनावाधाकार्यम्, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः । तथा श्लो-
के वक्तारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन मयेदं कार्य-
मारब्धमनेन कार्येणेत्यर्थः । आ० म० द्वि० ।

अणुवाहसुहाजिकंखि(ए)-अनावाधसुखाजिकाङ्गिन्-पुं० ।
मोक्षसुखाभिलाषिणि, दश० १ अ० ।

अणुजिगह-अनभिग्रह-न० । न विद्यते अभिग्रह इदमेव
दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपो यत्र तदनभिग्रहम् । मिथ्या-
त्वभेदे, यद्वशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीपत्सा-
धर्म्यमवलम्बते । पं० सं० १ द्वा० ।

अणुभोग-अनाजोग-पुं० । आभोगनमाभोगः, न आभोगोऽ-
नाभोगः । पं० व० २ द्वा० । अत्यन्तविस्मृतौ, आतु० । पंचा० ।
जीत० । नि० चू० । व्य० । एकान्तविस्मृतौ, आ० चू०
६ अ० । अज्ञाने, नि० चू० २ अ० । आभोगनमाभोगः, उपयो-
गविशेष इत्यर्थः । अनुयोगे, आव० ४ अ० । असावधान-
तायाम्, ध० २ अधि० । न विद्यते आभोगः परिभावनं यत्र
तदनाभोगम् । तच्चैकेन्द्रियादीनामिति । पं० सं० ३ द्वा० ।
विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादीनां विशेषज्ञानविकलस्य भवति ।
इदं सर्वांशविषयाव्यक्तबोधस्वरूपं विवक्षितं किञ्चिदंशव्यक्त-
बोधस्वरूपं चेत्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । दर्श० । कर्म० ।

अणुजोगभाण-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्त-
विस्मृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्मृतव्रतप्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने,
आतु० । [' पसण्चंद ' शब्दे चैतत् कथानकम्]

अणुभोगकय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृतं जनि-
तम् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अणुभोगकिरिया-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगप्रत्यये
क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदाननिक्षेपणाऽनाभोग-
क्रिया, उत्क्रमणानाभोगक्रिया च । तत्राऽऽदानं रजोहरणपात्र-
चीवरादिकानामप्रत्युपेक्षिता, अप्रमाजितानामनाभोगेनाऽऽ-
दाननिक्षेपः । उत्क्रमणानाभोगक्रिया-सहजसवनधाघनासमी-
क्षागमनागमनादि । आ० चू० ४ अ० ।

अणानोगवित्तिय-अणानोगनिर्वर्तित-पुं० । अणाननिर्वर्तित-स्था० ।

अणानोगपत्तिसेवणा-अणानोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अणानोगो विस्मृतिस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे. स्था० १० डा० । (अणानोगप्रतिसेवनायाः स्वरूपं ' पडिसेवणा ' शब्दे दर्शयिष्यते)

अणानोगभव-अणानोगभव-पुं० । विस्मरणसद्भावे, " इय चरणमिडियाणं, होइ अणानोगभावओ खलणो " पंचा० १७ विव० ।

अणानोगया-अणानोगता-स्त्री० । अणानोगरहिततायाम्. कर्म० ५ कर्म० ।

अणानोगव-अणानोगव-त्रि० । अणानोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थादिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु, स विद्यते यस्य स तथा । श्रुतार्थपरिज्ञातरि, " यो निरनुबन्धदोषा-च्छ्राद्धोऽणानोगवान् वृजिनभीरुः " यो० १२ विव० । समुच्छ्रितजप्राये अणानिनि. डा० १० डा० ।

अणानोगवित्तिय-अणानोगप्रत्यया-स्त्री० । अणानोगोऽज्ञानादि । अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । स्था० २ डा० १ उ० । पात्राद्यादतो निक्षिपतो वा सम्भवति क्रियाभेदे, स्था० ५ डा० २ उ० । " अणानोगवित्तिया किरिया दुविहा पणत्ता । तं जहा-अणानुत्तप्रायणया चैव, अणानुत्तपमज्जणया चैव " स्था० ५ डा० २ उ० । आ० चू० । आच० ।

अणानोनिय-अणानोन्य-अव्य० । अणानपृच्छयेत्यर्थे, आचा० २ ध्रु० १ अ० ए उ० ।

अणामियावाही-अणामिकव्याधि-पुं० । नामरहिते व्याधौ, अणामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोगः । तं० ।

अणायविल-अणानामास्त-त्रि० । आचामास्तविग्रहिते, आव० ६ अ० ।

अणायग-अणायक-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽस्येत्यनायकः । स्वयंप्रभं चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० २ उ० ।

अणानक-त्रि० । अस्वजने, नि० चू० ८ उ० । अणानपत्ते, नि० चू० ११ उ० ।

अणाययण-अणायतन-न० । न आयतनमनायतनम् । अस्थाने, वेद्यासामन्तादिरूपे दश० १ अ० । साधूनामनाश्रये, प्रश्न० ४ सम्ब० डा० । नाट्यशालायाम्, अश्वपतिनजन्तुगुणशालायाम्, पं० चू० । पार्श्वस्थायायतने, आव० ३ अ० । पशुपशुकसंस्पर्के वा स्थाने, यो० ।

इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

मावज्जमणाययणं, अमोह्मिणां कुमालसंमगि ।

पण्डा ह्येति पया, एण विवरोय आययणा ॥ १०८६ ॥

मावज्जमनायतनमश्रितस्थाने कुशलसंमगि एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति । एतान्येव च विपरीतानि आयतनं भवन्ति । कथम् ? अस्मावज्जमनायतनं शोधस्थानं सुशीलसंमगीति । अत्र चानायतनं वर्जयित्वा आयतनं गवेषणीयम् ।

एतदेवाह—

वज्जित्तु अणाययणं, आययणगवेषणं मदा कुज्जा ।

तं तु पुण अणाययणं, नायव्वं दव्वजावेण ॥ १०८७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषणं सदा सर्वकालं कुर्वीत । तत्पुनरनायतनं द्रव्यतो जायतश्च विज्ञेयम् ।

तत्र द्रव्यानायतनं प्रतिपादयन्नाह—

दव्वे रुद्धाप्पगा, अणाययणं भावओ दुविहेमव ।

लोड्य लोउत्तरियं, तत्थ पुण द्दोड्यं इणमो ॥ १०८८ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयमनायतनं रुद्धादिगृहम् । इदानीं जायतोऽनायतनमुच्यते । तत्र जायतो द्विविधमेव-लौकिकं, लोकोत्तरं च । तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते—

खगिया तिरिक्खजाणी, तालायर समण माहण मुसाणे ।

वागुगिय वाह गुम्मिय-हरिण्णपुल्लिदमच्चिद्वंधा या ॥ १०८९ ॥

खरिकेति ह्यकारिका यत्राऽऽस्ते तदनायतनम्, तथा तिर्यग्येनयश्च यत्र तदप्यनायतनम्, तालाचराश्चाराणस्ते यत्र तदनायतनम्, श्रमणाः शाक्यादयस्ते यत्र, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतनं, श्मशानं चानायतनम्, तथा वागुरिका व्याध्यागुल्लिमका व्युत्पत्तिबालाः हरिणसा पुल्लिन्दा मत्स्यवन्धाश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतेष्वनायतनेषु कृणमपि न गन्तव्यम्, तथाचाह—

खणमवि न खमं गंतुं, अणाययणसेवणा सुविहिियाणं ।

जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ वण ॥ १०९० ॥

कृणमपि न कृमं न योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना च अनायतनस्य सुविहितानां कर्तुं न कृमा न युक्ता । यतोऽयं दोषो जयति—“ जं गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाइ ” । सुगमम् ।

जे अन्न एवमाई, दोगम्मि दुगंजिया गरहिया य ।

समणाण व समणीण व, न कप्पई तारिसो वासो ॥ १०९१ ॥

येऽन्ये एवमादयः लोके जुगुप्सिता गर्हिताश्च ह्यकारिकायनायतनविशेषाः, तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते तादृशो वास इति । उक्तं लौकिकं भावानायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तरं जावानायतनं प्रतिपादयन्नाह—

अह लोउत्तरियं पुण, अणाययण भावओ मुण्येव्वं ।

जे संजमलोणां, करिति हाणिं समत्था वि ॥ १०९२ ॥

अथ लोकोत्तरं पुनरनायतनं भावत इदं ज्ञातव्यम् । ये प्रवृजिताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्तः, तल्लोकोत्तरमनायतनम् । तैश्च एवंविधः संसर्गो न कर्तव्यः । (कुशीलसं-सर्गं दोषाः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उववाओ ।

वाज्जिज्जवज्जभीरु, अणाययणवज्जओ खिण्णं ॥ १०९३ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्र्यस्य च यत्रायतने भवति उपघातस्तं वर्जयेदवद्यभीरुः साधुः, किंविशिष्टः ? अनायतनं वर्जयतीति अनायतनवर्जकः । स एवंविधः क्रिप्रे अनायतनमुपघातरूपं वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनप्रदर्शनायह—

जत्थ साहम्मिया बह्वे, जिन्नचित्ता अणारिया ।

मूळगुणप्पमिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९४ ॥

सुगमा, नवरं, मूलगुणाः प्राणानिपातादयस्तान्प्रतिसेवन्त इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते च निवसन्ति तदनायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बह्वे, जिन्नचित्ता अणारिया ।

उत्तरगुणप्पमिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९५ ॥

सुगमा, नवरं, उत्तरगुणाः 'पिंडस्स जा विसोही' इत्यादि तत्प्रतिसेविनो ये ।

जत्थ साधम्मिया वहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

लिंगवेसपडिच्छन्ना, अणाययणं तं वियाणाहि ॥११०३॥

सुगमा, नवरं, लिङ्गवेसमावेण प्रतिच्छन्ना बाह्यतः, आन्त्यन्तरतः पुनर्मूलगुणसेविन उत्तरगुणसेविनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति । उक्तं लोकोत्तरं भावानायतनं तत्प्रतिपादनायेकमनायतनस्वरूपम् । श्रौ० ।

अणाययणे चरंनस्म, संसग्गीए अभिक्खणं ।

होज्ज वयाणं पीडा, सापन्नम्मि य संसओ ॥ १० ॥

अनायतने अस्थाने वेद्यासामन्तादौ, चरतो गच्छतः, संसर्गेण सम्बन्धेन, अभीक्षणं पुनः २। किमित्याह-भवेद् व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदा क्षिप्तचेतसो भावविराधना, श्रमण्ये च श्रमणभावे च इत्यतो रजोहरणादिधारणरूपे चूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः कदाचिदुन्निष्क्रामत्येवेत्यर्थः । तथा च वृक्ष्याख्या-“वेसादिगयभावस्स, मेहुणं पीडिच्छन्, अणुच-ओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणव्रतवचना-ऽसच्चवयणं, अणुप्पायवेसाइदंसेण अदत्तादार्णं, ममत्तकरणे परिगहो, एवं सच्चवयपीडा । दवसामन्ते पुण संसओ उष्णि-क्खमणेण त्ति ” सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणाययणपरिहार-अनायतनपरिहार-पुं० । आयतनं पार्श्व-स्थादिकुतीर्धिवेद्याविद्वद्भादिकुस्थानवर्जने, दर्श० ।

अणाययणसेवण-अनायतनसेवन-न० । पार्श्वस्याद्यायतनज-जने, आव० ३ अ० ।

अणायर-अनादर-पुं० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहात्मिके सामायिकव्रतानिचारभेदे, स च प्रतिनियतवेलयां सामायि-कस्याकरणं, यथाकथंचिद्वा करणानन्तरमेव पारणं च । यदा-हुः-“काऊण तक्खणं चिय, पारेइ करेइ वा जहिच्छाए । अणवधि-असामाइअ-अणायराओ न तं सुद्धं” ॥१॥ धर्म० ५ अधि० प्रव० ।

अणायरंत-अनाचरन्-त्रि० । विवर्जयति, “पावमणायरंते ” पापमागमनिषिक्तं कर्म, अनाचरन् विवर्जयन् । पंचा० ११ विव० । अणायरणजोग-अनाचरणयोग-त्रि० । आसेवनाऽनर्हे, “सिक्खावेउ अणायरणजोगो ” पञ्चा० १० विव० ।

अणायरणया-अनाचरणता-स्त्री० । गौणमोहनीयकर्मणि, सम्भ० ।

अणायरिय-अनार्य-पुं० । आराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इ-त्यार्याः, तद्विपर्ययादनाय्याः । क्रूरकर्मसु, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ च० । शक्यवनादिदेशोद्भवेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणायम-अनायस-त्रि० । अलोहमये, नि० चू० १ उ० ।

अणाय-अनात्मन्-पुं० । न आत्मा अनात्मा । घटादिपदार्थे, ‘एगे अणाय’ सप्रदेशार्थतयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोऽपि तथाविधैक-परिणामरूपद्रव्यार्थपेक्षया एक एव, सन्तानापेक्षयाऽपि, तुल्य-रूपापेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकस्वभावयुक्तत्वात्कथञ्चिद्विभ-स्वरूपाणामपि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयमि-ति । स० १ सम० । परस्मिन् “अणायए अवक्कमइ ” भ० १ श्रु० ४ उ० ।

अणायण-अनादान-न० । अकारणे, “अणायणमेयं अभिग-हियसिज्जासणियस्स ” कल्प० ।

अणायार-अनाचार-पुं० । आचरणमाचारः, आधाकर्मादिप-रिहरणपरिष्ठापनरूपोऽनाचारोऽनाचारः । आधाकर्मादिग्रहणे, आतु० । साध्वानारस्य परिभोगतो ध्वंसे, व्य० १ उ० । आव० । ध० । (अनाचारस्याख्याऽऽधाकर्माऽऽश्रित्य ‘अइक्कम’ शब्दे अत्रैव भागे २ पृष्ठे कृता) आचरणीयः श्रावकाणामाचारः, न आचा-रोऽनाचारः । अनाचरणीये “अणायरे अणिच्छियञ्जे ” ध० २ अधि० । शास्त्रविहितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० १ अधि० । अथ साधूनां यद्यदनाचरितं तत्तत्समासेन व्यासेन च प्रदर्शयामः । तत्र दशवैकालिके द्वितीयाध्ययने—

संजमे सुट्ठि अप्पाणं, विप्पमुक्काण ताण्णं ।

तेसिमेयमणाइणं, निगंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

इह संहितादिक्रमः जुएणः । भावार्थस्वयम्-संयमे इमपुष्पि-काव्यावर्णितस्वरूपेशोजनेन प्रकारेणाऽऽगमनीत्या स्थितः आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-विधिधर्मकैः प्रकारैः प्रकर्षेण भावसारेण मुक्ताः परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्र-न्थेनेति विप्रमुक्ताः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-त्रायन्ते आत्मानं प-रमुज्यं चेति वातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः, परं तीर्थकराः, स्व-तस्तीर्णत्वाद्बभूव स्थविरा इति । तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणमना-चरितमकदपम् । केषामित्याह-निर्ग्रन्थानां साधूनामभिधानमेत-त् । महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः । अथवा महान्त-मेयितुं शीघ्रं येषां ते महेषिणस्तेषाम् । इह च पूर्वपूर्वज्ञाव पयो-त्तरोत्तरभावो नियतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः । यत एव संयमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ताः । संयमसुस्थिताऽऽ-त्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः । एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति-यत एव महर्षयः अत एव निर्ग्रन्थाः । एवं शेषेष्वपि इष्टव्यमिति सूत्रार्थः ।

साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उदेसियं कीयगं, निगमजिह्माणि य ।

राइज्जे सिणाणे य, गंधमद्धे य वीयणे ॥ २ ॥

(उदेसियं ति) उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्र भवमौद्देशिकम् (१), क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः । साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते । तेन कृतं निर्वर्तितं क्रीतकृतम् (२), निगममित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं तत्त्वनाम-न्त्रितस्य (३), (अजिह्माणि यत्ति) स्वग्रामादेः साधुनिमित्त-मज्जिमुखमानीतमन्याहृतम्, बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिर्वाहा-दिभेदख्यापनार्थम् (४), तथा रात्रिभक्तं रात्रिजोजनं दिवसगृही-तदिवसजुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम् (५), स्नानं च देशसर्वज-जिज्ञं देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपद्भ्रमज्जालनमपि । सर्वस्नानं तु प्रतीतम् (६), तथा गन्धं मास्यं च, गन्धग्रहणा-त्कोष्ठपुत्रादिपरिग्रहः ; मास्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्मास्यस्य (७), वीजनं व्यजनं तावद्वृत्तादिना घर्मे एव, इदमनाचरितम् (८), दोषाश्चौद्देशिकादिस्वारम्भप्रवर्तनादयः स्वधियाऽवगन्त-व्या इति सूत्रार्थः ॥१॥

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंके किमिच्छए ।

संवाहणं इंतपहानणं य, संपुच्छणे देहपलायणा य ॥३॥

इदं चानाचरितमित्याह—(संनिदि ति) संनिधीयतेऽनेनाऽऽ
त्मा पुनर्तावति संनिधिः । घृतगुरुदीनां संचयक्रिया (६),
गृहमत्रं गृहस्थभाजनं च (१०), तथा राजपिण्डा नृपाहारः
(११), किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डो-
ऽन्यो वा सामान्येन (१२), तथा संवाधनमस्थिमांसत्वग्रोम-
सुखतया चतुर्विधं मर्दनम् (१३), दन्तप्रधावनं चाहुल्यादिना
क्वालनम् (१४), तथा संप्रभः सावद्यो गृहस्थविषयः, राट्वा-
र्थं कीदृशो वाऽहमिन्यादिरूपः (१५), देहप्रलोकनं चादर्शादौ
(१६), अनाचरितम् । दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणाति-
पातादयः स्वधियैव वाच्या इति सूत्रार्थः ॥ ३॥

अष्टावर्णं य नालीए, हस्तस्म य धारणं डाए ।

तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं द्यूतम्, अर्थपदं वाः गृहस्थमधिकृत्य निमित्तादिविषय-
म् (१७), अनाचरितम् । तथा नात्रिका चेति द्यूतविशेषलक्षणम्, यत्र
माऽभूत्कृत्याऽन्यथापाशकपाननमिति नात्रिकया पात्यन्ते इति ।
इयं चानाचरिता अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सन्यभिनिवेश-
निबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं नेदत्त उपादानमः
अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधते । अस्मिन् पक्षे सकलद्यू-
तोपलक्षणार्थं नात्रिकाग्रहणमष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोजयोरिति
(१८), तथा उत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं
प्रति वाऽनर्थान्येन्यागाद्वृत्तानाद्यान्मन्त्रं मुक्त्वाऽनाचरितम् । प्रा-
कृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपो च ङप्रत्ययौ, तथा
भूतिप्रामाण्यादिति (१९), तथा (तेगिच्छं ति) । चिकित्साया भा-
वश्चैकित्यस्य व्याधिप्रतिक्रियारूपम् [२०], तथोपानहौ पाद-
योरनाचरिते । पादयोरिति सामिप्रायकम् । न त्वापत्कल्पप-
रिहारार्थमुपग्रहधारणेन [२१], तथा समारम्भश्च समारम्भ-
णं च ज्योतिषोऽग्नेः [२२], तदनाचरितम् । दोषा अष्टापदा-
दीनां कृष्णा एवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

सिञ्जापर पिंमं च, आसंदी पलिअंकए ।

गिहंतरनिसिञ्जा य, गायस्त्रुवट्टणाणि य ॥ ५ ॥

किञ्च—शय्यातरपिण्डोऽप्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तया
तरति संसारमिति शय्यातरः साधुवसतिदाता, तत्पुरुः [२३],
तथा आसंदकपर्यङ्को अनाचरितः । एतौ, च लोकप्रसिद्धावेव
[२४], तथा गृहान्तरनियन्ताऽनाचरिता । गृहमेव गृहान्तरं गृहयो-
र्या अपान्तरालं, तत्रोपवेशनं, चशब्दात्पाटकादिपरिग्रहः [२५]
तथा गात्रस्य कायस्योर्ध्वतनानि चानाचरितानि । उर्ध्वतनानि प-
ङ्कापनयनशक्यानि । चशब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः [२६], इति
सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

गिहणो वेआवन्निअं, जा य आजीववत्तिथा ।

तचानिवुदभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

तथा (गिहणो ति) गृहणो गृहस्थस्य वैयावृत्त्यं व्यावृत्तस्य
भावो वैयावृत्त्यं, गृहस्थं प्रत्यग्रादिसंपादनमित्यर्थः [२७], एत-
दनाचरितमिति । तथा आजीववृत्तिता जानिकुलगणकर्मशिल्पा-
नामाजोवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तद्वाच्य आजीववृत्तिता । जान्या-
याजीवनेनात्मप्राप्त्येत्यर्थः [२८], इयं चानाचारता । तथा तन्ना-
निवृत्तभोजित्वं-तमं च तदनिवृत्तं च अत्रिदगमोद्धृतं चेति वि-
ग्रहः । उदकमिति विशेषणमन्यथाऽनुपपत्त्या गम्यते । तद्भोजि-
त्वं मिश्रसचिचोदकभोजित्वमित्यर्थः [२९], इदं चानाचरि-

तम् । तथाऽऽतुरस्मरणानि च कृधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मर-
णानि च अनाचरितानि । आतुरशरणानि वा दोषाऽऽतुरश्र-
यदानानि (३०), इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

मूलए सिंगेरे य, उच्चुखंमे अनिब्बुडे ।

कंदे मूले य सच्चित्ते, फले वीए य आमए ॥ ७ ॥

किञ्च (मूलए ति) मूलको लोकप्रतीतः (३१), शृङ्गेरं
चार्द्रकम् (३२), तथेकुखणं च लोकप्रतीतम् (३३), अनिर्बु-
तग्रहणं सर्वत्राजिसंवध्यते । अनिर्बुतमपरिणतमनाचरितमिति ;
इकुखणं चापरिणतं द्विपर्वान्तं यच्छतंतः तथा कन्दो वज्रकन्दा-
दिः (३४), मूत्रं च सट्टामूलादि सचित्तमनाचरितम् (३५),
तथा फलं त्रपुण्यादि (३६), बीजं च तिलादि [३७], आमकं
सचित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

सोवच्चले भिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।

सामुदे पंमुखारे य, काझालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च (सोवच्चले ति) सौवर्चलम् (३८), सैन्धवम् (३९),
लवणं च सौभरलवणम् (४०), रुमालवणं च (खानिलवणम्)
(४१), आमकमिति सचित्तमनाचरितम् । सामुदं लवण-
मेव (४२), पांसुत्तारश्चोपरलवणम् (४३), कृष्णलवणं च
(४४), सैन्धवलवणं पर्वतैकदेशजम्, आमकमनाचरितमिति
सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

धूवणे ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।

अंजणे दंतवसे य, गायान्जं विज्जमणे ॥ ९ ॥

किञ्च (धूवणे ति) धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम् । प्राकृ-
तशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूपनानमित्यन्ये व्याचक्षते
(४५), वमनं मदनफलादिना (४६), वस्तिकर्म पुटकेनाधि-
ष्ठाने स्नेहदानम् (४७), विरेचनं दन्त्यादिना (४८), तथाऽ
ज्जनं रसाज्जनादिना (४९), दन्तकाष्ठं च प्रतीतम् (५०),
तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना (५१), विजृपणं गात्राणामेवेति
(५२), सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेयमणाइन्, निगंथाण महेमिणं ।

संजममि अ जुत्ताणं, लहुचूयविहारिणं ॥ १० ॥

(सव्वमेयं ति) सर्वमेतदौदेशिकादि यदन्तरमुक्तं तदना-
चरितम् । केषामित्याह—निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्याह ।
त एव विशेष्यन्ते—संयमे चशब्दात्तपसि युक्तानामभियुक्ता-
नां, लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो वायुः, ततश्च वायुचूतोऽप्रतिश-
क्ततया विहारो येषां ते लघुचूर्तविहारिणस्तेषाम् । निगमनक्रि-
यापदमेतदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त एवञ्ज्ञता भवन्तीत्याह—

पंचामव परिष्साया, तिगुत्ता इमु संजया ।

पंचनिगदणा धीरा, निगंथा उज्जुदंमिणो ॥ ११ ॥

(पंचामव ति) पञ्चाश्रया हिंसादयः परिज्ञाता द्विविधया
परिज्ञया—रूपपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च । परि समन्ताद् ज्ञा-
ता येस्ते पञ्चाश्रयपरिज्ञाताः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात्
निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव । परिज्ञातपञ्चाश्रवा
इति वा । यत एव चैवंभूता अत एव त्रिगुप्ता मनोवाकायगु-
प्तिभिः । पदसंयताः पदसु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु साम-

स्त्येन यताः [पञ्च निग्रहणा इति] निगृह्णन्तीति निग्रहणाः, कर्त्तरि ल्युट् । पञ्चानां निग्रहणाः, पञ्चानामतीन्द्रियाणाम् । श्रीरा बुद्धिमन्तः स्थिरा वा । निर्ग्रन्थाः साधवः । ऋजुदर्शिन इति । ऋजुमार्गं प्रति ऋजुत्वाद् संयमः, तं पश्यत्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः संयमप्रतिवक्ता इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

ते च ऋजुदर्शिनः काव्यमधिकृत्य यथाशक्त्येतत्कुर्वन्ति—

आयावयन्ति गिम्हेसु, हेमन्तेसु अवाउता ।

वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिता ॥ १२ ॥

(आयावयन्ति चि) आतापयन्त्युद्धृष्टानादिना आतापनां कुर्वन्ति, ग्रीष्मेष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु शीतकालेष्वप्रावृता इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसंवीना इत्येकाग्र्यस्था भवन्ति । संयताः साधवः, सुसमाहिता ज्ञानादिषु यत्नपराः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीसहरिक दंता, धूमोहा जिईदिया ।

सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेमिणो ॥ १३ ॥

(परीसह चि) मार्गाच्यवननिर्जराऽर्थं परिषोढव्याः कुत्तिपासादयः, त एव रिपवस्तुल्यधर्मत्वात्परीपरिपवः, ते, दान्ता उपशमं नीता येस्ते परीपरिपुदान्ताः । समासः पूर्ववत् । तथा धूमोहा विक्रिसमोहा इत्यर्थः, मोहोऽज्ञानम् । तथा जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः । त एवंजृताः सर्वदुःखप्रकृत्यर्थं शरीरमानसाशेषदुःखप्रकृत्यनिमित्तं, प्रकामन्ति प्रवर्तन्ते । किंजृताः ? महर्षयः साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमेतेषां फलमाह—

दुकराई करिचाणं, दुस्सदाई सहितु य ।

केइ त्य देवलोएसु, केइ सिज्जंति नीरया ॥ १४ ॥

(दुकराई ति) एवं दुष्कराणि कृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि, तथा दुःसहानि सहित्वा तापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु सौधर्मदिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः । तथा केचन सिद्ध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिकावविषयत्वज्ञापनार्थः । नीरजस्का इत्यष्टविधकर्मविप्रमुक्ता न त्वेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

येऽपि त्रैविंध्यानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, तेऽपि ततश्च्युता आर्यदेशेषु सुकुत्रे जन्मावाप्य शीघ्रं सिद्ध्यन्त्येवेत्याह—

खवित्ता पुव्वकम्माई, संजमेण तवेण य ।

भिष्मिग्गमणुप्पत्ता, ताङ्णो परिणिव्वुने । १५ चि वेमि ।

(खवित्ति चि) ते देवलोकेच्युताः, क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि । केनेत्याह—संयमनोक्तव्रतकृणेन, तपसा च; एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिब्रह्मणमनुप्राप्ताः सन्तस्त्रातारः आत्मादीनां परिनिर्वान्ति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अन्ये तु पवन्ति- (परिनिव्वुड चि) तत्रापि प्राकृतशैल्या गान्दसत्वाच्चायमेव पात्रो ज्यायानिति । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ दश० ३ अ० उक्तं समासतोऽनाचरितम् । अथ विशेषतस्तदुच्यते— “ आसूणी मखिरागं च, गिद्धपग्यायकम्मगं । उज्जोवणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिआ ” ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

(अस्या व्याख्या ‘ धम्म ’ शब्दे द्रष्टव्या)

आदर्शादौ मुखदर्शनादि करोति—

जे जिकखू मंतए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू अदाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू असाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे जिकखू मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू उहुयाणाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे जिकखू तेणे अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे जिकखू फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे जिकखू वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

मत्तगो दप्पणस्स भरितो तत्थ अप्पणो मुहं पवोयति जो. ए-

तस्स आणादिया दोसा । चउवहुं वा से पच्छित्तं । एवं पक्किगहादिसु विसेसपदानं इमा संगहणी गाहा—

दप्पण मणि आजरणे, सत्थु दए जायणऽन्नतरए य ।

तेह्व महु सप्पि फाणित—मज्ज वमा मुत्तमादीसु ॥ २६ ॥

दर्पणमादर्शः, स्फटिकादि मणिः, स्थानकादि आभरणं, खरूगादि शस्त्रं, वकं पानीयम्, तच्च अन्यतरे कुण्डादिभाजने स्थितं, तिलादिजं तैलं, मधु प्रसिद्धं, सर्पिर्घृतं, फाणितं गृध्रगुग्गुलं, मज्जं मत्स्यादीणं, वसा, सुत्तं, मज्जे कज्जति इव खुरसे वा गुडिया सुत्तं सव्वे सुत्तेसु जुहासंभवं अप्पणो अचक्खुविसयत्था णयणादिया देहावयवा पत्रोपइ कोऽर्थः—तत्थ स्वरूपं पश्यति । चोदक आह—किं तत् पश्यति ? आचार्य आह—आत्मच्छायां पश्यति । पुनरप्याह चोदकः—कथमादित्यादिजास्वरूपजनिच्छायादिजोगं प्रमुक्त्वा अन्यतोऽपि दृश्यते ? आचार्य आह—अत्रोच्यते यथापञ्चरागेन्द्रनीलप्रदीपशिखानामात्मस्वरूपानुरूपा प्रभा ग्राया स्वत एव सर्वतो भवति, तथा सर्वपुद्गलद्रव्याणामात्मप्रज्ञानुरूपा छाया सर्वतो जयत्यनुपलब्धा वा दृश्यतोऽन्यतोऽपि दृश्यते । पुनरपि चोदक आह—जनि अप्पणो च्छायां देहति, तो कहं अप्पणा सरीरसरिसं वरणरूपं पिच्छति ? ।

अत्रोच्यते—

भामा तु दिवा ग्राया, अभासरगता णिसिं तु कालाभा ।

से मव्वे भासरगत, मदेहवसा मुण्येव्वा ॥ २७ ॥

आदित्येनावज्ञासितो दिवा अभास्वरो अदीप्तिमति चृम्यादिके द्रव्ये घृत्तादीनां निपतिता ग्राया ग्रायैव दृश्यते । अनिर्व्यञ्जिताऽवयवा वर्णतः श्यामाऽऽज्ञा तस्मिन्नेवात्रास्वरो द्रव्ये भूम्यादिके रात्रौ निपतिता ग्राया वर्णतः कृष्णा भवति । जया पुन सव्वे व छाया दीप्तिमति दर्पणादिके द्रव्ये निपतिता दिवा रात्रौ वा तदा वर्णतः शरीरवर्णतः शरीरवर्णव्यञ्जितावयवा च दृश्यते । सा च ग्राया सदृशी न भवति । चोदक आह—यदि ग्राया सदृशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तत्पश्यन्ति ? ।

अत्रोच्यते—

उज्जोयफुरुम्मि तु द—प्पणम्मि मंजुज्जे जया देहो ।

होति तथा पडिर्विवं, ग्राया जइ जाससंजोगो ॥ २८ ॥

उज्जोयफुरो दर्पणः निर्मलः श्यामादिविरहितः तस्मिन् जदा सरीरं अस्मं वा किञ्चि घमादि संयुज्यते तदा स्पष्टं प्रतिबिम्बं प्रतिनिभं जयति घटादीनाम्, यदा पुन स दर्पणो सामप आवरितो, गगनं वा अन्नगादिहि आवरितं तदा, तस्मिन् चैव आयरिसे एगासङ्घिते देहादिसंयुक्ते गायामात्रं दिस्सइ । इदानीं सीसो पुच्छति—तं पक्खिवं गायं वा को पासति ? । तत्थ भण्णति—स समयपरसमयवच्चन्याए—

आदागमपदिह्याओ-वलभंति रस्मीं सरुवपक्षेभिः ।

तं तु न जुज्जति जम्हा । पस्मति अना ण रस्मीओ ॥६२॥

आमनः शरीरस्य या रश्मयः परदिशं विनिर्गताः तासां या आदर्शो अयःकृताः प्रतिहता रश्मयः, ता रश्मयो बिम्बादिस्वरूपमुपलभन्ते । एषोऽभिप्रायोऽन्येषां परतन्त्राणाम् । जेतन्त्र-व्यवस्थिता आहुः-न युज्यते एतत्, यस्मात्सर्वधर्माणानि आन्माधीनानि तस्मादात्मा पश्यति न रश्मयः । इदानीं पराजिप्राये तिरस्कृते स्वपक्षः स्थान्यते-‘उज्जोयपुरम्मिस्ति’ गाहा ।

एषोऽर्थस्तस्यार्थस्य स्थिराकरणार्थं पुनरप्याह—

जुज्जति ह्नु पगामफुमे, पमिविं वं दप्पणम्मि पस्संतो ।

जस्मेव जया चरणं, सो जया होति विं वं वा ॥ ६३ ॥

जुज्जते घटते फुडण्णगामे दप्पणे अप्पाणं पलोएतो पमिविं प्रतिरूपं शिखंजितावयवं पस्मति । तं च पस्संतस्स जया अभादाहिं रूपगामां जृतं भवति तदा तमेव विं च्याया दी-सति [विचान्ति] यं वा पेक्खंतस्स अभादी आवरणावगमे तमेव ज्ञायं विं पस्मति शिखंजितावयवं प्रतिरूपमित्यर्थः ।

सीमो पुच्छति-कम्हा सव्वे देहावयवा आदरिसे ण पेज्जति भनो भन्नति-

जे आदरिसे वना, देहावयवा हवंति णयणादी ।

तेमि तन्वुवलल्ली, पगामजोगा ण इतरंसे ॥ ६४ ॥

इहिसि मरीरतेयरस्सिसु पधावितासु जं दिसि आदरिसे जितो ततो जे णयणहत्थादी मरीरावयवादी । जे य आदरिसे ण वमिया तेमि तस्मि आदरिसे ण उवलली जवति । जदि य आदरिसे अभावगो सध्यागासेण संजुतो न अंधकारव्यवस्थित इत्यर्थः । [इतरंसे ति] जे आदरिसे ण सह न संजुता ते न तत्रोपलभ्यन्ते ।

एपेव य परविं, जं आदरिसे ण होइ मंजुत्तं ।

तन्य विहा उवलल्ली, पगामजोगा अदिट्ठे वि ॥ ६५ ॥

एवमित्यवधारणे । किम्हं अवधारयितव्यम्?, यदेतदुपलब्धि-कारणमुक्तम् । अनेन उपलब्धिकारणेन यद् व्यज्यते घटादि-रूपप्रतिबिम्बमादर्शं संयुज्यते । तत्रानुपलब्धिर्भवत्यात्मनोऽपश्यतोऽपि घटादिकम् । एवं मणिमादिसु विभावेयव्यं, णवरं, तेल्लज्जादिसु आरिसे विं अगासमंतरंति तारिसेमेव दीसते ।

एणमामनरे, अप्पाणं जे उ देहते भिक्खु ।

सो आणा अणवत्तं, मिच्छन्निग्राहणं पावे ॥ ६६ ॥

दप्पणमणिमादीयाणं अण्वरे जो अप्पाणं जोगति तस्स आणादिया य दोसा, चउहहुं वा से पच्छित्तं । आयसंजमं विराहणा य भवति, इमे य अण्वे य दोसा ।

गमणादीया रुवम-रुवंतु कुज्जा णिदाणमादीणि ।

वाउम-गारवकरणं, खित्तादि निग्त्यगुहाहो ॥ ६७ ॥

आदरिमादिसु अप्पाणं रुचवंतं दट्टुं विसण्णं जामिस्ति पमि-गमणं करंति, अण्वनिष्ठिपसु वा पविमति, मिद्धपुत्तो भवति, मिद्धपुत्ति वा सेवति, सविगेण वा मज्जति पडिमेवति । विरुवं वा अप्पाणं दट्टुं णियाणं करंज्जा । आदिमहातो देवतारोहणादि वर्माकरणजोगादि वा अविज्जेज्ज, मरीरपाउमत्तं वा करंज्जा । आदरिसे वा अप्पाणो रुचं दट्टुं सोभामिस्ति गारयं करंज्जा ।

रुवेण हरिसिउं, विरुवो वा विसादेण खित्तादिचित्तो भवेज्ज, तं कम्मखणवेज्जियं निरत्थकं सागारियं दिट्ठे उद्वाहो ण एव तस्मी कामीए स अजिहंदिउं सि उद्वाहं करंज्जा । वितीयगाहा-

वितियपदमणप्पज्जो, मेहो अवि कोवितो च अप्पज्जो ।

विस आयंका मज्जण-मोहानिगिच्छाए नाणमवि ॥ ६८ ॥

अण्णज्जो पराधीनत्तणं ते, सेहो अवि कोवितो अजाणत्तणतो जो पुण अप्पज्जो जाणगो से इमेहिं कारणेहिं अप्पाणं आदरिसे देहति, सप्पादिविसेण अजिज्जे जाणगहभट्ठतातंके वा उवचित्ते आदरिसेविज्जाए मज्जियव्वं, तथ आदरिसे अप्पाणं पमिविं गिज्ञाणस्स चाउ मज्जति, ततो पप्पणति मोहानिगिच्छाए वा देह-ति । अहवा इमे कारणा-

पुप्फग गल्लगंडं वा, मंडल दंतरोय जीह उट्ठे य ।

उचक्खुविसयट्ठिय बु-ट्ठिहाणि जाणट्ठ वा पेहो ॥ ६९ ॥

अक्खिस्मि फुल्लगं गळे वा गंरं पसुत्ति मंरलं वा दंतं वा को-तिधुणदंतगादिरोगो अहवा जिज्ञाए उठे वा किंचि उच्छियं पिलगादि एवमादि अचक्खुविसयट्ठियं अपिक्खंतो तिगिच्छा-णिमित्तं बुद्धिहाणि जाणानिमित्तं वा उद्वाए देहंति अप्पा-सागारिण ण दोसो । नि० चु० १३ उ० ।

उपानहादिधारणम्-

“ पाणहाओ य उत्तं च, णालीअं बालवीअणं ।

परकिरियं अन्नमन्नं च, नं विज्जं परिजाणिआ ” ॥१॥

सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । (‘धम्म शब्देऽस्या व्याख्या ’)

कपाटोद्घाटनादिकरणम्-

“ णोप्पिहे ण यावपंगुणं, दारं सुएणघरस्स संजए ।

पुट्ठेण उदाहरं वयं, ण समुत्थे णो संथरे तणं ” ॥२॥

सूत्र० १ ध्रु० २ अ० २ उ० । (‘ टाणछिय ’ शब्दे व्याख्याऽस्या वच्यते) (अचित्तप्रतिष्ठितं सचित्तप्रतिष्ठितं वा गंधं जिघ्रति इति ‘ गंध ’ शब्दे वच्यते)

गात्रप्रमार्जनम्-

जे जिक्खु लहुसयं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवि-यडेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा कम्माणि वा अच्छी-णि दंताणि नहाणि मुहाणि वा उच्छोलेज्ज वा पथोले-ज्ज वा उच्छोलेज्जं वा साइज्ज ॥ ७० ॥

लहुसं स्तोके याव तिन्नि य मनी सीतोदकं सीनलं उलिणो-दगं उगहं वियमं पयगतजीवं पत्थ सीतोदगवियडेहिं सपडि-वक्खेहिं चउभंगसु, ते य पदमततिया जंगा गहिया, दो हत्था हत्थाणि वा, दो पादा पादाणि वा, वच्छीसं दंता दंताणि वा, आ-सप पोसप य अण्वे य इंदियमुहा मुहाणि वा, उच्छोलेज्जं धो-वणं । तं पुण दोसे सव्वे य णिज्जुत्तिविचारो इमो-

तिप्पि य मती य लहुसं, वियमं पुण होति विगतजीवं तु ।

उच्छोलेणा तु तेणं, देसे सव्वे य णायव्वा ॥ ७० ॥

गतार्थः ।

आइसुमणाइसा, दुविधा देमम्मि होति णायव्वा ।

आयसं वि य दुविधा, णिकारणया य कारणया ॥ ७१ ॥

देसे उच्छोलेणा दुविधा-आइसा अणाइसा य । साधुभिराच-र्यते या सा आर्चणी, इतरा नडिपरीता । अणाइसा दुविहा-कारणे णिकारणे य । जा कारणे सा दुविधा-

भक्ता मासे लेवे, कारण णिकारणे य विवरीयं ।

मणिवंधादि करसुं, जत्तियमित्तं ति लेवेणं ॥ ८२ ॥

तत्थ जत्ता मासे मणिवंधाओ करसुं ति असणाइणा वेवाडेण
इत्था लेवाभिया ते मणिवंधातो जाव भोवति, एसा भक्ता, मा-
से इमा, लेवे-जत्तियमेत्तं तु लेवेणं तिअसज्जा तिय मुत्तपुरीसा-
दिणाजति सरीराऽवत्रेवणादि गातं लेवाभितं तस्सं तत्तियमेत्तं
भोवे, एसा कारणओ भणिता । णिकारणे तव्विवरीयं ति ।

एतं खयु आइन्नं, तव्विवरीतं भवे अणाइष्मं ।

चलणादी जाव सिरं, सव्वं चिय धोतिऽणाइष्मं ॥ ८३ ॥

भक्ता मासे लेवे य इमं आइएणं, तव्विवरीयं देसे सव्वे वा
सव्वं अणाइष्मं ।

मुहणयणचलणदंता-णकमिरा वाहुवत्थिदेसो य ।

परियट्ठाह दुगुंगो, पत्तय उच्छोवणा देसे ॥ ८४ ॥

मुहणयणादिया ण केसिं वि डुगुंगप्रत्ययं वा देसे सव्वे वा
उच्छोवणं करोतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणपोरुशभङ्गमध्यादमी अष्टौ
घटमानाः, शेषा अष्टमानाः ।

आइएण लहुसएणं, कारण णिकारणे वऽणाइष्मो ।

देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अट्ट पदा ॥ ८५ ॥

आइष्मलहुसएणं देसे एव प्रथमः । एव एव णिकारण-
सहितो द्वितीयः, अणाचीर्णग्रहणात् तृतीयचतुर्थौ गृहीतौ,
लहुसणिकारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थे विशेषः सर्वमिति वक्त-
व्यम्; जहा लहुस पदे चतुरो भंगा तहा बहुएण वि चउरो
सव्वे अट्ट । एवशब्दग्रहणात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठभङ्गविप-
र्यासः प्रदर्शितः । वक्ष्यमाणपोरुशभङ्गकमेण घटमानाघटमान-
भङ्गप्रदर्शनार्थं लक्षणम् ।

जत्थाऽऽइष्मं सव्वं, जत्थ व करणे अणाइएणं ।

जंगाण सोलसएहं, ते वज्जा सेसगा गेज्जा ॥ ८६ ॥

यस्मिन् भङ्गे आचीर्णग्रहणं दृश्यते तत्रैव यदि सर्वत्र ग्रहणं दृश्यते
ततः पूर्वापरविरोधान्न दृश्यते घटते असौ भङ्गः । यत्र वा का-
रणग्रहणे दृष्टे अनाचीर्णं दृश्यते असावपि न घटते । एतान् व-
जंयित्वा शेषा ग्राह्याः ।

सोलसभंगरयण गादा इमा-

आइष्म लहुस कारण, देसेतरे जंग सोलस हवंति ।

एत्थं पुण जे गेज्जा, ते पुण वोच्छं समासेणं ॥ ८७ ॥

इतरग्रहणात् आइष्मलहुसणिकारणसव्वमिति-एते पदा द-
ष्ट्वा अमी ग्राह्याः ।

पदमे तति एकारो, वारो तह पंचमो य सत्तमओ ।

पन्नर सोलसमो वि य, परिवानी होति अट्टएहं ॥ ८८ ॥

पदमो ततिओ एकारसो वारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा
य यथोद्दिष्टकमेण स्थापयित्वा इमं ग्रन्थमनुसरेज्जा ।

आइष्मलहुसएणं, कारण णिकारणे व तत्थेव ।

आइष्म देससव्वे, लहुसे तहिं कारणं एत्थि ॥ ८९ ॥

आइष्मलहुसएण कारणे इति प्रथमः । निकारणे तत्थेवेति
आइष्मलहुसे अनुवर्तमाने निकारणं द्रष्टव्यं द्वितीयो भङ्गः ।
पदमबितीपसु देसस्मि अर्थो द्रष्टव्यः । पश्चाधेन तृतीयचतुर्थ-
भङ्गौ गृहीतौ । अणाइष्मं तृतीये देसे, चतुर्थे सर्वे बहुसमित्यनु-
वर्तने, ततियत्रउत्थेसु कारणं एत्थि ।

इदानीं पञ्चमादिभङ्गप्रदर्शनार्थं गाथा-

आइष्मं बहुएणं, कारण णिकारणे वि तत्थेव ।

अणाइष्म देससव्वे, बहुणा तहिं कारणं एत्थि ॥ ९० ॥

पंचमे बहुएणं आइष्मं कारणं तत्थेव ति आइष्म बहु एस
अणुवट्टमाणेसु गट्टे निकारणं द्रष्टव्यमिति । पंचमगट्टेसु देस-
मिति अर्थाद् द्रष्टव्यमिति । सममाष्टमेसु अणाइष्मं सप्तमे देशम्,
अष्टमे सर्वे बहुसमित्यनुवर्तने, कारणं नास्त्येवेत्यर्थः ।

प्रथमभङ्गानुष्ठानार्थं शेषभङ्गप्रतिषेधार्थं चेदमाह-

आइष्म बहुसएणं, कारणतो देसतं अणुष्मातं ।

सेसाणाणुष्माया, उवरिद्धा सत्त वि अदातुं ॥ ९१ ॥

आइष्मलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गो अणुष्मातो उवरिमा
सत्त वि पडिसिद्धा भंगा ।

द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनार्थमिदमाह-

आइष्मलहुसएणं, णिकारणदेसओ जवे वितिउं ।

णाइष्मलहुसएणं, णिकारणदेसओ तइओ ॥ ९२ ॥

णाइष्मलहुसएणं, णिकारणसव्वतो चउत्थो उ ।

एवं बहुणा वि अस्से, जंगा चत्तारि णायव्वा ॥ ९३ ॥

पदमं सुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवन्नहू य अट्टमए ।

एत्थित्ते परिवानी, अट्टसु भंगेसु एससु ॥ ९४ ॥

दुगं आइष्मलहुसे णिकारणे सव्वतो चउत्थभंगो, एवं बहुणा
वि अस्से चउरो भंगा णायव्वा । पदमभंगो सुद्धो, सेसेसु
इमं पच्छित्तं-

सुत्तणिवातो वितिए, ततियपदम्मि पंचमे चेव ।

गट्टे य सत्तमे वि य, तं सेवंताणमादीणि ॥

वितियततियपंचमगट्टसत्तमेसु भंगेसु सुत्तणिवातो मास-
लहु, चउत्थट्टमेसु चउलहुं तमिति । नि० चू० २ उ० । “पर-
मत्ते अन्नपाणं, ण भुंजिज्ज कयाइ वि । परवत्थमयेल्लो वि, तं
विज्जं परिजाणिआ” ॥ २० ॥ सूत्र० १ भु० ६ अ० । (अस्या
व्याख्या ‘ धम्म ’ शब्दे द्रष्टव्या)

मद्यमांसादिसेवनम्--

अमज्जमंसासि अमच्छरी य,

अभिवक्खणं निव्विगयं गया य ।

अज्जिवक्खणं काउस्सगकारी,

सिज्जायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात् ।
एते च मद्यमांसे लोकागमप्रतीते एव । ततश्च यत् केचनाभि-
दधत्त्यारनालापरिष्ठाद्यपि संधानादोदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात्
त्याज्यमिति । तदसत् । अमीषां मद्यमांसत्वायोगात् । लोकशा-
स्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राण्यङ्गतुल्यत्वचोदना त्वसाध्वी,
अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वस्त्रीत्वतुल्यतया मृत्रपानमातृगम-
नादिप्रसङ्गात्, इत्यलं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात् ।
तथा अमत्सरी च न परसंपदद्वेषी च स्यात् । तथा अमीदणं
पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे, निर्विकृतिकश्च निर्गतविकृतिपरि-
भोगश्च भवेत् । अनेन परिभोगोचितविकृतीनामप्यकारणे
प्रतिषेधमाह-तथा अमीदणं गमनागमनादिषु विकृतिपरिभो-
गेऽपि चान्ये । किमित्याह-कायोत्सर्गकारी भवेत् । इय्यपिध-

प्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात् । तदशुद्धतापत्तेरिति ।
तथा स्वाध्याययोगे वाचनाशुपचारव्यापारे आचामाम्लादौ
प्रयत्नाऽतिशयप्रयत्नपरो भवेत् । तथैव तस्य फलवत्त्वाद्विपर्यय-
वृत्त्यादादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

किञ्च—

ए पश्चिन्नविज्ञा सयणामणाऽं,

सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं ।

गामे कुल्ले वा नगरे व देसे,

ममत्तजावं न कहिं वि कुल्ला ॥ ८ ॥

[ए पडिष्ठाविज्जेत्ति] न प्रतिज्ञापयेन्मासादिकल्पपरिसमाप्तौ
गच्छन् भूयोऽप्यागतस्य ममैवैतानि दातव्यानीति न प्रतिज्ञां का-
रयेद् गृहस्थम् । किमाश्रित्येत्याह-शयनाशने शय्यां निपद्यां तथा
भक्तपानमिति । तत्र शयनं संस्तारकादि, आसनं पीठकादि, श-
य्या वसतिः, निपद्या स्वाध्यायादिभूमिः, तथा तेन प्रकारेण तत्-
कालावस्थौचित्येन भक्तपानं खण्डखाद्यकद्राक्षापानकादि न प्र-
तिज्ञापयेत् । ममत्वदोषात् सर्ववैतन्त्रियधमाह । ग्रामे शालिग्रा-
मादौ, कुले वा श्रावककुलादौ, नगरे साकेतादौ, देशे वा म-
ध्यदेशादौ, ममत्वभावं ममदमिति स्नेहं मोहं न कीचदुपकर-
णादिष्वपि कुर्यात् । तन्मूलत्वाद् दुःखादीनामिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥
दश० चूचि० (रोमकृन्तनम् 'रोम' शब्दे निपेत्यते) "सिसे परो
दीहाइ बात्राई दीहाइ रोमाई दीहाइ भमुहाई दीहाइ ककस्सरोमा
इ दीहाइ वन्थिरोमाई कप्पेज वा संठवेज वा णो तं साइए णो तं
नियमे " आचा० (वमनविरोचनादिकरणं 'वमन' शब्दे वदयते)

वत्त्वभावनानादिकरणम्—

" धोअणं रयणं चव, वत्थाकम्म विरेयणं ।

वमणं जणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिआ ॥ १२ ॥

गन्धमल्लसिराणं च, दंतपक्खालं तथा ।

परिगगहिन्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिआ " ॥ १३ ॥

सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । (अनयोर्वाक्या 'धम्म' शब्दे)

विपर्ययदर्शने—

आदाय वंचने च, आमुपे इमं वयं ।

अस्मि धम्मे अणायारं, नायरेज कयाइ वि ॥ १ ॥

आदाय गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्यं सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनि-
रोधलक्षणम् । तर्ह्येते अनुष्ठीयते यस्मिन्मौनीन्द्रप्रवचनं ब्रह्म-
चर्यमित्युच्यते । तदादायाऽऽशुप्रहः पटुप्रहः, सदसद्विवेकब्रह्म ।
कन्याप्रत्ययस्योत्तरक्रियासर्वपक्षित्वात् तामाह—इमां सम-
स्ताध्ययनेनाभिधीयमानां प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचमिदं शाश्व-
तमेवेत्यादिकां कदाचिदपि नाचरेद् नाभिध्यात्, तथाऽस्मिन्
धर्मे सर्वज्ञप्रणीति व्यवस्थितः सन् अनाचारं सावधानुष्ठान-
रूपं न समाचरेन्न विदध्यादिति संबन्धः । यदि वा ऽऽशुप्रहः स-
र्वज्ञः प्रतिसमर्थः केवलज्ञानदर्शनोपयोगित्वात् तत्सम्बन्धिनि-
धर्मे व्यवस्थित इमां वच्यमाणां वाचमनाचारं च कदाचि-
दपि नाचरेत् । इति श्लोकार्थः । तत्रानाचारं नाचरेदित्युक्तम् ।
अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनान् अपरोऽभिधीयते । मौनीन्द्रप्र-
वचने तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारिधाम्मकम्, स-
म्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थशुद्धानुरूपं, तत्त्वं तु जीवाजीवपुण्यपापा-
श्रवणसंबन्धनिर्जरा मोक्षधाम्मकम् । तथा धर्माधर्माकाशपुल-
जावकालान्मकं द्रव्यं नित्यानित्यस्वभावं, सामान्यविशेषा-
त्मकोऽनाद्यपर्यवसानश्चतुर्दशरज्यात्मको लोकस्तत्त्वमिति ।
ज्ञानं तु मनिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलस्वरूपं पञ्चधा । चा-

रित्रं सामायिकं छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयसूक्ष्मसंप-
राययथाऽऽख्यातरूपं पञ्चधैव । मूलोत्तरगुणभेदतो वाऽनेकधे-
त्येवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने न कदाचिदनीदृशं जगदिति
कृत्वाऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षभूतमना-
सारं दर्शयितुकाम आचार्यो यथावस्थितलोकस्वरूपोद्घाटन-
पूर्वकमाह—

अणायारं परिनाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।

सासयमसासते वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

(अणायारमित्यादि) नास्य चतुर्दशरज्यात्मकस्य लोकस्य
धर्माधर्मादिकस्य वा छव्यस्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्य-
नादिकस्तमेवं ज्ञतं परिज्ञाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, तथाऽनवदग्रम-
पर्यवसानं च परिज्ञायोभयात्मकव्युदासैकैकनयदृष्ट्याऽवधारणा-
त्मकं प्रत्ययमनाचारं दर्शयति-शश्वतजवतीति शाश्वतं नित्यम्,
सांख्याजिप्रायेणाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावम् । स्वदर्शने चानु-
यायिनं सामान्यांशमवलम्ब्य धर्माधर्माकाशादिष्वनादित्वम-
पर्यवसानत्वं चोपलभ्य, सर्वमिदं शाश्वतमित्येवं ज्ञतां दृष्टिं ना-
वधारयेदिति; एवं पक्षं न समाश्रयेत् । तथा विशेषपक्षमाश्रि-
त्य वर्तमाननारकाः समुत्सेत्स्यन्तीति एतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्त-
त्सर्वमनित्यमित्येवं ज्ञतं बौद्धदर्शनाभिप्रायेण च सर्वमशाश्वतम-
नित्यमित्येवं ज्ञतां च दृष्टिं न धारयेदिति । किमित्येकान्तेन
शाश्वतमशाश्वतं वाऽस्तीत्येवं ज्ञतां दृष्टिं न धारयेदित्याह—

एण्हिं दोहं ठाणेहिं, ववहारो ए विज्जति ।

एण्हिं दोहं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

(एतर्हि दोहमित्यादि) सर्वं नित्यमेवानित्यमेव चैताज्यां
द्वैत्यां स्थानाज्यामभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वा पक्षयोर्द्वय-
रणं व्यवहारो लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्ति-
लक्षणो न विद्यते । तथाहि-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं सर्वं
नित्यमित्येवं न व्यवहियते । प्रत्यक्केणैव नवपुराणादिज्ञावेन प्र-
ध्वंसाभावेन वा दर्शनात्तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेरामुष्मिकेऽपि
नित्यत्वान्मनोबन्धमोक्षज्ञावेन दीक्षाधर्मनियमादिकमनर्थ-
कमिति न व्यवहियते, तथैकान्तानित्यत्वेनापि न लोको धनधा-
न्यघटपटादिकमनागतजोगार्थं संशुद्धीयात् । तथाऽमुष्मिके-
ऽपि क्षणिकत्वादात्मनः प्रवृत्तिरे स्यात् । तथा च दीक्षाविहारा-
दिकमनर्थकम् तस्मान्नित्यानित्यात्मकस्याद्वादे सर्वव्यवहारप्रवृ-
त्तिः, अत एव तयोर्नित्यानित्ययोरेकान्तत्वेन समाश्रियमाणयोरैहि
कामुष्मिककार्यविध्वंसरूपमनाचारमौनीन्द्रागमबाह्यरूपं विजा-
नीयात् । तुशब्दो विशेषणार्थः । कथञ्चिन्नित्यानित्ये वस्तुनि स-
ति व्यवहारो युज्यत इत्येतद्विशिनष्टि । तथाहि-सामान्यमन्वयि-
नमंशमाश्रित्य 'स्यान्नित्यम्' इति जवति । तथा विशेषांशं प्रति-
क्षणमन्यथा च नवपुराणादिदर्शनतः 'स्यान्नित्यम्' इति भव-
ति । तथोत्पादव्ययधौव्याणि चाहर्दशनाश्रितानि व्यवहाराणि
भवन्ति । तथा चोक्तम्—“घटमौत्रिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः
स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थं, जना याति सहेतुकम् ॥ ” इ-
त्यादि । तदेवं नित्यानित्यपक्षयोर्द्वयवहारो न विद्यते, तथाऽनयो-
रेवानाचारं विजानीयादिति स्थितमिति ।

तथाऽन्यमप्यनाचारं प्रतिपेक्षुकाम आह—

समुच्छिदिति सत्पारो, सत्वे पाणा अणेत्तिसा ।

गंठिगा वा जविस्संति, सासयंति य णो वदे ॥ ४ ॥

[समुच्छिर्हितीत्यादि] सम्यग्भिरवशेषतयोच्छेत्स्यन्त्युच्छेदं यास्यति कृत्यं प्राप्स्यन्ति, सामस्येनोत्प्राप्यन्ते सेत्स्यन्ति वासिद्धिं यास्यन्ति । के ते? शास्तरस्तीर्थकृतः सर्वज्ञाः, तच्छासनप्रतिपन्ना वा, सर्वे निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्याः, तत्तश्चेत्सन्भक्त्यं जगत्स्यादिति वृष्कतर्काभिमानग्रहगृहीतां युक्तिं चाभिदधति । जीवसद्भावे सत्यप्यपूर्वात्पादाभावादज्ञव्यस्य च सिद्धिगमनसंभवात्, काव्यस्य चाऽऽनन्त्यादनाचारनासिद्धिगमनसंभवेन तद्योपपत्तेरपूर्वाभावादज्ञव्योच्छेद इत्येवं नो वदेत् । तथा सर्वेऽपि प्राणिनो जन्तवोऽनीदृशा विसदृशाः सदा परस्परविग्रहणा एव, न कथञ्चित्तेषां सादृश्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो वदेत् । यदि वा सर्वेषां भव्यानां सिद्धिसद्भावे विशिष्टाः संचारेऽनीदृशा अभव्या एव भवेयुरित्येवं च नो वदेत् । युक्तिं चात्तरत्र वदयति । तथा कर्मात्मको ग्रन्थो येषां विद्यते ते ग्रन्थिका इति, ग्रन्थिकाः सर्वे प्राणिनः कर्मग्रन्थोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत् । इदमुक्तं भवति—सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव, कर्मावृत्ता वा सर्वे जविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्वमेकान्तिकं नो वदेत् । यदि वा ग्रन्थिका इति । ग्रन्थिकसत्त्वा भविष्यन्तीति ग्रन्थिजेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत् । तथा शाश्वता इति । शास्तरः सदा सर्वकावे स्थायिनस्तीर्थकरा जविष्यन्ति, न समुच्छेत्स्यन्ति नोच्छेदं यास्यन्तीत्येवं नो वदेदिति ।

तदेवं दर्शनाचारवानिपेथं वाङ्मात्रेण प्रदर्शयधुना युक्तिं दर्शयितुकाम आह—

एणहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति ।

एणहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

(एणहिं इत्यादि) एतयोरनन्तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानयोस्तद्यथा शास्तरः कृत्यं यास्यन्तीति शाश्वता वा भविष्यन्तीति । यदि वा सर्वे शास्तरस्तद्दर्शनप्रतिपन्ना वा सेत्स्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति । यदि वा सर्वे प्राणिनो ह्यनीदृशाः विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्वहिता वा जविष्यन्तीत्येवमनयोः स्थानयोर्व्यवहारं व्यवहारस्तदस्तित्वे युक्तेरभावान्न विद्यते । तथाहि—यत्तावदुक्तं, सर्वे शास्तरः कृत्यं यास्यन्त्येव इति । एतदयुक्तम् । कृत्यनिवन्धनस्य कर्मणो भावात्सिद्धानां कृत्याभावो न, भवस्थकेवत्येपेक्षेदमभिधीयते । तद्व्यनुपपन्नम् । यतोऽनाद्यनन्तानां केवलिनां सद्भावात् प्रवाहापेक्षया तदज्ञावाजावः । यद्युक्तम्—अपूर्वाया भावे सिद्धिगमनसद्भावेन च व्ययसद्भावाद्भव्यशून्यं जगत् स्यात्; इत्येतदपि सिद्धान्तपरमार्थावेदिनो वचनम् । यतो भव्यराशे राद्धान्ते जविष्यत्कालस्य वाऽऽनन्त्यमुक्तम्, तच्चैवमुपपद्यते—यदि कृत्यो न जवति, सति च तस्मिन्नानन्त्यं न स्यात्, नापि चावश्यं सर्वस्यापि भव्यस्य सिद्धिगमनेन भाव्यमित्यानन्त्याद्भव्यानां तत्सामर्थ्यभावाद् योग्यदलिकप्रतिमावत्तदनुपपत्तिरिति । तथा नाऽपि शाश्वता एव, जवस्थकेवलानां शास्त्राणां सिद्धिगमनसद्भावात्, प्रवाहापेक्षया शाश्वतत्वमेव । अतः कथञ्चित् शाश्वताः कथञ्चिदशाश्वता इति । तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावान्नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः, तथाप्योगासंख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादिभिर्मैः कथञ्चित्सदृशा इति । तथोक्तसितसद्दीर्घतया केचिद्भिन्नग्रन्थयोऽपरे च तद्व्यविधपरिणामाभावाद् ग्रन्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते नैकान्तेनैकात्पक्वो भवतीति प्रतिपिङ्गः । तदेवमेतयोरेव चयोः

स्थानयोस्तुक्तनीत्या नानाऽऽचारं विजानीयादिति स्थितम् । अपि च । आगमेऽनन्तानन्तास्यप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते । यदा चैवंभूतं तदाऽऽनन्त्यं, तत्कथं तेषां कृत्यः? युक्तिरप्यत्र संवन्धिशब्दावेतौ—मुक्तिः संसारं विना न भवति, संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते—नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति ।

अधुना चारिवाचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुदगा पाणा, अदुवा संति महालया ।

सरिसं तोहिं ति वेरंति, असरिमं ती य णो वदे ॥ ६ ॥

(जे केइ इत्यादि) ये केचन कुपकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रिय-चीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रियाः । अथवा महालया महाकायाः सन्ति विद्यन्ते, तेषां कृद्रकाणामल्पकायानां कुन्वादीनां, महानालयः शरीरं येषां ते महाद्वयाः हस्यादयः तेषां च, व्यापादने सदृशं वैरमिति वज्रं कर्म, विरोधवृद्धाणां वा वैरं, सदृशं समानं तुल्यप्रदेशत्वात्सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत् । तथा विसदृशमसदृशं तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मबन्धो वा इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात्सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं वैरमित्येवमपि नो वदेत् । यदिह वध्यापेक्ष एव कर्मबन्धः स्यात्ततः तत्तद्वशात्कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्यते, न च तद्वशादेव वधः, अपि त्वध्यवसायवशादपि । ततश्चातीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्भ्रम, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति ।

एतदेव सूत्रेण दर्शयति—

एणहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।

एणहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

(एणहिं इत्यादि) आभ्यामनन्तरोक्तयोः स्थानाज्यामनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायसत्त्वव्यापादनापादितकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहारं व्यवहारो निर्गुणिकत्वाच्च युज्यते । तथाहि—न वध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं चैकमेव कर्मबन्धस्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञानभावोऽज्ञानभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि । तदेवं वध्यवधकयोर्विशेषात् कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यते इति । तथा तयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयादिति । तथाहि—यज्जीवसाम्यात्कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते । तदयुक्तम् । यतो नहि जीवव्यापत्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्या । तथा चोक्तम्—“पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासिन्ःश्वाससमथान्यदायुः प्राणा दशैः ते भगवद्भिरुक्ता—स्तेषां वियोगीकरणं नु िंता ॥” इत्यादि । अपि च—जावसध्यपेक्षस्यैव कर्मबन्धोऽच्युपेतुं युक्तः । तथाहि—वैद्यस्यागमसध्यपेक्षस्य कृत्यं कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति, तथापि न वैरानुबन्धो जवेद्, दोषाज्ञावात् । अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि प्रतो जावदोषात्कर्मबन्धः, तद्वहितस्य तु न वन्ध इति । उक्तं चागमे—“उच्चाश्रियस्मियाण” इत्यादि । तन्नुग्रमस्याख्यातकं तु सुप्रसिद्धमेव । तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात् सदृशत्वं, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति ।

पुनरापि चारिवाचारमङ्गीकृत्याऽऽहारविषयानाचाराचारौ प्रतिपाद-

पितृकाम आह—

आहाकम्पाणि भुंजति, अष्टमणे सकम्पुणा ।

उवालिचे ति जाणिज्जा, अणुवलिचे ति वा पुणो ॥ ८ ॥

साधुजनकारणमादायाऽऽश्रित्य कर्माणां धाकम्पाणि, तानि तु व-
स्त्रभोजनवस्त्रादीन् युज्यन्ते । एतान्याधाकम्पाणि ये जुञ्जते एतैरु-
पभोगं ये कुर्वन्ति, अन्योन्यं परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणां पत्रिमान्
विजानीयादिन्येवं नो वदेत्, तथाऽनुपलिसानिति वा नो वदेत् ।
एतदुक्तं जवति—आधाकम्पाणि धुनोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा
सुज्ञानः कर्मणा नोपविष्यते, तदाऽऽधाकर्मोपभोगेनावश्यतया
कर्मबन्धो भवतीत्येवं नो वदेत् । तथा धुनोपदेशमन्तरणाहार-
गृह्याऽऽधाकर्मसुज्ञानस्य नन्निमित्तकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्व-
योर्व्यवहारं व्यवहारो निर्युक्तिः कृत्वा न युज्यते । तथाहि—
न कथस्य सदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहारं व्यवहारो निर्युक्ति-
कत्वात् युक्तं सदृशत्वम्, अतोऽनुपलिसानपि नो वदेत् । यथाऽव-
स्थितमौनीन्ऽपि गमयत्येवं युज्यते वक्तुमाधाकर्मोपभोगेन
स्वात्कर्मबन्धः, स्यात्तेति । यत उक्तम्—“ किञ्चिच्छुद्धं कल्प-
म-कल्पं वा स्यादकल्पमपि कल्पम् । पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा
जपपात्रं वा ॥ १ ॥ ” तथाऽन्येऽप्यतिहितम्—“ उत्पद्येत हि
साऽऽवस्था, देशकालमयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्,
कर्म कार्यं च वजेयत् ॥ २ ॥ ” इत्यादि ॥ ८ ॥

किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यते इत्याह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ए विजिई ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

(एएहिं दोहिमित्यादि) आचार्यां द्वाभ्यां स्थानाज्यामाश्रिताज्या-
मनयोर्व्यवस्थानयोराधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धाज्जावाभावभूतयो-
र्व्यवहारो न विद्यते । तथाहि—यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैका-
न्तेन कर्मबन्धोऽन्युपगम्येत, एवं चाहारानावेनापि क्वचित्सुत-
रामनर्थोदयः स्यात् । तथाहि—लुत्प्रपीडितो न सम्यगीर्या-
पथं शोधयेत्, ततश्च यजन् प्राणयुपमर्दमपि कुर्यात् । मूर्च्छा-
दिसद्भावतया देहपाते सति अवश्यं जावी प्रसादिव्याघातोऽ-
कालमरणे चाविरतिरङ्गीकृता जवति, आर्तध्यानापत्तौ च निर्यग्-
निरिति । आगमश्च—“ सव्यत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव र-
क्खेज्जा ” इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मबन्धाभाव इति । त-
थाहि—आधाकर्मयपि निष्पाद्यमाने परूजीवनिर्कायबन्धः, त-
द्वधे च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोरेकान्तेनाश्रय-
माणयोर्व्यवहारं व्यवहारो न युज्यते । तथाऽऽभ्यामेव स्थानाज्यां
समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ।

पुनरप्यन्यादा दर्शनं प्रति चागमानाचारं दर्शयितुमाह—

यदि वा योऽयमनन्तरमाहारः प्रदर्शितः स सति शरीरे भव-
ति । शरीरं च पञ्चधा, तस्य चौदारिकादेः शरीरस्य भेदाज्जेदं
प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षोऽप्येवमाह—

जमिदं उगलमाहारं, कम्मगं च तदेव य ।

सव्यत्थ वीरियं अतिय, एतिय सव्यत्थ वीरियं ॥ १० ॥

(जमिदमित्यादि) यदिदं सर्वजनप्रत्यक्षमुदारैः पुद्गलैर्विद्वत्-
मौदारिकमेतदेवोदाहरं निस्सारत्वात् । एतच्च निर्यक्ष्मनुभ्याणां
भवति । तथा चतुर्दशपूर्वविदा कच्चिन्संशयादावातिष्ठयत इ-
त्याहारकम् । एतदुपगमनाच्च वैक्रियोपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा क-
र्मणा निर्वृत्तं कर्मणम्, एतत् सहचरितं तैजसमपि ग्राह्यम् । औ-

दारिकवैक्रियाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकर्मणाभ्यां सह युगप-
दुपलब्धेः कस्यचिदेकत्वाशङ्का स्यादतस्तदपनोदार्थं तदभि-
प्रायमाह—तदेव तद्यदेवौदारिकं शरीरं, त एव तैजसकर्मणे
शरीरे । एवं वैक्रियाहारकयोरपि वाच्यम् । तदेवंभूतां संज्ञां नो
निवेशयेदित्युत्तरश्लोके क्रिया । तथैतद्वामात्यन्तिको भेद इत्ये-
वंचूतामपि संज्ञां नो निवेशयेत् । युक्तिश्चात्र—यद्येकान्तेनाभेद
एव, तत इदमौदारिकमुदारपुद्गलानिष्पन्नं, तथैतत्कर्मणा निर्व-
र्तितं कर्मणं, सर्वस्यैतस्य संसारचक्रवालस्य भ्रमणस्य करण-
भूतं तेजोद्रव्यैर्निष्पन्नं तेज एव तैजसम्, आहारपत्तिनिमित्तं तै-
जसवृद्धिनिमित्तं चेत्येवं जेदेन संज्ञानिरुक्तं कार्यं च न स्यात् ।
अथात्यन्तिको जेद एव, ततो घटवद्विघ्नयोर्देशकालयोरप्युप-
लब्धिः स्यात् । न नियता युगपदुपलब्धिर्नित्येवं च व्यवस्थिते
कथञ्चिदेवोपलब्धेरभेदः, कथञ्चिच्च संज्ञाभेदाज्जेद इति स्थितम् ।
तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां जेदाभेदौ प्रदर्शयितुमाह—
सर्वस्यैव उच्यस्य भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः पूर्वपक्षं श्लोकपश्चा-
र्येन दर्शयितुमाह—(सव्यत्थ वीरियमित्यादि) सर्वं सर्वत्र वि-
द्यत इति कृत्वा साङ्ख्य्याभिप्रायेण सत्त्वरजस्तमोरूपस्य प्रधान-
स्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अतः सर्वं सर्वात्मक-
मित्येवं व्यवस्थिते घटपटाद्यवयवस्य व्यक्तस्य वीर्यं शक्तिर्विद्य-
ते । सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्कार्यकारणयोश्चैकत्वा-
दतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । (‘अणे-
गंतवाय’ शब्देऽत्रैव भागे अत्रेतेन साङ्ख्यमतनिरासनपरा युक्तिः
वक्ष्यते) सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ॥ (‘णत्थि दोप अवां ए वा, ऽणं वं सरणं
णिवेसए’ इत्यादि सूत्राणि ‘अतिधाय’ शब्देऽत्र प्रदर्शयिष्यन्ते)

आद्यतोऽभोगानाजोगसेवितार्थमाह—

से य जाणमजाणं वा, कटुं आहम्मियं पयं ।

संचरे खिप्पमप्पाणे, वीर्यं तं न समायरे ॥ ३१ ॥

स साधुर्जानन्नजानन् वा अजोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः । कृत्वा
अधार्मिकं पदम्, कथञ्चिद्वागद्वेयाचार्यां मूलोत्तरगुणविराधनामि-
ति ज्ञावः । संचरेत्किंप्रमात्मानं भावतो निर्वर्त्याश्लोचनादिना प्रका-
रेण, तथा द्वितीयं पुनस्तन् समाचरेदनुबन्धदोषादिति सूत्रार्थः ।

एतदेवाह—

अणायारं परकम्म नेव गूहे न निह्वे ।

सुइं सया वियमभावे, असंसत्तो जिईदिण ॥ ३२ ॥

अनाचारं सावद्ययोगं पराकर्म्याऽऽसेव्यं गुरुसकाशे आलोच्य-
नैव गूहयेत्, न निह्वीत । तत्र गूहनं किञ्चित्कथनम्, निह्वय
एकान्ताऽपवापः । किंविशिष्टः सन्नित्याह—शुचिरकलुषमार्तिः,
सदा विकटभावः प्रकटजावः, असंसक्तोऽप्रतिबद्धः, क्वचिज्जि-
तेन्द्रियो जितेन्द्रियप्रमादः सन्निति । दश० ८ अ० ॥ (सिद्धान्तपा-
ठको न कदाचिदप्यनाचारीति ‘नेदिसेण’ शब्दे उदाहरणरूपत-
या वर्णयिष्यते । तथा त्रिविधाऽनाचारः ‘संकिंसेस’ शब्दे वक्ष्यते)

अणायारज्जाण-अनाचारध्यान-न० । न आचारोऽनाचारः ।

नअः कुत्सार्थेन्याद् दुष्टाचारस्य ध्यानमनाचारः । दुर्ध्याने,
वद्वरदावं ध्यायतः कोङ्कणसाधोरिव, देवानामनागमनादुत्प्रव-
जितुकामस्यापाठसूरिव वा कुध्याने, आतु० ।

अणायवाङ् (ए) अनात्मवादिन्—पुं० । आत्मानं वदितुं शी-
घ्रमस्तेति । यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मवा-
दी । आत्माननन्युपगन्तरि नास्तिके, सर्वव्यापिनं नित्यं कृणि-
कं वाऽऽत्मानमन्युपगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणायारि (ण)-अनातापिन्-पुं० न आतापयति । आता-
पनां शीतादिस्नहनरूपां करोतीत्यनाताप । मन्दभ्रष्टत्वात्परीष-
हासहिष्णौ, स्था० ५ ग० २ उ० ।

अणारंज-अनारम्भ-पुं० जीवानुपघाते, भ० ८ श० १ उ० ।
जीवानुपद्रवे, “सत्त्विवे अणारंभे पणन्ते । तं जहा-पुढविका-
इयअणारंभे जाव अजीवकायअणारंभे ” स्था० ७ ग० । न
विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा । सावद्ययोगरहितेषु,
“अपरिगहा अणारंजा, भिक्खू ताणं परिक्खप ” सूत्र० १
श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणारंभजीवि (ण)-अनारम्भजीविन्-पुं० । आरम्भः सा-
वद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, तद्विपर्ययेण त्वनारम्भः, तेन जी-
वितुं शीलं येषां ते अनारम्भजीविनः । समस्तारम्भनिवृत्तेषु
यतिषु, आचा० ।

आवंतिण् आवंतिद्वोयांसि अणारंजजीविण् तेषु चैव-
मणारंभजीवी एत्थोवरणं तं भोसमाणे ॥

यावन्तः केचन लोके मनुष्यलोकेऽनारम्भजीविनः, आरम्भः
सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा । उक्तं च-“आयाणे णिक्खेवे,
जासु सणोयगणगमणादि । सञ्चो पमत्तजोगो, समणस्स
वि होइ आरंजो ” ॥ १ ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं
शीलमेयमित्यनारम्भजीविनो यतयः । समस्तारम्भानिवृत्तास्ते-
ष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वधारीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजी-
विनो भवन्ति । एतदुक्तं भवति-सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थे-
षु देहसाधनार्थमनवधारम्भजीविनः साधवः पङ्काधारपङ्कवन्नि-
र्हेषा एव भवन्ति । यद्येवं ततः किमित्याह- (एत्थोवरणं इ-
त्यादि) अत्रास्मिन्सावधारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकोचितगा-
त्रः । अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थितः उपरतः पापारम्भात् किं
कुर्यात् ?, स तत्सावद्यानुष्ठानान्यान्तकर्म जपयन् कृपयन् मुनि-
जावं भजत इति । आचा० ।

अणारंजडाण-अनारम्भस्थान-न० । असावधारम्भस्थाने,
“एगंतमिच्छे असाहु तत्थ णं जा सा सञ्चतो विरई पसछा-
णे अणारंभछाणे आरिण ” सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणारब्ध-अनारब्ध-त्रि० । केवलजिनिर्विशिष्टमुनिभिर्वाऽना-
चीर्णे, “आरंभे जं चऽणारंभे अणारब्धं च ण आरंभे” आचा०
१ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणाराहय-अनाराधक-त्रि० । विराधके, “अणायारि
अस्समिण् धम्मस्स अणाराहणं नवइ” । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अणारिय-अनार्य-पुं० । न आर्योऽनार्यः । अज्ञानावृत्तत्वाद-
सदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पापात्मके, भ० ३
श० ६ उ० । सूत्र० । अकार्यकर्मकारिणि, नि० चू० १७ उ० ।
धर्मसंज्ञारहिते, शिष्टसंमतनिखिलव्यवहारे वा क्षेत्रे, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० । तच्च—

सग जवणं सवरं वव्वरं-कायमुहुं दुहुगोहुपक्कणया ।

अरवागहूणरोमयं-पारसखसखासिया चैव ॥ १ ॥

पुंवलिलकुसवोक्कस-जिह्वंधपुलिंदकोच्चमरुआ ।

कात्रोयचीणचुंचुय-मालवदविना कुलत्था य ।

केकयकिरायहयमुह-खरमुहगयतुरगमिंदयमुहा य ।

हयकत्ता गयकत्ता, अन्ने वि अणारिया वव्वे ॥ ३ ॥

शकाः, यवनाः, शबराः, वर्बराः, कायाः, मुरुगाः, उड्डाः, गोड्डाः,
पक्कणकाः, अरवागाः, हूणाः, रोमकाः, पारसाः, खसाः, खासि-
काः, दुम्बिलकाः, लकुशाः, वोक्कसाः, भिन्नाः, अन्धाः, पुत्तिन्दाः,
क्रौञ्चाः, भ्रमररुताः, कापोतकाः, चीनाः, चुञ्चुकाः, मालवाः, द्रवि-
डाः, कुत्रार्थाः, कैकेयाः, किराताः, हयमुखाः, खरमुखाः, गज-
मुखाः, तुरङ्गमुखाः, मिण्डकमुखाः, हयकर्णाः, गजकर्णाश्चन्येते
देशा अनार्याः । अन्येऽपि देशा अनार्याः । प्रव० २७४ द्वा० । न
केवलमेत एव किन्त्वपरेऽप्येवं प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश्न-
व्याकरणादिग्रन्थोक्ता विद्मः ।

तथाच सूत्रम्--

वव्वे मिलिक्खुजाई, किं ते ? सका जवणा सवरवव्वरगा
य मुहुं दुहुजडगभित्ति य पक्कणिया कुलक्खा गौमसिंहल-
पारसकोच्चग्रंधविलचिह्नलपुलिंदआरोसडोवोक्काणं गंध-
हारगवहलीयजड्वा रोसा मासा वजसमलया य चुंचुया य
चूलियकोक्कणगमेयपल्हवमालवमहुरआजसिया अण-
क्कीणलासियखसखासियनेट्टरमरहडमुट्टियआरवमोच्चिन्न-
गकुहणकेकयहूणरोमगरुपुगचिन्नायविसयवासी य पाव
मणो ।

(इमे वव्वे मिलिक्खुजाई त्ति) म्लेच्छजातीयाः । किं ते इति ? ।
तद्यथा-शकाः १, यवनाः २, शबराः ३, वर्बराः ४, कायाः ५, मुरु-
गाः ६, उड्डाः ७, भगाः ८, जित्तिकाः ९, पक्कणिकाः १०, कुत्रार्थाः
११, गौकाः १२, सिंहलाः १३, पारसाः १४, क्रौञ्चाः १५, अन्धाः १६,
द्रविडाः १७, चिल्वलाः १८, पुत्तिन्दाः १९, आरोपाः २०, डोवाः
२१, वोक्काणाः २२, गन्धहारकाः २३, बहलीकाः २४, जल्लाः २५,
रोसाः २६, मायाः २७, वकुशाः २८, मलयाश्च २९, चुञ्चुकाश्च ३०,
चूलिकाः ३१, कोङ्कणगाः ३२, मेदाः ३३, पहवाः ३४, मालवाः ३५,
महुराः ३६, आभाषिकाः ३७, अणक्काः ३८, चीनाः ३९, लासिकाः
४०, खसाः ४१, खासिकाः ४२, नेष्टराः ४३, (मरहट्ट त्ति) महा-
राष्ट्राः ४४, (पाठान्तरे पासुट्टी ४५), मौष्ट्रिकाः ४६, आरवाः ४७,
डोम्बिलिकाः ४८, कुहणाः ४९, कैकेयाः ५०, हूणाः ५१, रोमकाः
५२, रुवः ५३, मरुकाः ५४, इति । एतानि च प्रायो लुप्तप्रथ-
मावहुवचनानि पदानि, तथा चिलातविषयवासिनश्च म्लेच्छ-
देशवासिनः । एते च पापमतयः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह-

पावा य चंरुक्कम्मा, अणारिया निग्घिणा णिरनुतावी ।

धम्मो त्ति अक्खराई, सुइणे वि न नज्जणं जेसु ॥

एते सर्वेऽप्यनार्यदेशाः पापाः । पापमपुण्यप्रकृतिरूपम्, तद्व्य-
नवात् पापाः । तथा चण्डं कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरस-
विशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते चण्डक-
र्माणः, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चा-
त्तापभाज इति भावः । किञ्च-येषु ‘ धर्मः ’ इत्यक्षराणि स्व-
प्नेऽपि सर्वथा न ह्यायन्ते केवलमपेयपानाभक्षभक्षणगम्यग-
मनादिनिरताः शास्त्राद्यप्रतीतवेपभागादिसमाचाराः सर्वेऽ-
प्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रव० २७४ द्वा० ।

आर्यानार्यक्षेत्रव्यवस्था चेत्थम्-

जत्थुप्पत्ति जिणाणं, चकीणं रामकएहाणं ।

यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्थः शेषमनार्थमिति । आव-
श्यकचूर्णं पुनरित्थमार्यानामवस्था उक्ता-“ जेसु केसु वि
पपनेसु, मिहुणगाणि पश्टिएसु हकाराइया तीई पारुढा ते
आयरिया, सेसा अनागिया ” इति । प्रव० २७५ द्वा० । (अनार्य-
क्षेत्रे न विहर्तव्यमिति ' विहार ' शब्दे वक्ष्यते) “ भयंसि वा
महत्ता वा अणागिहि ” विभक्तिव्यत्यादनात्यैर्मुच्छादि-
भिर्जीवितचारित्रापहारिभिरभिभूतानामिति शेषः । स्था० ५
टा० २ उ० । स० । अनार्या म्लच्छास्ततश्च साधुनिन्दा-
दिना अनार्या इव अनार्याः । साधुप्रत्यनीकेषु, उत्त० ३ अ० ।
अणारियडाण-अनार्यस्थान-न० । सावद्याऽऽरम्भाश्रये,
सूत्र० २ ध्रु० २ अ० ।

अणारोहण-अनारोहक-त्रि० । न० व० । योधवर्जिते, “अणा-
सए अणारहिण अणारोहए ” अ० ७ श० ९ उ० ।

अणावण-अनालम्बन-न० । न विद्यते आलम्बनं यस्य तद-
नालम्बनम् । स्वापादानकृष्णमात्रादुत्पद्यमाने कस्यापि विषय-
स्याऽनवगमके वुञ्जाने, अने० ४ अधि० ।

अणालंबणजोग-अनालम्बनयोग-पुं० । परतत्त्वविषये ध्यान-
विषये, पो० ।

कः पुनरनालम्बनयोगः कियन्तं कात्रं भवतीत्याह-

सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिद्वेत्तयसङ्गशक्त्याख्या ।

साऽनालम्बनयोगः, प्राक्तन्तददर्शनं यावत् ॥ ८ ॥

(सामर्थ्येत्यादि) शास्त्रोक्तात् रूपकश्रेणीद्वितीयाऽपूर्वकरण-
भाविनः सकाशात् । सामर्थ्ययोगस्वरूपं चेदम्-“शास्त्रसंदिशि-
तोपाय-स्तदतिक्रान्तोच्चरः । सर्वोच्चैकाद्विशेषेण, सामर्थ्या-
ख्योऽयमुत्तमः” ॥ १ ॥ यावत् परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिद्वेत्ता इत्येवंस्य
रूपा, असङ्गा चासी शक्तिश्च निगमिष्वङ्गानवरतप्रवृत्तिस्तथाऽऽ-
ख्या परिपूर्णा, दिद्वेत्ता, सा परमात्मविषये दर्शनच्छा अनालम्बन-
योगः प्राक्तः, तद्वदिभिमन्त्यं परतत्त्वस्यादर्शनमनुपलम्भः, तद् य-
यावत् परमात्मस्वरूपं दर्शने तु केवलज्ञानेन अनालम्बनयोगो
न भवति, तस्य तदालम्बनव्याप्त ।

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह-

तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र ।

सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥ ९ ॥

(तत्रेत्यादि) तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽलम्बनप्रतिष्ठितः अयम-
नालम्बनः, यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तत्त्वतो वस्तुतस्तत्र
परतत्त्वे सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागन-
न्तरवर्तिना कारणेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥ ९ ॥

किं पुनरनालम्बनाद्भवतीत्याह-

द्रागस्मात्तददर्शन-मिषुपातज्ञानमात्रतो ज्ञेयम् ।

एतच्च केवलं तद्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥

(द्रागित्यादि) द्राक् शब्दमस्मात्प्रस्तुतादनालम्बनात्तददर्शनं
परतत्त्वदर्शनमिषोः पातस्तद्विषयं ज्ञानमुदाहरणं तस्माच्चिदपु
पातज्ञानमात्रतो ज्ञेयं तददर्शनम् । एतच्च परतत्त्वदर्शनं केवलं
संपूर्णम् । तदिति त-प्रसिद्धं ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्तत्क-
वलज्ञानं परं प्रकृष्टं ज्योतिः प्रकाशरूपम्, द्रुपातोदाह-
रणं च यथा-केतचिच्छनुधरेण लक्ष्यामिमुखे बाणे तद-
भिमंशदिनि प्रकटिते यावत्तस्य बाणस्य न विमोचनं त्राव-

स्तत्प्रगुणनामात्रेण तद्विसंवादित्वेन च समानोऽनालम्बनो यो-
गः, यदा तु तस्य बाणस्य विमोचनं वक्ष्याविसंवादिपतनमा-
त्रादेव लक्ष्यवेधकं तदा आलम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः
सालम्बनः केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यमङ्गीकृत्य निद-
र्शनम् । पो० १५ विव० । अष्ट० ।

अणावणपट्टाण-अनालम्बनप्रतिष्ठान-त्रि० । अविद्यमानमा-
लम्बनं प्रतिष्ठानं बाणकारणं यत्र स तथा । आलम्बनरक्तकरहिते,
प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणालत्त-अनालपित-त्रि० । अभाषिते, “ पुर्वि अणालत्तेण
आलवित्तए वा संलवित्तए वा ” प्रति० । उपा० ।

अणावस्स-अनालस्य-न० । अनुत्साहे, तं० । व० स० । कृतो-
द्यमे, व्य० ७ उ० ।

अणावस्माणिलय-अनालस्यनिर्लय-पुं० । अनावस्यमुत्साह-
स्तस्य गृहम्, अकार्यादौ सादरं प्रवृत्तिहेतुत्वाद् । योषिति, तं० ।

अणावाव-अनावाप-पुं० । नञः कुत्सार्थत्वाद्शीघ्रेत्यादिवत्
कुत्सित आवापोऽनालाप इति । वचनविकल्पजदे, स्था० ७ ग्रा० ।

अणालिच्छ-अनाश्लिष्ट-त्रि० । अकृताऽऽश्लेषे, प्रव० २ द्वा० ।
आव० ।

अणालोइय-अनालोचित-त्रि० । अनिवदिते, न० व० । गुरु-
णां समीपेऽकृतालोचने, औ० सादरमवीकृति, “ मूर्तिः स्फूर्तिमती
सदा विजयते जैनश्वरं ” (वरुपुर-मोहोन्मादघनप्रमादमदिगम-
सैरनालोकिता ” अनालोकिता सादरमवीकृतिर्यथः) अनालोकि-
तपदस्य सादरमनालोकितावेऽर्थान्तरसंक्रमिततया वाच्यत्वाद्,
अन्यथा चक्रुष्मतः पुरःस्थितवस्तुनोऽनालोकितावदुपपत्तेः, प्रति०
अणालोइयअपमिकंत-अनालोचिताऽप्रतिक्रान्त-त्रि० । अना-
लोचितश्चासौ अप्रतिक्रान्तश्च । गुरुणां समीपेऽकृतालोचने दा-
पाच्चानिवृत्ते, औ० ।

अणालोइयभामि (ए)-अनालोचितजापिन्-पुं० । सम्यग्-
ज्ञानपूर्वकमपर्यालोच्य भाषके, प्रव० ७२ द्वा० ।

अणावोय-अनावोक्-पुं० । न० त० । अङ्गे, “ कुलसीइजोणि-
सयसह-स्स गुविं अणालोकमंअयारंति ” । (संसारसागर-
वर्णकः) अनालोको नामाज्ञानान्धकारो यस्य स तथा । प्रश्न० ४
आश्र० द्वा० ।

अणावाय-अनापात-न० । न आपातोऽज्यागमः परस्य अन्यस्य
स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थणिरुत्वे तदनापातम् । प्रव० ११
द्वा० । जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ श० ६ उ० । ध्र० । प० व० ।
विजने, आचा० २ ध्रु० १ अ० ५ उ० । लोकानामुपागमनरहिते, उत्त०
२४ अ० । रुयाद्यापातरहिते स्थणिरुत्वे, आव० ४ अ० । ध्र० ।
अणाविन्न-अनाविन्न-त्रि० । न० त० । अकलुषे, रागद्वेषासंपृक्त-
तया मलरहिते, सूत्र० १ ध्रु० १५ अ० ।

अणाविल-त्रि० । ऋणेन कलुषे, आनु० ।

अणाविन्नज्जाण-अनाविन्नध्यान-न० । अणमृणं तेनाऽऽविन्नः
कलुषः ऋणाविन्नः, तस्य ध्यानम् । तैन्नकर्षलाया यतजगिन्या
इव दुर्ध्यानं, आनु० ।

अणाविलप्प (ए)-अनाविलान्मन-पुं० । अनाविलो विषय-
कपायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनविलान्मा । निष्कपायिनि,

“अभयकरे भिक्षु अणविलम्पण” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।
 अणानुद्धि-अनावृष्टि-स्त्री० । वर्षणाऽभावे, स० ।
 अणासंसि (ए)-अनाशंसिन-पुं० । न० त० । श्रोतृभ्यो वस्त्रा-
 दनाकाङ्क्षिणि प्रवचनसारपरिकथनयोग्ये, वृ० १ उ० । आचा-
 र्याद्याराधनाशंसारहिते, साभारिकफलानपेक्षे वा, आशोचनाप्र-
 दानयोग्ये, आशंशिना हि समग्रातिचारालोचनासंज्ञयात् आशं-
 साया एवातिचारत्वात् । धर्म० २ अधि० । ग० । प्रव० । पञ्चा० ।
 अणासग-अनश्वक-त्रि० । अश्वरहिते, ज० ७ श० ६ उ० ।
 अणासच्छिन्न-अच्छिन्ननाम-त्रि० । अकृतघ्राणे, नि० चू० ४ उ० ।
 अणासप्त-अनासन्न-त्रि० । अनिकटवर्तिनि, उक्त० २० अ० ।
 अणासत्ति-अनासक्ति-स्त्री० । अप्रतिवद्धतायाम्, स्वजनादिपु-
 स्नेहाभावे, भ० १ श० ६ उ० ।
 अणामय-अनाशय-त्रि० । न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो
 यस्यांसावनाशयः । उच्यते विद्यमानेऽपि समवसरणादिके
 ज्ञावतोऽनास्वादके तीर्थकृति, तद्गतगाढ्याज्ञावात् । सूत्र० १
 श्रु० १५ अ० ।
 अणामय-अनाश्रव-पुं० । न विद्यते आश्रवा हिंसादयो यस्य ।
 ३४ पापकर्मवन्धरहिते हिंसाद्याश्रवद्वारविरते, क० प्र० ।
 उक्त० । प्राणातिपातादिरहिते, औ० । “अणासवे अममे अकिं-
 चणे” औ० । अविद्यमानपापकर्मवन्धे, औ० । आश्रवति तान् २
 शोत्रनत्वेन अशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवः, नाऽऽश्रवोऽना-
 श्रवः । मध्यस्थे रागद्वेषरहिते, वृ० ।
 सदाणि मोक्षा अदु जेरवाणि, अणासवे तेषु परिव्वएज्जा ।
 शब्दान् वेणुवीणादिकान्मधुरान् श्रुतिपेशलान्, श्रुत्वा स-
 माकर्ण्य, अथ भैरवान् भयावहान्, कर्णकटूनाकर्ण्य, तेष्वनुकू-
 लेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपागतेषु शब्देष्वनाश्रवो मध्यस्थो
 रागद्वेषरहितो ज्ञत्वा परि समन्ताद् वजेत्परिव्रजेत्, इति । वृ० ३
 उ० । नवकर्मानुपादाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।
 अनाश्रवेणैव सर्वथा कर्मकृत्य इति यथाऽसौ भवति तथाह-
 पाणवह मुसावायं, अदत्त मेहुण परिग्गहाविरओ ।
 राईभोयण विरओ, जीवो होई अणामवो ॥
 पंचसमिओ तिगुत्तो, अकमाओ जिइंदिओ ।
 आगारवो य निस्तह्वा, जीवो होई अणामवो ॥
 सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरं, विरत इति प्राणवधादिभिः
 प्रत्येकमजिसम्बध्यते । तथा जवत्यनाश्रव इति अविद्यमानक-
 र्मोपादानहेतुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः समित्यादिविपर्ययाणां
 कर्मोपादानहेतुत्वेनाश्रवरूपत्वात्, तेषां चाविद्यमानत्वादिति
 सूत्रद्वयार्थः । एवंविधश्च तादृशं कर्म यथाऽसौ कृपयत्या-
 राधनाय ।
 पुनः शिष्याजिमुखीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह-
 एएसिं तु विवच्चासे, रागदोसममज्जियं ।
 खवई तवसा जिक्खू, मएगगमणो सुणो ॥
 जहा महातलायस्स, मणिरुप्पे जलागमे ।
 उस्सिंचणाए तवणाए, कम्मेण सोसणा जवे ॥
 एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिग्गसवो ।
 जवकोसीमंचयं कम्मं, तवमा णिज्जरिज्ज ॥

सूत्रवयम्-पतेपांतु प्राणिवधविख्यादीनां समित्यादीनां चाना-
 श्रवहेतूनां (विवच्चासे त्ति) विपर्ययासे प्राणिवधादावशमि-
 तत्वाद्वा च रागद्वेषाज्यां समाजितमुपाजितरागद्वेषसमाजितं,
 कर्मेति गम्यते, तस्मै कथयतेति शेषः । एकमेकत्र वस्तुनि अभि-
 निविष्टत्वेन मनो यस्याः सा एकमनाः, शृण्वति शिष्याभिमुखी-
 करणम्, सन्निरुद्धे पादयादिना निषेद्धे, जलागमे जलप्रवेशे, (उ-
 स्सिंचणाए त्ति) सूत्रत्वाद्भुत्सेचनेनाराघदृष्टीनिवहादिनिरुद्ध-
 श्रुतेन (तवणाए त्ति) प्राग्यत्तपनेन रविकरनिकरमन्तापरूपेण
 क्रमेण परिपाठ्या शोषणा जलाभावरूपा भवेत् । पापकर्मनिरा-
 श्रवे पापकर्मणामश्रवाभावे, भावकोटीसञ्चितमित्यत्र कोटिप्र-
 हणमतिबहुत्वोपलक्षणम्, कोटिनियमासंभवात्, कर्म तपसा नि-
 र्जीर्यते आधिक्येन कृत्यं नीयते, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः । उक्त०
 ३० अ० । पञ्चविंशे गौणप्राणातिपातविरमणे, तस्य कर्मवन्धानि-
 रोधोपायत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । आ समन्तात् शृण्वन्ति
 गुरुवचनमाकर्णयन्तीति आश्रवाः । न तथा प्रतिज्ञापाविषयस्य
 तस्याश्रवणादनाश्रवः । गुरुवचनेऽस्थिते, “अणासवा श्रुत्वया
 कुसीजा, मिउं पि चंरं पकरेति सीसा” इति दुर्विनीतलक्षणम् ।
 उक्त० १ अ० । आश्रवः व्रतविशेषः, आचा० ।
 अणासाज्जमाण-अनास्वाद्यमान-त्रि० । न० त० । केवलं रस-
 नेन्द्रियविषये, भ० १ श० १ उ० ।
 अणासाएमाण-अनाशयमान-त्रि० । आशाविषयमुर्वाणे,
 उक्त० २ ए अ० ।
 अनास्वादयत्-त्रि० । अभुञ्जाने, उक्त० २६ अ० ।
 अणासायणा-अनाशातना-स्त्री० । न० त० । तीर्थकरादीनां
 सर्वथाऽहिलनायाम्, दश० ६ अ० १ उ० । द्वा० । मनोवाक्कायैः
 प्रतीपवर्जने, उक्त० १ अ० ।
 अणासायणाविणय-अनाशातनाविनय-पुं० । अनुचितक्रिया-
 निवृत्तिरूपे दर्शनविनयभेदे, अयं च पञ्चदशविधः । आह च-
 “तिथ्यगरधम्मआयरिअ-वायगे थेरकुलगणे संघे । संभोगि-
 अकिरियाए, मइनाणाइण य तहेव ” संभोगिका एकसमाचा-
 रिका क्रिया आस्तिकता । अत्र भावना-तीर्थकराणामनाशात-
 नायां तीर्थकरप्रज्ञसधर्मस्यानाशातनायां च वर्तितव्यमित्येवं स-
 र्वत्र द्रष्टव्यमिति । “कायच्चा पुण भत्ती, बहुमाणो तह य वण्णवा-
 ओ य । अरहंतमाइयाणं, केवल्लनाणावसाणाणं ” ॥ १ ॥ स्था०
 ७ गा० ध० । द० ।
 अणामिय-अनाशित-त्रि० । बुभुक्षिते, “अणासिया णाम म-
 हासियाला, या गम्भिणो तथ सयासको वा ” सूत्र० १ श्रु०
 ५ अ० २ उ० ।
 अणामेवणा-अनामेवना-स्त्री० । आसेवनाविरहे, आचा०
 १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।
 अणाह-अनाथ-त्रि० । अशरणे, नि० चू० ३ उ० । निःस्वामिनि,
 विपा० १ श्रु० ७ अ० । योगक्रेमकारिविरहिते, प्रश्न० १ आश्र०
 द्वा० । रङ्गे, ज्ञा० ८ अ० । आत्मनोऽनाथत्वापरिज्ञावधितरि मु-
 निज्जे, पुं० । यथा मुनिना श्रेणिकं प्रति आत्मनोऽनाथता दर्शि-
 ता-कोऽर्थः?, अनाथत्वसनाथत्वे च विचारिते । तथोक्तम्—
 मिच्छाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ ।
 अत्यधम्मगई तत्थं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥
 जोः शिष्याः ! मे मम अनुशिष्टिं शिष्यां यूयं श्रुत । किं

कृत्वा ? सिद्धान् पञ्चदशप्रकारान् नमस्कृत्य, च पुनर्जावतो ज-
कितः, संयतान् साधून् आचार्योपाध्यायदिसर्वसाधून् नमस्कृ-
त्वा, कीदृशी मे अनुशिष्टिम् ? । अर्थधर्मगताम् । अर्च्यते प्रार्थ्यते
धर्मात्मभिः पुरुषैर्गता अर्थः, स चासौ धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य ग-
तिज्ञानं यस्यां सा अर्थधर्मगतिः, ताम्, स्वयंवद्यो दुष्प्राप्यो धर्म-
स्तस्य धर्मस्य प्राप्तिकारिकाम्, यया मम शिक्षया दुर्लभधर्मस्य
प्राप्तिः स्यादिति ज्ञावः । पुनः कीदृशी मे अनुशिष्टिम् ? , तस्यां स-
त्याम् । अथवा 'तच्च' तत्स्वरूपां वा, इह चानुशिष्टिगभिध्या, अर्थ-
धर्मगतिः प्रयोजनम् । अनयोश्च परस्परमुपायोपेयजावलक्षणः
सम्बन्धः सामर्थ्यादुक्त इति स्वार्थः ॥ १ ॥

सम्पति धर्मकथाऽनुयागत्वादस्य धर्मकथाकथनव्याजेन

प्रतिज्ञातमुपकामिनुमाह—

पनूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिबो ।

विहारजत्तं निज्जाओ, मंकिउत्तिंसि चेइए ॥ २ ॥

श्रेणिको नाम राजा एकदा मणिरुतकुत्तिनाम्नि चैत्ये उद्याने
विहारयात्रया उद्यानकीरुया निर्यातः, नगरात् कीरुयि मणिरुत-
कुत्तिवने गत इत्यर्थः । कीदृशः श्रेणिको राजा ? , मगधाधिपः म-
गधानां देशानमधिपो मगधाधिपः । पुनः कीदृशः ? , प्रनूतरत्नः
प्रचुरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुख्यपदार्थधारी ॥ २ ॥

तदेव विशिष्टि—

नाणाकुमुपलयाणं, नाणापक्खिनिमेवियं ।

नाणाकुमुपमंउत्तं, उज्जाणं नंदणोवमं ॥ ३ ॥

अथ मणिरुतकुत्तिनाम्न उद्यानं कीदृशं वर्त्तते तदाह । कीदृशं
तदनम् ? , नानाद्रुमवृक्षाणां विविधवृक्षवर्द्धानिर्व्याप्तम् । पुनः
कीदृशम् ? , नानापक्विनिपेयितं विविधविहङ्गैरातिशयेनाश्रितम् ।
पुनः कीदृशम् ? , नानाकुमुपमसंउत्तं बहुवर्णपुष्पैर्व्याप्तम् । पुनः
कीदृशं तत् उद्यानम् ? , नागरिकजनानां कीरुस्थानम् । नगर-
समीपस्थं वनमुद्यानमुच्यते । पुनः कीदृशम् ? , नन्दनोपमं न-
न्दनं देववनं तदुपमम् ॥ ३ ॥

तन्थ सो पस्सई साहुं, मंजयं भुसमाहियं ।

निमत्तं खखमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

तत्र वने मश्रेणिको राजा साधुं पश्यति । कीदृशं साधुम् ? , संयतं
मम्यक्प्रकारेण यतं यत्नं कुर्वन्तम् । पुनः कीदृशम् ? , सुसमाधितं
सुतरामतिशयेन समाधियुक्तम् । साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते,
तद्व्यवच्छेदार्थं संयतमित्युक्तम्, सोऽपि च बहिः संयमवान् नि-
हवादिरोपि स्यात् इति सुष्टु समाहितो मनःसमाधानवान् सु-
समाहितस्तमित्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ? , वृक्षमूले निषण्णं स्थि-
तम् । पुनः कीदृशम् ? , सुकुमालम् । पुनः कीदृशम् ? , सुखोचितं
सुखयोग्यम्, शुभोचितं वा ॥ ४ ॥

तस्स रुवं तु पामित्ता, गइणो तम्मि संजए ।

अच्चंतपग्गो आमी, अउलो रुवविम्हिओ ॥ ५ ॥

राज्ञः श्रेणिकस्य तस्मिन् संयते साधौ अत्यन्तः परमोऽतिशय-
प्रशानोऽधिकोऽनृत्यः, अनुश्रो निरुपमोऽत्यन्तमदृशो रूपविस्मया-
रुपाश्चर्यमामोन् । किं कृत्वा ? , तस्य साधोः, रूपद्वया । तुशब्दो-
वाक्यालङ्कारे ॥ ५ ॥

अहो ! वनो अहो ! रुवं, अहो ! अज्जस्म सोम्मथा ।

अहो ! खेती अहो ! मुनी, अहो ! जोगे असंगया ॥ ६ ॥

तदा राजा मनसि चिन्तयति स्म—अहो ! इत्याश्चर्ये । आश्चर्यकारि

अस्य शरीरस्य वर्णो गौरत्वादिः । अहो ! आश्चर्यकृत, अस्य सा-
धो रूपं ब्रावण्यसहितम् । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य आर्यस्य
सौम्यता चन्द्रवन्नेप्रप्रियता । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य क्लान्तिः
क्षमा । अहो ! आश्चर्यकारिणी चास्य मुक्तिर्निर्लाभता । अहो !
आश्चर्यकारिणी अस्य जोगे असङ्गता-विषये निस्पृहता ॥ ६ ॥

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं ।

नाइदूरमणासन्ने, पंजली परिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ वन्दित्वा, पुनः प्रदक्षिणां कृत्वा, राजा ना-
तिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ? , नातिदूरवर्ती, नातिनिकटवर्ती वा
सन्नः, प्राञ्जलिपुटो वक्षाञ्जलिः पृच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणोसि अज्जो ! पव्वइओ, जोगकालम्मि संजया ! ।

उवाट्ठिओसि सामन्ने, एयमइं सुणामि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पृच्छति-हे आर्य ! हे साधो ! , त्वं तरुणोऽसि युवा-
ऽसि । हे संयत ! हे साधो ! तस्माद् भोगकाले जोगसमये, प्रव्रजितो
गृहीतदीक्षः, तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति न तु दीक्षायाः स-
मयः । हे संयत ! तारुण्ये भोगयोग्यकावे त्वं भ्रामण्ये दीक्षाया-
मुपस्थितोऽसि, आदरसहितोऽसि । एतदर्थं एतन्निमित्तं, त्वत्तः
शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ? , कस्मान्निमित्तात् दीक्षा
त्वया गृहीता ? , तत्कारणं त्वन्मुखात् श्रोतुमिच्छामीत्यर्थः ।

(पाईटीका)

तरुणेत्यादिना प्रश्नस्वरूपमुक्तम् । इह च यत् एव तरुणोऽत
एव प्रव्रजितो जोगकावे इत्युच्यते, तारुण्यस्य जोगकावेत्वात् ।
यद्वा-तारुण्येऽपि रोगादिपिमायां न जोगकावेः स्यात्, इत्येवमभि-
धानम् । सोऽपि कदानित्संयमेऽनुद्यत एव स्यात् । त्वं पुनरुपस्थि-
तश्च । पठन्ति च—[उवाट्ठिओसि] एतमर्थनिमित्तं येनाथेन त्व-
मीदृश्यामध्यवस्थायां प्रव्रजितः, शृणोमि, 'ता' इति तावत्, प-
श्चात्तु यत्वं जणिष्यसि तदपि श्रोष्यामीति ज्ञावः । इति श्रो-
कसप्तकार्थः ॥ ८ ॥

इत्थं राज्ञोके मुनिराह—

अणाहोमि महाराय !, नाहो मज्झ न विज्जइ ।

अणुकंपयं सुहिं वा वि, कंची णाहि तुमे महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽस्वामिकोऽस्मीत्यहं महाराज ! प्रशस्यनुपते ! किमि-
त्येवम् । यतः—नाथो योगकैमविधाता, मम न विद्यते । तथा
(अणुकंपयं ति) आर्पत्वादनुकम्पको यो मामनुकम्पते
(सुहिं ति) तत एव सुहृत् (कंचि ति) कश्चिन्न विद्यते,
ममेति सम्बन्धः [नाहि ति] प्रक्रमादनन्तरोक्तमर्थं जानी-
हि [तुमे ति] त्वम् । पठ्यते—“ किंची णाभिसमे महं ” किं-
चिदनुकम्पकं सुहृदं वापि नाभिसमे नाभिसंगच्छामि न केनचि-
दनुकम्पनेन, सुहृदा च संगतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तरुणेऽपि प्रव-
जित इति ज्ञावः । इति स्वार्थः ॥ ९ ॥ एवं मुनिनोके—

तओ पइसिओ राया, सेणिओ मगहाहिबो ।

एवं ते इद्धिमंतस्स, कहं नाहो न विज्जई ? ॥ १० ॥

हेमि नाहो जयंताणं, भोगे जुंजाहि संजया ! ।

मित्तनाईपरिबुद्धो, पाणस्सं खलु दुद्धहं ॥ ११ ॥

[पाईटीका]

ततस्तदनन्तरं श्रेणिको मगधाधिपो राजा प्रहसितः । हे महा-
जाग ! एवं तव ऋद्धिमतः ऋद्धियुक्तस्य कथं नाथो न विद्य-
ते ? । नवरम्, एवमिति दृश्यमानप्रकारेण, ऋद्धिमतो वि-

स्मयनीयवर्णादिसंपत्तिमतः, कथमिति केन प्रकारेण, नाथो न विद्यते?, तत्कालापेक्षया सर्वत्र वर्तमाननिर्देशः। “यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति, तथा गुणवति धनम्, ततः श्रीः, श्रीमत्याज्ञा, ततो राज्यम्” इति हि श्लोकप्रवादः। तथा च न कथञ्चिदनाथत्वं भवतः संजवतीति नाथः। यदि वाऽनाथत्वं भवतः प्रवक्ष्यामि तत्पत्तिहेतुः, ततः हे पूज्याः! अहं (भयंताणं इति) जदन्तानां पूज्यानां युष्माकं नाथो जवामि, यदा जवतां कोऽपि स्वामी नास्ति तदा अहं भवतां स्वामी भवामि, यदा अनाथत्वाद् युष्मान्निर्दोषा गृहिता तदाऽहं नाथोऽस्मीति नाथः। हे संयत! हे साधो! भोगान् हृद्वत् । कीदृशः सन्?, मित्रज्ञातिभिः परिवृतः सन्, हे साधो! खलु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्बलं वर्तते, तस्मान्मनुष्यत्वं दुर्बलं प्राप्य जोगान् चुक्त्वा सफलीकुरु ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराह—

अपणा वि अणाहोमि, सेणिया! मगहाहिवा! ।

अपणा अणाहो संतो, कस्स णाहो जविस्ससि? ॥ १२ ॥
हे राजन्! श्रेणिक! मगधदेशाधिपस्त्वमात्मनाऽपि अनाथोऽसि, आत्मना अनाथस्य सतस्तवापि अनाथता, तदा त्वमपरस्य कथं नाथो भविष्यसीति? ॥ १२ ॥

एवं च मुनिनोके—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविस्मिहो ।

वयणं अस्सुयपुवं, साहुणा विस्महयं निओ ॥ १३ ॥

स नरेन्द्रः साधुना एवमुक्तः सन् विस्मयं नीत आश्चर्यं प्रापितः। कीदृशो नरेन्द्रः?, सुसंभ्रान्तोऽत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्यः। पुनः कीदृशः?, सुविस्मितः पूर्वमेव तद्दर्शनात् संजाताश्चर्यः पुनरपि तद्वचनश्रवणात् विस्मयवान् जातः, यतो हि तद्वचनमश्रुतपूर्वं, श्रेणिकाय अनाथोऽसि त्वमिति वचनं पूर्वं केनापि नो आवितम् ॥ १३ ॥

यदुक्तं वास्तदाह—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतोउरं च मे ।

भुंजामि मणुसे भोए, अणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥

एरिसे संपयगाम्मि, सव्वकामसमप्पिए ।

कहं अणाहो जवइ, मा हु भंते! मुसं वए? ॥ १५ ॥

ब्राह्म्यां गाथाज्यां श्रेणिको राजा वदति—हे जदन्त! पूज्य! हु-इति निश्चयेन, मृषा मा ब्रूहि असत्यं मा वद । एतादृशे संपद-इयं सति सम्पत्प्रकर्षे सति, अहं कथमनाथो जवामि?, कीदृशोऽहम्?, सर्वकामसमर्पितः—सर्वे च ते कामाश्च सर्व-कामाः, तेज्यः सर्वकामेज्यः समर्पितः शुभकर्मणा ढोक्तः। अथ राजा स्वसंपत्प्रकर्षे वर्णयति—अश्वा घोडकाः बहवो मम सन्ति, पुनर्हस्तिनोऽपि प्रचुराः सन्ति, तथा पुनर्मनुष्याः सुजटाः सेवका बहवो विद्यन्ते, तथा मम पुरं नगरमप्यस्ति, च पुनर्मे मम अन्तःपुरं राज्ञीवृन्दं वर्तते। पुनरहं मानुष्यान् भोगान् मनुष्यसम्बन्धिनो विषयान् भुनक्ति। च पुनराहैश्वर्यं वर्तते आश्वा अप्रतिहतशासनस्वरूपं प्रभुत्वं वर्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मदीयामाह्वानं न खण्डयतीत्यर्थः।

यतिस्तमुवाच—

न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पात्थं च पत्थिवा! ।

जहा अणाहो हवइ, सणाहो वा नराहिवा! ॥ १६ ॥

हे पार्थिव! हे राजन्! त्वम्। ‘अणाहस्स’ अनाथस्य अर्थम्

अभिधेयम्, चशब्दः पुनरर्थः, च पुनरनाथस्य प्रोत्थां न जाना-सि, प्रकषेणोत्थानं मूलोत्पत्तिः प्रोत्था, तां प्रोत्थाम्, केनाभि-प्रायेणायमनाथशब्दः प्रोक्त इत्येवंरूपं न जानासि। हे राजन्! यथाऽनाथोऽथवा सनाथो भवसि तथा न जानासि, कथम-नाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति? ॥ १६ ॥

मुणेह मे महाराय!, अव्वक्खित्तेण चयसा ।

जहा अणाहो जवइ, जहा मेय पवत्तियं ॥ १७ ॥

हे महाराज! मे मम कथयतः सतः त्वमव्याप्तिसेन स्थिरेण चेतसा शृणु । यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममा-नाथत्वं प्रवर्त्तितम् । अथवा (मे य इति) मे एतदनाथत्वं प्रव-र्तितं तथा त्वं शृणु इत्यनेन स्वकथाया उद्बुद्धः कृतः ॥ १७ ॥

कोसंबी नाम नयरी, पुराणपुरजेयणी ।

तत्थ आसी पिया मज्जं, पच्चयधणसंचओ ॥ १८ ॥

हे राजन्! कौशाम्बी नगरी आसीत् । कीदृशी कौशाम्बी?, पुराणपुरभेदिनी जीर्णनगरभेदिनी, यादृशानि जीर्णनगराणि भवन्ति तेभ्योऽधिकशोभावती। कौशाम्बी हि जीर्णपुरी वर्त्तते जीर्णपुरस्था हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनघन्तश्च बहुधा विवे-कघन्तश्च भवन्तीति हार्दम् । तत्र तस्यां कौशाम्ब्यां मम पिता-ऽऽसीत् । कीदृशो मम पिता?, प्रभूतधनसञ्चयः। नाम्नाऽपि ध-नसंचयः, गुणेनाऽपि बहुलधनसंचय इति वृद्धसंप्रदायः ॥ १८ ॥

पढमे वए महाराय!, अउज्जा मेऽस्थिवेयणा ।

अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा! ॥ १९ ॥

हे महाराज! प्रथमे वयसि यौवने एकदा अतुल्लोत्कृष्टा, अ-स्थिवेदना अस्थिपीडा, (अहोत्था इति) अज्ञूत् । अथवा “अच्छिवेयणा” इति पाठे अक्षिवेदना नेत्रपीडा अभूत्। ततश्च हे पार्थिव! हे राजन्! सर्वगात्रेषु विपुलो दाघोऽज्ञूत् ॥ १९ ॥

सत्थं जहा परमातिक्खं, मरीरविवरंतरे ।

पाविसिज्ज अरी कुप्पो, एवं मे अत्थिवेयणा ॥ २० ॥

हे राजन्! यथा कश्चिदरिः कुप्यन् कुप्यः सन्, शरीरविवरान्तरे नासाकर्षचक्षुःप्रमुखरन्ध्राणां मध्ये परमतीक्ष्णं शस्त्रं प्रपीडयद् गाढमवगाहयेत्, एवं मे ममास्थिवेदनाऽज्ञूत्। (शरीरविवरंतरेति)

(पार्श्वटीका)

शरीरविवराणि कर्णरन्ध्रादीनि, तेषामन्तरं मध्यं शरीरविव-रान्तरं तस्मिन् (पाविसिज्ज ति) प्रवेशयेत् प्रक्षिपेत् । शरी-रविवरग्रहणमतिकुमारत्वादान्तरत्वं चागाढवेदनोपलक्षण-म् । पठ्यते च—शरीरवीर्यान्तरेण “आविलिज्ज ति” पाठान्तरे शरीरवीर्यं सप्त धातवस्तदन्तरे तन्मध्यं आपीरयेद् गाढम-वगाहयेत् । एवमित्यापीड्यमानस्य शस्त्रवद् मे ममास्थिवेदना, कोऽर्थः?, यथा तद्व्यन्तवाधाविधायि तथैषाऽपीति ॥ २० ॥

तियं मे अंतरिच्छं च, उत्तमंगं च पीरई ।

इंदामणिस्समा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन्! सा परमदारुणा वेदना मे मम त्रिकं कटिपृष्ठवि-भागम् । च पुनरन्तरिच्छाम्—अन्तर्मध्यं इच्छा अन्तरिच्छा, ताम-न्तरिच्छाम् । भोजनपानरमणाभिलाषरूपा। च पुनरुत्तमाङ्गं मस्तकं पीडयति। कीदृशी वेदना?, इन्द्राशनिसमा घोरा, इन्द्रस्या शनिर्वज्रं तत्समाऽऽनिदाहोत्पादकत्वात् तुल्या, घोरा जयदा ॥ २१ ॥

किं न कश्चित् प्रतिवृत्तवानित्याह—

उवाचिया मे आयरिया, विज्जापंततिगिच्छणा ।

अधीया मन्त्रकुसला, मन्त्रमूलविमारया ॥ १२ ॥

हे राजन् ! तदेवमध्याहारः । आचार्या वैद्यानां शास्त्राभ्यासकारकाः मे उपस्थिताश्चिकित्सां कर्तुं लग्नाः, कीदृशा आचार्याः ? विद्यामन्त्रचिकित्सकाः विद्यया मन्त्रेण च चिकित्सन्ति चिकित्सां कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्सकाः, प्रतिक्रियाकर्त्तारः । पुनः कीदृशा आचार्याः ? अधीताः सम्यक् पठिताः । 'अधीया' इति पठे न विधत्ते अन्यथा द्वितीयो येज्यस्तेऽद्वितीयो अस्माधारणाः । पुनः कीदृशास्ते ? शास्त्रकुशलाः शास्त्रेषु विचक्षणः । पुनः कीदृशास्ते ? मन्त्रमूलविशारदाः, मन्त्राणि देवाधिष्ठितानि, मूलानि जटिकारूपाणि, तत्र विचक्षणः मन्त्रमूलिकानां गुणज्ञाः ॥ १२ ॥

ते मे निगिच्छं कुर्वन्ति, चातुष्पायं जहादियं ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एषा मज्ज अणाहया ॥ १३ ॥

ते वैद्याचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथा हितं भवेत्तथा कुर्वन्ति । कीदृशं चैकित्स्यम् ? चातुष्पादं चत्वारः पादाः प्रकारा यस्य तच्चतुष्पादम्, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्यमित्यर्थः । वैद्य १ औषध २ रोगि ३ प्रतिचारक ४ रूपम् । अथवा-वमन १ विरेचन २ मर्दन ३ स्वेदन ४ रूपम् । अथवा-अञ्जन १ बन्धन २ लेपन ३ मर्दनरूपम् । शास्त्रोक्तं गुरुपारंपर्यागतमाचक्ररिति स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम्, ते वैद्या मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वाद्भूतार्थं वर्त्तमानार्थः प्रत्ययः, एषा ममानाथता वर्त्तते ॥ १३ ॥

अन्यच्च—

पिया मे सव्वसारं पि, देज्जाहि समकारणा ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एषा मज्ज अणाहया ॥ १४ ॥

हे राजन् ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे यत्सारं साग्वस्तु तत्सर्वमपि वैद्योऽप्योऽदात्, तथापि वैद्या मां दुःखाद् न विमोचयन्ति स्म । एषा मम अनाथता ज्ञेयेति शेषः ॥ १४ ॥

माया वि मे महाराय !, पुत्तसोगहुट्टिया ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एषा मज्ज अणाहया ॥ १५ ॥

[पाईटीका]

तथा माताऽपि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, इह कथमित्थं दुःखा मन्नुनो जानइत्यदिरूपः, ततो दुःखम्, तेन [अट्टियत्ति] आर्ता । अथवा [अट्टियत्ति] अर्दिता, उभयत्र प्रीकित्यर्थः । ततः पुत्रशोकदुःखार्त्ता पुत्रशोकदुःखार्दिता वा ज्ञेया ॥ १५ ॥

भायरा मे महाराय !, सगा जिट्ट कणिट्टगा ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एषा मज्ज अणाहया ॥ १६ ॥

हे महाराज ! मे मम भ्रातरौऽपि स्वका आत्मीयाः, ज्येष्ठकनिष्ठका वृत्ता लघवश्च मां न च दुःखाद्विमोचयन्ति स्म । एषा ममानाथता ज्ञेया ।

(पाईटीका)

[मगत्ति] ब्रोककूढित सोदर्याः स्वका वा आत्मीयाः ॥ १६ ॥

जडणीओ मे महाराय !, सगा जिट्ट कणिट्टगा ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एषा मज्ज अणाहया ॥ १७ ॥

हे महाराज ! मे मम भगिन्योऽपि स्वका एकमातृजाः । ज्येष्ठः कनिष्ठश्च मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म, एषा मम अनाथता ज्ञेया ॥ १७ ॥

भारिवा मे महाराय !, अणुत्ता अणुव्वया ।

अंसुपुणेहि नयणेहि, उरं मे पगिसिच ॥ २८ ॥

अन्नं पाणं च एहाणं च, गंधमल्लविद्धेवणं ।

मए नायमनायं वा, सा वाला नोवहुंजइ ॥ २९ ॥

खणं पि मे महाराय !, पामाओ वि न फिट्टइ ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एषा मज्ज अणाहया ॥ ३० ॥

हे महाराज ! मे मम जार्या कामिन्यऽपि दुःखमांन मोचयन्ति स्म । कथम्भूता जार्या ? अनुरक्ता अनुरागवती । पुनः कथम्भूता ? अनुव्रता पतिव्रता पतिमनुवर्त्तकृत्य व्रतं यस्याः सा अनुव्रता । एतादृशी भार्या मे ममोरो हृदयमश्रुपूर्णाभ्यां लोचनाभ्यां सिञ्चति स्म ।

(पाईटीका)

अपरञ्च भार्या पत्नी अनुरक्ताऽनुरागवती [अणुव्वयत्ति] अन्विति कुलानुरूपं व्रतमाचारोऽस्या अनुव्रता, पतिव्रतेति यावत्, ययोऽनुरूपा वा । पठ्यते च—(अणुत्तरमणुव्वयत्ति) इह च मकारोऽलाक्षणिकः । अनुत्तरा अति प्रधाना (उरं ति) उरो वक्त्रः, परिपिञ्चति समन्तान् प्लावयति ॥ २८ ॥

पुनः सा वाला मत्कामिनी अन्नमशनं मोदकादिकं भक्ष्यं, पानं शर्करोदकादिकं, पुनः स्नानं कुङ्कुमादिपार्नाथैरनितैलचोवकमेदजवाधिप्रमुखैर्गन्धार्चनं मया ज्ञातं वा अज्ञातं स्वभावेनैव एतत्सर्वं भोगाङ्गं नोपनुक्ते नानुभवति । मम दुःखात्सर्वाण्यपि जोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

(पाईटीका)

स्नानं स्नात्यनेनेति स्नानम्-गन्धोदकादि, मया ज्ञातमज्ञातं वेत्यनेन सद्भावसारतापाह । पठ्यते च—'तारिसं रोगमावण्णेत्ति' तादृशमुत्तरूपं रोगमन्तिरोगादिकम्, 'आवण्णं' प्राप्तं मयीति-गम्यते । (से ति) भार्या बालेव वालाऽभिनवयौवना नोपभुङ्क्ते नासेवते ॥ २९ ॥

(खणं वि ति) पुनर्हे महाराज ! सा वाला मम पार्श्वान्नैकृत्यात् (न विफिट्टति) न अपयातीत्यर्थः । परं दुःखान्मां न मोचयति, एषा ममानाथता ज्ञेया ।

[पाईटीका]

[पासाओ वि ण फिट्टइत्ति] अपिश्चशब्दार्थः, ततः पार्श्वान्न नापयाति सदा सन्निहितैवाऽऽस्ते ॥ ३० ॥

अनेन तस्या अपि वत्सलत्वमाह—

तथो हं एवमाहं सु, दुःखमा हु पुणो पुणो ।

वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणनए ॥ ३१ ॥

ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेषु जातेषु अहमेवमवादिषम् । एवमिति किम् ? हु इति निश्चयेन या वेदना अनुभवितुं दुःक्षमा भोक्तुमसमर्थास्ता वेदनाः संसारे पुनः पुनर्भुक्ता इति शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सह्यते इति दुःक्षमा दुस्सहा, कीदृशे संसारे ? अनन्तकेऽपारे ॥

[पाईटीका]

तत इति रोगाप्रतिकार्यतान्तरमहमेवं घट्यमाणप्रकारेण [आहं सु ति] उक्तवान्, यथा [दुःखमा हु ति] हुरेचकार्थः । ततो दुःक्षमेव दुःसहैव पुनः पुनर्वेदना उत्तरूपा रोगव्यथा अनुभवितुम्, 'जे' इति निपातः पूरणे ॥ ३१ ॥

सइ च जइ मुवेज्जा, वेयणा विउल्ला उ मे ।

खंतो दंतो निरागंभो, पव्वइए अणगारियं ॥ ३२ ॥

अहं किमवादिषम् ? नदाह—यदि सकृदप्येकवारमप्यहं वेद-

नाथा विमुच्ये, तदाऽहं ज्ञान्तो भूत्वा, पुनर्दान्तो जितेन्द्रियो
भूत्वा निरारम्भः सन् अनगारत्वं साधुत्वं, प्रव्रजामि दीक्षां गृह्णा-
मीति भावः । कथम्भूताया वेदनायाः?, विपुलाया विस्तीर्णायाः।

[पार्श्वटीका]

यतश्चैवमतः [सइच स्ति] चशब्दोऽपिशब्दार्थः । ततः सकृ-
दप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते । कुतः?, [वियणस्ति]
वेदनाया [विउल स्ति] विपुलाया विस्तीर्णायाः । इत्यनुभूय-
मानायाः । ततः किमित्याह-ज्ञान्तः क्षमावान्, दान्त इन्द्रियो-
इन्द्रियदमेन [पव्वण अणगारियं ति] प्रव्रजेयं गृह्णाणिक्कामेयम् ।
ततश्चाऽनगारितां भावभिक्षुतामङ्गीकुर्यामिति शेषः । यद्वा-प्र-
व्रजेयं प्रतिपद्येयानगारिताम्, येन संसारोच्छिन्नितो मूलत
एव न वेदनासंभवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं च चिंतित्ताणं, पसुत्तोमि नराहिवा ! ।

परियट्ठंति य राईए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥

एवं पूर्वोक्तं चिन्तने चिन्तयित्वा हे नराधिप ! यावदहं सुप्तो-
ऽऽस्मि तावत्तस्यामेव रात्रौ प्रवर्त्तमानायाम्-अतिक्रामन्त्यां, मे
मम, वेदना कथं गता ; वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

(पार्श्वटीका)

एवं च चिन्तयित्वा जणन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वाचैवं
(पसुत्तोमिति) प्रसुप्तोऽस्मि (परियट्ठंति यस्ति) परिवर्त्तमा-
नायामतिक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तत्रो कट्ठे पभायम्मि, आपुच्छित्ताणं बंधवे ।

खंतो दंतो निरारंभो, पव्वञ्चो अणगारियं ॥ ३४ ॥

(पार्श्वटीका)

ततो वेदनोपशमनानन्तरं (कट्ठस्ति) कल्यो नीरोगः सन् प्रभा-
ते प्रातः । यद्वा- [कट्ठस्ति] चिन्ताऽऽदिनाऽपेक्षया द्वितीयदिने
प्रकर्षेण व्रजितो गतः प्रव्रजितः, कोऽर्थः?, प्रतिपन्नवाननगारिता-
मिति । ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तरं (कल्ये इति) नीरोगे जाते
सति प्रभातसमये बान्धवान् स्वज्ञातीनापृच्छ्याहमनगारित्वं
साधुत्वं प्रव्रजितः, साधुधर्ममङ्गीकृतवान् । कीदृशोऽहम्?, ज्ञान्तः
पुनर्दान्तः, पुनरहं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तत्रो हं नाहो जात्रो, अप्पणो य परस्स य ।

सव्वेसिं चैव जूयाणं, तसाणं थायराण ग ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो दीक्षाग्रहणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्य
नाथो योगक्रेमकरत्वेन स्वामी जातः । आत्मनो हि नाथः, शुद्ध-
प्ररूपणत्वात् । अपरस्य च, हितचिन्तनात् । एवं निश्चयेन सर्व-
ेषां भूतानाम्, त्रसानां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः ॥ ३५ ॥
किमिति प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं नाथत्वं जातः, पुरा तु नेत्याह-

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूरुमामद्धी ।

अप्पा कामदुघा धेणू, अप्पा मे नेदणं वणं ॥ ३६ ॥

(आत्मेति) व्यवच्छेदकत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः कश्चिदि-
त्याह-नदी सरित् । चैतरणीति नरकनद्या नाम । ततो मदान-
र्थहेतुतया नरकनदी वा । अत एव आत्मैव कूटमिव जन्तुयात-
नाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्भवा । तथा आत्मैव
कामानभिलाषान् दोग्धि प्रापकतया प्रपूरयति कामदुघा, धेनु-
रिव धेनुः इयं रूढित उक्ता । एतदुपमात्वमभिलषितस्वर्गपवर्गा-
वासिहेतुतया आत्मैव मे मम, नन्दनं नन्दननामकं वनमुद्यानम् ।
एतदौपम्यं चास्य चित्तप्रवृत्तिहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेवं तथाऽऽह-

अप्पा कत्ता पिकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठियो ॥ ३७ ॥

आत्मैव कर्त्ता विधायको दुःखानां सुखानां वेति योगः । प्रक-
माच्च आत्मन एव विकर्त्ता च विक्रेपकश्चात्मैव तेषामेव ।
अतश्च आत्मैव मित्रमुपकारितया सुहृत्, (अमित्रं चेति) अमि-
त्रश्चापकारितया दुहृत् । कीदृक् ? (दुप्पट्ठियं सुप्पट्ठितो स्ति)
दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति विषादिकल्पः, सुष्ठु प्र-
स्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकल्पः । तथा च
प्रव्रज्याऽवस्थायामेवमुपस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगक्रे-
मकरणे समर्थत्वान्नाथत्वमिति सूत्रगर्भाभिः ॥ ३७ ॥

पुनरन्यथा नाथत्वमाह-

इमा हु अन्नो वि अणाहया निवा !,

तमेकचित्तो निवुत्तो सुणेहि ।

निगट्ठधम्मं लभियाण वी जहा ,

सीदंति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

(पार्श्वटीका)

इयमनन्तरमेव चक्ष्यमाणा । हृ पूरणे, अन्या परा, अपिः
समुच्चये । अनाथताऽस्वामिता, यद्भावतोऽहं नाथो जात
इत्याशयः । निवृत्तिरूपतामित्यनाथतामेकचित्त एकाग्रमनाः,
निभृतः स्थिरः, शुण् । का पुनरसावित्याह-निर्ग्रन्थानां धर्म
आचारो निर्ग्रन्थधर्मस्तम् [लज्जियाण वि स्ति] ब्रह्माऽपि ।
यथेत्युपदर्शने । सीदन्ति तदनुष्ठानं प्रति शिथिलीभवन्ति । एके
केचन, ईषदपरिसमाप्ताः कातरा निःसत्त्वा बहुकातराः । "विभा-
पा सुपो बहुञ्च पुरस्तात्तु" ॥ पाणि०-५। ३। ६७ ॥ इत्यतः प्राग्
बहुञ्चप्रत्यये हि सर्वथा निःसत्त्वाः, ते मूलत एव न निर्ग्रन्थमार्गे
प्रतिपद्यन्ते इत्येवमुच्यते । यदि वा कातरा एव बहवः संजव-
न्तीति, बहुशब्दो विशेषणम् । नराः पुरुषाः सीदन्तश्च नात्मान-
मन्यांश्च रक्षयितुं क्रमाः । इतीयं सीदनलक्षणा पराऽनाथ-
तेति ज्ञावः ॥ ३८ ॥

जो पव्वञ्चाण महव्वपाइं,

सम्मं च नो फासइ से पमाया ।

आणिग्गहप्पा य रसेसु गिप्पे,

न मूलत्तो विदइ बंधणं से ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यो मनुष्यः प्रव्रज्य दीक्षां गृहीत्वा, महाव्रतानि प्र-
मादात् सम्यग्विधिना न स्पृशति न सेवते, [से इति] स प्र-
मादवशवर्ती बन्धनं कर्मबन्धनं रागद्वेषद्वन्द्वं संसारकारणं
मूलतो मूलाद् न विनसति मूलतो नोत्पाटयति । सर्वथा राग-
द्वेषौ न निवारयतीत्यर्थः ।

[पार्श्वटीका]

नो स्पृशतीति नाऽऽसेवते प्रमादाद्विघादेरनिग्रहोऽविद्यमान-
विषयनियन्त्रणे आत्मा यस्य सोऽनिग्रहात्मा । अत एव रसेषु
मधुरादिषु शुद्धो गृह्णिमान् । बध्यतेऽनेन कर्मेति बन्धनम् राग-
द्वेषात्मकं [से इति] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तया जस्स य नत्थि काई,

इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।

आयाण-निक्खेव-डुगंउणाए,

न धीरजाय अणुजाऽमगं ॥ ४० ॥

हे राजन् । स साधुधोरयात् भारं नानुयाति, धीरैर्महापुरुषै-
स्तोयैर्कैर्यैश्च यातं प्राप्तम्, अर्थान्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति ।
स कः?, यस्य साधोरीर्यायां गमनागमनसमितौ, तथा जायायां,
तथा एषणायामाहारग्रहणसमितौ, पुनरादाननिकेपणसमितौ,
वस्तूनां ग्रहणमोखनविधौ, तथा [दुग्गुणाय इति] उच्चारप्रश्रव-
णशेषजलासङ्घाणादीनां परिष्ठापनसमितावाऽऽयुक्तता का
चिन्तास्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से मुंरुई जविता,
अथिरव्वए तवनियमेहिं जट्टे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,
न पारए होइ दु संपराए ॥ ४१ ॥

स पूर्वोक्तः पञ्चसमितिरहितो मुन्याभासश्चिरं मुण्डरुचिर्भू-
त्वाऽऽत्मानमपि चिरं क्लेशे पातयित्वा, हु इति निश्चयेन, सं-
परापे संसारे पारगो न भवति । कीदृशः सः? अस्थिरव्रतोऽ-
स्थिराणि व्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः । पुनः कीदृशः सः?, त-
पो नियमव्रतः । यः कदापि तपो न करोति, तथा पुनर्नियममभि-
प्रहादिकं च न करोति, केवलं द्रव्यमुण्डो जवति, स संसार-
स्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स वैवंधिधः—

पोद्धेव मुट्टी जह से अमारो,
अयंतिए कुरुकहावणे वा ।
राढामणी वेरुद्वियप्पगामे,
अमम्यए होइ दु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डरुचिरसारो जवति । अन्तःकरणे धर्मानावात्
रिक्तोऽकिञ्चित्करो भवति । स क इव ? पोद्धो मुष्टिरिव । यथा-
रिक्तो मुष्टिरसारो मध्ये सुषिर एव, तथा स मुण्डरुचिः कूटका-
योपण इवास्यनारणकमिवायन्त्रितो जवति, न यन्त्रितोऽयन्त्रितो-
ऽनादरणीयो निर्गुणत्वाद्भेदकणीयः स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थमर्थ-
ान्तरन्यासेन छटयति—हु यस्मात्करणात् राढामणिः काचमणिः
[जाणएसु इति] ज्ञातुकु मणिपरीक्षकनरेषु वैरूर्यप्रकाशोऽ-
मर्षको भवति बहुमूल्यो न भवति । वैरूर्यमणिवत् प्रकाशो य-
स्य स वैरूर्यमणिप्रकाशः, वैरूर्यमणिसदृक्तेजाः । महान् अर्घ्यो
यस्य स महार्घः, महार्घ एव महार्घकः । न महार्घकोऽम-
हार्घकः । अयमुद्दय इत्यर्थः । यथा—मणिज्ञेषु वैरूर्यमणि-
बहुमूहयः स्यान्, तथा काचमणिर्बहुमूल्यो न स्यादेवं
धर्महीनो मुनिः साधुगुणज्ञेषु यथा सद्धर्माचारयुक्तः साधुव-
न्दनीयः स्यात्तथा स मुण्डरुचिर्वन्दनीयो न स्यादिति ज्ञायः ॥

(पार्श्वटीका)

“पोद्धेवमुट्टी जहत्ति” पाठान्तरम् । इह “पोद्धरत्ति” सुषिरा,
असारत्वं चोभयोरपि सदर्थज्ञानतया ॥ ४२ ॥

कुसीलजिह्वं इह धारयित्वा,
इसिज्झयं जीविं वृहयिन्ना ।
अमंजये मंजय दप्पमाणे,
विणिदायमापण्ड जे चिरं पि ॥ ४३ ॥

(से इति) स साध्वाचाररहितः, इह संसारं चिरं चिरकावं या-
यन्नेघातमागच्छति पीमां प्राप्नोति । किंकृषा ?, कुशीलजिह्वं
पार्श्वस्थादीनां जिह्वं धारयित्वा । पुनर्जीविकायै आजीविकार्थ-
मृषिध्वजं रजोहरणमुखपोत्तिकादिकं वृहयित्वा वृद्धिं प्रापय्य,
विशेषेण निघातं विनिघातं विविधपीमाम् । स किं कुर्वाणः ?,
असंयतः सन् अहं संयत इति बाल्यमानः— असाधुरपि
साधुरहमिति वृषाणः ॥ ४३ ॥

अथैव हेतुमाह—

विमं तु पीयं जह कात्तकुरुं,
हणाइ सत्थ जह कुग्गहीथं ।
एमेव धम्मो विसओवसएणो,
हणाइ वेयाद्व इवाविवएणो ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा कात्तकूटो महाविषः पीतः सन् [हणाइत्ति]
हन्ति । पुनर्यथा कुग्गहीतं विषरीतवृत्त्या गृहीतं शास्त्रं हन्ति ।
एवमेव अनेनैव दृष्टान्तेन विषयैरिन्द्रियसुखैरूपपद्मो विषयसु-
खाभिन्ना मयुक्ता धर्मोऽपि हन्ति । पुनः स विषयो धर्मोऽविषय-
वेताव इव हन्ति । मन्त्रादिभिरकीर्तितः । यथा स्फुरद्ब्रह्मो
मन्त्रयन्त्रैरनिवारितब्रह्मो वेतालो महापिशाचो मारयाति, तथा
विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[पार्श्वटीका]

[वेयाद्व इवाविवएणोत्ति] चस्य मम्यमानत्वाद्देताव इवाऽ-
विषयोऽप्राप्तविषयत्, मन्त्रादिजिरनियन्त्रित इत्यर्थः । पठ्यते च—
[वेयाद्व इवाविवंधणोत्ति] इह वा विबन्धनोऽविद्यमानमन्त्रा-
दिनियन्त्रणः । उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे,

निमित्तकांऊहलसंपगाढं ।

कुहेरुविज्जासवदारजीवी,

न गच्छई सरणं तम्मि कात्ते ॥ ४५ ॥

यः साधुवर्णकं प्रयुजानः सामुद्रोक्तं स्त्रीपुरुषशरीरचिह्नं शु-
जाशुजसूचकं प्रयुङ्क्ते, गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः साधुः सु-
विणं स्वप्रविद्यां प्रयुजानः भवति—स्वप्रानां फलाफलं वक्ति ।
पुनर्यः साधुनिमित्तकौतूहलसम्प्रगाढो जवति—निमित्तं च
कौतूहलं च निमित्तकौतूहले तयोः सम्प्रगाढोऽत्यन्ताशक्तः
स्यात् । तत्रनिमित्तं भृकम्पोल्कापातकेतूदयादि । कौतूहलं कौ-
तुकं पुत्रादिप्राप्त्यर्थं ज्ञानज्ञेयजौषधादिप्रकाशनम् । उजयव संर-
क्तो जवति । पुनर्यः साधुः कुहेटकविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी भवति—कु-
हेटका विद्याः कुहेटकविद्याः । अलीकाऽऽश्रयविधायिमन्त्रतन्त्र-
यन्त्रज्ञानात्मिकास्ता एवाश्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं
शीघ्रं यस्य स कुहेटकविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी, एतादृशो यो भव-
ति । हे राजन् ! परं तस्मिन् काले लक्षणस्वप्ननिमित्तकौतूहल-
कुहेटकविद्याश्रवद्वारोपाजितपातकफलोपशोगकात्ते स साधुः
शरणं न गच्छति, न प्राप्नोति । तं साधुं वोऽपि दुःखान्नरकतिय-
ग्योन्यादौ न त्रायत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अमुमेयार्थं भावयितुमाह—

तमंतमेव उ से असीत्ते,

सया दुही विप्परिया समुवेइ ।

संघावइ जरणं तिरिक्खज्जोणी,

मोणं विराहितु अमादुरुवे ॥ ४६ ॥

न पुनः स द्रव्यमुण्डः साधुरूपो मौनं विराध्य साधुधर्मं दूष-
यित्वा, नरकतिर्यग्योनिं संधावति सततं गच्छति । पुनः अशी-
वः कुशीलो विपर्यासमुपैति-तत्रेषु वैपरीत्यं प्राप्नोति, मिथ्या-
त्वमूढो भवतीति ज्ञावः । कीदृशः सः? नमस्तमसैव सदा दुःखी
अतिशयेन तमस्तमस्तमः, तेन तमस्तमसैव अज्ञानमहान्यका
रेणैव संयमविराधनाजनितदुःखसहितः ॥ ४६ ॥

कथं पुनर्मौनं विराध्य कथं वा नरकतिर्यग्योनिं सन्धावतीत्याह-

उद्देशियं कीयगमं नियामं,

न मुच्ये किंचि अणेसणिज्जं ।

अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता,

इओ चुओ गच्छइ कदुपावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यः साधुपाशः उद्देशिकं दर्शयितुं उद्दिश्य कृतं उद्देशिकमा-
हारम् । पुनः साधुनिमित्तं क्रीतं मौल्येन गृहीतम् । पुनराहृतं
साधुसंमुखमानीतं साधुस्थान एव गृहस्थेन आनीतं तदाहृतम् ।
पुनर्यदाहारं नित्यकं नित्यपिण्डं गृहस्थगृहे नियतपिण्डमतादृशं
सदोषमाहारमनेषणीयं साधुना अग्राह्यं न मुञ्चति । जिह्वाबा-
धपक्ष्येन किमपि न त्यजति, सर्वमेव गृह्णाति । सोऽग्निरिव सर्व-
भक्षीय इरित्युक्तप्रज्ञावको वैश्वानर इव चृत्वा प्रासुकाहारं
मुक्त्वा इतश्च्युतो मनुष्यजवाच्युतः कुगतिं व्रजति । किं कृत्वा?,
पापं कृत्वा संयमविराधनां विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अरीं कंठवेत्ता करेड,

जं से करे अप्पणिय दुरप्पया ।

से नाहई मच्चुमुहं ति पत्ते,

पच्छाऽणुतावेण दयाविदूणो ॥ ४८ ॥

(पाईटीका)

यतश्चैवं सुदुश्चरितैरेव दुर्गतिप्राप्तिः, अतोऽनेनैव (तमिति)
प्रस्तावादनर्थकएवेकैता प्राणहर्त्ता (से) तस्य (दुरप्पयेति) प्राकृ-
तत्वाद् दुरात्मतां दुष्टाचारप्रवृत्तिरूपां नचैनामाचरन्नपि जन्तु-
रत्यन्तमूढतया वेत्ति । तत्किमुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह-
स दुरात्मा कर्त्ता ज्ञास्यति । प्रकमाद् दुरात्मतां मृत्युमुखं तु मर-
णसमयम्, पुनः प्राप्तः पश्चादनुतापेन हा दुष्टं मयाऽनुष्ठितमिति,
एवंरूपेण दया संयमसत्याद्युपवृत्तकणमहिंसा वा तद्विहीनः
सन् । मरणसमये हि प्रायोऽतिमन्दधर्मस्यापि धर्मान्निप्रायोत्प-
त्तिरेवमभिधानम् । यतश्चैवं महानर्थहेतुः पश्चात्तापहेतुश्च दुरा-
त्मता तदाहित एव मूढतामपह्नाय परिहर्तव्येयमिति भावः ॥ ४८ ॥

यस्तु मृत्युमुखं प्राप्तोऽपि न तं वेत्स्यतीति

तस्य का वाच्येत्याह-

निरट्टिया निप्परुई उ तस्स,

जे उत्तमडे विवजासमेइ ।

इमे वि से नत्थि परे वि लोए,

दुहओ वि से जिम्भज्झइ तत्थ लोगे ॥ ४९ ॥

(पाईटीका)

निरर्थिका तु शब्दस्यैवकारार्थस्यैव सम्बन्धाभिरर्थकैव नि-
ष्कृष्टैव । नाग्ये श्रामण्ये रुचिरिच्छा नाग्यरुचिस्तस्य [जे उ-
त्तमडं ति] सुख्यतयादपेक्ष गम्यमानत्वात्तुत्तमार्थेऽपि
पर्यन्तसमयाराधनारूपे आस्तां पूर्वमित्यपिशुद्ध्यर्थः । वि-

पर्यासं दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मनापरिज्ञानरूपमेति गच्छति,
इतरस्य तु कथञ्चित्स्यादपि किञ्चित्फलमिति भावः । किमेवमु-
च्यते?, यतः [इमे वि त्ति] अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्बन्धः ।
[से इति] तस्य नास्ति न विद्यते । न केवलमयमेव परोऽपि श्रो-
को जन्मान्तरलक्षणः । तत्रेह श्लोकोऽभावः शरीरकलेशेहेतुलोच-
नादिसंभवात्, परश्लोकाभावश्च कुगतिगमनतः शारीरमानसदुः-
खसम्भवात् । तथाच [दुहओ वि त्ति] द्विधाऽप्येहिकपारत्रिका-
र्थे भावेन [जिम्भज्झइ त्ति] स ऐहिकपारत्रिकार्थसंपत्तिमतोज-
नानवलोक्य धिग्मामपुण्यभाजनमुजयन्नृष्टतयेति चिन्तया क्री-
यते । तत्रेह पुण्यश्लोकाभावे सति श्लोके जगति ॥ ४९ ॥

यदुक्तं स ज्ञास्यति पश्चादनुतापेनेति तत्र यथाऽसौ परितप्येत
तथा दर्शयन्नुपसंहारमाह-

एमेव हा उदकुसलिरूवे,

मगं विराहितु जिणुत्तमाणं ।

कुररीविवा भोगरमाणुगिद्धा,

निरट्टसोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

(पाईटीका)

एवमेवोक्तरूपेणैव महाव्रतस्पर्शादिना प्रकारेण यथाग्रन्थाः स्व-
रुचिचिरचित्ताचाराः कुशीलाः कुस्तिनशीलास्तदूपास्तस्वभा-
वाः, कुररीव पक्षिणीव [निरट्टसोय त्ति] निरर्थो निष्प्रयोजनः शो-
को यस्याः सा निरर्थश्लोका, परितापं पश्चात्तापरूपम्, एति गच्छ-
ति । यथा चैषाऽऽमियगृष्टा पक्षात्तरज्यो विपत्प्राप्तौ शोचनेन च
ततः कश्चिद्विपत्प्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसगृष्ट ऐहिका-
मुष्मिकानर्थप्राप्तौ ततोऽस्य स्वपरपरित्राणासमर्थत्वेऽनाथत्व-
मिति ज्ञावः ॥ ५० ॥

एतच्छ्रुत्वा यत्कृत्यं तदुपदेष्टुमाह-

सोच्चाण मेहावि ! सुजासियं इमं,

अणुत्तासणं नाणुणोव्वेयं

मगं कुसीन्नाण जहाय सव्वं,

महानियड्डाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधाविन् ! हे परितप्त ! हे राजन् ! इदं सुभाषितं सुष्ठु भाषि-
तं सुभाषितम्, अनुशासनम्-उपदेशवचनं, श्रुत्वा सर्वैकुलीनानां
मार्गम् । [जहाय इति] त्यक्त्वा महानिर्ग्रन्थानां महासाधूनां,
पथि मार्गे, चरेत् व्रजेत् । कीदृशमनुशासनम् ? ज्ञानगुणोपपेतं
ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैरुपपेतं ज्ञानगुणोपपेतम् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह-

चरित्तमायारगुणाणि तत्रो,

अणुत्तरं संजमपालियाणं ।

निरासवेसं खवियाण कम्मं,

उवेइ ठाणं विज्जुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणान्महानिर्ग्रन्थमार्गमात्रिणाश्रयो मुनिर्पहाव-
तपावकः साधुर्विपुधमनन्तसिद्धानामवस्थानादसंकीर्णमुत्तमं
सर्वोत्कृष्टं पुनर्धुवं निश्चयं शाश्वतमेतादृशं मोक्षस्थानमुपैति प्रा-
प्नोति । कीदृशः साधुः?, चारित्राचारगुणान्वितः चारित्रस्याचार-
श्चारित्राचारश्चारित्रसंयत्नं, गुणा ज्ञानशीलादयः, चारित्राचारश्च
गुणाश्च चारित्राचारगुणास्तैर्गन्धितचारित्राचारगुणान्वितः । अथ

मकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा साधुमोक्षं प्राप्नोति ? अनुत्तरं प्रधानं जगद्व्यापकं संयमं सप्तदशविधं पालयित्वा । पुनः किं कृत्वा ? कर्माण्येषावपि संक्षेप्य कृत्यं नीतैतावता चारित्र्याचारकानादिगुणयुक्तः, अत एव निरुद्धाश्रयः प्रधानसंयमं प्रपादय, सर्वकर्माणि संकृत्य नीत्वा मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अथोपसंहारमाह—

एवमुदत्ते वि महातपोहणे,
महामुणी महापद्मे महायमे ।
महानिर्घन्तिज्जमिणं महामुयं,
से कहिए मह्या वित्तरेणं ॥ ५३ ॥

एवमुक्ता प्रकारेण, श्रेणिकेन राज्ञा, पृष्टः सन् स महामुनिर्महासाधुः, महता विस्तरेण बृहता व्याख्यानैः, महानिर्घन्तीयं महाश्रुतमकथयत्, महान्तश्च ते निर्घन्थाश्च महानिर्घन्थास्तेज्यो हितं महानिर्घन्तीयं, महामुनीनां हितमिन्त्यर्थः । कीदृशः सः ? , उग्रः कर्मशुद्धनेन वडिष्ठः । पुनः कीदृशः सः ? , दान्तो जिनेन्द्रियः । पुनः कीदृशः ? , महातपोधनः महश्च तत्तपश्च महातपः महातपो धनं यस्य स महातपोधनः । पुनः कीदृशः ? , महाप्रतिज्ञः यते ददप्रतिज्ञाधारकः । पुनः कीदृशः ? , महायशः महाकीर्तिः ॥ ५३ ॥

तत्र—

तुष्टो य सेणिओ राया, णमुदाहं कयंजली ।
अणाहत्तं जहा ज्ञयं, सुट्टु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

श्रेणिको राजा तुष्टः । हु इति निश्चयेन । इदम्, 'उदाहं' इदमवादीत् । कीदृशः श्रेणिकः ? , कृताञ्जलिः यद्धाञ्जलिः । इदमिति किम् ? , हे मुने ! यथाज्ञं यथावस्थितमनाधत्वं, मे मम, सुष्टूपदार्शितं सम्यग्दर्शितम्, त्वयेति शेषः ॥ ५४ ॥

किं श्रेणिक आह—

तुज्जं सुलच्छं खु मणुस्सजम्भं,
लाजा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुम्हे सणाहा य सवंधवा य,
जे भे द्विया मग्गजिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! खु इति निश्चयेन सुलच्छं सकलं त्वदीयं मानुषं जन्म । हे महर्षे ! तवैव लाजाः रूपवर्णविद्यादीनां लाजाः सुलज्जाः रूपलावण्यादिप्राप्तयः सुप्राप्तयः । हे महर्षे ! यूयमेव सनाथा आत्मनो नाथत्वात् नाथसहिताः । च पुनर्युयमेव सबान्धवा ज्ञानिकुटुम्बसहिताः । यद् यस्मात्कारणान् (भे इति) जवन्तः जिनोत्तमानां तीर्थकराणां मार्गं स्थिताः ॥ ५५ ॥

तं मि णाहो अणाहाणं, सव्वज्जुथाण संजया !

स्वामेपि ते महाजागा !, इच्छामि अणुसासितुं ॥ ५६ ॥

हे संयत ! न्यम, अनाधानां सर्वदूतानां व्रसानां स्थावरानां च जीवानां नाथोऽसि । हे महाभाग ! हे महाभाग्ययुक्त ! (ने इति) त्वामहं क्रमामि, मया पूर्वं यस्मिन्वापराधः कृतः स कृतव्य इत्यर्थः । अथ भवतोऽनुशासयितुं त्वत्तः शिक्षयितुमात्मानमिच्छामि । मदीय आत्मा तवाङ्गाऽनुवर्ती भवत्विति च्छामीत्यर्थः ।

(पाईटीका)

(ने सीति) पूर्वाह्नेन रूपवृद्ध्या कृता, उत्तराह्नेन तु क्रमजोपसंपन्नता दर्शिता । दह (तुष्टे स्ति) त्वम (अणुसासयं ति)

अनुशासयितुं शिक्षयितुमात्मानं जवतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

पुनः क्रमणामेव विशेषत आह—

पुच्छिऊणं मए तुज्जं, ज्जाणविग्घो य जो कओ ।
निर्मांतयो य जोएहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥ ५७ ॥

हे महर्षिन् ! मया तुज्यं पृष्ट्वा प्रश्नं कृत्वा यस्तव ध्यानविघ्नः कृतः च पुनर्जौगैः कृत्वा निमन्त्रितः—भोः स्वामिन् ! भोगान् वृक्षवेत्यादिप्रार्थना तव कृता तं सर्वं मे ममापराधं कृतुमर्हसि, सर्वं ममापराधं क्रमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाध्ययनार्थोपसंहारमाह—

एवं युणित्ताणं स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ जत्तिण ।
सावरोहो सपरियणो सवंधवो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चयसा ॥ ५८ ॥

राजसिंहः श्रेणिको राजा । एवमुक्ता प्रकारेण, तमनगरसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, विमलेन निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽज्ञदिति शेषः । कीदृशः श्रेणिकाः ? , सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः । पुनः कीदृशः ? , सपरिजनः सहपरिजनैर्वर्तते इति सपरिजनो नृत्यादिवर्गसहितः । पुनः कीदृशः ? , सबान्धवः सह बान्धवैर्जातप्रमुखैर्वर्तते इति सबान्धवः । पुराऽपि वनवाटिकायां सर्वान्तःपुरपरिजनबान्धवकुटुम्बसहित एव श्रीमां कर्तुमागात्, ततः मुनेर्वाक्यश्रवणात्सर्वपरिकरयुक्तो धर्मानुरक्तोऽज्ञदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

उस्ससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं ।

अभिवंदितुण सिरसा, अइयाओ नराहिओ ॥ ५९ ॥

नराधिपः श्रेणिकोऽतियातो गृहं गतः । किंकृत्वा ? , शिरसा मस्तकेन, अभिवन्द्य मुनिं नमस्कृत्य । पुनः किंकृत्वा ? , प्रदक्षिणां कृत्वा प्रदक्षिणां दत्त्वा । कथमनुतो नराधिपः ? , (उस्ससियरोमकूवो स्ति) उच्छ्वसितरोमकूपः साधोदर्शनाद्वाक्यश्रवणादुल्लसितरोमकूपः ॥

(पाईटीका)

उच्छ्वसिता ह्वोच्छ्वसिता उद्भिन्ना रोमकूपा रोमरन्ध्राणि यस्य स उच्छ्वसितरोमकूपः । (अइयाओ स्ति) अतियातो गतः स्वस्थानमिति गम्यते ॥ ६० ॥

इयरो वि गुणसमिच्छो,

तिगुत्तिगुत्तो तिंदरुविरओ य ।

विहंग इव विप्पमुको,

विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥ ६० ॥ ति वेमि ॥

अथेतरोऽपि श्रेणिकापेक्षयाऽपरोऽपि मुनिरपि वसुधां पृथिवीं विहरति विहारं करोति । कीदृशः सन् ? , विमोहः सन् मोहरहितः सन्—अर्थात् केवली सन्, कीदृशो मुनिः ? , गुणसमृद्धः सप्तविंशतिसाधुगुणसहितः । पुनः कीदृशः ? , त्रिगुणसिगुतः गुणत्रयसहितः । पुनः कीदृशः ? , त्रिदण्डविरतः त्रिदण्डेभ्यो मनावाकायानामशुजव्यापारेभ्यो विरतः । पुनः कीदृशः ? , विहङ्ग इव विप्रमुक्तः पञ्जीव कच्चिदपि प्रतिबन्धरहितो निष्परिग्रह इत्यर्थः । इति सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं प्रति वदति, अहमिति ब्रवीमीति ॥ ६० ॥ उक्तं २० अ० ।

अणहपवज्जा-अनाथप्रज्जा-स्त्री० । विंशतितमे उत्तराध्य-
यने, स० ३६ सम० । तच्च महानिर्ग्रन्थीयमिति नाम्ना प्रसि-
द्धम् । उक्तं २० अ० ।

अणहारण-अनाधरण-न० । आध्रियतेऽनेनेत्याधरणमाधारः ।
तन्निषेधोऽनाधरणम् । आधर्तुमकमे, ज० १८ हा० ३ उ० ।

अणहसाला-अनाथशाला-स्त्री० । आराम्यशालायाम्,
व्य० ४ उ० ।

अणहार-अनाहार-पुं० । न० त० । आहारविपरीतेऽच्यव-
हार्ये, तल्लक्षणं चाऽऽहारनिवृत्त्यमित्याहारानाहारयोः स्वरूप-
मत्रैव प्रदर्शयते-

परिवासिअआहार-स्स मग्गणा को भवे अणहारो ? ।

एगंगिओ चउविहो, जं वा अस्समज्जाइ तहिं ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गणा विचारणा कर्त्तव्या । तत्र
शिष्यः प्राह-वयं तावत् एतदेव न जानीमः को नाम आहारः
को वा अनाहारः? इति । सुरिराह-एकाङ्गिकः शुद्ध एव यः क्षुधां
शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अनशनदिकश्चतुर्विधः ।
यद्वा-तत्राहारेऽन्यद् लवणादिकमतिरिच्यति प्रविशति, तदप्या-
हारो मन्तव्यः ।

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे-

कूरो नासेइ बुहं, एगंगि तक्कउदगमज्जाइ ।

खाइम फलसंसाइ, साइम महुफाणियाईणि ॥

अशने कूर एकाङ्गिकः शुक्र एव क्षुधं नाशयति । पाने तक्रोद-
मन्थादिकमेकाङ्गिकमपि तृपं नाशयति, आहारकार्यं च करोति,
स्नादिमे फलमांसादिकं, स्वादिमे मधुफाणितादीनि केवलान्य-
प्याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

'जं वा अईइ तहिं ति' [मूत्रसूत्रस्थं] पदं व्याख्यानयति-

जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई ।

तं पि होइ आहारो, आहारजुयं व विज्जुतवा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिकं क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारे उपयुज्यते तद-
प्याहारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽऽहारो भवति, तच्च सवणादि-
कम् । तत्राशने सवणदिहृज्जीरकादिकमुपयुज्यते ।

उदए कप्पूराई, फलसुत्ताईणि सिंगवेरगुत्ते ।

न य ताणि स्वविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते, आम्रादिफलेषु सूक्तादीनि क-
र्म्याणि, गृह्णवेरं च शुक्र्यां गुरु उपयुज्यते । न चैतानि कर्पूरा-
दीनि क्षुधां क्षपयन्ति, परमुपकारित्वादाहार उच्यते, शेषः
सर्वोऽप्यनाहारः ।

अहवा जं जुक्खुत्तो, कइमउवमाइ पक्खिवइ कोट्टे ।

सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो जइतो ॥

अथवा बुभुक्षया आर्त्ताय कर्दमोपमया गृहादिकं कोष्ठे प्रक्षि-
पति । कर्दमोपमानामपि कर्दमपि एतानां कुर्यात् कुर्किं निरस्तं
स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिकं पुनर्जकं बिकल्पितं
किञ्चिदाहारः किञ्चिन्नाहार इत्यर्थः । तत्र शर्कराविकमौषध-
माहारः, सर्पदंष्ट्रादेर्मृत्तिकादि औषधमनाहारः ।

जं वा जुक्खुत्तस्स उ, संकममाणस्स देइ अस्सादं ।

सव्वो सो आहारो, अकामऽणिट्ठं चऽणहारो ॥

यद्वा-अन्यबुभुक्षाऽऽर्तस्य संक्रमतो प्रसमानस्य कम्बलप्रक्षेपं कु-
र्वत इत्यर्थः; आस्वादे रसनाह्लादकं स्वादे प्रयच्छति स सर्व आ-
हारः । यत्पुनरकाममन्यवहारमीत्येवमनभिलषणीयम्, अनिष्टं
च जिह्वाया अरुच्या, ईदृशं सर्वमनाहारो भण्यते ।

तश्चानाहारिमभिदम्-

अणहार मोय उल्ली, मूत्रं च फलं च हांति ऽणहारो ।

सेस तयजूतोयं, विट्ठिमि व चउगुरु आणा ॥

मोक्षं कायिकी, कृत्स्नी निम्बादित्वक्, मूत्रं च पञ्चमूलादिकं, फलं
चाऽऽमलकहरीतकविभीतकादिकमेतत्सर्वमनाहारो भवतीति
चूर्णः । निशीथचूर्णौ तु या निम्बादीनां गृहीत्वक् तच्च, तेषामेव
निम्बोलिकादिकं फलं, यच्च तेषां मूलम्, एवमादिकं सर्वम-
प्यनाहार इति व्याख्यातम् । वृ० ५ उ० । नि० चू० ।

चउहारे रयणीए, कपिज्जइ जाणि माणि वट्ठुणि ।

समभागकथा तिहना, नूनिबोसीरचंदणयं ॥ ५६ ॥

गोमुत्तं कमु रोहिणि, वग्घो अभया य रोहिणी तुग्गा ।

मुग्गव वया करीरय, लिंबं पंचंगभासगणो ॥ ५७ ॥

नह आसगंधि बंभी, चीडै हलिहा य कुंदरु कुट्टा ।

विसनार्इ य धमासो, बोलयबीया अरिट्टा य ॥ ५८ ॥

मिरुलमै जिठकके-व्हिकुमारिकं थेर बेर कुट्टा य ।

कप्पास वोय पत्तय, अगुरुत्तुक्का य तंतुवडा ॥ ५९ ॥

धवखयरपत्तासाइ, कंठकरुक्खाण गल्लिया साणा ।

जं ककुयरसपरिगयं, आहारं पि हु अणहारं ॥ ६० ॥

इच्चाइ जं अणिठं, पंकुवमं तं भवे अणहारं ।

जं इच्छाप जुंजइ, तं सव्वं हवइ आहारं ॥ ६१ ॥ " ल० प्र० ।

यथा पञ्चाङ्गनिम्बगुडचूचकू 'किरिआतुं' 'अतिविसर्चामि'-
'सुकमि'-रक्ता-हरिद्रा- रोहिणी 'ऊपडोढ' वज-त्रिफला-
वाउडगृहीत्यन्ये धमासो-नाहि-आसंधिरिंगणी-एवीओ-गुग्गु-
ल-हरमां-दल-अगणि-बदरी-कंथेरि-करीर-मूत्रं-पूषारु-मं-
जीठ बोलविओ-कुंआरि- चित्रक-कुन्दरुप्रभृतयोऽनिष्टाख्यानि
रोगाद्यापि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्पयन्तीति । ध० २ अधि० ।
त्रिफलाद्यनाहारवस्तुष्वव्यमये गण्यते, न वा ? तत्रैवं प्रतिज्ञाति-
यदनाहारवस्तु प्रायो द्रव्यमध्ये गण्यते, यदि च प्रत्याख्यानाव-
सरे तदगणनमेव विवक्षितम्, तदा न गण्यतेऽपि । यथा सचित्त-
विकृत्योर्द्रव्यमध्ये ग्रन्थेऽगणनेऽनिहितेऽपि संप्रति बहवो जनाः
प्रायस्तयोर्द्रव्यमध्ये गणनां कुर्वाणा उपलभ्यन्ते इति । ही० ३
प्रका० । न विद्यते आहारो यस्त्येयनाहारः । आचा० १ धु० ८
अ० ८ उ० । अविद्यमानाहारे, दश० १ अ० ।

अणधार-पुं० । ऋणधारके, विपा० १ धु० १ अ० ।

अणहारग-अनाहारक-पुं० । न० त० । आहारमकुर्वति विप्र-
हत्यापक्षे समुद्घातगतकेवलनि, अयोगिसिद्धे च । ज० ६
श० ३ उ० । " गेरइया पुविहा पण्त्ता । तं जहा-आहारगा
चेव अणहारगा चेव, एवं जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा०
२ उ० । अ० ।

अनाहारकाभत्वारः-

विगहगमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।

सिद्धा य अणहारा, सेना आहारगा जीवा ॥

विप्रहगतिर्भवाद् जवान्तरे विभ्रेया गमनम्, तामापन्नाः सर्वे-
ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुहताः कृतसमुद्घाताः, तथाऽ-

योनिः शैलेभ्यवस्थां प्राप्ताः, तथा सिद्धाः क्रीणकर्माष्टकाः । सर्वेऽप्येवमाहाराः, एतद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परमं गच्छतां जन्तूनां गतिर्द्वेषा-चतुर्गतिः, विग्रहगति-श्च । तत्र यदा जीवस्य मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं समर्थगतां प्रा-ञ्जलमेव जयति तदा चतुर्गतिः सा चैकस्मया समर्थगताव-स्थित्येनात्पत्तिदेशस्याद्यसमय एव प्राप्ते नियमादाहारकश्चा-स्या देयप्राप्तशरीरमोक्षप्रद-प्राप्ताराभावेनाहाराद्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्तुं भवति तदा विग्रहगतिः, वक्रध्रेणामन्तरारम्भरूपेण विग्रहेणोपलब्धिता गतिर्विग्रहगति-रिति कृत्वा तत्र विग्रहगत्यापन्ना उत्कर्षतस्त्वां समयात् याव-दनाहारकाः तयाहस्यां वक्रगतौ स्थिता जन्तुकेन द्वाभ्यां त्रि-भिश्चतुर्भिर्वा वैकल्पित्तिदेशमायाति, तत्रैकवक्रायां चैव समयां तयोश्च नियमादाहारकः । तथाह्याद्यसमये पूर्वशरीरमोक्षस्तस्मि-समये तच्छरीरयोग्याः केचित् पुज्जलाः जीववीर्ययोगाल्लोमाहा-राः तस्मिन्मध्यामायान्ति । औदारिकवैक्रियाहारकपुज्जलादीनां चा-हारः, तत आद्यसमये आहारकः, द्वितीये च समये उत्पत्तिदेशे तद्व्ययोग्यशरीरपुज्जलादानादाहारकः, द्विवक्रायां गतौ त्रयः स-मयाः । तत्राद्येऽन्त्ये च प्राग्वदाहारको मध्यमे त्वनाहारकः । त्रि-वक्रायां चत्वारः समयाः, ते चैवं त्रसनाड्या बहिरधस्तनजागा-दूर्ध्वमुपरितनजागादधो वा जायमानो जन्तुर्विदिशो दिशि दिशो वा विदिशि यदात्पद्यते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति, द्वि-तीयेन त्रसनाडीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुपयते । दिशो विदिशि उत्पादे त्रसनाडीं प्रविशति, तृती-येनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुपयते; दिशो विदिशि उ-त्पादे त्वाद्ये समये त्रसनाडीं प्रविशति, द्वितीये उपर्यधो वा या-ति, तृतीये बहिरुपयति, चतुर्थे विदिशि उत्पद्यते । अत्राद्यन्तयोः प्राग्वदाहारको मध्यमयोस्त्वनाहारकः । चतुर्वक्रायां पञ्च समयाः, ते च त्रसनाड्या बहिः, एवं विदिशो दिश्युत्पादे प्राग्वद्भावनी-यः । अत्राप्याद्यन्तयोराहारस्त्रिषु त्वनाहारकः । प्रव० २३३ द्वा० । चतुःसमयोत्पत्तिश्चैव भवति-त्रसनाड्या बहिरपरिष्ठादधोऽध-स्ताद्वा पर्युत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदुत्पद्य-ते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनाडीं प्रवेशः, द्वितीयेनोप-र्यधो वा गमनम्, तृतीयेन च बहिर्निःसरणम्, चतुर्थेन तु विदिक्-त्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पञ्च समयास्त्रसनाड्या बहिरव विदिशो विदिगुत्पत्तौ लज्यन्ते । तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवग-न्तव्यम् । आद्यन्तसमयोस्त्वाहारक इति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । तथा केवलिनः समुद्धानेऽष्टसामाधिके तृतीयचतुर्थपञ्चमरू-पात् केवलकामेययोगयुतांस्त्रीन्समयान् अयोनिः शैलेभ्यव-स्थायां ह्रस्वपञ्चाकरोच्चारणमात्रम् । सिद्धास्तु सादिमपर्यवसितं कालमनाहारका इति । प्रव० २३३ द्वा० । केवलसमुद्धानेऽपि कामेयशरीरवर्त्तित्वात् तृतीयचतुःपञ्चसमयेष्वनाहारकोऽष्ट-व्यः । शेषेषु त्वौदारिकादितन्मिश्रशरीरवर्त्तित्वात् आहारक इति । (मुद्गलमण्डं च त्ति) अन्तर्मुद्गलं गृह्यते । तच्च केवली स्याद्युषः क्रये सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाकरोच्चारणमात्र-काद्यं यावदनाहारक इत्येवमवगन्तव्यम् । सिद्धार्जावास्तु शैले-भ्यवस्थाया आदिममयादारभ्यानन्तमपि काद्यमनाहारका इति ।

साम्प्रतमेतदेव स्वामिचिशेषविशेषिततरमाह-

पङ्कं च दो व मपण, केवलपिगिज्जिया अणाहारा ।

पंचम्मि दां णि द्वाप, य पुरिण त्तिनि समयाओ ॥ ७ ॥

केवलपिगिज्जिताः संसारस्था जीवा एकां द्वौ वा अनाहारका भवन्ति । ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामाधिकायां द्रष्टव्याः । चतुर्विग्रहपञ्चसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्त्वाश्रितेति न साक्षादुपपत्ता । तथाऽप्यत्राप्यभिहितम्-एकां द्वौ वाऽनाहार-कः । वाशब्दादत्रिन् वा आनुपूर्व्या अच्युदय उक्तुपत्तौ विग्रहगतौ चत्वारः समया नाऽऽगमऽभिहिताः । ते च पञ्च समयोत्पत्तौ ल-भ्यन्ते, नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्धानमप्येतत्करणोप-संहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयो द्वौ लोकपूर्णचतुर्थसमयेन सहिताख्यः समया भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि नियुक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकं दर्शयितुमाह-

अंतो मुद्गलमण्डं, सेलेसीए जवे अणाहारा ।

मादीयमनिहणं पुण, सिद्धायणाहारगा हंतो ॥ ८ ॥

शैलेभ्यवस्थाया आरभ्य सर्वथाऽनाहारकः सिद्धावस्थाप्राप्ता-वनन्तमपि कालं यावदिति पूर्वतु कावन्निकाख्यव्यतिरेकेण प्रति-समयमाहारकः । कावन्निकेन तु कदाचित्क इति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । नि० । श्रु० । कर्म० । [कं समयमनाहारकः “ जीवे णं जंते ! कं समयमणाहारणं भवइ त्ति ” ‘आहार’ शब्दे द्वि-तीयजागे १०० पृष्ठे बह्यते]

अणाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० चू० ११ उ० ।

अणाहारिय-अनाहृत-त्रि० । अतीताहरणक्रियाऽपरिणा-मिते, भ० १ श० १ उ० ।

अणादिहृद-अनाधृष्ट-पुं० । वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, त-द्व्यक्तव्यता गजसुकुमारस्येवेत्यन्तकृद्दृशानां तृतीये वर्गे त्रयोद-शाध्ययने सूचिता । अन्त० ३ वर्ग० ।

अणिइय-अनितिक-पुं० । इतिशब्दो नियतरूपोपदर्शनपरः, त-तश्च न विद्यते इतिर्वासावानितिकः । अविद्यमाननियतस्वरूपे, ईश्वरादेरपि दारिद्र्यादिभावात् संसारे, भ० ए श० ३३ उ० ।

अणिइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । इतिविग्रहितच्छेदे, शा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिजं (उँ) तय-अतिमुक्तक-न० । मुचो-भावे-क्त । अ-तिशयेन मुक्तं बन्धनं यस्य । प्राकृते ‘गर्जितातिमुक्तके णः’ ८ । १ । २०८ । इति तस्य णः प्रा० । ‘यमुनाचामुण्डाकामुकाति-मुक्तके मोऽनुनासिकश्च’ १ । १ । १७८ ॥ इति मस्य लुक्, तत्स्था-ने चाऽनुनासिकः । प्रा० । ‘वक्रादावन्तः’ ॥ ८ । १ । २६ ॥ इति तृतीयस्याऽनुस्वारः । प्रा० । तस्य णत्वेऽकृते-‘अइमुंतयं अइमु-त्तयं’ इति रूपद्वयम् । तिङ्पुटपृष्ठे तात्वृक् च । प्रज्ञा० १ पद । अणिउण-अनिपुण-त्रि० । न निपुणोऽनिपुणः । अक्रुशले, आव० ४ अ० । नि० चू० । दर्श० ।

अणिअचारि (ण)-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्र-तिबद्धं परिग्रहायोगाश्रितं शीलमस्याऽसावनियतचारी । अप्र-तिबद्धविहारिण, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । “ स भूइपणं अणिअ-अचारी, ओहंतरे धीर अणंतचक्खु ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । “ अखिले अगिद्धे अणिअचारी, अभयंकरे भिक्खु अणा-विद्वप्पा ” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणिअवास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिनाऽनिकेन-वासे अग्रह उद्यानादौ वासे, “ अणिअवाससमुयाण चरि-

या, अणाय उक्तं पदं तिग्न्या य " दश० २ चू० ।

अणिअंग-अनियोग-पुं० । नियोगादयोऽनियोगः । विपर्य-
यान्नियोगे, पं० सू० ४ सू० ।

अणिगाल-अनङ्गार-त्रि० । रागपरिहारेणाङ्गारदोषरहिते, प्र-
श्न० १ सभ० द्वा० ।

अणिद-अनिन्द-त्रि० । नास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्दः । इ-
न्द्रविरहिते प्रजाम्बामिके, ज० २ श० १ उ० ।

अनिन्द-त्रि० । अनुपुसिते, सामायिके च । आ० म० द्वि० ।
आ० चू० ।

अणिदुणिज-अनिन्दनीय-त्रि० । गीतार्थादिजनादृष्ये, जी०
१ प्रति० ।

अणिदिय-अनिन्दित-त्रि० । शुभानुबन्धितयाऽगर्हणीये, ध०
१ अधि० । सप्तमकिन्नरेषु, प्रज्ञा० १ पद ।

अनिन्दिय-पुं० । सिद्धे, अपर्याप्तके, उपयोगतः केवलिते,
स्था० १० ग० । " णेरड्या दुविहा पणत्ता । तं जहा-सिद्धिया
चेव, अणिदिया चेव जाव वेमाणिया " स्था० २ ग० २ उ० ।

अणिदिया-अनिन्दना-स्त्री० । पृष्ठ्यामूर्ध्वलोकवास्तव्यायां
दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ग० आ० चू० । आ० म०
प्र० । ति० ।

अणिदियत्त-अनिन्दित-न० । अविश्रान्ते, औ० । म० ।

अणिकंप-अनिष्कम्प-त्रि० । अनिश्चये, आचा० २ शु० २ अ० ३ उ० ।

अणिकाम-अनिकाम-न० । परिमिते, वृ० १ उ० ।

अणिकाय-अनिकाय-पुं० । लघुसृपावादे, ति० चू० १ उ० ।

(' मुसावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः) ।

अणिकेय-अनिकेत-पुं० । न विद्यते निकेतो गृह यस्य । उक्त०
२ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र वक्षास्पदे, उक्त० १ अ० ।

अणिकृष्ट-अनिष्कृष्ट-त्रि० । न० त० । द्रव्यतोऽकृशशरीरे, जा-
वतोऽवशीकृतकपाये, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

अणिकावाङ् (ए)-अनेकवादिन्-पुं० । सत्यपि कथाश्चिदेक-
त्वे भावानां सर्वथाऽनेकत्वं वदतीत्यनेकवादी । परस्परवि-
लक्षणा एव भावाः, तथैव प्रतीयमानत्वात् । यथा रूपं रूपत-
येति । अनेदे तु भावानां जीवाजीववच्चमुक्तसुखितदुःखिता-
दीनामेकचप्रसङ्गाद् दीक्षादिवैयर्थ्यमिति । किञ्च-सामान्य-
मङ्गीकृत्यैकत्वं विवक्षितं परैः । सामान्यं च भेदेभ्यो निष्ठाभि-
न्नतया चिन्त्यमानं न युज्यते । एवमवयवेभ्योऽवयवी धर्मेभ्यश्च
धर्मा इत्येवमनेकवादी । इत्युपदिष्टस्वरूपे अक्रियावादिनि,
स्था० ७ ग० ।

अणिकिञ्च-अनिक्षिप्त-त्रि० । अयुज्जितेऽप्रत्याख्याते, ज०
१७ श० २ उ० । अविश्रान्ते, औ० ।

अणिगाममोक्त्व-अनिकाममोक्त्व-त्रि० । अपकृष्टसुखे तुच्छ-
सुखे, उक्त० १४ अ० ।

अणिगण-अनग्न-पुं० । न विद्यन्ते नग्नास्तत्कालीना जना
येभ्यस्तेऽनग्नाः । ज० २ वक्र० । मवत्त्वन्वेहेतुषु कष्टवृत्तेषु,
स० १० सम० ।

अणिगृह-अनिगृह-न० । अगोपने, पंचा० १५ विव० ।

अणिगृहयवलयवीर्य-अनिगृहितवलयवीर्य-पुं० । अनिगृ-

हितेऽगोपिते वलयवीर्ये देहप्राणचित्तोत्साहरूपे येन स तथा ।
पंचा० १५ विव० । अनिगृहितवलयवीर्यन्तरसामर्थ्ये, ग० १ अधि० ।
दश० । आचा० । पं० चू० । " अणिगृहयवलयवीर्य, परिक्रमह
जो जहुत्तमाउत्तो । जं जइव जहा थामं, नायवो वीरियायारो "
दश० ३ अ० । पं० चू० । पञ्चा० ।

अणिगृह-अनिगृह-पुं० । अविद्यमानो निगृह इन्द्रियतो-
इन्द्रियनियन्त्रणात्मकोऽस्येति । उक्त० १७ अ० । अवशीकृतोऽि-
ये, उक्त० ११ अ० । स्वैरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । उच्चृहखेत्रे,
दश० ८ अ० । एकादशे गौणाऽब्रह्मणि, तत्राऽनिगृहोऽनिषेधो
मनसो विषयेषु प्रवर्तमानस्येति गम्यते । एतत्प्रभवत्वाच्चास्या-
ऽनिगृह इत्युक्तम् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अणिच-अनित्य-त्रि० । न० त० । नित्यभिन्ने सर्वदा स्थायिनि, आचा०
१ शु० १ अ० २ उ० । प्रत्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थं
नित्यत्वेन व्यवस्थितं सन्नित्यं तैवं यत्तदनित्यम् । अच्युतानुत्पन्न-
स्थिरैकस्वभावं हि नित्यमनोऽन्यप्रतिक्षणविशारद अनित्यम् ।
आचा० १ शु० २ अ० ३ उ० । अनु० । उक्त० । अशाश्वते, उक्त० २
अ० । अनित्यमस्थिरत्वात् । प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अणिचजागरिया-अनित्यजागरिका-स्त्री० । अनित्यचित्ता-
याम्, " अणिचजागरियं जागरैति " भ० १५ श० १ उ० ।

अणिचभावणा-अनित्यभावना-स्त्री० । अनित्यत्वचिन्तना-
त्मके प्रथमभावनाजदे, प्रव० । तत्स्वरूपं च—

" प्रस्यन्ते यज्जसाराङ्गा-स्तोऽनित्यत्वरक्तसा ।
किं पुनः कदलीगर्भ-निःसारा तेह देहिनिः ? ॥ १ ॥
विषयसुखं दुग्धमिव स्वादयति जनो विनाश इव मुदितः ।
नोत्पादितव्रगुरुमिवोत्पद्यति यममहह ! किं कुर्मः ? ॥ २ ॥
धराधरधुनीनीर-पूरपाणिपूवं वपुः ।
जन्तूनां जीवितं यात-धृतध्वजपटोपमम् ॥ ३ ॥
बाधण्यं ललनाञ्जक-बोचनाञ्चलचञ्चलम् ।
यौवनं मत्तमातङ्ग-कर्णताञ्चलचलम् ॥ ४ ॥
स्वाम्यं स्वप्नावलीसाम्यं, चपञ्चाचपञ्चाः श्रियः ।
प्रेम द्वित्रकणस्येव, स्थिरत्वविमुखं सुखम् ॥ ५ ॥
सर्वेषामपि भावानां, नाययन्नित्यनित्यताम् ।
प्राणप्रियेऽपि पुत्रादौ, विपन्नेऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
सर्ववस्तुषु नित्यत्व-ग्रहस्तस्तु मूढधीः ।
जीणतृणकुटीरेऽपि, जग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥ ७ ॥
ततस्तृणाविनाशेन, निर्ममत्वविधापिनीम् ।
शुद्धीर्भावयेन्नित्यमित्यनित्यत्वजावनाम् " ॥ ८ ॥ प्रव० ६७ द्वा० ।

तत्रानित्यत्वजावनैवम्—

" यत्प्रातस्तत्र मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तस्मिन् ।
निरीक्यते भवेऽस्मिन् हि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थनिबन्धनम् ।
प्रचरुपयनोद्धृत-घनाघनयिनश्चरम् ॥ २ ॥
कल्लोऽचपला लक्ष्मीः, संगमाः स्वप्नमंतिनाः ।
वात्याञ्चनिकरोक्तिप्र-तृप्तुल्यं च यौवनम् ॥ ३ ॥
तथा ध्यायन्नित्यत्वं, मृतं पुत्रं न शोचति ।
नित्यतां गृहमृदस्तु, कुड्यनङ्गेऽपि रोदिति ॥ ४ ॥
एतच्छरीरधनयौवनबान्धवादि,
तावन्न केवन्ननित्यमिहाऽनुभाजम् ।

विश्वं सचेतनमचेतनमप्यशेष-

मुपसिधर्मकमन्तिमुशन्ति सन्तः ॥ ५ ॥

इत्यनित्यं जगद्भूतः । स्थगचित्तः प्रतिक्षणम् ।

तृणाकृष्णः ह्रस्वनाय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ ६ ॥ ध० ३३ अधि० ।

अणिच्चया-अनित्यता-स्वा० अनश्चरतायाम्, सप्र० ।

अभुता सर्वस्वाताऽनित्यतां दर्शयितुमाह-

देवा गंधर्वरक्षसा, असुरा जूमिचरा सरीसिवा ।

गया नर मेढि माहणा, ठाणा ते वि चरन्ति दुर्किखा । ॥ १ ॥

देवा ज्योतिष्मसौधर्माः, गन्धर्वराक्षसयोरुपपन्नत्वाद्दृष्ट-

प्रकारा द्यन्तरा गृह्यन्ते । तथा-समुद्रा दशप्रकारा जघनपतयः ।

ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्यास्तिर्यञ्चः । तथा-राजानश्च-

कवर्तिनो ब्रह्मदेवयामुदेचप्रभृतयः । तथा-नराः सामान्यमनु-

ष्याः, ध्रुविनः पुरमहन्तराः ब्राह्मणाश्च, एते सर्वेऽपि स्वकीयानि

स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति । यतः-सर्वेषामपि प्राणि-

ना प्राणपरित्यागे महद् दुःखं समुपपद्यत इति ॥ ५ ॥

किञ्च-

कामेहि य संघवेहि य ,

गिष्ठा कम्ममहा कालेण जंतवो ।

ताले जह वंधणच्छुए ,

एवं आउक्खयम्मि तुट्ठति ॥ ६ ॥

कामैरिच्छामदनरूपैः, तथा संस्तवैः पूर्वापरभूतैः, गृहा अभ्यु-

पपन्नाः सन्तः (कम्मसद् इति) कर्मविपाकसहिष्णवः । काक्षेन

कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति-

भोगेणोविषयाऽऽसेवनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र क्लेश एव

केवलं न पुनरुपशमावाप्तिः । तथाहि- "उपभोगोपायपरो, वा-

ञ्छन्ति यः शमयितुं विषयतृष्णाम् । धावत्याऽकमितुमसौ पुरो-

ऽऽराहेतिजज्ञायाम्" ॥ १ ॥ न च तस्य रुमुषोः कामैः संस्तवैश्च

प्राणमस्तीति दर्शयति-यथा तालफले बन्धनाद्धन्तात् च्युतम-

प्राणमवदयं पतति, एवमस्मावपि स्वायुषः कृत्यं श्रुत्यति जीवि-

तात् च्यवत इति ॥ ६ ॥

जे या वि बहन्तु िरा,

धम्मियमाहणानिक्खण मिया ।

अन्ति गृपक्खेहिं मुच्छिण् ,

तिव्वं मे कम्मोहिं किञ्चर्ता ॥ ७ ॥

ये चापि बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिका धर्माचरण-

श्रद्धाः, तथा ब्राह्मणाः, तथा भिक्षुका भिक्षाटनशीलाः, स्युभ-

वेयुः, तेऽप्यातिमुष्येन (णमंति) कर्म माया वा तत्कृतेरसदनु-

ष्ठमैर्मिच्छता गृह्णन्ति वमन्यधमम् । अत्र च गान्दसत्वाद् बहुच-

चन इष्ट्यम् । पश्यन्तुताः कर्माभिरसद्वेद्यादिभिः कृत्यन्ते विद्य-

न्ते पीड्यन्ते इति यावत् ॥ ७ ॥

साम्प्रतं ज्ञानदर्शनचार्ित्रमन्तरेण नाऽपरो मोक्षमार्गोऽस्तीति

त्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्याऽगामित्वात् । अथ कर्मप्रतिषेधार्थमाह-

अहं पाम विवेगमुट्ठिण्,

अविनिच्रे इहं नामडं दुवं ।

णादिसि आरं कओ पं,

वेदामे कम्मोहिं किञ्चर्ता ॥ ८ ॥

अथेयधिकारान्तरे यद्वादेशे एकदेश इति । अथेयनन्तरं ए-

तश्च पश्य यस्तीर्थिको विवेकं परित्यागं गृहस्य परिज्ञानं

वा संसारस्याऽऽश्रित्योत्थितः प्रयज्योत्थानेन ? । स च सम्य-

क्परिज्ञानाभावाद्वितीर्णः संसारसमुद्रमतितीर्थुः केवलमिह

संसारं प्रस्तावे वा शाश्वतत्वाद् भूवो मोक्षस्तं तदुपायं वा

संयमं ज्ञापत एव न पुनर्विधत्ते । तत्परिज्ञानाभावादिति भावः ।

तन्मागे प्रपन्नस्त्वमपि कथं हास्यसि ? आरमिह प्रव, कुतो वा

परं परलोकम् ? । यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव-

ज्यापर्यायम् । अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्, एवंभू-

तश्चाऽन्योऽप्युभयभ्रष्टः (वेदासि त्ति) अन्तराले उभयांजावतः

स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीड्यत इति ॥ ८ ॥

ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्ट-

सवेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह-

जइ वि य णिगणे किसे चरे,

जइ वि य जुंजिय मामसंतो ।

जे इह मायादि मिज्जइ,

आगंता गब्जाय ऽणंतसो ॥ ९ ॥

यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादित्यक्तबाह्यगृहवासादिपरिग्र-

हत्वाद् निष्किञ्चनतया तपस्त्वक्त्राणाज्जावाच्च कुशश्चेत् ;

स्वकीयप्रव्रज्याऽनुष्ठानं कुर्यात् । यद्यपि च षष्ठाष्टमदशमद्वादशा-

दि तपोविशेषं विधत्ते । यावदन्तशो मासं स्थित्वा भुङ्क्ते, तथा-

ऽपि आन्तरकपायाऽपरित्यागाच्च मुच्यते इति दर्शयति-य-

स्तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वात् कषायैर्युक्त इ-

त्येवं परिग्रह्यते असौ गर्भाय गर्भार्थमा समन्ताद् गन्ता यास्य-

त्यन्तशो निरवधिकं कालमिति । एतदुक्तं जयति-अकिञ्चनो-

ऽपि तपोनिष्ठप्रदेहोऽपि कपायाऽपरित्यागाग्नरकादिस्थानात्

तिर्यगादिस्थानं गर्भाकर्मनस्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारं

पर्यटतीति ॥ ९ ॥

यतो मिथ्यादृष्टमुपादिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतो

ममुक्त एव मार्गे स्थेयमेतत्कर्ममुपदेशं दातुमाह-

पुरिसोपरम पावकम्मणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं ।

सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंबुद्धा ॥ १० ॥

हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणा असदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षि-

तस्तत्र ऽसकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरम निवर्तस्व । यतः पुरु-

षाणां जीवितं सुवद्वापि विपल्योपमात्, संप्रमज्जीवितं वा पल्यो-

पमस्यान्तर्मध्ये वर्तते, तदऽप्युत्तमं पूर्वकाटिमिति यावत् । अथ

वा-परि समन्तात् अन्तोऽस्येति पर्यन्तं सान्तमित्यर्थः । तथैवं

तत्तमेवाऽवगन्तव्यम् । तदेव मनुष्याणां स्तोत्रं जीवितमवग-

म्य यावत्तत्र पर्यति तावच्छर्मानुष्ठानेन सकृद्वं कर्तव्यम् । ये पु-

न भोगेन हृष्टेऽवसन्ना मग्ना इह मनुष्यभवे संसारं वा कामे वि-

च्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अभ्युपपन्नास्ते नरा मोहं याप्ति, हि-

तादिनप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति मोहनीयं वा कर्मोपाचिन्वन्तीति

संभाव्यते । एतदसंबुत्तानां हिंसादिस्थानेभ्यो निवृत्तानामसं-

यतेन्द्रियाणां चेति ॥ १० ॥

एवं च स्थिते यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

जयवं विहराहि जोगवं, अणुयाणा पया दुरुत्तरा ।

अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं च समं पवेइयं ॥ ११ ॥

स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयाश्च क्लेशप्रायानवबुद्धा वि-

त्वा गृहपाशबन्धनं यतमानो यन्तं कुर्वन् प्राणितामनुपरोधेन

विहर युक्विहारी जव। एतदेव दर्शयति-यागयानिति-संयम-
योगवान्, गुप्तः समितिगुप्त इत्यर्थः । किमित्येवम्?, यतोऽणवः
सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु ते । तथा चैवंचूताः पन्थानोऽनुपयु-
क्तैर्जीवानुपमर्देन दुस्तरा दुर्गमा इत्यनेन दैर्घ्यात्मिनिरूपा कृता ।
अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वात् अन्यस्वपि समितिषु सततोपयु-
क्तेन जवितव्यम् । अपि च-अनुशासनमेव यथाऽऽगममेव सूत्रा-
ऽनुसारेण संयमं प्रकमेत् । एतच्च सर्वैरेव वीरैरर्हाद्भिः स-
म्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाऽऽख्यातामिति ॥ ११ ॥

अथ क एते वीरा इत्याह—

विरया वीरा समुष्टि-या कोहकायगियाइपीमणा ।

पाणे ण हणंति मव्वसो, पावाओ विरिया अजिनिवुत्ता ? २
हिंसाऽनृताऽऽदिपापेभ्यो ये विरताः, विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति
वीराः, सम्पत्तयस्तत्प्राप्त्यागो नोत्थिताः समुत्थिताः, ते, एवभूता-
श्च क्रोधकातरीकादिपापिणः, तत्र क्रोधग्रहणाद् मानो गृहीतः,
कातरीका माया, तद्ग्रहणाद्धातो गृहीतः । आदिग्रहणात् शेष-
माहनीयपरिग्रहः । तत्पीपणास्तदपनेतारः, तथा प्राणिनो जी-
वान् सूक्ष्मतरभेदभिन्नान् सर्वशो मनोवाकायकर्मभिर्न धनन्ति न
व्यापादयन्ति । पापाच्च सर्वतः सावधानुष्ठानरूपाद्विरता निवृ-
त्ताः, ततश्चाऽजिनिवृत्ताः क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः । यदि
वाऽजिनिवृत्ता मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्रं १ श्रुं
२ अ० १ उ० ।

अणिच्चाणुपेहा-अनित्यानुपेक्षा-स्त्री० । “ कायः सन्निहिता-
पायः, सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पा-
दि भङ्गुरम् ” ॥१॥ इत्येवं जीवितादेरनित्यस्यानुपेक्षा । धर्मरूपे
धर्मध्यानस्यानुपेक्षाजदे, स्था० ४ ग्रा० १ उ० ।

अणिच्चा-अनिच्चा-स्त्री० । इच्चाभावलक्षणायामात्मपरिण-
तौ, “ अनिच्चा ह्यत्र संसारे, स्वेष्टालाभादनुत्कटा । ” द्वा० ६
द्वा० । पं० सू० ।

अणिच्चियत्ता-अनीप्सितता-स्त्री० । प्राप्तुमवाञ्छितत्वे, भ०
६ श० ३ उ० ।

अणिच्चियव्व-अनेष्टव्य-त्रि० । मनागपि मनसाऽपि अप्रार्थ-
नीये, आव० ४ अ० । ध० । “ दुक्चिचिओ अणायारो अणि-
च्चियव्वो ” आव० ४ अ० ।

अणिजिष्ठ-अनिजीर्ण-त्रि० । जीवप्रदेशेच्यः परिशुद्धितप्रदे-
शे, औ० । कल्प० ।

अणि (सि) जमाण-अन्वीयमान-त्रि० । अनुगम्यमाने,
विपा० १ श्रुं १ अ० ।

अणि (सि) जमाणमग-अन्वीयमानमार्ग-त्रि० । अनुग-
म्यमानमार्गे, “ मच्छिया चरुगरहपहकरणे अणिजमाणमगे
मियागामे णयेर ” इत्यादि । विपा० १ श्रुं १ अ० ।

अणिजुहत्ता-अपोह-अव्य० । अदवेत्यर्थे, “ वत्थं अणिजू-
हित्ता ” अपोह्य दत्त्वा इस्ताद्यावृत्तमुखस्य । प्रति० । ज० ।

अणिजाएत्ता-अनिर्धार्य-अव्य० । चकुरव्यापार्येत्यर्थे, भ०
९ श० ९ उ० ।

अणिजायणत्तिया-अनिर्यापणात्मिका-स्त्री० । वाचनासंपद-
जदे, उक्तं १ अ० ।

अणिज्जुह-अनिर्युह-त्रि० । महतो ग्रन्थात् सुखावबोधाय

सङ्क्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिरनुद्धृते, ज० १ श० ए उ० ।

अणिट्ठ-अनिट्ठ-त्रि० । इष्यते स्मेति प्रयोजनवशात् इष्टम्,
न इष्टमनिष्टम् । भ० १ श० ५ उ० । ‘ प्रस्यानुष्टेष्टासंदष्टे ’ ॥ ७
। २ । ३४ ॥ इति सूत्रेण इष्ट्य चः । प्रा० । मनस इच्छामतिक्का-
न्ते, जी० १ प्रति० । उपा० । स्था० । भ० । अवाञ्छिते, भ० ए
श० ३३ उ० । सतामनभिलषणीये, “ महाइविसयसाहण-अण
संरक्खणपरायणमणिठं ” आव० ४ अ० । “ अणिठा, अकंता,
अपिपया, अमणुत्ता, अमणामा, एते एकार्थाः । विपा० १ श्रुं १
अ० । “ अणिठा जवंति णादिजे दुव्विणीया ” अनिष्टा जनस्ये-
ति गम्यते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । इष्टस्य सुखादेर्विराधिनि
प्रतिकूलवेदनीये दुःख, तत्साधने पापे, विषादौ, अपकारे च ।
नागवलायाम, स्त्री० । यज-क्त । न० त० । अकृतयागे देवा-
दौ, वाच० । स्था० ।

अणिट्ठतर-अनिष्टतर-त्रि० । अतिशयेन कमनीये, जी० ३
प्रति० । विपा० ।

अणिष्ठफल-अनिष्टफल-न० । अशुभे कर्मणि, उपा० २ अ० ।
अनभिमतफले दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव० । अनजिम-
तप्रयोजनेऽनर्थफले, पञ्चा० ३ विव० ।

अणिट्ठवयण-अनिष्टवचन-न० । आक्रोशवाचि, “ अणिट्ठवय-
णहि सप्पमाणा ” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणिठविय-अनिष्टापित-त्रि० । असमापिते, “ अणिठाविय-
सव्वकाव्वसंठपयं ” अनिष्टापिताऽसमापिता सर्वकालं सदा
संस्थाप्यता तत्कृत्यकरणं यस्य तत्तथा । भ० ए श० ३३ उ० ।

अणिट्ठस्सर-अनिष्टस्वर-पुं० । प्रयोजनवशादपीच्छाऽविषये,
स्था० ८ ग्रा० ।

अणिट्ठिउच्चाह-अनिष्टितोत्साह-पुं० । अहतोत्साहे, “ स
च सर्वसक्त्याऽनुष्ठानेषु यथाशक्त्योद्यमं करोति ” दर्श० ।

अनष्टुर-अनिष्टुर-त्रि० । प्रस्तरागमनवत्कार्कश्यरहिते, ग० २
अधि० ।

अणिट्ठह-अनिष्टीवक-त्रि० । मुखश्लेष्मणाऽपरिष्ठापके, प्रश्न० १
सम्भ० द्वा० । सूत्र० ।

अणिष्टिपत्त-अनृष्टिप्राप्त-पुं० । आमर्षौपध्यादिद्वलक्षणाभृष्टि
प्राप्ते, न० । प्रज्ञा० ।

अणिष्टिमंत-अनृष्टिमत्-त्रि० । अनृष्टिप्राप्ते, “ गव्विहा अ-
णिष्टिमंता मणुस्सा पणत्ता । तं जहा-हेमवंतगा हिरिषवंतगा
हरिवंसगा रम्मगवंसगा कुरुवासिणो अंतरदीवगा ” स्था० ।
६ ग्रा० ।

अणिष्टिय-अनृष्टिक-पुं० । अनीश्वरप्रवाजिते, आ० म० द्वि० ।
अणिहव-अनिहव-पुं० । न० त० । अनपलापे, ग० १ अधि० ।
ध० । व्य० । दश० । (निहवशब्दे वक्ष्यमाणेन) निहवत्वेन र-
हिते, वृ० १ उ० ।

अणिहवण-अनिहवन-न० । निहवनमपलपनम्, न निह-
वनमनिहवनम् । यतोऽधीतं तस्याऽनपलापे, एष ज्ञानाचा-
रस्य पञ्चमो विषयः । यतोऽनिहवेनैव पात्रादिसुत्रादेर्विधेयं, न
पुनर्मानादिवशादात्मनो द्वाघवाद्याशङ्कया श्रुतगुरुणां श्रुतस्य
वाऽपत्रापेनैति । प्रव० ६ द्वा० । ध० । द० । ग० ।

णिहवणं अवलावो,
कम्म मगांसे अतिमप चत्तुगुणा ।
एहानितं विच्छेत्तुमप,
दाणं निदंसे ऽणिहवणं ॥ १६ ॥

को वि साहु विमुक्कखण्णपदमि दमत्तादिण पदतो परवन्तो
रुक्खेण साहुणा पुच्छिओ-कम्म मगांसे अदीये ? सागारहि-
गागणं माधिप्पओगेण आगारो लभति, ततो अहीते भवति;
तेण य जस्स मगांसं माक्खियं सो पुण सुत्तकम्मदसिद्धंते-
सु पवीणो, जत्तविमु वा हीणतरो अतो तेण लज्जति । अस्सं
जुभयदाणं कहयंति तगरणगागणं माधिप्पओगओ लभति,
तेण अलमिति भवति । एवं णिहवणं भवति । इत्थं से प-
च्छित्तं । अहवा मुत्तेहु अयेहु वायणायरियं णिहवन्तस्स इह
परलोप य णंथि कल्लणं उपाहरणं " नि० चू० १ उ० ।
गृहीतभुत्तनानिहवः कार्यः । यद्यस्य सकाशेऽर्थात् तत्र स एव
कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेरिति ।

अत्र कृष्टान्तः—

एगस्स एहावियस्स खुग्गमं विज्जासाम्भयेण आगासे अच्चा-
ति । नं च एगो परिच्चायगो बहुहि उवसंपज्जणाहि उवसंप-
ज्जिऊण, तेण मा विज्जा उच्चा, ताहे अन्नथं गंतुं निदंसेणा-
गासगणं महाज्जेण पुज्जति त्ति । रत्ता य पुच्छिओ-भगवं !
किं मे स विज्जानिमसओ उय तवतिमसओ ? सो भणति-वि-
ज्जानिमसओ । कम्म मयामाओ गहिओ ? सो भणति-हिमयेते
फत्ताहारम्म गिस्सिणो मयामे अधिज्जिओ । एवं तु बुत्ते समा-
णे संकिंसे सटुट्टयाए ते निदंसें सरुत्ति पत्तिं । एवं जो अप्पा-
गमं आयरियं णिहवैऊण अस्सं कहति, तस्स चित्तसंकिंसे-
सदोसेण मा विज्जा परलोपणं हवीतं त्ति, अणिहवणं त्ति
गंतं । दश० ३ अ० ।

अणिहवमाण-अनिहवान-त्रि० । अनपन्नपति, हा० १
श्रु० १ अ० ।

अणितिय-अनित्य-त्रि० । अप्रच्युताऽनुपपन्नस्थिरकस्वभाव-
तया कृत्स्नानित्यत्वेनाऽव्यवस्थितं, आचा० १ श्रु० २ अ० ।

अणित्यंय-अनित्यंस्थ-त्रि० । अमुं प्रकारमापन्नमित्यम, इत्थं
निष्ठंति इत्थंस्थम, न इत्थंस्थमनित्यंस्थम । केनचित्त्वैकिकेन
प्रकारेणास्थितं, औ० । आच० । प० मृ० । परिमगुत्तादिमंस्था-
नरहितं, भ० २४ श्रु० १७ उ० । अनित्यताकारं, जी० १ प्रति० ।

अणित्यंयपंठाणमंतिथ-अनित्यंस्थमंस्थानमंस्थित-त्रि० ।
इत्थं निष्ठन्तीति इत्थंस्थम, न इत्थंस्थमनित्यंस्थम, अनित्यता-
कारमित्यर्थः । तच्च तन्मंस्थानम, तेन मंस्थानेन अनित्यत-
मंस्थानमंस्थितं, जी० १ प्रति० ।

अणिहवयमंठाणा-अनित्यंस्थमंस्थाना-स्त्री० । अनित्यंस्थं
मंस्थानं यस्या अरुपिणयाः सत्तायाः सा । अनित्यताकारयां
सत्तायाम्, प० मृ० १० मृ० ।

आणिदा (या)-अनिदान-स्त्री० । निदानं निदा, न निदाऽनिदा,
प्रणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुगतिपरिह्वानविकलेन सता कि-
यमाणे प्राणिनिर्वहणे, स्वपुत्रादिकमन्यं वा विभागेनाऽवि-
विच्य सामान्येन विधीयमाने, अज्ञानतो वा व्यापाद्यस्य स-
न्वस्य व्यापादने च । " ज्ञाणं तु अज्ञाणंता, तदेव उद्दिमिय उ-
द्धवो वा वि । ज्ञाणं अज्ञाणं च, चंदं अज्ञाणं विज्जा-

एसा " पि० । अनिर्द्धारणायाम्, " पुढविकाइया सव्वे, अस-
प्पिभूया अणिदाणं वेयणं वेदंति " भ० १ श्रु० २ उ० । चित्त-
विकलायां सम्यग्विवेकविकलायाम्, प्रज्ञा० ३४ पद । अना-
भोगवत्यां हिंसायाम्, भ० १६ श्रु० ५ उ० ।

अणिदा (या) ण-अनिदान-त्रि० । नाऽस्य स्वर्गावाप्त्या-
दिनिदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न
विद्यते निदानमस्येत्यनिदानः, निराकाङ्क्षं अशेषकर्मक्षयार्थिनि,
सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहितं, हा० ५ हा० । निदानव-
र्जितं, आनु० । प्रार्थनारहितं, भ० २ श्रु० १ उ० । पञ्चा० ।
आचा० । भाविकलाशंसारहितं, " अणियाणे अकोउहले य
जे स भिक्खू " दश० १० अ० । पञ्चा० । प्रश्न० । ध० । स्व-
र्गावाप्त्यादिलक्षणनिदानरहितं, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यस्यासाधनि-
दानः । सावद्यानुष्ठानरहितं अनाश्रवे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
भोगार्थिप्रार्थनास्वभावमार्त्तध्यानम् । तद्वर्जितेऽनिदानेऽर्थे,
स्था० ३ हा० १ उ० ।

अणिदा (या) णज्जय-अनिदानज्ज-त्रि० । सावद्यानु-
ष्ठानरहितेऽनाश्रवभूते कर्मोपादानरहितं अनिदानकल्पे ज्ञा-
नादौ, सूत्र० ।

अप्पमिस्सजिक्खु समाहिपत्ते अणियाणज्जते सुपरिव्वएज्जा
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यस्याऽसावनिदानः ।
स पयमृततः सावद्यानुष्ठानरहितः परि समन्तात्संयमानुष्ठाने
व्रजेच्छेदिति । यदि वा अनिदानज्जतेऽनाश्रवज्जतः कर्मोपादान-
रहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत् । यदि वा-अनिदानज्जतान्य-
निदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत् । अथवा-निदानं
हेतुः कारणं दुःखस्यातो निदानज्जतः कस्यचिद् दुःखमनु-
पादयन् संयमे पराक्रमेदिति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणिदा (या) एया-अनिदानता-स्त्री० । निदायते ह्यनेन
ज्ञानाद्याराधना लता आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परबुद्धेनैव
देवेन्द्रादिगुणधिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तद्विदानमनिदानं तद्यस्य
सोऽनिदानः, तदुच्चावस्तत्ता । निरुत्सुकतायाम्, एतस्याश्च फलमा-
गमिष्यद्भजतया कर्मप्रकरणम् । स्था० १० हा० । निदानं भो-
गार्थिप्रार्थनास्वभावमार्त्तध्यानं, तद्वर्जितनाऽनिदानता । ज्ञाण-
धिप्रार्थनायाम्, एतस्याः फलं समारब्धयतिव्रजनम् । स्था० ३
हा० १ उ० । " सव्वन्थं भगवया अणिदाणता पसन्था "
स्था० ६ हा० ।

अणिदिद्ध-अनिदिष्ट-त्रि० । प्रागकृतनिर्देशे, नि० चू० १ उ० ।

अणिहेम-अनिर्देश-पुं० । अप्रमाणं, उक्त० १ अ० ।

अनिर्देश्य-त्रि० । केनाऽपि शब्देनाऽनभिज्ञप्ये, विशेष० ।

अणिहेमकर-अनिर्देशकर-पुं० । अप्रमाणकर्त्तरि, " आणाणि-
हेमकरे, गुरुण्णुवायकारण " उक्त० १ अ० ।

अणिप्पाण-अनिष्यन्न-त्रि० । अतःतकात्रे निष्पत्तिरहितं, औ० ।

अणिमंतेमाण-अनिमन्त्रयन्-त्रि० । निमन्त्रणमददति, आचा०
२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणिमा-अणिमन्-पुं० । परमाणुरूपतापत्तिरूपे सिद्धिभेदे,
हा० २६ हा० ।

अणिमिस-अनिमिष-पुं० । न० व० । मन्त्रे, “बहु अट्टिअं पो-
ग्गवं, अणिमिसं बहुकट्ठयं” इति १ अ० । निश्चयनयने,
आव० ५ अ० ।

अणिमिसणयण-अनिमिषनयन-पुं० । न विद्यते निमेषो येषां
तानि अनिमेषाणि, अनिमेषाणि नयनानि येषां तेऽनिमेषनयनाः ।
देवेषु, “अमिन्नाणमल्लदामा, अणिमिसणयणा य नीरजसरी-
रा । चचरुंगुणेण चूमि, न छिद्यंति सुरा जिखो कहह” ७५० १
उ० । आ० म० द्वि० । निर्निमेषलोचन, पञ्चा० १८ विव० ।

अणिय-अनीक-न० । सैन्ये, कल्प० ।

देवेन्द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चमरस्स एं असुरिंदस्स असुरकुमाररत्तो सत्त अणिया,
सत्त अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए, पीडा-
णिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गं-
धवाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिर्वं । एवं जहा पंचडाणे
जाव किन्नरे रहाणियाहिर्वं रिट्ठे नट्टाणियाहिर्वं गीय-
रई गंधवाणियाहिर्वं । वलिस्स णं वडरोयणिंदस्स वडरो-
यणरत्तो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिर्वं पणत्ता । तं
जहा-पायत्ताणियं जाव गंधवाणियं । महदुमे पायत्ताणि-
याहिर्वं जाव किंपुरिसे रहाणियाहिर्वं महारिठ्ठे णट्टा-
णियाहिर्वं गीयजसे गंधवाणियाहिर्वं । धरणस्स एं
नागकुमारिंदस्स नागकुमाररत्तो सत्त अणिया, सत्त अणि-
याहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधवाणिए ।
रुदसेणे पायत्ताणियाहिर्वं जाव आणंदे रहाणियाहिर्वं
णट्टने णट्टाणियाहिर्वं तेतले गंधवाणियाहिर्वं । जूयाणं-
दस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-
पायत्ताणिए जाव गंधवाणिए दक्खे पायत्ताणियाहि-
र्वं जाव णंदुत्तरे रहाणियाहिर्वं रई णट्टाणियाहिर्वं मा-
णसे गंधवाणियाहिर्वं । एवं जाव घोसमहाघोसाणं णे-
यवं । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरत्तो सत्त अणिया, सत्त
अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंध-
वाणिए । हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिर्वं जाव मादरे
रहाणियाहिर्वं सेए णट्टाणियाहिर्वं तुंवरुंगंधवाणिया-
हिर्वं । ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरत्तो सत्त अणिया, सत्त
अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधवा-
णिए लहुपरकमे पायत्ताणियाहिर्वं जाव महासेए णट्टा-
णियाहिर्वं एणरं गंधवाणियाहिर्वं । सेसं जहा-पंच-
डाणे एवं जाव अचुअस्सेति नेयवं । स्था० ७ ठा० ।
अनृत-न० । वितथे, मिथ्यावितथमनृतमिति पर्यायाः । स्था०
१० ठा० । आ० म० द्वि० । विशेष० । आव० ।

अणियट्ट-अनिवर्त्त-पुं० । मोक्षे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणियट्टमामिन्-अनिवर्त्तनागिन्-पुं० । अनिवर्त्तो मोक्षस्तत्र

गन्तुं शीलं यस्य स तथा । निर्वाणयायिनि, आचा० १
श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अणियट्टि (ण)-अनिवर्त्तिन-न० । न निवर्त्तते न व्यावर्त्तते
इत्येवंशीलमनिवर्त्ति । प्रवर्धमानतरपरिणामाव्यावर्त्तनशीले,
“सुद्धमकिरिए अणियट्टी” इति शुक्लध्यानस्य तृतीये भेदे,
स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । अशीतितमे महाग्रहे, चं० प्र० २०
पाठु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सपिण्यां नविष्यति विशतितमे
तीर्थकरे, स० ।

अणियट्टिकरण-अनिवृत्तिकरण-न० । निवर्त्तनशीलं निवर्त्ति,
न निवर्त्ति अनिवर्त्ति, आ सम्यग्दर्शनलाभात्त निवर्त्तत इत्यर्थः ।
न निवर्त्तते नापैति मोक्षतत्त्वधीजकल्पं सम्यक्त्वमनासाद्येत्येवं
शीलमनिवर्त्ति । एआ० ३ विव० । अनिवृत्तिकरणमित्यन्योन्यं
नातिवर्त्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणम् । आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० । तच्च तत्करणं च अनिवृत्तिकरणं सम्यक्स्वा-
द्यनुगुणे विशुद्धतराध्यवसायरूपे भव्यानां करणभेदे, “अणि-
यट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरकखडे जीवे” आ० म० द्वि० ।

अणियट्टिवापर-अनिवृत्तिवादर-पुं० । न विद्यते अन्योऽन्य-
मध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासौ
वादरश्चेति । कर्म० २ कर्म । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे,
स च कयायाष्टकज्ञपणारम्भान्पुंसकवेदोपशमने यावद् भ-
वति निवृत्तिवादरसमयादूर्ध्वं लोभखण्डवेदनां यावदनिवृत्ति-
वादरः । आव० ४ अ० । अवाप्ताणिमादिभावे, पं० व० १ छा० ।

अणियट्टिवायरसंपरायगुणट्टाण-अनिवृत्तिवादरसंपरायगुण-
स्थान-न० । नवमगुणस्थाने, व्याख्या चैवम-गुणपदेतद्गुणस्था-
नकं प्रतिपन्नानां बहुनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थान-
स्य व्यावृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः । समकालमेतद्गुणस्थान-
कमारूढस्यापरस्य यदव्यवसायस्थानं दिव्यज्ञितोऽन्योऽपि क-
श्चित्तद्वयैवेत्यर्थः । संपरेति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः क-
यायोदयः वादरः सुद्धमकिट्टीकृतसंपरायापेक्षया स्थूलसंपरायो
यस्य स वादरसंपरायः । अनिवृत्तिश्चासौ वादरसंपरायश्च त-
स्य गुणस्थानमनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थानम् । इदमन्यन्त-
र्मुहूर्त्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं यावन्तः समयस्तत्प्रविष्टा-
नां तावन्त्यव्यवसायस्थानानि ज्वान्ति । एकसमयप्रविष्टाना-
मेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्तनादिति स्थापना००००० प्रथ-
मसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यव-
सायस्थानं भवतीति चेदित्ययम् । स चानिवृत्तिवादरो द्विधा-
कूपक उपशमकश्च । कूपयति उपशमयति वा मोहनीयादि क-
मेति वा कृत्वा । कर्म० २ कर्म । प्रव० । आ० चू० ।

अणियण-अनग्न-पुं० । विचित्रवस्त्रादायित्वान् विद्यन्ते नन्ना
निवासिनो जना येऽन्यस्तेऽनग्नाः । संज्ञाशब्दो वाऽयमिति । वि-
शिष्टवस्त्रादायिषु कल्पद्रुमत्रेदेषु, स्था० ७ ठा० । प्रव० । आव० ।

अणियत (य)-अनियत-त्रि० । अप्रतिबद्धे, सूत्र० १ श्रु० ६
अ० । उक्त० । अनिश्चिते, अष्ट० ८ अष्ट० । अनेकस्वरूपे, इशा०
१० अ० । न० त० । अनियमवति अनवस्थिते, प्रश्न० १ आश्र० ६ ठा०
६० । अवश्यंभावाद्युक्त्याऽप्रापिते आत्मपुरुषेश्वरस्वभावकर्मा-
दिकृते सुखादिके, “निययानिययं संतं, अयाणंता अयुडिया”
सूत्र० १ श्रु० १ य० ७ उ० । अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि

चेह च । देवामुरमनुष्याणा-मृदयस्य सुखानि च । " सूत्र० १
श्रु० ८ अ० । इदं शरीरमनियतं सुरुपादेगपि कुरुपादिदर्शनाद् द-
रितिलकगजसुतविक्रमकुमारशरीरवत् । तं० । " अणियत्रो
वासो " आनयतो वासो नानादेशपरिभ्रमणम् । व्य० १ उ० ।
अणियत (य) चारिण-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्रतिवक्तुं
परिग्रहयोगाधारितं शीलमस्यासावनियतचारी । अप्रतिवक्तु-
विहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।
अणियत (य) ए (ण)--अनियतात्मन्-पुं० । असंयते,
अनिश्चितस्वरूपे च । दृष्ट० ८ अ० ।
अणियत (य) वटि-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतविहारं,
उत्त० १ अ० ।
अणियत (य) वास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिना-
ऽनिकेतवासे गृहे, उद्यानादौ वासे, दश० २ चूलि० । "अणिय-
त्रो वासो णिष्पत्तिविहारो " अस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्य-
स्यानियतो वासः क्रियते । ग्रामनगरसन्निवेशादिष्वनियतवासे-
न । विशेषः । देशदर्शनं कार्यते ततः स आचार्यपदं स्थाप्यते ।
वृ० १ उ० ।
अणियत (य) वित्ति-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतचारिणि
अनियतविहारं, स्था० ८ ग० । व्य० । अनियताऽनिश्चिता वृ-
त्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिः । "गामे एगराई
नगरं पंच राई " इत्यादिप्रकारेण । दश० ४ अ० ।
अणियत्त-अनिवृत्त-त्रि० । अनिवृत्ते, उत्त० २ अ० ।
अणियत्तकाम-अनिवृत्तकाम-त्रि० । अनुपरतेच्छौ, उत्त० १४ अ० ।
अणियाहिबड-अनीकाधिपति-पुं० । ६ त० । गजादिसैन्यप्र-
धाने पेरवतादौ, स्था० ३ ग० १ उ० । रा० । (यस्य यावन्त्य-
नीकानि अनीकाधिपतयश्च ते सर्वे ' अणिय ' शब्दे उक्ताः)
अणिरिक्ख-अनिरीक्ष्य-अध्य० । चक्षुषाऽज्ञात्वेत्यर्थे, आ० ।
अणिरुद्ध-अनिरुद्ध-त्रि० । कचिदप्यस्खलिते, सूत्र० १ श्रु० १२
अ० । कृष्णवासुदेवपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य वैदर्ज्यामुपपन्ने पुत्रे, स च
अरिष्टनेमेरुमन्तिक प्रपन्नश्च शत्रुञ्जये सिद्धः । अन्त० ४ वर्गे । प्रश्न० ।
अणिरुद्धपाण-अनिरुद्धप्रह-त्रि० । अनिरुद्धा कचिदप्यस्ख-
लिता प्रह्ना, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रह्ना ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्ध-
प्रह्नाः । कचिदप्यस्खलितज्ञानेषु तीर्थकृत्सु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।
अणिव-अनिव-पुं० । वायौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । कर्म० ।
दश० । आव० । एकोनविंशे भारतातीतजिने, द्वाविंश-
जिनस्य प्रवर्तिन्यां च । स्त्री० । प्रथ० ६ द्वा० । ति० ।
अणिलामड (ण)-अनिशामयिन-त्रि० । वातरोगिणि,
वृ० २ उ० ।
अणिवृ-देशी-प्रभाने, दे० ना० १ वर्ग ।
अणिवृद्धि-अनिश्राद्धित-त्रि० । अवर्धितके अखण्डीकृते,
अ० ८ श्रु० ५ उ० ।
अणिवारिय-अनिवारित-त्रि० । निषेधकरहिते, विपा० १
श्रु० २ अ० ।
अणिवारिया-अनिवारिका-स्त्री० । नास्ति निवारको मैवं
कार्याग्नित्वं निषेधको यस्याः साऽनिवारिका । प्रतिषेधकर-
हितायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

अणिवत्-अनिवृत्त-त्रि० । न० त० । कदाचिदनुपशान्ते, "अ-
णिवत्ते घातमुवेति बाले " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप-
रिणते, दश० १ अ० ।

अणिव्वाणमादि-अनिर्वाणादि-त्रि० । अनिवृत्त्यर्थहान्यर्था-
सिद्धिप्रभृतिषु दोषेषु, पञ्चा० ७ विव० ।

अणिव्वाणि-अनिर्वाणि-पुं० । असुखे, व्य० १ उ० ।

अणिव्वु-अनिर्वाति-स्त्री० । पीडायाम्, आ० म० द्वि० ।

अणिव्वु-अनिर्वात-त्रि० । अपरिणते, दश० ३ अ० ।

अणिव्वेय-अनिर्वेद-पुं० । उद्योगादनुपग्रमे, दश० ३ अ० ।

(तद्विषया अर्थकथा ' अर्थकथा ' शब्देऽत्रैव भागे वक्ष्यते)

अणिसिद्ध-अनिमृष्ट-त्रि० । न निमृष्टं सर्वैः स्वामिभिः साधु-
दानार्थमनुज्ञातं यत् तदनिमृष्टम् । पि० । एकैनैव दीयमाने
बहुसाधारणे, "अणिसिद्धं सामन्नं गोद्विभक्त्या देह एगस्स"
प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । पञ्चा० । दश० । स्था० । अनिमृष्टं स्वा-
मिनाऽनुत्संकलितं निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम् । आचा० २
श्रु० २ अ० १ उ० । यदा द्वित्राणां पुरुषाणां साधारणे आहारे
एकोऽन्यनानापृच्छ्य साधवे ददाति तदा पञ्चदशोऽनिमृष्टो
दोष उद्गमस्य । उत्त० २४ अ० ।

अथानिमृष्टद्वारमाह-

अणिसिद्धं पमिकुट्टं, ऽण्णनायं कण्ण सुविहियाणं ।

लङ्गुग खोद्वग जंते, संखणि खीराऽऽवण्णैसु ॥

निमृष्टमुक्तमनुज्ञातं, तद्विरीतमनिमृष्टमननुज्ञातमित्यर्थः । तत्प्र-
तिकुष्टं निराकृतं तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातं पुनः कल्पते सुविहि-
तानाम् । तच्चानिमृष्टमनेषां । तद्यथा-लङ्गुगविषयं मोदकवि-
षयं, तथा सुल्लकविभोजनविषयम् । (यत्र हति) कोदहकादि-
प्राणकविषयं, तथा संखभिविषयं विवाहादिविषयं, तथा क्ली-
रविषयं दुग्धविषयं, तथा आपणादिविषयम् । आदिशब्दात्तु
गृहादिविषयमवसेयम् । इयमत्र भावना-इह सामान्यनानि-
मृष्टं द्विधा । तद्यथा-साधारणानिमृष्टं, भोजनानिमृष्टं च । तत्र
भोजनानिमृष्टं सुल्लकशब्देनोक्तम्, साधारणानिमृष्टं तु शे-
पभेदैरिति ।

तत्र मोदकविषयं साधारणानिमृष्टोदाहरणं गाथाचतुष्टयेनो-
पदर्शयति-

वत्तीमा मामन्ने, ते कहि एहाउं गय त्ति इइ वुच्चइ ।

परसत्तिण्ण पुन्नं, न तरसि काउं ति पच्चाऽऽह ॥

अवि य हु वत्तीसाए,दिन्ने हि तवेगो मोयगो न भवे ।

अप्पवयं बहुआयं, जइ जाणसि देहि तो मज्झं ॥

द्वानिय नितो पुट्ठो, किं लप्पं पेच्छ मोदाए ।

इयरो वि अहो नाहं, देमि त्ति सहोदवोरत्तं ॥

गेएहणकट्ठणववहा-रपच्छककुट्ठाह तहय निव्विसए ।

आयम्मि भवे दोमा, पट्टम्मि दिन्ने नउ ग्गहणं ॥

रत्नपुरे माणिभट्टप्रमुखा द्वाविंशत्यस्याः, ते कदाचिदुद्यापना-
निमित्तं साधारणान् मोदकान् कारितवन्तः । कारयित्वा च
समुदायेनोद्यापनिकायां गताः । तत्र चैको मोदकरत्नको मुक्तः
शेषास्त्वेकत्रिंशत् तथा स्नातुं गताः । अत्रान्तरं च कोऽपि लोलु-
पसाधुर्भिक्षार्थमुपातिष्ठत्, दृष्ट्वाश्च तेन मोदकाः, ततो जातलाम्प-

ह्यो धर्मं ज्ञानयित्वा तं पुरुषं मोदकान् याचितवान् । स प्राह-
भगवन् ! न ममैकाकिनोऽर्थीना एते मोदकाः कित्वेन्येषामप्य-
कत्रिंशज्जनानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि ? एवमुक्तं साधुराह-
ते (किं नि) कुत्र गताः ? स प्राह-नयां स्तातुमिति । तत एव-
मुक्ते त्रयोऽपि साधुस्तं प्रत्याह-परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पु-
ण्यं कर्तुं न शक्नोषि ? यदेवं याचितोऽपि न ददासि । महानुता-
घमुदस्त्वं यः परसत्कानपि मोदकान् मह्यं दत्त्वा पुण्यं नोपा-
र्जयसि । अपि च-द्वात्रिंशतमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि
तथापि तव ज्ञाने एक एव मोदको याचितः । एवमल्पवयं व-
ह्मयं दानं यदि जानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वा-
नपि मोदकानिति । एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोदकाः, भृतं
साधुनाजनम्, ततः संजातहर्षः साधुस्तस्मात् स्थानाद् विनि-
र्गतुं प्रवृत्तः । अत्रान्तरे च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभञ्जादयः ।
पृष्ठश्च तैः साधुः-जगवन् ! किमत्र त्वया लब्धम् ? ततः साधु-
ना चिन्तितम्-यथा एते मोदकस्वामिनस्ततो यदि मोदका
लब्धा इति वदथे तर्हि भूयोऽपि ग्रहीष्यन्ति । तस्मान्न किम-
पि लब्धमिति ब्रवीमीति । तथैवोक्तवान् । ततस्तेर्माणभञ्ज-
मुखैर्भारकात्तं साधुमवलोक्य संजातशङ्कैरभाणि-दर्शय निज-
जाजनं साधो ! येन प्रकामहे । साधुश्च न दर्शयति । ततो बलात्प्र-
लोकितम् । दृष्ट्वा मोदकाः ततः कोपारुणवोचनैः साधिज्ञेपरं क-
कपुरुषः पृष्ठः-यथा किं भोः त्वयाऽस्मै सर्वेऽपि मोदका दत्ताः ?
स जयेन कम्पमानोऽधदत्-न मया दत्ताः । एवं चांके माणिभ-
ञ्जादिभिः साधुरूचै-चौरस्त्वं पापः साधुवेषविश्वक ! सहोह
इति इदानीं प्राप्नोऽसि, कुतस्ते मोदक इति शृङ्गीतो वस्त्राञ्च-
ले कथितो बाहुना । ततः पश्चात् कुट्टित इति गृहीत्वा सकल-
मपि पात्ररजोहरणादिकमुपकरणं गृहस्थीकृतः, तत उड्वाह इ-
ति । नीनो राजकुत्रम्, कथितो धर्माधिकरणिकानाम् । पृष्ठश्च तैः
साधुश्च न किमपि लज्जया वक्तुं शक्नुवान् ? ततः परिज्ञावितम्-
नूनमेव चौर इति, परं साधुवेषधारीति कृत्वा प्राणैर्मुक्तो नि-
र्विषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रजावनायकं दातरि एतेऽनन्तरोक्ता
ग्रहणकर्षणादयो दोषा भवन्ति । (पटुस्मिन्ति) तृतीयार्थे सप्तमी ।
यथा-“ तिसु अत्रं कियपुडुवी ” इत्यत्र । ततोऽयमर्थः-तस्मात्प्र-
भुणा नायकेन दत्ते सति साधुना ग्रहणं ज्ञातदेः कर्त्तव्यम् ; त-
त्राप्याग्नेयादिकं सम्यक् परिहर्त्तव्यमिति । उक्तं सोदाहरणं
मोदकद्वारम् ।

अधुना शेषाण्यपि द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति-

एमेव य जंतस्मि वि, संखंमि खीरआवणाईसु ।

सामन्नं पमिकुट्टं, कप्पइ घेत्तुं अणुन्नायं ॥

एवमेव मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि संखड्यामपि कीरे
च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामिभिः
सर्वैरप्यनिसृष्टं, तत् प्रतिकुष्टं तीर्थकरगणधरैः अनुज्ञातम्, पुनः
सर्वैरप्यस्वामिभिः कल्पते ग्रहीतुम्, तत्र दोषाभावात् ।

संप्रति चुल्लकद्वारस्य प्रस्तावनां चुल्लकस्य भेदं च
प्रतिपादयति-

चुल्लं चि दारमहुणा, बहुवत्तव्वं ति तं कयं पच्छा ।

बन्नेई गुरु सो पुण, सामिप हत्थाण विन्नेओ ॥

अधुना चुल्लकद्वारं व्याख्येयम् । अथोच्यते-मूलगाथायां द्वि-
तीये स्थाने निर्दिष्टमपि कस्माद् व्याख्यावेलायां पश्चात्कृतम् ?
तत आह-बहुवक्तव्यमिदं द्वारम्, अतः व्याख्यावेलायां पश्चा-

कृतम् । तत्र गुरुस्तीर्थकरादिवर्णयति प्ररूपयति यथा स
चुल्लको द्विधा । तद्यथा-स्वामिनो हस्तिनश्च ।

तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं चुल्लकमाह-

द्विन्नमद्विन्नो दुविहो, हांड अविन्नो निमिट्ठ अणि सिद्धो ।

द्विन्नमि चुल्लगम्मि य, कप्पइ घेत्तुं निमिट्ठमि ॥

इह द्विधा चुल्लकः । तद्यथा-द्विन्नोऽद्विन्नश्च । इयमत्र भावना-
इह कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्यापि पार्श्वे
कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोग्यं पृथक्
पृथक् भोजने कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स चुल्लकाद्विन्नः, यदा तु
सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रप-
यति, तदा सोऽद्विन्नः । एवमन्यत्राप्युदापनिकादौ द्विघ्नाऽद्वि-
घ्नत्वं चुल्लकस्य भावनीयम् । अचिच्छ्रोऽपि द्विधा । तद्यथा-नि-
सृष्टोऽनिसृष्टश्च । तत्र निसृष्टः कौटुम्बिकेन येषां च हालिकानां
योग्यः स चुल्लकस्तैश्च साधुभ्यो दानाय मुक्कलितः । इतरस्तु
मुक्कलितोऽनिसृष्टः । तत्र यस्य निमित्तं द्विन्नः स एव चेत-
स्यात्मीयस्य द्विन्नस्य दाता तर्हि तस्मिन् द्विन्ने चुल्लकं तत्स्वा-
मिना दीयमाने साधूनां ग्रहीतुं कल्पते, दोग्याभावात् । तद्यथा
द्विन्नेऽपि सर्वैरपि तत्स्वामिभिरनुज्ञाते तं ग्रहीतुं कल्पते, त-
त्रापि दोग्याभावात् ।

एनमेवार्थं सविशेषितमाह-

द्विन्नो दिट्ठमदिट्ठो, याय निमिट्ठो ऽ विन्नो य ।

सो कप्पइ इयरो उ ए, अदिट्ठदिट्ठो अणुन्नाओ ।

यश्चुल्लको यस्य निमित्तं द्विन्नः स तेन दीयमानो मूलस्वा-
मिना कौटुम्बिकेनादृष्टो दृष्टो वा कल्पते । तथा यश्चाद्विन्नः
योऽपि च यस्य निमित्तं द्विन्नः स स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽन्येन
दीयमानः स्वस्वामिभिरदृष्टो दृष्टो वा कल्पते (इयरो उ ए
त्ति) इतर एतद्व्यतिरिक्तः, तुः पुनरर्थः । द्विन्नोऽद्विन्नो वा
स्वस्वामिभिरननुज्ञातोऽदृष्टो दृष्टो वा न कल्पते, प्रागुक्तग्रहणा-
दिदोषसंभवात् । अयं च विधिः साधारणाऽऽदिसृष्टेऽपि
वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथादेन प्रतिपादयति-

अणुसिद्धमणुन्नायं, कप्पइ घेत्तुं तदेव अदिट्ठे ।

गजयस्स य आनिसिद्धं, न कप्पइ कप्पइ अदिट्ठं ॥

अनिसृष्टं पूर्वं स्वस्वामिभिः सर्वैरनुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञा-
तं जवति तर्हि कल्पते तद् ग्रहीतुं, तेनामनुज्ञातं सर्वैः स्वामिभि-
रन्यत्र गतत्वादिना कारणेनादृष्टमपि ग्रहीतुं कल्पते, तदोपाभा-
वात् । संप्रति हस्तिनश्चुल्लकानिसृष्टं गाथात्तरादेन ज्ञाययति-
(गजयस्स त्ति) हास्तनो जक्तं मिण्ठेनानुज्ञातमपि राज्ञा गजेन
वासनिसृष्टमज्ञातं न कल्पते, वदयमाणादिदोषसंभवात् । तथा-
मिण्ठेन स्वलज्जं भक्तं दीयमानं गजेनादृष्टं कल्पते, गजदृष्ट-
ग्रहणे तु वदयमाणोपाश्रयभङ्गादिदोषप्रसङ्गः ।

अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषानाह-

निर्वर्पिणो गजजत्तं, गट्टणाईयंतगाइयमदिन्नं ।

हुंवस्स मंनिण वि हु, अभिक्ख वमहं ई फेडणया ॥

इह यद् गजस्य जक्तं तत् राज्ञः पिण्ठो राज्ञो भक्तं ततो
राज्ञः अननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणादयो ग्रहणाकर्षणादयो दोषा
भवेयुः, तथा-अन्नगयिकम् अन्नरायनिमित्तं पारं साधो-
प्रसज्जेत । राजा । इ मदीयाज्ञामन्तरैव साधधे पिण्ठ

इदातीति कष्टः सन् कदाचिद् मिष्टं स्वाधिकारात् प्रशयति, ततो मिष्टस्य वृत्तिच्छेदः साधुनिमित्त इति साधोरातराधिकं कल्पते । तथा (अदिन्नं ति) अन्नादानदोषः, राज्ञाऽनुज्ञातत्वात् । तथा कुम्भस्य मिष्टेन स्वयं दीयमानेऽभीष्टं प्रतिदिवसं यदि साधुनं पिष्टं गजस्य पश्यतो गृह्णाति, तदा मदीयकवसमभ्यादनेन मुष्टेन पिष्टो गृह्यते इत्येवं कदाचित् कष्टः सन् यथायोगं मार्गे परित्रमन् उपाभये साधुं दृष्ट्वा तं मुष्टं प्रसार्य स्कोटेन साधुं न कथमपि प्राप्य मारयेत्, तस्मान्न गजस्य पश्यतो मिष्टस्यापि मत्कं गृह्णीयात्, तदेवमुक्तमनिरुद्धारम् । पि० । प्रव० । आचा० । जीत० । पं० व० । 'अणिसिद्धे चउ महुं' पं० चू० । वृ० । सूत्र० । (अनिरुद्धं रजोहरणादि शब्देष्वेव दृश्यम्) "अणिसिद्धं न कल्पति अष्टुरणां" नि० चू० १४ उ० । शय्यातरेणानुज्ञानप्रवेश, निसृष्टो नाम यस्य शय्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः, तदितरोऽनिरुद्धः । वृ० २ उ० ।

अणिसिद्ध-अनिपिद्ध-वि० । अनुमते, कल्प० । सावधानुष्ठानानिवृत्ते, पञ्चा० १२ वि० ।

अणिसिद्ध-अनिशीथ-न० । प्रकाशपाठात्प्रकाशोपदेशाद् वा निशीथमिति श्रुतभेदे, आ० म० ।

सांप्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

नृआपरिणयविगयं, सदकरणं तदेव मनिशीथं ।

पञ्चमं तु निसीहं, निसीहनामं जयज्जयणं ॥

नृतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टं, नृतापरिणतविगतम्, समाहारत्वादिकवचनम् । किमुक्तं भवति ?—'उत्पण्णे वा विगमे वा ध्रुवे वा' इत्यादि । किंविशिष्टम् ?—शब्दकरणं—शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । उक्तं च—'उत्तीउ सदकरणं, पगासपाठं व सरविसेसो वा' स निशीथो भवति । इयमत्र भावना—यदुत्पादाद्यर्थप्रतिपादकः, तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्यं, तत् प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशाद्वा निशीथ इति । आ० म० द्वि० ।

अणिसिद्ध-अनिश्रुत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चैत्ये, "णिस्सकं जं गच्छं, सति अतदिशरं अणिसिद्धकं । सिद्धाययणं च मं, चेद्यपणं विणिदिष्टं ॥" थ० २ अधि० । ये रजोहरणादिवेषधारिणो मत्पितृनुल्यास्तेज्यो दास्यामीति संकल्पं विनैवाऽवदौकनाय, वलिनिष्पादने, स्वापित्रादिजन्तुमात्रकृते भक्ते च । पि० ।

अणिसिद्धोवाहण-अनिश्रितोपाश्रित-पुं० । निश्रितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा—निश्रितमाहारादिभिः सा, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा, नृवर्जितो यः सोऽनिश्रितोपाश्रितः । रागद्वेषवर्जनेन, आहारशिष्यकुलाद्यपेक्षाराहित्येन च मध्यस्थतावं गते, "सादस्मियाणं अहिगणंसि उत्पप्पंसि तथ अणिसिद्धोवाहिसिओ अ पक्खगाई" स्था० ८ ग० ।

अणिसिद्धोवाहिसि, सम्मं ववहरमाणे समणे णिगंये, आणाण आराहणं जवड ।

अनिश्रितः सर्वशंसारहितैरुपाश्रितोऽङ्गीकृतोऽनिश्रितोपाश्रितस्तम् । अथवा—निश्रितश्च शिष्यत्वादिप्रतिपन्नः, उपाश्रितश्च स एव वैद्यावृत्त्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरस्तौ । अथवा—निश्रितं रागः, उपाश्रितश्च द्वेषस्तम् । अथवा—निश्रितश्चाहारादिलिप्ता, उपाश्रितं च शिष्यप्रतीत्यङ्ककुलाद्यपेक्षा, ते न स्तो यत्र

तत्तथेति क्रियाविशेषणम् । सर्वथा परूपातरहितत्वेन यथावादि-त्यर्थः । इह पुण्यव्याख्या—'रागो य होइ निस्सा, उवस्सिओ दोससंजुत्तो । अइव ण आहारो, दाही मज्जं तु एस निस्साओ ॥२॥ सो सो पडिच्छए वा, होइ उवस्साकुलादी यत्ति ।' भ० ८ श० ८ उ० ।

अणिसिद्धोवाहण-अनिश्रितोपाश्रित-न० । न निश्रितमनिश्रितं छव्योपाश्रितम्—उपाश्रितमेव, भावोपाश्रितं तपः । आव० ४ अ० । आव० चू० । शृजयोगसङ्ग्रहाय परसाहाय्याऽनपेक्षे तपसि, स० ३२ सम० । ऐहिकफलाऽनपेक्षतपःकारितायाम्, एव चतुर्थो योगसङ्ग्रहः ।

इह परमं च केन कृत इत्यत्रोदाहरणम्—

"पारुलिपुत्त महागिरि, अज्जसुहत्थी अ सेट्ठि वसुत्तुई ।

चइ दिसि उज्जेणीय, जिणपडिमा एलकच्छं च" ॥ १ ॥

शिष्यौ द्वौ स्थूलजडस्य, महागिरिसुहस्तिनौ ।

महागिरिर्महासत्त्वो, गणं दत्त्वा सुहस्तिनः ॥ १ ॥

जिनकले व्यवाच्छिन्ने-ऽप्यभ्यासे तस्य वर्त्तते ।

विहारेणान्यदाऽगतां, पाटव्रीधुवपत्तनम् ॥ २ ॥

तत्र श्रेष्ठी वसुत्तुतिः, सुहस्तिप्रतिबोधितः ।

आवकोऽनूद्यावादी-द्वौध्यन्तां स्वजना मम ॥ ३ ॥

ततः सुहस्ती तत्रेहे, गत्वा धर्ममुपादिशत् ।

महागिरिस्तदा तत्रा-यासोद्भिन्नाकृतेऽथ तान् ॥ ४ ॥

दृष्ट्वात्तस्थौ सुहस्ती द्राग, वसुत्तुतिरथाववीत् ।

गुरवो नोऽप्यमी तेऽथ, चकुस्तद्वृणसंस्तवम् ॥ ५ ॥

एवमावेद्य तेषां ते, प्रदायाणुव्रतान्यगुः ।

वसुत्तुतिर्द्वितीयेऽह्नि, स्वजनानूचिवानिति ॥ ६ ॥

तदेज्जका भवेताये, दृष्ट्वाऽऽयान्तं महागिरिम् ।

दृष्ट्वा तमुज्जनारम्भं, महागिरिरिथागतः ॥ ७ ॥

तदश्रुमिति ज्ञात्वा, वदित्वोचे सुहस्तिनम् ।

अच्युत्थानगुणान्येनै-रशुद्धिर्विदधे त्वया ॥ ८ ॥

अथ द्वावपि वैदेशी, सगच्छौ जग्मतुर्गुरुम् ।

तत्राजितप्रतिनिधिं, वन्दित्वा श्रीमहागिरिः ॥ ९ ॥

गजाप्रपदवन्दारु-रेलकच्छपुरे ययौ ।

तद्दर्शणपुरं पूर्व-मासीत् त्वस्मिन्नुपासिका ॥ १० ॥

चक्रे वैकाशिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म चाथ सा ।

उपाहसत्पतिस्तस्याः, सायं शुकपरोऽपि किम् ? ॥ ११ ॥

निदयद्यात् सोऽपि शुकत्वाऽऽह, प्रत्याख्याम्यहमप्यतः ।

भङ्गदयसि त्वं तथेत्युचे, न नङ्गदयामीति सोऽवदत् ॥ १२ ॥

देवताऽचिन्तयच्छाद्धा-मसावुपहसत्यदः ।

निशीथे स्वस्वरूपेणाऽऽ-न्यागादादाय लाभनम् ॥ १३ ॥

स्वादिभिषिः पन्थोचे, किमेतैर्बालजालकैः ? ।

देवता तं प्रहृत्याथ, दम्माद्यौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥

मा जून्ममायशः श्राद्धाः, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता ।

देवता स्माह तां श्राद्धाऽ-प्युवाचैवं ममायशः ॥ १५ ॥

साऽधानीयादधौ सद्यो, मारितैरस्य चक्षुषी ।

एडकाकस्ततः ख्यातः, स आरुः प्रत्ययादज्ञत् ॥ १६ ॥

लोकः समेति तं छट्टु-मेरुकात्तं कुतूहलात् ।

एरुकात्तं पुरमपि, तन्नाम्ना तदज्ञत् ततः ॥ १७ ॥

गजाप्रपदतोत्पत्तिः, सौख्यैवमज्ञत् पुनः ।

गर्वं दृष्ट्वाऽनङ्गस्य, हर्षं शकः समागतः ॥ १८ ॥

गजेन्द्रारूढ एवाथ, त्रिः प्रादक्षिण्यत् प्रक्षुम् ।
 ततो दशार्णकूटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यंगे ॥ १९ ॥
 देवानुजावात् ख्यातोऽथ, गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
 तस्मिन् महागिरिर्भक्तं, प्रत्याख्याय दिवं ययौ ॥ २० ॥
 सुदस्तिस्सूयोऽन्येद्युर्जमुर्ज्जयिनी पुरीम् ।
 सुभद्रा यानशालायां, विशालायां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥
 एकदा नन्दिनीगुहमाऽध्ययनं पर्यवर्त्तयन् ।
 सुनद्याचूस्तदाऽवन्तिसुकमालो महर्षिकः ॥ २२ ॥
 पत्नीर्द्वाविंशता सार्द्धं, सौधे सप्ततद्वेऽललत् ।
 सुसबुधः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्मृतिः क्षणात् ॥ २३ ॥
 आगत्याऽवोचनावन्ति-सुकुमाक्षोऽस्यहं प्रभो ! ।
 अभूवं नन्दिनीगुहमे, देवः प्राच्यतमे भवे ॥ २४ ॥
 कथं तद्विद्य ययं किं, यूयमप्यागतास्ततः ? ।
 गुरवोऽप्यन्यधुर्नद्र ! तद्विज्ञो वयमागमात् ॥ २५ ॥
 तत्कथं वक्ष्यते स्वमिन्नुचुस्ते भद्र ! संयमात् ।
 सोऽयक् न संयमं कर्तुं, चिरं शक्तोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥
 तदर्थं व्रतमादाय, करिष्यामीङ्गिनीमृतिम् ।
 अपृच्छज्जननीं, नैच्छ-ह्योचं सोऽथाकृत स्वयम् ॥ २७ ॥
 त्रिहं गुरुर्द्वौ सोऽगात्, ततः कन्धारिकावने ।
 तस्थौ प्रतिमया तत्र, इमशानेऽन्यजनी मनिः ॥ २८ ॥
 स्फुटत्पादासुगन्धेना-कृष्टा तत्र शिवाऽभ्यगात् ।
 एकतः सा शिवाऽस्तादत्, तदपत्यानि चान्यतः ॥ २९ ॥
 प्रथमे प्रहरे जानू, ऊरुस्तम्भौ द्वितीयके ।
 तृतीये जठरं तुर्यं, मृत्वा स्थानेऽजनीप्सिते ॥ ३० ॥
 गन्धाम्बपुष्पवर्षाणि, तस्योपरि सुरा व्यधुः ।
 आचार्यास्तज्जनैः पृष्टास्तमिष्टगतिं जगुः ॥ ३१ ॥
 सुनद्या सस्नुपा तत्र, वीक्ष्य तं कृतघृष्करम् ।
 प्रवव्राज स्थितंका तु, गुर्विणी तत्सुता ततः ॥ ३२ ॥
 अचीकरदेवकुलं इमशानेऽहुतमुद्धृतम् ।
 तदिदानीं महाकाशं, जातं लोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥
 आर्यमहागिरीणामग्निश्रितं तपः । आ० क० ।

अग्निस्सिय-अग्निश्रित-त्रि० । निश्चयेनाऽऽधिक्येन च श्रितो-
 निश्रितः । न निश्रितोऽग्निश्रितः । कचिच्छरीरादावप्रतिबद्धे, “ए-
 त्थ वि समणो अग्निस्सिय अग्नियाणे ” सूत्र० १ श्रु० १६
 अ० । “ अग्निदे सहसासिन्धु, आरंजेसु अग्निस्सिय ” आर-
 म्नेषु सावद्यानुष्ठानरूपेष्वग्निश्रितोऽसम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः ।
 सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । आचा० कुलादिष्वप्रतिबद्धे, दश० १ अ०
 १६ परलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, “ जाव जीवाए अग्निस्सिन्धो-
 हं नेव सयं पाणे अइवाएऽजा ” पा० । ध० । ज० । इत्यभाव-
 निश्रया रहिते प्रतिबन्धविप्रमुक्ते, दश० ९ अ० १ उ० । कर्त्या-
 दिनिरपेक्षे वैयावृत्त्यादौ, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।
 अलिङ्गे अवग्रहे, “ अग्निस्सियमोगिरिहृद् ” निश्रितो लिङ्ग-
 प्रमितोऽभिधीयते-यथा यूथिकाकुसुमानामत्यन्तशीतमृदु-
 स्निग्धादिरूपः प्राक् स्पर्शोऽनुभूतस्तेनाऽनुमानेन लिङ्गेन तं
 विषयमपरिच्छिन्दत् यदा ज्ञानं प्रवर्तते तदाऽग्निश्रितमलिङ्ग-
 मवगृह्णातीत्यभिधीयते । स्था० ६ टा० । अग्निश्रितं नाम पुस्त-
 कादिनिरपेक्षमेवावगृह्णाति च । अथवा-एकवारं श्रुतं पुन-
 र्यदा कश्चिदनुययति यदति तदैव घक्तुं समर्थो नाऽन्यदा । एवं
 विधाने किन्तु स्मरणनिरपेक्ष एव भवतीति । दशा० ४ अ० ।

निश्रारहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाञ्छति, उक्त० १९ अ० ।
 अग्निस्सियकर-अग्निश्रितकर-त्रि० । रागद्वेषपरिहारतो य-
 थाऽवस्थितव्यवहारकारिणि, व्य० ३ उ० ।
 अग्निस्सियप्प (ए)-अग्निश्रितात्मन्-पुं० । अनिदाने, “अ-
 ग्निस्सियप्पा अपडिबद्धा ” आच० ६ अ० ।
 अग्निस्सियवयण-अग्निश्रितवचन-त्रि० । रागादिना वाक्य-
 कालुष्यवर्जिते, दशा० ४ अ० ।
 अग्निस्सियवयणया-अग्निश्रितवचनता-स्त्री० । निश्रितं क्रोधा-
 दीनाम्, अथवा रागद्वेषाणां निश्रामुपगतम् । न निश्रितमग्नि-
 श्रितम् । व्य० ३ उ० । मध्यस्य वचनतायाम्, स्था० ८ टा० ।
 रागाद्यकलुषवचनतायाम्, उक्त० १ अ० ।
 अग्निस्सियववहारि (ए)-अग्निश्रितव्यवहारिन्-पुं० । नि-
 श्रा रागः, निश्रा संजाता अस्येति निश्रितः । न निश्रितोऽ-
 निश्रितः । स चाऽसौ व्यवहारश्चाऽग्निश्रितव्यवहारः, तत्क-
 रणशीला अग्निश्रितव्यवहारिणः । अरागेण व्यवहारका-
 रिणि, व्य० १ उ० ।
 अग्निह-अग्निह-पुं० । निहन्यत इति निहः । न निहोऽग्निहः ।
 क्रोधादिभिरपीडिते, तपःसंयमसहने वा, निगूहितधलवीर्ये
 च । “अग्निहे से पुठे अहियासए” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।
 परीसहोपसर्गे, निहन्यत इति निहः । न निहोऽग्निहः । उपस-
 र्गैरपराजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । “ अग्निह सहिए
 सुसंबुडे, धम्मघी उवहाणवीरिए ” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २
 उ० । निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यथा सा निहा माया । न
 विद्यते सा यस्याऽसावग्निहः । मायाप्रपञ्चरहिते, सूत्र० १ श्रु०
 ८ अ० । दश० । “ अस्सि सुविच्चा अग्निहे चरेज्जा ” सूत्र० २
 श्रु० ६ अ० ।
 अग्निहृत-पुं० । निश्चयेन निहन्यत इति निहतः । न निहि-
 तोऽग्निहतः । भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिरग्निहते, “ अ-
 ग्निहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सिरिरे ” आचा० १ श्रु० ४
 अ० ४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अग्निहृण-अग्निधन-त्रि० । अन्तरहिते, अष्ट० ७ अष्ट० ।
 अग्निहृतय-अग्निहृतक-त्रि० । निरुपक्रमायुष्कत्वात् उरो
 युद्धे च, भूम्यामपातित्वाद् घातमप्रापिते, स० ।
 अग्निहयिरिउ-अग्निहतरिपु-पुं० । भदिलपुरवास्तव्यनागगृह-
 पतेः सुलसानाम्नां जार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, तत्कथाऽन्त-
 रुद्दशासु ३ वर्गे ४ अध्ययने सूचिता । तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽ-
 णीयसकुमारस्येव भावनीया । यथा-द्वात्रिंशद् जार्याः द्वात्रिंश-
 त्क एव दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्,
 शत्रुञ्जये सिद्धिः, तत्त्वतस्त्वयं वसुदेवदेवकासुतः । अन्त०
 ३ वर्गे ४ अ० ।
 अग्निहृत (य)-अग्निजृत-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० ३ आ-
 श्र० द्वा० । श्रौ० । त्रिदशैरग्नि, वृ० ३ उ० । “ अग्निहुमा य
 संलावा ” अतिजृताश्च संज्ञापा गुवादिनाऽपि निष्ठुरवक्रो-
 क्त्यादयः । पं० व० ४ द्वा० प्रज्ञा० । वृ० ।
 अग्निहृत (य) परिणाम-अग्निजृतपरिणाम-त्रि० । अग्नि-
 भृतोऽनुपशमपरः परिणामो येषां ते, अनुपशमपरपरिणामेषु,
 प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणिहुतिदिय-अनिजृतेन्धिय-त्रि० । अनुपशान्तेन्धियेषु दे-
हेषु, ४० स० । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अणीइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । न विद्यते ईतिगुरिकादिरूपा
येषु तन्मयीतीति । अनीतीनि पत्राणि येषां ते तथा । ईतिवि-
रहितच्छेदेषु, जं० १ वक्र० ।

अणीय-अनीक-न० । हस्त्यश्वरथपदातिवृषभनक्तकगायकजन-
रूपे सैन्ये, औ० । ज० ।

अणीयस-अणीयस-पुं० । भद्रिपुरवास्तव्यनागगृहपतेः सु-
हसानाम्यां भार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, अन्त० ।

एवं खलु जम् ! तेषं कालेणं तेषं समणं भादिलपुरे
णामं एगरे होत्या । वणओ । तस्म एं भद्रिलपुरस्स उत्तर-
पुरच्छिमेणं दिसिभाए मिरिवणे णाम उज्जाणे होत्या । व-
णओ । जियनत्तू राया, तस्य एं जहिलपुरे एगरे नागे नामं
गाहावती होत्या । अहं जाव अपरिचूए तस्स एं णागस्स
गाहावतिस्स सुलसा णामं भारिया होत्या । सुकुमाला
जाव मुख्वा, तस्म एं णागस्स गाहावतिस्स सुलसाए
चारियाए अत्तए अणीयसे नामं कुमारं होत्या । सुकुमात्रे
जाव मुख्वं पंचधातिपरिखित्तं । तं जहा-खीरधाती जहा
दढपइमे जाव० [गिरिकंदरमहोणे व चंपगवरपायवे मुहं मु-
हेणं परवट्ठं । तनेणं मे अणीयसं कुमारं] सा तरेगा अ-
ट्ठवासजायं अम्मा पियरो कट्ठायरियाओ जाव भोगस-
मत्ये जाते यावि होत्या । तनेणं ते अण यमं कुमारं उ-
म्मुक्कवालजावं जाणित्ता अम्मापियरो सरिसयाणं जाव
वत्तीसा य गायवरकण्ठा । एगदिवसेणं पाणी गिए हाविति ।
तनेणं से नागे गाहावती अणीयस्स कुमारस्स इमे एया-
त्तवे पीइदाणं दलयति । तं जहा-वत्तासं इहस्सकामीतां
जहा महव्वलस्स जाव उप्पि पासा फुमं विहरति । तेषं
कात्रेणं तेषं समणं अरहा अगिट्ठेनमी जाव समोमहे सि-
रीवणे उज्जाणे अरहा जाव विहरति, परमा एगया ।
तनेणं तस्म अणीयस्म कुमारस्म । तं जहा-गोयमा !
तदा एगरे सामाइयमाइयाति चोइसपुव्वाइं अट्ठिमज्जति ।
वामं वासाति परियाओ नंसं तहेव । जाव मत्तुजए पव्वए
मानियाते मंत्रेहगाते जाव सिद्धि एव खलु जम्भ समणं
भगवया मट्ठावीरणं जाव मंपत्तेणं ।

यथा (दढपइमत्ति) दढप्रतिज्ञा राजप्रश्रुते यथा वर्णित-
स्तथाऽयं वर्णनीयो याधत्त 'गिरिकंदरमहोणे व चंपगवरपाय-
वे मुहं मुहेणं परिवट्ठं, तनेणं तमणीयसं कुमारं' इत्यादि सर्व-
मन्यथा वक्तव्यम् ; अभिधानमात्ररूपत्वात् । पुस्तकस्य सरि-
सियाणमिन्यादौ यावत्करणान् 'सरिसियाणं सरिसलावम्भ-
रुचंजावणुगुणावधेयणं सरिसेहिता कुत्रेहिता अणुपट्टियाण-
मिति दृश्यम् । 'जहा-महव्वलस्स त्ति' भगवयभिहितस्य तथा
तस्यापि दानं सर्वं वाच्यम् । 'उप्पि पासावरकण्ठं फुट्ठमाणं हि
मुहं गमच्छर्णं धोमओमाहं जंजमाणं विहरत्ति' । 'सकुजयत-

व्वए मासियाए संतेहणाए सिद्धे एवं खल्विति सुगमम् । अ-
न्त० ३ वर्ग० ४ अ० ।

अणीसम-अनिसृष्ट-त्रि० । हस्तप्रमाणावग्रहावस्फोटिते, वृ०
३ उ० ।

अणीसाकड-अनिश्राकृत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चेत्ये, ध०
२ अधि० ।

अणीहड-अनिर्दृत-त्रि० । अनिष्कासिते, वृ० १ उ० । अबहि-
निर्गते, अनात्मीकृते च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणीहारिम-अनिहारिम-न० । गिरिकन्दरादौ विधीयमाने पा-
दोपगमनमरणे, कलेवरस्थानिर्हरणीयत्वात् तत्त्वम् । प्र० १३
श० ८ उ० । स्था० ।

अणु-आणु-त्रि० । प्रमाणतः स्तोके, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।
पं० व० आ० म० द्वि० सूत्र० सुद्धमे लघौ, विशेषः । आनु० स्था० ।
लघीयसि, आचा० १ अ० १ अ० १ उ० । परमाणौ, आव० ४ अ० ।
अणुः परमाणुनिर्देशो निरवयवो निष्प्रदेशोऽप्रदेश इति । विशेषः ।
अनु-अव्य० । पश्चाच्छब्दाथे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । पश्चा-
उजाते, त्रि० स्था० १ ठा० । अनुरूपे, उक्त० १२ अ० । समापे, वृ०
३ उ० । अवधारणे, वृ० १ उ० ।

अणुअ-अणुक-त्रि० । तनुके, "अणुअसुकुप्रातलोपनिषत्तुर्वि"
अणुकानां तनुकानामातिसूक्ष्माणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा
गवियंत्रतत्तथा । जं० ३ वक्र० । मिणचवाख्ये धान्यभेदे, इति द्वै-
मचाश्रयवृत्तिः । युगन्धर्याम, स्त्री० । ध० २ अधि० । वृ० ।

अणुअतंत-अनुवर्त्तमान-त्रि० । उत्तरदेशकाहमागते, नि०
चू० ५ उ० ।

अणुअल्लं-देशी-क्षणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुआ-देशी-यष्टै, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुओ-देशी-क्षणके, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुएण-अनुचीर्ण-त्रि० । आगते, "कायसंफासमणुच्छिष्टाए"
कायः शरीरं तत्संस्पर्शमनुचीर्णः कायसंगमागताः । आचा० २
श्रु० ३ उ० ।

अणुउद-अनृत-पुं० । अस्यकाले, "विसमं पवाह्मिणो परिण-
मंति अणुदुसुदंति पुष्पफत्रं" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अणुओइय-अनुयोजित-त्रि० । प्रवर्तिते, न० ।

अणुओग-आणु(नु)यांग-पुं० । अणु सूत्रं महानर्थस्ततो महतोऽ-
र्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽणुयोगः । अनुयोजनमनुयोगः । अनु-
रूपो योगोऽनुयोगः । अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः । औ० ।
व्याख्याने विधिप्रतिषेधाद्यामर्थप्ररूपणे, विशेषः । निजेना-
भिधेयेन सार्धमनुरूपे सम्बन्धे, स० । जी० । स्था० ।
अनु० । आ० म० प्र० । आव० ।

(१) अनुयोगाधिकारे द्वारनामनिर्दर्शनम् ।

(२) निकृपडारम् ।

(३) सप्तविधानुयोगे नामस्थापनानुयोगौ ।

(४) द्रव्यानुयोगः ।

(५) द्रव्यानुयोगभेदस्वरूपनिरूपणम् ।

(६) क्षेत्रानुयोगनिरूपणम् ।

(७) कालाह्वयानुयोगप्ररूपणम् ।

(८) वचनाऽनुयोगकथनम् ।

(९) भावानुयोगस्य यमां प्रकाराणां प्रदर्शनम् ।

- (१०) एषां चानुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं यस्य यत्र समावेशो भजना वा तन्निरूपणम् ।
 (११) एकार्थिकानां वक्तव्यता ।
 (१२) अनुयोगशब्दार्थनिर्धनम् ।
 (१३) अनुयोगविधिः ।
 (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
 (१५) गुरुशिष्ययोश्चतुर्भङ्गीनिरूपणम् ।
 (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
 (१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
 (१८) पञ्चज्ञानेषु श्रुतज्ञानस्यानुयोगः ।
 (१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
 (२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य कोऽहं इत्यनेन संबन्धेन तदर्हद्वारम् ।
 (२१) कथाधिकारः ।
 (२२) चरणकरणाद्यनुयोगचानुर्विध्यनिरूपणम् ।
 (२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमर्थरक्षितात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स चैतर्हद्वारैरनुगन्तव्यः—

निक्रवेवेगच्छाणि रूत-विद्धि पवित्रं य केण वा कस्स ? ।

तदारनेयलक्षण-तदरिह परिसा य सुत्तयो ॥

अनुयोगस्य निक्रपो नामादिन्यासो वक्तव्यः, तदनन्तरं तस्यैकार्थिकानि, तदनु निरुक्तं वक्तव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे कर्तव्य इति विधिर्वक्तव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसवोऽनुयोगस्य वक्तव्यः । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति वक्तव्यम् । ततः परं कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वाराण्युक्तमादीनि वक्तव्यानि । तत्र तेषामेव भेदः, ततः परं सूत्रस्य लक्षणम्, तदनन्तरं सूत्रस्यार्हा योग्याः, ततः परं परिपत्, ततः सूत्रार्थः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थस्तु प्रति द्वारं वक्ष्यते । वृ० १ उ० । स्था० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

(२) तत्र प्रथमतो निक्रपद्वारमाह—

निक्रवेवो नामो त्ति य, एगडं सो उ कस्म निक्रवेवो ? ।

अणुश्रीगस्स जगवओ, तस्स इमे वानिया जेया ॥

निक्रपो न्यास इत्येकार्थः । पर आह—स निक्रपः कस्य कर्तव्यः ? । सुरिराह—अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निक्रपस्य इमे वक्ष्यमाणा वर्णिता भेदाः । वृ० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभवन्तं नामादिनिक्रपमाह—

नामं उवणा दविण, खेचे कात्ते य वयणजावे य ।

एसो अणुश्रीगस्स उ, निक्रवेवो होइ सत्तविहो ॥ ३८॥

नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, छव्यानुयोगः, क्षेत्रानुयोगः, काज्ञानुयोगः, वचनानुयोगः, भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य सप्तविधो निक्रपः । इति निर्बुक्तिगाथार्थः ।

(३) विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्जीयकारो नामस्थापनानुयोग-स्वरूपं तावदाह—

नामस्स जोऽणुश्रीगो, अहवा जस्साभिहाणमणुश्रीगो ।

नामेण व जो जाओ, जोगो नामाणुश्रीगो सो ॥

उवणाण जोऽणुश्रीगो-ऽणुश्रीगो इति वा उविज्जणं जं च ।

जावेह जस्स उवणा, जोग उवणाणुश्रीगो सो ॥

नाम्न इच्छादर्योऽनुयोगो व्याख्यानमसौ नामानुयोगः । अथवा यस्य वस्तुनोऽनुयोग इति नाम क्रियते तन्नाममात्रेणानुयोगो नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह यः काश्चिद्योगोऽनुरू-

पो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुरूपोऽनुरूपो योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा—दीपस्य दीपनाम्ना सह, तपनस्य तपननाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलननाम्ना सह इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानं स्थापनानुयोगः । अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाचार्यादिर्यत्र काष्ठादौ स्थाप्यते तत्स्थापनानुयोगः । यावदिहानुयोगकर्तुराचार्यादिस्तदाकारवति द्वेष्यकर्मादौ योग्याऽनुरूपा स्थापनाक्रियते, स स्थापनानुयोगः । स्थापनाया अनुरूपोऽनुरूपो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति व्युत्पत्तेः । इति निक्रपद्वारम् । विशेषः ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह—

सामित्त करण अहिररण, एहिं एगत्ते य बहुत्ते य ।

नामं उवणा मोजुं, इति द्रवादीण उवभेया ॥

स्वामित्वं संबन्धः, करणं साधकतमम्, अधिकृतम्, अधिकरणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादीनामनुयोगो वक्तव्य इति । एवं नामस्थापनां मुक्त्वा द्रव्यादीनामनुयोगस्य प्रत्येकं परूभेदा भवन्ति । वृ० १ उ० ।

तथाहि—

दव्वस्स जोऽणुश्रीगो, दव्वे दव्वेण दव्वहेउस्स ।

दव्वस्स पज्जवेण व, जोगो दव्वेण वा जोगो ॥

बहुवयणओ वि एवं, नेओ जो वा कहेव अणुवउत्तो ।

दव्वाणुश्रीग एसो, एवं खेत्ताइयाणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव द्रव्यानुयोग इति द्वितीयगाथायां संबन्धः । तथा छव्ये निषदादावधिकरणभूते स्थितस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा क्षीरपापाणशकलादिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोर्वा शिष्य-छव्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा छव्यस्य वत्त्वादेः कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणाम्लीकादिना कृत्वा यस्यैव वत्त्वादेस्तैव कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः । एवं बहुवचनतोऽपि ज्ञेयो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा—द्रव्याणां द्रव्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनुयोगो द्रव्यानुयोगः, द्रव्याणां पर्यायैः सह द्रव्यैर्वा करणभूतैरनुरूपो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपयुक्तः कथयत्यनुपयुक्तोऽनुयोगं करोति, स द्रव्यानुयोगः । एवं क्षेत्रादीनामपि क्षेत्रकालवचनभावेऽपि यथासंभवमित्थमेवायोज्य इत्यर्थः । तद्यथा—क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्राणां क्षेत्रैः क्षेत्रैश्चऽनुयोगः क्षेत्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुस्थापनाय देवेन्द्रचक्रवर्त्यादीनामनुयोगो व्याख्यानं यत्क्रियत इत्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्वा करणभूतैः पर्यायेण पर्यायैर्वा सहानुरूपोऽनुरूपो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं कालवचनभावविषयेऽप्येकवचनबहुवचनाभ्यां सुधिया यथासंभवं वाच्यम्, तवरं, कालादिष्वभिलापः कार्य इति द्रव्यस्यानुयोगो व्याख्यानं द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशेषः ।

(५) तत्र कतिभेदं तद्रव्यं किंस्वरूपश्च तस्यानुयोग

इत्याशङ्क्याह—

दव्वस्म उ अणुश्रीगो, जौवदव्वस्म वा अजीवदव्वस्स ।

एकैकस्मि य भेया, हवंति दव्वाइया चउरो ॥

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकस्मिन् योगे द्रव्यादिकाश्चत्वारो भेदा भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादित आह-

द्वन्द्वेणैकं खेत्ते, संवातीतपदेसभोगादं ।

कात्रे अनादिऽनिहणं, नात्रे नाणाऽया ऽणंता ॥

छ्यतो जीवद्रव्यमेकं, क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगादं, कालतोऽनाद्यनिधनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ताः । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताभारित्रपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

अधुना द्रव्यादिभिरजीवद्रव्यस्यानुयोगमाह-

एमेव अजीवस्स वि, परमाणु द्वन्द्वमेगद्वन्द्वं तु ।

खेत्ते एगपमे, ओगादो मो जवे नियमा ॥

समयाऽडिति असंखा, ओमापिणिआं हवंति कालमि ।

वसादि जावणंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, अजीवद्रव्यस्यानुयोगो वक्तव्यः, तद्यथा-परमाणुद्वन्द्वत एकं छ्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगादम् कालतो जघन्यतः स्थितिः समयादिरेको द्वौ त्रयो वा । समयानुकर्षतेऽसंख्यावगादम् । असंख्येया उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्यश्च भवन्ति । जावतो अनन्ता वर्णादिपर्यायाः । तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यायाः, अनन्ता गन्धपर्यायाः, यावदनन्ताः स्पर्शपर्यावा इति । एवं छिप्रदेशादिरेपि । द्विप्रदेशकस्य यावदनन्तप्रदेशिकस्योपयुज्य वक्तव्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्कन्धो छ्यतः एकं छ्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगादः, द्विप्रदेशावगादो वा । कालतो जघन्यतः स्थितिः, समयादिरुक्पत असंख्या उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्य एव इत्यादि ।

अथ द्रव्याणामनुयोग इत्येतद् व्याचिख्यासुगह-

द्वानां अणुभोगा, जीवमजीवाण पज्जवा नेया ।

तत्र वि य मगणाओ, ऽगेगा सट्टाणपग्गणे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । किं रूपोऽनाचित्याह ?-पर्यायाः प्ररूप्यमाणा ज्ञेयाः । तथाहि-कतिविधा भदन्त ! पर्यायाः प्ररूप्यमाणाः ? । गौतम ! छिविधाः । तद्यथा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । तत्राप्यनेकाः स्वस्थाने च परस्थाने च मार्गणाः । तार्थैवम-नैरयिकाणामसुरकुमाराणां च कति पर्यायाः प्ररूप्यमाणाः ? । गौतम ! अनन्ताः । अथ केनार्थेनेदमुच्यते ? । गौतम ! नैरयिकोऽसुरकुमारस्य द्रव्यार्थनया तुल्यः, प्रत्येकमेकद्रव्यत्वात्, प्रदेशार्थनयाऽपि तुल्यः, प्रत्येकं लोकालाशप्रदेशत्वात् । स्थित्या चतुःस्थानपतितः, भावतः पदस्थानपतितः, ततो भवन्ति नैरयिकाणामसुरकुमाराणां प्रत्येकं पर्याया अनन्ताः । एवमजीवद्रव्याणां पर्याया अपि, एवं स्वस्थाने परस्थाने च मार्गणाः । ('परमाणु मगगणां जेने !' इत्यादि 'पज्जव' शब्देऽभिधास्यते) ततो भवन्ति द्वयानामपि प्रत्येकमनन्ताः पर्यायाः । एवमेनेकधा जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां चानुयोगः, मृत्रे तत्र तत्र प्रदेशेऽभिहितो जावन्तीयस्तदेवं द्रव्याणां चेति स्यामिन्नं ततम् ।

इदानीं करणे एकत्रयद्वयानुयामानुयोगमाह-

वतीए अखेए ण, करणुनादीण वा वि द्वन्द्वेण ।

अखेहिं तु द्वन्द्वेहि, आहिगरणे बहुसु कपेसु ॥

वर्तिनाम खटिका, तत्र या कृता शलाका तथा, अक्षेण वा, करणद्रव्या वा, आदिशब्दाः प्रत्येककादिना वा यः क्रियतेऽनुयोगः स द्रव्याणामनुयोगः । द्रव्यैरनुयोगो यद् बहुजिरकैः क्रियतेऽनुयोगः । अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा एकस्मिन् कल्पे स्थितोऽनुयोगं करोति, यदा तु बहुषु कल्पेषु स्थितस्तदा द्रव्येषु अनुयोगः । उक्तो द्रव्यानुयोगः पञ्चदशः । बृ० १ उ० । विशे० । स्था० । ('दशविहे दवियाणुभोगे' इति 'द्वानुभोग' शब्दे व्याख्यासहितं सूत्रम्)

(६) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वाऽनुयोगमाह-

पणणति-जंबूदीवे, खेत्तसेमाइ होइ अणुभोगो ।

खेत्ताणं अणुभोगो, दीवसमुदाण पण्ती ॥

क्षेत्रस्यानुयोगः क्षेत्रानुयोग एवमादिको भवति । क इत्याह ?- [पणणतिजम्बूदीवे चि] जम्बूदीपप्रज्ञप्तिरित्यर्थः । जम्बूदीपलक्षणकक्षेत्रव्याख्यानरूपत्वात्तस्याः । बहूनां तु क्षेत्राणामनुयोगो द्वीपसागरप्रज्ञप्तिर्भवति । बहूनां द्वीपसमुच्चक्षेत्राणां तत्र व्याख्यानादिति । तदेवं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग इत्युक्तम् ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रानुयोग इत्येतदाह-

जंबूदीपमाणां, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काउं ।

एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

खेत्तेहिं बहुदीवे, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काउं ।

एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

इह जम्बूदीपप्रमाणं प्रस्थकं पत्यं कृत्वा पुनस्तद्भरणविरेचनक्रमेण यदा सर्वेऽपि मृदमवाद्गृथ्वीकायिका जीवा मीयन्ते तदा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशसंख्योपेता जम्बूदीपप्रमाणाः प्रस्था भवन्तीत्येव क्षेत्रेण जम्बूदीपरूपेणानुयोगोऽभिधीयत इति । क्षेत्रैस्त्वनुयोगोऽयं द्रष्टव्यः । तद्यथा-बहुदीपप्रस्थकं कृत्वाऽनीक्षणं तद्भरणविरेचनक्रमेण समस्तपृथ्वीकायिकजीवा मीयमाना असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा बहुदीपमानप्रस्था भवन्ति । एतदसंख्येयकं पूर्वस्माल्लघुतरं छप्यम् । प्रस्थस्येह बृहत्तरत्वादपि बहुदीपवृत्तैः क्षेत्रैरनुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु चानुयोगमाह-

खेत्तमि उ अणुभोगो, तिरियं होगामि जमि वा खेत्ते ।

अह्माइयदीवेसुं, अप्पउवीसाइ खेत्तेसुं ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिर्यग्भोक्तक्षेत्रे योऽनुयोगः प्रवर्तते यत्र या ग्रामनगरादौ व्याख्यानसमादौ वा क्षेत्रे स्थितोऽनुयोग-कर्त्ताऽनुयोगं करोत्येव क्षेत्रानुयोगः क्षेत्राऽनुयोग उच्यते । क्षेत्रेष्वनुयोगः क इत्याह-योऽर्चतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिक्षेत्रेषु वर्तते, साङ्गैरपृथिव्यतिजनपदरूपेषु वा आर्यक्षेत्रेष्विति । उक्तः पक्षिधः क्षेत्रानुयोगः ।

(७) अधुना कालस्य कालानां चानुयोगमाह-

कालस्स समयरुवणं, कालाणं तदाइ जाव सव्वप्पा ।

कालेणऽनिलऽवहारो, कालेहिं उ मेसकायाणं ॥

कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-(समयरुवणं चि) उत्पलपत्रशतजदपट्टशार्ङ्गकापाटनादिदृष्टान्तैः समयस्य प्ररूपणेत्यर्थः । कालानां त्वनुयोगः-(तदाइ जाव सव्वप्पा चि) समयमादौ कृत्वा यावत् सर्वाङ्गायाः प्ररूपणेत्यर्थः । कालेणानुयोगोऽनिलापहारः । इदमुक्तं भवति-यादरपर्याप्तवायुकायिका वैक्रियशरीरे घर्षमा-

ना अत्रैवत्योपमस्यासंख्येयभागेनापह्नयन्त इत्येवं प्ररूपणा, स कावेनानुयोग इति कोऽप्युच्चार्यटीकायां विवृतम् । अन्यत्र त्व-
नुयोगद्वारादिषु वैक्रियशरीरिणो वायवः क्षेत्रपट्योपमासंख्येय-
भागप्रदेशपरिमाणा दृश्यन्ते । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति । शेषा-
णां तु पृथिव्यादिकायानां यथासंज्ञं कालैरनुयोगः । तद्यथा—

“ पञ्जत्तवायरानल-असंखया हौति आवलियवग्मा ति ” ।

आवलिकायां यावन्तः समयास्तेषां वर्गः क्रियते-तथाविधेषु
चासंख्यातेषु वर्गेषु यावन्तः समयास्तत्प्रमाणाः वादरपर्यामतेज-
स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नवत्सकायिका असंख्येयाभिरु-
त्सर्पिण्यवत्सर्पिणीभिरपह्नयन्ते । एवं पृथिव्यादिष्वपि यथासं-
भवं वाच्यमिति ।

अथ कावे कालेषु चानुयोगमाह—

कालमि वीयपोरिसि, समामु तिसु दोसु वा वि कालेसु ।

प्रथमपौरुष्यां किल सूत्रमध्यतयम्, द्वितीयपौरुष्यां तु तस्यानु-
योगः प्रवर्तते, अत इह कालस्य प्राधान्येन विवक्षणात्काले
द्वितीयपौरुषीलक्षणेऽनुयोगः कालानुयोग इत्युच्यते । तथाऽ-
वत्सर्पिण्यां सुषमदुःषमादुःषमसुषमादुःषमारूपासु तिसृषु
(समामुत्ति) त्रिष्वरेकेषु अनुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र । उत्सर्पिण्यां
तु दुःषमसुषमासुषमदुःषमारूपयोर्द्वयोः समययोर्द्वयोरकयोर-
नुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र । अथ च कालेष्वनुयोगः कालानुयोगो-
ऽभिधीयते । तदेवं जणितः पट्विधः काळानुयोगः ।

(८) संप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुयोगमाह—

वयणस्तेगवयाई, वयणाणं सोद्वसहं तु ।

(वयणस्तेत्यादि) इत्थं नूतमेकवचनं भवत्येवं नूतं वा द्विव-
चनमोदृशं वा बहुवचनमेवंस्वरूप एकवचनाद्यन्यतरवचनस्य
योऽनुयोगः, स च वचनस्यानुयोग उच्यते । वचनानां त्वनुयोगः
पोरुशवचनानुयोगः [पोरुशवचनानि 'वयण' शब्दे वक्ष्यन्ते]
वचनानामनुयोगः-प्रथमैकवचनादीनामेकवचनवचनानां व्या-
ख्येति वचनानामित्युक्तम् ।

अथ वचनेन वचनैर्वचनेऽनुयोग इत्येतदाह—

वयणेणायरियाई, एकेणुत्तो बहुहिं वयणेहिं ।

वयणे खओवसमिए, वयणे पुण नतिय अणुओगो ॥

वचनेनानुयोगो यथा-कश्चिदाचार्यादिः साध्यादिना सकृदेके-
नापि वचनेनाज्यर्थितोऽनुयोगं करोति । वचनैस्त्वनुयोगो-यदा स
एवासकृद् बहुभिर्वचनैरभ्यर्थितस्तं करोति । कायोपशमिके व-
चने स्थितस्यानुयोगो वचनानुयोगः । वचनेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः,
वचनस्य कायोपशमिकत्वेनैकत्वासंज्ञवात् । अन्ये तु मन्यन्ते-व्य-
क्तिविवक्षया तेष्वेव कायोपशमिकेषु बहुषु वचनेष्वनुयोग इत्य-
प्यविरुद्धमेवेति । तदेवं पञ्चविधः पट्विधो वा निर्दिष्टो वचनानु-
योगः । वृ० । १००

शुद्धवागनुयोगः—

दमाविहे सुद्धावायाणुजांगे पणुत्ते । तं जहा-चंकारे मं-
कारं पिकारे सयंकारे सायंकारे एगत्ते बहुत्ते संजुहे मं-
कामिए भिन्ने ॥

शुद्धा अनपेक्षितवाक्यार्था, या वाक् वचनं, सूत्रमित्यर्थः, तस्या अ-
नुयोगो विचारः शुद्धवागनुयोगः । सूत्रे चाऽपुम्बद्धावः प्राकृतत्वा-
त्, तत्र चकारादिकायाः शुद्धवाचो योऽनुयोगः स चकारादिरेव
व्यपदेश्यः । (तत्र चकारादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने वक्ष्यते) । (भि-
न्नमिति) क्रमकावभेदादिभिर्भिन्नं विसदृशम् । तदनुयोगो यथा-

'तिविहं ति विहेणमिति' संप्रहसुस्त्वा पुनर्मणेणमित्यादिना तिलि-
हेण ति विवृतमिति क्रमनिष्क्रम, क्रमेण हि ति विहमित्येतन्न करो-
मीत्यादिना विवृत्य तत्स्त्रिविधेनेति विवरणीयं भवतीति । अस्य
च क्रमभिन्नस्यानुयोगोऽयम्, यथा-क्रमाच्चिद्वरणे हि यथासंख्यं
दोषः स्यादिति तत्परिहारार्थं क्रमो भेदः । तथाहि-न करोमि मन-
सा न कारयामि वाचा कुर्वन्तं नानुजानामि, कायेनेति प्रसज्यते,
अनिष्टं चैतन्, प्रत्येकपक्षस्यैवेष्ट्यात् । तथाहि-मनःप्रभृतिभिर्न क-
रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव नानुजानामीति । तथा कालतो
जेटोऽतितादिनिर्देशे प्राप्ते वर्तमानादिनिर्देशः । यथा-जम्बूद्वी-
पप्रकृत्यादिषु ऋषभस्वामिनमाश्रित्य 'सक्रे होविदे देवराया
वंदइ नमंसइत्ति' सूत्रे । तदनुयोगश्चायं वर्तमाननिर्देशः, त्रि-
कालजाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थ इति । इदं च
दोषादिसूत्रत्रयमन्यथापि विमर्शनीयं, गम्भीरत्वादस्येति वाग-
नुयोगतत्त्वर्थानुयोगः प्रवर्तत इति । स्था० १० ज० ।

[९] सम्प्रति भावानुयोगं षट्प्रकारमाह—

जावेण संगहाई-ए ऽन्यरेणं दुगाऽजावेहिं ।

जावे खओवसमिए, जावेसु उ नतिय अणुओगो ॥

अहवा आयाराइसु, भावेसु विएस होइ अणुओगो ।

सामितं आमज्ज व, परिणामेसुं बहुविहेसुं वा ॥

संग्रहादीनां पञ्चानामध्यवसायानामन्यतरेण चित्ताध्यवसा-
येन योऽनुयोगः क्रियते स भावेनानुयोगः । ते चामी पञ्चाजि-
प्रायाः । यदाह स्थानाङ्गे—

“ पंचहिं ठाणेहिं सुयं वापज्जा । तं जहा-संगहदुयाए उवग्ग-
हछयाए निज्जरदुयाए सुयपज्जवजाएणं अवोचिक्खत्तीए ” ॥

अयमर्थः-कथं तु नामैते शिष्याः सूत्रार्थसंग्रहकाः संप्रत्य-
न्ते?, तथा कथं तु नाम गीतार्थीनूत्वाऽमी वस्त्राद्युत्पादनेन ग-
च्छस्योपग्रहकरा जघिष्यन्ति?, ममाप्येतां वाचयतः कर्मनिर्जरा
भविष्यति?, तथा श्रुतपर्यवजातं श्रुतपर्यायराशिर्ममाऽपि वृद्धि या-
स्यति?, श्रुतस्य वाऽव्यवच्छित्तिर्न विष्यतीत्येवं पञ्चभिरभिप्रायैः
श्रुतं सूत्रार्थतो वाचयेदिति । एषामेव संग्रहादिभावानां मध्याद्
द्विव्यादिभिर्भावैः सर्वैर्वाऽनुयोगं कुर्वतो भावेरनुयोगः । कायो-
पशमिके भावे स्थितस्य व्याख्यां कुर्वतो भावानुयोगः । जावेषु
पुनर्नास्त्यनुयोगः, कायोपशमिकत्वेन तस्यैकत्वात् । अथवा प-
कोऽपि कायोपशमिको जाव आचारादिशास्त्रलक्षणविषयभेदा-
द्विद्यते, ततश्च आचारादिशास्त्रविषयजेट्भिन्नेषु कायोपशमि-
कभावेषु अप्येषु जवन्त्यनुयोगो न कश्चिद्विरोधः । वा इत्यथवा
स्वामित्वमासाद्यानुयोगकर्तुः स्वामिनो बहून् प्रतीत्य कायोपश-
मिकपरिणामेषु बहुष्वनुयोगप्रवृत्तेर्जावेष्वनुयोगो न विहन्यते ।
इत्युक्तः षट्विधो भावानुयोग इति ।

[१०] एषां चाऽनुयोगविषयाणां छव्यादीनां परस्परं यस्य

यत्र समावेशो भजना वा तदेवाह—

द्वेवे नियमा भावो, न विणा ते यावि खेतकाजेहिं ।

खेत्ते तिण वि भयणा, काजो जयणाइ तीसुं पि ॥

द्रव्ये तावन्नियमाद् भावः पर्यायोऽस्ति, पर्यायविरहितस्य द्रव्य-
स्य कापि कदाचिदप्यभावात् । तौ चापि द्रव्यजावोऽपि क्षेत्रकालाभ्यां
विना न संभवतः । छव्यजावयोर्हि नियमवान् सहजावो द-
र्शित एव, छव्यं चावश्यकं कश्चिद्विषयवाढमन्यतरस्थितिमते-
व जवति, अतः सिद्धमिदं छव्यभावावपि क्षेत्रकालाभ्यां विना

काऽपि न भवतः । क्षेत्रे तु त्रयाणामपि द्रव्यकालनामानां भजना विकल्पना, काऽपि तत्र ते प्राप्यन्ते काऽपि नेत्यर्थः । होक्ते क्षेत्र त्रयाणामपि भावान्, अलोकक्षेत्रेऽभावादिति । आह-सत्रोक्तक्षेत्रेऽप्याकाशद्रव्यं द्रव्यमस्ति, वर्तनादिरूपस्तु कालोऽगुलप्रवधानात्ताः पर्यायाः सन्त्येव, तत्कथं तत्र द्रव्यकालनावानामभावः ? । सत्यम्, कित्वाकाशद्रव्यं द्रव्यं यत् तत्रोच्यते । तत्र युक्तम्, तस्य क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वात्, काशस्यापीह समयादिरूपस्य चिन्तयितुं प्रस्तुतत्वात्, तस्य च समयक्षेत्रादन्यत्राभावात्संनदिरूपस्य त्वत्राविद्यतितग्रहणेनैव तत्र तस्य गृहीतत्वाच्च । पर्यायाश्चेह धर्माधर्मपुल्लजीवास्ति कायद्रव्यसम्बन्धिनो विवक्षिताः, ते चालोके न सन्ति । एवमाकाशसम्बन्धिनस्त्वगुलप्रवधानाः क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वाद्देह विवक्षिता इत्येतो होक्त्रयाणामपि द्रव्यकालभावानामभावः । (काशो नियमादतीसु पि न्ति) द्रव्यक्षेत्रभावेषु शिष्यपि कालो भजनया विकल्पनया जवति, समयक्षेत्रान्तर्वर्तिषु तेषु तस्य भावात्, तद्विहस्त्वभावादिति । एवं च स्थितानाममीषां द्रव्यादीनां यथासंनवमनुयोगः प्रवर्तत इति ।

अपरमपि द्रव्यादिगतं किञ्चित् स्वरूपं प्रसङ्गतः प्राह—

आहाराग्रे आदेयं, च द्रोह द्रव्यं तदेव जायो य ।

खंचं पुण आहाराग्रे, कालो नियमात् आदेयो ॥

द्रव्यमाधारो जवति पर्यायाणाम्, आधेयं च भवति क्षेत्रं तथा जावश्चाधारो जवति, काशस्य कालवर्णादीनां समयादिस्थितित्वादिति आधेयश्च जवति द्रव्येः क्षेत्रमाकाशं पुनः सर्वेषामपि धर्माधर्मपुल्लजीवकालद्रव्याणामगुलप्रवधानाणां वाऽऽधार एव न त्वाधेयम्, सर्वस्यापि वस्तुनस्तत्रैवावगाढत्वात्, तस्य च स्वप्रतिष्ठितत्वेनान्यत्राऽऽधेयत्वायांगादिति । (काशो नियमात् आदेयो न्ति) काशो नियमादाधेय एव भवति, नत्वाधारः, तस्य द्रव्यपर्यायेष्ववस्थितत्वात्, तत्र चायस्यास्थितत्वादिति । तदेवं व्याख्यातो नामादिभेदतः सप्तविधोऽणुयोगः । विशेषः । ('व-च-उ-गो-णीत्यादि' गावानिर्गान्यनुयोगाऽननुयोगसाधारणान्युदाहरणानि दत्तानि तानि अब्रैव भागे २८५ पृष्ठे 'अणुभोग' शब्देऽस्माभिर्दर्शितानि)

[११] संप्रत्येकार्थिकानि वक्तव्यानि—तानि द्विधा सूत्र-स्याऽर्थस्य च । (तत्र सूत्रस्य 'सुय' शब्दे वक्तव्ये)
साम्प्रतमर्थकार्थिकान्याह—

अणुयोगो य नियोगो, नाम विभासा य वृत्तियं चैव ।

एष अणुभोगस्स तु, नामा एगद्विधा पंच ॥

अनुयोगो, नियोगो, नामा, विभासा, वार्तिकं च, एतानि पञ्चानुयोगस्यैकार्थिकानि । तत्रानुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः, नि-विचतो योगो नियोगः, अर्थस्य भाषा, विविधप्रकारेण नामणं विभासा, वृत्तौ भवं वार्तिकम् । यदेकस्मिन् पदे यदर्थोपपन्नं तस्य सर्वस्यापि नामणम् । उक्तान्येकार्थिकानि । वृ० १२ उ० । विशेषः । अनु० । आ० म० द्वि० । आ० च० ।

[१२] अनुयोग इति कः शब्दार्थः ? । इत्याह—

अणुभोगमणुभोगो, सुयस्म नियमण जमनिहेण ।

वावागो वा जोगो, जो अणुस्वोऽणुकूलो वा ॥

अद्वता जमन्यत्रो यो—व पञ्च जावोदं सुयमणु तस्म ।

अतिथेये वावागो, जोगो तेणं च मंवेथो ॥

यत् सूत्रस्य निजेनाऽभिधेयताऽनुयोजनमनुसंनधनमसावनु-

योग इत्यर्थः । अथवा—योऽनुरूपोऽनुकूलो वा घटमानः संबध्यमानो व्यापारः प्रतिपादनलक्षणः सूत्रस्य निजार्थविषयेऽयमनुयोगः । अथवा—यदस्मादर्थतोऽर्थात् सकाशादणु सूत्रं लघु सूत्र-काभ्यामित्याह । स्तोके पञ्चाद्वाधाभ्यामेकस्यापि सूत्रस्यानन्तोऽयं इत्यर्थात्स्तोकत्वम् । तथा प्रथममुत्पादय्ययद्वाध्यलक्षणं तीर्थक-रोक्तमर्थं चेत्तसि व्यघस्थाप्य पञ्चादेव सूत्रं रचयति गणधराः इत्येवमर्थतत्पञ्चाद्वाधाच्च सूत्रमणवेति भावः । तस्मात्तस्याणां सूत्रस्य यः स्वकीयस्याऽभिधेये योगो व्यापारस्तेन चाऽणुना सूत्रेण सह यः सवन्धो योगोऽसावनुयोग इति । विशेषः ।

तत्र सामान्येन प्रागुक्तमपि विशेषोपदर्शनार्थमाह—

अणुणा योगोऽणुयोगो, अणु पञ्चाभावत्रो य धावे य ।

जम्हा पञ्चाऽभिहितं, सुत्तं धावे च तेणानु ॥

इह अणुयोग इति वा शब्दसंस्कारः, तत्र अनुना पञ्चाद्वृत्ते-न योगोऽनुयोगः, अथवा अणुना स्तोकेन योगोऽणुयोगः । तथा चाह-अणु इति पञ्चाद्वाधे, स्तोके च । यस्मात्पञ्चादभिहितं कृतं सूत्रं स्तोके च, तेन 'अणु' इति भण्यते । अर्थः पुनरनुनः, पूर्वमुक्तत्वात्, वादरश्च, बहुत्वात् । एवमाचार्येणोक्ते शिष्यः प्राह-पुर्वं सुत्तं पञ्चा—य पगासो लोइया वि इच्छंति ।

पेतासुरिसे सुत्ते, अन्यपया हुंति बहुया वि ॥

ननु पूर्वं सूत्रं पञ्चाप्रकाशोऽर्थः, तान् तान् भावान् प्रकाशयतीति प्रकाश इति व्युत्पत्तेः । सूत्रभावे तु स कस्य स्यात् ? । अ-पि च—लौकिका अप्येवमेवेच्छन्ति । तथा चोक्तं तैरेव—“पूर्वं सूत्रं ततो वृत्ति-वृत्तेरपि च वार्तिकम् । सूत्रवार्तिकयोर्मध्ये, ततो भाष्यं प्रवर्तते” ॥१॥ ततो यद्वदय यूयं-पूर्वमर्थः पञ्चात् सूत्रमिति तत्र घटां प्राञ्जति । यदपि च ब्रूय-सूत्रमणु अर्थो वादर इति । त-दपि न सम्यक् । यत् एकस्यां पेतायां बहूनि वस्त्राणि सन्ति, तत्र पेताया एव वादरत्वं युज्यते, तद्वशाद् बहूनि वस्त्राणि मान्ति स्म । एवमत्रापि पेतासदृश पेतास्थानीये सूत्रे बहून्यर्थपदानि व-र्तन्ते, तत्र सूत्रमेव वादरीजयितुमर्हति नार्थ इति ।

न च महत्वमेकान्तेनार्थस्य, कस्मादित्याह—

इकं वा अत्यपयं, सुत्ता बहुगा वि संपयंसंति ।

उक्तिवृत्तनाऽमाइसु, अयमपि तम्हा अणंगतो ॥

एकमर्थपदं, बहूनि सूत्राणि संप्रदर्शयन्ति । यथा—उक्तिवृत्तनाते अनुकम्पा कर्त्तव्येत्यर्थे बहूनि सूत्रैर्वर्णितः, आदिशब्दात् संघटा-दिषु ज्ञातेषु न बलहेतोराहारयितव्यमित्यादिपरिग्रहः । तस्मा-दयमेकान्तः यदर्थो महानिति ।

आचार्यः प्राह—यस्वयोक्तं पूर्वं सूत्रं पञ्चादर्थ इति, तत्र भव-ति, कथमित्याह—

अत्यं भासइ अरिहा, तमेव सुत्तिकरंति गणधारी ।

अन्यं च विणा सुत्तं, अणिसिसयं केरिसं होइ ? ॥

अर्थे भाषेतर्हन्, तमेवार्हद्वापितमर्थं सूत्रीकुर्वन्ति गणधारिणः । अर्थं च विना सूत्रमिति अनिश्रितं निधारहितं कीदृशं स्यात् ? । असंयक्तं दश दार्शनिक्यादि वाक्यवदिति भावः । अपि च—लौ-किका अपि शास्त्रारः प्रथमतोऽर्थे दृष्ट्वा सूत्रं कुर्वन्ति, अर्थमन्तरण सूत्रस्यानिपत्तेः । यदप्युक्तम्—पेतावद् वादरं सूत्रमर्थोऽणुरिति । तद-व्यश्रीलम् । यतस्तस्या एव पेताया एकं वस्त्रमादाय तेनानेकाः पेता बध्यन्ते, तथैकस्मादर्थोद् बहूनि सूत्राण्यर्थाक तेनैव ब-ध्यन्ते । एवं वस्त्रस्थानीयस्यार्थस्यामहत्वम्, पेतास्थानीयस्य तु

सूत्रस्याणुत्वमेव । यदप्युक्तम्-न च महत्वेमकान्तेनार्थस्येत्यादि,
तदप्यपरिभाषितपरिज्ञापितम् । यदुक्तिमज्ञातादिषु सत्त्वानुक-
म्पादिकोऽर्थस्तावन्मात्रस्य सूत्रस्य, अशेषस्य तु शेषोऽर्थः । उ-
क्तोऽनुयोगः । वृ० १ उ० । स्वाभिधायकसूत्रेण सहार्थस्यानुगीयते-
ऽनूकुरो वा योगोऽस्येदमभिधेयमित्येवं संयोज्य शिष्येभ्यः प्रति
पादनमनुयोगः, सूत्रार्थकथनमित्यर्थः । अथवा एकस्याऽपि सू-
त्रस्यानन्ताऽर्थ इत्यर्थो महान्, सूत्रं त्वणु, ततश्चाणुना सू-
त्रेण सहार्थस्य योगोऽनुयोगः । तदुक्तम्-“ नियथाणु-
लजोगो, सुत्तस्सऽन्थेण जो य अणुश्रोगो । सुत्तं च अणुं तेन,
जोगो अत्थस्स अणुश्रोगो ” अनु० । दश० । नं० । आ० म०
प्र० । जं० । आचा० ।

(१३) अधुना विधिद्वारावसरः, तत्र येन विधिना-

ऽनुयोगः कर्त्तव्यस्तमाह-

सुत्तत्थो खलु पढो, विद्मो निज्जुत्तिमीमिओ भणिओ ।

तद्मो य निरवसेमो, एम विही भणिय अणुश्रोगे ॥

प्रथमस्य श्रोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थः कथनीयः-

यथा नो कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा आमे
तालपद्धवे अजिन्ने, पणिगाहिचाए ॥

अस्यार्थः-नो इति प्रतिषेधे, न कल्पते न वर्त्तत इत्यर्थः । नैषां प्र-
न्थो विद्यते इति निरन्तराः, तेषां, वा विभाषायाम्, निरन्थीनां वा,
आममपक्कं, तावो वृक्कस्तालजयं तालं, तालफलमित्यर्थः । प्रथमं
मूत्रं, तदपि तस्यैव तालवृक्कस्य प्रतिपत्तयम् । ततः समाहा-
रः । अभिन्नमव्यपगतजीवं, प्रतिगृहीतुमिति । एवं तावत् कथ-
यितव्यं यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्ततो द्वितीयस्यां परिपाठ्यां
निर्युक्तिमिश्रितः पीठिकया सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्त्या च समन्वितः,
सोऽपि यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्तावत्कथनीयः । तृतीयस्यां
परिपाठ्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, पदपदार्थचालनाप्रत्यव-
स्थानादिभिः सप्रपञ्चं समस्तं कथयितव्यमिति ज्ञातः । एष वि-
धिरनुयोगे ग्रहणधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वेदितव्यः ।

मन्दमतीप्सति प्रकारान्तरेणानुयोगविधिमाह-

मूयं हुंकारं वा, वाढकारं पडिपुच्छ मीममा ।

तत्तो पसंग पारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥

प्रथमतः शृणुयात् । किमुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे संयतगात्र-
स्तूष्णीमासात्, ततो द्वितीये श्रवणे हुंकारं दद्यात्, वन्दनं कुर्या-
दित्यर्थः । तृतीये वाढङ्कारं कुर्यात्, वाढमेवमेतद् नान्यथेति प्रशं-
सेदित्यर्थः । चतुर्थे गृहीतपूर्वापरसूत्राजिप्रायो मनाक् प्रति-
पृच्छां कुर्यात्, यथा कथमेतदिति ? पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजि-
ज्ञासां कुर्यात् । षष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणे प्रसङ्गः, पारगमनं चाऽस्य
भवति । ततः सप्तमे परिनिष्टां गुरुवदनुप्रापत इत्यर्थः । यत एवं
मन्दमेधसां श्रवणपरिपाठ्या विवक्षिताऽध्ययनार्थावगमः, ततः
स्तात् प्रति सप्त बारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति कर्त्तव्यः ।

अत्र परावकाशमाह-

चोइए रागदोसा, समत्थ परिणामगे परूवणया ।

एएमि नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

शिष्ये नोदयति प्रश्नयति समर्थे ग्रहणधारणासमर्थे, तथा
परिणामके । उपवृत्तकणमेतत्-ग्रहणधारणासमर्थेऽतिपरिणा-
मके च या प्ररूपणा तथा युष्माकं रागद्वेषौ प्रसज्यतः । तथाहि-
निसृभिः परिपाटीजिरेकान् ग्राहयतो रागोऽपरान् सप्तभिः परि-
पाटीभिर्ग्राहयतो द्वेषः । तथा परिणामकान् ग्राहयतो रागः, इत-

रानतिपरिणामकान् परिहरतश्च द्वेषः । एतेषां ग्रहणधारणा-
समर्थसमर्थानां परिणामकादीनां च यथानुपूर्व्या क्रमेण
नानात्वं वक्ष्ये, तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयेन ।

प्रथमतो ग्रहणधारणासमर्थसमर्थान्प्रति रागद्वेषावाह-

पच्छरया अविमुत्तो, पूया मकार गच्छइ अखिन्तो ।

दोसा गहणसमत्थे, इयर रागो उ वुच्छेयो ॥

ग्रहणधारणासमर्थे शिष्यं तिसृभिः परिपाटीभिर्ग्राहयत एता-
वन्ति कारणानि स्युः-एष बहुशिक्षितो मम प्रसन्नो भविष्यति
ततो मत्सरतया परिवारत्वेन वर्त्तत इत्यविमुक्तिकारणम् । अ-
थवा-गृहीतसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति । खिन्नो वा
परिश्रान्तोऽन्यगणं गमिष्यति । (वुच्छेयत्ति) महसतां वाऽनुयोग-
स्य व्यवच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधशिष्यस्याज्ञावान् ।
एवं कारणानि संज्ञाय ग्रहणधारणासमर्थे तिसृजिः परिपाटी-
जिरनुयोगं वदतो द्वेषः । इतरस्मिन् जडे रागः, यथा-तदवयो-
धमनुयोगस्य प्रवर्त्तनात् । अत्राचार्य आह-

निग्वयवो नहु मको, ममं पयासो उ मंपयंसेउं ।

कुंजजले विहु तुरि उ-ज्जियम्मि नहु तिस्स पडिन्नप्पू ॥

नहु नैव सूत्रस्य प्रकाशोऽर्थः सकृदेकया परिपाठ्या निरवयवः
समस्तः संप्रदर्शयितुं शक्यः, तस्य ग्रहणधारणासमर्थो नैकया
परिपाठ्याऽवधारयितुमीश इति तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोग-
कथनमित्यदोषः ।

संप्रतमतिपरिणामकानपरिणामकान् परिहरतो द्वेषाज्ञावमाह-

सुत्तत्थं कहयंतो, पारोक्खी सिस्सज्जावमुवन्नजई ।

अणुकंपाइ अपत्ते, निज्जुहइ मा विणिंसज्जा ॥

पारोक्षी परोक्षज्ञानोपेतः शिष्येभ्यः सूत्रार्थं कथयन् विनयावि-
नयकरणादिना तेषां शिष्याणां ज्ञावमभिप्रायमुपलभ्य, अपात्रा-
णि अपात्रभूतान् शिष्यान् अनुकम्पया निर्यूहयति अपवदति ।
न तेभ्यः सूत्रार्थं कथयति । श्रुताशातनादिना मा विनश्येयु-
रिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

दारुं धाउं वाही-वीए कंकुय लक्खणं सुविणं ।

एगंतेण अजोगे, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनायोग्ये अपरिणामके च दारु धातुर्व्याधिवीजानि कां-
कुकुको लक्षणं स्वप्न इत्येवमादीनि उदाहरणानि दृष्टान्ताः ।

तत्र दारुदृष्टान्तमाह-

को दोमो एरंके, जं रहदारं न कीरए नत्तो ।

को वा तिणिमे रागो, उवजुज्जइ जं रहंगेसु ॥

एरंके परण्डकुमे को द्वेषः, यत्तस्मात् रथयोग्यं दारु न कि-
यते, को वा तिनिशे रागो यदुपयुज्यते स रथाङ्गेषु ? ।

जं पिय दारुं जोगं, जस्स उ वत्थुस्स तं पि हु न सका ।

जोएउमणिम्मविउं, तच्छणदलवेहकुस्सेहि ॥

यदपि वस्तुनोऽङ्कादेर्योग्यं दारु तदपि तत्क्षणदलवेधकुशीरैर
निर्माण्य योजयितुमशक्यम्, किं तु निर्माण्य, एवमिहापि योग्यो-
ऽपि यावदव्यक्तैः सूत्रैः न परिकर्मितस्तावन्न कल्पं व्यवहारं वाऽ-
ध्यापयितुं योग्यः । तत्र तत्क्षणं प्रतीतम्, दृष्टानि द्विधा त्रिधा वा
काष्ठस्य पाटनं, वेधः प्रतीतः, कुशो यो वेधे प्रोतः प्रवेश्यते ।

संप्रति धातुदृष्टान्तमाह-

एमेव अथाउं उ-ज्जिऊण कुणइ धाऊण आयाणं ।

न य अक्रमेण सक्ता, धातुमि वि श्चित्रयं काउं ॥
एवमेव रागद्वेषौ विना अधातुं त्यक्त्वा धातुनामादानं करोति ।
न च धातुनाप्यक्रमेणैव कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण । एव-
मिहाप्ययोग्यतया क्रमेण ग्राहयतो न द्वेषः ।

अधुना व्याघ्रदृष्टान्तमाह—

सुहृन्मज्जो जनेणं, जन्नासज्जो असज्जनाही उ ।

जह रोगे पारिच्छा, मिरुसमजावाण वि तहेव ॥

यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एष सुखसाध्यः, एष य-
त्नेन साध्यः, एष वाऽसाध्यव्याधिर्यत्नेनाप्यसाध्यः । परीक्षाऽनन्त-
रं च रागद्वेषौ विना तदनुसूया प्रवृत्तिः । एवं शिष्यस्य ज्ञानात्मनि
तथैव रागद्वेषाभावान्न परीक्षा क्रियते, तदनुसूया च प्रवृत्तिः ।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह—

वीर्यमवीर्यं नाउं, मोत्तुमवीर्यं उ करिसस्यो सालि ।

ववउ विरोहणजोगो, न यावि से पक्खवाओ उ ॥

यथा कर्मको बीजमवीर्यं च ज्ञात्वा अवीजानि मुक्त्वा शास्त्रि-
शास्त्रिवीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयोग्ये बीजे (से)
तस्य कर्मकस्य पक्षपातो रागः । एवमत्रापि भावनीयम् ।

संप्रति कांकुरुकदृष्टान्तमाह—

को कंरुदुर दोसो, जं अग्गी तं न पाययइ दित्तो ।

को वा इयरे रागो, एमेव य अत्यं जाविज्जा ॥

को द्वेषोऽन्तेः कांकुरुके ('कोरू' इति ख्याते) यदग्निर्दी-
प्तोऽपि तं न पचति, को वा इतरस्मिन् रागो यत्पाचयति?, नैव
कश्चित् । एवमत्रापि भावनीयम् ।

अधुना वक्रणदृष्टान्तमाह—

जे उ अलक्खणमुत्ता, कुमारगा ने निमिहिउं इयरे ।

रज्जरिहे अणुमत्तउ, मामुदो नेय विममो उ ॥

यथा सामुद्रवक्रणपरिज्ञाता राज्ञो व्यपगते तस्य ये कुमार-
अवक्रणयुक्तास्तान् निषिध्य इतरान् लक्षणोपेतान् राज्याहान-
नुमन्यते । न च स तयाऽनुमन्यमानो विषमो रागद्वेषवान् ।
एवमत्रापि द्रष्टव्यम् ।

स्वप्नदृष्टान्तमाह—

जे अह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी ।

रत्तो वा दुट्ठो वा, नया वि वत्तव्वयमुवेइ ॥

यो यथा स्वप्ने कथयति तस्य तथा तज्ज्ञानी स्वप्नफलं
कथयति, न च स तथा कथयन् रक्त इति वा द्विष्ट इति वा
वक्तव्यतामुपैति । एवमत्रापि एकान्तेनायोग्या ये शिष्याः तेषां
परिहारे रागद्वेषान्नान्ते दृष्टान्ता अभिहिताः ।

संप्रति कालान्तरयोग्यान्परिणतान् क्रमेण परिणामयतो-

रागद्वेषाभावे दृष्टान्तमाह—

अग्गी बाल गिलाणे, मीहे रक्खे करीलमाइया ।

अपरिणण जह एए, मय्यक्खिक्खवा उदाहरणा ॥

अपरिणते ज्ञातकालान्तरयोग्ये, पतानि संप्रतिपत्ताणि, पूर्व-
मयोग्यतायां पश्चाद्योग्यतायामित्यर्थः । उदाहरणानि, तद्यथा-
अग्निबीजो ग्लानः । सिंहो वृक्षः । कर्गत्रं वंशकरीलम् । आदि-
शब्दाद् वक्ष्यमाणहस्यादिदृष्टान्तपरिग्रहः ।

तत्र प्रथममग्निदृष्टान्तमाह—

जह अग्गीनिम्भविओ, थोयो विउविथणं नवा द्दिउं ।

सक्कइ सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥

यथा अग्निनिर्मापितः स्तोको वह्निर्विपुलमिन्धनं न दग्धुं श-
क्नोति, स एव पश्चात्प्रज्वलितः सर्वस्यापीन्धनजातस्य दहने
प्रत्यज्ञः समर्थः ।

एवं खु शूलवृक्षी, निउणं अत्यं अपच्छवो पेत्तुं ।

सां चेव जणियवृक्षी, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥

एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः शूलवृद्धिः सन् निपुणम-
र्थं ग्रहीतुमप्रत्यज्ञः ; पश्चात् स एव शास्त्रान्तरं जनिता बुद्धिरुत्पा-
दितबुद्धिः सर्वस्यापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यलो जयति ।

बालदृष्टान्तमाह—

देहे अभिवद्धंते, बावस्स उ पीहगस्स अजिबुद्धी ।

अइवहुएण विणस्सइ, एमेव हु णुद्धियगिलाणे ॥

बालस्य देहे अजिवद्धमाने तदनुसारेण दानव्यस्य पीथक-
स्याहारस्यापि वृद्धिर्भवति । देहवृद्धयनुसारतः पीथकमपि
क्रमशो वर्द्धमानं दीयत इति ज्ञायः । यदि पुनरतिबहु दीयते
तदा स विनश्यति । ग्लानदृष्टान्तमाह—एवमेव बालगतेन प्रकारे-
ण अधुनोत्थितेऽपि ग्लाने वक्तव्यम्, यथा-ग्लानोऽप्यधुनोत्थितः
क्रमेणाभिवर्द्धमानमाहारं गृह्णाति, एकवारमतिप्रभूतग्रहणे विना-
शप्रसङ्गात् । एवं शिष्योऽपि क्रमेण योग्यताऽनुरूपं शास्त्रमादत्ते,
प्रथमत एवातिनिपुणार्थशास्त्रग्रहणे बुद्धिर्ज्ञप्रसक्तेः ।

सिंहादिदृष्टान्तानाह—

खीरमिउपोग्गद्वेहिं, सीहो पुट्ठो उ खाइ अट्ठी वि ।

रक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिद्धो य नहउज्जो ॥

तं चेव विवद्धंता, हुंति अद्धेज्जा कुहामुमाईहिं ।

तह कोमलानिबुद्धी, जज्जइ गहणसु अत्येसु ॥

सिंहः प्रथमतः क्षीरमृदुपुद्गलैः स्वमात्रा पोष्यते, ततः पुष्टः सन्
अस्थीन्यपि स खादति । तथा वृक्षो द्विपर्णो, वंशकरीलम्, एतौ
हावपि प्रथमतो नखच्छेद्यौ, ततः पश्चादजिवर्द्धमानौ यतस्ततः
कुटारादिभिरच्छेद्यौ भवतः । प्रथमतः कोमला बुद्धिर्भवति, ततः
सा गहने प्वर्थेषु जज्जते जङ्गमुपयाति ; क्रमेण तु शास्त्रान्तर-
श्रवणतोऽजिवर्द्धमाना कठोरात्कठोरतरतोपजायते इति न कचिदपि
भङ्गमुपयाति ।

एतदेवोपदिशन्नाह—

निउणे निउणं अत्यं, शूलवृक्षिणो कहए ।

वृक्षीविवद्धणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो ।

निपुणे निपुणमर्थं कथ्येत, कथभूतमित्याह बुद्धिविवर्द्धनकरम् ।
एवं सति स कालेन निपुणो जयति । अन्यथा बुद्धिर्ज्ञप्रस-
ङ्गतो न स्यात् ।

सांप्रतमादिशब्दसूचितान् हस्यादीन् दृष्टान्तानाह—

सिच्छत्यए वि गिएइइ, हत्थी शूलगहणे सुनिम्माओ ।

सरेवेहपत्तच्छिज्ज—एव घरुपडचित्त तह धमए ॥

हस्ती शूलग्रहणे सुनिर्मातः सन् पश्चात्सिद्धार्थकानपि गृह्णाति ।
तथाह-नवको हस्ती शिष्यमाणः प्रथमं काष्ठानि ग्राह्यते, तदनन्तरं
कुल्लकान् पाषाणान्, ततो गोक्षीकाः, ततो वदराणि, तदनन्तरं
सिद्धार्थकानपि, यदि पुनः प्रथमत एव सिद्धार्थकान् ग्राह्यते, ततो
न शक्नोति ग्रहीतुमिति । एवं स्वरवेधपत्रेद्यव्यवधकारकप-
टकारकचित्रकारकधमकाश्च दृष्टान्ता ज्ञायनीयाः । ते चैवम-प्रथमं

ज्ञा पुनरियम, यदुत कर्तव्यमिदं व्याख्याने भवता विधिना,
न यथाकथञ्चित् : सदाऽऽमत्तेन : सर्वत्र समवसरणादिति
गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालोचितनयभावे, वयणं निर्विसयमेवमेयं ति ।

दुग्गयमुअस्मि जहिमं, दिज्जइ ऽमाइं रयणाइं ॥ ३५ ॥

कालोचितनयभावे अनुयोगाभावे, वचनं निर्विषयमेवेतदिति ।
तदनुभावचनदृष्टान्तमाह-दुर्गतसुते दरिद्रपुत्रे यथेदं वचनम-
'यदुत दयस्वमेतानि रत्नानि' रत्नाभावाच्चिर्विषयं, तथेद-
मप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

असत्प्रवृत्तिनिमित्तापाहायाह-

किं पि अ अहिअं पि ऽमं, आलं वण नो गुणेहिं गुरुआणं ।

एन्यं कुमाऽतुल्लं, अऽप्यसंगा मुमावाओ ॥ ३६ ॥

किमपि यावत्तावदधीनमित्येतदालम्बनं न तत्त्वतो भवति
गुरौर्गुणानाम् । अत्र व्यतिकारे कुशादितुल्यमनालम्बनमित्यर्थः ।
कस्मात् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वल्पस्य श्रावकादिभिरप्यधीतत्वा-
दतो मृषावादो गुणैस्तदनुज्ञानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अणुश्रोगी लोकाणं, किल संशयणासओ दहं होइ ।

तं अल्लिअंति तो ते, पायं कुसआहिगमहेओ ॥ ३७ ॥

अनुयोगी आचार्यः लोकानां किल संशयनाशको दृढमत्यर्थं
भवति । तम्, 'अल्लियंति' उपयाति ततस्ते लोकाः प्रायः । किमर्थ-
मित्याह-कुशलाधिगमहेतोः धर्मपरिज्ञानायेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

ततः किमित्याह-

मो थोवो अ वगओ, गंभीरपयत्तज्जणिइमग्गमि ।

एगेतेणाकुमलो, किं तेभिं कट्ठे मृदुमपयं ? ॥ ३८ ॥

स स्तोको वगकाश्चाल्पश्रुत इत्यर्थः । गम्भीरपदार्थभरित-
मार्गे बन्धमोक्षतत्त्ववचनलक्षणं एकान्तेनाऽकुशलतोऽनभिज्ञः
किं तेभ्यः कथयति लोकेभ्यः तस्य सूक्ष्मपदं बन्धादिगो-
चरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

ततश्च-

जं किंचि भामगं तं, ददुण वुहाण होइ अवण नि ।

पवयणथगे उ तम्मा, इअ पवयणविमणा नेआ ॥ ३९ ॥

यत्किञ्चिन्नापकं तमसंयुज्जप्रलापितमित्यर्थः । ददुवा बुधानां वि-
दुषां भवत्यवज्ञेति । कथं केन्यत्राह-प्रवचनधरोऽयमिति कृत्वा
तस्मिन् प्रवचने य एयं, प्रवचनविमना अवज्ञा ज्ञानव्या-
अहो ! असागेऽयमतश्चेदयमेतदभिज्ञः सन्नेवमाहेति गाथार्थः ।

सीमाण कुणइ कइ मो, तहाविहो हंदि ! नाणमाईणं ।

अहिआहिअसंपत्तिं, संमारुज्जेअणं परमं ॥ ४० ॥

शिष्याणामिति-शिष्येषु करोति । कथमसौ ? तथाविधोऽङ्गः
सन् हंदिन्युपदर्शने, ज्ञानादीनां गुणानां ज्ञानादिगुणानामधि-
काधिकसंप्राप्तिं वृद्धिमित्यर्थः । किंभूतामित्याह-संसारोच्छे-
दिनीं संप्राप्तिं, परमां प्रधानामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तथा-

अप्पत्तणओ पायं, हेआऽधिवेगविग्दिओ वा वि ।

नहु अन्नओ वि मो तं, कुणइ अ पिच्छाऽज्जिमाणओ ॥ ४१ ॥

अल्पत्वात् तुच्छत्वात्कारणान् प्रायो बाहुल्येन, न हि तु-
च्छोऽसमी गुणसंपदमारोपयति । तथा-हयादिविवेकविर-
हितो वाऽपि । हेयोपादेयपरिज्ञानाभावन इत्यर्थः । न हान्य-

तोऽपि बहुभुतादसावज्ञस्तां प्राप्तिं करोति तेषु । कुत इत्याह-मि-
थ्याऽभिमानादहमप्याचार्य एव, कथं मच्छिष्या अन्यसमीपे
धृएवन्तीत्येवंरूपादिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

तो ते वि तहाजुआ, काव्णे वि होंति नियमओ चेव ।

सीसाण वि गुणहाणी, इअ संताणेण विन्नेआ ॥ ४२ ॥

ततस्तेऽपि शिष्यास्तथाभूता मूर्खा एव कालेन बहुनाऽपि
भवन्ति नियमत एव, विशिष्टसंपर्काभावाच्छिष्याणामप्यगीता-
र्थशिष्यसत्त्वानां गुणहानिरियम, एवं सन्तानेन प्रवाहेण वि-
ज्ञेयेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

नाणाईणमजावे, होइ विसिद्धाणऽणत्थगं सव्वं ।

मिरतुंरुमुंरुणाइ वि, विवज्जयाओ जहऽज्जेसिं ॥ ४३ ॥

ज्ञानादीनामभावे सति भवति विशिष्टानाम् । किमित्याह-अन-
र्थकं सर्वं निरवशेषम् । शिरस्तुग्दमुण्डनाद्यपि, आदिशब्दा-
द्विज्ञाऽनदिपरिग्रहः । कथमनर्थकमित्याह-विपर्ययात्कारणा-
द् यथाऽन्येषां वगकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ए य समइ विगप्पेणं, जहा तहा कयमिणं फल्लं देइ ।

अवि आगमाणुवाया, रोगतिगिच्चाविद्याणं व ॥ ४४ ॥

न च स्वमतिविकल्पेनागमशून्येन यथा तथा कृतमिदं शिरस्तु-
ण्मुग्दनादि फलं ददाति स्वर्गापवर्गलक्षणम् । अपि चागमानु-
पातादागमानुसारेण कृतं ददाति । किमिवेत्याह-रोगचिकित्सा-
विधानवन्, तदेकप्रमाणत्वात् परलोकस्येति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इय दव्वज्जिमिच्चं, पायमगीआउ जं अणत्थफल्लं ।

जायइ ता विन्नेओ, तित्थच्छेओ य भावेणं ॥ ४५ ॥

(इय) एवं द्रव्यलिङ्गमात्रं भिन्नाऽनादिफलं प्रायोऽगीतार्थाद्
गुरोः सकाशाद् यद्यस्मादनर्थफलं विपाके जायते, तत्तस्मा-
द्विज्ञेयस्तीर्थोच्छेद एव, भावेन परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थ-
फलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

कालोचितअमुत्तये, तम्हा सुविणिच्चियस्स अणुश्रोगो ।

निअमाऽणुजाणिअव्वो, न सवणओ चेव जह भणिं ॥ ४६ ॥

कालोचितसूत्रार्थे अस्मिन्विषये तस्मात्सुविनिश्चितस्य ज्ञात-
तत्त्वस्यानुयोग उक्तलक्षणः नियमादिकान्तेनानुज्ञातव्यः, गुरुणा
न श्रवणत एव श्रवणमात्रेणैव । कथमित्याह-यतो भणितं सं-
मत्यां सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

किमित्याह-

जह जह बहुस्सुओ सं-मओ अ सीसगणसंपरिवुडो अ ।

अविणिच्चिओ अ समये, तह तह मिच्छंतपडणीओ ॥ ४७ ॥

यथा यथा बहुभुतः श्रवणमात्रेण संमतश्च तथाविधलोकास्य,
शिष्यगणसंपरिवृतश्च बहुमूढपरिवारश्च, असूदानां तथाविधोप-
रिग्रहणान्, अविनिश्चितश्चाज्ञाततत्त्वश्च समये सिद्धान्ते तथा
तथाऽसौ वस्तुस्थित्या सिद्धान्तप्रत्यनीकः सिद्धान्तविनाशकः,
तद्व्याघवापादनादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति-

सव्वमूहिं पाणियं, सो उत्तमपइसणण गंभीरं ।

तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेमाण वि कुणइ मिच्छंतं ॥ ४८ ॥

सर्वज्ञैः प्रणीतं सोऽविनिश्चित उत्तमं प्रधानमतिशयेन गम्भीरं ज्ञा-
वार्थसारं, तुच्छकथनयाऽपरिणतदेशनयाऽधः शेषाणामपि सिद्धा-
न्तानां करोति, तथाविधोक्तोक्तिं प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तथा-

अविणिच्छिओ ण संमं, उस्सगाववायजाणओ होइ ।

अविसयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥४६॥

अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादो ज्ञेयः सर्वत्रैव, ततश्चाविषयप्रयोगतोऽनयोः सार्गापवादयोः, तथाविधः स्वपर-विनाशको नियमात्, कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥४६॥

ता तस्सेव हिअट्टा, तस्सीसाणमणुमोअगाणं च ।

तह अप्पणो अधीरो, जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ ५० ॥

तत्तस्मात् तस्यैवाधिकृतानुयोगधारिणः हितार्थं परलोके, तथा तच्छिष्याणां भाविनामनुमोदकानां च तथाविधाऽज्ञप्राणिनां, तथाऽऽत्मनश्च हितार्थमाज्ञाराधनेन धीरो गुरुयोग्याय दिनेयाय अनुजानाति एवं वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति गाथार्थः ॥५०॥

तिहिजोगम्मि पसत्थे, गहिण काले निवेइए चेव ।

ओसरणमह णिसिज्जा-रयणं संपट्टणं चेव ॥ ५१॥

तिथियोगे प्रशस्ते संक्रान्तिपूर्णिमादौ, गृहीते काले, विधिना निवेदिते चेव गुरोः समवसरणम् । अयं निपचारचनमुचितभूमा-वपि गुरुनिपद्याकरणमित्यर्थः । संघट्टनं चेवाऽनिकेप इति गा-थार्थः ॥ ५१॥

तत्तो पवेइआए, उवविसइ गुरुओ णिअनिसिज्जाए ।

पुरओ चिट्ठइ सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥

ततस्तदनन्तरं रचकेन साधुना प्रवेदियां कथितायां सत्यामुप-विशति गुरुराचार्य एव, न शेषसाधवः । केत्याह ?-निजनिपद्यायां या तदर्थमेव रचितेति । पुरतश्च शिष्यस्तिष्ठति प्रक्रान्तः, सम्यगसं-भ्रान्तः, यथाजातोपकरणो रजोहरणमुखवस्त्रिकादिधरः, इति गाथार्थः ॥ ५२॥

पेहिंति तओ पोत्तिं, तीए अ स सीसगं पुणो कायं ।

बारसवंदण संदिम, सज्झायं पट्टवामो त्ति ॥ ५३ ॥

प्रत्यवेक्षते तदनन्तरं मुखवस्त्रिकां द्वावपि, तथा च मुखव-स्त्रिकया स शिरः पुनः कायं प्रत्यवेक्षते इति । ततः शिष्यो द्वादशावर्त्तवन्दनपुरस्सरमाह-संदिशत यूयं स्वाध्यायं प्रत्या-पयामः, प्रकर्षेण वर्तयाम इति गाथार्थः ॥ ५३॥

पट्टवणाऽणुण्णाए, तत्तो दुअगा वि पट्टवेइ त्ति ।

तत्तो गुरू निसीअइ, इअरो वि णिवेअइ तं ति ॥ ५४॥

प्रस्थापयेत्यनुज्ञाते सति गुरुणा, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ प्रस्था-पयत इति । ततस्तदनन्तरं गुरुर्निषीदति स्वनिषद्यायाम्, इतरोऽपि शिष्यो निवेदयति तं स्वाध्यामिति गाथार्थः ॥५४॥

तत्तो वि दोवि विहिणा, अणुओगं पट्टविंति उवउत्ता ।

वंदिजु तओ सीसो, अणुजाणावेइ अणुओगं ॥ ५५ ॥

ततश्च द्वावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तेनाऽनुयोगं प्रस्था-पयतः उपयुक्तौ सन्तौ वन्दित्वा ततस्तदनन्तरं शिष्यः । किमि-त्याह ?-अनुज्ञापयत्यनुयोगं, गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५॥

अभिमंतिऊण अकखे, वंदइ देवं तओ गुरू विहिणा ।

उिअ एव नमोकारं, कहुइ नंदिं च संपुनं ॥ ५६ ॥

अभिमान्य आचार्यमन्त्रेणाङ्गान्वादनकान् वन्दते देवाश्चैत्यानि ततो गुरुर्विधिना प्रवचनोक्तेन । ततः किमित्याह-स्थित एवो-र्ध्वस्थानेन नमस्कारं पञ्चमङ्गलकमाकर्षयति, त्रिः पठति नन्दीं

च संपूर्णग्रन्थपद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

इअरो वि उिओ संतो, मुणेइ पोत्तीइ उइअमुहकमलो ।

संविग्गे उवउत्तो, अच्चंतं सुद्धपरिणामो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्नुर्ध्वस्थानेन शृणोति मुखवस्त्रि-कया विधिगृहीतया स्थगितमुखकमलः सन्निति । स एव विशेष-प्यते-संविज्ञो मोक्षार्थी उपयुक्तः सूत्रैकाग्रतया, अनेन प्रकारेणा-त्यन्तं शुद्धपरिणामः शुद्धाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

तो कट्टिऊण नंदिं, जणइ गुरू अहमिपस्स साहुस्स ।

अणुओगं अणुजाणे, खमासमण्णाए इत्येणं ॥ ५८ ॥

तत आकृष्य पठित्वा नन्दीं भणति गुरुराचार्यः-अहमस्य साधोरुपस्थितस्यानुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि कृमाश्रमणानां प्राकृतक्रषीणां हस्तेन, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

कथमित्याह-

दव्वगुणपज्जवेहिं अ, एम अणुन्नाउ वंदिउं सीसो ।

संदिमह किं जणामो, वंदणमिह जहेव सामए ॥ ५९ ॥

रुच्यगुणपर्यायेऽर्थाख्याङ्गरूपैरेषोऽनुज्ञात इत्यवान्तरे वन्दित्वा शिष्यः-संदिशत यूयं किं भणामात्यादि वन्दनं जातं यथैव सा-मायिके तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९॥

यदत्र नानात्वं तदभिधातुमाह-

नवरं सम्मं धारय, अन्नेसिं तह पवेयह भणाइ ।

इच्छामणुसट्ठीए, सीसेण कयाइ आयरिओ ॥ ६० ॥

नवरम्, अत्र सम्यग्धारय, आचारसेवनेनेत्यर्थः । अन्येच्यस्त-था प्रवेदय सम्यगेवेति जणति । कदेत्याह-इच्छाम्यनुशास्तौ शिष्येण कृतायां सत्यामाचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

तिपयक्खणीकए तो, उवविसए गुरु कए अनुस्सग्गे ।

सणिज्जे तिपयक्खण, वंदण सीसस्म वावरो ॥ ६१ ॥

त्रिः प्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरुः, अत्रान्तरेऽनुज्ञाकायोत्सर्गः, कृते च कायोत्सर्गे तदनु सनिषद्ये गुरौ त्रिःप्रद-क्षिणं वन्दनं जावसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः ॥६१॥

उवविसइ गुरुसमीवे, सो साहइ तस्स तिन्नि वाराओ ।

आयरियपरंपरए-ण आगए तत्थ मंतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तन्निषद्यायामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः स गुरुं कथयति । तस्य त्रीन् वरान् । किमित्याह-आचार्यपारम्प-र्येणागतानि पुस्तकादिष्वलिखितानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना सर्वार्थसाधकानीति गाथार्थः ॥६२॥

तथा-

देइ तओ मुट्ठीओ, अक्खाणं सुरभिगंधसहिआणं ।

वहुंत सो विसीसो, उवउत्तो गिएहई विहिणा ॥ ६३ ॥

ददाति ततः त्रीन् मुष्टीनाऽऽचार्योऽङ्गानां चन्दनकानां सुरभि-गन्धसहितानां, वद्धमानान् प्रतिमुष्टिं सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः सन् गृह्णाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

एवं व्याख्याङ्गरूपान्कान् दत्त्वा-

उट्टेति निसिज्जाओ, आयरिओ तत्थ उवविसइ सीसो ।

तो वंदई गुरू तं, सहिओ सेसेहिं साहुहिं ॥ ६४ ॥

उत्तिष्ठति निषद्याया आचार्योऽत्रान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

युयोगी , ततो वन्दते गुरुस्तं शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सन्नि-
हितैरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

जणइ अ कुरु वक्खाणं, तत्थ ठिओ चेव सो तओ कुणइ ।

एदाइ जहामत्ती , परिसं नाऊण वा जोगं ॥ ६५ ॥

भणति च-कुरु व्याख्यानमिति तमजिनवाचार्य, तत्र स्थित एव
ततोऽसौ करोति तद्व्याख्यानमिति न्यादि यथाशक्त्येति
तद्विषयमित्यर्थः । परंपरं च ज्ञात्वा योगमन्यदपीति गाथार्थः ।

आयरिअनिमज्जाए, उवविमणं वंदणं च तह गुरुणो ।

तुअगुणवावण्ठा, न नया छुट्टं दुविएहं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिपद्यायामुपवेशनम्, अजिनवाचार्यस्य वन्दनं च तथा
गुरोः, प्रथममेवाचार्यस्य तुल्यगुणव्यापनार्थं लोकानां, न तदा
छुट्टं द्वयोरपि शिष्याचार्ययोर्ययोर्यातमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

वंदंति तओ साहू, उत्तिट्ठइ अ तओ पुणं णिसिज्जाओ ।

तत्थ निसीअइ अ गुरू, उववूहण पढममन्ने उ ॥ ६७ ॥

वन्दन्ते ततः साधवः, व्याख्यानसमनन्तरमुत्तिष्ठति च ततः
पुनर्निपद्याया अभिनवाचार्यः, तत्र निपद्यायां निशीदति च गुरु-
मौलः, उपबृंहणमत्रान्तरे प्रथमम् । अन्ये तु व्याख्यानादिति
गाथार्थः ॥ ६७ ॥

घणोअमि तुमं णायं, जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं ।

तं सम्ममियं भवया, पओजिअव्वं सयाकादं ॥ ६८ ॥

घन्योऽसित्वं सम्यग्ज्ञातं जितवचनं येन भवता सर्वदुःख-
हरं मोक्षहेतुस्तन्सम्यगिदं जवता प्रवचननीत्या प्रयोक्तव्यं
सदा सर्वकालमनवरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

इहरा उ रिणं परमं, असंमजोगे अजोगओ अवरो ।

ता तह इह जइअव्वं, जह एतो केवलं होइ ॥ ६९ ॥

इतरथा तु रिणं परमेतदसम्यग्गुणे सुखशीघ्रतया । असम्य-
योगश्च अयोगतोऽन्यपरः पापीयान् दृष्टव्यः । तत्तथेदं यतितव्यमु-
पयोगतो यथाऽतः केवलं जवति, परमज्ञानमिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

परमो अ एस हेऊ, केवलनाणस्स अन्नपाणीणं ।

मोहावणथणओ तह, संवेगाइमयभावेण ॥ ७० ॥

परमस्यैव जितवचनप्रयोगहेतुः केवलज्ञानस्य, अवलम्ब इत्यर्थः ।
कुत इत्याह-अन्यप्राणिनां मोहापनयनान्मोहपसरणकारणात्,
तथा संवेगातिशयभावेनोन्नयोरपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उव्वूहेठं, अणुओगविसज्जणइमुस्सगो ।

कान्नास्स पडिक्कमणं पवेअणं संघविहिदानं ॥ ७१ ॥

एवमुपबृहत् तमाचार्यमनुयोगविसर्जनार्थमुत्सर्गः क्रियते ।
ह्रस्वस्य प्रतिक्रमणं, तदात्वे प्रवेदनं, निरुक्तस्य संघविधिदानं
यथाशक्ति नियोगत इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

पच्छा य सोऽणुओगी, पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो ।

जोगाणं वक्खाणं, करिज्ज सिच्छंतविहिता उ ॥ ७२ ॥

पश्चाच्च सोऽनुयोगी आचार्यः प्रवचनकार्यं नित्यमुद्युक्तः सन्
योगेभ्यो विनेयेभ्यः व्याख्यानं कुर्याद् गुर्वदेशाज्ञासिद्धान्त-
विधिदैवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

योगयानाह-

मज्जत्था बुद्धिजुआ, धम्मत्थी ओघओ इमो जोगा ।

तह चेव पसत्ताई, सुत्तविममं समासज्ज ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वत्रारक्तादिष्टाः, बुद्धियुक्ताः प्राज्ञाः, धर्माधिष्ठिनः
परलोकभीरवः, ओघतः सामान्येनैते योग्याः सिद्धान्तध्वणस्य ।
तथैव प्रशस्तादयो योग्याः आदिशब्दात्परिणामकादिपरिग्रहः,
सूत्रविशेषमङ्गचूलादिरूपं समाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिपदानां गुणानाह-

मज्जत्थाऽसग्गाहं, एतो वि अ कत्थइ न कुवन्ति ।

सुच्छासया य पायं, होंति तहाऽऽसन्नज्जवा य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं तत्त्वावबोधशत्रुम्, अत एव क-
चिद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव जवन्ति,
तथा सुच्छाशयाश्च मायादिदोषरहिताः प्रायो जवन्ति मध्यस्थाः,
तथाऽऽसन्नज्जवाश्च, तेषु सफलः परिश्रमः, इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

बुद्धिजुआ गुणदोसे, सुहूमे तह वायरे य सव्वत्थ ।

संमत्तकोऽसिमुक्के, तत्तट्ठिइए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुद्धियुक्ताः प्राज्ञा गुणदोषान् वर्तुगतान् सूक्ष्मांस्तथावादरांश्च
सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकोटिगुणान् कपच्छेदतापशुद्धांस्तत्त्व-
स्थित्याऽतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते साध्विति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

धम्मत्थी दिट्ठत्थे, दढो व्व पंकाम्मि अपरिक्खंथाओ ।

उत्तारिज्जंति सुहं, धन्ना अन्नाणसन्निवाओ ॥ ७६ ॥

धर्माधिष्ठिनः प्राणिनः दृष्टार्थे ऐहिके दृढ इव पङ्केऽप्रतिबन्धा-
त्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते सुखं, धन्याः पुण्यभाजः ।
कुतः ? अज्ञानसत्त्वान्मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कप्पिओ इह, सो पुण आवस्सगाइसुत्तस्स ।

जा सूअगं ता जं, जेणा ऽधीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

प्राप्तश्च कल्पिकोऽत्र ज्ञेयते, स पुनरावश्यकदिसुत्रस्य यावत्
सूत्रकृतं चिन्तीयमङ्गं तावद्यद्येनार्थीतमिति पठितमित्यर्थः । त-
स्यैव तान्यस्येति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

ठेअसुअइएसु अ, ससमयजावे वि भावजुत्तो जो ।

पिअधम्मऽवज्जजीरू, सो पुण परिणामगो णेओ ॥ ७८ ॥

वेदसूत्रादिषु च निशीथादिषु स्वसमयभावेऽपि स्वकावभावे-
ऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणवान् प्रियधर्मस्तीव्ररुचि-
रवद्यभीरुः पापभीरुः स पुनरयमेवंभूतः परिणामको हेयः, उ-
त्सर्गापवादाविषयप्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

एतदेवाह-

सो उत्सग्गाईणं, विषयविभागं जहट्ठिअं चेव ।

परिणामेइ हियं ता, तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गापवादयोर्विषयविभागमौचित्येन यथाऽ-
वस्थितमेव सम्यक् परिणमयत्येवमेव हितं तत्तस्मात्कारणात्त-
स्येदं भवति व्याख्यानं सम्यग्बोधादिहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

अइपरिणामगऽपरिणा-मगाण पुण चित्तकम्मदोसेण ।

उदियं विषेयं दो-सुदए ओसहसमाणं उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकापरिणामकयोः पुनः शिष्ययोश्चित्रकर्मदोषेण
हेतुनोदितमेव विज्ञेयं व्याख्यानं, दोषादये औपधसमानं विपर्य-
यकारीति गाथार्थः ॥ ८० ॥

तेसिं तच्चिय जागइ, जओ अणत्थो तओ ण मइमं ।

तेसिं चेव हियट्ठा, करिज्ज पुज्जा तहा चाहु ॥ ८१ ॥

तयोरतिपरिणामकाऽपरिणामकयोः तत एव व्याख्यानाज्जायते

यतोऽनर्थो विपर्ययोऽगात्, ततो न तद्व्याख्यानं मतिमान् गुरुस्त-
योरेवातिपरिणामकापरिणामकयोर्हितायानर्थप्रतिघातेन कुर्यात्।
नेति वर्तते, पूज्याः पूर्वगुरुवः तथा चाहुरिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

आमे घटे निहितं, जहा जलं तं घनं विणामे ॥

इअ सिध्दंतरहस्यं, अप्पाहारं विणामे ॥ ८२ ॥

आमे घटे निहितं सद् यथा जलं तं घटमामं विनाशयति, इत्येवं
सिद्धान्तरहस्यमप्यल्पाहारं प्राणिनं विनाशयतीति गाथार्थः ॥

न परंपरया वि तओ, मिच्छाभिनिवेशजाविअमईओ ।

अन्नेसि पि अ जायइ, पुरिसत्थो मुद्धरूओ अ ॥ ८३ ॥

न परम्परयाऽपि ततोऽतिपरिणामकादेर्मिथ्याऽभिनिवेशजावि-
तमतेः सकाशादप्येवामपि श्रोतॄणां जायते पुरुषार्थः, शुरुषो
वा, मिथ्याप्ररूपणादिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

एतदेवाह—

अविवत्तओ वि पायं, तव्नावोऽणाइमं ति जीवाणं ।

इअ मुणिकण तयत्तं, जोगाणं करिज्ज वक्खाणं ॥ ८४ ॥

अविवर्तक एव अतिपरिणामादिक एव, प्रायो मिथ्याऽभिनि-
वेशभावितमतेः सकाशात् तस्य च भावः तद्वान्वो मिथ्याऽभिनि-
वेशभावोऽनादिमानिति कृत्वा जीवानां भावनासहकारवि-
शेषादियमेवं मन्वा तदर्थं तद्विनाशायैव योगेभ्यो विनेयेभ्यः
कुर्याद् व्याख्यानं विधिनिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

उवसंपणाण जहा—विहाणओ एव गुणजुआणं पि ।

सुत्तयाइकमेणं, सुविणिच्छिअमप्पणा सम्मं ॥ ८५ ॥

उपसंपन्नानां सतां यथाविधानतः सूत्रनीत्या, एवं गुणयुक्ताना-
मपि नान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात् । कथं कर्तव्यमित्याह—सू-
त्रार्थादिक्रमेण यथावोधं सुविनिश्चितमात्मना सम्यक्, न शुक-
प्रायमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ पं० व० ४ द्वा० । (अङ्गाद्यनुयो-
गविधिः 'जोगविहि' शब्दे वक्ष्यते)

(१४) अधुना प्रवृत्तिद्वारं वक्तव्यम्—

प्रवृत्तिः, प्रवाहः, प्रसृतिरित्येकार्थाः । प्रथममनुयोगः प्रवर्त्तते इति ।
सा च प्रवृत्तिर्द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः प्रवृत्तिमाह—

अणित्तो अणित्तो, अणित्तो चैव होइ उ निउत्ता ।

नीउत्तो अणित्तो, निउत्तो चैव उ निउत्ता ॥

निउत्तोऽणित्तो, पवत्तइ अहव ते वि उ निउत्तो ।

दव्वम्मि होइ गोणी, जावम्मि जिणादयो हुंति ॥

द्रव्यतः प्रसवे गौर्दृष्टान्तो भवति, भावे जिनादयः, तत्र गवि गो-
दोहकेन सह चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—दोहकोऽनियुक्तो गौरप्य-
नियुक्ता १। दोहकोऽनियुक्तो गौरनियुक्ता २। दोहको नियुक्तो गौर-
नियुक्ता ३। दोहको नियुक्तो गौरपि नियुक्ता ४। एवमाचार्यशिष्ये-
ष्वपि जङ्गचतुष्टयं योजनीयं, तच्चाग्रे योदयते । तत्र तृतीये भङ्गे
नियुक्त आचार्यो ब्रह्मादप्यनियुक्तानां शिष्याणामनुयोगं प्रवर्त्तय-
ति । अथवा द्वितीये भङ्गे तेऽपि शिष्या नियुक्ता अनियुक्तमाचा-
र्यमनुयोगे प्रवर्त्तयन्ति; एवं हि तृतीये द्वितीये च भङ्गेऽनुयोगस्य
प्रवृत्तिः । प्रथमे तु सर्वथा न जवति । चतुर्थे प्रवृत्तिर्निष्प्रतिपक्षैव ।

तत्र गोदृष्टान्तविषयं जङ्गचतुष्टयं व्याख्यानयति—

अप्पणहुया य गोणी, नेव य दोष्ठा समुज्जओ दोष्णुं ।

खीरस्स कुओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू ॥

वीए वि नत्थि खीरं, थोवं च हविज्ज एव तए वि ।

अत्यि चतुर्थे खीरं, एसुवमा आयरियसीमे ॥

गौरप्रसूता नैव च दोष्ठा वा दोष्णुं समुद्यतः, ततो यद्यपि सा
खीरदा धेनुस्तथाऽप्यस्मिन् प्रथमभङ्गे कुतः खीरस्य प्रसवः, नैव
कुतश्चित् । द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहकोऽनियुक्तो गौरनियुक्तैव रूपे ना-
स्ति खीरम, दोहकस्यानियुक्तत्वात्; अथवा गौः प्रसूतेति स्तनेषु
गलत्सु स्तोकां खीरं भवेत् । एवं तृतीयेऽपि भङ्गे दोहको नियु-
क्तो गौरनियुक्तैव लक्षणे नास्ति खीरप्रसवः, स्तोकां वा
स्यादोहकगुणेन । चतुर्थे पुनर्भङ्गे गौरपि प्रसूता दोहकोऽपि
नियुक्त इत्यस्ति खीरप्रसवः । एषा उपमा जङ्गचतुष्टयात्मिका आ-
चार्यशिष्ययोरप्यनुयोगस्य प्रसवे वेदितव्या । तथाहि—आचा-
र्योऽप्यनियुक्तः, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमभङ्गे नास्त्य-
नुयोगस्य प्रवृत्तिः । अनियुक्त आचार्यः शिष्या नियुक्ता इति
द्वितीयेऽपि भङ्गे नानुयोगः, आचार्यस्यानियुक्तत्वात् ।

अहवा अणित्तमाणं, अवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति ।

तए सारिते वा, होज्ज पविच्छी गुणिते वा ॥

अथवा अनियुक्तमाचार्यमनित्तमपि उद्योगिनः शिष्याः
किञ्चित्प्रवृत्तिपृच्छादिनिरनुयोगं कर्तुं प्रवर्त्तयन्ति, ततो भवति
द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः । तृतीये—आचार्यो नियुक्तः,
शिष्या अनियुक्ता इत्येवंरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः, अथवा
पुनःपुनः सारयत्याचार्ये, अथवा श्रोतुमनित्तमपि शैलस-
मानं किञ्चित् श्रोतारं पुरतो विन्यस्यमानस्य त्वनुयोग इति गु-
णयति गुणननिमित्तमनुयोगं कुर्वति भवेदनुयोगः ।

अत्र दृष्टान्तः काश्चिकाचार्यः, तमेवाह—

सागारियमप्पाहण—सुवन्नसुयसिस्सखंतलक्खेण ।

कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च ॥ १ ॥

उज्जयणीए नयरीए अज्जकाझगा नामं आय-

रिया सुत्तत्थोववेया बहुपरिवारा विहरंति, तेसि अ-
ज्जकाझगाणं सीसस्स सीसो सुत्तत्थोववेओ सागरो
नामं सुवन्नचूमीए विहरइ, ताहे अज्जकाझगा चिंतंति—एए
मम सीसा अणुओगं न मृणंति, तओ किमेएसि भंजे चि-
हामि, तत्थ जामि जत्थ अणुओगं पवत्तेमि, अविष पए वि
सिस्सा पच्चा लाज्जिआ सोच्चिंहिति, एवं चित्तिकण सेज्जा-
यरमापुच्छंति—कहं अन्नत्थ जामि, तओ मे सिस्सा सुणेहिं-
ति, तुमं पुण मा तेसि कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निवंधं
करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा, जहा सुवन्नचूमीए सागराणं
सगासं गया, एवं अप्पाहिता (संदिश्य) रत्तिं चैव पमुत्ताणं
गया सुवण्णभूमिं, तत्थ गंतुं खंतलक्खेण पविट्ठा सागराणं
गच्छं, तओ सागरापारिया खंतंति काउं तं नादाइआ अ-
ञ्जुट्ठाईणि, तओ अत्य पोरिसीवेज्जाए सागरायरिएणं भणि-
या-खंता तुभं एयं गमइ ? । आयरिया भणंति—आमं तो
खाइं सुणेहात्ति एकाहिया गवायंता य कहंति । इयरे वि सी-
साए पच्चाए संते संभंता आयरियं अपसंता सब्बत्थ मग्गि-
ओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न कहेइ, जणइ य तुभं अप्पणो
आयरिओ न कहेइ, मम कहं कहेइ ? , तओ आउरीज्ज-

हिं गाढनिर्व्वधक ए कर्हिं-जहा-तुम्भ निर्व्वेण सुवन्न-
चूमी सागराणां सगामं गया, एवं कर्हिं ते खरिंरिया ।
तत्रो ते तह चैव उचलिया सुवन्नचूमिं गंतुं, पये लोगो
पुच्छइ एस कयगे आयरिओ जाइ । ते कर्हिं-धज्जकाल-
गा, तत्रो सुवन्नचूमी सागराणां लोगेण कर्हिं-जहा
अज्जकालगा नाम आयरिया बहुमुया बहुपरिवारा इहा-
गंतुकामा पये वट्ठंते- ताहे सागरो सिस्साणं पुरओ भण-
ति-मम अज्जया इति, तेसिं मगासे पयत्ये पुच्छीहामि ति ।
अचिरेणं ते सीमा आगया, नत्य अग्गिल्लेहिं पुच्छज्जति-
किं इत्य आयरिया आगया चिट्ठंति, नत्थि, नवरं अन्ने
खंता आगया, केरिमा वंरिं नायं एण आयरिया?, ताहे साग-
रो वज्जिओ वहुं, मए इत्थं पत्ताविं-खमामणा य वंदाविया,
ताहे अवराहवज्जाए मिच्छाट्टकं करेइ, आसाइय ति ।
भणियं चाणेण-केरिं खमामणो अहं वागेरिं? । आय-
रिया जणंति-मुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि । ताहे धूली-
पुंजदिट्ठं करेति, धूली इत्येण धेतुं तिसट्ठाणं उपासिंति,
जहा-एम धूली उविज्जमाणी ओखिपमाणी २ सव्वत्य
परिसरइ एवं अत्थो वि नित्यगरोहिंतां गणहराणं गणह-
रेहिंतां जाव अम्हं आयरियं उवज्जायाणं परंपरणं
आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गत्तिया?, तो मा
गव्वं कर्हिं, ताहे मिच्छाट्टकं करिंता आट्ठा अज्ज-
कालिया सीसपसीसाणं अणुब्रह्मं कहेउं ।

संप्रत्यक्करगमनिका-सागारिका शय्यातरस्तस्य 'अप्पाहणं' सं-
देशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुवर्णभूमौ श्रुतशिष्यस्यापि शिष्य-
स्य सागराभिधानस्य 'खंनवक्खेण' वृत्त्याजेन गमने, पश्चात्
शिष्याणां सागारिकेण कथना-यथाऽऽचार्याः सुवर्णभूमौ सा-
गरस्यान्तिकं गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमने, सागरं गर्वमु-
द्ब्रूयन्तं प्रति धूर्त्वापुत्रोपमानमिति ।

चतुर्थभङ्गमधिकृत्याह-

निउत्तो उज्जकालं, भयवं कहेणाइ वप्पमाणोओ ।
गोयममाई विमया. सोयवे हुंति उ निउत्ता ॥ १ ॥

नियुक्त उभयकालमनुयोगं करोति, नियुक्ता उभयकालं
दृष्टवन्ति । अत्र कथनायां दृष्टान्तो-तगवान् वर्द्धमानस्वा-
मी, श्रोतव्ये सदा नियुक्ता दृष्टान्ता जयन्ति गौतमादयः ।
('वायणा' शब्दे चैतद् विस्तरतो वक्ष्यते) गतं प्रवृ-
त्तिद्वारम् । वृ० १. ७० । अनु० ।

(१५) उद्यमी सूरिरुद्यमिनः शिष्याः, उद्यमी सूरिरनुद्यमिनः
शिष्याः, अनुद्यमी सूरिरुद्यमिनः शिष्याः, अनुद्यमी सूरिरनुद्य-
मिनः शिष्याः, इति चतुर्भङ्गः ।

अत्र प्रथमभङ्गं अनुयोगस्य प्रवृत्तिर्भवति, चतुर्थं तु न भव-
ति, द्वितीयतृतीययोस्तु कदाचिन्मयश्चिद्भवत्यपि । अनु० ।

"एतं पुण अहिगरो, सुयणाणेणं जत्रो सुएणं तु ।

मेमाणमण्णो वि य, अणुब्रह्मणं इवदिट्ठंता ॥

अतस्य चोद्देशादयः प्रवर्तन्ते इति । उक्तं च- 'सुयणाणस्स उद्दे-

सो समुद्देशो अणुब्रह्म अणुब्रह्मो पवत्तइ' तत्राद्वाधेयोद्दिष्टस्य
समुद्दिष्टस्य समनुज्ञातस्य च सतोऽनुयोगो भवतीति । अतः
निर्युक्तिकारेणान्यथापि श्रुतज्ञाने अनुयोगेनाधिकृतमिति ।

(१६) इदानीं केनाऽनुयोगः कर्त्तव्य इति द्वारमाह-
देमकुलजाइस्वी, महणणी धिइजुओ अणामंसी ।

अविकत्थणो अमाई. थिरपरिवासी गहियवक्को ॥

जियपरिसो जियनिहो, मज्झत्यो देमकालजावन्नू ।

आसन्नन्नदपइओ, नाणाविहदेसजामन्नू ॥

पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थ-तडुजयविहिन्नू ।

आहरणं हेउं उवयण-नयनिउणो गाहणाकुसलो ॥

सममयपरममयविओ गंजीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।

गुणमयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥

युतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । देशयुतः कुलयुत इत्यादि । तत्र
यो मध्यदेश जातो यावदूर्ध्वपक्षिंशानिषु जनपदेषु स देशयुतः,
स ह्यार्यदेशजणितं जानाति, ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्या
अधीयते इति । तदुपादानम्, कुलं पैतृकं, तथाच लोके व्यवहारः,
इद्वानुकुलजोऽयं, नाग (जात) कुलजोऽयमित्यादि । तेन युतः प्र-
तिपञ्चाधेनिर्वाहको जयति । जातिमातृकी तथा युतो विनयादिगु-
णवान् भवति । रूपयुतो लोकानां गुणविषयवद्भूतानां जायते,
" यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति " इति प्रवादात् । संहननयुतो
व्याख्यायां न श्राम्यति । धृतियुतो नाऽतिगद्गदेष्वधेषु भ्रममुपया-
ति, अनाशंसी श्रोतृभ्यो वस्त्राद्यनाकाङ्क्षी । अविकत्थनो नाति-
बहुभाषी । स्थितोऽतिशयेन निरन्तराज्यासतः स्थैर्यमापन्नो
अनुयोगपरिपाठ्यो यस्य स स्थिरपरिपाटी, तस्य हि सूत्रमर्थो
वा न मनागपि गलति । गृहीतवाक्य उपादेयवचनः, तस्य ह्य-
ल्पमपि वचनं महार्थमिव प्रतिजानति । जितपरिपत्तं महत्यामपि
पर्यादं न कौभमुपयाति । जितनिद्रो रात्रौ सूत्रमर्थं वाचयन् प-
रिजावयन् वा न निद्रया बाध्यते । मध्यस्यः सर्वेषु शिष्येषु सम-
चित्तः । देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः । स
हि देशं कालं जावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शि-
ष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखेनानुवर्त्तयति । आसन्न-
न्नप्रतिभः परवादिना समाक्षिप्तः शीघ्रमुत्तरदायी । नाना-
विधानां देशानां ज्ञायां जानातीति नानाविधदेशज्ञावाङ्मनः, स
हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि प्राहयति । पञ्चवि-
ध आचारो ज्ञानाचारादिरूपस्तस्मिन् युक्तः स्वयमाचारेष्वस्थि-
तस्यान्यानाचारेषु प्रवर्त्तयितुमशक्यत्वात् । सूत्रार्थग्रहणेन च-
तुर्भङ्गः सूचिता । एकस्य सूत्रं नार्थः ? । द्वितीयस्यार्थो न सूत्रम्
२ । तृतीयस्य सूत्रमप्यर्थोऽपि ३ । चतुर्थस्य न सूत्रं नाऽर्थः
४ । तत्र तृतीयभङ्गप्रदणार्थं तदुभयग्रहणं सूत्रार्थं तदुभयविधीन्
जानातीति सूत्रार्थतदुजयविधिभङ्गः । आहरणं दृष्टान्तः । हेतुश्च-
तुर्विधो ज्ञापकादियथा-दशवैकान्तिकनिर्युक्तौ, यदि वा द्विविधो
हेतुः कारको ज्ञापकश्च । तत्र कारको-घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः ।
ज्ञापको यथा-तमसि घटादीनामज्जिज्जकः प्रदीपः ।
उपनय उपसंहारः, नया नैगमादयः, एतेषु निपुण आहरणहे-
तूपनयनिपुणः, स हि श्रोतारमपेक्ष्य तत्प्रतिपत्त्यनुरोधतः क-
चित् दृष्टान्तापन्यासं कञ्चित्पन्यासं करोति । उपसंहारानिपु-
णतया सम्यगधिकृतमुपसंहरति । नयनिपुणतया नयवक्तव्यता-
ऽवसरे सम्यक् प्रपञ्चं वैविक्रयेन नयानभिधत्ते । प्राहणाकुशलाः

प्रतिपादनशक्त्युपेतः, स्वसमयं परसमयं वेत्तीति स्वसमय-
परसमयविदः; स च परेणाक्षितः सुखेन स्वपक्वं परपक्वं च
निर्वाहयति। गम्भीरोऽनुच्छ्वस्वजावः। दीप्तिमान् परवादिनाम-
नुद्धर्षणीयः। शिवोऽकोपनः। यदि वा यत्र तत्र वा विहरन् क-
ल्याणकरः। सोमः शान्तदृष्टिः। गुणा मूलगुणा उत्तरगुणाश्च,
तेषां शतानि तैः कथितो गुणशतकथितः। युक्तः समीचीनप्रवच-
नस्य द्वादशाङ्गस्य सारमर्थं कथयितुम्।

कस्माद् गुणशतकथित इष्यते इति चेदत आह—

गुणसुद्विषस वयणं, घयपरिमित्तुं च पावत्रो भाइ ।

गुणहीणस न सोहइ, नेहयिदूणां जइ पईवो ॥

यो मूलगुणादिषु गुणेषु सुस्थितस्तस्य वचनं घृतपरिसिक्तपा-
वक इव ज्ञाति दीप्यते। गुणहीनस्य तु न शोभते वचनम्,
यथा स्नेहेन विहीनः प्रदीपः। उक्तं च—“आयोरवद्वंते, आया-
रपरवणाअसंकंतो। आयारपरिभट्टो, सुद्धचरणदेसणे भइ-
ओ ॥” गतं केन चेति द्वारम्।

(१७) अधुना कस्येति द्वारमाह—

जइ पवयणस सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो ।

एवं गुणन्निणं, सव्वसुयस्सा उ देसस्मा ? ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्तीर्हि स तेनैवगुणान्वितेन कस्य क-
त्तव्यः? किं सर्वश्रुतस्य, उत देशस्य श्रुतस्कन्धादिति।

अत्र सूरिराह—

को कट्ठाणं नेच्छइ, सव्वस्स वि एरिसेण वत्तव्वो ।

कप्पव्ववहारेण उ, प्रगयं सिस्साण थिज्जत्थं ॥

को नाम जगति कल्याणं नेच्छति। ततः सर्वस्यापि श्रुतस्या-
नुयोग ईदृशेन वक्तव्यः, केवत्रं कल्पो व्यवहारश्चापवादबहुल-
स्तेन तयोरनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतमधिकारः, एवं गुण-
युक्तेनैव कल्पव्यवहारयोरनुयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः। कस्मादेवमु-
च्यते?—शिष्याणां स्थिरीकरणार्थम्।

तदेवं स्थिरीकरणं भावयति—

एसुस्सगठियप्पा, जयणाऽणुन्ना ता दरिसंयतो वि ।

तासु न वइइ नूणं, निच्छयओ ता वि अकरिज्जा ॥

यदा नाम यथोक्तगुणशतकथितः कल्पव्यवहारयोरनुयोगं क-
रोति तदा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते—एष स्वयमुत्सर्गस्थितात्मा,
अथ च कल्पे व्यवहारे च यतमया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया
प्रतिसेवनाः अनुज्ञाताः प्रदर्शयति। ततः प्रतिसेवनायतनया अनु-
ज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्तते, किंतु केवलमुत्सर्ग-
माचरति, तदेवं ज्ञायते नूनम्, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि
प्रतिसेवना अकरणीया न समाचरितव्याः।

किञ्च—

जो उत्तमेहिं पइओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।

आपरियम्मि जयंते, तदणुचरा केण सीइज्जा ? ॥

य उत्तमैर्गुरुभिः प्रदत्तः क्षुप्तो मार्गः पन्थाः स शेषाणां दुर्गमो
न भवति, किं तु सुगमः; तत्र आचार्ययतमाने यथोक्तसूत्रनीत्या
प्रयत्नवति, तदनुचरास्तदाश्रिताः शिष्याः केन हेतुना सीद्वेयुः?,
नैव सीद्वेयुरिति भावः। तत एतेन कारणेन कल्पव्यवहारयोर-
नुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतम्।

अणुश्रोगमि य पुच्छा, अंगाइ अ कप्पल्लकनिक्खेवो ।

सुयखंधे निक्खेवो, इक्के चउविहो होइ ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पृच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य पदे निक्के-
पः, ततः श्रुतस्कन्धे च एकैकस्मिन् निक्केपश्चतुर्विधो जवतीति
वक्तव्यः। एष द्वारगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरणीयः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः पृच्छामाह—

जइ कप्पाइऽणुश्रोगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो ।

अज्जयणं उद्देशो, पडिवक्खंगादिणो वव्वो ॥

यदि कल्पादेरादिशब्दाद् व्यवहारस्य ग्रहणमनुयोगस्ततः
किं सोऽङ्गमुताहो श्रुतस्कन्धोऽध्ययनमुद्देशो वा। अस्मीनां चाङ्गा-
नां प्रतिपक्षा वव्वोऽङ्गादयो छप्व्याः। इयमत्र भावना—यदि
नामैतादृशेनाऽऽचार्येणानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कर्त्त-
व्यः, स कल्पो व्यवहारो वा किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुत-
स्कन्धाः, अध्ययनमध्ययनानि, उद्देश उद्देशाः।

अत्र सूरिराह—

सुयखंधो अज्जयणा, उद्देशा चैव हुंति निक्खिप्पा ।

सेसाणं पडिमेहो, पंचएह वि अंगमाईणं ॥

श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि उद्देशा एते त्रयः पक्षा जवन्ति निक्केप्याः
स्याप्या आदरणीया इत्यर्थः। शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्र-
तिषेधः। तद्यथा—कल्पो व्यवहारो वा—नाङ्गं नाङ्गानि, श्रुतस्क-
न्धो नो श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं नाध्ययनानि, नो उद्देश उद्देशाः।

तस्मा उ निक्खिविस्मं, कप्प व्यवहारो सो सुयखंधं ।

अज्जयणं उद्देशं, निक्खिवियव्वं तु जं जत्थ ॥

यस्मादेवं तस्मात्कल्पं निक्केप्स्यामि, व्यवहारं निक्केप्स्यामि, स्क-
न्धं निक्केप्स्यामि, अध्ययनं निक्केप्स्यामि, उद्देशं निक्केप्स्यामि, यच्च
यत्र निक्केतव्यं नामादिचतुःप्रकारं पदप्रकारं च तत्र वक्ष्यामि, तत्र
कल्पस्य पडिधो नामादिको निक्केपः। यत उक्तं प्राग्द्वारगाथायाम्—
'कप्पल्लकनिक्खेवो' व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्केपः।

एतयोः स्वस्थानमाह—

आइह्वाणं दुएह वि, सट्ठाणं होइ नामनिप्फन्ने ।

अज्जयणस चउविहो, उद्देशस्सऽणुगमे भणिओ ॥

आद्ययोर्द्वयोः कल्पव्यवहारयोर्यथाक्रमं पदस्य चतुष्कस्य नि-
क्केपस्य स्थानं भवति नामनिप्फन्ने निक्केपे, ततः स तत्र वक्तव्यः
तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे, व्यवहारस्य पीठिकाया अध्ययनस्य
चतुष्प्रकारो निक्केप ओघनिप्फन्ने निक्केपेऽभिभाष्यते। उद्दे-
शस्य चानुगमे उपोद्घाते निर्युक्त्यनुगमे भणितः।

संप्रति 'सुयखंधे निक्खेवो' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह—

नामसुयं उवणसुयं, दव्वसुयं चैव होइ जावसुयं ।

एमेव होइ खंधे, पन्नवणा तेसिं पुव्वत्ता ॥

श्रुतस्य चतुष्प्रकारो नामादिको निक्केपः। तद्यथा—नामश्रुतं
स्थापनाश्रुतं छव्यश्रुतं भावश्रुतं च। एवमेव अनेनैव प्रकारेण,
स्कन्धेऽपि चतुष्प्रकारो निक्केपः। तद्यथा—नामस्कन्धः, स्थापनास्क-
न्धः, छव्यस्कन्धः, भावस्कन्धश्च। एतेषां प्रज्ञापना पूर्वमाव-
श्यके उक्ताऽवधारणीया ॥ गतं कस्येति द्वारम् ॥ ६० १ ७० ।

(१८) इदमेव सप्तमं द्वारं चेत्तसि निधाय सूत्रकदाह—

नाणं पंचविहं पणत्तं । तं जहा—आज्जिणिवाहियणाणं,
सुयणाणं, ओहियणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलनाणं ॥

यदि नाम ज्ञानं पञ्चविधं प्रकृतं ततः किमित्याह—

तस्य चत्वारि नाणां उष्पां उविणिजां णो उदिस्सं-
ति. णो समुदिस्संति. णो अणुत्ताविज्जंति । सुयनाणस्स
उदेसो समुदेसो अणुणा अणुश्रोगो य पवत्तइ ॥

(तत्थेत्थ्यादि) तत्र तस्मिन् ज्ञानपञ्चके आभिनिधोपिकावधिमनः-
पर्यायकेवलार्याणि चत्वारि ज्ञानानि (उष्पां ति) स्थाप्यान्य-
संन्यवहार्याणि । व्यवहारनये हि यदेव लोकस्योपकारे वर्तते
तदेव संन्यवहार्यं मन्यते । लोकस्य च हेयोपादेयेष्वर्थेषु निवृ-
त्तिप्रवृत्तिद्वारेण प्रायः श्रुतमेव साक्षादत्यन्तोपकारि । यद्यपि के-
वलद्विष्टमर्थे श्रुतमभिधत्ते तथापि गौणवृत्त्या तानि लोकोप-
कारीणीति ज्ञायः । यद्युक्त्यायेनासंन्यवहार्याणि तानि ततः कि-
मित्याह-(उविणिजां ति) ततः स्थापनीयानि एतानि तथाविधो-
पकाराभावतोऽसंन्यवहार्यत्वात्तिष्ठन्ति, न तैरिहोद्देशसमुद्देशाद्य-
वसरेऽधिकार इत्यर्थः । अथवा स्थाप्यान्यमुखराणि स्वस्वरूपप्रति-
पादनेऽप्यसमर्थानि, न हि शब्दमन्तरण स्वस्वरूपमपि केवलादी-
नि प्रतिपादयितुं समर्थानि । शब्दश्चानन्तरमेव श्रुतत्वेनोक्त इ-
ति स्वपरस्वरूपप्रतिपादने श्रुतमेव समर्थम्, स्वरूपकथनं चेदम्,
अतः स्थाप्यानि अनुस्वराणि यानि चत्वारि ज्ञानानि तानीदानी-
योगद्वाराविचारप्रक्रमः । किमित्याह--अनुपयोगित्वात्स्थापनीया-
न्यनधिकृतानि; यत्रैव ह्युद्देशसमुद्देशानुज्ञादयः क्रियन्ते तत्रैवाऽ
नुयोगस्तद्वाराणि चोपक्रमादीनि प्रवर्तन्ते । एवं नृत्तं त्वाचा-
रादिश्रुतज्ञानमेवेत्यत उद्देशाद्यविषयत्वादानुपयोगीनि शेष-
ज्ञानानि इत्यतोऽत्रानधिकृतानि । अत्राह-अनुयोगो व्याख्यानम्,
तच्च शेषज्ञानचतुष्टयस्यापि प्रवर्तते एवेति कथमनुपयो-
गित्वम् ? । ननु समयचर्याऽभिज्ञतासूचकमेवेदं वचः, यत-
स्तत्राऽपि तज्ज्ञानप्रतिपादकसूत्रसंदर्भ एव व्याख्यायते, स च
श्रुतमेवेति, श्रुतस्यैवानुयोगप्रवृत्तिरिति । अथवा स्थाप्यानि गुर्व-
नश्रुतत्वेनोद्देशाद्यविषयान्तानि । एतदेव विवृणोति-स्थापनी-
यानीत्येकार्थो द्वावपि । इदमुक्तं भवति-अनेकार्थत्वादतिगम्भी-
रत्वाद् विविधमन्त्राद्यतिशयसम्पन्नत्वाच्च प्रायो गुरूपदेशापेक्षं
श्रुतज्ञानम्, तच्च गुरोरन्तिके गृह्यमाणं परमकल्याणकोशत्वाउद्दे-
शादिविधिना गृह्यत इति । तस्योद्देशादयः प्रवर्तन्ते, शेषाणि तु
चत्वारि ज्ञानानि तदावरणकर्मकृषोपशमाज्यां स्वत एव जाय-
मानानि नोद्देशादिप्रक्रममपेक्षन्ते । यतश्चैवमत आह-'नो उद्दि-
सिउज्जंतीत्यादि' । नो उद्दिश्यन्ते नो समुद्दिश्यन्ते नो अनुज्ञाय-
न्ते । अनु० एवं श्रुतस्यैव उद्देशादयः प्रवर्तन्ते न शेषज्ञानानाम् ।
अत्र चाऽनुयोगेनैवाधिकारो न शेषैः, अनुयोगद्वाराविचारस्यैव-
ह प्रक्रान्तत्वात् । अत्र यथाऽनिहितमुपजीव्याह शिष्यः—

जइ सुयनाणस्स उदेसो समुदेसो अणुणा अणुश्रोगो य
पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उदेसो अणुणा अणुश्रोगो य प-
वत्तइ, किं अंगवाहिरस्स उदेसो समुदेसो अणुणा अणुश्रोगो
य पवत्तइ ? अंगपविट्ठस्स वि उदेसो जाव पवत्तइ, अणंगप-
विट्ठस्स वि उदेसो जाव पवत्तइ । इमं पुण पट्ठवणं पट्ठच्च अ-
णंगपविट्ठस्स अणुश्रोगो । जइ अणंगपविट्ठस्स अणुश्रोगो,
किं कालिअस्स अणुश्रोगो, उक्कालिअस्स अणुश्रोगो ? का-
लिअस्स वि अणुश्रोगो, उक्कालिअस्स वि अणुश्रोगो । इमं
पुण पट्ठवणं पट्ठच्च उक्कालिअस्स अणुश्रोगो । जइ उक्का-
लिअस्स अणुश्रोगो, किं आवस्सगस्स अणुश्रोगो, आव-

स्सगवितिरित्तस्स अणुश्रोगो ? आवस्सगस्स वि अणुश्रो-
गो, आवस्सगवितिरित्तस्स वि अणुश्रोगो ॥

(यदीत्यादि) यद्युक्तक्रमेण श्रुतज्ञानस्योद्देशः समुद्देशोऽनुज्ञा
अनुयोगश्च प्रवर्तते तर्हि किमसावङ्गप्रविष्टस्य प्रवर्तते, उता-
ङ्गवाहस्येति ? तत्राङ्गेषु प्रविष्टमन्तर्गतमङ्गप्रविष्टं श्रुतमाचारादि,
तद्वाहमुत्तराध्ययनादि । अत्र गुरुनिर्वचनमाह-(अंगपविट्ठ-
स्स वीत्यादि) अपिशब्दो परस्परसमुच्चयार्थो । अङ्गप्रविष्टस्या-
प्युद्देशादि प्रवर्तते, तद्वाहस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं
प्रारम्भं प्रतीत्याश्रित्याङ्गवाहस्य प्रवर्तते नेतरस्य; आवश्यकं यत्र
व्याख्यास्यते तच्चाङ्गवाहमेवेति भावः । अत्राङ्गवाहस्येति सा-
मान्योक्तौ सत्यां संशयानो विनेय आह-[जइ अंगवाहिरस्ये-
त्यादि] यद्यङ्गवाहस्योद्देशादिः, किमसौ काविकस्य प्रवर्तते उ-
त्कालिकस्य वा ? द्विधाऽप्यङ्गवाहस्य संज्ञादिति ज्ञायः । तत्र
दिवसनिशाप्रथमचरमगौरुषीक्षणे कालेऽधीयते नान्यत्रेति
काविकमुत्तराध्ययनादि । यत्तु काव्येष्टमात्रवर्जं शेषकालानि-
यमेन पठ्यते तदुत्कालिकमावश्यकमिति । अत्र गुरुः प्रतिवचन-
माह-(कालियस्स वीत्यादि) काविकस्याप्यसौ प्रवर्तते, उ-
त्कालिकस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रतीत्य
उत्कालिकस्य मन्तव्यम् । आवश्यकमेव ह्यत्र व्याख्यास्यते, त-
च्चोत्कालिकमेवेति हृदयम् । उत्कालिकस्येति सामान्यवचने वि-
शेषजिज्ञासुः पृच्छति-[जइ उक्कालियस्सेत्यादि] यद्युत्कालिस्यो-
द्देशादिस्तत्किमावश्यकस्यायं प्रवर्तते ? अथवाऽवश्यकव्यति-
रित्तस्य ? उभयथाऽप्युत्कालिकस्य संज्ञादिति । परमार्थस्तत्र
श्रमणैः श्रावकैश्चोन्नयसन्ध्यमवश्यंकरणादावश्यकं सामागि-
कादिपरुषध्ययनकथापः । तस्मात्तु व्यतिरिक्तं जिज्ञं दशवैकाग्नि-
कादि । गुरुराह-[आवस्सगस्स वीत्यादि] द्वयोरप्येतयोः सा-
मान्येनोद्देशादिः प्रवर्तते किन्निवदं प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं
प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोगो नेतरस्य, सकलसामाचारामुल्लेखाद-
स्यैवेदं शेषपरिहारेण व्याख्यानादिति भावनीयम् । उद्देश-
समुद्देशानुज्ञास्वावश्यकं प्रवर्तमाना अप्यत्र नाधिकृताः, अनुयो-
गावसरत्वात् । अतस्तत्परिहारेणोक्तम्-(अणुश्रोगो ति) अनु०

इमं पुण पट्ठवणं पट्ठच्च आवस्सगस्स अणुश्रोगो । जइ आ-
वस्सगस्स अनुश्रोगो, किं अंगं अंगां सुअखंधो सुअखंधा
अज्जयणं अज्जयणां उदेसो उदेसा ? आवस्सयस्स णं नो
अंगं नो अंगां नो सुअखंधो नो सुअखंधा नो अज्जयणं
नो अज्जयणां नो उदेसो नो उदेसा ।

इदं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोग इति पुनरपि आह-
(जइ आवस्सगस्सेत्यादि) यथावश्यकस्य प्रस्तुतोऽनुयोगस्तर्हि
किमिति वाक्यावङ्कारे, किमिति परिप्रश्ने, किमेकं द्वादशा-
ज्ञानतन्तमङ्गमिदमुत्तं बहुन्यङ्गानि । अथैकः श्रुतस्कन्धो बहवो
वा श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं वैकं बहुनि वाऽध्ययनानि, उद्देशको
वा एको बहवो वा उद्देशकाः, इत्येते श्रमणैः । तत्र श्रुतस्कन्धोऽध्य-
यनानि चेदमिति प्रतिपत्तव्यम् । परुषध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूप-
त्वादस्य । शेषास्तु पदप्रश्नाऽननादेयाः, अनज्ञादिरूपत्वात् । इत्ये-
तदेवाह-(आवस्सयस्स णमित्यादि) अत्राह-नन्वावश्यकं किम-
ङ्गमङ्गानीत्येतत्प्रश्नद्वयमत्रानवकाशमेव, नन्वाध्ययन एवास्यान-
ङ्गप्रविष्टत्वेन निर्णीतत्वात् । तथाचाऽप्यङ्गवाहोत्कालिकक्रमेणान-
न्तरमेवोक्तत्वादिति । अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तं नन्वाध्ययन एवे-

ह्यादि । तदयुक्तम् । यतो नावश्यकतन्त्राध्ययनं व्याख्याय तदिदं व्याख्येयमिति नियमोऽस्ति , कदाचिदनुयोगाचारव्याख्यानस्यैव प्रथमं प्रवृत्तेः । अनियमज्ञापकश्चायमेव सूत्रोपन्यासः , अन्यथा ह्यङ्गवाह्यत्वेऽस्य तत्रैव निश्चितः , किमिहाङ्गानङ्गप्रविष्टचिन्तासूत्रोपन्यासेनेति ? ।

अधुना तद्द्वारं वक्तव्यम् । यदाह—

तस्म एणं इमे चत्तारि अणुश्रोगदारा भवन्ति । तं जहा उवक्के ? एणक्खेवे २ अणुगमे ३ एण ४ ॥ अनु० ।

इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वाणामानुपूर्वी नाम प्रमाणादिकोऽत्रैवोक्तस्वरूपो जेदो वक्तव्यः ।

(१६) तथाऽनुयोगस्य लक्षणं वाच्यम्—

यदाह—

“ संधियायपदं चैव, पयस्यो पयविग्गहो ।

चालणा य पसिन्ही य, उच्चिदं विद्धि लक्खणं ” ॥

प्रश्ने कृते सति (पसिद्धिं चि) चालनायां सत्यां प्रसिद्धिः सनाधानम, (विद्धिं चि) जानीहि । व्याख्येयसूत्रस्य च “अलि-यमुग्घायजणयमित्यादि ” द्वाविंशदोपरहितत्वादिकं लक्षणं वक्तव्यम् । अनु० ।

(२०) यथांक्तगुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽहं इत्यनेन संबन्धेन तदहंधारमापतितम् । तत्र सोऽहं उरिमकादिदृष्टान्त—

स्योपनयभूतस्तत् आह—

उडिय जूमी पेडिय, पुरिसगहणं तु पढमओ काउं ।

एवं परिक्रियम्मी, दायव्वं वा न वा पुरिसे ॥

नवे नगरे निवेश्यमाने प्रथमत उरिमकापातस्य योग्या भूमिस्तस्य तत्प्रदानार्थमुक्ता पातयते, ततो जूमिशोधनं, तदनन्तरं पीठिका; एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषग्रहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा कर्त्तव्या-किमयमपरिणामकोऽतिपरिणामकः, परिणामको वेति ? । एवं पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामके अतिपरिणामके वा न दातव्यम्, परिणामके दातव्यमिति गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीपुराह—

अजिनवनगरनिवेशे, समजूमिर्विरेयणऽक्खरविहिन्नु ।

पाडेइ उंरियाओ, जा जस्स णाणसोहणया ॥

खण्णं कुट्टण ठवणं, पीठं पामाय रयण सुहवासो ।

इअ संजमनगरंरिय-लिंगं मिच्छत्तसोहणयं ॥

वरि इट्ठगठवणनिजा, पेढं पुण होइ जाव सूयगढं ।

पासाय जहिं पगयं, रयणनिजा हुंति अत्थपया ॥

अभिनवे नगरे निवेश्यमाने प्रथमतो जूमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य च तस्याः समजूमिर्विरेचनं विधीयते । तदनन्तरमक्करविधिज्ञेया यस्य योग्या जूमिस्तस्य तस्याः प्रदानार्थमुरिमका अक्करसंहिताः मुडिकाः पातयति । ततः स्वस्थानस्य शोधनता-शोधनम् । ततः स्वस्याः २ भूमेः स्वननं, तदनन्तरं दुग्धैरिष्टकाशकलानि प्रक्षिप्य तेषां कुट्टने, ततस्तस्योपरि इष्टकानां स्थापनं, तदनन्तरं यावत् सूत्रं तावत् पीठं, ततस्तस्य पीठकस्योपरि प्रासादकरणं, तदनन्तरं तेषां प्रासादानां रत्नैरापूरणं, ततः सुखेन वासः परिवसनम् । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-जूमीग्रहणस्थानीयं पुरुषग्रहणं, शुद्धं पुरुषं परीक्ष्य तस्य प्रव्रज्यादानमित्यर्थः । तत ‘इति’ एवमुक्तप्रकारेण नगरस्थानीये संयमं स्थाप्यते, तत उरिमका-

स्थानीयं रजोहरणादि लिङ्गं दीयते, तदनन्तरं मिथ्यात्वस्य ज्ञानस्य च कचवरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोधयित्वा मिथ्यात्वं समूलमुत्खन्य स्थिरीकरणमित्तं सम्यक्त्वदुघर्षैर्यच्छेदयमवतिष्ठते मिथ्यात्वपुद्गलात्मकवत् कुट्टयित्वा भस्मच्छन्नाग्निमिव कृत्वा । तत उपरि इष्टकास्थापननिर्भाषितानि दीयन्ते, तत आवश्यकमादि कृत्वा यावत् सूत्रकृतं तावत्पीठं प्रयति, ततो यकाभ्यां प्रकृतं तौ कल्पव्यवहारौ प्रासादस्थानीयौ दीयन्ते, तत्रार्थपदानि यानि तानि रत्ननिर्जानि । गतं तदहंधारम् । वृ० १ उ० । तथा तस्यैवानुयोगस्य परिषद् वक्तव्या । (सा च ‘सेलघणकुड-ग’ इत्यादिदृष्टान्तैः परीक्षितव्येति ‘सीस’ शब्दे, हाषिकादिका च त्रिविधा पर्यत् ‘परिमां’ शब्दे वक्ष्यते)

(२१) संप्रति कयाऽधिकार इति प्रतिपादयति—

उत्तंतिआए पगयं, जइ पुण सा होज्जिमेहिं उव्वेया ।

तो देति जेहिं पगयं, तदभावे णाणमादीणि ॥

अत्र व्रत्रान्तिकया पर्यदा प्रकृतमधिकारः, शेषाः पर्यद् उच्चरितसदृशा इति प्ररूपिताः । तत्र यदि सा व्रत्रान्तिका पर्यद् एजि-र्वक्ष्यमाणैर्गुणैरूपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तवकौ व्यवहारौ सूरयो ददति, तदत्रावे वक्ष्यमाणगुणाभावे स्थानादीनि, आदिग्रहणेन प्रकीर्णकानां परिग्रहः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह—

बहुसमुए चिरपव्वइए, कपिपे य अचंचओ ।

अवट्टिपे य मेहावी, अपरिजाविओ विउ ॥

पणे य अणुमाते, भावतो परिणामगे ।

एयारिसे महाभागे, अणुओगं सोउमरिहइ ॥

बहुश्रुतश्चिरप्रव्रजितः, कल्पिकोऽचञ्चलः, अवस्थितो, मेधावी, अपरिभावी, यश्च विद्विद्वान् प्रभूताशेषशास्त्रपरिमलितबुद्धिः, (पत्ते यत्ति) पात्रं प्राप्तो वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परिणामकः, एतादृशो महाभागोऽनुयोगं श्रेतुमर्हति, सामर्थ्यात् कल्पव्यवहारयोः । एष चारणाद्यसंक्षेपार्थः । वृ० १ उ० । (बहुश्रुतादीनां तित्तिणिकादीनां च व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) एतः सर्वमभिधाय ततः सूत्रार्थो वक्तव्यः ।

(२२) सोऽनुयोगश्चतुर्विधो भवति—

सुयनाणे अणुओगे-एऽहिगयं सो चउव्विहो होइ ।

चरणकरणानुयोगे, धम्मं काले य दविए य ॥

कथम्?, चरणकरणानुयोगः, चर्यत इति चरणं व्रतादि, यथोक्तम्— “ वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च बंन गुत्तीओ । णाणादितियं तवको-इनिग्गहादी चरणमेयं ” ॥१॥ क्रियत इति करणं-पिएरविशुद्धादि । उक्तं च—“ पिरुविसोहो समिई, भावणपडि-माई इंदियनिरोहो ॥ पमिबेहणगुत्तीओ, अभिगगा चेव करणं तु ” ॥ १ ॥ चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । अनुरूपो योगोऽनुयोगः-सूत्रस्यार्थेन सार्द्धमनुरूपः संवन्धो व्याख्यानमित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा “ कयरे आगच्छइ दित्तरुवे ” इत्यादि । धम्म इति धर्मकथानुयोगः । काले चेति कालाऽनुयोगश्च गणितानुयोग-श्चेत्यर्थः । द्रव्यं चेति द्रव्यानुयोगश्च । तत्र काविकश्रुतं चरणकरणानुयोगः, ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि धर्मकथानुयोगः, सूर्यप्रहस्यादिगणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्यानुयोगः

इति । उक्तं च—“ साक्षियसुपं च इसिभा-सियाई तस्यो य सपर-
सी । सखो य विचिवाभो, चउत्थओ होइ अणुश्रोगो ” इति
गाथार्थः । इह चौघतोऽनुयोगो छिधा-अपृथक्त्वानुयोगः पृथ-
क्त्वानुयोगश्च । तत्रापृथक्त्वानुयोगो यतैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्वं पदं
चरणद्वयः प्ररूप्यते, अनन्तागमपर्यायत्वात्सूत्रस्य । पृथक्त्वानु-
योगश्च यत्र क्वचित् सूत्रे चरणकरणमेव, क्वचित्पुनर्धर्मकथा वे-
त्यादि । दृष्टा ० १ अ० । चरणकरणानुयोगाः “ ओहेण उणि-
जुत्ति, घोस्से चरणकरणानुभोगाओ ” इति निर्युक्तिगाथाया-
श्चरणकरणस्येति वक्तव्यं तैर्लो त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्ना-
चार्य एतज्ज्ञापयति-सन्त्ययेऽप्यनुयोगा इति । तद्वद्ब्राह्म-“चरण-
करणानुयोगाद्वक्तव्ये नान्यानुयोगेभ्यः” इति । तथा षष्ठी द्विविधा
दृष्टा-भेदषष्ठी, अभेदषष्ठी च । तत्र भेदषष्ठी यथा-देवदत्तस्य
गृहम् । अभेदषष्ठी यथा-तैत्तस्य धारा, शिवापुत्रकस्य शरीरक-
मिति । तद् यदि षष्ठ्या उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते, किं च-
रणकरणानुयोगस्य भिन्नामोघनिर्युक्तिः वक्तव्ये, यथा-देवदत्तस्य
गृहमिति, आहोस्विदभिन्नां वक्तव्ये, यथा तैत्तस्य धारत्यस्य संभो-
हस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति । एवं व्याख्याते स-
त्यपरस्वाह-अस्तीत्येकचनम्, अनुयोगा बहुवचश्च, तत्कथं बहु-
त्वं प्रतिपादयति ? उच्यते-अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमध्ययम् ।
अव्ययं च—“ सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वच-
नेषु च सर्वेषु, यत्र ध्येति तदव्ययम्” । ततो बहुत्वं प्रतिपादयत्ये-
वेत्यदोषः । अथ वा-व्यवहितः संबन्धोऽस्तिशब्दस्य, कथमिदम्?,
चोदकवचनम् । षष्ठी सम्बन्धे किमिति न भवति विभक्तिः ? आ-
चार्य आह-अस्ति षष्ठीविभक्तिः । पुनरप्याह-यद्यस्ति ततः प-
ञ्चमी भणिता किम् ? आचार्य आह-अन्येऽप्यनुयोगाश्चत्वारः,
अतः षष्ठी विद्यमानाऽपि नाकेति भावना पूर्ववत् ।

अन्येऽपि अनुयोगाः सन्तीत्युक्तम्, न च ज्ञायन्ते
कियन्तोऽपि ते इत्यत्र प्रतिपादयन्नाह—

चत्वारि उ अणुश्रोगा, चरणे धम्मगणियाणुश्रोगे य ।

द्वियऽणुश्रोगे य तथा, जट्टकम् ते महद्दीया ॥ ७ ॥

चत्वार इति संख्यावचनः शब्दः, अनुकूला अनुरूपा वा योगा
अनुयोगाः । तुशब्द एवकारार्थः । चत्वार एव ते । अन्ये तु तु-
शब्दे विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति । किं विशेषयन्तीति चत्वा-
रोऽनुयोगाः, तुशब्दाद् द्वौ च; पृथक् २ जेदात् । कथं चत्वारोऽ-
नुयोगा इत्याह-(चरणे धम्मगणियाणुश्रोगे य) चर्यते इति च-
रणं, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे । अत्र
चोत्तरपदशेषोपादित्यमुपन्यासः, अन्यया चरणकरणानुयोग इत्येवं
वक्तव्यम् । स च एकादशाङ्गरूपः । (धम्मे ति) धारयतीति धर्मः
दुर्गतौ प्रपन्नं सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे, धर्मविषयो द्वितीयोऽनु-
योगो भवति । स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूपः । (गणियाणुयो-
गे य) गणयते इति गणितम्, तस्यानुयोगो गणितानुयोगः, त-
स्मिन्, गणितानुयोगविषयस्तृतीयो भवति । स च सूत्रप्रज्ञाप्या-
दिरूपः । चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः । (द्वियाणुयो-
गे य) द्वयतीति द्वयम्-तस्यानुयोगो द्वयानुयोगः, सदस्यपर्या-
याज्ञाचनारूपः, स च दृष्टिवाद्-चशब्दादनार्यः सम्मत्यादिरूपश्च
तथैति क्रमप्रतिपादकः, आगमोक्तेन प्रकारेण यथाक्रमं यथापरि-
पाद्यं चरणकरणानुयोगाया महाद्विकाः प्रधाना इति यदुक्तं भ-
वति । एवं व्याख्याते सत्याह-(चरणे धम्मगणियाणुश्रोगे य द्वि-
यऽणुश्रोगे य) यद्येतत्तां जेदोपन्यासः क्रियते तत्किमर्थं च-
त्वार इत्युच्यते?, विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यते इति ।

तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ?, धर्मगणि-
तानुयोगौ तु एकयैव विज्ञत्तया, पुनर्द्वयानुयोगो भिन्नया विभ-
क्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्च एक एवोपन्यसनीयः, किमर्थं द्वया-
नुयोग इति भेदोपन्यस्त इति ? अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तं चतु-
ग्रहणं न कर्त्तव्यं, विशिष्टपदोपन्यासात् । तदसत् । यतो न विशि-
ष्टपदोपन्यासे विशिष्टसङ्ख्यायाऽवगमो जयति, विशिष्टपदोपन्यासे-
ऽपि कुनश्चरणधर्मगणितद्वयपदानि सन्तीति, अन्यान्यपि स-
न्तीति संशयो मा भूत्कस्यचिदित्यतश्चतुर्ग्रहणं क्रियते इति । तथा
यत्तुक्तम्-भिन्नया विज्ञत्तया चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तं,
तत्रैतत् प्रयोजनम्, चरणकरणानुयोग एवाऽत्राधिकृतप्राधा-
न्यख्यापनार्थं भिन्नया विज्ञत्तया उपन्यास इति । तथा धर्मग-
णितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ; अत्र प्रक्रमे अप्रधानावे-
ताविति । तथा द्वयानुयोगे च ज्ञितविज्ञत्तयोपन्यासे प्रयोजनम् ।
अयं हि एकैकानुयोगो मीलनीयः, न पुनर्लौकिकशास्त्रवद्युक्तिभि-
र्विचारणीय इति । तथाऽनुयोगे शब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्य-
ते । यत् त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथक्त्वाऽनु-
योगप्रतिपादनार्थम् ; यच्च द्वयानुयोग इति तत्पृथक्त्वानुयोग-
प्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह परः इह गाथाः, तत्र
पर्यायत इदमुक्तम्-“यथाक्रमं ते महद्द्विकाः” इति । एवं तर्हि चरण-
करणानुयोगस्य त्रयुत्वं, तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः क्रियते ?, अपि
तु द्वयानुयोगस्य युज्यते कर्तुम्, सर्वेषामेव प्रधानत्वात् । एवं
चोदकेनाङ्गेषु कृते सत्युच्यते—

सविसयवलवत्तं पुण, जुज्जइ तहं विय महाद्वियं चरणं ।

चारित्तरक्खणद्वे, जेणियरे तिन्नि अणुश्रोगा ॥ ८ ॥

स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये, वलवत्त्वं पुन-
र्युज्यते घटते । एतदुक्तं जयति-आत्माऽऽत्मीयविषये सर्व एव
वलवन्तो वर्तन्ते इति । एवं व्याख्याते सत्यपरस्वाह-यद्येवं सर्वेषा-
मेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्मात्मीयविषये सर्वेषामेव वलवत्त्वा-
त्; तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्त्तव्येति । एवं चोदकेनाऽऽ-
शङ्किते सत्याह गुरुः-(तहं वि यमहद्वियं चरणं) तथाऽप्यव-
मपि स्वविषये वलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं चरणमेव, शेषानुयो-
गानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानतः पूर्वोऽत्यन्तसंस्तरूपा-
र्थं पूर्वप्रतिपर्यर्थं च । शेषाऽनुयोगा अन्यैर्ववृत्तिभूताः । यथा हि
कर्पूरखण्डार्थं वृत्तिरूपादीयते, तत्र हि कर्पूरखण्डं प्रधानं न पुन-
र्वृत्तिः । एवमत्रापि चारित्ररक्खणार्थं शेषाऽनुयोगानामुपन्यासः ।
तथा चाह—[चारित्तरक्खणद्वे जेणियरे तिन्नि अणुश्रोगा]
चरित्रमेव चारित्रं, तस्य रक्खणं, तदर्थं चारित्ररक्खणार्थं, येन
कारणेन इतर इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति ॥
एवं व्याख्याते सत्याह-कथं चारित्ररक्खणमिति चेत् तदाह—

चरणपमिवत्तिहेऊ, धम्मकहा कालदिक्खमाईया ।

द्विए दंसणसुच्छी, दंसणसुच्छी अ चरणं तु ॥ ९ ॥

चर्यते इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः ।
चरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः । किं तदा
ह-धम्मकथा, दुर्गतौ प्रपन्नं सर्वसंघातं धारयतीति धर्मः, त-
स्य कथा कथनं, कथाचरणप्रतिपत्तिहेतुः धर्मकथा । तथा हि-
आज्ञेपण्यादिधर्मकथाऽऽस्तिमाः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रं प्राप्नु-
वन्ति (कात्रे दिक्खमादी य) कत्रं कालः, कलासमूहो वा
कात्रः, तस्मिन् कात्रे, दीक्षादयः दीक्षाणां प्रवज्याप्रदानम्, आ-
दिशब्दादुपस्थानादिपरिग्रहः । तथा च शोत्रेनतिथिनक्षत्रमूह-
सं-

योगादौ प्रव्रज्याप्रदानं कर्तव्यम् । अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति (द्वियं चि) छव्ये द्रव्यानुयोगे किं भवतीत्यत आह—(दंसणसुक्तिं) दर्शनं सम्यग्दर्शनमभिधीयते, तस्य शुक्तिर्निर्मलता दर्शनशुद्धिः । एतदुक्तं जवति—द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुक्तिर्भवति, युक्तिर्भिर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदात् । तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगतमेव ग्रहीतव्यं न पुनरागमादेव केवलादित्याह—दर्शनशुद्धयैव । किं तदाह ?—दर्शनशुद्धस्य—दर्शनं शुद्धं यस्याऽसौ दर्शनशुद्धस्तस्य, चरणं चारित्रं भवतीत्यर्थः । तु-शब्दो विशेषणे । चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति । अथवा—प्रकारान्तरेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपद्यते । आदिभूतस्याऽपीति ।

तच्च दृष्टान्तबलेनाचलं भवति नान्यथेत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह—

जह रन्नो विसण्णं, वड्ढकणगरययलोहे य ।

चत्तारि आगरा खलु, चण्ह पुत्ताण ते दिन्ना ॥ १० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे, राज्ञो विषयेषु जनपदेषु (वड्ढस्ति) वज्राकरो जवति, वज्राणि रत्नानि तेषामाकरः खनिर्वज्राकरः 'चिन्तालोहागरिण' इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं संबध्यते । एतेन कारणेन 'लोहं हुंति' स्याद् भवति क्रिया सर्वत्र मालनीयेति । कनकं सुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति तथा द्वितीयः । रजतं रूप्यं तद्विषयश्च तृतीय आकरो भवति । चशब्दः समुच्चये । अनेकभेदभिन्नरूपानाकरान् समुच्चिनोति (लोहे य चि) लोहम्-अयः, तस्मिन् लोहे, लोहविषयश्चतुर्थ आकरो जवति । चशब्दो मृदुकठिनमध्यलोहसमुच्चायकः 'चत्तारि' इति संख्या । आक्रियन्ते एतेष्वित्याकराः, तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि येष्विति । खलुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि?—सविषयाः सहस्रादयश्चातः पुत्रेभ्यो ददतश्चतुर्णां पुत्राणां सुतानां त इत्याकराः, दत्ताविनक्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

अधुना प्रधानोत्तरकालं यत्तेषां तदुच्यते—

चिन्ता लोहागरिण, पण्णिसहं कुण्ड सो उ लोहस्स ।

वड्ढादीहिं य गहणं, करंति लोहस्स ते इतरे ॥ ११ ॥

लोहाऽऽकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः तस्मिन् लोहाकरिके चिन्ता भवति—'राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो दत्तः । एवं चिन्तायां सत्यां सुबुद्ध्याभिधानेन मन्त्रिणाऽजिहितः—देव ! मा चिन्तां कुरु, भवद्दीय एव प्रधान आकरो न शेषा आकरा इति । कुत एतद्वसीयते ? यदि जवत्संबन्धिलोहाकरो न जवति तदानीं शेषाकराप्रवृत्तिः—लोहोपकरणाभावात् प्रवृत्तिरिति । ततो निर्वाहं भवान् कारयतु कतिचिद्दिनानि, यावदुपक्रमं प्रतिपद्यते तेषूपकरणजातं, पुनः सुमहार्घमपि ते लोहं ग्रहीष्यन्ते इत्यत आह—[पण्णिसहमित्यादि] प्रतिषेधोदाहरणात् प्रतिषेधं करोत्यसौ, लोहं प्रतीतमेव, तस्य लोहस्य । तुशब्दो विशेषणेन केवलमनिर्वाहं करोति, अपूर्वोत्पादानिरोधं च । ततश्चैवकृते शेषाकरेषूपस्करः कथं प्रतिप्रश्नः, ततस्तेऽवज्ञादिभिः ग्रहणं कुर्वन्ति । कस्येत्यत आह—लोहस्य । के कुर्वन्ति ? । इतरे वज्राकारिकादयः चशब्दात् केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च । अथ कथानकं स्पष्टवाचनं लिखितम् । अयं दृष्टान्तः । सांप्रतं दार्ष्टान्तिक-योजना क्रियते—यथाऽसौ लोहाकर आधारभूतः शेषाकरणाम्, तत्प्रवृत्तौ शेषाणामपि प्रवृत्तेः । एवमन्यत्रापि, चरणकरणानुयोगे सति शेषानुयोगसद्भावः । तथाहि—चरणव्यवस्थितः शेषानुयोगग्रहणे समर्थो भवति, नान्यथेत्यस्यार्थस्य प्रतिपाद-

नार्थं गाथामाह—

एवं चरणमि तिओ, करेइ गहणं विहिय इयरेसिं ।

एण्ण कारणेणं, चरणानुओगो महद्दीओ ॥ १२ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः (चरणमिति) चर्यत इति चरणं, तस्मिन्, व्यवस्थितः करोति विधिना ग्रहणमितिरपामिति छव्यानुयोगादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महार्किकम्, तुशब्दादन्येषां च गुणानां समर्थो भवतीति । ओ० । दश० ।

(२३) कियन्ते कात्रं यावत्पुनरिदमप्युक्तवमासीत्, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमनूदित्याह—

जावंति अज्जवड्ढा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।

तेणारेण पुहत्तं, कालियमुयदिद्विवाए य ॥ २७७ ॥

यावदायैवैरा गुरुवो महामतयस्तावत्कालिकश्रुतानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, तदा व्याख्यातृणां श्रोतृणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । कालिकग्रहणं च प्राधान्यरूपापनार्थम्, अन्यथा कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्न वेति तदाऽऽरतस्त्वार्यरकितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे वाऽनुयोगानां पृथक्त्वमनूदिति निर्युक्तिगार्थः ॥ २७७ ॥

भाष्यम्—

अपुहृत्यमासि वड्ढा, जावंति पुहत्तमारओऽजिहिए ।

के ते आसि कया वा, पसंगओ तेमिमुप्पत्ती ॥ २७८ ॥

आर्यवैराद्यावदपृथक्त्वमासीत्, तदाऽऽरतस्तु पृथक्त्वमुक्तम् । एतस्मिन्नाभिहिते क एते आर्यवैराः कदा च ते आसन्निति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गत आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यते । इति गाथार्थः ॥ २७८ ॥ (एतच्चरितं तु 'अज्जवड्ढ' शब्देऽत्रैव भागे २१६ पृष्ठे छप्यम्)

सविशेषमाह—

अपुहत्ते अणुओगो, चत्तारि ड्वार जासई एगो ।

पुहत्तऽणुओगकरणे, ते य तओ वावि वोच्चिन्ना ॥ २७९ ॥

आर्यवैराद्यावदपृथक्त्वे सति सूत्रव्याख्यारूप एकोऽप्यनुयोगः क्रियमाणः प्रतिसूत्रं चत्वारि द्वाराणि जायते; चरणकरणादींश्चतुरोऽप्यर्थान् प्रतिपादयतीत्यर्थः । पृथक्त्वानुयोगकरणे तु ते चरणकरणादयोऽर्थाः ततोऽपि पृथक्त्वानुयोगकरणादेव, व्यवच्छिन्नाः, तत्प्रवृत्त्येक एव चरणकरणादीनामन्यतरोऽर्थः प्रतिसूत्रं व्याख्यायते, न तु चत्वारोऽपीत्यर्थः । इति निर्युक्तिगार्थः ॥ २७९ ॥

अथ यैरनुयोगाः पार्थक्येन व्यवस्थापितास्तेषामार्थरहितसूरीणामुत्पत्तिमभिधितुर्भाष्यकारः सम्बन्धगाथामाह—

किं वड्ढेहिं पुहत्तं, कयमह तदनंतरोहिं जणियम्मि ।

तदणंतरोहिं तदजिहि—यगहियसुत्तत्यसारोहिं ॥ २८० ॥

विनेयः पृच्छति—नन्वर्थवैराद्यावदपृथक्त्वमित्युक्तं ततः किमार्थवैरैरेव कृतं तत्, किं वा तदनन्तरैरार्थरहितसूरीभिरित्येवमुज्जयथाऽपि यावच्छब्दार्थोपपत्तेः । इति शिष्येण भणिते गुरुवाह—तदनन्तरैरार्थरहितसूरीभिरनुयोगानां पृथक्त्वमकारि । कथंचित्तैः ? आर्यवैरेणाऽजिहितः प्रतिपादितो गृहीतः सूत्रार्थसारो यैस्ते तथा, तैरार्थवैरसमीपेऽधीतसूत्रोभयैरित्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ २८० ॥

पुनरपि कथंचित्तैः किं नामैकैश्च तैरित्याह—

देविदवंदिण्हिं, महाणुभावेहिं रक्खियज्जोहिं ।

जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥ २८१ ॥

देवेन्द्रचन्द्रितैर्महानुभावैरार्यरक्षितैः दुर्बलिकपुष्पमित्रं प्राहम-
प्यनिगुपिलतबाऽनुयोगस्य विस्मृतसूत्रार्थमवज्ञोक्त्य वर्तमानका-
सन्नकृपं युगं चऽऽसाद्य प्रयचनाहितायानुयोगो विभक्तः-पृथक् २
व्यवस्थापितः । ततश्चतुर्धाकृतश्चतुर्थकाक्षिकधृतादिज्ञानेषु नियु-
क्तम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २८१ ॥

“माया य रुद्रसामा ” इत्यादि पूर्वं मूत्रावश्यकटीकास्थज्ञेखादा-
र्यगङ्गितकथानकमवसेयमिति । (एतच्च ‘अञ्जरकिखय ’ शब्दे-
ऽत्रैव जागे २१२ पृष्ठे विन्यस्तं द्रष्टव्यम्)

भाष्यकारोऽपि “देविद्वन्द्विपहिमिन्यादि” गाथाभावार्थमाह-
नाऊण रक्खियज्जो, मद्मेहाधारणासमगं पि ।

किञ्चण धरेमाणं, सुयसुवं पूममित्तं पि ॥

अस्सयकयत्तवओगो, मद्मेहाधारणाइपरिहीणो ।

नाऊण-मसपुरिसे, खेतंकाद्याणुरूवं च ॥

साणुगहोऽणुश्रोगे, वीसुं कासी य सुयविभागेण ।

सुहगद्वणाइनिमित्तं, नए वि सुनिगूहिय विजागो ॥

स देवेन्द्रचन्द्रितः श्रीमानार्यरक्षितसूरिनिजशिष्यं दुर्बलिका-
पुष्पमित्रमपि कृच्छ्रेण श्रुतार्णवं धारयन्तं ज्ञात्वा विनयेवर्गे सा-
नुप्रदो वक्ष्यमाणकाक्षिकादिभुताविभागेन विष्वक् पृथक् चरण-
करणाद्यनुयोगानकार्षीदिति सम्बन्धः । कथंभूतं दुर्बलिकापु-
ष्पमित्रम् ? मतिमेधाधारणासमग्रमपि । तत्र ‘मनु बोधने’मननं म-
तिरेव, बोधशक्तिः मेधा, धारणा अवधारणाशक्तिः, ताभिः समग्रं
युक्तमपि, तथाऽतिशयज्ञानकृतोपयोगतया एष्यान् भविष्यतः पु-
रुषांश्च ज्ञात्वा, कथंभूतान् ? मतिमेधाधारणादिपरिहीणान्, तथा
केवत्रकाज्ञानरूपं च ज्ञात्वा, न केवन्नमनुयोगान् पृथगकार्षीत्, तथा
नयांश्च नैगमादीन्, अकार्षीदिति वर्तते । कथंभूतान् ? , सुप्पति-
शयेन निगूढितां व्याख्यानिरोधेन उन्नीकृता विभागो व्यक्ततापा-
दानरूपो येषां ते निगूढितविभागास्तांस्तथाज्ञातान् । किमर्थम् ? ,
सुखग्रहणादिनिमित्तम् । आदिशब्दाचारणादिप्रग्रहः । वि-
शे० । (चरणकरणाद्यनुयोगभेदेनानुयोगचानुर्विध्यमार्थरक्षित-
सूरिजिः कृतमिति ‘अञ्जरकिखय ’ शब्देऽत्रैव जागे २१४
पृष्ठे दर्शितम्, इहापि उपयुक्ते जागो दर्शितः) अनुरूपो-
ऽनुकूत्रो वा योगोऽनुयोगः । सूत्रस्य स्वेगाभिधेयेन सा-
कमनुरूपसंबन्धे तद्वै दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, स० । स्था० ।

स च द्विधा-

मे किं तं अणुश्रोगे ? । अणुश्रोगे लुविहे पस्सत्ते ।

तं जहा-मूलपदमाणुश्रोगे, गंरियाणुश्रोगे य ॥

स च द्विधा-मूलप्रथमानुयोगः, गणिकानुयोगश्च । इह मूलं धर्मप्र-
णयनाचार्यकरास्तेषां प्रथमं सम्यक्त्वावामित्रकृपयंतवादिगो-
चरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । इदवाकादीनां पूर्वोपरपरिच्छि-
न्नो मध्यभागो गणिक, गणिकेय गणिक, एकार्थाधिकारा प्र-
स्थिपत्तिरित्यर्थः । तस्यानुयोगो गणिकानुयोगः । न० । स०
(प्रथमानुयोगगणिकानुयोगयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

अणुश्रोगग्र-अनुयोगगत-पुं० । अनुयोगः प्रथमानुयोगः-ती-
र्थकरादिपूर्वतवादिद्व्याख्यानग्रन्थः, गणिकानुयोगश्च भरतन-
रपतिवंशजातानां निर्माणगमनानुत्तरविमानगमनयक्यताव्या-
ख्यानग्रन्थ इति द्विरूपेऽनुयोगे गतोऽनुयोगगतः । दृष्टिवादांशभे-
दे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, अवयवे समुदायोपचाराद् दृष्टि-
वादे च । स्था० १० ग० ।

अणुश्रोगगणानुष्ठा-अनुयोगगणानुष्ठा-स्त्री० । अनुयोगोऽर्थ-
व्याख्यानम्, गणो गच्छः, तयोरनुष्ठाऽनुमतिः । ध० ३ अधि० । अ-
नुयोगगणयोः प्रवचने क्तेन विधिना स्वतन्त्रानुष्ठाने, प० व० १ द्वा० ।
अणुश्रोगतत्तिद्ध-अनुयोगतृप्त-त्रि० । अनुयोगग्रहणैकनिष्ठे,
वृ० १ उ० ।

अणुश्रोगार्थ-अनुयोगार्थ-पुं० । व्याख्यानकृतेऽर्थे, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुश्रोगदायय-अनुयोगदायक-पुं० स्त्री० । सुधर्मस्वामि-
प्रभृतावनुयोगदायिनि, “ वंदितु सव्वसिद्धे, जिणे य अणुश्रो-
गदायए सव्वे । आयास्स जगवओ, निज्जुत्ति कित्तस्सामि”
॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुश्रोगदार-अनुयोगदार-न० । व० ध० । अध्ययनार्थकथन-
विधिरनुयोगः । द्वाराणीव द्वाराणि, महापुरस्सैव सामायिकस्या-
ऽनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराण्यनुयोगद्वाराणि । उपक्रमादिषु
व्याख्यानप्रकारेषु, अत्र नगरदृष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः । अनु० ।
उक्तं । यथाहि अकृतद्वारं नगरं नगरमेव न भवति; कृतैकद्वार-
मपि हस्त्यश्वरथजनसंकुलत्वाद् दुःखसंचारं कार्यातिपत्तये च
जायते; कृतचतुर्भूलप्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं मुखनिर्गमप्रवेशं
कार्यातिपत्तये च । सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्य-
मशक्याधिगमं भवति; कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेणा द्वाघाय-
सा च कालेनाधिगम्यते; विहितसम्भेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं
सुखाधिगममल्पयसा च कालेनाधिगम्यते, ततः फलवान-
नुयोगदारोपन्यासः । उक्तं च—

“अणुश्रोगद्वाराइ, महापुरस्सैव तस्स चत्तारि ।

अणुश्रोगो स्ति तदर्थो, दाराइ तस्स उ मुहाइ ॥

अकयदारमनगरं, कयगदारं पि दुक्खसंचारं ।

चउमूत्रद्वारं पुण, सण्डिदारं सुहाहिगमं ॥

सामाइयपुरमेवं, अकयदारं तहेगदारं वा ॥

दुरहिगमं चउदारं, सण्डिदारं सुहाहिगमं” ॥

आ० म० प्र० । विशेष० । स्था० । आचा० ।

(चत्वारि अनुयोगद्वाराणि ‘अणुश्रोग’ शब्दे
३५५ पृष्ठेऽनुपदमेवोक्तानि)

नत्वादौ उपक्रमः, तदनन्तरं निक्लेपः, तदनन्तरं चानुगमः,
ततोऽन्यनन्तरं नय इत्यमीपामनुयोगद्वाराणामित्थं क्रमोपन्यासे
किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य ‘कमण्यओअणाइ च वच्चा’ इत्यष्टमं
क्रमप्रयोजनद्वारमभिधित्पुराह-

दारक्रमेऽयमेव उ, निक्खिप्पइ जेण नासमीवत्थं ।

अणुगम्मइ नाएत्थं, नाणुगमो नयमयविहूणो ॥

संबंधोवक्रमओ, समीवमाणीय नत्थनिकखेवं ।

सत्थं तओऽणुगम्मइ, नएहिं नाणाविहाणोहिं ॥

एयामनुयोगद्वाराणामयमेवोपन्यासक्रमः, येन नासमीपस्थ-
मनुपक्रान्तं निक्लिप्यते, न च नामादिनिरनिक्लिप्तमर्थतोऽनुगम्यते,
नापि नयमतविकलोऽनुगमनियतश्च संबन्धरूप उपक्रमः संब-
न्धोपक्रमस्तेन संबन्धकर्तो उपक्रमेण समीपमानीय न्यासयोग्यं
विधाय न्यस्तनिक्लेपं विहितनामस्थापनादिनिक्लेपं सच्छास्त्रं
ततोऽर्थतोऽनुगम्यते व्याख्यायते नानाविधानैर्नानाभेदैर्नैस्त-
स्मादयमेवानुयोगद्वारक्रम इति क्रमप्रयोजनद्वारं समाप्तमिति ।
आ० । न० । वृ० । ति० चू० । व्य० । आ० म० द्वि० । स्था०

कर्म० । सत्पदप्ररूपणतादिषु, विशेष० । ' संतप्यपरूषणया
द्वेषममाणं च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोग-
द्वारमुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्स्वरूपप्रतिपादकाध्ययनवि-
शेषोऽभेदोपचारादनुयोगद्वाराण्युच्यते । पा० । उत्कालिक-
श्रुतविशेषे, न० ।

अस्यादावेतदृकाकृतम्—

“ सम्यक्सुरेन्द्रकृतसंस्तुतिपादपत्र—

मुहामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।

सद्धर्मदेशकवरं वरदं नतोऽस्मि,

वीरं विशुद्धतरबोधनिधिं सुधीरम् ॥ १ ॥

अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् ।

निष्कारणबन्धनां, विशेषतो धर्मदानूणाम् ॥ २ ॥

यस्याः प्रसादमनुलं, संप्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः ।

अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ ”

इहातिगम्भीरमहानीरधिमध्यनिपतितानर्घ्यरत्नमिधातिदु-
र्लभं प्राप्य मानुषं जन्म ततोऽपि लब्ध्वा त्रिभुवनैकहितश्री-
मज्जनप्रणीतबोधिलाभं समासाद्य विरत्यनुगुणपरिणामं प्र-
तिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिवत् सूत्रं समधिगम्य तत्पर-
मार्थं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्यं तथाविधकर्मक्षयोपशमसं-
भाविनीं चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतित-
व्यम्; तस्यैव सकलमनोऽभिलषितार्थसार्थसंसाधकत्वेन य-
थोक्तसमग्रसामग्रीफलत्वात् । स चाऽनुयोगो यद्यप्यनेकग्रन्थ-
विषयः संभवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्रं प्रत्यध्ययनं प्रत्युद्देशकं
प्रतिवाक्यं प्रतिपदं चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ
विधेयः । जिनवचने ह्याचारादिश्रुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिक्षे-
पानुगमनयद्वारैर्विचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि-
द्वाराण्यभिधास्यन्ते, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनव-
चनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोपकारित्वात्प्रकृ-
तशास्त्रस्यैव प्रथममनुयोगो विधेयः । स च यद्यपि चूर्णिटी-
काद्वारेण वृद्धेरपि विहितस्तथापि तद्वचसामतिगम्भीरत्वेन
दुरधिगमत्वाद् मन्दमतिनाऽपि मयाऽसाधारणश्रुतभक्तिज-
नितौत्सुक्यभावतोऽविचारितस्वशक्तिवादल्पधियामनुग्रहार्थ-
त्वाच्च कर्तुमारभ्यते । अनु० ।

“ सोलससयाणि चतुरुत्तराणि ह्येति उ इममि गाहाणं ।

दुसहससमणुदुभङ्गद्वित्तप्पमाणो भणिमो ॥ १ ॥

णगरमहादाराहं, चउवक्कमाणुओगवरदारा ।

अक्खरार्विदमत्ता, विहिआ दुक्खक्खयटाए ॥ २ ॥

गाहा १६०४; अनुष्टुप्छन्दसा ग्रन्थसंख्या २००५ ।

ग्रन्थान्ते च टीकाकृतम्—

प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टः, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र संकलितः ।

न पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिद्दिह वितथम् ॥ १ ॥

सुत्रमतिलङ्घ्य विखितं, तच्छोध्यं मय्यनुग्रहं कृत्वा ।

परकीयदोषगुणयोः सत्यागोपादानविधिक्षुलैः ॥ २ ॥

ब्रह्मस्थस्य हि बुद्धिः, स्वव्रति न कस्येह कर्मवशगस्य ? ।

सद्बुद्धिविरहितानां, विशेषतो मद्धिधासुमताम् ॥ ३ ॥

कृत्वा यद्वृत्तिमिमां, पुण्यं समुपाजितं मया तेन ।

मुक्तिमन्त्रेण ब्रह्मतां, कृपितरजाः सर्वत्रव्यजनः ॥ ४ ॥

श्रीप्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतः,

क्षोणीतत्रप्रथितकीर्तिरुदीर्णशास्त्रः ।

विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुदृक्चै-

श्रद्धायाशतप्रचुरनिर्वृतत्रयजन्तुः ॥ ५ ॥

ज्ञानादिकुसुमनिचितः, फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः ।

कटपट्टम् इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥

एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिगम्भीर्यपाथोनिधि—

स्तुङ्गत्वानुकृतक्रमाधरपतिः सौम्यस्वतारापतिः ।

सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतपःस्वाचारचर्यानिधिः;

शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवन्निःसङ्गचूर्णामणिः ॥ ७ ॥

रत्नाकरादिवैतस्माच्छिष्यरत्नं वज्रव तत् ।

स वागीशोऽपि नामाऽन्यो, यद्गुणप्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥

श्रीवीरदेवविबुधैः, सम्मन्त्राद्यतिशयप्रवरतैः ।

हुम इव यः संसिक्तः, कस्तदगुणवर्णने विबुधः ? ॥ ९ ॥

तथाहि—आह्वा यस्य नरेण्यैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,

यं दृष्ट्वाऽपि मुदं व्रजन्ति परमां प्रायोऽपि दुष्टा अपि ।

यद्वक्त्राम्बुधिनिर्गदुज्ज्वलवचःपीयूषपानोद्यतै-

र्गार्वाणैरिव दुग्धसिन्धुमधने तृप्तिर्न क्षेत्रे जनेः ॥ १० ॥

कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो-

स्तीर्थं सर्वविदः प्रभावितमिदं, तैस्तैः स्वकीयैर्गुणैः ।

शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहरं भव्यनिवहस्पृहै-

र्यस्याऽऽशास्वनिवारितं विचरते इवेतांशुगौरं यशः ॥ ११ ॥

यमुनाप्रवाहविमल-श्रीमन्मुनिच्छसूरिसंपर्कात् ।

अमरसरितेव सकलं, पवित्रितं येन भुवनतलम् ॥ १२ ॥

विस्फूर्जत्कविकावदुस्तरतमःसंतानलुसस्थितिः,

सूर्येणैव विवेकिनूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।

सम्यग्ज्ञानकरैश्चरन्तनमुनिक्षुब्धः समुद्योतितो,

मार्गः सोऽभयदेवसूरिरज्रवत्तेज्यः प्रसिद्धो ज्ञुवि ॥ १३ ॥

तच्छिष्यलवप्रायै-रवगीतार्थाऽपि शिष्यजनतुष्टयै ।

श्रीहेमचन्द्रसूरिजि-रियमनुरचिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १४ ॥ अनु० ।

अणुभोगदारसमास-अनुयोगदारसमास-पुं० । अनुयोगद्वाराणां
ह्यादिसमुदायं, कर्म० १ कर्म० ।

अणुभोगधर-अनुयोगधर-पुं० । अनुयोगिके, व्य० ३ उ० । “अ-

णुभोगधरो अप्पणो गारवाणि रिहरणत्थं सो ताराण य ल-

ज्जाणि रिहरणत्थं” आह अनुयोगकथाम् । नि० चू० २० उ० ।

अणुभोगपर-अनुयोगपर-त्रि० । सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, जी०
१ प्रति० ।

अणुभोगाणुष्ठा-अनुयोगानुष्ठा-स्त्री० । आचार्यपदस्थापना-
याम्, पं० व० ४ द्वा० । (‘ अणुभोग ’ शब्देऽत्रैव जागे ३४७
पृष्ठे चैतदपि व्याख्यातम्)

अणुभोगि (ण)-अनुयोगिन-पुं० । अनुयोगो व्याख्यानं

प्ररूपणेति यावत्, स यत्राऽस्ति । व्याख्यानार्थं क्रियमाणे प्रश्न-

भेदे, यथा-“ चउहिं समण्हिं लोगो ” इत्यादिप्ररूपणाय ‘क-

इहिं समण्हिं ’ इत्यादि । स्था० ६ ठा० । आचार्ये, “ अणुभो-

गी लोगाणं, किल संसयणासत्रो ददं होइ ” पं० व० ४ द्वा० ।

अणुभोगिय-अनुयोगिक-त्रि० । प्रव्रजिते, न० । “ अणुभो-

गियवरवसभे, नाइलकुलवंसनदिकरे ” न० ।

अणुभरी-अणुभरी-स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यस्याहन्मिप्रस्य

भार्यायाम्, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषोपसंहारे

कथा । आवा० ४ अ० । आ० चू० ।

अणुकंप-अनुकम्प-त्रि० । अनुशब्दोऽनुरूपार्थे, ततश्चानुरूपं

अणुकंप

कम्पते चेष्ट इत्यनुकम्पः । अनुरूपक्रियाप्रवृत्तौ, उक्त० १२ अ० ।

अनुकम्प्य-त्रि० । अनुकम्पनीये, वृ० ६ उ० ।

अणुकंपण-अनुकम्पन-न० । दुःखार्तानां बालवृद्धाऽसहायानां यथादेशकालमनुकम्पाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणुकंपधम्ममवणादिया-अनुकम्पाधर्मश्रवणादिका-स्त्री० । जीवदयाधर्मशास्त्राकर्णनप्रवृत्तिकायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

अणुकंपय-अनुकम्पक-त्रि० । भगवतो भक्ते, अनुकम्पायाश्च भक्तिवाचित्वम्, "आयरियऽणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनात् । कल्प० । आत्महिते प्रवृत्ते, स्था० ४ टा० ४ उ० ।

अणुकंपा-अनुकम्पा-स्त्री० । अनुकम्पनमनुकम्पा । दयायाम्, नि० वृ० १ उ० । अनुकम्पा, कृपा, दयेत्येकार्थाः । श्रो० । अनुकम्पा कृपा । यथा-सर्व एव सत्त्वाः सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च, ततो नैषामलपाऽपि पीडा मया कार्येति । ध० २ अधि० । अनुकम्पा दुःखितेष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा सम्यक्त्वलिङ्गम् । पक्षपातेन तु करुणा पुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येवेति न तादृश्याः कृपायास्तत्त्वम् । सा चानुकम्पा द्रव्यतो भावतश्चेति द्विधा । द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतीकारेण । भावतश्चाद्रहदयत्वेन । यदाह-"दृष्ट्वा पाणिनिवहं, भीमे भवसागरमिमुं दुःखं तं । अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्यओ कुणइ" । १॥ ध० २ अधि० । श्रो० । प्रव० । दर्श० । संथा० । अन्नादिदानरूपायाम्, ध० २ अधि० । भक्तौ, श्रो० क० । (अनुकम्पया श्रुतसामाधिक्यकलाभे उदाहरणानि 'धृष्टंतिरि' शब्दे वक्ष्यन्ते) भक्त्यानादिभिरुपपद्यमाने च, भ० ८ श० ८ उ० । 'अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात्' अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, द्वा० १ टा० । स्था० ।

अणुकंपं पशुच्च तथो पमिणीया पसुत्ता । तं जहा-तवस्मिपमिणीए गिलाणपडिणीए सेहपडिणीए ॥

अनुकम्पामुपपद्यमानं प्रतीत्याश्रित्य तपस्वी तपकः, ग्लानो रोगादिभिरसमर्थः, शैतोऽभिनवप्रव्रजितः, एते ह्यनुकम्पनीया भवन्ति, तत्करुणाकरुणाभ्यां च प्रत्यनीकतेति । अनुकम्पातो यद्दानं तदनुकम्प्येवोपचाराद् । दानभेदे, उक्तं च वाचकमुख्यैरुमास्वानिपूज्यपादैः-"कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते । यदीयते कृपार्था-दनुकम्पात् तदुभवेदानम्" स्था० १० टा० ।

अणुकंपादाण-अनुकम्पादान-न० । अनुकम्पया कृपया दानं दानानां विषयमनुकम्पादानम् । स्था० १० टा० । रङ्गदाने, प्रति० ।

अनुकम्पादानं जिनैरप्रतिकुष्टम्-

अनुकम्पाऽनुकम्पे स्या-भक्तिः पात्रे तु संगता ।

अन्यथाधीस्तु दातृणा-मतिचारप्रसज्जिका ॥ २ ॥

(अनुकम्पेति) अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, भक्तिस्तु पात्रे साध्वादौ संगता स्यान् ममुचितफलदा स्यात् । अन्यथाधीस्तु-अनुकम्प्ये सुपात्रत्वस्य, सुपात्रे चानुकम्प्यन्वस्य बुद्धिस्तु दातृणामतिचारप्रसज्जिकाऽतिचारापादिका । अत्र यद्यपि सुपात्रत्वधियोऽनुकम्प्ये संयतादौ मिथ्यारूपतयाऽतिचारापादकत्वं युज्यते । सुपात्रेऽनुकम्प्यन्वधियस्तु न कथंचित्, तत्र ग्लानत्वादिदशाया मन्यदाऽपि च स्वेषोद्धारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपाऽनुकम्प्यन्वाधियः प्रमान्वात् । तथापि स्वापेक्षयाऽहीनत्वे सति

स्वेषोद्धारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपमनुकम्प्यत्वं तत्राप्राप्ताणिकमेवेति न दोषः । अपरे त्वाहुः-तत्र प्रागुक्तं निर्विशेषणमनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यादिदोषेण यदा हीनत्वबुद्धिं जनयति तदैवातिचारापादाकं नान्यदा, अन्यथाधियोहीनोत्कृष्टयोरुत्कर्षा, कर्षवृद्ध्याधानद्वारैव दोषत्वात् । अत एव नचानुकम्पादानं साधुषु न संभवति । "आयरियऽणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनादित्यष्टकवृत्त्यनुसारेणाचार्यादिष्वनुत्कृष्टवधियाऽप्रतिरोधेऽनुकम्पाऽव्याहतेति । एतन्मये च सुपात्रदानमपि ग्रहीतृदुःखोद्धारोपायत्वेनेष्यमाणमनुकम्पादानमेव, साक्षात्स्वेषोपायत्वेनेष्यमाणं चान्यथेति बोध्यम् ॥ २ ॥

तत्राद्या दुःखिनां दुःखो-दिधीर्षाऽल्पासुखश्रमात् ।

पृथिव्यादौ जिनाऽर्चादौ, यथा तदनुकम्पिनाम् ॥ ३ ॥

(तत्रेति) तत्र भक्त्यनुकम्पयोर्मध्ये आद्याऽनुकम्पा दुःखिनां दुःखार्तानां पुंसां दुःखोद्दिधीर्षा दुःखोद्धारेच्छा अल्पानामसुखं यस्मादेतादृशो यः श्रमस्तस्मात् । इत्थं च वस्तुगत्या बलवदनिष्ठाननुबन्धी यो दुःखिदुःखोद्धारस्तद्विषयिणी स्वस्येच्छाऽनुकम्पेति फलितम् । उदाहरति, यथा-जिनार्चादौ कार्ये पृथिव्यादौ विषये तदनुकम्पिनामित्थं नूतभगवत्पूजाप्रदर्शनादिना प्रतिबुद्धाः सन्तः पट्कायान् रक्षन्तिवति परिणामवतामित्यर्थः । यद्यपि जिनार्चादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि तस्य सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थत्वात्तस्य चानुकम्पालिङ्गकत्वात्तदर्थकत्वमप्यविरुद्धमेवेति पञ्चलिङ्गादावित्थं व्यवस्थितैरस्माभिरप्येवमुक्तम् ॥ ३ ॥

अल्पासुखश्रमादित्यस्य कृत्यमाह-

स्तोकानामुपकारः स्या-दारम्भज्ञात्र जूयसाम् ।

तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्तकर्मसु ॥ ४ ॥

(स्तोकानामिति) स्पष्टम्, नवरम्, इष्टापूर्तस्वरूपमेतत्-"ऋत्विगिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समकृतः । अन्तर्वेद्यां हि यदुत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥ १ ॥ वापीकूपनरुगागानि, देवताऽस्यतनानि च । अन्नप्रदानमेतत्तु, पूर्तं तत्त्वविदो विदुः" ॥ २ ॥

नन्वेवं कारुणिकदानशालादिकर्मणोऽप्युच्छेदापत्तिरित्यत आह-

पुष्टाश्रम्वनमाश्रित्य, दानशालादि कर्म यत् ।

तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादिजावतः ॥ ५ ॥

(पुष्टाश्रम्वनमिति) पुष्टाश्रम्वनं सद्भावकारणमाश्रित्य यद्दानशालादि कर्म प्रदेशसंप्रतिराजादीनां, तत्तु प्रवचनस्य प्रशंसादिनोन्नत्या बीजाऽऽधानादीनां भावतः सिद्धैर्लोकानाम् ॥ ५ ॥

बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्ताम् ।

अतिक्रामति तेनाऽत्र, मुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥ ६ ॥

(बहूनामिति) ततो निर्वृत्तिसिद्धेर्बहूनामुपकारेणानुकम्पा निमित्ता नातिक्रामति, तेन कारणेनात्रानुकम्पोचितफले, मुख्यः शुभाशयो हेतुः । दानं तु गौणमेव, वेद्यसंवेद्यपदस्थ एव तादृगाशयपात्रं, तादृगाशयानुगम एव च निश्चयतोऽनुकम्पेति फलितम् ॥ ६ ॥

एतदेव नयप्रदर्शनपूर्वं विवेचयति-

क्षेत्रादिव्यवहारेण, दृश्यते फलसाधनम् ।

निश्चयेन पुनर्जाविः, केवलः फलजेदकृत् ॥ ७ ॥

व्यवहारेण पात्रादिभेदात्फलभेदो, निश्चयेन तु जाववैचित्र्यादेवेति तत्त्वम् ॥ ७ ॥

कालाग्रम्वनस्य पुष्टत्वं स्पष्टयितुमाह-
कात्रेऽल्पमपि लाजाय, नाकाले कर्म बह्वपि ।

वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्द्वयाऽन्यथा ॥ ८ ॥

(काल इति) स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अवसरानुगुण्येनानुकम्पादानस्य प्राधान्यं जगद्वदृष्टान्तेन समर्थयितुमाह—

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं, दानस्य जगवानपि ।

अत एव व्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥

(धर्माङ्गत्वमिति) अत एव कात्रेऽल्पस्यापि लाभार्थत्वादेव, दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं जगवानपि व्रतं गृह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मावसरे तुष्टितं सर्वस्याप्यवस्थौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीभवतीति भावः । तदाह—“ धर्माङ्गस्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ” इति ॥ ९ ॥

नन्वेवं साधोरप्येतदापत्तिरित्यत आह—

साधुनाऽपि दशाजेदं, प्राणैतदनुकम्पया ।

दत्तं ज्ञानाजगवतो, रङ्गस्येव सुहस्तिना ॥ १० ॥

साधुनाऽपि महाव्रतधाराणाऽपि दशाजेदं प्राण्य पुष्टालम्बन-नमाश्रित्यैतदानमनुकम्पया दत्तं सुहस्तिनेव रङ्गस्य तदाऽऽह । श्रूयते चागमे-आर्यसुहस्त्याचार्यस्य रङ्गदानमिति । कुत इत्याह—भगवतः श्रीवर्कमानस्वामिनो ज्ञानात् । तदुक्तम्—“ ह्यापकं चात्र-जगवान्, निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने । देवदृष्यं ददृक्षीमाननुकम्पाविशेषतः ” ॥ ११ ॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशाविशेषे यत्तरसंयताय दानमदुष्टम्, अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, भगवद्द्विजन्मदानवदित्याहुः ॥ १० ॥

न चाधिकरणं ह्येत-द्विशुद्धाशयतो मतम् ।

अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ११ ॥

(न चेति) नचैतत्कारणिकं यतिदानमधिकरणं मतम् । अधिक्रियते आत्माऽनेनासंयतसामर्थ्यपोषणत इत्यधिकरणम् । कुत इत्याह?—विशुद्धाशयतोऽवस्थौचित्येनाऽऽशयविशुद्धेः, भावभेदेन कर्मजेदात् । अनर्थासंज्ञवमुक्तार्थप्राप्तिमप्याह-अपि त्विति अच्यु-च्चये । अन्यदधिकृतगुणस्थानकाद् मिथ्यादृष्टत्वादेरपरमविर-तसम्यग्दृष्ट्यादिकं गुणानां ज्ञानादीनां स्थानं मतं, गुणान्तरस्य सर्वविरत्यादेर्निबन्धनम् ॥ ११ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

नेव दारं पिहावेऽ, भुंजमाणो सुसावओ ।

अणुकंपा जिण्णैदेहिं, सहाणं न निवारिआ ॥ १ ॥

ददूण पाणिनिवहं, भीमे जवसायरम्मि दुक्खत्तं ।

अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणई ॥ २ ॥

(दुहा विस्ति) इव्यभावाभ्यां द्विधा । इव्यतो यथा-अ-ज्ञादिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्त्तनेन, श्रीपञ्चमाङ्गादावपि श्राद्धवर्णनाधिकारे ‘ अचंगुदुवारा ’ इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांव-त्सरिकदानेन दीनोच्चारः कृत एव, न तु केनापि प्रतिषिद्धेः ॥ १२ ॥

सव्वेहिं पि जिणेहिं, उज्जयतिपरागदोसमोहेहिं ।

अणुकंपादाणं स-द्वयाण न कट्ठिं वि पणिसिच्छं ॥ ३ ॥

न कस्मिन् सूत्रे प्रतिषिद्धं, प्रत्युत देशनाद्वारेण राजप्रश्रीयो-पाङ्गे केशिनोपदेशितम् । तथाहि—“ माणं तुमं पपसी पुव्वि रमणिज्जे भविस्ता पच्चा अरमणिज्जे भविज्जासि ” इत्यादि । ध० १ अधि० ।

दाणं अणुकंपाए, दीणाणाहाण सत्तिओ णयं ।

तित्थंकरणातेणं, साहूण य पत्तवुच्चीए ॥ ६ ॥

दानं वितरणमन्नादेरनुकम्पया दयया दीनानाथेभ्यः, तत्र दी-नाः क्लीणविजयत्वाद् दैन्यप्राप्तास्त एव सानाथ्यकारिरहिता अ-नाथाः, अतस्तेभ्यः शक्तितो वित्तगतं सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः, ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । अथ दीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोष-पोषकत्वादसंगतं तद्दानमित्याशङ्क्याह-तीर्थकरज्ञातेन जि-नोदाहरणेन । तथाहि-संगतं दीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् जि-नस्यैव । अथवा तीर्थकरन्यायं निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थकरप्रमा-णतो वा । तथाहि-न दीनादिदानमविधेयं, जिनाचरितत्वाद्, म-हाव्रतानुपावनवदिति । दीनादीनामनुकम्पया तावद्दानम् । अथ साधूनामपि किं तथैवेत्याशङ्क्यामाह-साधूनां च संयतेभ्यः पुनः पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नजाजनमेतदिति धिया भक्त्येति गाथा-र्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अणुकंपासय-अनुकम्पाशय-पुं० । अनुकम्पाप्रधानमाशयोऽनु-कम्पाशयः । अनुक्रोशप्रधाने चित्ते, स० “अणुकंपासयप्पओग-तिकावमइविसुद्धजत्तपाणाई ” अनुकम्पा अनुक्रोशस्तत्प्रधान आशयाश्चित्तं तस्य प्रयोगोऽव्यावृत्तिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स० ॥

अणुकंपि (ण)-अनुकम्पिन्-स्त्री० । अनुकम्पयमाने तच्छीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । कृपावति, प्रति० ।

अणुकट्ठि-अनुकट्ठि-स्त्री० । अनुकर्षणमनुकट्ठिः । अनुवर्त्तने, पं० सं० ५ द्वा० । (अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानां तीव्रमन्दता-परिज्ञानार्थमनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानामनुकट्ठिः ‘ बन्ध ’ शब्दे वक्ष्यते)

अणुकट्ठमाण-अनुकर्षत्-त्रि० । अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् । पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षति, न० ।

अणुकप्प-अनुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवृद्धानां पूर्वा-चार्याणां ज्ञानग्रहणेन च तपोविधानेषु च अनुकृतिकरणे, पं० चू० ।

..... एत्तो वोत्तं अणुकूपं ।

अणुसदो जूतदियं, पच्चाभावे मुण्येयवो ।

णाणचरणहृमाणं, पुठ्ठावरियाण अणुकिंति ॥

कुणई अणुगच्छइ गुण-धारी अणुकूपं तं वियाणाहि ।

गुणसयसहस्रकलियं, गुणंतरं च अजिलमंताणं ॥

जे खेत्तकालजावा, आसज्जा जोगहाणिजवे ।

गुणमतकालिअमंजमो, मोक्खो य गुणंतरो मुण्येयवो ।

नाणाइसु परिहाणी, तुजोगहाणी मुण्येयवो ॥

खेत्ताण मंति अच्चा-ण उच्चक्खेत्ताम्मि काट्ट दुग्गिक्खे ।

भावे गेलएहादी, सुप्पाजावे उ जदसुच्छं ॥

गेएहेज्जाऽऽहारादी, णाणादिसु उज्जमण कुज्जा ।

अणसणमादी य तवं, अकरेमाणस्स साहुस्स ॥

एगंतणज्जेरा से, जह जणिता सामणे जिणवराणं ।

जोगनियुत्तमतीणं, सुइसीलाणं तवोच्चेदो ॥

सुइसीलहुइसीला, तेसिं अफ्फासु गेएहमाणं ।

जं आवज्जे तदियं, तवं च उदं च तं पावे ॥ पं० जा० ।

इयाणि अणुकणो- (गाहा) (नाणचरणहृत्ति) जो नाणद-
रिसणचरित्तवऽऽङ्गुगाणं पुव्वायरियाणं नाणभाहणेण य त-
वोविदालेसु य अणुकिं करेइ, सो सणुकणो । (गाहा) (गु-
णसयत्ति) जा पुण गुणसयसइस्सकवियाणं, अलंकुतानामि-
त्यर्थः । गुणंतरं चेव अभिन्नसंताणं नाणाइसु परिदानी होउजा,
लेत्ते अछाणाइसु, काले ओमाइसु, नावे गिलाणाइसु । (गाहा)
एगंतनिज्जरा तहेव तेसिं एगंतनिज्जरा चेव । यथा-जगवद्धिरुप-
दिष्टं प्रणीतमित्यर्थः । जो पुण संजमजोगनियतमई चंदउत्ति-
या सिरिं सुहसीलो दुहसीलो त्ति भणइ तेसिं तवोच्छेओ वा ।
एस अणुकणो ॥

अणुकरण-अनुकरण-न० । सीवनलेपनादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा धृते-इच्छा-
कारेण तवेदमहं करिष्यामीत्युक्त्वा तथाकरणे, व्य० १ उ० ।

अणुकरणकारावणाणिसग-अनुकरणकारापणनिसर्ग-पुं० । अ-
नुकरणं नाम यस्मीवनलेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा धृते-इच्छाकारेण त-
वेदमहं करिष्यामि, कुरुते च, कारापणं तद् यत्स्वयं करणे कु-
शलोऽन्यानपीच्छाकारेण कारापयति, तस्मिन् निसर्गः स्व-
भावो यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्थं ज्ञतस्तस्य स्व-
भावो यदि अनर्थार्थेन एव करोति कारयतीति ज्ञावः । अनर्थ-
र्थनैव कुर्वन्ति कारयन्ति च । ज्ञावसङ्गविशेष, व्य० ३ उ० ।

अणुकहन-अनुकहन-न० । आचार्यप्ररूपणातः पश्चात् कथ-
नं, सूत्र० १ श्रु० १३ म० ।

अणुकारि [ण]-अनुकारिन्-त्रि० । अनुकरोति । अनु+क-
णिनि । त्रियां डोप् । गुणक्रियाऽऽदिभिः सदृशीकारके, वाच० ।
विवक्षितवस्तुनः सदृशे, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणुकुड्य-अनुकुचित-त्रि० । अनुक्षिप्ते, नि० चू० ८ उ० ।

अणुकुड-अनुकुड्य-अव्य० । अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतकत्वा-
त्, अनुकुड्यमुपकुड्यम् । वृ० ३ उ० । कुड्यसमीपवर्त्तिनि प्रदे-
शे, वृ० ३ उ० ।

अणुकूल-अनुकूल-त्रि० । अनुलोमे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।
स्था० । नि० । अनुरूपे, आ० म० प्र० । “अणुकूलेण धमे कुमार-
बन्धुचारी” आवा० ४ अ० । अप्रतिकूले, प्रअ० ४ सम्ब० द्वा० ।
आचार्याणामन्येषां वा पूज्यानां वैद्याकृत्यादिना हितकारिणि,
वत्सारकलिकयोग्यतावति, वृ० १ उ० ।

अणुकूलवयण-अनुकूलवचन-न० । अप्रतिकूलवचने, यथा
हे महानाग ! नन्दं तवोचिन्तं वक्तुं कर्तुं वेति । दर्श० ।

अणुकूलवाय-अनुकूलवात-पुं० । आत्रायकविवक्षिते पुरुषाणां
पवने, जी० १ प्रति० ।

अणुकृन्त-अनुक्रान्त-त्रि० । अनुष्ठिते आसेवनापरिहृत्या सेविते,
आचा० । “एवमिदं अणुकृन्ते मादणेरणं मई मया बहुसो” ।
आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० ।

अन्नाक्रान्त-त्रि० । अनुर्चाणे, आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० ।

अणुकृम-अनुकृम-पुं० । अनुपरिपाठ्याम, आ० चू० । अनुपूर्वी
अनुक्रमोऽनुपरिपाटीनि पर्यायाः । अनु० । आचा० । “अणु-
परिधास्ति वा अणुकृमेति वा एगदा” । आ० चू० १० अ० ।

अणुकृमाइ (ण)-अनुकृमायिन्-पुं० । उक्त उक्तपित्तः स-
त्कारादिषु शोते इत्येवंशोऽत्र उक्तशायी, न तथा अनुकृमायी ।
प्राकृतत्वाद्वाऽनुकृमायी । सर्वधनादिन्वादिनिः । सत्कारादिकम-
कुर्वन्ते कुप्यन्ति, तत्संपत्तौ वाऽनहंकारवति, उक्त० ३ अ० ।

अणुकृपायिन्-त्रि० । अणवः स्वल्पाः संज्वलननामान इति
यावत् । कृपायाः क्रोधादयोऽस्येति सर्वधनत्वादिनिप्रत्ययेऽणु-
कृपायी । प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम् । संज्वलनकृपायि-
शिष्टे, उक्त० १५ अ० ।

अनुकृपायिन्-त्रि० । उत्कृष्टायी प्रबलकृपायी, न तथा अनु-
कृपायी । अप्रबलकृपाये, उक्त० १५ अ० । सत्कारादिना हर्ष-
रहिते, “अणुकृसाई अपिच्छे अत्राप सीअलोणुप” उक्त० २ अ० ।

अणुकृस्स-अनुकृषवत्-पुं० । अष्टमदस्थानानामन्यतमेनाऽप्युत्से-
कमकुर्वति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । “अणुकृस्से अप्पहीणे,
मज्जेण सुणिजावप” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुकृास-अनुकृष-पुं० । आत्मनः परेभ्यः सकाशाद् गुणैरु-
त्कर्षणमुत्कृष्टतानिधानम् । गौणमोदनीयकर्मणि, भ० १२ श० ५
उ० । स० । आत्मगुणाजिमाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अनुक्रोश-पुं० । दयायाम, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुक्खित्त-अनुक्षिप्त-त्रि० । पश्चादुत्पादिते, “अणुक्खित्तं
धृगंसि” हा० ८ अ० ।

अणुगंतव्व-अनुगन्तव्य-त्रि० । अनुसर्त्तव्ये, स्था० ५ ठा० १
उ० ।

अणुगच्छण-अनुगमन-न० । आगच्छतः प्रत्युज्जमनरूपे काय-
विनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छत्-त्रि० । अनुवर्त्तमाने, “अणुगच्छ-
माणे वि तहं विजाणे, तहा तहा साहु अककसेण” सूत्र० १
श्रु० १४ अ० । आचा० ।

अणुगम-अनु (णु) गम-पुं० । अनुगमनमनुगमः, अनुगम्य-
तेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः । सूत्रानुकूले परिच्छेदे,
स्था० १ ठा० । निक्षिप्तसूत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, अर्थे, कथने च ।
जं० १ वत्त० । सूत्रस्यानुकूलेऽर्थाख्याने, व्य० १ उ० । आ० म०
प्र० । आचा० । संहितादिव्याख्यानप्रकारप्ररूप, उद्देशनिर्देशनिर्ग-
मादिद्वारकदापके वा । स० । अनुयोगक्षारे, अनु० ।

अथाऽनुगमनिरुक्तिमाह-

अनुगममइ तेण तहिं, तत्रो व अणुगमणमेव वाऽणुगमो ।

अणुणोऽणुखवओ वा, जं सुत्तत्थाणमणुमरणं ॥

अनुगम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनाऽस्मिन्नस्माद्वा इत्यनुगमः,
वाच्यार्थविवक्षा तथैव । अथवा अनुगमनमेवानुगमः । अणुने वा
सूत्रस्य गमो व्याख्यानमित्यनुगमः । यदि वा अनुरूपस्य घट-
मानस्यार्थस्य गमने व्याख्यानमनुगमः । सर्वत्र किमुक्तं भवती-
त्याह-यत्स्वार्थयोरनुकूलं सम्बन्धकारणमित्यनुगम इति ।
विशे० ।

अनुगमभेदाः-

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुविहे पसत्ते ।

तं जहा-सुत्ताणुगमे अ निज्जुत्तिअणुगमे अ ॥

(से किं तं अणुगमे इत्यादि) अनुगमः पूर्वोक्तशब्दार्थः । स
च द्विधा-सूत्रानुगमः सूत्रव्याख्यानमित्यर्थः । निर्युक्तानुगमश्च
नितरां युक्ताः सूत्रेण सह लोलीभावेन संबद्धा निर्युक्ता अर्थास्ते-
षां युक्तिः स्फुटरूपताऽऽपादनम्, एकस्य युक्तशब्दस्य बोधोपाधिर्यु-

क्तिर्नामस्थापनादिप्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थः । तद्वपोऽनुगमस्तस्या
चा अनुगमो व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः । अनु० । (सूत्रानुगमनि-
र्युक्त्यनुगमयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) व्याख्याने, संगृहीते,
सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशेष० । यत्र
साधनं तत्र साध्यमित्येवंवृत्तौ साध्यस्य साधनेन सदान्वये,
विशे० । पञ्चाक्रमे, सहायीजनने च । वाच० ।

अणुगम-अनुगम्य-अव्य० । बुद्धेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुगय-अनुगत-त्रि० । पूर्वमगते, विशे० । अव्यवच्छिन्न-
याऽनुवृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । 'मतिरहितंति वा मतिअणु-
गतंति वा एगछा' । आ० चू० १ अ० । पितृविजृम्भाऽनुयाते पितृ-
समे पुत्रे, पुं० । स्था० ८ ग० ३ उ० । आनुकूल्ये, न० । स० ।

अणुगवेसेमाण-अनुगवेपयत्-त्रि० । सामायिकपरिसमाप्त्य-
नन्तरं गवेपयति, " तं भंडं अणुगवेसेमाणे किं सयं भंडं अ-
णुगवेसइ ? " भ० ८ श० ५ उ० ।

अणुगा (ग्गा) म-अनुग्राम-पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः ।
व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गानुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एक-
स्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे, उत्त० ३ अ० । एकग्रामाल्लघुप-
श्चाद्भावभावाभ्यां स्थिते ग्रामे, स्था० ५ ठा० २ उ० । विवक्षित-
ग्रामादनन्तरे ग्रामे, " गामाणुगा (ग्गा) मं दूइजमाणे "
श्रौ० । ध० ।

अणुगामि (ए)-अनुगामिन्-त्रि० । साध्यमसाध्यमग्न्या-
दिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनु-
गामी । अदुष्टहेतौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनुयातरि, आव०
५ अ० । मोक्षायानुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अणुगामिय-अनुगामिक-त्रि० । उपकारिसत्कालान्तरमनु-
याति तदनुगामिकम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । अनुगमनशीले
भवपरम्परानुबन्धिसुखजनके, पा० । स्था० । अनुगमनशीलेऽ-
वधिज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति
अनुगामिकः । अनुचरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । अकर्त-
व्यहेतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुगामियत्त-अनुगामिकत्व-न० । भवपरम्परासु सानुबन्ध-
सुखे, श्रौ० ।

अणुगिद्ध-अनुगृद्ध-त्रि० । प्रत्याशक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुगिद्धि-अनुगृद्धि-स्त्री० । अभिकाङ्क्षायाम्, उत्त० ३ अ० ।

अणुगिलत्ता-अनुगीर्य-अव्य० । भक्तयित्वेत्यर्थे, ज्ञा० ७ अ० ।

अणुगीय-अनुगीत-त्रि० । मूलाचार्यात्पाश्चात्यशिष्यैः कृते
ग्रन्थे, " महत्थरूपा वयलण्पभूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्जे "
अन्विति तीर्थकृद्गणधरादिभ्यः पश्चाद् गीता अनुगीता ।
कोऽर्थः ? तीर्थकरादिभ्यः श्रुत्वा प्रतिपादिता, स्थाविरैरिति
शेषः । अनुलोमं वा गीताऽनेन श्रोत्रानुकूलैव देशना क्रियते
इति ख्यापितं भवति । उत्त० १३ अ० ।

अणुगुरु-अनुगुरु-त्रि० । यद्यथा पूर्वगुरुभिराचरितं तत्तथैव
पाश्चात्यैरपि आचरणीयमिति गुरुपारम्पर्ये व्यवस्थया व्यव-
हरणीये, वृ० १ उ० ।

अणुगह-अनुग्रह-पुं० । उपकारे, श्रौ० । ज्ञानाद्युपकारे, स्था०

तिविहे अणुगहे पण्त्ते । तं जहा-आयाणुगहे, पराणु-
गहे, तदुभयाणुगहे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽध्ययनादिप्रवृत्तस्य, परानुग्रहो वाचनादि-
प्रवृत्तस्य, तदुभयानुग्रहः शास्त्रव्याख्यानशिष्यसङ्गहादिप्रवृ-
त्तस्येति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । " सर्वज्ञोक्तोपदेशेन,
यः सत्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतमानां, स प्राप्नोत्यचि-
राच्छिवम् " आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । यो० वि० । अनुपघाते,
उज्जालने, नि० चू० १ उ० । देहस्य स्रक्चन्दनाङ्गनावसना-
दिभिर्भोगैरुपग्रमे, ध० १ अधि० ।

अणुगहट्ट-अनुग्रहार्थ-पुं० । अनुग्रह उपकारस्तत्तत्तयो यो-
ऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा । अनुग्रहप्रयोजने, " सपरोसिमणु-
गहट्टाए " स्वपरयोरात्मतदन्ययोरनुग्रह उपकारस्तत्तत्तयो
योऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थः, तस्मै अनुग्रहा-
र्थाय । तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभावात्
परोपकारद्वारा यौनकर्मक्षयावसेश्च । परानुग्रहस्तु परेषां
निर्मलबोधतत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परम्परया निर्वाणसंपाद-
नात् । पञ्चा० ६ विव० ।

अणुगहता-अनुग्रहता-स्त्री० । अनुगृह्यत इति अनुग्रहः । क-
र्मण्यनट् । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहणे, व्य० १ उ० ।

अणुगहतापरिहार-अनुग्रहतापरिहार-पुं० । अनुग्रहतया
परिहारोऽनुग्रहतापरिहारः । खोटादिभङ्गरूपे परिहारभेदे,
व्य० १ उ० ।

अणुगमाइय-अनुद्घातिम-न० । उद्घातो ज्ञागपातस्तेन नि-
वृत्तमुद्घातिमं वक्ष्यत्यर्थः । यत उक्तम्- " अद्वेण त्रिभ्रसेसं, पु-
व्वेरुणं तु संजुयं काओ । दिज्जाइ बहुयदाणं, गुरुदाणं तत्तियं
चेव " इति । (' उग्माइय ' शब्देऽस्या व्याख्या द्वि० भा० ७३०
पृष्ठे द्रष्टव्या) एतन्निषेधादनुद्घातिमम् । तपोगुरुणि प्रायश्चित्ते,
तद्योगात् तद्वर्हेषु साधुषु च । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अणुगमाइय-अनुद्घातिक-पुं० । न विद्यते उद्घातो वधुकर-
णवृत्तयो यस्य तपोविशेषस्य तदनुद्घातम्, यथाश्रुतदानमित्य-
र्थः, तद्येषां प्रतिसेवाविशेषतो ऽस्ति तेऽनुद्घातिकाः । स्था० ५
ग० ३ उ० । उद्घातो नाम भागपातः, सान्तरहानं वा, स वि-
द्यते येषु ते उद्घातिकाः; तद्विपरीता अनुद्घातिकाः । तपोगुरुप्रा-
यश्चित्तार्हेषु, वृ० ४ उ० ।

त्रयोऽनुद्घातिकाः—

तत्रो अणुगमाइया (मा) पण्त्ता । तं जहा-इत्यकर्म क-
रेमाणे, मेहुणं सेवमाणे, राइजोयणं जुंजमाणे । स्था० ३
ग० ४ उ० ।

त्रयस्त्रिंशत्याका अनुद्घातिकाः । उद्घातो नाम- ' अद्वेण त्रि-
भ्रसेसं ' इत्यादिविधिना ज्ञागपातः, सान्तरहानं वा; स विद्यते
येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः, प्रज्ञास्तीर्थक-
रादिभिः प्ररुपिताः, तद्यथोपदर्शनार्थः । हन्ति हसति वा मुखमावृ-
त्यनेनेति हस्तः शरीरैकदेशो निक्षेपादानादिसमर्थः; तेन यत्कर्म
क्रियते तद्वस्तकर्म, तत् कुर्वन्; तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुनमुच्यते,
तस्य ज्ञावः कर्म वा मैथुनं, तत्प्रतिसेवमानः; तथा रात्रौ भोज-
नमशनादिकं भुञ्जानः । एष सूत्रार्थः । वृ० ४ उ० । निक्षेपपुर-
स्तरं विशेषव्याख्यानम् ।

अभ्यनुद्यातिपदं व्याख्यातुमाह-

उग्यातमणुग्याते, निखेवो लविहो उ कायेवो ।
नामं उवणा दविण, खेत्ते कात्ते य जायेय ॥

इह हस्यवदार्थमहत्यादिकादनुद्यातकस्य प्रसिद्धिरिति
हत्वा ह्योऽहद्वानिकानुद्यातिकयोः पक्षिभ्यो निक्षेपः कर्तव्यः ।
तद्यथा-नामानि स्यापनायां ह्येव क्षेपेकात्ते भावे चेति । तत्र
नामस्यापने गतायै ।

हत्यादिविषयमुद्यातिकमनुद्यातिकं च दर्शयति-

उग्यायमणुग्याया, द्वाप्मि हलिदराग किमिगागा ।
खेत्तमि काहज्मी, पत्वरज्मी य हलमादी ॥

ह्येव ह्येत उद्यातिका हरिदरागः, सुखेनैवापनेतुं शक्यत्वा-
त् । अनुद्यातिकः किमिगागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । केवल उद्या-
तिका कृष्णभूमिः अनुद्यातिका प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह- (हल-
मादि स्ति) हलकुलिकादिभिः कृष्णभूमिरुद्यातयितुं कौदयितुं
शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा-

कालमि संतर णिरं-तरं तु समयो व होतऽणुग्यातो ।

जवस्म अह पयमी, उग्याति पण्तरा इयरे ॥

काव्रत उद्यातिकं सान्तरप्रायश्चित्तस्य दानम्, अनुद्यातिकं निर-
न्तरदानं, तुशब्दात् बहुमास्मादिकमुद्यातिकं, गुरुमास्मादिकमनु-
द्यातिकम् । अथवा-कालतः समयोऽनुद्यातिको भवति, खण्डशः
कर्तुमशक्यत्वात् । आचष्टिकादय उद्यातिकाः, खण्डितुं शक्य-
त्वात् । जावत उद्यातिका भव्यस्याष्टौ कर्मप्रकृतयः, उद्यातयितुं
शक्यत्वात्, इतरस्याजव्यस्य त्रकास्ता पदेतरा अनुद्यातिकाः ।

कुत ? इति चेदुच्यते-

जेण खवणं करिस्मति, कम्माणं तारिसो अजवस्म ।

ण य उपज्जइ जावो, इति भावो तस्मऽणुग्यातो ॥

येन शुभाध्यवसायेन कर्मणां ज्ञाताचरणार्थानां कृपणमसौ क-
रिष्यति स तादृशो भावोऽभ्यस्य कदाचिदपि नोपपद्यते, इ-
त्येतस्तस्य जावोऽनुद्यातः कर्मणाऽनुद्यातं कर्तुमसमर्थः । अत
एव तस्य कर्माणि अनुद्यातिकाणि ज्ञेयान्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्तानुद्यातिकेनाविकारः । तच्च कुत्र जवती-
त्याह-

हन्थे य कम्म मेहुण, रत्ताभत्ते य होतऽणुग्याता ।

एतेसि तु पहाणं, पत्तेय पस्वणं वोच्छं ॥

हस्ते हस्तकर्मकरणे, मैयुनेमेवन्तं, रात्रिभक्ते एतेषु त्रिषु सूत्रो-
क्तपदेषु अनुद्यातिकाणि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि जवन्ति । तत्र
हस्तकर्मणि सामगुरुकं मैथुनरात्रिकयोश्चतुर्गुणकाः । एतच्च
प्रायश्चित्तं यथा यत्र स्थाने भवति तत्पुरस्ताद् व्यक्तीकरिष्यते ।
३०४ उ० (अथैतेषां हस्तकर्ममैथुनरात्रिभोजनानां व्याख्या-
स्यत्र स्वस्यस्थानं एव दृष्टव्या)

उपसंहाराह-

अन्यं पुण अधिकारो-ऽणुग्याता जेगु जेगु गणोसु ।

उच्चारियमरिनाइ, मेमाइ विक्कोवणट्ठाण ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतसूत्रे हस्तकर्ममैथुनरात्रिकविषयैः स्यान्नैवधि-
कारः प्रयोजनम् । कैरिग्याह-येषु यषु स्थानेषु अनुद्यातानि गु-

रुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । शेषाणि पुनरु-
च्चारितार्थसदृशानि शिष्याणां विरोपनार्थमुक्तानि । ३०४
उ० । उद्यातिके अनुद्यातिकमनुद्यातिके वा उद्यातिके पञ्चानु-
द्यातिकाः । "पंच अणुग्याइमा पणत्ता । तं जहा-हत्थकम्मं क-
रेमाणे मेहुणं पस्सिस्वमाणे राईभोयणं भुंजमाणे सागारियपिं
भुंजमाणे रायपिं भुंजमाणे" स्था० ५ ग० २०० । उद्यातिके अ-
नुद्यातिकमनुद्यातिके उद्यातिकं दत्तः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खू उग्याइयं सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ १० ॥ जे चिक्खू उग्याइयहेउं सोच्चा एच्चा
संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे चिक्खू उग्याइय-
संकपं सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥
जे चिक्खू उग्याइयं वा उग्याइयहेउं वा उग्याइयसंकपं
वा सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥
जे चिक्खू अणुग्याइयं सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे चिक्खू अणुग्यातियहेउं सोच्चा
एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू
अणुग्याइयसंकपं सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू उग्यातियं वा अणुग्याइयं
वा सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥
जे भिक्खू उग्यातियहेउं अणुग्याइयहेउं वा सोच्चा एच्चा
संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे चिक्खू उग्या-
तियसंकपं वा अणुग्याइयसंकपं वा सोच्चा एच्चा
संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे चिक्खू
उग्याइयं वा अणुग्याइयं वा उग्याइयहेउं वा अणुग्या-
इयहेउं वा उग्याइयसंकपं वा अणुग्याइयसंकपं वा सोच्चा
एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे चिक्खू
अणुग्याइयं वा उग्याइयं वा सोच्चा एच्चा संभुंजइ
संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अणुग्याइयहेउं
वा उग्याइयहेउं वा सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अणुग्याइयसंकपं वा
उग्याइयसंकपं वा सोच्चा एच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे चिक्खू अणुग्याइयं वा अणुग्याइ-
यहेउं वा अणुग्याइयसंकपं वा उग्याइयं वा उ-
ग्याइय हेउं वा उग्याइयसंकपं वा सोच्चा एच्चा संभुंजइ
संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एवं अणुग्यातिणं वि सुत्तं । उग्याताणुग्यायहेउणं वि दो
सुत्ता । उग्यायाणुग्यायसंकपं वि दो सुत्ता ।

एतं छु सुत्ता-

उग्यातियं वहंते, आवाणुग्यायहेउगे होति ।

उग्यातियसंकपिय-मुच्छे परिहारियं नहेव ॥ २६० ॥

उग्यातियं गामं जं संनरं वहति, लघुमित्यर्थः । अणुग्यातियं
गामं जं णिरंनरं वहति, गुरुमित्यर्थः । सोच्चांति अणुसगा-

सात्रा, एवञ्च ति सयमेव जाणित्ता, संभुजति एगत्रो भोजनम्; उग्घायहेउं संकप्पाण अणुगवातियाण तिग्घिह विइमं वक्खणं । उग्घातियं पायच्छित्तं वहंतस्स पायच्छित्तमावणस्स जाव मणालोइयं ताव हेउं भणति, णालोइए अ सुद्धादिणे तुज्जे य पच्छित्तं विच्छित्तं ति संकप्पियं भणति, एयं पुण दुविधं पि दुविहं वहति-सुद्धतवेण वा परिहारतवेण वा हत्तविसुद्ध-स्स तवस्स वा परिहारतवस्स वा संकप्पियं पि सुद्धतवेण वा परिहारतवेण अणुगवायहेयहेउं संकप्पाण अणुगवातियाण तिग्घिह इमं वक्खणं ।

अणुगवातियं वहंतं, आवण्णुगवातहेउगे होति ।

अणुगवातियसंकप्पिय-सुद्धे परिहारियं तद्देव ॥२६१॥

पूर्ववत्, एवरं, अणुगवातिपत्तिवत्त्वं, जे सगच्छं सुद्धपरि-हारतवाण अरुह तेणज्जति चेव । जे परगच्छातो आगता ते पुच्छिज्जति ।

को भंते ! परियाओ, सुत्तत्थअजिग्घो तवो कम्मा ।

कक्खरुमक्खरुएमु य, सुद्धतवे मंडवादो ति ॥२६२॥

इमा पढमा पुच्छा ।

गीयमगीओ गीओ, महत्तिकं वत्थु कस्स वसि जोगो ? ।

अगीउ ति य भणिते, थिरमथिरतवे पकयजोगो ॥२६३॥

सो पुच्छिज्जति-किं तुमं गीयत्थो अगीयत्थो ? । जदि सो भणति-गीतोऽहमिति, तो पुणो पुच्छिज्जति-किं आयरिओ ? उवज्जाओ ? पव्वत्तो ? थेरो ? गणवच्छेओ ? नेता ? वसभो ? । एतेसि एगंतरे अक्खाए पुच्छिज्जति-कयमस्स तवजोगा सु-द्धस्स परिहारस्स, अहं सां अगीतोऽहमिति भणिज्जति, तओ पुच्छिज्जति-थिरो अथिरो ति । थिरो दढो तवकरणे बलवा-नित्यर्थः । अथिरो अन्तर एव भज्जते, नान्तं नयतीत्यर्थः । पुण थिरो अथिरो वा पुच्छिज्जति-ताव कयजोगो तव-कारणेनाभ्यस्तवो ।

सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अस्सगणादागयं च जं जाणे ।

परियायजम्मदक्खा, उणतीसा वीसकोटी वा ॥२६४॥

सगणेण्या उ णत्थि पुच्छा उ, जओ सगणवासिणो सव्वे णज्जति । जो जारिसो अन्नगणगतं पि जं जाणेतं नो पुच्छेअ भंते ! आमंतणवयणं परियाए स्ति । परियाओ दुविहो-जम्मप-रियाओ, पव्वज्जापरियाओ य । जम्मपरियाओ जहन्नेण जस्स एगुणतीस वीसा कहं ? जम्मववरिसो पव्वति । तो एवमव-रिसो पव्वति, तो णवमवरिसे पव्वति, तो ते एवमवरिसे प-व्वतीओ विसतिवरिसस्स वरिसेण सम्मत्तो । एवं वरिसेण स-म्मत्तो । एवं वरिसेण समत्ती । एते अ उणतीसं वीसो उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी पव्वज्जा उणवीसस्स दिट्ठिवातो उद्दिप्पे वरिसेण सम्मत्तो । एते वीसं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी ।

इदाणि सुत्तत्थमिति—

नवमस्स ततियवत्थु, जहणउक्कोसमूणं दमत्तं ।

सुत्तत्थअजिग्घे पुण, दव्वादितवो रयणमादी ॥२६५॥

एवमस्स पुव्वजहणं ततिआयारवत्थुकाले णाणं वणि-ज्जति, जाहे तं अर्थीयं उक्कोसेण जाहे ऊणगा दसपुव्वा अ-धीता संमत्तदसपुव्विणो परिहारतवो ण दिज्जति, सुत्तत्थस्स

एयं पमाणं (अभिग्गहेति) अभिग्गहाद्व्यवस्थेते कालभावे हि तवो तवोकम्मं पुण (रयणमादि ति) रयणावली आदिस-द्वातो कणगावली, 'सीहविक्रीलियं जवमउभं वड्ढमउभं वंदा-णयं' कक्खंडेसु य पच्छद्धं । अस्य व्याख्या-सुद्धपरिहारत-वाणं कतमो कक्खंडो, कयमो वा अक्खंडो ?, एत्थ सेलए मंडवाडि दिट्ठो कज्जति ।

जं मायति तं लुब्धति, सेलमए मंरवे ण एण्डे ।

उभयपलियम्मि एवं, परिहारो दुव्वले मुच्छो ॥२६६॥

सेलमंडवे जं मायइ तं लुब्धति ण सो भज्जति, एण्डमए पुण जावतियं लुब्धति, एवं उभयवलिपे तिविधे संघयं णो-वजुत्तो जं आवज्जति इमेरिसाणं सव्वकालं सुद्धतवो तं परि-हारतवेण दिज्जति, सो पुण वित्तसंघयणे हि दुव्वलोऽति-हीणो तस्स सुद्धतवो वा हीणतरं पि दिज्जति । सांसो पुच्छ-ति-किं सुद्धपरिहारतवाण एगावली उत भिष्सा ? ।

उच्यते—

अविसिद्धा आवत्ती, सुद्धतवे संघयणपरिहारे ।

वत्थु पुण आसज्जा, दिज्जते तत्थ एगतगे ॥२६७॥

सुद्धपरिहारतवाण अविसेसी आवत्ती आरियादिवत्ती । संघयणोवजुत्तं जाणिऊणं परिहारतवो दिज्जति, इतरो वा सुद्धतवो एगं एगतरा दिज्जति, इमेरिसाणं सव्वकालं सुद्ध-तवो दिज्जति ।

सुद्धतवो अज्जाणं, अगियत्थे दुव्वत्ते अमंघयणे ।

धितियवल्लिए समत्ता-गए य सव्वेमिं परिहारो ॥२६८॥

अज्जाणं गीयत्थस्स धितियदुव्वलस्स संघयणहारे एतेसि सुद्धतवो दिज्जति, धितवल्लुत्तो संघयणसमक्षिपे य पुरिसे परिहारे तवं पडिवज्जते । इमो विही-

विउसग्गो जाणद्धा, ववणाजीए य दोसु वी तेसु ।

आगरु य दीयराया, दिट्ठो जीय आमत्थे ॥२६९॥

परिहारतवं पडिवज्जते दव्वादि अप्पसत्थवज्जेत्ता पस-त्थेसु दव्वादिसु काउस्सग्गो कीरइ, सेमसाह जाणण्णा आ-लावणादिपदाण पटुवणा ठविज्जति, तेसु अ ठविपेसु जदि भीता तो आसासो कीरइ ति, इमेहि मे वीहे पायच्छित्तं सु-उभति महती य णिज्जरा भवति, कण्णट्टियअणुपरिहारिया य दो सहाया ठवित्ता इमेहि अगडतिराइदिट्ठेहि भीतस्स आसासो कीरइ, अगडे पडियस्स आसासो कीरति, एस जणो धावति, उज्जआ णिज्जति अथिरो उत्तारेज्जसि, मा वि-सादं गेण्डेसु, एवं जतिणा सासिज्जति, तो कयातिभाएण तत्थ चेव मारिज्ज, णदीपूग्गेण हीग्गमाणो भणति-तडं अवल-वाहिप सत्तारगो दतिगादि घेतुमतरिओ मुत्तारेहिस्सि, मा वि-सादं गेण्डेसु । रायगहिओ वि भण्णति-एस राया जदि वि दुट्ठो तहवि विणविज्जंतो पुरिमादिपेसु आयारं पस्सति, अइमंडे न करेति; एवं आसासिज्जंतो आससत्तिः दढवेत्तो य जवति ।

काउस्सग्गो य किं कारणं कीरइ ?, उच्यते—

नीरुवसग्गणिमित्तं, भयजणणद्धा य सेसगाणं तु ।

तस्सऽपणो य गुरुणो, पमाहए हाति पमिद्वी २७०

साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्तं सससाहुण य भयाजणणत्ता का-
उस्सगो कीरह, सोय इण्वेओ धडमादि खीरखेत्तओ जिण-
घरादिसु काभओ पुण्वसुरे पसत्थादिदिणेषु य भाघतो चंदता-
रावणेषु तस्सऽपणो य गुरुणो य साहपसु पणिवत्ती भवति । सो
य जहणेण मासो, उज्जोसेण ण्ममासा, तस्मि परिहारतथं पणिव-
ज्जति । आयरियो भणति-एय साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्तं ग-
मि काउस्सगं जाव घोसिरामि, जोगस्सुज्जोयगरं अणुपेदेत्ता
णमोऽरिहंताणं ति पारत्ता लोगुस्सवं करं कट्ठित्ता आयरि-
यो भणति—

कप्पट्टिओ अहं ते, अणुपरिहारी य एम ते गीओ ।

पुव्वि कयपरिहारो, तस्म य सयणो विददहे ॥२७१॥

आयरियो आयरिया णिउत्तो वा णियमगीयत्थो तस्स आ-
यरियाण पदाणुपालगो कप्पट्टितो भणति । सो जणति-अहं
ते कप्पट्टिती परिहारियं गच्छंतं सव्वत्थ अणुगच्छति जो सो
अणुपरिहारितो सो वि णियमा गीयत्थो । सो से दिज्जति एस ते
अणुपरिहारी, सो पुण पुव्वकयपरिहारियस्स अस्सति असो वि
अरुषपरिहाराविति संघयणजुत्तो ददहे गीयत्थो अणुपरि-
हारितो उविज्जति । एवं दोसु उविपसु इमं भणति—

एस तवं पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा हु आलवह ।

आत्तद्धचित्तगस्स, वाप्पाओ जे न कायव्वो ॥ २७२ ॥

एस आयविसुत्तकारओ परिहारतवं पडिवज्जति । एस तुज्जे
ण किंचि आलवति, तुज्जे वि एयं मा आलवह । एस तुज्जे
सुत्ताथेसु सरीरं वट्टमाणी वा ण पुच्छति, तुज्जे वि एयं मा पु-
च्छह । एवं पारियट्टणादिपदा सव्वे जाणियत्वा । एवं आलव-
णादिपदे आत्मार्थं चित्तकस्य ध्यानपरिहारकियाव्याघातो न
कर्तव्यः । इमा ते आलवणादिपदा—

आलावणपडिपुच्छण-परियट्टणाणवदणमत्तो ।

पडिलेहणमयाप्पा-भत्तदाणमंजुजणे चेव ॥ २७३॥

आलवणा देवदत्तादिपुच्छादिपसु पुव्वा वीतसुतस्स पारियट्ट-
णं कल्लजिक्खवादिपाप उघाणं । सओ सुतुट्ठितेहिं खमणमादी-
यं वा वंदणं खलकाड्यसम्प्राप्तसत्तो मसगो वा ण सोऽहिति तस्स
तिओ वा ण घेप्यति उवकरणं, परोप्परं ण पडिवेहेति संघारुगा
परोप्परं ण जवंति, जत्तदाणं परोप्परं ण करेति । एवं मडलीए
ण जुंजति । यच्चान्यक्किञ्चिकरणीयं तत्तेन सार्द्धं न कुर्वन्तीत्य-
र्थः । इमं गच्छन्नासीणं पच्छित्तं—

संघादगतो जा वा, लहुगो मामो दमणह तु पदाणे ।

लहुगा य जत्तदाणे, सभुंजणे होंतऽणुग्याया ॥२७४॥

जदि गच्छिज्जा परिहारियं आलवति तो ताणं दासवहु ।
एवं जाव संघारुगपदं अरुमं सव्वेसु मासवहु । जदि गच्छ-
या जत्तं गेहसु तो चउवहु, एगठं जुंजताण चउगुरं, परि-
हारियस्स अरुसु पणसु मासगुरं, जत्तदाणसभुंजणेसु चउगुरं,
कप्पट्टियस्स अणुपरिहारियस्स दोहवि एगसंभोगो, एते दा-
वि गच्छिज्जाहिं समानं आलवणं करेति । वंदामोत्ति य भणति
सेसं ण करेति । कप्पट्टियपरिहारियाण इमं परोप्परं करणं—

कितिकम्पं च पडिच्छति, परिष्ण पडिपुच्छणं पि से देति ।

सो वि य गुरुमुवचिद्वति, उदंतमवि पुच्छितां कदति ॥२७६॥

कप्पट्टिती परिहारियवंदणं पडिच्छति, परिष्णति पञ्चक्खा-
णं देति । सुत्ताथेसु पडिपुच्छं दित्ति, सो वि परिहारियओ

कप्पट्टियं अणुचिद्वति अणुद्वाराणति किरियं सुत्तमं करेति ।
सम्पादिगच्छतो अथेह पुच्छितो कप्पट्टियेण ओदंत इति सरीर-
ट्टमाणी कहंति—

उडिज्ज णिसीएज्जा, भिवखं गेएहज्ज भंरुगं पेहे ।

कुविए पि वंथयस्स व, करेति इतरो चतुसिणीओ ॥२७७॥

परिहारितो तवकिलामितो जह दुव्वलयाए उट्टेउं ण सकेइ,
ताहे अणुपरिहारियस्स अंगनो जणति । उट्टेज्जामि णिसीएज्जा-
मि निक्खं हिंडिक्ख सकेमि, तांऽणुपरिहारिओ परिहारियनाय-
णाहिं हिंमिन्तुं देति । जह ण सकेइ जंरुगं पडिवेहेउं ताहे अणु-
परिहारितो से पडिवेहणियं करेइ, जह ण सकेइ सम्पाका-
ड्यज्जमि गंतुं, तथ परिहारिओ भणति-काड्यसम्पा ज्जमि ग-
च्छेज्जामि, ताहे अंसे अणुपरिहारिओ करेति ।

सुत्ताणिवाओ इत्थं, परिहारतवस्मि होति दुविधम्मि ।

सोच्चा वा एच्चा वा, संजुंजंतस्म आणादी ॥ २७८ ॥

एत्थ सुत्तं निवाअं, जो परिहारतवं दुविधं उग्घायं अणुग्घायं व-
हइ तं सोच्चा णच्चा वा जो संजुंजति तस्स आणदिदासा जवंति ।

वितियपदे साहुवंद-ए उभओ गेलसुथेरअसती य ।

आलायणादि तु पए, जयणाए समायरे निक्खू ॥ २७९॥

साधुवंदणत्ति अणुत्थं साधुसंविता अणो साधू ते दहुं भ-
णति-अमुगसाहुस्स वंदणं करेज्जा, सो परिहारतवं पडिवज्जो
जस्स परिजाति यं हत्थो ते आयाणतो वंदिउं वंदणकयं कथेति
तस्स णं दोसो, उभओ गेलसुं वि कप्पट्टिय अणुपरिहारिय परि-
हारिओ य एते जदि तिणिण वि गिलाणा, ताहे गच्छेल्लया सव्वं
जयणाए करेति । का जयणा भणति ? गच्छेल्लया परिहारि-
यमाणेहिं हिंडित्ता कप्पट्टियस्स पणामेति । सो अणुपरिहारि-
यस्स पणामेति, सो वि पारियस्स पणामेति । सो वि परिहारियक-
प्पट्टिय अणुपरिहारिया पणामेउं पि ण वएति । सोयमेव गच्छि-
ल्लया सव्वे गिलाणा तो ते कप्पट्टिया दिया तिञ्चि जयणाए
सव्वं पि करेज्जा, परिहारिउं गच्छिल्लयभायणेसु आणियो. अणु-
परिहारियस्स पणामेति, सो कप्पट्टियस्स, सो वि गच्छिल्लयाणं
थेरअसतीप थेरा आयरिया तेसिं वेयावच्चकरस्स अस्सतो
वेयावच्चकरवाघाए वा अणो य सलद्धीओ णात्थि, ताहे परि-
हारिओ वि करेज्ज जयणा, एसो भायणेसु हिंडिउं अणुपरिहा-
रियस्स पणामेति । कप्पट्टियस्स वासो आयरियाणं देति, एवमा-
दिकजेषु आलावणादिपदे जयणाए भिक्खू समाचरेदित्यर्थः ।
सुत्ताणि हु इदाणि एतेमिं चेव गेहं सुत्ताणं दुगादिसंगसुत्ता
वत्तव्वा । तत्थ दुगसंजोगे पणरस सुत्ता जवंति । तत्थ पढमं-
दसमं च एते निमि दुगं संजोगसुत्ता सुत्तं णेव गहिया ।
सेसा वारसऽत्थतो वत्तव्वा । तिगसंजोगेण वीसं सुत्ता भ-
वंति । तत्थ छठ पणरसमं च होति सुत्ता सुत्तेणव गहिया ।
सेसा अट्ठणस अत्थेणव वत्तव्वा । चउसंजोगेण पणरस, ते
अत्थेण वत्तव्वा । द्दक्कगसंजोगे एके तं सुत्तेणव भणियं । एवं
एते सत्तावणं संजोगसुत्ता भवंति । एतेसिं अत्थो पुव्वसमो
दुगसंजोगेण उग्घातियं अणुग्घातियं वा कहं संभवति ? भ-
णति-आवत्ती से उग्घातिया कारणे उ दाउं अणुग्घातियं, एवं
उग्घाय अणुग्घायसंभवो । अहवा तवेण अणुग्घातकालतो
उग्घातियं एवं वज्जिऊणं भावेतव्वं । नि० चू० १० उ० ।

अणुध्याय-अनुद्घात-पुं० । न विद्यते उद्घातो लघूकरण-
लक्षणो यस्य तदनुद्घातम् । यथाश्रुतदाने, स्था० ५ टा० २
उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

अणुध्यायण-अणोद्घातन-न० । अणुध्यायणेन जन्तुगणश्चतु-
र्गतिकं संसारमित्येवं कर्म, तस्योत्प्रावत्येन घातनमपनयनम-
णोद्घातनम् । कर्मण उद्घातने, “ स मेहावी जे अणुध्याय-
णस्स खेयणे जे य वंधण मोक्खमण्णसी कुसले पुण णो वद्धे
णो मुक्के ” आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणुध्यासंत-अनुध्यास्यत्-त्रि० । आत्मना गृहीत्वा पश्चाद् आसं
ददति, “ जे भिक्खू मा उग्गामस्स मेहुणवस्सियाए अणुध्या-
सज्ज वा अणुपाएज्ज वा अणुध्यासंत वा अणुपायंत वा सा-
इज्ज ” नि० चू० ७ उ० । (‘ मेहुण ’ शब्दे ऽस्य व्याख्या)

अणुच (य) १-अनुचर-त्रि० । अनुचरन्ति । अनु-चर-ट ।
स्त्रियां ङीप् । सहचरे, पश्चाद्गमिनि च । वाच० । अनुपरिहा-
रिकपदस्थितानां यावत् पारमासकल्पस्थितानां सेवाकारके,
उत्त० २८ अ० ।

अणुचरित्ता-अनुचर्य-त्रि० । आसेव्ये, स० ।

अणुचित्तण-अनुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, आव० ४ अ० ।

अणुचिता-अनुचिन्ता-स्त्री० । अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसै-
वाविस्मरणनिमित्ते सूत्रानुस्मरणे, आव० ४ अ० ।

अणुचिक्कण-अनुच्युत्वा-अध्य० । पश्चाच्च्युत्वेत्यर्थे, “ अणु-
चिक्कणहागओ तिरियपक्खीसु ” महा० ६ अ० ।

अणुचिप्पवं-अनुचीर्णवत्-त्रि० । अनुष्ठितवति, आचा० १ श्रु०
८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अनुचित-त्रि० । अजावितशैके, वृ० १ उ० । अयो-
ग्ये, षो० ७ विव० ।

अणुचीइ-अनुचिन्त्य-अध्य० । औत्पत्तिक्यादिजेदभिन्नया बुद्ध्या
पर्यालोच्येत्यर्थे, आव० ४ अ० । जी० । सूत्र० । “ अणुचीइ
भासए सयाणमज्जे लहइ पमंसणं ” अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य
भाषमाणः सतां साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनम् । दश० ७
अ० । सूत्र० ।

अणुचीइभामि (ण)-अनुविचिन्त्यभाषिन्-त्रि० । अनुवि-
चिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवं शीघ्रोऽनुविचिन्त्यभाषी । व्य०
१ उ० । आलोचितयत्करि, दश० ६ अ० ।

अणुचरिय-अनुचरित-त्रि० । अशब्दिते, महा० १ चू० ।

अनुच्चार्य-अध्य० । निन्द्यत्वापुच्चारयितुमयोग्ये, “ अभिगहि-
यमिच्छदिछी अणुच्चरियणामधेज्जे सुज्जसिवे ” महा० १ चू० ।

अणुच्चसद-अनुच्चशब्द पुं० । अनुच्चस्वरे, “ तं पुण अणुच्चसदं
वाच्छिन्नमियं पभासेइ ” न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तद-
नुच्चशब्दः, तद्व्यवच्छिन्नं शब्दं विविक्तमभिज्ञिताकरमित्यर्थः;
तस्मिन् । व्य० १ उ० ।

अणुच्चाकुइय-अनुच्चाकुचिक पुं० । उच्चा हस्तादि यावत् येन
पिपीलिकादेर्वधो न स्यात् सर्पादेर्वा दंशो न स्यात्; अकु-
च्चाकुचपरिस्पन्द इति वचनात् । परिस्पन्दरहिता निश्चेलेति
यावत्; ततः कर्मधारये उच्चा कुच्चा शय्या कम्पादिमयी सा

नो विद्यते यस्य स अनुच्चाकुचिकः । नीचसपरिस्पन्दशय्याके,
कल्प० ।

अणुजाइ (ण)-अनुयायिन् पुं० । सेयके, को० ।

अणुजाण-अनुयान-न० । रथयात्रायाम्, वृ० १ उ० ।

तद्विधिश्चैवम्—

नामिक्कण वद्धमाणं, सम्मं संखेवओ पवक्खामि ।

जिणजत्ताए विहाणं, सिद्धिफलं सुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्धमानं महावीरं, सम्यग्भावतः, संक्षेपतः स-
मासेन, प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, जिनयात्राया अहं दुत्सवस्य वि-
धानं विधिं, सिद्धिफलं मोक्षप्रयोजनं, सूत्रनीत्या आगमन्याये-
नेति गार्थार्थः ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रवक्ष्यामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैवाह—

दंसणमिह मोक्खं, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारं ।

णिस्संकादा जणितो, पजावणंतो जिणिंदोहं ॥ २ ॥

दर्शने सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्गं सिद्धिकारणं, परमं प्र-
धानम्, आदिकारणत्वात्, तस्यानन्तरकारणतया तु परमं चा-
रित्रमेव, ‘सारो चरणस्स निव्वाणमिति’ वचनादिति । एतस्य
दर्शनस्य, पुनरुपधाऽष्टाभिः प्रकारैः, आचारो व्यवहारो यः स-
म्यग्दर्शनिनामाचारः स दर्शनस्याचार उच्यते, गुणगुणनोरभेदा-
त् । तमेवाह-शङ्का संशयः, तदभावो निःशङ्को निःशङ्कितत्वं, त-
दादिर्यस्य स निःशङ्कादिः, जणितोऽभिहितः, प्रभावान्तो जिन-
शासनोद्भावनाऽवसानः, जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः । तथाहि—“ निस्सं-
कियनिक्कंखिय, निव्विततिगिच्छा अमूढादिदी य । उववूहथिरी-
करणे वच्छल्लपभावेणा अट्ठा ” इति गार्थार्थः ॥२॥

ततः किम् ?, अत आह—

पवरा पभावणा इह, अमेसभावमि तीए सञ्जावा ।

जिणजत्ता य तयंगं, जं पवरं ता पयामोऽयं ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रजावना जिनशासनोद्भावना, इहाष्टप्रकारे स-
म्यग्दर्शनाचारे । कुत पवमित्याह- अशेषाणां समस्तानां निः-
शङ्कितादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भावः सत्ता अशेषभावस्तस्मिन्
सति, तस्याः प्रभावनायाः, सद्भावात् संभवाभिः शङ्कितादि-
गुणयुक्त एव हि प्रजावको प्रवतीति । ततोऽपि किमित्याह-
जिनयात्रा च जिनादेशमहः, पुनस्तदङ्गं जिनप्रवचनप्रजावना-
कारणं, यद्यस्माहेतोः, प्रवरं प्रधानं, तत्तस्माहेतोः, प्रयासः प्रय-
त्नोऽयमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गार्थार्थः ॥३॥

अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यस्यां जिज्ञासायामाह—

जत्ता महूसवो खलु, उदिस्स जिणे स कीरई जो उ ।

सो जिणजत्ता जणई, तिण विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-महोत्सवः खलु महामह एव, न तु देशान्तरगम-
नम् । ततः किमत आह-उद्दिश्य श्रित्य जितानर्हतः स इति म-
होत्सवः ‘जिणे उ’ इत्यत्र तु पात्रान्तरे जिनास्तु जितानेवैति व्या-
ख्येयम्, क्रियते विधीयते । यस्तु य एव स इत्यसावेव महोत्सवो
जिनयात्रेति भ्रम्यते अभिधीयते, तस्या जिनयात्राया विधानं
तु कल्पः पुनर्दानादिविश्राणनप्रवृत्तिः । आदिशब्दात्तपःप्रवृत्तिप्रद
इति गार्थार्थः ॥४॥

एतदेवाह-

दाणं तत्रोवहाणं, शरीरसंस्कारो जहासति ।

उचितं च गीतवाडय, श्रुतिशोतापेच्छणादीय ॥ ५ ॥

दान वितरणं, तथा तपउपधानं तपःकर्म, तथा शरीरसंस्कारो देहवृत्त्या, मशब्दः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्ति सामर्थ्यान्तिक्रमेण, इदं च क्रियाविशेषणम्, प्रत्येकं दानादिषु संवध्यते । उचितं योग्यम् । चशब्दः समुच्चये । गीतं च गेयं, वादितं च पट्टादिनादितं, गीतवादिनम् । अनुस्वारलोपश्चात् ङप्रत्ययः, प्राकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोकरूपाणि, प्रेक्षणानि च प्रेक्षणकप्रवृत्ति च । आदिशब्दात्काव्यकधारथञ्जमणादिपद्मिहो जिनयात्राविधानं च भवतीति प्रक्रमः इति द्वारगाधामन्तेपार्थः ॥ ५ ॥ पञ्चां ए विव ० । (यात्राविषयं दानद्वारम् ' भगुक्ता ' शब्देऽत्रैव भागे ३६० पृष्ठे उक्तम्) ।

अथ तपोद्वारमाह-

एकासणाङ्गं नियमा, तत्रोवहाणं पि एत्य कायव्यं ।

तत्रो जावविमुच्छी, एणियमा विहिमेवणा चैव ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रवृत्ति, आदिशब्दाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, नियमादवश्यंनया, उपधीयते अनेनेत्युपधानं चरित्रोपपन्नभेदः, तप एवोपधानं तपउपधानं, तदपि न केवलं दानमेव । अत्र जिनयात्रायां कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादिदं कर्तव्यमित्याह-ततस्तपउपधानाद् भावविशुद्धिरभ्यवसायनैर्मल्यं नियमादवश्यंनया जयति, भावविशुद्धिरैव धर्माधिनामुपादेयति, तथा विधिमेवना जिनयात्रा नीत्यनुपाश्रया चैवेति समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्तं तपोद्वारम् ।

अथ शरीरसंस्कारद्वारमाह-

वन्धविलेखणमद्वा-दिण्हं विविहो शरीरसंस्कारो ।

कायव्यो जहमात्ति, पवरो देविदण्ण ॥ ८ ॥

वन्धविलेखणमादयादिनिर्वासोऽनुलेपनपुष्पप्रवृत्तिजिरादिशब्दादलङ्कारपरिग्रहः । विविधो बहुविधः, शरीरसंस्कारो देहभूषा, कर्तव्यो विधेयो, यथाशक्ति शक्यनतिक्रमेण, पवरः सर्वोत्तमः । कथम् ? देवेन्द्रज्ञानेन सुरराजोदाहरणेन, यथाहि-जगवतामर्हतां जन्ममहादिषु सुरेन्द्रः सर्वविचरुषा सर्वादरेण च शरीरसंस्कारं विधत्ते, तद्वद्वैरूप्यसौ विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसंस्कारः ।

अथोचितं गीत्याहाह-

उचियमिद् गीयवाडय-मुचियाण वयाऽपकिहि जं रम्मं ।

जिणगुणविमयं मच्छ-म्मवृद्धिजणं अणुवहासं ॥ ९ ॥

उचितं योग्यमिदं जिनयात्रायां, गीतवादिनं गेयवाद्यम् । किं-विधमित्याह-उचितानां योग्यानां स्वचरित्रादिपञ्चयावय आदिकैः कालकृतवस्थाप्रवृत्तिभिर्वयश्चैव जगत्तत्त्वसौजात्यैर्दायैर्धर्मैः-दिभिर्नैवैर्यस्य रमणीयं जिणगुणविषयं वीतरागत्वादिनीर्थ-कगुणगोचरं न गज्जादिगुणविषयं, तदपि मच्छमवृद्धिजनकं सुन्दरधर्ममन्युपादकं, तदप्यनुपहासमधिगमानोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥

स्तुतिस्तोत्रागभिधानायाह-

भुड्योत्ता पुण ओचिय, गंतीगपयत्यविग्गया जे उ ।

संवेगवृद्धिजगमा, ममा य पाण्ण मव्येमि ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रवृत्तानि, पुनःशब्दो विशेषयान्तार्थः । उचि-

तानि योग्यानि । किंविधानीत्याह-गम्भीरैरनुच्यत्वात्सूक्ष्मबुद्धि-गम्यैः पदार्थैः शब्दानिर्धेयविरचितानि विहितानि गम्भीरपदार्थविरचितानि, यानि तु यान्येव तान्यपि संवेगवृद्धिजनकानि मोक्षाभिलाषातिशयकारीणि, समानि च तुल्यानि च अविप-माणि वा सुबोधानीत्याह-प्रायेण बाहुल्येन सर्वेषां स्तोत्राणामतुल्यादिस्तोत्रादिपाठे हि कोलाहल एवेति न पुनस्तच्छोत्राणां भावोत्कर्ष इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षणकादिद्वारमाह-

पेच्छणागावि एणमादी, धम्मियणामयजुआइ इह उचिया ।

पत्थावो पुण ऐओ, इमंसिमारंभमादीओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणकान्यपि प्रेक्षाविधयः । अपिशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये । किं स्वरूपाणि; 'नमा' इति नटः शैल्युपः तत्प्रवृत्तिं यत्प्रेक्षणकं तत्रत एवाच्यते-नटप्रेक्षणकमित्यर्थः; तदादि येषां प्रेक्षणकाणां तानि नटादीनि । आदिशब्दात्तदितरपरिग्रहः । तानि चेह किंविधान्युचितानीत्याह-धार्मिकनाटकयुतानि जिनजन्माद्युदयभरतनिष्क्रमणदिधर्मसंवेचनादकोपेतानि, इह जिनयात्रायामुचितानि योग्यानि, भव्यश्रोतृणां संवेगोत्पादकत्वात् । प्रस्तावोऽवसरः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । ज्ञेयो ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षणकानामारम्भादिर्वात्रारम्भादिशब्दाद्यात्रामध्यादिरिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षणकानामारम्भादिप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानस्य कः प्रस्ताव इत्याशङ्क्यामाह-

आरंजे चिय दाणं, दीणादीणमणुत्तिजणणत्थं ।

रणाऽमाघायकारण-मणहं गुरुणा स सत्तीण ॥ १२ ॥

(आरंभे चिय) यात्रारम्भकाल एव, दानं वितरणं विधेयं भवति । किमर्थमित्याह-दीनादीनां रङ्गप्रवृत्तीनां मनस्तुष्टिदिनानाथचित्तोपविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा वक्ष्मीः । स च द्वेषा-धनवृद्धिः प्राणलक्ष्मीश्च; अतस्तस्या घातो हननं तस्या ज्ञातोऽमाघातोऽमारिरुद्ध्यापहारश्चेत्यर्थः । तस्य करणं विधानममाघातकरणमनर्थं निर्दोषं वधवृत्तभोजनवृत्तिमात्रसंपादनेन, अन्यथा तद्वृत्त्युच्छेदापत्तेर्गुरुणा प्रावचनिकेन स्वशक्त्यस्वसामर्थ्येनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह-

विमयंपवेसे एणो, उ दंसणमोग्गाहादिकहणा य ।

अणुजाणावणविहिणा, तेणाणुणायसंवामो ॥ १३ ॥

विषयप्रवेशे मण्डलप्रवेशने, राज्ञो नृपतेः, तुशब्दः समुच्चयार्थः । तेन तदभावे तन्मान्ययुवराजमहामात्यादेश्च दर्शने मीलकः कार्यः, दर्शने च सति ' किमागमनकारणम् ? ' इति च तेन पृष्ठे अवग्रहस्य ' देविदुरायगहवइ-सागरसाहम्मिओ गगो चैव ' इत्येवंविधस्य, आदिशब्दाद्वाजराक्रीतास्तपस्विनो भवन्तीत्यादेश्च । यदाह-"कुद्रोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि तेऽि क्वात्-दान्ताऽरिहन्तारस्तांश्चेद्वाजा न रक्षतीति" कथना प्ररुणा अबग्रहादिकथना, चशब्दः समुच्चये, कार्येति शेषः । ततश्चा-नुज्ञापनं मुत्कलनं कार्यम्, अवग्रहस्य विधिनाऽऽगमनीत्या, ततस्तेन राज्ञा राजसंमतेन वा अनुज्ञाते मुत्कलितेऽवग्रहे संवासो निवासः तद्देशे विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेवं विधीयते इत्याह-

एमा पवयणणीती, पवसंताण-णिज्जरा विउला ।

इहक्षेयस्मि वि दोमा, ण होति णियमा गुणा होति ॥ १४ ॥

एषाऽनन्तरोक्ता प्रवचननीतिरागमन्यायो वर्तते । अथानया
को गुण इत्याह-एवमनन्तरोक्तनीत्या वसतां तद्देशे निवसतां
निर्जरा कर्मक्षयः, विपुला बह्वी, अदत्तादानव्रतस्य निरतिचार-
स्यानुपाशनादाशाराधनाच्च । न चैतावदेवात्र फलमित्याह-इह
लोकेऽप्यत्रापि जन्मनि, आस्तां परलोके, दोषाः प्रत्यनीककृतो-
पद्रव्यज्ञानाः, न जयन्ति न जायन्ते । नियमादवश्यंभावेन गुणाः
पुना राजपरिग्रहालोके मान्यतादयो, भवन्ति जायन्ते । यदाह-
“ गन्तव्यं राजकुले, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः । यद्यपि न
जवन्त्यर्थाः, नवन्त्यनर्थप्रतीयाताः ” ॥ १ ॥ इति गाथार्थः । १४।

ये गुणा भवन्ति तानेवाह-

दिष्टो पवयणगुरुणा राया अणुसामिओ य विहिणा उ ।

तं नित्यं जं ए वियरइ, कित्ति यमिइ आमघाओ ति ॥ १५ ॥

दृष्टोऽवलोकितः, प्रवचनगुरुणा प्रधानाचार्येण, राजा नृपतिः, अ-
नुशासितोऽनुशिष्टश्च, विधिना तु प्रवचननीत्यैव तत्प्रकृत्यनुवर्तना-
दिलक्षणया । यदाह-“ वात्रादिभावमेवं, सम्यग्विज्ञाय देहिनां गुरु-
णा । सद्धर्मदेशनाऽपि हि, कर्त्तव्या तदनुसारेण ” ॥ १ ॥ एवं चासौ
प्रमुदितमना तद्वस्तु नास्ति न विद्यते यत्र वितरति न ददाति,
सर्वमेव ददानीत्यर्थः । कियत् किंपरिमाणम् ?, अदपमिति कृत्वा
ददात्येवेत्यर्थः । इह यात्राऽवसरे अमाघातः प्राणिघातनिवारण-
म्, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अनुशासित इत्युक्तमतस्तदनुशासनविधिं प्रस्तावयन्नाह-

एत्थमणुसामणविही, जणिओ सामणणगुणपसंमाए ।

गंभीराहरणं हि, उत्तीहिं य जावसागाहिं ॥ १६ ॥

अत्र राजविषये, अनुशासनविधिरनुशास्तिविधानं, भणित
उक्तः, सूरितिः । कथम् ?, सामान्यगुणप्रशंसया लोकं लोकोत्तरा-
विरुद्धविनयदाक्षिण्यसौजन्यादिगुणस्तुत्या, तथा गम्भीरोदा-
हरणंरतुच्छकृतिः, महापुरुषगतेरुक्तमिष्ट जणितिसिद्धिश्च, भाव-
साराभिर्भावगोभिर्नतु तद्विकल्पाभिरिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

अनुशासनविधिमवाह-

सामणणे मणुजत्ते, धम्माओ णरीसरत्तणं णेयं ।

इय मुणिकणं सुंदर !, जत्ता एयम्मि कायव्वो ॥ १७ ॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे नरत्वे धर्माद्
कुशलकर्मणा नरेश्वरत्वं नृपत्वं भवतीति हेतुं ज्ञातव्यम् । इति
एतद् ज्ञात्वाऽवगम्य, सुन्दर ! नरप्रधान ! यत्न उद्यमोऽत्र धर्मे
कर्त्तव्यो विधेयो भवतीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

इष्टीण मूलममो, सव्वामि जणमणोहराणं ति ।

एसो य जाणवत्तं, ऐओ संसारजलहिम्मि ॥ १८ ॥

ऋद्धीनां संपदां मूलमिव मूलं कारणम्, एव धर्मः । सर्वासां
नरामरसंविधनीनां जनमनोहराणां ब्रोकचेतोहारिणिनाम् । इति
शब्दो लोकप्रसिद्धस्य संपदां जनमनोहरत्वस्योपदर्शनार्थः ।
अनेन च सांसारिकफलसमाधुत्वमस्योपदर्शितम् । अथ निर्वाण-
फलसाधकत्वमस्याह-एष चायमेव यानपात्रं बोधिसूत्र इव ज्ञे-
यो ज्ञातव्यः, संसारजलधौ जवोद्धौ तरीतव्य इति गाथार्थः ।

कथं पुनरेव भवतीत्याह-

जायइ य मुहो एसो, उचियत्थापायणेण मव्वस्म ।

जत्ताए वीयरगा-ए विमयसारत्तओ पवगो ॥ १९ ॥

जायते संपद्यते, चशब्दः पुनरर्थः, शुनः कुशलानुबन्धः, शुभ-

निमित्तत्वादेव धर्मः, उचितार्थापादनेनानुपपन्नसंपादनेन, स-
र्वस्य समस्तजनस्य । ईदं विशेषमाह-“ जत्ताए ” इत्यादि । का-
का चेदमवश्यम्-यात्रयोस्त्वेन, पुनर्यात्रायां वा उचितार्थापाद-
नेनेति प्रकृतम् । केपाम ?, वीतरागाणां जिनानां, विषयसारत्वतः
प्रधानगोचरत्वात् । वीतरागा एव हि निखिलचुवनजनातिशा-
यिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽनुपवरितो जयतीति प्रवरः प्रधानतरः
शेषजनेचितार्थसंपादनोद्भवधर्मापेक्षया एव जायत इति प्रकृ-
तमिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अधिकृतराजानुशासनविधौ यो जावस्तं प्रकटयन्नाह-

एतीए मव्वसत्ता, मुहिया खु अहिसि तम्मि कालम्मि ।

एहिं पि आमघाए-ए कुणमु तं चेव एनेमि ॥ २० ॥

एतया वीतरागयात्रया एतस्या वा, सर्वसत्त्वाः समस्तदेहिनाः,
सुखिता एवानन्दवन्त एव, ‘ खु ’ शब्दोऽवधारणार्थः । (अहि-
सि ति) अचूयः, तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्य-
जवत् । ततश्चेदानीमप्यधुनाऽपि, यथाऽतीतकाले इत्यपिशब्दार्थः ।
[आमघाणं ति] प्राकृतत्वाद्माघातेन, अमारिप्रदानेन, कुरुष्व
विधेहि, त्वं महाराज ! देव ! सुखित्वमेव । एतेषां सर्वसत्त्वाना-
नामिति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, ददव्वा सावगेहिं वि कमेण ।

कोरयव्वो य तहा, दाणेण वि आमघाओ ति ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यविद्यमाने, उपलक्षणत्वाद्वाजदर्शना-
द्यसमर्थे वा, राजा नरपतिर्द्रष्टव्यो दर्शनीयः, भावकैरपि
श्रमणोपासकैरपि, न तु न द्रष्टव्य इत्येतदर्थसंस्मृचनार्थोऽपि-
शब्दः । कमेण नीत्या तद्वाजकुलप्रसिद्ध्या, कारयितव्यो विशा-
पयितव्यो राज्ञा । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योपक्रममा-
त्रार्थः । तथा कारयितव्यश्चेत्येवं चास्य प्रयोगः । इति नेच्छति
चेद्वाजा तं कारयितुं तदा दानेनापि उच्यवितरणतोऽपि न केवलं
वचनेनेत्यपिशब्दार्थः । (आमघाओ ति) अमाघातः प्राणिनाम-
मारिः, इतिशब्दः समाप्यर्थ इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

किं चान्यत्-

तेमि पि घायगाणं, दायव्वं सामपुव्वगं दाणं ।

तत्तियदिणाण उचियं, कायव्वा दमणा य मुहा ॥ २२ ॥

तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दार्थः ।
घातकानां प्राणिवधोपजीविनां मत्स्यवन्धादीनां, दातव्यं देयं,
सामपूर्वकं प्रेमोत्पादकवचनपुरस्सरं, दानमन्त्राद्विशितरणं, नाव-
हिनानां यात्रापरिणामदिवसानामुचिनं योग्यमः कर्त्तव्यो विधेयो,
देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवद्या । यथा-भवतामप्येवं धर्मा-
वाप्तिर्भविष्यतीत्यादिरूपा, इत्यनेन च परोपनापपरिहारो धर्मा-
र्थिनां श्रेयानिन्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एवं क्रियमाणे को गुण इत्याह-

नित्यस्म वण्णवाओ, एवं लोगम्मि वोहिलाजो य ।

केमि वि होइ परमो, अण्णमि वीयलाजो ति ॥ २३ ॥

तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य, वर्णवादः श्लाघा, एवममुना प्रकारेण
दानपूर्वकाऽमाघातकारणलक्षणं, लोकं जने, भवति । ततश्च
किमित्याह-वोधिजाजः सम्यग्दर्शनप्राप्तिः, चशब्दः पुनरर्थो
भिन्नकर्मश्च । केषांचिद्भुक्तकर्मणां प्राणिनां, जयति जायते, परमः
प्रधानोऽङ्गेपेण मोक्षसाधकत्वाद्येष्वां पुनरपरेषां, पुनर्वीजलाजः
सम्यग्दर्शनवीजस्य जिनशासनपक्वपातरूपदुग्धाभ्यवसायलक्ष-

णस्य प्राप्तिः । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

कथं तीर्थवर्णवाद् एव बोधिबीजं जवत्यत आह-

जच्चिय गुणपम्बिचत्ती, मव्वणुमयम्मि होइ पम्बिसुद्धा ।

मा वि य जायति बोद्धी-ए तेण णाणण चोराणं ॥ २४ ॥

चियशब्द एवकारार्थः, म चापिशब्दार्थः । ततश्च याऽपि काचि-
दल्पाऽपीत्यर्थः । गुणप्रतिपत्तिगुणाद्युपगतिः, सर्वज्ञमते जिन-
शासनविषये, भवति जायते, परिशुद्धा भावगर्भा, साऽपि गुण-
प्रतिपत्तिः, जायते संपद्यते, बीजहेतुबोधये, सम्यग्दर्शनप्रतिप-
त्तेः, तेन ज्ञातेन, चोरोदाहरणेन तच्च प्रागुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

यदि श्रावका अपि राजदर्शनासमर्थस्तदा को विधिरित्याह-

इय मामत्याभावे, दोहि वि वर्गाहं पुव्वपुरिमाण ।

इयमामत्यजुआणं, बहुमाणो हांति कायव्वं ॥ २५ ॥

इत्युक्तरूपे राजदर्शनद्वारेणामाघातकारेण यत्सामर्थ्यं बलं
तस्य योऽनावः स तथा तस्मिन्, द्वाच्यामपि, आस्तामेकेन,
वर्गाच्यां समुदायाच्यां, प्रवचनगुरुश्रावकलक्षणाभ्यां पूर्वपुरुषा-
णामतीतमानवानाम्, इति सामर्थ्ययुतानामाघातकारणवज्रयु-
क्तानां बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वत्तते, कर्त्तव्यो विधेय इति
गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव स्वरूपत आह-

ते धम्मा मत्पुरिसा, जे एयं एवमेव णीसिमं ।

पुविं करिमु किच्चं, जिणजत्ताए विहाणं ॥ २६ ॥

ते पूर्वपुरुषाः, धन्याः श्लाघ्याः, सत्पुरुषा महापुरुषाः, वत्तन्ते ये,
एतदन्तर्गतोक्तं कृत्यमिति योगः । एवमेवोक्त्यायेनैव, निःशेषं सर्वं,
पूर्वकाले (करिमु त्ति) अकार्षुः, कृत्यं करणीयं, दानपूर्वामाघात-
लक्षणं, जिनयात्रायां जिनोत्सवं, विधानेन विधिनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अम्हेउ तह अधम्मा, धम्मा उण एतिण्ण जं तेसिं ।

बहु मणामो चरियं, सुहावहं धम्मपुरिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु वयं पुनस्तथा तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयाविधान-
संपादनसामर्थ्याभावलक्षणैर्नाऽधन्या अश्लाघ्याः, धन्याः पुनः
श्लाघ्याः, एतदित्येता एतावता, यत्तेषां पूर्वपुरुषाणां, बहु मन्यामहे
पक्षपातविपर्ययोक्तुमः, चरितं चेष्टितं सुखावहं सुखकारणं श्रुताव-
हं वा, धर्मपुरुषाणां धर्मप्रधाननगराणाम् । वीरपुरुषाणामिति च
पात्रान्तरमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

एतद्वबहुमानस्य फलमाह-

इय बहुमाणो तेसिं, गुणाणमणुमोयणा णिआगेण ।

तत्तो तत्तुद्धं वि य, होइ फलं आसयविमसा ॥ २८ ॥

इत्यादिबहुमानादनन्तरोक्तपक्षपातारुतोस्तेषां पूर्वपुरुषाणां
सत्त्वानां गुणानां धर्मचरणादीनामनुमोदनाऽनुमतिर्निर्योगेनाव-
श्यंतया भवति (तत्तो त्ति) ततश्च गुणानुमोदनानः, तत्तुल्यमेव
पूर्वपुरुषानुष्ठानकृतसममेव जवति । जायते । फलं कर्मकृत्यादिको
गुणः । यदाह-“अण्णदियमायरंतो, अण्णुमोयंतो य सगहं लट्ठ ।
रहकारदाणअण्णुमो यगो मिंगो जह य वज्रदेवो” ॥ १ ॥ अथ कथं
कलानुष्ठानवतां सकलानुष्ठानवद्भिस्तुल्यं फलं भवतीत्याह-
आजयविशेषादध्यवसायनेदात् । अध्यवसाय एव हि परं कार-
णं गुमाशुनकमेवन्त्यादि प्रति । यदाह-“एग्मरहस्समिसीणं,
सम्मतगणिपिग्गतरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयम-
वत्तवमाणं” ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

‘आरंभेच्छिय दाणं’ इत्यादि यत्तुक्तं तदुपसंहरन्नाह-

कयमेत्थ पसंगेणं, तवोवहाणादिया वि णियसमए ।

अणुख्वं कायव्वा, जिण्ण कल्लाणदियहेसुं ॥ २९ ॥

कृतमलमत्र दानाप्राघातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या तप उपधानादिका
अपि तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिका अपि प्राधान्येन केवलं दान-
मित्यपिशब्दार्थः । निजसमये स्वकीयावसरे रुढिगम्ये अनुरूपम्
औचित्येन कर्त्तव्या विधेया । कदेत्याह-जिनानामर्हतां कल्याण-
दिवसेषु पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिनोचिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह-

पंचं महाकल्लाणा, सव्वेसिं जिण्ण होंति णियमेण ।

जुवणच्चेरयजूया, कल्लाणफला य जीवाणं ॥ ३० ॥

गव्जे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणणिव्वाणे ।

जुवणगुरूण जिण्णं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥ ३१ ॥

पञ्चेति पञ्चैव महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकाव-
निखिन्नरत्नलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति नियमेनावश्यं भा-
वेन, तथावस्तुस्वभावत्वात् । भुवनार्थयजूतानि निखिलभुवना-
द्भुततूतानि, त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात् । तथा कल्याणफलानि च
निःश्रेयससाधनानि । चः समुच्चये । जीवानां प्राणिनामिति । गर्भे
गर्भाधाने, जन्मन्युत्पत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योप-
क्षेपे । निष्क्रमणे अगारवासाधिर्गमे, चैवेति समुच्चयावधारणा-
र्थवित्युत्तरत्र संज्ञत्येते । ज्ञाननिर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवल-
ज्ञाननिवृत्त्योरेव च । केषां गर्भादिष्वित्याह-जुवनगुरूणां जगज्ज्ये-
ष्ठानां जिनानामर्हताम् । किमित्याह-कल्याणानि श्वःश्रेयसानि,
जवन्ति वर्तन्ते, ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति गाथाद्वयार्थः ॥ ३०-३१ ॥

ततश्च-

तेसु य दिण्णसु धम्मा, देविंदाई करिति जत्तिणया ।

जिण्णजत्तादि विहाणा, कल्लाणं अण्णो चेव ॥ ३२ ॥

(तेसु यत्ति) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्भादयो वज्रबुध-
न्या धर्मधनं लब्धवारः, पुण्यमाज इत्यर्थः । देवेन्द्रादयः सुरेन्द्र-
प्रभृतयः, कुर्वन्ति विदधति, भक्तिनता बहुमाननम्राः । किमित्या-
ह-जिनयात्राऽऽदि-ब्रह्मकुत्सवपूजास्त्रात्रप्रवृत्तिम् । कुत इत्याह-
विधानाद्विधिना । अथवा जिनयात्रादिविधानानि । किञ्च तं जिन-
यात्रादीत्याह-कल्याणं श्वःश्रेयसम् । कस्येत्याह-आत्मनः स्वस्य,
चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां वेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

यत एवम्-

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिं पि तेसु कायव्वं ।

जिण्णजत्तादि महारिसं, ते य इमे वच्छमाणस्स ॥ ३३ ॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्तजीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणाच्चेति,
येषु जिनपञ्चाधानादयो भवन्ति, दिना दिवसाः, दिनशब्दः पुंलि-
ङ्गोऽप्यस्ति । प्रशस्ताः श्रेयांसः । ततः किमित्याह-(ता इति) य-
स्मादेवं तस्मात् श्रेयैरपि देवैश्चादिव्यतिरिक्तैर्मुन्यैरपि, न के-
वलमिन्द्रादिभिरैवेत्यपिशब्दार्थः । तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु,
कर्त्तव्यं विधेयं, जिनयात्रादि धर्मतगोऽस्यपूजाप्रवृत्तिकं वस्तु,
सहयं सप्रमोदं यथाभवति । कानि च तानि दिनानीत्यस्यां
जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनां तेषां च वक्तुमशक्यत्वाद्ब्रह्मन्मान-
तीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य, तानि वि-
यक्तुमाह-(ते यत्ति) तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि वक्ष्यमा-

भ्राणानि वर्द्धमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः ॥ ३३ ॥
तान्येवाह—

आसादमुद्धट्टी, चेत्ते तद् सुच्छतेरसी चैव ।

मगसिरकिण्णदसमी, वड्ढमाहे सुच्छदसमी य ॥ ३४ ॥

कत्तियकिण्णे चरिमा, गम्भादिणा जहक्कमं एते ।

हत्थुत्तरजोएणं, चउरो तद् सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आपादशुरूपष्टी आपादमासे शुक्लपक्कस्य पष्टी तिथिरित्येकं दिनम् । एवं चैवमासे । तथेति समुच्चये । शुद्धत्रयोदशयेति द्वितीयम् । चैवेत्यवधारणे । तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम् । वैशाखं शुद्धदशमीति चतुर्थम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । एतानि किमित्याह—
गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसाः, यथाक्रमं क्रमेणैव, एतान्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यामां हस्तोत्तराक्षिता वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः ताभिर्योगः संबन्धश्चस्येति हस्तोत्तरायोगः, तेन करणभूतेन, चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्तः । (चरमोत्ति) चरमकल्याणकदिनमिति, प्रकृतत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३४—३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्यत्राह—

अधिगयतित्यविहाया, भगवंति णिदंसिया इमे तस्म ।

मेसाण वि एवं वि य, णियणितित्येमु विसेया ॥ ३६ ॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्द्धमानप्रवचनकर्ता, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निर्दिशतान्युक्तानि, इमानि कल्याणकदिनानि, तस्य वर्द्धमानजिनस्य, अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह—शेषाणामपि, न वर्द्धमानस्यैव ऋषभादीनामपि, वर्द्धमानावसर्पिणीभरतकृत्रापेक्षया एवमेवैव तीर्थं वर्द्धमानस्यैव, निजनिजतीर्थेषु स्वकीयप्रवचनावसरेषु, विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि, मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति । इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपज्जरतानामृषजादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव एतेषामस्यामवसर्पिण्यां तान्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ किमेवं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह—

तित्यगरे बहुमाणो, अन्नासो तद् य जीतकप्पस्स ।

देविदाद्यणुक्त्ति, गंभीरप्ररूपणा दोए ॥ ३७ ॥

वसो य पवयणस्सा, इय जत्ताए जिणाण णियमेण ।

मग्गाणुसारिभावो, जायइ एत्तो वि य विसुद्धो ॥ ३८ ॥

तीर्थकरे जिनविषये, बहुमानः पक्वपातः तदिदं दिनं यत्र भगवान् अजनीत्यादि विकल्पितः कृतो भवतीति सर्वत्र गम्यमिति । यात्रयेत्यनेन योगः । तथेति वाक्योपेक्षार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । अज्यासोऽज्यसनम् । चशब्दः समुच्चये । जितकल्पस्य पूर्वपुरुषाचरितलक्षणाचारस्येति । तथा देवेन्द्राद्यनुकृतिः देवाधिपदेवदानवप्रत्यूषाचारानुकरणम् । तथा गम्भीरप्ररूपणा गम्भीरं साभिप्रायमिदं यात्राविधानं न यादृच्छिकमित्यस्य प्ररूपणा प्रकाशना गम्भीरप्ररूपणा कृता भवतीति, तथा दोके जनमध्ये; वर्णः प्रसिद्धिर्जायत इति योगः । चशब्दः समुच्चये । कस्य ? प्रवचनस्य जिनशासनस्य, वीर्यं प्राकृतत्वादिति । यात्रया अनन्तरोक्तिविधानोत्सवेन, क्रियमाणयेति गम्यम् । केवाम् ? जिनानां वीतरागाणां, नियमेन नियोगेन, (एत्तोवि यत्ति) यत

एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरवहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव हेतोर्मागानुसारिभावो मोक्षपथानुकूलाध्यवसाय आगमानुसारी वा, जायते भवति । असौ किंभूतः ? विशुद्धोऽनवयः । स्वतो विशुद्धोऽसौ जायते, विशुद्धतीत्यर्थ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७—३८ ॥

यद्यसौ जायते ततः किमित्याह—

तत्तो सयलसमीहिय-सिच्छी णियमेण अविकलं जं से ।

कारणमितीए भणिओ, जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥ ३९ ॥

ततो विशुद्धमागानुसारभावात्सकलसमीहितासिद्धिर्निखिलेप्सितार्थनिष्पत्तिर्नियमेन नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह—अविकलमवन्ध्यं यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकलसमीहितसिद्धेर्भणितोऽज्ञिहिता, जिनैरहंन्द्रिः । जिनाश्च नामजिनादयोऽपि भवन्तीत्यत्र आह—जितरागद्वेषविगतासत्यवादकारणैरित्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मार्गानुसाराभावः सकलसमीहितसिद्धेः कारणं भणित इत्यत्रोच्यते, शुभचेष्टानिमित्तत्वेन; एतदेव दर्शयन्नाह—

मग्गाणुसारिणो खनु, तत्ताभिणिवेसओ मुजा चैव ।

होइ समत्ता चेद्धा, अमुभा वि य णिरणुवंधत्ति ॥ ४० ॥

मार्गानुसारिणो मोक्षपथानुकूलभावस्य जीवस्य, खलुर्वाक्यालङ्कारे, शुभैव चेष्टेति संबन्धः । कुत एवमित्याह—तत्ताभिनिवेशतो वस्तुस्वरूपनिर्नापातिशयात्, शुभैव प्रशस्तैव, नेतरा । चैवशब्दोऽवधारणार्थः । भवति जायते, समस्ता निःशेषा, चेष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशङ्कयामाह—अशुभाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । चेष्टेति वर्त्तते । अपि चेति समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धनराहिता—पुनः पुनरभाविनीत्यर्थः । इतिशब्दः समाप्तचित्ति गाथार्थः ॥ ४० ॥

कुतो निरनुबन्धा सत्याह—

सो कम्मपारतंता, वड्ड तीए ण जावओ जम्हा ।

इय जत्ता इय वीयं, एवंभूयस्स जावस्स ॥ ४१ ॥

स मार्गानुसारी जीवः कर्मपारतन्त्र्याच्चारित्रमोहनीयकर्मवशादेव, वर्त्तते प्रवर्त्तते, तस्यामशुभचेष्टायां, न भावतो न पुनर्भाविनान्तःकरणेन तत्ताभिनिवेशादेव यस्मात्कारणात्तस्माद् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राफलनिगमनायाह—इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्तन्यायेन शुभचेष्टाहेतुलक्षणेन बीजं कारणम्, एवंभूतस्यानन्तरोक्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मार्गानुसारिपरिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

उत्सवविशेषस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव विधेयतां दर्शयन्नाह—

ता रहणिकवमणादि वि, एतेसु दिणे पणुच्च कायव्वं ।

जं एसो वि य विमओ, पहाणमो तोए किरियाए ॥ ४२ ॥

तदिति यस्मात्तीर्थकरवहुमानादयोऽनन्तराभिहितगुणाः कल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्माद्व्यस्य जिनविम्व्याधिष्ठितस्य स्यन्दनस्य, जिनगृहान्निष्क्रमणं निर्गमो नगरपट्टिप्रमार्थं रथनिष्क्रमणं तदाद्यपि तत्प्रभृतिकर्म, आदिश-

न्दादिहविकान्विषयनिष्कामणादिप्रहः । न केवलं यावत्त्यपि
शब्दार्थः एतेषु च तान्येव कल्याणकरुपाणि दिवसान् प्र-
तीत्याधिन्य कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादेवमित्याह—यद्य-
स्मात्कारणादेव एव कल्याणदिनलक्षणो विषयो गोचरः प्र-
धानः शोभनः । मकारस्तु प्राकृतशैलीप्रभवः । तस्या रथनि-
ष्कमरादिकायाः क्रियायाः चेष्टायाः इदं चावधारणमनागमो-
क्तदिनव्यवच्छेदार्थमेव द्रष्टव्यम्, आगमोक्तदिनानां त्वागम-
प्रामाण्यदेव प्रधानत्वात् । अभिधीयते चागमे—“संवच्छरचा-
उन्मा—मयसु अष्टाहियसु यतिहीसु । सञ्चारयेण लगड, जि-
णवरपूया तवगुणेषु” ॥ १ ॥ तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टाहिकाया
रहैव विधेयतयोपदिष्टत्वादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यम् ? बहुफ-
लत्वादिति श्रमः । एतदेवाह—

विमयपगरिमभावे, किरियामेत्तं पि बहुफलं होई ।

सकिरिया विहु ए तहा, इयरम्मि अवीयरागि व्व ॥ ४३ ॥

विषयस्य क्रियाविशेषगोचरस्य प्रकर्षभाव उत्कृष्टताविषय-
प्रकर्षभावः, तत्र क्रियामात्रमपि अविशेषवत् क्रियाऽपि, आस्तां
विशिष्टा, बहुफलं प्रभूतेष्टफलं भवति जायते । एतस्यैव व्यतिरे-
कमाह—सकिरिया विशिष्टचेष्टाऽपि आस्तां क्रियामात्रम् । हुश-
न्दोऽलहकुतौ । न तथा न तत्प्रकारा, न बहुफला भवति । इत-
रस्मिन् विषयस्य प्रकर्षभावे, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह—
अवीतरागे इव पुरुषमावयन् । यथाऽस्य वीतरागे गुणोत्कर्षा-
भावेन विषयप्रकर्षाभावेन महत्यपि पूजादिका चेष्टा बहुफला
न भवति, तथा कल्याणकदिनेष्वेव यात्रेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कृत्यनुपदेशमाह—

लच्छणं दुल्लहं ता, माणुयत्तं तह य पवयणं ऊणं ।

उत्तमणिदंमणेषुं, बहुमाणो होऽ कायव्वो ॥ ४४ ॥

लच्छा प्राप्य, दुर्लभमनुजनं (ता इति) यस्मादिच्छादिनिः कृता
बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात्कारणान्मनुजत्वं नरत्वम् ।
तथाचेति समुच्चयार्थः । प्रयत्नेन शासने, जने सर्वज्ञरचितं,
जितमनप्राप्तियुक्तस्यैव विशिष्टोपदेशयोग्यता तःसफलताकरणे
सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्यायुक्तम् । उत्तमनिद-
र्शनेषु प्रधानमन्त्रज्ञानेतिवन्नादिलक्षणेषु । तद्यथा कल्याणक-
यात्रा विधेया देवप्रभुप्रभृतिप्रवर्तितेयं, यत इति बहुमानः पक्-
पातो, भवति जायते, कर्त्तव्यो विधेयो, न तु मोहोपहतसत्त्वनि-
दर्शनेषु यथा यथाऽमुनाऽमुना वाऽस्मान्पतृपितामहादिना-
ज्येन चेदं विहितमिति विधेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अधिकृतयाचागतमेवोपदेशास्तरमाह—

एसा उत्तमजत्ता, उत्तमभुवणिएआ मऽ बुदेहि ।

मेसा य उत्तमा खलु, उत्तमविच्छिण्णं कायव्वो ॥ ४५ ॥

एसाऽनन्तरोक्ता कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा प्रधानयात्रा, तद-
न्यस्याः का वात्तेन्याह—उत्तमभुतवर्णिता प्रधानागमाभिहिता या
सा, ज्ञेया च कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि, उत्तमा खलु प्रधानैवा-
उत्तमभुतवर्णिता तु, लोककृद्विज्ञा तु नेति । अनयोत्तमत्वात्सदा
वर्धविद्विद्विद्वत्तमर्ह्या प्रधानविनयेन, न यथाकर्त्तव्यकृत्या
विधेयेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

उक्त्यतिरेके यदापद्यते तदाह—

इयग वाऽबहुमाणो ऽवसा य इमीणं णिण्णवुद्धाण ।

एयं विचिनियव्वं, गुणदोसविहावणं परमं ॥ ४६ ॥

इतरथाऽन्यथा उत्तमद्वया तदकरणे । अथवोत्तमयात्राया अक-
रणे तत्र यात्राविशेषाजिघासके उत्तमभुते उत्तमनिदर्शनेषु वा
बहुमानः प्रीतिस्तद्वहुमानस्तत्प्रतिषेधोऽतद्वहुमानः स भवति ।
तदुक्तयात्राविशेषस्याकरणत्वं तथाऽवज्ञा ज्ञावधारणा च कृता
भवति । सस्यामुत्तमयात्रायामिति निपुणवृक्षया सूक्ष्माऽस्या ।
एतदन्तरोक्तमनर्थद्वयं विचिन्तयितव्यं परिज्ञावर्त्तयितुम्, यतो गु-
णदोषविज्ञानमर्थानर्थान्निर्णयने सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं प्रधानम्,
ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उत्तमभुतेोक्तयात्राऽवज्ञानेन श्लोककृद्व्याप्ताकरणमयुक्तमिति—
दर्शयन्नाह—

जेट्ठम्मि विज्जमाणे, उच्चिय अणुजेट्ठपूयणमजुत्तं ।

लोगाहरणं च तहा, पयमे जगवन्तवयणम्मि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे वृक्षतरे पुत्राद्यपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति उच्चित्ते निर्दोष-
त्वेन पूजायोग्ये, अनुज्येष्ठस्य वयोः पुत्रादेः, पूजनं सम्कारोऽयुक्त-
मसंगतम्, यथेति शेष इति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकमाह—(लोगा-
हरणं च) श्लोकोदाहरणमपि पित्राद्युद्देशेनामुष्मिन्वा मासादौ
अमुना च क्रियते यात्राऽनस्तथैव सा नो विधेयेत्येव लक्षणं, तथा
तद्वदयुक्तमेवानुज्येष्ठपूजनवत्, प्रकटं स्पष्टं भगवद्वचने जितागमे
सकलजगज्जन्त्येष्टे सतीति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अयुक्तत्वमेव श्लोकोदाहरणस्य भावयन्नाह—

वोणो गुरुतरुणो खलु, एवं मति जगवतो विड्ढो ति ।

मिच्छत्तमो य एयं, एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

श्लोक एव सामान्यजन एव, गुरुतरुको गरीयान् । खलुगवधा-
रणे, तस्य च दर्शित एव प्रयोगः । एवमुक्तनीत्या, जगवद्वचन-
सद्भावेऽपि लोकप्रमाणीकरणलक्षणे वस्तुनि सति, भगवतोऽपि
सकलजगज्ज्येष्ठजिनादपि सकाशादिष्टोऽस्मिमतः । इतिः
समाप्तैः । ततः किमित्याह—मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टित्वम् । आकारो
निपातः पूर्णार्थः । चशब्दः पुनर्थकः । एतद्भगवदपेक्षया लोक-
स्य गुरुतरुवाभिगमने विपरीतबोधधत्वात्, तथा एषा लोकस्य
गुरुतरुवाभिगमनलक्षणा, आशातना सर्वज्ञावमानना, परमा
प्रकृष्टा, अनन्तसंसारावेदत्यर्थः । सर्वज्ञवचनमेव प्रमाणतयाऽङ्गी-
कर्त्तव्यम् । लोकस्तु तद्विरुद्धानुष्ठान एवेति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

अथ सर्वज्ञमुपदेशमाह—

इय अमान्य वि मम्मं, णाउं गुरुवायवं विमेसेण ।

इष्टे पयद्वियव्वं, एसा खलु जगवतो आणा ॥ ४९ ॥

इत्येवं कल्याणकयात्रावत्, अन्यत्रापि यात्राव्यतिरिक्ते दातादा-
वपि, सम्यगैव परीक्ष्येयं, ज्ञात्वा विज्ञाय, गुरुवायवं सारितरत्वं,
विशेषेण परस्परपेक्षयाऽधिक्येन, इष्टेऽजिम्मे वैद्यावृत्त्यादौ, प्रव-
र्तितव्यं यतितव्यं, यत एषा खलु इयमेवानन्तरोक्तभगवतो जि-
नस्याहा आदेश इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

जत्ताविहाणमेयं, एणुणं गुरुमुहाउ धीरेहि ।

एवं वि य कायव्वं, अविगहियं भत्तिमंनेहि ॥ ५० ॥

यात्राविधानं जिनोत्सवविधिः, एतदन्तरोक्तं ज्ञात्वा विज्ञाय,
गुरुमुखात् सूरिवदनात्, धीरैर्धर्मिभिः, (एवं वि य त्ति) एवमेवोक्त-
विधिनैव, कर्त्तव्यं विधेयम्, अविरहितं सततं भक्तिमार्गवद्बहुमान-

वह्निरिति गार्थः ॥ ५० ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् । पञ्चा० ६ विव० । (अथानुयाने यथा साधवोऽकल्पं परिहरन्ति तथा 'एसणा' शब्दे तृतीयतमे ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अथानुयानविषयो विधिरुच्यते—

आणाङ्गो य दोसा, विराहणा होइ संजमप्पाए ।

एवं ता वच्चेते, दोसा पत्ते अण्णगविहा ।।

निष्कारणेऽनुयानं गच्छत आङ्गादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो जयति । एवं तावद् व्रजतो मार्गे दोषाः, तत्र प्राप्तानां पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिमा उस्सुयजूए, इरियादी न य विसोहए तत्थ ।

अप्पा वा काया वा, न सुत्तं नेव पल्लेहणा ।।

महिमा नाम जगत्तः प्रतिमायाः पुष्पां पणादिपूजात्मकः सातिशय उत्सवः, तस्य दर्शनार्थमुत्सुकतूत ईर्यादिसमितिर्न विशोधयति । आदिशब्दादेः पणादिपरिग्रहः । तत्र चैर्यादिनामशोधने आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्मविराधना कण्टक-स्थायाद्युपघातेन, संयमविराधना पष्पां कायानामुपमर्दादिना, तथा त्वरमाणत्वादेव न सूत्रं गुणयति, उपलक्षणत्वादर्थं च नानुप्रेक्षते, नैव प्रतिलेखनां वस्त्रपात्रादेः करोति, अथवा अकालेऽविधिना स करोति । एवमेव मार्गे गच्छतां दोषा अभिहिताः ।

अथ न तत्र प्राप्तानां ये दोषास्तानभिधित्सुर्ह्यारगाथामाह—

चेइय आहाकम्मं, उगमदोमा य सेह इत्थीओ ।

नारुगसंफामणत्तं—तुगुडु निष्कम्मकजा य ।।

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतो वक्तव्यं, तत आध्यात्मिकं, तत उद्गम-दोषाः, ततः शैक्वाणां पार्श्वस्थेषु गमनं, ततः स्त्रीदर्शनसमुत्था दोषाः, ततो नाटकावज्ञाकनप्रभवः, ततः संस्पर्शनसमुत्थाः, तदनन्तरं तन्तवः कोलिकजालं तद्विषयाः, तदनु (खुडु च्ति) पार्श्वस्थादिक्कुलकदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धर्मणां लिङ्गिनां यानि कार्याणि तदुत्थिताश्च दोषा वक्तव्याः । इति द्वारगाथासमा-सार्थः । वृ० १ उ० । (चैत्यव्याख्या 'चेइय' शब्दे द्रष्टव्या) (वसतिविषयनाचाकर्म 'आधाकम्म' शब्दे चि० भागे ३३० पृष्ठे छष्टव्यम्)

अथोद्गमदोषैकद्वारद्वयमाह—

उविए संछोजादी, दुमोहया होंति उगमे दोसा ।

वंदिज्जंते दहुं, इयरे सेहा तहिं गच्छे ।

बहवः संयताः समायाता इति कृत्वा धर्मश्रद्धावान् लोकः संयतार्थं स्थापितं भक्तपानादेः स्थापनां कुर्यात् । गृहमाग-तानामक्रोपणैव दास्याम इति कृत्वा (संगोभ च्ति) यानि गृहाणि साधुनिरनेषणीयदाने अशङ्कनीयानि तेषु शाल्योदनतण्डुल-आवनादिकं भक्तपानं, मोदकशोकवर्त्तिप्रवृत्तीनि वा खाद्यक-विधानानि निक्षिपेयुः, साधूनामागतानां दातव्यानीति । आदि-शब्दात् क्रीतकृतप्रावृत्तिकादिपरिग्रहः । एते उद्गमदोषाः, तत्र दुःशोभ्या दुष्परिहाया भवन्ति; तथा इतरान् पार्श्वस्थादीन् ब-हुजनेन वन्द्यमानान् पूज्यमानान् दृष्ट्वा शैक्वास्तत्र पार्श्वस्था-विषु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वारद्वयमाह—

इत्थी विउन्विया वि हु, जुत्ताणं दहु दोसाओ ।

एमेव नाड्या, सविग्गमा नचिगीयाए ।

स्त्रीः विकुर्विता वस्त्रविघ्नेपनादिजिरलङ्घनाः दृष्ट्वा भुक्तानां दोषाः स्मृतिकौतुकप्रजवाः जयन्ति । एवमेव नाटकीया नाट्यचयोपितः, सविज्जमाः सविज्ञासाः, भस्तिर्गीतयोः प्रवृत्ता विलांक्ष्य, श्रुत्वा च लुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ।

संस्पर्शनद्वारमाह—

इत्थिपुरिमाण फामे, गुरुगा लहुगा सई य संयदे ।

अप्पासंजमदोमा—ऽणुभावणं पच्छकम्मादी ।

समवसरणे पुष्पां पणादिकौतुकेन भूयांसः स्त्रीपुरुषाः समा-याति, तेषां संमर्देन स्पर्शो जयति, ततः स्त्रीणां स्पर्शं चत्वारो गुरवः, पुरुषाणां स्पर्शं चत्वारो लघवः, स्मृतिश्च संघट्टे लुक्तभो-गिनां भवति, चशब्दादलुक्तजोगिनां कौतुकम् । आत्मसंयमवि-राधनादोषाश्च जयन्ति । आत्मविराधना संमर्दे सति हस्तपा-दाद्युपघातः । संयमविराधना संमर्दे पृथिव्यां प्रतिष्ठिता पटकाया नावज्ञोक्यन्ते, न च परिहर्तुं शक्यन्ते) अनुजावणपच्छकम्मा-दी च्ति) साधुना कोऽपि शौचवादां पुरुषः स्पृष्टः संस्नायात्, संस्नानं निरीक्ष्यापरः पृच्छति-किमर्थं स्नासीति ? स ग्राह-सं-यतेन स्पृष्ट इति । एवं परस्परया साधूनां जुगुप्सोपजायते-यथा 'अहो ! मन्त्रिना एते' एवमनुभायना, पश्चात्तकर्म च भवति । आ-दिशब्दादसंस्पर्शादयो दोषाः ।

अथ तन्तुद्वारमाह—

छूयाकोलिंगजालग—कोत्थलकारीए उवरि गेहे य ।

सोन्तिमसोन्ति, लहुगा गुरुगा अजत्तीए ।।

असंमार्ज्यमाणे चैत्ये भगवत्प्रतिमाया उपरिष्ठादेता नाम भ-वेयुः, वृत्ता नाम कोलिकपुटकानि । कोलिकजालकानि तु जा-लकाकाराः कोलिकानां बालातन्तुसंतानाः, कोत्थलकारी जम-री, तस्याः संबन्धि गृहोपरि जयेत् । यद्येतानि वृत्तादीनि शाटय-ति तदा चत्वारो लघवः । अथ न शाटयति ततो भगवतां ज-क्तिः कृता न जयति, तस्यां चाजक्त्यां चत्वारो गुरुकाः ॥

अथ कुलकद्वारं, निर्धर्मकायद्वारं च व्याख्यानयति—

पट्टाइ इयरखुडे, दहुं ओगुंठिया तहिं गच्छे ।

उकुट्ठधरण्णइं, ववहारा चेव ति लिंगीणं ।।

उिंदेतस्स अणुमई, अभिज्जंत अउिंद उक्खिण्ण ।।

द्विदाणि य पेहंती, नेव य कज्जेगु साहिज्जं ।।

इतरे पार्श्वस्थास्तेषां ये कुलका घृष्टा, आदिग्रहणाद् 'मचामु-पेट्टा पंरुपरुवाउरण' इत्यादि, तानित्थंभूतान् दृष्ट्वा संविग्न-कुलका अवगृण्णता मन्त्रिभ्रदेहाः परिजग्नाः सन्तः, तत्र तेषां त्रिङ्गिनामन्तिकं गच्छेयुः, तेषां च तत्र मिलितानां परस्परमुत्कृष्ट-गृहधनादिनिषया व्यवहारा विवादा उपद्वैकन्ते, ते च व्यवहार-च्छेदनाय तत्र संविग्नान् आकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवहार-श्चिद्यते तदा भवति स्फुटस्तेषां गृहधनादिकं ददतः साधो-रनुमतिदोषः । उपलक्षणमिदम्, तेन येषां यद् गृहधनादिकं न दीयते तेषामप्रीतिकप्रद्वेषगमनादयो दोषाः । अथ त्रिङ्गिनामे-तद्दोषजनयात् प्रथमत एव न मिलन्ति, न वा व्यवहारपरिच्छे-दं कुर्वन्ति, तत उत्कृष्टा उद्घाटना साधूनां भवति, संघाटाद्व-हिष्करणमित्यर्थः । त्रिङ्गिणि च दृष्टानि, ते आकारिताः सन्तः साधूनां प्रकृते, नैव च ते कार्येषु गजद्विष्टलान्त्वादिवु साहाय्यं

तन्निन्तरणक्रममुपष्टम्भं कुर्वते, यत एते दोषाः, सतो निष्कारणे न प्रवेष्टव्यमनुयानमिति स्थितम्, कारणेषु च समुपश्लेषे प्रवेष्टव्यं, यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः ।

कानि पुनस्तानीत्युच्यते—

चैत्यपूया राया—निमंतणं सन्नि वाइ भम्मकटा ।

संकिय पत्त पभावण, पवित्ति कजाइ उट्ठाहो ॥

अनुयानं गच्छता चैत्यपूजा स्थिरीकृता भवति; राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः संप्रतिनरोद्गादिवत् तस्य निमन्त्रणं भवति, संज्ञी श्रावकः, स जितप्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापनां चिकीर्षति, तथा वादी कपको, धर्मकथा च तत्र प्रजावनायै गच्छति, शङ्कितयोश्च सृत्रार्थयोस्तत्र निर्णयं करोति, पात्रं वा तत्राव्य-वाच्छित्तिकारकं प्राप्नोति, प्रभावना वा राजप्रव्रजितादिभिस्तत्र गतैर्भवति, प्रवृत्तिश्चाचार्यादीनां कुशलवार्त्तारूपा तत्र प्राप्यते, कार्याणि च कुलादिविद्ययाणि साधयिष्यन्ते । उट्ठाहश्च तत्रगतै-निवारयिष्यते । इत्येतैः कारणैस्तद्व्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थं विनगिपुश्चैत्यपूजाराजनिमन्त्रणद्वारे

विवृणोति—

मरुठावुट्ठी गणो, प्याए थिरत्तणं पभावणयं ।

परियातो य अणत्थे, अत्या य कगावई तित्थे ॥

कार्ष्ण राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तन्निमन्त्रणे गच्छद्भिः तस्य राज्ञः श्रद्धावृद्धिः कृता भवति, चैत्यपूजायां स्थिरत्वं, प्रभावना च तीर्थस्य संशदिता जयति, ये च जैनप्रवचनप्रथनीकाः शासनावर्णवादमहिमोपघातादिकमन्तर्धं कुर्वन्ति, तस्य प्रतिघातः कृतो भवति, तीर्थे च आस्था स्वपरपक्व-योरादगवृद्धिरुपादिता जयतीति ।

अथ संज्ञिकारं चाह—

एमेव य मन्दीण वि, जिणाण परिमासु पढमपढवणे ।

मा परवाइ विग्गं, करिज्ज वाइ अओ विसई ॥

संज्ञितः श्रावकाः केचित् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः (पढव-ण ति) प्रतिष्ठापनं कर्तुंकामाः, तेषामप्येवमेव, राज इव श्रद्धा-वृद्ध्यादिकं कृतं भवति, तथा मा परवादी प्रस्तुतोत्सवस्य विघ्नं कार्ष्णदतो वादी प्रविशति ।

परवादिनिग्रहे च क्रियमाणे गुणानुपदशयति—

नवधम्माण थिरत्तं, पभावणा मासणे य बहुमाणो ।

अभिगच्छंति य विदुसा, अविग्यपूया य सेयाए ॥

नवधर्मिणामभिनवश्रावकाणां स्थिरत्वं स्थिरीकरणं, शास-नस्य च प्रभावना भवति । यथा आह—“प्रतिपत्तिपारमेश्वरं प्रव-चने यथेदशा वादवृद्धिसंपन्ना” इति । बहुमानश्चान्येषामपि शा-सने भवति, तथा च वादितमजिगच्छन्ति अभ्यायान्ति विद्वांसः सहृदयाः तदादिनः कौतुकाकृष्टचित्ताः, तेषां च सर्वविरत्यादि-प्रतिपत्त्या महान् हानो भवति, पर्यादिना च निगृहीतेन अ-विघ्ने निष्प्रत्यूहं पूजा कृता सती स्वपक्वपरपक्वयोरिह परत्र च श्रेयसे भवति ।

अथ कपकडारमाह—

आयावैति तवम्पो, ओभावना गया परपवाण ।

जइ परमा वि महिं, उवित्ति कारिंति मद्दा य ॥

तत्र तपस्विनः पशुपत्मादिकपका आतापयन्ति, ततश्चापभा-

वना द्वाघवं परप्रवादिनां परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईदृ-शानां तपस्विनामज्ञावात् । श्राद्धाश्चितयन्ति-यदि तावदीदृशा अपि जगवन्तोऽस्मानिः क्रियमाणां महिमां चैत्यपूजां छुप्ता-यान्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषत एतस्यां यत्नं विधास्याम इति प्रवर्त्तमानश्रद्धाका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ।

अथ काथिकडारमाह—

आयपरसमुत्तारो, तित्थिविह्वी य होइ कहयंते ।

अन्नान्नाभिगमणे य, पूयाथिरया य बहुमाणो ॥

कीराश्रयादिलब्धसंपन्न आक्रेषणीविक्रेषणीसंवेगजनीनिर्वेद-नीनेदाच्चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथेत्युच्यते । तस्मिन् धर्मे कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति । तीर्थविवृद्धिश्च भवति, प्रवृत्ते लोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तथा देशनादारेण पूजाफलमुपवर्णान्यान्या-भिगमने अन्यान्यश्रावकबोधने च पूजायां स्थिरता बहुमानश्च कृतो भवति ।

अथ शङ्कितपात्रद्वारे व्याख्याति—

निस्संकियं च काहिइ, उजए जं संकियं मुयहरे वि ।

अह वोच्छित्तिकरं वा, हविभान्ति पत्तं दुपक्खाओ ॥

उजये सूत्रे अर्थे च, यत्तस्य शङ्कितं तत्तत्र श्रुतधरेभ्यः पार्श्वा-न्निःशङ्कितं करिष्यति । अथ व्यवच्छित्तिकरं वा पात्रं द्वि-पक्षात् लप्स्यते । द्वौ पक्षौ समाहृतौ द्विपक्षः गृहस्थपक्षः संय-तपक्षश्चेत्यर्थः ।

अथ प्रभावनाद्वारमाह—

जाडुकुल्लरूवणवल—संपन्ना इद्धिमंति निक्खंता ।

जयणजुत्तो य जई, समेच तित्थं पभाविति ॥

जातिमार्तुकपक्वः, कुलं पैतृकपक्वः, रूपमाकृतिः, धनं गणिमध-रिममेयपारिच्छेद्यनेदाच्चतुर्धा भवति । प्रभूतं गृहस्थावस्थाया-मासीत्, यत्नं सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सातिशयं शारीरवी-र्यम्, एतैर्जात्यादिभिर्गुणैः संपन्नाः, ये च ऋद्धिमन्तः निष्क्रान्ता राजप्रव्रजितादयो, ये च यतनायुक्ता यथोक्तसंयमयोगकलिता यतयः, ते समेत्य तत्रागत्य तीर्थं प्रजावयन्ति ।

अपि च—

जो जेण गुणेण दिओ, जेण विणा वा न सिज्जए जंतु ।

मो तेण तंस्मि कज्जे, सव्वत्थानं न हावेइ ॥

य आचार्यादियेन प्रावचनिकत्वादिना गुणेनाधिकः सातिशयः, येन वा विद्यामिद्धादिना विना यत्प्रवचनं प्रथनीकशिक्षणादि-कार्यं न सिद्ध्यति, स तेन गुणेन तस्मिन् कार्ये सर्वस्थानं सकल-मपि वीर्यं न हापयति, किं तु सर्वथा शक्त्या तत्र गत्वा प्रवचनं प्रतापयतीति ज्ञावः । उक्तं च—“प्रावचनी धर्मकथा, वादी नैमि-त्तिकस्तपस्वी च । जितवचनज्ञश्च कविः, प्रवचनमुद्रावन्त्येत” ॥

प्रवृत्तिद्वारमाह—

साहम्मिवायगारं, स्वेममिवाणं च लब्धिइ पवित्ति ।

गच्छिद्विदि जइ तीई, होद्विदि न वा वि पुच्छति सो ॥

तत्राव्येषां साधर्मिकाणां चिरदेशान्तरगतानां वाचकानां वा आचार्याणां तत्र प्राप्तः प्रवृत्तिः लप्स्यते, तथा क्रमे परचक्रा-द्युपप्लवाभावः, शिवं व्यन्तरकृतोपप्लवाभावः, तथोरुपलक्षण-त्वान् सुभिक्षदुभिक्षादीनां चागामिसंयत्सरभाविनां प्रवृत्तिः

तत्र नैमित्तिकसाधूनां सकाशाल्पस्यते । यदि वा यत्र देशे स्वयं गमिष्यति तत्र तानि क्रैमादीनि भविष्यन्ति नवेति साधर्मिकादीन् पृच्छति ।

कार्योद्वाहद्वारद्वयमाह—

कुलमाई कज्जाई, माहिस्सं त्रिगिणो य मासिस्सं ।
जे दोगविरुद्धाई, करिति दोगुत्तराई च ॥

कुलमादीनि कुलगणसंघसत्काणि, कार्याणि तत्र गतः शाधयिष्यामि लिङ्गिणश्च तत्र गतः शासिष्यामि हितोपदेशदानादिना शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिनो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरविरुद्धानि च प्रवचनोद्वाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।

आह—यद्येतानि कारणानि भवन्ति, ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—
एणहिं कारणहिं, पुवं पडिझेहिण्ण अङ्गमणं ।

अद्धानिगगादी, दग्गा सुच्चा जहा खपओ ॥

पतैश्चैत्यपूजादिभिः कारणैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गतास्ते अध्वानमन्तिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दादपूर्वोत्सवादिवक्ष्यमाणकारणपरिग्रहः । एवमिदं कारणैः प्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गताः सन्तो यथोक्तां यतनां कुर्वाणा अपि यदि दग्गा अशुद्धभक्तादिग्रहणदोषमापन्नास्तथापि शुद्धाः, यथा कृपकः पिएडनिर्युक्तौ प्रतिपादितचरितः शुद्धं गवेषयन्नापि निगूढबाह्याकारया तथाविधश्राद्धिकया उचितः सन्नाशकर्मण्यपि गृहीते शुद्धोऽशठपरिणामत्वादिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैतदेव भाष्यते—

नाऊण य अङ्गमणं, गीए पेसिति पेडिहं कज्जे ।
उवसय जिकखाचरिया, वाहिं उब्भापरादीया ॥
सब्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंरवाइणो गीया ।
सेडादीण य थेरा, वेदण्णुत्ति वहिं कहए ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्ने अनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गीतार्थान् प्रेषयति, ततो ज्ञात्वा सम्यग् क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्त्तव्यम् । किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह—मौलग्रामे उपाश्रयो बहिर्वाहग्रामेषु च उद्ग्रामकाक्का भिक्षाचर्या । आदिशब्दात्तस्यां गच्छतामपामन्तराले विश्रामस्थानं, मौलग्रामे च भिक्षाविचारभूमिप्रवृत्तिकं प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सद्भाविका नितरांश्च मरुपादीन् गीतार्था जानन्ति । यथा अमी सद्भावतः स्वार्थं मण्डपाः कृताः, अमी तु संयतार्थं परं कैतवप्रयोगेणास्मान्निष्ठं प्रत्याययन्ति, आदिग्रहणात् पीठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेक्षिते सूरयः सबाववृक्षगच्छसहिता अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्थविराश्च बहिरेव वस्त्रमानाः शैक्वादीनां वन्दनयुक्तिं पार्श्वस्थादिवन्दनविधिं कथयन्ति, मा भूदन्यथा तद्वन्दने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनाविधिमाह—

निस्सकरुमनिस्सकरे, वि चेइए सव्वेहिं सुई तिसि ।
वेत्तं व चेइयाणि य, नाउं इक्किक्किया वा वि ॥

निश्चक्रुः स्तुतयो दीयन्ते, अनिश्रावते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रयं दीयमाने वेत्राया अतिक्रमो भवति जूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेत्रां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति ।

अथ समवसरणविषयं विधिमाह—

नि. सकरे चेइए गुरु, कइवयसहिए य ष्यरावसहिं ।

जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिति तहिं समोसरणं ॥

निश्चक्रुः चैत्ये गुरुराचार्यः कतिपयैः परिणतसाधुभिः सहितैश्चैत्यमहिमावलोकनाय तिष्ठति । इतरे शैक्वाद्यस्ते मा पार्श्वस्थादीन् जूयसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्पुुरिति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसन्ति व्रजेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिश्रावतं चैत्यं तत्राऽऽचार्यः समवसरणं पूरयन्ति, सन्नामापूर्णं धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह—किं संविज्ञैस्तत्र धर्मकथा, आहो—

श्विदसंविज्ञैरपि ?, उच्यते—

संविग्गेहिं य कहणा, इयरेहिं अपचओ न ओवसमो ।
पव्वज्जाजिमुहा वि य, तेसु वए सेहमादीया ॥

संविज्ञैरुद्यतविहारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुत इत्याह—इतरे असंविज्ञास्तैर्धर्मकथायां क्रियमाणायां श्रोतृणामप्रत्ययो भवति, नैते यथा वादिनस्तथा कारिण इति । नच तेषां मुपशमः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रव्रज्याजिमुखाः शैक्वादयो वा अद्याप्यपरिणतजिनवचनाः तेषां तेषु व्रजेयुः ; शोभनं खल्वेतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह—निश्चक्रुः चैत्ये यदि तदानीमसंविज्ञा न जवन्ति ततः कोविधिरित्याह—

पूरिति समोसरणं, अन्नासइनिस्सचेइएसुं पि ।

इहरा लोगविरुद्धं, सच्चाजंगो य सहाणं ॥

अन्येषामसंविग्नानामसतिनिश्चक्रुः चैत्येषु समवसरणं पूरयन्ति, इतरथा लोकविरुद्धं लोकापवादो भवति—अहो ! अमी मत्सरिणो यदेवमन्यदीयं चैत्यमिति कृत्वा नात्रोपविश्य धर्मकथां कुर्वन्ति, श्रद्धान्नां भवति, तेषामन्याथमन्यर्थयमानानामपि तत्र धर्मकथाया अकरणात् ।

अथ ज्ञाकाचार्यायां यतनामाह—

पुव्वपविडेहिं समं, हिंरुंती तत्थ ते पमाणं तु ।

साभाविकजिकखाओ, विदंतऽपुव्वा य उविपादी ॥

पूर्वप्रविष्टानामपूर्वं ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितास्तैः समं भिक्षां हिंरुन्ते, तत्र च भिक्षामटतां त एव प्रमाणं गन्तुं कैस्तत्र शुद्धाशुद्धगवेषणा कर्त्तव्या, ते च पूर्वप्रविष्टा इदं विदन्ति—यदेताः स्वाभाविकभिक्षाः स्वार्थनिष्पादिताः, एतास्तु अपूर्वाः संयतार्थं स्थापिता निक्षिप्तादयः ।

स्त्रीसंकुलनाटकशीतयोर्यतनामाह—

वंदे ण इति तंति य, जुवमज्जे थेर इत्थिओ तेणं ।

चिहंति न नारुएसुं, अह तंति न पेह रागादी ॥

स्त्रीसंकुलवृन्दे नायान्ति निर्गच्छन्ति च, ये च युवानस्ते मध्ये क्रियन्ते, यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन स्थविरा वृक्षा भवन्ति, मा भूवन् वृक्षाभुक्तसमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणतस्तितिष्ठन्ति, ततो (न पेहंति) नर्त्तक्यादिरूपाणि न प्रेक्षन्ते, सहसा दृष्टिगोचरागतेषु रागादीन् न कुर्वन्ति, तेज्यश्च प्राणं दृष्टिं निवर्तयन्ति ।

तन्तुजावादिषु विधिमाह—

सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।

अभिजोयंति तिसु य, अणिच्छि फेहंतऽदीसंता ॥

इतरे असंविमा देवकुलिका इत्यर्थः, तान् तन्तुजालवृत्ताकोलि-
कादिषु सन्तु, ते साधवो नोदयन्ति-यथा शीलयत परिकर्मयत
मङ्गफलकानां च मङ्गफलकानि । मङ्गो नाम चित्रफलकव्यग्रहस्त-
स्य च यदि फलकमुज्ज्वलं भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं
पूजयति । एवं यदि यूपमपि देवकुलानि ज्ञेया भूयः संमार्जना-
दिना सम्यगुज्ज्वल्यत, ततो ज्ञेयान् लोकान् जवतां पूजास्तकारं
कुर्यात् । अथ ते देवकुलिकाः सवृत्तिकाश्चैत्यप्रतिबद्धगृहकेशा-
दिवृत्तिभोगिनस्ततस्तान्नियोजयन्ति निर्जस्तयन्ति-यथा एकं
तावदेवकुलानां वृत्तिमुपजीवयति द्वितीयमेतेषां संमार्जनादिसारा-
मपि न कुरुत । इत्थं युक्ता अपि यदि तन्तुजालादीन्यपनेतुं नेच्छ-
न्ति ततो अदृश्यमानाः स्वयमेव स्फुटयन्ति, अपनयन्तीत्यर्थः ।

कुलकविपरिणामसंभवं यतनामाह-

उज्जलवेगे खुड्ड, कर्गिति ठवट्टणाइ चोवखे य ।

नो मुवंतऽसहाए, दिंति मण्णे ये आहार ॥

कुलकान् उज्ज्वलवेगान् पाण्डुरपट्टचोलपट्टधारिणः उद्धर्तन-
प्रज्ञानादिना च चोक्रान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते जु-
ष्टका भस्माया एकाकिनो मुच्यन्ते, वृषभाश्च तेषां मनोहान्
स्निग्धमधुरानाहागनातीय ददति । उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञाप-
यन्ति । वृ० १ उ० । (स च दृष्टान्तः ' उरभ्र ' शब्दे द्वि० जा०
८५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ निर्द्धर्मकार्येषु यतनामाह-

न मित्रंति त्रिगिकजे, अत्र्यंति च मेखिया उदारीणा ।

विंति य निव्वंधम्मि, करेसु तिक्खे खु जे देसं ॥

यत्र शिक्षनामाकृष्टगृहधनादिकार्याण्युपहोक्तन्ते तत्र प्रथमत
एव न मिलन्ति । अथ तैर्बलाद् मोदिकया मीलयन्ते ततो मेलिता
अणुदासीना आसन्ते । अथ ते धृवीरन्-कुरुतास्मदीयस्य व्यव-
हारस्य परिच्छेदम् । नत एषं निर्वन्धं तैः क्रियमाणं साधवो व्रजते-
यद्यस्माकं पार्श्वे व्यवहारपरिच्छेदं कारयिष्यथ तत उभयेषा-
पामपि भवतां तीव्रदण्डमागमोक्तप्रायश्चित्तवक्त्रं कुर्मः क-
रिष्याम इति ।

' शङ्खानिगमादी ' इति पदं व्याख्यानयति-

अच्छाणनिगमादी, ठाण्णपाडयमहंसवो कुणणो ।

गेलन्नमन्थवसगा, महान्ने तत्तिया वा वि ॥

अध्वनिगता अध्वानमनिलङ्घ्य सहस्रैव तत्र प्राप्ताः । आदिश-
ब्दादप्यदप्येवविधं कारणं गृह्यते, स्थानोत्पानिकमहोत्सवं
नाम तत्राप्यैः कोऽप्युत्सवविशेषः, सदस्रैव श्राद्धं कर्तुमारब्धः
तं वा श्रुत्वा, यदि वा क्षेत्रं प्रत्युपार्जितं प्रेष्यन्ते, तदानीं ग्लाना-
ग्लानप्रतिचरणव्यापृता वा । अथवा सार्धवशगास्ते तत्र सार्ध-
मन्तरेण गन्तुं न शक्यन्ते । महानदी वा काचिद्वान्तरालं, ताम-
भीष्टणमुत्तरतां बहवो दायाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो
यावतां मर्यादेकस्याप्यन्यत्र प्रेषणं न संगच्छते, अत एतैः कार-
णप्रत्युपार्जितेऽपि प्रविशतां न कश्चिदोषः ।

अथ यतनामाह-

समण्णना मह अन्ने, वि दट्टिउं दाणमाइ वज्जंति ।

दव्वाइ पेहंता, जइ ज्वगंती तद्वि मृच्छा ॥

यदि समनोक्षाः सांभोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह
तिष्ठामस्मि । अथ न सन्ति समनोक्षास्ततोऽन्यानप्यन्यसांभो-
गिकानां पट्टा दानश्राद्धादिकुत्रानि वर्जयन्ति ते, आध्यात्मिका-

दिदोषसंज्ञवात् । शेषेषु कुत्रेषु पर्यटन्तो (दव्वादी पेहंति)
छव्यतः क्षेत्रतः काष्ठतो जावतश्च शुद्धमन्त्रेपयन्तो, यद्यपि कि-
मपि स्थापनादिकं दापं ज्वगन्ति प्राप्तुवन्ति, तथा शुद्धाः कृप-
कवदशत्रुपरिणामनया श्रुतज्ञानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति । गतं परि-
हरणानुयानहारम् । वृ० १ उ० ।

अणुजाण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदने, सूत्र० १ ध्रु० ए
अ० । स्था० ।

अणुजाणावणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । मुक्तावने, पञ्चा० १६ वि० ।

अणुजाणाहिगार-अनुयानाधिकार-पुं० । रथस्य पृष्ठतोऽनु-
वज्जनेन प्रतिष्ठाधिकारे, जी० १ प्रति० ।

अणुजाणित्तए-अनुज्ञातुम्-अव्य० । तथैव सम्यगेतद्धारयाऽ-
न्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमित्यर्थः, स्था० २ ग० १ उ० ।

अणुजात (य)-अनुधात-त्रि० । अनुगते, प्रश्न० २ आश्र०

द्वा० । " सरिसे वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सदृशवचनः ।

वृषभस्य अनुजातः सदृशो वृषभानुजातः । सू० प्र० १२ पाहु० ।

अनुरूपः सम्पदा पितृस्तुह्यो जातोऽनुयातः, अनुगतो वा
पितृवितृत्याऽनुयातः पितृसमे सुतजेदे, यथा महायशाः, आदि-
त्ययशसा पित्रा तुल्यत्वात् । स्था० ४ ग० १ उ० ।

अणुजुत्ति-अनुयुक्ति-स्त्री० । अनुगतयुक्तौ, " सव्वाहिं अणु-

जुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए " सर्वाङ्गिरथानुगताभिर्भुक्तिभिः

सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्युच्यन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३

अ० ३ उ० । " सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मनिमं पस्सिलेहिया "

सर्वायाः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिजीविकायसाधनत्वेनानु-

कृता युक्तयः साधनानि, यदि वा सिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहा-

रेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता

युक्त्यस्ताभिर्मतिमान् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुजट्ट-अनुज्येष्ट-त्रि० । अनुगतो ज्येष्टम् । प्रा० । स० ।

ज्येष्ठानुरूपे ज्येष्ठानतिक्रमे च । वाच० । पञ्चा० । ज्येष्ठसमीपे

वर्तमाने यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः त्रिकस्यानुज्येष्ठः, चतुष्का-

दीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः । आ० म० प्र० । अनु० ।

अणुज्जया-अनूयता-स्त्री० । उद्देश्यतारूपे विषयताविशेषे,

ध० १ अधि० ।

अणुज्जित-अनर्जितत्व-न० । वराकत्वे, वृ० ३ उ० ।

अणुज्जुय-अनृजुक-त्रि० । असरत्वे कथञ्चित् सरत्वे कर्तुम-

शक्ते, उक्त० ३४ अ० । वक्त्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणुज्झाण-अनुध्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।

अणुज्झावित्ता-अनुध्याय-अव्य० । चिन्तयित्वेत्यर्थः, " कम्म-

गरसालाए अणुज्झावित्ता पस्सिमिस्सो " आ० म० द्वि० ।

अणुद्धाण-अनुष्ठान-न० । आचारं, स्था० ७ ग० १ चैत्यवन्दना-

दिके आचरणे, पञ्चा० ३ वि० । आच० । क्रियायाम्, पञ्चा०

१६ वि० । क्रियाकलापे, ग० १ अधि० । कात्राध्ययनादौ,

अ० २ श० १ उ० ।

फलवद्भुमसद्दीज-प्ररोहमदृशं तथा ।

साधनमुष्ठानमित्युक्तं, सानुबन्धं महर्षिभिः ॥ २४३ ॥

फलवतः फलप्राप्तारभाजो दुमस्य न्यग्रोधादेः सदृश्यं

यद्वाजे, तस्य यः प्ररोहोऽङ्गुराङ्गदरूपस्तेन सदृशं समं यत्त-

तथा, तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, साधु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमादिरूपमित्यनेन प्रकारेणोक्तं, शास्त्रेषु सानुबन्धमुत्तरोत्तरानुबन्धवद् मदर्पिभिः परममुनिभिः, शुद्धाधिकारिसमाश्रयत्वात्तस्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंचूतं, शान्तदान्तमविप्लुतम् ।

नाप्रोज्ज्वलताप्रायं, बहिःश्रेष्ठाधिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंभूतम्, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंवेदननाम्ना संभूतं प्रवृत्तं, शान्तदान्तं, शान्तदान्तपुरुषारम्भत्वाद्, अत एवाविप्लुतं सर्वथा विप्लवरहितम् । व्यवच्छेद्यमाह—न नैव, अप्रोज्ज्वलताप्रायम्—अत्रादृक्प्रान्तादुद्भवो यस्याः, सा चासौ व्रता च तप्रायम् । सा हिलता अप्रोद्भवत्वेन न लतान्तरमनुबहुं क्रमात् । इदं चानुष्ठानमनुत्तरोत्तरानुबन्धप्रधानमित्यत उक्तं नाप्रोज्ज्वलताप्रायमिति । तथा बहिःश्रेष्ठयां चैत्यवन्दनादिरूपायामधिमुक्तिः शुद्धा यत्र तत्तथा ॥ २४४ ॥

इत्थं विषयस्वरूपानुबन्धशुद्धिप्रधानमनुष्ठानत्रयमभिधाय साम्प्रतं त्रयस्याप्यवस्थाज्जेदेन संमतत्वमाविश्चिकीर्षुगह—

इष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।

निर्दिशितमिदं तावत्, पूर्वमत्रैव द्वेशतः ॥ २४५ ॥

इत्थं मन्यते मतिमद्भिः । चः समुच्चये । एतदपि प्रागुक्तमत्र योगचिन्तायां, विषयोपाधिर्विषयशुद्धमनुष्ठानं, किंपुनः स्वरूपशुद्धानुबन्धशुद्धे इत्यपिशब्दार्थः । कीदृशमित्याह—संगतं युक्तमेव, निर्दिशितं निरूपितमिदं संगतत्वम्, तावच्छब्दः क्रमार्थः, पूर्वं प्रागत्रैव शास्त्रे द्वेशतः संक्षेपेण “मुक्ताविच्छाऽपि या श्लाघ्या, तमःज्ञयकरी मता” इत्यादिना ग्रन्थेन । विस्तरतस्तु विशेषग्रन्थादवसेयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमधिकृत्याह—

अपुनर्वन्धकस्यैवं, सम्यग्र योपपद्यते ।

तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल—मवस्थानेदसंश्रयात् ॥ २४६ ॥

कापिलसौगतादिशास्त्रप्रणीतं समुक्तजनयोग्यमनुष्ठानमखिलं समस्तम् । कुत इत्याह—अवस्थाभेदसंश्रयात् । अपुनर्वन्धकस्यानंकस्वरूपाङ्गीकरणात् । अनेकस्वरूपाज्युपगमे हि अपूर्वबन्धकस्य किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थायामवतरतीति ॥ २४६ ॥ यो० वि० ।

प्रीतिप्रक्तानुष्ठानादिज्जेदाः—

सूक्ष्माश्च विगृह्याश्चैवा—तिचारा वचनोदये ।

स्यूलाश्चैव घनाश्चैव, ततः पूर्वमपी पुनः ॥ ए ॥

(सूक्ष्माश्चेति) सूक्ष्माश्च लघवः, प्रायशः कादाचित्कत्वात् । विगृह्याश्चैव सन्तानाभावात् । अतिचारा अपराधा वचनोदये भवन्ति; ततो वचनोदयात् । पूर्वमपी अतिचाराः पुनः स्यूलाश्च बादराश्च, घनाश्च निरन्तराश्च जवन्ति । तदुक्तम्—“चरमाद्यायां सूक्ष्माः, अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च । आद्यत्रये त्वमी स्युः, स्यूलाश्च तथा घनाश्चैव” ॥ ६ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

सदनुष्ठानमनः खलु, बीज्यासात् प्रशान्तवाहितया ।

संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥

तत्प्रीतिभक्तिवचना—संगोपपदं चतुर्विधं गीतम् ।

तत्त्वाभिज्ञः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥

यत्रादगोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।

शेषत्यागेन करो—ति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥

गौरवविशेषयोगाद्, बुद्धिमतो यदिशुद्धितरयोगम् ।

क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

(सदनुष्ठानमित्यादि) सदनुष्ठानं प्रागुक्तमतः खलु बीज्यासादस्मात् पुण्यानुबन्धपुण्यनिष्कृपात्, प्रशान्तवाहितया प्रशान्तं बोधुं शीघ्रं यस्य तत् प्रशान्तवाहि, तद्वाचस्तया चित्तसंस्काररूपया, संजायते निष्पद्यते । नियोगाद्ययमेन, पुंसां मनुष्याणां, पुण्योदयसहायं पुण्यानुजावसहितम् ॥ ३ ॥ तदेव जेदद्वारेणाह—(तदित्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च वचनं चासङ्ग-श्चेत शब्दा उपपदमुपाचारिपदं यस्य सदनुष्ठानस्य तत्तथा, चतुर्विधं चतुर्जेंदं, गीतं शब्दितं, प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥ आदरः प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमः, प्रीतिश्चाऽभिरुचिरुपा, हितोदया हित उदयो यस्याः सा तथा भवति । कर्तुंरनुष्ठानः, शेषत्यागेन शेषप्रयोजनपरित्यागेन, तत्काले करोति यच्छातीव धर्म्मादरात् । तदेवं चूतं प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम् ॥ ३ ॥ द्वितीयस्वरूपमाह—गौरवत्यादि । गौरवविशेषयोगात्, गौरवं गुरुत्वं पूजनीयत्वं तद्विशेषयोगात् तदधकसंबन्धात्, बुद्धिमतः पुंसां यदनुष्ठानं विशुद्धितरयोगं विशुद्धितरव्यापारं, क्रियया करणेन, इतरतुल्यमपि प्रीत्यनुष्ठानतुल्यमपि, ज्ञेयं तदेवंविधं प्रक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह—कः पुनः प्रीतिप्रक्तयोर्विशेषः ? , उच्यते—

अत्यन्तवल्लजा खलु, पत्नी तद्रष्टिता च जननीति ।

ऋष्यमपि कृत्यमनया—ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ५ ॥

[अत्यन्तेत्यादि] अत्यन्तवल्लजा खलु अत्यन्तवल्लभैव, पत्नी जार्या, तद्वत् पत्नीवदत्यन्तैव हिता च हितकारिणीति कृत्वा जननी प्रसिद्धा, तुल्यमपि सदृशमपि, कृत्यं जोजनाच्छादनादि, अनयोर्जननीपत्न्योर्ज्ञातमुदाहरणं स्यात् । प्रीतिप्रक्तिगतं प्रीतिप्रक्तिविषयमिदमुक्तं भवति, प्रीत्या पत्न्या क्रियते, प्रक्त्या मातुरितीयान् प्रीतिभक्तयोर्विशेषः ॥ ५ ॥

तृतीयस्वरूपमाह—

वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रोचित्ययोगतो या तु ।

वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि) वचनात्मिका आगमात्मिका, प्रवृत्तिः क्रियारूपा चर्वच सर्वस्मिन् धर्मव्यापारे कान्तिप्रत्युपेक्षादौ, औचित्ययोगतो या तु देशकालपुरुषव्यवहाराद्यौचित्येन वचनानुष्ठानमिदमेवं प्रवृत्तिरूपं चारित्रवतः साधोर्नियोगेन नियमनं नान्यस्य जवतीति ॥ ६ ॥

तुर्थस्वरूपमाह—

यत्त्वज्यामानिशयात्, सात्मीभूतमिव चेष्टयते सङ्गिः ।

तः सङ्गानुष्ठानं, जवति त्वेतत्तदा वैधात् ॥ ७ ॥

(यत्त्वित्यादि) यत्तु यत् पुनरभ्यासातिशयादभ्यासप्रकर्षाद्भूयो भूयस्तदासर्वजनं, सात्मीभूतमिवात्मसादभूतमिव, चन्दनगन्धन्यायेन चेष्टयते क्रियते, सङ्गिः सत्पुरुषैर्जिनकादिपकादिभिस्तदेवंविधमसङ्गानुष्ठानं जवति त्वेतज्जायते, पुनरेतत्तदा वैधाद् वचनवैधादागमसंस्कारात् ॥ ७ ॥

वचनासङ्गानुष्ठानयोर्विशेषमाह—

चक्रप्रमणं दण्डा-तज्ज्ञावे चैव यत् परं भवति ।

वचनासङ्गानुष्ठान-नयोस्तु तदङ्गापकं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(चक्रेत्यादि)चक्रप्रमणं कुम्भकारचक्रपरिवर्तनं, दण्डादण्डसं-
योगात्, तदभावे चैव दण्डसंयोगाभावे चैव, यत्परम्यङ्गवति,
वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, ज्ञापकमुदाहरणं ज्ञेयम् । यथा
चक्रप्रमणमण्डं दण्डसंयोगाभावे प्रयत्नपूर्वकमेवं वचनानुष्ठान-
मप्यागमसङ्गात् प्रवर्तते । तथा चान्यचक्रप्रमणं दण्डसंयोगा-
भावे केवलादेव संस्कारापरित्यागात् संजयति । एवमागमसं-
स्कारमात्रेण वस्तुतो वचननिरपेक्षमेव स्वाभाविकत्वेन यत् प्रव-
र्तते तदसङ्गानुष्ठानमितीयान् जेद इति ज्ञावे ॥ ८ ॥

एषामेव चतुर्णामनुष्ठानानां फलविभागमाह—

अन्युदयफले चाद्ये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।

एतदनुष्ठानानां, विज्ञेये इह गतापाये ॥ ९ ॥

अन्युदयफले चान्युदयनिर्वर्तके च, आद्ये प्रीतिभक्त्यनुष्ठाने,
निःश्रेयससाधने मोक्षसाधने, तथा चरमे वचनासङ्गानुष्ठाने,
एतेषामनुष्ठानानां मध्ये, विज्ञेये, इह प्रक्रमे, गतापाये अपायर-
हिते निरपाये ॥ ९ ॥

एतेष्वेव चतुर्णामनुष्ठानेषु पञ्चविधकान्तियोजनमाह—

उपकार्यपकारिविधा-कवचनधर्मात्तरा मता क्षान्तिः ।

आद्यद्वये त्रिजेदा, चरमद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपेत्यादि) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः ।
विपाकः कर्मफलानुभयनमनर्थपरम्परा वा, वचनमागमः, धर्मः
प्रशमादिरूपः, तदुत्तरा तत्प्रधाना मता संमता पञ्चविधा, क्षान्तिः
क्षमा, आद्यद्वये आद्यानुष्ठानद्वये, त्रिजेदा त्रिप्रकारा । चरम-
द्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विभेदेति द्विविधा, तत्रोपकारिणि क्वा-
न्तिरुपकारित्वान्तिः, तदुक्तदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य, तथा अप-
कारिणि क्षान्तिरुपकारित्वान्तिः, मर्मदुर्वचनाद्यसहमानस्यायम-
पकारी जविष्यति इत्यभिप्रायेण क्षमां कुर्वन्तः । तथा विपाके
क्षान्तिः विपाकक्षान्तिः, कर्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपश्य-
तो दुःखनीरुतया मनुष्यजावमेव वा अनर्थपरम्परामात्रोच्यतो
विपाकदर्शनपुरःसरा संभवति । तथा वचनक्षान्तिरागमेवावल-
म्बनीकृत्या प्रवर्तते न पुनरुपकारित्वापकारित्वविपाकाख्य-
मात्रमनर्थस्य सा वचनपूर्वकत्वादप्यनिरपेक्षत्वात्तथोच्यते । ध-
र्मोत्तरा तु क्षान्तिश्चेदन्त्येव शरीरस्य वेददाहादिषु सौर्भमादि-
स्वधर्मकल्याणोपकारिणी न क्रियते, सदृजत्वेनावस्थिता
सा तथोच्यते ॥ १० ॥ शो० १० विव० । अष्ट० । देवपूजनादिके,
द्वा० १३ द्वा० । कर्मणि, आ० म० द्वि० ।

अणुद्वि-अनुष्ठान-त्रि० । अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ९ अ० ४

उ० । आ० म० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ विव० । “अहवा अ-
वितहं णो अणुद्वि” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अनुद्वि-त्रि० । द्रव्यतो निषण्णे, भावतो ज्ञानदर्शनचारित्र्यो-
द्योगरहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुगन्त-अनुनयत्-त्रि० । स्वामिप्रायेण शनैः २ प्रज्ञापयति,
“पुरोहितं तं कमसोऽणुगन्तं, णिमंतयंतं च सुप धरणेण ”
उक्त० १४ अ० ।

अणुगाइ(ण्)-अनुनादिन्-त्रि० । अनुवदति । अनु-नद-णिनि ।

प्रतिरूपशब्दकारके, “गम्भीरेणानुनादिना” वाच० । “गजिय-
सदस्स अणुणाइणा ” अनुनादिना सदृशेन । कल्प० ।

अणुणाइत्त-अनुनादित्व-न० । प्रतिरूपेपेततारूपे सत्यवचना-
तिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

अणुणाय-अनुनाद-पु० । मेघस्वनादौ, “अणुणादे पयाहिणज्जे
जिणघरे वा” आ० म० द्वि० ।

अणुणाम-अनुनाश-पुं० । अनु-नश-घञ् । अनुमरणे, अदूरदेशा-
दावयं । संकाशादित्वात् एषः । वाच० ।

अनुनाश्य-त्रि० । तददूरदेशादौ, वाच० । अनुनासिके नासा-
कृतस्वरे, स्था० ७ वा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते गेयदेशेभेदे,
जं० ७ वक्त० । अनु० । जी० ।

अणुणिज्जमाण-अनुनीयमान-त्रि० । प्रार्थ्यमाने, “अह एवं
पि अणुणिज्जमाणे णेच्छति ” नि० चु० १ उ० ।

अणुणन (य) अनुन्नत-त्रि० । अनुच्छिन्ने मदरहिते, “एत्थं
वि भिक्खु अणुणन विणीए” न उन्नतेऽनुन्नतः । शरीरेणोच्छिन्नः,
भावांन्ननस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरा मदमपि
न विधत्ते । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । “अणुणन नावणए अप्पहि-
ए अणाउत्ते ” अनुन्नतो हव्यतो भावतश्च । हव्यतो नाकाशद-
र्शा, भावतो न जात्याद्यजिमानवान् । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणुणवणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । अनुमोदने, “आयप्पमाणम-
त्तो, चउदिसि होइ उम्माहो गुरुणो । अणुणवायस्स समा, न
कण्णइ तथ पविसेउ ” इदानीमनुज्ञापना, साऽपि नामादिभिः
पुद्गदैव । नामस्थापने सुगमे । हव्याऽनुज्ञापना त्रिधा-लौकिकी,
लोकोत्तरा, कुप्रायचनिकी च । तत्र लौकिकी सचित्ताचित्तामि-
श्रभेदैस्त्रिधा-अश्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । मुक्ताफलचैड्युद्यनु-
ज्ञापना द्वितीया । विविधाजरणविनूषितवनिताद्यनुज्ञापना तृती-
या । लोकोत्तराऽपि सचित्तादिजेदात् त्रिधा-शिष्याद्यनुज्ञा
प्रथमा । वस्त्राद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितवस्त्रादिशिष्याद्यनुज्ञा
तृतीया । एवं कुप्रायचनिक्यपि त्रेधाऽव्यगन्तव्या । क्षेत्रानुज्ञापना
यावतो क्षेत्रस्यानुज्ञापनं विधीयते, यस्मिन्वा क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्याय-
ते वा । एवं काष्ठानुज्ञापना । ज्ञावानुज्ञा आचाराद्यनुज्ञा, एषा चात्र
ग्राह्या । प्रव० २ द्वा० । (अवग्रहविषयाऽनुज्ञापना ‘उग्रह’ शब्दे
द्वि० ज्ञा० ६६८ पृष्ठे; वसतिविषया च ‘वसह’ शब्दे द्रष्टव्या)

अणुणवणी-अनुज्ञापनी-स्त्री० । अवग्रहस्यानुज्ञापनीयायां
भाषायाम्, स्था० ४ वा० ३ उ० ।

अणुणवित्ता-अनुज्ञाप्य-अव्य० । अनुमोद्येत्यर्थे, “जिणवर
मणुणवित्ता, अजणघणकयगविमद्वसंकासा ” आ० म० द्वि० ।

अणुणवियपाणजोयणभोइ(ण्)-अनुज्ञाप्यपानभोजनजो-जिन्-
पुं० । आचार्यादीननुज्ञाप्य पानभोजनादिविधातरि, अदत्तादा-
नविरतेर्द्वितायां ज्ञायनां प्रतिपन्ने, आचा० २ श्रु० २ अ० ६ उ० ।
आव० ।

अणुणवेमाण-अनुज्ञापयत्-त्रि० । अनुज्ञां ददति, स्वजनादीन्
तत्कालगतसार्थमिकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतो नातिक्राम-
न्ति” स्था० ६ वा० ।

अणुण्मा-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुज्ञानमनुज्ञा । अधिकारदाने,

स्था० ३ उ० ३ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । हा० ।
नित्योऽस्य—

मे किं तं अणुना ? । अणुना छविद्विहा पञ्चत्ता । तं जहा-
नामाणुसा ? , उवणाणुसा २, दव्वाणुसा ३, खेत्ताणुसा ४,
कालाणुसा ५, जावाणुसा ६ । से किं तं नामाणुसा ? ।
नामाणुसा जस्स एं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं
वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुजयाणं वा अणुण
त्ति नामं कीरइ, सेत्तं नामाणुसा । से किं तं उवणाणुसा
? । उवणाणुसा जेणं कट्टकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चि-
त्तकम्मे वा गंठिमे वा वेडिमे वा पूरिमे वा संघाप्पे वा अ-
क्खए वा वरारुए वा एगओ वा अणेगओ वा, सञ्जा-
वट्ठवणाए वा अमव्भावउवणाए वा अणुणत्ति उवण-
विज्जइ, सेत्तं उवणाणुसा । नामट्ठवणाणं को पडविसेसो ? ।
नामं आवकहियं, उवणा इत्तिरिया वा हज्जा आवकहिया
वा, सेत्तं उवणाणुसा । से किं तं दव्वाणुसा ? । द-
व्वाणुसा दुविहा पणत्ता । तं जहा-आगमओ य, नो आ-
गमओ य । से किं तं आगमओ य दव्वाणुसा ? । आगमओ द-
व्वाणुसा जस्स एं अणुणत्ति पयं सिक्खियं त्रियं जियं
मियं परिजियं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणक्खरं
अव्वाइडक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चापेत्तियं पकि-
पुत्तं पडिपुन्नघोसं कंजोद्विप्पमुक्कगुरुवायणोवगयं से एं
तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिग्रहणाए धम्मकहाए नो अणु-
प्पेहाए कम्हाए अणुवउत्तो दव्वमिति कट्ट नेगमस्स एगे
अणुवउत्ते आगमओ य इका दव्वाणुन्ता दुन्नि अणुवउत्ता
आगमओ दुन्नि दव्वाणुणाओ तिस्सि अणुवउत्ता आगम-
ओ तिणिण दव्वाणुणाओ, एवं जावइया अणुवउत्ताओ
तावइयाओ दव्वाणुणाओ । एवामेव व्यवहारस्स वि संग-
हस्स एगे वा अणेगे वा उवउत्ता वा अणुवउत्ता वा द-
व्वाणुणा वा सा एगा दव्वाणुसा उजुसुयस्स एगे अणु-
वउत्ते आगमओ एगा दव्वाणुणा पुद्दत्तं नत्थि इतिहं
सइनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्यकम्हा जइ जाणए
अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए ए भवइ, सेत्तं
आगमओ दव्वाणुन्ता । से किं तं नो आगमओ दव्वाणुसा
? । नो आगमओ दव्वाणा तिविहा पणत्ता । तं जहा-जा-
णगसरीरदव्वाणुणा, भवियसरीरदव्वाणुणा, जाण-
गसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुसा । से किं तं जाणग-
सरीरदव्वाणुणा ? । जाणगसरीरदव्वाणुन्ता अणुण
त्ति पयत्याहिगारं जाणगस्स जं सरीरं ववगयचुयचाविय-
चसदेहं जीवविप्पज्जं सिज्जागयं वा संघारगयं वा निमी-
हियागयं वा सिद्धमिन्नागयं वा अहोणं इमेणं सरीर-
समुस्सएणं अणुणत्ति य पयं आगमियं पन्नावियं पव्वियं

दमियं निदंसियं उवदमियं जहा । को दिट्ठतो ? । अयं घय-
कुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरीरदव्वा-
णुन्ता । से किं तं भवियसरीरदव्वाणुन्ता ? । जे जीवजोणी-
जम्भनिकखंते इमेणं चैव सरीरसमुस्सएणं आइत्तेणं
जिणदिट्ठो णं भावो एं अणुणत्ति पयंसियकाले सि-
क्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को दिट्ठतो ? । अयं घयकुंभे
भविस्सइ, अयं महुकुंभे जविस्सइ, सेत्तं भवियसरीरदव्वा-
णुणा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता द-
व्वाणुणा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणु-
णा तिविहा पणत्ता । तं जहा-लोइया, कुप्पावणिया य, द्वा-
उत्तरिया । से किं तं लोइया दव्वाणुणा ? । लोइया दव्वाणु-
णा तिविहा पणत्ता । तं जहा-मचित्ता अचित्ता मीसिया ।
से किं तं सचित्ता ? । सचित्ता से जहा णामए रायाइ वा
जुवगायाइ वा ईसरे वा तलवरे वा मांडलिणइ वा कोडंविणइ
वा सेट्ठीइ वा इब्जेइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ
कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आमं वा हत्थि वा उट्ठं वा
गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वा चलयं वा दासं वा
दामिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता । से किं तं अ-
चित्ता ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवगायाइ वा ईसरेइ
वा तलवरेइ वा कोडंविणइ वा मांडलिणइ वा इब्जेइ वा सेट्ठीइ
वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे स-
माणे आसणं वा सयणं वा उत्तं वा चामरं वा पडं वा
मउरं वा हिरणं वा सुवणं वा कंसं वा मणिमुत्तियसंख-
सिलप्पवात्तरत्तरयणमाइयं संतमारसावज्जं अणुजाणिज्जा,
सेत्तं अचित्ता दव्वाणुणा । से किं तं मीसिया दव्वाणु-
णा ? । मीसिया दव्वाणुणा से जहा नामए रायाइ वा
जुवगायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा मांडलिणइ वा कोडं-
विणइ वा इब्जेइ वा सेट्ठीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे हत्थिं वा मुहमंरुणमं-
मियं आमं वा घासणं वा मरमंमियं सकंमियं दासं
वा दासिं वा मव्वाहंकारविज्जसियं अणुजाणेज्जा, सेत्तं मी-
सिया दव्वाणुणा । सेत्तं लोइया दव्वाणुणा । से किं तं कु-
प्पावणिया दव्वाणुणा ? । कुप्पावणिया दव्वाणुणा तिविहा
पणत्ता । जं जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं
सचित्ता ? । से जहा नामए आयरियाए वा उवज्जाइए
वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आमं वा
हत्थि वा उट्ठिं वा णाणं वा खरं वा घोडं वा अयं वा एल-
गं वा चलयं वा दामं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं
सचित्ता कुप्पावणिया दव्वाणुणा । से किं तं अचित्ता ? ।
अचित्ता से जहा नामए आयरिणइ वा उवज्जाइए वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा

लत्तं वा चामरं वा पटं वा मण्डं वा हिरण्यं वा सुवर्णं वा
 कंसं वा दूषं वा मणिमुत्तियमस्वमित्पवालरत्तरणमाद्यं
 मन्त्रमात्रजं अणुजाणिजा, सेत्तं अचित्ता कुप्पावणि-
 या दव्वाणुणा । मे किं तं मीनिया ? । मीसिया से जहा
 नामए आयरिएड वा उवज्जाएड वा कस्मइ कम्मि कारणे तुट्टे
 समाणे इत्थि वा मुहज्जंमंडियं वा आसं वा घासगं वा चाम-
 रमंडियं वा मकंडियं वा दासं वा दासिं वा सव्वालंकारविज्ज-
 मियं अणुजाणिजा, सेत्तं मीमिया कुप्पावणिया दव्वाणुणा ।
 सेत्तं कुप्पावणिया दव्वाणुणा । मे किं तं द्योउत्तरिया दव्वा-
 णुणा । द्योउत्तरिया दव्वाणुणा तिविहा पणत्ता । तं जहा-
 मचित्ता अचित्ता मीसिया । मे किं तं सचित्ता ? । सचित्ता
 से जहा नामए आयरिएड वा उवज्जाएड वा पवत्तएड वा
 थेरुड वा गणीड वा गणहरेड वा गणावच्छेयएड वा सीमस्स
 वा सीमिणीएड वा कम्मि कारणे तुट्टे समाणे सीसं वा सि-
 स्मिणीयं वा अणुजाणिजा, सेत्तं सचित्ता । मे किं तं अ-
 चित्ता ? । अचित्ता से जहा नामए आयरिएड वा उवज्जा-
 एड वा पवत्तएड वा थेरुड वा गणीड वा गणहरेड वा गणाव-
 च्छेयएड वा सीमस्स वा सिस्मिणीएड वा कम्मि य कारणे तुट्टे
 समाणे वन्यं वा पायं वा पणिग्गहं वा कंवडं वा पायपुच्छ-
 णं वा अणुजाणिजा, सेत्तं अचित्ता । मे किं तं मीमि-
 या ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएड वा उवज्जाएड
 वा पवत्तएड वा थेरुड वा गणावच्छेयएड वा सिस्सस्स वा
 सिस्मिणीएड वा कम्मि कारणे तुट्टे समाणे सिस्सं वा सि-
 स्मिणीयं वा सत्तंरुमत्तोवगरं अणुजाणिजा, सेत्तं मीसिया ।
 सेत्तं लोगोत्तरिया । सेत्तं जाणगमरीरभवियमरीरवडिरित्ता
 दव्वाणुणा । सेत्तं नो आगमओ दव्वाणुणा । सेत्तं दव्वाणु-
 ण्णा । मे किं तं खेत्ताणुणा ? । खेत्ताणुणा जो णं जस्स खेत्तं
 अणुजाणइ जत्तियं वा खेत्तं जम्मि वा खेत्ते, सेत्तं खेत्ता-
 णुणा । मे किं तं काज्ञाणुणा ? । काज्ञाणुणा जो णं ज-
 स्स कालं अणुजाणइ जत्तिया वा काज्ञं अणुजाणइ जम्मि
 वा काले अणुजाणइ, तं तीतं पकुप्पन्नं वा अणुगतं वा व-
 सन्तद्वेमतपाउमं वा अवत्तएणइउं, सेत्तं कालाणुणा । से किं
 तं जावाणुणा ? । जावाणुणा तिविहा पणत्ता । तं जहा-द्यो-
 ड्या, कुप्पावणिया, द्योउत्तरिया । से किं तं द्योड्या भावाणु-
 ण्णा ? । मे जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा जाव रुट्टे स-
 माणे कस्मइ कोहाइभावं अणुजाणिजा, सेत्तं द्योड्या भावा-
 णुणा । से किं तं कुप्पावणिया जावाणुणा ? । कुप्पावणिया
 से जहा नामए कंइ आयरिए वा जाव कस्म वि कोहाइभावं
 अणुजाणिजा, सेत्तं कुप्पावणिया । मे किं तं लोगोत्तरिया
 भावाणुणा ? । द्योउत्तरिया जावाणुणा मे जहा नामए

आयारए वा जाव कम्मि कारणे तुट्टे समाणे काज्ञोच्चियं
 नाणाइ गुणजोगिणो विणयस्स खमाइप्पहाणस्स सुमीद्व-
 स्स सीसस्स तिविहेणं तिगरणविमुत्तेणं भावेणं आयारं
 दा स्यगमं वा उणं वा समवायं वा विवाहप्पत्ती वा
 एयाधम्मकहा णं वा उवासगदसा उ वा अंतगमदसा उ वा
 अणुत्तरोववाइदसा उ वा पणहा वा गरणं वा विवागमुयं वा
 दिट्ठिवायं वा सव्वदव्वगुणपज्जवेहिं सव्वाणुओगं वा
 अणुजाणिजा, सेत्तं द्योउत्तरिया भावाणुणा ॥

किमणुष् कस्स णुष्सा, केवइ काज्ञं पवित्तिआ णुष्सा ।

आइगरपुरिमताद्वे, पवित्तिया उसहसेणस्स ॥ १ ॥

अणुण उणमणी णमणी, नामणि उवणा पजावो य ।

पभवण पयर तट्टुजयं, मज्जाया नाउ मगो कप्पो य ॥ २ ॥

संगहमंवरनिज्जर, उड्ढिकारणं चेव जीववुड्ढिपयं ।

पय पवरं चेव तहा, वीसमणुणाइं नामाइं ॥ ३ ॥ नं० ॥

अणुणव्वइत्त णुणा, उणामि य जस्मियं वि उल्लमणी ।

गिहिसाधूहिं णमिज्जति, तम्हा जा होति णमण त्ति ॥

सुतधम्मचरणधम्मो, णामयती जेण णामती तम्हा ।

उविओ य आरियत्ते, जम्हा तो तेण उवण त्ति ॥

उवितो गणाधिवत्ते, होति पन्नूतेण पजवो य ।

सव्वेसिं णामादी-ण होति पजवो पसइ त्ति ॥

एगद्धा आयरिया-दीणं रूपं पजावित्ते ।

जेण विणा णो मिज्जति, तेण वियारो तु जिज्जति गणो से ।

तदुभयहियंति जणत्ति, इह परद्वोगे य जेण हितं ॥

गणधरमेव वरेती, जम्हा जत्तेण होति मज्जादा ।

करणेज्जो कप्पोत्ति य, कप्पो गणकप्पकरणेणं ॥

णाणादिमोक्खमग्गो, सो तम्मि ठितो त्ति तो जवति मग्गो ।

जम्हा तु णायकारी, णाओ वा एस तो णातो ।

दव्वे जावे सग्गह, दव्वे आहारवत्तमादीहिं ॥

जावे णाणादीहिं, संगेणहति संगहो तेणं ।

दुविहेण संवरेणं, इंदिय-णोइंदिएसु जम्हा उ ॥

अप्पाण गणं व तहा, संवरयति संवरो तम्हा ॥

गणवारणमणिद्वारे, कुणमाणे णिज्जरेति कम्माइं ।

अन्ने य णिज्जरावे, तम्हा तो णिज्जरा होति ॥

वातेरित्ता णई इव, एक पमाणेण तरुणमादीणं ।

होत्ति थिरा वडंतो, तरुव थिरकरणतेणं तु ॥

जम्हा तु अवोच्चिती, सो कुणती णाणचरणमादीणं ।

तम्हा खसु अच्चेदं, गुणप्पसिच्छं हवति णामं तु ॥

तित्थकरेहिं कयमिणं, गणधारीणं तु तेहिं सीसाणं ।

तत्तो परंपरेणं, आयमिणं तेण जीयं तु ॥

वडइ य णाणचरणं, गणं तु तम्हा उ तेण बुड्ढिपदं ।

पवरं पहाणमेत्तं, सव्वेत्तिं रायदेवाणं ॥

एस अणुसाकप्पो, जहाविही वणिणतो ममासेणं । पं० भा० ।

तिविहाऽणुना पसत्ता । तं जहा-आयरियत्ताए, उव-
ज्जायत्ताए, गणित्ताए । स्था० ३ ग० ३ उ० ।

परं प्रति सूत्रार्थदानानुमतौ, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थयोरन्यप्र-
दानं प्रत्यनुगमने, व्य० १ उ० । गुरोर्निवेदिते, सम्यगिदं धारया-
ऽन्याश्चाऽध्यापयेति गुरुवचनविशेषे, अनु० । अन्त० । अनुज्ञावि-
धिस्तु योगोत्क्षेपकायोत्सर्गवर्जः सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्वक्तव्यः,
नवरं, प्रवेदिते गुरुवदति-सम्यग् धारयान्येषां च प्रवेदय, अन्या-
नपि पाठयेत्यर्थः । आवश्यकतादिषु तणुलविचारणादिप्रकी-
र्णकेष्वपि चैव एव विधिः, नवरं, स्वाध्यायप्रस्थापनं योगोत्क्षेप-
कायोत्सर्गश्च न क्रियते । एवं सामायिकाद्यध्ययनेषुद्देशकेषु च
चैत्यवन्दनप्रदक्षिणात्रयादिविशेषक्रियारहितसमवन्दनकप्रदा-
नादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकारलिखिता सामा-
चारी । सांप्रतं पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलभ्यन्ते, न च तथो-
पलभ्य संगोहः कर्तव्यः, विचित्रत्वात्सामाचारीणामिति । अ-
नु० । अन्त० । आ० म० छि० । (व्यतिकृष्टदेशकालादौ उद्देश-
निषेधः द्वि० भा० ८११ पृष्ठे ' उद्देश ' शब्देः पञ्चानां ज्ञानानां
मध्ये श्रुतस्यैवाऽनुज्ञा प्रवर्तते इति 'अणुओग' शब्देऽत्रैव भागे
३५३ पृष्ठे समुक्तम्) धनिष्ठाशतभिषकस्वार्ताश्रवणपुनर्वसुषु
अनुज्ञा कार्य्या । द० प० ।

अणुणाअ-अनुज्ञात-त्रि० । जिनानुमते, स्था० ३ ग० ४
उ० । दत्ताहे, उक्त० २३ अ० । आ० क० ।

अणुणाकप्प-अनुज्ञाकट्प-पुं० । कस्मिन् काले वस्त्राद्यनु-
ज्ञातमित्येवंविधौ, पं० भा० ।

.....अहुणा वोच्चं अणुसकप्पं तु ।

काही कात्रे गहणं, वत्थाईणं अणुसातं ॥

वत्थप्पायगहणे, वासावासासुणिग्गमो सरदे ।

तिण पणग सत्त तदुगा, उयम्मि कप्पोदगं जाणो ॥

वत्थादीणं गहणं, एऽणुणातं होति वासासु ।

वासादीणं परेणं, दुमास अणोसु गिएहंति ॥

तेसिं पुण ऐताणं, सरदे जदि दोण्हगा उयाणंतो ।

दगसंघट्टजहसे, ए तिण्ह यं चेव मज्झिग्गमा ॥

सत्ते चउ उक्कोसा, गिम्हम्मि तिण्ह पंच हेमंते ॥

वासासु य सत्त जवे, परेण खेत्तं णऽणुणातं ।

अप्पोदगं ति मग्गा, जं तीरीयासु वणिणतं पुत्तिं ॥

तं अरुद्धजोयणे, दगघट्टा जाव सत्ते वा ।

वत्थप्पायगहणे, ए व संथरणम्मि पढमत्ताणम्मि ॥

एत्तोऽवतिक्रमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा सुच्छी ।

पढं ताऽणुस्सग्गो, तेणं तू णवम होति खेत्तेसु ॥

वत्थादीणं गहणं, तत्थेव य होति उ विहारो ।

एवत्ताणातिकमे पुण, हवई सट्ठाणतो विमुद्धो तु ॥

किं पुण तं सट्ठाणं, अववादो असति ते होति ।

अथवा एणं गहणं, उस्सग्गो चेव होइ सो ताहे ॥

गेएहंतस्स तु करणे, सुच्छी तह चेव वोधव्वा ।

जह गेएहतुवसग्गे, सुच्छीओ बहिस्स एव वित्तिणं ।

गेएहंतस्म विस्च्छी, सट्ठाणं एवमवखायं ।

अहवा वि इमे अण्णे, एव तु ट्ठाणा वियाहिता ॥

दव्वादीया इण्णो, वोच्चामी आणुपुच्छी सो ।

दव्वे खेत्ते काले, वसही भिक्खवंतरे णेयं ॥

सेज्झाई गुरुजोगी, एतं ठाणा णिवोहिता ।

दव्वाणाहारादी-णि जाति सुलजाई तम्मि खेत्तम्मि ॥

खेत्तं वित्तिणहं खट्ठु, वत्तंत सुणंत गगणस्स ।

वत्तणपरियट्ठंती, सुणंति अत्थ गणो तु वालादी ॥

तस्म पटुच्चति खेत्तं, आहारादीहिं संथरणं ।

तत्तियकात्रे चेलो, वसही जाग्गा तु तिकखुमु लज्जंति ।

न विगिट्ठमंतंती, मज्जाउ मुज्झ जहिं च सुलभं च ।

अ.यरिआण जाग्गं, विण्णेयं चेव णियेमणं ।

एतं त एव ठाणा, जहिं उस्सग्गेण गहणं तु ॥

उस्सग्गेण विहारो, संथरमाणेण एवमु खेत्तेसु ।

ते स बुधदुवहीणं, विपेत्तिया वि दगघट्टे य ॥

एवि दूरं गच्छंती, एवम स असंजवे वित्तिगणं ।

दगघट्टं बहुए वी, पेत्ते दूरं पि गच्छेज्जा ॥

दुलहम्मि वत्थपादे, उण वि एसुं वि एवमु गच्छेज्जा ।

एमेव विहारो वि हु, खेत्ताण सती सुणयव्वो ॥

आलंबणे विमुच्छे, दुग्गुणं तिगुणं चउग्गुणं वा वि ।

खेत्तं कालातीयं, समणुणातं पकप्पम्मि ॥

एस अणुणाकप्पो ॥ पं० जा० ॥

इयानि अणुणाकप्पो-(गाहा)(वत्थे पाए)अणुणायम्मि काले
वत्थपायाणि घत्तव्वानि वासरत्ते जायं तेसु घत्तव्वानि, पच्छा-
त्रयाणं नाणुनायाणि निग्गयाणं पुण सरप्प अत्तेसु खेत्तेसु, जत्थ
गीयत्थसंविग्गेसु वासो न कओ तत्थ गेहंति, जत्थ वा गीय-
त्थेहिं संविग्गेहिं कओ तेहिं गप्पहिं वीरे पच्छा गेहंति, तेसिं
पुण निगच्छत्ताणं जइ अरुद्धं जोयणस्स अंतो तिण्ह पंच सत्त
दगसंघट्टा, दगसंघट्टो नाम जाएहेट्टा तहवि अणुणायां परेण
नाणुनायं जंति अप्पोदगा मग्गतिरियाए जणियं जाव सत्तसंघ-
ट्टा, एवं अरुद्धे जोयणे(गाहा)(वत्थे पाए) एवं वत्थपायगहणे
वा तणसंथारय य पढमत्ताणं तु जसग्गेण गहणं नयसु ठाणेसु
पढमट्ठाणांति उस्सग्गेण वुत्तं होइ नवत्ताणवद्क्रमे पुण सट्ठाण-
विसंहो भवइ उवहिमाइ । किंच । तं सट्ठाणं आवाए ताइ
उस्सग्गो ताहे अववायभो गहणं । काणि पुण ताणि नव ठाणा-
णि ?-तत्थ (गाहा)(दव्वे खेत्ते) दव्वानि जइ आहारोवकरणा-
णि वत्तंति तम्मि खेत्ते उग्गमाइ सुज्जाणि (खेत्तं ति) खेत्तं विच्छि-
त्तं मट्ठाजणपाउग्गं अत्ते च तारिस्स मत्थि खेत्तं (काले ति) तह-
याए पोरिसीए भिक्खवेज्जा (वसिहिं ति) वसिहिया उग्गा हेमंत-
गिम्हवासपाउग्गा नत्थि नपुंसगाइ दोसरहिया भिक्खा सुत्त-

भा, गुरुमाद्या उग्रा भिक्षा गामंतराणि अविकिष्ठाणि अस्स-
त्थ ससञ्जाद्य गुरुण सुव्रजे पाउग्गं जोगीण व अगादेतराणं
सुव्रजे पाउग्गं. एयाणि णव सुणेति, अथं सुणां, साइवो अ-
भिणवं गुणेति वा साहेति वा हज्जुयारिंति वा सुत्तं मेरहंति
परिषट्ठेति वज्जुयारिंति वा सबाइवुडावलस्स वा गच्छस्स न-
न्धि तारिस्स अणुं खेत्तं कारगं बहुव्यतिसंथरंताणं चं विसो-
हिष्ठाणं पेहेति वा न दूरं गच्छति मासकप्पं करंता चं व उवहिं
उपाययंति अइ पुण दव्वं वथं पायं दुल्लजं खेत्तं वा न पहुचइ,
ताइ बहुप वि दगसंघेदु पेहइ, दूरं पि गच्छइ, अरुजोयणपरेण
वि(गाहा)(आवेवणे)ते च आलंवेण विसुक्के सव्वं पि अणुणायं
दुगणं खेत्तकालं दुगुणतिगुणचउगुणबदुगुणं वा खेत्तकालाइ-
कमाणुसाया पकप्पम्मि । एस अणुसाकप्पो । पं० चू० ।

अणुदसंवट्टियककसंग-अणुणसंवत्तिनककशाङ्ग-त्रि० । भि-
क्षापरिभ्रमणाभावादुष्णलगनाभावेन संवत्तिनानि वर्तुलीभू-
तानि अत एवाऽककशानि अङ्गानि पाणिपादपृष्ठोदप्रभृती-
नि येनां ते अनुणसंवत्तिनककशाङ्गाः भिक्षाणामभावादुष्णसं-
वन्धाभावेन शीर्ताभूताङ्गेषु, "अणुणहसंवट्टियककसंगा, गि-
गहंति जे अन्नि न ते सहामो " वृ० ३ उ० ।

अणुनमजेद-अनुनट्टजेद-पुं० । वंशस्येव द्रव्यभेदे, स्था०
१० ठा० ।

अणुनडियाजेय-अनुनट्टिकाभेद-पुं० । इच्छुत्वगादिवद् द्रव्य-
भेदे, प्रज्ञा० ११ पद । (तद्भेदाः 'सहदव्यभेय' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अणुनापि (ण)-अनुनापिन-त्रि० । अकल्पं किमपि प्रति-
सेच्य अनु पश्चाद् हा ! दुष्ट कारितमित्यादिरूपेण तपति स-
न्तापमनुभवति, इत्येवंशीलोऽनुनापी । अकल्पप्रतिसेवनाऽन-
न्तरं पश्चात्तापविशिष्टे, व्य० १ उ० ।

अणुनाव-अनुनाप-पुं० । पश्चात्तापे, आव० ४ अ० । ज्ञा० ।

अणुनावि (ण)-अनुनापिन-पुं० । पुरः कर्मादिदोषदुष्टाहा-
रग्रहणान् पश्चाद् 'हा ! दुष्ट कृतं मया' इत्यादिमानसिकता-
पधारणशीले, वृ० ३ उ० ।

अणुनाविया-अनुनापिका-स्त्री० । अनुनापयतीति अनुना-
पिका । परस्यानुनापकारिकायां भाषायाम्, "अणुनावियं
खलु ते भासं भासन्ति" सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अणुनपया-अनुत्रिपयता-स्त्री० । 'त्रपूय लज्जायाम्' उत्प्रायल्येन
प्रत्यये लज्जयते येन तन् उत्प्रायं, न उत्प्रायमनुत्रिपयमलज्जनीयं
यथा च शरीरशरीरगतोत्तरभेदमधिकृत्य । अर्हानसर्वाङ्गे शरीर-
संपदभेदे, "वपुलज्जाप धाऊ, अलज्जणीओ अर्हीणस-
व्वंगो होई अणुनपे सो, अविगलइंदियपडिपुणो"ति । व्य०
२ उ० । उत्त० । वृ० ।

अणुत्त-अनुत्त-त्रि० । अकथिते, ध० ३ अधि० । अभाषिते,
पं० सं० ४ ठा० ।

अणुत्तर-अनुत्तर-त्रि० । उत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यते
इत्यनुत्तरः । स्था० १० ठा० । सूत्र० । अविद्यमानप्रधानतरे,
भ० ६ श्रु० ३३ उ० । अनन्यसदृशे, आ० म० द्वि० । आचा० ।
ध० । अनुप्रधाने, विशेषे । सर्वोत्कृष्टे, अष्ट० १५ अष्ट० । प्रश्न० ।
कल्प० । आ० म० प्र० । दशा० । उत्त० । श्री० ।

केवलिनो दशानुत्तराणि—

केवलिस्य णं दस अणुत्तरा पणत्ता । तं जहा-अणुत्तरे
नाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे,
अणुत्तरे वीरिण, अणुत्तरा खंती, अणुत्तरा मुत्ती, अणु-
त्तरे अज्जवे, अणुत्तरे मद्वे, अणुत्तरे लाघवे ॥

तत्र ज्ञानावरणक्षयाद् ज्ञानमनुत्तरम्, एवं दर्शनावरणक्षयाद् दर्-
शनम्, मोहनीयक्षयाद् दर्शनं, चारित्रमोहनीयक्षयाच्चारित्रं, चा-
रित्रमोहक्षयादनन्तवीर्यम्, अनन्तवीर्यत्वाच्च तपः शुक्लध्याना-
दिरूपं, वीर्यान्तरायक्षयाद्वीर्यम्, इह च तपःक्षान्तिमुक्त्यार्जव-
मादिवलाघवानि चारित्रभेदा एवेति चारित्रमोहनीयक्षयादेव
भवन्ति । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदाद्भेदोपात्तानीति ।
स्था० १० ठा० । वृद्धिरहिते च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।
नास्त्यस्योत्तरं सिद्धान्त इत्यनुत्तरम् । यथाऽवस्थितसमस्त-
वस्तुप्रतिपादकत्वादुत्तमे, आव० ४ अ० । सूत्र० । सर्वोत्कृष्टे
भोजिनधर्मे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणुत्तरगइ-अनुत्तरगति-त्रि० । सिद्धिगतिप्राप्ते, "एस क-
रेमि पणामं, तिथयराणं अणुत्तरगइणं" । द० प० ४ प० ।

अणुत्तरगा-अनुत्तराद्या-स्त्री० । अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तम-
त्वादद्या च लोकाप्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराद्या । ईपत्रागभारायां
पृथिव्याम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणुत्तरण-अनुत्तरण-न० । न विद्यते उत्तरणं पारगमनं य-
स्मिन् सति इत्यनुत्तरणः । पारगमनप्रतिबन्धके, उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणवाम-अनुत्तरणवास (पाश)-पुं० । न विद्यते उत्त-
रणं पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणः । स चाऽसौ वासश्चा-
वस्थानमनुत्तरणवासः । अनुत्तरणवासहेतुत्वाद् आयुर्धृत-
मित्यादिवदनुत्तरणवासः । यद्वा-आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया
पाशयतीति पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्चाऽनुत्तरणपाशः ।
उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । संसारावस्थितौ,
पारवश्ये वा । एतच्च सम्बन्धनसंयोगस्यार्थतः फलम् ।
उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणाणदंसणधर-अनुत्तरज्ञानदर्शनधर-त्रि० । कथञ्चिद्
भिन्नज्ञानदर्शनाधारे, "एवं से उदाहु अणुत्तरदंसी अणुत्तर-
नाणदंसणधरे" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरणाणि (ण)-अनुत्तरज्ञानिन्-त्रि० । नास्योत्तरं प्र-
धानमस्तीत्यनुत्तरम्, तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानम्, तद-
स्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी । केवलिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरधम्म-अनुत्तरधर्म-पुं० । नास्योत्तरः प्रधानो धर्मो
विद्यते इति अनुत्तरः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । श्रुतचारित्राख्ये
धर्मे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुत्तरपरकम्-अनुत्तरपराक्रम-पुं० । परे शत्रवः । ते च द्वि-
धा-द्वयतो मत्सरिणः, भावतः क्रोधादयः । इह भावशत्रुभिः
प्रयोजनं, तेषामवोच्छेदतो मुक्तिभावात् । आक्रमणमाक्रमः, प-
राजय उच्छेद इति यावन् । परेषामाक्रमः पराक्रमः । सोऽनु-
त्तरोऽनन्यसदृशो यस्येति, "जिने नित्थरे भगवंते अणुत्तर-
परकम् अमियणाणां" । अत्र आह-ये खल्वेश्वर्यादिभगवन्तः ते

ऽनुत्तरपराक्रमा एव, तन्मन्तरेण विवक्षितभगासंभवान्, ततोऽनुत्तरपराक्रमानित्येतदतिरिच्यते । नैव दोषः—अस्य अनादि-सिद्धैश्वर्यादिसमान्वितपरमपुरुषप्रतिपादनपरन्त्यबादनिषेध-परत्वात् । तथाहि—कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमन्तरणैव हिरण्यगर्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च—“ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम्” ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुष्पसंज्ञार—अणुत्तरपुण्यसंज्ञार—पुं० । अनुत्तरः सर्वोत्तमहेतुत्वात् तत्कार्यत्पुण्यसंभारः तीर्थकरनामकर्मलक्षणो येषां ते तथा । तीर्थकृतसु, पं० सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाण-अनुत्तरविमान-न० । नैषामन्यान्नुत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि । चतुर्दशदेवलोकावास्तव्यानुत्तरोपपातिकदेवविमानेषु, अनु० (अत्र वक्तव्यं ‘विमान’ शब्दे वक्ष्यते) “कइ णं जंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । ते णं जंते ! किं संखेज्जवित्थमा असंखेज्जवित्थमा य ? । गोयमा ! संखेज्जवित्थमा य असंखेज्जवित्थमा य” । भ० १३ श० २ उ० । “कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । तं जहा—विजण, वेजयंते, जयंते, अपराजिण, सव्वडसिस्से य” । भ० १४ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोववाइय—अनुत्तरोपपातिक—पुं० । अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः ; स विद्यते येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः । अ० । उत्तरः प्रधानः । नास्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तरः । उपपतनमुपपातो जन्मेत्यर्थः, अनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः ; सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः । सर्वार्थसिद्धादिविमानपञ्चकोपपातिषु, । स्था० १० ग० । विजयाद्यनुत्तरविमानवासिनि, स० १ सम० ।

अनुत्तरोपपातिकानामनुत्तरोपपातिकत्वम्—

अत्थि णं जंते ! अणुत्तरोववाइया देवा । हंता ! अत्थि । से केण्ठे णं जंते ! एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? । गोयमा ! अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सदा अणुत्तरा रूया जाव अणुत्तरा फामा, से तेण्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा ॥

(अत्थि णमित्यादि) (अणुत्तरोववाइयस्ति) अनुत्तरः सर्वप्रधानोऽनुत्तरशब्दादिविषययोगादुपपातो जन्मानुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां ते अनुत्तरोपपातिकाः । भ० १४ श० ७ उ० ।

भेदा अनुत्तरोपपातिकस्य—

से किं तं अणुत्तरोववाइया ? । अणुत्तरोववाइया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—विजया, वैजयंता, जयंता, अपराजिया, सव्वडसिस्सा । ते समामओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । प्रज्ञा० ? पद ।

(अन्तक्रियादयोऽस्य स्वस्थान एव दृश्याः)

उच्चत्वम्—

अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं एगा रयणी उहुं उच्चत्ते—एणं पण्णत्ता ।

(एगा रयणि स्ति) हस्तं यावत्, कोशं कौटिल्येन नदी इतिवदिह द्विनिया । (उहुं उच्चत्तेणं स्ति) वस्तुनो हानेकधोच्चत्वमर्थ-

स्थितस्यैकम्, अपरं तिर्यक्स्थितस्य, अन्यदगुणोन्नतिरूपम् । स्था० १ ग० । विजयादिविमानेषूपपात्तिमत्सु साधुषु, स्था० ८ ग० ।

अणुत्तरोववाइया णं जंते ! देवा केवइएणं कम्मावसेणं अणुत्तरोववाइयदेवताए उववणा ? । गोयमा ! जावइयं षट्ठजत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइएणं कम्मावसेणं अणुत्तरोववाइयदेवताए उववणा ॥

(जावइयं षट्ठजत्तिए इत्यादि) किल षष्ठभक्तिकः सुसाधुर्यावत्कर्म कृपयति, एतावता कर्मावशेषणानिर्जोर्णनाऽनुत्तरोपपातिका देवा उत्पन्ना इति । भ० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोववाइयदसा—अनुत्तरोपपातिकदशा—स्त्री० । व० व० ।

अनुत्तरोपपातिकवक्तव्यताप्रतिवक्षा दशा दशाऽध्ययनोपवृत्तिता दशाध्ययनप्रतिवृद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशा ग्रन्थविशेषोऽनुत्तरोपपातिकदशा । स्था० १० ग० । अनु० । नवमेऽङ्के, नं० पा० स० ।

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयदसामु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगरां उज्जाणां चइयां वणखंडां रायाणो अम्मापियरो समोसरणां धम्मायिरिया धम्मकहाओ इहलोगपरदोइया इट्ठिविसेसा भोगपरिचाया पव्वजाओ सुयपरिगहा तवोवहाणां परियागो पणिमाओ संझेहणाओ जत्तपाणपच्चखाणां पौओवगमणां अणुत्तरोववाओ सुकुलपच्चाओ पुण वोहिह्वाहो अंतकिरियाओ आपविज्जंति अणुत्तरोववाइयदसामु णं तित्थकरसमोसरणां परममंगल्लजगहियां जिणातिसेसा य वहुविसेसा जिणसीसाणं चैव समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेस्सरिववन्नपमदणाणं तवदित्तचरित्ताणां सम्मत्तसारविविहप्पगारपसत्थगुणमंजुयाणं अणगारमहरिसीणं अणगारगुणाणं वण्णओ उत्तमवरतवविमिदणाणं जोगजुत्ताणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इट्ठिविसेसा देवासुरमाणसाणं परिसाणं पाउज्जाओ य जिणसमीवं जह य उवासंति जिणवरं, जह य परिकहंति धम्मं, दोगगुरू अमरनरसुरगणाणं सोऊण य तस्स जासियं अवसेसकम्मविमयविरत्ता नरा जहा अब्भुवेंति, धम्ममुदालं संजमं तवं वा विवहुविहप्पगारं जह वहुणि वासाणि अणुचरित्ता आराहियनाणं दंसणचारित्तजोगा जिणवयणमणुगयमहियसुभासियत्ता जिणवराणं हिययेण मणुणत्ता जे य जहि जात्तियाणि जत्ताणि ठेअत्ता वृत्तूण य समाहिमुत्तमज्जाणजोगजुत्ता उववन्ना मणिवरोत्तमा, जह अणुत्तरएसु पावंति जह अणुत्तरं तत्थ विसयमोक्खं तओ य चुआ कमेण काहिति संजया जहा य अंतकिरियं एए अन्ने य एवमात्थ्या वित्थरेण ॥

अनुत्तरोपपातिकदशासु तीर्थकरसमवसरणानि । किंजृत्तानि ? परममाङ्गल्यजगत्तानि, जिनातिशेषाश्च बहुविशेषाश्च “देहं विमऽसुयं” इत्याद्यश्चतुस्त्रिंशदधिकतरा वा, तथा जिनाशि-

प्याणां चैव गणधरादीनाम् । किञ्चुतानामत आह-अमणगणप्रव-
रगन्धहस्तिनां, धमणोत्तमानामित्यर्थः । तथा स्थिरयज्ञासां, तथा
परीषदसैन्यमेव परीषदवृद्धमेव, रिपुचलं परचक्रं, तत्प्रमर्दनानां,
तथा द्रव्यदावाग्निरिव, दीमान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण 'तपोदीप्ता-
नि' यानि चारित्रज्ञानसम्पत्त्वानि, तैः साराः सफलाः, विविध-
प्रकारविस्तारा अनेकविधप्रपञ्चाः । प्रशस्ताश्च ये क्षमादयो गु-
णाः तैः संयुतानाम् । क्वचिद् 'गुणध्वजानामिति' पाठः । तथा अ-
मनाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षयः, तेषामनगारगुणानां व-
र्णकः श्लाघा, आख्यायत इति योगः । पुनः किञ्चुतानां जिनशि-
ष्याणाम् ? उत्तमाश्च ते जात्यादिनिर्वरतपसश्च ते च ते विशिष्ट-
ज्ञानयोगयुक्ताश्चेत्यतस्तेषामुत्तमवरतपे विशिष्टज्ञानयोगयुक्ता-
नाम् । किञ्च । अपरे यथा च जगज्जिते भगवत इत्यत्र जिनस्य शा-
सनमिति गम्यते । यादृशाश्च श्रुद्धिविशेषा देवासुरमानुषाणां,
रत्नोज्ज्वलप्रकृत्योजनमानविमानरत्नं सामानिकायनेकदेवदेवी-
कोटिसमवायनं, मणिस्रग्मरुमणिरुतद्वारुपटुप्रचलत्पताकिकाश-
तोपशोभितमहाध्वजपुरःप्रवर्तिनं, विविधाऽऽनोद्यनादगगनभो-
गपूर्णं, चैवमादित्यङ्गणाः, प्रतिकल्पितगन्धमिधुरस्कन्धारोहणं
चतुरङ्गसैन्यपरिगणं, कृत्रचामरमहाध्वजादिमहाराजचिह्न-
प्रकाशनं, चैवमादयश्च सस्यमिशेषाः समवसरणगमनप्रवृ-
त्तानां, वैमानिकज्योतिष्काणां भवनपतिश्चन्तराणां, राजादि-
मनुजानां च । अथवा अनुत्तरोपपातिकसाधूनाम्, ऋद्धिवि-
शेषा देवादिसम्बन्धिनस्तदृशा 'आख्यायन्ते' इति क्रियायो-
गः । तथा पर्यादां 'संजयवेमाणित्यो संजइपुव्वेण पविसिओ
वीरं' इत्यादिनोक्तस्वरूपाणां प्रादुर्भावाश्च आगमनानि, क ?-
(जिनवरसमीपे ति) जिनसमीपे, यथा च येन प्रकारेण, पञ्च-
विधभागमादिना (उपासमीयन्ति) उपासते सेवन्ते राजा-
दयः, जिनवरं तथा 'ख्यायन्ते' इति योगः । यथा च परिकथय-
ति धर्मं, लोकगुरुरिति जिनवरः, अमरनरासुरगणानां श्रुत्वा च
'नस्सेति' जिनवरस्य भाषितं, अवशेषाणि क्लीणप्रायाणि, कर्मा-
णि येषां ते तथा । ते च ते विषयविरक्ताश्चेति, अवशेषकर्मवि-
षयविरक्ताः के ? नराः किम् ? यथा अभ्युपयन्ति धर्ममुदारम् ।
किंस्वरूपमत आह-संजमं तपश्चापि । किञ्चुतमित्याह-वहुविध-
प्रकारं तथा, यथा यदृनि वर्षाणि (अणुचरियं ति) अनुचर्य
आसेव्यं, संयमं तपश्चेति वर्तते । तत आराधितज्ञानदर्शनचा-
रित्रयोगाः । तथा (जिनवयणमणुगयमहियभासियं ति) जिनव-
चनमाचारादि, अनुगतं संवत् नार्द्वितर्दमित्यर्थः ; महितं पू-
जितम्, अधिकं वा भाषितं वैरध्यापनादिना ते तथा । पाठान्तर-
जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकूल्येन मुमुभाषितं यस्ते जिनवचनानुगा-
तिमुभाषिताः । तथा [जिनवराण हियण मणुण्णेतं ति] इति
वृष्टिं द्वितीयां । तेन जिनवरान् हृदयेन मनसा अनुनीय प्राप्य
ध्यात्वेति यावत् । ये च यत्र यावन्ति च भक्तानि च्छेदयित्वा ल-
ब्ध्वा च समाधिमुत्तमध्यानयोगयुक्ता उपपन्ना मुनिवरोत्तमाः
यथा अनुत्तरेषु, तथा 'ख्यायन्ते' इति प्रक्रमः । तथा प्राप्नुव-
न्ति यथाऽनुत्तरं (तत्तं ति) अनुत्तरविमानेषु विषयसुखं, तथा
ख्यायन्ते (तत्तो यं ति) अनुत्तरविमानेऽप्यश्रुताः क्रमेण करि-
ष्यन्ति, संयत्ता यथा चान्तः क्रियन्ते तथा ख्यायन्ते । सं० ॥

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयद-
सापसु एणं अणुत्तरोववाइयाणं नगरां उज्जाणां चैइयाइं
वणखंदाइं समोसरणां गायणां अम्मापियरो धम्मायारि-

या धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इहिविसेसा भोगप-
रिचाया पव्वज्जाओ परियागा सुयपम्मिग्गहा तवोवहाणां
पमिमाओ उवसग्गसंलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणां पाओवग-
मणां अणुत्तरोववाइं ति उववत्तीसु कुट्टपचायाइओ पुण वो-
हिलाभा अंतकिरियाओ य आपविज्जांति अणुत्तरोववाइयद-
साणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेह्वा
संखिज्जा मिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ
संगहणीओ संखिज्जाओ पमिवत्तीओ से एणं अंगट्टयाए न-
वमे अंगे एगे सुयखंथे तिन्नि वग्गे तिन्नि उद्देसणकाला तिन्नि
समुद्देसणकाला संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयगेणं संखि-
ज्जा अक्खरा अणंताऽऽगमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा
अणंता थावरा सामयकरुनिवप्पनिकाइया जिणपत्तत्ता
जावा आपविज्जंति पत्तविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति
निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं
विन्नाया एवं चरणकरणपरुवणा आपविज्जइ, सेत्तं अणु-
त्तरोववाइयदसाओ ॥

(अणुत्तरोववाइयदसासुणमित्यादि) पाठसिद्धं यावन्निरागमनम्,
नवरम्, अध्ययनसमूहो वर्गः । वर्गं च वर्गे च दश दशाध्ययनानि,
वर्गश्च युगपदेवादिइयेते इति । त्रय एव उद्देशनकालाः, त्रय एव
समुद्देशनकालाः, संख्येयानि च पदसहस्राणि, सहस्राष्टाधिक-
पदचत्वारिंशत्कृत्प्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ नं० ।

अणुदत्त-अनुदत्त-पुं० । न उदात्तः, विरोधे नञ् । 'नीचैरनु-
दात्तः' पा० ॥ १२३०॥ इति लङ्किते तादृवादिषु सभागेषु स्थानेषु
भागे निष्पन्ने स्वरभेदे, यथा नीचैः शब्देन 'जे निक्खू इत्थकम्मं
करेइ' इत्यादि । वृ० १ उ० ।

अणुदय-अनुदय-पुं० । वेलाप्राकाले, द्वा० ७ द्वा० ।

अणुदयवंधुकिट्टा-अनुदयवन्धोत्कृष्टा-स्त्री० । यासां विपाको-
दयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिः ; तासु कर्मप्रकृति-
षु, पं० सं० ३ द्वा० । ताश्च 'नारयतिरिउरलदुगुं' इत्यादि-
गाथया 'कम्म' शब्दे तृ० भा० २७६ पृष्ठे दर्शिताः)

अणुदयवई-अनुदयवती-स्त्री० । " चरिमसमयम्मि दक्षिथं,
जासिं अन्नत्थ संक्रमे ताओ । अणुदयवई " यासां प्रकृतीनां
दलिकं चरमसमयेऽन्त्यसमये, अन्यत्राऽन्यप्रकृतिषु, स्तिबुकसं-
क्रमेण संक्रमयेत्, संक्रमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशनानुभावतः
स्वोदयेन तावत्युदयवत्योऽनुदयवती संज्ञा । इत्युक्तवक्षणासु
कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० ।

अणुदयसंकमुकिट्टा-अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा-स्त्री० । यासामनु-
दयसंक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाजः तासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३
द्वा० । ('कम्म' शब्दे तृ० भा० ३३० पृष्ठे चासां स्वरूपमावेदयिष्यते)

अणुदरंभरि-अनुदरंभरि-पुं० । अनात्मस्मरौ, द्वा० ६ द्वा० ।

अणुदवि-देही-क्षणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुदहमाण-अनुदहत्-त्रि० । निसर्गानन्तरमुपतापयति,
स्था० १० ग० ।

अणुदिएण-अनुदीर्ण-न० न० त० । अनागतकाले उदीरणा-
रहिते चिरेण भविष्यदुदीरणेऽभविष्यदुदीरणे वा कर्मणि, भ०
१ श० ३ उ० ।

अणुदिसा-अनुदिक्-स्त्री० । आग्नेयादिकायां विदिशि, कल्प० ।

आचा० । “पाङ्गणपस्मिन् वा वि, उद्धं अणुदिसामवि ” दश०
६ अ० । आचार्योपाध्यायपदद्वितीयस्थानवर्तित्वे, व्य० २ उ० ।
(‘उद्देश’ शब्दे द्वि० जा० ८०८ पृष्ठे तदुद्देशो वक्ष्यते)

अणुदिष्ट-अनुदिष्ट-त्रि० । यावन्तिकादिनेद्वर्जिते, प्रश्न० १
संव० द्वा० ।

अणुद्धरिक्तु-अनुद्धरिक्तु-पुं०-स्त्री० । अनुद्धरिनामके
कुन्यजीवे, वृ० १ उ० । स्था० । स हि चक्षुर्नेव विभाव्यते न
स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति । स्था० ७ ग० । “जंरयिणं च णं समणे
भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खण्णहीणे तं रयिणं च णं कुंभु-
अणुद्धरिनामं समुप्पन्ना, जा त्रिया ब्रचलमाणा णिगंधाण य
णिगंधीण य नो चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ, जा त्रिया चल-
माणा छउमत्थाणं निगंधाण य निगंधीण य चक्खुप्फासं
हव्वमागच्छइ” । कल्प० । (‘वीर’ शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

अणुद्धय-अनुद्धूत-त्रि० । अनुरूपेण वादनार्थमुक्तिस्तोऽनुद्ध-
तः । वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ते मृदङ्गादौ, ज्ञा० १ अ० विपा०
जं० । “अणुद्धुअमुअं गा” अनुद्धूताऽनुरूपेण वादनार्थमुक्तिता,
अनुद्धूता वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ता, मृदङ्गा मर्दला यस्यां सा
तथा । ज्ञा० १ अ० विपा० । भ० । कल्प० । यत्र आनुरूप्येण
यथामार्दङ्गिकविधिरुद्धूता वादनार्थमुक्तिता मृदङ्गा मर्दलाः
सन्ति । जं० ३ वक्क० ।

अणुधम्म-अणुधर्म-पुं० । बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽगुरुरलो धर्मो-
ऽणुधर्मः । देशविरतौ, विशेष० । आ० म० द्वि० ।

अणुधर्म-पुं० । अनुगतो मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽणुधर्मः । अहिं-
सालक्षणं, परीपहोपसर्गसहनवृत्तये वा धर्मं, “एसो ऽणुधम्मो
मुणिणा पवेदिओ” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनु पश्चाद्
धर्मोऽणुधर्मः । तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं चर्यमाणं धर्मं, “एसो
ऽणुधम्मो इह संजयाणं” सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । नि० चू० ।
(स यथा पूर्वैरार्चाणि तथाऽनुचरणीयमिति ‘अणाइस्स’ शब्दे
ऽत्रैव ज्ञाणे ३०५ पृष्ठे उक्तम्)

अणुधम्मचारि (ए)-अणुधर्मचारिन्-पुं० । तीर्थकरप्रणीत-
धर्मानुष्ठायिनि, “जंसी विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्म-
चारिणो” काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्त्तमानस्वामिनो वा
संवन्धी यो धर्मः, तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिन
इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुपथ-अनुपथ-पुं० । मार्गान्त्यणं, वृ० २ उ० ।

अणुपत्त-अनुप्राप्त-त्रि० । पश्चात्प्राप्ते, उक्त० ३ अ० ।

अणुपयाहिण्णकरेमाण-अनुपदक्षिणकुर्वाण-त्रि० । अनुकू-
ल्येन प्रदक्षिणीकुर्वाणे, रा० ।

अणुपरियट्ठण-अनुपरिवर्त्तन-न० । पौनःपुन्येन क्रमणे, भ० १
श० ए उ० । पाइर्वतो भ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । घटीयवन्त्या-
येन क्रमणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । न० । “दुक्खान-
मेव आवट्ठं अणुपरियट्ठं ति” । दुःखानां शारीरमानसाना-

मावर्त्तः पौनःपुन्यजननमनुपरिवर्त्तते, दुःखावर्त्तावमनो वस्त्रस्य-
ते । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अनुपर्यट्ठन-न० । भूयोज्यस्तत्रैवागमने, “संसारपारकंखी ते
संसारं अनुयट्ठंति” । संसारमेव चतुर्गतिकसंसारणरूपम्, अनु-
पर्यट्ठन्ति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

देवे णं जंते ! महिहिण्ण जाव महेसक्खे पच्च ! धवणसमुद्धं
अणुपरियट्ठिणां हव्वमागच्छिण्णं ? हंता । पच्च ! देवे णं
जंते ! महिहिण्ण एवं धायइ संरुदीवं जाव हंता पच्च ! एवं
जाव रुयगवरं दीवं जाव हंता पच्च ! नेण परं वीइवण्णजा
णो चैव णं अणुपरियट्ठिजा ॥

(वीइवण्णं ति) एकया दिशा व्यातिक्रामेत् (नो चैव णं
अणुपरियट्ठिजा ति) नैव सर्वतः परिभ्रमेत्, तथाविधप्रयोजना-
भावादिति संज्ञायते । ज० १८ श० ७ उ० ।

अणुपरियट्ठमाण-अनुपरिवर्त्तमान-त्रि० । एकैन्द्रियादिषु पर्यट्ठ-
ति, जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुव्रजति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।
अरघट्टघटीन्यायेन वर्तमाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जी० ।

अणुपरियट्ठिता-अनुपरिवर्त्य-अध्य० । सामस्येन परिभ्रम्यति
प्रादक्षिण्येन परिभ्रम्यति वाधं, जी० ३ प्रति० ।

अणु (नु) परिहारि (ण)-अ (णु) नुपरिहारिन्-पुं० ।
परिहारिणः अणु स्तोत्रं प्रतिघ्नन्नादिषु साहाय्यं करोतीति
अणुपरिहारी । यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारी गच्छति
तत्र तत्र अनु पश्चात् पृष्ठतो व्रजः सन् गच्छतीत्यनुपरिहारी ।
व्य० १ उ० । परिहारिकाणामनुचरे, विशेष० । (यथा च अनु-
परिहारिकाणां परिहारिकसेवा कर्त्तव्या तथा ‘परिहार’
शब्दे वक्ष्यते) निर्विष्टे, आसंघितविवक्षितचारित्र्ये च । स्था०
३ ग० ४ उ० ।

अणुपविसंत-अनुप्रविशत्-त्रि० । अनु पश्चाद्जावे चरकादिषु
निर्वृत्तेषु पश्चात्पाककरणकालतो वा पश्चाद् भिक्षार्थं प्रवेशं
कुर्वति, नि० चू० २ उ० ।

अणुपविसित्ता-अनु(णु)प्रविश्य-अव्य० । अनुकूलं स्तोत्रं वा
प्रविश्येत्यर्थं, नि० चू० ७ उ० ।

अणुपवेस-अनु(णु)प्रवेश-पुं० । अनुकूले स्तोत्रे वा प्रवेशे,
नि० चू० ७ उ० ।

अणुपस्मि (ण)-अनुदर्शिन्-पुं० । अनु द्रष्टुं शीलमस्येत्य-
नुदर्शी । पर्यालोचके, “एयाणुपस्सी णिज्झोसइत्ता” एत-
दनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति
यावत् । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुपस्सिय-अनुदृश्य-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थं, सूत्र० १
श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुपाण-अणुप्राण-त्रि० । अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो
येषु ते अणुप्राणाः । सूक्ष्मजन्तुयुक्ते, “जययं विहराहि जोगवं,
अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुपा (वा) यकिरिया-अनुपातक्रिया-स्त्रा० । प्रमत्तसंय-
तानामापन्नपातं प्रत्येवंगुणसंपातिमसत्त्वानां विनाशात्मके
क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

अणुपा (वा) यत्-अनुगतन-न० । अनु-पत-णिच्-ल्युट् ।
 अवतारणे, ध० २ अधि० ।
 अणुपातन-अनुपातयन्-त्रि० । अनुभवति, " साया सोफल-
 मणुपालतेण " शाते सुखमनुपालयताऽनुभवता । सुखास-
 क्रमनमेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आचा० १, शु० ५ अ० २ उ० ।
 अणुपा (वा) लय-अनुपालन-न० । शिष्यगणरक्षणे, तच्चाकु-
 र्वतो दोषः । ध० ३ अधि० । अनुपालने तु शासनप्रत्यनीकत्वादि-
 दोषा एव । यतः पञ्चवस्तुप्रकरणे- " इत्थं पमायखलिया, पु-
 व्वभासेण करम वण्णं होति । जो तेण वेइ मम्मं, गुरुत्तणं तस्स
 सफलं ति ॥१॥ को णाम सारहीणं, सहोज्ज जो भइवाइणो
 दमए । दुट्ठे वि अ जे आसं, दमेइ तं आसिअं विंति ॥२॥ जो
 आयरेण पढमं, पुव्वा वेऊण नाणुपालइ । सेइ सुत्तविहीण,
 सो पवयणपच्चणीओ ति ॥३॥ अवि को वि अपग्मत्था, विरु-
 द्धमिह परभवे असेवं वा । जे पारिंति अणत्थं, सो खलु तण्ण-
 व्वओ सव्वो " ति ॥४॥ ध० ३ अधि० ।
 अणुपा (वा) लणाकप-अनुपालनाकप-पुं० । आचार्य्यं
 कथञ्चिद् विपन्ने गणरक्षणविधौ, पं० भा० ।

स चैवम-

.....अहुणा अणुपालणाकपं ।
 मंखेवममुदिट्ठं, वोच्चापि अहं समासेण ॥
 मोहतिगिच्छाएँ गते, एट्ठे खेत्तादि अहं व कालगते ।
 आयरिए तम्मि गणे, पालादीरक्खणट्ठाए ॥
 कोवि गणी उवणिज्जो, मन्नाति जंति तस्स कोवि सीमो तु ।
 सुत्तयतदुभएहिं, णिम्माओ सो उवेयव्वो ॥
 असनी य तस्स ताहे, उवेयव्वा कमेण मेणं तु ।
 पव्वज्ज कुले णाणे, वेत्ते मुदिट्ठक्खपुत्तसीसो ॥
 गुरु गुरुं तं तू वा, गुरुवज्जिज्झुअ व्व तस्स सीसो तु ।
 पव्वज्ज एगपक्खी, एमादी होति णायव्वो ॥
 असनीएँ कुञ्जो वी, तस्स सनीएसु एगपक्खीओ ।
 खेत्ते उवसंपन्ने, तस्स मतीए उवेयव्वो ॥
 मुहदुक्खियस्स असनी, तस्स मतीए सुनोवसंपन्नो ।
 एवं त्रियाण तेहिं, सीमम्मि तु मगणा एत्थि ॥
 पारिच्छ गणधरे पुण, उविए न्हियं तु मगणा इणमो ।
 सुत्तयमहिज्जंते, अणहिज्जंते इमे जागा ॥
 माहारणं तु पढमे, विंतिए खेतम्मि ततिएँ मुहदुक्खे ।
 अणहिज्जंते सीसे, सेमे एकारम विज्जागा ॥
 पुव्वुदिट्ठगणस्म तु, एत्थुदिट्ठं पवाइयंतस्स ।
 पुव्वं पच्छुदिट्ठे, सीमम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
 संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वगणस्स आइवति ।
 पुव्वुदिट्ठगणस्मा, पच्छुदिट्ठं पवाइयंतस्स ॥
 संवच्छरम्मि विंतिए, सीमम्मि तु जं तु सच्चित्तं ।
 पुव्वं पच्छुदिट्ठे, सीमम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
 संवच्छरम्मि ततिए, एतं सव्वं पवाइयंतस्स ।

पुव्वुदिट्ठं गच्छे, पच्छुदिट्ठं पवाइयंतस्स ॥
 संवच्छरम्मि पढमे, सिस्मिणिए जं तु सच्चित्तं ।
 संवच्छरम्मि विंतिए, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥
 पुव्वं पच्छुदिट्ठे, पारिच्छयाए उ जं तु सच्चित्तं ।
 संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥
 खत्तुवसंपायरिओ, मुहदुक्खी चैव जति तु सो उविओ ।
 कुञ्जगणमधिओ वा, तस्स वि सइ होति उ त्रियेगो ॥
 संवच्छराणि तिंतिए उ, सीमम्मि पडिच्छियम्मि तद्विसं ।
 एककुञ्जगणिचे, संवच्छर संघ उम्मासो ॥
 तत्थेव य णिम्माए, अणिगए णिगए इमा मेरा ।
 सकुले तिंतिह तियाइं, गणे दुगं वच्छरं संघे ॥
 ओमादिकारणेहिं, उम्मेहत्तेण वा ए णिम्मातो ।
 काउण कुलमम्मायं, कुलयेरे वा उवट्ठेति ॥
 एव हायणाइं ताहे, कुञ्जं तु सिक्खावए पयत्तेणं ।
 ण य किंचि तेसिं गेएहति, गणो दुगं एगसंघो तु ॥
 एवं तु दुवाअसाहिं, समाहिं जदि तत्थ कोवि णिम्मातो ।
 तो णिति अणिम्माए, पुण वि कुञ्जादी उवट्ठाणा ॥
 तेणैव कमेणं तु, पुणो समाओ हवन्ति वारस तू ।
 णिम्माए विहरन्ती, इहरकुञ्जादी पुणोवट्ठा ॥
 तह वि य वारसमामो, सीमस्स वि गणधरो होइ ।
 तेण परमनिम्माए, इमा विही होइ तेसि तु ॥
 इत्तीसातिकेत्ते, पंचविहु व्व संपदा पत्तो ।
 पच्छा पत्तं तुवसं-पदे पव्वज्जएसु एगपक्खम्मि ॥
 पव्वज्जाएँसु तेण य, चउभंगां होति एगपक्खम्मि ।
 पुव्वाहित वीसरिए, पढमा सति ततियजंमेणं ॥
 सव्वस्स वि कायव्वं, णिच्छयओ कंकुलं व अकुञ्जं वा ।
 काअसजावमपत्ते, गारवज्जजाएँ काहिंति ॥
 एसऽणुपाअणकप्पो । पं० भा० ।

आयरिया णट्ठावए, आयरिए नट्ठे वा, मोहतिगिच्छाए वा, प-
 क्खित्तचित्ते वा, कालगए वा, तस्स य सञ्चलवुक्खाओ तस्स य-
 च्छस्स को गणधारी कायव्वो ?, तत्थ (गाहा) (पव्वज्जा) जो जरस्स
 सीसां निम्माएल्लओ तस्स सइ जो पव्वज्जेगपक्खिओ पित्थिय-
 ओ पित्थियपुत्तो वा तस्स सइ कुञ्जव्वओ तस्स सइ नाणेगप-
 क्खिओ एगवायणिओ तस्स जो तम्मि खेत्ते उवसंपन्नओ आ-
 यरिओ मुहदुक्खिओ वा सुयनिमित्तं वा जा तत्थ एगल्लओ
 पारिच्छओ एणसिं उवियाणं आहिज्जंताणं कस्स किंवा जयइ,
 सीसे ताव उविपल्लए का कहा ?, सेसेसु अणहिज्जंतेसु पारि-
 च्छए उविए आयरिएण निम्मविपल्लए कुञ्जगणसंघत्तिए वा जो
 सो आयरिओ उविओ नाऊण य वोच्छयं सो कुलिव्व पाइत्तम्मि
 अत्थं ते चैव आयरिया कालगया ते वि आयरियेण तं निमित्तं
 चैव सीसवक्खावरं तम्मि ममत्तं करंता एस अम्हं सज्जंतिओ सो
 वि एए मम सज्जंति एत्ति काऊण ममत्तं करेइ, एवं सो निम्मा-

श्रो आयरिया कावगया सो तं गच्छं न मुयइ, एत्था भवंते वञ्जे
हं, तथ जे ताव आयरियस्स पडिच्छया तेसिं तद्विषयमेव गे-
एहइ, सच्चित्ताइ जे आयरियसीसा ते न संजझायति तस्स सका-
से तेण चोइयव्वा तेसु अणहिज्जेते सुत्तं तथ लभइ सच्चित्ता-
इ तं सामएहं पढमवरिसे, विईण खेत्तावसंपन्नओ जं वज्जइ ते
तं न वज्जंति । खेत्तावसंपयाए नाइवगं डुविहं मेत्तवए स य
लज्जंति । तइए वरिसे जं सुहपुक्खोवसंपन्नओ वज्जइ तं तेसिं
ब्राभं सुहपुक्खियस्स लानो पुव्वसंथवो पच्छा संथवो य च
उत्थे वरिसे सव्वं गेएहइ । एवं अणहिज्जेते पुण इमे पकारस्स वि-
ज्जागा-तस्सायरियस्स सीसा सीसियाओ पमिच्छियाओ जं
जीवं तेणायरियजणस्स उद्दिट्ठं अज्झायं तस्स पढमवरिसे स-
च्चित्तमाचित्तं वा लभइ, तं सव्वं गुरुणो कावगयस्स वि एगो
विभागो अह इमेण उद्दिट्ठं पढमवरिसे, तो पवाइयंतस्स जं स-
च्चित्ताइ वित्तिओ विभाओ विइए वरिसे पुव्वं उद्दिट्ठं, पच्छोव-
दिट्ठं वा, सव्वं पवाइयंतस्स तइओ विजाओ, एयं पमिच्छए
सीसस्स पढमवरिसे आयरिएण वा उद्दिट्ठं तेण वा पमिच्छ-
एण उद्दिट्ठं सव्वं गुरुणो विजाओ, विइए वरिसे आयरिएण
उद्दिट्ठं पढंतस्स सच्चित्तचित्तं वज्जइ । तं सव्वं गुरुणो वि-
जाओ पंचमो इमेण उद्दिट्ठं पवाइयंतस्स उठो विभाओ,
तइए वरिसे आयरिएण वा उद्दिट्ठं इमेण वा सव्वं पवाइयंतो
गेएहइ वा पर्यंतो एइविभागो सत्तमो, सीसणीयाए जहा पमि-
च्छयस्स तिण्हि गमा एए दस गमा, पडिच्छयाए । आयरिएण
वा उद्दिट्ठं इमेण वा पढमवरिसे चेद गेएहइ वाययंतो, एए प-
कारस्स विभागा । एवं उगहं जणियं । पं० चू० ।

संयतिपादनां त्वित्थम्—

.....वोच्छं अणुपादनाए कप्पं तु ।
अणुपालंति सुविहिगा, गच्छं विहिणा उ जेणं तु ॥
परिकट्ठी परिकट्ठं, तथो य दुविहो पुणो वि एकको ॥
उवसगखेत्तकाव-वसेण अज्जाण परिवट्ठी ॥
परियट्ठियव्वयं खल्लु, परियट्ठी चेव होति एगट्ठं ।
समणा समणीओ वा, दुविहं परियट्ठियं तु ॥
समणपरियट्ठ दुविहो, आथरिओ वीयओ उवज्जाओ ।
संजतिपरियट्ठो पुण, तिविहो तु पवत्तणी तइया ॥
समणपरियाइ दुविहा, विहिपरियट्ठी य आविहिते चेव ।
जतिणि परियट्ठियव्वा, नियमेण य कारणा णिमिणा ॥
ताओ बहुवसगा, तेणादिदुसंचाराणि खेत्ताणि ।
कालवमेण य संजति, जायति जोगस्स जं तत्तं ॥
तम्हा सव्वपयत्ते-ए रक्खियव्वा उ ताउ णियमेणं ॥
ए वि सरती मोतव्वा, मा होज्ज तासि तु विणासो य ।
संवगेगतिपरिणतो, तासिं परियट्ठओ अणुसातो ॥
होति पुण अणरिट्ठो खल्लु, परिकट्ठी तु इमो तासिं ।
अवहुस्सुए अगीय-त्ये तरुणे य मंदधम्मिए ॥
कंदप्पसीन्नगट्ठा, अविही दोणे य गहणे य ॥
बहुसुयगीतजहणो, आवामगमादि जाव आयारो ।
तेयगी य बहुस्सुय-तिलहसमाण रतो तरुणे ॥

जो उज्जोगं न कुणति, चरणे मो होति मंदधम्मो तु ।
अणिहुयउल्लावादी, सरारकिरिआ य कंदप्पी ॥
णिकारणे अणद्धा, संजति वसही तु वच्चए जो तु ।
णिकारणमविहीए, जो देती गिएहती वा वि ॥
एयारिमे तु अज्जा-ए पणिट्ठी तु ए कप्पत्ति ।
कारणेहिं इमेहिं तु, गम्मत ऽज्जाणवस्सयं ॥
उवस्सए य गेएहइ, उवही संयपाहुणे ।
सहट्ठवणइमे, अणुनाजंणं ठाणे ॥
अणपज्जअगलियाओ, वीयारे पुत्तसंगमे ।
संवेहणवोमिरिणे, वोसट्ठाणिट्ठिए तेहिं ॥
अरिहो ऽएरिहो वा वी, परियट्ठी एवमाहिओ । पं० भा० ।
इयारिणं अणुपादनाकप्पो (गाहा) (परियट्ठियव्वयं) परि-
यट्ठत्ववओ भाणियव्वो परियट्ठंतओ ताव आयरियउवज्जाओ
साहुणं संजइणं आयरियउवज्जाओ पवत्तिणी परियट्ठियव्वयं
दुविहं साहु साहुणीओ जतीणं पुण एकको दुविहो विहि-
परियट्ठिओ अविहिपरियट्ठिओ य तथं संजइओ नियमा
परियट्ठियव्ववओ, किं कारणं बहुवसमां तारिस्सिं तेयणि
सुखेत्ताणि य दुसंचाराणि कावसेणे संपयं पमुच्च जोगोपंतो
जाओ, एयाओ जरहाइमि पुव्वपरिपादियाओ ते दुट्ठे निवारंति ।
तम्हा नियमा परिपादियव्ववओ । साहु भइया केरिस्सो पुण परि-
यट्ठंतओ ? (गाहा) (अवहुस्सुए अवहुस्सुएण) न कप्पइ अगीयत्ये
ए वा गीयत्यो जो तरुणा मंदधम्मो वा नाणुल्लाओ धम्मसहि-
ओ धि जो कंदप्पसीलो सो विणाणुल्लाओ खणट्ठाए जाइ संज-
इणं वसहिं अविहिदायगो नाम निकारणे देइ, गिएहइ वा,
परिस्सो न कप्पइ गणधरो अज्जियाणं [गाहा] [उवस्सए] अण-
छागमओ नाम जो इमाइं कारणाइं मोत्तूण जाइं काइं पुण ताइं
कारणाइं उवस्सए य गेएहइ उवस्सओ संजयिणं संजएहिं
पडिलेहेत्तु दायव्वो तमुवस्सयं गणधरो दाउं वज्जेज्जा, निहोसो
गिज्जाणाइ अज्जाए ओसहो संजपत्यजोयणं वा दाउं वज्जेज्जा
उवदिसिउं वा, जहा वा अगिलाणियाए गिज्जाणियाए संजइए
ओइनिज्जुत्तिगमए णं उवस्सए वा चिद्धिमिण्हिअंतरीए वसंतो
निहोसो ऊवही उस्सगेण संजइणं गणधरो उगमेउं पवत्तिणी-
ए दाउं पच्चेज्जा संघपाहुणए कुलथेराइआ गया इहिमतो वा
पव्वओ रायसेणावई अमच्चसेट्ठिगणनायगगामाउमरउओरुमा
इएतज्जणनिमित्तं सेज्जायराइएहवणानिमित्तं विहिणा वञ्जेज्जा
सेहठवणं वा रायपुत्तो पव्वइओ मोयपडणीएहिं जिच्छुगाइहिं
कहिओ मा एणस्मि महिद्धियो होउत्ति अमच्छाईण ममांताण
कहिण ताहे आहावेति दवदव्वस्स ताहे अंतट्ठाणिए वेज्जाए
पत्रावेति, असइवेज्जाए गेएहइ नियमिं काऊण संजइणं पमिस्स-
यमुवेति, ताहे तथ अमणुस्ससंधारीए कंजियाइपरियाइपरि-
सेयं काऊण सगहाओ ओसठेइं संति अएहाओ अडिइं करंति ।
जहा संजइ पमिज्जगति खरकम्माइ आगयाणं मा वोइं करहात्ति,
पमिसेहं करंति ; एवं नाइकमइ उद्दिसिउं वा गणधरो अंगमु-
यसंधम्मयणं वच्चेज्जा समुद्दिसिउं अणुजाणियं वा वि वच्चेज्जा
वरं खुट्ठियाइगोरवेणं आयरिएण उद्दिट्ठं काऊण भंरुणे वा
संजइणं उप्पएणं गणधरो उवसामेउं वच्चेज्जा पवत्तिणी वा
कावगया तथ अणुसात्तणनिमित्तं, अस्सं वा पवत्तिणिं उवेउं
वच्चेज्जा अणुपयज्जए वा खित्तचेत्तजस्साइए ठाए पुज्जमाजि-

मित्तं सोसङं वा दाउं वच्चेज्जा, अगणिकाए वा उद्धिओ मज्जेण उवस्सओ मा उद्धिहिइ, उज्जे वा अन्न—उवस्सयं काउं वच्चेज्जा, आउकाए वा नईपरिण उद्धिएसुं जय—ण उवकरणं मज्जेओ वा मा उज्जेज्जा, आउकाएण बालमाए वसहिं संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, वियारभूमिं वा पण—भग्गा उद्धा वा संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, सुतो भाया वा अज्जाए पव्वइओ, सो य अण्णदेसं गंतूण पुव्वगए कालि—याणुओगे वनिम्माओ अगणओ तं गणधरो घेतुं वच्चेज्जा, सं—वेहं वा करेउकामो तथेव एसं दाउं संबीढाए वा वोसिरणे वोसिहाए वा अणुसिद्धि दाउं वच्चेज्जा, एसा धिही, तच्चिव—रीया अविही । पं चू० ।

अणुपा (वा) लणानुच्छ—अनुपालनाशुच्छ—न० । प्रत्याख्या—ननेदे, आव० ।

कंतारे दुब्बिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने ।

जं पालिअं न जग्गं, तं जाणऽणुपालणाशुच्छं ॥ ३२ ॥

कान्तारे अरण्ये, दुब्बिक्खे कावविभ्रमे, आतङ्गे महति समुत्पन्ने सति यत्पात्रितं न भ्रमं तज्जानोह्यनुपालनाशुच्छमिति । “ एत उगमदोसा सोलस, उप्पायणाए वि दोसा सोलस, एसणाए दोसा दम, एए सव्वे वायालीसं दोसा निच्चपक्सिद्धा; एए कंतारदुब्बिक्खाइसु न जज्जेति ” इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ आव० ६ अ० । स्था० । आ० चू० ।

अणुपालिता—अनुपालय—अव्य० । यथा पूर्वं: पालितं तथा पश्चात्परिपालयन्त्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय—अनुपालित—त्रि० । आत्मसंयमानुकूलतया पा—लिते, स्था० ८ अ० । दशा० ।

अणुपासमाण—अनुपश्यन्—त्रि० । भूयः पश्यति, “ किं मे परो पासइ किं च अण्णा, किं वा हं खलियं न विवज्जयामि । इच्चेव मम्मं अणुपासमाणा, अणागयं नो परिवंध कुज्जा ” दश० २ चू० ।

अणुपिट्ठ—अनुपृष्ठ—न० । आनुपूर्व्याम, ‘अणुपिट्ठसिद्धाई’ सम० ।

अणुपुव्व—अनुपूर्व—न० । क्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । स्था० ।

अनुपूर्व्य—न० । मूलादिपरिपाठ्याम, श्री० । “अणुपुव्वसुजा—यदीहलंगुत्रे ” अनुपूर्वेण परिपाठ्या सुष्ठु जात उप्पन्नो यः सोऽनुपूर्वसुजातः । स्वजातुचित्कावक्रमजानो हि बलरूपा—दिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीर्घत्राहगूलो दीर्घपुच्छश्चेति स तथा, अनुपूर्वेण वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरलकृणेन सुजातं दीर्घत्रा—हगूत्रं यस्य स तथा । “मधुगुत्रियपिगलक्खो, अणुपुव्वसुजाय—दीहलंगुत्रो ” स्वा० ४ टा० ४ उ० । “ अणुपुव्वसुजाय रुद्धलव—ट्ठमावपरिणया ” आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाठ्या सुष्ठु जाताः आ—नुपूर्वसुजाताः, रुचिराः स्निग्धतया देदीप्यमानाश्च विमन्तः, तथा वृत्ततावपरिणताः । किमुक्तं भवति—एवं नाम सर्वा—सु दिक्षु च शाखाभिश्च प्रसृता यथा वर्तुलाः संजाता इति । आनुपूर्वसुजाताश्च ते रुचिराश्च आनुपूर्वसुजातरुचिराः वृत्त—भावपरिणताः । ग० । द्वा० । जी० । “ अणुपुव्वसुजायवप्प—गम्भांसायलज्जलाओ ” आनुपूर्व्येण क्रमेण नाचिस्तत्रां भाव—रूपेण सुष्ठु अनिशयेन यो जातवप्रः केदारो जलस्थानं तत्र गम्भांमलव्यतलं शतिलं जलं यासु ताः आनुपूर्वसुजात—वप्रगम्भांशीतलज्जलाः । ग० । द्वा० । जी० । “ अणुपुव्वसु—

संहयंगुलीए ” आनुपूर्व्येण क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । श्री० जी० । पूर्वस्या अनु, लघव इति गम्यन्ते, अनुपूर्वाः । किमुक्तं भवति—पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः, ‘णह एहेण हीणाउ ’ इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात् । अथवा—आनुपूर्व्येण परिपाठ्या वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता अविगता अद्भुतः पादाग्रावयवा येषां ते तथा । आनुपूर्व्येति विशेषणात्पादाहुलीग्रहणं, तासामेव नखं, नखेन हीनत्वात् । ज० २ वत्त० ।

अणुपुव्वसो—अनुपूर्वशस्—अव्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुप्पइय—अनुपतित—त्रि० । उद्धिने, “ आगासेऽणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरीडी ” उक्त० ६ अ० ।

अणुप्पगंथ—अनु (णु) प्रग्रन्थ—पुं० । अनुरूपतयौचित्येन विरतेः न त्वपुण्योदयाद्, अणुरपि, त्रा मृद्धोऽप्यल्पोऽपि प्रगतो ग्रन्थो धनादियस्य यस्माद् वाऽसावनुप्रग्रन्थः । अपेक्षित्यन्तर्भू—तत्त्वादणुप्रग्रन्थो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ टा० ।

अणुप्पप्प—अनुत्पन्न—त्रि० । वर्त्तमानसमयेऽविद्यमाने, नि० चू० ५ उ० । अलक्ष्णे, ग० १ अधि० । (‘ नमोकार ’ शब्दे तदुत्पन्नानुत्पन्नत्वं दर्शयिष्यते)

अणुप्पदाउं—अनुप्रदानम्—अव्य० । पुनःपुनर्दानमित्यर्थे, प्र—ति० । उपा० ।

अणुप्पदा (या) ण—अनुप्रदान—न० । पुनःपुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परस्परकेण प्रदाने, व्य० २ उ० । गृह—स्थानां परतीर्थिकानां स्वयूच्यानां वा संयमोपघातके दाने, जेणेह णिव्वेइ भिक्खु, अस्सपाणं तद्दाविहं ।

अणुप्पयाणमन्नेमिं, तं विज्जं परियाणिया ॥ आचा० १ श्रु० ९ अ० ।

(‘ धम्म ’ शब्दे अस्या व्याख्या)

अणुप्पनु—अनुप्रभु—पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० चू० २ उ० ।

अणुप्पवाएत्ता—अनुप्रवाचयितृ—त्रि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । “आयरियउवज्झाए गणंसि सम्मं अणुप्प—वाएत्ता जवइ ” तृतीयं संग्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुप्पवाएमाण—अनुप्रवाचयत्—त्रि० । वर्णानुपूर्विकमेण पत्र—तिः, ज० ३ वत्त० ।

अणुप्पवाय—अनुप्रवाद—पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूलेन सिद्धिप्रकरणेण प्रवदतीति । न० । नवमपूर्वे, स्था० ९ टा० । विशेष० । आ० म० टि० । ‘विद्यानुप्रवादम्’ इत्यपरं नाम । न० । अणुप्पवसरण—अनुप्रवेशन—न० । मनसि लब्धाऽऽस्पदं भवने, उक्त० ३ अ० ।

अणुप्पवेसेत्ता—अनुप्रवेश्य—अव्य० । “अन्नयरंसि अचित्तेसि सोयगंसि अणुप्पवेसेत्ता ” नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पसूय—अनुप्रसूत—त्रि० । जाते, आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अणुप्पाइ (ण)—अनुपातिन्—पुं० । अनुपततीत्यनुपाती । घटमाने युज्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

अणुपिय-अनुप्रिय-वि० । प्रियानुकूलं, “अन्नस्स पाणस्सि-
हलोइयस्स, अणुपियं भासति सेवमाणे” अनुप्रियं ज्ञापते
यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनुपश्चाद् भाषते अनुज्ञापते ।
सूत्र० १ शु० ७ अ० ।

अणुपेहा-अनुपेक्षा-स्त्री० । अनुपेक्षणमनुपेक्षा । चिन्तन-
कायाम्, स्था० ५ ता० ३ उ० । अर्थचिन्तने, ध० ३ अधि० ।
ग्रन्थार्थानुचिन्तने, ग० २ अधि० । सूत्रानुचिन्तनिकायाम्
उत्त० १ अ० । दश० । अनुपेक्षा स्वाध्यायविशेषः । स तु
मनसस्तत्रैव नियोजनाद् जयति । उत्त० १९ अ० । प्रव० ।
अवधाने, प्रति० । तद् विधिरसौ- “जिणवरपवयणपायम-
णयउण गुरुवयणओ सुणियपुट्ठे । एगगमणो धणियं, चित्ते
चित्तेइ सुयवियारे” ॥ १ ॥ ध० २० ।

एतस्याः फलम्-

अणुपेहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अणुपेहाएणं
आनुयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयडीओ धणियवंधणवच्चा-
ओ सिद्धिबंधणवच्चाओ पकरेइ, दीहकालडिइयाओ
हस्सकालडिइयाओ पकरेइ, तिच्चाणुभावाओ मंदाणुजा-
वाओ पकरेइ बहुप्पएसगाओ अप्पएसगाओ पकरेइ, आ-
उयं च एणं कम्मं सिय वंधइ, सिय नो वंधइ, अमायावेयणिज्जं च
णं कम्मं नो भुज्जो जुज्जो उवाचिणाइ, अणाइयं च एणं अण-
वदग्गं दीहमच्छं चाउरंतसंसारकन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥

हे जदन्त ! स्वामिन् ! अनुपेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकया, जीवः
किं जनयति ? । गुरुराह—हे शिष्य ! अनुपेक्षया कृत्वा जीवः
सप्त कर्मप्रकृतीर्ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयनामगोत्रा-
न्तरायरूपाणां सप्तानां कर्मणां प्रकृतयः एकशतचतुःपञ्चाशत्प्र-
माणाः सप्तकर्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतीर्धर्णियबन्धनवद्वाः
गाढबन्धनवद्वाः, निकाचितवद्वाः, शिथिलबन्धनवद्वाः प्रकरोति ।
यतो हि अनुपेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोज-
नाद्भवति, स चानुपेक्षा । स्वाध्यायो हि आच्यन्तरं तपः, तप-
स्तु निकाचितकर्मापि शिथिलीकर्तुं समर्थं भवत्येव । कथंभूताः
सप्त कर्मप्रकृतीः, आयुर्वर्जाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वर्जयन्ती-
त्यायुर्वर्जाः । पुनर्हि शिष्य ! अनुपेक्षया कृत्वा, जीवस्ता एव कर्मप्र-
कृतीर्दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगात् स्थितिखण्ड-
नामपहारेण ह्रस्वकावस्थितिकाः प्रकरोति । प्रचुरकालभोग्यानि
कर्माणि स्वल्पकालभोग्यानि करोतीत्यर्थः । पुनर्स्तीवानुभावाः
कर्मप्रकृतीर्मन्दानुभावाः प्रकरोति, तीव्रः उत्कटोऽनुभावो रसो
यासां तास्तीवानुभावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतीर्मन्दो निर्वहोऽनुजा-
वो यासां ता मन्दानुभावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकर्षेण विदधा-
ति, पुनर्बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति । बहुप्रदेशाग्रं कर्म
पुत्रविक्रममाणं यासां ताः बहुप्रदेशाग्राः, एतादृशीः कर्मप्रकृती-
रल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति । इत्यनेन अनुपेक्षयाऽशुभश्चतुर्विधोऽपि
बन्धः-प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धः, शुजत्वे-
न परिणमतीत्यर्थः । अत्र च आयुर्वर्जमित्युक्तम् । तत्तु-एकस्मिन्
भवे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तकात्रे एव आयुर्जीवो बध्नाति । च पुनः
आयुःकर्माऽपि स्याद् बध्नाति, स्यान्न बध्नाति, संसारमध्ये ति-
ष्ठति चेत्तर्हि अशुभमायुर्न बध्नाति । जीवेन तृतीयभागादिशेषा-
युष्केन आयुःकर्म बध्यते, अन्यथा न बध्यते । तेन आयुःकर्मबन्धे
निश्चयो नोक्तः, इत्यनेन मुक्तिं व्रजति तदा आयुर्न बध्नातीत्युक्तम् ।

पुनरनुपेक्षया कृत्वा जीवोऽसातावेदनीयं कर्म शरीरादिदुःखहेतुं कर्म
हेतुं च कर्म । चशब्दादन्याश्चाऽशुभप्रकृतीर्नो भूयो नूय उपचि-
नोति । अत्र भूयोऽनूयोप्रहणेन एवं ह्येयम्-कश्चिद्यतिः प्रमाद-
स्थानके प्रमादं भजेत् तदा बध्नात्यपि इति हार्दम् । पुनरनुपेक्ष-
या कृत्वा जीवश्चातुरन्तसंसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीइवयइ
इति) व्यतिव्रजति । चत्वारश्चतुर्गंतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्य
तत् चातुरन्तं, तदेव संसारकान्तारं संसारारण्यं, तत् शीघ्र-
मुल्लङ्घयति । कीदृशं संसारारण्यम् ?, अनादिकम्-आदेरभावा-
द् आदेरहितम् । पुनः कीदृशं संसारकान्तारम् ?, अनवदग्रम-
नागच्छत् अग्रं परिमाणं यस्य तद् अनवदग्रम्, अनन्तमि-
त्यर्थः । प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम् । पुनः कीदृशम् ?, दीर्घा-
ध्वं दीर्घकालं, ‘दीहमच्छं’ इत्यत्र मकारो लाक्षणिकः, प्राकृत-
त्वात् ॥ उत्त० १९ अ० । तत्रानुपेक्षा चिन्तनिका, तया
प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिनिवन्धनतया आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृ-
तीः, (धर्णियं ति) वाढं बन्धनं श्रेयणं, तेन यद्वाः, निकाचिता
इत्यर्थः । शिथिलबन्धनवद्वाः किञ्चिन्मुक्ताः । कोऽर्थः ?, अपवर्त्त-
नादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वाद्दस्याः । तपसश्च निका-
चितकर्मकृपणेऽपि कृमत्वात् । उक्तं हि-“तवसा उ निकाइ-
याणं व त्ति” दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरो-
ति, शुभाध्यवसायवशात् । स्थितिखण्डकापहारेणेति भावः । ए-
तच्चैवं, सर्वकर्मणामपि स्थितेरशुभत्वात् । यत उक्तम्-“स-
व्वासिं पि ठितीओ, सुभासुभाणं पि हांति असुभाओ । माणुस-
तेरिच्छदेवा-उयं च मोत्तूण सेसाओ” ॥ १ ॥ तीवानुभावाश्चतुः-
स्थानिकरसत्वेन, मन्दानुभावास्त्रिस्थानिकरसत्वाद्यापादनेन
प्रकरोति । इह चाशुभप्रकृतय एव गृह्यन्ते । शुभभावस्य
शुभासु तीवानुभावहेतुत्वात् । उक्तं हि-“सुभपयदीण विसो-
हिणं तिच्चमसुभाणं संकिञ्जेसं ति” अत्र हि-“विसोहिणसि” शु-
भजावेन तीव्रमित्यनुज्ञां बध्नातीति प्रक्रमः । कचिदिदमपि द-
श्यते-‘बहुप्पएसगाओ पकरेति’ ननु केनाभिप्रायेणायुष्कवर्जाः
सप्तैत्यभिधानम्, शुजायुष्क एव संयतस्य संभवात्तस्यैव चानुपे-
क्षा तादृशिकी । न च शुभजावेन शुभप्रकृतीनां शिथिलतादिकरणं,
संक्लेशहेतुकत्वात् तस्य । आह-शुजायुर्वन्धोऽप्यस्याः किं न फ-
लमुक्तम् । उच्यते-आयुष्कं च कर्म स्याद्बध्नाति, स्यान्न बध्नाति ।
तस्य त्रिभागादिशेषायुष्कतायामेव बन्धसंज्ञवात् । उक्तं हि-
“सिय तिभागतिजाणे” इत्यादि । ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन
विवक्षितत्वात् । तद्वत्तश्च कस्यचिद् मुक्तिप्राप्तेः तद्बन्धाननिधान-
मिति भावः । अपरं चासातावेदनीयं शरीरादिदुःखहेतुं कर्म ।
चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीर्नो नैव नूयोऽनूय उपचिनोति । भूयो-
भूयोप्रहणं त्वन्यतमप्रमादतः, प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्त्तितायां
तद्बन्धस्याऽपि संभवात् । अन्ये त्वेवं पठन्ति-“सायावेयणि-
उजं च णं कम्मं जुज्जो भुज्जो उवाचिणेति” इह च शुभप्रकृति-
समुच्चयार्थशब्दः, शेषं स्पष्टम् । अनादिकर्मादेरसंभ-
वात् । चः समुच्चयार्थो योदयते । (अणवदग्रं त्ति) अन-
वगच्छद्ग्रं परिमाणं यस्य सदाऽवस्थितानन्तपरिमाण-
त्वेन सोऽयमनवदग्रोऽनन्त इत्यर्थः, तम् । प्रवाहापेक्षं चैतत् ।
अत एव (दीहमच्छं ति) मकारो लाक्षणिकः । दीर्घाध्वं दीर्घं
कालं, दीर्घो वाऽऽध्वा तत्परिभ्रमणहेतुकर्मरूपो मार्गो यस्मिन्स-
त्तथा । चत्वारः चतुर्गंतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्मिन्स्तच्च-
तुरन्तम्, संसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीइवयइ ति) व्यतिव्रजति,

विशेषेणातिक्रामति किमुक्तं भवति-मुक्तिमवाप्नोति । उक्तं २६ अ० । अनु पश्चात् प्रेक्षाणमुपेक्षा । धर्मध्यानादेः पश्चात्पर्यालोचने, भ० २३ श० ८ उ० । स्वा० । आ० । उक्तं । (" धर्मस्य णं भाणस्म चत्तारि अणुपेहाओ " इत्यादि धर्मध्यानादिशब्देष्वेव द्रष्टव्यम्) अहंद्गुणानां मुहुर्मुहुर्गुणस्मरणं च । " अणुपेहाणं वट्टमाणीए गामि काउस्सगं " ध० २ अधि० । आ० । तत्त्वार्थानुचिन्तायाम्, ल० ।

अणुपेहिपव्व-अनुपेक्षितव्य-त्रि० । अन्वाख्यानविधिना परिभाषनीये, पं० सू० १ सू० ।

अणुफाम-अनुस्पर्श-पुं० । अनुभावे, " लोहस्सेवऽणुफासो, मस्रे अन्नयरासवि " दश० ६ अ० ।

अणुबंध-अनुबन्ध-पुं० । सातत्ये, स्था० ६ ठा० । अनुबन्धः सन्तानः प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । पौ० १ विव० । अव्यवच्छिन्नसुखपरम्परया देवमनुजजन्मसु कल्याणपरम्परारूपे सन्ताने, पौ० १३ विव० । तत्परिणामाविच्छेदतः प्रकर्षयापितायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुबंधवउक्क-अनुबन्धवत्पुक्क-न० । प्रयोजनादिकारिसंबन्धामिधेयवत्पुष्टे, तच्च ग्रन्थादावभिधायकम् । आ० १ अ० । अत्र कश्चिदाह-नन्वधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिपरिज्ञानं भविष्यतीति निरर्थक एव शास्त्रादीं प्रयोजनाद्युपन्यास इति चेद् । न । अनधिगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुतया सफलत्वात् । अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिनिश्चयपूर्विका भवति । न च प्रयोजनादावुक्केऽपि अनधिगतशास्त्रार्थानां तद्विश्रयोपपत्तिः, वचनस्य बाह्यार्थे प्रति प्रामाण्याभावान् । न च संशयतः प्रवृत्तिरूपपक्षा, प्रेक्षावतां क्षतिप्रसङ्गात्, ततः कथं सार्थकता अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य ? तदेतदपरिनिन्दितभाषितम् । वचनस्य बाह्यार्थे प्रति प्रामाण्याभावान्, अन्यथा सकलव्यवहारेच्छेदप्रसक्तेः । विवृम्भितं चात्र प्रपञ्चतो धर्मसङ्ग्रहणीटीकादाविति ततः परिभाषनीयम् । अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थे प्रति प्रामाण्यं तर्ह्यत एव सम्यग्मभिधेयादिपरिज्ञानभावात्परिधिका शास्त्रे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, फलाभावान् । प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिपरिज्ञानं, तच्चाधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति । तदेतदालिशिविवृम्भितम् । अधिकृतेन हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिर्भवति, सामान्येन नाशेषविशेषपरिज्ञानपुगस्सग, अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात् । सामान्यनिष्ठं हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषनिष्ठं विशेषम् । अतो वचनप्रामाण्यादधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासवाक्यतः सामान्येन प्रयोजनादिकेऽधिगते कथं तु नामास्माकं मविशेषं सामायािकादिपरिज्ञानं स्यादिति विशेषपरिज्ञानाय भवति प्रेक्षावतां शास्त्रे प्रवृत्तिः । अन्यच्च यदि वचनस्य न प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथापि न काचिद्विवाक्यार्थकृतिः । आ० म० प्र० ।

अणुबंधच्छेयणाऽ-अनुबन्धच्छेदनादि-पुं० । अनुबन्धं छिनत्तीति अनुबन्धच्छेदनः, तदादिः । निरनुबन्धताऽऽपादनादीं कर्मरूपणोपायं, " चिन्ताणं कम्मणं, चिन्तांचिय होऽ खवण्वाओ वि । अनुबन्धच्छेयणाऽ, सो उण एव ति णायव्वो " ॥१॥ पञ्चा० १६ विव० ।

अणुबंधभाव-अनुबन्धभाव-पुं० । अनुभावस्य सत्तायाम्, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधभावविहि-अनुबन्धभावविधि-पुं० । प्रत्याख्यातपरिणामाविच्छेदभावस्य विधाने, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधवच्छेद-अनुबन्धव्यवच्छेद-पुं० । भवन्तरारम्भकारणमितरेषां च कर्मणां वन्ध्यभावकरणे, द्वा० १८ ठा० ।

अणुबंधमुच्छिजाव-अनुबन्धमुद्भिभाव-पुं० । सातत्येन कर्मकृत्योपशमेनात्मनो निर्मलत्वसदृभावे, पञ्चा० ८ विव० ।

अणुबंधावणयण-अनुबन्धापनयन-न० । अशुजनावजातकर्मनुबन्धव्यवच्छेदे, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुबन्धिअं-देशी-दिकायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुबंधि (न)-अनुबन्धिन्-त्रि० । अनु-बन्ध-णिनि । हेतौ, ध० २ अधि० । प्रस्फोटकादीनां सातत्यविशिष्टे अननुबन्धिदोपरहिते प्रतिलेखने, स्था० ६ ठा० ।

अणुवद्ध-अनुवद्ध-त्रि० । सदानुगते, जी० ३ प्रति० । आ० म० । गृहीते, नि० चू० १ उ० । निरन्तरमुपचिते, जी० ३ प्रति० । सतते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । स्था० । अव्यवच्छिन्ने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । प्रतिवद्धे, द्वा० २ अ० । व्याप्ते, द्वा० २ अ० । पूर्वोपाजितदेवबन्धनयद्धे, उक्तं ४ अ० ।

अणुवद्धखुहा-अनुवद्धक्षुब्ध-स्त्री० । सततवृत्तकायाम्, " अणुवद्धखुहापरद्धसी उगहत्त एहवेयणा दुग्घट्टघटियविवरणमुहविच्छविया " प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणुवद्धनिरन्तर-अनुवद्धनिरन्तर-त्रि० । अत्यन्तनिरन्तरे, " अणुवद्धनिरन्तरेवेयणासु " अनुवद्धनिरन्तराः अत्यन्तनिरन्तरावेदना येषु ते तथा । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणुवद्धनिव्वेरे-अनुवद्धतीव्रवैर-त्रि० । अव्यवच्छिन्नोत्कटवैरभावे, " अणुवद्धनिव्वेरे, परोप्परं वेयणं उदीरोति " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणुवद्धमज्जाण-अनुवद्धधर्मध्यान-त्रि० । अनुवद्धं सततं धर्मध्यानमाज्ञाविनयादिलक्षणं येषां तेऽनुवद्धधर्मध्यानाः । सततप्रवृत्तधर्मध्याने, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणुवद्धगोसप्पमर-अनुवद्धरोपप्रसर-त्रि० । अनुवद्धः सततमव्यवच्छिन्नो गोपस्य प्रसंगे विस्तारो यस्य सोऽनुवद्धरोपप्रसरः । निरन्तरकुक्षे, ग० १ अधि० ।

अणुवद्धविग्गह-अनुवद्धविग्रह-त्रि० । सदा कलहशीले, पं० य० ३ द्वा० ।

नित्यं विग्गहशीलो, काकण य नाणुतप्पए पच्छा ।

न य स्वामितं पसीयइ, सपक्खपरपक्खओ वा वि ॥

नित्यं सततं विग्रहशीलः कलहकरणस्वभावः, कृत्वा च कलहं नानुत्पत्ये पश्चात् । यथाह-किं कृतं मया पापेनेति । तथा क्षमितीऽपि, क्षम्यतां ममायमपराध इति भणितोऽपि स्वपक्वपरपक्वयोगि, न च नैव, प्रसीदति प्रसन्नतां जजति, तीव्रकपायो-दयवान् । अत्र च स्वपक्वे साधुसाध्वीवर्गः, परपक्वे गृहस्थवर्गः । एषोऽनुवद्धविग्रह उच्यते । वृ० १ उ० ।

अणुवेदंधर-अनुवेदन्धर-पुं० । महतां वेदन्धराणामादेशप्रती-

चक्रतयाऽनुयायिनो वेलेधरा अनुवेलेधराः । स्वनामख्या-
तेषु नागराजेषु, जी० ३ प्रति० ।

तद्देवाः, तदावासपर्वताश्च यथा—

कहि णं जेते ! अणुवेलेधराणागरायाणां पणत्ता ? । गो-
यमा ! चत्तारि अणुवेलेधराणागरायाणां पणत्ता । तं जहा-
ककोडए, कदमए, कइलासे, अरुणपभे । एतेसिं णं भंते !
चउएहं अणुवेलेधराणागराईणं कति आवासपर्वया प-
एणता ? । गोयमा ! चत्तारि आवासपर्वया पएणत्ता । तं
जहा-ककोडए, कदमए, कइलासे, अरुणपभे । कहि णं भंते !
ककोरुगस्स अणुवेलेधराईस्स ककोडएणां आवासप-
र्वते पणत्ते ? । गोयमा ! जंतुहीषे दीव मंदरस्स पर्वयस्स
उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुदं वायालीसं जोयणसयाइं उ-
ग्गाहिता एत्थ णं ककोडयस्स एणागरायास्स ककोडए णाम
आवासे पएणत्ते, सत्तरसएकवीसाइं जोयणसयाइं, त चेव
पमाणं गोयूजस्स, णवरिं सव्वरयणामए अच्छे जाव निर-
वमेमं जाव सीहासणं सपरिवारं अटो म बहूइं उप्पवाइं
ककोरुगपभाइं, सेसं तं चेव, णवरिं ककोरुगपर्वतस्स
उत्तरपुरच्छिमेणं, एवं चेव सव्वं कदमस्स वि सो चेव ग-
मओ अपरिमेसिओ, एवरिं दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो
विज्जुजिउभावी रायहाणी, दाहिणपुरच्छिमेणं कति जा
से वि एवं चेव, एवरिं दाहिणपवच्छिमेणं कइलासा वि
रायहाणी, ताए चेव दिमाए अरुणपभे वि उत्तरपुगच्छि-
मेणं रायहाणी वि, ताए चेव दिमाए चत्तारि वि एगपमा-
णा सव्वरयणामया य ॥

(कहि णमित्यादि) कति भदन्त ! अनुवेलेधरराजाः प्रज्ञताः ? ।
भगवानाह-गौतम ! चत्वारोऽनुवेलेधरराजाः प्रज्ञताः । तद्यथा-
ककोटकः, कर्दमकः, कैलासः अरुणप्रभश्च । (एतेसिं णमित्यादि)
एतेषां भदन्त ! चतुर्षामनुवेलेधरराजानां कति आवासपर्व-
ताः प्रज्ञताः ? । भगवानाह-गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन च-
त्वारोऽनुवेलेधरराजानामावासपर्वताः प्रज्ञताः । तद्यथा-कको-
टकः, विद्युत्प्रभः, कैलासः, अरुणप्रभश्च । ककोटकस्य कको-
टकः, कर्दमस्य विद्युत्प्रभः, कैलासस्य कैलासः, अरुणप्रभस्या-
रुणप्रभ इत्यर्थः । ' कहि णं भंते ! ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् ।
भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपृ-
थ्व्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्रायवगाह्य, अत्र एतस्मिन्नयकाशे ककोटकस्य लुजगेन्द्रस्य लुजगराजस्य क-
कोटको नाम आवासपर्वतः प्रज्ञताः । (सत्तरसएकवीसाइं जोयण-
सयाइं) इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यतो-
क्ता, सेवेहापि अर्हानातिरिक्ता ज्ञातव्या । नयरं सर्वरत्नमय इति
वक्तव्यं नामानिस्तत्तन्निमित्तायामपि, यस्माच्च कृत्स्नामु कृत्तिकामु
वापीमु, यावद् विलपङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत् शतसहस्रप-
त्राणि ककोटप्रभाणि ककोटकाकाराणि ततस्त्वानि ककोटका-
नीति व्यवहियन्ते । तद्योगात्पर्वतोऽपि ककोटकः । तथा कको-
टकनामा देवस्तत्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति । ततः ककोट-
कस्यामित्यात् ककोटकः राजधान्यपि । ककोटकस्यावासपर्वत-

स्य उत्तरपृथ्व्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यति-
व्रज्यान्त्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्रायवगाह्य कको-
टकाभिधाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपत्तव्या । एवं
कर्दमककैलासारुणप्रभवक्तव्यताऽपि भावनीया, नयरं जम्बूद्वीपे
द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपृथ्व्यां कर्दमकः,
दक्षिणापरस्यां कैलाशः, अपरोत्तरस्यामरुणप्रभः । नामानि-
स्तत्तन्निमित्तायामपि यस्मात्कर्दमके आवासपर्वते उत्पन्नादीनि क-
र्दमप्रजाणि ततः कर्दमकः । भावना प्रागिव । अन्यस्वकर्दमके वि-
द्युत्प्रभो नाम देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्व-
जावाद् यत्कर्दमप्रियः । यत्कर्दमं नाम कुङ्कुमागुरुकर्णक-
स्तूरिकाचन्दनमेलापकः । उक्तं च— " कुङ्कुमागुरुकर्णक-
चन्दनानि च । महासुगन्धमिष्युक्त-नामका यत्कर्दमः " ॥ १ ॥
ततः प्राचुर्येण यत्कर्दमसंज्ञवादसौ पूर्वपदद्वयोपेत्य नामेति यत्
कर्दम इष्युच्यते । कैलाशे कैलाशप्रभाणि उत्पलानि, कै-
लाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, ततः कै-
लाशः । एवमारुणप्रभेऽपि वक्तव्यम् । कर्दमका राजधानी कर्द-
मकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपृथ्व्या कैलाशा, कैलाशस्यावा-
सपर्वतस्य दक्षिणापरया अरुणप्रभा, अरुणप्रभस्यावासपर्व-
तस्यापरोत्तरया तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्त्य-
स्मिन् लवणसमुद्रे विजया राजधानीव वक्तव्या । जी० ३ प्रति० ।
अणुवज्ररु-अनुद्वन्द्व-आ० । अनुलवणे, जी० ३ प्रति० । अभि-
मानरहिते, उक्तं २ अ० ।

अणुवज्ररूपसत्यकुक्खि-अनुद्वन्द्वप्रशस्तकुक्खि-वि० । अनुद्व-
न्द्वोऽनुलवणः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणः पीनः कुक्खियासां ताः
अनुद्वन्द्वप्रशस्तपीनकुक्खयः । जी० ३ प्रति० ।

अणुवज्रडवेग-अनुद्वन्द्वटवेग-पु० । धिग्जनोचितनेपथ्यवर्जिते
स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।

संप्रत्यनुद्वन्द्वेव इति तृतीयं जेदं प्रचिकटयिषुर्नाथापूर्वा-
रुमाह—

सहइ पमंतो धम्मी, उब्भरुवेसो न सुन्दरो तस्स ।

(सहइ स्ति) राजते शोभते, प्रशान्तः प्रशान्तवेगो, धर्मी धर्म-
वान् धार्मिको, जावश्रावक इत्यर्थः । अतः कारणादुद्वन्द्वेवः पि-
रुगजनोचितनेपथ्यः । " लंखस्स च परिहाणं, गसइ व अंगे त-
हंगिया गाढा । सिरवेढो ढमरेणं, वेसो एसो सिङ्गाणं ॥ १ ॥
सिहिणेण मग्गदेसो, उग्घाओ नाहिमंरुलं तहय । पासाय अऊ-
पिहिया, कंचुयओ एस वेसाणं " ॥ २ ॥ इत्यादिरूपो न सुन्दरो
नैव शोभाकारी तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुतरामुपहास-
स्थानं स्यात् । " नाकामी मण्डनप्रियः " इति लोकोक्तेरिह लोके-
ऽपि कदाचिदनर्थं प्राप्नुयाद्, वन्धुमतीवत् । अन्ये पुनराहुः—
" संतलयं परिहाणं, जलं च चोवाइयं च मज्झिमयं । सुसि-
लिधमुत्तरीयं, धम्मं लच्छि जसं कुणइ ॥ १ ॥ परिहाणमणु-
धरचल-एकोडिमज्जाय मणुसरंते तु । परिहाणमक्रमंतो,
कंचुयओ होइ सुसिलिधो " ॥ २ ॥ इत्यादि । एतदपि संगतमेव ।
किन्तु कचिदेव देशे कुले वा घटनेः श्रावकास्तु नानादेशेषु च
संभवन्ति, तस्मादिह कुलाविरुद्धो वेगोऽनुद्वन्द्व इति व्याख्यानं
व्यापकमिह संगतमिति ।

वन्धुमतीज्ञातं त्वेवम्—

अत्थि इह तामलिची, नयरी न अरीहिं कहवि परिभूया ।

अङ्गुल्यविहवभारो, सिद्धी तत्पासि ररसारो ॥ १ ॥
सारयससिनिम्मलसी-लवंधुला वंधुला पिया तस्स ।
ताणं धुया कया-इगुणजुया वंधुमई नाम ॥ २ ॥
सा पुण कया चूमय-मंढियवाहा अलंकियमगीरा ।
पगईए उम्भडव-सपरिगया विछइ सया वि ॥ ३ ॥
सुद्धिणे सा पिउणा, भणिया वयणेहिं पणयपवणेहिं ।
एवं उम्भरवेसो, वच्चे ! पच्चे न सच्चाण ॥ ४ ॥

यउक्तम्—

“कुलदेसाण विरुद्धो, येसो रत्तो वि कुणइ नहु सोइ ।
वणियाण विसेमणं, विसेमभो ताण इत्थीणं ॥ ५ ॥
अर्रोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जेणहिं संवासो ।
अइउम्भसो य वेसो, पंच वि गरुयं पि वहुयंति” ॥ ६ ॥
इच्छाउत्तिनुत्तं, वुत्ता वि न मन्नए इमा किपि ।
विछइ तदेव निच्चं, पिउपायपसायउत्तुज्जिया ॥ ७ ॥
जरुयच्चवासिणा वि-मलसिद्धिपुत्तेण वंधुदत्तेण ।
सा गंतु तामन्नित्ति, महाविनूई परिणीया ॥ ८ ॥
मुत्तण जणयन्नयणे, वंधुमई वंधुपरियणसंमथो ।
जलहिम्म वंधुदत्तो, संचयिओ जाणयत्तेण ॥ ९ ॥
जा किंचि नृमिनागं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएणं ।
पम्भकूलववणवहरी-पत्तुल्लियं जलहिम्मज्जम्मि ॥ १० ॥
सत्थं व विणयदीणे, वियलियसीले विसुरुदाणं व ।
तं पवइणं विणट्ठं, धणधणणहिरणपम्भपुणं ॥ ११ ॥
सो कहकहमवि फलहे-ण दुत्तरं उत्तारत्तु नीरनिहिं ।
जा पिउइ दिसिचकं, ता तं निच्छेइ ससुरपुरं ॥ १२ ॥
तो अप्पं जालावइ, केण वि पुरिसेण निययससुरस्स ।
तं मुणिय हा, किमेयं ति, जंपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥
अउउम्भडवेसविसे-सरयणइकारसारभूसाए ।
बंधुमईए सहिओ, जा से पासे स मल्लिपइ ॥ १४ ॥
वररयणकणयचूमय-विजुसियं ताव रुद्धकरजुयत्तं ।
बंधुमईए छिन्ने, केण वि जूयारचारेण ॥ १५ ॥
तत्तो सो आरिक्खय-नीओ नासिन्तु उत्ति संपत्तो ।
पहपरिसमवसुत्त-स्स वंधुदत्तस्स पासम्मि ॥ १६ ॥
तेणं च धुत्तयाए, चितिय मिणमेव पत्तकात्तं मे ।
इय मुत्तु तस्स पासे, करजुयत्तं तक्करो नटो ॥ १७ ॥
पच्चा गयनववरत्तुमु-वसवणवुद्धो सलुहओ एसो ।
चोरु त्ति काउ तेहिं, सुवाए भत्ति पक्खित्तो ॥ १८ ॥
अह रइसारो सिद्धी, नियपुत्तिए निदत्तु तमवत्थं ।
बहु कुरिऊण पत्तो, जा जामाउयसमायं पि ॥ १९ ॥
ता तं मूलानिअं, सइसा पिच्छित्ति बहु च पव्वित्ता ।
अंमुभरपुन्ननयणा, दुहियो से कुणइ मयकिच्चं ॥ २० ॥
इत्तो य सुजसनामा, चउताणी तत्थ आगओ तं च ।
नमिउं पत्तो सिद्धी, गुरु वि इय कहइ मे धम्मं ॥ २१ ॥
जो भविया ! उम्भरवे-सवज्जणे कुणइ चयह परुसगिरं ।
चितइ नवस्स रुयं, जेण न पावेइ दुक्खाइ ॥ २२ ॥
तो सोउं संयिगो, सिद्धी पणमित्तं पुच्छए जयवं ! ।
मह जामाउयइहिया-निहं किं कयं उक्कयं पुत्ति ? ॥ २३ ॥
गणइ गुरु अभिरामे, सां गामं पि इत्थिया पगा ।
आसि अडवि च वट्ठमय-वाइसुया इमाया विहवा ॥ २४ ॥
सा उयरकंदरापू-रण्यमासगहिंसु निच्चं पि ।
कम्मं करेइ पुत्तो, उ चारए वच्चरुवाइ ॥ २५ ॥

सा ठविय भोयणं सि-कगम्मि पुत्तदुमन्नथा पत्ता ।
कस्सइ गेहे कम्म-त्थमागओ तम्मि जामाऊ ॥ २६ ॥
सा तस्स तप्पणणहा-एमाइकम्मसु निउत्तया पढमं ।
पच्चा खंमणपीसण-रंधणदलणाइ कारविया ॥ २७ ॥
जाया महई वेडा, तेण गिहत्थेण वाउलत्तणओ ।
नहु सा जिमाविया तो, नृक्खियतिसिया गया सगिइ ॥ २८ ॥
तं ददु सुपण वुहा-इएण जणिया सनिछुरं पसा ।
किं तत्थ तुमं खिसा-सूवाए जं न बहु पत्ता ॥ २९ ॥
तीइ वि अणत्थभरिया-इ जंपियं किंकरा तुइं जिन्ना ।
जं सिकगाउ गहिऊ-ण जेयणं नेव जुत्तासि ॥ ३० ॥
इय फरुसवयणजाणियं, कम्मं दोहिं वि निकाइयं तेहिं ।
अइनिविमज्जिमभावे-ण नेव आलोइयं तं च ॥ ३१ ॥
तेसि दाणरयाणं, संजमरहियाण मज्जिमगुणाणं ।
किंचि सुइजावणाए, वट्ठताणं गलियमाउं ॥ ३२ ॥
ता सां वाओ जाओ, जामाऊ तुज्ज वंधुदत्त त्ति ।
सा पुण दुग्गयनारी, वंधुमई तुह सुया जाया ॥ ३३ ॥
भवियव्वया निओगा, विचित्तयाए य कम्मपगईए ।
माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥
तक्कम्मविवागेणं, वंधुमई पाविया करच्छेयं ।
पत्तो य वंधुदत्तो, मूलापीक्खवणवसणमिणं ॥ ३५ ॥
इय सोउं रइसारो, सिद्धी संजयगरुयसंवेओ ।
गिहिय गुरुण पासे, दिक्खं सुहभायणं जाओ ॥ ३६ ॥

इत्युद्धृतं वेपमतिश्रयन्त्याः,

श्रुत्वा विपाकं खलु बन्धुमत्याः ।

भव्या जना निर्मलशीलप्राज्ञ-

स्तद्धत्त देशाद्यविरुद्धमेतन् ॥ ३७ ॥ ध० २० ।

अणुवभाषण-अनुद्भामक-पुं० । मौलश्रमे भिक्षापरिमाणशी-
ले, वृ० १ उ० ।

अणुजव-अनुभव-पुं० । अनु-भू-अप् । स्मृतिभिन्ने ज्ञाने, वि-
षयानुरूपभवनाच्च बुद्धिवृत्तेरनुभवत्वम् । अनुभवश्च-प्रत्यक्षानु-
मानोपमानशाब्देभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्ति-
नां मीमांसकाश्च अर्थापत्त्युपलब्धिरूपमधिकं जेदद्वयमुररीच-
कुः । वैशेषिकाः सौगताश्च प्रत्यक्षानुमानरूपमेवानुभवद्वयं स्वी-
चकुः, अन्येषां सर्वेषामनयोरन्तर्भावात् । सांख्यादयः प्रत्यक्षा-
नुमानशाब्दा एवेति जेदत्रयीमङ्गीचकुः । चार्वाकाः प्रत्यक्षमात्र-
मिति भेदः । वाच० । स्वसंवेदने, पञ्चा० ५ विध० । श्रा० ।
आव० । प्रश्न० ।

अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारेण लिख्यते-
यथाध्वस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावारमणस्वरूपरमणतदास्वा-
दनैकत्वमनुभवः ।

तदष्टकम्—

संधेव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।

बुधैरनुजवां दृष्टः, केवलार्कारुणोदयः ॥ १ ॥

व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्मदर्शनमेव हि ।

पारं तु प्रापयत्येकोऽ-नुजवां जववारिधेः ॥ २ ॥

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुजवं विना ।

शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥

ज्ञायेन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राङ्गैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥
 केषां न कल्पनादूर्वा, शास्त्रज्ञां रात्रगाहिनी ।
 विरलास्तदसास्वाद-विद्रोऽनुजवजिह्वया ॥ ५ ॥
 पश्यन्तु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
 कथं लिपिमयी दृष्टि-व्रीहमयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥
 न सुषुप्तिगमोहत्वा-न्नापि च स्वापजागर्गै ।
 कल्पनाशिल्पविश्रान्ते-स्तुर्यो वाऽनुजवो दृशा ॥ ७ ॥
 अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
 स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवेनाधिगच्छति ॥ ८ ॥
 अष्ट० २६ अष्ट० ।

स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदने, विशेषः ।

अणुभवाण-अनुजवन-न० । कर्मविपाकवेदनेऽनुजावे, आव०
 ४ अ० ।

अणुभविउं-अणुजवितुम्-अव्य० । ज्ञोक्तुमित्यर्थे, “ वेयणा
 अणुभविउं जे संसाराम्म अणंतए ” उक्तं १८ अ० ।
 अणुभवित्ता-अनुज्यू-अव्य० । अनुभवं कृत्वैत्यर्थे, प्रश्न १
 आश्र० द्वा० ।

अणुजाग (व)-अनुजाग (व)-पुं० । वैकियकरणादिकायामचि-
 न्त्यशक्तौ, स्था० १ ता० ३ उ० । ज्ञा० । आव० । च० प्र० । माहात्म्ये,
 सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वर्णगन्धादिगुणे, विशेषः । शापाद्य-
 नुग्रहविषये सामर्थ्ये, प्रज्ञा० २ पद । अनु पश्चाद् बन्धोत्तर-
 कात्रं जजनं सेवनमनुजजनम्, अनुभागः । कर्म० ६ कर्म० । कर्मणां
 विपाके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उदये, रसे च । स्था० ७
 ता० । दर्श० । तीव्रादिभेदे रसे, स० । “ अनुभागो रसः प्रोक्तः,
 प्रदेशो दलसंचयः ” कर्म० ५ कर्म० । अनुभागः, रसः, अनुजाव
 इति पर्यायाः ।

अनुजागस्य किञ्चित्तावत् स्वरूपमुच्यते-

इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमध्यविपरिवर्ती, रागादिसचि-
 वो जन्तुः पृथक्सिद्धानामनन्तजागवर्तिभिरन्येभ्योऽनन्त-
 गुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति ।
 तत्र च प्रतिपरमाणुकषायविशेषान् सर्वजीवानन्तगुणान् अनुजा-
 गस्याविजागपति (रि) च्छेदनां करोति । केवलप्रज्ञया विद्यमानो
 यः परमानिकृष्टोऽनुजागांशोऽतिसूक्ष्मतेयाऽर्द्धं न ददाति सोऽविजा-
 गपञ्चिच्छेद उच्यते । उक्तं च-“ बुद्धीऽ विज्जिमाणो, अणुभागं सो
 न देहो जो अद्धं । अविभागपञ्चिच्छेदो, सो इह अणुभागवंधम्मि ” ।
 तत्र चैकैककर्मस्कन्धे यः सर्वजघनपरसः परमाणुः सोऽपि के-
 वलिप्रज्ञया विद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसजागान्
 प्रयच्छति ; अन्यस्तु परमाणुः तानविभागपञ्चिच्छेदानेकाधिका-
 म्प्रयच्छति ; अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान् ; अन्यस्तु तानपि चतुर-
 धिकमित्यादिवृद्ध्या तावन्नैवं यावदन्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मौल-
 राशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च जघनपरसा
 ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणपरसजागयुक्तैष्वप्य-
 सत्कल्पनया शतरसांशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः
 समानजातीयत्वादेका वर्णणेत्यभिधीयते । अन्येषां त्रैकोत्त-
 रशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा । अपरे-
 षां तु द्रव्युत्तरशतरसांशयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा ।

अन्येषां तु त्रयुत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी
 वर्गणा । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदा-
 यरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽन्येभ्योऽनन्तगुणा वा-
 च्याः । एतासां चैतावतीनां वर्णणानां समुदायः स्पर्शकमित्य-
 भिधीयते । स्पर्शन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणाः । अ-
 वेति कृत्वा एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणाः । अथ सत्कल्पनया
 पदं स्थाप्यन्ते-
 निरन्तररस-
 सर्वजीवानन्त-
 क्रमेणारभ्यते ।
 नन्तानि रस-

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१
१००

इदमेकं स्पर्शकम् । इत ऊर्द्धमेकान्तरया
 वृद्ध्या, वृद्धो रसो न वृज्यते, किं तर्हि
 गुणैरेव रसजागैर्वृद्धो वृज्यते । इति तेनैव
 ततस्तनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि यावद-
 स्पर्शकानि उत्तिष्ठन्ते ।

तीव्रमन्दतया द्विविधोऽनुभागः-

अयं चानुभागः शुभाशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां ती-
 व्रमन्दरूपतया द्विविधो भवति ।

अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो
 वध्यते, येन च मन्दः तन्निरूपणार्थमाह-

तिव्रो असुहसुहाणं, संकेसविसोद्विओ विवज्जयओ ।

मंदरसो गिरिमहिरय-जलरेहासरिकसाएहिं ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत्तीव्रमन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादङ्कारार्थः । इह घो-
 पातकीपिचुमन्दाद्यशुभवनस्पतीनां सम्बन्धी सहजोऽर्द्धावत्तो
 द्विजागावत्तो भागत्रयावत्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटु-
 कतमोऽतिशयकटुकतमश्च ; तथेशुक्तीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी
 सहजोऽर्द्धावत्तो द्विजागावत्तो जागत्रयावत्तश्च यथासंख्यं
 मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जल्लयसम्ब-
 न्धाद्यथा तीव्रो भवति तथैतेषामेव पिचुमन्दादीनां कीरादीनां
 च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जललवविन्द्वर्द्धचुलुकचुलु-
 कप्रसृत्यञ्जविकरककुम्भट्टाणादिसम्बन्धाद्यथा बहुजेदं मन्द-
 तरादित्वं प्रतिपद्यते तथा अर्द्धावत्तादयोऽपि रसाः । यथा ज-
 ललवादिसम्बन्धान्मन्दमन्दतरमन्दतमादित्वं प्रतिपद्यते तथै-
 वाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तादृशतादृशकषायवशा-
 त्तीव्रत्वं मन्दत्वं चानुविदधतीति । अङ्कारार्थोऽयुना विव्रियते-
 तीव्रो रसो जवति । कासामित्याह-(असुहसुहाणं ति) अशुभाश्च
 शुजाश्चाशुभशुजाः, तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभ-
 प्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथमित्याह?-(संकेसविसोद्विओ त्ति) संक्लेश-
 च विगुच्छिश्च संक्लेशविगुच्छी, ताभ्यां संक्लेशविगुच्छितः, आद्यादे-
 राकृतिगणत्वात् तत्प्रत्ययः । यथासंख्यमशुभप्रकृतीनां संक्ले-
 शेन शुभप्रकृतीनां विगुच्छेत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-अशुभप्रकृतीनां
 द्व्यर्शातिसंख्यानां संक्लेशेन तीव्रकषायोदयेन तीव्र उत्कटो रसो
 जवति । सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्वन्धविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य
 उत्कृष्टसंक्लेशो जन्तुः स स तीव्ररसं वध्नातीत्यर्थः । शुभप्रकृती-
 नां विगुच्छा कषायविगुच्छा तीव्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृति-
 बन्धकानां मध्ये यो यो विगुच्छमानपरिणामः स स तासां
 तीव्रमनुभागं वध्नातीत्यर्थः । उत्कृष्टतीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः ।
 सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते-(विवज्जयओ । मंदरसो
 त्ति) विपर्ययेण विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्दोऽनुकटो रसो
 जवति । अयमर्थः-सर्वप्रकृतीनामशुभानां विगुच्छा मन्दो रसो
 जायते, शुभानां तु मन्दः संक्लेशेनैति । उक्तः संक्लेशविगुच्छि-
 वशादशुभशुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः । (एकस्थावि-
 कारादकश्चतुर्विधोऽनुजावः अयं चैकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदा-

शुक्ला भवन्त्येकस्थानिकादिरसा यैः प्रत्ययैर्यासां प्रकृती-
नां जवन्ति तदाह—(गिरिमहिरय इत्यादि) गिरिश्च पर्वतः, मही
च पृथिवी, रजश्च धातुका, जलं च पानीयं, गिरिमहीरजोजला-
नि, तेषु रेखा राजयस्ताभिः सदृशास्तुल्यगिरिमहीरजोरेखासदृ-
शास्तं च ते कषायाश्च सम्प्रगयास्तै रसा भवतीति प्रक्रमः । ६३।
कोहमित्याह—

चउठाणाऽ अमुहमुह—ब्रह्मा विग्रहमेवाह आवरणा ।

पुमसंज्ञाणिगदुतिचउ—ठाणरसा ससदुगमाइ ॥ ६४ ॥

चतुःस्थानिक आदिर्यस्य रसस्य, त्रिस्थानिकद्विस्थानिकपञ्च-
स्थानिकपरिग्रहः । स चतुःस्थानादिः । कासामित्याह—(असुभ-
त्ति) इह पृष्ठे प्रथमा । ततः शुभानामगुणप्रकृतीनाम् । इयम-
त्र भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन
प्रभूतकालव्यपदेशादतितीव्रत्वं कषायाणां प्रतिपाद्यते, ततश्च गि-
रिरेखासदृशैः कषायाः, अनन्तानुबन्धिभिरित्यर्थः । सर्वासामगुभ-
प्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । अतपशोषिततमागम-
हारेखासदृशैः कषायाैरप्रत्याख्यानावरणमनानुमन्दोदयैरगुज-
प्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । बाहुकारेखासदृशैः क-
षायाः प्रत्याख्यानावरणैरगुजप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः ।
जलेरेखासदृशैः कषायाैरतिमन्दोदयैः संज्वलनाभिधौर्विघ्नपञ्च-
कादिव इत्यमाणसप्तदशाऽगुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो
भवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामगुजप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः ।
उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः । इदानीं शुभानां रसप्रत्यय-
विभागमाह—(सुहवह त्ति) गुणप्रकृतीनाम्—अन्यथोक्तवैपरीत्ये-
न हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र बा-
लुकाजलेरेखासदृशैः कषायाैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो जयति ।
महीरेखासदृशैः कषायाैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो जवति । गिरि-
रेखासदृशैः कषायाैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां जवति ।
शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवांक्तम् ।
अथ यासां प्रकृतीनामेकद्वित्रिचतुःस्थानिकनेदाश्चतुर्विधोऽपि
रसबन्धः संतवति, यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चि-
न्तयन्नाह—(विग्रहमेवमाह आवरणा इत्यादि) विघ्नानि दानत्राभ-
भोगोपभोगवीर्यान्तरायनेदादन्तरायाणि पञ्च । देशघात्यावरणा
देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः । तथा—मतिज्ञानश्रुदज्ञा-
नावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः । चतुर्दशनाचतुर्दश-
नावधिदर्शनावरणास्तिस्रः, इत्येताः (पुम त्ति) पुंवेदः । संज्वल-
नाश्चचारः क्रोधमानमायाशोभाः, इत्येताः सप्तदश प्रकृतयः । कि-
मित्याह—(गदुतिचउठाणरस त्ति) स्थानशब्दस्य प्रत्येकं
सम्बन्धात् एकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानचतुस्थाना रसा यासां
ता एकद्वित्रिचतुःस्थानरसाः । एताः सप्तदशापि प्रकृतयः ए-
कद्वित्रिचतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्य-
न्ते इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिवादरे गुणस्थाने संख्येयेषु
भागेषु गतेष्व्यासां सप्तदशानामापि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः
प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयाऽप्यासां संसारस्थान्जीवा-
नाश्चन्य प्राप्यन्ते इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ती-
त्याह—(ससदुगमाइ त्ति) शेषाः जणितसप्तदशप्रकृतिन्य उठरि-
ताः, सर्वाः शुना अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते । 'दुगमाइ त्ति' मूच-
नामृत्रमिति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्था-
नरसाश्चतुःस्थानरसाश्च । शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिकत्रिस्था-
निकचतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता
इति ज्ञावः । अयमप्यशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेवैकस्थानिको रसो

बध्यन्ते, न तु शेषास्तु, यतोऽगुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो
यदि त्वच्यते तदाऽनिवृत्तिवाद् रससंख्येयजागेभ्यः परत एव । तत्र
च सप्तदश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामगुभप्रकृतीनां बन्ध एव
नास्त्यतः शेषाणामगुजानामेकस्थानिको रसो न जवति । ये-
ऽपि केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र
बध्यन्ते तयोरपि सर्वघातिवाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते,
नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो
न भवति, यत इहासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्ले-
शस्थानानि जवन्ति । विगुहस्थानान्यथेतान्येव, यथा यान्ये-
व संक्लेशस्थानान्यारोहति तेष्वेव विगुह्यमानोऽवतरति,
ततश्च यथा प्रासादमारोहतां यावन्ति संपानस्थानान्यवतर-
तामपि तावन्त्येव तथाऽप्रापीति ज्ञावः । केवलं विगुहस्थाना-
नि विशेषाधिकानि । कथमिति चेदुच्यते—कृपकां येष्वध्यवसाय-
स्थानेषु कृपकश्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निर्वर्तते, तस्य
संक्लेशभावात्, अतस्तानि विगुहस्थानान्येव जवन्ति न संक्ले-
शस्थानानि, तैरध्यवसायस्थानैर्विगुहस्थानान्यधिकानि ।
एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुः-
स्थानिकं रसमभिनिरवर्त्यति । अत्यन्तसंक्लेशोऽनुवर्त्तमा-
नस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रियतैज-
सकर्मणायाः शुभा नरकप्रायोग्याः संक्लिष्टोऽपि बध्नाति
तासामपि स्वभावात्सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं वि-
दधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते
तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिकः,
मध्यमपरिणामत्वादेवेति न कापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिक-
रससंभव इति कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा । ६४।
सम्प्रति शुभाऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह—
निबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागद्विद्विभागतो ।

इगठाणाऽ अमुहा, अमुहाणं सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥

इहैवमन्तरघटना—अशुभानामशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशु-
भाध्यवसायानिष्पन्नत्वात् । क इवेत्याह—निम्बवतिपुचुमन्दवत् ।
वत्शब्दस्य लुप्तस्यैव प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा शुभानां शुभप्रकृ-
तीनां रसाः शुभाः, शुभाध्यवसायानिष्पन्नत्वात् । क इवेत्याह—इ-
जुवत् इजुयष्टिवत् । तथा डमरुक्रमणिन्यायाभिन्नेजुरसशब्द
एवमप्यावस्यते, यथा निम्बरस एव इजुरस एव सहजः स्वभा-
वस्य एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वित्रि-
चतुर्भागाश्च ते पृथग्विभिन्नेष्वप्यथेषु कथितैकभागान्तो द्वि-
स्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थः ?—द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिच-
त्वारस्ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च
ते पृथग्विभिन्नेष्वप्यथेषु कथिताश्च द्वित्रिचतुर्भागाकथिता-
स्तेषामेक एकसंख्यो भागोऽन्तेऽवसाने यस्य सहजरसस्य
स द्वित्रिचतुर्भागाकथितैकभागान्तः । स किमित्याह—एकस्था-
निकादिः । आदिशब्दाद् द्विस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थानि-
करसपरिग्रहः । इत्यन्तरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब-
घोषात्तकीप्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजोऽकथितः कटुको
रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां
कथितोऽर्द्धवर्त्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्र-
यप्रमाणः स्थाल्यां कथितोऽर्द्धभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिकः,
स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने कथितश्चतुर्भा-
गान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इजुहीरादीनां स-
हजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्व-

यप्रमाणः पृथग्भाजने कथितोऽर्धावर्त्तितो मधुरतरो द्विस्थानिकः, स एव भागवयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां कथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्कप्रमाणो विभिन्नस्थाने कथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः । एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकषायनिष्पाद्यः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतीनां मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः, शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुशब्दो विशेषणे । स चैवं विशिनष्टि-यथा समदशाऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्द्धकान्यसंख्येयव्यक्रियव्यक्तवादसंख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघन्यस्पर्द्धकरसस्येवं निम्बाद्युपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलिच्छेदेष्वतिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्द्धकं भवति । एवमुत्तरात्तरक्रमेण प्रवृद्धबुद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्द्धकान्यपि भवन्ति । एवं शेषाः शुभप्रकृतीनामपि द्वित्रिचतुःस्थानिकरसस्पर्द्धकान्यसंख्येयव्यक्रियव्यक्तानि प्रत्येकमसंख्येयानि भवन्ति । तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परमनन्तगुणरसानि । अत उत्तरोत्तरस्पर्द्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभानां द्वित्रिचतुःस्थानिका रसा इति । तथाहि-अशुभानां निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्मादनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिकस्ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिकस्तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति । शुभप्रकृतीनां पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति । यश्च शुभानामिच्छूपमो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्द्धक एव दृश्यः । तदुत्तरस्पर्द्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति । एतत्सर्वं पञ्चसंग्रहाजिप्रायतो ध्यास्यातम् । किञ्च-केवलज्ञानावरणादिरूपणां सर्वघातिनीनां विशतिसंख्यानां प्रकृतीनां सर्वाण्यपि रसस्पर्द्धकानि सर्वघातीयेव । देशघातिनीनां पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्द्धकानि कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । तत्र यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्द्धकानि तानि नियमतः सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः कानिचिद्देशघातीनि कानिचित्सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीयेव उक्तं च-रसस्पर्द्धकानि सकलमपि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं ध्वन्ति । तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनयस्त्रिद्विद्राणि घृतमवातिशयेन स्निग्धानि, ज्ञात्वावत् तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवशातीव निर्मलानि । उक्तं च-“जो घापइ नियगुणं, सयग्रं सो होइ सवधवाइरसो । सो निच्छिहो निछो, तणुओ फलिहम्भहरविमदो ” ॥ १ ॥ यानि च देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि तानि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं देशतो ध्वन्ति, तदुद्देशेऽवश्यं क्वापोषमसंभवात् । तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसंकुत्रानि । तथाहि-कानिचित्कटुइयानिस्थूरिद्रिशनसंकुत्रानि, कानिचित्कम्बज इव मध्यपवि-वरशनसंकुत्रानि, कानिचित्पुनरगतिस्त्वमविवरनिकरसंकुत्रानि, यथा वासांसि । तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि स्तो-कस्नेहानि भवन्ति, वैमध्यरहितानि च । उक्तं च-“देसविधा-इत्तणओ, इयरो करुक्वंलं सुसंकासो । विविहवहुइन्द्रजिओ, अप्पसिणेहो अ विमलं य ” ॥ १ ॥ इति प्ररूपितः सप्रपञ्चमनुनागवन्ध इति । कर्म० ५ कर्म० । (अघातिरसस्वरूपमत्रैव जागे १८० पृष्ठे ‘अघादरस’ शब्देऽभिहितम्) ।

इदानीं तु अनुभागः कस्य कर्मणः कतिविध इत्यभि-

धिसुगह-तत्रादौ ज्ञानावरणीयस्य-

नाणावरणज्जस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स पुट्टस्स बद्धफासपुट्टस्स संचियस्स चियस्स उवचियस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जीवेणं कयस्स जीवेणं निव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामि-यस्स सयं वा उद्विजस्स पेण वा उदीरियस्स तदुभण्ण वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठिं पप्प जवं पप्प पो-गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पप्पत्ते ? । गोयमा ! नाणावरणज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोग्ग-लपरिणामं पप्प दमविहे अणुभावे पप्पत्ते । तं जहा-सोता-वरणे सोयविन्नाणावरणे नेत्तावरणे नेत्तविन्नाणावरणे घा-णावरणे घाणविन्नाणावरणे रसावरणे रसविन्नाणावरणे फासावरणे फामविन्नाणावरणे जं वेदेति पोग्गलं वा पो-गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीमसा पोग्गलाणं परिणामं तेमिं वा उदण्णं जाणियवं न जाणइ, जाणिउ कामे न जाणइ, जाणिता विन जाणइ, उच्चन्ननाणीया वि जवति नाणावरणज्जस्स कम्मस्स उदण्णं, एस णं गोयमा ! नाणावरणज्जे कम्मं, एम णं गोयमा ! नाणावरणज्जस्स कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दस-विहे अणुभावे पप्पत्ते ॥

ज्ञानावरणीयस्य । एमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! जीवेन बद्धस्य रागद्वेषपरिणामवशतः कर्मरूपतया परिणमितस्य स्पष्टस्यात्मप्रदेशैः सह संक्लेशमुपगतस्य (बद्धफासपुट्टस्येति) पुनरपि गाढतरं बद्धस्यातीव स्पर्शेन स्पृष्टस्य च । किमुक्तं भवति-आवेष्टनपरिवेष्टनरूपतयाऽतीव सोपचयगाढतरं च बद्धस्येति संचितस्य आवाधाकालातिक्रमणोत्तरकालवेदनयोग्यतया निषिक्तस्य चित्तस्य उत्तरोत्तरस्थितिषु प्रदेशहान्या रसवृत्त्याऽवस्थापितस्य उपचित्तस्य समानजानीयप्रकृत्यन्तर-दलिकर्मणोपचयं नीतस्य आपाकप्राप्तस्य ईषत्पाकाभिमुखीभूतस्य विपाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव फलप्राप्तस्य फलं दातुमभिमुखीभूतस्य । ततः सामग्रीवशादुदयप्राप्तत्वादयः क्रमधर्माः, यथा आम्रफलस्य । तथाहि-आम्र-फलं प्रथमतः ईषत्पाकाभिमुखं भवति, ततो विशिष्टं पाकनु-पागतं, तदनन्तरं तृप्तिप्रमोदादि फलं दातुमुचित्तम्, ततः सामग्रीवशादुपयोगप्राप्तं भवति । एवं कर्माऽपीति । ततः पुनर्जीवेन कथं बद्धमित्यत आह-(जीवेण कयस्स) जीवेन कर्मबन्धनबद्धेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो ह्युपयोग-स्वभावस्ततोऽसौ रागादिपरिणतो भवति, न शेषः, रागादिपरि-णतश्च सन् कर्म करोति । सा च रागादिपरिणतिः कर्मबन्धनव-द्धस्य भवति, न तद्वियोगेः अन्यथा मुक्तानामप्यवीतरागव्यप्रस-क्तेः । ततः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति उच्यते । उक्तं च-“जीवस्तु कर्मबन्धन-वद्धो वारस्य भगवतः कर्त्ता । संतत्या-नायं च, तदिष्टकर्मान्मनः कर्तुः” ॥१॥ तथा जीवेन निर्वर्त्तितस्य इह बन्धसमये जीवः प्रथमतो विशिष्टान् कर्मवर्गेणाऽन्तःपातितः

पुष्पलात् गृह्णन् अनानौगिकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये
ज्ञानावरणीयादितया अपवस्थानेन तन्निर्वृत्तमभ्युच्यते । तथा
जीवेन परिणामितस्य विशेषप्रत्ययैः प्रहेषनिहृत्वादिजित्तत-
स्तनुत्तरोत्तरे परिणामं प्रापितस्य स्वयं वा विपाकप्राप्ततया पर-
निरपेक्षमुदात्तस्य उदयप्राप्तस्य, परेण वा उदीरितस्य उदयमु-
पनोतस्य, तदुत्तरेण स्वपररूपेणोत्तरेण उदीर्यमाणस्य उदयमुप-
नीयमानस्य गतिं प्राप्य किञ्चिद्विकर्मकाश्चिद् गतिं प्राप्य तीव्रानु-
भावं भवति । यथा नरकगतिं प्राप्याऽस्मानवेदनीयम् । अस्मात्तोदयो
हि यथा नारकाणां तीव्रो भवति, न तथा तिर्यगादीनामिति ।
तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टानुभावमिति शेषः । सर्वोत्कृष्टं हि
स्थितिमुपगतमशून्यं कर्म तीव्रानुभावं भवति । यथा मिथ्यात्वं
भवं प्राप्य इह किमपि किञ्चिद्व्यमाश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसम-
र्थम् । यथा निद्रा मनुष्यजवतिर्गर्भवं प्राप्यत्युक्तम् । एतावता
क्विलं स्वतः उदयस्य कारणानि दर्शितानि । कर्म हि तां तां
गतिं स्थितिं जवं वा प्राप्य स्वयमुदयमागच्छतीति । सम्प्रति
परतः उदयमाह-पुष्पलं काष्ठलेपुखट्टादिलक्षणं प्राप्य । तथा-
हि-परेण किमे काष्ठलेपुखट्टादिकमामाद्य भवत्यस्मात्वेदनी-
यम् । कोवादीनामुदयस्तथा पुद्गलपरिणामं प्राप्य इह किञ्चित्क-
र्म कस्यपि पुद्गलमाश्रित्य विपाकमायाति । यथाऽऽन्यवहन्तस्या-
ऽऽहारस्याजोर्गन्धपरिणामव्यमाश्रित्य अस्मात्वेदनीयम् । ज्ञा-
नावरणीयं तु मृगपानमिति । ततः पुष्पलपरिणामं प्राप्येत्युक्तम् ।
कतिविधोऽनुभावः प्रज्ञः, इत्येव प्रश्नः । अत्र निर्वचनम-दशवि-
धोऽनुभावः प्रज्ञः । तदेव दशविधमनुभावं दर्शयति- (सोयावर-
णे इत्यादि) इह श्रोत्रज्ञानेन श्रोत्रेन्द्रियविषयः कुर्यापशमः परि-
गृह्यते (सोयविघ्नाणावरणे इति) श्रोत्रविज्ञानशब्देन श्रोत्रेन्द्रियो-
पयोगः, यत्तु निर्वृत्त्युपलक्षणं इत्येन्द्रियं यद्वहोपाङ्गं नाम नामकर्म
निर्वर्त्य न ज्ञानावरणविषय इति, न श्रोत्रज्ञानेन गृह्यते । एवं
तेषावरणे इत्याद्यपि भावनीयम् । तत्रैकेन्द्रियाणां रसनघ्राणच-
क्षुःश्रोत्रविषयाणां द्रव्युपयोगानां प्राय आवरणम् । प्रायोग्रहणं
च वक्तृतादिव्यवच्छेदार्थम् । वक्तृतादीनां हि यथायोगे पञ्चाना-
मपीन्द्रियाणां द्रव्युपयोगाः फलतः स्पष्टा उपपद्यन्ते । आगमे
पि च प्राच्यन्ते-“पंचिन्द्रियोश्च बटलो, नरोश्च पंचिन्द्रिओवश्रो-
गाग्रो । तद्वि न तन्नरं पंचिन्द्रिओऽस्ति दृष्टिदिया जावा” ॥ १ ॥
तथा-“जह सुहृदं भावेदिय-नाणं दृष्टिदियावराहे वि । दृष्ट-
स्सु य भावस्मि वि, भावस्सु य पत्तिवाहेण ” ॥ १ ॥ इति । ततः
प्राय इत्युक्तम् । ईन्द्रियाणां घ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियविषयाणां
द्रव्युपयोगानां चोन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रविषयाणां चतुर्गि-
न्द्रियाणां श्रोत्रेन्द्रियलक्ष्युपयोगावरणं स्पर्शनेन्द्रियलक्ष्यु-
पयोगावरणं कुष्ठादिद्रव्याभिरनिरूपदन्तदेहस्य दृष्ट्यम् । पञ्चेन्द्रि-
याणामपि ज्ञान्यन्धादीनां पञ्चाङ्गा अन्धवधिरादीनां चक्षुःगदी-
न्द्रियलक्ष्युपयोगावरणं भावनीयम् । कथमेवमिन्द्रियाणां च
द्रव्युपयोगावरणमिति चेत् ? उच्यते-स्वयमुदीरणस्य परेण वा
उदीरितस्य ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन । तथा चाह-
(जं वेपइ इति) यदेदयते परेण जितं काष्ठलेपुखट्टादिलक्षणं
पुष्पलं तेनाभिघातजननसमर्थेन (पुगले वा इति) यावद् बहू-
न पुद्गलान् काष्ठादिलक्षणान् परेण क्लिप्तान् वेदयते, तैर्गभि-
घातजननसमर्थः पुद्गलपरिणाममभ्यवहताद्वारपरिणामरूपं
पानोदयमादिकमतिदुःखजनकं वेदयते : तेन वा ज्ञानपरिणाम्यु-
पदननात् । तथा (दीमस्मा वा पोगलत्राण परिणाममिति) विस्र-
मया यन्पुद्गलानां परिणामं शीतोष्णानपादिरूपत्वं वेदयते

यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननद्वारेण ज्ञानपरिणामावपहतार्थं
ज्ञातव्यम् । एकेन्द्रियः किमपि सद्रस्तु न जानाति, ज्ञानपरिण-
तेरुपहतत्वात् । अयं सापेक्ष उदय उक्तः । निरपेक्षस्य तु विषये
सूत्रमिदम्- (तेसिं वा उदणं ति) ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानां
विपाकप्राप्तानामुदयेन ज्ञातव्यं न जानाति । (जाणिउकामे न
जाणइ त्ति) ज्ञानपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नापि ज्ञानपरिण-
त्युपघातान्न जानाति । (जाणित्ता वि न जाणइ त्ति) प्राग्
ज्ञात्वाऽपि पञ्चाक्ष जानीते, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गला-
नामुदयान् (उच्छन्ननाणीया वि जवइ इत्यादि) ज्ञानावरणीयस्य
कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नज्ञानापि भवति । उच्छन्नं च तज्ज्ञानं
च उच्छन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छन्नज्ञानी, सर्वधनादिपा-
राभ्युपगमादिभिः यावत् शक्तिप्रच्छादितज्ञान्यपि भवतीत्यर्थः ।
“ एस गं गोयमा ! नाणावरणिजे कम्मे ” इत्याद्युपसंहारवाक्यं
कथ्यम् । प्रज्ञा० । ३० ।

दर्शनावरणीयस्य—

दरिमणावरणिजस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं
वद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे
पप्पत्ते ? गोयमा ! नवविहे अणुजावे पप्पत्ते । तं जहा-
निहा निहानिहा पयला पयलापयला थोणद्धी चक्षुदंस-
णावरणे अचक्षुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंस-
णावरणे जं वेदेइ पोगले वा पोगले वा पुगलपरिणामं वा
वंससा वा पोगलपरिणामं तेसिं वा उदणं पासियव्वं
वा न पासइ, पामिउकामे न पासइ, पामित्ता वि न पासइ,
उच्छन्नदंसणीया वि जवइ दरिमणावरणिजस्स कम्मस्स
उदणं, एस गं गोयमा ! दरिमणावरणिजे कम्मे, एस
एं गोयमा ! दरिमणावरणिजस्स कम्मस्स जीवेणं
वद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पप्प नवविहे अणुजावे पप्पत्ते ।
प्रश्नसूत्रं पूर्ववत् । निर्वचनमाह-गौतम ! नवाविधः प्रज्ञः । तदेव
नवाविधं दर्शयति-“निहा” इत्यादि । निहाशब्दार्थमग्रे व-
क्ष्यामः । ज्ञावार्थस्त्वयम्-“सुदणमिहोहा निहा, दुदणमिहोहा य
निहनिहा य । पयला होइ त्रियस्सा, पयलापयला य चकमओ
॥ १ ॥ थोणद्धी पुण्ण बइस्स, किञ्चिदकम्माण वेयणे होइ । मह-
निहादि ण चित्तिय-वावाराप्पसाहणी पायं ” ॥ २ ॥ चक्षुर्दर्शना-
वरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणम् । एवं शेषेष्वपि ज्ञावनीयम् ।
(जं वेयइ इत्यादि) यं वेदयते पुद्गलसमुदायनीयादिकं (पुगले
वा इति) यान् पुद्गलान् बहून् समुदायनीयादीन् वेदयते
पुद्गलपरिणामं माहिपदध्याद्यभ्यवहताद्वारपरिणाममित्यर्थः, (वी-
ससा वा पोगलत्राण परिणाममिति) वर्षास्वनृजसंस्तनजोरूपे,
धाराभ्युनिपातरूपं वा यं वेदयते तेन निद्राद्युदयादिक्रपतो दर्श-
नपरिणाम्युपघातः । एतावता परत उक्तः । सम्प्रति स्वतः उदय-
माह-(तेसिं वा उदणं त्ति) तेषां वा दर्शनावरणीयकर्मपुद्गला-
नामुदयेन परिणामविघातेन द्रष्टव्यं न पश्यति । तथा कश्चिदर्श-
नपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नापि ज्ञान्यन्धादिना दर्शनपरिण-
त्युपघातान्न पश्यति-प्राग् दृष्ट्वाऽपि पञ्चाक्ष पश्यति, दर्शना-
वरणीयकर्मपुद्गलानामुदयान् । किं बहूनाः ? दर्शनावरणीयस्य
कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नदर्शन्यपि यावच्छक्तिप्रच्छादित-
दर्शन्यपि जवति । “ एस गं गोयमा ! दरिमणावरणिजे कम्मे ”
इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

सातासातावेदनीयस्य—

सातावेयणिज्जस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्चस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे पणत्ते ? । गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण वच्चस्स जाव अट्ट विहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा-मणुन्ना सदा, मणुन्ना रू-वा, मणुन्ना गंधा, मणुन्ना रसा, मणुन्ना फामा, मणोमु-हता, वयसुहता, कायसुहता । जं वेद्द पोग्गलं वा पोग्गलं वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलानं परिणामं ते-सिं वा उदएणं सातावेदणिज्जं कम्मं वेदेइ । एस एं गोयमा ! सातावेयणिज्जे कम्मे, एस एं गोयमा ! सायावेयणिज्ज-स्स जाव अट्टविहे अणुजावे पणत्ते । असायावेयणिज्ज-स्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं तहेव पुच्छा, उत्तरं च, नव-रं अमणुन्ना सदा जाव वयसुहता एस एं गोयमा ! असा-तावेयणिज्जस्स जाव अट्टविहे अणुजावे ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह—गौतम ! अष्टविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः । अष्टविधत्वंमेव दर्शयति—(मणुन्ना सदा इत्यादि) मनोज्ञाः शब्दा आगन्तुका वेणुवीणादिसंवन्धिनः । अन्ये 'आ-मीया' इत्याहुः । तदयुक्तम् । आत्मीयशब्दानां वाक्सुखेनेत्यनेनैव गृहीतत्वात् । मनोज्ञा रसा इक्षुरसप्रभृतयः, मनोज्ञा गंधाः कर्पूरादिसंवन्धिनः, मनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्वस्वर्वाचित्रादिग-तानि, मनोज्ञाः स्पर्शाः हंसतूल्यादिगताः, (मणोसुहता इति) मनसि सुखं यस्यासौ मनःसुखस्तस्य भावो मनःसुखिता, सु-खितं मन इत्यर्थः । वाचि सुखं यस्यासौ वाक्सुखस्तस्य जावो वाक्सुखिता । सर्वेषां श्रोत्रमनःप्रह्लादकारिणी वागिति तात्प-र्यार्थः । काये सुखं यस्यासौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखिता, सुखितः काय इत्यर्थः । एते चाष्टौ पदार्थाः सातावेदनीयस्यो-दयेन प्राणिनामुपतिष्ठन्ते ।

मोहनीस्य—

मोहणिज्जस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्चस्स जाव कइविहे अणुजावे पणत्ते ? । गोयमा ! मोहणिज्जस्स क-म्मस्स जीवेणं वच्चस्स जाव पंचविहे अणुभावे पणत्ते । तं जहा-सम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे मम्मामिच्छत्त-वेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे नो कसायवेयणिज्जे जं वेदेइ पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलपरि-णामं तेसिं वा उदएणं मोहणिज्जं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! मोहणिज्जकम्मे, एस एं गोयमा ! मोहणिज्जस्स जाव पंचविहे अणुजावे पणत्ते ।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः । त-देव पञ्चविधत्वं दर्शयति—सम्यक्त्ववेदनीयमित्यादि । स-म्यक्त्वरूपेण यद्वैयं तत्सम्यक्त्ववेदनीयम् । एवं शेषपदेष्वपि शब्दार्थो जावनीयः । जावार्थस्त्वयम्—यदिह वेद्यमानं प्रशमा-दिपरिणामं करोति तत्सम्यक्त्ववेदनीयं, यत् पुनरदेवादिबुद्धि-हेतुस्तस्मिंश्चात्त्ववेदनीयं मिश्रपरिणामहेतुः । सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीयं क्रोधादिपरिणामकारणम् । कषायवेदनीयं हास्यादिप-रिणामकारणम् । नो कषायवेदनीयम् । (जं वेदेइ पुग्गलमि-

त्यादि) यं वेदयते पुग्गलं विषयप्रतिमादिकं पुग्गलान् वा यान् वेदयते बहून् प्रतिमादीन् यं पुग्गलपरिणामं देशाद्यनुरूपाहार-परिणामं कर्म पुग्गलविशेषोपादानसमर्थं भवति, आहारपरि-णामविशेषादपि कदाचित्कर्मपुग्गलविशेषो यथा-ब्राह्मणोपधा-याहारपरिणामात् ज्ञानावरणीयकर्मपुग्गलानां प्रतिविशिष्टः क्ष-योपशमः । उक्तञ्च—“उदयस्वयस्वउवस्समो-वसमाविजयं च कम्मणो जणिया । दव्वं खेत्ते कालं, भवं च भावं च संपप्पे” ॥१॥ विस्समया वा यत् पुद्गलानां परिणाममभ्रविकारादिकं य-दृशनादेवं विवेक उपजायते—“आयुः शरज्जधरप्रतिमं नराणां, संपत्तयः कुसुमितदुमसारतुल्याः । स्वप्नोपजोगसदृशा विष-योपजोगाः, संकल्पमात्ररमणीयमिदं हि सर्वम्” ॥१॥ इत्यादि । अन्ये वा प्रशमादिपरिणामनिवन्धने यं वेदयते तत्सामर्थ्या-न्मोहनीयं सम्यक्त्ववेदनीयादिकं वेदयते, सम्यक्त्ववेदनीयादि-कर्मफलं प्रशमादि वेदयते इति ज्ञावः । एतावता परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वतस्तमाह—(तेसिं वा उदएणं ति) तेषां च सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मपुग्गलानामुदयेन प्रशमादि वेदयते 'एस एं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

आयुषः—

आउयस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तहेव पुच्छा । गोय-यमा ! आउयस्स एं कम्मस्स जीवेणं वच्चस्स जाव चउ-विहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा-नेरइयाउए तिरियाउए मणुयाउए देवाउए जं वेदेइ, पोग्गलं वा पोग्गले पोग्गलप-रिणामं वा वीससा वा पोग्गलानं परिणामं वा, तेसिं वा उदएणं आउयं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! आउयस्स कम्मस्स जाव चउविहे अणुभावे पणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—चतुर्विधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः । तदेव चतुर्विधत्वं दर्शयति—(नेरइयाउए इत्यादि) सुगमम् । 'जं वे-एइ पुग्गलं वा' इत्यादि, यं वेदयते पुग्गलं शस्त्रादिकमायुरपवर्त्त-नसमर्थं बहून् पुग्गलान् शस्त्रादिरूपान् यान् वेदयते यं वा पुद्ग-लपरिणामं विषान्नादिपरिणामरूपं विस्समया वा यं पुद्गलपरि-णामं शीतादिक्लेशाद्युरपवर्त्तनकर्म तेनोपयुज्यमानजवायुषो-पवर्तनान्नारकाद्यायुःकर्म वेदयते । एतावता परत उदयोऽभि-हितः । स्वत उदयस्य सूत्रनिर्दिष्टम्—[तेसिं वा उदएणं ति] तेषां वा नारकायुःपुग्गलानामुदयेन नारकाद्यायुर्वेदयते, 'एस एं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

तत्र नामकर्म द्विधा-शुभनामकर्म, अशुभनामकर्म च । तत्र शुभनामकर्माधिकृत्य सूत्रमाह—

सुभणामस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा ! सुभनामस्स एं कम्मस्स जीवेणं वच्चस्स जाव चउदसविहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा-इट्ठा मदा इट्ठा रूवा इट्ठा गंधा इट्ठा रसा इट्ठा फामा इट्ठा गई इट्ठा ठिई इट्ठं लावन्नं इट्ठा जसोकिर्त्ती इट्ठे उट्ठाणकम्मवलवीरियपुरिसकारपरकैम इट्ठस्सरता कंतस्सरता पियस्सरता मणुन्नस्सरता जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पुग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलानं परिणामं तेसिं वा उदएणं सुजनामं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! सुजनामकम्मे, एस एं गोयमा ! सुभनामस्स कम्मस्स जाव चउदसविहे अणुभावे पणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—चतुर्दशविधोऽनुभावः । तदेव च-
तुर्दशविधत्वं दर्शयति—[इहा सदा इत्यादि] एते शब्दादय
अस्मीत्येव परिगृह्यन्ते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्यमानत्वात् ।
तत्र चादिप्राप्त्यादिना इत्येके । तदयुक्तम् । तेषामन्यकमादयनि-
प्राप्तत्वात् । इष्टा गतिमन्तारणाद्यनुकारिणः । शिथिकाद्यारोहण-
तश्चेति एके, इष्टा स्थितिः सहजा सिंहासनादीन् अन्ये, इष्टे ला-
घवे ग्रायागिरोपलक्षणं पुढकुमाद्यनुलेपनजमिति अपरे, इष्टा य-
शःकान्तिर्यशसा युक्ता कान्तिः । यशःकान्तिर्योश्चायं विशेषः-
दानपुण्यकृता कान्तिः, पराक्रमकृतं यशः, (इष्टे उद्गुणकम्म-
वन्नव रिपुसिक्कारपरिक्रमे इति) उत्थानं देहवैशेष्यविशेषः,
कर्म रेचनचमणादि, वनं शारीरसामर्थ्यादिविशेषः, वीर्यं जी-
वप्रतपः, स एव पुरुषाकारोऽभिमानविशेषः, स एव निष्पा-
दितस्वविषयपराक्रमः । इष्टस्वरता वल्लभस्वरता । तत्र इष्टाः
शब्दाः इति सामान्योक्ताविषये विशेषोक्तिस्तदन्यवहुमतत्वापेक्षा-
ऽपेक्षान्तव्या । कान्तस्वरतेति । कान्तः कमनीयः सामान्यतो-
ऽभिप्रेतणीय इत्यर्थः । कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः
वान्तस्वरता । प्रियस्वरतेति । प्रियो भूयोऽभिलषणीयः, प्रियः
स्वरो यस्य स तथा तद्भावः प्रियस्वरता (मनुजस्वरता
इति) उपरतभावोऽपि स्वाश्रयनप्रीतिजनको मनोज्ञः स स्व-
रो यस्य स मनोज्ञस्वरता (जं वेपथु इत्यादि) यं वेदयते पुद्ग-
ले वीणावर्णकगन्धनाम्बुपट्टशिविकामिहासनकुङ्कुमदानराज-
योगगुलिकादिव्रक्षणम् । तथा च वीणादिसम्बन्धाद् भवन्तीष्टाः
शब्दादय इति परिभाषनीयमेतत् सूक्ष्मधिया मार्गानुसरित्या ।
(पुगले वा इति) यतो बहून् पुद्गलान् वेणुवीणादिकान् वेदय-
तो यं पुद्गलपरिणामं ग्राह्याद्याहारपरिणामं विस्मया वा यं
पुद्गलानां परिणामं श्रुतजलदादिकं तथा चोन्नतान् कज्जवसम-
प्रताप्तेष्वानवज्ञेय प्रदर्पमनसो गायन्ति मत्तयुवतयो रेल्लुका-
निष्टस्वरानित्यादि, तत्प्रभावात् श्रुतनामकर्म वेदयते श्रुतना-
मकर्मफलमिष्टस्वरतादिकमनुभवतीति ज्ञायः । एतावता परत
उक्तः । इदानीं स्वतस्तमाह—[तेमि वा उदणं ति] तेषां वा
श्रुतानां कर्मपुद्गलानामुदयेन इष्टशब्दादिकं वेदयते “ एस णं
गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधस्वानवेदनीय-
स्यानुज्ञावः । परतः स्तानवेदनीयस्योदयमुपदर्शयति—[जं वेपथु
पुगलमिण्यादि] यद् वेदयते पुद्गले स्मरुचन्दनादि यान् वा
वेदयते पुद्गलान् बहून् स्मरुचन्दनादीन् यं वा वेदयते पुद्गलप-
रिणामं देशकालवयोवस्थाऽनुरूप्याहारपरिणामम् [वीससा वा
पुगलानां परिणामं] विस्मया वा यं पुद्गलानां परिणामकामेऽ
भिप्रेतयितं शीतोष्णादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समाधान-
मस्यादनात् स्तानवेदनीयं कर्मानुभवति । स्तानवेदनीयकर्मफलं
स्तानं वेदयते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेमि वा उदणं ति] तेषां वा स्तानवेदनीयपुद्गलानामुद-
येन मनोज्ञशब्दादिव्यतिरेकेणापि कदाचित्मुखं वेदयते, यथा नैर-
यिकास्तीर्थकजन्मादिकाश्च । “ एस णं गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहा-
रवाक्यम् । प्रश्नसूत्रं मुगमं, निर्वचनं पूर्वचनं । तथा चाह—“ तदेव
पुद्गलः, उत्तरं च, नवम् ” इत्यादिना पूर्वसूत्रादस्य विशेषमुपदर्शय-
ति—[अमणुजा सदा इत्यादि] अमनोज्ञाः शब्दाः खगोप्राश्वा-
दिसम्बन्धिन आगन्तुकाः, अमनोज्ञा रसाः स्वस्याप्रतिभासिनो
दुःखजनकाः, अमनोज्ञा गन्धा गोमहिर्पादमृत्कलेवरगदिगन्धाः,
अमनोज्ञान् रूपाणि स्वगतस्त्रीगतादीनि, अमनोज्ञाः स्पर्शाः क-
वेयम् । [मणोदुहया इति] दुःखितं मत इति [वयदुहया

इति] अजगत्या वागिति ज्ञावार्थः [कायदुहिया इति] काये
दुःखं यस्यसौ कायदुःखस्तद्भावः कायदुःखिता, दुःखितं काय
इत्यर्थः [जं वेपथु इत्यादि] यं वेदयते पुद्गलं विपशस्त्रकण्ट-
कादि [पुगले वा इति] यान् वा पुद्गलान् बहून् विपशस्त्रक-
ण्टकादीन् वेदयते यं वा वेदयते पुद्गलपरिणाममन्याहारलक्षणं
विस्मया वा यं वेदयते पुद्गलपरिणाममकावेऽनभिप्रेतयितं
शीतोष्णादिपरिणामं तेन मनसोऽस्माधानसम्पादनात् असा-
तवेदनीयं कर्मानुभवति । असातवेदनीयकर्मफलमसातं वेदय-
त इति भावः । एतेन परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेमि वा उदणं ति] तेषां वा असातवेदनीयकर्म-
पुद्गलानामुदयेनासातं वेदयते ‘ एस णं गोयमा ’ इत्याद्यु-
पसंहारवाक्यम् ।

अश्रुजनान्तः—

दुहनामस्य णं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव, नवरं अ-
णिष्टा सदा जावर्हीणस्सरता दीणस्सरता आणिटस्सरता
अकंतस्सरता जं वेदेइ, सेसं तं चेव जाव चउदसविहे अ-
णुजावे पणत्ते !!

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रं प्रागुक्तार्थवैपरीत्येन भावनीयम् ।
गोत्रं द्विधा—उच्चैर्गोत्रं वा नीचैर्गोत्रं वा । तत्रोच्चैर्गोत्रविषयं
सूत्रमाह—

उच्चागोयस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा !
उच्चागोयस्स कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव अट्टविहे अ-
णुजावे पणत्ते । तं जदा—जातिविमिद्धता कुलविमिद्धता
वलविमिद्धता स्वविमिद्धता तवविमिद्धता सुयविमिद्धता
लाजविमिद्धता इस्सरियविमिद्धता जं वेदेइ पोगलं वा
पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलानं
परिणामं तेमि वा उदणं जाव अट्टविहे अणुभावे
पणत्ते !!

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः प्रहसः ।
तदेवाष्टविधत्वं दर्शयति—[जाविसिद्धया इत्यादि] जात्या-
दयः सुप्रतीताः । शब्दार्थस्त्वेवम्—जात्या विशिष्टो जाति-
विशिष्टस्तद्भावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम् । वेदयते पुद्गलं
वाह्यद्वयादिलक्षणम् । तथाहि—जस्यसम्बन्धाद्याजादिविशि-
ष्टपुरुषसम्परिग्राह्या नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिस-
म्बन्ध इव जनस्य मात्थ उपजायते । वलविशिष्टताऽपि म-
ल्लानामिव लकुटिभ्रमणवशाद् । रूपविशिष्टता प्रतिविशिष्टव-
स्त्रालङ्कारसम्बन्धात् । तपोविशिष्टता गिरिकूटाद्यारोहणेन ताप-
नां कुर्वतः । श्रुतविशिष्टता मनोज्ञभूदेशसम्बन्धात् स्वाध्यायं कु-
र्वतः । लाजविशिष्टता प्रतिविशिष्टतयादियोगात् । ऐश्वर्यवि-
शिष्टता धनकनकादिसम्बन्धादिति । (पुगले वा इति) यान्
बहून् पुद्गलान् वेदयते पुद्गलपरिणामं दिव्यफलाद्याहारपरिणाम-
रूपं विस्मया वा यं पुद्गलानां परिणाममकस्मादभिहितज-
लदागमसंवादादिलक्षणं तत्प्रभावाद् उच्चैर्गोत्रं वेदयते उच्चैर्गोत्रं
कर्मफलं जातिविशिष्टत्वादिकं वेदयते । एतेन परत उदय उ-
क्तः । सम्प्रति स्वतस्तमाह—[तेमि वा उदणं ति] तेषां वा
उच्चैर्गोत्रकर्मपुद्गलानामुदयेन जातिविशिष्टत्वादिकं भवति
“ एस णं गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

नीचैर्गोत्रस्य—

नीयागोयस्म एं भंत ! पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव, नवरं जातिविहीणता जाव इस्सरियविहीणता जं वेदेऽ पो-
ग्लं वा पोग्लो वा पोग्लपरिणामं वा वीससा वा पोग्ल-
लाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्टविहे अणुभा-
वे पणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः तमेवाष्टविधम-
नुभावं दर्शयति—[जातिविहीणया इत्यादि] सुप्रतीतम् । [जं
वेदेऽ पुग्लमिति] यं वेदयते पुग्लं नीचकर्मसंवेनरूपं, नीच-
पुरुषसम्बन्धलक्षणं वा । तथाहि—उत्तमजातिसम्पन्नोऽपि उ-
त्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचैः कर्मवशाद् यथा जीविकारूपमा-
सेवते, चापराधी वा गच्छति तदा भवति चापमालादिरिव जनस्य
निन्धाः । वलहीनता, सुखशयनीयादिसम्बन्धात् । तपोविहीनता
पार्श्वस्थादिसंसर्गात्, श्रुतविहीनता विकथाऽपरसाध्वानासादि-
संसर्गात्, लाजविहीनता देशकालानुचितकृत्याणां सम्पर्कतः,
ऐश्वर्यविहीनता कुग्रहकुलत्रादिसम्पर्कत इति । [पुग्ले
वा इति] यान् बहून् पुग्लान् वेदयते, यथा—पुग्लपरिणामं
वृन्ताकीकृतं ह्यन्यवद्वत्कण्ट्युत्पादनेन रूपविहीनतामापाद-
यतीत्यादि । विस्मयसा वा पुग्लानां परिणाममभिहितजलदाग-
मविस्वाद्यलक्षणं वेदयते, तत्प्रभावाद् नीचैः कर्म वेदयते, नी-
चैः कर्मफलं जात्यादिविहीनतारूपं वेदयते इत्यर्थः । एतावता
परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदयमाह—(तेसिं वा उद-
एणं ति) तेषां वा नीचैर्गोत्रकर्मपुग्लानामुदयेन जात्यादिवि-
हीनतामनुभवति । “एसणं गोयमा !” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

अन्तरायस्य—

अंतरायस्म एं जेत ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गो-
यमा ! अंतरायस्स कम्मस्स जीवेणं इप्पस्म जाव
पंचविहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा—दाणंतराए लाभंत-
राए भोगंतराए उवजोगंतराए वीरियंतराए जं वेदेति पो-
ग्लं वा जाव वीससा वा तेसिं वा उदएणं अंतरायं
कम्मं वेदेऽ, एसणं गोयमा ! अंतराए कम्मं, एसणं गोय-
मा ! जाव पंचविहे अणुभावे पणत्ते ।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव
पञ्चविधत्वं दर्शयति—(दाणंतराए इत्यादि) दानस्यान्तरा-
यो विघ्नः दानान्तरायः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्र दानान्त-
रायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलम् । दानान्तरायो दानान्तरा-
यादिकर्मणामिति । (जं वेदेऽ पुग्लं वा इत्यादि) यं वेदयते पु-
ग्लं विविधविशिष्टरत्नादिसम्बन्धाद् दृश्यते तद्विषये एव दाना-
न्तरायादयः सन्निधेदनाद्युपकरणसम्बन्धाद् दानान्तरायकर्मो-
दयः, प्रतिविशिष्टाहारसम्बन्धादनर्थार्थसम्बन्धाद्वा लोभतो भो-
गान्तरायादयः । एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि जावनीयः ।
तथा लकुटाद्यभिघाताद् वीर्यान्तरायकर्मोदय इति । पुग्लान्
वा बहून् तथाविधान् यान् पुग्लान् वेदयते यं वा पुग्लपरि-
णामं तथाविधाहारौप्यादिपरिणामरूपम् । तथाहि—दृश्यते
तथाविधाऽऽहारौप्यपरिणामाद्द्वीर्यान्तरायकर्मोदयः । मन्त्रो-
पसिक्वामादिगन्धपुग्लपरिणामाद् भोगान्तरायादयः । यथा
सुवन्धुसचिवस्य विस्मयसा वा पुग्लानां परिणामं चित्रं शी-
तादिलक्षणम् । तथाहि—दृश्यते बस्त्रादिकं दानुकामा अपि

शीतादिनिपनन्तमाशोक्य दानान्तरायादयात् तस्यादानारः,
इति तत्प्रभावात् एष परत उदय उक्तः । स्वतस्तमाह—(तेसिं
वा एणं ति) तेषां वा अन्तरायकर्मपुग्लानामुदयेन अन्तरायक-
र्मफलं दानान्तरायादिकं वेदयते । “एसणं” इत्याद्युपसंहारवा-
क्यम् । प्रज्ञा० २३ पद । “तस्मा एषासिं कम्माणं, अणुजागे
धियाहिणं । एषासिं संवरे चेव, खवणे य जणं वुहं” ॥१॥ उक्त०
३३ अ० कर्मणः स्वभावे, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णं—“अणुभागो-
त्ति सहाश्रो” क० प्र० । (कर्मणां करणानां बन्धनसंक्रमादीनाम-
नुभागवन्धादिभेदाः बन्धादिशब्देषु दृश्याः) ।

अणुजागअपावहुय-अनुभागाल्पवहुत्वे-न० । अनुभागं प्रत्य-
ल्पयहुत्वे . यथा “सव्वत्थोवाइं अणंतगुणवुद्धिहाणाणि असं-
खेज्जगुणवुद्धिहाणाणि असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणवुद्धिहा-
णाणि असंखिज्जगुणां जाव अणंतभागवुद्धिहाणाणि असंखि-
ज्जगुणाणि” प्रदेशाल्पवहुत्वं यथा—“अट्टविहयंघगस्स य आउ-
यभागा थोवो नामगोयाणं तुल्लो विसेसाहिओ नाणंदसणावर-
णंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोदस्स विसेसाहिओ वेय-
णिज्जस्स विसेसाहिओ ति” । स्था० ४ ग० २ उ० ।

अणुभागउदीरणोवकम-अनुजागोदीरणोपक्रम-पुं० । प्राप्तादयेन
रसेन सहोऽप्राप्तादयस्य रसस्य वेदनाऽऽरम्भे, स्था० ५ ग० १ उ० ।
अणुजागकम्म-अनुजागकर्म - न० । अनुभागरूपं कर्मानुभा-
गकर्म । रसात्मके कर्मभेदे, भ० १ श० ४ उ० ।

अणुजागणामनिहत्ताउय-अनुभागनामनिधत्तायुष् - न० ।
अनुजाग आयुष्कर्मद्रव्याणां तीव्रादिभेदो रसः, स एव तस्य वा
नाम परिणामोऽनुभागनाम, अथवा गत्यादीनां नामकर्मणामनु-
जागवन्धरूपो भेदोऽनुजागनाम, तेन सह निधत्तमायुरनुभाग-
नामनिधत्तायुरिति । आयुर्वन्धभेदे, स० । ज० । स्था० ।

अणुभाग (व) बंध-अनुजाग (व) बन्ध-पुं० । अनुभागो
विपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः, तस्य बन्धोऽनुजागबन्धः । ब-
न्धभेदे, स्था० ४ ग० २ उ० । (‘बंध’ शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुभागबंधभवसायट्टाण-अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान-
न० । कृष्णादिलेइयापरिणामविशेषः, कर्म० १ कर्म० । सकपा-
योदया हि कृष्णादिलेइयापरिणामविशेषाः अनुजागबन्धइतय
इतिवचनात् । क० प्र० ।

अणुजाग (व) बंधट्टाण-अनुजाग (व) बन्धस्थान-न० । तिष्ठ-
त्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुजागबन्धस्य स्थानमनुजागव-
न्धस्थानम् । एकेन कापायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुग्ल-
दानां विनियुक्तकसमयवद्धरससमुदायपरिणामं तान्निष्पादकेषु
कपायोदयरूपेषु अध्यवसायविशेषेषु . प्रव० १६२ द्वा० ।

एगसमयस्मिं झोए, सुहुमगाणिजिया उ जे उ पविंसति ।
ते हुंतऽसंखलोय-एएसनुद्धा असंखेज्जा ॥

ततो असंखगुणिया, अगणिक्काया उ तेसिं कायउई ।
ततो संजमअणुभा-गबंधट्टाणसंखाणि वा ॥

लोके इह जगति एकस्मिन् समये पृथिवीकायिकादयो जीवाः
(सुहुमगाणिजिया उ त्ति) सप्तमर्थव्याप्तप्रमायाः, सुदमासिजी-

वेषु सूक्ष्मतामकर्मोदयवर्तिषु तेजस्कायिकजायेषु प्रवेशान्ति च तप्यन्ते । संख्येयत्वमेवाह- असंख्येयश्लोक प्रदेशतुल्या असंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । इह च विजातीयजीवानां जात्यन्तरतत्प्राप्तिः प्रदेश उच्यते । इत्थमेव प्रकृतौ प्रवेशनकाशार्थेऽप्यव्याख्यातत्वात् । ततस्ते जीवाः पृथिव्यादिज्योष्का-वेभ्यो बाह्यतेजस्कजायेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायनयोत्पद्यन्ते, इह गृह्यन्ते, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्सृज्यातेनैव पर्यायेणोत्पद्यन्ते न गृह्यन्ते तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वस्तोका एकसमये समुत्पन्नसूक्ष्माग्निस्कायिकाः । (ततो ति) ततस्तेज्य एकसमयोत्पन्नसूक्ष्माग्निस्कायिकेज्योऽसंख्येयगुणिता असंख्येयगुणा अग्निकायाः पूर्वोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्माग्निस्कायिकजीवाः कथमिति चेत् ? उच्यते-एकः सूक्ष्माग्निस्कायिको जीवः समुत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तं जीवति, एतावन्मात्रायुष्कत्वात् । तेषां तस्मिन् इवान्तर्मुहूर्ते ये समयास्तेषु प्रत्येकमसंख्येयश्लोकाकाशप्रमाणाः सूक्ष्माग्निस्कायिकाः समुत्पद्यन्ते, अतः सिरूमेकसमयोत्पन्नसूक्ष्माग्निस्कायिकेज्यः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसूक्ष्माग्निस्कायिकाभामसंख्येयगुणत्वम् । तेभ्योऽपि सर्वसूक्ष्माग्निस्कायिकेज्यस्तेषामेव प्रत्येकं कायस्थितिः पुनः पुनस्तैरेव काये समुत्पत्तिरुक्ता संख्यातगुणा एकैकस्यापि सूक्ष्माग्निस्कायिकस्य संख्येयोत्सर्पिणी-प्रमाणायाः कायस्थितेस्तत्कर्तव्यः प्रतिपादितत्वादिति । तस्या अपि कायस्थितेः सकाशात् संयमस्थानान्यनुभागवन्धस्थानानि च प्रत्येकमसंख्येयगुणानि कायस्थितावसंख्येयानां स्थितिवन्धानां भावादिकैकस्मिन् च स्थितिवन्धे असंख्येयानामनुभागवन्धस्थानानां सद्भावादिति । संयमस्थानान्यनुभागवन्धस्थानैस्तुल्यन्येवेति । तेषामुपादानं तत्स्वरूपं चाऽप्रे वक्ष्यामः । अथाऽनुभागवन्धस्थानानीति कः शब्दार्थः ? उच्यते । तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम् । अनुभागवन्धस्य स्थानमनुभागवन्धस्थानम् । एकेन कापायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवर्तितैकसमयवचरसमुद्रायपरिमणमित्यर्थः । तानि चानुभागवन्धस्थानान्यसंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चाऽनुभागवन्धस्थानानां तिष्ठादकाः कपायोदयरूपाः अध्यवसायविशेषास्तेऽऽनुभागवन्धस्थानानीत्युच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात् । तेऽपि चानुभागवन्धाध्यवसाया असंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति । प्रव० १६२ द्वा० । क० प्र० । पं० सं० । “ अणुभागवंधाणा अज्जवसायट्टाणा व एगडा ” पं० सं० ५ द्वा० ।

अणुभाग (व) संक्रम-अनुभाग (व) संक्रम-पु० । अनुभागविषये संक्रमभेदे, क० प्र० ।

तत्स्वरूपं च-

“ तन्धऽट्टपयं उच्च-द्विया व ओवद्विया व अविजागा । अनुभागसंक्रमो ए-स अन्नपगई निया वा वि ” ॥ १ ॥ ति । (अट्टपयं ति) अनुभागसंक्रमस्वरूपनिर्धारणम् । (अविभाग ति) अनुभागाः (निय ति) नीता इति । क० प्र० । पं० सं० । (‘संक्रम’ शब्दे चास्य विस्तृता व्याख्या)

अणुजागमनकर्म-अनुजागमनकर्म-न० । अनुजागविषयायं कर्मणः सत्तायाम्, क० प्र० । पं० सं० । (‘सत्ता’ प्रकरणे व्याख्याम्यामि)

अणुतागुदीरणा-अनुभागोदीरणा-स्त्री० । प्रातोदयेन रसेन सदाप्रातोदये वेद्यमाने रसे, स्था० ४ ग्रा० २ उ० । क० प्र० । पं०

सं० । (‘ उदीरणा ’ शब्दे द्वि० भा० ६५६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभागोदय-अनुजागोदय-पुं० । अनुभागविषये कर्मणामुदये, पं० सं० ५ द्वा० । क० प्र० । (‘ उदय ’ शब्दे द्वि० भा० ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभाव-अनुभाव-पुं० । गुणानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणोपात्तानां प्रकृतिस्थितिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभावतयाऽनुज्वलनं, भा० ०१३०२ अ० १ उ० । सं० । अचिन्त्यायां वैकियकरणादिकायां शक्तौ च । स्था० ३ ग्रा० ३ उ० । प्रभावे च । व्य० २ उ० ।

अणुभावकर्म-अनुभावकर्म-न० । अनुभागतो वेद्यमाने कर्मणि, यस्य हि अनुभावो यथा बद्धरसां वेद्यते । स्था० २ ग्रा० ३ उ० ।

अणुभावग-अनुभावक-त्रि० । चिन्तापके, आ० म० द्वि० ।

अणुनामण-अनुभाषण-न० । आचार्यनामणात्पश्चाद् ज्ञापणं, आचार्येण ज्ञापिते पश्चात् ज्ञापणं न पुनः प्रधानीचूयाचार्यभाषणादग्रे ज्ञापते । “ साहूणं अणुजासह, आयरिणं तु ज्ञासिप संते । ” व्य० ३ उ० । आ० चू० ।

अणुभाषण (णा) मुञ्च-अनुज्ञाषण (णा) मुञ्च-न० । गुरुच्चारितस्य शनैः शुद्धोच्चारणरूपे भावविशुद्धिर्भेदे, आ० चू० ६ अ० । अनुज्ञापणाशुद्धं यथा-

“ अनुभासइ गुरुवयणं, अक्षरपयवज्जणेहिं परिमुञ्चं ।

पंजविवडा अभिमुहो, तं जानऽणुभासणाशुद्धं ” ॥ १ ॥

नवरं गुरुर्मणति- (वासिरत्ति ति) शिष्यस्तु- (वासिरामि ति) स्था० ५ ग्रा० ३ उ० । कृतकृतिकर्मप्रत्याख्यातं कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचनं लघुतरेण शब्देन भणतीत्यर्थः । कथमनुभाषते ? अक्षरपदव्यञ्जनैः परिशुक्रमननानुज्ञापणायत्नमाह । नवरं गुरुर्मणति- (वासिरत्ति ति) ‘ इमो वि भणति- (वासिरामि ति) ससं गुरुर्भाषयसरिसं भाषियच्चं ’ । किं भूतः सन् ? कृतप्राञ्जविराजिमुखस्तज्जानीहि अनुभाषणाशुद्धमिति । आव० ६ अ० ।

अणुचूड-अनुजूति-स्त्री० । अनुज्वनमनुजूतिः । अनुजवे, विशेषेण आ० म० प्र० । दश० ।

अणुमइ-अनुमति-स्त्री० । अनुमोदने, आव० ४ अ० । सूत्र० । तत्स्वरूपं च-“ कांश्च संयं परिणते, अणुवारणअनुमती होति एवं भणति तुमं अप्पणो य अणुस्स वा हत्थकम्मं करे-द्विति ” । आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्यैवम्-“ इच्छस्स वा अणिच्छस्स वा यत्ताज्जिओगा हत्थकम्मं कारावयतो कारावणा जणणति ” नि० चू० १ उ० । आनुकूल्ये, प्रव० ६ द्वा० ।

अणुमइया-अनुमति-स्त्री० । उच्चान्यां देवलासुतस्य राज्ञो ज्ञार्याया अनुरक्तलोचनाया दास्याम्, आ० चू० ११ उ० । आव० ।

अणुमणण-अनुमनन-न० अनुमोदने, प्रति० । (द्रव्यस्तवा-नुमोदनं साधोः कल्पत इति ‘ चेइय ’ शब्दे वक्ष्यते)

अणुमत (य)-अणुमत-त्रि० । अणोरपि मन्तरि, “ अणुमयाइं कुलाइं जवंति ” अणुरपि कृत्वशोऽपि मतो येषु सर्वसाधुसाधारणान्यस्तु सुखं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वन्तीति । कल्प० ।

अनुमत-वि० । अनीष्टे , आ० म० द्वि० । दानमनुज्ञाते, क-
ल्प० । अनु पश्चादपि मतोऽनुमतः । ज्ञा० १ अ० । विप्रियकरण-
स्यापि (ज्ञा० १ अ०) वैगुण्यदर्शनस्याऽपि (औ०) कार्यविधा-
तस्य (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, भ० २ श० १ उ० । अ-
भिप्रेते, वृ० १ उ० । अजिरुचिते, ८थ्ये च । औ० । अनुकूलेन
सम्मतं, जी० १ प्रति० । बहुमते, पञ्चा० ६ विच० ।

अणुमहत्तर-अनुमहत्तर-पु० । मूलमहत्तराभावे तत्कार्यका-
रिणि, “ मूलमहत्तरे असणिणहिते जो पुच्छणिजो धुरे गाय-
ति सो अणुमहत्तरः । नि० चू० ६ उ० । मूलमहत्तरे असनिहिते
यस्तत्र सर्वैरपि प्रच्छनीयः, धुरि च प्रथमं तिष्ठति सोऽनु-
महत्तरः । वृ० २ उ० ।

अणुमाण-अणुमान-पु० । अणुश्चासौ मानः । स्तोकाहङ्कुरे,
सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । “ अणुमाणं च मायं च तं परिष्णाय पं-
क्षिप ” चक्रवर्त्यादिना स्तकारादिना पूज्यमानेनाणुरपि स्तोको-
ऽपि मानोऽहङ्कुरो न विधेयः, किमुत महान् ? । यदि वोत्तममर-
णोपस्थितेनोत्तमपानिष्ठदेहेन वा, ‘अहो ! अहमित्येवंरूपः’
स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः । सूत्र० २ श्रु० ८ अ० ।

अनुमान-न० । अनु इति लिङ्गदर्शनसंबन्धानुस्मरणयोः प-
ञ्चान्मानं ज्ञानमनुमानम् । स्था० ४ ग० ३ उ० । अविनाजाव-
निश्चयाल्लिङ्गाल्लिङ्गज्ञानं , आ० चू० १ अ० । न० । अनु
पश्चाद् लिङ्गलिङ्गिसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्य-
ते देशकालस्वजावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् ।
स्या० । ज० । अनु० । “साध्याविनाजूनलिङ्गात्, साध्यनिश्चायकं
स्मृतम् । अनुमानं तद्विज्ञानं, प्रमाणत्वात् समकृत्वम्” ॥१॥ इति
लक्षणलक्षिते प्रमाणभेदे, स्था० ४ ग० ३ उ० । अनुमानस्य
प्रामाण्यम्- (अनुमानं न प्रमाणमिति सिपाधयिपया प्रत्यक्षस्यैव-
कस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्याह चार्वाक इति ‘आता’ शब्दे द्वितीय-
ज्ञाने १८१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

साम्प्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतं सर्वाधमत्वादन्ते
उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादि-
प्रमाणान्तरानङ्गीकारे अकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन
तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

विनाऽनुमानेन पराजिसंधि-

मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।

न साम्प्रतं वक्तुमपि क चेष्टा,

क दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥ २० ॥

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः । तत्र संनह्यते-अनुप-
श्चाद्विज्ञानलिङ्गिसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्यते दे-
शकालस्वजावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् । प्रस्ता-
वात् स्वार्थानुमानम्, तेनानुमानेन द्वैल्लिङ्गप्रमाणेन विना पराभिसं-
धि पराजिप्रायमसंविदानस्य सम्यग्ज्ञानानस्य, तुशब्दः पूर्ववादि-
भ्यो ज्ञेयतातार्थः । पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थाने-
षु क्रोदः कुतः । नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचिती, कुत एव तेन सह
क्रोदः ? इति तु शब्दार्थः । नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा म-
तिरस्य “नास्ति नास्तिकदैष्टिकम्” ॥६॥१६॥ इति हैमसूत्रेण निपा-
तनाज्ञास्तिकः । तस्य लौकायतिकस्य वक्तुमपि न साम्प्रतं, वचनम-

प्युच्चारयितुं नोचितम् । ततः तूष्णींभाव एवास्य श्रेयान्, दूरे प्रामा-
णिकपरिपदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठौ । वचनं हि परप्रत्यायना-
य प्रतिपाद्यते, परेण चाप्रतिपत्तिस्तमर्थं प्रतिपादयन्नसौ सनाम-
वधेयवचनेन न भवतीत्युन्मत्तवत् । ननु कथमिव तूष्णीं कृतैवाऽस्य
श्रेयसी ? यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽजिप्रायमनुमाय
सुकरमेवानेन वचनेनाच्चारणमित्याशङ्क्याह-“क चेष्टा क दृष्टमात्रं
च” इति । केति वृद्धदन्तरे, चेष्टा इङ्गितं पराजिप्रायरूपस्यानुमेयस्य
लिङ्गम् । क च दृष्टमात्रम्-दर्शनं दृष्टं, ज्ञातं के, दृष्टमेव दृष्टमात्रम्, प्रत्य-
क्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमे-
तयोः । न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्याः,
तस्यैन्द्रियकत्वात् ! मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराऽ-
जिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापत्ति-
तम् । तथाहि-मच्छन्नश्रवणाऽजिप्रायवानयं पुरुषस्तादृहमुखप्र-
सादादिचेष्टाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति । अतश्च ‘हहा प्रमादः’ हहा
इति खेदे, अहो ! तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं
प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारणापहृते । अत्र च संपूर्वस्य चेत्तरकर्मकत्वे ए-
वात्मनेपदम्, अत्र तु कर्माऽस्ति, तत्कथमत्रानम् ? । अत्रोच्यते-अत्र
संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यम्, ‘वयःशक्तिर्दाक्षि’ ॥१॥२॥
इति शक्तौ ज्ञानविधानात् । ततश्चायमर्थोऽनुमानेन विना पराभि-
संहितं सम्यग्वेदितुमशक्तस्येति । एवं परनुद्विज्ञानाऽन्यथाऽनुपप-
स्याऽयमनुमानं हवाद्ङ्गीकारितः । तथा प्रकारान्तरेणाप्ययम-
ङ्गीकारयितव्यः । तथाहि-चार्वाकः काश्चित्ज्ञानव्यक्तीः संवादि-
त्वेनाव्यजिचारिणिरुपलब्ध्याऽन्याश्च विसंवादित्वेन व्यजिचा-
रिणाः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं
प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च संहितार्थबलेनोत्पद्यमानं
पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालजाविनीनां ज्ञानव्यक्ती-
नां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते ।
न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति
प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्
यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेत्यनुमानं ज्ञानव्यक्तीनां प्रामा-
ण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमा-
नरूपमुपासीत, परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः
कर्तुम्, संनिहितमात्रविषयत्वात्तस्य । परलोकादिकं चाप्रतिपिध्य
नाऽयं सुखमास्ते ; प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति हिस्महेवाकः ।
किञ्च-प्रत्यक्षस्याप्यर्थव्यभिचारादेव प्रामाण्यम् । कथमितरथा
स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियासमर्थं मरुमरीचिकानिचयानुभूयानि
जलज्ञाने न प्रामाण्यम् ? । तच्चार्थप्रतिबलिकृशब्दद्वारा समु-
न्मज्जतेऽनुमानागमयोरप्यर्थव्यभिचारादेव किं नेष्यते ? । व्य-
जिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्याऽपि
तिमिरादिदोषाग्निशीथिनीनाथयुगलावबन्धिनोऽप्रमाणस्य दर्श-
नात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः । प्रत्यक्षाज्ञासं तदिति चेत्,
इतरत्रापि तुल्यम्, एतदन्यत्र पक्षपातत्वात् । स्या० ।
ये तु तथागताः प्रामाण्यमूलस्य नोहाञ्चकिरे, तेषामश-
पशून्वचपातकाऽऽपत्तिः । आः किमिदमकारुक्ष्माण्डा-
डम्बरोद्गममभिधीयते ? । कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगम-
मात्रेणेदं समसमञ्जसमापनीयेत ? । शृणु, श्रावयामि
किल, तर्काप्रामाण्ये तावन्नानुमानस्य प्राणाः, प्रतिबन्धप्र-
तिपत्त्युपायापायात् । तदभावे न प्रत्यक्षस्यापि । प्रत्यक्षेण हि
पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः कचन संवादादिदं प्रमा-

णमिति, अन्यत्र तु विस्वादादिदमप्रमाणमिति व्यवस्थाप्रथिमाव-
धीपात् । न खलु स्वस्तिमानेनैव प्रमाणाप्रमाणविवेकः कर्तुं शक्यः,
तद्दशापमभयोः सौसदृश्यात् । संवादविस्वादापि ज्ञायां च
तन्निष्ठत्वं निश्चित एवानुमानोपनिपातः न चेदं प्रतिबन्धप्रतिप-
त्तां तर्कस्य रूपोपायापाये अनुमानाध्यक्षप्रमाणाज्ञावे च प्रमाणि-
कमानितस्ते कौतुक्कुत प्रमेयव्यवस्थाऽपीत्यायातात्त्वदीयदृढ-
यस्येव सर्वस्य श्रूयता । साऽपि वा न प्राप्नोति, प्रमाणमन्तरण
तस्या अपि प्रतिपनुमशक्यत्वादिति । अहो ! महति प्रकट-
कष्टमस्ते प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ? । अथ
“धूमाभाविहिविज्ञानं, धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भा-
भ्यामस्ति पञ्चनिगन्धः ॥ १ ॥ ” निगूष्यते, अनुपलम्भोऽपि,
प्रत्यक्षविशेष एवति प्रत्यक्षमेव व्याप्तितात्पर्यपर्याप्तोचनचातुर्यवर्ध-
नि तर्कोपक्रमेणेति चेत् ? । तत्तु प्रत्यक्षं तावत्सितधूमाग्नि-
गोचरतया प्राक् प्रावृत्तः तद् यदि व्याप्तिरपि तावन्मात्रेव
स्वात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्ततेति कुतस्यं धूमान्मही-
धरकन्धराधिकरणशुशुक्ष्णिलक्षणं तद्वाद्भूवास्विकल्पः ।
तार्थविकीं व्याप्तिं पर्याप्तमिति निर्णेतुमिति चेत्, को नामैवं नाम-
स्त ? तर्कविकल्पस्थोपलम्भानुपपन्नसम्भवत्वेन स्वीकारात् ।
किन्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव प्रमाणं कर्तृकरणीयः । अथ तथा
प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाऽनुमुखयतीति
तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत् । तर्ह्यनुमानमपि द्विद्वादिप्रत्यक्ष-
स्यैव व्यापारमामुखयतीति तदेव वैश्वानरवेदेन प्रमाणं, नानु-
मानमिति किं न स्यात् ? । अथ कथमेवं वक्तुं शक्यम् ? त्रिङ्गुप्रत्यक्षं
हि त्रिङ्गुगोचरमेव, अनुमानं तु साध्यगोचरमिति कथं तत्तद्
व्यापारमामुखयति ? तर्हि प्रत्यक्षं पुरोधतिस्त्रिङ्गुलक्षणं कृष्णमेव ।
तर्कविकल्पस्तु साध्यमात्रेण सामान्यावमर्शमर्शानि कथं सोऽ-
पि तद्व्यापारमुदीपयेत् ? । अथ सामान्यममान्यमेव, असत्त्वादिति
कथं तत्र प्रवर्तमानस्तर्कः प्रमाणं स्यादिति चेदनुमानम-
पि कथं स्यात् ? तस्याऽपि सामान्यगोचरत्वाऽप्यतिचारात् ।
“अन्यसामान्यद्वयं सोऽनुमानस्य विषयः” इति
धर्मकान्तिना कर्तव्यम् । तत्रतोऽप्रमाणमेवैतद्, व्यवहारणै-
वास्य प्रामाण्यतः सदे पथायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्या-
रूढेन धर्मधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत्, तर्कोऽपि तथा-
ऽस्त । अथ नाऽयं व्यवहारणाऽपि प्रमाणम्, सर्वथा वस्तुसं-
स्पृष्टपराङ्मुखत्वादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनि-
र्भासमपि परस्परया पदार्थं प्रतिबन्धात्, प्रमाणमनुमानमिति
चेत्, किं न तर्कोऽपि । अवस्तुत्वं च सामान्यस्याद्याऽपि केशरि-
किमो वक्रकोरुदप्राङ्गुलकणायमानमस्ति । सदृशपरिणामरू-
पस्यास्य प्रत्यक्षादिपरिच्छेद्यत्वादिति तत्त्वं एवानुमानम्, त-
र्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षवदिति पाषाणैरुक्ता ॥ ७ ॥

अत्रोदाहरति—

नया यावान् कश्चिच्छूयः स सर्वो वक्षो मृत्येव जवतीति
स्पष्टमन्यमा न जवत्येव ॥ ८ ॥

अत्र उदाहरणमन्यव्यापारे, द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति
तत्त्वं ७३ परि० स्पष्टम् । प्रामाण्यमनुमानतो न प्रहीनं शक्य-
म् । तस्य प्रमाणत्वं समन्यावदिति एव न शब्दे वक्ष्यते परलोकाभि-
लाषयानुसन्ध्यायप्रमाणमस्ति, अनुमानप्रमाणव्यवस्थितिः,
प्राप्तिमत्तानुमानानुमानाश्च समानप्रकरणग्रन्थेऽवस्थितः ।
अथऽनुमानस्य लक्षणार्थं तावत्प्रकारं (स्वार्थपरार्थानुपाने)

प्रमाणमिति—

अनुमानं द्विप्रकारं, स्वार्थं परार्थं च ॥ ६ ॥

नवनुमानस्याध्यक्षस्येव सामान्यलक्षणमनाख्यायैव कथमादि-
त एव प्रकारकीर्तनमिति चेत् । उच्यते—परमार्थतः स्वार्थस्यैवा-
नुमानस्य ज्ञावात्, स्वार्थमेव हानुमानं कारणे कार्योपचारात्परा-
र्थं कथ्यते । यद्वदयन्ति तत्र प्रवृत्तः—“पक्षे हेतुवचनात्मकं परार्थ-
मनुमानमुपचारात्” इति । न हि गोरुपचरितगोत्वस्य च बाही-
कस्यैकं लक्षणमस्ति, यत्पुनः स्वार्थेन तुल्यककृतयाऽस्योपादानम्,
तद्वादे शास्त्रे चाऽनेनैव व्यवहाराज्ञाकऽपि च प्रायेणास्योपयो-
गात्तद्व्याप्यायख्यापनार्थम् । तत्र अनु हेतुग्रहणसंबन्धस्मरण-
योः पश्चान्मियते परिच्छिद्यते ऽर्थोऽनेनेत्यनुमानम् । स्वस्मै प्र-
मातुरात्मेन इदं, स्वस्य वाऽर्थोऽनेनेति स्वार्थम्, स्वाद्योषधनिष-
न्धनमित्यर्थः । एवं परार्थमपि । अत्र चार्वाकश्चर्ययति—ना-
ऽनुमानं प्रमाणम्, गौणत्वात् । गौणं हानुमानम्, उपचरितप-
क्षादिद्वल्लणत्वात् । तथाहि—“ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे, पक्षो धर्म्य-
जिघासते । व्याप्तिकाले भवेद् धर्मः, साध्यसिद्धौ पुनर्दयम्”
॥ १ ॥ इति । अगौणं हि प्रमाणं प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षवदिति । त-
त्रायं वराकश्चार्वाकः स्वरूढां शास्त्रां खण्डयन्नियतं भौतम-
नुकरोति । गौणत्वादिति हि साधनमभिधानो ध्रुवं स्वीकृत-
वानेवायमनुमानं प्रमाणमिति कथमेतदेव दलयेत् ? । न च
पक्षधर्मत्वं हेतुलक्षणमाचक्ष्महे, येन तत्सिद्धये साध्यधर्मविशि-
ष्टे धर्मिणि प्रसिद्धमपि पक्षत्वं धर्मिण्युपचरेम ; अन्यथाऽनुपप-
त्येकलक्षणत्वाद् हेतोः । नापि व्याप्तिं पक्षेणैव ग्रहे, येन तत्सि-
द्धये धर्मं तदारोपयेमहि ; साध्यधर्मैरेव तदभिधानात् । नवा-
नुमानिकप्रतीतौ धर्मविशिष्टो धर्मो, व्याप्तौ तु धर्मः साध्यमित्य-
जिघासत इत्येकत्र गौणमेव साध्यत्वमिति चेत् । मैवम् । उच्य-
ते मुख्यतल्लक्षणज्ञावेन साध्यत्वस्य मुख्यत्वात् । तत्किमिह
छयं साधनीयम् ? सत्यम् । न हि व्याप्तिरपि परस्य प्रतीता, तत-
स्तत्प्रतिपादनेन धर्मविशिष्टं धर्मिण्ययं प्रत्यायनीय इत्यसिद्धं
गौणत्वम् । अथ नोपादीयत एव तत्सिद्धौ कोऽपि हेतुः, तर्हि कथ-
मप्रमाणिकाप्रमाणिकस्येष्टसिद्धिः स्यादिति नानुमानप्रामाण्य-
प्रतिषेधः साधीयस्तां दधाति । “नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्,
ज्ञानुमानानतावाधनं स्यात्तदा । नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुर्न चेत्, ज्ञानु-
मानानतावाधनं स्यात्तदा ॥ १ ॥ ” इति संग्रहश्लोकः । कथं वा प्रत्य-
क्षस्य प्रामाण्यनिर्णयः ? यदि पुनरर्थक्रियासंवादात्तत्र तन्निर्णय-
स्तर्हि कथं नानुमानप्रामाण्यम् ? । प्रत्यक्षपदाम च—“प्रत्यक्षेऽपि
पराङ्गलक्षणमते—येन प्रमारूपता । प्रत्यक्षेऽपि कथं जविष्यति
मते, तस्य प्रमारूपता ॥ १ ॥ ” इति ॥ ८ ॥

तत्र स्वार्थं व्यवस्थापयन्ति—

तत्र हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारकं साध्यविक्रानं स्वा-
र्थमिति ॥ १० ॥

हिनेत्यन्तर्भावितणिजर्थत्वाद् गमयति परोक्षधर्ममिति हेतुः,
अनन्तरमेव निर्देक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य ग्रहणं च प्रमाणेन नि-
र्णयः । संबन्धस्मरणं च यथैव संबन्धो व्याप्तिनामा प्राक् तर्क-
णातर्क, तथैव परामर्शस्ते कारणे यस्य तत्तथा । साध्यस्याख्या-
स्यमानस्य विशिष्टं संशयादिशून्यत्वेन ज्ञानं स्वार्थमनुमानं
मन्तव्यम् ॥ १० ॥ रत्ना० ३ परि० ।

अधुना परार्थानुमानं प्ररूपयन्ति—

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानमुपचारात् ॥ २३ ॥

पक्षहेतुवचनात्मकत्वं च परार्थानुमानस्य व्युत्पन्नमिति प्रतिपा-

यापत्तयाऽत्रोक्तमतिव्युत्पन्नम् । अतिप्रतिपाद्यापत्तया तु धूमाऽत्र दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रात्मकमपि तद्भवति । बाहुल्येन तत्प्रयोगाभावात् तु नैतत्साक्षात्सूत्रे सूत्रितम्, उपलक्षितं तु दृष्टव्यम्, मन्दमतिप्रतिपाद्यापत्तया तु दृष्टान्तादिवचनात्मकमपि तद्भवति । यद्वद्व्यन्ति-“ मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि ” इति । पक्षहेतुवचनस्य च जडरूपतया मुख्यतः प्रामाण्यायोगे सत्युपचारादित्युक्तम्, कारणे कार्योपचारादित्यर्थः । प्रतिपाद्यगतं हि यत् ज्ञानं तस्य कारणं पक्षादिवचनम्, कार्यं कारणोपचाराद्वा । प्रतिपादकगतं हि यत्स्वार्थानुमानं तस्य कार्यं तद्वचनमिति ॥ २३ ॥

संप्रति व्याप्तिपुरस्सरं पक्षधर्मतापसंहारं तत्पूर्विकां वा व्याप्तिमाचक्ष्णान् भिन्नपक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाहुः-

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिर्भवन्निधनाप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत्पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमध्वज इति हेतोः सामान्येनाऽधारप्रतिपत्तावपि, पर्वतादिविशिष्टधर्मिधर्मताऽधिगतये धूमश्चात्रेत्येवंरूपमुपसंहारवचनमवश्यमाश्रयिते सौगतैः । तथा साध्यधर्मस्य नियतधर्मिधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते-

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः

कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

त्रिविधं कार्यस्वभावानुपलम्भभेदात् । तस्य साधनस्य समर्थनमसिद्धतादिव्युदासेन स्वसाध्यसाधनसामर्थ्यापदर्शनम् । नह्यसमर्थितो हेतुः साध्यसिद्धयङ्गम्, अतिप्रसङ्गात् । ततः पक्षप्रयोगमनङ्गीकुर्यता तत्समर्थनरूपं हेतुमनभिधायैव तत्समर्थनविधेयम्-“ हन्त हेतुरिह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः ? । तर्हि पक्ष इह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः ? ॥१॥ प्राप्यते ननु विवादतः स्फुटं, पक्ष एव किमतस्तदाख्यया । तर्हि हेतुरपि लभ्यते ततोऽनुक्त एव तदसौ समर्थ्यताम् ॥२॥ मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, सौगत ! हेतुमथाभिदधेयाः । मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, तर्हि न किं परिजल्पसि पक्षम् ? ॥३॥ ” ॥ २५ ॥ रत्ना० ३ परि० । तच्चानुमानं त्रिविधम्-पूर्ववत्, शेषवत्, अदृष्टसाध्यव्यवच्छेति-

से किं तं पुर्ववत् ? पुर्ववत्-माया पुत्तं जहा नष्टं, जुवाणं पुणरागयं । काई पञ्चाजिजाणेज्जा, पुव्वझिणेण केणइ ॥१॥ तं जहा-खत्तेण वा वणेण वा झंझणेण वा मसेण वा तिज्जण वा, सेत्तं पुर्ववत् ॥

विशिष्टं पूर्वोपलब्धं चिह्नमिह पूर्वमुच्यते, तदेव निमित्तरूपतया यस्यास्ति तत्पूर्ववत्, तद्वहारेण गमकमनुमानं पूर्ववदिति भावः । तथा चाह-‘मायापुत्तं’ इत्यादिश्लोकः । यथा माता स्वकीयं पुत्रं बाल्यावस्थायां नष्टं युवानं सन्तं कालान्तरेण पुनः कथमप्यागतं काचित्तथाविधस्मृतिपाटववती न सर्वा पूर्वदृष्टेन लिङ्गेन केनचित् क्षणादिना प्रत्यभिजानीयाद्, मत्पुत्रोऽयमिति अनुमिनुयादित्यर्थः । केन पुनर्विज्ञेनेत्याह-(खत्तेण वेत्यादि) । स्वदेहोद्भवमेव कतम्, आगन्तुकस्तु-इवदंष्ट्रादिकृतो वणः, लाञ्छनमपतिलकास्तु प्रतीताः । तदयमत्र प्रयोगः-

मत्पुत्रोऽयम्, अनन्यसाधारणकृतादिलक्षणविशिष्टलिङ्गोपलब्धः, इति साध्यस्यैवधर्म्यदृष्टान्तयोः सत्वेतराभावादयमहेतुरिति चेत् । नैवम् । हेतोः परमार्थनैकवृत्तत्वात्तद्वचनैव गमकत्वोपलब्धः । उक्तं च न्यायवादिना पुरुषचन्द्रेण-अन्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रं हेतोः स्ववृत्तगुणम्, सत्त्वाऽसत्त्वे हि तद्धर्मौ । दृष्टान्तद्वयवृत्तगुणे । न च धर्मिसत्तायां धर्माः सर्वेऽपि सर्वदा जवन्त्येव, पदादेः शुक्लत्वादधर्मैर्धर्मिनिचारात् । ततो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्मो यद्यपि क्वचिद् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिस्वरूपमन्यथाऽनुपपन्नं भविष्यतीति न काश्चिद्विरोध इति भावः । यत्राऽपि धूमादौ दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वं हेतोर्दृश्यते, तत्रापि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव प्राधान्यात्, तस्यैवैकस्य हेतुवृत्तगुणताऽवसेया । तथा चाह-“धूमादेर्यद्यपि स्यातां, सत्त्वाऽसत्त्वे च लक्षणे । अन्यथाऽनुपपन्नत्व-प्राधान्याद्वृत्तगुणैकता ” ॥ १ ॥ किं च-यदि दृष्टान्तं सत्त्वाऽसत्त्वदर्शनाहेतुगमक इष्यते, तदा बोद्धव्यं वज्रं, पार्थिवत्वात्काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् । अभ्यधायि च-“दृष्टान्ते सदसत्त्वान्यां, हेतुः सम्यग्यदीक्ष्यते । लोहलेख्यं जवेद्वज्रं, पार्थिवत्वाद् द्रुमादिवत् ” ॥२॥ इति । यदि च पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षाऽसत्त्ववृत्तगुणं हेतोर्लक्ष्यमनुपपन्नगम्यापि यथोक्तदोषजयात्साध्यं सहान्यथाऽनुपपन्नत्वमन्वेषणीयं, तर्हि-तदेवैकं लक्षणतया वक्तुमुचितम्; किं रूपत्रयेणेति । आह च-“अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नाऽन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ” ॥३॥ इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, प्रत्यगहनताप्रसङ्गात्, अन्यत्र यत्नेनोक्तत्वाच्चेति । आह-प्रत्यक्विषयत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता । नैवम् । पुरुषपिण्डमात्रप्रत्यक्कृततायामपि मत्पुत्रो न वेति ? संदेहाद् युक्त एवानुमानोपन्यास इति कृतं प्रसङ्गेन ।

से किं तं सेसवं ? । सेसवं पंचविहं पणसं । तं जहा-कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आमणं ॥

‘से किं तं सेसवमित्यादि’ पुरुषार्थोपयोगिनः परिजिज्ञासितात् तुरगादेरर्थादन्यो हेयितादिरर्थः शेष इहोच्यते । स गमकत्वेन यस्याऽस्ति तच्छेषवदनुमानम् ।

तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा-

से किं तं कज्जेणं ? । कज्जेणं संखे सदेणं जेरिं ताडिएणं वसज्जं ढक्किएणं मोरं किंकाइएणं हयं हंसिएणं गयं गुग्गुलाएणं रहं घणघणाइएणं, सेत्तं कज्जेणं ॥

(कज्जेणेत्यादि) तत्र कार्येणाऽनुमानम् । यथा हयमश्वं हेयितेन, अनुमिनुते इत्यध्याहारः । हेयितस्य तत्कार्यत्वात्, तदाऽऽकर्ण्य हयोऽत्रेति या प्रतीतिरुत्पद्यते तदिह कार्येण कार्यकारणेत्पन्नं शेषवदनुमानमुच्यते इति भावः । क्वचित्तु प्रथमतः शङ्खशब्देनेत्यादि दृश्यते, तत्रोक्तानुसारतः सर्वोदाहरणेषु भावना कार्या ॥

से किं तं कारणेणं ? । कारणेणं तंतवो परस्स कारणं, ण पमो तंतुकारणं, वीरणा करस्स कारणं, ण कमो वीरणाकारणं, मिप्पिमो धरस्स कारणं, ण घमो मिप्पि-भकारणं, सेत्तं कारणेणं ॥

(से किं तं कारणेणमित्यादि) इह कारणेन कार्यमनुमीयते । यथा विशिष्टमेघोक्तातिदर्शनात् कश्चित् वृष्टयनुमानं करोति । पदाह-‘रोज्जस्वगवलव्याल-तमालमखिनत्विषः । वृष्टि

इयमिच्छन्तीह तैवं प्रायाः पयोमुचः ॥ १ ॥ इति । एवं चन्द्रो-
दयाजलधैर्यद्विरनुमायते, कुमुदगिकासश्च । मिश्रोदयाजलरुह-
प्रशोधः, शूकमदमोक्षश्च । तथाविधवर्णनास्यनिष्पत्तिः, कृ-
ष बलमनःप्रमोदश्चेत्यादि । तदेवं कारणमेवेहानुमापकं साध्य-
स्य नाकारणम् । तत्र कार्यकारणभाव एव केषांचिद्विप्रतिपत्तिं
पश्यन्तमेव तावन्नियतं दर्शयन्नाह-तन्तवः पटस्य कारणम्, न तु
पटस्तन्तूनां कारणम् । पूर्वमनुपलब्धस्य तस्यैव तद्भावं उपल-
म्भात् । इतरेषां तु पटभावेऽप्युपलम्भात् । अत्राह-ननु यदा
कश्चिन्निपुणः पटजावेन संयुक्तानपि तन्तून् क्रमेण वियोजयति,
तदा पटोऽपि तन्तूनां कारणं जयत्येव । नैवम् । सत्त्वेनोपयोगाभा-
वान् । यदेव हि लब्धसत्ताकं सत् स्वस्थितिभावेन कार्यमुपकुरुते
तदेव तस्य कारणत्वेनोपदिश्यते । यथा मृत्पिण्डो घटस्य । ये तु
तन्तुवियोगतोऽभावीजयता पटेन तन्तवः समुत्पद्यन्ते, तेषां कथं
पटः कारणं निर्दिश्यते, न हि उवराऽज्ञावेन भवत आरोगिता-
सुखस्य उवरः कारणमिति शक्यते वक्तुम् । यद्येवं पटेऽप्युपपद्य-
माने तन्तवोऽज्ञावीजयतीति तेऽपि तत्कारणं न स्युरिति चेत् ।
नैवम् । तन्तुपरिणामरूप एव हि पटः, यदि च तन्तवः सर्वथाऽ
भावीजयुस्तथा मृद्भावं घटस्यैव पटस्य सर्वथैवोपलब्धिर्न
स्यात्, तस्मात्पटकालेऽपि तन्तवः सन्तीति सत्त्वेनोपयोगात्
ते पटस्य कारणमुच्यन्ते । पटवियोजनकाले त्वेकैकतत्त्ववस्थायां
पटो नापन्नयते । अतस्तत्र सत्त्वेनोपयोगाभावात्तासौ तेषां का-
रणम् । एवं वीरणकटादिष्वपि जायना कार्या । तदेवं यद्यस्य
कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथासम्भवं गमकत्वेन
वक्तव्यमिति ।

से किं तं गुणेण ? । गुणेण-सुवाणं निकसेणं, पुष्पं गंधेणं, ल-
वणं रसेणं, मङ्गरं आसायणं, वर्यं फासेणं, सेतं गुणेणं ॥

(से किं तं गुणेणमित्यादि) निकपः कपपट्टगता कपितसुव-
र्णरेखा, तेन सुवर्णमनुमीयते । यथा पञ्चदशादिवर्णकोपेतमिदं
सुवर्णं, तथाविधनिकपोपलम्भात्, पूर्वोपलब्धोपलम्भसंमतसुवर्णव-
त् । एवं शतपात्रिकादिपुष्पमत्र, तथाविधगन्धोपलम्भात्, पूर्वो-
पलब्धवस्तुवत् । एवंलक्षणं मदिवायत्त्रादयोऽनेकजैदसंभवतो-
ऽनियतस्वरूपा अपि प्रतियोगितयाविधरसास्वादस्पर्शादिगु-
णोपलब्धेः, इति नियतस्वरूपाः साधयितव्याः ।

से किं तं अवयवेण ? । अवयवेण-महिसं सिंगेणं, कुकुम्भं
सिहाणं, दन्तिं विसाणेणं, वाराहं दाहाणं, मोरं पिच्छे-
णं, आसं खुरेणं, वर्यं नहेणं, चर्वरं वात्रगेणं, दु-
पयं मणुस्मादि, चतुष्पयं गवमादि, बहुपयं गोमिश्रमादि,
सीढं केमरेणं, वमदं कुक्कुदेणं, महिला वल्यवाहाणं । परि-
अग्रवरेण भरुं, जाणिजा महिद्विअं निवमणेणं । मित्येण-
दोणपागं, कविं च एकाणं गाहाणं ॥ १ ॥ सेतं अवयवेणं ॥

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवदर्शनेनावयवी अ-
नुमीयते । यथा महिषोऽत्र, तर्दविनाभृतशृङ्गोपलब्धेः, पूर्वोप-
लब्धोभयसंमतप्रदेशवत् । अयं च प्रयोगो वृत्तिवर्गवृत्तिकाश-
न्तर्गतत्वादिप्रत्यक्षं पञ्चावयवनिष्ठं दृष्टव्यं; तन्प्रत्यक्षतायामध्य-
क्षत एव तन्मिदं; अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । एवं शेषोदाहर-
णान्यपि भावनीयानिः नवरं द्विपदं मनुष्यादीत्यादि । मनुष्यो-
ऽयम्, तदविनाभृतपदद्वयोपलम्भात्, पूर्वदृष्टमनुप्यवत् । एवं

चतुष्पदबहुपदेष्वपि गोम्ही, कर्णशुगाली । “ परित्यक्वधेण
भडे ” इत्यादिनाथा पूर्वं व्याख्यातैव । तदनुसारं भावा-
र्थोऽप्यूह इति ।

मे किं तं आमरणं ? । आसरणं-अग्निं धूमेणं, सन्निधं
वज्रागेणं, वृष्टिं अम्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीतमायारेणं,
सेतं आमरणं, सेतं सेसवं ॥

(से किं तं आसरणमित्यादि) आश्रयतीत्याश्रयो धूमबला-
कादिस्तत्र धूमादन्यनुमानं प्रतीतमेव । आकारेङ्गितादिभि-
श्चाप्यनुमानं भवति । तथा चोक्तम्-“आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चे-
ष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः” ॥ १ ॥
अत्राह-ननु धूमस्याग्निकार्यत्वात् पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गत-
त्वात्किमिहोपन्यासः ? । सत्यम् । किन्त्वग्न्याश्रयत्वेनापि लोके
तस्य रूढत्वादत्राप्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टव-
दनुमानम् ।

से किं तं दिट्टसाहम्भवं ? । दिट्टसाहम्भवं दुविहं पणत्तं ।
तं जहा-सामन्नदिट्टं च विसेसदिट्टं च ॥

[से किं तं दिट्टसाहम्भवमित्यादि] दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनार्थेन
सह साधर्म्यं दृष्टसाधर्म्यम्, तद्रूपकत्वेन विद्यते यत्र तद् दृष्टसा-
धर्म्यवत् । पूर्वदृष्टार्थः कश्चित्सामान्यतः कश्चित् विशेषतो
दृष्टः स्यादतस्तद्देदादिदं द्विविधम्-सामान्यतो दृष्टार्थयोगात्सा-
मान्यदृष्टम्, विशेषतो दृष्टार्थयोगाद्विशेषदृष्टम् ॥

मे किं तं मामरणदिट्टं ? । सामन्नदिट्टं-जहा एगो पुरिसो
तहा वहवे पुरिसा, जहा वहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो,
जहा एगो करिमावणो तहा वहवे करिसावणा, जहा वहवे
करिमावणा तहा एगो करिमावणो, सेतं सामरणदिट्टं ॥

[से किं तं सामन्नदिट्टमित्यादि] तत्र सामान्यदृष्टं यथा
एकः पुरुषस्तथा वहवः पुरुषा इत्यादि । इदमुक्तं भवति-ना-
लिकेरङ्गोपादायातः कश्चित् तत्प्रथमतया सामान्यत एकं कञ्च-
न पुरुषं दृष्ट्वाऽनुमानं करोति । यथा-अयमेकः परिदृश्यमानः
पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथा वहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि
पुरुषा एतदाकारसम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषात्, अन्याकारत्वे
पुरुषत्वहानिप्रसङ्गाद्, गवादिवत् । बहुषु तु पुरुषेषु तत्प्रथमतो
वीक्षितेष्वेवमनुमिनोति-यथाऽमी परिदृश्यमानाः पुरुषा एत-
दाकारवन्तस्तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित्पुरुषः एतदाकारवानिव,
पुरुषत्वाद्, अपराकारत्वे तद्वानिप्रसङ्गाद्, अइवादिवत् । इत्येवं
कार्यापणादिष्वपि वाच्यम् ।

विशेषतो दृष्टमाह-

से किं तं विसेसदिट्टं ? । विसेसदिट्टं से जहा एगो केइ
पुरसे, वहूणं पुरिमाणं मज्जे पुव्वदिट्टं पच्चिजिजाणेज्जा-
अयं से पुरिसे वहूणं करिमावणाणं मज्जे पुव्वदिट्टं करि-
सावणं पच्चिजिजाणेज्जा-अयं मे करिमावणे ॥

(से जहा नाम इत्यादि) अत्र पुरुषाः सामान्येन प्रतीता एव के
वत्र यदा कश्चित् कश्चित् कश्चित् पुरुषविशेषं दृष्ट्वा तद्दर्शनाहि-
तसंस्कारोऽसंज्ञाततत्प्रमेयः समयातरे बहुपुरुषसमाजमध्ये त-
मेव पुरुषविशेषमासीनमुपलब्ध्यानुमानयति-यः पूर्वमयोपलब्धः
स एवायं पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उभयानिमित्तपु-

रूपवत् । इत्येतत् तदा विशेषदृष्टमनुमानमुच्यते, पुरुषविशेषवि-
षयत्वात् । एवं कार्पापणादिविषयि वाच्यम् ।

तदेवमनुमानस्य त्रैविध्यमुपदर्श्य साम्प्रतं तस्यैव कालत्रय-
विषयतां दर्शयन्नाह—

तस्स समासओ तिविहं गृहणं जवइ । तं जहा—अतीय-
कालगृहणं, पशुप्पसकालगृहणं, अणागयकालगृहणं ॥

(तस्सेति) सामान्येनानुवर्तमानमनुमानमात्रं संबध्यते, तस्या-
नुमानस्य त्रिविधं ग्रहणं भवति । तद्यथा—अतीतकालविषयग्र-
हणं ग्राह्यस्य वस्तुनः परिच्छेदोऽतीतकालग्रहणम् । प्रत्युत्पन्नो वर्-
तमानः कालस्तद्विषयं ग्रहणं प्रत्युत्पन्नकालग्रहणम् । अनागतो
भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम् । कालत्रयव-
र्तिनोऽपि विषयस्यानुमानात्परिच्छेदो जवतीत्यर्थः ।

से किं तं अतीयकालगृहणं ? अतीयकालगृहणं उत्त-
णाणि वणाणि निष्पणं सव्वं वा मेइणिं पुष्पाणि अकुं-
रसरणइदीहिआतडागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा
सुवुट्ठी आमी, सेत्तं अतीयकालगृहणं ॥

तत्र (उत्तिणाइं ति) उरुनानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा ।
अयमत्र प्रयोगः—सुवृष्टिगिरिहाऽऽसीद्, तृणवननिष्पन्नसस्यपृ-
थ्वीतलजलपरिपूर्णकुलादिजलाशयप्रभृतितत्कार्यदर्शनाद्, अ-
निमतदेशवत्, इत्यतीतस्य वृष्टिजलविषयस्य परिच्छेदः ।

से किं तं पशुप्पकालगृहणं ? पशुप्पकालगृहणं सा-
हूगोअरगगयं विच्छन्नियपउरभत्तपाणं पासित्ता, तेणं सा-
हिज्जइ, जहा सुभिकखे वट्ठइ । सेत्तं पशुप्पकालगृहणं ॥

साधुं च गोचराग्रगतं भिक्षाप्रविष्टं विशेषेण उद्दिशन्ति गृह-
स्थैर्दत्तानि प्रचुरभक्तपानानि यस्य स तथा तं तादृशं दृष्ट्वा क.
श्चित् आधयति । सुभिक्षामिह वर्तते, साधूनां तद्धेतुकप्रचुरभ-
क्तपानलाभदर्शनात्, पूर्वदृष्टप्रदेशवदिति ।

से किं तं अणागयकालगृहणं ? अणागयकालगृहणम्-अ-
ब्भस्स निम्मवत्तं, कसिणाय गिरी सविज्जुआमेहा । यणि-
अं वाउब्भामो, संभारत्ता पणिष्ठा य ॥ १ ॥ वारुणं वा
महिंदं वा अस्सयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहि-
ज्जइ, जहा सुवुट्ठी भविस्सइ । सेत्तं अणागयकालगृहणं ॥

(अन्नस्स निम्मवत्तं ति) गाथा सुगमा, नवरं स्तनितं मेघ-
गर्जितं (वाउब्भामो स्ति) तथाविधो दृष्टव्यविचारो प्रद-
क्षिणं दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वानः (वारुणं ति) आर्जामृतादिन-
क्षत्रप्रभवं माहेन्द्रोहिणीज्येष्ठादिनक्षत्रसम्भवम् । अन्यतरमु-
त्पातमुल्कापातदिग्दाहादिकं प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनु-
मीयते—यथा—सुवृष्टिश्च भविष्यति, तदव्यभिचारिणामज्जनिर्म-
लत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनाद्, यथाऽन्यव-
दिति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मेतत्वाद्यो वृष्टिर्न व्यजिचरन्त्यतः
प्रतिपत्त्यैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति ।

एएसिं चेव विवज्जासे तिविहं गृहणं भवइ । तं जहा अती-
यकालगृहणं, पशुप्पसकालगृहणं, अणागयकालगृहणं ।
से किं तं अतीयकालगृहणं ? अतीयकालगृहणं उत्तिणाइं

अनिप्पसं वा सव्वं वा मेइणी मुक्काणि अकुंडमरनइदीहिआ-
तरागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुट्ठी आसी । सेत्तं
अतीयकालगृहणं । से किं तं पशुप्पसकालगृहणं ? पशुप्प-
सकालगृहणं साहूगोयरगगयं जिकखं अन्नभमाणं पासित्ता
तेणं साहिज्जइ, जहा दुब्भिकखे वट्ठइ । सेत्तं पशुप्पसकालगृ-
हणं । से किं तं अणागयकालगृहणं ? अणागयकालगृ-
हणम्—धूमायंति दिमाओ, संविअमेइणीअपमिअइ । वा-
या नेरइआ खलु, कुवुट्ठिमेवं निवेयंति ॥ १ ॥ अग्रेयं
वा वायव्वं वा अस्सयरं वा अपसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं
साहिज्जइ, जहा कुवुट्ठी भविस्सइ । सेत्तं अणागयकालगृह-
णं, सेत्तं विमेषादिदं, सेत्तं दट्ठसाहम्मव्वं, सेत्तमणुमणे ।

(एसिं चेव विवज्जासे इत्यादि) एतेषामेवोत्पन्नवनादीनाम-
तीतवृष्ट्यादिसाधकत्वेनोपन्यस्तानां हेतूनां व्यत्यासे व्यत्यये सा-
ध्यस्यापि व्यत्ययः साधयितव्यः । यथा कुवृष्टिगिरिहासीन्निस्तृणवना-
दिदर्शनादित्यादिव्यत्ययः सूत्रसिद्धः । नवरम्—अनागतकाल-
ग्रहणं माहेन्द्रवारुणपरिहारेणाग्नेयवायव्योत्पाता उपन्यस्ताः, ते-
षां वृष्टिविधातकत्वात्, इतरेषां सुवृष्टिहेतुत्वादिति । “सेत्तं वि-
सेसदिदं, सेत्तं दिदसाहम्मव्वं” इत्येतन्निगमनद्वयं दृष्टसाधर्म्य-
क्षणानुमानगतभेदत्रयस्य समर्थनानन्तरं गृह्यते । यदि तु सर्व-
वाचनास्वैव स्थाने दृश्यते तदा दृष्टसाधर्म्यतोऽपि सभेद-
स्यानुमानमविशेषत्वात् कालत्रयविषयता योजनीयैव । अतस्ता-
मप्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकारीति प्रतिपत्तव्यम् । तदे-
तदनुमानमिति । अनु० ।

तच्च कचित्पञ्चावयवेन वाक्येन, कच्चिदशाऽवयवेन वाक्येन
परं प्रति दर्श्यते—तत्र पञ्चावयवाः—“प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपन-
यनिगमनानि” । अत्र च—“धम्मो मंगलमुक्किं, अहिंसा संजमो
तवो । देवा वि तं णमंसंति, जस्स धम्मो सया मणो ” ॥१॥
इति वक्ष्यमधिकृत्य निदर्श्यते—

कत्थइ पंचावयव्वं, दसहा वा सव्वहा न पक्किदिदं ।

न य पुण सव्वं जन्नइ, हंदी सवियारमक्खायं ॥ ११ ॥

श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य कचित्पञ्चावयव्वं, दशधा वेति—कच्चिद-
शावयवम् । सर्वथा गुरुश्रोत्रपक्ष्या न प्रतिपिद्धमुदाहरणाद्यभि-
धानमिति वाक्यशेषः । यद्यपि च न प्रतिपिद्धं तथाऽप्यविशेष-
णैव च न पुनः सर्वं भग्यते उदाहरणादि । किमन्यत आह—
(हंदी सवियारमक्खायं ति) हंदीत्युपप्रदर्शने । किमुपदर्शय-
ति ? यस्मादिहान्यत्र शास्त्रान्तरे सविचारं सप्रतिपक्षमाख्यात-
म्, साकल्यत उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते । पञ्चावयवाश्च
प्रतिज्ञादयः । यथोक्तम्—“प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यव-
यवाः” । दश पुनः प्रतिज्ञाविभक्त्यादयः । वक्ष्यति च—“ ते उ
पदणविभत्ती हेतुविज्जती ” इत्यादिप्रयोगांश्चैतेषां लाघवा-
र्थमिहैव स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

दशावयवाः पुनरित्यम्—

प्रतिज्ञा १ विभक्तिः २ हेतुः ३ विभक्तिः ४ विपक्षः ५ प्रतिषेधः
६ दृष्टान्तः ७ आशङ्का ८ तत्प्रतिषेधः ९ निगमनम् १० । इह च
दशावयवाः प्रतिज्ञादिशुद्धिसहिता भवन्ति । अवयवत्वं च

तच्छुद्धिनामधिष्ठितवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिव भावनीयमित्यत्र बहु वक्तव्यं, तन्तु नोच्यते, गमानिकामात्रत्वात्प्राप्तमस्येति । दशः १ अ० । (प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं सोदाहरणं स्वस्वस्थाने दृश्यम्)

इदानीं ज्ञेयंऽपि भङ्ग्यन्तरराजा दशावयवेनैव वाक्येन सर्वमवयवेन व्याचष्टे निर्युक्तिकारः—

ते उ पञ्चविभक्ती, हेउ विनक्ती विवक्ख पस्सिहो ।

दिट्ठेनो आसंका, तप्पडिमहो निगमणं च ॥ ४२ ॥

(त इति) अवयवाः । तु पुनः शब्दार्थः । ते पुनरमी प्रतिज्ञादयः । तत्र प्रतिज्ञातं प्रतिज्ञा, वक्ष्यमाणस्वरूपेत्येकोऽवयवः । तथा विनजने विनक्तिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः । तथा हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुस्तृतीयः । तथा विभजने विभक्तिरिति पूर्ववच्चतुर्थकः । तथा विसदः पक्षो विपक्षः, साध्योऽविपर्यय इति पञ्चमः । तथा प्रतिषेधनं प्रतिषेधः, विपक्षस्येति गमयत इत्यर्थः षष्ठः । तथा दृष्टमवमनं नयतीति दृष्टान्त इति सप्तमः । तथा आशङ्कनमाशङ्का, प्रक्रमाद् दृष्टान्तस्यैव इत्यष्टमः । तथा तत्प्रतिषेधः, अधिकृताशङ्काप्रतिषेध इति नवमः । तथा निश्चितं गमनं निगमनम्, निश्चितोऽवसाय इति दशमः । चशब्द उत्कममुच्यार्थ इति गाथासमासार्थः । व्यासार्थे तु प्रत्यवयवं वक्ष्यति ग्रन्थकार एव ॥ १४२ ॥

तथा चाह—

धम्मो मंगलमुकिट्ठं—ति पइना अत्तवयणनिदेमो ।

सो य इहेव जिणमए, नऽनन्त पइन्न पविनक्ती ॥ १४३ ॥

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति पूर्ववादिनं प्रतिज्ञा । आह—केन प्रतिज्ञेत्युच्यते ? आत्मवचननिर्देश इति । तत्रापि अप्रतारकः । अप्रतारकश्चाशेषपरागादिक्रियाद्भवतीति । उक्तं च—“ आगमो ह्यात्मवचनमात्रं दोषकयाद्विष्टुः । वीतरागोऽनृते वाक्ये, न दूयाद्वैतवसं नवान् ॥ ११ ॥ तस्य वचनमात्रवचनम्, तस्य निर्देश आत्मवचननिर्देशः । आह—‘अयमागम’ इति । उच्यते—विप्रतिपक्षसंप्रतिपत्ति-निवर्धनत्वेनैव एव प्रतिज्ञेति नैव दोषः । पात्रान्तरं वा—‘साध्यवचननिर्देश, इति । साध्यत इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थः । यस्मात्प्रत्योच्यते । साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनम्, साध्यार्थ इत्यर्थः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तः प्रथमोऽवयवः । अधुना द्वितीय उच्यते—स चाधिकृतो धर्मः किमिहैव जिनशासने अभिधेय मौलान्ते प्रवचने नान्यत्र कपिलादिमतेषु ? । तथा हि—प्रत्यक्षत एवोपलभ्यन्ते यस्माद्युपपन्नोदकाद्युपजोगेषु परित्रा, द्रुपभृतयः प्राण्युपमर्दं कुर्वाणाः, ततश्च कुतस्तेषु धर्म ? इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यम्, तन्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्भावि-तव्याच्चेति । प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरियम्—प्रतिज्ञाविषयविभाग-कथनेति गाथार्थः । उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ १४३ ॥

अधुना तृतीय उच्यते । तत्र—

सुरपूजो ति हेऊ, धम्मो गे त्रिया उ जं परमे ।

हेउ विनक्ती निरुवहि—निवाण अवहेण य जियंति ॥ ४४ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः । सुरग्रहणमिन्द्राद्युपलक्षणम् । इति शब्द उपदर्शने । काऽयम् ? हेतुः । पूर्ववद् हेतुर्थम्—च कंचेद् वाक्यम् । हेतुस्तु सुरेन्द्रादिपूजितत्वादिति द्रष्टव्यः । अथैव सिद्धतां दर्शयति—धर्मः पूर्ववद् । तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं, धर्मश्चानौ स्थानं च धर्मस्थानम्, स्थानमालयः, तस्मिन्

स्थिता । तुरयमेवकार्थः, स चावधारणे, अयं चोपरिष्ठात् क्रिया सह योच्यते । यद् यस्मान्, किंभूते धर्मस्थाने ? परमे प्रधाने, किम् ? सुरादिभिः पूज्यन्त एवेति वाक्यशेषः । इति तृतीयोऽवयवः । अधुना चतुर्थ उच्यते—हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभाग-कथनम् । अथ क एते धर्मस्थाने स्थिता इत्यत्राह—निरुपधयः । उपधिरुक्ता माया इत्यनर्थान्तरम् । अयं च कोधाद्युपलक्षणम् । ततश्च निर्गता उपध्यादयः सर्व एव कथाया येभ्यस्ते निरुपध-या निष्कथायाः, जीवानां पृथिवीकायिकादीनामवधेनापीडया, चशब्दात्तपश्चरणादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्थिता नान्य इति गाथार्थः ॥ १४४ ॥

उक्तश्चतुर्थोऽवयवः । अधुना पञ्चममभिधिसुराह—

जिणवयणपदुट्ठे वि हु, ससुराईए अधम्मरुणो वि ।

मंगलवुट्ठं ई जणो, पणमइ आइदुयविवक्खो ॥ १४५ ॥

इह विपक्षः पञ्चम इत्युक्तम् । स चायम्—प्रतिज्ञाविभक्त्योरिति । जिनास्तीर्थकरास्तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रदिष्टा अप्रीता इति समासः, तान् । अपिशब्दादप्रदिष्टानपि । हु इत्ययं निपाताध्यधारणार्थः । अस्थानप्रयुक्तश्च स्थानं च दर्शयित्वा-मः । श्वशुरादीन् । श्वशुरो लोकप्रसिद्धः—आदिशब्दात्पित्रादि-परिग्रहः । न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां ते अधर्मरुचयस्तान् । अपि शब्दाद्धर्मरुचीनपि । किम् ? मङ्गलवुट्ठ्वा मङ्गलप्रधानया धिया । मङ्गलवुट्ठ्वैव नामङ्गलवुट्ठ्वैवकारोऽवधारणार्थः । किम् ? जनो लोकः । प्रकर्षेण नमति प्रणमति । आद्यद्वयविपक्ष इति । अत्राद्यद्वयं प्रतिज्ञा तच्छुद्धिश्च । तस्य विपक्षः साध्योऽविपर्यय इत्याद्यद्वयविपक्षः । तत्राधर्मरुचीनपि मङ्गलवुट्ठ्वा जनः प्रणमतीत्यनेन प्रतिज्ञाविपक्षमाह—तेषामधर्माव्यतिरेकाद्, जिनवचनप्रदिष्टानपीत्यनेन तु तच्छुद्धेस्तत्राऽपि हेतुप्रयोगप्रवृत्त्या धर्मसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

विद्युद्युयस्स विवक्खो, सुरेहिं पुजंति जणजई वि ।

वुट्ठाई वि सुनया, वुक्खे णायपमिवक्खो ॥ १४६ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्वयं च द्वितीयद्वयम्—हेतुस्तच्छुद्धिः, इदं च प्रागुक्तद्वयापेक्षया द्वितीयमुच्यते । तस्यायं विपक्षः इह सुरैः पूज्यन्ते यज्ञयाजिनोऽपि । इयमत्र भावना—यज्ञयाजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्ति, अथ च सुरैः पूज्यन्ते, ततश्च सुरपूजितत्वमकारणमित्येव हेतुविपक्षः । तथा—अजितेन्द्रियाः सौपथ्यश्च यतस्ते वर्तन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने स्थिताः परम इत्यादिकाया हेतुविभक्तेरपि विपक्ष उक्तो वेदितव्यः इति । उदाहरणे विपक्षमाधिकृत्याह—बुद्धादयोऽप्यादिशब्दात् कपिलादिपरिग्रहः । ने किम् ? सुरनता देवपूजिता उच्यन्ते जगयन्ते, तच्चासनप्रतिपक्षेरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गाथार्थः । आह—ननु दृष्टान्तमुपरिष्ठाद्वयत्येवं ततश्च तत्स्वरूपे उक्ते च तत्रैव विपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च वक्तुं युक्तः, तत् किमर्थमिह विपक्षस्तत्प्रतिषेध-अभिधीयते ? उच्यते—विपक्षसाम्यादधिकृत एव विपक्षद्वारे व्यावधानमभिधीयते, अन्यथेदमपि पृथग्द्वारं स्यात् । तथैव तत्प्रति-षेधोऽपि द्वारान्तरं प्राप्नोति, तथा च सति ग्रन्थगौरवं जायते । तस्माद्व्यावधानमत्रैवोच्यत इत्यदोषः । आह—‘दिट्ठेनो आसंका, तप्प-मिसेहो’ इति वचनात् उत्तरत्र दृष्टान्तमभिधाय पुनराशङ्कां तत्प्र-तिषेधं च वक्तव्येव । तदाशङ्का च तद्विपक्ष एव । तत्किमर्थमिह पुनर्विपक्षप्रतिषेधावभिधीयते ? उच्यते—अनन्तरपरम्परजेद-

न दृष्टान्तद्वैविध्यस्यापनार्थम्, यः खल्वनन्तरप्रयुक्तोऽपि परोक्तत्वादागमस्यत्वादाप्रीतिकार्थसाधनायाऽलं न भवति, तत्प्रसिद्धये विपक्षसिद्धौ योऽयं उच्यते, स परम्परादृष्टान्तः । तथा च तीर्थकरास्तथा साधवश्च द्वावपि भिन्नावेतावुत्तरत्र दृष्टान्तावभिधास्येते । तत्र तीर्थकुलक्षणं दृष्टान्तमङ्गीकृत्येह विपक्षप्रतिषेधावुक्तौ । साधूस्वधिकृत्य तत्रैवाऽऽशङ्कातत्प्रतिषेधौ दर्शयिष्येते इत्यदोषः । स्यान्मतं प्रागुक्तेन विधिना लाघवार्थमनुक्तं एव दृष्टान्तः, उच्यतां काममिहैव दृष्टान्तविपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च स एव दृष्टान्तः, किमित्युत्तरत्रोपदिश्यते, येन हेतुविभक्तेरनन्तरमिहैव न ज्ञेयते ? तथाह्यत्र दृष्टान्ते भण्यमाने प्रतिज्ञादीनामिव द्विरूपस्यापि दृष्टान्तस्याहंताधुवृत्तक्षणस्यैतादेव विपक्षतत्प्रतिषेधावुपपद्येते । ततश्च साधुवृत्तक्षणस्य दृष्टान्तस्याशङ्का तत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ भवतः । तथा च सति ग्रन्थलाघवं जायते । तथा प्रतिज्ञादेतूदाहरणरूपाः सविशुद्धिकास्त्रयोऽप्यवयवाः क्रमेणोक्ता भवन्तीत्युच्यते-इहाऽभिधायमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिज्ञादीनामपि प्रत्येकमाशङ्कातत्प्रतिषेधौ वक्तव्यौ स्तः । तथा च सन्वयवयवहुत्वे दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिव विपक्षतत्प्रतिषेधाच्चार्थं पृथगाशङ्कातत्प्रतिषेधौ न वक्तव्यौ स्याताम् । एवं सति दशावयवा न प्राप्नुवन्ति । दशावयवं चेदं वाक्यं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिषिद्धादर्थवित्तमस्याऽपि न्यायस्य प्रदर्शनार्थमन एव यदुक्तं साधुलक्षणं दृष्टान्तस्याशङ्कातत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ स्यातामित्यादि, तदपाकृतं वेदितव्यमित्यलं प्रसङ्गेन । एवं प्रतिज्ञादीनां प्रत्येकं विपक्षोऽग्निहितः ॥१४६॥

अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञादिविपक्षः पञ्चमोऽवयवो वर्तत इत्येतदर्थान्निदिमाह—

एवं तु अवयवाणं, चणह पक्विकवु पचमोऽवयवो ।

एत्तो ऋद्वोऽवयवो, विपक्षवपरिमिह तं वोचं ॥ १४७ ॥

एवमित्ययमेवकार उपप्रदर्शने । तुरवधारणे । अयमेवावयवानां प्रमाणऽङ्गलक्षणानां चतुर्णां प्रतिज्ञादीनां प्रतिपत्तो विपक्षः पञ्चमोऽवयव इति । आह-दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, तत्किमर्थं चतुर्णामित्युक्तम् ? उच्यते । हेतोः सपक्षविपक्षाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्तद्विपक्ष एव चास्यान्तर्भावाददोष इत्युक्तः पञ्चमोऽवयवः । अधुना षष्ठ उच्यते-तथा चाह-इत उत्तरत्र षष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिषेधस्तं वक्ष्येऽभिधास्य इति गाथार्थः ॥ १४७ ॥

इत्थं सामान्येनाभिधायदानीमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधमभिधातुकाम आह—

सायं सम्पत् पुमं, हासरई आउनामगोयसुहं ।

धम्मफलं आइगुमे, विपक्षवपरिमिह मो एमो ॥१४८॥

(सायंति) सातवेदनीयं कर्म (सम्पत्ति) सम्यक्त्वं सम्यग्भावः सम्यक्त्वं मोहनीयं कर्मैव (पुमंति) पुंवेदमोहनीयम् । (हासंति) हस्यतेऽनेनेति हासस्तद्भावो हास्यम्; हास्यमोहनीयम् । रस्यतेऽनेनेति रतिः, कीडाहेतू रतिमोहनीयं कर्मैव । (आउनामगोयसुहंति) अत्र शुभशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अन्ते वचनात् । ततश्च आयुःशुभं, नामशुभं, गोत्रशुभं, तत्रायुःशुभं तीर्थकरादिसंबन्धि, नामगोत्रे अपि कर्मणी शुभं तेषामेव भवतः । तथाहि-यशोनामादि शुभं तीर्थकरादीनामेव भवति । तथोच्चोत्रं तदपि शुभं तेषामेवेति । (धम्मफलंति) धर्मस्य फलं

धर्मफलम्; धर्मेण वा फलं धर्मफलम्, एतदहिंसादेर्जिनोक्तस्यैव धर्मस्य फलम् । अहिंसादिना जिनोक्तेनैव च धर्मेणैव फलमवाप्यते । सर्वमेव चैतत् सुखहेतुत्वाद् हितम् । अतः स एव धर्मो मङ्गलं, न श्वशुरादयः । तथाहि-मङ्गल्यते हितमनेनेति मङ्गलम् । तच्च यथोक्तधर्मेणैव मङ्गल्यते नान्येन, तस्मिन्सावेव मङ्गलं, न जिनवचनवाह्याः श्वशुरादय इति स्थितम् । आह-मङ्गलवृत्त्यैव जनः प्रणमतीत्युक्तं, तत्कथमित्युच्यते मङ्गलवृत्त्याऽपि गोपालाऽङ्गनाऽऽदिमोहतिमिरोपप्लुतवृत्तिदोषो जनः प्रणमन्नपि न मङ्गलत्वनिश्चयायावम् । तथाहि न तैर्मारिकद्विचन्द्रोपदर्शनं सचेतसां चक्षुष्मतां द्विचन्द्राऽऽकारायाः प्रतीतेः प्रत्ययतां प्रतिपद्यते । अनदृष एव तद्रूपाध्यारोपद्वारेण तत्प्रवृत्तेरिति । (आइगुमेति) आद्यद्वयं प्रागुक्तं, तस्मिन्नाद्यद्वयविषये विपक्षप्रतिषेधः । मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः । एष इति यथावर्णित इति गाथार्थः । इत्थमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधः प्रतिपादितः ॥१४८॥ संप्रति हेतुतच्छब्दोर्विपक्षप्रतिषेधप्रतिषिद्धादियथेदमाह—

अग्निईदिय सोवहिग्ग, वहग्ग जइ ते वि नाम पुज्जंति ।

अग्गी वि होज्ज सीआं, हेउविज्जत्तीण परिसेहो ॥१४९॥

न जितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि यैस्ते तथोच्यन्ते । उपधि-श्रवणं मायित्यनर्थान्तरम् । उपधिना सह वर्तन्ते इति सोपधयो मायाविनः, परव्यंसका इति यावत् । अथवा उपपद्धानीत्युपधि-वस्त्राद्यनेकरूपः परिग्रहः, तेन सह वर्तन्ते येते तथाविधाः, महा परिग्रहा इत्यर्थः । (वहग्ग इति) वधन्तीति वधकाः प्रणयुपमर्दकर्तारः (जइ ते वि नाम पुज्जंति स्ति) यदीति पराभ्युपगमसंसूचकः, त इति याङ्किाः । अपिः संज्ञावने । नाम इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः । येऽजितेन्द्रियत्वादिदोषपुष्टा यइयाजिनो वर्तन्ते, यदि तेऽपि नाम पूज्यन्ते, एवं तर्हीअग्गि भवेच्छीतः । न च कदाचिदप्यसौ शीतो जयति । तथा यदीन्दीवरस्त्र जोऽपि बान्धेयोरःस्त्रवशो जामादधीरन्, न चैतद्भवति । यथैवमादिरन्यन्तोऽज्ञावस्तथेदमपीति मन्यते । अथापि कालदौर्गुण्यात् कथंचिद्विवेकिना जनेन पूज्यन्ते, तथाऽपि तेषां न मङ्गलत्वसंप्रसिद्धिरपेक्षावतामतद्रूपेऽपि वस्तुनि तद्रूपाध्यारोपेण प्रवृत्तेः, तथाह्यकलङ्काधियामेव प्रवृत्तिर्वस्तुनस्तद्वत्तां गमयति । अतथाभूते वस्तुनि तद्वृत्त्या तेषामप्रवृत्तेः । सुविशुद्धबुद्ध्यश्च दैत्याऽमरेन्द्रादयः, ते चाहिंसादिलक्षणं धर्ममेव पूजयन्ति, न यइयाजिनः । तस्मा-हैत्यामरेन्द्रादिपूजितत्वाद्धर्म एवोत्कृष्टं मङ्गलं, न याङ्किा इति स्थितम् । (हेउविज्जत्तीणंति) एष हेतुन विभक्त्योः (परिसेहो स्ति) विपक्षप्रतिषेधः । विपक्षशब्द इहानुक्तेऽपि प्रकरणाद् ज्ञातव्य इति गाथार्थः । एवं हेतुतच्छब्दोर्विपक्षप्रतिषेधो दर्शितः ।

सांप्रतं दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधं दर्शयन्माह—

बुद्धाई उवयारे, पूयाठाणं जिणा उ सज्जावं ।

दिहंते परिसेहो, छट्ठा एमो अवयवो उ ॥१५०॥

बुद्धादयः, आदिशब्दात्कापिज्ञादिपरिग्रहः । उपचार इति सुपां सुपो जवन्तीति न्यायादुपचारेण किञ्चिदतीन्द्रियं कथयन्तीति कृत्वा न वस्तुस्थित्या पूजायाः स्थानं पूजास्थानम् । जिनास्तु सज्जावं परमार्थमधिकृत्यति वाक्यशेषः । सर्वज्ञत्वाद्यसाधारणगुणयुक्तत्वादिति भावना । दृष्टान्तप्रतिषेध इति । विपक्षशब्दोपाद् दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधः । किम् ? षष्ठ एवोऽवयव । त्विशेषणार्थः । किं विशिष्टं ? सर्वोऽप्ययमनन्तरोदितः प्रति-

हादिविपक्षप्रतिषेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथार्थः ॥१५०॥

पष्ठमवयवमभिधापयदानीं सप्तमं दृष्टान्तनामानमजि-
धातुकाम आह—

अग्रहंत मग्गगाभी, दिडंतो साहुणो वि समचित्ता ।

पागरप्सु गिहीसु उ, एसंते अवहमाणा उ ॥ १५१ ॥

पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः । न रुहन्तीति वा अरुहन्तः । किम ? दृष्टान्त इति सम्बन्धः । तथा मार्गगामिन इति । प्रक्रमत्तदुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीघ्रं येषां त एव गृह्यन्ते । के च ते ? इत्यत आह—साधवः । साध्ययति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गयति साधवः, तेऽपि दृष्टान्त इति योगः । किं ज्ञाताः ? समचित्ता रागद्वेषरहितचित्ता इत्यर्थः । किमिति तेऽपि दृष्टान्त इति ? अहिंसादिगुणयुक्तत्वात् । आह च—पाकरतेष्वामार्थमेव पाकसत्केषु गृहेष्वगारेष्वप्यन्ते गवेययन्ति पिएरुपातमित्यध्याहारः । किं कुर्याणा इत्यन आह—(अवहमाणा उ च्छि) न ज्ञन्तोऽज्ज्ञन्तः । तुरवधारणार्थः । ततश्चाज्ज्ञन्त एव, आरम्भाकरणेन पीरामकुर्वाणा इत्यर्थः । एवं द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः । दृष्टान्तवाक्यं चेदम् । स तु संस्कृत्य कर्तव्योऽहंदादिवदिति गाथार्थः ॥ १५१ ॥ उक्तः सप्तमोऽवयवः ।

सांप्रतमष्टममभिधित्सुराह—

तत्थ जवे आसंका, उदिसस जई वि कीरए पागो ।

तेण र विसमं नायं, वासतणा तस्स पस्सिहे ॥ १५२ ॥

तत्र तस्मिन् दृष्टान्ते भवेदाशङ्का भवत्याक्षेपः । यथोद्दिष्टाऽङ्गीकृत्य यत्नानपि संयतानपि । अपिशब्दादपत्याऽऽदीन्यपि । क्रियते निर्वर्त्यते पाकः । कैः ? गृहिभिरिति गम्यते । ततः किमित्यत आह—तेन कारणेन । र इति निपातः किलशब्दार्थः । विषममनुल्यम, ज्ञानमुदाहरणं वस्तुतः पाकोपजीवित्वेन साधुनामनघघृष्टयभावादिति जावितमेवेत्तत् पूर्वमित्यष्टमोऽवयवः । इदानीं नवममभिधित्सुराह—वर्षातृणानि तस्य प्रतिषेध इत्येतच्च भाष्यकृता प्राक्प्रपञ्चितमेवेति न प्रतन्यत इति गाथार्थः ॥ १५२ ॥ उक्तो नवमोऽवयवः ।

साम्प्रतं चरममभिधित्सुराह—

तम्हा उ सुरनराणं, पुज्जत्तं मंगलं सया धम्मो ।

दसमो एस अवयवो, पञ्चद्वेऊ पुणो वयणं ॥ १५३ ॥

यस्मादेवं तस्मात् सुरनराणां देवमनुष्याणां पूज्यस्तद्भावस्तस्मात् पूज्यत्वान्मङ्गलं प्राग्विरूपितशब्दार्थं सदा सर्वकालं धर्मः प्रागुक्तः । दशन एवोऽवयव इति संख्याकथनम् । किं विशिष्टोऽयमित्यत आह—प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं पुनर्हेतुप्रतिज्ञावचनमिति गाथार्थः । उक्तं द्वितीयं दशावयवम् । साधनाऽङ्गना चावयवानां विनयाऽपेक्षया विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वेन भावनायेत्युक्तोऽनुगमः ॥ १५३ ॥ दश० नि० १ अ० ।

प्रासङ्गिकमतिशाय पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमिति प्रागुक्तं समर्थयन्ते—

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेष परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ १५४ ॥

आदिशब्देनोपनयनिगमनादिप्रदः । एवं च यद् व्याप्युपेतं पक्षधर्मतापमं हाररूपं सौगतेः, पक्षहेतुदृष्टान्तस्वरूपं भाट्टप्राभाकरकापिदैः, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनलक्षणं नैयायिकैश्चैषिकाद्यामनुमानमास्त्रायि । तदपास्तम् । व्युत्पन्नमतीत्यति

पक्षहेतुवचमेरेवोपयोगात् ॥ १५५ ॥

पक्षप्रयोगं प्रतिष्ठाप्य हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ १५६ ॥

तथैव साध्यसंभवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः । अन्यथा साध्याजःवप्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ १५६ ॥

अमु एव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ १५७ ॥

निगदव्याख्यानम् ॥ १५८ ॥

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवन्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ १५९ ॥

एतदपि तथैव ॥ १६० ॥

अमुयोः प्रयोगौ नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्राऽनुपयोगः ॥ १६१ ॥

अयमर्थः—प्रयोगयुग्मेऽपि वाक्यविन्यास एव विशिष्यते, नार्थः । स चान्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीवभूयति किमपरप्रयोगेण ? इति ॥ १६१ ॥ अथ यदुक्तं “ न दृष्टान्तादिवचनं परप्रतिपत्तेरङ्गम् ” इति तत्र दृष्टान्तवचनं तावन्निराचिकीर्षवस्तद्धि । किं परप्रतिपत्त्यर्थं परैरङ्गीक्रियते ? किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये ? यद्वाऽविनाभावस्मृतये ? इति विकल्पेषु प्रथमं विकल्पं तावद्दूषयन्ति—

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रजवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ १६२ ॥

प्रतिपक्षा अविस्मृतसंबन्धस्य हि प्रमातुरभिमानयं देशो धूमवत्त्वान्यथाऽनुपपत्तिरित्येतावतैव भवत्येव साध्यप्रतीतिरिति ॥ १६३ ॥

द्वितीयं विकल्पं परास्यन्ति—

नच हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ १६४ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥ १६५ ॥

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमुपवर्णयन्ति—

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तराऽपेक्षायामनवास्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ १६६ ॥

प्रतिनियतव्यक्तौ हि व्याप्तिनिश्चयः कर्तुमशक्यः । ततो व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्यर्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरं सृज्यम् । तस्याऽपि व्यक्तिरूपत्वेनाऽपरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् ॥ १६७ ॥

तृतीयविकल्पं पराकुर्वन्ति—

नाऽप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः

पक्षहेतुमदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ १६८ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥ १६९ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्ते—

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुक्तावनं व्यर्थम् ॥ १७० ॥

अयमर्थः—“अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ, बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं

बन्धमेव । अन्तर्ध्यामेः साध्यसंमिश्रयशक्तौ, बाह्यध्यामेवर्णनं व-
न्धमेव ॥१॥ मनुष्योऽयं बहिर्यति, परं रूपस्वरान्यथानुपपत्तेः, इ-
त्यत्र बहिर्यथाप्यत्रापि गमकत्वस्य 'स' इयाम्, ननु चत्वात्, इत-
रतत्पुत्रवत्, इत्यत्र तु तत्राप्यगमकत्वस्योपलब्धेरिति ॥ ३७॥
रत्ना० ३ परि० (धर्मिणं साध्यवैकान्तवादी साध्यमेतौ वैधर्म्यत-
श्च न शक्नोताति 'अणुमेतन्नाय' शब्देऽवैव भोगवक्ष्यते) अनुमितं
साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाऽप्युपचाराद् हेतुविशेषे, स्था० ४ ग्रा० ३
उ० । ननु विद्वद्ग्रहणं संवन्धस्मरणाज्यामनुपश्रान्मानमनुमानम्,
त्रिक्रज्ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमवानुमानमिति चेत् ? सत्यम्,
किन्तु कारणे कार्यापचारादप्यनुमानम् । यथा-प्रत्यक्षज्ञान-
जनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । विशेषः दृष्टान्ते, आकाशपटानु-
मानादवाऽनुमानशब्दा दृष्टान्तवचनः । दशा० १ अ० ।

अणुमाणाऽन्ता-अनुमान्य-अर्थ० । अनुमानं कृत्यर्थे, व्य० १
उ० । वधुनरापराधनिवेदनेन मृदुदण्डादित्वमाचार्यस्याकल-
त्येत्यर्थे, ध० २ अधि० । भ० ।

अणुमाणिराकिय-अनुमाननिराकृत-त्रि० । अनुमानवाहो,
यथा नित्यः शब्दः । वस्तुदेवविषये विशेषे, स्था० १० ग्रा० ।

अणुमाणाज्ञास-अनुमानाभास-पुं० । पक्षाज्ञासादिसमुत्थे ज्ञा-
नेऽयथार्थाऽनुमाने, रत्ना० ६ परि० ।

अणुमाय-अणुमात्र-त्रि० । स्तोत्रमात्रे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिड-अनुमिति-स्त्री० । अनु-मा-क्तिन् । अनुमाने व्याप्तिवि-
शिष्टस्य पक्षधर्मताज्ञानार्थेनाऽनुज्ञवभेदे, अनुमोदने च । प्रति० ।

अणुमु (म्मु) क-अनुमुक्त-त्रि० । अविमुक्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अणुमोड्य-अनुमोदित-त्रि० । अनु-मुद-णिच् । कर्मणि क्तः । कृता-
ऽनुमोदने स्वानुमनवज्ञापनेने प्रोत्साहिते, "भवता यद् व्यव-
सितं तमे साध्वनुमोदितम् । प्रार्थमानोऽर्थिना यत्र, ह्यर्था नैव
विघातिताः ॥ १ ॥ दानकालेऽथवा तूर्णी, स्थितः सोऽर्थानुमो-
दितः " इति । उक्तेऽर्थे च, वाच० । यत् त्वया शत्रुहन्नादि-
कार्यं भव्यं कृतमिदं दिवदेन, आनु० ।

अणुमोयग-अणुमोदक-त्रि० । दानस्य ग्रहणपरिभोगाज्यां प्र-
शंसके संप्रदाने, विशेष० ।

अणुमोयण (णा)-अनुमोदन (ना)-न०-स्त्री० । अ-
नुमतौ, पञ्चा० ए विव० । आव० । अनुज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० ८
अ० । प्रश्न० । आधाकर्मप्रभृतिकर्तृप्रशंसायाम्, अप्रतिषेधने
च । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति विद्वद्प्रवादान् । पि० । "दणं ना-
णुजाणइ" इत्यन्तं नानुजानाति । अनुमोदनेन तस्य वा दीयमा-
नस्याप्रतिषेधनेनाप्रतिषिद्धमनुमतमिति वचनारुननप्रसङ्गजन-
नाच्च । आह च-"कामं सयं न कुर्वद्, जायंतो पुण तथा वित-
ग्गाही । वट्टइ तप्पमेगं, अगिणइमाणो उ वारेइ" ॥ १ ॥ स्था० ए ग्रा०
जिनपुजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसालक्षणायामनुमतौ, पञ्चा०
६ विव० ।

अणुमोयणकम्मजोयगप्पसंमा-अनुमोदनकर्मजोयगप्रशंसा-
स्त्री० । अनुमोदनादाधाकर्मभोजकप्रशंसायाम्, अकृतपुण्याः
सुबन्धिका एते, ये इत्थं सदैव लभन्ते यतेत्येवंरूपा । पि० ।
अणुयत्तणा-अनुवर्तना-स्त्री० । आनुकृत्याऽनुपघाते, जी० १
प्रति० । ग्लानोपचारे, वृ० १ उ० । (ग्लानस्याऽनुवर्तना 'गि-
लाण' शब्दे दृष्ट्या)

अणुयत्तणाऽनु न-अनुवर्तनादियुक्त-त्रि० । आनुकृत्याऽनुप-
घातमहिते, "अणुयत्तणाऽनुतो, पासन्धाईसु ता खित्ते" जी०
१ प्रति० ।

अणुयत्तमाण-अनुवर्तमान-त्रि० । अनुगच्छति, विशेषः । "सद्-
दइ समन्धेय, कुणइ करावेइ गुरुजणाभिमयं । उंदमणुयत्त-
माणो, गुरुजणाराहणं कुणइ ॥ १ ॥ आ० म० प्र० ।

अणुयसिय-अनुचरित-न० । आसेचिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अणुया-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणुयास-अनुकाश-पुं० । विकाशप्रसरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अणुरंगा-अनुरङ्गा-स्त्री० । गन्ध्याम, ग्रंथिकायां च । "अ-
णुरंगाइ जाणे" वृ० १ उ० ।

अणुरंजिएल्लय-अनुरंजित-त्रि० । अनु-रञ्ज-क्त । प्राकृते
स्वार्थिक इल्लकप्रत्ययः । संप्रदायकमरञ्जिते, जं० ३ वक्त्र० ।

अणुरक्त-अनुरक्त-त्रि० । अनुरज्ये, औ० । आनु० । अत्यन्त-
स्नेहज्जाजि, उत्त० १४ अ० । ज्ञा० । अनुरागवत्याम्, भ० १२
श० ६ उ० । पतिरक्तायां भर्तारं प्रति रागवत्याम्, ज्ञा० १६
अ० । स्त्रियाम्, "अणुरक्ता अविरक्ता, इडे सद्दफरिसरसरुव-
गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुज्जवमाणी विहर-
ति" अनुरक्ताऽविरक्ता अनुरज्या भर्तारं प्रतिकृते सत्यपि, न
विप्रियेऽपि विरक्ता गतेत्यर्थः । औ० । वर्णवादिनि प्रतीच्छक्के,
".....अणुयत्ततो विसेसण्हं उज्जुत्तमपरिततो, इच्छति मत्थं
लज्जति साधु । जो तु अवाइज्जतो, ण रूसती जइ ममेण वा एति ॥
सो हेति अणुरक्ता"....." पं० ज्ञा० ।

अणुरत्तलोयणा-अनुरक्तलोचना-स्त्री० । उज्जयिनीपुरीद्व-
रस्य देवज्ञानुतस्य राज्ञोऽग्रमहिव्याम्, आ० क० । आव० ।

अणुरसिय-अनुरसित-न० । शब्दायिते, ज्ञा० ६ अ० ।

अणुराग-अनुराग-पुं० । अनु-रञ्ज-घञ् । प्रीतिविशेषे, आ० ।
परस्परस्यात्यन्तिक्यां प्रीतिमत्याम्, वृ० १ उ० । (त्रिवि-
धोऽभिष्वङ्गरूपः, तद्यथा-दृष्टयनुरागो, विषयाऽनुरागः, स्नेहा-
नुरागश्चेति 'राग' शब्दे वक्ष्यते) विशेषः । यथावस्थितगुणो-
त्कीर्तने तदनु रूपोपचारलक्षणै तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणे,
प्रव० १० द्वा० ।

अणुरागय-अन्वागत-त्रि० । अनु आ-गम-क्त । रेफ आ-
गमिकः । अनुरूपे आगमने, भ० २ श० १ उ० ।

अणुरागा-अनुराधा-स्त्री० । अनुगता राधां विशाखाम् ।
वाच० । मित्रदेवताके नक्षत्रभेदे, अनु० । जं० । स्था० ।
"अणुराहाणस्वत्ते चउतारे" पं० सं० । सू० प्र० । ज्यो० ।
('एकस्वत्' शब्देऽस्यास्तत्त्वं व्याख्यास्यामः)

अणुरुज्झंत-अनुरुध्यमान-त्रि० । अनु-रुध्-यक्-शानच् ।
प्राकृते "समनुपाद् रुधेः" ॥ ८। २४८ ॥ इति अनोः परस्य
रुधेः कर्मभावे उभो वा । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुसंधिजंत-अनुरुध्यमान-त्रि० । अनु-रुध्-यक्-शानच् ।
अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूप-अनुरूप-त्रि० । अविपरमे, स्था० ६ डा० । अनुकूले, स्था० म० प्र० । घटमानेऽर्थे, विशेषः । सदृशे, उत्त० १ अ० । उच्यते, ज्ञा० १६ अ० । अनुरिति सादृश्यरूपमिति अव्ययो-भावः । स्वभावसदृशे, सम्म० ।

अणुलाव-अनुलाप-पुं० । पानःपुन्यभाषणे, “अनुलापो मुहुः भाषा” इति वचनात् । स्था० ७ डा० । ज्ञा० ।

अणुलिपण-अनुलेपन-न० । सकृन्निभाया भूमेः पुनर्लेपने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अणुलिप्त-अनुलिप्त-त्रि० । चन्दनादिना कृतानुलेपे, औ० ।

अणुलितगत्त-अनुलिप्तगात्र-त्रि० । अन्विति अतिशयेन लिप्तं विलेपनरूपकृतं गात्रं शरीरं यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, तं० ।

अणुलिहंत-अनुलिखन्-त्रि० । अभिलङ्घयति, “गगणतलमणुलिहंतसिहरे” सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । तं० । स० । जी० । च० प्र० ।

अणुलेवण-अनुलेपन-न० । श्रीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ डा० । ज्ञा० । प्रव० । सकृन्निमित्तस्य पुनः पुनरुपलेपने, प्रश्ना० २ पद० ।

अणुलेवणतल-अनुलेपनतल-न० । अनुलेपनप्रधाने तले, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । पुनरुपलिप्तभूमिकायाम्, “मेघवसापू-यसीधरमेसचिक्खिल्ललित्तणुलेवणतला” प्रश्ना० २ पद० ।

अणुलोम-अनुलोम-त्रि० । अविपर्ययते, पं० चू० । अनुकूले, औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, जं० २ वक्त० । मनोहारिणि, दश० १ अ० । अनुलोमनार्थद्रव्यानु-योगोऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणाय परस्य यो विधी-यते यथा तमे भवतामित्यादिरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० ६ डा० ।

अणुलोमपञ्चा-अनुलोम्य-अव्य० । विवादाऽध्यत्तान् सामनी-त्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपत्तिनमेव वा पूर्वं तत्पञ्चाभ्युपग-मेन अनुलोमं कृत्वेत्यर्थे, “अणुलोमपञ्चा पठे” स्था० ६ डा० । अणुलोमपाउवेग-अनुलोमपायवेग-त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्धर्मी वातजयो येषां तेऽनुलोमपायवेगाः । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशेषु, तं० । जी० । युगलमनुप्या-दिषु । आह च टीकाकारः- उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां ते तथा, तद्भावाच्च तेषामनुलोमो भवति, वायुवेगो मिथुना-नाम् इति । जी० १ प्रति० ।

अणुलोमविलोम-अनुलोमविलोम-पुं० । गतप्रत्यागतौ, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुल्लग-अनुल्लवक-पुं० । कन्दविशेषे, द्वीन्द्रियजीवभेदे च । उत्त० ३ अ० ।

अणुल्लग-अनुल्लवण-त्रि० । अगर्विते, वृ० ३ उ० ।

अणुल्लाव-अनुल्लाप-पुं० । कुम्भिते काका वर्णने, स्था० ३ डा० ।

अणुल्लोय-अनुल्लवक-पुं० । द्वीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

अणुल्लव-अनुल्लव-त्रि० । आचार्यपरम्पराऽनागतं, “उ-स्तुत्तमणुल्लव” नाम जं नो आयरियपरंपरागतं मुक्तव्याक-रणवत्” । नि० चू० ११ उ० । व्य० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगश्चन्ये, नि० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-पुं० । स्वजाये, निसर्गः स्वभावोऽनुप-देश इत्यन्तर्गतम् । स्था० २ डा० १ उ० । नम्रः कुत्सार्थवान् कुम्भितोपदेशे, आगमवाधितार्थानुशासने, पञ्चा० १२ विव० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-पुं० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयो-गो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव० ६ अ० । शक्तेरनुपयोजने अव्यापारणे, पञ्चा० १४ विव० । उपयोजनमुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विवक्तिनाऽर्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयो-गाविषये, “अणुवत्तगो द्रव्यं” ज्ञावृत्त्यन्तार्थां च । अनु० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । उपकृतमुपकारो न विद्यते उपकृतं येषां ते । अकृतोपकारिषु, पं० ९ विव० । परैरवर्तितेषु, आव० ४ अ० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । उपकृतमुपकारः, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुवृत्ताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते पराश्च, तेन्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रवृत्तोऽनुवृत्त-तपरहितरतः । निष्कारणवत्सले, पं० ६ विव० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । गताऽऽख्यातिके, वृ० १ उ० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अकृतोपकारे, “उपकृतमाय-खीरदहिमादि ; अणुवत्तमा सव्येसु परिवर्तिषु” नि० चू० १ उ० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । उपधेरजाये, व्य० ७ उ० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-पुं० । अनुवृत्तीयमानतायाम्, अनुपादाने च । उत्त० १ अ० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । अनुवृत्त-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवृत्ति-अनुवृत्ति-स्त्री० । इक्षितादिना गुरुचित्तं विज्ञाय त-
दाऽऽनुकूल्येन प्रवृत्तौ, विशेष० । आ० म० द्वि० ।

अणुवृत्तोज्ज-अनुपभोज्य-त्रि० । साधूनामुपभोक्तुमयोग्ये, वृ०
३ उ० ।

अणुवप-अनुपम-त्रि० । उपमार्गहिते, आव० ५ अ० । न विद्यते
उपमा शरीरसन्निवेशसौन्दर्यादिनिर्गुण्यस्य तदनुपमम् । पौ०
१५ विव० ।

अणुवपसिरिय-अनुपमश्रीक-त्रि० । निरुपमदेहकान्तिकल्पिते,
आ० म० प्र० ।

अणुवमा-अनुपमा-स्त्री० । खाद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवयमाण-अनुवदत्-त्रि० । पश्चाद् वदति, “ आरंभद्वी
अणुवयमाणे हणपाणे घायमाणे ” (आचा० १ श्रु० ६ अ०
४ उ०) “ असीना अणुवयमाणस्स वितिया ” अनुवदतोऽनु-
पश्चाद्वदतः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना
कुशिला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थादेः । आचा० १ श्रु० ६
अ० ४ उ० ।

अणुवरय-अनुपरत-त्रि० । अविरते, स्था० २ ठा० १ उ० ।
पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अवि-
च्छिन्ने, स० ।

अणुवरयकायकिरिया-अनुपरतकायक्रिया-स्त्री० । अनुपरत-
स्याविरतस्य सावथाद् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वाकायक्रियात्के-
पादिलक्षणा कर्मवन्धनमनुपरतकायक्रिया । कायिक्याः क्रिया-
या भेदे, ज० ३ श० ३ उ० ।

अणुवरयदण्ड-अनुपरतदण्ड-पुं० । मनोवाक्कायलक्षणदण्डा-
द् विरते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवरोह-अनुपरोध-पुं० । अव्यापादने, “ प्रायोऽन्याऽनुपरोधेन ”
इत्यस्नानं तदुच्यते । अतिविधे च, ध० २ अधि० ।

अणुवलङ्घि-अनुपलङ्घि-स्त्री० । उप-लङ्घ-क्तिन् । न० त० ।
बाभाऽभावे, प्रत्यङ्गाऽनावे च । वाच० ।

सा च—

दुविहा अणुवलङ्घीश्रो । मश्रो अमश्रो य ।

खरसंगस्स वितीया, सश्रो वि दूराऽज्ञावश्रोऽजिह्वीया ।

सुहमा सुत्तत्तणश्रो, कम्पाणुगयस्स जीवस्स ॥ १ ॥

सा च अनुपलङ्घिका असतो जवति, यथा—खरशृङ्गस्य ।
द्वितीया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह—(दूरादिभा-
वादिति) दूरात् सन्नप्यर्थो न दृश्यते, यथा—स्वर्गादिः १ । आ-
दिशब्दादतिसन्निकर्षादितिसौहृद्यान्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियापा-
दवात्मनिमान्यादशक्यत्वादावरणादभिभावात्सामान्यादनुपयो-
गादनुपायाद्विस्मृतेर्दुरागमाभ्योहाद् विदर्शनाद्विकारादक्रियानोऽ-
नधिगमात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्च । तच्चाऽतिसन्नि-
कर्षात्सन्नप्यर्थो नोपलभ्यते । यथा—नेत्रदृष्टिकापद्मादिः २ । अति-
सौहृद्यात्परमाणादिः ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुपलङ्घिः,
यथा नष्टचेतसाम्प्राद्विद्यापादवात् किञ्चिद् बधिगदीनाम् ४ ।
मतिमान्यादनुपलङ्घिः, सतामपि सूक्ष्मशास्त्रार्थविशेषाणाम्

६ । अशक्यत्वात्स्वकर्षककाटिकात्मस्तकपृष्ठादीनाम् ७ । आवर-
णाद् वस्त्रादिस्थगितलोचनायाः, कटकुट्यावृतानां च ८ । अजिज्ञ-
वात्प्रसृतमृतेजसि दिवसे तारकाणाम् ९ । सामान्यान्मुपल-
ङ्घितस्यापि मापादः समानजातीयमापादिगणितपतितस्याऽप्र-
त्यभिज्ञानात्सतोऽप्यनुपलङ्घिः १० । अनुपयोगाद्गोपयुक्तस्य
शेषविषयाणाम् ११ । अनुपायाच्चास्यादिभ्यो गोमहिष्यादिपयः-
परिमाणजिज्ञासाः १२ । विस्मृतेः पूर्वोपलङ्घ्यस्य १३ । दुरागमाद्
दुरुपदेशात्तत्प्रतिरूपकरीतिकादिविप्रलम्भितमतेः कनकादीनां
सतामप्यनुपलङ्घिः १४ । मोहात्सतामपि जीवादिस्त्वानाम् १५ ।
विदर्शनात्सर्वथाऽन्धादीनाम् १६ । वारुण्यादिविकाराद्बहुशः
पूर्वोपलङ्घ्यस्य सतोऽप्यनुपलङ्घिः १७ । अक्रियानो भूखनना-
दिक्रियाऽज्ञावाद् वृक्षमूलादीनामनुपलङ्घिः १८ । अनधिगमा-
च्छास्त्रवणात्तदर्थस्य सतोऽप्यनुपलङ्घिः १९ । आश्रयविप्रकर्षा-
द् जूतभविष्यदपभदेवपक्षनाभर्तार्थकरादीनामनुपलङ्घिः २० ।
स्वभावविप्रकर्षाच्चन्द्रपिशाचादीनामनुपलङ्घिः २१ । तदेवं
सतामप्यर्थानामेकविंशतिविधाऽनुपलङ्घिः । विशेषः आ० चू० ।
त्रिविधा वा, अन्यन्तात् सामान्याद्विस्मृतेश्च—

अचंता सामन्ना, य विस्मृत्ता होइ अणुवलङ्घी तु ।

अनुपलङ्घिरेव त्रिधा भवति । तद्यथा—अत्यन्तादकोन्तनोनुप-
लङ्घिः । सामान्याद्विस्मृतेश्च ।

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुपलङ्घिमाह—

अत्यस्स दरिसेणम्मि वि, लङ्घी एगंततो न संभवइ ।

दहुं पि न जाणंतो, बोहियंपंसा फणममत्तू ॥

अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्तदर्थविषया लङ्घिकान्ततो न
संभवति । तथा च बोधिकाः पश्चिमदिग्धर्तिनो म्लेच्छाः पन-
सं दृष्ट्वाऽपि ‘ पनस ’ इत्येवं न जानन्ते ; तेषां पनसस्याऽत्यन्त-
परोक्षत्वात् । न हि तद्देशे पनसः संभवति । तथा पण्डाः मथु-
रावासिनः सक्तून् दृष्ट्वाऽपि ‘ सक्तवोऽमी ’ इति न जानन्ते, तेषां हि
सक्तवोऽत्यन्तपरोक्षाः । ततो न तद्देशेऽपि तदङ्गज्ञानः ॥

संप्रति सामान्यतदनुपलङ्घिमाह—

अत्यस्सुवगहम्मि वि, लङ्घी एगंततो न संभवइ ।

सामन्ना बहुमज्जे, मासं पमियं जहा दहुं ॥

अर्थस्यावग्रहेऽपि तदन्येनाऽर्थेन सामान्यात् सादृश्यादेका-
न्ततो लङ्घिरत्तरलङ्घिर्न संभवति । यथा बहुमध्ये पतिते
मापं दृष्ट्वाऽपि तदन्येन सामान्यात् तदन्तरं लभत ।

विस्मृतेऽनुपलङ्घिमाह—

अत्यस्सऽपि उववन्ने, अक्खरलङ्घी न होइ मव्वस्स ।

पुव्वावन्नप्पमत्थे, जस्म उ नामं न संसरइ ॥

अर्थस्य पूर्वपश्चाच्चोपलम्भेऽपि सर्वस्याऽत्तरलङ्घिस्तद्विष-
याऽत्तरलङ्घिर्न संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह—यस्यार्थं
विवक्षार्थविषयं पूर्वोपलङ्घ्यं नाम न संसरति । तदेवमुक्ता
त्रिविधाऽप्यनुपलङ्घिः । वृ० १ उ० । विशेषः ।

सम्प्रत्यनुपलङ्घि प्रकारतः प्राहुः—

अनुपलङ्घेरपि द्वैरूपम्, अविस्मृदानुपलङ्घिर्विस्मृदाऽनुप-
लङ्घिश्च ॥ ६३ ॥

अविस्मृदस्य प्रतिषेधेनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्यानुपल-
ङ्घिरविस्मृदाऽनुपलङ्घिः । एवं विस्मृदाऽनुपलङ्घिरपि ॥ ६३ ॥

सम्प्रत्यविरुद्धानुपलब्धेर्निर्गमिदौ प्रकारसंख्यामाख्यान्ति-
तत्राऽविरुद्धाऽनुपलब्धिप्रतिषेधाऽवबोधे सप्त प्रकाराः ॥६४॥

अमूनेव प्रकारान् प्रकटयन्ति-

प्रतिषेधेनाऽविरुद्धानां स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरो-
त्तरचरमहचरणानुपलब्धिः ॥६५॥

एव च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः,
कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः,
सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ६५ ॥

क्रमेणैतासामुदाहरन्ति—

स्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र जृतले कुम्भ उपल-
ब्धिज्ञानप्राप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥६६॥

(उपलब्धिज्ञानप्राप्तस्येति) उपलब्धिज्ञानम् तस्य लक्षणानि
कारणानि चतुरादीनि, तैर्हर्षुपलब्धिर्लक्ष्यते जन्वते इति या-
वत् । तानि प्राप्ताः जनकत्वेनोपलब्धिः कारणान्तर्भावात्स तथा
दृश्य इत्यर्थस्तस्याऽनुपलम्भात् ॥ ६६ ॥

व्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपाऽनु-
पलब्धेः ॥६७॥ कार्याऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्राऽप्रतिहतश-
क्तिर्न जमडकुगाऽनवलोकनात् ॥६८॥

अप्रतिहतशक्तिकत्वं हि कार्यं प्रति अप्रतिवद्धसामर्थ्यत्वं
कथ्यते । तेन योजमात्रेण न व्याभिचारः ॥ ६८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा-न सन्त्यस्य प्रशमप्रवृत्तयो भावा-
स्त्वेवार्थश्रद्धानाऽज्ञावात् ॥६९॥

(प्रशमप्रवृत्तयो भावा इति) प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्ति-
क्यलक्षणजीवपरिणामविशेषाः । तत्त्वार्थश्रद्धानां सम्यग्दर्शने
तस्याऽभावः । कुतोऽपि देवद्वयजडगणद्वयः पापकर्मणः सका-
शाद्विस्मृत्येव तत्त्वार्थश्रद्धानकार्यवृत्तानां प्रशमादीनामभावं गम-
यति ॥ ६९ ॥

पूर्वचराऽनुपलब्धिर्यथा-नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिन-
धत्र, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥ उत्तरचराऽनुपलब्धिर्य-
था-नोद्गमपूर्वजडपदामुहूर्तान्तपूर्वमुत्तरजडपदोद्गमाऽनवग-
मात् ॥ १०१ ॥ सहचराऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यस्य सम्य-
ग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

इयं च सप्रज्ञाऽप्यनुपलब्धिः साक्षादनुपलब्धस्वरूपेण परस्पर-
या पुनरेवा संतवन्त्यवैवात्तत्रावर्तनीया । तथाहि-नास्त्यका-
न्तिनिवृत्त्यं तत्त्वम्, तत्र क्रमाऽक्रमाऽनुपलब्धेरिति या कार्यव्याप-
कानुपलब्धिः, निरन्वयतत्त्वकार्यस्यार्थक्रियारूपस्य यद् व्यापकं
क्रमाऽक्रमरूपं तस्यानुपलब्धस्वरूपावात्, सा व्यापकानुपलब्ध्यावेव
प्रवेशनीया । एवमन्या अपि यथासंज्ञयमास्वेव विशन्ति ॥१०२॥
विरुद्धाऽनुपलब्धि विधिर्मिदौ त्रैतो जायते--

विरुद्धाऽनुपलब्धिस्तु विधिप्रतीता पञ्चधा ॥ १०३ ॥

तानेव ज्ञेयानाहुः-

विरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकमहचरणानुपलम्भभेदा-
त् ॥ १०४ ॥

विधेयेनाऽर्थेन विरुद्धानां कार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरा-
णामनुपलम्भा अनुपलब्ध्यर्थभेदा विशेषस्तस्मात् । ततश्च वि-

रुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वभावाऽनु-
पलब्धिः, विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिः, विरुद्धसहचराऽनुपलब्धि-
श्चेति ॥१०४॥

क्रमेणैतासामुदाहरणान्याहुः-

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा-शरीरिणि रोगातिशयः
समस्ति, नीरोव्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यम्, तस्य कार्यं वि-
शिष्टो व्यापारः । तस्यानुपलब्धिरियम् ॥१०५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा-विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्ट-
संयोगाऽज्ञावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्टम्, तद्विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगः,
तस्यानुपलब्धिर्यथा ॥१०६॥

विरुद्धस्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा-वस्तुजातमनेकान्तात्मक-
मेकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गो वहिरङ्गश्च विश्ववृत्तिपदार्थसार्थः । अम्य-
ते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः अनेकश्चासा-
वन्तश्चानेकान्तः स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदने-
कान्तात्मकम्; सदसदाद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः । अत्र हेतुः एका-
न्तस्वभावस्य सदसदाद्यन्यतरधर्मावधारणस्वरूपस्यानुपल-
म्भादिति । अत्र विधेयेनानेकान्तात्मकत्वेन सह विरुद्धः सदाद्ये-
कान्तस्वभावः, तस्यानुपलब्धिर्यथा ॥१०७॥

विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-अस्त्यत्र ज्ञाया औपया-
ऽनुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

विधेयया ज्ञापया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकमौपयम्, तस्या-
ऽनुपलब्धिरियम् ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा-अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, स-
म्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं, तत्सहचरं सम्यग्दर्-
शनं, तस्याऽनुपलब्धिर्यथा ॥१०९॥ रत्ना ० ३ परि० ।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः-

यदीप- “ प्रत्यक्षादेरनुपत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽस्मिनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

(सति) प्रत्यक्षाद्यनुपत्तिः आत्मनो घटादिग्राहकतया
परिणामाभावः प्रसज्यपक्षे । पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घट-
विविक्तताऽऽख्ये वस्तुन्यभावे घटो नास्तीति विज्ञानमित्यभाव-
प्रमाणमभिधीयते । तदपि यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव ।
तथाहि- “ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तिनाज्ञानं, जायतेऽज्ञानेपक्ष्या ॥१॥ ” इतीयमज्ञा-
नप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतवादिर्न वस्तु प्रत्यक्षेण
घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टमसंसृष्टं वा गृह्यते ? नाद्यः पक्षः ।

प्रतियोगिसंसृष्टस्य चूतलादिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रति-
योग्यज्ञातग्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ
वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे-
न्यभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभा-
वप्रतिपत्तेः । अथ न संसृष्टं नाऽप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतला-
दिवस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाद्युपगमा-
दिति चेत् ? तदपि दुष्टम् । संसृष्टत्वाऽसंसृष्टत्वयोः परस्परप-
रिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे अपरविधानस्य परिहर्तुमशक्य-

त्वादिति । सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्केणैवायं वेद्यते । क्वचित् तु तदघटं चूतत्वमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतत्वमिति प्रत्याज्ञिज्ञानेन, योऽग्निमान् न भवति नासौ धूमवानिति तत्केण, नात्र धूमोऽनग्नेरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्ति इत्यागमेनाभाव-इय प्रतीतेः, क्वाऽभावप्रमाणं प्रवर्तताम् ? । रत्ना० २ परि० । अर्थ-स्यासन्निकृष्टस्य सिद्ध्यर्थं प्रमाणान्तराप्रमाणावमभावाख्यं वर्णयन्ति । तथाऽपरे-अभावोऽपि प्रमाणाऽज्ञावो नास्तीति, अर्थस्यासन्निकृष्टस्येति वचनात् । अन्ये-पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभाववृत्तकणोऽनन्तरोक्ता ज्ञावः । प्र-तिपिध्यमानाद्वा, तदन्यज्ञानमात्मा वा, विषयरूपेण तन्निवृत्त-स्वज्ञाव इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादीनामज्ञावो गम्यते । तदुक्तम्-

“प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।

वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं, तत्राऽज्ञावप्रमाणा ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादेरनुपत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।

सात्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं चाऽन्यवस्तुनि” ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्केणैवाभावोऽवसीयते, तस्याज्ञावविषयत्वविरोधात् । भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात् । तदुक्तम्-“न तावदिन्द्रियेणैषा, नास्तीत्युत्पद्यते मतिः । ज्ञावांशेनैव संवेद्या, योग्यत्वादिन्द्रिय-स्य हि” ॥ १ ॥ नाऽन्यनुमानेनासौ साध्यते, हेत्वभावात् । न च प्रदेश एव हेतुः, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चैवमपि हेतुः प्रतिज्ञा, अर्थकदेशताप्राप्तेः । न च प्रदेशविशेषो धर्मस्तत्सामान्यहेतुः, तस्य घटाऽज्ञावव्यभिचारात् । न हि सर्वत्र प्रदेशघटाज्ञावः शक्यः साधयितुम्, सघटस्यापि प्रदेशस्य संज्ञवात् । अथ घटाऽनुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाऽभावः साध्यते । असदेतत् । साध्यसाधनयोः कस्यचित् संबन्धस्याभावात् । तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेवा न चाऽभावस्य तद्विषयस्याभावादज्ञावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् । प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽज्ञावस्य भावात् । अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीत-स्याभावप्रसङ्गात् । “न च स्याद् व्यवहारोऽयं, कारणादिविभागतः । प्रागज्ञावादिभेदेन, नाऽज्ञावो यदि ज्ञिद्यते” ॥ १ ॥ अज्ञावस्य च प्रागभावादिभेदाऽन्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते । तदुक्तम्-“न चावस्तुन पते स्युः, सदा तेनाऽस्य वस्तुता । कार्या-दनामभावः स्या-दित्येवं कारणं विना” ॥ १ ॥ इति । अनुमानप्र-माणाऽवसंस्था वाऽभावस्य वस्तुरूपता । यदाह “यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृ-त्ति-बुद्धिप्राप्तौ यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिवद् वस्तु, प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्” ॥ १ ॥ अभावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावः, प्रध्वंसा-भावः, इतरतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र-

“क्वीरे दृष्ट्वादि यन्नास्ति, प्रागज्ञावः स उच्यते ।

नास्तिता पयसो दक्षि, प्रध्वंसाभावलक्षणम् ॥ १ ॥

गवि योऽश्वद्यभावस्तु, सोऽन्योऽन्याज्ञाव उच्यते ।

शिरसोऽवयवा निम्नाः, वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ॥ २ ॥

शशे शृङ्गादिरूपेण, सोऽन्यन्ताभाव उच्यते” ।

यदि चैनद् व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्र-तिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात् । तदुक्तम्-

“क्वीरे दधि जवेदेवं, दक्षि क्वीरं घटे पटः ।

शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ, चैत्यं मूर्तिरात्मनि ॥ १ ॥

अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ, वायौ रूपेण तौ सह ।

व्योम्नि तु स्पर्शता ते च, न चेदस्य प्रमाणता” ॥ २ ॥

निर्गंशावैकरूपत्वाद्वास्तुनस्तत्स्वरूपप्रादिणाऽध्यक्केण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राज्ञावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्तमानमज्ञावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यं श्रुतमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमा-णाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः । तदुक्तम्-

“स्वरूपपररूपाभ्यां, नित्यं सदसदात्मके ।

वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥

यस्य यत्र यदोद्भूति-जिघ्रिका चोपजायते ।

वेद्यतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥

तस्योपकारकत्वेन, वर्ततेऽशस्तदेतरः ।

उभयोरपि संचिन्त्या-रुभयानुगमोऽस्ति तु ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु, भावांशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुपत्तेरभावांशो जिघ्रकितः” ॥ ४ ॥

न च ज्ञावांशादभिन्नत्वादज्ञावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति; सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाऽभ्युपगमात् । उक्तं च-

“ननु भावादभिन्नत्वात्, संप्रयोगोऽस्ति तेन च ।

नहान्यत्वमभेदोऽस्ति, रूपादिवदिहापि न ॥ १ ॥

धर्मयोर्भेद इष्टोऽपि, धर्मं जेदेऽपि नः स्थिते ।

उद्भवाजिज्ञावात्सत्वात्, ग्रहणं चावतिष्ठते” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तदेवमगृहीतप्रमेयाऽभावप्राहकत्वात् प्रमाणज्ञावस्य प्रमा-णत्वम्, प्रत्यक्षादिध्वनन्तर्ज्ञावात् । प्रमाणान्तरत्वं च व्यव-स्थितम् । सम्म० । (सम्मतितर्के ग्रन्थेऽस्मिन् विषये विशे-षोऽन्वेष्टव्यः)

अणुवलब्धमाण-अनुपलब्धमान-त्रि० । अदृश्यमाने, “अणु-वलब्धमाणो वि सुहृदुक्खमाश्परि” दश० १ अ० ।

अणुववायकारग-अनुपपातकारक-त्रि० । उप समीपे पतनं स्था-नमुपपातो दृग्विषयदेशावस्थानम्, तत्कारकस्तदनुपाता तद्विज्ञो गुर्वोदेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेशस्थायिभिन्नः गुरुणां दृग्विषये स्थित्यकारकः, तस्मिन्, उक्त. १ अ. आदेशभयादूरं तिष्ठति । उक्त. १ अ.

अणुवसंत-अनुपशान्त-त्रि० । उपशान्तो जितकपायः, न उपशान्तोऽनुपशान्तः । सकपाये, उक्त० १ ए अ० । उपशमप्र-धाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । निर्विकारे, स्था० ।

अणुवसंत-अनुपशमयत्-त्रि० । अनुपशमं कुर्वति, व्य० १ उ० ।

अणुवसु-अनुवसु-पुं० । वसु इयं तद्भूतः कपायकालिका-दिमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थः । तद्विपर्ययेणाऽनुवसुः । सरागे, वसुः साधुः, अनुवसुः श्रावकस्तमिन्, “वीतरागो वसुज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा । सरागोऽहनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽथवा” ॥ १ ॥ “वसु वा अणुवसु वा जाणितु धम्मं जहा तथा” आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अणुवस्मियव्यवहारकारि(ण)-अनुपश्रितव्यवहारकारिन्-त्रि० । निश्चा रागः, निश्चा संज्ञाता अस्येति निश्चितः, न नि-श्रितोऽनिश्चितः, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्रितव्यवहारः, तत्करणशीला अनिश्रितव्यवहारकारिणः । रागेण व्यवहारकारि-णि, व्य० १ उ० ।

अणुवह-अनुपथ-अव्य० । पथः समीपे, । अनुपथमेवास्मद-वस्थो भवतां वर्त्तते । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अनुपथ-त्रि० । नावन उपधाऽयुक्ते, पं० सं० २ द्वा० ।

अणुवहय-अनुपहत-त्रि० । न० त० । अग्न्यादिभिरविध्व-
स्ते, पि० ।

अणुवहयविहि-अनुपहतविधि-पुं० । अनुपहयमुत्पाद्य दाने,
गुरुभिर्दत्तस्य अन्यस्य गुरुननुज्ञाप्य दाने वा । अनुपहतविधि-
यदनुपहयमुत्पाद्य ददाति । अन्ये तु व्याचकृते-यत्तुनस्तस्य गुरुभि-
र्दत्तं तस्माऽन्यस्य गुरुननुज्ञाप्य ददाति "अणुवहियं जं तस्म
उ, दिन्नं ते देह सोऽ उ अन्नस्स" यत्तस्य दत्त सोऽन्यस्य गुरुन-
नुज्ञाप्य ददाति । क्लमाधमणैस्तुच्यमिदं दत्तमित्येषोऽनुपहतवि-
धिः । ध्य० १ उ० ।

अणुवहास-अनुपहास-त्रि० । अविद्यमानोपहासे, पञ्चा० ६
विब० ।

अणुवहुआ-देशी०-नववध्याम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवाइ(ण्)-अनुणानिन्-त्रि० । अनुपतत्यनुसरतीत्येवंशीलः ।
स्था० ६ उ० । योग्ये, " अणुवाइ सव्यसुत्तस्म" पं० व० २
द्वा० । अनुवादितुं शीलमस्येत्यनुवादी । अनुवादशीत्रे, सूत्र० १
श्रु० १२ अ० ।

अणुवाएज्ज-अनुपादेय-त्रि० । हेये अग्रहीतव्ये, आ०म० द्वि० ।

अणुवाणहय-अनुपानत्क-त्रि० । न विद्येते उपानहौ यस्य
सोऽयमनुपानत्कः । उपानहोरधारके, पं० १ विब० ।

अणुवाय-अनुताप-पुं० । संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

अनुपात-पुं० । अनुसरणे, प्रज्ञा० १७ पद । अनुपतनमनु-
पातः । शब्दाच्चारणरूपानुदर्शनादौ, उपा० १ अ० ।

अनुवात-पुं० । आघ्रायकविवर्त्तनपुरुषाणामनुकूले वाते,
जं० १ वक्त० । रा० । अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातः ।
यस्माद् देशाद् वायुरागच्छति तत्र, भ० १६ श० ६ उ० ।

अनुवाद-पुं० । विधिप्राप्तस्य वाक्यान्तरेण कथने, वाच० ।
"आदश मासाः संवत्सरेऽग्निरूपोऽग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्या-
दीनि तु वेदवाक्यान् अनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थ-
स्यैतेष्वनुवादात् । विशेष० ।

अणुवायवाय-अनुपायवाद-पुं० । पष्ठे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवालय-अनुपालक-पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ० २४
श० २० उ० ।

अणुवाम-अनुवाम-पुं० । वषांवासे ऋतुवद्धे वा उपित्वा पुन-
स्तत्रैव पश्चाद् वसने, अग्निवादिकारणेषु वृद्धादिवासे वा
वसने च । तत्र कल्पः—

.....अहुणा अणुवासणाकल्पं तु ।

वोच्छामि गुरुवदेमा, अणुगहटा मुविदियाणं ।

अणुवामस्मि तु कप्पो, पन्नवग पसुव बहुविहा अत्या ।

अणुवामण पगतं, मृच्छा य तहा असुद्धा य ॥

अणुवामन्यो बहुहा, उउवामे वण अहव असिवादि ।

वृद्धादी वामो वा, अहवा अणुवमणमणुवामो ॥

वसितं पुणो वि वमनी, अणुवानिगवमहिममर्गीमण्हा ।

तीयहिगारो एत्थं, मा होज्जा सुद्धऽमुच्छो वा ॥

पट्टीवंमादीहिं, वंसगकरणादिएहिं तह चेव ।

होति अमुच्छा वसही, मूजगुण उत्तरगुणे य तहा ॥

कालप्पुयातिरित्तं, अविमृच्छामु च तामु वममाणो ।

पावति पायच्छित्तं, मोत्तूणं कारणमिमोहिं ॥

अमिवे ओमोयरिए, रायदुट्टे भए व आगादे ।

गेवएह उत्तमट्टे, चरित्तमज्जातिए अमती ॥

वाहिं मन्वत्थ सिवं, तेण सया कावद्वयगम्मि ।

पुणो वि य एहु णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवासी ॥

आव्रंवणे विमुद्धे, मुच्छदुत्तं परिहरे पयत्तेणं ।

आसज्ज तु परिभोगं, भयणा पडिमेवसंकमणे ॥

अमिवादीहिं वसंतो, सुद्धाए वमहीए वसे साहु ।

मुच्छासतीए जननी, विसोहिकोमीए पुव्वं ति ॥

जयणत्ती जं जणितं, पुव्वत्ताए तु जेतु जे दोसा ।

ते ते पुव्वं सेवे, कम्मणं वी इमा जयणा ॥

अप्पावहं तु वेउं, जत्थ गुणा तू भवेज्ज बहुतरगा ।

गच्छं गच्छंताण व, तं चेव तहिं करेज्जा तु ॥

असिवादिनिट्टिए पुण, अव्वक्खेवेण संकमे तत्तो ।

सत्थं तु पमिच्छंतो, जइ अत्थे तत्थ मुच्छो तु ॥

एतं एयरविहूणं, अणुवासियं जेतु अणिवसे कप्पं ।

कालप्पुयावराहे, संवट्ठितावराहे, तवोवठेदो तहेव मूलं वा ।

आयारपकप्पे जं-पमाणेमाण चरमम्मि ॥

अणुवासियाए कप्पो, एमे सो वसितो समासेणं । पं० जा० ।

इयाणि अणुवासकप्पो-तत्थ(गाढा)[अणुवासम्मि उ]अणुवासो
नाम वासावासयो उवद्धे वा वसित्ता तत्थेव अणुवसइ, उवद्धे
मासवहु, वासे चउवहु । तत्थ पुण बहुविहा सुत्तथा । जहा पत्थे
व कप्पे णिए मासकप्पसुत्ते एत्थ पुण अहिगारो अणुवासिज्ज-
तीति । अणुवासिया का पुण सा?, वसही मुच्छा य, अमुच्छा य ।
अमुद्धा पट्टीवं सोवंसगकरुणे वंजणादि (गाढा)[असिवे] अ-
सिवाइसु कारणेसु अमुच्छाए वि वसति रायदुट्टे कोप्परपट्टी वा
सोयाणि वा तत्थ तत्थि जाणि बाहिरणहिं खत्तेहिं संजयाणि
दोसकरणाणि जए व बांधिगादिसु गेलणउत्तिमठे चरित्त इत्थि-
दोसपसणा दोसा असउभाए वा असइ वा गुणाणं जे तम्म
वसहीए (गाढा)[आलंवणे]एवं आव्रंवणविमुद्धे सत्तदुए परि-
हरज्जा जुत्तेण परिभोगं पुण मासज्ज गुणपरियट्ठित्ति जणियं होइ
जणिया पडिसेहसंकमणे गुणवृद्धिनिमित्तं अच्चेज्जा न सक्केज्जा
अप्पं वमहिं खत्तं वा पणसु पुण कारणेसु विणासो अणुवास्ति-
यं परिवमइ तस्स संघट्टियावराहे, एस अणुवासणाकप्पो ॥
पं० चू० ।

.....अहुणा वोच्छंऽणुवासणाकप्पं ।

अणुवासमामकप्पो, वानावामो इमेयं तु ॥

जिणयेर अहालंदे, परिहारितअज्जनायकप्पो तु ।

खेत्ते कालमुवस्सय-पिंडग्गहणे य एणत्तं ॥
 एण्मि पंचएह वि, अणोसस्म चउपदेहि तु ।
 खेत्तादीहि विसेमो, जह तह वोच्चं समासेण ॥
 एत्थि उ खेत्तं जिणक-पियाण उउवद्धमामकालो तु ।
 वामासुं चउमासो, वमही अममत्त अपरिकम्मा ॥
 पिंमो तु अलेवकडो, गहणं तु एमणा उवरिमादि ।
 तत्थ वि काउमभिग्गह, पंचएहं अणतरियाए ॥
 थेराण अत्थि खेत्तं, तु उग्गहो जाव जोयणमकोसं ।
 नगरं पुण वमहीए, विकालउउवद्धमामो तु ॥
 उस्सग्गेणं जणिओ, अववाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।
 एमेव य वासासु वि, चउमामो होज्ज अहिओ वि ॥
 अममत्त अपरिकम्पो, उवस्सओ एत्थ जंगचउरो तु ।
 उस्सग्गेणं पढमो, तिण्ह उ मेसाऽववादेणं ॥
 जत्तं वेवकरं वा, अवेवकरं वा वि ते तु गेएहंति ।
 मत्तहिं वि एसणादि, सावेक्खो गच्छवासो त्ति ॥
 अहलं दियाण गच्छ, अप्पन्निवच्छाण जह जिणाणं तु ।
 एवरं कालविसेमो, उउवामे पणगचउमामो ॥
 गच्छे पडिबच्छाणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेमो ।
 उग्गहो जो तेसिं तू, सो आयरियाण आजवति ॥
 एगवमहीए पणगं, उच्चिउ ववगाम कुव्वंति ।
 दिवसे दिवसे आसुं, अहुंति विही य णियमेणं ॥
 परिहारविमुच्छीणं, जहेव जिणकपियाण एवरं तु ।
 आयंविद्धं तु जत्तं, गेएहंति य वासकप्पं च ॥
 अज्जाण परिग्गहियाण, उग्गहो लोतु सोतु आयरिए ।
 कावे दो दो मासा, उउवच्छे तासि कप्पो तु ॥
 सेसं जह थेराणं, पिंमो य उवस्सओ य तह तासिं ।
 सो सव्वो वि य छुविहो, जिणकप्पो थेरकप्पो य ॥
 जिणकप्पि अहाव्वंती, परिहारविमुच्छियाण जिणकप्पो ।
 थेराणं अज्जाण य, वोधव्वो थेरकप्पो तू ॥
 छुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य ।
 णिरणुग्गहो जिणाणं, थेराण अणुग्गहपवत्तो ।
 उउवासकालउतीते, जिणकप्पीणं तु गुरुगा य ॥
 होति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेच्चिय लहू तु ।
 तीसं पदाऽवराहे, पुटो अणुवासियं अणुवसंतो ॥
 जे तत्थ पदे दोसा, ते तत्थ तगो समावसो ।
 पप्परमुग्गमदोसा, दस एमणा एए पुण वीसं ॥
 संयोजणादि पंचय, एते तीसं तु अवराहा ॥
 एतेहिं दोमेहिं, जदि असंपत्ति लग्गती तह वि ।
 दिवसे दिवसे सो खलु, काव्वातीते वसंतो तु ॥
 वासावासपमाणं, आयारे उप्पमाणितं कप्पं ।
 एयं अणुमायंतो, जाणसु अणुवासकप्पं तु ॥

आयारपकप्पमी, जह जणियं तीत संवसंतो वि ।
 होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाणदोसा तु ॥
 दुविहं विहारकाले, वामावामे तहेव उउवद्धे ।
 मासातीते अणुवादि, वामातीते जवे उवही ॥
 उउवद्धिएसु अट्टसु, तीतेसुं वाम तत्थ ए तु कप्पो ।
 वेत्तुणं उवही खलु, वासातीतेसु कप्पति तू ॥
 वास उउ अहालंदे, इत्तिरिसाहणे पुट्ते य ।
 उग्गहमंकमणं वा, अणोससकासहिज्जंतो ॥
 वासासु चउम्मामो, उउवच्छे मामलंद पंचहिणा ।
 इत्तिरिउ रुक्खमूले, वीसमण्हा वि ताणं तु ॥
 साहारणा तु एते, समट्ठिताणं वहुण गच्छाणं ।
 एक्केण परिग्गहिता, मव्वं पोहत्तिया होति ॥
 संकमणमन्नसण-स्स सकामे जदि तु ते अहीयंते ।
 सुत्तय तदुजयाडं, संये अहवा वि पडिपुच्छे ॥
 ते पुण मंरुलियाए, आवलियाए व तं तु गेएहेज्जा ।
 मंरुन्नियमहिज्जंते, सच्चिच्चादी तु जो लाजो ॥
 मो तु परंपगएणं, संकमती ताव जाव संठाणं ।
 जहियं पुण आवलिया, ताहियं पुण अंतए ठाति ॥
 तं पुण ठितएक्काए, वमहीए अहव पुप्फकिष्साओ ।
 अहवा वि तु संकमणो, दव्वस्मिणमो विही अणो ॥
 सुत्तय तदुजयविसा-रयाण थोवं असंतती भोए ।
 संकमणदव्वमंरुलि-आवन्नियाकप्पअणुवासे ॥
 पुव्वट्ठिताण खेत्ते, जदि आगच्छेज्ज अणुआयरिओ ।
 बहुसु य बहु आगमिओ, तस्म सगामम्मि जदि खेत्तो ॥
 किंचि अहिजेज्जाही, थोवं खेत्तं च तं जदि हवेज्जा ।
 ता ते असंथरंता, दोसि वि साहू विभज्जेति ॥
 अणोसस्म सगासे, तेमि पि य तत्थ थिज्जमाणेणं ।
 आभवणा तह चेव य, जह जणियमणंतरे सुत्ते ॥
 एवं णिव्वायाते, मासचउमासतो उ थेराणं ।
 कप्पो कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव ॥
 एसऽणुवासणकप्पो..... । पं० जा० ।

इयाणि अणुवासकप्पो-(गाहा)[जिणधेग]सो पुण अणुवास-
 कप्पो जिणथेरअहाव्वंदि य परिहारविमुच्छी य अज्जाणंति एगे-
 गाओ एगस्स वहुं ठाणेहिं खेत्तकाउउवस्सयपिंडग्गहणे य
 नाणत्तं जिणस्स ताव खेत्तं नत्थि काले उउवद्धे मासो वासा-
 रत्ते चाउम्मामो उवस्सओ अममत्तो अपरिकम्पो भिक्खा अ-
 वेवाडा खेत्तोग्गहो थेराणं अत्थि सक्कोसं जोयणं नगरे वस-
 हि उग्गहो तेसिं काव्वओ मासं वा मासाइयं वा उउम्मि कारण-
 मकारणे वासासु चाउमासं वा निक्कारणे कारणे पुण कणाहियं
 उवस्स उ उस्सग्गेण अममत्तो अपरिकम्पो य अववाएण सस-
 मत्तो सपरिकम्पो य पिंमो वेवामो अलेवामो य अहाव्वंदि याण
 गच्छे अप्पन्निवच्छाणं जहा जिणाणं नदरि काले उव्वागे गामो
 कोरइ एगेगो ज्ञागं पंचदिवसं निक्खं हिंसंति, तत्थेव वसंति

वासामु एगत्थ चउम्मासो एवं परिहारियाणं वि जहा जिणाणं
णवरि आयविणेण मासो सत्थो वि दुविहो जिणकप्पो थेरक-
प्पो य, जिणअहात्तंदिपरिहारविमुत्तियाणं जिणकप्पो अज्जाणं
थेराणं य थेरकप्पो गच्छपस्सिच्छअहात्तदियाणं आयाग-
याणं चेव सो कल्लत्तांगहो संजयणगीयत्थपरिगहियाणं
अथि खत्तं सो आयरियाणं चेव जिणकप्पो निरण्णहो
असियाद्दश कारणं तत्थ थेरकप्पो साण्णमहा असियाद्दसु
कारणेसु कात्ताएण उउम्मि जिणाणं मुग्गो मासो दिणे दिणे
थेराणं बहुसो मासो दिणे दिणे तस्मि खत्तं अत्थताणं चउम्मा-
सादय जिणाणं तस्मि चेव खत्तं दिणे दिणे चउग्गुं थेराणं दि-
णे दिणे चउलहं (गाहा) [तामपयाउग्गहेति] सोलस उग्ग-
मदोसा, संजोयणाइ पंचदस पमणा दोसा, झारपविसारीए
पन्नरस उग्गमदोसा पंच संजोयणमाइ तत्थ वृद्धा एसा वीसा
दस पमणा दोसा एए तामपयावग्गहेति तेसि अहवा दिवसे
दिवसे अवग्गहो ताम दिणा मासो जमि आवज्जद जयमाणो वि
अत्थेनो निक्काणेतेण वग्गद (गाहा) [वासावासपमाणं] वासावा-
सपमाणं च पयं आयागकप्पो भणियं तस्मि अक्कंता उग्गहकाले
अणुवसंतस्म अणुवासिया जवइ (गाहा) [दुविहो विहारकाले]
अक्कंते अट्टहि मासेहि अट्टहि वासं पस्सिच्छत्तं तत्थोवही न
वेणइ वासे अट्ट वेणइ (गाहा) [वास उउ] पप्पि त्रियाणं जइ
बहुया पक्कमि खत्तं त्रिया होउजा वासासु उउम्मि वा अहात्तं-
दि पंच दिवसा जाव माहग्गा पुहुत्ते वा इरित्तिप वा रुक्खेहो
संकमणं णो एग्गस मूत्रं दस वेयात्रिअं उज्जुयारेइ तस्म पुण
दस वेयात्रिअं उज्जुयारेतस्म मूत्रं अहो उत्तरज्जयणाणि
पट्ठं ज उत्तरज्जयणात्तो सवित्ताइ वग्गभइ तं दसवे-
यात्रियाइ तस्म देइ दोसो उत्तरज्जयणे उज्जुयारेइ तस्म
मूले अत्तो वंभवेर उज्जुयारेइ जाव विवागसुयं जहो-
त्तरापत्तिया सट्ठाणं चेव पट्ठदसवेयात्रियइत्तस्म अत्थेपुण णो
एग्गस मूले आवासगाहाओ पट्ठं अत्तो पुण आवम्मकस्म
अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वत्तिओ वा णो दसवेयात्रियस्म सुत्ते
वापइ णो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वत्तिओ णो उत्तरज्जयणा
वापइ णो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वत्तिओ एवं जाव विवाग-
सुयं सत्थ अत्थो वलिओ णो पत्तिं वापइ णो दसवेया-
त्रियाइ जाव कप्पव्यवहारणं अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वलिओ-
एवं जाव विवागसुयं णो कप्पव्यवहारे कहेइ णो दिट्ठिवाइसु-
त्ते वापइ सुत्तइत्तो वत्तिओ सत्थ पुच्चगयइत्तो वत्तिओ जत्थ
वा मरुली विज्जइ होउत्तणं तत्थ पावइ सच्चित्ताइ ते पुण
पग प वसहीए त्रिया पुक्कावकिन्ना वा (गाहा) [मुत्तत्थ] अहवा
ण्णारिप गामे णो खारिओ मुत्तत्थविमारओ पुच्चट्ठिओ तस्म
अत्ते पासे पट्ठेति, तं च खत्तं थोअं अपज्जत्ते भत्तपाणे दो वि
जणा पट्ठेत्तयो वेऊणं संजप विमज्जेति अणं खत्तं माहे तेसि
अन्नपामं गयाणं परोपरस्म पट्ठेताणं तदेव संकमणट्ठाणं सच्चि-
त्ताइ दव्वे जाव आत्तलिया सट्ठाणगयंति (गाहा) [पमो उ] कात्त-
कप्पो निवाघाणं वासासु चाउम्मासे उउम्मि अट्टमासे कार-
णे पुण थेराणं जाहे अणुवासो जवइ जाव तं कारणं समत्तं
असिवाइ ताव अणुवासं ता वि जयंता मुद्धा, एम अणुवास-
कप्पो । पं चू० ।

अणुवासग-अनुपामक-पुं० । न उपामकः आचकोऽनुपामकः ।
मिथ्यादृष्टौ, स च ज्ञातकोऽज्ञातकश्च, नायकोऽनायकश्चेति द्वि-

धा । “अणुवासगो वि नायगमनायगो य” एतस्य द्विविधस्या-
ऽपि प्रवाजने चतुर्गुण, आज्ञादयश्च दोषाः । नि० चू० ११ उ० ।
उपामकः आचक इतरोऽनुपामकः । अभावके, नि० चू० ८ उ० ।

अणुवासणा-अनुवामना-स्त्री० । चर्मयन्त्रप्रयोगेणाऽपानेन ज-
गरे तैलविशेषप्रवेशने, ज्ञा० १३ अ० । विपा० । व्यवस्थापना-
याम, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुवि(वि)ग्ग-अनुद्विग्ग-त्रि० । न० त० । प्रशान्ते, “चरे मंद-
मणुद्विग्गे, अविक्खित्तेण चेतसा” दश० ५ अ० १ उ० । अनु-
द्विग्गः क्षुधादिजयात् प्रशान्त इति । वृ० १ उ० ।

अणुविरइ-अनुविरति-स्त्री० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।

अणुवीड-अनुविचिन्त्य-अव्य० । अनु-वि-चिति-ह्यप् । पर्या-
लोच्येत्यर्थे, प्रश्न० २ सम्ब० डा० । आलोच्येत्यर्थे, दश० ७ अ० ।
केवलज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अनुवाच्य-अव्य० । आनुकूल्यं वाचयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४
अ० १ उ० ।

अणुवीडजामि(ण्)-अनुविचिन्त्यजापिन्-पुं० । अनुविचि-
न्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवंशाब्जोऽनुविचिन्त्यज्ञापिन् । व्य० १
उ० । स्वालोचितवक्तरूपे वाचिकविनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुवीडसमिजोग-अनुविचिन्त्यसमितियोग-पुं० । अनुवि-
चिन्त्य पर्यालोच्य जापणरूपा या समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः सा-
ऽनुविचिन्त्यसमितिस्तथोयोगः संबन्धस्तद्रूपो वा व्यापारो वाऽ-
नुविचिन्त्य समितियोगः । भाषासमितियोगे, प्रश्न० २ सम्ब० डा० ।

अणुवृहण-अनुव्यूहन-न० । प्रशंसने, कलप० ।

अणुवेदयंत-अनुवेदयत्-त्रि० । अनुभवति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अनुवेहमाण-अनुप्रेक्षमाण-त्रि० । अनुप्रेक्षां कुर्वति, “घुणे उ-
रालं अणुवेहमाणं, विद्याणं सोयं अणवेक्खमाणे” सूत्र० १० अ० ।

अणुवो-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुव्यय(अ)-अणुव्रत-न० । अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्र-
तानि । लघुत्वं च महाव्रतापेक्षयाऽल्पविषयत्वादिनेति प्रतीत-
मेवेति । उक्तं च- “सव्यगयं सम्मत्तं, सुए चरित्तेन पज्जवा
सव्वे । देसविरइं परुच्च, दोणह वि पस्सिमेवणं कुज्जा” ॥१॥ इति ।
अथवा सर्वविरताऽपेक्षयाऽणोल्लोचोर्गुणितो व्रताण्यणुव्रतानि ।
स्था० ५ गा० १ उ० ।

अनुव्रत-न० । अनु महाव्रतस्य पश्चादप्रतिपत्तौ यानि व्रतानि
कथ्यन्ते तान्यनुव्रतानि इति । उक्तं च- “जइधम्मस्स सम्मथे,
जुज्जइ तट्ठमणं पि साट्ठणं । तद्विहग्गोसनिवत्ती, फलंति का-
याणुकंपट्ठं” ॥१॥ इति । स्था० ५ गा० १ उ० । आ० । आनु० ।
ध० । आचकयोगेषु देशविरतिरूपेषु स्यूत्रप्रणातिपातविर-
मणादिषु ;

तानि च-

पंचाणुव्यया पप्पत्ता ? । तं जहा-श्रुताओ पाणाइवायाओ
वेग्माणं, थूलाओ मुमावायाओ वेग्माणं, थूलाओ अदिन्ना-
दाणाओ वेग्माणं, मदारसंतोसे इच्छापणिमाणे ।

स्थूत्रा द्वीन्द्रियादयः सत्त्वाः; स्थूलत्वे चैतेषां सकललौकिकानां जीवत्वाप्रसिद्धेः; स्थूलविषयत्वात् स्थूलं, तस्मात् प्राणातिपातात् । तथा स्थूत्रः परिस्थूत्रवस्तुविषयोऽतिदृष्टो विवक्षासमुद्भवः, तस्मात् सृष्ट्यादाद् । तथा परिस्थूलवस्तुविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमतिदुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूत्रं, तस्माददत्तादानात् । तथा स्वदारमन्तोपः; आत्मीयकलत्रादन्येच्छानिवृत्तिरित्युपलक्षणात्परदारवर्जनमपि ग्राह्यम् । तथा इच्छाया धनादिविषयस्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम् ; देशतः परिग्रहविरतिरित्यर्थः । स्या० ५ ग्रा० १ उ० । अत्रा० । उपा० ।

(सातिचाराणां प्राणातिपातादीनां ध्याख्या स्वस्थाने)

अस्य ग्रहणविधिः—

तस्मादभ्यासेन तत्परिणामदार्ढ्यं यथाशक्ति द्वादशव्रतस्वीकारः, तथासति सर्वोद्गीणविरतेः संभवाद्द्विरेतेष्व महाफलत्वात्, अन्येऽपि च नियमाः सम्यक्त्वयुक्तद्वादशान्यतरव्रतसंबद्धा एव देशविरतिव्याभिष्यञ्जकाः । अन्यथा तु प्रयुत पार्श्वस्थत्वादिभावाविर्भावकाः, यत् 'उपदेशरत्नाकरे' सम्यक्त्वाऽणुव्रतादिश्राद्धधर्मरहिता नमस्कारगुणनजिनार्चनवन्दनाद्यजिग्रहचतुः श्रावकाभासाः श्राद्धधर्मस्य पार्श्वस्था इति ।

इत्थं च विधिग्रहणस्यैव कर्तव्यत्वात् संग्रहेऽस्य प्रवर्तते इत्यत्र धर्मस्य सम्यग्विधिना प्रतिपत्तौ प्रवर्तते इत्येवं पूर्वं प्रतिज्ञातत्वाच्च तद्ग्रहणविधिमेव दर्शयति—

योगवन्दननिमित्त-दिगाकारविशुद्ध्यः ।

योग्योपचर्येति विधि-रणव्रतमुसग्रहे ॥ २३ ॥

इह विशुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, इन्द्रान्ते श्रूयमाणत्वात् । ततो योगशुद्धिवन्दनशुद्धिनिमित्तशुद्धिर्दिक्शुद्धिदिगाकारशुद्धिश्चेत्यर्थः । तत्र योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणाः, तेषां शुद्धिः सोपयोगान्तरगमननिग्वद्यपणशुभचिन्तनादिरूपाः; वन्दनशुद्धिरखलितप्रणिपातादिदण्डकसमुच्चारणासंभ्रान्तकां-योत्सर्गादिकरणलक्षणा, निमित्तशुद्धिस्तत्कावोच्छलितशङ्खपणवादिनिनादश्रवणपूर्णजम्जङ्गमचञ्चलध्वजचामराद्यवलोकनशुभगन्धाघ्राणादिस्वभावा, दिक्शुद्धिः प्राच्युदीचीजिनचैत्याद्यधिष्ठिताऽऽशासमाश्रयणस्वरूपा, आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुक्तलीकरणात्मिकेति । तथा योग्यानां देवगुरुसाम्प्रतिकस्वजनदीनानाथादीनामुचिता उपचर्या धूपपुष्पवस्त्रविलेपनाऽऽसनदानादिगौरवात्मिका चेति विधिः । स च कुत्र भवतीत्याह—(अणुव्रतेति) अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां तानि अणुव्रतमुखानि साधुश्रावकविशेषधर्माचरणानि, तेषां ग्रहे प्रतिपत्तौ भवतीति सङ्गमग्रहणविधिः । विशेषविधिस्तु सामाचारीतोऽवसेयः । तत्पाठश्चायम्—“पसत्ये खित्ते जिरणभवणाइए पसत्येसु तिहिकरणनक्खत्तमुहुत्तचंदवलेसु परिकिखयगुणं सीसं सूरी अग्गओ काउं खमासमणदाण-पुवं भणावेइ-इच्छुकारि भगवन् । तुम्हे अहं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम् आरोगवावणीयं नंदिकरावणीयं देवं वंदावेह । तत्रो सूरी सहं वामपासे ठवित्ता वहुंतिर्याहिं थुईहिं संघेण समं देवे वंदेइ जाव मम दिसंतु । ततः श्रीशान्तिनाथाराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं, 'वंदणवत्तिपाए' इत्यादि सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं करेइ, 'श्रीशान्ति' इत्यादिस्तुतिं च भणति । ततो द्वादशाङ्गाराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं 'वंदणवत्तिआए' इत्यादि कार्यात्सर्गे ममस्कारचिन्तनम्, ततः स्तुतिः, तत्रो सुयदेवयाए करेमि

काउस्सग्गं, अन्नत्थ ऊससिण्णमिच्छाइ, ततः स्तुतिः, एवं शासनदेवयाए करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ ऊ० ॥ या पाति शासनं जैनं, सद्यः प्रत्यूहनाशिनी । साऽभिप्रेतसमृद्धयर्थं, भूयाच्छाशनदेवता ॥ १॥ इति स्तुतिः । समस्तवैयवृत्यकर्गणां कार्यात्सर्गेऽततः स्तुतिः; नमस्कारं पत्रित्वोपविश्य च शक्रस्तवपाठः । परमेष्ठिस्तवः 'जय वीरराय' इत्यादि । इयं प्रक्रिया सर्वविधिपुतुल्या, तत्तन्नामोच्चारकृतो विशेषः । ततो वंदणपुवं सीसो जणइ-इच्छुकारि भगवन् ! तुम्हे अहं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम्, आरोगवावणीयं नंदिकरावणीयं काउस्सग्गं करेह । तत्रो सीसमहिओ गुरु सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकं आरोगवावणीयं नंदिकरावणीयं करेमि काउस्सग्गमिच्छाइ जणइ । सत्तावीसुस्सासंचितं च उर्वीसत्थयभणनं क्रमा० नमस्कारत्रयरूपनान्दिआवणं, ततः पृथक् नमस्कारपूर्वकं चारत्रयं सम्यक्त्वदण्डकपाठः । स त्रायम्—

“अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे मिच्छुत्ताओ पक्कमामि संमत्तं उपसंपज्जामि । तं जहा-द्ववओ खित्तओ कालओ भावओ । द्ववओ णं मिच्छुत्तकारणाइं पक्कमामि, संमत्तकारणाइं उवसंपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पज्जिइ अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहादियाणि वा अरिहंतचेइयाणि वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुंवि अणालत्तए णं आइवित्तए वा सलवित्तए वा तेसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा कालओ णं जावजीवाए ज्ञावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव वझेणं न छुविज्जामि, जाव संनिवाएणं नाजिभाविज्जामि, जाव अन्नेण वा केणइ रांगा-यंकाइणाइ एस परिणामो न परिवरुइ, ताव मे एअं सम्महसणं नन्नत्थ रायाभियोगेणं गणाभिओगेणं वलाभिओगेणं देवयाभि-योगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं वोसिरामि, ततश्च “अरिहंतो महंदेवो जाव” इत्यादिगाथाया चारत्रयं पाठः । यस्तु सम्यक्त्वप्रतिपत्त्यनन्तरं देशविरतिं प्रतिपद्यते, तस्यात्रैव व्रतोच्चारः । तत्रो वंदित्ता सीसो भणइ-इच्छुकारि भगवन् ! तुम्हे अहं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं, देशविरतिसामायिकम्, आरोगवावो । गुरुराह-आरोगेमि । पुणो वंदित्ता भणइ-संदिस किं भणा-मि । गुरु भणइ-वंदित्ता पवेइह । पुणो वंदित्ता भणइ-तुम्हे अहं समत्तसमाइयं सुयसामाइयं देशविरत्तसामाइयं आरोगियं इच्छामि अणुसद्धिं गुरु भणइ आरोगियं खमासमणणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुज्जणं सम्मं धारिज्जाइ गुरुगुणं हिं बुद्धाहि नित्यारग-पारगा हाह । सीसो भणइ-इच्छु ३ । तत्रो वंदित्ता भणइ-तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहणं पवणमि । गुरु भणइ-पवेइह । तत्रो वंदित्ता एगनमुक्कारमुच्चरंतो समोसरणं गुरुं च पर्यक्खणेइ, एवं तित्ति वेला । तत्रो गुरु निसिज्जाए उवविसइ । खमासमण-पुंवि सीसो भणइ-तुम्हाणं पवेइयं साहणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि । गुरु भणइ-करेह । तत्रो वंदित्ता भणइ-सम्यक्त्वसामायिकं ३ स्थिरीकरणार्थं करेमि काउस्सग्गमि-त्यादि, सत्तावीसुस्सासंचितं च उर्वीसत्थयभणनं । ततः सूरिस्तस्य पञ्चोदुम्बर्यादि ३ यथायोग्यमभिग्रहान् ददाति । तद-एडकश्चैवम्—“अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे इमे अभिग्गहे गि-एहामि । तं जहा-द्ववओ खित्तओ कालओ भावओ । द्ववओ णं इमे अभिग्गहे गि-एहामि, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा कालओ णं जावजीवाए, भावओ णं अहागहियभंगएणं अरिहंतस-क्खियं सिद्धसक्खियं साहु० देव० अप० अन्नत्थऽणाभोगेणं सह-

स्मागारेण महत्तरागारेण स्वस्वसमाहिवास्तिभागारेण वोमिरा-
मि " तत एकाशनादिविशेषतः कारयति. सम्यक्त्वादिदुष्-
भवाविषयां च देशनां विधत्ते । देशविरत्यारोपणविधिरप्येवमेव ।
वतानिलापस्वेवम्- "अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समीवे पुत्रगं पाणा-
द्यायं संकल्प्यो निरवराहं पञ्चक्खामि जावज्जीवाए दु-
विहं निविहेण मण्णं घायाए कापणं न करेमि न कारवेमि,
तस्स जेतं ! पम्भिमामि निदामि गरिहामि अप्पाणं वोमिरा-
मि १ । अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समीवे पुत्रगं मुसायायं जीहा ठे-
आहं हं कन्ताऽलीयाइ पंचविहं पञ्चक्खामि दक्खिन्नाइ अवि-
सए जावज्जीवाए दुविहमित्यादि २ । अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समी-
वे धूलगं अदत्तादाणं खेतखण्णाइ चोरंकारकरं रायनिगहक-
रं सञ्चित्तचित्तवत्थु विसयं पञ्चक्खामि जावज्जीवाए दुविह-
मित्यादि ३ । अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समीवे आरालियवेउव्वियभे-
यं धूलगं मेहुणं पञ्चक्खामि, तत्थ दिव्वं दुविहं निविहेणं तेरिच्छं
एगविहं निविहेणं मणुअअहागहियभंगएणं, तस्स जेतं ! पम्भि-
कमामि निदामीत्यादि ४ । अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समीवे अपरिमि-
यपरिगहं पञ्चक्खामि धणधन्नाइनवविहवत्थुविसयं इच्छाप-
रिमाणं उवसंपज्जामि जावज्जीवाए अहागहियजंगएणं, तस्स
जेतं ! पम्भिमामीत्यादि " ५ । एतानि प्रत्येकं नमस्कारपूर्वं वा
रत्रयमुच्चारणीयानि ।

" अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समीवे गुणव्ययतिण उड्ढाहो निरि-
यगमणविसयं दिसपरिमाणं परिवज्जामि । उवभागपरिभोग-
वए भोग्यओ अणंतकायबहुयीयराइभोग्याइ परिहरामि ।
कम्मओ णं पन्नसकम्मादाणाइ इंगालकम्माइयाइ बहुसाव-
ज्जाइ खरकम्माइ रायनियोगं च परिहरामि । अणत्थदंडं अव-
ज्जाणाइअं चउव्विहं अणत्थदंडं जहासत्तीए परिहरामि ।
जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं तस्स जेतं इत्यादि " ८
ओष्पपि समुदितानि वारत्रयम् ।

" अहन्नं जेतं ! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं
पोसहोचवामं अतिहिंसंविभागवयं विभागवयं च जहासत्तीए
पडिवज्जामि जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं, तस्स जेतं !
इत्यादि " १२ चत्वार्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

" इच्छेइयं संमत्तमूनं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवा-
लसविहं सावगधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि " वा-
रत्रयमिति ।

अथाणुव्रतादीन्येव क्रमेण दर्शयन्नाह-

स्थूलहिंसादिवर्ग-व्रतभङ्गेन केनचित् ।

अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि शंजवः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमादयोगान्प्राणव्यपरोपणरूपा । सा च-स्थूला
सूक्ष्मा च । तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया । स्थूला-मिथ्यादृष्टी-
नामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या सा । स्थूलानां वा प्रसानां हिंसा
स्थूलहिंसा । आदिशब्दान् स्थूलसूपावादाऽदत्तादानाऽब्रह्मपरि-
ग्रहाणां परिग्रहः । एतयः स्थूलहिंसादिष्यो या विरतिर्निवृत्ति-
स्त्वाम् ॥ अहिंसादीनांति " " अहिंसामुनुताऽस्तेय-ब्रह्मचर्याप-
रिग्रहान् " अणुनि साधुव्रतेभ्यः सकाशाद्वृत्तिं, व्रतानि नि-
यमरूपाणि अणुव्रतानि, अणोर्वा यन्यपेक्षया वृत्तगुणस्थानि-
नो व्रतान्यणुव्रतानि । अथवा-अनु पश्चान्महाव्रतप्ररूपणाप-
ेक्षया प्ररूपणीयत्वाद्व्रतानि अनुव्रतानि । पृथ हि महाव्रतानि
प्रकाशन्ते ततस्तत्प्रतिपत्त्यसमर्थस्थानुव्रतानि । यदाह- " ज-

धम्मे असमत्थो, जुज्जइ तदेसणं पि साहुं ति " । तानि किय-
न्तीत्याह-(पञ्चेति) पञ्चसंख्याति, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचन-
निर्देशोऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः स सर्वत्र विरतिसामा-
न्याऽपेक्ष्येति । शंजवस्तोर्थकराः, आहुः प्रतिपादितवन्तः । किमवि-
शेषेण विरतिः, नेत्याह-व्रतभङ्गेनेत्यादि । केनचिद् द्विविधत्रिवि-
धादीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण बाहुल्येन हि श्रावकाणां
द्विविधत्रिविधादयः परमेव भङ्गाः संभवन्तीति तदादिजङ्गजाह-
ग्रहणमुचितमिति ज्ञायः । ते च जङ्गा एवम्-श्रावका विरताः, अ-
विरताश्च । ते सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽष्टविधा भव-
न्ति । यत आचक्ष्यके-"साभिग्गहा यणिरज्जि-ग्गहा य ओहेण सा-
वया दुविहा । ते पुणत्रिभज्जमाणा, अट्टविहा हुंति णायव्या" ॥१॥
साभिग्रहा विरता आनन्दादयः, अनजिग्रहा अधिरताः कृष्णसा-
त्यकिश्रेणिकादय इति । अष्टविधास्तु द्विविधत्रिविधादिभङ्गेन-
देन भवन्ति । तथाहि-

" दुविहं निविहेण पढमो, दुविहं दुविहेण वीअओ होइ ।

दुविहं एगविहेणं, एगविहं चेव निविहेणं ॥ १ ॥

एगविहं दुविहेणं, एगेगविहेणं ढुओ होइ ।

उत्तरगुणसत्तमओ, अविरओ वि चेव अछमओ " ॥२॥

द्विविधम-कृतं कारितं च । त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा
स्थूलहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा
कायेनेत्यजिग्रहवान् प्रथमः । अस्य चानुमतिः प्रतिपिक्का, अपत्या-
दिपरिग्रहसङ्गवात्, तैर्हिंसादिकरणे तस्यानुमतिप्राप्तः । अन्यथा
परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः ।
त्रिविधत्रिविधादयस्तु भङ्गा गृहिणामाश्रित्य जगवत्युक्ता अपि
क्वाचित्कत्वाच्चेदभिक्ताः; बाहुल्येन पञ्चिरेव विकल्पैस्तेषां प्र-
त्याख्यानग्रहणात्; बाहुल्यापेक्षया चास्य सूत्रस्य प्रवृत्तेः । क्वाचि-
त्कत्वं तु तेषां विशेषविषयत्वात् । तथाहि-यः किल प्रविव्रजि-
षुः पुत्रादिसंततिपादनाय प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विशेषं
स्वयं चूरमणादिगतं मत्स्यादिमांसं दन्तिदन्ताच्चित्रकचमादिकं
स्थूलहिंसादिकं वा क्वचिदवस्थाविशेषे प्रत्याख्याति, स एव त्रि-
विधत्रिविधादिना करोतीत्यल्पविषयत्वान्नोच्यते ॥ तथा द्विवि-
धं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरभङ्गाख्यः, तत्र द्वि-
विधं स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन म-
नसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ ।
तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसाऽ-
भिसंधिरहित एव वाचाऽपि हिंसादिकमनुव्रतेव कायेन दुश्चे-
ष्टितादि असंज्ञितकरोति १ । यदा तु मनसा कायेन न करोति न
कारयति तदा मनसाऽजिसन्धिरहित एव कायेन दुश्चेष्टितादि
परिहरश्रेयानाभोगाद्याच्चैव हस्मि घातयामि चेति भूते २ ।
यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसै-
वाभिसन्धिमधिकृत्य करोति कारयति ३ । अनुमतिस्तु त्रिजिः
सर्वत्रैवास्ति । एवं शेषविकल्पेना अपि भावनीयाः ॥ द्विवि-
धेन द्विविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरभङ्गाख्यः । द्विविधं करणं
कारणं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन ॥
एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ भङ्गौ, एकविधं कर-
णम्, यद्वा-करणं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन ॥ एकविधं
द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्रोत्तरभेदाः षट्, एकविधं करणं, यद्वा-
कारणम्, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा-मनसा कायेन, यद्वा वाचा
कायेन ॥ एकविधमैकविधेनेति षष्ठः । अत्रापि प्रतिजङ्गाः षट्, ए-

कविधं करणं, यद्वा-कारणं, एकविधेन मनसा, यद्वा-वाचा, यद्वा-कायेन । तदेवं मूलभङ्गाः पदः । पञ्चमपि च मूत्रभङ्गानामुत्तर-जङ्गाः सर्वसंख्यैकविंशतिः । तथा चोक्तम्—“द्विविह तिविहा य ऋचिवध, तैसि भेन्ना कमेणिमे हुंति । पढमिको दुन्नि तिन्ना, दुगेग दोङ्क इगवीसं ” ॥१॥ स्थापना चेयम्—

२७	२८	२९	३०
३१	३२	३३	३४
३५	३६	३७	३८

एवं च पञ्चभिर्गुणैः कृताभिर्ग्रहः पञ्चिवः श्रावः, सप्त-
मश्रोत्तरगुणः प्रतिपन्नगुणव्रतशिक्षाव्रताद्युत्तरगु-
णः । अत्र च सामान्येनोत्तरगुणानाश्रित्यैक एव भेदो विवक्षितः ।
अविरतश्चाष्टमः । तथा पञ्चस्वप्यणुव्रतेषु प्रत्येकं पञ्चजङ्गीसं-
भवेन उत्तरगुणाऽविरतमीदृशेन च द्वाविंशद्भिरपि श्रावणानां
भवन्ति । यदुक्तम्—“द्विविहा विरयाऽविरया, द्विविह तिविहा-
णऽदुहा हुंति । वयमेगेगं गच्छिअ, गुणिअं दुगमिअिअवत्तीसं ”
इति ॥१॥ अत्र च द्विविधत्रिविधादिना भङ्गनिकुरम्येन श्रावका-
र्हपञ्चाणुव्रतादिव्रतसंहतिनङ्कदेवकुलिकाः सूचिताः । ताश्चैकै-
कव्रतं प्रत्यजिहितया पञ्चङ्गया निष्पद्यन्ते, तासु च प्रत्येकं त्रयो-
राशयो भवन्ति । तद्यथा—आदौ गुण्यराशिमध्ये गुणकराशिरन्ते
चागतराशिरिति । तत्र पूर्वमेतासामेव देवकुलिकानां पञ्चङ्गया
विवक्षितव्रतनङ्कसर्वसंख्यारूपा एवंकारराशयश्चैवम्—

“एगवए ग्भंगा, निदिछा सावयाण जे सुत्ते । तिच्चिअ
पयवुद्धीप, सत्त गुण ग्जुआ कमसो ” ॥ १ ॥ सर्वभङ्ग-
राशि जनयन्तीति शेषः । कथं पुनः पञ्च भङ्गाः सप्तभिर्गुण्य-
न्ते इत्याह—पदवृद्ध्या मृषावादायैकैकव्रतवृद्ध्या एकव्रतनङ्क-
राशेरवधौ व्यवस्थापितत्वाद्विवक्षितव्रतेभ्यः एकेन हीनाचारा
इत्यर्थः । तथाहि—एकव्रते पञ्चङ्गाः सप्तभिर्गुणिता जाता द्विचत्वारिं-
शत्, तत्र पदं क्षिप्यन्ते, जाता अष्टचत्वारिंशत् । एषांऽपि स-
प्तभिर्गुण्यन्ते, पदं च क्षिप्यन्ते, जाताः ३४२ । एवं सप्तगुणनपदत्रये-
पक्रमेण तावद् यावदेकादश्यां वेद्यायामागतम् १३८४१२७७२०२
एते च परमुष्टचत्वारिंशदादयो द्वादशाप्यगतराशयोऽधोभागेन
व्यवस्थाप्यमाना अर्द्धदेवकुलिकाकारां भूमिमावृण्वन्तीति स-
रुदेवकुलिकेत्युच्यते । स्थापना—

१२	६	६
६६	३६	४८
२२०	२१६	३४२
४६५	१२६६	२४००
७६२	७७७६	१६८०६
६२४	४६६५६	११७६४८
७६२	२७६६३६	८२३४४२
४६५	१६७९६१६	५७६४८००
२२०	१००७७६६६	४०३१३६०६
६६	६०४६६१७६	२८२४७४२४८
१२	३६२७९७०५६	१६७७३२६७४२
१	२१७६७८२३३६	१३८४१२७७२०२

संपूर्णदेवकुलि-
कास्तु प्रतिव्रत-
मैकैकदेवकुलि-
कासङ्गावन प-
ञ्चङ्गया द्वाद-
श देवकुलि-
काः सम्भव-
न्ति । तत्र द्वा-
दश्यां देवकु-
लिकायामक-
द्विकादिसंयो-
गा गुणकरू-
पाश्चैवम् । तत्र

य” ॥ १ ॥ (दुरगं स्ति) प्रतिमाद्युत्तरगुणाऽविरतरूपभेदद्वया-
धिका एतावन्तश्च द्वादशव्रतान्यश्रित्य प्रोक्ताः । पञ्चाणुव्रतान्या-
श्रित्य तु १६८०६ जवन्ति । तत्राप्युत्तरगुणाऽविरतमीलेन
१६८०८ भवन्ति । अत्र चैकद्विकादिसंयोगा गुणकाः पदं पद-
त्रिंशदादयो गुण्यस्त्रिंशदादयश्चागतराशयो यन्त्रकादवसेयाः ।
इयमत्र भावना—कश्चिन्पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपद्यते । तथा
किञ्च पञ्चैकसंयोगाः एकैकस्मिन् संयोगे द्विविधत्रिविधा-
दयः पञ्च जङ्गाः स्युः । तेन पदं पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाताः ३० ।
एतावन्तः पञ्चानां व्रतानामेकसंयोगे भङ्गाः । तथा एकैक-
स्मिन् द्विकसंयोगे ३६ भङ्गाः । तथाहि—आद्यव्रतसंवन्धाद्
यो भङ्गकोऽवस्थितो मृषावादस्तत्कान् पञ्च भङ्गान् लभते । एव-
माद्यव्रतसंवन्धां द्वितीयऽपि यावत्पष्ठेऽपि जङ्गाऽवस्थित एव
मृषावादस्तत्कान् पञ्च भङ्गान् लभते । ततश्च पञ्च, पञ्चभिर्गुणि-
ताः ३६, दश चात्र द्विकसंयोगाः । अतः ३६ दशगुणिताः ३६० । ए-
तावन्तः पञ्चानां व्रतानां द्विकसंयोगे भङ्गाः । एवं त्रिकसंयोगादि-
ष्वपि भङ्गसंख्याभावना कार्या । पञ्चमदेवकुलिकास्थापना—

६	५	३०
३६	१०	३६०
२१६	१०	२१६०
१२६६	५	६४८०
७७७६	१	७७७६

एवं सर्वासामपि (पूर्वोत्तराणां) देवकु-
लिकानां निष्पत्तिः स्वयमेवावसेया ।
इयं च प्ररूपणऽऽवश्यं कनिर्युक्तधमि-
प्रायेण कृता, भगवत्याभिप्रायेण तु न-
वजङ्गी । साऽपि प्रसङ्गतः प्रदर्श्यते ।
तथाह—हिसां न करोति-मनसा

१, वाचा २, कायेन ३, मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा
कायेन ६, मनसा वाचा कायेन ७, एतत्करणेन सप्त भङ्गीः । एवं
कारणेन २ अनुमत्या ३ करणकारणाभ्यां ४ करणानुमतिर्ज्या ५
करणानुमतिर्ज्या ६ करणकारणानुमतिर्ज्या ७ । एवं सर्वमश्रिता
एकोनपञ्चाशद्भवन्ति । एते च त्रिकालविषयत्वात् प्रत्याख्यान-
स्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशच्चतं भवन्ति । यदाह—

“मणवयकाइयजोगे, करणे कारावणे अणुमई अ ।

इङ्गगदुगतिगजोगे, सत्तासत्ते व गुणवन्ना ॥ १ ॥

पढमिको तिन्नि तिन्ना, दुन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव ।

कालतिगेण य सहिआ, सीआलं होइ भंगसयं ॥ २ ॥

सीआलं भंगसयं, पच्चक्खाणमि जस्स उवव्वहं ।

सो खलु पच्चक्खाणे, कुसलो सेसा अकुसलाओ ” ॥३॥ ति ।

त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्द्या, सांप्रतिकस्य संवरणेन,
अनागतस्य प्रत्याख्यानेनेति । यदाह—“अयं निंदाभि पमुप्पन्नं
संवरमि अणागयं पच्चक्खामि ति” । एते च भङ्गा अर्द्धिसामाश्रि-
त्य प्रदर्शिताः

व्रतान्तरे-	३	३	३	२	२	२	१	१	१
तत्र पञ्चा-	३	२	१	३	२	१	३	२	१
गुणवनेषु प्रत्येकं	१	३	३	६	६	३	३	६	६
ङ्कभावाद									

दाः श्रावकाणां भवन्ति । उक्तं च—“द्विविहा अद्विविहा वा, घसीसवि-
हा व सत्त पणतीसा । सोल सय सहस्स जवे, अद्वसयऽद्वत्तरा
वड्ढो” ॥१॥ इदं तु ज्ञेयम्—पञ्चभङ्गीवदुत्तरजङ्गपैकविंशतिज-
ङ्गया, तथा नवभङ्गया ३, तथैकोनपञ्चाशद्भङ्गया ४, द्वादश
द्वादश देवकुलिका निष्पद्यन्ते । यदुक्तम्—

“इगवीसं खलु जंगा, निदिछा सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ वावीस गुणा, इगवीसं पक्खवेअवा ॥ १ ॥

एगवए नव भंगा, निदिछा सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ दसगुण काउं, नव पक्खेवमि कायव्वा ॥ २ ॥

च गुण्यराशयस्त्वमी । एतेषां च पूर्वस्य पूर्वस्य पञ्चगुणेनऽग्रेत-
नो गुण्यराशिरायातीत्यानयने बीजम् । एते च पद-पदत्रिंशदा-
दयो द्वादशाऽपि गुण्यराशयः क्रमशो द्वादश-पदपट्टिप्रभृतिभि-
र्गुणकराशिभिर्गुणिता आगतराशयः ७२ आदयो जवन्ति, ते दे-
वकुलिकागततृतीयराशितो ज्ञेयाः । स्थापना चाग्रे—(पञ्चभङ्ग्यां
द्वादशव्रतदेवकुलिकायाः) अत्राप्युत्तरगुणा अविरतसंयुक्ताः
१३८४१२८७२०२ भवन्ति । उत्तरगुणाश्चात्र प्रतिमादयोऽभिप्र-
दविशोपा ज्ञेयाः । यदुक्तम्—“तेरसकोडिसयाई, उव्वसीइल्लुआई
वारस य वक्खा । सत्तासी अ सहस्सा, दो अ सया तह दुरग्गा

एगुणवत्तं जंगा, दिट्टा सलु मावयाण जे सुत्ते ।
ते चित्तं पंचासगुणा, इगुणवत्तं पक्खिमेअव्या ॥ ३ ॥
सीआत्तं भंगसयं, ते चि अडयालसयगुणं काउं ।
सीयालसणं जुअं, सव्वगा जाण जंगण ॥ ४ ॥

एकादश्यां घेलायां द्वादशवत्तं भङ्गकसर्वसंख्यायामागतं क्रमेण
खलुमदेवकुलिकातो इत्यम । तन्स्थापनाद्येमाः- (* द्वादशवत्तं देव-
कुलियां वरुण्य च भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) एव संपूर्णा देवकुलि-
का अपि एकविंशत्या द्वादशादेषु द्वादश द्वादशजावतीयाः स्था-
पनाः क्रमेण यथा- (* द्वादशवत्तं देवकुलिकायामेकविंशत्येकान्त-
पञ्चाशत्तमवत्तवारिश्चत्तं भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः इति प्रसङ्गतः
प्रदर्शिता भङ्गप्रकृपणाः । यालेन च द्विविधात्रिविधादिपरस्पर-
ग्येवोपयोगिनीत्युक्तमेवार्थमेवमित्यलं विस्तरण । धर्मः २
अधिः । पंचाः । प्रयः ०

अणुव्वजंत-अनुव्वजंत-वि० । अनुकृतं साध्वभिमुखं व्रजति,
मूत्रं १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुव्वयपाण-अनुव्वतपञ्चक-न० । अणुव्वतानां पञ्चकं यत्र
सोऽनुव्वतपञ्चकः । प्राकृतवशाच्चाप्यथा निर्देशः । पञ्चानुव्वतिके,
दशः ।

अणुव्वयमुह-अणुव्वतमुह-वि० । अणुव्वतानि मुखे आदौ येषां
तानि । साधुश्चावकविशेषधर्माचरणेषु, धर्मः २ अधिः ।

अणुव्वया-अनुव्वता-स्त्री० । अन्विति कुलाऽनुरूपं व्रतमाचारे-
ऽस्या अनुव्वता । पतिव्रतायाम्, उत्तः २० अ० ।

अणुव्वम-अनुव्वश-वि० । वशमुपागते, “ एवं तुभ्ये सरागन्था,
अन्नमन्नमणुव्वसा ” । अन्योऽन्यं परस्परतो वशमुपागताः पर-
स्परायत्ताः । मूत्रं १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुव्विवाग-अनुविपाक-पुं० । अनुरूपे विपाके, “ एवं तिरि-
क्खे मणुयासुरेसु, चतुरत्तणं तं तयुच्चिवागं ” मूत्रं १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

अणुमंगई-अणुसङ्गति-स्त्री० । आकाशादिद्रव्यस्य परमाणुसं-
योगे, द्रव्याः १२ अध्याः ० ।

अणुमंचरंत-अनुमंचरंत-वि० । वस्त्रस्यमाणे, मूत्रं १ श्रु०
१० अ० । पश्चात् सञ्चरणे, आचाः १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुमंधाण-अनुमन्धान-न० । बुद्ध्यापादाने, मूत्रं १ श्रु० १२ अ० ।
विस्मृतस्य ग्रहणे उपादाने, ‘ तस्मैव पपसंतराणुद्रुस्सऽणुसंधाणञ्च
डणा ’ तस्यैव पूर्वगृहीतमुद्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य कश्चिदेशे विस्मृ-
तस्य च या घटना साऽनुमन्धाना अनुसन्धानमित्युच्यते । पञ्चाः
१२ विवः ।

अणुमंधियं-देशी-अविगते, द्विक्रियां च । दे० ना० १ वर्गः ।
अणुमंवेयण-अनुमंवेदन-न० । पश्चात्संवेदने, अनुभवने च ।
आचाः १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अणुमंमरण-अनुमंमरण-न० । दिग्विदिशां गमनस्य जावदि-
गागमनस्य वा स्मरणे, आचाः १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुमज्जगा-अनुमज्जना-स्त्री० । अनुपत्तौ, द्यः १ उ० ।
(‘ निन्थाणुसज्जगा ’ शब्दे नार्थस्थानुसज्जनां व्याख्यास्यामः)

अणुमांजलत्था-अनुपक्ववत्-वि० । पूर्वकाज्ञात्काज्ञान्तरमनु-
वृत्तवति, भ० ६ श्रु० ७ उ० ।

अणुसटी-अनुशिष्टि-स्त्री० । अनुशासनमनुशिष्टिः । उपदेशप्र-
दानरूपे स्तुतिकरणे, तत्क्षणे वा वैयाकृत्यजेद, द्यः १ उ० ।
नि० चू० । पं० व० । शिक्षणे, दर्श० । इहलोकोऽप्यायप्रदर्शने,
श्रु० १ उ० । ‘ निविहा अणुसटी पञ्चत्ता । तं जहा-अयाणुसटी
पणुसटी तदुभयाणुसटी ’ स्था० ३ गा० ३ उ० । तत्र यद्
आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः, यत्पुनः परस्य
परेण वाऽनुशास्ते सा पराऽनुशिष्टिः, एवं तदनुज्ञयस्मिन् तदनुज्ञय-
विषयानुशिष्टिः । द्यः १ उ० । तत्राऽऽत्मनो यथा- “ वायाव्हीसे-
सणुमं, कम्मि महणुमि जीवणु हू कृत्तिओ । इरिह जह ण हू
उत्तिज्जमि, जुंजंता रागमेहिंति ” ॥ १ ॥ तथा विधेयमिति शेष
इति । स्था० ३ गा० ३ उ० । द्यः ० ।

दंरुमुलजमि झोए, मा अमतिं कुणह दंडितो मिति ।

एम छुहो उ दंरो, जवदंडनिवारओ जीव ! ॥

अवि यहु विमोहिओत्ते, अप्पाणायारमद्विओ जीव ! ॥

अप्पपरे उजए अनु-महो य थुं चि एगटो ॥

दाहः सुलजो यत्रासौ दण्डसुलभस्तस्मिन् लोके, हे जीव !
मा एवं रूपाममतिं कुमतिं कुर्याः । यथाऽहमाचार्येण प्रायश्चित्तदा-
नतो दण्डितोऽस्मीति, यत एष प्रायश्चित्तदानरूपो दण्डो दु-
र्लभः कस्माद् दुर्लभः, इत्याह-भवदण्डनिवारकः । “ निमित्तप-
र्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनां प्राये दशनम ” इति वार्तिके-
न हेतो प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यत एष दण्डो जव एव संसार
एव दुःसहदुःखात्मकत्वाद् दण्डस्तस्य निवारको भवदण्ड-
निवारकस्तस्माद् दुर्लभः । अपि चाहु निश्चितं हे जीवन्ति आत्मा
अनाचारमलिनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशोधितो जयति, तस्मा-
द् न दण्डितोऽस्मीति बुद्धिगात्मनि परिभाषयितव्या । किन्तु-
पकृतोऽहमनुपकृतपरहितकारिभराचार्यैरिति चिन्तनीयमि-
ति । एवममुना उल्लेखेन आत्मनि परस्मिन् उभयस्मिन्धानु-
शिष्टिगमन्तव्या । आत्मनि साक्षादियमुक्ता, पतदनुसारेण प-
रस्मिन्नुज्ञयस्मिन्नपि च सा प्रतिपत्त्येति ज्ञावः । अनु-
शिष्टिः स्तुतिरित्येकार्थी । अत्रापिशब्दः सामर्थ्याद् गम्यते, ए-
तावपिशब्देकार्थी । किमुक्तं जवति-अनुशिष्टिः स्तुतिरित्य-
पि द्रष्टव्यमिति । द्यः १ उ० । परानुशिष्टिर्यथा- “ ता तं सि भा-
ववेज्जो, भवदुक्खनिर्पासिया नुहं एते । हंदि सरणं पवत्ता, मो-
पयव्वा पयत्तेणं ” ॥ १ ॥ तदनुज्ञयाऽनुशिष्टिर्यथा- “ कड कह वि मा-
णुसत्ता-इ पावियं चरणपवररयणं च । ता भो ! इत्थं पमाओ,
कइया वि न हजए अम्हं ” ॥ १ ॥ स्था० ४ गा० १ उ० । नि० चू० ।
हितोपदेशरूपायां शिक्षायाम्, “ सिद्धाण णमो किच्चा, संजया-
णं च भावओ । अत्थ धम्ममगं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणह मे ” ॥ १ ॥
इत्याद्यनाथमुनिना श्रेणिकं प्रत्यनुशिष्टिः कृता । उत्तः २० अ० ।
द्यः । सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहणं साऽविधेयेति यत्रोपदिश्यते
साऽनुशास्तिः (“ जिणकप्प ” शब्दे जिनकल्पं प्रतिपद्यमानेन
साध्वानामनुशिष्टिर्बुध्यते) आहरणतद्देशभेदे च, यथा गुणवन्तो-
ऽनुशासनीया जयन्ति । यथा साधुश्चोचनपतिरजःकणापनयनेन
लोकसम्प्राप्तिलक्षणादङ्गा, तन्मालनायागाधितदेवताकृतप्रा-
तिहार्याचालनित्यवस्थापितोद्दकाच्छेदनतोद्घाटितचम्पांगोपु-
रयथा सृजता अहो ! शीलवतीति महाजनानानुशास्तेति । इह
च तथाविधवैयाकृत्याकरणादिनाऽप्युपनयः सम्भवति, तस्या-
मेव च महाजनानुशास्तिमात्रेणोपनयः कृत इत्याहरणतद्देशने-
ति । एवमनन्तरमनांशयागादिभिमतांशोपनयमुत्तरेष्वपि ज्ञाव-

* ४२०-पृष्ठे द्वादशव्रतदेवकुलिकानां भङ्गस्थापनायन्त्रम् ।

॥ १४७ भक्त्यां द्वादश वनदेवकुलिकाः ।

[illegible][illegible]

* ४१०-पृष्ठे षादशव्रतदेवकुलिकानां भङ्गस्थापनायन्त्रम् ।

॥ वज्रहारां प्रादशमनदेशकुलिकाः ॥

॥ नवभक्त्यां तादृशानन्देवकुलिकाः ॥

॥ एकविंशतिनक्षत्राणां द्वादशमन्त्रदेवकुलिकाः ॥

॥ ४९ ॥ अङ्ग्यां चादश वतकुलिकाः ॥

॥ १४७ भक्त्यां द्वादश वनदेवकुलिकाः ।

* ४१०-पृष्ठे द्वादशव्रतदेवकुलिकानां भङ्गस्यापनायन्त्रम् ।

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80																				

नीयमिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्य-
स्यार्थे, वृ० १ उ० ।

अणुसमय-अनुसमय-अव्य० । समयं समयमनुवृत्तीकृत्येत्य-
नुसमयम् । वीप्सायामध्ययीज्ञावः । कर्म० ५ कर्म० । सततमि-
त्यर्थे, उक्त० ५ अ० । प्रतिसमयमित्यर्थे, क० प्र० । प्रति० । प्र-
तिकृणमिन्यर्थे, च० प्र०६ पाहु० । "अणुसमयं अविरहियं निरं-
तरं उववज्जाति" । अनुसमयमित्यादिपदत्रयमेकार्थम् । भ० ४१
श० १ उ० ।

अणुसमवयवोववत्तिअ-अनुसमवदनोपपातिक-त्रि० । अ-
नुरूपा समाऽविषमा वदनोपपत्तिद्वाराघटना येषांते तथा । अ-
नुलोमाऽविषमद्वाराघटनाके, " ससिमूरचक्रवक्खण-अणुसम-
वयवोववत्तिआ " ज० ३ वक्क० ।

अणुसय-अनुशय-पुं० । गंधं, पञ्चात्तापे च । अनु० । प्रश्न० ।

अणुसरण-अनुस्मरण-न० । सदसत्कृतव्यप्रवृत्तिहेतुज्ञेऽ-
नुचिन्तने, पञ्चा० १ विव० । " णाणानयाणुसरणं, पुटवगय-
सुयाणुसारणं " आ० ४ अ० । स्मृतौ, विश० ।

अणुसरियव-अनुसर्नव्य-त्रि० । अनुगन्तव्ये, स्था० ४ ठा० १ उ० ।
अनुस्मर्नव्य-त्रि० । अनुचिन्तनीये, " अणुसरियवो सुहेण
चित्तेण एसेव नमोक्कारा कयन्तुयं मन्नमाणेणं " आ० म० द्वि० ।

अणुसरिम-अनुसदृश-त्रि० । अनुरूपे, "अणुसरिसां तस्स हो-
उवज्जाओ" व्य० २ उ० ।

अणुसार-अनुसार-पुं० । अनु-सृ-भावे घञ् । अनुगमने, सद-
शीकरणे च । वाच० । " विज्जमासु अ लक्खणाणुसारणं " इ-
त्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, विश० ।

अनुस्वार-पुं० । स्वराश्रयेण उच्चार्यमाणे विन्दुरेखया व्यज्य-
माने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारो विद्यतेऽस्येति अ-
त्रादिज्य इति मत्वर्थोऽयमुक्त प्रत्ययः । अनुस्वारवस्वनोच्चार्यमा-
णेऽनङ्गरधुतविशेषे, आ० म० द्वि० । न० । " अणुस्वारं णाम
पमहुट्टे अच्चे सत्ते वा संभरिते अन्नेण वा संभरिते जं अक्ख-
रविरहितं सहकरणं तमणुस्वारं जघति " । आ० चू० १ अ० ।

अणुसामंत-अनुशासत्-त्रि० । शिक्षयति-शिक्षां प्रयच्छति,
उक्त० ४ अ० ।

अणुमासण-अनुशासन-न० । अनुशास्यन्ते सन्मागेऽवतार्य-
न्ते सदसद्विषयकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम् । धर्मदेशनस-
न्मार्गाऽवतारणे, " अणुमासणं पुटो पाणी, वसुमं पयणामु ते "
सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । जगदाकारूपे-अगमे च । " सोच्चा
जगवाणुसासणं, सच्चे तथ करेज्जुवक्कमे " सूत्र० १ श्रु० २
अ० ३ उ० । शासनमनु-अध्ययीज्ञावः । यथागममित्यर्थे । सूत्रानु-
सारेणेति यावत् । "अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं संमे पवेद-
यं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । शिक्षायाम्, ज्ञा० १६ अ० ।
उक्त० । जी० । राजद्विष्टराज्ञोऽनुशासनं वक्ष्यामि । पञ्चा० ६
विव० । दुःस्थस्य सुस्थतासंपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अ-
णुकं पत्ति वा अणुसासणंति वा एगठा " पं० चू० । अनुशास-
नं ज्ञयमाने वा दष्टे वा, किमुक्तं ज्ञयति ?-सामाचारीतः प्रतिज्ञ-
यमानान् कथञ्चिद् रुष्ट्यादनुशास्ति तदनुशासनम् । यदि वा
यां यथोक्तकार्येऽपि सन् कथञ्चिन्न कुरुते, तत्कस्यचिच्छिक्कणम्,

'एतत्तव कृत्यमिति' रुष्ट्यादनुशास्ति एतदनुशासनम् । संग्रह-
जदे, व्य० ३ उ० । ' अणुमासणं'- अनुशास्ते । वृ० १ उ० ।

अणुमासणविधि-अनुशामनविधि-पुं० । अनुशास्तिविधाने,
पञ्चा० ६ विव० ।

अणुसासिज्जंत-अनुशास्यमान-त्रि० । तत्र तत्र चोद्यमाने,
" अणुसासिज्जंतो सुस्सुसइ " । दश० १ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अणुसामिय-अनुशामित-त्रि० । युक्तानि शिष्यमाणे कथञ्चि-
त् स्खलितादिषु गुरुभिः परुषोक्त्या शिक्षिते-गुरुभिः कठोरव-
चनैस्तज्जितं, उक्त० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुसिद्ध-अनुशिष्ट-त्रि० । शिक्षां गृहीते, " तत्तेण अणुसि-
द्धाते, अपडिन्नेण जाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुमिद्धी-अनुशिष्ट-स्त्री० । तदभावकथनपुरस्सरं प्रज्ञाप-
नायाम्, वृ० १ उ० । ('अणुसिद्धी' शब्दप्रकरणे दर्शितार्थे,)
शिक्षायाम्, उक्त० १० अ० ।

अणुमुत्ती-देशी-अनुकूले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुसूयग-अनुसूचक-पुं० । नगराभ्यन्तरे चारमुपलभमाने,
सूचककथितं श्रुतं दृष्टं वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः
कथयति, सामन्तगज्येषु वसतिकृतवृत्तिके अमात्यपुरषे,
तादृश्यां कृतवृत्तिकायां चैव महिलायाम्, "सूयग तहाऽणुसू-
यग-पडिसूयग सव्वसूयगा च्व । पुगिसा कयविच्चीया, वसंति
सामंतनगं सु ॥१॥ महिला कयविच्चीया वसंति सामंतण-
गं सु " व्य० १ उ० ।

अणुम् (स्मृ) यत्ता-अनुस्यूतत्व-न० । अपरशरीराश्रितता
यां परनिश्रायाम्, " अचिन्तसु वा अणुस्यूताए वि उट्ठंति "
सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अणुसोय-अनुश्रोतस्-न० । प्रवाहे, "अणुसोयपट्टिण बहु, जं-
णम्मि पडिसोयलद्धलक्खेण । पडिसोयमेव अण्णा, दायव्वो
होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसमो
सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्ता-
रा " ॥२॥ अष्ट० २३ अष्ट० । पं० सू० ।

अणुसोयचारि (ए)-अनुश्रोतश्चारिन्-त्रि० । अनुश्रोतसा
चरतीति अनुश्रोतश्चारि । नद्यादिप्रवाहगामिनि मत्स्ये, एवं
भिक्षाके च । यो हि अभिग्रहविशेषादुपाश्रयसमीपात् क्रमेण
कुलेषु भिक्षते सोऽनुश्रोतश्चारि । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुसोयपट्टिय-अनुश्रोतःप्रस्थित-त्रि० । नदीपूरप्रवाहपतित-
काष्ठवद् विषयकुमार्यद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते, "अणुसोय-
पट्टिण बहु, जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अ-
ण्णा, दायव्वो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ चू० ।

अणुसोयसुह-अनुश्रोतःमुख-त्रि० । उदकभिन्नाभिसर्पणवत्
प्रवृत्त्याऽनुकूलविषयादिसुखे, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो
लोगो " दश० २ चू० ।

अणुस्मग-अनुत्सर्ग-पुं० । अपरित्यागे, दर्श० ।

अणुस्मरित्ता-अनुमृत्य-अव्य० । अनुसारं कृत्वेत्यर्थे, "अंधं व

अणुस्सरित्ता

ऐयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चैवं विणिहन्ति मंदा ” सूत्र० १
श्रु० ९ अ० ।

अणुस्मव-अनुश्रव-पुं० । अनुश्रूयते गुरुमुखादिन्यनुश्रवः । वे-
दे, द्वा० ७ द्वा० ।

अणुस्सुय-अनुश्रुत-त्रि० । अवधारिते गुरुजिख्यमाने, उत्त० ५
अ० । श्रवणपथमायाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । भारतादौ
पुराणे धृते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सकोऽनुश्रुतः ।
सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । औत्सुक्यरहिते, पं० सू० ४ सू० ।

अणुस्सुयत्त-अनुत्सुकत्व-न० । विषयमुखेऽनुत्तालत्वे, “सुह-
साएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । उत्त० २ ए अ० ।

अणुहवसिष्ठ-अनुजवसिष्ठ-त्रि० । स्वसंवेदनप्रतीते, पञ्चा०
३ वि० ।

अणुहविउं-अनुजृय-अव्य० । संवेद्येत्यर्थे, पञ्चा० २ वि० ।

अणुहियासण-अन्वध्यासन-न० । अविचलकायतया सहने,
जं० २ वक्त्र० ।

अणुहूअ-अनुजृत्-त्रि० । अनु-भू-क्त । प्राकृते “ केहुः ” ॥ ७
४ । ६४ ॥ भुवः के प्रत्यये हूरादेशः । अनुजवविपर्याकृते, प्रा० ।

अणू-देशी-शास्त्रिनेदे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणूव-अनूप-त्रि० । अनुगता आपो यत्र । ब० स० । अच् स-
मा० । अत उत्त्वम् । जलप्राये स्थाने, वाच० । नद्यादिपानीयव-
हुले, वृ० १ उ० । विशेष० । व्य० ।

अणूवदेम-अनूपदेश-पुं० । जलदेशे, व्य० ४ उ० ।

अणोक्क(ग)-अनेक-त्रि० । बहुत्वे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । अनेक-
शब्दघटितप्रयोगा यथा- “ अणेगगणनायकदेरुनायकराईसर-
तलवरमार्गविश्रकोरंविश्रमतिमहामतिगणकदोवारिश्रममच्च-
चेरुपिठमहनगरनिगमसेट्टिसेणावडसथवायदूतसंधिवालसर्द्धि
संपरिवुमे ” अनेके ये गणनायकादयस्तेषां द्रष्टव्यस्तत्सैरिह
तृतीयावहवचनत्रोपो ऋष्यः (सर्द्धि ति) सर्द्धिं सहेत्यर्थः ।
न केवलं तस्मद्दिनन्वमेव, अपि तु तैः समिति समन्तात् परि-
वृतः परिवारित इति । औ० । “ अणेगजाइजरामरणजोणिवेय-
ण ” अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनियु वेदना यत्र स तथा ।
(संसार इति विशेष्यम्) औ० । “ अणेगजातिजरामरणजोणि-
संसारकलंकलिभावपुण्यभवगभववासवसहीपवंचसमइकंता-
सासयमणागयसिचं ” अनेकैर्जातिजरामरणैर्जन्मजरामृत्यु-
भिर्यश्च तासु योनियु संसारः संसरणं तेन च यः कलङ्कली-
भावः कदर्थ्यमानता यश्च दिव्यमुखमनुप्राप्तानामपि पुनर्भवे
संसारो गर्भेवसतिप्रपञ्चः, तां समतिक्रान्तां, अत एव शाश्वत-
मनागते कात्रे तिष्ठन्ति । (सिद्धा इति विशेष्यम्) प्रज्ञा० २ पद ।
अनेकजातिसंश्रयाद् विचित्रत्वम् । सर्वभावानुप्यापितचित्ररू-
पता । रा० । इह जातयो वर्णनीयवस्तुरूपवर्णनानि । स० ।
“ अणेगणरुकरुगवियरउभ्रगपवायपडतागसिह्रपउरे ” अ-
नेकानि नटानि कटकाश्च गरुडौला यत्र स तथा । विवराणि,
अवभ्रगाश्च निर्जगविशेषाः, प्रपाताश्च भृगवः, प्राग्भागाश्च ईष-
द्वनता गिरिदेयाः, शिखराणि च कूटानि, प्रचुराणि यत्र स
तथा । ततः कर्मधारयः (पर्वत इति विशेष्यम्) ज्ञा० ४ अ० ।

“ अणेगणरवामसुप्सारियअगिउभ्रघनविपुत्रवट्ठखंधी ” अ-
नेकैरनव्यामैः पुरुषव्यामैः सुप्सारितैरग्राह्योऽप्रमेयो घनो नि-
विशो विपुत्रो विस्तीर्णो वृत्तः स्कन्धो येषां ते-अनेकनरव्याम-
सुप्सारिताग्राह्यघनविपुलवृत्तस्कन्धाः । रा० । ज्ञा० । “ अणेग-
चूयभावभविपविअहं ” अनेके भूता अतीता भावाः सत्त्वाः प-
रिणामा वा ज्ञयाश्च भाविनो यस्य स तथा । इति श्रुतं प्रति-
स्थापत्यापुत्रः । स्था० १ वा० १ उ० । “ अणेगमणिरयणवि-
हणिउत्तविचिच्चिध्रगया ” अनेकानि बहुनिमणिरत्नानि प्रती-
तानि विविधानि बहुप्रकाराणि नियुक्तानि नियोजितानि येषु
तानि तथा, तानि विचित्राणि चिह्नानि गताः प्राप्ताः ये ते तथा ।
(सुपुरुषवर्णकः) औ० । प्रश्न० । “ अनेगमणिरयणवि-
हसुविगइयनामचिधं ” अनेकैर्मणिरनैर्विविधं नानाप्रकारं
सुविरचितं नाम चिह्नं निजनामवर्णं पङ्क्तिरूपं यत्र स तथा ।
जं० ३ वक्त्र० । “ अणेगमणिकणगरयणपहकरपरिमंरिय-
भागभत्तिचित्तविणिउत्तगमणगुणजणियपेखोलमाणवरललि-
यकुंरुवुज्जवियअहियआजरणजणियसोभे ” अनेकमणिरत्नक-
नकनिकरपरिमणिरुतभागे ज्ञानचित्रे विच्छिन्नचित्तविचित्रे विनियु-
क्ते कर्णयोर्निवेशिते गमनगुणेन गतिसामर्थ्येन जनिते कृते प्रेक्षा-
माने चक्षुषे ये वरललितकुण्डले ताज्यामुज्ज्वलितेनोद्दीपनेनाधि-
काज्यामाजरणाभ्यामुज्ज्वलितानिधिकावर्णाऽऽजरणेश्च कुण्डलव्यति-
रिक्तैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । ज्ञा० १ अ० । “ अणेगहसगर-
जाणुभगगिह्लिधिल्लिसिवियपरिमोयणा ” अनेकेषां रथशकटा-
दीनामधोविस्तीर्णत्वात् प्रतिमोचनं येषु ते तथा । रा० । “ अणेग-
रायवरसहससाणुआयमग्गे ” अनेकेषां राजवराणां बहुमुकुटराज्ञां
सहस्रैरनुयातोऽनुगतो मार्गः पृष्ठं यस्य स तथा । जं० ३ वक्त्र० ।
“ अणेगवंदाप ” अनेकानि वृन्दानि परीवारो यस्याः सा तथा
तस्याः (पर्वदः) रा० । “ अणेगवरगुरगमत्तकुंजरहपहकर(सहकर)
सीयसंदमाणीयाइणजाणजुग्गा ” अनेकैर्वरगुरगैर्मत्तकुञ्जरैः (रह-
पहकरेत्ति) रथानिकरैः (रहसहकरेत्ति वा) रथानां सहकारैः सङ्घा-
तैः शिविकाभिः स्यन्दमानीजिराकीणा व्याप्ता यानैर्दुभ्यैश्च या सा
तथा । आकीर्णशब्दस्य मध्यनिपातः प्राकृतत्वात् । अथवा अने-
के वरगुरगादयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानादीनि यस्यां
सा । औ० । “ अणेगवरवक्खणुत्तमपसत्थसुइरइयपाणव्वेह ” अने-
कैर्वरलङ्कणैरुत्तमाः प्रशस्ताः शूच्यो रतिदाश्च रस्याः पाणिषेखा
यस्य स तथा । औ० । “ अणेगवायामजोगवगणवामहनमल्लजु-
रुकरेणहि ” अनेकानि यानि व्यायामनिमित्तयोग्यादीनि तानि
तथा तैः तत्र योग्या गुणनिका चलनमुल्लङ्घनं व्यामर्दनं परस्पर-
स्याङ्गमाटनं मल्लयुद्धं प्रतीते करणानि चाङ्गभङ्गविशेषा मल्ल-
शास्त्रप्रसिद्धाः । औ० । ज्ञा० । “ अणेगवाससयमाउयंता ”
अनेकवर्षशतायुष्मन्तः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । “ अणेगसउ-
णिगणमिहुणपवियरिप ” अनेकशकुनिमिश्रुतकानां प्रविचरित-
मितस्ततो गमनं यत्र तत्तथा (प्रयातकुण्डम्) जं० ४ वक्त्र० ।
रा० । “ अणेगसंकुकीवगसहससवितते ” अनेकैः शङ्खप्रमाणैः
कीलकसदस्त्रैर्महद्भिर्हि कीलकैस्ताम्रितप्राया मध्यक्षाः संभव-
न्ति । तथारूपतासां संभवादतः शङ्खग्रहणं, विततं वितानीकृतं
ताडितमिति भावः । रा० । जी० । “ अणेगसायाप ” अनेकानि
पुरुषाणां शतानि संख्यया यस्याः सा अनेकशता, तस्याः । रा० ।
“ अणेगसाहप्पसाहविमिमा ” अनेकशाखाप्रशाखाविटपयस्तन्म-
ध्यभागो वृक्षविस्तारो वा येषां ते (वृक्षाः) । औ० । ज्ञा० ।

अणोक्तांतरसिद्धकेवलनाण—अनेकान्तरसिद्धकेवलज्ञान—
न० । आज्ञितिवेधिकज्ञानभेदे, स्था० २ डा० १ उ० ।

अणोक्तगण्य—अनेकाङ्गिक—पुं० । अनेकपट्टकृते, नि० चू० १ उ० ।
कान्तिकाप्रस्तागमके संस्तरभेदे च । ध्य० २ उ० ।

अणोक्त—अनेकान्त—वि० । न एकान्तो नियमोऽन्यत्रिचारी यत्र ।
अनियमे, अनिश्चितफलके च । वाच० । अनिश्चये, विशेषे । एकाग्र्ये,
प्रव० ३८ डा० ।

अणोक्तजयपमाणा—अनेकान्तजयपताका—स्त्री० । हस्तिचमूरी-
विरचिते खनामख्याने ग्रन्थभेदे, यद्वृत्तिविचरणं मुनिचन्द्रेणा-
कारि । तदुपक्रमे “शेषमतातिशयानां, यस्यानेकान्तजयपताके-
ह । हर्तुमशक्या केनाऽपि वादिना नैमि तं वीरम् ॥१॥ कतिपयवि-
षमपदगतं, वक्ष्येऽनेकान्तजयपताकायाः । वृत्तेर्विचरणमहम-
द्वपुच्छिवुद्धये समासेन” ॥२॥ अनेकान्तजयपताकावृत्तिविष० ।

अणोक्तपग—अनेकान्तात्मक—न० । अश्न्यते गम्यते निश्चीयते
इत्यन्तो धर्मः । न एकोऽनेकः । अनेकश्चाऽसावन्तश्चानेकान्तः ।
स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तात्मकम् । स-
दसदायनेकधर्माऽऽत्मके, रत्ना० ३ परि० ।

अणोक्तवाय—अनेकान्तवाद—पुं० । स्याद्वादे, स च यथा युक्त-
तामञ्जति, तथा स्याद्वादमञ्जर्यादियन्थेभ्यः मंगृह्यते ।

(१) एकान्तवाददृष्टपुरुस्सरमनेकान्तवादिमतम् ।

(२) प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमन्यनेकान्तवादं येऽयमन्यन्ते
तेषामुन्मत्तताऽऽविर्भावनम् ।

(३) उत्पादविनाशयोरैकान्तिकताऽऽनुपगमनिषेधः ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम् ।

(५) वस्तुन एकान्तसद्वृत्त्यं स्वीकुर्वतः सांख्यमतस्य
परामर्शे युक्तिः ।

(६) कान्तानेकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेव ।

(७) साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।

(८) अनेकान्तवाद एव सन्मार्गः ।

(९) एकान्तवादिनोऽज्ञाः ।

(१०) अनेकान्तवादस्वीकारास्वीकारयोः सम्यग्मिथ्यात्वम् ।

(१) तत्रैकान्तवाददृष्टपुरुस्सरमनेकान्तवाद्याह—

आदीपमाव्योम समस्वजावं,
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु ।

तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य—

दिति त्वदाऽऽङ्गाद्रिपतां प्रज्ञापाः ॥ ५ ॥

आदीपं दीपादारभ्य, आव्योम व्योममर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तु प-
दार्थस्वरूपं, समस्वभावम्-समस्तुल्यः स्वभावः स्वरूपं यस्य त-
त्तथा । किञ्च—वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः ।
तथा च वाचकमुख्यः—“उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” इति ।
समस्वभावत्वं कुतः ? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—(स्याद्वाद-
मुद्राऽनतिभेदि) स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वा-
दोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशब्दैकवस्त्वभ्युपगम
इति यावत् । तस्य मुद्रा मर्यादानां नातिभिनत्ति नातिक्रामतीति
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि । यथाहि—न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्य-
श्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तिर्नुमीशाने,
तदतिक्रमे तासां सर्वाथैहानिभावात् । एवं विजायानि निष्क-

एतके स्याद्वादमहानरेन्द्रे नदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नाति-
क्रामन्तिः तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसङ्गः । सर्वव-
स्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि
नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेवेति वादस्य प्रतिपत्ति-
र्वाजम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्या-
यार्थिकनयादेशात् पुनर्नित्याः । तत्रैकान्ताऽनित्यनया परै-
रङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्र-
मुच्यते । तथाहि—प्रदीपपर्यायाऽऽपत्तास्तैजसाः परमाणवः स्वर-
सतस्त्वेतल्लजयाद्वाताभिधानाद्वा, ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमो-
रूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः, पुञ्जद्रव्य-
रूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । न ह्येतावन्तैवाऽनित्यत्वं यावता
पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद-
द्रव्यं स्थासककांशुकुशलशिवकघटाद्यवस्थाऽन्तराण्यपद्यमा-
नमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्व्यानुगमस्याऽऽवालगोपालं
प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौञ्जलिकत्वमसिद्धम् ; चाक्षुषत्वाऽ-
न्यथाऽनुपपत्तेः । प्रदीपालोकवत् । अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं
स्वप्रतिभासे आशोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत् कथं चाक्षुषम् ?
नैवम् । उल्कादीनामाशोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात् । यैस्त्व-
स्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नापलभ्यते,
तैरपि निमिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वान्नावानाम् । कथम-
न्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्श-
नाः । प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः इति सिद्धं तम-
श्चाक्षुषं, रूपवत्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययज-
नकत्वात् । यानि त्वनिविभावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुभूतस्पर्-
शविशेषत्वमप्रतीयमानस्पर्शावयविषयप्रविज्ञानवमित्यादीनि
तमसः पौञ्जलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि
प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्याति, तुल्ययोगक्षेमेत्वात् । न च
वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति ? पुञ्ज-
ज्ञानां तत्तत्सामग्रीसदृकतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्याऽपि
दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्द्रैश्चनसंयोगवशाज्जास्वरूपस्याऽपि बहिर-
भास्वरूपधर्मरूपकार्योत्पादः ; इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः ।
यदाऽपि निर्वाणादर्वाग देदीप्यमानो दीपस्तदाऽपि नवनवपर्या-
योत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य
एव । एवं व्योमपि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव ।
तथाहि—अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव
तल्लक्षणम्, “अवकाशदमाकाशमिति” वचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्त्रिस्तातो वा एक-
स्मान्नजः प्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योम्नस्तै-
रवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विज्ञातः, उत्तरस्मिन् च प्रदेशे
संयोगः । संयोगविज्ञातो च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ । तद्वदे चा-
वश्यं धर्मिणो जेदः । तथा चाह—“अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा,
यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणजेदश्चेति” । ततश्च तदाकाशं पूर्वसं-
योगविनाशलक्षणपरिणामापस्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादा-
ख्यपरिणामानुभवाद्योत्पन्नम् । उत्तयत्राऽऽकाशद्रव्यस्यानुगतत्वा-
द्योत्पादव्यययोरैकाधिकरणत्वम् । तथा च “यदप्रच्युतानुत्पन्न-
स्थैरकरूपं नित्यम्” इति नित्यलक्षणमाचक्षते । तद्वत्वास्तम् । एवं-
विधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । “तद्वाव्ययं नित्यम्” इति तु
सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादन्व-
यिरूपायन्न व्येति तन्नित्यम्, इति तदर्थस्य घटमानत्वात् । यदि हि
अप्रच्युताऽऽदि लक्षणं नित्यमिष्यते, तदाऽत्पादव्यययोर्निराधारत्व-

प्रसङ्गः । न च तथोर्थो नित्यव्यवहारीति ॥ उच्यते पर्यायवियुते, पर्याया उच्यन्ति ॥ क कदा केन किरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ इति वचनात् । न चाकाशं न उच्यते, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं घटाऽऽकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धे राकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम् । घटाऽऽकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं, तदा घटाऽऽकाशमिति व्यवहारः । न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव ? उपचारस्याऽपि किञ्चित्समाधेयद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । न तस्यो हि यत्किञ्च सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं, तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धितयतपरिणामवशात्कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवहियमाणं घटाकाशपटाकाशादितत्तच्छ्रवदेशनिबन्धनं भवति । तत्तद्व्यवहारसंबन्धं च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नाऽवस्थान्तरापत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावत्ताऽपि जेदः, तासां ततेऽविष्यगजावात् । इति सिद्धं नित्याऽनित्यत्वे व्योम्नः । स्यादस्तु वा अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपञ्चाः । तथा चाहस्ते-त्रिविधः स्वस्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मवृत्तकृणावस्थारूपः । स्वयं धर्मिणः तस्य धर्मपरिणामो वर्तमानरुचकादिः, धर्मस्य तु वृत्तपरिणामोऽनागतत्वादिः । यदा स्वस्वयं हेमकारो वर्तमानकं भङ्गवा रुचकारश्चयति, तदा वर्तमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वाऽनतालक्षणमापद्यते, रुचकस्तु-अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतामापद्यते । वर्तमानताऽऽपन्न एव रुचको नवपुराणजायमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति । सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः धर्मवृत्तकृणावस्थाश्च धर्मिणो जिघा-श्चाग्निप्राश्च । तथा च ते धर्म्यभेदास्तनित्यत्वेन नित्याः जेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयवन्मिथुनमुपपन्नमिति ॥ अयोत्तरार्धं विमिश्रिते एवं चोत्पादय्यधौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशाऽऽमादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदोषघटादिकमनित्यमेवेति । एवकारोऽत्रापि संवध्यते । इत्थं हि पुनर्यथादापत्तिः, अनन्तधर्मात्मकं वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तल्लज्जनात् । इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विपत्तां जयप्रणोतशामनविरोधिनां, प्रज्ञापाः प्रज्ञापिताऽन्यसर्वव्यापक्यानीति यावत् । अत्र च प्रथममादोषमिति परप्रसिद्ध्या अनित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकान्त्युक्तं, तदेवं ज्ञापयति-यदानित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्, यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित् । प्रकान्तवादिनिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्याऽनित्यत्वाऽऽनुपगमनात् । तथा च प्रशस्तकारः-सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च । परमाणुवृत्तकृणा नित्या, कार्यवृत्तकृणा न्वनित्येति । न चात्र परमाणुऽन्यकार्यवृत्तकृणाविषयद्वयेद्वैकाधिकरणं नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम् ? पृथिव्यान्वस्योभयवार्थविचारान् । एवमवार्थाद्व्यपीति । आकाशेऽपि संयोगान्वभागाङ्गाकारात्तर्गतित्यत्वं युक्त्या प्रतिपद्यमेव । तथा च स पवाह-“ शब्दकारणव्यवचनान् संयोगविनाशो ” इति नित्याऽनित्यपक्षयोः संवलितत्वम् । एतच्च लेशतो जायितमेवाति । प्रलापप्रायत्वं च परवचनातामन्थ समर्थनीयम्, वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्, तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न श्यते । अप्रच्युताऽनुपपन्नस्यैकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्यात् ? अक्रमेण वा ? अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तराऽसंभवान् । तत्र न तावत् क्रमेण । स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसज्य कुर्यात्, समर्थस्य कारकप्राप्त्यागतं, कारकपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधानं तं तमर्थं करोतीति चेत्, न

तर्हि तस्य सामर्थ्यम् अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । “सापेक्ष-मसमर्थम्” इति न्यायात् । न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यते, अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसस्वजनयत् तानपेक्षत इति चेत्, तत्किं स जायोऽसमर्थः ? समर्थो वा ? समर्थश्चेत्किं सहकारिमुखप्रेक्ष-णदीनानि तन्नुपेक्षतं, न पुनरिति घटयति ? ननु समर्थमपि बीजमिन्द्राज्जाऽनिन्द्रादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा । तत्किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियते ? न वा ? यदि नोपक्रियते तदा सहकारिसन्धिधानात् प्रागिव किं न तदाऽप्यर्थक्रियायामुदास्ते ? उपक्रियते चेत्, स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽनिन्नो वा ? कियत् इति वाच्यम् । अभेदे स पथक्रियते, इति त्रान्तिमच्छता मूलजतिरायता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वाऽऽपत्तेः । जेदे तु स कथं तस्योपकारः, किं न सहाविध्यद्वारेपि ? तत्संबन्धात् तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारयोः कः संबन्धः ? न तावत्संयोगः, उच्यते योरैव तस्य भावात् । अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः । नाऽपि समवायः, तस्यैकत्वाद्, व्यापकत्वाच्च । प्रत्यासत्तिविप्रकर्षांजायेन सर्वत्र तुल्यत्वाच्च नियतैः संबन्धितः संबन्धो युक्तः । नियतसंबन्धिसम्बन्धे चाङ्गी-क्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सन्नुपकारस्य भेदाऽजेदकल्पना तदवस्थैव । उपकारस्य समवायाजेदं समवाय एव कृतः स्यात् । जेदे तु पुनरपि समवायस्य न नियतसंबन्धिसंबन्धत्वम् । तत्रैकान्तनित्या भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते । नाप्यक्रमेण । नहोको जावः सकृत्कालकृत्कालापाजवि-नार्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रार्थितिकम् । कुरुतां वा, तथापि द्वितीयकृते किं कुर्यात् ? करणे वा क्रमपञ्चजावी दोषः । अकर-णे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावादवस्तुत्वप्रसङ्गः । इत्येकान्तनित्यात् क्रमाऽक्रमान्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपपन्नध्वबलाद् व्याप-कानवृत्तौ निवर्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति । अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति । इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्रमः । एकान्तनित्यपक्षोऽपि न क-र्त्ताकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशो । स च न क्रमे-णार्थक्रियासमर्थः, देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावा-त् । क्रमाऽहि पौर्वापर्यम्, तच्च कालिकस्यासंभवि । अवस्थितस्यै-व हि नानादेशकालव्याप्तिदेशक्रमः, कालक्रमश्चाभिधीयते । न चैकान्तविनाशिनो साऽस्ति । यदाहुः-“यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदेव तदेव सः । न देशकालयोर्व्याप्ति-जावानामिह विद्यते ॥१॥ न च सन्तानोपकृया पूर्वोत्तरकृणानां क्रमः संजयति ? सन्तान-स्यावस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि कृष्णकत्वम् ? न तर्हि कृष्णः काश्चिद्विशेषः । अथाऽकृष्णकत्वम् ? तर्हि समाप्तः कृष्ण-भङ्गवादः । नाप्यक्रमेणार्थक्रियाकारिके संजयति, स हि एको बीजपूरादिज्ञां युगपदनेकान् रसादिकृणान् जनयन् एकैव स्व-भावेन जनयेत् ? नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन, तदा तेषां रसादि-कृणानामेकत्वं स्यात्, एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नाना स्वभा-वैर्जनयति किञ्चिदुपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिदसादिकं सह-कारित्वेनेति चेत्, तर्हि न स्वभावास्तस्यामृताः ? अनन्तमृता-वा ? अनन्तमृताश्चेत्, स्वभावत्वहानिः भयान्तामृतास्तर्हि तस्याने-कत्वम्, अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत, त-दव्यतिरिक्तत्वात् तेषाम्, तस्य चैकत्वात् । अथ य एव एकत्रोपा-दानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते, तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः, कार्यसाङ्ग्यं च कथामयते क्षणिकत्वादिना ? अथ नित्यमेक-

पत्वादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः ? इति चेत् ; अहो ! स्वपक्षपाती देवानां प्रियः, यः खलु स्वयमेकस्माच्चिरंशाद्रूपादिकृणात्कारणायुगपदनेकारणसाध्यान्त्येककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भवयति । तस्मात् कृणिकस्यापि भावस्याक्रमणार्थक्रिया दुर्घटा । इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्यापकयोनिवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकाऽनुपपन्नविश्वलेनैव निवर्तते, इत्येकान्तानित्यवादाऽपि न रमणीयः । स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ? । नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पठन्ति-“ जगो सिंहो नरो भागो, चोऽर्थो जगद्भुवः । तमभागं विज्रागेन, नरसिंहं प्रचक्रेते ” ॥ १ ॥ इति । वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्याऽवयविनाऽभ्युपगमात् । एकस्यैव पटादेश्चलाऽचलरक्ताऽरक्ताऽऽवृताऽनावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः, सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीऽङ्गान् नीयान्नीययोर्विरोधान्ङ्गीकारात् । अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तराऽवस्थापितत्वात् कृणिकं न मन्यन्ते, तन्मते पूर्वोपरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवाऽनित्यतालकृणात् । तथाऽपि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि कृणिकतयैव प्रतिपन्नाः इति तदधिकारेऽपि क्षणिकत्वाद्वर्चानाऽनुपपन्ना । यदाऽपि च कालान्तरावस्थायि वस्तु, तदाऽपि नित्यानित्यमेव । कृणोऽपि न खलु सोऽस्ति, यत्र वस्तुत्पादव्ययधौव्यात्मकं नास्तीति काव्यार्थः ॥ ५ ॥ स्यात् । (अनेकान्तज्ञानस्य यथार्थत्वं 'मोक्ष' शब्दे वक्ष्यते)

(२) साम्प्रतमनाद्यविद्यावासनाप्रवासितसम्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवाद् येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

प्रतिकृणोत्पादविनाशयोगि,

स्थिरैकमध्यक्रमपीकृमाणः ।

जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,

स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ? ॥ २१ ॥

प्रतिक्षणं प्रतिसमयमुत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण, विनाशेन च पूर्वाऽऽकारपरिहारवृत्तयेन, युज्यते इत्येवंशङ्कं प्रतिकृणोत्पादविनाशयोगि । किं तत् ? स्थिरैकं कर्मताऽऽपन्नम् ; स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं ध्वयं स्थिरैकम् । एकशब्दाऽत्र साधारणवाची । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणमन्वायिद्रव्यत्वात् । यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्थमेव हि तयोरेकाऽधिकरणता, पर्यायाणां कथञ्चिदेककत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्रमपीकृमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नपि, हे जिन ! रागादिजैत्र ! त्वदाज्ञाम, आ साम्प्रत्येनाऽनन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायतेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यथा सा आज्ञा, आगमः, शासनम् ; तथाज्ञा त्वदाज्ञा, तां त्वदाज्ञां जवत्प्रणीतस्याद्वा मुञ्च, यः कश्चिद्विवेकी अवमन्यतेऽवजानाति । जात्यपेक्षमेकवचनम्, अवज्ञया वा । स पुरुषपशुर्वातिकी, पिशाचकी वा । वाता रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी, वातकीव वातकी, यान्त्र इत्यर्थः । एवं पिशाचकीव पिशाचकी, भूताविष्ट इत्यर्थः । अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा । स पुरुषापसदो वातकिपिशाचकिज्यामधिरोहति; तुत्रामित्यर्थः । “ वा-

तातीसारपिशाचात् कश्चान्तः ” (११ २६१) इत्यनेन [हैमसूत्रेण] मत्वर्थीयः कश्चान्तः । एवं पिशाचकीत्यपि । यथा किञ्च वातेन पिशाचेन वाऽऽक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात् कुर्वन्नपि तदावेशवशादन्यथा प्रतिपद्यते, एवमयमप्येकान्तवादापसारपरवश इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम्, रागादिजतृत्वाद्धि जिनः । ततश्च यः किञ्च विगलितदापकाबुध्यतयाऽवधेयवचनस्यापि तत्र भवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ ! हे स्वामिन् ! अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशादायितया च योगक्षेमकृत्योपपत्तेर्नाथः, तस्यामन्त्रणम् । वस्तुतत्त्वं च-उत्पादव्ययधौव्यात्मकम् । तथाहि-सर्वं वस्तु ध्व्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लुप्तपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । सर्वव्यक्तिषु नियतं कृणे क्षणेऽन्यत्पदन्य च न विशेषः । “ सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ” इति वचनात् । ततो ध्व्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तुत्पद्यते, विपद्यते च; अस्त्विति पर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्ववद्वृत्तत्वात् । न खलु सोऽस्त्वलद्रूपो येन पूर्वाऽऽकारविनाशजहृद्भूतोत्तराकारोत्पादाऽविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षादासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनुभवः स्ववद्वृत्तः, कस्यचिद्वाधकस्याज्ञात्वात् । ननुत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते ? , न वा ? । यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु व्यात्मकम् ? । न भिद्यन्ते चेत्तथापि कथमेकं व्यात्मकम् ? । तथा च-“ यद्युत्पादादयो जिज्ञाः कथमेकं त्रयात्मकम् ? । अथोत्पादादयोऽजिज्ञाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ” ॥ ११ ॥ इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्विभक्तलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद् भेदाऽभ्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशधौव्याणि स्याद् जिज्ञानि जिज्ञावृत्तत्वाद् रूपादिवदिति । न च जिज्ञावृत्तलक्षणत्वमसिद्धम् ; असत् आत्मत्वाभः, सतः सत्तावियोगः, ध्व्यरूपतयाऽनुवर्तनं च खलुत्पादादीनां परस्परमसङ्कीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्पराज्जपेक्षा खपुण्यवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मेरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योऽन्योपेक्षानामुत्पादादीनां वस्तुनि सर्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्-“ घटमैत्रिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽस्ति दधि-व्रतः । अगोरसव्रतो नोजे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ” ॥ २ ॥ इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

अथाऽन्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वाद्, आस्तां तावत्साक्षाद्भवान् ; जवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थीकृतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वाऽव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-मतां ज्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।

इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-कुरङ्गसंज्ञासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु, जीवाऽजीववृत्तणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव, अनन्तास्त्रिकावविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः प्रम-

भाविनश्च पर्यायास्त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः । अत एवाह—[अतोऽन्यथेत्यादि] अतोऽन्यथा नक्तप्रकाशवैपरीत्येन, सर्वं वस्तुनस्त्वमसृपपाद-
म-सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंहरकमारोप्यते इति सूत्रपादम्, न तथाऽसृपपादम्; दुष्टमित्यर्थः । अनेन साधनं दर्शितम् । तथा-
हि-तत्त्वमिति धर्मो, अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वाऽन्यथा-
ऽसृपपत्तोरिति हेतुः, अन्यथाऽसृपपत्त्येकत्रक्षणव्याप्तेः । अन्तर्या-
म्यैव साध्यस्य सिद्धत्वाददृष्टान्तादिनिर्णयजनम् । यदनन्तध-
र्मात्मकं न भवति, तत्सदपि न ज्ञयति । यथा-वियदिन्द्रियम् । इति
केवलव्यतिरेको हेतुः, साध्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्व-
याऽयोगात् अनन्तधर्मात्मकत्वं चाऽऽत्मनि तावत्-साकाराऽनाका-
रोपयोगता, कर्तृत्वं, नोक्तव्य, प्रदेशाष्टकनिश्चलता, अमूर्तत्वमस-
ङ्गघानप्रदेशात्मकता, जीवत्वमित्यादयः सहजाविना धर्माः । इत्ये-
वादिशोकसुखदुःखदेवनरनारकनिर्दिष्टत्वादयस्तु क्रमजाविनः ।
धर्मास्तिकीयादिद्रव्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्यासृपग्रहकारित्वं
मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरु-
पित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः । घटे पुनरामत्वं, पाकज-
रूपादिमत्वं, पृथुबुधोदरत्वं, कम्बुग्रीवत्वं, जलादिधारणाऽऽहङ्गा-
दिसामर्थ्यं, मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वं, नवत्वं, पुराणत्वमित्यादयः । एवं
सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थोऽप्यप्यान् प्र-
तीत्य वाच्यम् । अत्र चाऽऽत्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवर्तिरूप-
मन्यपि छव्यं ध्वनितम् । ततश्च 'उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत्' इति व्य-
वस्थितम् । एवं तावदर्थेषु शब्देष्वपि उदात्ताऽनुदात्तस्वरितवि-
वृतसंवृतघोषवदघोषताऽल्पप्राणमहाप्राणनादयस्तत्तदर्थप्रत्या-
यनशक्त्यादयश्चावेत्याः । अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धाऽनैकान्तिक-
त्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमन्युहः । अन्येमुल्लेखशेखराणि ते तव,
प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि । आस्तां तावत्सा-
क्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान्, यावदेतान्यपि कुवादिपुर-
ङ्गसंवासनसिंहनादाः-कुवादिनः कुसितवादिन एकांशग्राहक-
नयाऽनुयायिनोऽन्यतीर्थिकाः, न एव संसारवनगहनवसनव्यस-
नितया कुरङ्गा मृगाः, तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंह-
नादाः । यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूच-
यन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादि-
नस्त्रासमनुवते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां विभ्रतीति यावत् ।
एकैकं त्वदुपहं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः । अत्र प्रमा-
णानांति बहुवचनमेव ज्ञातार्यानां प्रमाणानां भगवच्छासने
आनन्त्यज्ञापनार्थम् ; एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदयिसिद्धिस्तस्यैव स-
रिद्वालुकाऽनन्तगुणार्थन्यात, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया
प्रमाणन्यात । अथवा इत्यादि बहुवचनात्ता गणस्य समूचका
भवन्तीति न्यायात्, इतिशब्देन प्रमाणवाहुल्यसूचनात्पूर्वाहं
एकस्मिन्नपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनमिति
काव्यार्थः ॥ २२ ॥ (सप्ततन्त्रीनिरूपणं 'सत्तमे' शब्दे वक्ष्यते)
(उत्पादव्यययोऽन्येति स्वस्थाने)

(३) न चोत्पादविनाशयोरेकान्तिकतद्वृत्ताऽऽन्युपगमे ऽ-
नेकान्तवादव्याघातः ? , कथञ्चित्तयोस्तद्वृत्ताऽऽन्युपगमात् ।
तदाह—

निमि वि उपायार्ह, अग्निन्नकाला य जिन्नकात्रा य ।

अन्यन्तरं अणन्यन्तरं च दवियार्हं एणव्वा ॥ २३ ॥

अयोऽन्युत्पादविगमस्थितस्वभावाः, परस्परतोऽन्यकालाः । यतो

न पटादेरुत्पादसमय एव विनाशः, तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः । नापि
तद्विनाशसमये तस्यैवोत्पत्तिः, अविनाशोत्पत्तेः । न च तत्प्रादुर्जा-
यसमय एव तस्मिन्निवृत्तिः, सद्रूपेणैवाऽवस्थितस्याऽनवस्थाप्रसक्तिः-
तः प्रादुर्जावायोगात् । न च रूपघटरूपमृत्स्थितिकाले तस्य विना-
शः, तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशस्य एव ध्वंसोऽनुत्पत्तिप्रसङ्गत एव
युक्तः । तत्स्वयाणामपि भिन्नकालत्वात्, तद्रव्यमर्थान्तरम् । नाना
स्वभावाद्नेकान्तानावप्रसक्तिः । यतोऽभिन्नकालाश्चोत्पादादयः, न
हि कुशूत्रविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता, अन्यथा विनाशान् का-
योत्पत्तिः स्यात् । घटाद्युत्तरपर्यायाद्यनुत्पत्तावपि प्राकृतनपर्याय-
ध्वंसप्रसक्तिश्च स्यात् । पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादक्रियाया नि-
र्धारयोगात् । तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगम्यया ।
न च क्रियाफलमेव क्रियाः, तस्य प्रागसत्त्वात्, सर्वं वा क्रि-
यावैफल्यत् । तत्स्वयाणामपि भिन्नकालत्वान् तद्रव्यतिरिक्तं
छव्यमभिन्नं नचाऽन्यद्व्यादधिगतापेक्षया भिन्नकालतयाऽ
र्थान्तरत्वम्, कुशूत्रघटविनाशोत्पादापेक्षया ऽभिन्नकालत्वेना-
र्थान्तरत्वादेकान्तर इति वक्तव्यं छव्यम् । द्रव्यस्य पूर्ववस्था-
यां जिज्ञाजिज्ञतया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायामपि भिन्नाजिज्ञ-
तयैव प्रतीतेरनेकान्तोऽव्याहतः । न चावाधिताध्यक्षादिप्रतिप-
त्तिविषयस्य तस्य विरोधाद्युद्भावनं युक्तिसंगतम्, सर्वप्रमाणप्रमे-
यव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । अत एवार्थान्तरमनर्थान्तरं चोत्पादा-
दयो छव्यात्तदवापो वा तेन्यस्तथेति ज्ञेयम् । छव्यात् तथाभूत-
तद्ग्राहकत्वपरिणततादात्म्यवृक्षणात्मणादित्यपि व्याख्येयम् ।
न हि तथा नृत्तप्रमाणप्रवृत्तिः तथा नृत्तार्थमन्तरेणोपपन्नाः धूमध्व-
जमन्तरेण स वेद्यते च । तथा नृत्तग्राह्यग्राहिकरूपतया ऽनेकान्ता-
त्मकं स्वसंवेदनतः प्रमाणमिति न तदपन्नापः कर्तुं शक्यः, अन्य-
थाऽतिप्रसङ्गात् । यद्वा-देशादिविप्रकृष्टा उत्पत्तिविनाशस्थिति-
स्वभावा जिज्ञाभिन्नकाला अर्थान्तरानर्थान्तररूपा द्रव्यत्वाद्, द्र-
व्याद्रव्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः । अन्यथात्पादादीनामभावप्रसक्तेः ।
तेभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरम्, द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थक-
देशता च हेतुनांशङ्कतीया, छव्यविशेषे साध्ये द्रव्यसामान्यस्य
हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ २३ ॥

अत्रैवार्थं प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आउंचणकात्रो, चेव पसारिस्स विणिजुत्तो ।

तेसिं पुण पस्विती-विगमे काइंतरं नत्ति ॥ २३ ॥

य आकुञ्चनकालोऽङ्कुल्यादेर्द्रव्यस्य, स एव तत्प्रसारणस्य न यु-
क्तः, भिन्नकालतयाऽऽकुञ्चनप्रसारणयोः प्रतीतस्त्वयोभेदः । अन्य-
था तयोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तं तत्तत्पर्यायाभिन्नस्याङ्कुल्यादि-
द्रव्यस्यापि तथाविधत्वात्, तदपि भिन्नमन्युपगमनव्ययम् । अन्यथा
तदनुपलम्भात् । अभिन्नं च, तदवस्थयोस्तस्यैव प्रत्यजिज्ञायमा-
नत्वात् । तयोः पुनरुत्पादविनाशयोः प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्जावो, विग-
मश्च विपत्तिः । प्रतिपत्तिविगमम्, तत्रकालान्तरं जिन्नकालत्वमङ्कु-
ल्यद्रव्यस्य च नास्ति पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायापत्त्यङ्कुलिद्र-
व्योत्पत्तिस्थितौनामभिन्नकालतयाऽभिन्नरूपता च प्रतीयते । एक-
स्यैव तथाविधर्मात्मकस्याध्यक्तः प्रतीतेः । अथवा कालान्तरं ना-
स्तीत्यत्राऽऽकारप्रक्षेपात्तत्त्वोत्पादानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृता-
र्थमतेः कालान्तरं कालनेद उत्पादादेर्द्रव्यस्य वाऽस्तीति कथ-
ञ्चिद्भेद इत्यर्थः । कथञ्चिद्भेदेनापि प्रतिपत्तेस्तेनोत्पत्तिवि-
नाशस्थितौनां परस्पररूपपरित्यागप्रवृत्तप्रत्येकस्यात्मकैकरूपत्वे-
नापि वर्तमानपर्यायात्मकस्यैवातीतानागतकालयोः सत्त्वम्, व-

स्तुनरुयात्मकत्वाऽन्युपगमात् । अतः तानागतकाव्योरपि तद्वेषेण सत्त्वे उत्पादविनाशयोरन्यत्र कथं व्यात्मकत्वं तस्य ? अतः तानागतकाव्योरात्र कथं नित्यत्वमिति वाच्यम् । कथञ्चित्तस्याभ्युपगमात्, त्यक्तोपादिस्यमानपूर्वोत्तरपर्यायस्यान्यान्यवेषपरित्यागोपादानैकतदुपपन्नं द्रव्यस्य व्यावर्तात्मकत्वात्, सर्वथाऽनित्यत्वे पूर्वोत्तरव्यपदेशाज्ञाप्यप्रसक्तेः । सर्वथा नित्यत्वेऽभ्युपगम्यत्रैकप्रतिज्ञास्यपदेशादिव्यवहाराज्ञाप्यस्य च । न चैकत्वप्रतिभासो मिथ्या, ततो यदेव विनष्टं शिथिलरूपतया तदेवोत्पन्नं मृदुद्रव्यं घटादिरूपतया अवस्थितं च मृत्वंतेति व्यात्मकं तन् सर्वदा द्रव्यमवस्थितं यथात्पादद्रव्यस्थितम् । यथात्पादद्रव्यस्थितानां प्रत्येकमेकैकरूपं व्यात्मकं, तथा ज्ञतवन्तमानभविष्यद्विरप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयति ।

इत्येतदेवाह—

उत्पन्नमाणं कालं, उत्पन्नं ति विगयं विगच्छन्ते ।

द्वयं पञ्चवर्गं, त्रिकालविमयं विसेसे ॥ १.३४ ॥

उत्पद्यमानसमय एव किञ्चित्पदद्रव्यं तावदुत्पन्नं यद्येकतन्तुप्रवेशक्रियासमये न द्रव्यं तेन रूपेणोत्पन्नं तर्ह्युत्तरत्रापि तन्नेत्यन्नमित्यन्यन्तानुत्पत्तिप्रसक्तिस्तस्य स्यात् । न चोत्पत्तिप्रसक्तिः, उत्तरोत्तरक्रियाकृणस्य तावन्मावफलोत्पादन एव प्रकृत्यादपरस्य फलान्तरस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः । यदि च विद्यमाना एकतन्तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका, विनष्टा भुनक्तारं न भवेत्, असत्त्वात्, उत्पत्त्यवस्थावत् । न ह्यनुत्पन्नविनष्टयोरसत्त्वे कश्चिद्विशेषः । ततः प्रथमक्रियाकृणः केनचिद् रूपेण तमनुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ तदेवांशान्तरेणोत्पादयति । अन्यथा क्रियाक्षणान्तरस्य वैफल्यप्रसक्तेः । एकेनांशेनोत्पन्नं सप्तोत्तरक्रियाकृणफलान्तेन यद्यपूर्वमपूर्वं तदुत्पद्यते तदेवोत्पन्नं भवेद्, नाऽन्यथेति । प्रथमतन्तुप्रवेशाद्वारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधि यावदुत्पद्यमानं प्रवर्धन् तदुत्पत्त्योत्पन्नमभिप्रेतानिष्टरूपतया चोत्पत्त्यत इत्युत्पद्यमानमुत्पत्त्यमानं च भवति । एवमुत्पन्नमभ्युपगम्यमानमुत्पत्त्यमानं च भवति । तथोत्पत्त्यमानमभ्युपगम्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण यथा त्रैकाक्ष्यं प्रतिपद्यते, तथा विगच्छद्वादिकाव्रयेणाण्युत्पादादिरैकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते । तथाहि—यथा यदैवोत्पद्यते न तत्तदैवोत्पन्नमुत्पत्त्यते । यद्यदैवोत्पन्नं न तत्तदैवोत्पद्यते उत्पत्त्यते च । यद्यदैवोत्पत्त्यते तत्तदैवोत्पद्यते उत्पन्नं च । तथा तदेव तदैव यदुत्पद्यते तत्तदैव विगतं विगच्छद्द्विगमित्येव । तथा यदैव यदैवोत्पन्नं तदैव तदैव विगतं विगच्छद्द्विगमित्येव । तथा यदैव यदैवोत्पत्त्यते तदैव तदैव विगतं विगच्छद्द्विगमित्येव । एवं विगमोऽपि त्रिकालमुत्पादादिना दर्शनीयः । तथा स्थित्याऽपि त्रिकाल एव सप्रपञ्चं दर्शनीयः । एवं स्थितिरण्युत्पादविनाशाभ्यां प्रपञ्चाभ्यामेकैकाभ्यां त्रिकालदर्शनीयेति । द्रव्यमन्येऽन्यात्मकतया भूतकाव्रयात्मकोत्पादविनाशस्य व्यात्मकं प्रज्ञापयैत्स्विकाव्रवियप्रादुर्भवधर्माधारतया तद्विशिनष्टि । अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादितं भवति । अन्यथा द्रव्यस्याऽभावात् त्रैकाल्यं दूरोत्साहितमेवेति; तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्रसक्तिरिति ज्ञायः । सर्वथाऽऽतर्गमनलक्षणस्य विनाशस्यासंज्ञाद् विनागजस्य चोत्पादस्य तत्तद्द्रव्याभावे स्थितेरप्यभावात् ।

तत् त्रैकाक्ष्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानत्वाद्वादिनः प्रति तदभ्युपगमदर्शनपूर्वकमाह—

द्वन्तरेभ्यो जोगा—हिं केऽवि द्वयस्म विंति उप्पायं ।

उप्पायस्या कुशला, विनागजायं न दृच्छति ॥ १.३५ ॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणान् तन्मयोगासमवायिकारणात्, तन्मयोगासमवायिकारणनिमित्तकारणादिसमवायिकारणव्यवयवि कार्यद्रव्यं निमित्तं कारणद्रव्येण उपपन्न इति द्रव्यस्योत्पादं केचन वृथे । न चोत्पादाद्यो नित्यता विनागजात्पादं नेच्छन्ति ।

कुतः पुनर्विनागजात्पादानभ्युपगमवादिन उत्पादाद्यो नित्यताः ? । यतः—

अणु अणुर्हि द्रव्यं, आण्डं ति अणुयं ति ववण्मो ।

ततोऽप्यणु विभक्तो, अणु ति जात्रो अणुर्दो ॥ १.३६ ॥

द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आण्डेऽणुगतिव्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धस्य द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिनिष्ठ्यणुकैश्चतुर्भिर्वाऽऽर्ब्धेऽणुकमिति व्यपदेशः । अन्यथोत्पन्नानुपपन्नविनिमित्तस्य महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः । अत्र किञ्चिद्विनिश्चयनिर्वा प्रत्येकं परमाणुभिरारब्धमणुपरिमाणमेव कार्यमिति । आदिपरमाणुनाऽऽर्ब्धकत्वे आरम्भवैयर्थ्यप्रसक्तिरिति द्वाभ्यां तु परमाणुभ्यां द्व्यणुकमारज्यते । व्यणुकमपि न द्वाभ्यामणुभ्यामारज्यते, कारणविशेषपरिमाणतोऽनुपपन्नत्वप्रसक्तेः, यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तदुत्पन्नविशेषं स्यात् । तथा चोपपन्नकारणवहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च महत्त्वमानं च द्विविपरमाण्वारब्धे कार्यं महत्त्वं, तत्र महत्त्वपरिमाणाभावात्तेषामणुपरिमाणानुपलब्धिविशेषः स्यात्, तथा चोपपन्नकारणत्वात् प्रचयोऽप्यवयवाज्ञावाच्च संज्ञवति, तेषामपि द्वाभ्यामणुभ्यां कारणवहुत्वाभावात् । न च त्रयोऽपि, प्रस्थितिलाचयवसंयोगाज्ञावात् । उपलभ्यते च समानपरिमाणैस्त्रिभिः पिपरमाण्वै कार्यं महत्त्वं, न द्वाभ्यामिति महत्त्वपरिमाणाभ्यां ताभ्यामेव आरब्धं महत्त्वं, न त्रिपरमाण्वपरिमाणैरारब्ध इति । समानत्वेऽप्यनुपपन्नपरिमाणाभ्यां तन्नुपपन्नपरिमाण्वारब्धे पटादिकार्यं प्रस्थितिलाचयवतन्तुसंयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते, न तदितरेति । नन्वेवं यदि कार्यारम्भस्तदा द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारज्यते, द्विवद्वि वा समानजातीयानि त्वभ्युपगमः परित्यज्यताम्; यतो न परमाणुद्व्यणुकादिनामपि त्यक्तजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननस्वभावानां च द्व्यणुकस्यणुकादिकार्यनिर्वर्तकत्वम्; अन्यथा प्रागपि तत्कार्यप्रसङ्गात् । अथ न तेषामजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वभावान्तरात्पत्तौ कार्यजनकत्वम्, किन्तु पूर्वस्वभावव्यवस्थितानामेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसङ्गात् । तदा कार्यनिर्वर्तकत्वं प्राक्तनतदज्ञावाच्च कार्योत्पत्तिः । कारणानामविचलितस्वरूपत्वेऽपि न च संयोगेन तेषामनतिशयो व्यावर्तते, अतिशयो वा कश्चिदुत्पाद्यते, अजिज्ञो भिज्ञो वा, संयोगस्येवातिशयत्वात् । न च कथमन्यः संयोगस्तेषामतिशय इति, वाच्यस्याप्यतिशयत्वायोगात् । न हि स एव तस्यातिशय इत्युपपन्नम्, तस्मात्तत्संयोगे सति कार्यमुपपन्नमिति, तदज्ञावे तु नोपलभ्यते इति संयोग एव कार्योत्पादनं तेषामतिशय इति, न तदुत्पत्तौ तेषां स्वभावात्तरेत्पत्तिः, संयोगतिशयस्य तेज्यो निष्ठत्वादिति । असदेतत् । यतः कार्योत्पत्तौ तेषां संयोगातिशयो ज्ञवतु, संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशयः ? इति वाच्यम् । न तावत्स्व एव संयोगः, तस्याद्यानुत्पत्तिः नापि संयोगान्तरं तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावप्यपरमयोगातिशयप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः । न च क्रियातिशयः, तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । किं चादृष्टापेक्षादात्माण्यसंयोगात्पर-

मात्रेषु क्रियोत्पद्यते इति अभ्युपगमादात्मपरमाणुसंयोगात्तावे-
 ऽप्यपरेऽतिशयो वाच्यः । तदेव च तत्र दृष्टम् । किञ्चासौ
 संयोगो ह्यणुकादावतत्त्वः किं परमाणवाद्याश्रितः, उत तद्व्या-
 धितः, आहोऽन्वयनाश्रित इति । यथायः पक्षः, तदा तदुत्पत्तावाश्रय
 उत्पद्यते, न केति । यदुत्पद्यते, तदा परमाणुनामपि कार्यत्वप्रसक्तिः,
 तत्संयोगवत् । अथ नात्पद्यते, तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्,
 समवायस्याभावत् । तेषां च तत् प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वे तु
 तत्र तस्य प्रागभावाविवृत्तेः, तदभ्युपगमनत्वम् । ततस्तेषां कार्य-
 रूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या । अथवा तदाश्रितत्वं संयोगस्य
 तस्मादभ्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रित्यपक्षे तु निहेतु-
 कात्पत्तिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नात्पद्यते इत्यभ्युपगमः, तदा
 वक्तव्यं किमसौ सन्त्याऽस्मिन् ? यदि संस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः,
 सदकारणव्यतिरिक्तमिति जयतांऽभ्युपगमात् । तथा चासौ गुणो न
 भवेद् नित्यत्वेनानाश्रितत्वात्, अनाश्रितस्य पारतन्त्र्यायोगात्, अ-
 परतन्त्रस्य चाणुगम्यात् । अथासन्निति पक्षः, तदा कार्यानुत्पत्तिप्र-
 सङ्गः । तदभावे प्राग्वद्विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यद्रव्योत्पत्त्यभा-
 वात् । तथा च जगतेऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वसं-
 ख्यापरिमाणमहत्वाद्यनेकगुणानां तत्रोत्पत्तिरनुपपेया, कार-
 णगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्यात्पत्त्यभ्युपगमादिष्टमेवैतदिति चेत्, ननु
 तेषां क आश्रयः ? इति वक्तव्यम् । न तावत् कार्यम्, तदुत्पत्तेः
 प्राकस्यासत्त्वात्, सत्त्वं चोत्पत्तिविरोधात् । न च प्रथमकृणे निर्गु-
 णमेव कार्यगुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् । गुणसंबन्धवत् स-
 त्तासंबन्धस्याप्यङ्गणे अभावः, तत्सत्त्वासंज्ञवत् । न चोत्पत्ति-
 सत्तासंबन्धयोगेककालतयाऽऽद्यकृण एव सत्त्वम्, तदा रूपादिगु-
 णसमवायाभावतोऽनुपलभ्ये ततस्तत्सत्तासंबन्धव्यवस्थापना-
 संभवात् ; न हि सदित्युपलभ्यमन्तरेण तदा तस्य सत्तासंबन्धः,
 सत्त्वे वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादङ्गुणद्रव्येण स-
 होत्वात् तद् द्रव्याधेयता, तद् द्रव्यस्य वा तदाऽऽधारताः अकारण-
 स्यादश्रयत्वायोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सद्येतर-
 गाविषाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः, सन्न कार्यं तदाश्रयः । अथाण-
 वस्तदाश्रयः, तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रय इत्येकाश्रयौ का-
 र्यगुणौ प्राप्तौ । तदभ्युपगमेऽपि तावदयुतसिद्धयोस्तयोः कुतश्च-
 दग्वदाश्रयाश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुतसिद्धयोः,
 अयुतसिद्ध्याश्रयाश्रयिभावविरोधात् । तथा हापृथक्सिद्ध इत्यने-
 न भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽन्यस्यार्थस्यावासंभवा-
 त् । आधाराधेयभाव इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियते इति कथम-
 नयोगेकत्व सदभावः । अथान्यत्राधाराधेयभावः, तर्हि तेषां सत्त्व-
 मुताभस्वमिति वक्तव्यम् ? । यथायः पक्षः, तदा संयोगादिगुणा-
 कारपरमाणव एव तथाचूतकार्यमिति जैनपक्ष एव समा-
 धितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु, सर्वानुपपत्तिप्रसक्तिः । यदि च
 परमाणवः स्वरूपापरिमाणतः कार्यद्रव्यमारभन्ते स्वात्मनो
 द्यार्तिरिक्तम्, तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्य-
 परमाणुस्वरूपापरिमाणोऽभ्युपगमनस्य सद्भावः, तस्य तदभावात्म-
 कत्वात् । तस्मात्परमाणुरूपतार्पित्यागेन मृदुद्रव्यं स्थूल-
 कार्यस्वरूपमासादयतीति वक्तव्यम् । पुद्गलद्रव्यपरिणतः आदि-
 रन्तो वा न विद्यते, इति न कार्यद्रव्यं कारणद्रव्यो भिन्नम् । न चार्था-
 न्तरजावगमनं विनाशोऽयुक्तः, इति तदुत्पत्तिरित्यागोपादानात्म-
 कस्थितिव्यवहारस्य द्रव्यस्य वैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च
 एकसंख्याविभागादपपरिमाणपरव्यात्मकत्वेन प्रादुर्भावात्परमा-
 णवः कार्यद्रव्यवत्, तथोत्पत्ताश्रयाभ्युपगन्तव्याः । कारणान्-

यद्यतिरेकानुविधानोपलभ्यात् कार्यताव्यवस्थानिवन्धनस्याप्रा-
 पि रज्झावात् । इत्ययमर्थः (तत्तो य) इत्यादिना गाथापश्चाद्धेन प्रद-
 र्शितः, तस्मादेकपरिमाणाद् द्रव्याद्विभक्तः विजागामकत्वेनो-
 त्पन्नः (अणुगति) अणुर्जातो भवति ; एतदवस्थायाः प्राक्त-
 दसत्त्वात् । सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्याभाव-
 प्रसङ्गात् । इदानीं वा तद्रूपाऽविशेषात् प्राक्तनावस्थानमिव स्या-
 त् । एवं चतुर्विधकार्यद्रव्याभ्युपगमे संगतः । न च य एव का-
 र्यद्रव्यारम्भकाः, परैकत्वविरोधात् ; घटद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसा-
 भावमृष्टिपरकपालदत् । न च प्रागभावप्रध्वंसाजावोत्थरूपत-
 या मृष्टिपरकपालरूपत्वमसिद्धम्, तुच्छरूपस्याभावस्याप्र-
 माणत्वात्तज्जनकत्वेन तद्विषयत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्य-
 त्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमु-
 पजायते, तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृष्टिण्डस्य घटद्रव्य-
 समवायिकारणत्वात्तुमानमध्यकृत्वाधितकर्मनिर्देशान्तरप्रयुक्त-
 त्वेन कात्रात्ययापदिष्टम् । न चालपरिमाणतन्तुप्रतयं महत्प-
 रिमाणं पटकार्यमुपलब्धमिति घटादिकमपि । तदल्पपरिमाणा-
 नेककारणप्रतयं कल्पयितुं युक्तम् ; विपर्ययेणापि कल्पनायाः
 प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अध्यकृत्वाधस्तु तदितरत्रापि समानः । किञ्च ।
 परमाणूनां सर्वदेकं रूपमभ्युपगच्छन्नभावमेव तेषामभ्युपगच्छे-
 त् ; अकारकत्वप्रसङ्गात् । तच्च प्रागभावप्रध्वंसाभावाविकल्प-
 तेनानाश्रयतिशयत्वात्, धियन्तुक्तुमवत् । तदसत्त्वे च का-
 र्यद्रव्यस्याप्यजावः, तस्यासत्त्वात् । तदजावे च परापरत्वादिप्र-
 त्ययादेरयोगात् कात्रादेरप्यमूर्तद्रव्यस्याभाव इति सर्वाभाव-
 प्रसक्तिः । तथाहि—न तावदध्यक्षं तत् प्रतिपादने व्याप्रियते, क-
 पात्रपर्यन्तघटविनाशोपलभ्ये तस्य व्यापारोपलब्धेः । नानुमा-
 नमपि ; प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः ; अध्यकृत्वाधकत्वेन
 तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थे अनुपयोगात् । परमा-
 णुर्यन्ते च विनाशे घटादिध्वंसे न किञ्चिदप्युपलभ्येत, पर-
 माणुनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । किञ्च घटेन पाकनिक्रमेन वा
 तेनानेकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्वकृतत्वात् । अवयविनि
 च त्रिद्रव्यात्पन्नत्वात् तस्य च निरवयवत्वात्तावयवतदुत्पत्तिः ;
 परमाणुषु तदसंज्ञवत् । पाकान्यथाऽनुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो
 विनाशः परिकल्पत इति चेत् । न । विशिष्टसामग्रीवशा-
 द्विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कयश्चिद् विनाशोऽप्युत्पत्तिर्सं-
 भवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशाऽभ्युपगमे च तद्दृश्यत्व-
 तसंख्यात्वन्तपरिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्पराद्यपातप्रत्यक्षोपल-
 भ्यत्वादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । सूच्यप्रविद्धघटनाने-
 कान्तः परिहृत एव ।

न च कपालार्थी घटे मिश्रादापरमाणवन्ते विनाशे ततः
 प्रतीतिविरुद्धत्वात्तासावभ्युपगन्तव्य इति प्रस्तुत-
 मेवाङ्गपट्टारणोपसंहरत्याचार्यः—

बहुयाण एगसदे, जइ संयोगाहिँ होइ उप्पाओ ।

णणु एगविभागमि वि, जुजइ बहुयाण उप्पाओ । ? ३७।

अणुकादीनां सति संयोगे यद्येकस्य अणुकादेः कार्यद्रव्यस्यो-
 त्पादो भवति, अन्यथैकाभिधानप्रत्ययव्यवहागयोगात् । न हि ब-
 हुध्वंको घट उत्पन्न इत्यादिव्यवहागे युक्तः । नित्यं क्षमायामे-
 कस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशोऽपि युज्यते एव बहूनां समानजा-
 तांयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्तात्मना
 मुत्पाद इति । तथाहि—घटाविनाशो बहूनि कपालानि उत्प-

आनीत्यनेकाभिधानप्रत्ययव्यवहारो युक्तः, अन्यथा तदसंभवात् । ततः प्रत्येकं व्यात्मकास्तिकाश्चेत्पादादयो व्यवस्थिता इत्यनन्तपर्यायात्मकमेकं उच्यते; तत्तन्तु काले भवत्वानन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम् । एकसमये तु कथं तत्तद्वान्मकमवसीयते ? प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयत इत्यादि—

एगसमयमि एगद-वियस्म बहुया वि होति उपाया ।

उपायसमा विगगा, ठिई उ उस्सगओ णियमा ॥१३८॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति, उत्पादसमानसंख्या विगमा अपि तस्यैव तदैवोत्पद्यन्ते, विनाशमन्तरेणोत्पादस्यासंभवात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्भावितुमर्हति । प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसङ्गः, तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्य च स्यात् । स्थितिरपि सामान्यरूपतया तथैव नियता; स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् । भावे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ १३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह—

कायमणवयणकिरिया-रूवाइ गई विनेसओ वा वि ।

संजोगजेयओ जा-एणा यदवियस्म उपाओ ॥१३९॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिका हावभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातशशरुद्धिपादिपरिणतवशाविभूतशिरोऽङ्गुल्यायङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्यूरसूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कार्योत्पत्तिः, तदैवानन्तानन्तपरमाणुचित्तमनोवर्गणापरिणतिलभ्यमान उत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि कार्यात्कृष्टतरवर्गणोत्पत्तिप्रतिलब्धप्रवृत्तिरूपादः, तदैव च कायात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विषयीकृतासंख्यातात्मप्रदेश कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादकपायादिपरणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्तागामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चांस्तुज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाणवाद्यनन्तपरमाणुसंयोगविनागानामुत्पत्तिः । यद्वा-यदैव शरीरादेर्द्रव्यस्योत्पत्तिः, तदैव तत्रैकान्तगतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा संवन्धानामुत्पत्तिः, सर्वव्याप्तिव्यवस्थिताकाशं धर्माधर्मादिद्रव्यसंबन्धात्, तदैव च भाविस्वपर्यायपरज्ञानविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः, शिरोग्रीवाच्चक्षुनेत्रपिच्छोदरचरणाद्यनेकावयवान्तर्भावमयूरा-एककरणशक्तीनामिव, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशस्थित्यात्मकाश्च प्रतिकृणं भावाः शीतोष्णसंपर्कादिभेदेन । न च पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिकृणं तथोत्पत्तिमन्तरेण संभवति । न चास्मदाद्यध्यक्षं निरवशेषधर्मात्मकवस्तुग्राहकं, येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रतिपत्तेरभाव इत्युच्येत; अनुमानतः प्रतिकृणमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्य वस्तुनोऽध्यक्षेण ग्रहणे तच्छावृत्तीनां पारमार्थिकतरुर्मरूपतया । अन्यथा तस्य तद्भावावयवयोगात्, कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्यक्षेण ग्रहणम् ? । (सम्म०)

अन्योन्यनिरपेक्षतयाऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा—

विनाभूतमेव दर्शयन्नाह—

जे संतवाएँ दोसे, सकोदूया वयंति संखाणं ।

संखाय असग्वाए, तेहिं सखेऽपि ते सखा ॥ १४६ ॥

येऽनेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकायाऽन्युपगमपदार्थान्युपगमे शाक्यैर्बुद्ध्या दोषान् वदन्ति, सांख्यानां क्रियागुणव्यपदेशोपलब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणाः, ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं संबन्धः कार्यः । ते च दोषा एवं सत्याः स्युः यद्यन्यनिरपेक्षतयाऽन्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तच्छास्त्रं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्यथा । प्रागपि कार्यावस्थात एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वात्तेषाम् । अन्यथा कथञ्चित्सत्त्वेऽनेकान्तवादापत्तेर्दोषानाव एव स्यात् । सम्म० ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्—

अनन्तरं जगद्वर्शितस्यानेकान्तात्मना वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपेण सुखानेयं स्यादिति साऽपि निरूपिता, तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति । तेषां प्रमाणमार्गाच्चयवनमाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं,

नार्येष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।

इत्यप्रबुध्यैव विरोधजीताः,

जमास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ १४७ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधाविरुद्धम्, अस्तित्वेन सह विरोधं नानुजयतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम्, किन्तु सदवाच्यते च । सच्चाऽवाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते, अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुद्धते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुद्धते । अथवाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्भवति । अनेन च नास्तित्वाऽस्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तजडगुणानिर्विरेतशतोपलक्षिताः अमीयामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्चेपजङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्जायादिति । नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति ? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—(उपाधिभेदोपहितमिति) उपाधयोऽवच्छेदका श्रंशप्रकाराः, तेषां जेदो नानात्वं, तेनोपहितमपि तम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनजेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे । अयमभिप्रायः परस्परपरिहारेण ये वृत्तेन, तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानलक्षणां विरोधः । नचात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविवक्षान्वेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्भावातिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिचुवनार्थसाधार्यक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्तेः । तथा च निरुपाख्यत्वात्सर्वशून्यतेति; तदा हि विरोधः स्याद्यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम्; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि । (किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण सत्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं हि एकस्मिन्नेव त्रिचपटावयविन अन्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तच्छब्देनान्योपाधिकानि । एवंमेवकरकेऽपि तत्तद्दर्शनपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवश्यम् । न च निर्विद्वान्तैः सत्त्वासत्त्वयोजिन्तद्वैश्वव्याप्तिः, चित्तपटावयविन

अथानेकान्तवादस्य सर्वव्याप्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदाऽ-
पेक्षया चातुर्विध्यानिश्चानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वाद-

सौहित्यमुपवर्णयन्नाह-

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व-सुधोद्भूतोद्धारपरम्परेयम् ॥१५॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमप्राप्तिपदेषु योज्यम्, तदेवाधि-
कृतमवैकं वस्तु स्यात्कथञ्चिन्नाशि, विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः।
स्यान्नित्यमविनाशधर्मित्यर्थः। एतावता नित्यानित्यव्यङ्ग्यमेकं
विधानम्। तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्। स्याद्विरूपं
विविधरूपं विसदृशपरिणामात्मकं, व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्य-
र्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपे द्वितीयः प्रकारः। तथा स्याद्वाच्यं
वक्तव्यम्। स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेवाच्य-
मिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसद्व्यतापरि-
हारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः। एतेनाभि-
लाष्यान्निभलाप्यस्वरूपस्तृतीयो जेदः। तथा स्यात्सद्विद्यमान-
मस्तिरूपमित्यर्थः। स्यादसत्तत्त्विलक्षणमिति। अनेन सदसदा-
ख्या चतुर्थी विधा। हे विपश्चितां नाथ! संख्यावतां मुख्य। इयम-
नन्तरोका निषीततत्त्वसुधा उक्तोऽज्ञारपरम्परा, तवेति प्रकरणात्सा-
माख्याद्वा गम्यते। तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव
जरा मरणापहारीत्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोर्मिनिरा-
करिण्युत्वादान्तराद्वाद्कारित्वाच्च पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्य-
सामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उक्तता
प्राङ्मुक्ता तत्कारणिका उज्ञारपरम्परा उज्ञारश्रेणिरेवेत्यर्थः।
यथाहि—कश्चिदाकणं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गार-
परम्परां मुञ्चति, तथा जगवानपि जरा मरणापहारी तत्त्वामृतं
स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतु-
ष्टयीवृत्तानामुज्ञारपरम्परां देशानामुखेनोक्तानि नित्याशयः।
अथवा—यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरुडजो जनमातृप्तिं ज्ञप्तिं,
तेषां तत्तद्वचनरूपा उज्ञारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। येस्तु पचेन्न-
मप्राचीनपुण्यप्राग्गारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वा-
मृतं मनोहृत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे
नाथ! इयं पूर्वद्वददर्शितेद्वेस्त्रेश्वरा उज्ञारपरम्परेति व्याख्येयम्।
एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः। तथा-
हि—‘आदीपमाव्योमेति’ वृत्ते नित्याप्रनित्यवादः। ‘अनेकमेकात्मक-
मिति’ काव्ये सामान्यविशेषवादः। सप्तभङ्गधामभिधायानन्निष्ठा-
प्यवादः, सदसद्वादश्च; इति न भूयः प्रयासः। इति काव्यार्थः॥२५॥

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदृष्ट्या प्रकाशनवत्कृतया
वैरायमाणयोरितरेतरादीरितिविध्रुहेतुहेतिसंनिपातसंजात-
विनिपातयोग्यत्वमिदुप्रतिपक्षप्रतिकेपस्य जगद्व्याप्तनसाम्ना-
ज्यस्य सर्वोत्कर्षमाह-

य एव दोषाः किञ्च नित्यवादे,

विनाशवादेऽपि समास्त एव ।

परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,

जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥

किञ्चेति निश्चय । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अ-
नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्जिताः क्रमयोगपद्याज्यामर्थक्रियाऽनु-
पपत्त्यादयस्त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समा-
स्तुत्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनानधिकाः । तथाहि-
नित्यवादी प्रमाणयति-सर्वं नित्यं, सर्वान् । क्षणिके सदसत्काल-
योरर्थक्रियाविरोधात्तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति । ततो

निवर्तमानमन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते । तथाहि-कृणिकोऽर्थः सन् वा कार्यं कुर्यादसन् वा? गत्यन्तराभावात् । न तावदाद्यः पक्वः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, सकलज्ञावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः पक्वः क्रोत्रं क्षमते । असनः कार्यकरणशक्तिविकलत्वात् । अन्यथा शश-विषाणादयोऽपि कार्यकरणायास्सहेरन्, विशेषाज्ञावादिति । अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति-‘सर्वे कृणिकं, सत्त्वात्, अकृणिकं क्रमयौगपद्यामर्थक्रियाविरोधात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात् । ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्तयेदिति कृणिकसिद्धिः । न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरण-स्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाविरामप्रसङ्गात् । तत्स्वभावप्रचयैव च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थस्यानित्यताल्लक्षणत्वात् । अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात्तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करत्वात् ; अकिञ्चित्करस्याऽपि प्रतिक्षेपेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते, अथैकविरोधात् । नह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारजमाणः कश्चिदुपलभ्यते, करोतु वा, तथाऽप्याद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षेपेष्वकुर्वाणस्यानित्यता वज्ञादादौकतेः ; करणाकरणयोरैकस्मिन् विरोधात् इति । तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यजिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्यं चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणो नैकान्तिका इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्व-प्रतिक्षेप एवोक्तः । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतुनूपसृशन्तीति परिभाषनीयम् । अथोत्तरार्द्धे व्याख्यायते-(परस्परेत्यादि) एवं च कण्टकेषु कुच्छशुषु एकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते, विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः, सुदोषसुन्दरद्विदि परस्परध्वंसिनः, तेपु, हे जिन ! ते तव, शासनं स्याद्वादप्रकरणनिरूपणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिज्ञावृकानां कण्टकानां स्वयमुच्छन्नत्वेनैवाभावादधृष्यमपराभवनीयम् । ‘शक्तर्हे कृत्याश्च’ (१।४।३५) इति (हैमसू०) कृत्यविधानाद् धार्पितुमशक्यं धर्पितुमनर्हं वा, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्रयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपलुब्धवान् सर्वोत्कृष्टो जयत्येवं त्वच्छासनमपीति कथ्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषाग्रामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपकारणमसङ्गतेन्द्रावकतयोद्भूततथाविधिरिपुजनजनितोपद्रवमिव पत्रिवातुर्धरित्रोपतंस्त्रिजगत्पतेः पुरतो लुचनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुखदुःखभागौ ,

न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।

दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं ,

परैर्विदुस्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षाज्युपगमे, न सुखदुःखभो-

गौ घटेने, न च पुण्यपापे घटेने, न च बन्धमोक्षौ घटेने । पुनः पुनर्नम्रः प्रयोनोऽन्यन्ताघटमानतादर्शनायः । तथाहि-एकान्त-नित्ये आत्मानि तावन्सुखदुःखजोगौ नोपपद्येने । नित्यस्य हि लक्षणम्-‘अप्रच्युतानुपपन्नस्थिरैकरूपत्वम्’ । ततो यदाऽस्मात्सुखमनुज्य स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपलुङ्हे, तदा स्वज्ञा-बभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः । एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः ; सर्पस्येव कुण्डलाजवाद्यवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ? व्यतिरेके तास्तस्येति संवन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितेष्वस्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाजोदोऽपि ज्ञेयेदिति । किञ्च । सुखदुःखभागौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ, तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया, सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तम्-‘न पुण्यपापे इति’ पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनं यं शुभं कर्म । पापं हि सादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म । ते अपि न घटेने, प्रागुक्तनीतेः । तथा न बन्धमोक्षौ । बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो बह्व्ययः पापकृदप्यन्यसंश्लेषः । मोक्षः कुल्लकर्मकृत्यः । तावप्येकान्त-नित्ये न स्याताम् । बन्धो हि संयोगविशेषः, स चाप्राप्तानां प्राप्तिरिति लक्षणः । प्राक्कालभाविनि अप्राप्तिरन्याऽवस्था । उत्तरका-लभाविनी प्राप्तिश्चान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेदोपादोस्तुतः । कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः, बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत् ? किञ्च । तेन बन्धननासां विकृतिमनुभवति, न वा ? अनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः । नानु-जयति चेन्निरविकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेषः । इति बन्धवैकल्यानित्यमुक्त एव स्यात् । ततश्च विशेषां जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति-‘वर्षातपाभ्यां किं व्योम्न-इच्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः, खतुल्यश्चेदसत्फलः’ ॥ १ ॥ बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याऽप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम् । तथातूते चान्मानि पुण्यपादानक्रियाकारिणो निरवयवं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः ? । एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु ? । एवं चान्यः क्रियाकारी, अन्यश्च तत्फलभाक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते । अथ “ यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आदिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कर्पासेरक्तता यथा ” ॥ १ ॥ इति वचनान्नासमञ्जसमित्यापि वारुमात्रम्, सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निश्चितत्वात् । तथा पुण्यपापे अपि न घटेने । तयोर्धर्मक्रिया सुखदुःखोपपन्नोः । तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता, ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किञ्च । अनित्यः कृणमात्रस्थायी, तस्मिन्नेव कृणे उत्पत्तिमात्रव्यप्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियाऽर्जनम् ? । द्वितीयादिक्षेपेषु चावस्थातुमेव न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियाज्ञाये च पुण्यपापे कुतः ? निर्मूलत्वात् ; तदसत्त्वे च कुतस्ततः सुखदुःखजोगः । आस्तां वा कथञ्चिदेतत्, तथाऽपि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानाऽनुरूपत्वादुपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितादुत्तरक्षणः कथं सुखित उपपद्यते ? कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्यात् ? ; विसदृशजागताऽऽपत्तेः ।

एव पुण्यपापादावपि तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् । एवं बन्धमोक्षयो-
रप्यसंभवः । सांकेऽपि हि य एव बन्धः स एव मुच्यते । निरन्व-
यनाशाभ्युपगमे सैकाधिकरणत्वात्सन्तानस्य चावास्तव-
त्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति ? परिणामिनि चात्मनि
स्वीक्रियमाणं सर्वं निर्बाधमुपपद्यते । "परिणामोऽवस्थान्तर-ग-
मने न च सर्वथा ह्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणाम-
स्तच्छिदामिष्टः" । १॥ इति वचनात् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह-
"अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परि-
णामः" इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिवाच्याऽनभि-
लाष्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखावजायः स्वयमभिप्रेत्युक्तैरभ्यूहाः ।
अधोत्तराद्व्याख्या—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगा-
दिद्रव्यहारं परैः परतीर्थिकैः, अथ च परमार्थतः शशुभिः, पर-
शब्दा हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति (दुर्नीतिवादव्यसनासिना) नी-
यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो न-
याः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः, तेषां वदने परेभ्यः
प्रतिपादने दुर्नीतिवादः । तत्र यद् व्यसनमत्यासक्तिरौचित्य-
निरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्, दुर्नीतिवादव्यसनम् । त-
देव सद्वोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिखिवासिः कृपाणः,
दुर्नीतिवादव्यसनासिः । तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभू-
तेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखङ्गेन । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह ।
अपि शब्दस्य भिन्नकमत्वादशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलो-
क्यम्, तात्स्थान्तद्वयदेश इति । त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलु-
प्तम्, सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपेण व्यापादितम् । तत् त्रा-
यस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गी-
यन्ते । अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि
जीवध्रातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राण-
धारणाऽभावादजीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात्संसा-
रिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभा-
वप्राणधारणादिनि सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्यं व्याख्या-
स्यामः । इति काव्यार्थः ॥ २७ ॥ स्या० ।

वस्तुनोऽनियतसदसदपत्वमनेकान्तजयपताकायां न्यक्षेण प्र-
त्यपादि परं तद्वैयर्थ्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुरवबोधत्वात्सम्प्रतिप्रभृ-
तिग्रन्थैर्गन्तव्यत्वाच्चास्मान्निरोपेक्षितम् । अनेकान्तजयपताका-
वृत्तिवि० ।

(५) एकान्तेन सर्वं वस्तु सदिति साङ्ख्यमतं तु न युक्तम् ।
युक्तिश्चात्र यत्तावदुच्यते सांख्याऽभिप्रायेण—सर्वं सर्वात्मकम्; दे-
शकालाकारप्रतिबन्धानु न समानकाशोपपन्नधिरिति । तदयुक्तम् ।
यतो जेदेन सुखदुःखजीवितमरणदूरासन्नसूक्ष्मबादरसुरूपकुरुपा-
दिकं संसारवैचित्र्यमध्यक्षेणऽनुच्यते । न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।
न च सर्वं मिथ्येत्यभ्युपपन्नं युज्यते, यतो दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च
पापीयसी । किञ्च । सर्वथैकस्यऽन्युपगम्यमाने संसारमोक्षप्राव-
तया कृतनाशोऽकृतान्यागमश्च यत्रादापतति । यच्चैतत्सत्त्वरज-
स्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगतः कार-
णं, तन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येप्यन्ति, निर्युक्तिकत्वात् । अपि च ।
सर्वथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वंऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसा-
मयेकत्वं स्यात् । तद्वदे च सर्वस्य भेद इति । तथा यदप्युच्यते-
सत्त्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्सत्त्वकार्यत्वादस्वाच्च मयूराण-
करणं चञ्चुषिच्छादीनां सनामोत्पादान्युपगमादसङ्ख्याद-
चाप्रकृतादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गादित्येतद्वाङ्मात्रम् । तथाहि—यदि
सर्वथा कारणे कार्यमास्ति न तर्ह्युत्पादः, निष्पन्नघटस्येव; अपि

च । मृत्पिण्डावस्थायामेव घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवेयुः । न
च भवन्ति, ततो नास्ति कारणे कार्यम् । अथाऽनभिव्यक्तमस्ती-
ति चेत् । न । तर्हि सर्वात्मना विद्यते नाऽप्येकान्तेनासत्कार्यत्वाद-
एव । तद्भावे हि व्योमाखिन्दानामप्येकान्तेनासतो मृत्पिण्डा-
देर्घटादेरिवोत्पत्तिः स्यात् । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । अपि चैवं
सर्वस्य सर्वस्मादुत्पत्तेः कार्यकारणत्वावानियमः स्यात् । एवं
च न शाल्यदुरार्थी शालिबीजमेवाऽऽद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति
नियमेन च प्रेक्षापूर्वकारिणां मुपादानकारणादौ प्रवृत्तिरतो ना-
सत्कार्यत्वाद इति । तदेवं सर्वपदार्थानां सर्वज्ञयत्वप्रमेयत्वादिभि-
र्धर्मैः कथञ्चिदकत्वम्, तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया यदेवार्थक्रि-
याकारि तदेव परमार्थतः सदिति कृत्वा कथञ्चिद्वेद इति सा-
मान्यविशेषात्मकं वस्तिवति स्थितम् । अनेन च स्यादस्ति, स्या-
न्नास्तीति भङ्गकद्वयेन शेषभङ्गका अपि द्रष्टव्याः । ततश्च सर्वं
वस्तु सप्तभङ्गीस्वभावम् । ते चामी—स्वच्छव्यक्षेत्रकावजावपेक्ष-
या स्यादस्ति, परद्रव्यापेक्षया स्यान्नास्ति । अनयोरेव धर्मयोर्गो-
पपद्येनाभिधातुमशक्यत्वात्स्यादवक्तव्यम् । तथा कस्यचिदंशस्य
स्वच्छव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात्, कस्यचिच्चंशस्य परद्रव्याद्य-
पेक्षया स्याद्वा, नास्ति वा, वक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वच्छव्या-
द्यपेक्षया परस्य तु सामस्येन स्वच्छव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वा-
त् । स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया
स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वच्छव्याद्यपेक्ष-
या, परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षया, अन्यस्य तु यौगपदेशेन स्वपरद्र-
व्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्त-
व्यम् । इयं च सप्तभङ्गी यथायोगमुत्तरत्राऽपि योजनीयेति ।
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

(६) कालाद्येकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सहावर्णियर्द, पुष्पकयं पुरिसकारणेगता ।

मिच्छन्तं तो चेवा, समासत्रो होति सम्मत्तं ॥ १४६ ॥

कालस्वभावनिमित्तपूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि
एकका मिथ्यात्वम् ; त एव समुदिताः परस्परजहद्वृत्तयः स-
म्यक्स्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः ॥ १४६ ॥ (सम्म० पं० व०)

तत्र कालादेकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यात्व-
वाद इति स्थिते त एवाऽन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहे-
नैकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमा-
र्थतः सन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति
तद्वादः सम्यग्वादादतया व्यवस्थितः । यथैते कालाद्येकान्ताः मि-
थ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वादोपग्रहान्तु त एव सम्यक्त्वं प्रति-
पद्यन्ते, तथाऽऽत्माऽप्येकान्तनित्यानित्यत्वादिधर्माध्यासितो
मिथ्यात्वम्, अनेकान्तरूपतया त्वन्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं
प्रतिपद्यत इत्याह—

एत्थि ए शिच्चो ए कुण्ड ,

कयं ए वेपइ एत्थि एत्थि एत्थि ।

एत्थि य मोक्सोवात्रो ,

छं मिच्छन्तस्स एत्थि ॥ १५० ॥

नास्यात्मा एकान्त इति सांख्याः । अत एव प्राहुः—यः कर्त्ता, स
न भोक्ता, प्रकृतिवत्, कर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेः । यद्वा—येन कृतं
कर्म, नाऽसौ तद् सुहृद्, कृणिकत्वात्, विवक्षितं तैरिति वीरुः ।
क्षणिकत्वाच्च तत्सन्ततः कृतं न वेदयत इति वीरु एवाह—कर्त्ता

भोक्ता चात्मा किन्तु न मुच्यते, सचेतनत्वात्, अजव्यवत्, रागादीनामात्मस्वरूपाव्यतिरेकात्, तद्वत्त्वे तेषामप्यक्यादिति ज्ञायिकः । निर्हेतुक एवासौ मुच्यते, तत्स्वभावताव्यतिरेकेण परस्य तत्रोपायस्याज्ञावादिनि मारुत्री प्राह । एतानि पदं मिथ्यात्वस्य स्थानानि, पक्षमाप्येषां पक्षाणां मिथ्यात्वाधारतया व्यवस्थितेः । तथाहि-एतानि नास्तित्वादिविशेषणादीनि साध्यधर्मिविशेषणतयोपादीयमानानि किं प्रतिपक्षव्युदासेनोपादीयन्ते ? आहोस्वित् कथंचित्तत्संग्रहेति कल्पनाद्वयम् । प्रथमपक्षे-अध्यक्षविरोधः, स्वसंवेदनाध्यक्षतश्चैतन्यस्यात्मरूपस्य प्रतीतिः, कथञ्चित्तस्य परिणामनित्यताप्रतीतिश्च, शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलब्धेश्च, स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्तरूपादिभोक्तृत्वसंवेदनाच्च, पुञ्जलक्षणतया, रागादिव्यक्ततया च, शुभसुखरसावस्थायां कथञ्चित्तस्योपलब्धेश्च । स्वोत्कर्षतरतमादिभावतो रागाद्युपचयतरतमभावविधायिसम्यग्ज्ञानदर्शनादेरुपलम्भाच्चानुमानतोऽपि विरोधः । तथाभूतज्ञानकार्यान्याथाऽनुपपत्तिचैतन्यलक्षणस्यात्मनः सिद्धिर्घटादिवन् रूपादिगुणतः ज्ञानस्वरूपगुणोपलम्भात् कथञ्चित्तदभिन्नस्याऽऽत्मलक्षणस्य गुणिनः सिद्धिरिति नानुमानविरोधः, इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याप्रसिद्धेः । अप्रसिद्धविशेषणविशेष्योभयदोषैर्दुष्टश्च पक्ष आत्मेति वचनेन, तत्सत्ताभिधानं नास्तित्वेन च, तत्प्रतिपक्षभिधानपदयोः प्रतिज्ञावाक्यव्याघातो लोकविरोधश्च । तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो लोके तद्व्यवहियमाणत्वात् स्ववचनविरोधश्च । तत्प्रतिपादकवचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तेर्हेतुरपीतरनिरपेक्षैकधर्मरूपोऽसिद्धः, तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलब्धेः सर्वत्र तद्विपरीत एवाभावात् । विरुद्धश्च दृष्टान्तः, साधनधर्माधिकरणतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धेः । तत्र प्रथमः पक्षः नापि द्वितीयः, स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्, साधनवैकल्यापत्तेश्च । तथाभूतस्यानेकान्तरूपतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात् । तस्माद्व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया पडयेतानि । तद्विपर्ययेणाप्येकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह-

अतिय अविणामधम्मा, करेइ वेएइ अतिय णिवाणं ।

अतिय अ मोक्खोवाओ, उं मिउच्चस्स ठाणाइं ॥ १५१ ॥

अस्यात्मेति पक्षः पुरणादेर्वादिनः । स चाविनाशधर्मो, एषा प्रतिज्ञा कलमतानुसारिणः । कर्तृत्रोक्तस्वभावोऽसाविति मतं जैमिनेः । तथाभूत एवासौ जरस्वरूप इत्येकपादकणञ्जुक्रमतानुसारिणः । अस्ति निर्वाणमस्ति च मोक्षोपाय इत्यामनन्ति नास्तिक्याङ्गिकव्यतिरिक्ताः । पाखिरिण एते चान्युपगमाः एकान्तेन तद्वस्तित्वादेरध्यक्षानुमानाज्यामप्रतीतेः । तथाऽभ्युपगमे च स्वास्तित्वेनैवान्यभावास्तित्वेनापि तस्य भावात् सर्वज्ञावसंकार्णताप्रसक्तेः, स्वस्वरूपाव्यवस्थितेः स्फुप्पवदसत्त्वमेव स्यात्, इत्यादि दूषणमसङ्गतं प्रतिपादितम् । हेतुदृष्टान्तदोषाश्च पूर्वोक्तद्वारापि वाक्याः । चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिदन्यथा पठन्ति- 'कुस्सम्मच्चस्स ठाणाइं ति' । अत्र तु पाठे इतरधर्मो जडद्वृत्या प्रवर्तमाना एते पदं पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्त इति व्याख्येयम् । न च स्यादस्यात्मा नित्यादिप्रतिज्ञावाक्यमध्यक्षादिना प्रमाणेन बाध्यते, स्वपरजावाभासकाध्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेणान्यथाभूतस्याऽध्यक्षादेरप्रतीतेः । तेनानुमानाभ्युपगमात् स्ववचने लोकस्य व्यवहारविरोधोऽपि न, प्रतिज्ञाया अध्यक्षा

दिप्रमाणावसेये सदसदात्मके वस्तुनि कस्यचिद्विरोधस्यासंभवात् । न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः वैकिकपरीक्षकैस्तथाभूतविशेषणस्यापि प्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतिरन्यस्य वा विशेषणव्यवहारस्याच्छेदप्रसङ्गात् । अन्यथातृतस्य क्वचिदप्यसंभवात्तथाभूतविशेषणात्मकस्य धर्मिणः सर्वप्रतीतेनाप्रसिद्धविशेष्यतादोषः । नाप्यप्रसिद्धोभयता दूषणमः तथाभूतद्वयव्यतिरेकेणान्यस्यासत्त्वतः प्रमाणाविषयत्वहेतुरपि नाप्रसिद्धः, तत्र तस्य सत्त्वप्रतीतेः । विपक्षे सत्त्वासंज्ञवान्नापि विरुद्धः । अनेकान्तिकताऽप्यत एवायुक्ता । दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकल्पवाद्यो नात्र संज्ञविनः, असिद्धत्वादिदोषवत्येव साधने तेषां ज्ञावान् । नानुमानतोऽनेकात्मकं वस्तु तद्वादिभिः प्रतीयते । अध्यक्षसिद्धत्वाद्वस्तुप्रतिपत्तेरपि ततस्तस्मिन् विप्रतिपद्यते । तं प्रति तत्प्रसिद्धेनैव न्यायेनानुमानोपन्यासेन विप्रतिपत्तिनिगकरणमात्रमेव विधीयत इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषस्यावकाशः । प्रतिकृणपरिणामपरभागादीनां तूष्णिकारावाग्भागादर्शनाऽन्यथाऽनुपपत्त्यामानेनाध्यक्षादिबाधादस्मदायकस्य सर्वात्मना वस्तुग्रहणासामर्थ्यात् स्फटिकादीं चार्वाग्ज्ञागपरजागयोरध्यक्षत एवैकदा प्रतिपत्तेरनवस्थैर्यग्राह्यवृत्तं प्रतिकृणपरिणामानुमानेन विरुध्यते; अस्य तदनुप्रादकत्वात्, कथञ्चित्प्रतिकृणपरिणामस्य तत्प्रतीतस्यैवानुमानतो विनिश्चयात् ।

अनेकान्तव्यवच्छेदेनैकान्ताऽवधारिधर्माधिकरणत्वेन

धर्मिणं साध्यधर्मकान्तवादी न साध्यम्यतः

साध्ययितुं प्रभुर्नापि वैधर्म्यत इति

प्रतिपादयन्नाह—

[९] साध्यम्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।

साहम्मओ व्व अत्यं, साहिज्ज परो विहम्मओ वा वि ।

अएणोसं पमिकुछा, दोस वि एए असव्वाया ॥ १५२ ॥

समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितसाधनधर्मो यस्यासौ साध्यधर्मो, साध्यम्यदृष्टान्तापेक्षया साध्यधर्मो, तस्य भावः साध्यम्यम्, ततो वाऽर्थं साध्यधर्मादिकरणतया धर्मिणं साध्यतेपरः, अन्वयिहेतुप्रदर्शनात् । साध्यधर्मिणि विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकादि साध्येत, तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्; अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात् । अथ वैधर्म्याद् विगतस्तथाभूतसाधनधर्मो ह्यस्मादसौ विधर्मो, तस्य भावो वैधर्म्यम्, ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साध्येत, उभाज्यां वा । वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् । तथापि पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः । इयामत्वाभावे च तत्पुत्रत्वादेः, अन्यत्र गौरपुरुषे अज्ञावात्, उभाभ्यामपि तत्साधने । अत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिः स्यात् । अथाऽत्र कालात्ययापदिष्टत्वादिदोषसङ्गावान्न साध्यसाधकताप्रसक्तिः; असिद्धविरुद्धानैकान्तिरुहेत्वाज्ञासमन्तरेणापरहेत्वाज्ञासासंभवात् । न च त्रैरूप्यलक्षणयोगिनाऽसिद्धत्वादिदेत्वाभासता कृतकत्वादेरिवानित्यत्वसाधने संभवति । अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैरूप्यं प्रकृतहेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता ? । अथ भवत्वर्थं दोषः, येषां त्रैरूप्येऽविनाशपरिसमाप्तिः, नास्माकं च लक्षणहेतुवादिनाम् ; प्रकरणसमादेरपि हेत्वाभासत्वोपपत्तेः त्रैलोक्यसङ्गावेऽप्यपरस्यासत्प्रतिपक्षत्वादेर्हेतुलक्षणस्यासंभवे तदाभासत्वसंज्ञावात्, 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः' इति प्रकरणसमस्य लक्षणाभिधानात् । प्रक्रियते साध्यत्वेनाऽधिक्रियते निश्चितौ पक्षप्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशया-

तु प्रवृत्त्यानिध्यादाशोचनस्वभावतो भवति । स एव तन्नि-
ध्यायं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात् ।
उभयत्रान्वयादिस्मृत्वात् । तथाहि तस्योदाहरणम्-अनित्यः
शब्दः, नित्यधर्मानुपलब्धः, अनुपलब्धमाननित्यधर्मकं घटाद्य-
नित्यं दृष्टम्, यत्पुनर्नानित्यं न तदनुपलब्धमाननित्यधर्मकं यथा-
ऽऽत्मादि । एवं चिन्तासंबन्धिपुरुषेण तस्याऽनुपलब्धेरकदेश-
भूताया अन्यतगानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वेनोपन्यासे
सति द्वितीयचिन्तासंबन्धिपुरुष आह-यद्यनेन प्रकारेणानित्य-
त्वं साध्यते तर्हि नित्यतामिदंरपिःअन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि स-
द्भावात् । तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धः, अनुपल-
ब्धमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमात्मादि । पुनर्यत् न नित्यं तन्नानु-
पलब्धमानानित्यधर्मकं, यथा घटादि । एवमन्यतरानुपलब्धेरुभ-
यपक्षे साधारणत्वात् प्रकरणाननित्यत्वेहेत्वाभासत्वम् । न च नि-
धितयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेऽधिकारात् कथं चिन्तायुक्त एवं सा-
धनोपन्यासं विद्व्यादिति वक्तव्यम्, यतोऽन्यदा संदेहेऽपि चिन्ता-
संबन्धिपुरुषोऽन्यतराऽनुपलब्धः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकानवगच्छं-
स्तद्बलात्स्वसाध्यं यदा निश्चिनोति, तदा द्वितीयस्तामेव स्वसा-
ध्यसाधनाय हेतुत्वेनाभिधत्ते । यद्यनस्त्वत्पक्षमिच्छिरत एव मत्प-
क्षसिद्धिः किं न भवेत् ? त्रैरूप्यस्य पक्षद्वयेऽप्यत्र तुल्यत्वात् । अथ
नित्यत्वानित्यत्वैकान्तविपर्ययेणाऽन्यस्याः प्रवृत्तेरनैकान्तिकता ।
उभयवृत्तिर्हेतैनैकान्तिको न प्रकरणसमः । न यत्र पक्षसपक्षविपक्षा-
णां तुल्यो धर्मो हेतुत्वेनोपादीयते तत्र संशयहेतुताः साधारणत्वेन
तस्य विरुद्धविशेषानुस्मारकत्वात् । न तु प्रकृत एवंविधः यतो नित्य-
धर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावो न नित्ये, एवमनित्यधर्मानुपलब्धे-
रनित्य एव जावो नानित्ये । एवं चात्र साध्ये विपक्षव्यावृत्तिः प्रकर-
णसमता, नानैकान्तिकता पक्षद्वयवृत्तित्वेन तस्या भावात् । न यद्यं
पक्षद्वये तदा साधारणाऽनैकान्तिकः । अथ न वर्तते कथमयं पक्ष-
द्वयसाधकः स्यात्, अतद्वृत्तेरतत्साधकत्वात् । न पक्षद्वये प्रकृत-
स्य वृत्त्यभ्युपगमात् । तथाहि-कथं साधनकालेऽनित्यधर्मानुपल-
ब्धिवर्तने न नित्ये । यदाऽपि नित्यत्वं साध्यं तदाऽपि नित्यपक्ष-
एवानित्यधर्मानुपलब्धिवर्तते नाऽनित्ये । ततश्च सपक्ष एव
प्रकरणसमस्य वृत्तिः, सपक्षविपक्षयोश्चनैकान्तिकस्य साध्या-
पेक्षसपक्षविपक्षव्यवहारः, नाऽन्यथा, तेन साध्यद्वयवृत्तिरुभय-
साध्यसपक्षवृत्तिश्च प्रकरणसमो, न तु कदाचित्साध्यापेक्षया
विपक्षवृत्तिः । अनैकान्तिकस्तु-विपक्षवृत्तिरपीत्यस्मादस्य जेदः ।
न च रूपत्रययोगेऽन्यस्य हेतुत्वम्, सप्रतिपक्षत्वात् । यस्य तु क-
दाचिःसाध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिरेकप्रतिबन्धपरिसमाप्तिरूपप्र-
योगे, तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम् । न
चाऽस्य कालात्ययापदिष्टत्वमबाधितविषयम् । ययोर्हि प्रकर-
णचिन्ता तयोरयं हेतुः । न च ततः संदिग्धत्वाद् बाधामस्यो-
पदर्शयितुं क्रमः । न च हेतुद्वयसंनिपातादेकत्र धर्मिणि
संशयोत्पत्तस्तत्तत्त्वेनास्यानैकान्तिकतया तेन संशयहेतुताऽनै-
कान्तिकत्वम्, छन्द्वयसन्निकर्षोदेरपि तथात्वप्रसक्तेः । न च त-
स्यानुपलब्धिविशेषस्मृत्यादिभ्रान्त्या संशयकारणम् न च तत्स-
हिताया अस्या हेतुत्वम् केवज्ञाया एव तत्त्वेनोपन्यासात् । न च
संदिग्धविषयज्ञान्तपुरुषेण निध्यायार्थमुपादीयमानाया अस्याः
संदेहेहेतुता युक्ता । नचतु वा कयश्चिदतः संशयोत्पत्तिः, तथाऽन्य-
नैकान्तिकादस्य विशेषः । स हि सपक्षविपक्षयोः समानः, अयं तु
तद्विपरीतः, साध्यद्वयवृत्तिव्याप्तु प्रकरणसमः । न चासंभवः,
अस्यैवंविधसाधनप्रयोगस्य ज्ञान्तः सद्भावात् । अथास्यासिद्धे-

रन्तर्भावः । अनित्यवादिनो नित्यधर्मानुपलब्धेरितरस्य चेतरेष-
र्मानुपलब्धेरसिद्धत्वात् । असदेतत् । यतश्चिन्तासंबन्धिपुरु-
षेण समस्य हेतुत्वेनोपन्यासस्तस्य च तत्संबन्धिनो वा कथ-
मितरेणासिद्धताद्भावनं विधानं शक्यम् । यस्य हानुपलब्धिनि-
मित्तसंशयोत्पत्तौ शब्दे नित्यत्वजिज्ञासा, स कथमन्यतराऽनुपल-
ब्धे हेतुप्रयोगेऽसिद्धतां द्रव्यात् ? अत एव सूत्रकारेण 'यसाःप्रकरण-
चिन्ता, इत्यसिद्धतादोपपरिहारार्थमुपात्तम् । एवमनित्यः शब्दः'
सपक्षपक्षयोरन्यतरत्वाद् घटवदिनि चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणा-
त्तेऽपरस्तत्संबन्धाच्चित्यः शब्दः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादाकाश-
वत् यदाह । तथा प्रकरणसम एव अत्र प्रेरयन्ति-पक्षसपक्षयोरन्य-
तरः पक्षः ? सपक्षो वा ? यदि पक्षः, तदा न हेतोः सपक्षवृत्तिता
न हि शब्दस्य धर्मान्तरे वृत्तिः संजवीत्यसाधारणतैवास्य हेतोः
स्यात् । अथ पक्षोऽन्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता ।
सपक्षयोर्घटाकाशयोः शब्दाख्यधर्मिण्यप्रवृत्तिरसिद्धेऽतर्भूत-
स्यास्य न प्रकरणसमता न च पक्षसपक्षयोर्व्यतिरिक्तः कश्चिद-
न्यतरशब्दवाच्यः, यस्य पक्षधर्मताऽन्यवश्च भवेत्, तन्नायं हेतुः ।
अत्र प्रतिविदधति-भवेदेष दोषो यदि पक्षयोर्विशेषशब्दवाच्य-
योर्हेतुत्वं विवक्षितं जवेत्, तच्च न ; अन्यतरशब्दाभिधस्यैव
हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । स च पक्षसपक्षयोः साधारणः, तस्यैव
साधारणशब्दाजिधेयत्वात् । यदि वाऽनुगतो द्वयोर्धर्मः कश्चिच्छ-
ब्दवाच्यो न जवेत्तदा विशेषशब्दवदन्यतरशब्दोऽपि न तत्र
प्रवर्तते; नाऽपि तच्छब्दादुभयत्र प्रतीतिर्भवेत् । दृश्यते, तस्मा-
त्पक्षतां सपक्षतां चासाधारणरूपत्वेन कल्पितां परित्यज्यान्यत-
रशब्दो द्वयोरपि वाचकत्वेन योग्यः । ततो या विशेषप्रतीतिः सा
पुरुषविवक्षानिवन्धना । यदा हि साधनप्रयोक्ता पक्षधर्मत्वमस्य
विवक्षति तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षः सपक्षेऽनुगमविशेषा-
भिधायी स्यात् । यतोऽशोकव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धव्युत्पत्ति-
स्तत्र च पक्षशब्दस्य न सपक्षे प्रवृत्तिः । नाऽपि सपक्षशब्दस्य
पक्षे । यथा वाऽनयोः सङ्केतादपि नायत्र प्रवृत्तिरेवमन्यतरशब्द-
स्य सामान्ये सङ्केतितस्य न विशेष एव वृत्तिः । उभयाभिधायकत्वे
तु विवक्षावसानाऽन्यतरनियमः । न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ
दूषणम्, तदवस्थायामेवं दोषोद्भावनं कस्यचित् सम्यग्हेतुपपत्तेः ।
कृतकत्वादेरपि पक्षधर्मत्वविवक्षयां विशेषरूपत्वादनुगमाज्ञा-
वात् । सपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मत्वायोगात् । अथ कृतकत्वमात्र-
स्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषः, तर्हि तत्प्रकृतेऽपि तुल्यम्; अन्य-
तरशब्दस्याप्यनङ्गीकृतविशेषस्य द्वयाऽभिधाने सामर्थ्योपप-
त्तेः । एतेन यदुक्तं न्यायविद अनर्थः खल्वपि कल्पनासमारोपितो
न लिङ्गात् तथा पक्ष एवायं पक्षसपक्षयोरन्यतर इत्यादि । तद-
पि निरस्तम् । त्रैरूप्यसद्भावेऽपि प्रकरणसमत्वेनास्यागमकत्वात् ।
प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टोऽपि
हेतुत्वाज्ञासोऽपरोऽभ्युपगमः । यथा-पक्षान्येतान्यान्प्रक्षानि, एक-
शास्त्राप्रजवत्वात्, उपयुक्तफलवत् । अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि
प्रत्ययबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात् । अपदिष्टतागमकत्वे निबन्धन
हेतोः काशाहुष्टकर्मनन्तरं प्रयोगः । प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य तुष्टक-
र्मनन्तरं प्रयोगाहेतुकाशव्यतिक्रमेण प्रयोगः । तस्माच्च काशा-
त्ययापदिष्टशब्दाजिधेयता हेत्वाभासता च । तदुक्तं न्यायभाष्यकृ-
ता-“यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः” इति ।
तदेवं पञ्चशृङ्गणयोगिनि हेतावयिनाज्ञायपरिसमाप्तेः । तत्पुत्रत्वा-
दौ तु त्रैलङ्गण्येऽपि कालात्ययापदिष्टत्वाच्च गमकत्वमिति नैयायि-
काः । असदेतत् । असिद्धादिव्यतिरेकेण परस्य प्रकरणसमादेहे-

त्वाज्ञासस्याऽयोगात् । यच्च प्रकरणसमस्यानित्यः शब्दोऽनुपलब्ध-
माननित्यधर्मकत्वादित्युदाहरणं प्रदर्शितम् । तदसंगतमेव । यतो-
ऽनुपलब्धमाननित्यधर्मकत्वं यदि न ततः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितया-
ऽस्यासिद्धेः कथं नासिद्धः ? अथ तत्र सिद्धं तदा किं साध्यधर्मि-
त्वेन धर्मिणि तस्मिन्म, उत तद्विक्रय इति वक्तव्यम् ? यदि तदन्विते
तदा साध्यवत्येव धर्मिणि तस्य सद्भावसिद्धेः कथमगमकता ? न
हि साध्यधर्ममन्तरेणाधर्मिजनने विहायापरं हेतोरविनाभावित्वं
भवेत् । तच्चेत् समस्ति कथं न गमकता ? ऽविनाभावनिवन्धनत्वात्
तस्याः । अथ तद्धि कालात्तत्सिद्धं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः क-
थं न विरुद्धः ? विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात् । जयति च
धर्मविक्रय एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ संदिग्ध-
साध्यधर्मवति तत्तत्र वर्तते तदा संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वा-
दनैकान्तिकः । अथ साध्यव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे यस्य साध्या-
भाव एव दर्शनं स विरुद्धः । यस्य च तदभावेऽप्यसाधनैका-
न्तिकः । न धर्मिण एव विपक्षता; तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य
हेतोरहेतुत्वप्रसक्तेः । यतः साध्यधर्मासाध्यधर्मसदसत्त्वाश्रय-
त्वेन सर्वदा संदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्रागन्यथा साध्याभावे
निश्चिते साध्याभावनिश्चायकेन प्रमाणेन बाधितत्वात्तत्तत्प्रवृ-
त्तिरेव स्यात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो
निश्चये हेतोर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः, प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः,
तस्मात्संदिग्धसाध्यधर्माधर्मा हेतोरश्रयत्वेनैव छेद्य इति ।
यद्यनैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतुः, धृमादिरपि तर्हि तथाविध
एव स्यात् । तस्याप्येवं संदिग्धव्यतिरिक्तत्वात् । यदि हि विपक्ष-
वृत्तित्वेन निश्चितो यथा गमकस्तथा संदिग्धव्यतिरिक्तेऽप्यनुमान-
प्रामाण्यं परित्यक्तमेव भवेत् । ततोऽनुमयव्यतिरिक्ते साध्यधर्म-
वति वर्तमानः साध्याभावे चानैकान्तिको हेतुः, साध्याभाववत्ये
वानुवर्तमानः पक्षधर्मस्य सति विरुद्ध इत्यनुपपन्नव्ययम् ।
यच्च विपक्षाद्व्यावृत्तिः सपक्षे वाऽनुगतः पक्षधर्मो निश्चितः सं-
स्वसाध्यं गमयति । प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद्व्यावृत्तस्तथाऽपि
न स्वसाध्यसाधकः, प्रतिबन्धस्य स्वसाध्यनानिश्चयात् । तद-
निश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमत्वेन, एकशाखा-
प्रभवत्वादेस्तु कालात्ययापादिष्टत्वेनाति । असदेतत् । यतो यदि
धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽप्युपगम्य-
ते, तदा धर्मिण्युपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्यापस्थापको न
स्यात् । साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतोः सद्भावभ्युप-
गमात्; तद्व्यातिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रह-
णात् । नचान्यत्र स्वसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽन्यत्र सा-
ध्यं गमयेत् । अतिप्रसङ्गात् । अथ यदि साध्यधर्मान्यतत्वेन सा-
ध्यधर्मिण्यपि हेतुरन्वयप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव
साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम् ।
असदेतत् । यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसंहारेण
ज्ञाधनधर्मसाध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवतीति सामान्ये-
न प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मिण्युपग-
म्यते हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चाययतीति पक्षधर्मताग्रहण-
स्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वान्नुमानस्य वैयर्थ्यम् ।
नहि विशिष्टधर्मिण्युपलब्धमानो हेतुस्तद्गतसाध्यमन्तरे-
णोपपत्तिमान् अस्य । अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्तत्वायो-
गात् । नचैवं तत्र हेतुपक्षमज्ञेऽपि साध्यविषयसदसत्तानिश्चयः,
येन संदिग्धव्यतिरिक्ता हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्यसा-
ध्याविना नूतहेतूपलम्बस्यैव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूप-

त्वात् । नहि तत्र तथा नूनहेतुनिश्चयादपरस्तस्यासाध्यप्रतिपादन-
व्यापारः । अत एव निश्चितप्रतिव्यत्यैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न
विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तल्लक्षणयोगिनो हेत्वन्तरस्य स-
द्भावः । तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविना नूतत्वाच्चिन्त्यानित्यत्वयोश्च-
कत्रैकान्तवादिमतेन विरोधादसंभवात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वो-
पस्थापकस्य न्यायप्राप्तत्वात् । संभवे वा तयोः स्वसाध्याविना-
नित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मतः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्याऽ-
गमकता । अन्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत
एव तस्याऽगमकतेति किमसत्प्रतिपत्तिरूपप्रतिपादनप्रयास-
न ? किञ्च नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरू-
पा वा शब्दागित्येव हेतुः ? न तावदाद्यः पक्षः अनुपलब्धिमात्रस्य
तुल्यस्य साध्यासाधकत्वात् । अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मो
पलब्धिरेव हेतुरिति । यद्यसौ शब्दे सिद्धा, कथं नानित्यता सिद्धिः ?
अथ चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणासौ प्रयुज्यत इति न तत्र निश्चिता,
तर्हि कथं संदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिनं प्रति प्रतिवादिनस्त्वसौ
स्वरूपासिद्ध एव ? नित्यधर्मोपलब्धिः ? तत्र तस्य सिद्धेः ।
यदप्युभयानुपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता, तदैकदेशो-
पलब्धिरेवत्यतरेण हेतुत्वेनोपादने कथं चिन्तासंबन्धेयं द्वितीयः
तस्यासिद्धतां वक्तुं पारयतीत्याद्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् ।
यतो यदि द्वितीयः संशयापन्नत्वाच्चिन्तासिद्धतां नोद्भावयितुं
समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयित्वादेव तस्य हेतुतामभिधातुं
संशयितोऽपि तत्र हेतुतामभिदध्यात्, तर्ह्यसिद्धतामप्यभिदध्या-
तः ज्ञानैरुभयत्राविशेषात् । यदपि साधनकाले नित्यधर्मानुपल-
ब्धिर्नित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्ष इत्याद्यभिधानम् तदसङ्गतम् ।
विपक्षादेकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्ममेव च स्वसाध्यसाधक-
त्वमेव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपानामेकव्यवच्छेदेनापरत्र वृत्तिनिश्च-
ये गत्यन्तराभावात् । नहि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो
वस्तुधर्मः स तत्र साध्यतांति वक्तुं युक्तम् । अथ द्वितीयोऽपि
वस्तुधर्मस्तत्र तावन्निश्चितो न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयोस्तदविना-
नूतयोर्वा एकत्र धर्मिण्ययोगात् । योगे वा नित्यत्वयोः शब्दा-
ख्ये धर्मिण्येकदा सद्भावदानेकान्तरूपयस्तुसद्भावोऽप्युपगतः
स्यात् । तन्मन्तरेण तद्धेतोः स्वसाध्याविना नूतयोस्तत्रायोगात् ।
धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्स-
द्भावे परस्परविषयप्रतिषेधः ? तत्र प्रतिबन्धो हि तयोस्तथा-
नूतयोस्तत्राप्रवृत्तिः सा च त्रैरूप्याभ्युपगमे विरोधाद्युक्ता;
भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया एकत्रायोगात् ।
अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरैकत्रायोगादनित्यधर्मानुप-
लब्धेर्नित्यधर्मानुपलब्धेर्वा बाधा । न । अनुमानस्याऽनुमाना-
न्तरेण बाधायोगात् । तथाहि-तुल्यबलयोर्वा तयोर्वाधक-
भावोऽतुल्यबलयोर्वा ? न तावदाद्यः पक्षः । द्वयोस्तुल्यत्वे ए-
कस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः ।
न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादिरेकस्य विशेषः, तस्यानन्युपगमात् ।
अभ्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वात् किञ्चिदनुमानबाधया ।
तत्र पूर्वं पक्षः । नापि द्वितीयः । यतोऽतुल्यबलत्वं तयोः पक्ष-
धर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? न तावदाद्यः
पक्षः । तस्यानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वाऽनुमानबाधावैयर्थ्य-
प्रसक्तेः । नापि द्वितीयः । तस्याद्यापि विचाराऽऽस्पदत्वात् ।
न हि द्वयोर्लैरूप्याऽतुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाध-
कत्वमिति व्यवस्थापायितुं शक्यम् । तन्नानुमानबाधाकृतमप्य-
तुल्यबलत्वम्, इतरेतराश्रयदोषापत्तेः परिस्फुटत्वात् । एतेन प-

सप्तपञ्चान्यतरत्वादपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कुतो द्रष्टव्यः ;
न्यायस्य समानत्वात् । यदप्यत्रासाधारणत्वासिद्धत्वादप्य-
निरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसप्तयोः साधारणं हेतु-
त्वेन विवक्षितम् । अन्यतरशब्दात् तथाविधार्थप्रतिपक्षेभ्यस्तस्य
तत्र योग्यत्वादित्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् । यतो यत्रानियमेन
फलसंबन्धो विवक्षितो भवति तत्रैव लोकेऽन्यतरशब्दप्र-
योगो दृष्टः । यथा-देवदत्तयज्ञदत्तयोरन्यतरं ज्ञाजयत्यत्रानिय-
मेन देवदत्तो यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया संबध्यते, इत्यन्यत-
रशब्दप्रयोगः । नचैवं शब्दः पक्षसप्तयोरन्यतरः ; तस्य पक्ष-
त्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात् । यदपि यदा पक्षधर्मत्वं प्र-
योगो विवक्षितः, तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्ष इत्याद्यभिधानम् ।
तदप्यसङ्गतम् । एवं विवक्षायामस्य कल्पनासमारोपितत्वेऽन-
र्थरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः । नहि कल्पनाविरतस्यार्थत्वं, त्रै-
रूप्यं वोपपत्तिम् ; अतिप्रसङ्गात् । तत्त्वे वाऽन्यस्य गमकता-
निबन्धनस्याभावात् सम्यग्हेतुत्वं स्यादित्युक्तं प्राक् काला-
त्ययापदिष्टस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव । नहि प्रमाणप्रसिद्धत्रै-
रूप्यसद्भावे हेतोर्विषयबाधा संभावनी, तयोर्विरोधात् । सा-
ध्यसद्भाव एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्यैरूप्यम्, तदभाव एव
च तत्र तत्सद्भावो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः । किं
बाध्यज्ञागमयोः कुतो हेतुविषयबाधकत्वमिति वक्तव्यम् । स्वा-
र्थासंभवे तयोर्भावादिति चेत्-हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समान-
मित्यसावपि तयोर्विषयो बाधकः स्यात् । दृश्यते हि चन्द्रा-
कादिस्थैर्यग्राह्यत्वं देशान्तरप्रातिलिङ्गप्रभवत इत्यनुमानेन
बाध्यमानम् । अथ तत्स्थैर्यग्राह्यत्वं तस्यादाभासत्वाद् बाध्यत्वं
तर्ह्येकशाखाप्रभववानुमानस्यापि तदाज्ञासत्वाद् बाध्यत्वमित्य-
भ्युपगन्तव्यम् । नचैवमस्त्विति वक्तव्यम्, यतस्तस्य तदाभासत्वं
किमप्यङ्गबाध्यत्वादुत त्रैरूप्यैकद्वयात् । न तावदाद्यः पक्षः ।
इतरतराश्रयदापसद्भावात् । तदाभासत्वेऽप्यङ्गबाध्यत्वम्, ततश्च
तदाभासत्वमित्येकासिद्धाव्यतराप्रसिद्धः । नापि द्वितीयः ।
त्रैरूप्यसद्भावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात् । अनभ्युपगमे वा तत
एव तस्यागमकत्वोपपत्तेरप्यङ्गबाधाऽभ्युपगमवैयर्थ्यात् । नचा-
बाधितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम् ; त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य
गमकाङ्गवोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः संभवति ; स्वसंबन्धि-
नोऽबाधितत्वे निश्चयस्य तत्कालज्ञाविनोऽसम्यगनुमानेऽपि स-
साध्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गवोपपत्तेः । न च तस्य निश्च-
यः संभवति, स्वसंबन्धिनोऽबाधितत्वे निश्चयस्य तत्कालज्ञाविनो-
ऽसम्यग्भावादुत्तरकालभाविनोऽसिद्धत्वात् । सर्वसंबन्धिनस्ता-
दात्मिकस्योत्तरकालभाविनश्चासिद्धत्वात्तद्वर्णागदशा सर्वत्र स-
र्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याज्ञाव इति निश्चेतुं शक्यम् । तन्निश्चय-
निबन्धनस्याभावात्तानुपपन्नस्तन्निबन्धनः ; सर्वसंबन्धिनस्तस्य
सिद्ध्यत्वात् । आत्मसंबन्धिनोऽनैकान्तिकत्वात्तत्तत्संबन्धनः,
प्रागनुमानप्रवृत्तेः । तस्यासिद्धेरनुमानोत्तरकालं तत्सिद्ध्याभ्यु-
पगमे इतरेतराश्रयदापसंभवे । तथाहि-अनुमानप्रवृत्तौ संवादा-
निश्चयः, नतरचाबाधितत्वावगमे अनुमाने प्रवृत्तिरिति परि-
स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । न चाविनाभायं निश्चयादप्यबाधित-
विषयान्यनिश्चयः ; यतो वक्ष्ययोग्यविनाभावपरिसमाप्तिवादि-
नामवाधितविषयान्यनिश्चयं अविनाभावनिश्चयस्यैवासंभवात् ।
बहि च प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्यैव कालात्य-
यापदिष्टत्वं, तर्हि मूर्खोऽप्येव देवदत्तः, न्यपुत्रत्वादुभयाभिमनान्य
पुत्रवत्, इत्यस्यापि गमकता स्यात् । न हि सकलशास्त्रवाक्या-

तृत्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदध्यक्षबाधि-
तविषयत्वं वा गमकतानिबन्धनमस्यास्तान चानुमानस्य तुल्यब-
लत्वात्तानुमानं प्रति बाधकता संजाविनीति वक्तव्यम् ; निश्चितप्र-
तिबन्धलिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्यानिश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थ-
नानुल्यबलत्वात् । अत एव न साधर्म्यमात्रादेतुर्गमकः, अपि त्वा-
क्षित्यतिरेकात् साधर्म्यविशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात् कि-
न्त्वङ्गीकृतान्वयात् । तद्विशेषान्वये च परस्परानुविद्धोभयमात्रात् ।
अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वुत्तसाधर्म्यैधर्म्यरूपत्वात् । न
च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाणनिबन्धनं त्रैरूप्यं निश्चित-
मिति । तदज्ञावादेयास्य हेत्याज्ञासत्वं, न पुनस्तत्प्रतिपक्षत्वाबा-
धितविषयत्वापररूपविरहात् । यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकवास्तव-
रूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयः, तदा तत्तथाभूतमेव वस्तु
प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः ? नच साध्यसाधनयोः प-
रस्परतो धर्मिणश्चैकान्तभेदे पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमा-
न, संबन्धासिद्धेः । नच समवायादेः संबन्धस्य निषेधे एकार्थ-
समवायादिः साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च संबन्धः संभवी । एका-
न्तपक्षे तादात्म्यादेतदुत्पत्तिवृत्तौऽप्यसावयुक्त एवेति पक्षधर्म-
स्य सपक्ष एव सत्त्वम्, तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति
वाच्यम् ? ; अन्यव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा
तादात्म्यायोगात् । तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यति-
रेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान् । व्यतिरेकस्य चाभा-
वाज्ञावरूपत्वादेतोस्तद्वृत्तत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात् । न चाभा-
वस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन धर्मिणा वा संबन्ध उपपत्तिमा-
न । एवं विपक्षे सर्वत्रासत्त्वमेव हेतोः । स्वकीय व्यतिरेकेण प्र-
तिनियतस्य तत्रासंज्ञात् । अतस्तदन्यधर्मान्तरं तर्ह्येकरूपस्यैको
न तुच्छाज्ञावमात्रमिति वक्तव्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं वि-
पक्षादव्यावृत्तत्वं न ततो भिन्नमस्ति, तदा तस्य तदेव सावधारणं
नोपपत्तिम् ; वस्तुनूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभ-
वात् । अयं ततस्तदन्यधर्मान्तरं, तर्ह्येकरूपस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोः
तथातूतस्य साध्याविना नूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तात्मकवस्तुप्र-
तिपादनात् कथं न परेऽप्यस्तहेतुना सर्वेषां विरुद्धानैकान्तेन
व्यासत्त्वम् । किञ्च । हेतुः सामान्यरूपो वोपादीयेत परैः, विशेष-
रूपो वा ? । यदि सामान्यरूपः, तदा तद्व्यक्तिजो जिघ्रमभिधे वा ? ।
न तावद्विघ्नम् । इदं सामान्यम्, अयं विशेषः अयं तद्विनिर्गत वस्तुत्र-
योपपन्नमानुपलक्षणात् । तथा च सामान्यस्य भेदेनाभ्युपगन्तुम-
शक्यत्वात् । न च समवायवशात् परस्परं तेषां भेदेनानुपलक्षणम्,
यतः समवायस्येह बुद्धिहेतुत्वमुपगीयते । न च भेदग्रहणमन्त-
रेण हेदमवस्थितमिति बुद्ध्युत्पत्तिः संभवः । किञ्च । नागृहीतविशे-
षणा विशेष्ये बुद्धिरिति कारणानात्सिद्धान्तः । न च सामान्य-
निश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेणोपपद्यते यतो दूरे पदार्थ-
स्वरूपमुपलभमानो नागृहीतसंस्थानभेदः-अश्वत्वादिसामान्य-
मुपलब्धुं शक्नोति ; न च संस्थानभेदावगमस्तदाधरोपल-
म्भमन्तरेण संज्ञयतीति कथं नेतरतराश्रयदापसंभवे ? । तथा-
हि-पदार्थग्रहणे सति संस्थानभेदावगमः, तत्र च सामान्यवि-
शेषावबोधः, तर्हि सति पदार्थस्वरूपावगतिरिति व्यक्तमित-
रेतराश्रयत्वम्, चक्रकप्रसङ्गो वा । किञ्च । अश्वत्वादेः सामान्यभेद-
स्य स्वाश्रयसर्वगतत्वं कव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमा-
नाया व्यक्तेरश्वत्वादिसामान्येन बोधो न भवेत् । व्यक्तिशून्ये देशे
सामान्यभेदस्य स्वाश्रयसर्वगतस्यानवस्थानात्, व्यक्तान्तरा-

दनागतावस्थानाच्च । ततः सर्वगतमभ्युपगन्तव्यम्, एवं च कर्का-
दिभिरिव शावत्रेयादिभिरपि तदभिध्यज्येत । न च कर्काद्यानामेव
तदभिध्यक्तिसामर्थ्यं, न शावलेयादीनामिति वाच्यम् । यतो यया
प्रत्यासत्या ता एव तदात्मन्यवस्थापयन्ति तथैव ता एवाश्वोऽश्व
इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययमुपजनयिष्यन्तीति किमपरतदुभि-
न्नसामान्यप्रकल्पनया ? न च स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात् प्राक् स्व-
ज्ञानजनने असमर्थं सामर्थ्यं तदा परैरनाधेयातिशयं तमपेक्ष्य
स्वावभासिज्ञानं जनयति, प्राक्तनासमर्थस्वज्ञावापरित्यागस्वज्ञा-
वान्तरानुत्पादे च तदयोगात् । तथाऽभ्युपगमे च कृत्तिकाप्रस-
क्तेः । न च स्वभावेतरस्योपजायमानस्य ततो भेदः, संबन्धासिद्धि-
तस्तद्भावेऽपि प्राप्तस्तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रति-
ज्ञासः स्यात् । तथा च सामान्यस्य व्यक्तिभ्यां जेदेनाप्रति-
भासमानस्यासिद्धत्वात् हेतुत्वम् । किञ्च । प्रतिव्यक्तिसामा-
न्यस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाभ्युपगमात् एकस्यां व्यक्तावि-
च, शतस्वरूपस्य तदैव व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तस्तदनु रूपप्र-
त्ययस्य तत्रासंज्ञाद् असाधारणता हेतोः स्यात् । यदि
चासाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगा-
दपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्त इति व्यर्था सामान्यप्र-
कल्पना; स्वतोऽसाधारणस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वाद्
व्यक्तयः, स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारण-
ता, अनुपपत्तेः । स्वतस्तद्रूपत्वेऽपि निष्फला सामान्यप्रकल्पनेति
व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तत्त्वज्ञानो हे-
तुरिति कथं ततः साध्यसिद्धिः ? । अथ व्यक्तिव्यतिरिक्तं
सामान्यं हेतुः । तदप्यसङ्गतमेव । व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य व्यक्ति-
स्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः ।
व्यक्त्यन्तरे साधारणस्यैव वस्तुनः सामान्यमित्यभिधानात् ।
तस्यासाधारणत्वे वा न तस्य व्यक्तिस्वरूपाव्यतिरिच्यमान-
मूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाव्यतिरिच्यमानस्वरूपस्य विरो-
धात् । तन्न व्यतिरिक्तमपि सामान्यहेतुः, व्यक्तिस्वरूपवदसा-
धारणत्वेन गमकत्वायोगात् । अत एव न व्यक्तिरूपमपि हेतुः ।
नचोभयं परस्पराननुविद्धं हेतुः, उभयदोषप्रसंगात् । नाप्यनुभ-
यम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनु-
भयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यं व-
स्तुरूपत्वात् साध्येनाप्रतिबद्धत्वादसिद्धत्वाच्च, न हेतुः । त-
स्मात्पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं विश्रदेकमेव पदार्थ-
स्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिवन्धनं हेतुत्वेनापा-
दीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिवन्धनमभ्युपगन्तव्यम् । न च
यदेव रूपं रूपान्तराद्भावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति ? ,
तच्चानुवर्तते, तत्कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात्करोतीति वक्त-
व्यम् ? , भेदाभेदरूपतयाऽध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरो-
धासिद्धेरित्यसङ्गदावेदितत्वात् । किञ्च । एकान्तवाद्युपन्यस्त-
हेतोः किं सामान्यं साध्यम् ? , आहोस्विद्विशेषः, उतोभयं
परस्परविविक्तम्, उतस्विदनुभयमिति विकल्पाः ? । तत्र न
तावत्सामान्यम्, केवलस्यासंभवात्, अर्थक्रियाकारिविविक्त-
स्त्वाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साध्ययितुमशक्य-
त्वात् । नाप्यनुभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्, तस्या-
सतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । एतदेवाह गाथापश्चाद्धे-
नः अन्योन्यप्रतिकुष्टौ प्रतिक्रिस्तौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषैकान्ता-
वसद्भादाविति, इतरविनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव सा-
ध्ययितुमशक्यत्वात् ।

सामान्यविशेषयोः स्वरूपं परस्परविविक्तमन्य निराकुर्वन्नाह-
द्ववद्विषय-वचनं, मामन्नं पञ्चवस्स य विसेसो ।

एए समोवणीया, विजज्जवायं विसेमेति ॥ १५३ ॥

उप्यास्तिकस्य वक्तव्यं वाच्यं विशेषं निरपेक्ष्य सामान्यमात्रम्;
पर्यायास्तिकस्य पुनरनुस्यूताकारविविक्तो विशेष एव वाच्यः ।
एतौ च सामान्यविशेषावन्योन्यनिरपेक्षौ, एकैकरूपतया पर-
स्परप्रधानेन एकत्रोपनीतौ प्रदर्शितौ, विजज्जवादमनेकान्तवादं
सन्तथादस्वरूपमनिशयाने, अस्त्यरूपतया ततस्तावतिशयं ब्रमेत
इति यावत् । विशेषे साध्येऽनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्ध-
साधनवैफल्यतः, प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापात्तितः, अनु-
भयरूपे साध्ये उभयाभावतः, साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवा-
दास्पदाभूतसामान्यविशेषोभयान्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मि-
ण्यन्योन्यानुविद्धसाध्यधर्म्यवैधर्म्यस्वभावव्यात्मकहेतुप्रदर्शन-
तो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः संभवति । अत एव गाथा-
पश्चाद्धेतौ सामान्यविशेषौ समुपनीतौ परस्परसत्यपेक्षतया
स्याद्वादप्रयोगतो धर्मिण्यवस्थापितौ विजज्जवादमनेकान्तवादं
विशेषयतो निराकृतः, अत एव तयोरात्मज्ञाज्ञात् । अन्यथाऽनुमा-
नविषयस्योक्तन्यायेनासत्त्वादित्यपि दर्शयति ।

यत्रानुमानं विषयतयाऽभ्युपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह—

हेतुविसत्रोवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।

जइ तं जहा पुरिद्धो, दाइ तो केण जिचंति ? ॥ १५३ ॥

हेतुविषयतयोपनीतमुपदर्शित साध्यधर्मिवृत्तकृणं वस्तु पूर्वप-
क्त्वादिना 'आनेत्यः शब्दः' इत्येव यथा वचनीयं परो दूषण-
वादी निवर्तयति, सिद्धसाध्यताऽननुगमदोषाद्युपन्यासेनैकान्त-
वचनीयस्य तदितरधर्माऽननुपपत्तस्यानेकदोषदृष्टतया निवर्तयि-
तुं शक्यत्वात् । यदि तत्तथा द्वितीयधर्माज्ञानं स्यात् शब्दयो-
जननं 'पुरिद्धः' पूर्वपक्त्वादी अदर्शयिष्यत्, ततोऽसौ नैव केनचि-
दजेष्यत । ततश्चासौ तथाज्ञूतस्य साध्यधर्मिणः प्रदर्शनात् प्र-
दर्शितस्य चैकान्तरूपस्यासत्त्वात्, तत्प्रदर्शकोऽस्त्यवादितया नि-
प्रदाई इति ।

एतदेव दर्शयन्नाह—

एगंतासञ्जयं, सञ्जयमणिच्छियं च वयमाणो ।

लोइयपरिच्छियाणं, वयणिज्जपहे परइ वाई ॥ १५४ ॥

आस्तां तावदेकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमप्यनिश्चितं वदन्
वादी लौकिकानां परीक्षकाणां वचनीयमार्गं पतति । ततोऽनेका-
न्तात्मकाहेतोः तथाज्ञूतमेव साध्यधर्मिणं साध्यन्वादी सद्भादी
स्यादिति तथैव साध्याविनाभूतो हेतुधर्मिणि तेन प्रदर्शनीयः ।
तत्प्रदर्शने हेतोः सपक्वविपक्षयोः सदसत्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयमिति
यदुच्यते परैः । तदपास्तं जयति । तावन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः ।
न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं
प्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः । अथ सामर्थ्यात्
तत्प्रतीयत इति न वचनेन प्रदर्श्यते तर्ह्यन्यव्यतिरेकावपि तत ए-
वावश्यं प्रदर्शनीयौ; अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः । साध-
र्म्यवैधर्म्यप्रदर्शनपरत्वात्स्योपनयनिगमनवचनयोस्तु दूरापा-
स्तता, तदन्तेरेणापि साध्याविना नूतहेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्र-
तिपत्त्युत्पत्तेरन्यथा तदयोगात् । विवृत्तकृणहेतुप्रदर्शनवादिनस्तु-
निर्गन्तव्यस्त्वभ्युपगमविरोधः; निरंशो त्रैलोक्यविरोधात् । परि-

कल्पितस्वरूपैरूप्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः । परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तदोपायनतिक्रमात्; अप्रमार्थसत्त्वे तल्लक्षणत्वायोगादसत्तः सल्लक्षणव्यवरोधात् । न च कल्पनाव्यवस्थापितल्लक्षणजेदास्त्यजेद उपपत्तिमानिति त्रिकस्य निरंशस्वभावस्य किञ्चिदप्यवाच्यम् । न च साधर्म्यादित्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यत इति तस्य निःस्वभावताप्रसक्तिः । न चैकलक्षणहेतुवादिनाऽप्यनैकान्तात्मकवस्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् । प्रयोगनैगम एवैकलक्षणो हेतुरिति व्यवस्थापितत्वात् । नचैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसङ्गतम् । अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपर्यायतायात् प्रतिक्षणध्वंसिन्यप्युत्तरग्रहणानुवृत्त्यैकचित्तन्यायात् । कारणस्वरूपग्राहिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपग्राहिणा कार्यकारणजावादेर्भेदः एकसंबन्धस्वरूपग्रहणेऽपि तदुत्तरग्रहणप्रसक्तेः । न च तदग्रहेऽपि निश्चयाऽनुपपत्तेरदोषः, सविकल्पकत्वेन प्रथमाकिंस्मिन्पात जस्याध्यक्षस्य व्यवस्थापनात् । न च कार्यानुत्तवानन्तरभाविता सारणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम् । अनुत्त एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः, स्तस्याभयनिष्ठत्वात्; उक्तस्य च पूर्वापरकालजाविन एकनल्लहणात् । न च कार्यानुत्तवानन्तरभाविनः स्मरणस्य कार्यानुत्तवा जनकः, तदनन्तरं स्मरणस्याभावात् । न च कृणिकैकान्तवादे कार्यकारणभाव उपपत्तिमानित्युक्तम् । न च सन्तानादिकल्पनाऽप्यत्रोपयोगिनी । न च स्मरणकालेऽतीततद्विषयमात्रं प्रतीयते, अपि तु तदाऽनुभविताऽपि ग्रहेमेवमिदमनुत्तवानित्यनुत्तविज्ञा धाराऽनुत्तविषयस्मृत्यध्यवसायादेकाधारः अनुत्तवस्मरणे अभ्युपगन्तव्यः तदभावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः । नचानुत्तवस्मरणयोरनुगतचित्तन्यायावे तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिर्युक्ता । नहि यत्प्रतिपत्तिकाले यस्मास्ति, तत्तद्धर्मतया प्रतिपत्तुं युक्तम् ; बोधाभावे ग्राह्यग्राह्यसंवित्तित्रितयप्रतिपत्तिवत्; अस्ति च तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिरिति कथं कृणिकैकान्तवादेः, तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ? । नचैकान्तवादिनः सामान्यादिकं साध्यं संजयति प्रतिपादितम् ; तस्मादेकान्तात्मकवस्वभ्युपगन्तव्यम्, अथैकादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः ।

(८) स एव च सन्मार्गः (अनेकान्त एव सन्मार्गः)

इत्युपसंहरन्नाह—

द्वं खिचं कालं, जावं पजायदेससंजोमे ।

भेदं च पशुच ममा, भावाणं पणवणपजा ॥ १५५ ॥

अध्यक्षप्रकाशजावपर्यायदेशसंयोगात् जेदं चेत्यष्टौ जावानाधित्य वस्तुनां भेदं सति समा सर्ववस्तुविषयायाः प्रतिज्ञाप्यरूपायाः स्याद्वादरूपायाः पर्यायं पन्था मार्ग इति यावत् । तत्र इदं पृथिव्यादि, क्षेत्रं तदवयवरूपं तदाश्रयं वा आकाशं, काष्ठं युगपदक्षिप्रपर्यायल्लक्षणं वर्तमानात्मकं वा, नयपुराणादिलक्षणं भावम्, मृदाङ्गुलादिप्रलक्षणं पर्यायम्, रूपादिस्थितायं देशम्, मृदाङ्गुरपत्रकाणमादिक्रमताविचिभागं संयोगं चूर्मादि प्रत्येकं समुदायं इत्यपरायल्लक्षणं भेदं, प्रतिप्रलक्षणव्यवर्त्तनात्मकं वा; जीवा जीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदन्तर्दात्मकत्वेन प्रज्ञापनानिरूपणा या सा सन्धश्च इति नहि तदन्तर्दात्मककड्यव्यादिजेदानावे स्वरविषाणादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः, यतो न द्रव्यन्तरकालभावपर्यायदेशसंयोगजेदग्रहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावगन्तुं शक्यम् । न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहा-

रगोचरता संभविर्नाति तदन्तर्दात्मकं तदभ्युपगन्तव्यम् । नैकैकान्ततोऽतदात्मकं इत्यादिभेदभिन्नं व्यतिरिक्तरूपं च प्रमाणं तन्निरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादिव्यतिरिक्तस्य शशशृङ्गवत् कुतश्चिप्रमाणाप्रतीतेः । नहि ततो इत्यादीनां जेदेऽपि समवायसंबन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः । संबन्धजेदेन तदजेदजेदकल्पनद्वयानतिवृत्तेः । प्रथमविकल्पे समवायानेकत्वप्रसक्तिः । संवाधिभेदतो जेदात् संयोगवदानित्यत्वप्रसक्तिश्च । द्वितीयकल्पनायामपि संवाधिसङ्करप्रसक्तिः । नचैवं छत्रदण्डकुण्डलादिसंबन्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जातिगुणत्वादेर्भेदोऽनपलब्धेः । नहि य एव दण्डदेवदत्तयोः संबन्धः स एव छत्रादिभिरपि, तत्संबन्धविशेषणविशेषपर्वफलयप्रसक्तेः । न विशेषणं विशेष्यं धर्मांतराद्व्यवच्छिद्यात्मन्यनवस्थापयद् विशेषणरूपतां प्रतिपद्यते । एवं समवायसंबन्धस्याविशेष इत्यव्यादीनामपि विशेषणानामविशेषात् जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदकता स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत ? । न च समवायस्तदग्राहकप्रमाणजावात् संजयति, तदभावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तदनेकान्तात्मकैकरूपमभ्युपगन्तव्यम् । नचैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपक्षे वस्तुनि विरोधायोगात् । तथाहि—एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वात्, चित्रपटरूपवत्, ग्राह्यग्राहकाकारसंवित्तिरूपकविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयत्वात् । न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्यैकानेकत्वमसिद्धम्, प्राक् प्रसाधितत्वात् । नापि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणरूपत्रयात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यसिद्धम्; तथाचूतविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिकेपप्रसक्तेः । स्वार्थाकार्योर्विज्ञानमभिन्नस्वरूपम्, विज्ञानस्य च वेद्यवेदकाकारौ भिन्नात्मानौ, कथञ्चिदनुत्तवगोचरपक्षौ । एतच्च प्रतिकेपस्वजायजेदमनुभवदपि न सर्वथा जेदवत् संवेद्यत इति संविदात्मनः स्वयमेकस्य क्रमवर्त्तनेकात्मकत्वं न विरोधमनुभवतीति कथमध्यक्षादिविरुद्धं निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् ? । नहि कदाचित् क्वचित् कृणिकत्वमन्तर्बहिर्वाऽध्यक्तोऽनुत्तयते; नथैव निर्णयानुपपत्तेर्भेदात्मन एवान्तर्विज्ञानस्य बहिर्घटादेश्चाभिन्नस्य निश्चयात् । तथा ज्ञतस्यानुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमभ्रान्तल्लक्षणभाशु भवेत् । नहि ज्ञानं वेद्यवेदकाकारशून्यं स्पृष्टाकारव्यक्तं परमाणुरूपं वा घटादिकमेकं निरीकामहे, यतो बाह्याध्यात्मिकं भेदाजेदरूपतयाऽनुत्तयमानं ज्ञानविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्येत । अतो यथादर्शनमेवेयमनुमेयव्यवस्थितिः न पुनर्यथातत्त्वमित्यतर्दानिश्चितार्थाभिधानम् । नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनैकान्तरूपं वस्तु तत्त्वमयं प्रतिपन्नवान्, यत एवं वदन् शोभत; यदा वाऽध्यक्षविरुद्धो निरंशल्लक्षणिकैकान्तस्ततो नानुमानमप्यत्र प्रवर्तितुमुत्सहते, अध्यक्षाधितविषयत्वात् । तस्य तेन निरन्वयविनध्वरं वस्तु प्रतिकेपमवेकमाणोऽपि नावधारयतीति । एतदप्यसदभिधानम् । प्रतिकेपं विशशरुतया कुतश्चिदप्यनीकृणात् । अत एव कृणिकत्वैकान्ते च सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः सर्व एव विरुद्धः, अनेकान्त एव तस्य संजयत् । तथाहि—अर्थाकियालक्षणं सत्यम् । न चासौ तदेकान्तक्रमयौगपद्यायां संभवति, यतो यस्मिन् सत्येव यद्भवति तत्तस्य कारणमितरश्च कार्यमिति कार्यकारणलक्षणम् । कृणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्नेवेत् तदा कार्यकारणयोः सहात्पत्तेः किं कस्य कारणं किं वा कस्य कार्यं व्यवस्थाप्येत ? । त्रैलोक्यस्य चैककृणवर्तिता प्रसज्येत । यदन्तरं यद्भवति तत्तस्य कार्यम्, इतरत् कारणमिति व्यवस्था-

यां कारणाभिमतं वस्तुन्यस्ये च भवतस्तदनन्तरभाविन्यस्य दुर्घ-
ट्वादितराविनष्टादपि च तस्य ज्ञावो ज्ञेयत्वं तदभावाविशेषात् । न
चान्तरस्यापि कार्योत्पत्तिकालमप्राप्य विनाशमनुजयतश्चिराती-
तस्येव कारणता । यतोऽर्थक्रिया कृणकृये न विरुद्धेन । प्राक्काल-
ज्ञावित्वेन कारणस्य सर्वं प्रति सर्वस्य कारणता प्रसज्येत, सर्व-
वस्तुकृणानां विवक्षितकार्यं प्रति भाविन्याविशेषात् । तथा च-
स्वपरसन्तानव्यवस्थाऽप्यनुपपन्नैव स्यात् । न च सादृश्यात्तद्वा-
च्यत्वा, सर्वथा सादृश्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसक्तेरैककृणमात्रं
सन्तानः प्रसज्येत । कथाश्चित्सादृश्येनैकान्तवाद्प्रसक्तिः । न च
सादृश्यं जवदभिप्रायेणास्ति, सर्वत्र वैकृणक्याविशेषात् । अन्य-
था स्वकृतान्तप्रकोपवतो च कृणिकैकान्तवादिनोऽन्यव्यतिरेकि-
प्रतिपत्तिः संजयतीति साध्यसाधनायास्त्रिकाश्रयविषयायाः साक-
ल्येन व्याप्तेरसिद्धेः । यत्सत्तत् सर्वं कृणिकं यथा शङ्खशब्द इत्याद्य-
नुमानप्रवृत्तिः कथं न ज्ञेयत्वं ? अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वम-
भ्युपगमसाध्यसाधनयोस्त्रिकाश्रयविषयस्यासिद्ध्यणस्य दूरोत्सारित-
रित्वात् । "नाननुकृतान्यव्यतिरेकं कारणं विषयः" इति व-
चनमनुमानोच्छेदकप्रसक्तं ग्राह्यादकारणज्ञानैकत्ववत्, ग्राह्या-
कारस्यापि युगपदेककार्यवभासिनश्चैकैकरूपता एकान्तवाद् प्र-
तिक्रियति । एवं भ्रान्त्याऽऽप्तमन्त्रं सहर्शनस्यान्तर्बहिश्च भ्रान्ता-
त्मकत्वं कथञ्चिदप्युपगतव्यम् । अन्यथा कथं स्वसंवेदना-
ध्यकृता तस्य भवेत् ? तदभावे च कथं तत्स्वाभावसिद्धि-
र्युक्ता ? कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयाऽऽप्तमानमसंविदत्
ज्ञानरूपतया चावगच्छन्नन्तर्बहिस्तथा नावगच्छेत् । यतो
भ्रान्तैकान्तरूपताऽऽप्युपलुप्तदृशां भवेत्, कथं च भ्रान्तविक-
ल्पज्ञानयोः स्वसंवेदनमभ्रान्तमविकल्पकं वाऽप्युपगच्छन्नने-
कान्तं नाप्युपगच्छेत् ? ग्राह्याग्राहकवृत्त्याकारविवेकसंविदं स्व-
संवेदनेनासंवेद्यत्वं संविद्वृत्तां वाऽनुभवत् कथं क्रमभाविनो-
र्विकल्पेतरात्मनोरनुगतसंवेदनात्मानमनुजयप्रसिद्धं प्रतिक्रियेत् ।
ततः क्रमसहजाविनः परस्परविलक्षणत्वात्स्वाभावान्वाऽन्यथा-
वस्थितरूपतया व्याप्नुवतः सकललोकप्रतीतं स्वसंवेदनम्,
अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापकमैकान्तवाद्प्रतिक्रियेति प्रतिष्ठितमिति ।
निर्देशकृणिकखलकृणमन्तर्बहिश्चानिश्चिनमपि संवित्तिर्विषयी-
करोतीति कल्पनाऽयुक्तिसंगतैव ; अग्रमाणप्रसिद्धिकल्पनायाः
सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् । सकलसंवेदनाकल्पनप्रसक्तेर्नैकैकस्य
संवित्तिः परस्यासंवित्तिः । नहि वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पि-
तस्य नियामकत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । न च वास्तवः संबन्धः
परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयोः
प्रतिबन्धनियमाज्ञावेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव । अथ कृणि-
काद् निवर्तमानमप्यर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमकृणिके च स्यास्यतीति
न ततोऽस्मान्तात्मकवस्तुसिद्धिः । नाकृणिकेऽपि, क्रमयौगपद्याभ्यां
तस्य विरोधात् । तथाहि-न तावदक्षणीकस्य क्रमवत्कार्यकारणं
प्राक्त्करणसमर्थस्याभिमतकृणवत् तदकरणविरोधात्प्राक्क-
सामर्थ्ये पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमपरिणामिनोऽनाध्यातिशय-
त्वात् । स्वभावेत्पत्तिविनाशाद्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवाद्विरो-
धात् । ततो व्यतिरेकस्यातिशयस्य करणेऽनतिशयस्य प्रागिव
पश्चादपि तत्करणसंभवात् । सहकारिणोऽपेक्षाऽपि तस्याऽयुक्तै-
व, यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः सश्रीसहायस्य कार्य-
करणं ज्ञेयत्वं, नहि सहकारिकृतमतिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदा
पक्षोपपत्तिप्रतिपत्ति तत्र क्रमेणपरिणामी भावः कार्यं निवर्तयति,
नापि यौगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तेः

क्षणमात्रावस्थायित्वप्रसक्तेः । न च क्रमयौगपद्यव्यतिरेकं प्रकारा-
न्तरं संजयतीत्यर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सभ्यां
नित्यादप्यादाय निवर्तन इति । यत् सत्तत् सर्वमेकान्तात्मकं
सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्त्यादिविरोधप्रसक्तः । न हि भेदमन्तरेण
कदाचित् कस्यचिदनेदोपलब्धिः, इदं विषयादायनेकाकारविवर्ता-
त्मकस्यान्तश्चैतन्यस्य संवेदनाध्यकृतो वर्णमंस्थानसदाद्यनेका-
कारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादान्, त्मकस्य घ-
टादेर्वहिरैकस्थेन्द्रियजाध्यकृतः संवेदनात् । सुखादिरूपादिने-
दविकल्पतया चैतन्यघटादः कदाचिदप्युपलभ्यमानोचरन्वात्म-
हासामान्यस्यावान्तरसामान्यस्य वा सर्वगतान्सर्वगतधर्मात्म-
कता समवायस्य चानवस्थादोषतः संबन्धेतराभावात् छ-
व्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामन्योन्यं तादात्म्यानिष्ठौ तेष्ववृत्तेः
सर्वपदार्थस्वरूपाप्रसिद्धिः स्यात् । स्वत एव समवायस्य
छव्यादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादावपि स्वाधारेषु
वृत्तिं स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावै-
यर्थ्यप्रसक्तिवद्भेदप्रसक्तिर्मंशप्रतिपत्तेः । अगृहीतस्वभावाद्
गृहीतस्वभावस्य छव्यस्य चातद्वतां सामस्येन ग्रहणासंज्ञ-
वात् कथं तदग्रहे तदग्रहणं भवेत् ? , अग्राप्रतिपत्तौ तदा-
ध्यस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः । सामान्याद्येषु गृहीतेष्वपि सामा-
न्यादेः वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः, तदाधे-
यस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः । तदंशग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः
कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वस्तु न कदा-
चिद्भवेत्, तदंशानां सामान्यादेरन्यतभेदात् । एवं द्रव्यादि-
षूपदार्थव्यवस्थाऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरचारिणां
सामान्यादंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तेः । अथ निरंशं सामान्य-
मभ्युपगम्यते इति नायं दोषः, नहि सकलस्वाश्रयप्रतिपत्त्यभा-
वतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्यं पृथिवी-
त्यादिप्रतिपत्तेर्नितरामज्ञावः स्यात् । तदंशानां सामान्याद्
नेदाभेदकल्पनायां द्रव्याद्य एव नेदाभेदात्मकाः किं नाभ्यु-
पगम्यन्ते ? इति सामान्यादिकल्पना दूरोत्सारितैवेति कुत-
स्तद्भेदैकान्तकल्पना ? ततः सामान्यविशेषात्मकं सर्वं वस्तु,
सत्त्वात् । नहि विशेषपरहितं सामान्यमात्रं सामान्यपरहितं
वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः कचिदपि, वृत्तिविरोधात् ।
वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं खलक्षणत्वासामान्यलक्षणत्वाद् वा
तादृशावृत्तिनिवृत्त्या निवर्तत एव, यतः कचिद् वृत्तिमतोऽपि
खलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः, नान्येन संयोगः, तत्संसर्गव्यव-
च्छिन्नस्वभावान्तरविरहाद्विशेषविकलः, सामान्यवत् । एकस्य
प्रतिबन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमविशेषाणां तत्स्ववृत्तं सा-
मान्यलक्षणमेव स्यात् । न च विशेषैरन्यदेशस्थितैः असंयुक्त-
स्यैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात् । एवं च स्वभाव-
विशेषाणां सामान्यरूपाः सर्व एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र
देशकालावस्थाविशेषनियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यमेक-
रूपम्, अव्यवधानात् । तस्य च ते विशेषा एव, अनेकं रूपम्, यत-
स्तदेव सत्त्वं परिणामविशेषापेक्षया गोत्वब्राह्मणत्वादिलक्षणा
जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्ता इति । परस्पर-
व्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैकानेकपरिणानिरूपता संश-
यज्ञानस्येवाविरुद्धा व्यक्तियतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धि-
लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः, शशशङ्खवदसत्त्वात् । सत्त्वरूपादि-
प्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकवस्त्वभावेऽवाधिनरूपो न स्यात् ।
न च चक्षुरादिः बुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं सामान्यपर-

व्याख्येयस्वरूपमवभासते, प्रतिभासभेदप्रसङ्गात् । यदि च तत्सर्वगतं पिण्डान्तरालेऽप्युपलभ्येत, स्वभावाविशेषादाश्रयाभावादनभिव्यक्त्यभ्युपगमेऽभिव्यक्तस्वरूपभेदात् सामान्यरूपता न स्यात् । नचाश्रयभावाभावादभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिसन्प्रत्ययकर्तृत्वं नित्यैकस्वभावस्य युज्येत, तदपयोगिनोऽप्येवं कथं नैकान्तसिद्धिः? स्वाश्रयसर्वगतताप्रकाशितायाः सर्वत्र प्रकाशितत्वात्मसकलवस्तुप्रपञ्चस्य सकृदुपलब्धिप्रसंगो न वा कस्यचिदुपलब्धिप्रसंगविशेषात् प्रकारान्तरेण प्रतोत्यभ्युपगमे, अनेकान्तवाद् एव स्वतः ततां विशेषाणां सत्तासंबन्धानर्थक्यम्, असतां संबन्धानुपपत्तिरिति प्रसङ्गेरक्रियासामान्यसंबन्धाद्व्यतीतनामक्रियावत्त्वाद्यापकत्वं स्यात् । व्यक्तित्वान्तरैकव्यक्तिस्वलक्षणवत्तत्सामान्यमेव न भवेत् । व्यक्तीनां वा सामान्याव्यतिरेकाद् व्यक्तिस्वरूपहानिः, सामान्यस्य तद्वृत्ता न भवेत् । न च व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षेऽप्यनवस्था, उभयपक्षेऽप्येव्यधिकरणस्य संशयविरोधादिदोषप्रसङ्गात् । सर्वथा तदभावोऽनवस्थादिदोषस्य प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् । प्रतीयमानेऽपि तथाभूतेऽतिविरोधादिदोषासञ्जने प्रकाशान्तरेण प्रतिभाससंभवात् सर्वशून्यताप्रसंगः । न च सैवास्त्विति वक्तव्यम् । स्वसंवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसंगतो निः प्रमाणिकायाः तस्याप्यभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । तथापि तस्याभ्युपगमेन वरमनेकान्तात्मकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, तस्यावाधितप्रतीतिगोचरत्वात् । तेन रूपादिकृणिकविज्ञानमात्रशून्यवादाऽभ्युपगमः, तथा पृथिव्याद्येकान्तानित्यव्याभ्युपगमः, तथाऽऽमाद्यद्वैतानुकीकरणं, तथा परब्रह्माभावातिरूपणं, द्रव्यगुणादेरन्यत्वेनैव प्रतिज्ञानं च, तथा हिंसातो धर्माभ्युपगमः, यज्ञतो मुक्तिप्रतिपादनमित्याद्येकान्तवादिप्रसिद्धं सर्वममनु प्रतिपत्तव्यम्; तन्प्रतिपादनहेतूनां प्रदर्शितनित्यानेकान्तव्याप्तत्वेन विरोधात् । इतरधर्मसव्यपेक्षस्यैकान्तवाद्यभ्युपगतस्य सर्वस्य पारमार्थिकत्वात्; आभ्यवद्वादिप्रतिषेधार्थं विज्ञानमात्राद्यभिधानस्य सार्थकत्वात् । तथाहि— 'अहमस्यैवाहमेवास्य' इत्येकान्तनित्यव्यव्याप्तिसंबन्धाद्यतिनिवेशप्रभवगादिप्रतिषेधपरं कृणिकरूपादिप्रतिपादनं युक्तमेव । सालम्बनज्ञानैकान्तप्रतिषेधपरं विज्ञानमात्राभिधानं सर्वविषया तत्त्वज्ञतिषेधप्रवणं शून्यताप्रकाशने कृणिक एवायं पृथिव्यादिर्गति एकान्तानिनिवेशमृद्वेर्वादिनिषेधपरम्, तस्मिन्त्यप्रणयने ज्ञान्यादिमद्गन्तुनानुगुणमात्राद्यद्वैतप्रकाशनजमान्तरजनितकर्मफलभोक्तृत्वमेव धर्मानुष्ठानमित्येकान्तनिगमप्रयोगं जनपरब्रह्माभावावयोधने द्रव्याद्यव्यतिरेकैकान्तप्रतिषेधाय तद्वेदाख्यानम् । सम्म० । न० ।

(६) ये च (एकान्तवादिनोऽङ्गाः) विचेतनागमप्रतिपत्तिमात्रमाश्रयन्ते, तेऽनवगतपरमार्था एवेति प्रतिपादयन्नाह—

पादेकनयपट्टगयं, मुचं मुचधर्मदमंनुदा ।

अविकोविभ्रमामथ्या, नृगागमविभागपरिवृत्ती ॥१७६॥

प्रत्येकनयमार्गगतं सूत्रं कृणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदम्, भो जितपुत्राः ! यदिदं वैधातुकमिति ग्राह्यग्राह्यकोभयशून्यत्वमिति, नित्यमेकं मण्डर्यापि निष्क्रियमित्यादि सद्कारणवन्धन्यमिति "अन्मारे ! श्रोतव्यो ज्ञानव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिसत्ता द्रव्यत्वसंबन्धात् । सद् द्रव्यं च, स्थितिपरलोकिनोऽभावात् परब्रह्माभावाच्च । "लोदनावृत्तणोऽर्थो धर्मः" । इति यनां रमेक्षयकरी दीक्षित्यादिकमधीन्य सूत्रधरा वयमिति

शब्दमात्रसंतुष्टा गर्भवन्तोऽविकोविदसामथ्याः-अविकोविदमरुं सामर्थ्ययेषां ते तथा, अविदितसूत्रव्यापारविषया इति यावत् । किमित्येवं न इत्याह—यथाश्रुतमेवाविरुद्धा अविवेकेन प्रतिपत्तिरेषामिति कृत्वा सूत्राभिधायिव्यतिरिक्तविषयविप्रतिपत्तित्वात् इतरजनवद्वा इत्यभिप्रायः । अथवा स्वयंश्रुता एव एकनयदर्शने कतिचित्सूत्राण्यधीत्य केचित् सूत्रधरा वयमिति गविता यथाऽवस्थितान्यनयसव्यपेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानादवितथात्मविद्वत्स्वरूपा इति गाथाऽभिप्रायः ॥ १५६ ॥

अथेषामेव नयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुद्गावयितुमाह—

सम्पदंनणमिणमो, सयज्ञसमत्तवयणिज्जणिदोमं ।

अप्युकोसविणह्ठा, सलाहमाण विणासंति ॥ १५७ ॥

सम्यग्दर्शनमेतत्परस्परविषयापरित्यागप्रवृत्तानेकनयात्मकम्, तच्च स्यान्नित्य इत्यादि सकलधर्मपरिसमाप्तवन्धीयतया निर्दोषम्, एकनयवादिनः स्वविषयैस्तत्र व्यवस्थापनेनऽत्मोत्कर्षेण विनष्टा स्याद्वादाजिगमं प्रत्यनाद्विषयमाणा वयं सूत्रधरा इत्यात्मानं श्लाघ्यमानाः सम्यग्दर्शने विनाशयन्ति, तदात्मनि नयं न स्थापयन्तीति यावत् । अथ न ते आगमप्रत्यनीकाः, तद्भक्तत्वात्, तद्देशपरिज्ञानवन्तश्चेति ॥ १५७ ॥

कथं तद्विनाशयन्त्यत्राह—

ए ह दु सामणजत्ती मे-त्तएण सिञ्चंत्तजाणओ होइ ।

ण वि जाणओ वि णियमा, पण्यणा निच्छिओ णाम ? १७८

न चशासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता भवति । न च तद्विज्ञानवान् जायसम्यक्त्ववान् जवति, अज्ञानस्यार्थस्य विशिष्टार्थविषयत्वानुपपत्तेः । तत्कृतिमात्रेण श्रद्धानुसारिते यद् द्रव्यसम्यक्त्वमार्गानुसारि, अवबोधमात्रानुपपत्तकचित्संज्ञावं तु सर्वं भावसम्यक्त्वसाध्यफलनिवर्तकम्, भावसम्यक्त्वनिमित्तत्वेनैव तस्य द्रव्यसम्यक्त्वमार्गानुसार्यवबोधसम्यक्त्वरूपतोपपत्तः । न च जीवादिनस्वैकदेशज्ञाताऽपि नियमतोऽनेकान्तात्मकवस्तुरूपप्रज्ञापनायां निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतः सकलधर्मात्मवस्तुज्ञानविकलतया सम्यक् तत्परूपणासंभवात् । तथाहि—सर्वज्ञा यथावस्थितैकदेशज्ञः, जीवादिमसकलतत्त्वज्ञाता त्वागमविदः सामान्यरूपतयाऽभिधीयते, मतिश्रुतयोनिर्वन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायार्थाति वचनात् ।

तत्त्वं तु— "जीवाजीवाश्रयवन्धमेवरनिर्जरांमोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः" । तत्र चेतनालक्षणो जीवः । तद्विपरीतवृत्तस्त्वजीवः, धर्माधर्माकाशकाद्वपुस्त्वभेदेन चासौ पञ्चधा व्यवस्थापितः । एतत्पदार्थेऽहंत्वान्तर्गतित्वं सर्वेऽपि ज्ञावाः नहि रूपरसगन्धस्पर्शादयः साधारणासाधारणरूपा मूर्त्तचेतनाचेतनद्रव्यगुणाः, उत्कृष्टपणपक्षेणानीति च कर्माणि, सामान्यविशेषसमवायाश्च जीवाजीवव्यतिरेकेणाऽऽभिस्थितिं लभन्ते । तद्वेदेनैकान्ततत्त्वेषामनुपपत्तमात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः । अन्यथा नदसत्त्वप्रसक्तः । ततो जीवाजीवाख्यां पृथग् जात्यन्तरत्वेन "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः" न वाच्याः । एवं "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद् जल्पवितण्डाहेत्याभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि" च न पृथगभिधेयानि । तथा— "प्रकृतेर्महोस्ततोऽहङ्कार-स्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकान्, पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" ॥ १६ ॥ इति चतुर्विंशतिपदार्थाः पुरुषश्चेति न वक्तव्यम् । तथा—दुःख-समुदायमार्गनिरोधाश्चत्वार्येव सत्यानीति न वक्तव्यम् । ते

धा 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति न वक्तव्यम् । तत्प्र-
भेदरूपतयाऽभिधानेऽपि न दोषः, जात्यन्तरकल्पनाया एवा-
घटमानत्वात्, राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात्,
तदव्याप्तस्य शशशृङ्गुल्यत्वात्, शब्दब्रह्मादेकान्तस्य च
प्राक् प्रतिपिद्धत्वात् । अवाधितरूपोभयप्रतिभासस्य तथाभू-
तवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितत्वाद्द्विधाऽविद्योभयभेदाद्-
द्वैतकल्पनायामपि त्रित्वप्रसक्तः । बाह्यालम्बनभूतभावापेक्षया
विद्यात्वापपत्तेः । अन्यथा निर्विषयत्वेनोभयोरविशेषात् तत्प्रति-
भागस्थाघटमानत्वात् । न हि द्वयोर्निरालम्बनत्वे विषयस्तावि-
पर्यस्तज्ञानयोरिव विद्याऽविद्यात्वभेदः । ततो नाद्वयं वस्तु; नापि
तच्छक्तिरिक्तमस्ति । अथाश्रवादीनामप्यनुपपत्तिः, राशिद्वयेन सक-
लस्य व्याप्तत्वात् । न । ततस्तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपादनार्थत्वात् ।
अनयोरेव तथापरिणतयोः सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादन-
परत्वात् । तथाऽभिधानस्यानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्व-
प्रदर्शनार्थत्वात्, विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, नद्वैतजिधानस्यानु-
पपत्त्वात् । तथाहि-आश्रयति कर्म यतः स आश्रयः, कायवाङ्मनो-
व्यापारः । स च जीवाजीवाभ्यां कथञ्चिद्भिन्नः, तथैव प्रतीतिवि-
षयत्वात् । अयं बन्धनात्रे कथं तस्योपपत्तिः? प्राक्तसद्भावे वा
न तस्य बन्धहेतुता । न हि यद्यद्विहेतुकं, तत्तदभावेऽपि भवति,
अतिप्रसङ्गात् । असदेतत् । पूर्वोत्तरापेक्ष्यान्योन्यकार्यकारण-
भावनियमात् । नचेतरेतराश्रयदोषः, प्रवाहापेक्षयाऽनादित्वात् ।
पुण्यापुण्यहेतुबन्धहेतुतया चासौ द्विविधः । उत्कर्षापकर्षभेद-
नानेकप्रकारोऽपि । दण्डगुण्यादित्रित्वादिसंख्याभेदमासादयन्
फलानुबन्धननुबन्धिजेटोऽनेकशब्दविशेषवाच्यतामनुजयति ।
एकातत्वादिना त्वयं नासम्भवतीति ; "कम्मजोगनिमित्तं"
गाथार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादितत्वात् । सम्म० ।

(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयोः सम्यग्बुद्ध्यात्वे-

"इच्छेयं गणिपिमंगं, निच्चं दव्वट्टियाणं नायव्वं ।

पज्जापणं अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवादो ॥ ६२ ॥

जो सियवायं भासति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।

भावेइ से ण णसयं, सो हि पमाणं पवयणस्स ॥ ६३ ॥

जो सियवायं निंदति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।

भावेण डुट्टभावो, न सो पमाणं पवयणस्स" ६४ ॥ ति०; औ० झा० ।

अणोगकोटि-अनेककोटि-त्रि० । अनेकाः कोटयोऽव्यसङ्ख्या-
यां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः । कोटिसङ्ख्याके-
षु कौटुम्ब्यादिषु, झा० । "अणगकोटीकुटुंबियाइष्णिच्चुसुहा"
अनेकाः कोटयाऽव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां ते-
ऽनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिजैः, आकीर्णां संकुलाया
सा तथा, सा चासौ निर्वृता च संतुष्टजनयोगात्संतोषवतीति
कर्मधारयः । अत एव सा चासौ सुखा च शुभा च वेति कर्म-
धारयः ॥ झा० १ अ० । औ० । रा० ।

अणोगक्खरिय-अनेकाकुरिक-न० । अनेकानि च तानि अक-
राणि तैर्निर्वृत्तमनेकाकुरिकम् । छत्रादिनिर्वृत्ते द्विनामजेटे,
अनु० । "से किं तं अणगक्खरिए ? । अणगक्खरिए कत्ता वीणा
लता माला । सेत्तं अणगक्खरिए" । अनु० ।

अणोगखंडी-अनेकखण्डी-स्त्री० । अनेकेषां नश्यतां नराणां
मार्गभूताः खण्डयोऽपद्वाराणि यस्यां साऽनेकखण्डी । विपा० १
श्रु० ३ अ० । अनेकनश्यत्तरनिर्गमापद्वारायां पुर्याम्, झा० १ अ० ।
१११

अणोगखभसयसिष्टिविट्-अनेकस्तम्भशतमान्निविष्ट-त्रि० । ७
त० । अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्टे । ७ व० । यत्र वा अने-
कानि स्तम्भशतानि सन्निविष्टानि । भ० ६ श्रु० ३३ उ० । रा० ।
विपा० । "एगं च एं महं जयणं करेति अणोगखभसयसि-
विटं लीलछियसावभंजियगं" झा० १ अ० । आ० म० ।

अणोगगुणजाणय-अनेकगुणज्ञायक-त्रि० । अनेकेषां गुणाना-
मुपलक्षणत्वाद्दोषाणां च ज्ञायकः । बहुदोषाणां ज्ञायके, "अ-
णोगगुणजाणयं पंरिए विहिण्णु" जं० ३ वक्क० ।

अणोगचित्त-अनेकचित्त-त्रि० । अनेकानि चित्तानि कृषिवाणि-
ज्यावल्गनादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृष्यादिषु व्यापृत-
चित्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोगजम्म-अनेकजन्मन्-न० । अनन्तभवे, पञ्चा० ८ विव० ।

अणोगजीव-अनेकजीव-त्रि० । अनेके जीवा यस्येति । बहुजीवा-
जीवात्मके कित्यादौ, "पुढवीचित्तंमंतमक्खाया अणोगजीवा पु-
ढोसत्ता" दश० ४ उ० ।

अणोगजोगधर-अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्षीराश्रवादिवन्धि-
कलापसंबन्धः, तं धारयन्तीति अनेकयोगधराः । वन्धिसंपन्नेषु,
सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणोगभस-अनेकभस-त्रि० । विविधमत्स्येषु सूक्ष्ममत्स्य-
खलमत्स्यादिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणोगणरपवरजुयऽगेज्ज-अनेकनरप्रवरजुजाग्राह्य-त्रि० ।
अनेकस्य मनुष्यस्य ये प्रवराः प्रलम्बा जुजा बाहवस्तैरग्राह्यो-
ऽपरिमयेऽनेकनरप्रवरजुजाग्राह्यः । अनेकपुरुषव्यामैरप्रतिम-
यस्थौल्ये वृक्तादौ, रा० ।

अणोगणाम-अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अणोगपरि-
रंति वा अणोगपज्जायंति वा अणोगणामजेटंति वा एगछा"
आ० चू० १ अ० ।

अणोगणिग्गमदुवार-अनैकनिर्गमद्वार-त्रि० । न विद्यन्ते नै-
कानि बहूनि निर्गमद्वाराणि निःसरणमार्गाः यत्र, ध० १ अधि० ।

अणोगतालायराणुचरिय-अनेकतालाचरानुचारित-त्रि० । अ-
नेके च ये तालाचराः तालादानेन प्रेक्षाकारिणः तैरनुचरित आ-
सेवितो यः स तथा । औ० । नानाविधप्रेक्षाकारिसेविते, भ० ११
श्रु० ४ उ० । विपा० । पुरादौ, झा० १ अ० । जं० ।

अणोगदन्त-अनेकदन्त-त्रि० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकद-
न्ताः । द्वात्रिंशदन्तेषु, तं० । प्रश्न० । अनेके दन्ता येषां ते अनेक-
दन्ताः । अनेकदन्तयुक्तेषु, तं० ।

अणोगदव्वखंध-अनेकअव्यस्कन्ध-पुं० । अनेकैः सचित्ताऽ-
चित्तलक्षणैर्द्वैर्निष्पन्नः स्कन्धः अनेकद्रव्यस्कन्धः । विशिष्टै-
कपरिणामपरिणतसचेतनाऽचेतनदेशसमुदायात्मके हयादि-
स्कन्धे, विशेष० ।

अणोगपसता-अनेकप्रदेशता-स्त्री० । त्रिप्रदेशतायाम्, "भि-
न्नप्रदेशता सैवा-ऽनेकप्रदेशता हि या" । भिन्नप्रदेशता सैव अनेक-
प्रदेशस्वभावता भिन्नप्रदेशयोगेन तथा त्रिप्रदेशकल्पनयाऽने-
कप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अणेगपासंरपरिगहिय-अनेकपाखण्डपरिगृहीत-त्रि० । ३
त० । नानाविधवतिभिरङ्गीकृते, प्रश्न० २ संब० द्वा० ।

अणेगवहुविधिवीमसापणिय-अनेकवहुविधिविश्रमाप-
रिणत-त्रि० । न एकोऽनेकः, अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिभे-
दाद् जयति । तत आह-बहुभूतं विविधो जातिभेदाधानाप्र-
कारः बहुविधः, प्रजूनजातिभेदतो नानाविध इति भावः । स
च केनाऽपि निष्पादितोऽपि संभाष्यत । तत आह-विश्रसया स्व-
जायेन तथाविधकैत्रादिसामग्रीविशेषजनिनेन परिणतो न पुन-
रीश्वरादिना निष्पादितो विश्रसापणितः । ततः पदत्रयस्य पदद्व-
यमीलनेन कर्मधारयः । नानाविधस्वभावोद्भूते, जी० ३ प्रति० ।

अणेगजागत्य-अनेकजागस्य-त्रि० । द्वित्रादिजागस्थे, नि०
चू० २० उ० ।

अणेगजाव-अनेकभाव-त्रि० । बहुपर्याययुक्ते, ज० १४ श० ४
४ उ० ।

अणेगजय-अनेकजय-त्रि० । अनेकरूपे, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगभेद-अनेकभेद-पुं० । अनेकपर्याये, "अणेगपरिरयं ति वा
अणेगपञ्चये ति वा अणेग [णाम] भेदं ति वा एगछा ।" आ०
चू० १ अ० ।

अणेगरूव-अनेकरूप-त्रि० । ६ व० । नानाप्रकारे, " इह हो-
इयाइ भीमाइ अणेगरूवाइ अवि सुम्निदुम्निगंधाइ सदाइ अणे-
गरूवाइ ।" आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० । "मुहुं मुहुं मोहणे जयंतं,
अणेगरूवा समणं चरन् । फासा फुसंतो असमंजसं च, न ते
सुनिकवू मणसा पओगे" ॥६॥ उक्त० १ अ० । अनेकमित्यनेकविधं
परुषविषमसंस्थानादिभेदं रूपं स्वरूपमेवामिति अनेकरूपाः ।
त्रयोविंशतिविधाः । उक्त० ४ अ० ।

अणेगरूवधुणा-अनेकरूपधुना-स्त्री० । अनेकरूपा संख्यात्रयाद्
अधिका धुना कम्पना यस्यां सा अनेकरूपधुना । उक्त० २६ अ० ।
अनेकरूपधुनना-अनेकरूपा चासौ संख्यात्रयातिक्मणतो यु-
गपदेकवस्त्रग्रहणतो वा धूनना कम्पनात्मिका या साऽनेकरू-
पधुनना । उक्त० २६ अ० ।

अनेकरूपधुना-अत्र च धूनं कम्पनमयन् प्राग्वत् । उक्त० २६
अ० । अनेकप्रकारं त्रयाणां पुग्माणामुपगृह्यन्नानामके, अने-
कवस्त्राण्येकव गृहीत्वा युगपद् धूननात्मके वा प्रमादप्रत्यये
प्रत्युपेक्षणभेदे, ध्रु० ३ अर्थ० । " एगा मोसा अणेगरूवधुणा "
उक्त० २६ अ० । " अणेगमपकारं कंषति, अथवा अणेगाणि
एगओ काऊण धुणइ पमाणे पमायंति " पुग्मेषु खोटकेषु
यत्प्रमाणमुक्तं भवति तत् पुग्मादीन् न्यूनाधिकान् वा
करोति । आ० ।

अणेगवयणपहाण-अनेकवचनप्रधान-पुं० । नानाविधवाग-
व्यवहाराभिदे, अनेकेषु विविधप्रकारेषु वचनेषु वक्तव्येषु प्रधानो
मुख्यः । अनेकथा वचनप्रकारश्चायं निजशासनप्रवर्तगादा-
"आदौ तावन्मधुरं, मध्ये रुजं ततः परं कटुकम् । भोजनविधिमिव
विवुधाः, स्वकार्यमिच्छं वदन्ति वचः" ॥ १ ॥ अथवा-" सत्यं
मित्रैः प्रियं स्त्रीभि-रस्त्रीकमधुरं द्विषा । अनुकूलं च सत्यं च,
वक्तव्यं स्वामिना सह " ॥ २ ॥ इति । जं० ३ वज० ।

अणेगवायामजोग-अनेकवायामयोग्य-पुं० । परिश्रमविशेषे,
" अणेगवायामजोगवग्गणवामहणमल्लयुद्धकरणेहि संते परि-
स्संते" अनेकानि यानि व्यायामयोग्यानि परिश्रमयोग्यानि वल्लान-
व्यामर्दनमल्लयुद्धकरणानि, तत्र वदगनं उल्लखनं, व्यामर्दनं पर-
स्परं वाह्याद्यङ्गमोदनम्, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । एतैः कृत्वा
शान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वाङ्गीणं श्रमं प्राप्तः,
एवंविधः सन् । कदप० ।

अणेगवालसयसंकणिज्ज-अनेकव्यालशतशङ्कनीय-त्रि० । ३
त० । अनेकैः श्वापदशतैर्भयजनकैः, " अणेगवालसयसंकणिजे
या वि होत्था " ज्ञा० २ अ० ।

अणेगविनय-अनेकविषय-त्रि० । अनेके ज्ञायांसो विषया गो-
चरा अर्था वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रजूनविषयतानिरूपित-
प्रकारतावत्सु, द्रव्या० ए अर्था० ।

अणेगविहारि (ए)-अनेकविहारिन्-त्रि० । स्वविरकटिप-
के, वृ० ५ उ० ।

अणेगसाहुपूइय-अनेकसाधुपूजित-त्रि० । अनेकसाध्वाचरिते,
दश० ५ अ० २ उ० ।

अणेगसिद्ध-अनेकसिद्ध-पुं० । एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः
अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० एकसमये द्वाविध्वशता-
न्तेषु, स्था० १ गा० १ उ० । न० । अनेके च एकस्मिन् समये
सिद्ध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः ।

यस्मादुक्तम्—

वन्तीसा अरुयाला, सट्ठी वावत्तरी य बोधव्वा ।

चुल्लमीइ उन्नऊई, डुरहियमट्टुत्तरसयं च ॥ १ ॥

अस्या विनेयजनानुग्रहाय व्याख्या-अष्टौ समयान् यावन्निर-
न्तरमेकादयो द्वाविंशत्पर्यन्ताः सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते । किमुक्तं भव-
ति ?-प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वाविंशत्सि-
द्ध्यन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्-
षतो द्वाविंशत्, एवं यावदष्टमेऽपि समये एको द्वावुत्कर्षतो द्वा-
विंशत्, ततः परमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिं-
शत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते परतो
नियमादन्तरम्, तथा एकोनपञ्चाशदादयः पष्टिपर्यन्ता निरन्तरं
सिद्ध्यन्तः षट् समयान् यावदवाप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम्, तथा
एकषष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः
पञ्च समयान् यावदवाप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्यादय-
श्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतश्चतुरः सम-
यान् यावत्, तत ऊर्ध्वमन्तरम् । प्रज्ञा० १ पद । अन्ये तु व्याच-
कृते—अष्टौ समयान् यदा निरन्तर्येण सिद्धस्तदा प्रथमसमये
जघन्येनैकः सिद्ध्यति, उत्कृष्टतो द्वाविंशदिति । द्वितीयसमये
जघन्येनैकः, उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत् । तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः
समयः, उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं ज्ञावनीयः 'वत्तीसत्यादि' । स्था०
१ गा० १ उ० । पा० । आ० । न० । ध्रु० ।

अणेगाहगमणिज्ज-अनेकाहगमनीय-न० । अनेकैरहोजिः
अनेकहर्षा गम्यत इति अनेकाहगमनीयम् । बहुदिवसै-
र्गन्तव्येऽध्वनि, नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अणेज-अनेज-त्रि० । निष्कम्पे, " अणेजकम्मुदये " आ० क० ।

अणोयाउय-अनैयायिक-त्रि० । न्यायेन चरति नैयायिकः, न नैयायिक अनैयायिकः । असन्त्यायवृत्तिके, “अपरिपुष्पे अणोयाउय असंसुके” । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

अणोलिस-अनीदृश-त्रि० । नाऽन्यत्र ईदृशमस्तीति अनीदृशम् ।

आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अनन्यसदृशे अद्वितीये, सूत्र० ।

“जे धम्मं सुळमक्खाति, परिपुष्पमणेलिसं” । सूत्र० १ श्रु०

११ अ० । अतुलं, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणवञ्जय-अनेवञ्जत-त्रि० । एवंप्रकारमनापत्ते, “अणवञ्जयं पि वेयणं वेदंति” यथा बद्धं कर्मनैवञ्जताऽनेवञ्जता अतस्ताम, श्रूयन्ते ह्यागमे-कर्मणः स्थितिघातादय इति । ज० ५ श० ५ उ० ।

अणोसणा-अनेपणा-स्त्री० । ईषदर्थे नञ् । न एषणा अनेपणा ।

प्रमादादिपणायाम्, ध० ३ अधि० । “अणेसणाए पाणेसणाए

पाणजोयणाए वीयभोयणाए अणेसणाए” । इदमुक्तं प्रवति-

“अणेसणाए अणन्तरेण दोसेण संकिता अणेसणाए तुट्ठा मह-

स्स सक्करेण गइता” आ० चू० ४ अ० । “से एसणं जाणमणेसणं

च” एषणां गवेपणग्रहणेपणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्नेय-

णां चोदूगमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन् ।

सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणेदण्डिज्ज-अनेपणीय-त्रि० । एष्यत इत्येपणीयं कल्प्यम्,

तन्निषेधादनेपणीयम् । ज० ५ श० ५ उ० । केनचिद्दोषेणाऽशु-

द्धे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । उक्त० । साधुनाऽग्राह्ये,

उक्त० २० अ० । एष्यते गवेप्यने उद्गमादिदोषविकलतया

साधुभिरेत तदेपणीयं कल्प्यं, तन्निषेधादनेपणीयम् । स्था०

३ ग० १ उ० । पि० । “पूयं अणेसणिज्जे च, तं विज्जे परिजा-

णिया” । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अनेपणीयपरिहारमधिकृत्याह—

ज्याइं च सहारब्ज, तमुद्दिस्मा य जं कर्म ।

तोरिसं तु ण गिाहेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १ ॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि जूतानि प्राणिनः समारज्य संरम्भसमारम्भारम्भरूपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधा-कर्मदोषदृष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दैस्त्वकारार्थत्वाच्चैवाभ्यवहरेदेवं तेन मागोऽनुपात्रितो भवति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अणेह-अनेहस्-पुं० । कावद्रव्ये, द्रव्या० १२ अध्या० ।

अणोउया-अनृतुका-स्त्री० । न विद्यते ऋतू रत्तरूपः, शास्त्र-प्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका । अरजस्कायां स्त्रियाम्, यस्या ऋतुकावे मासि मासि रक्तं न प्रसूयति एतादृशी स्त्री पुरुषेण सार्द्धं गर्भं न धरते । स्था० ५ ग० ।

अणोकेत-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणोग्गसिय-अनवघर्षित-न० । अव्य० स० । अवघर्षणम-वघर्षितं, भावे क्तः प्रत्ययः, तस्याऽभावोऽनवघर्षितम् । भूत्यादि-नाऽनिर्माज्जने, जी० ३ प्रति० । रा० । “अणोग्घ (ह) सियणि-म्मन्नाए छायाए स ततो चैव समणुवद्धा” । अनवघर्षितेन निर्मन्ना तथा छायाया समनुवद्धा युक्ताः (आदर्शकाः) जी० ३ प्रति० ।

अणोज्ज-अनवय-त्रि० । निर्दोषे, ज्ञा० ८ अ० ।

अणोज्जंगी-अनवयः-स्त्री० । जगवतो महावीरस्वामिनो दुहितरि जमालिगृहिण्याम्, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अणोज्जा-अनवय-स्त्री० । महावीरस्य दुहितरि, कटप० । आ० क० । आचा० ।

अणोत्तप्प-अनवत्राप्य-त्रि० । अविद्यमानमवत्राप्यमवत्रापणं व्रज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्योऽव्रज्जनीयः । अहीनसर्वाङ्गत्वे-नालज्जाकरे, प्रव० ६४ द्वा० । दशा० ।

अणोत्तप्पया-अनवत्राप्यता-स्त्री० । अव्रज्जनीयशरीरतायाम्, व्य० ६ उ० । (विशेषार्थस्तु ‘अणवतप्पया’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अणोर्द्धमिज्जमाण-अनुपध्वस्यमान-त्रि० । माहात्म्यादपात्य-माने, औ० ।

अणोम-अनवम-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिविपर्यस्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोमाणतर-अनवमानतर-त्रि० । अतिशयेनासङ्कीर्णं, ज० १३ श० ४ उ० ।

अणोरपार-अनर्वाकपार-त्रि० । अर्वाग्भागपरभागवर्जिते, पञ्चा० १५ विव० । अत्रव्याऽपरपर्यन्ते, संघा० । विस्तीर्ण-स्वरूपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । “अणोरपारं आगासं चैव निरालंबं” महत्त्वादनर्वाकपारम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । “जहं सामिन्ना पम्भट्ठा, सागरसलिले अणोरपारमिस्ति” अणोर-पारमिति देशीयवचने प्रचुरार्थः; उपचाराद् आराद् भागपरभाग-रहिते, आ० म० द्वि० ।

अणोत्तय-देशी-कृणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणोवणिहिया-अनौपनिधिकी-स्त्री० । न विद्यते वक्ष्यमा-णपूर्वानुपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचनं प्रयोजनं यस्य इत्यनौप-पनिधिकी । अव्यानुपूर्व्विन्नेदे, यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादि-क्रमेण विरचनान क्रियते साऽयादिपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धविष-या आनुपूर्व्या अनौपनिधिकीत्युच्यते । अनु० ।

अणोवम-अनुपम-त्रि० । न विद्यते उपमा यस्यासावनुपमः । अनुपमे, “अनुलसुहसागरगया अवावाहं अणोवमं पत्ता” औ० । स० ।

अणोवमदंसि (ए)-अनवमदर्शिन्-पुं० । अवमं हीनं मि-थ्यादर्शनाऽविरत्यादि, तद्विपर्यस्तमनवमं तद् द्रष्टुं शीलमस्ये-त्यनवमदर्शी । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र्याति, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । “अरतेपयासु अणोवमदंसी णिस्ससो पावेहिं कम्महिं कोहाइमाणं हणिया य वीरे” आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोवमरीअ-अनुपमश्रीक-त्रि० । न० व० । निरुपमानशो-जे, “अणोवमसरीआ दासीदासपरिउडा” ज्ञा० ८ अ० ।

अणोवमसुह-अनुपमसुख-न० । न विद्यते उपमा स्वाभावि-कात्यन्तिकत्वेन सकलव्यावाधारहितत्वेन सर्वसुखातिशायि-त्वाद्यस्य तत्सुखमानन्दस्वरूपं यस्मिन्स्तत् । मोक्षसुखे, “ठाण-मणोवमसुहमुवगयणं” इति । सम्म० १ काएरु ।

अणोवयमाण-अनवपतत्-त्रि० । अनवतरति, “अणोवयसा-

णेहि उचयंति " आचा० १ ध्रु० २ अ० १ उ० ।

अणोवलेवप-अनुपलेपक-त्रि० । कर्मबन्धनरहिते, प्रश्न० २ आ० २ अ० ।

अणोवसंखा-अनुपसङ्ख्या-स्त्री० । संख्यानं संख्या, परिच्छेदः । उप सामीप्येन संख्या उपसंख्या । सम्यग्वथाऽवस्थिता-ऽधर्परिहानम् । नोपसंख्या अनुपसंख्या । अपरिहाने, " अणो-वसंखा इति ते उदाह, अष्टे सभो जासइ अम्ह एवं " सूत्र० २ ध्रु० १२ अ० ।

अणोवहिय-अनुपधिक-त्रि० । ह्यनो हिरण्यदिकैर्भावतो मायया रहिते, आचा० १ ध्रु० ४ अ० २ उ० ।

अणोसहिपत्त-अनौपधिप्राप्त-त्रि० । औपधिवलरहिते, आच० ४ अ० ।

अणोसिय-अनुपित-त्रि० । अव्यवसिते, सूत्र० १ ध्रु० १४ अ० । " अणोसियणं न करेति णञ्चा " ध० ३ अधि० ।

अणोहंतर-अनोधन्तर-पुं० । न ओर्धन्तरः । संसारोत्तरणं प्रत्यनत्रे, " अणोहन्तरा एए, ण य ओहन्तरित्तए " आचा० १ ध्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणोदट्टय-अनपट्टक-त्रि० । अविद्यमानोऽपट्टको यद्वज्रया प्रवर्तमानस्य हस्तप्रहादिना निवर्तको यस्य स तथा । का० ८ भ० । ब्रह्मास्तदा गृहीत्वा निवारकेणाऽनिवारिते स्वच्छन्दप्रवृत्ते, विपा० १ ध्रु० २ अ० । " तवेणं सा सुभदा अज्जा अणोदट्टिया अणिवारिता सच्छन्दमती " नि० ३ वर्ग ।

अणोहारमाण-अनवधारयत्-त्रि० । अनवबुध्यमाने, हा० २६ अ० ।

अणोटिया-अनोयिका-स्त्री० । अविद्यमानजलौघिकायाम्, भ० १५ श० १ उ० ।

अणूहा-स्त्री० । अतिगहनत्वेनाविद्यमानोहायाम्, " एगं महं अणामियं अणोहियं त्रिआवायं दीहमडं " भ० १५ श० १ उ० ।

अण्ण (न्न)-अन्न-न० । अनित्येन अन्न-नन् । अद्यते इति अद-के वा । " अन्नण्णः " । १५५=१५ इति सूत्रनिर्देशाद् अन्नार्थतया न जगियः । वाच० । स्वरूपमण्णदिके, उक्त० १२ अ० । अशने मोदकादिके भक्ष्ये, उक्त० २० अ० । ओदनादिके, सूत्र० १ ध्रु० ४ अ० २ उ० । भोजने, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० । उक्त० । औ० ।

अण्य-त्रि० । निष्प्रे, सहदे च । वाच० । ' अण्यं ' पृथ-गित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । प्रश्न० । प्रश्ना० । स्वाति-रिक्ते, हा० २५ हा० । प्रश्न० । सर्वनामना चास्य, ज० २ श० ५ उ० । " नो अण्णदेवे नो अण्णहि देवाणं देवीओ अजिजुंजिय अभिजुंजिय परियरेइ " भ० २ श० ५ उ० । " अण्णेहि बहवे एवमाइणो " औ० । रा० । ध० सूत्र० । अन्यनिकेपः- " अण्णे कृत्तं पुण, तदण्णमाइशओ चव " अन्यस्य नामादिपद्विधो निकेपस्तत्र नामस्थापने कृण्वे, इत्याऽन्यत् त्रिधा-तद्व्यत्, अन्यान्यत्, आदेशाऽन्यच्छति, इत्यपरवच्चैवामिति । स० ।

अण्ण-अ-न । अकारादीं वर्णे, गमनस्वनात्वे, त्रि० । जने, न० । उक्त० ४ अ० ।

आण्य-त्रि० । अण्यते उच्चार्यते इति आण्यम् । प्रणिधेये,

" तत्सवितुर्दरेण्यम् " इति । वशब्दो वाक्याद्वङ्कारे हेयः, २ आण्ये इत्याकारलोपः । जट्टमतेन गायत्रीव्याख्या-जै० गा० । असुइ-देशी-तृतीयं, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्ण (न्न) इ (गि) लाय-अन्नग्लायक-पुं० । अन्नं भोजनं विना ग्लायतीति अन्नग्लायकः । अजिग्रहाविशेषात् प्रातरेव दोषाग्रज्जि, औ० । प्रश्न० । सूत्र० ।

रायगिहे जाव एवं वयासी-जावइयं णं जंते ! अण्णगि-लायए समणे निगंथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णर-एसु णेरइयाण वासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खवयंति ? । णो इण्णडे समट्ठे । जावइयं णं जंते ! चउत्थभत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससएण वा वाससतेहिं वा वाससहस्सेण वा खवयंति ? । णो इण्णडे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! उट्ठजत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं वा वाससयसहस्सेण वा खवयंति ? । णो इण्णडे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! दसमजत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वामसयसहस्सेण वा वाससयसहस्सेहिं वा वासकोलीए वा खवयंति ? । णो इण्णडे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! दसमजत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वामकोलीए वा वामकोडीहिं वा वासकोडाकोडीए वा खवयंति ? । णो इण्णडे समट्ठे । से केणडे णं जंते ! एवं बुच्चइ ? । जावइयं अण्णगिलायए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वासेण वा वासेहिं वा वाससएण वा णो खवयंति, जावइयं चउत्थभत्तिए एवं तं चव पुच्चभणियं उच्चारयच्चं जाव वासकोडाकोडीए वा णो खवयंति ? । गोयमा ! से जहा णामए केइ पुरिसे जुष्से जराजज्जरियदेहे मिढिलतया वलितरंगसंपिण्णत्ते पविरहपरिमन्थियदंतसेदी उएहा-जिहए तएहाजिहए आतुरे कुंजिते पिवासिए पुच्चले किलंते एगं महं कोसंवगंडियं सुक्कं जमिलं गंठिह्वं चिकणं वाड्ढं अपत्तियं मुंकेण परसुणा अकम्मज्जा तए णं से पुरिसे महंताइं सदाइं करेइ, णो महंताइं महंताइं दलाइं अवदाइं, एवमेव गोयमा ! णेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिकणीकयाइं एवं जहा वट्ठसए जाव णो महपज्जवसाणा भवंति । से जहाणामए केइ पुरिसे अ-दिगरणे आउमेमाणे महता जाव णो पज्जवमाणा जयंति । से जहा णामए केइ पुरिसे तरुणे वट्ठवं जाव मेहावी णि-पुणसिप्पोवगए एगं महं सामज्जिगंडियं उक्कं अजाडिं अगंठिं अचिकणं अवाड्ढं संपत्तियं अतितिक्रवेण पर-सुणा अकमेज्जा, तए णं से पुरिसे णो महंताइं महंताइं

सदाईं कोइ, मंताईं मंताईं दलाईं अवदाइं, एवापेव
गोयमा ! समणाणं णिग्मंथाणं अहावादराईं कम्माईं सि-
दिलीकयाईं गिट्ठ जाव खिप्पामेव परिविच्छत्थाईं भवंति,
जावइयं तावइयं जाव पज्जवमाणा जवंति । से जहा वा
केइ पुरिसे सुके तणहत्थगं जाव तेयंमि पक्खिवेज्जा, एवं
जहा ठडमए तहा अयोक्खे वि जाव पज्जवमाणा भ-
वंति, से तेण्णे एणं गोयमा ! एवं बुच्चइ जावइयं अष्टाङ्गि-
द्वायए समणे णिग्मंथे कम्मं णिज्जेइ, तं चेव जाव को-
माकोदीए वा एो खवयंति ॥

(अन्नगिलायते स्ति) अन्नं विना ग्लायति ग्लानो भवतीति
अन्नग्लायकः । प्रत्यग्रकूरादिभिर्पत्तिं यावद् बुद्धकातुरतया प्रती-
कितुमशक्नुवन् यः पर्युषितकूरादि प्रातरेव भुङ्क्ते, कूरगडुकप्राय-
इत्यर्थः । क्षणिकारेण तु-निस्पृहत्वात् “ सीयकूरभोई अंतपंता-
हारो स्ति ” व्याख्यातम् । अथ कथमिदं प्रत्याख्यम्, यदुत नारको
महाकष्टपन्नो महताऽपि कालेन तावत्कर्म न कूपयति यावत्साधु-
रूपकष्टपन्नोऽप्यकालेनेति ? । उच्यते दृष्टान्ततः । स चायम्- [से
जहा नामए केइ पुरिसे स्ति] यथेति दृष्टान्ते, नामेति संज्ञावने,
'प' इत्यङ्गारे । [से स्ति] स कश्चिपुरुषः । [जुष्मे स्ति] जीर्णो
हानिगतदेहः । स च कारणवशादवृद्धजावेऽपि स्यादत आह-
(जराज्जरियदेहे स्ति) व्यक्तम् । अत एव (सिदिलतया बलितरंग-
संपिण्डगते स्ति) शिथिलया त्वचा वलितरङ्गेऽथ संपिण्डं परि-
गतं गात्रं देहो यस्य स तथा । (पविरलपरिस्रियदंतसेदि स्ति)
प्रविरलाः केचिकेचिच्च परिशट्टिता दन्ता यस्यां सा तथा-
विधा श्रेणिर्दन्तानामेवं यस्य स तथा । (आउरे स्ति) आतुरो
दुःस्थः [भुंजि स्ति] बुद्धिज्ञः । कुरितक इति टीकाकारः ।
(दुःखे स्ति) बलहीनः [किलंते स्ति] मनःक्लमं गतः । एवंरूपो
हि पुरुषश्चेदने असमर्थो जवतीत्येवं विशेषितः (कोसंबगं-
यंति) ' कोसंब स्ति ' वृक्षविशेषः, तस्य गणिरुका खण्डविशे-
पस्ताम् । (जमिंस्ते स्ति) जटावतीं बलितोद्धृतामिति वृद्धाः ।
(गच्छिंस्ते स्ति) ग्रन्थिमतीम् । (चिक्कणंति) रुद्धपस्कन्धनिष्पन्नां
(वाइस्ते स्ति) व्यादिग्धां विशिष्टव्योषदिग्धाम्, वक्रामिति वृक्षाः ।
(अपसियंति) अपात्रिकां अविद्यमानाधाराम्, एवंभूता च ग-
णिरुका दुश्चेष्टा भवतीत्येवं विशेषिता, तथा परशुरपि मुण्डोऽ-
च्छेदको भवतीति मुण्ड इति विशेषितः । शेषं तद्देशकान्तं
यावत्पृष्ठशतवष्टाख्येयमिति । ज० १६ श० ३ उ० ।

अष्टाङ्ग-अन्योक्त-त्रि० । अन्यैः अविवेकिभिः कथिते, औ० ।
अण्णउत्थिय-अन्ययूथिक-पुं० । जैनयूथादन्यद् यूथं सङ्हा-
न्तरं, तीर्थान्तरमित्यर्थः; तदस्ति येषां तेऽन्ययूथिकाः । उपा० १
अ० । अर्दत्तसङ्घापेक्षयाऽन्येषु, औ० । चरकपरिव्राजकशाक्याऽऽ-
जीवरुक्कआवकप्रभृतिषु, नि० चू० २ उ० । परतीर्थिकेषु, औ० ।
ज्ञा० । नि० चू० । आचा० । सरजस्कादिषु, आचा० १ भु० १
अ० १ उ० । तीर्थान्तरीयेषु कपिशादिषु, ज्ञा० १० अ० ।

(१) अन्ययूथिकाः काशोदायिप्रभृतयः ।

(२) अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिषु इदमविकस्य पर-
मधिकस्य वाऽऽयुषो विप्रतिपत्तिः ।

(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र
अन्ययूथिकैः सह विवादः ।

(४) चलबलितमित्यादिकर्मादिषु कुतीर्थिकैः सह विप्र-
तिपत्तिः ।

(५) एकस्य जीवस्यैकास्मिन् समये क्रियाद्वयकरणेऽन्ययू-
थिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।

(६) भदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः सह विप्रति-
पत्तिः ।

(७) भ्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत नवेन्यत्र विवादः ।

(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्य जीवस्या-
न्यो जीवोऽन्यो जीवास्मेति विप्रतिपत्तयः ।

(९) परिचाराणां कालगतस्य निग्रन्थस्य भवति न वेति वि-
वादः ।

(१०) बाह्यबाह्यपण्डिते अन्ययूथिकभूतोक्तेये तयोर्विवादः ।

(११) भाषाविषयेऽन्ययूथिकानां मतोपन्यासः ।

(१२) पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोकां मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः ।

(१३) सर्वे जीवाः अनवंचूतावेदनावेदयन्ते इत्यत्राविवादः ।

(१४) शीलं श्रेयः, श्रुतं श्रेय इत्यत्रान्ययूथिकैः सह विवादः ।

(१५) सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः ।

(१६) राजगृहनगरस्य बहिर्वैजारपर्वतस्याधःस्थस्य इदंस्थ
विषये विप्रतिपत्तयः ।

(१७) संसर्गस्तु कापिलादिभिः सह न समाचरणीय
इत्यत्राग्राह्यचनम् ।

(१८) उदकवोणिकाऽन्ययूथिकैः सह न समाचरणीया ।

(१९) तथाऽन्ययूथिकैरुपकरणरचना ।

(२०) तथा सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूथिकेन न कारयितव्यानि

(२१) तथा शिष्यकादिकोपकरणकारणम् ।

(२२) अन्ययूथिकादिभिः सह गोचरचर्चायै न प्रविशेत ।

(२३) (दानम्) अन्ययूथिकेज्योऽज्ञानादि न देयम् ।

(२४) तथा धातुप्रवेदनम् ।

(२५) तथा पादानामार्दनप्रमार्जनम् ।

(२६) तथा पदमार्गादि ।

(२७) तथा भूतिकर्मादि मार्गप्रवेदनं च ।

(२८) (वाचना) अन्ययूथिकाः पाश्चात्तमो गृहिणः सुख-
शीला वा न प्रव्राजनीयाः ।

(२९) विचारभूमेविहारभूमेर्वा निष्क्रमणम् ।

(३०) विहारः ।

(३१) (शिक्षा) अन्ययूथिकस्य वा गृहस्थस्य शिल्पादि-
शिक्षणम् ।

(३२) अन्ययूथिकादिभिः संघाटीसीवनम् ।

(३३) अन्ययूथिकादिभिः सह संभाषः ।

(३४) अन्ययूथिकैः सूच्युपकरणम् ।

(१) तत्र अन्ययूथिकाः काशोदायिप्रभृतयः—

ते एं काले एं ते एं समए एं रायगिहे नामं नयरे होत्था ।
वणणओ । गुणसिलए चेइए वणणओ जाव पुदविमिलाप-
ट्टओ । तस्स एं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसापंते बहु-
वे अण्णउत्थिया परिवसंति । तं जहा-काशोदाई, सेला-
दाई, सेवालोदाई, उदए, नामुदए, नमुदए, अष्टाङ्गए,
सेलवाए, संखवाए, सुहत्थी, गाहावई, तए एं तोसिं
अण्णउत्थियाणं अण्णया कयाई एग ओ सद्धियाणं समु-

वागयाणं सखिविद्याणं संनिसण्णाणं अयमेयारूवे मिहो-
कहाममुद्धावे समुप्पज्जित्या । एवं खलु समणे नायपुत्ते
पंचअत्थिकाए पण्णवेइ धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थि-
कायं । तत्थ एं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजी-
वकाए पण्णवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं
आगासत्थिकायं पोगलत्थिकायं एग च एं समणे नाय-
पुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पण्णवेइ । तत्थ
एं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पण्ण-
वेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिका-
यं जीवत्थिकायं एग च एं समणे नायपुत्ते पागलत्थिका-
यं रूवीकायं अजीवकायं पण्णवेइ । मे कहमेयं ? मन्ने एवं ते-
एणं काले एं ते एं समणे एं समणे जगवं महावीरे जाव ० गुण-
मिद्वए चेइए समोसहे जाव परिमा पणिगया । ते एं काले एं
ते एं समणे एं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंते-
वामी इंदुत्तुनामं अणगारे गोयमोत्तेणं एवं जहा विति-
ए सए नियंतुहेमए जाव निक्खायरियाए अरुमाणे अ-
ट्ठापज्जत्तं भत्तपाणं पमिलान्नेमाणे २ रायगिहाओ जाव-
अतुरियमचवलं जाव चरियं मोहेमाणे २ तेमिं असुउत्थि-
याणं अदूरसामन्तेणं वीईवयड, तए णं ते असुउत्थिया
भगवं गोयमं अदूरसामन्तेणं वीईवयमाणं पासंति, पासइत्ता
असुमणं सदावेत्ति, सदावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु दे-
वाणुप्पिया ! अम्हं इमा कहा अविप्पकडा, अयं च एं
गोयमे अदूरसामन्तेणं वीईवयड, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया !
अम्हं गोयमे एयमट्ठं पुच्छित्तए तिकट्टु असुमणस्स अंतिए
एयमट्ठं पमिमुणंति, परिमुणंतित्ता जेणव भगवं गोयमे तेणव
उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता भगवं गोयमे एवं वयासी-एवं
खलु गायमा । तव धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे नायपुत्ते
पंचअत्थिकाए पण्णवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आ-
गासत्थिकायं तं चेव जाव रूविकायं अजीवकायं पण्ण-
वेइ । से कहमेयं गोयमा ! एवं ? तए एं से भगवं गोयमे
ते असुउत्थियं एवं वयामी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अ-
त्थिजावं नत्थि चि वयामो, नत्थिजावं अत्थि चि वयामो,
अस्से एं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिजावं अत्थि चि वया-
मो, सव्वं नत्थिजावं नत्थि चि वयामो, तं चेयमा खलु तु-
व्ने देवाणुप्पिया । एयमट्ठं मयमेव पच्छुवेक्खह तिकट्टु ते
अण्णत्थिया एवं वयामी-जेणव गुणमिलए चेइए जे-
णव समणे भगवं महावीरे एवं जहा नियंतुहेमए जाव ज-
त्तपाणं पमिदंभइ, पमिदंभइत्ता समणे भगवं महावीरं वंदइ
नमंसइ नच्चासएणे जाव पज्जुवामंइ ॥

(तेणमित्थादि) (एगओ समुवागयाणं ति) स्थानान्तरेण्य एकत्र

स्थाने समागतानामागत्य च (सन्निविष्टाणं ति) । उपविष्टानाम,
उपवेशनं चोत्कुटुकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(सन्निविष्टाणं ति)
सङ्गततया निषण्णानां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए
त्ति) प्रदेशराशीन् (अजीवकाए त्ति) अजीवाश्च तेऽचेतनाः, का-
याश्च राशयो अजीवकायास्तान् । 'जीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्व-
रूपविशेषणयाह-(अरूवकायं ति) अमूर्तमित्यर्थः । (जीवकायं ति)
जीवनं जीवो ज्ञानाद्युपयोगः, तत्प्रधानः कायो जीवकायोऽतस्तं
कैश्चिज्जीवास्तिकायो जडतयाऽभ्युपगम्यते, अतस्तन्मतव्युदासा-
येदमुक्तमिति । (से कहमेयं मन्ने एवं ति) अथ कथमेतदस्ति कायव-
स्तु, मन्ये इति वितर्कार्थः । एवममुनाऽचेतनादिविज्ञानेन भवताति
तेषां समुल्लापः (इमा कहा अविप्पकड त्ति) इयं कथा एषाऽस्ति-
कायवक्तव्यताऽप्यानुकूल्येन प्रकृता प्रकान्ता । अथवा न विशेषेण
प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । "अविउप्पकड त्ति" पाठान्तरम् ।
तत्र अविद्वत्प्रकृता अविज्ञप्रकृता, अथवा न विशेषत उत्प्राब-
ल्यतश्च प्रकटा अभ्युत्प्रकटा । (अयं च त्ति) । अयं पुनः (तं चेयसा-
इ त्ति) । यस्मादयं सर्वमस्तिजावमेवास्तीति वदामः, तथाविध-
संवाददर्शनेन प्रवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्तस्माच्चेतसा मनसा
"वेदस् त्ति" पाठान्तरे-ज्ञानेन प्रमाणाबाधितत्वज्ञापनेन (एयम-
ठं ति) अमुमस्ति कावस्वरूपलक्षणमयं स्वयमेव प्रत्युपेक्ष्य
पर्यालोचयेतेति ।

ते णं काले एं ते णं समणे एं समणे भगवं महावीरे महा-
कहापम्विएणे या वि होत्था । कालोदाई य ते देसं हव्व-
मागए कालोदाइ त्ति समणे भगवं महावीरे कालोदाई एवं
वयासी-से नूणं ते कालोदाई अएखया कयाइ एगयओ
सहियाणं समुवागयाणं तहेव जाव से कहमेयं मण्णे एवं
से नूणं कालोदाई अट्ठे समट्ठे । हंता ! अत्थि । तं सव्वेणं
एवमट्ठे कालोदाई ! अहं पंच अत्थिकाए पण्णवेमि, तं जहा-
धम्मत्थिकायं जाव पोगलत्थिकायं तत्थ णं अहं चत्तारि
अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पण्णवेमि, तहेव जाव
एणं च एं अहं पोगलत्थिकायं रूवीकायं पण्णवेमि, त-
एणं से कालोदाई समणे जगवं महावीरं एवं वयासी-
एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकायंसि अधम्मत्थिकायंसि
आगासत्थिकायंसि अरूवीकायंसि अजीवकायंसि चक्कि-
या केइ आसइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा सइ-
त्तए वा जाव तुयट्ठित्तए वा ? नो इण्णे समट्ठे । कालोदाइ !
एयंसि एं पोगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
चक्किया केइ आसइत्तए वा जाव तुयट्ठित्तए वा । एयंसि णं
जंते ! पोगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
जीवाणं पावाणं कम्माणं पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?
एणो इण्णट्ठे समट्ठे । कालोदाइ ! एयंसि एं जीवत्थिकायंसि
अरूविकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता
कज्जंति ? । हंता ! कज्जंति । एत्थ णं से कालोदाई संबुद्धे
समणे जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वयासी-
इच्छामि णं जंते ! तुज्जं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

खंदए तहेव पव्वइए तहेव एकारस अंगाणि० जाव विहरइ, तए णं समणे जगवं महावीरे अष्टया कयाइ रायगिहाओ णय-राओ गुणसिद्धाओ चेइयाओ पकिनिक्खमइ । पडिनिक्खा-मइत्ता वडिया जणवयविहारं विहरइ । ते णं काले णं ते णं स-मए णं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए नामं चेइए होत्था । तए णं समणे जगवं महावीरे अष्टया कयाइ जाव समोसठ्ठे जाव पकिगया, तए णं से कालोदाई अणगारे अष्टया कयाइ जेणेव समणे जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वयासी—

(महाकहापक्खिअस्ति) महाकथाप्रबन्धेन महाजनस्य त-त्त्वदेशना (एएसि णं ति) एतस्मिन्नुक्तस्वरूपे (चक्कि-या केइ स्ति) शक्नुयात्कश्चित् । (एयंसि णं जंते ! पोग्गलत्थिकायंसीत्यादि) अयमस्य भावार्थः—जीवसंबन्धी-नि पापकर्मणि अशुभस्वरूपफलकणविपाकदायीनि पु-द्गलास्तिकायेन भवन्ति, अचेतनत्वेनानुभववर्जितत्वात्तस्य, जीवास्तिकाये एव च तानि तथा ज्वन्ति । अनुभवयुक्तत्वा-त्तस्येति प्राक्कालोदायिप्रश्नद्वारेण कर्मवक्तव्यतोक्ता । अधुना तु तत्प्रश्नद्वारेणैव तान्येव यथा पापफलविपाकादीनि ज्वन्ति । तथोपदर्शयिषुः—

अत्थि णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग-संजुत्ता कज्जंति ? । हंता ! अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं पा-वा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुषं थालीपागसुद्धं अट्टारस-वंजणाउलं तिसमिस्सं जोयणं भुंजेज्जा, तस्स जोयणस्स आवाए जइए जवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरू-वत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए जाव जुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसद्धे तस्स णं आवाए जइए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरूवत्ताए भुज्जो जुज्जो परि-णमइ, एवं भुज्जो भुज्जो कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा जाव कज्जंति । अत्थि णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा कट्ठाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । हंता अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति ? । कालो-दाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुषं थालीपागसुद्धं अट्टारसवंजणाउलं ओसहमिस्सं जोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भइए जवइ, तओ पच्छा परिणम-माणे परिणममाणे सुरूवत्ताए सुवणत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमाणे जाव परिगहवेरमाणे कोह-विवेगे जाव मिच्छादंसणसद्धाविवेगे तस्स णं आवाए नो जइए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरू-

वत्ताए० जाव नो दुक्खत्ताए जुज्जो जुज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो जंते ! पुरिमा सरिसया जाव सरिसजंढमत्तोवगरणा अष्टममेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं नि-व्वावेइ । एएसि णं जंते ! दोएहं पुरिसाणं कयरे पुरिमे महाकम्मताराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मताराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव, जे वा से पुरिसे अगणि-कायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मताराए चेव जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मताराए चेव० जाव अप्पवेयणतराए चेव । से केणट्ठे णं जंते ! एवं बुद्धइ; तत्थ णं जे से पुरिमे जाव अप्पवेयणतराए चेव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिमे बहुतरायं पुढवी-कायं समारंभइ, बहुतरायं आठकायं समारंजइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंजइ, बहुतरायं वाउकायं समारंजइ, बहुत-रायं वणस्सइकायं समारंजइ; बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरायं पुढविकायं समारंजइ, अप्पतरायं आठकायं स-मारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंजइ, अप्पतरायं तसकायं समारंजइ, से तेणट्ठे णं कालोदाई ! जाव अप्प-वेयणतराए चेव ॥

(अत्थि णमित्यादि) अस्तीदं वस्तु यदुत जीवानां पापानि कर्मणि, पापो यः फलरूपो विपाकः, तत्संयुक्तानि भवन्ती-त्यर्थः । (थालीपागसुद्धं ति) स्थाल्याम्-उखायां, पाको यस्य तत् स्थालीपाकम्, अन्यत्र हि पक्कमपक्वं वा; न तथाविधे स्यादिति विशेषणं शुद्धं भक्तदोषवर्जितं ततः, कर्मधारयः । स्थालीपाके-न वा शुद्धमिति विग्रहः । (अट्टारसवंजणाउलं स्ति) अष्टादशभि-र्लोकप्रतीतेर्व्यञ्जनैः शालनकैः तक्रादिभिर्वा; आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः । अष्टादश भेदाश्चेते—“सूत्रो १ दणो २ जवणं ३, तिस्सि य मंसाई ६ गोरसो ७ जूसो ८ । भक्खा ९ गुब्ब लावणिया १०, मूत्रफल ११ हरियंग १२ रागो १३ ॥ १ ॥ हाय रसालूय १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणं चेव १७ । अट्टारसमो सागो १८, निरुवहओ लोइओ पिमो ॥ २ ॥ तत्र मांसत्रयं जलचरादिसत्कं, जूपो मुद्गमन्दुलजीरककटुभाणरा-दिरसः, भक्ष्याणि स्नपनखाद्यादीनि, गुललावणिया गुरुपर्व-टिका लोकप्रसिद्धा, गुरुधाना वा । मूलफलान्येकमवे पदं, हरितकं जीरकादि, डाको वास्तुकादिभर्जिका, रसासू मञ्जिका,

तद्वृत्तं चेदं—“दो घयपला महु पलं, दहिस्मऽच्छादयं मिरियवी-
सा । दस खड्गुपलाई, एस रमात्तु निवड्जोगो” ॥१॥ पानं सुरा-
दि, पानीयं जल, पानकं छाड़ापानकादि, शाकस्तत्रासिद्ध इति ।
(भावाय त्ति) आयातस्तत्प्रथमतया संसर्गः (जइए त्ति) मधुर-
त्वान्मनोहरः (दुरुवत्ताए त्ति) दुरुपतया हेतुजुततया (जहा
महासवए त्ति) पशुशतस्य तृतीयोद्देशको महाश्रवकस्तत्र यथेदं
सूत्रं तपेदाप्यवधेयम् । एवामेव त्ति विषमिश्रभोजनवत्, “जो-
षाणं पाणाच्चाए” इत्यादौ भवतीति शेषः । (तस्स णं ति) तस्य
प्राणातिपातादेः तस्यो पच्छा विपरिणममाणे त्ति ततः पश्चा-
दापातानन्तर विपरिणमत् परिणामान्तराणि गच्छन् प्राणाति-
पातादि, कार्ये कारणोपचारात् प्राणातिपातादिहेतुकं कर्म (दुरु-
वत्ताए त्ति) दुरुपताहेतुतया परिणमति, दुरुपतां करोतीत्यर्थः ।
(ओसहमिस्सं ति) औषधं महावित्तकपृतादि । (एवामेव त्ति)
औषधमिश्रभोजनवत् । (तस्स णं ति) प्राणातिपातविरमणादेः
(आवाए नो भइए जवइ त्ति) इन्द्रियप्रतिकूलत्वान् (परिण-
ममाणे त्ति) प्राणातिपातविरमणादिप्रजवं पुण्यकर्म, परिणा-
मान्तराणि गच्छन् अनन्तरं कर्माणि फलतो निरूपितानि । अथ-
क्रियाविशेषमाश्रित्य तत्कर्तुं पुरुषद्वयद्वारेण कर्मादीनामल्पत्वबहु-
त्वे निरूपयति—(दो जंते! इत्यादि) (अगणिक्कायं समारभंति त्ति)
तेजस्कायं समारभते, उपपन्नतः तच्चैक उज्ज्वालनेन, अन्यस्तु
विधायनेन । तत्रोज्ज्वालने बहुतरंगतेजसामुत्पादेष्यत्पतराणां
विनाशोऽप्यस्ति, तथैव दर्शनाद् । अत उक्तम्—“तत्थ णं एगे” इत्या-
दि (महाकम्मतराए चेव त्ति) अनिशयेन महत् कर्म ज्ञानावरणा-
दिकं यस्य स तथा, चैवशब्दः समुच्चये । एवं (महाकिरियतराए
चेव त्ति) नवरं, क्रिया दाहरूपा (महासवतराए चेव त्ति) बृहत्क-
र्मवत्तद्वेतुकः । (महावेयणतराए चेव त्ति) महती वेदना जीवानां
चस्मान्म तथा । अनन्तरमग्निवत्कव्यतोक्ता ।

अत्थि णं जंते ! अचित्ता वि पोग्गला ओजासंति,
उज्जोवेंति, तवेंति, पभासंति ? । इंता ! अत्थि । कयेरं णं जंते !
अचित्ता वि पोग्गला ओजासंति, जाव पजासंति ? । कालो-
दाई ! कुरुस्म अणगास्स तेयलेस्सा निमहा ममाणी दूरं
गता दूरं निवतड, देसं गता देसं निवतड, जहिं २ च एं
मा निवतड तहिं २ च एं ते अचित्ता वि पोग्गला ओजासं-
ति जाव पजामंति एए णं काळोदाई ! ते अचित्ता वि पो-
ग्गला ओभासंति । तए णं मे काळोदाई अणगारं समणं
भगवं पढावीरं वंदड नमंमइ बहुहिं चउत्थिउट्टुडमं जाव
अप्पाणं जावेमाणे जहा पढममए कालासवेसियपुत्ते जाव
मन्वउक्खवण्णं मेवं भंते ! जंते ! त्ति ।

अग्निश्चमचेतनः सप्रवभासते, एवमचित्ता अपि पुद्गलाः किम-
वभासन्त इति प्रश्नपश्चाद्—[अत्थि गामित्यादि] (अचित्ता वि त्ति)
मचेतनास्तेजस्कायिकादयः तावद्वज्रासन्त एवेत्यपिशब्दार्थः ।
(ओभासंति त्ति) प्रकाशाभवन्ति (उज्जोवेंति त्ति) वस्तु-
द्योतयन्ति । (तवेंति त्ति) तापं कुर्यान्ति (पजासंति त्ति) तथा-
विश्रवस्तुदाहकत्वेन प्रभावं हतन्ते (कुरुस्मे त्ति) विभक्तिविपरि-
णामान् कुञ्चनं दूरं गता (दूरं निवयड त्ति) दूरगामिनोति दूरे
निपतनीत्यर्थः । अथवा दूरे गत्वा दूरे निपतनीत्यर्थः । (देसं गता
देसं निवयड त्ति) अभिप्रेतस्य गन्तव्यस्य क्रमशतादेदेशे तद-

र्शादौ गमनस्वभावेऽतिदेशे तदर्शादौ निपतनीत्यर्थः । क्त्वा-
प्रत्ययपक्षोऽप्येवमेव । (जहिं जहिं च त्ति) यत्र यत्र दूरे वा
तदेशे वा, सा तेजोवेद्या निपतति (तहिं तहिं) तत्र तत्र
दूरे तदेशे वा [ते त्ति] । तेजोवेद्या सम्बन्धिनः । भ० ७श०
१० ब० ।

(२) अथान्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते, [आयुः]
तत्र इह जविकस्य परजविकस्य वाऽऽयुषः समयं विप्रतिपत्तिः—

असुउत्थिया एं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं
पएणवेंति, एवं परूवेंति—एवं खलु एगे जीवे एगे एं सम-
ए एं दो आउयाइं पकरेइ । तं जहा—इहभविआउयं च परभ-
विआउयं च; जं समयं इहभविआउयं पकरेइ तं समयं परज-
विआउयं पकरेइ, जं समयं परजविआउयं पकरेइ तं समयं
इहजविआउयं पकरेइ । इहभविआउयस्स पकरणयाए पर-
भविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्स पकरणयाए इहजवि-
आउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे एं समए णं दो आ-
उयाइं पकरेइ । तं जहा—इहजविआउयं च परभविआउयं च ।
से कदमेयं भंते ? । एवं गोयमा ! जं एं ते असुउत्थिया
एवमाइक्खंति जाव परजविआउयं च जे ते एवमाइंसु, मि-
च्छं ते एवमाइंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामिं
जाव परूवमि—एवं खलु एगे जीवे एगे एं समए एं एं
आउयं पकरेइ । तं जहा—इहजविआउयं वा परभविआ-
उयं वा । जं समयं इहजविआउयं पकरेइ, एगे तं समयं
परजविआउयं पकरेइ, जं समयं परभविआउयं पकरेइ, एगे
तं समयं इहभविआउयं पकरेइ । इहजविआउयस्स पकर-
णयाए एगे परभविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्स एगे इह-
जविआउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे एं समए एं
एवं आउयं पकरेइ । तं जहा—इहजविआउयं वा, परभविआ-
उयं वा । सेवं भंते ! भंते ! त्ति; जगवं गोयमे जाव विहरइ ॥

दर्शनान्तरस्य विपर्यस्ततां दर्शयन्नाह—(अणउत्थिप-
त्यादि) अन्ययूथं विवक्षितसङ्गादपरः सङ्गः, तदस्ति
येनां ते अन्ययूथिकास्तीर्थान्तरीया इत्यर्थः । एवमिति
वक्ष्यमाणं (आइक्खंति त्ति) आख्यान्ति सामान्यतः । (जा-
संति त्ति) विशेषतः । (पणवेंति त्ति) उपपत्तिभिः । (परू-
वेंति त्ति) भेदकथनतो द्वयोर्जीवयोरैकस्य वा समयभेदेनायु-
र्द्वयकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम् । (एगे जीवे इत्यादि) (दो
आउयाइं पकरेइ त्ति) जीवो हि स्वपर्यायसमूहात्मकः, स च
यदैकमायुःपर्यायं करोति तदाऽन्यमपि करोति, स्वपर्यायत्वा-
ज्ज्ञानसम्यक्स्वपर्यायवत्, स्वपर्यायकर्तृत्वं च जीवस्यान्युपगन्त-
व्यमेव । अन्यथा सिद्ध्यत्वादिपर्यायाणामनुत्पादप्रसङ्ग इति ज्ञा-
वः । उक्तार्थस्यैव ज्ञावनाऽर्थमाह—[जमित्यादि] विभक्तिविपरिणा-
मायस्मिन्समये, इदमवो वतमानजवो यत्राऽऽयुषि विद्यते फल-
तया तदिदजवायुरेवं परभवायुरपि । अनेन चेहजवायुःकरणसमये
परजवायुःकरणं नियमितम् । अथ परजवायुःकरणसमये इह-
जवायुःकरणं नियमितमाह—(जं समयं परभविआउयमित्यादि)

एवमेकसमयकार्यतां द्वयोरप्यजिधायैकक्रियाकार्यतामाह—[इह-
भविष्याउयस्सेत्यादि] (पकरणयाए त्ति) करणेन, एवं ख-
ल्वित्यादि निगमनम् । (जणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खं-
नि) इत्याद्यनुवादवाक्यस्यान्ते तत्प्रतीते, न केवलमित्यर्थं वा-
क्यशेषो दृश्यः । (जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु त्ति) तत्र
(आहंसु त्ति) उक्तवन्तः, यश्चायं वर्तमाननिर्देशोऽधिकृतेऽतीत-
निर्देशः स सर्वो वर्तमानः कालोऽतीतो भवतीत्यस्यार्थस्य
ज्ञापनार्थः, मिथ्यात्वञ्चास्यैवम्, एकेनाध्यवसायेन विरुद्धयोरा-
युषोर्बन्धायोगात् । यच्चोच्यते-पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तरं
करोति, स्वपर्यायत्वादिति । तदनैकान्तिकम् । सिद्धत्व-
करणे संसारित्वाकरणादिति । टीकाकारव्याख्यानं तु—इह
भवायुयंदा प्रकरोति वेदयत इत्यर्थः, परभवायुस्तदा प्रक-
रोति प्रबध्नातीत्यर्थः, इहभवायुरुपभोगेन परभवायुर्वध्नाती-
त्यर्थः । मिथ्या चैतत्परमतम् । यस्माज्जातमात्रो जीव इहभवायुर्वे-
दयते, तदैव तेन यदि परभवायुर्वेदं, तदा दानाध्ययनादीनां
वैयर्थ्यं स्यादिति । एतच्चायुर्बन्धकालादन्यत्रावसेयम् । अन्य-
थाऽऽयुर्बन्धकाले इहभवायुर्वेदयते, परभवायुस्तु प्रकरोत्ये-
वेति । भ० १ श० ६ उ० ।

(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र
अन्ययुधिकः सह विवादः—

अनन्तरोक्तं लवणसमुद्रादिकं सत्यं सम्यग्ज्ञानिप्रतिपादि-
तत्वान्मिथ्याज्ञानिप्रतिपादितं त्वसत्यमपि स्यादिति दर्शय-
स्तृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रमिदमाह—

अस्रउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं जासेंति, एवं
पणवति, एवं पण्वेति । से जहानामए जालगंठियाइ वा आणु-
पुण्विगंठिया अणंतरगंठिया परंपरगंठिया अस्रमणगंठिया
अस्रमणगुरुत्ताए अस्रमणजारियत्ताए अस्रमणगुरुसंजा-
रियत्ताए अस्रमणघरुत्ताए चिट्ठंति; एवमेव बहूणं जीवाणं
बहुसु आजाइसहस्सेसु बहुइ आउयमहस्साइ आणुपुण्वि-
गंठियाइ जाव चिट्ठंति, एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं
दो आउयाइ पणिसंवेदयइ । तं जहा—इहजविषाउयं च पर-
जविषाउयं च । जं समयं इहजविषाउयं पणिसंवेदेइ, तं स-
मयं परजविषाउयं पणिसंवेदेइ, जाव से कहमेयं भंते !
एवं ? गोयमा ! जं णं ते अस्रउत्थिया तं चेव जाव परभवि-
षाउयं च जे ते एवमाहंसु तं मिच्छा ? अहं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि-जाव अस्रमणघरुत्ताए चिट्ठंति, एवमेव एग-
मेगस्स जीवस्स बहुहिं आजाइमहस्सेहिं बहुहिं आउमहस्सा-
इ आणुपुण्विगंठियाइ जाव चिट्ठंति, एगे वि य णं जीवे एगे-
णं समएणं एगं आउयं पणिसंवेदेइ । तं जहा—इहभविषाउयं
वा परभविषाउयं वा, जं समयं इहजविषाउयं पणिसंवे-
देइ नो तं समयं परजविषाउयं पणिसंवेदेइ, जं समयं पर-
जविषाउयं पणिसंवेदेइ णो तं समयं इहजविषाउयं पणिसं-
वेदेइ, इहजविषाउयस्स पणिसंवेदणयाए णो परजविषाउ-
यस्स पणिसंवेदणा, परभविषाउयस्स पणिसंवेदणाए णो इह-

भविषाउयस्स पणिसंवेदणा । एवं खलु जीवे एगेणं सम-
एणं एगं आउयं पणिसंवेदेइ । तं जहा—इहभविषाउयं वा
परभविषाउयं वा ।

[अस्रउत्थियाणमित्यादि] [जालगंठिय त्ति] जालं मत्स्यग्रन्थं,
तस्यैव ग्रन्थो यस्यां सा जालग्रन्थिका । किंस्वरूपा सेत्याह—
[आणुपुण्विगंठिय त्ति] आनुपूर्व्यां परिपाट्या ग्रथिता गुम्फिता
आयुचितग्रन्थोनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव
करणात् । एतदेव प्रपञ्चयन्नाह—[अणंतरगंठिय त्ति] प्रथमग्र-
न्थोनामानन्तरव्यवस्थापितैर्ग्रन्थभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्र-
थिता । एवं परम्परैर्व्यवहितैः सह ग्रथिता परम्परग्रथिता ।
किमुक्तं भवति—[अन्नमन्नगंठिय त्ति] अन्योऽन्यं परस्परं ए-
केन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन च सहान्य इत्येवं ग्रथिता
अन्योऽन्यग्रथिता । एवं च [अन्नमन्नगुरुत्ताए त्ति] अन्योऽन्येन
ग्रन्थनादं गुरुकता विस्तीर्णता, अन्योऽन्यगुरुकता, तथा, [अन्न-
मन्नभारियत्ताए त्ति] अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तद-
न्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता, तथा, एतस्यैव प्रत्येकोक्तार्थद-
यस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमभिधानुमाह—[अन्नमन्न-
गुरुसंभारियत्ताए त्ति] अन्योऽन्येन गुरुकं यत्संभारिकं च
तत्तथा, तद्भावस्तत्ता, तथा [अन्नमन्नघटत्ताए त्ति] अन्योऽ-
न्यं घटा समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्भावस्तत्ता तथा;
[चिट्ठंति] आस्ते, इति दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिक उच्यते—
[एवमेव त्ति] अनेनैव न्यायेन बहूनां जीवानां संबन्धीनि
[बहुसु आजाइसहस्सेसु त्ति] अनेकेषु देवादिजन्मसु प्र-
तिजीवं क्रमप्रवृत्तेष्वधिकरणभूतेषु बहून्यायुष्कसहस्राणि त-
त्त्वामिजीवानामाजातीनां च बहुसहस्रसंस्थानत्वात् । आनु-
पूर्वीग्रथितानीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरमिह भारिक-
त्वं कर्मपुल्लापेत्तया वाच्यम् । अथैतपामायुषां को वेदन-
विधिरित्याह—[एगे वि येत्यादि] एकोऽपि जीवः आ-
स्तामनेक एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशतवत् । अत्रोत्तरम-
[जे ते एवमाहंसु इत्यादि] मिथ्यात्वं चैषामेवम्—या—
नि हि बहूनां जीवानां बहून्यायुषि जालग्रन्थिकावत्तिष्ठन्ति तानि
यथास्वं जीवप्रदेशेषु संवद्धानि स्युरसंवद्धानि वा ? यदि संब-
द्धानि, तदा कथं भिन्नजिन्मजीवस्थानानां तेषां जालग्रन्थिका
कल्पना कल्पायन्तुं शक्या? तथापि तत्कल्पने जीवानामपि जाल-
ग्रन्थिकाकल्पत्वं स्यात्, तत्संबद्धत्वात् । तथा च सर्वजीवानां सर्वा
युःसंवेदनेन सर्वत्रयत्रयनप्रसङ्ग इति । अथ जीवानामसंबद्धा-
न्यायुषि तदा तद्वशादेवादिजन्मेति न स्यादसंबन्धादेवेति । यच्चो-
क्तम्—एको जीव एकेन समयेन द्वे आयुषी वेदयति । तदपि
मिथ्या । आयुर्द्वयसंवेदने युगपद्भवद्वयप्रसङ्गादिति । [अहं पुण
गोयमेत्यादि] इह एकं जालग्रन्थिकासंक्रविकामात्रम् ।
[एगेमेगस्सेत्यादि] एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां, बहुष्वजा-
तिसहस्रेषु क्रमवृत्तेष्वतीतकालकेषु तत्कालापेक्षया सन्सु
बहून्यायुस्सहस्राणि अतीतानि, वर्तमानजवान्तान्यभविष्य-
न्यभविष्येन प्रतिबद्धमित्येवं सर्वाणि परस्परं प्रतिबद्धानि भव-
न्ति, न पुनरेकमेव एव बहूनि [इहभविषाउयं व त्ति] वर्तमानभवायुः
[परभविषाउयं व त्ति] परभवप्राप्त्यर्थं यद्वर्त-
मानभवे निवृत्तं तच्च परजवे गतो यदा वेदयति, तदा व्यपदि-
श्यते [परभविषाउयं व त्ति] ॥ भ० ५ श० ३ उ० ।

[४] [कर्म] चलच्चलितमित्यादिकर्मादिषु कुतश्चिकः
संहतिव्यतिपत्तिः—

असुतियं ज्ञेयं ! एवमाडक्यंति० जाव पस्वन्ति । एवं
खलु चलमाणे अचलिते० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जि-
मो दो परमाणुपोगला ए यओ न न दृणंत, कम्हा दो
परमाणुपोगला ए यति । एतेहकाए० दो परमाणुपोगला
एयओ न साहणन्ति । तिष्ठि परमाणुपोगला एयओ साह-
णन्ति, कम्हा तिष्ठि परमाणुपोगला एयओ साहणन्ति ?
तिष्ठि परमाणुपोगला ए यति तिष्ठिहकाए, तम्हा तिष्ठि-
परमाणुपोगला एयओ साहणन्ति । ते भिज्जमाणा दुहा वि
तिहा वि कज्जन्ति, दुहा कज्जमाणा एयओ दिवहे परमा-
णुपोगले भवड, ए यओ दिवहे परमाणुपोगले जवड, तिहा
कज्जमाणा तिष्ठि परमाणुपोगला इवन्ति, एव जाव
चत्तारि पंच परमाणुपोगला ए यओ साहणन्ति, एय-
ओ साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जन्ति, दुक्खे वि यणं से
सममय मियं उवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुव्वि जासा-
जासा जामिज्जमाणा जासा अजासा भामा मयं विति-
कंतं च एणं जानिया भामा जा मा पुव्वं जामाजामा जा-
निज्जमाणा भामा अजामा भानामयं वितिकंतं च एणं
जा याजामा मा किं जामओ भासा अजामओ भासा ?
अजामओ एणं मा जासा, एणं खलु मा जामओ भामा, पु-
व्वि किरिया दुक्खा कज्जमाणा किरिया अदुक्खा किरि-
या मयं वितिकंतं च एणं कदा किरिया दुक्खा जा सा
पुव्वं किरिया दुक्खा कज्जमाणा किरिया अदुक्खा कि-
रिया मयं विटिकंतं च एणं कदा किरिया दुक्खा मा किं क-
रणओ दुक्खा अकरणओ दुक्खा, अकरणओ एणं मा दुक्खा,
एणं खलु मा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं मिया, अकिञ्चं
दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकर्म दुक्खं अकटु अकटु-
पाणज्यं जीवसत्तावेदणं वेदंति ति वत्तव्वं मिया, म कटु-
मेयं भते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अणुतियं एवमा-
डक्यंति० जाव वेदणं वेदंति वत्तव्वं मिया, जे ते एवं
आहंमु मिच्छंते एवं आहंमु । अहं पुण गोयमा ! एवमाड-
क्यमि० ४, एवं खलु चलमाणं चलितं जाव निज्जरिज्जमाणे
निज्जिण्णे दो परमाणुपोगला एयओ साहणन्ति, क-
म्हा दो परमाणुपोगला एयओ साहणन्ति ? दोणहं पर-
माणुपोगला ए यति तिष्ठि परमाणुपोगला एयओ साह-
णन्ति, कम्हा तिष्ठि परमाणुपोगला एयओ साहण-
न्ति ? तिष्ठि परमाणुपोगला ए यति तिष्ठिहकाए, तम्हा

तिष्ठि परमाणुपोगला एयओ साहणन्ति, ते जिज्जमाणा
दुहा वि तिहा वि कज्जन्ति, दुहा कज्जमाणा एयओ पर-
माणुपोगले एयओ दुवदेमि ए खंधे भवड, तिहा कज्ज-
माणा तिष्ठि परमाणुपोगला भवन्ति, एणं जाव चत्तारि
पंच परमाणुपोगला एयओ साहणन्ति, साहणित्ता
खंधत्ताए कज्जन्ति, खंधे वि यणं से असामए सया समियं
उवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुव्वि भामा अजामा भामि-
ज्जमाणा जामाभासा भासासमयं वितिकंतं च एणं भा-
सिया भामा अजासा, जा मा पुव्वि जासा अजासा
भामिज्जमाणा भामाभासा जासासमयं वितिकंतं च एणं
जामिया भामा अभासा, मा किं जासओ जासा, अजा-
सओ भामा ? भासओ एणं जामा मा, एणं खलु मा अभा-
सओ जासा । पुव्वि किरिया अदुक्खा जहा जामा तथा
भाणियव्वा, किरिया वि जाव करणओ णं मा दुक्खा नो
खलु सा अकरणओ दुक्खा सेवं वत्तव्वं मिया, किञ्चं दु-
क्खं फुसं दुक्खं कज्जमाणकर्म दुक्खं कटु कटु पाणज्य-
जीवसत्तावेदणं वेदंति ति वत्तव्वं मिया ।

(चलमाणे अचलित्यति) चलत्कर्माचलितं, चलता तेन चलित-
कार्यकरणाद् वर्तमानस्य चातान्ततया व्यपदेश्यमशक्यत्वादेवम-
न्यत्रापि वाच्यमिति । (एयओ न साहणन्ति ति) एकत एकत्वेन
एकस्कन्धतयेत्यर्थः । न संहत्येते न संहतौ मिश्रितौ स्याताम् ।
(तिष्ठि तिष्ठिहकाए ति) स्नेहपथ्यवराशिर्नास्ति सूक्ष्मत्वात्, द्या-
दियोगेतु स्थूलत्वात्सोऽस्ति । (दुक्खत्ताए कज्जन्ति ति) पञ्चा-
तुज्जः संहत्य दुःखतया कर्मतया क्रियन्ते जवन्तीत्यर्थः । (दु-
क्खे वि यणं ति) कर्मापि च (सेति) तत् शाश्वतमनादित्वा-
त् । (सय ति) सर्वदा (समियं ति) सम्यक्सपरिमाणं वा,
चीयते चयं याति, अपचीयते अपचयं याति, तथा [पुव्वं ति]
भाषणात्प्राग् जासति वाग्व्यसंहतिः । [भास ति] सत्यादि-
भाषा स्यात्तत्कारणत्वात् विभङ्गानित्वेन वा; तेषां मतमात्रमे-
तन्निरुपपत्तिकमुन्मत्तवचनवत् । अतो नेहोपपत्तिरित्यर्थं गवेपणी-
या । एवं सर्वत्रापि । तथा [भामिज्जमाणा भासा अज स ति]
निस्सृज्यमानवाग्रव्याप्यभाषा, वर्तमानसमयस्याति सूक्ष्मत्वेन व्य-
वहारानङ्गत्वादिति । [जासासमयवितिकंतं च णं ति] इह क-
प्रत्ययस्य भावार्थत्वात् विनाक्तिविपरिणामाच्च भाषासमयव्यति-
क्रमे च । [भासिय ति] निस्सृष्टा सती प्राप्ता भवति, प्रतिपाद्य-
स्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति । [अभासओ णं भास ति]
अभाषमाणस्य भाषा, भाषणात्पूर्वं पञ्चाश्च तदङ्ग्युपगमान् [नो
खलु जासओ ति] भाष्यमाणायास्तस्या अनन्युपगमादिति ।
तथा [पुव्वि किरियेन्यादि] क्रिया कारिकायादिका सा या-
चन्न क्रियते तावत् [दुक्ख ति] दुःखहेतुः [कज्जमाण ति]
क्रियमाणा क्रिया न दुःखा न दुःखहेतुः क्रियासमयव्यति-
क्रान्तं च क्रियायाः क्रियमाणता, व्यतिक्रमे च कृता सती
क्रिया दुःखति । इदमपि तन्मतमात्रमेव निरुपपत्तिकम् । अथवा
पूर्वं क्रिया दुःखानभ्यामात् क्रियमाणा क्रिया न दुःखा अ-
भ्यामात् कृता क्रिया दुःखानुपतापश्रमादेः [करणओ दु-
क्ख ति] करणमाश्रित्य करणकाले कुर्वन् इत्यर्थः । [अक-

रण्यो दुःखं चित्ति] अकरणमाश्रित्य अकुर्वन् इति यावत् [नो
खलु सा करण्यो दुःखं चित्ति] अक्रियमाणत्वे दुःखतया तस्या
अभ्युपगमात् । [सत्त्वं वस्तुत्वं सित्था] अथ एवं पूर्वोक्तं वस्तु
वक्तव्यं स्यादुपपन्नत्वादस्येति । अध्यात्मयूथिकान्तरमतमाह-
अकृत्यमनागतकालापेक्षया अनिर्वर्तनीयं जीवैरिति गम्यं,
दुःखमसात् तत्कारणं वा कर्म, तथा अकृत्यत्वादेवास्पृश्यम-
बन्धनीयं तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं, चार्तातकाले
तन्निषेधादक्रियमाणकृतं कालत्रयेऽपि कर्मणो बन्धनिषेधाद-
कृताऽकृता । आभीक्ष्ये द्विर्धनं , दुःखमिति प्रकृतमेव । के
इत्याह-प्राणभूतजीवसत्त्वाः । प्राणादिलक्षणं चेदम्-“ प्राणा
द्विविचतुःप्रोक्ताः, भूतास्तु त्रयः स्मृताः । जीवाः पञ्चन्द्रिया
ब्रह्माः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ” ॥१॥ [वेयंति] शुभाशुभक-
र्मवेदानां पीडां वा वेदयन्त्यनुभवन्ति । इत्येतद्वक्तव्यं स्यादभ्य-
वोपपद्यमानत्वात् । यादृच्छिकं हि सर्वलोके सुखदुःखमिति ।
यदाह-“ अनर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःख-
जातम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वाऽत्र वृ-
थाऽभिमानः ” ॥१॥ [से कहमेयंति] अथ कथमेतत् भदन्त !
एवमन्ययूथिकोक्तन्यायेनेति प्रश्नः ? । [जप्सं ते अण्यउत्थिय]
इत्याद्युत्तरम् । व्याख्या चास्य प्राग्वत् । मिथ्या चेतदेवं यदि
चलदेव प्रथमसमये चलितं न भवेत्तदा द्वितीयादिष्वपि तद-
चलितमेवेति न कदाचनपि चलेदन् एव वर्तमानस्यापि वि-
चक्षया अतीतत्वं न विरुद्धम् । एतच्च प्रागेव निर्णीतमिति न
पुनरुच्यते । यश्चोच्यते-चलितकार्यकरण्यादचलितमेवेति । त-
दयुक्तम् । यतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानेषु स्थासकोशादिवस्तुष्व-
न्यक्षणभावविस्तु आद्यक्षणे स्वकार्यं न करोत्येव, असत्त्वाद्,
अतो यदन्यसमयचलितकार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमय-
चलितं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणानां स्व-
स्वकार्यकरणस्वभावत्वादिति । यच्चोक्तम्-द्वौ परमाणू न सं-
हन्ते, मृत्तमया स्नेहाभावात् । तदयुक्तम् । एकस्यापि परमाणोः
स्नेहसंभवात् । सार्द्धपुल्लस्य संहतत्वेन तैरेवाभ्युपगमाच्च ।
यत उक्तम्-[तिष्ठि परमाणुपोगल्ला एगयओ साहणंति, ते भि-
ज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ
दिवहेत्ति] अनेन हि सार्द्धपुल्लस्य संहतत्वाभ्युपगमेन तस्य
स्नेहोऽभ्युपगत एवेत्यतः कथं परमाण्वाः स्नेहाभावेन सङ्गा-
ताभाव इति । यच्चोक्तम्-एकतः सार्द्ध एकतः सार्द्ध इति । एत-
दप्यचार । परमाणोरर्द्धीकरणे परमाणुत्वाभावप्रसङ्गात् ।
तथा यदुक्तम्-पञ्च पुल्लाः संहताः कर्मतया भवन्ति । तद-
प्यसङ्गतम् । कर्मणोऽनन्तपरमाणुतयाऽनन्तस्कन्धरूपत्वात्-
आणुकस्य च स्कन्धमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवावरणस्वभा-
वमिष्यते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसङ्गघात-
प्रदेशात्मकं जीवमावृणुयादिति । तथा यदुक्तम्-कर्म च शा-
श्वनम् । तदप्यसमीचीनम् । कर्मणः शाश्वतत्वे क्षयोपशमाद्य-
भावेन ज्ञानादीनां हानिरुत्कर्षस्य चाभावप्रसङ्गात् । दृश्येते च
ज्ञानादिहानिवृद्धी । तथा यदुक्तम्-कर्म सदा चीयते अपची-
यते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति । यच्चोक्तम्-
त्रापणात्पूर्वं भाषा, तदेतन्वात् । तदयुक्तमेव । औपचारिकत्वात् ।
उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्तुत्वात् । किञ्च । उपचारस्तत्त्विके
वस्तुनि सति भवतीति तत्त्विकी भाषाऽस्तीति सिद्धम् ।
यच्चोक्तम्-भाष्यमाणा अभाषा, वर्तमानसमयस्याव्यावहा-
रिकत्वात् । तदप्यसम्यक् । वर्तमानसमयस्यैवास्तिनेन व्यव-

हाराङ्गत्वादीनामागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नतया सत्त्वेन व्यव-
हारानङ्गत्वादिति । यच्चोक्तम्-भाषासमयेत्यादि । तदप्यसाधु ।
भाष्यमाणत्रापया अभावे भाषासमय इत्यस्याप्यजिलापस्या-
भावप्रसङ्गात् । यश्च प्रतिपाद्यस्याभिधेय प्रत्ययोत्पादकत्वा-
दिति हेतुः । सोऽनैकान्तिकः । करादिचेष्टानामभिधेयप्रतिपाद-
कत्वं सत्यपि भाषात्वासिद्धेः । तथा यदुक्तम्-अत्रापकस्य त्रापेति ।
तदसङ्गततरम् । एवं हि सिद्धमभ्यन्तरेण वा त्रापप्राप्तिप्रसङ्ग-
इति । एवं क्रियाऽपि वर्तमानकाल एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वा-
दिति । यश्चानन्यासाऽन्यासादिकं कारणमुक्तम् । तच्चानैका-
न्तिकम् । अनन्यासादावपि यतः काचित्सुखादिरूपेण । तथा यदु-
क्तम्-अकरणतः क्रिया दुःखेति । तदपि प्रतीतिबाधितम् । यतः
करणकात्र एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा दृश्यते , न पुनः पूर्वं
पश्चाच्च ; तदसत्त्वादिति । तथा यदुक्तम्-“ अकिञ्च ” मित्यादि, यद-
च्छावादिमताश्रयणात् । तदप्यसाध्याः । यतो यश्चकरणादेव कर्म
दुःखं सुखं वा स्यात्तदा विविधैहिकपारलौकिकानुष्ठानाभा-
वप्रसङ्गः स्यात् । अभ्युपगतं च किञ्चित्पारलौकिकानुष्ठानं
तैरपि चेति । एवमेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम् । उक्तं च वृद्धेः-
“ परतिथियवत्तव्य य , पढमसप दसमयम्म उदैसे । विज्जं-
गीणा देसा, मइमेया या वि सा सव्वा ॥ १ ॥ सञ्ज-
यमसञ्जए , जंगा चत्तारि होति विज्जंभे । उम्मत्तवायसरिसे,
तो अण्णंति निदिधं ॥ २ ॥ ” सङ्गते परमाणौ असङ्गतमर्का-
दि, असङ्गते सर्वगात्मनि सङ्गते चैतन्यं, सङ्गते परमाणौ सङ्ग-
तं निष्प्रदेशत्वं, असङ्गते सर्वगात्मनि असङ्गतमकर्तृत्वमिति ।
[अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि] इत्यादि तु प्रतीतिार्थमेवे-
ति, नवरं [दोहं परमाणुपोगल्लाणं अत्थि सिणेहकाएत्ति]
एकस्यापि परमाणोः शीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शानामन्यतरद्विरु-
द्धं स्पर्शद्वयमेकदैवास्ति । ततो द्वयोरपि तयोः स्निग्धत्वज्ञावात्
स्नेहकायोऽस्येव । ततश्च तौ विपमस्नेहात्संहन्ते । इदं च
परमतानुवृत्त्योक्तम् । अन्यथा रूक्षावपि रूक्षत्वधैषम्ये संहन्ते ।
एवं यदाह-“ समनिद्धयाइ बंधो, न होइ समदुक्खयाइ वि न
होइ । धेमायदुद्धनिकख-त्तेणेण बंधो उ खंधाणं ” ॥ १ ॥ ति ।
[खंधे विय णं से असासएत्ति] उपचयापचयिकत्वाद् । अत
एवाह-[मया समियमित्यादि] [पुर्वि भासा कभासत्ति] भा-
ष्यत इति भाषा, भाषणाच्च पूर्वं न भाष्यत इति न भाषेति ।
[भासिज्जमाणी भासत्ति] शब्दार्थविशोभात् । [भासिया अ-
भासत्ति] शब्दार्थविशोभात् । [पुर्वि किरिया अदुक्खत्ति]
करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तित्यसत्त्वादेव च न दुःखा, सुखाऽपि
नासावसत्त्वादेव, केवलं परमतानुवृत्त्या दुःखेत्युक्तम्, ‘जहा भासे
त्ति’ वचनात् । [कज्जमाणी किरिया दुक्खा] सत्त्वादित्हापि
यत्क्रियमाणा क्रिया दुःखेत्युक्तम्, तत्परमतानुवृत्त्यैव । अन्यथा
सुखाऽपि क्रियमाणैव क्रिया । तथा [किरिया समयवित्तिकं च
णमित्यादि] दृश्यम् । [किञ्च दुक्खमित्यादि] अनेन च कर्मस-
त्तावेदिता, प्रमाणसिद्धत्वादस्य । तथाहि-इह, यद् द्वयोरिष्टा श-
ब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य दुःखत्रयं फलमन्यस्ये-
तरत्, न तद्विशिष्टहेतुमन्तरेण सम्भाव्यते, कार्यत्वात् ; घटवत् ।
यश्चासौ विशिष्टो हेतुः स कर्मेति । आह च-“ जो तुल्लासाहणाणं,
फले विसेसो ण सो विणा हेउं । कज्जसणओ गोयमा !, धमो
व्व हेऊ य से कम्म ” ॥ १ ॥ अ० १ श० १० उ० ।

[५] [क्रिया] एकस्य जीवस्य एकेन समयेन क्रियाद्वयकरणे-

पुनरप्यन्ययूथिकान्तरमतमुपदर्शयन्नाह-

अण्डनित्यया एं जेत ! एवमाइकस्वति० जाव एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ, जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । मे कहमेयं जेत ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अण्डनित्यया एवमाइकस्वति तं चैव जाव० । जे ते एवमाइसु मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइकस्वामि ४-एवं खनु एगे जीवे एगसमए एकं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्वयाए नेयध्वं० जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अण्डनित्यया णमित्यादि] तत्र च [इरियावहियं ति] ईयां गमने, तद्विषयः पन्था मार्ग ईयापथस्तत्र भवा पेर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मवन्ध इत्यर्थः । [संपराइं च ति] संपरैति परिगमने प्राणां जंवे एगिरिति संपरायाः कषायाः, तत्प्रत्यया वा सा साम्परायिकी, कषायहेतुकः कर्मवन्ध इत्यर्थः । [एगसमए वत्तव्वं नेयध्वं ति] इह सूत्रेऽन्ययूथिकवत्तव्वं स्वयमुच्चारणीयं, प्रथमैरवभयेनालिखितं चात्तस्य । तच्चेदम्-“जे समयं संपराइयं पकरेइ, ते समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहियापकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । ते ससमयवत्तव्वयाए नेयध्वं” सूत्रमिति गम्यम् । सा चैवम्-“से कहमेयं जेत ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अण्डनित्यया एवमाइकस्वति ४ जाव । संपराइयं च जे ते एवमाइसु, मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइकस्वामि ४-एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं एगे किरियं पकरेइ । तं जहा-इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेणाभ्येयमिति । मिथ्यात्वं चास्यैवम्-पेर्यापथिकी क्रिया अकषायाद्यप्रभवा, इतरा तु कषायाद्यप्रभवेति, कथमेकस्यैकदा तयोः संतवः ? । विरोधादिति । भ० १ श० १० उ० ।

अण्डनित्यया एं जेत ! एवमाइकस्वइ, एवं जामेइ, एवं पत्तवेइ, एवं पस्वेइ-एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्पत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्पत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्पत्तकिरियं पकरेइ । सम्पत्तकिरियापकरणयाए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्पत्तकिरियं पकरेइ । एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्पत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं च । मे कहमेयं जेत ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अण्डनित्यया एवमाइकस्वति, एवं जामेति, एवं पत्तवे-

ति, एवं पस्वेति-एवं खनु एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तदेव जाव सम्पत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमहंसु तएणं मिच्छा । अहं पुण गोयमा ! एवमाइकस्वामि० जाव पस्वेमि-एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्पत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा । जं समयं सम्पत्तकिरियं पकरेइ णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्पत्तकिरियं पकरेइ । सम्पत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए नो सम्पत्तकिरियं पकरेइ । एवं खनु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्पत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा । सेतं तिरिक्खजोणीत उदेमओ वीओ ॥

[अण्डनित्यया एं जेत ! इत्यादि] अन्ययूथिका अन्यतीर्थिकाः, भदन्त । चरकादय एवमाचकृते सामान्येन एवं भाषन्ते, स्वशिश्यान् श्रवणं प्रत्यभिमुखानवबुध्य विस्तरेण व्यक्तं कथयन्ति, एवं प्रज्ञापयन्ति प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति । यथा स्वात्मनि व्यवस्थितं ज्ञानं तथा परेष्वप्युपादयन्ति । तेषां प्ररूपयन्ति तत्त्वचिन्तायामसंदिग्धमेतदिति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन युगपद् द्वे क्रिये प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्क्रियां च सुन्दराध्यवसायात्मिकाम्, मिथ्यात्वक्रियां चासुन्दराध्यवसायात्मिकाम् । [जे समयमिति] प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया, यस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति [तं समयमिति] तस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति । अन्योऽन्यसंवलनोभयनियमप्रदर्शनार्थमाह- सम्यक्त्वप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । तदुजयकरणस्वज्ञाचस्य तत्त्वक्रियाकरणात्, सर्वात्मना प्रवृत्तेः । अन्यथा ऽक्रियायोगादिति । एवं खल्वित्यादि निगमने प्रतीतार्थम् । [से कहमेयं जेत ! इत्यादि] तत्त्वमेतद् भदन्त ! एवम् ? तदेवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह- गौतम ! यतः ‘ए’ इति वाक्यालङ्कारः । तन्न्ययूथिका अन्यतीर्थिका एवमाचकृते इत्यादि प्राग्वन् यावत् । तन्मिथ्या त एवमाख्यातवन्तः । अहं पुनर्गौतम ! एवमाचके, एवं ज्ञापे, एवं प्रज्ञापयामि, एवं प्ररूपयामि-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन एकां क्रियां प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्त्वक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । परस्परवैचित्र्यनियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति, सम्यक्त्वमिथ्यात्वक्रियायोः परस्परपरिहागवस्थानात्मकतया जीवस्य तदुभयकरणस्वभावत्वायोगात् । अन्यथा सर्वथा मोक्षाभावप्रसक्तेः कदाचिदपि मिथ्यात्वानिवर्तनान् । जी० ३ प्रति० ।

(६) अदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः

सह विप्रतिपात्तिः-

ते एं कास्ते एं ते णं समये णं रायागिदे नयरे वएणओ ।

गुणसित्तए चेइए वस्रआ० जाव पुढ ीसित्तावट्टओ तस्म
 एणं गुणसित्तयस्म एणं चेइयस्स अदूरसामते वहवे अस्रउत्थिया
 परिवसंति । ते एणं समये णं समणे जगव महावीरे आदिगरे
 चाव समवसदे जाव परिसा पङ्गिया । ते णं काळे एणं ते एणं
 समए एणं समणस्स भगवओ महावीरस्स वहवे अंतेवासी
 थेरा जगवंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जहा विइयमए० जाव
 जीवियासा मरणजयविप्पमुक्का समणस्स जगवओ महा-
 बीरस्स अदूरसामते उहुंजाणु अहो सिरा भाणकोटोव-
 वगया संजमणं तवसा अप्पाणं भविमाणा जाव विहरांत ।
 तए एणं ते अएणउत्थिया जेणोव थेरा भगवंतो तेणोव उवा-
 गच्छंति । उवागच्छंतिता ते थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्जे
 एणं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पदिहय
 जहा सत्तमसए विइओ उदेसओ० जाव एगंतवालाया-
 वि जवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अएणउत्थिए
 एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं ति-
 विहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि भवामो ।
 तए णं ते अएणउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-
 तुज्जे एणं अज्जो ! अदिएणं गिएहह , अदिएणं जुंजह,
 अदिएणं साइज्जह, तए एणं ते तुज्जे अदिएणं गेएहमाणा,
 अदिएणं भुंजमाणा, अदिएणं साइज्जमाणा, तिविहं तिवि-
 हेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि जवह । त-
 ए एणं ते थेरा जगवंतो ते अएणउत्थिए एवं वयासी-केणं
 कारणेणं अज्जो ! अम्हं अदिएणं गेएहामो , अदिएणं
 भुंजामो, अदिएणं साइज्जामो, तए एणं अम्हे अदिएणं
 गेएहमाणा० जाव अदिस्सं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं
 असंजय० जाव एगंतवालाया वि जवामो ? तए एणं ते अए-
 णउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-तुज्जे एणं अज्जो !
 दिएणमाणे अदिएणे पङ्गिगहिज्जमाणे अपङ्गिगहि
 निमिरिज्जमाणे आणिसिडे, तुज्जे एणं अज्जो ! दिएणमा-
 णं पङ्गिगहणं असंपत्तं एत्थ एणं अंतरा केइ अवहरिज्जा
 गाहावइस्स एणं तं भंते ! णो खलु तं तुज्जे तए एणं तु-
 ज्जे अदिएणं गिएहह० जाव अदिएणं साइज्जह, तए एणं
 तुज्जे अदिस्सं गिएहमाणा० जाव एगंतवालाया वि जवह ।
 तए एणं ते थेरा जगवंतो ते अस्रउत्थिए एवं वयासी-नो
 खलु अज्जो ! अम्हे अदिएणं गिएहामो, अदिएणं भुं-
 जामो , अदिएणं साइज्जामो । अम्हे एणं अज्जो ! दिएणं
 गिएहामो, दिस्सं भुंजामो, दिस्सं साइज्जामो । तए एणं अ-
 म्हे दिएणं गिएहमाणा, दिएणं जुंजमाणा, दिएणं साइज्ज-
 माणा तिविहं तिविहेणं संजयाविरयपडिहय जहा सत्तम-
 सए० जाव एगंतपङ्गियाया वि जवामो । तए णं ते अस्रउ-

त्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो !
 तुज्जे दिस्सं गिएहह० जाव दिस्सं साइज्जह । तए एणं तु-
 ज्ज दिस्सं गिएहमाणा० जाव दिस्सं साइज्जमाणा, एगंतपं-
 ङ्गियाया वि भवह । तए एणं ते थेरा जगवंतो ते अएणउ-
 त्थिए एवं वयासी-अम्हे एणं अज्जो ! दिज्जमाणे दिस्से
 पङ्गिगहिज्जमाणे पङ्गिगहि निमिरिज्जमाणे निसिडे अ-
 म्हं एणं अज्जो ! दिज्जमाणं पङ्गिगहणं असंपत्तं , एत्थ
 णं अंतरा केइ अवहरिज्जा अम्हे एणं तं नो खलु गाहाव-
 इस्स तए एणं अम्हे दिएणं गिएहामो , दिएणं जुंजामो ,
 दिस्सं साइज्जामो । तए एणं अम्हे दिस्सं गिएहमाणा०
 जाव दिस्सं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव
 एगंतपङ्गियाया वि भवामो; तुज्जे एणं अज्जो ! अप्पणा चेव
 तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए
 एणं ते अस्रउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-केणं कार-
 णेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव एगंतवालाया वि भ-
 वामो ? तए एणं ते थेरा जगवंतो ते अस्रउत्थिए एवं व-
 यासी-तुज्जे एणं अज्जो ! अदिस्सं गिएहह ३ , तए एणं
 तुज्जे अदिस्सं गेएहमाणा० जाव एगंतवालाया वि भवह ।
 तए एणं ते अस्रउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-केणं
 कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिस्सं गिएहामो० जाव एगंत-
 वालाया वि भवामो ? तए एणं ते थेरा भगवंतो ते अस्रउ-
 त्थिए एवं वयासी-तुज्जे एणं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिस्से
 तं चेव० जाव गाहावइस्स णं तं नो खलु तं तुज्जे तए
 एणं तुज्जे अदिस्सं गिएहह । तं चेव० जाव एगंतवालाया
 वि जवह । तए एणं ते अस्रउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी-
 तुज्जे एणं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-
 वालाया वि भवह । तए एणं ते थेरा भगवंतो ते अस्रउत्थिए
 एवं वयासी-केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव
 एगंतवालाया वि जवामो ? तए एणं ते अस्रउत्थिया ते थेरे
 भगवंते एवं वयासी-तुज्जे एणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढवीं
 पेच्चेह, अभिहणह, वच्चेह, लेत्तेह, संघाएह, संघट्टेह, परितावह,
 किट्ठामेह, उवह्वेह, तए णं तुज्जे पुढवीं पेच्चेमाणा अज्जिह-
 णमाणा० जाव उवह्वेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअ-
 विरय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए एणं ते थेरा
 जगवंतो ! ते अस्रउत्थिए एवं वयासी-नो खलु अज्जो !
 अम्हे रीयं रीयमाणा पुढवीं पेच्चेमो अभिहणामो० जाव उव-
 ह्वेमो ; अम्हे एणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं वा जोगं वा
 रीयं वा पटुच्च देसं देसेणं वयामो, पदेसं पदेसेणं वयामो,
 तेणं अम्हे देसं देसेणं वयमाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा,
 नो पुढवीं पेच्चेमो अज्जिहणामो० जाव उवह्वेमो, तए एणं

अम्हे पुढवीं अपेचेमाणा अणभिहणमाणां जाव अणो-
द्वेमाणा. तिविहं तिविहेणं संजय० जाव एगंतपणियाया वि
भवामो ? तुज्जेणं अज्जो ! अपणा चेव तिविहं तिविहेणं
असंजय० जाव बालाया वि जवह । तए ए ते असुउत्थिया
थेरे जगवंते एव वयामी—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे ति-
विहं तिविहेणं एगंतवालाया वि जवामो ? तए एं ते थेरा
भगवंतो असुउत्थिए एवं वयामी—तुज्जेणं अज्जो ! रीयं
रीयमाणा पुढवीं पेचेह० जाव उद्वेह । तए एं तुज्जे पुढवीं
पेचेमाणां जाव उद्वेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगं-
तवालाया वि भवह । तए एं ते असुउत्थिया थेरे जगवंते एवं
वयामी—तुज्जेणं अज्जो ! गममाणे अगए वीइकमिज्जमाणे
अवीइकंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे असंपत्ते, तए एं ते
थेरा भगवंतो ते असुउत्थिए एवं वयामी—ना खलु अज्जो !
अम्हे गममाणे अगए वीइकमिज्जमाणे अवीइकंते राय-
गिहं नगरं जाव असंपत्ते अम्हे एं अज्जो ! गममाणे गए
वीइकमिज्जमाणे वीइकंते रायगहं नगरं संपाविउकामे संप-
त्ते तुज्जेणं अपणा चेव गममाणे अगए विइकमिज्ज-
माणे वीइकंते रायगिहं नगरं जाव असंपत्ते तए एं ते थेरा
भगवंतो असुउत्थिए एवं पडिहणंति । एवं पडिहणंता गइ-
पवायनामं अज्जयणं पाणवइमु ।

(नेणमिन्यादि) तत्र [अज्जो त्ति] हे आर्याः ! [तिविहं तिविहेणं
ति] त्रिविधं करणादिकं योगमाश्रित्य त्रिविधेन मनःप्रभृति-
करणेन [अदिगणं साइज्जहं त्ति] अदत्तं स्वदङ्गे अनुमन्यन्व
इत्यर्थः । (दिज्जमाणे अदिगणं इत्यादि) दीयमानमदत्तं दीयमा-
नस्य वर्तमानकालाद्व्यवहृतस्य च अतीतकालवर्तित्वाद् वर्तमा-
नानांतयोद्वयान्यन्तं भिन्नवादीयमानं दत्तं न भवति । दत्तमे-
व दत्तमिति व्यपदिश्यते । एवं प्रतिगृह्यमाणादावपि । तत्र दीय-
मानं दीयकापेक्षया, प्रतिगृह्यमाणं ग्रहकापेक्षया, निस्सृज्यमानं
क्षिप्यमाणे पात्रापेक्षयेति [अंतरे त्ति] अवसरे । अयमतिप्रायः-
यदि दीयमानं पात्रेऽपनिनं सद्दत्तं नयति तदा तस्य दत्तस्य स-
तः पात्रपतनप्रवृत्तं ग्रहणं कृतं नयति । यदा तु तद्दीयमानमद-
त्तं, तदा पात्रपतनलक्षणे ग्रहणमदत्तस्येति प्राप्तमिति । निग्रन्थो-
त्तरवाक्ये तु—[अम्हेणं अज्जो ! दिज्जमाणे दिजे] इत्यादि यदुक्तं,
तत्र क्रियाकावनिष्ठाकाव्यारभेदादीयमानत्वादेर्दत्तत्वादिममव-
सेयमिति । अथ दीयमानमदत्तमित्यादेर्भेदमन्तत्वाद् यूयमेवा-
संयतत्वाद्विगुणा इत्यादेर्दत्तायाऽन्ययूथिकाप्रति स्थविराः प्राहुः ।
(तुज्जेणं अज्जो ! अपणा चेवेत्यादि) (रीयं रीयमाणं त्ति) रीतं
गमनं, रीयमाणा गच्छन्ते । गमनं कुर्याणा इत्यर्थः । [पुढवीं पेचेह
त्ति] पुढवीं आक्रामयथेत्यर्थः । [अभिहणहं त्ति] पादाभ्यामाभिमु-
ष्येन हथ [चत्तेहं त्ति] पादाभ्यामाभिमुष्येन हथ । नैव चर्तयथ । उल्लेखनां न-
यथ । [जेवेहं त्ति] उल्लेखयथ, वृथ्वा उल्लेखान् कुरुथ । [संघा-
पहं त्ति] संघातयथ, संघटान् कुरुथ । [संघट्टहं त्ति] संघट्ट-
यय मृशयथ । [परितावेहं त्ति] परितापयथ, समन्ताज्जातमन्ता-
पान् कुरुथ । [किलामेहं त्ति] क्लमयथ, मारणान्तिकसमुद्धानं
गमयथ इत्यर्थः । [उद्वेहं त्ति] उपड्वयथ, मारयथ इत्यर्थः ।

[कायं व त्ति] कायं शरीरं प्रतीत्योच्चारिकायकार्यमित्यर्थः ।
[योगं व त्ति] योगं ग्लानवैयावृत्यादिव्यापारं प्रतीत्य [रीयं वा
पहुच्च त्ति] ऋतं सत्यं प्रतीत्याकायादिजीवसंरक्षणलक्षणं सं-
यममाश्रित्येत्यर्थः । [दिस्सं देसेणं वयामो त्ति] प्रभूतायाः पृथिव्या
ये विवक्षिता देशास्तैर्ग्रजामो नाविशेषणैर्यासमितिपरायणत्वेन
सचेतनदेशपरिहारतोऽचेतनदेशैर्ग्रजाम इत्यर्थः । एवं (पदेस्सं प-
देसेणं वयामो) इत्यापि, नवरं देशो जूमेमहत्खगमसु, प्रदेशस्तु ल-
घुतरमिति । अथोक्तगुणयोगेन नास्माकमिवेषां गमनमस्तीत्य-
भिप्रायतः स्थविरा यूयमेव पृथिव्याक्रमणादिनोऽसंयतत्वा-
दिगुणा इति प्रतिपादनायाऽन्ययूथिकान् प्रत्याहुः—[तुज्जे-
णं अज्जो ! इत्यादि] भ० ८ श० ७ उ० ।

प्रागमनमाश्रित्य विचारः कृतोऽथ तदेवाश्रित्याऽन्ययूथि-
कमतनिषेधतः स परोच्यते—

ते एं काले एं ते एं समए णं रायगिहे० जाव पुढवीमि-
लापट्टए तस्स एं गुणमिद्वस्स चेइयस्स अदूरसामंते वडवे
असुउत्थिया परिवसंति । तए एं समणे जगवं महावीरे० जाव
समोसहे० जाव परिसा पडिगया । ते एं काळे एं ते णं समए
णं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेहे अंतेवासी इंदुइ
णामं अणगारे जाव उहं जाणु० जाव विहरइ । तए एं ते
असुउत्थिया जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ । उवाग-
च्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयामी—तुज्जेणं अज्जो ! तिविहं
तिविहेणं असंजय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए एं
भगवं गोयमे ते असुउत्थिए एवं वयामी—से केणं कारणे-
णं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-
वालाया वि भवामो ? तए एं ते असुउत्थिया भगवं गोयमं
एवं वयामी—तुज्जेणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणं पेचेह,
अजिहणह० जाव उद्वेह । तए एं तुज्जे पाणे पेचेमाणा
जाव उद्वेमाणा तिविहं जाव एगंतवालाया वि जवह । तए
एं जगवं गोयमे ते असुउत्थिए एवं वयामी—णो खलु
अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणा पेचेमो० जाव उद्वे-
मो अम्हे एं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं च जोयं च
रीयं च पहुच्च दिस्सा पदेस्सा वयामो, तए एं अम्हे दि-
स्सा २ वयमाणा पदिस्सा २ वयमाणा एं पाणे पेचेमो०
जाव एं उद्वेमो, तए एं अम्हे पाणे अपेचेमाणा० जाव
अणोद्वेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतपंडिया वि० जाव
भवामो, तुज्जेणं अज्जो ! अपणा चेव तिविहं तिविहेणं जाव
एगंतवालाया वि भवह । तए एं ते असुउत्थिया भगवं
गोयमं एवं वयामी—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे
तिविहं जाव वि जवामो ? तए एं भगवं गोयमे ते
असुउत्थिए एवं वयामी—तुज्जेणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा
पाणे पेचेह० जाव उद्वेह, तए एं तुज्जे पाणे पेचेमाणा०
जाव उद्वेमाणा तिविहं जाव एगंतवालाया वि जवह ।
तए एं जगवं गोयमे ते असुउत्थिए एवं पडिहणइ । पडि-

इणत्ता जेणेव समणे जगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ ।
उवागच्छइत्ता समणे भगव महावीरं वंदइ एमंसइ णच्चा-
सणे जाव पज्जुवासइ गोयमादि समणे भगवं महावीरे
भगवं गोयमं एवं वयासी—सुट्ठु णं तुम्ह गोयमा ! ते अस्र-
उत्थिए एवं वयासी—साहु णं तुमं गायमा ! ते अस्रउ-
त्थिए एवं वयासी—अत्थिए णं गोयमा ! ममं वहवे अंतेवासी
समणा णिगंथा उउमत्था जे एं एो पजू एय वागरणं वा-
गरेत्तए जहा एं तुमं तं सुट्ठु एं तुमं गोयमा ! ते आणउ-
त्थिए एवं वयासी—साहु एं तुमं गोयमा ! ते अणउत्थिए
एवं वयासी ॥

[पेशेदं त्ति] आकामथ (कार्यं च त्ति) देहं प्रतीत्य व्रजाम
इति योगः । देहश्चेकमनशको भवति, तदा व्रजामो नान्यथा, अ-
श्वशकटादिनेत्यर्थः । योगं च संयमव्यापारं ज्ञानाद्युपपन्नकम्,
प्रयोजनं निज्ज्ञाऽऽनादि न तं विनेत्यर्थः [रीयं च त्ति] गमनं च
अत्वरितादिकं गमनविशेषं प्रतीत्याश्रित्य कथमित्याह—[दिस्सा
दिस्स त्ति] दृष्ट्वा दृष्ट्वा । [पदिस्सा पदिस्स त्ति] प्रकर्षेण दृष्ट्वा
दृष्ट्वा । ज० १८ श० ८ उ० ।

(७) श्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत—

न वा ? इत्यत्र विवादः—

अस्रउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं
परुवेइ—कहणं समणा एं निगंथा एं किरिया कज्जंति ?
तत्थ जा सा कमा कज्जइ एो तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा
कडा एो कज्जइ एो तं पुच्छंति २ । तत्थ जा सा अकमा
कज्जइ तं पुच्छंति ३ । तत्थ जा सा अकडा एो कज्जइ एो
तं पुच्छंति ४ । से एवं वत्तवं सिया अकिच्चं दुक्खं अफुसं
दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा जूया
जीवा सत्तावेयणं वेयंति, वत्तवं जे ते एवमाहंसु । ते मिच्छा ।
अहं पुण एवमाइक्खामि, एवं जासामि, एवं पन्नवेमि, एवं
परुवेमि—किच्चं दुक्खं किज्जमाणं कडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणा
जूया जीवा सत्तावेयणं वेयंति त्ति वत्तवंसिथा ॥

“अस्रउत्थियेत्यादि” प्रायः स्पष्टम्, किन्त्वन्यतीर्थिका इह ताप-
सा विजङ्गमानवन्त एवं वक्ष्यमाणप्रकारमाख्यान्ति सामान्यतो
भाषन्ते, विशेषतः क्रमेणैतदेव प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्तीति
पर्यायरूपपदद्वयेनोक्तमिति । अथवाऽऽख्यान्तीषद्भाषन्ते, व्यक्त-
भाषया प्रज्ञापयन्ति, उपपत्तिभिर्बोधयन्ति प्ररूपयन्ति प्रज्ञे-
द्विकथनत इति । किं तादित्याह—कथं केन प्रकारेण श्रमणानां
निर्ग्रन्थानां मत इति शेषः । क्रियत इति क्रिया कर्म, सा
क्रियते भवति दुःखायेति विवर्त्तेति प्रश्नः । इह चत्वारो भङ्गाः ।
तद्यथा—कृता क्रियते विहितं सत्कर्म दुःखाय भवतीत्यर्थः १ ।
एवं कृता न क्रियते २, अकृता क्रियते ३, अकृता न क्रियत
इति ४ । एतेष्वनेन प्रश्नेन यो भङ्गः प्रष्टुमिष्टस्तं शेषभङ्गनि-
राकरणपूर्वकमभिधातुमाह—(तत्थ त्ति) तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु म-
ध्ये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं च न पृच्छन्ति । एतन्नयस्यात्यन्तकचेरवि-

पयतया तत्प्रश्नस्याप्यप्रवृत्तेरिति । तथाहि—याऽसौ कृता क्रि-
यते यत्तत्कर्म कृतं न भवति नो तत् पृच्छन्ति, अन्यन्तविरोध-
नासम्भवात् । तथाहि—कृतं चेत्कर्म कथं न भवतीति ? उच्यते ।
न जवति चेत्कथं कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽनवनाभावात् ।
तत्र तेषु याऽसावकृता यत्तदकृतं कर्म नो क्रियते न भवति
नो तां पृच्छन्ति अकृतश्चासतश्च कर्मणः स्वरविषाणकल्पत्वा-
दिति । अमुमेव च भङ्गत्रयं निषेधमाश्रित्यास्य सूत्रस्य त्रिस्था-
नकावतार इति संज्ञायते । तृतीयभङ्गकस्तु तत्सम्मत इति
तं पृच्छन्ति । अत एवाह—तत्र यासावकृता क्रियते यत्तदकृतं पू-
र्वमविहितं कर्म भवति दुःखाय सम्पद्यते, तां पृच्छन्ति पूर्वका-
लकृतत्वस्याप्रत्यक्षतयाऽसत्त्वेन दुःखानुभूतेश्च प्रत्यक्षतया स-
त्त्वेनाकृतकर्मभवतपक्षस्यासम्मतत्वादिति । पृच्छन्तां चायमभि-
प्रायः—यदि निर्ग्रन्था अपि अकृतमेव कर्म दुःखाय देहिनां भव-
तीति प्रतिपद्यन्ते, ततः स्पृष्टुं शोभनं अस्मत्समानबोधत्वादिति ।
शेषात्र पृच्छन्तस्तृतीयमेव पृच्छन्तीति भावः । [सेत्ति] अथ
तेषामकृतकर्माभ्युपगमवतामयं वक्ष्यमाणप्रकारं वक्तव्यमुद्धापः
स्यात् । त एव वा एवमाख्यान्ति परान् प्रति यदुत अथैवं व-
क्तव्यं प्ररूपणीयं तत्त्ववादिनां स्याद्भवेत्, अकृते सति कर्म-
णि दुःखाभावात् । अकृत्यमकरणीयमवधनीयमप्राप्तव्यमना-
गते काले जीवानामित्यर्थः । किं दुःखं ? दुःखदेतुत्वात्कर्म [अ-
फुसंति] अस्पृश्यं कर्माकृतत्वादेव, तथा क्रियमाणं च वर्तमान-
काले वध्यमानं कृतं वाऽतीतकाले वद्धं क्रियमाणम् । द्वन्द्वैकत्वं,
कर्मधारयो वा । न क्रियमाणकृतमक्रियमाणकृतम् । किं तद्, दुःख-
म् ? “अकिच्चं दुक्खमित्यादि” पदत्रयं [तत्थ जा सा अकमा
कज्जइ] तं पृच्छतीत्यन्यतीर्थिकमताश्रितं कालत्रयात्मन्यना-
श्रित्य त्रिस्थानकावतारोऽस्य छष्टव्यः । किमुक्तं जवतीत्याह—
अकृत्वा अकृत्वा कर्म । प्राणा द्वीन्द्रियादयः, चूतास्तरवः, जीवाः
पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाः पृथिव्यादयः । यथोक्तम्—“प्राणा द्वित्रि-
चतुःप्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः,
शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ” ॥ १ ॥ वेदनां पीमां वेदयन्तीति व-
क्तव्यमित्ययं तेषामुद्धापः । एतद्वा ते अज्ञानोपहतबुद्ध्यो ज्ञाप-
न्ते परान् प्रति यदुत एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रक्रमः । एवमन्यती-
र्थिकमतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—[जे ते इत्यादि] य एते अ-
न्यतीर्थिका एवमुक्तप्रकारमाहुः [सुत्ति] उक्तवन्तो मिथ्या अस-
त्यकृतेऽन्यतीर्थिका एवमुक्तवन्तः, अकृतायाः क्रियात्वानुपपत्तेः ।
क्रियते इति क्रिया यस्यास्तु कथञ्चनपि करणं नास्ति सा कथं
क्रियेति ? अकृतकर्मानुभवने हि बद्धमुक्तसुखितदुःखितादिनि-
यतव्यवहाराज्ञावप्रसङ्ग इति स्वमतमाविष्कुर्वन्नाह—[अह-
मित्यादि] अहमित्यहमेव नान्यतीर्थिकाः, पुनः शब्दो विशेष-
णार्थः । स च पूर्ववाक्यार्थादुत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणतामाह—
[एवमाइक्खामीत्यादि] पूर्ववत् । कृत्यं करणीयमनागतकोशे
दुखं तदेतुत्वात्, कर्म स्पृश्यं स्पृष्टलक्षणवन्धावस्थायोग्यम्, क्रि-
यमाणं वर्तमानकाले कृतमतीति अकरणं नास्ति कर्मणः कथञ्च-
नापीति भावः । स्वमतसर्वस्वमाह—कृत्वा कृत्वा, कर्मेति गम्यते ।
प्राणादयो वेदनां कर्मकृतशुजाशुभानुजृतिं वेदयन्त्यनुजगम्यन्तीति
वक्तव्यं स्यात्सम्यग्वादिनाम् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

[जीवजीवात्मनौ] (तत्र अतीन्द्रियस्य जीवस्य सिद्धिं ‘मंसुक’
शब्दे मरमुकः करिष्यते)

(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्यान्यो जी-
वोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तिः—

असुउत्थिया एं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव पस्वति-
एवं खलु पाणाइवाए मुमावाए० जाव मिच्छादंसणसङ्गे
वट्माणस्म अस्से जीवे अस्से जीवाया पाणाइवायवेरमणे०
जाव परिग्गहवेरमणे कोहावेवेगे० जाव मिच्छादंसणसङ्ग-
विवेगे वट्माणस्म अस्से जीवे अस्से जीवाया उत्पत्तियाए०
जाव पारणामियाए वट्माणस्म अस्से जीवे अस्से जीवाया
उग्गहे ईहा अवाए वट्माणस्म० जाव जीवाया उट्ठाणे०
जाव परक्कमे वट्माणस्म० जाव जीवाया एेरइयत्ते तिरि-
क्खमाणस्म देवत्ते वट्माणस्म० जाव जीवाया एाणा-
वरणिज्जे० जाव अंतराइये वट्माणस्म० जाव जीवाया,
एवं कण्ठलेस्माए० जाव मुक्कलेस्माए सम्महिट्ठीए ३,
एवं चक्खुहमणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ मइएणा-
णे ३ आहारमएणाए ४ एवं ओगलियमरीरे ५, एवं
मणजोए ३, मागरोवओगे अण्णागासोवओगे वट्माणस्म
अएणे जीवे अएणे जीवाया, से कट्ठमेयं जंते ! एवं ? ।
गोयमा ! जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव
मिच्छं ते एवमाहंभु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव पस्वेमि-एवं खलु पाणाइवाए० जाव मिच्छादंसणम-
द्धे वट्माणस्म सच्चैव जीवे सच्चैव जीवाया० जाव अण्णा-
गारोवओगे वट्माणस्म सच्चैव जीवे सच्चैव जीवाया ।

अन्ययुथिकप्रक्रमादेवदमाह—(असुउत्थिया णमित्थादि)
प्राणातिपातादिषु वर्तमानस्य देहिनः (अस्से जीव ति) जी-
वति प्राणात् धारयतीति जीवः, शरीरं प्रकृतिरित्यर्थः । स-
न्नान्यो व्यतिरिक्त अन्यो जीवस्य देहस्य सम्बन्धो अधिष्ठा-
तृत्वादात्मा जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः । अन्यत्वं च तयोः पुरुषा-
पुरुषस्वभावत्वात् । तत्रश्च शरीरस्य प्राणातिपातदिषु वर्तमा-
नस्य दृश्यमानत्वात् । शरीरमेव तत्कर्तृ, न पुनरात्मैत्येकं । अ-
न्ये त्वादुः-जीवतीति जीवो नाकरादिपर्यायः, जीवात्मा तु स-
र्वभेदानुगामि जीवइत्यं द्रव्यपर्याययोश्चान्यत्वम्, तथाविधप्र-
तिभासभेदनिवर्धनत्वात्, घटपटादिवत् । तथाहि-इत्यमनुग-
ताकारां बुद्धिं जनयति, पर्यायास्त्वननुगताकारामिति । अन्ये
त्वादुः-अन्यो जीवोऽन्यश्च जीवात्मा जीवस्यैव स्वरूपमिति ।
प्राणातिपातादिविचित्रक्रियाभिधानं चेह सर्वावस्थासु जीवजी-
वात्मानोभेदव्यापनार्थमिति परमतम् । स्वमतं तु—(सच्चैव जीवे
सच्चैव जीवाय ति) स एव जीवः शरीरं स एव जीवात्मा जीव
इत्यर्थः, कथञ्चिदिति गम्यम् । नह्यनयोत्यन्तं भेदः, अत्यन्तभेदे
हेहेन सृष्ट्यस्य संवेदनप्रसङ्गा देहकृतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे
वेदानावप्रसङ्गः । अन्यकृतस्यान्यसंवेदने चाकृताच्यागमप्रस-
ङ्गान्प्रश्नम्, अनेदं च परलोकात्मा इति । इत्यपर्यायव्याख्या-
नेऽपि न इत्यपर्याययोग्यन्यन्तभेदस्तथानुपपन्नः । यश्च प्रति-
ज्ञासंभेदो नः सावाग्यान्तिकतद्भेदकृतः, किन्तु पदार्थानामेव तुल्या-
तुल्यद्वयकृत इति जीवात्मा जीवस्वरूपम् । इह तु व्याख्याने
स्वरूपघटो न स्वरूपमन्यन्तं भिन्नं भेदे हि निःस्वरूपता तस्य
प्राप्नोति । नच शुद्धभेदे वस्तुना भेदोऽस्ति, शिलापुत्र-
कन्य वपुर्गत्यादाविवेति ॥ ५० १३ श २ ३० ।

(९) [परिचारणा] परिचारणा काश्चनकम् । इति प्रथमम्—

असुउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, पस्वति, पस्वेति-
एवं खलु नियंतकालगए समाणे देवज्जुएणं अप्पाएणं
से ण तत्थ नो अण्णदेव नो अण्णेमि देवानं देवीओ अ-
भिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, एणं अप्पणिच्चियाओ
देवीओ अजिजुंजिय अजिजुंजिय परियारेइ, अप्पणामेव
अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ; एगे वि य एं जीवे एगे-
णं समएणं दो वेदे वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेयं च पुरिसवेयं
च । एवं असुउत्थियवत्तव्वया णेयव्वा० जाव इत्थिवेयं च
पुरिसवेयं च स कहमेयं जंते ! एवं ? । गोयमा ! जसं ते अण-
उत्थिया एवमाइक्खंति० जाव इत्थिवेयं च पुरिसवेयं य ।
जंते एवमाहंभु, मिच्छा ते एवमाहंभु । अहं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि० जाव पस्वेमि-एवं खलु नियंते कालगए
समाणे अन्नपरं देवलोएमु देवत्ताए उव्वत्तारो जवंति,
महिहिपसु० जाव म ण्णुभागमु दुरंगतीमु चिरट्ठितीमु से णं
तत्थ देवे जवइ महिहिप० जाव दस दिमाओ उज्जोवेमाणे
पजासेमाणे० जाव पडिस्सं, से णं तत्थ अएणे देवे अण्णेमि
देवाणं देवीओ अजिजुंजिय २ परियारेइ, अप्पणिच्चि-
याओ देवीओ अजिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, नो
अप्पणामेव अप्पाणं वेउव्वियं परियारेइ, एगे वि य एं जीवे
एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरि-
सवेदं वा । जं समय इत्थिवेदं वेदेइ एणो ते समयं पुरिसवेदं
वेदेइ, जं समयं पुरिसवेदं वेदेइ एणो ते समयं इत्थिवेयं
वेएइ । इत्थिवेयस्म उदएणं नो पुरिसवेदं वेदेइ, पुरिसवेयस्स
उदएण नो इत्थिवेयं वेएइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं सम-
एणं एगं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा ।
इत्थी इत्थिवेएणं उदिष्सेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिस-
वेदेण उदिष्सेणं इत्थि पत्थेइ । दो वेए अण्णमं पत्थेइ ।
तं जहा-इत्थी वा पुरिसं, पुरिसो वा इत्थिं ॥

(असुउत्थिय इत्यादि) (देवज्जुए णं ति) देवज्जुतेन आत्मना का-
रणज्जुतेन नो परिचारयतीति योगः (सेणं ति) असौ निर्ग्रन्थदेवस्त-
त्र देवलोके नो नैव (अण्ण ति) अन्यान् आत्मव्यतिरिक्तां देवान्
सुरान्, तथा नो अन्येषां देवानां संबन्धिनीर्देवीः (अजिजुंजिय
ति) अभियुज्य वशीकृत्य आश्रित्य वा परिचारयति परिभुक्ते
(एणं अप्पणिच्चियाओ ति) आत्मीया (अप्पणामेव अप्पाणं विउ-
व्विय ति) स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्य । एवं च स्थिते (एगे वि य
णमित्थादि परउत्थियवत्तव्वया णेयव्व ति) एवं चेयं ज्ञातव्या-
“जं समयं इत्थिवेयं वेएइ तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं
पुरिसवेयं वेएइ तं समयं इत्थिवेयं वेएइ, इत्थिवेयस्स वे-
यणयाए पुरिसवेयं वेएइ पुरिसवेयस्स वेयणयाए इत्थिवेयं
वेएइ, एवं अण्णु एगे वि य णमित्थादि” मिथ्यात्वं चैषामेवम्-स्त्री-
रूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषत्वात्पुरुषवेदस्यैवैकत्र समयं
उदयो न स्त्रीवेदस्य, वेदपरिवृत्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव न पुरुषवेद-
स्यादयः परस्परविरुद्धत्वादिनि । [देवलोएसु ति] देवज्जनेषु

मध्ये [उववत्तारो जवंति त्ति] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवती-
ति दृश्यम् । “महिच्छिण” इत्यत्र यावत् करणादिदं दृश्यम्-“मह-
ज्जुईए महाबले महाजसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराड-
यवत्थे कम्मयनुत्थियथंभियभूण ” । वुटिका वाहुरक्किका [अंग-
यकुंरुलमट्टुंगरुक्कषपीठधारा] अङ्गदानि बाह्वाभरणविशेषान्,
कुण्डलानि कर्णाभरणविशेषान्, मृण्मण्डानि चोद्धिखितकपो-
लानि, कर्णपोटानि कर्णाभरणविशेषान्, धारयतीत्येवं शीलो यः
स तथा । [विचित्रहत्थान्नरणे विचित्रमात्रामउद्धिमउरे] वि-
चित्रमाला च कुसुमस्रक् मौलौ मस्तके मुकुटं च यस्य स त-
था, इत्यादि यावत् । [रिक्कीए जुईए पजाए गायए अच्चीए ते-
ए णं वेस्साए दस दिसाओ उज्जोएमाणेत्ति] तत्र ऋद्धिः परि-
वारादिका, युतिरिष्टार्थसंयोगः, प्रभा यानादिदत्तिः, गाय शोभा,
अर्चिः शरीरस्थरत्नदितेजोवाद्या, तेजः शरीररोचिः, लेश्या दे-
हवर्णः, एकार्थविते । उद्द्योतयन्प्रकाशकरणेन [पजासेमाणे
त्ति] प्रजासयन् शोभयन् इह यावत्करणादिदं दृश्यम्- [पा-
साइए] छपूणां चित्तप्रसादजनकः [दरसणिज्जे य] पर्यचक्षु-
भ्रं श्राम्यति [अभिरूवे] मनोऽङ्गरूपः [परिरूवेत्ति] छपारं द्र-
ष्टारं प्रतिरूपं यस्य स तथेति । एकैकैकदा एक एव वेदो वेद्यत ।
इह कारणमाह- [इत्था इत्थीवेएणमित्यादि] भ० २ श० ५ उ० ।

(१०) बाह्यपरिणतते—

अएणउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवे-
ति-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बालपंभिया ।
जस्म णं एगपाणाए वि दंरे अणिक्खत्ते, से णं एगंतवा-
ले त्ति वत्तवं मिया, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं
ते असुउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव वत्तवं मिया, जे ते
एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! ० जाव
परूवेमि-एवं खलु समणा पंभिया समणोवासगा बाल-
पंभिया, जस्म णं एगपाणे वि दंरे णिक्खत्ते, से णं एो
एगंतवाले त्ति वत्तवं मिया ॥

एतत्किञ्च पक्कद्वयं जिनाजितमेवानुवादपरतयोक्त्वा तृतीयप-
क्षं दूषयन्तस्ते इदं प्रज्ञापयन्ति- (जस्म णं एगपाणाए वि दंरे-
इत्यादि) [जस्म त्ति] येन दोहिना एकप्राणिन्यप्येकत्रापि जीवे
सापराधादौ, पृथिवीकायिकादौ वा किं पुनर्वहृषुं दण्णो वधः ।
[अणिक्खत्ते त्ति] अनिक्किमोऽनुज्झितोऽप्रत्याख्यातो भवति ।
स एकान्तबाल इति वक्तव्यः स्यात् । एवं च श्रमणोपासका एका-
न्तबाह्या एव न बाह्यपरिणता, एकान्तबाह्यपदेशनिवन्धनस्यासर्व-
प्राणिदण्डरुत्यागस्य भावादिति परमतम् । स्वमतं तु एकप्राणिन्य-
पि येन दण्डपरिहारः कृतोऽसौ नैकान्तेन बाह्यः, किं तर्हि ? बाह्य-
परिणतः, विरत्यंशसंज्ञावैत मिश्रत्वात्तस्य । एतदेवाह- (जस्म णं-
मित्यादि) एतदेव बालत्वादिजीवादेषु निरूपयन्नाह- (जीवाण-
मित्यादि) प्राणुक्तानां संयतादीनामिहाक्तानां च परिणतादीनां
यद्यपि शब्दत एव भेदो नार्थतस्तथापि संयतत्वादिव्यपदेशः
क्रियाव्यपेक्षः, पण्डितत्वादिव्यपदेशस्तु बोधविशेषापेक्ष इति ।
ज० १७ श० २ उ० ।

(११) ज्ञाया—

रायगिहे० जाव एवं वयामी-असुउत्थिया णं भंते ! एव-
माइक्खंति० जाव परूवेति-ए । खलु केवली जक्खाएसेणं

आइस्संति । एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे समाणे
आहच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सच्चामोसं
वा, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अएणउ-
त्थिया० जाव जं णं एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण
गोयमा ! एवमाइक्खामि०-एो खलु केवली जक्खाएसेणं
आइस्सइ, एो खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे समाणे
आहच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-मासं वा, सच्चामोसं
वा; केवली णं असावज्जाओ अपरोवपाइयाओ आहच्च दो
भासाओ भासइ । तं जहा-सच्चं वा असच्चामोसं वा ॥

(जक्खाएसेणं आइस्सइ त्ति) देवावेशनाविश्यतेऽधिष्ठीयत
इति [नो खलु इत्यादि] नो खलु केवली यज्ञावेशनाविश्यते
ऽनन्तवीर्यत्वात्तस्य । (अस्माइहि त्ति) अन्याविष्टः परवशीकृतः स-
त्यादिभाषाद्वयं च ज्ञापमाणः केवली उपधिप्रग्रहप्राणिधानादिकं
विचित्रं वस्तु ज्ञापत इति । भ० १८ श० ७ उ० ।

(१२) [मनुष्यलोकोः] पञ्च्योजनशतानि मनुष्यलोको

मनुष्यैर्वहुसमाकीर्णः-

असुउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-से
जहा नामए जुवइ जुवाणे हत्थेणं हत्थं गेएहज्जा, चक्कस्स वा
नाभी अरगाउत्तासिया, एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाइं
बहुसमाइएणे मणुयलोए मणुस्सेहिं, से कहमेयं भंते ! एवं ?
गोयमा ! जं णं ते असुउत्थिया जाव माणुस्सेहिं जे एवमाहंसु,
मिच्छां ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव-
एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाइं बहुसमाइएणे नेरइएहिं ।

(असुउत्थियेत्यादि) (बहुसमाइहे त्ति) अत्यन्तमाकीर्णम्,
मिथ्यात्वं च तद्वचनस्य विज्ञानपूर्वकत्वादवसेयमिति ॥ ज०
५ श० ६ उ० ।

(१३) [वेदना] सर्वे जीवा अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ते

इत्यत्र विवादः-

असुउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-सर्वे
पाणा सर्वे जूया सर्वे जीवा सर्वे सत्ता एवंजूर्यं वेयणं
वेदंति, से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते असुउ-
त्थिया एवमाइक्खंति० जाव वेदंति; जे ते एवमाहंसु, मिच्छां ते
एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परू-
वेमि-अत्थेगइया पाणा जूया जीवा सत्ता एवंभूर्यं वेयणं
वेदंति, अत्थेगइया पाणा जूया जीवा सत्ता अणेवंभूर्यं वेय-
णं वेदंति । से केणं णं अत्थेगइया तं चेव उच्चरेयव्वं ?
गोयमा ! जएण पाणा जूया जीवा सत्ता जहा कमा कम्मा
तहा वेयणं वेदंति, तेण पाणा जूया जीवा सत्ता एवंभूर्यं
वेयणं वेदंति, जेण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा
कम्मा नो तहा वेयणं वेदंति, तेण पाणा जूया जीवा सत्ता
अणेवंजूर्यं वेयणं वेदंति, से तेणहे णं तदेव ॥

(एवंभूयं वेयणं ति) यथाविधं कर्म निबन्धमेवंभूतामेवंप्रकारतयोत्पन्नां वेदनामसातादिकर्मोदयं वेदयन्त्यनुभवति । मिथ्यात्वं चैतद्वादिनामेवमनहि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्माऽनुभूयते, आयुः कर्मणो व्यभिचारात् । तथाहि-दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुःकर्मणोऽप्यपीयसाऽपि कालेनानुभवा भवति, कथमन्यथाऽल्पमृत्युपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महासंयुगादौ जीवज्ञानामप्येकदैवमृत्युरुपपद्येतेति । [अण्वनूयं पि त्ति] यथा बद्धं कर्म नैवमनूताऽनेवमनूता, अनस्ताम् । श्रूयन्ते प्राग्मे-कर्मणः स्थितिघातरसघातादय इति ॥ भ०५ श०५ उ० ।

अणुउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति- एवं खलु सव्वे पाणा जूया जीवा सत्ता एगंतउक्खं वेयणं वेयंति, से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अणुउत्थिया० जाव मिच्छंते एवमाहंमु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-अत्थेगइया पाणाजूया जीवा सत्ता एगंतउक्खं वेयणं वेयंति । आहच्च सायं अत्थेगइया पाणा जूया जीवा सत्ता एगंत सायं वेयणं वेयंति, आहच्च असायं वेयणं वेयंति, अत्थेगइया पाणा ४ वेमायाए वेयणं वेयंति, आहच्च सायमसायं से केण्हे णं ? गोयमा ! नेगइया णं एगंतउक्खं वेयणं वेयंति, आहच्च सायं भवणवइ-वाणमंतरजोडमवेमाणिया एगंत सायं वेयंति, आहच्च असायं पुढाविकाइया० जाव मणुस्मा वेमायाए वेयंति, आहच्च सायमसायं, से तेण्हे णं ॥

(अणुउत्थियेयादि) (आहच्च सायं ति) कदाचित्सातां वेदनाम् । कथमिति ?, उच्यते-“उचयाएण च सायं, नेरइओ देवकम्मणा वा वि” । (आहच्च असायं ति) देवा आइननप्रियविप्रयोगादिष्वसातां वेदनां वेदयन्तीति । (वेमाया य त्ति) विविधया मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । ज० ६ श० १० उ० ।

(१५) [शीघ्रम्] शीघ्रं श्रेयः, श्रुतं श्रेय इत्यत्रान्ययूधिकैः

सह विवादः—

रायगिहे० जाव एवं वयासी-अणुउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-एवं खलु सीलं सेयं, सुयं सेयं, सुयं सीलं सेयं, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अणुउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव-जे ते एवमाहंमु, मिच्छा ते एवमाहंमु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु मए चत्तारि पुरिमजाया पप्पत्ता । ते जहा-सीलसंपक्खे नापं एगे नो सुयसंपक्खे ? । सुयसंपक्खे नापं एगे नो शीघ्रसंपक्खे २ । एगे सीलसंपक्खे वि सुयसंपक्खे वि ३ । एगे नो शीघ्रसंपक्खे नो सुयसंपक्खे ४ । तत्थ णं जे से पढे पुरिमजाए, से णं पुरिमे सीघ्रं अमुयवं उवरए अविष्सायधम्मे । एम णं गोयमा ! मए पुरिमे देमाराहए पप्पत्ते ? । तत्थ णं जे से दोव्वे पुरिमजाए, से णं पुरिमे अमी-

द्वयं सुतवं अणुवरए विण्णायधम्मे, एम णं गोयमा ! मए पुरिसे देमविराहए पणत्ते २ । तत्थ णं जे से तच्चे पुरिमजाए मे णं पुरिसे सीघ्रं सुतवं उवरए विण्णायधम्मे, एम णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पणत्ते ३ । तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिमजाए, से णं पुरिसे असीघ्रं अमुयवं तवं अणुवरए अविण्णायधम्मे, एम णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वविराहए पणत्ते ।

अस्य चूर्णयनुसारेण व्याख्या-एवं लोकसिद्धान्त्यायेन खलु निश्चयेन इहाऽन्ययूधिकाः केचिक्रियामात्रादेवाऽभीष्टाऽर्थसिद्धिमिच्छन्ति । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजनं, निश्चेष्टत्वात् ; घटादिकरणप्रवृत्तावाकाशादिपदार्थवत् । पठ्यते च-“क्रियैश्च फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगादौ, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ” । १ । तथा-“जहा खरा चंदणजारवाही, भारस्स जागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणां, नाणस्स जागी न हु सर्गइए” । १ । अतस्ते प्ररूपयन्ति-शीलं श्रेयः प्राणातिपातादिविरमणध्यानाध्ययनादिरूपा क्रियैव श्रेयाऽतिशयेन प्रशस्यं, श्लाघ्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्चैयं वा समाश्रयणीयं पुरुषार्थविशेषार्थिना । अन्ये तु ज्ञानादेवेष्टार्थसिद्धिमिच्छन्ति, न क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियावतोऽपि फलसिद्धदर्शनात् । अधीयते च-“विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ” ॥ १ ॥ तथा-“पढं नाणं तवोदया, एवं चिच्छइ सव्वसंजए अण्णाणी किं काही किं वा, नाहो वेयपावयं ” ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः, श्रुतं श्रुतज्ञानं तदेव श्रेयोऽतिप्रशस्यमाश्रयणीयं वा; पुरुषार्थसिद्धितुत्वात् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्योन्यनिरपेक्षायां फलमिच्छन्ति । ज्ञानं क्रियाविकल्पमेवोपसर्जनीभूतक्रियं वा फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला उपसर्जनीभूतज्ञाना वा फलदंति भावः । अण्विति च-“किञ्चिद्वैदमयं पात्रं, किञ्चित्पात्रं तपोमयम् । आगमिष्यति यत्पात्रं, तत्पात्रं तारयिष्यति ” ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः, तथा शीघ्रं श्रेयः, द्वयोरपि प्रत्येकं पुरुषस्य पवित्रतानिवन्धनत्वादिति । अन्ये तु व्याचक्षते-शीघ्रं श्रेयस्तावन्मुख्यवृत्त्या, तथा श्रुतं श्रेयः, श्रुतमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यर्थः, इत्येकीयं मतम् । अन्यदीयमतं तु श्रुतं श्रेयस्तावत् । तथा शीलमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यर्थः । अयं चार्थ इह सूत्रे काकुपात्राल्लभ्यते । एतस्य च प्रथमव्याख्यानेऽन्ययूधिकमतस्य मिथ्यात्वं, पूर्वोक्तपक्षत्रयस्यापि फलसिद्धावनङ्गत्वात्, समुदायपक्षस्यैव च फलासिद्धिकारणत्वात् । आह च-“नाणं पयासयंसो, हओ तयो संजमो य गुत्तिकरो । तिगइं पि समाओगो, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ” ॥ १ ॥ तपःसंयमौ च शीघ्रमेव । तथा-“संजोगसिद्धिपे फलं वयंति, न हु एगचंकेण रदो पयाइ । अंधो य पंगू य वणे समिच्छा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ” ॥ १ ॥ त्ति । द्वितीयव्याख्यानपक्षेऽपि मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धेष्टत्वादेकैकैस्य प्रधानतरविवक्षाया असङ्गतत्वादिति । अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि, यावत्प्ररूपयामीत्यत्र श्रुतयुक्तं शीलं श्रेय इत्येतावान् वाक्यशेषो दृश्यः । अथ कस्मादेवमत्रोच्यते-[एवमित्यादि] एव वक्ष्यमाणन्यायेन [पुरिमजायं त्ति] पुरुषप्रकाराः [सीघ्रं अमुयवं त्ति] कौशर्थः ? [उवरए अविष्सायधम्मेत्ति] उपरतां निवृत्तः स्वबुद्ध्या

पापात् अविज्ञानधर्माभावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानो बाधतपस्वी-
त्यर्थः । गीतार्थानि श्रुततपश्चरणनिरतो गीतार्थ इत्यन्ये । [देसा
राहणं] देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराध्यतीत्यर्थः । सम्य-
ग्विधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति । [असीलं सुयवंति] कांऽर्थः ?
[अणुवरप विष्णाय धर्मेति] पापादनिवृत्तौ ज्ञानधर्मा च अ-
विरतसम्यग्वाष्टिरिति जावः । [देसधिराहणं] देशं स्तोकमं-
शं ज्ञानादिवयवरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं, चारित्रं वि-
राध्यतीत्यर्थः ; प्राप्तस्य तस्यापावननादप्राप्तेर्वि [सव्वाराहणं
सि] सर्वं विप्रकारमपि मोक्षमार्गमाराध्यतीत्यर्थः ; श्रुतशब्देन
ज्ञानदर्शनयोः संगृहीतत्वात् । नहि मिथ्यादृष्टिविज्ञातधर्मा तत्त्व-
तो भवतीति । एतेन समुदितयोः शीघ्रश्रुतयोः श्रेयस्त्वमुक्तमि-
ति (सव्वाराहणं) इत्युक्तम् । भ० ८ श० १० उ० ।

(१५) [सुखम्] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः—

असु उत्थिया एं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति—जा-
वड्या रायगिहे एणरे जीवा, एवड्याणं जीवाणं नो च-
क्रिया केइ सुहं वा उहं वा० जाव कोलडिगमायमावि निष्पा-
वमायमावि कलममायमावि मानमायमावि मुग्गमायमावि जुयमा-
यमावि त्तिक्खमायमावि अज्जिनिव्वट्टेत्ता उवदंसित्तए मे कहमेयं
जंते ! एवं ? गोयमा ! जणंते असु उत्थिया एवमाइक्खंति०
जाव मिच्छंते एवमाइंसे, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव परूवेमि—सव्वलोए वि य एं सव्वजीवाणं नो चक्रिया
केइ सुहं वा तं चव० जाव उवदंसित्तए से केण्डे एं ? गोयमा !
अयणं जंबुदीवे दीवे० जाव तिसेसाहिए परिकखेवेणं पण-
त्ते । देवेणं महिहिणं जाव महाणुजागे एणं महं सविज्जेवण-
गंधसमुग्गमंगहाय तं अवहालेइ । अवहालेत्ता० जाव इणामेव
कट्टु केवलकणं जंबुदीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिस-
त्तखुत्तो अणुपरियाट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से नूणं गो-
यमा ! से केवलकणं जंबुदीवे दीवे तिहिं घाणपोग्गोहिं
फुणे ? इत्ता ! फुडे, चक्रियाणं गोयमा ! केइ तोसिं घाणपो-
ग्गोत्ताणं कोलडिगमायमावि० जाव उवदंसित्तए एणो इण्डे सम-
डे । से तेण्डे एं जाव उवदंसित्तए जीवेणं जंते ! जीवे जी-
वे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा, जांवे जीवे वि नियमा जीवे ।

(असु उत्थित्यादि) (नो चक्रियंति) न शक्नुयात् ।
(जाव कोलडिगमायमावि) अस्तां बहुबहुतरं वा या-
वत्, कुवत्तास्थिकमात्रमपि, तत्र कुवत्तास्थिकं वदरकुवत्तकः, (नि-
ष्पावंति) वल्लः, (कलंति) कलायः, (जुयंति) यूकाः,
“ अयसुमित्यादि ” दृष्टान्तोपनयः । एवं यथा गन्धपुद्गलाना-
मीतसूक्ष्मत्वेनामूर्तकल्पत्वात्कुवत्तास्थिकमात्रादिकं न दर्शयितुं
शक्यते । एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । भ० ६ श०
१० उ० ।

(१६) [हृदः] राजगृहनगरस्य बहिर्वैनारपर्वतस्याऽधः—

स्थस्य हृदस्य विषये विप्रतिपत्तयः—

अएण उत्थिया एं भंते ! एवमाइक्खंति, जासंति, पाएण-
वंति, परूवेति—एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वे-

जारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ एं महं एगे हरणं अघे पणत्ते ।
अणोगाइं जोयणाइं आयामविकखंजेणं नाणादुमखंमंदिउदेसे
सस्मिरीए० जाव परूरुवे, तत्थ एं बहवे उदारा
वलाहया संसेयंति, समुच्चियंति, वासंति, तव्वतिरित्ते वि य
एं सया समियं उमिणे आउत्ताए अभिनिस्सवइ, मे कह-
मेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जणंते असु उत्थिया एवमाइ-
क्खंति० जाव जे ते एवमाइक्खंति, मिच्छंते एवमाइक्खंति ।
अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि, जासेमि, पणवेमि, परूवेमि-
एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूर-
सामंते एत्थ एं महातवोवतीरप्पजवे नामं पासवणे पणत्ते ।
पंच धाणुसयाइं आयामविकखंजेणं नाणादुमखंमंदिउदेसे
सस्मिरीए पामादीए दरिसणिजे अज्जिक्खे पडिक्खे, त-
त्थ एं बहवे उमिणजोणिया जीवा यपोग्गला य उदगत्ताए
वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उवचयंति, तव्वतिरित्ते वि य
एं सया समियं उमिणे उमिणे आउत्ताए अज्जिनिस्सवइ,
एम एं गोयमा ! महातवोवतीरप्पजवे पासवणे, एस एं
गोयमा ! महातवोवतीरप्पजवस्स पासवणस्स अहे पणत्ते ।
सेवं जंते ! भंते त्ति जगवं गोयमे समणं जगवं महावीरं
वंदइ नमंसइ ॥

(असु उत्थियेत्यादि) [पव्वयस्स अहेति] अधस्तात्तस्योपरि प-
र्वत इत्यर्थः । (हरणंति) हृदः [अघेति] अधानिधानः । क्वचिन्तु
(हरणंति) न दृश्यते, अघे इत्यस्य च स्थाने अणंति दृश्यते, तत्र
च आप्यः अपां प्रजवः, हृद एव चेति (ओरालंति) विस्तीर्णाः,
(वलाहयंति) मेघाः, (संसेयंति) संस्वियन्ति, उत्पादाज्जि-
मुखीजवन्ति (संमुच्छेति) संमूर्च्छन्त्युत्पद्यन्ते (तव्वतिरित्ते य
त्ति) हृदपूरणादतिरिक्तश्च उन्कलित इत्यर्थः । (आउत्ताएति)
अपकायः [अभिनिस्सवइति] अभिनिश्रवति कूरति [मिच्छंते
एवमाइक्खंति] मिथ्यात्वं चैतदाख्यानस्य विज्रङ्गज्ञानपूर्वक-
त्वात्प्रायः सर्वज्ञवचनविरुद्धत्वाद् व्यावहारिकप्रत्यक्षेण प्रायोऽन्य-
थोपपन्नभावाद्यगन्तव्यम् । [अदूरसामंतेति] नातिदूरे नाप्यति-
समीप इत्यर्थः । (एत्थ एंति) प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानं (महात-
वोवतीरप्पजवे नामं पासवणेति) आतप इव आतप उष्णता,
महान्नासावातपश्चेति महातपो, महाऽऽतपस्य उपतीरं तरि-
समीपे प्रभव उत्पादो यस्यासौ महातपोपतीरप्रभवः । प्रश्रवति
कूरतीति प्रश्रवणः, प्रस्यन्दन इत्यर्थः । (वक्कमंति) उत्पद्यन्ते,
(विउक्कमंति) विनश्यन्ति । एतदेव व्यत्ययेनाह—व्यवन्ते
उत्पद्यन्ते चेति । उक्तमेवाथ निगमयन्नाह—(एस एमित्यादि)
एयोऽनन्तरोक्तरूपः, एष वा अन्ययूथिकपरिकल्पिताप्यसं-
ज्ञो महातपोपतीरप्रभवः प्रश्रवण उच्यते । तथा एष यो-
ऽयमनन्तरोक्तः (उमिणजोणिए इत्यादि) स महातपोपती-
रप्रभवस्य प्रश्रवणस्यार्थोऽभिधानान्वर्थः प्रज्ञप्तः । भ० २
श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः । (अन्ययूथि-
कविशेषैः कापिलादिभिः सह विवादास्तु तत्तच्छब्देषु, 'समा-
सरण' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते)

(१७) संसर्गस्तु तैः [कापिष्ठादिभिः] सह न समाचरणीयं
एव [आगाढवचनम्] यथा-

अन्ययुधिकं वा गृहस्थं वा आगाढं वा वदति-

ने जिक्व् आणुत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदद्,
वदंतं वा माऽज्ज ॥ ए ।

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अणुत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदद्,
वदंतं वा माऽज्ज ॥ १० । जे जिक्व् अणुत्थियं वा
गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदद्, वदंतं वा माऽज्ज ॥ ११ ।
जे जिक्व् असुत्थियं वा गारत्थियं वा अणुत्थियं अच्चा-
सायणाए अच्चासादद्, अच्चासायंतं वा माऽज्ज ॥ १२ ।

आगाढगाहासुत्तं-

आगाढफरुसमीसग-दसमुद्देसम्मि वणितं पुवं ।

गिहिअसुत्थियएहिं, ते चेव य होति तेरसमे ॥ १५ ॥

जहा दसमुद्देसे भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भ-
ण्णितं, तथा इह गिहत्थअसुत्थियं प्रति वक्तव्या । इमेहिं जा-
तिमानिएहिं गिहत्थ अस्सुत्थियं वा ऊणतरं परिभवंतो
आगाढं फरुसं वा भण्णति-

जानिकुलरुवभासा-धणवत्तपाहणदाणपरिभोगे ।

सत्तवयवुद्धिनागर-तक्करभयकेयकम्मकरं ॥ १६ ॥

जदि ताव मम्मपरिय-द्वित्तममुणो वि जायते मणुं ।

किं पुण गिहिण मणुं, न जविस्समि मम्मविच्छे ॥ १७ ॥

जानिकुलरुवभासा धणवत्तपाहणदाणपरिभोगे य एतेहिं दा-
णं प्रति अदाता नंति वि धणं, किमत्तणेण अपरिजोगी हीनस-
त्तो वयसा अपडिप्पन्नो मंदबुद्धिः स्वतो नागरस्ते ग्राम्यं परि-
भवति । तं वा गिहत्थं अस्सुत्थियं वा तस्करप्रभृतककर्मकर-
जावे हि धियं परिभवति ॥ जदि ताव कोहाणिग्गहपरा वि
जदि णो जानिमानिमणेण घट्टिया कप्पति, किं पुण गिहिणो
मृतरां कोपं करिप्पन्तान्यथः ।

सो य उपपन्नमेतं इमे कुज्जा-

विपपं पंगेज्ज मारे-ज्ज वि कुज्जाऽवगएदणा दाणिं ।

देसच्चा वंचकरे, संताऽमंतण पमिसिधे ॥ २८ ॥

अपणो वा मणुपणो मरेज्ज, कुवितो वा साहुं मारेज्जा, रुद्धो
वा साहुं गयकुत्तादिणे गेगहावेज्जा, साधुणा वा सोहश्चो देस-
घागं करेज्ज, संतेण असंतेण वा प्रत्यभिषो एवं कुर्यात् । नि०
चू० १३ उ० ।

(१८) उदकवीणिका-

जे जिक्व् उदकवीणियं अणुत्थियएहिं वा गारत्थियएहिं
वा कारेति, कारंतं वा माऽज्ज ॥ १७ ॥

पाणी न उदकवीणिया वासादगम्य वीणिया वि
कोषणानिमित्तं णिञ्चुत्तिकारो भण्णति-

वासामुदकवीणिय, वसहीसंवच्छ एते चेव ।

वसहीसंवच्छा पुण, वहिया अंतो वरिनिध णिञ्च ॥ १३१ ॥

वासामुदकवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए संवच्छा,
इतरा असंवच्छा । वसहीसंवच्छा निविहा विहिता-वहिया, अंतो,
उवरि च । इमं निविहाए वि विक्खाणं णिञ्च-

परिगन्न विहिता उम्म-ज्जण अंतो व ओदए वा वि ।

हम्मियतलमाले वा, पणालगिदं व उवरिस्सु ॥ १३४ ॥

जा सा वसहीसंवच्छा सा निञ्च परिगाहो, जा सा अंतो
संवच्छा सा जूमी उम्मिज्जति, सिरा वा उपपिग्ग वा-
सोदगं वा गिदं हि पविट्ठं, जा सा उवरि संवच्छा सा हम्मियतले
हम्मतले भायाहो वा मंसविगाच्छादितमाले वा वासोदगं पविट्ठं
जायले वा पणावच्छिदं ।

वसही य असंवच्छा, उदगागमणाकदमे चेव ।

पढमा वसहिणिमित्तं, मग्गणिमित्तं दुवे इतरा ॥ १३५ ॥

वसही असंवच्छा निविहा-उदगस्स आगमो उदगागमो, व-
सहिं तेण आगच्छति पविसति स्ति, अंगणे वा जत्थ साहुणो
अच्छति तं नाणउदगं एति, णिग्गमणपहे वा उदगं एति, तत्थ
कदमो जयति, तत्थ पढमा जा वसही तेण पविसति स्ति, ते अ-
सुत्तो दगवाहो कज्जति, मा वसहीविणासो जविस्सति, इयगसु
दुसु जा अणो एति, जा य णिग्गमणपहे, एता असुत्तो दगवीणिया क-
ज्जति, मा उदगं ठाहि स्ति, तं च संसज्जति, तत्थ अंति तणं ताणं
तस्स पाणविगाहणा कज्जमो वा होहि स्ति मग्गणिमित्तं णाम
मा मग्गो रुद्धिहि स्ति, उदगेण कदमेण वा वसहिसंवच्छासु वि
दगवीणिया कज्जति ।

एते सामसुतरं, दगवीणिय जो उ कारवे जिक्व् ।

गिहिअसुत्थियएण व, अयगोलसमेण आणादी ॥ १३६ ॥

अयं बोद्धः, तस्स गोहो पिमो, सो तत्तो समंता दहति । एवं
गिहिअसुत्थियो वा समंततो जीवोवघाती, तम्हा एतेहिं ण
कारवे ।

दगवीणियएगट्टिया इमे-

दगवीणिय दगवाहो, दगपरिगालो य होति एगट्टा ।

विणयति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भण्णते तम्हा ॥ १३७ ॥

पुव्वरे एगट्टिया, पच्छरे दगवीणियं शिरुत्तं ॥ १३७ ॥

गिहिअसुत्थियएहिं दगवीणियं कारवैतस्स इमे दोसा-

आया तु दृत्थपादं, इंदियजायं च पच्छकम्मं वा ।

फामुगमफामुदेसे, मव्वसिणणे य लहुगाय ॥ १३८ ॥

[आय इति] आयविवाहणा-तत्थ हत्थं पादं वा लुसेज्जा, इंदि-
याण असुतरं वा लुसेज्जा, अहवा इंदियजायमिति वैदियादिया,
ते विगाहेज्जा, पच्छाकम्मं वा करेज्जा, तत्थ फासुएणं देसे मास-
वहुं, सव्वे चउलहुं, अफासुएणं देसे, सव्वे वा चउलहुं, अप्पणो
करेतस्स एते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकरणे इमे दोसा-

पणगादिद्वरितमुच्छण-संजमआताअजीरगेदण्णे ।

वहिता वि आयसंजम-उवधाणासे दुगंगा य ॥ १३९ ॥

कारणेण करेज्ज वि दगवीणियं । किं कारणं ? इमं-

वसहीएं दुल्लभाए, वाघातजुयाए अहव सुल्लभाए ।

एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४०॥

पणगो उल्लि समुच्चइ, आदिग्रहणतो वैदियादि समुच्चति,
हरियक्काओ उट्टेति, एसा संजमविराहणा । आयविराहणा
सीतव्रघसहीप भत्तं न जीरति, ततो गेव्वसं जायति, एते
वसहिसंबद्धाए दगवीणियाए अकज्जमाणीए दोसा, वसहिअ-
संबद्धाए बहिया एम दोसा-उद्गागमे ठाणे अनादरे चिद्धिच्च-
वे लुतिआयविहारणा संजमे पणगा हरिता वैदिया वा उवहि-
विणासो कहमेण मल्लिणवासा डुगुच्छिज्जति । कारणे गिहिअ-
स्यतिथिपहिं वि कारविज्जति ।

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।

वाघातो व साहुस्स, णरिक्करणं कप्पती ताहे ॥ १४१ ॥

पच्छाकडसानिगह—णिरजिगहजइए य असणी वा ।

गिहिअस्यतिथिए वा, गिहिपुव्वं एतेर पच्छा ॥१४२॥

दो वि पूर्ववत् कएठातो । नि० चू० १ उ० ।

(१९) [उपकरणरचना] अन्ययूथिकैः चिद्धि-

मिलिकादि कारयति-

जे निक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिद्धिमिद्धिं वा अस्यउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥१४॥

सुत्ते सुत्ते भवा सोत्तिया, वस्त्रकंबद्यादिका इत्यर्थः । रज्जुए
भवा रज्जुआ, दारकिं चि वुत्तं जवति ।

उसवहणएमरणे, वामे उव्वनखणी जओ एति ।

उल्लवहिं विरद्धेति व, अंतो बहि कसिण इतरं वा ॥१४३॥

जाव मंतओ ण परिट्टविज्जति ताव पच्छक्षे धरिज्जति, अछाणे
वा जाव थंमिद्धं न वज्जति ताव ग्रादितो गतो वुज्जति, जओ
उव्वनखणी एति, ततो करुगच्चिद्धिमिली दिज्जति, वासासु वा
उल्लवहिं विरद्धेति दोरे जहासंखं अंत बहि कसिण इतरं वा ।

पंचविधचिलमिलीए, जो पुव्वं कप्पती गहणं ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १४३ ॥

वितियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणई असहू ।

वाघातो व साहुस्स, नरिक्करणं कप्पती ताहे ॥ १४४ ॥

गाहा पूर्ववत् कएठा । नि० चू० १ उ० ।

(२०) सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूथिकेन वा गृहस्थेन
वा कारयति-

जे निक्खू सूचियस्स उत्तरकरणं अन्नउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

सूयीमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।

गिहिअस्यतिथिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥१४६॥

उव्वगहिता सूया-दिया तु एकेकए गुरुस्सेव ।

गच्छं व समासज्जा, अणायसेकेक सेसेसु ॥१४७॥

सूची पिप्पलओ णहच्छेयणं कएणसोहणं उव्वगहितोव-
करणं, एते य एकेका गुरुस्स भवति । सेसा तेहिं चेव कज्जं
कारेति, महल्लगच्छं वा समासज्ज अणायसा अत्रोहमया सवस-
सिगमयी वा सेससाहुणं एकेका भवति । किं पुण उत्तर-
करणं ? । इमं—

पासग मट्टिणिसीयण-पज्जण रिउकरण ओत्तरणं ।

सुहुपं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ते १६८ ॥

पासगं विद्धं व छिज्जति, त्रणहकरणं मट्टिणिसीयणं णिसाणे पज्ज-
णं बोहकारागारे रिउ उज्जुकरणं पर्यं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा
सूव्वनिव्वत्ते उवरिं सुहममवि जं कज्जति तं सव्वं उत्तरकरणं ॥

सूयीमादीयाणं, णिप्पमिकरणं तु कप्पती गहणं ।

असती णिप्पमिकम्मे, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १६९ ॥
नि० चू० १ उ० ॥

(२१) शिक्खादिकोपकरणकारणम्—

जे भिक्खू सिककं वा सिककणंतं वा अस्यउत्थिएण

वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

जे भिक्खू सिककोपादि सिककं पसिं जारिसं वा परिव्यायग-
स्स सिककं अणंतओ उपाणओ उच्छारुणं भणति, जारिसं का-
वडिस्स भोयगचुलियाणं, एस सुत्तथो । इदाणि निज्जुत्ति-
विथरो—

सिकककरणं दुविधं, तमथावरजीवदेहणिप्पएणं ।

अंडगवावग कीरज-होरुव्वत्तादिगतेरस ॥ १४३ ॥

जे निक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं आणउत्थिएण वा
गारत्थिए वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

पिप्पलगणहच्छेदण-सोधणं चेव होंति एवं तु ।

णवरं पुण णाणत्तं, परिभोगे होति णायव्वं ॥ १८३ ॥

एवं पिप्पलगणहच्छेयणसोहणं य एकेके चउरो सुत्ता, अथो
पूर्ववत् । परिभोगे विसेसो इमो—

वत्थं जिंदिससामिति, जाइ उ पादद्धिदणं कुणति ।

अथवा वि पादद्धिदण, काहिंतो जिंदती वत्थं ॥१८४॥

एक्खं जिंदिससामिति, जाइ उ कुणंति सव्वमुद्धरणं ॥

अहवा सल्लुद्धरणं, काहिंतो जिंदती एक्खे ॥ १८५ ॥

पिप्पलगणहच्छेयणं अप्पणे इमा विधी-

मज्जे वा गेहिहत्ता, हत्थे उत्ताणयम्मि वा काउं ।

चूमीए व उवेत्तुं, एस विधी होति अप्पणणे ॥ १८६ ॥

उभयतो धारणसंभवा मज्जे गेहिहत्ता अप्पेति । सेसं कंठं ॥

काणं सोधिस्सामिति, जाइ तु दंतसोधणं कुणति ।

अहवा वि दंतसोधण, काहिंतो सोहती कएणे ॥ १८७ ॥

लाजाज्ञानपरिच्छा, दुल्लभअचियत्तमहसअप्पणणे ।

वारससु वि सुत्तेसु अ, अवरपदा होंति णायव्वा ॥१८८॥

जे भिक्खू द्वाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा
चउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टीवेति वा, संउवेइ
वा, जम्माइति वा, अन्नमप्पणो कारणयाए सुहुममवि णो
कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे वियर-
ति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

(जे भिक्खू द्वाउयपायं वा इत्यादि) दो द्वियकंचुघाटितं मृ-
न्मयं कपालकादि परिघट्टणं णिमोअणं संउवणं मुहादीणं
जम्मावणं विसमाणं समीकरणं अन्नं पज्जंतं सक्केति । अप्पणो
काउंति वुत्तं जवति, जाणइ जहा ण वट्टति, अस्यउत्थियगारत्थि-
पहिं कारविटं जाणति वा, सुत्तं सरति, एस अमहओवदेसो प-

चित्तं वा सङ्ग, असत्तिय गिहत्थऽसत्तियया, ताण वितरति पय-
च्चति, कारयतीत्यर्थः । अइवा गुरुः पृष्ठः साधुभिर्यथा-गृहस्था-
म्यतीर्थिकैर्वा कारयामः । ततः प्रयच्छते, अनुज्ञां ददातीत्यर्थः ।
जणिमो सुत्तथो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

पदमवितियाण करणं, सुहममवी जो तु कारण भिक्खू ।
गिहिअसत्तियण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९९ ॥
पदमं बहु परिकम्मं, वितियं अप्पपरिकम्मं, सेसं कंठं । ज-
म्हा एते दोसा तम्हा—

घट्टसंउविने वा, पुव्वं जमिने य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९० ॥
नि० चू० ५ उ० ।

जे जिकखू दंरुयं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा विणु-
सूयं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्ठवे-
इ वा, जम्माइवेइ वा, अलमप्पणो कारणयाए सुहममवि-
णो कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे
वियरति, वियरंतं वा माइज्जइ ॥ ४० ॥

पदमवितियाण करणं, सुहममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिहिअण्णनित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९६ ॥
घट्टितमंउविताए, पुव्वं जमिने य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९७ ॥
वेसुमयी गवलमयी, दुविथा सूर्या समासतो होति ।
चउरंगुलप्पमाणा, सामिच्चणसंधणट्ठाए ॥ १९८ ॥
एकेका सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अपरिकम्माए ।
अपरीकम्मा य तद्वा, एतन्वा आणुपुव्वीए ॥ २०१ ॥
अच्छंगुलामेगं तु, उज्जंती अप्पपरिकम्मं ॥ १९९ ॥
जा पुव्ववाट्ठिना वा, पुव्वं संउवित तत्थ सा वा वि ।
लब्धति पमाणजुत्ता, सा णायव्वा अधाकरुगा ॥ २०२ ॥
पदमवितियाण करणं, सुहममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिहिअण्णनित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९२ ॥
घट्टितमंउविताए, पुव्वं जमिनाइ होति गहणं तु ।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९३ ॥
गाहा सञ्चाओ पृथ्वत । नि० चू० १ उ० ।

(२२) अन्यथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत्-
जे भिक्खू गिहत्थयाण वा अण्णउत्थियाण वा सीओदग-
परिभोगा वा दत्थेण वा मत्तेण वा दत्थिएण वा जाय-
ण्ण वा अमणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगा-
हेइ, पडिगाहंनं वा माइज्जइ ॥ १८ ॥

इमो सुत्तथो—

गिहिअण्णनित्थिएण व, सूर्यामादीहितं तु मत्तमे ।
जे जिकखू अमणादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥ १३५ ॥

गिहत्था सौत्तियबंधणादि, अन्नतिथिया परिव्यायगादि, उदग-
परिभोगो मत्तओ सूर्य, अइवा कोइ सूर्यवादी तेण दब्बेजा, सो य
सीओदगपरिभोगो मत्तओ उल्लंकाकमादि तेण गेहंतस्स आ-
णादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं । इमे सीओदगपरिभो-
गो मत्ता—

दगवारगवट्ठणिया, उल्लंकाऽऽयमणिवत्तभा उ एट्ठा ।
मयवारवट्ठमत्ता, सीओदयभोगिणो एते ॥ १३७ ॥

दगवारगो गट्ठुअन्नं आयमणी लोट्टिया कचमओ उल्लंकाओ
कट्टमओ वारओ वट्ठुयं कप्पयंतं पि कचमयं । एतेसु गेहंतस्स
इमं दोसा—

नियमा पच्छाकम्मं, धोतो वि पुणो दगस्स सो वत्थं ।
तं पि य सत्थं असणो—दगस्स संसज्जते वण्णं ॥ १३८ ॥
भिक्खुप्पयाणोवलित्तं पच्छा धुवंतस्स पच्छाकम्मं स मत्तगो
असणादिरसभाविस्रोत्ति उदगस्स सत्थं भवति, तमुदगमवी-
यचूतं संसंध्यते य ॥ १३९ ॥

सीओदगजोईणं, पडिसिद्धं मा हु पच्छकम्मं ति ।
किं होति पच्छकम्मं, किं व न होतित्ति ते सुणसु ॥ १३९ ॥
जेण मत्तेण सच्चिओदगं परिभुजति, तेण भिक्खुगहणं पडि-
सिद्धं । सीसो पुच्छति—कहं पच्छाकम्मं भवति, णो जवति वा?
आचार्य आह—सुणसु—

संसट्ठमसंस्टे, भावे सेसे य निरवसेसे य ।
दत्थे मत्ते दव्वे, सुच्छ—ममुच्छे तिगट्ठाए ॥ १४० ॥
संसट्ठे दत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे एणसु तिसु पदेसु अट्ठ
जंगा कायव्याधिसमा सुद्धा, समा असुद्धा जंगेसु इमा गहणविधी-
पदमे गहणं सेसे—सु वि जत्थ सा सुहं कसु सेसं तु ।
अप्पेसु तद्वा गहणं, असव्वसुखे वि वा गहणं ॥ १४१ ॥
(अप्पेसु त्ति) सेसेसु जंगेसु जदि देयं दव्वं सुखं अवलेकनं
सुखं मरुगकुम्भादितो गत्तं पच्छाकम्मस्स अभावात् विनि-
यपदं ॥ १४१ ॥

असिवे ओमोयरिए, रायहुट्टे जए व गेलाएहे ।
अच्छाण रोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्था ॥ १४२ ॥
पूर्ववत् अनुसरणीया । नि० चू० १२ उ० ।

जे जिकखू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं
वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देयंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ७८ ॥

जे जिकखू असणादी, देजा गिहि अइव अस्सातिथीणं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छसविराहणं पावे ॥ २६८ ॥
तेसिं अस्सतिथियगिहत्थाणं दिंतो आणादी पावति, चउलहुं
च ॥ २६८ ॥

सव्वे वि य खलु गिहिया, परप्पवादी य देसविरता य ।
पडिमिच्छदाणकरणं, जेण परालोगकंखीण ॥ २६९ ॥
एतेसु दानं शरीरगुण्याकरणं अथवा दान एव करणं यः

परत्रोककाङ्क्षी श्रमणः तस्यैतत् प्रतिषिद्धं, अहवा एतेषु दाणं करणं किं पदिसिद्धं जणं समणो परलोककङ्क्षी ? चोदक आह—

जुत्तमदाणमसीले, ककुनामइओ उ होति समण इव ।

तस्स मज्जुत्तमदाणं चोदग ! सुण, कारणं तस्य ॥ १७० ॥

जुत्तं अस्मत्तिथियगिद्वेधेसु अविरतेसु त्ति काउं दाणं ए दि-
ज्जति, जो पुण देसविरतो सामाज्यकरो तस्स जं दाणं पदि-
सिज्जति, एयमजुत्तं, जेण सो समणज्जतो वज्जति । आचार्य
आह—हे चोदक ! एत्थ कारणं सुणसु—

रंधण-किमि-वाणिज्जं, पावति तस्स पुव्व विणिउत्तं सो ।

कयसामाज्यजोगि वि, मयस्स अपच्छूमाणस्स ॥

जदि वि सो कयसामाज्यो उवस्सए अत्थति, तदा वि तस्स पु-
व्विजुत्ता अहिकरणजोगा पावति त्ति रंधणजोगो कृषिकरणजोगो
वाणिज्जजोगो य, एतेण कारणेण तस्स दाणमजुत्तं । चोदकः-
णण भणियं समणो इव सावओ । उच्यते-ओवस्सेण तु समणे ते
जेण सव्वविरतो ण वज्जति । जओ भण्णति—

सामाज्य पारेउं, ए णिगगतो साहुवसहीए ।

अहिकरणं सातिज्जति, उता हु तं वोसरति सव्वं । १७२ ।

आयरियो सीसं पुच्छति-सामाज्यं करेमि त्ति । साधुवसही वि
तो पत्ततो आरम्भ जाव सामाज्यं पारेऊण न णिगगतो साधु-
वसहीए पोसहसालाओ वा एयम्मि साइयकालो तस्स अ-
धिकरणजोगा पुव्वपवत्ता कज्जति, तो सा किं सातिज्जति,
उताहु ते वोसरति सव्वे । उच्यते-ए वोसरति साइज्जति,
जदि साइज्जति एवं भणंतस्स सव्वविरतो लब्धति ॥ १७२ ॥

दुविहतिविहे ण रुज्जति, अणुमन्ना तेण सा ण पिरुद्धा ।

अणुओ ण सव्वविरतो, स समापति सव्वविरओ य । १७३ ।

पाणादिवायादियाणं पंचण्हं अणुव्वताणं सो विरति क-
रेति । (दुविधं तिविधेण त्ति) दुविधेण करंति, ए कारवेति,
तिविधं मणेण वायाए काणं ति । एत्थ तेणं अणुमती ण णि-
रुद्धा, तेण कारणेण वडसामाति ता वि सो सव्वविरतो ण
लब्धति, किं चाऽन्यत् ॥ १७३ ॥

कामी सघरं-गणतां, मूलपइष्ठा स होइ दइव्वा ।

डेयणभेयणकरणे, उदिठ्ठकडं च सो जुजे ॥ १७४ ॥

एट्ठेहितविस्सरिते, णिसे वा मइलि ए व वोच्चे य ।

पच्छाकम्मपवहणा, धुयावणं वा तदइस्स ॥ १७५ ॥

पंच विसया-कामेति त्ति कामी सगृहेण सगृहः, अङ्गना
स्त्री, सह अङ्गनया साङ्गनः, मूलपइष्ठा, देसविरति त्ति बुत्तं भ-
वति । साधूणं सव्वविरतो वृत्तादिच्छेदेन पृथिव्यादिभेदेन
प्रवृत्तः सामायिकभावादित्यत्र जं च उदिठ्ठकडं तं कडसा-
माइओ वि भुज्जति; एवं सो सव्वं ए भवति, एतेण कारणेण
तस्स ए कप्पति दाउं इमो । अहवा—

वितियपदे परइिगे, सेहट्ठाणे य वेज्जसाहारे ।

अच्छाण देसगलणे, असती पडिहारिते गहणं ॥ १७६ ॥

एयस्स इमा विभासा कारणे । परतिथियाण मज्जे अ-
च्छंतावेज्ज, सेहो उट्ठो रगसणा वेज्ज, गिही अस्मत्तिथी वा जिवं-

धेण मग्गेज्ज, तदा से दिज्जति, सेहे वा गिहिवेसाछितो
भावतो पव्वइओ तस्स देज्जा, सन्धेण वा पवसा अट्ठाणं साहु-
तिथिगिद्वियं तत्तत्कारणेहिं गिहीण अच्छिणं तं साधू गिहीण
पव्वज्जिणेज्जा, अथवा अट्ठाणे भंतिपंतियमादियाण देज्जा,
वेज्जस्स वा गिवाणछा आणियस्स देज्जा, तं च जहा दि-
ज्जति तदा पुव्वभाणियं जत्थ गिहीणं अस्मत्तिथियाण य
साधूण य अंचियका जे उट्ठने भत्तपाणमंडियमादिणा साहारं
ण दिणं तत्थ ते गिही अस्मत्तिथिया विभज्जापयव्या, अह
ते अणिच्छा साधु भणंज्जा, अहं वा ते पंता, ताहे साधू विभज्ज-
ति, साहुणा विभयंतेण सव्वेसि वि हु समभावेव विजइयव्वं,
पसूवदेसो ॥ १७६ ॥ नि० चू० १५ उ० ।

से जिकखू वा जिकखुणी वा गाहावतिकुलं जाव पवि-
मिंतुकामे णो अस्मत्तिथिएण वा गारत्थिएण वा परि-
हारिउ वा अपरिहारिएण सच्छि गाहावइकुलं पिंडवायपडि-
याए पविसिज्ज वा, णिकखमेज्ज वा ।

(से भिक्खू वा इत्यादि) स जिक्रुयावद् गृहपतिकुलं प्रवेष्टु-
काम एभिर्वद्भ्यमायैः सार्द्धं न प्रविशेत्, प्राक् प्रविष्टो वा नाति-
क्रामेदिति संबन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यं तान् स्वनामग्राह-
माह-नत्रान्यतीर्थकाः सरजस्कादयो गृहस्थाः, पिण्डोपजीविनो
धिग्जातिप्रभृतयस्तैः सह प्रविशताममी दोषाः । तद्यथा-ने पृष्ठतो
वा गच्छेयुरप्रतो वा, तेऽत्राप्रतो गच्छन्तो यदि साध्वनुवृत्त्या गच्छे-
युस्ततस्तत्कृत ईर्याप्रत्ययः कर्मवन्धः, प्रवचनवाधवं च, तेषां वा
स्वजात्याद्युत्कर्ष इति । अथ पृष्ठतस्ततस्तत्प्रद्वयो, दातुर्वा अनज-
कस्य द्वाभं च, दाता संविभज्य दद्यात्तेनावमोदर्यादौ दुर्भिक्षा-
दौ प्राणवृत्तिर्न स्यात्, इत्येवमादयो दोषाः । तथा परिहारस्तेन
चरति परिहारिकः, पिरुदोषपरिहरणादुत्तुक्तविहारी, साधुरि-
त्यर्थः । स पवंगुणकलितः साधुरपरिहारिकेण पाहर्वस्थावस-
न्नः कुशीलसंसकयथाच्छन्दरूपेण न प्रविशेत्, तेन सह प्रविष्टा-
नामनेपणीयजिज्ञास्रहणाग्रहणकृता दोषाः । तथाहि-अनेपणीयप्र-
हणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता अवत्यग्रहणे तैः सहोऽसंखडादयो दोषाः ।
तत एतान् दोषान् ज्ञात्वा साधुगृहपतिकुलं पिरुपातप्रतिक्रि-
या तैः सह न प्रविशेन्नपि निष्क्रामेदिति । आचा० २ धु० १
अ० १ उ० ॥

(२३) [दानम्] अन्ययूधिकेज्योऽशनादि न देयम्-

से जिकखू वा भिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे णो अस्म-
उत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहा-
रियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देज्ज
वा, अणुपदेज्ज वा ॥

साम्प्रतं तद्दानार्थप्रतिषेधमाह-

(से भिक्खू इत्यादि) स भिक्षुर्वावद् गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्तु-
पत्रक्षणादुपाश्रयस्थो वा तेज्योऽन्यतीर्थकादिज्यो दोषसं-
जवाद्दशनादिकं न दद्यात्, स्वतो नाप्यनुप्रदापयेदपरिण गृहस्था-
दिनेति । तथाहि-तेज्यो दीयमानं दृष्ट्वा लोकोऽभिमन्येत, एते
होवंविधानामपि दक्षिणार्हाः । अपि च । तदुपपन्नसंयमप्रवर्त-
नादयो दोषा जायन्त इति । आचा० २ धु० १ अ० १ उ० ।

जे जिकखू अरणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारि-
ओ वा अपरिहारिएण वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए

अणुपविमंज्ज वा, निक्खमंज्ज वा, अणुपविमंतं वा नि-
वस्समंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

अन्वतापिकाश्चरपरिवाजकशाक्याजीवकवृक्षवृक्षप्रभृतयः,
गृहस्था मरुगादिभिक्षायाया, परिहारिणो मूलुत्तरदासे परिह-
रति, अहया मूलुत्तरगुट्टो धरेति, आचरतीत्यर्थः । तत्प्रतिपक्क-
भूतो अपरिहारी । ते य अणुतिथिया गिहस्था ।

सूत्रम्-

णो कप्पति निक्खुस्सा, गिहिणा अथवा वि अणुतिथीणं ।

परिहारियस्स परिहा-रिण गंतुं वियाराण ॥ ३०० ॥

सर्द्धि समानं युगपत् एकत्र आहाकम्मं गाहापन्निवणिकाप सा-
वज्जमतादियोगत्रयं करणत्रयं च गाहावतिकुलं । अस्य व्याख्या-
गाहगिहं गाहा गेहं ति वा गिहं ति वा एगघं, तस्येति गृहस्य पतिः
प्रभुः स्वामी, गृहपतिरित्यर्थः । दारमत्यादिसमुदायो कुलं पिण्डं
वा य पनियाए त्ति । अस्य व्याख्या-पिमा असणादो गिहिणा दीय-
मानस्य पिण्डस्य पात्रे पातः, अनया प्रक्षया एव दिष्टं तौ जहा-नाइ
नुसयणिउवलं जं घेत्तुं गामे पविटो । अणेण पुच्छियं-किं निमित्तं
गामे पविटोसि ? भणानि-सुत्तपायपनियाए धणपायपनियाए
त्ति, तदेव पिण्डपायपडियाए त्ति । किंच-इदं सूत्रं लोकोत्तरउभ-
यमंजाप्रतिवर्त्तं किंचित् स्वयमयं संज्ञाप्रतिवर्त्तं जगति, अणुप-
विसति । अस्य व्याख्या चरगादि गाहा । अनु पश्चाद्भावे चरगादि-
सु गियट्ठेसु पच्छा पागकरणकालतो वा पच्छा, एवं अनुशब्दः
पश्चाद् योगे सिद्धः ।

एतो एगनरेणं, सहितो जो गच्छती वियाराण ।

सो आणा अणवत्तं, मिच्छत्तविराहणं पाव ॥ ३०१ ॥

पक्षो एगनरेण गिहस्थेण वा अणुतिथिपण वा समं पविस्-
तस्स आणादिया दोसा । आयसंजमविराहणाओ जायणा । गाहा
पंरंगदिपसु सर्द्धि दिंडंतस्स पवयणो भावणा जयति, लोको
वयति-पंरंगदिपसायओ लभेते, सयं न वमंति, असारवचन-
प्रयत्नत्वात् । अथवा लोको वदति-अन्नद्धिमंता य परदोगे वा अ-
विज्जणा आमानं न विदति, शूद्रा इति । एते पंरंगदि शिष्य-
स्त्वमन्युपगन्ता वसति, यत एभिः सार्द्धं पर्यटंतं, किंचान्यत् ।
आधिकरणगाहा, गिही अयगोत्रसमाणो ए वट्टति भणितुं, एहिं
गिसादितु वट्टवयाहिं वा भणतो अधिकरणं गिहस्थो अन्नद्धि
साह लद्धो उव ढणति, साहुस्स अंतगायं अह संजतो अलद्धीतो
गिहस्थस्स अंतगायं जेण समं दिंडति, दातारस्स वा अचित्तं
किं मया समं हिंससि त्ति, अधिकरणं च भये, अस्त्रं मे ऊण पडुट्टो
अयस्सयं अर्गाणणा डहेज्ज, पंता वणादि वा करेज्ज, एगस्स वा
गिहिणा गिहिणीण उ दोगह वि तेज्ज ते चैव अंतगायं अवि-
यताप संखडा नीया य साहुस्स करेज्ज, दातारस्स वा करेज्ज,
उयस्स वा कुज्जा, दोगहता अट्टाणीणि य एगस्स देज्ज, साहुस्स
गिहस्थस्स वा, ते चैव अंतगादी दोसा । जतो भणति-संजयप-
दोसगाहा । संजयगिही उभयदोस इति गतार्थो । एवं अणुगहा
अ त्ति । अस्य व्याख्या-गंठे दुपदं च उप्पदे णवपप च, एतेसु चैव
हंउसु वन्थादिपसु वा वि मुमतिपसु साधुगिहं वा एगंतरं स-
क्रेज्ज, उभयं वा किह पुणाति संक्रेज्ज, एते समणमाहणा प-
गोप्परं विरुद्धा वि एगतो अडंति, ए एते जे वा ते वा गुणं एते
चांग चोरिया वा, कामो वा दुपयादि वा अवहडामणहिं ज-
इहा एते दोसा, तस्मा गिहस्थमपत्तिर्याहिं समं भिक्षाण ए प-

विमियव्वं, वितियपंदेण कारणे पविसेज्जा वि । जतो वितिय-
पदगाहा । अंचियं दुग्भिक्षं, एतेसु अंचियादिसु एतोहिं गिह-
स्थमपत्तिर्याहिं समं भिक्षा लभति, अघदा न लभति; अतो
तेहिं समाणं अडे, सो य जदि अहा भद्दो णिमंनेइ वा, अहा भ-
इएण पुण समाणं दो तिप्पि घरा, अणुहा ते चैवासंखडादी ।
रायदुट्टे सो रायवत्तभो गिलाणस्स सह एत्थ भोगणादि, सो
दव्वावेति, अणुहा ए वज्जति, भिक्षायरियं वा वच्चंतस्स उ वि
सरीरं तेण रक्खति, पडिणीयसाणे वावारेति । आदिसहातो गो-
णसुयगती ए विपविसतो पुण इमा विही पुव्वगतं गाहागिहस्थ-
पत्तिरिथिपसु पुव्वपविट्टे पत्तं वा पुव्वपविट्टो अणुभावे ति, परि-
सं तापं दरिसंति जेण णज्जति, जहा एतेण समाणं हिंसति, अ-
डंतस्स य इमो विही पुव्वं पच्छा करुमरूपसु तओ पच्छा क-
रुमणल्लिङ्गीसु, तओ अहाजइमरूपसु तओ अहाभइमणल्लिङ्गि-
णा अहाजइए वि, एस चैव कम्म । ति० चू० २ श० ।

जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसट्ठेसु वा अचउत्थियं वा गारत्थियं वा
अमणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय
जायातं, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे निक्खू आ-
गंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुलेसु वा परियाव-
सट्ठेसु वा अणुउत्थीउ वा असणं वा पाणं वा खाइमं
वा साइमं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ २ ॥ जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु
वा गाहावड्कुलेसु वा परियावसट्ठेसु वा अचउत्थियाणि
वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

‘जे निक्खू’ पूर्ववत् आगंतारो-जत्थ आगारा आगंतू विहरंति,
तं आगंतारं, गामपरिसंघाणं तिबुत्तं भवति । आगंतुगाणं वा
कथं अगारं आगंतारं, वहिया वासो त्ति, आरामे अगारं आरा-
मागारं, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं गिहपतिकुलं, अन्य-
गृहमित्यर्थः । गिहपज्जायं मोत्तुं पव्वजा परियापठिता, तेसि
आवसट्ठो परियावसट्ठो, एतेसु णेणसु छितं अणुउत्थियं वा
गारत्थियं वा असणाइ ओभासति, साइज्जति वा, तस्स मास-
लहु । एस सुत्तथो । इमा सुत्तफासिया-

आगंतारादीसु, असणादी जासती तु जो भिक्षू ।

सो आणा अणवत्तं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २ ॥

आगंतारादिसु गिहस्थमपत्तिरिथियं वा जो भिक्षू असणादि
ओभासति सो पावति आणा, अणवत्तमिच्छत्तविराहणं च ॥ २ ॥

आगमकयमागारं, आगंतुं जत्थ चिट्ठति अगारा ।

परिगमणं पज्जाओ, सो चरगादी तु णेगविहो ॥ ३ ॥

आगमा रक्खा, तोहिं कथं अगारं आगंतुं जत्थ चिट्ठति, अ-
गारं ते आगंतारं परि समंता गारणं गिहभावं गेत्यर्थः । पज्जा-
योपवज्जा, सो य चरगपरिख्यायगसकआजीवागमादि णगविधो
जहेतरा ॥ ३ ॥

जहेतरा तु दोसा, इवेज्ज ओभासिते अगारणिम्म ।

अचियत्ता भावणता, पंते जहे इमे होंति ॥ ४ ॥

अट्टाणछितो जासिते पंतजहदोसा ; पंतस्स अचियत्तं भवति,
ओभासणतो-अहो ! इमे भद्दोसा ।

जह आतरोसि दीसइ, जह य विमग्गंति पं अट्टाणम्मि ।
दंतेंदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥५॥

जहा एयं साहुस्सातरो दीसति, जहा-अयं अट्टाणछियं विम-
ग्गंति-दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसि एणं से भारितं
कज्जं, आपत्कल्पमित्यर्थः ॥ ५ ॥

सट्ठिगिहिं अएणत्तिर्या, करिज्ज ओजासिए तु सो असते ।
उग्गमदोसेगतं, खिप्पं से संजतट्टाए ॥ ६ ॥

अच्चाऽस्यास्तीति आरुही, सो य गिही, अस्मत्प्रत्ययो वा, ओभा-
सिए समाणसे इति । स गिही अस्मत्प्रत्ययो वा खिप्पं तुरियं
सएहं उग्गमदोसाणं अस्मत्तरं करेज्जा संजयट्टाए ॥ ६ ॥

एवं खनु जिणकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओजासितुं गच्छे ॥ ७ ॥

एवं ता जिणकप्पे जणियं गच्छथासिणो वि णिक्कारणे एवं
चेव कारणजाते पुण कप्पति । थेरकप्पियाणं ओभासितं किं
चित्कारणं इमं-

गेज्जएह रायदुट्ठे, रोहग अच्चाण अंचिते ओमे ॥
एतेहि कारणेहिं, असती वंभंति ओजासे ॥ ८ ॥

गिज्जाणऽच्चाण य दुट्ठे वा रोहगे वा अंतो अपचंता अंचिते वा, अं-
चियणं णाम दावसंधी, तत्थ भवणी उ खंधिआ उ ण वा णिप्फसं,
णिप्फसे वा ण वग्गमति, ओमं दुर्भिकं, एवं अंचिए ओमे, दीर्घ
दुर्भिकमित्यर्थः । एतेहिं कारणेहिं अवग्गमंते ओजासेज्जा-

जिणं समतिकंतो, पुवं जतिकण पणगपणगेहिं ॥
तो मासिएसु पच्छ वि, ओजासणमादिमुं असदो ॥ ९ ॥

इमा जयणा-पढमं पणगदोसेण गेएहति पच्छा दस पप्परस
वीस भिष्ममासदोसेण य एवं पणगभेदहिं जहिं जिष्मं समति-
कंतो ताहे मासि अट्टाणेसु ओभासणादिसु जतति, असदो । तत्थ
तु ओभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिं ए दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेति जं सुत्तपणिकुट्ठं ॥ १० ॥

पढमं घरे ओजासिज्जति अदिष्टे, एवं तयो वा रायघरे गवेसि-
यव्यो, तत्थ भज्जाति णीया वत्तव्या, तस्स आगयस्स कहेज्जह-
साधू तव सगासं आगया, कज्जेणं घरे अदिष्टे पच्छा आगंतारा-
दिसु दिष्टस्स घरगमणादि सव्वं कहेतु, तेण वंदिते अवंदिते वा
वेण्येय पुट्ठं अपुट्ठा वा जं सुत्ते पणिसिक्खं तं कुव्वंति, ओजासंति
इत्यर्थः ।

जे जिकखू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा को-
उहद्वपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खा-
इमं वा साइमं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा
साइज्जइ ॥ ४ ॥

एवं अस्मत्प्रत्यया वा गारत्थिया वा, एवं अएणत्थिणीओ
वा गारत्थिणीओ वा ।

पढम्मी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव ।
ततिय चउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥ ११ ॥

पढमे सुत्ते जो गमो, वितिए वि पुरिसपोहत्थियसुत्ते सो चेव
गमो । ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥ ४ ॥

जे जिकखू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अस्मत्प्रत्ययाउ वा गारत्थियाउ
वा कोउहद्वपडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं
वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ५ ॥ जे जिकखू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा
गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा अएणत्थियाउणी वा
गारत्थियाउणी वा कोउहद्वपडियाए पडियागयं समाणं अ-
सणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय
जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिकखू आगंतारेसु वा
आरामागारेसु वा गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा
अएणत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहद्वपडि-
याए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा
साइमं वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायंतं वा
साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिकखू आगंतारेसु वा इत्यादि कोउहलंति यावत्, कौतु-
केनेत्यर्थः ।

गाहासूत्राणि-

आगंतारेसु, आरामगारे तह गिहा वसही ।
पुव्वट्ठिताण पच्छा, एज्ज गिहं अस्मत्प्रत्यय वा केई ॥ १२ ॥

तमागतं जे असणातीतो भासति, तस्स मासलहुं, धम्मं
सावगधम्मं वा पेच्छामो । एत्तो गाहा-

अहज्जावेणं कोऊ-हल केई वंदणणिमित्तं ।

पुच्छिस्सामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥

एगो एगतरेणं, कारणजातेण आगतं संतं ॥

जो जिकखू ओभासति, असणादी तस्सिमा दोसा १४ ॥

तस्सिमे भदपंतदोसा-

आतपरोजासणता, अदिष्टदिष्टो व तस्स अचियत्तं ।

पुरिसो जासणदोसा, सविसेसतरा य इत्थीसु ॥ १४ ॥

अलद्धे अप्पणो ओभासणा सुद्धा लभंति तिमि अदिष्टे परस्स
ओभासणा किवणे त्ति, अदिष्टे वा अचियत्तं भवति, महायण-
मज्जे वा पणइ, ते देमि त्ति, पच्छा अचियत्तं भवति, दाओ पुरि-
से ओभासणदोसा एव केवला, इत्थिआसु ओभासणदोसा,
संकादोसा य, आयपरसमुत्था य दोसा ।

जहो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छा अभिहन्नादीणि ।

पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तहा दुविधं ॥ १५ ॥

भद्दओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छाभिहडं पागाडाभि-
हडं वा अस्सेज्जपंता साहुसु पेलवगहणं करेज्ज-अहो इमे
अदिष्टदाणा, जो आगच्छति तमोभासंति, साहुसावगधम्मं

वा पडिवज्जामि त्ति, ओजासिओ उदुदुडो पणिणियत्तो जाहे सावगो हाइमि ताहे ण सुव्हित्ति, जइ पञ्चउज घेप्पामो त्ति एगो विपरिणमति. तो मूत्रं दोसु णवमं तिसु चरिमं, जं च ते विपरिणया असंजमं काहिति तमावज्जति, अधवा णिणहपसु वञ्चति जम्हा एते दोसा तम्हा ण ओभासियव्वो आगमो, एवं वि पच्छित्तं परिहरियं आणा अणुपालिया, णववत्था, मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविद्विराहणा परिहरियत्ता कारणे पुण ओभासति । इमे य कारणा-

अमिवे ओमोदरिए, रायहुठे जए व गेन्नएहे ।

अद्धाण रोहए वा, जतणा ओजामितुं कप्पे ॥१६॥

तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, एया वुत्ता तु तस्स तु कहेह ।

पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेति जं तुत्तपडिकुट्ठं ॥ १७ ॥

एगंते जो तु गमो, णियमा पोहति धम्मि सो चैव ।

एगंता तो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥ १८ ॥

असिवे जदा मासं पत्तो ताहे घरं गंतुं ओजासिज्जति, अदिष्टे महिला से नण्णति-अक्खेज्जासि सावगस्स साधुणा दधुमा-गता, ते आसिसो अविरई य समीवे सोउं अहभावेण वा आगतां सव्वं से घरगमणं कदिउज्जति, कारणं च से दाविज्जति, ततो जयणाए ओजासिज्जति, जइ सो भणति, घरं पज्जह, ताहे तेणेव समं गंतव्वं, मा अजिहडं काहिति, असुद्धं वा एवं राय-उट्ठादिसु विपगतियसुत्ता तो पोहतिपसु सविसेसतरा दोसा ॥

पुरिसाणं जो उ गमो, णियमा सो चैव होइ इत्थीसु ।

आहारे जो उ गमो, णियमा सो चैव उवधिम्मि ॥ १९ ॥

जो पुरिसाणं गमो दोसु सुत्तेसु इत्थीण वि सो चैव दोसु सुत्तेसु वत्तव्वो, जो आहारे गमो सो चैव अविसेसिओ उवकरण दच्चो ॥ १९ ॥

सुत्राणि चउरो-

जे जिकखू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थिएण वा गारित्थिएण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिहडं आहट्टु दि-ज्जमाणं पडिसेहत्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परि-जवेय परिजवेय ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउ वा गारित्थियाउ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडि-मेहत्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परिजवेय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे जिकखू आगंतारेसु वा आ-रामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्न-उत्थियाणी वा गारित्थियाणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडि-मेहत्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परिजवेय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे जिकखू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु

वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउणी वा गारित्थियाउणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहत्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परि-जवेय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

आगंताराइसु द्वियाणं साहणं अस्सत्तिथिओ गारत्थिओ वा अभिहडं-आभिमुख्येन हतं अभिहृतं, पारणादिसु कोइ सघी सयमेव आहट्टु दलएज्जति, पडिसेहेत्ता तमेव त्ति, तं दायारं अ-णुवित्तिय त्ति, सत्त पदाइ गंता परिवेदिय त्ति, पुरतो पिट्ठतो पा-सतो ठिच्चा परिजविय त्ति परिजल्पं २ तुज्झाहे रायं अ-म्हट्टा आणियं मा तुज्झं अकलो परिस्समो भवतु, मा वा अधितिं करेस्सह, तो गेएहामो । एवं ओभासंतस्स मासलहुं । सुद्धे वि असुद्धे पुण जेण असुद्धं तमावज्जो ॥

अगंतारासुं, आरामगारे तह गिहा वसही ।

गिह्मिअसत्तियए वा, आणिज्जा अभिहडं असप्पियमा २ ० ।

ओलज्जणमणुवयणं, परिवेदण पासि पुरउ गतुं वा ।

परिजवणं पुण जंपइ, गेएहामो मा तुमं रुस्स ॥ २१ ॥

अणुवइय त्ति ओलगिगउं अहव्वलितुं परिवेदणं पुरतो पास-ओ वाउं परिजल्पनं परिजल्पः ; इमं जंपइ-गेएहामो, मा तुमं रुसिहिसि ॥ २१ ॥

तं पडिसेवे नूणं, दोच्चं अणुवतिय गेएहती जो उ ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ २२ ॥

एतेण उ वा तमापहडमेव पडिसेहेउं एकप्रतिपेधः, द्वितीयो ग्रहा जो एवं गेएहति, तस्स आणादी दोसा, भदपंतदोसा य । आणाए भट्टो अणवत्था कता, अस्सहाकारं तेण मिच्छत्तं जणि-यं, इमे संजमविराहणा दोसा, भदपंतदोसो य ।

तेणं गेएहति भदउ, करे पसंगं अहाद्वियाडजिरता ।

माई कवढायारा, घेत्तव्वं जएणती पंता ॥ २३ ॥

भट्टो चित्तेइ-एतेण उवाएण गेएहति, आहमे पुणो पसंगं करोति, पंता पेन्नवग्गहणं करे, भणेज्ज वा अद्वियं अनृतं, तस्मि अभि अजिरया अद्वियाजिरया ण गेएहमो त्ति जणित्ता पच्छागेएहं-ति मायाविणो, तत्थ वसहीएण गेएहंति, इह पणिणियंतस्स गेएहंति, कवमं कृतकाचारो कवरेण सव्वं पवज्जं आयरंति, ण एतोसिं कोइ सज्जाओ अत्थि, सज्जावेण माई किरियाजुत्तो कव-मायारमादिं भणति । एवं पत्तो वदति-जम्हा एते दोसा तम्हा ण एवं घेत्तव्वं, कारणे पुण संगहणं कुञ्चति ॥ २३ ॥

असिवे ओमोयरिए रायहुठे जए व गेलप्पे ।

अद्धाण रोहए वा, जतणा पडिसेवणा गहणं । २४ ।

पडिसेहे उ जतणाए गेएहंति । का य जयणा?, इमा-

जदि सव्वं गीतत्था, गहणं तत्थि व होति तु अलंजो वि ।

मीमे पुण वाइउणं, मा य पुणो तत्थ आणेह ॥ २५ ॥

जाहे पणगाइजयणाए मासव्वहुं पत्तो, ताहे जइ सव्वे साधू गीयत्था, ताहे तत्थेव वसहीए गेएहंति, एस्सं गणिवारणत्थं वा भस्सति-अम्हं घरगयाणं चैव दिउज्जति, तज्जाणिउज्जति, ताणि जण-

वंता अर्गायमीसे पुण अर्गायत्थं पुरतो पस्सिधेउं पच्छत्तो त-
स्स अनुवतिरुण भणति-मा पुण आणेइ, तत्थय अग्गे हिंमंता
एदामो, णिमेंतेज्जा । अहवा जइ अस्यदोसवज्जितं जहपंतदोसा
बा ण जवंति, ताहे गेएइति, इमं च जणंति—

तुमे दूराहडं एव, आदरेण सुमंभितं ।

मुहवणो य ते आमी, विवणो तेण गेएइमो ॥२६॥

तुमे दूराओ आणियं वेसवाराइयाण सुमंभियं कयं तुज्ज
पस्सिधेते मुहवणो विवणो वि आसी, तेण गेएहामो, एवं
जयणाए तेएहंति, पसंगो णिवारितो अर्गाया य वंचिया आहड प्र-
तिनिवृत्तनावात्मीकृतत्वात्, एवं इत्थियासु वि, एवं बुहत्त सुत्ते
वि २६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

(२४) धातुप्रवेदनम्-

जे निक्खू अएणउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गारत्थि-
याणिहिं वा धाउं पवेइइ, पवेयंतं वा साइज्जइ ॥२७॥

जे निक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गार-
त्थियाणिहिं वा धाउं पवेइइ, पवेयंतं वा साइज्जइ ॥२८॥

यस्मिन् धम्यमाने सुवर्णं एति, स धातुः ।

अएणयरागं धातुं, निहिं व आइक्खते तु जे भिक्खू ।

गिहिअस्यतित्थियाण व, सो पावति आणमादीणि ॥२९॥

अस्यरगइणातो बहुनेदा धातुणिधानणिधीणिहितं स्थापितं,
अविणजातमित्यर्थः । तं जो महाकाव्यमतादिणा णाउं अक्खति,
तस्स आणादिया दोसा । इमे धातुनेदा-

तिविहो य होति धातू, पासाण रसो य मट्टिया चेव ।

सो पुण सुवणं वुत्तं, वरतरकालायसादीणं ॥ ३० ॥

सपरिगहेतरो वि य, होइनिही जलगओ य यलगो य ।

कयाऽक्य होति सव्वो, अहिकतरं कायवहो धातुमि ॥ ३१ ॥

जत्थ पासाणे जुत्तिणो जुत्ते वा धममाणे सुवणादि पमति,
सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिपण तं वगादि आसंतं सुवणा-
दि भवति, सो रसो जप्पति । जा मट्टिया जोगजुत्ता अजुत्ता वा
धममाणे सुवणादि भवति, सो धातुमट्टिया, कालायसं लोहं
आदिगहणाओ मणिरयणमोत्तियप्पवालगरादिणिहाणे इमो
विगणो । (सपरि)गाहा । सो णिही मणुयदेवतेहिं परिगहितो वा
दिउज्ज, अपरे जतो वा सो जले वा होज्ज, थले वा, जो स थले,
सो दुविधो-णिक्खतो वा अनिक्खओ वा, सव्वो चेव णिसी-
इरुवेण उविधो-कयरूवो अकयरूवो वा, रूवगाभरणादि कय-
रूवो, चक्रपिर्मिट्ठितो अकयरूवो । से परिगहे अधिकतरा दोसा,
कहेतस्स णिहाणगसामिसमीवातो धातुणिहिवंसयं सार्धं धा-
तुव्यायं कारवेति, पस्से धातुदंसणे दोसा । इमो णिधाने मयू-
रं कदिष्ठो-

अहिकरणं जा करणं, निहिमि मक्रोरुगहणादी ।

मोरिणवंऽकियदीणा-रपिठियणिहिजाणएण ते कहिया ।

दिछा ववहरमाणा, कओ तए परंपरागहणं ॥ ३२ ॥

मयूरंको णामराया, तेण मयूरंकेण अंकिता दीणारा, आहरणा-
दिया, तेहिं दीणारोहिं णिहाणं उवियं, तस्मि उविते बद्धकालो

गतो, तं केणइ णेमिस्सिणा णिहितक्खणेण णायं, तं तेहिं उक्खा-
यं, ते दीणारा ववहरंता रायपुरिसेहिं दिछा । सो वणिओ, तेहिं
रायपुरिसेहिं रायसमीवणंता । रक्खा पुच्छिओ-कतो एते तुअ
दीणारा ? तेण कहियं-अमुगसमीवातो । एवं परंपरेण ताव णायं,
जाव जेहिं उक्खंतं, तेहिं सो गहितो, दंभियो य, असंजयणिगहणे
अधिकरणं णिट्ठिओ, क्खणेण य निसि जागरणं कायव्वं, अहवा
णिहिदंसणे अधिकरणं जागरणं णाम यजनकरणं उवावचन-
धुवपुष्पावलिमादिकरणे अधिकरणमित्यर्थः । णिहिक्खणेण य
विभीसिगा-मक्रोरुगादि वि सतुंता भवति, तत्थ आयविराड-
णादि रायपुरिसेहिं य गहणं, तत्थ गेएहणकहुणादिया दोसा,
एत्थ इमं वितियपदं-

अभिवे ओमोयरिण, रायदुछे भए व गेलसे ।

अच्छाण रोहकज्ज-इजातवादी पचावणादिसु ॥३३॥

असिवे वेज्जो आणितो, तस्स दंसिज्जति, धातुणिहाणं वा,
ओमे असंथरंता गिहिअस्यतित्थिप सहाए घेसुं धातुं करोति, णि-
हिं वा गेएइति, रायदुछे रणो उवसमणछा सयमेव, जो वा तं
उवसमेति, तस्स वा धाउं णिधानं वा दंसेति, बोधिगादिजयतो
जो तापेति, तस्स दंसेति, गिज्ञाणकज्ज सयं गेएइति, वेज्जस्स
वा दंसेति, अद्धाणे जो णिस्थारेति, रोहगे असंथरंता सहायस-
हिता गेएइति, अहवा जो रोहगे आधारत्ततो, तस्स दंसेति, कु-
ळाइकज्जे वा संजतिमादिणिमित्तं वा अरुजाते वादी वा उदा-
सीणगहणट्ठा पवयणपभावणट्ठा पूयादिकारणणिमित्तं सहाय-
सहितो गिहिअस्यतित्थिपहिं धातुं णिहाणं वा गेएहेज्ज ।
नि० चू० १३ उ० ।

(२५) पादानामार्जनप्रमार्जनम्-

जे निक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं आ-
मज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ
॥ ३४ ॥ जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए
संवाहेज्ज वा, पझिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिपइंतं वा
साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे निक्खू अएणउत्थियस्स वा गार-
त्थियस्स वा पाए तेद्वेण वा घएण वा वसाएण वा एवणी-
एण वा मंखेज्ज वा, भिल्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा जिल्लिगंतं वा
साइज्जइ ॥ ३६ ॥ जे निक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा पायं लोद्वेण वा ककेण वा पोउमचुष्णेण वा उद्धोले-
ज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उद्धोन्नंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥
जे भिक्खू अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं सी-
ओदगवियनेण वा उसिणोदगवियनेण वा उच्छोलेज्ज वा,
पथोएज्ज वा, उच्छोन्नंतं वा पथोयंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥
जे निक्खू अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं आ-
मज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ३९ ॥ जे निक्खू अस्यउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा, जाव साइज्जइ
॥ ४० ॥ जे निक्खू अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स
वा कायं संवाहेज्ज वा, पझिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिपइंतं

वा साङ्गजः ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं तेह्मेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा मंखेज्ज वा, जिर्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा जिर्लिगंतं वा साङ्गजः ॥ १२२ ॥ जे जिक्खू अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं लोद्रेण वा ककेण वा पोउमचुष्सेण वा उद्धोद्धिज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा उद्धोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साङ्गजः ॥ १२३ ॥ जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं मीओदगवियेकेण वा उमिणेदगवियेकेण वा उच्छोद्धेज्ज वा, पथोयेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पथोयंतं वा साङ्गजः ॥ १२४ ॥ जे जिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं फूमेज्ज वा, रयेज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साङ्गजः ॥ १२५ ॥ जे जिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सिबेणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साङ्गजः ॥ १२६ ॥

एवं जाव तइयो उहेसो गमो णेयवो, णवरं अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलावो जाव ।

जे भिक्खू गामाणुगामं द्दुज्जमाणे अस्यउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारिमं करेड, करंतं वा साङ्गजः १६६ तृतीयोद्देशकगमनिका चत्वारिंशतिसूत्रवक्तव्या यावत् । जे भिक्खू अन्नउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं कारतीन्यादि ॥

पायण मज्जणादी, सीसदुवारादि जे करेज्जाहिं ।

गिहअस्यउत्थियएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १५ ॥

चउगुरुं पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवति । मिच्छते धिरीकारणे सेहादियाण य तत्थ गमणं पवयणस्स ओभाषणं; जम्हा एते दोसा तम्हा एतेसि वेयावच्च णो कायव्वं । कारणे पुण कायव्वं-

वितियपदमणज्जे, करेज्ज अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

जाणंते वा वि पुणो, परलिगे सेहमादीसु ॥ ३६ ॥

कारणे परल्लिगपवणो करेज्जा, सेहो वा अणलो विगिज्जिव्वो, किमिति करंतो सुद्धो, तस्सग्गतो वा पच्चत्तणं करंतो सुद्धो ॥ नि० चू० ११ उ० ।

(२६) पदमार्गादि—

जे जिक्खू पदमग्गं वा संकमं वा अवलंबणं वा अन्नउत्थियएण वा गारत्थियएण वा कारेति, कारंतं वा साङ्गजः ॥ ११ ॥

जे जिक्खू पुर्ववत् । पदं पदाणि, तेसि मग्गो पदमग्गो, सो माणा संकमिज्जति, जेण सो संकमो काटुवारेत्यर्थः । अवलंबिज्जति स्ति । जं तं अवलंबं सो पुण वेति, ता मत्तावलंबो वा, चगारो समुच्चयवाचो । एते अन्नउत्थियएण वा गिहत्थेण वा कारावेति, तस्स मासगुरुं, आणादिणा य । इदानीं निज्जुती-

पदमग्गसंकमासं-वण वसहिसंबद्धमेतरो चेव ।

विसमेकदमओ दएँ, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥ १२२ ॥

अस्य व्याख्या-

पदमग्गो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इतरे वा ।

तज्जाता पुढवीए, इहगमादी अतज्जा य ॥ १२३ ॥

पदानां मार्गः पदमार्गः, सो पुण मग्गो सोवाणा । ते दुविहा-तज्जाया, इतरे अतज्जाया । तस्मि जाता तज्जाता, पुढवि चेव खणिऊण कता, न तस्मि अजाया अतज्जाया, इहगपासाणादिहिं कता, एकेका वसहीए संवद्धा, एतरा असंवद्धा, वसहीए लग्गा उिता, असंवद्धा अंगणए अग्गपेवसदारे वा, तं पुण विसमेकदमे वा उदरे वा हरिपसु वा जातेसु तसपाणेषु वा घणासंसत्तेसु करोति । इदानीं संकमोस्ति ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या-

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइट्ठितो य वेहासो ।

दव्वे एगमणेगो, बलावद्धो चेव णायव्वो ॥ १२४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो । खलु अवधारणे । अणंतरपइट्ठितो-जो भूमीए चेव पइट्ठितो, वेहासो-जो खंभासु वा वेहीसु वा पइट्ठितो । एकेको दुविहो-एगंगिओ य अणेगंगिओ य; एकानेकपट्टकृत्यर्थः । पुनरप्येकेको बलस्थिरविकल्पेन नेयः, तदपि विपमकर्दमादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अस्य व्याख्या-

आलंबणं तु दुविहं, जूमीए संकमे व णायव्वं ।

दुद्धतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णायव्वो ॥ १२५ ॥

एतस्स चेव संकमस्स अवलंबणं कज्जति, तं अवलंबणं दुविहं भूमीए वा संकमे वा भवति । भूमिए विसमे लग्गणणिमित्तं कज्जति, संकमे वि लग्गणणिमित्तं कज्जति, सो पुण दुद्धओ एगओ वा भवति, सा पुण वेदिय स्ति भवति, मत्तावलंबो वा ॥ १२५ ॥

एतेमामसंतरं, पदमग्गं जो तु कारण जिक्खू ।

गिहअस्यउत्थियएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १२६ ॥

एतेसि पयमग्गसंकमावलंबणणमस्यरं जो भिक्खू गिहत्थेण वा अन्नउत्थियएण वा कारावेति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥ १२६ ॥

खणमाणे कायवधो, अविते वि य वणस्सतितसाण ।

खणणेण तच्छणेण व, अहिदुहरमादिआघाए ॥ १२७ ॥

तस्मि गिहत्थे अन्नउत्थियए वा, खणंते छुन्नं जीवनिक्कायाणं विराहणा भवति, जइ वि पुढवी अचित्ता भवति, तथा वि वणस्सतितसाणं विराहणा । अहवा पुढवीखणणे अहिं दहुरं वा घापज्जा, कठं वा तच्छित्तोऽम्भंतरे अहिं उदुरं वा घापज्जा, एसा संजमविराहणा, आयाए हत्थं वा पादं वा लूसेज्जा, अहिमादिणा वा खजेज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा ए तेहिं कारावेज्जा, अवचापणं कारावेज्जा वि ॥ १२७ ॥

वसहीउद्धभताए, वाघातजुताएँ अधव सुलभाए ।

एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १२८ ॥

दुल्लभा वसही, मग्गंतेहिं वि ण लज्जमिति, अहवा सुलभा

वसही, किं तु वाघातजुत्ता लभति, ते य वाघायद्वपडि-
बद्धा, भावपडिबद्धा, जातिपडिबद्धा इत्यादि । पच्छुद्धं कंठं ।

सयं करणे ताव इमेरिसां साहू करति—

जित्तिदिओ धिणी दक्खो, पुवं तक्कम्मभावितो ।

उवउत्तां जती कुज्जा, गीयन्थो वा असागरं ॥ १२६ ॥

इंदियजएमाणो जिइंदियो, जीवदयालु धिणी. अणोणकिरि-
याकरणे दक्खो, (पुव्वमिति) गिहत्थकाले तक्कम्मभावितो णाम
तत्कर्माभिज्ञः । स च रहकारधराणि पुत्रेत्यादि, यती प्रव्रजितः,
स च उपयुक्तः कुर्यात्, सा जीवोपघातो भविष्यति, एवं तावत्
कम्मभावितो गीयन्थो, तस्स अभावे अगीयन्थो, तक्कम्मभा-
वितो तस्स भावे, तत्कर्माभावितो तस्य अभावे गीयन्थो अ-
गीयन्थो य अपंतं सव्वे वि असागरे करेति । जदा तेहि प-
दमगलंकमालंबणेहि कज्जं सम्मत्तं तदा इमा सामायारो-

कतकज्जे तु मा होज्जा, तओ जीवविराधणा ।

मोत्तुं तज्जायसामाणे, सेसे वि करणं करे ॥ १३० ॥

कति परिसंमत्ते कज्जे मा जीवविराहणा जवेत्, तओ तस्मात्
साधुप्रयोगात् अतः तज्जातो सामाणे मोत्तुं सेसे वि करणं
विणासणं कुज्जा, तज्जाएण विणासे त्ति, मा पुढविकाइय-
विराहणा भविस्सति अववायं । उस्सग्गे पत्ते अववाओ
भणति—

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।

वाघाओ उवहिस्सा, पक्खरणं कप्पती ताहे ॥ १३१ ॥

वितियपदं अवघातो, तेण सयं करेति, गिहिणा कारवेति, कंठं,
जसुति-सयं अणिउणो णिउणो वा केणइय रोगातंकेण असहू
सहुणो वा वाघातो विग्नं च आयरियगिलाणो ति पओअणं
परो गिहत्थो जतो अप्पणा पुव्वजिडियकारणातो असमत्थो,
ताहे तेण कारावउं कप्पते, तेसि गिहत्थिण कारावणे इमो
कमो-

पच्छाकम साजिगह, णिराजिगह जइएण व असएणी ।

गिहिअएणतितियए वा, गिहिपुवं एतरे पच्छा । १३२ ।

पच्छाकमो पुराणो पदमं ताव तेण कारविज्जति, तस्स
अभावे साजिगहो गिहीयाणुव्वतो सावगो, ततो निरजिगहो
दंसणसावगो, तओ अथा भइएण असएणिगिहिणा मिथ्याह-
रिना पच्छाकमादि परतित्थिया विचउरो दच्छवा । एतेसि पुण
पुवं गिहिणा कारवेयवं, पच्छा परतित्थिणा अप्पतरपच्छकम्म-
दोसातो ॥ १३२ ॥ नि० सू० १ उ० ।

जे जिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो
पाए आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं
वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिकखू अएणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा, पलिमज्जेज्ज वा,
संवाहंतं वा पस्त्रिमदंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे जिकखू
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए तेद्वेण
वा घएण वा वप्पेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज
वा, जिडिगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिगंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिकखू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो
पाए लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण वा पोउमचुएणेण वा
मिणहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा
परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे जिकखू अस्सउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा अप्पणो पाए सीओदगवियंकेण वा उमि-
णोदगवियंकेण वा उच्छोलेज्ज वा, पथोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं
वा पथोवंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे जिकखू अस्सउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए फूमज्ज वा, रएज्ज वा,
मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे
भिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पायं
आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा
साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा अप्पणो कायं संवाहेज्ज वा, पलिमदंज्ज वा, संवाहंतं वा
पस्त्रिमदंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिकखू अस्सउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा अप्पणो कायं तेद्वेण वा घएण वा वप्पेण
वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, जिडिगेज्ज वा,
मंखंतं वा भिलिगंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे जिकखू अस्सउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं लोप्पेण वा
ककेण वा एहाणेण वा पोउमचुएणेण वा वप्पेण वा मिण-
हाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं परियट्टंतं वा
साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे जिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
अप्पणो कायं सीओदगवियंकेण वा उमिणोदगवियंकेण
वा उच्छोलेज्ज वा, पथोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पथोवंतं वा
साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थि-
एण वा अप्पणो कायं फूमज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा,
फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिकखू अस्स-
उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं आ-
ज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ
॥ २५ ॥ जे भिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अ-
प्पणो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा, पलिमदंज्ज वा, संवाहंतं वा
पस्त्रिमदंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिकखू अस्सउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं तेद्वेण वा घएण
वा वप्पेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा,
जिडिगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिगंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥
जे भिकखू अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो का-
यंसि वणं लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण वा पोउमचुए-
णेण वा मिणहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्व-
ट्टंतं वा परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे जिकखू अस्स-
उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं सीओ-
दगवियंकेण वा उमिणोदगवियंकेण वा उच्छोलेज्ज वा,

पयोवेज्ज वा, उच्छोलेज्ज वा पयोवेज्ज वा साइज्ज ॥ २६ ॥
 जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो
 कायंसि वणं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा
 रयंतं वा मंखंतं वा साइज्ज ॥ २७ ॥ जे भिक्खू अणउ-
 त्थिएण वा गारत्थिएण वा असियलं वा अप्पणो कायसि
 गंढं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण-
 यरेण वा तीखेण वा सत्थजाएण अच्छिदिज्ज वा, विच्छि-
 दिज्ज वा, अच्छिदंतं वा विच्छिदंतं वा साइज्ज ॥ २८ ॥
 जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो
 कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा जंगदलं
 वा अणयरेण वा तीखेण वा सत्थजाएण अच्छिदिता वा,
 विच्छिदिता वा, पयं वा सोणियं वा णीहरज्ज वा, वि-
 हिणज्ज वा, णीह तं वा विमोढंतं वा साइज्ज ॥ २९ ॥ जे भि-
 क्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि
 गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा जंगदलं वा
 अणयरेण वा तीखेण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज
 वा, विच्छिदावेज्ज वा, पयं वा सोणियं वा णीहा-
 रावेज्ज वा, विसोदियाएज्ज वा, सीओदगावियडेण वा
 उमिणोदगवियडेण वा उच्छलेज्ज वा, पयोवेज्ज वा,
 उच्छोलेज्जं वा पयोवेज्जं वा साइज्ज ॥ ३० ॥ जे भिक्खू
 अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंढं
 वा पलियं वा अरियं वा असियं वा जंगदलं वा अणयरेण
 वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छि-
 दावेज्ज वा, पयं वा सोणियं वा णीहारावेज्ज वा, वि-
 हिण्येण वा आलेवणजाएण आलिपेज्ज वा, विलिपेज्ज वा,
 आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्ज ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू अण-
 उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंढं वा
 पलियं वा अरियं वा असियं वा जंगदलं वा अणयरेण
 वा तीखेण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावे-
 ज्ज वा, पयं वा सोणियं वा णीहारावेज्ज वा, विसोदिया-
 एज्ज वा अणयरेण वा आलेवणजाएण तेद्वेण वा घणं वा
 वाणं वा वमाणं वा णवणीएण वा अद्धिभंगज्ज वा,
 मंखेज्ज वा, अद्धिभंगंतं वा मंखंतं वा साइज्ज ॥ ३२ ॥ जे
 भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं-
 सि गंढं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण-
 यरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा छिदिता वा, जिदिता
 वा, पयं वा सोणियं वा णीहाराएज्ज वा, विसोदियाएज्ज वा,
 अणयरेण वा धुवणवाएण धुयाएज्ज वा, पधुयाएज्ज वा, धुया-
 वंतं वा पधुयावंतं वा साइज्ज ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू अप्पणो पालुकि
 पेयं वा अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलिपि निवेमि-
 याय निवेसियाय णीहरावड, णीहरावंतं वा साइज्ज ॥ ३४ ॥

ज भिक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दी-
हाआ एहसिहाओ कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पा-
वंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ३८। जे भिक्खू अणुउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं वत्थीरोमाइं कप्पावेज्ज
वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ३९।
जे भिक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो
दीहाइं जंगारोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं
वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४०॥ जे निक्खू अणुउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं सीसकेसाइं कप्पावेज्ज
वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४१। जे
भिक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं कम्भ-
रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा
साइज्जइ ॥४२॥ जे भिक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा अप्पणो दीहाइं चूरुमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू अणुउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं चक्रवुरोमा-
इं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा , कप्पावंतं वा संठावंतं वा
साइज्जइ । ४४। जे निक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा अप्पणो दीहाइं णकरांमाइं कप्पावेज्ज वा , संठावेज्ज
वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४५ । जे निक्खू
अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं मस्सु-
रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं
वा साइज्जइ । ४६। जे निक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थि-
एण वा अप्पणो दीहाइं कक्खुरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठा-
वेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४७। जे भि-
क्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं
पासरुमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठा-
वंतं वा साइज्जइ । ४८। जे भिक्खू अणुउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा अप्पणो दीहाइं उच्चरउट्टाइं रोमाइं कप्पा-
वेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा, संठावंतं वा साइज्जइ
। ४९। जे निक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्प-
णो दंतं मीओदगवियमणेण वा उंसियोदगवियमणेण वा
उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं
वा साइज्जइ । ५० । जे भिक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थि-
एण वा अप्पणो दंतं फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा , मं-
खावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ
। ५१ । जे निक्खू अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
अप्पणो ओट्ठे आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जावंतं
वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ५२। जे निक्खू अणुउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे संवाहावेज्ज वा,

पलिमदावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमदावंतं वा साइज्जइ । ५३ । जे भिक्खू अस्य उत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे तेह्णेण वा घएण वा वसएण
 वा वसाएण वा एवणएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगा-
 वेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ । ५४ । जे
 भिक्खू अस्य उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे
 लोप्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा वप्पे-
 ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
 उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । ५५ । जे भिक्खू अस्य उत्थिएण वा
 गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे सीओदगवियेण वा उमि-
 णोदगवियेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पथोवाएज्ज वा, उच्छो-
 लावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । ५६ । जे भिक्खू अस्य-
 उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे फूमावेज्ज वा,
 रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-
 वंतं वा साइज्जइ । ५७ । जे भिक्खू अस्य उत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि आमज्जावेज्ज वा, पमज्जा-
 वेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ५८ । जे
 भिक्खू अस्य उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अ-
 च्छिणि संवाहावेज्ज वा, परिमदावेज्ज वा, संवाहावंतं वा
 पलिमदावंतं वा साइज्जइ । ५९ । जे भिक्खू अस्य उत्थिएण
 वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि तेह्णेण वा घएण
 वा वसएण वा वसाएण वा एवणएण वा मंखावेज्ज
 वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं
 वा साइज्जइ । ६० । जे भिक्खू अस्य उत्थिएण वा
 गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि लोप्पेण वा कक्केण
 वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा वप्पेण वा उट्ठो-
 लावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं
 वा साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि सीओदगवियेण वा
 उमिणोदगवियेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा,
 उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे भिक्खू
 अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि
 फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रया-
 वंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे भिक्खू
 अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिमज्जं
 वा कएणमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज,
 णीहरावंतं वा साइज्जइ । ६४ । जे भिक्खू अणउत्थिए-
 ण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायाउसेयं वा जलं वा पं-
 कं वा मज्जं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णीहरावं-
 तं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ । ६५ । जे भिक्खू गामाण-

गामं दुइज्जमाणं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
 अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । ६६ ।
 सुत्तथो जहा ततिउद्देसगे, तहा भणियव्वं, णवरं अस्य उत्थिएण
 कारवेइ त्ति वत्तव्वं । एवं प्रलब्धाधिकारः समाप्तः ।

पादप्पमज्जणादी, सीसदुवारादि जो करेज्जाहि ।

गिहिअस्यत्थिएहिं व, सो पावति आणमादीणि । ५८ ।
 तोहिं अणउत्थिएहिं गारत्थिएण वा कारवेतस्स खु किं
 कज्जं ?, उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मे, से य मलादीहिं होज्ज व अवएणो ।

संपातमेव होज्जा, उच्छोलाणजावणे कुज्जा । २५६ ।

ते साहुस्स पादे पमज्जिता पच्छाकम्मं करेइ, साहुस्स प्रस्वेहं
 मयं वा दट्ठं घाणं वा तेसि अघाइऊण असुह इति अवयं भांसे-
 ज्ज, अजयणाए वा पमज्जंता संपातमेव होज्ज, षट्ठणा वा दस्ये
 अजयणाए घोवंता उच्छोलाणदोसं करेज्जा, जुमि ठिए वा
 पाणी भावेज्ज, इमो अववादो ॥ २५६ ॥

वितियपदमणप्पज्जो, कारेज्जवि कोवि ते वि अप्पज्जं !

जाणंते वा वि पुणो, परदिगे सेहमादीसु ॥ २६० ॥

अणप्पज्जो कारवेज्जा, सेहो वा अजाणंतो कारवेज्जा, कारणेण
 वा परलिगे गहिते परलिगिभज्जट्ठिओ कारवेज्जा, सेहो वा उव-
 चितो जाव ण दिक्खिज्जति तेण कारवेज्जा । २६० । किंचान्यत्-

पच्छाकम्मादीहिं, विस्सामावेउ वादि उज्जातो ।

पणविज्ज भाविताणं, सति देइ हत्थकप्पं तु ॥ २६१ ॥

साहण अभावे पच्छाकम्मेण, आदिसदातो गिहीयाणव्वण
 दंसणं, सावणेण वा एतेहिं विस्सामप, को विस्सामाविज्जा ?, वा-
 दी वा अक्षाणगतो वा उज्जातो श्रान्तः । जे भाविता ते पणवि-
 ज्जंति । साधूनां पादरजः श्रेष्ठमाङ्गल्यं शिरसि धार्यन्ते न दोषः ।
 जे पुण अभाविता तेसि सति मधुरएवणविज्जमानेन हत्थकप्पो
 तेसि दिज्जति, मा पच्छाकम्मं करिस्सं । नि० चू० १५ उ० ॥

('अस्यमस्यकिरिया' शब्दे संवाधनपरिमर्दनसूत्राणि वक्ष्यन्ते)

(२७) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा जूइकम्मं
 करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थि-
 याणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ
 ॥ १५ ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा
 पसिणापसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भि-
 क्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं कहेइ,
 कहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा
 गारत्थियाणं वा पमिणापमिणं कहेइ, कावंतं वा साइज्जइ
 ॥ १८ ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा
 तीतनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू
 अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पारुपुष्पं निमित्तं करेइ,
 करंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं

वा गारत्थियाणं वा आगमी संनिमित्तं करेड. करंतं वा सा-
इज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थिया-
णं वा लक्खणं करेड. करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे
भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मुमिणं करेड,
करंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा
गारत्थियाणं वा विज्जं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥
जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मंतं पउंजइ,
पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे निक्खू अस्रउत्थियाणं
वा गारत्थियाणं वा जोगं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ
॥ १६ ॥ नि० चू० १३ उ० ।

मार्गपवेदनम्—

जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा णट्ठाणं
विरियासियाणं मगं वा पवेदेइ, संधिं वा पवेदेइ, मगाणं
वा संधिं पवेदेइ, संधिओ वा मगं पवेदेइ, पवेदंतं वा सा-
इज्जइ ॥ १७ ॥

इमो सुत्तथो—

नट्ठा पयि फिट्ठिता, मूढा उ दिसाविजाग ममुणंता ।
तं वि य दिसं पढं वा, पवेति विवज्जिया वचं ॥ ४८ ॥
पथि प्रनष्टानां पथानं कथयति, अरुवीए वा मूढाणं दिसिभागं
भमुणंताणं वि दिसि विभागेण पढं कहेति । जतो चैव आगता
तं चैव दिसं गच्छंताणं विवज्जिता वचणं सम्भावं कहेति ॥ ४८ ॥

मगो खनु मगरुपहो, पंथो वा तच्चिवज्जिता संधी ।

सो खनु दिसाविनागो, पवेयणा तस्स कट्ठाओ ॥ ४९ ॥

संधी संखेयगो जतो गमिस्सति सो दिसाभागो, तं तेसि
मूढाणं पवेदेति, कथयतीत्यर्थः । सगरुमगा उजुसंधिसंखे-
इयं पवेदेति, उजुसंधिसंखेयया वा सगडमगं पवेदेति, कहय-
ति स्ति वुत्तं भवति । अहवा संधो चैव पढो मगो भणति, संधी
पथं बोधययं । अहवा पंथुगमो चैव संधी, पंथस्स वा संधी
अंतरे कहेति, संधी उ वा जो वामदक्खिणो पढो, तं कहेति ४९

गिदिअस्रउत्थियाण व, मगं संधी उ जो पवेदेति ।

मगातो वा संधि, संधीतो वा पुणो मगं ॥ ५० ॥

गतार्थो । तेसि गिदिअस्रउत्थियाणं मगादि कहेतो इमं
पावति—

सो आणा अणवत्थं, पिच्छत्तविगट्ठाणं तद्वा दुविहं ।

पावति जम्हा नेणं, एते उ वए विवज्जेज्जा ॥ ५१ ॥

दुविडा आपपरमंजमविगधणा, तेसि साधुविधि तेणपदेण
गच्छंताणं इमे अणे दोसा—

उक्कायाण विगट्ठाण, मावय नेणोवहिं वि दुविहेहिं ।

जं पावति जाता वा, पढोम तेमिं तदिंसेमिं ॥ ५२ ॥

जं ते गच्छंता उक्काए विगट्ठाणि, स विगधंतां ते णिप्पयं पाव-
ति, तेण वा पदेण गच्छंतां ते सावयोधदयं सरीरोवहितेणोवदयं
पावति, (जं पावेति स्ति) जं वा ते गच्छंता अणेसि उवदयं करेति,

जतो वा ते अणिदिदिट्ठातो स्वयं पावति, ततो ते तस्स पथवि-
हंगस्स साधुस्स अरुस्स वा साधुस्स पढोसमावउज्जेति, अरुं
पडिणियत्तणेण परिसपंथं बूढा, इमेणं पंतावणादि करेज्ज ।
अथवा दातो विधेज्ज ॥

वितियपदमणप्पज्जे, पावे अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

अप्पाण असिव अहिओ—गयातुरादीसु जाणमवि ५३ ॥

खित्तादिगो अणप्पज्जो सेहो वा, अवि कोवि नो विधेज्ज, अ-
प्पज्जो वि अद्धाने वा सत्थस्स पढं अजाणंतस्स विधेज्ज । अ-
सिवे गिलाणकज्जे वा धेज्जस्स कप्पियारिस्स वा आणिज्ज-
तस्स पंथमुवदिसति । अभियोगो स्ति वज्जारातिणा देसितो गहि-
ते एवमादिकरणेहिं जाणंतो वि कहेतो सुद्धो ॥ नि० चू०
१३ उ० ॥

(२८) [वाचना] अन्ययूधिकाः पाखण्डिनो गृहिणः सुख-
शीला वा न प्रव्राजनीयाः—

जे भिक्खू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ,
वायंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अणउत्थियं वा
गारत्थियं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥
जे भिक्खू पामत्थं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥
जे भिक्खू पामत्थं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ २८ ॥
जे निक्खू उसणं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे
भिक्खू उसणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३० ।
जे भिक्खू कुमीद्वियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३१ ।
जे भिक्खू कुमीद्वियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ
। ३२ । जे भिक्खू णितियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ
। ३३ । जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ,
। ३४ । जे भिक्खू संसत्तं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ
। ३५ । जे भिक्खू संसत्तं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइ-
ज्जइ । ३६ ।

एवं पासत्थे दो सुत्ता, उसणे दो, कुसीले दो, संसत्ते दो, णि-
तिये दो, एतेसि वायणं देति, पडिच्छति, जावत्तेण वा सव्वेसु
अदाच्छंदवज्जिणसु चरलहुं, अहवा अत्थे व अहादे चउगुं,
सुत्त अत्थेसु—

अमपपासंरिय गिद्दी, मुहसीद्वं वा वि जो उ पव्वज्जे ।

अहव पडिच्छति तेमिं, चाओस्स य साति पोरंसि ॥ १२४ ॥

(पोरिसि स्ति) सुत्तपोरिसि अत्थपोरिसि वा दंतस्स, तेसि
वा समीचातो पोरिसि करंतस्स, अहवा एको पोरिसि वापत्त-
स्स, अणेगामु इमं—

मतरत्तं तवो होति, ततो वेदो पहावति ।

वेदेण विमपरिया, एतो मूलं ततो दुगं ॥ १२५ ॥

सत्तदिवसे चउगुं तवो, ततो एकके दिवसे चउगुं वेदो,
ततो एककेकदिवसे मूवणधट्टा पारंरिया, अहवा तवो, तदेव य
चउगुं, वेदो, सत्तदिवसे सेसा, एककेक दिवसे अहवा तवो
तदेव । गुरु, च्छेदो, सत्तदिवसे, सेसा एककेक, अहवा चउगुं तवो

धा सत्तदिवसे , ततो चउगुरु, ततो सत्तदिवसे, ततो गल्लह सत्तदिवसे, ततो गगुरु सत्तदिवसे, ततो एते चेव , वेदो सत्त सत्त दिवसे , ततो मूत्रउणवट्ठपपारं चिया एकके-
कदिणं, अहवा ते चेव चउलहुगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा, ततो वेदो, गहुणगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा सत्तसत्तदिवसे णेयवा,
जावहुगुरु, ततो मूलगुणउणवट्ठपपारं चिया एककेकदिवसं ;
गिहिअसुतिथिपसु इमे दोसा ।

मिच्छत्तथिरीकरणं, तिथ्यसोत्तावणा य गेएहं तु ।
देति पवंचणकरणं , तेणोवक्खेवरणं च ॥ २६ ॥

कहं मिच्छत्तं धरतरं ? उच्यते-तं ददुंतेसि समीवे गच्छं मिच्छ-
दिछी चितेति-इमे चेव पहाणतरा जाता, एते पि एतेसि समीवे
सिक्खंति, दोगो ददुं भणति, एतेसि अप्पणो आगमो णत्थि,
परे संति, ताणि सिक्खंति, गिस्सारं पवयणं ति ओभावणा, अह
तेसि देति, ताते सहइत्यादिजाविता महाजणमध्ये चट्ठं चोरं
खुज्जा विलियासणए करीसए पिलुअए स्ति । एवमादि पवंचणं
करेति उहुहं च, अहवा तेणोवसिक्खिकएण अक्खेवेति, चोयणं
करेज्जा, दूसेज्ज वा २२६ ॥

गिहिअसुतिथियाणं, एए दोसा व दंत गेएहंते ।

गहणपमिच्छण दोसा, पासत्थादीणि पुच्छत्ता ॥ २७ ॥

कंठा, णवरं पासत्थादिसु गहणपमिच्छणदोसा जे ते परणरस-
मे उद्देसगे वुत्ता, ते दछवा, वंदणपसंस्सणादिया वा तेरसमे
जम्हा एते दोसा तम्हा गिहिअसुतिथिया वा ण वापयवा,
परपासंमिलक्खणं जो अस्साणं मिच्छत्तं कुव्वंतो कुतिथिए
वा एति, जिणवयणं वा णाजिगच्छति, सो परपासंमी, जो पुण
गिही अणतिथिओ वा इमेरिसो-

नाणचरणे परुवण, कुणति गिही अहव अणण पासंमी ।

पयएहिं संपउत्तो, जिणवयमएणासगती जाति ॥ २८ ॥

णाणदंसणचरित्ताणि परुवेति । जिणवयणचोरो एति सो सं-
पासंमी चेव सो वाइज्जइ, जं तस्सं जोगं ॥ २८ ॥

एते व विप्पमुक्को, गच्छति गति अणणतिथिं ।

पव्वजाए अजिमुह, एति गिही अहव अन्नपासंमी ॥

उववायविहारं वा, पासत्था ओवगंतुकामं वा ॥ २९ ॥

जो असुतिथियाणुरूवा गती, तं गच्छति, सेसं कंठं, जवे कार-
णं वा पज्जा वि(पव्वज्जाए) गाहा । गिही अन्नपासंमी वा पव्व-
ज्जाजिमुहं सावगं वा उज्जीवणियत्ति जाव सुत्तयो, अथतो जाव
पिंडेसणा, एस गिहत्थादिसु अववादो, इमो पासत्थादिसु अववा-
दो तिस्ति उवसंपदा उज्जपविहारीणं उवसंपणो जो पासत्था-
दी सो उववादविहारट्ठितो तं वा वापज्ज, अहवा पासत्था दि-
साणजो संविग्गविहारं उवगंतुकामो, अब्भुत्तिउकामं इत्यर्थः ।
तं वा पासत्थादिभावचित्तं चेव वापज्जा जाव अब्भुत्तेति, एवं
वायणादिट्ठा, तेसि समीवातो गहणं कहं होज्जा ? उच्यते-

वितियपदसमुच्चेदो, दसाहि ते तहा एकणंति ।

असुस्स व असतीए, पमिक्कमंते व जयणाए ॥ ३० ॥

जस्स जिक्खुस्स णिरुक्कपरिया उवट्ठिति, णिरुक्कपरियागो एाभ
१.१ए

जस्स तिप्पि वरिसाणि पगियायस्स संपूराणि, तस्स य आया-
रपगणो अधिज्जियव्वो, आयरियाय कालगते एसेव समुच्चेदो ।
अहवा कस्सइ साहुस्स आयारपगणस्स देसेण अणधीते स-
मुच्चेदो य जाओ, एतेसि सव्वो आयारपगणो पढमस्स वितिय-
स्स य देसो य अवस्सं अधिज्जियव्वो, सा कस्स पासे अदि-
ज्जियव्वो । उच्यते-

संविग्गपच्छाकरुत्ति-पुत्तसारुवि पमिक्कंते ।

अब्भुत्तिते अ असती, अणिच्चेसु तत्तय वति देसा वीति ॥ ३१ ॥

सगच्छे चेव जो गीयत्था, तेसि असति परगच्छे संविग्गम-
णुअसगासे, तस्स असति परगच्छे संविग्गमणुअस्स, ताहे अ-
अस्स वि असति पत्ति पत्ति, अन्नसंभोइयस्स वि असति एति,
अन्नसंभोइयस्स वि असावणिआदि उक्कमेणं असंविग्गसु तेसु
वि णितियादिवाणाओ आवकहाए पमिक्कमाविच्चा , अणिच्चि
जाव अहिज्जइ, ताव पमिक्कमाविच्चा , तहा वि अणिच्चे तस्सेव
सगासे अहिज्जइ, सव्वत्थ वंदणादीनि न हावेइ । पसेवजयणा
तेसि असतीए पच्छाकमादिसु पच्छाकमो ति, जेण चारित्तं प-
च्छाकडं उभिकखंतो भिक्खं हिंरुइ वा, न वा सारुविगो पुण
मुक्किलवत्थपरिहिओ मुंरुमसिहं धरेइ । अभज्जगो अप-
त्तादिसु जिक्खं हिंरुइ । अण्णे भणंति-पच्छाकरुत्तिपुत्ता
चेव जे असिहा ते सारुविगा, एएसि सगासे सारुविगाइ प-
च्छाणुलोमणं अधिज्जति, तेसु सारुविगादिसु पडिक्कंते अब्भु-
त्ति पत्ति सामातियपडिक्कंता वतारोपितो अब्भुत्तिओ, अहवा प-
च्छाकमादिसु पमिक्कंतेसु एते सव्वे पासत्थादि पच्छाकमा-
दिया य असं खेत्तं एउं पमिक्कमाविज्जति, (अणिच्चेसु तत्तय व-
तिदेसा वीति ति) । अस्य व्याख्या-

देसो सुत्तमहीयं, न तु अत्या अत्यतो व असमत्ती ।

असति मणुअमणुअे, इयरेतरपक्खीयमपक्खीयं ॥ ३२ ॥

पुव्वद्वं कंठं । (असति मणुअमणुअे ति) पयं गच्छंति (इतरे-
तरत्ति) असति णितियाण इतरा संसत्ता, तेसि असति इतरा
कुशीला पयं णायव्वं, एसो वि अत्थो गट्ठा चेव लेसु वि पुव्वं
जेसि विग्गपरिकएसु इमेरिसा , जे पच्छाकमादिया मुंरं वा
गा ते पच्छाकमादिया । जावउजीवाए पमिक्कमाविज्जंति
जावउजीवमणिच्चेसु जाव महिज्जति, तह वि अणिच्चेसु जदि ।

मुंरं व धरेमाणे, सिहं च फडित्ताणित्यसिस्साह ।

लिंगेण मसागरिए, ए वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

(मुंरं धरे ति) तारयोहरणादि दव्वलिंणं दिज्जति, जाव उहे-
सादीं करेइ, सा सहस्साविसिहं फेरेतु । एमेव दव्वलिंणं दिज्जति,
अणिच्चेसु दव्वलिंणं वा णो इच्छति फेरेतुं, तो स सिहस्सेव
पासं अधिज्जत सविगे ठिओ चेव असागरिए पपेसु य
पूयत्तिकाओ वंदणाइ सव्वं ण हावेइ, तेण वि वारयव्वं पच्छा-
करुयस्स पासत्थादिसुयस्स वा जस्स पासे अधिज्जति, तत्थ
वेयाएच्चं ण करे । इमो विही-

आहार उवहि सेज्जा-एमणमादीसु होति जतियव्वं ।

अणुमोयणकारावण, सिक्खति य पदम्मिसो मुप्पो ॥ ३४ ॥

जदि तस्स आहारादिया अत्यतो, पहाणं अह एत्थि, ताहे
सव्वं अप्पणा एसणज्जं आहारादि उपाएयव्वं, अप्पणा
असमत्तो-

चादति से परिवारं, अकरेमाणे मणादिवासडे ।

अचो चिचिकरस्स उ. सुयजत्तीए कुणह पयं ॥३९॥

दुविहाऽमति एतेमि, आहारादीं करेति सव्वं तो ।

पणिहाणी व जयते, अत्तहा एवमेव गणहंतो ॥ ३६ ॥

जे तस्स परिवारे पासत्थादियाण वामी स परिवारो सहावि संताण करेति, असंता वा णत्थि सहा, एव असती एसो सि-
क्खगो आहारादि सव्वं पणं परिहाणीते जयणा, ते तस्स
विसोहि कोमीहिं सयं करेता सुज्झति, अप्पणो वि एमव पुव्वं
सुद्धं गणहति । असति सुद्धस्स पच्छा विसोहि कोमीहिं गणहंतो
सिक्खति, अववादपदेण वसुज्झ । नि० चू० १९ उ० ।

(९) विचारभूमेविहारचूमेवा निष्क्रमणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वहिया विचारचूमि वा विहा-
रचूमि वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णां अणउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा परिहारियां वा अपरिहारिएणं
सद्धिं वहिया विचारचूमि वा विहारचूमि वा णिक्खमेज्ज
वा, पविसेज्ज वा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स जितुर्वहिविचारभूमिं संज्ञायुत्सर्ग-
भूमिं तथा विहारचूमिं स्वाध्यायचूमिं तैरन्यतीर्थिकादिभिः सह
दोषसंतवाञ्च प्रविशेदिति संबन्धः । तथाहि-विचारचूमौ प्रासु-
कोदकस्य च्छब्दवह्निरपि त्रैपकुतोपघातसद्भावादि विहारचूमौ वा सि-
द्धान्तालापकविकथननयात्, सेहायसहिष्णुकलहसद्भावाच्च
साधुस्तु तैः सह न प्रविशेत्, नापि ततो निष्क्रामेदिति । आचा० २
श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे जिकवू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
वा अपरिहारिएण वा सद्धिं वहिया विहारचूमिं वा विचार-
चूमिं वा निक्खमएज्ज वा, पविसएज्ज वा, निक्खमंतं वा प-
विमंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

(जे भिक्खू अणउत्थियेत्यादि) ममावोसिरणं विचारजमी-
अमज्जप सज्जायतमी जा साविहारभूमी, सा उज्झामगपोरि-
सो वि भणति णो कप्पति । “ एत्तो एगतरेणं ” गाहा कठा ।

वीयारचूमिदोसा-संका अपवत्तणं कुरुकुरा वा ।

दवअपककुमगंये, असती व करेज्ज उट्ठाहं ॥३०२॥

वीयारचूमि असती, पणिणीए तेण मावण वा वि ।

रायहुडे रोधग, जयणाए कप्पते गंतुं ॥ ३०३ ॥

वियारचूमिप पुरीमा वा, तस्योए अ दोसासंका (अपव-
त्तणं नि) अवत्तं य मुत्तगिरोहं श्रीणि सट्थादिप मट्ठि-
याए वट्ठदेवणय कुरुकुरा करयथा, पत्थ उज्जोलणे ओणील-
णादीं दोसा । अट्ठ कुरुकुरं गण करेति, उट्ठाहो अप्पेण वा दवेण
कट्ठमेण वा दवेण णिद्धेयंतं दट्ठं चउत्थरसियादिणा वा गधि-
ल्लेण अनाये वा दवस्स अणिल्लेयिते जणपुरयो उट्ठाहं करेज्ज,
जम्हा एते दोसा तम्हा तेहिं सद्धिं ण गंतव्वं, अववादपए जे
वज्जेज्ज । (वियार गाहा) अणयो वियारचूमिप अस्मति जदि ते
गिद्धयअणउत्थिया वदंति, ततो वपज्ज, जतो अणावानमसं
लोअं तथो इमे पडिणीतएण माययोअितदोसा । अनेर

तत्थ वा थंमिले गतस्स, अतो गिहत्थेहिं समं गत्रे, ते निवारंति,
रायहुडे रायगल्लभेण समाणं गम्मह, राहपपगा चेव सरणा-
चूमी पारिसोहिं कारणेहिं जयणाए गम्मति, सा य इमा जयणा-

पच्छाकडत्तदंसण, असण्णिगिहिए तथो कुडिगीसु ।

पुव्वमसोयवादिसु, पउरदवेमट्ठिया य कुरया य ॥ ३०४ ॥

पुव्वं पच्छाकमेसु गिहीयाणुव्वणसु तेसु चेव दंसणसावणसु
ततो एसु चेव कुत्तिथिएसु ततो अमण्णिगिहत्थेसु ततो कुलि-
गिएसु असण्णीसु मव्वासु सव्वेसु पुव्वं असोयवादिसु पच्छा
सोयवादिसु दूरंदूरेण परं मुट्ठो डुवे लेववज्जितो पउरदवेणं म-
ट्ठियाए य कुरुकुरं करेता अ दोसो ।

एमेव विहारम्मी, दोसा उट्ठंचगादिया बहुधा ।

असती पणिणीयादिसु, वितयं आगाढजोगिस्स ॥३०५॥

विहारचूमिप वि. प्रायशः एत एव दोषाः । उरुञ्चकादयश्च अ-
धिकतरा बहवः । अन्ये उरुञ्चका कुट्टिदा उट्ठंति वा वंदनादिसु
प्रत्यनीकादि द्वितीयपदं पूर्ववत् । चोदको भणति-जयत्थिया
दोसा तत्थ तेहिं सामणं गंतुं विनियपदेण विसज्जाओ मा की-
रउ । आयरिओ भणति-आगाढजोगिस्स उदेससमुदेसादथो
अवस्सं कायव्वा, उवस्सप य असम्भावेहिं पणिणीयादि, अतो
तेण समाणं गंतुं करेता सुट्ठो । नि० चू० २ उ० ।

(३०) विहारः-

से जिकवू वा जिकखुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो
अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ अपरिहा-
रिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥ ४१ ॥

तथा (से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्खुर्ग्रामाद् ग्रामान्तरम्, उप-
लक्षणार्थत्वाच्चगरादिकमपि (दूइज्जमाणे त्ति) गच्छन्नाभिरन्य-
तीर्थिकादिभिः सह दोषसंभवाच्च गच्छेत् । तथाहि-कायिकादि
निरोधे सत्यात्मविराधना, व्युत्क्रमे च प्रासुकाप्रासुकग्रहणादावु-
पघातसंयमविराधने भवतः । एवं भोजनेऽपि दोषसंभवो ज्ञाव-
नीयः, सेहादिविप्रतारणादिदोषश्चेति । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे जिकवू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
वा अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा
साइज्जइ ॥ ४१ ॥

ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामानुग्रामम् । शेषः पूर्वसुप्रार्थवत् ॥४१॥

णां कप्पति जिकखुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारिणीं ।

गिहिअणत्तिथिएण व, गामणुगामं तु विहारिचा ॥३०६॥

एत्तो एगतरेणं, सहितो दूइज्जती तु जे जिकवू ।

सो आणाअणवत्तं, मिच्छत्तविगहणं पावे ॥ ३०७ ॥

“ डुगुगतौ ” दूइज्जइति रीयति, गच्छतीत्यर्थः । रीयमाणो ति-
त्थगराणं आणं आणमि जे अणवत्तं करेति, मिच्छत्तं अणमि
जणयति, आयरियसंजमविराहणं पावति । इमं च पुरिसवि-
जारेण पच्छत्तं-

मासादीया गुरुगा, मासो अविसेसियं चउएहं पि ।

एवं सुत्ते पत्या-ए होति सट्ठाण पच्छत्तं ॥ ३०८ ॥

अर्गायथानिक्खुणो गीयथभिक्खुणो उवज्जायस्स आयरिय-

स्स एतेसि चउएह वि मासादी चउगुरु मतं, अइवा मासवहुं
 ञेव तवकालविसेसियं । अइवा अविसेसियं चैव मासवहुं । चाद-
 ग-आह-किं णिमित्तमिदं सुत्ते पुरिसविभागेण पच्छित्तं दिष्मं ?
 आचार्य आह-सर्वसुत्रप्रदर्शनार्थम् । एवं सुत्ते २ पत्थाण सट्ठाण
 पच्छित्तं दट्ठव्वं । इमा संजमविराडणा-

संजतगतीएँ गमणं, ठाणणिमीयण उ अट्ठणं वा वि ।
 वीसमणादि पमिस्सुय-उच्चारदी अवीसत्या ॥ ३०ए ॥
 मामादीया गुरुगा, जिकवू व समाजिमेगआयरिए ।
 मासो विसेमिओ वा, चउएहवी चउसु सुत्तेसु ॥ ३१० ॥

जदा संजओ सिग्घगतीए वा वच्चति, तदा गिहत्थो वि-
 तितो अधिकरणं भवति, तएहा लुहाए व परिताविज्जति,
 तप्पिप्पसं वीसमंतो य सच्चित्तपुढाविकाए उद्धाणं निसी-
 यणे तु अट्ठणं वा करोति, भत्तपाणादियाण उच्चारपासवणेसु
 य सागारिओ भिकाउं अवीसत्थो साहुणिस्साए वा गच्छंति ।
 तो फलादि खाएज्जा, अहिकरणं साहु वा तस्स पूरओ विति-
 यपदेण गेएहेज्जा । परितावणाणिप्पसं पादपमज्जणादि वा
 ए करेज्जा, तत्थ वि सट्ठाणं अहं करोति, उड्ढाहो ।

भाष्यकारैरेवायमर्थ उच्यते-

अत्यंभिलमेगतेरे, ठाणादी खच्छउवहि उड्ढाहो ।
 धरणणिसग्गे वा तो-जयस्स दोसा पमज्जणए ॥ ३११ ॥
 साहुणिस्सए वा साहु अथंडिले ठाएज्ज, खद्धोवहिणा भारं
 दुंदुउत्ति उड्ढाहं करोति, धरणणिसग्गे वा वायकाइयसप्पण
 उभयहा दोसो पमज्जतस्स उड्ढाहो, अपमज्जणे य विराहणा
 जम्हा ए गच्छे ॥ ३११ ॥

वितियपदं अच्चाणे, मूढमयाणं दुड्ढण्ठे वा ।
 उवहीमरीरंतेणग-सावयजयदुल्लभपवेसे य ॥ ३१२ ॥

अच्चाणे सत्थिपहिं समं वच्चति पंथाउ वा मूढोदिसातो वा
 मूढो, साहु जाव पंथे उच्चरेति पंथमयाणं तो वा जाणा गिहिं
 समं गच्छेज्ज, रायदुडे वा रायपुरिसेहिं समं गच्छे, बोधिगा-
 दिभया एणो वा तेहिं समाणं णिहोसो हवेज्ज, तेणगभए वा
 गच्छे, सावयभए वा अस्समि वा एणरदेसरज्जे दुल्लभपवेसे
 तेहिं समं पविसेज्ज । अस्सहा ए लब्भति । तत्थ पुण एणरा-
 दिसु विहरंतो तत्थ अत्थंतो णितितो भवति, तेहिं समाणं
 गच्छंतो इमा जयणा-

णिब्जएँ पिठउ गमणं, वीसमणादी पदा तु अस्सत्थ ।
 सावयसरीरंतेणग-जएगुतिट्ठाण जयणा तु ॥ ३१३ ॥

णिब्जए पिठओ गच्छति, पिठतो ठिता सव्वपमज्जणादि सा-
 मायारि पंजति, वीसमणत्ति पदा जदि असंजतो थंडिन्ने करे-
 ति, तो संजया अणयंभिले जयति, तेण सावयभयं जइ पिठ-
 तो, तो मज्जतो पुरतो वा गच्छंति, मज्जे तए पुरतो पिठओ वा ग-
 च्छंति ॥ ३१३ ॥ नि० चू० २ उ० ।

(३१) [शिक्षा] अन्ययूयिकं वा गृहस्थं वा शिल्पादि
 शिक्षयति-

जे जिकवू अस्सउत्थियं वा गारत्थियं वा मिप्पं वा सि-
 लोमं वा अट्ठापदं वा कक्करयं वा बुगाहं वा सलाहं वा

सलाहत्थयं वा सिकखावेउ, सिकखावंतं वा साइज्ज ॥ ८ ।

(जे भिक्खू अन्नउत्थियं वा इत्यादि) सिप्पं तुष्णादि, सि-
 लोमो वणणा, अट्ठापदं जूतं, कक्कडगदेउ बुगाहा कट्ठहो,
 सलाहा कक्करुणप्पओ । एस सुत्तथो । इमा णिज्जुतो-

सिप्पसिलोमादीहिं, मेसकलाओ विमूढया होति ।

गिहिअस्सत्थियं वा, सिकखावंते तमाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्खणसउणरयादिसुत्थिया ण गिही अष्-
 तित्थी वा सिकखावेयव्वा । जो सिकखावति, तस्स आणादिया
 य दोसा, चउवहुं च से पच्छित्तं ॥ २० ॥

मिप्पमित्तोमे अट्ठा-वए य कक्कगवुग्गहसलाहा ।

तुंताग वष्ण जतो, हेतू कलहुत्तरा कव्वो ॥ २१ ॥

पुव्वेण सुपसिखा गाहा, पच्छेण जहासंखं तत्थ उदाहरणं ।
 सिप्पं जं आयरिओवदेसेण सिक्खिज्जति, जहा तुष्णां तुष्णा-
 दि, सिन्नोमो गुणवयणेहिं वष्मणा, अट्ठापदं चउरंगेहिं जूतं,
 अहवा इमं अट्ठापदं-

अम्हेण वि जाणामो, पुट्ठो अट्ठापयं इमं वेति ।

सुणगाविमालकूरं, णेच्छति पप्पजातम्मि ॥ २२ ॥

पुच्छितो अपुच्छितो वा भस्सति-अम्हे णिमित्तं ण सुट्ठु जाणामो,
 पत्तियं पुण जाणामो, परंपरभावकाले दधि कूरं सुणगादिजावो
 ण जवति, अणिच्चा वा भणितो विणासो घटवत् कृतविप्र-
 णासादयश्च दोषा भवन्ति । अहवा कर्कटदेतुसर्वनायक्यप्रति-
 पत्तिः । अत्राह-यथा दोषो मूर्तिमदमूर्तसदुःखभेदतो ज्ञानका-
 लभेदाच्च कारकजुतविशेषाच्च विरुद्धं सर्वनायक्यम् । अथ नैवं,
 ततः प्रतिज्ञाहानिः । बुग्गहो रायादीं अमुककाले कट्ठहो भवि-
 स्सति । रप्पो वा जुद्धं सगरमादिपण कट्ठहं जयमादिसति । दो-
 एहं वा कलहं ताणं उ कस्स उत्तरं कहेति ? सलाहत्ति, कथा-
 सभावं कहेति । कव्वेहिं वा वारितो कथं करोति ? सलाहकहत्थ-
 णं ति, सव्वकावो तो सूचिततो भवंति, ताणि अस्सत्थिमादीणि
 सिकखावंति, चउलहु, आणादी य संजमे दोसा । अधिकरणं
 उस्सगावदेसे य इमं वितियपदं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुडे जए व गेत्ताणो ।

अट्ठाण रोहए वा, सिकखावणया उ जयणाए ॥ २३ ॥

रायादिमसं वा ईसरं सिकखावैतो असिघगदितो तप्पभावा
 ओट्ठागादि लज्जति, ओमे वा पुव्वति सोच्चा रायदुडे ताणं करोति ।
 वोहिगादिजये ताणं करोति । गिन्नाणस्स वा उसहातिपहिं उव-
 ग्गहं करिस्सति । अच्चाण रोहगेसु वा उवग्गहकारी जविस्सति ।
 एवमादिकारणे अवेक्खिऊण इमाए जयणाए सिकखावति । २३ ।

संविग्गमसंविग्गो, धावियं तु साहेज्ज पढमतोगीयं ।

विवरीयमगीए पुण, अणभिग्गहमाइ तेण परं ॥ २४ ॥

पणुगपरहाणीए जाहं चउवहुं पत्ता तेसु जतिउं ते से विअ-
 संतरंतो ताहे संविग्गो धाविअं गीयत्थं भिक्खावति, पच्चा
 असंविग्गो धावितं गीयत्थं; अगोपसु विवरीयं कज्जति, ततो अ-
 संविग्गो धावितं अगीतं, ततो संविग्गं अगीयं, अन्यविपरीतक-
 रणाद् हेतुमद्भावनां करिष्यति । संविग्ग अगीतार्थः । पच्चा ग-
 हियाणुव्वयं, ततो पच्चा दसनसावगे, ततो पच्चा अहानइयं,

ततो मिच्छं अणभिगहाभिगाहिं । नि० चू० १३ उ० ॥

(३२) [संघाटीसीवनम्] अन्ययूधिकादिभिः संघाटीं
सावयति—

जे भिक्खू अप्पणो संघात्थियं अण्डउत्थियेण वा गार-
त्थियेण वा सीवावेइ, सीवावंतं वा साइज्जइ । १२ ।

अप्पणो अप्पणिज्जं संघाडीणाम् सवमी सएहसति त्ति काकु-
ण दोहं भंतेहिं मज्जे य जदि अण्डउत्थियेण स मरक्खादिणा
गिहत्थेण तुक्कागादिणा संसिद्धावेइ अप्पणेण ॥ १२ ॥

णिक्कारणम्मि अप्पण, कारणे गिहि अधव अणत्तिर्याहिं ।
संघाडिं सीवावे, सो पावति आणमादीणि २५ ॥

जदि णिक्कारणे अप्पणा सावेति, कारणे वा अण्डउत्थियगार-
त्थियेहिं सिव्वावेति, तस्स मासलहुं, आणादिया इमे दोसा-
णिक्कारणम्मि लहुगो, गिहत्थेण आरोवणा पविट्ठम्मि ।

उप्पइकाइसजमे, कारणमुच्चो खलु विधीए ॥ २६ ॥

विदे आयविराहणा छप्पतियवाधअसंजमविराहणा, कारणे
वि दीए सयं सिव्वंतो सुद्धो । चोदग आह-पढमुद्धसगे परकरणे
मासगुहं वक्षियं, इह कहं मासलहुं भवति ? आयरिय आह-

कामं खलु परकरणे, गुरुमासो तु वक्षिओ पुव्विं ।

कारणियं पुण मुत्तं, सयं वऽपुण्णायते द्दहुओ ॥ २७ ॥

एगधुणममुच्चंते, पलिमंथो उग्गमो तु पणित्यो ।

एगस्म वि अक्खेवे, अवहारो होति सव्वेसिं ॥ २८ ॥

कामं अणुमयत्थे, खलु पूरणे, पुव्वं पढमुद्धेसए, इह तु कार-
णिए सुत्ते अप्पणो अणुष्ठाते परेण सीवावेतस्स मासलहुं,
सवडिए इमे दोसा । (एगधुणे) गाहा । जदि बद्धं पाडिलेहंति
अणुगुरुधूणणदोसा, अह वंधी मात्तुं पाडिलेहंति पुणो वं-
धति, सुत्तत्थपलिमंथो भवति, पाडियत्थो उग्गमो णेगण,
अक्खित्ते एगे वि सव्वेसिं अपहारो भवति, अकारणं सि-
व्वणे य इमा दोसा-

सयमिच्चणम्मि चिट्ठं, गिलाणआरोवणा तु सविसेसा ।

विज्जति य संजमम्मो, सुत्तादी अकरणे इमं च ॥ २९ ॥

अप्पणो सिव्वंतो सूर्यपविद्धो ताहे गिलाणारोवणा सवि-
सेसा सपरितावमहादुक्खा छप्पतियवाधे असंजमो भवति,
तत्थ लहुगो सुत्तत्थपारसिं ण करेति, जहासंखं सुत्तणासे इकं
अर्थं नासेइ, काइमं व परकारवणे दोसदंसणं ।

अविमुद्धाण काया, पफोरुण उप्पया य वा तीय ।

पच्छाकम्मं वमिया, उप्पति वेधो य हरणं च ॥ ३० ॥

अविमुद्धाणं अपुढवीकायादियाणं उवरिं ठवेति, कायवि-
राहणा, पफोडणे छप्पया पडंति, वाउसंघट्टणा य घाणावडि-
यवज्जिण देससव्वणद्दाणं करेज्ज, छप्पया उवाधिंथेति,
अप्पणो वा ऊरुयं विधत्ति, हरेज्ज वा तं संघाडिं । इदाणि
अप्पणो सिव्वणकारणं भणति—

वितियं तु चट्टमुद्धारगा, य गेलमविसमवत्थे य ।

एतेहिं कारणहिं, संसिच्चणमप्पणा कुज्जा ॥ ३१ ॥

बुद्धिं तस्स हत्था वा पाया वा कंयति, ण तरति पुणो रसं उधेउं;

अथवा उद्धारगा गिलाणो वा ण तरति, पुणो २ संवेवं विस-
मवत्थाणि वा पगंठं सीविज्जति, एतेहिं सयं सीवेतो सुद्धो, ज-
हंसेण तिणिणं वेधो, एको दंसंते, वितीओ पासंते, ततियो सज्जे
वि । तिणि उक्कोसेण उ भवंति, कारणे अण्डउत्थियेण सि-
व्वावेति ।

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा होज्ज केण वी असह ।

वाघातो व सहस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ३२ ॥

अप्पणा अणिउणो वा असह गिलाणवाघातो गिलाणाति, पओ-
यणेण वा वमी एवं पओए कारवेवं कप्पति, इमाए जंयणाए-
पच्छाकमसाभिगह-णिरज्जिगह जहएण व असएणी ।

गिहिअएणत्तिथिएहिं, असोयसोए गिही पुव्वं ॥ ३३ ॥

पच्छाकमो पुराणो पढमं तेण ततो अणुध्वयसंपप्पो सावआं
साभिगयो; ततो सएणी भइआं, असएणी भइओ, एते चउरो
गिहिजेदा । अण्डउत्थियं एए चउरो जेदा एक्केके असोयसोय
जेया कायव्वा, पुव्वं गिहीसु, पच्छा सोयवादिषु, पच्छा अण-
त्तिथिएसु । नि० चू० ५ उ० ।

जे भिक्खू निगंथीणं संघाटी अण्डउत्थियेण वा गार-
त्थियेण वा सिव्वावेइ, सिव्वावंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

अण्डउत्थियेण गिहत्थेण सिव्वावेति, तस्स चउलहु, आणादि-
या य दोसा ।

संघाटीओ चतुरो, तिपमाणा ता जवे दुविहा ।

एगमणेगं इम्मी, अट्टिकारोऽणुगखंकीए ॥ ५१ ॥

प्रायेण (संघाडिज्जति त्ति) संघाटीगुणसंघायकारिणी वा, सं-
घाटी देसीभासातो वा पाउरणे संघाटी, ततो संखा, पमा-
णेण चउरो प्रमाणेन तिपमाणगा एया दुहत्था दीहा, दु-
हत्थवित्थारा सा उ उवस्सए अत्थमाणीए भवति, दंतिहत्थ-
दीहा, तिहत्थवित्थारा, तत्थेगा भिक्खायरियाए, वितिया वियारं
गच्छती पाडणति, चउहत्थ चउहत्था दीहा, चउहत्थवित्थारा,
एया सव्वा वि पासगलळा पुणो एक्केक्का दुविहा । पच्छेद्धं
कंठं ॥

तं जो उ संजतीणं, गिहीए अहवा वि अणत्तिथीणं ।

सिव्वावेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ ५२ ॥

तं संजती संजतेयं संघाडिं जो आयरितो गिहत्थेण अणत्ति-
थियेण वा सिव्वावेति, तस्स आणादिणो दोसा ।

कुज्जा वा अजियोगं, परेण पुट्ठे व संकि उट्ठाहो ।

हीणाहिंयं व कुज्जा, छप्पइणा सहंरिज्जा उ ॥ ५३ ॥

सो गिही अणत्तिथी वा तत्थ वसीकरणप्पयोगं करेज्ज, अ-
न्नेण वा पुट्ठो-कस्स संतियं वत्थं ? सो काधिज्ज संजती-संज-
तियं, ताहे तस्स संको भवति, उट्ठाहं वा करेज्ज, नृणं को विसं-
बंधो अत्थि, तेण एसो सिव्वेति, पमाणेण हीणमहीणं वा करेज्ज,
छप्पयातो उट्ठेज्ज, मारेज्ज वा, तं वा संघाडिं करेज्ज, सिव्वंतो
वा चिट्ठो तत्थ परितावणादिनिष्फले उप्पोसणादि वा पच्छा-
कम्मं कुज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा इमो विही-

द्विपरिकम्मितं खलु, अगुज्जउवहिं तु गणहरो देति ।

गुज्जोवहिं तु गणिणी, सिव्वेति जहारिहं मिणं तु ५४ ।

जं अतिप्पमाणं तं विदंति, उ कुत्तिमादिणा परिकम्मियं अ-

गुज्जोवही तिग्नि कणा चउरो संघाडतो पातं पायणिज्जोगो य,
एवं गणहरो परिकम्भितं देति, सेसो गुज्जोवही तं गणिणं। सरी-
रपमाणं मिणित्ति सिव्वेति, कारणे गिहि अन्नतिस्थीण वा सिव्वा-
वेति ॥ ४४ ॥

वित्तियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणवी असहू ।

गणिगणहर गच्छे वा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ४५ ॥

गणी उवज्जाओ. गणहरो आयरिओ, अन्नो वा गच्छे वुहो तरुणो
वा वुहसीहो, ते सिव्वेज्जा, अह ते असहू होज्जा, गच्छे वा नत्थि
कुसहो, ताहे गिहिअन्नतिस्थीणा वा सिव्वावेति ।

तत्थ इमो कप्पो—

पच्छाकरुमाज्जिगह—निरज्जिगहज्जए य व अमएणी ।

गिहिअसत्तियएण व, गिहि पुवं एतरे पच्छा । ५६ ।

पूर्ववत् सिव्वावणे इमो विही—

आगातेणं असती, संग्रणं गंतु सिव्वावे ।

पासट्टिय अवसित्तो, तो दोसे वंजणा ण जायंति । ५७ ।

सो गिहत्थो अन्नतिस्थिओ वा साहुसमीवं अह पवत्तीए आ-
गतो सिव्वाविज्जति । जदि अभासागतो ण वज्जति, तो तस्स
जं संग्रणं तं गंतु सिव्वाविज्जति, जयणाए ण्णपदातो पुवं अन्नत्थ
संक्रान्तिज्जति, तस्स समीवे अवसित्तो वितो णिवसो वात्ता
व चिट्ठति, जाव सिव्वियं, एवं पुव्वुत्ता दोसा ण जंवेति ।

(३३) संभोगः—

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उ-
बहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ । ३८ । जे
भिक्खू अणउत्थिण वा गारत्थिण वा सद्धिं जुंजइ,
भुंजंतं वा साइज्जइ । ३९ । जे भिक्खू आमउत्थिणं वा
गारत्थिणं वा सद्धिं आवेडिय परिवेडिय जुंजइ, जुंजंतं
वा साइज्जइ । ४० ।

असत्तियया तव्वप्पिया दि वंभणा खेत्तिया गारत्था, तेहिं सद्धिं
एगभायणे जेयणं एगदुत्तिदिसिद्धिणसु आवेडिओ. सव्वदिसि
ठितेसु परिवेडिओ। अहवा आइ मर्यादया वेधितः, दिसि विदिसा-
सु विच्छिन्नद्वितेसु परिवेधितः। अहवा एगपंतीसु आवेधितः,
दुगादिसु पंतीसु समंता परिद्वियासु परिवेधितो ।

गिहिअसत्तियएहिं व, सद्धिं परिवेडितो व तं मज्जे ।

जे भिक्खू असणादी, भुंजेज्जा आणमादीणि ॥ ६७३ ॥

असत्तियएहिं सद्धिं भुंजति, असत्तियआण वा मज्जे ठितो
परिवेडितो वा जुंजति, तस्स आणादिया दोसा । ओहओ चउ-
रुहं पच्छित्तं । विभागतो इमं—

पुवं पच्छा संयुय, असोयसोयवाऽ य ज्जहुगा वा ।

चउरो वा जमन्नपदा, चरिमपदं दोहि वी गुरुगा ॥ ६७४ ॥

पुवं संयुया असोयवादी य पच्छा संयुया। (असोयत्ति) एतेसु
चउसु पप्पु लहुगा (चउरोत्ति) (जमलपदं ति) कालतवेहिं
विसेसिज्जति जाव चरिमपदं पच्छा संयुतो सोयवादी, तत्थ
चउलहुगं तं कावतवेहिं वि गुरुगं भवति ।

सुत्थीसु चउ गुरुगा, उलहुगा अणत्तिथीसु ।

परत्तियणि उग्गुरुगा, पुव्वावरसमणसत्तं ॥ ६७५ ॥

एयःसु चैव सुत्थीसु पुरं पच्छा असोयसोयसु चउगुरुगा काल-
तवेहिं विसेसिता, एतेसु चैव असत्तिययपुरिसेसु चउसु उल-
हुगा कालतवविसिद्धा, एयासु चैव परत्तिस्थिणसु उग्गुरुगा, पु-
व्वसंयुयासु समणीसु वेदो, (अवरत्ति) पच्छा संयुतासु सम-
णीसु अट्टमं ति सूवं । अयमपरः कल्पः—

अहवा वि णालवत्ते, अणुव्वओवासए व चउलहुगा ।

एसु वि य दोसु इत्थी—सु णालवत्ते चउ गुरुगा ॥ ६७६ ॥

णालवत्तेण पुरिसेण अणालवत्तेण य गहिताणुव्वओवासगेण
एतेसु दोसु चउलहुगा, एयासु वि य दोसु इत्थीसु णालवत्ते य अ-
विरयसम्महिद्धिम्मि एतेसु वि चउगुरुगा ।

अणालदंसणित्तियसु, उलहु पुरिसे य दिट्ठ—आभट्टे ।

दिट्ठित्थि पुम अदिट्ठे, मेहुणनोई य उग्गुरुगा ॥ ६७७ ॥

इत्थीसु अणालवत्तासु अविरयसम्महिद्धिसु, दिट्ठानट्टेसु पुरि-
सेसु, एतेसु दोसु वि उलहुगा, इत्थिसु दिट्ठामहासु, पुरिसेसु अ-
दिट्ठानट्टेसु, (मेहुणि त्ति) मानलपिच्छयधाता (नोइय । त्ति) पु-
व्वभज्जा, एतेसु चउसु वि उग्गुरुगा ।

अदिट्ठज्जसासु थीसु, संजोइयतंजतीण वेदो य ।

अमणुससंजतीए, मूलं थी फामसंबंधा ॥ ६७८ ॥

इत्थीसु अदिट्ठज्जसासु संजोइयसंजतीसु य एयासु दोसु वि
वेओ (अमणुसत्ति) असंभोइयसंजतीसु सूवं, इत्थीहिं सह
भुंजंतस्स फासे संबंधो, आयपरोजयदोसा, देहे संकाइया य
दोसा, जदि संजति संति तो समुद्देशो, तो चउलहुं, अधिकरणं च ।

पुवं पच्छाकम्मे, एगतरदुगुंउरुहउट्टाहो ।

असं.सामयगहणं, खच्छगहणे य अचित्तं ॥ ६७९ ॥

पुरे कम्मं संजतेण सह भोत्तव्वं. हत्थपादादिसुइं करेइ, संजतो
भुंजिस्सइ । अग्रिगतरे रंधावेति, पच्छाकम्मं कोवि एसोति
सवेलं एहाणं करेज्ज । पच्छित्तं वा पडिवज्जे, संजतेण वा जुत्ते
अपहुपंतं असं पि रंधेज्जा, संजतो गिही वा एगतरु दुगुं
करेज्जा, विलिगभावण वा उहुं करेज्जा, अक्षेण दिट्ठे उट्टाहो
भवति, कासादिरोगा वा संकमेज्ज । अधिकतरं रुद्धेण वा
अचियत्तं भवेज्ज ।

एवं तु भुंजमाणे, तेहिं सद्धिं तु वप्पिता दोसा ।

परिवरितो जदि भुंजइ, तो चउ लहु इमे दोसा ॥ ६८० ॥

परिवारितमज्जगते, सव्वपयारेण होंति चउ लहुगा ।

कुरुकुरकरणे दोसा, एमादिसु उग्गमा होंति ॥ ६८१ ॥

मज्जे ठितो जणस्स परिवारिओ जइ भुंजइ, अहवा समंता
परिवारितो दोएहं ति एहं वा जइ मज्जगओ भुंजति, सव्वप्प-
गारेहिं चउलहुं गिहिभायणे य ण भुंजियव्वं । तत्थ भुंजतो
अयाराओ भस्सति । कंसेसु कंसपाएसु सिलो गो वा एवमुग्ग-
मादिसु भुंजंतस्स उट्टाहो भवति, कं चिय दवेण य उट्टाहो,
इयरेण आउक्कायविराहणा, बहुदवेण कुरुकुरकरणे उप्पि-
लावणादि दोसा, जम्हा एवमादो दोसा तम्हा एतेहिं सद्धिं
परिवेदिण्य वा न भुंजियव्वं ।

वितियपदेइमाहा-रणा य गेलस रायडुछे य ।

आहार तेण अच्चा-ए सहए धंज तत्थेव ॥ ६७७ ॥

पुत्रं संधुओ पच्छा संधुओ वा पुत्रं एगभायणो आसी, स तस्स सेहेण आगतो जदि ए भुजति तो परिणमति, अतो सेहेण संमं भुजति, परिवट्ठितो वि तेसागणसु मा तेसि संका भविस्सति-कि एस अप्पसागारियं समुदिसति ति, अम्हे वा वि करंति मा बाहिरभावं गच्छपरिवट्ठितो भुजति । साहारणं वा लब्धं, तं ए चैव भुजियव्वं । अह कक्खमंडिओ ताहे घेत्तुं तीरं भुजति । अह दाया भदंति ताहे तेहिं चैव सद्धिं परिवुडो वा भुजति, गिलाणो वा वेज्जस्स पुरतो समुदिसेज्जा, जयणाए कुरुकुयं करेज्जा, रायडुछे रायपुरिसेहिं णिज्जंता तेहिं परिवट्ठितो भुजेज्ज । आहारतेणोसु तेसि पुरओ भुजेज्ज, अद्धान तेण सावयभया सत्थस्स मज्जे चैव भुजति । सेहागं सव्वेसि एक्कावसही होज्जा, बाहिगादिभए जण्ण सह कंदगाइसु अत्थति । तत्थ तेसि पुरतो समुदिसेज्जःओमे कहिं वि सत्ताकारे तत्थेव भुजंता ए लब्धति, भायणेसु ए लब्धति । तत्थेव भुजेज्जा सागारिए एक्को परिवेसणं करे, वट्ठमाइसु संतरं संभुजंति, एणं दुविहेण दवेण कुरुकुयं करे । सव्वेसु जहासंभयं एसा जयणा । नि० सू० १६ उ० ।

अण्णत्थियपदेवय-अन्ययूथिकदेवत-न० ६ त० । परतीर्थिक-

पूण्येषु हरिहरादिषु देवेषु, उपा० १ अ० । औ० आ० चू० । प्रति०

अण्णत्थियपरिगाहिय-अन्ययूथिकपरिगृहीतं-त्रि० । तीर्था-

नरीयैः पूज्यत्वादिनाऽङ्गीकृतेऽर्हचैत्यादौ, उपा० १ अ० ।

अन्ययूथिकास्तदैवतानि, तत्परिगृहीतानि वा अर्हचैत्यानि, भावको न यन्देत् । तदुक्तं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानेनाऽऽनन्देन-“ णो खलु जेतं ! कप्पइ अज्जप्पजिइ अण्णत्थिया वा अण्णत्थिय-देवयाणि वा अण्णत्थियपरिगाहियाणि वा अरिहंतचेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा ” उपा० १ अ० । औ० । अन्ययूथिकपरिगृहीतानि वा अर्हचैत्यानि अर्हप्रतिमालक्षणानि यथा भौतपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकाश्यादीनि । उपा० १ अ० । आ० चू० ।

अण्णओ (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिच् ।

“ तां दो नसो वा ” ॥ २॥ १६० ॥ इति सूत्रेण तसः स्थाने तो दो इत्यादेशौ, पञ्चे द्वौपवच्च । प्रा० । “ नह दाहामि ते निक्खं, निक्खू जायाहि अण्णओ ” । न ह नैव दास्यामि ते तुज्यं भित्तां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णकाण-अन्नकाण-पुं० । मृत्रार्थपौरुष्युत्तरकाणं भिक्षाकाले,

“ अण्णं अन्नकालं, पाणं पाणकाले ” सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अण्णकाण-अन्वाकान-न० । अन्वादेशे, आ० म० प्र० ।

अण्णगुण-अन्यगुण-त्रि० । चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणा

नि । अत्रेवनेषु, “ पंचाहं संजोए, अण्णगुणाणं च चैयणाइ गुणो ” आचारकावियगुणा पृथिवी । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अण्ण (न्न) गोत्थिय-अन्यगोत्रीय-पुं० स्त्री० । गोत्रं नाम

तथाविधैकपुरुषप्रत्ययं वंशः । अन्यच्च तद् गोत्रं चान्यगोत्रं तत्र तत्रा अन्यगोत्रीयाः । अतिचिरकालव्यवधानवशेन वृद्धितगोत्रसंयन्त्रेषु, ध० १ अधि० । “ वैवाह्यमन्यगोत्रांयैः, कुलशीत्रसमैः समन ” ध० १ अधि० ।

अण्ण (न्न) गहण-अन्यग्रहण-न० । गानजाते मुखवि-कारे गानध्विकं, । “ अन्नग्रहणं स्ति गन्नग्रहस्स उभओ कण्णसंधेसु सरणीतो मरणतो सुवातसंगहीयासु य आणा-यत्तं मुहं जंतं हवेज्ज, अहवा अण्णगहं गधव्विओ स्ति ” । नि० सू० १७ उ० ।

अण्णजोग-अन्ययोग-पुं० । कार्यान्तरजननसंबन्धे, अनेकान्त-जयपताकावृत्तिविव० ४ अधि० ।

अण्णजोगववच्छेद-अन्ययोगववच्छेद-पुं० । अन्ययोगस्य कार्यान्तरजननसंबन्धवृत्तकणस्याभावे, अनेकान्तजयपताका-वृत्तिविव० ४ अधि० ।

अण्णजोगववच्छेदयवत्तीसिया-अन्ययोगववच्छेदद्रात्रिशिका-स्त्री० । श्रीमल्लियेणविरचितस्याद्यादमज्जय्याख्यवृत्तिवित्त-पिते श्रीहेमचन्द्रसूरिविरहिते निःशेषदुर्वादिपरिपदधिक्रैप-दके द्वात्रिंशत्तयमये ग्रन्थे, श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्ध-श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशकानुकारि श्रीवर्धमानजि-नस्तुतिरूपमयोगववच्छेदान्ययोगववच्छेदाभिधानं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधप्रनिबन्धनं विदधे । स्या० । (कुतीर्थिकैः श्रीवीरेण सह अन्ययोगश्रान्तितः । यथा श्रीवीरो यथार्थवादी तथा ऽन्येऽपि सांगतादयो वेदाः यथार्थादादिनस्तेषां व्यवच्छेदो निषेधः अन्ययोगववच्छेदः) [स्याद्-वादमञ्जरीदिप्पली]

अण्णजोमिय-अन्ययोपित्-स्त्री० । परकीयकलत्रेषु, मनुष्या-णां देवानां तिरश्चां च परिणीतसंगृहीतभेदभिन्नेषु कलत्रेषु, ध० २ अधि० ।

अण्ण (न्न) ण (न्न)-अन्योन्य-त्रि० । अन्यशब्दस्य कर्मव्य-तिहारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुअ । “ ओतोऽद् वाऽन्योन्य० ” । ८ । १ । ५६ ॥ इत्यादि-सूत्रेण अत्वं वा । परस्परार्थे, प्रा० ।

अण्ण (न्न) त (य) र-अन्यतर-त्रि० । अन्य-रुतर । वदूनां मध्ये एकतरे, औ० । “ अण्णयेसु आभियोगसु देवलोकेसु देवत्ताए उववज्जइ ” अन्यतरेषु केपुचिदित्यर्थः । अ० १ श० १ उ० । नि० चू० । “ अण्णये वा दीहकाणपडिबंधे एवं तस्स न भवइ ” जं २ वक्क० । नि० चू० । उक्त० । “ अण्णयेसु देवलोकेसु ” अन्यतरेदेवानां मध्ये इत्यर्थः । स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० ।

अण्णतरग-अन्यतरक-पुं० । एकस्मिन्काले आत्मपरयोरन्यमन्य-तरं तारयन्तीति अन्यतरकाः । अन्यतर-अण्ण । पुषोदरादित्वाद् ह्रस्वः, स्वार्थे कः । तपोवैयावृत्यविषयकसामर्थ्याभावेन केवलमननं युगपत्कृतं महाकृतवत्सु एकस्मिन् काले आत्मपरयोरकतरं तारयन्सु प्रायश्चित्ताहेपुरूपेषु, व्य० १ उ० ।

अण्णतिरिय-अन्यतीर्थिक-पुं० । शरकपरिव्राजकशाक्या-जीवकवृक्षआवकप्रवृत्तिषु, नि० सू० ११ उ० । निजुभौतिका-दिषु वा, ध० २ अधि० । परदार्षनिकेषु, आव० ६ अ० ।

अण्णतिरियपवत्ताणुओग-अन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग-पुं० । अन्यतीर्थिकव्यः कापिवादिज्यः सकाशाद्यः प्रवृत्तः स्वकीयाचारवस्तुतत्त्वमनुयोगो विचारः, तत्करणार्थं शास्त्रसम्बन्धे इत्यर्थः, सोऽन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग इति । पापश्रुतनेदं, स० २६ सम० ।

से भिक्षू वा जिकखुणी वा अणमसाकिरियं अउभ-
त्थियं संभेइयं णो तं सात्ति णो तं णियमे, से अएणमएणो-

साइज्जइ ॥२६॥ जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स कायं अ-
एणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज
वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा सा-
इज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स कायंसि वणं
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२८॥
जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स कायंसि वणं अएणउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा संवाहिज्जावेज्ज वा, पलिमदावेज्ज
वा संवाहिज्जावंतं वा पद्धिमदावंतं वा साइज्जइ ॥२९॥
जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स कायंसि वणं अएणउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा तेद्धेण वा घएण वा वप्पेण वा
वमाएण वा एवर्णाएण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगावेज्ज वा,
मंखावंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू
णिगंथे णिगंथस्स कायंसि वणं अएणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा दोद्धेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण
वा वप्पेण वा सिणीट्ठाणेण वा उव्वट्ठावेज्ज वा, परिवट्ठावेज्ज
वा, उव्वट्ठावंतं वा परिवट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू
णिगंथे णिगंथस्स वा कायंसि वणं अएणउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उमिणोदगवियडेण
वा उच्छेदोदावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छेदावंतं वा पथोवा-
वंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स का-
यंसि वणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,
रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं
वा साइज्जइ ॥३३॥ जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स कायंसि
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंरुं वा पलियं वा
अरियं वा असियं वा जंगदत्तं वा अएणयरेण वा तीखे-
ण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज
वा अच्छिदावंतं वा विच्छिदावंतं वा साइज्जइ ॥३४॥
जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स कायंसि अएणउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं
वा जंगदत्तं वा अएणयरेण वा तिकखेण वा सत्थजाएण
वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं
वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, णिहरावंतं वा
विसोहियावंतं वा साइज्जइ ॥३५॥ जे जिकखू णिगंथे
णिगंथस्स कायंसि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंरुं
वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदत्तं वा अएणय-
रेण वा तिकखेण वा सत्थजाएण अच्छिदावेज्ज वा, विच्छि-
दावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहिया-
वेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उमिणोदगवियडेण वा
उच्छेदोदावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छेदावंतं वा पथोवा-

१३१

संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४८॥ जे जिकखू
णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं णक्खरोमाइं अण्णउ० गारत्थि०
कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा सा-
इज्जइ ॥४९॥ जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं मंसु-
रोमाइं अण्णउत्थि० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज
वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥ जे जि-
कखू णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं कक्खरोमाइं अण्णउ०
गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठा-
वंतं वा साइज्जइ । ५१ । जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स
दीहाइं पामरोमाइं अण्णउ० गारत्थिण वा कप्पावेज्ज
वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ५२ ।
जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं उत्तरउट्ठाइं अण्ण-
उ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा
संठावंतं वा साइज्जइ ॥५३॥ जे जिकखू णिगंथे णिगं-
थस्स दंतं अण्णउ० गारत्थि० अयसंवेज्ज वा, पयसंवे-
ज्ज वा, अयसंतं वा पयसंतं वा साइज्जइ ॥५४॥ जे भिक्खू
णिगंथे णिगंथस्स दंतं वा अण्णउ० गारत्थि० सीओ-
दगवियडेण वा उंसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा,
पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ
। ५५ । जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स दंतं अण्णउत्थिण०
गारत्थिण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा,
फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥५६॥ जे
जिकखू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० आम-
ज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जा-
वंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स
उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० संवाहिवावेज्ज वा, पलिमहा-
वेज्ज वा, संवाहिवावंतं वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ ॥५८॥
जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि०
तेट्ठेण वा यण्ण वा वप्पेण वा वमाएण वा एवणीएण
वा मंखावेज्ज वा, जिलिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भि-
दिगावंतं वा साइज्जइ । ५९ । जे जिकखू णिगंथे णिगंथस्स
उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० ढोप्पेण वा कक्केण वा एट्ठाणेण
वा पडमचुप्पेण वा वप्पेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठा-
वेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥
जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि०
सीओदगवियडेण वा उंसिणोदगवियडेण वा उच्छोला-
वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा
साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ०
गारत्थि० फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा,
फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे

जिक्खू णिगंथे णिगंथस्म अचिण्णि अणउ० गारत्थि०
 आमज्जावेज्ज वा , पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा
 पमज्जावंतं वा साइज्ज ॥ ६३ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थस्म अचिण्णि अणउ० वा गारत्थिण वा संताहिया-
 वेज्ज वा, पत्तिमदावेज्ज वा, संताहियावंतं वा पत्तिमदावंतं वा
 साइज्ज ॥ ६४ ॥ जे जिक्खू णिगंथे णिगंथस्म अचिण्णि अ-
 णउ० गारत्थि० तेज्जेण वा घण्णेण वा वसाण्णेण वा एव-
 ण्णीएण वा मंखावेज्ज वा, जिनिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा
 भिनिगावंतं वा साइज्ज ॥ ६५ ॥ जे जिक्खू णिगंथे णिगंथ-
 स्म अचिण्णि लोप्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पे-
 ण वा वप्पेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं
 वा उव्वट्टावंतं वा साइज्ज ॥ ६६ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थस्म अचिण्णि अणउ० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा
 उमिणोदगवियडेण वा उल्लोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा,
 उल्लोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्ज ॥ ६७ ॥ जे जिक्खू णि-
 गंथे णिगंथस्म अचिण्णि अणउत्थि० गारत्थि० फूमावा-
 एज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावाएज्ज वा, फूमावावंतं वा रयावंतं
 वा मंखावावंतं वा साइज्ज ॥ ६८ ॥ जे जिक्खू णिगंथे णिगं-
 थस्म अणउ० गारत्थि० अचिण्णमलं वा कए एमअं वा दंतमअं
 वा एट्टमलं वा एणीहगावेज्ज वा० जाव साइज्ज ॥ ६९ ॥ जे
 भिक्खू णिगंथे णिगंथस्म कायाउनेयं वा जलं वा पंकं
 वा मट्ठं वा अणउ० गारत्थि० णीहगावेज्ज वा, विमो-
 ट्टावेज्ज वा० जाव साइज्ज ॥ ७० ॥ जे भिक्खू णिगंथे णि-
 गंथस्म गामाणुगामं दुडुज्जमाणे अणउत्थिण वा गार-
 त्थिण वा सीमदुव्वाणियं करावेज्ज, करावंतं वा साइज्ज ॥ ७१ ॥
 आमज्जनं मकूत, पुनः२ प्रमार्जनं, (जा समणि) गाहा । आदिम-
 हाओ वंधणादिमुत्ता पंच, कायमुत्ता ३, वणमुत्ता ४, गुरुमुत्ता
 ५, बाहुकिमुत्तं ६, गहसिहागेमराईमेमुत्तं च, पताणि उत्तरो-
 ट्ठणामिगामुत्तं च अचिण्णामज्जणमुत्ता निष्प मुहसुत्तं मय-
 मुत्तं अचिमज्जाइ मुत्तं, सीमदुव्वाणियमुत्तं च । एते चत्ताव्रीमं
 मुत्ता तन्निओदहसगमेण भाणियव्वा । तन्थ सयंकरणे इह पुण
 णिगर्थोणे समणस्म अण्णित्थिण वा गारत्थिण वा कारवेति
 निः सेत्ता इमं आधिक्यमुत्ते भणंति-

समणान् संजतीहिं, असंजतीओ गिहत्थेहिं ।

गुरुगा लट्टगा चउ वा, तन्थ वि आणादिणो दोसा ॥ ११ ॥

संजतीओ जदि समणस्स पायपमज्जणादि करेति, तो चउगु-
 रगा (असंजती) ओ ति गिहत्थिओ जउ करेति, तन्थ वि चउगुरुगा,
 गिहत्थपुरिमा जदि करेति, तो चउलट्टगा, आणादिया य दोसा
 भवेति ॥ ११ ॥

मिच्छते उट्टाहो, विगट्टणा फामनावमंवेधे ।

परिगमणादी दोसा, जुत्तात्तागी य णायव्वा ॥ १२ ॥

इत्थियाहिं कीरंते पारित्ता कोठ मिच्छते गच्छज्जा-पते-
 कायस्सि ति, संजमविगट्टणा य, इत्थिफासे मोहोदयो, परो-

परओ वा फासेण भावसंबंधो इवेज्ज, ताहे पडिगमणं अण-
 तिथियादी दोसा, अहवा फासउज्जा जुत्तात्तागी सा पुव्वरयादि
 संभरिज्जा, अहवा चित्तिज्ज-परिसो मम भोइयाए फासो परि-
 सी वा मम भोइया आसी, अजुत्तभोइस्स इत्थिफासेण कोठ-
 यादि विजासा-

दीहं व णीमसेज्जा, पुच्छा कहि एरिसेण कहि एणं ।

पमजाडया एरिसी, सा वा चलणे बदे एवं ॥ १३ ॥

यो वा संजओ संजतीयाए पमज्जमाणीए दीहं णीससिज्जा,
 जाहे सो पुच्छाति-किमेयं दीहं ते नीससियं ? । सो भणाति-किं
 परिसेण भणाति कहि एणं ति, निवंधे कदेइ, मम भाइया एरिसी
 तुमं यी सा वा चलणे पमज्जती दीहं णीससेज्जा, पुच्छा कहं एं
 च एवं चेव एते संजतिहिं दोसा ॥ १३ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।

आतपरमोहूदीरउ, पाउसत्तहु सुत्तत्थपरिहाणी ॥ १४ ॥

गिहत्थीसु अतिरिक्तदोसा पच्छकम्मं हत्थे सीतोदकेण प-
 क्खावेज्जा, पादग्रामज्जणादीहिं य उज्जलवेसस्स अण्णो मोहो
 उदिज्जेज्जा-सोत्रामि वा अहं, को मे परिसकामो ति चि गव्वा द-
 वेज्ज, तं वा उज्जलवेसं दट्ठुं अण्णोसि इत्थियाणं मोहो उदिज्जेज्ज,
 सरीरपाउसत्तं च कतं जयति, जाय तं करेति ताव सुत्तत्थप-
 लिमंथो ॥ १४ ॥

संपातिमादिघातो, विवज्जिओ जे च दोगपरिवाओ ।

गिहिण्हिं पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिं कायव्वं ॥ १५ ॥

पमज्जमाणं संपातिमे अभिघाएज्ज अजयत्तणेण (विवज्जितो
 ति) साधुणा विभूसापरिवज्जिण्ण दोगव्वं । भणियं च-“विभूसा
 इत्थिसंसर्गी,, (त सिलोगो । एयस्स विवरीयकरणे भे भवे
 दोगपरिवादी य, जारिस्स संवेज्जगाहणं परिसेण अनिवृत्तेन भवि-
 तव्यम, एवमादि इत्थिसु दोसा । गिहत्थपुरिसेसु वि इत्थिफा-
 सादिया मोत्तुं पते चेव दोसा, पच्छकम्मं च । इमे य दोसा-

अजयंते पफोडे, ते पाएग उप्पीलणं च संपादी ।

अतिपेज्जणामि आता, फोडणं खय अट्ठिजंगादी ॥ १६ ॥

संजओ अजयणाए पफोडे तो पाणे अभिदणेज्ज, बट्टण वा द-
 धेण धोयंते पाणे उप्पीलावेज्ज वा, खिल्लबंधे वा संपातिमा पमे-
 ज्जहा । एस संजमविगट्टणा । आयविगट्टणा इमा-तेण गिहिणा
 अतीव पेज्जिओ पादो, ताहे संधी वि करेज्ज, फोडणं ति णित्थर-
 हल्लेज्जा, णहादिणा वा खयं करेज्ज, अट्ठि वा जेजेज्ज ॥ १६ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।

गिहिण्हिं पच्छकम्मं, पच्छा तम्हा तु समणेहिं ॥ १७ ॥

गतार्थो, किंचि विसेसो । पुव्वरेण गिहत्थी भणिता, पच्छरेण
 गिहत्था, दो वि पाए पफोडेते कुच्छं करेज्ज, कुच्छे तो पच्छा-
 कम्मसंजयो, जम्हा पते दोसा तम्हा समणान् समणेहिं काय-
 व्वं, णो गिहत्था अण्णित्थिया वा उदयव्वा ॥ १७ ॥

वितियपदमणपज्जे, अच्चाण्वान अप्पणो उ करे ।

पमज्जणादी तु पदे, जयणाए समयोरिहे भिक्खू ॥ १८ ॥

अणपज्जे कारवेज्जा, अणपज्जस्स वा कारविज्जति, अच्चाणे
 पत्तिवणो वा अतीव उच्चा उपमज्जणादी पदे अप्पणो चव

जयणा पकरेज्ज, अप्पणो अससो संजएहि कारवेज्जा ॥ १८ ॥

असती य संजयाणं, पच्छाकम्मादिएहि कारेज्जा ।

गिह्मिअसतिथिएहि, गिह्मिअ-परतिथि-तिविहाहिं । १९ ।

असती संजयाणं पच्छाकम्माहिं कारवेति, तस्रो साजिग्गएहि, ततो गिरभिग्गहेहि, ततो अदाभदएहि, ततो णियद्वएहि मिच्छ-दिट्ठीहि, ततो अजिग्गहि यमिच्छदिट्ठीहि, ततो असतिथिएहि मि-च्छदिट्ठीमादिएहि, पुत्रं असायवादीहि, पच्छा सायवादीहि, ततो पच्छा गिह्मिअपरतिथिति विहाहिं ति, ततो गिह्मिअहिं णालब-द्धाहिं अणालबद्धाहिं ति विधाहिं धेरमज्झमतरुणीहिं, एवं पर-तिथिएणहिं वि, संजतीहिं वि, एवं चैव, एसो चैव अत्यो वि-त्थ-रतो भसति, तस्रो पच्छा गिह्मिअपरतिथिति विहाहिं ति । गिह्-मिअं उविदा-णालबद्धा अणालबद्धा । ततो इमेहि गिह्मिअहिं णालबद्धाहिं-

माताजगिणीधूया-अज्जिणी अगिह्मियाण असतीए ।

अणियद्विय येरेहि, मज्झमतरुणीहिं असतिथीहिं ॥ २० ॥

माता भगिणी धूया अज्जियाऽणुत्तरी य, एतेसि असतीए, एयाहिं चैव अणतिथिणीहिं, एतेसि असतीए अणालबद्धाहिं गिह्मिअहिं ति विधाहिं कमेण धेरमज्झमतरुणीहिं, तस्रो एयाहिं जैव अणतिथियाहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाण वि एयाणं, असतीए संजतिमादिजगिणीहिं ।

अतिथि य जगिणी ण सती, तप्पच्छा ज्वसेसतिविहाहिं ॥ २१ ॥

माताजगिणीधूया-अज्जियाण वि य सेसतिविहा तु ।

एतासि असतीए, ति विहा वि करेति जयणा तु ॥ २२ ॥

अणालबद्धाणं धेरमज्झमतरुणीहिं असति संजतीतो माता जगिणी धूया य अज्जियाण एवमादि ततो करेति, ततो पच्छा अव-सेसास्रो अणाद्वयआस्रो ति विहास्रो धेरमज्झमतरुणीस्रो करा-वेति वा, एयमि चैव अत्ये अणायरियक इमा गाथा-(माता-भगिणी) । (एतासि असतीए ति) मायभगिणिनादियाणं ति, सेसं ति विहाउ ति अणाद्वयआस्रो संजतिओ ति विधास्रो धेरम-ज्झमतरुणी य जयणा जहा फाउसेबद्धादि ण जयति, तदा कारवेति, करंति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जा-वंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । १७१ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-हावेज्ज वा, पालिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पालिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ १७३ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वण्णिएण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जि-ल्लिगेज्ज वा, मंखवंतं वा जिल्लिगवंतं वा साइज्जइ । १७४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा होद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएणेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टवंतं वा परिवट्टवंतं वा साइज्जइ । १७५ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थि-

एण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छो-लेज्ज वा, पथोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पथोवंतं वा साइज्जइ । १७६ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा फूमेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखवंतं वा साइज्जइ । १७७ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गं-थीए काये अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जा-वेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । १७८ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण-उत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पालिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पालिमहावंतं वा साइज्जइ । १७९ ॥ जे भिक्खू णि-ग्गंथे णिग्गंथीए कायं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वण्णेण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखवंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । १८० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएणेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टवंतं वा परिवट्टवंतं वा साइज्जइ । १८१ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । १८२ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गं-थीए कायं फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमा-वंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । १८३ ॥ जे जि-क्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आम-ज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । १८४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अणउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जिल्लि-गावंतं वा साइज्जइ ॥ १८५ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा होद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टवंतं वा परिव-ट्टवंतं वा साइज्जइ ॥ १८६ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोला-वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥ १८७ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रया-वेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जंघारोमाइं अस्सउ-
 त्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
 कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १८८ । जे भिक्खू णि-
 ग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं सीसकेसाइं अएणउत्थिएण वा
 गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पवेज्ज वा,
 संठवेइ वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १८९ । जे
 भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कएणरोमाइं अस्सउ-
 त्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
 कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १९० । जे भिक्खू णि-
 ग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जूमहरोमाइं अस्सउत्थिएण वा
 गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा सं-
 ठावंतं वा साइज्जइ । १९१ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
 दीहाइं चक्खूरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
 कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइ-
 ज्जइ । १९२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं अच्चि-
 पत्ताइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,
 संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १९३ । जे
 भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं णक्करोमाइं अस्सउत्थि-
 एण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, क-
 प्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ १९४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे
 णिग्गंथीए दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
 कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १९५ । जे भिक्खू णिग्गंथे
 णिग्गंथीए दीहाइं पासरोमाइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
 वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा
 साइज्जइ ॥ १९६ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं
 उत्तरउट्ठाइं अमाउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,
 संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १९७ । जे भि-
 क्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दंतं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
 वा अघसाएज्ज वा, पयमावेज्ज वा, अघमावंतं वा पयसा-
 वंतं वा साइज्जइ । १९८ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
 दंतं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीअंदगवियरेण
 वा उसिणंदगवियरेण वा उच्चोद्गावेज्ज वा, पथोवाएज्ज
 वा, उच्चोद्गावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥ १९९ ॥
 जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अस्सउं गारत्थिउदंतं फूमावेज्ज
 वा, रयावेज्ज वा० जाव साइज्जइ । २०० । जे भिक्खू णि-
 ग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण गारत्थिएण वा आ-
 मावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा
 साइज्जइ । २०१ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अ-
 एणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहवेज्ज वा, पलि-
 म्हावेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ । २०२ ।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखाएज्ज वा, भिल्लिगाएज्ज वा, मंखा-
वंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । ११३ । जे भिक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
प्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा व-
प्पेण वा उट्ठोत्तावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । ११४ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गं-
थीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवि-
यडेण वा उसिणोदगवियरेण वा उच्छोलावेज्ज वा, प-
थोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥
११५ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अएणउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखा-
वेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥
११६ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्चिणि अएणउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा,
अमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ । ११७ । जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं
वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ । ११८ । जे भिक्खू णिग्गं-
थे णिग्गंथीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा तेद्वेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा एवणी-
एण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जि-
ल्लिगावंतं वा साइज्जइ । ११९ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गं-
थीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
प्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा वएणे-
ण वा उट्ठोत्तावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । १२० । जे भिक्खू णिग्गंथे णि-
ग्गंथीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
सीओदगवियरेण वा उसिणोदगवियरेण वा उच्छोला-
वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा
साइज्जइ ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अ-
च्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,
रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-
वंतं वा साइज्जइ । १२२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
कायाउ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा मेयं वा जंझं
वा पंकं वा मद्दं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णि-
हरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ । १२३ । जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे अएणउत्थिए-
ण वा गारत्थिएण वा सीमदुवारियं करेइ, करंतं वा
साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स

पाए उअसउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज
वा, पमावेज्ज वा, अमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १२५ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए का-
याउ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अच्चिमंजं वा
कसमलं वा दंतमंजं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज वा० जाव
साइज्जइ ॥ १२६ ॥ एवं मव्वं गिह्वगमगिह्वगमप्पसरिमं ए-
यव्वं जाव जे णिग्गंथीए णिग्गंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीमदुवारियं करावेइ,
करावंतं वा साइज्जइ ॥ १२७ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गं-
थीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज
वा, पमावेज्ज वा, अमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १२८ ॥ एवं तं एतेण वा मएण सरिसा एयव्वा
जाव जे णिग्गंथी णिग्गंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीमदुवारियं करावेइ,
करावंतं वा साइज्जइ ॥ १२९ ॥

सुत्ता एकचत्तालीसं ततिउहेसगगमा जाव सीसदुवारिं त्ति
सुत्तं; अत्थो पूर्ववत् ।

एमेव गमो नियमा, णिग्गंथीणं पि होइ णायव्वो ।

कारवण संजतेहिं, पुव्व अव्वरम्मि य पदम्मी तु ॥ १३० ॥

संजमो गारत्थमादिहं संजतोणं पदे पमज्जणादि कारवेति,
उत्तरोष्ठसु ण संजवति, अत्रकखणाए वा संभवति । नि० चू०
१७ उ० ।

असमसगंठिय-अन्योन्यग्रथित-त्रि० । परस्परैकैकेन ग्रन्थिना
सहाऽन्यो ग्रन्थिरन्येन च सहाऽन्य इत्येवं ग्रथिते, भ० ५ श०
३ उ० ।

असमसगुरुयत्ता-अन्योन्यगुरुकता-स्त्री० । अन्योन्येन ग्रन्थ-
नाद् विस्तीर्णतायाम्, ज० ५ श० ३ उ० ।

असमसगुरुयसंनारियत्ता-अन्योन्यगुरुकसंभारिकता-स्त्री० ।
अन्योन्येन गुरुकं यत्संनारिकं च तत्तथा, तद्भावस्तत्ता । अन्यो-
न्येन ग्रन्थनाद् विस्तारसंभारवत्त्वे, ज० ५ श० ३ उ० ।

असमसघटना-अन्योन्यघटना-स्त्री० । अन्योन्यं घटन्ते सं-
वन्ततीति अन्योन्यघटाः । जी० ३ प्रति० । अन्योन्यं घटाः
समुदायरचना यत्र तदन्योन्यघटम् । अन्योन्यं घटाः समु-
दायो येषां तेऽन्योन्यघटाः । परस्परसंबन्धतायाम्, ज० ५
श० ३ उ० ।

अएणमएणपुट्ठ-अन्योन्यस्पृष्ट-त्रि० । स्पर्शेनमात्रेण मिथः
स्पृष्टे, भ० १ श० ६ उ० । जी० ।

अएणमएणवप्प-अन्योन्यवप्प-त्रि० । अन्योन्यं जीवाः पु-
कलानां, पुकलाश्च जीवानामित्येवमादिरूपेण गाढतरसंबन्धे,
भ० १ श० ६ उ० ।

असमएणवेद-अन्योन्यवेध-पुं० । अन्यस्याऽन्यस्यां संबन्धे, नि०
चू० २० उ० । “अएणंएणवेदश्चो भस्ति त्ति” अन्योन्यस्य वेधः सं-

॥ एणमस्येह

बभ्रुः शैत्यवेगस्तस्मात् पञ्चदशाक्षरोप एकैकस्मिन् स्थापने
संयुज्यते इत्यर्थः । नि० सू० २० ठ० ।

अस्यपक्षतास-अन्यान्याभ्यास-९० । अ-योन्व्यं परस्परम-
न्यासः । परस्परं गुणने, भुजु० ।

अणुपणुजागियत्ता-अन्याोन्यजागियत्ता-ख० । अन्या-
न्यस्य यां यो भारः स विद्यते यत्र तद्व्यान्यजागियत्ता, तद्वाय-
स्तत्ता । परस्परं जागियत्ते, ज० ५ श० ३ उ० ।

अएणमए गमणुगय-अन्योन्यानुगत-त्रि० परस्परानुबन्धे, नं०।

अस्य नमः पञ्च-अन्योन्यासं प्राप्त-वि० । परस्परमसंलभे,
जी० ३ प्रति० ।

अणामणमसंवास-अन्यान्यसंवास-पुं० । परस्परमेकत्र सं-
वासे, व्य० ३ उ० ।

अस्यपस्यमिगेदपकिवृक्ष-अन्योन्यस्नेहप्रतिवृक्ष-त्रि० । प-
रस्पर्शं स्नेहनं प्रतिवृक्षे, भ० १ श० ५ उ० । यत्नेकस्मिन् चा-
त्यमाने गृह्यमाणे वा परमपि चलनादिधर्मोपेतं भवति ।
जो० ३ प्रति० ।

असमय-देशी-पुनरुत्थे, दे० ना० ६ वर्ग ।

अमलिंग-अन्यलिङ्ग-न० । अन्यतीर्थिकानां नेपथ्ये, वृ० १३०।

अतृगतिगमिद-अन्यगतिगमिद-पुं० । परिव्राजकादिसं-
न्यति वलकलकपायादिवखादिस्त्रुं द्वयलिङ्गे व्यवस्थिताः
सन्ते । ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः । न० । परिव्राजकादिलि-
ङ्गसिद्धेषु, ल० । आ० । प्र० ।

भाणव-अर्णव-पुं । अर्णोमि सन्त्यस्मि । अर्णव-व । स-
लोपः । समुद्रे, उदकयुक्ते, जलदातरि, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० ।
अर्णो जलं विद्यते यत्रामावर्णवः । “ अर्णसो लोपश्च ” ॥ इति
(वार्तिकेन) वप्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधौ,
भावनश्च भवे. उत्त० ५ अ० ।

अण्णवमि महेवमि, पणे तिणणे दुरुत्तरे ।

तस्य णो महापते, ॐ पादमुदाहरे ॥

एतस्मिन् कीदृशि ? (महोर्ध्वमस्ति) महानोद्यः प्रवाहो द्रव्य-
तो जलसंवेष्टो, भावतस्तु भवपरम्परात्मकः प्राणिनामत्यन्त-
माकुलीकरणहतुः, चरकादिमूहो वा यस्मिन् स महौघस्त-
स्मिन् । महत्त्वं चोभयत्रागाधतयाऽष्टपरंपरातया च मन्तव्य-
म् । तत्र किम् ? इत्याह— एक इति) असहायो रागद्वेषादिसह-
भावनिर्गृहीतो गौतमादिनित्यर्थः । तर्गति परं पारमार्थेति, त-
त्कालोपेत्या घटमाननिर्देशः (दुरुत्तरे इति) विभक्तिव्यत्ययाद्
दुरुत्तरे दुःखेनोत्तर्गतं शुभ्ये । दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा ।
नहि यथाऽसौ तर्गति तथा परं गुणकर्मभिः सुखेनैव तीर्यते, अत-
एव एक इति संख्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपन्नः,
न तु चरकादिमताकुलितचैतसोऽन्ये तथा तर्गतुमीशत इति ।
(तथेति) गौतमादीं तर्गणप्रवृत्ते (एक इति) । तथाविधतीर्थक-
रनामकमोदयादनुत्तर्गताविभूतिगर्हितीयः । किमुक्तं भवति ?-
तीर्थकरः सलोक एव भगते संभवतीति । महती निगवर्णा-
तया अपरिमाणा प्रज्ञा केवलज्ञानान्मिका संविदस्येति महाप्र-
ज्ञाः स किमित्याह—इममनन्तरवद्वयमाणां हृदि विपरिवर्तमान-

प्रत्यक्षं प्रक्रमोत्तरणोपायं पठति । स्पष्टमसंदिग्धम् । पठ्यते च-
(पणहं ति) पृच्छयते इति प्रश्नः । तं प्रष्टव्यार्थरूपमुदाहरेदिति भूते
लिङ् । तत उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च-“अग्नवांसि महो-
यंमि एगे तिष्ठे दुरुक्षरे ” ति । अत्र तु प्रत्यये विशेषः-त-
तश्चार्थान्महौप्राद् दुरुक्षरात् तीर्ण इव तीर्णस्तीरप्राप्त इति
योगः । एको घातिकर्मसाहित्यरहितः, (तत्रेति) स देवमनु-
जयोः परिपदि एकोऽद्वितीयः, स च तीर्थरुदेव । शेषं प्राग्व-
दिति सूत्रार्थः । उक्तं ५ अ० ।

अणव-अणवत्-प्रि० । सप्तविंशतितमे लोकोत्तरमुद्धतं, जं०
७ वक्ष० ।

अणववएस-अन्यव्यपदेश-पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि
शर्करादिगुडखट्वदघृतपूरादिकं यक्षदत्तसंबन्धीति व्रतितः
श्रावयन् दौक्यत्यदेयवृक्षा, न च व्रतितः स्वामिनाऽननुज्ञातं
गृह्णन्तीति नियमोऽपि तेन भग्नः, शर्करादिकं च रत्नितमिति
तृतीयांशतिचारः । प्रव० ७ द्वा० ।

अपावालय-आपाक-पुं० । कालोदाय्यादिके अन्ययुधिके,
भ० ७ श० १० उ० ।

अणविधि-अन्नविधि-पुं० । सूफकारकलायाम्, जं० २
षट्० । स० । ज्ञा० । औ० ।

अएणह-अन्वह-अव्य० । अहि अहि वीप्सार्थेऽव्ययी० । अच्
समा० । प्रत्यहमित्यर्थे, वाच० । निरन्तर्गमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

अण (न) (ह) हा-अन्यथा-अव्यय। अन्येन प्रकारेणत्य-
र्थे, आच्चा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । पं० घ० ।

अण्हाकाम-अन्यथाकाम-पुं० पारदार्ये, हा०, रेअष्ट० द्वा०।

अरण्यहाडुणववत्ति--अन्यथाऽनुपपत्ति-स्त्री० । अन्यथा अ-
न्यभावेन अनुपपत्तिः असंभवः । स्वाभावाप्रयोज्यसंभवे, अर्था-
पत्तिप्रमाणे च । तथाहि-पीनो देवदत्तो दिवा न वृद्धे, इत्यादौ
दिवाऽभोक्तुर्देवदत्तस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं विनाऽनुपपन्नम्, इति
ज्ञानाद् रात्रिभोजनकर्तृवृत्तिपीनत्वेन रात्रिभोजनं कल्प्यते ।
वाच० साध्याऽभावप्रकारेणानुपपत्तौ, असति साध्ये हेतोरनु-
पपत्तिरिवान्यथाऽनुपपत्तिः । रत्ना० । “अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र
तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?”
॥ १ ॥ सूत्र० १ अ० १२ अ० ।

असादाभाव-अन्यथाभाव-पुं० । अन्यथा अन्यरूपेण जावो-
यस्य । यथारूपमुचितं ततोऽन्यथारूपेण भवने, वाच० विपरिण-
मने, वृ० ४ उ० ।

अमहावाङ् (ए)-अन्यथावादिन्-त्रि० । अनृतवादिनि,
 “अण्वक्यपराखुग्दपरायणा जं जिणा जगण्वरा जिअराग-
 दोमसंमोहा य नऽमहावाङ्मो तेषं ” भाव० ४ अ० ।

अण्वि-अन्यथा-अव्य० । अन्यत्र “त्रपो हिदत्थाः” ८ । १ ।
६१ । इति त्रप्रप्रत्ययस्थाने हि द त्था आदेशः । अन्यस्मिन्
स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

अण्निभाव-अन्यथाभाव-पुं० । विपरिणमने, वृ० ४ उ० ।

आण्णादृष्ट-अन्वाविष्ट-त्रि० । अभिव्यासे, ज० १४ श० १ व० ।
पञ्चशीकृते, भ० १८ श० ६ व० ।

अस्मा (स्मा) इ-अन्यादृश-त्रि० अन्यादृशशब्दस्य "अन्यादृशोऽस्मादसावरा इमौ" । ७ । ४ । १३ । इति अर्पभ्रंशे अस्मादृशेत्यादेशः । प्रकारान्तरतामापन्ने, प्रा० ।

आणाएसि (ण)-अज्ञातैपिन्-पुं० । जातिकुलसद्व्यनि-
ष्टव्यतादिनाऽपरीक्षिताऽज्ञातः, तादृशं गृहस्थमादाराद्यर्थमे-
पयतीत्येवंशीघ्रोऽज्ञातैपी । उक्त० २ अ० । अज्ञानो जातिश्रुता-
दिनिरेपत्युञ्जति अर्थात् पिण्डादीनि इत्यज्ञातैपी । उक्त० ३ अ० ।
अज्ञानस्तपस्वितादिनिर्गुणैरनवगत एषयते प्रासादिकं गवेपय-
तीत्येवंशीघ्रोऽज्ञातैपी । उक्त० १५ अ० । यत्र कुले नस्य साधो-
स्तपोनियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र एषयते प्रासादिकं गृहीतुं
वाञ्छत इत्येवंशीघ्रोऽज्ञातैपी । उक्त० १५ अ० । विशिष्टगुणैर-
ज्ञात एव भिन्नगते, "अकामकामी अस्मा (स्मा) पसी परि-
व्यस स भिक्वु" उक्त० १५ उ० ।

अस्मात्-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । सम्यग्ज्ञानादितर-
स्मिन् ज्ञाने, आव० ।

अस्मात् परियागामि, नात् उवसंपज्जामि । आव० ४ अ० ।

(नाणे त्ति) ज्ञानिनः सम्यग्गृह्यः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः ।
आह च-"अविसेसिया मश्चिय, सम्महिट्टिस्स ता मञ्छाणं ।
मइअण्णं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव" ॥ १ ॥ इति ।
अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य, सदसत्तोरविशेषात् । तथा-
दि-सन्त्यर्थो इह, तत्सत्यं कथञ्चिदिति विशेषितव्यं भवति,
स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते-सन्त्येदेति, ततश्चा-
परूपेणापि तेषां सत्त्वप्रसङ्गः । तथा न सन्त्यर्थो इह, तदस-
त्त्वं कथञ्चिदिति विशेषितव्यं भवति, पररूपेणेत्यर्थः । स तु-
न सन्त्येवेति मन्यते, तथा च तत्प्रातिपदकवचनस्याप्यजावः
प्रसज्यते । अथवा शशविपाणादयो न सन्तीत्येतत्कथ-
ञ्चिदिति विशेषणीयम्, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततयैव
न सन्ति; न तु शशश्च विपाणं च, शशस्य वा विपाणं, शृङ्गि-
पूर्वेजवग्रहणापेक्षया शशविपाणम्, तद्रूपतयाऽपि न सन्तीति,
तदेव सदसतोः कथञ्चिदित्येतस्य विशेषणस्यानव्युपगमात् ।
तस्य ज्ञानमप्ययथार्थत्वेन कुत्सितत्वादज्ञानमेव । आह च-
"जह दुव्वयणमवयणं, कुच्चियसीलमसीलमसईय । जन्नह त-
ज्जाणं पि हु, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नानं" ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टे-
रव्यवसायो न ज्ञानम्, जवहेतुत्वात्, मिथ्यात्वादिवत् । तथा
यदृच्छोपशब्देरुन्मत्तवचत्ताज्ञानफलस्य सत्क्रियालक्षणाभावा-
दन्धस्य स्वहस्तगतदीपप्रकाशवदिति । आह च-"सदसद-
विसेसणाओ, भवदेक जइत्थिओवलंभाओ । नाणफज्जाजा-
वाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नानं" ॥ ८ ॥ इति । स्था० २ उ०
४ उ० । ५० । आव० । "अस्माज्जमंतमच्छपरिदत्थअणिहुत्तिदि-
यमहामगरतुरियचरियखोखुभमाणनञ्चतचवन्नचंचवन्नचंचतधु-
म्मंतजलसमूहं" अज्ञानान्येव ज्जमंतो मत्स्याः (परिदत्थं ति)
दक्षा यत्र स तथा । अनिभृताभ्यनुपशान्तानि यान्तिन्द्रियाणि
तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि
चेष्टितानि तैः (खोखुभमाणे ति) जृशं कुभ्यमाणो नृत्यन्निव
नृत्यंश्च चपलानां मध्ये चञ्चलश्चास्थिरत्वेन चञ्चश्च स्थाना-
न्तरगमनेन घूर्णश्च आभ्यन् जलसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र
जलसमूहो यत्र स तथा तं, संसारमिति भावः । औ० ।
नम्रः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अनु० । ज्ञाना-
वर्णकर्मोदयजनिते, आव० ४ अ० । आत्मपरिणामे, दर्श० ।

मिथ्यात्वमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्तं बोधे, विशेष० ।
उक्त० । अज्ञानमनवबोधः । उक्त० ३ अ० । मूढतारूपे, आनु० । ज्ञाना-
भावे मिथ्यादृष्टिकुतीर्थिकपार्थक्यस्थितिसंवन्धिशालावगाहना-
त्मके, दर्श० । उक्त० । स० । संशयविपर्ययादिरूपे मिथ्याज्ञाने, द्वा०
२१ द्वा० । जीवाजीवविशेषकरादिते, अष्ट० १२ अष्ट० । सद्वोधा-
भावे, दर्श० । कुशास्त्रसंस्कारं, औ० । कुम्भितत्वं च मिथ्यात्व-
संवलितत्वात् । उक्तं च-"अविसेसिया मश्चिय, सम्महिट्ठिस्स
ता मञ्छाणं । मइअण्णं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव"
ज० ८ श० २ उ० ।

तच्च अज्ञानं मिथ्यात्वमिति उच्यते—

अन्नाणे तिविहे पणत्ते । तं जहा-द्वेसएणाणे, सव्वऽ-
ष्णाणे, जावएणाणे ।

(अन्नाणेत्यादि) ज्ञानं हि द्रव्यपर्यायविषयो बोधः, तन्निषेधोऽ-
ज्ञानं, तत्र विवर्जितद्रव्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञा-
नम्, अकारप्रक्षेपात् । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वा-
ज्ञानम् । यदा विवर्जितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञानमि-
ति । अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति ।
अकारप्रक्षेपं विनाऽपि न दोष इति । स्था० ३ उ० ३ उ० ।

अण्णाणे णं भंते ! कइविहे पणत्ते ! गोयमा ! तिविहे
पणत्ते । तं जहा-मइअण्णाणे सुयअण्णाणे विचंगनाणे ।
से किं तं मइअण्णाणे ! मइअण्णाणे चउच्चिहे पणत्ते ।
तं जहा-उग्गहे० जाव धारणा । से किं तं उग्गहे ! उग्गहे
हुविहे पणत्ते । तं जहा-अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य । एवं
जहेव आभिणिबोहियनाणं तहेव, एवरं एगट्ठियवज्जं० जाव
नोइंदियधारणा, सेचं धारणा । सेचं मइअण्णाणे । से किं तं
सुयअण्णाणे ! सुयअण्णाणे जं इमं अण्णाणि एहि मिच्छादि-
ट्ठिएहिं जहा नंदिए जाव चत्तारि य वेदा संगोवंगा । सेचं
सुयअण्णाणे । से किं तं विभंगनाणे ! विभंगनाणे अणे-
गविहे पणत्ते । तं जहा-गापसंठिए नगरसंठिए जाव सखि-
वेससंठिए दीवसंठिए समुदसंठिए वाससंठिए वामहरसं-
ठिए पव्वयसंठिए रुक्खसंठिए थूजसंठिए हयसंठिए गय-
संठिए नरसंठिए किंनरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरग-
संठिए गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पमुपसयविहगवानरणा-
णासंठाणसंठिए पणत्ते । ज० ८ श० २ उ० ।

मोहविजृम्भणे, सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ३ उ० । आचा० । ज्ञायते
सुतत्वमनेनेति ज्ञानं श्रुताख्यम्, तदभावोऽज्ञानम् । प्रव० ८६
द्वा० । अज्ञानं-प्रकर्षे गर्वः प्रज्ञाऽभावे दैन्यचिन्तनमित्युभयथा ।
उक्त० २ अ० । अज्ञानभावाऽभावाच्यां द्विधा सोढव्ये एकवि-
शे परीवदनेदे । अज्ञानपरीवदश्च सोढव्य एव, न तु कर्मविपाक-
जादज्ञानादुद्विजेत । आव० ४ अ० । तदुक्तम्-"विरतस्तपसां-
पेतः, लुप्तस्थोऽहं तथापि च । धर्म्मोदि साक्षान्नैवेकं, नैवं
स्यात् क्रमकालवित्" ॥ १ ॥ आव० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकृत प्रपञ्चयिषुस्तावदभावपक्षमङ्गीकृत्याह—

निरद्वगम्भि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो ।

जो सखं नाजिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावणं ॥

सर्थः प्रयोजनं, तदभावो निरर्थः, तदेव निरर्थकं, तस्मिन् सति विरतो निवृत्तः, कस्मात् ? , मित्यतः सत्यं भावः कर्म वा मैथुनमग्न्या-
तस्मात् , आश्रयान्तरविरतावपि यदस्योपादानं तस्यैवानिगृ-
हिहेतुनया दुस्त्यज्ज्वान् । उक्तं हि—“ दुष्परिग्रहा कामा इमे ”
इत्यादि । सुप्तं संवृतः सुसंवृतः । इन्द्रियसंवरणेन, यः साक्षादिति
परिस्फुटं नाभिजानामि, धम्मं वस्तुस्वभावं (कल्लाणं चिन्ता) वि-
न्दुलोपात्तकल्याणं शुभं, पापकं वा तद्विपरीतं चेत्यस्यां गम्यमा-
नत्वात् । यद्वा-धम्ममाचारं, कल्याणं तनीरुकुतया मोक्षः । तमा-
नयति प्रापयतीति, कल्याणो मुक्तिहेतुः, तं, पापकं वा नरकादि-
हेतुः । अयमाशयः—यदि विरतो कश्चिदर्थः सिद्धयेन्नैवं ममाज्ञा-
नं ज्ञेयं । उक्तं ३ अ० । “अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिद्योऽपि
सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः” ॥१॥
उक्तं २ अ० । आचो ० आचो ० दर्शो ० “नातः परमहं मन्ये, जगतो
दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानमहारागो, दुःखतः सर्वदेहिनाम्” ॥१॥
आचो ० १, ३ अ० ३ अ० १, ३० । “अज्ञानं वस्तु जिज्ञासु-नं मु-
ह्यन् कर्मदोषिवन् । ज्ञानिनां ज्ञानमन्वीकृत्य, तथैवेत्यन्यथा न तु”
॥१॥ आ० म० द्वि० १० । “अष्टाङ्गो रिपुं अष्टो, पाणिणं णेव
विज्जति । एत्तो सक्किरियातीप, अणत्था विस्सतो मुदा” ॥ १॥
प० सु० ५ सु० ।

कदाचित्साभान्यचर्ययैव न फलावाप्तिरत आह—

तवोवहाणमादाय, पमिं पमिज्ज उ ।

एवं पि विहरओ मे, उउमं न नियदु ।

(पार्श्वटीका)

तपो नृमहाभङ्गादि, उपधानमागमोपचाररूपमाचारग्लादि, आ-
दाय स्वाकृत्य, चरित्वेति यावत् । प्रतिमां मासिक्क्यादिजिभ्रुप्रति-
मां, (पमिज्ज उ चिन्ता) इति प्रतिपद्याह्वीकृत्य । पश्यते च—“ पडिमं
पडिवज्जितो चिन्ता ” प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्याच्युपगच्छति । एवम-
पि विशेषचर्ययाऽपि, आस्तां सामान्यचर्ययेत्यपिशब्दार्थः । विह-
रतो निष्पत्तिवन्त्येनानियतं विचरतः, गदयतीति छद्मज्ञाना-
वरणादिकर्म, न निवर्तते नापैतीति भिक्षुभिर्न चिन्तयेदित्युक्त-
रेण संबन्धः । अज्ञानाभावेऽपि तु समस्तशास्त्रार्थनिकोपलक-
लपतायानपि न दर्पाऽऽज्ञातमानसो भवेत्, किन्तु पूर्वपुरुषसिं-
हानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यं श्रुत्वा साम्प्रतं पुरुषाः कथं
स्वबुद्ध्या मन्दयन्तीति परिज्ञायन् विगलितावन्नपः सन्नेवं
भावयेत्—“ निरदृश्यं ” मृद्वयम् । अक्षरगमनिका सैव, नवरं (नि-
रदृश्यमिति) निरर्थकेऽपि प्रक्रमाप्रज्ञावन्नेपेतो, मैथुनात्सुसं-
वृतः सन्निरुद्धात्मा, सत्योऽहं यः साक्षात्समकं नाभिजानामि,
धम्मं कल्याणं पापकं वा । अयमभिप्रायः—“ जे एणं जाणति, से
सच्यं जाणति, जे सच्यं जाणइ, से एणं जाणइ ” इत्याऽऽगमात् ।
उभयोऽहमकमपि धम्मं वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो वेद्मि, ततः सा-
क्षाच्चक्ष्मभावावन्नामि चेत् न विज्ञानमस्ति, किमनोऽपि मुकु-
त्तित्वमस्तुभ्यरूपपरिज्ञानतोऽवलेपेनेति भावः । तथा तप उपधा-
नादिभिर्गुणैकमणदेतुभिरुपक्रमितुमशक्यं उच्यते दारुणे वैरि-
णि निःप्रतिपत्तिकः किल ममादङ्कारावसर इति मृद्वयार्थः ।

साम्प्रतमावृत्त्या पुनः मृद्वयारमद्वीकृत्य प्रकृतमृद्वोपक्रम-

मज्ञानमज्ञाये उदाहरणमाह—

पमिंतेनो वायणार्णं, गंगाकुलेऽपि ययमगरुयाण ।

संवचरेहिं हिज्जइ, वारसयं अमंखयज्जयणं ॥

(पार्श्वटीका)

परितान्तः खिन्नो याचनया गङ्गाकुलेऽपि ता अशकटा याः संवत्स-
रैरधीते द्वादशभिरसंस्कृताध्ययनमिति गाथाकारार्थः । भावार्थ-
स्तु वृद्धसंप्रदायादवसंयः । स चायम्-गङ्गातीरे द्वौ भ्रातरौ वैरा-
णादीनां गृहीतवन्तौ, तत्रैको विद्वान् ज्ञानः, द्वितीयस्तु मूर्खः । यो
विद्वान् सोऽनेकशिष्याध्यापनादिना खिन्न एव चिन्तयति स्म—
अहो ! धन्योऽयं मे भ्राता यः सुखेन तिष्ठति, निर्द्रादिकमनसरे
कुर्वन्नस्ति । अहं तु शिष्याध्यापनादिकष्टे पतितोऽस्मीति चि-
न्तयन् काव्यमिदं चकार—

“मूर्खत्वं हि सखे ! ममापि रुचिन्तं तस्मिन् यदष्टौ गुणाः,
निश्चिन्तोऽहं बहुभोजनो २ उत्रपमानो ३ नक्तं दिवा शायकः ४ ॥
कार्याकार्यविचारणान्वधविरो ५ मानापमाने समः ६,
प्रायेणाऽऽमयवर्जितो ७ दृढवपु ८ मूर्खः सुखं जीवति” ॥१॥

परं नैवं चिन्तयति स्म—

“ नानाशास्त्रसुभाषितामृतरसैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वतां,
येषां यान्ति दिनानि परिमृतजनव्यायामखिन्नात्मनाम् ।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं तैरेव भूभूषिता,
शेषैः किं पशुवद्विकरहितैर्भूभारभूतैर्नरैः ” ॥ २ ॥

एवं पण्डितगुणान् अचिन्तयन् मूर्खगुणांश्चासतोऽपि चिन्त-
यन् ज्ञानावरणीयं कर्म बद्धा दिवं गतः । ततश्च्युतो भरतक्षेत्रे
आभीरपुत्रो जातः । क्रमेण परिणीतः । तस्य पुत्रिका जाता ।
सा रूपयती । अन्यदा अनेक आभीरा घृतभृतशकटाः कश्चिन्न-
गरं प्रति गच्छन्ति स्म, असावपि तत्सार्थं घृतभृतं शकटं गृ-
हीत्वा चलितः । मार्गे सा पुत्री शकटखेटने करोति स्म । ततस्त-
द्रूपव्यामोहितैराभीरपुत्रैः अपथे खेटितानि शकटानि तानि
सर्वाणि भग्नानि । तादृशं संसारस्वरूपं दृष्ट्वा संजातवैराग्यः स
आभीरः तां पुत्रीमुद्राह्य दीक्षां जग्राह । उत्तराध्ययनयोगोद्ग्रह-
नावसरे असंख्ययाऽध्ययनोद्देशे कृते तस्य आभीरभिन्नोक्ताना-
वरणोदयो जातः, न तदध्ययनमायाति स्म, आचारान्येव क-
रोति, उच्चैःस्वरेण तदध्ययननिर्घोषं करोति स्म । एवञ्च कुर्वत-
स्तस्य द्वादशवर्षप्रान्ते अज्ञानपरीपहं सम्यगधिसहमानस्य
केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । एवमज्ञानपरीपहे आभीरसाधुकथा ।
प्रतिपक्षे च भौमद्वारम् । तत्राऽप्येतत्सूत्रसूचितमुदाहरणम्—

इमं च एरिसं तं च, तारिसं पेच्छ केरिसं जायं ? ।

इयं भणइ स्थूलजदो, सप्पायधरं गतो संतो ॥

(पार्श्वटीका)

इदं चेति द्रव्यम्, ईदृशमिति स्तम्भमूलस्थितमतिप्रभूतं
च, अतिशयज्ञानित्वेन तस्य हृदि विपरिवर्तमानतया द्रव्यस्य-
दमानिर्दृशः, (तच्चैति) तस्याज्ञानतः परिभ्रमणं, तादृशमिति
विप्रकृष्टदुर्गदेशान्तरविषयं यस्य, कीदृशं केन सदृशं जातम् ? ।
न केनापि, नाहं कश्चिद् गृहं सति इदं द्रव्यार्थं बहि-
र्भासयतीति भावः । इतीत्येवं भणति स्थूलभद्रः स्वजातिरिव
स्वजातिरत्यन्तमुद्दृग्गृहं गतः सन्निति गाथार्थः ।

संप्रदायश्चात्र-यस्य च ज्ञानाजीर्णं स्यात् तेनापि ज्ञानपरी-
पहो न सोढः । तत्रार्थे स्थूलभद्रकथा—

स्थूलभद्रस्वामी विहरन् वालमिवाद्भिज्जगृहं गतः, तत्र तमदृष्ट्वा

तद्भार्या पृष्ठवान्-कृते पतिर्गतः। सा प्राह-परदेशं धनाजनार्थं गतोऽस्ति । ततः स्वामी तदृगृहस्तम्भमूलस्थितं निर्धि पश्यन् स्तम्भमभिमुखं हस्तं कृत्वा “इदमीदृशम्, स च तादृशः” इति भणित्वा गतः। ततः कालान्तरे गृहागतस्य विप्रस्य तद्भार्याया स्थूलभद्रस्वामिवचो ज्ञापितम्। तेन परिडतेन ज्ञातम्-अत्रा-वश्यं किञ्चिदस्ति । ततः खानिनः स्तम्भः लब्धो निर्धिः। एवं स्थूलभद्रेण ज्ञानपरीपहो न सोढः । शेषसाधुभिरपीदृशं न कार्यम् । उक्तः ३ अ० । (विषयान्तरं ‘परीसह’ शब्दे वक्ष्यते) भारतकाव्यनाटकादिलौकिकश्रुतरूपे पापश्रुतप्रसङ्गे, स्था० ८ ठा० । भावशुद्धप्रतिसेवाविशेषे, व्य० । तत्त्वं च-

अन्नपरपमाणं, असंपन्नतस्स नो पन्नतस्स ।

इरियाइसु नूयत्ये, अवृते एयमाणं ॥

पञ्चानां प्रमादामन्यतरेणापि प्रमादेनासंप्रयुक्तस्याक्रोमीकृत-स्यात् एव ईर्यादिषु समतिषु नूतार्थे न तत्त्वतो वर्तमानस्य यद्ध-वनमेतदज्ञानम् । व्य० १० उ० । कुशास्त्रसंस्कारे च, औ० । निर्ज्ञाने (ज्ञानरहिते), त्रि० । भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णाणओ-अज्ञानतस्-अव्य० । ज्ञानावरणोत्कटतयेत्यर्थे, दश० १ चू० ।

अण्णाणकिरिया-अज्ञानक्रिया-स्त्री० । ५ त० । अज्ञानान् क्रियमाणयोश्चेश्चकर्मणोः, स्था० ३ ग० ३ उ० । (अण्णाण-किरिया तिविहा ‘किरिया’ शब्दे वक्ष्यते)

अण्णाणिव्वत्ति-अज्ञाननिवृत्ति-स्त्री० । अज्ञानस्य निवृत्तौ, भ० । “कइविहा णं भंते ! अण्णाणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा अण्णाणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-मइअण्णाणिव्वत्ती, सुयअ-ण्णाणिव्वत्ती, विजंगणाणिव्वत्ती । एवं जस्स जइ जाव वेमा-णिया ” । ज० १६ श० ८ उ० ।

अण्णाणतिग-अज्ञानत्रिक-न० । नञ्शब्दः कुत्सायां, मिथ्या-ज्ञानानामित्यर्थः । तेषां त्रिकं अज्ञानत्रिकम् । मिथ्याज्ञानादित्रये, पं० सं० १ छा० ।

अण्णाणदोम-अज्ञानदोष-पुं० । अज्ञानात्कुशास्त्रसंस्काराद् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्ध्याऽप्युदयार्थं या प्रवृत्तिस्तत्तत्क्षणो दोषोऽज्ञानदोषः । अथवा उक्तलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति । स्था० ४ ग० १ उ० । रौद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । औ० । प्रमाददोषे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ग० ।

अण्णाणपरीसह-अज्ञानपरीपह-पुं० । “ज्ञानचारित्र्युक्तोऽस्मि, ब्रह्मस्थोऽहं तथापि हि । इत्यज्ञानं विषहेत, ज्ञानस्य क्रमलो जवेत्” ॥१॥ इति सोढव्ये परीषदभेदे, ध० ३ अधि० । प्रव० (“अण्णाण” शब्देऽत्रैव भागे ४८८ पृष्ठेऽस्य तत्त्वमावेदितम्)

अण्णाणपरीसहविजय-अज्ञानपरीपहविजय-पुं० । अज्ञोऽयं पशुसमो नवेति किञ्चिदित्येवमधिकेपवचनं सम्यक् सहमान-स्य परमदुष्करतपोऽनुष्ठाननिरतस्य नित्यमप्रमत्तचेतसो न मेऽद्याऽपि ज्ञानातिशयः समुदयते इति चिन्तने, पञ्चा० १३ वि० ।

अण्णाणफल-अज्ञानफल-त्रि० । अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि, ज्ञानावरणरूपाणीत्यर्थः । धर्माचार्यगुरुश्रुतनिन्दारूपेषु ज्ञानावर-णकर्मसु, उक्तः २ अ० ।

अण्णाणया-अज्ञानता-स्त्री० । अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावो-ऽज्ञानता । स्वरूपेणानुपपन्नमे, भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णाणव्वत्ति-अज्ञानव्वत्ति-स्त्री० । आत्मनोऽज्ञानस्य ज्ञाना-ऽऽवरणीयोदयनो लाजे, “अण्णाणव्वत्ती णं जंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-मइअण्णाणलली, सुयअण्णा-णलली, विजंगणाणलली ” भ० ८ श० २ उ० ।

अण्णाणवाइ (ए)-अज्ञानवादिन-त्रि० । सति मत्यादिके हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदति अज्ञानिके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णाणसत्य-अज्ञानशास्त्र-न० । भारतकाव्यनाटकादौ लौकिकश्रुते, स्था० ९ ग० ।

अण्णाण (ए)-अज्ञानिन-त्रि० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव श्रेय इति वदत्सु वादिभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ज्ञाननिहवधादिषु, “अण्णाणी अण्णाणं वि-णइत्ता वेणइयवादी ” । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽ-ज्ञानिनः । नञ्शब्दः कुत्सायाम् । मिथ्याज्ञानेषु, पं० सं० १ छा० । “अण्णाणी कम्मं खवेति बहुयाहिं वासकोमीहिं, तन्नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण” उक्तः १ अ० । अण्णाणी किं काही, किंवा णाही जेयपायगं” इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अण्णा(त्ता)णिय-अज्ञानिन-पुं० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मत्वर्थीयः । यथा-गौ-रखरवदरयमिति । प्राकृते स्वार्थिकः कः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति आज्ञानिकाः । अज्ञानं वा प्रयोजनं येषां ते आज्ञानिकाः । आव० ६ अ० । सम्यग्ज्ञान-रहितेषु अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तन्मतं चेत्थमुपन्यस्यन्नाह सूत्रकृत्-

अण्णाणिया ता कुमत्ता वि संता ,

असंयुया णो वितिगिच्च तिन्ना ।

अकोविया आहु अकोविण्हि ,

अण्णाणवीइत्तु मुसं वयंति ॥ २ ॥

ते चाज्ञानिकाः किन्न वयं कुशलाः, इत्येवं वादिनोऽपि सन्तोऽसंस्तुता अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः । असं-स्तुतयादेव विचिकित्सा चित्तविभ्रुतिश्चित्तनृन्तिः संशीति-स्तां न तीर्णा नातिक्रान्ताः तथाहि-ते ऊचुः ये पते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया असंबद्धा असंस्तुतयादेव विचिकित्सा, न यथार्थवादिनो जवन्ति । तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति । तथाऽन्ये असर्वगतम् । अपरे अद्भुतपर्वमात्रम् । केचन इयामाक-तन्दुलमात्रम् । अन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटस्थस्थि-तमित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता । नचातिशयज्ञानी कश्चिदस्तीति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत । नचासौ विद्यमानोऽप्युपपन्नयतेऽर्वागुदर्शना । “नासर्वज्ञः सर्वं जानाति” इति वचनात् । तथाचेत्कम्-“सर्वज्ञोऽसाधितिहोत-तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-शून्यविज्ञायते कथम् ?” । १ । न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संभवः, संभवाभावश्चे-तरेतराश्रयत्वात् । तथाहि-न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपा-

परिज्ञानम, उपायमन्तरेण न चापेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावा-
प्तिरिति । न च ज्ञाने ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम् । तथाहि-
यत्किमप्युपलब्धते, तस्यावागम्यपरजगिर्भाव्यम् । तत्रावागमा-
गस्यैवोपलब्धेर्नतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात् । सर्वांगभागस्यापि
भागव्यकल्पनात् तत्सर्वांगतीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्य-
वसानता, परमाणोश्च स्वानाविकविप्रकृष्टत्वादर्थदर्शनिनां नो-
पलब्धिरिति । तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थि-
तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदासर्वज्ञादीनां च परस्परविरोधेन पदार्थ-
स्वरूपाभ्युपगमात् यथास्तरपरिज्ञानिनां प्रमादयतां बहुतरदा-
यसंभवादज्ञानमेव श्रेयः । तथाहि-यद्यज्ञानवान् कर्थाश्चिन्तादेन
शिरांस इत्यात्, तथापि चित्तशुद्धेन तथाविधदोषानुपह्नां स्या-
दित्येवमज्ञानिन एवेवादिनः सन्तोऽसंयन्त्रा न चैवंविधां चित्त-
विष्णुतिं विनाशार्ता इति । तत्रैवेवादिनस्ते अज्ञानिका अकोविदा
अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः । तथाहि-यत्तै-
रभिहितम्-ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थादितेयान यथार्थवा-
दिन इति तद्वयत् अस्वर्णप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथा-
र्थवादित्वम् । न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्व-
ज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न कश्चित्परस्परतो विरोधः, स-
र्वज्ञत्वाप्रत्ययाऽनुपपत्तेरिति । तथाहि-प्रह्नीणाशेषाऽऽवरणतया
रागद्वेषमोहानामनृतकागणानामनावाश्र तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं
तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतत्,
यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, न चासौ संभवतीत्युक्तं प्राक् ।
सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तम् । तथाहि-यत्तावदुक्तम्-न चासौ
विद्यमानोऽप्युपलब्धतेऽर्थादर्शिभिः । तदयुक्तम् । यतो यद्यपि
परचेतोवृत्तीनां दुरन्त्यव्याप्तिरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते,
वीतरागाः सरागा इव, इत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि
संनवानुमानस्य सद्भावात्तद्वाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्त्व-
मानिवायम् । संनवानुमानं विदम-व्याकरणादिना शास्त्राज्या-
मेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्यु-
पलब्धः, तदत्र कश्चित्स्थानभूताज्यासवशात्सर्वज्ञोऽपि स्या-
दिति । न च तदनावसाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि-न ता-
वदार्थादर्शिभिः प्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साध्यितुं शक्यः । तस्य
हि तज्ज्ञानाज्ञेयविज्ञानशून्यत्वात् । अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्व-
ज्ञत्वाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावा-
दिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन
प्रवृत्तेः । न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति,
येनासौ सिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमा-
णपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः । प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तमा-
नात् तस्याप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि
दर्शनात् । न प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः
सिध्यति । तथाहि-सर्वत्र सर्वज्ञ न संभवति, तदप्रादिकप्र-
माणमित्येतदर्थार्थादर्शिनो घट्टे न युज्यते, तेन हि देशकालविप्र-
कृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य प्रदीतुमशक्यत्वात्, तदप्रदण्ण
वा तस्यैव सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तेः । न चावागमिनां ज्ञानं निवर्तमानं
सर्वज्ञाभावं भावयति, तस्याऽध्यापकत्वात् । न चाध्यापकत्वा-
द्युक्त्या पदार्थव्यावृत्तियुक्तिः । न च वस्तुवन्तराज्यज्ञानरूपो भावः
सर्वज्ञाभावसाधनापालम्, वस्तुवन्तराज्यज्ञानरूपसंसर्गप्र-
तिबन्धाभावात् । तदेवं सर्वज्ञसाधकप्रमाणाभावात्संनवानुमा-
नस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमा-
च्च मतभेददोषो दूरापास्त इति । तथाहि-तत्प्रणीतागमाभ्यु-

पगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति,
तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः । इति इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव ।
यतोऽप्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयोः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न
च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यदप्यजिहितम्-तथायान च ज्ञानं ज्ञे-
यस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम्, सर्वत्रावागमवनेत्यवधानात्सर्वा-
ऽऽगतीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वादित्येतदपि
बाह्यमात्रमेव । यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वजावव्यवहिताना-
मपि प्रहणाश्रयिण्येव व्यवधानसंभवः । अर्थादर्शिज्ञानस्याप्यवय-
वहारेणाऽवयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानम् । न ह्यवयवी
स्वावयवैर्ध्वयधीयत इति युक्तिसंगतम् । अपि च-अज्ञान-
मेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमर्थं पर्युदासः ? आहोस्वि-
त्प्रसज्यप्रतिषेधः ? । तत्र यदि ज्ञानादप्यज्ञानमिति, ततः
पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात्, नाज्ञानवाद
इति । अथ ज्ञानं न जयतीत्यज्ञानं, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः,
स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ? अपि च-अज्ञानं
श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो जयतीति क्रियाप्रतिषेध
एव कृतः स्यात् । एतच्चाध्यक्षत्वाधितम्, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थ
परिच्छेद्य प्रवृत्तमानोऽर्थक्रियार्थो न विसंवाद्यत इति । किञ्च-
अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषवतां प-
रिज्ञायेवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते । एवं च सति प्रत्यक्ष एव
स्यादभ्युपगमविरोधो नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं
सर्वथा तेऽज्ञानवादिनोऽकोविदा धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः, स्व-
तोऽकोविदेभ्य एव स्वाशिष्येभ्यः, आहुः कथितवन्तः । गान्ध-
सत्वाच्चैकवचनं सूत्रे कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः ।
अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति ।
तथा ये च बाह्यमत्तसुसदयोऽस्पृष्टविज्ञाना अव्ययका इत्येव-
मभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा छष्टव्या इति । तथाऽज्ञा-
नपक्षसमाश्रयणाश्चाननुविचिन्त्य ज्ञापणाभूता ते सदा वदन्ति,
अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च
सत्यवादस्यातो ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाभावः, त-
दभावाच्च तेषां सृपावादित्वमिति ॥ २ ॥ सूत्रं १ श्रुं १२ अ० ।
इति दर्शितं सद्भूषणमज्ञानिनां मतम् । अथ कियन्तस्ते इति
दर्शयति निर्युक्तिरुत-

अएणाणिय सत्तट्ठी

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवर्तितकार्यसिद्धिमिच्छतां
ज्ञानं तु सदापि निष्फलम्, बहुदोषत्वाच्चेत्येवमभ्युपगमयतां
सप्तपट्टिरेनेनोपायेनावगन्तव्याः-जीवाजीवादीन् नव पदार्थान्
परिपाठ्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत्,
असत्, सदसत्, अवक्तव्यम्, सदवक्तव्यम्, असदवक्तव्यम्,
सदसदवक्तव्यमिति । अत्रेलापस्त्वयम्-सन् जीवः, को वेत्ति ?
किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥१॥ असन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन
ज्ञातेन ? ॥२॥ सदसन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?
॥३॥ अवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥४॥
सदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥५॥ असद-
वक्तव्यो जीवः, को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥६॥ सदसदवक्त-
व्यो जीवः, को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि
सप्त भङ्गकाः । सर्वेऽपि मिलितास्त्रिपट्टिः । तथाऽपरंऽमी चत्वारो
भङ्गकाः । तद्यथा-सती जायोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञात-
या ? १। असती जायोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञातया ? २।
सदसती जायोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञातया ? ३। अवक्तव्या

भावात्प्राप्तिः, को वेत्ति? किं वा तथा ज्ञातया? ॥४॥ सर्वेऽपि सप्त-
षष्टिरित्युत्तरं भङ्गकत्रयमुपपन्नत्रावाचयवोपेक्षमिह ज्ञावोत्पत्तौ न
संज्ञयतीति नोपन्यस्तम् । उक्तं च—“अज्ञानिकवादिमतं, नव जी-
वादीन् सदादिसप्तविधान् ॥ भावात्प्राप्तिः सदसद्, द्वेधा वाच्या
च को वेत्ति? ” ॥१॥ सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । एतच्चतुष्टयप्रकृतेर्पातसप्तष-
ष्टिर्नवति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थः—न कस्यचि-
द्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोक्त्यते । न च
तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽ-
मूर्तो ज्ञानादिगुणोपेतः, एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा, ततः कतमस्य
पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १
ध्रु० १ अ० २ उ० । प्रव० । आचा० । स्या० । आव० । न० ।

साम्प्रतमज्ञानमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह—

जविणो मिगा जहा संता, परिचारेण वज्जिभा ।
असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणजयसंविग्गा, संपलिति तहिं तहिं ॥७॥
अहं तं पवेज्ज वज्जं, अहे वज्जस्म वा वए ।
मुचेज्ज पयपासाओ, तं तु मदे ण देहइ ॥ ८ ॥

(जविणो इत्यादि) यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आ-
रण्याः पशवः, परि समन्तात् त्रायते रत्ततीति परित्राणं, तेन
वर्जिता रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा परित्राणं
वागुरादिवन्धनं, तेन तर्जिता भयं गृहीताः सन्तो भयोद्भ्रा-
न्तलोचनाः समकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यक् विवेकविकलाः,
अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्कार्हाणि, ता-
न्येव शङ्कन्ते, अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्काऽ-
र्हाणि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि, शङ्कायो-
ग्यानि वागुरादीनि, तान्यशङ्किनस्तेषु शङ्कामकुर्वाणास्तत्र
तत्र पाशादिके संपर्ययन्त इत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमोहाविष्करणायाह— [परियाणीत्यादि]
परित्रायते इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि, यथा परित्राणयु-
क्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्यस्तबुद्धयस्त्रातयपि भय-
मुद्वेक्षमाणाः, पाशितानि पाशोपेतान्यनर्थापादकानि, अशङ्कि-
नः, तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च [संविग्गं ति]
सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्राऽपरित्रा-
णोपेतं, पाशाद्यनर्थोपेतं वा, सम्यक् विवेकेनाऽज्ञानानाः, तत्र त-
त्राऽनर्थबहुले पाशावागुरादिके बन्धने, संपर्ययन्ते समेकीभावे-
न, परि समन्तात्, अयन्ते यान्ति वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं
दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्ति-
कत्वेनाऽऽयोज्याः । यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकाल्पाणभूता-
नेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवा-
दाभ्युपगमेनाऽनाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते । शङ्कनीयं
च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते । ते एवंभूताः परित्रा-
णहेऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्या घटमानकमनर्थ-
बहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु
कर्मबन्धस्थानेषु संपर्ययन्त इति ॥ ७ ॥

पूर्वदोषैरुत्पन्नान्नाचार्यो दोषान्तरद्वित्तया पुनरपि प्राक्तनद-
ष्टान्तमधिकृत्याह— [अहं तं पवेज्ज इत्यादि] अध्यानन्तरमसौ
मृगस्तत्र [वज्जमिति] बद्धं बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् ।

वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते । तदेवंभूतं
कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवन्—तदधस्तादतिक्र-
म्योपरि गच्छेत्, तस्य बन्धादेर्वन्धनस्याधो गच्छेत्तत्त एवं
क्रियमाणेऽसौ मृगः, पदे पाशः पदपाशो वागुरादिवन्धनं,
तस्मान्मुच्यते । यदि वा पदं कूटं, पाशप्रतीतः, ताज्यां मुच्यते ।
कचित् पदपाशादिति पठ्यते । आदिग्रहणादधताडनमारणा-
दिकाः क्रिया गृह्यन्ते । एवं सन्तमपि तमनर्थोत्पादकं परिहर-
णोपायं मन्दो जसोऽज्ञानावृतो न देहतीति न पश्यतीति ॥

कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामानोति, तां दर्शयितुमाह—

अहिअप्पाऽद्वियपण्णाणे, विममंतेणुवागते ।

स वप्पे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥ ६ ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिड्डी अणारिआ ।

असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ १० ॥

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।

आरंजाइं न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ ।

अप्पात्तअं अकम्मसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥ १२ ॥

(अहीत्यादि) स मृगोऽहितात्मा । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । स चाहितप्रज्ञानः सन् विषमान्तेन
कूटपाशादियुक्तप्रदेशेनोपागतः । यदि वा विषमान्ते कूटपाशा-
दिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन
कूटादिना पदपाशादीनर्थबहुलानवस्थानविशेषान् प्राप्तः, तत्र ब-
न्धने, घातं विनाशं, नियच्छति प्राप्नोतीति ॥ ६ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एवं दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं
दर्शयितुमाह— (एवं तु इत्यादि) एवमिति यथा मृगा अ-
ज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एव-
मेव, भ्रमणाः केचित्, पाषाणविशेषाश्रिताः । एके, न सर्वे ।
किं भूतास्ते इति दर्शयति—मिथ्या विपरिता दृष्टिर्येषामज्ञानवा-
दिनां, नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः । तथा अनार्याः
भाराज्जाताः सर्वदेयधर्मेज्य इति आर्याः, न आर्या अनार्या
अज्ञानावृतादसदनुष्ठायिन इति यावत् । भ्रान्तावृतात्वं
च दर्शयति—अशङ्कितान्यशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि,
शङ्कमानाः, तथा शङ्कनीयान्यपायबहुलान्येकान्तपक्षसमाभ्य-
णानि, अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदारभन्ते, यद्य-
दनर्थाय संपद्यन्त इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्यासमाह— (धम्मपण्णवणेत्यादि) धर्मस्य
कान्त्यादिदशवृत्तणोपेतस्य या प्रज्ञापना प्ररूपणा । तं त्विति ।
तामेव शङ्कन्ते । असद्धर्मप्ररूपणयमित्येवमध्यवश्यन्ति । ये पुनः
पापोपादानभूताः समारम्भास्तान्नाशङ्कन्ते किमिति । यतोऽभ्यक्ता
मुग्धाः सहजसद्विवेकविकलाः, तथा अकोविदा अपाकिताः
सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति, तदर्शनायाह— (सव्वप्पग-
मित्यादि) सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मको लोचः, तं विधूये-
ति संबन्धः । तथा विविध उक्त्यो गवो व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः ।
तथा (णूमं ति) माया, तां विधूय । तथा (अप्पसिअं ति) कोधं
विधूय । कपायविधूनने च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति ।

तदपगमाच्च शेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह—[अकर्मा-
श इति] न विद्यते कर्माशोऽस्येत्यकर्माशः । स च कर्माशो
विशिष्टज्ञानाद् भवति, नाज्ञानादित्येव दर्शयति । एतमर्थं कर्मा-
भावलक्षणं, मृगः अज्ञानी (चुपत्ति) त्यजेत् । विनक्तिविपरिणा-
मेन वा अस्मादेवंभूतादर्थात् व्यवेद् भ्रूयेदिति ॥ १२ ॥

पूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिहितस्याऽऽह—
जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासवच्चा ते, धायमेमंति उणंतसो ॥ १३ ॥
माहणा समणा एगे, मव्वे नाणं सयं वए ।
मव्वज्ञोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥ १४ ॥
मिलक्खु अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ता उणुभामए ।
ए हेट्ठं मे विजाणाए, जामिअं अणुभामए ॥ १५ ॥
एवमणारिया नाणं, वयंता वि सयं मयं ।

निच्छयत्यं न जाणंति, मित्रकखु व्व अवंधिया ॥ १६ ॥
(जे एयमित्यादि) ये अज्ञानपतं समाश्रिता एनं कर्मरूपणोपायं
न जानन्ति । आत्मीयाऽसद्व्याहाराऽऽग्रहप्रस्ता मित्याहृष्टयोऽनार्या-
स्ते मृगा इव पाशवच्चा घातं विनाशमेष्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति
घा, तद्योग्यक्रियाऽनुष्ठानात् । अनन्तशो विच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो
गताः ॥ १३ ॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोक्तिरावशिष्या स्ववाग्य-
न्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाऽऽह—(मा-
हणा इत्यादि) एके केचन, ब्राह्मणविशेषाः, तथा श्रमणाः परिब्रा-
जकविशेषाः, सर्वेऽप्येते, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् । हेयोपादियार्था-
ऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं, स्वकामात्मीयं, वदन्ति ।
न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सम्यानि ! तस्मा-
दज्ञानमेव श्रेयः, किं ज्ञानपरिकल्पनया इत्येतद्दर्शयति—सर्वस्मि-
न्नापि लोके, ये प्राणाः प्राणिनः, न ते किंचनापि सम्यगुपेतवाचं
जानन्तीति विदन्तीति ॥ १४ ॥ यदपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमा-
यातं, तदपि क्षिप्रमूढत्वादावितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्श-
यितुमाह—(मिलक्खु अमिलक्खुस्सेत्यादि) यथा म्लेच्छ आर्य-
जानाऽनतिक्रान्तिः, अम्लेच्छस्यार्यस्य म्लेच्छभाषाऽनतिक्रान्त्यस्य, यद्वा-
पिदं, तदनुनायते अनुवदति, केवलं न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति-
यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति । न च हेतुं निमित्तं,
निश्चयेनासौ म्लेच्छस्तदभाषितस्य जानाति, केवलं परमार्थज्ञानं
तदभाषितमेवानुभाषत इति ॥ १५ ॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टा-
न्तिकं योजयितुमाह—(एवमित्यादि) यथा म्लेच्छः, अम्लेच्छ-
स्य परमार्थमज्ञानात् केवलं तदभाषितानुभाषते, तथा अज्ञा-
नकाः सम्यग्ज्ञानगहिताः श्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वी-
य ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थं तापण्णात्, निश्चयार्थं न जान-
न्ति । तथाहि—ते स्वकीयं तीर्थं परस्वकीयेन निर्दिष्टं तदुपदे-
शन क्रियासु प्रवर्तन्ते, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाभ्युदयनिना प्रदीप्तं
शक्यते, “तामवङ्गः सर्वं जानातीति” न्यायात् । तथाचोक्त-
म्—“सर्वज्ञोऽस्माविति होत-क्तकालेऽपि वुत्तुस्सुभिः । तज्ज्ञान-
ज्ञयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ?” ॥ १ ॥ एवं परचेतोवृत्तीनां
दुर्न्ययत्वादुपदेष्टुं यथावस्थितविवक्षया ग्रहणाऽसंभवादिश्च-
यार्थमज्ञानात् म्लेच्छवदपरोक्षमनुभाषन्त एव । अत्रोपेक्षा दो-
षाद्विज्ञातः, केचनमित्यतोऽज्ञानमेव श्रेय इति । एवं यावद्यावज्ञा-
नाभ्युपगमस्तावत्तावदुत्तरदोषसंतवः । तथाहि—योऽवगच्छन्
पादेन कस्यचिद् शिरः स्पृशति, तस्य मदानपराधो भवति । य-

स्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीत्येवं चाज्ञानमेव
प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥ १६ ॥

एवमज्ञानवादितमनूद्येदानीं तदुपणायाह—

अन्नाणियाणं वीमंसा, नाणे ण विनियच्छइ ।
अण्णो य परं नात्तं, कुतो अन्नाणुसासिउं ? ॥ १७ ॥
वणे मूढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥ १८ ॥
अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाणु गच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥ १९ ॥
एवमेगे णियायट्ठी, धम्मपाराहगा वयं ।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ए ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

(अन्नाणियाणमित्यादि) न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञा-
निनः । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मत्वर्थीयः । यथा गौर-
स्वरवदण्यमिति । यथा तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव श्रेयः, इत्ये-
वंवादिनां योऽयं विमर्शः पर्यालोचनात्मकः, मीमांसा वा
मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा, अज्ञानेऽज्ञानविषये (ण णियच्छइ)
न निश्चयेन यच्छति नावतरति, न युज्यत इति यावत् ।
तथाहि—यैवंभूता मीमांसा, विमर्शो वा, किमेतज्ज्ञानं सत्य-
मुनाऽसत्यमिति ? । यथा अज्ञानमेव श्रेयो, यथा यथा च ज्ञा-
नातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक इति, सोऽयमेवंभूतो
विमर्शस्तेषां न बुध्यते । एवंभूतस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानरूप-
त्वादिति । अपि च—तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि, परं प्रधानमज्ञा-
नवादमिति, शासितुमुपदेष्टुं, नालं न समर्थाः । तेषामज्ञानपक्ष-
माश्रयेणोऽज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः सन्तोऽन्येषां
शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं समर्था भवेयुरिति ?
यदप्युक्तम्—विघ्नमूलत्वात् म्लेच्छानुभाषणवत् सर्वमुपदेशादि-
कम् । तदप्युक्तम् । यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमृते कर्तुं शक्यते ।
तथा यदप्युक्तम्—परचेतोवृत्तीनां दुर्न्ययत्वादज्ञानमेव श्रेय इ-
ति । तदप्यसत् । यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं परोपदेशात्ता-
नाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कृत इति । तथाऽ-
न्यैरप्यन्यथायि—“आकारैरिहैर्गत्या, चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः” ॥ १७ ॥ तदेवं ते त-
पस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च शासने कर्तव्ये यथा
न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—(वणे इत्या-
दि) । वनेऽट्टव्यां, यथा कश्चिमूढो जंतुः प्राणी, दिक्परिच्छेदं
कर्तुमसमर्थः, स एवंभूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति,
तदा द्वावप्यकोविदौ सम्यग्ज्ञानानिपुणौ सन्तौ, तीव्रमसह्यं,
स्रोतो गहनं, शोकं वा, नियच्छतो निश्चयेन गच्छतः प्राप्नुतः,
अज्ञानावृत्तत्वात् । एवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभन-
त्वेन निर्धारयन्तः परकीयं वाऽशोभनत्वेन जानाताः स्वयं
मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥ १८ ॥ अस्मिन्नेवार्थे दृ-
ष्टान्तान्तरमाह—(अंधो अंधमित्यादि) यथा अन्धः स्व-
यमपरमन्धं पन्थानं नयन्, दूरमध्वानं विवक्षितादध्वनः पर-
तरं गच्छति, तथाप्ययमापद्यते जन्तुरन्धः । अथवा—परं प-
न्थानमनुगच्छेन्न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥ १९ ॥ एवं
दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह—(एवमेगे नियाय-
ट्ठि) । एवमिति पूर्वोक्तोऽर्थोपप्रदर्शने । एवं भावमूढा भा-
वाध्याश्चैके आजीविकादयः, (नियायट्ठि) । नयो मोक्षः, सद्

धर्मो वा, तदार्थिनस्ते किल वयं सख्यार्थाधका इत्येवं संशय
प्रवृत्त्यायामुच्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकाद्योपमर्देन ।
पचनपाचनार्थादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्तत् स्वयमनुतिष्ठन्ति,
अन्यथा चोपदिशन्ति, येनाभिप्रेतावा मांक्रान्तेर्ज्ञेयानि । अथ-
वा तावन्मोक्षाभावस्तमेवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापद्येरन् ।

पुनरपि तद्वृत्त्याजिधित्सयाऽऽह—

एवमेवे वियक्ताहिं, नो अन्नं पञ्जुवासिया ।

अप्पणो य वियक्ताहिं, अयमंजु हि दुम्मई । २१ ।

एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया ।

दुक्खं ते नास्तुट्ठति, सउणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥

सयं सयं पमंमता, गरहंता परं वयं ।

जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्त्या नान्या एके केचनऽज्ञानि-
का वितर्कान्निर्माणांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः,
परमन्यमार्हादिकं ज्ञानवादिनं न पर्युपासते न सेवन्ते । स्वा-
वलेपप्रहृष्टता वयमेवं तत्त्वज्ञानानिज्ञानपराः केचिदित्येवं
नान्यं पर्युपासते इति । तथाऽऽत्मीयैर्विकल्पैरेवमभ्युपगतवन्तो
यथाऽयमेवास्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय श्रेयैवमात्मको मार्गः । (अज्ञ-
रिति) निर्दोषत्वाद् व्यक्तः स्पष्टः परैस्तिरस्कृतुमशक्यः; ऋजुर्वा
प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायित्वात् । किमिति एवम-
जिदधति ?—इदंस्मादर्थे । यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्यस्तबुद्ध्य-
इत्यर्थः ॥ २१ ॥

संप्रतमज्ञानवादिनां स्पष्टमेवाऽनर्थान्निधित्सयाऽऽह—(एवं त-
क्काइ इत्यादि) एवं पूर्वोक्तन्यायन तर्कया स्वकीयविकल्प-
नया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मे ज्ञान्यादिकेऽधर्मे च जी-
वोपमर्दापादिते पापेऽकोविदा अनिपुणा दुःखमसातोदयवृत्त-
णं तद्धेतुं वा, मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं नातित्रोटयन्ति, अति-
शयेनैतद्व्यवस्थितम् । तथा ते न त्रोटयन्त्यपनयन्तीति । अत्र दृष्टान्त-
माह—यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं
मोचयितुं नात्रम्, एवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं
नात्रमिति ॥ २२ ॥

अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—(सयं सयमि-
त्यादि) स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो
वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां
वाचम् । तथाहि—सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोज्ञाववादिनः सर्वं
वस्तु क्लृप्तं निरन्वयं निरीश्वरं वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूष-
यन्ति । तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्यान्यमर्थक्रियाविरहात् सां-
ख्यान् । एवमन्येऽपि छद्म्या इति । तदेवं य एकान्तवादिनः ।
तुरवधारणे जिज्ञाक्रमश्च । तत्रैव तेष्वेवाऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु
प्रशंसां कुर्वोणाः परयाचं च विगर्हमाणा विद्वस्यन्ते विद्वांस-
इवाऽऽचरन्ति । तेषु वा विशेषेणोशन्ति स्वशास्त्रविषये विशिष्टं
युक्तिमात्रं वदन्ति । ते चैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिज्रेदेन संस-
तिरूपं विविधमनेकप्रकारमुत्प्रावदयेन धिताः संवृद्धाः तत्र वा
संसारे वृथिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा जवन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥
सूत्रं १ श्रुं १ अं २ उ० ॥

अण्णाणियवाइ (ण)—अज्ञानिकवादिन—पुं० । अज्ञानमन्यु-
पगमद्वारेण येनामास्ति तेऽज्ञानिकास्त एव वादिनोऽज्ञानिकवा-
दिनः । अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं प्रतिज्ञेषु, स्था० ४ ग० ४ उ० । सूत्रं ०
१४४

आण्णात (य)—अज्ञात—त्रि० । अनभिगते सम्यगनवधारिते,
ध० ३ अधि० । अनुमानेनाऽविपर्ययाकृते, । ज० ३ श० ६ उ० ।
स्वयं स्वजनादिसंबन्धाऽकथनेन गृहस्थपरिज्ञातस्वभावादि-
भावे भिन्नौ, प्रश्न० १ सम्ब० ८० । यत्र प्रामादौ प्रतिमा
प्रतिपन्ना, तथाऽविदिते, प्रब० ६९ द्वा० । जातिकुलसद्रव्या-
दिनाऽपरीक्षिते, उक्त० २ अ० । राजादिप्रवीजतत्वेनाविदित—
स्य भेदये, पञ्चा० १७ विव० । “अष्टायं नाम जहा, अचित्तकरो
चित्तं काञ्चणं जाणति” अज्ञत्वात् अल्पविज्ञानत्वादित्यर्थः ।
नि० चू० १५ उ० ।

अण्णात (य) उञ्ज—अज्ञातोञ्ज—न० । विशुद्धोपकरणप्रदणे,
दश० २ सू० । परिचयाकरणे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अण्णाओं दुविहं, दब्बे भावे य होइ नायवं ।

दब्बुं उं एगविहं, लांगरिमीणं मुण्येयवं ॥

अज्ञातोञ्जं द्विविधम् । तद्यथा—दब्बे जावे च । तत्र द्रव्योऽम्भ-
नेकविधं लोकमृषीणां तापसानां ज्ञातव्यम् ।

तदेवानेकविधं द्रव्योऽम्भमाह—

उक्खल खलए दब्बी, दंमे संसासए य पोत्ती य ।

आमे पक्के य तहा, दब्बोच्छे होइ निक्खेयो ॥

तापसा उञ्जवृत्तयः, उदूखले उदितेषु तन्जुलेषु ये परिश्रिताः
शालितन्दुलादयस्तान् उच्चित्य रन्ध्रन्ति । (खलए च्ति)
खले धान्यं मर्दिते संव्यूढे च यत् परिश्रितं तत् उच्चिन्वन्ति ।
(दब्बी ति) धान्यराशेर्येदेकया दर्व्या उत्पाद्यते तद्
गृहहन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (दंमे च्ति) स्वामिनम-
नुज्ञाप्य यद् धान्यराशेर्येदेकया यद्यथा उत्पाद्यते तद् गृहहन्ति,
एतदेवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (संसासए च्ति) अद्भुष्टप्रदे—
शिनीभ्यां यद् गृह्यते शाल्यादिकं तावन्मात्रं प्रतिगृहं गृहहन्ति ।
यद्यपि बहुकं पश्यन्ति शाल्यादि, तथापि न मुष्टिं भृत्वा गृ-
हहन्ति [पोत्ती य च्ति] स्वामिनमनुज्ञाप्य धान्यराशौ पोत्ति-
त्तिपन्ति, तत्र यत् पोत्तौ लगति तद् गृहहन्ति । एवमन्यत्रापि ।
तथा आमे, पक्के वा यच्चरकादयो भिक्षाप्रविष्टा मृगयन्ते, एष
भवति द्रव्योऽञ्जं निक्षेपः ।

संप्रति भावोऽञ्जमाह—

पक्किमापक्किस्से ए—स जयवमज्ज किर एत्तिया दत्ती ।

आदियति च्ति न नज्जइ, अन्नाओं तत्रो जणितो ॥

प्रतिमाप्रतिपन्न एष भगवान् अथ किल एतावद् दत्तारा-
दत्ते इति न ज्ञायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोऽञ्जं भवति ।
व्य० १० उ० ।

अण्णात (य) चरय—अज्ञातचरक—पुं० । अज्ञातोऽनुपदर्शित-
सौजन्यादिभावः संश्ररति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा
गृहेषु चरतीति अज्ञातः । अज्ञातगृहे वा चरामीत्यभिप्रवर्तते,
सूत्रं २ श्रुं २ अ० ।

अण्णातपिण्—अज्ञातपिण्ड—पुं० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञात-
पिण्डः । अन्तर्प्रान्तरूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः ।
अज्ञातेभ्यः पूर्वोऽपरसंस्तुतेभ्य उञ्जवृत्त्या लब्धे पिण्डे, “अ-
ज्ञातपिण्डेण हि पासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा”
सूत्रं १ श्रुं १ अ० १ उ० ।

अण्णादत्तह—अन्यादत्तह—त्रि० । अन्यैरदत्तमनिष्ठं इत्या-

दत्ते इत्यन्यादत्तहरः । प्रामनगरादिषु चौर्यकृति, उक्त० ७ अ० ।
अस्मा (स्मा) दि (रि) स-अन्यादृश-त्रि० । अन्येव दृ-
श्यते । अन्य-दृश-कृत्, आत्वम् । " दृशोः क्तिप्ठकृत्सकः " ।
॥ १७३॥ इति श्रुतो रिः । अन्यसदृशे, प्रा० ।

अणाय-अन्याय-त्रि० । न्यायादपेते, सूत्र० १ भू० १३ अ० ।
अणायनामि(ण)-अन्यायनामिन्-त्रि० । अन्याय्यं भा-
षितुं शीघ्रमस्य सोऽन्याय्यनामि । यत्किञ्चन भाषिणि, अस्थान-
नामिणि, गुवांघाधिकेपकरे च । " जे विगहीण अणायभासी,
न से समे होइ अजंजपते " सूत्र० १ भू० १३ अ० ।

अणायया-अज्ञातता-स्त्री० । तपसो यशःपूजाऽऽद्यर्थित्वेना-
प्रकाशयद्भिः करणे, स० ३२ सम० । कोऽर्थः ? पूर्व परीषह-
समर्थानां यदुपधानं क्रियते, तद्यथा लोको न जानाति
तथा कर्तव्यम्, विज्ञातं वा कृतं न नयेत्, प्रच्छन्नं वा कृतं न-
येत् । आव० ४ अ० ।

अज्ञातद्वारमाह-

कोसंवि अजिअसेणो, धम्मदसू धम्मघोस-धम्मजसो ।
विगयजया विणयवर्दे, इद्धिविजूसोइ परिकम्भे ॥ १ ॥

कौशाम्बीत्यस्ति पुस्तत्रा-जितसेनो महीपतिः ।
धारिणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवसुगुरुः ॥ १ ॥
धर्मघोषो धर्मयशो-स्तस्यान्तवासिनावुभौ ।
आसीद्विनयवत्याख्या, तत्र तेषां महत्तरा ॥ २ ॥
तच्छिष्या विगतभया, विदधेऽनशनं तपः ।
महाप्रभावनापूर्वं, सङ्गृह्णन्ति निरयामयत् ॥ ३ ॥
तौ च धर्मवसाः शिष्यौ, कुरुतः परिकर्मणाम् ।

इतश्च-

उज्जेलिअंतिवच्छण, पालय सुसुट्ठवद्धणो चैव ।
धारिणीअंतिवेषेण, मणिप्पजो वच्छगतीरे ॥ १ ॥

उज्जयिन्यस्ति पूर्वभृत्, प्रद्योतस्तत्सुतावुभौ ।
आद्यः पालकनामाऽभू-ल्लघुगोपालकः पुनः ॥ ४ ॥
गोपालकः प्रवराज, पालको राज्यमासदत् ।
अवन्तिवर्धनो राष्ट्र-वर्द्धनश्चेति तत्सुतौ ॥ ५ ॥
तौ राज-युवराजौ च, कृत्वाऽभूत्पालको वती ।
धारिणीकुत्तिजोऽवन्ति-सेनोऽभूद् युवराजसू ॥ ६ ॥
भूमुजाऽन्येयुरुषाने, स्वेच्छस्थाऽदर्शि धारिणी ।
ऊच दृत्वाऽनुरक्तनां, सा नैच्छद्भ्रशर्मिलिता ॥ ७ ॥
यथा भाषेन साऽद्योच-अ भ्रातुरपि लज्जसे ? ।
ततोऽसौ मरितस्तेन, स्वर्शले साऽथ रत्नितुम् ॥ ८ ॥
ययौ सार्येन कौशाम्बी-मातस्वाभरणोच्चया ।
भूमुजो यानशालायां, स्थिताः साध्वीनिरीक्ष्य सा ॥ ९ ॥
घन्दित्वा आधिका साऽभूत्, क्रमाच्च वनमग्रहीत् ।
गर्भे न सन्तमप्याभ्युद, वनलोभभयात्पुनः ॥ १० ॥
ज्ञातो महत्तरायाः स्वः, सद्भावोऽथ निवेदितः ।
सुगुप्तं स्थापिता साऽथ, रात्रौ पुत्रमजीजनत् ॥ ११ ॥
स्वमुज्जानरणाद्यैस्तं, तदैवाभूय नृपतेः ।
सांघाङ्गणे स्थापयित्वा, प्रच्छन्ना स्वयमास्थित ॥ १२ ॥
पार्थिवोऽजितसेनस्तेन, दृष्ट्वाऽऽकाशतलस्थितः ।

गृहीत्वाऽदात्तद्वाराहया, असुतायाः सुतं जवात् ॥ १३ ॥
पृष्टा साध्वीभिराख्यासा, मृतोऽज्जयुज्जितस्ततः ।
पट्टराहया समं चक्रे, साऽथ सख्यं गताऽऽगतैः ॥ १४ ॥
मणिप्रभास्यस्तत्सुतुर्मृते राह्यभवन्तृपः ।
साध्याः स चातिजकोऽस्या, राजा चावन्तिवर्धनः ॥ १५ ॥
ज्ञाताऽमारि न साऽथाऽभूत्, पश्चात्तापेन पीडितः ।
राज्यं ज्ञातुसुतेऽवन्ति-सेने न्यस्याग्रहीद् वतम् ॥ १६ ॥
सा कौशाम्बीनृपाङ्ग-मयाचम्र स दत्तवान् ।
धर्मघोषस्तयोरेकः, प्रपेदेऽनशनं यतिः ॥ १७ ॥
भूयान्ममापि विगत-भयाया इव सत्कृतिः ।
द्वितीयीकस्तु कौशाम्बी-मवन्ती चान्तरा गिरौ ॥ १८ ॥
गुहायां वत्सकातीरे निरीहोऽनशनं व्यधात् ।
इतश्चागत्य कौशाम्बी, रुद्राधायान्तिसेनराट् ॥ १९ ॥
धर्मघोषान्तिके नागाद्, भयत्रस्तस्ततो जनः ।
स च चिन्तितमप्राप्तो, मृतो द्वारेण निगतः ॥ २० ॥
न लज्यते ततः क्षितो, द्वारोपरितलेन सः ।
साऽथ प्रवजिता दध्या, मा नृपुके जनक्यः ॥ २१ ॥
ततश्चान्तःपुरं गत्वाऽ-वोचन्मणिप्रजं रटः ।
ज्ञात्रा सद कथं योत्स्ये, सोऽवक् कथमिदं ततः ? ॥ २२ ॥
सर्वे प्रबन्धमाचख्यौ, पृच्छाभ्यां प्रत्ययो न चेत् ।
पृष्टाऽम्बाऽऽख्यत्कथावृत्तं, नाममुद्रामदर्शयत् ॥ २३ ॥
राष्ट्रवर्द्धनसत्कानि, सर्वाण्याभरणानि च ।
अथोच प्रसरद्ब्रज्जे, सोचंते तं सोऽपि भोत्स्यते ॥ २४ ॥
इत्युक्त्वा सा विनिर्गत्या-ऽवन्तिसेनद्वेऽगमत् ।
उपलब्ध जनाः सर्वेऽ-वन्तिसेननृपस्य ताम् ॥ २५ ॥
आख्यन्निहागताऽम्बा ते, दृष्ट्वाऽप्रशयश्रनाम ताम् ।
मातः ! कथमिदं चक्रे, सर्वे तस्याप्यचीकथत् ॥ २६ ॥
तेदय तव सोदर्यो, मिलितौ तावथो मिथः ।
स्थित्वैकमासं कौशाम्ब्यां, द्वावप्युज्जयिनीं गतौ ॥ २७ ॥
निन्ये सगुरुकाऽम्बाऽपि, वत्सकातीरपर्वते ।
तत्रारोहावरोहांस्ते, कुर्वन्तो वीक्ष्य संयतान् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा तेऽप्यगमन्तुं, नृपौ नत्वा मुनिं मुदा ।
चक्रतुर्द्वावपि स्थित्वा, महिमानं जनैः सद ॥ २९ ॥
एवं तस्याजनि श्रेष्ठा-ऽनिच्छतोऽपि हि सत्कृतिः ।
द्वितीयस्येच्छतोऽप्यासी-अ सरकारवक्षोऽपि हि ॥ ३० ॥
ततो धर्मयशोऽवगिरिदं तपः कार्यम् । आ० क० ।

अणायवद्विवेग-अज्ञातवाग्विवेक-पुं० । शुक्ताद्युक्तयोऽ-
योग्यविषयत्वादिरूपो यस्ते । वाग्विवेकमज्ञातवत्सु, द्वा० ।

" अज्ञातवाग्विवेकानां, परिहृतत्वाभिमानिनाम् ।
विषयं वर्तते वाचि, मुखेनाशीविषयस्तत् " ॥ द्वा० १ द्वा० ।

अणायसील-अज्ञातशील-त्रि० । परिहृतैरप्यज्ञातस्वभावे,
अग्रहशब्दे च । " ताणं अणायसीलाणं (नारीणं) " तासां ना-
रीणामज्ञातशीलानां परिहृतैरप्यज्ञातस्वभावानाम् । यद्वा-न ज्ञा-
तं नाङ्गीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् ।
यद्वा-नञः कुत्साधेवात् कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः
परिवाजिकायेगिन्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम्, तं० ।

अणारंजणिवित्ति-अन्यारंजनवृत्ति-स्त्री० । कृष्याधार-
मन्त्र्यागे, " अणारंजणिवित्तीष, अप्पणा दिट्ठणं चैव " ।
पञ्चा० ७ विव० ।

अएणावएस-अन्यापदेश-पुं० । अन्यस्य परस्य संबन्धीद्
गुरुस्वाम्नादीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन
साधुन्यो न दीयते इति साधुसमकं भणने जानन्तु साधवो
यद्यस्मै तद् भक्तादिकं ज्ञेयं तदा कथमस्मज्ज्यं न दद्यादिति
साधुसंप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्माद्वान्ता ममाग्रादेः पुण्यम-
स्त्विति ज्ञाने च , एष अतिथिसंविज्ञागस्य पञ्चमोऽतिचारः ।
अ० २ अधि० ।

अएणय-अन्वित-त्रि० युक्ते, सूत्र० १ भु० १० अ० व्य० उत्त०

अएणयाउत्त-अन्निकापुत्र-पुं० । जयसिंहनाम्नो वणिकपुत्रस्य
जामेः अन्निकायाः पुत्रे , ती० । कतमः स महामुनिः ? । तदनु
जगाद नैमित्तिकः-श्रूयतां, देव ! उत्तरमपुरायां वास्तव्यो देवदत्ता-
ख्यो वणिक पुत्रो दिव्यात्रार्थं दक्षिणमथुरामगमत्, तत्र तस्य ज-
यसिंहनाम्ना वणिकपुत्रेण सह सौहार्दमभवत् । अन्यदा तद्गृहे
हृज्जनोऽन्निकानाम्नीं तज्जामि स्थाने भोजनं परिवेष्य वातव्य-
जनं कुर्वती रम्यरूपामालोक्य तस्यामनुरक्तः । द्वितीयेऽहि वरकान्
प्राप्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽऽविष्टसौहृदमन्यधाद्-अद् तस्मा
एव ददे स्वसारम्, यो मदगृहाद् दूरे न भवति, प्रत्यहं तां तं च
यथा पश्यामि, यावदपत्यजन्म तावद्यादि मदगृहे स्थाता, तस्मै
जामि दास्यामीति । देवदत्तोऽप्यामित्युक्त्वा शुभेऽर्हति तां पर्यणै-
षीत् । तथा सह जोगान् भुञ्जस्तस्यान्यदा पितृभ्यां लेखः प्रेषितः,
वाचयतस्तस्य नेत्रे वषितुमशु प्रवृत्ते, ततस्तया हेतुः पृष्टो
यावन्नाम्रवीत् तावत्तयाऽऽद्य लेखः स्वयं वाचितः । पत्रे चेद्
लिखितमासीद् गुरुभ्याम्-“यद् वत्स ! आवां वृद्धौ निकटानि-
धनौ, यदि नौ जीवन्तौ दिवङ्गसे तदा द्रागागन्तव्यमिति” तदनु
सा पतिमाश्वस्य भ्रातरं दृग्दप्यजिह्वपद्भ्यां सह प्रतस्थे
चोत्तरमथुरां प्रति । सगर्भा क्रमान्मार्गे सुनुमसून, नामास्य
पितरौ करिष्यन् इति देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रण-
म्य च शिशुं तयोरापयत् । संधीरणेत्याख्यं तौ नप्तुश्चक्राते । तथा
ऽप्यन्निकापुत्र इत्येव पश्ये । असौ वर्द्धमानश्च प्राप्तारुण्योऽपि
जोगांस्तृणवद्विधूय जयसिंहाचार्यपाशेन दीक्षामग्रहीत् । गीता-
र्थोच्युतः । प्रापदाचार्यकम् । अन्यदा विहरन् सगच्छोऽर्हकं पुष्प-
भद्रपुरं गङ्गातटस्थं प्राप्तः । तत्र पुष्पकेतुर्नृपः । तदेवी पुष्पवती ।
तयोर्युग्मजौ पुष्पचूबः पुष्पचूबा चेति पुत्रः पुत्री चाभूताम् । तौ
च सह वर्द्धमानौ क्रान्तौ परस्परं प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा
दृष्ट्यो-यद्येतौ वियुज्येते, तदा नूनं न जीवतः । अहमप्यनयोर्विरहं
सोदुमनीशः, तस्मादनयोरेव विवाहं करोमीति ध्यात्वा मन्त्रिमि-
त्रपौरांश्चक्षेनाऽपृच्छद्-जोः ! यन्ममाऽन्तःपुर उत्पद्यते, तस्य कः
प्रभुः ? ! तैर्विज्ञप्तम्-देव ! अन्तःपुरोत्पन्नस्य किं वाच्यम्, यदेशम-
ध्येऽप्युत्पद्यते रत्नं, तज्जाया यथेच्छं विनियुक्ते, कोऽत्र बाधः ? ! त-
च्छ्रुत्वा स्वाभिप्रायं निवेद्य देव्यां वारयन्त्यामपि तयोरेव संबन्ध-
मघटयन्तुः । तौ दम्पती भोगान् हृज्जः स्म । राज्ञी तु पत्युपमान-
वैराग्याद् व्रतमादाय स्वर्गे देवोऽनूत् । अन्यदा पुष्पकेतौ कथाशेषे
पुष्पचूलो राजाऽनूत् । स च देवप्रयुक्तावधितयोरकृत्यं ज्ञात्वा
स्वप्नेषु पुष्पचूबायै नरकानदर्शयत्, तद्दुःखानि च । सा च प्रवु-
रु भीता च पत्युः सर्वमावेदयत् । सोऽपि शान्तिमचीकरत् । स
च देवः प्रतिनिशं नरकांस्तस्या अदर्शयत् । राजा तु सर्वोस्ती-
र्थिकानाह्वय पप्रच्छ-कीदृशा नरकाः स्युरिति ? । कौञ्चिज्ज्ञावसम्,
कैरपि दारिद्र्यम्, अपरैः पारतन्त्र्यमिति तैर्नरका आचचक्षिरे,

राज्ञी तु मुखं मोदयित्वा तान् विसंवादिष्वसौ व्यग्राकीत् । अथ
नृपोऽन्निकापुत्राचार्यमाचार्यं तदेवाप्राकीत् । तेन तु यादृशान्
देव्यपश्यत् । तादृशा एवोक्ता नरकाः । राज्ञी प्रोचे-भगवन् ! जव-
न्निरापि किं स्वप्ने दृष्टः ? । कथमन्यथेयं विवथ । सुरिरवद्-भद्रे !
जिनागमाः सर्वमवगम्यतेः पुष्पचूबाऽवोचद्-जगवन् ! केन कर्मणा
ते प्राप्यन्ते ? ! गुरुरगुणाद्-भद्रे ! महारम्भपरिग्रहे गुरुप्रत्यनीकतया
पञ्चेन्द्रियवधान्मांसादाराण्य तेष्वङ्गिनः पतन्ति । क्रमेण स सुरि-
स्तस्यै स्वर्गानदर्शयत् स्वप्ने । राज्ञ्या तथैव पाश्चादिनः पृष्ठानपि
व्यभिचारिवाचो विमृश्य नृपस्तमेवाचार्यं स्वर्गस्वरूपमप्राकीत् ।
तेनापि यथावत्तत्रादिते स्वर्गावाप्तिकारणमपृच्छद् राज्ञी । ततः
सम्यक्त्वमूलौ गृहयितुधर्मावादिशद् मुनीशः । प्रतिबुद्धा च सा
सधुकर्मा नृपमनुज्ञापयति स्म प्रव्रज्यायै । सोऽप्यचे-यदि मदगृह
एव भिक्षामादत्से तदा प्रव्रजातयोरीकृते नृपवचसि सा सोऽस्व-
मभूत्स्याचार्यस्य शिष्या, गीतार्था च । अन्यदा च दुर्मित्रं भु-
तोपयोगाद् ज्ञात्वा सुरिर्गच्छं देशान्तरे प्रेषीत् । स्वयं तु परीक-
णजङ्घाबलस्तत्रैवास्थात्, जक्तपानं च पुष्पचूबाऽन्तःपुरादानीय
गुरवेऽदात् । क्रमात्तस्या गुरुशुश्रूषाभावनाप्रकर्षात् कृपकश्रेण्या-
रोडात्केवलज्ञानमुत्पदे । तथाऽपि गुरुवैयावृत्त्याश्च निवृत्ता, या-
वद्दि गुरुणा न ज्ञायते केवलीति तावत्पूर्वप्रयुक्तं विनयं केवल्यपि
नात्येति । साऽपि यद् यद् गुरोरुचितं, रुचिरं च तत्तदस्मादिसं-
पादितवती । अन्यदा तु वर्षेत्यन्दे सा पिण्डमाहरद् । गुरुभि-
रभिहितम्-वत्से ! भुतज्ञाऽसि, किमिति वृष्टौ त्वया नीताः पिण्डा
इति ? । साऽभाणीद्-जगवन् ! यत्राध्वनि अप्कायोऽचित्त एवा-
सीत्तेनैवायासिषमदम् । कुतः प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिः ? ! गुरुराद्-अ-
स्यः कथमेतद्वेद ? । तयोचे-केवलं ममास्ति । ततो मिथ्या मे दुष्कृतं
केवलयाशातनेति भुवन्नपृच्छतां गच्छाधिपः-किमहं सेत्स्यामि
नवेति ? ! केवल्यचे-मा कृष्वमधृतिम्, गङ्गामुत्तरतां वो जविष्यति
केवलम् । ततो गङ्गामुत्तरीतुं लोकैः सह नावमारोढत् सुरिः ।
यत्र यत्र स न्यषीदत्तत्र नौर्मङ्गुमारजे , तदनु मध्यदेशासीने
मुनौ सर्वाऽपि नौर्मङ्गुं सन्ना । ततो लोकैः सुरिर्जवे क्रिप्तः । दु-
र्भगीकरणविराख्या प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽन्तर्जवं शूखे
निहितः । शूलप्रोतोऽयमपकायजीवविराधनामव शोच्यन्नाऽऽम-
पीमां, तपकश्रेण्यां रुढोऽन्तकृतकेवलीभूय सिद्धः । आसन्नैः सुरै-
स्तस्य निर्वाणमहिमा चक्रे । त एव तत्तीर्थं प्रयाग इति जगति पप्र-
थे । प्रकृष्टो यागः-पूजाऽत्रेति प्रयागः । ती० ३६ कल्प० संथा० ।
आव० । ग० ।

अस्मि-देशो-देवरभार्यायां , ननान्दायां , पितृष्वसरि च । दे०
ना० १ वर्ग ।

असु-अङ्ग-त्रि० । स्वप्नावविभावाविवेचके , “ मज्जत्यङ्गः
किञ्चाज्ञाने , विद्यायामिव सूकरः । ज्ञानीति मज्जति ज्ञाने , मरान्न
इव मानसे ” ॥ १ ॥ षो० १६ विव० ।

अएण(नु) सु (न्न)-अन्योन्य-त्रि० । अन्यशब्दस्य कर्मण्यति-
हारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुञ्च । “ओतोऽद्वाऽन्योऽन्य०” ॥ ८ । १।५६।
इत्यादिसूत्रस्य वैकल्पिकत्वेनोतः स्थानेऽङ्गावे संयोगादित्वेन
ह्रस्वे तथारूपम् । प्रा० । ह्रस्वाभावे ‘अस्मांश्च’ । ओच० । पि० । ४०।

असेसणा-अन्वेषणा-स्त्री० , मार्गणायाम् , प्रा० म० द्वि० ।
प्रार्थनायां च, आच्चा० १ भु० ८ अ० ८ वृ० । सूत्र० । प्रा० म० ।

अण्येति (ण)—अन्वेषिन्—त्रि० । अन्वेष्टुं शीघ्रमस्येति अन्वेषी ।
मार्गणाशीघ्रे, आच० १ सु० २ अ० ६ उ० ।

अण्योऽन्तरि अंगुलिअ—अन्योन्यान्तरिताङ्गुलिक—त्रि० । स-
न्योन्यं परस्परमन्तरिताङ्गुलियो ययोस्तावन्याऽन्यान्तरिताङ्गु-
लयः । दश० । अण्यवहितकरशास्त्राकेषु, पञ्चा० ३ विव० ।

अण्योऽण्यकार—अन्योन्यकार—पुं० । परस्परं वैयवृत्यकर-
णं, वृ० ३ उ० ।

अण्योऽण्यगमण—अन्योन्यगमन—त्रि० । परस्पराजिगमनीये,
प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अण्योऽण्यजणिय—अन्योन्यजनित—त्रि० । परस्परकृते, “ अ-
ण्योऽण्यजणियं च होज्ज हस, अण्योऽण्यगमणं च होज्ज कम्म ” ।
प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अण्योऽण्यपक्वस्वपक्वस्वजाव—अन्योन्यपक्वप्रतिपक्वजाव—
पुं० । अन्योन्यं परस्परं यः पक्वप्रतिपक्वभावः पक्वप्रतिपक्वत्व-
मन्योन्यपक्वप्रतिपक्वभावः । परस्परं पक्वविरोधे, तथाहि—य
एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्वः, स एव सौगतानां
प्रतिपक्वः, तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनि-
त्यः शब्द इति पक्वः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्वः । एवं सर्व-
योगेषु योग्यम् । स्या० ।

अण्योऽण्यपगगद्विचत्त—अन्योन्यप्रगृहीतत्व—न० । परस्परेषु
पदानां वाक्यानां वा सापेक्षतायाम्, स० ३५ सम० । सप्तदशे
सत्यवचनातिशये, रा० ।

अण्योऽण्यमृददुष्टातिकरण—अन्योन्यमृददुष्टातिकरण—न० । अ-
न्योन्यस्य मृदस्य दुष्टस्य च यदतिकरणं तथाविधक्रियासु पौ-
नःपुन्यप्रवृत्तिस्तत्तथा, ततोऽन्योन्यमृददुष्टातिकरणम् । परस्प-
रं मृददुष्टयोः क्रियासु प्रवर्तने, तत्राऽन्योऽन्यस्यातिकरणं पर-
स्परेण पुरुषयोर्वैदविकारकरणं मृदातिकरणं पञ्चमनिष्ठावश-
विवर्तनम् । दुष्टातिकरणं तु द्विविधम्—कषायतो विषयतश्च ।
तत्र स्वपक्वे कषायतो लिङ्गिष्यतः । विषयतस्तु विङ्गिनि प्रतिसे-
षा । परपक्वे तु कषायतो राजवधः, विषयतस्तु राजदारसेवे-
ति । अथवा “अन्योऽन्यमृददुष्टादिकरणतः” इति व्याख्येयम् ।
तत्र चादिशब्दात्तार्थकगद्याशातनाकरणपरिग्रहः । अस्माद् वि-
षयपाराञ्चिकं भवति । पञ्चा० १६ विव० ।

अण्योऽण्यसमागृवृष्ट—अन्योन्यसमनुवृष्ट—त्रि० । परस्परानुग-
ते, “ अण्योऽण्यसमगृवृष्टं, निच्छयतो भणियविसयं तु ” पञ्चा०
६ विव० ।

अण्योऽण्यसमागृरत्त—अन्योन्यसमनुरत्त—त्रि० । परस्परं स-
ख्यौ, वृ० ६ उ० ।

अण्योऽण्यसमाधि—अन्योन्यसमाधि—पुं० । परस्परं समाधौ,
“ अण्योऽण्यसमाधी ए एवं वणं विहरन्ति ” यो यस्य गच्छन्तर्ग-
तादेः समाधिरभिहितस्तद्यथा समापि गच्छन्तर्गतानां निगच्छन्ति-
र्गतानां द्वयोःप्रहः पञ्चसु अभिप्रहः इत्यनेन विहरन्ति ॥ आच०
२ सु० १ अ० ११ उ० ।

अण्योऽण्यम—अन्योपदेश—पुं० । आहरणतद्देशाख्योदाहरणभेदे,
अण्योऽण्यमो ना—द्वियवाङ् जीर्णं नान्य जीवो उ ।

दाणाऽफलं तेसि, न विज्जई चउह तदोसं ॥ ७९ ॥

अन्योपदेशतः अन्योपदेशेन नास्तिकवादी लोकायतो वक्तव्यः
इति शेषः । अहो ! धिक्कष्टं येषां वादिनां नास्ति जीव एव, न
विद्यते आत्मैव, दानादिकलं वा तेषां न विद्यते, दानहोमयागत-
पःसमाध्यादिकलं स्वर्गापवर्गादि तेषां वादिनां न विद्यते, ना-
स्त्यर्थः । कदाचिदतच्छ्रुत्वाैवं श्रूयमां प्रघनु, का नां हानिः ?
नह्यन्युपगमा एव बाधायै प्रवर्त्तन्ति । ततश्च सत्त्वैचित्र्यान्-
याऽनुपपत्तितस्ते संप्रतिपत्तिमानेत्याः, इत्यलं विस्तरेण । गम-
निकामात्रमेतदुदाहरणदेशना चरणकरणानुयोगानुसारेण भाव-
नीयेति । गतं निश्चाद्वारम् । दश० १ अ० ।

अण्योऽण्यमरिअ—देशी—अतिक्रान्ते, दे० ना० १ धर्म ।

अण्य—जुज—धा०, पालनाऽभ्यवहारयोः, रुधादि०, पाहने प०,
स०, अनिद् । अभ्यवहारं जोजने, आत्म०, स०, अनिद् । प्रा-
कृते—“ भुजो भुजजिभजेमकम्माएहसमाणचमदचङ्कः ” । उ
४ । ११० । इति जुजेरएदादेशः । अण्दङ्-ष्टुक् । प्रा० ।

अण्ययंती—जुज्जाना—स्त्री० । भोजनं कुर्वत्याम्, तं० । औ० ।

अण्यय—आश्रव—पुं० । आश्रुणोत्पादत्ते कर्म येस्ते आश्रवाः ।
पा० । अभिविधिना श्रौति श्रवति कर्म येभ्यस्ते आश्रवाः ।
कर्मोपादानभूतेषु प्राणातिपातादिषु पञ्चसु, प्रश्न० १ आश्र०
द्वा० । (आश्रववक्तव्यता प्रश्नव्याकरणेषु आदावेव कृता,
सा च प्राणातिपातादिषु शब्देष्वेव दृश्या)

“ जंबू ! इणमो अण्यय—संवरविणिच्छियं पवयणस्स ।

णिस्संदं वोच्छामी, णिच्छयत्थं सुभासियत्थं महेसीहि ” । १ ।
प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्था० । उक्त० । “ पंचविहो पन्नत्तो,
जिणेहि इह अण्ययो अणादीवो । हिंसा १ मोस २ मदिसं ३,
अवंभ ४ परिगहं चैव ५ ” ॥ १ ॥ प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्ययकर—आश्रवकर—पुं० । आश्रवः कर्मोपादानं, तत्करण-
शील आश्रवकरः । प्राणातिपाताद्याध्वजनकेऽप्रशस्तमनो-
विनयभेदे, स्था० ७ ठा० । अशुभकर्माश्रवकारिणि, ग०
१ अधि० । औ० । आच० ।

अण्ययज्ञावणा—आश्रवज्ञावना—स्त्री० । सप्तम्यां भावनायाम्,
अथाश्रवभावना—

“ मनोवचोवपुर्योगाः, कर्म येनाशुभं शुभम् ।

भविनामाश्रवन्त्येते, प्रोक्तास्तेनाश्रवा जिनैः ॥ १ ॥

मैत्र्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।

मध्यस्थेष्वविनीतेषु, कृपया दुःखितेषु च ॥ २ ॥

तं तथा वासितं स्वान्तं, कस्यचित्पुण्यशालिनः ।

विदधाति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकम् ॥ ३ ॥

रौद्रात्तद्ध्यानमिध्यान्व-कषायविषयैर्मनः ।

आक्रान्तमशुभं कर्म, विदधाति द्व्यशीतिधा ॥ ४ ॥

सर्वज्ञगुरुसिद्धान्त-संघसदगुणवर्णनम् ।

कृतं हितं च वचनं, कर्म संचिनुते शुभम् ॥ ५ ॥

श्रीसद्गुरुसर्वज्ञ-धर्मधार्मिकदूषकम् ।

उन्मार्गदशवचन-मशुभं कर्म चेप्यति ॥ ६ ॥

देवार्चनगुरुपास्ति-साधुविश्रामणादिकम् ।

वितन्वतां सुगुप्ता च, तनुर्वितनुते शुभम् ॥ ७ ॥

मांसाशनसुरापान-जन्तुघातनचौरिकाः ।
 पारदार्यादि कुर्वाण-मशुभं कुरुते वपुः ॥८॥
 एतामाध्वभावनामविरतं यो भावयेद्भावत-
 स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुष्टाऽऽश्रवौघात्मनः ।
 व्यावृत्त्याऽखिलदुःखदावजलदे निःशेषशर्मावली-
 निर्माणप्रवणे शुभाश्रवणे नित्यं रतिः पुष्यति ॥ १४ ॥
 प्रव० ६७ द्वा० ।

अग्राहाण-अज्ञानक-न० । शरीरमज्जनाकरणे, भ० १ श० १
 उ० । औ० । स्था० ।

अत-अत्-पुं० । अत्ति भजते जगदिति सृष्टिसंहारकृत्वात् । अ-
 क्षपादसम्भते शिवे, उक्तं च-“अक्षपादमते देवः, सृष्टिसंहारकृ-
 च्छिवः । विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो, नित्यबुद्धिसमाश्रयः” ॥ १ ॥
 “ धियो यो नः प्रचोदयाऽत् ” अतति सातत्येन गच्छति ‘ग-
 त्यर्था ज्ञानार्थाः’ इति वचनात् अवगच्छतीति अत् स-
 र्वज्ञः, धियो यो नः प्रचोदयाऽत्-इत्यत्र बौद्धिस्तथा व्याख्या-
 नात् । जै० गा० । (परमेतादृक् शब्दः प्राकृते न प्रयोक्तव्यः)

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न तन्त्रं कारणं, तदधीना विवक्षा वा
 यस्य । कारणानधीने अनायत्ते, अन० वृत्ति० विव० ।

अतर्कणिज्ज-अतर्कणीय-त्रि० । अनभिलषणीये, वृ० १ उ० ।

अतर्कितोपस्थित-न० । अनभिसन्धिपूर्वि-
 कायामर्थप्राप्तौ यदृच्छायाम्, यथा-काकतालीयम्, अजात-
 पाणीयम्, आतुरभेषजीयम्, अन्धकण्टकीयमित्यादि ।
 आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

“ अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजात-
 कम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽ-
 भिमानः ॥ १ ॥ ” भ० १ श० १० उ० ।

अतर्कितोपधि-पुं० । अतर्कणीये उपधौ, यमु-
 पधि न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति । व्य० ८ उ० ।

अतज्जाय-अतज्जात-त्रि० । अतुल्यजातीये, आव० ४ अ० ।

अतज्जाया-अतज्जाता-स्त्री० । अतुल्यजातीये क्रियमाणायां
 परिष्ठापनिकायाम्, आव० ४ अ० ।

अतड-अतट-पुं० । अर्द्धे तटे, “अतकुचवातो सो चेव मगो” ।
 वृ० १ उ० ।

अतणु-अतनु-त्रि० । न विद्यते तनुः शरीरं येषां तेऽतनवः ।
 सिद्धेषु, प्रव० ११४ द्वा० ।

अतत्त्ववेद्-अतत्त्ववेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुतत्त्वमज्ञातुं
 शीलमस्य पुरुषविशेषस्य । अर्वाग्दर्शिनि, ध० १ अधि० ।

अतत्त्ववेद्याय-अतत्त्ववेदिवाद-पुं० । अतत्त्ववेदिनः साक्षादेव
 वस्तुतत्त्वमज्ञातुं शीलमस्य पुरुषविशेषस्यार्वाग्दर्शिनि इत्यर्थः ।
 वादो वस्तुप्रणयनमन्तत्त्ववेदिवादः । साक्षादवीक्षमाणेन हि
 प्रमात्रः प्रोक्ते वस्तुप्रणयनेनातत्त्ववेदिवादः सम्यग्वाद इति ।
 ध० १ अधि० ।

अतत्त्वय-अतत्त्विक-त्रि० । अवास्तवे तात्त्विकभावे, द्वा०
 १६ द्वा० ।

अतत्त्वुक-पुं० । अणहिल्लपाटनदुर्गभजके हरिवक्त्रप्रामचै-
 ६२५

त्यत्रोदके चौलुक्यवंशीयभीमदेवनरेन्द्रसमकाशने तुरुक्कमल्लारे
 राक्षि, ती० ४१ कल्प ।

अतर-अतर-पुं० । न तरीतुं शक्यते इत्यतरः । रत्नाकरे, वृ० १
 उ० । सागरे, प्रव० १ द्वा० । अतिमहत्त्वादुदधिचत्तरीतुमचिरात्पारं
 नेतुं न शक्यत इत्यतराणि । सागरोपमकाशेषु, कर्म० ५ कर्म० ।
 असमर्थे, नि० चू० १ उ० । श्राने, वृ० १ उ० ।

अतरंत-अतरत्-त्रि० । असहे, नि० चू० १ उ० । व्य० । ग्ला-
 ने, ध० ३ अधि० ।

अतव-अतप्स्-त्रि० । ६ व० । तपसा विहीने, “ अतयो न होति
 भोगो ” वृ० ४ उ० । न० त० । तपसामज्ञावे, उक्त० २३ अ० ।

अतसी-अतसी-स्त्री० । (अतसी-तीसी) जुमायाम्, ग० २
 अधि० । अतसी वल्कलप्रधानो वनस्पतिः, यत्सूत्रं मातृवादिदेशे
 प्रसिद्धम् । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

अतह-अतथ-नञ्-तत्-कथ च । मिथ्याचूतेऽर्थे, सूत्र० १
 श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतथ्य-न० । असदर्थभिधायित्वे, “ अणवज्जमतहं तेसिं,
 ण ते संवुरुचारिणो ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अविद्य-
 माने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसदचूते,
 आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतहणाण-अतथाज्ञान-न० । न विद्यते यथा वस्तु तथा ज्ञानं
 यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिजीवद्रव्ये, तस्य वितथज्ञानत्वात् ।
 नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथा । अवातद्रव्ये
 वा, वक्रतयाऽवभासमाने एकांतवाद्यन्युपगते वा वस्तुनि,
 वथाहि-एकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु तैरभ्युपगतं, प्रतिभाति च
 तत् परिणामितयेति तदतथाज्ञानमिति । एष दशमो छव्यानु-
 योगः । स्था० १० टा० । यथा प्रच्छन्नीयार्थं प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव
 प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानो जानन्नश्च इत्यर्थः ।
 एतद्विपरीतस्त्वतथाज्ञानः । अजानत्प्रश्ने, भ० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ व० । तरीतुमशक्ये, नदीप्रवाहादौ
 यस्य हि तरणं नास्ति । “ अथाहमतारमपोरिसीयं सीओद-
 गमि अणाणं मुयंति ” । ज्ञा० १४ अ० ।

अतारिम-अतारिम-त्रि० । अनतिद्वहनीये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०
 २ उ० ।

अतारि(लि)स-अतादृश-त्रि० । न० स० । अतत्सदृशे, “ अता-
 रिसे मुणी ओहंतरे ” । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उक्त० ।

अतिउट्ट-अतिवृत्त-त्रि० । अतिक्रान्तो वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तम-
 जानति, सूत्र० । “ जंसी गुहापे जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ रज्जह,
 लुत्तपणो ” ज्वलनेऽप्रावृत्तिवृत्तो वेदनाभिभूतत्वात् स्वकृत-
 दुश्चरितमजानन् वृत्तप्रज्ञो गतप्रज्ञाविवेको दन्दह्यते । सूत्र० १
 श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिनिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईष्यन्
 किञ्चनाभाषिणि, दश० १ अ० । सकृत्किञ्चिदुक्ते, नृयो-
 नृयोऽस्ययाऽवत्तरि च । दश० १ अ० ।

अतिक्खतुरु-अतीक्ष्णतुण-त्रि० । अनन्यन्तभेदकमुखे, प-
 ज्ञा० १६ विव० ।

अतिस्ववेयरणी-अतीङ्ग (नैऋ) (दृश्य वैतरणी-स्त्री० ।
परमाधार्मिकविक्रितनरकनशाम, तं० ।

अतिदुःख-अदुःखपूर्व-त्रि० । पूर्वमदुःखदुःखपूर्वम्, पैशाच्यां त-
धारूपनिष्पत्तिः । प्रथममेव दृष्टे, "परिसं अतिदुःखं" । प्रा० ।

अतित्त-अतन्-त्रि० । न० त० । असन्तुष्टे, उक्त० " एवं अद-
त्ताणि समापयतो, भोव अतित्तो दुहिभो अतित्तो " उक्त० १५
अ० । " अतित्तो कामाणं " । प्रश्न० ४ अथा० द्वा० ।

अतित्तप्प-अतन्मात्तप्प-त्रि० । सान्जिलाये, पं० ४ विव० ।

अतित्तज्ञान-अतन्मात्तज्ञान-पुं० । ६ त० । तर्पणं तृप्तं, तृप्तिरिति
यावत् । तस्य लाभस्तृप्तज्ञानः, न तथाऽतृप्तज्ञानः । संतोषाऽप्रा-
प्तो, उक्त० ३२ अ० ।

अतित्ति-अतृप्ति-स्त्री० । असन्तुष्टौ, उक्त० ३४ अ० । सा च दि-
तीयं अदालक्षणम् ।

संप्रत्यतृप्तिस्वरूपं द्वितीयमभिधित्सुराह-

तित्ति न चैव विदुः, मच्छाभोगेण नाणचरणेषु ।

वेयावचतवाऽसु, जहविरियं जावओ जयइ ॥ ६४ ॥

तृप्ति संतोषं कृतकृत्योऽहमेतावन्तैवेत्येवं रूपं, (नचैवेति) चशब्दस्य
पूरणत्वाच्चैव विन्दति प्राप्नोति । अद्याया योगेन संबन्धेन ज्ञान-
करणयोर्विषये ज्ञाने पठितं यावता संयमानुष्ठानं निर्वहतीति
संचिन्त्य न तद्विषये प्रमाद्यति, किं तर्हि नवनवश्रुतसंपदुपाजने
विशेषतः सोत्साहो भवति । तथा चोक्तम्-

" जइ जइ सुयमवगाहइ, अइसरसपसरसंनुयमउअं ।

तइ तइ पइइइ मुणी, नवनवसंवेगसखाए" ॥ १ ॥

तथा-

" अथो जरुम जिणुत्तमेहिं भणिओ जायमि मोहक्खए,

बद्धं गोयममाइपहि सुमहावुलीहि जं सुत्तओ ।

संवेगइणुणाण बुद्धिजणं तिथेमनामावहं,

कायव्वं विहिणा सया नवनवं ताणस्स संपज्जणं " ॥ १ ॥

तथा चारित्रविषये विगुरुविगुरुतरसंयमस्थानावामये सङ्गाव-
नासारं सर्वमनुष्ठानमुपयुक्तमेवानुतिष्ठति, यस्माद्प्रमादकृताः स-
र्वेऽपि साधुव्यापाग उत्तरोत्तरसंयमकण्ठकारोहणेन केवञ्ज्ञा-
नलाभाय भवन्ति । तथा चागमः-

" जोगे जोगे जिणसा-सणमि दुक्खक्खया पंडंजंते ।

इअक्कमि अणंता, वट्ठंता केवलीं जाया" ॥ १ ॥

तथा वैयवृत्त्यनपत्तीं प्रतीति, आदिशब्दात्प्रत्युपेक्षणाप्रमार्ज-
नादिपरिग्रहः । तेषु यथा वीर्यं सामर्थ्यानु रूपं ज्ञातः सद्भाव-
सारं यतते प्रयत्नवाद् जयति । अ० १० ।

अतितिलाभ-अतृप्तिज्ञान-पुं० । ६ त० । तृप्तिप्राप्त्यभावे,
" संतोषकात्रे य अतितिलाभे " उक्त० ३४ अ० ।

अतित्य-अतीर्थ-अव्य० । तीर्थस्याऽभावोऽतीर्थम् । तीर्थस्या-
नुत्पादे, (अपान्तराले) व्यवच्छेदे च । प्रश्न० १ पद ।

अतित्यगरमिद्ध-अतीर्थकरमिद्ध-पुं० । न तीर्थकराः सन्तः
मिद्धाः । सामान्यकेवलमिष्टं मन्त्रं गौतमादिवत् सिद्धेषु, प्रश्न० १
पद । ल० । पा० । आ० । स्था० । न० ।

अतित्यसिद्ध-अतीर्थमिद्ध-पुं० । तीर्थस्याभावोऽतीर्थम्, ती-
र्थस्याज्ञावश्चानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन्नेव सि-
द्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः । न० । तीर्थान्तरसिद्धेषु, आ० । तीर्थान्तरे
साधुव्यवच्छेदे जातिस्मरणादिना प्राप्तापवर्गमार्गा मरुदेवी-
वत् सिद्धाः । स्था० १ त्र० १ उ० । नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगम-
नकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । न० । ध० । तथा तीर्थस्य व्यव-
च्छेदश्चऽप्रभस्वामिसुविधिस्वाभ्यपान्तराले । तत्र ये जाति-
स्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः ।
प्रश्न० १ पद । स्था० ।

अतित्यावणा-अतिस्यापना-स्त्री० । उल्लुङ्घनायाम्, पं० सं०
५ द्वा० ।

अतिदुःख-अतिदुःख-न० । अतिदुःखे, आचा० १ श्रु० ६
अ० २ उ० ।

अतिदुःखधम्म-अतिदुःखधर्म-त्रि० । अतीव दुःखमशातावेद-
नीयं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । आक्षिप्तिमेषमात्रमपि कालं
न यत्र दुःखस्य विश्रामः । तादृशे नरकादिस्थाने, सूत्र० । "सया
य कलुखं पुण धम्मगणं, गाढोवणीयं अतिदुःखधम्मं"
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिधुत्त-अतिधूत-त्रि० । अतीव धूतमष्टप्रकारं कर्म यस्य
सोऽतिधूतः । प्रचूतकर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अतिधूर्त्त-त्रि० । बहुलकर्मणि, " अयं पुरिसे अतिधुत्ते अइ-
यारक्खे " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अतिपाम-अतिपार्श्व-पुं० । पेरवते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां
जाते सप्तदशे तीर्थकरे, स० ८४ सम० ।

अतिप्पणया-अतेपना-स्त्री० । स्वेदलावाशुजलहरणकारण-
परिवर्जने, पा० । ध० ।

अतिमुच्छ्रिय-अतिमूर्च्छित-त्रि० । अत्यन्तमूर्च्छितोऽतिमूर्च्छितः ।
विषयदोषदर्शने प्रत्यजिमूढतामुपगते, प्रश्न० ४ आश्च० द्वा० ।

अतिद्विय-अतैल-न० । सर्वथा तैलांशुरहिते, तं० ।

अतिवञ्चत-अतिव्रजत्-त्रि० । अतिशयेन व्रजति गच्छतीति,
अति-वज्-शतृ । बाहुल्येन गच्छति, जी० ३ प्रति० ।

अतिविज्ज-अतिविद्य-पुं० । जातिवृत्तुल्लुङ्घः सदर्शनादतीव वि-
द्या तत्त्वपरिच्छेत्री यस्याऽप्तावतिविद्यः । जातनिर्वेदे तत्त्वहे,
" तम्हाऽतिविज्जं परमंति णच्चा, आयंकदेसी अकरइ पावं " ।
आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतिविदूम्-पुं० । विशिष्टप्रज्ञे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अतीरंगम-अतीरङ्गम-त्रि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः
(सञ्चप्रत्ययः) । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः । तीरं गन्तुमसमर्थेषु,
आचा० ।

अतीरंगमा एए, णा य तीरंगमिच्चए ।

अपारंगमा एए, णा य पारंगमिच्चए ॥ १ ॥

(अतीरंगमा इत्यादि) तीरं गच्छन्तीति तीरंगमाः, पूर्व-
वत् सञ्चप्रत्ययादिकम् । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः (एते
इति) तान् प्रत्यक्तावमापन्नान् कुतीर्थिकादीन् दर्शयति । न च

ते तीरङ्गमनायोद्यता अपि तीरं गन्तुमन्नम, सर्वज्ञोपदिष्टसन्मार्गा-
भावादिनि भावाः तथा (अपारंगमा इत्यादि) पारस्तटः, परकुलं,
तच्छृङ्खलीति पारंगमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः। (एत इति) पू-
र्वोक्ताः, पारगतोपदेशाज्जायादपारंगता इति भावनीयम् । न
च ते पारगतोपदेशमृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमन्नम ।
अथवा गमनं गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः ।
सूत्रे त्वनुस्वारोऽत्राक्षणिकः । न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपा-
रगमनाय । असमर्थसमासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते
न भवन्तीत्युक्तं जवति । ततश्चान्तमपि संसारं संसारान्तवर्तिन
एवास्ते, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदे-
शविकलाः स्वरुचिर्विरचितशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तु-
मन्नम । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अतुच्छजाव-अतुच्छजाव-त्रि० । अकार्पण्ये, पं० व० ४ द्वा० ।
उदराशये, पञ्चा० ६ विव० ।

अतुरिय-अत्वरित-त्रि० । स्तिमिते, ध० ३ अधि० । उक्त० ।
विपा० । “अतुरियमचवलमसंभंताए अविज्ञं वियाए रायइंसस-
रिसीए गईए” । अत्वरितया मानसौत्सुक्यरहितया । कल्प० ।
देहमनश्चापल्यराहितं यथाभवत्येवम् । भ० ११ श० ११ उ० । रा० ।

अतुरियगइ-अत्वरितगति-त्रि० । मायया लोकावर्जनाय
मन्दगामिनि, वृ० १ उ० ।

अतुरियभासि [ए]-अत्वरितजाषिन्-त्रि० । विवेकभाषि-
णि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अतुल-अतुल-त्रि० । तुलामितिकान्ते, संथा० । असाधारणे,
स० ३० सम० । निरुपमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अत्त-आत्त-त्रि० । आ-दा-क्त । गृहीते, उक्त० १७ उ० । क-
रतत्पपरिगृहीते, ज्ञा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात्
आत्तो गृहीतः सूत्रार्थो यैस्ते आत्ताः । गीतार्थेषु, वृ० १
उ० । स्था० ।

आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, उक्त० ३२ अ० । जीवे, आचा० १ श्रु०
६ अ० १ उ० । पञ्चा० । स्वजावे, नं० ।

आत्र-त्रि० । आ अत्रिविधिना त्रायते दुःखात्संरक्तति सुखं चो-
त्पादयतीति आत्रः । दुःखं सुखसाधके, “गेरइआणं जंते ! किं
अत्तापोगला अणत्तापोगला वा ?” ज० १४ श० ९ उ० । स्था० ।

आप्त-त्रि० । आप्ते, उक्त० १२ अ० । अतीव सुष्ठुपरिकर्मिते, सू०
प्र० २० पाहु० चं० प्र० । स्था० । आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैका-
न्तिक आत्यन्तिकश्च कृत्यः, सा यस्याऽस्ति स आप्तः । अन्नादि-
त्वान्मत्वर्थयोऽप्रत्ययः । स्या० । यथार्थदर्शनदिगुणयुक्ते पु-
रुषे, नं० । दशा० । रागादिविप्रमुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।
जी० । अप्रतारके, अप्रतारकश्च (प्रकीणदोषः सर्वज्ञः) अशेषदो-
षकृयाद् भवतीति । उक्तं च-“आगमोऽह्याप्तवचन-माप्तिं दोषकृया-
व विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न श्रूयस्तेवसंभवात्” ॥ १ ॥
दशा० १ अ० । व्य० ।

नाणमादीणि अत्ताणि, जेण अत्तो उ सो जवे ।

रागहोमप्पहीणो वा, जे न द्वा व सोधिए ॥ ५ ॥

ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि येनाप्तानि स भवत्याप्तः ।
ज्ञानादिभिराप्यते स आप्त इति व्युत्पत्त्यन्तरम् । यो वा रागद्वे-

षप्रहीणः स आप्तः । यदि वा (इट्टा) इष्टाः, शोघौ शोधिषिषये
आप्ताः ॥ ५ ॥ व्य० १० उ० ।

आप्तस्वरूपं प्रकृपयन्ति-

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चा-
जिधत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

आप्यते प्राप्यते अर्थोऽस्मादिन्यासः । यद्वा-आप्तिः रागादिदो-
षक्षयः, सा विद्यते यस्येत्यर्थो आदित्वादचि आप्तः । जानन्नपि
हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत्, तद्व्यवच्छि-
न्त्ये यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्-“आगमो ह्याप्तवचन-माप्तिं
दोषकृत्यं विदुः । कीणदोषोऽनृतं वाक्यं, न श्रूयस्तेवसंभवात्”
॥ १ ॥ अनिधानं च ध्वनेः परम्परयाऽप्यत्र छष्ट्यम् । तेनाकर-
विलेखनद्वारेण, अङ्कोपदर्शनमुखेन, करपल्लव्यादिवेषाविशे-
षवशेन वा शब्दस्मरणाद्यः परोक्षार्थविषयं विज्ञानं परस्यो-
त्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्तं जवति । स च स्मर्यमाणः शब्दः
आगम इति ॥ ४ ॥

कस्मादमूढशस्यैवाप्तत्वमित्याहुः-

तस्य हि वचनमविसंवादि जवति ॥ ५ ॥

यो हि यथावस्थिताभिधेयवादी परिज्ञानानुसारेण तदुपदेश-
कुशलश्च भवति, तस्यैव यस्माद्वचनं विसंवादशून्यं संजायते ।
मूढवञ्चकवचने विसंवादसंदर्शनात् । ततो यो यस्यावञ्चकः
स तस्याप्त इति ऋष्यार्यश्लेच्छसाधारणं वृद्धानामाप्तलक्षणम-
नूदितं जवति ॥ ५ ॥

आप्तभेदौ दर्शयन्ति-

स च द्वेषा-लौकिको, लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लोके सामान्यजनरूपे भवे लौकिकः । लोकादुत्तरः प्रधान-
मोक्षमार्गोपदेशकत्वाद्लोकोत्तरः ॥ ६ ॥

तावेव वदन्ति-

लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनन्यादिग्रहः । द्वितीयाऽऽदिशब्देन तु
गणधरादिग्रहणम् ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाच्यमाप्तः कीणसर्वदोषः, तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि
नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदा-
दिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावारकजलदपट-
ववत् । तथा चाहुः-“देशतो नाशिनो भावाः, दृष्टा निखिलनश्व-
राः । मेघपङ्कशादयो यद्देवं रागादयो मताः” ॥ १ ॥ इति । यस्य च
निरवयवतयेते विज्ञीनाः स एवाप्तो जगवान् सर्वज्ञः । अथाना-
दित्वाद्वागादीनां कथं प्रकृत्य इति चेत् ? । न । उपायतस्तद्वाचा-
त्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य कारमुत्पुटपाकादिना विलयोपल-
म्भात् । तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपत्त्यूतस्त्व-
याज्यासेन विज्ञयोपपत्तेः, कीणदोषस्य च केवलज्ञानव्यभि-
चारात् सर्वज्ञत्वम् । तत्सिद्धिस्तु-ज्ञानतारतम्यं कच्चिद्विश्रान्तं, ता-
रतम्यत्वात्, आकाशपरिमाणतारतम्यवत् । तथा-सुद्धमान्तरि-
तदूरार्थाः, कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, क्वितिधरकधरा-
धिकरणधूमध्वजवत् । एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्हा-
नाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः । स्या० ।
सूत्र० । साधूनां शोधिषिषये इष्टे प्रायश्चित्ते, व्य० १० उ० । मोक्षे,
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । एकान्तहिते, त्रि० । भ० १४ श० ६ उ० ।

आर्त्त-वि० । खानीजूते, भ० ३५ श० १ उ० । दुस्सार्त्तं, स्याः ० ७ ग० । “ कम्मत्ता दुग्भगा चेव, इच्छां सुपुढो जणा ” पूर्वा-
चरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्मृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि
वा कर्मभिः कृप्यादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्थाः । सुत्र० १ भू० ३
अ० १ उ० ।

अतउवखास-आत्मोपन्यास-पुं० । आत्मान एव उपन्यासो
निवेदनं यस्मिन्स्तदात्मोपन्यासम् । उदाहरणे, दोषे, उपन्यास-
नेदे च । दश० ।

इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विवृण्वन्नाह-

अतउवखासस्मि य, तलागजेयस्मि पिगद्धो यवई ।

आत्मन एवोपन्यासो निवेदनं यस्मिन् तदात्मोपन्यासम्, तत्र
च तदागभेदे पिङ्गलः स्थपतिरुदाहरणमित्युक्तार्थः । जावार्थः
कथातकगम्यः । स चायम्-“इह एगस्स रत्तो तलागं सव्वरज्ज-
स्स सारजूअं, तं च तलागं वरिसे वरिसे भगियं जिज्झइ । ताहे
राया जणइ-को सो उवाओ होज्जा, जेण तं न भिजेज्जा ? । तत्थ
एगो कविअओ मणुसो जणति-जदि नवरं महाराय ! अचिछुपिं-
गद्धो, कविलियाओ से दादियाओ, सिरं से कविअियं, सो जीव-
तो चेव जम्मि ठाणे भिज्जति तम्मि ठाणे णिक्खमति, तो णवरं
ण भिज्जति । पच्छा कुमारामच्चेण भणियं-महाराय ! एसो चेव
परिसो, जारिसयं जणति, परिसो नत्थि अओ । पच्छा सो तत्थेव
मारेत्ता निक्खित्तो । एवं परिसं णो भाणियच्चं जं अणव-
डाए भवइ ” । इदं लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि सूचि-
तम् । एकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणात्तत्र चरणकरणानुयोगेनैवं
ब्रूयाद् यदुत-“ लोइयधम्माओ वि हु, जे पम्भट्टा णराहमा
ते उ । कह दव्वसोयरहिया, धम्मस्साराहया होति ” ॥ १ ॥
इत्यादि । द्रव्यानुयोगे पुनरेकेन्द्रिया जीवाः, व्यक्तोच्चास-
निःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावात्, घटवतः इह ये जीवा न भव-
न्ति न तेषु व्यक्तोच्चासनिःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावः, यथा
घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति तस्माज्जीवा एवैते इत्यत्रात्म-
नोऽपि तद्रूपापत्याऽऽत्मोपन्यासत्वं भावनीयमिति । उदाहर-
णदोषना चास्याऽऽत्मोपन्यासजनकत्वेन प्रकटार्थेवेति न जायते ।
गतमात्मोपन्यासद्वारम् । दश० १ अ० ।

अत्तकद-आत्मकृत-त्रि० । आत्मार्थे कृते स्वगृहार्थमेव स्था-
पिते, वृ० १ उ० ।

अत्तकम्म-आत्मकर्म्म-न० । ६ त० । स्वदुश्चरिते, “ निच्छु-
व्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्महिं दुम्मइ ” दश० ४ अ० २ उ० ।
मात्मा अष्टप्रकारकर्मणाऽऽयतकरणकारणामोदनादिनिर्हित्यते
तदात्मकम् । दश० । यत्पाचकादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं,
ज्ञानावरणीयादिकर्मणो वा, तदात्मनः सम्बन्धि क्रियतेऽनेनेत्या-
त्मकम् । वृ० ४ उ० । आधार्कर्मशब्दार्थे, पि० निक्केपोऽस्य-तदेवमु-
क्तमात्मन्नाम । सग्रन्थ्यात्मकर्मनाम्नोऽवसरः । तदपि चात्मक-
मं चतुर्धा । तथा-नामात्मकम्, स्थापनाऽऽत्मकम्, इच्छात्म-
कम्, भावात्मकम् वा । इदं चाधार्कर्मैव तावद्भावनीयम्, याव-
न्नोऽगमतो नश्यशरीरं इच्छात्मकम् ।

इशरीरभयंशरीरव्यतिरिक्तं तु इच्छात्मकम् प्रतिपादयति-

दव्वस्मि अत्तकम्मं, जं ज्ञो उ मपायण भवे दव्वं ।

यः पुरुषो यद्व्यादिकं इच्छं ममायते-ममेति प्रतिपद्यते । तन्म-

मेति प्रतिपादनं, तस्य पुरुषस्य (दव्वस्मि अत्तकम्मं ति) इश-
रीरजन्मशरीरव्यतिरिक्तम् । द्रव्ये द्रव्यविषये, आत्मकम्
भवति । आत्मसंबन्धित्वेन कर्मकरणमात्मकम्, इति व्युत्पत्त्याऽऽ-
त्मश्रयणात् । जावात्मकम् च द्विधा । तथा-आगमतः, नो-
आगमतश्च । तत्रागमत आत्मकर्मशब्दार्थज्ञाता चोपयुक्तः ।
नो आगमतः पुनराह-

भावे असुहपरिणओ, परकम्म अत्तणे कुणइ ।

अशुजपरिणतोऽशुभेन प्रस्तावादाधार्कर्मग्रहणरूपेण भावेन
परिणतः परस्परपाचकादेः संबन्धे यत्कर्म पचनपाचनादिजनितं
ज्ञानावरणीयादि, तदात्मनः संबन्धि करोति । तच्च परसंबन्धिनः
कर्मण आत्मीयत्वेन करणं, जावे भावत आत्मकर्म, नो आगमतो
भावात्मकर्मैत्यर्थः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यात्मसं-
बन्धित्वेन कर्मकरणं भावात्मकर्मैति व्युत्पत्तेः ।

एतदेव सार्द्धया गाथया भावयति-

आहाकम्मपरिणओ, फासुयमवि संकिद्धिद्वपरिणामो ।

आयपमाणो वज्जइ, तं जाणसु अत्तकम्मे त्ति ॥१॥

परकम्म अत्तकम्मा, करेइ तं जो गिणिहंतुं जुंजे ॥

प्राप्तुकमचेतनवृत्तकृण्मेतदेवणीयं च स्वरूपेण भक्तादिकम् ।
आस्तामाधार्कर्मैत्यपिशब्दार्थः । संकिष्टपरिणामः सन्नाधाकम्मं
ग्रहणपरिणतः सन्नादत्ते गृहणं यथाऽहमतिशयेन व्याख्यान-
लब्धिमान्, मद्गुणाश्चासाधारणविद्वत्तादिरूपाः, सूर्यस्य भाव-
नमिव कुत्र कुत्र न वा प्रसरमधिरोहन्ति ? । ततो मद्गुणावर्जित
एष सर्वोऽपि लोकः पक्त्वा पाचयित्वा च मह्यमिष्टमिदमोद-
नादिकं प्रयच्छतीत्यादि, स इत्थमाददानः साक्षादारम्भकर्तव्य
ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते । ततस्तज्ज्ञानावरणीयादिकर्म
बन्धनमात्मकम् जानीहि । इयमत्र भावना-आधार्कर्म, यद्वा-
स्वरूपेण अनाधार्कर्मोऽपि प्रतिक्रियतो मद्ध्येतन्निष्पादितमित्या-
धार्कर्मग्रहणपरिणतो यदा गृह्णाति तदा स साक्षादारम्भक-
तैव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते, यदि
पुनरेव गृह्णीयात्तर्हि न बध्येत । तत आधार्कर्मग्राहिणा यत्पर-
स्य पाचकादेः कर्म तदाऽऽत्मनोऽपि क्रियत इति परकर्म आ-
त्मकम् करोतीति बध्यते । एतदेव स्पष्टं व्यनक्ति-(परकम्मे-
त्यादि) तत आधार्कर्म यदा साधुर्गृहीत्वा भुङ्क्ते स परस्परं
पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकम् करोति, आत्मनोऽपि संबन्धि
करोतीति भावार्थः ।

अमुं च भावार्थमस्य वाक्यस्याजानानः परो जात-

संशयः प्रश्रयति-

तत्थ जेव परकिरिया, कहं तु अन्नत्थ संकमइ ।

तत्र परकर्म आत्मकम् करोतीत्यत्र वाक्यं जवेत् परस्य वक्त-
व्यम् । तथा-कथं परक्रिया परस्य सत्कं ज्ञानावरणीयादि कर्म,
अथवा आधार्कर्मभोजकं साधौ संक्रामतीति भावः । न खलु जा-
तुचिदपि परकृतं कर्म अन्यत्र संक्रामति । यदि पुनरन्यत्रापि संक्र-
मेतर्हि कृपकश्रेणिमधिरूढः कृपापरीतचेताः सकलजगज्जनतुक-
मनिर्मुक्षनापादनसमर्थः सर्वेषामपि जन्तूनां कर्म ज्ञानात्मनि संक्र-
मय्य कृपयेत् । तथा च सति सर्वेषामेककालं मुक्तिरूपं जायेत ? न
जायेत, तस्माच्च परकृतकर्मणामन्यत्र संक्रमः । उक्तं च-कृपकश्रे-
णिपरिगतः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म कृपयित्वा भवेत् कृपापरी-
तात्मको यदि कर्मसंक्रमः स्यात्परकृतस्य । परकृतकर्मणि यस्मा-

आक्रामति संक्रमो विज्ञागो वा, तस्मात् सत्त्वानां कम्मं यस्य संपन्नं तेन तद्व्यते । तत्कथमुच्यते परकम्म आत्मकर्मिकरो-
तीति ? इदं च वाक्यं पूर्वान्तर्गतम् । अन्यथाऽपि केचित्परमा-
र्थमजानाना व्याख्यानयन्ति । ततस्तन्मतमपाकर्तुमुपन्यसन्नाह-
कूटजवमाएँ केई, परप्पउत्ते वि िति शंथो त्ति ।

केचित् स्वपूज्या एव प्रवचनरहस्यमजानानाः कूटोपमायाः
कूटदृष्टान्तेन, ब्रुवते-परप्रयुक्तेऽपि परेण पाचकादिना निष्पा-
दितेऽप्योदनादौ साधोस्तद्वाहकस्य भवति बन्धः । एतदुक्तं
जवति-यथा व्याधेन कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो, न व्या-
धस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्वाहकस्य साधोर्बन्धः, न
पाककर्तुः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणीयादि संप्रवति,
तदाधाकर्मग्राही स्वस्यैव संबन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतद-
सदुक्तम् । जिनवचनविरुद्धत्वात् । तथाहि-परस्यापि साक्षा-
दारम्भकर्तृत्वेन नियमतः कर्मबन्धसंप्रवस्ततः कथमुच्यते
तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धो, न पाककर्तुः ? । न च मृगस्यापि प-
रप्रयुक्तिमात्राद्बन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्; एवं
साधारपि ।

तथा चैतदेव निर्युक्तिरुदाह-

जणइ य गुरू पमत्तो, वज्जइ कूडे अदक्खो य ।

एमेव जावकूमे, वज्जइ जो असुभजावपरिणामो ॥१॥

तम्हा उ असुजजावो, वज्जेयव्वो..... ।

भणति प्रतिपादयति, चः पुनरर्थे । पुनरर्थश्चायम्-एकं केचन
सम्यग् गुरुचरणपर्युपासनाविकलतया यथाऽवस्थितं तत्त्वमेव-
दितारोऽनन्तरोक्तं ब्रुवते-गुरुः पुनर्जगवान् श्रीयशोभद्रसूरिरेव-
माह । एतेनैतद्वावेयति-जिनवचनमवितथे, जिज्ञासुना नियमतः
प्रज्ञाघताऽपि सम्यग्गुरुचरणकमलपर्युपासनमास्थेयम्, अन्यथा
प्रज्ञाया अवैतथ्यानुपपत्तेः । तदुक्तं च-“तत्तदुत्प्रेक्ष्यमाणानां,
पुराणैरागमैर्विना । अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति” ॥१॥
गुरुवचनेमेव दर्शयति-मृगोऽपि खलु कूटेः स बध्यते यः प्रम-
त्तोऽदृक्कश्च जवति । यस्त्वप्रमत्तो दक्षश्च स कदाचनापि न
बध्यते । तथाहि-अप्रमत्तो मृगः प्रथमत एव कूटदेशं परिहरति ।
अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटदेशमपि प्राप्नोति भवति तथाऽपि
यावन्नाद्यापि बन्धः पतति, तावद्दक्षताया ऋगिति तद्विषयादपसर्प-
ति । यस्तु प्रमत्तो दक्षताराहृतश्च, स बध्यत एव । तस्मान् मृगोऽपि
बध्यते । परमार्थतः स्वप्रमादक्रियावशतो, न परप्रयुक्तिमात्रात् ।
(एयमेव) अनेनैव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण (जावकूटे) संयमरूप-
जावबन्धनाय कूटमिव कूटमाधाकम्मं, तत्र स बध्यते, ज्ञानावर-
णीयादिकर्मणा युज्यते, योऽशुभभावपरिणाम आहारमापद्यते,
आधाकर्मग्रहणात्मकाशुभभावपरिणामो, न शेषः । न खल्वधा-
कर्मणि कृतेऽपि यो न तद् गृह्णाति, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणी-
याऽऽदिना पापेन बध्यते । नहि कूटे स्थापिते यो मृगस्तदेश एव
नायाति, आयातोऽपि यत्नतस्तदेशं परिहरति, स कूटे बन्धमा-
प्नोति । तत्र परप्रयुक्तिमात्राद् बन्धो येन परोक्तनीत्या परकृतकर्मण
आत्मकर्मकरणमुपपद्यते, किन्त्वशुभाध्यवसायजावतः । तस्मा-
दशुभो भाव आधाकर्मग्रहणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयित-
व्यः । परकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये जावार्थः प्रागेव दर्शितः ।
यथा-परस्य पाचकादिकर्मं तदात्मकर्मिकरोति, किमुक्तं ज-
वति ?-तदात्मन्यापि कर्म करोतीति, तनौ न कश्चिदोषः । परक-

मणश्चात्मकर्मिकरणमाधाकर्मणो ग्रहणे जोजने वा सति भवति
यथा, तन उपचारादाधाकर्म आत्मकर्मैत्युच्यते । न नु तदाऽऽधा-
कर्म, यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति, कृते वाऽनुमोदते,
तदा भवेद् दोषः । यदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, ना-
प्यनुमोदते, तदा कस्तस्य ग्रहणे दोष इति ?

अत्राह-

कामं सयं न कुव्वइ, जाणंतो पुण तद्वा वि तग्गाही ।

वट्ठेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १ ॥

कामं सम्मतमेतत्, यद्यपि स्वयं न करोत्याधाकर्म; उपलक्षण-
मेतत्, न वारयति, तथापि मर्दर्थमेतन्निष्पादितमिति जानानो यदि
आधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्ग्राही तत्प्रसंगम्-आधाकर्मग्रहणप्र-
सङ्गं वर्जयति । तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म जानानो गृह्णाति,
तदाऽन्येषां साधूनां दायकानां च एवंबुद्धिरुपजायते-नाधाकर्म
जोजने कश्चनापि दोषः; कथमन्यथा स साधुर्जानानोऽपि गृही-
तवान् ? इति । तत एवंतेषां बुद्ध्युत्पादे संनत्या साधूनामाधाक-
र्मभोजनं दीर्घकालं पङ्क्तिविकायविधातः, स परमार्थतस्ते-
न प्रवर्त्यते । यस्तु न गृह्णाति स तथाभूतप्रसङ्गवृत्तिं निवारयति;
प्रवृत्तेरेवाभावात् । तथा चाह-(अगिण्हमाणो उ वारेइ) ततोऽ
तिप्रसङ्गदोषभयात्कृतकारितदोषरहितमपि नाधाकर्म भुञ्जीत ।
अन्यच्च तदाधाकर्म जानानोऽपि नृजानो नियमतोऽनुमोदते ।
अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषिद्धमनुमोदनमिति
विस्तृतत्वादात् । तत आधाकर्मभोजने नियमतोऽनुमोदनदोषोऽ-
निवारितप्रसरः । अपि च-एवमाधाकर्मभोजने कदाचिन्मनाज्ञा-
हारजोजनभिन्नदृष्टया स्वयमपि पचेत् पाचयेद्वा । तस्मान्न
सर्वथा आधाकर्म ज्ञोक्तव्यमिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्म-
ति नाम ॥ पि० । नि० चू० ।

अत्तग-आत्मग-त्रि० । आत्मनि गच्छतीति आत्मगः । आन्तरे,
“चिच्चा ण अत्तगं सोयं ” सूत्र० १ भु० ए अ० ।

अत्तगवेसण-आर्त्तगवेण-न० । छव्याद्यापत्सु, आर्त्तस्य, उप-
लक्षणमेतत् । अनार्त्तस्य वा, गवेणं दुर्लभद्रव्यसंपादनादिरू-
पमार्त्तगवेणम् । औपचारिकविनयजेदे, व्य० १ उ० ।

अत्तगवेसणया-आर्त्तगवेणया-स्त्री० । आर्त्तं ग्लानीभूतं गवे-
षयति भैषज्यादिना योऽसावार्त्तगवेणः । तद्भाव आर्त्तगवेण-
ता । भ० २५ श० ५ उ० । आर्त्तस्य दुःखार्त्तस्य गवेणमौष-
धादेरित्यार्त्तगवेणम्; तदेवार्त्तगवेणयतेति । पीकितस्योपकार
इत्यर्थः । स्था० ७ ग० ।

आत्म (५) गवेणया-स्त्री० । आत्मना, आप्तेन वा चूत्वा गवे-
षणं सुस्थदुःस्थतयोरन्वेषणं कार्यमिति । लोकोपचारविनय-
जेदे, स्था० ७ ग० । औ० ।

साम्प्रतमार्त्तगवेणरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह-

दव्वावड्माईयुं, अत्तमणत्ते गवेसणं कुणइ ५ ।

छव्यापदि दुर्लभद्रव्यसंपत्तौ च । तथा च भवति केषुचिद्
देशेष्वकृत्यादिषु दुर्लभं घृतादिद्रव्यमिति । आदिशब्दात् के-
त्रापदादिपरिग्रहः । तत्र केत्रापदि कान्तारादिपत्तने, कात्रापदि
दुर्भिक्षे, भावपदि गाढग्लानये । आर्त्तस्य पीकितस्य आयन्तस-
हिष्णुतया, अनार्त्तस्य वा यथाशक्ति यद् गवेषणं करोति दुर्ल-
भद्रव्यादिसंपादयति, स आर्त्तगवेणविनयः । व्य० १ उ० ।

अत्तगवेसय-आत्मगवेसक-पु० । आत्मानं चारित्रात्मानं गवे-
षयतीति आत्मगवेसकः । कथंमयं मम स्यादिति संयमजीवमा-
गयितरि, “ तिगिच्छं नाभिनेदेजा, संचिक्खेऽत्तगवेसए । एवं
एव तस्स सामासं, जज्ज कुज्जा न कारवे ” ॥१॥ उक्तं २ व० ।

नो ताहिं विह्वेजा, चरेज्जऽत्तगवेसए ।

आत्मानं गवेषयेत्, कथं मयाऽऽत्मा भवान्निस्तारणीय इत्य-
न्वेषयेत् । “ आत्मगवेसकसिद्धिः स्वरूपापत्तिः ” इति वचना-
त् । सिद्धिर्वाऽऽत्मा । ततः कथं ममाऽसौ स्यादित्यन्वेषक आ-
त्मगवेसकः । यथा आत्मानमेव गवेषयत इत्यात्मगवेसकः । किमु-
क्तं भवति? विशालहकारशालिनीरपि स्त्रियोऽवलोक्ष्य तद्दृष्टि-
न्यासस्य दुष्टाऽवगमात् ऊटिति ताज्यो दृगुपसंहारत आत्मा-
न्वेषैव ज्ञात । उक्तं ३ व० ।

अत्तगामि (ण)-आप्त (त्म) गामिन्-पु० । आप्तं (मोक्षं) ग-
च्छति तच्छीघ्रः । मोक्षगमनशीले आत्महितगामिनि, सर्वज्ञो-
पदिष्टमार्गगामिनि वा मुनौ, “ मुसं न वूया मुणि अत्तगामी ”
सूत्र० १ भु० १० अ० ।

अत्तगुण-आत्मगुण-पु० । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मा-
धर्मसंस्कारेषु जीवगुणेषु, सूत्र० १ भु० १२ अ० ।

अत्तचित्त-आत्मचिन्तक-पु० । आत्मानमेव चिन्तयतीति । प-
रकार्यमनपेक्षयात्मानं चिन्तयति गणधारणायेत्ये, व्य० ।

अच्छुज्जयमेगयरं, परिवज्जिस्संति अत्तचित्तो उ ।

जो वि गणे विवसंतो, न वहति तत्ती तु अन्नैस्सि ॥१॥

य आत्मानमेव केवलं चिन्तयन्मन्यते-यथाऽहमज्युद्यतं जिन-
कल्पे यथा लन्दकलरानामकतरं प्रतिपत्त्ये इति आत्मचिन्तकः ।
योऽपि गणेऽपि गच्छेऽपि वसन् तिष्ठन् न वहति न करोति, तृप्ति-
मन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिन्तकः । एतौ चावप्यात्मचिन्तकाव-
नर्हौ । व्य० ३ व० ।

अत्तउट्ट-आत्मपट्ट-पु० । आत्मा पट्ट इति । पञ्चानां जूताना-
मात्मा पट्टः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमं सूत्रकृताङ्कस्य प्रथमोद्देश-
कस्य अर्थधिकारः, सूत्र० ।

सांप्तनमात्मपट्टादिमनं पूर्वपक्कयिनुमाह-

मंति पंच मट्टञ्जूया, उट्ट मेगसिं आहिया ।

आयउट्टो पुणो आहु, आया जोगे य सामण ॥१॥

(संतीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते, पञ्च महातूतानि पृथिव्यादीनि, इहा-
स्मिंसंसारं, पक्षेयां वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणां च, एत-
दाख्यातमा आख्यातानि च तूतानि ते च वादिन एवमाहुरेवमाख्या-
तवन्तः-यथा आत्मपट्टानि आत्मा पट्टो येषां तानि आत्मपट्टानि, तू-
तानि, विद्यन्ते इति । एतानि आत्मपट्टानि तूतानि यथाऽप्येषां वादि-
नामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति-आत्मा, लोकश्च पृथि-
व्यादिरूपः शाश्वतोऽविनाशः । तत्रात्मनः सर्वव्यापिण्यादमूर्त-
त्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वम्, पृथिव्यादीनां च तद्गुणप्रच्युत्तरवि-
नश्वरत्वमिति ॥ १५ ॥

शाश्वतत्वमेव त्रयः प्रतिपादयितुमाह-

दुट्टओ ण विणस्मंति, नो य उपज्जए असं ।

मज्जे वि सच्चदा भावा, नियतीभावमागया ॥ १६ ॥

(दुष्टओ ण विणस्संतोत्यादि) ते आत्मपट्टाः पृथिव्यादयः

पदार्थाः (उजयत इति) निहेतुकसहेतुकविनाशोच्येन न विनश्य-
न्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निहेतुको विनाशः । तथा च ते
ऊचुः-“ जातिरेव हि ज्ञावानां, विनाशो हेतुरिष्यते । यो जा-
तश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च? ” ॥ १॥ तथा च वै-
शेषिकाणां लक्षुटादिकारणसामिध्ये विनाशः सहेतुकः । तेनो-
परूपेणापि विनाशेन लोकात्मनोर्न विनाश इति तात्पर्यार्थः ।
यदि वा (दुष्टो ण विणस्सि) द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनचेतनरूपाश्च
विनश्यतीति । तथाहि-पृथिव्यं सज्जायाकाशानि रूपापरि-
त्यागतया नित्यानि ; न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्वा आ-
त्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादिच्यो हेतुभ्यः । तथा चोक्तम्-
“ नैनं विन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदय-
न्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥ अच्छेद्योऽयमदाहोऽय-मवि-
कार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्याणु-रचलोऽयं सनातनः ”

॥ २ ॥ एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सञ्जायात् ।
असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः । यदि वा अस-
दुत्पद्येत, स्वरदिषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति । तथा चोक्तम्-“अ-
सदकरणदुपादानप्रदणत्सर्वसंभवाज्ञायात् । शक्तस्य शक्यकर-
णात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ” ॥३॥ एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि
घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात् । यदि वा असदुत्पद्येत,
ततो यतः कुतश्चिदेव स्यान्नावश्यमेतदर्थिनां मृत्पिण्डोपादान-
मेव क्रियते, इत्यतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । एवं च
कृत्वा सर्वेऽपि ज्ञावाः पृथिव्यादय आत्मपट्टा नियतिभावं नित्य-
त्वमागताः, नाभावरूपताम् । अभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते ।
आविर्भावतिरोज्ञावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति । तथा चाभि-
हितम्-“ नासतो जायते भावो, नाज्ञावो जायते सतः ” ।
इत्यादि । अस्योत्तरं निर्युक्तिरुदाह-“ को वेप ” इत्यादि प्राक्त-
न्येव गाथा । सर्वपदार्थनित्यत्वाच्च्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न
स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाज्ञावाः तदभावाच्च को वेद-
यति, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः । एवं च सति
कृतनाशः स्यात् । तथा असतश्चोत्पादाज्ञावे वेयं मया आत्मनः
पूर्वभावपरित्यागेनापरजावोत्पत्तिरङ्गणा पञ्चधा गतिरुच्यते, सा
न स्यात् । ततश्च मोक्षगतेरज्ञावादीकादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमाप-
द्यते । तथाऽप्रच्युताऽनुत्पन्नस्यैरकस्य ज्ञावत्वेन त्वात्मनो देवमनु-
ष्यगत्यागती, तथा विस्मृतेरज्ञावाद् जातिस्मरणादिकं वा न
प्राप्नोति । यच्चोक्तम्-सदेवोत्पद्यते । तदप्यसत् । यतो यदि सर्वथा
सदेव, कथमुत्पादः? उत्पादश्चेत्, तर्हि सर्वदाऽसदिति तथा चोक्त-
म्-‘कर्मगुणव्यपदेशाः, प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात् । कार्यमस-
द्विक्रियं, क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् । १ । तस्मात्सर्वपदार्थानां कथं-
चिन्नित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यम् । तथा चाभिहितम्-
“ सर्वव्यक्तिषु नियतं, कृणे कृणेऽप्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्यश्चित्यपचित्यो-राकृतिजातिव्यवस्थानात् ” ॥१॥ इति । तथा-
“ नावयः स हि भेदत्वा-न्न भेदोऽन्वयवृत्तितः । मृद्वेदद्वयसं-
ग-वृत्तिजात्यन्तरं घटः ” ॥१॥ सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अत्तह-आत्मस्य-त्रि० । आत्मनि तिष्ठतीति आत्मस्थः । जी-
वस्थे, “आत्मस्थं त्रैलोक्य-प्रकाशकं निष्क्रियं परानन्दमातीतादि-
परिच्छेदक-मङ्गं ध्रुवं चेति समयज्ञाः ” ॥१॥ पौ० १५ विव० ।
आत्मार्य-त्रि० । आत्मजोगार्थं स्वभोगार्थं, ध० २ अधि० ।
आत्मनोऽर्थः आत्मार्यः । अर्थमानतया स्वर्गादौ, आत्मैवार्थं
आत्मार्यः ; आत्मव्यतिरिक्तं, मोक्षं च । उक्तं । “ इह कामनिय-
त्तस्य, अत्तह नाऽवरज्जह ” उक्तं ८ अ० । हा० ।

अत्तङ्करणजुत्त-आत्मार्थकरणयुक्त-त्रि० । आत्माहितार्थकरणयुक्ते, पं० चू० ।

अत्तङ्गुरु-आत्मार्थगुरु-त्रि० । आत्मनः स्वस्य अर्थः प्रयोजनं गुरुयस्य स आत्मार्थगुरुः । उक्त० ३२ अ० । आत्मार्थ एव जघन्यो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः । दश० १ अ० । स्वप्रयोजननिष्ठे, “ चितेहि ते परितवेह बाले, पीलेह अत्तङ्गुरु किलेह ” उक्त० ३२ अ० ।

अत्तङ्चित्तग-आत्मार्थचिन्तक-पुं० । आत्मन एव केवलस्यार्थ भक्तादिलक्षणं चिन्तयति, न बाह्यादीनाम्, तथाकल्पसामाचारादित्यात्मार्थचिन्तकः । यद्वा-आत्मार्थो नाम भतीचारमलिनस्यात्मनो यथोक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं विशोधनमित्यर्थः । चिन्तयतीत्यात्मार्थचिन्तकः । परिदारतपः प्रतिपन्नत्वेनाऽऽत्मार्थमात्रचिन्तके, व्य १ उ० ।

अत्तट्टिय-आत्मार्थिक-त्रि० । आत्मार्थे भवमात्मार्थिकम् । आत्मनोऽर्थ आत्मार्थस्तस्मिन् जवमात्मार्थिकम् । आत्मन एवार्थे, “ व-वक्खन् प्रोयण मादणानं, अत्तट्टियं सिक्खमदेगपक्खं ” ॥ ब्राह्मणानामात्मनोऽर्थ आत्मार्थस्तस्मिन् जवमात्मार्थिकम्, ब्राह्मणैरप्यात्मनैव प्रोज्यम्, नचाऽन्यस्मै देयम् । उक्त० १२ अ० ।

अत्तता-आत्मता-स्त्री० । आत्मनो जाव आत्मता । जीवास्तितायाम्, स्वकृतकर्मपरिणतौ च । “ इह खलु अत्तताए तेहि तेहि कुलेहि अनिसेएण संजूता ” आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० ।

अत्तत्ताण-आत्मत्राण-न० । ६ त० । आत्मरक्षायाम्, सूत्र० १ भु० ११ अ० ।

अत्तत्तासंवुरु-आत्मात्मसंवृत-त्रि० । आत्मन्यात्मना संवृतस्य प्रतिसंज्ञीने, ज० ३ श० ३ उ० ।

अत्तट्टकडकारि(ण्)-आत्मट्टकृतकारिन्-त्रि० । स्वपापविधायिनि, “ संपराइय णियच्छंति, अत्तट्टकडकारिणो ” सूत्र० १ भु० ७ अ० ।

अत्तदोस-आत्मदोष-पुं० । ६ त० । आत्मापराधे, स्था० ८ त० ।

अत्तदोसोवसंहार-आत्मदोषोपसंहार-पुं० । ६ त० । स्वकीयदोषस्य निरोधलक्षणे एकविंशे योगसंग्रहे, स० ३१ सम० ।

अत्रोदाहरणम्-

बारवइ अरिहमित्ते, अणुप्परी चेव तह य जिणदेवे ।

रोगस्स य ठप्पत्ती, पडिसेहो अप्पसंहारे ॥१॥

द्वारवत्या महापुर्वा-महन्मित्रो वणिग्वरः ।

अनुप्परी प्रिया तस्य, जिनदेवश्च तत्सुतः ॥ १ ॥

रोगस्तस्यान्यदोषघ्नः, शक्यते न चिकित्सितुम् ।

आहुर्वैद्या रुजोऽमुष्य, निवृत्तिर्मासभक्षणान् ॥ २ ॥

स्वजनाः पितरौ चाप्य, सर्वे प्रेम्णा भणन्ति तम् ।

सोऽवदत्त नैव भोदयेऽहं, सुचिरं रक्तितं व्रतम् ॥ ३ ॥

मृत्युं स्वीकृत्य सावयं, प्रत्याचक्ष्यी विचक्षणः ।

मुज्जेनाप्यवसायेन, स्वात्मदोषोपसंहृते ॥ ४ ॥

अवाप्य केवलज्ञानं, सिद्धिसौधं जगाम सः ।

आ० क० । आव० । आ० चू० ।

अत्तपणह(ण्)-आत्त(प्त) प्रज्ञाहन्-पुं० । आत्तां सिद्धा-

न्तादिश्रवणतो गृहीतामात्तां वा इदलोकपरलोकयोः सद्विधिरूपतया हितां प्रज्ञामात्मनोऽन्येषां वा बुद्धिकृतकन्याकुलीकरणतो इति यः स आत्तप्रज्ञाहा, आत्तप्रज्ञाहा वा । स्वस्य परेषां च तत्त्वबुद्धिहन्तरि पापश्रमणे, उक्त० १७ अ० ।

अत्तपण्णेसि(ण्)-आत्मप्रज्ञान्वेषिन्-पुं० । आत्मनः प्रज्ञा ज्ञानमात्मप्रज्ञा, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेषी । आत्मज्ञानाऽन्वेषिणि आत्महितान्वेषिणि, सूत्र० १ भु० ६ अ० ।

आत्तप्रज्ञान्वेषिन्-पुं० । आत्तो रागादिदोषविप्रमुक्तः, तस्य प्रज्ञा केवलज्ञानाख्या, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्तप्रज्ञान्वेषी । सर्वज्ञात्तान्वेषिणि, “ वीराजे अत्तपण्णेसी, धितिमता जिहं दिआ ” । सूत्र० १ भु० ९ अ० ।

अत्तपणहह(ण्)-आत्मप्रज्ञाहन्-पुं० । आत्मनि प्रज्ञा आत्मप्रज्ञस्तं हन्त्यात्मप्रज्ञा । केनचित्कृतस्य प्रज्ञस्य वञ्चके पापश्रमणे, यथा-यदि कश्चित्परः पृच्छेत्, किं भवान्तरयायी अयमात्मा, उत नेति ? । ततस्तमेव प्रज्ञमतिवाचाव्रतया हन्ति, यथानास्त्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपलभ्यत्वात्; ततोऽयुक्तोऽयं प्रज्ञः; सति हि धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्त इति । उक्त० १७ अ० ।

अत्तपसण्णद्वेस्स-आत्मप्रसन्नलेश्य-त्रि० । आत्मनो जीवस्य प्रसन्ना मनागप्यकबुधा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यम् । उक्त० १२ अ० ।

आत्तपसन्नलेश्य-त्रि० । आत्ता प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्ना लेश्योत्तरूपा यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यम् । आत्मनिर्मलत्वकारणेन तेजःपद्मशुक्लादिलेश्याव्रयेण सहिते, “ धम्मो हरणं बंधे, संति तिथे अणाविले । अत्तपसण्ण-लेस्से, ” उक्त० १२ अ० ।

अत्तजाव-आत्मजाव-पुं० । स्वाजिप्राये, सूत्र० १ भु० १३ अ० ।

अत्तमड-आर्त्तमति-त्रि० । आर्त्ते आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्तमतयः । आर्त्तध्यानोपयुक्तेषु, आतु० ।

अत्तमाण-आवर्त्तमान-त्रि० । आ-वृत्-शानच् । “ यावत्त-वज्जीविताऽऽवर्त्तमानावटप्राधारकदेवकुलैवमेवे वः ” ॥ ८२१७१ ॥ इति वस्य सुक् । संयोगादित्वाद् द्वयः । अभ्यस्यमाने, प्रा० ।

अत्तमुख-आत्ममुख-पुं० । आत्तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गताप्रधानत्वेन मुख्ये “ शाखादर्थः ” ॥ ७१११४ ॥ इति [हेम-सूत्रेण] तुल्ये यः प्रत्ययः । आत्तप्रधाने केवलज्ञानिनि, तं० ।

अत्तय-आत्मज-पुं०-स्त्री० । आत्मनः पितृशरीराज्जात इत्यात्मजः । अङ्गजे पुत्रे, तादृश्यां पुत्र्यां च । यथा भरतस्याऽऽदित्यशः । स्था० १० त० । ज्ञा० । विषा० ।

अत्तलब्धिय-आत्मलब्धिक-पुं० । यः आत्मन एव सत्त्वा लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्याऽऽसावात्मलब्धिकः । स्वलब्धिके, पंचा० १२ विव० ।

अत्तव-आर्त्तव-त्रि० । अतुरस्य प्राप्तः, अण् । अतुभवे पुष्पादौ, “ आर्त्तवान्युपनुज्जाना, पुष्पाणि च फलाणि च ” राज्ञि च, वाच० । नि० चू० । (अस्य व्याख्या ‘गम्भ’ शब्दे वक्ष्यते)

अत्तवयणणिदेस-आत्मवचननिर्देश-पुं० । आत्मस्व अप्रतार-

कस्य वचनमाप्तवचनं, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः । सर्व-
श्लोकागमे, "धम्मो भगवन्मुनिं ति पइत्ता अन्तवयवविशेषो" ।
दश० १ अ० ।

अत्त (प) संजोग-आत्मसंयोग-पुं० । आत्मनः संयोगे औ-
पशमिकादिभिर्भावैर्विषय सम्बन्धरूपे संयोगभेदे, अत्त० १
अ० । ("संजोग" शब्दे चैव विशेषतो दर्शयिष्यते)

अत्तमपरिगृह्य-आत्मसंपरिगृहीत-त्रि० । आत्मैव संप्र-
गृहीतः-सम्यक् प्रकरणे गृहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्ये-
वमादिना स तथा । आत्मोत्कर्षप्रधाने, दश० १ अ० ४ अ० ।

अत्तमविषय-आत्मसाक्षिक-त्रि० । आत्मा एव साक्षिको
वस्यति आत्मसाक्षिकः । स्वसाक्षिके, "आत्मसाक्षिकसद-
र्म-सिद्धौ किं श्लोकयात्रया ?" अष्ट० २३ अष्ट० ।

अत्तसम-आत्मसम-त्रि० । आत्मतुल्ये, दश० १ अ० ।

अत्तसमाहि-आत्मसमाधि-पुं० । ६ त० । स्वपक्षसिद्धौ, मा-
ध्यस्थ्यवचनादिना पराऽनुपधाते च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ अ० ।

अत्तसमाहिय-आत्मसमाधिक-पुं० । चित्तस्वास्थ्यवति, सू-
त्र० १ श्रु० ३ अ० ३ अ० ।

आत्मसमाहित-त्रि० । आत्मना समाहित आत्मसमाहितः । ज्ञा-
नदर्शनचारित्र्योपयोगे सदापयुक्ते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ अ० ।
आत्मा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहितः । आहिताभ्यादिदर्श-
नादार्थत्वाद् वा निष्ठाश्रितस्य परनिपातः । यद्वा-प्राकृते पूर्वोत्त-
रनिपातोऽश्रितः । समाहितात्मेत्यर्थः । शुभस्यापारवति, आचा०
१ श्रु० ४ अ० ३ अ० ।

अत्तमुत्त-आप्तशून्य-त्रि० । आप्तो धीतरागस्तस्य वाक्यं
सिद्धान्तस्तेन शून्यं वर्जितमाप्तशून्यमिति मध्यपदलोपी समा-
सः । आप्तवाक्येन शून्यमाप्तशून्यं स्वमत्या असंभावितं विर-
च्य श्लोके प्रत्यगौरवादिति, (देवसेन एतत्प्रपञ्चनमचीकरोत्)
द्रव्या० १ अष्ट्या० ।

अत्त (आय) हिय-आत्महित-न० । ६ त० । आत्मोपका-
रके, प्रअ० ४ सम्भ० द्वा० । विशेष० । आत्महितं दुःखेनाऽसुमता
संसारे पर्यटताऽकृतधर्मानुष्ठानेन नश्यते अवाप्यत इति । त-
थाहि-"न पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजनधिविघ्नम् ।
मानुष्यं चाद्योतक-तन्निष्ठताविलसितप्रतिमम्" ॥१॥ सूत्र०
१ श्रु० २ अ० २ अ० ।

अत्ता-देशी-जनन्याम, पितृष्वसति, भ्रष्टमाम, धनस्यायां च ।
दे०ना० १ अ० ।

अत्तागम-आत्मागम-पुं० । अपौरुषेये आगमे, "वयणेण का-
बजोगा, मावेण य सो अणादिसुरुस्स । गदणम्मि य नो हेऊ,
सत्थं अत्तागमो कइ णु" ॥१॥ उक्त० २ अ० ।

अत्ताण-अत्राण-त्रि० । ६ अ० स० । अनर्थप्रतिघातकवर्जिते,
प्रअ० १ आध० द्वा० । शरणविरहिते, आ० म० द्वि० ।
स्कन्धन्यस्तल्लगुमृद्धितीये देशान्तरे गच्छति, कार्पटिके च । ७० ।
विरुद्धराज्येऽयं विदरणविधिः-

अत्ताण चोर भेया, वगुर मोनिय पलाइणो रहिका ।
पदिचरगा य सदाया, गणणागमणम्मि नायन्वा ॥

(अत्ताण स्ति) संयता आत्मनैव चौरादिसहायविरहिता ग-
च्छन्ति । एष चूर्णनिप्रायः । निशीथचूर्णमिप्रायस्तु-(अत्ता-
ण स्ति) अत्राणो नाम स्कन्धन्यस्तल्लगुमृद्धितीया ये देशान्तरे
गच्छन्ति, कार्पटिका वा । ७० १ उ० । आत्मशब्दस्य तृतीयैक-
वचनेऽपि 'अत्ताण स्ति' रूपं भवति । "अत्ताण अणिग्गदिया
करोति" आत्मना अनिगृहीता, अनिगृहीतात्मन इत्यर्थः । प्र-
अ० १ आ० द्वा० ।

अत्ताहिद्धिअ-आत्माधिक-त्रि० । आत्मलब्धिके, ध० ३ अ० ।

अत्ति-आप्ति-स्त्री० । उपलब्धौ, द्वा० १० द्वा० । रागद्वेषमोहा-
नामैकान्तिके आत्यन्तिके च कृये, स्या० ।

अत्तिज्ज [य]-आत्रेय-पुं० । अत्रिवंश्ये ऋषौ, "जीरेणो प्रो-
जनमात्रेयः" आ० क० । ('संखेव' शब्दे कथा दृष्टव्या)

अत्तीकरण-आत्मीकरण-न० । अनात्मन आत्मत्वेन करणं आ-
त्मीकरणम् । आत्मसात् करणे, पि० । स्ववशीकरणे, नि० चू० ।
तच्च राजादीनां संयतैर्न करणीयम् । तदुक्तम्-

जे भिक्खुरायं अत्तीकरोइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ नि० चू० ।

अत्तीकरणं रप्पो, साजावियं कइतवं च णायव्वं ।

पुवावरसंवच्छं, पच्चक्ख परोक्खमेक्केकं ॥ २ ॥

तं पुण अत्तीकरणं दुविधं-सानावियं, कइतवियं च । साभा-
वियं संतं सच्चं चेतसा, तस्स सयणिज्जउ, केतवं पुण अलियं ।
ते पुणो एक्केकं दुविधं-पुव्वं संवुता वा (अवरमिति) पच्छा संवुतं ।
पुणो दुविधं-पच्चक्खं, परोक्खं च । पच्चक्खं सयमेव करोति,
परोक्खं अण्णेण कारवेति । अदवा राहुः समक्कं प्रत्यक्कम्, अ-
न्यथा परोक्षं भवति । संते पच्चक्खपरोक्खं इमं भण्णति-

रायमरणम्मि कुलधर-गताए जातो मि अवहिंयाए वा ।

निव्वामियपुत्तोवमि, असुगच्छगएण जातो वा ॥३॥

रायाणं मते देवी आवससत्ता कुलधरं गया, तांसे अहं पुत्तो,
जहा-सुडुगकुमारो । अवधेयाए य जहा-परमावतीए करकं-
कोइयरायपुत्तो णिच्चइओ । अएणत्थ गतेणं तेणाहं जातो, जहा-
अभयकुमारो । असुगच्छगएण रएणा अहं जातो, यथा-वसुदे-
धेण जरकुमारो, उत्तरमहुरवणिपण वा अणं णियपुत्तो संतं प-
रकरणं कहं संनवति ।

दुद्धभपवेसलज्जा-सुगो व एमेवऽमच्चमादीहि ।

पच्चक्खपरोक्खं वा, करेज्ज वा संयवं को वि ॥ ४ ॥

तत्थ रायकुले दुद्धजो पवेसो, सज्जालुओ वा, सो साधू अण्ण-
णो असत्तो, असत्तीकरणं काओ, तादे अमच्चमादीहि कारवेति,
एमेव गदणाओ असत्तं संवज्जति । एते चेध कुलधरादिकारणा
जडावज्जाणंतो पच्चक्खं परोक्खं संयवं करेज्ज, अमच्चमा-
दीहि वा कारवेज्ज ।

एचो एगतरेणं, अत्तीकरणं तु संतऽसंतेणं ।

अत्तीकरोति रायं, लडुगा वा आणमादीणि ॥ ५ ॥

संते पच्चक्खं परोक्खं वा मासलहुं, असंते पच्चक्खं परो-
क्खं वा चउलहुं, आणादिणो य दोसा, अण्णलोमे पडितोमे वा
उवसग्गे करेज्ज ।

राया रायसुदी वा, रायामित्ता अमित्तसुद्धिणो वा ।

जिक्खुस्स व संबंधी, संबंधिमुही व तं सोच्चा ॥ ६ ॥

सयमेव राया; राहः सुहृदः, ते पुनः स्वजना मित्राणि वा; राहो अमित्राः; ते स्वजना दयादाः, अस्वजनाः केनचित्कारणेन निरुद्धाः । अमित्राण वा जे सुहिणो, साधुस्स वा जे संबंधियो, ताण वा संबंधीण जे सुही, तत् सोच्चा दुविहं उवसग्गे करेज्ज ।

संजमविग्घकरे वा, सरीरवाहाकरे व भिक्खुस्स ।

अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गो ॥ ७ ॥

संजमविग्घकरे वा उवसग्गे सरीरवाहाकारके वा करेज्ज, जे संजमविग्घकरा ते अणुकूला इतरे पडिकूला । एते दुविहे उवसग्गं करेज्ज ॥ ७ ॥

तत्थिमे अणुकूला-

साइज्जमु रज्जसिरिं, जुवरायत्तं व गेएहसु व भोगे ।

इति राय तस्सुहीसु वि, उच्चेज्जितरे व तं घेत्तुं ॥ ८ ॥

राया भणति-रज्जसिरिं साइज्जसु, अयं ते पयच्छामि जुवरायत्तं, विसिद्धे वा भोगे गेएहसु । इति उपप्रदर्शने । राया एव । तस्य सुहृदः, तेष्वेवमेवाहुः । (इतरे च्छि) जे एणो पडिणीया, पडिणीयाण वा जे सुहिणो, ते तं उप्पवावेउ घेत्तुं वि उत्थाणं करेज्जा, उडुमरं करेतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सुहिणो व तस्स विरिय-परक्कमे णाउ साहते रणो ।

तो सेही एस णिवं, अम्हे तु ण सुघु पगणेइ ॥ ९ ॥

जे पुण भिक्खू, ते तस्स साहुस्स विरियबलपरिक्कमा णाउ उप्पवावेति, साहेति वा, रणो सो तं उप्पवावेइ, ते पुण किं उप्पवावेति, एस रायाणं तो सेहिति च्छि । अम्हे राया ण सुघु पगणेइ ॥ ९ ॥

इमे सरीरवाहाकरा पडिकूला उवसग्गा-

ओजासिउ धिम्मुं-भिण्ण कुज्जा व रज्जविग्घं मे ।

एमेव सुहि दरिसिते, णियप्पदोसेतरे मारे ॥ १० ॥

राया भणति-अहो ! इमेण समणेण महापणमज्जे ओभासिओ धिग् मुण्डितेन दुरात्मना य एवं भाषते, अहवा एष भोगाभिलाषी मम परिसं भिदिउं रज्जविग्घं करेज्ज, तं सो राया हणेज्ज वा, बंधेज्ज वा, मारेज्ज वा, रणो जे सुही, तेहि आणेओ रणो दरिसिते, राया तहेव पडिकूलं उवसग्गं करेज्ज । इतरे णाम जे रणो अमित्रा, अमित्रसुहिणो वा, ते रणो पडिणीयाताए तं मारेज्ज, भिक्खुस्स णिया वा पडिलोमे उवसग्गे करेज्ज ॥ १० ॥

उद्धंसिणमो लोगं-सि भागहारी व होहि वा माणे ।

इति दायिगादिणीता, करेज्ज पडिलोममुवसग्गे ॥ ११ ॥

उद्धंसिय च्छि ओभासिया-अम्हे एतेण लोगे मज्जे ओभासिआ वा एस अम्हं भागहारी होहि च्छि, मा वा अम्हं अधिक्कतरो एत्थ रायकुले होहि च्छि, दुव्वयणयाए बंधाएहि उत्तावेति वा, जम्हा एते दोसा तम्हा ण कप्पति एणो अत्तीकरणं काउं, कारणे पुण कप्पति ॥ ११ ॥

गेलएण रायउद्धे, अव्वरज्जविरुद्धरोहणऽच्छाणे ।

ओमुञ्जावण सासण-णिकखमणुवदेसकज्जेसु ॥ १२ ॥

गिलाणस्स वेज्जेण उवदिट्ठं-हंसतेल्लं कल्लाणययं तित्तगं, महा-तित्तगं वा, कलमसालिओयणो वा, ताणि परं एणो हवेज्ज, ताहे जयणाए अत्तीकरणं करेति ॥ १२ ॥

इमा जयणा-

पणगादिपतिकंतो, परोक्खं ताहे संतऽसंतेणं ।

एमेव य पच्चक्खं, जावे णाणं तु चउयजुओ ॥ १३ ॥

पणगपरिहाणीए जाहे मासलहुं पत्तो ताहे संतं परोक्खं रणो य भावां जाणियव्वो, प्रियाप्रियेति, जो य रयणउज्जुत्तो यो दर्शनीयः तेजस्वी वा स अत्तीकरणं करेति, रायदुधे वा उवसमण्णचा वेरज्जे वा आत्मसंरक्षणार्थं विरुद्धरज्जे वा संकमण्णचा रोहणे वा णिग्गमण्णचा अवमंता वा भत्तट्ठा रणो वा सद्धि अक्षाणं गच्छंता बहुसु उप्पत्तिपसु कारणेसु एवमेव भण्णुव्वंती जत्तट्ठा, वादकाले वा पवयणउज्जावणछा, पडिणीयस्स वा सासणट्ठा अत्तीकतो वा जो णिक्खमेज्ज, तवट्ठा धम्मं वा पडिवज्जिउकामस्स धम्मोवदेसदाणछा कुलगणादिकज्जेसु वा अणेगेसु ।

एंतोहं कारणेहिं, अत्तीकरणं तु होति कायव्वं ।

रायारक्खियनागर-एणम सव्वे वि एस गमो ॥

एतेहिं उत्तकारणेहिं वा रणो अत्तीकरणं करेज्ज, रायाणं जो रक्खति सो रायारक्खिओ-राजशरीररक्कः । तत्थ वि सो चेव एणमं रक्खति जो सो णगररक्खिओ-कोट्टपात्रओ । सव्वपगईओ जो रक्खति सो णियमारक्खिओ-सो सेही । देसो विसओ, तं जो रक्खति सो देसारक्खिओ-चोरोद्धरणिकः । एताणि सव्वानि जो रक्खति सो सव्वारक्खिओ । एतेषु सर्वकार्येष्वापृच्छनीयः स च, महाबलाधिकतयेत्यर्थः । एतेसि पंचग्रहं सुत्ताणं इमं पच्छुं अइदेसं करेति, रायारक्खियणागरएणमे सव्वे । अपिशब्दादेशारक्किओ द्रष्टव्यः । एतेसु वि एसेव उवसग्गाऽववायगमो दछव्वो । नि० चू० ४ उ० ।

सुत्रपाठस्त्वेवम्-

जे भिक्खू रायारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइ-

ज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू एणगररक्खियं वा अत्तीकरेइ,

अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू णिगमर-

क्खियं वा अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइ-

ज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू गामरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्ती-

करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू देसरक्खियं अ-

त्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू

सीमरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे जिक्खू रणो रक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ

॥ १५ ॥ नि० चू० ४ उ० ।

अत्तुकरिस-आत्तोत्कर्ष-पुं० । पञ्चमे गौणमोहनीयकर्मणि, स०

५२ सम० । अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चिन्मत्तुष्ट्योऽ-

स्तीत्येवंरूपेऽभिमाने, “ण करेति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणो वि

संजमतवेसु । तम्हा अत्तुकरिसो, वज्जेयव्वो जतिजणेणं ” ॥ ११ ॥

सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अत्तुकोसिय-आत्तोत्कर्षिक-पुं० । आत्तोत्कर्षोऽस्ति येषां ते

आत्तोत्कर्षिकाः । गर्वप्रधानेषु वानप्रस्थेषु, औ० ।

अत्तोवणीय-आत्तोपनीत-न० । आत्मैवोपनीतस्तथा निवेदि-

तो नियोजितो यस्मिंस्तत्तथा । परमतदुपणायोपात्ते सति आत्म-

मनस्यैव दुष्टनयोपनायके ज्ञाने, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तथाहि-
कथमिदं तन्मागमभेदं भविष्यतीति राज्ञा पृष्ठः । पिङ्गलाभिधानः
स्वपतिरवोचत्-नेदं स्थाने कपिज्ञादिगुणे पुरुषे निखाते सतीति ।
अभाष्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वाविज्ञात इति । तेन आत्मैव नि-
युक्तः स्ववचनदोषात् । तदेवंविध आत्मोपनीतमिति । अत्रोदाहरणं
यथा-“ सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः ” इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय क-
श्चिदाह-अन्यधर्मस्थिता हन्तव्या विष्णुनेव दानवाः । इत्ये-
वंवादिनामात्मा हन्तव्यनयोपनीतो धर्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति,
तद्दोषता तु प्रतीतैवास्त्येति । स्या० ४ ग० ३ उ० ।

अत्य-अर्थ-पुं० । अर्थनमर्थः । अट्टेऽपि बलयादौ ध्रुवा तद-
भिप्रायमात्रे, दश० १ अ० । विद्यापूर्वं धनार्जने, आ० म० द्वि० ।
अर्थनेऽभिगमनेऽर्थते वा याचने बुद्धुस्तुजिरित्यर्थः । व्याख्या-
ने, “जो सुत्ताभिष्पायो, सो अर्थो अज्जपय जम्ह त्ति” । स्या० २
ग० १ उ० । विशेष० । अर्थ० । “अत्यस्स इमे अणुआगो त्ति वा
निओगो त्ति वा भासति वा विभासति वा वत्तिर्यति वा एगच्छा”
आ० च० १ अ० । अर्थस्त्रिविधः-सुखाभिगमः, दुरभिगमः, अन-
धिगमश्च श्रोतारं प्रति भिद्यते । तत्र सुखाभिगमो यथा-च कृष्ण-
तश्चिक्कर्मणिपुणस्य रूपसिद्धिः । दुरभिगमस्तु-अनिपुणस्य । अन-
धिगमस्तु-अन्धस्य । तत्रानधिगमरूपोऽवस्थेव । सुखाभिगम-
स्तु-विचिकित्साविषय एव न ज्ञवति । दुरभिगमस्तु-देशका-
लस्वभावविप्रकृष्टविचिकित्सागोचरीभवति । आद्या० १ श्रु० ५
अ० ५ उ० । अन्तः, अर्थे गम्यते, ज्ञायते इत्यर्थः । विशेष० । सूत्रा-
तिशेय, उत्त० १ अ० । प्रव० । नि० चू० । आ० म० प्र० । पं० व० ।
दशा० नं० । ज्ञानाचारविषयभेदे यथार्थ एवार्थः करणीयः, न-
त्वर्थभेदः । दश० १ अ० । (“णागायार” शब्दे विशेषो वक्ष्यते) पं०
व० । नि० चू० । सूत्रात्परे, ध० ४ अधि० । अर्थेते प्राथ्यते इत्यर्थः ।
स्वर्गापवर्गप्राप्तिकारणानुते, उत्त० १ अ० । अ० । अ० ४ अ० ।
मणिकनकादौ, कटप० । शब्दादिविषयभावेन परिणते अव्यस-
मूढे, विशेष० । राजलक्ष्म्यादौ, स्या० ३ ग० ३ उ० । आचू० ।
“स्यानचतुर्थार्थे वा” ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति संयुक्तस्यार्थजागस्य
उत्वं प्रयोजने एव ज्ञवति । धने तु ‘अर्थो’ प्रा० । अर्थेते गम्यते,
साध्यते इत्यर्थः । सूत्रस्याभिप्राये, “जो सुत्तानिष्पाओ, सो अ-
र्थो अज्जपय जम्हा” विशेष० । आ० म० प्र० । सूत्र० धा० आचा० ।

अधुना त्वर्थवसरस्तत्रेदमाह-

(धर्मो एमुवड्ढा,) अत्यस्स चउविहो उ निक्खेवो ।

ओहेण उविहड्ढस्यो, चउसट्ठिविहो विजागेण ॥ १५ ॥

अर्थस्य चतुर्विधस्तु निष्कषो नामादिभेदात् । तत्रौघेन सामा-
न्यतः पट्टिधोऽर्थः । आगमने आगमन्यतिरिक्तो ह्यर्थः चतु-
षट्तिविधो विभागेन विशेषेणेति गाथासमुदायार्थः ।

अवयवार्थं न्वाह-

धम्मणि रयण यावर-दुपय चउपय तद्देव कुविअं च ।

ओहेण उविहड्ढस्यो, एमो धीगीहं पन्नो ॥ १६ ॥

धान्यानि यवादीनि, रन्ने सुवर्णम्, स्थावरं जूमिगृहादि, द्विप-
दं गन्धदादि, चतुर्षदं गन्धादि, तथैव कुर्ये च तादृक्कलशायने-
कविधम् । ओघेन पट्टिधोऽर्थः, एमोऽनन्तगोदितः, धीरैस्तीर्थ-
करणधरेः, प्रहसः प्रहसन इति गाथाार्थः ॥ १६ ॥

एनमेव विभागनेऽभिधिसुगह-

चउवीसा चउवीसा, तिग दुग दमहा अणेगविह पव ।

सव्वेसिं पि इमेमिं, विभागमहयं पवक्खामि ॥ १७ ॥

(चतुर्विंशतिचतुर्विंशतीति) चतुर्विंशतिविधो धान्यार्थः, र-
त्नार्थश्च (त्रिद्विदशधेति) त्रिविधः स्थावरार्थः, चिविधो
द्विपदार्थः, दशविधश्चतुर्षदार्थः । अनेकविध एवेत्यनेकविधः
कुप्यार्थः । सर्वेषामप्यमीषां चतुर्विंशतिचतुर्विंशत्यादिसंख्याजि-
हितानां धान्यादीनां विभागं विशेषम्, अथानन्तरं प्रवक्ष्यामी-
त्यर्थः ॥ १७ ॥ दश० ६ अ० । (धान्यादीनां व्याख्या स्वस्था-
ने दर्शयिष्यते) “ अर्थानामर्जने दुःखमजितानां च रक्कणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखकारणम् ” ॥ १ ॥ स्या०
३ ग० ३ उ० । ‘धिगड्ढयं दुःखवर्द्धनम्’ । दश० १ अ० । ‘धिगर्थो-
ऽनर्थभाजनम्’ इति वा पाठान्तरम् । ध० ३ अधि० ।

इदानीमर्थ इति तृतीयं भेदं प्रकटयिषुराह-

सयज्ञाणत्यनिमित्तं, आयासकिंसेसकारणमसारं ।

नाऊण धणं धीमं नहु लुञ्जइ तम्मि तण्णयम्मि ॥ ६३ ॥

इह धनं ज्ञात्वा तत्र न लुञ्ज्यतीति योगः । किं विशिष्टं धनम्?-
सकलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिवन्धनम् । आयासश्चित्तखेदः ।

यथा-

“राजा रोत्यति किं नु मे हतवहो दग्धा किमेतरुने,
किं वाऽमो प्रजविण्णवः कृतनिजं लास्यन्त्यदो गोत्रिकाः ।

मां पिष्यन्ति च दस्यवः किमु तथा नष्टां निखातं ज्वि,
ध्यायेन्नेवमहर्दिवं धनयुतोऽप्यास्तेतरां दुखितः” ॥ १ ॥

तथा क्रुशः शरीरपरिश्रमस्तयोः कारणं निवन्धनम् । तथाहि-

“अर्थार्थं नक्रचक्राकुलजलनिर्गमं केचिदुच्चैस्तरन्ति,
प्राद्यच्छस्त्राजिघातोत्थितशिखिकणकं जन्यमन्ये विशन्ति ।

शीतोष्णाभः समीरगलपिततनुवताः केचिदां कुर्वतेऽन्ये,
शिष्टं चानल्पजेदं विदधति च परे नाटकायं च केचित्” ॥ २ ॥

तथा असारं, सारकवासंपानाद् । यदाह-

“व्याधौ निरुणद्धि मृत्युजननज्यानि-क्रेयं न कर्म,
नेष्टाऽनिष्टवियेष्ठायोगहृतिरुत्सह्यहं न च प्रेत्य च ।

चिन्ताबन्धुविरोधबन्धनवधत्रासाऽऽस्पदं प्रायशो,
वित्तं वित्तविचक्षणः क्षणमपि क्षमावहं नेक्षते” ॥ ३ ॥

इत्थं भूतं धनं ज्ञात्वा, न लुञ्जति नैव गृह्यति, धीमान् बुद्धि-
मान्, तस्मिन् द्रव्ये, चारुदत्तवत् तनुकमपि स्तोकमपि आस्तां
बह्विन्यपेरर्थः । भावश्चावको हि नान्यायेन तदुपार्जनाय
प्रवर्तते, नाभ्युपार्जिते तृष्णावान् भवति, किं तर्हि-

“आयादर्थं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं ततः ।

शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्ततस्तुच्छमैहिकम्” ॥ १ ॥

इति विमृशन् यथायोगं तत्सप्तज्ञेयां व्ययतीति । ध० २० ।
अर्थेते परिच्छिद्यते इति अर्थः । पदार्थं, “सदेव सत् स्यात्स-
दिति त्रिधाऽर्थो, मीयेत दुर्नीतनयप्रमाणैः” । स्या० । अर्थ्यते
इत्यर्थः । द्रव्ये, गुणे च, “अर्थो द्रव्ये गुणे वा वि” उत्त० १ अ० ।
पुरुषार्थभेदे, यतो हि सर्वप्रयोजनसिद्धिः । ध० १ अधि० । प्रयो-
जने, “स्यानचतुर्थार्थे वा” ॥ ८ ॥ ३३ ॥ इति [हैमसूत्रेण] उक्तमर्थं
कदाचिन्न भवति । “अणुगहर्त्थं सुविहियारं” इत्यत्र प्रयोज-
नार्थकत्वेनैवार्थशब्दस्य व्याख्यानात् । आद्या० । आव० । ध० ।
“अर्थो त्ति वा हेउत्ति वा कारणं त्ति वा एगच्छ” नि० चू० २० उ० ।

साम्प्रतं धर्मादीनामेव संपन्नतासंपन्नते अभिधित्सुराह-
धर्मो अत्यो कामो, भिन्ने ते पिडिया पडिसवत्ता ।

जिणवयणं उत्तिन्ना, अवसत्ता हँति नायव्वा ॥२९॥

धर्मोऽर्थः कामः, त्रय एते पिण्डता युगपत्संपातेन प्रति-
सपत्ताः परस्परविरोधिनः, लोके कुप्रवचनेषु च । यथो-
क्तम्—“अर्थस्य मूलं निवृत्तिः क्षमा च, कामस्य वित्तं च वपुर्व-
यश्च । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः
क्रियासु” ॥ १ ॥ इत्यादि । एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो
जिनप्रवचनमवतीर्णाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण
धर्मादितत्त्वस्वरूपतो वा निश्चयेन असपत्ताः परस्परविरोधि-
नो न भवन्ति, ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

तत्र व्यवहारेणाविरोधमाह—

जिणवयणम्मि परिणए, अवत्यविहिआणुठाणओ धम्मो ।

सच्छाऽऽमयप्पयोगा, अत्यो वीसंभओ कामो ॥ ३० ॥

जिनवचने यथावत् परिणते सति अवस्थोचितविहितानुष्ठा-
नात् स्वयोग्यतामपेक्ष्य दर्शनादिआवकप्रतिमाङ्गीकरणे नि-
रतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽशयप्रयोगाद्विशि-
ष्टलोकतः पुण्यवलाच्चार्थः विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकर-
णताऽपेक्षो विश्रम्भेण काम इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह—

धम्मस्म फलं मोक्खो, सामयमउलं सिवं अणावाहं ।

तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मऽत्यकामं त्ति ॥ ३१ ॥

धर्मस्य निरतिचारस्य, फलं मोक्षो निर्वाणम्, किं विशिष्टम् ?
इत्याह—शाश्वतं नित्यम्, अनुलमनन्यतुलम्, शिवं पवित्रम्, अ-
नाबाधं बाधावर्जितमेतदेवार्थः । तं धर्मार्थं मोक्षमभिप्रेताः काम-
यन्तः साधवो यस्मात्तस्माद्धर्मार्थकामा इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

एतदेव हृदयन्माह—

परल्लोगमुत्तिमग्गो, नत्थिहु मोक्खो त्ति विंति अविहिन्नु ।

सो अत्थि अवित्तहो जिण—मयम्मि पवरौ न अन्नत्थो ॥ ३२ ॥

परल्लोको जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचारित्राणि
मास्त्येव मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षण इत्येवं भवते अविधिज्ञा-
न्यायमार्गप्रवेदिनः । अत्रोत्तरम्—स परल्लोकादिः अस्त्येवा-
वित्तः सत्यो, जिनमते वीतरागवचने प्रवरः पूर्वापराविरो-
धेन; नान्यत्रैकान्तनित्यादौ, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः
॥ ३२ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त—पुं० मेरौ, यतस्तेनान्तरितो रविरस्तं गत इति व्यपदि-
श्यते । स० ३८ सम० । निरस्ते अविद्यमाने, त्रि० ज्ञा० १३ अ० ।
अस्त्र—न० । अस्त्येते क्षिप्यते । अस्—एन् । क्षेप्ये शरादौ,
याच० । धनुरादिषु, ध० २ अधि० । रिपुक्षेपणमात्रे साधने,
प्रहरणमात्रे खरूपादावपि, याच० ।

अत्यवगम—अर्थावगम—पुं० ६ त० । अर्थपरिच्छेदे, दश० १ अ० ।

अत्यंगय—अस्तंगत—त्रि० । अस्तपर्वतं प्राप्ते, दश० ८ अ० ।

अत्यंतर—अर्थान्तर—न० । वस्त्वन्तरे, पो० १६ विव० । पृथग्भूते,
दर्श० । गामश्वमभिदधतोऽसत्यभेदे, ध० २ अधि० । न्यायमते
उद्देश्यसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तशब्दसामर्थ्यादनुद्देश्यसिद्ध्यनुकूले दुष्ट-
साधनबाह्ये, याच० ।

अत्यंतरुभावणा—अर्थान्तरोद्भावना—स्त्री० । भवतीकवचन-
भेदे, यथेश्वरादिः कर्त्ता समस्तस्यास्य जगतः क्रोधादिक-
पायाऽऽध्मातचेतसः प्रच्छन्नपापस्य । दर्श० ।

अत्यकंखिय—अर्थकाङ्क्षित—त्रि० । काङ्क्षा गुह्यः, आसक्तिरित्य-
र्थः । अर्थं द्रव्ये काङ्क्षा अर्थकङ्क्षा, सा संजाता अस्थेति अर्थका-
ङ्क्षितः । भ० १ श० ७ उ० । प्राप्तेऽप्यर्थे अविच्छिन्नेच्छे, प्र० १३
श० ६ उ० ।

अत्यकप्पिय—अर्थकट्टिक—पुं० । आवश्यकादिभ्रुतमधीतवति, वृ०
अर्थकट्टिकमाह—

अत्यस्स कप्पिओ खलु, आवस्सगमादि जाव सूयगरं ।

मोत्तुणं छेयसुयं, जेण अहीयं तदत्यस्स ॥

आवश्यकमादिं कृत्वा यावत् सूत्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येना-
धीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति । सूत्रकृताङ्गस्योपर्यपि वे-
दश्रुतं मुक्त्वा यद् येनाधीतं सूत्रं स तस्य सूत्रस्य समस्तस्या-
प्यर्थस्य कल्पिको भवति । वेदसूत्राणि पुनः पठिताभ्यपि याव-
दपरिणतं, तावन्न श्राव्यते, यदा तु परिणतं भवति तदा क-
ल्पिकः ॥ ७ ॥ वृ० १ उ० ।

अत्यकय—अर्थकुत—स्त्री० । अर्थार्थे, “मासणदानं च अत्यकय”
दर्श० ६ अ० ।

अत्यकर—अर्थकर—पुं० । अर्थस्य करस्तत्करणशीतोऽर्थकरः ।
प्रशस्तविचित्रकर्मक्रयोपशमाविर्भावतो विद्यापूर्वं धनार्जनकर-
णशीले, आ० म० द्वि० ।

अत्यकहा—अर्थकथा—स्त्री० । अर्थस्य कथा लक्ष्म्या उपायप्रति-
पादनपरे वाक्यप्रबन्धात्मके कथाभेदे, उक्तं च—“सामादि-
धातुवादादि—कृत्वादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थ-
स्य प्रकीर्तिता” ॥ १ ॥ तथा—“अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधानः
प्रतिभासते । तृणादपि लघुं लोके, धिगर्थरहितं नरम्” ॥ १ ॥ इति
एतदेव विस्तरत उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह—

विज्जासिप्पमुवाओ, अणिवेओ संचओ य दक्खवं ।

सामं दंडो भेओ, उवप्पयाणं च अत्यकहा ॥ १६५ ॥

विद्या शिल्पमुपायोऽनिर्वेदः संचयश्च दक्षत्वं साम दण्डो
भेद उपप्रदानं चार्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्युक्तार्थः । ज्ञावा-
र्थस्तु वृक्षविवरणादवसेयः । तच्चेदम्—“विज्जं पमुच्चऽत्यक-
हा; जो विज्जाए अत्थं उवज्जयति; जहा—एणेण विज्जा सा-
हिया, सा तस्स पंचयं पइप्पजायं देइ । जहा वा—सव्वइस्स
विज्जाहरचक्खवट्ठिस्स विज्जापजावेण जोगा उवणया । सव्वइ-
स्स उपपत्ती जहा य सहकुले वत्थितो, जहा य महेसरो नामं
कयं । एवं निरवसेसं जहाऽऽवस्सए जोगसंगहेसु, तहा भाणिय-
वं । विज्जं त्ति गयं ॥ इयाणि सिप्पे त्ति । सिप्पेणऽत्थो उवज्जि-
णइ त्ति । एत्थ उदाहरणं कोक्कासो जहाऽऽवस्सए । सिप्पे त्ति
गयं ॥ इयाणि उवाए त्ति । एत्थ दिट्ठो चाणक्को । जहा—चाण-
क्केण सहविहोहिं अत्थो उवज्जिओ । कहं?, दो मज्झिआउत्तराओ ।
एयं पि अक्खणायं जहाऽऽवस्सए तहा भाणियवं । उवाए त्ति
गयं ॥ इयाणि आणिवेए संचएय एकमेव उदाहरणं—मम्मणवा-
णिओ । सो चि जहाऽऽवस्सए, तहा भाणियवो” (अग्रतनं तु
‘दक्ख’ शब्दे वक्ष्यते) दर्श० ३ अ० । विद्यादिभिरर्थस्तन्प्रधाना
कथा अर्थकथा । सदसद्रपात्मकं वस्तुस्वरूपमिति पदार्थ-
संबन्धिन्यां वार्तायाम्, स्या० ॥

अत्यक्षामय-अर्थक्षाम-ति० । अर्थे द्रव्ये कामो धातुक्षामात्रं य-
स्याऽस्यार्थक्षामः । छव्यस्य वाञ्छके, न० १ श० ७ उ० ।

अत्यक्षिरिया-अर्थक्रिया-स्त्री० । सुखदुःखोपनोये, स्या० ।

अत्यक्षिरियाकारि [ण]-अर्थक्रियाकारिन्-त्रि० । अर्थक्रि-
याकरणशीले, भा० म० द्वि० ॥

अत्यकुशल—अर्थकुशल—पुं० अर्थोपार्जनं हस्तशाघवादिप-
रित्यगेन कुर्वति, वश० ४ अ० ४० र० ।

सम्प्रत्यर्थकुशल इति द्वितीयं भेदं व्याचिख्यासुर्गोधापूर्वार्द्धस्य
द्वितीयं पादमाह—

....., सुणइ तयत्यं तहा सुतित्यम्मि ।

भूणोत्याकर्णयति, तदर्थं सूत्रार्थं, तथा तेनैव प्रकारेण स्वहृ-
मिकैचित्तरूपेण, सुतीर्थं सुगुरुमूले । यत आह—

“तित्थे सुत्तत्थाणं, गहणं विहिणा उ ह्य तित्थमिणं ।

उभयन्तु चैव गुरु, विहिणो विणयाह ओचित्तो” ॥१॥ इत्यादि ।
अत्रायमाशयः—ऋषिजन्मपुत्रवत् संविम्वगीतार्थगुरुसमीपभ-
वणसमुत्पन्नप्रवचनार्थकौशलेन ज्ञावभावकेण भाव्यमिति ।

ऋषिभद्रपुत्रकथा चैवम्—

“इत्थेव जंबुदीवे, भारद्वाजसस्स मज्झिमे खंमे ।

अन्धि पुरी आलभिया, न कया वि अरीहि आलभिया ॥१॥

सुगुरुपसायउल्लसिय-विम्ववहुवयणअत्थकोसल्लो ।

इसिभइपुत्तनामा, सट्ठो तत्थासि सुवियट्ठो ॥ २ ॥

अन्ने वि तन्थ निवसे-ति सावया आवया सुदढधम्मा ।

इसिजइसुओ कइया, वि तेहि मिलिपहि इय पुट्ठो ॥ ३ ॥

प्रो भो देवाणुपिया ! देवाण ठिई कइसु अम्हाण ।

सो वि ह पवयणभणियत्थसत्थकुसलो वि इय जणइ ॥ ४ ॥

असुरा ? नागा ? विज्जू, ३ सुवन्न ४ अग्गी व ५ वाउ ६ थाणिया ७ या

उदही ८ दीव ९ दिसा वि य, १० दसदा इह हुंति जयणवर्ह ॥ ५ ॥

पिसाय ? ज्ञया २ जक्ख्वा य, ३ रक्ख्वा ४ किनरा य ५ किंपुरिसा ६ ।

महोरगा य ७ गंधवा ८, अट्टविडा वाणमंतरिया ॥ ६ ॥

ससि १ रवि २ गह ३ नक्खत्ता, तारा ५ जोइसिय पंचहा देवा ।

वेमाणिया य दुधिहा, कप्पगया कप्पउतीया य ॥ ७ ॥

तत्र कल्पगताः—

सोदंभी-१-साण २ सण-कुमार ३ माहिंद ४ वंज ५ वंतगया ६ ।

सुद्ध ७ सद्धसारा ८ णय ९, पाणय १० आरणय ११ अच्चुयजा १२ ।

कल्पातीतास्त्वमे—

सुदरिसण १ सुप्पवट्ठ २, मणोरमं ३ सच्चभइ ४ सुविसाव ५ ।

सोमणसं ६ सोमाणस ७, पीइकरं चैव ८ नंदिकरं ९ ॥ ६ ॥

विजयं च १ वेजयंतं, २ जयंतं ३ अपराजियं य ४ सव्वट्ठ ५ ।

एवमु जे गया ते, कप्पाइया मुण्यववा ॥ १० ॥

चमरवत्ति अयर महियं, दिवहुपलियं तु सेसजम्माणं ।

आउं दो देसुणं, ताराणलियं वणयगणं ॥ ११ ॥

पलियं वासरत्तक्खं, वामसद्धसं च पलियं मत्तं च ।

चउभागो य कमणं, सासरविगहरिक्खत्ताराणं ॥ १२ ॥

दो ? साहि २ सत ३ सादिय ४, दस ५ चउद ६ सत ७ अयर जा सुरको

पक्किआ उदिगतदुवरि-तित्तीस अणुत्तरेसु परं ॥ १३ ॥

दसवरिससद्धस्साई, जवणवट्ठं सुं ठिई जइआओ ।

पलचउजागो चंदा-इच्चउसु तारेसु अरुभागो ॥ १४ ॥

पहियं ? अदिय २ दो अयर ३, साहिया ४ सत ५ दसय ६ चउदसय ७ ।

सतरस ८ ज सद्धसारे, तदुवरि इग अयरवुक्कि ति ॥ १५ ॥

अइ जन्नुकोसठिई, अथरा तित्तीस हुंति सव्वट्ठे ।

एतो परेण देवा, देवाण ठिई य धिच्छिन्ना ॥ १६ ॥

इसिजइपुत्तकदियं इणमणं, सुट्ठियं पि ते सट्ठा ।

सव्वे असद्धहंता, नियनियगेहेसु संपत्ता ॥ १७ ॥

सुपभूयभत्तिआइ-यपवरपुरदूयबहुसमुदन्नो ।

अइ तत्थ वीरसामी, चामीयरसमपहो पत्तो ॥ १८ ॥

सिरिपवयणउत्थप्पण-पुवं जयता य पायनमणत्थं ।

इसिजइपुत्तसहिया, ते सव्वे सावया पत्ता ॥ १९ ॥

काउं पयाहिणतिगं, सुभत्तिजुत्ता नमिउ ते सामि ।

तिसियंति उच्चियदेसे, इय धम्मं कइइ जुवणगुरु ॥ २० ॥

भो जविथा ! अइउलहं, तरजम्मं लहिय उज्जमह सययं ।

अम्माण हणणमल्ले, पवयणभणियत्थकासट्ठे ॥ २१ ॥

इय आयन्नियधम्मं, ते सट्ठा विनवंति जयपट्ठो ।

तं देवठिइविसेसं, सव्वं इसिभइसुयकदियं ॥ २२ ॥

तो संसइ संसयरे-णुपुंजइरणे समीरणो सामी ।

भो भइ ! देवठिई, एमेव अहं पि जंपेमि ॥ २३ ॥

इय सोउं ते सट्ठा, इसिजइसुयं सुयत्थकुसलकाइ ।

सामितु नमितु पट्ठुं तं, संपत्ता नियनियगिहेसु ॥ २४ ॥

इयरो वि वंदिय जिणं, पुच्छियपसिणाई सगिहमणुपत्तो ।

वरकमसुव्व पट्ठुं वि ह, अन्नत्थ सुवासण भविण ॥ २५ ॥

सम्म इसिभइपुत्तो, चिरकालं पालिकुण गिहिधम्मं ।

कयमासभत्तयाओ, जाओ सोहम्मसगसुरो ॥ २६ ॥

अरुणाभं पि विमाणे, चउपलियाई तदिं सुदं घुत्तुं ।

चविय विदेहे पवयण-कुसलो होउं सिधं गमिही ॥ २७ ॥

पवं निशम्य सम्मग्गं, भव्या ! ऋषिभद्रपुत्रसुचरित्रम् ।

भवत प्रवतापहारिपु, कुशलधियः प्रवचनार्थेपु ॥ २८ ॥

इति ऋषिजन्मपुत्रकथा । इत्युक्तः प्रवचनकुशलकस्य अर्थकुशल
इति द्वितीयो भेदः । ध० र० ।

अत्यक्क-अकाएरु-न० । प्राकृते-“गोणादयः ” ॥ ८।२। ७४ ॥

इति अत्यक्कादेशः । अनवसरे, प्रा० । दे० ना० ।

अत्यक्कजाया-अकाएरुयाञ्चा-स्त्री० । अकालप्रार्थनायाम्,
वृ० ३ व० ।

अत्यगवेसि (ण)-अर्थगवेपिन्-त्रि० । छव्यान्वेषणकृति,
भ० १५ श० १ उ० ।

अत्यग्गहण-अर्थग्रहण-न० । अर्थपरिज्ञाने, व्य० ७ उ० ।
अर्थनिश्चयकरणे,

अत्रार्थग्रहणद्वारं विवरीपुराह—

सुत्तम्मि य गहियम्मी, दिट्ठंतो गोण-साद्धिकरणेणं ।

उवभोगफलासाद्धी, सुत्तं पुण अत्यकरणफत्तं ॥ १ ॥

सूत्रे गृहीते सति अवश्यं तस्यार्थः श्रोतव्यः । किं कारणमिति
चेदुच्यते-दृष्टान्तोऽत्र गवा वत्तीवर्देन, शास्त्रिकेवरेण । तत्र गोदृष्टा-
न्तो यथा-कश्चिद्वलीवर्देः सकलमपि दिवसं बाहयित्वा हलादर-
कघट्टान्मुक्तः सन् सुन्दरामसुन्दरां वा चारियां प्राप्नोति, तां स-
वांमनास्वादयन् चरत्येव । पश्चाद् घातः सन् उपविश्य प्राक् चीर्ये

रोमन्धायते, रोमन्धायमानश्च तदास्वादमुपलभते । ततोऽसौ नी-
रसं कचवरं परित्यजति । एवमयमपि गृहवासारकघट्टाभृत्कः
प्रथमं यत्किमपि सूत्रं चारिकल्पं गुरुसकाशादधिगच्छति, तत्स-
र्वमर्थास्वादनविरहितं गृह्णाति, ततः सूत्रं गृहीते अर्थप्रदणं
करोति । यदि पुनरर्थं न गृह्णीयात् तदा तत्सूत्रं निरास्वादमेव
संजायते; अर्थं तु श्रुते सम्यक् तदर्थमवबुध्यमानः सन्नसौ यथा-
वद्वधारयत्युपदेशं, परिहरति विन्दुमात्रादिदिदोषदुष्टान् क-
चवरकल्पनाजिज्ञासामिति । शालिकरणदृष्टान्तः पुनरयम् । यथा-
कर्षकः शास्त्रीन् महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो लघनमग्नपच-
नादिप्रक्रियापुरस्सरं कोष्ठागारे प्रक्षिप्य यदि तैः शालिभिः खा-
द्यपयादीनामुपजोगं न करोति, ततः शालिसंग्रहः तस्याफलः सं-
पद्यते । अथासौ करोति तैः शालिभिर्मयथायोगमुपजोगं ततः शा-
लिसंग्रहः सफलो जायते । एवं द्वादशवार्तिके सूत्राच्ययने परि-
श्रमे कृतेऽपि यदि तदीयमर्थं न शृणुयात्तदा स सर्वोऽपि परि-
श्रमो निष्फल एव भवेत् । अर्थं तु श्रुते सम्यगवधारिते च सफलः
स्यात् । अत एवाह-उपभोगफलाः शालयः, सूत्रं पुनरर्थकरणफ-
लम् । चरणकरणादिरूपसूत्रार्थाचरणादिरूपस्तदर्थोचरणफलं,
तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थं भवति, नान्यथा ।

अतः-

जइ वारसवासाई, सुत्तं गहियं सुणाहि से अहुणो ।

वारस चेव समाओ, अत्यं तो नाहिसि नवा एं ॥२॥

यदि द्वादशवर्षाणि त्वया सूत्रं गृहीतम्, अतस्तस्य सूत्रार्थ-
मधुना द्वादशैव समा वर्षाणि शृणु । ततोऽर्थं शृण्वन् स्वज्ञा-
नाचारककर्मक्षयोपशमानुसारेण ज्ञास्यसि वा, न वा (णमि-
ति) तं विवक्षितमर्थम् (वृ०) किञ्च-संज्ञासूत्रादीन्यनेकवि-
धानि सन्ति । इत्थमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थश्रवणमन्त-
रेण न शक्यते कीदृशमिति विवेकं कर्तुम्, इति कर्तव्यमर्थ-
ग्रहणम् । अथ ते शिष्या ब्रूयुः-यः कण्ठतः सूत्रं निबद्धोऽ-
र्थस्तेनैव वयं तुष्टाः, किमस्माकं दुराधिगमत्वाद्बहुपरिक्षेपेन
“ मज्झण निसरणज्ज अक्खा ” इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थ-
ग्रहणप्रयासेनेति । एते इत्थं ब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः । कथ-
मित्याह-

जे सुत्तगुणा खलु ल-क्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाई य ।

अत्यगाहणमराद्धा, तेहिं चिय पस्सविज्जंति ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः ‘ निदोसं सारवं-
तं च ’ इत्यादिना कथिताः । यद्वा-(सुत्तमाई यत्ति) “ सुत्तं तु
सुत्तमेव उ ” इत्यादिना प्रतिपादिताः, तैरेव हेतुभिरर्थग्रहणे
मराला अन्नसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते । यथा-भो भद्राः ! निदोष-
सारवद्विषयत्वतोमुखादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथा-
विधि गुरुमुखादर्थं श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किञ्च-यथा-
द्वास्ततिकलापणितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चित्तासां क-
लानां जानीते । एवं सूत्रमप्यर्थेनाबाधितं सुममिव द्रष्टव्यम् ।
विचित्रार्थनिबद्धानि सांप्रसारणानि च सूत्राणि भवन्ति । अतो
गुरुसंप्रदायादेव यथावदवसीयन्ते न यतस्तत इत्थं युक्ति-
युक्तेर्वचोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते-गुरुणामुपदेशं
गृह्णन्ति द्वादशवर्षाणि विधिवदर्थम् । इति गतमर्थग्रहण-
द्वारम् ॥ वृ० १ उ० ।

अत्यजाय-अर्थजात-न० । द्रव्यप्रकारे, पञ्चा० १० विव० ।

अत्यजुत्ति-अर्थयुक्ति-स्त्री० । हेयतररूपार्थयोजनायाम्, दश०
५ अ० १ उ० ।

अत्यजोणि-अर्थयोनि-स्त्री० । अर्थस्य योनिरर्थयोनिः । रा-
जलक्ष्म्यादेरुपाये, “तिविहा अत्यजोणिं पञ्चत्ता । तं जहा-सा-
मे, दंडे, भण ” सामदण्डादीनामन्यत्र स्वरूपम् । स्था० ३
ठा० ३ उ० ।

अत्यण-अर्थन-न० । ज्ञानार्थं परस्याऽऽचार्यस्य पार्श्वेऽव-
स्थाय ज्ञानादिगुणार्जनं, उक्त० २६ अ० ।

अत्यणाय-अर्थनय-पुं० । अर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयः । स्था० ।
रत्ना० । मुख्यवृत्त्या जीवाद्यर्थसमाश्रयणात् । आ० म० द्वि० ।
यथाकथञ्चिच्छब्दा एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनयः ।
अनु० । यो हार्थमाश्रित्य वक्तृस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राख्यप्रत्य-
यः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः, अर्थवशेन तदुत्पत्तेः । अर्थप्रधा-
नतयाऽऽसौ व्यवस्थापयताति । सम्म० । अर्थमेव प्राधान्येन
शब्दोपसर्जनमिच्छति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अत्यप्पवरं सद्दो, सदाणं वत्तुमुज्जुमुत्तंता ॥

अनुसूत्रान्ताश्चत्वारो नया वस्तु ब्रूयते प्रतिपादयन्ति । कथ-
म्भूतम् ? इत्याह-अर्थप्रवरं शब्दोपसर्जनम् । अथवा अर्थप्रवरं-
प्रधानभूतो मुख्योऽर्थो यत्र तदर्थप्रवरम् । शब्द उपसर्जनमप्रधा-
नभूतो गौणो यत्र तच्छब्दोपसर्जनम् । शेषास्तु शब्दादयस्त्रयो
व्यत्ययमिच्छन्ति । विशेषः ।

अत्यणाय-अर्थज्ञान-पुं० । अभिधेयावबोधे, पञ्चा० १२
विव० ॥

अत्यणिऊर-अर्थनि(कुर) पूर-न० । चतुरशीतिलक्षैर्गुणि-
तेऽर्थनिपूराङ्गे, अनु० ।

अत्यणिऊरंग-अर्थनिपूराङ्ग(निकुराङ्ग)-न० । चतुरशी-
तिलक्षैर्गुणिते नालिने, अनु० । स्था० । जी० ।

अत्यणिजावणा-अर्थनिर्यापणा-स्त्री० । अर्थः सूत्राभिधेयं
वस्तु, तस्य निरिति भृशं, यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्ये-
न स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमतो निर्यापणा । वा-
चनासंपदभेदे, उक्त० १ अ० ।

अर्थस्य निर्यापणामाह-

निज्जवगो अत्यस्स य, जो उ विद्याणाइ अत्य सुत्तस्स ।

अत्येण वि निव्वहति, अत्थं पि कहेइ जं जणियं ॥

अर्थस्य निर्यापक इति यद्गणितं तस्यायमर्थः-यो नाम सूत्र-
स्यार्थं कथ्यमानं विजानाति । यदि वा-अर्थेन निर्वहति-अर्था-
वधारणबलेन सूत्रपाठे निर्वहमुपयाति, तस्यार्थमपि कथय-
ति, आस्तां सूत्रं ददातीत्यपिशब्दार्थः । व्य० १० उ० ।

अत्याणियय-अर्थनियत-त्रि० । अर्थनिबन्धने, सम्म० ॥

अत्यत्थिअ-अर्थार्थिन्-त्रि० । अर्थमर्थयते इति अर्थार्थी । द्र-
व्यप्रयोजने, भ० १५ श० १ उ० । औ० । ज्ञा० । जं० ।

अत्यदंरु-अर्थदण्ड-पुं० । शरीराद्यर्थदण्डे, प्रभ० ५ सम्म०
द्वा० ।

अत्यदायि (ण)-अर्थदायिन्-त्रि० । सूत्राभिधेयप्रदातरि,

“ काउ पणामं च आधदायिस्मि पञ्चदशमानमणस्य ”
नि० चू० १ उ० ।

अन्यधम्मन्तामाणवेत्त-अर्थधम्मन्तामाणानपेतत्वं-न० अ-
र्थधम्मन्तिवज्जतासं सत्यवचनात्तुये, आ० । रा० ।

अन्यधर-अर्थधर-पुं० । अर्थधरे हरि, स्थ० ४ रा० १ उ० ।

“ सुइतग अन्यधरा, अन्यधराओ इति तदुत्तरधरो ”
आ० म० प्र० ।

अन्यपज्जय-अर्थपर्याय-पुं० । अर्थतद्वत्प्रतिपादकेषु पर्या-
येषु, अर्थरूपेषु पर्यायेषु च विभेदः । अर्थपज्जयं पर्यायवगच्छ-
ति यः सोऽर्थपर्यायः । इदं तदुत्तरधरा, कति, सम्म० ।

अन्यपडिवात्ति-अर्थप्रतिपात्ति-रत्न० । अर्थवबोधे, “ नि-
यमासां नपते, सभाकसं सम्मि आधपमिवत्ती ” । विशेष० ।

अन्यपर-अर्थपर-न० । उत्पादय्ययद्वीध्ययुक्ते, सदित्यादिवद-
र्थप्रधाने पदे, विभे० ।

अन्यपिपामिय-अर्थपिपामित-त्रि० । पिपामेव पिपामा- प्रा-
तेऽप्यर्थेऽनुतिः । अर्थे अर्थस्य वा पिपामा संज्ञाता अस्येति
अर्थपिपामितः । तं० । अत्रार्थविषयसंज्ञातत्वे, म० १५
श० १ उ० ।

अन्यपुग्मि-अर्थपुरुष-पुं० । अर्थजनन्यापारपरे पुरुषभेदे, यथा-
मम्मणयणिकु । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अन्यपुहत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । “ अथा सुयस्स विसओ, तत्तो
तिन्नं सुयं पुहत्तं ति ” अर्थः किमुच्यते?, इत्याह-धृतस्य विषयो
विधेयः, तस्माच्चाध्यात्मविद् भिन्नत्वात्सुत्रे पृथगुच्यते । प्रा-
कृतन्यात्तदेव पृथक्त्वम् । सूत्रार्थलक्षणोभयस्य धृतज्ञाने अ-
र्थस्य पृथक्त्वम् । धृतज्ञाने तस्य अर्थपृथक्त्वमङ्गितत्वात् ।
“ अथाओ य पुहत्तं, जस्स तओ वा पुहत्तओ जस्स ” अर्था-
त्पृथक्त्वं क्वञ्चिद् भेदो यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । स चार्थः पृ-
थक्त्वतः पार्थक्येन भेदेन वर्तते यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । धृत-
ज्ञाने, “ ते वाटठण मिरसा, अन्यपुहत्तस्स तेहि कहियस्स ।
सुयणाणस्स भगवओ, णिण्णुति किञ्चिदस्सामि ” विशेष० ।
आ० म० ।

अन्यपुहत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । “ अन्यस्स व पिहभाओ, पुहत्त-
मथस्स विअरंते ति ” पृथु सामान्येन विस्तीर्णमुच्यते, तस्य
भावः पृथक्त्वम् । अर्थस्य पृथक्त्वमर्थपृथक्त्वम् । जीवाद्यर्थविस्त-
रान्तके धृतज्ञाने, धृतज्ञानमात्रे च । तस्यार्थपृथक्त्वमङ्गितत्वात् ।
“ जे वा अथेण पुह् अन्यपुहत्तं ति तभाओ ” अर्थेन पृथु
विस्तीर्णमर्थपृथु । तदभावात्पृथुतायाः-अर्थपृथक्त्वम् । ध-
र्मवर्तिणोर्भेदोपचारात् । धृतज्ञाने, “ अन्यपुहत्तस्स तेहि
कहियस्स ” । विशेष० ।

अन्यपोगिर्मा-अर्थपर्याय-रत्न० । अर्थप्रतिवचायां पौ-
रुष्याम, ध० ३ अधि० । “ अन्यपोगिर्मा गु करेति, मामलदु ”
नि० चू० १ उ० ।

अन्यपवर-अर्थपवर-त्रि० । अर्थः प्रवरो यत्र तदर्थप्रवरम् ।
सुखार्थं वस्तुनि, यस्य हि वस्तुनेऽर्थे एव प्रधानवृत्तः विशेष० ।

अन्यवदुल-अर्थवदुल-त्रि० । अर्थो बहुलो यस्मिन्तदर्थवदु-

लम् “ क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विज्ञाया क्वचिदन्यदे-
व विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुल्यं वदन्ति ” ॥१॥

“ अन्यवदुलं महत्त्वं, हेतुनिवाओवसगागंभीरं ” दश० १ अ० ।

अन्यभेय-अर्थजेद-पुं० । आगमपदार्थस्याऽन्यथापरिकल्पने,
जात० । “ आवन्तीके यावन्ती लोगम्मि विण्णमुसंति ” इ-
त्यत्र आचारसूत्रे यावन्तः केचन लोकेऽस्मिन् पाण्डित्यलोके वि-
पगमृशन्तीत्येवंविधार्थविधाने, अवन्तीजनपदे केषां रज्जुं
वातात् कूपे पतितं लोकाः स्पृशन्तीत्यन्यथयित्वाऽऽह । व्य०
१ उ० । ध० । दश० । ग० ।

अथेति दारं-

वज्जणमज्जिदमाणे, अवन्तिमादीण अत्यगुरुगो तु ।

जो असोऽणुएवार्हे, एणादिविगहणा णवरिं ॥१॥

वज्जणं सुत्तं, अणुहाकरणं जेदो, ण जिदमाणो अजिदमाणो,
प्रविणासंतो त्ते भणितं होति । तेषु चैव वज्जणसु अभिणुसु
असं अर्थं विकल्पयति । कहं?, जहा-(अवन्तिमादीणं ति) अवन्तिकं
यावन्ती लोगं, समणा य माहणा य (विण्णामुसंति स्ति) अवन्ती
णामं जणवओ, केयस्ति रज्जुवं ति णाम, पनिया कूवे लोयंसि
णाया । जहा-कूवे केषां पकिता, ततो धावन्ति समणा भिक्खुगाइ
माहणा विज्जाइया । ते समणमाहणा कूवे उयरिउं पाणियमज्जे
विविधं परामुसंति । आदिसदातो अणं पि सुत्तं एवं कप्पति ।
अणंति अणुहा अर्थं कल्पयति, एवं अर्थे अणुहा कणिय सो ही
अर्थे गुरुगो उ । अथस्म आणाणि वज्जणाणि करेत्तस्स मास-
गुह । अह अणं अर्थं करोति, तो चउगुग्गा । (जो असो स्ति) भणि-
तो अभणितो अणो सो य अणिहिट्टसरुवां, (अणु-
पाति स्ति) अनुपततीत्यनुपाती, घटमानो युज्यमान इत्यर्थः ।
न अनुपाती अनुपाती, अघटमान इत्यर्थः । तमघटमाणमर्थं
सुत्तं जोज्जयंतो (जाणादिविराहणं स्ति) णाणं आदी जेस्ति ता-
णिमाणि एणादीणि । आदिसदातो दंसणसरित्ताः ते य विगहं-
ति, विराहणा खंरुणा भंजणा य एमहा । (णवरिं ति) इह पर-
लोगगुणपावणवुदासर्थं णवरिसदो पवत्तो, विराहणाए केव-
लेत्यर्थः । अथेति दारं गयम् । नि० चू० १ उ० ।

अन्यजोगपरिवज्जिय-अर्थभोगपरिवज्जित-रत्न० । इत्येण
नोगैश्वर्यरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अन्यमंरली-अर्थमण्डली-रत्न० । द्वितीयायां पौरुष्याम्, आचा-
र्याः सूत्रार्थं प्रज्ञापयन्ति, शिष्याश्च शृण्वन्तीत्येवंरूपायामर्थपौ-
रुष्याम्, ध० ३ अधि० १० । (एतद्विधिः “ उवसेपया ” शब्दे
द्वितीयभागे ९.८४ पृष्ठे सप्रपञ्चं उच्यते)

अन्यमय-अन्यमय-न० । सृष्टादेर्दृश्यस्य सतोऽदृश्यीभवने,
म० २ श० १० उ० ।

अन्यमदृत्यखाणि-अर्थमदृतिग्वानि-पुं० । नायाऽजिधेया अर्थाः,
विज्ञाया-(वार्तिक) अभिधेया महार्थाः, तेषामर्थमहार्थानां खानि-
रिच अर्थमहार्थग्वानिः । भाषावार्तिकरूपानुयोगविधिवतिपटी-
यमि, “ अन्यमदृत्यखाणि सुसमणवक्खणकहणणिखाणि ” न० ।

अन्यमदुर-अर्थमयुर-त्रि० । परलोकागुणार्थे, “ वयणाइं
अन्यमदुरां ” पं० व० ४ द्वा० ।

अन्यमाण-आसीन-त्रि० । इमशानादावास्थीयमाने, “ तस्य से
अन्यमाणस्स, उवसगातिधारए ” उक्त० २ अ० ।

अत्यमित्र-अस्तमित-त्रि० । अत्यन्तास्तंगते, द्वा० ४ अ० ।

अत्यमित्रोदिय-अस्तमितोदित-त्रि० । अस्तमितश्चासौ हीन-कुत्रोत्पत्तिदुर्भगवद्गन्तवादिना, उदितश्च समृद्धिकीर्तिसुग-तिनाभादिनेति अस्तमितोदितः । प्रथमावस्थायां हीने पश्चात् मिर्क्षि प्राप्ते पुरुषजाते, स्था० । यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनंगारः । स हि जन्मान्तरोपपन्ननीचैर्गौत्रकर्मवशादवाप्तहरिकेशाभिधान-चाण्डवकुलतया, दुर्भगतया दरिद्रतया च पूर्वमस्तमितादित्य इवान्ययुद्धवत्त्वादस्तमिति, पश्चात्प्रतिपन्नप्रवृत्त्यो निष्कम्प-चरणगुणावर्जितदेवकृतसाक्षिधृतया प्राप्तसिद्धितया सुगति-गततया च उदित इति । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अत्यमियत्यमिय-अस्तमितास्तमित-पुं० । अस्तमितश्चासौ सूर्य इव दुष्कुलतया, दुष्कर्मकारितया च कीर्तिसमृद्धिवृत्तणेनो-चिवर्जितत्वात्, अस्तमितश्च दुर्गतगमनादित्यस्तमितास्तमितः । पौर्वापर्येण दुर्गते, स्था० । यथा कात्वाजिधानः सौकरिकः । स हि सृकरैश्चरति मृगयां करोतीति यथार्थः सौकरिक एव दुष्कुलो-त्पन्नः । प्रतिदिनं महिषपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमितः, पश्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अत्ययारिया-देशी-संख्यायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्यरय-आस्तरक-न० । आच्छादके, आ० म० प्र० । जी० रा० ।
अस्तरजस्-त्रि० । निर्मले, “ अत्यरयमिउमसूरगोत्थयं ”
आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुमसूरकेण वा, अथवाऽस्तरजसा निर्म-लन मृदुमसूरकेण अवस्तृतमाच्छादितं यत्तत्तथा । ज० ११
श० ११ उ० ।

अत्यवृक्ष-अर्थलुब्ध-त्रि० । अव्यवृत्तसे, भ० १५ श० १ उ० ।

अत्यवं-अर्थवत्-त्रि० । पञ्चविंशे मुहूर्ते, कल्प० ।

अत्यवति-अर्थपति-पुं० । धनपतौ, व्य० ७ उ० ।

अत्यवाय-अर्थवाद-पुं० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य नि-न्दार्थस्य वा वादः । वद्-करणे घञ् । प्रशंसनीयगुणवाचके, निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषे । भावे घञि तत्कथने, वाच० । अर्थवादस्तु द्विधा-स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्च । तत्र “पुरुष एवेदं सर्वम्” इत्यादिकस्तुत्यर्थवादः । तथा तत्र “स स-र्वावयस्यैषा महिमा तु दिव्ये ब्रह्मपुरं ह्येष व्योम्यात्मा सुप्रतिष्ठि-तस्तमक्करं वेदयतेऽथ यस्तु स सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वमेवाविवे-श” इति । तथा-“एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति” इत्यादिकश्च सर्वोऽपि स्तुत्यर्थवादः । “एकया पूर्णया” इत्यादि विधिवादोऽपि कस्मात् भवतीति चेत् । उच्यते । शेषस्याग्निहो-त्राद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । “एष वाव प्रथमो यज्ञो योऽ-ग्निष्टोमः योऽनेनाभिष्टाऽनेन यजते स गर्तमन्यतत” अत्र पशु-मेधादीनां प्रथमकरणं निन्धत इत्ययं निन्दार्थवादः । “ द्वादश मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भेषजम् ” इत्यादीनि तु वेदवाक्यान्वन्यनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवायस्यैतद्व्यनुवा-दादिति । विशेष० । आ० म० ।

अत्यविगण्णा-अर्थविकल्पना-स्त्री० । अर्थज्ञेदोपदर्शने, आ० म० द्वि० ।

अत्यविणय-अर्थविनय-पुं० । विनयशब्दे वक्ष्यमाणार्थके विनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अत्यविणिच्छय-अर्थविनिश्चय-पुं० । अपावृत्तके कल्याणावदे च अर्थाविनयभावे, “ पुच्छिज्जऽत्यविणिच्छयं ” । दश० ८ अ० ।

अत्यविण्णान-अर्थविज्ञान-न० । ६ त० । ऊढापोहयोगा-न्मोहसन्देहविपर्यासव्युदासने कानरूपे युद्धिगुणे, ध० १ अधि० ।

अत्यविहूण-अर्थविहीन-त्रि० । अर्गोत्तार्थे, व्य० ३ उ० ।

अत्यसंपयाण-अर्थसंप्रदान-न० । अर्थदाने, “ अत्यसंपयाणं दलयदति ” । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विपा० १ ध्रु० १ अ० ।

अत्यसत्थ-अर्थशास्त्र-न० । अर्थागमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् । आ० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनप्रस्थे कौटिल्यराजनीत्यादौ, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । न० । “ अत्यसत्थकोसल्लयमादी तदा उव-वन्ना ” आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० । (उदाहरणमस्य “ वेण-इया ” शब्दे वक्ष्यते)

अत्यमत्यकुमन्न-अर्थशास्त्रकुशज्ञ-त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रा-दिषु कुशले, जे ३ वक्र० ।

अत्यसार-अर्थसार-पुं० । द्रव्यतत्त्वे, आ० म० द्वि० ।

अत्यसिद्ध-अर्थसिद्ध-पुं० । अर्थो धनं स इतराऽसाधारणो यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवणिग्वत् सिद्धजेदे, ध० २ अधि० । “ पञ्चरथो अत्यपरो-व मम्मणो अत्यसिद्धो च ” प्रचुरार्थः प्रज्ञार्थः, अर्थपरोऽर्थनिष्ठः, अर्थसिद्धोऽतिशययोगान्मम्मणव-णिवादिति गाथादलार्थः । आ० म० द्वि० । भावार्थस्तु कथा-नकाद्वसेयः (स च ‘ मम्मण ’ शब्दे वक्ष्यते) लोकोत्तररीत्या दशमे अर्थसिद्धे, ज० ७ वक्र० । परस्वते जविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, ति० ।

अत्यसुण-अर्थसूय-न० । स्थितादिकेऽर्थहीने पदे, स्था० १ ग० १ उ० ।

अत्या-आस्था-स्त्री० । स्वपक्षानामर्हत्कृते तीर्थे बहुमानत्वे, जीवा० १ अधि० ।

अत्याण-अस्थान-न० । अविषये, द्वा० १४ द्वा० ।

अत्यादा (या) ण-अर्थादान-न० । द्रव्योपादानकरणे अष्टाङ्ग-निमित्ते, स्था० ३ ग० ४ उ० । (अस्मिन्नेव भागे २६८ पृष्ठे ‘ अणव-दृष्ट्य ’ शब्दे व्याख्यातमेतत्)

अत्याम-अस्थामन्-त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकले, ज० ७ श० ए व० । शारीरिकबलविकले, ज्ञा० १ अ० । विपा० ।

अत्यारिय-अस्तारिक-पुं० । मूल्यप्रदानेन शालिलवनाय केचन क्रियमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अत्यारो-देशी-साहाय्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्यालंभण-अर्थालम्बन-न०-पुं० । अर्थो वाक्यस्य भावा-र्थः । आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् । अर्थश्च आलम्बनं चार्थालम्बने । अर्थे, आलम्बने च । अर्थाल-म्बनयोश्चैत्यवन्दनादौ विनावनम् । अष्ट० २७ अष्ट० ।

अत्यालिय-अर्थालीक-न० । अव्यर्थमसत्स्य, प्रश्न० २ आ-थ० द्वा० ।

अत्यालोपण-अर्धालोचन-न० । अर्थस्य सामान्येन ग्रहणे,
सा० सू० १ अ० ।

अत्यावगाह-अर्धावगाह-पुं० । अवप्रदणमवग्रहः, अर्थस्यावग्रहो-
ऽर्थावग्रहः । अनिर्देशसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणे, साह च न-
न्यव्यवचनवर्णितम्-“सामप्रकृषाद्विस्तसणरदियस्स अवगाह
त्ति” । प्रज्ञ० ५ पद । भाषा० ।

अत्यावृत्ति-अर्थापत्ति-स्त्री० । अर्थस्य अनुक्तार्थस्य, आपत्तिः सि-
द्धिः । वाच० । “प्रमाणपट्टविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं
कल्पयेदन्वयं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता” ॥ १ ॥ इत्युक्तकृष्णे प्रमाणभेदे,
रक्षा० २ परि० सूत्रादृष्टः भूतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इति अदृष्टा-
र्थकल्पने, सम्म० । तं प्रमाणवत्तुक्त्वादिनाऽनुमानेऽन्तर्भावयन्ति, त-
स्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि-दृष्टः भूतो वाऽर्थोऽ-
न्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः । न चासावर्थोऽन्यथाऽ-
नुपपद्यमानत्वावगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम् । अन्यथा स
येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना
नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्; अतवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेना-
र्थापत्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सन्त्यदृष्टार्थप-
रिकल्पकत्वासंभवात् । संभवे वा द्विकस्याप्यनिश्चितनियमस्य
परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्युत्थापकादर्थ-
द्विधेत । स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः, तस्यार्थस्य न भूयो-
दर्शननिमित्तः सपक्षे । अन्यथा लोद्वेस्यं वज्रं, पार्थिवत्वात्,
काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपल-
म्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमे-
व निषिद्धत्वात्; किं तु विपर्यये तद्वाधकप्रमाणनिमित्तः ।
तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थ-
स्य तत्र प्रवृत्तिमदप्युपगन्तव्यम् । अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्याऽ-
न्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽप्युपगम्यमाने यावत्तस्याऽन्यथा-
ऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदार्थापत्तिप्रवृत्तिः; यावच्च
न तत्रवृत्तिः, न तावदार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्याऽन्यथानुपप-
द्यमानत्वावगम इतीतरेतराभ्यन्त्यामार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्-

“अविनाभाविता चात्र, तद्वैव परिगृह्यते ।

न प्रागवगतेत्येव, सन्त्येव न कारणम् ॥ १ ॥

तेन संबन्धवजायां, संबन्धन्यनरो ध्रुवम् ।

अर्थापत्त्यैव मन्व्यः, पश्चादस्यनुमानता” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तन्निरस्तम् । एवमन्युपगमे अर्थापत्तेरनुद्धानस्य प्रतिपा-
दितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं
दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः?, आहोस्वित्स्यसाध्यधर्मि-
प्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः?, इति । तत्र यथायः पक्षः । तदाऽत्रापि
वक्तव्यम् । किं तद् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मि-
प्यपि साध्यमन्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहो-
स्विद् दृष्टान्तधर्मिण्येव । तत्र यथायः पक्षः; तदाऽर्थापत्युत्था-
पकस्यार्थस्य, द्विकस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न
कश्चिद्विरोधः । अथ द्वितीयः । स न युक्तः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि
निश्चितस्वसाध्यमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वाऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि
तथा नयति । न च तथात्वेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसा-
ध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ द्विकस्य दृष्टा-
न्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणमवगाहः सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतव्य-
निश्चयः । अर्थापत्युत्थापकस्य त्वयस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्ता-

प्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थाऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इ-
ति द्विकार्थापत्युत्थापकयोर्भेदः । नास्माद्भेदादार्थापत्तेरनुमानं
भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्यया-
हेतुव्यावर्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनिय-
तत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकं, स-
त्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभा-
वात्कथं तत्र प्रवृत्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियत-
त्वमवगमयेत् सत्त्वस्य? न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च
प्रवृत्तमानेन प्रमाणनार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्य द्विकस्य च यथा-
क्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्यनुमानयोर्भेदोऽ-
न्युपगन्तुं युक्तः । अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमा-
नात्तद्वहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणव-
त्कवादो विधीयते । नियमवतो द्विकत्परोक्षार्थप्रतिपत्तेरवि-
शेषात् ततस्तद्विधमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूतादार्थापत्ति-
प्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादार्थापत्तेः कथं नाभेदः? सम्म० ।

अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्-दृष्टः भूतो
वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनम् ।

कुमारिहोऽप्येतदेव ज्ञाप्यवचनं विभज्जनाह-

“प्रमाणपट्टविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ;

अदृष्टं कल्पयत्यन्वयं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥

दृष्टा पञ्चजिरप्यस्माद्, भेदेनोक्ता भूतोद्भवा ।

प्रमाणप्रादिर्णित्वेन, यस्मात्पूर्वविलक्षणा” ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिभिः पक्षैः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना
नोत्पद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । ययाऽन्नेर्दाहकत्वम्,
तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः । यथाग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपल-
भ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिरप्यङ्गपरि-
च्छेद्या, नाप्यनुमानादिसमग्रिगम्या; प्रत्यक्षेणार्थेन शक्तिरङ्गत्वेन
कस्यचिदर्थस्य संबन्धसिद्धेः । अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्य-
थाऽऽदित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमानम् । ततो
गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्याऽवसीयते । उपमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्य-
था-गवयवद् गौरित्युक्तेरर्थाद्दाहदोहादिशक्तियोगस्तस्याः प्रती-
यते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा-श-
ब्दादर्थप्रतीतेः शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धावर्थनित्यत्व-
सिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धयोगात् । अभावपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथा-जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादार्थादबहिर्भावः ।
अत्र चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते । पञ्चम्यां नि-
त्यता । षष्ठ्यां गृहाद् बहिर्युतो देवदत्त एव साध्यते । इत्येषं
पट्टप्रकारोऽर्थापत्तिः । अन्ये तु-भुतार्थापत्तिमन्यथादाहरन्ति-
‘पीनो देवदत्तो दिवा न जुह्वे’ इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभो-
जनवाक्यप्रतिपत्तिः भुतार्थापत्तिः । गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञा-
नप्राप्त्याशक्तिरुपमानपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्-

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानात्, तदा दहनशक्तिता ।

वद्वेरनुमिता सूर्ये, यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥

पीनो दिवा न जुह्वे इत्येवं प्रतिवचः भूतो ।

रात्रिनोजनविज्ञानं, भुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥

गवयोपमिताया गो-स्तज्ज्ञानप्राप्त्यशक्तिता ।

अभिधानप्रसिद्धार्थ-मर्थापत्त्याऽवबोधितात् ॥ ३ ॥

साम्प्रतमस्तिकायद्वारमाह -

एणमि एं भंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगास-
त्थिकाय जीवत्थिकाय पोग्गलत्थिकाय अस्साममया एं दव्व-
ट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसा-
हिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-
त्थिकाए, एए निस्सि वि तुह्वा दव्वट्टयाए मव्वत्थोवा, जीव-
त्थिकाए दव्वट्टयाए अणंतगुणे, पोग्गलत्थिकाए दव्वट्टयाए
अणंतगुणे, अस्साममए दव्वट्टयाए अणंतगुणे ॥

(एणसि एं जंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मा-
स्तिकाय आकाशास्तिकायः । एते त्रयोऽपि छव्यार्थतया छव्यमे-
वाधौ छव्यार्थस्तस्य भावो छव्यार्थता, तथा छव्यरूपतया इत्य-
र्थः । तुल्याः समानाः, प्रत्येकमेकसङ्ख्याकत्वात् । अत एव सर्वे
स्तोकाः, तेभ्यो जीवास्तिकायोऽव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । जीवानां
प्रत्येकं नद्रव्यत्वात्, तेषां च जीवास्तिकायेऽनन्तत्वात् । तस्मादपि
पुञ्जलास्तिकायोऽव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । कथम् ? इति चेत् ।
उच्यते-इह परमाणुद्विप्रदेशकादीनि पृथक् २ द्रव्याणि, तानि
च सामान्यतस्त्रिधा । नद्यथा-प्रयोगपरिणतानि, मिश्रपरिणता-
नि, विश्रसापरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्जीव-
न्त्योऽनन्तगुणानि, एकैकस्य जीवस्यानन्तैः प्रत्येकं ज्ञानावरणी-
यादिकर्मसु पुञ्जस्कन्धैरावेष्टितत्वात् । किं पुनः शेषाणि ? ततः
प्रयोगपरिणतेभ्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि । तेभ्योऽपि विश्र-
सापरिणतान्यनन्तगुणानि । तथा चोक्तं प्रकृतौ-“ सव्वत्थोवा
पुग्गशा पओगपरिणया मीसपरिणया अनन्तगुणा, वीससापरि-
णया अनन्तगुणा ” इति । ततो ज्वनि जीवास्तिकायात् पुञ्जलास्ति-
कायोऽव्यार्थतया अनन्तगुणः । तस्मादप्यद्वासमयो द्रव्यार्थ-
तया अनन्तगुणः । कथम् ? इति चेत् । उच्यते-इहैकस्यैव परमा-
णोरनागते काले तत्तद्विप्रदेशकविप्रदेशकयावद्विशप्रदेशकसंख्या-
तप्रदेशकाऽसंख्यातप्रदेशकाऽनन्तप्रदेशकस्कन्धान्तःपरिणामित-
या अनन्ता भाविनः संयोगाः पृथक् पृथक् कालाः केचनदेशोप-
लब्धाः । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां प्रत्येकं द्विप्रदेश-
कादिस्कन्धानां च अनन्ताः संयोगाः पुरस्कृताः पृथक् पृथक्
काला उपलब्धाः । सर्वेषामपि मनुष्यकेशान्तर्धर्तितया परिणा-
मसंभवात् । तथा केषोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदेशे
अमुष्मिन् काष्ठे अवगाहिष्यते, इत्येवमनन्ता एकस्य परमाणो-
र्जाविनः संयोगा यथैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां,
तथा द्विप्रदेशकादीनामपि स्कन्धानामगन्तप्रदेशस्कन्धपर्यन्तानां
प्रत्येकं तत्तद्विप्रदेशाद्यवगाहभेदतोभिन्नभिन्नकाशा अनन्ता भा-
विनः संयोगाः । तथा कालतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदे-
शे एकसमयस्थितिकः, इत्येवमेकस्यापि परमाणोरेकस्मिन् आका-
शप्रदेशेऽसंख्यया भाविनः संयोगाः । एवं सर्वेष्वप्याका-
शप्रदेशेषु प्रत्येकमसंख्यया भाविनः संयोगाः । ततो भूयो
भूयस्तथाऽऽकाशप्रदेशेषु पगवृत्तौ कालस्यानन्तत्वादनन्ताः
कालतो भाविनः संयोगाः । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां
परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां, तथा
भावतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् काष्ठे एकगुणकाष्ठको भवती-
त्येवमेकस्यापि परमाणोर्भिन्नभिन्नकालाः अनन्ताः संयोगाः ।
यथा चैकस्य परमाणोस्तथा परमाणूनां च सर्वेषां च द्विप्रदे-
शकादीनां स्कन्धानां पृथक् पृथक् अनन्ता भाविनः पुरस्कृताः

संयोगाः । तदेवमेकस्यापि परमाणोर्द्व्यैकत्रकालभावविशेष-
संबन्धवशादनन्ता जाविनः समया उपलब्धाः, यथैकस्य
परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्वि-
प्रदेशकानां स्कन्धानाम् । न चैतत्परिणामकावस्तुव्यतिरेक-
परिणामिपुञ्जलास्तिकायादिव्यतिरेके चोपपद्यते । ततः सर्वमिदं
च तात्त्विकमवसेयम् । उक्तं च-“ संयोगपुरक्खारञ्च, नाम
भाविनि हि युज्यते काले । न हि संयोगपुरक्खारो, हासतां केषां
चिदुपपन्नः ” ॥१॥ इति यथा च सर्वेषां परमाणूनां च द्विप्रदेशका-
दीनां स्कन्धानां प्रत्येकं छव्यैकत्रकालभावविशेषसंबन्धवशादन-
न्ता जाविनोऽस्मासमयाः, तथा अतीता अपीति, सिद्धः पुञ्जलास्ति-
कायादनन्तगुणोऽस्मासमयो छव्यार्थतयेति । उक्तं छव्यार्थतया
परस्परमद्वयवहुत्वमिति ।

इदानीमेतेषामेव प्रदशार्थतया तदाह-

एणसि एं भंते ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-
त्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अस्साममया एं पदे-
सट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा
विसेसाहिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थि-
याए, एणमि एं दो वि तुह्वा पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा,
जीवत्थिकाए पदेसट्टयाए अणंतगुणा, पोग्गलत्थिकाए प-
देसट्टयाए अणंतगुणा, अस्साममए पदेसट्टयाए अणंतगुणा,
आगासत्थिकाए पदेसट्टयाए अणंतगुणा ।

(एणसि एं भंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽध-
र्मास्तिकायः, एतौ द्वावपि परस्परं प्रदशार्थतया तुल्यौ, उभयो-
रपि लोकाकाशप्रदेशत्वात् । शेषास्तिकायाऽवकासमयोपेक्षया
च सर्वस्तोको । ततो जीवास्तिकायः प्रदशार्थतया अनन्तगुणः,
जीवास्तिकाये जीवानामनन्तत्वात् । एकैकस्य च जीवस्य दो-
काकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशत्वात् । तस्मादपि पुञ्जलास्तिकायः
प्रदशार्थतया अनन्तगुणः । कथमिति ? उच्यते-इह कर्मस्कन्ध-
प्रदेशा अपि तावत्सर्वजीवप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः, एकैकस्य च जी-
वप्रदेशस्यानन्तान्तैः कर्मपरमाणुभिरावेष्टितपरिवेष्टितत्वात् ।
किं पुनः सकलपुञ्जलास्तिकायप्रदेशस्ततो भवति ? जीवास्ति-
कायात्पुञ्जलास्तिकायः प्रदशार्थतया अनन्तगुणः, तस्मादप्यद्वास-
मयः प्रदशार्थतया अनन्तगुणः, एकैकस्य पुञ्जलास्तिकायप्रदेशस्य
प्रागुक्तक्रमेण तत्तद्व्यैकत्रकालभावविशेषसंबन्धजायतोऽन-
न्तानामतीतास्मासमयानामनन्तानामनागतसमयानां भावात् ।
तस्मादाकाशास्तिकायप्रदशार्थतया अनन्तगुणः, अत्रोकस्य
सर्वतोऽप्यनन्तताभावात् । गतं प्रदशार्थतयाऽप्यद्वयवहुत्वम् ।

इदानीं प्रत्येकं छव्यार्थप्रदशार्थतयाऽल्यवहुत्वमाह-

एणमि एं जंते ! धम्मत्थिकायस्स दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए
कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहि-
या वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा एगे धम्मत्थिकाए दव्वट्टयाए,
सो चैव पदेसट्टयाए असंखिज्जगुणा । एणसि एं भंते ! अध-
म्मत्थिकायस्स दव्वट्टयपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा
वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे
एगे अधम्मत्थिकाए दव्वट्टयाए, सो चैव पदेसट्टयाए असं-
खिज्जगुणे । एतस्स एं जंते ! आगासत्थिकायस्स दव्वट्टपदे-

सदृयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे एगे आगासत्थिकाए दव्वट्टयाए, सो चेव पदेसट्टयाए अणंतगुणा । एतस्म एं जंते ! जीवत्थिकायस्स दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे जीवत्थिकाए दव्वट्टयाए, सो चेव पदेसट्टयाए असंखिज्जगुणा । एतस्स एं जंते ! पोम्मलत्थिकायस्स दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पोम्मलत्थिकाए दव्वट्टयाए, सो चेव पदेसट्टयाए असंखिज्जगुणा, अस्समए ण पुच्छिज्जइ, पदेसाजावा ।

सर्वस्तोको धर्मास्तिकायो द्रव्यार्थतया, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, श्लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशात्मकत्वात् । एवमधर्मास्तिकायसूत्रमपि भावनीयम् । आकाशास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोकः, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अपरिमितत्वात् । जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोकः, प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवं श्लोकाकाशप्रदेशभावात् । तथा-सर्वस्तोकः पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतया, द्रव्याणां सर्वज्ञापि स्तोकात्वात् । स एव पुद्गलास्तिकायस्तद्द्रव्यापेक्षया प्रदेशार्थतया चिन्त्यमानोऽसंख्येयगुणः । ननु बहवः खलु जगत्सन्तु प्रदेशका अपि स्कन्धा विद्यन्ते, ततोऽनन्तगुणाः कस्मान्न भवन्ति ? तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि स्वल्पा अनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ; परमाणवादयस्त्वतिबहवः । तथा वदयति सूत्रम्-“सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा दव्वट्टयाए, परमाणुपोम्मला दव्वट्टयाए अनन्तगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसियाए खन्धा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा” इति । ततो यदा सर्वे एव पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया चिन्त्यन्ते तदा अनन्तप्रदेशकानां स्कन्धानामतिस्तोकात्वात्परमाणूनां चातिबहुत्वात्तेषां च पृथक् १ द्रव्यत्वात् असंख्येयप्रदेशकानां च स्कन्धानां परमाण्वपेक्षया असंख्येयगुणत्वादसंख्येयगुण एवोपपद्यते, नानन्तगुणः । (अस्समए ण पुच्छिज्जइत्ति) अस्समयो द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया न पृच्छ्यते । कुतः ? , इत्याह-प्रदेशाभावात् । आह-कोऽयमस्समयानां द्रव्यार्थतानियमः, यावता प्रदेशार्थताऽपि तेषां विद्यते एव ? तथाहि-यथा अनन्तानां परमाणूनां समुदायस्कन्धो भण्यते, स च द्रव्यं, तदवयवाश्च प्रदेशाः तथेहापि सकलः कालो द्रव्यम्, तदवयवाश्च समयः प्रदेशा इति । तदयुक्तम् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकैरप्यस्यात्, परमाणूनां समुदायः तदा स्कन्धो भवति, यदा ते परस्परसापेक्षतया परिणमन्ते, परस्परनिरपेक्षाणां केवलपरमाणूनामिव स्कन्धत्वायोगात् । अस्समयास्सु परस्परं निरपेक्षा एव, वर्तमानसमयज्ञावे पूर्वापरसमययोरज्ञावात् । ततो न स्कन्धत्वपरिणामः । तदभावाच्च नास्समयाः प्रदेशाः, किं तु पृथक् द्रव्याण्येवेति ।

सम्प्रत्यमीषां धर्मास्तिकायादीनां सर्वेषां युगपद् द्रव्यार्थप्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगासत्थिकाय जीवत्थिकाय पोम्मलत्थिकाय अस्समया एं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुप्पा वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए

आगासत्थिकाए य, एए णं तिन्नि वि तुप्पा, दव्वट्टयाए सव्वत्थोवा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए य, एए एं दोष्णि वि तुप्पा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, जीवत्थिकाए दव्वट्टयाए अणंतगुणे, सो चेव पदेसट्टयाए असंखिज्जगुणे, पोम्मलत्थिकाए दव्वट्टयाए अणंतगुणे, सो चेव पएसट्टयाए असंखेज्जगुणे, अस्समए दव्वट्टपदेसट्टयाए अणंतगुणे, आगासत्थिकाए पदेसट्टयाए अणंतगुणा ॥

(एएसि णं जंते ! इत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः, एते त्रयोऽपि द्रव्यार्थतया तुल्याः, सर्वस्तोकाश्च प्रत्येकमेकसंख्याकत्वात् ३ । तेष्वो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः, एतौ द्वावपि प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणौ, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यौ ५ । ताभ्यां जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, अनन्तानां जीवद्रव्याणां भावात् ६ । स एव जीवास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवमसंख्येयानां प्रदेशानां ज्ञावात् ७ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया जीवास्तिकायात्पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, प्रतिजीवप्रदेशं ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलस्कन्धानामप्यनन्तानां भावात् ८ । स एव पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, अत्र भावना प्रागिव ६ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया पुद्गलास्तिकायात् अस्समयो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, अत्रापि भाषना प्रागिव १० । तस्मादप्याकाशास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, सर्वास्वपि दिक्षु विद्विष्यु तस्यान्तर्भावात्, अस्समयस्य च मनुष्यक्षेत्रमात्रभावात् ११ । गतमस्तिकायम् । प्रज्ञा ३ पद । “ चउहिं अत्थिकाएहिं श्लोगे फुन्ने पन्नत्ते । तं अहा-धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएणं पोम्मलत्थिकाएणं ” स्या ४ ग ३ उ ० ।

अथवा-

कइ णं भंते ! अत्थिकाया पाएत्ता ? । गोयमा ! पंच अत्थिकाया पस्सत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोम्मलत्थिकाए ।

धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः । तथाहि-धर्मास्तिकायादिपदस्य माङ्गलिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः, तदनन्तरं च तद्विपक्षत्वादधर्मास्तिकायः । ततश्च तदाधारत्वादाकाशास्तिकायः । ततोऽनन्तत्वाऽमूर्तत्वसाधर्म्याज्जीवास्तिकायः, ततस्तदुपपद्यमानत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ॥ भ० २ श० १० उ० । तेषामस्तित्वम् । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्धर्मास्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथाऽनुपपत्तेर्धर्मास्तिकायस्य सत्यं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्तव्यं तद्विस्थितिं च अविष्यतः, धर्माधर्मास्तिकाये च न अविष्यत इति । प्रतिक्रियाज्ञावाद्भेदान्तिकतेति । तावन्तरेणापि तद्भणनेऽलोकैऽपि तत्प्रसङ्गात् । यदि त्वलोकैऽपि तद्गतित्स्थिति रथात्तां, तदाऽलोकस्यानन्तत्वाद्दोषाक्षिप्त्य जीवपुद्गलानां तत्र प्रवेशादिकट्टियमिदं । अपुद्गल्युक्तः सर्वथा तत्कृत्यो वा कदाचिद्दोषः स्यात्, नैतद् दृष्टमिदं चेत्साधन्यदपि दूषणजायमप्यस्ति, नोच्यते ग्रन्थिस्तरभयदिति । आकाशं तु जीवादिपदार्थानामाधारः, अन्यथाऽनुपपत्तेरस्तीति श्रेयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायावेव तदाधारौ ज्ञाप्यत इति वक्तव्यम् । तयोस्तद्विस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात् । न अन्यसाध्यं कार्यमन्यः प्रसाधयति, अप्रसङ्गात् । इति श्रुति-

ज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणित्वसंवेदनसिद्धत्वात् क्लृप्तस्यास्तित्वमव-
गन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणस्वत्ता युक्ता, अतिप्रसङ्गात् ।
न च देश एवास्य गुणी युज्यते, यतो ज्ञानममूर्तं चिद्रूपं सदैव, इ-
न्द्रियगोचरातीतत्वादिधर्मापेक्षितम्, अतः तस्यानुरूप एव कश्चिद्
गुणी समन्वेयणीयः । स च जीव एव, न तु देहः, विपरीतत्वात् ।
अदि पुनरनुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यते, तर्ह्यनवस्था । रूपादि-
गुणानामप्याकाशादेर्गुणित्वकल्पनाप्रसङ्गादिति । पुरुषास्तिका-
यस्य तु घटादिकार्यान्वयाऽनुपपत्तेः, प्रत्यक्षत्वाच्च सत्त्वं प्रती-
तमेवेति । अनु० ।

अस्तिकायानामस्तिकायत्वम्—

एगे जंते ! धम्मत्थिकायपदेसे धम्मत्थिकाए त्ति वत्त-
त्वं सिया ? । गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे, एवं दोन्नि वि तिन्नि
वि चत्तारि पंच उ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा
जंते ! धम्मत्थिकायपदेसा धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सि-
या ? । गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे, एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सिया ? । णो इण्ठे समट्ठे,
से केण्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो
धम्मत्थिकाये त्ति वत्तत्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सिया । से णूणं
गोयमा ! खंमे चक्के मगले चक्के ? । जगवं ! नो खंमे चक्के स-
गले चक्के । एवं उत्ते धम्मे दंमे दूसे आउहे मोयए । से
तेण्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायपदेसे णो
धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सिया० जाव एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सिया । से किं
खाइए णं जंते ! धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सिया । गोयमा !
असंखेज्जा धम्मत्थिकायपपेसा, ते सव्वे कसिणा पडि-
पुष्ठा निरवसेमा एक्कगहणगहिया । एस णं गोयमा !
धम्मत्थिकाए त्ति वत्तत्वं सिया । एवं अहम्मत्थिकाए वि ।
आगामत्थिकायजीवत्थिकायपोगलत्थिकाए वि एवं चेव,
नवरं तिण्हं पि पएसा अणंता जाणियव्वा, सेसं तं चेव ।

(खंडे चक्के इत्यादि) यथा खण्डं चक्रं चक्रं न भवति, खण्ड-
चक्रमित्येवं तस्य व्यपदिश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चक्रं
चक्रं प्रवर्तते । एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशानाप्यूनो न धर्मास्तिकाय
इति वक्तव्यः स्यात् । एतच्च निश्चयनयदर्शनम् । व्यवहारनयम-
ते तु एकदेशो नो नमपि घस्तु घस्त्वेष । यथा खण्डोऽपि घटो घट
एव, द्विप्रकर्मोऽपि ध्वा ध्वेष । भणति च—“एकदेशविकृतमन-
व्यवदिति” । (से किं खाइए त्ति) अथ किं पुनरित्यर्थः । (सव्वे
त्ति) समस्तास्ते च देशापेक्षयाऽपि प्रवर्तन्ति, प्रकारकात्स्न्येऽपि
सर्वशब्दप्रवृत्तेः । इत्यत आह—(कसिण त्ति) कृच्छ्रा न तु
तदेकदेशापेक्षया सव्वे इत्यर्थः । ते च स्वस्वजावरहिता अपि भव-
न्नीन्यत आह—प्रतिपूर्णा आत्मस्वरूपेणाविकल्पाः, ते च प्रदेशा-
न्तरापेक्षया स्वस्वजावन्युना अपि तथोच्यन्ते इत्याह—(निरव-
सेसा त्ति) प्रदेशान्तरतोऽपि स्वस्वभावेनान्युना । तथा—(पगगह-
णगहिया त्ति) एकप्रवर्णनैकशब्देन धर्मास्तिकाय इत्येवं लक्ष-
णेन गृहीता ये ते तथा, एकशब्दान्निधेया इत्यर्थः । एकार्थाधे-

ते शब्दाः । (पएसा अणंता भाणियव्व त्ति) धर्माधर्मयोर-
संखेयाः प्रदेशा उक्ताः । आकाशादीनां पुनः प्रदेशा अनन्ता वा-
च्याः अनन्तप्रदेशकत्वात्त्रयाणामपीति । उपयोगगुणो जीवा-
स्तिकायः प्रादुर्भातः । प्र० २ श० १० उ० ।

प्रदेशनिवृत्तनम्—

एयंसि एं भंते ! धम्मत्थिकायअहम्मत्थिकायआगा-
सत्थिकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा मुइत्तए वा चि-
ट्ठित्तए वा णिसीयत्तए वा, तुयट्ठित्तए वा ? । णो इण्ठे समट्ठे,
अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा । से केण्ठेणं भंते ! एवं
वुच्चइ—एयंसि एं धम्मत्थि० जाव आगामत्थिकायंसि नां च-
क्किया केइ आसइत्तए वा० जाव ओगाढा । गोयमा ! से जहा
णामए कूरागारसाला मिया दुहआं द्वित्ता गुत्ता गुत्तदुवाग
जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव दुवारवयाणाइं पिहंति । दुवार०
तीमे य कूरागारसालाए बहुमज्जदेसजाए जह्मणेणं एक्को
वा दो वा तिमि वा । उक्कोमेणं पदीवसहस्सं पल्लीवेज्जा,
से णूणं गोयमा ! ताओ पदीवलेस्साओ अल्लमल्लमं व-
प्पाओ अल्लमल्लपुट्ठाओ० जाव अल्लमल्लधरुत्ताए चिट्ठंति,
हंता चक्किया एं गोयमा ! केइ तासु पदीवलेस्सासु आसइ
त्तए वा० जाव तुयट्ठित्तए वा । जगवं ! णो इण्ठे समट्ठे ।
अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा । से तेण्ठेणं गोयमा !
एवं वुच्चइ० जाव ओगाढा ॥

एतस्मिन् नामिति वाक्यालङ्कारे (चक्किय त्ति) शङ्कनुयात् ।
कश्चित्पुरुषः । प्र० १३ श० ४ उ० ।

प्रमाणम्—

धम्मत्थिकाए णं जंते ! केमहालए पणत्ते ? । गोयमा !
लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता
णं चिट्ठइ । एवं अहम्मत्थिकाए लोयाकासे जीवत्थिकाए
पोगगलत्थिकाएक्काजिह्वावा ॥

(केमहालए त्ति) सुप्तजावप्रत्ययः शब्ददेशस्य, किं महत्त्वं
यस्यासौ किमदत्तः । (लोए त्ति) लोको लोकप्रमितत्वात्,
लोकव्यपदेशाद्वा, उच्यते च—“पंचत्थिकायमइयं लोयमित्यादि”
लोके चासौ वर्तते । इदं चाप्रहितमप्युक्तम्, शिष्यहितत्वादा-
चार्यस्येति । लोकमात्रो लोकपरिमाणः, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि
व्यवहारतः स्यादित्यत आह—(लोयप्पमाणे त्ति) लोकप्रमाणो
लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्तत्प्रदेशानाम् । स चान्योन्यानुबन्धेन स्थित
इत्येतदेवाह—(लोयफुडे त्ति) लोकेन लोकाकाशेन सकलस्व-
प्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः
स्पृष्टा तिष्ठतीति पुनरास्तिकायो लोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठतीत्यनन्तरमु-
क्तमिति । प्र० २ श० १० उ० ।

अणंगन्धरसादिः—

धम्मत्थिकाए णं कति वप्पे, कति गंधे, कति रसे, कति
फासे ? । गोयमा ! अवन्ने अगंधे अरसे अफासे अरूवी
अजीवे सामए अवट्ठिए लोणदव्वे, ते समासओ पंचविह
पणत्ते । तं जहा—दव्वओ खत्तओ कालओ भावओ गु-

णञो । दव्वञो णं धम्मत्थिकाए एगे दव्वे, खेत्तञो दोग-
प्पमाणमेत्ते, कालञो न कयाइ न आमि न कयाइ न-
त्थि जाव निच्चे, भावञो अव्वे अंगधे अग्गे अफासे,
गुणञो गमणगुणे । अधम्मत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं गु-
णञो ठाणगुणे । आगामत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं खे-
त्तञो णं आगामत्थिकाए लोयादोयप्पमाणमेत्ते अणंते
चेव जाव गुणञो अवगाहगुणे । जीवत्थिकाए णं भंते !
कइ वप्पे, कइ गंधे, कइ रमे, कइ फामे ? गोयमा ! अव्वे
जाव अरूवी जीवे सासए अव्विहिए लोणदव्वे, मे समासञो
पंचविहे पणत्ते । तं जहा-दव्वञो न जाव गुणञो । दव्व-
ञो णं जीवत्थिकाए अणंताइ जीवदव्वाइ, खेत्तञो दोग-
गप्पमाणमेत्ते, कालञो न कयाइ न आसिं जाव निच्चे,
जावञो पुण अव्वे अंगधे अरसफासे, गुणञो उव-
ओगगुणे । पोगगलत्थिकाए णं भंते ! कइ वण्णे, कइ गं-
धरसफासे ? गोयमा ! पंचवत्ते पंचरमे दुग्गंधे अट्ठफासे
रूवी अजीवे सासए अव्विहिए लोणदव्वे । मे समासञो पं-
चविहे पणत्ते । तं जहा-दव्वञो खेत्तञो कालञो भाव-
ञो गुणञो । दव्वञो णं पोगगलत्थिकाए अणंताइ दव्वाइ,
खेत्तञो लोयप्पमाणमेत्ते, कालञो न कयाइ न आमिं
जाव निच्चे, जावञो वप्पमंते गंधरसफासमंते, गुणञो ग-
हणगुणे ॥

(अवसं इत्यादि) यत एवावर्णादिरत एवारूपी अमूर्त्तः, न तु
निःस्वभावः, नगः पर्युदासवृत्तित्वात् । शाश्वतो ह्येतोऽव-
स्थितः प्रदेशतः (लोणदव्वे स्ति) दोगस्य पञ्चास्तिकायात्म-
कस्यांशचूने ह्ययं लोकद्रव्यम् । भावत इति पर्यायतः (गुण-
ञो स्ति) कार्यतः [गमणगुणे स्ति] जीवपुद्गलानां गतिपरिण-
तानां गत्युपपन्नहेतुः, मत्स्यानां जलमिवेति । [ठाणगुणे स्ति] जी-
वपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपपन्नहेतुः, मत्स्यानां स्थल-
मिवेति । [अवगाहणगुणे स्ति] जीवादीनामवकाशहेतुः, वदराणां
कुण्डमिव । [उवओगगुणे स्ति] उपयोगश्चैतन्यं साकारानाका-
रभेदम् । [गहणगुणे स्ति] ग्रहणं परस्परं सस्वन्धनं जिवेन
वा, औदारिकादिभिः प्रकारैरिति । भ० २ श० १० उ० ।

अवगाहनादयः-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहाद्वए पणत्ते ? गोयमा !
लोए दोगमेत्ते लोयप्पमाणे दोगफुमे लोयं चेव उग्गाहि-
त्ताणं चिट्ठति, एवं जाव पोगगलत्थिकाए । अट्ठे दोगे णं
जंते ! धम्मत्थिकायस्स केवइयं ओगाढे ? गोयमा ! साइरेगं
अरूवं ओगाढे, एवं एएणं अनिलावेणं जहा वियइमए०
जाव ईसिप्पञ्चारणं । जंते ! पुढवीदोयागासस्स किं मं-
खेज्जञ्जागं ओगाढा पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जञ्जागं
ओगाढा, असेखेज्जञ्जागं ओगाढा, णो संखेज्जञ्जागे
ओगाढा, णो असेखेज्जञ्जागे ओगाढा, णो सव्वं लो-
यं ओगाढा, सेसं तं चेव ।

“धम्मत्थिकाएणं भंते !” इत्यादिगालापकः; तत्र च नवरं
केवलं “लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठे स्ति” । एतस्य स्थाने-
“लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठे” इत्ययमिलापो दृश्य इति ।
ज० २० श० २ उ० ॥

(अस्तिकायानां विषयेऽन्ययुक्तैः सह विप्रतिपत्तयः ‘अणउ-
त्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव ज्ञाने ४४६ पृष्ठे दर्शिताः)

मध्यप्रदेशाः-

कइ णं जंते ! धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेमा पणत्ता ?
गोयमा ! अट्ठ धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेमा पणत्ता ।
कइ णं जंते ! अधम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पणत्ता ?
गोयमा ! एवं चेव । कइ णं जंते ! आगामत्थिकायस्स मज्झ-
प्पदेमा पणत्ता ? गोयमा ! एवं चेव । कइ णं जंते ! जीवत्थि-
कायस्स मज्झप्पदेसा पणत्ता ? गोयमा ! अट्ठ जीवत्थिकाय-
स्स मज्झप्पदेमा पणत्ता । एएसि णं जंते ! अट्ठ जीव-
त्थिकायस्स मज्झप्पदेसा कइसु आगासपदेमेषु ओगाढा
होति ? गोयमा ! जहएणेणं एकांमि वा दोहिं वा तिहिं
वा चउहिं वा पंचहिं वा द्दहिं वा उक्कोमेणं अट्ठसु णां
चेव णं सत्तसु । सेवं भंते ! भंते ! स्ति ॥

प्रत्येकं जीवानामित्यर्थः । ते च सर्वस्यामवगाहनायां मध्य-
ज्ञाग एव जवन्तीति मध्यप्रदेशा उच्यन्ते । (जहएणेणं एकांसि वे-
त्यादि) सङ्कोचविकाशधर्मत्वात्तेषाम् । (उक्कोसेणं अट्ठसु
स्ति) एकैकस्मिंश्च तेषामवगाहनात् । (नो चेव णं सत्तसु स्ति)
वस्तुस्वभावादिति । भ० २५ श० ४ उ० स्था० । (अस्तिका-
यविषये कादोदायिसंवादः ‘अणउत्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव भा-
गे ४४६ पृष्ठे दर्शितः)

अस्थिकायधम्म-अस्तिकायधर्म-पुं० । अस्तयः प्रदेशास्तेषां
कायो राशिरस्तिकायः । स एव (संज्ञया) धर्मो गतिपर्याये जीव-
पुद्गलयाधारणादित्यस्तिकायधर्मः । स्था० १० गा० । गत्युप-
पन्नमलक्षणधर्मास्तिकायनामके ह्ययधर्मे, स्था० ३ गा० ३ उ० ॥

अस्थिक-अस्थिक्य-न० । अस्तोति मतिरस्येत्यास्तिकः ।
तस्य ज्ञावः कर्म वा आस्तिक्यम् । तत्त्वान्तरश्रवणेऽऽपि जिनो-
क्तस्वविषये निराकाङ्क्षायां प्रतिपत्तौ, ध० २ अधि० । अस्तिका-
यादिविषयास्तिकश्रद्धायां, दर्श० । सन्ति खलु जिनन्द्वा-
पदिष्टा अतीन्द्रिया जीवपरलोकादयो ज्ञावा इति । परिणामे.
ध० २ अधि० । संथा० ।

अस्थिण (न) तिप्पवाय-अस्तिनास्तिप्रवाद-न० । यल्लो-
के यथाऽस्ति यथा वा नास्ति; अथवा स्यादादिति प्रायत-
स्तदेवास्ति, तदेव नास्तीत्येवं प्रवदतीति । स० । यद्वस्तु लो-
केऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरष्टङ्गादि, तत्प्रवदती-
ति । अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति प्रव-
दतीति, अस्तिनास्तिप्रवादम् । चतुर्थे पूर्वश्रुते, न० । तस्य पदपरि-
माणं षष्टिपदशतसहस्राणि । स० । “अस्थिणत्थिप्पवायपुव्व-
स्स णं अछारस वत्थुदस नूलिया वय्यपुसत्ता” । न० ।

अस्थित्त-अस्तित्व-न० । अस्ति-भावे त्व । विद्यमानत्वे, दर्श०
१ अ० । अर्थक्रियाकारित्वे, “यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं

ध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशेऽप्यप्रतिसमयच-
लननास्थिरत्वात् प्रवोदयति, बन्धोदयनिर्जरादिपरिणामैः प-
रिवर्तते, स्थिरं शिलादि न प्रवोदति । अध्यात्मचिन्तायां तु
स्थिरो जीवः, कर्मकृत्येऽपि तस्य अवस्थितत्वात्तस्यैव प्रवोदति,
उपयोगवत्कृणुस्वभावान्न परिवर्तते । तथा अस्थिरं जडुरस्वभावं
तृणादि ज्ञयते विदलयति । अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म त-
ज्जन्तैः नान्येन तथा स्थिरमभङ्गुरमयःशत्राकादि न ज्ञयते,
अध्यात्मचिन्तायां स्थिरो जीवः, स च न भङ्ग्यते, शास्त्रानादि-
नि । जीवप्रस्ताधादिदमाह—(सासप वावृणु स्ति) बालको
व्यवहारतः शिशुः, निश्चयतोऽसंयतो जीवः, स च शाश्वतः, द्रव्य-
त्वात् । (बावृणु स्तं ति) इह कप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद्बालत्वम्,
व्यवहारतः शिशुत्वम्, निश्चयतस्त्वसंयतत्वम् । तच्च शाश्वतम्,
पर्यायत्वादिनि । एवं परिणतसूत्रमपि, नवरं परिणतो व्यवहारेण
शास्त्रज्ञो जीवः, निश्चयतस्तु संयत इति । भ० १ श० ए उ० ।
अतस्ते च, स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृहाणि , अस्थिरा येषाम-
न्यत्र गृहाणि । उ० १ उ० ।

अस्थि (थि) रज्जु-अस्थिरपट्टक-न० । अस्थिराऽशुभदुर्भग-
दुःस्वराऽनादेयाऽयशःकार्तिरूपे नामकर्मजेटपट्टके, कर्म० १
कर्म० ।

अस्थि (थि) रणाम (ण्)-अस्थिनामन्-न० । यदुदया-
त्कणभूजिह्वाद्यवयवा अस्थिराश्चपला जवन्ति, तस्मिन् नाम-
कर्मजेट, कर्म० १ कर्म० ।

अस्थि (थि) रतिग-अस्थिरत्रिक-न० । अस्थिराऽशुजाऽ-
यशःकार्तिसंज्ञे कर्मत्रिके, कर्म० ४ कर्म० ।

अस्थि (थि) रदुग-अस्थिरद्विक-न० । अस्थिराऽशुजाख्ये
कर्मद्विके, कर्म० २ कर्म० ।

अस्थि (थि) रवय-अस्थिरव्रत-त्रि० । अस्थिराण गृहीत-
मुक्तया चलानि व्रतान्यस्येत्यस्थिरव्रतः । कदाचिद् व्रतं गृ-
ह्णाति कदाचिद् मुञ्चति । उक्त० २० अ० ।

अस्थि (थि) वाय-अस्थिवाद-पुं० । सतां वस्तूनां सत्त्वा—
भ्युपगमे, यथा—“ अस्थि य णिञ्चो कुणई, कयं च वेणई अस्थि
णिञ्चाणं । अस्थि य मोक्खोवाओ, उः सम्मत्तस्स उणाई” ॥१८॥
प्रय० १४८ उ० । एतमेवास्तिवादं समवसरणं जगवांस्तीर्थकर
आख्याति । औ० । लोकादीनां वस्तुतः सतामस्तित्वमङ्गीकार्य-
मेवाऽन्यथा त्वनाचार इति ।

सर्वशून्यवादिमतनिरासेन लोकालोकयोः प्रविभागेनास्तित्वं
प्रतिपादयितुकाम आह—

एतिय लोए अलोए वा, एवें सन्नं निवेसए ।

अतिय लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १२ ॥

यदि वा सर्वत्र वीर्यमस्ति, नास्ति सर्वत्र वीर्यम्, इत्यनेन सा-
मान्येन वस्त्वस्तित्वमुक्तम् । तथाहि—सर्वत्र वस्तुनो वीर्यं शक्ति-
रर्थक्रियासामर्थ्यं मनसः स्वविषयज्ञानोत्पादनम्, तच्चैकान्तेना-
त्यन्ताभावाच्छेषविषयाणादिरप्यस्तित्वेवं संज्ञां न निवेशयेत्, स-
र्वत्र वीर्यं नास्तीति नो एवं संज्ञां निवेशयेदिति । अनेनावशिष्टं
वस्त्वस्तित्वं प्रसाधितम् । इदानीं तस्यैव वस्तुन ईषद्विशे-
षितत्वेन लोकालोकरूपतयाऽस्तित्वं, प्रसाधयन्नाह—(एतिय लोए

अलोए इत्यादि) लोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको धर्माधर्माकाशादिप-
श्चास्तिकायात्मको वा स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् ।
तथाऽऽकाशास्तिकायात्मकस्त्वेकः, स च न विद्यत एवेत्येवं
संज्ञां नो निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम् । त-
द्यथा—प्रतिभासमानं वस्त्ववयवद्वारेण वा प्रतिभाते, अवय-
विद्वारेण वा? तत्र न तावदवयवद्वारेण प्रतिभासनमुत्पद्यते, निरं-
शपरमाणुनां प्रतिभासमानासभवात्सर्वारातीयज्ञागस्य परमा-
एवात्मकत्वात्, तेषां च कृत्रस्थविज्ञानेन द्रष्टुमशक्यत्वात् । तथा
चाक्षुषम्—“यानद् दृश्यं परस्ताव-द्भागः स च न दृश्यते । निरंशस्य
च ज्ञागस्य, नास्ति उग्रस्थदर्शनम्” ॥१॥ इत्यादि । नाप्यवयवद्वारेण
विकल्प्यमानस्यावयविन एवाभावात् । तथाहि—असौ स्वावयवेषु
प्रत्येकं सामस्त्येन वा वर्तेताम्, अशांशिभावेन वा? सामस्त्येनाव-
यविबहुत्वप्रसङ्गात् । नाप्यंशेन, पूर्वविकल्पानतिक्रमेणानवस्थाप्र-
सङ्गात् । तस्माद्विचार्यमाणं न कथंचिद्द्रव्यात्मकं भावं लभते । त-
तस्तत्सर्वमेवैतन्मायास्वप्नेन्द्रजालमरुमीचिकाविज्ञानसदृशम् ।
तथा चोक्तम्—“यथा यथाऽर्थाश्चित्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा ।
यद्येते स्वयमधिज्ञयो, रोचन्ते तत्र के वयम् ?” ॥१॥ इत्यादि । त-
देव वस्त्वभावे तद्विशेषज्ञो कालाकाभावः सिद्ध एवेत्येवं नो संज्ञां
निवेशयेत्, किन्त्वस्ति लोक उर्ध्वाध्वस्तित्यप्रूपो वैशाखस्थानस्य-
तकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषसदृशः, पश्चास्तिकायात्मको वा । तद्व्य-
तिरिक्त्वालोकोऽप्यस्ति, संवन्धिशब्दत्वालोकाव्यवस्थाऽनुपपत्ते-
रिति भावः । युक्तिश्चात्र—यदि सर्वे नास्ति, ततः सर्वान्तःपातित्वा-
त्प्रतिषेधकोऽपि नास्ति, इत्यतस्तदभावात् प्रतिषेधाभावोऽपि च
सति परमार्थभूते वस्तुनि मायास्वप्नेन्द्रजालादिव्यवस्था । अन्य-
था किमाश्रित्य, को वा मायादिकं व्यवस्थापयत्? इति । अपि
च—“सर्वाज्ञावो यथाभीष्टो, युक्त्यज्ञावे न सिध्यति । साशस्तिचेत्सै-
व नस्त वं, तत्सिद्धौ सर्ववस्तु सत्” ॥१॥ इत्यादि । यदप्यवय-
वावयविविभागकल्पनया दूषणमभिधीयते, तदप्याहृतमतानजि-
ज्ञेन । तन्मतं चैवं जूतम् । तद्यथा—नैकान्तेनावयवा एव, नाप्य-
वयव्येव चेत्यतः स्याद्वादाश्रयणात्पूर्वोक्तविकल्पदोषानुपप-
त्तिरित्यतः कथंचिल्लोकोऽस्येवमलोकोऽपीति स्थितम् ॥१॥

तदेवं लोकालोकास्तित्वं प्रतिपाद्याधुना तद्विशेषभूतयो-
र्जीवाज्जीवयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह—

एतिय जीवा अजीवा वा, एवें सन्नं निवेसए ।

अतिय जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १३ ॥

(एतिय जीवा अजीवा वेत्यादि) जीवा उपयोगलक्षणाः
संसारिणो मुक्ता वा, तेन विद्यन्ते तथा अजीवाश्च, धर्माधर्माका-
शपुद्गलकालात्मका गतिस्थित्यवगाहदानच्छायातपोधेतादिव-
र्तनालक्षणा न विद्यन्ते इत्येवं संज्ञां परिज्ञानं नो निवेशयेत्, ना-
स्तित्वनिबन्धनं त्विदम्, प्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानत्वात् । जीवा न
विद्यन्ते, कायाकारपरिणतानि जूतान्येव धावनवदगनादिकां क्रियां
कुर्वन्तीति । तथाऽऽत्माद्वैतवादमताभिप्रायेण—“पुरुष एवेदं सर्वं
यद्भूतं यच्च भाव्यम्” इत्यागमात् । तथा अजीवा न विद्यन्ते, सर्व-
स्यैव चेतनाचेतनस्यात्ममात्रनिर्वातितात्, नो एवं संज्ञां निवेशये-
त् । किं त्वस्ति जीवः सर्वस्यास्य सुखदुःखादेर्निबन्धनजूनः स्व-
संविच्चिन्तिद्धः । इह प्रत्ययग्राहः; तथा तद्व्यतिरिक्ता धर्माधर्माका-
शपुद्गलादयश्च विद्यन्ते । सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणानुपलभ्यमान-
त्वात् । तद्रूपानां जूतचैतन्यवादीव वाच्यः । किं तानि भवदभि-
प्रेतानि जूतानि नित्यानि, उक्त अनित्यानि? यदि नित्यानि, ततोऽश्च-

पुतातुप्रास्थैरैकस्वभावत्वात् कायाकारपरिणतेऽज्युपगमः ।
तापि प्राग्विद्यमानस्य चैतन्यमुपघते, आहोस्विद्वचमनं ताव-
द्विद्यमानम्, अतिप्रसङ्गान्, अज्युपेतागमलोपाद्वा । अथ विद्य-
मानमेव भिन्नं तर्हि जीवत्वं तथाऽऽत्माऽद्वैतवाद्यपि वाच्यः । यदि
पुरुषमात्रमेवेदं सर्वम्, कथं घटादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते ?
तथा तदैक्येनैकनिबन्धनानां पक्षे हेतुदृष्टान्तानामभावात्साध्यसा-
धनाभावः नस्मात्त्रैकान्तेन जीवाजीवयोरजायः, अपि तु सर्वपदा-
र्थानां स्याद्वादाध्ययनाज्ज्ञानं स्यादजीवः, अजीवोऽपि च स्याज्जा-
वः । इत्येतच्च स्यादादाध्ययनं जावपुद्गलयोर्मन्त्रोपायुगतयोः
शरीरस्य प्रत्यक्षतयाऽध्यक्षेणोपपन्नत्वाद्बुध्यमिति ॥ १३ ॥

जीवास्तिन्वे च भिन्ने तन्निबन्धनयोः सदसत्क्रियाद्वाराऽऽया-
तयोर्धर्माधर्मयोगस्तत्त्वप्रतिपादनायाह—

णान्ति धर्मे अधर्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ।

अतिथि धर्मे अधर्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १४ ॥

(णान्ति धर्मे अधर्मे वेत्यादि) धर्मः धृतचारित्राख्यात्मको
जीवस्यात्मपरिणामः कर्मकृत्यकारणमात्मपरिणामः, एवमध-
र्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगरूपः कर्मबन्धकारण-
मात्मपरिणाम एव । तत्रैवं त्रौ धर्मोऽधर्मो काव्यस्वभावनियती-
भिरादिमतेन न विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । काव्याद्य
एवाम्य सर्वस्य जगद्वैचित्र्यस्य धर्माधर्माव्यतिरेकेणैकान्ततः
कारणमित्येवमभिप्रायं कुर्यात्, यतः न एवैकका न करणम्,
अपि तु समुदिता एवेति । तथा चोक्तम्—“न हि कालादीर्हितो,
केवयेर्हितो जायए किंचिद्, इह मुग्धं धनं वा, ता सर्वे
समुदिता हेतुः” ॥१॥ इत्यादि । अतो धर्माधर्ममन्तरेण संसार-
वैचित्र्यं न प्रतीयमिति, इत्यतोऽस्ति धर्मः सम्यग्दर्शनादिकः,
अधर्मश्च मिथ्यात्वादिक इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेदिति ॥१४॥

सतोश्च धर्मोऽधर्मयोर्वन्धमोक्तसदभाव इत्येतदर्शयितुमाह—

णान्ति वंधे व मोक्षे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिथि वंधे व मोक्षे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥

[णान्ति वंधे व मोक्षे वा इत्यादि] वन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्र-
वेशात्मकतया कर्मपुद्गलानां जायेत स्वध्वःपारतः स्वीकरणम् ।
न चासृत्तस्यात्मनो गगनस्येव न विद्यत इत्येवं नो संज्ञां निवे-
शयेत् । तथा तदभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमपि संज्ञां नो
निवेशयेत् । कथं तर्हि संज्ञां निवेशयेत् ? इत्युत्तरार्द्धेन दर्शयति-
अस्ति वन्धः कर्मपुद्गलैर्जायस्य, इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति । य-
त्तुल्यते-मूर्त्तस्यामूर्त्तिमता संबन्धो न युज्यत इति । तदयुक्तम् ।
आकाशस्य सर्वव्यापितया पुद्गलैः संबन्धो दुर्निवार्यः, तदभावं
तद्व्यापित्वमेव न स्याद् व्यक्तास्य विज्ञानस्य ह्यपूर्यमादि-
दिता विकारः समुपलभ्यत, न चासौ संबन्धमृते । अतो यत्कि-
ञ्चिदतत् । अपि च-संसारिणाममुमतां सदा तैजसकर्मणश-
रीरमज्जावादात्यन्तिकममूर्त्तत्वं न भवतीति । तथा तत् प्रतिप-
क्षुतो मोक्षोऽप्यस्ति, तदभावं वन्धस्याप्यभावः स्यात्, इत्यतोऽश-
व्यवधनापगमस्यभावा मोक्षोऽस्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१५॥

वन्धमज्जावे चावश्यं भार्या पुण्यपापमज्जाव इत्यतस्तज्जावे
निर्बन्धद्वारेणाह—

णान्ति पुणे व पावे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिथि पुणे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं शुभकर्मप्रकृतिवृत्तणम्, तथा पापं तद्वि-
पर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । तदभा-
वप्रतिपत्तिनिबन्धने त्विदम्-तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव
द्युत्कर्षावस्थं सत्सुखदुःखनिबन्धनम् । तथा-परेषां पापं नास्ति,
पुण्यमेव ह्यपचीयमानं पापं कार्यं कुर्यादिति । अन्येषां तुभयमपि
नास्ति । संसारवैचित्र्यं तु नियतिस्वभावादिकृतम् । तदेतदयुक्त-
म् । यतः पुण्यपापशब्दौ संबन्धिशब्दौ, संबन्धिशब्दानामेकरूप-
सत्ता नान्यत्वात्तन्त्रायाकता, नेनरस्य सत्तेति । नाप्युज्याभावः
शक्यते वक्तुम्, निबन्धनस्य जगद्वैचित्र्यस्याभावात् । न हि
कारणमन्तरेण क्वचित्कार्यस्योत्पत्तिरदृष्टा । नियतिस्वभावादिवा-
दस्तु नष्टोत्तराणां पादप्रसारिकाणां पादप्रसारिकाप्रायः । अपि
च-तद्वादेऽभ्युपगम्यमाने सकलक्रियावैयर्थ्यम्, तत एव सकल-
कार्योत्पत्तिः । इत्यतोऽस्ति पुण्यं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ।
पुण्यपापे चैवं रूपे; तद्यथा—“पुद्गलकर्मशृङ्गं य-त्तत्पुण्यमिति
जिनशासने दृष्टम् । यदशुभमथ तत्पाप-मिति भवति सर्वज्ञ-
निर्दिष्टम् ” इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिरतः पुण्यपापयोः प्रागु-
क्तयोः कारणभूतावाश्रवसंबन्धौ तत्प्रतिषेधद्वारेण दर्शयितु-
काम आह—

णान्ति आसवे संवरे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिथि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १७ ॥

(णान्ति आसवे संवरे वेत्यादि) आश्रवति प्रविशति कर्म येन
स प्राणातिपातादिरूप आश्रवः कर्मोपादानकारणम् । तथा-
तन्निरोधः संवरः । एतौ द्वावपि न स्त इत्येवं संज्ञां नो निवेश-
येत् । तदभावप्रतिपत्त्या शङ्काकारणं त्विदम्, कायवाङ्मनःकर्म-
योगः स आश्रव इति यथेदमुक्तं तथेदमप्युक्तमेव—“ उच्चा-
लियमि पाण इत्यादि ” ततश्च कार्यादिव्यापारेण कर्मबन्धो
न भवतीति । युक्तिरपि-किमयमाश्रव आत्मनो भिन्नः, उताऽभि-
न्नः ? । यदि भिन्नो नामासावाश्रवो घटादिवदभेदेऽपि नाश्र-
वन्वयः, सिद्धात्मनामपि आश्रवप्रसङ्गान् । तदभावं च तन्निरो-
धवृत्तयस्य संवरस्याप्यभावः सिद्ध एव । इत्येवमात्मकमध्यव-
साये न कुर्यात् । यतो यत्तदनैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य
“उच्चालियमि पाण ” इत्यादिनोक्तं, तदस्माकमपि सम्मतमेव ।
यतोऽयमस्माभिरप्युपयुक्तकर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते । निरुपयुक्तस्य
कर्मबन्धः, तथा भेदाभेदोभयपक्षसमाश्रयणात्तदेकपक्षाश्रि-
तदोषाभावः । इत्यस्याश्रवमज्जावः, तन्निरोधश्च संवर इति ।
उक्तं च—“ योगः शुद्धः पुण्या-श्रवस्तु पापस्य तद्विपर्ययः ।
वाकायमनोगुप्ति-भिगश्रवः संवरस्तुक्तः ” ॥१॥ इत्यतोऽस्त्या-
श्रवस्तथा संवरश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१७॥

आश्रवसंवरमदभावे चावश्यं भार्या वेदनानिर्जरासदभाव
इत्यतस्तत् प्रतिषेधद्वारेणाह—

णान्ति वेयणा णिजरा वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिथि वेयणा णिजरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १८ ॥

(णान्ति वेयणेन्यादि) वेदना कर्मानुभववृत्तणा, तथा-निर्जरा क-
र्मपुद्गलशाटनेवृत्तणा । एते द्वे अपि न विद्यते, इत्येवं नो संज्ञां नि-
वेशयेत् । तदभावं प्रत्याशङ्काकारणमिदम् । तद्यथा—“पल्लोपम-
सागरोपमशतानुभवनीयं कर्मान्तर्मुहूर्तनैव क्षयमुपयाति ” इत्य-
भ्युपगमात् । तदुक्तम्—“जं अमाणी कम्मं, खवेइ बहुयाई वास-

कोडीहि । तष्ठाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥
इत्यादि । तथा क्षपकश्रेण्यां च भट्टित्येव कर्मणो भस्मीकर-
णात्, यथाक्रमवद्भस्य चानुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तद-
भावाच्च निर्जराया अपीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । किमिति ?
यतः कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तरक्तया नीत्या क्षपणात्त-
पसा प्रदेशानुभवेन चापरस्य तृदयोदीरणाभ्यामनुभवनमि-
त्यतोऽस्ति वेदना । यत आगमोऽप्येवंभूत एव । तद्यथा—“ पु-
ल्लिव दुष्छिषाणं, दुष्पडिकंताण कम्माणं । वेइत्ता मोक्खो एत्थि
अवेइत्ता ” इत्यादि वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धैवेत्य-
तोऽस्ति वेदना निर्जरा वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥

वेदनानिर्जरे च क्रियाऽक्रियत्वे ततस्तदभावप्रतिषेधनिषेधपू-
र्यकं दर्शयितुमाह—

एत्थि किरिया अकिरिया वा, एवंच सन्नं निवेशए ।

अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ १९ ॥

(एत्थि किरिया अकिरिया वा इत्यादि) क्रिया परिस्पन्द-
लक्षणा, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया, ते द्वे अपि न स्तो न विद्येते ।
तथाहि—सांख्यानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परि-
निस्पन्दिका क्रिया न विद्यते । शाक्यानां तु क्षणिकत्वा-
त्सर्वपदार्थानां प्रतिसमयमन्यथा वाऽन्यथोत्पत्तेः पदार्थस-
त्त्वैव, न तद्व्यतिरिक्ता काचित्क्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्—“ भू-
तिर्येषां क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते । ” इत्यादि । तथा
सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमवस्थान्तरगमनात्सक्रियात्वम्, अतो
न क्रिया विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । किं तर्हि—अ-
स्ति क्रिया अक्रिया वेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि—शरी-
रात्मनोर्देशाद्देशान्तरावाप्तिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्र-
त्यक्षेणैवोपपद्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्मनोऽन्युपगम्यमा-
ने गगनस्येव बन्धमोक्षाद्यभावः ; स च दृष्टेष्टवाधितः । तथा
शाक्यानामपि प्रत्यक्षेणोत्पत्तिरेव क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अजा-
वः । अपिच—पकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षाभावः स्यात् ।
इत्यतोऽस्ति क्रिया, तद्विपक्षच्युता चाक्रिया, इत्येवं संज्ञां
निवेशयेदिति ॥ १९ ॥

तदेवं सक्रियात्मनि सति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—

एत्थि कोहे वमाणे वा, एवंच सन्नं निवेशए ।

अत्थि कोहे वमाणे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २० ॥

स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुबन्धप्रत्याख्या-
नावरणसंज्वलनभेदेन चतुर्थाऽऽगमे पठ्यते । तथैतावद्भेद एव
मानो गर्वः । एतौ द्वावपि, न स्तो न विद्येते । तथाहि—क्रोधः क्रै-
पांचिन्मतेन मानांश एव, अभिमानग्रहगृहीतस्य तत्कृतावयन्त-
क्रोधाद्यदर्शनात् । क्षपकश्रेण्यां च भेदेन क्षपणानन्युपगमात् ।
तथा किमयमात्मधर्मः, आहोस्वित्कर्मणः, उतान्यस्येति ? तत्रा-
त्मधर्मत्वे सिद्धानामपि क्रोधाद्यप्रसङ्गः । अथ कर्मणः, ततस्तद-
न्यकषायोदयऽपि तदुदयप्रसङ्गात् । मूर्तेत्वाच्च कर्मणो हि घटस्ये-
व तदाकारोपलब्धिः स्यात् । अन्यधर्मत्वे त्वकिञ्चित्करत्वम् । अतो
नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावोऽपि वाच्य इत्येवं संज्ञां नो निवे-
शयेत् । यतः कषायः कर्मोदयवर्ती दृष्टेष्टकृतजुकुटीजङ्गो रक्ततद-
नो गलत्स्वेदविदुसमाकुलः क्रोधाभातः समुपपद्यते । न चा-
सौ मानांशः, तत्कार्याकरणात्, तथा परनिमित्तोत्थापितत्वाच्चे-
ति । तथा जीवधर्मकर्मणोरुभयोरप्ययं धर्मस्तद्धर्मत्वेन च प्रत्ये-

कविकल्पदोषानुपपत्तिः, अनन्युपगमात् । संसार्यात्मनां कर्म-
णा साङ्गं पृथग्भवनाभावात्तदभयस्य च न नरसिंहवद्वस्त्वन्तर-
त्वात् । इत्येवोऽस्ति क्रोधा मानश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २० ॥

साम्प्रतं मायाश्रोभयोरस्तित्वं दर्शयितुमाह—

एत्थि माया व लोजे वा, एवंच सन्नं निवेशए ।

अत्थि माया व लोजे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २१ ॥

(एत्थि माया व लोभेत्यादि) अत्रापि प्राग्वन्मायाश्रोभयोरजा-
वादीनां निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतं तेषां च क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्माह—

एत्थि पेजे व दोने वा, एवंच सन्नं निवेशए ।

अत्थि पेजे व दांसे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २२ ॥

(एत्थि वेजेत्यादि) प्रीतिलक्षणं प्रेम पुत्रकलत्रधनधान्याद्या-
त्मीयेषु रागाः, तद्विपरीतस्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेषः, तावतौ
द्वावपि न विद्येते । तथाहि—केपांचिदभिप्रायः । यदुत—मा-
याश्रोभावेचावयवौ विद्येते, न तत्समुदायरूपोऽवयव्यस्ति ।
तथा क्रोधमानावेव स्तः, न तत्समुदायरूपोऽवयवौ द्वेव इति ।
तथा ह्यवयवभ्यो यद्यभिन्नोऽवयवौ तर्हि तदनेदात्त एष
नासौ । अथ जिन्नः, पृथगुपपन्नः स्यात्, घटपटवत् । इती-
त्येवमसिद्धिकल्पमूढतया नो संज्ञां निवेशयेत् । यतोऽवयवा-
वयविनोः कथंचिद्भेद इत्येवं नेदानेदाख्यतृतीयपक्षसमाश्रय-
णात्प्रत्येकपक्षाश्रितदोषानुपपत्तिः । इत्येवं चास्ति प्रीतिलक्षणं
प्रेम, अप्रीतिवृत्त्यश्च द्वेव इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

साम्प्रतं कषायसद्भावे सिद्धे सति तत्कार्यजृतेऽवश्यंभावी
संसारसद्भाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

एत्थि चाउरंते संसारे, एवंच सन्नं निवेशए ।

अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेशए ॥ २३ ॥

एत्थि देवो व देवी वा, एवंच सन्नं निवेशए ।

अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २४ ॥

(एत्थि चाउरंते इत्यादि) चत्वारोऽन्ता गतिभेदाः नरकतिथ्यङ्ग-
रामरत्नकृणा यस्य संसारस्यासौ चतुरन्तः संसार एव काता-
रः, भयैकहेतुत्वात् । स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां
संयुतिरूपत्वात्कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वात् । अथवा
नारकदेवयोरनुपलज्यमानत्वात्तिर्यङ्मनुष्ययोरेव सुखदुःखोत्क-
र्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणात् त्वने
कविधः, अतश्चातुर्विध्यं न कथंचिद् घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशये-
त् । अपि त्वस्ति चतुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यत्तूक्त-
म्—एकविधः संसारः, तन्नोपपद्यते । यतोऽध्यक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययो-
र्भेदः समुपलज्यते । न चासावेकविधत्वे संसारस्य घटते । तथा
संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यास्तित्वाभ्युपगमाद् द्वैविध्यमपि
न विद्यते । संभवानुमानं तु पुण्यपापयोः प्रकृष्टफलभुजस्तन्म-
ध्यफलभुजां तिर्यङ्मनुष्याणां दर्शनात् । अतः संभाव्यते प्रकृ-
ष्टफलभुजां ज्योतिषां च प्रत्यक्षेणैव दर्शनात् । अथ तद्विमाना-
नामुपपन्नः, एवमपि तदधिष्ठातृभिः कैश्चिद्विविधमित्यनुपमा-
नेन गम्यते । ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वानुमान-
मिति । तदस्तित्वं तु प्रकृष्टपुण्यफलभुज इव प्रकृष्टपापफलभु-
गिभरपि ज्ञाव्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यम् । संसारस्य पर्याय-
नयाश्रयणे तु यदनेकविधत्वमुच्यते । तदयुक्तम् । यतः सप्त

पृथिव्याश्रिता अपि नारकाः समानजातीयाश्रयणादेकप्रकारा एव । तथा निर्धञ्जोऽपि पृथिव्यादयः स्थावराः, तथा द्वित्रिचतुः-पञ्चेन्द्रियाश्च द्विपृष्ठियोनिरूपकप्रमाणाः सर्वेऽप्येकविधा एव । तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजान्तरद्वीपकसंमूर्च्छ-नजात्मकनेदमनादयैकविधव्येनैवाश्रिताः । तथा देवा अपि ज-वनपतिव्यन्तरज्योतिष्वैवानिक्रमेदेन भिन्ना एकविधव्येनैव गृ-हीताः । तदेवं सामान्यविशेषाश्रयणाच्चातुर्विध्यं संसारस्य व्यव-स्थितम्; नैकविधत्वम्, संसारवैचित्र्यदर्शनात् । नाप्यनेकविध-त्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यनतिक्रमादिति ॥ २३ ॥ २४ ॥
सर्वभावानां सप्रतिपक्षत्वात्संसारसद्भावे सति अवश्यं त-द्विमुक्तिलक्षणया सिद्ध्याऽपि जयितव्यमित्यतोऽधुना सप्रति-पक्षां सिद्धिं दर्शयितुमाह—

णत्थि मिच्छी अमिच्छी वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि मिच्छी असिच्छी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

(णत्थि मिच्छीत्यादि) सिद्धिरशेषकर्मच्युतिवृत्तकणा, तद्विपर्यस्ता चासिद्धिर्नास्तित्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धेः संसार-विवृत्तकणायाच्चातुर्विध्यनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगाने नास्ति त्वं प्रसिद्धम्, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वमनिवारितमित्यतोऽ-स्तिमिद्धिरसिद्धिवैचित्र्येवं संज्ञां निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं जयति—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सदावार्क-मङ्गलस्य च, पीषोपशमादिनाऽध्यक्षेण दर्शनात् । अतः कस्यचिद-त्यान्तकर्मदानसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्—“दोषा-वरणयोर्हानिर्-निःशेषाऽस्म्यतिशायिनी । क्वचिद्यथा स्यहेतुज्यो, बहिरन्तर्मन्त्रकृतः” ॥ १ ॥ इत्यादि । सर्वज्ञसद्भावोऽपि संज्ञवानुमा-नाद् द्रष्टव्यः । तथा हि—अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणादिना शास्त्रसंस्कारेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्ञातिशयो द्रष्टव्यः । तत्र क-स्यचिदप्यन्तानि शयप्राप्तेः सर्वज्ञत्वं स्यादिति संभवानुमानेन चैत-दाशङ्कनीयम् । तद्यथा—नाप्यमानमुदकमप्यतोऽप्येतामियाज्ञाग्नि-साङ्गवेत् । तथा—“दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छ-ति । न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽऽज्यासशतैरपि” ॥ १ ॥ इति दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि—नाप्यमाने जले प्रतिक्षणं क्षयं गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्धते । यदि वा प्लोषोपलब्धेरव्याहतमग्नि-त्वम् । तथा ज्वनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योज-जनात्पञ्चवनात्रावस्तत्परित्यागे चोत्तरोत्तरं वृद्ध्या प्रज्ञाप्रकर्षगम-नवद्योजनदानमपि गच्छेत्, इत्यतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसा-म्यात्तदेवं नाशङ्कर्नीयमिति स्थितम् । प्रज्ञावृद्धेः बाधकप्रमा-माणाभावादस्ति सर्वज्ञत्वप्राप्तिरिति । यदि वाऽऽजननृतनसमुद्रक-दृष्टान्तेन जीवाकुलव्याज्जगतां हिंसाया दुर्निवारत्वासिद्धवभा-वः । तथा चोक्तम्—“जले जीवाः स्थबे जीवाः, आकाशे जीवमा-र्त्तिनि । जीवमात्राऽऽकुले लोके, कथं भिक्षुर्गृहसकः ?” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वाग्निसिद्धत्वाव इति । तदेतद-युक्तम् । तथाहि—सदोषयुक्तस्य पिहिताश्रवद्वारस्य पञ्चसमिति-समितस्य त्रिगुणगुणस्य सर्वथा निरवाद्यानुष्ठायिनो द्विचत्वा-रिंशद्दोषगृहनिभक्ताभुज इत्यांसमितस्य कदाचिद्व्यनः प्राणि-ध्यपरोपणेऽपि तत्कृतवन्धाभावः, सर्वथा तस्यानवद्यत्वात् । तथा चोक्तम्—“उच्चाव्रियस्मि पाए” इत्यपि प्रतीतम्, तदेवं कर्म-कथाभावाग्निसिद्धेः सद्भावोऽध्याहृतः, सामग्र्यभावादसिद्धि-सद्भावोऽपीति ॥ २७ ॥

साम्प्रतं सिद्धानां स्थाननिरूपणायाह—

खत्थि सिच्छी नियं ठाणं, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

सिद्धेरशेषकर्मच्युतिवृत्तकणाया निजं स्थानमीषत्प्राग्भास्यं व्य-वहारतः, निश्चयतस्तु तदुपरि योजनकोशपदभागस्तत्प्रतिपाद-कप्रमाणाजावात्स नास्तित्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतो बाधक-प्रमाणाजावात्साधकस्य चागमस्य सद्भावात् तत्सत्ता दुर्निवारे-ति । अपि च—अपगताशेषकल्मषाणां सिद्धानां केनचिद्विशिष्टेन स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याग्रजुतं द्रष्ट-व्यम् । न च शक्यते वक्तुमाकाशवत्सर्वव्यापिनः सिद्धा इति । यतो लोकालोकाव्याप्याकाशम् । नचालोके परद्रव्यास्याकाशमा-त्ररूपत्वात् लोकमात्रव्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पानुपपत्तेः । त-थाहि—सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमप्युपगतम्, उत प्रागपि ? न तावत्सिद्धावस्थायाम्, तद्व्यापित्वमवने निमित्ताभावात् । ना-पि प्रागवस्थायाम्, तद्भावे सर्वसंसारिणं प्रति नियतसुखदुःखानु-जयो न स्यात् । न च शरीराद्वहिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तत्स-त्तानिबन्धनप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाणं न कथञ्चिद् घटते । तदभावे च लोकाग्रमेव सिद्धानां स्थानम् । त-द्वृत्तिश्च कर्मविमुक्तस्योर्ध्वं गतिरिति । तथा चोक्तम्—“लाओ एरं-रुफले, अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के । गइ पुव्वपओगेणं, एवं सि-द्धाण वि गइओ” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमस्ति सिद्धिः, तस्याश्च निजं स्थानमित्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्प्रतं सिद्धेः साधकानां तत्प्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चास्ति-त्वं प्रतिपिपादयिषुः पूर्वपक्षमाह—

णत्थि साहू असाहू वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

नास्ति न विद्यते ज्ञानदर्शनचारित्र्यक्रियोपेतो मोक्षमार्गव्यवस्थि-तः साधुः, संपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च तत्प्र-तिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, परस्परपक्षितत्वात् । एतच्चव-स्थानस्यैकतराजःप्रेक्षितस्यस्याप्यज्ञाव इत्येवं संज्ञां नो निवेशये-त्, अपि त्वस्ति साधुः, सिद्धेः प्राक्सिद्धितत्वात् । सिद्धिसत्ता च न साधुमन्तरेण । अतः साधुसिद्धिस्तत्प्रतिपक्षभूतस्य वाऽसाधोरि-ति । यश्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानाभावः प्रागाशङ्कितः, स सिद्धान्ता-भिप्रायमनुध्वेव । तथाहि—सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्यारक्ताद्विष्टस्य स-त्संयमयतः श्रुतानुसारेणाऽऽहारादिकं शुद्धवृद्ध्या गृहृतः क-चिदज्ञानादनेपणीयग्रहणसंज्ञवेऽपि सततोपयुक्ततया संपूर्णमेव रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यश्च ज्ञेयमिदं चाभङ्ग्यम्, गम्यमिदं चा-गम्यम्, प्रासुकमेपणीयमिदमिदं च विपरीतमित्येवं रागद्वेषसंभ-वेन समजायरूपस्य सामायिकस्याज्ञावः कैश्चिच्चोद्यते, तत्तेषां चोदनमज्ञानविजृम्भणात् । तथाहि—न तेषां सामायिकवतां साधूनां रागद्वेषतया ज्ञेयान्नज्ञेयादिविवेकोऽपि तु प्रधानमो-क्षादस्य सच्चारित्रस्य साधनार्थमपि चोपकारापकारयोः सम-भावतया सामायिकम्, न पुनर्भङ्ग्याज्ञेययोः समभाववृत्त्ये-ति ॥ २७ ॥

तदेवं मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वम्, इतरस्य चासाधुत्वं, प्रद-र्याधुना च सामान्येन कल्याणपापवतोः सद्भावं प्रतिषेधनिषे-धद्वारेणाह—

णत्थि कट्ठाणपावे वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कट्ठाणपावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

(णत्थि कल्याणपावे वेत्यादि) यथेष्टार्थफलसम्प्राप्तिः कल्याणः, तन्न विद्यते, सर्वानुचितया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां बौ-
द्धानिप्रायेण, तथा तदभावे कल्याणवाञ्छा न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽ-
त्मनूतवाद्यभिप्रायेण पुरुष एवेदं सर्वमिति कृत्वा पापं पाप-
वान् वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोप्यज्ञावः । तथा चोक्तम्-
“ विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव इव-
पाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ” ॥ १ ॥ इत्येवमेव कल्याणपाप-
काज्ञावरूपां संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याणं, कल्याण-
वाञ्छा विद्यते, तद्विपर्यस्तं पापं तद्वैच विद्यते, इत्येवं संज्ञां
निवेशयेत् । तथाहि-नैकान्तेन कल्याणाज्ञावो यो वैकैरभि-
हितः, सर्वपदार्थानामनुचितत्वासंभवात्, सर्वाऽनुचित्वे च वुरु-
स्याप्यनुचित्वप्राप्तेः । नापि निरात्मनः स्वऽव्यक्त्रकाज्ञावापेक्षया
सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात्परऽव्यादिजिस्तु न विद्यते, सदस-
दात्मकत्वाद्वस्तुनः । तदुक्तम्-स्वपरसत्ताव्युदासोपादानोत्पाद्यं
हि वस्तुनो वस्तुत्वमिति । तथाऽऽत्माद्वैतभावाज्ञावात्पापा-
भावोऽपि नास्ति, अद्वैतभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीरोगः
सुरूपः कुरूपो दुर्भगः सुतमोऽर्थवान् दरिद्रः, तथाऽयमन्तिकोऽयं
तु द्रवीयान् इत्येवमादिको जगद्वैचित्र्यभावोऽध्यक्षसिद्धोऽपि
न स्यात् । यच्च समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणचारुडालादिषु, तदपि
समानपीडोत्पादनतो द्रष्टव्यम्; न पुनः कर्मोत्पादितवैचित्र्याज्ञा-
वोऽपि तेषां ब्राह्मणचारुडालादीनामस्तीति । तदेवं कथंचित्कल्या-
णमस्ति, तद्विपर्यस्तं तु पापकमिति । न चैकान्तेन कल्याणमेव,
यतः केवलानां प्रक्रीणघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदय-
सङ्गात्वात् । तथा नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिस-
ङ्गावानैकान्तेन तेऽपि पापवन्त इति । तस्मात्कथंचित्कल्याणं कथं
चित्पापमिति स्थितम् ॥ २८ ॥

तदेवं कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसाध्यैकान्तं

दूषयितुमाह—

कल्याणे पावए वा वि, व्यवहारो ण विज्झइ ।

जं वैरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

(कल्याणे पावए इत्यादि) कल्यं सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा,
तदणतीति कल्याणम्, तदस्यास्तीति कल्याणः “ अशं आ-
दिभ्योऽच् ” ॥ २ । १२७ ॥ इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण मत्वर्थो-
याऽच्प्रत्ययान्तः; कल्याणवानिति यावत् । पापकशब्दोऽपि
मत्वर्थोयाऽच्प्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः, तदेवं सर्वथा कल्याणवा-
नेवायम्, तथा पापवानेवायमित्येवंनूतो व्यवहारो न विद्यते ।
तदैकान्तनूतस्यार्थस्यैवाज्ञावात् । तदभावस्य च सर्ववस्तूनामने-
कान्ताश्रयणेन प्राक्प्रसाधितत्वादिति । एतच्च व्यवहाराभावा-
श्रयणं सर्वत्र प्रागपि योजनयम् । तद्यथा-सर्वत्र वीर्यमस्ति
नास्ति वा सर्वत्र वीर्यमित्येवंनूत एकान्तिको व्यवहारो न
विद्यते । तथा नास्ति लोकोऽलोको वा, तथा सन्ति जीवा अजी-
वा इति वेत्येवंनूतो व्यवहारो न विद्यते इति सर्वत्र संबन्धनी-
यम् । तथा वैरं वज्रं तद्वत्कर्म वैरं, विरोधो वा वैरम्, तद्येन
परोपतापादिनैकान्तपक्षसमाश्रयणेन वा भवति, तत्ते भ्रमणा-
स्तीर्थिका बाला इव बाह्या रागद्वेषकविताः पण्डिताभिमानिनः
शुभकतर्कदर्पाधमाता न जानन्ति, परमार्थनूतस्यार्थसालक्षणस्य
धर्मस्यानेकान्तपक्षस्य वाऽनाश्रयणादिति । यदि वा यदैरं तत्ते
भ्रमणा बाह्याः पण्डिता वा न जानन्तीत्येवं वाचं न निसृजेदित्यु-
च्यते संबन्धः । किमिति न निसृजेत् ? । यतस्ते किञ्चिज्ज्ञान-

न्त्येव । अपि च-तेषां तन्निमित्तकोपात्पक्षेयैश्चैवंनूतं वचस्तन्न
वाच्यम् । यत उक्तम्-“अपत्तिं जेण सिया, आधु कुप्पिज्ज
वा परो । सव्वसो तं ण भासेज्जा, ज्ञासं अहियगामिणि ” ॥१॥
इत्यादि ॥ २९ ॥

अपरमपि वाक्संयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अक्खयं वा वि, सुव्वदुक्खे ति वा पुणो ।

वज्झा पाणा न वज्झन्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

(असेसमित्यादि) अशेषं कृत्स्नं तत्साहचर्यानिप्रायेण कृतं नित्यमि-
त्येवं न ब्रूयात्, प्रत्यर्थं प्रतिसमयं चान्यथान्यथाभावदर्शनात् ।
स एवायमित्येवंभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य लूनं पुन-
र्जातेषु केशनखादिष्वपि प्रदर्शनात् । तथापि शब्दादेकान्तेन
कृणिकमित्येवमपि वाचं न निसृजेत्, सर्वथा कृणिकत्वे पूर्वस्य
सर्वथा विनष्टत्वाद्भूतस्य निर्हेतुक उत्पादः स्यात् । तथा च
सति “नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोर्न्यानपेक्षणात्” इति । तथा
सर्वं जगद् दुःखात्मकमित्येवमपि न ब्रूयात्, सुखात्मकस्या-
पि सम्यग्दर्शनादिभावेन दर्शनात् । तथा चोक्तम्-“तणस्यार-
निस्सणो, वि मुणिवरो जट्टरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिमुइं,
कत्तो तं चक्खवट्ठी वि” ॥ १ ॥ तथा-वध्याश्चौरपारदारिकादयः,
अवध्या वा, तत्कर्मानुमतिप्रसंगात्, इत्येवंनूतां वाचं खानुष्ठानप-
रायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निसृजेत् । तथाहि-सिंह-
व्याघ्रमाजारादीन् परसत्त्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यम-
वलम्बयेत् । तथा चोक्तम्-“मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्यादीनि
सत्त्वगुणाधिकक्षिप्रयमानविनयेषु ” इति । एवमन्योऽपि वा-
क्संयमो द्रष्टव्यः । तद्यथा-अमी गवादयो बाह्या न बाह्याः, त-
थाऽमी वृक्षादयश्छेद्या न छेद्या वेत्यादिकं वचो न वाच्यं साधु-
नेति ॥ ३० ॥

अयमपरो वाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धि—

समाश्रितः प्रदर्शयते—

दीप्संति समियाचारा, जिक्खुणा साहुजीविणो ।

एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ ३१ ॥

दृश्यन्ते समुपलज्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभृतः संयत
आत्मा येषां ते निनृतात्मानः । कचित्पाठः- (समियाचारं स्ति) ।
सम्यक् स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचारोऽनुष्ठानं येषां
ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते
समिताचाराः । के ते ? भिक्षुणशिला जिक्खामात्रवृत्तयः । तथा
साधुना विधिना जीवितुं शीघ्रं येषां ते साधुजीविनः । तथाहि-
ते न कस्यचिदुपरोधविधानेन जीवन्ति । तथा कान्ता दान्ता
जितक्रोधाः सत्यसन्धा दृढव्रता युगान्तरमात्रदृष्टयः परिपूतोद-
कपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविकैकान्तध्यानाध्यासि-
नोऽकौकुच्याः, तानेवंभूतानवधार्या अपि सरागा अपि वीतरा-
गा इव चेष्टन्ते, इति मत्वेते मिथ्यात्वोपजीविन इत्येवं दृष्टिं न
धारयेन्नैवं नूतमध्यवसायं कुर्यात्, नाप्येवंभूतां वाचं निसृजेत्-
यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, हृद्यस्थेन ह्यार्वाग्दर्शि-
नेवंनूतस्य निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः । ते च स्व-
युध्या वा भवेयुस्तोऽर्थान्तरीया वा; तावन्नावपि न वक्तव्यौ सा-
धुना । यत उक्तम्-“ यावत्परगुणपरदो-षकौर्तने व्यापृतं मनो
भवति । तावद्दूरं विबुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ” ॥ १ ॥
इत्यादि ॥ ३१ ॥

किञ्चाऽन्यत्—

दक्षिणाए पमीलंभा, अत्थि वा एत्थि वा पुणो ॥
ए वियागरेज्ज मेहावी, संति मग्ग च वूहए ॥ ३२ ॥

(दक्षिणाए इत्यादि) दानं दक्षिणा, तस्याः प्रतिलम्भः प्रप्तिः, स दानज्ञानोऽस्माकृदस्यादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं न भ्यागृणीयात्, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः । यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं ग्रहणं वा प्रतिलाभः । स एकान्तेनास्ति संभवति, नास्ति वेत्येवं न ब्रूयात्, एकान्तेन तद्दानग्रहणनिषेधो दोषोत्पात्तसंज्ञवात् । तथाहि—तद्दाननिषेधेऽन्तरायसंज्ञवः, तद्वचिष्यं च तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भव इत्यतोऽस्ति दानं न वेत्येवम-
कान्तेन न ब्रूयात् । कथं तर्हि ब्रूयात् ? इति दर्शयति—शान्तिमो-
क्षः, तस्य मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, तमुपबृंहयेद्व-
र्धयेत् । यथा मोक्षमार्गानिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः । एत-
दुक्तं भवति—पृष्टः केनचिद्विधिप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिग्राहक-
विषयं निरवयमेवं ब्रूयादित्येवमादिकमन्यदापि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—

इषेएहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए ।

धारयंते न अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्ज । ३३ । ति वेमि ।

इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संय-
मप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेषरहितैर्जिनैर्दृष्टैरुपलब्धैर्न स्व-
मतिविकल्पोत्थापितैः, संयतः सन् समयमवानात्मानं धारयन्नेभि-
र्विविधधर्मदेशनावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम्—“सावज्जणव-
ज्जाणं, वयणाणं जं ण जाणइ विसंसे” इत्यादिस्थानैरात्मानं
वर्तयन्नामोक्तायाशेषकर्मकरायै मोक्षं यावत्परि समन्तात्संयमानु-
ष्ठाने श्रजः, गच्छेत्स्यमिति विधेयस्योपदेशः । इतिः परिसमाप्त्य-
र्थः । प्रवीर्माति पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

अर्थीकरण—अर्थीकरण—न० । अर्थयते अर्थी वा करोति अ-
र्थं जनयते इत्यर्थीकरणम् । राजादीनां प्रार्थने, तैर्वाऽऽत्मनः
प्रार्थनाकारणे, नि० चू० ।

जे जिकखू रायं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
जे भिक्खू गामरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ
॥ २ ॥ जे जिकखू एगररक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं
वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे जिकखू गामरक्खियं अत्थीकरेइ,
अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥ जे जिकखू देसरक्खियं अ-
त्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे जिकखू
सीमारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥
जे जिकखू णिगभरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा
साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्थीकरेइ,
अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अर्थयते अत्थी वा, करेइ अर्थं व जणयंते जम्हा ।

अर्थीकरणं तम्हा, विज्जादिणिमित्तमादीहिं ॥ २२ ॥

साहू रायाणं अर्थेति प्रार्थयंत, साधू वा तद्वा करोति जद्वा
सो राया तस्स साहूस्स अर्थीनयति, प्रार्थयतीत्यर्थः । साधुर्वा

तस्य राज्ञः अर्थं जनयति । जम्हां एवं करोति तम्हा अर्थीकर-
णं जणयति । साधू रायाणं जणयति—मम अर्थि विज्जा, णिमित्तं
वा तीताणागतं । ताहे सो राया अर्थीनयति । आदिसद्वातो
रसायणादिजोगा । इमं अर्थीकरणं ।

धातुनिधाणदरिसणे, जणयंतं तत्थ होति सट्ठाणं ।

अत्थी अर्थी अर्थे—ए संतऽसंतेण लहु लहुया ॥ २३ ॥

धातुवादेण वा से अर्थं करोति, महाकालमतेण वा से णिहिं
दरिसेति । एवं अर्थं जणयतो सट्ठाणपच्छित्तं, उक्ताया चउसु
लहुगा । सीडावत्रोयणेण गतोऽप्यर्थः पुनरुच्यते—अत्थी, अत्थी,
अर्थी, एतेसु संतेसु मासवहुं, असंते चउलहुं ।

एके एगतरेणं, अर्थीकरणेण जो तु रायाणं ।

अर्थीकरोति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ २४ ॥

राया भिक्खुस्स संजम अणुगेलण एतेहिं राया चत्तारि
गाहाओ जाव एतेहिं । नि० चू० ४ उ० ।

अत्यु (त्योव) ग्माह—अर्थीवग्रह—पुं० । अर्थयते इत्यर्थः । अर्थस्या-
वग्रहणमर्थीवग्रहः । सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यसा-
मान्यमात्ररूपार्थग्रहणलक्षणे मतिज्ञानभेदाऽवग्रहभेदे, न० ।
स० । कर्म० । भ० । स्था० । प्रज्ञा० । “सामन्तरूपाई विसंखणरहि-
यस्स अनिर्देशस्स” अवग्रहणमवग्रह इति । न० । प्रव० । अर्थ-
यतेऽधिगम्यते, अर्थयते वाऽन्विष्यते इति अर्थः । तस्य सामान्य-
रूपस्याशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणं प्रथमपरिच्छेद-
नमर्थीवग्रह इति निर्विकल्पकं ज्ञानं दर्शनमिति यदुच्यते इत्य-
र्थः । स नैश्वयिको यः स सामायिकः । यस्तु व्यावहारिकः शब्दो
ऽयमित्याद्युल्लेखवान् सोऽन्तर्माहर्तिक इति । अयं पञ्चेन्द्रि-
यमनःसंयन्धात् पोढा इति । स्था० २ भा० १ उ० । (अर्थीवग्रह-
स्य सोपपत्तिकः स्वरूपविधेकः ‘उग्माह’ शब्दे द्वितीयभागे
६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्पो-
ढा । प्रव० २१६ द्वा० ।

तथा च सूत्रम्—

अर्थोवग्रहे णं जंते ! कतिविहे पण्त्ते ? । गोयमा !
छविहे पण्त्ते । तं जद्वा—सोऽदीयअर्थोवग्रहे ? , चकिंख-
दियअर्थोवग्रहे २, घाणिंदियअर्थोवग्रहे ३, जिंजिंज-
दियअर्थोवग्रहे ४, फासिंदियअर्थोवग्रहे ५, नोइदि-
यअर्थोवग्रहे ६ ॥ प्रज्ञा० १५ पद । स्था० ।

अथ कोऽयमर्थीवग्रहः ? । सूरिराह—अर्थीवग्रहः षड्विधः
प्रज्ञसः । तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थीवग्रह इत्यादि । श्रोत्रेन्द्रि-
येणार्थीवग्रहो व्यञ्जनावग्रहानन्तरकालमेकसामायिकम-
निर्देश्यसामान्यरूपार्थीवग्रहं श्रोत्रेन्द्रियार्थीवग्रहः । एवं प्रा-
णजिह्वास्पर्शनेन्द्रियार्थीवग्रहेष्वपि वाच्यम् । चक्षुर्मनसोस्तु
व्यञ्जनावग्रहो न भवति । ततस्तयोः प्रथममेव रूपद्रव्यगुण-
क्रियाविकल्पनाऽतीतमनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपार्थीवग्रहण-
मर्थीवग्रहोऽवसेयः । तत्र—(नोइदियअर्थोवग्रहो ति) नो-
इन्द्रियं मनः । तच्च द्विधा—द्रव्यरूपं, भावरूपं च । तत्र मनः-
पर्याप्तनामकर्मोदयतो यन्मनःप्रायोग्यवर्णादलिकानादाय
मनस्त्वेन परिणमति, तद्रव्यरूपं मनः । तथाचाह चूर्णिंकत्-

“मणपज्ज त्ति नामकम्मोदयओ जोगो मणो दव्वे घेतुं मणत्ते-
ण परिणामिया दव्वमणो भणइ ” तथा-द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन
जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः । तथा चाह चूर्णि-
कार एव-“ जीवो पुण मणणपरिणामकिरियापन्नो भावमणो ।
किं भणियं होइ ?-मणदव्वालंबणो जीवस्स मणवाचारो भा-
वमणो भणइ ” । तत्रैव भावमनसा प्रयोजनम्, तदुग्रहणं ह्यवश्यं
द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति ; द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसो-
ऽसम्भवात् । भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति ; यथा
भवस्थकेवलिनः ; तत उच्यते भावमनसह प्रयोजनम् । तत्र
नोऽन्दित्र्येण भावमनसोऽर्थावग्रहो द्रव्येन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो
घटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाऽभिमुखः प्रथममेकसामायिको रूपा-
द्यर्थाकारादिविशेषचिन्ताविकलो निर्देश्यसामान्यमात्रचि-
न्ताऽऽत्मको बोधो नोऽन्दित्र्यार्थावग्रहः । न० । अयं च नैश्चयिक
एकसामायिकः । व्यावहारिकस्त्वान्तर्मौहर्तिकः । स्था० ६ ठा० ।
अथु (त्यो) गहण-अर्थावग्रहण-न० । फलनिश्चये, भ०
११ श० ११ उ० ।

अथुरु-देशी-वधौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अथुप्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० । उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्तिः ।
अर्थस्योत्पत्तिर्व्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः । करणव्यवहारे,
व्य० १ उ० ।

अथेर-अस्थैर्य-न० । अस्थिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

अथोप्पायण-अर्थोत्पादन-न० । द्रव्याऽऽवर्जने, प्रव० २२६ द्वा० ।

अथोभय-अस्तोजक-न० । न० ब० । स्तोत्रकरहिते गुणवत्सूत्रे,
अनु० । “उय व इकारो इत्ति अ-कारणार्थं थोजया हुंति” उत
वै हाऽऽदिप्रभृतीनामकारणप्रक्षेपाः स्तोत्रकाः । तद्ग्रहितमस्तोत्र-
कम् । वृ० १ उ० । विशेष० ।

अथव्वण-अथर्वण-पुं० । अतुर्थवेदे, “जाव अथव्वणकुसलेया
वि होत्था” विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

अद्-अद्-अ० । आश्चर्यं, “धियो यो नः प्रचोदयाऽन्” अदिति
आश्चर्यरूपस्तत्कारणेऽनिवृत्तवान्, ततश्च हे भव ! “विरामे
वा” ॥ १ । ३ । ५ ॥ इति दस्य तः । साङ्ख्याभिप्रायेण गा० व्या-
ख्या । जै० गा० । एतादृशः प्रयोगः प्राकृते न प्रयुज्यते ।

अदंर-अदंर-पुं० । प्रशस्तयोगत्रये, अहिंसामात्रे च । “एगे
अदंरे” स० १ सम० ।

अदंरकु (को) दंरिम-अदंरकुदण्डिम-त्रि० । दण्डलज्यं द्रव्यं
दण्ड एव । कुदंरेन निवृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम्, तस्मास्ति यत्र
तत्तथा । दण्डकुदंरकभ्यामगृह्यमाणद्रव्ये नगरादौ, तत्र दण्डो-
ऽपराधानुसारेण राजग्राह्यं द्रव्यम् ; कुदंरस्तु-कारणिकानां
प्रजापराधान्महत्पराधिनोऽपराधेऽल्पं राजग्राह्यं द्रव्यमिति ।
“उमुकुं उकरं उक्कं अदिज्जं अमेज्जं अभमृप्पवसं अदंरको-
इडिमं अथरिमं गणियावरनारुइज्जलियं” (पुरीवर्णकः) ज०
११ श० ११ उ० । झा० । ज० । कल्प० ।

अदंतवण-अदन्तवन-त्रि० । दन्तधावनरहिते, अदन्तधावनो
धर्मो वीरमहापदमयोस्तीर्थेऽनुज्ञातः । स्था० ९ गा० ।

अदंभग-अदंभज-त्रि० । वञ्चनाऽनुगतवचनविरहिते, व्य० ३ उ० ।
१३२

अदं (दं) सण-अदर्शन-न० । न० । प्राकृते-“समासे वा” ॥ ७ । २ ।
९७ ॥ इति दस्य वा द्वित्वम् । प्रा० । चाकृपज्ञानभावेन न विद्यते
दर्शनं दृग् यस्येत्यदर्शनः । अन्धे, स्थानानिर्दिष्टोदयवति च । ग०
१ अधि० । न विद्यते दर्शनं सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तः । अयं च
दीक्षितः सन् विकलतया यत्र तत्र वा संचरन् पट्टायान् विरा-
धयेद्विषमकीलककण्टकादिषु च पतेत् । स्थानानिर्दिष्टो प्रविष्टो
गृहिणां साधूनां च मारणादि कुर्यात् । प्रव० १०७ द्वा० । घ० ।

“उविहो अदंसणो खलु, जाति उवघाततो य णायव्वो ।

उवघातो पुण तिविहो, वाहीउवघारअंजणत्ताप ॥ १ ॥

संगेणं चिय अवरो, थीणद्धीओ मुणयव्वो ।

एतेसि सो हि इमा, जहक्केणं मुणयव्वो ॥ २ ॥

उच्चियणयणे तह से-सपसु थीणद्धितो तु कमसो तु ।

उगुरु चउगुरु चरिमं, दोसा तहिं दिक्खिते इणमो ॥ ३ ॥

उक्कायविउरमणता, आवरुणं खाणुकंटादीसु ।

थंमिल्लअपमिल्लहा, अंधस्स ण कप्पती दिक्खी ॥ ४ ॥

अवहति य महादोसं, दंसणकम्मोदण थीणद्धी ।

एगमणेगय उ से, जं काही ते तु आवज्जे ॥ ५ ॥ पं० भा० ।

चौर, दे० ना० १ वर्ग ।

अदक्खु-अदृष्ट-त्रि० । न० ब० । अर्वाग्दर्शने, सूत्र० १ श्रु० २
अ० ३ उ० ।

अदद्-त्रि० । अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपश्य-त्रि० । पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्यः ! अन्धे,
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आकाङ्क्षी इत्यस्यापि ‘अदक्खु’
इति रूपम् । प्रति० । भ० ।

अदक्खुदंसण-अदक्षदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि,
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदृष्टदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तशासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ श्रु०
२ अ० ३ उ० ।

अपश्यकदर्शन-त्रि० । अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्यान्युपगतं द-
र्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः । स्वतोऽर्वाग्दर्शिनि, सूत्र० ।

अदक्खुव दक्खुवाहियं, सहसु अदक्खुदंसणा ।

इदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कमेण कम्मणा ? ?

(अदक्खुवेत्यादि) पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्यः-
ऽन्धः, तेन तुल्यं कार्याकार्याविवेचित्वादपश्यवत् । तस्याऽऽ-
मन्त्रणं हे अपश्यवत् ! अन्धसदृश ! प्रत्यक्स्यैवैकस्या-
ऽन्युपगमेन कार्याकार्यानजिज्ञा !, पश्येन सर्वज्ञेन, व्याहृतमु-
क्तं सर्वज्ञागमे, भद्रस्व प्रमाणीकुरु, प्रत्यक्स्यैवैकस्याऽऽभ्युप-
गमेन समस्तव्यवहारविलोपेन इत ! इतोऽसि, पितृनिबन्धनस्या-
ऽपि व्यवहारस्याऽसिद्धिरिति । तथाऽपश्यकस्याऽपि असर्वज्ञस्याऽ-
भ्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनः ; तस्याऽऽमन्त्रणं वा हे
अपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वाग्दर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च
सन् कार्याकार्याविवेचितयाऽन्धवद्भविष्यत् यदि सर्वज्ञान्यु-
पगमे नाऽकरिष्यत् । यदि वाऽदक्को वा अनिपुणो वा यादृश-
स्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्याऽसावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः
सर्वज्ञस्तस्माद्यद्वाप्यते हितं तत् भद्रस्व । इदमुक्तं जवति-
अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनेन हितं भद्रातव्यम् । यदि
वा हे अदृष्ट ! हे अर्वाग्दर्शन ! दृष्टाऽतीताऽनागतव्यवहितसू-

इमपदार्थदर्शना यद्वाहनमनिहितमागमः, तं भ्रष्टस्व । हे भ्रष्ट-
दर्शन !, अदक्षदर्शन ! इति वा, असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् !
तमात्मीयमाग्रहं परिच्छेद्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे भ्रष्टानं कुर्विति ता-
त्पर्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे भ्रष्टानमसुग्राह्यं करोति ये-
नैवमुद्दिश्यते । तन्निमित्तमाह-हं दोष्येवं गृहाण । हुशब्दो वा-
क्यालङ्कारः, सुष्ठु अतिशयेन निरुद्धमावृत्तं दर्शनं सम्यक् अव-
बोधरूपं यस्य सः । केनेत्याह-मोदयतीति मोहनोपमं, मिथ्या-
दर्शनादिः ज्ञानावरणोपादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः
प्राणः सर्वज्ञोक्तमार्गं न भ्रष्टते । अतस्तन्मार्गभ्रष्टानं प्रति बोधत
इति । सूत्रं १ ध्रु० २ अ० २ उ० ।

अदक्षवृत्त-अपश्यवृत्त-त्रि० । अपश्योऽन्धः, तेन तुल्यं कार्या-
कार्याविवेचित्वादपश्यवृत्तः । अन्धसदृशे कार्याकार्याननिष्ठे,
सूत्रं १ ध्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदद-अदद-त्रि० । दुर्बले, अ० ४ उ० । आचा० ।

अददार्थि-अददधृति-त्रि० । धृतिरहिते, नि० चू० १ उ० । असम-
र्थे, नि० चू० १ उ० ।

अदण-अदन-न० । अद-लुपु । जोजने, वृ० १ उ० ।

अदक्ष-अदक्ष-त्रि० । आकुलीभूते, वृ० १ उ० । विषादीकृते, "तेणं
वि य गिलाणेण ते अदक्षा " नि० चू० १ उ० ।

अदक्ष (दिष्)-अदक्ष-त्रि० । न० त० । अवितोर्णे, प्रश्न० ३ आ-
श्न० द्वा० ४० । अदक्षद्रव्यग्रहणरूपे तृतीये आश्रवभेदे, प्रश्न० १
आश्न० द्वा० । " हिंसामोसमदिष्णंभपरिगृहे " प्रव० १ द्वा० ।

अदक्ष (दिष्) हारि (ण्)-अदक्षहान्-त्रि० । अदक्षमप-
हर्तुं शीलमस्याऽऽसावदक्षहारी । परद्रव्यापहारके, " जे लूसण
होह अदक्षहारी, ण सिक्खती से य विपस्स किंचि " सूत्र० १
ध्रु० ३ अ० १ उ० ।

अदत्ता (दिष्) दाण-अदत्तादान-न० । अदक्षस्य स्वा-
मिजीवतीर्थकरगुरुभिरवितोर्णस्यानुज्ञातस्य सचित्ताचि-
त्तमिभ्रमेदस्य वस्तुन आदानं ग्रहणमदत्तादानम् । तच्च वि-
विधोपाधिवशादेनैकविधम् । " एगे अदिष्णादाणे " स्था० १
ठा० १ उ० । सूत्र० । चौर इति व्यपदेशनिबन्धने, उपा० १
अ० । परस्वापहारे, आच० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधर्मद्वारे यादृक् १ यन्नाम
२ यथा च कृते ३ यत्फलं ददाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति प-
ञ्चभिर्द्वारैः क्रमेण प्ररूपितं, तथैवैह प्रदर्श्यते-

- (१) यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादनम् ।
- (२) अदत्तादानस्य नामानि ।
- (३) (यथा च कृते) ये चादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
- (४) अदत्तादानं यत्फलं ददाति तन्निरूपणम् ।
- (५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
- (६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति ।
- (७) तपस्तेन्यादि न कुर्वीत ।

(१) तत्र यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपाद-
यंस्तावदाह-

ननु ! ततियं च अदिष्णादाणं हरदहमरणजयकनुसता-
मगपरंति । कज्जोनमूलकात्राविमसंसियं अहोऽच्छि-
त्ततएहपत्ता पत्तं इमंयं अकित्तिकरं अणुजं जिह-

पंतरविधुरवसणमगणउस्सवमत्तपमत्तपसुत्तवंचणाऽऽखि-
वणपायणपराणिहुयपरिणा।मतक्करजणवहुमयं अकलुणं रा-
यपुरिसरक्खियं सया साहुगरहणज्जं पियजणमित्तजणभे-
दविप्पीतिकारकं रागदोसबहुलं पुणां य उप्पूरसमरसंगाप-
दमरकलिकलहवहकरणं पुंमतिविणिवायवहणं जवपुनञ्ज-
वकरं चिरपरिचियं अणुगयं दुरंतं तयं अधम्मदारं ॥

हे जम्बू ! तृतीयं पुनराश्रवद्वाराणां किमदक्षस्य धनाद्रेरा-
वानं ग्रहणमदत्तादानम् ? । " हर दह " इत्येतौ हरणदाहयोः पर-
प्रवर्तनार्थौ शब्दौ, हरणदहनपर्यायौ वा छान्दसाविति । तौ च
मरणं च मृत्युः, भयं च भीतिरेता एव कलुषं पातकं, तेन त्रा-
सनं प्रासजनकं च रूपं यत्तत्तथा । तच्च तत् तथा (परसंत-
गत्ति) परसत्के धने यो गृह्णीतोभो रौद्रध्यानान्विता मूर्च्छा,
स मूलं निबन्धनं यस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तच्चेति कर्मधार-
यः । कालश्चार्धरात्रिविषयः, विषमश्च पर्वतादिदुर्गः, तैः संश्रित-
माश्रितं यत्तत्तथा । ते हि प्रायः तत्कारिभिराश्रीयत इति । (अ-
होच्छिन्नतएहपत्थाणपत्थोइमइयं ति) अधः अधोगतौ, अ-
च्छिन्नतृष्णानां अश्रुटितवाञ्छानां, यत् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्र-
स्तोत्री प्रस्ताविका प्रवर्तिका मतिबुद्धिर्द्विस्मिंस्तत्तथा । अकी-
र्तिकरणमनार्यम्; एते व्यक्ते । तथा छिद्रं प्रवेशद्वारम्, अन्तर-
मवसरः, विधुरमपायः, व्यसनं राजादिदत्ततापः, एतेषां
मार्गणम्; उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुत्तानां च वञ्चनं
च प्रतारणम्, आक्षेपणं च चित्तव्यग्रताऽऽपादनम्, घातनं च
मारणम्, इति द्वन्द्वः । तत एतत्परत एतन्निष्ठोऽनिभृतोऽनुप-
शान्तः परिणामो यस्यासौ छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणात्स-
वमत्तप्रमत्तप्रसुत्तवञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामः । स
चासौ तत्स्करजनः, तस्य बहुमतं यत्तत्तथा । वाचनान्तरे त्विदमे-
वं पठ्यते- " जिह्विसमपावगेत्यादि " छिद्रविषमपापकं च नित्यं
छिद्रविषमयोः संबन्धीदं पापमित्यर्थः । अन्यदाऽऽहितन्यायं
प्रायः कर्तुमशक्यमिति भावः । अनिभृतपरिणामसांक्रिष्टं तत्स्कर-
जनबहुमतं चेति । अकरणं निर्दयं, राजपुरुषरक्षितम्, तैर्निवारित-
मित्यर्थः । सदा साधुगर्हणीयं, प्रतीतम् । प्रियजनमित्रजनानां
जेदं वियोजनं विप्रीतिं विप्रियं करोति यत्तत्तथा । रागद्वेषबहु-
लं, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि (उप्पूरत्ति) उत्पूरणे प्राप्नुयेण
समगो जनमरकयुक्तो यः संग्रामो रणः स उत्पूरसमरसंग्रामः,
स च रुमरं भीत्यापलायनं, कलिकदहश्च राटीकदहो, न तु
रतिकलहः । वधश्चानुशयः, एतेषां करणं कारणं यत्तत्तथा ।
दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं, प्रतीतम् । भवे संसारे, पुनर्भवान् पुनरु-
त्पादान् करोतीत्येवं शीलं यत्तत्तथा । चिरं परिचितम्, अनुगत-
मव्युच्छिन्नतयाऽनुवृत्तं, दुरन्तं दुष्टावसानं विपाकदाहणत्वात्
तृतीयमधर्मचारं पापोपाय इति ॥

(२) अथ यन्नामेत्यभिधानुमाह-

तस्स य नामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-चोरिकं
१ परहदं २ अदत्तं ३ कूरिकं ४ परलाभो ५ असंजमो
६ परधणम्मि गेही ७ झोलिका ८ तक्करत्तणं ९ ति य
अवहारो १० इत्यलहुत्तणं ११ पावकम्मकरणं १२ ते-
णिको १३ हरणविप्पणासो १४ आदियणा १५ सुंपणा
धणाणं १६ अप्पच्चओ १७ ओवीहो १८ अक्खेवो १९

खेवो १० विक्रवो १? कूडया १२ कुलमसी य२३ कंखा
२४ लालपणपत्थणा २५ (असासणाय) वसणं १६ इच्छा
मुच्छा य १७ तएहा गेही य १८ नियइकम्मं १९ अवरो-
च्छत्ति वि य ३० । तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि
हुंति तीसं अदिएणादाणस्स पावकल्लिकल्लुसकम्मवहुल्लस्स
अणेगाइं ।

“तस्सेत्यादि” सुगममा तद्यथेत्युपदर्शनार्थः॥ (चोरिकं ति) चोर-
णं चोरिका, सैव चोरिकयम् १, परस्मात् सकाशात् इतं परद्वतम्
२, अदत्तम्-अविनीर्णम् ३, (कूरिकं ति) कूरं चित्तं, कूरो वा
परिजनो येयामास्ति ते कूरिणस्तेः कृतमनुष्ठितं यत्तत्तथा । कच्चित्तु
‘कुसुंठुककृतमिति’ दृश्यते । तत्र कुसुंठुकाः काकटुकबीजप्राया
अयोग्याः सदगुणानामिति ४, परलाभः परस्माद् छव्यागमः ५,
असंयमः ६, परधने गृहिः ७, (लौघिकं ति) घैल्यम् ८, तस्कर-
त्वमिति ९, अपहारः १०, (हत्थलत्तणं ति) परधनहरणकुत्सितो
इस्तो यस्यास्ति स हस्तव्रतः, नद्धावो हस्तलत्वम् । पागान्तरेण-
‘हस्तव्रधुत्वमिति’ ११, पापकर्मकरणं १२, (तेणिकं ति) स्वैनि-
कस्तेयम् १३, हरणेन मोषणेन विप्रणाशः परछव्यस्य, हरणं
च तद् विप्रणाशः १४, (आदिथणं ति) आदानं, परधनस्येति
गम्यते १५, लोपेन अवच्छेदने धनानां द्रव्याणां, परस्येति ग-
म्यते १६, अप्रत्ययकारणत्वाद्प्रत्ययः १७, अवपीरुनं परेषामि-
त्यवपीरुः १८, आक्षेपः, परछव्यस्येति गम्यते १९, क्षेपः परह-
स्ताद् छव्यस्य प्रेरणम् २०, एवं विक्रपोऽपि २१, कूडता तुला-
दीनामन्यथात्वम् २२, कुलमयी वा कुलमालिन्यहेतुरिति कृत्वा
२३, काह्ना, परछव्य इति गम्यते २४, (दावपणपत्थणं ति)
लालपनस्य गर्हितवालपनस्य प्रार्थनेन प्रार्थना लालपनप्रार्थना,
चौर्ये हि कुर्वन् गर्हितलपनानि तदपलापरूपाणि, दीनवचनरूपा-
णि वा प्रार्थयति च, तत्र हि कृते तान्यवश्यं वक्तव्यानि जवन्ती-
ति भावः २५, व्यसनं व्यसनहेतुत्वात् । पागान्तरेण-“असा-
सणाय वसणं” आशंसनाय विनाशाय व्यसनमिति २६,
इच्छा च परधनं प्रत्यभिलाषा, मूर्च्छा तत्रैव गाढाजिघृक्षरूपा,
तद्धेतुकत्वाददत्तग्रहणस्येति इच्छा मूर्च्छा तदुच्यते २७, तृ-
ष्णा च प्राप्तछव्यस्याव्ययेच्छा, गृह्णिश्चाप्राप्तस्य प्राप्तिवाञ्छा,
तद्धेतुकं चादत्तादानमिति तृष्णा गृह्णिश्चोच्यत इति २८,
निकृतेर्मायायाः कर्म निकृतिर्कर्म २९, अविद्यमानानि परे-
षामक्रीणि छुट्यतया यत्र तदपरोक्षम्, असमकृमिर्त्यर्थः । इतिः
रूपप्रदर्शने, अपिचेति समुच्चये ३० । इह च कानिचित्पदानि
सुगमत्वात् व्याख्यातानि । (तस्स ति) यस्य स्वरूपं प्राग्वर्णितं
तस्यादत्तादानस्येति संबन्धः । एतान्यनन्तरोदितानि त्रिशदिति
योगः । एवमादिकानि एवंप्रकाराणि वाऽनेकानीति सम्बन्धः ।
अनेकानीति कचिन्न दृश्यते । नामधेयानि नामानि जवन्ति । किं
नूतस्य अदत्तादानस्य ?, पोपेनापुण्यकर्मरूपेण कलिना च युद्धेन
कलुषाणि मलीमसानि यानि कर्माणि मित्रघ्नादिव्यापाररूपा-
नि, तैर्बहुलं प्रचुरं यत्तानि वा बहुलानि बहूनि यत्र तत्तथा, तस्य ।

(३) अथ येऽदत्तादानं कुर्वन्ति तानाह—

तं पुणं करेति चोरियं तकरा परदव्वहरा छेया कयकरणल-
ल्लव्वखा साहसिया द्दहुस्सगा अतिमहिच्छलो जगत्था दद-
रओबीलका य गिच्छिया अहिमरा अणभंजका जगसंधि-
या रायउत्तकारी य विसयनिच्छदलो कवज्झा उव्वहकगाम-

घायकपुरघायकपंथघायकआदीवकतित्थजेया लहुहत्थसं-
पउत्ता जूयकरा खंडरखत्थी चोरपुरिस चोरसंधिच्छेया य गं-
ठिनेदका परधणहरणलोमावहारअक्खेवी हरकारकनि-
म्मदगगूढचोरगोचोरअस्सचोरकदासिचोरा य एकचोरा य
ओकटुकसंपदायकओठिपकसत्थघायकविलकोट्टीकारका य
निग्गाहविप्पट्टुपगा बहुविहं तेणिकहरणबुद्धी, एते अस्से य
एवमादी परस्स दव्वहिं जे अविरया ॥

विपुलवन्नपरिगहा य बहवो रायाणो परधणम्मि गिच्छा
सए दव्वे असंतुट्ठा परविसए अहिहणंति लुच्छा परधणस्स
कज्जे, चउरंगमपत्तवल्लसमगा निच्छियवरजोहजुप्पसच्छा
य अहमहमिति दापिण्हिं सेनेहिं संपरिबुद्धा पउमसगरुसू-
इचकसागरगल्लबूदादिण्हिं अणीण्हिं उच्छरंता अभिचूय
हरंति परधणाइं । अवरे रणसीसलल्लव्वखा संगामं अति-
वयंति, सएणल्लव्वपरियरउपाभियचिंधपट्टगहिया आ-
उहपहरणा माठिवरवम्मगुंभिया आविच्छजालिका कवयकं-
दइया उरसिरमुहबद्धकंउतोणा, पाइयवरफलकराचियपह-
करसरजसखरचावकरकरांचियमुनिसितसरवरिसवरकरकमु-
यंतघणचंरुवेगभारानिवायमगे अणेगधणुमंडलगसंधि-
तउच्छन्नियमत्तिकणगत्रामकरगाहियखेडगानिम्मदानिक्किडल-
गपहरंतकुंततोमरचक्कगयापरमुसललंगल्लसूललउरुभिं—
मिपालतवन्नपट्टिनचम्मेट्टघणमोठियमोगरवरफल्लिहजंतप-
त्थरउहणतोणकुवेणीपीडाकलिण् इलीपहरणमिळिमि-
लितखिपंतविज्जुज्जलविरचितसमप्पहनहतत्थे फुरुपहर-
णे महारणसंखभेरिवरतूरुपरपुडडाहयनिनायगंभीरणं-
दितपक्खुभियविपुलघोसे हयगयरहजोहतुरियपसरियर-
युद्धततमंधकारबहुत्थे कायरनरनयणहिययवाउलकरे विलु-
लियउक्कडवरमउरुकिरिऊरुओरुदामाऽऽनोवियपगरुप-
डागउच्छियथयवेजयंतिचामरचलंतल्लतंसंधकारगंभीरे हय-
हेसियहत्थिगुलगुलाइयरहघणघणाइयपाइकरहराइयअ-
फोनियसीहनायाळिलियविपुहुकुडकंउकयनइजीमगाजिण्
सयरयहसंतरुसंतकल्लकल्लवे असूणियवयणरुइजीमदस-
णाधरोट्टगाढददसप्पहारकरणज्यकरे अमरिसवसतिव्वर-
त्तनिहारितऽच्छिवेदिट्टिकुद्धेडियतिवलीकुडिल्लभिगुडिक-
यल्लदाने वधपरिणयनरसहसविक्रम्मवियंजियवले वगंततु-
रंगरहपहावियसमरभडावाकियछेयल्लाघवपहारसाधितस-
मूरसवियबाहुजुयलमुक्कट्टहासपुक्तवोडवहुत्थे कलक-
लगाफलफलगावरणगहियगयरपत्तंतदरियजमसलपरो-
प्परपल्लगजुप्पगव्वियविउसितवरातिरोसतुरियअजिमुहप-
हरंतल्लिण्णकरिऊरुविंजियकरे अवइडनिमुच्चजिन्नफा-
ल्लियपगल्लियरुहिरकयचूमिकदमचिक्खिबहुत्थे कुडिदालि-

पगलितनिज्जेनितंतपुरपुरंतविगल्लमम्महयविगयगाढद्विष-
पडारमुच्छित्तल्लंतविज्जलविक्कावककुणे हयगोहजसंतु-
रगउडामत्तकुंजरपरिसंक्रियजणणिम्मकउणिणद्वयभ—
गरहवरनट्टमिरकरिक्केलवराकिणणपास्यपहरणविकिन्ना-
जरणजूमितागे नच्चंतकबंधपउरे भयंकरवायसपरिलित्त-
गिष्मंरुलभमंतत्रायंउधकारगंभीरे, तमुक्कमुहविकंपितव्व पच्च-
क्खपिउवणं परमरुद्धवीहणं दुप्पवेमतरगं अजिर्वि-
ति संग्गामसंकरं पणधणमहंता, अवरे पाइक्कोरसंधा
सेणावड्चोर्गदपागाहिका य अरुविंदसदुग्गवासी काव्ह-
रितरत्तपीतमुक्किन्नअणेगसयचिधपट्टंधा परविसए अभि-
हणंति लुक्का धणस्स कज्जे, रयणागरमागरं च उम्मीसहस्स-
मालाऽऽकुलविगयपोतकल्लकल्लंतकलितं पाताल्लकल्लसह-
स्सवायवसवेगमल्लिलउच्छम्ममाणदगरयरयंउधकारं वरफेण-
पउरधवन्नपुल्लपुल्लनमुट्टियाट्टहामं मारुयविकसुत्तमाणपा-
णियजलमालुप्पलहुलियं तं पिय समंतओ क्खुजियहुलि-
तखोसुभमाणपक्खल्लियचलियविपुल्लजलचक्कवालमहान-
दीविगतुरियआपूरमाण। गभीरविपुल्लआवत्तचंचलजममाण-
गुप्पमाणुव्वल्लंतपच्चोणियंतपाणियपधावितखरफरुमपयंडवा-
डलियसन्निकुट्टंतवीचिकल्लोन्नमेकुलं महामगरमच्छकच्छ-
भोहारगाहतिमिंसुसमारमावयसमाहतममुच्छायमाणयपूरधो-
रपउरं कायरजणद्विययकंपणं घोरमारसंतं महज्जनं भ-
यंकरं पतिजयं ठत्तामणं अणोरपारं अगामं चैव निरवल्लं
उप्पाइयपवणधणियणोद्धियउव्वरितरंगदरियअतिवेगच-
क्खुपट्टपोच्छरंतं कथं गंभीरविज्जलगज्जियगुंजियनिग्गायग-
रुयनिवतितमुदीहनीहारिदूरमुल्लंतगंजीरयुगधुगंतिमहं पकि-
पहंभंतजक्खरक्खमकहंरुपिसायरुसियतज्जायउवमग्ग—
सहस्मसंकुलं बहूप्पाइयज्जयं विरचितवलिहोमधूमउवचारदि-
प्परुट्टिरउच्चणाकरणपयतजोगपयतचरियं परियंतजुगंउत्ता-
लकपोवमं दुंतमहानइनइव्वमहाजीमदरिसणिज्जं दुरणुचरं
विममप्पवेमं दुक्खुत्तारं दुरामयं लवणसाल्लिलपुणं
असितामियममुच्छियगोहिं हत्थतरेकेहिं वाहणेहिं अतिवड्-
त्ता समुदमज्जे हणंति, गंतूण जणस्स पांत्ते परद-
व्वहरा नरा निरणुक्कपा, निरवेक्खा गामागरनगरखे-
डक्कडमंरुवदोणपहपट्टणासमाणिमज्जणवयं ते य धणस-
मिच्छं हणंति, थिरद्विययच्छिन्नज्जजा वंदिग्गह गोग्गहा य
गेहंति, दारुणमतिनिक्किवा णियं हणंति छिंदंति गेहमंधि-
निक्खित्ताणि य दूरंति, धणधणदव्वजायाणि जणवयकु-
लाणं निग्गियमदी पग्गद्वारिं जे अविरया, तदेव केहिं
अदिष्सादाणं गवेसमाण काव्वाकालेसु संचरंता चितग-
पज्जलियमरमदग्गदृक्कद्वियकल्लेवरे रुट्टिरजिन्नवदणअक्खय-
खादियपीतकाइणिजमंतजयकरं जंयुयाविकिखयंतं पूयकय-

घोरमहे वेयालुट्टियविसुक्कहकहंतपहासितवीहणग—
निरजिरामे अतिवीचज्जदुच्चिभगंधग्गिसणिज्जे सुमाणे
वणे सुप्पवरलेणअंतरावणगिरिकंदरविमसावयसमाकुलसु
वमाहेसु किलिस्मंता सीतातवमोसियसरीरा दहृच्छविनि-
रयातिरियजवसंकमदुक्खसंज्जारवेदणिज्जाणि पावक्कम्माणि
मंचिणंता दुल्लज्जज्जवणपाणभोयणपिवामिया भुंजिया
किंजंता ममकुणिमकंदमूले जं किंचि कयाहारा उव्विग्ग-
उप्पुया असरणा अरुवीवासं उव्वेति, वाद्वसतसंकणीयं
अयसकरा तकरा जयंकरा कस्स हरामोत्ति अज्जदव्वं इति
समामंतं करेति, गुज्जं बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु
विग्गकरा मत्तप्पमत्तपमुत्तवीसत्यद्विदघाती वमणस्सुदएसु
हरणवुद्धी विगव्व रुट्टिरमहिया परितत्ति नरवतिमज्जायम-
तिकंता सज्जणजणदुग्गंछिया सकम्महिं पावक्कम्माणी अ-
मुत्तपरिणया य दुक्खभागी निच्चाउल्लदुहमनिव्वुडमणा इह
लोके चैव किलिस्मंता परदव्वहरा नरा वसणसयमावसा।

(तं पुणेत्यादि) तत् पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः, तदेव चौर्यं
कुर्वन्तीत्येवंशीलाः तस्कराः परव्यवहाराः, प्रतीतम, ठेका
निपुणाः, कृतकरणा बहुशो विहितचौरानुष्ठानाः, ते च लब्धल-
क्षाश्च अवसरज्ञाः कृतकरणव्यवस्थाः, साहसिका धैर्यवन्तः,
लघुस्वकाश्च तुच्छात्मानः, अतिमहच्छाश्च शोचनस्तथाश्चेति समासः।
[दूरभोवीवगा य स्ति] दर्दरेण गवददर्दरेण, वचनाटोपेनेत्यर्थः।
अपवीर्यन्ति गोपायन्तमात्मस्वरूपं परं विलज्जीकुर्वन्ति ये ते
दर्दरापवीरिकाः, मुष्णन्ति हि शतात्मानः—तथाविधवचनाक्के-
पप्रकाटितस्वभावं मुग्धजनमिति । अथवा—दर्दरेणोपपीर्यन्ति
जातमनोबाधं कुर्वन्तीति दर्दरोपपीरिकाः, ते च गृहि कुर्वन्ती-
ति गृहिकाः । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽजिमराः । ऋणं
देयं छव्यं भज्जन्ति न ददति ये ते ऋणजञ्जकाः । भग्नाः
लोपिताः सन्धयः विप्रतिपत्तौ संस्था येस्ते भग्नसन्धिकाः,
ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। राजदुष्टे कोशहरणादिकं कुर्वन्ति ये
ते तथा । विषयान्मण्डलात् (निच्छृदंति) निर्द्धारिता ये ते,
तथा शोकवाह्या जनबहिष्कृताः, ततः कर्मधारयः । उद्दोह-
काश्च घातकाः, उद्दोहकाश्च वा अट्टव्यादिदाहकाः, ग्रामघातका-
श्च पुरघातकाश्च पथि घातकाश्च गृहादिप्रदीपनककारिणः तीर्थ-
भेदाश्च तीर्थमोचका इति द्वन्द्वः। लघुहस्तेन हस्तबाधवेन संप्रयु-
क्ता ये ते । तथा (जूयकरे स्ति) दूतकराः, खण्डकराः शुद्धक-
पात्राः, कोट्टपाला वा, स्त्रियाः सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति,
स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौराः, एवं पुरुषचौरका अपि । सन्धि-
च्छेदाः स्वावखानकाः, एतेषां द्वन्द्वः । ततस्ते च ग्रन्थिभेदका
इति वक्तव्यम् । परधनं हरन्ति ये ते तथा परधनहारिणः । शो-
मान्यवहरन्ति ये ते शोमावहराः । निःशुक्तया भयेन परप्रणा-
न्विनाइत्येव मुष्णन्ति ये ते शोमावहरा उच्यन्ते । आक्षिपन्ति
वशीकरणादिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः । एतेषां द्व-
न्द्वः। [इरुकारग स्ति] हठेन कुर्वन्ति ये ते हठकारकाः। पाठान्त-
रेण—“परधनहारलोहावहारवक्त्रेवहिंसकारक स्ति” सर्वेऽप्ये-
ते चौरविशेषाः । निरन्तरं मर्दयन्ति ये ते निर्मर्दकाः। गृहचौराः
प्रच्छन्नचौराः, गोचौराः, अश्वचौरकाः, दासीचौराश्च प्रतीताः।

पतेषां द्वन्द्वः । अतस्ते च एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो इरन्ती-
ति । [ओक्कट्टि] अपकर्षका ये गेहाद् ग्रहणं निष्कासय-
न्ति चौराण्यकार्यं परगृहाणि मोषयन्ति, चौरपृष्ठवदा वा । संप्र-
दायकाश्चौराणां जक्तकादि प्रयच्छन्ति । (ओक्कट्टि) अव-
च्छिम्पकाश्चौरविशेषा एव । सार्थघातकाः प्रतीताः । विलकोली-
कारकाः परव्यामोदनाय विसर्वरवचनवादिनो, विसर्वरवच-
नकारिणो वा । पतेषां चन्द्रः । ते च निग्रहाद्ग्रहणाभिप्रायं रा-
जादिना गृहीता इत्यर्थः । ते चैते विप्रहोपकाश्चेति समासः ।
बहुविधेन (तेणिकक ति) स्तेयेन इरणे बुद्धियेषां ते 'बहुविह-
तेणिककहरणबुद्धि' । पाठान्तरेण- (बहुविधतहाऽवहरणबुद्धि
ति) बहुविधा तथा तेन प्रकारेणापहरणे बुद्धियेषां ते तथा ।
एते उक्तरूपाः ; अन्ये चैतेऽन्यः एवंप्रकारा अदत्तमाददतीति प्रक-
मः । कथं ज्ञातास्ते ? इत्याह-परस्य छव्याद्ये अविरता अनिवृत्ताः ॥
इति ये अदत्तादानं कुर्वन्ति ते उक्ताः ॥

अधुना त एव यथा तत् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुलं बलं सा-
मर्थ्यं परिग्रहश्च परिवारो येषां ते तथा । ते च बहवो रा-
जानः परधने गृहाः । इदमधिकं वाचनान्तरे पदत्रयम् । तथा
स्वके छव्ये असंतुष्टाः परविषयान् परदेशानभिघ्नन्ति बुद्ध्याः,
धनस्य कृते इत्यर्थः । चतुर्भिर्द्वैविजक्तं समाप्तं वा यद्वत् सै-
न्यं तेन समग्रा युक्ता ये ते तथा । निश्चितैर्निश्चयवद्भिर्वरयोधैः
सह यद्युक्तं संग्रामस्तत्र श्रद्धा संजाता येषां ते तथा, ते च ते
अहमित्येवं दर्पिताश्च दर्पवन्त इति समासः । तैरेवंविधैः भृत्यैः
पदातिभिः । कचित्सैन्यैरिति पठ्यते । संपरिवृताः समेताः, तथा
पञ्चाशकटसूचीचक्रसागरगरुडव्यूहानि, तैः । इह व्यूहशब्दः प्र-
त्येकं संबध्यते । तत्र पञ्चाकारो व्यूहः पञ्चव्यूहः, परंपामनभि-
भवनीयसैन्यविन्यासविशेषः । एवमन्येऽपि पञ्च । एतै रचि-
तानि यानि तानि तथा तैः । कैः ? अनैकैः सैन्यैः । अथवा-पञ्चा-
दिव्यूहा आदियेषां गोमूत्रिकाव्यूहादीनां ते तथा । तैरुपलक्षितैः,
कैः ? अनैकैः । (उच्छ्रुरंत ति) आस्तु एवन्त आच्छादयन्तः, परा-
नीकानिति गम्यम् । अभिभूय जित्वा, तान्येव हरन्ति, परध-
नानीति व्यक्रमः । अपरे सैन्यापृतेभ्यो नृपेभ्योऽन्ये स्वयं यो-
द्धारो राजानो रणशीर्षे संग्रामशिरासि प्रकृष्टरणे लब्धं लब्धं
यस्ते तथा । 'संगमं ति' द्वितीया सप्तम्यर्थेति कृत्वा संग्रामे
रणे अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव योध-
यन्ति । किंभूताः ? सन्नद्धाः सन्नहनादिना कृतसन्नाहाः, बद्धः प-
रिकरः कवचां यैस्ते तथा । उत्पाटितो गाढबद्धश्चिह्नपटो ने-
त्रादिचीवरात्मको मस्तके यैस्ते तथा । गृहीतान्यायुधानि श-
स्त्राणि प्रहरणानि यैस्ते तथा । अथवा-आयुधप्रहरणानां ते-
प्याक्षेप्येन कृतो विशेषः । ततः सन्नद्धादीनां कर्मधारयः । पूर्वो-
क्तमेव विशेषणं प्रपञ्चयन्नाह-'मादी' तनुत्राणविशेषः, तेन धर-
मणा च प्रधानतनुत्राणविशेषेणैव गुण्डिताः प्रेरिता ये ते
मादीधरधर्मगुण्डिताः । पाठान्तरेण- (धम्मटिवम्मगुण्डिता)
तत्र 'गुडा' तनुत्राणविशेष एव; अन्यत् तच्चैव । आविद्धा परि-
हिता जालिका लोहकञ्चुको यैस्ते तथा । कवचैश्च तनुत्राण-
विशेषेणैव कण्टकिताः कृतकवचा ये ते तथा । उरसा घृक्षसा
सह शिरोमुखा ऊर्ध्वमुखा बद्धा यन्त्रिताः कण्ठे गले तोणा-
स्तूर्णीराः शरधयो यैस्ते उरशिरोमुखबद्धकण्ठतोणाः ।
तथा [पासिय ति] हस्तपाशितानि धरफलकानि प्रधानफ-
लकानि यैस्ते तथा । तेषां सक्तो रचितो रणोचितरचनाविशेष-
ण परप्रयुक्तप्रहरणप्रहारप्रतिघाताय कृतः [पहकर ति] समु-

दायो यैस्ते तथा । ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः । अतस्तेः
सरभसैः सहर्षैः खरचापकैः निष्ठुरकोदण्डहस्तैः, धातुष्कैरि-
त्यर्थः । ये कराभिचिताः कराकृष्टाः सुनिशिता अतिनिशिताः
शरा बाणास्तेषां यो वर्षवटकरको वृष्टिविस्तारो (मुयंत ति)
मुच्यमानः स एव घनस्य मेघस्य चण्डवेगानां धाराणां नि-
पातः तस्य मार्गो यः स तथा । तत्र 'मंते ति' पाठान्तरं च । तत्र
मत्प्रत्ययान्तत्वाभिपातवति संग्रामेऽतिपतन्तीति प्रक्रमः ।
तथा अनेकानि धनुषि च मण्डलाप्राणि च खड्गविशेषाः, तथा
सन्निधताः क्षेपणायोद्गीर्णा उच्छ्रुलिता ऊर्ध्वगताः शक्तयश्च त्रि-
शूलरूपाः, कनकाश्च वाणाः, तथा वामकरगृहीतानि खेट-
कानि च फलकानि, निर्मला निकृष्टाः खड्गाश्च उज्ज्वलवि-
कोशीकृतकरवालाः । तथा प्रहरन्ति प्रहारप्रवृत्तानि कुन्तानि
च शस्त्रविशेषाः, तोमराश्च वाणविशेषाः, चक्राणि च अराणि,
गदाश्च दण्डविशेषाः, परशवश्च कुठाराः, मुरालानि च प्रती-
तानि, लाङ्गलानि च हस्तानि, शूलानि च, लगुडाश्च प्रतीताः । मि-
न्दिपालाश्च शस्त्रविशेषाः । शवलाश्च भल्लाः । पट्टिशास्त्राश्च
विशेषाः, चर्मपट्टाश्च चर्मनद्धपाषाणाः, घनाश्च मुक्तरविशेषाः, मौ-
ष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणपाषाणाः, मुक्तराश्च प्रतीताः, वरपरिघाश्च
प्रवलार्गलाः, यन्त्रप्रस्तराश्च गोफणादिपाषाणाः, दुष्पणाश्च ह-
कराः, तोणाश्च शरधयः, कुबेर्यश्च रुदिगम्याः, पीठानि च
आसनानीति द्वन्द्वः । एभिः प्रतीताप्रतीतैः प्रहरणविशेषैः कलि-
तो युक्तो यः स तथा । तत्र इलीभिः करवालविशेषैः प्रहरणैश्च
(मिलिर्मिलित ति) चिकचिकायमानैः (खिण्यंत ति) क्षिप्य-
माणैः विद्युतः कृष्णप्रभाया उज्ज्वलाया निर्मलाया विरचिता वि-
दिता समा सदृशी प्रभा दीप्तियंत्र तत् तथा । तदेवंविधं न-
भस्तलं यत्र स तथा ; तत्र संग्रामे तथा स्फुटप्रहरणे स्फुटानि
व्यक्तानि प्रहरणानि यत्र स तथा तत्र संग्रामे, तथा महारणस्य
संबन्धीनि यानि शङ्खश्च, जेरी च दुन्दुभिः, धरतूर्य च लोकप्रती-
तम्, तेषां प्रचुराणां पटूनां स्पष्टध्वनीनां पट्टानां च पट्टहकानामा-
हतानामास्फालितानां निनादेन ध्वनिना गम्भीरेण बहलेन ये न-
न्दिताः हृष्टाः, अचुभिताश्च जीतास्तेषां विपुलो विस्तीर्णो घोषो
यत्र स तथा तत्र । हयगजरयोधेभ्यः सकाशात् त्वरितं शी-
घ्रं प्रसृतं प्रसरमुपगतं यद्भजो धूलौ तदेवोद्धततमान्धका-
रमतिशयं प्रबलं तमिस्रं तेन बहुलो यः स तथा तत्र, तथा का-
तरनराणां नयनयोर्दृश्यस्य च (घावति ति) व्याकुलत्वं क्रोधं
करोतीत्येवंशीलो यः स तथा तत्र । विलुलितानि शि-
थिलतया चञ्चलानि यान्युत्कटवराण्युन्नतप्रवराणि मुकुटानि
मस्तकाभरणविशेषाणि किरीटानि च तान्येव शिखरत्रयोपेता-
नि, कृण्णलानि च कर्णाभरणानि, रुमुदामानि च नक्तत्रमाद्याभि-
धानाभरणविशेषाः, तेषामाटोपः स्फारता सा विद्यते यत्र स
विलुलितोत्कटवरमुकुटाकिरीटकृण्णलोद्दामाटोपित इति । तथा
प्रकटा याः पताकाः, उच्छ्रिताश्च ऊर्ध्वकृता ये गजगरुडादिचञ्च-
लैः प्रयत्यश्च विजयसूचिकाः पताका एव नामराणि बलमि-
त्राणि च तेषां सम्बन्धि यदन्धकारं तेन गम्भीरोऽलक्षमस्यो
यः स तथा कर्मधारयः, ततस्तत्र; हयानां यद्देवितं शब्दविशे-
षः, हस्तिनां यद्गुमुगुलायितं शब्दविशेष एव, तथा रथानां यत्
(घणघणाय ति) घणघणेत्येवंरूपस्य शब्दस्य करणम्, तथा (पा-
हति ति) पदातीनां यत् (हरहराश्च ति) हरहरेतिशब्द-
करणम्, आस्फोटितं च करास्फोटरूपं सिंहनादश्च सिंहस्येव
शब्दकरणम्, (गिलिय ति) सण्डितं सौत्कारकरणम्, विधुष्टं च

विरूपधोवरणं, उत्कृष्ट उत्कृष्टतादः, आनन्दमहाध्वनिरित्यर्थः ।
 कण्ठकृतसदृश, तथापिधो गलरवः, त एव भीमगर्जितं
 मेघध्वनिर्यत्र स तथा तत्र । एकहेलया हसनां रूपतां वा कल-
 लकृपा रवो यत्र स तथा तत्र । तथा अश्रुजितेनेपन्शुशीकृतेन व-
 दनेन ये रौद्रा जीवणास्ते तथा । तथा जीमं यथा जवनेत्येवं दश-
 नैरथोष्टौ गाढं दष्टौ यैः ते तथा । ततः कर्मधारयः ततस्तेषां ज्ञानां
 सत्प्रहरणं सुष्ठु प्रहारकरणे उद्यताः प्रयत्नप्रवृत्ताः करा यत्र स
 तथा तत्र । तथा अमर्षघनेन कोपघनेन तीव्रमन्यर्थं रक्त लाहिते
 निर्दारिते विस्फारिते अक्षिणी द्रोचने यत्र स तथा । वैरप्रधाना
 हृष्टिवैरहृष्टिः, तथा वैरहृष्ट्या वैरबुद्ध्या वैरजावेन ये क्रुद्धाश्चे-
 ष्टिताश्च तैः । त्रिवली कुटिला वलित्रया वक्रा भ्रुकुटिनयनल-
 लाटविकारविशेषकृता ललाटे यत्र स तथा तत्र । तथा वध-
 परिणतानां मारणाध्यवसायवतां नरसहस्राणां विक्रमेण पुरु-
 षाकारविशेषेण विजृम्भितं विस्फुरितं बलं शरीरसामर्थ्यं यत्र
 स तथा तत्र । तथा वज्रगुत्तङ्गः रथैश्च प्रधाविता वेगेन प्रवृत्ता
 ये समरभटाः संग्रामयोधास्ते तथा । आपतिता योद्धुमुद्यताः,
 वेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षताप्रयुक्तघातेन साधिता निर्मिता
 यैस्ते तथा (समूरसवियंति) समुच्चितं हर्षातिरेकादूर्ध्वकृतं
 बाहुयुगलं यत्र तत्तथा, तद्यथा भवतीत्येवं मुक्तादृहासाः कृत-
 महाहामध्वनयः । (पुष्कन्ति) पुष्कन्तः पुष्कारं कुर्वाणाः,
 ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां यो बोलः कलकत्रः स बहुबो
 यत्र स तथा तत्र । तथा (फलगावरणगहियंति) स्फाराश्च
 फलकानि च आवरणानि च सम्राटा गृहीतानि यैस्ते तथा
 [गयवरपथ्यन्ति] गजवरान् रिपुमत्तङ्गजान् प्राध्वयमाना
 हन्तुमागच्छन् वा प्रभिलष्यमानास्तत्र शक्तास्तच्छ्रीवा वा ये ते त-
 था । ततः कर्मधारयः । ततस्ते च ते दृढमष्टखलाश्च दर्पितयो-
 धपुष्टा इति समासः । ते च ते परस्परप्रलम्बाश्च, अन्योन्यं यो-
 दुमारब्धा इत्यर्थः । ते च ते युद्धगर्विताश्च योधनकलाविज्ञान-
 गर्विताः, ते च ते विकोशितवरासिभिः निष्कर्षितवरकरवाहैः, रो-
 षेण कोपेन त्वरितं शीघ्रम्, अभिमुखमानिमुख्येन प्रहराद्भिन्नाः
 करिकरा यैस्ते तथा । ते चेति समासः । तेषां [विगियंति]
 व्यङ्गिताः खण्डिताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा [अवहृ-
 ण्ति] अपविष्टास्तोमरादिना सम्यग्विष्टाः निवृद्धभिन्नाः स्फाटि-
 ताश्च विदारिता यैः तेन्यो यत्प्रगलितं रुधिरं तेन कृतो जूमौ
 यः कर्ममस्तेन त्रिष्विहृदा विज्ञोनाः पन्थानो यत्र स तथा
 तत्र । तथा कुक्कौ दारिताः कुक्किदारिताः गलितं रुधिरं स्रवन्ति
 स्रवन्ति वा जूमौ लुगन्ति, निम्भेलितानि कुक्किता बहिष्कृतानि अ-
 न्त्राणि उद्गमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । [फुरफुरताविगल-
 ण्ति] फुरफुरयमानाश्च विकलाश्च विरुद्धेन्द्रियवृत्तयो ये ते ।
 तथा मर्मणि हता मर्महताः, विकृतो गाढो यत्र दत्तः प्रहारो येषां
 ते तथा । अत एव मूर्द्धिताः सन्तो जूमौ लुगन्तः विह्वलाश्च नि-
 स्सहाङ्गाः ये ते तथा । तथा कुक्किदारितादिपदानां कर्मधारयः ।
 ततस्तेषां विज्ञापः शब्दविशेषः करुणा दयाऽऽस्पदं यत्र स तथा
 तत्र, तथा इना विनाशिता योधा अश्वाराहादयो येषां ते तथा ।
 तत्र ते वदन्त्या संग्रामान्तस्तुरगाश्च उदाममत्तकुञ्जरश्च परि-
 शङ्कितजनाश्च भीतजनाः (निम्मुक्कञ्जिभव्यंति) निर्मूलाः त्रिभाः
 केतवो भग्ना दक्षिता रथवराश्च यत्र स तथा । नष्टशिरोभि-
 त्तिन्नमस्तकैः करिकत्रेवैः दन्तिशरीरैर्गकीर्णा व्याप्ताः पतित-
 प्रहरणा ध्वस्तायुधाः, विकिर्णानाणा विज्ञितावङ्काराः, जूमेभीगा

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः ; तत्र । तथा नृत्यन्ति क-
 वन्धानि शिरोरहितकत्रेवराणि प्रचुराणि यत्र स तथा । जयंकर-
 धायसानां [परिज्ञितगिरुंति] परिज्ञीयमानगृहानां यन्माम्रुवं
 चक्रवाहं ज्ञाम्यतः संचरतस्तस्य या ग्राया तथा यद्व्यक्तरं तेन ग-
 म्नीरो यः स तथा । तत्र संग्रामे, अपरे राजानः परधनगृहाः, अ-
 तिपतन्तीति प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमर्थं संक्षिप्ततरेण वाक्येनाह-
 वसवो देवाः, वसुधा च पृथिवी, विकम्पिता यैस्ते तथा । ते इव रा-
 जान इति प्रकमः । प्रत्यक्मिव साक्षादिव तद्धर्मयोगात्पितृवन्
 श्मशानं प्रत्यक्पितृवन्म (परमरुद्धवीहणंति) अत्यर्थदहणं भ-
 यानकं दुष्प्रवेशतरकं प्रवेष्टुमशक्यं, सामान्यजनस्येति गम्यम् । अ-
 तिपतन्ति प्रविशन्ति संग्रामसंकटं संग्रामसमग्रहं, परधनं परद्वयं
 (महंतंति) इच्छत इति । तथा अपरे राजन्या अन्ये (पाद्वक्चो-
 रसंघा) पदतिरूपचौरसमूहाः, तथा सेनापतयः किं स्वरूपाः, ?
 चौरवृन्दप्रकर्षकाश्च, तत्प्रवर्तका इत्यर्थः । अटवीदेशे यानि दुर्गा-
 णि जलस्थवदुर्गरूपाणि तेषु वसन्ति ये ते तथा । कालहरितर-
 कपीतशृङ्गाः, पञ्चवर्णा इति यावत् । इनेकशतसंख्याश्चिह्नप-
 ट्टा बद्धा यैस्ते तथा । परविषयानभिघ्नन्ति, सुग्रा इति व्यक्तम् ।
 धनस्य कार्ये धनकृते इत्यर्थः । तथा रत्नाकरभूतो यः सागरः,
 तथा तं चातिपत्याजिघ्रन्ति, जनस्यापातानिति सम्बन्धः ।
 ऊर्मयोः वीचयस्तत्सहस्राणां मालाः पङ्कयस्तामिराकुडो यः स
 तथा । आकुला जग्राभावेन व्याकुलितचित्ता ये च तोयपोताः
 विगतजलपानपात्राः सांयात्रिकाः (कलकलंतंति) कलक-
 लायमाना हलबोलं कुर्वाणास्तैः कञ्चितो यः स तथा । अनेना-
 स्यापयजलत्वमुक्तम् । अथवा-ऊर्मिसहस्रमालाजिराकुलोऽति-
 व्याकुलो यः स तथा । तथा विगतपोतैर्विगतसंबन्धनावोद्भिन्नैः
 कलकलं कुर्वद्भिः कञ्चितो यः स तथा । ततः कर्मधारयः । तथा-
 तम् । तथा पातावाः पातावकलशास्तेषां यानि सहस्राणि तैवांत-
 वशाद्वेगेन यत्सञ्चिह्नं जलधिजलम् (उच्छ्रममाणंति) उत्पाट्यमानं
 तस्य यदुदकरजस्तोयरेणुस्तदेव रजोऽध्वकारं धूलीतमो यत्र स
 तथा तम् । वरः फेनो रिङ्गीरः । प्रचुरो धववः (पुष्टपुलंति) अन-
 वरतं यः समुत्थितो जातः स एवाट्टहासो यत्र । वरफेन एव वा
 प्रचुरादिविशेषणोऽट्टहासो यत्र स तथा तम् । मारुतेन विक्रोन्त्य-
 माणं पानीयं यत्र स तथा ; जलमाशानां जलकल्लोद्यानामुत्पलः
 समूहः (हुल्लियंति) शीघ्रो यत्र स तथा, ततः कर्मधार-
 योऽतस्तम् । अपिचेति समुच्चये । तथा समन्ततः सर्वतः लुभितवा-
 युप्रभृतिभिर्न्याकुलितं लुभितं तीरभावि लुगितं (खांशुलुम्भमाण-
 ण्ति) महामत्स्यादिभिर्भृशं व्याकुलीक्रियमाणं, प्रस्खलितं निर्ग-
 च्छत्पर्वतादिस्खलितं, चञ्चितं स्वस्थानगमनप्रपञ्चं, विपुलं विस्ती-
 र्णं, जलचक्रवाहं तोयमण्डलं यत्र स तथा । तथा महानदीवैर्गैर्ग-
 ङ्गाऽदिनिम्नगाजवैः त्वरितं यथा जयतीत्येवमापूर्यमाणो यः स
 तथा । गम्भीरा अवधमध्याः, विपुला विस्तीर्णाश्च ये आवर्त्ता
 जलप्रमाणस्थानरूपास्तेषु चञ्चलं यथा भवन्तीत्येवं भ्रमन्ति
 संचरन्ति, गुप्यन्ति व्याकुशीभवन्ति, (उल्लंघन्ति) उल्लान्ति वा
 ऊर्द्धमुखानि चञ्चन्ति प्रत्यवनिवृत्तानि वाऽधःपतितानि पानीया-
 नि प्राणिनां वा यत्र स तथा । अथवा जलचक्रवालेति नदीनां
 विशेषणमापूर्यमाणेति चावर्त्तानामिति । तथा प्रधाविता विग-
 तगतयः खरपरुषा आतंककंशाः प्रचण्डाः रौद्रा व्याकुलितस-
 लिह्य विज्ञोलितजहाः स्फुटन्तो विदार्यमाणा ये वीचिरूपाः
 कल्लोद्याः, न तु वायुरूपाः कल्लोद्याः तैः सङ्कुलो यः स तथा । त-
 तः कर्मधारयोऽतस्तम् । तथा महामकरमत्स्यकच्छपाश्च (उहा-

र [त्ति] जलजन्तुविशेषाः, ते च प्राद्वतिमिश्रं शुमारुचते । द्वन्द्वः ।
 तेषां समाहताश्च परस्परैरणहताः [समुच्चायमाण य [त्ति]]
 समुच्चायन्तश्च प्रहाराय समुत्तिष्ठन्तो ये पूराः संघाः घोरा रौ-
 द्रास्ते च प्रसूरा यत्र स तथा तम् । कातरनरहृदयकम्पनमिति
 प्रतीतम् । घोरं रौद्रं यथा भवतीत्येवमारसनं शब्दायमानं, महाभ-
 यादीन्येकार्थानि । [अणोरपारं ति] अनर्वाकपारमिव महत्त्वा-
 दनर्वाकपारम्, आकाशमिव निरालम्बम्, न हि तत्र पततद्भिः
 किञ्चिदालम्बनमवाप्यत इति भावः । औत्पातिकपवनेनोत्पा-
 तजनितवायुना [धणिय [त्ति]] अत्यर्थं, येन [णोऽस्त्रिय [त्ति]] नोदिताः
 प्रेरिता उपर्युपरि निरन्तरं तरङ्गाः कल्लोलास्ते, दप्त इव अति-
 वेगोऽतिक्रान्तः शेषवेगं यो वेगस्तेन, लुप्ततृतीयैकवचनदर्शनात् ।
 चक्षुःपथे दृष्टे मार्गे [मोच्छरंतं कथय [त्ति]] कचिद्देशे गम्भी-
 रं विपुलगर्जितं मेघस्येव ध्वनिर्गुञ्जितं च, गुञ्जालक्षण-
 तोद्यं च निर्घातश्च गगने व्यन्तरकृतो महाध्वनिः, गुरुकनि-
 पतितं च विद्युदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनिर्यत्र स तथा ।
 सुदीर्घनिर्हादी अहस्वप्रतिरवो [दूरसुच्छंतं [त्ति]] दूरे श्रूय-
 माणो गम्भीरो धुगधुगित्येवंरूपश्च शब्दो यत्र स तथा कर्म-
 धारयः । ततस्तत् । पथि मार्गे [रुभंतं [त्ति]] रुध्रानाः संच-
 रिष्णूनां मार्गं स्खलयन्तो ये यत्तरात्सकूष्माण्डपिशाचव्य-
 न्तरविशेषाः, तेषां यत्प्रगर्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठा-
 न्तरेण- [रुसियत्तज्जायउवसगसहस्स [त्ति]] तत्र यत्तादयश्च
 रुषिताः, तज्जातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कुलो यः स तथा तम् ।
 बह्वि च औत्पातिकानि उत्पातान् भूतः प्राप्नो यः स तथा । वा-
 चनान्तरे-उपद्रवेणाभिभूतो यः स उपद्रवाभिभूतः । ततः प्र-
 तिपथेत्यादिना कर्मधारयः । अतस्तत् । तथा विरचितो बलिना
 उपहारेण होमेनाग्निकारिकया धूमेन उपचारो देवतापूजा यै-
 स्ते तथा । दत्तं वितीर्णं रुधिरं यत्र तत्तथा, तच्च तदर्चनाकर-
 णं च देवतापूजनं च तत्र प्रयता ये ते तथा । योगेषु प्रवह-
 णोचितव्यापारेषु प्रयता ये ते तथा । ततो विरचितेत्यादीनां
 कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । चरितः सेवि-
 तो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य सकलयुगान्तिमयुगस्य यो-
 ऽन्तकालः क्षयकालस्तेन कल्पा कल्पनीया उपमा रौद्रत्वा-
 दस्य स तथा । दुरन्तं दुरवसानं महानदीनां गङ्गादी-
 नां चेतरासा पतिः प्रभुर्यः स तथा । महाभीमो दृश्यते यः स
 तथा । कर्मधारयः । अतस्तत् । दुःखेनानुवर्त्यते सेव्यते यः स
 तथा तम् । विषमप्रवेशं दुष्प्रवेशं, दुःखोत्सारमिति च प्रतीतम् ।
 दुःखेनाश्रीयत इति दुराश्रयस्तं, वषणसल्लिखपूर्णमिति व्यक्रमम् ।
 असिताः कृष्णाः, सिताः सितपटाः, समुच्छिन्ना उद्धाकृता येषु
 तान्यसितसितसमुच्छिन्नानि तैः, चौरप्रवहणेषु कृष्णा एव
 सितपटाः क्रियन्ते, बुरादनुपलक्षणहेतोरित्यसितेत्युक्तम् ।
 [हत्यतरेकेहि [त्ति]] सांयात्रिकयानपात्रेभ्यः सकाशाद्दत्त-
 रैर्वेगवद्भिरित्यर्थः । चाहनैः प्रवहणैरितिपत्य पूर्वोक्तविशेष-
 णं सागरं प्रविश्य समुद्रमध्ये गन्ति, गत्वा जनस्य सांया-
 त्रिकलोकस्य, पोता यानपात्राणि, परद्रव्यहरणं ये निरनु-
 कम्पा निःशुकास्ते तथा । वाचनान्तरे-परद्रव्यहरा नरा निर-
 नुकम्पाः [निरवेक्ख [त्ति]] परलोकं प्रति निरवकाङ्क्षा निर-
 पेक्षाः । प्रामो जनपदाश्रितः सन्निवेशविशेषः, आकरो लवणाद्यु-
 त्पत्तिस्थानम्, नकरः अकरदायिलोकः, खेटं धूतप्राकारः, कर्वटं
 कुनगरं, मण्डयं सर्वतोऽनासन्नसन्निवेशान्तरं, द्रोणपथं जल-
 स्थलपथोपेतं, पत्तनं जलपथयुक्तं, स्थलपथयुक्तं वा, रत्नभूमि-

रित्यन्ये आश्रमस्तापसविनिवासः, निगमो वणिग्जननिवासः,
 जनपदो देशः । इति द्वन्द्वः । अतस्तांश्च धनसमृद्धान् गन्ति । तथा
 स्थिरहृदयाः तत्रार्थे निश्चलचित्तान्निष्ठमलज्जाश्च ये ते तथा ।
 वन्दिग्रहगोप्रहोश्च गृह्णन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा-दारुणमतयः
 निष्कृपा निग्नन्ति, विन्दन्ति गेहसन्धिमिति तम् । निक्षिप्तानि
 स्वस्थानन्यस्तानि हरन्ति, धनधान्यद्रव्यजातानि धनधान्यरूप्य-
 प्रकारान् । केषाम्?, इत्याह-जनपदकुट्टानां लोकगृहाणां, निर्घृणम-
 तयः परस्य द्रव्याद्यैरविरताः, तथा । तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण के-
 चिददत्तादानमवतीर्णं ह्ययं गवेषयन्तः कात्वाकालयोः सञ्चर-
 णस्योचितानुचितरूपयोः सञ्चरन्तो भ्रमन्तः, (चियग [त्ति])
 चितिषु प्रतीतासु प्रज्ज्वलितानि वह्निदीप्तानि सरसानि इन्ध-
 नादियुक्तानि दग्धानि ईषद्भस्मीकृतानि कृष्टान्याकृष्टानि तथा-
 विधप्रयोजनाग्निः कलेवराणि मृतशरीराणि यत्र तत्तथा, तत्र
 श्मशाने । क्लिश्यमाना अटवीवासमुपयन्तीति संबन्धः । पुनः किं
 चूते?, रुधिरविस्रवदनानि अकृतानि समग्राणि, मृतकानि इति
 गम्यते । खादितानि प्रक्षितानि, पीतानि च शोणितपेक्षया, यका-
 भिस्तास्तथा, ताभिश्च नाकिनीभिः शाकिनीभिः भ्रमन्तीभिः तत्र
 सञ्चरन्तीभिः भयङ्करं यत्र तं रुधिरालिस्रवदनाकृतखादितपीत-
 नाकिनीभ्रमद्भयङ्करम् । कचिदकृत इत्येतस्य स्थाने-“अदरंतं”
 इति पठ्यते । तत्र चाभिर्निर्भयाभिरिति व्याख्येयम् । (जंबुयक्षि-
 क्खियंते [त्ति]) खिक्खीति शब्दायमानः, गुणाद्यः, ततः कर्मधारयः ।
 अतस्तत्र । तथा घूककृतघोरशब्दे कौशिकविहितपैद्रव्याने, वेता-
 लेभ्यः विकृतपिशाचेभ्य उत्थितं समुपजातं विशुद्धं शब्दान्त-
 रामिश्च (कहकहेति [त्ति]) कहकहायमानं यत्प्रहसितं तेन (वी-
 हणंति [त्ति]) भयानकम् । अत एव निरजिरामं वा रमणीयं यत्र
 तत्तथा । तथा तत्र, अतिबीजत्सदुरजिगधे इति व्यक्तम् । पाठा-
 न्तरेण-अतिदुरभिगन्धवीभत्सदर्शनीये इति । कस्मिन्नेवंभूते?, इ-
 त्याह-श्मशाने पितृवने, तथा वने कानने यानि शूल्यगृहाणि प्रतीता-
 नि, वयनानि शिवाभयगृहाणि, अन्तरे ग्रामादीनामरूपे, आपणा
 हट्टाः, गिरिकन्दराश्च गिरिगुहाः । इति द्वन्द्वः । ताश्च ताः विषमइवा-
 पदसमाकुञ्जाश्चेति कर्मधारयः, अतस्तासु । कासु एवंविधास्वि-
 त्याह-वसतिषु वा स्थानेषु वा क्लिश्यन्तः, शीतातपशोषितश-
 रीरा इति व्यक्तम् । तथा दग्धच्छवयः शीतादिभिरुपहतत्वचः,
 तथा निरयतिर्यग्भव एव यत्सङ्घटं गहनं तत्र यानि दुःखानि
 निरन्तरदुःखानि तेषां यः समजारो बाहुल्यं, तेन वेद्यन्ते अनुचू-
 यन्ते यानि तानि तथा । तानि पापकर्माणि संचिन्वन्तो बध्नन्तः दु-
 र्धमं दुरापं भङ्ग्याणां मोदकादीनामशनम्, ओदनादीनां पानानां
 च मद्यजवादीनां भोजनं प्राशनं येषां ते तथा । अत एव पिशा-
 सिता जातनृपः, (भुंक्षिय [त्ति]) बुधुक्किताः क्लान्ता म्लाना-
 चूनाः, मांसं प्रतीतम् (कुणिमंति [त्ति]) कुणपः शवः, कन्दमूढानि
 प्रतीतानि, यत्किञ्चिच्च यथावाप्तवस्तु । इति द्वन्द्वः । एतैः कृतो वि-
 हित आहारो भोजनं यैस्ते तथा । उद्विग्ना उद्वेगवन्त उत्सृता उ-
 त्सुकाः, अशरणाः अत्राणाः । किम्?, इत्याह-अटवीवासमरणयव-
 सनमुपयन्ति । किं चूतम्?, व्यालशतशङ्खनीयं भुजगादिभिर्भेय-
 ङ्करमित्यर्थः । तथा अयशस्कराः तस्करा भयङ्कराः, एतानि पदानि
 व्यक्तानि । कस्य हरामश्चोरयामः, इति इदं, विवक्षितम् । अघा-
 स्मिन्नहनि, ह्ययं रिक्थम्, इति पदं, समामन्त्रणं कुर्वन्ति, गुह्यं
 रहस्यम्, तथा बहुकस्य जनस्य, कार्यकरणेषु प्रयोजनविधानेषु,
 विप्रकरा अन्तरायकारकाः, मत्तप्रमत्तप्रसुमभिश्वस्तान् विद्धे
 अवसरे प्रन्तीत्येवंशीला ये ते तथा । व्यसनान्युव्येषु हरणयुक्त्य

इति व्यक्तम् । किञ्च—(विगन्वत्ति) वृक्षा इव नास्ति विशेषा इव,
(रुहिरमहिंति) लोहितेच्छवः (परितस्ति) परियन्ति सर्वतो ब्र-
मन्ति । पुनः कथंभूताः?, नरपतिमर्यादामतिक्रान्ता इति प्रतीतम् ।
सज्जनजनेन विशिष्टलोकेन, जुगुप्सिता निन्दिता ये ते तथा, स्व-
कर्मनिर्हेतुभूतैः, पापकर्मकारिणः पापानुष्ठायिनः, अशुभपरिण-
ताश्चाशुभपरिणामाः, दुःखनागिन इति प्रतीतम् । (निष्ठाविल
[उल] दुःखमनिवृत्तमणत्ति) नित्यं सदा आविलगं सकामुष्यमा-
कुलं वा दुःखं प्राणिनां दुःखहेतु, अनिर्वृतं स्वास्थ्यरहितं मनो
येषां ते तथा । इह श्लोक एव क्रियमाना व्यसनशतसमापन्नाः,
एतानि पदानि व्यक्तानीति ।

(४) अथ तदेवेत्यादिना परधनहरणे फलद्वारमुच्यते—

तदेव केऽ परस्म दव्वं गवेसमाणा गहिया य हता य बद्धा
रुद्धा य तुरियं अतिधामिया पुरवरं समप्पिया चोरगह-
चारभटचारुकरणा तेहिं य कप्पकप्पहारनिद्याऽऽरक्खिय-
स्वरफरुसवयणतज्जणगलत्थद्वयत्थलणाहिं विप्पणा चारग-
वसाहिं पविसिया निरयवसहिंसरिसं तत्थ वि गोम्मिकप-
हारदुम्पणा निग्नच्छणकयुयवयणभेसणग(जय)आभिज्जूया
अविस्वत्तणिवसणा मज्झिणदंरिखंरुवसणा, उक्कोमाद्वं चन-
पामुमगणपरायणेहिं गोम्मिगजमेहिं विविहेहिं बंधणेहिं,
किं ते इडिनियरुवालरज्जुयकुम्भदगवरत्तद्वोहसंकद्वहत्थं ड-
यवज्जपट्टदामकणिकोडणेहिं अस्सेहि य एवमादिणेहिं गो-
म्मिकभंभोवगरणेहिं पुक्खसमुद्रीरणेहिं संकोरुणमोरुणेहिं
वज्जंति मंदपुष्पा संपुरुक्कवारुदोहंपंजरजूमिधरनिरोहकूव-
चारगकीलग्नपचकविततबंधणखंजाद्वेणउच्छचलणबंधण-
विहंमणाहि य विहेदियंता अहकोरुगगाढउरसिरवच्छउच्छपू-
रिय(यंत)फुरंतउरकंरुगमोरुणेहिं संवच्छा य नीससंता सीसा-
वेदउरुयाद्ववप्पटसंधिवंधणतत्तसलागसूडआकोरुणाणि त-
च्छणविमाणणाणि य खारकडुयतित्तनावणजायणकारण-
सयाणि बहुयाणि पावियंता, उरयोमीदिमगादपेद्वणअ-
ट्टिकसंजगमपंसुलिया गलकाद्वकलोहदंडउरउदरवत्थिपि-
ट्टिपरिपीलिया मच्छेतहिययसंचुस्सियंगुपंगा आस्सत्तिकिकरे-
हिं, के य अविराहियवेरिपहिं जमपुरिससंनिभेहिं पइया ते तत्थ
मंदपुष्पा चदंबेला वज्जपट्टपोरा इति वा कसद्वत्तवरत्तवेत्तप-
हारमततास्सियंगुपंगा किवणा लवंतवम्मवणवेयणविमुहियम-
णा घणकोट्टिमनियद्वजुयलसंकोरियमोहिया य कीरंति, निरु-
द्धारा एया अस्सा य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावंति, अदंति
दिया वमट्टा बहुमोहमोहिया परणधम्मि सुद्धा फासिदियविस-
यंतिव्वगिच्छा इत्थिययस्वरसरसगंधइट्टरतिमहियजोगतएहा-
इया य धणतोसगा गहिया य जे नरगणा पुणरविते कम्म-
दुव्विपट्टा उवणीया रायकिकराणं तेसिं वधसत्थगपादयाणं
विलउद्धीकारकाणं लंससपणेसद्वयाणं कूरुक्कवट्टमायाणिय-
दिआयरणपणिहिवंचणविसारयाणं बहुविहआदियसयजंप-

काणं परलोकपरमुहाणं निरयगतिगामियाणं तेहि य आणत्त-
जा(जी) यदंदा तुरियं उग्घादिया पुरवरेहिं सिंघाडगतियचउ-
क्कत्तरमहापहपहेसु वेत्तदंरुद्वउरुक्कद्वलेद्वपत्थरपणालियप-
णोद्विमुद्विद्वत्तपादपाहजणकोप्परप्पहारसंजग्गमाथितगत्ता
अट्टारसकम्मकारिणा पायियंगुपंगा कलुणा सुकोट्टकंठग-
लताद्वुजिञ्जा जायंता पाणियं विगयजीवियासा तएहाइत्ता
वरागा तं पिय न लंहति, वज्जपुरिसेहिं धामियंता तत्थ य
स्वरफरसपदहघटितकूरुगहगाढरुद्धनिरुद्धपरामद्ववज्जकर-
कुम्भियनिसिया सुरत्तकणवीरगहियविमुकुलकंउेगुण-
वज्जदूतआविच्छमज्झदाममरणजयुप्पसमेयमायतणेहउन्नु-
प्पियकिलिस्सगत्ता चुमगुंभियसरीरयरणेभरियकेसा कुसं-
जगुक्किस्समुच्छया विस्सजीवियासा घुणंता वज्जपाणपीया
तिलं तिलं चेव विज्जमाणा सरीरविकत्तलोहिआलित्तका-
गणिमंसाणि खायियंता पावा स्वरकरसएहिं ताविज्जमाणा-
देहा वातिकनरनारिसंपारिवुद्धा पिच्छिज्जंता य नागरज-
णेण वज्जमेवत्थिया पणिज्जंति एगगरमज्जेण किवणक-
द्वुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पही-
णा विपिक्खंता दिसो दिसिं मरणजयुव्विग्गा आधा-
यणपमिदुवारसंपाविया अधएणा मूलगविलगजिस्सदेहा
ते य तत्थ कीरंति, परिकप्पियंगुपंगा उद्वंविज्जंति रुक्खसा-
द्वेहिं केऽ कलुणाऽ विद्ववमाणा अवरे चउरंगथणियवद्धा प-
व्वयकडगा पमुच्छंते दूरपातवहुविसमपत्थरसहा। अस्से य ग-
यचलणमद्वणनिम्महिया कीरंति, पावकारी अट्टारसखंभिया
य कीरंति मुरुपरिसुहिं । केऽ उक्खित्तकणोडनासा उप्पाडि-
यनयणदसणवसणा जिज्जिदियांचिया विस्सकस्सिरा प-
णिज्जंति विज्जंति य असिणा निव्विसया विस्सहत्थपाया य
पमुच्छंति, जाव जीवबंधणाय कीरंति । केऽ परदव्वहरणवुद्धा
कारगलिनियलजुयलरुद्धा चारगाए हतसारा सयणविप्प-
मुका मित्तजणनिरक्कया निरासा बहुजणधिकारसहलज्जा-
इया अलज्जा अणुवच्छखुहापरच्छसिउण्हताहवेयणवु-
घट्टघट्टियविवणमुहविठ्विया विहलमल्लवुवद्धा किलंता
कासंता वाहिया य आमजिज्जुयगत्ता परूदनद्वकेससमंमु-
रोमा मलमुत्तम्मिणियगाम्मि सुत्ता तत्थेव मया अकामका
बंधण पाए सुकट्टिया खाइयाए छूदा, तत्थ य वगसुणय-
सियाद्वकोद्वमंजारवदंसंदासतुरुक्कवगणविविहमुहसय-
विजुत्तगत्ता कयविहंगा । केऽ किमिणाऽ कुथितदेहा अणि-
द्वयणेहिं सप्पमाणा सुट्टु कयं जं मओ त्ति पावो तुट्टेण ज-
णेण हणमाणा द्वज्जावणका य हुंति सयणस्स वि य दी-
हकालं मया संता पुणो परद्वोगसमावसा नरगे गच्छंति ।
निरभिरामे अंगारपत्तिक्कणअच्चत्थसीयवेयणा ऽऽसा-

यणोदिषमततदुक्खसयसमजिज्जू ततो वि उव्वट्टिया समा-
 णा पुणो वि पवज्जंति तिरियजौणि, तहिं पि निरओवमं अ-
 णुजवंति वेयणं ते, अणंतकाक्षेण जतिणाम कहिं वि मण्य-
 जावं लहिंति एगेहिं णिरयगतिगमणतिरीयजवसयसहस्स-
 परियट्टहिं तस्य वि य जवंताऽणारिया नीचकुलसमुपसमा-
 लोयवज्जा तिरिक्खजूया य अकुमला कामभोगतिसिया
 जहिं निवंथंति निरयवत्तिण जवप्पवंचकरणपणोद्धि पुणो वि
 संसारवत्तणेममूद्धे धम्मसुविज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छ-
 त्तमुत्तिपवणा य हुंति, एगंतदंरुइणो वेढंता कोसिकारकीरो
 व्व अप्पगं अट्टकम्मतंतुघणवंधणेणं, एवं नरगतिरियनरअ-
 मरगमणपेरंतचक्रवात्तं जम्मजरा मरणकरणगंजीरदुक्खप-
 वल्लुभियपउरसन्नं संजोगवियोगवीचिचिंतापसंगपसारिय
 वहवंथमहल्लविपुलकट्ठोलकट्टणविन्नवित्तो जकलकलंत-
 बोलवहुत्तं अवमाणेणफेणतिव्वखिसणपुलंपुल्लप्पजूयरोगवे-
 यणपरभवविणिवायफरुमथारिसणसमावभियकट्टिणकम्म-
 पत्थरतरंगरिगंतनिच्चमच्चुभंयतोयपट्ठं कसायपायान्नसं-
 कुलं भवसयसहस्सजन्नसंचयं अणंतं उव्वेजणयं अणोर-
 पारं महब्बजयं जयंकरं पइजवं अपरिमियमहिच्छकट्टुसमति-
 वाउवेगउद्धम्ममाणाऽऽसापिवासापायान्नकामरतिरागदो-
 सवंधणवहुविहंसकप्पविउन्नदगरयरयंऽथकारमोहमहावत्त-
 भोगजममाणुप्पमाणुच्छलंतवहुगवज्जासपच्चोणियत्तपा-
 णिपथावियवत्तणसमावणरुणचंरुमा रुयसमाहयमणुसुवी-
 च। वाकुलितजंगफुट्टंतनिट्टकट्ठोलसंकुलजन्नं पमादवहुचंरुदु-
 ट्ठसावयसमाहयउच्छायमाणगूरयोरविद्धंसणत्थऽणत्थवहु-
 लं अण्णाणजमतमच्छपरिदक्खअनिहुतिदिमहामगरतुरिय-
 चरियखेक्खुभमाणसंतावनिच्चयचलंतचवन्नचंचन्नअत्ता-
 णासरणपुव्वकम्मसंचयोदिषवज्जवेदिज्जमाणदुहसयवि --
 वागघुणंतजन्नममूहं इहिरससायगारवोहारगहियकम्मपडि-
 बद्धसत्तकाट्टिजमाणनिरथतन्नदुत्तसणविससवहुन्नअरति-
 रतिभयविमायसोगमिच्छत्तसेलसंकमं अण्णइसंताणकम्मवं-
 धणत्तेसचिक्खिवदुट्टुत्तारं अमरनरतिरियगतिगमणकुप्पि-
 लपरियत्तविपुलवेत्तं हिंसाऽन्नियअदत्तादाणमेहुणपरिग-
 हारंभकरणकारावणाणुमोयणअट्टविहअणिट्टकम्मपिणित्तगु-
 रुजाराकंतदुग्गजलोधदूरनिचोलिज्जमाणउम्मगानिमग्गदु-
 द्धहतत्तं सरीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियंता सातासा-
 यपरितावणमयं उव्वुड्ढनिव्वुड्ढयं करेति । चउरंतमहंतमणवय-
 गं रुदं संसारसागरं अट्टियअणालंबणपतिट्टाणमप्पमेयं
 चुलसीइजोणिसयसहस्सगुविद्धं अण्णादोक्रमंधकारं अणंत-
 कालं जाव णिच्चं उच्चत्थमुष्साभयसणसंपउत्ता संसारसा-
 गरं वसंति उन्निमग्गवासवसहिं, जहिं जहिं आउयं निवंथंति
 पावकम्मकारिणो वंधवजणमयणमित्तपरिवज्जिया अणि-

ट्टा जवंति । अण्णादिज्जदुव्विणीया कुट्टाणामणसेज्जाकु-
 भोयणा अमृयणो कुसंहयणकुप्पमाणकुमंडिया कुरूवा
 बहुकोहमाणमायादोभा बहुमोहा धम्ममणसम्मत्तपञ्चट्टा
 दारिद्रोवद्वानिज्जूया निच्चं परकम्मकारिणो जीवणत्थरहि-
 या किवणा परिपिणुताक्किा दुक्खलद्धाहारा अरसविरस-
 तुच्छकयकुक्खिपूरा परस्म पञ्चंता रिद्धिसकारभोयणविसस-
 समुदयविहिं निंदंता अप्पकं, कयंतं च परिवयंता, इह य पुरे
 कडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण रुज्जमाणो परि-
 ज्जूया हुंति, सत्तपरिवज्जिया य दोभा सिप्पकट्टासमयसत्थप-
 रिज्जिया जहाजायपसुज्जूया अविद्यत्ता निच्चं नोयकम्मोव-
 जीविणोदोयकुच्छणिज्जा मोहमणोरहनिरामवहुत्ता आसा-
 पासपिणवच्छपाणा अत्थोप्पायणकामसोक्खे य दोयसारे
 हुति । अफलवंतगा य मुट्ठु अवि अ उज्जवंता तद्विमुज्जु-
 त्तकम्मकयदुक्खसंउवियसिस्थपिण्डसंचयपरा खीणदव्वसा-
 रा णिच्चं अश्रुवधणधणकोसपरिजोगविज्जिया रहिय-
 कामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परमिरिभोगोवभोगनिस्सा-
 णमग्गणपरायणा वरागा अकामिकाए शिणियंति दुक्खं,
 एव सुहं, एव णिव्वुत्ति, उवलंजंति, अचंतविपुलदुक्खस-
 यसंपलित्ता परदव्वंहिं जे अवरिया । एसो सो अदिष्सादाण-
 स्स फलविवागो इहलोए परदोए अ अप्पमुहो बहुदुक्खो
 महब्बजयो वहुयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वास-
 सहस्सेहिं मुचति न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति ए-
 वमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उव्वीरनामधेयो क-
 हेसीयं अदिष्सादाणस्स फलविवागं, एव तं ततियं पि अ-
 दिष्सादाणं हरदहमरणजयकट्टुमतासणपरसंतिकागे-
 ज्जन्नो जमूत्तं, एवं जाव चिरपरिगयमणुगयं दुरंतं ततियं
 अहम्मदारं सम्मत्तं त्ति वेमि ।

(तहेवेत्यादि) तथैव यथापूर्वमभिहिताः, केचित्केचन, परस्य
 द्रव्यं गवेयन्त इति प्रतीतम् । गृहात्तश्च राजपुरुषैः, हताश्च य-
 ष्ठादिभिः, बद्धा रुद्धाश्च रज्ज्वादिभिः संयमिताः, चारकादिनि-
 रुद्धाश्च (तुरियं ति) त्वरितं शीघ्रं, अतिघाटिता भ्रामिता अ-
 तिवर्तिता वा, भ्रामिता एव पुरुवरं नगरं समर्पिता दौकिताः, चौर-
 ग्राहाश्च चारभटाश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा । तैश्च चौरग्राह-
 चारभटचाटुकारैः, चारकवसतिं प्रवेशिता इति सम्बन्धः । कर्प-
 टप्रहाराश्च लकुटाकारवलितचीयरैस्तामनाः, निर्दया निष्करुणा
 ये आरक्त्रिकास्तेषां संबन्धीनि यानि खरपरुषवचनानि अतिक-
 र्कशमणितानि, तर्जनानि च वचनविशेषाः (गलत्थल त्ति)
 गलत्प्रहणं, तथा (उत्थलण त्ति) अपवर्तना, अपप्रेरणा इत्य-
 र्थः । तास्तथा, तानि चेति पदचतुष्टयस्य द्वन्द्वः । ताभिः विमनसो
 विषयचेतसः सन्तः चारकवसतिं गुप्तिगृहं प्रवेशिताः । किं भू-
 ताम् ? निरयवसतिसदृशमिति व्यक्तम् । तत्रापि चारकवसतौ,
 (गाम्मिक त्ति) गौत्मिकस्य गुप्तिपादस्य संबन्धिनो ये प्र-
 हागा घाताः (उम्मण त्ति) दचनानि उपतापानि, निर्भर्त्सनानि

आक्रोशविशेषः, कटुकवचनानि च कटुकवचनैर्वा भीषणकानि च भयजननानि, तैरभिभूता ये ते तथा । पागान्तरेण-एषो यद् भयं तेनानिभूता ये ते तथा । आक्रान्तिवचनानि आक्रुष्टपरिधानवस्त्राः, मञ्जिने दण्डिखण्डरूपं वसनं वस्त्रं येषां ते तथा । उत्कीर्णचालश्चोर्द्ध्वयुक्तत्वेतरत्वादिभिलोके प्रतीतज्ञेयोः पार्श्व-दुग्तिगतनरसमीपाद्, उन्मार्गणं याचनं, तत्परायणास्तन्निष्ठा ये ते तथा, तैः, गौहिमकभटैः कर्तुभिः, विविधैर्वन्धनैः करणभूतैर्वन्धन इति संबन्धः । [किंते त्ति] तद्यथा- [हडि त्ति] काष्ठविशेषः, निगमानि होहमयानि, बालरज्जुका गवादिवालमयी रज्जुः, कुद-एरुक् काष्ठमयं प्रान्ते रज्जुपाशं, वरत्रा चर्यमयी महारज्जुः, होहसङ्कला प्रतीता, इस्ताएडकं होहादिमयं हस्तयन्त्रणं, वध्यपट-धर्मपट्टिका, दामकं रज्जुमयपादसंयमनं, निष्कोटनं च बन्धनविशेषः इति द्वन्द्वः । ततस्तैरन्यैश्चोक्तव्यतिरिक्तैरेवमादिकैरेवंप्रकारैर्गौहिमकज्राणोपकरणैर्गौहिमकपरिच्छदविशेषैः दुःखसमुदी-रणैरसुखप्रवर्तकैः । तथा संकोचना गात्रसङ्कोचनम्, मोटना च गात्रभञ्जना, ताभ्याम्; किम् ? इत्याह-बध्यन्ते । के ? इत्याह-मन्दपुण्याः । तथा संपुटं काष्ठयन्त्रं, कपाटं प्रतीतम् । लोहपञ्जरं भूमिगृहे च यो निरोधः प्रवेशनं स तथा । कूपोऽन्धकूपदिः, चारको गुप्तिगृहं, कीलकाः प्रतीताः, यूयो युगं, चक्रं रथाङ्गं, चित्तवन्धनं प्रतर्दितवाहुजङ्घाशिरसः संयन्त्रणम्, [खंभाले-ण ति] स्तम्भागलनं, स्तम्भालग्नमित्यर्थः । उरुं चरणस्य यद्वन्धनं तत्तथा । एतेषां द्वन्द्वः । ततः पभिर्या विधर्मणाः कदर्थनास्तास्तथा, ताभिश्च [विहेमियतं ति] विहेड्यमाना बध्यमानाः, संकोटिता मोटिताः क्रियन्त इति सम्बन्धः । अधः कोटकेन कोट्याया ग्रीवायाः अधोनयनेन, गाढं वाढं, उरसि हृदये, शिरसि च मस्तके, ये वस्त्रास्ते तथा । ते च ऊर्ध्वपूरिताः श्वासपूरितोर्ध्वकायाः, उर्ध्वा वा स्थिताः, धृत्या पूरिताः पागान्तरे- [उरुपूरियतं त्ति] ऊर्ध्वपूरितान्त्रा उर्ध्वगतान्त्राः, स्फुरदुरः-कण्टकाश्च, कम्पमानवक्त्रस्थानाः, इति द्वन्द्वः । तेषां सतां यन्मोटनं मर्दनं, आभ्रमना वा, विपर्यस्तीकरणं वा, ते तथा । ताभ्यां विहेड्य-माना इति प्रकृतम् । अथवा-स्फुरदुरःकण्टका इह प्रथमावहुव-चनलोपो दृश्यः । ततश्चामोटनाभ्रमनाज्यामित्येतदुत्तरत्र योज्य-न्ते । तथा च वद्धाः सन्तः निःश्वसन्तो निःश्वसांस्विमुञ्चन्तः, शीर्षावेष्टनं च वरत्रादिना शिरोवेष्टनं, [उरुयाव त्ति] ऊर्वोर्ज-ङ्घयोर्दोरो दारणं, ज्वालो वा ज्वलनं, यः स तथा स च । पागान्तरेण- [उरुयावल त्ति] ऊरुकयोरावलनं ऊरुकावलः । वपर-कानां काष्ठयन्त्रविशेषाणां, सन्धिषु जानुकूर्परादिषु, वन्धनं वपर-कसन्धिबन्धनं, तच्च तप्तानां शलाकानां कीलरूपाणां, सूचीनां शृङ्गणतीक्ष्णाग्राणां, यान्याकुटनानि कुटनेनाङ्गे प्रवेशनानि, तानि तथा, तानि चेति द्वन्द्वः । तानि प्राप्यमाणा इति संबन्धः । त-द्वृणानि च वास्या काष्ठस्यैव, विमाननानि च कदर्थनानि, तानि च तथा, ज्ञाराणि तिलज्ञाराणि, कटुकानि मरीचादीनि, तिकानि निम्बादीनि, तैर्यत् [नायण त्ति] तस्य दानं तदादि यातना-कारणशतानि कदर्थनाहेतुशतानि, तानि बहुकानि प्राप्यमाणाः । तथा उरसि वक्त्रसि, (योसि त्ति) महाकाष्ठं, तस्या दत्ताया चितोर्णायाः, निवेशिताया इत्यर्थः । यज्ञादप्रेरणं तेनास्थिकानि हृद्गानि संभग्नानि [सपांसुलग त्ति] सपांसुस्थानि येषां ते तथा । गत्र इव वक्रिभिव घातकन्धेन यः स गत्रः, स चासौ कालकलोददण्डश्च कालायस्यष्टिः, तेन उरसि वक्त्रसि, उदरे च जत्ररे च, वस्त्रौ च गुह्यदेशे, पृष्ठौ च पृष्ठे, परिपीडिता ये ते

तथा । (मत्थंत त्ति) मथ्यमानं हृदयं येषां ते तथा । इह यकारस्य लुकारादेशश्छान्दसत्वात् । तथा संचूर्णिताङ्गा-पाङ्गाश्चेति समासः । आङ्गसिक्किङ्करैः यथाऽऽदेशकारिभिः, कि-कुर्वाणैः ? । केचित् केचन, आविराधिता एवाऽनपराद्धा एव, वै-रिका ये ते तथा तैः, यमपुरुषसन्निभैः, प्रहता इति प्रकटम् । ते अदत्तहारिणः । तत्र चरकगतं मन्दपुण्या निर्भाग्याः, चर्मवेला चंपेटा, वर्धपट्टः चर्मविशेषपट्टिका, पारा इति होहकुशी-विशेषः, कपश्चर्मपट्टिका, वस्त्राकं च, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, येत्रो जलवंशः, एभिर्घे प्रहारास्तेषां यानि शतानि तैस्ता-डितान्यङ्गेपाङ्गानि येषां ते तथा, कृपणाः दुस्थाः, वस्त्रमान-वर्माणि यानि व्रणानि कृतानि, तेषु या वेदना पीडा, तथा विमु-खीकृतं चौर्याद्विराजितं मनो येषां ते तथा । घनकुट्टनेन घन-तामनेन निर्वृत्तं घनकुट्टिमम्, तेन निगमयुगलेन प्रतीतेन, संको-टिताः सङ्कोचिताः, मोटिताश्च जग्नाङ्गाः, ये ते तथा । ते च क्रिय-न्ते विधीयन्ते, आङ्गसिक्किङ्करैरिति प्रकृतम् । किं भूताः ? निरु-द्धारा निरुद्धपुरीषोत्सर्गाः, अविद्यमानसम्भरणा नष्टवचनोच्चा-रणा वा; एता अन्याश्च एवमादिका एवंप्रकाराः वेदनाः पापाः पापफलवृत्ताः, पापकारिणो वा प्राप्नुवन्ति । अदान्तेच्छियाः, वृत्तिवशेन विषयपारतन्त्र्येण कृताः पीडिता वशार्ताः, बहुमा-हमाहिताः, परधने लुब्धा इति प्रतीतम् । स्पर्शानेच्छियविष-य स्त्रीकलेवरादौ, तीव्रमत्यर्थं, गृह्णा अज्युपपन्ना ये ते तथा । स्त्रीगता ये रूपशब्दरसगन्धस्तेषु इष्टाभ्रजिता या रतिः, तथा स्त्रीगत एव महितो वाञ्छितो यः स्त्रीभोगो निधुवनं, तेन या तृष्णा आकाङ्क्षा, तथा अर्दिता बाधिता ये ते तथा । ते च धनेन तुष्यन्तीति धनतोषकाः, गृहीताश्च राजपुरुषैरिति गम्यम् । ये केचन नरगणाः चौरनरसमूहाः, (पुनरवि त्ति) एकदा ते गौ-हिमकनराणां समर्पिताः तैश्च विविधबन्धनबद्धाः क्रियन्त इत्युक्त-म्, ततः तेभ्यः सकाशात् पुनरपि ते कर्मदुर्विद्वन्धाः, कर्मपापकि-यासु विषये फलपरिज्ञानं प्रति विज्ञाः, उपनीताः दौकिताः राज-किङ्कराणां, किंविधानाम् ? (तेसि त्ति) ये निर्दयादिधर्मयुक्तास्ते-पाम, तथा यधशास्त्रकपाठकानां इति व्यक्तम् । विव्रवल्लीकार-काणां तिथितृपोल्लुक्कर्तृणां विलोकनाकारकाणां वा, लज्जाशतश्रा-दकाणां, तत्र लज्जा उत्कोचाविशेषः । तथा कूटं मानादीनामन्यथा-करणं, कपटं वेपभाषावैपरीत्यकरणं, माया प्रतारणबुद्धिः, निवृत्ति-व्यञ्जनक्रिया, तयोर्वा प्रच्छादनार्थं माया क्रियैव, एतासां यदाचर-णं प्रणिधिना एकाग्रचित्तप्रधानेन यद्वञ्चनं, प्रणिधीनां वा गूढपुरु-षाणां यद्वञ्चनं तच्च, तत्र विशारदाः परिभूता ये ते तथा । तेषां बहु-विधाऽत्रीकशतजल्पकानां, परलोचकपराङ्मुखानां, निरयगतिमा-मिकानामिति व्यक्तम् । तैश्च राजकिङ्करैः, आङ्गसमादिष्टं, जातं दु-ष्टनिग्रहविषयमाचरितं, दण्डश्च प्रतीतः, जीतदण्डो वा रूपदण्डो, जीवदण्डो वा जीवितनिग्रहलक्षणो, येषां ते तथा । त्वरितं शीघ्रमुद्धाटिताः प्रकाशिताः, पुरचरे शृङ्गाटिकादिषु, तत्र गृह्णाटकं मिष्ठाटकाकारं त्रिकोणस्थानमित्यर्थः । त्रिकं रथ्यात्रयपीलन-नस्थानम्, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमीलनस्थानम्, चत्वरमेनकरथ्या-पतनस्थानम्, चतुर्मुखं देवकुलिकादि, महापथो राजमार्गः, पन्था सामान्यमार्गः, किंविधाः सन्तः प्रकाशिताः, इत्याह-वेष्टदण्डो लकुटः, काष्ठं, लेष्टुः, प्रस्तरश्च, प्रसिद्धाः । (पणालि त्ति) प्रकृष्टा नाली शरीरप्रमाणा दीर्घतरा यष्टिः, (पणोवि त्ति) प्रणोदितो जा-तदण्डः, मुष्टिर्वेत्ता पादपाणिर्वा जानुकूर्परं चैतान्यपि प्रसिद्धा-नि । एभिर्घे प्रहारास्तैः संभग्नान्यामर्दितानि मथितानि चिल्लोकिता-

नि गात्राणि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकारणाः-अष्टादश चौरप्र-
सूतिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रसूतीनां च लक्षणमिदम्

“चौरः १ चौरापको २ मन्वी, ३ जेदङ्गः ४ काणककयी ५ ।

अन्नदः ६ स्थानदश्चैव, ७ चौरः सप्तविधः स्मृतः” ॥१॥

अत्र काणककयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौरादृतं काणकं
हीनं कृत्वा क्रीणातीत्यवशालः ।

“भलनं १ कुशवं २ तर्जा ३, राजनागो ४ ऽवन्नोकनम् ५ ।

अमार्गदर्शनं ६ शय्या ७, पदभङ्गस्तथैव ८ च ॥ १ ॥

विश्रामः ९ पादपतन १०-मासनं ११ गोपनं तथा १२ ।

खण्डस्य खादनं चैव १३, तथाऽन्यन्मोहराजिकम् १४ ॥ २ ॥

पद्या १५-न्यु १६-दक १७ रज्जुनां, १८ प्रदानं ज्ञानपूर्वकम् ।

पताः प्रसूतया ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः” ॥ ३ ॥

तत्र भलनम्-न भेत्तव्यं जयताऽहमेव त्वद्विषये प्रलिप्यामीत्या-
दिवाक्यैश्चौर्यविषयं प्रोत्साहनम् १ । कुशवम्-मिलितानां सुख-
दुःखतद्घाताप्रश्नः २ । तर्जा-हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रेषणादिसंज्ञा-
करणम् ३ । राजनागो-राजभाव्यद्रव्यापहवः ४ । अवन्नोकनम्-हरतां
चौराणामुपेक्षाबुद्ध्या दर्शनम् ५ । अमार्गदर्शनम्-चौरमार्गप्रच्छे-
दानां मार्गान्तरकथनेन तदपज्ञानम् ६ । शय्या-शयनीयसमर्पणा-
दि ७ । पदभङ्गः-पश्चाच्चतुष्पदप्रचारादिद्वारेण ८ । विश्रामः-स्वगृ-
ह एव वासकायनुज्ञा ९ । पादपतनम्-प्रणामादिगौरवम् १० । आ-
सनम्-विष्टरदानम् ११ । गोपनम्-चौरापहवम् १२ । खण्डखाद-
नम्-मण्डकादिनक्तप्रयोगः १३ । मोहराजिकं श्लोकप्रसिद्धम् १४ ।
पद्याऽन्युदकरज्जुनां प्रदानमिति प्रज्ञानाभ्यङ्गाभ्यां दूरमार्गाग-
मजनितश्रमापनोदितत्वेन पादेभ्यो हितं पथमुष्णजलैस्तादि त-
स्य १५, पाकाद्यर्थं चानेः १६, पानाद्यर्थं च शीतोदकस्य १७, चौर-
सद्वृत्तचतुष्पदादिवन्धनार्थं च रज्ज्वाश्च १८, प्रदानं वितरणम् । ज्ञा-
नपूर्वकं चेति सर्वत्र योज्यम्, अज्ञानपूर्वकस्य निरपराधत्वादिनि ।

तथा पातिताङ्गोपाङ्गाः कदर्थिताङ्गोपाङ्गाः, तैः राज्ञः किङ्करीर-
ति प्रकृतम् । करुणाः, शुष्कोष्ठकण्ठगवतालुजिह्वाः, याचमानाः
पानीयम्, विगतजीविताशाः, नृणां दिताः, वराका इति स्फुटम् ।
(तं पियं चि) तदपि पानीयमपि न व्रजन्ते, वक्ष्येपु निमुक्ता ये
पुरुषाः-ते वक्ष्यपुरुषाः, तैर्वाध्यमानाः प्रेर्यमाणाः । तत्र च धारुणे,
खरणयोऽत्यर्थकठिनो यः पदहको मिण्डिमकः, तेन प्रचलनार्थं
पृष्ठदेशे घट्टिताः प्रेरिता ये ते तथा । कुरप्रहः कटिप्रहः, तेन च
गाढरुष्टैर्निमुष्टमत्यर्थं परामृष्टाः गृहीता ये ते तथा । ततः कर्म-
धारयः । वक्ष्यानां सम्बन्धि यत् करकुटोयुगं वस्त्रविशेषयुगलं
तत्तथा, तन्निवसिताः परिदिताः । पागन्तरे-वधाश्च करकुट्यो-
हस्तलक्षणः, तयोः युगं युगवं, निनसिताश्च ये ते तथा । सुर-
कैः कण्वरैः कुसुमविशेषैः, ग्रथितं गुम्फितं, विमुकुलं विकसि-
तं, कण्ठे गुणं इव कण्ठे गुणं, कण्ठसूत्रसदृशमित्यर्थः । वष्यदूत
इव वष्यदूतः, बद्धचिह्नमित्यर्थः । आविद्धं परिहितं, माल्यदा-
मकुसुममात्रा, येषां ते तथा, मरणभयादुत्पन्नो यः खेदः तेनायत-
मायामवद् यथा भवतीत्येवं स्नेहेन उन्मुपितानीव स्नापितानीव
क्लिन्नानि चार्द्राकृतानि गात्राणि येषां ते तथा । चूर्णेनाङ्गरादी-
नां गुणिरुतं शरीरं, कुसुमरजसा वातोत्खातेन रेणुना च धूत्री-
रूपेण भरिताश्च नृताः केशा येषां ते तथा । कुसुम्भकेन राग-
विशेषेण उत्कीर्णा गुणिरुता मूर्धजा येषां ते तथा । जिह्वजीवि-
ताशा इति प्रतीतम् । घूर्णमानाः, जयविक्रमत्वात् । वक्ष्याश्च ह-
न्तव्याः, प्राणप्रीताश्च उच्छ्वासादिप्राणप्रियाः, प्राणपीता वा जङ्कि-
तप्राणा ये ते तथा । पागन्तरेण- (वेज्जयण्भीयं चि) वध-

केच्यो जीता इत्यर्थः । ‘तिष्ठं तिष्ठं चैव छिज्जमाणा’ इति व्यक्तम् ।
शरीराद्विकृतानि जिह्वानि लोहितावज्जिह्वानि यानि काकणीमां-
सानि शृङ्गणखण्डपिशितानि तानि तथा, खाद्यमानाः, पापाः
पापिनः, खरकरशतैः शृङ्गणपापणनृतैः, चर्मकोशकविशेषशतैः,
स्फुटितवंशशतैः ताड्यमानदेहाः, वातिकनरनारसिंघवृताः
वातो येषामस्ति ते वातिकाः, वातिका इव वातिकाः, अयन्त्रिता
इत्यर्थः । तैर्नरैर्नारीजिह्व समन्तात्परिवृता ये ते तथा । प्रेक्ष्यमा-
णाश्च, नागरजनेनेति व्यक्तम् । वक्ष्यनेपथ्यं संजातं येषां ते वक्ष्य-
नेपथ्यिताः । प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरमध्येन सन्निवेशमध्यभागेन,
कृपणानां मध्ये करुणाः कृपणकरुणाः, अत्यन्तकरुणा इत्यर्थः । अ-
त्राणाः, अनर्थप्रतिघातकाज्ञावात् । अशरणाः, अर्थप्रापकाज्ञावात् ।
अन्धधाः, योगक्लेशकारिविरहितत्वात् । अन्धान्धवाः, बान्धवानाम-
नर्थकत्वात् । बन्धुविप्रहीणाः, बान्धवैः परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमा-
णाः पश्यन्तः (दिसो दिसं ति) एकस्या दिशोऽन्यां दिशं, पुनस्त-
स्या अन्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनोद्विग्ना ये ते तथा । (आ-
घायणं चि) आघातनं च वक्ष्यन्मिमण्डलस्य प्रतिद्वारम् । द्वार-
मेव संप्रापिता नीता ये ते तथा । अन्नान्याः, शूलाग्रे शूलका-
न्ते विवृणोऽवस्थितो जिह्वो विदारितो देहो येषां ते तथा ।

ते च, तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिता-
ङ्गोपाङ्गाः जिह्वावयवाः, उल्लभ्यन्ते वृत्तशाखाभिः । केचि-
त् करुणानि, वचनानीति गम्यन्ते; विलपन्त इति । तथा
अपरे चतुर्ष्वङ्गेषु हस्तपादलक्षणेपु (धणियं) गाढं बद्धा ये
ते तथा । पर्वतकटकाद् नृगोः, प्रमुच्यन्ते क्रियन्ते, दूरात्पातः
पतनं च, बहुविषमप्रस्तरेषु अत्यन्तासमपापणेषु, सहन्ते ये ते
तथा । तथाऽन्ये वाऽपरे गजचरणमलनेन निर्मादिता दलिता ये
ते तथा । ते क्रियन्ते । कैः?, इत्याह-मुण्डरुप्रशुभिः कुण्डकुगैः ।
तीक्ष्णैर्हि तैर्नात्यन्तं वेदनोत्पद्यत इति विशेषणमिति । तथा
केचित् अन्ये, उत्किंसकर्णोष्ठनासाश्चिह्नश्चवणदशनच्छद्वद्वा-
णाः, उत्पाटितनयनदशनवृषणा इति प्रतीतम् । जिह्वा रसना,
आञ्चिता आकृष्टा, जिह्वौ कर्णौ, शिरश्च, नयनाद्याः येषां ते
तथा । प्रणीयन्ते, आघातस्थानमिति गम्यते । विद्यन्ते च खण्ड्य-
न्ते, असिना खड्गेन, तथा निर्विषया देशाद् निष्कासिताः, जिह्व-
हस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्करीस्यज्यन्ते, जिह्वहस्तपादा
देशान्निष्कास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवबन्धनाश्च क्रि-
यन्ते, केचिदपरे, कैः?, इत्याह-परडव्यहरणबुद्ध्या इति प्रती-
तम् । कारागैश्च चारकपरिधेन, निगरुयुगत्रैश्च रुद्धा नियन्त्रिता
ये ते तथा । ते कः?, इत्याह-[चारगापं चि] चारके गुप्तौ, किं
विधाः सन्तः?, इत्याह-हतसारा अपहृतव्याः, स्वजनविप्रमुक्ता
मित्रजननिराकृताः निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनाधिककारश-
ब्देन ब्रज्जायिताः प्राप्तब्रज्जाः ये ते तथा । अन्नज्जा विगतलज्जाः,
अनुबद्धबुद्ध्या सततबुद्ध्या, प्रारब्धाभिज्ञा अपराद्धा वा ये ते
तथा । शीतोष्णनृणावेदनया दुर्घटया दुराच्छादनया, घट्टिताः
स्पृष्टा ये ते तथा । विवर्णं मुखं, विरूपा च ऋविः शरीरवक्त्रं, येषां
ते विवर्णमुखविच्छाविकाः । ततोऽनुबद्धेत्यादिपदानां कर्मधार-
यः । तथा विफला अप्राप्तेच्छितार्थाः, मन्त्रिणा मन्त्रीमसाः, दुर्बला-
श्चासमर्था ये ते तथा । ज्ञानता ग्वानाः, तथा कासमाना रोगवि-
शेषात्कुत्सितशब्दं कुर्वाणाः, व्याधिताश्च सञ्जातकुष्ठादिरोगाः,
आमेनापकरसेनाजिनूतानि गात्राण्यङ्गानि येषां ते तथा । प्रक-
टानि वृद्धिमुपगतानि, वृद्धत्वेनासंस्काराद नखकेशशम्भुरोमाणि

येषां ते तथा । तत्र केशाः शिराजाः, इमंभूणि कुर्न्रोमाणि, शेषा-
णि तु रोमाणीति । (मञ्जुसूत्रमिति) पुरीषमूत्रे निजके, (खुत्तसि)
निमग्नाः, तत्रैव चारकबन्धने मृताः, अकामुकाः मरणेऽननिष्ठायाः,
ततश्च बद्धा पादयोरारुह्यः, स्वातिकायां [बृहत्सि] किमाः,
तत्र तु स्वातिकायां, वृकशूनकशृगात्रक्रोरुमाजोरवृन्दस्य संदेश-
कतुण्डैः पक्षिगणस्य च विविधमुखशतैर्विबुधानि गात्राणि येषां
ते तथा । कृता विहिता वृकादिनिरेव [विहंगसि] विभागाः,
खरुशः कृता इत्यर्थः । केचिदन्ये- [किमिणाइसि] कृमिव-
न्तश्च, कुथितदेहा इति प्रतीतम् । अनिष्टवचनैः शप्यमाना
आक्रोश्यमानाः । कथम् ? इत्याह-सुष्ठु कृतं, ततः कदर्थनमि-
ति गम्यते । यदिति यस्मात् कदर्थनान्मृतः पाप इति । अथवा
सुष्ठु कृतं सुष्ठु सम्पन्नं, यन्मृत एव पाप इति । तथा तुष्टेन जने-
न हन्यमानाः, ब्रज्जमापयन्ति प्रापयन्तीति ब्रज्जापनास्त एव
कुत्सिताः लज्जापनकाः, लज्जावहा इत्यर्थः । ते च जवन्ति जा-
यन्ते, न केवलमन्येषां, स्वजनस्यापि च दीर्घकालं यावदिति त-
था मृताः सन्तः, पुनर्मरणानन्तरं, परलोकसमापन्नाः जन्मान्तर-
समापन्नाः, निरये गच्छन्ति, कथं जूते ? निरभिरामे । अङ्गाराश्च
प्रतीताः । प्रदीप्तकं च प्रदीपनकं च तत्कल्पस्तदुपमो योऽत्यर्थं शी-
तवेदेनेनासातनेन कर्मणा उदीर्णानि उदीरितानि, सततानि अ-
विच्छिन्नानि यानि दुःखशतानि तैः समभिजृता यः स तथा तत्र ।
ततस्ततोऽपि नरकादुद्धृताः सन्तः पुनः प्रपद्यन्ते तिर्ययोनि-
म्, तत्रापि निरयोपमानामनुजवन्ति वेदनाम्, ते अनन्तरोदिता-
दत्तप्राहिणः, अनन्तकालेन यदि नाम कथञ्चिन्मनुजभावं ल-
भन्ते इति व्यक्रमः । कथम् ? इत्याह-नैकेषु बहुषु, निरयगतौ यानि
गमनानि तिरश्चां च ये भवास्तेषां ये शतसहस्रसंख्यापरिव-
तास्ते तथा तेषु, अतिक्रान्तेषु सस्त्विति गम्यते । तत्रापि च म-
नुजत्वलाभे जवन्ति जायन्तेऽनार्याः शक्यवनवव्वरादयः । किं
जृताः ? नीचकुलसमुत्पन्नाः, तथा आर्यजनेऽपि मगधादौ समु-
त्पन्ना इति शेषः । लोकबाह्या जनवर्जनीयाः, भवन्तीति गम्यम् । ति-
र्यभूताश्च, पशुकल्पा इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह-अकुशलास्तत्त्वध्व-
निपुणाः, कामभोगे तृपिता इति व्यक्तम् । [जहिंति] यत्र नरकादि-
प्रवृत्तौ, न तु मनुजत्वं लभन्ते, यत्र निवर्तन्ति (निरयवृत्तानि)
निरयवृत्तियां नरकमार्गे, जवप्रपञ्चकरणेन जन्मप्राचुर्यकरणेन,
[पणोक्लिंति] प्रणोदीनि तत्प्रवर्तकानि, तेषां जीवानामिति हृदयम् ।
यानि तानि तथा । अत्र द्वितीयावबहुवचनलोपो द्रष्टव्यः । पुन-
रपि आवृत्त्या संसारो जवो (नेमसि) मूलं येषां तथा, दुःखा-
नोति जावः । तेषां यानि मूलानि तानि तथा, कर्माणीत्यर्थः ।
तानि निवर्तन्तीति प्रकृतम् । इह च मूला इति वाच्ये मूल इ-
त्युक्तं प्राकृतत्वेन द्विद्वयः यथादिति । किं भूतास्ते मनुजत्वे वर्त-
माना भवन्ति ? इत्याह-धर्मश्रुतिविवर्जिताः धर्मशास्त्रविकल्पा
इत्यर्थः । अनार्या आर्येतराः, क्रूराः, जीवोपघातोपदेशकत्वात् ।
क्रूराः, तथा मिथ्यात्वप्रधाना विपरीततत्त्वोपदेशकाः श्रुतिसि-
द्धान्ततां प्रपन्ना अन्युपगताः, तथा ते च भवन्तीति । एकान्त-
दार्शन्यः, सर्वथा हिंसनश्रद्धा इत्यर्थः । वेप्रपन्ते कोशिकाकार-
कटिश्च, आत्मानमिति प्रतीतम् । अष्टकर्मलक्षणैस्तनुभिर्वदन्
बन्धनम् । तथा एवमनेन आत्मनः कर्मभिर्यन्धनवक्रणप्रकारेण
नरकनिर्यङ्गनारमरेषु यद्गमनं तदेव पर्यन्तचक्रवालं बाह्यपरि-
धेयस्य स तथा तम्, संसारसागरं वसन्तीति सम्बन्धः । किं जू-
तम् ? इत्याह-जन्मजगमरणान्येव करणानि साधनानि यस्य
तत्तथा, तच्च गम्भीरदुःखं च, तदेव प्रकृतिं सञ्चलितं प्रचुरं

सखिलं यत्र स तथा तम् । संयोगवियोगा एव वीचयस्तरङ्गा
यत्र स तथा । चिन्ताप्रसङ्गः चिन्तासातत्यं, तदेव प्रभूतं प्रसरो
यस्य स तथा । वधा हननानि, बन्धाः संयमनानि, तायेव म-
हान्तो दीर्घतया, विपुलाश्च विस्तीर्णतया, कल्लोला महोर्म-
यो यत्र स तथा; करुणविलपिते लोभ एव कलकलायमानो यो
बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादिपदानां
कर्मधारयः । अतस्तम् । अवमाननेमेषापूजनमेव, फेनो यत्र स तथा ।
तीर्णस्त्रिसनं वाऽत्यर्थनिन्दा पुत्रपुत्रप्रचृता अनवरतोद्भूता या
रोगवेदनास्ताश्च परिभवविनिपातश्च पराजितवसम्पर्कः, पशु-
धर्षणानि च निष्ठुरवचननिर्भस्सितानि, समापतितानि समाप-
न्नानि, येन्यस्तानि तथा तानि च तानि कठिनानि कर्कशानि,
दुर्ज्ञेदानीत्यर्थः । कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि, क्रिया वा, ये प्रस्त-
राः पाषाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गरिङ्गद् वीचिभिश्चलन्, नित्यं ध्रुवं,
मृत्युश्च भयं चेति त एव वा तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो यत्र
स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-अपमानेन फेनेन, फेनमिति
तोयपृष्ठस्य विशेषणम् । अतो बहुवीहिरेव अतस्तम् । कषाया एव
पातालाः पातालकलशास्तैः संकुलो यः स तथा तम् । जवसहस्रा-
ण्येव जलसञ्चयस्तोयसमूहो यत्र स तथा तम् । पूर्वजननादि-
जन्मदुःखस्य सखिलतोक्ता, इह तु जवानां जननादिधर्मवतां
जलविशेषसमुदायतोक्तेति न पुनरुक्तत्वम् । अनन्तमक्रयं, उद्वेज-
नकमुद्वेगकरम्, अनर्वाकूपारं-विस्तीर्णस्वरूपम्, महाजयादिवि-
शेषणत्रयमेकार्थम् । अपरिमिता अपरिमाणा ये महच्छा बृह-
दजिलाषा लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव
वायुवेगस्तेन (उद्धममाणसि) उत्पाद्यमानं यत्तत्तथा । तस्य
आशा अप्राप्तार्थसम्भावनाः, पिपासाश्च प्राप्तार्थकाङ्क्षाः, त एव
पातालाः पातालकलशाः, पातालं वा समुद्रजलतलं, तैश्चस्तस्मा-
द्वा कामरतिः शब्दादिष्वभिरतिः, रागद्वेषबन्धनेन च बहुविधसं-
कल्पाश्चेति द्वन्द्वः । तल्लक्षणस्य विपुलस्योदकरजस उदकरेणो-
र्यो रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा तम् । कलुषमतिवातेनाऽऽ-
शादिपातालाद्युत्पाद्यमानकामरत्याद्युदकरजोरयोऽन्धकारमि-
त्यर्थः । मोह एव महावर्तो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा
एव, भ्राम्यन्तो मणरुलेन सञ्चरन्तो, गुप्यन्तो व्याकुलीभवन्त
उद्वलन्त उच्छ्वसन्तो, बहवः प्रचुराः, गर्जनामे मध्यज्ञागविस्तरे,
प्रत्यवानिवृत्ताश्च उत्पत्त्य निपातितः, प्राणिनो यत्र जले तत् तथा ।
तथा प्रधावितानि इतस्ततः प्रक्षेपण गतानि यानि व्यसनानि तानि
समापन्नाः प्राप्ता ये ते । पावन्तरण-बाधिताः पीकृता ये व्यसन-
समापन्ना व्यसनिनः, तेषां हृदि यत् प्रक्षेपितं तदेव चण्डमारुत-
स्तेन समाहतममनोऽङ्गं वीचिव्याकुलितं जङ्गैस्तरङ्गैः, स्फुटन् वि-
दलन्, अनिष्टैस्तैः कल्लोलैर्महोर्मिजिःसंकुलं च जलं तोयं यत्र स
तथा तम् । मोहावर्तभोगरूपज्ञानम्यदादिविशेषणप्राणिकं व्यस-
नमापन्नरुदितलक्षणदण्डमारुतसमाहतादिविशेषणं जलं यत्रेत्य-
र्थः । प्रमादामयादयः, त एव बहवश्चण्डा रौद्राः, दुष्टाः कुक्षाः, श्वा-
पदा व्याघ्रादयः, तैः समाहता अभिजृता ये (वचायमाणगसि)
उत्तिष्ठन्तो (विविधचेष्टासु) समुद्रपक्वे मत्स्यादयः, संसारपक्वे
पुरुषादयः, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये घोरा रौद्रा विध्वंसनार्था
विनाशलक्षणाः, अनर्था अपायाः, तैर्बहुलो यत्र स तथा । अ-
ज्ञानायेव जगन्तो मत्स्याः (परिदक्खसि) दक्का यत्र स तथा ते ।
अनिभृतायुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि, अनिभृतेन्द्रिया वा ये
देहिनस्तान्येव, त एव वा, महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि
शीघ्राणि, चरितानि चेष्टानि, तैरेव (खोकवुज्जमाणसि) भृशं क्रुज्य-

माणो यः स तथा । सन्तापः, एकत्र शोकादिकृतः, अन्यत्र वारु-
वाग्निभूतो नित्यं यत्र स सन्तापनित्यकः तथा चलन् चपलश्च-
लश्च यः स तथा, अतिचपल इत्यर्थः । स च अत्राणानामशरणानां
पूर्वकृतकर्तृसञ्चयानां, प्राणिनामिति गम्यम् । यदुदीर्णं वर्ज्यं
पारं तस्य यो वेद्यमानो दुःखशतरूपो विपाकः स एव घूर्णश्च
जमन् जलसमूहो यत्र स तथा । ततोऽज्ञानादिपदानां कर्मधार-
यः । अतस्तम् । ऋद्धिरससातवृक्षणानि यानि गौरवाण्यशुभाध्य-
वसायविशेषाः, त एवापहारा जलचरविशेषाः, तैर्गृहीता ये क-
र्मसंनिवृद्धाः सन्ताः, संसारपक्वे ज्ञानावरणादिवृद्धाः, समुद्रपक्वे
विचित्रचेषाप्रसक्ताः । (कष्टिजमाणं चि) आकृष्यमाणा नरक-
एव तलं पातालं (दुर्लभं ति) तदभिमुखं सन्ना इति सन्नकाः
खिन्नाः, विपणणाश्च शोकिताः, तैर्वहुशो यः स तथा । अरतिरति-
भयानि प्रतीतानि । विपादो दैन्यं, शोकस्तदेव प्रकर्षावस्यम् । मि-
थ्यात्वं विपर्यासः, एतान्येव शैलाः पर्वतास्तेः सङ्कटो यः स तथा ।
अनादिसन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा, तच्च वेशाश्च रा-
गादयस्तद्वृक्षणं यत्तु चिकित्सितं कर्मस्तेन दुष्टु दुरुत्तारो यः स
तथा । ततः स ऋद्धीत्यादिपदानां कर्मधारयः, अतस्तम् । अमर-
नरतिर्यग्गतौ यः क्रमनं सैव कुटिलपरिवर्ता चक्रपरिवर्तना, विपु-
ला विस्तीर्णा, वेशा जलवृद्धिद्वक्त्रा, यत्र स तथा तम् । हिंसाऽशी-
कादत्तादानमैथुनपरिग्रहलक्षणा ये आरम्भा व्यापाराः, तेषां यानि
करणकारणानुमोदना निरूपविधमनिर्णयं प्रकर्म पिएरुतं साञ्च-
तं, तदेव गुरुभारस्तनाक्रान्ता ये ते तथा, तैर्दुर्गाण्येव व्यसनान्येव
यो जडौघस्तेन दूरमत्यर्थं, निचोद्यमानैः निमज्जमानैः, (उन्मगगनि-
मगं चि) उन्मग्ननिमग्नैरुद्धाधोजलगमनानि कुर्वाणैः, दु-
र्लभं तलं प्रतिष्ठानं यस्य स तथा तम् । शरीरमनोमयानि दुः-
खानि उत्पिबन्त आसादयन्तः, सातं च सुखम्, असातपरिता-
पनं च दुःखजनितोपतापः, एतन्मयमेतदात्मकम्, (उव्वुइनिव्वु-
इयं ति) उन्मग्ननिमग्नत्वं कुर्वन्तः । तत्र सातमुन्मग्नत्वमिव,
असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति । चतुरन्तं चतुर्विभागं दि-
ग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयोऽत्र दृश्यः । अन-
वदग्रमनन्तं, रुद्धं विस्तीर्णं, संसारसागरमिति प्रतीतम् । किं-
भूतम् ?, इत्याह-अस्थितानां संयमाव्यवस्थितानामविद्यमान-
मालम्बनं प्रतिष्ठानं च त्राणकारणं यत्र स तथा तम्, अप्रमेय-
मसर्ववेदिनाऽपरिच्छेद्यं, चतुरशीतियोनिशतसहस्रगुणिलम्,
तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां चासंख्यातत्वेऽपि
समवर्णगन्धरसस्पर्शानामेकत्वविवक्षणादुक्तसंख्याया अवि-
रोधित्वं द्रष्टव्यम् । तत्र गाथा-“ पुढवि ७ दग ७ अगणि ७
मारुय ७, एकेके सत्त जोगिलक्खाओ । वणपत्तेय १० अणं-
ते १४, दस चोइस जोगिलक्खाओ ॥१॥ विगल्लिदिपसु दो दो,
चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिपसु हुंति चउरो, चोइस ल-
क्खा य मणुपसु ” ॥ २ ॥ इति । अनालोकानामज्ञानमन्धकारो
यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितकालं यावत्, नित्यं
सर्वदा, उत्तस्ता उदगतत्रासाः, शून्याः-इतिकर्तव्यतामूढाः,
भयेन संज्ञाभिश्च आहारमैथुनपरिग्रहादिभिः, संप्रयुक्ता युक्ताः ।
ततः कर्मधारयः । वसन्ति अध्यासते, संसारसागरमिति प्रकृ-
तम् । इह च वसेर्निरूपसर्गस्यापि कर्मत्वं संसारस्य, छान्दसत्वा-
दिति । किंभूतं संसारम् ? उन्मिग्नानां वासस्य वसनस्य वस-
तिस्थानं यः स तथा तम् । तथा यत्र यत्र ग्रामकुलादौ प्रायुर्निव-
धन्ति पापकारिणश्चौर्यविधायिनः, तत्र तत्रेति गम्यते । वा-
न्धवजनादिवर्जिता भवन्तीति क्रियासम्बन्धः । बान्धवजनेन

भ्रात्रादिना, स्वजनेन पुत्रादिना, मित्रैश्च सुहृद्भिः परिवर्जिता
ये ते तथा । अनिष्टाः, जनस्येति गम्यते, भवन्ति जायन्ते । अना-
देयदुर्विनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानासनशय्याश्च ते, कुभोजि-
नश्चेति समासः । (असुइणो चि) अशुचयोऽशुचयः, कुसंहननाः
छेदवर्त्या संहननयुक्ताः, कुप्रमाणा अतिदीर्घा अतिह्रस्वा वा,
कुसंस्थिता हुण्डादिस्थानाः । इति पदत्रयस्य कर्मधारयः । कु-
रूपाः कुनिसतवर्णाः, बहुकोधमानमायालोभा इति प्रतीतम् ।
बहुमोहा अतिकामा अत्यथाज्ञाना वा, धर्मसंज्ञाया धर्मबुद्धेः,
सम्यक्त्वाच्च ये परिभ्रष्टास्ते तथा । दारिद्र्योपद्रवाभिभूताः,
नित्यं परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीव्यते येनार्थेन उच्येण
तद्व्यरहिता ये ते तथा । कृपणा रङ्गाः, परपिण्डतर्ककाः पर-
दत्तभोजनगवेषकाः, दुःखलब्धाहारा इति व्यक्तम् । अरसेन
हिङ्गवादिभिरसंस्कृतेन, विरसेन पुराणादिना, तुच्छेन अल्पेन,
भोजनेनेति गम्यते । कृतकुत्तिपूरा येस्ते तथा । तथा परस्य सं-
बन्धिनं प्रेक्ष्यमाणाः । पश्यन्ति किम् ? इत्याह-ऋद्धिः सम्पत्,
सत्कारः पूजा, भोजनमशनम्, एतेषां ये विशेषाः प्रकाराः, तेषां
यः समुदायः, उदयवर्तित्वं वा, तस्य यो विधिविधानमनुष्ठानं,
स तथा तम् । ततश्च निन्दन्ता जुगुप्समानाः, (अप्पकं ति) आ-
त्मानं, कृतान्तं च देवं, तथा परिवदन्तो निन्दन्तः, कानि ?, इत्याह-
[इह य पुरे कडाइ कम्माइ पावगाइ ति] इहैवमत्तरघटना-
पुराकृतानि च जन्मान्तरकृतानि कर्माणि इह जन्मनि पाप-
कान्यशुभानि । कचित्पापकारिण इति पाठः । विमनसो
दीनाः, शोकेन दह्यमानाः, परिभूता भवन्तीति सर्वत्र संबन्ध-
नीयम् । तथा सत्त्वपरिवर्जिताश्च [छोभं चि] निस्सहायाः
लोभणीया वा, शिल्पचित्रादिकला धनुर्वेदादिः, समयशास्त्र-
म-जैनबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रम्, एभिः परिवर्जिता ये ते
तथा । यथाजातपशुचूताः शिक्काऽऽभरणादिवर्जितवस्त्रावर्वादि-
सदृशाः, निर्विज्ञानत्वादिसाधर्म्यात् । (अवियन्नं चि) अप्रतीत्यु-
त्पादकाः, नित्यं सदा, नीचान्यधमजोचितानि, कर्माण्युपजीव-
न्ति तैर्वृत्तिं कुर्वन्ति ये ते तथा । लोककुत्सनीया इति प्रतीतम् ।
मोहादये मनोरथा अजिघाषास्तेषां ये निरासाः केषास्त्वैर्बहुला
ये ते तथा । अथवा-मोघमनोरथा निष्फलमनोरथाः, निराश-
बहुलाश्च आशाऽज्ञावप्रचुरा ये ते तथा । आशा इच्छाविशेषः, सैव
पाशो बन्धनं तेन प्रतिबद्धाः संरुद्धाः, निर्यान्त इति गम्यम् । प्राणा
येषां ते तथा । अर्थोत्पादानं उच्यार्जनं, कामसौख्यं प्रतीतम्, तत्र
च लोकसारे लोकप्रधाने, भवन्ति जायन्ते, (अफलवन्तगा य चि)
अफलवन्तः अप्राप्तका इत्यर्थः । लोकसारता च तयोः प्र-
तीता । यथाहुः-“ यस्याथेस्तस्य मित्राणि, यस्याथेस्तस्य बा-
न्धवाः । यस्यार्थः स पुमाँहोके, यस्यार्थः स च पणिरुतः ” ॥१॥
इति । तथा-“ राज्ये सारं वसुधा, वसुधरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ” ॥१॥ इति । किं जूताः ,
अपीत्याह-सुष्ठुपि च (उज्ज्वलं चि) अत्यर्थमपि च प्रयतमानाः ।
उक्तं च-“ यद्यदारजते कर्म, नरो दुष्कर्मसंचयात् । तत्तद्विफल-
तां याति, यथा बीजं महोषरे ” ॥ १ ॥ तद्विदसं प्रतिदिनमु-
द्युक्तैरुद्यतैः सद्भिः कर्मणो व्यापारेण कृतेन यो दुःखेन कष्टेन सं-
स्थापितो मीलितः सिक्थानां पिएरुतस्यापि सञ्चये पराः प्र-
धाना ये ते तथा । क्रीणुष्वव्यसारा इति व्यक्तम् । नित्यं सदा
अध्रुवा अस्थिराः, धनानामणिमादीनां, धान्यानां शाक्यादीनां,
कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि तत्परिभोगेन वर्जिताश्च ये ते
तथा । रहितं त्यक्तं कामयोः शब्दरूपयोः जोगानां च गन्धर-

सस्पर्शाणां परिजोगे आसवने यत्तत् सर्वसौख्यमानन्दो यैस्ते तथा । परेषां यौ धियाः भोगोपभोगौ तयोर्यन्निधाय निश्चा-
नस्य मार्गपरायणा गवेषणपराः, ये ते तथा । तत्र भोगोपभो-
गयोरयं विशेषः—“ सङ्गुज्जइ स्ति भोगो, सो पुण आहारपु-
ष्फमाईओ । उवभोगो उ पुणो पुण, उयजुज्जइ वन्थनिज्जयाइ ”
॥ १ ॥ इति । वराकास्तपस्विन अकामिकया अनिच्छया, विन-
यन्ति प्रेरयन्ति, अतिवाहयन्तीत्यर्थः । किं तत् ? इत्याह—दुः-
खमसुखं, नैव सुखं, नैव निर्वृतिं स्वास्थ्यमुपपन्नन्त प्राप्नुवन्ति,
अत्यन्तविपुलदुःखशतसंप्रदायाः परस्य दुःखेषु ये अविरता भव-
न्ति, ते नैव सुखं लभन्त इति प्रस्तुतम्, तदेव यादृशं फलं ददा-
नि तादृशमभिहितम् । अधुनाऽप्ययनोपसंहारार्थमाह—(एसो सो)
इत्यादि सर्वं पूर्ववत् । प्रश्नो ३ आश्रो द्वा० । (पञ्चमं ये च
कुर्वन्तीति द्वारं तृतीयद्वारेण सहैवोक्तमिति न पृथगुक्तम्) ।
(अदत्तादानस्य दुर्व्यक्तेष्वकालजावभेदाः “अदत्तादाणवेरमण”
शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम्—

जे भिक्खू आयरियउवज्झाएहिं अवादिणं गिरं आइ-
यति, आइयतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

गिरस्ति वाणी वयणं, तं पुण सुत्ते चरणे वा जातं आयरियउव-
ज्जाएहिं अदत्तं गेएहति, तत्थ सुत्ते एकं, अत्थे दो, चरणमूत्त-
रपुणेसु अणेगविहं पच्छित्तं ।

दुविहमदत्ता उ गिरा, सुत्ते अत्थे तदेव चारित्तं ।

सुत्तयेसु सुयम्मी, भासा दोसे चरित्तम्मि ॥ २५ ॥

एति णियगारवेणं, बहुसुत्तमतेण अणतो वा वि ।

गंतुं अपुच्छमाणो, उजयं अण्णावदेसेणं ॥ २६ ॥

जा सुत्ते गिरा, सा दुविधा-सुत्ते, अत्थे वा । चरणे सा सावज्ज-
दोसजुत्ता जासा । कहं पुण सोऽदिष्णं आइयत्ति ? उच्यते—(एति
णिय) गाहा । तस्स किंचि सुत्तत्थं संदिट्ठं, सो सध्वं एति णिउहंति
गारवेण इमे ण पुच्छति, सीसत्तं वा न करेइ, बहुसुओ
वाइहं नणासि कइमणं पुच्छिस्सं ? एवमादिगारवट्ठितो अणतो
वि ण गच्छति, गतो वा ण पुच्छति, ताहे जय सुत्ते अत्थाणि वा
इज्जंति तत्थ चिलिमिहिकुमंडंनरिओ वा वि अण्णावसेसेण
वा गतागतं करेतो सुणेति, उभयं पि अण्णावदसेण ।

एमा सुत्त अदत्ता, ह्मोति चरित्तम्मि जा स सावज्जा ।

गारत्थियजासा वा, दट्ठर पलिओ वि सा वा वि ॥ २७ ॥

चरित्ते दट्ठरं ससरं करेति, आलोयणकाले पलिओ, सेति क-
ताकते वा अत्थि पलिओ वि स्ति, सेसं कंठं ॥

वितिओ वि य आपसो, तवतेणादीणि पंच तु पदाणि ।

जे जिकखू आदियती, सो खमओ आम मोणं वा ॥ २८ ॥

तत्रतेणे वयतेणे रुपतेणे य जे नरे आचारभावतेणे य कुच्चइ
देवकित्तिंसं, एतस्मि इमा विभासा, (खमओ) गाहा-से जावदुच्च-
लो भिक्खवाओ, अण्णत्थ वा पुच्छिओ सो-तुमं खमओ स्ति
मंतं, ताहे सो भणाति-आमं, मोणं वा अत्थति । अहवा भणा-
ति-को जतीसु खमणं पुच्छवाइ ? तेणे स्ति तुमं, सो धम्मकहीओ
दीणे मित्तिओ गर्णा वायगो वा ।

पच्छ वि नणाति आमं, तुएहीको वा वि पुच्छति जतीणं ।
धम्मं कहिवादिवयणे, स्खे णीयद्व पन्निमाए ॥ २९ ॥

भणाति रुवे-तुमं अह सयणोऽसि, अहवा तुमं सो पडिमं
पडिवणमासी, एत्थेव तदेव तुणिहकादि अत्थति ।

बाहिरउवाणवल्लिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।

माहुरुदाहरणं तहिं, मावे गोविंदपव्वज्जा ॥ ३० ॥

आचारतेणे महुराकोरेइहा उदाहरणं, ते भावसुष्ठा परुष्प-
त्तिणिमित्तं बाहिरकिरिया सुट्टुज्जुत्ता जे, ते आचारतेणा । भाव-
तेणो जहा-गोविंदवायगो वादे णिज्जिओ, सिक्तंहरणछयाए
पव्वयमज्जुवगतो पच्चा सम्मत्तं पडिवरणे । एवमादि गिराणं
अदित्ताणं णो गहणं कायव्वं, पक्कंता वयणभंसो कतो
भवति । मुसावादिया य वरणभंसदोसा-

एतेसामसुतरे, गिरिं अदत्तं तु आदिया जे तु ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छुत्तविवाहणं पावे ॥ ३१ ॥

कंठ्या । आवणसट्ठणं ण पच्छित्तं, ते अदत्तं पि आदिपज्ज ।

वितियपदमणप्पज्जे, आदिणं अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

दुदाइ संजमट्ठा, दुल्लजदव्वेणऽजाणंता ॥ ३२ ॥

खेत्तादिचित्तो वा आइपज्ज, सेहो वा अजाणंता (दुदाइ स्ति)
उवसंपण्णा वि न देइ, तस्स उवसंपण्णो अणुवसंपण्णो वा
जत्थ गुणइ, यक्खाणेइ वा, कस्स वि तत्थ कुट्टंरिओ सुणेति,
गयागयं वा करेतो संजमे हेउं वत्ति । अत्थितो कइमियादिठ-
ति, पुच्छिओ दिट्ठो वि न दिठति, भणेज्जा जत्थ वा संजयजासा ते
प्रासिज्जमाणा सागारिणा संजयभासाओ गेएहेज्जा, तत्थ अवि-
दिष्ठा ते गारत्थिगभासाए भासेज्जा । आयरियस्स गिह्वाणस्स
वा, सयपागेण वा, सहस्सपागेण वा दुल्लभदव्वेण कज्जं तदछा-
णिमित्तं पउंजेज्ज । अणं वा किंचि संथववयणं जणेज्ज । तदछावव
तेणादि वा पंचपदे भणेज्जा । नि० चू० १६ उ० । “अदिष्ठादाणं
सुहुमं, वादरं च । तत्थ सुहुमं तणरुगल्लगारमल्लगादीणं गहणे ।
वादरं हिरणसुवण्णादि ” । महा० ३ अ० ।

स्वाम्यदत्तादि—

स्वामिजीवतीर्थकरगुर्वदत्तभेदेनादत्तं चतुर्विधम् । तत्र स्वाम्य-
दत्तं तृणोपलकाष्ठादिकम्, तत्र स्वामिना दत्तम् १ । जीवादत्तं
यत्स्वामिना दत्तमपि जीवनादत्तम्, यथा प्रमज्ज्यापरिणामविक-
लो मातापितृभ्यां पुत्रादिगुरुभ्यो दीयते २ । तीर्थकरादत्तं यत्ती-
र्थकरैः प्रतिपिठमाधाकर्मादि गृह्यते ३ । गुर्वदत्तं नाम स्वामिना
दत्तमाधाकर्मादिदोषरहितं गुरुननुज्ञाप्य यद् गृह्यते ४ । इति
चतुर्विधस्याप्यत्र परिहारः । इत्युक्तं तृतीयं व्रतम् । ध० ३ अधि० ।

चित्तपंतमाचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहु ।

दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ ३४ ॥

चित्तवट्ठ द्विपदादि, अचित्तवट्ठिरण्यदि; अल्पं वा-मूल्यतः, प्रमा-
णतश्च । यदि वा बहु-मूल्यप्रमाणाज्यामेव । किं बहुना ?-दन्तशो-
धनमात्रमपि तथाविधं तृणादि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा
न गृह्णन्ति साधवः, कदाचनेति सूत्रार्थः । दश० ६ अ० ।

(६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति—

जे भिक्खू लहुसयं अदत्तं आदियति, आदियंतं वा
साइज्जइ ॥ ३५ ॥

लहु थोवं, अदत्तं तेणं, आदियणं गहणं, साइज्जणा अ-
णुमोयणा, मासवहु पच्छित्तं ।

तं अदत्तं दब्बादि चउव्विहं-

दब्बे खेत्ते काले, भावे लहुसगं अदत्तं तु ।

एतेसि णाणत्तं, वोच्छामि अहाऽऽणुपुव्वीए ॥ ७१ ॥

दब्बखेत्तकालाणं गहणं, साइज्जणा अणुमोयणा, मासलहु
पच्छित्तं, तं अदित्तं दब्बादिहिं चउव्विहं ।

दब्बखेतकालाणं इमं वक्खानं-

दब्बे करुणादिएसु, खेत्ते उच्चारज्जुमिमादीसु ।

काळे इत्तरियमवी, अच्चाऽ तु चिट्ठमादीसु ॥ ७२ ॥

वणस्सतिभेओ इक्कमालादीणं पसिच्चो, कट्ठो वंसो, आदि-
ग्गहणाओ अवलेहणिया, दारुदंडपादपुंजणमादि, एते अण-
णुव्वान्ते गेएहति । खेत्तओ अदित्तं गेएहति उच्चारभूमिं, आदि-
ग्गहणाओ पासवणत्ताओ अणिल्लेवणज्जुमीए अणुव्वविता उ-
च्चारदी आयरइ । खिस्सओ अदित्तं गतं । काले इत्तरं स्तोक्कं
अणुव्वचिद्धति भिक्खादि दिंरंतो जाव वासं वसति वितिच्छं
वा पच्छित्तं, अच्चाणे वा अणुव्ववेत्ता रुक्खहेट्ठाऽसु चिच्छति
निसीयति, तुयट्ठति वा, दब्बाऽसु वि मासवहुं ॥

इदाणीं जावे अदत्तं-

भावे पाओगस्सा, अणुव्ववणा तु तप्पढमताए ।

ठायंते उरुवच्चे, वासाणं वुट्ठवासे य ॥ ७३ ॥

उरुवच्चे वासासु वा, वुट्ठवासे वा, तप्पढमयाए पाओगाऽ-
णुव्ववणजावेण परिणयस्स दब्बादिसु चेव भावओ लहु अद-
त्तं, अदुवा साहु वुट्ठेसु जं जेसु जं जोग्गं पाउग्गं जप्पति ।

लहुसमदत्तं गेएहत्तस्स को दोसो?, इमो-

एतेसामप्पतरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदियइ ।

सो आणा अणुव्वत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेएहंतो अपच्छित्ती, अदोसो य ।

अच्चाण गेलणे ओ-मऽसिवे गामाणुगामिमतिवेत्ता ।

तेणासावयमसगा, सीतं वासं दुरहियासं ॥ ७५ ॥

अच्चाणाओ णिग्गता परिसंता गामं वियाले पत्ता, ताहे अ-
णुव्ववितं इक्कमादि गेएहेज्ज । वसदीए वि अणुव्ववियाए
वाएज्ज, आगाढगेलळे तुरियकउजे खिप्पमेव अणुव्ववितं
गेएहेज्ज, ओमोदरियाए जत्तादि अदिष्णं सयमेव गेएहेज्ज । अ-
सिवगाहिताणं ए को वि देह, ताहे अदिष्णं संधारगादि गे-
एहेज्ज । गामाणुगामं दूइज्जमाणा वियाले गामं पत्ता । जइ य
वसदी ण वप्पति, ताहे बाहिं वसंतु, मा अदत्तं गेएहतु । अह
बादी दुविहा-तेणासिघातिवासावायामसर्गाहिं वा खिज्जिज्ज-
ति, सीयं वा दुरहियासं, जहा उत्तरावहे अणवरत्तं वा सं
पप्पति ।

एतेहिं कारणेहिं, पुव्वउ घेत्तु पच्छऽणुव्ववणा ।

अच्चाण णिग्गतादी, दिठ्ठमादिहे इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं तेणादिकारणेहिं वसहिसामीए दिष्टे अणुव्ववणा, अ-
दिष्टे अद्धान णिग्गयादी, सयणसमोसिगाइ अणुव्ववेत्तुं घरसा-

मिणा अदिणं घेत्तुं घरसामियमणुव्ववणादेति इमेण वि-
हाणेण-

पडिबेहणऽणुव्ववणा, अणुव्वोमणुव्ववणा य अहियामो ।

अतिरिच्चमिदायणणि-ग्गमणे वा दुविधजेदो य ॥ ७७ ॥

पडिबेहं ति । अस्य व्याख्या-

अव्जासत्थं गंतू-ए पुच्छणा दूरपत्तिमा जतणा ।

तदिसमेत्तपक्खिच्छण-पत्तम्मि कहितिं सव्जावं ॥ ७८ ॥

सो घरसामी जदि खेत्तं खलगं वा गते जदि अच्चासतो
गंतुं अणुव्वविज्जति । अह दूरं गतो ताहे संधारओ णाम विधे-
ज्जाहिं । आगमेउं तं दिसं अदूरं गंतुं पक्खिच्छति जाहे साहु समी-
वं पत्तो ताहे अणुलोमवयणेहिं पक्खिज्जति ॥

अणुसासणं सजाती, म जाति मणुव्व चित्तह वि तु अट्ठंते ।

अज्जिउग्गणिमित्तं वा, वंधणगा से य ववहारो ॥ ७९ ॥

जहा गोजातिमंरुल्लुओ गोजातिमेव जाति, आसणे वि णो
महिस्सादिसु त्रितिं करेति । एवं वयं पि माणुसा माणुसमेव जा-
मो । जदि तह वि ण देति, फरुसाणि वा भणति, ताहे सो फरुसं
ण भणति, अधियासिज्जइ । जइ तह वि णिच्छमेज्ज, ततो विज्जाप,
चुप्पेहिं वा वसी कज्जति, णिमित्तं वा आउंटाविज्जति । तस्स
असति रुक्खमादिसु बाहिं वसंतु, मा य तेण समानं कव्वहेतु । अ-
ह बाहिं दुविहभेओ-आयसंजमाणं उ करणसरीराणं वा संज-
मच्चरित्ताणं वा पणवणं व अतिरिच्छंते, लइघत इत्यर्थः । ताहे भ-
णति-अम्हे सहामो, ज एस आगतिमं सो एस रायपुत्तां ण
सहिस्सति, एस वा सहस्सजोधी, सो वि कयकरणो किंचि कर-
णं दपति, जहाति । जहा-विस्सत्तूतिणा पुच्छिप्पहारेण खंधम्मि
कविट्ठा पक्खिया एस दायणा, तह वि अचायमाणे बंधिउं उव्वेति,
जाव पजायं सो य जइ रायकुं गच्छति, तत्थ तेण समानं व-
वहारो कज्जति, कारणियाणं आगतो भणति-अम्हेहिं रायहियं
आचिच्छंतेहिं मुसित्ता सावर्णां वा खजं वा, तो रप्पो अभिहियं-
अयसो य अवंतो परकृतनिव्वयाश्च तपस्विनः, रायरक्खियाणि
य तपोवणाणि, ण दोसे ति । नि० चू० २ उ० । लघुकादत्तं
पुनः-अननुज्ञापितत्तण्णेषुक्कारमल्लकालिकवृक्षादिच्छायविश्रम-
णादिविषयम् । जीत० ।

(७) गृहादौ तपस्तन्यादि न कुर्वीत-

तवतेणे वयतेणे, रुवतेणे अ जे नरे ।

आयारभावतेणे अ, कुर्वइ देवकिव्विसं ॥ ८६ ॥

तपस्तेनः, वाक्स्तेनः, रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चिद्, आचारभा-
वस्तेनः पावयन्नपि क्रियां तथा भावदोषात्किंविषं करोति
किंविषं किं कर्म निवर्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम कृपकरूपक-
तुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ कृपक इति ? । स पूजार्थमा-
ह-अहम् । अथवा वक्ति-साधव एव कृपकाः । तूष्णीं वाऽऽस्ते ।
एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति ।
एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टा-
चारवस्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु-परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित् कि-
ञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुप्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्यादेति
सूत्रार्थः ।

अयं चैतथंभूतः-

लक्ष्मण वि देवत्तं, उवउओ देवकिव्विसे ।

नत्था वि मे न जाणइ, किम्मे किञ्चा इमं फलं ॥४९॥
नत्थाऽपि देवत्वं तथाविधक्रियापात्रनवशेन उपपन्नो देवकि-
ल्लिखे देवकिल्लिखकाये तत्राप्यसौ न जानात्यविशुद्धाविधाना
किं भवन्तु इदं फलं किल्लिखिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ।

अत्रैव दोषान्तरमाह-

तत्तो वि मे चत्ता णं, लब्धिही एलमूअयं ।

नगं निरक्खजोणिं वा, वोही जत्य सुदुद्धहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि दिवशोकादसौ च्युत्वा लप्स्यत पञ्चमूकतामजभा-
पाऽनुकारित्वं मानुषत्वं, तथा नरकं, तिर्यग्योनिं वा, पारम्पर्येण
लप्स्यन्ते । बोधिर्यत्र सुदुर्गमः । सकलसम्पन्नवन्धना यत्र जिन-
धर्मप्राप्तिर्दुर्गमा । इह च प्राप्नोत्येकमूकतामिति वाच्ये अस-
कृद्भावप्राप्तिरूपताय लप्स्यत इति त्रिविध्यत्वात्तन्निर्देशः । इति
सूत्रार्थः । दश० ५ अ० २ उ० । (अदत्तादानस्य दर्पिका क-
लिपिका च प्रतिमेवा स्वस्थान एव वक्ष्यते) (शब्दादिविषयगृह्यते
अदत्तादानमापनितमिति उक्तं ३२ अध्ययने दर्शितमन्यत्र
वक्ष्यते) (साधर्मिकादिस्तेन्यं " अणवच्छप्प " शब्देऽस्मिन्नेव
भागे २९९ पृष्ठे दर्शितम्)

अदत्ता (दिष्ठा) दाणकिरिया-अदत्तादानक्रिया-स्त्री० ।

आत्माद्यर्थमदत्तग्रहणे, स्था० ५ उ० २ उ० । स्वामिजीवगुरुती-
र्थकरादत्तग्रहणे, ध० ३ अधि० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणवतिय-अदत्तादानप्रत्ययिक-पुं० ।

न० । अदत्तस्य परकीयस्यादानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयं,
तत्प्रत्ययिको दण्डः । एतच्च सप्तमे क्रियास्थाने, सूत्र० ।

अहावेर सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्ति ए ति आ-
हिज्जइ, मे जहाणाम ए केऽपुरिसे आयहेउं वा० (एणइहेउं
वा अगागहेउं वा) जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदि-
यइ, अन्नेणं वि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्नं आदियंतं अन्नं
समणुजाणइ, एवं खलु तस्मै तत्प्राप्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ,
सत्तमे किरियागणे अदिन्नादाणवत्ति ए ति आहि ए ।

एतदपि प्राग्वद् ब्रूयम् । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं
(ज्ञातिनिमित्तम्, अगागनिमित्तं) यावत्परिवारनिमित्तं परद्रव्य-
मदत्तमेव गृहीयान्, अपरं च ग्राहयेद्, गृह्णन्तमप्यपरं समनु-
जानीयादित्येव तस्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म संबध्यते । इति
सप्तमे क्रियास्थानमाख्यातमिति । सूत्र० २ श्रु० २ उ० । आ०
चू० । प्र० व० । स्था० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणविरइ-अदत्तादानविरति-स्त्री० । प-

रद्रयहरणविरतौ, महा० ७ अ० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणवेरमण-अदत्तादानविरमण-न० ।

अदत्तादानाद् विरमणमदत्तादानविरमणम् । स्वाम्याद्यनु-
ब्रानं प्रत्याख्यामिति स्तेयविरतिरूपे वनभेदे, प्रश्न० ३ सम्ब०
ठा० । तत्र स्थूलकाऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयमणुव्रतं, सर्वाऽद-
त्तप्रत्याख्यानं तृतीयं महाव्रतमिति ।

तत्र स्थूलकादत्तविरमणमित्थम्-

" तदाऽणंतरं च णं थूलगं अदिन्नादाणं पञ्चक्खामि दुविहं ति-
विहेणं ण करेमि, ण कारवेमि मण्णा वयस्मा कायस्मा " ।
स्थूलकमदत्तादानं चौर इति व्यपदेशनिबन्धनम् । उपा० १ अ० ।

थूलगमदत्तादाणं समणोवासओ पञ्चक्खाइ, से अदिन्नादा-
णे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सचित्तादत्तादाणे, अचित्ता-
दत्तादाणे अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्-स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र परिस्पृल-
विषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं
स्पृक्षम्, विपरीतमितरत्, स्पृक्षमेव स्पृक्षकं, स्पृक्षकं च तत्
अदत्तादानं चेति समासः । तच्चक्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति
पूर्ववत् । ' से ' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छब्दार्थः ।
तच्चादत्तादानं द्विविधं प्रकृतम्, तीर्थङ्करगणधैरिप्रकारं प्रकृत-
मित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सह चित्तेन सचित्तं-द्विपदादिब-
क्षणं वस्तु, तस्य क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुन्यस्तविस्मृतस्य स्वामिना
अदत्तस्य चौर्यबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । आदानमिति
प्रहणम् । अचित्तं वस्त्रकनकरत्नादि, तस्यापि क्षेत्रादौ सुन्यस्त-
दुन्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानमचित्ता-
दत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोसो ?, अकज्जेते वा के गुणा ?, एत्थ
इमं एगं चेव उदाहरणं । जहा-एगा गोह्ठी सावगो जतीए
गोह्ठीए एगत्थपगरणं वट्टइ, जाणगते गोह्ठिद्वएहिं घरं पेह्नि-
यं धेरीए एक्केको मोरपुत्तेण पाए पमंतीए अंकिओपचाए
य रत्तो निवेइयं । राया जणइ-कहं ते जाणियव्वा ? । धेरी
जणइ-एते पादेसु अंकिया नगरसमागमे दिष्ठा, दो वि
तिन्नि चत्तारि सव्वा गोह्ठिगहिया । एगो सावगो जणइ-न
हरामि, न झंझिओ । तेहिं वि जणियं-न एस हरइ । तेहिं वि-
मुक्को । इयरे सामिया अवि य सावगेण गोह्ठी न पविसि-
यव्वं । जइ कहं वि पओयणेण पविमइ, ताओ हारगं हिं-
सादि न देइ, न य तेसिं आओगट्ठाणेषु ठाइ । आव० ६ अ० ।

तस्यातिचाराः-

तथाऽणंतरं च णं थूलगअदिष्ठादाणस्स पंच अड्यारा
जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-तेनाहडे, तकरप्प-
ओगे, विरुद्धरज्जाइकमे, कूरुत्ताकुत्तामाणे, तप्पमिरुवग-
ववहारे । उपा० १ अ० ।

एतानि समाचरन्नतिचरति, तृतीयानुव्रत इति । " दोसा पुण-
तेनाहरुगहियं राया वि जाणेज्जा, सामी वा पञ्चभिजाणेज्जा,
ततो मारेज्ज वा, दंभेज्ज वा " इत्यादयः शेषेष्वपि वक्तव्याः ।
उक्तं सातिचारं तृतीयाणुव्रतम् । आव० ६ अ० । पा० । ध०
र० । ध० ।

सर्वस्माददत्तादानाद् विरमणं त्वित्थम्-

अहावेर तथे जंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।
सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पञ्चक्खामि । से गामे वा नगरे वा रत्ते
वा अपणं वा वहु वा अणु वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्त-
मंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिएहिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गि-
एहविज्जा, अदिन्नं गिएहंते वि अन्ने न समणुजाणामि जाव-
ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि,
न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !

पन्निकमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोमिरामि, तच्चे जंते ! महव्वए उवच्छिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

अथापरस्मिस्तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानादिरमणम् । सर्वे भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा—मामे वा नगरे वा अरण्ये वेत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः । तत्र प्रसति चुञ्जादीन् गुणान् इति ग्रामः, तस्मिन् । नास्मिन् करो विद्यत इति न करम् । अरण्यं काननादि । अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वेत्यनेन तु छव्यपरिग्रहः । तत्राल्पं मूढयत परण्णकाष्टादि, बहु-वज्रादि । अणु प्रमाणतो वज्रादि । स्थूलमेरण्णकाष्टादि । एतच्च चित्तवद्वाऽचित्तवद्वेति, चेतनाचेतनमित्यर्थः (एव सयं अदिस्सं गिएहेज्जा स्ति) नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽन्यन्यान् न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च जावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्वयम-अदत्तादानं चतुर्विधम्—छव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । छव्यतोऽदपादौ, क्षेत्रतो ग्रामादौ, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाद्याम् । छव्यादिचतुर्नेङ्गी त्वियम्—“द्व्यओ नामगे अदिन्नादाने णो भावओ १ । भावओ नामगे नो द्व्यओ २ । एगे द्व्यओ वि भावओ वि ३ । एगे णो द्व्यओ नो जावओ ४ । तत्थ अरत्तऽउ-ट्टस्स साहुणो कदि वि अणणुस्सवेकण तणाइ गेणओ द्व्यओ अदिन्नादानं नो जावओ, हरामीति अचुञ्जयस्स तदसंपत्तीए भावओ नो द्व्यओ । एवं चेव संपत्तीए जावओ द्व्यओ वि । चरिमभंगो पुण सुजो । ” दश० ४ अ० ।

अहावरं तच्चं महव्वयं पच्चाइक्खामि सव्वं अदिन्नादानं, से गामे वा एगरे वा अरण्ये वा अप्पं वा वहुं वा अणुं वा थून्नं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एव सयं अदिन्ने गिएहेज्जा, एवऽस्सेहिं अदिणं गिएहावेज्जा, अस्सं पि अदिणं गिएहंतं ए समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए जाव वोमिरामि । तस्सिमाओ पंच जीवणाओ जवंति—तत्थिमा पढमा जावणा—अणुवीडमि उग्गहं जाइ से णिग्गंये णो अणुणुवीडमि उग्गहं जाइ से णिग्गंये । केवली वूया—अणुणुवीडमितेगहं जाति, से णिग्गंये अदिणं गिएहेज्जा, अणुणुवीडमि उग्गहं जाति से णिग्गंये णो अणुणुवीडमितेगहं जाइ ति पढमा जावणा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा जावणा—अणुणुविय पाणजोयणभोई से णिग्गंये णो अणुणुविय पाणजोयणभोई । केवली वूया—अणुणुविय पाणभोई से णिग्गंये अदिणं जुंजेज्जा । तम्हा अणुणुविय पाणजोयणभोई से णिग्गंये णो अणुणुविय पाणजोयणभोइ ति दोच्चा जावणा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा जावणा—णिग्गंयेणं उग्गहंसि उग्गहितंसि एत्तावता व उग्गहणसीलए सिया । केवली वूया—णिग्गंयेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एत्तावता व अणोग्गहणसीले अदिस्सं उग्गिहज्जा णिग्गंयेणं उग्गहंसि एत्तावता व उग्गहणसीलए सि ति तच्चा जावणा ॥ ३ ॥

अहावरा चउत्था जावणा—णिग्गंयेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया । केवली वूया—णिग्गंयेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अजिक्खणं २ अणोग्गहणसीले अदिणं गिएहेज्जा, णिग्गंये उग्गहंसि उग्गहियंसि अजिक्खणं २ उग्गहणसीलए ति चउत्था जावणा ॥ ४ ॥ अहावरा पंचमा जावणा—अणुवीडमितेगहं जाइ से णिग्गंये साहम्मिणसु णो अणुणुवीडमि उग्गहं जाति । केवली वूया—अणुणुवीडमि उग्गहं जाति से णिग्गंये साहम्मिणसु अदिस्सं उग्गिहज्जा । से अणुणुवीडमि उग्गहं जाति से णिग्गंये साहम्मिणसु णो अणुणुवीडमि उग्गहं ति पंचमा जावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वए मम्मं जाव आणाए आराहिते आविजवइ तच्चं जंते ! महव्वए । आचा० २ थु० ? अ० ॥

तस्य चेमे अतीचाराः—

एवं तृतीयेऽदत्तस्य, तृणादंश्रहणादणुः ।

क्रोधादिभिर्वादरोऽन्य-मचित्ताद्यपहारतः ॥ ५० ॥

एवं पूर्वोक्तरीत्या सूक्ष्मवादरोऽनेन द्विविध इत्यर्थः । तृतीयेऽस्तेयव्रते प्रक्रमादतिचारो भवतीति शेषः । तत्र अणुः सूक्ष्मः, अदत्तस्य स्वाभ्यादिनाऽननुज्ञातस्य तृणादंश्रहणादनाभोगे-नाङ्गीकरणाद्भवति, तत्र तृणं प्रसिद्धम् । आदिशब्दाद् रुगल-च्छारमल्लाकादिरूपादानम् । अनाभोगेन तृणादि गृह्णतोऽतिचारो जयति, आभोगेन त्वनाचार इति जावः । तथा—क्रोधादिभिः कपायैरन्येषां साधर्मिकणां चरकादीनां गृहस्थानां वा संबन्धि सचित्तादि सचित्ताचित्तमिश्रवस्तु, तस्याऽपहारतोऽपहणपरिणामाद् वादरोऽतिचारो भवतीति संबन्धः । यतः “तइअस्मि वि एमेव य, दुविहो खलु एम होइ विस्सेओ । तणरुगलज्जरम-ल्लुग, अविदिस्सं गिएहओ पढमं” ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तदुक्ति-लेशः । “साहम्मि अन्नसाढ-म्मि आणगिहि आणकाहमा-ईहिं । सचित्ताइ अवहरओ, परिणामो होइ वीओ च” ॥ २ ॥ साधर्मिकाणां साधुसाध्वीनाम्, अन्यसधर्माणां चरकादीनामिति तदुक्तिरित्युक्ताः तृतीयव्रततिचाराः । ५० ३ अधि० । एतदेव सर्वस्माददत्तादानविरमणं दत्ताऽनुज्ञातसंवरनाम्ना स्वरूपोप-दर्शनपूर्वकं सभावनाकं प्रश्नव्याकरणेषु तृतीयसंवरद्वारेऽभि-हितम् । तस्य चेदमादिमं सूत्रम्—

जंजू ! दत्तमणुणायमंवरो नाम होइ तनियं, सुव्वय ! महव्वयं गुणव्वयं परदव्वहरणपन्निविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंत-तहामणुगयमहिच्चमणवयणकनुसआयाणसुंनिग्गहियं सु-संजमियमणहत्यपायनिहुयं निग्गंथं निट्ठिकं निरुत्तं निरासवं निव्वजं विमुवं उत्तमनरवमभपवरवल्लवगमुविहितजणसम्मंतं परमसाहुधम्मचरणं जत्थ य गामागरनगरनिगमखेरुकव्वरु-मंरुवदोणमुहसंवाहपट्टणासमगयं च किंचिद्व्वं-मणिमुत्तसि-ल्लणवाज्जकंसदूसरययवरकणगरयणमादि पन्नियं पम्हट्ठं विप्प-णट्ठं न कप्पति कस्म नि कहेउं वा, गेएहेतुं वा, अहिरण्यसुव-

एणकेण समल्लुक्कंचणाणं अपरिगहमंबुडेण लोमम्मि विह-
ग्यिव्व जं पिय हांजाहि दव्वजातं खलगतं खेत्तगतं रत्न-
मंतगयं च किंचि, पुप्फफलतयप्पवाव्रकंदमूलतणकट्टमक-
गां अप्पं च वहुं च अणु वा धूव्वगं वा न कप्पति। उग्गहे अदि-
एणम्मि गोहेत्तु, जे हाणि हाणि उग्गहे अणुमाविय गोहिह-
यव्वं वज्जेयव्वं य मव्वकात्तं अविद्यत्तपरप्पवेमो अवि-
यत्तजत्तपाणं अविद्यत्तपीढफलगमेज्जासंथारगवत्थपायकं-
वलदंसगरयोहरणनिसेज्जचोत्तपट्टमुहपोत्तिपपादपुच्छणा -
दि भायणजंमोवाहिउवकरणं परपरिवाओ परस्स दोसो
परववप्पेण जं च गिणहेत्ति परस्स नासेइ जं च सुकपं दाण-
स्म य अंतगाइयं दाणस्म विप्पन्नासे पेसुएणं च व मच्च-
मित्तं च। जे वि य पीढफलगमेज्जासंथारगवत्थपायकंवल-
दंसगरओहरणनिसेज्जचोत्तपट्टमुहपोत्तिपपादपुच्छणादि भा-
यणजंमोवाहिउवकरणं असंविजागी असंगहरुं तववयतेणे
य स्वतेणे य आगारे च व भावतेणे य सदकरं ऊंकरे
कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकारके सया अप्प-
माणभोइ सततं अणुवद्धेरे य निच्चरोमी, से तारिमप्प
नाराहण वयमिणं ॥

(जंबु इत्यादि) तत्र जम्बुगिर्यामन्त्रणम् । (दत्तमणुत्रायसंवरो-
नामंति) दत्तं च विनाशमन्त्रादिकम्, अनुज्ञातं च प्रातिहा-
रिकपीठफलकादिग्राह्यामिति गम्यते । इत्येवंरूपः संवरो दत्ता-
नुज्ञातसम्भार इत्येवं नामक भवति तृतीयं, सम्भारद्वारमिति ग-
म्यते । हे सुवत! जम्बुतामन्! महावतमिदं, तथा गुणानामहि-
कामुष्मिकोपकाराणां कारणभूतं त्वत् गुणवत्तम् । किं स्वरूपमि-
दम् ? इत्याह-परस्म्यहरणप्रतिविरतिकरणयुक्तम्, तथा अपरि-
मिता अपरिमाणोऽप्यविषया, अतः ता वाऽऽकृया, या तूष्णा विद्य-
मानद्रव्याद्येयच्छा, तथा यदनुगतं मदेच्छं वा अविद्यमानद्र-
व्याविषयं महामित्वायं यन्मनो मानसं, यच्च न च वाक्, ताभ्यां
यत्कक्षुपं परधनविषयत्वेन पापकामादानं ग्रहणं तत्सुष्ठु निगृही-
तं नियमितं यत्र तत्तया । तथा सुसंयमितमनसा संवृतं चेत-
सा हेतुना हस्तौ च पादौ च नितुनौ परधनादानध्यापारादुपर-
नौ यत्र तत् सुसंयमितमनोहस्तपादनिवृत्तम् । अनेन च विशे-
षणद्वयेन मनोवाक्कायनिरोधः परधनं प्रति दर्शितः । तथा नि-
ग्रन्थं निर्गतवाह्याज्यन्तरग्रन्थम्; नैष्ठिकं सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तव-
र्त्तिः नितरायमुक्तं सर्वज्ञैरुपादेयतयेति निरुक्तम्, अव्यभिचरि-
तं वाः निग्राथवं कर्मादानरहितम्; निर्भयमविद्यमानराजादिभ-
यम्; विमुक्तं श्रोत्रदोषव्यक्तम्; उत्तमनरवृषभाणां (एवरव
व्रवणं) प्रधानवज्रवर्णां च सुविहितजनस्य च सुमाधुश्लोक-
स्य सम्मतमतिमतं यत्तथा । परममाधूनां धर्मचरणं धर्मानुष्ठा-
नं यत्तथा । यत्र च तृतीये सम्यगे, ग्रामाकरनगरनिगमसंघट-
कधर्मण्डपट्टोणमुखसंवाहपत्तनाश्रमगतं च, ग्रामादिव्याख्या पृ-
थक्त्वा । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं द्रव्यं रिक्तम् । तदेवाह-मणिमौक्ति-
कशिलाप्रवातकांस्यदृष्यरजतवक्रतकरुनादिकमित्याह । पति-
तं भ्रष्टं (पम्हट्टं) विस्मृतं, विपण्यं स्वामिकैर्गोवपयद्भिरपि
न प्राप्तं, न कल्पनेन युज्यते, कस्यचिन् अस्मयतस्य संयतस्य वा,
कथयितुं वा प्रतिपादयितुम्, अर्थग्रहणप्रवर्त्तनं मा नृदितिहृत्वा,

गृहीतुं वाऽऽदातुं, तन्निवृत्तत्वात् साधोः । यतः साधुनैव जेतुं न वि-
हर्तव्यमित्यत आह-हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य
हिरण्यसुवर्णिकः, तन्निषेधेनाहिरण्यसुवर्णिकः, तेन, समे तुल्ये
उपेक्षणीयतया लेपुकाश्चने यस्य स तथा । तेन अपरिग्रहो ध-
नादिगदितः संवृतश्चेन्द्रियसंबन्धेण यः सोऽपरिग्रहसंवृतः । ते-
न लोकं विहर्तव्यमासितयं संचरितयं वा, साधुनेति गम्यते ।
यदपि च जयेद् द्रव्यजातं द्रव्यप्रकारं, खलगतं धान्यमलनस्था-
नाश्रितं, क्षेत्रगतं कर्षणजृमिसंश्रितं, (रत्नमंतरगयं च स्ति) अर-
ण्यमध्यगतम् । वाचानान्तरे-“जलधलगतं खेत्तमंतरगयं च स्ति”
इत्यने । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं, पुष्पफलवृक्षप्रवातकदमूत्रतृण-
काष्ठशर्करादि प्रतीतम् । अल्पं वा मूल्यता, बहु वा तथैव;
अणु वा स्तोकां प्रमाणतः, स्थूलकं वा तथैव, न कल्पते न यु-
ज्यते । अवग्रहे ग्रहस्थणिरुलादिरूपे, अदत्ते स्वामिनाऽननुज्ञाते,
ग्रहीतुमादातुं, ‘जे’ इति निपातग्रहणं निषेध उक्तः । अधुना
तद्विधिमाह-(हाणि हाणि स्ति) अहन्यदति, प्रतिदिनमित्यर्थः ।
अवग्रहमनुज्ञाप्य, यथैव भवदीयेऽवग्रहं इदम्, इदं च साधुप्रा-
योग्यं द्रव्यं ग्रहीष्यामि इति पृष्टेन तत्स्वामिना एवं कुरुते इत्य-
नुमते सतीत्यर्थो गृहीतव्यमादातयं, वर्जयितव्यश्च सर्वकालं
(अविद्यत्तं स्ति) साधूनं प्रति अप्रीतिमनो यद् गृहं तत्र यः
प्रवेशः स तथा । (अविद्यत्तं स्ति) अप्रीतिकारिणः संबन्धि यद्-
त्तपानं तत्तथा, तद्वर्जयितव्यं मति प्रकम्पः तथा-अविद्यत्तपीठ-
फलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणनिषद्या-
चोत्तपट्टमुखपात्तिकापादप्रोञ्जनादि प्रतीतमेव । किमेवंविध-
जेटम् ? इत्याह-ताजने पत्रं, ताम्रं च तदेव मृगमयं, उपधि-
इच वस्त्रादिः, एते एवापकरणमिति समासतस्मद्वर्जयितव्यमिति
प्रकम्पः । अदत्तमेतत् स्वामिनाऽननुज्ञातमितिहृत्वा । तथा-परप-
रिग्रहो विकथनं वर्जयितव्यमिति । तथा-परस्य दोगो दृषणं,
द्वेयो वा वर्जयितव्यः, परिवदनायेन दृष्टयितं च तार्थिकगुरु-
ज्यां तयोऽनुज्ञातत्वेनादत्तस्वरूपादिति । अदत्तव्रतकणं हदिम-
“सामिर्जावादत्तं, नित्ययेणं तदेव य गुरुहं” इति । तथा-पर-
स्याचार्यगलानादेयंपट्टेन व्याजनं च यश्च गृह्णाति अदत्तं वै-
यावृत्त्यकगादिस्तेन तेन, येन च वर्जयितव्यम्, आचार्यादेरेव दाय-
केन दत्तत्वादातितथा-परस्य परसंबन्धि नाशयति मत्संगदपहृते,
यश्च सुकृतं मशरितमुपकारं वा तत् सुकृतं तस्य नाशनं वर्जयितव्यं
तथा-दानस्य आन्तराधिकं विघ्नः दानावप्रणाशो दत्तापवशात्, तथा
पैशुन्यं चैव पिशुनकर्म मत्सर्गत्वं च परगुणानामसहनं, तार्थिकग-
द्यननुज्ञातत्वाद् वर्जनीयमिति । तथा-(जे वि येत्यादि) योऽपि च पी-
ठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बल दण्डकरजोहरणनिषद्या-
चोत्तपट्टमुखपात्तिकापादप्रोञ्जनादि ताजनाभाणोपधुपकरणं प्र-
तीत्येति गम्यते । असंविभागी आचार्यश्रानादीनामपणगुणाविशु-
द्धिद्वयं सन्न विज्रजते, असौ नाराधयति व्रतमिति संबन्धः । तथ
[असंगहरुं स्ति] गच्छेत्तपग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैव-
णादोर्षविमुक्तस्य द्रव्यमानस्यात्मस्मरित्वेन न विद्यते संग्रहो रु-
चिर्यस्यासावसंग्रहरुचिः । (तववयतेणय स्ति) तपश्च वाक् च
तपोवाचौ, तयोः स्तेनश्चौरः-तपोवाकस्तेनः । ततः स्वभावते
दुर्बलाङ्गमनगरमवशोक्य कोऽपि किञ्चन व्याकरोति । तथा त्रौ
साधो! सत्यम्, यः श्रूयते तत्र गच्छेत्तमासकृपकाः । एवं पृष्टे यो विव-
क्षितकृपकोऽसन्नप्याह-एवमेतत् । अथवा धूर्त्ततया व्रतं-भोः श्राव-
काः! साधवः कृपका एव भवन्ति । श्रावकस्तु मन्यते-कथं स्व-
यमात्मानमयं जट्टारकः कृपकतया निस्पृहत्वात् प्रकाशयति ?

इति कृतवैविध्यामात्मौक्त्यपरिहारपरं सकलसाधुसाधारणं व-
चनमाविष्करोति । इत्यतः स एवायं यो मया विवक्षितः । इत्येवं
परसंबन्धितप आत्मनि परप्रतिपत्तिः सम्पादयैस्तपस्तेन उच्य-
ते । एवं जगवन् ! स त्वं वाग्मी ? इत्यादिभावनया परसंबन्धिनीं
वाचमात्मनि तथैव सम्पादयन् वाक्स्तेन उच्यते । तथा (रुचते-
ये य त्ति) एवं रूपवान्तमुपपन्नस्य स त्वं रूपवानित्यादि भावन-
या रूपस्तेनः । रूपं च द्विधा-शारीरसुन्दरता, सुविहितसाधुने-
पथं च । तत्र साधुनेपथं यथा-“दहोरुगाउ-मन्त्रे, जेसिं जह्लु ण
फासियं अंगं । मणिणा य चोलपट्टा, दोन्नि य पाया समक्खाया”
॥१॥ तत्र सुविहिताकाररञ्जनीयं जनमुपजीवितुकामः सुविहितः,
सुविहिताकारधारी रूपस्तेनः । (आयारे चैव त्ति) आचारे साधु-
सामाचार्यादिविषये स्तेनो यथा-स त्वं यः क्रियारुचिः श्रूयते ?
इत्यादिभावनया । तथैव [भावतेने य त्ति] ज्ञातस्य श्रुतज्ञानादि-
विशेषस्य स्तेनो ज्ञातस्तेनः । यथा-कमपि कस्यापि श्रुतविशेषस्य
व्याख्यानविशेषमन्यतो बहुश्रुतादुपश्रुत्य प्रतिपादयति, यथाऽयं
मया पूर्वश्रुतपर्यायोऽन्यहिता नान्य एवमभ्यूहितुं प्रचुरिति ।
तथा-शब्दकरो रात्रौ महता शब्देनोद्धापः स्वाध्यायादिकारको-
गृहस्थजायाभाषको वा । तथा-भ्रष्टाकरो येन येन गणस्य भेदो
जवति तत्तत्कारी, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्गारी ।
तथा-कलहकरः कलहहेतुवृत्तकर्तव्यकारी । तथा-वैरकरः, प्र-
तीतः । विकथाकारी-स्त्र्यादिकथाकारी । असमाधिकारकश्चि-
त्तास्वास्थ्यकर्ता स्वस्य, परस्य वा । तथा-सदा अप्रमाणभोजी-
द्वात्रिंशत्कवलाधिकाहारजोक्ता । सततमनुबद्धवैरश्च सततम-
नुबद्धं प्रारब्धमित्यर्थः, वैरं वैरिकर्म येन स तथा । नित्य-
रोषं सदाकोपः (से तारिसे त्ति) स तादृशः पूर्वोक्तस्वरूपः ।
(नाराहण वयमिणं ति) नाराधयति न निरतिचारं करोति, व्रतं
महाव्रतम्, इदम्-अदत्तादानविरतिस्वरूपं, स्वाभ्यादिजिनननु-
ज्ञातकारित्वात्तस्येति ।

अह केरिसण् पुणाई आराहण वयमिणं, जे से उवाहिं
भत्तपाणादाणसंगहणकुसले अचंचत्तवालदुव्वन्नगिन्नाण-
वुद्धमासखवणे पवत्तिआयरियजवज्झाण् संह साहम्मिण्
तवस्सि कुलगणसंघेइयणं य निज्जरट्ठी वैयावच्चं अणि-
स्मियं दसविहं बहुविहं करेइ, न य अवियत्तस्स घरं पवि-
सइ, न य अवियत्तस्स भत्तपाणं गिएहइ, न य अवियत्त-
स्स सेवइ पीढफन्नसंज्जासंथारगवत्तपायकंवलदंडगरओ-
हरणनिसेज्जचोन्नपट्टमुहपोत्तियपायपुंउणाइ भायणभंनोव-
हिनुवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, न यात्रि दोसे प-
रस्स गेएहति, परववएसेण वि न किंचि गेएहति, ए य वि-
परिणामेति कंचि जणं, ए यात्रि णासेति दिणमुकयं
दाऊण य काऊण य ए होइ पच्छाताविते, संविभाग-
सीद्धे संगहोवगहकुसले, से तारिमए आगेहेति वयमिणं ॥

अथ प्रवृत्तार्थः । कीदृशः पुनः, ‘आई’ इति अवज्ञाकारे, आराधयति
व्रतमिदम् ? इह प्रश्नोत्तरमाह-(जे से इत्यादि) यः साधुरूप-
विभक्तपानादानं च संग्रहणं च तयोः कुशलं विधिज्ञां यः स
तथा । वात्रश्चेत्यादि समाहारद्वन्द्वः । ततोऽन्यन्तं यद्वात्रदुर्बलज्ञा-
नवृद्धमासकूपकं तत्तथा । तत्र विषये वैयावृत्यं करोतीति योगः ।
तथा-प्रवृत्त्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वकत्वात् प्रवृत्त्यादिषु । तत्र

प्रवृत्तितलक्षणमिदम्-“तवसंजमजोगेसुं, जो जोगो जत्थ ते
पवत्तेइ । असहं व नित्यत्तेइ, गणतत्तिहो पवत्तेइ” ॥१॥ इतरे प्र-
तीतो । तथा-(संह त्ति) शैले अजिनवप्रवजिते, साधर्मिके समा-
नधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपस्विनि चतुर्थनकादिकारिणि,
तथा कुलं गच्छसमुदायरूपं चन्डादिकं, गणः कुलसमुदायः
कोटिकादिकः, सहस्तत्समुदायरूपः, चेत्यानि जिनप्रतिमाः, ए-
तासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा । तत्र च निरुपार्थः कर्मकृत्यामः,
वैयावृत्यं व्यावृत्तकर्मरूपमुपपृम्भनमित्यर्थः । अनिश्रितं कीर्त्या-
दिनिरपेक्षं, दशविधं दशप्रकारम् । आह च—

“ वैयावच्चं वावरु-भावो इह धम्मसाहणणिमित्तं ।

अन्नाइयाण विदिणा, संपायणमेस भावन्थो ॥ १ ॥

आयरिय १ उवज्जाए २, थेर ३ तवस्सो ४ गिन्नाण ५ सेहाण ६
साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ सं-घ १० संगंयं तमिह कायव्यं” ॥२॥

इति । बहुविधं ज्ञापनादिदानभेदेनानेकप्रकारं, करोतीति ।
तथा-न च नैव च (अवियत्तस्स त्ति) अप्रीतिकारिणो
गृहं प्रविशति । न च नैव च [अवियत्तस्स त्ति] अप्रीति-
कारिणः सत्कं गृह्णाति यद् ज्ञापनम् । न वा [अवियत्तस्स त्ति]
अप्रीतिकर्तुः सत्कं सेवते भजते, पीठफन्नकशय्यासंस्तारकवस्त्र-
पात्रकम्बजदण्डकरजोहरणनिपद्याचोन्नपट्टकमुखपोत्तिकापाद-
प्रोञ्जनादि ज्ञाजनभागोपधुपकरणम् । तथा-न च परिवादं
परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति । तथा-परव्य-
पदेशेनापि ध्यानादिव्याजेनापि, न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपरि-
णमयति दानादिधर्माद्विमुखीकरोति, किञ्चिदपि जनम् । न
चापि नाशयति अपहवद्वारेण दत्तसुकुतं वितरणरूपं सुचरितं
परसंबन्धि, तथा-दत्त्वा च देयं, कृत्वा वैयावृत्यादिकार्यं, न
भवति पश्चात्तापवान् । तथा-संविभागशीलः लब्धभक्तादिसं-
विभागकारी । तथा संग्रहे शिष्यादिसंग्रहणे, उपग्रहे च नेपामेव
ज्ञातपुत्रादिदानेनोपपृम्भने यः कुशलः स तथा । (से तारिसे
त्ति) स तादृश आराधयति व्रतमिदमदत्तादानविरतिलक्षणम् ।

इमं च परद्ववहरणवेरमणपरिरक्खणट्टयाए पवयणं
जगवया मुकट्टियं अत्तहियं पेच्चाजाविकं आगमेमिं भदं
सुद्धं नेयाउयं अकुडिअं अनुत्तरं मव्वदुक्खपावाणं विउ-
समणं ॥

(इमं चेत्यादि) इमं च प्रत्येकं प्रवचनमिति संबन्धः । परद्व-
वहरणविरमणस्य परिरक्षणं पालनं स एवार्थः, तद्भावस्तत् ।
तस्यैव प्रवचनं शासनमित्यादि व्यक्तम् ।

अस्य पञ्च भावना—

तस्म इमा पंच जावणाओ ततियस्म वयस्स हुंति परद्वव-
हरणवेरमणपरिरक्खणट्टयाए । पढं देवकुलमभापवाऽऽवस-
हस्रखमूलआरामकंदराऽऽगरगिरिगुहकम्भंतुजाणजाण-
सात्रकुवियमालमंडवसुखवरसुमाणलेणआवणे अणम्मि य
एवमादियम्मि दगमट्टियवीजहरिततसपाणअमंमत्ते अट्टा-
कमे फासुए विवितं पसत्ते उवस्सए होइ विहरियव्वं ।
आहाकम्भवहुत्ते य जे मे आसियसम्मज्जिओमित्तमेओहिय-
आणदुमणत्तिपणअणत्तिपणजलणजंमचालणं अंतोवाहिं
मज्जे च असंजमो जत्थ वट्ठति संजयाणं अट्टा वज्जेयव्वे हु

उवस्मए मे नास्मिण सुत्तपरिकुट्टे । एवं विवित्तवासवमहि-
ममितिजोगेण ज्ञावितो भवति अंतरप्पा निचं अहिकरण-
करणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुषायउग्गहूरुयी ॥ १ ॥

(पठमं ति) प्रथमं भावनावस्तु विवित्तवसतिवासो नाम ।
तथाऽऽह-देवकुलं प्रतीतम्, सभा महाजनस्थानम्, प्रपा जल-
दानस्थानम्, आवासयोः परिव्राजकस्थानम्, वृक्षमृत्तं प्रतीतम्,
आरामो माधवीलताशृपेतो दम्पतिरमणाश्रयो वनविशेषः,
कन्दरा दरी, आकरो घोहागुप्तस्थानम्, गिरिगुहा प्रतीता ।
कर्मोन्नो यत्र सुधादि परिकर्म्यते, उद्यानं पुष्पादिमदृक्कसंकुल-
मुत्सवादी बहुजनभोग्यम्, यानशास्त्रा रथादिगृहम्, कुपितशास्त्रा
तृत्यादिगृहोष्मकशाला, मण्डपो यज्ञादिमण्डपः, शय्यगृहं,
शमशानं च प्रतीतम् । इत्यनं शैलगृहम्, आपणः पाणस्थानम्,
पतेपां समाहारद्वन्द्वः तनस्तव, अन्यस्मिन्धैवमादिके एवंप्रकारे,
उपाश्रये, जवति विहर्त्तव्यमिति संवन्धः । किञ्चित्?, दकमुदकम्,
मृत्तिका पृथिवीकायः, बीजानि शास्त्रादीनि, हरितं दूर्वादिवन-
स्पतिः, वसप्राणा ह्यिन्द्रियादयः, नैरसंसक्तो यः स तथा, तत्रा त-
थायुते गृहस्थेन स्वाधे निर्वर्तिते, (फासुएत्ति) पूर्वोक्तगुणयोगादेव
प्राप्तुके निर्वाधे, विवित्ते, ह्यादिदोषरहिते, अत एव प्रशस्ते, उपा-
श्रये वसतौ, भवति विहर्त्तव्यमासितव्यम् । यादृशे पुनर्नासितव्यं
तथाऽमाचुर्यते- (आहाकम्मवहुत्ते यत्ति) आश्रया साधूनां स-
त्कम्याधानेन साधूनाश्रित्येत्यर्थः, यत्कर्म पृथिव्याद्यारम्भक्रिया,
तदाश्रयकर्म । आह च-“ हिययस्मि समाहिउ, एगमणं च गाढगं
जं तु । वरणं करेइ दाया, कायाण तमाइकम्मंतु ॥ १ ॥ तेन बहुलः
प्रचुरः, तद् वा बहुलं यत्र स तथा । [जं सेत्ति] य एवंविधः स व-
र्जयितव्य एवोपाश्रय इति संवन्धः । अनेन मूलगुणाः शुरुस्य
परिहार उपदिष्टाः स तथा [आसियत्ति] आसिकमासंवन-
मीपदृक्कच्छट्क इत्यर्थः । [सम्माजियत्ति] सम्मार्जनं शस्त्राका-
दस्तेन कचयशोधनम्, उष्मिक्तमयर्थं जलाभिषेचनम्, [सोहिय-
त्ति] शोभने वन्दनमालाचतुष्पूरणादिना शोभाकरणम्, [छाद-
णत्ति] छादने दर्तादिपटलकरणम्, [दुमणत्ति] मेढिकया धव-
लनम्, [त्रिपणत्ति] त्रिगणादिना तृमेः प्रथमतो लेपनम्, [अणु-
त्रिपणत्ति] सकृद्विप्राया जुमः पुनर्लेपनम्, [जलणत्ति]
श्रेण्यापनोदाय वैश्वानरस्य उचन्नम्, शोधनार्थं वा प्रकाशकरणा-
य वा दीपप्रबोधनम् । (भण्णचालणत्ति) भाण्णादीनां पितर-
कादीनां, पण्पादीनां वा तत्र गृहस्थस्थापितानां साध्वर्थं चालनं
स्थानान्तरस्थापनम् । एतेषां समाहारद्वन्द्वः, चित्रक्रिशोपश्च दृश्यः ।
तन आसिनादिरूपः अन्तर्वेदिश्च उपाश्रयस्य, मध्ये मध्ये च,
असंयमो जीवविग्राहना, यत्र यास्मिन्नुपाश्रये, वर्त्तने जवति,
संयतानां साधूनाम्, अर्थाय हेतवे, [वज्जेयध्वं हत्ति] वर्जयित-
व्य एव उपाश्रयो वसतिः, स तादृशः, सूत्रप्रतिकृष्टः-आगमनिपि-
डः प्रथमभावनानिगमनायाऽऽह-एवमुक्तेनानुष्ठानप्रकारेण, विवि-
क्तां लोकद्वयाश्रितदोषचिञ्जनः, विवित्तानां वा निर्दोषाणां वा-
सो निवासो यस्यां सा विवित्तवासवमतिः, तद्विषया या स-
मितिः सम्यक्प्रवृत्तिः, तथा यो योगः संवन्धः, तेन ज्ञावितो जव-
त्यन्तरात्मा । किञ्चित्?, इत्याह- निम्यं सदा, अधिक्रियतेऽधि-
कारिक्रियते, दुर्गतावाप्ता येन तद् दुर्गधिकरणं दुर्गनुष्ठानं, तस्य
यत्करणं कारावणं च तदेव पापकर्मपापोपादानक्रिया, ततो वि-
रतो यः स तथा । दत्तोऽनुज्ञातद्वयं योऽवग्रहोऽवग्रहणीयं वस्तु
तत्र रुचिर्यस्य स तथेति ।

वितियं आरामुज्जाणकाणवणवणपदेसजागे जं किञ्चि इ-
कमं वा कटिणं वा जंतुं वा परमेरकुच्चकुसडब्जपला-
लसूयगवद्वयपुष्पफलतयपवालकंदमूलतणकट्टसकराइं गे-
एहति सेज्जावहिसि अछा न कप्पण, उग्गहे अदिणम्मि
गेहिहउं जे हणि हणि उग्गहं अणुणविय गेहिहउं वं ।
एवं उग्गहसमितिजोगेण ज्ञावितो जवति अंतरप्पा निचं
अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुषायउग्गह-
रुयी ॥ २ ॥

(वितियं ति) द्वितीयं ज्ञावनावस्तु अनुज्ञातसंस्तारकग्रहणं नाम ।
तच्चैवम्-आरामो दम्पतिरमणस्थानभूतमाधवीलतागृहादियुक्तः,
उद्यानं पुष्पमदृक्कसंकुलमुत्सवादी बहुजनभोग्यम्, काननं सा-
मान्यवृक्षोपेत, नगरासन्नं चः वनं नगरविप्रकृष्टम्, एतेषां प्र-
देशरूपा यो जागः स तथा तत्र । यत्किञ्चिदिति सामान्येनाव-
ग्रहणीयं वस्तु । तदेव विशेषणाह-‘इकमं वा’ ढंढणसदृशं तृण-
विशेष एव । कठिनकं जन्तुकं च जलाशयजं विशेषतृणमेव, प-
र्णमित्यर्थः । तथा परा तृणविशेषः, मेरा तु मुञ्जसिरिका, कूर्चो येन
तृणविशेषेण कुचिन्दाः कृतं कुर्वन्ति, कुशदमेयोराकारकृता विशेष-
यः, पलालं कङ्कवादीनाम्, सूयको मेदपाटप्रसिद्धस्तृणविशेषः ।
वल्बजः तृणविशेषः, पुष्पफलत्वकृप्रवालकन्दमूलतृणाष्ट-
शर्कराः प्रतीताः, ततः परादीनां द्वन्द्वः, पुनस्ता आदिर्यस्य तत्त-
था । तद् गृह्णाति आदत्ते किमर्थम्?, शय्योपधेः संस्तारकरूप-
स्योपधेः, अथवा संस्तारकस्योपधेश्चार्थाय हेतव इह तदिति शेषो
दृश्यः, तनस्तं, न कल्प्यते न युज्यते । अवयवदं उपाश्रयान्तर्धर्ति-
नि अवग्रहो वस्तुनि, अदत्तेऽनुज्ञाते शय्यादायिना [गिरिहउं
जेत्ति] गृहीतमादातुं, ‘जे’ इति निपातः । अयमभिप्रायः-उपा-
श्रयमनुज्ञाप्य तन्मध्यगतं तृणाद्यपि तु ज्ञापनीयम्, अन्य-
था तदग्राह्यं स्यादिति । एतदेवाह-[हणि हणि त्ति] अह-
नि अहनि प्रतिदिवसम् । अयमभिप्रायः-उपाश्रयानुज्ञापना-
दिने उपगृह्णन्ति अवग्रहात्मिकडादिः अनुज्ञाप्य प्रहीतव्यमिति ।
एवमित्यादिनिगमनं प्रथमभावनावदवसेयम्, नवरमवग्रह-
समितियोगेन अवग्रहणीयतृणादिविषयसम्यक्प्रवृत्तिसंव-
न्धनेत्यर्थः ।

ततियं पीठफलगसेज्जासंधारगट्टयाए रुक्खा न च्छिदि-
यव्वा, न य छेयणजेयणेण य सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव
उवस्मए वसेज्जा, मेज्जे तत्थेव गंवसेज्जा, न य विसमं क-
रेज्जा, न य निवायपवायउस्सुगत्तं, न रंसमसगेमु क्खुभि-
यव्वं, अग्निधुमो य न कायव्वो, एवं मंजमवहुत्ते संवरव-
हुत्ते संवुरुवहुत्ते ममाहिवहुत्ते धीरो काएण फासयंते सययं
अज्जप्पज्जाणजुत्ते समीए, एवं एगे चरेज्ज थम्मं, एवं सि-
ज्जासमितिजोगेण ज्ञावितो भवइ अंतरप्पा निचं अहिकर-
णकरणकारावणपावकम्मविरइदत्तमणुषायउग्गहूरुयी ॥ ३ ॥

इदं तु तृतीयभावनावस्तु शय्यापरिकर्मवर्जनं नाम । तच्चैवम्-
पीठफलकशय्यासंस्तारकार्थनाथे वृत्ता न छेत्तव्याः, न च छे-
दनेन तद्भूम्याश्रितवृत्तादीनां कर्त्तनेन, भेदनेन च, तेषां पाया-
णादीनां वा शय्या शयनीयं कारयितव्या । तथा-यस्यैव गृह-

पतेरुपाश्रये निलये वसेत-निवासं करोति, शय्यां शयनीयं तत्र गवेषयेन्मृगयेत् । न च विषमां सर्तां समां कुर्यात् । न निर्वातप्रवातेतुसुकथं, कुर्यादिति वर्त्तते । न च दशमशकेषु विषयेषु क्षुभितव्यम-क्षोभः कार्यः । अतश्च दशाद्यपनयनार्थमग्निर्धूमो वा न कर्त्तव्यः । एवमुक्तप्रकारेण संयमबहुलः पृथिव्यादिसंरक्षणप्रचुरः, संवरबहुलः प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरः, संवृतबहुलः कपायेन्द्रियसंवृतप्रचुरः, समाधिबहुलश्चिन्तस्वास्थ्यप्रचुरः, धीरो बुद्धिमानक्षोभो वा, परीर्षहेषु कायेन स्पृशन् न मनोरथमात्रेण तृतीयसंवरमिति प्रक्रमगम्यम् । सततमध्यात्मनि आत्मानमाधिकृत्य आत्मात्मन्वनं, ध्यानं चिन्तनिरोधस्तेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यानं 'अमुगगंहे, अमुगकुले, अमुगसिस्से, अमुगरम्मछाण्णिप, न मतव्विराहणे' इत्यादिरूपम् । (समीए ति) समितः समितिभिः, एकः ससहायोऽपि रागाद्यभावात् चरेदनुतिष्ठेत्, धर्मं चारित्र्यम् । अथ तृतीयभावनानिगमनायाह-एवमन्तरोदितन्यायेन शय्यासमिति योगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृत्तियोगेन, शेषं पूर्ववत् ।

चतुर्थं साधारणपिंडवायलाजे सङ्गो भोक्तव्यं संज्ञण समितं, न सायसूपादिकं, न खलु घनं, न वेगियं, न तुरियं, न चवत्तं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं सावज्जं, तद् भोक्तव्यं जडसे ततियं वयं न सीयति साधारणपिंडवायलाजे सुहुमे अदिष्सादाणवयनियमवेरमाणे, एवं साधारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण जाविओ जवति अंतरप्पा णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुष्सायउग्गहुर्यी ॥४॥

इह चतुर्थं भावनावस्तु अनुज्ञातभक्तादिभोजनलक्षणम् । तच्चैवम-साधारणः सङ्गादिसाधर्मिकस्य सामान्यो यः पिण्डः, तस्य भक्तादेः, पात्रस्य पतदग्रहलक्षणस्य, उपलक्षणत्वादुपपद्यन्तरस्य च, पात्रे वाऽधिकरणे, लाभो दायकात्सकाशात् प्राप्तिः स साधारणपिण्डपात्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहर्तव्यम् । परिभोक्तव्यं च केन कथम्?, इत्याह-संयतेन साधुना, (समित्यति) सम्यक्, यथाऽदत्तादानं भवतीत्यर्थः । सम्यक्त्वमेवाऽऽह-न शाकसूपादिकम्, साधारणस्य पिण्डस्य शाकसूपाधिके भागे भुज्यमाने सङ्गादिके साधारणप्रीतिरूपयते । ततस्तददत्तं भवति । तथा-न खलु घनं प्रचुरं, प्रचुरभोजनेऽप्यप्रीतिरेव, प्रचुरभोजनता च साधारणे पिण्डे भोजकान्तरापेक्षया वेगेन भुज्यमाने भवतीति । तन्निषेधायाह-न वेगितं, प्रासस्य गिलने वेगवत् । न त्वरितं मुखकूपे, न चपलं हस्तप्रीवादिरूपकायचलनवत् । न साहसमवितर्कितम्, अत एव न च परस्य पीलाकरं च तत्सावद्यं चेति परस्य पीलाकरं सावद्यम्, किं बहुनोक्तेन?, तथा भोक्तव्यं संयतेन नित्यं यथा (सि) तस्य संयतस्य, तद्वा, तृतीयव्रतं न सीदति प्रश्यति । डुरीकं चेदं, सूक्ष्मत्वात् । इत्यत आह-साधारणपिण्डपात्रे ह्यजे विषयभूते सूक्ष्मं सुनिपुणमतिरक्षणीयत्वादणुकमपि तदित्याह-अदत्तादानविरमणव्रतं व्रतेन यन्नियमनमात्मनो नियन्त्रणं तत्तथा । पात्रान्तरेण-अदत्तादानाद् व्रतमिति बुद्ध्या नियमेनावश्यतया यद्विरमणं निवृत्तिस्तत्तथा । एतन्निगमयग्राह-एवमुक्तन्यायेन साधारणपिण्डपात्रह्यजे विषयभूते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तिसंबन्धेन भावितो जवत्यन्तरात्मा । किंभूतः?, इत्याह-'नित्यमित्यादि' तथैव ।

पंचमं साहम्मिणसु विणओ पञ्जियव्वो । उवयरणपारणासु विणओ पञ्जियव्वो, वायणपरियट्ठणासु विणओ पञ्जियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पञ्जियव्वो, अणेषु य एवमाइसु बहुसु कारणसतेसु विणओ पञ्जियव्वो, विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पञ्जियव्वो गुरुसु साहुसु तवस्सीसु य, एवं विणएण जाविओ जवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुष्सायउग्गहुर्यी ॥५॥

[पंचमं ति] पञ्चमं जाववस्तु । किं तदित्याह-साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । एतदेव विषयभेदेनाह-(उपकरणपारणासु स्ति) आत्मनोऽन्यस्य वा उपकरणं ज्ञानाद्यवस्थायामन्येनोपकारकरणम्, तच्च पारणे तपसः श्रुतस्क्रुधादिश्रुतस्य पारगमनम्, उपकरणपारणे, तयोः विनयः प्रयोक्तव्यो, विनयश्चेच्छाकारादिदानेन वज्ञात्कारपरिहारादिलक्षण एकत्र, अन्यत्र च गुर्वनुज्ञया ज्ञानादिकृत्यकरणलक्षणः । तथा-वाचना सूत्रग्रहणं, परिवर्त्तना तस्यैव गुणनम्, तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यो वन्दनादिदानलक्षणः । तथा-दानं दान्यस्यान्नादेशानादिन्यो वितरणं, ग्रहणं तु तस्यैव परेण दीयमानस्यादानम्, प्रच्छना विस्मृतसूत्रार्थप्रश्नः, एतासु विनयः प्रयोक्तव्यः, तत्र दानग्रहणयोर्गुर्वनुज्ञालक्षणः । प्रच्छनायां तु वन्दनादिविनयः । तथा-निष्क्रमणप्रवेशनायास्तु आवश्यकीनैषध्यादिकरणम् । अथवा हस्तप्रसारणपूर्वकं प्रमार्जनानन्तरं पाददिकेपलक्षणः । किं बहुना प्रत्येकं विषयभूतनेत्यत आह-अन्येषु चैवमादिकेषु कारणशतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्मादेवमित्याह-(विनयोऽपि) न केवलमनशनादितपः, अपि तु विनयोऽपि तपो वर्तते, आज्यन्तरनपोभेदेषु पठितत्वात्तस्य । यद्येवं ततः किम्?, अत आह-तपोऽपि धर्मः, न केवलं संयमो धर्मः, तपोऽपि धर्मो वर्तते, चारित्र्यांशत्वात्तस्य । यत एवं तस्माद्विनयः प्रयोक्तव्यः । केषु? इत्याह-गुरुषु साधुषु नपस्विषु च अष्टमादिकारिषु; विनयप्रयोगे हि तीर्थकराद्यनुज्ञास्वरूपादत्तादानविरमणं परिपालितं जवतीति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्तन्यायेन जावितो जवत्यन्तरात्मा । किंभूतः?-'नित्यमित्यादि' पूर्ववत् ॥

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं चारियं होइ सुपणिहियं इ-मोहि पंचहि वि कारणोहि मणवयणकायपरिरिक्खएहि निच्चं आमरणं च एस जोगो नेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकटुसो अचिद्धो अपरिस्साई असंकिञ्चिद्धो सुप्पो सव्वजिणमणुष्साओ, एवं तस्यं संवरदारं फासियं पाणियं सोहियं तिरियं किट्टियं सम्मं आराहियं आणाए अणुपाणियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पस्सवियं परूवियं पासिच्चं सिच्चिरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्तं ततियं संवरदारं सम्मतं चि वेमि ।

इदं च निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित् साङ्गादेव यावत्करणेन च दर्शितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसम्बन्धाध्ययनवदवसेयति समाप्तमष्टमाध्ययनविवरणम् । प्रश्न०३ सम्ब० ६० ।

अदत्ता (दिष्सा) लायण-अदत्तालोचन-३० । अदत्ता

गुरुपुरतोऽप्रकटिता, आलोचना-आलोचनाई पापं येन सोऽ-
दत्तालोचनः । अदत्तालोचने, ग० १ अधि० ।

अदत्ताहार-अदत्ताहार-पुं० । चौर, "अदत्ताहारा वा से अव-
हरन्ति रायाणो वा से विमुपनि " आचा० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अदभ्र-अदभ्र-त्रि० । न० त० । दभ्र-रक् । दभ्रमल्पम्, न
दभ्रमदभ्रम् । भूर्यर्थे (अनल्पे), ज० ३ वक्र० ।

अदभ्रवाह-अदभ्रवाह-त्रि० । अदभ्रं वहतीति अदभ्रवाहः ।
चूरिवाहकेऽश्वादौ, "अदभ्रवाहं अमेलनयस्य कोकासिय बहुअ-
पत्तजऽन्ते " ज० ३ वक्र० ।

अदय-अदय-त्रि० । निदय, नि० चू० २ उ० ।

अदन्नत-अदत्त-त्रि० । अदत्ताने, व्य० २ उ० ।

अदस-अदश-त्रि० । दशारहिते, दश० ७ अ० ।

अदारुय-अदारुक-त्रि० । काष्ठादिरहिते, तं० ।

अदिज्ञ-अदेय-त्रि० । न० व० । क्रयविक्रयनिषेधेन अविद्यमा-
नदातये नगरादौ, भ० ११ श० ११ उ० । यत्र हि न केनपि
कस्यापि देयमिति । ज० ३ वक्र० । कल्प० ।

अदिष्ट-अदृष्ट-त्रि० । न० त० । अनुपलब्धे, ज्ञा० १६ अ० ।
" तेसिमवि वरायाणमदिष्टकल्याणमहमिदमच्चभुयं किपि
संपादयामीति " आ० चू० १ अ० । प्राग्जन्मकृतकर्मणि, न०
ज्ञा० । आ० म० । विशेष० । आच० । भ० । (अदृष्टसिद्धिः 'कम्म'
शब्दे तृतीयताने २४३ पृष्ठे छप्यते) नैयायिकसम्मतं गुण-
जदे, 'कर्तृफलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविधि-
धर्मोऽधर्मरूपतया जेदवान्-अदृष्टाख्यो गुणः' इति वैशेषिकैः प-
राङ्गा दृष्टस्वरूपमुपवर्णितम् । कर्तुः प्रियहितमोक्तेतुर्धर्मः; अध-
र्मस्तु-अप्रियप्रत्यवायहेतुरिति । एतच्च तत्समवायिकारणस्या-
त्मनो मनस आत्ममनःसंयोगस्य च निमित्तासमवायिकारण-
त्वेनाच्युपगतस्य निषेधात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्
सर्वमनुपपन्नम् । सम्म० । अदृष्टधर्मणि पुरुषे, व्य० १० उ० ।

अदिष्टदेस-अदृष्टदेश-पुं० । अदृष्टपूर्वदेशान्तरे, व्य० १० उ० ।

अदिष्टधम्म (ण्)-अदृष्टधर्मन्-त्रि० । न० व० । सम्यगनुपल-
ब्धश्रुतादिधर्मणि, दश० १ अ० । दशा० ।

अदिष्टभाव-अदृष्टभाव-पुं० । आवश्यकतादिश्रुतमदृष्टवति, वृ० १ उ० ।

अथादिमादृष्टभावद्वारं विवृणोति-

आवामगमाया, मूयगमा जाव आइमा जावा ।

ते व ए दिष्टा जेणं, अदिष्टभावो इव ए सो ॥ १ ॥

आवश्यकदयः सूत्रकृतान् यावत् ये आगमग्रन्थास्तेषु ये
पदार्था अनिधेयास्ते आदिमा भावा उच्यन्ते, (ते व) ते पुनर्जावा
येन न दृष्टा नावगताः स एषोऽदृष्टभाव इति । उपलक्षणत्वादा-
दिमादृष्टभावो नवतीति । वृ० १ उ० ।

अदिष्टलाभिय-अदृष्टलाभिक-पुं० । अदृष्टस्यापि अपचारका-
दिमत्वाभिर्गतस्य आत्रादितिः कृतोपयोगस्य त्रकादेरदृष्टाद् वा
पूर्वमनुपपन्नशब्दायकमन्त्रा मो यस्यास्ति स तथा । औ० । तेन वा
चरन्तीति अदृष्टलाभिकः । अभिप्रद्विधेशधारके भिक्षाचरके,
सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अदिष्टसार-अदृष्टसार-त्रि० । अगीतार्थे, पं० चू० ।

अदिष्टहठ-अदृष्टहठ-त्रि० । अदृष्टोत्प्रेषणिकेपदमानिते, ध०
२ अधि० । आच० ।

अदिष्टाणुजाव-अदृष्टाणुजाव-पुं० । क० स० । अदृष्टफलविपा-
के, विशेष० ।

अदिण-अदत्त-त्रि० । स्वामिजीवतीर्षकगुरुभिरवितोषे, स्वा०
१ ग० १ उ० । " अदिष्णे से वि अ पिबिस्सए " औ० । परकी-
ये छव्ये, आचा० ८ अ० १ उ० ।

अदैन्य-न० । अदीनभावे, द्वा० १२ द्वा० ।

अदिणवियार-अदत्तविचार-त्रि० । न दत्तो विचारः प्रवेशो
यत्र तान्यदत्तविचाराणि । अननुज्ञातप्रवेशेषु कौटिकादीनां ग्रहेषु,
व्य० ८ उ० ।

अदित्त-अदत्त-त्रि० । न० त० । दर्पराहिते शान्ते, वृ० १ उ० ।

अदिस्म-अदृश्य-त्रि० । न० त० । चक्षुषोऽविषये, उक्त० २३
अ० । " पच्छन्ने आहारतीहारे आदिस्से मंसचक्खुणा " स०
३४ सम० ।

अदिस्समाण-अदृश्यमाण-त्रि० । अनुपलभ्यमाने, आच० ५
अ० । अनुपदिश्यमाने, आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अदीण-अदीन-त्रि० । अकृजिते दीनाकाररहिते, प्रश्न० १
सम्ब० द्वा० । शोकाजावात् । अन्त० ७ वर्ग । प्रसन्नमनसि
स्वभावस्थे, नि० चू० ३ उ० ।

अदीणचित्त-अदीनचित्त-त्रि० । अदैन्यवन्मानसे, पञ्चा०
१८ वि० ।

अदीणमणस-अदीनमनस्-त्रि० । अदीनं मनो यस्य स अदी-
नमनाः । सूत्रत्वाद्दीनमनाः अदीनमानसो वा । उक्त० २ अ० ।
अनिष्प्रकम्पचित्ते, आ० म० प्र० ।

अदीण्या-अदीनता-स्त्री० । अशनाद्यलभेऽपि वैक्लव्याजावे,
द्वा० २७ द्वा० । तदपे निजुद्धिङ्गे, दश० १० अ० ।

अदीणचित्ति-अदीनचित्ति-त्रि० । आहाराद्यलभेऽपि शुकुवु-
त्तौ, दश० ९ अ० ।

अदीणसत्तु-अदीनशत्रु-पुं० । कुरुदेशनाथे हस्तिनागपुरवा-
स्तये स्वनामख्याते राजनि, स्वा० ५ ग० १ उ० । ज्ञा० । "अ-
दीणसत्तुस्स रम्भो धारणीपामोक्खाणं देवीसहस्सं च रोहेया
वि होत्था " विपा० २ शु० १ अ० ।

अदु-अद्य-अव्य० । अथशब्दो निपातः । निपातानामनेकार्थ-
त्वाद् अत इत्यस्यार्थे, सूत्र० १ शु० २ अ० २ उ० । आनन्त-
र्थे, आचा० ९ अ० १ उ० ।

अदुक्खण्या-अदुःखनता-स्त्री० । दुःखस्य करणं दुःखनं,
तद्विद्यमानं यस्यासावदुःखनः, तद्भावस्तत्ता । अदुःखकरणं,
भ० ७ श० ६ उ० । दुःखोत्पादने मानसिकाऽसातानुदीरणे,
पा० । ध० ।

अदुर्गुह्य-अनुगुप्सित-त्रि० । अगर्हिते, "अदुर्गुह्यमणग-

रहियमणवज्जमिमं वि एगघा " आ० म० द्वि० । सामायिके,
" अनिहं च अदुगुन्धितमणगरहितं अणवज्जं च एगघा " आ०
चू० १ अ० । अनन्दितं, आ० ।

अदुट्ट-अदुष्ट-त्रि० । न० त० । दोषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।
अद्विष्ट-त्रि० । दोषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अदुष्टचेत (म्)-अदुष्टचेतस्-त्रि० । ६ व० । अकलुषान्तःक-
रणे, " तितिक्षस्व एषाणि अदुष्टचेयसा " आचा० १ श्रु०
५ अ० ४ उ० ।

अदुत्तरं-अथापर-अव्य० । अतोऽनन्तरमित्यर्थे, " अदुत्तरं च
णं गोयमा ! पत्नूणं चमेरे असुरिदे " अथापरं चेदं च साम-
र्थ्यातिशयवर्णनम् । भ० ३ श० १ उ० । " अदुत्तरं च णं मम
समणा णिग्गथा " ज्ञा० १ अ० १ जी० ।

अदुय-अद्रुत-न० । अशीघ्रे, भ० ७ श० ए उ० ।

अदुयत्त-अद्रुतत्व-न० । समविशे सत्यवचनातिशये, स०
३५ सम० ।

अदुयबंधन-अद्रुतबन्धन-न० । दीर्घकालेकबन्धने, सूत्र०
२ श्रु० २ अ० ।

अदुवा-अथवा-अव्य० । पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाऽन्युचयोपद-
शने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अदूर-अदूर-त्रि० । न० त० । अविप्रकृष्टे, भ० १ श० १ उ० ।

अदूरग (य)-अदूरग-त्रि० । शरीराऽनतिभेदके शल्ये क-
ण्टकादौ, पञ्चा० १६ वि० । परस्परसमीपवर्तिनि, सूत्र० १
श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अदूरगेह-अदूरगेह-न० । प्रत्यासन्नप्रातिवेशिकगृहे, वृ० २ उ० ।

अदूरसामंत-अदूरसामन्त-पुं० । दूरं विप्रकृष्टं, सामन्तं च सन्नि-
कृष्टं, तन्निषेधाद्दूरसामन्तम् । नातिदूरं नातिसमीपे, भ० १ श०
१ उ० । अनिकटाऽऽसन्ने उचितदेशे, औ० । ज्ञा० " अज्जसुह-
म्मस्स अण्णारस्स अदूरसामंतं उरुं जाणू जाव विहरति "
नि० १ वर्ग ।

अदूरागय-अदूरागत-त्रि० । समीपदेशं प्राप्ते, " अदूरागए बहु-
संपत्ते अद्धान एविहरणे अंतरापदे वट्टइ " भ० २ श० १ उ० ।

अदूसिय-अदूषित-त्रि० । अग्निष्वङ्गेणाकलुषिते, पञ्चा० ६ वि० ।

अदेसकालपलावि (ए)-अदेशकालप्रलापिन्-पुं० । अदे-
शकात्वे अनवसरप्रलपनशीलोऽनवसरप्रलापी । ('चंचल' शब्दे
दर्शिते) भाषाचलप्रेते, वृ० १ उ० ।

अदेसाकाद्यायरण-अदेशाकाद्याचरण-न० । प्रतिपिच्छो देशो-
ऽदेशः, प्रतिपिच्छः काद्योऽकाद्यः, तयोर्देशकालयोश्चरणं
चरणाजावः-अदेशाऽकालाचरणम् । प्रतिपिच्छदेशकालयोश्चर-
णाभावरूपे गृहिधर्मजन्दे, अदेशाकाद्याचारी द्वि-चौरादिभ्योऽ-
वश्यमुपपद्यमान्ति; अदेशाकालाचरणं वज्ञावज्ञविचारणम् ।
ध० १ अधि० ।

अदोस-अद्वेष-पुं० । तत्त्वविषयेऽप्रीतिपरिहारे, प्रो० १६ वि० ।

अद्-अद्-पुं० अपो ददाति । अप्-दा-क । ६ त० । " सर्वत्र
सषरामचन्दे " ॥८॥ १ । ७ ए॥ इति सूत्रेण बलोपः । प्रा० मेघे,

मुस्तायां च, तस्याश्चाऽत्यन्तशीतरीर्यत्वेन वैद्यकोक्तेर्जलमयमूत्र-
त्वाच्च तथात्वम्, आप्यन्ते व्याप्यन्ते ऋजुमासपकेतिथिनक्त्र-
योगकरणवारादयो येन । आप-द्व-द्वस्वश्च । वत्सरं, वाच० ।
अर्द-पुं० । अर्द्धते गम्यतेऽनेनेति अर्दः । आकाशे, ज० २०
श० २ उ० ।

आर्द्ध-त्रि० । अर्द-रक्-दीर्घश्च । क्लिप्ते सरसे सजले व-
स्तुनि, सूत्र० ।

अस्य निरूपार्थं सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिकृदाह—

नामं उवणा अदं, दव्वदं च व होइ जावदं ॥

एमो खलु अदभओ, निखेवो चजविहो होइ ॥ १ ॥

[नामं उवणा अहमित्यादि] नामस्थापनाद्रव्यभावनेदाच्च-
तुर्थाऽऽर्द्रकस्य निरूपो द्रष्टव्यः ।

तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यार्द्रप्रतिपादनार्थमाह—

उदगदं सारदं, उविअदं खलु तहा सिणेहदं ॥

एयं दव्वदं खलु, भावेणं होइ रागदं ॥ २ ॥

(उदगदमित्यादि) तत्र द्रव्यार्द्रं विधा-आगमतो, नो आग-
मतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमि-
तिकृत्वा । नो आगमतस्तु इशरीरजव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । यद्वद-
केन मृत्तिकादिकं द्रव्यमार्द्राकृतं तदुदकार्द्रम् । सारार्द्रं तु-य-
द्वहिः शुष्कार्द्रमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते, यथा-श्रीपर्णसौवर्चला-
दिकम् । 'लुविअदं' तु-यत् स्निग्धत्वगुणं मुकाफलरक्ताशो-
कादिकं तदग्निधीयते, वसयोपलितं वासार्द्रम् । तथा-श्लेष्मा-
र्द्रं चक्रलेपाद्युपलितं स्तम्भकुड्यादिकं यद्वध्यं तस्तिग्धाकार-
तया श्लेष्माद्रमभिधीयते । एतत्सर्वमप्युदकार्द्रादिकं द्रव्यार्द्रम-
वाग्निधीयते, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । ज्ञावार्द्रं तु पुनः राग-
स्नेहाभिष्वङ्गः, तेनार्द्रं यज्जीवद्रव्यं तद्वावार्द्रमित्याग्निधीयते ।

साम्प्रतमार्द्रककुमारमधिष्ठितान्यथा

द्रव्यार्द्रं प्रतिपादयितुमाह—

एगजविय वप्पाऊ, जो अग्निमुहओ नामगोए य ।

एते तिन्नाऽऽदेसा, दव्वम्मि अद्दगे होति ॥ ३ ॥

[एगजविय इत्यादि] एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्या-
र्द्रककुमारत्वेनोत्पत्स्यते । तथा-ततोऽप्यासन्नतरो वप्पायुष्कः ।
तथा-ततोऽप्यासन्नतमोऽग्निमुखनामगोष्ठः, योऽनन्तरसमयमेवा-
र्द्रकत्वेन समुत्पत्स्यते । एते त्रयोऽपि प्रकारा द्रव्यार्द्रके द्रष्टव्या
इति । भावार्द्रकं तु-आर्द्रककुमार इति नगरज्जेदं, तदधिपतौ
राजभेदे, तत्सुते, तद्वंशजेषु च । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । काग्नि-
न्ययुक्ते, आनुगुण्ययुक्ते च । अश्विन्यादिके षष्ठे नक्त्रे, स्त्री० ।
वाच० । आर्द्राया रुद्रो देवता । ज्यो० ६ पाहु० ।

अद्दज्ज-आर्द्रकीय-न० । आर्द्रकात्समुत्थितमध्यवनमार्द्रकी-
यम् । आर्द्रककुमारवक्तव्यताप्रतिबद्धे सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रु-
तस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, सूत्र० ।

निरुक्तं तु विस्तरतो निर्युक्तिकृतैवेत्यमुक्तम्—

अद्दपुरा अद्दमुतो, नामेण अद्दगो य अण्णारो ।

ततो समुद्धियमिणं, अज्जभयणं अद्दज्जं ति ॥ ४ ॥

[अद्दपुरा इत्यादि] आर्द्रकायुष्कनामगोत्राण्यनुभवन् भावा-
र्द्रो जवति । यद्यपि शूक्लेरादीनामप्यार्द्रकसंज्ञाव्यवहारोऽस्ति,

तथापि नेदमध्ययने तेज्यः समुत्थितमतो न तैरिहाधिकारः। कि-
म्वार्द्धककुमारानिधानगाराः समुत्थितमतस्तेनैवेहाधिकार इ-
तिकृत्वा तद्वक्तव्यताऽभिधीयते । एतदेव निर्युक्तिरुदाह-[अ-
हपुरा इत्यादि] अस्याः समासेनायमर्थः-आर्द्धकपुरे नगरे आ-
र्द्धको नाम राजा, तन्सुतोऽप्यार्द्धकानिधानः कुमारः, तद्वंशजाः
किल सर्वेऽप्यार्द्धकाभिधाना एव जयन्तीति कृत्वा । स चानगरः
संयुतः । तस्य च धर्ममन्दावीरवर्द्धमानस्वामिसमवसरणे गो-
शालकेन सार्द्धं हस्तितापसैश्च वादोऽभूत् । तेन च ते एत-
दध्ययनार्थोपन्यासेन पराजिताः, अत इदमभिधीयते । ततस्त-
स्मादार्द्धकात्समुत्थितमिदमध्ययनमार्द्धकीयमिति गाथासमा-
सायः । अथासार्थं तु स्वत एव निर्युक्तिरुदाहर्द्धकपूर्वभवोपन्यासे-
नोत्तरत्र कथयिष्यतीति ।

ननु च शाश्वतमिदं द्वादशाङ्गं, गणिपितृकमार्द्धककथानकं तु
अर्द्धमानतीर्थावसरे, तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह-
कामं दुर्बालसंगं, जिणवयणं सासयं महाजागं ।

सर्वज्जयणाँ तहा, सर्वस्वरसासवाओ य ॥ ५ ॥

(काममित्यादि) काममित्येतदच्युपगमे, दृष्टमेवैतदस्माकम् ।
तद्यथा-द्वादशाङ्गमपि जिनवचने शाश्वतं नित्यं महाभागं महा-
नुभावमामयौपध्यादिश्रद्धिसमन्वितत्याग्न केवलाभिदं, सर्वाण्य-
प्यप्ययनार्थेवदूतानि, तथा सर्वाङ्गरसन्निपाताश्च मेलापका
द्रव्यार्थादेशा नित्या एवेति ॥ ५ ॥

ननु च मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवत इत्याशङ्क्याह-

तह वि य कोई अत्थो, लपज्जति तम्म समयम्मि ।

पुव्वभणिओ अणुमतो, इति एसिजासिए य जहा । ६ ।

(तह वि य इत्यादि) यद्यपि सर्वमपीदं उच्यार्थतः शाश्वतं, तथा-
पि कोऽन्यर्थस्तस्मिन्समये तथा क्षेत्रे च कुतश्चिदार्द्धकादः सका-
शादविर्भावमास्करति, स तेन व्यपदिश्यते । तथा-पूर्वमप्य-
सावर्थोऽन्यमुद्दिश्योक्तोऽनुमतश्च जयति, श्रुतिभाषितेषूत्तरा-
व्ययनादिषु यथेति ।

साम्प्रतं विशिष्टतरमध्ययनोत्थानमाह-

अज्जइएण गोसा-लजिक्खुव्वंजवति तदंभीणं ।

जह दृत्वितावसाणं, कहियं इणमो तहा वोच्चं ॥ ७ ॥

(अज्जइएणेत्यादि) आर्याद्रेकेण समवसरणाभिमुखमुचलि-
तेन गोशालकजिक्रोस्तया श्रद्धावतिनां त्रिदण्डिनां यथा इ-
स्तितापसानां च कथितमिदमध्ययनार्थजातं तथा वक्ष्ये सूत्रेण-
ति । सूत्रं २. भु० ६ अ० ।

अहङ्ग-आर्द्धक-न० । अर्द्धयति रोगान् । अर्द्ध-अन्तर्जतण्यर्थे रक्, दीर्घश्च, संज्ञायाम् कन् । आर्द्धायां ज्मौ जानं वा बुन् । आर्द्धय-
ति जिह्वाम्, आर्द्ध-णिच्-बुन् वा । मूलप्रधाने शृङ्गेदे, आर्द्धि-
काऽन्यत्र । स्त्री० । वाच० । शृङ्गवेरे, आचा० २. भु० १ अ० ८ उ० ।
(आर्द्धकशृङ्गाद्यौ नगरभेदादिकं च 'अह' शब्दे समुक्तम्) ।

अहङ्ग (य) कुमार-आर्द्धककुमार-पुं० । आर्द्धकनामधेये कु-
मारे, स्था० २. भु० ६ अ० ।

अथाऽर्द्धककुमारस्य निरवशेषा वक्तव्यता-

(१) निर्युक्तिरुन्मताभिप्रायेण संज्ञितमार्द्धककुमारकथानकम् ।

(२) आर्द्धककुमारेण सह विवदमानस्य गोशालकस्य तीर्थ-
हृदविषयेऽमृयाऽऽविष्करणम् ।

(३) तत्रार्द्धककुमारस्य समाधानम् ।

(४) भगवतरागद्वेषस्य प्रजापमाणस्यापि दोषाभासः ।

(५) बीजाशुपजोगिनो न धमण्यपदेशभाजः ।

(६) समवसरणाशुपजोगवतोऽपि भगवतो न कर्मबन्धः ।

(७) केवलां भावशुद्धिमेव मन्यमानस्य बौद्धस्य अणुनमः ।

(८) हिंसामन्तराऽपि मांसो न जक्कणीयः ।

(९) आर्द्धककुमारेण सह ब्राह्मणानां विवादः ।

(१०) एकदण्डिभिः सहार्द्धककुमारस्योत्तरप्रत्युत्तराणि ।

(११) तथा हस्तितापसैः सहोक्तिप्रत्युक्तयः ।

(१) तत्र तावत्पूर्वभवसम्बन्धि आर्द्धककथानकं
गाथाभिरेव निर्युक्तिरुदाह-

गामे वसंतपुरये, सामयिओ भरणि सहिओ निक्खंतो ।

जिक्खाऽऽयिरिया दिट्ठा, ओहासिय जत्तवेहासं ॥ ८ ॥

संवेगसमावृत्ते, माई जत्तं चट्ठन्तु दियलोए ।

चउत्तण अहपुरे, अहसुओ अहओ जाओ ॥ ९ ॥

पीती य दोएहि दूतो, पुच्छणमजयस्स पच्छ वेसो उ ।

तेणावि सम्मादीट्ठे-त्ति होज्ज पणिमाऽरहम्मि गओ ॥ १० ॥

दट्ठं संबुद्धो र-क्खिओ य रायाण वाहणपत्ताओ ।

पव्वावंतो धारतो, रज्जं न करेति को अओ ॥ ११ ॥

अगणिंतो निक्खंतो, विहरइ पणिमांइ दारिगा चओ ।

सुवरणवसुहाराओ, रत्ना कहणं च देवीए ॥ १२ ॥

वरआइ पिता तीसे, पुच्छण कहणं च वरण दोवारे ।

जाणाइ पायविंव, आगमणं कहण निगमणं ॥ १३ ॥

पणियागए सर्मावे, सपरीवारा वि जिक्खुपणिवयणं ।

जोग सुतो पुच्छण सु-त्तवंध पुत्ते य निगमणं ॥ १४ ॥

रायगिहागम चोरा, रायजया कहण तेसि दिक्खाया ।

गोसालजिक्खुवंभी-तिदंरियातावसेहिं सहवादा ॥ १५ ॥

वादे पराइयत्ते, सर्वे वि य समणमव्वजुवगताओ ।

अहङ्गसहिया सर्वे, जिणवीरसामिनिक्खंता ॥ १६ ॥

(गामे इत्यादि गाथाष्टकम्) आसांचार्थः कथानकादवसेषः।
तच्छेदस-मगधजनपदे वसन्तपुरग्रामः, तत्र सामायिको नाम कुटु-
म्बी प्रतिवसति स्म । स च संसारभयोद्विग्नो धर्मघोषाचार्याप्तिके
धर्मे ध्रुवा सपत्नीकः प्रव्रजितः । स च सदाचारतः संविज्ञैः
साधुभिः सार्द्धं विहरति स्म, इतरा साध्वीभिः सहैति । कदाचि-
च्छासावेकस्मिन्नगरे निज्ञार्थमटन्तीं दृष्ट्वा तामसौ तथाविधक-
मौदयात्पूर्वरतानुस्मरणेन तस्यामध्युपगमः, तेन चात्मीयोऽजि-
प्रायो द्वितीयस्य साधोर्निवेदितः, तेनापि चैतन् प्रवर्तिन्त्याः, त-
याऽपि चाज्ञिहितम-नम वेशास्तरे एकाकिन्या गमनं युज्यते । न
चासौ तत्राप्यनुबन्धं त्यज्यतीत्यतो ममास्मिन्नवसरे भक्तप्रत्या-
ख्यानमेव श्रेयः, न पुनर्घतयितोपनमः । इत्यतस्तया भक्तप्रत्या-
ख्यानपूर्वकमात्माहन्धनमकारि, मृता साऽगाच्च देवलोकम् ।
श्रुत्वा चैनं व्यतिकरमसौ संवेगमुपगतः । चिन्तितं च तेन-तया
व्रतभङ्गभयादिदमनुष्ठितम्, मम त्वसौ संजात एवेत्यतोऽहम-
पि भक्तप्रत्याख्यानं करोमीत्याचार्यस्यानिवेद्यैव मायावी, पर-
मसंवेगापन्नोऽस्मावपि जकं प्रत्याख्याय दिवं गतः । ततोऽपि च

प्रत्यागत्याऽऽद्रेपुरे नगरे आर्द्रकसुत आर्द्रकाभिधानं जातः। सा-
ऽपि च देवशोकाच्छ्रुता वसन्तपुरे नगरे श्रेष्ठिकुत्रे दारिका जा-
ता। इतरोऽपि च परमरूपसंपन्नो यौवनस्थः संवृत्तः। अन्यदाऽ-
सावार्द्रकपिता राजगृहनगरे श्रेणिकस्य राज्ञः स्नेहाविष्करणार्थं
परमप्राभृतोपेतं महत्तमं प्रेषयति स्म। आर्द्रककुमारेणासां पृष्ट-
वथा-कस्यैतानि महार्हाण्यग्राणि प्राभृतानि मन्त्रिणा प्रेषितानि
यास्यन्तीति। असावकथयत्-यथा-आर्यदेशे तवापतुः परममित्रं
श्रेणिको महाराजः, तस्यैतानीति। आर्द्रककुमारेणाप्यभारिण-किं
नस्यास्ति कश्चिद्योग्यः पुत्रः ?। अस्तीत्याह। यद्येवं, मत्प्रहितानि
प्राभृतानि जयता तस्य समपणीयानीति जणित्वा, महार्हाणि प्राभृ-
तानि समर्प्याजिह्मिन्-वक्तव्योऽसौ मद्बचनाद्यथाऽऽर्द्रककुमार-
स्त्वयि स्निह्यतीति। स च महत्तमो गृहोत्तमप्राभृतो राजगृह-
मगात्। गत्वा च राजद्वारपान्ननिवेदिनो राजकुलं प्रविष्टः। दृष्ट्वा
श्रेणिकः। प्रणामपूर्वं निवेदितानि प्राभृतानि। कथितं च यथा
संदिष्टम्। तेनाप्यासनाशनताम्बूलादिना यथार्हप्रतिपत्त्या सं-
मानितः। द्वितीये चाह्वायार्द्रककुमारसत्त्वानि प्राभृतान्यभ्यकुमा-
रस्य समर्पितानि; कथितानि च तत्प्रीत्युत्पादकानि तत्संदिष्ट-
वचनानि। अत्रयकुमारेणापि परिणामिकयवुद्ध्या परिणामितम्-
नूनमसौ जग्यः समासन्नमुक्तिगमनश्च, तेन मया सार्द्धं प्रीति-
मिच्छतीति। तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादित्यर्कप्रतिकरप्र-
तिमासं दर्शनेन तस्यानुग्रहः क्रियते, इति मत्वा तथैव कृतम्।
महार्हाणि च प्रेषितानि प्राभृतानीति। उक्तश्च महत्तमः-यथा-
मत्प्रोदतप्राभृतमेतदेकान्ते निरूपणीयम्। तेनापि तथैव प्रति-
पन्नम्। गतश्चासावार्द्रकपुरम्। समर्पितं च प्राभृतं राज्ञः, द्विती-
ये चाह्वायार्द्रककुमारस्येति। कथितं च यथासंदिष्टम्। तेनाप्य-
कान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा। तां च निरूपयत कदाऽ-
पोदविमर्शनेन समुत्पन्नं जातिस्मरणम्। चिन्तितं च तेन-यथा-
ममाभ्यकुमारेण महानुपकारोऽकारि स चर्मप्रतिबंधन इति। त-
तोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मरणोऽचिन्तयन्-यस्य मम देवशो-
कभोगैर्यथैषत्वं संपद्यमानैस्तुनिर्मातृत्वासीमिस्तु चैमांनुपैः
स्ववृत्तकाश्रितैः कामभोगैस्तुतिर्जयिष्यतीति कुनस्यम् ?। इत्येत-
त्परिगणय्य निर्भिन्नकामभोगो यथोचितजोगमकुर्वन् राज्ञा संजा-
तभयेन मा क्वचिद्यायादित्यतः पञ्चभिः शतैः राजपुत्राणां रक्षयि-
तुभारेजे। आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववाहनिकया विनिर्गतः, प्रधाना-
श्वेन प्रपलायितः। ततश्च प्रव्रज्यां गृहहन् देवतया सोपसर्गं जव-
तोऽद्यापि भणित्वा निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं तावन्न क-
रोति स्म। कोऽन्यो मां विहाय प्रव्रज्यां ग्रहीष्यतीत्यभिसंधाय तां
देवतामवगणय्य प्रव्रजितः। विहरन्न्यदाऽन्यतरप्रतिमाप्रातिपन्नः
कायोत्सर्गव्यवस्थितो वसन्तपुरे तथा देवलोकाच्छ्रुतया श्रेष्ठिदु-
हित्रा परदारिकामध्यगतया 'अरमत्येष मम भर्ता' इत्येवमुक्ते स-
त्यन्तरमेव मत्सन्निहितदेवतयाऽर्द्रकत्रयोदशकोटिपरिमाणा 'शो-
भनं व्रतमनयति' भणित्वा हिरण्यवृष्टिमुक्ता। तां च हिरण्यवृष्टिं
राजा गृहहन् देवतया सर्पाद्युत्थानतो विधृतः। अभिहितं च तथा-
वथैतद् हिरण्यं जातमस्या दारिकायाः, नाप्यस्य कस्यचिदित्य-
तस्तत्पित्रा सर्वं संगोपितम्। आर्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्ग इति
मत्वाऽश्वेनान्यत्र गतः। गच्छति च काले दारिकायाः वरकाः समा-
गच्छन्ति स्म। पृष्ट्वा च पितरौ तथा-किमेवामागमनप्रयोजनम् ?। क-
थितं च ताज्याम्-यथैते तव वरका इति। ततस्तथोक्तम्-तात !
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते नानेकशः; दत्ता चाहं तस्मै यत्संबन्धि हि-
रण्यजातं जवद्भिर्गृहीतम्। ततः सा पित्राऽज्ञाणि-किंच तं ज्ञाना-

ये ?। तथोक्तम्-तत्पादगताजिह्मदर्शनतो जानामीति। तदेवमसौ
तत्परिज्ञानार्थं सर्वस्य भिक्षार्थिनो जिह्वां दापयितुं निरूपिता।
ततो द्वादशजिह्वैर्गणैः कदाचिच्छासौ जवितव्यतानियोगेन तत्रै-
व विहरन्समायातः; प्रत्यभिज्ञातश्च तथा तत्पादचिह्नदर्शनतः।
ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पृष्टतो जगाम। आर्द्रककुमारो-
ऽपि देवतायचनं स्मरन्तथाविधकर्मोदयादवश्यं जवितव्यतानि-
योगेन च प्रतिभग्नस्तथा सार्द्धं पुनक्ति स्म जोगान्। पुत्रश्चोत्प-
न्नः। पुनरार्द्रककुमारेणासावभिदिता-सांप्रतं ते पुत्रो द्वितीयः,
अहं स्वकार्यमनुतिष्ठामि। तथा सुतव्युत्पादनार्थं कार्पासकत्त-
नमारब्धम्। पृष्ट्वा चासौ बालकेन-किमश्व ! एतद्भवत्या प्रार-
ब्धमित्रजनाचरितम् ?। ततोऽसाववोचद्-यथा तव पिता प्रम-
जितुकामः, त्वं चाद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्धाजने, ततोऽहमना-
था स्त्रीजनोचितेनानिन्देन विधिनाऽऽत्मानं जघ्नन्तं चकित्वा पा-
र्थायष्टामीत्येतदाज्ञोच्येदमारब्धमिति। तेनापि बालकेनोत्पन्नप्र-
तिभया तत्कर्तितसूत्रेणैव कार्यं मद्बुद्धो यास्यतीति' तन्मनोऽनुकूल-
भाषिणापविष्ट एवासौ पिता परिवेष्टितः। तेनापि चिन्तितम्-या-
वन्तोऽसौ बालककृतवेषेनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्था-
तव्यमिति। निरूपिताश्च तत्तत्रो यावद्द्वादश, तावन्त्येव वर्षाण्य-
सौ गृहवासे व्यवस्थितः। पूर्णपुद्गादशसु संवत्सरेषु गृहाभ्रगतः,
प्रव्रजितश्चेति। ततोऽसौ सृष्टार्थनिष्पन्न एकाकिविहारण विह-
रन् राजगृहाभिमुखं प्रस्थितः। तदन्तरात्रे च तद्रक्षणार्थं यानि
प्राक् पित्रा निरूपितानि पञ्च राजपुत्रशतानि, तस्मिन्नेव नष्टे
राजभयाद्वैलङ्क्याश्च न राजान्तिकं जग्मुः। तत्राटवीपुर्गेण चौरेण
वृत्तिं कल्पितवन्तः। तैश्चासौ दृष्टः प्रत्यभिज्ञातश्च। ते च तेन पृ-
ष्टाः-किमिति जवद्भिरेवजृन्तं कर्माश्रितम् ?। तैश्च सर्वै राजभयादिकं
कथितम्। आर्द्रककुमारवचनाच्च संबुद्धाः प्रव्रजिताश्च। तथा राज-
गृहनगरप्रवेशे गोशालको, हस्तितापसाः, ब्राह्मणाश्च वादे परा-
जिताः। तथाऽर्द्रककुमारदर्शनादेव हर्स्ता। बन्धनाद्विमुक्तः। ते
च हस्तितापसादय आर्द्रककुमारधर्मकथाज्ञेता जिनवीरसम-
वसरणे निष्कात्ताः। राज्ञा च विदितवृत्तान्तेन महाकुलूहापू-
रितहृदयेन पृष्टः-भगवन् ! कथं त्वदर्शनतो हर्स्ता निरर्गलः
संवृत्तः ?। इति महान् जगवतः प्रभाव इति। एवमभिहितः स-
न्नार्द्रककुमारोऽब्रवीन्नयमगाययोत्तरम्-

ए दुर्करं वारणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं !।

जहा उ तत्त्यावन्निएण तंतुणा, सुदुकरं मे पणिहाइ मोयणं ! ? ७।

(ण दुर्करमित्यादि) न दुष्करमेतन्नरपाशैर्बन्धमत्तवारणस्य धि-
मोचनं वने, राजन् ! एतच्च मे प्रतिभाति दुष्करम्-यच्च तत्रावलि-
तेन तन्तुना बन्धस्य मम प्रतिमोचनमिति। स्नेहतन्तवो हि जन्तु-
नां दुर्गच्छेदा भवन्तीति भावः। गतमार्द्रककथानकम्। इति
दर्शितं समासतो निर्युक्तिकृताऽऽर्द्रककथानकम्। अथ तदेव
सुवृद्धं व्यासनं दर्शयन्नाह-

(२) यथा च गोशालकेन सार्द्धं वादोऽनूदाऽर्द्रककुमारस्य
तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते-

पुरा कर्म्म अह ! इमं सुणेह-

मेगंतयारी समणे पुराऽऽसी ।

से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे,

आइक्खति एहं पुढो वित्तरेण ॥ १ ॥

मा जीविया पट्टविताऽधरेणं ,

मजागभो गणभो त्रिकुम्भज्जे ।

आङ्गवमाणो बहुजनमन्यं ,

न संधयाती अवरणं पुर्वं ॥ २ ॥

न च रात्रिपुत्रकमाङ्ककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकेऽवसीत्-यथा हे आर्द्रक ! यदहं व्रगीमि तच्छृणु । पुनः पुनः, यदनेन जवत्तीर्धकृता कृतं तच्छेदमिति दर्शयति-प्राप्तं जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी, तथा भ्रमन्ति नि भ्रमणः, पुनःऽऽनीत्तपश्चरणोक्तः, सांप्रतं तूप्सुस्तप-भ्रमणविशेदेति भ्रमिता मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ धर्म-किल कथयति, तथा निश्चुत् बहुपुत्रीय प्रतनशिष्यपरिकरं इत्या न यद्विधानां मुभ्रजनानामदाता पृथक् पृथक्, विस्तरेणाचष्टे धर्मास्तत्रैव शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव 'सा जीविया' इत्यादि-येयं बहुजनमध्यगतेन धर्मदेशना शुष्मदुर्गणा-ऽऽपचा सा जीविका प्रकटं स्थापिता प्रस्थापिता, एका-की विहङ्ग व्रीकिकैः परिचूयत इति मत्वा व्रीकपङ्क्ति-मितं महान् परिकरः कृतः । तथा चोच्यते- " वृद्धं वृद्धं पात्रं, वत्तं यष्टि च चर्चयति त्रिकुम्भः । वेपेण परिकरेण च, किय-ताऽपि विना न त्रिकुम्भोऽपि " ॥१॥ तदनेन दर्शनप्रदानेन जीवि-कायामदनाद्व्यप । किं नूतेन ? अस्थिरेण, पूर्व हायं मया सार्द्ध-नकाक्यन्तप्रान्तादनेन शुन्दागामदेवकुलादौ वृत्तिं कलिपतवान् : नच तथ नूतनमुद्रातं । सकताकवत्रवाचिगस्वादं यावज्जीवं कर्तुमनम्, अतो मां विहायार्थं बहून् शिष्यान् प्रतार्थयन्नेतेन स्फु-टादापेन विहरतीत्यतः कस्तव्येऽस्थिरेण, पूर्वचर्यापरित्या-गेतापरकल्पसनाश्रयात् । एतेदेव दर्शयति-सभायां गतः सदेवमनुजरापादं व्यवस्थितो (गणशो लि) गणशो बहुशः, भगवत् इति यावत् । निष्कृणां मत्वे गतो व्यवस्थितः, आचक्रा-णो बहुजनभ्यो हितो बहुजनस्थस्तमर्थं बहुजनहितं कथयन् विद्वति । एतच्छास्यानुष्ठानं पूर्वापरेण न संधत्तं । तथाहि-यदि सांप्रतीये वृत्ते प्राकारत्रयं सिंहासनाशोकवृक्षनामकलचाम-रादिकं मोक्षाङ्गमवाप्यन्ततो या प्राक्तन्येकचर्या क्लेशबहुला तथा कृता सा क्लेशाय केवलमन्येति, अथ कर्मनिर्जरणहेतुका परमार्थानुता ततः साम्प्रतादस्था परप्रतारकत्वाद् दम्भकटो-प्यतः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रतिकधर्मदेशनारूपयोः परस्पर-रतो विरोध इति ॥ २ ॥

अपि च—

एगंतमेवं अनुवा वि शिंहं,

देवगपन्नं न संमतिं जग्हा ।

(एगंतमित्यादि) यद्येकांतचारिणमेव शोभनं, पूर्वमाश्रितत्वा-त्ततः सर्वदाभ्यनिरन्तरेणैतद्वच कर्तव्यम् । अथ चेदं साम्प्रतं महा-परिचारानुत्तं साधु मन्यते, ततस्तदेवादायव्याचरणायमासीत् । अपि च-अप्येतं ग्रायाऽऽनपवदन्यन्तविरोधनं । वृत्ते नैकत्र सम-वायं गच्छतः । तथाहि-यदि मौनेन धर्मस्ततः किमियं महता प्र-त्येत धर्मदेशना ? अथ तथैव धर्मस्ततः किमिति पुनः मौनव्रत-माललापः ? यस्मादेवं तस्मान्पुनोक्तव्याहतिः ।

(३) तदेवं गोशालकेन पर्यनुयुक्त आर्द्रककुमारः श्लोकप-आर्द्रकोत्तरदानायाह—

पुर्वं च इति च अणाननं वा,

एगंतमेवं परिसंधयति ॥ ३ ॥

(पुर्वं चेत्यादि) पूर्व एवंस्मिन्काले, यन्मौनव्रतिकल्पं, या चैकचर्या, तच्छेदास्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्यार्थम् । सांप्रतं यन्महाजनपरिवृतस्य धर्मदेशनाविधानं, तत् प्राग्वज्जभवोपप्रा-दिकर्मचतुष्टयकृपाणाद्यतस्य विशेषतस्तार्थिकरनाम्नो वेदनार्थम्, अपरामां चांशैर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतौनामिति । यदि वा पूर्व साम्प्रतमनागते च काले रागद्वेषरहितत्वादेकव्यजावनाऽ-नतिक्रमणाच्चैकव्यमेवानुपचरितं भगवानशेषजनहितं धर्म क-थयन् प्रतिसंधयति । न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरशंसारहित-त्वाद्देशोऽस्ति, अतो यदुच्यते भवता पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरसाङ्ग-त्यं, तत् प्लवत इति ॥ ३ ॥

एतद्धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो

भवत्युत नेति ? ; भवतीत्याह—

समिच्च लोगं तमयावराणं,

खेमंकरे समणे माहणे वा ।

आङ्गवमाणो वि सहस्समज्जे,

एगंतयं सारयती तद्वच्च ॥ ४ ॥

सस्यभ्यधावस्थितं लोकं परुषव्यात्मकं मत्वाऽवगम्य केवला-लोकेन परिचिद्य, वस्यन्तीति वसास्वसनामकमोदयात्, व्रीन्द्रिया-दयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थावरनामकमोदयात्, स्थावराः पृथिव्यादयः, नेपासु भयेयामपि जन्तूनां, क्रमं शान्तिः-रक्षा, तत्कर-णशीलः क्रमंकरः । आस्यतीति भ्रमणः-डादशप्रकारतपोनिष्ठ-देहः । तथा- ' मा हण ' इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहकः, ब्राह्मणा-वा, स एवंभूतो निर्ममो रागद्वेषरहितः, प्राणिहितार्थं न ला-भपूजाख्यात्यर्थं धर्ममात्राणांऽपि, प्राग्वत् दृढस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्वाप्रागुण-दोषविषयकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाप्तेः, अनुत्पन्नदिव्यज्ञानस्य तु मौनव्रतिकत्वेनेति । तथा-देवासुरनर्गतिर्यकसहस्रमध्येऽपि व्य-वस्थितः, पद्माधारपद्मजयत, तद्दोषव्यासङ्गाभावात् । समत्वत्रि-रहादाशंमादापविकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति-प्रख्याति-नयति, साधयतीति यावत् । ननु चैकाकिपरिकरोपेतावस्थयो-रस्ति विशेषः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यमानत्वात् । सत्यमस्ति । विशेषे वाह्यतो नत्वान्तरतोऽपि दर्शयति-तथा प्राग्वत्, अर्चां लेख्या शुक्रध्यानाख्या यस्य स तथाचः । यदि वाऽर्चा शरीरं, तच्च प्राग्व-द्यस्य स तथाचः । तथाहि-असावशोकाद्यप्रतिहारोपेताऽपिनो-त्सकं याति, तापि शरीरं संस्कारायत्तं विदधाति । स हि भगवा-नात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृतो, जनपरिवृ-तोऽप्येकाकी, न तस्य तयोरवस्थयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तथा चो-क्तम्-“रागद्वेषौ विनिजित्य, किमरण्ये करिष्यसि ? । अथ नो नि-र्जितायेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? ” ॥१॥ इत्यतो बाह्यतनं गम-नान्तरमेव कपायजयादिकं प्रधानं कारणमिति स्थितम् ॥४॥

(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषाभावं

दर्शयितुमाह—

धम्मं कहंतस्म उ णत्थि दोमा,

खंतस्म दंतस्म जित्तिदियस्म ।

भासाय दोमे य विवज्जगस्म,

गुणे य भासाय णिमेवगस्म ॥ ५ ॥

तस्य भगवतोऽपगतघनघातिकलङ्कस्योत्पन्नसकलपदार्था-

विर्भावज्ञानस्य जगद्भ्युद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपरहितप्रवृत्तस्य स्वकार्यनिरपेक्षस्य धर्मं कथयतेऽपि, तु शब्दस्य अपिशब्दार्थत्वात्, नास्ति कश्चिदोषः । किंभूतस्य?, इत्याह-तान्तिसंपन्नस्य, अनेन क्रोधनिरासमाह । तथा-दान्तस्योपशान्तस्य, अनेन मःनव्युदासमाह । तथा-जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेनेन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः, अनेन तु लोभनिरासमाचष्टे । मायायास्तु लोभनिरासादेव निरासोऽप्युच्यते, तन्मूलत्वात्तस्याः । भाषादोषाः-असत्यसत्यामृषककशाऽसभ्यशब्दाचारणादयः । तद्विचर्जकस्य तत्परिहर्तुः । तथा-भाषाया ये गुणा-हितमितदेशकालासंदिग्धभाषणादयः । तन्निषेधकस्य सतो ब्रवतोऽपि नास्ति दोषः । ब्रह्मस्य हि बाहुल्येन मौनव्रतमेव श्रेयः, समुपपन्नकेवलस्य तु भाषणमपि गुणायति ॥ ५ ॥

किंभूतं धर्ममसौ कथयति ?, इत्याह-

मद्ववप पंच अणुववप य,

तदेव पंचासव संवरे य ।

विरतिं इह सामणियम्मि पन्ने,

लवावसप्पी समणे त्ति वेमि ॥ ६ ॥

महान्ति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि, तानि च सधूनां प्रज्ञापितवान् पञ्चापि । तदपेक्षयाऽणुनि लघूनि व्रतानि पञ्चैव, तानि श्रावकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान् । तथैव पञ्चाश्रवान् प्राणातिपातादिरूपान् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान् ; तत्संवरं च सप्तदशप्रकारं संयमं प्रतिपादितवान् । संवरवतो हि विरतिर्भवत्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान् । चशब्दात्तत्फलभूतौ निर्जराभौकौ च । इहास्मिन् प्रवचने, लोके वा, भ्रमणस्य ज्ञायः श्रामण्यं-संपूर्णः संयमः, तस्मिन् वा विधेये मूलगुणान् महाव्रताणुव्रतरूपान्, तथा-उत्तरगुणान् महाव्रताणुव्रतरूपान्, कृत्स्ने संयमे विधातव्ये । प्राज्ञ इति क्वचित्पाठः । प्रज्ञाने तत्प्रतिपादितवानिति । किन्तोऽसौ ?, एवं कर्म, तस्मात् (श्रवसप्पी नि) श्रवसर्पणशीलोऽवसर्पी, श्राम्यतीति श्रमणः तपश्चरणयुक्तः, इत्येतद्दं ब्रवीमि । स्वयमेव च भगवान्पञ्चमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोऽन्द्रियगुणो विरत-आसौ लवावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथानूतमुपदेशं दत्तवान्, इत्येतद् ब्रवीमीति । यदि वाऽऽर्ककुमारवचनमाकर्ण्योऽसौ गोशालकस्तत्प्रतिपत्तुतं वक्तुकाम इदमाह-इत्येतच्छ्रवमाणं यद्वं ब्रवीमि तच्छृणु त्वम्, इति ॥ ६ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेवाह गोशालकः-

सीओदगं मेवञ्च वीयकायं,

आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एगंतचारिस्सिह अम्मह धम्मे,

तवस्सिणो णाजिसमेति पावं ॥ ७ ॥

भवतेदमुद्राहितम्-परार्थं प्रवृत्तस्याशोकादिप्रातिहार्यपरिग्रहः, तथा शिक्कादिपरिकरा, धर्मदेशना च, न दोषायोति यथा, तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्विद्यमानं, तन्न दोषायोति । शीते च तदुदकं च शीतोदकमप्राशुकोदकम् ; तत्सेवनं परिभोगं करोतु, तथा-बीजकायोपभोगम्, आध्यात्मिकश्रयणं, स्त्रीप्रसङ्गं च विदधानु, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो ज्ञवतीति । भस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आरामोद्यानादि-ष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभिसमेति-नाभिसंबन्धमु-

पयाति; पापमशुभकर्मोति । इदमुक्तं ज्ञवति-एतानि शीतोदकादीनि यद्यपीषत्कर्मवन्धाय, तथापि धर्माधारं शरीरं प्रतिपाद्यत एकान्तचारिणस्तपस्विनो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

(५) बीजाद्युपभोगिनो न भ्रमणव्यपदेशभाजः-

सीतोदगं वा तह वीयकायं,

आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एयाइं ज्ञाणं पडिमेवमाणा,

अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

एतत्परिहर्तुकाम आह-एतानि प्रागुपन्यस्तानि अप्राशुकोदकपरिभोगादीनि प्रतिसेवन्तोऽगारिणो गृहस्थास्ते भवन्त्यभ्रमणाभ्राप्रव्रजिताश्चैवं जानीहि । यतः-"अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता" इत्येतच्छ्रमणव्रतानि चैषां शीतोदकबीजाध्यात्मिकपरिभोगवतां नास्तीत्यतस्ते नामाकाराश्चाभ्रमणाः, न परमार्थानुष्ठानत इति ॥ ८ ॥

पुनरप्यार्द्रक एवैतद्ब्रूयणायाह-

सिया य वीओदगइत्थियाओ,

पडिमेवमाणा समणा भवंतु ।

अगारिणो वि य समणा जवंतु,

मेवंति ऊते वि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतद्वचनीयं मनं, यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्तिपासादिप्रधानतपश्चरणपीकृताश्च तत्कथंते न तपस्विनः ?, इत्येतदाशङ्क्याऽऽर्द्रक आह-(बीओदगं त्ति) यदि बीजाद्युपभोगिनोऽपि भ्रमणा इत्येवं ज्वन्ताऽभ्युपगम्यन्ते, एवं तर्ह्यागारिणोऽपि गृहस्थाः भ्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशिकावस्थायामांशसावतामपि निष्कञ्चनतथैकाकिविहारित्वं, क्षुत्तिपासादिपीकृतं च संभाव्यते । अत आह-(सेवंति ऊ) तुरवधारणे, सेवत्येव, तेऽपि गृहस्थाः । तथाप्रकारमेकाकिविहारदिकमिति ॥ ९ ॥

पुनरप्यार्द्रको बीजोदकादिभोजिनां दोषानिधित्सयाऽऽह-

जे यावि बीओदगजोत्ति जिकखु,

भिकखं वि हिंडंति य जीवियट्ठी ।

ते णातिसंजोगमविप्पहाय,

कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

येचापि भिक्षुवः प्रव्रजिताः, बीजोदकादिभोजिनः सन्तो हव्यतो ब्रह्मचारिणोऽपि भिक्षां वाऽटन्ति जीवितार्थिनः, ते तथाज्ञाताः, ज्ञातिसंयोगं स्वजनसंबन्धं, विप्रहाय त्यक्त्वा कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगाः, तदुपमर्दकारम्भप्रवृत्तत्वात्, संसारस्यानन्तकरा भवन्तीति । इदमुक्तं भवति-केवलं स्त्रीपरिभोग एव तैः परित्यक्तोऽसावपि हव्यतः । शेषेण तु बीजोदकाद्युपभोगेन गृहस्थकल्पा एव ते । यत्तु जिज्ञाऽदनादिकमुपन्यस्तं तेषां, तद् गृहस्थानामपि केषांचिः संभाव्यते, नैतावता भ्रमणज्ञाज इति ॥ १० ॥

अधुनैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतार्थिकान्सहायान् विधाय सोल्लुगमसारं वक्तुकाम आह-

इमं वयं तुं तुम पाउकुव्वं,

पावाइणो गरिहसि सव्व एव ।

पावाणो पुडो किट्पता,
सयं सयं दिट्ठि करेति पाउ ॥ ११ ॥

इमां पूर्वोक्तां, वाच्यम् । तुशब्दो विशेषणार्थः, त्वं प्रादुर्भूत-
न्यकाशयन्, सर्वानपि प्रावादुकान्, गर्हामि जुगुप्ससे, यस्मात्सर्वेऽ-
पि तीर्थिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि संसारोच्छिद्ये प्रवर्तन्ते,
ते तु भवता नाज्युपगम्यन्ते । ते तु प्रावादुकाः पृथक् २ स्वीयां
स्वीयां दृष्टिं प्रत्येकं स्वदर्शनं कीर्तयन्तः, प्रादुर्भूवन्ति प्रकाश-
यन्ति । यदि वा श्लोकपञ्चमार्द्धककुमार आह-सर्वे प्रावादुका य-
थावस्थितं स्वदर्शनं प्रादुर्भूवन्ति, तत्राप्याद्याद्य वयमपि स्वद-
र्शनाविर्भावं कुर्मः । तद्यथा-अप्राशुक्येन बीजोदकादिपरिभोजि-
नः कर्मवन्ध एव केवल, न संसारोच्छेद इतीदमस्मदीयं दर्शनम् ।
एवं अवस्थिते काऽत्र परनिन्दाः, को वाऽस्मात्कर्षः ? इति ॥ ११ ॥

किञ्च—

ने अन्नमन्नस्म विगरहमाणा,
अन्नंति उ समणा माहणा य ।
सतो य अन्थो असतो य एत्थी,
गरहाम दिट्ठि ण गरहाम किञ्चि ॥ १२ ॥

ते प्रावादुकाः, अन्योन्यस्य परस्परं तु, स्वदर्शनप्रतिष्ठाऽऽशया पर-
दर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणानाचकृते । तुशब्दात्परस्परतो व्या-
हृतमनुष्ठानं चानुतिष्ठति । ते च भ्रमणा निर्ग्रन्थादयो, ब्राह्मणा द्वि-
जातयः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्वं समर्थयन्ति, परकीयं च दूषयन्ति ।
तदेव पञ्चाङ्गेन दर्शयति- (सतो स्ति) स्वत इति स्वकीये पक्वे
स्वाज्युपगमोऽस्ति पुण्यं, तत्कार्यं च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति । अस्व-
तः पराज्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येवं सर्वेऽपि तीर्थिकाः
परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः; अतो वयमपि यथावस्थिततत्त्वप्ररूप-
णतो युक्तिविकलत्वादेकान्तदृष्टिं गर्हामो जुगुप्सामः, न ह्यसावे-
कान्तो यथावस्थितत्वाविर्भावको भवतीत्येवं व्यवस्थितं त-
त्त्वस्वरूपं वयमाचक्रामा न किञ्चिद्गर्हामः, काणकुण्डोदघट्टनादि-
प्रकारेण केवलं स्वपरस्वरूपाविर्भावं कुर्मः; न च वस्तुस्वरूपा-
विर्भावेन परापवादः । तथा चोक्तम्—

" नेत्रैर्निरीक्ष्य विश्लक्ष्यकटकीटसर्पान्,
सम्यक् पथा व्रजत तान्परिहृत्य सर्वान् ।
कुक्कानकुक्षुतिकुमाङ्गकुहृष्टिदोषान्,
सम्यक्विचारयति कोऽत्र परापवादः ? " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

यदि चैकान्तवादिनामेवास्येव नास्येव वाऽज्युपगमवचनमयं प-
रस्परगर्हणयो दोषो नास्माकमनेकान्तवादिनां, सर्वस्यापि
सदादेः कथञ्चिदज्युपगमात् । एतदेव श्लोकपञ्चाङ्गेन दर्श-
यति- (स्वत इति) स्वदृष्ट्यन्तत्रकालभावेऽस्ति । तथा- (परत
इति) परदृष्ट्यादिभिर्नास्तान्येवं पराज्युपगमं दूषयन्तो गर्हा-
मोऽन्यानेकान्तवादिनः । तत्स्वरूपनिरूपणतस्तु रागद्वेषवि-
रहात् किञ्चिद्गर्हाम इति स्थितम् ॥ १२ ॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

ण किञ्चि म्वेणऽनिधायामो,
सदिट्ठिमग्गं तु करेमि पाउं ।
पग्गे इमे किट्ठिं आगिण्ठिं,
अणुत्तरे मण्णुग्गिनेहिं अज्ज ॥ १३ ॥
न कञ्चन भ्रमणं, ब्राह्मणं वा; स्वरूपेण जुगुप्सितान्नायययो-

दघट्टनेन जात्या तस्मिन् प्रहणोदघट्टनेन वाऽभिधारयामो गर्ह-
णाऽज्योदघट्टयामः, केवलं स्वदृष्टिमार्गं तदज्युपगतं दर्शनं
प्रादुर्भूतः प्रकाशयामः । तद्यथा—

" ब्रह्मा लूनशिरा हरिदंशि सरुग्गं व्यालुत्तशिओ हरः,
सूयाऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः ।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि " ॥ १ ॥

इत्यादि । एतच्च तैरेव स्वागमे पठ्यते, वयं तु श्रोतारः केच-
लमिति । आर्द्धककुमार एव परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षसाध-
नार्थं श्लोकपञ्चाङ्गेनाह- (मग्गे स्ति) अयं मार्गः पन्थाः सम्य-
ग्दर्शनादिकः कीर्तितो व्यावर्णितः । कैः ? आर्यैः, सर्वज्ञैरस्त्या-
द्यधर्मदूरवर्तिभिः । किभूतो धर्मः ? नास्मादुत्तरः प्रधानां वि-
द्यत इत्यनुत्तरः, पूर्वापराव्याहृतत्वाद्, यथावस्थितज्जावादिप-
दार्थस्वरूपनिरूपणाच्च । किभूतैरार्यैः ? सन्तश्च ते पुरुषाश्च
सत्पुरुषास्तैश्चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतैराविर्भूतसमस्तपदार्थावि-
र्भावकदिव्यङ्ग्यैः । किभूतो मार्गः ? अज्ज व्यक्तः—निर्दोषत्वा-
त्प्रकटः, अजुवां; वकैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ॥ १३ ॥

पुनरपि स्वसद्धर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह—

उठ्ठं अहेवं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
जूयाहिसंकाजिदुग्गुळमाणा,
एण गरहती वुसिमं किञ्चि लोए ॥ १४ ॥

उर्ध्वमधस्तिर्यङ्चैवं सर्वास्वपि दिक्षु प्रकारापेक्षया, भाववि-
गपेक्षया वा, तासु ये व्रसाः, ये च स्थावराः प्राणिनः । चशब्दो
स्वगतानेकभेदसंस्पर्शकौ । भूतं सद्भूतं तथ्यं, तत्राभिप्राय-
तथ्यनिर्णयेन प्राणातिपातादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणः;
यदि वा भूताभिप्राय- सर्वसाविद्यमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैव प-
रलोकं कञ्चन गर्हति निन्दति (वुसिमं ति) संयमवानिति । तदेवं
रागद्वेषवियुक्तस्य वस्तुस्वरूपाविर्भावेन, न काचिज्ज्ञेति । अथ
तत्रापि गर्हा भवति, तर्हि न ह्युष्णोऽग्निः, शीतमुदकं, विषं मारणा-
त्मकमित्येवमादि किञ्चिद्वस्तुस्वरूपमाविर्भावनीयमिति ॥ १४ ॥

स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिको निराकृतोऽपि

पुनरन्येन प्रकारेणाऽऽह—

आगतंगारे आरामगारे,
समणे उ जीते ए उवेति वासं ।
दवखा हु संते बहवो मणुस्मा,
उणाऽतिरिक्ता य लवाऽद्गवा य ॥ १५ ॥

स विप्रतिपन्नः सन्नार्द्धकमेवाह-योऽसौ भवत्संवन्धी तीर्थ-
करः स रागद्वेषभययुक्तः । तथाहि-असावागन्तुकानां कार्पाटि-
कादीनामगारमागन्तागारं, तथाऽऽरामेऽगारमारामागारं, त-
त्राऽसौ भ्रमणो भवतीर्थकरः । तुशब्द एवकारार्थः । भीत एवासौ
तपोध्वंसनत्रयास्तत्रागन्तागाराद् न वासमुपैति, न तत्रासनस्था-
नशयनादिकाः क्रियाः कुरुते । किं तत्र त्रयकारणम् ? इति चेत्स-
दाह—दक्षा निपुणाः प्रभूतशास्त्रविशारदाः । दृशब्दो यस्माद-
र्थः । यस्माद्बहवः सन्ति मनुष्याः, तस्मादसौ तज्ज्ञातो न वासं त-
त्र समुपैति न तत्र समातिष्ठते । किन्तुताः, न्यूनाः स्वतोऽवमा

हीनाः, जात्याद्यनिरिक्ता वा, ताभ्यां पराजितस्य महौश्रुत्याभ्रंश इति । तानेव विशिनष्टि-लपन्तीति लपा वाचावाः, धोषिताने-
कतर्कविचित्रदण्डकाः । तथा-न लपा मौनव्रतिका निष्ठितयोगाः,
गुटिकादियुक्ता वा, यद्वशादभिधेयविषया वागेव न प्रवर्तते । त-
तस्तद्भयेनासौ युष्मत्तीर्थकृदागन्तागारादौ नैव व्रजतीति ॥१५॥

पुनरपि गोशालक एवाऽऽह-

मेधाविणो सिक्खिव बुद्धिमंता ,
सुत्तेहिं अत्थेहिं य णिच्छयन्ना ।
पुच्छिमुमाणे अणगार अन्ने,
इति संकमाणो ए उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो प्रहणधारणसमर्थाः, तथाऽऽचा-
र्यादेः समीपे शिक्षां प्राहिताः शिक्षिताः, तथैतत्पक्षिण्यादिचतुर्वि-
धवृष्टपुषेता बुद्धिमन्तः, तथा-सूत्रेऽपि सूत्रविषयेऽर्थं विनिश्चयज्ञाः,
यथावास्थितसूत्रार्थवेदिन इत्यर्थः । ते चैवंभूताः सूत्रार्थविषयं मा
प्रश्नमकार्षुः, अन्येऽनगरा एके केचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां
विभ्यन्न तत्र तन्मध्ये उपैत्युपगच्छतीति । ततश्च न ऋजुमार्ग
इति, भययुक्तत्वात्तस्य । तथा-स्लेच्छविषयं गत्वा न कदाचि-
रुर्मदेशनां च करोति, आर्य देशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्र-
चिदेवेत्यतो विषमदृष्टिवाद्वागद्वेषवर्त्यसाविति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह-

णोऽकामकिच्चा ए य बालकिच्चा ,
रायाभिओगेण कुओ जएणं ? ।
वियागरेज्जा पसिणं न वा वि,
सकामकिच्चं णिह आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, कमनं
काम इच्छा; न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृ-
त्यः, स एवंभूतो न भवति, अनिच्छाकारी न भवतीत्यर्थः । यो ह्यु-
न्मेक्षापूर्वकारितया वर्तते, सोऽनिष्टमपि स्वपरात्मनो निरर्थक-
मपि कृत्यं कुर्वीत । भगवांस्तु-सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः कथं
स्वपरात्मनो निरूपकारकमेवं कुर्यात् ? । तथा च-बालस्येव कृत्यं
यस्य स बालकृत्यः, न चासौ बालवदनादौचित्यकारी, न परानु-
रोधान्नापि गौरवारुर्मदेशनादिकं विधत्ते । अपि तु यदि कस्यचि-
द्भयसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति, ततः प्रवृत्तिर्भवति, नान्य-
था । न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चिन्प्रवर्तते, ततः
कुतस्तस्य ज्ञेयं प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित्कचित्संश-
यकृतं प्रह्नं व्यागृणीयाद्, यदि तस्योपकारो ज्ञवत्युपकारमन्तरेण
न च नैव व्यागृणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां
च ह्ययमनसैव तन्निर्णयसंभावादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते ।
यद्युच्यते भवता-यदि वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथं क-
रोतीति चेदित्याशङ्क्याह-स्वकामकृत्येन स्वेच्छाचारितयाऽसा-
वपि तीर्थकुत्रामकर्मणः कृपणाय न यथाकथञ्चिदतोऽसावगन्तः,
इहास्मिन्सारे आर्यक्षेत्रे चोपकारयोग्ये आर्याणां हि सर्वदेय-
धर्मदूरवर्तिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति ।

किञ्चाऽन्यत्-

गंता च तत्था अदुवा अगंता ,
वियागरेज्जा समियाऽऽसुपन्ने ।

अणारियां दंसणओ परित्ता,

इति संकमाणा ए उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

स हि जगवान् परहितैकरतो गत्वाऽपि विनेयासन्नम्, अथवा-
ऽप्यगत्वा यथा भयसत्त्वोपकारो ज्ञवति तथा भगवन्तोऽर्हन्तो
धर्मदेशनां विदधति । उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्ति, असति
तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तेषां रागद्वेषसंज्ञव इति ।
केवलमाशुप्रज्ञः सर्वज्ञः समतया समदृष्टितया चक्रवर्त्तिद्रमका-
दिषु पृष्टे वा धर्मं व्यागृणीयात् ; “जहा पुष्पस्स कथं इ तदा
तुच्छस्स कथं इ” इति वचनात् । इत्यतो न रागद्वेषसंज्ञावस्तस्ये-
ति । यत्पुनरनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह-आनार्याः क्षेत्रभा-
षाकर्मजिबंदिष्कृताः, दर्शनतोऽपि परि समन्तादिना गताः, प्रप्रष्टा
इति यावत् । तदेवमसौ जगवानित्येतत् तेषु सम्यग्दर्शनमात्रमपि
कथञ्चिन्न ज्ञवति इत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति । यदि वा विप-
रीतदर्शनिना भवन्त्यनार्याः शक्यवनादयः, ते हि वर्तमानसु-
खमवैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः स-
र्वमपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न याति, न पुनस्तद्व्यादिवृद्धेति । य-
दप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदगुटिकासिक्खिद्यासि-
द्धादितीर्थिकपराभवभयेन न तत्समाजं गच्छतीति । एतदपि बाल-
प्रलपितप्रायम् । यतः सर्वज्ञस्य जगवतः समस्तैरपि प्रावाङ्मु-
खमप्यवलोकायितुं न शक्यते, वादस्तु दूरोत्सारित एवेत्यतः
कुतस्तस्य पराजवः ? । भगवांस्तु केवलज्ञाकोन यत्रैव स्वपरोपका-
रं पश्यति तत्रैव गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्त इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पन्नं जहा वणिण उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं ।
तओवमे समणे नायपुत्ते, इच्च मे होति मती विपक्को ॥ १९ ॥

यथा वणिक् काश्चिदुद्यार्थी पण्यं व्यवहारयोग्यं ज्ञातुं कर्तुं-
रागरुक्स्तूरिकाम्बरादिकं देशान्तरं गत्वा विक्रीणान्ति, तथा
आयस्य लाजस्य हेतोः कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते, तदुपमोऽय-
मपि भवत्तीर्थिकरः श्रमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं मे मम मतिर्भवति,
वितर्को मीमांसा धेति ॥ १९ ॥

एवमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं,
चिच्चाऽमइं ताई स आह एव ।
पन्नावया वंनवंतं ति बुत्ता,
तस्मोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥ २० ॥

योऽयं जवता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वसाधर्म्येण, उत दे-
शतः ? ; यदि देशतस्ततो न नः कृतिमावहति । यतो वणिग्वद्
यन्त्रोपचयं पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चि-
दित्येतावता साधर्म्यमस्येव । अथ सर्वसाधर्म्येणेति । तन्न
युज्यते । यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावद्यानुष्ठानरहितो नवं
प्रत्यग्रं कर्म न कुर्यात् । तथा-विधूतयत्यपनयति पुरातनं यज्ञ-
वोपप्रादिकं बन्धम् । तथा-त्यक्त्वा श्रमतिं विमतिं, प्रायी जग-
वान् सर्वस्य परित्राणशीलः, विमतिपरित्यागेन चैवंभूत एव ज-
वतीति भावः । तायी वा मोक्षं प्रति । अय-वय-मय-पय-चय-तय-
णय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेवाऽऽह-यथा विमति-
परित्यागेन चैवंभूत एव भवतीत्येतावता च संदर्भेण ब्रह्मणो
मोक्षस्य, वतं ब्रह्मवतमित्येतदुक्तम् । तस्मिन्मोक्षे, तदर्थं वाऽनु-

प्राप्ते क्रियमाणे तस्योदयार्थं ध्रमण इति ब्रवीम्यहमिति ॥२०॥
नचैवज्जा वणिज इत्येतद्दर्शककुमारो दर्शयितुमाह—

समागन्ते वणिजा ज्ञयगामं,
परिग्रहं चैव ममायमाणा ।
ते एतिसंजोगमविष्णवाय,
आयस्म हेतुं परंति संगं ॥ १९ ॥

ते हि वणिजाः, चतुर्दशप्रकारमपि ज्ञतग्रामं जन्तुसमुहं, समाग-
मन्ते तदुपमार्गिकाः क्रियाः प्रवर्तयन्ति, क्रयविक्रयार्थं शकटया-
नवाहने प्रमग्नलिकादिभिर्गुणैरिति । तथा—परिग्रहं विपद-
चतुष्पदधनधान्यादिकं ममो कुर्वन्ति ममदमित्येव व्यवस्था-
पयन्ति । ते हि वणिजा ज्ञातिजः स्वजनैः सह यः संयोगस्तम-
विप्रहायापरित्यज्य, त्रायस्य लाभस्य हेतोर्निमित्तादुपरेण सार्द्धं
सङ्गं संबन्धं प्रकुर्वन्ति । भगवांस्तु परजीवरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्य-
क्तस्वजनपङ्क्तः सर्वत्राप्रतिवर्त्ता धर्मार्थमन्वेषयन् गत्वाऽपि धर्म-
देशनां विधत्ते । अतो भगवतो वणिग्भिः सार्द्धं न सर्वसाध-
र्म्यमस्ति ति ॥२१॥

पुनरपि वणिजां दोषमुद्धावयन्नाह—

वित्तमिणो मेहुणसंपगाढा,
ते ज्ञोयणट्टा वणिगा वयंति ।
वयं तु कामेषु अज्जोववन्ना,
अणागिया पेमग्नेसु गिच्छे ॥ २० ॥

वित्तं द्रव्यं तदन्वेषु शीघ्रं येषां ते वित्तैषिणः । तथा—मैथुने स्त्री-
संपर्के, संपगाढा अध्युपपन्नाः । तथा—ते भोजनार्थमाहारार्थं, व-
णिज इत्येतेष्ववजन्ति, वदन्ति वा । तांस्तु वणिजां वयमेवं ब्रूमः-
यथैते कामेष्वध्युपपन्ना गृह्णाः, अनायकर्मकारित्वादतार्या रसेषु
च सातानौरवादिषु गृह्णा मूर्च्छिष्ठताः, तन्वेषंभृता भगवन्तोऽहं-
न्तः, कथं तेषां तैः सह साधर्म्यमिति ?, दूरत एव निरस्तैषा
कथेति ॥ २२ ॥

किञ्चान्यन्—

आग्भगं चैव परिग्रहं च,
अविउस्मिया णिस्मिय आयदंटा ।
नेमिं च मे उदणं जं वयाम्मां,
चउरन्तऽण्णाय छुहाय एण्ड ॥२१॥

आग्भगं सावयानुष्ठानं च, तथा—परिग्रहं चाऽव्युत्सृज्यापरित्यज्य,
तस्मिन्नेवाग्भगे क्रयविक्रयपचनपाचनादिके, तथा—परिग्रहे च
धनधान्यादिगण्यसुवर्णद्विपदचतुष्पदादिके, निश्चयेन श्रिता वद्धा
तिःश्रिताः, वणिजा भवन्ति, तथाऽऽसमैव दासो, दण्डयतीति
दासो, येषां ते तत्तत्प्राप्तदासः, अस्मदाचारप्रवृत्तेरिति । ज्ञावो-
ऽपि चैषां वणिजां परिग्रहार्थमन्वेषतां स उदयो लाभो यदर्थं ते
प्रवृत्ताः, ये च त्वं लाभे वदस्मि, स तेषां चतुरन्तश्चतुर्गतिको यः
संसारोऽन्तस्तस्मै तदर्थं जयतीति । न चेहामाद्यैकान्तेन तत्प्र-
वृत्तस्यापि जयतीति ॥ २३ ॥

एतदेव दर्शयितुमाह—

णिगंतं णउच्चंतिप उदण्यं, वयंति ते दो वि गुणोदयस्मि ।
मे उदणं नादि मणंत पत्ते, तमुदयं मादयउताउ णाई ॥२४॥

एकान्तेन जयतीत्यैकान्तिकः, तथा नःतत्त्वाभार्थं प्रवृत्तस्य विपर्य-
यस्यापि दर्शनात् । तथा—नाप्यात्यन्तिकः सर्वकालजावी, तत्क्रय-
दर्शनात्; स तेषामुदयो लाभो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदां
वदन्ति । तौ च ह्यपि ज्ञावौ विगतगुणोदयो भवतः । एतदुक्तं
भवति—किं तेनोदयेन प्राप्तरूपेण यो नैकान्तिकः, नात्यन्तिकश्च,
पश्चादन्वययति । यश्च भगवतः (मे) तस्य दिव्यज्ञानप्राप्तिल-
क्षण उदयो लाभो यो वा धर्मदेशनाऽवामनिर्जरावृत्तः, स च
सादिगन्तश्च । तमेवंभूतमुदयं प्राप्तो भगवानन्येषामपि तथा-
ज्ञानमेवोदयं साधयति कथयति, श्लाघते वा । किंभूतो भगवा-
न् ? तावो । अय-वय-मय-पय-चय-तय-णय-गतावित्यस्य
दासकथातोरुनिप्रत्यय रूपम, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः ।
प्रायी वा, आसन्नजयानां प्राणकरणात् । तथा—ज्ञाती, ज्ञाता कृत्रि-
या, ज्ञातं वा वस्तुज्ञातं विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तवेद्य
इत्यर्थः । तदेवंजनेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथं
सर्वसाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥

(६) सांप्रतं कृतदेवसमवसरणपश्चावब्रीदेवचन्द्रकसिंहासनाद्यु-
पज्ञोऽपि कुर्वन्नप्याध्याकर्मकृतवसतिनिषेधकसाधुवक्तव्यं तदनुम-
तिकृतेन कर्मणाऽसौ न विध्यते? इत्येतज्ज्ञेशाश्रकमतमाशङ्क्याऽऽह—

अहिंसयं मवपयाणुकंपी,
धम्मे त्रियं कम्मविवेगेहेतुं ।
तमायदंकीहं ममायरंता,
अयोहिण्—ते पडिस्सवमेयं ॥ २५ ॥

असौ भगवान्, समवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्याहिंसकः सन्तुप-
भोगं करोति । एतदुक्तं भवति—नहि तत्र भगवतो मनागप्या-
शंसा, प्रतिबन्धो वा विद्यते, समतृणमणिमुत्तालौष्टकाञ्चनया
तदुपज्ञोऽपि प्रति प्रवृत्तेर्देवतामपि प्रवचनोद्दिभावयिष्णां कथं
तु नाम जयानां धर्माभिमुखं प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थमात्मा-
लाभार्थं च प्रवर्तनात्, अतो जगवानहिंसकः । तथा—सर्वेषां
प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः, तदनुकम्पं च, तान्संसारं पर्यट-
तोऽनुकम्पयते तच्छ्रीवृत्तः । तमेवंरूपं धर्मपरमार्थरूपे व्यव-
स्थितं कर्मविषेकहेतुभूतं जयद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त
आत्मकल्पं कुर्वन्ति, वणिगादिभिरुदाहरणैः । एतच्चावधेरज्ञान-
स्य प्रतिरूपं वर्तते । एकं तावदिदमज्ञानं यत्स्वतः कुमारप्रवर्तनम् ।
द्वितीयं चैतत्प्रतिरूपमज्ञानं यद्भगवतामपि जगद्द्वयानां सर्वाति-
शयनिधानतृणानामितरैः समत्वापादनमिति ॥ २५ ॥

साम्प्रतमार्ककुमारमपहस्तितगोशालकं ततोभगवद्विमुखं
गच्छन्तं दृष्ट्वाऽथान्तराक्षे शाक्यपुत्रीया जिक्रव इदमृचुर्यदेतद्वणि-
गद्विपान्तदूषणेन बाह्यमनुष्ठानं दूषितं, तच्छ्रेयोजनं कृतं जयता; यतो-
ऽतिफलगुप्रायं बाह्यमनुष्ठानम्, आन्तरमेव त्वनुष्ठानं संसारमोक्षयोः
प्रधानाङ्गम्, अस्मत्सिद्धान्ते चैतदेव व्याचरण्यते । इत्येतद्दर्शककु-
मारं! जो राजपुत्र ! त्वमवहितः शृणु, श्रुत्वा चावधारयति भणि-
त्वा ते जिश्रुका आन्तरानुष्ठानसमर्थकमान्मोयसिद्धान्ताऽऽविर्जा-
यनायेदमाहुः—

पिन्नागपिंसीमवि विच्छसूले,
केई पणज्जा पुग्गिमे इमेत्ति ।
अत्ताउयं वा वि कुमारणं ति,
स क्षिपती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

पिण्याकः खलः, तस्य पिण्डनिर्गतकं, तदचेतनमपि सत् कस्मिन्-
श्चित्संभ्रमे मूत्रादिविषये केनचिन्नश्यता प्रावरणं खलोपरि क्लृप्तं,
तच्च मूत्रेणात्वेष्टुं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा, खलपिण्डाया सह
गृहीतम्, ततोऽसौ म्लेच्छो वस्त्रेयिष्ठतां तां खलपिणीं पुरुषबु-
द्ध्या शूले प्रोतां पावकेऽपचत् । तथा-अन्नाबुक्कं तुम्बकं कुमारोऽ-
यमिति मत्वाऽग्रावेव पपाच, स चैवं चित्तस्य दृष्टत्वात्प्राणिव-
धजनितेन पातकेन युज्यते, अस्मत्सिद्धान्ते चित्तमूलत्वाच्चुभा-
शुतबन्धस्य, इत्येवं नावदकुशलचित्तप्रामाण्यादकुर्वन्नपि प्राणा-
तिपातप्रतिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अमुमेव दृष्टान्तं वैपरीत्येनाऽऽह-

अहवा वि विष्णुण मिलखु सूले,

पिन्नागबुद्धीइ नरं पएजा ।

कुमारं वा वि अलाबुयं नि ,

न लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ॥ २७ ॥

अथवाऽपि सत्यपुरुषं खलबुद्ध्या कश्चिन्म्लेच्छः शूलप्रोतमशौ-
पचेत्, तथा-कुमारं बालं, तुम्बकबुद्ध्याऽग्रावेव पचेत् । नैवमे-
वासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति ॥ २७ ॥

किञ्चाऽन्यत्-

पुरिमं च विष्णुण कुमारं वा,

सूत्रम्मि केई पएजायतेण ।

पिन्नायपिणीं सतीमारुद्धेता,

बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥ २८ ॥

पुरुषं वा, कुमारं वा, विद्धा शूले काश्चित्पचेत्जाततेजस्यश्वाचा-
रुह्य खलपिण्डायमिति मत्वा सर्वं शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि
पारणाय भोजनाय कल्पते योग्यं भवति; किमुनापरेषाम् ? ।
एवं सर्वास्वस्थास्वचिन्तितं मनसाऽसंकलितं कर्मचयं नाग-
च्छत्यस्मत्सिद्धान्ते । तदुक्तम्-“अविज्ञानोपचितं विपरिज्ञानोप-
चिन्मयीपथिकं स्वप्नान्तिकं चेति कर्मोपचयं न याति” ॥ २८ ॥

पुनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽऽह-

सिणायगाणं तु पुंवे सहस्से,

जे जोयए णितिण भिक्खुयाणं ।

ते पुन्नखंथं सुमहं जिणिता ,

जवंति आरोप्य महंतसत्ता ॥ २९ ॥

स्नातका बोधिसत्त्वाः । तुशब्दात्पञ्चशिक्षापदिकादिपरिग्रहः ।
तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं, ये निजे शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यवस्थिताः
केचिदुपासकाः पचनपाचनायपि कृत्वा भोजयेयुः समांसगुड-
दाडिमेनेष्टेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्त्वाः श्रद्धालवः पुण्य-
स्कन्धं महान्तं समावर्ज्य, तेन च पुण्यस्कन्धेनारोप्याख्या देवा
भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

(७) तदेवं बुद्धेन दानमूलः, शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः, त-
देहागच्छ, बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः
सन्नाईकोऽनाकुलया दृष्ट्या तान्बोद्धोवाचेदं वक्ष्यमाण-
मित्याह-

अजोगरूवं इह संजयाणं,

पावं तु पाणाण पसज्ज कानं ।

आवोहिण दोएह वि तं अमाहु,

वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥

इहास्मिन्भवदीये शाक्यमते, संयतानां भिक्षुणां, यदुक्तं प्राक्,
तदत्यन्तेनायोग्यरूपमघटमानकमात्रथाहि-अहिसार्यमुत्थितस्य
त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्यग्-
ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावशुद्धिः फलवती भवति, तद्विपर्य-
स्तमतेस्त्वज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मनया खलपु-
रुषयोर्विवेकमजानतः कुतस्तया भावशुद्धिः । अत्यन्तमसांप्रतमे-
तद् बुद्धमनानुसारिणाम्, यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूले प्रोतनप-
चनादिकम् । तथा बुद्धस्येवान्नबुद्ध्या पिशितभक्षणानुमत्यादिक-
मिति । एतदेव दर्शयति-प्राणानामिन्द्रियाणामपगमेन तुशब्द-
स्यैवकारार्थत्वात् पापमेव कृत्वा रससातागौरवादिगृद्धास्तद-
भावं व्यावर्णयति । एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णेन मबोधे अयो-
धित्वाभार्थं तयोर्द्वयोरपि संपद्यते, अतोऽसाध्वेतत् । कयोर्द्वयोः?,
इत्याह-ये वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि यातकाज्ञावं, ये
च तेज्यः शृण्वन्त्येतयोर्द्वयोरपि वर्गीयोरसाध्वेतदिति । अपि च-
नाज्ञानावृतमूढजननावशुद्ध्या शुद्धिर्भवति । यदि च स्यात्, संसा-
रमोचकादीनामपि तर्हि कर्मविमोक्तः स्यात् । तथा-भावशुद्धिमेव
केवलमप्युपगच्छतां भवतां शिरस्तुपुरुषमुपगम्यपि रूपातादिकं,
चेत्यकर्मादिकं चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्मान्नैवविधया ज्ञा-
वशुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितम् ॥ ३० ॥

परपक्वं दूषयित्वाऽऽर्द्रकः स्वपक्वाऽविर्जावनायाऽऽह-

उष्टं अहेयं तिरियं दिमासु,

विन्नाय झिगं तसयावराणं ।

चूयाजिसंकाइ दुगंछप्राणा,

वदं करेजाव कुओ विहऽतिय ? ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वमश्रुतिर्यश्च या दिशः प्रज्ञापनादिकास्तासु सर्वास्वपि
दिक्षु, व्रसानां, स्थावरणां च जन्तूनां यत्रसंस्थावरत्वेन जीव-
त्रिङ्गं चयनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवच्छेदमश्रानादिकं, तद्विज्ञाय चूनाभि-
शङ्कया जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगु-
प्समानस्तदुपमर्दं परिहरन् वदेत् । (कुतोऽपि) अतः कुतोऽस्तीहा-
सिन्नेवंचूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्वे शुष्मदापा-
दितो दोष इति ? ॥ ३१ ॥

अधुना पिण्याके पुरुषबुद्ध्यसम्भवमेव दर्शयितुमाह-

पुरिसे त्ति विन्नत्ति न एवमत्थि ,

अणारिणं से ऽपुरिसे तहा हु ।

को संजवो पिन्नागपिणियाणं ? ,

वाया वि एसा बुड्या असच्चा ॥ ३२ ॥

तस्यां पिण्याकबुद्ध्यां पुरुषोऽयमित्येवमत्यन्तदृढस्यापि विज्ञप्ति-
रेव नास्ति, तस्माद्य एवं वक्ति संऽयन्ताऽपुरुषः । तयाऽभ्युपगमेन,
दृशब्दस्यैवकारार्थत्वेऽनर्थ एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमिति
मत्वा हतेऽपि नास्ति दोष इत्येवं वदेत् । तथाहि-कः संभवः
पिण्ड्यां पुरुषबुद्धेः?, इत्यतो वागपीयमीदृगसत्येति, सत्त्वोपधा-
तकत्वात् । ततश्च निशङ्कप्रदार्थनालोचको निर्विवेकतया बह्यते,
तस्मात् पिण्याकगृहादावपि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्दनीरुणा
साशङ्केन प्रवर्तिष्यमिति ॥ ३२ ॥

किञ्चान्यत्-

वायानियोगेण जमावहेजा,

एषो तारिमं वायमुदाहरिजा ।

अष्टाणमयं वयणं गुणाणं,

एषो दिक्खिण्णं वयं ऽनुदालमयं ॥ ३३ ॥

वाचाऽभियोगो वागनियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, आवहेत् पापं कर्म, ततो विवेकी ज्ञाप्यगुणदोषज्ञो, न तादृशीं ज्ञापामु-
दाहरेन्नाभिदध्यात् । यत् एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानाम्,
नहि प्रवृत्तितो यथावस्थितार्थानिधायेतदनुदारमसुष्टु परिस्पृष्टं
निःसारं निरूपयितुं च वचनं द्रष्टव्यम् । तद्यथा-पिण्याकोऽपि
पुरुषः, पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽलालुकमेव बालकः, बालक
एवाऽलालुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्जककुमार एव न भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं

सोऽस्तु एव विभणिपुराह-

लब्धे अहे अहो एव तुम्हे,

जोवाणभागे सुविचिंति ए य ।

पुवं ममुदं अवरं च पुढे,

ओलोऽए पाणितले णि ए वा ॥ ३४ ॥

अहो ! गुप्ताग्निः अथानन्तर्ये वा, एवं जृताऽयुपगमे सति लब्धा-
र्थो विज्ञाने यथावस्थितं तत्त्वमिति तथावगतः सुविचिंतितो भव-
द्भिर्ज्ञातानामनुभागः कर्मविपाकस्तर्पणेति, तथैवं जृतेन विज्ञानेन
भवतां यशः पूर्वसमुद्रमपरं च पृष्ठं गतमित्यर्थः । तथा भवद्भि-
रैवंविधविज्ञानावज्ञाकनेनावज्ञाकितः पाणितलस्थ इवायं लोक
इति; अहो ! जवतां विज्ञानानि शयः, यदुत जवन्तः पिण्याक-
पुरुषयोर्बालाऽलालुकयोर्वा विशेषानभिज्ञया पापस्य कर्मणो
यथैतद्वाचाभावं प्राकल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

तदेवं परपङ्कं दूषयित्वा स्वपङ्कस्थापनायाऽऽह-

जीवाणुजागं सुविचिंतयन्ता,

आहारिया अन्नविहे य सोहि ।

न विथागरे जन्नपञ्चोपजीवी,

एसोऽणुधम्मो ऽह संजयाणं ॥ ३५ ॥

मौनीऽऽशासनप्रतिपक्षाः सर्वज्ञोक्तमार्गाऽनुसारिणो जीवाना-
मनुज्ञागमवस्थाविशेषः, तदुपमहेतु पीमां वा, सुष्टु विचिन्तयन्तः
पर्यालोचयन्तोऽन्नविधौ शुद्धिमाहृतवन्तः स्वीकृतवन्तः, द्विचत्वा-
रिंशदोषग्रहितेन, शुद्धेनाहारिणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां
पिशिताद्यपि पात्रपतितं न दोषयन्ति । तथा-उन्नपञ्चोपजीवी मा-
तृस्थानोपजीवी सन् न व्यागृणायात् । एषोऽन्नतराका, अनुपश्चा-
द्भूमौऽनुधर्मस्तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं जवनीत्यमुना विशिष्यते ।
इहास्मिन् जगति प्रवचने वा, सम्यग्यतनां सत्साधूनां न तु पुन-
रैवंविधभिक्षुणामिति, यच्च भवद्भिर्गोदादेरपि प्राणयङ्गस-
मानतया हेतुनूतनया मांसादिमाहृते, चाद्यते, तद्विज्ञाय लोक-
तीर्थान्तरीयमतम् । तथाहि-प्राणयङ्गत्वेन त्र्येऽपि किञ्चिन्मांसं
किञ्चिच्चामांसमित्येवं व्यर्थद्वयते । तद्यथा-गोकीरकधिरादेर्न-
क्ष्यान्नद्वयव्यवस्थितिः, तथा-समानेऽपि स्त्रीन ज्ञाप्यादिवद्वादी ग-
म्यागम्यव्यवस्थितिर्न गतिः । तथा-शुष्कनक्तं पृथग यो प्राण्याङ्गवा-
दिनि हेतुमेव तेषां पश्यते । तद्यथा-"जक्कुर्यं भवेन्मांसं, प्रा-

एषङ्गत्वेन हेतुना । आदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहेति तार्किकः"

॥ १ ॥ सोऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धोऽपदुष्टत्वादपकर्णनीयः ।
तथाहि-निर्गन्तत्वाद् वस्तुनस्तदेव मांसं, तदेव च प्राण्याङ्ग-
मिति प्रतिज्ञार्थकदेशादसिद्धः । तद्यथा-नित्यः शब्दो नित्यत्वा-
त् । अथ भिन्नं प्राण्याङ्गं, ततः सुतरामसिद्धः, व्यधिकरणत्वात् ।
यथा-देवदत्तस्य गृहं, काकस्य कार्प्यम् । तथाऽनैकान्तिकोऽपि,
श्वादिमांसस्याभक्ष्यत्वात् । अथ तदपि कश्चित्कर्तृत्विकेपांश्चि-
द्भक्ष्यमिति चेत् ? एवं च सम्यग्यादेरभक्ष्यत्वादनैकान्तिकत्वम् ।
तथा-विरुद्धव्यभिचार्यपि, यथाऽयं हेतुर्मांसस्य भक्ष्यत्वं साधय-
ति, एवं बुद्धानामपूज्यत्वमपि । तथा-लोकविराधिनी चेयं प्रति-
ज्ञा । मांसादनयोरसाम्याद् दृष्टान्तविरोधश्चेत्येवं व्यवस्थितं यदुक्तं
प्राण-यथा बुद्धानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाध्विति
स्थितम् ॥ ३४ ॥

अन्यदपि त्रिभुक्तोक्तमार्जककुमारोऽनूय दूषयितुमाह-

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,

जे जोयए णिति ए निक्खुयाणं ।

असंजए लोहिथपाणि से ऊ,

णियच्छते गरिहम्मिहेव लोए ॥ ३६ ॥

स्नानकानां बाधिसत्त्वकल्पानां त्रिभूतां नित्यं यः सहस्रद्वयं
जोयतिदित्युक्तं प्राक् । तद् दूषयति-असंयतः सन् रुधिरवृक्षपा-
णिरनार्य इव गर्हो निन्दां जुगुप्सापदवीं साधुजनानामिह लोक
एव निश्चयेन गच्छति, परलोकं बाऽनार्यगम्यां गतिं याताति ।
एवं तावत्सावयाऽनुष्ठानानुमन्तृणामपात्रभूतानां यद्दानं तत्क-
र्मवन्धायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चान्यत्-

धूञ्जं उरव्जं इह मारिया णं,

उदिट्ठभत्तं च पणप्पञ्जा ।

तं द्रोणतेल्लेण उक्खवेत्ता,

सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

आर्जककुमार एव तन्मतमाविष्कुर्वन्निदमाह-स्थूलं बृहत्काय-
मुपचितमांसशोणितम्, उरभ्रमुरणकम्, इह शाक्यशासने,
भिक्षुकसंघादेशेन व्यापाद्य घातयित्वा, तथोदिष्टभक्तं च प्रक-
ल्पयित्वा, तदुरभ्रमांसं लवणतेलाभ्यामुपसंस्कृत्य पाच-
यित्वा, सपिप्पलीकमपरऽव्यसमन्वितं प्रकर्षणं भक्षणयोग्यं
मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तदंशयितुमाह-

तं जुंजमाणा पिमितं पज्जतं,

ण ओवत्तिपामो वयं रएणं ।

इच्चैवमाहंमु अणज्जधम्मं,

अणारिया वाज्ज रमेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तत्पिशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्र-
भूतं तद्रजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिप्यामः, इत्येवं धा-
ष्टर्चोपेताः प्राच्युः । अनार्याणामिव धर्मः स्वभावां येषां ते तथाऽ-
नार्यकर्मकारित्वादनार्याः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्-
सेषु च मांसादिकेषु गृह्णा अण्युपपन्नाः ॥ ३८ ॥

एतच्च तेषां महतेऽनर्थायेति दर्शयति—

जे यात्रि भुञ्जति तद्वपुषां ,
सेवन्ति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करोती ,
वाया वि एसा बुड्याउ मिच्छा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसगौरवगृह्याः शाक्योपदेशवर्त्तिनः, तथाप्रकारं
स्थूलोरध्रं संस्कृतं घृतलवणमरिचादिसंस्कृतं पिशितं च, भुञ्ज-
तेऽश्रन्ति, तेऽनार्याः, पापं कल्मषम्, अजानाना निर्विवेकिनः,
सेवन्ते आददते । तथा चोक्तम्—

“हिंसामूलममेध्यमास्पदमलं ध्यानस्य रौक्षस्य यद् ,
बीभत्सं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धपूयादिकम् ।
शुक्लास्त्रप्रभवं नितान्तमालिनं सद्भिः सदा निन्दितं ,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मदुहः ? ” ॥ १ ॥

अपि च—

“मांसं भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहादम्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ” ॥ २ ॥

तथा—

“योऽस्ति यस्य च तन्मांस-मुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका तृप्ति-रन्यः प्राणैर्वियुज्यते ” ॥ ३ ॥
तदेवं महादोषं मासादनमिति मत्वा यद्विधेयं तद्दर्शयति-
एतदेवंभूतं मांसादनाभिलाषरूपं मनोऽन्तःकरणं, कुशला नि-
पुणा मांसाशित्वविपाकवेदिनस्तन्निवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च, न कु-
र्वन्ति, तदभिलाषादात्मनो निवर्तयन्तीत्यर्थः । आस्तां तावद्भ-
क्षणं, वागप्येषा यथा मांसभक्षणोऽदोष इत्यादिका भारत्यभि-
हितोक्ता मिथ्या । तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न विधेय-
मिति । तन्निवृत्तौ चैहैवानुपमा श्लाघा, अमुत्र च स्वर्गापवर्ग-
गमनमिति । तथा चोक्तम्—

“श्रुत्वा दुःखपरम्परामतिघृणां मांसाशिनां दुर्गतिं,
ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनस्यादरात् ।
तदीर्यायुरदूषितं गदरुजा संभाव्य यास्यन्ति ते,
मर्त्येषूद्भटभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च ” ॥ ३१ ॥ इत्यादि ।
न केवलं मांसादनमेव परिहार्यमन्यदपि मुमुक्षूणां परि-
हर्तव्यमिति दर्शयितुमाह—

सर्वेसि जीवाण दयदयाए ,
सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इमिणो नायपुत्ता ,
उद्दिट्ठजत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति स-
र्वग्रहणम् । दयार्थतया दयानिमित्तं सावद्यमात्रम् महानयं दोष
इत्येवं मत्वा तत्परिवर्जयन्तः साधवः । तच्छब्दिनो दोषशब्दिन
ऋषयो महामुनयो ज्ञातपुत्रायाः श्रीमन्महावीरवर्कमानशिष्याः,
उद्दिष्टं दानाय परिकल्पितं यज्ञकृपानादिकं, तत्परिवर्जयन्ति ॥ ४० ॥

किञ्च—

जूयानिसंकाएँ दुग्गदमाणा ,
सर्वेसि पाणाण विहाय दंरं ॥
तम्हा ए जुजंति तद्वपुषां ,

एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम्, उपमर्दशङ्कया सावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समाना
परिहरन्तः, तथा-सर्वेषां प्राणिनां दण्डयतीति दण्डः समुपता-
पस्ते, विहाय परित्यज्य, सम्यगुत्थिताः सत्साधवो यतस्ततो न
जुञ्जते, तथाप्रकारमाहारमशुक्लातीयमेषोऽणुधर्मः, इहास्मिन्प्रव-
चने, संयतानां यतीनां तीर्थकराचरणात् अनुपश्चाच्चर्यत इत्यनुना
विशेष्यते । यदि चाणुरिति स्तोकेनाप्यतिचारेण वा बाध्यते
शिरीषपुष्पमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चाऽन्यत्—

निगंथधम्ममि इमं समाहिं ,
अस्सिं सुठिच्चा अणिहो चरेज्जा ।
बुद्धे मुणी सीलगुणोव्वेए ,
अच्चत्थत्तं पाउणती सि दोगे ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मौनीन्द्रधर्मे बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति नि-
ग्रन्थः, स चासौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः, स च श्रुतचारिवाक्यः,
ज्ञान्यादिको वा सर्वज्ञोक्तः, तस्मिन्नेवंभूतधर्मे व्यवस्थिते, इमं पूर्वो-
क्तं समाधिमनुप्राप्तः, अस्मिंश्चाशुक्लाहारपरिहाररूपे समाधौ, सुष्ठु
अतिशयेन स्थित्वा, अनीहोऽमायः । अथवा-निहन्यत इति निहः,
न निहोऽनिहः, परीषहैरपीडितः । यदि वा-स्निह बन्धने, स्निह
इति स्नेहरूपबन्धनरहितः संयममनुष्ठानं चरेत् । तथा-बु-
द्धोऽयगततत्त्वो, मुनिः कालत्रयवेदी, शीलेन क्रोधाद्युपशमरू-
पेण, गुणैश्च मूढोत्तरगुणचतुष्टयेनो युक्त इत्येवंगुणकलि-
तोऽत्यर्थतां सर्वगुणातिशायिनीं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपां संतोषारि-
कां श्लाघां प्रशंसां लोके लोकोत्तरे वाऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

“राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रेऽपि नैवादरो ,
वित्तोपाजेनरक्कणव्ययकृताः प्रप्नोति नो वेदनाः ।
संसारान्तरवर्त्यपीह लभते संमुक्तवन्निर्ययः ,
संतोषात्पुरुषोऽमृतत्वमचिराद्यात्सुरेन्द्रार्चितः ” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

(६) तदेवमार्ककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकवौरुमतम-
भिसमिदय साम्प्रतं द्विजातयः प्रोचुः । तद्यथा-जो आर्ककुमार !
शोभनमकारि भवता, यदेते वेदवाह्ये द्वे अपि मते निरस्ते,
तत्साम्प्रतमप्याहृतं वेदवाह्यमेव, अतस्तदपि नाश्रयणार्हं भवद्वि-
धानाम् । तथाहि-जवान् कृत्रियवरः, कृत्रियाणां च सर्ववर्णोत्तमा
ब्राह्मणा एवोपास्याः, न शुद्धाः, अतो, यागादिविधिना ब्राह्मणसे-
वैव युक्तिमतीत्यतत्प्रतिपादनायाऽह—

सिणायगाणं तु छुवे सहस्से ,
जे जोयए णितिए माहणाणं ।
ते पुन्नखं सुमहज्जणित्ता ,
जवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः । यद्वर्कमाभिरता वेदाध्यापकाः शौचाचा-
रपरतया नित्यं स्नायिनो ब्रह्मचारिणः स्नातकाः, तेषां सदस्रव्यं
नित्यं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपार्जितपुण्यस्कन्धाः
सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो जवन्तीत्येवंभूतो वेदवाद इति ॥ ४३ ॥

अधुनाऽऽर्ककुमार एतद् दूषयितुमाह—

सिणायगाणं तु छुवे सहस्से ,

जे जोयए णितिए कुलात्रयाणं ।

से गच्छतीं झोत्रुवमपगादे,

तिव्वाभिवावीं एग्गाजिसेवी ॥ ४४ ॥

स्नातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति । किञ्चूतानाम् ? कुलानि गुहाणि, सामिथान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽहन्ति ते कुलाटा मार्जाराः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः । यदि वा-कुलानि कृत्रि-यादिगुहाणि तानि नित्यं पिरुपातान्वेषिणां परतर्कुकाणामात्र-यो येषां ते कुलालयास्ते । नित्यज्जीविकोपगतानामेवंचूतानां यो सहस्रद्वयं भोजयेत्सः सत्पात्रनिकृतिदानो गच्छति बहुवेदनाशु-गतिषु । किञ्चूतः सन् ? झोलुपैरामिषपरैः गृध्रैः रससत्तागौरवाद्यु-पपन्नैः जिह्वेन्द्रियवशैः संप्रगाढो व्याप्तः । यदि वा-किञ्चूते नरके याति ? झोलुपैरामिषगृध्रभिरसुमद्भिर्व्याप्तो यो नरकस्तस्मिन्नि-ति । किञ्चूतश्चासौ दाता ? नरकाभिसेवी जवति । तदृशयति-तीक्ष्णोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशा-त्मलयाविह्वनादिरूपः, स विद्यते यस्यासौ तीव्राभिनापी । इत्येवंचू-तवेदनाजितसख्यस्त्रिशःसागरोपमानि याचदप्रतिष्ठाननरकाधि-शासी जवतीति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्म दुगंठमाणा,

वहावहं धम्म पमंसमाणा ।

एगं वि जे जोययती असीलं,

णिओ णिसं जाति कुओऽहुरेहिं ? ॥ ४५ ॥

इया प्राणिषु रूपा, तथा वरः प्रधानो यो धर्मस्तमेव धर्म, जुगुप्स-मानो निन्दन्, तथा-वधं प्राण्युपमर्दमायदतीति वधावहस्तं त-थानृते धर्म, प्रशंसन् स्तुवन्, एकमप्यशीलं निर्बुद्धं, पञ्जीवका-योपमर्देन यो ज्ञेयते, किं पुनः प्रनृताम् ? नृपो राजन्यो वा यः कश्चिन्मूढमतिधार्मिकमात्मानं मन्यमानः स वराको निशेव नि-त्यान्धकारत्यागिशा नरकनृमिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्य-धर्मदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ? तथा-कर्मवशादसुमतां विचित्रजाति-गमनाज्जातेरशाश्वतत्वम्, अतो न जातिमर्दा विधेय इति । यदपि कैश्चिदुच्यते यथा-ब्रह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गताः, बाहुभ्यां कृत्रि-याः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, इति । एतदप्यप्रमाणत्वादति-फल्युप्रायम् । तदप्युपगमे च न विशेषो वर्णानां स्यात् । एकस्मात्प्र-सृतेर्बुधशास्त्राप्रतिशास्त्राप्रनृतपनमोऽनुवार्तादफलवद् ब्रह्मणो वा मुखादेरययानां चातुर्धर्ष्यावाप्तिः स्यात्, न चैतदिष्यते भवद्भिः । तथा-यदि ब्रह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः, साम्प्रतं किं न जायते ? अथ युगाद्वैतदित्येवं सति, दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्या-दिति । तथा यदि कैश्चिदभ्यधापि सर्वज्ञानिकेपावसरं, तद्यथा-सर्वज्ञरहितोऽनीतः कालः, कालत्वाद्धर्तमानकालवत् । एवं च मन्य-तदपि शक्यते वक्तुम्-यथा नानीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गत-चातुर्धर्ष्यसमन्वितः, कालत्वाद्धर्तमानकालवत् । भवति च विशेषे पक्वीकृते सामान्यहेतुरित्यतः प्रतिकार्यैकदेशासिद्धता नाशङ्क-नीयति । जातेभ्यानित्यं युष्मत्सिद्धान्त एवाजिहितम् । तद्यथा-‘शृगावो वा पश्य जायते यः स पुरीषो दहते’ इत्यादिना । तथा-“सद्यः पतति मांसं न, बाक्रया वयनेन च । ज्येष्ठेण शूद्रो जव-ति, ब्राह्मणः सारयिकर्यः” ॥ १ ॥ इत्यादिलोके चावश्यंभावी जातिपातः । यत् उक्तम्-“कार्यैः कर्मणां दापै-र्यानि स्था-वरतां नरः । वाचिकैः पक्विमृगतां, मानसैरन्यज्जातिताम्” ॥ १ ॥ इत्यादिगुणैरप्येवंविधैर्न ब्राह्मणत्वं युज्यते । तद्यथा-“द-

दशतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । श्रवमेधस्य व-चनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः” ॥ १ ॥ इत्यादि वेदोक्तत्वाभावं दोष इति चेत् । नन्विदमजिहितमेव-“न हि स्यात्सर्वा जू-तानि” इत्यतः पूर्वोत्तरविरोधः । तथा-“भाततायिनमाया-स्त-मपि वेदान्तं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीया-न्न तेन ब्रह्महा भवेत्” ॥ १ ॥ तथा-“शूद्रं इत्वा प्राणायामं जपेत्, अपदसितं वा कुर्यात्, यत्किञ्चिद्वा दद्यात्, तथा-“नास्थिजन्तूनां शकटभरं मारयित्वा ब्राह्मणं ज्ञेयम्” इत्येवमादिका देशना विद्वज्जन-मनांसि न रञ्जयतीत्यतोऽत्यर्थमसमञ्जसमिव लक्ष्यते युष्म-दर्शनमिति ॥ ४५ ॥

(१०) तदेवमार्चककुमारं निराकृतब्राह्मणविवादं भगवदन्ति-कं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकदण्डिमुनांऽन्तराक्षे एवमुचुः । तद्यथा-जो आर्चककुमार ! शोजने कृतं भवता यदेते सर्वारम्भप्रवृत्ता गृहस्थाः शम्भ्वादिविषयपरायणाः पिशिताशनेन राक्षसकल्या द्विजातयो निराकृताः, न तस्मात्प्रतमस्मत्सिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा चाव-धारय । तद्यथा-सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, “प्रकृतेर्म-हौस्ततोऽहङ्कार-स्तस्याङ्गणश्च पोरुशकः । तस्मादपि पोरुशका-त्पञ्च- (तन्मात्राणि ते-) ज्यः पञ्च जूतानि” ॥ १ ॥ तथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । एतत्त्वाद्द्वैतैरप्याश्रितमतः पञ्चविंशतितय-परिक्रानादेव मोक्षावाप्तिरित्यतोऽस्मत्सिद्धान्त एव श्रेयान्नापर इति । तथा न युष्मत्सिद्धान्तोऽतिदूरेण भिद्यते इति ।

एतदर्शयितुमाह-

दुहओ वि धम्मम्मि समुट्ठियामो,

अस्सि सुट्ठिच्चा तह एसकालं ।

आयारसीसे बुद्धएह नाणं,

ए संपरायम्मि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मरुमो, भवदीयभार्हतः, स उजयरूपोऽपि कथंचित्स-मानः । तथाहि-युष्माकमपि जीवास्तित्वे सति पुण्यपापबन्ध-मोक्षसद्भावः, न लोकायतिकानामिव तदज्ञाव प्रवृत्तिः, नापि बौ-द्धानामिव सर्वाधारभूतस्यान्तरात्मन एवाभावः तथाऽस्माकम-पि पञ्च यमा अहिंसादयः, जवतां च त एव पञ्च महाव्रतरूपाः । तथेन्द्रियनोन्द्रियनियमोऽप्यावयोस्तुल्य एव । तदेवमुजयस्मि-न्नपि धर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता गृयं, वयं च, तस्मादस्मि-न् धर्मे सुष्ठु स्थिताः, पूर्वस्मिन् काले, वर्तमाने, पश्ये च, यथा गृहीत-प्रतिज्ञानिवोद्वारः । न पुनरप्येयथा व्रतेभ्यरयागविधानेन प्रव्रज्यां मुक्तवन्तो, मुञ्चन्ति, मोक्षयन्ति चेति । तथाऽऽचारप्रधाने शीलमुक्तं यमनियमलक्षणं न फलमुवत् कुहकार्जीवनरूपम्, अथानन्तरं ज्ञानं च मोक्षाङ्गतयाऽभिहितं, तच्च श्रुतज्ञानं, केवलाख्यं च, यथा-स्वभावयोर्दृष्टेने प्रसिद्धम् । तथा-संपर्ययन्ते स्वकर्मजिघ्रांस्यन्ते प्राणिनो यस्मिन्स संपरायः संसारः, तस्मिन्भावयोर्न विशेषोऽस्ति । तथाहि-यथा जवतां कारणे कार्यं नैकातेनासदुत्पद्यते, अस्मा-कमपि तथैव; अस्यात्मतया नित्यत्वं भवद्भिरप्याश्रितमेव । तथा-त्याद्विनाशावापि युष्मदजिघ्रैतौ, आविर्भावतिरोजावाश्रयणा-दस्माकमपीति ॥ ४६ ॥

पुनरपि तथैवैकदण्डिनः सांसारिकजी-

वपदार्थसाम्यापादनयाऽऽहुः-

अव्वत्तरूपं पुगिसं पढंते,

सणातणं अक्खयमव्वयं च ।

सव्वेसु जूतेसु वि सव्वतो से ,

चंदो व्व ताराहिं समत्थस्सु ॥ ४७ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो जीवः, तं यथा भवन्तोऽन्युपगतवन्तस्तथा वयमपि । तमेव विशिनष्टि-अमूर्त्तत्वादव्यक्तं रूपमस्यासावव्य-
क्तरूपः, तथा करचरणशिरोम्रीवाद्यवयवतया स्वतोऽवस्थाना-
न् । तथा-महान्तं लोकव्यापिनं, तथा-सनातनं शाश्वतं, अव्ययं त-
या नित्यं, नानाविधगतिः संभवेऽपि चैतन्यलक्षणात्मस्वरूपस्याप्र-
च्युतेः । तथा-अकृत्यं केनचित्प्रदेशानां स्वग्रहः कर्तुमशक्यत्वा-
त् । तथा-अव्ययम्, अनन्तेनापि कावेनैकस्यापि तत्प्रदेशस्य व्यया-
भावात् । तथा-सर्वेष्वपि जूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं
सर्वतः सामस्याभिरंशत्वादसावात्मा भवति । क इव ? चन्द्र इव
शशीव, ताराभिराश्विन्यादिभिर्नक्षत्रैर्यथा समस्तरूपः संपूर्णः सं-
बन्धमुपयात्येवमसावपि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णः संब-
न्धमुपयाति, तद्वमेव रुद्रादिकृतिर्दर्शनसाम्यापादनेन सामवादपू-
र्वकं स्वदर्शनारापणार्थमाद्रुकुमारोऽभिहितः, यत्रैतानि संपूर्णा-
नि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारयोर्विद्यन्ते,
स एव पक्षः सश्रुतिकेन समाश्रयितव्यो ज्ञाति । एतानि चास्म-
दीय एव दर्शने यथोक्तानि सन्ति नाहंते, अतो ज्ञवताऽप्यस्म-
दर्शनमेवाभ्युपगन्तव्यमिति ॥ ४७ ॥

तदेवमभिहितः सन्नार्द्रककुमारस्तदुत्तरदानायाऽऽह—

एवं ण मिज्जंति ण संसरंति ,

न माहणा खत्तिथ वेसपेस्सा ।

कीमा य पक्खी य सरीसिवा य,

नरा य सव्वे तह देवलोए ॥ ४८ ॥

यदि वा प्राक्तनश्लोकः “अव्वत्तस्सु” इत्यादिको वेदान्तवाद्या-
त्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्यः । तथाहि-ते एकमेवाद्व्यक्तं पुरुषमात्मा-
नं मदान्तमाकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातनमनन्तमकृत्यमव्ययं
सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वतः सर्वात्मतयाऽसौ व्यव-
स्थित इत्येवमन्युपगतवन्तः । यथा-सर्वास्वपि तारास्वेक एव च-
न्द्रः संबन्धमुपयात्येवं चासावपि, इत्यस्य चोत्तरदानायाह- (एव-
मित्यादि) एवमिति । तथा-भवतां दर्शने एकान्तेनैव नित्योऽवि-
कार्यात्माऽन्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः सर्वेऽपि नित्याः । तथा च
सति कुतो बन्धमोक्षसद्भावः ? बन्धाज्ञावाच्च न नारकतिर्यङ्मर-
मरलक्षणश्चतुर्गतिकः संसारः । मोक्षाज्ञावाच्च निरर्थकं व्रतग्रहणं
ज्ञवतां, पञ्चरात्रोपदिष्टमनियमप्रतिपत्तिश्चेत्येवं च यदुच्यते
ज्ञवता यथाऽऽवयोस्तुल्यो धर्म इति । तदयुक्तमुक्तम् । तथा-सं-
सारान्तर्गतानां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-भवतां द्रव्यै-
कत्वादिनां सर्वस्य प्रधानादग्निघ्नात्कारणमेवास्ति, कार्यं च
कारणान्निघ्नात्सर्वात्मना न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपर्यायो-
जयवादिनां कारणं कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकत-
या । अपि च-अस्माकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमेव सदित्युच्यते;
ज्ञवतां तु ध्रौव्यं युक्तमेव सदिति । यावत्प्राविर्भावतिरोभावौ
भवतोच्यते, तावपि नोत्पादविनाशावन्तरेण भवितुमुत्सहेते ।
तद्वमेवैहिकामुष्मिकचिन्तायामावयोर्न कथञ्चित्साम्यम् । किंच-
सर्वव्यापित्वे सर्वात्मनामविकारित्वे चात्माद्वैते चाभ्युपगम्य-
माने नारकतिर्यङ्मरऽमरजेदेन बालकुमारकसुभगपुर्भगाऽऽ-
क्यद्विरादिजेदेन वा न मीयेरञ्ज परिच्छेयेरन्, नापि स्वकर्मचो-

दिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा । तथा-नञ्ज-
हणाः, न कत्रियाः, न वैश्याः, न प्रेष्ट्या न शुद्राः, नापि कीटपक्षि-
सरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाश्चेत्येवं नाना-
गतिभेदे नोजिद्येरन् । अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यात्माद्वैतवा-
दोऽप्यायाति, अतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते । तथा-
शरीरत्वकूपर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्वर्णविज्ञानोपलब्धेरिति
स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, अ-
सर्वज्ञप्रणीतत्वात्, असर्वज्ञप्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादि-
त्येवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

द्वोयं अयाणित्तिह केव्वेणं ,

कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।

णासंति अप्पाण परं च एह्ता ,

संसारघोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, चराचरं वा श्लोकम्, अज्ञात्वा केवलेन
दिव्यज्ञानावभासेनेहस्मिन् जगति, ये तीर्थिका अजानाना अवि-
द्वांसो धर्मं दुर्गतिगमनमार्गस्याग्निज्ञानं, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति,
ते स्वतो नष्टा अपरानपि नो त्रायन्ते । कः, घोरे ज्ञानके संसार-
सागरे (अणोरपारे स्ति) अर्वागभागपरभागवर्जितेऽनाद्यनन्त इत्ये-
वंचूते संसारार्णवे आत्मानं प्रक्षिपन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥

साम्प्रतं सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टृणां गुणानाविर्भावयन्नाह—

द्वोयं विजाणंतिह केव्वेणं ,

पुत्तेण नाणेण समाहिजुता ।

धम्मं समत्तं च कहंति जे ऊ,

तारंति अप्पाण परं च तित्था ॥ ५० ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवलश्लोकेन केवलिनो विविध-
मनेकप्रकारं जानन्ति विद्वन्तीहास्मिन् जगति प्रकर्षेण जाना-
ति प्रह्वः, पुण्यहेतुत्वात् पुण्यम् । तेन तथानृतेन ज्ञानेन समा-
धिना च युक्ताः, समस्तं धर्मं श्रुतचारित्र्यरूपं, ये तु परहितैषिणः,
कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते महापुरुषास्ततः संसारसागरं तीर्णाः,
परं च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति केवलिनो श्लोकं जानन्ती-
त्युक्ते यत्पुनर्ज्ञानेनेत्युक्तं तद् बौद्धमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा
अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं ज्ञवति-यथाऽऽदेशिकः
सम्यग्मार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकान्ताराद्धि-
वक्तिदेशप्रापणेन निस्तारयत्येवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च
संसारकान्ताराह्निस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्द्रककुमार एवाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसंति ,

जे यावि लोए चरणोववेया ।

उदाहरुंते तु समं मईए ,

अहाउसो ! विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

असर्वज्ञरूपणमेवंचूतं भवति । तद्यथा-ये केचित्संसारान्त-
र्वर्तिनोऽशुभकर्मणोपेताः समन्वितास्तद्विपाकसहायाः, गर्हितं नि-
न्दितं जुगुप्सितं निर्विवेकिजनाचरितं, स्थानं पदं कर्मानुष्ठानरूप-
मिहास्मिन् जगति, आसेवन्ते जीविकाहेतुमाश्रयन्ति, तथा च-ये
सदुपदेशवर्तिनो लोकैऽस्मिन् चरणेन विरतिपारिणामरूपोपेताः
समन्विताः, तेषामुजयेवामपि, यदनुष्ठानं शोभनाशोभनस्वरूपम-

पि सत् तदसर्वैरर्वाग्दानीः समं सहसं तुल्यमुदाहृतमुपन्य-
स्नं, स्वमत्या स्वाभिप्रायेण, न पुनर्यथावस्थितपदार्थनिरूपणेन ।
अथवा-आयुष्मन् ! हे एकदण्डिन् ! विपर्यासमेव विपर्ययमेवो-
दाहरेदसर्वज्ञो यदशोभनं तच्छोभनत्वेन; इतरास्वितरयेति ।
यदि वा(विपर्यास इति)मत्तेऽन्मत्तप्रज्ञापवदित्युक्तं जवतीति ॥५१॥

(११) तदेवमेकदण्डिन्मनो निराकृत्याऽर्द्रकुमारो यावद् ज-
गवदन्तिकं व्रजति तावद् हस्तितापसाः परिवृत्य तस्पुरिदं च
प्रोचुरित्याह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
बाणेण मारंजं महागयं तु ।
मेसाण जीवाण दयद्वयाप,
वासं वयं वित्ति पक्कपयामो ॥ ५२ ॥

हस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसाः, तेषां
मध्ये कश्चिद्भूतम एतदुवाच । तद्यथा-भो आर्द्रकुमार ! सभु-
तिकेन सदाऽऽरूपबहुत्वमालोचनीयम्, तत्र ये अमी तापसाः
कन्दमूलफलाशिनस्ते बहुतां सत्त्वानां स्थावराणां तदाश्रितानां
वोद्धुम्बरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते । येऽपि च भैक्ष्येणात्मानं
वर्तयन्ति तेऽप्याशंसादोषद्विषता इतश्चेतश्चाटाक्ष्यमानाः पिपी-
लिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते । वयं तु संवत्सरेणापि, अपि-
शब्दान् पण्यमानेन चैकैकं हस्तिनं महाकायं बाणप्रदारेण
व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो वृत्तिं वर्तनं तदामिषेण वयं-
मेकं यावत्कल्पयामः । तदेवं वयमेकसत्त्वोपघातेन प्रनूततर-
सत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ ५२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽर्द्रकुमारो हस्तितापसमतं

दृषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं दण्ठंता अणियत्तदोसा ।
मेसाण जीवाण वहेऽन्नगा य,
मिया य थोवं गिहिगो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

संवत्सरेणैकैकं प्राणिनं प्रतोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषा-
स्ते भवन्ति । आशंसादोषश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्व-
वधपरायणानामनिदुष्टो भवति । साधूनां तु-सूर्य्यरश्मिप्रका-
शितवीर्याधु युगभाद्रदृष्ट्या गच्छतामीयासामितिसमितानां
द्विचत्वारिंशदोषरहितमाहारमन्वेषयतां लाभालाभसमवृ-
त्तीनां कुतस्त्य आशंसादोषः ? । पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो
घेन्यर्थः । स्तोत्रसत्त्वोपघातेनैवंभूतेन दोषाभावो भवताऽभ्युप-
गम्यते, तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्रा-
णिनो भ्रन्तीति शेषाणां च जन्तूनां तेषकालव्यवहितानां भव-
दभिप्रायेण वक्षेन प्रवृत्ता यत एव तस्मात्कारणात्स्यादेवं स्तो-
कमतिस्वरूपं यस्माद् भ्रन्ति ततस्तेऽपि दोषरहिता इति ॥५३॥

साम्प्रतमार्द्रकुमारो हस्तितापसान्द्रपयित्वा

तदुपदेष्टारं दृषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं दण्ठंता मणज्वयेसु ।
आयाऽद्विप ते पुरिमे अणजे,
ए तारिने केवन्निणो जवन्ति ॥ ५४ ॥

धमणानां यतीनां व्रतानि धमणव्रतानि, तेष्वपि व्यवस्थि-
ताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये भ्रन्ति, ये चोपदिशन्ति,
तेऽनार्याः, असत्कर्मानुष्ठायित्वात् । तथा-आत्मानं परेषां चा-
हितास्ते पुरुषाः । बहुवचनमार्पत्वात् । न तादृशाः केवलिनो भ-
घन्ति । तथाहि-एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पि-
शिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाश-
मुपयान्ति, ते तैः प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः । न च तैर्निर्व-
धोपायो माधुर्य्यावृत्त्या यो भवति स दृष्टः, अतस्तेन केवल-
मेकेवलिनो विशिष्टविवेकराहिताश्चेति ।

तदेवं हस्तितापसाभिराकृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्र-
कुमारं महना कलकलेन लोकेनाभिपूयमानं तं समुप-
लभ्य अभिनवगृहीतः संपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती समु-
त्पन्नस्तथाविधविवेकोचितं यद् यथाऽऽर्द्रकुमारोऽयमपक्व-
तारोपतीर्थिको निष्प्रत्यूहं सर्वज्ञपादपद्मान्तिकं घन्दनाय
व्रजति, तथाऽहमपि यद्यप्यपगताशेषबन्धनः स्यां तत एनं
महापुरुषमार्द्रकुमारं प्रतिबुद्धतस्करपञ्चशतोपेतं, तथा-
प्रतिबोधितानेकवादिगणसमान्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं
गत्वा वन्दामीत्येवं यावदसौ हस्ती कृतसंकल्पस्तावन्नट-
न्नटदिति शुटिनसमस्तबन्धनः सन्मार्द्रकुमाराभिमुखं प्रद-
त्तकर्णनालस्तथोर्ध्वप्रसारितदीर्घकरः प्रधाचितः, तदनन्तरं
लोकेन कृतहाहारवर्गभक्तकलेन पूकृतम् । यथा-‘ धिक्
कथं हतोऽयमार्द्रकुमारो महर्षिर्महापुरुषः ’ तदेवं प्रलप-
न्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः, असावपि वनहस्ती स-
मागत्याऽऽर्द्रकुमारसमीपं भक्तिसंभ्रमावनताप्रभागोत्तमाङ्गो
निवृत्तकर्णतालः त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताप्र-
भागः स्पृष्टकराग्रतश्चरणयुगलः सुप्रणिहतमनाः प्रणिपत्य म-
हर्षिवनाभिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रकुमारतपोनुभावा-
द्वन्धनोन्मुखं महागजमुपलभ्य स पौरजनपदः श्रेणिकराजस्त-
मार्द्रकुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्याजिबन्ध च प्रो-
वाच-भगवन् ! आश्चर्यमिदं, यदसौ वनहस्ती तादृग्विधाच्छ-
स्त्रोच्छेद्याच्छृङ्खलाबन्धनाद्युष्मत्तपःप्रज्ञावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्क-
रमित्येवमभिहिते, आर्द्रकुमारः प्रत्याह-भोः श्रेणिक महाराज !
नैतदुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनान्मुक्तः । अपि त्वेतदुष्करं य-
त्स्नेहपाशमोचनं, एतच्च प्राङ्निर्गुक्तिगाधया प्रदर्शितम् । सा चेयम्-
“ ए दुष्करं वारणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं ॥ जहा
उ तत्थाऽऽवद्विपणं तंतुणां, सुदुष्करं मे भिहाइ मोयणं ॥ १॥
एवमार्द्रकुमारिण राजानं प्रतिबोध्य तीर्थकरान्तिकं गत्वाऽ-
जिबन्ध च जगवन्तं भक्तिभरानिभेर आसाञ्जके । भगवानपि
तानि पञ्चापि शतानि प्रवाज्य तच्चिष्यत्वेनोपनिन्य इति ॥५४॥

साम्प्रतं समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह—

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं,
अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।

तरिउं समुहं च महाभवोयं,

आयाणवन्तं समुदाहरेज्जा ॥ ५५ ॥ त्ति वेमि ।

बुद्धोऽवगततत्त्वः सर्वज्ञो वीरवर्द्धमानस्वामी, तस्य, आकृत्या तदा
ऽऽगमेन, इमं समाधिं सत्कर्मावामिलकृणमवाप्यास्मिँश्च समाधौ
सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैश्च प्रणिहतेन्द्रियो न मिथ्यादृष्टिमानु-
न्यत, केवलं तदाचरणजुगुप्सां त्रिविधेनापि करणेन न विधत्ते ।
स पर्वचूत आत्मनः परेषां च प्राणशीलः, नायी वा गमनशीलः

मोक्षं प्रति, स एवं भूतस्तरीनुमतिवद्ध्य समुद्रमिव दुस्तरं महाभयौघं मोक्षार्थमादीयत इत्यादानं सम्यग्दर्शनज्ञानभारिवरूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान् साधुः स च सम्यग्दर्शनेन सता परतार्थिकतपःसमृद्ध्यादिदर्शनेन मौनीन्द्रादर्शनाच्च प्रच्य-
घते; सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावा-
डकवादिनिराकरणेनापरेण यथावस्थितमोक्षमार्गमाविर्भावय-
ताति; सम्यक्चारित्र्येण तु समस्तजन्तुग्रामद्वितैषया निरुद्धाश्रव-
द्वारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभावोपार्जितं कर्म निर्जरयति । स्व-
तोऽन्येषां चैवंप्रकारमेवधर्ममुपाहरेद्भ्यागृणीयादित्यर्थः । इतिः
परिसामाप्यर्थं, ब्रवीमामिति ॥ ५५ ॥ सूत्रं २ श्रुं ७ अ० ॥

अद्ग (य) पुर-आर्चकपुर-न० । नगरजेदे, यत्र आर्चककु-
मार उत्पन्नः । सूत्रं २ श्रुं ६ अ० ।

अद्चंदण-आर्द्रचन्दन-न० । सरसचन्दने, औ० । “ अ-
द्चंदणाणुलिचगता इसिसिलिधपुष्पगसासां सुहमांश्च
असंकलिष्टां वन्यां पवरपरिहिया ” इति । आर्द्रेण सरसे-
न चन्दनेनाऽनुक्षिप्तं गात्रं येषां ते आर्द्रचन्दनानुक्षिप्तगात्राः ।
(सुपुरुषवर्णकः) औ० ।

अद्दण-अर्दन-पु० । अर्द-ल्युद्गता, पीडायां, बधे, याचने
च । वाच० । स्वनामख्याते राजनि च, येन पञ्चावतीं प्रार्थयित्वा
माणिक्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । त० ५० कल्प ।

अद्दणो (एणो)-दर्शो-अ कुत्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अ व अद्दव-त्रि० । निगातिते, आव० ६ अ० ।

अद्दव-अद्दव-न० । रूप्यः सुचितव्याभावे, पञ्चा० ३ विव० ।

अद्दह-आद्दहण-न० । आ-द्दह-भावे ल्युद् । उक्ताथने, करेण
ल्युद् । द्रव्यपाकायाग्नानुत्ताप्यमाने उदकतैलादौ, उपा० ३ अ ।

अद्दा-अर्द्रा-त्री० । रुद्रदेवताकं नक्षत्रजेदे, अनु० । “ दो अ-
दाओ ” स्था० १ ठा० ३ उ० । “ अद्दा खलु नक्खत्ते ” सू०
प्र० १० पाहु० । ‘ अद्दा णक्खत्ते एगतारे ’ पं० सं० १ द्वार ।

अद्दा-आदर्शित-न० । अदर्शनेन पवित्रीकृते, वृ० १ उ० ।

अद्दाओ-दर्शो-दर्पणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्दाग-आदर्श-पुं० । दर्पणे, स० ।

अद्दायं पेहमाणे मणुस्सं किं अद्दायं पेहति, अत्ताणं
पेहति, पलिजागं पेहति ? गोयमा ! एणं अद्दायं पेहति,
एणं अत्ताणं, पलिजागं पेहति । एवं एतेणं अजिलावेणं
असिं मणिं दुद्धं पाणं तेहं फाणियरसं ।

(अद्दायमिति) आदर्शं (पेहमाणे ति) प्रेक्ष्यमाणो मनुष्यः
किमादर्शं प्रेक्षते? आहोस्विदात्मानम्? अत्रात्मशब्देन शरीरम-
भिगृह्यते । उत पलिजागमिति ? प्रतिजागं प्रतिबिम्बम् । भगवा-
नाह-आदर्शं तावत्प्रेक्षत एव, तस्य स्फुटस्वरूपस्य यथावस्थि-
ततया तेनोपलभ्यन्त । आत्मानं आत्मशरीरं पुनर्न पश्यन्, त-
स्य तत्राभावात् । स्वशरीरं हि आत्मनि व्यवस्थितं नादर्शं,
ततः कथमात्मशरीरं तत्र च पश्येत् इति ? प्रतिजागं स्वशरीर-
स्य प्रतिबिम्बं पश्यति । अथ किमात्मकः प्रतिबिम्बः ? उच्यते-छा-
या पुद्गलमात्मकम् । तथाहि-सर्वमैन्द्रियकं वस्तु स्पृशं च वापच्य-
१४१

धर्मकं, रश्मिवच्च; रश्मय इति छायापुद्गला व्यवहियन्ते । ते च
छायापुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः, सर्वस्यापि स्पृश्वलवस्तुन-
श्चायाया अर्थ्यत्वा प्रतिप्राप्तिप्रतीतिः । अन्यच्च-यदि स्पृश्वलव-
स्तु व्यवहिततया, दूरस्थिततया वा नादर्शादिष्ववगाढरश्मिर्भ-
वति, ततो न तस्मात्तद् दृश्यते, तस्मादवसीयते-सन्ति छा-
यापुद्गला इति । ते च छायापुद्गलास्तत्तत्सामग्रीवशाद्विचित्र-
परिणमनस्वभावाः । तथाहि-ते छायापुद्गला दिवा वस्तुन्य-
प्रास्वरप्रतिगताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमावित्राणाः श्या-
मरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाणाः, एतच्च प्रसरति
दिवसे सूर्यकरनिकरम्, निशि तु चन्द्रोद्योतं प्रत्यक्षत एव
सिद्धम् । त एव छायापरमाणव आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिग-
ताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमाध्याना यादृग्वर्णाः स्वसंब-
न्धिनि छव्ये कृष्णो, नीलः, सितः, पीतो वा, तदाभाः परिणमन्ते ।
एतद्रव्यादर्शादिष्वध्यक्षतः सिद्धम् । ततोऽधिकृतसुत्रेऽपि ये म-
नुष्यस्य छायापरमाणव आदर्शादिकमुपसंक्रम्य स्वदेहवगा-
भतया, स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते, तेषां तत्रोपलब्धिर्न श-
रीरस्य, ते च प्रतिबिम्बशब्दाख्याः । अत उक्तं न शरीरं पश्य-
ति, किन्तु प्रतिभागमिति । नैवैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम् ।

यत उक्तं आगमे-

“ भासा उ दिवा छाया, अभासुरगता निसि तु कालाभा ।

सा चेव भासुरगया, सदेहवन्ता मुण्यन्वा ॥ १ ॥

जे आदारिस्सं तत्तो, देहाययवा हवन्ति संकेता ।

तेसिं तत्थऽवलच्छी, पगासयोगा न इयरेमि ॥ २ ॥

एतस्मृतीकाकारोऽप्याह-यस्मात्सर्वमेव हि ऐन्द्रियकं स्पृ-
लं छव्यं चयापच्यधर्मकं, रश्मिवच्च भवति, यत आदर्शादिषु
छाया स्पृश्वस्य दृश्यतेऽवगाढरश्मिनः । न चादर्शं अनवगाढर-
श्मिनः स्पृश्वलव्यस्य कस्यचिद्दर्शनं भवति । न चान्तरितं दृश्यते
किञ्चित्, अतिदूरस्थं वा इति ।

पलिभागं प्रतिभागं (पेहति) पश्यति । एवमंमिमण्यादिविप-
याण्यपि पद् सृष्टाण्यपि भावनीयानि । सूत्रपाठोऽप्येवम्-“ अ-
सिं देहमाणं मणुस्सं किं असिं देहं, अत्ताणं देहं, पलिजागं
देहं ” इत्याद । प्रज्ञा० १५ पद । स्था० । स्फटिकादिमणौ,
नि० चु० १३ उ० । ‘ अणाचार ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे
आदर्शं मुखप्रज्ञोकनप्रस्तावेऽप्येतदुक्तम्)

अद्दागपानिण (न)-आदर्शप्रश्न-पुं० । प्रश्नविद्याभेदे, यया आ-
दर्शं देवताऽवतारः क्रियते । एतद्वक्तव्यताप्रतिबद्धे प्रश्नव्याकर-
णानामष्टमेऽध्ययने च । परमिदानीं प्रश्नव्याकरणेषु एतदध्ययनं
न दृश्यते । स्था० १० ठा० ।

अद्दागविज्जा-आदर्श वद्या-त्री० । विद्याविशेष, ययाऽऽतुर
आदर्शं प्रतिबिम्बितोपमृज्यमानः प्रगुणो जायते । व्य० ५ उ० ।

अद्दागसमाण-आदर्शसमान-पुं० । आदर्शेन समानस्तुल्य इति
अमणोपासकजेदे, स्था० । यो हि साधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुसर्गाप-
वादादीनामिकान् भावान् यथावत्प्रतिपद्यते सन्न हतार्थानाद-
र्शकवत्, स आदर्शसमानः । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अद्दामलग-आर्द्रामलग-न० । प लुप्तकंसंबन्धिनि मधुरे, (इति
संप्रदायः) ध० २ अधि० । पञ्चा० । “ अद्दामलग्गपमाण स-
चित्तपुद्गलिकायं गेण्हति ” नि० चु० १ उ० । शण्वृक्तसंबन्धिनि
मकुरे, प्रव० ४ ठा० ।

अहारिठ-आद्रारिठ-पुं० । कोमलकाके, आ० म० प्र० ।

अदिय-अदिते-त्रि० । पीकिते, ४५० १० उ० ।

अदोहि (ण्)-अद्रोहिन्-त्रि० । कस्याऽप्यवञ्चके, ध० ३ अधि० ।

अरु-अरु-न० । "अरुर्धर्मार्थाऽर्थेऽन्ते वा" । ८। २। ४१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य दन्तविस्तरनाम्नात्र दः प्रा० समप्रविज्ञाने, एकदेशे च विशेषः । "अरुऽगुलसोणिको जेदुष्पमाणो असी भणि-ओ" । ज० ३ वक्र० ।

अरुतो-दशी-पयन्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अरु (द्वा) ण-अध्वन्-पुं० । प्राकृते- "पुंस्यन् आणो राज-वच्च" ८ । ३ । ५६ इति सूत्रेण अतः स्थाने वा आण इत्यादेशः । प्रा० । पणि, को० । मार्गे, ज्ञा० १४ अ० । नि० चू० ।

अरुणं पि य द्रुविहं, पयो मगो य होइ नायवो ॥

अर्धा द्विविधः, तथा-पन्थाः, मार्गश्च । पन्था नाम यत्र ग्रामनगरपट्टीवजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्ग्रामानुग्रामपरम्परयाऽवसितं भवति स ग्रामे मार्ग उच्यते । वृ० १ व० । प्रयाणके, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अरु (प्ताण) कृष्ण-अध्वकृष्ण-पुं० । अन्विनि गृह्यमाणे कले कमनीये आहारं, वृ० १ व० । ('विहार' शब्दे एतद्विधिर्द्रष्टव्यः)

अरुकारिस-अरुर्कर्ष-पुं० । पत्रस्याऽष्टमांशे, अनु० ।

अरुक्विट्ट-अरुक्पित्त-पुं० । अरुक्पित्थाकारयति, "अरुक्विट्टसंघाप्तसंवित्रं" उत्तानीकृतमर्चमात्रं कथिन्त्यैव यत् संस्थानं तेन संस्थितमर्चकापत्त्यसंस्थानसंस्थितम् । सू० प्र० १८ पादु० ।

अरुकुल(न)वं-अरुक्कुल(ढ)व-पुं० । मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा० ।

अरुकोस-अरुक्रोश-पुं० । धनुःसहस्रे, ज० ४ वक्र० ।

अरुक्खणं-देशी-प्रतीकणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुक्खिअं-देशी-सहाकरणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुक्खिअ(चित्त)कवख-अरुर्दक्षिकटाक्ष-न० । अरुक् तिर्यग्वन्वितमक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु ते । अरुक्कटाक्षेषु, "अरुऽच्चिकरुक्खिचिट्ठिपदि लूनेमाणा उवेति" जी० ३ प्रति ।

अरुक्खय-अरुक्किक-त्रि० । अरुक्विकृतलोचने, महा० ३ अ० ।

अरुक्खन्ना-अरुक्खन्ना-स्त्री० । अर्धजह्वां गदयन्त्यामुपानदि, वृ० ३ व० ।

अरुक्चंद-अरुक्चन्द-पुं० । अरुक्चन्दाकारे सोपाने, ज्ञा० १ अ० । स० । सौधर्मकलोऽरुक्चन्दसंस्थानसंस्थितः । रा० ।

अरुक्चक्रवाल-अरुक्चक्रवाल-न० । गतिविशेषे, स्था० ७ उ० ।

अरुक्चक्रवाला-अरुक्चक्रवाला-स्त्री० । अरुक्चक्रवालाकारायां श्रेणी, स्था० ७ उ० ।

अरुक्चक्र-अरुक्चक्र-त्रि० । सार्धेषु पञ्चसु, आ० म० प्र० ।

अरुक्जया-देशी-मात्रकाख्यपादघाणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुजिअ-अरुजिअ-त्रि० । जीर्णाऽजीर्णे, आ० म० द्वि० ।

अरुजोयण-अरुजोयण-न० । योजनस्यार्धमर्धयोजनम् । गज्यूतौ, वृ० ४ उ० ।

अरुद्धम-अरुद्धम-त्रि० । अरुद्धमष्टमं येषां तान्यर्द्धमष्टमानि । सार्द्धसप्तसु, ज्ञा० १ अ० । "अरुद्धमाण य राईदियाणं य विस्कर्ताणं" स्था० ६ उ० । सार्द्धसप्तद्वारात्राधिकेषु-अतन्तेषु, कर्म० १ कर्म० ।

अरुणाराय-अरुणाराय-न० । अरुणारायमुनयते मर्कटबन्धो यत्र तदर्धनारायम् । मर्कटकैकदेशबन्धनाद्वितीयपार्श्वकील्लिकासंबन्धरूपे चतुर्थसंहतने, स० । यत्र हि एकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयं च पार्श्वे कील्लिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० । प० स० । कर्म० । तं० । स्था० ।

अरुतुला-अरुतुला-स्त्री० । तुलाप्रमाणस्यार्द्धे, अनु० ।

अरुद्ध-अरुद्ध-न० । चतुर्जागे, वृ० ३ व० ।

अरुद्धा-अरुद्धा-स्त्री० । अरुद्धा अरुद्धा । दिवसस्य रजन्या वा एकदेशे प्रहरादौ । स्था० १० उ० ।

अरुद्धामीसय-अरुद्धामिश्रक-न० । अरुद्धाविषयं मिश्रकं सत्याऽसत्यमन्नामिश्रकम् । सत्यमृषामेदे, यथा काश्चिन्कस्मिंश्चित्प्रयोजने प्रहरमात्र एव मध्याह्नमित्याह । स्था० १० उ० ।

अरुद्धपंचममुहुत-अरुद्धपञ्चममुहुत-पुं० । अरुद्धपञ्चमाश्च ते मुहुर्नाश्च अरुद्धपञ्चममुहुताः । नवसु घटिकासु अरुद्धपञ्चमा मुहुर्ता यस्य । ६ व० । नवघटिकापरिमिते, "जया णं मंते ! उक्को-सिया अरुद्धपंचममुहुता दिवसस्स राईए वा पारिसी जवइ" भ० ११ श० ११ उ० ।

अरुद्धपल-अरुद्धपल-न० । कर्षद्वये, अनु० ।

अरुद्धपल्लिअंका-अरुद्धपल्लिअंका-स्त्री० । ऊरावेकपादनिवेशनलक्षणार्थां लक्ष्णायाम्, स्था० ५ उ० १ उ० ।

अरुद्धपेडा-अरुद्धपेडा-स्त्री० । पेडाया अरुद्धमर्द्धपेडा । पेडायाः समखण्डे । अरुद्धपेडावांरुद्धपेडा । पेडासमानगमनवृत्तणे गोचरजेदे, पञ्चा० १८ विव० । दशा० । "अरुद्धपेडा इमीए चेव अरुद्धसंवित्रा घरपरिवाडी" प० व० २ द्वा० । अरुद्धपेडाऽप्येवमेव, नवरमर्द्धपेडासदृशं स्थानयोर्दिगुह्यं संबध्योर्गृहश्रेण्योरेव पर्यटति, वृ० १ व० । स्था० । वृत्त० । ध० । ग० ।

अरुद्धभरह-अरुद्धभरत-पुं० । जरतस्यार्द्धमर्द्धभरतम् । भरतार्द्धे, "अरुद्धभरहस्स सामिका धीरकित्ति पुरिसा" प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अरुद्धभरहपमाणमेत्त-अरुद्धभरतप्रमाणमात्र-त्रि० । अरुद्धजगतस्य यत्प्रमाणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । सातिरेकत्रिपष्टपाधिकयोजनशतद्वयमिते, "अरुद्धभरहपमाणमेत्तं योर्दि विसेणं त्रिसपरिणयं विसट्टमाणं करेतए" (वृश्चिक आशो-विषो वा) स्था० ४ उ० ४ उ० ॥

अरुद्धमागह-अरुद्धमागध-न० । मगधार्चविषयभाषानिबद्धे, अष्टादशदेशीनापानियते च । नि० चू० ११ उ० ।

अरुद्धमागही-अरुद्धमागधी-स्त्री० । "रसोलेशौ" (८। ४। २८७) मागध्यामित्यादिमागधीभाषावृत्तणेनापरिपूर्णायां प्राकृतभाषा-

लक्षणबहुत्रयां भाषायाम्, औ० । प्राकृतादीनां षण्णां
भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा " रसोलंशा "
मागध्यामित्यादिलक्षणवती, सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रल-
क्षणाऽद्धमागधीत्युच्यते । " भगवं च रं अद्धमागहीप भासाप
धम्ममाइक्खइ " इति द्वाविंशो बुद्धातिशयः । स० ३४ सम० ।
विपा० प्रह्ण० । रा० । आचा० । आ० म० । " अद्धमागही भासा
भासिज्जमाणी विसिज्जइ " भाषा किल षड्विधा भवति, य-
दाह- " प्राकृतसंस्कृतमागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादपभ्रंशः " ॥१॥ म० ५ श० ४ उ० ।

अद्धमास-अर्द्धमास-पुं० । अर्द्धमासस्म । एकदे० त० स० । पञ्च-
दशाहात्मके मासस्यार्द्धरूपे पक्षात्मके काले, प्रश्न० १ संब० द्वा० ।
अद्धमासिय-अर्द्धमासि, क-त्रि० । पालिके, " अद्धमासिए
कत्तरिमुंडे चि " यदि कर्तव्यां कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तं
कारणीयम्, सूरकर्तव्यांश्च लोचे प्रायश्चित्तम् । कल्प० ।

अद्धरत्तकालसमय-अर्द्धरात्रकालसमय-पुं० । समयः समा-
चारोऽपि भवतीति कालेन विशेषितः । कालरूपः समयः ।
कालसमयः । स चाऽनर्द्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यतोऽर्द्धरात्र-
कालसमयः । निशेथे रात्रेर्मध्यकाले, " अद्धरत्तकालसम-
यसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी " इत्यादि ।
म० ११ श० ११ उ० ।

अद्धघ्नव-अर्धलव-पुं० । लवस्य सभेऽशे, ज्यो० १ पाहु० ।
अद्धघ्नविआरं-दशां-मण्डने, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धवेयाली-अर्धवैताली-स्त्री० । वैताल्या विद्याया उप-
शामकविद्यायाम्, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० ।

अद्धसंकासिया-अर्धमाङ्गुश्रिका-स्त्री० । देवलसुतराजस्य
प्रवजितस्य प्रवजितायामेव देव्यामुत्पन्नायां पुत्र्याम्, आच० ४
अ० । आ० चू० (' सव्वकामविरत्तया ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अद्धधसम-अर्धसम-न० । एकतरसमे वृत्ते, यत्र पादा अक्ष-
राणि वा समानि, अथवा यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च
समत्वम् । (न सर्वत्र) स्था० ७ ठा० ।

अद्धहार-अर्द्धहार-पुं० । नवसरिके कण्ठाभरणभेदे, रा० ।
ज्ञा० । जी० । वि० । जं० । जीवा० । आचा० । म० । औ० ।
स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । तत्रार्द्धहारद्वी-
पे, अर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाभद्रौ देवौ अर्द्धहारसमुद्रे अर्द्ध-
हारवरार्द्धहारमहावरौ " जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारजद्-अर्द्धहारजद्-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपतौ देवे,
जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारमहाभद्-अर्द्धहारमहाजद्-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधि-
पतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारमहावर-अर्द्धहारमहावर-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधि-
पता देवे, अर्द्धहारवरसमुद्राधिपतौ देवे च । जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवर-अर्द्धहारवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समु-
द्रभेदे च । तत्र अर्द्धहारवरार्द्धहारवरमहावरौ च देवौ वसतः ।
जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरभद्-अर्द्धहारवरभद्-पुं० । अर्द्धहारवरद्वीपाधि-
पतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरमहावर-अर्द्धहारवरमहावर-पुं० । अर्द्धहारसमु-
द्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरवर-अर्द्धहारवरवर-पुं० । अर्द्धहारवरसमुद्रा-
धिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभास-अर्द्धहारावभास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीप-
भेदे, समुद्रभेदे च । तत्र अर्द्धहारावभासे द्वीपे अर्द्धहारावभा-
सभद्रार्द्धहारावभासमहाभद्रौ, अर्द्धहारावभासे समुद्रे
अर्द्धहारावभासवरार्द्धहारावभासमहावरौ देवौ वसतः ।
जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासजद्-अर्द्धहारावभासजद्-पुं० । अर्द्धहाराव-
भासद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभाममहाभद्-अर्द्धहारावजासमहाभद्-पुं० । अ-
र्द्धहारावजासद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोनासमहावर-अर्द्धहारावजासमहावर-पुं० । अर्द्ध-
हारावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासवर-अर्द्धहारावजासवर-पुं० । अर्द्धहारावभास-
समुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धा-अद्धा-स्त्री० । समयादिषु कालभेदेषु, संकेतादिवाच-
कोऽप्यस्ति । ज० ११ श० ११ उ० । अनु० । अवधिज्ञानाऽऽवर-
णकृत्योपशमलाभरूपायां लब्धौ, विशेष० । अद्धा त्रिविधा-अती-
ताद्धा, वर्तमानाद्धा, अनागताद्धा च । कर्म० ५ कर्म० ।

अद्धानुय-अद्धागुप्-न० । अद्धा कालस्तत्प्रधानमायुः कर्म-
विशेषोऽद्धागुः । भवत्ययेऽपि कालात्ययेऽपि कालान्तरानुगा-
मिनि, स्था० १ ठा० ३ उ० । कायस्थितिरूपे आयुष्कर्मभेदे,
स्था० १ ठा० ४ उ० । यथा-मनुष्यायुः कस्याऽपि ज्ञेयस्य
एव नागच्छति । " दोषं अद्धाउप पण्णत्ते । तं जद्धा-मनुस्सोप-
चेव पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं चेव " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अद्धाकाल-अद्धाकाल-पुं० । अद्धासमयादयो विशेषाः, तद्वत्तः
कालोऽद्धाकालः । चन्द्रसूर्यादिक्रियाविशिष्टेऽर्द्धतृतीयसमुद्धान्त-
र्वर्तिनि समयादौ कालभेदे, ज० ११ श० ११ उ० । विशेष०
आ० म० । आ० चू० ।

अद्धाकालस्वरूपोपदर्शनार्थं विशेषावश्यकभाष्ये

आह—

सूरकिरिया विसिद्धो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।

अद्धाकाशो भण्णं, समयक्खेत्तम्मि समयाई ॥ ४ ॥

सूरो भास्करः, तस्य क्रिया मेरोअतसृचपि दिक्कु प्रदक्षिण-
तोऽजच्छं जमणव्रक्खणं; सूरस्योपलक्षणं याच्चन्द्रग्रहनक्षत्रतारा-
णामपीत्यनुता क्रिया गृह्यते, तथा सूर्यादिक्रिया विशिष्टो वि-
शेषितो व्यक्तीकृतोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुच्चलक्षणे समयक्खेयः सम-
यावधिक्रियादिरर्थः प्रवर्त्तते, न परतः, सूर्यादिक्रियाऽभावात्, सो
ऽद्धाकाशो जण्यते । क्रियैव परिणामवती काशो नान्य इति ये
कालमुपह्वते, तन्मतव्यवच्छेदार्थमाह-गोदोहादिक्रियासु निर-

पेक्षः, न खनु यथोक्ताष्टाकालः क्रियां गोदाहाद्यात्मिकामपेक्ष्य प्रवर्तते, किं तु सूर्यादिगतिम् । तथाहि-यावदायत्नं स्वकिर-
दैर्दिनकरश्चरन् योतयते तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः ।
तस्य च दिवसस्य परमनिरुद्धोऽसंख्यतमो जागः समयः । ते
चासंख्येया आवलिका इत्यादि । एवं च प्रवृत्तस्यास्य काक्षस्य
सूर्यादिगतिः क्रियां विहाय काऽन्या गोदाहादिक्रियापेक्षेति ? के
पुनस्ते समयादयोऽष्टाकालभेदा इत्याह नियुक्तिकारः-“सम-
यावलियमुहुता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य । संवच्चरयुगप-
लिया, सागरउत्सप्पिरियट्ठा ॥” विशेषः ।

एतदेव सूत्रमुदाह—

मे किं तं अष्टाकाले ? अष्टाकाले अणुगविधे पण्यते । तं
जहा-ममयट्टयाए आवलियट्टयाए० जाव उत्सप्पिणीयट्ट-
याए । एस णं मृदंसणा अष्टादोहारच्छेयणेणं विज्जमा-
णा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छत्तमेत्तं समय । समयट्ट-
याए असंखेज्जाणं ममयाणं समुदयसमितिममागमेणं एगा
आवलिय ति वुत्तच्च, संखेज्जाओ आवलियाओ जहा सा-
त्रिउत्तमेमए० जाव तं सागगेवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥

(मे किं तं अष्टाकाले इत्यादि) अष्टाकाशोऽनेकविधः प्रकृतः ।
तद् यथा- (समयट्टयाए ति) समयरूपोऽयः समयार्थस्तद्भाव-
स्तत्ता । तथा, समयतावेन इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । यावत् कर-
णान् ‘मुहुत्तट्टयाए’ इत्यादि दृश्यमिति । अथान्तरेऽक्तस्य स-
यादिकाक्षस्य स्वरूपमभिधातुमाह- (एस णमित्यादि) एगाऽ-
नन्तरोक्तोत्सप्पिण्यादिका (अष्टादोहारच्छेयणेणं ति) द्वौ हा-
रौ भागौ यत्र च्छेदने, द्विधा या कारः करणं यत्र तद्, द्विद्वारं द्वि-
धाकारं वा, तेन । (जाहे ति) । यदा, समय इति शेषः । “संखे-
मित्यादि” निगमनम् । (असंखेज्जाणमित्यादि) असंख्यातानां
समयानां संबन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषां याः समितयो
मालनानि तासां यः समागमः संयोगः समुदयसमितिसमागम-
स्तेन, यत्कालमाने भवतीति गम्यते; भैकावलिकेतं प्रोच्यते ।
(सात्रिउत्तमेमए ति) षष्ठशतस्य सप्तमोद्देशके । भ० ११ श० १३० ।

अष्टाखिण्ण-अध्वखिन्न-वि० । पथि बहुचलनेन परिभ्रान्ते,
“ जा पुण अष्टाखिन्नं, अतिहि पूरहं तं दाणं । ” पि० ।

अदधायेय-अवाच्छेद-पुं० । आवत्रिकाद्विके, क० म० । प० सं० ।

अदधादय-अर्द्धादक-पुं० । मगधदेशसंबन्धिनि मानविशेषे, औ० ।

अदधाण-अध्वन्-पुं० । पथि, “ पुंस्यन आणो राजवच्च ”
॥ ८ । ३ । १६ । इत्यनः स्थाने आणेत्यादेशः । प्रा० ।

अध्वान-न० । प्रयाणके, “ अष्टाणेहिं सुदेहिं पातरासंदि जेणव
सालासवी चोरपल्ली तेणव उवागच्छ ” विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अदधाणकप-अध्वकटप-पुं० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा
वद् ‘विहार’ शब्दे दर्शयिष्यते) लेशतस्त्वत्र-

.....अदृणा अष्टाणकप वोच्चापि ।

नेहिं च कारणेहिं, अष्टा णो गम्भ ते इणमो ॥ १ ॥

असिबे ओमोदरिए, रायइट्टे जए व आगादे ।

देसुदराणे अपर-कमे य अष्टाणतो पणने ॥ ७ ॥

उदहरे सु भक्खं, अष्टाण पवज्जणं च टप्पेणं ।

दिवसादी चउ लहुगा, चउ गुरुगा कालगा होंति ॥ ३ ॥

उगमउत्पादणए-सणाए जे खनु विराट्ठिते ठाणे ।

तं णिप्पणं तस्स उ, पायाच्छित्तं तु दायव्वं ॥ ४ ॥

पुदवो आऊ तेऊ, वाउ वणस्सति तसा य आणंता ।

इयरेसु परित्तेसु य, जं जहिं आरोवणा जणित्ता ॥ ५ ॥

लहुओ गुरुओ झहु गुरु, चत्तारि उच्च लहुया य ।

छगुरु ठेदो मूलं, अणवट्टप्पोधपारंची ॥ ६ ॥

असिबे ओमोदरिए, रायइट्टे जए व आगादे ।

गीयत्या मज्झत्या, सत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥

कालमकालं जोती, एताण य अहिवति अणुणवणा ।

जिच्छू मिच्छादिट्ठी, धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥

सत्थयसमिए खंकी-परिच्छणे खनु तदेव पोम्मलिए ।

धम्मकट्टणिमित्तणं, वमहं पुण दव्वल्लिगेणं ॥ ९ ॥

संथे पंथे तेणे, पंचविट्ठो उगढो य दव्वणं ।

मुल्लगामे दव्व-गहणं जयणाए गीयत्या ॥ १० ॥

तुवरे फले य पत्ते, गो महिसे सुत्तरा य दट्ठयी य ।

आणवमणातवे थि य, जयणाए जाणगे गहणं ॥ ११ ॥

पिप्पन्नगमूति आरिग-एक्खव्वणतद्वियपुरुगपत्ते य ।

कात्तिय कत्तरि मिक्कग-मंविदूए लाउ चव वात्तीया ॥ १२ ॥

पेत्तिय सेंजिय मुत्तिगा-णं अगदमत्थकोमे य ।

जं चाएहु व गूढकरं, गेएहह अष्टाणकप्पम्मि ॥ १३ ॥

सीहाणुगा य पुरतो, वसज्जाणुमगता समयेणं ति ।

पंथे तं पि य जंता, थरेति जा अरूपज्जत्ती ॥ १४ ॥

दंरिय मिच्छदिट्ठी, समुदाण णिवारणं चणिव्विसए ।

सारुविसएण जदग-वसजा पुण दव्वल्लिगेणं ॥ १५ ॥

उवकरणचरित्ताणं, विज्ञोयणा सररीरुओयणागादे ।

धम्मकट्टणिमित्तणं, पुत्तागकज्जेण आगादे ॥ १६ ॥

असिवादिकारणेहिं, अष्टाण पवज्जणं अणुणतां ।

उवकरणदुव्वपमित्ते-दिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ १७ ॥

वच्चंताणं अमहू, को तीण तरंज गंढपादेहिं ? ।

अपरक्कपो तु ताहे, ताहियं तु इमे वि मग्गेज्जा ॥ १८ ॥

एगक्खुरए दुक्खरं, दुपिए अणुबंधि तह य अणुरंगा ।

अह जहया वि जायति, अमती अणुसट्ठिमादीहिं ॥ १९ ॥

एगखुरा आसादी, दुखुरा उदादि दुपिय जहादी ।

अणुबंधी मक्कमादी, अणुरंगप्पिमी तु बोधव्वा ॥ २० ॥

एएसु पुव्ववट्ट-क्खुरादिजातित्तु सिच्छुत्तादी ।

असतो य सुद्धओ वा, झिगाववेगेण कट्ठित्तु ॥ २१ ॥

आवासियम्मि सत्थे, तस्सेव तमं पि आपणंति पुणो ।

अह जणति गता संता, अणेज्जाह वि ममं एयं ॥ २२ ॥

तांहे य झक्कमादी, चारेदी तेसि असतिए सुद्धो ।

लिंगविवेगं काउं, चरिती जा गताचाणं ॥ २३ ॥

एवं दुखुरादीसु वि, जयणा जा जत्य सा तु कायव्वा ।

मुत्तत्यजाणएणं, अप्पावहुयं तु णायव्वं ॥ २४ ॥

एतेसामएणतरं, अवगाढा णो णिमेवेज्जा ।

तट्टाणगावराहे, संवट्टियमाऽवराहाणं ॥ २५ ॥

संवट्टियाऽवराहे, तवोवत्थ दो तदेव मूढं वा ।

आयारदकपे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥ २६ ॥

अध्याणकल्प एसो, । पं० जा० ।

अस्य चूर्णिः—अध्याणकप्पाम्मितिप्पिपरिसाओ कीरति, सीढ-
परिमा पुरआ, वसजपरिसा मज्जओ मिगा य मज्जे, वसजा अं-
ते । जाहे उत्तिआ अध्याणं ताव न परिउवैति; अध्याणकप्पं जाव
अद्धपज्जत्ती, सो पुण सत्थवाहो मिच्छादिही समुदाणं वा नि-
वारज्जा धम्मकहाइ पणवणा, सारुवियसन्नभइएहिं वा पन्न-
वैति । अह वसभा दव्वलिगं काऊण पणवैति वा णं । गाढा-
(उवकरणत्ति)सो पुण (मच्छादि)ओ उवधारणं वा विवोवेज्जा,
चरित्तसरारमाइ वा पच्छा धम्मकहाइ पुलगकज्जं करैति, आ-
गाढे कइं पुण गेत्तव्व सत्तेहिं चिं, अह कोइ न तरइ वडिउं अत-
रंता । गाढा-(एगकखुरत्ति) पच्छा वट्टुखुरं मग्गति, सिद्धपुत्तसा-
वओ वा णं कट्टइ, असइ खुट्टओ लिंगविवेगेणं आवासिएपच्च-
प्पिणंति । अह भणज्जा-तत्थ गया पच्चप्पिणंज्जाह, ताहे लिंग-
विवेगेणं खुट्टे उच्चारइ । एवं गोणोऽवि दुप्पिओ नाम वत्थी-
अणुरंगा, सकमअणुबंधी, पयंसा, एवं अप्पावहुयं नाऊण ।
गाढा सिद्धं जाव पमाणणिम्माणचरिमम्मि । एस अध्याण-
कप्पं । पं० चू० ॥

अध्याणगमण-अध्वगमन-न० । पथि विहरणे, “णस्यत्थ अ-
ध्याणगमणे णो कप्पइ, सगमं वा जाव संदमाणयं वा डुरुहि-
त्ताणं गच्छित्तए ” औ० । स्था० ।

अध्याणणिगय-अध्वनिर्गत-त्रि० । मार्गनिर्गते, व्य० ५ उ० ।

अध्याणपरिवृत्त-अध्वप्रतिपन्न-त्रि० । मार्गप्रतिपन्ने, ज० २ श०
१ उ० । (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारं वा कुर्वति, वृ० । अस्य त्रयो
भेदाः । तद्यथा—“दूताहिमविहारी, ते वि य हौती सपडि-
वक्खा ” वृ० ५ उ० ।

अध्याणवायणा-अध्ववाचना-स्त्री० । अध्वनि मार्गे सूत्रार्थ-
प्रदाने, व्य० १ उ० ।

अध्याणसीसय-अध्वशीर्षक-न० । कान्तारादिनिर्गमरूपे प्र-
वेशरूपे, पि० । ततः परं समुदायेन सार्थकेन सह गन्तव्यम् ।
तस्मिन्, व्य० ४ उ० । निर्भयमार्गान्ते, वृ० ३ उ० ।

अध्याणिय-अध्वनिक-त्रि० । पथिके, वृ० ४ उ० ।

अध्यापचक्रवाण-अध्याप्रत्याख्यान-न० । कालाख्यामका-
माश्रित्य पौरुषादिकालमाने, आव० ६ अ० ।

एतच्च दशमं प्रायश्चित्तमित्थं प्रतिपादितम्—

अध्यापचक्रवाणं, जं तं कालप्पमाणेएणं ।

पुरिमरूपोरिसीए, मुहुत्तमासऽद्धमासेहिं ॥ १७ ॥

अष्टाकाले प्रत्याख्यानं यद्, तत्कालप्रमाणकृतेन भवति पुरि-

माद्धिपौरुषाद्यां मुहुत्तमासार्द्धमासैरिति गाथासंक्षेपार्थः ॥ १७ ॥
आ० चू० ६ अ० ।

अवयवार्थः पुनः—

अध्या कालो तस्स य, पमाणमद्धं तु जं जवे तमिह ।

अध्यापचक्रवाणं, दसम तं पुण इमं जणिंयं ॥ ११ ॥

अष्टाशब्देन कालस्तावदभिधीयते, तस्य च कालस्य मुहुत्तपौ-
रुष्यादिकं प्रमाणमप्युपचारात् । (अद्धं ति) अद्धां वदन्तीति
शेषः । तुशब्दो अप्यर्थो भिन्नक्रमश्च यथास्थानं योजित एव ।
ततो ऽध्यापरिमाणपरिच्छिन्नं यत्प्रत्याख्यानं जवेत् तदिह अष्टा-
प्रत्याख्यानं दशमं पूर्वोक्तजाध्यतीतप्रत्याख्यानादीनां चरममि-
त्यर्थः । तत्पुनरिदं वक्ष्यमाणं भणितं गणधरैरिति ॥ १ ॥

तदेवाह—

नवकारपोरिसीए, पुरिमट्टेगामणेगठाणे च ।

आयं विलऽनत्तट्टे, चरिमे य अभिग्गहे विग्गई ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परतः सहितशब्दो
छप्यः । ततो नमस्कारश्च, कोऽर्थः?—नमस्कारसहितं च पौरुषी
च नमस्कारपौरुषी, तस्मिन्, नमस्कारविषये, पौरुषीविषये चेत्य-
र्थः । पूर्वार्द्धं च, एकासनं च, एकस्थानं चेति समाहारे सप्तम्ये-
कवचने, पूर्वार्द्धविषये एकासनविषये एकस्थानविषये च । तथा-
आचामाभ्यं च अभक्तार्थश्च आचामाभ्लाभक्तार्थः, तत्र, आचामा-
भ्लाविषये उपवासविषये च । तथा—चरिमे चरमविषये । तथा-
अभिग्रहे अभिग्रहविषये । तथा—(विग्गइ (त्ति) विकृतिविषये; सप्त-
म्येकवचने वृत्तमत्र छप्यमिति । दशभेदमिदमकाप्रत्याख्यानम् ।
नन्वेकासनादिप्रत्याख्यानं कथमकाप्रत्याख्यानम्, नह्यत्र का-
लनियमः श्रूयते ? । सत्यम् । अष्टाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्रायेणैका-
सनादीनि क्रियन्ते इत्यष्टाप्रत्याख्यानत्वेन भण्यन्त इति ॥ २ ॥
प्रव० ४ द्वा० ।

अध्यापज्जाय-अध्यापर्याय-पुं० । कालकृतधर्मे, स्या० ७ उ० ।

अध्यापरिवृत्ति-अध्यापरिवृत्ति-स्त्री० । कालपरावृत्तौ, “अ-

ध्यापरिवृत्तौओ, पमत्त इयंरे सहस्ससो किच्चा । ” क० प्र० ।

अध्यामीनय-अध्यामिश्रक-न० । कालविषये सत्यमृषाज्ञेदे,
यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहाय्यैस्त्वरयन् परिणतप्राये वासर
एव रजनी वर्तत इति ब्रवीतीति । स्था० १० उ० ।

अध्यामीसिया-अध्यामिश्रिता-स्त्री० । अष्टा कालः, स चेह
प्रस्तावाद् दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, संमिश्रितो यथा साऽका-
मिश्रिता । सत्यमृषाज्ञाज्ञेदे, यथा—दिवसे वर्तमान एव घटति-
वृत्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोद्गतः सूर्य
इति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अध्यारूप-अध्यारूप-त्रि० । अष्टा कालः, सैव रूपं स्वभावो
यस्य तद्वत्त्वरूपम् । कालस्वभावे, पञ्चा० ५ विव० ।

अध्यावकृति-अध्यापक्रान्ति-स्त्री० । अर्द्धस्य समप्रविज्ञागरूप-
स्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्यापक्रमणमवस्थानं, शेष-
स्य तु ह्यादिपदसंघातस्यैकदेशस्योर्द्धं गमनं यस्यां रचनायां
साऽध्यापक्रान्तिः । (समयपरिज्ञापया) पदत्रयमध्यादेकदेशाऽ-
पक्रान्तौ, विशेषः ।

अष्टासमय-अष्टासमय-पुं० । अष्टा कालः, तल्लक्षणः समयः
कृणोऽष्टासमयः । भ० २ श० १० उ० । अष्टायाः समयो निर्विभागो

भागः, समयः संकेतादिवाचकोऽप्यास्ति, ततो वि शिष्यतेऽस्कारूपः
समयः । अनु० । पट्टसाटिकादृष्टान्तसिद्धे सर्वसूक्ष्मे पूर्वापरको-
टिविप्रमुके वर्तमाने एकस्मिन् कालांशे, अनु० जी० पट्टद्रव्या-
णि, तत्र पञ्च धर्मास्तिकायादयोऽस्तिकायाः, पट्टोऽस्मासमयः ।
अस्य अस्तिकायत्वाजायः, वर्तमानकृणन्नकृणन्त्येनैकत्वात्, अ-
तीताऽनागतयोरसत्त्वात् । अ० २ श० १० उ० । अनु० । बहुप्र-
देशस्य एव हि अस्तिकायत्वम् । अत्र त्वनीतानागतयोर्विनष्टो-
त्पन्नत्वेन वर्तमानस्यैव कालप्रदेशस्य सद्भावाद् नत्वैवमावृत्ति-
कादिकालाजायः, समयबहुत्व एव तदुक्तं, तैरिति चेद्, भवतु
तर्हि, को निवारयिता ? । " समयावृत्तियमुहुत्ता दिवसमहो-
रत्तपञ्चमासा य " इत्याद्यागमविरोध इति चेत् । नैवम् । अ-
निशयापरिज्ञानात् व्यवहारनयमतेनैव तत्र त्वज्युपगमात् ;
अत्र तु निश्चयनयमतेन तदसत्त्वप्रतिपादनात् । नहि पुत्रवृत्त-
त्ये परमाणुसंघात इवावृत्तिकादिगतसमयसंघातः कश्चिदव-
स्थितः समस्तीति तदसत्त्वमसौ प्रतिपद्यते, इत्यत्र विस्तरण ।
अनु० । (' समय ' शब्दे एतत्परूपाणा वदयते)

अर्थि-अन्यि-पु० । आपो धीयन्ते ऽस्मिन् । धा-आधारे कि ।
सरोवरे, समुद्रे च । वाच० । ऊर्मी, अष्ट० १ अष्ट० । सागरोपमे
(कालविशेषे), द्वा० २६ द्वा० ।

अर्थिः(ति) करण-अधृतिकरण-न० । अधिकरणे [कृद्वहे],
नि० चू० १० उ० ।

अस्तीकार्ग-अर्द्धीकार्ग-त्रि० । अर्द्धमहं करोमि, अर्द्धं पुन-
स्त्वया कर्तव्यमित्येवंकारके, वृ० ३ उ० ।

अदुष्ट-अर्थवपुष्क-त्रि० । अर्द्धाधिकत्रिषु, प्रश्न० ४ आश्र०
द्वा० । कर्म० ।

अदुत्त-अर्थोक्त-त्रि० । अर्द्धभाषिते, " अदुत्तेण उ पंचाला "
व्य० १० उ० ।

अधु(धु)व-अधुव-त्रि० । अवश्यंतावि त्रियामन्ते सूर्योदयवद्
ध्रुवम् । न तथा यत्तद्ध्रुवम् । आचा० १ भू० ५ अ० २ व० । अनियत-
सत्त्वे, " अधुवा अणियता असासया सटणपटणविद्धंसणधम्मा
कामभोगा " द्वा० १ अ० । अस्थिरे, " अधुवधणधरणकोसपरिभो-
गविवज्जिया " । अधुवा अस्थिरा धनानां गणिमादीनां, धान्यानां
भाष्यादीनां, कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि तत्परिज्ञानेन
वर्जिताश्च ये ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । प्रव० । चले,
आचा० १ भू० ८ अ० १ उ० । दशा० ।

अधु(धु)वर्वाधणी-अधुववन्धिर्ना-स्त्री० । न० त० । ध्रुववन्धि-
र्वाप्रकृतिप्रतिपक्कासु कर्मप्रकृतिषु, यासां च निजहेतुसदभावेना-
वश्यं बन्धस्ताः । क० प्र० । (ताश्च त्रिसप्ततिसङ्ख्याकाः " कम्म "
शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्ते)

अधु(धु)वर्मतकम्म-अधुवसत्कर्मन्-न० । सत्कर्मतेदे, यत्पु-
नरनवानगुणानामपि कदाचिद् जवति कदाचिन्न तद्ध्रुवस-
त्कर्म । पं० सं० ३ द्वा० ।

अधु(धु)वर्मकम्मिया-अधुवसत्कर्मिका-स्त्री० । ध्रुवसत्क-
र्मिकाप्रतिपक्कतासु कर्मप्रकृतिषु, क० प्र० ।

अधु(धु)वर्मचागा-अधुवसत्ताका-स्त्री० । अधुवा कदाचिद्
भवन्ति कदाचिन्न जवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अधु-

वसत्ताकाः । पं० सं० ३ द्वा० । कादाचित्कभाविनीषु कर्मप्रकृतिषु,
कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६४ पृष्ठे
तासां स्वरूपं छल्यम्)

अधु(धु)वसादण-अधुवसाधन-न० । अधुवाणि नश्वराणि
साधनानि मानुष्येकेष्वजात्यादीनि यस्य तद्ध्रुवसाधनम् । म-
नित्यहेतौ, पञ्चा० १६ धिव० ।

अधु(धु)वोदया-अधुवोदया-स्त्री० । ध्रुवोदयप्रतिपक्कासु क-
र्मप्रकृतिषु, कर्म० । यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो ज्ञूयोऽपि प्रादु-
र्भवति तथाविधद्वयैकत्रकावभवभावस्वरूपं पञ्चाविधं हेतुसं-
न्धं प्राप्य ता अधुवोदयाः । " अखुच्छिन्नो उदयो, जाणं परा-
ण ता ध्रुवोदया " कर्म० ५ कर्म० । (' कम्म ' शब्दे द्वितीयभागे
२७१ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यन्ते चैतत्)

अष्टोत्तमिय-अष्टोत्तम्य-न० । औपम्यमुपमा पत्यसागररूपा,
तत्प्रधाना अष्टा कालोऽष्टौपम्यम् । राजदन्तादिदर्शनादौपम्य-
शब्दस्य परनिपातः । पत्योपमादौ उपमाकाले, स्था० ८ ता० ।
उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनातिशयिना गृहीतुं न शक्यते
तदौपमिकमिति भावः । " दुविहे अष्टोत्तमि ए पन्नते । तं जहा-
पलिओवमे चय, सागरोवमे चव " । स्था० २ द्वा० ४ उ० ।

स च जेदप्रमेदाच्यां समासतोऽष्टविधः—

अद्विहे अष्टोत्तमि ए पन्नते । तं जहा-पलिओवमे ? सा-
गरोवमे २ ओत्तपिणा ए ३ उत्तपिणा ए ४ पोगलपरि-
यहे ५ अतीतद्धा ६ अणाययद्धा ७ सव्वद्धा ८ ।

पत्योपमसागरोपमयोरुपमाकालता स्पष्टा ; अवसर्णिण्यादी-
नां तु सागरोपमनिष्पन्नत्वादुपमाकालत्वं ज्ञावनीयम् । समया-
दिशार्थप्रहेलिकान्तःकाव्योऽनुपमाकालः । स्था० ८ ता० ।

अध-अय-अव्य० । आनन्तर्ये, " अध ससरीरो जगवं मकर-
भजो " (पैशाचाप्रयोगः) प्रा० । नि० चू० ।

अधस-अधन्य-त्रि० । न० त० । निच्ये, " अधसा मूलगजि-
सुद्धेहा " प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । " नरगा नवछिया अधसा ते
वि य दीसन्ति " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अध (ह) म-अधम-त्रि० । जघन्ये, " निग्घिनमणसोऽहम-
विवागं " [अधमविपागमिति] अधमो जघन्यो नरकादिप्राप्ति-
नृकृणो विपाकः परिणामो यस्य तत्तथाविधम् । [आर्तध्यानम्]
आच० ४ अ० । " अहो वयह कोहेण माणेण अहमा गइ " मानेन
अधमा गतिर्भवति । गर्दभोर्धूमहृषसूकरादिगतिः स्यात् ।
उत्त० ए अ० ।

अध (ह) म्म-अधर्म-पुं० । गतिपरिणतानां तत्त्वज्ञावाध-
रणाधर्मः । अनु० । न धर्मोऽधर्मः । अधर्मास्तिकाये जीवपु-
लानां स्थित्युपप्लम्भकारिणि, स्था० १ ता० १ उ० । " एगे अधर्मे "
एकोऽधर्मोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । भा० ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकाययोगरूपे कर्मबन्धकारणे आत्मप-
रिणामे, " णत्थि धम्मे अधम्मे च, णेवं सन्धं णिवेसए " सूत्र०
२ भू० ५ अ० । (यतिनां गृहिणां चाधर्मपक्षप्रदर्शने " पुरि-
सविजयविभंग " शब्दे करिष्यते) सावधानुष्ठानरूपे पापे,
" अधर्मेण चेष विस्ति कप्पेमाणे विहरह " अधर्मेण पापेन

सावधानुष्ठानेनैव दहनाङ्कननिर्लाञ्छनादिना कर्मणा वृत्तिवर्तनं कल्पयन् कुर्वाणो विहरति, ज्ञा० १८ अ० । रा० । विषा० । भ० । आव० । भोरुशे गौणाब्रह्मणि च, तस्याऽचारिवरूपत्वात् । प्रअ० ४ आश्र० द्वा० ।

अध (६) म्पक्खाइ-अधर्मरूपाति-वि० । अधर्मेण स्याति-स्यस्य । रा० । न धर्माद् स्यातिर्यस्येति च । भ० १५ श० २ उ० । अविद्यमानधर्मोऽयमित्येवं प्रसिद्धिके, विरा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (६) म्पक्खाइ (ण)-अधर्माऽऽख्यायन्-वि० । अधर्ममाख्यातुं शीलं यस्य स तथा । ज्ञा० १८ अ० । न धर्मम.स्यातीत्येवंशो लो वा । ज० ३ श० ७ उ० । अयमप्रतिपादके, विषा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (६) म्पजुत्त-अधर्मुक्त-न० ३ त० । पापसंबन्धे तदोपोदाहरणभेदे, म्या० या० उदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादीयते केवलं पापाज्ज्ञानरूपेण, येन चोकेन प्रतिपाद्यस्याधर्ममुद्धिरूपजायते, तदधर्मयुक्तमात्रतया-उपायेन कार्याणि कुर्यात्, कोलिकनलदामवत् । तयार्हि-पुत्रखादकमत्कोटकमार्गोपलब्धयि-व्यामानामशेषमत्कोटकानां तप्तजलस्य विश्वे प्रक्षेपणतो मारणदशनेन रज्जितांचत्तचाणक्यावस्थापितेन चौरग्राहे नलदामाभिधानकुर्वन्नेन चौर्यसहकारितालक्षणापायेन विश्वासिता मिलिताश्चौरा विषमिश्रभोजनदानतः सर्वे व्यापादिना इति । आहरणं दापयता चास्याधर्मयुक्तत्वात्तथाविधश्रोतुरधममुद्धिजनकत्वाच्चति, अत एव नैवविधमुदाहर्तव्यं यतिर्निति । स्था० ४ ग० ३ उ० । इदं च नलदममुद्धिदाहरणं लौकिकम्, । तथय-“चाणक्रेण णंदे उच्छादय चंदगुप्ते रायाणए उविप एवं स-स्वं चाणित्ता जहा सिक्खाए, तथ णंदमंतिणहिं मणुस्सेहिं सह चारग्गाहो मिलिओ णगरं मुसइ । चाणको वि अशं चो-स्माइं च उविउकामो तिदंरं गहेऊण परिवायगवेसेण णयरं पविट्ठो, गओ णलदामकोलियसगासं, उवविट्ठो वणणसालाए अत्थइ, तस्स दारओ मक्कोरुणहिं खाइओ, तेण कोलएण विदं खाणत्ता दह्मा । ताहे चाणक्रेण जसइ-किं एए रुइसि ?, कोविओ भणइ-जइ एए समूलजात्रा ण उच्छादज्जंति, तो पुणो वि खाइस्संति । ताहे चाणक्रेण चितियं-एस मए लढे चोरग्गाहो, एस णंदंतेणया समूलया उच्छरिसिहिइ । चोर-ग्गाहो क्रे, तेण तिदंणिणा विस्संभया-अग्गे सम्मिलिया मुसामो ति । तेहिं अग्गे वि अक्खाया-जे तथ मुसगा बहुया, सुहतरागं मुसामो ति । तेहिं अग्गे वि अक्खाया । ताहे ते तेण चोरग्गाहेण मिक्खिण सव्वं वि मारिया । एवं अहम्मजुत्तं ण भाणियव्वं, एय कायव्वंति । इदं तावल्लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि चरणकरणाणुयोगं ज्ञानानुयोगं चाधिकृत्य सूचितम-बगतव्यम्, एकग्रहणात्तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् । तत्र च-रणकरणानुयोगेन-“ एवं अहम्मजुत्तं, कायव्वं किं वि ज्ञाणि-व्वं वा । थोवगुणं बहुदासं, विसेसओ ठाणपत्तेण ॥ १ ॥ त-म्हा सो अग्गेसि पि आलंबणं होइ ” ज्ञानानुयोगे तु-“ वाद-स्मि तदा रुवे, विज्जाय बरेण पवयणछाप । कुज्जा सावज्जं पि इ, जइ मोरीण उलिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिवायगो विलक्खी-कओ ति” ॥ औदाहरणदापयता चास्याधर्मयुक्तत्वादेव भावनी-येति । गतमधर्मयुक्तद्वारम् । दश० १ अ० ।

अध (६) म्पत्थिकाय-अधर्मास्तिकाय-पुं० । न धारयति

गतिपरिणतावपि जीवपुद्गलैस्तत्स्वभावतया नाऽवस्थापय-ति, स्थित्युपपन्नकत्वात्तस्येति अधर्मः, स चासौ अस्तिकाय-श्च । उक्तं ३५ अ० । कर्म० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणामप-रिणतानां तत्परिणामोपपन्नकंऽमूर्तेऽसहस्यतत्प्रदेशसंघा-तात्मके द्रव्यविशेषे, प्रज्ञा० पद । अनु० । स्या । आव० । द्रव्या० । (सिद्धिरस्य ‘अस्थिकाय’ शब्दे ऽस्मिन्नेव मानं ५१३ पृष्ठे दर्शिता)

तत्त्वं च—

अहम्मत्थिकाए णं जंते ! जीवाणं किं पवतइ ? गो-यमा ! अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं ठाणणि सीयणतुयट्ठण, मणस्स य एग ती भावकर गयः जे यावमे तहप्पगारा थि-रसजावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तंति ठाणलक्ख-णं अहम्मत्थिकाए ।

(ठाणनिमीयणतुयट्ठणं ति) कायेत्संगासनशयनानि, प्रथ-मावहुवचनलोपदर्शनात् । तथा मनसश्च अनेकत्वस्यैकत्वस्य भवनमकत्वाज्ञावस्तस्य यत्करणं तत्तथा । ज० १३ श० ४ उ० ।

अस्येमान्यभिधचनानि—

अहम्मत्थिकायस्स णं जंते ! केवया अजिवयणा पण-त्ता ? गोयमा ! अणेगा अजिवयणा पणत्ता । तं जहा-अधम्मंति वा अधम्मत्थिकाएति वा, पाणातिवाय० जाव मिच्छादंससद्धेति वा इरियाअमपि त वा० जाव उच्चारपा-सवण० जाव पारिडावणिया असमितीति वा मणअगुत्ती-ति वा वइअगुत्तंति वा कायअगुत्तीति वा, जे यावप्पे तह-प्पगारा सव्वे ते अहम्मत्थिकायस्स अजिवयणा । ज० २० श० २ उ० ।

‘अद्द अहम्मत्थिकायमज्झप्पएसो पणत्ता’ । ते च रुचकरूपा इति । स्था० ८ ग० ।

अधर्मास्तिकायसिद्धिः—अधर्मोऽधर्मास्तिकायः, स्थितिः स्थानं गतिनिवृत्तिरित्यर्थः । तल्लक्षणमस्येति स्थानलक्षणः । स हि स्थि-तिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिलक्षणकार्यं प्रत्येककारण-त्वेन व्याप्रियत इति, तेनैव तद्वत् इत्युच्यते । अवेनाप्यनुमान-मेव सूचितम् । तच्छेदम-यत्कार्यं तत्तदपेक्षाकारणवत्, यथा-घ-टादि कार्यम् । तथा चासौ स्थितिः, यश्च तदपेक्षाकारणं तदधर्मा-स्तिकाय इति । अत्र च नैयायिकादिः सौगतो वा वदेत्-नास्त्य-धर्मास्तिकायः, अनुपलभ्यमानात्, शशविषाणवत् । तत्र यदि नैयायिकः, तदाऽसौ वाच्यः—कथं जयतोऽपि दिगादयः सन्ति ?, अथ दिगादिप्रत्ययलक्षणकार्यदर्शनाद्भाति हि कार्यात्कारणानु-मानम्, एवं सति स्थितिग्रहणकार्यदर्शनादयमप्यस्ताति किं न गम्यते ? अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्यान्यतोऽसंभवात्तत्कार-णभूतान् दिगादीन् अनुमिमीमहे इति मतिरिहाप्याकाशादीना-मवगादनादिस्वस्वकार्यव्यापृतत्वेन ततोऽसंजवात्, अधर्मा-स्तिकायस्यैव स्थितिग्रहणं कार्यमिति किं नानुमीयते ? अथा-सं न कदाचिद् दृष्टः, एतदिगादिष्वपि समानम् । अथ सौगतः, सांख्येवं वक्तव्यः, यथा-भवतः कथं बाह्यार्थसंसिद्धिः ? नहि कदाचिदसौ प्रत्यक्षगोचरः, साकारज्ञानादिनः सदा तदाकार-स्यैव संवेदनात् । तथा च तस्याप्यनुलक्ष्यमानत्वाद्भाति एव । अधाकारसंवेदनेऽपि तत्कारिणमर्थं परिकल्पते, धूमज्ञान इत्या-

भिः । एवं स्थितिदर्शनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मास्तिकाय-
स्य निश्चयः । अध्यायमप्यभिधीत-न कदाचिदसौ तत्कारण-
त्वेन क्लृप्त इति । ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतत् । न हि सोऽपि त-
दाकारतया कदाचिदवलोकितः । अथ मनस्कारस्य चिद्वपता-
यामेव व्यापारः, न तु नियताकारत्वे, अनस्तवार्थः कारणं क-
ल्प्यते, एवं तर्हि जीवपुण्यपरिणाममात्र एव कारणं, स्थितिप-
रणतो पुनरधर्मास्तिकायापेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति किं
न कल्पते ? । अध्यासौ सर्वदा सर्वस्य सन्निहित इत्यनियमेन
स्थितिकारणं भवेत् । ननु एवमर्थोऽपि किं न सन्निहित इत्येवं
स्वाकारमर्पयति ? । अथ चक्रुर्गदिग्यापारमयमेकते, अधर्म-
स्तिकायोऽपि तर्हि स्वरगतो विश्रमाप्रयोगानपेकत इति नान-
योर्विशेषमुपस्थाप्यता-तथा-नाजन्तमाधारः सर्वव्यापारं जीवादी-
नां नभ आकाशम्, अवगाहोऽयकाशस्तद्वृत्तमस्यैववगाहवृत्त-
गम्, तद्व्यवगाहं प्रवृत्तानामात्र-दन्त-भवति, अनेनायम् इकारण-
व्यमाकाशस्याक्तम् । न चास्य तत्कारणत्वमस्तिरुम्, यतो य-
दन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्यम्, यथा-चक्रुराद्यन्वयव्य-
तिरेकानुविधायि रूपादिविज्ञानम्, आकाशान्वयव्यतिरेकानुवि-
धायि चावगाहः । तथाहि-मुषिरूपमाकाशं, तत्रैव चावगा-
हः, न तु तद्विपरीते पुच्छादौ । अथैवमत्राकाशोऽपि कथं
नावगाहः ?, उच्यते-न्यादेवं यदि कचिदवगाहिता भवेत् ।
तत्र तु धर्मस्तिकायस्य जीवादीनां चामत्वेन तस्यैवाभाव-
इति कल्प्यान् । समस्तु नित्यैवमपि न तत्सिद्धिः, हेतोरसिद्धत्वात्,
तदसिद्धिश्चान्वयानायात् ; सति हि तस्मिन् भवत्यन्वयः । न च
तत्त्वमिच्छिरस्ति, अन्वयानावे च व्यतिरेकस्याप्यसिद्धिरस्ती-
ति । उक्तं २८ अ० ।

अथ (ह) म्पदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मकारणश्चामौ दानं च
अधर्मोपपत्तं वा दानमधर्मदानम् । दानभेदे, यथा-“हिंसाऽनत-
चार्योयत-परपरिग्रहप्रसक्तैः । यद्दीयते हि तेषां, तज्जानी-
यादधर्माय ” ॥२॥ इति । स्था० १० ग० ।

अथ (ह) म्पदार-अधर्मदार-न० । आश्रयद्वारे, “पदमं अहम्म-
दारं सम्मत्ते ति वेमि” प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अथ [ह] म्पगण-अधर्मपङ्क-पुं० । अनुपशान्तस्थाने, “अध-
म्मपङ्कस्स विन्ते एवमाहिणः तस्स णे इमाहं तिल्लि तेवछाह
पांचदुयमयाहं जवंतीति माक्खाहं । नं जटा-किरियावाहं,
अकिरियावाहं, अजाणियवाहं, वेणइयवाहं, ” सूत्र० २
श्रु० २ अ० ।

अथ (ह) म्पजगण-अधर्मपजनन-वि० । अधर्मजनयतीति अ-
धर्मपजननः । लोकानामप्यधर्मोत्पादके, रा० ।

अथ (ह) म्पपिमा-अधर्मप्रतिमा-स्त्री० । अधर्मविषया प्रतिमा ।
अधुनचारित्रविषयायां प्रतिज्ञायाम्, अधर्मप्रधाना वा प्रतिमा
अधर्मप्रतिमा । अधर्मप्रधाने शरीरे, “पगा अध (ह) म्पपडि-
मा, जं सि (मे) आया परिकिलेस ति” एका अधर्मप्रतिमा,
सर्वस्य परिकेसकारणतयैकरूपत्वान् । अत एवाह-“जं मे इत्या-
दि” यद्यस्मात्, मे तस्याः स्वास्यात्मा जीवः । अथवा-(सि ति)
पाठान्तरम् । सोऽधर्मप्रतिमावानात्मा परिक्रियते । ततश्च
प्राकृतत्वेन लिङ्गव्यययाद् यस्यामधर्मप्रतिमायां सत्यामात्मा
परिक्रियते सा एकैवेति । स्था० १ ग० १ उ० ।

अथ [ह] म्पपज्जण-अधर्मप्रज्जन-वि० । न धर्मे प्ररज्यते
अधर्मजन्ति ये ते । न० १५ ग० २ उ० । अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रक-

पेण रज्यते इत्यधर्मप्ररज्जनः । रज्ययैरेक्यमिति कृत्वा रेफस्थाने
लकारः । ज्ञा० १८ अ० । अधर्मरागिण, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्पपडोह (ण)-अधर्मप्रलोकिन-वि० । न धर्ममुपादे-
यतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी । ज० १२ श० २ उ० । अध-
र्ममेव प्रलोकयितुं शीलं यस्यासावधर्मप्रलोकी । ज्ञा० १८ अ० ।
अधर्मस्यैव उपादेयतया प्रेक्षके [परिज्ञापके], विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्पराह [ण]-अधर्मरागिन्-वि० । अधर्म एव रागो
यस्य सोऽधर्मरागी । दशा० ६ अ० ।

अथ (ह) म्पमह-अधर्मह-वि० । न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां ते
अधर्मे ह्वयः । दश० १ अ० ।

अथ (ह) म्पममुदायार-अधर्मसमुदाचार-वि० । न धर्मरूपश्चा-
रित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रमोदो वाऽऽचारो यस्य
स तथा । ज० १२ श० २ उ० । चारित्रविकले दुराचारे, विपा०
१ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्पमलमुदायार-अधर्मशीलसमुदाचार-वि० ।
अधर्म एव शीलं स्वभावः समुदाचारश्च यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य
स तथा । स्वभावतश्चेष्टया चाऽधर्मिके, ज्ञा० १८ अ० । विपा० ।

अथ [ह] म्पणुय-अधर्मानुग-वि० । धर्म श्रुतरूपमनुगच्छती-
ति धर्मानुगः, न धर्मानुगोऽधर्मानुगः । भ० १२ श० २ उ० ।
श्रुतचारित्रानुगमनुगते, विपा० १ श्रु० १ अ० । अधर्मे कर्तव्ये-
ऽदृष्टानुमोदनं यस्यासावधर्मानुगः । ज्ञा० १८ अ० । अधर्मानु-
ज्ञायके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्पजोय-अधर्मयोग-पुं० । निमित्तवशीकर-
णादिप्रयोगे, स० ३० सम० ।

अथ [ह] म्पमिह-अधर्मिह-वि० । अतिशयेन धर्मो धर्मिष्ठः;
न धर्मिष्ठोऽधर्मिष्ठः । भ० १२ श० २ उ० । अतिशयेन नि-
धर्मे निस्त्रिशकर्मकारित्वादतिशयेन धर्मवर्जिते, ज्ञा० १८ अ० ।
विपा० । रा० । सूत्र० ।

अधर्मिष्ठ-वि० । अधर्मिणामिष्ठः । अधर्मिणां वल्लभे, भ० १२
श० २ उ० ।

अधर्मिष्ठ-वि० । धर्मः श्रुतचारित्ररूपः एवेष्टः पूजितो वा यस्य
स धर्मिष्ठः । न धर्मिष्ठोऽधर्मिष्ठः । अधर्म एव इष्टो वल्लभः पू-
जितो वा यस्य स तथा । अधर्मिष्ठके, अधर्मसमाजके वा ।
भ० १२ श० २ उ० ।

अथ [ह] म्पमय-अधार्मिक-वि० । न धार्मिकोऽधार्मिकः । धर्मे-
ण श्रुतचारित्रात्मकेन चरतीति धार्मिकः (तथा न) भ० १२ श० २
उ० । अधर्मेण चरतीति अधार्मिकः । ज्ञा० १८ अ० । पापिनि, विपा०
१ श्रु० ३ अ० । असंयते, स्था० १ धर्मे भवं, धर्मो वा प्रयोजनमस्येति
धार्मिकम्, (तथा न) न० १० । धार्मिकविपर्ययस्ते, स्था० ४ उ० ।

अथ (ह) र-अधर-पुं० । न ध्रियते । धृह-अच् । न० त० ।
वाच० । अधस्तनदशनच्छेदे, जं० २ वृत्त० । न० । उपा० । प्रश्न० ।
आत्यन्तिके कारणे, वृ० ३ उ० ।

अथ (ह) रगमण-अधरगमन-न० । अधोगतिगमनकारणे,
“तहा गवालीकं च गरुडं भणंति अध (ह) रगमणं ”
प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अध [ह] रिम-अधरिम-त्रि० । अविद्यमानं धरिममृण-
द्रव्यं यस्मिंस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० उत्तमर्णाधमर्णाभ्यां
परस्परं तदणार्थं न विवदनीयं, किन्तु अस्मत्पार्श्वे सुष्ठं गृ-
हीत्वा ऋणमुत्कलनीयमिति राजाज्ञाविशिष्टं नगरादौ, जं० ३
वक्ष० । विपा० ।

अध [ह] री-अधरी-स्त्री० । पेयणशिलायाम्, “अध-
(ह)रीसंठाणसंठिया दौ वि तस्स पाया ” उपा० १ अ० ।

अध [ह] रीलोढ-अधरीलोढ-पुं० । शिलापुत्रके, “अध-
रीलोढसंठाणसंठिआओ पाएसु अंगुलीओ ” उपा० १ अ० ।

अध (ह) रुद्ध-अधरोष्ठ-न० । इ० स० । ह्रस्वः संयोगे दी-
र्घस्य ” ॥ २१ ॥ इति सूत्रेण ओतो ह्रस्वः । प्रा० । उपरि-
स्थाधःस्थोष्ठयुग्मे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अधस्तनदन्तच्छु-
दे, “आयवियसिलप्पवालविक्कफलसप्पिभाऽधरुहा ” न० ।

अध [ह] व [वा]-अयवा-अव्य० । विकल्पे, नि० चू०
१० उ० ।

अधारणिज्ज-अधारणीय-त्रि० । अविद्यमानो धारणीयोऽध-
मर्णो यस्मिंस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । अविद्यमानाधमर्णे पुरादौ,
विपा० १ श्रु० ३ अ० । आत्मनो धारयितुमशक्ये, भ० ७
श० ६ उ० । अयापनीये, यापनां कर्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा०
८ अ० । विपा० । जं० ।

अधि [हि]-अधि-अव्य० । आधिक्ये, भ० १ श० १ उ० ।

अधि [हि] इ-अधृति-स्त्री० । धृतेरभावे, “तो तुमे पिया एवं
वसरं पाविओ तस्स अधिइ जाया सुणित्तओ चेव उद्धाय-
लोहदंडग्गहा य वियडाणि भंजमि ” आव० ४ अ० ।

अधि [हि] ग-अधिक-त्रि० । अत्यर्थे, वृ० १ उ० ।

अधि (हि) गम-अधिगम-पुं० । अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते
पदार्था येन सोऽधिगमः । आव० ३ अ० । गुरुपदेशजे यथा-
ऽवस्थितपदार्थपरिच्छेदे, एष सम्यक्त्वस्य हेतुविशेषः । नि-
सर्गाद्वाऽधिगमतो जायते । तच्च पञ्चधा-अपशमिकं १ क्षायि-
कं २ क्षायोपशमिकं ३ वेदकं ४ सास्वादने च ५ ॥ ध० २ अधि० ।
“जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोदंइ ” आव० ३ अ० ।
“गुरुपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देहिताम् । यत्तु सम्यक् अदू-
धानं तत्, स्यादधिगमजं परम् ” ॥ १ ॥ “जीवादीणमधि-
गमो, मिच्छत्तस्स खओवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो,
पावेइ विसुक्खपरिणामो ” ॥ ध० २ अधि० ।

अधि [भि] [हि] गमरुद्ध-अधि [भि] गमरुचि-पुं० स्त्री० ।
अधिगमो विशिष्टं परिज्ञानं, तेन रुचिः जिनप्रणीततत्त्वज्ञिनापरूपा
यस्यासावधिगमरुचिः । प्रव० १४६ द्वा० । सरागदर्शनार्थभेदे,
प्रज्ञा० १ पद ।

तत्स्वरूपं च-

सो होइ अजिगमरुद्धं, सुअनाणं जस्म अत्थओ दिट्ठं ।

एकारस अंगाइ, पइन्नगा दिट्ठिवाओ य ॥

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टं, किमुक्तं भवति? येन श्रुतज्ञानस्या-
र्थोऽधिगतो जयतीति । किं पुनस्तच्छ्रुतज्ञानम्? इत्याह- (एका-
रस अंगाइ नि) एकादशाङ्गानि आचाराङ्गादीनि, प्रकीर्णकान्यु-
१४३

सराध्ययननन्त्यध्यानादीनि, दृष्टिवादः परिकर्मसूत्राद्यङ्गत्वेऽपि
पृथगुपादानमस्य प्राधान्यख्यापनार्थम् । चशब्दादुपाङ्गानि चो-
पपातिकादीनि, स जयत्यधिगमरुचिः । प्रव० १४९ द्वा० स्था० ।
अर्हतः सकलसूत्रविषयिण्यां रुचौ, ध० २ अधि० ।

अधि [भि] गमसम्मदंमण-अधिगमसम्यग्दर्शन-न० । ३ त० ।
गुरुपदेशादिजन्ये सम्यग्दर्शनभेदे, यथा भरतस्य । “अजिगम-
सम्मदंसणे, डुविहे पणत्ते । पमिवाई चेव, अपमिवाई चेव ।”
प्रतिपत्तने शीघ्रं प्रतिपाति, सम्यग्दर्शनमौपशमिकं, क्षायोपशमि-
कं वा । अप्रतिपाति क्षायिकम् । स्था० २ ता० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिकृत-न० । अधि-कृ-जावि-क्त । अधि-
कार, दश० १ अ० ।

अधिगत-त्रि० । प्राप्ते, उत्त० १० अ० । विज्ञाते, व्य०
२ उ० । पञ्चा० ।

अधि (हि) गरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्नि-
ति अधिकरणम् । आधारे, यथा चक्रमस्तके घटः । नि० चू०
१ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेनेत्य-
धिकरणम् । कलहे, प्राभृते च । वृ० १ उ० । स० ।

(१) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।

(२) अधिकरणनिकेपः ।

(३) अधिकरणं न करणीयम् ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम् ।

(५) अधिकरणात्पत्तिकारणानि ।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम् ।

(७) जावनिकेपः ।

(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसंक्रान्तिर्न कर्तव्या ।

(९) गच्छादनिर्गतस्याधिकरणे समुत्पन्ने विधिः ।

(१०) खरपरूपाणि भणित्वा गच्छान्निर्गच्छतो विधिः ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽव्यपशमय्य पिण्णग्रह-
णादि न कार्यम् ।

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति ।

(१३) कारणे सन्त्युत्पादयेत् ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि क्वान्तव्युपशमितानि पुनरुद्दि-
रणम् ।

(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम् ।

(१६) निर्ग्रन्थीनिर्व्यतिकृष्टमधिकरणं व्युपशमनीयम् ।

(१७) साधिकरणेनाकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्यः ।

(१८) अधिकरण्यधिकरणनिरूपणम् ।

(१) इमे अधिकरणनिरुक्ता, एगच्छिया य-

अहिकरणमहोकरणं, अहरगतीगाहगं अहोतरणं ।

अक्षितिकरणं च तथा, अहीकरणं च अहिकरणं ॥ १६९ ॥

भावाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः । अथवा-अधिकं अति-
रिक्तं तत्सूत्रं करणं अधिकरणम् । अधो अधस्तात् आत्मनः क-
रणम् । अधगा अधमा जघन्या गतिस्तामात्मानं प्राहयतीति । अ-
धो अधस्ताद्वतारचूर्मि गृहनिश्रेण्यानि वा । न धृतिरतिरतिरत्यर्थः,
अस्याः करणम् । अधीगस्य असत्त्ववतः करणं अधिकरणम् ।
अथवा-अधीः अयुक्तिमान् पुरुषः स तं करोति, इत्यधिकरणम् ।

सो अधिकरणो दुविधो, सपक्खपरपक्खतो य नायवो ।

एकेको वि य दुविधो, गच्छगतो णिगतो चेव ॥ १६६ ॥

साधिकरणे साधु दुविधेन अधिकरणेन प्रवर्तितं चिन्मं दुविधं-सपक्खाधिकरणं, परपक्खाधिकरणं च । सपक्खाधिकरणकारी गच्छगतो, गच्छणिगतो वा, एवं परपक्खाधिकरणे वि दुविधं । नि० चू० १० उ० ।

(२) अस्य निक्षेपस्त्वित्थं नियुक्तिरुदाह-

नामं उवणा दविष्, भावे य चउव्विहं तु अहिगरणं ।

दव्वम्मि जेतमादी, जावे उद्व्यो कसायाणं ॥

नामाधिकरणं, स्थापनाधिकरणं, उव्याधिकरणं, जावाधिकरणं चेति चतुर्विधमधिकरणम् । तत्र नामस्थापने गताये, उव्याधिकरणम्-आगमनो, नो आगमतश्च । आगमनो-अधिकरणशब्दार्थं निरूपयन्तु प्रयुक्ते वक्ता, नो आगमतो शरीरजग्यशरीरस्यतिरिक्तम् । उव्याधिकरणे यन्त्रादिकं दृष्टव्यम्, यन्त्रं नाम दलनयन्त्रादि । भावे जावाधिकरणे कसायाणां क्रोधादीनां उद्व्यो विज्ञेयः ।

तत्र उव्याधिकरणं व्याख्यानयति-

दव्वम्मि उ अधिकरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।

निव्वत्तण निव्वत्तणे, संजोयण निसिरेण य तदा ॥

उव्ये उव्यविषयमधिकरणं चतुर्विधं प्रवृत्तानुपूर्व्या परिपाटया । तद्यथा-निर्वृत्तनाधिकरणं, निक्षेपणाधिकरणं, संयोजनाधिकरणं, निसंज्ञनाधिकरणं च । वृ० १ उ० ।

निव्वत्तणे अधिकरणं दुविधं-मूलकरणं, उत्तरकरणं च । तत्तु मूलनिव्वत्तणाधिकरणं अचविहं भवति-पदमे पंच सरीरा, संघातणमादणे य उजण वा ।

पमिद्वेहाणा पमजण, अरुण अविधी य णिक्खिण्णा ॥ २३५

(पदमे स्ति) निव्वत्तणाधिकरणे पंच सरीरा ओरावियादि, संघातकरणं साडनकरणं च । एवं अद्विहं मूलकरणं ॥ २३५ ॥

पुनः निव्वत्तणाधिकरणसूचं प्रवृत्ति-

णिव्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणे वा वि उत्तरगुणे य ।

मूले पंच सरीरा, दोसु ते संघातणा णत्थि ॥ २३७ ॥

निव्वत्तणाधिकरणं दुविधं-मूलगुणनिव्वत्तणाधिकरणं, उत्तरगुणनिव्वत्तणाधिकरणं च । मूले ओरावियादि पंच सरीरा दृष्टव्या । दोसु य तेयकम्मएसु सव्वे काले संघातणा णत्थि, अनाद्यत्वात् ॥ २३७ ॥

संघातणा य परिसा-डणा य उजयं व जाव आहारं ।

उजयस्स आणियनत्तिरी, आदी अंतं य समओ तु ॥ २३८ ॥

त्रिकं त्रिष्वपि संभवति, उभयं संघातपरिसादौ, तस्स त्रिती भणियता, ठिकादिसमयसंभवात् । संघातो आयाताए सर्वपरिसादो, अंतं एगं एगसमयता ॥ २३८ ॥

सर्वसंघातप्रदर्शनार्थमाह-

द्विपुओ कम्मगारे, दिट्ठता होति तिसु सरीरेसु ।

करणे य खंधकरणे, उत्तरकरणं तु संघटना ॥ २३९ ॥

द्विघितं, तत्तु जो पूतो एव्वति सो द्विपुओ सो य घयपुओ ज्ञप्ति । संघातसंघते पक्खित्ते पदमसमए एगंतेण घयगहनं करोति, वित्तिआदिममएसु गहनं मुंचति य, कम्मकारो बोधकारो,

तेण जहा तपितमायसं जले पक्खित्तं, पदमसमए एगंतेण जालातणं करोति, वित्तिआदिममएसु गहनं मुंचयि य । एवं तिसु ओरावियादिसरीरेसु पदमसमए गहनमेव करोति, वित्तिआदिममएसु संघातपरिसादो, तेयकम्माणं सव्वकालं न संघातपरिसादो, अनाद्यत्वात् । पंचएहं विज्जते सव्वसामो । अद्वानि-एहं ओरावियविउव्विआहारमाणं मूलमकरणा अच-सिरो, उरं, उदरं, पुच्छी, दो बाहाओ, दोणिय ऊरु, सेसं उत्तरकरणं । अद्वानि तिसु आद्वेसु ओरालादी, उत्तरकरणं वेज्जण, खंधकरणं त्रिफलादिघृतादिना वन्नकरणं । अथवा इमं चउव्विहं सव्वकरणं संघायकरणं परिसाडणाकरणं ॥ २३९ ॥

संघाय परिसाडणा, य मीसे तहे व पमिसेहे ।

पमसंखणयणादी, उट्ठति रित्थाणुकरणं तु ॥ २४० ॥

परिसाडणाकरणं, तत्तु ओराविय एगिदियादि पंचविधं, तज्जोणी पाहुमादिणा । जहा सिक्खसेणायरिएण अस्सए कता, जहा वा एगेण आयरिएण सीसस्स उव्विट्ठो जोगो जहा महिसो भवति, तं च सुयं आयरियस्स भाइणिजेण, सो य णिक्खम्मो उ णिक्खंतो माहिसं उपादेजं सोयरियाण हएथे विक्किणइ । आयरिएण सुयं, तत्तु गतो भणानि-किं ते एणए ? अहं ते रयणजोगं पयच्छामि । दव्वे आहरादि । ते य आहारित्ता आयरिएण संजोतिना, एगंते णिक्खित्ता भणितो-एत्तिएण कालेण ओक्खणेज्जाहि, अहं गच्छामि । तेण उक्खित्ता दिट्ठविस्सो सण्णो जाते । सो तेण मारितो, अधिकरणच्छेओ, सो वि सण्णो अंतो मुहुत्तेण मओ । एवं जो णिव्वत्तेइ सरीरं तं अधिकरणकहं, जतो सुत्ते भणियं-जविणे जंते ! ओरावियसरीरं निव्वत्तेमाणे किं अधिकरणं ? अधिकरणो जीवो, अधिकरणी सरीरं, अधिकरणं निव्वत्तणाधिकरणं ॥ निव्वत्तणाधिकरणं गतं ॥ नि० चू० ४ उ० ।

निक्षेपणाधिकरणं द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरिकं च । तत्र यन्मस्यग्रहणार्थं गलनामा बोधकाण्डको कुण्डं वा मृगादीनां ग्रहणाय जालं वा, लावकादीनामर्थाय निक्षिप्यते शतद्रुयादीनि घट्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते, तदेतल्लौकिकं निक्षेपणाधिकरणम् । यस्तु लोकोत्तरिकं तत्तु पक्खिधम्-यत्र पात्राद्युपकरणं निक्षिपति तत्र न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति २, प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३, यत्तु प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति तद्-प्रत्युपेक्षितं ४, दुःप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितम् ५, सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं ६ करोति । एवमेते पञ्चाङ्गा निक्षेपणाधिकरणम् । यस्तु सप्तमो भङ्गः सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं करोतीति लक्षणः, न साधिकरणं; श्रुत्वात् । यद्वा-यद्भुक्तं पानकं वा अपावृतं स्थापयति तन्निक्षेपणाधिकरणम् । वृ० १ उ० ।

इयानि संजोयणा, सा दुविहा-बोइया, बोउत्तरिया य ।

बोइया अनेकविदा-

विसगरमादी लोए, लोउत्तरं भचोवधिमादिम्मि ।

अंतो वदि आहारे, विट्ठियविधा सिच्चणा उव्वी ॥ २४१ ॥

कंसादिलोअणिसिरेण-ओत्तरणा पमादणा जोगे ।

मूलादि जाव चरिमं, अथवा वी जं जदि कमति ॥ २४२ ॥

नि० चू० ५ उ० ।

संयोजनाधिकरणमपि द्विविधम्-लौकिकलोकोत्तरिकभेदान् । तत्र लौकिकं रोगाद्युत्पात्तिकारणं; विषगरादिनिष्पत्तिनियन्त्रं वा दृष्टव्यं संयोजनम् । लोकोत्तरिकं तु

भक्तोपश्रित्यादिष्यसंयोजनम् । वृ० १ उ० ।

इयार्णि णिसिरणा डुविधा-बोइया, बोउत्तरिया, (लोइया) णिसिरणे तिविधा-सहसा पमाएण ; अणानेगेण य, पुवाइ-ट्टेण जोगेण । किंचि सहसा णिसरति पंचविधपमायन्नतरेण पमत्ताणिसरति, एगंन विस्सति अणानेगे तेण णिसरति । नि० चू० ४ उ० ।

निसर्जनाधिकरणमपि लौकिकम्-शरशक्तिचक्रपाषाणादीनां निसर्जनम् । लोकोत्तरिकं तु सहसाकारादिना यत्कण्टककङ्क-रादीनां भक्तपानान्तःपतितानां निसर्जनम् । वृ० १ उ० ।

इयार्णि णिवत्तणादिसु पच्छित्तं, तत्थ णिवत्तणे मूलादि पच्छत्तं । एगिंदियादी णिवत्तयं तस्स अभिक्खमेवं दुक्ख पढमवा-राए मूलं, वितियवाराए अणवत्तं, ततियवाराए पारंत्तियं, अधवा जं जाहि कमति संघट्टणादिकं आयविराहणादिणिप्पणं वा ।

एगिंदियमादीसु तु, मूलं अधवा वि होति सट्ठाणं ।

जुसिरेतरनिप्पणं, उत्तरकरणम्मि पुव्वुत्तं ॥ २४४ ॥

एगिंदियं जाव पंचिंदियं णिवत्ते, तस्स मूत्रं, अहवा वि होति सट्ठाणं ति “ब्रह्मायचउसु” गाहा । परित्तं णिवत्तेति चउवहुं, अणंते चउगुरुं, वेइंदिएहिं डलहुं, तेइंदिए गुरुं, चउरिंदिएहिं वेदो, पंचेदिए मूलं, उत्तरकरणे जुसिराजुसिरणिप्पणं पुव्वुत्तं, इहव पढमुद्देसए पढमसुत्ते णिक्खवसंजोगणिंसिरणेसु इमं पच्छित्तं-

तिय मासिय तिग पणए, णिक्खवसंजोगगुरुगलहुगा वा ।

जुसिरेतरसंतरणिंरं-तरे य वुत्तं णिसरणम्मि ॥ २४५ ॥

सत्तजंगीए पढमवितियततिएसु भंगेसु मासबहुं, चउत्थपंच-मग्गेसु पणंगं, चरिमो सुद्धो तवकात्तविसंसेत्ता कायवो । आ-हारे उवकरणे वा एगे चउगुरुगं, दोसु चउवहुगं । अहवा-सा-मएणेण आहारे चउगुरुगा, उवकरणे बहुरो, णिसिरणे जुसिरा अजुसिरे य संतरणिंरंतरेसु वुत्तं पच्छित्तं पढमसुत्ते । दव्वाहि-करणे गयं । नि० चू० ४ उ० ।

अथ भावाधिकरणमाह-

अह तिरीय उहकरणे, बंधण निवत्तणा य निक्खवणं ।

उवसमखएण उहं, उदएण भवे अहीगरणं ॥

इह क्रोधादीनामुदयो भावाधिकरणमित्युक्तम् । अतस्तेषामेवा-धस्तिर्यगूर्द्धकरणे अधोगतिनयने तिर्यगतिनयने ऊर्द्धगतिनयने च स्वरूपं वक्तव्यम् । वृ० १ उ० ।

(३) अधिकरणं च न करणीयम्-

अहिगरणकडस्स निक्खुणो, वयमाणस्स पसज्ज दारुणं ।

अट्टे परिहायती बहू, अहिगरणं न करिज्ज पान्नि ॥ १९॥

आधिकरणं कवहः, तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः । त-स्यैवं नूनस्य भिक्तोः, तथाऽधिकरणकर्ता दारुणां जयानकां वा प्र-सहा प्रकटमेव, वाचं भुवतः सतोऽर्थोऽमोक्तः, तत्कारणतूतो वा सं-यमः, स बहु परिहीयते ध्वंसमुपयाति । इदमुक्तं भवति-बहुना कालेन यदाजितं विप्रहृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कवहं कुर्वतः प-रोपघातिनीं च वाचं भुवतस्तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति । तथाहि-“ जं अजियं समीख-त्तलपहिं तवनियमवंभमइपहिं । माहुनयं कनइता, छुडु अह सागपत्तेहिं ” इत्येवं मत्वा मनागप्याधिकरणं न कुर्यात् परिहृतः सदसद्विवेकीति । सूत्र० १ शु० २ अ० २ व० ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम्-

जिक्खू य अहिगरणं कडुत्तं अहिगरणं विवसमिच्चा वि अ्रोसइयपाहुने; इच्छाए परो आढाइज्जा, [इच्छाए परो नो आढाइज्जा,] इच्छाए परो अब्भुट्टेज्जा, [इच्छाए परो नो अब्भुट्टेज्जा,] इच्छाए परो वंदिज्जा, इच्छाए परो नो वंदि-ज्जा, इच्छाए परो संजुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संजुंजेज्जा, इच्छाए परो संवसिज्जा, इच्छाए परो नो संवसिज्जा, इच्छाए परो उवसमिज्जा; नो उवसमइ तस्स अत्थि आराइणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराइणा । तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं स किमाहु-जंते ! ; उवसमसारं सामन्नं ॥

भिक्षुः सामान्यः साधुः, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयाधत्वादाचार्यो-पाध्यायावपि गृह्येते । अधिक्रियते नरकगतिगमनयोग्यतां प्रा-प्यते आत्मा अनेनेत्यधिकरणम्, कवहः प्राज्ञतमित्येकार्याः त-त्कृत्वा तथाविधप्रवृत्तेवासिचिन्त्योपबृंहितकपायः मोहनी-योदयो द्वितीयसाधुना सह विधायः ततः स्वयमन्योपदेशेन वा परिभियेत तस्यैहिकामुष्मिकापायबहुलं तां तदधिकरणं विवि-धमनेकैः प्रकारैः स्वापराधप्रतिपत्तिपुरस्सरं मिथ्यादुष्कृतप्रदाने-न तां व्युपशमय्य उपशमं नीत्वा ततो विशेषेणावसायितम-वसानं नीतं प्राज्ञतं कवहो येनाध्यवसायितप्राभृतो व्युत्सृष्टक-वहो जवेत् । किमुक्तं भवति? गुरुसकाशे स्वदुश्चरितमालोच्य, तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं च यथावत्प्रतिपद्य, जुयस्तदकरणायाज्यु-त्तिष्ठेत् । आह-येन सह तदधिकरणमुत्पन्नं स यद्युपशम्यमानो-ऽपि नोपशमयति ततः को विधिः?, इत्याह-“इच्छाए परो आढा-इज्जा” इत्यादि सूत्रम् । इच्छाया यथा स्वरूपव्यापारमाश्रयेत्, प्रागेव संभाषणादिभिरादरं कुर्याद्वा न वेति भावः । एवमिच्छ-या परस्तमज्युत्तिष्ठेत् । इच्छया परो न साधुना सह संजुञ्जीत, एकमेकस्य भोजनं दानग्रहणसंभोगं वा कुर्यात् । इच्छया परो न संजुञ्जीत । इच्छया परस्तेन साधुना सह संवसेत्, समेकी-ज्यैकत्रोपाश्रये वसेत्, इच्छया परो न संवसेत् । इच्छया पर उपशमयेत् । परं य उपशमयति कयायतापापगमेन निवृत्तो भवति तस्यास्ति सम्यग्दर्शनादीनामाराधना, यस्तु नोपशमय-ति तस्य नास्ति तेषामाराधना, तस्मादेवं विचिन्त्यात्मनैवोप-शान्तव्यमुपशमः कर्तव्यः । शिष्यः प्राह-[स किमाहु-भते !] अथ किमत्र कारणमाहुर्भदन्त ! परमकल्याणयोगिनस्तैर्यक-रादयः ? । सूरिराह-उपशमसारं श्रामण्यं, तद्विहीनस्य निष्फ-लतयाऽभिधानात् । उक्तं च दशवैकालिकनिर्युक्तौ-“सामन्नम-णुचरंत-स्स कसाया जस्स उक्कडा होति । मन्नामि उच्छुपुप्फं, च निष्फलं तस्स सामन्नं ” ॥ १ ॥ इति सूत्रार्थः ।

अथ विषमपदानि भाष्यरुद् विवृणोति-

घेप्पंति चसदेणं, आयरिया जिक्खुणीओ अ ।

अहवा जिक्खुगहणा, गहणं खनु होइ सव्वेसिं ॥

इह सूत्रे भिक्षुश्चेति यश्चशब्दः, तेन गणी, उपाध्यायः, तथा आचार्यो, भिक्षुष्यश्च गृह्यन्ते । अथवा-भिक्षुपक्षोपादानात् सर्वे-षामप्याचार्यादीनां ग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणमिति वचनात् ।

स्वामिय विनामिय विणा-सियं च खवियं च होइ एगट्ठा ।

पाहुण पहेण पणयण, एगट्ठा ते उ निरयस्सा ॥

सामितं विनाशमितं, विनाशितं तपितमिति च एकार्थानि पदानि भवन्ति । तथा-प्राभृतं प्रहेणकं प्रणयनमिति वा प्राणय-
प्येकार्थानि । तानि तु प्राभृतादीनि नरकस्य मन्तव्यानि । यत्
एतदधिकरणं नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते । एवं प्र-
हेणकप्रणयनपदे अभिज्ञानीये ।

इच्छा न जिणादेमो, आढा उ ए आदरो जहा पुर्व्वि ।

जुंजण वास मणुन्ने, मेस मणुण्णे च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशस्तार्थकृतामुपदेशोऽयमिति कृत्वा नाद-
रादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छब्देन । तथा आढा नाम
आदरस्तं यथा पूर्व्वमुचितालापादिभिः कृतवांस्तथा कुर्याद्वा न
वा; शेषाणि त्वभ्युत्थानादीनि सुगमानीतिकृत्वा भाष्यकृता न
व्याख्यातानि । अत्र च संभोजनसंवासनपदे मनोभ्रेषु सांभो-
गिकेषु भवतः, शेषाणि त्वादराभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि
मनोभ्रेषु वा सांभोगिकेषु, इतरेषु वा असांभोगिकेषु भवेयुः ।
कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या । वृ० १ उ० ।

(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते ? इत्याशङ्कावकाशमवलोक्य तदु-
त्थानकारणानि दर्शयति—

सच्चित्ते य अचित्ते, मीमवओगयपरिहारंदसकहा ।

सम्पं णाउट्टत्ते, अहिगरणमओ ममुप्पज्जे ॥

सच्चित्ते शैलादौ, अचित्ते वस्त्रपात्रादौ, मिश्रके स्वभाण्डमा-
त्रकोपकरणैः शिञ्जादौ, अनासवेय्ये अपरेण गृहमाणे, तथा
वचोगतं व्यत्याग्रेडितादि । तत्र चाविधीयमाने परिहारः स्था-
पना, तदुपलज्जितानि यानि कुलानि तेषु प्रवेशे क्रियमाणे दे-
शकथायां वा विधीयमानायां एतेषु स्थानेषु प्रतिनोदितो यदि
सम्यक् नावर्तते न प्रतिपद्यते; अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति
निर्युक्तिगाथासमासाधः ।

अथेनामेव विवृणोति—

आजव्वमदेमाणे, गिएहंते तहव मग्गमाणे य ।

सच्चित्तेतरमीसे, वितहपमिवचिओ कलहो ॥

आभाव्यं नाम शैलं, शैलः कस्याप्याचार्यस्योपतस्थे, प्रव्रज्यां
गृहामीति । तमुपस्थितं मत्वा विपरिणमस्य परः कश्चिदाचार्यो
गृह्णाति । ततो मूलाचार्यो ब्रवीति—किमिति मदीयमाभाव्यं गृ-
ह्णासि ? पूर्व्वगृहीतं वा शैलादिकं याचितो मदीयमाभाव्यं किं
न प्रयच्छसीति ? । एवमाभाव्यं सच्चित्तमचित्तं मिश्रं वा तत्का-
लगृहमाणं पूर्व्वगृहीतं वा मार्गमाणमपि यदा विनयप्रतिप-
त्तितो न ददाति तदा सकलहो भवति । विनयप्रतिपत्तिर्नाम
परस्याभाव्यमपि शैलादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते ।

वचोगतद्वारमाह—

वेच्चापेलण लुत्ते, देसाभासा पवंचणे चेव ।

अन्नम्मि य वत्तच्चे, हीणादियअस्सवे चेव ॥

सूत्रं सूत्रविषये, व्यत्याग्रेडिता अपरापरोदेशकाध्ययनश्रुतस्क-
न्धेषु घटनाऽऽज्ञापकश्लोकादीनां योजना । यथा—“सव्वे जीया
वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं” इत्येवेदमालापकपदं घटते-
“सव्वे पाणपिया उ” इत्यादि । तथाभूतं सूत्रं परावर्तयन्
किमेवं सूत्रं व्यत्याग्रेडयसीति प्रतिनोदितो यदि न प्रतिपद्यते
तदाऽधिकरणं भवति । देशीभाषा नाम मरुमात्रवमदाराष्ट्रादिदे-

शानां ज्ञातातोऽन्यत्र देशान्तरे भाषमाण उपदस्यते, उपदस्यमा-
नश्च संस्वरं करोति । यद्वा-प्रपञ्चनं वचनानुकारेण वा करोति,
ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते । अन्यस्मिन् वा
वक्तव्ये कोऽप्यन्यद्वक्ति । यद्वा-हीनाङ्कमधिकाङ्कं वा पदं व-
क्ति । तत्र हीनाङ्कं भास्कर इति वक्तव्ये भास्कर इति वक्ति । अ-
धिकाङ्कं सुवर्णमिति वक्तव्ये सुसुवर्णमिति ब्रवीति ।

परिहारकद्वारमाह—

परिहारियमउत्तिंते, उवियमणह्वाए णिव्विंसंते वा ।

कुच्छियकुले य पविसइ, वा जइ णाउट्टणे कलहो ।

गुरुग्लानबाह्यादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि पारि-
हारिकाण्युच्यन्ते, एकं गीतार्थसंघाटकं मुक्त्वा शेषसंघाट-
कानां परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः । तानि यदि न स्थापयति,
स्थापितानि वा अनर्थं निष्कारणं निर्विशतिः, प्रविशतीत्यर्थः ।
यद्वा-पारिहारिकाणि नाम कुत्सितानि जात्यादिजुगुप्सितानीति
भावः । तेषु कुत्रेषु प्रविशति । एतेषु स्थानेषु यदि नावर्तते न
वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति ।

देशकथा—

देसकहा परिकहणे, एके एके व देसरागम्मि ।

सोरट्टदेस एगे, दाहिण वीयम्मि अहिगरणं ।

न वर्तते साधूनामीदृशी कथां कथयितुम् । स प्राह—कोऽसि
त्वं?, येनैवं मां वारयसि । तथाऽप्यस्थिते अनुपरते सत्यधिक-
रणं भवति । यद्वा—(एकैकं व देसरागम्मि च्छि) एकः साधुः सु-
राष्ट्रं वर्णयति, यथा रमणीयः सुराष्ट्रा विषयः । द्वितीयः प्राह—
कृपमाणूक ! त्वं किं जानासि?, दक्षिणापथ एव प्रधानो देशः ।
एवमेकैकदेशरागेणोत्तरप्रत्युत्तरिकं कुर्वाणयोरधिकरणं भवति ।
वृ० १ उ० । नि० चू० ।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम्—

एवमुत्पन्ने अधिकरणे किं कर्त्तव्यम् ?, इत्याह—

जो अस्स उ उवसमई, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं ।

जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुर्यस्य साधोः प्रज्ञापनया उपशाम्यति तस्य तेन सा-
धुना विध्यापनं कोधाग्निनिर्वापणं कर्त्तव्यम् । यः पुनः साधुरूपे-
कां कुर्यात् स आपद्यते मासिकं बहुकम् ।

लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स ।

उच्छुयमाणा बहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसा ॥

उपेक्षां कुर्वाणस्य लघुको मासः; उपदसत एव मासो गुरु-
कः । अथ उत्पन्नबल्येन तुदति अधिकरणं करोति, विशेषत उ-
त्तेजयतीत्यर्थः । ततश्चत्वारो लघुकाः । अथ कलहं कुर्वतः सहा-
यकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सहसदृश-
दोष इति कृत्वा सदृशं प्रायश्चित्तमापद्यते, चतुर्गुरुकमित्यर्थः ।

तथा चाऽह—

चउरो चउगुरु अहवा, विमेसिया होंति भिक्खुमाईणं ।

अहवा चउगुरुगादी, हवंति उच्छेदिनिट्टवणा ॥

जिजुवृषभोपाध्यायाचार्याणामधिकरणं कुर्वतां प्रत्येकं चतुर्गु-
रकम्, ततश्चत्वारश्चतुर्गुरुका भवन्ति । अथवा त एव चतुर्गुरुकाः,

तपःकाव्यविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-जिज्ञोश्चतुर्गुरुकं तपसा, कलेन च वृषभस्य तदेव कालगुरुकम् । उपाध्यायस्य ऽपोगुरुकम् । आचार्यस्य तपसा कावेन च गुरुकम् । अथवा चतुर्गुरुकादारभ्य षेदे निष्ठापना कर्त्तव्या । तद्यथा-जिज्ञुराधिकरणं करोति चेत् चतुर्गुरुकम् । वृषभस्य षष्ठ्युक्तम् । उपाध्यायस्य षष्ठ्युक्तम् । आचार्यस्याधिकरणं कुर्वाणस्य षेद इति । यथा वाऽधिकरणकरणे आदेशत्रयेण प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि छष्ट्युक्तम्; समानदोषत्वात् ।

अथोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तिया न किरिया, मोक्षु परदं च जयसु आयुष्टे ।

अवि य उवेहा बुक्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्वतो दृष्ट्वा मध्यस्थभावेन निष्ठति, नान्येषामप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परप्रत्यया या क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न जवति, परकृतस्य कर्मण आत्मनि संक्रमाभावात् । तथा यद्येतावाधिकरणादुपशान्त्येते, ततः परार्थकृतो जवति । तं च परार्थं मुक्त्वा यदि मोक्षार्थिनस्तत आत्मार्थं एव स्वाध्यायादिके यतध्वं यत्नं कुरुत । अपि चेत्त्यज्युच्चये । ओघनिर्मुक्तिशालेऽप्युपेक्षा संयमाकृतया प्रोक्ता-“उवेहा संजमो बुक्ता” इति वचनात् । यद्वा-मैत्राप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्रियमानाविनेयेषु मध्ये स्थापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता ततः सैव साधूनां कर्तुमुचितेति ज्ञावः । अत्र सुरिराह—(गुणो वि दोसो हवइ) यदिदमविनेयेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानङ्गीकृत्य; यस्मादसंयतेष्वियमुपेक्षा क्रियमाणा गुणः, संयतेषु क्रियमाणा महान् दोषो जवति । उक्तं चौघनिर्मुक्तावपि-“ संजयगिहचोयणाचोयण य वावार उवेहा ।

अथ ‘परपत्तिया न किरिय सि’ पदं भावयति-

जइ परो पमिसेविका, पावियं पमिसेवणं ।

मज्ज मोणं चरंतस्स, के अट्टे परिहायई ? ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकुशलकर्मोपाधिकरणादिकां प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम मौनमाचरतः को नाम ज्ञानादीनां मध्यादर्थः परिहीयते ? , न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ ‘मोक्षु परदं च जयसु आयुष्टे’ इति पदं व्याचष्टे-

आयुष्टे उवउत्ता, मा परमइ वावका होइ ।

इंदि परट्टाउत्ता, आयुष्टविणासगा होंति ॥

आत्मार्थो नाम ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्रोपयुक्ता जवत । मा परकार्ये अधिकरणोपशमनादौ व्यापृता जवत । इंदीति हेतुप्रदर्शने, यस्मात्परार्थायुक्ता आत्मार्थविनाशकाः स्वाध्यायध्यानाद्यात्मकार्यपरिमन्थकारिणो भवन्ति ।

अथोपहसनोत्तेजनाद्वारे युगपद् व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, इसइ व तस्सोमयाएँ ओहसणा ।

उत्तरदाणं तह मो-सराहि अह होइ उत्तअणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्वतोरेकस्मिन् सीदति सति आचार्योऽन्यो वा जवति-पक्षोऽपि तावददन्तपूर्वः, दम्यतामिदानीमनेन, यदि वा तत्स्वावमतायाः, पश्चात्करणे इत्यर्थः ; स्वयमदृष्टासैरुपहसति, तदुपहसनमुच्यते । तथा तयोर्मध्यायः सीदति तस्योत्तरदा-

नम-अमुकममुकं च ब्रूहि इत्येवं शिक्षापणम्, यद्वा-मा अमुष्माद-पसरत्वं, दृढीभूय तथा लग यथा न तेन पराजयसे । अथैषा उत्तेजनाऽजिघीयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

वायाए हत्थेहिं, पाएहिं व दंतवउरुमादीहिं ।

जो कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं विंति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्मध्यादेकस्य पक्षे ज्ञत्वा यः कोऽपि वाक्ता हस्ताज्यां वा पद्भ्यां वा दन्तैर्वा लगुमादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो भुवते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वाणानां सामान्येन वा अधिकरणे

अनुपशम्यमाने दांपर्शिनार्थमिदमुदाहरणमुच्यते-

अरत्तमज्जे एगं सव्वतो वणसंडमहिंयं महंतं सरं अत्थि । तत्थ य वहणि जलचरथवचरखट्ठचरसत्ताणि अच्छंति । तत्थ एगं महत्तं हत्थिजूहं परिवसइ, अन्नया य गिएहकाले तं हत्थिजूहं पाणिं पाठं गहाउत्तिन्नं मज्जएहदेसकाले सीयवखखवायाए सुहं सुहेणं चिट्ठइ । तत्थ य अदूरदेसे दो सरमा भंमिउमारप्पा । वणदेवयाए अंते दट्ठुं सव्वेसि सनासाए आयोसियं-

“नागा! वा जलवासीया!, सुणेह तसथावरा ! ।

सरमा जत्थ भंमंति, अजावो परियत्तइ” ॥ १ ॥

ता मा एते सरडे उवेक्खह, वारेह तुब्भे । एवं जणि या वि ते जलचरा णो चिंतेति-किं अमहं एते सरमा जंडता काहिंति? । तत्थ य एगो सरडो तो पिद्धितो सो धाणिज्जंतो सुहपमुत्तस्स एगस्स जूहाहिवस्स विलं ति काउं नासापुडं पविट्ठो । विअओ वि तस्स पिद्धओ चेव पविट्ठो, ते सिरकपाले जुप्पं संपलगा । तस्स हत्थिस्स महती अरई जाया । तओ वेयणट्ठे मेहइए अ-समाहंए वट्ठमाणो उट्ठेत्ता तं वणसंमं चुरेइ । बहवे तत्थ वि-स्संता घाइया, जलं च आहोहिंतेण जलचरा घाइया, तद्वाग-पाली य जेइया, तडागं विणट्ठं, ताहे जलचरा सव्वे विणट्ठा ।

जो नागा हस्तिनः ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपादयः ! अपरे च ये व्रसा मृगपशुपक्षिप्रभृतयः ! स्थावराश्च सदकारादयो वृक्षाः !, एते सर्वेऽपि यूयं शृणुत मदीयं वचनम्-यत्र सरसि सरटौ भएरुतः-कलहं कुरुतः; तस्याज्ञावः परिवर्तते, विनाशः संभाव्यत इति भावः ।

अमुमेवार्थमाह-

वणसंडसरे जलथल-खहचरवीसमण देवयाकहणं ।

वारेह सरडुवेक्खण, धारुण गयनास चूरणया ॥

धनकलमते सरसि जलथलखचराणां विश्रमणं, तत्र सरटजण-नं दृष्ट्वा वनदेवतया, नागा वा जलवासीया इत्यादि श्लोककथनं कृत्वा बारयत सरटौ कलहायमानावित्युपदिष्टम् । ततश्च तैर्नागादिभिः सरटयोरुपेक्षणं कृतम्, एकस्य च सरटस्य द्वितीयेन घाटनं कृतं, ततोऽसौ घाट्यमानो गजनासापुष्टं प्रविष्टवान् । तत्पृष्ठं वा द्वितीयोऽ-

पि प्रविष्टः, तयोश्च युद्धे लभ्येऽसद्वेदनात्तेन हास्तिना यत्नस्यैवस्य चूर्णं कृतमिति, एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्ष-
माणानां तत्पक्षसरः सर्वेषामप्याध्यभूतं विनष्टं, तस्मिंश्च विन-
श्यमानं तेऽपि विनष्टाः, एवमत्राप्याचार्यादीनामुपेक्षमाणानां
महान् दोष उपजायते । कथमिति चेत्?, उच्यते—इह तावधि-
करणकारिणावुपेक्षितौ परस्परं मुष्टामुष्टि वा दण्डादपि वा
युध्येतां, ततश्च परस्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः, यतः
स राजादिस्तेषां साधूनां बन्धनं वा, ग्रामनगरादिनिष्कासनं
वा, कष्टकर्मर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्—

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तनाणां ।

साहुपदांसो संमा-रवृणो साहिकरणस्म ॥

तावो, भेदो, अयसो, हातिर्दंशनज्ञानचारित्राणां, तथा-साधुप्र-
द्वेषः संसारवर्जनो जवति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तीति
समासार्थः ।

अथैनामेव गाथां विवृणोति—

अज्जणिय अजणिए वा, तावो जेदो उ जीवचरणेण ।

स्वमरिसं न मीलं, जिहं मषे अयम एवं ॥

तावो द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्रानिभणिते सति चिन्तय-
ति-धिक्कां येन तदानीं स साधुर्वहुनिर्विधैरसद्व्याख्यानैरभ्या-
स्यतः-इत्यभिधं चाक्रुष्टः, एष प्रशस्तस्ताप उच्यते । अथाभणितं
न तथाविधं तस्य सुखे जणितं, ततश्चिन्तयति-हा ! मन्दभाग्यो
विस्मरणशीलोऽहं यन्मया तदीयं ज्ञात्यादिमर्मनिकुरम्वनं प्रका-
शितं, एष अप्रशस्तस्तापो मन्तव्यः । तथा कलहं कृत्वा जीवि-
तनेदं चरणेनेदं वा कुर्यात्, पश्चात्तापात्तत्रेतेसो विहायसादि-
मरणमभ्युपगच्छेयुः, उन्निष्क्रमणं वा कुर्यादिति ज्ञावः । लोकोऽपि
भूयात्-अहो ! अमीनां श्रमणानां रूपसदृशं बहिः प्रशान्ताकारं रूप-
मवशोक्ष्यते, तादृशं शीलं मनःप्रणिधानं नास्ति । यद्वा-किम?,
मन्ये जित्सं लज्जनीयं किमप्यनेन कृतं, येनैवं प्रमत्तानवद्वेदो द-
ृश्यते, एवमादिकमयशः समुच्चयति ।

आकुट्ट तालिए वा, पक्खापक्खि कल्लहम्मि गणभेदो ।

एगयर मृयएहिं व, रायादि सिद्धे गहणादी ॥

जकारमकारादिनिर्वचनैराकृष्टे, तामिते वा चपेटादण्णादि-
भिरादिते सति, पक्षापक्वि परस्परपक्षपरिग्रहेण साधूनां कलहे
ज्ञाते सति गणनेदो जवति, तथा-तयोः पक्षयोर्मध्यादिकतरपक्षेण
राजकुलं गत्वा शिष्टे कथिते सति, सूचकैर्वा राजपुरुषविशेषैः
राजादीनां ज्ञापिते प्रहाण्यकर्षणादयो दोषा जवन्ति ।

वत्तकल्लहो वि न पट्ट-ज वत्तलत्तं यदमणे हाणी ।

नह कोहाइविवट्टी, तह हाणी होइ चरणे वि ॥

वृत्तकलहोऽपि कलहकरणोत्तरकालमपि कषायकमुपितः प-
श्चात्तापनप्रमानसो वा यत्र पत्रति, तेन ज्ञानपरिहाणिः, साधौ प्रद्वे-
षिते साधार्मिकवात्सल्यं विगाधितं भवति, अयात्सद्ये च दर्शन-
परिहाणिः, यथा च क्रोधादीनां कषायाणां वृद्धिस्तथा चरणे-
ऽपि चारित्र्यस्य परिहाणिर्भवति, विशुद्धसंयमस्थानप्रति-
घातेनाविशुद्धसंयमस्थानेषु गमनं भवतीत्यर्थः । एतच्च व्यव-
हारमाश्रित्योक्तम् ।

निश्चयतस्तु—

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।

सादृण पदेसेण य, संसारं सो विवहेइ ।

खुशब्दस्यैवकारार्थत्वादकषायमेव कषायविरहितमेव चारित्र्यं
भगवद्भिः प्रकृतम्, अतो निश्चयनयाजिप्रायेण कषायसहितः संयत
एव न भवति, चारित्र्यशून्यत्वात् । तथा साधूनामुपरि यः प्रद्वे-
षस्तेनासौ संसारं वर्कयति, दीर्घतरं करोति । यत एतं दोषा-
स्तत् उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तर्हि कर्तव्यम् ?, इत्याह—

आगाढे अहिगणणे, उवसम अवकहणा य गुरुवयणं ।

उवसमह कुणह जायं, बहूणया सायपत्तेहिं ॥

आगाढे कर्कशे, अधिकरणे उत्पद्ये द्वयोरप्युपशमः कर्तव्यः ।
कथमित्याह-कलहायमानयोस्तयोः पार्श्वास्थितैः साधुजिरप-
कर्षणमपसारणं कर्तव्यम्, गुरुभिश्चोपशमनार्थमिदं वचनमाभि-
धातव्यम्-आर्याः ! उपशम्यतां पशम्यत । अनुपशान्तानां कुतः
संयमः ?, कुतो वा स्वाध्यायः ?, तस्मादुपशमं कृत्वा स्वाध्यायं
कुरुत । किमेवं छमकवत् कनकरसस्य शाकपत्रैः छुर्दना परित्यागं
कुरुथ ? । कः पुनरयं छमकः ?, उच्यते—

जहा-एगो परिव्वायगो दमगपुरिसं चिंतासोगसागराव-
गाढं पासति । पुच्छति य-किमेवं चिंतापरो ? । तेण से सब्जा-
वो कहितो, दारिहाजिजुतो मि त्ति । तेण जणइ सो-इस्सरं
तुपं करेमि, जतो सीतातव्वातपरिस्समं अग्रणंतेहिं
तिमाखुभावेयणं सढंतेहिं बंजचारीहिं अचित्तकंदमूलपत्त-
पुफफझाहारीहिं समीपत्तपुटएहिं जावतो अरुसमाणे-
हिं धंत्तव्वो । एस से उवचारो । तेण दमगेण सो कणगरसो
उवचारेण गहितो, तुंवयं भारितं । ततो णिगगतो तेण परि-
व्वायेण भणियं-सुरुत्तेण वि तुमे एस सागपत्तेण छड्डि-
यव्वो । ततो सो परिव्वायगो गच्छंतो दमगपुरिसं पुणो २
भणति-मम पजावेण ईमरो जविस्सासि । सो यपुणो २
वज्जमाणो रुटो भणति-जंतुज्झ पसाएण इस्सरत्तणं, तेण
मे न कज्जं, तं कणगरसं सागपत्तेण उड्डेति । ताहं परिव्वा-
येण जणियं-हा हा दुरात्मन ! किमेवं तुमे कयं ? ।

जं अज्जियं समीख-ल्लएहिं तवनियमबंजमइएहिं ।

तं दाणि पच्छ नाहिह, उड्डंतो सागपत्तेहिं ॥

यद्वर्जितं शमीसंयन्धिभिः खल्लकैः पत्रपुटैस्तपोनियमग्रह-
युक्तैः तदिदानीं शाकपत्रैः परित्यजन् पश्चात्परित्यागकाला-
दूर्ध्वमुपरि तं ब्रह्मसि, यथा-दुष्टु मया कृतं, यच्चिरसंचितः
कनकरसः शाकपत्रैरुत्सिच्य परित्यक्तः । एवं परित्याजकेषु
द्रमक उपालब्धः । अथाचार्यस्तावधिकरणकारिणावुपालभते ।
अर्चा यच्चारित्रं कनकरसस्थानीयं तपोनियमग्रहचर्यमयैः श-
मीखल्लकैरर्जितं परीयहोपसर्गादिश्रमं न गणयसि, चिरात्कथं
कथमपि मीलितं तदिदानीं शाकपत्रसदृशैः कषायैः परित्यजन्तः
पश्चात्परित्यक्तमानमनाः स्वयमेव ब्रह्मसि । यथा-हा ! बहुका-
लोपाजितेन संयमकनकरसेन तुम्यकस्थानीयं स्वजीवबहुचर्यं

कृत्वा पश्चात्कलहायमानैः शाकवृत्तपत्रस्थानीयैः कषायैरु-
स्त्रिच्योस्त्रिच्यायमसारीकृतः, शिरस्तुण्डमुण्डनादिश्च प्रव-
न्याप्रयासो मुधैव विहित इति ।

आह—कथमेकमुद्धर्तभाविनाऽपि क्रोधादिना चिरसंचितं
चारित्रं क्षयमुपनीयते ? , उच्यते—

अं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोणीए ।

तं पि य कसायमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

यदजितं चारित्रं देशोनयाऽप्यष्टवर्षाद्यूनयाऽपि पूर्वकोट्या तद-
पि स्तोकमल्पतरकालोपार्जितमित्यपिशब्दार्थः । तदपि कषायि-
तमात्रः, उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाय इत्यर्थः । नाशयति हारयति,
नरः पुरुषो, मुहुत्तेन, अन्तर्मुहुत्तेनेति भावः । यथा—प्रभूतकाल-
संचितोऽपि महान् तृणराशिः सकृत्प्रज्वालितेनापि अग्निना
सकलोऽपि भस्मसाद्भवति; एवं क्रोधानलेनापि सकृदुदीरितेन
चिरसंचितं चारित्रमपि भस्मीभवतीति हृदयम् । एवमाचा-
र्येण सामान्यतस्तयोरनुशिष्टिर्दातव्या, नत्वेकमेव कश्चन वि-
शिष्य भूणीयम् ।

यत आह—

आयरिणं न जणे अह, एग निवारेइ मासियं लहुगं ।

रागदोसविमुको, सोयधरसमो उ आयरिओ ॥

आचार्यो नैकमधिकरणकारिणं भणति अनुशास्ति । अथा-
चार्य एकमेव निवारयति अनुशास्ति न द्वितीयम्, ततो मा-
सिकं लघुकमापद्यते, असामाचारिणीषन्नमिति भावः । त-
स्मादाचार्यो रागद्वेषविमुक्तः शीतगृहसमो भवेत् । शीतगृहं
नाम वर्द्धकिरननिर्मितं चक्रवर्तिगृहम्; तच्च वर्षास्वानिवातप्र-
वातम्; शीतकाले सोष्मम्; ग्रीष्मकाले शीतलम्; यथा च तच्च-
क्रवर्तिनः सर्वतुल्यं तथा दमकादेरपि प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्व-
तुल्यमेव भवति । एवमाचार्यैरपि निर्विशेषैर्भवितव्यम् ।

अथ विशेषं करोति, तत इमे दोषाः—

वारेइ एस एवं, ममं न वारेइ पक्खरागेणं ।

बाहिरभाव गाढतर-गं तुपं च पेक्खसी एक्कं ॥

एष आचार्य आत्मीयोऽयमिति बुद्ध्या अमुं वारयति; एवं प-
क्षरागेण क्रियमाणेन अननुशिष्यमाणः साधुर्बाह्यभावं गच्छ-
ति । यद्वा-स अननुशिष्यमाणो गाढतरमधिकरणं कुर्यात् । अ-
थवा—तमाचार्यं परिस्फुटमेव ब्रूयात्—त्वं मामेवैकं बाह्यतया
प्रेक्षसे, ततश्चात्मानमुद्धय यदि मारयति, तत आचार्यस्य पा-
राश्रिकम्; अथो निष्कामति ततो मूलमा तस्माद् द्वावप्यनुशा-
सनीयौ, अनुशिष्टौ च यद्युपशान्तौ ततः सुन्दरम् । अप्रैक
उपशान्तो न द्वितीयः, तेन चोपशान्तेन गत्वा स स्वापराधप्र-
तिपत्तिपुरस्सरं ज्ञामितः, परमसौ नोपशाम्यति । आह—कथ-
मेतदसौ जानाति यथाऽयं नोपशान्तः?, उच्यते—यदा वन्द्यमा-
नोऽपि न वन्दनकं प्रतीच्छति । यदि वाऽवमरनकोऽसौ ततस्तं
रत्नाधिकं न वन्दते, आद्रियमाणोऽपि वा नाद्रियते ।

एवं तमनुपशान्तमुपलभ्य ततोऽसौ किं करोतीत्याह—

उवसंतोऽणुवसंतं, पासिज्जा विणवेइ आयरियं ।

तस्स उ पन्नवणट्ठा, निक्खेवो परो इमो होइ ॥

उपशान्तः साधुरनुपशान्तमपरं दृष्ट्वा आचार्यं विज्ञापयति—

कमाश्रमणाः ! उपशान्तोऽहं, परमेव ज्येष्ठार्योऽमुको वा नोप-
शाम्यति । तत आचार्यस्तस्य प्रज्ञापनार्थं परनिक्षेपं कुर्वन्ति ।
वृ० १ उ० । (स च परनिक्षेपः ' पर ' शब्द एव करिष्यते)

(७) अथ भावपरो व्याख्यायते, ज्ञावः कथोपशमादिः, तद-
पेक्षया परो ज्ञावान्तरवर्त्ती, ज्ञावान्तरः स वेदोदयिकज्ञावृ-
त्तिगृह्यते । तथा चाऽऽह—

आढणमवुट्ठाणं, वंदणं संजुजणा य संवामो ।

एयाइं जो कुणई, आराहणं अकुणओ नत्थि ।

अकसायं निव्वाणं, सव्वेहिं वि जिणवरोहिं पन्नत्तं ।

सो लब्धइ भावपरो, जो उवसंते अणुवसंतो ॥

आदरः, अभ्युत्थानं, वन्दनं, संभोजनं, संवासश्चेत्यानिपदानि
य उपशान्तो ज्ञत्वा करोति तस्याऽऽराधना अस्ति, यस्त्वेतानि
न करोति तस्याऽऽराधना नास्ति । एतेन “जो उवसमइ तस्स
अत्थि आराहणा” इत्यादिकः सूत्रावयवो व्याख्यातः । अथ
किमर्थमादरादिपदानामकरणे आराधना नास्ति?, इत्याह—अ-
कषायं कषायाभावसंभवि निर्वाणं सकलकर्मकृत्यलक्षणं सर्वैरपि
जिनवैरः प्रज्ञप्तम् । अतो यः कश्चिदुपशान्तेऽपि साधवानुपशान्त
आदरादिपदानामकरणेन सकषायः स भावपरो लभ्यते, औद्-
यिकभाववर्तित्वात् ।

अथाचार्यस्तमुपशान्तं साधुं प्रज्ञापयन् प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह—

सो वट्ठइ उदर्ए, भावे तुं पुण खओवसमियम्मि ।

जह सो तुह ज्ञावपरो, एमेव य संजमतवाणं ॥

जो भट्ट ! द्वितीयः साधुरद्याप्यौदयिके भावे वर्तते; त्वं पुनः
ज्ञावोपशमिके ज्ञावे वर्तसे । अतो यथाऽसौ त्वदपेक्षया
भावपरस्तथा संयमतोभ्यामप्येवं परः पृथग्भूत इत्यतस्त्वया
न काचित्तदीयाचिन्ता विधेया । वृ० १ उ० । नि० चू० ।

(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसङ्क्रान्तिर्न कर्तव्या—

निकखु य अहिगरणं अवि ओसमिप्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्ते, कप्पइ तस्म पंचराइदियं जेयं
कहुं, परिनिव्वविय २ दोच्चं पि तमेव गणं पक्खिनेअव्वं
सिया, जहा वा तस्स गाणस्स तहा सिया ॥

भिक्षुः, चशब्दादाचार्योपाध्यायौ वा, अधिकरणं कृत्वा तदधि-
करणमप्यवशमस्य, इच्छेदन्यगणमुपसंपद्य विहर्तुम्, ततः कल्पने
तस्य अन्यगणसंक्रान्तस्य पञ्चरात्रिदिवं छेदं कर्तुम्, ततः परि-
निवाप्य २ कोमलवचःसलिलसेकेन कषायाग्निसंतप्तं सर्वं
शीतलीकृत्य, द्वितीयमपि वारं तमेव गणं संघं प्रतिनेतव्यः
स्यात् । यथा वा तस्य गणस्य, तथा कर्त्तव्यमेवेति सूत्रार्थः ।
वृ० ४ उ० ॥

(९) गच्छादनिर्गतस्याऽधिकरणे उत्पन्ने विधिः—

गच्छा अणिगयस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विधी होइ ।

सज्जायनिकखनत्त-ट्ट पाओसए व चनर एक्केके ।

गच्छादनिर्गतस्यानुपशाम्यतोऽयं विधिर्भवति—सुर्योदयकात्रे यः
स्वाध्यायः क्रियते तदवसरे प्रथममसौ नोद्यते, द्वितीयं भि-
क्षावनरणवेलायां, तृतीयं भकार्यनाकाले, चतुर्थं प्रादोषिका-

वश्यकवेत्यायाम् । एवं चतुरो वारानेकैकस्मिन् दिने नोद्यते,
तच्चाधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तानां स्वाध्यायं प्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे ननुत्पद्यते-

पुण्ड्रिहोहिमादिषु, नोदिर्ऽपि मम अप्रतिवर्ज्यते ।

ए वि पट्वेति उवसम-कात्रो ए मुष्टोजनियं वाऽसी ॥

उत्पत्युपेक्षितं कुर्वन्ः आदिशब्दादत्युपेक्षमाणः, असामाचार्या
वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदतः सम्यग् यदि न प्रतिपद्यते, ततो अ-
धिकरणं भवेत् । उत्पन्ने चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते
स्वयमेवोपशान्तस्ततः सुन्दरम् । अथ नोपशान्तस्ततो यः प्रस्था-
पनार्थमुपनिष्ठते स वारण यः । यथा-तिष्ठतु तावद् यावत् स-
र्वेऽपि नो मिलिताः, तत आगतेषु सर्वेषु सूरयो भुवते-आर्याः !
पश्यत इमे साधवः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । ते चेष्टोत्तरं
प्रयच्छन्त्यवश्यं-कालो न शुभः, पराजितं तेषां साधूनां सूत्र-
भुतं, ततो न स्थापयन्ति । एवं भणतो मासगुरु, साधवश्च स-
र्वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते त्रिकावेलायां जातायामिदमाचार्या जणयन्ते-

णोतरण अजत्तही, ण च वेत्ता अज्जेजणाऽजिष्णं ।

ण य पम्किमंति उवसम, गिरतीयारा तु पच्छाऽऽह ॥

आर्य ! साधवस्त्वदीयेनानुपशमनेन भिक्षां नावचरन्ति, तत
उपशमं कुरु । स चेष्टोत्तरं प्राह-यूयमभक्तार्थिनो, न वा त्रिका-
वेत्ता, एवमुक्ते सर्वेऽप्यवतरन्ति, तस्याभुपशान्तस्य द्वितीयं मास-
गुरु । त्रिकानिवृत्तेषु साधुषु गुरवो जणन्ति-आर्य ! साधवो न
जृञ्जते । स प्राह-तूनां साधूनां न जीर्णम् । एवमुक्ते सर्वेऽपि समु-
दिता वृञ्जते, तस्य पुनस्तृतीयं मासगुरु । चतुर्थोऽपि प्रतिक्रमवे-
लायां भणन्ति-आर्य ! साधवो न प्रतिक्रामन्ति, उपशमं कुरु ।
स चेष्टोत्तरं प्रत्याह-तुगिति वितर्कं, संभावयाम्यहं निरतीचाराः
भ्रमणास्तेन न प्रतिक्रामन्ति, एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति । तस्य
पुनश्चतुर्थकम् । एवं प्रभातकात्रे अधिकरण उत्पन्ने विधिरुक्तः ।

अत्रमि वि कात्रम्मी, पटंत हिंढंत मंदत्ताऽवस्से ।

तिन्नि व दोष्णि व मामा, होंति पडिक्कंत गुरुणा उ ॥

अथान्यस्मिन् काले अधिकरणमुत्पद्यते, कदेत्याह-पठतां दीना-
धिकारादिपठने, भिक्षां दिणममानानां, मगमल्यां वा समुद्दिशतामा-
वश्यके वा । तत्र यदि द्वितीयवेलायामधिकरणमुत्पन्नं तदा
त्रयो गुरुमासाः, चतुर्थवेलायामुत्पन्ने अनुपशान्तस्य द्वौ गुरुमा-
सौ, एवं त्रिनाश कर्तव्या । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे कृते-
ऽपि नोपशान्तस्ततश्चतुर्गुरुकाः ।

एवं दिवमे दिवमे, चाऽकाले तु सारणा तस्म ।

जति वारे ण मारंति, गुरूण गुरूगो तु तति वारे ॥

एवमनुपशान्तस्य दिवसे दिवसे चतुरकाले स्वाध्यायप्रस्था-
पनादिप्रत्येकं, तस्य सारणा कर्तव्या । यदि यावतो वारान्
आचार्यो न सारयति तावतो वारान् मासगुरुकाणि भवन्ति ।

एवं तु अगीतत्ये, गीतत्ये सारिण गुरू सुद्धो ।

जति तं गुरू ण सारं, आवात्ती होइ दोणं पि ।

एवं दिने दिने सारणाविधिगीतार्थस्य कर्तव्यः, यस्तु गीतार्थः
स यद्येकं दिनं स्वाध्यायनिज्ञानकार्यनावश्यकप्रकरणेषु चतुर्षु
स्थानेषु सारितस्तदा परतस्मै सारयन्नपि गुरुः शुभः, यदि पुन-

स्तमगीतार्थं गीतार्थं वा गुरुं सारयति ततो द्वयोऽप्याचार्य-
स्यानुपशान्तस्य प्रायश्चित्तस्यापत्तिः । अन्ये भुवते-अगीतार्थ-
स्यानुपशान्तस्योऽपि नास्ति प्रायश्चित्तं, यस्तु गुरुगीतार्थं न
नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम् ।

गच्छो य दोष्णि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवइ ।

जत्तछणसज्जायं, वंदण लावं ततो परेण ॥

एवमनुपशान्तस्य गच्छो द्वौ मासौ सारयति, इदं पुनः पक्के
पक्के परिहापयति । तद्यथा-अनुपशान्तस्य पक्के गते गच्छे तेन
सार्द्धं भक्तार्थं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि तस्य
ददातीत्यर्थः । द्वितीये पक्के गते स्वाध्यायं तेन समं न करोति,
तृतीये पक्के गते वन्दनं न करोति, चतुर्थोऽपि पक्को यदा गतो भ-
वति ततः परमाद्यापमपि तेन सार्द्धं वर्जयति ।

आयरिय चउर मामे, संजुजति चउर देइ सज्जायं ।

वंदणत्तावे चउरो, तेण परं मूज्जनिच्छुजणा ॥

आचार्यः पुनश्चतुरो मासान् सर्वैरपि प्रकारैस्तेन समं संजु-
क्ते, ततः परं चतुरो मासान् भक्तार्थं वर्जयति, स्वाध्यायं तु
ददाति । ततश्चतुरो मासान् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दनालापौ द-
दाति, ततः परं वर्षे पूर्णे सांवत्सरिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशान्तस्य
गणान्प्रकासनं कर्त्तव्यम् ।

एवं वारसमासे, दोसु तवो सेसए जवे ठेदो ।

परिहीयमाण तद्वि-से तव मूजं पडिक्कंते ॥

एवं द्वादशमास्यामप्यनुपशान्तस्योद्दयोरादिमासयोः यावच्च-
च्छेन विसर्जितस्तावत्तपः प्रायश्चित्तमेव, शेषेषु दशसु मासेषु
पञ्चगव्तिदिवं ठेदो यावत्सांवत्सरिकम्, एवं प्राप्तं जवाति-पर्यु-
षणारात्रौ प्रतिक्रान्तानामधिकरण उत्पन्ने एष विधिरुक्तः । (प-
रिहायमाण तद्वि-से तव मूजं पडिक्कंते) पर्युषणापारणकदिनादेकैकदिवसेन
परिहीयता, तावन्नेयं यावत्तद्वि-से, पर्युषणादिवसे एवाधिकरण
उत्पन्ने तत्र तपो मूलं वा भवति तच्छेदः । अथ प्रतिक्रमणं कु-
र्वतामुत्पन्नं ततः सांवत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूलं च केवलं
भवति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

एवं एकेकादिणे, हवेतु ठवणादिणे वि एमेव ।

चेइयवंदणसारे, तम्मि वि काळे तिमासगुरू ॥

भारूपदशगुरूपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यद्यधिकरणमुत्पद्यते
ततः पर्युषणायामप्यनुपशान्ते संवत्सरो जवति । पष्ठ्यामुत्पन्ने
एकदिवसो न संवत्सरः । सप्तम्यां दिवसद्वयम् । एवमेकैकं दिनं
हापयित्वा तावन्नेयं यावत् प्रस्थापनादिनं पर्युषणादिवसः । तत्र
वाऽनुदिते रवौ कलदे उत्पन्ने एवमेव नोदना कर्त्तव्या । प्रथमं
स्वाध्यायप्रस्थापनं कर्तुं कामः सारणीयम्, ततश्चैत्यवन्दनार्थं
गन्तुकामाः सारथेयुः । तत्राप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलायां सार-
यन्ति । एवं तस्मिन्नपि पर्युषणाकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्था-
पनादिषु स्थानेषु नोदितस्यानुपशान्तस्य त्रीणि मासगुरु-
काणि भवन्ति ।

पडिक्कंते पुण मूजं, पडिक्कंते व होज्ज अधिकरणं ।

संवच्छरमुस्सगो, कयम्मि मूजं न सेसाइं ॥

पर्युषणादिने सर्वेषामधिकरणानां व्यवच्छिन्तिः कर्त्तव्येति-

त्वा प्रतिक्रान्ते समाप्ते आवश्यकं यदि नोपशान्तः, ततो मूलम् ।
(परिक्रमंते व सति) अथ प्रतिक्रमणे प्रारम्भे यावत् सांवत्सरिको
महाकायोत्सर्गः, तावदधिकरणं कृते मूलमेव केवलं, न शेषाणि
प्रायश्चित्तानि ।

संवच्छरं च रुद्धं, आयरिओ रक्खए पयत्तेणं ।

जदि एणम उवसमेज्जा, पव्वयराईसरिसरांसो ॥

एवमाचार्यस्तं रुष्टं संवत्सरं यावत् प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम् ?
इत्याह-यदि नाम कथञ्चिदुपशम्येत । अथ संवत्सरेणापि
नोपशम्यति, ततः पर्वतराजीसदृशरोषः स मन्तव्यः ।

तस्य वर्षादूर्ध्वं को विधिः ?, इत्याह-

अस्से दो आयरिया, एकेकं वरिसमुवेयस्स ।

तेण परं गिहिण सो, वितिथपदे रायपव्वइए ॥

तं वर्षादूर्ध्वं मूलाचार्यसमीपान्निगतमन्यौ द्वावाचार्यौ क्रमेणैकै-
कं वर्षमेतेनैव विधिना प्रयत्नेन संरक्षतः, तन्मध्याद्येनोपशमित-
स्तस्यैवासौ शिष्यः । ततः परं वर्षत्रयादूर्ध्वमेव गृहीक्रियते, सङ्घ-
स्तदीयं लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । द्वितीयपदे राजप्रव्रजितस्य
लिङ्गं प्रस्तारदोपजयान्न ह्रियते । एवं निष्कौरुक्तम् ।

एमेव गणायरिए, गच्छम्मि तवो उ तिन्नि पक्खाई ।

दो पक्खा आयरिए, पुच्छा य कुमारदिट्ठतो ॥

एवमेव गणिन आचार्यस्य च मन्तव्यम् । नवरमुपाध्यायस्या-
नुपशम्यतो गच्छे वसतस्त्रीन्पक्षौस्तपः प्रायश्चित्तम्, परतश्चे-
दः । आचार्यस्यानुपशम्यतो चै पक्षौ तपः, परतश्चेदः । शिष्यः
पृच्छति-किं सदृशपराधे विषमं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ?, रागद्वे-
षिणो यूयम् । आचार्यः प्राह-कुमारदृष्टान्तोऽत्र जवति । स
चोत्तरत्रामिधास्यते । उपाध्यायस्य त्रयः पक्षास्ते दिवसीकृताः
पञ्चचत्वारिंशदिवसा जवन्ति ॥

ततः-

पणयालदिणे गणिणो, चउहा काऊण साहिण्कारो ।

जत्तण-सज्जाए, वंदणलावे य हावेति ।

गणिनः संबन्धिनः पञ्चचत्वारिंशदिवसाः चतुर्धा क्रियन्ते । च-
तुर्भागे च, साधिकाः सपादा एकादश दिवसा जवन्ति । तत्र
गच्छ उपाध्यायेन सममेकादश दिनानि भक्तार्थं करोति । एवं
स्वाध्यायवन्दनाद्यापनमपि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं क-
रोति, परतस्तु परिहापयति । पञ्चचत्वारिंशदिवसानन्तरं
चोपाध्यायस्य दशकच्छेदः । आचार्यस्तथैवोपाध्यायमपि चतु-
र्भिश्चतुर्भिर्मसैर्मकार्थनादीनि परिहापयन् संवत्सरं सारयति ।
आचार्यस्य द्वौ प्रव्रजै दिवसीकृतौ त्रिंशदिवसा जवन्ति ।

ततः-

तीसदिणा आयरिए, अद्धदिणा तु हावणा तत्थ ।

गच्छेण चउपदेहि, णिच्छूढे लगती छेदे ॥

त्रिंशदिवसाश्चतुर्थभागेन विजक्ता अर्धप्रमदिवसा भवन्ति ।
तत्र गच्छे आचार्येण सदार्धप्रमानि दिवसानि भक्तार्थं करोति ।
एवं स्वाध्यायवन्दनाद्यापनमपि यथाक्रममर्धप्रमदिवसैः प्रत्येकं
हापयति । ततः परं गच्छेन चतुर्गिरपि जकार्थनादिभिः पदैर्नि-
ष्कासित आचार्यः पञ्चदशके छेदे लगति ।

ततः-

संकतो अण्णगणं, सगणेण पवजितो चउपदेहि ।

आयरिओ पुण वरिसं, वंदणलावेहि सारेइ ॥

स्वगणेन जकार्थनादिभिश्चतुर्भिः पदैर्यदा वर्जितः, तदा अन्य-
गणं संक्रान्तः, पुनरन्यगणस्याचार्यो केवलं वन्दनालापाज्ज्ञां
द्वाञ्च्यां पदाञ्च्यां संलुञ्जानः सारयति यावद्वर्षम् ।

सज्जायमाइएहि, दिणे दिणे सारणा परगणे वि ।

नवरं पुण नाणत्तं, तवो गुरुस्सेयरे णेदो ॥

परगणेऽपि संक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पदैर्दिने
दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणोपसंक्रान्तस्येदं नानात्वं विशेष-
णः । अन्यगणसक्तस्य गुरोरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम्, इतरस्य
पुनरधिकरणकारिण आचार्यस्यानुपशान्तस्य णेदः । अत्र परः
प्राह-रागद्वेषिणो यूयम्-आचार्यं शीघ्रं णेदं प्रापयथः, उपाध्यायं
बहुतरेण, भिक्षुं ततोऽपि चिरंतरेण । एवं त्रिचूपाध्याययोर्भवतां
रागः, आचार्यं द्वेषः । अत्र सूरिः प्रागुद्दिष्टं कुमारदृष्टान्तमाह-

सरिसावाराधमंडो, जुवरणो भोगहरणबंधादी ।

मज्जिम बंधवहादी, अव्वत्ते कन्नखिस त्ति ॥

“एगस्स रओ तिन्नि पुत्ता-जेठो, मज्जिमो, कणिमो । तेहि य
तिहिं वि समत्थियं-पितरं मारित्ता रज्जं तिहा विजयामो, तं च
रम्मा णायं, तत्थ जेठो जुवराया, तुमं पमाणज्जुओ कोस एवं करे-
सि त्ति ?, तस्स भोगहरणबंधणत्तरणादिया सव्वे दंरुप्पगारा
कया । मज्जिमो रायप्पहाणो त्ति काउं तस्स भोगहरणं न कयं,
बंधवहादिया कया । अव्वत्तो कणेट्ठो एतेहिं वियारिओ त्ति काउं
तस्स कम्मविमोऽणदंमो खिसा दंडो य कओ, न जोगहरणाइया”
अक्षरगमनिका-सदृशोऽप्यपराधे युवराजस्य भोगहरणबन्धना-
दिको महान् दण्डः कृतः । मध्यमस्य बन्धवधादिको, न भोगह-
रणम्, अशक्तः कनिष्ठस्तस्य कर्णामोऽटनादिकः, खिसा च कृता ।
अयमर्थोपनयः । यथा-लोकैर्लोकोत्तरंऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्येषु
पुरुषवस्तुषु बृहत्तमो लघुर्बृहत्तरश्च यथाक्रमं दण्डः क्रियते ।

प्रमाणभूते च पुरुषे अक्रियासु वर्तमाने एते दोषाः-

अप्पच्चय वीसत्थ-त्तणं च दोगे गरहा दुरहिगमो ।

आणाए य परिभवो, एव भयं तो तिहा दंडो ॥

एत एवाचार्यो जगन्ति, अकषायं चारित्रं भवति, स्वयं पुनरि-
त्थं रुष्यन्ति । एवं सर्वेषु देशेष्वप्रत्ययो भवति । रोषसाधूनाम-
पि कषायकरणे विश्वस्तता भवति, लोको वा गर्हा कुर्यात् । प्र-
धान एवामीषां कद्वं करोतीति, रोषणश्च गुरुः शिष्याणां प्रती-
च्छकानां च दुरभिगमो भवति, रोषणस्य साक्षां शिष्याः परिज-
वन्ति, न च भयं तेषां भवति, अतो वस्तुविशेषेण त्रिधा
दण्डः कृतः ।

गच्छम्मि उ पट्टवए, जम्मि पदे निगगतो वितिथं ।

जिक्खुगणायरियाणं, मूलं अण्वड्ड-पारंची ॥

गच्छे यस्मिन् पदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो द्वितीयं पदं परगणे
संक्रान्तः प्राप्नोति, तद् यथा-तपसि प्रस्थापिते यदि निर्गतस्तत-
श्चेदं प्राप्नोति, णेदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो मूलम्, एवं निष्कौरुक्त-
गणावच्छेदकस्यानवस्थाप्ये आचार्यस्य पारञ्चिके पर्यवस्यति ।

अथवा येन ज्ञातार्थनादिना पदेन गच्छन्निर्गतः, ततो द्वितीयपद-
मन्वगणे गतस्य प्रारब्धते । यथा-गच्छन्निर्गतार्थेन पदेन निर्गतः,
ततोऽन्यं गणं गतेन तेन समं गणो न जुहोति, स्वाध्यायं पुनः करो-
ति । एवं स्वाध्यायपदेन निर्गतस्य वृद्धनं करोति । चन्दनपदेन
निर्गतस्यालापं करोति । आलापपदेन निर्गतस्य परगच्छ-
न्निर्गतपदेः परिहारं करोति । ' भिक्षुगणायरियाणं '
इत्यादिना तु त्रयाणामप्यन्त्यप्रायश्चित्तानि गृहीतानि । ४० ५
७० । नि० चू० । (द्वितीयपदं कारणं सत्युत्पादयदित्यधि-
कारोऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(१०) स्वरपरुषाणि भणित्वा गच्छन्निर्गतो विधिः—

यद्यधिकरणं कृत्वा प्रश्नापितोऽपि नोपशाम्यति,

स किं करोति ?, इत्याह—

स्वरफरुसनिहुताइं, अहं सो भणितं अजाणियव्वाइं ।

निगमणं कलुसहियए, सगणे अह्मा परगणे य ॥

प्रयासौ स्वरपरुषानिपुराणि अभिहितव्यानि वचनानि भ-
णित्वा कलुषितद्वयः स्वगच्छान्निर्गमनं करोति, ततो निर्गतस्य
तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्शकानि वक्ष्यमाणा-
नि भवन्ति ।

स्वरपरुषानिपुरपदानि व्याख्याति—

उहं सरोस भणितं, हिंसन-मम्मवयण खरं तं तु ।

अक्रोसणिखचारिं, तमसच्चं पिट्ठरं होति ॥

ऊर्ध्वं महता स्वरेण सरोषं यद्धणितं-हिंसकं मर्मघट्टनवचनं
वा, तत्तु खरं मन्तव्यम् । जकारमकारादिकं यदाक्रोशवचनं यच्च
निरुपचारि विनयोपचाररहितं तत्परुषम् । यदसत्यं सभाया अ-
योग्यं, कस्त्वमित्यादिकं तद् निट्ठरं भण्यते ।

ईदृशानि भणित्वा गच्छन्निर्गतस्याचार्यः प्रायश्चित्तवि-

भागं दर्शयितुकाम इदमाह—

अह्मऽह्मअरुमासा, मासा होंतऽह्मअह्म पयारो ।

वासामु अ मंचरणं, ण चेव इयरे वि पेसंति ॥

स्वे गणे यान्याचार्यसंक्रान्त्यष्टौ स्पर्शकानि, तेषु पक्षे अपरा-
परस्मिन् स्पर्शके संचरतो अष्टावर्द्धमासा भवन्ति । परगण-
मध्येऽप्यष्टसु स्पर्शकेषु पक्षे पक्षे संचरतो अष्टावर्द्धमासाः ।
एषुसुभयेऽपि मीलिता अष्टौ मासा भवन्ति, अष्टसु च ऋतु-
बद्धमासेषु साधूनां प्रचारो विहारो भवतीति कृत्वा अष्टग्रहणं
कृतम् । वर्षासु चतुरो मासान् तस्याधिकरणकारिणः साधोः
संचरणं नास्ति वर्षाकाल इतिकृत्वा इतरेऽपि तेषां स्पर्शकेषु
संक्रान्तस्तेऽपि न प्रश्नाप्यवर्षावास इतिकृत्वा यनो गणादाग-
तस्तत्र न प्रेषयन्ति; तत्र यानि स्वगणे अष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
संक्रान्तस्य तैः स्वाध्यायभिक्षाभोजनप्रतिकरणवेलासु प्रत्येकं
सारणा कर्तव्या । 'आयं । उपशमं कुरु' यद्येवं न सारयन्ति
ततो मासगुरुकम् ।

तस्य पुनरनुपशाम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

मगणम्मि पंच राइं-दियाणि दस परगणे मणुसुं ।

असुं होंद पसरस, बीसा तु गयस्म ओसणो ॥

स्वगणे स्पर्शकेषु संक्रान्तस्यानुपशाम्यतो दिवसे दिवसे प-
ञ्चरात्रिदिवश्छेदः, परगणे मनोक्षेषु सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य
दशरात्रिदिवः; अन्यसांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिदिवः,
अन्यसांभोगेषु पञ्चदशरात्रिदिवः । अवसन्नेषु गतस्य विंश-
तिरात्रिदिवश्छेदः । एवं भिक्षोरुक्तम् ।

अथोपाध्यायाचार्ययोरुच्यते—

एमेव य होइ गणी, दसदिवसादी भिण्णमासंते ।

पसरसादी तु गुरु, चउसु वि गणेषु मासंते ॥

एवमेव गणिन उपाध्यायस्यापि अधिकरणं कृत्वा परगण-
संक्रान्तस्य मन्तव्यम् । नवरं दशरात्रिदिवमादौ कृत्वा भिक्ष-
मासान्तस्तस्य छेदः । एवमेव गुरोरप्याचार्यस्य चतुर्षु स्वग-
णपरगणे सांभोगिकान्यसांभोगिकावसन्नेषु पञ्चदशरात्रिदि-
वादिको मासिकान्तश्छेदः । एतत्पुरुषाणां स्वगणादिस्थान-
विभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

अथ तथैव स्थानेषु पुरुषविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

सगणम्मि पंचराइं-दियाइ जिक्खुस्स तादिवस ठेदो ।

दस होइ अहोरत्ता, गणिआयरिए व पसरसा ॥

स्वगणे संक्रान्तस्य भिक्षास्तदिवसादारभ्य दिने दिने पञ्च-
रात्रिदिवश्छेदः । गणिन उपाध्यायस्य दशरात्रिदिवः । आचा-
र्यस्य पञ्चदशरात्रिदिवः ।

असुगणे भिक्षुस्स य, दस राइंदिया जवे ठेदो ।

पसरस अहोरत्ता, गणिआयरिए भवे बीसा ॥

अन्यगणे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य भिक्षोर्दशरात्रिदिवश्छेदः ।
उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिदिवः । आचार्यस्य विंशतिरात्रिदिवः ।
एवमन्यसांभोगिकेषु अवसन्नेषु च प्रागुक्तानुसारेण नेयम् ।
वृ० ५ उ० ।

एवं एकेकादिणं, हवंतु ठवणा दिणे वि एमेव ।

चेइयवंदणसारिएं, तम्मि व काले तिमासगुरू ॥२१॥

पास्तयादिगयस्स य, बीसं सइंदियाइं जिक्खुस्स ।

पणवीस उवज्झाए, गणिआयरिए जवे मासो ॥२१॥

गणस्य गणे वा आचार्यः, अधवा-गणित्वमाचार्यत्वं च
यस्यास्त्यसौ गणिआयरिओ । नि० चू० १० उ० ।

अथैवं प्रतिदिनं छिद्यमाने पर्याये पक्षेण कियन्तो मासा अ-
मीयां छिद्यन्ते ?, इति जिज्ञासायां छेदसंकल्पनामाह—

अह्माइज्जा मासा, अह्माहि मासा हवंति बीसं तु ।

पंच उ मासा पक्खे, अह्माहि चत्ताउ जिक्खुस्स ॥

स्वगणासंक्रान्तस्य भिक्षोः प्रतिदिनं पञ्चकच्छेदेन छि-
द्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेणाद्धतृतीया मासाः छिद्यन्ते ।
तथाहि-पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तैः पञ्च गुणयन्ते,
जाता पञ्चसमतिः । तस्या मासानयनाय त्रिशता भागे
हते अर्धतृतीयमासा व्यभ्यन्ते, स्वगणे चाष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
पक्षे पक्षे संचरतः पञ्चकच्छेदेन विंशतिर्मासाश्छिद्यन्ते । तथाहि-
पञ्चदशाष्टजिगुणिता जातं विंशोत्तरं शतम्, तदपि पञ्चभि-
गुणितं जातानि पदशतानि । तेषां त्रिशता भागे हते विंशतिर्मासा

लज्यन्ते। एवमुत्तरत्रापि गुणकारभागाद्वारप्रयोगेण स्वबुद्धोप-
युज्य मासा आनतव्याः। परगणे संक्रान्तस्य त्रिकोर्दशकेन वे-
देन त्रियमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च मासाश्चिद्यन्ते, दशकेनै-
व छेदेनाष्टिः पक्षैश्चत्वारिंशमासाश्चिद्यन्ते, एवं भिन्नोक्तम्।

उपाध्यायस्य पुनरिदम्-

पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिं मासा हवन्ति चत्ताउ ।

अच्छऽट्ठमास पक्खे, अट्ठहिं सट्ठी जवे गणिणो ॥

उपाध्यायस्यापि स्वगणे दशकेन वेदेन पक्षेण पञ्च मासाः,
अष्टभिः पक्षैर्गुणिताश्चत्वारिंशमासाः चिद्यन्ते, तस्यैव परगणे प-
ञ्चदशकेन वेदेनार्द्धमासाः पक्षेण चिद्यन्ते। परगणे त-
एवाष्टभिः पक्षैर्गुणिताः पष्टिर्मासा गणितश्चिद्यन्ते।

अच्छऽट्ठमास पक्खे, अट्ठहिं मासा हवन्ति सट्ठी तु ।

दस मासा पक्खेणं, अट्ठहिंऽसीतां उ आयरिए ॥

आचार्यस्य स्वगणे संक्रान्तस्य पञ्चदशकेन वेदेन चिद्यमाने प-
र्याये पक्षेणार्द्धमासा अष्टभिः पक्षैर्गुणिताः पष्टिर्मासाश्चिद्य-
न्ते। तस्यैव परगणसंक्रान्तस्य विशेषेन वेदेन पक्षेण दश मासा
अष्टभिः पक्षैरर्धमासाश्चिद्यन्ते। एवं स्वगणे परगणे च सां-
जोगिकेषु संक्रान्तस्य वेदसंवलनाभिहिता। अन्यसांजोगिकेषु
अवसन्नेषु च संक्रान्तस्य त्रिकोर्पाध्यायस्याचार्यस्य वाऽन्यैव
दिशा वेदसंकलना कर्तव्या।

एसा विही उ निगएँ, सगणे चत्तारि मास उकोसा ।

चत्तारि परगणम्मी, तेण परं मूल निच्छुजणं ॥

एष विधिगच्छान्निर्गतस्योक्तः। अथ च स्वगणे अष्टसु स्पर्ध-
केषु पक्षे पक्षे संचरतश्चत्वारो मासा उत्कर्षतो भवन्ति। परग-
णेऽप्येवं चत्वारो मासाः। एवमप्येष्वपि चत्वारो मासाः। ततः
परं यद्युपशान्तस्ततो मूलम्। अथ नोपशान्तस्तदा निष्कासनं
कर्तव्यम्; लिङ्गमपहरणोपमित्यर्थः।

चांएइ रागदोसे, सगणे थोवं इमं तु नाणत्तं ।

पंतावण निच्छुनणं, परकुञ्जघरघोमिए ए गया ॥

शिष्यः प्रेरयति-रागद्वेषिणो यूयं, यत् स्वगणे स्तोत्रं छेदप्रा-
प्तिं दत्तम्। परगणे तु प्रभूतम्। एवं स्वगणे जवतां रागः, पर-
गणे द्वेषः। गुरुराह-इदं वेदनानात्वं कुर्वतां वयं न रागद्वेषिणः।

तथा चात्र दृष्टान्तः-

एगस्स गिहिणो चउरो भज्जाओ । ततो य ते ए कम्हि एगे
सरिसे अवराहे कते पंतवेता एणोडमम गिहाओ त्ति निच्छू-
ढा, तत्थेगा कम्हि इयरघरम्म गया, विइया कुञ्जघरं, ततिया
जत्तुणो एगसरिरो घोमिओ त्ति वयंसो, तस्स घरं गया,
चउत्थी निच्छुभंती वि वारसहाएल्लगा ढण्णमाणो वि न
गच्छइ, जणइ य-कतो एं वच्चामि?, नत्थि मे अओ
गइविसओ, जइ वि मारेहि तदा वि तुमं चेव गती सरणं
त्ति तत्थेव त्रिया ।

केनापि गृहिणा चतसृणां भार्याणां प्रतापनं कुट्टनं कृत्वा
गृहाभिष्कासनं कृतं तत्रैकापरगृहम्, द्वितीया कुलगृहम्,

तृतीया घाटिका मित्रं, तद्वहं गता, चतुर्थी तु न कापि गता ।

तत्रोत्प्रेण चउत्थी घरसामिणी कया । तइयाए घोमिय-
घरं जंतीए सो चेव अणुवत्तितो विगतरोसेण खरंदिता, आ-
णीता य । वितियाए कुञ्जघरं जंतीए जं पिउगिहवन्नं गहिन्नं
गाढतरं रुद्धेण अन्नहिं जणिणहिं वि गतररोसेण खरंदिता, दं-
मिया य । पढमा दूरे एण्ठेत्ति न ताए किंवि पओगणं, मढंते-
ए वा पच्छित्तदंढेण दंढिउं आणिज्जइ । एवं परसंढाणिया
ओसन्ना, कुञ्जघरसंढाणिया अन्नसंजोइया, घोमियसमा
संजोइया, आनिगमे सघरसमा गच्छे जाव दूरंतरं ताव
मढत्तरो मंमो जवइ । वृ० ५३० ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽन्यवशमस्य पिएड-

प्रहणादि न कार्थ्यम्—

भिक्षु य अहिकरणं कडुत्तं अहिकरणं अविओस-
मिता नां से कप्पइ गाहावडकुञ्जं जत्ताए वा पाणाए वा
निकखमिच्चए वा पविसत्तए वां, बहिया वियारजूमि वा
विहारजूमि वा निकखमिच्चए वा, पविसत्तए वा, गामाणु-
गामं वा दूज्जत्तए गणातो वा गणं संक्रमित्तए वा, वासा-
वासं वा वत्थुं, जत्थे व अप्पणाऽऽयरियउवज्झायं पा-
सेज्जा, बहस्सुयं वज्जागमं तस्संतिए आलोइज्जा, पम्भिकमि-
ज्जा, निदिज्जा, गरहिज्जा, विगुड्देज्जा, विसोइज्जा, अकरण्याए
अवभुट्ठेज्जा, अहारिहं तत्रोक्कम्मं पायच्चित्तं पम्भिवज्जेज्जा, मे
य सुएण पट्ठविए आदिइत्तवे सिया, से य सुएण नो पट्ठ-
विए नो आदिइत्तवे सिया, से य सुएण पट्ठवेज्जमाप्से
नो आइया स निच्छूहियवं सिया ॥

अस्य संबन्धमाह—

केण कयं कीसकयं, निच्छुजओ एस किं इहाणेति? ।

एसो वि गिही तुदितो, करेज्ज कडुहं असहमाणो ॥

केनेदं वहनं काष्ठानयनं कृतं, कस्मादेतत् कृतं, निष्कासितोऽ-
प्येष किमर्थमिहानयति, एवमादिभिर्वचोभिर्गृहिणा तुदितो
व्यथितः कश्चिदसहमानः कलहं कुर्यात्। अत इदमधिकरणसू-
त्रमारभ्यते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-भिर्भुः प्रागु-
क्तः, चशब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः। अधिकरणं कलहं कृत्वा
नो कल्पते तस्य तदधिकरणमन्यवशमस्य गृहपतिकुलं भ-
क्ताय वा पानाय वा निष्कसितुं वा, प्रवेष्टुं वा, प्रामाण्यं वा
गन्तुं विहर्तुं, गणाद्वा गणं संक्रमितुं, वर्षावासं वा वस्तुं, किंतु
यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायं पश्येत्, कथंभूतम्?, बहुभुतं छेदप्र-
त्यादिकुशलम्। बह्वागमं अर्थतः प्रभूतागमम्, तत्र तस्यान्तिके
आलोचयत् स्वापराधं वचसा प्रकटयेत्। प्रतिक्रमेत् मि-
थ्यादुःकृतं तद्विषये दद्यात्। निन्धाद् आत्मसाक्षिकं जुगु-
प्सेत, गर्हेत गुरुसाक्षिकं निन्धात्। इह च निन्दनं गर्हणं वा
तात्त्विकं तदा भवति यदा तत्करणतः प्रतिनिवर्तते। तत-
आह-अयवर्तते तस्मादपराधपदाश्रितवर्तते, श्यावचावपि कृता-

त्वापात्तदा मुच्यते, यदात्मनो विशोधिर्भवति । तत आह-आ-
त्मानं विशोधयेत् पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । विशुद्धिः
पुनः पुनः करुणायामुपपद्यते । ततस्तामेवाऽऽह-अकरणता
अकरणीयता, तथा अभ्युत्तिष्ठेत् । पुनरकरणतया अभ्युत्था-
नेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भवति । तत आह-य-
थाहं यथायोग्यं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । तच्च प्रायश्चि-
तमाचार्येण श्रुतेन श्रुतानुसारेण यदि प्रस्थापितं प्रदत्तं तदा
आवातव्यं ग्राह्यं स्याद्भवत् । अथ श्रुतेन न प्रस्थापितं तदा
नावातव्यं स्यात् । स चाऽऽलोचको यदि श्रुतेन प्रस्थाप्यमान-
मपि तत्प्रायश्चित्तं नाददाति न प्रतिपद्यते ततः स निच्छूहि-
तव्यः, अन्यत्र शोधिं कुरुष्वेति निषेधनीयः स्यात् । इति
सुवार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

अवियत्त कुलपवेसे, अञ्चुमि अणेसणिज्जपडिसेहे ।

अवहारमंगलुत्तर-सजावअवियत्तमिच्छत्ते ॥

अविदितभूमिस्थाने कथमधिकरणमुत्पन्नम्?, इत्यस्यां जिज्ञा-
सायामभिधीयते-कस्मिंश्चित् कुत्रे साधवः प्रविशन्तोऽप्रीतिक-
गस्तवाजानतामनाम्रोगाद्वा प्रवेशे गृहपतिराक्रोशेद्, वा हन्याद्,
वा साधुरप्यसहमानः प्रत्याक्रोशेत्; ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । प-
वमतिभूमिं प्रविष्टे श्रुतेषणीयभिक्षाया वा प्रतिषेधे, शैकस्य वा
संज्ञातकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहिणः साधुं दृष्ट्वा
अमङ्गलमिति प्रतिपत्तौ समयविचारेण वा प्रत्युत्तरं दातुमस-
मर्थो गृहस्थस्वभावेन वा क्वापि साधौ (अवियत्ते) अनिष्टे
दृष्टे अभिग्रहमिथ्यादृष्टेर्वा सामान्यतः साधाववलोकिते अधि-
करणमुत्पद्यते ।

पडिसेधे पडिसेधो, भिक्खुवियारे विहार गामे व ।

दोसा मा होज्ज बहु, तम्हा आलोयणा मोयी ॥

भगवद्भिः प्रतिषिद्धं न वर्तते साधूनामधिकरणं कर्तुम्, एवं
विधिप्राप्तपेधे भूयः प्रतिषेधः क्रियते । कदाचित्तदधिकरणं
गृहिणा समं कृतं नयेत्, कृत्वा च तस्मिन्नुपशमिते भिक्षार्थं न
हिण्डनीयम्, विचारचूमाविहारभूमौ वा न गन्तव्यम्, प्रामा-
न्प्रामं न विहतव्यम् । कुतः?, इत्याह-मा बहुवो बन्धनकण्टक-
मर्दनादयो दोषा भवेयुः । तस्मात्तं गृहस्थमुपशमय गुरुणाम-
न्तिकं आलोचना दातव्या । ततः शोधिः प्रतीच्छनीया ।

इदमेव भाषयति—

अधिकरणं गिहस्येहिं, ओसारणं कट्टणा य आगमणं ।

आलोयणं पत्यवणं, अपेमणे होंति चउ झहुगा ॥

गृहस्थैः समप्रधिकरणे उच्यते द्वितीयेन साधूना तस्य साधोरप-
सारणं कर्तव्यम् । अथ नापसरति ततो बाहौ गृहीन्वा आक-
र्षणीयः । इदं च यत्तव्यम्-न वर्तते मम त्वया साधिकरणेन
समं भिक्षामटितुम् । अतिप्रतिश्रये परिनिवर्तमानेहे । पञ्चमुक्ता
प्रतिश्रयमागत्य गुरुणामालोचनीयम् । ततो गुरुभिरुपशमार्थं
वृषभास्तस्य गृहस्थस्य मूले प्रेषणीयाः । यदि न प्रेषयन्ति त-
दा चतुल्लु ।

अणादिणो य दोसा, बंधणणिच्छुभणकरुणमादाय ।

वृगगइण सत्थेणं, अणणवकरणं विसं वारे ॥

आज्ञादयश्च दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिक-
रणं ज्ञातं तस्यानेकेषां वा साधूनां बन्धनं निष्कासनं वा कुर्यात् ।
कटकमादाय सर्वानपि साधून् कोऽपि व्यपरोपयेत् । व्युदग्राह-
णं वा लोकस्य कुर्यात् । नास्त्यमीषां दत्ते परलोकफलम्, य-
द्वाऽमी संज्ञां व्युत्सृज्य विकिर्गन्ति, न च निर्लेपयन्ति, खड्गादिना
वा शस्त्रेण साधुना हन्यात् । अग्निकायेन वा प्रतिश्रयं दहेत् ।
उपकरणं वा अपहरेत्, त्रिपं गरादिकं वा दद्यात्, भिक्षां वा
वारयेत् ।

तच्च वारण्यमेतेषु स्थानेषु कारयेत्—

रज्जे देसे गामे, णिवेसणे गिहे निवारणं कुणाति ।

जा तेण विणा हाणी, कुलगणसंघे य पञ्जारो ॥

राज्ये सकलेऽपि निवारणं कारयेत् । एतेषां भक्तमुपधि वस-
ति वा मा दद्यात् । एवं देशे, ग्रामे, निवेशने, गृहे वा, निवारणं
करोति । ततो या तेन भक्तादिना विना परिहाणिस्तां वृषजानप्रे-
षयन् गुरुः प्राप्नोति । अथवा यः प्रभवति स कुलस्य गणस्य सङ्घ-
स्य वा प्रस्तारं विस्तरणं विनाशं कुर्यात् ।

एयस्स एत्थि दोसो, अपरिक्खय दिक्खगस्स अह दोसो ।

पज्जु कुज्जा पञ्जारं, अपज्जु वा कारणे पञ्जणा ॥

गृहस्थः चिन्तयति-एतस्य साधोर्नास्ति दोषः, किं तु य एन-
मपरीक्ष्य दीक्षितवान् तस्याऽयं दोषः । अतस्तमेव घातयामी-
ति विचिन्त्य प्रज्जुः स्वयमेव प्रस्तारं कुर्यात् । अप्रज्जुपि क-
व्यं राजकुले दत्त्वा प्रज्जुणा कारयेत् ।

यत एते दोषाः—

तम्हा खलु पट्टवणं, पुट्ठि वसजा समं च वसजेहिं ।

अणुलोमणं पेच्छामो, णिति अणिच्छंति तं वसजा ॥

तस्माद्वृषभाणां तत्र स्थापनं कर्तव्यम् । (पुट्ठि ति) येन साधुना
अधिकरणं कृतं तावन्न प्रेषयन्ति यावद्वृषजान् पूर्वं प्रज्ञापयन्ति ।
किं कारणम्?, उच्यते-स गृहस्थः तं दृष्ट्वा कदाचिदाहन्यात् ।
अथ ज्ञायते न हनिष्यति ततो वृषभैः समं तमपि प्रेषयन्ति । तत्र
गताश्चादुक्त्ववचोभिरनुलोमं प्रगुणीकरणं तस्य कुर्वन्ति । अ-
थासौ गृहस्थो ब्रूयात्-आनयत तावत्तं कलहकारिणं येनैकवारे
पश्यामः, पश्चात् कृमप्ये । नच ततो वृषभास्तदभिप्रायं ज्ञात्वा
तं साधुं गृहिणः समीपमानयन्ति । अथासौ साधुर्नञ्जति ततो
बलादपि वृषजास्तं तत्र नयन्ति ।

ते च वृषभा ईदृशगुणयुक्ताः प्रस्थाप्यन्ते—

तस्संबंधिं मुही वा, पगया ओयस्सिणो गहियवक्का ।

तस्सेव मुहीसहिया, गमेति वसभा तगे पुवं ॥

तस्य गृहिणः, संयतस्य वा संबन्धिनः सुहृदो वा ते भवेयुः प्र-
गता वोकप्रसिद्धाः, ओजस्विनो बद्धीयांसः, गृहीतवाक्या आ-
देयवचसः, ईदृशा वृषजाः, तस्यैव गृहिणः सुहृद्भिः सहिताः तर्कं
गृहस्थं पूर्वं गमयन्ति ।

कथम्?, इत्याह—

मो निञ्जुम्भति साहू, आयरिए तं च जुज्जसि गमेत्तुं ।

नाऊण वत्थुजावं, तस्स जदी णिंति गिहिसहिया ।

येन साधुना त्वया सह कवदितं स साधुराचार्यैः साम्प्रतं

निष्कास्यते, अस्मदीयं च वचो गुरवो न सुष्ठु शृण्वन्ति ; अत आचार्यान् गमयितुं त्वं युज्यसे-युक्तो भवीसि । एवमुक्ते यथा-चार्यं गमयति-कामयति ततो नष्टम् । अथ भूते-पश्यामस्तावत्तं कलङ्कारिणम् । ततो ज्ञात्वा यस्तुतो गृहस्थस्य भावं किमयं हन्तुकामस्तमानाययति, उत कामयितुकामः ? , एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्यायं सुदृढः, अतस्ते असहिता एव तं साधुं तत्र नयन्ति ।

अथासौ गृही तीव्रकषायतया नोपशाम्यति ततस्तस्य

साधोर्गच्छस्य च रक्षणार्थमयं विधिः-

वीसुं नवस्सप वा, ठ्वेति पेसेति फट्पतित्तो वा ।

देति सहाप सन्वे, वि णेति गिह्णिणे अणुवसंते ॥

विष्वगन्यस्मिन्नुपाश्रये तं साधुं स्थापयन्ति, अन्यग्रामे वा यः स्पर्धकपतिस्तस्यान्तिके प्रेषयन्ति, निर्गच्छतश्च तस्य सहायान् दर्शयति । अथ मासकल्पः पूर्णस्ततः सर्वेऽपि निर्यान्ति निर्गच्छन्ति । एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येदं प्रायश्चित्तम्-

अविभ्रांसियम्मि लहुगा, भिक्खवियारे य वसहिगामे य ।

गणसंकमणे भण्णति, इहं पि तथेव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अव्यवशमिते यदि भिक्षां हिण्णते, विचारान्तरं वा गच्छति, वसते निर्गत्या परसाधुवसति गच्छति; ग्रामानुग्रामं गिरति ; सर्वेषु चतुर्लघु । अथापरं गणं संक्रमति, ततस्तैरन्यगण-साधुभिर्भण्यते-इहापि गृहिणः क्रोधनाः सन्ति, ततस्तत्रैव व्रज ।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

इह वि गिहं अविहणा.ण य वोच्छिष्ठा इहं तुह कसाया ।

आमेसि आगामं, जणस्ससि वच्च तथेव ॥

इहापि ग्रामे गृहिणो अधिपहणाः क्रोधनाः, न चेह समागत-स्य तत्र कथाया व्यवच्छिन्नाः । अतोऽन्येषामप्यस्मदादीनामायासं जनयिष्यासि, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

सिद्धम्मि न संगिज्जति, संकेतम्मि उ अपेसणे लहुगा ।

गुरुगा अजयणकहणे, एगतरदोसतो जं वा ॥

अनुपशान्ते साधौ गणान्तरं संक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसंघाट-कस्तत्र प्रेषणीयः, तेन च संघाटकेन शिष्टे कथिते सति द्विती-याचार्यो न संगृहीयात्, अथ मूलाचार्यः संघाटकं न प्रपश्यति, तदा चतुर्लघु । संघाटको यद्ययतनया कथयति ततश्चतु-र्गुरु । अयतनकथनं नाम-बहुजनमध्ये गच्छे गत्वा भणति-एष निर्धर्मा गृहिभिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सक-त्वेनापि गच्छेन नोपशान्तः । एवमयतनया कथितेन साधुरे-कतरस्य गृहिणः साधुसंघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रद्वेषतो यत्करिष्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तस्मादयं विधिः-

उवसापितो गिहत्थो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चापो ।

दोसा हु अणुवसंते, ए य सुव्वहं तुज्ज सामयं ॥

पूर्वं गुरुणामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वयमेकान्तेन भण्यते, उपशामितः स गृहस्थः, एहि व्रजाम, त्वमपि तं गृहस्थं क्षा-

मय, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभावः सामा-यिकम् । तत्रैवं सकषायस्य भवतो न शुद्ध्यति न शुद्धं भवति । एवमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येऽप्येव-मेव भणनीयः । ततोऽपि चेन्नोपशाम्यति प्रत्युत चेतसि चिन्तयेत-तस्य गृहिणो निमित्तेनहाप्यवकाशं न लभे ।

ततः-

तमतिमिरपदल्लुतो, पावं चित्ते इदीहसंसारी ।

पावं ववसिउकामो, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्यां द्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव च रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भ-ण्यते । यदा पुनस्तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति तदा तमस्तिमिरपदल्लुतमभिधीयते । यथा तत्रैवान्ध-कारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति, एवं यस्त्रीव्रतावतरतमेन कषायोदयेनाभिभूतो भण्यते, तमःशब्दस्येहोपमार्थवाचक-त्वान् । एवं भूतश्चेदपराधे हि तमपश्यन् दीर्घसंसारी तस्य गृह-स्थस्योपरि पापमैश्वर्याज्जीविनाद्वा भ्रंशयिष्यामीति रूपं चिन्त-यति । एवं च पापं कर्तुं व्यवसितं तस्माच्च प्रायश्चित्ते मा-र्गणा भवति ।

वच्चापि वच्चमाणे, चर्रो लहुगा य होति गुरुगा य ।

उग्गिस्सम्मि य छेदो, पहरण मूलं च जं तत्थ ॥

व्रजामि तं गृहस्थं व्यपरोपयामीति संकल्पे चतुर्लघवः । पद-भेदादारभ्य पथि व्रजनश्चतुर्गुरुवः । यदि यष्टिलोष्टादिकं प्रहरणं मार्गयति तदा परलघवः । प्रहरणे लब्धे गृहीते च परगुरुवः । उर्ध्वार्णे प्रहारं छेदः । प्रहारे पतिते यदि न म्रियते ततः छेद एव । अथ मृतस्ततो मूलम् । यत् स्वयं परितापनादिकं सम्भव-ति तत्तत्र वक्तव्यम् ।

एते चापरे दोषाः-

तं चेव णिड्वेती, वंधणणिच्चुज्जणकम्मगमो य ।

आयरिणं गच्छम्मि य, कुलमणं धे य पत्यारे ॥

स गृहस्थस्तं संयतं वधार्थमागतं दृष्ट्वा कदाचित्तत्रैव निष्ठाप-यति-व्यापादयति, तं ग्रामनगरादेर्वा निर्द्धाटयति; कटकमर्दे-न वा गृह्णाति । अथवा कटकमर्दां रुष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छे व्यापादयति; यथा-पालकस्कन्धकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धननिष्कासनादिकमाचार्यस्य अपरगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्यात् । एवं गणस्य वा, संघस्य वा एष प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत आरोपणा दोषाश्च भणिताः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरोपणमाह-

संजतगणो गिहगणो, ग्रामे नगरं व देसरज्जे य ।

अहिधतिरायकुलम्मि य, जा जहिं आरोवणा जणिया ॥

बहवः संयताः संयतगणः, तं सहायं गृह्णाति, एवं गृहगणं वा सहायं गृह्णाति । स च गृहगणो ग्रामं वा नगरं वा देशं वा रा-ज्यं वा भवेद् ; ग्रामादिवास्तव्यजनसमुदाय इत्यर्थः । एतेषां चासंयतादीनां, येऽधिपतयः तां वा सहायत्वेन गृह्णा-ति । अन्यद्वा राजकुलं गृहीत्वा गच्छति । यथा-कालिकाचार्येण त्रिकराजवृन्दम् ; तत्र चैकाकिनो या यत्र संकहपादेवारोपणा भविता सा लेहापि दृष्टव्या ।

एतदेष व्याचष्टे-

संजयगणो तदधिपो, गित्री तु गामपुरदेसरज्जे वा ।

एतेनि चिय अहिवा, एगतरजुमां उभयतो वा ॥

संजयगणः प्रवीतः। तेषां संजयानामधिपस्तदधिपः, आचार्य इत्यर्थः। ये गृहिणः स्वग्रामपुरदेशराजवास्तव्याः, एतेषामधिपनयो वा भवेयुः, तत्र ग्रामाधिपतिः, जेगिकाधिपतिः, पुराधिपतिः, श्रेष्ठाः, कोट्टपात्रो, देशाधिपतिर्देशरज्जको देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिर्महामन्त्री, राजा वा। एतेषामेकतरेणोजयेन वा युक्तो व्रजति, तत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा-

तदि वचंते गुरुगा, दोसु तु उद्धटुग गहण उगुरुगा ।

उगिणपहरण उदो, मूलं जं जत्थ वा पंथे ॥

संजयगणेन तदधिपेन वा उजयेन वा सहाहं व्रजामीति संकल्पे चतुर्गु। पदजेदमादौ कृत्वा तत्र व्रजतश्चतुर्गुरु, प्रहरणस्य मार्गणार्थं दर्शने च द्वयोरपि परमलघु, प्रहरणस्य प्रहणे परगुरु। उद्गीर्णे प्रहरणे उदः। प्रहारे दत्ते मूलम्। यद्वा-परितापनादिकं पुण्यव्यादिविनाशनं यत्र पथि ग्रामे वा करोति तन्निष्पन्नमपि मन्तव्यम्। तथा गृहस्वर्गोऽपि ग्रामेण वा, ग्रामाधिपतिना यावद् राज्येन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा, सह व्रजामीति संकल्पे चतुर्गुरु। पथि गच्छतः प्रहरणं च गृह्नतः परमलघु, गृहीते परगुरुः शयं प्रायवत्। एवं भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम्।

एसेव गमो नियमा, गणियायारिये य होइ णायव्वो ।

एवरं पुण णाणत्तं, अणवट्ठपो य पारंवी ॥

एष एव गमो नियमास्त्रिभिर्न उपाध्यायस्याचार्यस्य, चराध्याय-शास्त्रेऽदिकस्य वा मन्तव्यः। नवरं पुनरत्र नानात्वमधस्तादेकैकपदद्वारेण यत्र भिक्षोर्मूलं, तत्रोपाध्यायस्याऽनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराश्रित्यम्।

तपोऽई च प्रायश्चित्तमित्थं विशेषयितव्यम्-

जिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेगेणं ।

उवकाए आयरिए, दोहि च गुरुगं च णाणत्तं ॥

भिक्षोरेतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि तपःकालाचार्यांश्चतुर्का-नि, गणावच्छेदिकस्यैकतरेण-तपसा कालेन वा गुरुकाणि, उपाध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि-तपःकालाचार्यां गुरुकाणि, एतन्नानात्वं विशेषः।

काऊण अकाऊण व, उवमंत उवट्ठियस्स पच्छित्तं ।

मुत्तेण उ पट्ठवणा, अमुत्त रागो व दोमो वा ॥

गृहस्थस्य प्रहागदिकमपकारं कृत्वाऽकृत्वा वा यद्युपशान्तो निवृत्तः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यर्थं वाऽऽलोकनाभिधानपूर्वकमपुनःकरणेनोपस्थितस्तदा प्रायश्चित्तं दातव्यम्। कथम्?, इत्याह-सूत्रेण प्रायश्चित्तं प्रस्थापनीयम्, अमृत्रोपदेशेन तु प्रस्थापयतो रागो वा द्वेषो वा भवति। प्रवृत्तमापन्नस्य स्वल्पदानं रागः। स्तोकमापन्नस्य प्रभूतदानं द्वेषः।

एवं रागद्वेषाभ्यां प्रायश्चित्तदाने दोषमाह-

यावे जति आवसो, अनिरंगं देति तस्स तं होति ।

मुत्तेण उ पट्ठवणा, मुत्तमणिच्छेति निज्जुट्टणा ॥

स्तोकं प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य यावद् व्यतिरिक्तं ददाति, ततो

यावता अधिकं तावत्तस्य प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तस्य, आज्ञा-दयश्च दोषाः। अधोऽनं ददाति ततो यावता न पूर्यते तावदात्मना प्राप्नोति। अतः सूत्रेण प्रस्थापना कर्त्तव्या। यस्तु सूत्रोक्तं प्रायश्चित्तं नेच्छति, स वक्तव्यः-अन्यत्र शोधं कुरुष्व। एषानि-यूहणा जगयते।

अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे-

जेणऽहियं ऊणं वा, ददाति तावतियमप्पणो पावे ।

अदवा सुत्तादेसा, पावति चउरो अणुग्घाया ॥

यत् यावता अधिकमूनं ददाति तावदात्मना प्राप्नोति। अथवा सूत्रादेशादूनान्तिरिक्तं ददानश्चतुरोऽभ्युद्घातान्मासान् प्राप्नोति।

तच्चेदं निशीथदशमोद्देशकान्तर्गतसूत्रम्-

जे जिक्खू उग्घाए अणुग्घाएयं देइ, अणुग्घाए उग्घाएयं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

(तस्य चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमित्यर्थः)

अथ द्वितीयपदमाह-

वितियं उप्पाएत्तं, सामणपंते असज्ज पंच पया ।

आगादे कारणम्मी, रायस्संसारिए जतणा ॥

द्वितीयपदं नाम अधिकरणमुत्पादयेदपि शासनप्राप्तः प्रवचनप्रत्यनीकोऽसाध्यश्च न यथा, तथा शासितुं शक्यते; ततस्तेन समधिकरणमुत्पाद्य शिक्षणं कर्त्तव्यम्। तत्र च स्वयमसमर्थः संयतग्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सहायतया गृहीयात्। आगादे कारणे राजसंसारिका राजान्तरस्थापना, तामपि यतनया कुर्यात्। तथाहि-यदि राजा अतीव प्रवचनप्राप्तोऽनुशिष्यादिभिरनुकूलोपायैर्न उपशम्यति, ततस्तं राजानं स्फोटयित्वा तद्वंशजमन्यवंशजं वा भञ्जकं राजानं स्थापयेत्।

यश्च तं स्फोटयति स ईदृग्गुणयुक्तो जवति-

विज्जाओरस्सवली, तेयसलल्ली सहायलद्धी वा ।

उप्पादेत्तं सामानि, अतिपंतं काव्वगज्जो व्व ॥

यो विद्याबलेन युक्तः, यथा-आर्यस्वपुटः औरसेन वा बलेन युक्तः, यथा-बाहुबली। तेजोबल्यो वा सलब्धिकः, यथा-ब्रह्मदत्तः। संतूतभवे सहायबलियुक्तः, यथा-हरिकेशयलः। ईदृशोऽधिकरणमुत्पाद्यातिप्रान्तमतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्ति, कालिकाचार्य इव। यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्लराजानं शासितवाद्। ४०४ उ०।

कथानकं चेत्थम्-

को उ गद्दभिल्लो?, को वा काव्वगज्जो?, कस्मिं कावे सामितो?। जणपति-उज्जेणं। नाम खगरी, तत्थ य गद्दभिल्लो नाम राया, तत्थ कालगज्जो नाम आयरिया जोतिसणिमित्तवन्निया, ताण जगिणीं रूपवती। पढमं वयसि वट्ठमाणा गद्दभिल्लेण गाहिया, अंतपुरं बूढा, अज्जकालगा विष्णवेति; संघेण य विष्णुतो ए मुंचति। ता-ह रुद्धो अज्जकालगो पदम्भं करोति-जइ गद्दभिल्लं रायाणं रज्जाओ ण उम्मूलेमि तो पवयणसंजमोवघायगाणं तमुवेक्खवा-ण य गतिं गच्छामि। ताह कालगज्जो कयणेण उम्मत्तलीचुतो तिगच्चउक्कच्चरमहाजणघाणेसु इमं पल्लवंतो हिंरुति-जइ गद्दभिल्लो राया, तो किमतः परम्?, जइ वा अंतपुरं रम्मो, तो किमतः परम्?। विसयो जइ वा रम्मो, तो किमतः परम्?। सुणिवेहा पुरी जइ, तो किमतः परम्?, जइ वा जणो सुवेसो, तो किमतः परम्?, जइ वा हिंरामि यो भिक्खं, तो किमतः परम्?, जइ सुम्भे देवकुष्ठे घसामि, तो

किमतः परम् ? एवं जामेउ सो कावगज्जो पारसकुलं गतो, तत्थ एगो साहि चि राया जण्णति, तं समद्वीणाणि मिच्छादिपिहिं हिंयं आउट्टेति, अण्णया तस्स साहाणुसाहिणा परमसामिणा कम्हि वि कारणे भट्टेण कछारिगा सदेउं पेसिया, सीसं विदाहिं चि । तं आकोप्पमाणं आयातं पेच्छिऊण सो य विमणो संजातो, अप्पाणं मारिउं ववसिओ । ताहे कावगज्जेण भणितो-मा अप्पाणं मारोहि । साहिणा जणियं-परमसामिणा रुट्टेण पत्थ अत्थिउं ण तीरइ । कालगज्जेण जणियं-एहि हिंदुगदेसं वच्चाओ । रएणा पमिसुयं । तत्तुल्लाण य अण्णेसिं पि पंचाण संतीए साहिणा सुअं, केण कछारियाओ सदेउं पेसियाओ । तेण पुव्विल्लेण दूया पेसिया, मा अप्पाणं मारोइ । एहि वच्चाओ हिंदुगदेसं । ते छन्नओ पि सुरठमागया, काओ य एवपाउसो वट्टइ । तारिसे काले ए तीरइ गंतुं तत्थ मंडवाइं कया वि विभत्तिऊणं जं कावगज्जो समद्वीणां सो तत्थ अधिवो राया उवितो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो, वत्ते य वरिसाकाले कावगज्जेण जण्णिओ-गद्विज्जुं रायाणं रोइमो, ताहे लामा रायाणो जे गद्विज्जुं अवमानिता ते मेलिआ अण्णे य, ततो उज्जेणी रोहिता तस्स य गद्विज्जुस्स एक्का विज्जा गद्विहिरुवधारिणी अत्थि, सा य एगम्मि अट्टावगे परबलाभिमुहा उविया, ताहे परमे अवकप्पे गद्विज्जो राया अट्टमज्जो बवासीं तं अववारेइ, ताहे सा गद्विभी महंतेण सदेण णादति । तिरिओ मनुओ वा जो परबवट्टिओ सईं सुणेति स सव्वो रुहिरं वमतो भयविभलो ण छसेणो धराणित्तं णिवरुइ । कालगज्जो य गद्विज्जुं अट्टमज्जो बवासिणं सव्वविधाणदक्खाणं अट्टसतं जाहाण णिरुवेति, जाहे एस गद्विजी मुहं विरुंसेति जाव य सईं ण करेति ताय जमगसमगएण मुहं पूरेज्जा । तेहिं पुरिसेहिं तहेव कयं, ताहे सा घाणमंतरी तस्स गद्विभिज्जुस्स उवारीं हगिउं मुत्तेउं बवदीणं कयं, ताहे सो वि गद्विज्जो अबवो उम्मुविओ, गद्विया उज्जेणी, भगिणी पुणरवि संजमे उविया । नि० चू० १० उ० ॥

(१२) अनुपपन्नमधिकरणमुत्पादयति -

जे जिकखू एवाइं अणुप्पण्णं अदिगरणाइं उप्पाएइ, उप्पायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

नवं यत्परातनं न भवति, अणुप्पण्णं संपयकात्ते अविज्जमाणा अधिकं करणं, संयमयोगातिरिक्तमित्यर्थः । नि० चू० ५ उ० ।

(१३) कारणे सत्युत्पादयेत्—

वितियपदमणप्पज्जो, उप्पादे वि कोविते व अप्पज्जो । नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचण्णया य उप्पाए ॥ २८ ॥
अणुप्पज्जो अकोवितो वा रोहो वा अणरिहो कारणे पच्चावितो कतो, कारणे सो अधिकरणं काउं विगिंचियव्वो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह—

खेचादिऽकोविओ वा, अनलविवेगद्वया व जाणं पि ।
अदिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वणि वि पयाणि ॥
किंसाचिच्चः, आदिशब्दाद् दृष्टचित्तो, यक्काविष्टो वा, अनात्म-
वशात्त्वादिधिकरणं कुर्यात् । अकोविदो वा अद्याप्यपरिणताजिन-
घसनः शैकः, स अकृत्यादधिकरणं विदध्यात् । यद्वा-जानन्न-
पि गीतार्थोऽपीत्यर्थः । अनलस्य-प्रव्रज्याया अयोग्यस्य नपुंस-

कादेः कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्ती विवेचनार्थं परिष्ठापनाय तेन सहाधिकरणं करोति, कृत्वा चाधिकरणं सर्वोपपन्नानादरादीनि पदानि कुर्यात् ।

स्पष्टतरं भावयति—

कारणे अनले दिक्खा, सम्पत्तेऽणुसद्धिं तेण कलहो वि ।
कारणे सद्धिता णं, कलहो अण्णो तेणं वा ॥

कारणे अनलस्यायोग्यस्य दीक्षा दत्ता, समाप्ते च तस्मिन् कारणे तस्यानुशिष्टिः क्रियते । तथाऽप्यनिर्गच्छता तेन समं कलहोऽपि कर्तव्यः । कारणे वा शब्दप्रतिवक्षायां वसतौ स्थिताः, ततोऽन्योन्यं तेन शब्दकारिणा समं कलहः क्रियते येन शब्दो न श्रूयते । वृ० ५ उ० ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि क्लान्तव्युपशमितानि—

पुनरुदीरयति—

जे जिकखू पोराणाइं अदिगरणाइं खामियविउसमियाइं पुणो उदीरेइ, उदीरंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

पोराणा पूर्वं उत्पन्ना, अधिकरणं पूर्ववत् । दोसावगमो खमा, तं च खामियं भणति । विविधं ओसमियं विउसमियं मिच्छा-
उक्करुपदानं । अहवा-खामियं वायाए, मणसा विउसमियं, व्युत्सुं, ताणि जो पुणो उदीरेइ उप्पादयति तस्स मासलहुं ।

खामियविउसमियाइं, अधिकरणाइं तु जे य उप्पाए ।

पावाणा तत्थ तिसिं, तुज्जणजुत्तं परूवणा इणमो ॥ २९ ॥

पावाणा, साधुधर्मे व्यवस्थिता इत्यर्थः । कइं उप्पापति ?, कति साहुणो पुव्वं कलहिता, तस्मिं य खामियविउसमिते तत्थेगो भणाति-अहं णाम तुमं तदा एवं भणितो, आसी ण जुत्तं तुज्ज; इयसे पमिजणति-अहं पि ते किं जणितो ? इतरो जणाति-इयाणि किं ते सुयामि, एवं उप्पापति ।

स उप्पायगो—

उप्पादगमुप्पणं, संबद्धो कक्खंने य पाहुयं ।

आविट्टणा य पुच्छण, समुग्घतोऽति घायणे चेवा ॥ ३० ॥

पुणो ते वि कलुसिया उप्पायगा, जेहिं उप्पणं, संबद्धं णाम-वा-
याए परोप्परं समिउमारद्धा, कक्खं णाम, पासठितेहिं वि ओ-
समिज्जमाणा वि णोवसमंति, (पाहुअं ति) रोसवसेण बहेऽबले जुज्झं लग्गा, आविट्टणा-एगो णिहओ, जो सो णिहितो सो पुच्छितो । मारणांतियसमुग्घाएण समोहतो, अतिघायणा मारखं ।

एतेसु णवसु णणेसु उप्पायगस्स इमं पच्छिप्तं—

लहुओ लहुगा गुरुगा, उम्मासा होति द्दहुगगुल्गा य ।

देदो मूलं च तहा, अणवट्टण्यो य पारंची ॥ ३१ ॥

घितियादिसु चत्तलहुगादी पच्छिन्ता, उप्पादगपइं न भवति स्ति काउं ।

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाखाणं ।

साधुपदोसो संसा-रवकूणादी उदीरंतं ॥ ३२ ॥

वितियपदमणप्पज्जो, ओदीरे वि कोविते व अप्पज्जे ।

नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचण्णया उदीरेज्जा ॥ ३३ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० ५ उ० ।

(१५) निम्नः चैव्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम्-
नो कप्पइ निगंवाणं वितिगिडाइं पाहुडाइं विउसमि-
त्तए ॥ १० ॥

अस्य संबन्धमाह-

वितिगिडा समणाणं, अवितिगिडा य होइ समणीणं ।
मा पाहुडं पि एवं. भवेज्ज सुत्तस्स आरंजो ॥

व्यतिकृष्टा श्रमणानां दिग्भवति, अव्यतिकृष्टा श्रमणीनामित्यन-
न्तरसुत्रद्वयेऽतिहितमेव । तच्चाकर्ण्य मा प्राभृतमप्येवं भवे-
दित्येतदधिकृतसुत्रस्यारम्भः । अस्य व्याख्यानं कल्पते निम्न-
न्यानां व्यतिकृष्टानि क्षेत्रविकृष्टानि, प्राभृतानि कलहानित्य-
यः । विउसमितुमुपशमयितुम्, किं तु यत्रोत्पन्नं न तत्रोपशम-
यितुं कल्पते । इत्येव सुत्राकार्यः ।

अत्र जाप्यप्रपञ्चः-

सेज्जासणातिरित्ते, हत्यादी घट्ट भायणाभेदे ।
वंदंतमवंदंते, उत्पज्जइ पाहुडं एवं ॥

शय्यासनानतिरिक्ते, किमुक्तं जवति? अतिरिक्तां शय्यामतिरिक्ता-
नि वाऽऽसनानि, परिग्रहे कुर्याति चार्थमाणे, यदि या हस्तादिह-
स्तपादादिकं पादेन संघट्टयऽऽक्रम्य क्लमयित्वा व्रजति, यद्वा-
कथमप्यनुयोगतो जाजननेदे, अथवा पूर्वं वन्दमाने पश्चाद-
वन्दने प्राभृतं नाम कलहस्तदेवमुत्पद्यते ।

अधिगणनमुपपत्ती, जावुत्ता पारिहारियकुलम्मि ।

सम्ममणाउट्टंते, अधिकरण तत्रो समुत्पज्जो ॥

उत्पत्तिसंभवे सति ततः सम्यगनावर्त्तमाने अधिकरणं समु-
त्पद्यते ।

अधिगणणे उत्पन्ने, अवितोः सवियम्मि निगगयं समणं ।

जेऽऽसाइज्जइ जुंजइ, मासा चत्तारि जारीया ॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति यैः सहाधिकरणमुद्वादि, तस्मिन्न-
चितोषिते निर्गतं श्रमणं य आसादयति प्रतिगृह्णाति स्वसत्ता-
मात्रेण, यश्च तेन सह जुञ्जे तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः;
भारिका गुरवः ।

सगणं परगणं वा वि, संकंतमवितोसिते ।

वेदादि वासिया सोही, नाणत्तं तु इमं भवे ॥

येन सहाधिकरणमुपजातं तस्मिन्नचितोषिते स्वगणं परगणं वा,
संक्रान्तमधिकृत्य या वेदादिका शोधिः पूर्वं कल्पाध्ययने च-
र्णिना साऽत्रापि तथैव यत्कल्याः नवरमत्र यज्ञानात्वं तदेवं च-
क्रममाणं जवति ।

तदेवाऽऽह-

मा देइ ट्ठाणमेयस्स, पेसणे जइ तो गुरू ।

चऊगुरू ततो तस्म, कहंते वि चऊगुरू ॥

अन्यत्र गतस्य यथाचार्यः साधुसंघाटं, संदेशं वा प्रेषयति, य-
देषोऽधिकरणं कृत्वा समागतो वर्तते, तस्मादेतस्य स्थानं मा
देहि धनं; तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । ततः प्रेषणानन्तरं
यस्य पाठ्यं सोऽन्यत्र गतस्तस्य स प्रेषितो यदि कथयति तदा
तस्मिन्नपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु ।

यतस्तत्रेमे दोषाः-

ओहावणं व वेहामं, पदोमा जं तु काहिति ।

मूलं ओहावणे होइ, वेहासे चरमं जवे ॥

यद् यस्मात्प्रेषणे, कथने वा; प्रदेवादवधानं करिष्यति । वेहा-
यसं वा, वैहायसं नामोत्कलं वनम् । तत्रावधानं तेन कृते
सति प्रेषयितुः कथयितुर्वा मूलं प्रायश्चित्तम्; वैहायसे चरमं
पाराश्रिकमिति ।

अन्यच्च-

तत्तयऽन्नत्थ न वा सं-वदेति मे न वि य नंदमाणं ॥

नंदंति ते खलु मए, इति कलुसऽप्या करे पावं ॥

मम तत्रात्मीयसमीपे अन्यत्रैवेहागतस्य जन्मान्तरवैराद्या स
न संवदति, नापि चमयि नन्दति ते नन्दन्ति, महाप्रद्वेषतोऽसुख-
भावात् । ततो न जन्मान्तरवैरिणः ते मम पृष्ठं मुञ्चन्तीति वि-
चिन्त्य कलुषात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

आदीवेज्ज व वमहिं, गुरूणो अन्नस्स प्राय मरणं वा ।

कंमच्छारिउ वूसय-सहितो सयमुरस्स वल्लवं तु ॥

कण्ठच्छारिओ नाम ग्रामो, ग्रामाधिपतिर्वा; लूपा वा सहाया-
स्तेन सहितः, स्वयं वा ओरसो बलवान्, वसतिमादोपयेत्;
गुरोरन्यस्य वा घातं, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

जइ जासइ गणमज्जे, अवप्पदीगा व तत्थ गंतूण ।

अवितोऽमिण् एत्था-गतो त्ति ते चेव ते दोसा ॥

यः प्रेषितो, यद्वा-अवप्रयोगाद् अन्येन कार्येण तत्र गत्वा गण-
मध्ये सकलगणसमकं यदि जायते, यथा-एषोऽधिकरणं कृत्वा
येन सहाधिकरणमवृत्तस्मिन्नोपिते अत्रागत इति, (ते इति) त-
स्यापि त एव प्रागुक्ता दोषाः ।

जम्हा एए दोसा, अविही पेसणे य कहणे य ।

तम्हा इमेण विहिणा, पेसणे कहणं तु कायव्वं ॥

यस्मादविधिना प्रेषणे, कथने च एतेऽनन्तरदिता दोषाः, तस्मा-
दनेन वदयमाणेन विधिना प्रेषणं कथनं च कर्त्तव्यम् ।

तमेव विधिमाह-

गणिणो अत्थि निव्वजेयं, रहिते किञ्चोपेतो ।

गमेति तं रहं चेव, नेच्छे सहमइं खु तो ॥

अन्येन प्रयोजनेन प्रेषितः सत्वरहिते विधिके प्रदेशे, अथ
निर्भेदं तदाधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य गमयति कथयति
क्रमेणाचार्यस्ते कृताधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-त्वमित्य-
मित्यमधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतो, न च स उपशमित इति ।
एवमुक्ते यदि स नेच्छेद् यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा समागतः,
यस्त्वदं ब्रूते तेन सहाइं (खु) निश्चितमिति ।

गुरूसमकलं गमितो, तहावि जइ नेच्छइ ।

ताहे वि गणमज्जास्मि, जासते नातिनिट्ठुरं ॥

एवं तस्यानिच्छायां स प्रयोजनान्तरव्याजेन प्रेषितो रहसि
गुरूसमक्रमधिकरणं कथञ्चनापि तच्चित्तमनुप्रविश्य कथय-
ति, यथा रोषं न विदधाति । तथा-गमितोऽपि यदि नेच्छति

ततः प्रहरदिवसाद्यतिक्रमेण प्रस्ताद्यान्तरमारभ्य गणमप्ये तं
भाषते, परं नातिनिष्ठुरम् ।

कथं तं ज्ञायते ?, इत्याह—

गणस्म गणिणो चैव, तुमस्मी निगते तथा ।

आश्रती महती आसी, सो विवरस्तो य तज्जितो ॥

तदा तस्मिन्कावे त्ववि अधिकरणं कृत्वा निर्गते समस्तस्यापि
गणस्य, गणिनश्चाचार्यस्य महती अभूतिरासीत् । येन च सह
तथाधिकरणमभूत् सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च तज्जितः ।

गणेण गणिणा चैव, सारंज्ज नमज्जपिणो ।

ताहे अन्नावदेत्तेण, विवेगो से विहिज्जइ ॥

एवमुक्तानन्तरं तत्रत्येन गणेन गणिना च स सम्यक् सारणी-
यः शिक्षणीयः, येन स्वदेशे प्रतिपद्य तत्र गत्वा विपक्षं क्रमय-
ति । अथ स तथा सार्यमाणोऽकस्मिन्तो नोपशमं नीतो दुःस्वप्ना-
वत्वात्ततोऽन्यापदेशेन तस्य विवेकः परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन ?, इत्याह—

महाजणो इमो अम्हं, खेतं पि न पट्ठपति ।

वसही सन्निरुद्धा वा, वत्थपत्ता वि नत्थि णो ॥

अयं साधुसाध्वीलक्षणो महान् जनोऽस्माकमेतावतां न खेतत्
क्षेत्रं प्रभवति, संकीर्णत्वात् । यदि वा वसतिः सन्निरुद्धा सं-
कटा वर्तते, तत एतावन्तः साधवोऽत्र न सन्ति, अथवा वस्त्र-
पात्राण्यस्माकं संप्रति न सन्ति । अपिशब्दाच्च तत्राविधः
शमोऽप्यस्ति, साधवोऽप्येतेऽजीवासहनाः, तस्मात् श्रममन्यत्र
कूपि गच्छत । यदि पुनः स सार्यमाण उपशममविगच्छति, ततः
स वक्ष्यमाणेन विधिनोपशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमतोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह—

सगणिपरगणिणा, समणुत्तेयरेण वा ।

रहस्सादि व उप्पणं, जं जहिं तं तहिं खं व ॥

स्वगणसक्तेन परगणसक्तेन वा तेनापि सममोहेन सांभोगिकेन-
तरेण वा सह रहसि वा, आदिशब्दादरहसि वा; यतो यत्राधि-
करणमुत्पन्नं तत्रैव कूपयेदुपशमयेत् ।

तत्रोपशमनविधिमाह—

एको व दो व निगम, उप्पणं जत्थ तत्थ वोसमणं ।

गामे गच्छ दु गच्छे, कुल्लगणसंये य विइयपयं ॥

एको वा, द्वौ वा, वाशब्दाभ्यां वा, चत्वार्ये वा, येऽधिकरणं कृ-
त्वा निर्गतास्ते यत्र ग्रामे नगरे वाऽधिकरणमुत्पन्नं तत्रानीयते,
आनीय यैः सहाधिकरणमचूतैः सह व्युपशमनं कामेन कार्य-
म् । तत्पुनराधिकरणमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा च्योगच्छयाः, अ-
थवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा संघे, समुत्पन्नं स्यात्, (विंश-
यपदमिति) अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । ततो वक्ष्यमा-
णकारणैर्विकृष्टमपि प्राज्ञतं वितोषयेत् । ततश्च वितोषणमग्रे
मावशिष्यते ।

साम्प्रतमधिकरणमुत्पन्नं यत्रोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह—

तं जात्तण्हं दिहं, तेत्थियमेत्ताण मेलणं काउं ।

गिहियाग व साहूण व, पुरतोऽज्जिय दोवि खामंति ॥

तदधिकरणमुत्पन्नं यावद्भिर्गृहस्यैः संयतैर्वा इष्टं तावन्मात्रा-

णां गृहस्थानां साधूनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुरतो द्वावपि पर-
स्परं क्रमयतः । कुलादिसमवाये यद्युत्पन्नं ततः कुलादिसमवायं
कृत्वा क्रमयतः । किं कारणम् ?, यावन्मात्रैर्गृहिजिः संयतैर्वा इष्टं
तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं क्रमयतः, तथाऽऽह—

नवणीयतुह्मद्विया, साहू एवं गिहियागं न नाहिंति ।

न य दंरुजया साहू, काहिंती तत्थ वोसमणं ॥

नवनीततुह्यद्वयाः साधवः, एवं गृहियागः, तुशब्दादभिनवशै-
कादयश्च ज्ञास्यन्ति । न च दण्डनवात्सावधोऽधिकरणे स-
मुत्पन्ने व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कर्मकृपणाय, एवं ज्ञास्य-
न्ति, एषंरुपा च प्रतिपत्तिः शुभोदयपरम्पराहेतुः, अतस्तावतां
मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्रमयतः ।

संप्रति चतुर्थं 'विहयपयमिति' तद्व्याख्यानार्थमाह—

वितियपदे वितिगिट्ठे, वितोसवेज्जा उवड्ठिते वड्ठो ।

विइतो जइ न उवसमे, गतो य सो अन्नदेसेसु ॥

द्वितीयपदे व्यतिकृष्टान्यपि प्राभूतानि वितोषयेदुपशमयेत् ।
कथम् ?, इत्याह—येन सहाधिकरणं बहुशो बहून् वारान् कृतं, त-
स्योपस्थितस्तं क्रमयति, स च क्रम्यमाणो द्वितीय उपशमयति ।
यदि नोपशमेत् अनुपशान्तश्च गतोऽन्यं देशं ततः—

काक्षेण च उवसतो, वज्जिजंतो व अन्नमन्नेहि ।

खीरादिसलक्ष्णीण व, देवय गेलन्न पुडो वा ॥

तस्यान्यदेशं गतस्य बहुना काक्षेण गतेन तस्य कथायाः प्रत-
भयोऽभवत्, तत उपशान्तः । अथवा अन्योन्यैः साधुभिः कृता-
धिकरण एव हनि स्थानविचर्यमान एवं स्वचेतसि संकथयति-
यथा कथापदोषेणाहं स्थाने स्थानं विचर्यमानः, तस्मादहं कथा-
यैरिति पुनरावृत्तिः, अथवा क्षीरादिसलक्ष्णीणां क्षीराश्रवादि-
लक्ष्णीणामुपदेशतः सममुपगतवान् देवतया शिकितः, यदि वा
ग्लानत्वेन पृष्टस्तन्मन्तयति—यदि कथमपि साधिकरणोऽग्नि-
योऽहं ततः सापराधिको भवामि, तस्मात् स गत्वाऽपशमयामि ।

एवं ज्ञातपुनरावृत्तिना यत्कर्तव्यं तदाह—

गंतुं स्वामेयव्वो, अट्ठव न गच्छेज्जिंमहिं दोसेहिं ।

नीयद्दुग उवसगो, ताहिंयं वा तस्स होज्जंत ॥

तेन ज्ञातपुनरावृत्तिना यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र गत्वा शमयि-
तव्यः । अथवा—एतैर्वक्ष्यमाणैर्दोषैस्तत्र न गच्छेद्यत्रोत्पन्नमधि-
करणम् । कैर्दोषैः ?, इत्यत आह—निजकाः स्वजनाः तस्य तत्र
विद्यन्त, ततस्तत्र गतस्य तैरुपसर्गः क्रियते ।

तथा—

गामो टड्डिउ हुज्जा, अंतर वा जणवतो निएहवगणं ।

अन्नं गतो न तरई, अहवा गेलन्न पारुवरई ॥

यत्र ग्रामेऽधिकरणमुत्पन्नं स ग्रामे वर्धित उद्गशीभूतः, अथवा
अन्तराज्जनादुत्थितो, यदि वा येन सममधिकरणमजायत स
निहवगणं प्रविष्टवान् । अन्यत्र गत इतरो वा ग्लानो ज्ञातस्त-
तो गन्तुं न शक्नोति । अथवा ग्लानं प्रतिचरति ।

अनुज्जय पमिवज्जे, भिक्खादि अलंज अंतर तहिं वा ।

रायदुष्टं ओमं, आसव वा अंतर तर्हि वा ॥

अथवा सोऽधिकृतः क्षमयितुमना अज्युक्तं विदारं प्रतिपत्तु-
कामो लघुं प्रत्यासन्नं ततो गन्तुं न शक्नोति । अथवा-अन्त-
राले तत्र वा यत्राधिकरणमुत्पन्नं, भिक्ताया अज्ञानो, यदि वाऽन्त-
रस्तत्र वा राजाद्विषमवमौर्द्व्यमाशिवं वा ।

सवरपुलिदादिजयं, अंतर तर्हि यं च अऽव हुज्जाहि ।

एएण कारणेणं, वचंते कं पि अप्पाहे ॥

अन्तरा तत्र वा शब्दभयं पुलिन्दभयम्, आदिशब्दात् स्तेनम्वे-
च्छादिजयपरिग्रहः । भवेत्, त एतैः कारणैस्तत्र गन्तुमशक्नुवन्
यः कोऽप्यन्यः शयको वा, स्त्रिरुपुत्रो वा, मिथ्यादृष्टिर्वा, तत्र जन्तु-
को व्रजति, तं संदेशयति । यथाऽहमधुनोपशान्त एतैश्च कारणै-
रागन्तुमशक्तः, तस्मात्त्वमत्रागत्य मया सह क्लमणं कुरु ।

ततः संदेशो कथितेऽनेन यत्कर्त्तव्यं तदाह—

गंतुण सो वि तर्हि यं, सपक्खपरपक्खमेव मेलित्ता ।

स्वामेइ सो वि कज्जं, व दीहए आगतो जेण ॥

यस्य संदेशः कथापितः स तत्र गत्वा यैस्तदधिकरणं ज्ञातं
सपक्खं परपक्खं च मेलयित्वा तं क्लमयति; सोऽपि च क्लम्यमाणो
येन कारणेनागतस्तत्कारणं तस्य साक्षाद्विज्ञयति कथयति ।

अह नरियको वि वचंतो, ताहे उवसमति अप्पणा ।

स्वामेइ जत्य मिलती, अदिहे गुरुणंतियं काउं ।

अथ नास्तिकोऽपि तत्र व्रजन् यस्य संदेशः कथ्यते तर्हि आ-
त्मना स्वयमुपशमयति, सर्वथा मनसोऽधिकरणमुपशमपरायण-
तया स्फोटयति, ततो यत्र मिलति तत्र क्लमयति । अथ न क्वा-
पि मिश्रति, ततस्तास्मिन्नदृष्टे गुरुणामन्तिकं कृत्वा तं मनसि
कृत्य क्लमणं करोति । व्य० १ उ० । ('वसही' शब्दे साधुसा-
ध्वीकलहे यतना 'एकवगमा' प्रस्तावे द्रष्टव्या)

(१६) निर्गन्धीभिर्व्यतिकृतमप्यधिकरणं—

व्युपशमनीयम्—

कप्पइ निर्गन्धीणं विनिगिह्वाइ पाहुइ वितोसइत्तए ॥

कल्पते निर्गन्धीनां व्यतिकृत्यानि कलहान् वितोषयितुमुपशम-
यितुमित्येष सूत्राकारार्थः ।

संप्रति भाष्यप्रपञ्चः—

निर्गन्धीणं पाहुइ, वितोसवियव्वं विनिगिह्वाइ ।

किइ पुण होअ उप्पमं?, चेइयघरव्वंदमाणीणं ॥

चेइययुवीणं जणणे, उएहे उ अणतो बहि अचंति ।

परितावियाम धणियं, कोइलसदाहिं तुम्भाहिं ॥

निर्गन्धीनां प्रातृत्वं विनोषयितव्यमुपशमयितव्यं भवति व्यतिकृ-
तम् । शिष्यः प्राह—कथं केन प्रकारेण पुनस्तःसामधिकरणमुत्पन्नं
स्यात्? । सुरिराह—काञ्चनाऽऽयिकञ्चैत्यवन्दनाय चैत्यगृहं ग-
ताः, तस्मिन् चैत्यगृहे बहिर्मुखमण्डपादिकं न समस्ति; ततश्चै-
त्यगृहमप्यस्तिनाञ्चैत्यानि वन्दन्ते, तासां च वन्दमानानां प्र-
थमस्तुतेरारब्धाऽऽन्याः काञ्चन संयत्यः समागताः, ताश्च मध्ये
अवकाशो नास्तीति बहिरुपे स्थिताः । ततो विस्तरं चै-
त्यस्तुतीनां मणने ना बहिः स्थिताः उप्पेण परिताप्यमाना बह-

न्ति-युष्माजिः कोकिलाशब्दाभिर्धणियमतिशयेन वयं परिता-
पिताः । तथा—

नग्यंति नाइनाइं, कऽऽपि कलभाणणीण तुम्हाण ।

विप्पगते जवतीणं, जायंते जयं नरवतीतो ॥

युष्माकं कलभाननानां तु स्वरमनोश्चाननानां पुरतः कलामपि
मनागपि नाटकानि नाहन्ति, ततो भवतीनां विप्रकृते कारणम-
जानानामस्माकं जयं नरपतितां यद् यूयं नाटकं प्रकृष्यध्वे ।

इति असहणउत्तेजित-मज्झत्या तो समंति तत्थेव ।

असुणाम सव्वगणजं-रुणे व गुरुसिद्धिमा मेरा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणासदनाभिर्धो उत्तेजिताः कोपं प्रा-
हितानां मध्यस्थाः संयत्यस्तैरेव शमयन्ति । न च तास्तद् भ-
एतं कस्यापि श्रावितवत्यः । अथ मध्यस्थानां संयतीनामज्ञा-
वतो वेलावशाद्वा सर्वगणस्य भएरुनमभूत् तर्हि सर्वगणभए-
ने स्वस्वगुरुशिष्टं कर्त्तव्यम् । ततस्तावुपशमयतः । अथ लज्जातो
जयतो वा न स्वस्वगुरोर्निवेदितं तर्हि तत्रैवं मर्यादा ।

एतदेवाऽऽह—

गणहरगमणं एगा-ऽऽयरियस्स दोन्नि वा वग्गा ।

आसन्नगम दूरे, च पेसणं ते च त्रितिययं ॥

समस्तस्यापि गणस्य ज्ञातृने गते आत्मीयस्य समीपे गमनम्,
अथवा एकस्याचार्यस्य संबन्धिनौ तौ द्वावपि संयतवर्गौ, तत
एकस्य समीपे गच्छतः, ततः स एकस्तौ वा द्वौ गणधरौ तदधि-
करणं यत्र चैत्यगृहेऽप्यत्र चोत्पन्नं तत्र द्वावपि वर्गौ नीत्वा उप-
शमयतः । अथ लज्जादिना स्वस्वगुरोर्निवेदितमेकतरश्च पक्षो
निर्गतः, तत आह—(आसन्नत्वादि) यथासन्नं गतोऽपान्तरालं
च निर्जयं ततः स आनायते, अथ सापायं तर्हि तासां
गणधर आगच्छति, आगत्य क्लमणं करोति । अथ दूरे गतस्तर्हि
वृषणाणां प्रेषणं कर्त्तव्यम्, ततो वृषभाः समेत्य ताः संयतीः
क्लमयन्ति । अथ द्वितीयपक्षो नोपशान्तस्ततः पुनरावृत्तौ जाता-
यां पूर्वोक्तवदेषं प्रागुक्तं द्वितीयं पदमवसातव्यम्; यत्र मिश्रन्ति
तत्रैव क्लमयन्ति । अमिलने गुरुणामन्तिके इति ।

एतदेव मूलतः सविस्तरं विनावयिषुरिदमाह—

चेइयघरं नइत्ता, जत्थुप्पमं च तत्थ दिउक्कवणं ।

दज्ज भया व असिहे, दुवेगतरनिगम इमं तु ॥

स्वस्वगुरुनिवेदने कृते तौ द्वावपि गुरुसंयतीवर्गद्वयमपि चै-
त्यगृहं नीत्वा, अथवा यत्रान्यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र नीत्वाऽधि-
करणस्य विध्यापनं कुरुतः । अथ लज्जया जयाद्वा गुरुणामशि-
ष्टमवतः । द्वयोश्च पक्षयोर्मध्ये एकतरस्य पक्षस्य निर्गम-
स्तत इदं कर्त्तव्यम्—

आसन्नमणायाए, अणवाएँ वा से गणहरा गम्म ।

ज एनाय अजिक्खामण, आणाविज्जअन्नि वा वि ॥

यथासन्नं निर्भयं च ततस्ता निर्गताः संयत्यः स्वगणेन सह
आनायन्ते । अथ सापायं ततस्तासां गणधर आगच्छति, तत-
स्ताः संयत्य आनीताः, गणधरो या एकक आगतो यत्र जनज्ञातं
ज्ञातुमभूत्, तत्रानायन्ते । अन्यथ वा आनाय परस्परम-
निक्लमणं कार्यम् । अथ दूरे गतास्तर्हि वृषनाः समागत्य संयतीः
क्लमयन्ति । व्य० ७ उ० ।

सूत्रम्—

साहिगरणं निगमं निगमं गिएहमाणे वा अगिएहमाणे
वा नातिक्रमः ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अत्र भाष्यम्—

उत्पन्ने अहिगरणे, ओममणं पुविहऽतिक्रमं दंडु ।

अगुसासणभासनिहं-जणा य जो तौए पविक्खो ॥

संयत्या गृहस्थेन सममधिकरणे उत्पन्नं द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा
तस्याधिकरणस्य व्यवशमनं कर्तव्यम् । किमुक्तं ज्ञयति ?—स
गृहस्थोऽनुपशान्तः सन् तस्याः संयत्याः संयमभेदं, जीवित-
भेदं चेति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत्र उपशमितस्य अधिकरण-
म् । कथम् ?, इत्याह—यस्तस्याः संयत्याः प्रतिपक्षो गृहस्थस्य
प्रयमनः कामलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति
जावणं नापनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यभिभवतो निरुम्भणं, यस्य या
लब्धस्तेन तथा नियारणं कर्तव्यम् । वृ० ६ उ० ।

(१९) साधिकरणेनाऽकृतप्रायश्चित्तेन सद्ध न संभोगः कार्यः-
जे भिक्खू साहिगरणं अविओसमियपाहुमं अकडप-
च्छित्तं परं तिरायाओ विष्फाणियं अविष्फाणियं संभुजइ,
संभुजंतं वा साइज्जइ । १९ ।

जदि णिहंसे, निक्खू पुव्ववसितो सहाधिकरणः कपायभा-
वशुभभावाधिकरणसहित इत्यर्थः । विविधं विविधं हि वा पगा-
रेहिं विउसमियं उवसामियं । किं तं ?, पाहुमं, कलहमित्यर्थः । ण
विओसमियं अविओसमियं, पाहुमं, तस्मि पाहुमकरणे जं प-
च्छित्तं जेण सो करुपच्छित्तो । “ अमानोनाः प्रतिषेधे ” न
कृतं प्रायश्चित्तं अकृतप्रायश्चित्तं, जो तं संभुजणसंभोएण सं-
भुजति, एगमंरुत्तीए, संभुजइति वुत्तं भवति, अहवादाणगदेण
संभोएण भुजति तस्स चउगुरुगा आणादिणा य दांसा । नि०
चू० ४ उ० ।

(१८) अथ दण्डकक्रमेणाऽधिकरणयधिकरणद्वयनिरूप-
णायऽऽह—

जीवे णं जंते ! अहिगरणी, अहिगरणं ? । गोयमा ! जीवे
अधिगरणं वि, अधिगरणं वि । से केणट्टेणं भंते ! एवं वु-
च्चइ—जीवे-अधिगरणी वि, अधिगरणं वि ? । गोयमा ! अ-
विरतिं पकुच्च से तेणट्टेणं जाव अधिगरणं वि अधिगरणं
पि । एरइए णं भंते ! किं अधिगरणी, अधिगरणं ? । गोयमा !
अधिगरणी वि, अधिगरणं पि । एवं जहेव जीवे तहेव
एरइए वि, एवं एरंतरं जाव वेमाणिए ।

(जाव णमित्यादि) । (अहिगरणी वि त्ति) अधिकरणं
पुर्गतनिमित्तं वस्तु, तच्च विवक्षया शरीरमिन्द्रियाणि च, त-
था बाह्यो हलगन्धार्द्रादपरग्रहः, तदस्यास्तीत्याधिकरणी जीवः
(अहिगरणं पि त्ति) शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिद्व्यतिरि-
क्तत्वाधिकरणं जीवः । एतच्च द्वयं जीवस्याविरतिं प्रती-
त्याच्यते; तेन यो विरतिमानसः शरीरादिभावेऽपि नाधिकर-
णी, नाप्यधिकरणम्, अविरतिगुक्तस्यैव शरीरादेरधिकरणत्वा-
दिति । एतश्चैव चतुर्विंशतिदण्डके दर्शयति—(नेरइए इत्यादि)
अधिकरणी जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूरवर्तिनाऽप्यधिकर-
णेन स्यात्, यथा—गोयमा । इत्यतः पृच्छति—

जीवे णं भंते ! किं साहिगरणी, एरिहिरणी ? । गोयमा !
साहिगरणी, एो एरिहिरणी । मे केणट्टेणं पुच्छ ? । गोय-
मा ! अविरतिं पकुच्च से तेणट्टेणं जाव एो एरिहिर-
गणी । एवं जाव वेमाणिए ॥

(साहिगरणी त्ति) सह सहभाविनाऽधिकरणेन शरीरादिना
वर्तते इति समासान्तविधेः साधिकरणी । संसारिजीवस्य
शरीरेन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदैव सहचरितत्वात्साधिकरण-
त्वमुपदिश्यते । शस्त्राद्यधिकरणापेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य
तदविरातरूपस्य सह वर्तित्वाच्चाविः साधिकरणीत्युच्यते । अत्र
एव वक्ष्यति—(अविरतिं पकुच्च त्ति) अत एव संयतानां शरीरा-
दिसद्भावेऽप्यविरतेरज्ञावाच्च साधिकरणित्वम् । (निरहिगरणी
त्ति) निर्गतमधिकरणमस्मादिति निरधिकरणी । समासान्तविधे-
रधिकरणदूरवर्त्तित्यर्थः । स च न भवति, अविरतेरधिकरण-
ज्ञाया अदूरवर्त्तित्वादिति । अथवा—सहाधिकरणेभिः पुत्रमि-
त्रादिभिर्वर्तते इति साधिकरणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनाम-
भावेऽपि तद्विषयविरतेरज्ञावात्साधिकरणित्वमवसेयम् । अत
एव नो निरधिकरणात्यपि मन्तव्यमिति ।

अधिकरणाधिकारादेवेदमाह—

जीवे णं भंते ! किं आयाहिगरणी, पराहिगरणी, तटु-
जयाहिगरणी ? । गोयमा ! आयाहिगरणी वि, पराहिगरणी
वि, तटुभयाधिकरणी वि । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ०
जाव तटुजयाहिगरणी वि ? । गोयमा ! अविरतिं पकुच्च
से तेणट्टेणं जाव तटुजयाहिगरणी वि । एवं जाव वेमा-
णिए ।

(आयाहिगरणी त्ति) अधिकरणी कृष्यादिमान्, आत्मनाऽधि-
करणी आत्माधिकरणी । ननु यस्य कृष्यादि नास्ति स कथमधि-
करणी ? इत्यत्रोच्यते—अविरत्यपेक्षया, इत्यत एवाविरतिं प्रतीत्ये-
ति वक्ष्यति । (पराहिगरणी त्ति) परतः परेषामधिकरणे प्रवर्तते-
नाधिकरणी पराधिकरणी, (तटुभयाहिगरणी त्ति) तथोरात्म-
परयोर्भयं तटुजन्यं, ततोऽधिकरणी यः स तथेति ।

अथाधिकरणस्यैव हेतुरूपणायऽऽह—

जीवे णं जंते ! अधिगरणे किं आयपपओगणिव्वत्तिए,
परपपओगणिव्वत्तिए, तटुजयपपओगणिव्वत्तिए ? । गोयमा !
आयपपओगणिव्वत्तिए वि, परपपओगणिव्वत्तिए वि, तटु-
जयपपओगणिव्वत्तिए वि । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? ।
गोयमा ! अविरतिं पकुच्च से तेणट्टेणं जाव तटुजयपपओ-
गणिव्वत्तिए वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

(आयपपओगणिव्वत्तिए त्ति) आत्मनः प्रयोगेण मनःप्रभृति-
व्यापारेण निर्वर्त्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । एवमन्यदपि इयम् । न
नु यस्य वचनादिपरप्रवर्त्तनवस्तु नास्ति तस्य कथं परप्रयोगनि-
वर्त्तित्वादि भविष्यति ? इत्याशङ्कामुपदर्श्य परिहरन्नाह—(से केण-
मित्यादि) अविरत्यपेक्षया त्रिविधमप्यस्तीति भावनीयमिति ।
अथ शरीराणामिन्द्रियाणां योगानां च निर्वर्त्तनायां जीवादे-
रधिकरणित्वादिप्रकृपयश्चिदमाह—

जीवे णं भंते ! ओगलियसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अधि-

करणे। अधिगमः। गोयमा ! अधिगमः। वि, अधिगमः। वि।
मे कण्टेणं भेते ! एवं वृद्ध-अधिगमः। वि, अधिगमः। वि।
गोयमा ! अधिगमः। पुरुषं से तेण्टेणं जाव अधिगमः। वि, अधि-
गमः। वि। पुढवीकाऽए एणं जंते ! ओरात्रियसरीरं णिव-
त्तिण्णमाणे किं अधिगमः। अधिगमः। एवं चेव, एवं जाव
मणुस्से। एवं वेत्तिण्यमरीरं पि, एवरं जस्स अत्थि। जीवे एणं
भेते ! आहारमरीरं णिवत्तिण्णमाणे किं अधिगमः। पुढवीकाऽए।
गोयमा ! अधिगमः। वि, अधिगमः। वि। से कण्टेणं जाव
अधिगमः। वि। गोयमा ! पमादं पुरुषं से तेण्टेणं जाव
अधिगमः। वि। एवं मणुस्से वि। तेया सरीरं जहा ओरात्रियं;
एवरं मव्वजीवाणं जाणियव्वं। एवं कम्ममरीरं पि॥

(अधिगमः। वि अधिगमः। वि त्ति) पूर्ववत् । (एवं चेव त्ति)
अनेन जीवस्त्वानिलापः पृथिवीकायिकसूत्रे समस्तो वाच्य इति
दर्शितम् । (एवं वेत्तिण्यत्यादि) व्यक्तम् । (एवरं जस्स अत्थि
त्ति) इह तस्य जीवपदस्य वाच्यमिति शेषः । तत्र नारकदेवा-
नां वायोः पञ्चेन्द्रियनिर्यङ्गानुप्याणां च तदस्तीति ज्ञेयम् ।
(पमायं पदुच्च त्ति) इहाहाकशरीरं संयमवतामेव भ-
यति । तत्र चाविर्गतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्वमवसे-
यम् । दण्डकचिन्तायां चाहारकं मनुष्यस्यैव भवतीत्यत
उक्तम्- (एवं मणुस्से वि त्ति) ।

जीवे एणं भेते ! सोऽइदं णिवत्तिण्णमाणे किं अधिगम-
ः। अधिगमः। एवं जहेव ओरात्रियमरीरं तहेव सोऽइदं
पि जाणियव्वं, एवरं जस्स अत्थि सोऽइदं। एवं सोऽ-
इदं चर्क्खिदं घाणियदियजिन्तिदियफासिदियाण वि
जाणियव्वं; जस्स जं अत्थि। जीवे एणं भेते ! पणजोणे
णिवत्तिण्णमाणे किं अधिगमः। अधिगमः। एवं जहेव सो-
ऽइदं तहेव णिवत्तिण्णमाणे। वज्जोणं एवं चेव, एवरं एमिदिय-
वजाणं। एवं कायजोणे वि, एवरं सव्वजीवाणं जाव वे-
माणिप। मेवं जंते ! भेते ! त्ति । ज० १६ श० १ उ०॥

अधिक्रियते प्राणिदुर्गतायनेनेति अधिकरणम् । दानेना-
ऽसंयतस्य मानस्योपापणतः पापारम्भप्रवर्तने, हा० २७
अ०० । आधारे, व्याकरणशास्त्रे- “ कर्तृकर्मव्यवहिता-म-
न्वात्ताद्धारणे क्रियाम् । उपकुर्वत क्रियाणिङौ, शास्त्रेऽ-
धिकरणं स्मृतम् ” ॥ १ ॥ इति हर्मिपरिभाषिते अधिक-
रणसंबन्धके कर्तृकर्मद्वाराक्रियाश्रये कारके, यथा-गेहं स्थाल्या-
मन्त्रं पचन्त्यादौ गृहस्य कर्तृद्वारा, स्थाल्याश्च कर्मद्वारा,
परम्परय पाकक्रियाश्रयत्वाद् गृहादः । वाच० ।

अधि (हि) गरणी-अधिकरणक्रिया-स्त्री० । अधि-
करणविपर्यया क्रिया अधिकरणक्रिया । कलहविपर्यये व्या-
पारः अधिकरणक्रिया द्विविधा-निर्वर्तनाधिकरणक्रिया, सं-
योजनाधिकरणक्रिया च । तत्राद्या-खट्वादीनां तन्मुष्ट्यादीनां
निर्वर्तनलक्षणा । द्वितीया तु तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्ष-
णा । अथवा प्राणिनां दुर्गन्धधिकारित्वकारणे, क्रियामात्रे
अधिकरणक्रियापचनगा वृद्धिर्दे अन्तर्ध्वं अथमहं
परस्मै य करेति अ० २ आश्र० द्वा० ।

अ (आ) धि (हि) गरणिया-अधिकरणिकी-स्त्री० ।
अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिप्यात्मा येन तदधिकरणमनु-
ष्ठानविशेषो बाह्यं वस्तु चक्रस्वद्धादि, तत्र भवा, तेन ता नि-
र्वृत्ता, आधिकरणिकी । प्रश्ना० २१ पद । खट्वादिनिर्वर्तनल-
क्षणे क्रियाभेदे, स० ७ सम० । स्था० ।

अस्या भेदाः—

अधिगरणिया एणं जंते ! किरिया कइविहा पणत्ता !।
मंभियपत्ता ! वृद्धि पणत्ता । तं जहा-संजोयणाधिगरण-
किरिया य, निव्वत्तणाधिगरणकिरिया य ॥

(संजोयणाधिगरणकिरिया य त्ति) संयोजनं हलगरविष-
कृत्यन्त्राद्यङ्गानां पूर्वनिर्वर्तितानां मूलनं, तदेवाधिकरणक्रिया
संयोजनाधिकरणक्रिया । (णिव्वत्तणाधिगरणकिरिया य त्ति)
निर्वर्तनमल्लिशक्तिमारादीनां निष्पादनं, तदेवाधिकरणक्रिया
निर्वर्तनाधिकरणक्रिया । भ० ३ श० ३ उ० । अधिकरणक्रिया
द्विधा-अधिकरणप्रवर्तना, अधिकरणनिर्वर्तना च । तत्र निर्व-
र्तनेनाधिकरणक्रिया द्विविधा-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणकि-
या, उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया च । तत्र मूलगुणनिर्व-
र्तनाधिकरणक्रिया-पञ्चानां शरीरकाणां निर्वर्तनम् । उत्तरगु-
णनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-हस्तपादाङ्गोपाङ्गानां निर्वर्तनम् ।
अथवा मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-असिश्चक्रिमिण्ड-
पालादीनां निर्वर्तनम् । संयोजनाधिकरणक्रिया-तेषां विद्यु-
क्कानां संयोजनमिति । अथवा संयोगः विषगरहलकूडध-
नुयन्त्रादीनां, निर्वर्तनाधिकरणक्रिया शर्वलकेण कालकूटमु-
हरादीनाम् । कूटपाशनिर्वृत्ते क्रियाभेदे च । आ० चू० ४ अ० ।

अधि (हि) गरणी-अधिकरणिकी-स्त्री० । कर्मारोपकरणविशेषः,
यत्र लाङ्कारा अयोधनेन लाङ्गानि कुट्टयन्ति । भ० ६ श० १ उ० ।

तेणं कालेणं तेणं समणं रायमिहे० जाव पज्जुवासमाणे
एवं वयानी-अत्थि एणं जंते ! अधिकरणमि वाउयाए वड-
कमइ ! इता अत्थि। से जंते ! किं पुढे उदाइ, अपुढे उ-
दाइ ! गोयमा ! पुढे उदाइ, णो अपुढे उदाइ । से जंते !
किं सनरीरी णिक्खमइ, अमरीरी णिक्खमइ ! एवं जहा
खंदए जाव से तेण्टेणं जाव णो असरीरी णिक्खमइ ।

(अत्थि त्ति) अस्त्ययं पक्षः, (अधिगरणमिति) आधिकर-
ण्यं, (वाउयाए त्ति) वायुकायः, (वडक्खमइ त्ति) व्युत्क्रामति
अयोधनाभिघातेनोत्पद्यते, अयञ्चाक्रान्तसंज्ञवत्वेनादायस्तेन-
तयोत्पन्नोऽपि पश्चात् स चेतनीजवतीति संभाव्यत इति । उत्प-
न्नश्च सन् ध्रियत इति प्रशयन्नाह-“से भेते” इत्यादि । (पुढेत्ति)
स्पृष्टः स्वकायशस्त्रादिना सशरीरश्च कलेवराक्षिप्कामिति कर्म-
णाद्यपेक्षया औदारिकाद्यपेक्षया त्वशरीरंति । भ० ६ श० १ उ० ।

अधि (हि) गर-अधिकार-पुं० । अधि-क-घञ् । ओघतः
प्रपञ्चप्रस्ताव, “ अधिगारो पृवुत्तो चउव्विहा विइयचूलिय-
उक्कयणं ” दश० १ अ० । प्रयोजने, “ अधिगारो इह तुमो एणं ”
व्य० १ उ० । नि० चू० । व्यापारे, “ अधिगारो तस्स वि-
जएणं ” आचा० १ ध्रु० २ अ० १ उ० ।

अधि (हि) दंत-अधितिष्ठत्-वि० । निवसति, नि० चू० १२ उ० ।

अधि (हि) द्वावण-अधिस्थापन-न० । संनिपद्यावोष्टेन एव
रजोहरणादेरुपवेशने, " जे निक्खु रयहरणं अहिंसे, अहिंसं
वा साज्जइ " नि० चू० ५ उ० ।

अधि (हि) द्वेष्टा-अधिष्टाय-अव्य० । ममेदमिति गृही-
त्येत्यर्थे, नि० चू० १२ उ० ।

अधि (हि) मामग-अधिमासक-पुं० । अभिवर्द्धितवर्षद्वा-
दशभागं, " एस अजिवद्धियवरिसवारसभागो अधिमासगो ।
ओ पुण ससिमूरगतिविसेसणिप्पसो अधिमासगो अ उणतीसं
दिणा विंसतिभागा य वत्तीसं भवति " नि० च० २० उ० ।

अधि (हि) मुक्ति-अधिमुक्ति-स्त्री० । शास्त्रश्रद्धावति, द्वा०
२३ द्वा० ।

अधि (हि) वड़ (ति)-अधिपति-पुं० । प्रजानामतीव सु-
रक्ते, व्य० १ उ० ।

अधीमहि-अधीमहि-अव्य० । अस्यापत्यं इ-कामः । तस्य
मह्यः कामिन्यः, ता अधिभृत्य-अधीमहि । स्त्रियोऽधिभृत्येत्यर्थे,
" भगो दे वस्यधामहि " गायत्री । वसतीति वसां विच्प्रत्यये
रूपम् । कु वसि ?, इत्याकाङ्क्षायामाह-अधीमहि, स्त्रीषु तिष्ठ-
माने रुचायत्तात्मनीत्याशयः । जै० गा० ।

अधीरपुंस-अधीरपुंस-पुं० । अवुद्धिमति पुरुषे, उक्त०
ए अ० ।

अधुव-अधुव-पुं० । यः पुनरायत्यां कदाचिद्व्ययच्छेदं प्राप्स्य-
ति स भव्यसंबन्धी यो बन्धः स धुयबन्धः । क० ५ कर्म० ।

अधे (हे) कम्म-अधःकर्मन्-न० । अधोगतिनिबन्धनं कर्म
अधःकर्म । आधाकर्मणि, तथाहि-भवति साधूनामाधाकर्मभु-
ज्जानानामधोगतिः, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्याश्रवेषु प्रवृत्तेः ।
अस्य निकृष-अधःकर्म चतुर्थी । तद्यथा-नामाधःकर्म, स्था-
पनाधःकर्म, छव्याधःकर्म, जावाधःकर्म च । एतच्चाधाकर्म-
वत्तावद्वक्तव्यं यावन्नोऽग्रागमतो भव्यशरीररूपं छव्याधःकर्म ।
इत्यशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु छव्याधःकर्मं नियुक्तकृदाह-

जं दव्वं उदाहसु, इदमहे वयइ जं च जारेण ।

सीईए रज्ज्एण व, ओयरणं दव्वं उदेकम्म ॥ ए६ ॥

यत्किमपि छव्यमुपलान्किसुदकादिषु उदकद्रव्यादिषु मध्ये
क्षिप्तं सत् भरिण स्वस्य गुरुतया अधो व्रजति तथा (जं चेति)
यच्च (सीईए ति) निःश्रेण्या रज्ज्वा वा अवतरणं पुरुषादेः कृपा-
द्वा, मालादेर्वा नृषि, तद् अधोऽधोव्रजनमवतरणं वा छव्या-
धःकर्म । द्रव्यस्योपलान्कितोऽधोऽधोव्रजनरूपमवतरणरूपं वा
कर्म द्रव्याधःकर्म इति व्युत्पत्तेः ।

संप्रति जावाधःकर्मणोऽवसरः, तच्च द्विधा-आगमतो, नोऽग्रा-
गतश्च । तत्र आगमतोऽधःकर्मं शब्दार्थज्ञानात् । तत्र चोप-
युक्तो नाभागमत आह-

संजमठाणाणं कं-ढगाणं लेसाउडिंविंसाणं ।

जावं अहे कइ, तम्हा तं भाव उहेकम्म ॥ ए७ ॥

संयमस्थानानां वक्ष्यमाणानां कण्टकानां संख्यातीतसंयम-
स्थानसमुदायरूपाणाम, उपलक्षणमेतत् पदस्थानकानां संयमश्रे-
णश्च । तथा लेख्यानां, तथा स्मात्वेदनीयादिरूपशुनप्रकृतीनां
१५८

संबन्धिनं स्थितिविशेषाणां च संबन्धिषु विद्युच्छेषु विशुद्धत-
रेषु स्थानेषु वर्तमानं सन्तं निजं भावमध्यवसायं यस्मादाधा-
कर्म भुज्जानः साधुगन्धः करोति, हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु वि-
धत्ते । तस्मात्तदाधाकर्म भावाधःकर्म जावस्य परिणामस्य स-
यमादिसंबन्धिषु शुभेषु शुनतरेषु स्थानेषु वर्तमानस्य अधः अ-
धस्तनेषु हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु कर्म क्रिया यस्मात्तद्भावा-
धःकर्म इति व्युत्पत्तेः ।

एतामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति-

तत्प्राणंता चारि-त्तपज्जवा होंति संयमठाणं ।

संखायाणि उ ता-णि कंरुगं होइ नायव्वं ॥ ६८ ॥

संखायाणि उ कं-रुगाणि उठाणं विणिदिदं ।

उठाणा उ असंखा, संयमसेही भुणोयव्वा ॥ ए९ ॥

किंहाइया उ लेमा, उक्कासविगुच्छिद्विसेसा उ ।

एएसि वि सुच्छाणं, अपं तग्गाहो कुणइ ॥ १०० ॥

इह सर्वोक्तप्रादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानाद् जघन्यमपि स-
र्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणता च सर्वत्रापि पदस्थानकवि-
न्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण दृष्टव्या । इयं चात्र
जावना-जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाच्छेद-
केन विद्यते, क्तिन्वा च निर्विज्ञागा भागाः सर्वसंकलनया
परिभाष्यमानाः सर्वोक्तपददेशविरतिविशुद्धिस्थानगता नि-
र्विज्ञागा भागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना
यावन्तो जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते । अत्राप्ययं भावार्थः-
इह किल असंकल्पनया सर्वोक्तपदस्य देशविरतिविशुद्धिस्था-
नस्य निर्विज्ञागा जागाः १०००० दशसहस्राणि, सर्वजी-
वानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतम् । ततस्तेन शतसंख्येन स-
र्वजीवानन्तकप्रमाणेन राशिनो दशसहस्रसंख्याः सर्वोक्तप-
ददेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विज्ञागा जागा गुण्यन्ते, जा-
तानि १०००००० दशलक्षाणि । एतावन्तः किल सर्वजघन्य-
स्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विज्ञागा जागा जवन्ति ।
संप्रति सूत्रमनुश्रियते-तत्र तेषु संयमस्थानादिषु वक्तव्येषु, प्रथ-
मतः संयमस्थानमुच्यते इति शेषः । अनन्ता अनन्तसंख्याः पाश्चा-
त्यसंकलनया दशलक्षप्रमाणाः, ये चारित्रपर्यायाः सर्वजघन्यचा-
रित्रसत्कविशुद्धिस्थानगता निर्विज्ञागा भागास्तैः समुदिताः सं-
यमस्थानम्, अर्थात्सर्वजघन्यजावं प्राप्नुवन्ति । तस्मादनन्तरं यद्
द्वितीयं संयमस्थानं तत् पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम् । वि मुक्तं भ-
वति ?-प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विज्ञागाभागापेक्षया छिदीयसंय-
मस्थाने निर्विज्ञागा भागा अनन्तमेव भागेनाधिका भवन्ताति ।
तस्मादपि यद् अनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम् । एवं पूर्व-
स्मादुत्तरोत्तराणि अनन्तमेव जागेन दृष्टानि निरन्तरं संय-
मस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावद्दुष्कृतमात्रेण संख्येयजागगत-
प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्था-
नानि कण्टकमित्युच्यते । तथा चाऽऽह-संख्यातीतानि असंख्ये-
यानि । तु पुनरर्थः । तानि संयमस्थानानि, कण्टकं जवन्ति ज्ञात-
व्यम् । कण्टकं नाम समयपरिभाषया अहुलमात्रेण संख्येय-
भागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्या विधीयते ।

तथा च भाष्ये उक्तम्-

" कंडंति इत्य भग्नद, पलभागा असंख्येजो " ।

अस्माच्च कण्ठकात्परतो यदन्यदन्तरं संयमस्थानं जवति तत् पूर्वसादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्ठकात्कचमसंयमस्थानगतनिर्विभागतागपेक्षया कण्ठकादन्तरे संयमस्थाने निर्विजागा भागा असंख्येयतमेन जागेनाधिका प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो जूरोऽपि, ततः पराणि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि जवन्ति । ततः पुनरप्येकमसंख्येयजागाधिकं संयमस्थानम्; एवमनन्तभागाधिकैः कण्ठकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयजागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तावत्परि कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति । ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेण अभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्तव्यम् । अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति जवन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे असंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो जूरोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानं वक्तव्यम् । यावन्ति अमूनि चैवं संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततः पूर्वपत्तिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि जवन्ति । ततो जूरोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृत्तात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि । यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र प्राप्यन्ते, पदस्थानकस्य परिममात्तव्यान् । इत्थं जूतायसंख्येयानि करणकानि समुदितानि पदस्थानकं जवति ।

तथा चाऽऽह जाप्यवृत्तं—

“संख्यार्थाणि उक्तं-रगाणि छुट्टाणं विणिहिदुं” सुगमम् । अस्मिंश्च पदस्थानके षोढा वृद्धिरुक्ता । तथा-अनन्तजागवृद्धिः, असंख्यातजागवृद्धिः, संख्यातजागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च । तत्र यादृशोऽनन्ततमो जागोऽसंख्येयतमः संख्येयतमो वा गृह्यते ; यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते-तत्र यदपेक्षया अनन्तजागवृद्धिस्तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते, हने च जागे लब्धिः सोऽनन्ततमो भागः । तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं जवति ?-प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विजागा जागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो हने सति ये लभ्यन्ते ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्जागैर्द्वितीये संयमस्थाने निर्विजागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो हने सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विजागा भागाः प्राप्यन्ते । एवं यद् यत् संयमस्थानमनन्तजागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत् पाश्चात्यसंयमस्थानस्य सर्वजावसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो हने सति यद् यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेनानन्ततमेन भागेनाधिकमवगन्तव्यम् । असंख्येयभागाधिकानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य सत्कार्ता निर्विभागभागाणामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना जागे हने सति यद् यल्लभ्यते सोऽसंख्येयतमो भागः, स्वतस्तेनासंख्येयतमेन जागेनाधिकानि असंख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयजागाधिकानि चैवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य उक्तप्रेन संख्येयेन जागे हने सति यद् यल्लभ्यते स स संख्येयतमो भागः । ततस्तेन तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयजागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा जागास्ते ते उक्तप्रेन संख्येयकप्रमाणेन राशिना गुण्यन्ते ; गुणिते च सति यावन्तो यावन्तो जवन्ति तावत्तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि छष्टव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धानि, अनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि; नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य निर्विजागा भागा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते । अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तेन । इत्थं च जागहारगुणकारकल्पनं मा स्वमनीषिकाशिलकल्पितं मंस्थाः । यत उक्तं कर्मप्रकृतिसंग्रहियां पदस्थानकगतजागहारगुणकारविचारधिकारे—“सव्यजि-याणमसंख्ये-जा जागसंखिजगस्स जेदुस्स । भागो तिसु गुण-णा तिसु,” ॥ इति । प्रथमाच्च पदस्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं पदस्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव तृतीयम् । एवं पदस्थानकान्यपि तावद्वक्तव्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च—“उट्टाणगग्रवसाणं, अन्नं उट्टाणयं पुणो अन्नं । एवमसंखा लोणा, उट्टाणाणं मुणय-व्वा” ॥ इत्थं जूतानि च असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि पदस्थानकानि संयमश्रेणिदृश्यते । तथा चाऽऽह—“उट्टाणा व असं-खा, संजमसेदी मुणयव्वा” तथा (वेस त्ति) कृष्णादयो हेस्याः स्थितिविशेषाः, उक्तप्रेनां सप्तोक्तप्रेनां सातवेदनीयप्रभृतीनां विगुहप्रकृतीनां संवधितो विगुहाः स्थितिविशेषा वेदि-

अपगन्ध-अपगाण्ड-अपगतं गणं दोषो यस्मात्तदपमण्डम् ।
निर्दोषं, उदकफेने च । सूत्र० १ भु० ६ अ० ।

अप-इसुक्त-अप, एमसुक्त-त्रि० । अपगतं गणमपद्रव्यं यस्य तदपगतगणम्, तच्च सुक्तम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णचक्रद्वे, तथा अपगणमुद्रकफेनं तत्सुहृदमपगण्डसुक्तम् । उद्रकफेनवद्धदाते, “अणुत्तरं धम्ममुद्हरत्ता, अणुत्तरं भाणवरं भियाई । सुसुक्क-कं अवगंसुक्तं, संखिदुपगंतवद्धातसुक्तं” सुत्र० १ भु० २ अ० ।

अपचय-अपचय-पु० । अभवे, उक्त० १ अ० ।

अप (५५) चक्रव-अप्रत्यय-त्रि० । यचाक्षुषं, आ० म० द्वि० । अप्रत्ययवत् । बुद्धिः, प्रत्ययः इति वचनात् । ल० ।

अप (५५) चक्रव, ग-अप्रत्याख्यान-पु० । न विद्यते प्रत्याख्या-नमणुवतादिरूपं येषु । स्या० ६ उ० १ उ० । न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्यानाः । देशविरत्याचारकेषु कथा-येषु, यदत्राणि-“नाल्पमपुनसहेयं, प्रत्याख्यानं महोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता” ॥ १ ॥ ते चत्वारः क्रोशमानमायालोभाः । कल्प० । न० त० । मनामपि विरतिप-रिणानानां, न० । प्रज्ञा० । पं० सं० ।

अप (५५) च, खाणिका या-अप्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० । अप्रत्याख्यानेन निवृत्त्यभावेन क्रियाः कर्मव-धादिकरणमप्रत्या-ख्यानक्रिया । ज० १ श० २ उ० । अप्रत्याख्यानजन्ये कर्मबन्धे, अप्रत्याख्यानमेव क्रिया । अप्रत्याख्यानक्रियाया अभवे, भ० १ श० ६ उ० ।

तद्भेदाः—

अपचक्रखाणकिरिआ दुविहा पनत्ता । तं जडा-जी-वअपचक्रखाणकिरिया चेव, अजीवअपचक्रखाणकि-रिया चेव ।

(जीवअपचक्रखाणकिरिया चेव त्ति) जीवविषये प्रत्याख्या-नाभावेन यो बन्धादियोगः सा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया । तथा- (अजीवअपचक्रखाणकिरिया चेव त्ति) यदजीवेषु मयादिष्व-प्रत्याख्यानान् कर्मबन्धनं सा अजीव-प्रत्याख्यानक्रियाति । स्या० २ उ० १ उ० । आ० चू० ।

सा च अविरतस्य—

अपचक्रखाणकिरिया णं भंते ! कस्म कज्जइ ? गोय-मा ! अन्नयरस्म वि अपचक्रखाणस्स ॥

अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः अन्यत्वादि, न किंचिदपीत्यर्थः । यो न प्रत्याख्याति, तस्येति भावः । प्रज्ञा० २२ पद ।

समैव सा सर्वस्य—

जंते ! त्ति जगवं गोयमे समणं जगवं महावीरं वंदइ, नमं-मइ, वंदइआ एमं वदत्ता एवं वयामी-मे ण्णं भंते ! से-ट्टिस्म य तण्णयस्म किं वणस्म खत्ति यस्म य ममा चेव अप-चक्रखाण किरिया कज्जइ ? । हंता गोयमा ! सेट्टियस्म० जाव अपचक्रखाणकिरिया कज्जइ । मे केणट्टेणं जंते ! ? । गोयमा ! आवरं पकुच्च, से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-नं ट्टिस्म य तण्ण जाव कज्जइ ॥

(भंते ! ज्यादि) तत्र ‘ भंते ! त्ति ’ हे भदन्त ! इति, एवमा-

न्येति शेषः । अथवा-भदन्त इति कृत्वा, गुरुगितिकृत्वेत्यर्थः । (सेट्टिस्म त्ति) श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविन्यसितशिखंवेष्ट-नोपेनपौरजननायकस्य [तण्णयस्म त्ति] दरिद्रस्य [किं वणस्म त्ति] गृहस्य [खत्ति यस्म त्ति] राज्ञः [अपचक्रखाणकिरिया त्ति] प्रत्याख्यानक्रियाया अभवोऽप्रत्याख्यानजन्यो वा कर्म-बन्धः, [अविरइ त्ति] इच्छाया अनिवृत्तिः, सा हि सर्वेषां स-मैवेति । ज० १ श० ६ उ० । “ से दूणं भंते ! हत्थिस्स य कुं-पुस्स य ममा चेव अपचक्रखाणकिरिया कज्जइ ? । हंता गोय-मा ! हत्थिस्स य कुंपुस्स य० जाव कज्जइ । से केणट्टेणं, एवं वुच्चइ० जाव कज्जइ ? । गोयमा ! अविरइ पकुच्च से तेणट्टेणं जाव कज्जइ ” । भ० १ श० ८ उ० ।

अप (५५) चक्रखाणि (ण्)-अप्रत्याख्याननिन्-त्रि० न० त० । अप्रत्याख्यातगि, अविरते यो न प्रत्याख्याति । प्रज्ञा० २१ पद । भ० । (के केऽप्रत्याख्यानिनः ? इति “ पचक्रखाण ” शब्दे दर्शयिष्यते)

अप (५५) चक्रखाय-अप्रत्याख्यात-त्रि० । अकृतप्रत्या-ख्याने, भ० ८ श० ५ उ० ।

अप (५५) चय-अप्रत्यय-पुं० । अविशवासे, नि० चू० १६ उ० । प्रत्ययान्तररूपे चतुर्दशगौणादीक, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । समदर्शे गौणादत्तादाने च, तस्य अप्रत्ययकारणत्वात् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अपचयकारण-अप्रत्ययकारक-त्रि० । विश्वासविनाशक, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अपचल-अप्रत्यय-त्रि० । अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । क्रूरम-र्थे, अनहोऽप्रत्ययः, अयोग्य एकार्थाः । नि० चू० १६ उ० । आश्र० ।

अपचलाणुतावि (ण्)-अपश्चात्तापिन्-त्रि० । आलोचितेऽप-राधे पश्चात्तापमकुर्वति निर्जराज्ञागति आलोचनादानयोग्ये, ज० २५ श० ७ उ० । अपश्चात्तापी नाम यः पश्चात्परितापं न करोति—“ हा ! दुष्टं कृतं मया यद् आलोचितमिदानीं प्रायश्चि-त्तं तपः कथं करिष्यामीति ? ” किन्त्वेवं मन्यते-कृतपुण्योऽदं य-प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवानिति । व्य० १ उ० । स्या० ।

अपचलायमाणा-अपच्छादयत्-त्रि० । प्रच्छादनमकुर्वति, “ अ-णि एहवमाणा अपच्छायमाणा जहातूयमवितदमसंदिग्धं पय-मदु आकखवइ ” ज्ञा० १ अ० ।

अप च्छम-अपश्चिम-त्रि० । न विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चि-मः । सर्वान्तिमे, “ तित्थयराणं अपच्छिमे जयइ ” नं । चरमे मरणे, कल्प० । आश्र० । आ० म० । अकारस्वमङ्गलपरिहारा-र्थः । पश्चात्कालजाविनि, स० । “ अपाच्छमे दरिस्सणे [मेघकु-मारस्य] जविस्सइ त्ति कटु ” अकारस्यामङ्गलपरिहारार्थत्वात्, पश्चिमं दर्शनं भविष्यति पतकेशदर्शनमपनीतकेशावस्थस्य मे-घकुमारस्य दर्शनं सर्वदर्शनं पाश्चात्यं भविष्यतीति ज्ञावः । अ-थवा न पश्चिममपश्चिमं पीनः पुन्येन मेघकुमारस्य दर्शनमेतद्दर्श-नेन जाविष्यतीत्यर्थः । ज्ञा० २ अ० । भ० । प्रच० । आ० क० ।

अपच्छिममारणंतियसंवेहणाभूमणा-अपश्चिममारणान्तिक-संवेहनाजोपणा-स्त्री० । पश्चिमैवाऽमङ्गलपरिहारार्थमपश्चि-

मा, मरणं प्राणत्यागलक्षणम्, इह यद्यदि प्रतिक्रममावीचीमरणम-
स्ति तथापि न तद् गृह्यते, किं नहि ? विवर्तितसर्वायुष्कृ-
यलक्षणमिति । मरणमेवान्तरं मरणान्तः, तत्र त्रया मारणान्ति-
की, संक्षिप्यते कृशीक्रियतेऽनया शरीरकपायादीति संलेखना,
तपोविशेषलक्षणः, ततः कर्मधारयादपश्चिममारणान्तिकसंज्ञे-
खना । तस्या जोषणा सेवा, अपश्चिममारणान्तिकसंज्ञेखनाजो-
षणा । मरणकाये संज्ञेखनानां तपसा शरीरस्य कपायादी-
नां च कृशीकरणं, ज० ७ श० २ उ० । कल्प० । स० ।

अपचिन्ममारणंति य संलेहणाभूषणाभूमिय-अपश्चिममार-
णान्तिकसंज्ञेखनाजोषणाजोषित [भूषित]-त्रि० । अपश्चिम-
मारणान्तिकसंज्ञेखनाजोषणया जोषितः संवितस्तथा । अप-
श्चिममारणान्तिकसंज्ञेखनायुक्तं, अपश्चिममारणान्तिकसंज्ञेखना-
जोषणया भूषितः क्षपित इति । अपश्चिममारणान्तिककृपि-
तदेह, स्था० २ उ० २ उ० ।

अपचिन्ममारणंति य संज्ञेहणाभूषणाराधना-अपश्चिममार-
णान्तिकसंज्ञेखनाजोषणाराधना-स्त्री० । अपश्चिममारणा-
न्तिकसंज्ञेखनाजोषणाऽस्य आराधनमखण्डकालकरणं तद्-
जात्रोऽपश्चिममारणान्तिकजोषणाराधना । देशोत्तरगुणप्र-
त्याख्यानभेदे, “ एष सामायारी आसेवियगिहधम्मणे किल
सावणेण पच्छा निक्खमियध्वं, एवं सावणधम्मं उज्जमिओ हो-
इ न सकई ताइ जत्तपच्चक्खणकाले संथारसमणेण होय-
वं ति विजासा अहोत्तं ” अपश्चिममारणान्तिकसंज्ञेखनाजो-
षणाराधना चातिचाररहिता सम्यक्कालनीयति वाक्यशेषः ।
आव० ६ अ० । औ० ।

अस्या अतिचाराः—

तयानंतरं च णं अपचिन्ममारणंति य संज्ञेहणाभूषणारा-
धणाए पंच अइयारा जाणियव्वा, न ममायरियव्वा । तं
जहा-इहलोगासंस्पओगे १ परलोगासंस्पओगे २ जी-
वियानंस्पओगे ३ मरणानंस्पओगे ४ कामजोगानंस्प-
ओगे ५ । उपा० १ अ० । आव० । कल्प० । थ० ।

(‘इहलोगासंस्पओगे’ इत्यादिशब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या
द्वितीयादिभागेषु छप्या)

अपज्जत्त-अपर्याप्त-त्रि० । परि-आप्-क्त. न० त० । असमर्थे,
असंपूर्णे स्वकार्याऽङ्गमे च । वाच० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते यस्य
सोऽपर्याप्तः । “अप्रदिभ्यः” । ७।२।४६ । इति हैमसूत्रेण प्रत्ययः ।
अपर्याप्तकर्मोदयेनानिवृत्ते, स्था० १ उ० १ उ० । तत्र द्वेधा अप-
र्याप्ताः-द्वन्ध्या करणैश्च । तत्र ये अपर्याप्तका एव सन्तो भ्रियन्ते
न पुनः स्वयंग्यपर्याप्ताः सर्वा अपि समर्थयन्ति तेलग्यपर्याप्ताः,
ये च पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति,
अथ चाऽवश्यं पुरस्ताद्विर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः । इह च
एवमागमः-द्वन्ध्यापर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्या-
प्तिपरिसमाप्तावेव भ्रियन्ते, नावाक् । यस्मादागामिजवायुर्व-
ध्वा भ्रियन्ते सर्व एव देहिनाः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्या-
प्तानामेव वक्ष्यत इति । कर्म० १ कर्म० पं० सं० नं० प्रश्न० स० ।

अपज्जत्तग-अपर्याप्त-पुं० । “ उविहा णेरइया पणत्ता । तं
जहा-पज्जत्तगा चेव, अपज्जत्तगा चेव, जाव वेमाणिया ”
स्था० २ उ० २ उ० ।

१५९

अपज्जत्तणम-अपर्याप्तानाम्-न० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते
येषां ते अपर्याप्ता इति कृत्वा तन्निबन्धनं नाम अपर्याप्तनाम ।
यदुदयाद् जन्तवः स्वयंग्यपर्याप्ति- (परिसमाप्ति) समर्थाः न
भवन्ति, तस्मिन्नामकर्मणि, कर्म० १ कर्म० । स० ।

अपज्जत्ति-अपर्याप्ति-स्त्री० । पर्याप्तप्रतिपक्षेऽर्थे, जी० १
प्रति० ।

अपज्जवसिय-अपर्यवसित-त्रि० । न० त० । अनन्ते, “ ए-
षं सिद्धा भगवंतो मादिया अपज्जवसिया चिहंति ” अपर्य-
वसिता रागःश्रमावेन प्रतिपातासंभवान् । प्रज्ञा० २ पद ।

अपज्जुवासणा-अपर्युषामना-स्त्री० । न० त० । असेवनायां-
म, झा० १३ अ० ।

अपज्जोसणा-अपर्युषणा-स्त्री० । अप्राप्तायामतीतायां वा
पर्युषणायाम्, नि० चू० १० उ० ।

अपडविय-अप्रस्यापित-त्रि० अकृतप्रस्थाने, “ पुण्वहमप-
चित्ते अवणहे उचित्तु य ” नि० चू० ५ उ० ।

अप (ण) ढिकम्म-अप्रतिकर्मन्-न० । प्रतिकर्मरहिते, “ सु-
ष्मागारे व अपन्तिकम्मे ” प्रश्न० ५ सम्ब० डा० । शरीरप्रति-
क्रियावर्जपादपोगमने, स्था० २ उ० ४ उ० ।

अप (ण) निक्कत-अप्रतिक्रान्त-त्रि० । दोषादनिवृत्ते, औ० ।

अप (ण) ढिचक्क-अप्रतिचक्र-त्रि० । न विद्यते प्रति अनु-
रूपं समानं चक्रं यस्य तदप्रतिचक्रम् । परचक्रैरसमाने, “ अ-
पन्निचक्रस्स जओ होइ सया संचक्कस्स ” अप्रतिचक्रस्य
चरकादि च तैरसमानस्य । न० ।

अपमिच्छिरो-देशी-जडमतौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अप (ण) मित्त-अप्रतिज्ञ-त्रि० । नास्य मयेदमसदपि समर्थ-
नीयमित्येवंप्रतिज्ञा विद्यतेऽस्यत्यप्रतिज्ञः । रागद्वेषरहिते, “ त-
त्तेणं अणुसिद्धाते, अपमिन्नेण जाणया ” सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० ३
उ० । आचा० । नाऽस्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकांशमिनी वि-
द्यत इत्यप्रतिज्ञः । ऐदिकामुष्मिकाकाङ्क्षाराहित्येन तपोऽनुष्ठा-
तरि, सूत्र० १ ध्रु० १० अ० । “ गंधेसु वा चंदणमाहुं सद्धं, एवं मु-
लीणं अपमिन्नमाहुं ” सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । न विद्यते प्रतिज्ञा
निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञः । सूत्र० १ ध्रु० २ अ० २ उ० ।
अनिदाने, यो हि वसुदेववस्तुसंयमानुष्ठानं कुर्वन् निदानं न क-
रोति प्रतिज्ञा च कपायोदयादावरतिः । तद्यथा—क्रोधोदयान्
स्कन्दकाचार्येण स्वशिष्ययन्त्रपीडनव्यातिक्रमवलोक्य सवन्नवा-
हनाजधानां समन्वितपुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञा अकारि, त-
था—मानोदयाद् बाहुवद्विना प्रतिज्ञा व्यधायि, यथा-कथमहं शि-
शून् स्वभ्रातृन् उत्पन्ननिगवरणज्ञानान् उग्रस्थः सन् द्रवयामाति,
तथा—पायोदयान्मल्लिस्वामिजीवेन यथाऽपरयतिविप्रब्रह्मो भ-
वति तथा प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा जगृह । तथा—लोभोदयाद्वाऽवि-
दितपरमार्थाः साम्प्रनेत्रिणो यत्वाभासा मासन्तनादिका अपि
प्रतिज्ञाः कुर्वन्ते । आचा० १ ध्रु० २ अ० ५ उ० । प्रतिज्ञाहिते,
आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० ।

अपमिपुण्ण-अप्रतिपूर्ण-त्रि० । गुणशून्यत्वादिभिस्तुच्छे इतरपु-
र्याचीर्णत्वान् सदगुणविरहास्तुच्छे, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० ।

अपमिपोगल-अप्रतिपुद्गल-न० । दारिद्र्ये, नि० चू० ५ उ० ।

अप (ए) निवृत्त-अप्रतिवृत्तमान-त्रि० । कमकर्तृव्यं प्रयोगः । स्वचिदपि प्रातश्च भवदुर्वति, व्य० २ उ० ।

अप (ए) निवृत्त-अप्रतिवृत्त-त्रि० । प्रतिवृत्तप्रदिते, अप-निवृत्तप्रदिते, प्रव० १०४ द्वा० । "अपनिवृत्तो अनलो व्य" प्रश्न० ११ मध्य० द्वा० । मद्वा० । पञ्चा० । सप्रतिस्वार्थितेऽनुप-दिते, पौ० ६ वि० ।

अप (ए) निवृत्त्या-अप्रतिवृत्त्या-स्त्री० । मनसि निरति-वृत्ततायाम्, नागोन्धे, उत्त० ३० अ० । तत्फलम्—

अपनिवृत्त्याए एं जेतं ! जावे किं जणयइ ? अप-डिवाङ्ग्याए णं निस्संगत्ते जणयइ, निस्संगत्तेणं जीव एगे एगगचित्ते दिया य राओ य अमज्जपाणे अपनिवृत्तं यावि विहरइ ।

अप्रतिवृत्ततया मनसि निरतिवृत्ततया निःसङ्गत्वं वहिः स-ङ्गाभावं जनयति, निःसङ्गत्वेन जीव एको रागादिविकलतया तत्र एवैकाग्रचित्ते । धर्मेकतानमना एकाग्रतानिवृत्तकहेत्वभा-वं दिया च रात्रौ वाऽसज्जन्, कोऽर्थः ?—मर्वादा वहिः सङ्गं त्यजन् अप्रतिवृत्त्यापि विहरति । कोऽभिप्रायः ?—विशेषतः प्रतिवृत्त्य-विकलां मासकल्पादिनां चतविहारेण पर्यटति । उत्त० २९ अ० ।

अप (ए) निवृत्त-विहार-अप्रतिवृत्त-विहार-पुं० । अप-तिवृत्तस्य विहारोऽप्रतिवृत्तविहारः । इत्यादिषु सर्वभावेषु अभि-वृत्ताहितत्वेनैकत्राऽनवस्थाने, प्रव० । अप्रतिवृत्तस्य सदा सर्वका-लमभिप्रवृत्तहित इत्यर्थः । गुरूपदेशेन हेतुभूतेन । क ? इत्याह-सर्वतावेप इत्यादिषु । तत्र इत्ये आचकादौ, केवे निर्वातवस-त्यादौ, काले शरदादौ, भावे शरीरोपचयादौ, अप्रतिवृत्तः । किमित्याह-मासादिविहारेण सिद्धान्तप्रसिद्धेन विहारेद्विहारं कु-र्यात् । यथोचितं संहतनाद्याचित्येन नियमादवश्यंभाव इति । एतदुक्तं तदति-इत्यादिप्रतिवृत्तः सुखलिसुतया तावदेकत्र न निष्ठेत्, किं तर्हि, पुष्टालम्बेन मासकल्पादिना विहारोऽपि च द्रव्याद्यप्रतिवृत्तस्यैव सफलः । यदि पुनरमुकं नगरादिकं गत्वा तत्र मठदिकान् आचकानुपार्जयामि, तथा च करोमि, यथा मां विहायापरस्य ते तत्ता न भवन्तीत्यादिद्रव्यप्रतिवृत्तेन, त-था-नियतवसत्यादिजनितरग्युत्पादकममुकं केवमिदं तु न त-थाविधमित्यादि केवप्रतिवृत्तेन, तथा-परिपक्वमुरजिशाल्यादि-सम्यदर्शनादिरमणीयोऽयं विहरता शरत्काद्यादिरित्यादिकाल-निवृत्तेन, तथा-स्निग्धमधुराद्याहारादिलाभेन तत्र गतस्य म-म शरीरपृष्ठादिसुखं भविष्यत्यथ न तत्र संपद्यते । अपरं जै-वमुद्यतविहारेण विहरन्तं मामेवोद्यतं श्लोका भणिष्यन्त्यमुकं तु शिथिलमित्यादितावत्प्रतिवृत्तेन च मासकल्पादिना विहरति, तदाऽसौ विहारेऽपि कार्यासाधक एव । तस्मादवस्थाने विहारो वा इत्याद्यप्रतिवृत्तस्यैव साधक इति । प्रव० १०४ द्वा० ।

अप (ए) निवृत्त-अप्रतिवृत्तमान-त्रि० । शब्दा-न्तगणयनवधारयति, भ० ६ श० ३३ उ० ।

अप्रत्युद्यमान-त्रि० । वैराग्यतमानसत्त्वादनपट्टियमाणमानमे, त० ए श० ३३ उ० । आ० ।

अप (ए) नियार-अप्रतीकार-पुं० । व्यसनापरिवाणे, प-ञ्चा० २ वि० । आचा० ।

अप (ए) डिह्व-अप्रतिरूप-त्रि० । अपगनुवृत्त्यात्मके वि-

नये, दश० ए अ० १ उ० ।

अप (ए) निवृत्त-अप्रतिवृत्त-त्रि० । न० त० । असंजाते, द्वा० १ अ० ।

अप (ए) मिलित्सम्पत्तरयणपडिलंज-अप्रतिलब्धमम्यक्त्व-रत्नप्रतिलम्भ-त्रि० । असंजातविपुलभुजसमुद्भवे, द्वा० १ अ० ।

अप (ए) डिलेस्म-अप्रतिलेश्य-त्रि० । अतुल्यमनोवृत्तिषु, "अपमिलेस्मासु सामाण्यया दांता इणमेव णिग्गंथं पाषयणं पुरओ काउं विहरति" श्री० ।

अप (ए) डिलेहण-अप्रत्युपेक्षण-न० । न प्रत्युपेक्षणमप्रत्युपे-क्षणम् । गोचरापन्नस्य शय्यादेश्वक्षुपाऽनिरीक्षणं, आव० ६ अ० ।

अप (ए) निवेदहणासील-अप्रतिवेखनाशील-त्रि० । दृष्ट्या प्रमाजंनशीले, कल्प० ।

अप (ए) डिलेहिय-अप्रतिवेखि-(प्रत्युपेक्षि) त-त्रि० । जीवरक्षार्थं चक्षुषाऽनिरीक्षिते, उपा० १ अ० ।

अप (ए) मिलेहियदुप्पमिलेहियउच्चारपासवणचूमि-अ-प्रत्युपेक्षितदुप्पप्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणचूमि-स्त्री० । अप्रत्युपे-क्षिता जीवरक्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षिता दुप्पप्रत्युपेक्षिताऽस-म्यग् निरीक्षिता उच्चारः पुरीषः प्रश्रवणं मूत्रं तयोर्निमित्तं भूमिः स्थण्डिलमप्रत्युपेक्षितदुप्पप्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिः । पोषधोपवासस्य तृतीयातिचारभेदे, उपा० १ अ० । ध० । आ० चू० ।

अप (ए) मिलेहियदुप्पमिलेहियसिज्जासंथारय-अप्रत्युपेक्षि-तदुप्पप्रत्युपेक्षितशय्यामंस्तारक-पुं० । अप्रत्युपेक्षितो जीवर-क्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षित उद्भ्रान्तचेतोवृत्तितयाऽसम्यग् नि-रीक्षितः शय्या शयने तदर्थं संस्तारकः । कुशकञ्चलफल-कादिः शय्यासंस्तारकः । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयं भवत्य-प्रत्युपेक्षितदुप्पप्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकः । पोषधोपवासस्य प्रथमातिचारभेदे, अतिचारत्वं चास्य उपभोगस्यातिचारहे-तुत्वात् । उपा० १ अ० । आ० चू० । पञ्चा० ।

अप (ए) डिलेहियपणग-अप्रतिवेखितपञ्चक-न० । तू-ली १ आलिङ्गनिका २ मस्तकोपधानं ३ गल्लमसूरिका ४ आस-नक्रिया ५ पञ्चके, जीत० ।

अप (ए) निवोमया-अप्रतिवोमता-स्त्री० । आनुकूल्ये, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० ।

अप (ए) निवाङ् (ए)-अप्रतिपातिन्-त्रि० । प्रतिपतनशीलं प्र-तिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति । सदाऽवस्थायिनि, न० । अनुप-रत्नस्वभावं, ध० ३ अधि० । आमरखान्तभाविनि, आ० म० प्र० । आकेचलोत्पत्तेः स्थिरं, कल्प० । स्था० । केवलज्ञानादवाग् भ्रं-शमनुपयाति अर्वाधज्ञानविशेषे, न० । विशेषः । आ० म० ।

से किं तं अपडिवाङ्गं ओढिनाणं ? अपडिवाङ्गं ओढिना-णं जेयं अज्ञागस्म एगमवि आगामएमं जाणइ, पामइ, तेणे परं अपडिवाङ्गं ओढिनाणं । सेतं अपडिवाङ्गं ओ-ढिनाणं ॥६॥

(ने किं तमित्यादि) अथ किं तदप्रतिपत्त्यवधिज्ञानम् ? सूरि-

राह-अप्रतिपात्यवधिज्ञानं, येनावधिज्ञानेनालोकस्य संबन्धि-
नमेकमप्याकाशप्रदेशम्, आस्तां यद्वृत्ताकाशप्रदेशानित्यपि शु-
द्ध्यर्थः । पश्येत् । एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपवर्णयते नत्वलोके कि-
ञ्चिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यमस्ति; एतच्च प्रागेवोक्तम् । तत आ-
रभ्याऽऽप्रतिपत्त्या केवलप्राप्तेरवधिज्ञानम् । अयमत्र भावार्थः-
एतावति क्षयोपशमे संप्राप्ते सत्यात्मा विनिहितप्रधानप्रतिपक्ष-
योधसंघातनरपतिरिव न भूयः कर्मशत्रुणा परिभूयते, किन्तु
समासादितैतावदालोकजयाप्रतिनिवृत्तः शेषमपि कर्मशत्रु-
संघातं विनिजित्य प्राप्नोति केवलराज्यश्रियमिति, तदेतदप्रति-
पात्यवधिज्ञानम् । तदेवमुक्ताः षडप्यवधिज्ञानस्य भेदाः ।

सम्प्रति छव्याद्यपेक्षयाऽवधिज्ञानस्य भेदान् चिन्तयति-

तं समासओ चउविहं पणत्तं । तं जहा-द्वओ, खेत्तओ,
कात्तओ, भावओ । तस्य द्वओ एं ओहिनाणी जह-
न्नेणं अणंताइं रुविदव्वाइं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं सव्वाइं
रुविदव्वाइं जाणइ, पासइ । खेत्तओ णं ओहिनाणी जह-
न्नेणं अंगुत्तस्स असंखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्को-
सेणं असंखिज्जाइं अलोके लोगप्पमाणमिच्छां खंकाइं जा-
णइ, पासइ । कात्तओ एं ओहिनाणी जहन्नेणं आवावि-
याए असंखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं असंखि-
ज्जाओ उस्सप्पणीओ अवसप्पणीओ अईयमणागयं च
कालं जाणइ पासइ । भावओ एं ओहिनाणी जहन्नेणं
अणंते जावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अणंते भावे
जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंतेज्जाणं जाणइ, पासइ ॥

“ओहीजवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वप्पिओ लुविहो ।

तस्स य बहू विगप्पा, दव्वे खेत्ते य कात्ते य ॥१॥

नेरइय-तित्तकारा, ओहिस्स बाहिरा हुंति ।

पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ” ॥ २ ॥

सेत्तं ओहिनाणं ॥ नं० ।

(टीका चास्य ‘ओहि’ शब्दे तृतीयभागे १५१ पृष्ठे अवधि-
क्षेत्रप्ररूपेण गतार्था सुगमा च नेहापन्यस्तेति)

अप (५५) मिसंझीण-अप्रतिसंलीन-त्रि० । अकुशलेन्द्रि-
यकषायाद्यनिरोधके, स्था० ।

तस्य च त्रीणि सूत्राणि-

चत्तारि अपमिसंलीणा पणत्ता । तं जहा-कोइअपमिसं-
लीणे, माणअपमिसंझीणे, मायाअपमिसंझीणे, लोभ-
अपमिसंलीणे ॥

पुनः-

चत्तारि अपमिसंलीणा पणत्ता । तं जहा-माणअपमिसं-
लीणे, वइअपमिसंलीणे, कायअपमिसंलीणे, ईदिय-
अपमिसंलीणे ॥ स्था० ४ ठा० २ उ० ।

(टीका चास्य प्रतिसंलीनस्यैव भावनीया)

पंच अपमिसंलीणा पणत्ता । तं जहा-सोईदियअपमि-

संलीणे, जाव फासिंदियअपमिसंलीणे । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अप (५५) मियुणेत्ता-अप्रतिश्रुत्य-अव्य० । प्रतिश्रवणमकृ-
त्वेत्यर्थे, आच० ४ अ० ।

अपमिसेह-अप्रतिपेध-पुं० । अनिवारणे, पञ्चा० ६ विष० ।

अपमिस्मावि (ए)-अप्रतिस्माविन-त्रि० । पाषाणायामयभा-
जनं न प्रतिस्त्रवति । प्रतिस्त्रवणरहिते, दर्श० ।

अप (५५) मिहम-अप्रतिहृत्य-अव्य० । अप्रणमकृत्वेत्यर्थे, वृ० ३ उ० ।

अप (५५) डिहणंत-अप्रतिघ्नत्-त्रि० । तद्व्यचनमविकुट्टयति,
वृ० १ उ० ।

अप (५५) मिहय-अप्रतिहत-त्रि० । अप्रतिघातरहिते अखणिते,
ज्ञा० १६ अ० । कटकुड्यापर्वतादिभिरस्खलिते, स० १ सम० ।
अविसंवादके, औ० । भ० । केनापि अनिवारिते, उक्त० ११ अ० ।
अन्येश्च लङ्घयितुमशक्ये, उक्त० ११ अ० ।

अप (५५) मिहयगइ-अप्रतिहतगति-त्रि० । अप्रतिहताविहारे,
“अपमिहयगई गामे गामे य एगरायं नगरे नगरे पंचरायं
दृश्ज्जेते य जिईदिण” प्रश्न० ५ सम्ब० ६० । संयमे गतिः प्रवृ-
त्तिर्न इत्येतेऽस्य कथञ्चिदिति भावः । स्था० ६ ठा० ।

अप (५५) मिहयपच्चखायपापकम्म-अप्रतिहृतप्रत्याख्यातपा-
पकम्म-त्रि० । प्रतिहतं निराकृतमतीतकालकृतं, निन्दादिकर-
णेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म प्राणाति-
पातादि येन स प्रतिहनप्रत्याख्यातपापकर्मा, तन्निषेधादप्रति-
हतप्रत्याख्यातपापकर्मा । अनिषिद्धातीतानागतपापकर्माणि, ज०
१ श० १ उ० ।

अप (५५) मिहयवल-अप्रतिहतवल-त्रि० । अप्रतिहतं केना-
प्यनिवारितं बलं यस्य स अप्रतिहतवलः (उक्त०) अप्रतिह-
तमन्येश्च लङ्घयितुमशक्यं बलं सामर्थ्यमस्येति अप्रतिहतवलः ।
सहजसामर्थ्यवति, उक्त० ११ अ० ।

अप (५५) डिहयवरणाणंदमणधर-अप्रतिहृतवरज्ञानदर्शनधर-
पुं० । अप्रतिहृते कटकुड्यादिभिरस्खलिते, अविसंवादके वा । अत
एव क्वायिकत्वाद्वा चरे प्रधाने ज्ञानदर्शने केवलाख्ये विशेष-
सामान्यबोधात्मके धारयति यः स तथा । केवलज्ञानदर्शनाप-
पयुक्ते जिने, भ० १ श० १ उ० । स० । औ० ।

अप (५५) मिहयसासण-अप्रतिहृतशासन-त्रि० । ६ ब० । अस्-
तिरुताङ्गे, “अपमिहयसासणं अ सेणवई” ज्ञा० १६ अ० ।

अप (५५) मिहारय-अप्रतिहारक-पुं० । न० । प्रत्यर्पणायोग्ये
शय्यासंस्तारके, आच० २ थु० २ अ० ३ उ० ।

अप (५५) डोकार-अप्रतीकार-त्रि० । सूतिकर्मादिरहिते, “किं ते
सोत्तरहतएदखुदवेयणअपमीकारअरुविजम्मणा णिच्चभउ-
विग्गवासजगाणं” प्रश्न० १ आश्र० ६० ।

अप (५५) रुपण-अप्रत्युत्पन्न-त्रि० । अनागमिके प्रतिपत्यकुश-
ले, “अपरुपणं य तदि, कहइ तल्लुद्धितो अस्से” । व्य० ६
उ० । नि० चू० ।

अपढम-अप्रथम-त्रि० । न० । प्रथमताधर्मरहिते अनादौ,

भ० १८ श० १ उ० । (जीवादीनामर्थानां प्रथमत्वादिविचारः 'पठम' शब्दे दर्शयिष्यते)

अपठमखग-अप्रथमखगति-खी० । सप्रशस्तविहायोगतौ , कर्म० ५ कर्म० ।

अपठमसमय-अप्रथमसमय-पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ ग० २ उ० ।

अपठमसमयउववणग-अप्रथमसमयोपपन्नक-पुं० । न० त० । प्रथमसमयोपपन्नव्यतिरिक्तेषु वैयक्तिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "खेरया दुविहः पणत्ता । तं जहा-पठमसमयोववणगा चैव, अपठमसमयोववणगा चैव जाव वेमाणिया" स्था० २ ग० २ उ० ।

अपठमसमयउवसंतकमायवीरागसंजम-अप्रथमसमयोपशा-
न्तकपायीतरागसंयम-पुं० । क० स० । न प्रथमः समयः प्राप्तो
येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकपायवीतरागसंयम-
श्च तथा । उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ७ ग० ।
अपठमसमयएगिंदिय-अप्रथमसमयैकेन्द्रिय-पुं० । प्रथमसमयै-
केन्द्रियजिज्ञे, यस्मैकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो ना-
स्ति । स्था० १० ग० ।

अपठमसमयखीणकमायवीरागसंजम-अप्रथमसमयकीण-
कायीतरागसंयम-पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्र-
थमसमयः, स चासौ उपशान्तकपायवीतरागसंयमश्च तथा ।
उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ७ ग० ।

अपठमसमयसजोगिजवस्थ-अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ-पुं० ।
अप्रथमो ह्यादिः समयो यस्य सयोगित्वे स तथा, स चासौ
भवस्थश्चेति अप्रथमसमयसयोगिभवस्थः । सयोगिजवस्थ-
भेदे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अपठमसमयसिद्ध-अप्रथमसमयसिद्ध-पुं० । न प्रथमसमयसि-
द्धोऽप्रथमसमयसिद्धः । परम्परासिद्धविशेषणप्रथमसमयवर्ति-
नि, सिद्धत्वसमयः द्वितीयसमयवर्तिनि सिद्धविशेषे, प्रज्ञा०
१ पद । आ० । स्था० ।

अपठमसमयसृष्टमसंपरायसंजम-अप्रथमसमयसृष्टमसंपरायसं-
यम-पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चा-
सौ सृष्टमः किट्टीकृतः संपरायः कपायः संज्वलनशोभनकृणो
वेद्यमानो यस्मिन्स तथा । संपरायसंयमभेदे, स्था० ७ ग० ।

अपमविय-अप्रज्ञापित-त्रि० । प्रज्ञापनामप्रापिते, "सो य से-
ज्जातरो अपमवियो पन्निविशो वा धरे भणाति" नि० चू०
५ उ० ।

अपन-अपात्र-त्रि० । अयोग्ये, वृ० १ उ० । अभाजने, नि०
चू० १९ उ० ।

अप्राप्त-त्रि० । पर्यायेणोपस्थापनाभूमिमनधिगते, ध० ३ अ-
ध्या० । अनधिगते, व्य० ४ उ० । पि० । पूर्वमश्रुते, डा० १५ डा० ।

अपनज्ञान-अपदज्ञान-त्रि० । न विद्यते पत्रज्ञानं पक्वोद्-
घो यस्यासावपत्रज्ञानः । अज्ञानपक्वोद्घो पत्रज्ञाने, "जहा
दिया पान्तमपनज्ञानं, सायामगा पविउं मन्नमाणं" सुत्र०
१ ध्रु० १३ अ० ॥

अपत्तजोवणा-अप्राप्तयौवना-खी० । यौवनावस्थामप्राप्तयाम,
सा च गर्भं न धरति प्राय आद्यादशवर्षकादार्तवाभावात् । स्था०
५ डा० २ उ० ।

अपत्तजूमिग- (य०)-अप्राप्तजूमिक-पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन
सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेन दृष्टान्तमप्राप्ते "जायणमादि
अपत्तभूमिआ वारसओ जाव" (नि० चू०) "जे जो-
यणमादीसु गणेसु जाव वारस जोयणा ते सव्वे अपत्तभू-
मिया भवन्ति" नि० चू० १० उ० ।

अपत्तविसय-अप्राप्तविषय-त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंक्लिष्टो वि-
षयो ग्राह्यवस्तुरूपो यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनम् । अप्राप्तकारि-
णि इच्छियजाने, "लायणमपत्तविसयं, मणो व्व जमणुग-
दाइ सुणति" विपा० १ ध्रु० २ अ० ।

अपत्तिय-अपादिक-त्रि० । अविद्यमानाधारे, भ० १६ श० ३ उ० ।
अप्रीतिका-खी० । अप्रेक्षिण, पञ्चा० ७ दिव० ।

अपत्थ-अपथ्य-त्रि० । अहिते, "अपत्थं अंवंगं मुच्चा, राया
रज्जं तु हारण" उक्तं ७ अ० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा०
७ दिव० ॥

अप(प)त्याण-अप्राप्यन-न० । अजिलापस्याऽकरणे, उक्तं ३२ अ० ।

अप(प)त्थिय-अप्राप्यित-त्रि० । अमनोरथगोचरीकृतं, ज०
३ वक्र० ।

अप(प)त्थियपत्थ(त्थिय)-अप्राप्यितप्रार्थक-त्रि० । अप्रा-
प्यित केनाप्यमनोरथगोचरीकृतं प्रस्तावान्मरणं, तस्य प्रार्थकोऽ-
नित्यापी । मरणार्थिनि, ज० ३ वक्र० । "कसणं एस अपत्थियप-
त्थणं उरंतपंतवक्खणे" भ० ३ श० २ उ० । उपा० ।

अपद(य)-अपद-न० । न० व० । वाहनवृक्कादौ, चरणहानि, परि-
ग्रहं, आ० चू० ६ अ० । अष्टादशे सूत्रदोषभेदे, यत्र हि पद्यवन्धेऽ-
न्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानम्, यथाऽऽर्यापदेऽनि-
धातव्यं वेनाद्वीयमभिधेयात् । विशेषः । यत्र गाथादिके गीतिका-
पदे वा नवासिकापदे वा क्रियते । वृ० १ उ० । आ० म० ।
दाहिमाज्जवीजपूकादौ वृक्के, विशेषः । अनु० । न विद्यते
पदमवस्थाविशेषो यस्य सोऽपदः । मुक्तात्मनि, "अपयस्स पयं
णत्थि" आचा० १ ध्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अपदंस-अपदंश-पुं० । पित्तरुचि, नि० चू० १ उ० ।

अप(प)दुस्समाण-अप्रद्विष्यत्-त्रि० । प्रद्वेषमगच्छति, अन्तः
४ वर्गः ।

अपदवंत-अपदवत्-त्रि० । स्त्रियमाणत्वे, ज० २ श० १ उ० ।

अपपकारित-अप्राप्यकारित्व-न० । विषयदेशं गत्वा कार्य-
कारित्वे, न० । (नयनमनसोरप्राप्यकारित्वं द्वितीयभागस्य ५५७
पृष्ठे 'इंदिय' शब्दे वदयते)

अप(प)धु-अप्रधु-पुं० । नृत्तकादौ, ध० ३ अधि० । ओघ०

अप(प)पज्जणसील-अप्रपार्जनशील-त्रि० । अप्रमाजं-
नशीले, कल्प० ।

अप(प)पज्जित्ता-अप्रपार्ज्य-अव्य० । प्रपार्जनामकृतेत्यर्थे,
"पामार्ज्जसागारिणं, अपमज्जित्ता चि संजमो होइ । तं चेव
पमज्जितं, असागारिणं संजमो होइ ॥" प्रव० ६६ डा० ।

अप (प) मज्जिय-अप्रमार्जित-त्रि० । रजोहरणवस्त्राञ्चलादि-
नाऽविशोभिते, प्रव० ६ द्वा० ।

अप (प) मज्जियचारि(ण्)-अप्रमार्जितचारिण्-पुं० । अप्रमा-
र्जित, अवस्थाननिषीदनशयनादिकरणनिकेषाचारिदिपरिष्ठापनं
च कुर्वति, “अपमज्जियचारीया वि नवह,” इति पष्ठं समाधि-
स्थानम् । दशा० । प्रश्न० । १ अं०

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियउच्चारपासवणजूमि-अप्रमार्जित-
दुष्पमार्जितोच्चारपसवणजूमि-स्त्री० । पोषधोपवासस्याति-
चारभेदे, उपा० १ अ० । आच० ।

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियसिलासंयार-अप्रमार्जितदुष्पमा-
र्जितशयनानंस्तार-पुं० । पोषधोपवासस्यातिचारे, इह प्रमार्ज-
नं शय्यादौ सेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति दुष्टमविधिना प्रमार्ज-
नं दुष्प्रमार्जनम् । आच० ६ अ० । उपा० ।

अप (प) मत्त-अप्रमत्त-त्रि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा-नास्ति
प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः । पं० सं० १ द्वा० । आच० । अज्ञानानि-
र्वाविकथादिषु प्रमादरहिते, ग० २ अधि० । आ० । ते च
प्रायो जिनकल्पिक-परिहाराविशुद्धिक-यथालन्दकल्पिक-प्रति-
माप्रतिपन्नाः, तेषां सततोपयोगसम्भवात् । नं० । सं० । न वि-
द्यते प्रमत्तः प्रमादो मद्यविषयकपायविकथाप्रमादाख्यो यस्य ।
अप्रमादिनि, “अहो य राथो य अप्पमत्तेण हुंति ” प्रश्न०
५ सम्ब० द्वा० । निष्ठादिप्रमादरहिते, “अप्पमत्ते समाहिण
उभाइ ” आच० १ श्रु० ए अ० २ उ० । “अप्पमत्ते सया
परिक्रमेज्जा ” आच० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । “अप्पमत्ते जप
णिच्चं ” (दश०) । “सुस्ससप आयरियमप्पमत्ते ” (दश०)
प्रयत्नवति च । “अप्पमत्तो अहिंसओ ” दश० १ अ० ।

अप (प) मत्तसंजय-अप्रमत्तसंयत-पुं० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः,
नास्ति वा प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः; स चासौ संयतश्चाप्रमत्त-
संयतः । कर्म० ३ कर्म० प्रव० सर्वप्रमादरहिते सप्तमगुणस्था-
नकवर्तिनि, सं० १४ सप्त० ।

स च-

अप्पमत्तो दुविहो-कसायअप्पमत्तो य, जोगअप्पमत्तो
य । तत्त कनागअप्पमत्तो दुविहो-खीणकसाओ, निग्गह-
परो य । एत्थ निग्गहपरेण अहिगारो कहं तस्म अप्प-
मवत्तं भवति ? कोहोदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा विफ-
लीकरणं, एवं जाव लोभो चि । जोगअप्पमत्तो मणवयणका-
यजोगोहिं तिहिं व गुत्तो । अहवा अकुसलमणनिरोहो,
कुसलमणउदीरणं वा मणसो वा एगत्ताजावकरणं ।
एवं वइए वि, एवं काए वि, तहा इंदिएसु सोइंदियविसय-
पयारनिरोहो वा । सोइंदियविसयए तेसु दा अत्तेसु
रागदोसविणिग्गहो, एस अप्पमत्तो । आ० चू० ४ अ० ।

तस्य कावः-

अप्पमत्तमंजयस्स एं भंते ! अप्पमत्तसंजमे वइमागस्स
सव्वावि य णं अप्पमत्तस्सकाद्वओ केव चिरं होइ ? मंदिहा !

१५०

एगं जीवं पडुच्च जहएणेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोमणं पुव्वकोही
देसूणा णाणा जीवे पडुच्च मव्वच्छं; सेवं जंते ! जंते ! चि ।

(जहएणेणं अंतो मुहुत्तं ति) किलाप्रमत्ताकायां वर्तमान-
स्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति; चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसं-
यतवर्जः सर्वोऽपि सर्वधिरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् ।
स चोपशमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहुर्त्तभ्यन्तरे काव्यं कुर्वन् जघ-
न्यकाव्यो लज्यत इति; देशानपूर्वकोटी तु केवञ्चिनमाश्रित्येति ।
(नाणा जीवे पडुच्च सव्वच्छं) इत्युक्तम् । अथ सर्वाकाभावि-
भावान्तरप्ररूपणायाऽऽह-भंते ! भंते ! चि इत्यादि । भ० ३ श० ३
उ० । पञ्चा० । नं० ।

अप (प) मत्तमंजयगुणद्वारा-अप्रमत्तसंयतगुणस्थान-न० ।
सप्तमे गुणस्थानके, प्रव० १२४ द्वा० ।

अप (प) माण-अप्रमाण-न० । प्रमाणातिरिक्ते, वृ० ३ उ० । यदा
सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वादु
होभेन अधिकमाहारं करोति, तदाऽप्रमाणो द्वितीय आहारदोषः ।
उत्त० २४ अ० । (‘प्रमाण’शब्देऽस्य विवृतिः) प्रामाण्यविरुद्धे, रत्ना० ।
प्रसङ्गायातमप्रामाण्यरूपमपि धर्मं प्रकटयन्ति-

तदितस्त्वप्रामाण्यमिति ॥ १ ॥

तस्मात्प्रमेयाध्यभिचारित्वादितरत्त प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रा-
माण्यं प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वध्यातिरिक्त-
ग्राह्यपेक्षैव लक्षणीयम्, स्वस्मिन् व्यभिचारस्यासंज्ञवात् ।
तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणम्, किञ्चित्प्रमाणाभासम् ।
रत्ना० १ परि० ।

अप (प) माणजोड (ण्)-अप्रमाणभोजिन्-त्रि० । द्वाविंशत्-
कवलाधिकाहारजोक्तिरि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ॥

अप (प) माय-अप्रमाद-पुं० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमाद-
वर्जनलक्षणे पण्डितयोगसंग्रहे, सं० ३२ सम० ।

तत्र उदाहरणम्-

रायगिह मगहसुंदरि-मगहसिरी कुसुमसत्यपक्खेवो ।

परिहरिअ अप्पमत्ता, नट्टंगी अन्नवी चुका ॥ १ ॥

पुरे राजगृहेऽत्रासी-ज्जरासन्धो महानृपः ।

गाथक्यौ तस्य मगध-सुंदरीमगधश्रियौ ॥ १ ॥

चेन्नासौ स्यात्तदैकाऽहं, राजा च स्याद्वशे मम ।

मगधश्रीस्ततो दुष्टा, तस्या नाट्यस्य वासंर ॥ २ ॥

विषभावितासौवर्ण-केसरायितसूचिभिः ।

संचलितैः कर्णिकारैः, रङ्गोत्सङ्गमपूजयत् ॥ ३ ॥

अक्का मगधसुन्दर्या, विहोक्क्याभ्युदने स तान् ।

किमेषु कर्णिकारेषु, न लीयन्ते मधुवताः ? ॥ ४ ॥

सदोषाणि स्फुटं पुष्पा-एयेतान्यत्र च चेदहम् ।

द्रक्ष्ये योग्यानि नार्चाया, भावितानि विषेण वा ॥ ५ ॥

प्राप्त्यता स्यान्मम तत-स्तदुपायेन बोधये ।

अत्रान्तरेऽवतीर्णा च, रङ्गे मगधसुन्दरी ॥ ६ ॥

मङ्गले गीयमानेऽक्का, प्रागायर्त्तिकाभिमासम्- ।

पत्ते वसंतमासे, एआओ अपमोइअम्मि घुट्टम्मि ।

मूत्तूण कण्ठिआरएँ, भमगा सेवंति चूअकुसुमाइ ॥ १ ॥

भूत्वा गीतिमपूर्वां तां, जके मगधसुन्दरी ।

कर्णिकाराणि दुष्टानि, तत्परीहारतस्तथा ॥ ७ ॥

गीतं नृत्तं च साक्षिणं, ह्यहिता नाममादृतः ।

कर्तव्या साधुताऽप्येवं, सर्वदाऽप्यप्रमादिता ॥ ८ ॥

आ० क० । आ० । आ० चू० । प्र० । प्रमादाजावे, आचा०

१ ध्रु० ४ अ० ४ उ० । अणुसु स्थानेषु अप्रमादवतो भवितव्यम् ।

प्रमादो न कार्यः—

अट्टहिं गणेशं सम्मं संधामिवं जड्यवं परकमिवं,
अस्मि य एं अट्टे नो पमाएवं जवड, असुयाणं धम्माणं सम्मं
सुणणयाए अञ्जुट्टेयवं, सुयाणं धम्माणं ओगिएहयाए
ओवहारणयाए अञ्जुट्टेयवं जवड, तवाणं कम्माणं संज-
मेणं अकरणयाए अञ्जुट्टेयवं जवड, पोराणणं कम्माणं
तवमा विगिचणयाए विमोहणत्ताए अञ्जुट्टेयवं जवड,
असंगिहियपरिजणस्म संगिएहयाए अञ्जुट्टेयवं जवड,
सेहं आयारगोयं गहणयाए अञ्जुट्टेयवं जवड, गिलाण-
स्म अगिहयाए वेयावचं करणयाए अञ्जुट्टेयवं भवड, सा-
हम्मियाणं अट्टिगरणंसि उपपन्नंसि तत्थ अणिसिओव-
स्सिए अपक्खग्गाही मज्जत्यनावचूए कट्ठाणु साहम्मिया
अप्पसदा अप्पज्जा अप्पनुमनुमा उवसामणयाए अञ्जुट्टे-
यवं भवड ।

कथञ्चम् । नवरमणसु स्थानेषु वस्तुषु सम्यग्घटितव्यम्-अप्राप्तेषु
योगः कार्यः । यतितव्यम्-प्राप्तेषु तद्विधेयार्थं यतः कार्यः । पराक-
मितव्यम्-शक्तिक्रयेऽपि तत्पालने पराक्रम उत्साहातिरेको विधे-
यः । किं बहुना ?-एतस्मिन्नष्टस्थानकलकृणे वक्ष्यमाणेऽर्थे न प्रमाद-
नीयम्-न प्रमादः कार्यो भवति । श्रुतानामनाकार्णितानां धर्माणां
धृतभेदानां सम्यक् श्रवणतयै वाऽन्यथातयै मभ्युपगन्तव्यं ज-
वति । एवं श्रुतानां श्रोत्रेन्द्रियविषयीकृतानामवग्रहणतयै मनो-
विषयीकरणतयोपश्रवणतयै अविच्युतिस्मृतिवासनाविषयी-
करणायैत्यर्थः । (विगिचणयाए स्ति) विवेचना निर्जरत्य-
र्थः, तस्यै । अत एव आत्मनो विशुद्धिविशोधना, अकल-
ङ्कत्वम्, तस्यै इति । असंगृहीतस्यानाश्रितस्य, परिजनस्य
शिष्यवर्गस्येति । (सेहं ति) विभक्तिपरिणामाच्छैक्य-
स्यानित्यप्रवृत्तित्वस्य, (आयारगोयं ति) आचारः साधुस-
माचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतपट्टादिराचारगोचरः । अ-
थवा-आचारश्च ज्ञानादिविषयः पञ्चधा, गोचरश्च त्रिका-
चर्येभ्योऽप्यारगोचरम् । इह चित्तविपरिणामादुच्चारगोचर-
स्य प्रवृत्ततायां शिष्ये शैक्यमाचारगोचरं प्रादयितुमित्यर्थः ।
(अगिहयाए स्ति) अग्न्याया अखेदेनेत्यर्थः । वै-
यावृत्त्यं प्रतीति शेषः । (अग्रिगणंसि स्ति) वि-
शेषे, तत्र सार्धमिहकेषु निश्चितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-नि-
श्रितमादागदिलिप्सा, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा । तद्वर्जितो यः
सोऽनिश्रितोपाश्रितः । न पक्वं शास्त्रबाधितं गृह्णातीत्यपक्वप्रादौ ।
अत एव मध्यस्थतावं भूतः प्राप्नो यः स तथा । स भवेदिति
शेषः । तेन च तथाभूतेन कथं नु केन प्रकारेण सार्धमिकाः
साधवः?, अल्पशब्दा विगततादात्म्यादिवचनयः, अल्पज्जा विग-
ततथाविधप्रकीर्णवचनाः, अल्पनुमनुमा विगतक्रोधना वि-
कारविशेषाः नविष्यन्तीति नविष्यतोपशमनायाधिकरणस्या-
भ्युत्थानाय जवतीति । स्था० ८ उ० ।

किञ्च-

अणुपरमं नाणी, एो पमाए कयाड वि ।

आयगुत्ते सया धीरे, जायमायाए जावए ।

“अणुपरमं” इत्याद्यनुष्टुप् । न विद्यते अन्यः परमः प्रधा-
नोऽस्मादित्यनन्यपरमः संयमः, तं ज्ञानी परमार्थवित्तो प्रमाद-
येत्, तस्य प्रमादं न कुर्यात्कदाचिदपि । यथा चाप्रमादवत्ता
भवति तथा दर्शयितुमाह- (आयगुत्ते इत्यादि) इन्द्रियनोह-
न्क्रियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः । सदा सर्वकालम्, यात्रा संयम-
यात्रा, तस्यां मात्रा यात्रामात्रा । मात्रा च-“अव्वाहारो ए सहै”
इत्यादि, तयाऽऽत्मानं यापयेद्, यथा विषयानुदीरणेन दीर्घका-
लं संयमाधारदेहप्रतिपादनं भवति तथा कुर्यात् । आचा० १
ध्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपरं च-

उदाहु वीरे अप्पमादो महामोहे अलं कुसलस्स पमा-
एणं संति मरणं संपेहाए जिउरधम्मं संपेहाए ॥

(उदाहु इत्यादि) उत्प्रावत्येन आदोक्तवान् । कोऽसौ ? वीरः,
अपगतसंसारभक्तः, तीर्थकृतित्यर्थः । किमुक्तवान् ?, तदेव, पूर्वो-
क्तं वा दर्शयति-अप्रमादः कस्यैव । कः ?, महामोहे अज्ञानाभि-
षङ्ग एव महामोहकारणत्वान्महामोहः तत्र, प्रमादवता न
ज्ञान्यम्; आह-(अज्ञानमत्यादि) अज्ञं पर्याप्तम् । कस्य ?, कुशल-
स्य निपुणस्य-सूक्ष्मेक्षणः । केनालम् ?, मद्यविषयकपायानिष्ठा-
विकथारूपेण पञ्चविधनापि प्रमादेन, यतः प्रमादो दुःखाद्यभि-
गमनायोक्त इति स्यात् । किमात्रमन्य प्रमादेनालम् ?, इत्युच्यते ।
(संति इत्यादि) शमनं शान्तिशेषकर्मपगमः, अतो मोक्ष एव
शान्तिरिति । श्रियन्ते प्राप्तिनः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतिके सं-
सारे स मरणः संसारः । शान्तिश्च मरणश्च शान्तिमरणं, समा-
हारद्वन्द्वः । तत्संप्रेक्ष्य पर्यालोच्य, प्रमादवतः संसारानुपरमस्तत्प-
रित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदयम् । स चाकुशलः प्रे-
क्ष्य विषयकपायप्रमादं न विदध्यात् । अथ च शान्त्या उपश-
मेन मरणं मरेणायाधिः, यावत्सिष्ठतो यत्फलं भवति तत्पर्यालो-
च्य प्रमादं न कुर्यादिति । किञ्च-(भिउर इत्यादि) प्रमादो हि
विषयभिषङ्गरूपः शरीराधिष्ठानस्य च शरीरं भिउरधर्मं स्व-
त एव तिष्ठति इति । जिउरं स एव धर्मः स्वभावो यस्य तद्वि-
दुरधर्मः । एतत्समीक्ष्य पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति सर्वेभ्यः ।
आचा० १ ध्रु० २ अ० ४ उ० । प्रमादवर्जनरूपायां ४१ गौणा-
हिसायाम्, प्र० १ सम्य० द्वा० यन्नातिशये, प० ४०१ द्वा० ।
उपयोगपूर्वकरणक्रियायाम्, नि० चू० १ उ० ।

सर्वक्रियास्वप्रमाद इति चतुर्थे साधुलिङ्गम्-

सुगइनिमित्तं चरणं, तं पुण छक्कायसंजमो चेव ।

सो पाणिजं न तीरड, विगहाडपमायजुत्तेहि ॥ ११० ॥

शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरेव, तस्या निमित्तं कारणं, चर-
णं यतिप्रमः-“नो अज्जहा वि सिद्धी, पाविज्जइ जं तओइ
इमाए वि ॥ एसो चेव उवाओ, आरंजावट्टमाणो उ ” ॥ १ ॥

तथा-

“चिरहिततरकाएमा वाहुदण्णैः प्रचण्णं,

कथमपि जलराशिं धीधना लङ्घयन्ति ।

न तु कथमपि सिद्धिः साध्यते शीलहीनैः,

दृढयति यतिधर्मे चित्तमेवं विदित्वा ” ॥ १ ॥ इति ।

तत्पुनश्चरणं यद्वायसंयम एव, पृथ्वीजलज्वलनपवनवनस्पति-
प्रसक्तयजीवरक्षैव । किमुक्तं भवति?—पतेषु यद्जीवनिकायेष्वेक-
मपि जीवनिकायं विराध्यन् जगद्गुणैराज्ञाधितोपकारित्वादचा-
रित्री संसारपरिवर्द्धकश्च ।

तथाचाहुः प्रतिदत्तसकलस्वामोदतमिच्छाः भीधर्मदासगणि—
मित्राः—

“सन्वाभोगे जह को-इ भ्रमसो नरवहस्स धित्नुण ।
आणाहरणे पावइ, वहवंधरणं दन्वहरणं वा ॥ १ ॥
तह उक्कायमइव्वय-सन्वनिविस्तीउ गिहिदरुण जई ।
एगमवि विराइतो, भ्रमचरन्तो इणइ वोहि ॥ २ ॥
तो इयसोही पच्छा, कयावरादाणुसरिसमियममियं ।
पुण वि जवोयहिपरिओ, भमइ जरामरणडुगम्मि ॥ ३ ॥

किंच—

उज्जीवनिकायमह-व्ययाण परिपालणाइ जइधम्मो ।
जइ पुण ताई न रक्खइ, जणाहि को नाम सो धम्मो? ॥ ४ ॥
उज्जीवनिकायद्या-विज्जिओ नेव दिक्खिओ न गिही ।
जइधम्माओ चुको, चुकइ गिहिदाणधम्माओ” ॥५॥ इत्यादि ।
स पुनः संयमः पालयितुं वर्द्धयितुं (न तीरइ सि) न शक्यते;
विकथा विरुद्धाः कथा राजकथाया रोहिणीकथायां सप्रपञ्चं
प्ररूपिताः; आदिशब्दाद्विषयकथायादिपरिग्रहः, तल्लक्षणः प्रमा-
दो विकथादिप्रमादः । तद्युक्तैः संयमः प्रतिपादयितुं न शक्यते ।
अतः सुसाधुजिरसौ न विधेय इति ।

प्रमादस्यैव विशेषतोऽप्ययहेतुतामाह—

पव्वज्जं विज्जं वि व, साइतो होइ जो पमाइल्लो ।

तस्म न सिज्जइ एसा, करेइ गरुयं च अवयारं ॥१११॥

प्रव्रज्यां जिनदीक्षां विद्यामिव स्त्रीदेवताधिष्ठितामिव साध-
यन् भवति यः (पमाइल्लु सि) प्रमादवान् “ अल्लिहलोलाल-
वंत-मतेत्तेरमणाः मतोः ” ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति (हैमसू-
त्रात्) वचनात् । तस्य प्रमादवतो न सिद्ध्यति—न फल-
दानाय संपद्यते, एषा पारमेश्वरी दीक्षा, विधेयः, चकारस्य
भिन्नक्रमत्वात् । करोति च गुरुं महान्तमपकारमनर्थमिति ।
भावार्थः पुनरयम्—यथा अत्र प्रमादवतः साधकस्य विद्या
फलदा न भवति, प्रहसंक्रमदिकमनर्थं च संपादयति, तथा
शीतलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिसंपत्तये
न भवति, किन्तु दुर्गतिदीर्घभवभ्रमणापायं च विदधाति,
आर्यमङ्गोरिव । उक्तं च—

“ सीयलविहारओ खलु, भगवंतासायणा-निओरण ।
तत्तो भवो सुदीहो, किलेसबहुलो जओ भणियं ॥ १ ॥

तिथयरपयणसुयं, आयरियं गणहरं महिहियं ।
आसायंतो बहुसो, अण्णतसंसारिओ भणिओ” ॥२॥ सि ।

तस्मादप्रमादिना साधुना भवितव्यमिति । ध० २० । (आ-
र्यमङ्गुकथा च ‘अज्जमंगु’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे २११ पृष्ठे
दर्शिता) सम्यक्त्वपराक्रमाख्ये एकानिश्चये उत्तराध्ययने,
स० ३५ सम० ।

अप (५५) मायपडिसेवणा—अप्रमादप्रत्युपेक्षणा—स्त्री० । प-
द्विधा अप्रमादेन प्रमादविपर्ययेण प्रत्युपेक्षणा अप्रमादप्रत्यु-

पेक्षणा । अप्रमादेन प्रत्युपेक्षायाम्, “ लुब्धिहा अप्रमायपडि-
लेहा पम्पत्ता । तं जहा—“ अण्णच्चावियं अचलितं, अण्ण-
वंधीममोसंति चेव । लु पुरिमा णव सोडा, पारणापाणविसो-
हणी ” ॥ स्था० ६ टा० । (‘अण्णच्चाविय’ शब्दादीनां
व्याख्याऽस्मिन् भागे ३८३ पृष्ठे ‘अण्णच्चाविय’ शब्दं, तथा
च स्वस्वशब्देषु कृष्या)

अप (५५) मायजावणा—अप्रमादजावना—स्त्री० । मयादि-
प्रमादानामनासेवने, आचा० २ भु० १५ अ० ।

अप (५५) मायवुद्धिजणगतण—अप्रमादवृद्धिजनकत्व—न० ।
अप्रमत्तताप्रकर्षोत्पादकत्वे, पञ्चा० ५ विव० ।

अप (५५) मायपडिसेवणा—अप्रमादप्रतिसेवना—स्त्री० । अप्रम-
त्तकल्पप्रतिसेवयाम्, नि० चू० १ उ० ।

अप (५५) मेय—अप्रमेय—त्रि० । न० त० । प्रमाणेनापरिच्छे-
द्ये, प्रश्न० ४ आश्न० द्वा० । “ अण्णतमप्पमेयमवियधम्मचासरंत-
चक्कवट्टी नमोत्थु ते अरहंतो सि कट्ठु बंदइ ” अप्रमेयः, तद्-
गुणानां परैरप्रमेयत्वात् । आ० म० प्र० । प्राकृतजनापरिच्छेद्ये
मोक्षे, ध० १ अधि० । अशरीरजीवस्वरूपस्य लुब्धस्यैहछे-
त्तुमशक्यत्वादिति । पा० ।

अपयमाण—अपचमान—पुं० । न विद्यन्ते पचमानाः पाचका
यत्रासौ अपचमानः । पाकक्रियानिर्वर्तकाऽसेविते, पचते इति
पचमानः न पचमानोऽपचमानः । पाकमकुर्वन्ति, “ जं मए इ-
मस्स धम्मस्स केवलपिअत्तस्स (इत्यादि) अपयमाणस्स
(इत्यादि) पंचमहव्वयजुत्तस्स ” ध० ३ अधि० ।

अपया—अप्रजा—स्त्री० । अपत्यविकलायां स्त्रियाम्, वृ० १ उ० ।

अपर—अपर—पुं० । न विद्यते परः प्रधानोऽस्मादित्यपरः ।
संयमे, आचा० १ भु० ३ अ० ३ उ० । पूर्वोक्तादन्यस्मिन्, “ भ-
परा णाम जा सा पुण्वि भणित्ता ततो जा अण्णसा अपरा ”
नि० चू० २० उ० ।

अपरक्रम—अपराक्रम—त्रि० । न विद्यते पराक्रमः सामर्थ्यम-
स्मिन्नित्यपराक्रमम् । जङ्गाबलपरिक्षीणे, आचा० १ भु० ८
अ० १ उ० ।

अपरक्रमरण—अपराक्रमरण—न० । न विद्यते पराक्रमः
सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमम् । सामर्थ्यं नष्टे मरणे, किं तन्म-
रणम्?, तच्च यथा—जङ्गाबलपरिक्षीणानामुदाधिनाम्नामार्यस-
मुद्राणामपराक्रमं मरणमभूत् । अयमादेशाद् दृष्टान्तो, वृद्ध-
वादादायात इति । आचा० १ भु० ८ अ० १ उ० । (अस्मिन्ने-
व जागे २१६ पृष्ठे “ अज्जसमुद्द ” शब्दे विशेषोऽस्य कृष्यः)

अपरपरिगहिय—अपरपरिगृहीत—त्रि० । अनन्यस्वामिना परि-
गृहीते अव्याकृते, न परोऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् ।
क्षित्तिधैरपरैः साधुभिः परिगृहीते, “अव्वोगडेसु अपरपरिग-
हेसु० अपरपरिगहिएसु” इ० ३ उ० । (‘उग्गह’ शब्दे द्वितीय-
भागे ७०८ पृष्ठे चतुर्विधा व्याख्याऽस्य वक्ष्यते)

अपराइत (य)—अपराजित—त्रि० । न० त० । पराजयमप्राप्ते,
वाच० । अन्येनाजिते, सूत्र० १ भु० २ अ० २ उ० । अपरिचृते, प्रश्न०
४ आश्न० द्वा० । द्वास्ततितमे महाप्रहं, पुं० । “ दो अपराजिया ”

स्था० २ ग० ३ उ० । (एतत्सुत्र एवाऽयमुपलङ्गते । चन्द्रप्रज्ञौ
पूतसप्रहायास्तु तु न दृश्यते) अपरिचयैरभ्युदयविप्रदे-
भिरजिता अनतिजुता अपराजिताः । उक्त० ३६ अ० । अनुत्त-
रोपपातकदेवविशेषपु, प्रज्ञा० १ पद । तद्विमाने च, जी० ३
प्रति० । स्था० । सप्तमे प्रतिवासुदेवे, ती० १ कल्प० । जम्ब-
द्वीपस्य चतुर्थे, लवणसमुद्रस्य धातकीखण्डस्य पुष्करोद-
समुद्रस्य काशोदरस्य समुद्रस्य च द्वारे, जी० २ प्रति० ॥
(जम्बुद्वीपादिशब्देषु विवृतिरस्य द्रष्टव्या) धीश्वरभस्वामि-
नां त्रिपष्टितमे पुत्रं, कल्प० । स्वनामख्याते चतुर्दशपूर्वधरे
भावायै च, नन्दिनः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनो जड-
बाहुश्चेति पञ्च भूतकेवलिनः । सै० ६० । मेरोरुत्तरे रुचकपर्व-
तस्य कूटभेदे, न० । स्था० ८ ग० ।

अपराद्या-अपराजिता-स्त्री० । महावत्सानभिधानविजयकेत्रे
वर्तमाने पुरीयुग्मे, " दोअपराद्याओ " (स्था०) वप्रकाव-
तीविजयकेत्रे वर्तमाने पुरीयुगले च । " दो अपराद्याओ "
स्थ० २ ग० ३ उ० । अपराजिता राजधानी, वैश्रमणकूटे
नाम वक्रंस्कारादिः । जं० ४ वक्र० । दशमगात्रौ, जं० ७ वक्र० ।
कल्प० । अज्जनाडौ, उत्तरदिक्स्थयां पुष्करिण्याम्, ती० २ कल्प० ।
हो । अङ्गारस्य महाप्रहस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ग० २ उ० । प-
र्व सर्वेषां प्रहादीनां चतुर्थी अग्रमहीषी अपराजिता । जी० ३ प्रति० ।
रुचकवासिन्यामष्टम्यां दिक्कुमारी महत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्र० ।
मा० म० । स्था० । आ० चू० । अप्पमवलदेववासुदेवयोर्मतः,
आ० १ अ० । अप्पमतीर्थकरस्य निष्क्रमणशिविकायाम्, स०
५२ सम० । अहिच्छन्नास्थे महौपधिजदे, ती० ७ कल्प० ।

अपरामृष्टविधेयस-अपरामृष्टविधेयांश-न० । स्वनामख्याते
अनुमानदेशे, अपरामृष्टविधेयांशो यथा । अनित्यशब्दः कृतक-
त्वादिति । अत्र हि शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं, प्राधान्यात् पृथ-
क्निर्देश्यम्, न तु समासे गुणोपावकासुष्यकलङ्कितमिति । पृथक्-
निर्देशेऽपि पूर्वमनुवाद्यशब्दस्य निर्देशः शस्यतरः, समानाधि-
करणतायां तदनुविधेयस्यानित्यत्वस्याऽलङ्घ्यारूपदस्य तस्य
विधायितुमशक्यत्वात् । रत्ना० ८ परि० । ति० ।

अपरिआइतर्-अपर्यादाय-अव्य० । अगृहीत्वैत्यर्थे, भ० २५
श० ७ उ० ।

अपरिआविप-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-
कायमनःपरितापे, आ० ।

अपरिक्रम-अपरिकर्षन्-त्रि० । साधुनिमित्तमाक्षेपनादिपरि-
कर्मवर्जिते, पं० व० ४ द्वा० । ति० चू० ।

अपरिक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न० । पराक्रमरहिते, " तए एं
तुमं मेडाहणं (इत्यादि) अन्धामे अश्वे अपरिक्रमे " अपरा-
क्रमो निष्पादितस्वकज्ञानिमानविशेषराहित्यात्, अचङ्क्रमणतो
या । क्ता० १ अ० ।

अपरिक्खदिट्ठ-अपरीक्ष्यदृष्ट-त्रि० । अविमृद्योक्ते, " अप-
रिक्खदिट्ठे ण द्वा एव सिद्धी " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अपरिक्खिय-अपरीक्षित-त्रि० । अकृतपरीक्षे उपस्थापनायोगे,
प्र० ३ अ० । " अपरिक्खिओ माधवण निसेवमाणे होति अपरि-
च्छं " प्र० ३ अ० । अपरिक्खिओ पुञ्चअं अपरिक्खिअं " अना-

लोच्य आयो ह्यज्ञः प्राप्तिरित्यर्थः । व्ययो बन्धस्य प्रणाशः । ते च
आयव्यप अनालोचितं परमिसेवमाणस्त अपरिक्खपरमिसेवणा
जवतीत्यर्थः । अपरिच्छं क्षि गतं । ति० चू० १ उ० ।

अपरीक्ष्य-अव्य० । अनालोच्येत्यर्थे, ति० चू० १ उ० ।

अपरिखेदितत्त-अपरिखेदितत्व-न० । अनायाससम्भवात्मके
चतुस्त्रिंशे बुद्धवचनातिशये, औ० ।

अपरिग्रह-अपरिग्रह-पुं० । न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरी-
रोपजागाय स्वल्पेऽपि परिग्रहो यस्य स तथा । प्रत्याख्यातप-
रिग्रहे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " अपरिग्रहा अणारं-
जा, भिक्खू ताणं परिव्वए " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आचा० ।
न विद्यते परिसमन्तात् सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासा-
वपरिग्रहः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । धनादिरहिते, प्रश्न० ३
सम्ब० द्वा० ।

अपरिग्रहमंदुरु-अपरिग्रहमंदृत-त्रि० । क० स० । धनादिर-
हिते इन्द्रियसंवरेण च संवृते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिग्रहा-अपरिग्रहा-स्त्री० । न विद्यते परिग्रहः कस्यापि य-
स्याः साऽपरिग्रहा । वृ० ६ उ० । साधारणस्त्रियाम्, " अपरिग्रहा
णियाए, सेवगपुरिसो उ काइ आलत्तो । " व्य० २ उ० ।

अपरिग्रहिया-अपरिगृहीता-स्त्री० । वेश्यायामन्यस्तकायां गृही-
तभाटिकुलाङ्गनायाम्, अनाथायाम्, आ० । ध० २० । उक्त० ।
आ० । विधवायाम्, ध० २ अधि० । देवपुत्रिकायां, घटदा-
स्यां च । " अपरिग्रहिया णाम जो मातादीहि ण परिग्रहिया,
अवि कुलटा य सा । अस्से पुण भणति-देवपुत्तिया घमदासी
घा-एवमादि.सो पुण भाभीए वा अभाभीए गच्छति, जो ज्ञाभीए
गच्छति, तस्स जवि अण्णेणं पढमं भाभी दिओ सा ण वट्ठ-
ति परनियतस्स गंतुं, जा पुण अज्ञाभीए गच्छति, सा जइ
अस्सेणं जणिओ-अज्ज अहं तुमए समं सुविस्सामि ; ताए थ
पुच्छितं तस्स ण व त्ति अंतरादयं काउं " आ० चू० ५ उ० ।

अपरिग्रहियागमण-अपरिगृहीतागमन-न० । अपरिगृही-
तायां गमनमपरिगृहीतागमनम् । अपरिगृहीतया सह मैथुन-
करणस्वरूपे अस्वदारसन्तोषाख्यचतुर्थाष्टमतातिचारजेदे, अ-
तिचारताऽस्य अतिक्रमादिभिः । उपा० १ अ० । परदारत्वेन
रुढत्वात् । ध० २० । आ० ।

अपरिचत्तकामजोग-अपरित्यक्तकामजोग-पुं० । न परित्यक्ताः
कामजोगा येन । गृहीतकामजोगे, कामौ च शब्दरूपे, भोगाश्च
गन्धरसरुपशाः, कामजोगाः । अथवा-काम्यन्त इति कामाः,
मनोहा इत्यर्थः । ते च ते श्रुज्यन्त इति भोगाश्च शब्दादय इति
कामजोगाः । न परित्यक्ताः कामजोगा येन स तथा । स्था० २
ग० ४ उ० ।

अपरिच्छ-अपरीक्ष-त्रि० । युक्तपरीक्षाधिकत्वे, व्य० १० उ० ।

अपरिच्छन्-अपरिच्छन्न-त्रि० । परिच्छदरहिते, व्य० ३ उ० ।
परिवाररहिते, व्य० १ उ० ।

अपरिच्छय-अपरीक्षक-त्रि० । उत्सर्गापचादयोरायव्ययाच-
नालोच्य प्रतिसेवमाने, जी० ।

अपरिणय-अपरिणत-त्रि० । न परिणतं रूपान्तरमापन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा दुग्धं दुग्धजाव एवावस्थितं दधिभावमनापन्नमपरिणतम् । पि० । देयं द्रव्यं मिश्रमचित्तत्वेन परिणमनादपरिणतम् । ध० ३ अधि० । अप्रासुकीभूते देयद्रव्ये, तद्वाने आपतति सप्तमे एषणादौपे च, न० । ध० ३ अधि० । प्रव० । अपरिणतमिति यद्वयं न सम्यगचिन्ताभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग्ज्ञाद्योपेतम् । आचा० २ ध्रु० १ अ० ७ उ० । यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं जावोनम, उभयोः पुरुषयोरहारां वर्तते, तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च नास्ति, तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात्, अपरिणतदोष-
आष्टमः ।

तच्चापरिणतद्वारमाह -

अपरिणयं पि य दुर्विहं, द्रव्ये जावे य दुर्विहमिक्केकं ।

द्रव्यमि होइ ठकं, भावमि य होइ सज्जलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं, तद्यथा—द्रव्यं द्रव्यविषयं, भावे जावविषयं, द्रव्यरूपमपरिणतं, भावरूपमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसंबन्धाद् द्विधा । तद्यथा-द्रव्यमपरिणतं, दातृसत्कं च । एवं जावापरिणतमपि ।

तद् द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवत्तमि अविगण, अपरिणयं गण जीव दिहंतो ।

हुद्धदहीइ अभटं, अपरिणयं परिणयं जटं ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अभूते पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी । यथा हि-दुग्धत्वात्परिणतं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते, दुग्धजावे चाऽस्थिते अपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिणतमपरिणतमुच्यते । जीवेन च विप्रसक्तं परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सत्तायां वर्तते तदा दातृसत्कम्, यदा तु गृहीतुः सत्तायां तदा गृहीतृसत्कमिति ॥

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतवत्—

दुग्माईसामन्ने, जइ परिणमइ उ तत्थ एगस्स ।

देमि त्ति न सेसाणं, अपरिणयं जावओ एयं ।

एवं द्विकादिसामान्ये आत्रादिविकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद् ददामीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामेतद् जावतोऽपरिणतम्, न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रति विशेषः ? । उच्यते-साधारणानिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति ।

संप्रति गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह—

एगेण वा वि तेसिं, मसुमि परिणामियं न इयरेण ।

तं पि हु होइ अगेज्जं, सज्जलगा सामि-साहू वा ॥

एकेनापि केनचित् अभ्युत्तरेण पाश्चात्येन वा पश्चात्यमिति मनसि परिणमितं, न इतरेण द्वितीयेन, तदपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधूनामग्राह्यम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च । संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह— (सज्जल-

गेत्यादि) तत्र दातृविषयं जावापरिणतं ग्राह्यविषयं स्वाभाविकविषयं च । गृहीतृविषयं जावापरिणतं साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारम् । पि० । एतच्च साधूनामकल्प्यम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च । ध० ३ प्रति० । ग० । “ अपरिणतं द्रव्यं मासलदुचउलहुं अह सद्वाणपच्छित्तं ” पं० चू० (अपरिणतग्रहणविषयः ‘ पाण्य ’ शब्दे वक्ष्यते)

अपरिणतफलोपधिग्रहणम्—

से भिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव पविसमाणे से आगं-तारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुक्षेसु वा परियाव-सहेसु वा अण्णगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरजिगंधाणि वा अग्याय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिच्छे ग-ठिए अज्जोववणे अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमापा-एज्जा । मे जिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे मेज्जं पु-ण जाणेज्जा, मादुयं वा विगालियं वा सासवणालियं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफामुयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

(से जिक्खू वेत्यादि) (आगतारेसु वे त्ति) पत्तनाद् बहिर्गृहेषु तेषु ह्यागत्यागत्य पधिकादयस्तिष्ठन्तीति । तथाऽऽरामगृहेषु वा पर्यावसथेष्विति, भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्तर्गतगन्धान् सुरभीनां प्रायः स भिक्षुस्तेष्वाम्नादानप्रतिज्ञया मूर्च्छितोऽभ्युप-पन्नः सन् अहो ! गन्धः, अहो ! गन्ध इत्येवमादरवात्र गन्धं जि-घृक्षेदिति । पुनरप्याहारमधिकृत्याह-‘ से जिक्खू वेत्यादि ’ सुगमम् । साधुकमिति कण्डुको जलजः । वेराक्षियमिति कन्द एव स्थ-लजः । (सासवणालियं ति) सर्पपकन्दल्य इति ।

किञ्च—

से जिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, पिप्पलं वा पिप्पल्लिचुणं वा मिरियं वा मि-रियचुणं वा सिंगवेरं वा सिंगवेरचुणं वा अण्णतरं वा तह-प्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफामुयं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेज्जं पुण पलंगज्जातं जाणेज्जा । तं जहा-अंबपलंगं वा अंबारुगपलंगं वा तालपलंगं वा जिज्जिरं पलंगं वा सु-रभिपलंगं वा सल्लपलंगं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं पलंगं-ज्जातं आगमं असत्थपरिणयं अफामुयं अण्णसणिज्जं जाव लाभे संते नो पडिगाहेज्जा । से जिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेज्जं पुण पवालज्जातं जाणेज्जा । तं जहा-आसो-त्थपवालं वा एगोहपवालं वा पिलक्खुपवालं वा पीयूरप-वालं वा सल्लपवालं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं पवाल-जायं आगमं असत्थपरिणयं अफामुयं अण्णसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा । से जिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण सरडुयजायं जाणेज्जा । तं जहा-अंबसरडुयं वा कविट्ठसरडुयं वा दालिमसरडुयं वा विट्ठमसरडुयं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं

असत्यपरिणयं अफामुयं जाव णो परिगाहेज्जा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण मंधुजायं जाणेज्जा । तं जहा-उंवरमंथुं वा एण्णोहमंथुं वा पिलक्खुमंथुं वा आमोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंधुजायं आमयं दुरुक्कं साणुवीयं अफामुयं जाव णो परिगाहेज्जा ।

" से भिक्खु वेत्यादि " स्पष्टम्, णवरं (मंधुत्ति) चूर्णम् । (दुरुक्कं ति) ईष्यपिष्टम् । (साणुवीयं ति) अविध्वस्तयोनिर्वाजमिति ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आममागं वा पूतिपिण्णगं वा महं वा मज्जं वा सप्पि वा खोलं वा पुराणं एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया एत्थ पाणा संवृद्धा एत्थ पाणा अवुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणता एत्थ पाणा अविध्वस्त्या णो परिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) स भिजुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- (आममागं वेत्ति) आमपक्वं अण्णिकतन्दुवीयकादि । तच्चार्द्धपक्वमपक्वं वा, (पूतिपिण्णगं ति) कुथितस्वन्नम् । मधुमये प्रतीते, सर्पिर्घृतम्, खोलं मद्याश्रः कर्दमः, एतानि पुराणानि न ग्राह्याणि । यत् एतेषु प्राणिनो अनुप्रसूता जाताः, संवृक्षाः, अव्युक्ताः, अपरिणताः, अविध्वस्ता नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकाधिकान्येवैतानि, किञ्चिद्देहाद्वा भेदः ।

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्चुमेरुगं वा अंककरेलुयं वा कसेरुगं वा मिंघारुगं वा पूतिअलुगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्यपरिणयं जाव णो परिगाहेज्जा ॥

(से जिक्खु वेत्यादि) (उच्चुमेरुगं वेत्ति) अपनीतस्वमिश्रुगणिका (अंककरेलुयं वेत्ति) एवमादीन्विनस्पतिविशेषान् जलजा-न् । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममशस्त्रोपदत्तं नो प्रतिगृहीयादिति ॥

मे भिक्खु वा जिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा, उप्पलं वा उप्पलणालं वा निसं वा निसमणालं वा पोक्खलं वा पोक्खलविजागं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं जाव णो परिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) स भिजुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- उप्पलं नीलोत्पलादि, नाड्यं तस्यैवाधारः । निसं पद्मकन्दमूलं, निसमणालं पद्मकन्दोपरिवर्तिनी वृता, पोक्खलं पद्मकेसरं, पोक्खविभागं पद्मकन्दः । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममशस्त्रोपदत्तं नो प्रतिगृहीयादिति ॥

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अगर्वायाणि वा मूलर्वायाणि वा खंभर्वायाणि वा पोरर्वायाणि वा अगमायाणि वा मूलजायाणि वा खंभजायाणि वा पोरजायाणि वा एण्णन्य नक्कलिमन्यण्ण वा नक्कलिमिण वा णाडिपमन्यण्ण वा खञ्जूरमन्यण्ण वा ता-लमन्यण्ण वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्यपरिणयं जाव णो परिगाहेज्जा ।

(से भिक्खु वेत्यादि) स जिजुर्यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- अगर्वाजानि जपाकुसुमादीनि, मूलर्वाजानि जायादीनि, स्कन्धर्वाजानि शल्लक्यादीनि, पर्वर्वाजानि इत्यादीनि । तथा अगमाजानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वर्वाजानि । (एण्णन्यत्ति) नान्यस्मादग्रादरानीयान्यत्र प्ररोहितानि, किन्तु तत्रैवाग्रादौ जातानि, तथा (तक्कलिमन्यण्ण वा) तक्कली गणितं वाक्यावद्धारं । तन्मस्तकं तन्मध्यवर्ती गर्भः । तथा कन्दलीशीर्षकन्दलीस्तवकः । एवं नालिकेरादेरपि छेद्यमिति । अथवा कन्दल्यादिमस्तकेन सदृशमन्यद्यच्छित्त्वाऽनन्तरमेव ध्वंसमुपयाति, तत् तथाप्रकारमन्यदाममशस्त्रपरिणतं न प्रतिगृहीयादिति ॥

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्चुं वा काणं अंगारियं सम्मिस्सं विगदूस्सितं वेत्तगं वा कंदलीऊमुयं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो परिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) स जिजुर्यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- उच्चुं वा (काणं ति) व्याधिविशेषात्सच्छिद्यं, तथा- अङ्गारकितं विवर्णाञ्जितं, तथा- सम्मिस्सं स्फुटितत्वक् (विगदूस्सितं ति) वृक्षैः शृङ्गाद्यैर्वा ईष्यकृतं, न ह्येतावता रन्ध्राद्युपच्छेपे तत्प्राप्तं कृतवतीति सूत्रोपन्यासः । तथा वेत्तगं (कन्दलीऊमुयं वेत्ति) कन्दलीमन्यं तथाऽन्यदप्येवंप्रकारमाममशस्त्रोपदत्तं न प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, दमृणं वा लमृणपत्तं वा दमृणणाड्यं वा दमृणकंदं वा लमृणचोगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो परिगाहेज्जा ॥

दमृणसूत्रं सुगमम् । णवरं (चोगं ति) कौशकाकारा दमृणस्य बाह्यत्वक । सा च यावत्साडा तावत्साच्चित्ति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अत्थिअं वा कुंजिपक्कं तिंठुगं वा वेदुयं वा पल्लगं वा कासवणादियं वा अण्णयरं वा आमं असत्यपरिणयं जाव णो परिगाहेज्जा ॥ से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयत्ति वा चाउल्लं वा चाउल्लापटं वा तिंठं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पमगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव लाभे संते णो परिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) (अत्थिअं ति) वृक्षविशेषफलम् । (तंदुअं ति) टेभ्यस्यम्, (धिलुअं ति) बिह्वं, (कासवणादियं) श्रीपर्णीफलं, कुंजीपक्कशब्दः प्रत्येकमजिसंबध्यते । एतदुक्तं भवति- यदस्थिकफलादि गर्तादावप्राप्तपाककालमेव बलात्पाकमानीयते तदाममपरिणतं न प्रतिगृहीयादिति (से इत्यादि) कणमिति शाब्दादेः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् । कणिककुण्डं कणिकाभिर्मिश्राः कुक्कुसाः, (कणपूयलियं ति) कणिकाभिः पूयलिका, अत्रापि मन्दपकादौ नाजिः संजायते । दोषं सुगमम् । आचा० २ भु० १ अ० ८ उ० । स्वभाववर्णे, नि० चू० १७ उ० । रसरुधिरादिधातुत्वेन परिणाममगते, पञ्चा० ३ विव० ।

अपरिणामग-अपरिणामक-पुं० । न विद्यते परिणामो यदु-
कार्यपरिणमनं यस्य स तथा । व्य० १ उ० । उत्सर्गैकरुचौ पुरुषे,
न० । जी० १ प्रति० ।

अपरिणामकमाह—

जो दव्वखित्तकयका-अजावओ जं जहा जिणक्खायं ।
तं तह असद्वहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो द्रव्यक्षेत्रकालजावकृतं तद् न श्रद्धधाति तं तथा अश्रद्धधतं
जानीहि अपरिणामकं साधुम् । वृ० १ उ० । पं० व० ।
(' परिणाम ' शब्दव्याख्यानानुसारं अतिपरिणामकस्यापि
व्याख्याऽन्यथापि, तत्रैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च
छल्यः)

अपरिणिवाण-अपरिनिर्वाण-न० । परि समन्ताद् निर्वाणं सु-
खं परिनिर्वाणं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणम् । समन्तात् शरीर-
मनःपीमाकरे, “ सञ्चेसि सत्ताणं असायं अपरिनिवाणं
महम्मयं दुक्खं ” आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अपरिस्सत्त-अपरिक्कम्-त्रि० । अज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिस्साय-अपरिक्कात-त्रि० । रूपरिक्कया स्वरूपतोऽनवगते,
प्रत्याख्यानपरिक्कया चाप्रत्याख्याते, स्था० ५ ग० २ उ० । आचा० ।
अपरितंत-अपरितान्त-त्रि० । अपरितान्ते परिश्रममगच्छति,
न० । प्रश्न० । पं० भा० । ‘अपरितन्तो सुत्तथ-तदुभयसु’ पं० चू० ।

अपरितंतजोगि (ण)-अपरितान्तयोगिन्-त्रि० । अपरिता-
न्तोऽविश्रान्तो योगः समाधिर्धर्मस्य सोऽपरितान्तयोगः । स्वार्थि-
क्षेत्रान्तवाष्ठापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । अविश्रान्तसमा-
धौ, अणु० ३ वर्ग । अपरितान्ता अश्रान्ता योगा मनःप्रभृतयः स-
दनुष्ठानेषु यस्य स तथा ; तत अपरिश्रान्तसंयमे प्रयते, प्रश्न०
१ सम्ब० द्वा० ।

अपरितावणया-अपरितापनता-स्त्री० । शरीरपरितापानु-
त्पादने, भ० ५ श० ए उ० । परितापानुत्पादने, ध० ३ अधि० ।
समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारे, पा० ।

अपरिताविय-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो घाऽनुपजात-
कायमनःपरितापे, जी० ३ प्रति० ।

अपरित्त-अपरीत-पुं० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३
ग० २ उ० । अनन्तसंसारो वा जीवे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अपरित्ते दुविहे पणत्ते । तं जहा-कायअपरित्ते य, संसा-
रअपरित्ते य ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः ; संसारापरीतः सम्यक्त्वादिनाऽ
कृतपरिमितसंसारः । प्रज्ञा० १८ पद । कायापरीतः साधारणः,
संसारापरीतः कृष्णपाक्षिकः । जी० २ प्रति० ।

तत्र—

संसारअपरित्ते दुविहे एणत्ते । तं जहा-अणादिए अ-
पज्जवसिए, अणाए सपज्जवसिए ॥

संसारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनापि
संसारापवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्य-

वसितः । प्रज्ञा० १८ पद । अनादिकोऽपर्यवसितो येन जानु-
चिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिको वा सपर्यवसितो भवविशेषः ।
जी० २ प्रति० । (कायापरीतादिव्याख्यानं ‘अंतर’ शब्देऽ-
स्मिन्नेव भागे ७७ पृष्ठे दृश्यम्)

अपरिचूय-अपरिचूत-त्रि० । अपरिभवनीये, स्था० ७ ग० ।

अपरिजोग-अपरिजोग-पुं० । परिजोगाभावे, स्था० ४ टा० २
उ० । नि० चू० ।

अपरिमाण-अपरिमाण-त्रि० । न विद्यते परिमाणं यस्य स
तथा । क्षेत्रतः कालतो वा ह्यस्तारहिते, “ अपरिमाणं वि आ-
णाइ, इहमेगेसिमाहियं ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० ।

अपरिमिय-अपरिमित-त्रि० । अपरिमाणे, न परिमितोऽपरि-
मितः । अनु० । परिमाणरहिते, “ अपरिमियमहिच्छकलुम्मम-
तिवाउवेगउद्धम्ममाणं ” अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा
बृहदभिज्ञाप्रविरता लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा मतिः स-
एव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमानं यत्तत्तथा । प्रश्न० ३ सम्ब०
द्वा० । आव० । “अपरिमियनाणदंसणधरहि” (तीर्थरुद्धिः)
प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । वृ० । दर्श० । अनन्ते, औ० । वृद्धिं,
“अपरिमिय च वसाणे, कव्वं गज्जंति नायव्वं” दर्श० २ अ० ।

अपरिमियपरिग्रह-अपरिमितपरिग्रह-पुं० । अपरिमितश्चा-
सौ परिग्रहणं परिग्रहः । परिमाणरहितपरिग्रहे, आव० ६ अ० ।

अपरिमियवन्न-अपरिमितवन्न-त्रि० । अपरिमितं बलं यस्य
सोऽपरिमितवन्नः । निर्विशेषवीर्यान्तरायक्यादनन्तघलशा-
लिति, “ तत्तो बल्ल बल्लभद्दा, अपरिमियबल्ला जिणवरिदा ”
विशे० । सूत्र० । “ अपरिमियवन्नवीरियजुत्ते ” अपरिमितानि
बलादीनि, तैर्युक्तो यः स तथा । उपा० २ अ० ।

अपरिमियमणंततट्टा-अपरिमितानन्ततट्टणा-स्त्री० । अपरि-
माणद्वयविषया अनन्ता वाऽक्या या तृष्णाऽविद्यमानद्वयाऽऽ-
येच्छा । अपरिमितवाञ्छायाम्, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिमियसत्तजुत्त-अपरिमितमत्त्वयुक्त-त्रि० । अपरिमित-
मियत्तारहितं यत्सत्त्वं धृतियत्नं तेन युक्तः । अपरिमितधैर्ये,
वृ० ३ उ० ।

अपरियत्तमाणा-अपरावर्तमाना-स्त्री० । न परावर्तमाना अप-
रावर्तमाना, पं० सं० ३ द्वा० । परावर्तमानप्रकृतिभिन्नास्तु कर्म-
प्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० । (मूलप्रकृतीनां बन्धादिप्रस्तावे
‘कम्म’ शब्दे तृतीयभागे २९१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्त एताः)

अपरियात्ता-अपर्यादाय-अव्य० । परितः समन्तादगृहीत्वे-
त्यर्थे, स्था० २ टा० १ उ० । सामस्येनागृहीते, स्था० १ टा० १ उ० ।

अपरियाणिता-अपरिक्काय-अव्य० । रूपरिक्कयाऽज्ञात्वा प्रत्या-
ख्यानपरिक्कया चाप्रत्याख्यायेत्यर्थे, स्था० २ टा० १ उ० ।

अपरियार-अपरिचार-त्रि० । न० व० । प्रविचारणमैथुनोप-
संहारहिते, अप्रविचारे, प्रज्ञा० ३४ पद ।

अपरिविडिय-अप्रतिपतित-त्रि० । स्थिरे, पञ्चा० ७ विव० ।

अपरिसा (स्सा) इ (वि) (ण)-अपरिस्त्राविन्-पुं० ।
परिस्त्रावितुं शीलमस्य परिस्त्रावी । न परिस्त्रावी अपरिस्त्रावी ।
द्रव्यतः स्त्रावरहिते तुम्बकादौ, भावतः श्रुतार्थकरणकारकेऽ-
नुयोगदानयोग्ये, वृ० ।

एतत्स्वरूपं सप्रतिपक्षं निरूपयन्तप्रदर्शनपूर्वकमुच्यते-

अपरिस्त्राविद्वारमाह-

परिमादः अपरिमादः, द्वन्द्वे जावे य लोग-उत्तरिण ।

एकेको वि य वृत्तिदो, अमव-वर्द्धे दिष्टो ॥

परिस्त्रावितुं शीलमस्येति परिस्त्रावी ; तद्विपरितोऽपरिस्त्रावी । उभावपि द्विविधौ-द्रव्ये, भावे च । तत्र द्रव्यतः परिस्त्रावी घटादिः, अपरिस्त्रावी तुम्बकादिः । भावतः परिस्त्रावी । एकैकोऽपि द्विविधः, तथा- (लोग स्ति) लौकिकः । (उत्तरिण स्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् लोकोत्तरिकः । तत्र लौकिके भावतः परिस्त्राविणि अमात्यदृष्टान्तः ।

स चायम्-

“ एगो राया, तस्स कत्ता गहनस्स जारिसा, सो निच्चं खोलाए अमुकियाए अत्थइ । सो अनया अमच्चणं एगंने पुच्छिओ-किं तुम्हे जट्टारयपादा खोलाए आवडियाए अत्थइ, न कस्सइ सीमं कत्ता यदरिसेह ? । रत्ता सज्जाओ कहिओः भणियं च-मा रहस्समन्नं काहिसि स्ति । तेण अगंभीरयाए तं रहस्सं अप्पहियासमाणेण अरुवि गंतुं रुक्खकोरुगे मुदं होइए भणियं-गहनकन्नो राया । राया तं रुक्खं अनेण केण-इ ठेत्तुं वादित्तं कयं, जवियव्यावसेण य तं रण्णा पुरओ पढमं वाइयंतवज्जे तं भणइ-गहनकन्नो राया । रत्ता अमच्चो पुच्छिओ-तुमे परं एयं रहस्सं नायं, कस्स ते कहियं ? । अमच्चेण जहावत्तं सिट्ठं । एस होइओ परिस्त्रावी । लोउत्तरिओ जो अप्पहियासमाणे पुच्छिओ वा अपुच्छिओ वा अपरिणयाणं अववायपयाणि कहइ ” ।

ईदृशस्य परिस्त्राविणः सूत्रं यो ददाति तस्य चत्वारो लघवः । अर्थं ददाति तस्य चत्वारो गुरवः । यत एव ततो अपरिस्त्राविणो दातव्यम् । सोऽपि द्विधा-त्रौकिको, लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके अपरिस्त्राविणि वटुक्याः दृष्टान्तः ।

स चायम्-

“ राया सिछी अमच्चो आरक्खिओ मूलदेवो य एकाए पुरोहिजन्नाए वहुइणीए अईवरुवंसिणीए अज्जाववन्ता । ताए सव्वेसि संकेअओ त्रितो, ते आगया दुवारे त्रिया । ताए भन्नेति-जइ महिलारहस्सं जाणेह तो पविसह । ते जणंति-ए जाणामो, मूलदेवेण भणियं-अहं जाणामि । ताए भणियं-पविसह स्ति, पविट्ठो पुच्छिओ-किं महिलारहस्सं ? तेण भणियं-मारिज्जेतेहि वि अन्नस्स न कहेयव्वं । “ त्वं विदग्धः कामुकः ” इति तुष्टाए सव्वरत्ति रमिओ । पताए रत्ता पुच्छिओ मूलदेवो-किं महिलारहस्सं ? । मूलदेवो जणइ-अहं एयं उट्ठावं पि न जाणामि । रण्णा अवन्नवइ स्ति वज्जो आण्णो, तइ वि न कहइ, ताहे धेज्जाइणीए आगंतुं रन्नो पुरतो कहियं-जहा एयं चेव महिलारहस्सं, जे सरीरुच्चाए वि न कस्सइ सीमइ स्ति । एस होइओ अपरिस्त्रावी । लोउत्तरिओ पुण जो अस्सुअस्स रहस्सियाणि अपवायपयाणि सुणित्ता उट्ठिओ, तओ जइ कोइ अपरिणयो पुच्छइ-किं एयं कहिज्जइ ? । भणइ-चरणकरणं साहूणं यन्निज्जइ ” । ईदृशस्यापरिस्त्राविणो यदि सूत्रं न ददाति तदा चतुर्लघु । अर्थं न ददाति तदा चतुर्गुरु । वृ० १ उ० । स्था० । परिस्त्रवति आस्त्रवति कर्मवन्तानात्येवं शीलः परिस्त्रावी, तन्निषेधादपरिस्त्रावी । अत्रान्यके निरुद्धयोगे, अयं च पञ्चमः स्नातकभेदः । उच्चगाध्ययनेषु त्वर्द्धनं जिनः केवलान्ययं पञ्चमो भेद उक्तः, अपरिस्त्रावति तु नार्थातम । ज० २५

श० ६ उ० । स्था० । न परिस्त्रवति नालोचकदोषानुपसृत्याऽन्यस्मै प्रतिपादयति य एवं शीलः सोऽपरिस्त्रावी । आलोचकदोषाऽप्रख्यापके आलोचनां प्रतीच्छुके, “ जो अन्नयस्स उदंसे न कहइ अपरिस्साई सो होइ ” स्था० ७ ग० । पञ्चा० । ध० । व्य० । यो न परिस्त्रवति परिकथितात्मगुह्यजलमित्येवं शीलोऽपरिस्त्रावी । आलोचनामाश्रित्य आचाराद्भोक्तृतीयभङ्गतुल्य इत्यर्थः । ग० १ अधि० ।

अपरिसादि-अपरिशादि-पुं० । परिशादिवर्जिते, प्रश्न० १ आ-श्न० द्वा० । शय्यासंस्तारके, नि० चू० २ उ० । फलकादिमये, वृ० ३ उ० । अनवयवोज्जने च, “ अपरिसादि अक्षोवज्जणवणाणुलेवणभूयंति ” भ० ७ श० १ उ० ।

अपरिसादिय-अपरिशादित-त्रि० । परिशादरहिते, उत्त० १ अ० ।

अपरिमुक्-अपरिशुक्-त्रि० । सदोषे, पञ्चा० ३ विव० । अयुक्तियुक्ते, आव० ४ अ० ।

अपरिसेस-अपरिशेष-त्रि० । निःशेषे, प्रश्न० २ आश्न० द्वा० ।

अपरिहारिय-अपरिहारिक-पुं० । न परिहारिकोऽपरिहारिकः । पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंस्तक्यथाच्छन्दरूपे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्रोत्तरगुणदोषाणामपरिहारिकं, सूत्रोत्तरगुणानां वाधारके, अन्यतीर्थिकगृहस्थे वा । नि० चू० २ उ० ।

अपरोवताव-अपरोपताप-पुं० । परपीडापरिहारिणि, पं० सू० २ सू० । अपरोवतावि (न)-अपरोपतापिन्-पुं० । साधूनां वर्णवादिनि, पं० चू० ।

अपलिअ-अपक्-त्रि० । अग्निनाऽसंस्कृते, ध० २ अधि० ।

अपलिउंचमाण-अप्रतिकुञ्चयत्-त्रि० । अगोपयति, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अपलिउंचि-अपरिकुञ्चिन्-त्रि० । अमायाविनि, व्य० १ उ० ।

अपलिउंचिय-अप्रति (परि) कुञ्च्य-त्रि० । न परिकुञ्च्यमपरिकुञ्च्यम् । अकौटिल्ये, व्य० १ उ० ।

अप्रति (परि)-कुञ्च्य-अव्य० । मायामकृत्वैत्यर्थे, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अपलिच्छस-अपरिच्छन्न-त्रि० । परिच्छदरहिते, व्य० ३ उ० ।

अपलिमंथ-अपरिमन्थ-पुं० । परिमन्थः स्वाध्यायादिकृतिस्तदजावोऽपरिमन्थः (उत्त०) स्वाध्यायादौ निरालस्ये, वृत्त० २ अ० । अप (प) लीण-अप्रलीन-त्रि० । असंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अपवर्ग-अपवर्ग-पुं० । जन्ममरणप्रबन्धोच्चेदतया सर्वः दुःखप्रहाणलक्षणे मोक्षे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । संधा० । “ तद्भावेऽपवर्ग इति ” तस्य रागादिक्रयस्य भावे सकललोकाद्योक्विलोकनशालिनोः केवलज्ञानदर्शनयोरलक्ष्यौ सत्यां निस्तीर्णभवारणवस्य सतो जन्तोरपवर्ग उक्ते निरुक्त उद्भवतीति । किं लक्षणः ? इत्याह- “ स आत्यन्तिको दुःखविगम इतीति ” सोऽपवर्गः, अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीति आत्यन्तिको

दुःस्त्रविगमः । सर्वशरीरमानसाशर्मविरहः, सर्वजीवलोकासाधारणानन्दानुभवश्चेति । ध० १ अधि० ।

अपवग्गवीय-अपवर्गवीज-न० । मोक्षस्य कारणे, पौ० ६ विव० ।

अप (प) वृत्तण-अप्रवर्तन-न० । अप्रवृत्तौ, पञ्चा० ४ विव० ।

अपवाय-अपवाद-पुं० । द्वितीयपदे, नि० चू० २० उ० ।

अप (प) विन्न-अप्रवृत्त-त्रि० । तत्त्वतो व्यावृत्ते, पञ्चा० १४ विव० ।

अप (प) वित्ति-अप्रवृत्ति-स्त्री० । गाढं मनोवाक्कायानामनवतारे, ध० १ अधि० ।

अप (प) संसणिज्ज-अप्रशंसनीय-त्रि० । साधुजनैः प्रशंसां कर्तुमयोग्ये, तं० ।

अप (प) सज्झ-अप्रसङ्ग-त्रि० । अप्रधृष्ये, व्य० ७ उ० ।

अप (प) सज्झगुरिसाणुग-अप्रसङ्गपुरुषाणुग-त्रि० । अप्रधृष्टपुरुषानुसारिणि, (व्य०) "गणिणं। गुणसंपन्ना-ऽपसज्जगुरिसाणुगा ।" व्य० २ उ० ।

अप (प) सत्य-अप्रशस्त-त्रि० । न० तं० । अशोभने, "अपसत्ये संजमे चयइ" आच० ५ अ० । विशेष० । भ० । व्य० । अश्रेयसे, अनादेये, स्था० ३ ग० ३ उ० । बलवर्णादिनिमित्तं प्रतिलेखिनि, व्य० १० उ० ।

अपसत्यत्वेत्त-अप्रशस्तक्षेत्र-न० । शरीरादिकेव, नि० चू० १० उ० ।

अपसत्यद्वय-अप्रशस्तद्वय-न० । अस्थ्यादौ अशोभनद्वये, नि० चू० ११ उ० ।

अपसत्यद्वेस्सा-अप्रशस्तलेश्या-स्त्री० । कृष्णनीलकापोतासु तिसृषु लेश्यासु, उक्त० ३४ अ० ।

अपसत्यविहगगतिनाम-अप्रशस्तविहगगतिनामन्-न० । विहायोगतिनामजदे, यदुदयात्पुनरप्रशस्ता गतिर्भवति, यथा खदिरादीनां तदप्रशस्तविहायोगतिनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

अपसारिया-अपसारिका-स्त्री० । पटाविकायाम्, वृ० २ उ० ।

अपसु-अपशु-पुं० । न० व० । द्विपदचतुष्पदादि (परिग्रह) रहित, " समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसु परदत्तजोगी " आच० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ॥

अपस्समाण-अपश्यत्-त्रि० । अनीकमाणे, " अपस्समाणे पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्जगे ।" स० ३० सम० ।

अपहिड-अप्रहृष्ट-त्रि० । अहसति, दश० ५ अ० १ उ० ।

अपहु-अप्रजु-पुं० । भृतकादौ, ध० ३ अधि० ।

अपहुवंत-अप्रजुवत्-त्रि० । अप्रभाववति, व्य० १० उ० ।

अपाइया-अपात्रिका-स्त्री० । पात्ररहितायाम् (निर्ग्रन्थ्याम्), निर्ग्रन्थ्या पात्ररहितया न भवितव्यम्—

नो कण्ठं निर्गंथीए अपाइयाए हुंतए ।

नो कण्ठेति निर्ग्रन्थ्या अपात्रायाः पात्ररहिताया भवितुमिति सूत्रार्थः ।

अथ ज्ञाप्यम्—

गोणे साणे व वते, ओभावणं खिसणा कुलधरे य ।

णासट् खइय लज्जा, सुण्हाए होति दिट्ठतो ॥

पात्रकमन्तरेण यत्र तत्र समुद्देशनीयम् । ततो लोको ब्रूयाद् यथा-गौर्यत्रैव चारिं प्राप्नोति तत्रैवावेष्टा चरति । यथा वा भवानो यत्रैव स्वल्पमप्याहारं लभते तत्रैव निस्त्रपो लुङ्के । एवमेता अपि गोश्वानसदृशो यत्रैव प्राप्नुवन्ति तत्रैव भुञ्जते । तथा लोकस्य पुरतः समुद्दिशन्ति-अहो ! आभिर्गोव्रतं श्वानव्रतं वा प्रतिपन्नं, एवं न प्रव्रजन्तां भवति । (खिसणा कुलधरे य त्ति) तास्तथा लुञ्जाना दृष्ट्वा तदीयकुलगृहे गत्वा लोकः खिसां कुर्यात् । यथा-युष्मदीया दुहितरः स्नुषा वा याः पूर्वं चन्द्रसूर्यकिरणैरप्यस्पृष्टात्रास्ताः साम्प्रतं सर्वलोकपुरतो गाव इव चरन्त्यो हिएरुन्ते । एवमुक्ते ते चूयस्ताः स्वगृहमागन्ति । 'नासट्ठं' अत्यर्थं च स्वादितं भक्षणं लोकस्य पुरतः सर्वासु कुर्वतीषु लोको ब्रूयात्-अहो ! बहुभक्ताः, अस्ति स्त्रीणां च वज्जा विभूषणं, सा चैतासां नास्तीति । अत्र च वज्जायां स्नुषा दृष्टान्तो भवति । स च द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च ।

प्रशस्ते तावदाह—

उच्चासणम्मि सुण्हा, एण णिसीयइ णावि जासए उच्चं ।

णावि पगासे जुंजइ, गिएहइ वि य ए णाम अप्पाणं ॥

यथा-स्नुषा वधुरश्चैरासने न निर्वादति, नाप्येवं महता शब्देन भाषते, न च प्रकाशे चूभागे लुङ्के, आत्मीयं च नाम न गृह्णाति न प्रकटयति, एवं संयतीतिरपि भवितव्यम् ।

अप्रशस्तस्नुषादृष्टान्तः पुनरयम्—

अहवा महापयार्णि, सुण्हा ससुरे य इक्केकस्स ।

दलमाणेण विणास, वज्जानातेण पावंति ॥

अथवा प्रकारान्तरेण स्नुषादृष्टान्तः क्रियते-महापदानि वि-कृष्ट-याणि पदानि, स्नुषा इव शूरश्चैकैकस्य, परस्परं प्रयच्छतो, यथा लज्जानाशेन विनाशं प्राप्नुतः, तथा संयत्यपि निर्लज्जा विनश्यतीत्युक्तार्थः । भावार्थस्त्वयम्-पगस्स धिज्जाइयस्स भ-ज्जाए मयाए पुत्तेण से अट्ठिया णिमायत्तिक्का ओगंगनीया-णि इयरोहिं सुण्हाससुरेहिं हासखिड्वाइयं करेतेहिं निवुज्जत्तण-ओ निस्सेणिआ राहेत्ता अतिघायपुव्वगं विगिष्ठतराई पयाई देतेहिं एक्केकस्स सागारियं पणुप्पायं दो वि विण्णणाणि, एवं निवुज्जए विणासो हुज्जा ।

द्वितीयपदमाह—

पायस्स वि तेणहिए, भामिणं बूढे व सावयभए वा ।

बोहिभए खित्ता इव, अपाइया हुज्ज विइयए ॥

पात्रस्याभावे स्तेनकतया हृते अग्निभावाद् ध्यामितं दकपूरेण क्लृप्ते पात्रे श्वापदजने बोधिकभये वा शीघ्रं पात्राणि परित्यज्य नष्टा सती क्लृप्तचित्ता वा, आदिशब्दाद्यन्ताविष्टा वा अपात्रिका पात्ररहिता द्वितीयपदे जयेत् । वृ० ५ उ० ।

अपाउरु-अप्रावृत्-त्रि० । न विद्यते प्रावृत्तं प्रावरणं यस्येत्यप्रावृत्तकः । स्था० ५ ग० १ उ० । औपक्रिकाद्युपरितोषक-रणरहिते, वृ० ५ उ० ।

अपाणय-अपानक-त्रि० । जालवर्जिते, जं० २ वृ० । चतु-

विधाहारहिते, पञ्चा० १८ वि० ॥ " छेपेण भस्तेण अपाण-
एण " ज० २ व० ॥ पानकसदृशेषु शीतलत्वेन दाहोपशमदे-
तुषु स्थालीपानकादिषु, गोशालकसम्मतपदार्थेषु च । भ० १५
श० १ उ० । (तत्प्रदर्शने गोशालकशब्दं करिष्यामि) पानकाहार-
वर्जिते, ज० ४ व० ॥ पानीयपानपरिहारवति, स्था० ६ ग० ।
एकान्तरोपवासं, भ० ३ अधि० ।

अपाय-अपाद-त्रि० । विशिष्टच्छन्दोरचनायो गोपादवर्जिते,
दश० १ अ० । वृत्त० ।

अपायच्छिन्न-अपादच्छिन्न-त्रि० । अच्छिन्नचरणे, नि० चू०
१४ उ० ।

अपार-अपार-त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम-अपारङ्गम-त्रि० । पारस्तटः परकूलं तद् गच्छती-
ति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतापदेशाभावाद्-
पारंगमे, " अपारंगमा एष, ण य पारंगमित्तए " । एते कुतीर्थिका-
दयः अपारङ्गमा इत्यादि । पारस्तटः परकूलं, तद् गच्छतीति पार-
ङ्गमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः, एत इति पूर्वोक्ताः । पारगताप-
देशाभावाद् पारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतापदेश-
मृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमलम् । अथवा गमनं
गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वाराऽलास-
णिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । असमर्थस-
मासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भ-
वति । ततश्चानन्तमपि संसारान्तर्यतिन एवासने । यद्यपि पार-
गमनायोद्यमयति तथापि ते सर्वज्ञोपदेशविकलाः स्वरुचिचि-
रचितशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमलम् । आचा० १
श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपारग-अपारग-त्रि० । अतीरं गामिति, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपारमगो-देशी-विश्रामे, दे० ना० १ वर्ग ।

अपाव-अपाप-त्रि० । अपगताशेषकर्मकलङ्के, सूत्र० १ श्रु० १ अ०
३ उ० ।

अपावभाव-अपापज्ञाव-त्रि० । लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्ध-
चित्ते, दश० ६ अ० १ उ० ।

अपावमाण-अप्राप्तवृत्-त्रि० । अनासादयति, ओघ० ।

अपावय-अपापक-पुं० । श्रुतचित्तरूपे प्रशस्तमनोविनये, स्था०
७ टा० । अपापवाक्प्रवर्तनरूपे चाश्विनये, ज० २५ श० ७ उ० ।

अपावा-अपावा-स्त्री० । अपापऽपरनाम्न्यां पुर्याम, यत्र श्रीम-
दार्चरः स्वामी निवृत्तः । स्था० ।

अपाम-अपाश-पुं० । अश्वधने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अपामन्थया-अपार्श्वस्थता-स्त्री० । न पार्श्वस्थोऽपार्श्वस्थ-
स्तस्य भावस्तत्ता । पार्श्वस्थतापरिहारे, अनया चागमिष्यद्भ्र-
ताकारणानि कुर्वता आशंसाप्रयागो न विधेयः । स्था० १० टा० ।

अपामिक्षण-अट्टा-अच्य० । अनालोच्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपि (वि)-अपि-अच्य० । सम्भावने, उक्त० ४ उ० । स्था० ।
वादाय, ग० ।

अपिट्ठणया-अपिट्ठनता-स्त्री० । यष्ट्यादितारुनपरिहारे, भ० ७
श्रु० ६ उ० ।

अपिय-अप्रिय-त्रि० । अप्रीतिकरे, ज० ६ श० ३३ उ० । अप्रि-
यदर्शने, जी० १ प्रति० । अप्रीतिके, " अचियसं ति वा अपिय-
सं ति वा एगट्ठं " व्य० १ उ० ।

अपिवणिज्जोदग-अपानीयोदक-पुं० । अपातव्यजले मेघं, ज०
७ श० ६ उ० ।

अपिसुण-अपिशुन-त्रि० । छेदनभेदनयोरकर्तरि, दश० ९ अ०
३ उ० ।

अपीङ्कारग-अप्रीतिकारक-त्रि० । अमनोहे, स्था० ३ ग० १ उ० ।

अपीङ्गराहेय-अप्रीतिकरहित-त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा०
७ वि० ।

अपीङ्गतर-अप्रीतितर-त्रि० । अमनोङ्गतरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अपीड(ल)णया-अपीरुनता-स्त्री० । पादाद्यनवगाहने, पा० १ ध० ।

अपीरिय-अपीडित-त्रि० । संयमतपःक्रियया आश्रयनिरोधाऽ-
नशनादिरूपनया पीरयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय-अपृष्ट-त्रि० । पृच्छागते, " अपुच्छिओ न भासि-
ज्जा, जासमाणस्स अंतरा । पिट्ठिमंसं न खाह्ज्जा, मायामोसं
वियज्जए ॥ " दश० ८ अ० ।

अपुज्ज-अपृज्य-त्रि० । न० त० । अवन्दनीये, आच० ३ अ० ।

अपुट्ठ-अपुष्ट-त्रि० । डुबंते, वृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १
श्रु० १४ अ० ।

अपृष्ट-त्रि० । अङ्गीप्सिते, भ० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टधम्म-अपुष्टधर्म-पुं० । अपुष्टोऽपुष्कलः सम्यगपरिज्ञानो
धर्मः श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासाव-
पुष्टधर्मा । अगीतार्थे, " एवं नु सेहे वि अपुष्टधम्मे, धम्मं न जा-
णाइ अवुज्झमाणे " सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थे, सूत्र० १ श्रु०
१४ अ० ।

अपुष्टज्ञाभिय-अपृष्टज्ञाभिक-पुं० । न पृष्टज्ञाभिकोऽपृष्टज्ञाभि-
कः । हे साधो ! किं ते दीयते ? इत्यादिप्रश्नमन्तरेण भिक्षां लभ-
माने भिक्षाचरकभेदे, धर्मधर्मिणोरज्ञेदोपचाराद् भिक्षाचर्या
भेदे च । औ० ।

अपुष्टवागरण-अपृष्टव्याकरण-न० । अपृष्टे सति प्रतिपादने,
" एवं सध्वं अपुष्टवागरणं नेयध्वं " भ० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टाज्ञवण-अपुष्टाज्ञम्बन-न० । अट्टापवादकारणे, प्रच०
१ टा० ।

अपुणकरणसंगय-अपुनःकरणसंगत-त्रि० । पुनरिदं मिथ्याचर-
णं न करिष्यामीत्येवं निश्चापयिते, पञ्चा० ११ वि० ।

अपुणरुचव-अपुनश्चयव-पुं० । न पुनश्चयवने चयवोऽपुनश्चयवः,
देवश्चश्चयुन्वा तिर्य्यगादिभूतस्यभावे, उक्त० ३ अ० ।

अपुणबंधय-अपुनर्बन्धक-पुं० । न पुनरपि बन्धो मोहनीय-
कर्मोत्पत्तिवन्धनं यस्य स अपुनर्बन्धकः । पञ्चा० ३ वि० ।
भावसारे धर्माधिकारिभेदे, यो० वि० । यस्तु तां तथैव कृप-
यन् प्रस्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भङ्गयति जेत्यस्यति च प्रस्थि

सोऽपुनर्वन्धक उच्यते । “ पावं ण तिव्वजावा कुणइ ” इति वचनात् । ध० ३ अधि० ।

एतद्वक्त्रं यथा—

पावं ण तिव्वजावा, कुणइ ए बहुमन्इ भवं पोरं ।

उचिअद्धिं च सेवइ, सव्वत्थ वि अपुण्यबंधो चि ॥

पापमशुचं कर्म, तत्कारणत्वादिस्साऽऽद्यपि पापम् । तद् नैव तिव्वजावाद् गाढसंक्लिष्टपरिणामात्करोति । अत्यन्तोत्कट-
मिथ्यान्वादि कृत्योपशमनं ब्रह्माऽऽत्मनैर्मेल्यविशेषत्वात्तीव्रेति वि-
शेषणादापन्नम्-अतीव्रभावात्करोत्यपि, तथाविधकर्मदोषात् । त-
था न बहु मन्यते न बहुमानविषयीकरोति, जवं संसारं, पोरं
रौद्रं, पोरवावगमात् । तथा-उचितस्थितिमनुरूपप्रतिपत्ति, च
शब्दः समुच्चये । सेवते भजते । कर्मब्रह्मवात्सर्वत्रापि, आस्तामेक-
त्र, देशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृ-
तिषु मार्गानुसारितान्निमुखत्वेन मयूरशिखुदृष्टान्तादपुनर्वन्धकः,
उक्तनिर्वचनो जीव इत्येवंविधक्रियालिङ्गो भवतीत्यलं प्रस-
ङ्गेन । ध० १ अधि० । द्वा० ।

प्रकारान्तरेण—

जंवाजिनन्दिदोषाणां, प्रतिपङ्गुणैर्युतः ।

वर्द्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्वन्धको मतः ॥१७८॥

मवाभिनन्दिदोषाणां 'लुङ्गो लोभरतिर्दीनो मत्सरी' इत्यादिना
प्रागेवोक्तानां, प्रतिपङ्गुणैरलुङ्गतानिलोभतादिभिर्युतो, वर्द्धमा-
नगुणप्रायो वर्द्धमाताः शुक्लपञ्चकृपापतिमरुलमिव प्रतिक्र-
मुल्लसन्तो गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयः, प्रायो बाहुल्येन यस्य
स तथा । अपुनर्वन्धको धर्माधिकारी मतोऽजिप्रेतः ।

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्, पूर्वमेवा यथोदिता ।

कल्याणाशययोगेन, शेषस्याप्युपचारतः ॥ १७९ ॥

अस्यापुनर्वन्धकस्यैषा प्रागुक्तमुख्यरूपा निरुपचरिता, स्याद्भ-
वेत् । पूर्वसेवा देवादिपूजारूपा, यथोदिता यन्प्रकारा निरूपिता
प्राक् । कल्याणाशययोगेन मनागु मुक्त्यनुकूलगुणभावसंबन्धेन,
शेषस्यापुनर्वन्धकापेक्षया विव्रकृष्णस्य सकृद्वन्धकादेः, उपचारत
औपचारिकी पूर्वसेवा स्यात्, अद्यापि तथाविधभववैराग्या-
भावात्तस्य ॥१७९॥

इह केचिन्मार्गपतितमार्गाभिमुखावपि शेषशब्देनाहुः । तच्च
न गुज्यते, अपुनर्वन्धकावस्थाविशेषरूपत्वात्तयोरपुनर्वन्धकप्र-
हेनेनैव गतत्वात् । यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणमित्यमु-
क्तम्-इह मार्गश्चेतसोऽवक्रमनं, शुजङ्गमनलिकाऽऽयामनुल्यो
विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही कृत्योपशमविशेष
इति । तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गा-
भिमुखः, एवं च नैतावपुनर्वन्धकावस्थायाः परपरतरावस्था-
भाजौ वक्तुमुचितौ, जगद्व्याख्यावगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्ताव-
नयोरुक्तत्वात् । यथोक्तं तत्र-इयं च भागवती सदाज्ञा सर्वैवा-
ऽपुनर्वन्धकादिगम्या । अपुनर्वन्धकादयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां क-
र्मस्थितिं तथाऽपुनर्वन्धकत्वेन कृपयन्ति ते खल्वपुनर्वन्धकाः ।
आदिशब्दान्मार्गापतितमार्गाभिमुखादयः परिगृह्यन्ते, दृढप्रति-
ज्ञाज्ञोचनादिगम्यलिङ्गाः । एतद्वन्धेयं न संसारान्नित्तिगम्येति ।
संसारोऽभिनन्दिनश्चापुनर्वन्धकप्रागवस्थानाजो जीवा इति ।

ननूपचरितं वस्त्वेव न भवति, तत् कथमुपचारतः शेषस्य पू-
र्वसेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कृतश्चास्या उपन्यासः, शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।

नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्या-दन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥१८०॥

कृतश्च कृतः पुनरिदं अस्याः पूर्वसेवायाः उपन्यासः प्रब्राप-
नारूपः शेषापेक्षोऽपि अपुनर्वन्धकजायात्मजजीवानाश्रित्य,
कार्यतो भाविनीं जावरूपां पूर्वसेवामपेक्ष्य ननुलोदकं पाद-
रोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नैवाऽऽसन्नोऽपि समोपवर्त्यपि,
जीवोऽस्यापुनर्वन्धकाभावस्य, किं पुनरयमेवेत्यपिशङ्कार्थः । वा-
हृत्यात्प्रायेणान्यथाऽपुनर्वन्धाचारविलक्षणो वर्तते इत्येतस्या-
र्थस्य प्रदर्शको व्यापकः । न हि मृत्पिण्डादिकारणं कार्याद्
घटादेर्बाहुल्येन वैलक्षण्यमनुभवद् दृश्यते, किन्तु कथञ्चित्तु-
ल्यरूपतामिति ।

इदमेवाधिकृत्याह—

शुश्रूक्षोके यथा रत्नं, जात्यं काञ्चनमेव वा ।

गुणैः संयुज्यते चित्रै-स्तद्गदात्माऽपि दृश्यताम् ॥१८१॥

शुश्रूक्षुद्धिमनुभवत् क्षारमृत्पुटपाकादिसंयोगेन, लोके व्य-
वहाराहंजनमध्ये यथा रत्नं पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिमं, का-
ञ्चनमेव वा चामीकरं वा, गुणैः कान्त्यादिभिः, संयुज्यते सं-
श्लिष्यति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुचितैः, तद्वद् रत्नकाञ्चनवत्, आ-
त्माऽपि जीवः शुद्धैव, किं पुनरत्नकाञ्चने ? इत्यपिशङ्कार्थः ।
दृश्यताम्-ऊहापोहचक्षुषाऽवलोकयतामिति ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य, केचिदेनां प्रचक्षते ।

आलोचनायजावेन, तथाऽनाजोगसङ्गताम् ॥१८२॥

सा वक्ष्यमाणविशेषणानुरूपा या प्रकृतिः स्वभावस्तथा शेषस्य
सकृद्वन्धकादेः, केचित् शास्त्रकारा एनां पूर्वसेवां, प्रचक्षते व्या-
कुर्वते, न पुनः सर्वे । कीदृशीम् ? इत्याह— ‘आलोचनायभावेन
आलोचनस्योदस्य, आदिशब्दादपोहस्य, निर्णयस्य, मार्गविषय-
स्याभावेन, तथाऽनाभोगसंगतां, तथा तत्प्रकारः, कथञ्चिदपि
भवस्वरूपाऽनिर्णायको योऽनाजोग उपयोगाभावस्तत्संगतां
पूर्वकारणभावेनोपचरितत्वमुक्तमत्र चानाभोगद्वारेणेति ॥

एतदेव समर्थयमान आह—

युज्यते चैतदप्येवं, तीव्रे मग्नविषे न यत् ।

तदावेगो भवासङ्ग-स्तस्योच्चैर्विनिर्वर्तते ॥ १८३ ॥

युज्यते च घटत एवैतदप्यनन्तरोक्तं वस्तु, किं पुनः परम्परोक्त-
म् ? इत्यपिशङ्कार्थः । एवं यथा केचित्प्रचक्षते । अत्र हेतुः-तीव्रस्य-
न्तमुत्कटं, मलविषे कर्मबन्धयोग्यतावृक्षणे, न नैव, यद्यस्मात्,
तदावेगो मग्नविषावेगः । किरूपः ? इत्याह-जवासङ्गः संसार-
प्रतिबन्धः, तस्य शेषजीवस्य, उच्चैरत्यन्तं, विनिर्वर्तते, मनागपि
हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्वन्धकत्वमेव स्यात् इत्यौपचारिक्येव;
शेषस्य पूर्वस्यैवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिमाश्रित्य पूर्वसेवा स्यात्तां, तद्विपर्ययं चाऽऽह—

संक्षेपायोगतो ज्ञूयः, कल्याणाङ्गनया च यत् ।

तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया, तदन्या तूपचारतः ॥ १८४ ॥

संज्ञेशाऽयोगतो भूयः पुनरपि, तीव्रसंज्ञेशाऽयोगेन कल्याणा-
कृत्या च उत्तरोत्तरभववैराग्यादिकल्याणनिमित्तभावेन वा ।
यद्यस्माद् वर्तते या सा तस्मात्तात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृतिः
स्वभावलक्षणा धर्माऽईजीवस्य ज्ञेयाः तदन्या तु तस्या भ-
न्या पुनः प्रकृतिरुपचारत उपचरितरूपा तात्त्विकप्रकृति-
विज्ञकृणत्वात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

तत्राधिकृते वस्तु, नान्यथेति स्थितं ह्यदः ॥ १८५ ॥

एनां चैतामेव तात्त्विकीं प्रकृतिं चाश्रित्यापेक्ष्य, शास्त्रेषु यो-
गप्रतिषेधेषु व्यवहारः पूर्वसंवादेः, प्रवर्तते प्रज्ञापनीयतामेति ।
तत्रास्मादेव हेतोरधिष्ठितं पूर्वसंवादात्कृणं वस्तु तात्त्विकं,
नान्यथा पुनर्बन्धकं व्यतिरिच्य इति स्थितं प्रतिष्ठितं, हि स्फु-
टम्, अद एतत् ।

तथा-

शान्तोदात्तत्वमत्रैव, शुद्धानुष्ठानमाधनम् ।

सूक्ष्मजावोहसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः, उदात्त उच्चोच्च-
तराद्याचरणस्थितिवद्धचित्तः । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च
शान्तोदात्तः, तस्य ज्ञावस्तत्त्वम् । अत्रैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्यां, जा-
यते शुद्धाऽनुष्ठानसाधनं निरवद्याचरणकारणम् । तथा-सूक्ष्म-
भावोहसंयुक्तं बन्धमोहादिनिपुणभावपर्यालोचनयुतम् । अत
पव तत्त्वसंवेदानुगं तत्त्वसंवेदनसहितज्ञानविशेषसमन्वितम् ।

ततः-

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह, शुभजावाश्रयो मतः ।

धन्यो जोगमुखस्येव, विज्ञातव्यो रूपवान् युवा ॥ १८७ ॥

शान्तोदात्त उक्तं रूपः, प्रकृत्या स्वभावेनेह जने, शुभभावाश्रयः
परिशुद्धचित्तपरिणामस्थानं, मतो जन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह-
धन्यः सौभाग्यादेयतादिना धनाहो भोगसुखस्येव शब्दरूपरस-
गन्धस्पर्शमेवालक्षणस्य यथाऽऽश्रयः, विज्ञातव्यो विभवनायकः,
रूपवान् शुभशरीरसंस्थानः, युवा तरुणः पुमान् ।

एतदेव व्यतिरेकत आह-

अनीदृशस्य च यथा, न भोगसुखमुत्तमम् ।

अशान्तादेस्तयो शुद्धं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

अनीदृशस्य च धन्यादिविशेषणविकलस्य पुनर्यथा न जोगसु-
खं शब्दादिविषयानुभववृत्तणम्, उत्तमं प्रकृतम्, अशान्तादेरशान-
न्तस्यानुदात्तस्य च । तथा जोगसुखवत्, शुद्धं निर्वाणान्वन्धव्यो-
जकत्वेन नानुष्ठानं देवपूजादि, कदाचन क्वचिदपि काले ।

नहि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

मिथ्याविकल्परूपं तु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।

स्वबुद्धिकल्पना शब्दि-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

मिथ्याविकल्परूपं तु मर्यादविकारिणो मूर्खसृष्ट्यादीनां जला-
दिप्रतिभासाकारं, पुनर्द्वयोक्तव्यलक्षणयोर्भोगिधार्मिकयोर्द्वय-
मपि भोगसुखानुष्ठानरूपं, किं पुनरैककमित्यपिशब्दार्थः । स्थितं

प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं जवति ?-स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितम् ।
स्वबुद्धिकल्पना स्वच्छन्दमतिविकल्परूपा, सैव शिल्पी वैज्ञानि-
कस्तेन निर्मितं घटितम् ; न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतस्त-
द्भोगसुखं धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्भावनाऽर्थमाह-

जोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, दरिद्रायौवनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरूपस्य स्वयोपिति ॥ १९० ॥

इह जोगाङ्गानि रूपादीनि । यदाह वात्स्यायनः-“रूपवयोवै-
चक्यसौभाग्यमाधुर्यैश्वर्याणि भोगसाधनम्” इति । तत्रापि रूप-
वयोवित्ताद्यत्वानि प्रधानानि । एतदेव त्रितयमपेक्षयाऽऽह-
‘भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं’ भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्तेर्भोगासेव-
नलक्षणाया वैकल्यमत्रावः, दरिद्रायौवनस्थयोर्दरिद्रस्य भोगा-
ङ्गविरहोऽयौवनस्थस्य त्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च सुरूपं
जोक्तुमारब्धे स्त्रीगते सुन्दरे संस्थाने रागोऽभिप्लवङ्गातिरेकः,
आशङ्का च स्त्रीगतानुरागसंदेहरूपा तस्मिन्, ततः सुरूपरागश्चा-
शङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरूपस्य तु पुंसः स्वयोपिति
स्वस्त्रियामिति ।

ततश्च-

अजिमानसुखाभावे, तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।

अपायशक्तियोगाच्च, नहीत्यं भोगिनः सुखम् ॥ १९१ ॥

अजिमानसुखाभावे अहं सुखीत्येवं चित्तप्रतिपत्तिरूपलक्षण-
स्याजिमानसुखस्याभावे सति, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्लिष्टा-
न्तरात्मनोऽपूर्यमाणेच्छत्वेन साधाधचित्तस्यापायशक्तियोगाच्चा-
पायस्य निर्वाहशरीरव्यवच्छेदरूपस्य दरिद्रायौवनस्थयोः कुरूप-
स्य वा रुचिमत्स्त्रीशून्याद्यादनादेर्या शक्तियोग्यता, तस्या यो-
गात्संबन्धात्, चः समुच्चये । किम् ? इत्याह-नहि नैवेत्थमनाद्य-
त्वादिविशिष्टस्य भोगिनः सुखं जोगजं यद्विचक्षणैर्मृग्यत इति ।

यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन
स्यातां तथाऽऽह-

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे-रिदमत्यन्तमुत्तमम् ।

यथा तथैव शान्तादेः, शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रागुक्ताद्भोगिनः सकाशात्, अन्यस्य तु अन्यप्रकार-
भाजः, पुनः धन्यादेरुत्तररूपस्य भोगिन इह भोगसुखमन्यन्त-
मुत्तमं, शेषजोगसुखातिशायि यथा स्यात्तथैव, शान्तादेः शान्तो-
दात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुतमित्यपीदमपि ज्ञेयम् ।

एवं सति यत्स्यात्तदाह-

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिमंगलः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो
गाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन महाचेताः, शुभानुबन्धिपुण्याच्च पु-
ण्यानुबन्धिनः पुण्यान्वकाशात्पुनर्विशिष्टमतिमंगलं मार्गा-
नुसारिप्रादप्रज्ञानुगतः सन् ।

किमित्याह-

ऊहनेऽयमतः प्रायो, जववीजादिगोचरम् ।

कान्ताऽऽदिगतगेयाऽऽदि, तथा भोगीव मुन्दम् ॥ १९४ ॥

ऊहते वितर्कयति, अयमपुनर्वन्धकः, अतो विशिष्टमतितां-
गत्यात् प्रायो बहुल्येन । कथम् ? इत्याह—भवबीजादिगोचरं भ-
वबीजं भवकारणम्; आदिशब्दाद्वस्वरूपं भवफलं च गृह्यते ।
यथा—“एस णं अणाइजीवे अणाइजीवस्स भवे अणाइकम्म-
संयोगनिवत्तिणं दुक्खरूपे दुक्खफले दुक्खखण्यंधित्ति” ततो
भवबीजादिगोचरो यत्र तत्तथा, क्रियाविशेषणमेतत् । अथवा
भवबीजादिगोचरो धिपय ऊहनीयतया भवबीजादिगोचरस्तम् ।
अत्र दृष्टान्तः—कान्तादिगतगेयादि । कान्ता वल्लभा, आदिश-
ब्दात्तदन्यगायनादिग्रहः । तद्धतं तत्प्रतिबद्धं यद् गेयं गीतम्,
आदिशब्दादपरसादिशेषेन्द्रियविषयग्रहः । तथा तत्प्रकारो गे-
यादृशयोगो भोगी, स इव सुन्दरं मनोहारीन्द्रियविषयस्थान-
मागतमिति । यथा विचक्षणो भोगी सुन्दरं कान्तादिगतगेयादि
ऊहते तथाऽयं भवबीजादिकमिति भावः ।

यथोदते तथैवाऽह—

प्रकृतेर्जदयोगेन, नाममो नाम आत्मनः ।

हेत्वजेदादिदं चारु, न्यायमुद्राऽनुसारतः ॥ १९५ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमोरूपायाः, स्वप्रक्रिया-
याश्च ज्ञानावरणादिलक्षणायाः, भेदयोगेनैकान्तेनैव जेदेनेत्यर्थः ।
न नैवासमो विसदृशो, नामः परिणामश्चैतन्यश्रकानोन्मीलनादि-
कः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु स-
र्वजीवानां सर्वदेव सम एव प्राप्नोति । कुतः ? इत्याह—हेत्वभे-
दात् । हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात् । नह्य-
भिन्ने हेतौ कचिदपि फलजेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमनेका-
न्तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैसदृश्यासाङ्ग्यलक्षणं
वस्तु चारु संगतं वर्तते । कुतः ? इत्याह—न्यायमुद्राऽनुसा-
रतः, न्यायस्य मुद्रा कृतप्रयत्नेरपि परैरनुलक्षणीयत्वाद् राजा-
दिमुद्रावत्, तस्या अनुसारतोऽनुवर्तनात् । तथाहि—यदि प्रकृ-
तिजेदे सत्यपि परिणामनानात्वमात्मन इष्येत, तदा मुक्ताना-
मपि प्राप्नोति, संसारिणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदाविशेषात् ।

एवं च सर्वस्तथोगा—दयमात्मा तथा तथा ।

भवे भवेदतः सर्व—प्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुनः
किं स्यादित्याह—सर्वः निरवशेषः, तथोगात्प्रकृतिसंयोगात्कथ-
ञ्चिदैक्यापत्तिलक्षणात्, अयम्—अपुनर्वन्धकाद्यवस्थाभाग-
आत्मा जीवः, तथा तथा नरनारकादिपर्यायभाक्त्वेन भवे सं-
सारे, भवेत्स्यात् । अतस्तथा तथा भवनात् सर्वप्राप्तिः संसारा-
पवर्गावस्थालाभरूपाऽस्यात्मनोऽविरोधिनी अविघटमाना सं-
पद्यते । प्रकृतियोगात्तस्य संसारावस्था, विप्रयोगाच्च मुक्ता-
वस्थेति भावः ।

सांसिद्धिकमलाद् यद्वा, न हेतोरस्ति सिद्धता ।

तज्ज्ञं यदभेदेऽपि, तत्कात्वादिविभेदतः ॥ १९७ ॥

सांसिद्धिकमलात्कर्मवन्धयोग्यतालक्षणदनादिस्वभावात्,
सांसिद्धिकमलं परिहृत्येत्यर्थः । यदेति ऊहस्यैव पक्षान्तरसू-
चकः । ‘न’ नैव, हेतोरन्यस्येश्वरानुग्रहादेः परिणामचित्रतायां
साध्यायां सिद्धता प्रमाणप्रतिष्ठिता । ईश्वरो हि अप्रतिस्खलित-
वैराग्यान् । यतः पठ्यते—“ज्ञानमप्रतिघ्नं यस्य, वैराग्यं च जग-
त्पते । पेश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ” ॥ १ ॥

ततः कथमसौ कञ्चनानुगृह्णीयाच्चिगृह्णीयाद्वा ? किञ्चासौ योग्यता-
मपेक्ष्य प्रवर्तते, इतरथा चेति द्वयी गतिः । किं चातः ? यदि
प्रथमः पक्षः, तदा सैव योग्यता हेतुः, किमीश्वरानुग्रहनिग्रहा-
भ्याम् ? अथेतरथा, तदा सार्वत्रिकाद्येवानुग्रहनिग्रहौ स्यातां
न तु विभागेन, न वा कचित्, निमित्ताभावात् । यतः पठ्यते—
“ नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥

अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ” ॥ १ ॥ इति ॥

सांसिद्धिकमलमेवात्मनां परिणामवैचित्र्यहेतुः ।
तत्सांसिद्धिकमलं, भिन्नं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात्,
अभेदेऽपि कथञ्चित्सामान्यरूपतया । एतदपि कुतः ? इत्याह—
तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः काल-
स्वभावानियतिपूर्वकतपुरुषकारलक्षणा हेतवः सर्वजगत्कार्यज-
नकाः, तेषां विभेदतो वैसदृश्यात् । इदमुक्तं भवति—कात्वादिभे-
दात्तत्सांसिद्धिकं मलमात्मना सह जेदाभेदवृत्ति सद्यतो ना-
नावृत्तं रूपं वर्तते, ततस्तद्वशादेव परिणामवैचित्र्यमात्मना प्र-
नुपचरितमेवोपपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात् । प्रागुक्त्युक्त्या
तस्य निराकृतत्वात् ; इति वा चिन्तयत्यसाविति ॥

इदमेव समर्थयति—

विरोधिन्यपि चैवं स्या—तथा द्वौकेऽपि दृश्यते ।

स्वरूपेतरहेतुज्यां, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिन्यपि च विघटमानैव च सर्वार्थप्राप्तिरित्यनुवर्तते, न
पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनी; एवं सांसिद्धिकमलादन्यहेत्वच्यु-
पगमे सति, स्याद्भवेत् । यथा च विरोधिनी सर्वप्राप्तिः, तथाऽ-
नन्तरमेव दर्शितेति । तथेति हेत्वन्तरसमुद्भवे । लोकेऽपि, शास्त्रे
तावद्दर्शितैवेत्यपिशब्दार्थः । दृश्यते विद्योक्षयते । स्वरूपेतरहेतु-
ज्यां स्वरूपेतरहेतुः परिणामिकारणम् । यथा—मृदूघटस्य, इतरः
पुनर्निमित्तहेतुर्यथा—तस्यैव चकर्चीवरादि, ताभ्यां तावाश्रित्येत्य-
र्थः । जेदादेर्जेदादेर्भेदाच्च, यथायोगं संयन्धात्स्वरूपहेतुमपेक्ष्या-
जेदाच्च, इतरापेक्षया च भेदात् । किमित्याह—फलचित्रता कार्या-
णां नानारूपता । यदि हि मृन्मात्रक एव घटः स्यात्तदा सर्वघ-
टानां मृन्मयत्वाविशेषादेकाकारतैव स्यात् । तथा बाह्यमात्र-
निमित्तत्वे परिणामिकारणविरहेण कुर्मरोमादेरिव न कस्यचि-
त्कार्यास्त्यपत्तिः स्यादिति । स्वरूपेतरहेतु समाश्रित्याभेदवृ-
त्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुत्पद्यमानं चित्ररूपतां प्रतिपद्यते । एवं
च सांसिद्धिके मले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्का-
लादिबाह्यकारणसद्व्यपेक्षतायां चित्रकर्मवन्धकानां नानापरि-
णामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरनारकादिपर्यायः,
तद्ग्रासात् पुनरपुनर्वन्धकावादि यावत्सर्वकलेशग्रहः णिलक्षणा
मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्युहते इति ॥

ततः किमित्याह—

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः ।

एतद्वियोगविषयाऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तरूपेण ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बहुल्येन,
मार्गानुसारिणो निर्वाणपथानुकूलस्यापुनर्वन्धकत्वेन कचिद-
न्यथाऽपि प्रवृत्तिरस्य स्यादिति प्रायो ग्रहणम् । एतद्वियो-
गविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिविघटनगोचरः, किं पुनर्भ-
वबीजादिगोचर इत्यपिशब्दार्थः । एष ऊहः, सम्यगूहनीयार्थो-

व्यभिचारी, प्रवर्तते समुन्मीलति । इदमुक्तं भवति-यथा भववी-
जादिगोचरनतिनिपुणमूढे, तथा कर्मणात्मनः कर्मणा वियो-
गो घटन एवमप्युक्त इति ।

एवं सति यत्सिद्धं तदाह-

एवंलक्षणयुक्तस्य, प्रारम्भनादेव चापरैः ।

योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥२००॥

एवंलक्षणयुक्तस्य पूर्वोक्तोहगुणसमन्वितस्य, प्रारम्भनादेव प्रा-
रम्भमेव, पूर्वसंवाचकगमाश्रित्य, अपरैस्तीर्थान्तरीयेयोगो व-
क्ष्यमाणनिरुक्तः, उक्तोऽस्वापुनर्वन्धकस्य, विद्वद्भिर्विचक्षणैः,
गोपेन्द्रेण योगशस्त्रकृता, यथोदितं यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथो-
दितमिति । योऽपि ॥

पुनरपि—

शुद्धपञ्चदशप्रमाणो, वर्द्धमानगुणः स्मृतः ।

जवाभिनन्दिदोषाणां-मपुनर्वन्धको व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वमर्थोक्ता, मुख्याऽप्यस्योपचारतः ।

अस्यावस्थान्तरं मार्गपतिताभिमुखौ पुनः ॥ २ ॥

(शुद्धेति) शुक्लपञ्चदशपञ्चदशपञ्चदशवत्, प्रायो बाहुल्येन,
वर्द्धमानाः प्रतिकलमुद्भवन्तो, गुणा औदार्यदाक्रियादयो य-
स्य भवाभिनन्दिदोषाणां प्रागुक्तानां कृत्वादीनां व्ययेऽपगमे
सन्त्यपुनर्वन्धकः स्मृतः ॥ १ ॥ (अस्यैवेति) अस्यैवापुनर्वन्धक-
स्यैवाक्ता, गुर्वादिपूजालक्षणा पूर्वमेवा, मुख्या कल्याणाशययो-
गेन निरूपयिता, अन्यस्यापुनर्वन्धकानिरुक्तस्य सकृद्वन्धका-
देः, पुनरुपचारतः स्मृता, तथाविधनयवैराग्याभावात् । मार्गपति-
तमार्गाभिमुखौ पुनरभ्यापुनर्वन्धकस्य, अवस्थान्तरं दशाविशे-
षरूपः, मार्गो हि चेत्तसोऽवक्रमन्तं नृजङ्गमनविकाऽस्यामनुल्लो-
विशिष्टगुणस्थानावतिप्रगुणः स्वरसवाही क्रयोपशमविशेषः;
तत्र प्रविष्टो मार्गपतिनोः मार्गप्रवेशयोग्यभवत्त्वोपपन्नश्च मार्गा-
भिमुख इति । तद्व्यमेतावपुनर्वन्धकावस्थायाः परतरावस्थान्ताजौ,
भगवदाज्ञावगमयोग्यतया पञ्चमूत्रकवृत्तावनयोरुक्तत्वात् ।

अपुनर्वन्धकस्यैवानुष्ठानं युक्तम्—

योग्यत्वेऽपि व्यवहितौ, परे त्वेनौ पृथग् जगुः ।

अन्यत्राप्युपचारस्तु, मार्मीप्ये बहजेदतः ॥ ३ ॥

[योग्यत्वेऽपि] परे त्वेनौ मार्गपतिनमार्गानिमुखौ योग्यत्वेऽ-
पि व्यवहितावपुनर्वन्धकापेक्षया दूरस्थाविति, पृथगपुनर्वन्ध-
काद्विज्ञौ जगुः । अन्यत्रापि सकृद्वन्धकादावपि, उपचारस्तु पु-
र्वमेवायाः मार्मीप्येऽपुनर्वन्धकसन्निधानवृत्तौ सति, बह्वेदतोऽ-
तिनेदाभावान् ॥ ३ ॥ डा० १४ डा० १० मू० । जीजाधान-
मपि हापुनर्वन्धकस्य । तथास्यापि पुद्गलपरावर्तः संसारः । (व०) न
होवं प्रवर्तमानो नेष्टमाधक इति भग्नोऽप्येतद्वल्लिङ्गोऽपुनर्वन्धक
इति तं प्रत्युपदेशमाफल्यं नानिष्टताधिकारायां प्रकृतावेवंभूत
इति कार्पिलाः । न वा पुनर्नेधविपाक इति च सौगताः । अपुन-
र्वन्धकास्त्वेवंभूता इति जैनाः । तच्छ्रुतव्यमेतदादरेण परिभा-
वनीयम् । ल० ॥

अपुणवन्धव-अपुनर्जव-त्रि० । न० ब० । पुनर्नेधसमन्वयहते,
यतः पुनर्जन्म न तयति, “सिद्धिगणनिलयं सासय-मवावाहं
अपुणवन्धं पमन्थं सोमं” (ब्रह्मचर्यं), ततः पुनर्नेधसमन्वा-
नवान् पश्च० १ आश्र० डा० ।

अपुणवन्धव-अपुनर्जव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-
णवन्धवै सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽवन्धकत्वेन ।
पं० सं० १ डा० ।

अपुणरागम-अपुनरागम-त्रि० । नित्यं, जन्मादिरहिते चादश० १ च० ।

अपुणरावत्तय-अपुनरावर्तक-पुं० । न० ब० । अविद्यमानपुन-
र्भावाधत्तारं, सिद्धिगत्याख्येऽर्थे, पुनर्जवर्षाजकमाभावात्, तः प्रा-
प्तानां पुनरजननात् । स० १ सम० । औ० । “अपुनरावत्तयं
सिद्धिगङ्गाधयेयं ठाणं संपाविउकामेणं” ज० १ श० १ च० ॥

अपुणरावित्ति-अपुनरावृत्ति-पुं० । न० । न पुनरावृत्तिः संसारे
ऽवतारो यस्मात् तत्तथा । सिद्ध्याख्येऽर्थे, ध० २ अधि० । रा० ।
पुनरावृत्त्यभावे, पं० सू० ।

“ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः, क्षयं प्रयातः पुनरोति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते, जलं नदीनां च नृणां च जीवितम्” ॥ १
पं० सू० ४ सू० ।

“दग्धे बीजे यथा-ऽप्यन्तं प्राहुर्भवति नाङ्कुरः

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः” ॥ १ ॥ ल० ॥

अपुणरुत्त-अपुनरुत्त-त्रि० । न० त० । पुनरुत्तिदोषरहिते,

“अपुणरुत्तेहिं महाविसेहिं संपूणई” । रा० । जं० । आ० म० ।

“अनुवादादरवीप्सा-भृशार्थविनियोगदेह्यसुयासु ।

ईपत्संभ्रमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुत्तम्” ॥ १ ॥ दर्श० ।

अपुण-अपुण-त्रि० । न० ब० । अविद्यमानपुण्ये, विपा० १
श्रु० ७ म० । तीवासातोदये वर्तमाने, “सामा णेरइयाणं, प-
वत्तयंती अपुण्णाणं” सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ च० । अनार्ये
पापाचारं, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अपूर्णा-त्रि० । पूर्णव्यतिरिक्ते, “अदमं अधमा अपुष्पा”

अपूर्णाः, अपूर्णमनोरथत्वात् । विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

अपुणकल्प-अपूर्णकल्प-पुं० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ च० ।

अपुणकल्पिय-अपूर्णकल्पिक-पुं० । गीतार्थे असहाये,
व्य० १० उ० ।

अपुत्त-अपुत्त-त्रि० । न० ब० । सुतरहिते, “अपुत्तस्य न सति
लोकाः । (‘होमवाय’ शब्देऽस्य खण्डनं वक्ष्यते) । स्वजनबन्धुर-
हिते, निमंमे च । आचा० २ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अपुम्-अपुम्-पुं० । नपुंसके, ओघ० । वृ० । “अदमेत्तिप
अपुमं जणिओ परिसेवामि” नि० सू० १ उ० ।

अपुरस्कार-अपुरस्कार-पुं० । पुरस्करणं पुरस्कारः । गुणवा-
नयमिति गौरवाध्यारोपः, न तथाऽपुरस्कारः । अवज्ञास्पदत्वे,
“गरदणवाप अपुरस्कारं जणयइ” उक्त० २६ अ० ।

अपुरस्कारगय-अपुरस्कारगत-त्रि० । अपुरस्कारं गतः प्राप्तोऽ-
पुरस्कारगतः । सर्वत्रावज्ञाऽऽस्पदीचूते, उक्त० २६ अ० ।

अपुर्व-अपूर्व-त्रि० । पूर्वमदृष्टश्रुते, ‘पूर्वस्य पुरवः’ । ना० १२७० ॥

इति शौरसेन्यां पूर्वशब्दस्य पुरवेत्यादेशः । “अपुरवं नाड्यं ।

अपुरवागदं । पक्के-अपुव्वं पदं । अपुव्वागदं” । प्रा० ॥

अपुरिस-अपुरिप-पुं० । न पुरुषः । न० त० । नपुंसके, स्था० ६ डा० ।

अपुरिसकारपरक्रम-अपुरुषाकारपरक्रम-त्रि० । न० ब० । पुरुषकारः पराक्रमश्च न विद्यते यस्य सोऽपुरुषकारपरक्रमः । अनिष्पादितप्रयोजनेन निष्पादितप्रयोजनेन वा पौरुषाभिमानेन रहिते, विपा० १ भु० ३ अ० । भ० ।

अपुरिमवाय-अपुरुषवाद-(च्)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसकस्तद्वादः, चाग्रा । वृ० ६ उ० । नपुंसकोऽयमित्येवंधातुयाम्, “अपुरिसवायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्छेह कप्पस्स” द्वितीयः प्रस्तारः । (व्याख्याऽन्यत्र) । स्था० ६ ग्रा० ।

अपुरोहित-अपुरोहित-त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । शान्तिकर्मकारिरहिते, यत्र तथाविधप्रयोजनाभावात् पुरोहितो नास्ति । भ० ३ श० १ उ० ।

अपुव-अपूर्व-त्रि० । न० त० । अजितवे अनन्यसदृशे, प्रव० २२४ द्रा० । प्रति० । अवृत्तपूर्वे, आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, आय० ४ अ० द्रा० ॥

अपुवकरण-अपूर्वकरण-न० । अपूर्वामपूर्वा क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातसंघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमः, अन्यश्च स्थितिघन्धः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आचा० १ भु० ए अ० १ उ० । अप्राप्तं पूर्वमपूर्वम्, स्थितिघातसंघाताद्यपूर्वार्थनिर्वर्तनं वा । अपूर्वे च तत्करणं च अपूर्वकरणम् । भव्यानां सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धतरूपे परिणामविशेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । वृ० । पो० । (‘करण’ शब्दे तृतीयजगते ३५६ पृष्ठे व्याख्यास्यते चैतत्) अपूर्वमजितवं प्रथममित्यर्थः । करणे स्थितिघातसंघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमस्थितिवन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः । अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपन्ने जीवे, कर्म० । तथाहि—बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मास्थितेरपर्वतनाकरणेन स्वरूपमलपीकरणं स्थितिघात उच्यते । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन स्वरूपमलपीकरणं रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धरूपत्वादल्पावेव कृतवान् । अत्र पुनर्विशुद्धः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति । तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिश्चादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्पणाय प्रतिक्रणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिः । स्थापना—* एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतोऽद्वाधीयसीं दलिकरचनामाश्रित्याप्रतीयसीमल्पदलिकस्यापवर्तनाद्विरचितवान् । इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वा कालतोऽस्वतरां दलिकरचनामाश्रित्य पुनः पृष्ठतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा वध्यमानशुभप्रकृतिष्ववध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्रणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिश्चाज्ञयनं गुणसंक्रमः । तमप्यसाविहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामगुणवृद्धत्वात् प्राग्वाधीयसीं ब्रूवान्, इह तु तामपूर्वा विशुद्धत्वादेव हसीयसीं बध्नातीति (स्थितिबन्धः) । अयं चापूर्वकरणो द्विधा-कृपकः, उपशमकश्च । कृपणोपशमनाहंत्वाच्चैवमुच्यते, राज्याहकुमारराजवत् । न पुनरसौ कृपयत्युपशमयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । दर्श० । अष्ट० । आचा० ।

अपुवकरणगुणग्राहण-अपूर्वकरणगुणस्थानक-न० । अपूर्वकरणस्य गुणस्थानकमपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुण-

स्थानके, प्रव० २२४ द्रा० । एतच्च गुणस्थानकं प्रपन्नानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि जवन्तीति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्रकल्प्यन्ते-इह ताद्यदिदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्नाः, प्रपद्यन्ते, प्रपत्स्यन्ते, च तदपेक्षया जघन्यादिन्युत्कृष्टान्तान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि लज्यन्ते, प्रतिपत्तूणां बहुत्वादध्यवसायानां च विचित्रत्वादिति भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदैतद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्मान्न भवन्ति ? अनन्तजीवैरस्य प्रतिपत्तत्वादनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिति । सत्यम् । स्यादेवं यदि तत्प्रतिपत्तूणां सर्वेषां पृथक् पृथक् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहुनामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लज्यन्ते । तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं तावन्नेयं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमभिध्यानुवन्ति । तद्यथा-४००००००० अत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि द्वितीय-३०००००० समयजघन्यात्तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च-तृतीय-२०००००० समयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् । ततोऽपि तदुत्कृष्ट-१००००० मनन्तगुणविशुद्धमित्येवं तावन्नेयं यावच्चिचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् ; ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्धयसङ्घातभागवृद्धिसङ्घातजागवृद्धिसंख्येयगुणवृद्धसंख्येयगुणवृद्धयनन्तगुणवृद्धिरूपपदस्थानकपतितानि । युगपदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते । अत एवोक्तं सूत्रे-“ निवृत्तिरनियद्वितीयादि” । कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अपुववर्णाणामग्राहण-अपूर्वज्ञानग्रहण-न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम् । तच्चाष्टादशं तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणे, आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु (एपु) स्मृय-अल्पोत्सुक-त्रि० । अविमनस्के, आचा० २ भु० ३ अ० १ उ० ।

अपुदत्त-अपृथक्त्व-त्रि० । अविद्यमानं पृथक्त्वं प्रस्तावात्संयमयोगेज्यो विमुक्तत्वस्वरूपं यस्यासावपृथक्त्वः । सदा संयमयोगवति, (उक्त०) संयमयोगेज्योऽजिज्ञे, (उक्त०) “अपुहत्ते सुप्पणिहिण विहरइ” उक्त० २६ अ० ।

अपुहत्ताणुओग-अपृथक्त्वानुयोग-पुं० । अनुयोगभेदे, यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्रकल्प्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूया-अपूजा-स्त्री० । पूजाभावे, “पूयाऽपूया हियाऽहिया” स्था० ५ ग्रा० ३ उ० ।

अपूर्ते-अपूरयत्-त्रि० । अनाचरति, आ० म० द्वि० ।

अपेय-अपेय-त्रि० । मधमांसरसादिके (पातुमनहें), नि०
चू० २ उ० ।

अपेयचक्र-अपेयचक्र-त्रि० । लोचनरहिते, बृ० १ उ० ।

अपेक्ष्य-अपेक्षक-वि० । अपेक्षिणि, निर्जरापेक्षिकर्मक्यापे-
क्षक इति । आव० ४ अ० ।

अपंगल-अपुद्गल-पुं० । न विद्यन्ते पुद्गला येषां तेऽपुद्गलाः
सिद्धाः । पुद्गलरहिते, स्था० १ भा० १ उ० ।

अपोरिसिय-अपौरुषिक-त्रि० । पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषि-
कम् ; तन्निषेधादपौरुषिकम् । पुरुषप्रमाणाभ्यधिकेऽगाधजज्ञा-
दौ, 'अथाहमपोरिसियं पक्षिस्त्वेज्ञा' ज्ञा० ५ ख० ।

अपोरिसीय-अपौरुषेय-त्रि०। पुरुषः परिमाणं यस्य तत्पौ-
रुषेयं, तन्निषेधादपौरुषेयम्। पुरुषप्रमाणाभ्यधिकेऽगाधे जलादौ
“ अत्याहमनारमपोरिसीयं ति ” ज्ञा० १४ अ०। पुरुषेणाकृते
वचने, अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याश्रयमाणत्वात्। स्था० १०
वा०। ल०। पं० व०। नं०। (वेदानामपौरुषेयत्वविमर्शः ‘आगम’
शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते)

अपोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, “होइ अपोहो वाओ ” । अपोहस्तावत् किमुच्यते ? , इत्याह-अपोहो भवत्य-पायः । योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपाय इत्यर्थः । विशेष० । नं० । उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धार्थाद् हिमादिकात् प्रत्यपायव्यावर्तने विशेषज्ञाने, (ध०) एष षष्ठो बुद्धिगुणः । ध० १ अधि० । पृथग्भावे, तत्स्वरूपायां प्रतिबेखनायां च तथा चक्षुरा निरूपयति यदि तत्र सत्त्वस्मन्त्रो भवति, तत उद्भारं करोति सत्त्वानामन्यत्रोभे सति, स चापोहः प्रतिबेखना नवति । औष० । बौद्धातिमते वादविशेष, तथाहि-अपोहवादिना बु-द्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीतः शब्दार्थ इतीष्यते । यथो-क्तम्-“ तदुपाऽऽशेषगत्याऽन्य-व्यावृत्त्यधिगतैः पुनः । शब्दा-र्थोऽर्थः स एवेति, वचनेन विरुध्यते” ॥ १ ॥ इति । सम्म० २ । काण्ड । (विशेषस्तु शब्दार्थनिरूपणावसरे ‘सदृश्य’ शब्देऽपोह विचारो कथ्यः)

अप-अल-त्रि० । स्तोके, सूत्रे १ श्रु ५ अ० २ उ० । आ-
चा० । पि० । प्रज्ञा० । औ० । प्रश्न० । आव० । स्था० । चं० प्र० ।
नि० चू० । आ० चू० । अभावे, आचा० १ श्रु ८ अ० ६ उ० ।
उत्त० । अनु० । आ० म० । रा० । अल्पशब्दा भाववाचकः ।
स्था० ७ ग० । वृ० ।

अथ (ण्)-आत्मन्-पुं० । अतः स्नातयगमने । अतः सततं ग-
च्छति विगुह्यिभं क्लेशमकपरिणामांतराणि त्याज्याम् । उत्त० १ अ०
आ० चू० । अन् मतिन्, प्राकृते-“भस्मात्मनोः पो वा” ७ । २ ।
५१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा पः । प्रा० । जीवे, यत्ने, मन-
सि, वृत्तौ, बुद्धौ, अर्के, वन्द्यौ, धार्यौ, स्वरूपे च । “अप्यणा चेव
उदीरेद्” आत्मना स्वयमेव । भ० १ श० ३ उ० । “अप्यणा अप्य-
णो कम्मकस्यं कर्त्तव्यं” आत्मनाऽऽत्मनः कर्मक्षयं कर्तुमिति ।
द्वा० ५ अ० । आ० चा० । “अप्यणो भासाप परिणामेण”
स्वभावापरिणामेनेत्यर्थः । उत्त० २ अ० । “अप्या णइ वेतर-
णां, अप्या मे कुरुमात्मनी” उत्त० २० अ० । देहे, आत्मन आ-
ध्याभूतत्वात् । उत्त० ३ अ० । (अस्मिन्नेव भागे ‘अणाह’
शब्दे ३२५ प्रष्टुं व्याख्यातमेतत्)

अप्युद्भुदुप्युद्भुतुच्छजस्वणय-अपकदुष्पकतुच्छजक्षक-
न० । अपकं अग्निना संस्कृतं, दुष्पकं चार्चस्विष्टं तुच्छं च निः-
सारमिति द्रव्यः । तेषां, धान्यानामिति गम्यम् । भक्षणमद-
नं तदेव स्वार्थिके कप्रत्यये सति अपकदुष्पकतुच्छभक्षणकम् ।
जोगपरिभोगोपजोगवृत्तातिचारे, पञ्चा० १ विव० ॥

अप्यत्रायण-अप्रयोजन-न० । अप्रयोजने निष्कारणतायाम्,
अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव०
६ अ० ।

अपंग-अन्पाएम्-त्रि० । अल्पान्यएमानि कीटकादीनां यत्र
तदल्पएम् । अल्पशब्दोऽत्राभावे वर्तते । अएम्करहितै,
आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ॥

अपकंप-अप्रकम्प-त्रि० । अविचलितसत्त्वे, “मंदरो इव अप-
कंपे” मेरुखिवानुकूलाद्युपसर्गैरविचलितसत्त्वः । स्था० १० वा० ।

अपकर्म-अष्टकर्मन्-त्रि० । लघुकर्मणि, स्था० ४ टा० ।
३ उ० ।

अण्कर्मतर-अल्पकर्मतर-त्रि० । स्तोककर्मतरे, अकर्मतरे च । 'इंगालभूष मुमुक्षुर्जूष छारियजूष तओ पञ्चा अण्कर्मतराण चेव' अङ्गारायवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः स्तोकार्थः । तारावस्थायां त्वनावार्थः । भ० ५ श० ६ उ० । नैरयिका ये नरकेषु उत्पन्नास्तेषु, (के महाकर्मतराः ?, केऽल्पकर्मतराः ?, इति 'उचवाय' शब्दे द्वितीयभागे ६८० पृष्ठेऽवलोकनीयम्)

अप्यकम्मपञ्चायाय-अद्वैकर्मप्रत्यायात-त्रि० । अद्वैः स्तोत्रैः
कर्मभिः करणजैः प्रत्यायातः प्रत्यागतो मानुषत्वमिति अद्वै-
कर्मप्रत्यायातः । एकत्र जनितात्त्वान्ततोऽद्वैकर्म सन् यः प्रत्या-
यातः स तथा । द्रष्टुकर्मतयोत्पन्ने, स्था० ४ वा० १ उ० ।

अल्पकाल-अल्पकाल-त्रि० । अल्पः कालो यस्य तदल्पकालम् ।
इत्यरकात्, अनु० ।

अण्प्रकृतिरिय-अल्पक्रिय-त्रि०। लघुक्रिये, स्था० ४ ना० ३ न०।

अण्प्रक्रिया-अट्प्रक्रिया-स्त्री० । निर्वद्यायां वसतौ, पं० व०
३ द्वा० ।

जा पुण जइत्तदोसे-हिं वज्जिया कारिया सअट्ठाए ।

परिकम्पविष्पमुक्ता, सा वसही अप्पकिरियाओ ॥

या पुनर्यथोक्तद्वयैः काव्यातिशयतादिलक्षणैर्वर्जिता केवलं स्वस्यात्मनोऽर्थाय कारिता परिक्रमणा च विप्रमुक्ता; सर्वस्यापि परिक्रमणः स्वत एवमे प्रवर्तितत्वात्, सा वसतिरुपक्रिया येदितव्या ।

सम्प्रति यतनां दर्शयितुकाम इदमाह-

द्विद्विधा उवरिद्धा--हिं बाहिया न उ लजंति पादन्नं ।

पुन्याणुन्नाऽजिणवं, चनुमु भय पच्छिमाऽभिनवा ॥

अधस्तन्य उपरितनाजिर्वाध्यन्ते, वाधिदाश्च सत्यो ननु नैव, वनन्ते प्राधान्यम् । इयमत्र भावना-नवापि वस्तुतः क्रमणे स्थाप्यन्ते तत्रालपक्रिया निर्दोषेति प्रथमम् । तद्यथा-अल्पक्रिया, कालाति, क्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, वर्ज्या, महावर्ज्या, सावध्या, महासावध्या च । अत्राधस्तनी अल्पक्रिया, अस्यां यदि

अतिरिक्तं काव्यं तिष्ठति ततः सा काव्यतिक्रान्ता, या बाध्यते सा काव्यतिक्रान्ता भवतीति ज्ञावः। काव्यान्तक्रान्तामपि यदि प्रागज्जितस्वरूपां काव्यमर्यादां द्विगुणां द्विगुणामपरीहृत्योपागच्छन्ति, ततः सा उपस्थानया बाध्यते, उपस्थाना सा भवतीति भावः। एवं यथासंभवमुपयुज्य वक्तव्यम्। (पुष्पाणुम्रं सितं) आसां च नवानां शय्यानां मध्ये काव्यतिक्रान्ता पूर्वा सा अनुज्ञाता, अप्यक्रियाया अलाभे सा आश्रयणीया इति ज्ञावः। तस्या अप्यभावे शे-पाणां पूर्वा उपस्थाना सा अनुज्ञाता, एवं या या पूर्वा सा सा अनुज्ञाता तावद्वक्तव्या यावत् सावद्यायाः मदासावद्यायाः पूर्वा सा अनुज्ञाता। एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या अलाभे उत्तरस्या उत्तरस्या अनुज्ञा वेदितव्यः। अजिनवं चउसु भयसि चतसृषु वसतिषु, अभिनवेति दोषः संबध्यते। अजिनवं दोषं नज विकल्पय, कदा-चिद्व्यति कदाचिन्त भवतीति ज्ञानोद्दीत्यर्थः। अत्रापीयं ज्ञावना-भनतिक्रान्तायामपरिज्ञुकेति कृत्वा विरक्ततायामप्यभिनवदोषो नवति। वज्यादिषु पुनर्या अपरिज्ञुकास्तासु नाभिनवदोषः। एषा भजना पश्चिमा। (अजिनव सितं) पश्चिमो नाम मदासाव-द्योपाश्रयः, तस्मिन् अभिनवकृते वा चिरकृते वा अपरिज्ञुके वा अभिनवदोषा भवन्ति, एकपक्षनिर्धारणात्। एतैर्मूलगुणा-विदोपैर्यः परिहर्तुं जानाति, स ग्रहणे कल्पिकः।

कथं पुनर्जानाति परिहर्तुम् ? इति चेद्, आह-

उगमउपायणए-सणाहिं सुद्धं गवेमए वसहिं ।

तिविहं तिहिं विमुच्छं, परिहर नवगेण जेदेणं ॥

उक्रमेन, उत्पादनया, एषणया, शुद्धां वसतिं गवेययति। तत्र त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः। तेषु चोपरितनेषु सप्तसु भङ्गेष्वशुद्धां परिहर्तुं यो जानाति स ग्रहणे कल्पिकः। कथंभूतां वसतिमु-क्रमादिशुद्धां गवेययति?, इत्यत आह-त्रिविधां स्नातादिनेदत-स्त्रिप्रकाराम्। तथा-त्रिनिर्मनसा वाचा कायेन च, विशुद्धां गवेययति। तथा-स्नातादि। स्तिस्त्रोर्गप वसति। रुद्रमाद्यशुद्धा नवकेन भेदेन परिहरति। तद्यथा-मनसा न गृह्णाति, नापि ग्राहयति, नापि गृह्णन्तमनुजानीते। एवं वाचा कायेन च वक्तव्यमिति।

पदियसुयगुणियधारिय, उवउत्तो जो जणो परिहरति ।

आज्ञोयणमायरिए, आयरिउ विसोहिकारो से ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत्। उक्तः शय्याकल्पिकः। वृ० १ उ०।

इदानीमप्यक्रियाऽभिधानमधिकृत्याऽऽह-

इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयद्या-ए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं आ-एसणाणि वा० जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारं-जेणं० जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे जवति। जे जयं-सरो तहप्पगाराइं आप्पमाणणि वा० जाव गिहाणि वा उ-वागच्छन्ति, इतरा इतरेहिं पाहुमेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवन्ति, अयमाउसो अप्पसावज्जा किरिया वि जवति। एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा जिक्खुणी वा सामगियं।

इहेत्यादि सुगमम्; नवरं अलरशब्दोऽभाववाचीति। एत-स्य त्रिकोः सामर्थ्यं संपूर्णं भिक्खुजाव इति। " कालाह-
१५४

कृतुवद्याणा अभिक्रान्ता चेव अप्पभिक्रान्ता य वज्जा य मदावज्जा सावज्जमहप्पकिरिया य " एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नव-भिरन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः। आसु च अभिक्रान्ताऽप्यक्रिये योग्ये, शेषास्त्वयोग्या इति। आचा० २ सु० २ अ० २ उ० ॥

वसतिपरिकर्मगदानक्षेपनादि-

से य णो सुद्धजे फासुए उंजे अहेसणिजे णो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुमेहिं तं द्वाअणओ द्वेवणओ, संधारदु-वारपिहुणाओ पिरुवातेसणाओ ॥

इदानीन्तरसूत्रे अप्यक्रिया शुद्धा वसतिरभिदिता, इहाप्यादि-सूत्रेण तद्विपरीतां दर्शयितुमाह-(से इत्यादि) अत्र च कदा-चित् कश्चित्साधुर्वसत्यन्वेषणार्थं भिक्षार्थं वा गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् केनचिच्छृङ्खलुनैवमभिधीयते। तद्यथा-'प्रचुराश्र-पानोऽयं ग्रामः, अतोऽत्र भवतो वसतिं प्रतिगृह्य स्थानं युक्तम्' इत्येवमभिहितः सन्नेवमाचक्षीत-न केवलं पिरुपातः प्रासुको दुर्धनस्तद्वासावपि यत्रासौ भुज्यते स च प्रासुक आधाकर्मादि-रहितः प्रतिश्रयो दुर्धनः। (उंजे सितं) छादनाद्युत्तरगुणदोषर-हितः। एतदेव दर्शयति-(अहेसणिज्ज सितं) यथाऽसौ मूलोत्तर-गुणदोषरहितत्वेनैवणीयो भवति, तथाभूतो दुर्धन इति।

ते चामी मूलोत्तरगुणाः-

" पट्टी वंसो दो धा-रणाउ चत्तारि मूत्रवेव्हीओ ।

मूलगुणेहिं विसुद्धा, एसा य अदागडा वसही ॥ १ ॥

वंसगकडणो कणए-गायणद्वेवणद्वारज्जी य ।

परिकम्मविप्पमुक्का, एसा मूलोत्तरगुणेषु ॥ २ ॥

दूमियधूमियवासिय-उज्जोविय वलि कडा अवत्ता य ।

सित्ता सम्मघा वि य, विसोहिकोमी गया वसही ॥ ३ ॥

अत्र च प्रायशः सर्वत्र संभावित्वादुत्तरगुणानाम्, तानेव दर्श-यति। न चासौ शुद्धो भवत्यमीभिः कर्मोपादानकर्मभिः। त-द्यथा-गदानतो दर्भादिना, क्षेपनतो गोमयादिना, संस्तारक-मपवर्तकमाश्रित्य, तथा द्वारमाश्रित्य बृहल्लघुत्वापादनतः, तथा द्वारस्थगनं कपाटमाश्रित्य, तथा पिएरुपातैश्चणामाश्रित्य। तथाहि-कस्मिंश्चित्प्रतिश्रये प्रतिवसतः साधून् शय्यातरपि-एकेनोपनिमन्त्रयेत्, तद्ग्रहे निषिद्धाचरणं, अग्रहे तत्प्रद्वेषादि सं-जवः। इत्यादिजिरुत्तरगुणैः कुरुः प्रतिश्रयो दुरापः। कुरु च प्रति-श्रये साधुना स्थानादि विधेयम्। यत उक्तम्-"मूलोत्तरगुणसुखं, धीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं। सेवेज्ज सव्वकाहं, विवज्जए हौति दांमाओ" ॥ १ ॥ मूलोत्तरगुणशुद्धावासावपि स्वाध्या-यादिभूमिसमन्वितो विविक्तो दुराप इति। आचा० २ सु० २ अ० ३ उ०।

अप्यकिलंत-अल्पकान्त-त्रि०। अल्पं स्तोत्रं क्लान्तं क्लमो येषां ते अल्पकान्ताः। अल्पवेदनेषु, ध० २ अधि०। 'खवणिज्जो मे कलामो अप्यकिलंताणं बहुसुभेणं दिवसे वइक्कन्तो'। आचा० ३ अ०।

अप्यकुक्कुड्य-अल्पकौकुच्य-त्रि०। ६ ब०। अल्पस्पन्दने, करादिनिरल्पमेव चलति, अल्पशब्दोऽज्ञाववाची, भल्पमसन्, 'कुक्कुयं' कौकुच्यं करचरणभ्रमणाय सन्नेष्टमकमस्येत्यल्पकौ-कुच्यः। हस्तपादशिरःप्रमुखशरीरावयवानधुन्वाने, " निसी-एज्ज अप्यकुक्कुप "। उक्त० १ उ० ॥

अप्यकोउद्दह-अल्पकौतुहल-त्रि०। ६ ब०। अल्पवशं-

नादिषु अविद्यमानकौतूहले, अल्पशब्दस्येहाविद्यमानार्थत्वात् ।
वृ० ३ उ० ।

अप्यक्रोह-अल्पक्रोध-पुं० । अविद्यमानकषायजेदे, नावाव-
मोदिकां प्रतिपञ्चे, औ० ।

अप्यक्खर-अन्पाक्खर-न० । अल्पाऽन्यक्राणि यस्मिन्स्तदल्पा-
क्खरम् । औ० । मितक्खरे, गुणवर्धन सूत्रे, यथा सामायायिकसूत्रम् ।
अप्रनुतात्तरे, विशेष० । औ० । अनु० । आ० म० । " अप्यक्खरं
महत्त्वं भणुमहत्त्वं सुविहियाणं " ओघ० ।

अप्यक्खरं महत्त्वं, महक्खरऽप्यऽप्य दोसु वि महत्त्वं ।

दोसु वि अप्यं च तहा, जणियं सत्यं चनुविपणं॥१३॥

अत्र च चतुर्भङ्गिका- [अप्यक्खरं ति] अल्पाऽन्यक्राणि यस्मिन् तद-
ल्पाक्खरं, स्तोकाक्खरमित्यर्थः । (महत्त्वं ति) महानर्थो यस्मिन् तत्
महार्थं, प्रतुतार्थमित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रं अल्पाक्खरं जवति महार्थं च,
प्रथमो जङ्गः । अथवाऽन्यत्किञ्चन भवति ? (महक्खरऽप्यऽप्यं)
महाक्खरं, प्रनुतात्तरं भवतीति हृदयम् । अल्पार्थं, स्वल्पार्थ-
मिति हृदयम्, द्वितीयो जङ्गः । अथवाऽन्यत्किञ्चन भवति ?
(दोसु वि महत्त्वं) द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः श्रुतत्वादक्षरार्थो-
न्त्यं परिगृह्यते । एतदुक्तं भवति-प्रनुतात्तरं प्रनुतार्थं च, तृती-
यो जङ्गः । तथाऽन्यत् किञ्चन जवति ? इत्याह- (दोसु वि अप्यं च
तहा) द्वयोरपि अल्पम्, अक्षरार्थयोः । एतदुक्तं जवति-अल्पाक्ख-
रमल्पार्थं चेति । तथेति-नेन आगमोक्तप्रकारेण, जणितमुक्तं,
शास्त्रं, चतुर्विकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः ।

अधुना चतुर्णामपि जङ्गिकानामुदाहरणदर्शनार्थमियं गाथा-
सामायारी ओहे, णायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य ।

लोड्य कथानादि अणु-कमा य पकरेति कारणा चउरो॥१४॥

ओघसामाचारी प्रथमजङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रनुता-
त्तरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयक्रमः । ज्ञाताध्ययनादिपष्टाङ्गे प्रथम-
श्रुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते । ततः प्रभूतात्तरत्वमल्पार्थं
चेति द्वितीयजङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणम् । चशब्दादन्यच्च
यदस्यां काटौ व्यवस्थितमादृष्टिवादश्च तृतीयजङ्गके उदाहरणम् ।
यतोऽसौ प्रभूतात्तरः प्रभूतार्थश्च, चशब्दात्तदेकदेशोऽपि । चतु-
र्भङ्गेदाहरणप्रतिपादनार्थमाह- (लोड्य कथानादि ति) लौकिकं
चतुर्भङ्गेदाहरणम्, किञ्चन ? , कथानादि । आदिशब्दाच्छिव-
भञ्जादिप्रहः । (अणुकम ति) अनुकमादिति । अनुक्रमेण परिपा-
त्येवं तृतीयार्थं पञ्चमी । कारकाणि कुर्वन्तीति कारकाण्युदाह-
णान्युच्यन्ते । चञ्चारीति । यथासंख्येनैवेति । ओघ० ।

अप्यग-आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, " जइ अप्यगं न साहयामि
नो कहं अन्नं विणिग्गतो नगराओ " । अव० ४ अ० । आचा० ।
सूत्र० । प्रश्न० ।

अप्यगाम-अप्रकाश-पुं० । अन्धकारे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यगुत्ता-देशी-कपिकच्छाम, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्यचित्तय-आत्मचिन्तक-पुं० । अभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुं
निश्चितं, व्य० १० उ० ।

अप्यउदम-अल्पचन्द्रमति-प्रि० । आत्मचन्द्रा अन्मायत्ता
मतिर्यस्य कार्येष्वसावात्मचन्द्रमतिः । स्वानिप्रायकार्यकारिणि,
" कस्स न ढोई घेसां, अणचनुवगतो निरुवगारी य । अप्यउद-
मइ तो, पडियतो गेनुकामो य " ॥ आ० म० प्र० विशेष० ।

अप्यज्ज- (पू)-आत्मज्ञ-त्रि० । आत्मानं जानातीति आत्मज्ञः ।

" हो प्रः " ८।२ । ८३ । इति सूत्रेण अस्य वा बुक् । याथार्थ्येना-
त्मतत्त्वज्ञातरि, प्रा० । अपरायत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अप्यज्जो-आत्मज्योतिष्-पुं० । आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमा-
त्मज्योतिः । ज्ञानात्मके पुरुषे, वेदे ह्ययं पुरुष आत्मज्योतिश्चेना-
भिधीयते ।

अत्यमिण् आइचे, चंदे संतासु अग्निवायासु ।

किं जोइरयं पुरिसो ? अप्यज्जो चि णिदिट्ठो ॥

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽसौ, शान्तायां
वाचि याज्ञवल्क्यः- " किं ज्योतिरेवायं पुरुषः ? आत्मज्योतिः सप्ता-
मिति होवाच " । ज्योतिरिति ज्ञानमाह, आदित्यास्तमयादौ ।
किं ज्योतिः ? इत्याह- अयं पुरुष इति, पुरुष आत्मैत्यर्थः । अयं च
कथंभूतः ? इत्याह- (अप्यज्जो चि) आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽय-
मात्मज्योतिः, ज्ञानात्मक इति हृदयम् । निर्दिष्टो वेदविद्भिः
कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म इत्यर्थः । विशेष० ॥

अप्यज्जो-देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्ग ॥

अप्यज्ज-अल्पज्ज-त्रि० । विगततथाविधविप्रकीर्णवचने,
स्था० ८ उ० । ज० । भावावमोदिकां प्रतिपञ्चे, रा० ।

अप्यकिंउदय-अप्रतिकाटक-त्रि० । न विद्यते प्रतिमल्लः कण्टको
यत्र तदप्रतिकण्टकम् । अप्रतिमल्ले, रा० ॥

अप्यनिवरिय-अप्रतिवृत्त-पुं० । प्रादोषिके काले, " अप्यडिघ-
रियं कावं घेत्तण य वेयण " प्रादोषिककालं यथा साधवः प्र-
तिजागरितं गृह्णन्ति । वृ० १ उ० ।

अप्यण-आत्मीय-त्रि० । अपज्जंशे, " शीघ्रादीनां बहिष्ठादयः " ८।
४।४२२ । इति सूत्रेण आत्मीयस्य 'अप्यण' इत्यादेशः । स्वकीये,
" फोरेति जेहि अरुउं अप्यणं " । प्रा० । स्वस्मिन्, उत्त० १ अ० ।
प्रश्न० । च० प्र० । शरीरे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

अप्यणउन्द-आत्मच्छन्द-त्रि० । स्वतन्त्रे, " बहिणुणं तं घरं क-
हि किं वणं उं जेत्थु कुं वुवं अप्यण-उन्दं " । प्रा० ।

अप्यणट्ट-आत्मार्य-त्रि० । अनेन मे जीविका भविष्यतीति ।
स्वार्थं, दर्श० ।

अप्यणय-आत्मीय-त्रि० । प्राकृते- " ईयस्यात्मना णयः " । ८ ।
२ । १५३ । इति सूत्रेण आत्मनः परस्य यस्य णय इत्यादेशः ।
स्वकीये, प्रा० ।

अप्यणाण-आत्मज्ञान-न० । ६ त० । वादादिध्यापारकावे
किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति नवेति आलोचनरूपे
प्रयोगमतिस्पन्देदे, उत्त० १५ अ० । आत्मपरिज्ञानमित्यप्यत्रा
ध० र० ।

अप्यणिज्ज-आत्मीय-त्रि० । स्वकीये, " अप्यणिज्जियाण महि-
लाए " । आ० म० द्वि० । नि० चू० । दशा० ।

अप्यणो-स्वयम्-अव्य० । स्वयमित्यव्ययार्थं, " स्वयमोऽर्थे अप्य-
णो न वा " । ८ । २ । २०६ । इति सूत्रेण स्वयामन्यस्यार्थे 'अ-
प्यणो' इत्यस्य वा प्रयोगः । " विसयं विअसंति अप्यणो कम-
लसरा " । पक्के-सयं चैव मुणसि करणिज्जं " । प्रा० । " अप्यणो

सेसयाइं ति " आत्मन आत्मीयानि । विपा० १ श्रु० २ अ० ।
अप्पतर-अल्पतर-त्रि० । अतिशयिते स्तोके, " अप्पतराए से
पावे कस्से कज्जइ " । भ० ८ श० ६ उ० । आचा० । सूत्र० ।
अप्पतरवन्ध-अल्पतरवन्ध-पुं० । अल्पत्वे कर्मणां बन्धे, यदा त्व-
ष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरवन्धको
भवति स एव प्रथमसमय एवाल्पतरवन्धः (कर्म०) ।
यदा तु प्रच्युताः प्रकृतीर्बन्धन् परिणामविशेषतः स्तोकां बहुमा-
रजते यथाऽष्टौ बन्धा सप्त बध्नातिः सप्त वा बन्धा पञ्च वा बन्धा
एकां, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः । तथा चाऽऽह-" एगाइकण-
विइओ " एकादिभिरैकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिरूपेण बन्धे चिती-
यप्रकारः, अल्पतर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।

अप्पतुमत्तुम-अल्पतुमत्तुम-त्रि० । विगतक्रोधमनोविकारविशेषे,
स्था० ८ ग० ।

अप्पत्त-अल्पत्त-न० । तुच्छत्वे, पं० व० ४ द्वा० ।

अप्पत्तिय-अप्रीतिक-न० । आप्तत्वात्तथारूपम् । अप्रेप्ति, भ० ७
श० १ उ० । ध० । आ० म० । दर्श० । अप्रीतिस्वभावे, भ० १३
श० १ उ० । मनसः पीडायाम्, आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।
क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अपकरणे, नि० चू० १ उ० ।
अप्पत्थाम-अल्पत्थामन्-त्रि० । अल्पसामर्थ्ये, सूत्र० १ श्रु० २
अ० ३ उ० ।

अप्पधण-अल्पधन-त्रि० । अल्पमूल्ये, " महाधणे अप्पधणे
व वत्थे, मुच्चिज्जती जा अविविच्चभावे " वृ० ३ उ० ।

अप्पपणसग-अल्पप्रदेशक-त्रि० । अल्पं स्ताकं प्रदेशाग्रं कर्म
द्विकपरिमाणं यस्य सः । स्तोकप्रदेशाग्रके कर्मणि, ज० १
श० १ उ० ।

अप्पपज्जवजाय-अल्पपर्यायजात-न० । अल्पे तुपादौ त्य-
जनीये, ध० ३ अधि० ।

अप्पपरणिगत्ति-आत्मपरनिवृत्ति-स्त्री० । आत्मनः परेषां च प-
रेच्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेच्यो निवृ-
त्तिः, कृतानां तद् दृष्ट्वाऽप्यन्ये आलोचनभिमुखा भवन्तीत्यन्येषा-
मपि दोषेच्यो निवर्तनमिति ॥ व्य० १ उ० ॥

अप्पपरिगह-अल्पपरिग्रह-पुं० । अल्पधनधान्यादिस्वीकारे, औ० ।
अप्पपरिच्चाय-अल्पपरित्याग-पुं० । स्वल्पतरुणपरिहारे,
पञ्चा० १८ विव० ।

अप्पपाण-अल्पप्राण-त्रि० । अल्पशब्दोऽभावाभिधायी तथे-
हापि, सूत्रत्वेन मत्वर्थीयत्वात् प्राणाः प्राणिनः, अल्पा अविद्य-
मानाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणम् । अवस्थितागन्तुकजी-
वविरहिते उपाश्रयादौ, उक्त० १ अ० । अल्पः प्राणः प्राणन-
क्रिया यस्मिन् । वण्णेजे, यस्योच्चारणे अल्पप्राणवायोर्व्यापारस्त-
स्मिन्, स च शिक्षायामुक्तः-"अयुग्मा वर्गयमगाः, वणश्चाल्पास-
वः स्मृताः " इति । तथा च वग्णेषु प्रथमतृतीयपञ्चमवर्णाः य-
मगा यवरलाश्च अल्पासवः । तादृशवर्णाच्चारणबाह्यप्रयत्ने,
बाह्यप्रयत्नस्तु एकादशधा-विचारः संवारः श्वासो नादो घोषो-
ऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।
अल्पः प्राणः प्राणहेतुकं बलमस्य । अल्पबले, त्रि० । वाच० ।

अप्पपाणासि (ण्)-अल्पपानाशिन-त्रि० । अल्पं पानमशि-

तुं शीघ्रमस्यासावलपानाशी । यत्किञ्चन पानपातरि, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० ।

अप्पपिक्कामि (ण्)-अल्पपिक्कामाशिन-त्रि० । अल्पं स्तोके
पिक्कमशितुं शीलमस्यासावलपिक्कामाशिनः । यत्किञ्चनाशिनः,
तथा च आगमः-"हे जन्तव ! आसीय, जन्तव तस्य वसुहोवश-
यनिहा । जेण व तेण व संतु-द्वी वीरमुणिओ सिते अप्पा " ॥१॥
सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अप्पपक्खि (ण्)-अल्पपक्खिन्-त्रि० । स्तोकाहारकारिणः,
उक्त० १५ अ० ।

अप्पभव-अल्पभव-पुं० । परितसांसारिकत्वे, प्रति० ।

अप्पजामि (ण्)-अल्पजापित्-त्रि० । कारणे पारमित्य-
क्तरि, दश० ८ अ० । " अप्पं भासेज्ज सुव्वण " । तथा सुवतः
साधुरल्पं परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा यिकथारहितो भवे-
दित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अप्पज्यूय-अल्पज्यूत-त्रि० । अल्पसत्त्वे, स्था० ४ ग० १ उ० ।

अप्पमइ-अल्पमति-त्रि० । अल्पबुद्धौ, क० प्र० ।

अप्पमहग्घाजरण-अल्पमहार्घाजरण-त्रि० । अल्पानि स्तोके
भारवन्ति महार्घाभरणानि बहुमूल्यवद्भूषणानि यस्यासौ तत्त-
था । अल्पभारवद्बहुमूल्यभूषणयुक्ते, " एहाए सुक्कपावेसाइं
अप्पमहग्घाजरणा साओ गिहाओ पमिक्खिमइ " उपा० १ अ० ।

अप्परय-अल्परत-त्रि० । अल्पमिति अविद्यमानं रतमिति क्री-
मितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतः । क्रीमाविरहिते ल-
वसतमादौ, उक्त० १ अ० । कणकूपरिगते कण्डूयनकल्परत-
हिते, दश० ९ अ० ४ उ० ।

अल्परजस्-त्रि० । रजोरहिते, उक्त० २ अ० । प्रतनुवध्यमानक-
र्मणि, " सिक्के वा इवइ सासए देवे वा अप्परए महिक्खि "
उक्त० १ अ० ।

अप्पलाहलद्धि-अल्पलानलब्धि-पुं० । अल्पा तुच्छा वस्त्रपा-
त्रादिलाने लब्धिर्यस्य सोऽल्पलानलब्धिः । क्लेशेन वस्त्रपात्राद्यु-
त्पादके, वृ० १ उ० ।

अप्पलीण-अप्रलीन-त्रि० । असंबद्धे तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्व-
स्थादिषु संश्लेषमकुर्वति, " अणुक्कस्से अप्पलीणे, मज्जेणे मुखि
जावण " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अप्पलीयमाण-अप्रलीयमान-त्रि० । कामेषु मातापित्रादिके
वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः । अनभिपक्ते, आचा०
१ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अप्पलेव-अल्पलेप-त्रि० । ६ ब० । अल्पशब्दोऽज्ञाववाचकः ।
पृथुकादौ निर्वेपे, आव० ४ अ० । वल्लभणकादौ नीरसे, ध०
३ अधि० ।

अप्पलेखा-अल्पलेपा-स्त्री० । निर्वेपं पृथुकादि गृह्यतश्चतुर्थ्या
पिण्डेषणायाम्, आव० ४ अ० । ध० । आचा० । पञ्चा० । सूत्र० ।
" जस्स दिज्जमाणदब्बस्स पिण्णावन्नरणगादिस्स द्वेवोण भव-
ति सा अप्पलेखा " नि० चू० १६ उ० । आ० चू० । अल्पलेपि-
काऽप्यत्र, स्था० ७ ग० । स्तोकोऽल्पः पश्चात्कर्मादिजनितः

कर्मबन्धो यस्यां साऽश्वलेपा । चतुर्थ्यां पितृपणायाम्, तथा चाऽऽधाराङ्गम्—“मस्मिन् बलु पमिगादियंसिं अप्पे पच्छाकम्मे अप्पपञ्चवजाए ” ध० ३ अधि० ।

अप्पवम—आत्मवशा—त्रि० । स्ववशे, ग० २ अधि० ।

अप्पवसा—आत्मवशा—स्त्री० । नार्याम, तस्या निरङ्कुशत्वेन स्व-
च्छन्दात्वात् । प्रा० को० ।

अप्पवाइ (ए)—आत्मवादिन्—पुं० । ‘पुरुष एवेदं सर्वमित्या-
दि’ प्रतिपञ्चे वादिनि, न० ।

अप्पवीय—अल्पवीज—त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शाल्या-
दीनि नीवारश्यामाकादीनां यस्मिंस्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योप-
लक्षणत्वात् एकेन्द्रियादिरहिते, उक्त० १ अ० । आचा० ।

अप्पवुडि—अल्पवृष्टि—स्त्री० । मासारे, प्रा० को० ।

अप्पवुट्टिकाय—अल्पवृष्टिकाय—पुं० । अल्पः स्तोकोऽविद्यमानो
वा, वर्षणं वृष्टिरधःपतनं वृष्टिप्रधानः कायो निकायोऽल्पवृष्टि-
कायः । वर्षणधर्मयुक्तं च उदकं वृष्टिः, तस्याः कायो राशिवृष्टि-
कायः । अल्पश्चासौ वृष्टिकायश्चाल्पवृष्टिकायः । स्तोके व्योमनि
पतदप्काय, स्था० ।

अल्पवृष्टेश्च त्रीणि कारस्यनि—

तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्टिकाए मिया । तं जहा—तेसिं च एं
देसंसि वा पएसंसि वा णो वद्वे उदगजोणिया जीवा य
पोगला य उदगत्ताए वकमंति विउकमंति चयंति उवव-
ज्जंति देवा नागा जक्खा एो सम्ममाराहिया भवंति ।
तत्थ समुट्ठियं उदगपोगलं परिणयं वासिउकामं अन्नं देसं
साहरंति, अन्नवदलगं च एं समुट्ठियं परिणयं वासिउ-
कामं वाउयाए विहणेइ । इच्चेणहिं तिहिं ठाणेहिं अप्पवु-
ट्टिकाए सिया ।

(तेसिं ति)मगधादौ, चशब्दोऽल्पवृष्टिकारणान्तरसमुच्चयार्थः ।
णमित्यत्रहारे । देशे जनपदे, प्रदेशे तस्यैव एकदेशरूपे, वाशब्दौ
विकल्परार्थौ । उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयः
त एवोदकयोनिका उदकजननस्वतावाः, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते,
व्यपक्रामन्ति, व्यवन्ते, एतदेव यथायोगं पर्यायत आचष्टे-व्यवन्ते,
उत्पद्यन्ते, तेनैवभावादित्येकम् । तथा देवा वैमानिका ज्योति-
ष्काः, नागा नागकुमाराः, जघनपशुपलक्षणमेतत् । यक्का भूता
इति व्यन्तरोपलक्षणम् । अथवा देवा इति सामान्यम् । नागादय-
स्तु विशेषम्, एतद्वदणं च प्राय एवमेवंविधे कर्मणि प्रवृत्तिरि-
ति ज्ञापनाय; विचित्रत्वाच्च सूत्रगतेरिति; नो सम्यगाराधिता
प्रवन्ति । अविनयकरणाज्जनपदैरिति गम्यते । ततश्च तत्र मग-
धादौ देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितमुत्पन्नम्-उदकप्रधानं पौ-
रुषं पुल्लसमूहो, मेघ इत्यर्थः । उदकपौल्लं तथा परिणतमुद-
कद्वयकावस्यां प्राप्तम् । अत एव विद्युदादिकारणात् वर्धितुकामं
सदन्यं देशं मगधादिकं, संहरन्ति नयन्तीति द्वितीयम् । अन्ना-
णि मेघास्तेबदेलकं दुर्दिनम्, अन्नशर्देलकम् । (वाउयाए स्ति)
वायुकायः प्रचण्डवातो विधुनाति विध्वंसयतीति तृतीयम् ।
“ इच्चे ” इत्यादि निगमनमिति । स्था० ३ गा० ३ उ० । अल्प-
शब्दस्या तावच्चनत्वाद अविद्यमानवशे, “अप्पया कयाइ पदमे

सरदकावसमयंसि अप्पवुट्टिकायांसि ” ज० १५ श० १ उ० ।
अप्पसंतचित्त—अप्रशान्तचित्त—त्रि० । उत्कटक्रोधादिदूषित-
जावे, पञ्चा० २ विव० ।

अप्पसंतमइ—अप्रशान्तमति—त्रि० । अपरिणतशिष्ये, “अप्र-
शान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोद्दीर्ण-
शमनीयमिव ज्वरे ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० १४ अ० ।

अप्पसक्खिय—आत्मसाक्षिक—न० । आत्मा स्वजीवः, स स्व-
संविप्रत्यक्षविरतिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाक्षि-
कम् । स्पष्टपृक्केऽनुष्ठाने, “साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्प-
सक्खियं ” पा० ।

अप्पसत्तचित्त—अल्पसत्तचित्त—त्रि० । आपत्स्ववैकृत्यकरम-
ध्ययसानकरं च सत्त्वमुक्तम् । ततश्चाल्पं तुच्छं सत्त्वं यत्र तद-
ल्पसत्त्वं, तच्चित्तं यस्य सोऽल्पसत्त्वाचित्तः । चेतसा विक्कलवे,
“ ए हि अप्पसत्तचित्तो धम्माहिगारी जओ होइ ” । पञ्चा०
२ विव० ।

अप्पसत्तम—आत्मसत्तम—त्रि० । आत्मना सत्तमः । सत्तानां पू-
रणः । आत्मा वा सत्तमो यस्यासावात्मसत्तमः । अयैः पम्भिः
सह विद्यमाने, “ महीणं अरइ अप्पसत्तमे मुंमे भविता ”
स्था० ७ टा० ।

अप्पसत्तिय—अल्पसात्त्विक—त्रि० । निःसारे, “सुसमत्था वऽस-
मत्था, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा । दांसंति सूरवादी, णारी-
वसगा ए ते सूर ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० ४ अ० १ उ० ।

अप्पसद—अल्पशब्द—पुं० । विगतराख्यां ध्वनौ, स्था० ८
गा० । रात्र्यादावसंयतजागरणभयात् । ज० २५ श० ७ उ० ।
अल्पकवदे, कलदकोधकार्ये, औ० ।

अप्पसरयक्ख—अल्पसरजस्क—न० । अल्पे तृणादौ, आचा० २
शु० १ अ० ५ उ० ।

अप्पसार—अल्पसार—न० । अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् ।
प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारे, ज्ञा० १ अ० । “अप्पसारं तुत्थं-
ति जीवा वंधणं ” आ० म० प्र० । “अप्पसारियं एवंच उवचर-
ति ” नि० चू० १ उ० ।

अप्पसावज्जकिरिया—अल्पसावद्यक्रिया—स्त्री० । शुद्धायां वसतौ,
आचा० २ शु० २ अ० २ उ० । (‘वसही’ शब्देऽस्याः सूत्रम्)

अप्पसुय—अल्पश्रुत—त्रि० । अनधीतागमे, द्वा० २६ द्वा० ।

अप्पसुह—अल्पमुख—त्रि० । ५ उ० । जोगसुखलवसम्पा-
दके, अविद्यमानसुखे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप्पहरिय—अल्पहरित—त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवासा-
दीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहिते, आचा० २ शु० ७ अ०
६ उ० ।

अप्पहिंसा—अल्पहिंसा—स्त्री० । अल्पशब्दोऽज्ञाववाची । अ-
ल्पानामेव प्राणिनां हिंसायाम्, व्य० १ उ० ॥

अप्पा—आत्मन्—पुं० । अतति सातव्येन गच्छति तौस्तान् ज्ञान-
दर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंज्ञा-
त् । आ० म० द्वि० । जीवे, उक्त० २० अ० । (आत्मसिद्धादिव-
कथ्यता ‘आता’ शब्दे द्वितीयजागे १६७ पृष्ठे दृष्ट्या)

अप्पाइय-अप्पायित-त्रि० । मनोहाहारैः स्वस्थाभूते, वृ० १ व० ।

अप्पाउअ-अल्पायुष्क-त्रि० । स्तोत्रजीविते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप्पाउअत्ता-अल्पायुष्कता-स्त्री० । अल्पमायुष्यस्यासावल्पायुष्कः, तद्भावस्तत्ता । अल्पायुष्कतायाम्, भ० ५ श० ६ व० । अल्पमायुर्जीवितं यद् तदल्पायुः, तद् भावस्तत्ता । जघन्यायुष्टे, स्था० ३ ठा० १ व० । (अल्पायुषः कारणं 'आठ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे वक्ष्यते)

अप्पाउरु-अप्रावृत-पुं० । प्रावरणवर्जके अभिप्रहविशेषप्राद्वके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अप्पाउरण-अप्रावरण-न० । प्रावरणनिषेधास्तद्विषयोऽभिप्रहोऽप्यप्रावरणम् । पञ्चा० ५ विव० । प्रावरणत्यागरूपेऽभिप्रहप्रत्याख्याननेदे, प्रव० ४ द्वा० । अत्र पञ्च आकाराः—“ अभिगहेसु अप्पाउरणं कौह पञ्चकखाइ, तस्स पंच (आगारा) अल्लत्थण्णाभोगे, सहसागारे, चोत्तपट्टागारे, महत्तरागारे सव्वसमाहिवत्तियागारे य ” ।

तथा च सूत्रम्—

अप्पाउरणं पक्खिज्जति अन्नत्थण्णाभोगेणं, सहसागारेणं, चोत्तपट्टागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरत्ति । आव० ६ अ० ।

चोत्तपट्टकादन्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोत्तपट्टके गृह्यमाणेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः । प्रव० ४ द्वा० ।

अप्पाण-आत्मन-पुं० । स्वस्मिन्, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । “ पुं-स्यन भाणो राजवच्च ” । ७ । ३ । ५६ । पुंस्त्रिंशे वर्तमानस्यान्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शने राजवत्कार्यं भवति । आणदेशे च “अतः सेसोः” (८ । ३ । २) इत्यादयः प्रवर्तन्ते । पक्षे तु राज्ञः “जस्-शम्-डसि-डसां णो” (८ । ३ । ५०) “टो णा” (८ । ३ । २४) “इणममामा” (८ । ३ । ५३) इति प्रवर्तन्ते । अप्पाणो । अप्पाणा । अप्पाणं । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहि । अप्पाणाओ । अप्पाणासुन्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पाणम्मि । अप्पाणेषु । अप्पाण-कअं । पक्षे राजवत् । अप्पा । अप्पो । हे अप्पा ! हे अप्प ! अप्पाणो चिद्वन्ति । अप्पाणो पच्छ । अप्पाणा । अप्पेहि । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पादि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पाणो धणं । अप्पाणं । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । (य आत्मानमादर्शादौ पश्यति इति 'अणायार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम्) स्वजावे, न० । स्था० २ ठा० २ व० ।

अप्पाणरक्खि (ण)-आत्मारक्षिन्-त्रि० । आत्मानं रक्षति पापेभ्यः कुगतगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्मारक्षी । आत्मनः पापेभ्यो निवारके, उत्त० ४ अ० ।

अप्पाधार-अल्पाधार-पुं० । अल्पस्य सूत्रस्य अर्थस्य वा आधारेऽल्पाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यविकले, व्य० १ व० ।

अप्पावहुय(ग)-अल्पवहुत्व-न० । अल्पं च स्तोत्रं बहु च प्रचूतमल्पवहु, तद्भावोऽल्पवहुत्वम् । दीर्घत्वासंयुक्तत्वे च प्राकृतत्वादिति । स्था० ४ ठा० २ उ० । गत्यादिरूपमार्गस्था-मादीनां परस्परस्तोत्रचूयस्त्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

(१) अल्पवहुत्वस्य चातुर्विध्यनिरूपणम् ।

(२) द्वारसंग्रहः ।

(३) पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहनयाऽल्पवहुत्वम् ।

(४) अन्यस्थानायायुषामल्पवहुत्वम् ।

(५) आहारद्वारे आहारकानाहारकजीवानामल्पवहुत्वम् ।

(६) सेन्द्रियाणां परस्परमल्पवहुत्वम् ।

(७) उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पवहुत्वम् ।

(८) उपयोगद्वारे साकारानाकारोपयुक्तानामल्पवहुत्वम् ।

(९) कपायद्वारे कौशिकपायादीनामल्पवहुत्वम् ।

(१०) कायिकद्वारे सकायिकानामल्पवहुत्वम् ।

(११) क्षेत्रद्वारे जीवाः कस्मिन् क्षेत्रे स्तोकाः कस्मिन् बहव इत्यादिनिरूपणम् ।

(१२) गतिद्वारे चतुःपञ्चाष्टगतिसमासेनाल्पवहुत्वम् ।

(१३) चरमद्वारे चरमाचरमाणामल्पवहुत्वम् ।

(१४) जीवद्वारे जीवपुद्गलादीनामल्पवहुत्वम् ।

(१५) ज्ञानद्वारे ज्ञानिप्रमुखाणामल्पवहुत्वम् ।

(१६) दर्शनद्वारे दर्शनिनामल्पवहुत्वम् ।

(१७) दिग्द्वारे दिगनुपातेन जीवानामल्पवहुत्वम् ।

(१८) परीतद्वारे परीतापरीतनोपरितानामल्पवहुत्वम् ।

(१९) पर्याप्तद्वारे पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पवहुत्वम् ।

(२०) पुद्गलद्वारम् ।

(२१) बन्धद्वारे आयुःकर्मबन्धकादीनामल्पवहुत्वम् ।

(२२) भवसिद्धिकद्वारम् ।

(२३) भाषकद्वारम् ।

(२४) महादण्डकद्वारम् ।

(२५) योगद्वारे चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य योगानामल्पवहुत्वम् ।

(२६) योनिद्वारम् ।

(२७) लेख्याद्वारे सलेख्यानामल्पवहुत्वम् ।

(२८) वेदद्वारम् ।

(२९) शरीरद्वारे आहारकादिशरीरिणामल्पवहुत्वम् ।

(१) तच्चतुर्विधम्—

चउव्विहे अप्पावहुए पसुत्ते । तं जहा-पगइ-अप्पावहुए,
त्रिइ-अणुभाव-पएस-अप्पावहुए ।

प्रकृतिविषयमल्पवहुत्वं यन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धक उपशान्तमोहादिरेकविधबन्धकः, उपशमकादिसूक्ष्मसंपरायः परबन्धकः, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकः, ततोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमल्पवहुत्वं यथा—“ सव्वत्थोवा संजयस्स जहन्नओ त्रिइवंधो पग्गिदियवायरपज्जल-गस्स जहन्नओ त्रिइवंधो असंखिज्जगुणो ” इत्यादि । अनुप्राण प्रत्यल्पवहुत्वं यथा—“ सव्वत्थोवाइ अणंतगुणवुद्धिछाणाणि असंखिज्जगुणवुद्धिछाणाणि, असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणवुद्धिछाणाणि असंखिज्जगुणाइ जाव अणंतभागवुद्धिछाणाणि असंखिज्जगुणाणि ” । प्रवेशाल्पवहुत्वं यथा-भट्टविहबन्धकस्स

य आउयभागो धोवो नामगोयासं तुल्लो विसेसाहिओ नाण-
हंसखावरणतगयाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहि-
ओ वेणणिज्जस्स विसेसाहिओ ति । स्थानं ४ गण २ उ० ।

(२) तत्र द्वारसंमहगाथाव्यम्—

दिग्निगडंडियकाए, जोए वेए कसायत्तेमाओ ।

सम्मत्तणाणंदंण-मंजमउवओगआहारे ॥ १ ॥

भासगपरिचपज्ज-त्तिसुहुममणो जवऽत्थि मे चरिमे ।

जीवए खेत्तं बंधे, पुग्गन्न-महदंडए चेव ॥ २ ॥

प्रथमं दिग्द्वारम् १, तदनन्तरं गतिद्वारम् २, तत इन्द्रियद्वारम् ३, ततः कायद्वारम् ४, ततो योगद्वारम् ५, तदनन्तरं वेदद्वारम् ६, ततः कषायद्वारम् ७, ततो वेद्याद्वारम् ८, ततः सम्यक्त्वद्वारम् ९, तदनन्तरं ज्ञानद्वारम् १०, ततो दर्शनद्वारम् ११, ततः संयमद्वारम् १२, तत उपयोगद्वारम् १३, तत आहारद्वारम् १४, ततो ज्ञानकद्वारम् १५, ततः (परिचि इति) परीताः प्रत्येकशरीरिणः युक्तपात्रिकाश्च तद्द्वारम् १६, तदनन्तरं पर्याप्तिद्वारम् १७, ततः सूक्ष्मद्वारम् १८, तदनन्तरं संज्ञिद्वारम् १९, ततो (भव-
त्ति) भवसिद्धिद्वारम् २०, ततोऽस्तीति-अस्तिकायद्वारम् २१, ततश्चरमद्वारम् २२, तदनन्तरं जीवद्वारम् २३, ततः क्षेत्रद्वारम् २४, ततो बन्धद्वारम् २५, ततः पुद्गलद्वारम् २६, ततो महाद्वारम् २७, इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतिद्वाराणि । प्रज्ञा ३ पद ।

(तत्र गायोपन्यस्तक्रममनाद्व्याकरानुकमतो द्वाराणि निरूप-
यिष्यन्ते, तथा मध्येऽन्यतः किञ्चिद् संगृहीतं प्रक्षिप्य प्ररू-
पयिष्यतेऽल्पबहुत्वम्) (अनुज्ञागवन्धस्थानानामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे द्रष्टव्यम्)

(३) [अवगाहना] पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहन-
याऽल्पबहुत्वम्—

एणमि णं जेते ! पुढवीकाइयाणं आऊ-तेऊ-वाऊ-
वणस्स-काइयाणं सुहुमाणं वादराणं पज्जत्तगाणं अप-
ज्जत्तगाणं जहमुक्कोमिया ओगाहणा कयरे कयरेहिंतो
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमणिगो-
यस्स अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा १ । सुहुमवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा अ-
संखेज्जगुणा २ । सुहुमतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओ-
गाहणा असंखेज्जगुणा ३ । सुहुमआऊ० अपज्जत्तगस्स जह-
प्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४ । सुहुमपुढवी० अपज्ज-
त्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ५ । वादरवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा असंखे-
ज्जगुणा ६ । वादरतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा
असंखेज्जगुणा ७ । वादरआऊ० अपज्जत्तगस्स जहप्पिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ८ । वादरपुढवी० अपज्जत्तगस्स
जहप्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ९ । पत्तेयसरीरवा-
दरवणस्स-ऊकाइयस्स वादरग्नोयस्स, एणमि णं अपज्ज-

त्तगाणं जहप्पिया ओगाहणा ओगाह वि तुल्ला असंखेज्ज-
गुणा १० । ११ । सुहुमनिओयस्स पज्जत्तगस्स जहप्पिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा १२ । तस्म चेव अपज्जत्तगस्स
उक्कोमिया ओगाहणा विसेसाहिया १३ । तस्म चेव पज्जत्तग-
स्स उक्कोमिया ओगाहणा विसेसाहिया १४ । सुहुमवाऊकाइ-
यस्स पज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा १५ ।
तस्म चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोमिया विसेसाहिया १६ । तस्म
चेव पज्जत्तगस्स उक्कोमिया ओगाहणा विसेसाहिया १७ ।
एवं सुहुमतेऊकाइयस्स वि १८ । १९ । २० । एवं सुहुम-
आऊकाइयस्स वि २१ । २२ । २३ । एवं सुहुमपुढविका-
इयस्स वि । २४ । २५ । २६ । एवं वादरवाऊकाइयस्स
वि २७ । २८ । २९ । एवं वादरतेऊकाइयस्स वि ३० ।
३१ । ३२ । एवं वादरआऊकाइयस्स वि ३३ । ३४ । ३५ ।
एवं वादरपुढविकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । सव्वेसिं
तिविहेणं गमेणं भाणियव्वं वादरग्नोयस्स जहप्पिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३९ । तस्म चेव अपज्जत्तगस्स
उक्कोमिया ओगाहणा विसेसाहिया ४० । तस्म चेव प-
ज्जत्तगस्स उक्कोमिया ओगाहणा विसेसाहिया ४१ ।
पत्तेयसरीरवादरवणस्स-ऊकाइयस्स जहप्पिया ओगाहणा
असंखेज्जगुणा ४२ । तस्म चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोमिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४३ । तस्म चेव पज्जत्तगस्स
उक्कोमिया असंखेज्जगुणा ४४ ।

इह किल पृथिव्यसेजोवायुनिगोदाः ५ प्रत्येकं सूक्ष्मवादर-
भेदाः । एवमेते दश; एकादश च प्रत्येकं वनस्पतिः । एते च प्रत्येकं
पर्याप्तकापर्याप्तक्रमदाः २२ । तेऽपि जघन्याः कृष्टावगाहनाः, इत्येवं
चतुश्चत्वारिंशत् जीवनेदेषु स्तोकादिपद्व्यासेनावगाहना व्या-
ख्येया । स्थापना चैवम्—पृथ्वीकायस्याऽधः सूक्ष्मवादरपदे,
तयोरधः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामधः प्रत्येकं जघन्याः
कृष्टा चावगाहनेति । एवमपकायादयोऽपि स्थाप्याः । प्रत्येकवन-
स्पतेश्चाधः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयम्, तयोरधः प्रत्येकं जघन्याः
कृष्टा चावगाहनेति । इह च पृथिव्यादीनामङ्गुलासंख्येयजा-
गमात्रावगाहनत्वेऽप्यसंख्येयनेदत्वादङ्गुलासंख्येयभागस्येतरे-
तरापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं न विरुध्यते, प्रत्येकशरीरवनस्पती-
नां चोत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं समधिकमेव गन्तव्येति । ज०
१६ श० ३ उ० ।

(अस्तिकायद्वारे धर्मास्तिकायादीनां स्वार्थतयाऽल्पबहु-
त्वम् 'अधिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५१४ पृष्ठे समुक्तम्)
(आत्मनामल्पबहुत्वम् 'आता' शब्दे द्वितीयजागे १७० पृष्ठे
वक्ष्यते)

(४) [आयुः] द्रव्यस्थानायायुयामल्पबहुत्वम्—

एणमि णं जेते ! द्वाद्वाणाउयस्स खेत्तद्वाणाउयस्स ओ-

(नैरयिकायायुषामल्पबहुत्वम्—“ आरु ” शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (जातिनामनिधत्तायुरादीनां जेदाः ' आउबंध ' शब्दे द्वितीयभागे ३१ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(५) [आहारद्वारम्] आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम्—
एएसि एं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणहारगाणं
य कयरे कयरेहितां अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अणहारगा आहारगा अमेवज्जगुणा ।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, विग्रहगत्यापन्नादीनामेवाना-
हारकत्वात् । उक्तं च—“ विग्रहगत्यापन्ना, केवलिणो समुह-
या अजोगो यो सिद्धा य अणहारगा, सेसा आहारगा जीवा ” ॥१॥
तेज्य आहारका असङ्ख्यगुणाः । ननु वनस्पतिकायिकानां
सिद्ध्योऽप्यनन्तत्वात् तेषां चाहारकतयाऽपि लज्यमानत्वात्
कथमनन्तगुणा न भवन्ति ? । तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् ।
इह सूक्ष्मनिर्गोदाः सर्वसङ्ख्ययाऽप्यसङ्ख्ययाः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्त-
समयराशितुल्याः सूक्ष्मनिर्गोदाः सर्वकालविग्रहं वर्त्तमाना
लज्यन्ते । ततोऽनाहारका अप्यतिबहुवः सकलजीवराश्यसं-
ख्येयभागतुल्या इति । तेज्य आहारका असङ्ख्यगुणाः, ते च
नान्तगुणाः । गतमाहारद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।
(इन्द्रियाणामवगाहनयाऽल्पबहुत्वम्, तेषां कर्कशादिगुणाश्च ' ई-
दिय' शब्दे द्वितीयभागे ४५४ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(६) [इन्द्रियद्वारम्] सेन्द्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वम्—

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं
तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणेंदिआणं य कयरे
कयरेहितां अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया
वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया वि-
सेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसाहिया,
अणेंदिया अणंतगुणा, एगिंदिया अणं० । सइंदिया वि० ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः संख्येयाः, दशयोजनकोटाकोटिप्र-
माणविष्कम्भसूचीप्रतिप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगता-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः,
विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् ।
तेज्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्र-
भूततरसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि द्वीन्द्रिया
विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनको-
टाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि त्रीन्द्रिया अनन्तगुणाः, सिद्धानाम-
नन्तत्वात् । तेज्योऽपि एकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिका-
यिकानां सिद्ध्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेज्योऽपि सेन्द्रिया वि-
शेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तद्वैद्यमुक्तमेक-
मौष्टिकानामल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । अर्थतत्त्वैर्यम्—
“ पण १ चउ २ नि ३ दुय ४ अण्दिद्य ५, एगिंदिय ६ सइं-
दिया कमा हुंति । थोवा १ निप्रि य अदिया ४, दोऽणंतगुणा ६
विसेसाहिया ” ॥ १ ॥ म० २५ श० ३ उ० । जी० ।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं तेइं-
दियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अपज्जत्तगाणं कयरे कयरे-
हितां अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया अपज्जत्तगा, चउरिंदिया

अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसे-
साहिया, वेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया
अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्ताः एकस्मिन्प्रतरे यावन्त्य-
हुलासंख्येयभागमात्राणि खरुक्कानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् ।
तभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताहुलासंख्ये-
यभागखरुक्कप्रमाणत्वात् । तेज्यस्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषा-
धिकाः, प्रभूततरप्रतराहुलासंख्येयभागखरुक्कमानत्वात् । ते-
भ्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततमाहुला-
संख्येयजागखरुक्कप्रमाणत्वात् । तेज्य एकेन्द्रिया अपर्याप्ता
अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्ततया सदा
प्राप्यमाणत्वात् । तेज्योऽपि सेन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः,
द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्व-
म् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वम् ।

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं ते-
इंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं कयरे
कयरेहितां अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया
वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्तगा चउरिंदिया पंचिं-
दिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसे-
साहिया, वेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया
पज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाश्चतुरिन्द्रियाः पर्याप्ताः, यतोऽल्पायुषश्चतुरिन्द्रियाः,
ततः प्रभूतकालमवस्थानाभावात् । पृच्छासमये स्तोका अपि
प्रतरे यावन्त्यहुलसंख्येयभागमात्राणि खरुक्कानि तावत्प्रमाणा
वेदितव्याः । तेभ्यः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताहुल-
संख्येयजागखरुक्कमानत्वात् । तेज्योऽपि द्वीन्द्रियाः पर्याप्ता वि-
शेषाधिकाः, प्रभूततरप्रतराहुलसंख्येयजागखरुक्कमानत्वात् । ते-
ज्योऽपि त्रीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, स्वभावत एव तेषां
प्रभूततमप्रतराहुलसंख्येयजागखरुक्कप्रमाणत्वात् । तेज्य एके-
न्द्रियाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्याप्ताना-
मनन्तत्वात् । तेज्यः सेन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया-
दीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । गतं तृतीयमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येषामेव सेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तगतान्यल्पबहुत्वा-
न्याह—

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं क-
यरे कयरेहितां अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहि-
या वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सइंदिया अपज्जत्ता प-
ज्जत्तगा सइंदिया संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! एगिं-
दियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं कयरे कयरेहितां अप्पा वा ४
? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया पज्जत्तगा एगिंदिया
अपज्जत्ता असं० । एएसि एं भंते ! वेइंदियाणं पज्जत्ता-
पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहितां अप्पा वा ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा वेइंदिया पज्जत्ता वेइंदिया अपज्जत्ता असं-

खेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता-
णं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थो-
वा तेइंदिया पज्जत्तगा, तेइंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्ज-
गुणा । एएसि एं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
चउरिंदिया पज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा अमं-
खेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्ज-
त्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा पंचिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया अपज्जत्तगा
असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्याप्ताः, इह सेन्द्रिया एव बहव-
स्तत्रापि सूत्रमाः, तेषां सर्वद्वोकापन्नत्वात् । सूत्रमाश्चापर्याप्ताः
सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्याप्ताः स-
र्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्याप्ताः
सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तो-
का द्वैन्द्रियाः पर्याप्ताः, यावन्ति प्रतरेऽहुलस्य असंख्येयभाग-
मात्राणि खरूकानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेज्योऽपर्याप्ता
असंख्येयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासंख्येयभागखरूडमात्रत्वात् ।
एवं त्रिचतुरिन्द्रियाल्पत्वान्यपि वक्तव्यानि । गतं पडल्पबहु-
त्वात्मकं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतेषां सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्प-
बहुत्वमाह—

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं
तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया,
वेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसे-
साहिया, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिं-
दिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया अपज्जत्तगा
विसेसाहिआ, वेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिं-
दिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसे-
साहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सइंदिया पज्ज-
त्तगा विसेसाहिया, सइंदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयतृतीयाल्पबहुत्वभावनानुसारिणा स्वयं ज्ञा-
यनीयम्, तत्त्वतो भावितत्वात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३२५ ।
जी० । प्र० । (इन्द्रियोपयोगाद्धाविषयमल्पबहुत्वम्—'इंदियव-
चओगच्छा' शब्दे द्वितीयभागे ५६८ पृष्ठे प्ररूपयिष्यते)

(७) [उद्धर्तनाऽपवर्तनयोरल्पबहुत्वम्] सम्प्रति द्वयोरपि

उद्धर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वं सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

थोवं पएसगुणहाणि अंतरे दुमु जहन्ननिक्खेवो ।

कमसो अणोतगुणिओ, दुमु वि अइत्थावणा तुद्धा ॥ २२२ ॥

वायाएणऽणुभाग-कंडगमकाववगणाऊणं ।

उकिट्ठो निक्खेवो, ससंतबंधो य सविसेसो । २२३ ॥

एकस्यां दिशि स्थितौ यानि स्पर्शकानि तानि क्रमशः स्था-
प्यन्ते । तद्यथा-सर्वजघन्यं रसरस्पर्शकमादौ, ततो विशेषाधि-
करसं द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयम् । एवं तावत्स-
र्वोत्कृष्टरसमन्ते । तत्राऽऽदिस्पर्शकादारभ्यास्तत्रास्तरस्पर्शकानि
प्रदेशापेक्षया विशेषादीनानि, अन्तिमस्पर्शकादारभ्य पुनरधोऽधः
क्रमेण प्रदेशापेक्षया विशेषाधिकानि, तेषां मध्ये एकस्मिन् द्विगु-
णवृद्धन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा गन्तुं स्पर्शकं याति तत् सर्वस्तो-
कम् । अथवा स्नेहप्रत्ययस्य स्पर्शकस्य अनुभागद्विगुणवृद्धन्तरे,
द्विगुणहान्यन्तरे वा यदनुज्ञागपटवं तत्सर्वस्तोकान्येव प्राप्यन्ते ।
अन्तिमस्थितिषु प्रभूतानि, इति स्पर्शकसंख्यापेक्षया द्वयोरपि नि-
क्षेपस्तुल्यः । एवमतिस्थापनायामुत्कृष्टनिक्षेपेऽपि च भावनीयम् ।
क्रमश इति च सकलगाथाऽपेक्षया योजनीयम् । ततो द्वयोरप्यति-
स्थापना व्याघातवाह्या अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या ।
ततो "वाघापणेत्यादि" व्याघातेन यद् उत्कृष्टं अनुभागकण्डकमे-
कया वर्गणया एकसमयमात्रस्थितिगतस्पर्शकसंहतिरूपया ऊ-
नम्, एषा उत्कृष्टानुभागकण्डकस्य याऽतिस्थापना, सा अनन्तगुणा ।
तत उद्धर्तनापवर्तनयोरुत्कृष्टे निक्षेपे विशेषाधिकः, स्वस्थाने तु
परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो स्ति) पूर्वबद्धोत्कृ-
ष्टस्थितिकर्मानुज्ञागेन सह उत्कृष्टस्थित्यनुभागबन्धो विशेषा-
धिकः । क० प्र० ॥

(८) [उपयोगद्वारम्] साकाराऽनाकारो—

पयुक्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं जंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणारागोव-
उत्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थो-
वा जीवा अणारागोवउत्ता सागारोवउत्ता मंखिज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोगः कालः सर्वस्तोकाः, साकारोपयोगकालस्तु
सङ्ख्येयगुणः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्व-
स्तोकाः, पृच्छासमये तेषां स्तोकाणामेवावाप्यमानत्वात् ।
तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः सङ्ख्येयगुणाः, साकारोपयोगका-
लस्य दीर्घतया तेषां पृच्छासमये बहुतां प्राप्यमाणत्वात् । गतमु-
पयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । प० । सं० । क० प्र० ।
(कति सञ्चितानां कति असञ्चितानामवक्तव्यकसञ्चितानां पद-
कसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानां, कर्मप्रदेशाग्राणा-
मल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे प्रदेशव्यावसरे वक्ष्यते)

(ए) [कषायद्वारम्] कोधकषायादीनामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं जंते ! जीवाणं सकमाईणं कोहकसाईणं
माणकमाईणं मायाकसाईणं दोजकसाईणं अकमाईणं
य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसे-
साहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, दोजकसाई विसेसाहि-
या, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अकषायिणः, सिद्धानां कतिपयानां च मनुष्याणाम-
कषायत्वात् । तेभ्यो मानकषायिणो मानकषायपरिणामवतोऽनन्त
गुणाः, पदस्वपि जीवनिकायेषु मानकषायपरिणामस्याऽवाप्यमान-
त्वात् । तेभ्यः कोधकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्यो मायाकषायि-
णो विशेषाधिकाः, तेज्योऽपि लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, मा-

नकरायपरिणामकालापेक्षया क्रोधादिकषायपरिणामकालस्य यथोत्तरं विशेषाधिकतया क्रोधादिकषायारणामपि यथोत्तरं विशेषाधिक्यभावात् । लोभकषायिदयः सामान्यतः सकषायिणो विशेषाधिकाः, मानादिकषायारणामपि तत्र प्रक्षेपात् । सकषायिण इत्यत्रैवं व्युत्पत्तिः-कषायशब्देन कषायोदयः परिगृह्यते, तथा च लोके व्यवहारः-सकषायोऽयं, कषायोदयवानित्यर्थः । सह कषायेन कषायोदयेन वर्तन्ते सकषायोदयाः विपाकावस्थां प्राप्ताः स्वादयमुपदर्शयन्तः कषायकर्मपरिमाणवन्तस्तेषु सत्सु जीवस्यावश्यं कषायोदयसंभवात् । सकषाया विद्यन्ते येषां ते सकषायिणः, कषायोदयसहिता इति तात्पर्यार्थः । गतं कषायहारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । सकषायिणामकषायिणां चाल्पबहुत्वचिन्तायां, सर्वस्तोका अकषायिणः, सकषायिणोऽनन्तगुणाः । जी० ८ प्रति० । (कामभोगविययमल्पबहुत्वं 'कामभोग' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) [कायद्वारम्] सकायिकानामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं जंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं अकाइयाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया, आउकाइया विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणंतगुणा, वणस्सइकाइया अणंतगुणा, सकाइया विसेसाहिया वा ॥

सर्वस्तोकात्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव प्रसकायिकत्वात्; तेषां च शेषकायापेक्षया अत्यल्पत्वात् । तेज्यस्तेजस्कषायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेज्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयद्रोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्योऽकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयद्रोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्योऽकायिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तद्रोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेज्यः सकायिका विशेषाधिकाः, पृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । शक्तमौलिकानामल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । अर्थतथैवम्—“तस-तेउ-पुढवि-जल-वा, उकाय-अकाय वणस्सइसकाया ८ । थोवा १ । संखगुणाहिय २, तिज्जिउ ५ दोऽणंतगुणा ७ अहिय” इति । ज० २५ श० ३ उ० १० सं० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं य अपज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया अपज्जत्तगा, तेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्ज-

त्तगा अणंतगुणा । सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद । (टीका चास्य सुगमाऽतो न प्रतन्यते)

साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं य पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तेउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्या-

सगतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! सकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सकाइया अपज्जत्तगा, सकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! पुढविकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइया अपज्जत्तगा, पुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! आउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा आउकाइया अपज्जत्तगा, आउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! तेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउकाइया अपज्जत्तगा, तेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! वाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वाउकाइया अपज्जत्तगा, वाउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! वणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अपज्जत्तगा, वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । प्रज्ञा० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तसगतमल्पबहुत्वं पञ्चममाह—

एएसि णं जंते ! सकाड्याणं पुढविकाड्याणं आउकाड्याणं तेउकाड्याणं वाउकाड्याणं वणस्सइकाड्याणं तसकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाड्या पज्जत्तगा, तसकाड्या अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, तेउकाड्या अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेउकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, पुढविकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, अप्पकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाड्या अपज्जत्तगा अणंतगुणा, वणस्सइकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, मकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाड्या विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकास्सकायिकाः पर्याप्तकाः, तेभ्यस्सकायिका एवाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणाः; द्विन्ध्यादीनामपर्याप्तानां पर्याप्तद्विन्धियादिभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः पृथिव्यम्बुवायवोऽपर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्कायिकाः पर्याप्तकाः संह्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तैः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । ततः पृथिव्यम्बुवायवः पर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः । ततो वनस्पतयोऽपर्याप्ता अनन्तगुणाः । पर्याप्ताः संह्येयगुणाः । तदेवं कायद्वारे सामान्येन पञ्चसूत्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यस्मिन्नेव द्वारे सूक्ष्मबादरादिभेदेन

पञ्चदश सूत्राण्याह—

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाड्याणं सुहुमआउकाड्याणं सुहुमतेउकाड्याणं सुहुमवाउकाड्याणं सुहुमवणस्सइकाड्याणं सुहुमणिओयाणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाड्या सुहुमपुढविकाड्या विसेसाहिया, सुहुमआउकाड्या विसेसाहिया, सुहुमवाउकाड्या विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा । सुहुमवणस्सइकाड्या अणंतगुणा, सुहुमा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासंह्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंह्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणाः । सूक्ष्मप्रहणं बादरव्यवच्छेदार्थम् । द्विविधा हि निगोदाः—सूक्ष्माः, बादराश्च । तत्र बादराः सूरणकन्दादिषु, सूक्ष्माः सर्वलोकापन्नाः, ते च प्रतिगोलकमसंह्येया इति सूक्ष्मवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां ज्ञात्वात् । तेभ्यः सामानिकाः सूक्ष्मजीवा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रकृपात् । गतमौघिकानामिदमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेवाऽपर्याप्तानामाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमवणस्सइकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाड्या अपज्जत्तगा, सुहुमपुढविकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाड्या अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् ।

सम्प्रत्येतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सुहुमपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाड्यापज्जत्तगाणं सुहुमआउकाड्यापज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाड्यापज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाड्यापज्जत्तगाणं, सुहुमवणस्सइकाड्यापज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाड्या पज्जत्तगा, सुहुमपुढविकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया । सुहुमआउकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाड्या पज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् । प्रश्ना० ३ पद ।

पृथिव्येतेजोवायुवनस्पतिद्विन्ध्यादीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां नयानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पावहुगं सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चरुंदिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसाहिया, तेउकाड्या असंखेज्जगुणा, पुढवि० आउ० वाउ० विसेसाहिया, वणस्सइकाड्या अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणविष्कम्भसूत्रीप्रमितराश्यसंख्येयजागवत्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्विन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्युकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-

त्वात् । तेज्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रजृततमासंख्येय-
लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यो वनस्पतिकायिका अनन्त-
गुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । जी० ६ प्रति० ।

सम्प्रति एतेषामेवानिन्द्रियसहितानां दशानामल्पबहुत्वमाह-
एषमि णं भंते ! पुढविकाइयाणं अउकाइयाणं तेउ०,
वाउ०, वणप्फति०, वेडंदिद्याणं तेडंदिद्याणं चउरिंदियाणं पंचि-
दिद्याणं अणिंदियाणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० जाव
विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेदिद्या, चउरिंदिया
विसेसाहिया, तेडंदिद्या विसेसाहिया, वेडंदिद्या वि०, तेउकाइ-
या असंखेज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, अउकाइया वि०,
वाउकाइया वि०, अणिंदिया अणंतगुणा, वणप्फतिकाइया
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, त्रीन्दि-
या विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेजस्कायिका
असंख्येयगुणाः, पृथ्वीकायिकाः विशेषाधिकाः, अप्कायिका
विशेषाधिकाः, वायुकायिका विशेषाधिकाः, अनिन्द्रिया अन-
न्तगुणाः, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः । जी० १० प्रति० ।

अधुनाऽमीयामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्याप्तगता—

न्यल्लबहुत्वान्याह—

एषमि णं जंते ! सुहुमाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्ज-
त्तगा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषमि णं भंते !
सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया
अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इह बादरेषु पर्याप्तित्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकपर्या-
प्तनिध्या असंख्येयानामपर्याप्तानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक्
प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे—“ पज्जत्तगानिस्माए अपज्जत्तगा
वक्कंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्ज ” इति । सूक्ष्मेषु
पुनर्नायं क्रमः । पर्याप्ताऽपरापर्याप्तापेक्षया चिरकायावस्थायिन
इति । सदैव ते बहवो लभ्यन्ते । तत उक्तम्—सर्वस्तोकाः सूक्ष्मा
अपर्याप्ताः, तेज्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, एवं पृ-
थिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येकं भावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पब-
हुत्वम् ।

इदानीं सर्वेषां समुद्धानां पर्याप्तापर्याप्तगतं पञ्चममल्पबहु-
त्वमाह—

एषमि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सु-
हुमआउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा
संखेज्जगुणा । एषमि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्ता-
पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमतेउकाइया प-
ज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषमि णं जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं

पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवा-
उकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषमि णं जंते !
सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहु-
मवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तगा संखेज्जगुणा । एषमि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं
पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा सुहुमनि-
गोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषमि णं भंते ! सुहुमाणं
सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं
सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं
य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढ-
विकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अ-
पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसे-
साहिया, सुहुमतेउकाइया पज्ज० संखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-
काइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा
विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुम-
निगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्त-
गा संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा,
सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया
पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मास्तेजस्कायिका अपर्याप्ताः, कारणं प्रागेवो-
क्तम् । तेज्यः सूक्ष्माः पृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ।
तेज्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेज्यः सूक्ष्मवा-
युकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । अत्रापि कारणं प्रागेवोक्तम् ।
तेज्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । अपर्याप्ते-
भ्यो हि पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । इत्यनन्तरं भावितम् । तत्र
सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता उक्ताः । इतरे च सू-
क्ष्मपर्याप्ताः पृथिवीकायिकाद्यो विशेषाधिकाः विशेषाधिकत्वं च
मनागधिकत्वम्, न द्विगुणत्वं न त्रिगुणत्वं वा । ततः सूक्ष्मते-
जस्कायिकेत्योऽपर्याप्तेज्यः पर्याप्ताः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः संख्येय-
गुणाः सन्तः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्तेज्योऽपि असंख्येयगुणा
भवन्ति । तेज्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ।
तेज्यः सूक्ष्माप्कायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेज्योऽपि सू-
क्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेज्यः सूक्ष्मनिगोदा
अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राचुर्यात् । तेज्यः सूक्ष्मनि-
गोदाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघ-
तः संख्येयगुणत्वात् । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्या-
प्ता अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां तेषां भावात् । तेज्यः
सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तकाः विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवी-
कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायि-

काः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । सूक्ष्मेषु हि अपर्याप्तैः पर्याप्त-
काः संख्येयगुणाः । यथापान्तरात्रे विशेषाधिकृत्यं तद्व्यपमिति
न संख्येयगुणत्वव्याघातः । तेज्यः सूक्ष्मपर्याप्तका विशेषाधि-
काः, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रकृपात् । तेभ्यः
सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रकृपात् ॥ १५ ॥
तद्व्यमुक्तानि सूक्ष्माधिनानि पञ्चसूत्राणि ।

सम्प्रति बादराश्रितानि पञ्चोक्तक्रमेणानिधित्सुराह—

एएसि एं भंते ! बादरगाणं बादरपुढविकाइयाणं बाद-
रआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयाणं
बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोय-
मा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असंखे-
ज्जगुणा, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा,
बादरनिगोदा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया असंखे-
ज्जगुणा, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवाउका-
इया असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा,
बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरवसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरव-
सत्वात्, तेषां च शेषकायेज्योऽल्पत्वात् । तेज्यो बादरतेज-
स्कायिका असंखेयगुणाः, असंख्येलोकाकाशप्रदेश-
प्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि प्रत्येकशरीरवादरवनस्पतिकायिका
असंखेयगुणाः, स्थानस्यासंख्येयगुणत्वात् । बादरतेजस्का-
यिका हि मनुष्येक्षेत्र एव भवन्ति । तथा चोक्तं द्वितीयस्था-
नाख्ये पदे—“कहि एं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं
ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणं अंतो मणुस्सखित्ते भट्ठाइ-
ज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाएणं पन्नरसकम्मभूमिसु वाघाएणं
पंचसु महाविदेहेसु एत्थ एं वायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं
ठाणा पन्नत्ता, तत्थेव वायरतेउकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठा-
णा पन्नत्ता” इति । बादरवनस्पतिकायिकेषु त्रिधापि षोकेषु
भवनादिषु । तथा चोक्तं तस्मिन्नेव द्वितीये स्थानाख्ये पदे—“कहि
एं भंते ! वायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? ।
गोयमा ! सट्ठाणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिवलपसु
अहोलोप पायावेसु भयणसु भवणपत्थमेसु उच्छ्रवोप कप्पेसु
विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणापत्थमेसु तिरियलोप अग-
मेसु तलापसु नदीसु दहेसु वापीसु पुक्खरिणीसु दीदियासु
गुज्जालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु विलपं-
तियासु उज्जरेसु निज्जरेसु चिह्वरेसु पत्थवेसु विपिन्नेसु दीवे-
सु समुद्देसु सव्वेसु चैव जलसपसु जलट्टाणसु, एत्थ एं वायर-
वणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता” । तथा—“जत्थेव
वायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव वायरवण-
स्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता” इति । ततः
क्लेशस्यासंख्येयगुणत्वादुपपद्यन्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसंख्ये-
यगुणाः प्रत्येकशरीरवादरवनस्पतिकायिकाः । तेज्यो बादरनि-
गोदा असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलेषु
सर्वत्रापि च जायन्ते । पनकशैवाद्यादयो हि जले अवश्यं
भाविनः, ते च बादरानन्तकायिका इति । तेभ्योऽपि बादरपृथि-

वीकायिका असंख्येयगुणाः, अष्टसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभ-
वनपर्वतादिषु भावात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा बादरपृथिकायिकाः,
समुद्रेषु जलप्राभूत्यात् । तेज्यो बादरवायुकायिका असंख्येय-
गुणाः, सुपरि सर्वत्र वायुसंजवात् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायि-
का अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमन्तानां जायन्तां भावात् ।
तेज्यः सामान्यतो बादरा जीवा विशेषाधिकाः, बादरवसका-
यिकादीनामपि तत्र प्रकृपात् । गतमेकमैधिकाणां बादरा-
णामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—

एएसि एं भंते ! बादरा पज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया
अपज्जत्तगाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरते-
उकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तगाणं
बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइ-
काइया अपज्जत्तगाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तगाणं बादर-
तसकाइया अपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा
बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
बादरतसकाइया अपज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा
असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया अपज्ज-
त्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखे-
ज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा,
बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउ-
काइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया
अपज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥
सर्वस्तोका बादरवसकायिका अपर्याप्तकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्तै-
व । तेज्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असं-
ख्येलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । इत्येवं प्रागुक्तक्रमेणैव दमव्य-
वृत्तं भावनीयम् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं भंते ! बादरपज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया
पज्जत्तगाणं बादरआउकाइया पज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया
पज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तगाणं बादरवणस्सइ-
काइया पज्जत्तगाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तगाणं बादरनिगोदपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया पज्ज-
त्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया
पज्जत्तगा, बादरतसकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा,
पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा,
बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया
पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा
असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगु-
णा बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अनन्तगुणा, बा-
दरपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ ३ ॥

सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलिकासमयव-
गंस्य कतिपयसमयान्यनैरावलिकासमयैर्गुणितस्य यावान्
समयराशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वं तेषाम् । उक्तं च—“आवलिव-
गो य कुणा-वलिप गुणित्रो ह्वायरा तेऊ ” इति ॥ तेभ्यो
बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहु-
लासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । ते-
भ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्ये-
यगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि ता-
वत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । उक्तं च—“पत्तेयपञ्जवणका-इया उपयरं
इरंति वोगस्स । अंगुलअसंखभागे-ण भाइयमिति ” । तेभ्यो
बादरनिगोदाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्माव-
गाहनत्वात्, जलाशयेषु च सर्वत्र ज्ञावात् । तेभ्यो बादरपृ-
थिवीकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतसंख्येयप्र-
तराहुलासंख्येयभागखण्डरूपमानत्वात् । तेभ्योऽपि बादराष्का-
यिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततरसंख्येयप्रतराहु-
लासंख्येयभागखण्डरूपसंख्येयत्वात् । तेभ्यो बादरवायुकायिकाः
पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्र-
तेरुपु संख्याततमजागवर्त्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्र-
माणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता
अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमन्तानां जीवानां भावात् ।
तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेज-
स्कायिकानामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । गतं तृतीयमल्प-
बहुत्वम् ॥ ३ ॥

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तानां चतुर्थमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! बादराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कय-
रेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा बादरा पज्जत्तगा, बादरा अप्पज्जत्तगा असं-
खेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्ता-
पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा, बादरपुढविकाइया अ-
प्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! बादरआउकाइ-
याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पज्जत्तगा, बादर-
आउकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते !
बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतेउकाइया
अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! बादरवाउका-
इयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पज्जत्तगा, बादर-
वाउकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते !
बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया
पज्जत्तगा, बादरवणस्सइकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
एएसि एं जंते ! पत्तेयमरीरवादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्ता-

पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा पत्तेयमरीरवादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा, पत्तेयमरी-
रवादरवणस्सइकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि
एं भंते ! बादरनिगोदाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पज्जत्तगा
बादरनिगोदा अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते !
बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया
पज्जत्तगा, बादरतसकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥ ४ ॥

इह बादरैकैकपर्याप्तनिश्रया असंख्येया बादरा अपर्याप्ता
उत्पद्यन्ते । “पज्जत्तगनिस्साए अप्पज्जत्तगा वक्कमंति जत्थ
एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा” इति वचनात् । ततः सर्वत्र प-
र्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणा वक्कव्याः । त्रसकायिकसूत्रं
प्रागुक्तयुक्त्या ज्ञावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥ ४ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानां पञ्चममल्प-
बहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउ-
काइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवण-
स्सइकाइयाणं पत्तेयमरीरवादरवणस्सइकाइयाणं बादरनि-
गोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतसकाइया
पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरतसकाइया अप्पज्ज-
त्तगा असंखिज्जगुणा, बादरपत्तेयवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखे-
ज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा,
बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउका-
इया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरतेउकाइया अप्प-
ज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयमरीरवादरवणस्सइका-
इया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अप्पज्जत्ता
असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्ज-
गुणा, बादरआउकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा,
बादरवाउकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । बादर-
वणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरा पज्जत्तगा
विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अप्पज्जत्तगा असं-
खेज्जगुणा, बादरा अप्पज्जत्तगा विसेसाहिया, बादरा
विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः । तेभ्यो बादरत्रस-
कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरत्रसकायिका
अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरप्रत्येकवनस्पतिका-
यिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ता
असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता

असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादराष्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। एतेषु पदेषु युक्तिः प्रागुक्ता अनुसरणीया ॥ तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यतो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयेषु प्रतरेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः, बादर-तेजस्कायिकाश्चापर्याप्ता असंख्येयलोककाशप्रदेशप्रमाणाः, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः। ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः, बादराष्कायिकाः, बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणा वक्तव्याः। यद्यपि चेत् प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्तथाऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वं न विरुध्यते। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां ज्ञावात्। तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रकृपात्। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा एकैकपर्याप्त-बादरवनस्पतिकायिकनिगोदनिध्याः, असंख्येयानामपर्याप्त-बादरवनस्पतिकायिकनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रकृपात्। तेभ्यः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिताः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रकृपात्। गतानि बादराश्रितान्यपि पञ्च सूत्राणि।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरसमुदायगतं पञ्चसूत्रीमन्त्रिधित्सुः प्रथमत आधिकं सूक्ष्मबादरसूत्रमाह-

एषसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुम-आउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया ?, बादरतेउकाइया असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा ३, बादरनिगोदा असंखेज्जगुणा ४, बादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा ५, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा ६, बादरवाउकाइया असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेउकाइया असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया ९, सुहुमआउकाइया विसेसाहिया १०, सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा १३, बादरा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा विसेसाहिया १६ ॥

(एषसि णं भंते ! इत्यादि) इह प्रथमं बादरगतमरूपबहुत्वं बादरसूत्रां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वद्भावनीयं यावद्बादरवायुकायिकपदम्। तदनन्तरं यत्सूक्ष्मगतमरूपबहुत्वम्। ततः सूक्ष्मपञ्चसूत्रां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, तावद्यावत्सूक्ष्मनिगोदचिन्ता।

तदनन्तरं बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो बादरा विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रकृपात्। तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रकृपात्। गतमेकमरूपबहुत्वम्। प्रज्ञा० ३ पद। जी०।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह-

एषसि णं जंते ! सुहुमअपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमआउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमतेउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरा अपज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तयाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा ?, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ३, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ४, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ५, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ६, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ९, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १०, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा १३, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १६।

सर्वस्तोका बादरप्रसकायिका अपर्याप्ताः। ततो बादरतेजस्कायिका बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराष्कायिकबादरवायुकायिका अपर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना बादरपञ्चसूत्रां यद् द्वितीयमपर्याप्तसूत्रं तद्वत्कर्तव्या। ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ताः, अतिप्रज्ञातसंख्येयलोककाशप्रदेशप्रमाणात्वात्। तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्माष्कायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र ज्ञावना सूक्ष्मपञ्चसूत्रां यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवा अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रति-

बादरैकैकनिगोदमन्तानां सञ्ज्ञावात् । तेभ्यः सामान्यतो बा-
दरा मपर्याप्तका विशेषाधिकाः, बादरप्रसकायिकापर्याप्तादी-
नामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता
असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तिभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्ता-
नामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माअपर्याप्ता वि-
शेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ।
गतं द्वितीयमव्यवहृत्यम् । प्रका० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमव्यवहृत्यमाह—

एषमि एं जंते ! सुहृमपञ्जत्तयाणं सुहृमपुढविकाइयपञ्ज-
त्तयाणं सुहृमआउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमतेउकाइयपञ्ज-
त्तयाणं सुहृमवाउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमवणस्सइकाइयप-
ञ्जत्तयाणं सुहृमनिगोदपञ्जत्तयाणं बादरपञ्जत्तयाणं बा-
दरपुढविकाइयपञ्जत्तयाणं बादरआउकाइयपञ्जत्तयाणं बा-
दरआउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरतेउकाइयपञ्जत्तयाणं बा-
दरवाउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं
पत्तेयमरीरवादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं बादरनिगोदप-
ञ्जत्तयाणं बादरतसकाइयपञ्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिंतो अ-
प्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तगा
बादरतसकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, पत्तेयसरीर-
वादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगो-
दा पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया
असं०, बादरआउकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, बाद-
रवाउकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहृमतेउकाइया
पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहृमपुढविकाइया पञ्जत्तगा वि-
सेसाहिया, सुहृमआउकाइया पञ्जत्तगा विसेसाहिया, सुहृ-
मवाउकाइया पञ्जत्तगा विसेसाहिया, सुहृमनिगोदा पञ्जत्त-
या असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया अणं-
तगुणा, बादरा पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहृमवणस्सइकाइया
पञ्जत्तगा असंखिज्जगुणा, सुहृमा पञ्जत्तया विसेसाहिया ।

(सुहृमपञ्जत्तयाणमित्यादि) । सर्वस्तेका बादरतेजस्का-
यिकाः पर्याप्ताः, तेभ्यो बादरप्रसकायिकाः, बादरप्रत्येकवन-
स्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः,
बादरायिकाः, बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्ये-
यगुणाः । अत्र ज्ञावना बादरपञ्चमूल्यां यत् तृतीयं पर्याप्तसूत्रं
तद्वक्तव्यम् । बादरपर्याप्तवायुकायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः
पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरवायुकायिका दि असंख्येयप्रतर-
प्रदेशराशिप्रमाणाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकास्तु पर्याप्ता असंख्ये-
यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततोऽसंख्येयगुणाः । ततः
सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्मायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः
पर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततः सूक्ष्मवायुकायि-
केभ्यः पर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, तेषा-
मतिप्रच्युततया प्रतिगोलकं भावात् । तेभ्यो बादरवनस्पतिका-
यिका जीवाः पर्याप्तका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदम-
न्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्तका वि-
शे-

षाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षे-
पात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः,
बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् ।
तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्का-
यिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं तृतीयमव्यवहृ-
त्वम् । प्रका० ३ पद । जी० ।

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मबादरगदीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां
पृथक् २ अव्यवहृत्यमाह—

एषमि एं जंते ! सुहृमाणं बादराणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा
बादरा पञ्जत्तगा, बादरा अपञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहृमा
अपञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहृमा पञ्जत्तगा संखेज्जगुणा ।
एषमि एं जंते ! सुहृमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइ-
याणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया, बादर-
पुढविकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहृमपुढविका-
इया अपञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहृमपुढविकाइया पञ्ज-
त्तगा संखेज्जगुणा । एषमि एं जंते ! सुहृमआउकाइया-
णं बादरआउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया
पञ्जत्तया बादरआउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा,
सुहृमआउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहृमआ-
उकाइया पञ्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषमि एं जंते !
सुहृमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा
बादरतेउकाइया पञ्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपञ्जत्तया
असंखेज्जगुणा । सुहृमतेउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्ज-
गुणा, सुहृमतेउकाइया पञ्जत्ता संखेज्जगुणा । एषमि एं
जंते ! सुहृमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं य पञ्ज-
त्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तया, बादर-
वाउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहृमवाउकाइया
अपञ्जत्तया असंखेज्ज०, सुहृमवाउकाइया पञ्जत्तया अ-
संखेज्जगुणा । एषमि एं जंते ! सुहृमवणस्सइकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्स-
इकाइया पञ्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तया अ-
संखिज्जगुणा, सुहृमवणस्सइकाइया अपञ्जत्तया असंखि-
ज्जगुणा, सुहृमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया संखिज्जगुणा ।
एषमि एं जंते ! सुहृमनिगोदाणं बादरनिगोदाणं य पञ्ज-
त्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा !
सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तया, बादरनिगोदा अप-

कज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा ॥

सर्वत्रेयं भावना-सर्वस्तोका बादराः पर्याप्ताः, परिमितकैवर्तित्वात् । तेज्यो बादरा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्याप्तनिश्चया असंख्येयानां बादरपर्याप्तानामुत्पादात् । तेज्यः सूहुमा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सर्वलोकोत्पत्तितया तेषां क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेज्यः सूहुमाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायितया तेषां सदैव संख्येयगुणतयाऽवाप्यमानत्वात् । गते चतुर्थमद्वयवृत्तम् ॥

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीकायिकादीनां च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां च समुदायेन पञ्चममद्वयवृत्तमाह-

एएसि णं जंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढाविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढाविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरिबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेइति अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया १, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा २, बादरतसकाइया अपपज्जत्तया असंखिज्जगुणा ३, पत्तेयसरिबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ५, वायरपुढाविकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ७, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ८, बादरवणस्सइकाइया अपपज्जत्तया असंखिज्जगुणा ९, पत्तेयसरिबादरवणस्सइकाइया अपपज्जत्तया असंखिज्जगुणा १०, बादरनिगोदा अपपज्जत्तया असंखे० ११, बादरपुढाविकाइया अपपज्जत्तया असंखे० १२, बादरआउकाइया अपपज्जत्तया असंखे० १३, बादरवाउकाइया अपपज्जत्तया असंखे० १४, सुहुमतेउकाइया अपपज्जत्तया असंखिज्जगुणा १५, सुहुमपुढाविकाइया अपपज्जत्तया विसेसाहिया १६, सुहुमआउकाइया अपपज्जत्तया विसेसाहिया १७, सुहुमवाउकाइया अपपज्जत्तया विसेसाहिया १८, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया १९, सुहुमनिगोदा अपपज्जत्तया असंखे० २०, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया असंखे० २१, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा २२, बादरा पज्जत्ता विसेसाहिया २३, बादरवणस्सइकाइया अपपज्जत्तया असंखिज्जगुणा २४, बादरा अपपज्जत्तया विसेसाहिया २५, बादरा विसेसाहिया २६, सुहुमवणस्सइकाइया अपपज्ज-

त्तया असंखि० ३०, सुहुमा अपपज्जत्तया विसेसाहिया ३१, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखे० ३२, सुहुमा पज्जत्तया विसेसाहिया ३३, सुहुमा विसेसाहिया ३४ ।

(एएसि णं जंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढाविकाइयाणमित्यादि) सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवल्लिकासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैरावल्लिकासमयैर्गुणिते यावात् समयराशिस्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेज्यो बादरतसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्न्यदुत्तासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् २ । तेज्यो बादरवणस्सकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्न्यदुत्तासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् ३ । ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक ४ बादरनिगोद ५ बादरपृथ्वीकायिक ६ बादराष्कायिक ७ बादरवायुकायिकाः ८ पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यप्येते प्रत्येकं प्रतरे यावन्न्यदुत्तासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तथाप्यदुत्तासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्यं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वमभिधीयमानं न विरुध्यते । एतेज्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयश्लोकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् १ । ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक १० बादरनिगोद ११ बादरपृथ्वीकायिक १२ बादराष्कायिक १३ बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः १४, ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः १५, ततः सूक्ष्मपृथ्वीकायिक १६ सूक्ष्माष्कायिक १७ सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः १८ । ततः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्यातगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामाघत एव संख्येयगुणत्वात् १९ । ततः सूक्ष्मपृथ्वीकायिक २० सूक्ष्माष्कायिक २१ सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः २२ । तेज्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राभृत्येन सर्वलोकेषु भावात् २३ । तेज्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामाघत एव सदा संख्येयगुणत्वात् । एते च बादरापर्याप्तेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यवसानाः पोरुशपदार्था यद्यप्यन्यत्रविशेषणासंख्येयश्लोकाशप्रदेशप्रमाणातया सङ्गीयते, तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्यमसंख्येयगुणत्वं विशेषाधिकत्वं संख्येयगुणत्वं प्रतिपाद्यमानं न विरोज्यमानम् २४ । तेज्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जलानां भावात् २५ । तेज्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेज्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबादरनिगोदनिश्चया असंख्येयानां बादरनिगोदापर्याप्तानामुत्पादात् २७ । तेज्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेज्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् २९ । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामप्यपर्याप्तानामप्यसंख्येयगुणत्वात् ३० । ततः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथ्वीकायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मवनस्पतिकायिकापर्याप्तेभ्यो हि सूक्ष्मवनस्पतिकायिकपर्याप्तासं-

संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वोघनोऽप्यासंख्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । ततः सूक्ष्मापरीक्षितोऽप्यसंख्येयगुणाः, विशेषाधिकत्वस्य संख्येयगुणत्वबाधनायोगात् ३२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ३३ । ततः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिता विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३४ । गतं सूक्ष्मबादरसमुदायगतं पञ्चममल्पबहुत्वं, तन्नतौ समर्थितानि पञ्चदशाऽपि सूत्राणि । इति गतं कायद्वारम् । प्रश्ना० ३ पद । मोसूक्ष्मनोबादरबादराणामल्पबहुत्वम् । जी० ३ प्रति० ।

(आरम्भिक्यादिक्रियाणामल्पबहुत्वं ' किरिया ' शब्दे वक्ष्यते)

(११) [क्षेत्रद्वारम्] कस्मिन्क्षेत्रे जीवाः स्तोकाः कस्मिन् वा बहवः ? इति चिन्तयन्ते-

खित्ताण्वाणं सवत्यांवा जीवा उहूलोयतिरियलोए
अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखि-
गुणा, तेनुके अमंखेज्जगुणा, उहूलोए अमंखेज्जगुणा,
अहोलोइ विसेसाहिया ।

क्षेत्रस्यानुपातोऽनुसारः क्षेत्रानुपातस्तेन, विचिन्त्यमाना जीवाः सर्वस्तोका उहूलोकान्तिर्यग्लोके, इह उहूलोकस्य यदधस्तन-
माकाशप्रदेशप्रतरं यच्च सर्वतिर्यग्भोक्तस्य सर्वोपरितनमाका-
शप्रदेशप्रतरमेव उर्ध्वलोकप्रतरः, तथा प्रवचने प्रसिद्धेः । इयमत्र भावना-इह सामस्येन चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकः । स च त्रिधा भिद्यते । तद्यथा-ऊर्ध्वलोकाः, तिर्यग्भोक्ताः, अधोलो-
काश्च । रुचकाश्चैतेषां विभागः । तथाहि-रुचकस्याधस्तादधयो-
जनशतानि, रुचकस्योपरिष्ठादधयोजनशतानि तिर्यग्लोकाः, ति-
र्यग्लोकस्याधस्तादधोलोकाः, उपरिष्ठादध्वलोकाः, देशोत्तमर-
ज्जुप्रमाण ऊर्ध्वलोकाः, समधिकसमरज्जुप्रमाणोऽधोलोकाः, मध्येऽ
ष्टादशयोजनशतोऽभ्यस्तिर्यग्भोक्ताः । तत्र रुचकसमानाद् भूतव-
भागाध्वयोजनशतानि गत्वा यज्ज्योतिश्चकस्योपरितनं तिर्यग्भो-
कसंबन्धि एकप्रादेशिकमाकाशप्रतरं तत्तिर्यग्भोक्तप्रतरम् । तस्य
चापरि यदेकप्रादेशिकमाकाशप्रतरं तदूर्ध्वलोक्तप्रतरम् । एते च
द्वे अपूर्ध्वलोक्तान्तिर्यग्भोक्ते इति व्यवहियन्ते । तथाऽनादिप्रवचन-
परिभाषाप्रसिद्धेः । तत्र वर्तमाना जीवाः सर्वस्तोकाः । कथम् ?
इति चेत् । उच्यते-इह ये ऊर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके तिर्यग्भोक्ता-
दूर्ध्वलोके समुत्पद्यमाना विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ये च तत्र-
स्था एव केचन तत्प्रतरद्वयाध्यासीनो वर्तन्ते ते किल विवक्षिते
प्रतरद्वये वर्तन्ते नान्ये; ये पुनरूर्ध्वलोकादधोलोके समुत्पद्यमा-
नास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति ते न गणयन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषय-
त्वात् । ततः स्तोका एवाधिकृतप्रतरद्वयवर्तिनो जीवाः । नन्वूर्ध्व-
लोकगतानामपि सर्वजीवानामसंख्येयभागोऽनवरतं छियमाणो-
ऽवाप्यते, ते च तिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना विवक्षितं प्रतरद्वयं
स्पृशन्तीति कथमधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः स्तोकाः ? । तदयु-
क्तम्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । तथाहि-यद्यपि नाम उर्ध्वलोक-
गतानां सर्वजीवलोकानामसंख्येयो भागोऽनवरतं छियमा-
णोऽवाप्यते तथापि न ते सर्व एव तिर्यग्भोके समुत्पद्यन्ते, प्रभू-
ततराणामधोलोके ऊर्ध्वलोके च समुत्पादात् । ततोऽधिकृतप्र-
तरद्वयवर्तिनः सर्वस्तोका एव । तेभ्योऽधोलोकात्तिर्यग्भोक्तं विशेष-
ाधिकाः । इह यदधोलोकास्योपरितनमेकप्रादेशिकमाकाशप्रदे-

शप्रतरं यच्च तिर्यग्लोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकमाकाश-
प्रदेशप्रतरमेतद्वयमप्याधोलोकात्तिर्यग्लोक इत्युच्यते, तथा
प्रवचनप्रसिद्धेः । तत्र ये विग्रहगत्या तत्रस्थतया वा वर्तन्ते ते-
विशेषाधिकाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह ये अधोलोकात्ति-
र्यग्भोक्ते तिर्यग्लोकादधोलोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना
अधिकृतं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति; ये च तत्रस्था एव केचन तत्-
प्रतरद्वयमध्यासीना वर्तन्ते ते विवक्षितप्रतरद्वयवर्तिनः, ये
पुनरधोलोकादूर्ध्वलोके समुत्पद्यमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ते
न परिगृह्यन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषयत्वात् । केवलमूर्ध्वलोकादधो-
लोको विशेषाधिकाः, इत्यधोलोकात्तिर्यग्लोके ईलिकागत्या स-
मुत्पद्यमाना ऊर्ध्वलोकापेक्षया विशेषाधिका अवाप्यन्ते; ततो वि-
शेषाधिकाः शान्त्यस्तिर्यग्भोक्तवर्तिनोऽसंख्येयगुणाः, उक्तकेश-
द्विकात्तिर्यग्लोके क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । शान्त्यस्तिर्यग्भोक्त-
लोकात्तिर्यग्लोके क्षेत्रस्यासंख्येयगुणाः, इह ये केवलं ऊर्ध्वलोके अधो-
लोके तिर्यग्भोक्ते वा वर्तन्ते, ये च विग्रहगत्या उर्ध्वलोकान्तिर्यग्-
भोक्तौ स्पृशन्ति ते न गणयन्ते, किन्तु ये विग्रहगत्यापश्चात्स्तीनपि
लोकान् स्पृशन्ति ते परिगृह्याः, सूत्रस्य विशेषविषयत्वात् । ते
च तिर्यग्लोकावर्तिनोऽसंख्येयगुणा एव । कथमिति चेत् ?
उच्यते-इह बहवः प्रतिसमयमूर्ध्वलोकं अधोलोकं च सूक्ष्म-
निगोदा उद्धर्तन्ते, ये तु तिर्यग्लोकावर्तिनः सूक्ष्मनिगोदा उद्ध-
र्तन्ते, तेऽर्थादधोलोके ऊर्ध्वलोके वा केचित्तास्मिन्नेव वा तिर्य-
ग्भोके समुत्पद्यन्ते, ततो न ते लोकत्रयसंस्पर्शिन इति नाधि-
कृतसूत्रविषयाः तत्रोर्ध्वलोकाधोलोकागतानां सूक्ष्मनिगोदाना-
मुद्धर्तमानानां मध्ये केचित्स्थस्थान एव ऊर्ध्वलोके अधोलोके
वा समुत्पद्यन्ते, केचित् तिर्यग्भोके, तेभ्योऽसंख्येयगुणा अधो-
लोकगता ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकगता अधोलोके समुत्पद्यन्ते । ते
च तथोत्पद्यमानास्तीनपि लोकान् स्पृशन्तीत्यसंख्येयगुणाः । कथं
पुनरनद्वयसीयते यदुत एवंप्रमाणा बहवो जीवाः सदा विग्र-
हगत्यापश्चात् लभ्यन्ते ? इति चेत्, उच्यते-युक्तिवशात् । तथा-
हि-प्रागुक्तमिदमेव सूत्रं पर्याप्तिद्वारे-“ सवत्यांवा जीवा नो
पज्जत्ता नो अपज्जत्ता, अपज्जत्ता अनेतगुणा, पज्जत्ता संखेज्ज-
गुणा ” इति । तत एवेन मापर्याप्ताः बहवा ये नैतेभ्यः पर्याप्ताः
संख्येयगुणा एव नासंख्येयगुणाः ; नाप्यनन्तगुणास्ते चापर्याप्ता
बहवोऽन्तरगतौ वर्तमाना लभ्यन्ते इति तेभ्य ऊर्ध्वलोके
ऊर्ध्वलोकावास्यता असंख्येयगुणाः, उपपातक्षेत्रस्यातिबहुत्वा-
त् । असंख्येयानां च जागानामुद्धर्तनायाश्च संज्ञयात् । तेभ्योऽ-
धोलोकेऽधोलोकावर्तिनो विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकादधो-
लोकक्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् । तदेवं सामान्यतो जीवानां
क्षेत्रानुपातनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं चतुर्गतिदण्डकमेण तदजिधित्सुः प्रथमतो
नैरयिकाणामाह-

खेत्ताण्वाणं सवत्यांवा नैरया तेनुके अहोलोगति-
रियलोगे असंखेज्ज०, अहोलोए असंखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण नैरयिकाभिस्यमानाः सर्वस्तोकाः
त्रैलोक्ये लोकत्रयसंस्पर्शिनः । कथं लोकत्रयसंस्पर्शिनो नैरयि-
काः ? कथं वा ते सर्वस्तोकाः ? इति चेत्, उच्यते-इह ये मेरु-
शिखरे अञ्जनदधिमुखपर्वतशिखरादिषु वा वापीषु वर्तमाना
मत्स्यादयो नारकेषूपित्सव ईलिकागत्या प्रदेशान् विक्रिपन्ति,
ते किल त्रैलोक्यमपि स्पृशन्ति, नारकव्यपदेशं च लज्जन्ते, त-

कृत्रानुपातेन मनुष्याश्चिन्त्यमानाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः
सर्वस्तोकाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकादधोऽधौकिकप्रामेषु समुत्पित्सयो
मारणान्तिकसमुद्घातेन सगवहता जवन्ति, ते केचित्समुद्घा-
तवशाद्बहिर्निर्गतेः स्वात्मप्रदेशैस्त्रानपि श्लोकान् स्पृशन्ति, येऽपि च
वैक्रियसमुद्घातमाहारकसमुद्घातं वा गताः तथैवाधप्रयत्नवि-
शेषाद्वर्तरमूर्द्धाऽधोविक्रिस्तात्मप्रदेशाः, ये च केवलसमुद्घातग-
तास्तेऽपि त्रीनपि श्लोकान् स्पृशन्ति । स्तोकाश्चेति सर्वस्तोकाः, ते-
ज्य ऊर्ध्वश्लोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वश्लोकतिर्यग्लोकसङ्के प्रतरद्वयसं-
स्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यत इह वैमानिकदेवाः शेषकायाश्च यथा-
संभवमूर्ध्वश्लोकातिर्यग्लोके मनुष्यत्वेन समुत्पद्यमाना यथो-
क्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनो भवन्ति । विद्याधराणामपि च मन्दरादि-
षु गमनं, तेषां च शुक्ररुधिरादिपुङ्गवे समूर्च्छिममनुष्याणां मु-
त्पाद इति, ते विद्याधरा रुधिरादिपुङ्गवसंमिश्रा अवगच्छन्ति ।
तथा समूर्च्छिममनुष्या अपि यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शवन्त उपजाय-
न्ते, ते चातिबृहद्व ह्यसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽधोऽधौकतिर्यग्लोके ब-
धोऽधौकतिर्यग्लोकसङ्के प्रतरद्वयसंख्येयगुणाः, यतोऽधोऽधौकिक-
प्रामेषु स्वभावत एव बहवो मनुष्याः, ततो ये तिर्यग्लोकात्मनुष्ये-
भ्यः शेषकायेभ्यो वाऽधोऽधौकिकप्रामेषु गर्भयुक्त्वान्तिकमनुष्य-
त्वेन समूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पित्सयो ये वाऽधोऽधौकाद-
धोऽधौकिकप्रामेषु शेषाद्वा मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वा ति-
र्यग्लोके गर्भयुक्त्वान्तिकमनुष्यत्वेन वा समूर्च्छिममनुष्यत्वेन
वा समुत्पत्तुकामास्ते यथोक्तं किल प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, बहुतरा-
श्च ते तथा स्वस्थानतोऽपि केचिदधोलौकिकप्रामेषु यथोक्तप्र-
तरद्वयसंस्पर्शिन इति प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य ऊर्ध्वलौक
संख्येयगुणाः, सौमनसादिषु क्रीडाथै चैत्यवन्दननिमित्तं वा
जज्ञन्तराणां विद्याधरसारणमुनीनां ज्ञावात् । तेषां च यथायोगं
रुधिरादिपुङ्गवयोगतः समूर्च्छिममनुष्यसंज्ञपाद । तेभ्योऽधो-
लोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन बहुत्वज्ञावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लो-
लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणस्यात्मस्थानत्वाच्च ।

पि मारणंति यस्मिन्प्राणं समोदणंति, समोदणित्ता तत्रो पञ्चा उववज्जइत्ति" स्वभावायुःप्रतिसंवेदनाच्च ते भवनवासिन एव लभ्यन्ते । ते इत्थंभूता उत्पत्तिदेशे विक्रिस्तात्मप्रदेशदण्मास्तथा ऊर्ध्वलोके गमनागमनतस्तत्प्रतरद्वयप्रत्यासन्नक्रीडास्थानञ्च यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ततः प्रागुक्तैर्ज्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया भवनपतित्वेनोत्पत्तुकामाः, ये च स्वस्थाने वैक्रियसमुद्घातेन मारणान्तिकप्रथमसमुद्घातेन वा तथाविधतत्त्वप्रयत्नविशेषेण समवहतास्ते त्रैलोक्यसंस्पर्शिन इति संख्येयगुणाः, परस्थानसमवहतैर्ज्यः स्वस्थानसमवहतानां संख्येयगुणत्वात् । तेज्योऽधोलोकेतिर्यग्ग्लोके अधोलोकेतिर्यग्ग्लोके संज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः, स्वस्थानप्रत्यासन्नतया तिर्यग्ग्लोके गमनागमनजावतः स्वस्थानस्थितक्रोधादिसमुद्घातगमनतश्च बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेज्यः तिर्यग्ग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, समवसरणादौ वन्दननिमित्तं द्वीपेषु च रमणीयेषु क्रीडानिमित्तमागमसम्भवादागतानां च चिरकालमप्यवस्थानात् । तेभ्योऽधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिनामधोलोकस्य स्वस्थानत्वात् । एवं भवनवासिदेवीगतमल्पबहुत्वं भावनीयम् ।

सम्प्रति व्यन्तरगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तद्भुके संखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा ।

केत्रानुपातेन ज्योतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके, केपाञ्चिदेव मन्दरे तीर्थकरजन्ममहोत्सवनिमित्तम्, अज्जनदधिमुखेष्वाहिकानिमित्तम्, अपरेषां केपाञ्चिद् मन्दरादिषु क्रीडानिमित्तं गमनसंभवात् । तेज्य ऊर्ध्वलोकेतिर्यग्ग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, तस्मिन् प्रतरद्वये केचित्स्वस्थाने स्थिता अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात् । अपरे वैक्रियसमुद्घातसमवहताः, अन्ये ऊर्ध्वलोके गमनागमनभावतस्ततोऽधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः पूर्वोक्तैर्ज्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः । ये हि ज्योतिष्कास्तथाविधतीव्रप्रयत्नवैक्रियसमुद्घातेन समवहतास्त्रैलोक्ये लोकां स्वप्रदेशैः स्पृशन्ति, ते स्वभावतोऽप्यतिबृह इति पूर्वोक्तैर्ज्यः संख्येयगुणाः । तेज्योऽधोलोकेतिर्यग्ग्लोके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तम्, अधोलोके क्रीडानिमित्तं गमनागमनभावतो बहवश्चाधोलोका ज्योतिष्केषु समुत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो घटन्ते पूर्वोक्तैर्ज्योऽसंख्येयगुणाः, तेज्यः संख्येयगुणाः, अधोलोके, बहूनामधोलोके क्रीडानिमित्तमधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिषु चिरकालमवस्थानात् । तेज्योऽसंख्येयगुणास्तिर्यग्ग्लोके, तिर्यग्ग्लोकस्य तेषां स्वस्थानत्वात् । एवं ज्योतिष्कदेवीसूत्रमपि भावनीयम् ।

सम्प्रति वैमानिकदेवविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा उद्धलोयतिरियलोए, तद्भुके संखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा, उद्धलोए असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा उद्धलोयतिरियलोए, तद्भुके संखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा, उद्धलोए असंखेज्जगुणा ॥

केत्रानुपातेन केत्रानुसारेण चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकेतिर्यग्ग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये अधोलोके तिर्यग्ग्लोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिके रूप्यद्यन्ते, ये च तिर्यग्ग्लोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विवर्त्तितप्रतरद्वयाध्यासिनः क्रीडास्थानं संश्रिताः, ये च तिर्यग्ग्लोके स्थिता एव वैक्रियसमुद्घातमारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषादूर्ध्वमात्मप्रदेशदण्मं निस्सृजन्ति, ते विवर्त्तितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ते चाटप इति सर्वस्तोकाः । तेभ्यस्त्रैलोक्ये संख्येयगुणाः । कथमिति चेद् ? उच्यते—इह येऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तमधोलोके वा क्रीडानिमित्तं गताः सन्तो वैक्रियसमुद्घातं मारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषाद् दूरतरमूर्ध्वविक्षिप्तात्मप्रदेशदण्माः, ये च वैमानिकभवादीद्विकागत्या च्यवमाना अधोलौकिकग्रामेषु समुत्पद्यन्ते, ते किल त्रानपि लोकान् स्पृशन्ति । बहवश्च पूर्वोक्तैर्ज्य इति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि अधोलौकेतिर्यग्ग्लोके प्रतरद्वयसंज्ञे संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादौ गमनागमनभावतो विवर्त्तितप्रतरद्वयाध्यासिनः समवसरणादौ वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेज्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु बहूनां समवसरणादाववस्थानाभावात् । तेभ्यस्तिर्यग्ग्लोके संख्येयगुणाः, बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहूनामवस्थानाभावात् । तेज्य ऊर्ध्वलोकेऽसंख्येयगुणाः, ऊर्ध्वलोकस्य स्वस्थानत्वात्, तत्र च सदैव बहुरभावात् । एवं वैमानिकदेवीविषयसूत्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिदिया जीवा उद्धलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तद्भुके असंखेज्जगुणा, उद्धलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिदिया जीवा अपज्जत्तगा उद्धलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तद्भुके असंखेज्जगुणा, उद्धलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिदिया जीवा पज्जत्तगा उद्धलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तद्भुके असंखेज्जगुणा, उद्धलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

केत्रानुपातेन चिन्त्यमाना एकेन्द्रिया जीवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये तत्र-
स्था एव केत्रनये चोर्ध्वलोकातिर्यग्लोके,तिर्यग्लोकाद्वा ऊर्ध्व-
लोके समुत्पत्तयः कृतमारणान्तिकसमुद्घातास्ते किल विव-
क्षितप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, स्वल्पाश्च ते इति सर्वस्तोकाः तेभ्योऽ-
धोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकाः, यतो ये अधोलोकातिर्यग्लो-
के, तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना विव-
क्षितप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, तत्रस्थाश्च ऊर्ध्वलोकाच्चाधोलोका
विशेषाधिकाः, ततो बहवोऽधोलोकातिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना
अवाप्यन्ते, इति विशेषाधिकाः । तेज्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगु-
णाः, उक्तप्रतरद्विकेत्रातिर्यग्लोककेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् ।
तेभ्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकादधोलोके अ-
धोलोकाद्वा ऊर्ध्वलोके समुत्पद्यन्ते । तेषां च मध्ये बहवो मार-
णान्तिकसमुद्घातवशाद्विक्रिमात्मप्रदेशदण्डास्तीनपि लोकान्
स्पृशन्ति, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः । तेज्य ऊर्ध्वलोके असंख्ये-
यगुणाः, उपपातकेत्रस्याऽतिबहुत्वात् । तेज्योऽधोलोके विशे-
षाधिकाः, ऊर्ध्वलोककेत्रादधोलोककेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् ।
एवमपर्याप्तविषयं पर्याप्तविषयं च सूत्रं जावयितव्यम् ।

अधुना द्विन्द्रियादिविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया उद्धलोए, उद्धलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असं०, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया अपज्ज-
त्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, तेलुके
असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए संखे०, तिरियलोए संखे० । खेत्ताणुवाएणं
सव्वत्थोवा वेइंदिया पज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया उद्धलोए,
उद्धलोयतिरियलोए असं०, तेलुके असंखेज्जगुणा, अधोलोए
संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्व-
त्थोवा तेइंदिया अपज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया पज्जत्तया
उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए
संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं
सव्वत्थोवा चउरिंदिया जीवा उद्धलोए, उद्धलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा,
तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउ-
रिंदिया जीवा अपज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलो-

ए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउरिंदिया
जीवा पज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्ज-
गुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असं-
खेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखे० ।

केत्रानुपातेन केत्रानुसारेण चिन्त्यमाना द्विन्द्रियाः सर्वस्तो-
काः ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकस्यैकदेशे तेषां संभवात् । तेभ्य ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात्
तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद् वा ऊर्ध्वलोके द्विन्द्रियत्वेन समुत्पत्तुका-
मास्तदायुरनुभवन्त ईलिकागत्या समुत्पद्यन्ते । ये च द्विन्द्रिया
एव तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा तिर्यग्लोके द्विन्द्रियत्वे-
नान्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घा-
ता अत एव द्विन्द्रियायुःप्रतिस्वेदयमानाः समुद्घातवशाच्च
दूरतरविक्रिसिजात्मप्रदेशदण्डाः, ये च प्रतरद्वयाऽध्यासित-
केत्रसमासीनास्ते यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शिनो बहवश्चेति पूर्वोक्ते-
ज्योऽसंख्येयगुणाः । तेज्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, यतो द्विन्द्रि-
याणां प्राचुर्येणोत्पत्तिस्थानान्यधोलोके तस्माच्चाऽतिप्रभूतानि
तिर्यग्लोके, तत्र ये द्विन्द्रिया अधोलोकादूर्ध्वलोके द्विन्द्रियत्वेनान्य-
न्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घाताः
समुद्घातवशाच्चात्पत्तिदेशं यावद्विक्रिमात्मप्रदेशदण्डास्ते द्वि-
न्द्रियायुःप्रतिस्वेदयमानाः, ये चोर्ध्वलोकादधोलोके द्विन्द्रि-
याः शेषकाया यावद् द्विन्द्रियत्वेन समुत्पद्यमाना द्विन्द्रियायुरनु-
भवन्ति, त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः ते च पूर्वोक्तेज्योऽसंख्येयगुणाः, ते-
ज्योऽधोलोकतिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः । यतो ये द्विन्द्रिया अ-
धोलोकात्तिर्यग्लोके ये च द्विन्द्रियास्तिर्यग्लोकादधोलोके द्वि-
न्द्रियत्वेन शेषकायत्वेनोत्पत्तयः कृतप्रथममारणान्तिकसमु-
द्घाता द्विन्द्रियायुरनुभवन्तः समुद्घातवशेनोत्पत्तिदेशं याव-
द्विक्रिमात्मप्रदेशदण्डास्ते यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । प्रभूता-
श्चेति पूर्वोक्तेज्योऽसंख्येयगुणास्तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः,
तत्रोत्पत्तिस्थानानामतिप्रचुराणां जायात् । तेभ्योऽपि तिर्यग्लो-
के संख्येयगुणाः, अतिप्रचुरतराणां योनिस्थानानां तत्र भावात् ।
यथेदमौघिकं द्विन्द्रियसूत्रं तथा पर्याप्तापर्याप्तद्विन्द्रियसूत्रौघि-
कत्रिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तौघिकचतुरिन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तसूत्रा-
णि भावनीयानि ।

साम्प्रतमौघिकपञ्चेन्द्रियविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचेइंदिया तेलुके, उद्धलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा,
उद्धलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचेइंदिया अपज्ज-
त्तया तेलुके, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए संखेज्जगुणा, उद्धलोए संखेज्जगुणा, अहो-
लोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा ॥

केत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः सर्वस्तोकाः त्रैलोक्ये
त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, यतो येऽधोलोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा-
ऽधोलोके शेषकायाः पञ्चेन्द्रियायुरनुभवन्त ईलिकागत्या समु-

पद्यन्ते ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वलोकादधोलोके अधोलोका-
दूर्ध्वलोके शेषकायत्वेन पञ्चेन्द्रियत्वेन चोन्मिषस्वः कृतमा-
णास्तिकपमुद्घाताः समुद्धानवशाच्चात्पत्तिर्दश यावद् विक्रि-
मात्मप्रदेशदण्डाः पञ्चेन्द्रियायुरद्याप्यनुभवान्त, ते त्रैलो-
क्यसंस्पर्शिनः, ते चालं इति सर्वस्तोकाः । तेज्य ऊर्ध्वलोक-
तिर्यग्भोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, प्रभूततराणामुपपातेन
समुद्घातेन वा यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शसंभवात् । तेभ्योऽधो-
लोकतिर्यग्भोके संख्येयगुणाः, अनिप्रतूनतराणामुपपातसमुद्-
घाताज्यामधोलोकतिर्यग्लोकसङ्गप्रतरद्वयसंस्पर्शसंभवात् । ते-
ज्य ऊर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् ।
तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवेज्यः संख्येयगुणानां
नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, सं-
मूर्च्छिमज्जन्नचरस्वचरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां सम्मूर्च्छिमम-
नुष्याणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियापर्याप्तसूत्रमपि भाव-
नीयम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसूत्रमिदम्-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पांचिंदिया पज्जत्ता उरुद्धोए,
उरुद्धोयतिरियदोए असं०, तेजुके असं०, अहोद्धोयतिरि-
यलोए संखेज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए असं-
खेज्जगुणा ।

क्वेत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोकाः
ऊर्ध्वलोके, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र जायात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोक-
तिर्यग्भोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, विवाकितप्रतरद्वयप्रत्या-
सन्नज्योतिष्काणां तदध्यासितक्वेत्राश्रितव्यन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया-
णां वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्कविद्याधरचारणमुनितिर्यक्पञ्चेन्द्रि-
याणामूर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च गमनागमने कुर्वतामधिकृतप्रतर-
द्वयस्पर्शात् । तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः असंख्येयगुणाः ।
कथमिति चेत् ? यत्र ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका
विद्याधरा वा अधोलोकाः कृतवैक्रियसमुद्घातास्तथाविधप्र-
यत्नविशेषादूर्ध्वलोकप्रदेशविक्रिमात्मप्रदेशदण्डास्ते त्रीनपि
लोकान् स्पृशन्तीति संख्येयगुणाः । तेज्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्र-
तरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, बहवो हि व्यन्तराः स्वस्थानप्रत्यासन्न-
तया भवनपतयस्तिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोके वा व्यन्तरज्योतिष्कवै-
मानिका देवा अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादावधोलोके
कांडादिनिमित्तं च गमनागमनकरणतः, तथा समुद्रेषु केचित्-
तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया, अपरे तदध्यासि-
तक्वेत्राश्रिततया यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततः संख्येयगु-
णाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च
तत्रावस्थानात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चे-
न्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तदेवमुक्तं पञ्चे-
न्द्रियाणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेकेन्द्रियजेदानीं पृथिवीकायिकादीनां पञ्चानामौघिक-
पर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकं त्रीणि त्रीण्यल्पबहुत्वान्याह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया उद्धलोयतिरि-
यलोए, अहोद्धोयतिरियदोए विसेसाहिया, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखिज्जगुणा, उद्धोए असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्व-

त्थोवा पुढविकाइया अपज्जत्तया उद्धोयतिरियलोए,
अहोलोयतिरियदोए विसेसाहिया, तिरियदोए असंखेज्ज-
गुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्जगुणा,
अहोद्धोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
पुढविकाइया पज्जत्तया उद्धोयतिरियदोए, तिरियलोय-
अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेजुके
असंखेज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसा-
हिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया उद्धलोयति-
रियदोए, अहोद्धोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियदोए
असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोद्धोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
आउकाइया अपज्जत्तया उद्धोयतिरियलोए, अहो-
द्धोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखे-
ज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आ-
उकाइया पज्जत्तया उद्धलोयतिरियलोए, अहोद्धोयतिरि-
यदोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेजुके अ-
संखेज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्जगुणा, अहोद्धोए विसे-
साहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया उद्धोय-
तिरियदोए, अहोलोयतिरियदोए विसेसाहिया, तिरियदोए
असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उद्धोए असंखिज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
तेउकाइया अपज्जत्तया उद्धलोयतिरियदोए, अहोद्धोयति-
रियदोए विसेसाहिया, तिरियदोए असंखेज्जगुणा, तेजुके
असंखिज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्जगुणा, अहोद्धोए वि-
सेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया पज्ज-
त्तया उद्धोयतिरियदोए, अहोद्धोयतिरियलोए विसेसाहि-
या, तिरियदोए असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उ-
द्धोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खे-
त्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया उद्धलोयतिरियदोए,
अहोद्धोयतिरियदोए विसेसाहिया, तिरियदोए असंखेज्ज-
गुणा, तेजुके असंखिज्जगुणा, उद्धोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउ-
काइया अपज्जत्तया उद्धलोयतिरियलोए, अहोद्धोयतिरि-
यदोए विसेसाहिया, तिरियदोए असंखेज्जगुणा, तेजुके
असंखेज्जगुणा, उद्धोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए वि-
सेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पज्ज-
त्तया उद्धोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियदोए विसेसा-
हिया, तिरियदोए असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा,
उद्धोए असंखेज्जगुणा, अहोद्धोए विसेसाहिया । खेत्ताणु-
वाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया उद्धोयतिरियलोए,

अहोन्नोयतिरियलो ए विसेसाहिया, तेलुके असंखेज्जगुणा, उरुदन्नो ए असंखेज्जगुणा, अहोलो ए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सडकाइया अपज्जत्तया उरुदन्नोयतिरियलो ए, अहोलोयतिरियलो ए विसेसाहिया, तिरियन्नो ए असंखिज्जगुणा, तेलुके असंखिज्जगुणा, उरुदन्नो ए असंखेज्जगुणा, अहोलो ए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सडकाइया पज्जत्तया उरुदन्नोयतिरियलो ए, अहोलोयतिरियलो ए विसेसाहिया, तिरियन्नो ए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखिज्जगुणा, उरुदन्नो ए असंखेज्जगुणा, अहोन्नो ए विसेसाहिया ॥

इमानि पञ्चदशापि सूत्राणि प्रागुक्तैकेन्द्रियसूत्रवद्भावनयानि । साम्प्रतमौघिकत्रसकायपर्याप्तापर्याप्तमत्रसकायसूत्राण्यह —

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया तेलुके, उरुदन्नोयतिरियलो ए असंखिज्जगुणा, अहोन्नोयतिरियलो ए असंखिज्जगुणा, उरुदन्नो ए संखेज्जगुणा, अहोलो ए संखेज्जगुणा, तिरियलो ए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया अपज्जत्तया तेलुके, उरुदन्नोयतिरियलो ए असंखिज्जगुणा, अहोन्नोयतिरियलो ए असंखिज्जगुणा, उरुदन्नो ए संखिज्जगुणा, अहोन्नो ए संखिज्जगुणा, तिरियलो ए असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तया तेलुके, उरुदन्नोयतिरियलो ए असंखिज्जगुणा, अहोन्नोयतिरियलो ए असंखेज्जगुणा, उरुदन्नो ए संखिज्जगुणा, अहोन्नो ए संखिज्जगुणा, तिरियलो ए असंखेज्जगुणा ।

इमानि पञ्चेन्द्रियसूत्रवद्भावनयानि । गतं क्रैत्रयारम्भः प्रश्ना ०३ पद ।

(६२) [गतिद्वारम्] चतुर्गतिस्समासेन पञ्चगतिसमासेनाष्टगतिस्समासेन वाऽल्पबहुत्वम् —

पत्तेसि णं जेतं ! णेरइयाणं जाव देवाणं य कपरे कपरेहिंतो जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा, तिरिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं पाठमिदम् । भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोकाः मनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयजागवर्तिनः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अद्भुलमात्रकैव प्रदेशराशेर्यत् प्रथमं वर्गमूलं तद् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते, गुणितं च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणानु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् नेषाम् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां नैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेभ्योऽपि तिर्यञ्चोऽनन्ताः, घनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ४ प्रति० । पं० से० ।

पञ्चगतिस्समासेनऽल्पबहुत्वमाह—

एणमि एणं जेतं ! नेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं देवाणं निज्जाणं य पंचनडमामेणं कपरे कपरे—

हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा देवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्याः, पणवतिच्छेदनकच्छेदराशिप्रमाणत्वात् । स च पणवतिच्छेदनकदायो राशिर्गमे ('सर' शब्दे) दर्शयिष्यते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अद्भुलमात्रकैव प्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणितं यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणानु घनीकृतस्य लोकस्यैक-प्रदेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नजः प्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकं प्रतरासंख्येयभागवतिश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, अज्येभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेभ्यः स्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, घनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तदेवं नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वमुक्तम् । प्रश्ना ०३ पद ।

एतच्चैवमर्थतो गाथा—

“नेर-नेरइया देवा, सिद्धा तिरिया कमेण इह होंति ।

थोव असंख असंखा, अणंतगुणिया अणंतगुणा” ॥१॥अ०२५ श० ३ उ० ।

साम्प्रतं नैरयिकतिर्यग्योनिकतिर्यग्योनिकीमनुष्यमानुषीदेव-देवीवृत्तणानां सप्तानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पावहुयं सव्वत्थोवा मणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवा संखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह—सर्वस्तोका मनुष्याः, कतिपयकोटी-कोटिप्रमाणत्वात् । ताज्या मनुष्या असंख्येयगुणाः, सृष्टिममनुष्याणां श्रेण्यसंख्येयजागप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः (रूयोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवतिश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो देवाः संख्येयगुणाः, वाणमन्तरज्योतिष्काणामपि जलचरतिर्यग्योनिकीभ्यः संख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेज्यो देव्यः संख्येयगुणाः, ऋक्षिशुण्डत्वात् । “यत्तीसगुणा यत्तीसरुवअहिया उहोंति देवाणं देवीओ” इति वचनान् । ताज्यास्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, घनस्पतिजीवानामनन्तान्तत्वात् । जी० ७ प्रति० ।

इदानीमेतेषामेव सिद्धमहितानामष्टानामल्पबहुत्वमाह—

एणमि एणं जेतं ! नेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं मणुस्सीणं देवाणं सिद्धाणं य अद्भुतिसमासेणं कपरे कपरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवा असंखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मानुष्यो मनुष्यस्त्रियः, संख्येयकोटाकोटिप्रमाण-
त्वात् । ताज्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, इह मनुष्याः संमू-
र्च्छनजा अपि गृह्यन्ते, वेदस्याविचक्षणत्वात् । ते च संमूर्च्छ-
नजा वान्तादिषु नगरनिर्द्धमत्वातेषु जायमाना असंख्येयाः प्रा-
प्यन्ते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, मनुष्या हात्कृष्टपदसि
श्रेण्यसंख्येयजागतप्रदेशराशिप्रमाणा वच्यन्ते । नैरयिकास्त्व-
हुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसत्कद्वितीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमू-
लप्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । ततो भवत्यसंख्ये-
यगुणाः, तेज्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासं-
ख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताज्यो-
ऽपि देवा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिग-
तप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि देव्यः संख्येयगुणाः, द्वित्रिश-
द्वुणत्वात् । ताज्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तिर्य-
ग्योनिका अनन्तगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । प्रज्ञा० ३ पृ ।

अर्थतश्चैवं गाथा-

“ नारी नर नेरइया, तिरिस्थि सुर देवि सिद्ध निरिया य ।
थोव असंखगुणा चउ, संखगुणाऽणंतगुण दोन्नि ॥ २ ॥
भ० २५ श० ३ उ० ।

अथ(समासेन)प्रथमाप्रथमसमयविशेषणेन गतिष्वल्पबहुत्वम-

अप्पावहु-एतेसि एं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं० जाव पढ-
मसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, पढमसमयणेरइया
असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयति-
रिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा । एतेसि एं भंते ! अपढमसम-
यनेरइयाणं जाव० अपढमसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! एवं चेव; नवरं अपढमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एतेसि एं जंते ! पढमस-
मयनेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया,
अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, एवं चेव तिरिक्ख-
जोणिया, नवरं अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंत-
गुणा । मणुयदेवाणं अप्पावहुयं जहा नेरइया । एएसि एं
भंते ! पढमसमयणेरइयाणं० जाव अपढमसमयतिरिक्खजो-
णियाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, अपढमसमयमणुस्सा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमय-
देवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्ज-
गुणा, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-
मनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । तेज्यः प्रथमसमयनैरयि-
का असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसंभ-
वात् । तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्का-
णामतिप्रभूतराणामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेभ्यः
प्रथमसमयतिर्यग्योऽसंख्येयगुणाः, इह ये नारकादिगति-
त्रयादागत्य तिर्यक्प्रथमसमये वर्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्यग्यो, न
शेषाः, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदमसंख्येयभागः सदा विप्रहगति-

प्रथमसमयवर्त्ती ब्रह्मते, तथापि निगोदानामपि तिर्यक्त्वात् न ते
प्रथमसमयतिर्यग्यो, एज्यः संख्येयगुणा एव । साम्प्रतमेतेषामेव
चतुर्णामप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह-“एएसि एं भंते !”
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तो-
का अप्रथमसमयमनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । ते-
ज्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, बहुलमात्रक्षेत्र-
प्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान्
प्रदेशराशिः तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशस्ता-
वत्प्रमाणत्वात् । तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्य-
न्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्यो-
निका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव
नैरयिकादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्व-
माह-“एएसि एं जंते !” इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवा-
नाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, एकस्मिन्
समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामेवोत्पादात् । तेज्योऽप्रथ-
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायिनां तेषाम-
न्योऽन्योत्पादेनातिप्रभूतत्वात् । एवं तिर्यग्योनिकमनुष्यदेव-
सुवाण्यपि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्योनिकसूत्रेऽप्रथमसमयति-
र्यग्योनिका अनन्तगुणा वक्तव्याः, वनस्पतिजीवानामनन्त-
त्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव प्रथमसमयाप्रथमसमयानां समु-
दायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह-“ एएसि एमित्यादि ” प्रश्न-
सूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-
मनुष्याः, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामे-
वोत्पादात् । तेज्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, चिर-
कालावस्थायितया अतिप्राज्ञेन लभ्यमानत्वात् । तेज्यः प्रथ-
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतराणामेकस्मिन्नपि
समये उत्पादसंभवात् । तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः,
व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन्नपि समये अतिप्राज्ञेन कदा-
चिदुत्पादात् । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असंख्येयगुणाः,
नारकवर्जगतित्रयादप्युत्पादसंभवात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैर-
यिका असंख्येयगुणाः, बहुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमव-
र्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमा-
णासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेज्यो-
ऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवर्तिश्रेण्या-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका
अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ८ प्रति० ।

अत्र (व्यासेन) चत्वार्यल्पबहुत्वानि, तद्यथा--

सिद्धेणं जंते ! सिद्धे चि कालतो केव चिरं होति ?
गोयमा ! सादिए अपज्जवमिए । (जी०)

तत्र प्रथममिदम्--

एएसि एं जंते ! पढमसमयनेरइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणुस्साणं पढमसमयदेवाणं य कयरे०
जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणु-
स्सा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा अ-
संखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा ॥
सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः । तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः । तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः । तेभ्यः
प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असंख्येयगुणाः, नारकादिशेषगतित्र-

यादागतानामेव प्रथमसमये वर्तमानानां प्रथमसमयतिर्यग्भ्या-
निकत्वात् ।

द्वितीयमेवम्—

एषमि णं जंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमय-
तिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवा-
ण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेमाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अपढमसमयणेरइया अ-
संखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढम-
समयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः अप्रथमसमयमनुष्याः, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्भ्यानिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानाम-
नन्तत्वात् ।

तृतीयमेवम्—

एषमि णं पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे
कयरेहिंते० जाव विसेमाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढ-
मसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा । ए-
सि णं जंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं कयरे कयरेहिंते० जाव विसेमाहिया ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । मणुयदेवाणं अप्पावहुयं
जहा नेरइया ।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः । तत्र प्रथमसमयतिर्यग्भ्यानिकाः सर्वस्तोकाः, अ-
प्रथमसमयतिर्यग्भ्यानिका अनन्तगुणाः, तथा सर्वस्तोकाः प्रथम-
समयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्याः असंख्येयगुणाः । तथा स-
र्वस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः ।

सर्वसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एषमि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइ-
याणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं, अपढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढम-
समयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिं-
ते० जाव विसेमाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमय-
मणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणे-
रइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसम-
यतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयनेरइया
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा
अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्या अ-
संख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो
ऽपि प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयति-
र्यग्भ्याऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयनैरयिका असंख्ये-
यगुणाः, तेज्योऽप्यप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सि-
द्धा अनन्तगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्भ्यानिका अनन्तगु-
णाः । जी० ६ प्रति० ।

प्रथमसमयाप्रथमसमयजेदेन भिन्नानां नैरयिकतिर्यग्भ्यानिकम-
नुष्यदेवसिद्धानां दशानामल्पवहुत्वान्यत्रापि चत्वारि ।

तत्र प्रथममिदम्—

एतेसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमय-
सिद्धाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेमाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा पढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढम-
समयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया अ-
संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रोत्तरशतादृद्धमभावात् ।
तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयनै-
रयिकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंख्येय-
गुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिर्यग्भ्याऽसंख्येयगुणाः ।

द्वितीयमिदम्—

एतेसि णं जंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवाणं
अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेमा-
हिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अप-
ढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असं-
खेज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमय-
तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयनैरयिका अ-
संख्येयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, अप्रथमस-
मयसिद्धा अनन्तगुणाः, अप्रथमसमयतिर्यग्भ्याऽनन्तगुणाः ।

तृतीयम्—

एषमि णं जंते ! पढमसमयणेरइयाणं य अपढमसमयणेरइ-
याणं य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेमाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असं-
खेज्जगुणा । एतेसि णं जंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणि-
याणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं य कयरे कयरेहिंते०
जाव विसेमाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमस-
मयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणं-
तगुणा । एतेसि णं जंते ! पढमसमयमणूसाणं अपढमस-
मयमणूसाणं य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेमाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा । जहा मणूसा तहा देवा वि । एतेसि णं जं-
ते ! पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाणं य कयरे कयरे-
हिंते अप्पा वा वहुया वा तुद्धा वा विसेमाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसि-
द्धा अणंतगुणा ।

प्रत्येकभाविनैरयिकतिर्यग्भ्यामनुष्यदेवानां पूर्ववत् । सिद्धानामेव
सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः ।

समुदायगतं चतुर्थमेवम-

एएसि एं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइ-
याणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणुसाणं अपढमसमयमणुसाणं पढमस-
मयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं पढमसमयसिद्धाणं अपढम-
समयसिद्धाणं कयरे कयरेहिंतां अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा
विसेसाहिया वा ? गोयमा ! मव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा,
पढमसमयमणुसा असंखेज्जगुणा, अपढमसमयमणुसा असं-
खिज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पढमसमय-
देवा असंखिज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असं-
खेज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपढ-
मसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंत-
गुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, तेज्यः प्रथमसमयमनुष्या
असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः,
तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसम-
यदेवा असंख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगु-
णाः, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका अतन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथम-
समयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः । भावना सर्व-
त्रापि प्राभवत् । नवरं सूत्रे संक्षेप इति । जी० १० प्रति० ।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वमाह-

(पण दो खीण दु जोगी, ऽणुदीरग अजोगि) थोव उवसंता ।

संखगुण खीण मुद्दमा, नियट्ठिअपुव्व समा अहिया । ६२ ।

(थोव उवसंत च्ति) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो
जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमाना उत्कर्षतोऽपि चतुष्पञ्चाशत्प्रमा-
माणा एव प्राप्यन्ते इति । तेज्यः सकाशात् क्लीणमोहाः संख्ये-
यगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका एकास्मिन् समयेऽष्टोत्तरश-
तप्रमाणा अपि लज्यन्ते । एतच्चोत्कृष्टपदापेक्षयोक्तम् । अन्यथा
कदाचिद्विपर्ययोऽपि छष्टव्यः । स्तोकाः क्लीणमोहाः, बहवस्तु
तेज्य उपशान्तमोहाः, तथा तेज्यः क्लीणमोहेभ्यः सकाशात्
सूक्ष्मसंपराया निवृत्तियादरापूर्वकरणं विशेषाधिकाः, स्वस्था-
ने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुत्या इति ॥ ६२ ॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा ।

अविरय अजोगि मिच्छा, असंख चउरो दुवेऽणंता । ६३ ।

तेभ्यः सूक्ष्मादिज्यः सयोगिकेवलिनः संख्यातगुणाः, तेषां
कोटिपुयस्त्वेन लज्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ताः संख्येयगुणाः,
कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यः (इयरे च्ति) अ-
प्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः, प्रमादजायो हि बहु-
नां बहुकात्रं च लज्जते, विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्त-
संख्याव्याघातः । (देसेत्यादि) देशविरतसास्वादनमिथाऽविरत-
लक्षणश्चात्रासौ यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, अयोगिमिथ्यादृष्टि-
मत्तणौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ, तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता
असंख्येयगुणाः, तिरश्चात्म्यसंख्यातानां देशविरतिजावात् ।

सास्वादानास्तु कदाचित्सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा
जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः,
तेज्यो मिथा असंख्येयगुणाः, सास्वादानाद्या उत्कर्षतोऽ-
पि परावलिकामात्रतया स्तोक्तत्वात् । मिथाऽद्याः पुनरन्त-
र्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः अविरत-
सम्यग्दृष्टयः, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसं-
भवात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थानादिमिथा
अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मि-
थ्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।
तेषां च मिथ्यादृष्ट्यादिति । तदेवमजिहितं गुणस्थानवर्तिनां
जीवानामल्पबहुत्वम् । कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० ।

(१३) [चरमद्वारम्] चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं चरिमाणं अचरिमाणं य कयरे
कयरेहिंतां अप्पा वा बहुया वा० ? गोयमा ! मव्वत्थोवा
जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा ।

इह येषां चरिमो भवः संभवी योग्यतयाऽपि ते चरमा उच्यन्ते । ते
चार्थाद् भव्याः, इतरेऽचरमा अभव्याः सिद्धाश्च, सन्नेयसामपि च-
रमाचरमजावात् । तत्र सर्वस्तोका अचरमाः, अभव्यानां सिद्धानां
च समुदितामप्यजघन्योत्कृष्टगुणानन्तकपरिमाणत्वात् । ते-
भ्योऽनन्तगुणाश्चरमाः, अजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तकपरिमाण-
त्वात् । गतं चरमद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । (रत्तप्रमादीनां चर-
माचरमगतमल्पबहुत्वं, सङ्घातप्रदेशस्य सङ्घातप्रदेशाद्यगदस्य
परिमणुलादेश्चरमादिविषयमल्पबहुत्वं च ' चरम ' शब्दे एव
दर्शयिष्यते)

(१४) [जीवद्वारम्] जीवपुञ्जसमयद्रव्यप्रदेशपर्यायाणा-

मल्पबहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं पोग्गन्नाणं अच्चासमयाणं
सव्वदव्वाणं सव्वपएसणं सव्वपज्जवाणं य कयरे कयरे-
हिंतां अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! मव्वत्थोवा जीवा पोग्ग-
न्ना अणंतगुणा, अच्चासमया अणंतगुणा, मव्वदव्वा वि-
सेसाहिया, सव्वपदेसा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अणंतगुणा ।
प्रज्ञा० ३ पद ।

तदेवमर्थतः-

' जीवा १ पोग्गल २ समया ३, दव्व ४ पएसया ५ पज्ज ६ चेव ।
थोवाऽणंताऽणंता, विसेसअहिया दुवेऽणंता ' ॥ १ ॥
इह भावना-यतो जीवाः प्रत्येकमनन्तानन्तैः पुद्गलैर्बद्धाः प्रायो
भवन्ति, पुञ्जलास्तु जायैः संघटा असंबद्धाश्च भवन्तीत्यतः
स्तोकाः पुद्गलेभ्यो जीवाः ।

यदाह-

" जं पोग्गन्नावबद्धा, जीवा पाएण हौंति तो थोवा ।
जीवेहि विरहियाऽविर-हिया च पुण पोग्गन्ना संति " ॥ १ ॥
जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुद्गलाः । कथम् ? यत्तैजसादिशरीरं येन जी-
वेन परिगृहीतं तत्ततो जीवात्पुद्गलपरिणाममाश्रित्य अनन्तगुणं
भवति, तथा-तैजसशरीरात्प्रदेशतोऽनन्तगुणं कर्मणम्, एवं च
ते जीवप्रतिबद्धेऽनन्तगुणे जीवविमुक्ते च ते ताभ्यामनन्तगुणे
नवतः, शेषशरीरचिन्ता त्विदं न कृता, यस्मात्तानि मुक्तान्यपि
स्वस्वस्थाने तयोर्मनन्तनामे वर्तन्ते, तदेवमिह तैजसशरीरपुद्ग-

ला अपि जीवेज्योऽनन्तगुणाः, किं पुनः कर्मणादिपुङ्गवरा-
शिसहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुङ्गवाः स्तो-
काः, तेभ्यो मिथपरिणताः अनन्तगुणाः, तेज्योऽपि विस्त्रसाप-
रिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुङ्गवाः सर्वे एव भव-
न्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुङ्गवानां प्रतनुकेऽनन्त-
भागे वर्तन्ते यस्मादेवं तस्माज्जीवेभ्यः सकाशात् पुङ्गवाः बहु-
निरनन्ताऽनन्तकैर्गुणिताः सिद्धा इति ।

आह च-

“ जं जेण परिगहियं, तेयादिजिणण देहमेकंके ।
तत्तो तमणेतगुणं, पोगगलपरिणामओ होइ ॥ १ ॥
तेयाओ पुण कम्मग-मणेतगुणियं जओ विणिहिदुं ।
एवं ता बद्धाई, तेयगकम्माइ जीवेहिं ॥ २ ॥
एत्तोऽणेतगुणाई, तेसिं चिय जाणि हौंति मुक्काई ।
इह पुण थोवत्ताओ, अगदणं सेसदेहाणं ॥ ३ ॥
जं तेसिं मुक्काई, पि हौंति सछाणऽणेतभागम्मि ।
तेण तदगाइणमिहं, बद्धावद्धाण दोइहं पि ॥ ४ ॥
इह पुणनेयसरीरग-वद्धं चिय पोगगला अणेतगुणा ।
जीवेहिं तो किं पुण, सहिया अयसेसरासीहिं ॥ ५ ॥
थोवा भणिया सुत्ते, पन्नरसविहप्पओगयाओगा ।
तत्तो मीमपरिणया-ऽणेतगुणा पोगगला जणिया ॥ ६ ॥
ते वोससा परिणया, तत्तो भणिया अणेतसंगुणिया ।
एवं निविहपरिणया, सव्वे वि य पोगगला लोए ॥ ७ ॥
जं जीवा सव्वे वि य, एकम्मि पओगपरिणयाणं पि ।
वट्टंति पोगगलाणं, अणेतभागम्मि तणुयम्मि ॥ ८ ॥
बट्टएहिं अणेतानं, तहिं तेण गुणिया जिणहिंते ।
सिद्धा भवंति सव्वे, वि पोगगला सव्वलोगम्मि ” ॥ ९ ॥

ननु पुङ्गवेज्योऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तन्न संगतम् । ते-
भ्यस्तेषां स्तोकात्वात् । स्तोकात्वे च मनुष्यकैवमात्रवर्तित्वात्सम-
यानां पुङ्गवानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-सम-
यकैत्र ये केचन द्रव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साम्प्रतं
समयो वर्तते । एवं च साम्प्रतं समयो यस्मात्समयकैत्रद्रव्यपर्य-
वगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये
प्रवर्तन्ति । आह च—

“ हौंति य अणेतगुणिया, अद्धासमया उ पोगगलेहिंते ।
नणु थोवा ते नखे-त्तमेत्तवत्तणाओ सि ॥ १ ॥
नणणइ समयकखेत्त-म्मि संति जे केइ दव्वपज्जाया ।
वट्टइ संपयसमओ, तेसिं पत्तेयमेकंके ॥ २ ॥
एवं संपयसमओ, जं समयखेत्तपज्जवज्झथो ।
तेणाणुता समया, भवंति एकैकसमयम्मि ” ॥ ३ ॥

एवं च वर्तमानोऽपि समयः पुङ्गवेज्योऽनन्तगुणो प्रवर्ति,
एकद्रव्यस्याऽपि पर्यायाणामनन्तत्वात् । किं च । केवलमित्थं
पुङ्गवेज्योऽनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्याये-
ज्योऽनन्तगुणास्ते संतवन्ति । तथाहि-यत्समस्तलोकद्र-
व्यप्रदेशपर्यवगाशः समयकैत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना भक्ता-
ल्लभ्यते । एतद्वाचना चैवं किल-असद्भावकल्पनया वृक्षं
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवगाशं तस्य समयकैत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशि-
ना कल्पनया सहस्रमानेन भागे हते शतं स्वयम्, ततश्च
किल तात्त्विकसमयशते गते लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवसंख्या तु-
ल्या समयकैत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवरूपसमयसंख्या लभ्यते । स-
मयकैत्रापेक्षया असंख्यातगुणलोकस्य कल्पनया शतगुण-

त्वात् । तथाऽप्येवमपि तावत्सु तात्त्विकसमयेषु गतेषु ताव-
त्त एवौपचारिकसमया प्रवर्तन्तीत्येवमसंख्यातेषु कल्पनया श-
तमानेषु तात्त्विकसमयेषु पौनःपुन्येन गतेष्वनन्तमायां कल्प-
नया सहस्रतमायां वेलायां गता प्रवर्तन्ति । तात्त्विकसमया
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवमात्राः कल्पनया वृक्षप्रमाणाः, एवं चैकै-
कस्मिंस्तात्त्विकसमयेऽनन्तानामौपचारिकसमयानां भावात्स-
र्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशेरपि समया अनन्तगुणाः प्राप्नुवन्ति,
किं पुनः पुङ्गवेभ्यः ? इति ।

यदाह-

“ जं सव्वलोगदव्व-प्पएसपज्जवगणस्स जइयस्स ।
लज्जइ समयकखेत्त-प्पएसपज्जायपिणेण ॥ १ ॥
एवइसमएहिं गएहिं, लोगपज्जवसमा समयसंखा ।
लज्जइ अत्रेहिं पि य, तत्तियमेत्तेहिं तावइया ॥ २ ॥
एवमसंखेज्जेहिं, समएहिं गतेहिंतो गयाहिं ति ।
समयाओ लोगदव्व-प्पएसपज्जायमेत्ताओ ॥ ३ ॥
इय सव्वलोगपज्जव-रासीओ वि समया अणेतगुणा ।
पावंति गणिज्जंता, किं पुण ता पोगगलेहिंते ? ” ॥ ४ ॥

अन्यस्तु प्रेरयति-उत्कृष्टतोऽपि पणमासमात्रमेव सिद्धिगते-
रन्तरं भवति. तेन च सत्स्यदृश्यः सिद्धेज्योऽपि च जीवेज्यो-
ऽसंख्यातगुणा एव समया प्रवर्तन्ति । कथं पुनः ? सर्वजीवेज्यो-
ऽनन्तगुणा भविष्यन्तीति इहाप्यौपचारिकसमयापेक्षया स-
मयानामनन्तगुणत्वं वाच्यमिति । अथ समयेज्यो द्रव्याणि
विशेषाधिकानीति कथम् ? । अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्र-
त्येकं द्रव्याणि, शेषाणि च जीवपुङ्गवधर्मास्तिकायादीनि ते-
ष्वेव किमानीत्यतः केवलेज्यः समयेज्यः सकाशात् समस्तद्रव्या-
णि विशेषाधिकानि भवन्ति, न संख्यातगुणादीनि, समयद्र-
व्यापेक्षया जीवादिद्रव्याणामल्पतरत्वादिति ।

उक्तं च-

“ एत्तो समएहिंतो, हौंति विसेसाहियाई दव्वाइ ।
जं भेया सव्वे चिय, समया दव्वाइ पत्तेयं ॥ १ ॥
सेसाई जीवपोगगल-धम्माधम्मं वराई छुदाई ।
दव्वट्टयार्पं समए-सु तेण दव्वा विसेसाहिया ॥ २ ॥

नन्वद्धासमयानां कस्माद्द्रव्यत्वमेवेत्यतः ? समयस्कन्धापेक्षया
प्रदेशार्थत्वस्यापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि-यथा स्कन्धो
द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धापर्यव अपि यथाप्रदेशाः सिद्धाः, एवं सम-
यस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च द्रव्यं चेति ? अत्रोच्यते-
परमाणूनामन्योऽन्यसव्यपेक्षत्वेन स्कन्धत्वं युक्तम्, अद्धासम-
यानां पुनरन्योऽन्योपेक्षिता नास्ति । यतः कालसमयाः प्रत्येक-
त्वे च कालपनिकस्कन्धजावे च वर्तमानाः प्रत्येकवृत्तय एव, त-
त्त्वभावत्वात्तस्मात्तेऽन्योऽन्यनिरपेक्षाः, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वाच्च
न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादकाः, ततश्च तेषां प्रदेशार्थेति ।

उक्तं चात्र आह-“अद्धासमयाणं किं, पुण दव्वट्टएव नियमेण ।
तेसिं पएसट्टा विहु, जुज्जइ खंधं समासज्ज ॥ १ ॥
सिद्धं खंधो दव्वं, तदवयवा वि य जहा पएस सि ।
इय तव्वत्ती समय, हौंति पएस य दव्वं च ॥ २ ॥
भरणइ परमाणूणं, अन्नोन्नमवेक्ख खंधया सिद्धा ।
अद्धासमयाणं पुण, अन्नोन्नमवेक्खया नत्थि ॥ ३ ॥
अद्धासमया जम्मा, पत्ते पत्तेयखंधजावे य ।
पत्तेयवत्तिणो चिय, ते तेणऽन्नोन्नमवेक्खया ” ॥ ४ ॥

अथ उच्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतन्कथम् ? । उच्यते-
अद्वासमयउच्येभ्यः आकाशप्रदेशानामनन्तगुणत्वात् । ननु के-
चप्रदेशानां कालसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वे किं कारणमा-
श्रित्याकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, कालसमयाश्च तदनन्तभाग-
घटिन इति ? । उच्यते-एकस्यामनाद्यपर्यवसितायामाकाशप्रदे-
शभ्रंशयामेकैकप्रदेशानुसारतस्तिर्यगायतश्रेणीनां कल्पनेन ता-
ज्योऽपि कैकैकप्रदेशानुसारणैर्वाध्वाध्वायतश्रेणीविरचनेन
आकाशप्रदेशघनो निष्पद्यते, कालसमयश्रेण्यां तु सैव श्रेणी
भवति, न पुनर्घनः, ततः कालसमयाः स्तोका भवन्तीति ।

इह गाथा-

“पक्षो सन्वपपसा-ऽणंतगुणं खपपसऽणंतत्ता ।
स-वागासमणंतं, जेण जिणंदेहि पन्नत्तं ॥ १ ॥
आह समेऽणंतत्त-म्मि खत्तकाज्ञाणं किं पुणं निमित्तं ? ।
भणियं खमनेतगुणं, कादोऽयमणंतभागम्मि ॥ २ ॥
भन्नइ नभसेदीप, अणाइयाप अपज्जवसियाप ।
निष्फज्जइ खम्मि घणो, न उ काले तेण सो धोवो ” ॥ ३ ॥
प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः पर्याया इत्येतद्भावनार्थं गाथा-
“पक्षो य अणंतगुणा, पज्जाया जेण नहपपसम्मि ।
एकेकम्मि अणंता, अगुरुवहू पज्जवा भणिया ” ॥ १ ॥ इति ।
भ० २५ श० ३ उ० । गतं जीवद्वारम् ।

(१५) [ज्ञानद्वारम्] ज्ञानिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि एं भंते ! जीवाणं आजिनिबोहियणाणीणं सुय-
णाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-
णीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! स-
व्वत्थोवा मणपज्जवणाणी, ओहिणाणी असं०, आजिणि-
बोहियणाणी सुयणाणी दोवि तुद्धा विसेसाहिया, केवल-
णाणी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामपौष्यादिक्र-
द्धिप्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंज्ञवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अव-
धिज्ञानिनः, नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्यवधिज्ञान-
संज्ञवात् । तेभ्य आजिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशे-
षाधिकाः, संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेवावधिज्ञानविकल्पा-
नामपि केषाञ्चिदभिनिबोधिकश्रुतज्ञानभावात् । स्वस्थाने तुल्ये
ऽपि परस्परं तुल्याः । “जत्थ मइनाणं तत्थ सुअनाणं, जत्थ सुय-
नाणं तत्थ मइनाणं ” इतिवचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्त-
गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । उक्तं हि ज्ञानिनामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षभूतानामज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं भंते ! जीवाणं मइअणाणीणं सुयअणाणीणं
विजंगनाणीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा जीवा विभंगनाणी, मइअणाणी सुयअणाणी
दोवि तुद्धा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका विभङ्गज्ञानिनः, कतिपयानामेव नैरयिकदेवतिर्यक्-
पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां विभङ्गभावात् । तेभ्यो मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञा-
नितोऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामपि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात् ।
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । “ जत्थ मइअणाणं तत्थ सुयअ-
णाणं, जत्थ सुयअणाणं तत्थ मइअणाणं ” इति वचनात् ।

१६१

संप्रत्युभयेषां ज्ञानाज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं भंते ! जीवाणं आजिनिबोहियणाणीणं सु-
यणाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-
णीणं मतिअणाणीणं सुयअणाणीणं विभंगनाणीणं य-
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा मणपज्जवणाणी, ओहिणाणी असंखिजगुणा,
आजिनिबोहियणाणी सुयणाणी य दोवि तुद्धा विसेसाहि-
या, विजंगनाणी असंखेज्ज०, केवलनाणी अणंतगुणा,
मइअणाणी सुयअणाणी य दोवि तुद्धा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामपौष्या वृद्धि-
प्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अवधिज्ञा-
निनः, तेभ्य आजिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशेषाध-
काः, स्वस्थाने तु द्वावपि परस्परं तुल्याः । अत्र ज्ञावना प्रागे-
वोक्ता । तेभ्योऽसंख्येयगुणा विभङ्गज्ञानिनः, यस्मात्सुरगतौ
निरयगतौ च सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः पृथ-
न्ते, देवनैरयिकाश्च सम्यग्दृष्टयोऽवधिज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयो
विभङ्गज्ञानिन इत्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगु-
णाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिन-
श्चानन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् ;
तेषां च मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानित्वात् । स्वस्थाने तु द्वावपि परस्परं
तुल्याः । गतं ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । भ० । जी० । कर्म० ।

इदानीं ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! चंदिमसूरिअगहणक्खत्तारारूवाणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! चंदिमसूरिआ दुवे तुद्धा सव्व-
त्थोवा, एकखत्ता संखेज्जगुणा, गद्दा संखेज्जगुणा, ता-
रारूवा संखेज्जगुणा ॥

(एतेसि णमित्यादि) एतेषामनन्तरोक्तानां, प्रत्यक्षप्रमाणगोचराणां
वा, भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणां कतरे कतरेभ्योऽल्पाः
स्तोकाः । वाऽत्र विकल्पसमुच्चयार्थं । कतरे कतरेभ्यो बहुका वा
कतरेभ्यस्तुल्या वा, अत्र विभक्तिपरिणामेन तृतीया व्याख्येया ।
कतरे कतरेभ्यो विशेषावेति ? । गौतम ! चन्द्रसूर्या एते द्वयेऽपि
परस्परं तुल्याः, प्रतिद्वीपं प्रतिस्मृदं चन्द्रसूर्याणां समसंख्या-
कत्वात् । शेषेभ्यो ग्रहादिभ्यः सर्वेऽपि स्तोकाः, तेभ्यो नक्षत्राणि
संख्येयगुणानि, अष्टाविंशतिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि ग्रहाः संख्ये-
यगुणाः, सातिरेकत्रिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि तारारूपाणि संख्ये-
यगुणानि, प्रज्ञतकोटाकोटिगुणत्वादिति । ज० ७ वक्त० । ज्ञानप-
र्यायाणामल्पबहुत्वम् । ज० ८ श० २ उ० । “ सव्वत्थोवा नाणी,
अणाणी अणंतगुणा ” । जी० १ प्रति० । त्रसंस्थावरनोत्रसंनो-
स्थावराणामल्पबहुत्वम्-“ अप्पावहुं सव्वत्थोवा तसा, एतसा
सोथावरा अणंतगुणा ” । जी० २ प्रति० । (निर्ग्रन्थानां पुलाकादी-
नामल्पबहुत्वं ‘ निगंथ ’ शब्दे वदयते)

(१६) [दर्शनद्वारम्] दर्शनिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि एं भंते ! जीवाणं चक्खुदंसणीणं अचक्खुदंस-
णीणं ओहिदंसणीणं केवलदंसणीणं य कयरे कयरेहिं-

तो अप्पा वा० ४ । गोयमः । स्रवत्योवा जीवा ओ-
हिदंनणी, चक्रुदंनणी अमंखज्जुणा, केवलदंनणी
अणंतगुणा, अचक्रुदंनणी अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अवधिदर्शनिनः, देवतैरपिकाणां कतिपयानां च
संक्षिप्तैरिन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवधिदर्शनभावात् । तेभ्यश्चलु-
दर्शनिनोऽसंख्येयगुणाः, सर्वेषां देवतैरपिकगर्भजमनुष्याणां सं-
क्षिप्तिर्यक्त्रैन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असंक्षिप्तिर्यक्त्रै-
न्द्रियाणां चक्षुर्दर्शनभावात् । तेभ्यः केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽचक्षुर्दर्शनिनोऽनन्तगुणाः, वनस्प-
तिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गतं दर्शनद्वारम् । प्रज्ञा०
३ पद । कर्म० । जी० ।

(१९) [दिग्द्वारम्] दिगनुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम्—

दिमाणुवाएणं स्रवत्योवा जीवा पचच्छिमेणं, पुरच्छि-
मेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसे-
साहिया ।

इह दिशः प्रथमं आचाराख्येऽङ्के अनेकप्रकारा व्यापणिताः,
तत्रेह क्षेत्रदिशः प्रतिपत्तव्याः, तासां नियतत्वात् । इतस्मात् च
प्रायोऽनवस्थितत्वादनुपयोगित्वाच्च, क्षेत्रदिशां च प्रभवस्तिर्य-
ग्लोकमध्यगतादृष्टदेशकाद् रुचकाद् । यत उक्तम्—“अष्टपणसो
रुयगो, निरियलोयस्स मडिक्कथारम्मि । एस पभवो दिसाणं,
एनेव भवे अणुदिसाणं” ॥ १ ॥ इति दिशामनुपातो दिगनुस-
रणं, तेन दिशोऽधिष्ठेत्यति तात्पर्यार्थः । सर्वस्तोका जीवाः
पश्चिमेन पश्चिमायां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इदं ह्यल्प-
बहुत्वं वादगानधिकृत्य दृष्टव्यं, न सूक्ष्माणां, सर्वशोकपद्मानां
प्रायः सर्वत्राऽपि समत्वात् । वादरेष्वपि मध्ये सर्ववहवो वन-
स्पतिकायिकाः, अनन्तसंख्यातनया तेषां प्राप्यमाणत्वात् । ततो
यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र त्वद्वे तत्राल्पत्वम् । वन-
स्पतयश्च तत्र बहवो यत्र प्रजृता आपः “जत्थ जत्तं तत्थ वणं”
इति वचनात् । तत्रावड्यं पनकशैवालादीनां भावात् । ते च
पनकशैवालादयो वादरनामकमोदये वर्तमाना अपि अत्य-
न्तसूक्ष्मावगाहनत्वादिप्रभृतपिण्डाभावाच्च सर्वत्र स्तोऽपि
न चक्षुषा प्राप्याः । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेण—“तेणं बाल-
ग्गा सुहुमपणगजीवस्स सरीरेगाहणाहिता असंखज्जुणा”
इति । ततो यत्रापि नैतं दृश्यन्ते तत्रापि ते स्तोति प्रतिप-
त्तव्याः । आह च सूत्रटीकाकारः—इह सर्ववहवो वनस्प-
तय इति कृत्या यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहु-
त्वम् “जत्थ आउकाओ तत्थ नियमा वणस्सइकाया” इति ।
“एणगमेवालदहाइं वायगा वि होति, सुहुमा आणगिडभा न-
चक्खणा” इति । उदकं च प्रवृत्तं समुद्रपुं द्वीपदिगुणवि-
ष्कम्भतात् । तेष्वपि च समुद्रेषु प्रत्येकं प्राचीप्रतीचीदिशोऽर्थश-
क्रमं चन्द्रसूर्यद्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रसूर्यद्वीपा अवगाढा-
स्त्वाव्युदकाभावः, उदकाभावाच्च वनस्पतिकायिकाभावः, के-
वलं प्रतीच्यां दिशि लवणसमुद्राधिपसुस्थितनामदेवाचामभूतो
गौतमद्वीपो लवणसमुद्रेऽन्यथिका वर्तते, तत्र च उदकाभा-
वाद्वनस्पतिकायिकानामभावात् । सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमायां
दिशि, तेभ्यो विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तत्र हि गौतमद्वीपो
न विद्यते, तन्मत्वावता विशेषणधिका भवन्त्यतिरिच्यन्ते, ते-
ज्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यतस्तत्र चन्द्रसूर्यद्वीपा

न विद्यन्ते, तद्भावात्तत्रोदकं प्रवृत्तं, तत्प्राचृत्याच्च वनस्पतिका-
यिका अपि प्रजृता इति विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्युदीच्यां दिशि
विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—उदीच्यां हि
दिशि संख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कस्मिंश्चिद् द्वीपे आयामवि-
ष्कम्भादयां संख्येययोजनकोटाकांष्टिप्रमाणं मानसं नाम सरः स-
मस्ति, ततो दक्षिणदिगपेक्षया अस्यां प्रवृत्तमुदकम्, उदकबाहु-
ल्याच्च प्रभृता वनस्पतयः, प्रभृता द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः, प्रजृता-
स्तद्वत्प्रशङ्खादिकलेवराधिताः व्रीहिः, पिपीलिकादयः, प्र-
भृताः पद्मादिषु चतुरिन्द्रिया जमरादयः, प्रजृताः पञ्चैन्द्रिया
मत्स्यादयः, इति विशेषाधिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह—

दिमाणुवाएणं स्रवत्योवा पुढाविकाइया दाहिणेणं, उत्त-
रेणं विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पचच्छिमेणं
विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं स्रवत्योवा आउकाइया पच-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहि-
या, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं स्रवत्योवा तेउ-
काइया दाहिणुत्तरेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पचच्छिमेणं
विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं स्रवत्योवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणं, पचच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

दिगनुपातेन दिगनुसारेण, दिशोऽधिष्ठेत्यति ज्ञायः । पृथिवी-
कायिकाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः दक्षिणस्यां दिशि । कथमि-
ति चेत् ?, उच्यते—इह यत्र घनं तत्र बहवः पृथिवीकायिकाः,
यत्र सुषिरं तत्र स्तोकाः, दक्षिणस्यां दिशि बहूनि भवनपतीनां भ-
वनानि, बहवो नरकावासास्ततः सुषिरप्राभृत्यसंभवात्, सर्व-
स्तोका दक्षिणस्यां दिशि पृथिवीकायिकाः । तेज्य उत्तरस्यां दि-
शि विशेषाधिकाः, यत्र उत्तरस्यां दिशि दक्षिणदिगपेक्षया
स्तोकानि जयनानि, स्तोका नरकावासास्ततो घनप्राचृत्यसं-
भवाद् बहवः पृथिवीकायिका इति विशेषाधिकाः । तेज्योऽपि
पूर्वस्यां दिशि विशेषाधिकाः, रविशशिद्वीपानां तत्र भावात् ।
तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?,
उच्यते—यावन्तो रविशशिद्वीपाः पूर्वस्यां दिशि तावन्तः पश्चि-
मायामपि, तत एव तावता साम्यम् । परं ब्रह्मणसमुद्रं गौत-
मनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकाऽस्ति, तेन विशेषाधिकाः । अत्र
पर आह—ननु यथा पश्चिमायां दिशि गौतमद्वीपोऽभ्यधिकः
समस्ति, तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अप्रौलौकिकग्रामा अपि
योजनसहस्रावगाहाः सन्ति, ततः स्वातृपूरितन्यायेन तत्तुल्या
एव पृथिवीकायिकाः प्राप्नुवन्ति, न विशेषाधिकाः । नैतदेवम् ।
यतोऽप्यौलौकिकग्रामावगाहो योजनसहस्रं, गौतमद्वीपस्य पुनः
पदसमव्यधिकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वं, विष्कम्भस्तस्य द्वादश-
योजनसहस्राणि, यच्च मेरोरारण्याधौलौकिकग्रामेभ्योऽर्वाक-
हीनत्वं हीनतरत्वं तत्पूर्वस्यामपि दिशि प्रभूतगर्तादिसम्भवात्
समानम् । ततो यद्यधौलौकिकग्रामच्छिद्रेषु बुद्ध्या गौतमद्वीपः
प्रतिपद्यते, तथापि समधिक एव प्राप्यते, न तुल्य इति । तेन स-
मधिकेन विशेषाधिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकायिकाः । उक्तं
दिगनुपातेन पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमधिकायि-
कानामल्पबहुत्वमाह—दिमाणुवाएणं स्रवत्योवा आउकाइया

इत्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौ-
तमद्वीपस्थाने तेयामभावात् । तेज्योऽपि विशेषाधिकाः
पूर्वस्यां दिशि, तेज्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्यां दिशि,
चन्द्रमूर्यद्वीपाभावात् । तेज्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः,
मानसरःसद्भावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्—(दिसा-
ण्वाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया इत्यादि) तथा दक्षिणस्यामुत्तर-
स्यां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यकेव
एव वादरास्तेजस्कायिका नान्यत्र; तत्रापि यत्र बहवो मनुष्याः
तत्र ते बहवो बाहुल्येन पाकारम्मसम्भवात्, यत्र खल्वे तत्र
स्तोकाः । तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु जरतेषु, उत्तरस्यां दिशि
पञ्चस्वैरावतेषु क्षेत्रस्याल्पत्वात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तो-
कत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः; अल्पपाकारम्मसम्भवात् ।
ततः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः स्वस्थाने
तु प्रायः समानाः । तेज्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य
संख्येयगुणत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,
अधोऽधौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यत्वात् । इदानीं वायुकायिकाना-
मल्पबहुत्वम्—(दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणमित्यादि) । इह यत्र शूपिरं तत्र वायुर्यत्र च घनं तत्र
वायवभावः । तत्र पूर्वस्यां दिशि प्रचूर्तं घनमित्यल्पा वायवः,
पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोऽधौकिकग्रामेषु सम्भवात् ।
उत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, भवननरकावासबाहुल्येन शूय-
रबाहुल्यत्वात् । ततोऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकं, उत्तर-
दिगपक्कया दक्षिणस्यां दिशि भवनानां नरकावासानां चाति-
प्रचूर्तत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्तत्र प्रभूताः पनकादयोऽनन्तकायि-
कावनस्पतयः, प्रभूताः शङ्खादयो ङीन्द्रियाः, प्रभूताः पिण्मी-
भूतयैवालायाश्रिताः कुन्धादयः त्रान्द्रियाः, प्रभूताः पद-
मायाश्रिता जमरादयश्चतुरिन्द्रिया इति ।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पच्चच्छिमेणं,
पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरे-
णं विनेसाहिया । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया पच्च-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया
पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिंदिया वि ॥

वनस्पत्यादिमृगाणि चतुरिन्द्रियसूत्रपर्यन्तानि अप्कायिक-
सूत्रवद्भावनयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा एरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उ-
त्तरदाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा
रयणप्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा सक्क-
प्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा णेरइया वायुप्पजा

पुढविपुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा पंकप्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिम-
पच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिमाण्वाएणं
सव्वत्थोवा धूमप्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा तमप्पभा
पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा अहेसत्तमा पुढविने-
रइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकसूत्रे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विज्ञाविनो नैर-
यिकाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां चात्थाल्पत्वात्, बहूनां प्रायः
संख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेज्यो दक्षिणदिग्भागविभाविनो
संख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां तत्र बाहुल्यत्वात्, तेषां
च प्रायोऽसंख्येययोजनविस्तृतत्वात्, कृष्णपाक्किकाणां तस्यां
दिशि प्राचुर्येणोत्पादाच्च । तथाहि—द्विविधा जन्तवः, शुक्रपा-
क्किकाः, कृष्णपाक्किकाश्च । तेषां लक्षणमिदम्—किञ्चिदूतपुल्लप-
रावर्तार्चमात्रसंसारस्ते शुक्रपाक्किकाः, अधिकतरसंसारजाजि-
नस्तुकृष्णपाक्किकाः उक्तञ्च—“जेसिमववूढो पुगल-परियट्ठो सेस-
ओ य संसारो । तेसुक्कयक्खिया खलु, अहोए पुण कएहपक्खो-
ओ” ॥ १ ॥ अत एव च स्तोकाः शुक्रपाक्किकाः, अल्पसंसारि-
णां स्तोकात्वात् । बहवः कृष्णपाक्किकाः, प्रचूर्तसंसारिणामतिप्र-
चुरत्वात् । कृष्णपाक्किकाश्च प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभावं
पूर्वाचार्यैरेवंयुक्तिभिरुपपृच्छते । तद्यथा—कृष्णपाक्किका दीर्घतरसं-
सारजाजिन उच्यन्ते । दीर्घतरसंसारजाजिन्श्च बहुपापोदया-
द्भवन्ति, बहुपापोदयाच्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथा-
स्वानादयात् । तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्य-
न्ते, न शेषासु दिक्षु । यत उक्तम्—“पायमिह क्रूरकम्मा, भवसि-
द्धिया वि दाहिणहेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराट्ठणेसु
गच्छन्ति” ॥ १ ॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्किका-
णामुत्पादसंभवात्, पूर्वोक्तकारणद्वयाच्च सम्भवन्ति पूर्वोत्तरप-
श्चिमदिग्भाविभ्यो दक्षिणादिना असंख्येयगुणाः । यथा च सा-
मान्यतो नैरयिकाणां दिग्विज्ञाणेनाल्पबहुत्वमुक्तमेवं प्रति-
पृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्तः सर्वत्रापि समानत्वात् । तदेवं प्रति-
पृथिव्यपि दिग्विज्ञाणेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तपि पृथिवीरधिकृत्य दिग्विज्ञाणेनाल्पबहुत्वमाह—

दाहिणेहिंतो अहेसत्तमा पुढविनेरइहिंतो छडीए त-
माए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखे-
ज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्वेहिंतो तमा-
पुढविनेरइहिंतो पंचमा धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया पुर-
च्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असं-
खेज्जगुणा । दाहिणद्वेहिंतो धूमप्पभा पुढविनेरइहिंतो
चउत्तियए पंकप्पजाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छि-
मउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दाहिणद्वेहिंतो पंकप्पजापुढविनेरइहिंतो तइयाए वा-
लुयप्पजाए पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं अ-

संखेज्जगुणा. दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्वेहिंते वाहुयप्पजापुडाविणेरण्हितो बांयाए मक्करप्पजाए पु-
द्वीए एण्डया पुग्च्छिमपच्चिम्मउत्तरेणं असंखेज्जगुणा,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्वेहिंते मक्करप्पभा
पुडाविणेरण्हितो इमी से रयणप्पजाए पुद्वीए एण्डया
पुरच्छिमपच्चिम्मउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणद्वेणं
असंखेज्जगुणा ।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्बिभाविभ्यो नैरयिकेभ्यो ये
सप्तमपृथिव्यामेव दाक्षिणात्यास्तेऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः षष्ठपृ-
थिव्यां तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्बिभाविभ्यो-
ऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपा-
पकारिणः संक्षिप्तचेष्टित्यतिर्यङ्मनुष्याः, सप्तमनरकपृथिव्या-
मुत्पद्यन्ते । किञ्चिद्धीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु
पृथिवीषु सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः बहवश्च य-
थोत्तरं किञ्चिद्धीनतरादिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येय-
गुणत्वं सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वो-
त्तरपश्चिमनरकाणाम् । एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिक्यं भाव-
यितव्यम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि
नारका असंख्येयगुणाः युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि पञ्चमपृ-
थिव्यां धूमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्बिभाविनोऽसंख्येय-
गुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दाक्षिणात्या असं-
ख्येयगुणाः । एवं सर्वास्त्रिपक्षेण वाच्यम् ।

पञ्चेन्द्रियतिरश्चामल्पबहुत्वमाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचिदियतिरिक्खजोणिया प-
च्चिम्ममेणं, पुरच्छिम्ममेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

इदं च तिर्य्यकपञ्चेन्द्रियसूत्रमप्यायसूत्रवत् ।

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तरेणं, पु-
रच्छिम्ममेणं संखेज्जगुणा, पच्चिम्ममेणं विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनुष्या दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च, पञ्चानां जगतके-
षाणां पञ्चानामेराचतकेषाणामप्यवस्थात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि
संख्येयगुणाः, केषस्य संख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽपि पश्चिमायां
दिशि विशेषाधिकाः, स्वभावत एवाधौलौकिकग्रामेषु मनुष्य-
बाहुल्यभावात् ।

भवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा जवणवासी देवा पुरच्छिम्म-
पच्चिम्ममेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका जयनवासिनो देवाः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
तत्र भवनानामल्पत्वात् । तेभ्य उत्तरदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः,
स्वस्थानतया तत्र भवनानां बाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणदिग्भा-
विनोऽसंख्येयगुणास्तत्र भवनानामतीव बाहुल्यात् । तथाहि-
निकाये २ चत्वारि चत्वारि तदनशतसहस्राग्यातिरिच्यन्ते, कु-
ष्णपाक्षिकाश्च बहवस्तत्रोत्पद्यन्ते, ततो जयन्त्यसंख्येयगुणाः ।

व्यन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाणमंतरा देवा पुरच्छिम्ममेणं,
पच्चिम्ममेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं
विसेसाहिया ।

व्यन्तरसूत्रे ज्ञातना-यत्र शुषिरं तत्र व्यन्तराः प्रचरन्ति, यत्र
घनं तत्र ना ततः पूर्वस्यां दिशि घनत्वात् स्तोका व्यन्तराः ते-
भ्योऽपरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अधोऽधौलौकिकग्रामेषु शुषिर-
सम्भवात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, स्वस्था-
नतया नगरावासबाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि वि-
शेषाधिकाः, अतिप्रभूतनगरावासबाहुल्यात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा जोडमिया देवा पुरच्छिम्मपच्च-
च्छिम्ममेणं, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

तथा सर्वस्तोका ज्योतिष्काः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
चन्द्रादित्यद्वीपेपृथानकल्पेषु कतिपयानामेव तेषां भावात् । ते-
भ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, विमानबाहुल्यात्, कु-
ष्णपाक्षिकाणां दक्षिणदिग्भाविनाञ्च । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि
विशेषाधिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रीडा-
स्थानमिति क्रीडन्त्यापृताः नित्यमासते । मानससरसि च ये म-
त्स्यादया जलचरास्ते आसन्नविमानदर्शनतः समुत्पन्नजातिस्मर-
णात् किञ्चिद्भूतं प्रतिपद्याऽनशनादि च कृत्वा कृतानिदानास्तत्रो-
त्पद्यन्ते । ततो जयन्त्योत्तराहा दक्षिणात्येभ्यो विशेषाधिकाः ।

वैमानिकानामल्पबहुत्वमाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सोहम्मं कप्पे पुरच्छिम्म-
पच्चिम्ममेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसा-
हिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा ईसाणे कप्पे पुर-
च्छिम्मपच्चिम्ममेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं
विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सणकुमारे
कप्पे पुरच्छिम्मपच्चिम्ममेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहि-
णेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा माहिदे
कप्पे पुरच्छिम्ममेणं पच्चिम्ममेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा,
दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वंज-
लोए कप्पे देवा पुरच्छिम्मपच्चिम्मउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं द्वंत्तए कप्पे देवा पुरच्छिम्मप-
च्चिम्मउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं
सव्वत्थोवा देवा महासुक्के कप्पे पुरच्छिम्मपच्चिम्मउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा
देवा सहस्मारे कप्पे पुरच्छिम्मपच्चिम्मउत्तरेणं, दाहिणेणं
असंखेज्जगुणा । तेण परं बहुसमोववन्नगा समणाउमो ।

तथा सौधर्मे कल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
वैमानिका देवाः, यतो यान्यायलिकाप्रविष्टानि विमानानि तानि
चतसृश्वीपि दिक्षु तुल्यानि, यानि पुनः पुष्पावकीर्णानि तानि
प्रभूतानि असंख्येययोजनविस्तृतानि, तानि च दक्षिणस्यामुत्त-
रस्यां दिशि, नाप्यत्र, ततः सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च
दिशि । तेभ्य उत्तरस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णवि-

मानानां बाहुल्यादसंख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेज्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, कृष्णपाक्षिकाणां प्राचुर्येण तत्र गमनात् । एवमीशानसनत्कुमारमादेन्द्रकल्पसूत्रायपि भावनीयानि । ब्रह्मलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो देवाः, यतो बहवः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्योनयो दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । शुक्लपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु, शुक्लपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्वस्तोकाः । तेभ्यो दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां बहूनां तत्रोत्पादात् । एवं लान्तकशुक्रसहस्रारसूत्रायपि ज्ञावनीयानि । आनतादिषु पुनर्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते, तेन प्रतिकल्पे प्रतिप्रैवेयकं प्रत्यनुत्तरविमानं चतसृषु दिक्षु प्रायो बहुसमा वेदितव्याः । तथा चाऽऽह—“ तेषां परं बहुसमाववन्नगा समणाऽसौ ” इति ॥

इदानीं सिद्धानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिद्धा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सिद्धाः दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि । कथमिति चेत् ? उच्यते—इह मनुष्या एव सिद्ध्यन्ति नान्ये, मनुष्या अपि सिद्ध्यन्तो येषां काशप्रदेशेष्विह चरमसमये अवगाढास्तेष्वेवाकाशप्रदेशेषूर्ध्वमपि गच्छन्ति, तेष्वेव चोपर्यवतिष्ठन्ते, न मनागपि वक्रं गच्छन्ति, सिद्ध्यन्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषु उत्तरस्यां दिशि पञ्चस्रैराद्यन्तेषु मनुष्या अल्पाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् । सुषमसुषमादौ च सिद्धेरभावादिति । तत्क्षेत्रसिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, पूर्वविदेहानां नरतैरावतक्षेत्रेभ्यः संख्येयगुणतया तद्गतमनुष्याणामपि संख्येयगुणत्वात्, तेषां च सर्वकाले सिद्धिर्भावात् । तेभ्यः पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोद्वौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

जग्यदेवादीनाम—

एणमि एं भंते ! जवियदव्वदेवाणं णरदेवाणं० जाव जावदेवाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा संखेज्जगुणा, जवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

भरतैरवतेषु प्रत्येकं द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवसम्भवात्; सर्वेष्वेकदाऽनुत्पत्तेरिति । (देवाहिदेवा संखेज्जगुणं च) भरतादिषु प्रत्येकं तेषां चक्रवर्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवोपेतैश्चप्युत्पत्तेरिति । (धम्मदेवा संखेज्जगुणं च) साधुनामेकदाऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वसद्भावादिति । (भावियदव्वदेवा असंखेज्जगुणं च) देशविरतादीनां देवगतिगामिनामसंख्यातत्वात् । (भावदेवा असंखेज्जगुणं च) स्वरूपेणैव तेषामतिबहुत्वादिति ।

अथ ज्ञावदेवविशेषाणां भयनपत्यादीनामल्पबहुत्वप्ररूपणायाह—

एणमि एं जंतं ! ज्ञावदेवाणं जवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं सोहम्मगाणं, जाव अच्चुयगाणं गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाणं य कयरे कयरोहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइया जा-

वदेवा, उवरिमगेवेज्जा भावदेवा संखेज्जगुणा, माज्जिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्चुयकप्पे देवा संखेज्जगुणा, जाव आणतकप्पे भावदेवा । एवं जहा जीवाभिगमे तिविहे देवपुरिसअप्पावहुयं० जाव जोइसिया ज्ञावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

(जहा जीवाभिगमे तिविहे इत्यादि) इह च “ तिविहे चित्ति ” विविधजीवाधिकार इत्यर्थः । देवपुराणानामल्पबहुत्वमुक्तं तथहापि वाच्यम् । भ० १२ श० ६३० । (तच्च २८ अधिकारे वेदद्वारे वदयते) (निगोदविषकं ‘ निगोद ’ शब्दे दर्शयिष्यते) (कायादिपरिचारकाणामल्पबहुत्वं ‘ परिचारणा ’ शब्दे निरूपयिष्यते)

(१८) [परीतद्वारम्] परीतापरीतनोपरीतानामल्पबहुत्वम्—

एणमि एं जंतं ! जीवाणं परित्ताणं अपरित्ताणं नोपरित्ताणं नोअपरित्ताणं य कयरे कयरोहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा परित्ता, नोपरित्ता नोअपरित्ता अणतगुणा, अपरित्ता अणंतगुणा ।

इह परीता द्विविधाः—भवपरीताः, कायपरीताश्च । तत्र भवपरीता येषां किञ्चिद्दूनाऽपार्कं पुद्गलपरावर्तमानसंसारः ; कायपरिताः प्रत्येकशरीरिणः, तत्र उज्ज्येऽपि परीताः सर्वस्तोकाः, शुक्लपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरिणां च शेषजीवापेक्षयाऽतिस्तोकत्वात् । ततो नोपरीता नोअपरीता अनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवृत्ताश्च सिद्धाः, ते चानन्ता इति । तेज्योऽपरीता अनन्तगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां साधारणवनस्पतीनां वा सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । गतं परीतद्वारम् ।

(१९) [पर्याप्तद्वारम्] पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम्—

एणमि एं जंतं जीवाणं पज्जत्ताणं अपज्जत्ताणं नोपज्जत्ताणं नोअपज्जत्ताणं य कयरे कयरोहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जत्ता नोअपज्जत्ता, अपज्जत्ता अणंतगुणा, पज्जत्ता संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तकाः, उभयप्रतिषेधवर्तिनो हि सिद्धाः, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति । तेज्योऽपर्याप्तका अनन्तगुणाः, साधारणवनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानां सर्वकालमपर्याप्तत्वेन द्रव्यमानत्वात् । तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इह सर्वबहवो जीवाः सूक्ष्माः, सूक्ष्माश्च सर्वकालमपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इति संख्येयगुणा उक्ताः । गतं पर्याप्तद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(२०) [पुद्गलद्वारम्] पुद्गलानां क्षेत्रानुपातादिभिरल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गज्ञां तेदुक्के, उहृद्वोपातिरियलोए अणंतगुणा, अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, उहृद्वोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

इदमल्पबहुत्वं पुद्गलानां क्षेत्रार्थत्वमङ्गीकृत्य व्याख्येयम्, तथा सम्प्रदायात् । तत्र क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनिः सधस्तोकाः, सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यव्यापीनीति पुद्गलद्रव्याणीति भावः । यस्मान्महात्मक-
न्या एव त्रैलोक्यव्यापिनस्ते चाल्पा इति । तेभ्य ऊर्द्धलोकाति-

यंग्लोके अनन्तगुणाः, यतस्तिर्यग्भोक्तस्य यत्सधापरितनमेकप्रा-
देशिकं प्रतरं यच्चार्धभोक्तस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकं प्रतर-
मेने के अपि प्रतरे ऊर्ध्वभोक्तितिर्यग्लोक उच्यते । ते चाऽनन्ताः
संख्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता असंख्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता अनन्त-
प्रदेशिकाः, स्कन्धाः स्पृशन्तीति द्रव्यार्थः । यः अनन्तगुणाः ते-
भ्योऽधोभोक्तितिर्यग्भोके प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयरूपे विशेषाधि-
काः, क्षेत्रस्य आयामविष्कम्भान्यां मन ग् विशेषाधिकत्वात् ।
तेभ्यस्तिर्यग्भोके असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् ।
तेभ्य ऊर्ध्वभोके असंख्येयगुणाः, यतस्तिर्यग्भोक्क्षेत्रादूर्ध्वभो-
क्क्षेत्रमसंख्येयगुणमिति । तेभ्योऽधोभोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्व-
भोकादधोभोक्तस्य विशेषाधिकत्वात् । देशानसत्तरज्जुप्र-
माणो हूर्ध्वलोकः, समधिकसत्तरज्जुप्रमाणस्त्वधोलोकः ।

संप्रति दिगनुपातेनाप्यबहुत्वमाह—

दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा पोग्गत्ता उहृदिसाए, अहोदि-
साए विसेसाहिया, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेणं
य दोवि तुह्वा असंखेज्जगुणा, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तर-
पच्चच्छिमेणं य दोवि तुह्वा विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं अ-
संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणं विसे-
साहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानाः पुत्राः सर्वस्तोका
ऊर्ध्वदिशि, इह रत्नप्रभासमचूमितलमेरुमध्ये अष्टप्रादेशिको
रुचकस्तस्माद्विनिर्गताश्चतुःप्रदेशाः, ऊर्ध्वा दिक् यावह्लोकान्तः ।
ततस्तत्र सर्वस्तोकाः पुत्राः, तेज्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः,
अधोदिगपि रुचकादेव प्रभवति । चतुःप्रदेशा यावह्लोकान्त-
स्ततस्तस्याविशेषाधिकत्वात् । तत्र पुत्रला विशेषाधिकाः, तेभ्य
उत्तरपूर्वस्यां दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकमसंख्येयगुणाः, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः सन्तस्ते द्वे अपि दिशौ रुचकाद्विनिर्गते
मुकावलिस्थिते तिर्यग्भोक्तान्तमधोभोक्तान्तमूर्ध्वलोकान्तं पयं-
वसिते, तेन क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणात्वात्तत्र पुत्रला असंख्येयगुणाः,
क्षेत्रं तु स्वस्थाने सममिति । पुत्रला अपि स्वस्थाने तुल्याः, ते-
भ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येकं विशेषाधि-
काः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । कथं विशेषाधिका इति चेत्?,
उच्यते—इह सौमनसगन्धमादनेषु सप्त सप्त कूटानि, विद्युत्प्रभमा-
न्यवन्तेनैव नव, तेषु च कूटेषु धूमिकावश्यायादिसूक्ष्मपुत्राः
प्रवृत्ताः संभवन्ति, ततो विशेषाधिकाः । स्वस्थाने तु क्षेत्रस्य प-
ञ्चतादश समानत्वात्तुल्याः । तेज्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणाः,
क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः,
अधोलौकिकप्रामेषु शुषिरभावतो बहूनां पुत्रलानामवस्थान-
त्वात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां विशेषाधिकाः, बहुभवनशुषिरभा-
वात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकाः, यत उत्तरस्यामायाम-
विष्कम्भान्यां संख्येययोजनकोट्योऽष्टाष्टप्रमाणं मानसं सरः, तत्र
ये जलचराः, पनकशैबलादयश्च सत्वास्ते अतिबहव इति तेषां
ये तैजसकामेणपुत्रलास्ते अधिकाः प्राप्यन्ते, इति पूर्वोक्तयो
विशेषाधिकाः । तदेवं पुत्रलविषयमप्यबहुत्वमुक्तम् ॥

इदानीं सामान्यतो द्रव्यविषये क्षेत्रानुपातेनाऽऽह—

खेत्ताण्वाएणं सव्वत्थोवाइं दव्वाइं तेवुक्कं, उह्लोत्थितिरि-
यलोए अणंतगुणाइं, अहोत्थोपतिरियत्तोए विसेसाहियाइं,

उह्लुत्ताए असखज्ज०, अहोत्ताए अणंतगुणाइं, तिरियलो-
ए संखिज्जगुणाइं ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानानि द्रव्याणि सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यसं-
स्पर्शानि, यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायश्च-
व्याणि पुत्रलास्तिकायस्य महास्कन्धा जीवास्तिकायस्य मारणा-
न्तिकसमुदातेनातीवसमवदता जीवास्त्रैलोक्यव्यापिनः, ते चाल्पे
इति सर्वस्तोकानि । तेज्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तस्वरूपप्रत-
रद्वयात्मके अनन्तगुणानि, अनन्तैः पुत्रद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यैः त-
स्य संस्पर्शानात्तेभ्योऽधोभोक्तितिर्यग्लोके विशेषाधिकानि, ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्भोकादधोभोक्तितिर्यग्भोक्तस्य मनाग् विशेषाधिकत्वा-
त् । तेज्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वा-
त् । तेज्योऽधोलोके अनन्तगुणानि । कथमिति चेत्?, उच्यते—इ-
हाधोभौकिकप्रामेषु काशोऽस्ति, तस्य च कालस्य तत्तत्परमाणुसं-
ख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रादेशिकद्रव्यक्षेत्रकाक्षजावपर्यायसंबन्ध-
शात्प्रतिपरएवादिद्रव्यमनन्तता, ततो भवन्त्यधोभोकेऽनन्त-
गुणानि, तेज्यस्तिर्यग्भोकेऽसंख्येयगुणानि, अधोलौकिकप्रा-
मप्रमाणानां खण्डानां मनुष्यलोके काक्षद्रव्याधारजुते संख्ये-
यानामवाप्यमानत्वात् ।

साम्प्रतं दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवाइं दव्वाइं अहेदिसाए, उह-
दिसाए अणंतगुणाइं, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छि-
मेणं दोवि तुह्वाइं असंखेज्जगुणाइं, दाहिणपुरच्छिमेणं
उत्तरपच्चच्छिमेणं य दोवि तुह्वाइं विसेसाहियाइं, पु-
रच्छिमेणं असंखेज्जगुणाइं, पच्चच्छिमेणं विसेसाहि-
याइं, दाहिणेणं विसेसाहियाइं, उत्तरेणं विसेसाहियाइं ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानानि सामान्यतो द्रव्याणि
सर्वस्तोकानि अधोदिशि प्राभ्यावर्णितस्वरूपायाम् । तेभ्य ऊर्ध्व-
दिश्यनन्तगुणानि । किं कारणमिति चेत्?, उच्यते—इह ऊर्ध्वलो-
के मेरोः पञ्चयोजनशतकं स्फटिकमयं कारणं, तत्र चन्द्रादित्यप्र-
जाऽनुप्रवेशाद् द्रव्याणां कृणादिकाक्षप्रतिभागोऽस्ति, कालस्य च
प्रागुक्तनीत्या प्रतिपरमाण्वादिद्रव्यमानन्त्यात् । तेभ्योऽनन्तगु-
णानि, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यां शान्यां, दक्षिणपश्चिमायां, तैर्ऋतको-
णे इत्यर्थः । असंख्येयानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । स्वस्थाने
तु द्रव्यान्यपि परस्परं तुल्यानि, समानक्षेत्रत्वात् । तेभ्यो दक्षिण-
पूर्वस्यामानेय्याम्, उत्तरपश्चिमायां, वायव्यकोणे इति भावः ।
विशेषाधिकानि, विद्युत्प्रभमालयवन्तकूटाश्रितानां धूमिकावश्या-
यादिशृङ्गपुत्रलद्रव्याणां बहूनां समत्वात् । तेभ्यः पूर्वस्यां
दिशि असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः
पश्चिमायां विशेषाधिकानि, अधोलौकिकप्रामेषु शुषिरभावतो
बहूनां पुत्रलद्रव्याणामवस्थानात् । ततो दक्षिणस्यां दिशि वि-
शेषाधिकानि, बहुभवनशुषिरभावात् । तत उत्तरस्यां विशेषा-
धिकानि, तत्र मानससरसि जीवद्रव्याणां तदाश्रितानां तैजस-
कामेणपुत्रलस्कन्धद्रव्याणां च जूयसां भावात् ।

सम्प्रति परमाणुपुत्रलानां संख्येयप्रदेशानामसंख्येयप्रदेशाना-
मनन्तप्रदेशानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—

एणमि एणं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपदेसियाणं
असंखेज्जपदेसियाणं अणंतपदेसियाणं य खंधाणं दव्वह-

याए पएसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए, परमाणुपोगगला दव्वट्टयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्टयाए परमाणुपोगगला अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दव्वट्टयाए ते चेव, पदेसट्टयाए अणंतगुणा, परमाणुपोगगला दव्वट्टपदेसट्टयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव य पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा ॥

व्याख्यानं पाठसिद्धम् । नवरमत्राल्पबहुत्वभावनायां सर्वत्र तथास्वाज्ञाव्यं कारणं वाच्यम् ।

संप्रत्येतेषामेव क्षेत्रप्राधान्येनाल्पबहुत्वसाह—

एसि णं जंते ! एगपएसोगाढाणं संखेज्जपएसोगाढाणं असंखेज्जपएसोगाढाणं य पोगगलाणं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पुग्गला दव्वट्टयाए, संखेज्जपएसोवगाढा पुग्गला दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोवगाढा पोगगला दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा; पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पोगगला, पदेसट्टयाए संखेज्जपदेसोगाढा पोगगला, पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोगाढा पोगगला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोगगला, दव्वट्टपदेसट्टयाए संखेज्जपदेसोगाढा पोगगला दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोगगला दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्टयाए असंखेज्जगुणा । एसि णं जंते ! एगसमयट्ठितीयाणं संखेज्जसमयट्ठितीयाणं असंखेज्जसमयट्ठितीयाणं य पोगगलाणं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयट्ठितीया पोगगला दव्वट्टयाए, संखेज्जसमयट्ठितीया पोगगला दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जसमयट्ठितीया पोगगला दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठितीया पोगगला, पदेसट्टयाए संखेज्जसमयट्ठितीया पोगगला, पएसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जसमयट्ठितीया पोगग-

ला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठितीया पुग्गला, दव्वट्टपएसट्टयाए संखेज्जसमयट्ठितीया पोगगला दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जसमयट्ठितीया पोगगला दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । एसि णं जंते ! एगगुणकाज्ञाणं संखेज्जगुणकालाणं असंखेज्जगुणकाज्ञाणं अणंतगुणकाज्ञाणं य पोगगलाणं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! जहा परमाणुपोगगला तहा जाणियव्वा । एवं संखेज्जगुणकालाणं वि । एवं सेसाणं वि वाणरसंगंथा जाणियव्वा, फासाणं कक्खरुमउयगरुलहुयाणं जहा एगपदेसोगाढाणं जाणियं तहा जाणियव्वं, अवसेसा फासा जहा वण्णा भणिया तहा जाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाणुकाद्यनन्ताणुकाः स्कन्धा अपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढा आधाराधेययोरभेदोपचारादेकद्रव्यत्वेन व्यवहियन्ते । ते श्रुतंभूता एकप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वस्तोकानि, लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानीत्यर्थः । नहि स कश्चिदेवंभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति, य एकप्रदेशावगाहनपरिणामपरिणतानां परमाण्वादीनामवकाशप्रदानपरिणामेन परिणतो न वर्तते इति । तेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते—इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्रव्यणुकाद्यनन्ताणुकास्कन्धा द्विप्रदेशावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथाभूतानि पुद्गलद्रव्याणि पूर्वोक्तैभ्यः संख्येयगुणानि । तथाहि—सर्वलोकप्रदेशास्तत्त्वतोऽसंख्येया अपि अस्तत्कल्पनया दश परिकल्प्यन्ते, ते च प्रत्येकस्मिन्तायां दशैवेति दश एकप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि सन्धानि, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यग्रहणान्यमोक्षणद्वारेण बहवो द्विकसंयोगा लभ्यन्ते, इति भवत्येकप्रदेशावगाढेभ्यो द्विप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि संख्येयगुणानि । एवं तेभ्योऽपि त्रिप्रदेशावगाढानि । एवमुक्तोत्तरं यावदुक्तद्रव्यसंख्येयप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतत्—एकप्रदेशावगाढेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढपुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणा इति । एवं तेभ्योऽसंख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, असंख्यातस्य असंख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासूत्रं द्रव्यार्थपर्यायार्थतासूत्रं च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालभावसूत्राण्यपि सुगमत्वात्स्वयं ज्ञावयितव्यानि, नवरं “ जहा परमाणुपोगगला तहा जाणियव्वा ” इति । यथा प्राक् सामान्यतः पुद्गला उक्तास्तथा एकगुणकाज्ञाकादयोऽपि वक्ष्याः । ते चैवम्—“ सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा एगगुणकालगा परमाणुपोगगला दव्वट्टयाए एगगुणकाज्ञा अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा एगगुणकाज्ञा संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा एगगुणकालगा असंखेज्जगुणा, पएसट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा एगपरमाणुपोगगला एगगुणकाज्ञा अणंतगुणा ” इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालकानामनन्तगुणकालकानामपि वाच्यम् । एवं शेषवर्णगन्धरसा अपि वक्ष्याः । कर्कशमृदुगुरुलघवः स्पर्शा यथा एकप्रदेशावगाढा भणितास्तथा

वक्तव्याः । ते चैवम्—“सर्वथोवा एगपएसोगाढा एगगुणक-
कखरुफासा दव्वट्टयाए संखेज्जपएसोगाढा एगगुणककखरु-
फासा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा” इति । एवं संखेयगुणकक-
शस्पर्शा असंखेयगुणककशस्पर्शा वाच्याः । एवं मृदुगुरुत्त-
षव अवशेषाश्चत्वारः शीतादयः स्पर्शाः, यथा घर्णादय उक्ता-
स्तथा वक्तव्याः । तत्र पाठोऽप्युक्तानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं
भावनीयः । प्रज्ञा० ३ पद ।

एएसि णं जंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपदेसियाण य खं-
धाण य दव्वट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! दुपदेसिएहिंतो खं-
धेहिंतो परमाणुपोग्गला दव्वट्टयाए बहुया । एएसि णं भंते !
दुपदेमियाणं तिपदेमियाण य खंधाणं दव्वट्टयाए कयरे
कयरेहिंतो बहुया० ? गोयमा ! तिपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो
दुपदेमिया खंधा दव्वट्टयाए बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव
दसपदेसिएहिंतो एवपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए बहुया ।
एएसि णं जंते ! दसपएसो पुच्छा ? गोयमा ! दसपदेसिए-
हिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए बहुया ।
एएसि णं भंते ! संखेज्जा पुच्छा ? गोयमा ! संखेज्जपए-
सिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपदेमिया खंधा दव्वट्टयाए
बहुया । एएसि णं जंते ! असंखेज्जपदेमिया पुच्छा ? गोयमा !
असंखेज्जपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो अणंतपदेमिया खंधा द-
व्वट्टयाए बहुया । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुप-
देसियाण य खंधाणं पदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो बहुया ?
गोयमा ! परमाणुपोग्गलेहिंतो दुपदेसिया खंधा पदेसट्टयाए
बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव एवपएसिएहिंतो खंधे-
हिंतो दसपएसिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । एवं सव्वत्थ
पुच्छियव्वं । दसपएसिएहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया
खंधा पदेसट्टयाए बहुया, संखेज्जपएसिएहिंतो खंधेहिंतो
असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । एएसि णं भंते !
असंखेज्जपएसियाणं पुच्छा ? गोयमा ! अणंतपएसिएहिंतो
खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा पएसट्टयाए बहुया । ए-
एसि णं जंते ! एगपएसोगाढाणं दुपदेसोगाढाण य पोग्ग-
लाण य दव्वट्टयाए कयरे कयरेहिंतो विसेसाहिया वा ? गो-
यमा ! दुपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो एगपदेसोगाढा पोग्ग-
ला दव्वट्टयाए विसेसाहिया । एवं एएणं गमएणं तिपदेसो-
गाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्टयाए
विसेसाहिया जाव दसपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो एव
पदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्टयाए विसेसाहिया । एएसि
णं जंते ! दसपएसो पुच्छा ? गोयमा ! दसपदेसोगाढेहिंतो
पोग्गलेहिंतो संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया,
संखेज्जपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपएसोगाढा
पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया । एवं पुच्छा सव्वत्थ जाणियव्वं ।

एएसि णं जंते ! एगपएसोगाढाणं दुपदेसोगाढाणं पोग्गलाणं
पदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा !
एगपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपदेसोगाढा
पोग्गला पदेसट्टयाए विसेसाहिया । एवं जाव एवपदेसोगा-
ढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दसपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्टया-
ए विसेसाहिया । दसपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्ज-
पएसोगाढा पोग्गला पदेसट्टयाए बहुया । संखेज्जपएसोगा-
ढेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला पएस-
ट्टयाए बहुया । एएसि णं जंते ! एगसमयट्ठिइयाणं दुस-
मयट्ठिइयाण य पोग्गलाणं दव्वट्टयाए जहा ओगाह-
णा वत्तव्वया, एवं उितीए वि । एएसि णं जंते ! एगगु-
णकात्तयाणं दुगुणकात्तयाण य पोग्गलाणं दव्वट्टयाए ।
एएसि णं जहा परमाणुपोग्गलादीणं तदेव वत्तव्वया नि-
रवसेसा, एवं सव्वेमिं वएणगंधरसाणं । एएसि णं भंते !
एगगुणककखरुफाणं दुगुणककखरुफाण य पोग्गलाणं दव्वट्ट-
याए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा !
एगगुणककखरुफेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुगुणककखरुफा पोग्गला
दव्वट्टयाए विसेसाहिया, एवं जाव एवगुणककखरुफेहिंतो
पोग्गलेहिंतो दसगुणककखरुफा पोग्गला दव्वट्टयाए विसे-
साहिया, दसगुणककखरुफेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जगुण-
ककखडा पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया । संखेज्जगुणक-
कखरुफेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जगुणककखरुफा पो-
ग्गला दव्वट्टयाए बहुया । असंखेज्जगुणककखडेहिंतो पो-
ग्गलेहिंतो अणंतगुणककखडा पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया ।
एवं पदेसट्टयाए सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वं, जहा ककखरुफा ।
एवं मउयगुरुयत्तहुया वि सीयउसिणणिद्धलुक्खा जहा
वएणा । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपए-
सियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाणं खंधाणं द-
व्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतप-
देसिया खंधा दव्वट्टयाए, परमाणुपोग्गला दव्वट्टयाए
अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, पदे-
सट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्टयाए
परमाणुपोग्गला, अपदेसट्टयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदे-
सिया खंधा पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया
खंधा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपएसट्टयाए स-
व्वत्थोवा अणंतपदेसिया, दव्वट्टयाए ते चैव, पदेसट्टयाए
अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्टयाए अपएसट्टयाए
अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगु-
णा, ते चैव पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया

खंथा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए अ-
संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! एगपदेसोगाढाणं संखेज्जप-
देसोगाढाणं असंखेज्जपदेसोगाढाणं पोग्गन्नाणं दव्वट्टयाए
पएसट्टयाए दव्वट्टपएसट्टयाए कयरे कयरेहिंते० जाव विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा पोग्गला
दव्वट्टयाए, संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्टयाए
संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ट-
याए असंखेज्जगुणा, पएसट्टयाए सव्वत्थोवा एगप-
एसोगाढा पोग्गला, पएसट्टयाए संखेज्जपएसोगाढा पोग्ग-
ला, पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पो-
ग्गला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपएसट्टयाए सव्व-
त्थोवा एगपएसोगाढा पोग्गला, दव्वट्टपएसट्टयाए संखेज्ज-
पएसोगाढा पोग्गला, दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदे-
सट्टयाए संखेज्जगुणा । असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला द-
व्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगु-
णा । एएसि एं जंते ! एगममयट्ठितीयाणं संखेज्जममयट्ठि-
तीयाणं असंखेज्जममयट्ठितीयाणं य पोग्गलाणं जहा ओ-
गाहणाए तहा त्रितीए वि जाणियव्वं अप्पावहुगं । एए-
सि एं जंते ! एगगुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं
असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोग्गला-
णं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपएसट्टयाए एएसि जहा
परमाणुपोग्गलाणं अप्पावहुगं तहा एएसि पि अप्पा-
वहुगं । एवं सेसाणं वि वण्णमंथरमाणं । एएसि एं भं-
ते ! एगगुणककखमाणं संखेज्जगुणककखमाणं असंखेज्ज-
गुणककखमाणं अणंतगुणककखमाणं य पोग्गलाणं य दव्व-
ट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंते० जाव
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगगुणककखमा
पोग्गला दव्वट्टयाए, संखेज्जगुणककखमा पोग्गला दव्वट्ट-
याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणककखमा पोग्गला दव्वट्ट-
याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणककखमा पोग्गला दव्वट्ट-
याए अणंतगुणा, पदेसट्टयाए एवं चेव । एवरं संखेज्जगु-
णककखमा पोग्गला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । सेमं
तं चेव । दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगगुणककखमा पो-
ग्गला, दव्वट्टपदेसट्टयाए संखेज्जगुणककखमा पोग्गला द-
व्वट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जगुणककखमा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव
पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणककखमा दव्वट्टयाए
अणंतगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । एवं मउ-
यगुरुयलहुया वि अप्पावहुगं । सीयउसिणणिप्पलुक्खा-
णं जहा वण्णणं तदेव ॥

टीका सुगमा प्रज्ञापनापात्रेण गतार्था चेति नहोपयस्यते ।
ज० २७ अ० ४ उ० ।

(प्रयोगादिपरिणतानामलपवहुत्वं 'परिणाम' शब्दे वक्ष्यते)
(आहारायाऽस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां च पुञ्जानां
परम्परमलपवहुत्वं- 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४०३ पृष्ठे
प्रतिपादयिष्यते) (प्रत्याख्यानविषयमलपवहुत्वं 'पञ्चकखाण'
शब्दे वक्ष्यते) (प्रवेशनकमाश्रित्य 'पवेसरण' शब्दे
निरूपयिष्यते)

(२१) [बन्धद्वारम] आयुःकर्मबन्धकादीनामलपवहुत्वं-

एएसि एं जंते ! जीवाणं आउस्स कम्मस्स बंधगाणं
अबंधगाणं अपज्जत्ताणं पज्जत्ताणं मृत्ताणं जागराणं स-
मोहयाणं असमोहयाणं सातावेदगाणं असातावेदगाणं इं-
दियउवउत्ताणं एोइंदियउवउत्ताणं सागारोवउत्ताणं अ-
णागारोवउत्ताणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा
दुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा
आउस्स कम्मस्स बंधगा, अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, मृत्ता
संखिज्जगुणा, समोहया संखिज्जगुणा, सातावेदगा संखि-
ज्जगुणा, इंदियउवउत्ता संखिज्जगुणा, अणागारोवउत्ता
संखिज्जगुणा, सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा, एोइंदियउ-
वउत्ता विसेसाहिया, असातावेदगा विसेसाहिया, अम-
मोहिया विसेसाहिया, जागरा विसेसाहिया, पज्जत्तगा
विसेसाहिया, आउस्स कम्मस्स अबंधगा विसेसाहिया ॥

इहायुःकर्मबन्धकावन्धकानां पर्याप्तापर्याप्तानां सुप्तजाग्रतां
समवहनासमवहतानां सातावेदकासातावेदकानाम, इंद्रियोप-
युक्तनोऽन्द्रियोपयुक्तानां साकारोपयुक्ताऽसाकारोपयुक्तानां स-
मुदायेनाऽलपवहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र प्रत्येकं तावद् भूमः-येन समु-
दाये सुखेन तदवगम्यते । तत्र सर्वस्तोका आयुषो बन्धकाः, अ-
बन्धकाः संख्येयगुणाः, यतोऽनुभूयमानजयायुगपि त्रिजागाव-
शेषपारभाविकमायुर्जीवा वधन्ति, त्रिभागात्रिभागाद्यवशेष
वा, ततोऽर्द्धौ त्रिभागावबन्धकाल एकं त्रिभागो बन्धकाल
इति बन्धकेभ्योऽबन्धकाः संख्येयगुणाः । तथा सर्वस्तोका अ-
पर्याप्तकाः, पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । एतच्च सूक्ष्मजीवानधि-
कृत्य वेदितव्यम् । सूक्ष्मेऽपि हि बाह्यो व्याघातो न भवति, ततस्तद-
जावद्ब्रह्मनां निष्पत्तिः, स्तोकानामेव चानिष्पत्तिः । तथा सर्व-
स्तोकाः सुप्ताः, जागराः संख्येयगुणाः, एतदपि सूक्ष्मानेकेन्द्रि-
यानधिकृत्य वेदितव्यम्, यस्मादपर्याप्ताः सुप्ता एव लभ्यन्ते,
जागरा अपि । उक्तं मूलटीकायाम्- "जम्हा अपज्जत्ता सुत्ता ल-
ज्जति केइ अपज्जत्तगा जेसिं संखिज्जा ससया अतीता ते य
थोवा, इयरे वि थोयगा चेव, सेसा जागरा पज्जत्तगा संखिज्ज-
गुणा" इति । जागराः पर्याप्तास्तेन संख्येयगुणा इति । तथा स-
मवहनाः सर्वस्तोकाः, यत इह समवहता मारणान्तिकसमुद्घा-
तेन परिगृह्यन्ते, मारणान्तिकश्च समुद्घातो मरणकावे, न शेष-
कालं, तत्राऽपि न सर्वेषामिति सर्वस्तोकाः । तेभ्योऽसमवहताः
संख्येयगुणाः, जीवनकालस्यातिबहुत्वान् । तथा सर्वस्तोकाः
सातावेदकाः, यत इह बहवः साधारणशरीरा अल्पे प्रत्येकश-
रीरिणः, साधारणशरीराश्च बहवोऽसातावेदकाः, स्वल्पाः सा-
तावेदिनः, प्रत्येकशरीरिणस्तु चूयांसः सातावेदकाः, स्तोका
असातावेदिनः, ततः स्तोकाः सातावेदकाः, तेभ्योऽसातावेदकाः

संख्येयगुणाः, तथा सर्वस्तोका इन्द्रियोपयुक्ताः । इन्द्रि-
योपयोगो हि प्रत्युत्पन्नकाव्यविषयः, यतः तदुपयोगकाल-
स्य स्तोक्तत्वात् पृच्छासमये स्तोका अपाव्यन्ते । यदा तु तमे-
वार्थमिन्द्रियेण दृष्ट्वा विचारयत्यथ संख्याऽपि तदा नोऽन्द्रियो-
पयुक्तः स व्यपदिश्यते । ततो नोऽन्द्रियोपयोगस्यातीतानागत-
कालविषयतया बहुकालत्वात्संख्येयगुणा नोऽन्द्रियोपयुक्ताः,
तथा सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगकालस्य
स्तोक्तत्वात् । साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अनाकारोपयोग-
काव्यमाकारोपयोगस्य संख्येयगुणत्वात् । इदानीं समुदाय-
गतं सूत्रोक्तमन्यदुत्वं भाव्यते, सर्वस्तोका जीवाः आयुष्क-
र्मणो बन्धकाः, आयुर्बन्धकालस्य प्रतिनियतत्वात् । तेन्योऽपर्या-
प्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्ता अनुनूयमानभवन्निभागाद्यव-
शेषायुषः पारभाषिकमायुर्बध्नन्ति, ततो द्वौ त्रिभागावबन्ध-
कालौ, एकोऽबन्धकाल इति बन्धकालादबन्धकालः संख्येय-
गुणः, तेन संख्येयगुणा एवाऽपर्याप्ता आयुर्बन्धकेभ्यः, तेन्यो-
ऽपर्याप्तेभ्यः मुक्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्तेषु च पर्याप्तेषु
च मुक्ता बध्यन्ते । पर्याप्ताश्चापर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणाः, इत्य-
पर्याप्तेभ्यः मुक्ताः संख्येयगुणाः, तेभ्यः समवहताः संख्ये-
यगुणाः, बहूनां पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषु च मारणान्तिकसमुद्भातेन
समवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः सातावेदकाः
संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धकापर्याप्तैः समेष्वपि सातावेदकानां
लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः इन्द्रियोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, असा-
तवेदकानामपि इन्द्रियोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽना-
कारोपयोगोपयुक्ताः, इन्द्रियोपयोगेषु नोऽन्द्रियोपयोगेषु वा
ऽनाकारोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयुक्ताः
संख्येयगुणाः, इन्द्रियोपयोगेषु नोऽन्द्रियोपयोगेषु साकारोप-
योगकालस्य बहुत्वात् । तेभ्यो नोऽन्द्रियोपयुक्ता विशेषाधिकाः,
नोऽन्द्रियाऽनाकारोपयुक्तानामपि तत्र प्रकृतेष्वपि, साकारानाका-
रोपयुक्तानामपि तत्र प्रकृतेष्वपि । अत्र विनयेजनानुग्रहार्थमसद्भा-
वस्थापनया निदर्शनमुच्यते-इह सामान्यतः किल साकारोप-
युक्ता द्विनवत्यधिकं शतम् १६२ । ते च किल द्विधा-इन्द्रियसाका-
रोपयुक्ताः, नोऽन्द्रियसाकारोपयुक्ताश्च । तत्रेन्द्रियसाकारोपयु-
क्ताः किलाऽतीवस्तोका इति विशतिसंख्याः कल्पन्ते ; शेषं
द्विसप्तत्युत्तरं शतम् १७२ । नोऽन्द्रियसाकारोपयुक्ता नोऽन्द्रिया-
नाकारोपयुक्ताश्च द्विपञ्चाशत्कल्पाः । ततः सामान्यतः साकारो-
पयुक्तेभ्यः इन्द्रियसाकारोपयुक्तेषु विशतिकल्पेभ्योऽपनीतेषु द्वि-
पञ्चाशत्कल्पेषु अनाकारोपयुक्तेषु तेषु मध्ये प्रकृतेषु द्वे शते च-
तुर्विंशत्यधिकं भवतः । ततः साकारोपयुक्तेभ्यो नोऽन्द्रियोपयु-
क्ता विशेषाधिकाः, तेन्योऽसातवेदका विशेषाधिकाः, इन्द्रियो-
पयुक्तानामप्यऽसातवेदकत्वात् १० । तेभ्योऽसमवहता विशेषा-
धिकाः, सातवेदकानामप्यसमवहतत्वं भाव्यते । तेभ्यो जागरा वि-
शेषाधिकाः, समवहतानामपि केषांचिज्जागरत्वात् १२ । तेभ्यः पर्या-
प्ता विशेषाधिकाः, मुक्तानामपि केषांचिन् पर्याप्तत्वात् । मुक्ता हि
पर्याप्तापर्याप्ता अपि भवन्ति ; जागरास्तु पर्याप्ता एवेति नियमः
१३ । तेभ्योऽपि पर्याप्तेभ्यः आयुःकर्माध्वन्धका विशेषाधिकाः,
अपर्याप्तानामप्ययुःकर्माध्वन्धकाभावात् १४ । इदमेवावपवहुत्वं
विनयेजनानुग्रहाय स्थापनाराशिभिरुपदर्श्यते-इह द्वे पङ्क्तौ उ-
पयोग्यभावेन न्यस्येते । तत्रोपगित्त्यां पङ्क्तौ आयुःकर्माध्वन्धका
अपर्याप्ताः मुक्ताः समवहताः सातवेदका इन्द्रियोपयुक्ता अनाका-
रोपयुक्ताः क्रमेण व्याव्यन्ते, तस्या अधस्तन्यां पङ्क्तौ तेषामेव

पदानामधस्ताद् यथासंख्येयमायुर्बन्धका पर्याप्ता जागरा अस-
मवहता असातवेदका नोऽन्द्रियोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः । साप-
ना चैयम्-आद्यमिति तत्परिमाणं संख्यायामेकः स्थाप्यते । ततः
शेषपदानि किल जघन्येन संख्येयगुणानीति द्विगुणा द्विगुणास्त-
पु स्थाप्यते । तद्यथा-द्वौ चत्वार अष्टौ पौनःश द्वाविंशत् चतुः-
षष्टिः, सर्वोऽपि जीवराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया
षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः परिकल्प्यते । ततोऽस्मादश-
रायुर्बन्धकादिगताः संख्याः शोधयित्वा यत् शेषमवतिष्ठते तदा-
युर्बन्धकादीनां परिमाणे स्थापयितव्यम् । तद्यथा-आयुर्बन्धका-
दिपदे द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके, शेषेषु यथोक्तक्रमं द्वे शते, चतुष्प-
ञ्चाशदधिके द्वे शते, द्विपञ्चाशदधिके द्वे शते, अष्टचत्वारिंशद-
धिके द्वे शते, चत्वारिंशदधिके द्वे शते, चतुर्विंशत्यधिके द्वे शते-
वत्यधिकं शतम् । एवं च सति उपरितनपाङ्कगतान्यनाकारो-
पयुक्तपर्यन्तानि पदानि संख्येयगुणानि, द्विगुणद्विगुणाधि-
कत्वात् । ततः परं साकारोपयुक्तपदमपि संख्येयगुणम्, त्रिगुण-
त्वात् । शेषाणि तु नोऽन्द्रियोपयुक्तादीनि प्रतिलोमं विशेषाधि-
कानि, द्विगुणत्वस्यापि ह्यचिदभावात् । प्रश्ना० ३ पद ।

(प्रकृतिबन्धादीनाम्)

सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं, प्रकृतयः प्रदे-
शाश्च तत्कार्यं वर्तन्ते । तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि का-
रणं, स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्था-
नानि कारणम्, अनुज्ञागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्त इति कृत्वा
सप्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्तुराह-

संदिग्धसंख्येयजंसे, जोगघाणाणि पर्यदिच्छेभ्यो ।

विश्वंजवसाया-ऽणुनागठाणा असंख्यगुणा ॥८५॥

योगो वीर्यम्; तस्य स्थानानि वीर्याविभागान्त्रासङ्घातरूपाणि । कि-
यन्ति पुनस्तानि भवन्ति इ, इत्याह- (संदिग्धसंख्येयजंसे (त्ति) श्रेणि-
रसंख्येयांशः श्रेण्यसंख्येयांशः । एतदुक्तं भवति-श्रेणैर्वैद्यमा-
णस्वरूपाया असंख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति, ताव-
न्ति योगस्थानानि । एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति
शेषः । तत्र यथेनानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते- इह कि-
ल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यवर्धयुक्तस्य प्रदेशाः के-
चिदल्पवीर्ययुक्ताः केचित्तु बहुबहुतरबहुतमवीर्यापेताः ; तत्र
सर्वजघन्ययुक्तवीर्यस्यापि प्रदेशस्य संवन्धि वीर्यं केवलप्रशा-
ल्येदंन द्विगुणमानसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान्
प्रयच्छति, तस्यैवान्तरवीर्ययुक्तप्रदेशो यद्वीर्यं तदेतज्योऽसंख्ये-
यगुणान् भागान् प्रयच्छति ।

उक्तं च-

“ पञ्चाप विजंता, अमंखलोणाण जत्तियपपसा ।

तत्तियवीरिषभागा, जीवपपसम्मि पक्केके ॥ १ ॥

सन्वजहन्नगविरिण, जीवपपसम्मि तत्तिया संखा ।

तत्तो असंखगुणियं, बहुविरिणं जियपपसम्मि ” ॥ २ ॥

भागा अविनागपरिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्व-
स्तोका विनागपरिच्छेदकालितानां लोकासंख्येयभागवत्यसं-
ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसंख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपरि-
च्छेदतया जघन्यैका वर्गणा । तत एकेन योगपरिच्छेदनाधिका-
नां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा । एवमेकैकयोगप-

रिच्छेदवृद्धा वर्द्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा धनीकृतशोकाशश्रेणेरसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः ।

एताश्चेतावत्योऽप्यसत्कल्पनया पदं स्थाप्यन्ते—

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा मसंख्येयवीर्यनागान्विताः । अथ सत्कल्पनया प्रयत्नयः स्थाप्यन्ते, एताश्चेतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्शकमित्युच्यते । अथ स्पष्टं इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पष्टं वर्गणा यत्र तत् । तत ऊर्ध्वमेकैकं द्वयादिभिर्वा वीर्यपरि-

च्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते । किं तर्हि ? प्रथमस्पर्शकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपरिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशाः, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्शकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागैनाधिकानां समुदायो द्वितीयवर्गणा । एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि भ्रूयसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणा वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पष्टकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न भवति । किं तर्हि—असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्शकमारच्यते । पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्शकानि श्रेष्ठसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैतावतां स्पष्टकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितं, तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः, अननैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते । तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थम् । इत्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां काशभेदेनैकजीवस्य वा भ्रूणेरसंख्येयभागवर्तिभः प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । ननु जीवानामनन्तत्वात्तद्देशाद्योगस्थानान्यनन्तानि कस्मान्न भवन्ति ? नैतदेवम्—यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा वर्तन्ते, त्रसास्त्वैकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसंख्याता वर्तन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवर्तितमतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमवतिष्ठन्ते । ततः परमसंख्येयगुणवृद्धेः प्रतिसमयमन्योन्ययोगस्थानकेषु संक्रामन्ति, पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतन्तुरः समयान् यावद्वर्तन्ते, ततः परमन्ययोगस्थानकमुपजायते, स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानके तु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेषु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुरः, क्वचित्पञ्च, क्वचित् पदं, क्वचित् सप्त, क्वचिदष्टौ समयान् यावद्वर्तन्ते इति । अयं चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसदृकारिकारणवशात्संक्षिप्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः २, असत्यामृषामनोयोगः ४ । सत्यवाग्योगः १, असत्यवाग्योगः २, सत्यमृषावाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४ । औदारिककाययोगः १,

औदारिकमिश्रकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिश्रकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिश्रकाययोगः ६, कार्मणकाययोगजैतः पञ्चदशधा प्रोक्त इत्यलं प्रसंगेन । एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्येयगुणाः असंख्यातगुणिताः । (पयमि ति) भेदशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् प्रकृतिभेदात् स्थितिभेदाच्च ज्ञानावरणादीनां भेदाः । “ असंख्यगुणं ति ” पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत्सर्वत्र योजनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकदिष्ववधिज्ञानदर्शनयोः तयोपशमवैचित्र्यादसंख्यातास्तावद्भेदा भवन्ति । ततश्च तदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणभेदाः संगच्छन्ते, वैचित्र्येण वरुस्यैव विचित्रकृपोपशमोपपत्तेरिति । कथं पुनः तयोपशमवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदत्वं प्रतीयते ? इति चेत् । उच्यते—केत्रतारतम्येनेति । तथाहि—त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगाहनामानं जघन्यमवधिद्विकस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम् । यदाह सकलश्रुतपारदृशा विभानुप्रदकाम्यया विहितानेकशास्त्रसंदर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—“ जावह्य तिसमयाहा—रगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स । ओगाहणा जहन्ना, ओहीखित्तं जइत्तं तु ” ॥ १ ॥ उत्कृष्टं तु सर्वबहुतैजस्कायिकजन्तूनां शुचिः सर्वतो जमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीमदाराध्यादाः—“ सख्यबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जुं । खिव्वं सव्वदि—सागं, परमोही खित्तिनिहिदुं ” ॥ १ ॥ इति । ततो जघन्यात् क्षेत्रादारज्य प्रदेशवृद्ध्या प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन प्रवति । अतस्त्वावरकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुद्यवैचित्र्याच्चासंख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाभित्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुद्यवैचित्र्याच्चासंख्याता भेदाः संपद्यन्ते इति ।

उक्तं च—

“ जग्हा उ ओहिविसओ, उक्कोसे सव्वबहुयसिहिस्सई ।
जत्तियमित्तं फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥ १ ॥
तत्तारतम्मभेया, जेण बहू हुंति आधरणजणिया ।
तेणासंखगुणत्तं, पयमीणं जोगओ जाण ” ॥ २ ॥

उत्तसुणामानुपूर्वीणां बन्धोद्यवैचित्र्येणासंख्याता भेदाः, ते च लोकस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्चतकचूर्णिकारोक्ता विशेषाः । ननु जीवानामनन्तत्वात्तेषां बन्धोद्यवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्मान्न भवन्ति ? नैतदेवम्, सदृशानां बन्धोद्ययानामेकत्वेन विवर्तितत्वादिसदृशास्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति । ते च भेदाः प्रकृतिभेदत्वात्प्रकृतय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्यातगुणाः प्रकृतयः, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो बध्यन्ते इति । तथा तेचरप्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदाः स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्तसमयाधिकान्तर्मुहूर्तत्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिलक्षणा असंख्यातगुणा भवन्ति । एकैकस्याः प्रकृतेरसंख्यातैः स्थितिविशेषैर्वाध्यमानत्वादेकमेव हि प्रकृतिभेदं काञ्चीबोध्यैव स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदभ्येन, कदाचिदन्यतरेण, कदाचिदन्यतमेनैवेवमेकं प्रकृतिभेदमेकं जीवमाश्रित्यासंख्याताः स्थितिभे-

दा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतिः सर्वजीवानांश्चित्य प्रकृतिभेदे-
च्यः ? स्थितिभेदः नामसंख्यातगुणस्त्वित्यतः प्रकृतिभेदे-
भ्यः स्थितिभेदः समख्यातगुणा भवन्तीति : तथा स्थि-
तिभेदेभ्यः सकाशात् स्थितिवन्धाध्यवसायाः पदैकदेशे पद-
समुदाये पनाद्यात् स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगु-
णानि । तत्र स्थितिः स्थितः ? कर्मणोऽसंख्यानं, तस्या बन्धः स्थि-
तिबन्धः । अध्यवसानान्यध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीव-
परिणामविशेषाः तिष्ठन्ति जीवा पश्चिन्ति स्थानानि, अध्यवसा-
या एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि, स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थि-
तिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिचश-
पोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते । उ-
त्तरे तु स्थितिचशपोऽसंख्येय यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यते ;
अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यात-
गुणानि सिद्धान्तं नवन्ति । तथा- (अणुभागघाणंति) पदै-
कदेशे पदसमुदायोपचारादणुभागस्थानान्यनुभागवन्धाध्यव-
सायस्थानानि, तत्राणु पश्चाद्वन्धात्तरकालं भव्यते सेव्यतेऽणुभू-
यत इत्यनुनागे रसः, तस्य बन्धोऽणुनागबन्धः, अध्यवसानान्य-
ध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । ति-
ष्ठन्ति जीवा पश्चिन्ति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्य-
वसायस्थानानि, अनुभागवन्धस्य कारणान्नान्यध्यवसायस्था-
नान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिवन्धाध्यवसायस्था-
नैर्भ्यस्तान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानं
होकेकमन्तमुद्भूतप्रमाणमुक्तम् । अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानं
त्वैकैकं जघन्यतः सामायिकम्, उद्भूतस्त्वष्टुसामायिकान्तमेवो-
क्तमत एकस्मिन्नापि नगरकलर । स्थितिवन्धाध्यवसायस्थाने त-
दन्तर्गता नगरान्तर्गताश्चैर्निर्चिह्नकल्पानि नानाजीवान् काल-
भेदेनैककर्तृत्वात् काजनेनैककर्तृत्वं वा समाश्रित्यासंख्येयलो-
काकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति ।
तथाहि-जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिवन्धाध्यवसायस्था-
नानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं
तस्मिन्नापि देशैककालभावजीवभेदेनासंख्येयलोकाकाशप्र-
देशप्रमाणान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्विती-
यदणु तु तान्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्ते इति सर्वे-
श्यापि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानेषु भावनाः कार्याः । अतः स्थि-
तिवन्धाध्यवसायस्थानैर्भ्योऽणुनागवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्ये-
यगुणानि ।

तत्रो कम्पपणसा, अणंतगुणिया तत्रो रसच्छेया ।

ततस्तेभ्योऽणुभागवन्धाध्यवसायस्थानैर्भ्यः, कर्मप्रदेशाः कर्म-
स्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः-प्रत्येकम-
भ्या अनन्तगुणैः सिद्धान्तान्तगणवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नान्त-
व्या अनन्तगुणानिद स्कन्धानि मिथ्याव्यादिभिर्हन्तुः प्रतिमयं जी-
वा गृह्णन्त्यनुक्तम् । अणुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वोप-
पन्नसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवार्थमिदानीं, यतोऽणुभाग-
वन्धाध्यवसायस्थानैर्भ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति ।
तथा(तत्रो रसच्छेयंति) ततस्तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो, रसच्छेदा अ-
नन्तगुणा नवन्ति । तथाहि-इह जीवस्य रसाश्रयश्रयणैरिवा-
नुभागवन्धाध्यवसायस्थानैस्तदुत्पत्तिव्यव कर्मपुद्गलपु रसो ज-
न्यते, स चैकस्यापि परमाणोः संख्येयौ केवलप्रज्ञया विद्यमानः

सर्वजीवान्तगुणानविभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यस्माद्भागा-
दपि सूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपरिच्छेदा उ-
च्यते । एवं भूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः स-
र्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणुसर्वजीवान्तगुणाः संप्राप्यन्ते । यतः-

"गहणसमयमि जीवो, उप्पाणइ उ गुणे सपच्चयश्चो ।

सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपणंससु सव्वेसु" ॥

गुणशब्देनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । शेषं सुगमम् । क-
म्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धान्तान्यनन्तमाग एव
वर्तन्ते । अतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भ-
वन्तीति । कर्म० ४ कर्म० । (औदारिकादिशरीरवन्धकानामल्पव-
हुत्वं तु 'सरीर' शब्द एव दृश्यम्)

(२२) [भवसिद्धिकट्टारम्] भवसिद्धिकट्टारमाह-

एणमि णं जंते ! जीवाणं जवसिद्धियाणं अजवसिद्धि-
याणं नोजवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाणं य कयरे कयरे-
हिंते अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया,
नोजवसिद्धिया नोअजवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अजवसिद्धिकाः अभव्याः, जघन्ययुक्तानन्तकपरि-
माणत्वात् । उक्तं चानुयोगद्वारेण-"उक्कोसए परित्ताणंतखे
पक्खित्ते जहन्नयजुत्ताणं तयं होइ अभवसिद्धिया वि तत्तिया
चेवत्ति" तेभ्यो नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यत उभयप्रतिपेधवृत्तयः सिद्धास्ते चाजघन्यात्कण्युक्तानन्तक-
परिमाणा इत्यनन्तगुणाः । तेभ्यो भवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यतो जघ्यनिगोदस्यैकस्यानन्तभागकल्पाः सिद्धा जघ्यजीवरा-
शिनिगोदाश्चासंख्येया लोके इति । गतं भवसिद्धिकट्टारम् ॥
प्रज्ञा० ३ पद ॥

(२३) [भापकट्टारम्] भापकाजापकाल्पवहुत्वमाह-

एणसि णं भंते ! जीवाणं जासगाणं अजासगाणं य
कयरे कयरेहिंते अप्पा वा वहुया वा तुद्धा वा विसेसा-
हिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा जासगा, अजासगा
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका भापका भापालब्धिसेपत्ताः, द्वीन्द्रियादीनामेवं
भापकत्वात् । अभापका जापालब्धिहीना अनन्तगुणाः, वन-
स्पतिकायिकानामनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । सत्यादिजनेन
जापणामल्पवहुत्वम् । प्रज्ञा० ११ पद । (जापाद्रव्याणां खण्डा-
दिभिर्भेदैर्भिद्यमानानामल्पवहुत्वं च 'जासा' शब्दे वक्ष्यते)

(२४) [महादण्णकट्टारम्] सर्वजीवाल्लवहुत्वम्-

अह भंते ! सव्वजीवण्हं महादंरुयं वत्तइस्सामि, सव्व-
त्थोवा गहभवक्कंतियमाणस्सा, माणस्सीओ संखेज्जगुणाओ,
वादरंतेउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, अणुत्तरोववा-
इया देवा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगु-
णा, मज्जिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जगा,
देवा संखेज्जगुणा, अत्तुए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आरणे क-

पे देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइया असंखेज्जगुणा, उट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया असं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए णेरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, वंभल्लोए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, तच्चाए बालुयप्पजाए पुढवीए णेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे देवा असंखेज्जगुणा, सणकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइया असं०, संमुच्चिमणुस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, ईसाणे कप्पे देवीओ संखे०, मोहम्मे कप्पे देवा संखेज्ज०, मोहम्मे कप्पे देवीओ संखेज्जगुणा-ओ, जवणवासीदेवा असंखेज्जगुणा, जवणवासिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, ईमी से रयणप्पजाए पुढवीए णेरइया असंखिज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणी-ओ संखिज्जगुणाओ, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणी-ओ संखिज्जगुणाओ, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, वाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा, वाणमंतरी-ओ देवीओ संखेज्ज०, जोइसिया देवा संखेज्जगुणा, जो-इसिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, खहयरपंचिंदियति-रिक्खजोणिया नपुंसया संखिज्ज०, थलयरपंचिंदियतिरि-क्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिया नपुंसया संखे०, चउरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, वेइंदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिंदिया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्ज-त्तया विसेसाहिया, नेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, वेइं-दिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, पत्तयसरीरवाद्रवणस्म-इकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वादरनिगोदा पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखे-ज्जगुणा, वादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, वा-दरवाउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, वादरतउकाइ-या अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तयसरीरवाद्रवणस्म-इकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, वादरनिगोदा अ-पज्जत्तया संखिज्जगुणा, वादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, वादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-

काइया अपज्जत्तया विसेसाहिया; सुहुमआउकाइया अप-ज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसे-साहिया, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तया असंखिज्ज०, सुहुम-पुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया वि-सेसाहिया, सुहुमणिगोदा अपज्जत्ता असंखे०, सुहुमणिगो-दा पज्जत्तया संखिज्जगुणा, अजवसिद्धिया अणंतगु-णा, पडिवत्तियमम्मदिट्ठी अणंतगुणा, सिद्धा अणंतगुणा; वादरवणस्मइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, वादरपज्जत्ता विसेसाहिया, वादरवणस्मइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्ज-गुणा, वादरअपज्जत्तया विसेसाहिया, वादर विसेसाहिया, सुहुमवणस्मइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्मइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा विसेसाहि-या, जवसिद्धिया विसेसाहिया, निगोदा जीवा विसेसाहि-या, वणस्मइजीवा विसेसाहिया, एगिंदिया विसेसाहिया, ति-रिक्खजोणिया विसेसाहिया, मच्छदिट्ठी विसेसाहिया, अ-विग्या विसेसाहिया, उउमत्था विसेसाहिया, सजोगी विसे-साहिया, संसारत्था विसेसाहिया, सव्वजीवा विसेसाहिया ॥

इदानीं महादण्डकं विवक्षुर्गुरुमापृच्छति-(अह भंते ! इ-त्यादि) अथ जदन्त ! सर्वजीवाल्पबहुत्वं सर्वजीवाल्पबहुत्व-वक्तव्यतात्मकं महादण्डकं वर्तयिष्यामि, रचयिष्यामीति ता-त्पर्यार्थः । अनेन एतत् ज्ञापयति-तीर्थकरानुज्ञामात्रसापेक्षं पव भगवान् गणधरः सूत्ररचनां प्रति प्रवर्तते, न पुनः श्रुताभ्यास-पुरस्सरमिति । यद्वैतज्ञापयति-कुशलेऽपि कर्मणि विनेयेन गु-रुमनापृच्छ्य न प्रवर्तितव्यं, किन्तु तदनुज्ञापुरस्सरम्, अन्यथा विनेयत्वायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्-“ गुरोर्निवेदि-तात्मा यो, गुरुभावानुवर्तकः । मुक्तयर्थं चष्टे नित्यं, स विनेयः प्रकीर्तितः ” ॥ १ ॥ गुरुरपि यः प्रच्छनीयः स एवं रूपः-“ धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्तकः । सर्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देश-को गुरुकथ्यते ” ॥ १ ॥ इति । महादण्डकं वर्तयिष्यामीत्युक्तम् । ततः प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-(सच्चत्वांशो गर्भव्यकृतियमणु-स्सेत्यादि) सर्वस्तोका गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्याः, संख्येयको-टीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्यो मनुजस्त्रियः-संख्ये-यगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । उक्तं च-“ सत्तावीसगुणा पुन, मणुयाणं तदहिया चेव ” इति २ । ताज्यो वादरतैजस्कायि-काः पर्यासा असंख्येयगुणाः, कतिपयवर्गान्युनावलिकाघनसम-यप्रमाणत्वात् ३ । तेज्योऽनुत्तरोपपातितो देवा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेज्य उपरितनप्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः बृहत्तरक्षेत्रपल्यो-पमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतदपि कथ-मवसेयम्, इति चेत् । उच्यते-विमानवाहुल्यत्वात् । तथाहि-अनुत्त-रदेवानां पञ्च विमानानि विमानशतं तुपरितनप्रैवेयकत्रिकदेवानां प्रतिविमानं वाऽसंख्येया देवा यथा यथा चाधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण ब्रह्मन्ते, ततोऽवसीयते-अनुत्तरोप-पातिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशरा-शिप्रमाणा उपरितनप्रैवेयकत्रिकदेवाः । एवमुत्तरत्र अपि ज्ञावना

कार्या, यावदाननकल्पः ५ । तेज्योऽप्युपरितनमैवेयकविकदे-
वेज्यो मध्यमप्रैवेयकविकदेवाः संख्येयगुणाः ६ । तेज्योऽप्य-
धन्तनप्रैवेयकविकदेवाः संख्येयगुणाः ७ । तेज्योऽव्युतक-
ल्पदेवाः संख्येयगुणाः ८, तेज्योऽप्यारणकल्पदेवाः संख्येय-
गुणाः । यद्यप्यारणाव्युतकल्पौ समश्रेणिकौ, समविमान-
संख्याकौ च, तथाऽपि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्रा-
चुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुपपद्यन्ते, नोत्तरस्यां, बहवश्च
कृष्णपाक्षिकाः, स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, ततोऽव्युतकल्पदेवापे-
क्षया आरणकल्पे देवाः संख्येयगुणाः ९ । तेज्योऽपि प्राणत-
कल्पे देवाः संख्येयगुणाः १० । तेभ्योऽप्याननकल्पे देवाः सं-
ख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवत्कर्तव्या ११ । तेभ्योऽधःस-
प्तमनरकपृथ्व्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयभा-
गगतनतः प्रदेशाशिप्रमाणत्वात् १२ । तेज्यः षष्ठपृथिव्यां
नैरयिका असंख्येयगुणाः, एतच्च प्रागेव दिगनुपातेन नैरयिका-
ल्पबहुत्वाचिन्तायां जायितम् १३ । तेज्योऽपि सहस्रारकल्पदेवा
असंख्येयगुणाः, षष्ठपृथिवीनैरयिकपरिणामहेतुश्रेण्यसंख्येयजा-
गोपतया सहस्रारकल्पदेवपरिणामहेतोः श्रेण्यसंख्येयताग-
म्यासंख्येयगुणत्वात् १४ । तेज्यो महाशुके कल्पे देवा असं-
ख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात् । तथाहि-पदसहस्राणि विमा-
नानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुके, अन्यच्च-
अधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोक्तगश्चोप-
रितनोपरितनविमानवासिनः, ततः सहस्रारदेवेभ्यो महाशुक-
कल्पे देवा असंख्येयगुणाः १५ । तेभ्योऽपि पञ्चमभूमप्रजाभि-
धाननरकपृथ्व्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्य-
संख्येयभागवर्तिनतः प्रदेशाशिप्रमाणत्वात् १६ । तेभ्योऽपि
स्रान्तके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहत्तरश्रेण्यसंख्ये-
यभागगतनतः प्रदेशाशिप्रमाणत्वात् १७ । तेज्योऽपि च-
तुर्थ्या षड्भूतप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, युक्तिः
प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेज्योऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा
असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव १९ । तेज्योऽपि तृतीयस्यां
बालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः संख्येयगुणाः २० । ते-
ज्योऽपि माहेन्द्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः २१ । तेज्योऽपि सन-
त्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ ।
तेज्यो द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगु-
णाः । एते च सप्तमपृथिवीनारकादयो द्वितीयपृथिवीनरकपथे-
न्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमानाः सर्वेऽपि घर्तकृतश्रेण्य-
संख्येयभागवर्तिनतः प्रदेशाशिप्रमाणा द्रष्टव्याः, केवलं श्रेण्यसं-
ख्येयभागोऽसंख्येयभेदभिन्नः, तत इत्थमसंख्येयगुणतया अल्प-
बहुत्वमतिशायमानं न विरुध्यति २३ । तेज्यो द्वितीयनरक-
पृथिवीनारकेभ्यः समूर्च्छिममनुष्या असंख्येयगुणाः, ते हि अङ्गु-
लमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संवन्धिनि तृतीयवर्गमूलेन गुणिते प्र-
थमवर्गमूले यावान् प्रदेशाशिस्तावत्प्रमाणानि खण्डानि, या-
वन्त्येकस्यामेव प्रादेशिक्यां श्रेण्यो भवन्ति तावत्प्रमाणाः २४ ।
तेभ्य ईशाने कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्र-
देशराशेः संवन्धिनि द्वितीय वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते
यावान् प्रदेशाशिर्भवति तावत्प्रमाणान्तु घर्तकृतस्य लोकस्यै-
कप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा ईशा-
नकल्पगतो देवदेवासमुदायस्तत्तत्किञ्चिदूनद्वात्रिशत्तमभागक-
ल्पा ईशानदेवाः, ततो देवाः समूर्च्छिममनुष्येभ्योऽसंख्येयगुणाः
२५ । तेज्य ईशानकल्पे देवोऽसंख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुण-

त्वात् । “ वत्तीसगुणा वत्तीसरूपअहियाओ होंति देवीओ ”
इति वचनात् २६ । ताज्यः सौधर्मकल्पे देवाः संख्येयगुणाः,
तत्र विमानबाहुल्यात् । तथाहि-तत्र द्वात्रिंशत्शतसहस्राणि
विमानानामष्टाविंशतिशतसहस्राणि ईशाने कल्पे, अपि च-द-
क्षिणदिग्दर्शी सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पस्तत्तरदिग्दर्शी, दक्षिण-
स्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिकाः समुपपद्यन्ते । ततः ईशा-
नदेवेभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः । नन्विदं युक्तिर्माहेन्द्रस-
नत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कु-
मारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे सं-
ख्येयगुणाः तदेव तत्कथम् ? उच्यते-वचनप्रामाण्यात् । न चात्र
पाठभ्रमः, यतोऽस्यत्राप्युक्तम्-“ ईसाणे सव्वत्थ वि, वत्तीस-
गुणा उ होंति देवीओ । संखेज्जा सोहमे, तओ असंखा भवणवा-
सी ” ॥१॥ इति ॥२॥ तेभ्योऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव्यः संख्ये-
यगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । “ सव्वत्थ वि वत्तीसगुणाओ हों-
ति देवीओ ” इति वचनात् २७ । ताज्योऽप्यसंख्येयगुणा
भवनवासिनः । कथम् ? इति चेत् । इह अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशरा-
शेः संवन्धिनि प्रथमे वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते या-
वान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणायुर्वर्तनीय तस्य लोकस्य एक-
प्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा भवनप-
तिदेवदेवांसमुदायः, तत्तत्किञ्चिदूनद्वात्रिंशद्भागकल्पाश्च भवन-
पतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तेऽसंख्येयगुणाः २८ ।
तेज्यो भवनवासिनो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् २९ ।
ताभ्योऽप्यस्यां रत्नप्रजायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः,
अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संवन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन
वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु
यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् ३० । तेज्योऽपि ख-
चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गोनिकाः पुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतराऽसंख्ये-
यभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३१ । ते-
भ्योऽपि खचरपञ्चेन्द्रियास्तिर्यग्गोनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः,
त्रिगुणत्वात् । “ तिगुणा तिरुवअहिया, तिरियाणं इत्थिया
मुणेयवा ” इति वचनात् ३२ । ताज्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियास्ति-
र्यग्गोनिकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागव-
र्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३३ । तेज्यः स्थ-
लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गोनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात्
३४ । ताभ्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गोनिकाः पुरुषाः संख्ये-
यगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्र-
देशराशिप्रमाणत्वात् ३५ । तेज्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गो-
निकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३६ । ताभ्यो व्यन्तरा-
देवाः पुण्डोदयिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययोजनकोटा-
कोटप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे
भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तराः, केवलमिह पुरुषा विव-
क्षिता इति सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिदूनद्वात्रिशत्तमभागक-
ल्पा वेदितव्याः । ततो घटन्ते जलचरयुवतिज्यः संख्येयगुणाः
३७ । तेज्यो व्यन्तर्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ३८ ।
ताभ्यो ज्योतिष्कदेवाः संख्येयगुणाः, ते हि सामान्यतः पदपञ्चा-
शदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि याव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः ; परमिह पुरुषा विव-
क्षिता इति ते सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिदूनद्वात्रिशत्तमभा-
गकल्पाः प्रतिपत्तव्याः, तत उपपद्यन्ते व्यन्तरीज्यः संख्येयगु-
णाः ४० । तेज्यो ज्योतिष्कदेव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुण-
त्वात् ४१ । ताज्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गोनिका नपुंसकाः

संख्येयगुणाः। क्वचित् 'असंख्येयगुणाः, इति पाठः; स न समीचीनः, यत इत ऊर्ध्वे पर्याप्तचतुरिन्द्रिया वक्ष्यन्ते तेऽपि ज्योतिष्कदेवापेक्षया संख्येयगुणा एवोपपद्यन्ते । तथाहि-पद्पञ्चाशदधिकशतद्वयाद्भुजप्रमाणानि सूचीरूपाणि खरुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः । उक्तं च-"उपपन्नदोसयंगुलसूक्ष्मपसेदि जाइया पयरो जोइसिर्पहि हीरइ" इति । भुजसंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खरुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाश्चतुरिन्द्रियाः । उक्तं च-"पञ्चतापञ्चता-विति चउ असन्निगो अवहरति । अंगुलसंख्याऽसंख्येयसमभयं पुढो पयरो" । अङ्गुलसंख्येयजागपेक्षया पद्पञ्चाशदधिकमङ्गुलशतद्वयं सङ्ख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेवापेक्षया परिभाष्यमानाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि सङ्ख्येयगुणा एव घटन्ते, किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया सङ्ख्येयभागमात्रसंख्येयचरपञ्चेन्द्रियनपुंसका इति ४२ । तेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः ४३ । तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः ४४ । तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्येयगुणाः ४५ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः संख्येयसंज्ञिजदभिन्नाः पञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः ४६ । तेभ्योऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४७ । तेभ्योऽपि पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४८ । यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तस्त्रीन्द्रियपर्यन्तानां प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयजागमात्राणि सूचीरूपाणि खरुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वमविशेषेणान्यत्र वर्ण्यते, तथाप्यङ्गुलासंख्येयजागस्य संख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरुद्धम् । उक्तं चेत्थमपबहुत्वमन्यत्रापि-"तत्रो नपुंसकसद्वयसंख्येयजागयजरजलयरनपुंसका चतुरिन्द्रिया तत्रो पणविति पञ्चता किंचिदहियसि" ४८ । तेभ्योऽपि पर्याप्तस्त्रीन्द्रियेभ्योऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः, अङ्गुलासंख्येयजागमात्राणि खरुमानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ४६ । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५० । तेभ्योऽपि स्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५१ । तेभ्यो द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियाद्योऽपर्याप्तद्वीन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गुलस्यासंख्येयजागमात्राणि खरुमानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयजागस्य विचित्रत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरोधमास्कन्दति ५२ । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियापर्याप्तैः प्रत्येकवाद्रचनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तद्वीन्द्रियादिवत् पर्याप्तवाद्रचनस्पतिकायिका अप्यङ्गुलासंख्येयजागमात्राणि सूचीरूपाणि खरुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्रोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयजागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वाद् वाद्रपर्याप्तप्रत्येकचनस्पतिपरिमाणचित्तायामङ्गुलासंख्येयजागोऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः ५३ । तेभ्यो वाद्रनिगोदा अनन्तकायिकशरीररूपाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः ५४ । तेभ्योऽपि वाद्रपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः असंख्येयगुणाः ५५ । तेभ्योऽपि पर्याप्तवाद्राष्कायिका असंख्येयगुणाः, यद्यपि च पर्याप्तवाद्रप्रत्येकचनस्पतिकायिकाऽष्कायिकाः प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खरुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयजागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमसंख्येयगुणत्वादित्थमभिधाने न कश्चिद्विरोधः ५६ । तेभ्यो वाद्रप-

र्याप्ताष्कायिकेभ्यो वाद्रवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, घनीकृतलोकासंख्येयजागवर्त्यसंख्येयप्रतरगतनजः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५७ । तेभ्यो वाद्रतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५८ । तेभ्यः प्रत्येकशरीरवाद्रचनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ५९ । तेभ्योऽपि वाद्रनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६० । तेभ्यो वाद्रपृथिवीकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६१ । तेभ्यो वाद्राष्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६२ । तेभ्यो वाद्रवायुकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६३ । तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६४ । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६५ । तेभ्यः सूक्ष्माष्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६६ । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६७ । तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्माणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात् । तथा चाह अस्यामेव प्रज्ञापनायां संग्रहणीकारः-"जीवाणमपञ्चता, बहुतरगा बायराण विज्ञेया । सुदुमाण य पञ्चता, ओदेण य केवली विति" । ६८ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ६९ । तेभ्योऽपि सूक्ष्माष्कायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ७० । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ७१ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ७२ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः सूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः, यद्यपि च पर्याप्ततेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता अविशेषणान्यत्राऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उक्ताः, तथापि लोकासंख्येयत्वस्याऽसंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमपबहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम् ७३ । तेभ्योऽभवसिद्धिका अनन्तगुणाः, जघन्ययुक्तानन्तकप्रमाणत्वात् ७४ । तेभ्यः प्रतिपतितसम्यग्दृष्ट्योऽनन्तगुणाः ७५ । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः ७६ । तेभ्योऽपि वाद्रचनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः ७७ । तेभ्योऽपि सामान्यतो वाद्रपर्याप्ता विशेषाधिकाः, वाद्रपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् । ७८ । तेभ्यो वाद्रापर्याप्तचनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, एकैकवाद्रनिगोदपर्याप्तनिश्रयासंख्येयगुणानां वाद्रापर्याप्तनिगोदानां संभवात् ७९ । तेभ्यः सामान्यतो वाद्रापर्याप्ता विशेषाधिकाः, वाद्रापर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८० । तेभ्यः सामान्यतो वाद्रा विशेषाधिकाः, पर्याप्तापर्याप्तानां तत्र प्रज्ञेपात् ८१ । तेभ्यः सूक्ष्मचनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ८२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८३ । तेभ्यः सूक्ष्मचनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावतः सदैव संख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलवेदसोऽनुपलब्धेः ८४ । तेभ्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८५ । तेभ्यः पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८६ । तेभ्योऽपि भवसिद्धिका 'भवे सिद्धियैषां ते भवसिद्धिकाः' भव्या विशेषाधिकाः, जघन्ययुक्तानन्तकमात्राभ्यवपरिहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् ८७ । तेभ्यः सामान्यतो निगोदजीवा विशेषाधिकाः, इह भव्याभव्याश्चातिप्राचुर्येण वाद्रसूक्ष्मनिगोदजीवराशावेव प्राप्यन्ते, नान्यत्र, अन्येषां सर्व-

वामपि मिलितानामसंख्येयलोककाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।
अभ्यन्तरे युक्तान्तकसंख्यामात्रपरिमाणस्ततो ज्ञ्यापेक्षया
ते किञ्चिन्मात्राभ्यन्तरे प्रागभ्यन्तरिहारेण चिन्तिताः । इदानीं
तु बादरसूक्ष्मनिगदचिन्तायां तेऽपि प्रक्षिप्यन्त इति वि-
शेषाधिकाः ८८ । तेज्यः सामान्यतो वनस्पतिजीवा विशेषा-
धिकाः, प्रत्येकशरीरिणामपि वनस्पतिजीवानां तत्र प्रज्ञेपात्
७९ । तेज्यः सामान्यत एकोऽयं विशेषाधिकाः, बादरसूक्ष्म-
पृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ६० । तेज्यः सामान्यत-
स्तिर्यग्योक्तिका विशेषाधिकाः, पर्याप्तपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्धिय-
तिर्यक्पञ्चान्द्रियाणामपि तत्र प्रज्ञेपात् ५१ । तेज्यश्चतुर्गति-
भावितो मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिकाः, इह कतिपयाविरतसंय-
मदृष्ट्यादिमिथ्यातरेकेण सेवाः सर्वेऽपि तिर्यक्पञ्चान्द्रि-
चिन्तायां चासंख्येयतारुण्यस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते । ततस्तिर्यग्-
जीवराज्यपेक्षया चतुर्गतिना मिथ्यादृष्टयश्चिन्त्यमाना विशेषा-
धिकाः ६२ । तेभ्योऽप्यविरता विशेषाधिकाः, अविरतिसंयम-
दृष्टानामपि तत्र प्रज्ञेपात् ६३ । तेभ्यः सकपायिणो विशेषाधि-
काः, देशविरतादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ९४ । तेभ्यश्चक्षुषा विशेषा-
धिकाः, उद्गतात्मोहादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ६५ । तेज्यः सयो-
गिनो विशेषाधिकाः, सयोगिकेवल्लिनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ६६ । ते-
भ्यः संसारस्था विशेषाधिकाः, अयोगिकेवल्लिनामपि तत्र प्रज्ञे-
पात् ६७ । तेभ्यः सर्वजीवा विशेषाधिकाः, सिद्धानामपि तत्र प्र-
ज्ञेपात् ६८ । तत महाद्वयस्कटारम् । प्रज्ञा ० ३ पद । पं० सं० ।

(२५) [योगटारम्] चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्न-
जीवस्य योगानामव्यवहृत्यम्—

एणमि एणं भंत ! चउदमविहाणं संसारसमावसुणाणं
जीवाणं जहणण्कोमगस्स जोगम्म कयरे कयरेदिहो० जाव
विमेमाद्विया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुदुमस्स अप-
ज्जत्तगम्म जहणण् जोए १, बादरस्स अपज्जत्तगम्म ज-
हण् जोए अमंखेज्जगुणे ७, वेदंदिस्स अपज्जत्तगम्म
जहणण् जोए अमंखे ३, एवं तेदंदिस्स ४, एवं
चउरिंदिस्स ७, अमण्णपंचिंदियस्स अपज्जत्तगम्म
जहण् जोए अमंखेज्जगुणे ६, मण्णपंचिंदियस्स अप-
ज्जत्तगम्म जहणण् जोए अमंखे ७, सुदुमपज्जत्तगम्म
जहण् जोए अमंखेज्जगुणे ७, बादरस्स पज्जत्तगम्म जह-
ण् जोए अमंखेज्जगुणे ६, सुदुमम्स अपज्जत्तगम्म उक्कोमए
जोए अमंखेज्जगुणे १०, बादरस्स अपज्जत्तगम्म उक्कोमए
जोए अमंखे ११, सुदुमम्स पज्जत्तगम्म उक्कोमए जोए अमं-
खे १२, बादरस्स पज्जत्तगम्म उक्कोमए जोए अमं-
खे १३, वेदंदिस्स पज्जत्तगम्म जहण् जोए अमं-
खे १४, एवं तेदंदिस्स वि १५, एवं जाव मण्णपं-
चिंदियस्स पज्जत्तगम्म जहण् जोए अमंखे १६, वेदं-
दिस्स अपज्जत्तगम्म उक्कोमए जोए अमंखे १७, एवं
तेदंदिस्स वि १७, एवं चउरिंदिस्स वि १८, एवं
जाव मण्णपंचिंदियस्स अपज्जत्तगम्म उक्कोमए जोए अ-
मंखे १९, वेदंदिस्स पज्जत्तगम्म उक्कोमए जोए अमं-
खे २०, एवं तेदंदिस्स वि २१, एवं जाव मण्णपं-
चिंदियस्स पज्जत्तगम्म उक्कोमए जोए अमंखेज्जगुणे २२ ।

(जहण्कोमगस्स जोगस्स त्ति) जघन्यो निकृष्टः का-
श्चित्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्तचतुरापेक्षयोत्कर्ष उत्कृष्टो
जघन्योत्कर्षः, तस्य योगस्य वीर्यान्तगयत्तयोपशमादिसमु-
त्थकायादिपरिस्पन्दस्य तस्य च योगस्य चतुर्दशजीवस्थान-
सम्बन्धाजघन्योत्कर्षज्जेदाद्याष्टविंशतिविधस्याल्पत्वबहुत्वादि-
जीवस्थानकविशेषाद्भवति, तत्र (सव्वत्थोवेत्यादि) सूक्ष्मस्य
पृथिव्यादेः सूक्ष्मत्वाच्चरीरस्य तस्याप्यपर्याप्तकावेनासम्पूर्णत्वा-
त्तत्रापि जघन्यस्य विवर्कितत्वात्सर्वेज्यो यो वक्ष्यमाणेज्यो
योगेभ्यः सकाशात् स्तोकाः सर्वस्तोका भवति, जघन्यो योगः
स पुनर्वैप्रदिककार्मणौदात्तिकपुद्गलप्रहणप्रथमसमयवर्त्तो, त-
दनन्तरश्च समयवृत्त्याऽजघन्योत्कृष्टो यावत्सर्वोत्कृष्टो न जवति ।
(वायुगस्सेत्यादि) बादरजीवस्य पृथिव्यादेरपर्याप्तकजीवस्य
जघन्यो योगः पूर्वोक्तापेक्षयाऽसह्यत्वात्गुणोऽसंख्यातगुणवृद्धो
बादरत्वादेवेति । एवमुत्तरत्राप्यसंख्यातगुणत्वं दृश्यम् । इह च य-
द्यपि पर्याप्तकर्त्रीन्द्रियात्कृष्टकायापेक्षया पर्याप्तकानां द्वीन्द्रियाणां
सङ्गिनामसङ्गिनां च पञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टः कायः संख्यातगुणो
जवति, संख्यातयोजनप्रमाणत्वात्, तथापीह योगस्य प-
रिस्पन्दस्य विवर्कितत्वात्तस्य च क्योपशमविशेषसामर्थ्याद्य-
थोक्तसंख्यातगुणत्वं न विरुध्यते, न हलपकायस्याहप एव स्प-
न्दो भवति, महाकायस्य वा महानेव, व्यत्ययेनापि तस्य दर्श-
नादिति । अ० २५ श० १ उ० ।

एतस्यैव योगादव्यवहृत्यस्य व्याख्यायिका गाथा—

सुदुमनिगोयाइखण-ऽपज्जोगवायरविगल असण्णमणा ।

अपज्ज लहुपढमदुगु, पज्जहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥

तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य सूक्ष्मसाधारणस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्य सर्व-
जघन्यवीर्यस्येति च सामर्थ्याद् दृश्यम् । तस्यैव सर्वजघन्ययोग-
स्य प्राप्यमाणत्वादादिक्रणः प्रथमोत्पत्तिसमयः सूक्ष्मनिगोदा-
दिक्रणः, तत्र सप्तमेकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात् । किम् ? इत्या-
ह— (अपज्जोग त्ति) अहपः सर्वस्तोका योगो वीर्यव्यापार इति
यावत् । ततो बादरस्य (विगल त्ति) विकलस्य । (अस-
ण त्ति) असंज्ञितः ' अपज्ज त्ति ' प्रत्येकं संबन्धात्सूक्ष्मनि-
गोदबादरवृत्तणस्य गुरुत्कृष्टो योगो संख्येयगुणो वाच्यः । ततः
प्रथमद्विकस्य (पज्जहस्सियरो असंखगुण त्ति) पर्याप्तस्य द्वयो-
जघन्य इतर उत्कृष्टयोगो यथाक्रममसंख्येयगुणो वाच्य इति
गाथात्तरार्थः । भावार्थसंक्षेपम्—सूक्ष्मनिगोदस्य लक्ष्यपर्याप्त-
कस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगः सर्वस्तोकाः १ ।
ततो बादरैकेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमान-
स्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २ । ततो द्वीन्द्रियस्य लक्ष्य-
पर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः
३ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमान-
स्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ४ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लक्ष्य-
पर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगु-
णः ५ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तस्य प्रथमसमये
वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ६ । ततः संज्ञिपञ्च-
न्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽ
संख्येयगुणः ७ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य लक्ष्यपर्याप्तस्योत्कृष्टो
योगोऽसंख्येयगुणः ८ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यो-
योगोऽसंख्येयगुणः ११ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्यात्कृष्टो
योगोऽसंख्येयगुणः १२ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यात्कृ-
ष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १३ ॥

असमन्ततमृकिटो, पज्जहस्सियरो एव विद्वान्ना ।

अपजेयर संखगुणा, परमपजविण् असंखगुणा ॥९४॥

असमाप्ता अपर्याप्तास्ते च ते त्रसाश्च द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्तव-
साः, अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, संख्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तेषामु-
त्कृष्टोऽसमाप्तवसोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणो वाच्यः। अयमर्थः-पर्याप्तवा-
दरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्योत्कृष्टो यो-
गोऽसंख्येयगुणः १४। ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्योत्कृष्टो
योगोऽसंख्येयगुणः १५। ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तक-
स्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १६। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य ल-
ब्धपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १७। ततः संज्ञिप-
ञ्चेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १८।
(पञ्चजडत्र चि) तत्त्वज्ञानानां पर्याप्तानां जघन्यो योगोऽसंख्ये-
यगुणो वाच्यः १९। ततोऽपि(इयर चि)त्रसाणां पर्याप्तानामुत्कृष्टो
योगोऽसंख्येयगुणो वाच्यः २०। इत्युक्तार्थः। जावार्थस्त्वयम-
ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात्पर्याप्तद्वीन्द्रिय-
स्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २१। ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य
जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २२। ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य
जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २३। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्या-
प्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २४। ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य
पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २५। ततः पर्याप्तद्वीन्द्रि-
यस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २६। ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्यो-
त्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २७। ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृ-
ष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २८। ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिययोगादनुत्त-
रोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २९। ततोऽत्रैवयकदेवा-
नामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३०। ततोऽभागभूमिजानां तिर्य-
ङ्गमनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३१। ततोऽप्याहारकशरी-
रिणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३२। ततः शेषपदेनारकतिथिह-
मनुष्याणां यथोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३३।

अथ सुखावबोधायादपवहुत्वपदानां यन्त्रकमुपदर्शयते। तच्चेदम-

सूक्ष्मनि० अप० ज- घ० योग सर्वस्तो०१	वादर० अप० जघ० योग असं० २	द्वीन्द्रि० अप० ज- घ० योग असं० ३
त्रीन्द्रि० अप० जघ० योग असं० ४	चतुरि० अप० जघ० योग असं० ५	असंज्ञि० अप० ज- घ० योग असं० ६
संज्ञि अप० जघ० योग असं० ७	सूक्ष्मनिगो० पर्या० ज० योग असं० ८	वादरपर्या० जघ० योग असं० ९
द्वीन्द्रि० पर्या० जघ० योग असं० १०	त्रीन्द्रिय० प० जघ० योग असं० ११	चतुरि० प० जघ० योग असं० १२
असंज्ञिपर्या० जघ० योग असं० १३	संज्ञिपर्या० जघ० योग असं० १४	सूक्ष्मनिगोद अप० उत्कृष्टयोग असं० १५
वादर अप० उत्कृ० योग असं० १६	द्वीन्द्रि० अप० उ- त्कृ० योग असं० १७	त्रीन्द्रि० अप० उत्कृ० योग असं० १८
चतुरिन्द्रि० अप० उ- त्कृ० योग असं० १९	असंज्ञिअप० उत्कृ० योग असं० २०	संज्ञि अप० उत्कृष्टो योग असं० २१
सूक्ष्मनि० पर्या० उ- त्कृ० योग असं० २२	वादर पर्या० उत्कृ० योग असं० २३	द्वीन्द्रि० प० उत्कृ० योग असं० २४
त्रीन्द्रि० प० उत्कृ० योग असं० २५	चतुरि० प० उत्कृ० योग असं० २६	असंज्ञि पर्या० उत्कृ० योग असं० २७
संज्ञि पर्या० उत्कृ० योग असं० २८	अनुत्तरो० उत्कृ० योग असं० २९	त्रैवयकदेव० उत्कृ० योग असं० ३०
जागृमि० तिर्य० उ० योग असं० ३१	आहारक० उत्कृष्टो योग असं० ३२	देवना० ति० मनु० उत्कृ० योग असं० ३३

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मज्ञेयपल्योपमासंख्येयभागरूपः प्रत्येकं
प्राप्तः। तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशाग्रहणं जघन्यस्थितिं
च विदधानि, योगवृद्धौ च तद्वृद्धिरपीति स्थितमिति । (एव
विष्टाणेत्यादि) एवम, मकारस्य लोपः, प्राकृतत्वात् । पूर्वोक्त-
योगप्ररूपणायायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवकर्मणैव स्थितानां
स्थानानि स्थितिस्थानानि, वाच्यानीति शेषः । तत्र जघन्य-
स्थितेराग्न्य एकैकममयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसानाः
ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथं पुनरेतानि वा-
च्यानि ? इति, क्रियकृणानि पुनरेतानि ? इत्याह-संख्यगु-
णानि । तत्र संख्यानां संख्या, तामर्हति संख्याः “ दण्मादिभ्यो
यः ” ६। ४। १७८। इति (हेममृत्रेण) सप्रत्ययः । ततः
संख्याः संख्येयः संख्यात इत्यर्थो गुणो गुणकारो येषां तानि
संख्यगुणानि, संख्यातगुणितानीत्यर्थः । किं सर्वपदेषु संख्यात-
गुणान्येव, अहोस्विदस्ति कस्मिंश्चित्पदे विशेषः ? इत्याह-
(परमपजविण् असंखगुण चि) परं केवलम, अपर्याप्तद्वीन्द्रि-
ये अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे, तानि स्थितिस्थानानि असंख्यातगुणानि
२। ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्या-
तगुणानि ३। ततो वादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि
संख्यातगुणानि ४। एतानि च पल्योपमासंख्येयभागरूपमनु-
दयानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । यत एकैन्द्रियाणां जघन्यो-
त्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति, ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य
स्थितिस्थानान्यसंख्यातगुणितानि पल्योपमासंख्येयभागरूपा-
णीति कृत्वा ५। ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थिति-
स्थानानि संख्यातगुणितानि ६। ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य
स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ७। ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्या-
प्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ८। ततश्चतुरिन्द्रिय-
स्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ९। ततः पर्या-
प्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि १०। ततोऽ-
संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि
११। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सं-
ख्यातगुणानि १२। ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थिति-
स्थानानि संख्यातगुणानि १३। ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्या-
प्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि भवन्तीति १४।

स्थापना-

सू०अप० स्थिति स्तो०	वादरअ प० स्थि- ति सं०	द्वीन्द्रिय अप०स्थि ति असं०	त्रीन्द्रि० अप०स्थि ति सं०	चतु० पर्या० स्थि० सं०	असंज्ञि अप०स्थि ति सं०	संज्ञि०अ प०स्थि- ति सं०
सूक्ष्म० प- र्या०स्थि- ति सं०	वादर प० स्थिति सं०	द्वीन्द्रि० प०स्थि० सं०	त्रीन्द्रि० प०स्थि० सं०	चतु० पर्या० स्थि० सं०	असं० प० स्थिति सं०	संज्ञि० प०स्थि ति सं०

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि। कर्म०५ कर्म०।

योगस्यैवापवहुत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

एयस्म णं भेते ! पञ्चगविहस्स जहणुक्कासगम्म
कयरं कयरेहितो जाव विमसाहिया वा ?। गोयमा !
सव्वन्थोवे कम्मगमरीरस्स जहणणं जोए ?, आंगालि-
यपीमगस्स जहणणं जोए असंखेज्जगुणे ७, वेउव्विय-
मीसगस्स जहणणं जोए असंखेज्जगुणे ३, आंगालि-
यमरीरस्स जहणणं जोए असंखेज्जगुणे ४, वेउव्वि-

यमरीरस्म जहणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मग-
सरीरस्म उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारग-
मीमगस्म जहणए जोए असंखेज्जगुणे ७, आहा-
रगमीमगस्म उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरास्त्रि-
यमीमगस्म वेउव्वियमीमगस्म । एएसि एणं उक्कोसए
जोए दाएइ वि तुद्धे असंखेज्जगुणे ९, अमचापोम-
मणजोगस्म जहणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आ-
हारगस्म सरीरस्म जहणए जोए असंखेज्जगुणे ११,
तिविहस्स मण्योगस्म चउव्विहस्स वडजोगस्स एएसि
एणं मत्तएइ वि तुद्धे जहणए जोए असंखेज्जगुणे १२,
आहारगसरीरस्म उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३,
ओरास्त्रियसरीरस्म वेउव्वियसरीरस्म चउव्विहस्स य म-
णजोगस्म चउव्विहस्स य वडजोगस्स । एएसि एणं दस-
एइ वि तुद्धे उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।

टीका सुगमा । भ० २५ श० १ उ० ।

मनोयोग्यादीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि एणं जेत ! जीवाणं मजोगीणं मणजोगीणं वय-
जोगीणं कायजोगीणं अजोगीणं य कयरे कयरेहितो
अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विमसाहिया वा ? । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणजोगी, वयजोगी असंखे-
ज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा,
मजोगी विमसाहिया ।

सर्वस्तोका मनोयोगिनः, संख्यसंज्ञिपर्याप्ता एव हि मनोयोगि-
नः ते च स्तोका इति; तेभ्यो वाग्योगिनोऽसंख्येयगुणाः, द्वीन्द्रि-
यादीनां वाग्योगिनां संज्ञिभ्योऽसंख्यातगुणत्वात् । तेभ्योऽयोगि-
नोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः काययोगिनोऽनन्ताः,
वनस्पतीनामनन्तत्वात् । यद्यपि निगोदजीवानामनन्तानामेकं
शरीरं तथापि तेनैकेन शरीरेण सर्वेऽप्याहारादिप्रदणं कुर्वन्ती-
ति सर्वेषामपि काययोगिनान्तामनन्तगुणत्वव्याघातः । तेभ्यः
सामान्यतः सयोगिनो विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि वाग्यो-
ग्यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । गतं योगदारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म०
जी० । ५० सं० ।

(२६) [येनिद्वारम्] शीतादियोनिकानाम्-

एतेसि एणं भंते ! जीवाणं सीतजोणियाणं उसिणजोणियाणं
मीतोमिणजोणियाणं अजोणियाणं य कयरे कयरेहितो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सीतोमिणजो-
णिया, उमिणजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंत-
गुणा, सीतजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः शीतोष्णयोनयः शीतोष्णो-
नययोनिकाः, जयनयामिगतत्रयैकपञ्चेन्द्रियगर्भमनुष्य-
व्यन्तरज्योतिरकर्मनिकानामयोनययोनिकत्वात् । तेभ्योऽसं-
ख्येयगुणा उष्णयोनिकाः, सर्वेषां मृदमवाद्भेदभिन्नानां तैज-
स्कायिकानां प्रभूतगुणां तैज्यिकाणां कतिपयानां पृथिव्यव्या-
युप्रत्येकवनस्पतीनां चोऽयोनिकत्वात् । अयोनिका अनन्तगुणाः

सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः शीतयोनिका अनन्तगुणाः, अनन्त-
कायिकानां सर्वेषामपि शीतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽ-
प्यनन्तगुणत्वात् ।

सचित्ताचित्तमिश्रयोनिकानाम्-

एतेसि एणं जेत ! जीवाणं सचित्तजोणीणं अचित्तजो-
णीणं मीसजोणीणं अजोणीणं य कयरे कयरेहितो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मीसजोणि-
या, अचित्तजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंत-
गुणा, सचित्तजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिश्रयोनिकाः, गर्भव्यु-
त्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव मिश्रयोनिकत्वात् । ते-
भ्योऽचित्तयोनिका असंख्येयगुणाः, तैरयिकदेवानां कतिपयानां च
प्रत्येकं पृथिव्यएतेजावायुप्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंभू-
त्विमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंभूत्विममनुष्याणामचित्तयोनिकत्वात् ।
तेज्योऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । ते-
ज्यः सचित्तयोनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानां सचित्तयो-
निकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संवृतविवृतयोनिकानाम्-

एतेसि एणं जेत ! जीवाणं संवुरुजोणियाणं वियरुजोणियाणं
य संवुरुवियरुजोणियाणं अजोणियाणं य कयरे कयरेहितो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा संवुरुवियरुजोणिया,
वियरुजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा,
संवुरुजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संवृतविवृतयोनिकाः, गर्भव्यु-
त्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव संवृतविवृतयोनिकत्वा-
त् । तेज्योऽविवृतयोनिकाः संख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियादीनां चतुरिन्द्रि-
यपर्यवसानानां संभूत्विमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंभूत्विममनुष्याणां
च विवृतयोनिकत्वात् । तेज्योऽयोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानाम-
नन्तत्वात् । तेभ्यः संवृतयोनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां संवृ-
तयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ८ पद ।

(२७) [लेइयाद्वारम्] सलेइयानामल्पबहुत्वम्-

तत्र सलेइयाऽलेइयानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्- “सव्वत्थोवा
अलेइसा, सलेइसा अणंतगुणा” जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति सलेइयादीनामष्टानामल्पबहुत्वमाह-

एएसि एणं भंते ! जीवाणं सलेसाणं किएइलेसाणं नील-
लेसाणं काउलेसाणं तेउलेसाणं पम्हलेसाणं मुकलेसाणं
अलेसाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा जीवा मुकलेइसा, पम्हलेइसा संखिज्जगुणा, तेउ-
लेइसा संखिज्ज०, अलेइसा अणंतगुणा, काउलेइसा अणंत-
गुणा, नीललेइसा विमसाहिया, किएइलेइसा विमसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेइयाः, लान्तकादिष्वेवानुत्तरपर्यवसानेषु
वैमानिकेषु देवेषु कतिपयेषु च गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिकेषु
संख्येयवर्षायुष्केषु मनुष्येषु तिर्यक्स्त्रीपुंनपुंसकेषु कतिपयेषु सं-
ख्येयवर्षायुष्केषु तस्याः संज्ञत्वात् । तेज्यः पञ्चलेइयाकाः संख्येय-
गुणाः, सा हि सनत्कुमारमाहेन्द्रग्रहलोककल्पचासिषु देवेषु
तथा प्रभूतेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिषु संख्येयवर्षायुष्के-

षु मनुष्यस्त्रीपुनपुंसकेषु तथा गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकस्त्री-
पुनपुंसकेषु असंख्येयवर्षायुष्केष्वप्यते, सनत्कुमारादिदेवादय-
श्च समुदिता लान्तकादिदेवादिभ्यः संख्येयगुणाः, इति प्रवृत्ति-
शुक्लेश्याकेज्यः पद्मलेश्याकाः संख्येयगुणाः, तेज्यस्तेजोले-
श्याकाः संख्येयगुणाः, सर्वेषां सौधमैशानज्योतिष्कदेवानां क-
तिपयानां च भवनपतिव्यन्तरगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-
मनुष्याणां बादराऽप्यसैकेन्द्रियाणां च तेजोलेश्याभावात् ।
नन्वसंख्येयगुणाः कस्मान्न भवन्ति, कथं न भवन्ति ? इति ।
चेत् । उच्यते-इह ज्योतिष्का भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः,
किं पुनः सनत्कुमारादिदेवेभ्यः, ते च ज्योतिष्कास्तेजोलेश्याका-
स्तथा सौधमैशानकल्पदेवाश्च ततः प्राप्नुवन्त्यसंख्येयगुणाः । तद-
युक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । लेश्यापदे हि गर्भव्युत्क्रान्तिकति-
र्यग्योनिकानां समूहमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां च कृष्ण-
लेश्याधत्तपद्मत्वे सूत्रं वक्ष्यति-“संवत्थोवा गर्भव्युत्क्रान्तिकतिरि-
क्खजोणिया सुक्कलेस्सा, तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, प-
म्हलेस्सा गम्भवकंतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तिरिक्खजो-
णियाओ संखेज्जगुणाओ, तेजलेस्सा गम्भवकंतिरिक्खजोणिया
संखेज्जगुणा, तेजलेस्साओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ”
इति महादण्डके च तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च
संख्येयगुणा वक्ष्यन्ते । ततो यद्यपि भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणा
ज्योतिष्काः, तथापि पद्मलेश्याकेभ्यस्तेजोलेश्याकाः संख्येयगुणा
एव । इदमत्र तात्पर्यार्थः-यदि केवलान् देवानेव पद्मलेश्यान-
धिरूप्य देवा एव तेजोलेश्याकाश्चिन्त्यन्ते ततो भवन्यसंख्येय-
गुणाः, यावता तिर्यक्संमिश्रया पद्मलेश्याकेभ्यस्तिर्यक्संमिश्रा
एव तेजोलेश्याकाश्चिन्त्यन्ते, तिर्यक्श्च पद्मलेश्या अपि अति-
बहवस्ततः संख्येयगुणा इति । तेज्यः अलेश्याका अनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, वनस्प-
तिकायिकानामपि कापोतलेश्यायाः संज्ञावात्, वनस्पतिकायि-
कानां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेज्योऽपि नीललेश्या
विशेषाधिकाः, प्रभूतराणां नीललेश्यासंभवात् । तेभ्योऽपि
कृष्णलेश्याका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णलेश्याकत्वात् ।
सामान्यतः सलेश्या विशेषाधिकाः, नीललेश्याकादीनामपि तत्र
प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

तदेवं सामान्यतोऽरूपबहुत्वं चिन्तितं; संप्रति नैरयिकेषु
तच्चिन्तयन्नाह-

एतेसि एं भंते ! नेरइयाणं कएहलेस्साणं नीललेस्साणं
काउलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा
वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! संवत्थोवा नेरइया
कएहलेस्सा, नीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
संखेज्जगुणा ।

नैरयिकाणां हि तिस्रो लेश्याः । तद्यथा-कृष्णलेश्या, नीललेश्या,
कापोतलेश्या । उक्तञ्च-“काउपदोसु तइया-ए मीसिया नीलि-
या चउत्थीए । पंचमियाए मिस्सा, कएहा ततो पंदमकएहा”
॥ १ ॥ ततः त्रयाणामेव पदानां परस्परमल्पबहुत्वचिन्ता, तत्र
सर्वस्तोकाः कृष्णलेश्या नैरयिकाः, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतन-
रकावासेषु पष्ठ्यां सप्तम्यां नैरयिकाणां कृष्णलेश्यासंज्ञावात् ।
ततोऽसंख्येयगुणा नीललेश्याः, कतिपयेषु तृतीयपृथिवीगतनर-
कावासेषु चतुर्थ्यां सप्तम्यां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथि-
वीगतनरकावासेषु नैरयिकाणां पूर्वोक्तभ्योऽसंख्येयगुणानां नी-

ललेश्याभावात् । तेज्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, प्रथम-
द्वितीयपृथिव्योस्तृतीयपृथिवीगतेषु च कतिपयेषु नरकावासेषु
नारकाणामनन्तरोक्तभ्योऽसंख्येयगुणानां कापोतलेश्यासंज्ञा-
वात् ।

अधुना तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वल्पबहुत्वमाह-

एतेसि एं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कएहलेस्साणं०
जाव सुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! संवत्थोवा तिरिक्ख-
जोणिया सुक्कलेस्सा, एवं जहा ओहिया, नवरं अलेस्सवज्जा ।

(एवं जहा ओहिया इति) एवमुपदर्शितेन प्रकारेण प्राग्वत्
औघिकास्तथा वक्तव्याः, नवरमलेश्यावर्जास्तिरश्चामलेश्याना-
मसंभवात् । ते चैवम्-सर्वस्तोकास्तिर्यग्योनिकाः शुक्ललेश्या-
स्ते च जघन्यपदे संख्याता द्रष्टव्याः १, तेज्योऽसंख्येयगुणाः प-
द्मलेश्याः २, तेभ्योऽपि संख्येयगुणास्तेजोलेश्याः ३, तेज्यो-
ऽप्यनन्तगुणाः कापोतलेश्याः ४, तेभ्योऽपि नीललेश्या वि-
शेषाधिकाः ५, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः ६, ते-
भ्योऽपि सलेश्या विशेषाधिकाः ७ ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियेष्वल्पबहुत्वमाह-

एतेसि एं जंते ! एगिंदियाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउ-
लेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! स-
वत्थोवा एगिंदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका एकेन्द्रियास्तेजोलेश्याः, कतिपयेषु बादरपृथिव्य-
प्रत्येकवनस्पतिकायिकेष्वपरांतावस्थायां तस्याः संज्ञावात् ।
तेज्यः कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, अनन्तानां सूक्ष्मबादरनिगो-
दजीवानां कापोतलेश्यासंज्ञावात् । तेज्योऽपि नीललेश्या वि-
शेषाधिकाः, तेज्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः । अत्र भाव-
ना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिविषयमल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र पृ-
थिव्यव्वनस्पतिकायानां चतस्रो लेश्याः, तेजोवायुकायानां तिस्र-
इति तथैव सूत्रमाह-

एतेसि एं जंते ! पुढवीकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव
तेउलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा !
जहा ओहिया एगिंदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज्ज-
गुणा, एवं आउकाइयाणं वि । एतेसि एं जंते ! तेउ-
काइयाणं कएहलेस्साणं नीलकाउलेस्साणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! संवत्थोवा तेउकाइया
काउलेस्सा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसे-
साहिया, एवं वाउकाइयाणं वि । एतेसि एं जंते ! वणस्स-
इकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउलेस्साणं य जहा ए-
गिंदियाणं वेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जहा तेउकाइया-
णं । एतेसि एं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं कएह-
लेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा
बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! जहा ओ-
हियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काउलेस्सा असंखि-

जनगुणा १. समुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं जहा ते-
उक्काज्याणं २. गम्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
जहा ओहियाणं, तिरिक्खजोणियाणं नवरं काउलेस्सा सं-
खिज्जगुणा ३, एवं तिरिक्खजोणियाणं वि ४ ।

'पुद्गलीकाइयाणमित्यादि' सुगमम् । द्वित्रिचतुर्गिन्द्रियविषयमपि
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसुत्रे कापोतद्वेइया समंख्यातगुणा नन्व-
नन्तगुणाः, पञ्चेन्द्रियतिरिक्कां सर्वसंख्यायाऽप्यसंख्यातत्वात् ।
समुच्छिमपञ्चेन्द्रियतिरिक्कां यथा तेजस्कायिकानामुक्तं तथा व-
क्तव्यम् । तेजस्कायिकानामिव तेषामप्याद्यलेइयात्रयमात्रसद्भा-
वात् । गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसुत्रम्-तेजोद्वेइया-
न्यः कापोतलेइयाः संख्यातगुणा वक्तव्याः, तावतामेव तेषां केव-
लवेदसापन्नव्यत्वात्, शेषमौघिकसूत्रं वक्तव्यम् । एवं तिर्यग्यो-
निकानामपि सूत्रं वक्तव्यम् । तथाचाऽऽह-(एवं तिरिक्ख-
जोणियाणि चि) ।

अधुना समुच्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीविषयं
सूत्रमाह-

एतेसि एं भंते ! समुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
गम्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियकएहलेस्माणं जाव
मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
मव्वत्थोवा गम्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया मुक्क-
लेस्मा, पम्हलेस्मा संखिज्जगुणा, तेउलेस्मा संखिज्जगुणा,
काउलेस्मा संखिज्जगुणा, नीललेस्मा विसेसाहिया, क-
एहलेस्मा विसेसाहिया, काउलेस्मा समुच्छिमपंचिदियति-
रिक्खजोणिया अमंखेज्जगुणा, नीललेस्मा विसेसाहिया,
कएहलेस्मा विसेसाहिया । एतेसि एं भंते ! समु-
च्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य
कएहलेस्माणं जाव मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंता अ-
प्पा वा० ४ ? । गोयमा ! जहेव पंचमं तद्दा इमं पि उट्ठं जा-
णियच्चं ॥

एतच्च प्राग्वक्तव्यमीयम् । इदं किञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाधि-
कारं पृष्ठं सूत्रम्, अतःतरोक्तं च पञ्चमम् । अत उक्तम्-(जहेव
पंचमं तद्दा इमं उट्ठं भाणियच्चं)

अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्त्रीविषयं

सूत्रम् सूत्रमाह-

एतेसि एं जंते ! गम्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
तिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्माणं जाव मुक्कलेस्माणं य
कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मव्वत्थोवा गम्भ-
वक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया मुक्कलेस्मा, मुक्कलेस्मा-
ओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्मा ग-
म्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्ह-
लेस्माओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, तेउ-
लेस्मा संखेज्जगुणा, तेउलेस्माओ संखिज्जगुणाओ,
काउलेस्मा संखेज्जगुणा, नीललेस्मा विसेसाहिया,

कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखिज्जगुणा-
ओ, नीललेस्माओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ वि-
सेसाहियाओ ॥

" एएसि एं भंते ! " इत्यादि सुगमम् । नवरं सर्वास्वपि लेइया-
सु स्त्रियः प्रचुराः, सर्वसंख्यायाऽपि च तिर्यक्पुरुषंइयास्तिर्यक्-
स्त्रियस्त्रिगुणाः, "तिगुणाऽतिरुक्खअहिया, तिरियाणं इतिथया मुणे-
यव्या " इति वचनात् । ततः संख्यातगुणा उक्ताः, नपुंसका-
स्तु गर्भव्युत्क्रान्तिकाः कतिपय इति न ते यथातमव्यवहृत्यं
व्याप्नन्ति ॥

सम्प्रति समुच्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकगर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयमष्टमं, तथा सामान्यतः पञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयं नवमं, तथाच सामान्यत-
स्तिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयं दशमं सूत्रमाह-

एतेसि एं भंते ! समुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणिया-
णं गम्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजो-
णियाणं य कएहलेस्माणं जाव मुक्कलेस्माणं य कयरे
कयरेहिंता अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मव्वत्थोवा गम्भवक्क-
ंतियतिरिक्खजोणिया मुक्कलेस्सा, मुक्कलेस्माउ चि संखि-
ज्जगुणाओ, पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्साओ
गम्भ चि संखेज्जगुणा, तेउलेस्साउ चि संखेज्जगुणा, का-
उलेस्साउ चि संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ,
नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसा-
हियाओ, काउलेस्साओ समुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजो-
णिया अमंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएह-
लेस्सा विसेसाहिया ८ । एएसि एं जंते ! पंचिदियतिरि-
क्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्माणं जाव
मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
मव्वत्थोवा पंचिदियतिरिक्खजोणिया मुक्कलेस्सा, मुक्कले-
स्माओ संखिज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, पम्ह-
लेस्माओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा,
तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा संखेज्जगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसा-
हियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहियाओ ९ । एतेसि एं
भंते ! तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य कएह-
लेस्माणं जाव मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंता अप्पा
वा० ४ ? । गोयमा ! जहेव एवमं अप्पावहुगं, तद्दा इमं पि,
नवरं काउलेस्सा तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एवं
एते दस अप्पावहुगा तिरिक्खजोणियाणं १० । एवं मणु-
स्माणं वि अप्पावहुगा जाणियच्चा; नवरं पच्छिमगं स-
प्पावहुगं एत्थि ॥

भावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या । त्रिथग्योनिकविषयां सूत्र-
संकलनामाह—“एवमेते दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणिया-
णमिति” सुगमम्; नवररिमहेमे पूर्वाचार्यप्रदर्शिते संग्रहणीमाधे-

“ओदियपणंदि १ संमु-च्चिया य २ गम्भ ३ तिरिक्खइत्थीओ ४।
संमुच्चगम्भतिरिया, ५ मुच्छतिरिक्खी य ६ गम्भ ७ ॥ १ ॥
संमुच्चगम्भइत्थी, ८ पण्णितिरिगत्थिमाओ ९ इत्थी उ १० ।
दस अप्पाबहुगभेया, तिरियाणं होंति णायव्वा ” ॥ २ ॥

यथा तिरश्चामलपबहुत्वान्युक्तानि तथा मनुष्याणामपि वक्त-
व्यानि; नवरं पश्चिमं दशममलपबहुत्वं नास्ति, मनुष्याणा-
मनन्तत्वाज्जावात्; तदभावं “काउलेस्सा अणंतगुणा” इति-
पदासंभवात् ।

अधुना देवविषयमलपबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! देवाणं कएहलेस्माणं जाव सुकलेस्सा-
ण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा ० ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा
देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा
असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा
विसेसाहिया, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, लान्तकादिदेवलोकेष्वेव तेषां स-
द्भावात् । तेज्योः पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, जवनपतिव्यन्तरदे-
वेषु सनत्कुमारादिदेवभ्योऽसंख्येयगुणेषु कापोतलेश्यासद्भावा-
त् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रचूततराणां भवन-
पतिव्यन्तराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या वि-
शेषाधिकाः, प्रचूततराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि
तेजोलेश्याः संख्येयगुणाः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तराणां स-
मस्तानां ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां तेजोलेश्याज्जावात् ।

अधुना देवीविषयं सूत्रमाह-

एएसि णं भंते ! देवीणं कएहलेस्माणं जाव तेउलेस्साण
य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसे-
साहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ काउलेस्सा-
ओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसे-
साहियाओ, तेउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ ।

(एएसि णं जंते ! देवीणमित्यादि) देव्यश्च सौधर्मेशानान्ता
एव न परत इति तासां चतस्र एव देश्यास्ततस्तद्विषयमेवा-
लपबहुत्वमग्निधित्सुना “जाव तेउलेस्साण य” इत्युक्तम् । सर्व-
स्तोका देव्यः कापोतलेश्याः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तरदेवा-
नां कापोतलेश्याभावात् । तेज्यो विशेषाधिका नीललेश्याः, प्र-
चूतानां भवनपतिव्यन्तरदेवानां तस्याः संभवात् । तेज्योऽपि
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रचूतानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात् ।
ताभ्यस्तेजोलेश्याः संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवाना-
मपि समस्तानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं जंते ! देवाणं देवीण य कएहलेस्माणं जाव
सुकलेस्माण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा ० ४ ? गोयमा !
सव्वत्थोवा देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा,
काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संखेज्ज-

गुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ
विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा देवा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा-
ओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, तेज्योऽसंख्येयगुणाः पद्मलेश्याः,
तेज्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, तेभ्यो नीललेश्या विशे-
षाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, एतावत्प्रागेव
भावितम् । तेज्योऽपि कापोतलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः । ताभ्य
भवनपतिव्यन्तरनिकायान्तर्गता वेदितव्याः, अन्यत्र देवीनां का-
पोतलेश्याया असंभवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रतिनि-
कायं द्वाविंशद्गुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्याया
असंभवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वाविंश-
द्गुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्या देव्यः संख्ये-
यगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः । अत्रापि प्रागवद् भावना । तेभ्योऽपि
तेजोलेश्या देवाः संख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तरा-
णां समस्तानां ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् ।
तेभ्योऽपि तेजोलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति भवनवासिदेवविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! जवनवासीणं देवाणं कएहलेस्माणं
जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा ० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा जवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउ-
लेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएह-
लेस्सा विसेसाहिया ।

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोकास्तेजोलेश्याः, महर्ष-
यो हि तेजोलेश्याका जवन्ति; महर्ष्यश्चादपे, इति सर्वस्तोकाः ।
तेज्योऽसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, अतिशयेन प्रभूतानां का-
पोतलेश्यासंभवात् । तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, अति-
प्रभूततराणां तस्याः संभवात् । तेज्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषा-
धिकाः, अतिप्रचूततराणां कृष्णलेश्याज्जावात् । एवं जवनपति-
देवीविषयमपि सूत्रं ज्ञावनीयम् ।

तच्च—

एतेसि णं जंते ! जवणवासिणीणं देवीणं कएहलेस्सा-
णं जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा ० ४ ? ।
गोयमा ! एवं चेव ।

अधुना भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एएसि णं जंते ! भवणवासीणं देवाणं देवीण य कएह-
लेस्माणं जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा ०
४ ? । गोयमा ! । सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भ-
वणवासिणीओ तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउले-
स्सा भवणवासी असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसा-
हिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ जवण-
वासिणीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहिया-
ओ, कएहलेस्साओ विसेसाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि-
तिष्ठेद अप्पाबहुगा जहेव जवणवासीणं तहेव भाणियव्वा ।

(एपसि णमित्थादि) सर्वस्तोका जवनवासिनो देवास्तेजो-
लेश्याकाः। युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्यस्तेजोलेश्याका भवनवा-
सिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, देवेभ्यो हि देव्यः सामान्यतः प्र-
तिनिकायं द्वाविंशद्विंशत्योऽप्यन्ते संख्येयगुणत्वमिति । ते-
भ्यः कापोतलेश्या भवनवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यो-
पि नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषा-
धिकाः। युक्तिरत्र प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेभ्यः कापोतलेश्या भव-
नवासिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, भावना प्रागुक्तभावानुसारेण
भावनीया । ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णले-
श्या विशेषाधिकाः, एवं बाणमन्तराविषयमपि सूत्रत्रयं भाव-
नीयम् ।

ज्योतिष्कविषयसूत्रम्—

एतेमि एं जंते ! जोइसियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
स्माणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ !। गोयमा ! सव्वत्थो-
वा जोइमियदेवा तेउलेस्सा, जोइसिणीओ देवीओ तेउले-
स्साओ संखिज्जगुणाओ ।

ज्योतिष्कविषयमेकमेव सूत्रं, तन्निकाये तेजोलेश्याव्यतिरेकेण
लेश्यान्तरासम्भवात्, पृथग्देवदेवीविषयसूत्रद्वयासम्भवात् ।

वैमानिकदेवविषयं सूत्रमाह—

एतेमि एं जंते ! वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्माणं पम्ह-
लेस्माणं मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ !।
गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा मुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा
असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा देवा असंखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेश्याः, लान्तकादिदेवानामेव शुक्ललेश्यास-
म्भवात् । तेषां चोत्कर्षतोऽपि श्रेयसंख्येयभागगतप्रदेशराशि-
मानत्वात् । तेभ्यः पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, सनत्कुमारमा-
हेन्द्रप्रह्लादोक्तकल्पवासिनां सर्वेषामपि देवानां पद्मलेश्यासंभ-
वात् । तेषां चातिवृद्धमभ्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । ज्ञानकादिदेवपरिमाणहेतुश्रेयसंख्येयभागा-
पेक्षया ह्यर्माणां परिमाणहेतुश्रेयसंख्येयभागोऽसंख्येयगुणः, ते-
भ्योऽपि तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्या हि सौधमेशान-
नदेवानाम्, ईशानदेवाद्वाहुस्त्रमात्रैत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिनि
द्वितीयवर्गमूत्रे तृतीयवर्गमूत्रेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भव-
ति तावत्प्रमाणसु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु भ्रेणिषु
यावन्तो नभःप्रदेशाः तावत्प्रमाणाः, ईशानकल्पगतदेवसमु-
दायस्तद्गतकिञ्चिद्दूनद्वात्रिंशत्तमत्रागकल्पाः, तेभ्योऽपि सौध-
मकल्पदेवाः संख्येयगुणाः स्वतो जवन्ति, पद्मलेश्येभ्यस्तेजोलेश्या
असंख्येयगुणाः, देव्यश्च सौधमेशानकल्पयोरेव, तत्र च केवला ते-
जोलेश्या, तेजोलेश्यान्तरासम्भवात् ; न तद्विषये पृथक्सूत्रमतः ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एपमि एं जंते ! वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
स्माणं पम्हलेस्माणं य मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ !। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा मु-
क्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्ज-
गुणा, तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखिज्जाओ ।
'एपसि णं भंते !' इत्यादि सुगममन्त्रं "तेउ लेस्साओ वेमाणि-
णओ देवीओ संखिज्जगुणाओ" देवभ्यो देवीनां द्वाविंशद्विंशत्युत्पात् ।

अधुना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकविषयं सूत्रमाह—

एपमि एं जंते ! भवणवासीणं देवाणं वाणमंतराणं जो-
इमियाणं वेमाणियाणं देवाणं य कएहलेस्माणं जाव सु-
क्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ !। गोयमा ! स-
व्वत्थोवा वेमाणिया देवा मुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखि-
ज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा जवनवा-
सी देवा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
तेउलेस्सा वाणमन्तरा देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
संखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा वि-
सेसाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया देवा संखेज्जगुणा । एतेमि
एं जंते ! जवनवासिणीणं वाणमन्तरीणं जोइमिणीणं
वेमाणिणीणं य कएहलेस्माणं जाव तेउलेस्माणं य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ दे-
वीओ वेमाणिणीओ तेउलेस्साओ, जवनवासिणी-
ओ तेउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ
असंखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएह-
लेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ वाणमन्तरीदेवी-
ओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ,
नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहिया-
ओ, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

(एपसि णं भंते ! भवणवासीणमित्यादि) तत्र सर्वस्तोका वैमा-
निका देवाः शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्या
असंख्येयगुणाः, इत्यत्र ज्ञावनाऽन्तरमेव कृता । तेभ्योऽपि भव-
नवासिनो देवास्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?
उच्यते—अद्भुलमात्रैत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमू-
त्रेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृ-
तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्ता-
वत्प्रमाणो भवनपतिदेवीसमुदायः, तज्जतकिञ्चिद्दूनद्वात्रिंशत्तम-
भागकल्पाः भवनपतयो देवास्तत इमे प्रभूता इति घट्टने सौ-
धमेशानदेवेभ्यस्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः कापोत-
लेश्या जवनवासिन एवासंख्येयगुणाः, अल्पार्क्षिकानामप्यतिप्र-
भूतानां कापोतलेश्यासम्भवात् । तेभ्योऽपि भवनवासिन एव
नीललेश्या विशेषाधिकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि
वाणमन्तरास्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?
उच्यते—इहासंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि अ-
रुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावान् व्यन्तरदेवदेवीस-
मुदायः, तज्जतकिञ्चिद्दूनद्वात्रिंशत्तमत्रागकल्पा व्यन्तरदेवाः ; तत
इमे भवनपतिभ्योऽतिप्रभूततमा इत्युपपद्यन्ते । कृष्णलेश्येभ्यो भ-
वनपतिभ्यो वाणमन्तरास्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि
वाणमन्तरा एव कापोतलेश्याका असंख्येयगुणाः, अल्पार्क्षिकाना-
मपि कापोतलेश्यानावात् । तेभ्योऽपि वाणमन्तरा नीललेश्या वि-
शेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, अत्रापि युक्तिः
प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेजोलेश्या ज्योतिष्का देवाः संख्येयगुणाः,
यतः पट्पञ्चाशदधिकाद्द्व्यशतद्वयप्रमाणानि सूचीरूपाणि याव-

न्ति ऋण्डानि एकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणो ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदायः, तत्तत्कस्मिन्द्वात्रिंशत्तमजागकल्पा ज्योतिष्कदेवाः, ततः कृष्णक्षेत्रेभ्यो वाणमन्तरेभ्यः संख्येयगुणा एव घटन्ते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसंख्येयगुणाः, सूचीरूपस्वरूपप्रमाणहेतोः संख्येययोजनकाटीकाद्वयेकया पदपञ्चाशदधिकाङ्कुशशतद्वयसंख्येयजागमावर्तितत्वात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं जघनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतासि एं जंते ! जवणवासीणं० जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण य काहलेस्साणं० जाव सुक्खेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणि-या देवा सुक्खेस्सा, पम्हत्तेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउत्तेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउत्तेस्साओ देवीओ वेमाणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेउत्तेस्सा भवणवामीदेवा असं०, तेउत्तेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, काउत्तेस्सा जवणवासी असं०, नीलत्तेस्सा विसेसाहिया, काहत्तेस्सा विसेसाहिया, काउत्तेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, नीलत्तेस्साओ विसेसाहियाओ, काहत्तेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउत्तेस्सा वाणमंतरा असं०, तेउत्तेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, काउत्तेस्सा वाणमंतरा असं०, नीलत्तेस्सा विसेसाहिया, काहत्तेस्सा विसेसाहिया, काउत्तेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, नीलत्तेस्साओ विसेसाहियाओ, काहत्तेस्सा विसेसाहिया, तेउत्तेस्सा जोइसिया संखे०, तेउत्तेस्साओ जोइसिणीओ संखेज्जगुणाओ ।

एतच्च सूत्रद्वयमपि प्रागुक्तभावनाऽनुसारेण भावनीयम् । प्रज्ञा० १७ पद । (वेदस्यास्थानानामल्पबहुत्वं तु 'वेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) (वर्गणाया अल्पबहुत्वं बन्धप्ररूपणावसरे वक्ष्यते)

(२८) इदानीं वेदद्वारमाह—

एतासि एं जंते ! जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पुरुषवेदाः, संज्ञिनामेव तिर्यक्मनुष्याणां देवानां च पुरुषवेदभावात् । तेभ्यः स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः, यत उक्तं जीवाभिगमे—“तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरुवाहियाओ य तथा मणुस्सपुरिसेहिंतो मणुस्सइत्थीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरुवुत्तराओ य तथा देवपुरिसेहिंतो देवत्थीओ वत्तीसगुणाओ वत्तीसरुवुत्तराओ य ” इति । वृद्धाचार्यैरुक्तम्—

“ तिगुणा तिरुवअहिया, तिरियाण इत्थिया मुण्येव्वा ।

सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥ १ ॥

वत्तीसगुणा वत्ती—सरुवअहिया य तइ य देवाणं ।

देवीओ पन्नत्ता, जिणेहि जियरागदोसेहि ” ॥ २ ॥

अवेदका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीवेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रकृपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

सवेदानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्—

अप्पावहुगं—सव्वत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं सकमाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तहेव जाणियव्वा । जी० ? प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषवतां स्त्रीपुंनपुंसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वम्—तत्र स्त्रीणां पञ्चाल्पबहुत्वानि । तद्यथा—प्रथमं सामान्येनाल्पबहुत्वम्, विशेषचिन्तायां द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्स्त्रीणाम्, तृतीयं त्रिविधमनुष्यस्त्रीणाम्, चतुर्थं चतुर्विधदेवस्त्रीणाम्, पञ्चमं मिश्रस्त्रीणाम् ।

तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधित्पुराह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्मित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मणुस्मित्थियाओ, तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(एतासि एं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यस्त्रियः, संख्यातकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं तिर्यक्स्त्रीणामतिबहुतया संभवात्, द्वीपसमुद्राणां वाऽसंख्येयत्वात् । तत्ताभ्योऽपि देवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवीनां प्रत्येकमसंख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थद्वयरीणं खहयरीणं य कयरा कयराहिंतो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुल्लाओ वा विसेसाहियाओ वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणियाओ, थद्वयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोकाः खचरतिर्यग्योनिकास्त्रियः, ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकास्त्रियः संख्येयगुणाः, खचराभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण ज्ञावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियः संख्येयगुणाः, लवणे कालोदे खयंनूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामतिप्राचुर्येण ज्ञावात् । खयंभूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रभूतत्वात् ।

अधुना तृतीयमाह—

एतासि एं भंते ! मणुस्सित्थियाणं कम्मचूमियाणं अकम्मचूमियाणं अंतरदीवियाणं य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा०४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवगअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ, हेमवयहिराणवयवासअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ

संखेजगुणाओ, जरहरवयवासकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ
दो वि तुद्धाओ संखेजगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म-
जूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुद्धाओ संखेजगुणाओ ।
सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाऽकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः, क्षेत्रस्याल्प-
त्वात् । ताभ्यो देवकुरुत्तरकुष्ठोऽस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्ये-
यगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाण-
क्षेत्रत्वात् । ताभ्यो हरिवर्परम्यकवर्षाकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः सं-
ख्येयगुणाः, देवकुरुत्तरकुष्ठक्षेत्राण्युक्त्या ऽग्निरपरम्यकक्षेत्रस्यातिप्र-
चुरत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वा-
त् । ताभ्योऽपि हैमवतहैरग्यवताकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संख्ये-
यगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वोऽपि अल्पस्थितकतया बहूनां तत्र तासां
सम्भवात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि
भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, कर्मजूमित-
या स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थानेऽपि द्वयो-
रपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्म-
जूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रवाहस्यादजितस्वामि-
काले एव च स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण जावात्, स्वस्थानेऽपि
द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । उक्तं तृतीयमल्पबहुत्वम् ॥

अधुना चतुर्थमाह-

एतामि णं जेतं ! देवतिययाणं जवणवासीणं वाणमंतरीणं
जोडमियाणं वेमाणिणीणं य कयरा कयरादितो अप्पा वा० ४
! गोयमा ! सवत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ, जवणवा-
सीदेवित्थियाओ असंखेजगुणाओ, वाणमंतरेदेवित्थियाओ
असंखेजगुणाओ, जोडमियदेवित्थियाओ संखेजगुणाओ ।
सर्वस्तोका वैमानिकदेवस्त्रियः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यद्
द्वितीयं वर्गमूत्रं तस्मिन् तृतीयेन वर्गमूत्रेण गुणिते यावत्
प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशि-
काषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमजागहीनास्तावत्
प्रमाणत्वात् । प्रत्येकं सौधर्मेशानदेवस्त्रीणां ताभ्यो भवनवासि-
देवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं
वर्गमूत्रं तस्मिन् द्वितीयेन वर्गमूत्रेण गुणिते यावत्प्रदेशरा-
शिस्तावत्प्रमाणानु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमजाग-
हीनास्तावत्प्रमाणत्वात् । ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः,
संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि अणूनि यावन्त्ये-
कस्मिन् प्रतरे जवन्ति, तेज्योऽपि द्वात्रिंशत्तमजागेऽपनीते यच्छे-
पमवतिष्ठते तावत्प्रमाणत्वात् तासां । ताभ्यः संख्येयगुणा
उयोतिष्कदेवस्त्रियः, षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रा-
देशिकश्रेणिमात्राणि अणूनि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति
ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपस्फारिते यावत्प्रदेशराशिर्भवति
तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एतामि णं जेतं ! तिरिक्खजोणियाणं जल्लयरीणं थ-
लयरीणं खट्ठयरीणं मणुस्मित्तियाणं कम्मभूमियाणं
अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं देवित्थियाणं जवणवा-
मिणीणं वाणमंतरीणं जोडमियाणं वेमाणिणीणं य क-
यरा कयरादितो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सवत्थो-

वा अंतरदीवगअकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकुरु-
उत्तरकुरुअकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज-
गुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मजूमगमणुस्सित्थिया-
ओ दो वि संखेजगुणाओ, हैमवतहैरग्यवासअकम्मजूमग-
मणुस्मित्तियाओ दो वि असंखेजगुणाओ, जरहरवयवा-
सकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेजगुणाओ, पुव्व-
विदेहअवरविदेहवासकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि सं-
खेजगुणाओ, वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेजगुणाओ,
जवणवासिदेवित्थियाओ असंखेजगुणाओ, खट्ठयरति-
रिक्खजोणित्थियाओ असंखेजगुणाओ, थल्लयरतिरि-
क्खजोणित्थियाओ संखेजगुणाओ, जल्लयरतिरिक्खजो-
णित्थियाओ संखेजगुणाओ, वाणमंतरेदेवित्थियाओ संखे-
जगुणाओ, जोडमियदेवित्तियाओ संखेजगुणाओ ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकु-
रुत्तरकुर्वकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हरि-
वर्परम्यकस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हैमवतहैरग्य-
वतस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मजूमकमनु-
ष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनु-
ष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । अत्र भावना प्राग्वत् । ताभ्यो
वैमानिकदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेण्याकाशप्रदे-
शराशिप्रमाणत्वात्तासां । ताभ्यो जवनवासिदेवस्त्रियोऽसं-
ख्यातगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । ताभ्यः खचरतिर्य-
ग्योनिकस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येय-
श्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासां । ताभ्यः स्थल-
चरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयजागव-
र्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो जल-
चरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयजाग-
वर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो वाण-
मन्तरदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणैक-
प्रादेशिकश्रेणिमात्राणि अणूनि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति ते-
ज्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपस्फुटते यावान् राशिस्तिष्ठति तावत्प्रमा-
णत्वात् । ताभ्योऽपि उयोतिष्कदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः । एतच्च प्रा-
गेव भावितम् । उक्तानि स्त्रीणां पञ्चाप्यल्पबहुत्वानि । जी० ०२ प्रति०
साम्प्रते नपुंसकानामुच्यते-

एतेसि णं भेतं ! नेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियन-
पुंसकाणं मणुस्सनपुंसकाणं य कतरे कतरेदितो जाव विसे-
सादिया वा ! गोयमा ! सवत्थोवा मणुस्सनपुंसका, ने-
रइयनपुंसका असंखेजगुणा, तिरिक्खजोणियनपुंसका
अणंतगुणा ।

प्रश्नमूत्रं सुगमम् । जगवानाह-सौतम ! सर्वस्तोका मनुष्यन-
पुंसकाः, श्रेण्यसंख्येयभागवतिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो-
ऽपि नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशरा-
शौ तद्गतप्रथमवर्गमूत्रगुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति ता-
वत्प्रमाणानु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकाषु श्रेणीषु
यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तासां । तेज्यस्तिर्यग्यो-
निकनपुंसका अनन्तगुणाः, निनोदजीवानामनन्तत्वात् ।

सम्प्रति नैरयिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुढ-
विनेरइयनपुंसकाण यकयरे कयरेहिंते० जाव विमेषाहिया
वा ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, अ-
हपुढविणेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा० जाव दांत्ता, पुढवि-
नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, इमी सेरयणप्पभाए पुढवीए
नेरइयणपुंसका अमखेज्जगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिक-
नपुंसकाः, अहपतरश्रेण्यसंख्येयजागवर्त्त्यसंख्येयश्रेणिगताका-
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि पष्ठपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः,
तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, ते-
ज्योऽपि चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो-
ऽपि तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि
द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्यातगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां
पूर्वपूर्वनैरयिकपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयजागापेक्षया असंख्ये-
यगुणाः, संख्येयगुणश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमा-
णत्वात् । द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां
पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, अद्भुतमात्रकैत्रप्रदेशराशौ
तद्गतप्रथमवर्गमूलगुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा-
सु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आ-
काशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । प्रतिपृथिवीं च पूर्वोत्तरपश्चि-
मदिग्भाविना नैरयिकाः सर्वस्तोकाः, तेज्यो दक्षिणदिग्भाविना-
ऽसंख्येयगुणाः, पूर्वपूर्वपृथिवीगतदक्षिणदिग्भागभाविभ्योऽयु-
त्तरस्यामुत्तरस्यां पृथिव्यामसंख्येयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदि-
ग्भाविन इत्यादि ॥

सम्प्रति तिर्यग्योनिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एगिंदिय-
तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुढविकाइयएगिंदियणपुंसका-
णं० जाव वनस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका-
णं वेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियचउरिंदिय-
पंचेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयरथजयरखहय-
राण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ! गोयमा !
सव्वत्थोवा खट्ठयरतिरिक्खजोणियणपुंसका, थलयरतिरि-
क्खजोणियनपुंसका संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणि-
यनपुंसका संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंस-
का विमेषाहिया, तेइंदिया विमेषाहिया, वेइंदिया विमेषा-
हिया, तेउकाइयएगिंदियतिरिक्खा अमखेज्जगुणा, पुढ-
विकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया विमेषाहिया, एवं
आउवाउ०, वणस्मइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंस-
का अणंतगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-
नपुंसकाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । तेज्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्ये-
यगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयजागवर्त्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्र-
१६७

देशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः
संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयजागवर्त्त्यसंख्येयश्रेणिगताका-
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि चतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकन-
पुंसका विशेषाधिकाः, असंख्येयकोटीकोटिप्रमाणाकाशप्रदेश-
राशिप्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु
यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेज्यस्त्रीन्द्रियतिर्यग्यो-
निकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरश्रेणिगताकाशप्रदेशराशि-
मानत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषा-
धिकाः, प्रभूततमश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः ते-
जस्कान्तिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, मूढम-
बादरभेदभिन्नानां तेषामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ।
तेभ्यः पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधि-
काः, प्रचूतासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्या-
यिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरा-
संख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेज्योऽपि वायुकायिकैके-
न्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंख्येय-
लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकै-
केन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाश-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्म-
जूमिकाणपुंसकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंते अप्पा
वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगाऽकम्मजूमगमणु-
स्सणपुंसका, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमगा दो वि संखेज्ज-
गुणा, एवं जाव पुव्वविदेहं अवरविदेहकम्मजूमगमणुस्म-
णपुंसगा दो वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरद्दीपजमनुष्यनपुंसकाः, एते च समृद्धंनजा
द्रष्टव्याः, गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यनपुंसकानां तत्रासंभवात्,
संहतासु कर्मभूमिजास्तत्र भवेयुरपि । तेभ्यो देवकुरुत्तरकुर्व-
कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, तद्गतगर्भजमनुष्या-
णामन्तरद्दीपजगर्भजमनुष्येभ्यः संख्येयगुणत्वात् । गर्भजमनु-
ष्योच्चाराद्याश्रेयण च समृद्धंनजमनुष्याणामुत्पादात् । स्वस्थाने
तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । एवं तेज्यो हरिवर्षरम्यकवर्षा-
कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि
परस्परं तुल्याः । हेमवतहेरग्यवतवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः
संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यो
भरतैरवतवर्षकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्व-
स्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेज्यः पूर्वविदेहापर-
विदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु
द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । युक्तिः सर्वत्रापि तथैवानुसर्तव्या ।

संप्रति नैरयिकतिर्यग्मनुष्यविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नरइयनपुंसकाणं रयणपुढविनेरइयनपुं-
सकाणं० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजो-
णियनपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुढविकाइय-
एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं० जाव वणस्मइकाइयए-
गिंदियनपुंसगाणं वेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेइंदियतिरि-

स्वजोणियणपुंसकाणं जलपराणं थलपराणं स्वहयगणं म-
क्षुस्मणपुंसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्मजूमिकाणं अंतर-
दीवकाणं य कपरे कपरेहितो अप्पा वा० ४ । गोयमा !
सवत्थोवा अहेसत्तपुटविनेरइयनपुंसका, उट्टपुटविनेरउ-
यनपुंसका असंखेज्जगुणा० जाव दांवा, पुटविनेरइयनपुंसका
असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगमणुस्मणपुंसका असंखेज्जगु-
णा, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमिका दां वि संखेज्जगुणा, ० जाव
पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्मणपुंसका दां वि सं-
खेज्जगुणा, रयणप्पभापुटविनेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा,
खट्ठयपंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा,
अन्नयगा संखेज्जगुणा, जन्नयरा संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरि-
क्खजोणियनपुंसका विसेसाहिया, तेइंदियनपुंसगा विसेसाहि-
या, वेइंदियनपुंसगा विसेसाहिया, तेउकाइयण्णिंदियनपुंसगा
असंखेज्जगुणा, पुटविकाइयण्णिंदियनपुंसगा विसेसाहिया,
आउकाइयनपुंसगा विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, व-
णस्मइकाइयण्णिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, तेज्यः षष्ठपञ्च-
मचतुर्थतृतीयद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसंखे-
यगुणाः, द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽन्तरद्वीपजमनुष्यन-
पुंसका असंखेयगुणाः, एतदसंखेयगुणत्वं समूर्जनजमनुष्या-
पेक्षं, तेषां नपुंसकत्वाद्, एतावतां च तत्र समूर्जनसंभवात् । ते-
भ्यो देवकुरुत्तरकुवकर्मनूतकमनुष्यनपुंसका हेमयतहैरण्यव-
ताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका भरतैरवतकर्मनूतकमनुष्यनपुं-
सकाः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मनूतकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरं
संखेयगुणाः, स्वस्थानचिन्तायां तु द्वये परस्परं तुल्याः, पू-
र्वविदेहापरविदेहकर्मनूतकमनुष्यनपुंसकेभ्योऽस्यां प्रत्यकृत उ-
पलभ्यमानायां एतप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंखे-
यगुणाः, तेभ्यः अक्षरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः असंखे-
यगुणाः, तेभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका जल-
चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं संखेयगुणाः, ज-
लचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकेभ्यश्चतुरिन्द्रियत्रैन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुं-
सका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, द्वैन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसके-
न्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंखेयगुणाः,
तेज्यः पृथिव्यम्बुवायुतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषा-
धिकाः, वाय्वेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यो वनस्पतिकायि-
कैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः । युक्तिः सर्वत्रा-
ऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया । इत्युक्तानि पञ्च नपुंस-
कानामपि अलखदुत्तवानि । जी० २ प्रति० ।

साम्प्रतं पुरुषाणामुच्यन्ते-तानि च पञ्च । तद्यथा-प्रथमं सामा-
न्यालखदुत्तवम् १, द्वितीयं त्रिविधतिर्यकपुरुषविषयम् २, तृतीयं
त्रिविधमनुष्यपुरुषविषयम् ३, चतुर्थं चतुर्विधदेवपुरुषविषयम्
४, पञ्चमं मिश्रपुरुषविषयम् ५ ।

तत्र प्रथमं तावदभिधित्सुराह—

(एतेमि णं जंते ! देवपुरिमाणं जवणवामीणं वाणमंत-
राणं जोइमियाणं वेमाणियाणं य कपरे कपरेहितो अप्पा

वा बहुया वा तुझा वा त्रिसेसाहिया वा । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा वेमाणियदेवपुरिमा, जवणवइंदेवपुरिमा असंखे-
ज्जगुणा, वाणमंतदेवपुरिमा असंखेज्जगुणा, जोइमिय-
देवपुरिमा संखेज्जगुणा ।)

(एपसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, संखेयकौ-
टीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः तिर्यग्योनिकपुरुषा असंखेयगु-
णाः, प्रतरासंखेयभागवत्स्यसंखेयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशि-
प्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो देवपुरुषाः संखेयगुणाः, बृहत्तरप्रतरा-
संखेयभागवत्स्यसंखेयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात् ।
तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां मनुष्यपुरुषाणां
यथा मनुष्यस्त्रीणामल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । संप्रति देवपुरुषाणाम-
ल्पबहुत्वमाह—सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, क्षेत्रप-
ल्योपमासंखेयभागवत्स्यकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्य
उपरितनप्रैवेयकदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमा-
संखेयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिमानत्वात् । कथमेतदवसेय-
मिति चेत् ? उच्यते—विमानबाहुल्यात् । तथाहि—अनुत्तरदेवानां
पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपरितनप्रैवेयकप्रस्तटे, प्रतिविमानं
चासंखेया देवाः, यथाऽत्राऽधोऽधोवर्तीनि विमानानि तथा
तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते; ततोऽवसीयते—अनुत्तरवि-
मानवासिदेवपुरुषापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंखेयभागव-
र्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनप्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः,
एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमप्रैवेयकप्रस्तटे
देवपुरुषाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनप्रैवेयकप्रस्तटे देवपु-
रुषाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्यन्युत्तकल्पदेवपुरुषाः—संखेयगुणः,
यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणिकौ समविमानसंख्याकौ च,
तथापि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यान् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां
दिशि समुत्पद्यन्ते । अथ के ते कृष्णपाक्षिकाः ? उच्यते—इह द्व-
ये जीवाः, तद्यथा—कृष्णपाक्षिकाः, शुक्लपाक्षिकाश्च । तत्र येषां
किञ्चिद्भूतोपाख्यपुल्लपरावर्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, इतरं
दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च—“ जेसिमवहो
पोगद्व—परियहो सेसओ य संसारो । ते सुकपक्खिया खलु,
अहिण पुण कएदपक्खीओ ” ॥१॥ अत एव स्तोकाः शुक्लपा-
क्षिकाः, अल्पसंसाराणां स्तोका नामेव भावात् । बहवः कृ-
ष्णपाक्षिकाः, दीर्घसंसाराणामनन्तानां भावात् । अथ कथमेत-
दवसातव्यं कृष्णपाक्षिका प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते ? उच्यते—तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यमेवं पू-
र्वाचार्यैर्युक्तिनिरूपयुहितम्, कृष्णपाक्षिकाः खलु दीर्घसंसारभा-
जिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयात्, बहुपा-
पोदयाश्च कूरकर्मणः, कूरकर्मणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् ।
तद्वदसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, यत उक्तम्—
“ पायमिह कूरकम्मा, भवासिद्धिया वि दाहिणिद्वेसु । नेरइय-
तिरियमणुया, सुरा य त्राणेषु गच्छन्ति ” ॥१॥ ततो दक्षिण-
स्यां दिशि प्राचुर्येण कृष्णपाक्षिकाणां संभवदुपपद्यतेऽच्यु-
तकल्पदेवपुरुषापेक्षया आरणकल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, ते-
भ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पापेक्षया सं-
खेयगुणत्वं, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण भा-
वात् । एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानवास्यादय आनतकल्पावा-
सिपर्यन्तदेवपुरुषाः प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंखेयभागवर्तिनभः-

प्रदेशराशिप्रमाणा छष्ट्याः । “आणयपाणयमाई पल्लुस्साऽसं-
खभागा उ” इति वचनात् । केवलमसंख्येयो भागो विचित्र-
इति परस्परं यथोक्तं संख्येयगुणत्वं न विरुध्यते । आनतकल्प-
देवपुरुरूपेभ्यः सहस्रारकल्पवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः,
घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमे भागे
यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्संपाद्यते, तेभ्योऽपि महाशु-
क्रकल्पवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभा-
गाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । कथमेतत् प्रत्येयमिति चेत् ?
उच्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-पट्सहस्राणि विमानानां
सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रं, अन्यच्चाधोवि-
मानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोक्तस्तोक्ततरा उपरितनवि-
मानवासिनः, तत उपपद्यते सहस्रारकल्पदेवपुरुरेभ्यो महाशु-
क्रकल्पवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि लान्तककल्प-
देवपुरुरा असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभः-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो
देवपुरुरा असंख्येयगुणाः, ज्योतिष्युत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्या-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुरा
असंख्येयगुणाः, ज्योतिष्युत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदे-
शमानत्वात् । तेभ्यः सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः, विमा-
नबाहुल्यात् । तथाहि-द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे वि-
मानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, अन्यच्च दक्षिणदि-
ग्भागवर्ती सनत्कुमारकल्पो, माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरदिग्बर्ती, दक्षिण-
स्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिकाः, तत उपपद्यन्ते
माहेन्द्रकल्पासनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः । एते च सर्वेऽपि
सहस्रारकल्पवासिदेवादयः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपर्यन्ताः
प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना घनीकृतज्ञाकैकश्रेण्यसंख्येयजाग-
गताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा छष्ट्याः । केवलं श्रेण्यसंख्येयभा-
गोऽसंख्येयभेदस्तत इत्थमसंख्येयगुणतया अल्पबहुत्वमभिधी-
यमानं न विरोधभाक् । सनत्कुमारकल्पदेवपुरुरेभ्य ईशानकल्प-
देवपुरुरा असंख्येयगुणाः, अद्भुतमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धि-
नि द्वितीयवर्गमूत्रे तृतीयेन वर्गमूत्रेण गुणिते यावान् प्रदेशराशि-
स्तावत्संख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीसु श्रेणी-
षु यावन्तो नमःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्र-
माणत्वात् । तेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुराः संख्येयगुणाः,
विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमाना-
नामीशानकल्पे, द्वात्रिंशच्च शतसहस्राणि सौधर्मकल्पे, अपि च
दक्षिणदिग्बर्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पश्चोत्तरदिग्बर्ती, दक्षिण-
स्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते । तत ईशानकल्प-
वासिदेवपुरुरेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुराः संख्येयगुणाः ।
नन्विद्यं युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहे-
न्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह
तु सौधर्मकल्पे संख्येयगुणाः, तदेतत्कथम् ? उच्यते-तथावस्तु-
स्वाभाव्यात् । एतच्चावसीयते प्रज्ञापनादौ, सर्वत्र तथा भणनात् ।
तेभ्योऽपि भवनवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः, अद्भुतमात्रक्षेत्र-
प्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूत्रेण गु-
णिते यावान् प्रदेशराशिप्रजायते तावत्संख्याकासु घनीकृतस्य
लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तेषां या-
वान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्यन्तरदेवपु-
रुराः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोट्योऽपि प्रमाणैकप्रादेशि-
कश्रेणिमात्राणि अण्मनि यावत्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तेषां

यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः संख्येय-
गुणा ज्योतिष्का देवपुरुराः, पट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाद्भुलप्रमाणै-
कप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि अण्मनि यावत्येकस्मिन् प्रतरे भव-
न्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । जी० २
प्रति० । इति चत्वार्यल्पबहुत्वान्युक्तानि । (६७) अत्र टीका-
कारस्वान्यादृशः पात्रः सम्मत इदानीं तनप्रतिषु तु अन्यादृश
इति शब्दतो जेद आभाति, अर्थतस्तु न जेदः)

सम्प्रति पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतेसि एणं भंते ! तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं
थन्नयराणं खहयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मजूमगाणं अ-
कम्मजूमगाणं अंतरदीवगाणं देवपुरिसाणं० जवणवामीणं
वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं० जाव
सच्चट्टसिच्छाणं य कयरे कयरेहिं० जाव विसेसाहिया ?
गोयमा ! सच्चट्टोवा अंतरदीवगमणुस्सपुरिसा, देवकुरुत्त-
रकुरुअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, इ-
रिवासरम्मवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्ज-
गुणा, हेमवतहेरषवतवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो
वि संखेज्जगुणा, जरहेरवयवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरि-
सा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजु-
मगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, अणुत्तरोववा-
तिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगदेवपुरिसा सं-
खेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जगदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, हि-
ट्ठिमगेवेज्जगदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, अच्चुते कप्पे देवपु-
रिसा संखेज्जगुणा, आरणकप्पे देवपुरिसा संखेज्ज-
गुणा, पाणयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, आणतकप्पे
देवपुरिसा संखेज्जगुणा, सहस्रारकप्पे देवपुरिसा अ-
संखेज्जगुणा, महासुककप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा०
जाव माहिं दे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणकुमार-
कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणकप्पे देवपुरिसा असं-
खेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
भवणवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजो-
णियपुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणियपु-
रिसा संखेज्जगुणा, जन्नयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे-
ज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसिय-
देवपुरिसा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका भन्तरद्दीपजमनुष्यपुरुराः, क्षेत्रस्य स्तोक्तत्वात् ।
तेभ्यो देवकुरुत्तरकुरुमनुष्यपुरुराः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बाहु-
ल्यात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि इरि-
वर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुराः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्या-
तिबहुत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य
समानत्वात् । तेभ्योऽपि हेमवतहेरण्यवताकर्मभूमकमनु-
ष्यपुरुराः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽप्यल्पस्थितिकतया प्रा-
चुर्येण लभ्यमानत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः ।

तेभ्योऽपि नरैवतवर्षकर्मन्मकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, अजितस्वामिकास्ते वत्सुपदे स्वभावत एव नरैरवतेषु च मनुष्यपुरुषाणामतिप्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थानि च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य तुल्यत्वात् । तेज्योऽपि पूर्वविदेदापर-विदेदादकर्मन्मकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् । अजितस्वामिकास्ते इव स्वभावत एव मनुष्यपुरुषाणां प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽप्यनुत्तरोपपातिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयजाग-बर्त्याकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तदन्तरमुपरितनयैवेयकप्रस्त-देवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषाः प्राणत-कल्पदेवपुरुषा भानतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः । जावना प्रागिव । तदनन्तरं मद्भारकल्पदेवपुरुषा दान्तककल्प-देवपुरुषा ब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषा माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषाः सन्तकु-मारकल्पदेवपुरुषा ईशानकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरमसंख्येयगु-णाः, सौधर्मकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, सौधर्मकल्पदेवपु-रुषेभ्यो भवतवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः । भावना सर्व-त्रापि प्रागिव । तेज्यः खच्चरतिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयतागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाण-त्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो-ऽपि जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिरत्रापि प्रा-गिव । तेभ्योऽपि वाणमन्तरदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्येय-योजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रदेशिकश्रेणिकमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति तेषां यावान् द्वाविंशत्सो भाग-स्त्वावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिः प्रागेवोक्ता । जी० २ प्रति० । इति प्रतिपादितानि स्त्री-पुनपुंसकानां प्रत्येकमवयवद्वयानि ।

इदानीं समुद्भितानामुच्यन्ते-तानि चाष्ट । तत्र-प्रथमं सामान्येन तिर्यक्स्त्रीपुरुषनपुंसकप्रतिबद्धम्, एवमेतदेव मनुष्यप्रतिबद्धं द्वि-तीयम्, देवस्त्रीपुरुषनारकनपुंसकप्रतिबद्धं तृतीयम्, सकलस-मिश्रं चतुर्थम्, जलचर्यादिविभागतः पञ्चमम्, कर्मन्मजादि-मनुष्यादिविभागतः षष्ठं, जवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तमं, जलचर्यादिविजातीयव्यक्त्यापकमष्टमम् ॥

तत्र प्रथममभिधिसुराह—

एतेमि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणि-यपुरिमाणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं य कयरे कयरेहिं-तो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! मच्चत्थोवा तिरिक्ख-जोणियपुरिमा, तिरिक्खजोणियत्थीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकास्तिर्यक्पुरुषाः, तेभ्यस्तिर्यक्स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यस्तिर्यक्पुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजी-वानामनन्तत्वात् ।

संप्रति द्वितीयमवयवद्वयमाह—

एतेमि एं जंते ! मणुस्मिन्त्रीणं मणुस्मपुरिमाणं मणु-स्मणपुंसकाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पावा० ४ ? । गोयमा ! मच्चत्थोवा मणुस्मपुरिमा, मणुस्मिन्त्रीओ संखेज्जगुणा-ओ, मणुस्मणपुंसका असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, कोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, जगद्विंशतिगुणत्वात् । तेज्यो

मनुष्यनपुंसकाश्च संख्येयगुणाः, भ्रूयसंख्येयजागतप्रदेशरा-शिप्रमाणत्वात् ।

संप्रति तृतीयमवयवद्वयमाह—

एतेमि णं जंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं नेरइयनपुंसकाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! मच्चत्थोवा नेरइयनपुंसगा, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका नैरयिकनपुंसकाः, अद्भुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ स्वप्र-थमवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रदेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्र-देशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा असंख्येयगुणाः, अ-संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणायां शुचौ यावन्तो नभःप्रदेशा-स्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रदेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति सकलसंमिश्रं चतुर्थमवयवद्वयमाह—

एतेमि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपु-रिमाणं तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं मणुस्सित्थीणं मणु-स्मपुरिसाणं मणुस्सनपुंसगाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं ने-रइयनपुंसकाणं य कयरे कयरेहिंतो० ? । गोयमा ! मच्चत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्ज-गुणाओ, मणुस्सनपुंसका असंखेज्जगुणा, नेरइयणपुं-सका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियपुरिसा असं-खेज्जगुणा, तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियनपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । तेज्यो मनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागुक्ता । ते-भ्यो नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेण्याकाशप्रदे-शराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेज्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्यातगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, प्रभूततरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येय-श्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो देवस्त्रियः संख्ये-यगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् । ताज्यस्तिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्त-गुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

संप्रति जलचर्यादिविभागतः पञ्चममवयवद्वयमाह—

एतामि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जल्लयरीणं थल्लयरीणं खल्लयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जल्लयराणं थल्लयराणं खल्लयराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजो-णियणपुंसकाणं पुठविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंस-गाणं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसगा-णं वेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं, तेइंदियचतुर्दिपं-चेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जल्लयराणं थल्लयराणं ख-ल्लयराणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! मच्चत्थोवा खल्लयरीतिरिक्खजोणियपुरिसा, खल्लयरीतिरि-

कवजोणित्यियाओ संखेज्जगुणाओ, यत्तयरतिरिक्खजोणि-
यपुरिसा संखेज्जगुणा, यत्तयरतिरिक्खजोणित्यियाओ सं-
खेज्जगुणाओ, जत्तयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा,
जत्तयरतिरिक्खजोणित्यियाओ संखेज्जगुणाओ, खट्ठय-
पंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, यत्तयपंचे-
दियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, जलयरतिरि-
क्खजोणियणपुंसकपंचेदिया संखेज्जगुणा, चउरिंदियति-
रिक्खजोणियणपुंसका विसेसाहिया, तेण्दियणपुंसका विसे-
साहिया, वेण्दियणपुंसका विसेसाहिया, तेज्जकाइयएगिदि-
यतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, पुढविनपुंसका
विसेसाहिया, आउ० विसेसाहिया, वाउ० विसेसाहिया,
वणप्फतिएगिदियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकपुरुषाः । तेज्यः खच-
रतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः स्थ-
लचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । तेज्यः स्थलचरति-
र्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलच-
रतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । तेज्यः जलचरतिर्यग्यो-
निकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः खचरपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः । तेज्यः स्थ-
लचरतिर्यग्योनिकनपुंसका यथाक्रमं संख्येयगुणाः । ततश्च-
तुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रिया यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्तेज-
स्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः
पृथिव्यम्बुवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं
विशेषाधिकाः । ततो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकन-
पुंसका अनन्तगुणाः ।

संप्रति कर्मभूमिजादिमनुष्यरूपादिविभागतः षष्ठम-
लपबहुत्वमाह-

एयासि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं कम्मजूमियाणं अकम्म-
जूमियाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मजूमिकाणं
अकम्मजूमिकाणं अंतरदीविकाणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्म-
जूमगाणं अकम्मजूमगाणं अंतरदीविकाणं य कयर कयरहिं-
तो अप्पा वा०४१। गोयमा ! अंतरदीवकअकम्मजूमकमणुस्सि-
त्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एतेसि णं दोषि वि तुद्धा सव्व-
त्थोवा, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमकमणुस्सित्थियाओ मणु-
स्सपुरिसाओ एतेणं दोषि वि तुद्धा संखेज्जगुणा; हरि-
वासरम्मकवासअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरि-
सा य एते णं दोषि वि तुद्धा संखेज्जगुणा, हेमवते हेरण-
वते अकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य दो वि
तुद्धा संखेज्जगुणा, जरहेरवतकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि
संखेज्जगुणा, जरहेरवयकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो-
वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपु-
रिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजु-
मगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अंतरदीवगअक-
म्मजूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, देवकुरुत्तरकुरुअ-

कम्मजूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं तदेव०
जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजूमकमणुस्सणपुंसका दो
वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियोऽन्तरद्वीपकमनुष्यपुरु-
षाश्च; एते च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तत्रत्यस्त्रीपुंसानां युग-
लधर्मापेतत्वात् । तेज्यो देवकुरुत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो
मनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । स्वस्था-
ने तु परस्परं तुल्याः । एवं हरिवर्षरम्यकमनुष्यपुरुषास्त्रियो
हेमवतहेरणवतमनुष्यपुरुषास्त्रियश्च यथोत्तरं संख्येयगुणाः,
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ततो जरहेरवतकर्मभूमकम-
नुष्या द्वये संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।
तेभ्यो भरतेरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येय-
गुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।
ताभ्यः पृथिविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि
संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यः पूर्व-
विदेहापरविदेहाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगु-
णाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।
ताभ्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः, श्रेयसंख्ये-
यभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवकुरुत्तरकुर्व-
कर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु
परस्परं तुल्याः । तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपु-
सका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।
तेज्यो हेमवतहेरणवतकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि
संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो जर-
हेरवतकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहक-
र्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु
परस्परं तुल्याः ।

संप्रति जवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तममलपबहुत्वमाह-

एतासि णं जंते ! देवित्थीणं जवणवामीणं वाणमंतरीणं
जोइमीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं जाव
वेमाणियाणं सोधम्मकाणं जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरोववा-
इयाणं नेरइयनपुंसकाणं रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसकाणं
जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयनपुंसकाणं कयर कयरहितो
जाव विसेमाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववा-
इया देवपुरिसा, उवरिमगेवज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तदे-
व० जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेमत्तमाए
पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, उढीए पुढवीए
नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, महस्सारे कप्पे देवपुरिसा
असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा,
पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए
कप्पे असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइया असं-
खेज्जगुणा, वंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
तच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे दे-
वपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणकुमारं कप्पे देवपुरिसा
असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,

ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखे०, जवन-
वामिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, जवणवामिदेवीत्थियाओ संखे०, इमी से रयणप्पजापुढवीनेरइया असंखेज्जगुणा,
वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवित्थिया-
ओ संखेज्जगुणाओ, जोत्तिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा,
जोत्तिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वस्मोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरियाः, तत उपरितनप्रवेय-
कमध्यप्रवेयकाधस्तनप्रवेयकाच्युतारणप्रागुतानतकल्पदेवपुरि-
या यथोत्तर संख्येयगुणाः । ततोऽधःसप्तमपट्टपृथिवीनैरयिकन-
पुंसकमहस्त्रामहाशुक्रकल्पदेवपुरियापञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुं-
सकलान्तककल्पदेवपुरियाचतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसकब्रह्माका
कल्पदेवपुरियातृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रसनत्कुमारक-
ल्पदेवपुरियाद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसंख्येय-
गुणाः । तत ईशानकल्पदेवपुरिया असंख्येयगुणाः, तेज्य ई-
शानकल्पदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् । ततः
सौधर्मकल्पे देवपुरियाः संख्येयगुणाः, तेज्यः सौधर्मकल्पे देव-
स्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् । ताज्यो भवनवासि-
देवपुरिया असंख्येयगुणाः, तेभ्यो भवनवासिदेव्यः संख्येय-
गुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् । ताज्यो रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैर-
यिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवपुरिया अ-
संख्येयगुणाः, तेज्यो वाणमन्तरदेव्यः संख्येयगुणाः, ताज्यो
ज्योतिष्कदेवपुरियाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो ज्योतिष्कदेवस्त्रियः
संख्येयगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति विजानीयव्यक्तित्वापकमष्टमवहवत्वमाह—

एतानि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलय-
रीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसा जलयराणं थलय-
राणं खहयराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरि-
क्खजोणियनपुंसकाणं पुढवीकाइयएगिंदियतिरिक्खजो-
णियनपुंसकाणं आउक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुं-
काणं जाव वणस्मइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुं-
काणं वेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियतिरिक्ख-
जोणियणपुंसकाणं चउरिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं
पंचेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थन्नयराणं
खहयराणं माणुस्मिन्तीणं कम्मत्तमियाणं अकम्मत्तमि-
याणं अंतरदीवकाणं मणुस्मपुरिसाणं कम्मत्तमकाणं अ-
कम्मभूतकाणं अंतरदीवकाणं मणुस्मनपुंसकाणं कम्मत्त-
मिकाणं अकम्मत्तमिकाणं अंतरदीवकाणं देवित्थीणं भव-
णवामिणीणं वाणमन्तराणं जोत्तिसिणीणं वेमाणिणीणं देवपु-
रिसाणं भवणवामीणं वाणमन्तराणं जोत्तिसियाणं वेमाणि-
याणं सोधम्मकाणं जाव गोइज्जकाणं अनुत्तरोपपाट्याणं
नेरइयनपुंसकाणं रयणप्पजपुढवीनेरइयनपुंसकाणं जाव
अदेमनपापुढवीनेरइयनपुंसकाणं य कयरे कयरेगिंदो अप्पा

वा० ४१। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवकअकम्मत्तमिकम-
णुस्मिन्तीओ मणुस्मपुरिसा य एतेणं दो वि तुह्वा सव्व-
त्थोवा, देवकुरुत्तगुरुअकम्मत्तमगमणुस्मिन्तीओ मणु-
स्मपुरिसा य एतेणं दो वि तुह्वा संखेज्जगुणा; एवं
हरियासरम्मवासे, एवं हेमवते हेरणवते, जरहेरवतवाम-
कम्मत्तमगमणुस्मपुरिसा दो वि संखे०, जरहेरवयकम्मत्तम-
गमणुस्मिन्तीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरवि-
देहकम्मत्तमगमणुस्मपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेह-
अवरविदेहकम्मत्तमगमणुस्मिन्तीओ दो वि संखेज्ज-
गुणाओ, अनुत्तरोपपातियदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा;
उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा० जाव आणतकप्पे
देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुं-
सा असंखेज्जगुणा, छट्ठीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगु-
णा, सहसमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महा-
सुक्के कप्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुं-
सा असंखेज्जगुणा, लंतए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगु-
णा, चउत्थीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा,
धंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तचाए पुढवी-
ए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे असंखेज्जगुणा,
सणकुमार कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोचाए पु-
ढवीए एणरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवकअक-
म्मत्तमगमणुस्मणपुंसका असंखेज्जगुणा । देवकुरुत्तगुरु-
अकम्मत्तमगमणुस्मणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं० जाव
विदेहोत्ति । ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाण-
कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपु-
रिसा संखेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्ज-
गुणाओ, जवणवासिदेवपुरिसा असंखे०, भवणवासिदे-
वित्थियाओ संखेज्जगुणाओ; इमी से रयणप्पजाए पुढ-
वीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजो-
णियपुरिसा संखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणित्थिया-
ओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे-
ज्ज०, थन्नयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरि-
क्खजोणियपुरिसा संखेज्ज०, जलयरतिरिक्खजोणि-
त्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगु-
णा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसिय-
देवपुरिसा संखेज्ज०, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगु-
णाओ । खहयरपंचेइयतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्ज-
गुणा, थन्नयरनपुंसका संखे०, जलयरनपुंसका संखे०,
चतुरिंदियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वे-
दिया विसेसाहिया, तेउकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिय-
नपुंसका असंखे०, पुढवि० विसेसाहिया, आउ० विसेसाहि-

या, वा३० विसेसाहिया, वणप्फइकाइयएगिदियतिरि-
स्वजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्व-
स्थाने तु द्वयेऽपि तुल्याः, युगव्रधर्मोपेतत्वात् । एवं देवकुरु-
त्तरकुर्वकर्मजूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मजूमकहैमवतहैरण्य-
वताकर्मजूमकमनुष्यस्त्रीपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो भरतैरवतकर्मजूमकमनुष्यपु-
रुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ते-
ज्यो भरतैरवतकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगुणाः,
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताज्यः पूर्वविदेहापरविदेहक-
र्मजूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु पर-
स्परं तुल्याः । तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मजूमकमनु-
ष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽनुत्तरोपपातिकोपरितनप्रैवेय-
कमध्यमप्रैवेयकाधस्तनप्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपु-
रुषाः यथोत्तरं संख्येयगुणाः, ततोऽधःसप्तमपष्ठपृथिवीनैरयि-
कसहस्रारकल्पदेवपुरुषा महाशुक्रकल्पदेवपुरुषाः पञ्चमपृथि-
वीनैरयिकलान्तककल्पदेवपुरुषाश्चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसक-
अष्टात्रोक्तकल्पदेवपुरुषास्तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रकल्प-
सनकुमारकल्पदेवपुरुषाद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकान्तरद्वी-
पनपुंसका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । ततो देवकुरुत्तरकुर्वकर्म-
जूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मजूमकहैमवतहैरण्यवताकर्मजूमक-
भरतैरवतकर्मजूमकपूर्वविदेहापरविदेहकर्मजूमकमनुष्यनपुंस-
काः यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वये परस्परं तुल्याः ।
तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तत ईशानकल्पे दे-
वस्त्रियः संख्येयः । ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवपुरुषस्त्रियः संख्येयः । ते-
भ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेज्यो जवनवासिदे-
वस्त्रियः संख्येयगुणाः । ताभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैर-
यिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः खचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः
खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः स्थलचर-
तिर्यग्योनिकस्त्रियः जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः जलचरतिर्यग्यो-
निकस्त्रियो वाणमन्तरदेवपुरुषाः वाणमन्तरदेवस्त्रियो ज्योति-
ष्कदेवपुरुषाः ज्योतिष्कदेवस्त्रियो यथोत्तरं संख्येयगुणाः ।
ततः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः ।
ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः क्रमेण
संख्येयगुणाः, ततश्चतुरिन्द्रियत्रोन्द्रियद्वोन्द्रियतिर्यग्योनिक-
नपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्तेजसाधिकैकेन्द्रिय-
तिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, ततः पृथिव्यव्यायुका-
यिकतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । वनस्प-
तिकाधिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निर्गोद-
जीवानामनन्तत्वात् । जी० २ प्रति० ।

शरीरमाश्रित्य सशरीराशरीरादपबहुत्वचिन्तायाम्-

“संवत्थोवा ससरीरी, असरीरी अणंतगुणा”

(१७) [शरीरद्वारम्] आहारकादिशरीरिणाम्-

अप्पावहुं-संवत्थोवा आहारगसरीरी, वेडवियमरीरी
असंखेज्जगुणा, ओरादियसरीरी असंखेज्जगुणा, अ-
सरीरी अणंतगुणा, तेयाकम्मासरीरी दो वि तुल्ला अ-
णंतगुणा ।

सर्वस्तोका आहारकशरीरिणः, उत्कर्षतोऽपि सहस्रपृथक्त्वेन
प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः, देवनार-
काणां कतिपयगर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यवायुकायिकानां च वै-
क्रियशरीरत्वात् । तेज्य औदारिकशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः, इहा-
नन्तानामपि जीवानां यस्मादकर्मौदारिकं शरीरं ततः स एक-
औदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंख्येयगुणा एवौदारिकशरी-
रिणा नानन्तगुणाः । आह च मूत्रटीकाकारः ‘औदारिकशरीरिभ्यो-
ऽशरीरा अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्, औदारिकशरीरिणां
च शरीरापेक्षया असंख्येयत्वादिति’ । तेज्योऽशरीरिणोऽनन्त-
गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्यः तैजसशरीरिणः कार्मणश-
रीरिणः अनन्तगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तै-
जसकर्मणयोः परस्पराविनाभावत्वात् । इह तैजसशरीरं का-
र्मणशरीरं च निर्गोदेवपि प्रतिजीवं विद्यते, इति सिद्धेज्योऽप्य-
नन्तगुणत्वम् । जी० ६ प्रति० । (औदारिकादिशरीराणां चालप-
बहुत्वं ‘सरीर’ शब्दे वक्ष्यते) (संक्रयविषयमल्पबहुत्वं ‘संकम’
शब्दे द्रष्टव्यम्) (समुद्भातविषयमल्पबहुत्वं ‘समुग्घाय’ शब्दे
प्ररूपयिष्यते)

[संज्ञिद्वारम्] संख्यसंज्ञिनोसंज्ञिनोअसंज्ञिनामल्पबहुत्वम्-

एएसिणं भंते ! जीवाणं सर्वाणं असर्वाणं नोसन्नीणं
नोअसर्वाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोय-
मा ! संवत्थोवा सर्वा, नोसर्वा नोअसर्वा अणंतगुणा,
असर्वा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः संज्ञिनः, समनस्कानामेव संज्ञित्वात् । तेज्यो नोसं-
ज्ञिनो नोऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवृत्ता हि सिद्धाः, तेच
संज्ञिभ्योऽनन्तगुणा एवेति । तेभ्योऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पती-
नां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । (आहारादिसंज्ञो-
पयुक्तानां नैरयिकादीनामल्पबहुत्वं ‘सन्ना’ शब्दे वक्ष्यते) (सा-
मायिकादिसंयतविषयमल्पबहुत्वं ‘संजय’ शब्दे एव द्रष्टव्यम्)
(संयमस्थानानामल्पबहुत्वं ‘संजमट्टाण’ शब्दे भवयिष्यते)

[संयमद्वारम्] संयतानामसंयतानां नोसंयत-

नोअसंयतानामल्पबहुत्वम्-

एएसिणं जंते ! जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासं-
जयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा० ४ ! । गोयमा ! संवत्थोवा जीवा संजया, संजयासंजया
असंखेज्जगुणा, नोसंजता नोअसंजता अणंतगुणा, अ-
संजता अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः संयताः, वत्कष्टपदेऽपि तेषां कोटिसहस्रपृथक्त्वप्र-
माणतया लज्यमानत्वात् । “कोटिसहस्रपुहुत्तं मण्यलोप
संजयाणं” इति वचनात् । तेज्यः संयतासंयता देशविरता असं-
ख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातानां देशविरतिसंज्ञा-
वात् । तेज्यो नोसंयता नोअसंयता अनन्तगुणाः, प्रतिषेध
प्रयवृत्ता हि सिद्धाः, तेचानन्ता इति । तेज्योऽसंयता अनन्त-
गुणाः, वनस्पतीनां सिद्धेज्योऽप्यनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

संस्थानानामल्पबहुत्वम्-

एएसिणं जंते ! परिमंरुवट्टचउरंसंतसआयतअणित्थंत्था-
णं संठाणाणं दव्वट्टयाए पदेमट्टयाए दव्वट्टपदेमट्टयाए कय-

रे कयरेहिंतो जाव विमसाहिवा वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा परिमंजसंठाणा दव्वट्टयाए, वट्टासंठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, चउरंसा संठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, तंसा-
संठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, आयतसंठाणा दव्वट्ट-
याए संखेज्जगुणा, अणित्थंत्था संठाणा दव्वट्टयाए अ-
संखेज्जगुणा । पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा परिमंरुत्ता संठाणा,
वट्टासंठाणा पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा । जहा दव्वट्टयाए तहा
पदेसट्टयाए वि० जाव अणित्थंत्था संठाणा पदेसट्टयाए
असंखेज्जगुणा । दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा परिमंरु-
त्तासंठाणा, दव्वट्टयाए सो चेव गमगो भाणियव्वो० जाव
अणित्थंत्था संठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, अणेत्यंत्थे-
हिंतो संठाणेहिंतो दव्वट्टयाएहिंतो परिमंरुत्ता पदेसट्टयाए
असंखेज्जगुणा, वट्टासंठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, सो
चेव पदेसट्टयाए गमगो जाणियव्वो० जाव अणित्थंत्था सं-
ठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । ज० २५ श० ३ उ० ।

(पट्कसमजितानां यावच्चतुरशीतिसमजितानामल्पबहुत्वं
'उचवाय' शब्दे द्वितीयभागे ६२२ पृष्ठे निरूपयिष्यते)

[सम्यक्त्वद्वारम्] सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्ट्या-

दृष्टानामल्पबहुत्वम्-

एप्पि एं भंते ! जीवाणं सम्मादिट्ठीणं मिच्छादिट्ठीणं
सम्मामिच्छदिट्ठीणं च कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छदिट्ठी, सम्मादिट्ठी
अणंतगुणा, मिच्छादिट्ठी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणाम-
कालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणतयाऽतिस्तोक्तत्वेन तेषां पृच्छासमये स्तो-
कानामेव लज्यन्त्वान् । तेभ्यः सम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धा-
नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, वनस्पति-
कायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टि-
त्वादिति । प्रज्ञा० ३ पद ।

सम्यक्त्वद्वारे सास्वादनसम्यग्दृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकस-
म्यक्त्वाक्तेषां विदेव प्रचयमानानां सास्वादनत्वात् । तेभ्य औ-
पशमिकसम्यग्दृष्टयः सङ्ख्यातगुणाः ।

मीमा संवा वेयग-अमंखगुण खइय मिच्च तु अणंता ।
सैनियर थोवऽणंता-ऽणहार थोवेयर अमंखा ॥ ४४ ॥

तेज्यऔपशमिकसम्यग्दृष्टयो मिथ्याः संख्यातगुणाः, तेभ्यो
(वेयग स्ति) क्षादोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः । तेभ्यः
क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धा-
नामनन्तत्वात् । तेज्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽ-
पि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादि-
ति । कर्म० ४ कर्म० ।

[मिद्रिविषयकम्] मिद्रासिन्धोरूपबहुत्वम्-

एप्पि एं जंते ! मिद्राणं अमिच्छाण य कयरे कयरे-
हिंतो जाव विमसाहिवा वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
मिद्रा, अमिच्छा अणंतगुणा ।

"एप्पसि णमित्थादि" प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम !
सर्वस्तोकाः सिद्धाः, असिद्धा अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामति-
प्रभृतत्वात् ।

(सूक्ष्मद्वारम्) सूक्ष्मबादरनोसूक्ष्मनोबादराणामल्पबहुत्वम्-

एप्पि एं जंते ! सुहुमाणं बादराणं नोसुहुमाणं नोबा-
दराण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा जीवा नोसुहुमा नोबादरा, बादरा अणंतगुणा, सु-
हुमा असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाः जीवा नोसूक्ष्मा नोबादराः, सिद्धा इत्यर्थः; तेषां
सूक्ष्मजीवराशेर्बादरजीवराशेऽनन्तभागकल्पत्वात् । तेभ्यो वा-
दरा अनन्तगुणाः, बादरनिगोदजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वा-
त् । तेभ्यः सूक्ष्मा असंखेयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगो-
दानामसंखेयगुणत्वात् । गतं सूक्ष्मद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म०
क० प्र० । प० सं० । (स्थितिवन्धानामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे
लप्यम्)

अप्पाभिणिवेश-आत्माजिनिवेश-पुं० । पुत्रप्रातृकलशदिष्वा-
त्मीयाभिनिवेशे, नैरात्म्यावगतौ आत्माजिनिवेशः । न० ।

अप्पायंक-अल्पातङ्क-त्रि० । अल्पशब्दोऽभाववाची । अल्पः
सर्वथाऽविद्यमान आतङ्का ज्वरादिर्यस्याऽसावल्पातङ्कः । जी०
३ प्रति० । रा० । अनातङ्के नीरोगे, भ० १४ श० १ उ० । अरो-
गिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । उपा० । रोगमुक्ते, ध० ३
अधि० । ओघ० ।

अप्पारंभ-अल्परम्भ-त्रि० । कृष्यादिरूपं पृथिव्यादिजीवोपम-
दै एव कुर्वाणे, औ० ।

अप्पावय-अप्रावृत-घि० । अस्यगिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अप्पावयदुवार-अप्रावृतद्वार-पुं० । अप्रावृतमस्थगितं द्वारं गृह-
मुखं यस्य सोऽप्रावृतद्वारः । दृढसम्यक्त्वे, यस्य हि गृहं प्रविश्य
परतीर्थिकोऽपि यद्यत् कथयति तदसौ कथयतु, न तस्य परिज-
नोऽप्यन्यथा भावयितुं सम्यक्त्वाच्छावयितुं शक्यते इति
यावत् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अप्पाह-संदिश-धा० । सम-दिश-तुदा० । वार्ताकथने, प्राकृते-

"संदिशेरप्पाहः" ॥ ८ । ४ । १८० ॥ इति सूत्रेण संपूर्वकस्य
दिशेरप्पाहादेशः । प्रा० ४ पाद । अप्पाहति संदिशति व्य० १
उ० । अप्पाहति संदेशं कथयति, यथा-मया कृतोऽमुकस्य
समीपे कार्योत्सर्ग इति । व्य० ४ उ० ।

अप्पाहण-अप्राधान्य-न० । अप्रधानत्वे, पञ्चा० १ विव० ।

अप्पाहार-अन्पाहार-पुं० । अल्पभ्रासौ आहारश्च अल्पा-
हारः । स्तोकाद्वारे, अल्प आहारो यस्य सोऽल्पाहारः । स्तो-
कमाहारमाहारयति साधौ, भ० ।

अट्टकुर्कुमिअरुगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे
अप्पाहार ।

कुक्कुट्यणुकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते
तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी
शरीरं, कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तस्या अणुक-

अप्पाहार

मिवाण्णकमुदरपूरकत्वादाहारः कुकुट्यण्णकम्, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वाविंशत्तमांशरूपा येपां ते कुकुट्यण्णकप्रमाणमात्राः । अतस्तेषामयमभिप्रायः—यावान् यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वाविंशत्तमो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः । इदमेव कववमानमाश्रित्य प्रसिद्धकवत्रचतुःषष्ट्यादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वाविंशता कवत्रैः प्रमाणप्राप्ततोषण्णा स्यात्, नहि स्वज्जोनस्यार्द्धं ह्युक्तवतः प्रमाणप्राप्तवमुपपद्यते । प्रथमव्याख्यानं तु प्रायिकपक्षमवगतव्यमिति । (अप्पाहारो ति) अल्पाहारः, साधुर्भवतीति गम्यम् । अथवाऽष्टौ कुकुट्यण्णकप्रमाणमात्रान् कवलानाहारमाहारयति कुर्वति साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, आहारचतुर्थीशरूपत्वात्तस्य । भ० ७ श० १ उ० । अथ० । आचा० । (अल्पाहारस्य इन्द्रियाणि विषयेषु न वर्तन्त इति ' जिणक-पिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप्पादिगण-अल्पाधिकरण-पुं० । अल्पमविद्यमानमधिकरणं स्वपक्षपरपक्षविषयो यस्य तत्तथा । स्था० ६ डा० १० उ० । निष्कल्लहे, स्था० ८ गा० ।

अप्पिच्छ-अद्वेपेच्छ-त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकामितया महती, अल्पशब्दस्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना इच्छा वाञ्छा यस्येत्यल्लेपेच्छः । उक्त० ३ अ० । अमहेच्छे, अत्रि० । धर्मोपकरणमात्रधारिणि, उक्त० २ अ० । न्यूनादरतयाऽऽहारपरित्यागिनि, दश० ८ अ० । अल्पाः स्तोकाः परिग्रहारम्भेऽपि च्छाऽन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिते, जी० ३ प्रति० । तं० । जं० ।

अप्पिय-अप्रिय-अ० । प्रियस्याभावोऽप्रियम् । चित्तदुःखासिकायाम्, सूत्र० १ ध्रु० ४ अ० १ उ० । न प्रियमाप्रियम् । अप्रीतिहेतौ, भ० १ श० ५ उ० । उपा० । द्वेष्ये, स० । यद्धि दर्शनायातकादेषुपि न प्रियवृद्धिमुत्पादयति । जी० १ प्रति० । प्रेमाऽविषये, स्था० ८ डा० । “अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुत्ता अमणा एकठा ” विपा० १ ध्रु० १ अ० । “कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं । ” अप्रियमपि कर्णकटुकतया तदनिष्टमपि, गुरुवचनमिति गम्यते । उक्त० १ अ० ।

अर्पित-त्रि० । प्राकृतसुदृतेन दौर्गतिके, उक्त० ३ अ० । आहिते, ज० ए श० ७ उ० । दौर्गतिके, विपा० १ ध्रु० २ अ० । विशेषिते, स्था० १० गा० । “अप्पियमयं विसेसो, सामन्नमणप्पियनयस्स ” विशेष० । “जहा दवियमप्पियं तं तहेव ” यद् व्यमर्षितं प्रतिपादयितुमभीष्टम् । सम्म० १ काण्ड ॥

अल्पित-त्रि० । अल्पं कियते स्म, अल्प-कृतार्थे णिच्, कर्मणि क्तः । अल्पाकृते, “मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः ” वाच० ।

अप्पियकारिणी-अप्रियकारिणी-स्त्री० । श्रोतुमृतनिवेदनादिरूपायां भाषायाम्, “अप्पियकारिणि च भासं न ज्ञासिज्जा सया सपुज्जो ” दश० ६ अ० ३ उ० ।

अप्पियणय-अर्पितनय-पुं० । अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो विशेषः, तद्वादी नयोऽर्पितनयः । विशेष एवास्ति न सामान्यमिति समयप्रसिद्धे नये, विशेष० । सम्म० ।

अप्पियता-अप्रियता-स्त्री० । अप्रेमहेतुनायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

अप्पियववहार-अर्पितव्यवहार-पुं० । अर्पित इति व्यवहारो

यस्मिन् सोऽयमर्पितव्यवहारः । मयूरव्यंसकादित्वात् सामासः । अर्पितानामन्तायिकादिज्ञावः । स्वाधारे भाववति, ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वचनव्यापारेण वचनास्थापिते व्यवहारे, उक्त० १ अ० ।

अप्पियवद-अप्रियवध-त्रि० । अप्रियं दुःखंकारणं तद् गन्तीति अप्रियवधाः । दुःखहेतुनिवारके, “सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया उक्खपमिकूला अप्पियवहा ” आचा० १ ध्रु० २ अ० ३ उ० । अप्रियस्सर-अप्रियस्वर-त्रि० । प्रेमाऽविषयस्वर, स्था० ८ गा० ।

अप्पियाणप्पिय-अर्पितानर्पित-न० । द्रव्यं ह्यर्पितं विशेषितं यथा जीवद्रव्यम्, किंविधम् ?, संसारीति, संसार्यपि त्रसरूपं त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियम्, तदपि नरूपमित्यादि । अनर्पितमविशेषितमेव यथा जीवद्रव्यमिति । ततश्चाप्यर्पितं च तदनर्पितं चेत्यर्पितानर्पितं द्वयं जयतीति सामान्यविशेषकथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० १० गा० ।

अप्पीकय-आत्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढरमागूहिते, “पुट्टं रेणुं व तणुमि वद्धमप्पीकयं ” विशेष० । आत्मप्रदेशैस्तनुवन्नतोयवद् मिथीज्ञतम् । आ० म० छि० ।

अप्पुट्टाई (ए) अल्पोत्थायिन्-त्रि० । अल्पमुत्थातुं शक्तिमस्येत्यल्पोत्थायी । प्रयोजनेऽपि अपुनःपुनरुत्थानशील्ये, उक्त० १ अ० । “अप्पुट्टाई निरुट्टाई निर्मापज्जऽण्णकुक्कुण ” उक्त० १ अ० ।

अप्पुत्तिगणगदगमट्टियामकुरुसंताण-अल्पोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तान-त्रि० । उत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानरहिते, तत्रोत्तिङ्गः पिपीलिकासन्तानकः, पनको जूम्यादावुल्लिखिशेषः, उदकमृत्तिका अचिरात्पाकायाऽर्कुकता मृत्तिका, मर्कटसन्तानको तृतातन्तुजालम् । आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० । अप्पुदय-अल्पोदक-त्रि० । भौमान्तरिकोदकरहिते, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्पुल्ल-आत्मीय-त्रि० । आत्मनि भवम् । “ न्हस्वः संयोगे ” ॥ ८१ ॥ ८४ ॥ “ भस्मात्मनोः पो वा ” ॥ ८१ ॥ ५७ ॥ इति त्मस्य पः । “अनादौ-” ॥ ८२ ॥ ८६ ॥ इति पः । “डिल्लमुल्लो भवे ” ॥ ८२ ॥ १६३ ॥ इति सूत्रेण “ उल्ल ” प्रत्ययः । आत्मनि ज्ञेयः प्रा० १ पाद ।

अप्पुस्सुय-अल्पोत्सुक्य-त्रि० । औत्सुक्यवर्जिते, औ० ज० अनुत्सुके, ज्ञा० १ अ० । अविमनस्के, आचा० २ ध्रु० ३ अ० ३ उ० । अप्पो-देशी-पुं० । पितरि, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्पोल्लभ-आप्तोपाल्लभ-पुं० । आप्तेन हितेन, गुरुणेत्यर्थः । उपालम्भो विनेयस्याविहितविधायिन आप्तोपाल्लभः । अविधिवत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपाल्लभे, (तीर्थकृता) “अप्पोल्लभज्जनिमिच्चं पढमस्स णायज्जयणस्स अयमठ्ठे पणत्ते त्ति वेमि ” ज्ञा० १ अ० ।

अप्पोल्ल-देशी-त्रि० । दृढवैपनादशुषिरे, “अप्पोल्लं मिडुप-एहं च, पमिपुल्लं दत्थपूरिसं ” वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अप्पोवगरणसंधारण-अल्पोपकरणसन्धारण-न० । अल्पमेवोपकरणे सन्धारणीये, यो० १ विव० ।

अप्पोवहित-अल्पोपधित्व-न० । अनुत्पन्नयुक्तस्तोकोपधिमन्वित्वे, दश० २ चू० ।

अप्पोम-अल्पावश्याय-त्रि० । अधस्तनोपरितनावश्यायधिपुरुवर्जिते, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्पोमहिमंतवत्त-अट्ठपौपधिमन्त्रवत्त-वि० । अत्थं स्तोक्रमौ-
पधिमन्त्रवत्तं यत्थं स तथा । स्तोकेनौपधिमन्त्रवत्तं युते.
'अप्पोमहिमंतवत्तो नहु अत्थं तिगिच्छिहिसि' आ० ४ अ० ।
अप्फालण-आप्फालन-न० । हस्तेनाऽऽताड्यमाने उक्तेजने,
औ० । दशा० । मम्महाग्गमाणं वादनमास्फालनमिति प्र-
तिष्ठम् । रा० । आ० चू० ।

अप्फालिज्जं-आप्फाल्यमान-वि० । हस्तेनाऽऽताड्यमाने,
" अप्फालिज्जंभाणं भेभाणं हारंभाणं " रा० ।

अप्फा (फा) लिय-आप्फालित-वि० । आ समन्तात्स्फारं
प्रापिते, द्य० १ उ० ।

अप्फिह-अस्पृह-वि० । स्पृहाविरहिते " उपसर्गानिनिष्ठेषा-
न्नेकोऽभीरस्पृहः क्षमेत् " आ० म० द्वि० ।

अप्फुमिय-अप्फुटित-वि० । अजजं, जं २ वक्क० । " अखं-
डप्फुमिआ काय्या " अस्पुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन,
दश० ६ अ० ।

अप्फुमियदंत-अप्फुटितदन्त-वि० । अस्पुटिता अजजरा ज-
रारहिता दन्ता येपां तेऽस्पुटितदन्ताः । जी० ३ प्रति० । अजजं-
दन्तेषु, जं २ वक्क० औ० । राजिरहितदन्तेषु, तं ० ० ० कटप० ।

अप्फुप्प-आक्रान्त-वि० । आ-क्रम-क । " केनाप्फुप्पादयः "
= । ४ । १५ = । इति कविशिष्टस्याऽऽकान्तशब्दस्याप्फुप्पादेशः ।
प्रा० ४ पाद । व्याप्ते, " अप्फुप्पा समाण । " नि० । अप्फुप्प सि,
आस्पृष्टा व्याप्ता, आक्रान्ता इति यावत् । अनु० । जं० । रा० ।

अप्फोआ (या)-अप्फोया-खो० । वनस्पतिविशेषं, जी० ३
प्रति० । द्य० । जं० । प्रज्ञा० ।

अप्फोडिम (ह)-अप्फोटित-न० । करास्फोटं, जं० ३ वक्क० ।
प्रश्न० । जः । शा० । कटप० ।

अप्फो (फो) व-अप्फोव-पुं० । वृक्षायाकीर्णं, अप्फोव इति
किमुक्तं भवति-आस्तीर्णवृक्षगुच्छगुल्मव्रतासंघ्न इत्यर्थः, इति
वृक्षाः । उत्त० १८ अ० ।

अप्फोवमंरुव-अप्फो (फो) वप्पमरु-पुं० । अप्फोवश्चासौ म-
ण्डपः । नागवह्नीडाकादिभिर्वेष्टिते स्थाने, " अप्फोवमंरुवमि,
ज्जायइ कखविमासवे " उत्त० १ अ० ।

अप्फुम-अप्फुप-न० । अनिष्टुरे, मनःप्रह्लादके, द्य० ३ उ० ।

अप्फुमतामि (ण)-अप्फुपभापिन्-वि० । अप्फुपमनिष्टुरं
तद्भाषणशीलाऽपक्वभाषी । वाग्विनयविशेषं प्रतिपत्ते, द्य० १ उ० ।

अफलवादि (ए)-अफलवादिन्-पुं० । न विद्यते कस्याश्चि-
त् क्रियायाः फलमित्येवंवादिनि, मृच० १ शु० १ अ० १ उ० । अफ-
लवादिनश्चाऽक्रियावादिन इति तत्रैवेतन्मतं पुन्यस्य दूषितम् ।

तीर्थान्तरीयाणामफलवादित्वम्—

अगारमावसेता वि, अरणा वा वि पववया ।

उमं दग्गिणमावसा, मच्चुक्क्या विमुच्चं ॥ १ ए ॥

ते णावि संधिं एच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतगहिया ॥ २ ० ॥

ते णावि संधिं एच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते मंगारपाग्गा ॥ २१ ॥

ते णावि संधिं एच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्जस्स पारगा ॥ २२ ॥

ते णावि संधिं एच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥

ते णावि संधिं एच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥ २४ ॥

ते णावि संधिं एच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥ २५ ॥

साम्प्रतं पञ्चतन्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मपृष्ठकृ-
कपञ्चस्कन्धादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्व-
दर्शनफलाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—(अगारंत्यादि) अगारं गृहं
तदावसन्तस्तस्मिंस्तृप्ता गृहस्था इत्यर्थः । आरण्या वा ता-
पसादयः, प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । अपिः सम्भावने । इदं ते
संज्ञायन्ति-यथेदमस्मदीयं दर्शनमापन्ना आश्रिताः सर्व-
दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते । आप्तवादेकवचनं सूत्रं कृतम् । तथाहि-
पञ्चतन्तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमस्मदीयं दर्श-
नं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुगुरुमुग्रमन-
दण्माजिनजटाकाषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चनभाग्न्यस्तपश्चर-
णकायङ्गेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते । तथाहुः—“तपांसि यात-
नाश्रितः, संयमो जोगवञ्चनम् । अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीमेव
व्रज्यते ” ॥ १ ॥ इति । सांख्यादयस्तु-मोक्षवादिन एवं संभा-
वयन्ति-यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धा-
दिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भ-
परम्पराऽनेकशरीरमानसाऽतितीव्रतराऽसातोदयरूपेभ्यो दुः-
खेभ्यो विमुच्यन्ते । सकलद्वन्द्वविनिर्मुक्तं मोक्षमास्कन्दन्तीत्यु-
क्तं भवति ॥ १६ ॥ इदानीं तेषामेवाऽफलवादित्वाविष्करण-
माह—(ते णावीत्यादि) ते पञ्चतन्तवाद्याः, नापि नैव, सन्धि-
छिन्नं विवरं, स च ज्ञानावभेदाद् द्वेधा-तच्च छद्वयसन्धिः
कुड्यादिः, जावसन्धिर्ज्ञानावरणादिविवररूपः, तमज्ञात्वा ते
प्रवृत्ताः । णमिति वाक्यालङ्कारे । यथा-आत्मकर्मणोः स-
न्धिर्द्विधा भावलक्षणो जवति, तथा अनुधा इव ते वराका
दुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः । यथा न एवंभूतास्तथा प्रति-
पादितं, लेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदि वा संधानं सन्धि-
रुत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं, तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति । यतश्चैवम-
तस्ते न सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो निपुणाः, जनाः प-
ञ्चतन्तास्तित्वादिवादिनो लोका इति । तथाहि-कान्त्यादिको द-
शविधो धर्मस्तमज्ञात्वाैवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति । यत्फला-
भावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रन्थेनोद्देशकपरिसमाख्य-
वसानेन दर्शयति-ये ते न्विति । तुगव्दश्चशब्दार्थः । य इत्यस्या-
नन्तरं प्रयुज्यते । ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्ति-
कादयः, ओषो भवैधः संसारः, तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति
श्लोकार्थः ॥ २० ॥ तथा न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखभा-
गादिपारगा भवन्तीति । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ ।

नाणाविदाइं दुक्खाइं, उण्हवंति पुणो पुणो ॥

मंगारचक्कवालमि, मच्चुवादिजगकुले ॥ २६ ॥

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्जमेस्संतिऽगुंतमो ।

नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥ २७ ॥

यत्पुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह- (नाणाविहाइ इत्यादि)
नानाविधानि बहुप्रकाराणि दुःस्वान्यसातोदयलक्षणयनुभवन्ति
पुनः पुनः । तथाहि-नरकेषु करपत्रदारण-कुम्भीपाक-नप्रायः-
शाल्मलीसमालिङ्गनादीनि, निर्यक्तु च शीतोष्णादिदमनाङ्गनारु-
नाऽतिसारारोपणकुत्तूनादीनि, मनुष्येषु दृष्टवियोगानिष्टसंयोग-
शोकाक्रन्दनादीनि, देवेषु चाभियोगेर्ष्याकित्वपिकत्वच्यवना-
दीन्येनकप्रकाराणि दुःस्वानि, ये एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन
समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्थं सर्वेषुत्तरश्लोकार्थेषु योज्यम् ।
शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमामिरिति ॥ २६ ॥ नवरमुच्चावचा-
नीति-अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति
गच्छन्तो ब्रह्मन्तो गर्ताकर्तृमेव्यन्ति यास्यन्त्यनन्तशोनिर्विच्छेद-
मिति ब्रवीमीति । सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह-ब्रवीम्यहं
तीर्थङ्कराङ्गया न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि, येन मया ती-
र्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च क्षणिकवादिनिरासो दृश्यः ।
। २७ । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अफास-अस्पर्श-त्रि० । न विद्यते स्पर्शोऽष्टप्रकारो मृदुर्क-
शादिरस्येत्यर्थः । पं० १६ विव० । अशुनस्पर्श एकान्तोद्वेजनी-
ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अफामुय-अप्रासुक-न० । न प्रगता असवोऽसुमन्तो यस्मात्त-
दप्रासुकम् । सजीवे, भ० ५ श० ६ उ० । सचित्ते, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अफामुयपडिसेवि (ए)-अप्रासुकप्रतिसेविन्-त्रि० । अप्रासु-
कं सचित्तं प्रतिसेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी ।
सचेतनजलादिवस्तुप्रतिसेवनशीले, “अफामुयपडिसेविय, णामं
चुज्जो य सीलवादी य ।” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अफुम-अस्पृश्य-त्रि० । स्पृष्टुमयोग्ये, “अफुसं दुक्खं” अ-
स्पृश्यं कर्माकृतत्वादेव । स्था० ३ उ० २ उ० ।

अफुममाणग-अस्पृशद्गति-पुं० । अस्पृशन्ती सिद्ध्यन्त-
रालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः । अन्तरालप्रदेशाना-
मस्पर्शनैवोर्ध्वं गच्छति सिद्धे, औ० ।

उज्जुसदीपमिवने अफुसमाणगई उहुं एकसमएणं अ-
विगहेणं उहुं गता सागारोवउत्ते सिज्जिहि चि ॥

अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च त-
त्रक एव समयः, य एव त्रायुष्कादिकर्मणां सप्तसमयः स एव
निर्वाणसमयोऽतोऽन्तराले समयांतरस्याभावाद् अन्तरालप्र-
देशानामसंस्पर्शनमिति सूक्ष्मआयमर्थः केवललग्नयो जा-
वन इति । औ० ॥ “अफुसमाणगती वितियं समयं ण फुसति,
अहवा जेसु अवगाढो जे य फुसति उहुमविगच्छमाणो तत्तिण
चेव आगासपदेसे फुसमाणो गच्छति ” । आ० चू० २ अ० ।

अवञ्ज-अवन्ध्य-त्रि० । न वन्ध्यमवन्ध्यम् । अवश्यकार्यका-
रिणि, सूत्र० । अवन्ध्यमेकादश पूर्वम्, वन्ध्यं नाम निष्फलं, न
विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि-सर्वे-
ऽपि ज्ञानतपःसंयमयोगाः शुभफलेन सफला वर्धन्ते, अप्रशस्ता-
श्च प्रमादादिकाः सर्वे अशुनफला वर्धन्तेऽतोऽवन्ध्यम्, तस्य
च परिमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । स० । “अवञ्जपुञ्जस्स णं
वारम वन्धू पण्णसा ” न० । स० । अवश्यकार्यकर्तारि, सूत्र०
२ श्रु० १ अ० ।

अवञ्ज-अवन्ध्य-पुं० । वन्ध्याभावे, पं० सं० ५ द्वा० ।

अवञ्जग-अवन्ध्यक-पुं० । निरुक्तयोगे, भ० २५ श० ६ उ० । आ०
म० द्वि० ।

अवञ्जव-अवन्ध्यव-त्रि० । स्वजनसम्पाद्यकार्यरहिते, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० ।

अवञ्ज-अवन्ध्यन्-न० । अकुशले कर्मणि, तच्च मैपुनं विवक्षितम्,
अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

तच्चाष्टादशधा-

अट्टारसविहे अवञ्जे ओराद्धिअं च दिव्वं, मणवयकाए-
ण जोएण अणुमोअणकारावणकरणेणऽट्टारसा वंभं ॥

इह मूलतो द्विधा ब्रह्म जवति-औदारिकं तिर्यक्रमनुष्याणां, दि-
व्यं च जवनवास्यादीनां, चशब्दस्य व्यवहितः संवन्धः । मनो-
वाङ्मायाः कारणं, विधा योगेन विविधनैवानुमोदनकारणकरणेन
निरूपितं, पश्चात् पूर्वोपन्यासः अष्टाष्टादशधा जवति । इयं
जावना-औदारिकं स्वयं न करोति मनसा वाचा कायेन, नान्येन
कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्तं नानुमोदते मनसा वाचा
कायेन । एवं वैक्रियमपि । आच० ४ अ० । एतच्च प्रश्नव्याकरणानां
चतुर्थेऽध्याये यथा यादृशादिद्वारपञ्चकेन । द्वारपञ्चकं चेदम्-
“जारिस्सओ १ जं नामा २, जह य कओ ३ जारिस्स फण्णं दिति ४ ।
जे वि य कर्तति पावा ५, पाणवहं तं निसामेह ” ॥ १ ॥
प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

तत्र यादृशमब्रह्मेति चारार्थप्रतिपादनायेदं सूत्रम्-

जंवू ! अवञ्जं च चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स द्वायस्स प-
त्थिज्जिं पंकपणगपामजाज्ञच्चूयं इत्थीपुरिसनपुंसगवेदाचि-
एहं तवमजमवंभचेरविग्यं भेदाययणवहुपमादमूलं कायरका-
पुरिससेवियं सुयणजणवज्जणिज्जं उहुंनरयतिरियनिदो-
क्कपड्डाणं जरामरणरोगमोगवहुलं वधवंधविघापवुविघायं
दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमणुपगयं दुरंतं
चउत्थं अहम्मदारं ॥

(जंवू ! इत्यादि) जम्बू ! इति शिष्यामन्त्रणम् । अष्टाष्टादशं
कर्म, तच्चेह मैथुनं विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । आह च-
“नो किञ्चि अणुत्रायं, पमिसिद्धं वा वि जिणवरिंदहि । मुत्तं मेहुण-
मेगं, न जं विणा रागदोसं हि ” ॥ १ ॥ चकारः पुनरर्थः । चतुर्थसूत्र-
क्रमापेक्षया सहदेवमनुजासुरैर्यो लोकः स तथा, तस्य प्रार्थनी-
यमजिज्ञापणीयम् यतः-“हरिहराहिरण्यगर्भ-प्रमुखे भुवनेन को-
ऽप्यसौ शूरः । कुसुमविशिष्यस्य विशिष्या-नस्खल्यद्यो जिनाइ-
न्यः ” ॥ १ ॥ पङ्क्तौ महान् कर्दमः, पनकः स एव प्रतलः, सूक्ष्मः
पाशो बन्धनविशेषः, जातं मत्स्यबन्धनम् । एतद्वृत्तमेतदुपमं
कलङ्कनिमित्तत्वेन दुर्मोचनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च-

“समार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
ब्रज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्ब्यते तावदेव ।
ब्रुवापाहृष्टमुक्ताः अवणपथजुषो नीलपद्माण एते,
यावत्स्त्रीलावतीनां न इदि धृतिमुषो दृष्टिवाणाः पतन्ति ” ॥ १ ॥
तथा स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तत्तथा । तपः सं-
यमब्रह्मचर्यविघ्नमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्य चारित्र्यजीवित-
विनाशस्यायतः नान्याभया ये बहवः प्रमादा मद्यविकथाद-

स्नेपां मूल कारणं यत्तत्तथा । आह च—“ किं किं न कुण्ड किं किं न भासए चितए य किं किं न । पुरिसो विसयासत्तो विहलघलिउच्च मज्जेण ” । कातराः परीपहभीरवः अत एव कापु-
र्याः कुम्भितमरास्त्रैः सेवितं यत्तत्तथा । मुज्जनानां सर्वपापावि-
रतानां यो जनसमुद्गमस्य वर्जनीयं परिहरणीयं यत्तत्तथा ।
उच्ये च ऊर्ध्वलोको तरकक्षाधोलोकस्तिर्यग्लोक एतल्लक्षणं
यत्रैलोक्यं तत्र प्रतिष्ठानं यस्य तत्तथा । जरामरणरोग-
शोकदुःखं तत्राच्यत्र च जन्मनि जरामरणादिकारणत्वात् ।
उच्यते च—“ जो सेवइ किं लम्भइ ” इति (गाथा) यध-
स्त्रासः, बन्धः संयमनं, विघातो मारणम्, एभिर्गप दुष्करो
विघातो यस्य तद्वधकधविघातद्विघातम् । गाढरोगाणां हि
महापद्यप्येष्टेच्छा नोपशाम्यति । आह च—

“ कृशः कणः कञ्जः अव्यणरहितः पुच्छविकलः,

कुधाकामो जीर्णः पितृरक्कपालार्पितगलः ।

प्रणैः पूर्वाङ्गैः कृमिकुलचितैराचिततनुः,

गुनीमन्वेति श्वा इतमपि च हन्येव मदतः ” ॥ १ ॥

दर्शनचारित्रमोहस्य हेतुभूतं तन्निमित्तम् । तनु चारित्रमोह-
स्य हेतुमिति प्रतीतम् । यदाह—“ तिव्वकसाओ बहुमो-
हपिण्णो रागदोससंजुतो । बंधइ चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्त-
गुणघाह ” ॥ १ ॥ द्विविधं कषायनोक्षायमोहनीयमेवाह । यत् पुन-
र्दर्शनमोहस्य हेतुभूतमिति, तत्र प्रतिपद्यामहे, तदेतुत्वेनाभ-
यनात् । तथाहि—तदेतुप्रतिपदिक्ता गाथैव श्रूयते—“ अरुलंसि-
चेइय-तत्तमुयगुत्तमाहुसंघपरणीओ । बंधइ दंसणमोहं, अणंत-
संसारिओ जेण ” ॥ २ ॥ भवतीह वाक्यशेषः । सत्यम्, किन्तु स्व-
पक्षाग्रहमेवनेन वा संघप्रयत्नीकता, तथा दर्शनमोहं बन्धतोऽ-
ग्रहचर्य दर्शनमोहहेतुतां न व्यभिचरति । भयने च स्वपक्षाग्र-
हसंघकस्य मिथ्यात्वबन्धः, अन्यथा कथं दुर्लभबाधिरसाव-
मिदितः ? । आह च—“ संजइचउत्थभेगे, चेइचद्वेय पव-
यल्लुहं । गिमिघाये य चउत्थे, मूलगं गी बाहिलाजस्स ” ॥ १ ॥
इति । चितं परिचितमनादिकालासेवितम् । चिरपरिगतं वा
पात्रः अतुल्यं अतयचित्तं दुर्लभं दुष्टकलं चतुर्थमधर्मद्वारमा-
आद्वारमिति अग्रहस्यरूपमुक्तम् ।

अथ तदकार्यकटारमाह—

तस्म य णामाणि गोणाणि एमाणि हुंति तीमं । तं जहा-
अव्यंभ १ मेवण २ चरंत ३ संमग्गि ४ मेवणादिकारो ५
संकल्पो ६ बाहणा पदाण ७ दप्पो ८ मोहो ९ मणसेखो-
भो १० अणिग्गहो ११ विग्गहो १२ विघाओ १३ वि-
भंगो १४ विन्नमो १५ अट्ठम्पो १६ अमील्लया १७ गाम-
धम्मतरा १८ रती १९ रागचिंता २० कामजोगमारो २१
वैरं २२ रहस्स २३ गुज्जं २४ बहुमाणो २५ वंजचेर-
विण्यो २६ वावति २७ विग्गहणा २८ पसंगो २९ का-
मगुणो ति ३० वि य । तस्म एयाणि एवमादीणि नामधे-
जाणि हुंति तीमं ॥

‘तस्मिन्यादि’ सुगमम् । अग्रह्याकुशलानुष्ठानं १, मैथुनं मियुनस्य
गुप्पस्य कर्म २, चतुर्थमाश्रयद्वारमिति गम्यते पात्रान्तरम् ।
‘चरंत ति’ चरन् विभवं ध्यानुवन् ३ संसर्गः सम्पर्कः, ततः स्त्री-
पुंसंसर्गविशेषरूपत्वात् संसर्गजत्वान्वसंसर्गान्युच्यते । आह च—
“ नामाणि स्त्रीति संज्ञादि । विकारोऽन्येव मानभम् । किं पुनर्दे-

शनं तस्याः, विलासोल्लासितजुवः ” ॥ १ ॥ ४ । सेवनां चौर्यादि-
प्रतिसेवनामधिकारो नियोगः सेवनाधिकारः, अग्रहप्रवृत्तो
हि चौर्याद्यनर्थसेवास्वधिकृतो जवति । आह च—“ सर्वेऽनर्था
विधीयन्ते, नैरर्थैककालसः । अर्थस्तु प्रार्थ्यते प्रायः, प्रेयसी-
प्रेमकामिभिः ” ॥ १ ॥ इति ५ । संकल्पो विकल्पः तत्प्रभवत्वादस्य
संकल्प इत्युक्तम् । उक्तं च—“ कामं जानामि ते रूपं, संकल्पा-
त्किञ्च जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भवि-
ष्यसि ” ॥ १ ॥ इति ६ । बाधना बाधहेतुत्वात् । केवाम ? इत्या-
ह—पदानां संयमस्थानानां प्रजानां वा लोकानाम् । आह च—
“ यन्मह लोकेष्वपरं नराणां-मुपघते दुःखमसह्यवेगम् । विका-
शिनीलोत्पन्नचारुनेत्राः, मुक्ता स्त्रियस्तत्र न हेतुरस्यः ” ॥ १ ॥
इति ७ । दर्पो देहदृष्टता, तज्जन्तत्वादस्य दर्प इत्युच्यते । आह
च—“ रसा पगामं न निसेवियव्या, परं रसा वित्तिकरा हवंति ।
वित्तं च कामा समन्निहवंति, दुमं जहा सावफलं तु पक्खी ” ॥ १ ॥
अथवा दर्पं सौभाग्याद्यभिमानस्तस्य भवं चेदं न हि प्रशमाद-
न्याद्वा पुरुषस्यात्र प्रवृत्तिः सम्भवतीति दर्प एवाच्यते । तदुक्तं—
“ प्रशान्तवाहचित्तस्य, संभवत्यखिलाः क्रियाः मैथुनव्यतिरेकि-
ण्यो, यदि रागं न मैथुनम् ” ॥ इति ८ । मोहो मोहनं वेदरूपमोहनी-
यादयसंपाद्यत्वादस्याज्ञानरूपत्वाद्वा मोह इत्युच्यते । आह च—

“ इश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्पन्धः पुरोऽवस्थितं,

रागान्धस्तु यद्वक्षितं तत् परिहरन् यथास्ति तत्पश्यति ।

कुन्देन्दीवरपुणचन्द्रकलशश्रीमसुतापल्लवे,

रोपो नोऽञ्जुचिराशिपु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ” ॥ १ ॥ ९ ।

मनःसंज्ञागः चित्तचलनं, तद्विनेदं न जायते इति । उच्य-
ते च—“ तिव्वककडुक्खकर-प्पदारनिजिन्नजोगसन्नाहा । ज-
हरिसि जो वा जुवइ-ए जं निसेवंति गयगव्वा ” ॥ १ ॥ १० ।

अनिग्रहोऽनिषेधो मनसो विषयेषु, प्रवर्तमानस्येति गम्यते ।
एतत्प्रभवत्वाच्चास्यानिग्रह इत्युक्तम् ११ । (विग्गहो स्ति)

विग्रहः कलहः तदेतुत्वादस्य विग्रह इत्युच्यते । उक्तं च—
“ ये रामरावणादीनां, संग्रामप्रस्तमानवाः । श्रूयन्ते स्त्रीनि-

मित्तेन तेषु कामो निबन्धनम् ” ॥ १ ॥ अथवा (वुग्गहो स्ति) वि-
ग्रहो विपरीतोऽभिनिवेशस्तत्प्रभवत्वादस्य तथैवाच्यते । यतः

कामितामिदं स्वरूपम्—“ दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाजिमानः, सौ-
ख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपाङ्क्तिरिवा-
न्यरूपं, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ” ॥ १ ॥ १२ । विघातो

गुणानामिति गम्यते । यदाह—“ जइ वा णो ” गाथाद्वयम् १३ वि-
भङ्गो विराधना गुणानामेव १४ विभ्रमो आन्तत्वनुपादेयेष्वपि

विषयेषु परमार्थबुद्ध्या प्रवर्तनाद्, विभ्रमाणां मदविकाराणां-
माश्रयत्वाद्भिन्नमा इति १५ । अर्थमः, अचारित्ररूपत्वात् १६ ।

अशीलता चारित्रवर्जितत्वम् १७ । ग्रामधर्माः शब्दादयः काम-
गुणास्तेषां तत्तिर्गवेषणं पालनं च ग्रामधर्मततिः, अग्रह्यपुरोहि-

तं कुर्वन्तीति अग्रह्यापि तथोच्यते १८ । रतिः रतं, निधुवनमि-
त्यर्थः १९ । रागो रामानुभूतिरूपत्वादस्य, क्वचिद्वागन्तिरिति

पात्रः २० । कामभोगैः सह मारो मदनं मरणं वा कामभोग-
मारः २१ । वैरं वैरहेतुत्वात् २२ । रहस्यमेकान्तः, अन्यत्वात् २३ ।

गुह्यं गोपनीयत्वात् २४ । बहुमानः बहुनां मतत्वात् २५ । ब्रह्म-
चर्यं मैथुनघिरमणं, तस्य विघ्नो व्याघातो यः स तथा २६ ।

व्यापत्तिः भ्रंशो, गुणानामिति गम्यते २७ । एवं विराधना २८ । प्र-
सङ्गकामेषु प्रसङ्गनमभिप्लवः २९ । कामगुणो मकरकेतुकार्थः ।

३० इती रूपप्रदर्शने । अपिचेति समुच्चये । तस्याब्रह्मण एता-

नि उपदर्शितस्वरूपाणि, एवमादीनि एवंप्रकाराणि, नामधेयानि त्रिशङ्खवन्ति । काक्काऽऽधेयं प्रकारान्तरेण पुनरन्यान्यपि भवन्तीति भावः । उक्तं यन्नामेति द्वारम् ।

अथ ये तत्कुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण निसेविति सुरगणा अच्छुरा मोहमोहित-
मती अतुर १ जुयग २ गरुल ३ विज्जुज्जलणदीवउद-
हिदिसिपवणथणिय १० अणपन्नियपणपन्नियइसिवाइय
जुयवादियकंदियमहाकंदियकूहंरुपयंगदेवा पिसायजूयज-
कखरकखसकिण्णरकिपुरिसमहोरगंगंधवतिरियजोइसवि-
माणवासिमणुयगणा जलयरथलयरखहचरा य मोह-
पमिवच्छचित्ता अविताहदा कामजोगतिसिया एं तएहाए
बलवईए महईए ममाजिजूया गउिता य अतिमुच्छिता य
अवंजे ओसएणा तामसेण भावेण अणुमुका दंसणचरिच-
मोहस्म पंजरं पिव करेंति अणमएणं सेवमाण, जुज्जो २
असुरसुरतिरियमणुयजोगरतिविहारसंपउत्ता य चकवट्टी-
सुरनरवतिसक्या सुरवर व्व देवलोए जरहनगणगरनिगम-
जणवयपुरवरदेणमुहखेरुक्कव्वरुमरुवसंवाहपट्टणमहस्समं-
कियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं जुंजिऊण वसुहं न-
रसीहा नरवतिनरिंदा नरवसहा मरुववसजकप्पा अञ्ज-
हियं रायतेयलच्छीए दीप्पमाण सोमा रायवंसतिलगार-
विममिसंखवरचकसोत्थियपकागजवमच्छकुम्परहवरजग—
भवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावचमुमल-
लंगलसुरइयवरकप्परुक्खमिगवतिभदासणसुरुद्धूजवरमउ-
रसरियकुएरुलकुंजरवरवसजपदीवमंदरगरुलज्झयइंदकेउ-
दप्पणअट्टावयचाववाणनक्खत्तमेहमेहलवीणाजुगच्छत्त--
दामदामिणिकमंरुलुकमलघंटावरपोतसूचीसागरकुमुदागर-
मगरहारगागरनेउरणगणगरवइरकिण्णरमयूरवररायहंस-
सारसचक्रोरचक्रोवागमिहुणचामरखेरुगपव्वीसगाविपंचिव-
रतालियंटासिरियाभिसेयमेयणिखगंकुसविमल्लकलसजि--
गारवप्पमाणगपसत्यउत्तमविज्जत्तवरपुरसलक्खणधरा व-
त्तीसारायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसट्टिसहस्मपवरजुव-
तीणयणकंता रत्ताभा पउमपम्हकोरंटगदामचंगमुतत्त-
वरकणकनिकमवएणा सुजायसव्वंगमुंदरंगा महग्गवर-
पट्टणुगयाविचित्तरागणीपणीनिम्मियदुगुह्ववरचीणप--
ट्टकोसेज्जतोणीसुत्तकविचूसियंगं वरसुरभिगंधवरचुएणवा-
सवरकुमुमजरियमिरया कप्पियच्छेयायरियमुकयरइदमाल-
करुंगयतुदियवरजूमणपिण्णदेहा एकावलिंकंउसुरइयव-
च्छउपलंवपलंबमाणमुकयपरउत्तरिज्जमुदियापिंगलंगुलि--
या उज्जलनेवत्यरइयाचिह्वगाविरायमाण तेएण दिवाकरो
व्व दित्ता सारयनवत्यणियमहुरगंभीरनिच्छयोसा उप्पएण-
समत्तरयणचकरयणपहाणा नवनिहिपइणा समिच्छकोसा

चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समएजाइज्जमानमग्गा तुरंग-
पतीगयपतीरहपतीनरपतीविपुलकुह्वीसुयजसा सारयमसि-
सकलसोम्मवयणा मूरा १०लोकनिगयपभावल्लप्पसदा
समत्तजरहाहिंवा नरिंदा ससेलवणकाणणं च द्विमवंतमा-
गरंतं धीरा भोत्तूण जरहवासं जियसत्तु पवररायसीहा
पुव्वकरुतवप्पजावा निविट्टसंचियमुहा अणेगवाससयमा-
उव्वंतो जज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं द्वाडियंता अतुल्लम-
हफरिसरसरुवगंधे य अणुजवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं
अवितित्ता कामाणं, जुज्जो वलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा
महावत्तपरकमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागरा दुद्धरा
धणुधरा नरवसजा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवस-
मुहविजयमादिदसाराणं पज्जुएणपयिवसंवअनिरुच्छनिम-
दउम्भुयसारणगयमुमुहउम्भुहादीणं जायवाणं अरुद्धाणं वि
कुमारकोलीणं हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवईए
य दियानंदहियत्तावनंदएकरा सोलसरायवरसहस्साणं जा-
यमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणाम-
णिकणगरयणमोत्तेयपवात्तधणधणसंचया रिच्छिसमिद्धको-
सा हयगयरहसहस्ससामी गामागरणगरखेदकव्वरुमरुवदो-
णमुहपट्टणासमसंवाहसहस्सथिमियनिव्वुयप्पमुदितजण--
विविहसस्सेयनिप्पज्जमाणमेइणीसरसरियतलागसेदका--
एणआरामुज्जाणमणाभिरामपरिमंडियस्स दाहिणह्वेयह-
गिरिविजत्तस्म दवणजलपरिग्गहस्म उव्विहकात्तगुणकम-
जुत्तस्म अद्धजरहस्म सामिका धीरकित्तिपुरिसा ओहवत्ता अ-
तिवत्ता अनिहया अपराजियमत्तुमहणा रिउमहस्समानमहणा
साणुकोसा अमच्छरी अचवत्ता अचंरा मियमंजुत्तपट्टावा
हसियगंभीरमहुरजणिया अञ्जुवगयवच्छला सरम्मा ल-
क्खणवंजणगुणोववेवा माणुम्माणपमाणपरिपुएणसुजायस-
व्वंगमुदरंगा ससिसोमाकारकंता पियदंसणा अमस्सणा प-
यंरुंदरुप्पयारगंजीरदरिसिज्जा ताडज्जयउविच्छगरुलकेउ-
वत्तवगज्जंतदरितदप्पियमुट्टियचाणुरचूरगा रिट्टवसभया-
ती केसरीमुहविष्फारुगा दरियजागदप्पमहणा जमलज्जुष्म-
भंजगा महामत्तणिपूयणरिपू कंसमउरुमोडगा जरासंधमाण-
महणा तेहि य अविरत्तसमसहियचंदमंरुलसमप्पजेहिं सू-
रमरीयकवयविणिमुयंतेहिं सप्पमिदंकेहिं आयवत्तेहिं व-
रिज्जंतेहिं विरायंता ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणस-
मुच्छियाहिं निरुवहयचमरिपच्छिममरीरसंजायाहिं अम-
इलसियकमद्वविमुकुलुज्जिततरयतगिरिसिहरविमल्लससिकि-
रणसरिसकलद्वेयनिम्मल्लाहिं पवणाहयचवत्तचलियसलि-
लियनच्चियवीयिपसरियखीरोदगपवरसागरूपूरचवत्ताहिं मा-
णससरपसरपरचियावासविसयावेसाहिं कणगगिरिमिहरसं-
सियाहिं ओवाउप्पायचवत्तजविमग्गवेगाहिं हंसवधुयाहिं

चेव कश्चिन्ना नाणामणिकणमहर्हि तत्राणज्जुज्जलविचित्त-
 दंसाहिं सल्लिन्नाहिं नरवडमिरिममुदयप्पकासणकराहिं
 वरपट्ठण्णयाहिं समेदगायकुलमेवियाहिं कात्तागुरुपरकुंदुरु-
 क्तुरुक्कधुवत्तामविमिदगधुच्छ्याजिगमाहिं चिद्वियाहिं उ-
 जयो पासं पि चामगाहिं उक्खिप्पमाणाहिं मुहसीयलवाय-
 वीयियंगा अजिता अजिपरहा हत्तमुसन्नकणगपाणी मंखव-
 क्कगयमत्तिणंदगधरा पवरुज्जन्नमुकयाविमन्नकोधूजिकीरु-
 धागी कुडलउज्जोवियाणणा पुंरुगीयणयणा एगावन्निकेउरुड-
 यवच्छ मिरिवच्छमुल्लङ्घणा वरजसा सत्त्वाउयसुरज्जि-
 मुपरयपलंबमोहंतवियसंतविचित्तवणमालरइयवच्छा अ-
 द्धानयविजत्तन्नक्खणपमत्थमुंदरविगयंगुपंगा मत्तगयव-
 गिंदन्नविजत्तन्नक्खणविलमियगतां कस्मिन्नत्तनीलपीयकोमे-
 ज्जवाममा पवरदित्तेया मारयणवयणियमधुरगंजीराणि-
 च्चयोमा नग्गीहा सीहविक्रमगती अत्यमिया-पवरराय-
 मीहा सोम्मा वारवयिपुण्णचंदा पुव्वकयतवप्पजावा नि-
 विट्ठमंचियमुहा अण्णगवामसयमाउवंतो जज्जाहि य जण-
 वयप्पहाणाहिं द्वाविजंता अनुलमदफारिमरमरुवगंधे य
 अणुजविचा ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता का-
 माणं, जुज्जो पंसुन्नियणरवगिंदा मवत्ता मअंतेउगा मपरिसा
 मपुगेद्विया अमच्चंडङ्गायकमेणावतिपातिणं । तिकुमला
 णाणामणियणाविपुन्नधणधणमंचयनिहिसमिद्धकोमा र-
 ज्जामिगविपुन्नमणुजविचा विक्कोसंता वत्तेण मत्ता ते वि
 उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं, जुज्जो उत्तरकु-
 रुदेवकुरुवणविवरपायचारिणे नग्गणा भोगुत्तमा जोगल-
 क्खणधरा जोगमस्मिरीया पसत्थसामपडिपुण्णरुवदरि-
 मणिज्जा मुजायमव्वंगमुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तकंतकरचरण-
 कोमत्तन्न म्पुडोद्वियकुम्भचारुचलणा आणुपुव्वमुसंदयंगुत्ती-
 या उप्पयत्तणुवंनिच्चत्वा मंत्तियमुमिन्नित्ठगुदगोफा एणी-
 कुरुविंदावत्तवत्ताणुपुव्वजंता ममुगनिमग्गगूढजाणु गयगम-
 णमुजायमंति तोरुव्ववारणमत्ततुद्विविक्रमविज्जामियगती व-
 रगुग्गमुजायगुज्जदेसा आयणहयो व निरुवत्तेवा पमुइयवग्गु-
 रयमंहअदंगवट्टियकफी गंगावत्तगदाहिणावत्तनरंगजंगुर-
 विक्किण्णोद्वियविकोमायंतपम्हगंधीगवियदनाभी माइयसा-
 णंदमुसन्नदप्पणानिगगियवक्कणगत्तुरुमगिमवग्गवट्टिययम-
 ज्जा उज्जगममंदियजच्चत्तुकुमिणनिच्चआदिज्जलरुहमु-
 कुमालपत्तयपरापरायी कमविदगमुजायपणीणकुच्छी भुवांद-
 रा पम्हवियरुणाभी मंनयपामा संगतपामा मुंदरपामा मु-
 जायपामा पित्तपाइयपीण्णइयपामा अकरंरुक्कणगरुग्गनि-
 म्पन्नमुजायनिरुवहयदेहधारी कणगमिज्जातन्नपमत्थममन-
 न्नउवयविन्नियमपिद्वलवच्छा जुयमप्पिभा पीण्णइयपीवर-
 पड्डमंत्तियमुमिन्नित्ठविमिद्वत्तुसुणिचिययणियग्गुवंधंधी ।

पुरवरपालिहवाट्टियजुजा जूइएमरविपुलभोगआयाणफलि-
 हउच्छूददीहवाहुरत्ततलोवडयमउयमंसन्नमुजायन्नक्खणपस-
 त्थअच्छिहजान्नापाणी पीवरमुजायकोमन्नवरंगुत्ती तंवनन्निण-
 मुइरुद्वानिक्खणा निद्वपाणिद्वेहा चंदपाणिलेहा सूरपाणि-
 द्वेहा संखपाणिद्वेहा चक्कपाणिद्वेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा
 रविससिसंखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तमुरइयपाणिद्वेहा व-
 रमहिसवगाहसीहसहूलरिमहनागवरणमिपुष्पाविउल्लखंथा चउ-
 रंगुलीप्पमाणकंभुवरसरिमगीवा अवट्टियमुविजत्तचित्तसमं-
 सुउवचियमंसन्नपमत्थसद्वन्नविपुन्नहणया उवचियसिलप्प-
 वाद्वविक्कलसन्नज्जाउथरोहा पंदुरससिमक्कविमन्नसंखगो-
 खीरफेणकुंदगरयमुणालियाधवलदंतमेदी अस्सरुदंता अ-
 फुमियदंता अविरद्वदंता सुणिद्वदंता मुजातदंता एगदंत-
 सेदी व्व अणेगदंता हुतवहनिद्वं तथोतत्तत्तवणिज्जरत्तन्न-
 तात्तुजीहा गरुडायतउज्जतुंगनासा अवदालियपुंरुगीयनय-
 णा विक्कोसियधवन्नपत्तन्नच्छा आणामियचावरुक्खिलकिण्ह-
 वनरायिमंत्तियसंगयायतमुजायज्जमगा अद्वानिपमाणजुत्त-
 सवणा मुस्सवणा पीण्णमंसन्नकवोलेदसभागा अचिरुग्गय-
 वाद्वचंदसंत्तियमहानिज्जाहा उडुपतिपरिपुष्पासोमवयणा उ-
 त्तागारुत्तमंगदेसा यणनिचियसुवन्नक्खण्णय्यकूरागार-
 निभपिण्णियग्गसिरा हुतवहनिद्वंतथोतत्तत्तवणिज्जरत्तत्तसं-
 तकेसज्जुमी सामिन्निपौरुयणनिचियच्छोमियमिज्जविमयपस-
 त्थमुहुमन्नक्खणमुगंधमुंदरज्जुयमोयगभिगनीन्नक्खलपहि-
 द्धभमरणनिच्चनिउरंत्तनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसि-
 रया मुजायमुविभत्तसंगयंगा न्नक्खणवज्जणमुणोववेया पस-
 त्थवत्तीसन्नक्खणधरा हंसस्सरा कौचस्सरा दुंदुहिसरा सीह-
 स्सरा मेघस्सरा ओघस्सरा मुस्सरा मुस्सरनिग्गोमा वज्जि-
 सभनारायमंधयणा समचउरंससंत्ताणसंत्तिया ज्ञाया उज्जोवि-
 यंगमंगा पसत्थउव्वी निरातंका कंकगहणा कवोत्तपरिणामा
 सउणिपासपिद्वनरोरुपरिणया पउमुप्पन्नमरिसंगंधमाससु-
 रभिवयणा अणुत्तोमवाउवेगा अवदायनिच्चकात्ता विग्ग-
 हउल्लयकुच्छी अमयरसफलाहारी तिगऊयसमुच्चिया तिप-
 लिओवमट्टितीया तिप्पिय पत्तिओवमाइं परमाउं पाद्वत्ता ते
 वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं, पमदा विय तेसि
 द्दंति सोमा मुजायसव्वंगमुंदरिओ पहाणमहिज्जागुणेहिं जुत्ता
 अतिकंतविमप्पमाणमउयसुकुमात्तकुम्भमंत्तियसिलिद्वल्लणा
 उज्जुमउयपीवरमुसंहतंगुत्तीओ अब्बुत्ततरइयत्तन्नित्तं-
 वमुत्तनिच्चत्वा रोपरहियवत्तसंत्तियअजहम्पसत्थलक्ख-
 णअकोप्पजंघजुयत्ता सुणिम्पित्तमुनिगूढजानुमंमलपसत्थ-
 सुवक्कमंधी कयत्तीखंभाइरंगमंत्तियनिव्वणसुकुमात्तमउयको-
 मलअविरत्ता ममसहितवट्टपीवरनिरंतरोरु अट्टावयवीतिपट्ट
 मंत्तियपसत्थविन्नियणपिद्वन्नसोणी वदणायामप्पमाणदुगु-

णियविमात्रमसन्नसुवच्चजहणवरधरीओ वज्जविराडयपस-
त्यन्नच्चणनिरोदरीओ विवलिन्नित्ततणुनमितमज्झभाओ
उज्जुयसमसहितियजच्चतणुकमिणनिष्आदेज्जलरुहमुकुमा-
द्वमउयसुविभत्तरोमराई गंगावत्तगदाहिणावत्ततरंगभं-
गरविकिरणतरुणवेहित्तअकोसायंतपउमगंजीरविगदनाभी
अणवज्जटपसत्थसुजायपीणकुच्छी समंतपासा सन्नयपासा
सुजायपामा मियमार्यितपीणरयियपासा अकरंरुयकणगरु-
यगनिम्मलसुजायनिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसप्पमाण-
समसंहितलट्ठचुचुयआमेज्जगजमलजुयद्ववट्ठियपओहरा भुयं-
गअणुपुवतणुयगोपुच्छवट्ठसमसहितानिम्मियआदेज्जलरुह-
वाहा तंवनहा मंसलगाहत्था कोमलपीवरंगुत्तीया णिष्-
पाणिद्वेहा ससिसूरसंखचक्करसंत्थियविभत्तसुविरइयपा-
णिद्वेहा पीणुस्यकक्खवत्थिप्पदेसपणिपुसगद्वकपोला चउ-
रंगुलसुप्पमाणकंबुवरमरिसगीवा मंसलसंत्थियपसत्थहणुया
दाद्विमपुप्फप्पकासपीवरपद्ववकोंचियवराधरा सुंदरोत्तरट्ठा
दहिदगरयकुंदचंदवासंतिमउज्जअट्ठिद्विमलदसणा रत्तुप्प-
लरत्तपउमपत्तसुकुमालतासुजीहा कणवीरमउज्जकुडिलअ-
वत्तुस्यउज्जतुंगनासा सारदनवकमद्वकुमुयकुवलयदलनिग-
रमरिसलक्खणपसत्थनिम्मद्वकंतनयणा अनामियचारुड-
लकिणहरासंगयसुजायतणुकसिणनिष्चूमागा अट्ठीण-
पमाणजुत्तमवणा सुस्मवणा पीणमद्वगंरुलेहा चउरंगुल-
विसाद्वसमनिमाला कोमुदिरयणिकरविमद्वपणिपुससोमव-
यणा उत्तुस्यउत्तमंगा अकविलसुसिणिष्दीहसिरया उ-
त्तज्जयजुवयूजदामणिकमंरुलुक्कन्नसवाविसोत्थियपडागज-
वमच्चकुम्भरहवरमयरज्जयअंकथाअकुसअट्ठावयसुपतिट्ठ-
अमरसिरियाभसेयतोरणमेयिणित्तदधिवरपवरभवणगिरि-
वरवरायंसमुलद्वियगयवसभसीहचामरपसत्थवत्तसिलक्ख-
णधरीओ हंससरिच्चगतीओ कोइलमहुयरिगराओ
कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवट्ठीपद्वियवंगदुवसवाहि-
दोजग्गसोयमुक्काओ उच्चत्तेण य नरथोवूणमूसियाओ सिं-
गारागारचारुवेमा सुंदरयणजहणवयणकरचद्वणयणा द्वा-
वसुसुवजोव्वणगुणोव्वेया णंदणवणविवरचारिणीओ अ-
चर्राओ लत्तरकुरुमाणसच्छराओ अचरेरगयेच्चिणिया-
ओ तिष्ठि पलिओवमाई परमाउं पालयित्ताओ वि उवण-
मंति मरणधम्मं अतित्ता कामाणं, मेहुणसन्नपगिद्धा य मोहभ-
रिया सत्येहिं हणंति एकमेकं विसयं विसउदीरएहिं अवरे
परदारोहिं हणंति विसुणिया धनरासं सयणविप्पणामं च
पाउणंति, परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणमसमंपगि-
द्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मा-
रिति एकमेकं मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्जांति
मित्ताणि खिप्पं जवंति, सत्तू समयधम्मगणे य जिंदंति

पारदारी धम्मगुणरया य वंचयारी खणेण उलोहयचरि-
त्ताओ जसमतो सुव्वया य पावंति अयसकिंति रोगत्ता वाहि-
ता वट्ठंति रोयवाही, दुवे य द्योयदुराराहगा जवंति, इहलोए
चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया तदेव केइ परस्स
दारं गवेसमाण गहिया य हया य वच्छरुद्धा य एवं जाव
गच्छंति विपुद्वमोहाजिज्जयससा मेहुणमूद्वं च सुव्वए तत्थ
तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीताए दौवतीए य
कए रूपिणीए पउमावतीए तारए कंचणाए रत्तसुजदाए
अहिद्वयाए सुवसगुलियाए किन्नरिए य सुखवज्जुमती-
ए रोहिणीए य असेसु य एवमाइसु वववे महिलाकए
सुव्वति अतिकंता संगामा गामधम्ममूद्धा, इह लोए ताव
नट्ठा परलोए य नट्ठा महया मोहतिभिरंधकारे घोरे तस-
थावरसुहुमवायारेसु पज्जत्तमपज्जत्तकसाहारणसरीरपत्तेयसरी-
रेसु य अरुजपोयजजराउजरसत्तसेइममंमुच्चिमउज्जिज्ज-
ववाइएसु य नरगतिरियदेवमाणसेसु जरामरणरोगसोगव-
हुले पत्तिओवममागरोवमाइं मणादीयं अणवदग्गं दीहमद्वं
चाउरंतसमारकंतां अणुपरियट्ठंति जीवा महामोहवसमंनि-
विट्ठाएसो सो अवंचस्स फलविवागो इह लोइओ परलोइ-
ओ य अप्पसुहो बहुदुक्खो मद्वन्नओ बहुरयप्पगाढो दारुणो
कक्कमो असाओ वाससट्ठस्सेहिं मुच्चंति न य अवंचयत्ता
अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुन्नंदणो महप्पा
जिणो वरवीरनामधेज्जो कहंसी य अवंचस्स फलविवागो,
एयं तं अवंचं पि चउत्तं पि सदेवमणुयामुरस्स लोगस्स
पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दूरं तं चउत्तं अहम्म-
दारं सम्मत्तं त्ति वेमि ।

(तं च पुण निसेचित्ति) तच्च पुनरब्रह्म निषेवन्ते सुर-
गणा वैमानिकदेवसमूहाः साप्सरसः सदेवीकाः, देव्योऽपि
सेवन्ते इत्यर्थः (इत्यादिटीकाऽनुपयोगिनी महती चेत्युपेक्षिता)
प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

शेषउत्तररुच्यं मध्य एवायातम् । अब्रह्म मैथुनमिति पर्यायौ ।
(मैथुनशब्देन चोच्यमानो विषयो ' मेहुण ' शब्द एव धत्तते)
“ अब्रह्मचारियं घोरे, पमायं डुरहिठियं । नायरंति मुणी होए,
भेयापणविघज्जणे ” ॥१॥ दश० ६ अ० ।

अवंचवज्जण-अब्रह्मवर्जन-न० । दिवा रात्रौ वा पत्न्याद्याभि-
त्य मैथुनत्यागरूपायां वृष्ट्यामुपासकप्रतिमायाम्, तत्स्वरूपं
चैवम्-“ पुत्रोदियगुणजुत्तो, विसेसओ विजयमोहणिज्जो य ”
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । (' उवासगपन्निमा ' शब्दे द्वितीयभागे
११०५ पृष्ठे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अवज्ज-अवध्य-त्रि० । वधमर्हति यत् । न० त० । वधानंदे,
“ अवमानयं वज्जाणं ” अकारलोपे ' वज्जाणं ' इति भवति ।
तत्र अवध्यानां वधानाणां विद्वेषिवचनतो वष्यत्वेन स्या-
पितानां सुदर्शनसुजातादीनामिव देवताप्रातिहार्यतो निराकृत-
वध्यत्वदोषाणाम् । संथा० ।

अवाध्य-वि० । परैर्बाधितुमशक्ये, स्या० ।

अवज्जमिच्छन्त-अवाध्यमिच्छन्त-पुं० । अवाध्यः परैर्बाधितुम-
शक्यः सिद्धान्तः स्याद्वाद्भुतलक्षणोऽस्य तथा । कुतीर्थको-
पम्यस्तकुहेतुसमूहाशक्यबाधस्याद्वाद्भुतलक्षणप्रणयनभण-
नाद् वचनातिशयसंपन्ने तीर्थकरे, " अवाध्यसिद्धान्तममर्त्यपू-
ज्यम् " स्या० ।

अवज्जा-अवाध्या-स्त्री० । अयोध्यायाम्, जं० ४ वक्र० । ती० ।
गन्धलाखविजयक्षेत्रयुगले पुरीयुगले, " दो अवज्जाओ "
स्या० २ ग० ३ उ० ।

अवच्छ-अवच्छ-न० । पद्यगद्यबन्धनरहिते ग्रन्थे, आ० म० द्वि० ।

अवच्छट्टिय-अवच्छास्थिक-न० । अवच्छमस्थि यस्य तदवच्छा-
स्थिकम् । अतिस्पष्टे कले, " जिघ्रे य वच्छट्टिए वि एवं पमेव
य हौति बहुर्वीए " विशेष० । आ० म० । अथाप्यवच्छवीजे
स्तिष्ठपक्षे, वृ० १ उ० ।

अवच्छमुय-अवच्छभुत-न० । गद्यात्मके भुते, विशेष० । आ० म० ।
(' करण ' शब्दे व्याख्या)

अवच्छिय-अवच्छिक-पुं० । स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्कन्धबन्ध-
रुद्धमवच्छिन्त, तदेयामस्तीत्यधिकृताः । " अतोऽनेकस्वरात् "
शा० १६ इति हैमसूत्रेण इक्षप्रत्ययः । स्पृष्टकर्मविपाकरूपकेषु
निह्वयभेदेषु, स्या० ७ टा० । आ० म० । विशेष० ।

यथा चावच्छिकानां दृष्टिर्गोष्ठामहिलाइशपुरनगरे समुत्पन्ना
तथाभिधत्सुराह-

पंचमया चुलमीया, तस्या मिच्छिं गयस्स वीरस्म ।
तो अवच्छियदिही, दसउरनयरे समुत्पन्ना ॥

पञ्च वर्षशतानि चतुरशीत्यधिकानि (५०४) तदा सिद्धिं गतस्य
महावीरस्य, ततोऽवच्छिकानिह्वयदृष्टिर्दशपुरनगरे समुत्पन्नेति ।

कथं पुनरियमुत्पन्ना ?, इत्याह-

दसउरनगरुच्चुरं, अजरक्खियपूसमित्तियगं च ।

गोष्टामाहिन्ननवम-एमेसु पुच्छा य विजस्स ॥

(एतद्भावार्थस्तु आर्यैरकृतयकथ्यनातोऽवसेयो यावद् गो-
ष्ठामहिलनिह्वयो जातः । कथा च ' अजरक्खिय ' शब्देऽस्मिन्नेव
भागे २१५ पृष्ठे समुक्ता) गोष्ठामाहिलो मथुरात भागत्य पृथ-
गुपाश्रये स्थितः । विशेष० ।

दुर्बलिकापुष्पमित्रोऽपवादप्रदणदिना व्युद्ग्राहयति साधून्
च व्युद्ग्राहयितुं शक्नोति, दुर्बलिकापुष्पमित्रः समीपे चाभि-
मानतो न किञ्चिच्छृणोति, किन्तु व्याख्यानमण्डलिकापस्थितस्य
चिन्तनिकां कुर्वतो विषयस्यान्तिके समाकर्णयति । अन्यदा
चापमनचमपुर्वयोः कर्मप्रत्याख्यानविचारेऽनिनिवेशाद्विप्रति-
पन्नो यद्वयमाणनान्या निह्वयो जात इति । अथ प्रकृत- (" मो
ऊण कालधम्मं, गुरुणो गच्छम्मि पूसम्मिच्च " इत्यादि)
गायाऽङ्कार्योऽनुश्रावने-कालो मरणं तज्जङ्गणो धम्मः पर्यायः
कालधर्मः, तं गुरोरायैरकृतस्य श्रुत्वा तथा पुष्पमित्रं च गच्छे-
द्विपतिं स्यापितमाकर्ण्य गोष्ठामाहितः संजानमरसरायव-
सायः किलेदं चकार-

किमित्याह-

वीसुं वसहीए ठिओ, ठिइऽनेमणपरो य म कयाए ।

विजस्स सुणइ पासे-ऽणुजासमाणस्स वक्खाणं ॥

विष्वग्यसतौ स्थितः क्षिप्रान्वेषणपरः स गोष्ठामाहितः कदा-
चिद्विषयस्यानुभाषमाणस्य चिन्तनिकां कुर्वतः पार्श्वे व्याख्यानं
शृणोतीति । विशेष० ।

(कर्मविषया विप्रतिपत्तिः) ततः किम् ?, इत्याह-

कम्मप्पवायपुव्वे, वच्छं पुट्ठं निकाइयं कम्मं ।

जीवपप्पेहिं ममं, सूक्कजावोवमाणानु ॥

उन्वट्टणकुँरो, संगोभो खवणमणुजवो वा वि ।

अणिकाइयम्मि कम्मे, निकाइए पायमणुजवणं ।

मो ऊ जणइ सदोमं, वक्खाणामिणं ति पावइ जओ जे ।

मोक्खानावो जीव-प्पएसकम्माविजागाउ ॥

इह कर्मप्रवादानाम्यष्टमे पूर्वे कर्मविचारे प्रस्तुते दुर्बलिका-
पुष्पमित्र एवं व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशैः सह बद्धं वरु-
मात्रमेव कर्म जवति । यथा-अकपायस्येयापथप्रत्ययं कर्म, तच्च
कालान्तरस्थितिमवाप्त्यैव जीवप्रदेशेऽपि विघटते, शुक्लकुड्या-
पतितचूर्णमुष्टिवदिति । अन्यत्तु (पुट्ठं ति) बद्धमित्यत्रापि
संबध्यते, ततश्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्धं जीवेन सह
संयोगमात्रमापन्नं; स्पृष्टं तु जीवप्रदेशैरास्तीकृतम् । एतच्चैवं बद्धं
सत्कालान्तरेण विघटते आर्द्धेषकुड्यं सस्नेहचूर्णवदिति ।
(निकाइयं ति) वद्धं स्पृष्टं चेत्यत्रापि संबध्यते । ततश्चापरं
किमपि कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः । तत्र तदेव ब-
द्धस्पृष्टं गाढतराध्ययसायेन बद्धत्वादापवर्तनादिकरणार्थो-
भ्यतां नीतं निकाचितमुच्यते । इदं च कालान्तरेऽपि विपाक-
तोऽनुभवमन्तरेण प्रायेणापगच्छति, गाढतरवद्धत्वाद्, बाह्य-
कुड्यश्लेषितनिविडश्वेतकाहस्तकवदिति । अयं च त्रिविधोऽपि
बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भावनीयः । तद्यथा-गुणवैष्टितसूची-
कलापोपमं वरुमुच्यते, लोहपट्टवद्धसूचीसंघातसदृशं तु बद्ध-
स्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं त्वस्मिन्प्रघनाहतिकोमी-
कृतसूचीनिचयसन्निभं भावनीयमिति । नन्वनिकाचितस्य क-
र्मणः को विशेषः ?, इत्याह-(उन्वट्टणेत्यादि) इह कर्मविषया-
ण्यष्टौ करणानि भवन्ति । उक्तं च-" बंधणसंकमऽणुव-ट्टणा य
उन्वट्टणा उईरणया । उवसावणा निवत्ती, निकायणा वत्तिकर-
णाइ " ॥ १॥ तत्र निकाचिते कर्मणि स्थित्यादिस्वरूपा (उव-
ट्टणं ति) उपवर्तना प्रवर्तते । तथा-(उक्केरो ति) स्थित्यादिवर्द्धन-
रूप उत्कोच उद्धर्तना । तथा-(संछोभो ति) असातादेः सातादौ
क्षेपणरूपः संक्रमः । तथा-(खवणं ति) प्रकृत्यन्तरसंक्रमितस्य
कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्भरणं क्षणम् । तथा-(अणुभवो ति)
स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदनमनुभवः । इदं
चोपलक्षणमुदीरणादीनां, तदेतान्यपवर्तनादीनि सर्वोपपत्ति-
निकाचिते कर्मणि प्रवर्तन्ते । निकाचिते तु प्रायेण विपाकेनानु-
भवमेव प्रवर्तते, न पुनरपवर्तनादीनीत्यनयोर्विशेषः । समाची-
र्णविकृष्टपसामुक्तद्वयवसायध्वने ' तवसा उ निकाइयाणं
पीति ' वचनान्निकाचितेऽपि कर्मण्यपवर्तनादिकरणप्रवृत्ति-
भवतीति पायोग्रहणम् । तदत्र व्याख्याने क्षीरनीरन्यायेन
वह्निप्रायोगोलकन्यायेन वा जीवप्रदेशैः सह कर्म संबद्ध-

मिति पर्यवसितम् । विन्ध्यसमीपे श्रुत्वा तथाविधकर्मोदयादभि-
निवेशेन विप्रतिपन्नो गोष्ठामाहितः प्रतिपादयति-ननु सदोप-
मिदं व्याख्यानम्-यस्मादेवं व्याख्यायमाने भवतां मोक्षाभावः
प्राप्नोति, जीवप्रदेशैः सह कर्मणामविभागेन तादात्म्येनाव-
स्थानादिति ।

अमुमेवार्थे प्रमाणतः साध्यब्रह्म-

न हि कम्पं जीवाओ, अवेइ अविभागओ पएसो व्व ।

तदणवगमादमोक्खो, जुत्तमिणं तेण वक्खाणं ॥

नहि नैव कर्म जीवादपैतीति प्रतिज्ञा । अविभागाद् बह्वय-
गोलकन्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, एष हेतुः ।
(पएसो व्व त्ति) जीवप्रदेशराशिचदित्यर्थः, एष दृष्टान्तः ।
इह यथेन सहाविभागेन व्यवस्थितं न तत्ततो वियुज्यते, यथा
जीवात्तत्प्रदेशनिकुरम्बम् । इष्यते चाविभागो जीवकर्मणो-
र्भवद्भिरिति न तस्माद्वियुज्यते, ततस्तदपगमात्तस्य कर्मणो-
जीवादनपगमादवियोगात्सर्वदेव जीवानां सकर्मकत्वान्मोक्षा-
भावः, तेन तस्मादिदमिदं मदीयं व्याख्यानं कर्तुं युक्तमिति ।

तदित्याह-

पुट्ठो जहा अवप्पो, कंचुङ्गणं कंचुओ समन्नेइ ।

एवं पुट्टमवप्पं, जीवं कम्पं समन्नेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्पर्शनमात्रेण संयुक्तोऽवक्त्रः क्षीरनीरन्यायादलोक्षी-
भूत एव कञ्चुको विषधरनिमोकः कञ्चुकितं विषधरं समन्वेति
समनुगच्छति, एवं कर्मापि स्पृष्टं संपकञ्चुकवस्पर्शनमात्रे-
णैव संयुक्तमवक्त्रं बह्वयःपिण्डादिन्यायादलोलभूतमेव जीवं
समन्वेति, एवमेव मोक्षोपपत्तेरिति । विशेषः । “यतो यद्भूतस्य-
ते तेन, स्पृष्टमात्रं तदिष्यताम् । कञ्चुकी कञ्चुकेनैव, कर्म
भेदस्यति चात्मनः ” ॥ १ ॥ प्रयोगः-यथेन भविष्यत्पृथग्भावं,
तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कञ्चुकः कञ्चुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं
च कर्म जीवेन । उक्तं ३ अ० ।

[प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः]

तदेवं कर्मविचारे विप्रतिपत्तिमुपदर्शयैदानीं प्रत्याख्यानविष-
यां विप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह-

सोक्खण भन्नमाणं, पच्चक्खाणं पुणो नवमपुण्वे ।

सो जावजीव विट्ठियं, तिविहं तिविहेण साहूणं ॥

स गोष्ठामाहितः कर्मविचारे विप्रतिपन्नः पुनरन्यथा नवम-
पूर्वे “ करोमि भन्ते ! सामास्यं सर्वं सावज्जं जागं पच्चक्खामि
जावजीवाप ” इत्यादि । यावज्जीवावधिकं साधूनां संबन्ध-
प्रत्याख्यानं भण्यमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं शृणोति ।

तदेव कृत्वा किं करोति ?, इत्याह-

जंपइ पच्चक्खाणं, अपरीमाणइ होइ सेयं तु ।

जेसि तु परीमाणं, तं दुट्ठं आसँसा होइ ॥

गोष्ठामाहितो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाण-
तया अवधिरहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभनं
भवति, येषां तु व्याख्यानं प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवादिपरिमाण-
मवधिविधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यानमाशंसदोषदुष्टत्वात्
दुष्टं सदोषं प्राप्नोति ।

अत्र भाष्यम्-

आमंसा जा पुत्ते, सेविस्सामि त्ति दूसियं तीए ।

जेण सुयस्मि वि जणियं, परिणामाओ अमुत्तं तु ॥

आशंसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम् । तत्राशंसा का ?, इ-
त्याह-(जत्ति)या एवंविधपरिणामरूपा । कथंभूतः परिणामः?,
इत्याह-पूर्णे प्रत्याख्याने देवलोकादौ सुराङ्गनासंभोगादिभो-
गानहं सेविष्ये, इत्येवंभूतपरिणामरूपा च या आशंसा । तथा
प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । कुतः ?, इत्याह-येन श्रुतेऽप्यागमे-
ऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाशुद्धेः प्रत्याख्यानमशुद्धं भवति ।
तथा चागमः-“ सोही सहइणा जा-णणा य विणपएणभा-
सणा चेव । अणुपाहणा विसोही, भारविसोही भवे उठा ” ॥
तत्र ‘पच्चक्खाणं सव्वममुदेसियं’ इत्यादिना श्रद्धानादिषु व्या-
ख्यातेषु भावविशुद्धेयं व्याख्यानं तत्प्रकृतोपयोगिनं दृश्यते ।
“रागेण च दोसेण, परिणामेण वनदूसियं जंतु । नं खलु पच्च-
क्खाणं, भावविशुद्धं मुणेयव्वं” ॥ १ ॥ इति । विशेषः । (पते विप्र-
तिपत्ती २५६ पृष्ठे ‘कम्म’ शब्दे, ‘पच्चक्खाणं’ शब्दं च वच्यते)
एवं युक्तिभिः प्रस्थापितेऽपि यावदसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः
किं संजातम् ?, इत्याह-

इय पणविओ वि न सो, जाहे सहइइ पूसमिच्चेण ।

अन्नगणत्येरोहि य, काउं तो संवरुमवायं ॥

आहूय देवयं वेइ जाणमाणो वि पच्चयणिमिच्चं ।

वच्च जिणिंदं पुच्छसु, गयागया सा परिकहेइ ॥

संघो सम्मावाइ, गुरुपुरोगो त्ति जिणवरो जणइ ।

इयरां मिच्छावाइ, सत्तमओ निएहओऽयं वि ॥

एईमे सामत्थं, कत्तो गंतुं जिणिंदमूलम्मि ।

वेइ कडपूयणाए, संघेण तओ कओ वज्झो ॥

चतसृणामप्यासामकार्थः सुगम एव । जावार्थस्तु कथानक-
शेषादवसेयः । तच्चेदम्-एवं युक्तिभिः प्रस्थाप्यमानो यावदसौ न
किमपि श्रुते तावत्पुष्पमित्राचार्यैरन्यगच्छगतबहुश्रुतस्थवि-
राणामन्तिके नीतः, ततस्तैरप्युक्तोऽसौ-यादृशं सुरयः प्ररूपय-
न्त्याथैरक्षितसूरिभिरपि तादृशमेव प्ररूपितं, न हीनाधिकम् । ततो
गोष्ठामाहितोऽसौ-किं यूयमृष्यो जानीथ ?, तीर्थकैस्तादृशमेव
प्ररूपितं यादृशमहं प्ररूपयामि । ततः स्थविरैरुक्तम्-मिथ्याभि-
निविष्टो मा कार्षीस्तीर्थकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि ।
ततः सर्वविप्रतिपत्तेः तस्मिन् सर्वैरपि तैः संघसमावायः कृतः ।
सर्वेणापि च संघेन देवताङ्गानार्थं कार्यात्सर्गो विहितः । ततो ज-
दिका काचिदेवता समागता । सा वदति स्म-संदिशथ किं क-
रोमि ? । ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजनप्रत्ययनिमित्तं
प्रवीति-महाविदेहं गत्वा तीर्थकरमापृच्छस्व, किं दुर्बलिकापु-
ष्पमित्रप्रमुखः संघो यद्भवति तत्सत्यमुत यद्गोष्ठामाहितो वद-
ति ? । ततस्तथा प्रोक्तम्-मम महाविदेहे गमनागमने कुर्वन्त्याः
प्रयुहानुघातार्थमनुग्रहं कृत्वा कार्यात्सर्गं कुरुत, येनाहं गच्छा-
मि । ततस्तथैव कृतं संघेन । गता च सा । पृष्ट्वा च भगवन्तं प्र-
त्यागता कथयति स्म-यदुत तीर्थकरः समादाशति-दुर्बलिका-
पुष्पमित्रपुरस्सरसंघः सम्यग्वादी । गोष्ठामाहितस्तु मिथ्या-
वादी ; सप्तमश्चायं निहव इति, तदेनच्छ्रुत्वा गोष्ठामाहितो
प्रवीति-नन्वहपदिकेयं घराकी, का नामैतस्याः कटपुनना-

यास्तीर्थकरान्तिके गमनशक्तिरित्येवमपि यावदसौ न किञ्चि-
न्मन्यते तावत्संघेनोदात्तः बाह्यः कुतोऽनासौचितप्रतिक्रान्तश्च
कासे गतः ॥ ४४२ ॥ विशेषः ॥

अब्रह्मस्व-अब्रह्मण्य-त्रि० । न० ब० । मागध्याम-“ न्य-
ण्य-ह-उजां अः ” । ८ । ४ । २६३ ॥ इति सूत्रेण एयस्थाने द्वि-
रुक्तो अः । प्रा० ४ पाद । अण्यण्यदूत्ये, अर्थाभा० अण्ययी०, त०
वा । अण्यण्यजावे, वाच० ।

अबल-अबल-न० । न बलं सामर्थ्यमुक्त्यर्थं वा । अभावे न० त० ।
बलाभावे, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ श्रु० ३ अ० ।
सूत्र० । भ० । विषमपदादीं गन्तुमसमर्थे, जार बाहुमसमर्थे च ।
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । ज० । ज्ञा० ।

अबलत्त-अबलन्व-न० । अबलस्य जावोऽबलत्वम् । बला-
भावे, वृ० ६ उ० ।

अबला-अबला-स्त्री० । महिलायाम्, को० । अकिञ्चित्करा-
याम्, वृ० १ उ० ।

अबह्निद्व-अबह्नित्य-न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० ।

अबह्निम्पण-अबह्निर्मनस्-त्रि० । न विद्यते बह्निर्मनो यस्यासा-
वबह्निर्मनः । सर्वज्ञोपदेशवर्तिनि, आच्चा० १ श्रु० ४ अ० ५ उ० ।

अबह्नित्वेस्म-अबह्निलेश्य-त्रि० । अविद्यमाना बहिः संयमा-
द् बहिस्तात्त्वज्ञेया मनोवृत्तिर्यस्यासावबह्निलेश्यः । भ० २ श०
१ उ० । प्रश्न० । औ० ।

अबहुवादि (ण)-अबहुवादिन्-त्रि० । असकृदव्याकुर्वाणे,
आच्चा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अबहुमृग्य (न)-अबहुश्रुत-पुं० । बहु श्रुतं यस्य स बहुश्रुतः,
न बहुश्रुतोऽबहुश्रुतः । अनधीतनिर्वाध्याध्ययने, अश्रुताधस्तन-
श्रुते च । नि० चू० १ उ० । अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकटपो
निर्वाध्याध्ययननामकः सूत्रतोऽर्थतश्च नार्धीतः । व्य० ३ उ० ।
बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विधितं सुस्मृतैवज्ञायत
इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह—

जे यावि ह्नाइ निविज्जे, यच्छे ह्नुद्धे अणिग्गहे ।

अजिक्खणे उद्धवड, आविणीए ऽवहुस्सुप् ॥ २ ॥

(जे यावि त्ति) यः कश्चित्, चापिशब्दौ भिन्नक्रमत्वाद् उक्त-
रत्र योद्धयेते, भवति जायते, निर्गता विद्यायाः सम्यक्शाला-
घगमरूपाया निर्विद्योऽपि यस्तन्मोऽहङ्कारा, लुब्धो रसादिशृ-
द्धिमान्, न विद्यते विप्रदृष्टिद्वयनियमनात्मकोऽस्येत्यनिप्रदो
ऽर्भीक्षणं पुनःपुनरुप्राध्यायनात्मकं बद्धभाषितादिरूपेण वर्णनं चक्रे
उद्धपति । अविनीतश्च चित्तयचिरदितो (अबहुस्सुप् त्ति) य-
त्तदोर्नित्यानिमग्नधातु मोऽबहुश्रुत उच्यते इति शेषः । सवि-
द्यस्याऽप्यबहुश्रुतत्वं, बहुश्रुतफलाभावादिनि भावतीयम् । एत-
द्विपर्ययस्वरथाद्बहुश्रुत इति सूत्रार्थः ।

कुतः पुनरीदृशमबहुश्रुतत्वं लभ्यते?, इति तत्कारणमाह—

अइ पंचादि उाणोदिं, जेहिं मिकखा न लब्धइ ।

यंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ३ ॥

अथेत्युपन्यासार्थः । पञ्चभिः पञ्चसंख्यैस्तिष्ठत्येषु कर्मवशमा
जन्तव इति स्थानानि, तैः यैरिति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः शिक्षणं शि-
क्षा, ग्रहणसंयनात्मिका न लज्यते नावाप्यते, तैरीदृशमबहुश्रु-
तत्वमवाप्यत इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ?, इत्याह—
स्तम्भाद् मानात्, शोधात् कोपात्, प्रमादेन मद्यविषयादिना,
रोगेण गलतकुष्ठादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, शिक्षा न ल-
ज्यत इति । क्रमश्च समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वमेव घात-
यतीति । उक्तं ११ अ० ।

अवालुया-अवालुका-स्त्री० । अवासुशब्दार्थे चिकणप-
दार्थे, तं० ।

अवाहा-अवाधा-स्त्री० । बाधु-लोभने, बाधत इति बाधा, कर्मण
उदयः । न बाधाऽवाधा । कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरे, भ०
६ श० ३ उ० । स० । ज० । बाधा परस्परं संश्लेषनः पीडनं,
न बाधाऽवाधा । भ० १४ श० ८ उ० । व्यवधानापेक्षयाऽन्तरे,
स० ४२ सम० । विशेषः । आ० चू० । (अवाधया अन्तरम्-“भंतर”
शब्देऽस्मिन्नेव जागे ७८ पृष्ठे उक्तम्)

मंदरस्म एं जंते ! पञ्चयस्म केवड्याए अवाहाए जोइसं चारं
चरइ ? । गोयमा ! इकारमेहिं इक्खामेहिं जोयणसएहिं अवाहाए
जोइसं चारं चरइ । लोगंताओ एं जंते ! केवड्याए अवाहाए
जोए जोइमे पणत्ते ? । गोयमा ! एकारसिं एकारमेहिं जो-
अणमएहिं अवाहाए जोइमे पणत्ते । धरणितालाओ एं
जंते ! सत्तहिं एउएहिं जोअणसएहिं जोइसं चारं चरइ ।
एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंदविमाणे अट्ठहिं अ-
सीएहिं उवरिल्ले ताराखे एवहिं जोअणसएहिं चारं
चरइ । जोइसस्स एं जंते ! हेट्ठिद्धाओ तलाओ केवड्याए
अवाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ? । गोयमा ! दसहिं जो-
अणेहिं अवाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे णउएहिं
जोअणेहिं चारं चरइ । उवरिल्ले ताराखे दसुत्तरे जोअ-
णसए चारं चरइ, सूरविमाणाओ चंदविमाणे अभीए जो-
अणेहिं चारं चरइ, सूरविमाणाओ जोअणसए उवरिल्ले
ताराखे चारं चरइ, चंदविमाणाओ वीसाए जोअणेहिं
उवरिल्ले ताराखे चारं चरइ ।

(मंदरस्म एं भंते ! इत्यादि) मन्दरस्य भदन्त ! पर्वतस्य
कियन्त्या अवाधयाऽपान्तरात्वेन ज्योतिश्चक्रं चारं चरति ? । ज-
गत्तानाह—गौतम ! जगत्स्वभावादेकादशानिरेकविंशत्याधिकै-
र्योजनशतैरित्येवंरूपयाऽबाधया ज्योतिषं चारं चरति । कि-
मुक्तं त्वति ?—मेरुश्चक्रवाहेन एकविंशत्यधिकान्येकादशयोज-
नशतानि मुक्ता चक्रं ज्योतिश्चक्रं तारारूपं चारं चरति, प्र-
कमाजम्बुद्वीपगतमवसेयम् । अन्यथा लवणसमुद्रादियोजि-
तश्चक्रस्य मेरुतो दूरवर्तिन्ये प्रमाणासंभवः । पूर्वं तु सूर्यच-
न्द्रचन्द्रयनाधिकार अवाधाद्वारं सूर्यचन्द्रयोरेव मेरुतोऽबाधा
उक्ता, साम्प्रतं तारापटवस्य, इति न पूर्वोपरविरोध इति । अथ
स्थिरं ज्योतिश्चक्रमलोकतः कियत्या अवाधया अर्वाग् भवति-
द्यत इति पिपृच्छिष्यश्चतुर्थं द्वारमाह—(लोगंताओ णमित्यादि)

लोकान्ततः अलोकादितोऽर्वाक् कियत्या अवाधया प्रक्रमात् स्थिरं ज्योतिश्चक्रं प्रकृतम् ? । भगवानाह—गौतम ! जगत्-स्वजावाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्योजनशतैरवाधया ज्योतिषं प्रकृतं, प्रक्रमात् स्थिरं बोध्यम्, खरज्योतिश्चक्रस्य तत्राभावादिति । अथ पञ्चमद्वारं पृच्छति—‘धरणितलाभांशं जेतं !’ इत्यनेन तत्सूत्रैकदेशेन परिपूर्णं प्रश्नसूत्रं बोध्यम् । तच्च—“धरणितलाभांशं जेतं ! उद्धुं उपपत्ता केवद्विष्टा अवाहा ए हिष्ठिष्ठे जोहस चारं चरइ ? । गोयमा !” इत्यन्तं वस्त्वैकदेशस्य वस्तुस्कन्धस्मारकत्वनियमात् । तत्रायमर्थः—धरणितलात् समयप्रसिद्धात् समभूतलज्जागादूर्ध्वमुत्पत्य कियत्याऽवाधया अधस्तनं ज्योतिषं तारापटलं चारं चरति ? । भगवानाह—गौतम ! सप्तभिर्नवत्यधिकैर्योजनशतैरित्येवंरूपया अवाधया अधस्तनं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । अथ सूर्यादिविषयमवाध्यास्वरूपं संक्षिप्य भगवान् स्वयमेवाह—(एवं सूरविमाणे अद्भुर्हि स एहिं चन्द्रो) इत्यादि । एवमुक्त्यायेन यथासमभूमिजागादधस्तनं ज्योतिश्चक्रं नवत्यधिकसप्तयोजनशतैस्तथा समज्जमिजागादेव सूर्यविमानमष्टभिर्योजनशतैश्चन्द्रविमानमशीत्यधिकैरष्टभिर्योजनशतैरुपरितनं तारारूपं नवभिर्योजनशतैश्चारं चरति । अथ ज्योतिश्चक्रचारं केवद्विष्टा अवाध्याप्रश्नमाह—(जोहसस्स णमित्यादि) ज्योतिश्चक्रस्य दशोत्तरयोजनशतव हुल्यस्याधस्तनात्तलात् कियत्या अवाधया सूर्यविमानं चारं चरति ? । गौतम ! दशजिर्योजनैरित्येवंरूपया अवाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमज्ज-जागादूर्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनाऽतिक्रमे ज्योतिश्चक्रबाहुल्य-मूलजुत आकाशप्रदेशप्रतरः सोऽवधिमेतन्व्यः । एवं चन्द्रादिसुत्रेऽपि । एवं चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवंरूपया अवाधया चारं चरति । तथा चोपरितनं तारारूपं दशाधिके योजनशते ज्योतिश्चक्रबाहुल्यप्रान्ते इत्यर्थः, चारं चरति । अथ गतार्थमपि शिष्यश्रुत्याद्वनार्थमाह—सूर्यादीनां परस्पर-मन्तरं सूत्रकृदाह—(सूरविमाणाओ इत्यादि) सूर्यविमानात् चन्द्रविमानं अशीतियोजनैश्चारं चरति । सूर्यविमानात् योजनशतेऽतिक्रान्ते उपरितनं तारापटलं चारं चरति । चन्द्रविमानाद् विशत्या योजनैरुपरितनं तारापटलं चारं चरति ॥ अत्र सूचनामात्रत्वात् सूत्रेऽनुक्ताऽपि प्रहाणां नक्षत्राणां च क्षेत्राणां च क्षेत्रविजागव्यवस्था मतान्तराश्रिता संग्रहनिवृत्त्यादौ दर्शिता लिख्यते-

“शतानि सप्त गत्वोर्ध्वं, योजनानां घुवस्तलात् ।
नवतिं च स्थितास्ताराः, सर्वाऽधस्तात्सप्तस्तले ॥ १ ॥
तारकापटलाकृत्वा, योजनानि दशोपरि ।
सूराणां पटलं तस्मा-दर्शति शीतरोचिषः ॥ २ ॥
चत्वारि तु ततो गत्वा, नक्षत्रपटलं स्थितम् ।
गत्वा ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥
शुक्राणां च गुरुणां च, जौमानां मन्दसंज्ञिनाम् ।
त्रीणि त्रीणि च गत्वोर्ध्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् ॥ ४ ॥ इति ।
जं ७ वत्तं ।

(मन्दरस्स णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य पर्वतस्य जम्बूद्वीपगतस्य सकवतिर्यग्गोक्रमध्यवर्तिनः कियत्क्षेत्रमवाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति ? । भगवानाह—(ता एकादशेत्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि अवाधया कृत्वा चारं चरति । किमुक्तं भ-

वति? मेरोः सर्वतः एकादश योजनशतान्येकविंशत्यधिकानि मुक्ता तदनन्तरं चक्रवाद्यतया ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । (ता लोय-ताओ णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । लोकान्तादूर्वाक्, णमिति वाक्यान्वङ्कारे । कियत्क्षेत्रमवाधया कृत्वा ज्योतिषं प्रकृतम् ? । भगवानाह—(एकादशेत्यादि) एकादश योजनशतानि एकादशाधिकानि अवाधया कृत्वा अपान्तरालं विधाय ज्योतिषं प्रकृतम् । (ता जंबूद्वीवे णं दीवे कयरे नक्खत्ते) इत्यादि सुगमम् । नवरमभिजिघ्रक्षत्रं सर्वोच्च्यन्तरं नक्षत्रमण्डलमपेक्ष्य, एवं मूलादीन्यपि सर्ववाह्यादीनि वेदिन्ययानि । (ता चन्द्रविमाणे णमित्यादि) संस्थानविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह—(ता अद्धकपिठुगेत्यादि) अद्धकपिठुमुत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपिठं तस्येव यत् संस्थानं तेज्यः संस्थितमर्द्धकपिठसंस्थानसंस्थितम् । आह—यदि चन्द्रविमानमर्द्धमात्रकपिठ-फलसंस्थानसंस्थितं तत् उदयकाले अस्तमनकाले यदि वा तिर्यक्परिभ्रमत् पौर्णमास्यां कस्मात्तदुद्धकपिठफलाकारं नोपलभ्येत, कामं शिरस उपरि वर्तमानं वर्तुलमुपलभ्यते अद्धकपिठस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परजागादर्शनतो वर्तुलतया दृश्यमानत्वात् ? । उच्यते—इहार्द्धकपिठफलाकारं चन्द्रविमानं न सामस्येन प्रतिपत्तव्यम्, किंतु तस्य चन्द्रविमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रदेवस्य ज्योतिश्चक्राजस्य प्रासादः, तथा कथञ्चानापि व्यवस्थिता यथा पीठेन सह भूयान् वर्तुल आकारो जवति, स च दूरजावात् एकान्तरतः समवृत्ततया जनानां प्रतिभासते, ततो न कश्चिद् दोषः । नचैतत् स्वमनीषिकाया जृम्भितम् । यदेतदेव जिनजगणिक्-माश्रमणेन विशेषणवत्यामाकेपपुरस्सरमुत्तम-

“अद्धकविट्ठगारा, उदयऽधमगम्मि कहं न दीसंति ।

समिसूराण विमाणा, तिरियक्खेसच्छियाणं च ? ॥ १ ॥

उत्ताणऽरूक्खिष्ठा-गारं पीठं तदुवरि पासाओ ।

वट्ठा वेखेण तओ, समवट्ठं दूरभावाओ ” ॥ २ ॥

तथा सर्वं निरवशेषं स्फटिकमयं स्फटिकविशेषमणिमयं, तथा अभ्युक्ता आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा दीप्तिस्तथा सितं शुक्लमभ्युक्ता-च्युतप्रभासितं; तथा विविधा अनेकप्रकारा मणयश्चन्द्रकान्त्या-दयो रत्नानि कर्कतनादीनि तेषां भक्तयो विचित्रविशेषाः ताभिश्चित्रमनेकरूपवत्, आश्चर्यवद्वा विविधमणिरत्नचित्रम; तथा वातोद्धृता वायुकम्पिता विजयोऽभ्युदयस्तत्संमुखिका वैजय-न्यभिधाना याः पताकाः । अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, उवातिच्छत्राणि च उपर्युपरि स्थितानपत्राणि तैः कश्चित्, ततो वातोद्धृतविजयवैजयन्ती-पताकाच्छत्रातिच्छत्रकश्चित्, तुङ्गमुच्चम्, अत एव (गगनतन्मणु-विहंतं सिंहं) गगनतन्मणुवर्तमानमुल्लिखत्, अजिघ्रक्ष्यच्छिखरं यस्य तद् गगनतलानुलिखच्छिखरम् । तथा जालानि जात्रकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदनन्तरं विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्तद् जात्रान्तररत्नम्, सुत्रे चात्र प्रथमैकवचनलोपो छष्ट्यः । तथा पञ्चराष्ट्रमीक्षितमिव बहिष्कृतमिव पञ्चरोन्मीक्षितमिव । यथा हि किञ्च किमपि वस्तु पञ्चराद् वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टग्रायत्वात् शोभते, एवं तदपि विमानमिति भावः । तथा—मणिकनकानां

सम्बन्धिनः स्तूपिका शिखर यस्य तद् मणिकनकस्तूपिकाकम् ।
तथा विकसितानि शतानपत्राणि पुष्करिकाणि द्वारादौ प्रतिरु-
तिवेन स्थितानि निष्काश भित्तिदिपु चन्द्राणि रत्नमयाश्चा-
र्चचन्द्राप्रदिपु तैश्चैव त्रिकोणतम्, आतपत्रपुष्करिक-
निष्कार्चचन्द्रचित्रम् । तथा-अन्तर्यामिश्च शृङ्गं मसृण-
मिन्धयः । तथा-तपनायं सुवर्णविशेषस्त-मस्या बालुकायाः
सिकतायाः प्रस्तः प्रतरो यत्र तत्तथा ; तपनीयबालुका-
प्रस्ततया सुवर्णस्पर्शं शुभस्पर्शं वा । तथा सश्रीकाणि
सशोभानि रूपाणि नग्युग्मादीनि रूपाणि तत्र तत् सश्रीक-
रूपम् । प्रासादीयं मनःप्रसादेहेतुः । अत एव दर्शनीयं द्रष्टुं यो-
ग्यं, तद्दर्शनेन तृप्तिरसन्नवान् । तथा-प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं
यस्य तत्तथा । (एवं सुरविमले वीत्यादि) यथा चन्द्रविमान-
स्वरूपमुक्तमेव सूर्यादमान ताराविमानं च वक्तव्यं, प्रायः सर्वे-
षामपि ज्योतिर्विमानानामेकरूपत्वात् । तथा चोक्तं समवायाङ्गे-
" केवइया एं भवे ! जोइसियावासो पन्नत्ता ? गोयमा ! इमो-
से रयण्णभाप पुटवीए बहुसमरमणिज्जाओ तूमिन्नागाओ स-
त्तनउयाई जोयलसयाई उहुं उप्पट्ता दसुत्तजोयणम-
यवाडहे तिरियमसंखेजे जोइमविसए जोइसियाए देवाए
असंखेजे जोइसिया विमाणावासो पन्नत्ता ; नेणं जोइसि-
यविमाणावासो अणुगा पमुसियपहासिया विविहमाणिरय-
पन्नत्तिचित्ता ते येव जाव पासार्हया दुरिसणिज्जा एमिक्कावा" ।
चं प्र० १० पादु० न बाधा अबाधा । अनाक्रमणे, रा० । जी० ।
स्था० । औ० ॥

अवाहिरिय-अवाहिरिक-त्रि० । बहिर्भवः बाहिरिका । " अ-
ध्यात्मादिभ्य इकण्" । ६ । ३ । ७८ । इति हैमसूत्रेण इकण्प्रत्ययः ।
प्राकारबहिर्गतिर्नो गृहपरतिरित्यर्थः । न विद्यते बाहिरिका
यत्र तद्बाहिरिकम् । यस्य प्राकाराद् बहिर्गृहाणि न सन्ति
तस्मिन् स्थाने, वृ० १ उ० ॥

अवाह-त्रि० । ग्रामस्यात्यन्तमर्हभूतं, " अवाहिरए कण्णइ
हेमंतगिम्हासु मासं वत्थए" व्य० १ उ० ।

अवाहणिया-अवाधानिका-स्त्री० । अबाधया उक्तलक्षणया
ऊनिका अवाधानिका । न० ६ श० ३ उ० । अवाधाकालप-
रिहीनायाम्, " अवाहणिया कम्महिई पणत्ता" । जी० २ प्रति० ।

अविद्ध-अविद्ध-त्रि० । बेधगृहिते, व्य० ८ उ० । तं० ।

अविष्टकन-अविष्टकर्ण-पुं० । स्वनामख्याते तीर्थिकभेदे,
यदपि गजतुरगस्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिमित्तप्रतवः संख्याप्र-
त्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वाद्, वस्त्रचर्मकम्बवे नीलप्रत्य-
यवादिनि संख्याप्रसिद्धप्रत्यये अविष्टकर्णोक्तं प्रमाणम् । तदयु-
क्तम् । गजादिव्यतिरिक्तसंज्ञादिप्रभवत्वेनष्टत्वात् सिद्धसाध्य-
तादोषाप्रान्तत्वात् । मम्म० २ काण्डम् ।

अवीय-अद्वितीय-त्रि० । केनचिदपरेण सहावर्तमाने, यथादि
श्रुततद्वत्तुस्महरुया गज्ञां माई, मन्निपाइवीं त्रिजिस्त्रिभिः
शतैः वासुपुयः पदशत्या, जयाश्च सदद्येण सह प्रयजितास्तथा
भगवान्, न केनाप्यनोऽर्चितायः । कलर० ।

अवुद्ध-अवुद्ध-त्रि० । अविपदिचति, दश० २ अ० । अविवेकि-
नि, सूत्र० १ अ० ११ अ० ।

अवुद्धनिन्दा-

ने अवुद्धा महाभागा, वीगऽमम्पत्तदंमिणो ।

अमुच्छं तेसि परकंतं, सफळं होइ सव्वसो ॥ २२ ॥

ये केचनाऽबुद्धा धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुक्तकर्ता-
दिपरिज्ञानेन जातावलेपाः परिज्ञतमानिनोऽपि परमार्थवस्तुत-
त्त्वाववोधादबुद्धा इत्युक्तम् । नच व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण
सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति । तथा चोक्तम्-
" शास्त्रावगादपरिघट्टनतत्परोऽपि,

नैवाऽबुधः समजिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।

नानाप्रकाररसज्ञावगताऽपि दर्वी,

स्वादं रसस्य सुचिगादपि नैव वेत्ति" ॥ १ ॥

यदि वा अवुद्धा इव बलवीर्यवन्तः, तथा महान्तश्च ते
भागाश्च महाभागाः । भागशब्दः पूजावचनः । ततश्च म-
हापूज्या इत्यर्थः । लोकविश्रुता इति । तथा वीराः परानी-
कजैदिनः सुभटा इति । इदमुक्तं जवनि-परिज्ञता अपि त्या-
गादिजिगृणैर्लोकपूज्याः । अपि च-तथा सुभट्वादं वह-
न्तोऽपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन जवन्तीति दर्श-
यति-न सम्यग् असम्यक्, तज्ज्ञावोऽसम्यक्त्वम् । तद् द्रष्टुं
शीघ्रं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां य-
त्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यम-
स्तद्बुद्धमविशुद्धकारि, प्रयुत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वात्,
सनिज्ञानत्वाच्च, कुवैद्यचिकित्सावद्विपरीताऽनुबन्धाति । तच्च
तेषां पराक्रान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन वर्तते इति सफळम् । सर्वश
इति । सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवति
॥ २२ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । बोधाविषये, वाच० ।

अवुद्धजागरिया-अवुद्धजागरिका-स्त्री० । अवस्थज्ञानवतां
जागरिकायाम्, भ० । " अवुद्धा अवुद्धजागरियं जागरंति स्ति" ।
अवुद्धाः केवलज्ञानात्रावेन यथासंभवं ज्ञानज्ञानसद्भावाच्च बु-
द्धसदृशाः ते च, अवुद्धानां अवस्थज्ञानवतां या जागरिका सा
तथा तां जायति । न० १२ श० १ उ० ।

अवुद्धसिरी-देशी-मनोरथाधिकफलप्राप्तौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अवुद्धिअ-अवुद्धिक-त्रि० । तत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अधि० । अ-
ज्ञानिनि, प० च० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अवुद्ध-अवुद्ध-पुं० । विरोधे, अप्राशस्ये वा । न० त० । बु-
धभिन्ने मूर्खे, अल्पज्ञाने च । वाच० । अज्ञानाने, सूत्र० १ श्रु० २
अ० १ उ० । बाक्षिशे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । तत्त्वपरिज्ञान-
विकले, वृ० १ उ० ।

अवुद्धजण-अवुद्धजन-त्रि० । अवुद्धोऽविपश्चिज्जनः परिजनो य-
स्य स अवुद्धजनः । अकल्याणमित्रपरिजने, " विसयसुहेसु प-
सत्थं, अवुद्धजणकामरागपम्बद्धं" दश० २ अ० ॥

अवोह-अवोध-पुं० । न० त० । अनवगमे, ध० १ अधि० ।

अवोहत-अवोधयत्-त्रि० । अजागरयति, उक्त० २६ अ० ।

अवोहि-अवोधि-स्त्री० । न० त० । अवज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।
जिनधर्मानवासौ, औत्पण्यादिबुद्ध्याभावे च । भ० १ श० ६ उ० ।
मिथ्यात्वकार्ये ज्ञाने, " अवोधि (हिं) परियाणांमि बोहिं उव-
संपज्जामि" आच० ४ अ० ।

कस्याबोधित्वेति ? इति प्रश्नोत्तरमाह-

मिच्छादंसणरत्ता, सनिदाणा किएहलेममोगाढा ।

इह जे मरंति जीवा, तेसिं छलहा जवे बोही ॥

मिथ्यादर्शनं विपर्यस्तदर्शनं, मिथ्यात्वं तु मिथ्याक्रियाद्यभिलाष-
रूपं, तत्र रताः, तथा सह निदानेन देवत्वादिप्रार्थनारूपेण वर्तन्त
इति सनिदानाः । तथा कृष्णां सर्वाधर्मरूपां वेश्यां जीवपरिणाम-
रूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवंविधा ये जीवा
म्रियन्ते तेषां दुर्लभो भवेद् याधिः । आतु० ।

अबोहिकलुस-अबोधिकलुष-त्रि० । मिथ्यादृष्टौ, दश० ४ अ० ।

अबोहिवीय-अबोधिवीज-न० । अबोधेजन्मान्तरे जिनधर्मा-
प्राप्तौ बीजमिव बीजं हेतुरबोधिवीजम् । पञ्चा० ४ विव० । स-
म्यन्दर्शनान्नावहेतौ, पञ्चा० ७ विव० ।

अबोहिय-अबोधिक-न० । अर्थाज्ञा० अय्ययी० स० । मिथ्यात्व-
फलं (अज्ञानं), दश० ६ अ० । न विद्यते बोधिर्यस्य सोऽबो-
धिकः । बोधरहिते, “ निच्छयत्थं न जाणंति, मिद्वक्खु व्व अबो-
हिया ” सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ व० । अविद्यमानबोधिकं, औ०
अविद्यमानो बोधोऽस्मात् । जवान्तरा प्राप्तव्यजिनधर्मलाभाप्रति-
जागरेणो, “ अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ ” ।
स० ३० सम० ।

अबुय-अर्बुद-पुं० । स्वनामख्याते (आबू) पर्वते, ती० ।

नक्तथा चैवम-

अर्हेन्तौ प्रणिपत्याऽहं, श्रीमन्नाजेयनेमिनौ ।

महाछरवुंदाख्यस्य, कल्पं जलपामि वेशतः ॥ १ ॥

देव्याः श्रीमातुस्तपस्ति—मादौ वक्ष्ये यथाश्रुतम् ।

यदधिष्ठानतो ह्येष, प्रख्यातो ह्येव पर्यतः ॥ २ ॥

श्रीरत्नमावनगरे, राजाऽभूच्छतशेखरः ।

सोऽनपत्यतया दूनः, प्रैषीच्छाकुनिकान् बहिः ॥ ३ ॥

शिरस्थां काष्ठभारिण्या—स्तं दुर्गो दुर्गतस्त्रियाः ।

वीक्ष्य व्यजिज्ञपन् राजे, जाव्यस्यास्वत्पदे सुतः ॥ ४ ॥

राज्ञाऽऽदिष्टा सगर्भैव, सा हन्तुं तन्नरैर्निशि ।

गते क्षिप्ता कायचिन्ता—व्याजात् तस्माद् बहिरिरेत् ॥ ५ ॥

साऽसूत सुनुमत्याऽऽर्ता, छागु बभूवामन्तरेऽमुचत् ।

गते चाऽऽनीय तच्छृत्वा—नभिज्ञैस्तैरघानि सा ॥ ६ ॥

पुण्येरितार्भे स्तन्यं चा—पीप्यत् सन्ध्याद्वये मृगी ।

प्रवृद्धेऽस्मिष्टदृशाला—महालक्ष्याः पुरोऽन्यदा ॥ ७ ॥

मृगाश्चतुर्णां पादानां—मथो नूतनानाकम् ।

जातं श्रुत्वा शिशुरूपं, लोके वार्ता व्यजृम्भत ॥ ८ ॥

नव्यो नृपोऽनूत् कोऽपीति, श्रुत्वा प्रैर्षद् भटान् नृपः ।

तद्वधायाथ तं दृष्ट्वा, सायं ते पुरगोपुरे ॥ ९ ॥

बालहत्याजियाऽमुञ्चन्, गोयूथस्यायतः पथि ।

तत्तथैव स्थितं भाग्या—देकस्तूक्षा पुरोऽनवत् ॥ १० ॥

तत्प्रेर्य च चतुष्पादा—न्तराले तं शिशुं न्यधात् ।

तच्छ्रुत्वा मन्त्रिवाक्यात्, राजाऽमस्तौरसं मुदा ॥ ११ ॥

श्रीपुञ्जाख्यः क्रमात्सोऽनूद्, नृपस्तस्याऽभवत्सुता ।

श्रीमाता रूपसंपन्ना, केवलं स्रवगानना ॥ १२ ॥

तद्वैराग्यान्निविषया, जातु जातिस्मरा पितुः ।

न्यवेदयत् प्राग्भवं स्वं, यदाऽहं वानरी पुरा ॥ १३ ॥

संचरन्त्यर्बुदे शाखि—शाखां तालुनि केनचित् ।

विद्धा वृक्षाच्च रूपं मे, कुण्डेऽपनत् तरोरधः ॥ १४ ॥

तस्य कामिततीर्थस्य, माहात्म्याद् नृतनुमम ।

मस्तकं तु तथैवास्ते—ऽद्याप्यतः कापिमुख्यहम् ॥ १५ ॥

श्रीपुञ्जोऽन्तेपयच्छर्पि, कुण्डे प्रेष्य निजान् नगान् ।

ततः सा नृमुखी जङ्ग, तपस्वी चावुद् गिरौ ॥ १६ ॥

व्योमगाम्यदा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमोहितः ।

खड्गुत्तीर्यालपन् प्रेम्णा, मां कथं वृणुषे वृभे ? ॥ १७ ॥

सोऽचेऽत्यगादाययामो, रात्रेस्तावदतः परम् ।

ताम्रचूरुसुतादर्वाक्, कयाचिद्विद्यया यदि ॥ १८ ॥

शैलेऽत्र कुरुषे हयाः, पथा द्वादश तर्हि मे ।

वरः स्या इति चेदस्वै—द्वियाभ्याऽऽनीकरत्स ताः ॥ १९ ॥

स्वशक्त्या कुक्कुटारवे, कृतकं कारिते तथा ।

निषिक्तोऽपि विवाहाय, नास्थात्तत्कृतं विदन् ॥ २० ॥

सरित्तारेऽथ तं स्वस्त्रा, कृतवीवाहसंभृतिम् ।

सोऽचे त्रिशूलमुत्सृज्य, विवोदुं संनिधेहि मे ॥ २१ ॥

तथाकृतोपागतस्य, पादयोर्विकृतान् द्युतः ।

नियोऽय साऽस्य शूलेन, हृद्यस्त्रेण वधं व्यधात् ॥ २२ ॥

इत्याजन्माख्यरुशीला, जन्म नीत्वा स्वराप सा ।

श्रीपुञ्जः शिखरं तत्र, तत्प्रासादमर्चीकृत ॥ २३ ॥

परमासान्तेऽर्बुदाख्योऽस्या—ऽधोभागेऽच्छलत्यदिः ।

ततो चिकम्पस्तत्सर्वः, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

लौकिकास्त्वादुः—

नन्दिवर्धन इत्यासीत्, प्राक् शैलोऽयं हिमाद्रिजः ।

कालेनार्बुदनागाधि—ष्ठानात्तर्बुद् इत्यनूत् ॥ २५ ॥

वसन्ति द्वादश ग्रामाः, अस्यापरि धनोदधुराः ।

तपस्विनो गौगाधिकाः, राष्ट्रिकाश्च सदृशः ॥ २६ ॥

न स वृत्रो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम् ।

न स स्कन्धो न सा शाखा, या नैवात्र निरीक्ष्यते ॥ २७ ॥

प्रदीपवन्महौपध्या, जाज्वलन्त्यत्र रात्रिषु ।

सुरभीणि रसाख्यानि, वनानि विविधान्यपि ॥ २८ ॥

खच्छन्दोच्छदच्छोर्मि—स्तीरद्रुकुमुमान्विता ।

पिपासुतप्ताऽऽनन्दाऽत्र, ज्ञाति मन्दाकिनी धुनी ॥ २९ ॥

चकासत्यस्य शिखरा—ण्युत्क्षालानि महश्चशः ।

परिस्खलन्ति सूर्यस्य, येषु रथ्या अपि क्षणम् ॥ ३० ॥

चरमावीवज्रतैलेभ—कन्दायाः कन्दजातयः ।

दृश्यन्ते च प्रतिपदं, तत्तत्कार्यप्रसाधिकाः ॥ ३१ ॥

प्रदेशाः पेशलाः कुण्डे—स्तत्तदाश्चर्यकारिभिः ।

अस्य धातुखनीनिश्च, निर्जेरैश्चामृतादकैः ॥ ३२ ॥

काक्यिते कृते चाञ्चै—द्राक्कोक्यितकुण्डितः ।

प्राङ्मवति वाःपूरः, कुर्वन् खलह्वारचम् ॥ ३३ ॥

श्रीमाताऽच्छेध्वरस्य, वशिष्ठाश्रम एव च ।

अत्रापि लौकिकास्तीर्थाः, मन्दाकिन्यादयोऽपि च ॥ ३४ ॥

महाछेरस्य नेतारः, परमारनरेश्वराः ।

पुरी चन्द्रावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥

कलयन् विमवां बुद्धिं, विमवां दूरुनायकः ।

चैत्यमवर्षनस्थाधात्, पैत्तन्नप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥

आराध्याऽम्नां जगवतीं, पुत्रसंपदपस्पृहः ।

तीर्थस्थापनमन्यर्थ्य, चम्पकद्रुमसन्निधौ ॥ ३७ ॥

पुण्यस्रग्दामरुचिरं, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम् ।

तत्राप्रदीद् भुवं दण्डेन, श्रीमानुभयनान्तिके ॥ ३८ ॥ (युग्मम्)

राजानके श्रीधान्धूके, कृष्णं श्रीगुर्जेश्वरम् ।

प्रसाद्य भक्त्या तं चित्र—कूटादानाय तज्जिरा ॥ ३९ ॥

वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८, मितेऽब्दे भूरिरव्ययात् ।

सम्प्रासादं सुविमल-वसन्त्याङ्गं व्यधापयत् ॥ ४० ॥
 यात्रोपनम्रसंघम्या-निग्राविघ्नाविघातनम् ।
 कुर्वतेऽन्नाम्बिका देवी, पृजिता बहुनिर्विघ्नैः ॥ ४१ ॥
 युगादिद्वन्द्वेतिव्यस्य, पुरस्ताद्वा न्नाश्मनः ।
 एकरात्रेण घटितः, शिल्पिना तुरगोत्तमः ॥ ४२ ॥
 विक्रमे वसुवन्वक्तुं १२८०, मितेऽप्ये नेमिमन्दिमम् ।
 निर्ममे लृणितवन्त्याङ्गं सचिवे-धुना ॥ ४३ ॥
 कथोपलमयं विन्तः, श्रीजःपालमन्त्रिगद् ।
 तत्र न्यास्यत स्तनजनीये, निष्पन्नं दकुसुमाऽञ्जनम् ॥ ४४ ॥
 मूर्तिः स्वपूर्ववस्थानां, हस्तिशालं च तत्र सः ।
 न्यवीविशद्विशां पत्युः, श्रीसेमस्य निदेशतः ॥ ४५ ॥
 अहो ! शोभनदेवस्य, मृत्रधारशिरोमणः ।
 तस्मैरचनानिन्त्या-जम स्नेने यथार्थनाम् ॥ ४६ ॥
 वज्रतुवातः समुज्ज्वल, मैनाकोऽस्यानुजो गिरेः ।
 समुज्ज्वलतोऽन्वनेन, दण्डेन मन्त्रीश्वरो भवान् ॥ ४७ ॥
 तीर्थद्वयेऽपि नग्रेऽस्मिन्, दैवान् मूर्च्छैः प्रचक्रतः ।
 अस्याङ्गारं द्वौ शकाब्दे, वह्निवेदार्कसम्मिमे १२४३ ॥ ४८ ॥
 तत्राद्यतीर्थस्योत्तरी, लल्लो महर्णसिदभूः ।
 पीथमस्त्विनरस्याभूदुत्तरी, चण्डसिदभूः ॥ ४९ ॥
 कुमारपालभूपाल-इवौलुक्ककुलचन्द्रमाः ।
 श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीमपन् ॥ ५० ॥
 तत्तत्कौतुहलार्कणं, तत्तद्दोषविबन्धुरम् ।
 धन्याः पश्यन्त्यवुदादि, नैकर्तार्थपवित्रितम् ॥ ५१ ॥
 हन्तः श्रेष्ठसुधाकल्पः, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ।
 भ्रामरवुदकलपोऽयं, चतुरैः परिवीयताम् ॥ ५२ ॥
 इति श्रीभ्रवुदचक्रकल्पः समाप्तः ॥ ती० ८ कल्पः ।

अध्या-अध्या-न०। अथो विमर्तति अञ्जम् । मेघे, रा० । अपभ्रं-
 शे-“ लिङ्गमन्त्रम् ” ॥ ८ । ४ । ४४५ ॥ इति सूत्रेण पुंस्त्वम् ।
 “अध्या लग्ना भोगगिर्हि, पहिउ रडंतउ जाइ । जो एहा गिरि-
 गिरण-मण्ड, सो कि धणहि धणाइ” ॥१॥ प्रा० ४ पाद । अभ्राणि
 मन्त्रास्मिन्नियमम् । ‘अभ्रादिभ्यः’ । ७२ ४६ इति हैमसूत्रेण म-
 न्त्रार्थोऽप्रत्ययः । आकाशे, “ अन्नवदलए विउव्वइ ” । अन्ने
 यानि वार्दलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकाशे मेघान् विकुर्वन्ती-
 त्यर्थः । रा० । स्वा० । आ० म० ।

अन्तंग-अन्यङ्ग-पुं० । अग्नि-अञ्ज-भावे यञ् ; कुन्वम् ।
 स्तोकेन तैत्तिरीया मर्दने, एकवारं तैत्तिरीयमर्दने च । नि०चू०३३० ।

अन्तंगण-अन्यञ्जन-न० । घृतवशादिना (प्रश्न० ४ सम्ब०
 डा०) सहस्रपाकतैलादितिर्वा (आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०)
 प्रक्षेपः, कल्प० ३ कृष्ण । स्वा० । नि०चू० । आ० म० । वृ० । प्रव० ।

साधूनामन्यञ्जनं न कार्यम्—

नो कल्पे निगंयाण वा निगंयीण वा परिवासिण
 तेष्ट्रेण वा घण्ण वा नवणीण वा वमाण वा गत्तं अन्नं-
 गित्तण वा पक्खित्तण वा नन्नन्थ आगादेहिं रोगायकेहिं ।

अस्य सम्बन्धमाह—

ममिणेहो अमिणेहो, दिज्जइ पक्खित्तु वा तगं दिति ।
 सन्नो वि वणो झिप्पइ, दुहा उ वा पक्खणा भूया ॥

आलेपः स्नेहोऽस्नेहो वा दीयते, ततो यथा स्नेहेन प्रकृतं क्रियते,
 नवा, तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वा-घणं प्रकृत्वा तत्कमन्तरमृशोक्त
 मक्षेपं प्रयच्छन्तिः न वा सर्वोऽपि घण आत्रेप्यते । द्विधा वा प्रक्षे-
 णा भूयातः कृतो घणोऽपि भ्रद्यते, आत्रेपोऽपि प्रकृतं दीयत इति
 ज्ञातः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते परिवा-
 सेन वा तैत्तिरेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रमन्य-
 क्तितुं वा, बहुत्रेन तैलादिना प्रकृतं वा स्त्रलेपेन तैलादिना, नान्यत्र
 गाढगाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः, तामुक्त्या न कल्पते इत्यर्थः । दोषाश्चात्र
 त एव संख्यादयो मन्त्रव्याः ।

आह-यद्येवं परिवासितेन न कल्पते प्रकृतं, ततस्तद्विषयानी-
 तेन कल्पिष्यते ।

सुरिराह—

तद्विषयमकवणम्पी, लहुआं मासो उ होइ बोधवो ।

आणायणा विराहण, धूलि सरस्खो य तसपाणा ॥

तद्विषयानीतेनापि यदि प्रकृतं तदा लघुमासः, आश्वादयश्च
 दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-प्रकृतं गात्रं
 धूलिर्द्विगतिः सरजस्को वा सचित्तरजोरूपो वा तेनोक्तो लग-
 ति, तेन चीवराणि मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने संयमविराधना,
 स्नेहगन्धेन वा ये त्रसप्राणिनो द्रवन्ति तेषां विराधना भवेत् ।

धुवणाधुवणे दोमा, निसि भत्तं उप्पिन्नावणं चव ।

चउसत्त स मइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पल्लिमथो ॥

स्नेहेन मलिनीकृतानां चीवराणां गात्राणां च धावनाधावनयो-
 रभयोरपि दोषाः । तथाहि-यदि न धाव्यन्ते तदा निशि भक्तम्,
 अथ धाव्यन्ते ततः प्राणिनामुन्मूल्यना भवेत् । उपकरण-
 शरीरयोर्वा कृशत्वं च जवति । (स मइ त्ति)स एव हेवाको ल-
 गति, प्रकृतं च गात्रपादयोर्मा धूत्री लगिष्यति इति कृत्वा तद्वि-
 काऽपि नहति, तत्र गर्भो निर्मादिवत्त्यादयो दोषाः । यावत्स्व-
 गात्रस्योद्धर्तनादिकं करोति तावत्सूत्रार्थपरिमन्थो भवति ।

तद्विषयमकवणेण उ, दिट्ठा दोसा जहा उ पक्खिज्जा ।

अद्धाणेण्वाए-ऽपवाए अरुक्खंजयणाओ ॥

तद्विषयप्रक्षेपेन जनिता एते दोषा दृष्टाः । द्वितीयपदे यथा
 प्रक्षेपेत् तथाऽभिधीयते-अध्वगमेनेनाभारोद्धान्तः, परिश्रान्तो वा,
 तेन वा कटी गृहीता, अरुव्रणं तद्धाररोपे जातं कच्चूः पामा,
 तथा वा कोऽपि गृहीतस्ततो यतनया प्रक्षेपेदपि ।

तामेवाह—

सन्नार्इकयकजो, धुवितं पक्खेउ अत्यए अंते ।

परिपीय गोमयाइ-उव्वट्टणा धोवणे जयणा ।

संज्ञा गमनम्, आदिशब्दादागमनादिकं च कायकृते कृतकार्यो, न
 संसृष्टादकृतकार्यः, सर्वाणि बहिर्गमनकार्याणि समाप्येत्यर्थः ।
 स यावन्मात्रं प्रक्षेपणीयं तावन्मात्रमेव धावित्वा प्रकाट्य ततो
 प्रक्षेपयति, प्रक्षेपित्वा च प्रतिश्रयस्यान्तस्तावदास्ते यावत्तेन
 गात्रेण तत् तैलादिकप्रक्षेपणं परिपीतं भवति । ततो गोमया-
 दिना तस्योद्धर्तनं कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावना न भव-
 ति तथा धावनं कार्यम् ।

जइ कारण तद्विषयं, तु कप्पइ तइ जवेज्ज इयरं पि ।

आयरियवाहि वसभे-हिं पुच्छिए वेज्ज संदेसो ॥

यथा कारणे तद्विषयानीतं प्रक्षेपं कल्पते, तथेतरदपि परिवा-

सितं घृणं कारणे कल्पते । कथमिति चेत् ? अत आह—आचार्यस्य कोऽपि व्याधिरुपपन्नस्ततो वृषभैः वैद्यः पूर्वोक्तविधिना प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो दत्तो भवेत्, यथा—शतपाकादीनि तैलानि यदि भवन्ति ततः चिकित्सा क्रियते ।

ततः किं कर्तव्यम् ? इत्याह—

सयपाग सहस्सं वा, सयमाहस्सं व हंसमरुतेद्धं ।

दूरा उ णीय असई, परिवसिज्जा जयं धीरे ॥

शतपाकं नाम तैलं तपुच्यते—यदौषधानां शतेन पच्यते । यद्वा—एकेनाप्यौषधेन शतवारं पक्व परिवसयेत् । एवं सहस्रपाकं शतसहस्रपाकं च मन्तव्यम् । हंसपाकं नागहंसेन औषधसमारम्भवृत्तेन यदेतत्तैलं पच्यते । मरुतैलं मरुदेशे पर्वतादुत्पद्यते । एवंविधानि दुर्लभद्रव्याणि प्रथमं तद्वैवासिकानि मार्गणीयानि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या चतुर्गुणप्राप्ता दूरादप्यानीय धीरो गीतार्थो यतनया अल्पसागारिके स्थाने अन्वहं चीरेण वेष्टयित्वा परिवसयेत् ।

इदमेव सुव्यक्तमाह—

एयाणि मक्खणट्ठा, पाणट्ठा पन्निदिणं ए लंभेज्जा ।

पणहाणीए जइउं, चउगुरु पत्तो अदोसोउ ॥

एतानि शतपाकादीनि घृणार्थं पानार्थं वा प्रतिदिनं यदि न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुणकं, यदा प्राप्तो भवति तदा परिवसयन्नप्यदोषो न प्रायश्चित्तभाक् । वृ० ५ उ० । सूत्र० ॥ “सेसे परो कायं तेह्णेण वा घणण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे ” आचा० २ श्रु० १३ अ० । “ जे भिक्खू अंगादाणं तेह्णेण वा घणण वा ण-घणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अब्भंगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ” नि० चू० १ उ० । (‘ अंगादाण ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४० पृष्ठे व्याख्यातमेतत्) “ अब्भंगणं विहिपरिमाणं करइ ” उपा० १ अ० । (‘ आणंद ’ शब्दे द्वितीय-भागे १०९ पृष्ठे दर्शयिष्यते सूत्रम्)

अब्भंगिएल्लय-अज्यङ्गित-त्रि० । स्नेहाभ्यक्तशरीरे, वृ० १ उ० । पि० । आ० म० । ओघ० ।

अब्भंगि (गे) ता-अज्यज्य-अव्य० । तैलादिना अन्यङ्गं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ गा० १ उ० । आचा० ।

अब्भंगिय-अज्यङ्गित-त्रि० । स्नेहेन मर्दिते, पि० ।

अब्भं (ङिज) तर-अज्यन्तर-त्रि० । पुष्पकलत्रादिवत् प्रत्यासन्ने, स्था० ८ गा० ।

आभ्यन्तर-त्रि० । अभ्यन्तरे भवमाभ्यन्तरम् । मध्यस्थे, स्था० २ गा० १ उ० । पि० । विपा० । ज्ञा० । अभ्यन्तरभागवर्तिनि, रा० । जी० । “ सव्वब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमिस्सा चारं चरइ ” जं० ७ वत्त० ।

अब्भं (ङिभ) तरओसचित्तकम्म-अज्यन्तरतःसचित्र-कर्मन्-त्रि० । मध्ये चित्रकर्मरमणीये, कर्म० २ कर्म० । कल्प० ।

अब्भं (ङिभ) तरकरण-अज्यन्तरकरण-न० । भावसंग्रह-भेदे, व्य० ७ तच्च-अभ्यन्तरकरणं नाम द्वयोः साध्वोर्गच्छमेढोभूत-योरभ्यन्तरे कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुल्लपतोस्तृतीयस्थो-

पशुश्रूयोर्वहिकरणं, अथवाऽपदिष्टः सन्नभ्यन्तरे गत्वा तद् ग-च्छादिप्रयोजनं वृत्ते, एतदभ्यन्तरकरणम् । यदि वा तेन सह ये बाह्यभावं मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्त्तयति यथा तं तेजस्विन-मभिमन्यन्ते, एतदभ्यन्तरकरणम् (व्य०) ।

पूयण जहा गुरूणं, अब्भंतर दोएहमुद्धवंताणं ।

तइयं कुणती वहिया, वेइ गुरूणं च तं पिछो ॥

पूजनं यथाकमं गुरूणामभ्यन्तरकरणं यदभ्यन्तरे द्वयोरुल्लपतो-स्तृतीयमुपश्रूयं वहिः करोति, यदि वा तद् गच्छादिप्रयोजनं पृष्टः सन्नभ्यन्तरं गत्वा गुरूणं वृत्ते कथयति । व्य० ३ उ० ।

अब्भं (ङिज) तरग-आज्यन्तरक-पुं० । आसन्नमन्त्रिप्रभृतौ, विपा० १ श्रु० ३ अ० । स्था० ।

अब्भं (ङिज) तरगाणिज्ज-अज्यन्तरस्थानीय-पुं० । आ-भ्यन्तरनामसु प्रेष्यपुरुषेषु, “ अभिभतरछाणिज्जे पुरिसे सहा-वेइ ” ज्ञा० १३ अ० ।

अब्भं (ङिज) तरतव-अज्यन्तरतपस्-न० । अभ्यन्तरमन्त-रस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमान-त्वाच्च, तच्च तत्तपश्चेति अभ्यन्तरतपः । औ० । तौकिकैरनभिन्न-इत्यत्वात् तन्त्रान्तरीयैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वात् मो-क्षप्राप्त्यन्तररूपाच्चाज्यन्तरमिति । स्था० ६ गा० । स० । पं० व० । पञ्चा० । ग० । भ० । वत्त० । अभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य कामेणवृत्तस्य तापकत्वादज्यन्तरतपः । प्रश्न० ५ सम्प्र० द्वा० । प्रायश्चित्तादौ तपोभेदे, औ० । “ प्रायश्चित्तं ध्यानं, वैद्यावृत्तं विनयमथोत्सर्गः । स्वाध्याय इति तपः पद-प्रकारमाभ्यन्तरं जवति ” ॥ १ ॥ ध० १ अधि० । ग० । उत्त० । “ ऊविह्वे अब्भं-तरिए तवे पन्नत्ते । तं जहा-पायच्चित्तं विणओ वेप्पावच्चं स-ज्झाओ भाणं वि उस्सग्गो ” स्था० ६ गा० ।

अब्भं (ङिभ) तरतो-अज्यन्तरतपस्-अव्य० । सत्सम्यर्थे त-सिद्धि । अभ्यन्तरे मध्ये इत्यर्थे, “ सत्तएहं पयमीणं, अभिभतर-तो उ कोमिकोडीए ” । आ० म० प्र० ।

अब्भं (ङिज) तरदेवसिय-अज्यन्तरदैवसिक्क-न० । दिव-साभ्यन्तरसम्भवेऽतिचारे, “ अञ्जुत्तिओमि अब्भं-तरदेवसियं वा खामेउं ” इति । ध० २ अधि० ।

अब्भं (ङिभ) तरपरिस-अज्यन्तरपरिषत्-पुं० । स्त्री० । व-यस्यमण्डलीस्थानीयायां परममित्रसदृश्यां समित्यपरनामि-कायां देवेन्द्राणां पर्यदि, रा० । स्था० ।

अब्भं (ङिज) तरपाणीय-अज्यन्तरपानीय-त्रि० । अभ्यन्तरे पानीयं यस्य स तथा । मध्यस्थजलयुक्ते चौरपटस्यादावर्थे, ज्ञा० १८ अ० ।

अब्भं (ङिज) तरपुक्खरु-अज्यन्तरपुष्करार्क-न० । मा-नुषोत्तरपर्वतादवाग्नवे पुष्करवर्द्धीपस्यार्के, जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । (नामनिरुक्त्यादि ‘पुष्करवर्द्धीव’ शब्दे व्याख्यास्यते)

अब्भं (ङिज) तरपुष्पफल-अज्यन्तरपुष्पफल-त्रि० । अ-भ्यन्तराणि अभ्यन्तरजागवर्त्तिनि पुष्पाणि च फलानि च पु-ष्पफलानि येषाम् । पत्रावृत्तत्वाद् बहिरदृश्यपुष्पफलके वृत्ते, रा० ।

अब्भं (ङिज) तरबाहरिय-अज्यन्तरबाहिरिक-त्रि० । सहा-

अभ्यन्तरेण तन्मध्यभागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागो यत्र त-
त्था । नगरमध्ये बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।
अवन्तं (विन्) तन्मध्य- आभ्यन्तरक-पुं० । राजानमतिप्रत्या-
नक्षभाभ्यावन्नगति, व्य० १ उ० ।

अवन्तं (विन्) तन्मध्य-अभ्यन्तरलब्धि-स्त्री० । अभ्यन्त-
रगवधेः प्राप्नो, तथाचोक्तं चूर्णौ-“ तस्य अभ्यन्तरलब्धि नाम
जाय से विष्मन् ओहिनाणं समुपपन्नं ततो ठाणाओ आ-
गन्तं सो ओहिनाणी निगतरमंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं
वा खित्तओ ओहिना जाणं पासइ एम अभ्यन्तरलब्धि ति ”
विशे० । “ अभ्यन्तरलब्धि मा, जस्य पदेवपनं व सवत्तो । सं-
खेज्जोहिनाणं, अग्निवरसोऽवहीनाणी ” ॥७५३॥ विशे० ।

अवन्तं (विन्) तन्मध्य-अभ्यन्तरशम्भूक-स्त्री० । अभ्यन्त-
रगद् मध्यभागान् शङ्खवृत्तगत्या जिह्ममाणस्य बहिर्निस्सरणे
भवन्त्यां गोचरजुमौ, ध० ३ अधि० । यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छ-
ङ्खवृत्तगत्याऽऽत्तं क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरशम्भूक ।
स्था० ६ उ० ।

अवन्तं (विन्) तन्मध्य-अभ्यन्तरशकटोष्णिका-स्त्री० ।
अद्भुष्टौ मीलयित्वा विस्तार्य पाष्णीं तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे,
एष भणिताऽभ्यन्तरशकटोष्णिकादोष इति । कायोत्सर्गस्यो-
ष्णिकादोषनेदे, प्रव० ४ उ० । आव० ।

अवन्तं (विन्) तन्मध्य-अभ्यन्तरगवधि-पुं० । अवधिभेदे, अयं
अभ्यन्तरगवधिः प्रदं प्रभापटवदवधिमतो जघेन सद सर्व-
तो नैरन्तर्येण सम्बद्धोऽखण्डो देशरहित एकस्वरूपोऽत एवा-
यं सम्बन्धविधेर्देशावधिश्चाच्यते । विशे० ।

अवन्तं (विन्) तन्मध्य-अभ्यन्तरिकी-स्त्री० । अभ्यन्तरभाग-
वर्तिन्यां जवतिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

अवन्तकवज्ज-अभ्याख्यातव्य-त्रि० । (अभ्याख्यानदाप्ये,)
अभ्याख्यानं नामाऽमदभियोगः, यथा चौरं चौरमित्याह । आचा०
१ भु० १ अ० ३ उ० ।

अवन्तकवज्ज-देशी-अकीर्तौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अवन्तकवज्ज-अभ्याख्यान-न० । आभिमुख्येन आख्यानं दो-
षाविष्करणमन्याख्यानम् । ज्ञ० ५ श० ६ उ० । औ० । प्रक-
टमसदोषारोपणं, प्रज्ञा० २२ पद । प्रश्न० । आव० । अस-
दृष्टपणाभिधानं, प्रश्न०२ आश्र० ८० । अभिन्यसने, असदृष्टा-
रोपणे च । आव० ४ अ० । परस्याभिमुखं दृष्टव्यवचने, प्रश्न०२
आश्र० ८० । प्रव० । असदभियोगे, यथा चौरं चौरमित्याह ।
आचा० १ भु० १ अ० ३ उ० । औ० । सूत्र० । “ एगे अन्न-
स्यापे ” स्था० १ उ० १ उ० ।

अधिकरत्नाधिकमवमरत्नाधिकोऽभ्याख्याति-

दो माद्वग्मिया एगतो विद्वरन्ति, तेहि एगे तस्य अण्यरं
अकिञ्चदणं परिमेविता आलोडज्जा-अह णं भंते !
अमुणं माद्वणा मच्चिं ईपयम्मि कारणाम्म मेहुणप-
रिमेवी । पच्चयेदं च मयं परिमेविणं जणन्ति । तस्य
पुच्छियच्च-किं परिमेवी ?, अपरिमेवी ? । से य वएज्जा-

परिमेवी परिहारपत्ते । से य वएज्जा-णो परिमेवी, णो
परिहारपत्ते । जे से पमाणं वदति से य पमाणाउ धेतव्वं
मिया । मे किमाहु भंते !, सच्चपडणा ववहारा ॥ २२ ॥

द्वौ साधर्मिकौ सांभोगिकौ, एकत एकेन संघाटकेन विहरतः, तत्र
तयोर्द्वयोर्मध्ये एक इतरस्याभ्याख्यानप्रदाननिमित्तमन्यतरद्
'अवियत्तं' अभ्युपगच्छति, न परस्यैव केवलस्याभ्याख्यानं
ददाति, तत आह- (पच्चयेदं चेत्थादि) परेषामाचार्याणां-
मन्येषां च साधूनामेव संवदति, अन्यथा को नामात्मानं प्रति से-
वितमभिमन्यत इति प्रत्ययो विश्वासः स्यादिति हेतोः स्वयमपि
च प्रतिसेवितमिति भणति । एवमुक्तो यस्याभ्याख्यानमर्दाय
स प्रष्टव्यः-किं वा जवान् प्रतिसेवी, न वा ? । तत्र यदि स
वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारतपोभाक् क्रियते, उपलक्ष-
णमेतत् । छेदादिप्रायश्चित्तभागपि क्रियते इति द्रष्टव्यः । अथ स
वदेत्-नाहं प्रतिसेवी; तर्हि परिहारः प्राप्तः स्यात् । न परिहार-
तपःप्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भावः । स च प्रतिसेवी
वा यदभ्याख्यानदाता “ से ” तस्य प्रतिसेवनयां प्रमाणं चर-
कादि वक्ति; तस्मात्प्रमाणाद् गृहीतव्यो निश्चेतव्यः सः । अथ किं
कस्मात्कारणादेवमाहुर्जवन्तः ? हे जवन्त ! सूरिराह-सत्यप्रति-
ज्ञव्यवहारास्तीर्थकरैर्देशितास्ततो न यथाकर्थाश्च प्रतिसेवी
अप्रतिसेवी वा क्रियते । एष सूत्राकार्थः ।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र भिक्षाचर्याविचारचुमि-
गमनविहारादिषु यो रत्नाधिकतरः कुतश्चिद्दोषादवमो जातः
स तमवमरत्नाधिकं यैः कारणैरभ्याख्यानं दूषयति तानि
प्रतिपादयिषुराह-

रयणाहियवायएणं, खलियमिद्वियपेह्वणाए उदएणं ।

देव उह मेहुणम्मि य, अवन्तकवज्जं कुमंगम्मि ॥

रत्नाधिकवातेन रत्नाधिकोऽहमिति गर्वेण अवमरत्नाधिकं द-
शविधचक्रवात्रसामाचार्यामस्खलितमपि कपायोदयेन तर्जय-
ति । यथा-हे दुष्ट ! शैक्ष ! स्खलितोऽसीति । तथा पर्यापथिकीं
प्रतिक्रम्य प्रथममेव परावर्तयन्तं, यदि वा अग्रिमतरपदं पदेनं
विच्छिन्ने सूत्रमुच्चारयन्तं हा दुष्ट ! शैक्ष ! मिश्रितमुच्चारय-
सीति तर्जयति । तथा (पेल्लणं सिं) अन्यैः साधुभिर्वार्यमा-
णोऽपि कपायोदयतः स्वहस्तेन प्रेरयति तर्जयति । ततः सो-
ऽवमरत्नाधिकः कपायितः सन् चिन्तयति-एष रत्नाधिक-
वानेनेत्थं बहुजनसमक्षं तर्जयति, अथवैष सामाचारी, रत्ना-
धिकस्य सर्वं क्लृप्तमिति, ततस्तथा करोमि यथैष मम
वधुको भवति । एवं चिन्तयित्वा तौ द्वावपि भिक्षाचर्यायै ग-
तौ, तत्र च तृषितौ बुद्धाक्षितौ चेत्येवं चिन्तितवन्तौ-अस्मिन्नार्या-
देवकुले वृक्षविषमं वा प्रथमाद्विकां कृत्वा पानीयं पास्याम इति,
एवं चिन्तयित्वा तौ तदभिमुखं प्रस्थितौ, अत्रान्तरे अवमरत्ना-
धिकः परिव्राजिकामेकां तदभिमुखं गच्छन्तीं दृष्ट्वा स्थितः,
उपलब्ध एष इदानीमिति चिन्तयित्वा तं रत्नाधिकं वदति-अ-
हो ! अद्य ज्येष्ठार्थ ! कुरु त्वं प्रथमाद्विकां, पानीयं वा पिब, अहं
पुनः संज्ञां व्युत्पृक्ष्यामि, एवमुक्त्वा त्वरितं मैथुने अभ्याख्यानं
दातुं वसतावागत्यालोचयति ।

तथा दर्शयति-

जेह्ज्जं अकज्जं, सज्जं अज्जाधरे कयं अज्जं ।

उवन्तीवितोऽस्य जंते !, मए वि संसङ्कणो व्व ॥

ज्येष्ठार्येणाथ सद्य इदानीमार्यागृहे कृतमकार्यं मैथुनाग्निसे-
वावकणं, ततो भद्रन्त । तत्संसर्गतो मयाऽपि संसृष्टकल्पो मै-
थुनप्रतिसेवा, अत्रास्मिन्प्रस्तावे उपजीवितः ॥

अहवा उच्चारगतो, कुर्मगमाईकमिद्वदेसम्मि ।

वेती कयं अकजं, जेठुज्जेणं सह मए वि ॥

अथवेत्यभ्याख्यानस्य प्रकारान्तरप्रदर्शने । कुरुङ्गादौ कदिल्लदे-
शे गहनप्रदेशे उच्चाराय गतस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कु-
तमकार्यमिति । तस्माद् व्रतानि मम साम्प्रतमारोपयत ।

एवमुक्ते सुरिजिः स एवं वक्तव्यः—

तम्मागते वयाइं, दाहामो दैति वाऽऽउरंतस्स ।

जृयत्ये पुण नाए, अलियनिमित्तं न मूळं तु ॥

योऽसौ त्वया अभ्याख्यातः स यदा भागतो भविष्यति तदा
तस्मिन्नागते व्रतानि दास्यामः । अयं स त्वरमाणो द्यूते-भग-
वन् ! कुशाग्रस्थितयाताहतजलबिन्दुरिवातिचञ्चलं जीवितमि-
ति न शक्यते क्षणमात्रमप्यवनेन स्थातुम्, इत्यधुनैव ममारोप्यतां
व्रतादीनीति । तस्यैव त्वरमाणस्य ददति व्रतानि, याशब्दो
विकल्पार्थः । तत्र पुनर्ज्ञातार्थो गवेषणीयः, किमयं सत्यं द्यूते,
उतात्रीकम् ? तत्र यथा ज्ञातार्थो गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव व-
द्भ्यते । ज्ञातार्थं च ज्ञाते यदि सत्यं, तदा द्वयोरपि मूळं दीयते ।
अथालीकम्, ततो योऽभ्याख्यातः स शुद्धः, इतरस्य त्वभ्या-
ख्यातुर्मूळं न दीयते, किन्त्वलीकनिमित्तं मृषावादप्रत्ययं चतु-
र्गुणकं प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति यथा ज्ञातार्थो ज्ञायते तथा प्रतिपिपाद-

यिषुर्द्वारगाथामाह—

चरियापुच्छणपेमण, कावाञ्जिय तवसंघो य जं जणइ ।

चउजंग निरिक्खा देवया य तहियं विही एसो ॥

तत्र ज्ञातार्थं ज्ञातव्ये एष विधिः—चरिका परित्राजिका, तस्याः
प्रच्छनाय वृषभाणां प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मन्यते ततस्तौ
द्वावपि पृथगाश्वे प्रेक्ष्य तत्र वृषभाः ततस्वरूपगवेषणाय का-
पाक्षिकरूपेण प्रेष्यन्ते । कापाक्षिकग्रहणमुपलक्षणम्, तेन सरज-
स्कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम् । एवमपि ज्ञातार्थानिर्णये (तवो
त्ति) तपः स्वकायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छति । एतस्यापि
प्रकारस्याज्ञावे संघो मेलयित्वा प्रच्छनीयः, तेन च निरीक्षिणो
निरीक्षकानधिकृत्य चतुर्भङ्गी-केचित्तथाज्ञातं तथाज्ञावेन पश्य-
न्तीत्यादिरूपा वक्ष्यमाणा प्ररूप्यते । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वा-
त् । सा च चतुर्भङ्गी जद्रप्रान्तदेवता आधित्य संभवति । एष
द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विचरीषुराह—

आलोइयम्मि तिउणो, कजं से सीसए तयं सव्वं ।

परिसिद्धिम्मि य इयरो, भणाइ वीयं पि ने नत्थि ॥

अभ्याख्यातः साधुरागतः सन् आलोचयति—प्रथमाश्रिकां या-
वन्न जानामि द्वितीयः संघाटकः कापि गत इति केवल्योऽहमा-
गतोऽस्मि । तत आचार्यां ध्रुवते-सम्यगालोचय । ततः स स्मृ-
त्वा आलोचयति, यावत्तस्मिन्नापि तृतीये वारे तदालोचितम् ।
ततस्त्रिगुणं विःकृत्य आलोचिते यदि न प्रतिसेवितमित्यात्रोचय-
ति, ततो येन कारणेन त्रीन् वारान् आलोचायितस्तत्कार्यं कारणं
सर्वं तस्य शिष्येन कथ्यते, यथा-स एष तत्र संघाटकस्त्वया सह
१७३

किञ्चिन्मात्रं हि परिगृह्य समागतो द्यूते-ज्येष्ठार्येण आर्यागृहे वृत्त-
विषये च कचित्प्रदेशे कृतमकार्यम्, तत्संसर्गतो मयाऽपि सं-
सृष्टकल्प उपजीवित इति । ततोऽभ्याख्यातसाधुर्वदति-
न मया प्रतिसेवितम् । एवं तेन प्रतिपिष्टे प्रतिसेवेन इतराभ्या-
ख्यानप्रदाता भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! तव द्वितीयमपि व्रतं
नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिशब्दार्थः ।

दोहं पि अणुमण्णं, चरिया वसहे पुच्छियपमाणं ।

अन्नत्य वसह तुम्हे, जा कुणिमो देव उस्सगं ॥

एवं द्वयोरपि विवदतोरैवमुच्यते—चरिका पृच्छयतां यत्सा
वक्ष्यति तत्प्रमाणयिष्यते । एवमुक्ते यदि तौ द्वावप्यनुमन्येते,
ततो द्वयोरनुमतेन, संमत्या इत्यर्थः । वृषभाश्चरिकां प्रष्टुं प्रेष्य-
न्ते, ते च तत्र गताः प्रथमतश्चरिकां प्रश्नापयन्ति, प्रश्नाप्य पृच्छ-
न्ति—किमत्र सत्यम्, अलीकं वा ? एवं वृषभैश्चरिका पृष्टा सती
यद् द्यूते तत्प्रमाणं कर्तव्यम् । तत्र चरिकायौक्तम्-भगवन् ! अभ्य-
ख्यानं तेन द्वितीयेन तस्मै दत्तमिति । एतच्चोक्तं वृषभा वस-
तावागत्य गुरवे निवेद्यन्ति । यथायस्थिते निवेदिते यद्यन्य-
तरो वदति—गूढयति चरिका न सम्यक्कथयति । तदा गुरवो
द्वावपि ध्रुवते यूयमन्यत्र वसति याचयित्वा तत्र वसथ, या-
वदद्य रात्रौ देवताराधनार्थं कायोत्सर्गं कुर्मः । किमुक्तं प्रव-
ति ?—कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छामः—कोऽत्र सत्य-
वादी, को वाऽलीकवादी ? इति ।

एवमुक्ते तौ द्वावपि वसत्यन्तरे गते यद्

भवति तदभिधित्तुराह—

अधिगमादी वसभा, पुव्वि पच्छा वजंति निसि मुण्णा ।

आवस्सग आउट्ठण, सवभावे वा असवभावे ॥

अस्थिकाः कापालिकाः, आदिशब्दात्सरजस्कादिपरिग्रहः, त-
द्रूपाः सन्तः । किमुक्तं प्रवति ?—कापालिकं वेपं सरजस्कवेपं
कृत्वा यस्यां वसतो द्वावपि जनौ तिष्ठतस्तत्र पूर्वं वृषभा गच्छ-
न्ति । यदि वा तयोर्गतयोः पश्चात्तत्र च गत्वा रात्रौ मातृस्थाने
सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लापं शृण्वन्ति ।
तयोश्चावश्यकं कर्तुंकामयोर्योऽसावधमरत्नाधिकोऽभ्याख्यान-
दाता, स इतरं प्रति मिथ्यादुष्कृतनोपस्थित एतद्वदति—त्वं मया
असता अभ्याख्यानेनाभ्याख्यातोऽतो मिथ्यादुष्कृतमिति ।
ततो रत्नाधिको द्यूते—किं नाम तवापकृतं मया, यनासदाभ्या-
ख्यानं मे दत्तमिति ? । अवमरत्नाधिको भाषते—त्वं नित्य-
मेव यत्र तत्र वा कार्ये सम्यग् प्रयत्नमानमपि हे दुष्ट ! शैक्ष-
क ! इति तर्जयसि, तेन मया त्वमसदभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः ।
एवमावश्यके आवश्यकवेलायामवर्त्तने भावप्रत्याग्याने अ-
लीकाभ्याख्याने सद्भावो ज्ञायते । अथ न परस्परसंभाषणतः
सद्भावो ज्ञायते, तदा सद्भावपरिज्ञानाभावे तपस्थी प्रष्टव्य
इति शेषः ।

तथाचाऽऽह—

सदो त्ति मं जाससि निच्चमेव,

बहूण मज्झम्मि तत्रो कहेमि ।

अभासमाणाण परोप्परं वा,

देवाण-मुस्सग तवस्सि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् हे शत्रु ! शैक्षक ! इति मां भाष-
से, तेन त्वमसताऽभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः । अथ स रत्नाधिक-

स्तमधमरत्नाधिकं ध्यात्—यदि मया कदापि युक्त्या सह कृत-
मकार्यं ततः किं त्वया बहुना मध्यं अहमेवमज्याख्यातः—अनेन
कृता प्रतिसेवनेति । किन्त्वहमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा
दुष्टकृतमालोचनां गृहाण गुरुणामन्तिक इति । मम रोपेण त्वया-
ऽऽत्मीयमपि शीलं विगोपितम्, एवं सद्भावो ज्ञायते । एतावता
“ आवस्मग आउट्टण, सम्भावे वा ” इति व्याख्यातम् । इदा-
नीमसद्भावे इति व्याख्यानमिति—“ अभासमाणेण परात्परं
वा ” इति । अथ कदाचित् रोपतः परस्परं न संलपतः, तदा
तयोः परस्परमभासमाणयोर्भूतार्थपरिज्ञानाभावे तपसी कपको
देवताध्यानार्थं कायोऽसंगं कुर्यात् । कायोऽसंगेण च देवतामाक-
म्प्य पृच्छति—कोऽनयोऽहयोर्मध्ये सम्यग्वादी, को वा मिथ्या-
वादीति ? । तत्र यदेवता ह्येन तत्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वारं
व्याख्यातम् ।

अधुना सहृदयं व्याचिख्यासुर्दिमाह—

किंचि तद्वाऽतह दीमड, चउभंगे पंत देवया जहा ।

अत्तीकंड मूलं, ऽयरे सच्चपतिष्ठात्रां ॥

सर्वप्रकारेणाज्ञायमाने भूतार्थे संघसमवायं कृत्वा तस्मै आवे-
द्यते—रत्नाधिको वदति नाहं कृतवान्प्रतिसेवनाम्; इतरो ह्येते
द्वौपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कर्त्तव्यमिति ? । एवमा-
दिना कृते ये संघमध्ये गीतार्थास्ते वदन्ति—किञ्चित्ताभावे तथा
भावेन दृश्यते: किञ्चित्ताभावमन्यथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभा-
वं तथाभावेन किञ्चिदन्यथाभावमन्यथाभावेन । एषा चतुर्नङ्गी ।
अस्यां चतुर्नङ्ग्यां प्रथमो भङ्गः प्रतीतः । द्वितीयभङ्गभावना त्वे-
वम-कोऽपि क्वापि वनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिदारक्तका अ-
पगतक्रमा असिन्धुप्रहस्ता वहन्ति । ततः कदाचिद्देवता भङ्गि-
का माविनश्यत्वेप्यपुरुष इति तं दूरान्तरितं दर्शयति । तृतीय-
भङ्गः—भगवतो वज्रमानस्वामिनः सागारिकमकषयिते सङ्ग-
मकः कषयिते दर्शयति । चतुर्थभङ्गः—कस्याश्चिद्विषदि दासं
राजा कारिनराजनेपथ्यं विनश्यन्तं दृष्ट्वा कदाचिद्भूदेवता
तदनुकम्पया स्त्रियं दर्शयति । एवं प्रान्ता भङ्गा च देवता
अन्यथानृतं यदस्ति अन्यथा करोति—अन्यथा भूतं दर्शयति,
ततो दृष्टमपि तावदप्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते—किमपि दृष्टमवम-
रत्नाधिकेन, अथ च सत्यप्रतिज्ञा व्यवहारार्थं कृद्भिरुपदिष्टा-
स्तस्माद्यद् रत्नाधिको ह्येन—न मया प्रतिसेवितमिति तत्प्र-
माणनः शुद्ध एव न प्रार्थश्चित्तभागिति । यदपि चावमरत्नाधि-
को वक्ति—मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूलं
प्रार्थश्चित्तमिति । व्य० २, उ० ।

अब्जचक्राणां—अब्जचक्र—त्रि० । मेघावृते, वृ० १ उ० ।

अब्जतट—देशी—प्रसिद्धशब्दः । अनुव्रजने, “ अभ्रमवंचिउ बे
पयई, पेम्मु निअत्तव जायँ । सच्चासण-रिउ-संभव-हो, कर
परिअत्ता नायँ ” । प्रा० । प्रेमशब्देन प्रिया वाच्या, अनेदोष-
चारात् । यथा प्रेमवर्तीत्युच्यते, तथा प्रेमापीत्युच्यते । प्रिया
प्रियमिति शेषः । प्रियम्, (अभ्रमवंचिउ इति) अनुव्रज्य
मुक्तालस्य यावद् ढौ पादौ निवर्त्तते तावन् सर्वांशनरिपु-
संभवस्य चन्द्रस्य कगाः किरणाः परिवृताः, प्रसृता इत्यर्थः ।
सर्वमश्रातीति ‘नन्यादि०’ ॥ ७ । १ । ७२ ॥ इत्यनः प्रत्ययः ।
सर्वांशतोऽग्निः, तस्य रिपुजलं, तन्संभवश्चन्द्रः । अनुव्रजने रते
‘अभ्रम’ इति ‘वंच क्वाप्र०’ वंचयते लोकान् ‘स्वराणां०’
॥ ७ । ४ । २३८ ॥ अभ्रमवंचिउ ॥ दु० ४ पाद ॥

अब्जगुप्ता—अजयनुक्ता—स्त्री० । कसंख्यानुमतिदाने, स्था० ।

अथात्र भगवतो महावीरस्याऽजयनुक्तातानि प्रदर्शयन्ते—

पंच ठाणाईं समणैणं भगवया महावीरेणं समणायं नि-
गंयाणं णिच्चं वस्मियाईं णिच्चं कित्तियाईं णिच्चं बुडयाईं
णिच्चं पमत्तयाईं निच्चमभणुणाईं भवंति । तं जहा—खंत ।
मोत्तीं अज्जवे मदवे लायवे । पंच ठाणाईं समणायं जाव
अब्भणुन्नायाईं भवंति । तं जहा—सच्चे संजमे तवे चियाए
वंभेचरवामे । पंच ठाणाईं समणायं जाव अब्भणुन्नायाईं
जवंति । तं जहा—उक्खित्तचरणं णिक्खित्तचरणं अंतचरणं
पंतचरणं सूहचरणं । पंच ठाणाईं जाव अब्भणुन्नायाईं भवं-
ति । तं जहा—अन्नायचरणं अन्नवल्लचरणं मोणचरणं संसट्टक-
प्पिणं तज्जायमंसट्टकप्पिणं । पंच ठाणाईं जाव अब्भणुन्नायाईं
जवंति । तं जहा—उवनिहिणं मुद्धेसणिणं संखादत्तिणं दिट्ठना-
भिणं पुट्टनाभिणं । पंच ठाणाईं जाव अब्भणुन्नायाईं ज-
वंति । तं जहा—आयंविट्ठणं निव्विणं पुरिमिहिए परिमिय-
पिण्वाइए जिन्नपिण्वाइए । पंच ठाणाईं जाव अब्भणुन्ना-
याईं जवंति । तं जहा—अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे
पंताहारे लूहाहारे । पंच ठाणा० जाव भवंति । तं जहा—
अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी लूहजीवी । पंच
ठाणाईं जाव भवंति । तं जहा—ठाणाइए उक्कुमुआमणिणं
परिमिहियाइवीरामणिणं ऐसज्जिए । पंच ठाणाईं जाव ज-
वंति । तं जहा—दंडायइए लंगंडसाईं आयावए अवाउडए
अकंमुयए ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलतः कीर्तितानि संशब्दितानि, ना-
मतः (बुडयाईं ति) व्यक्तवाचोक्तानि, स्वरूपतः प्रशस्तानि
प्रशंसितानि श्लाघितानि, शंसु स्तुताविति वचनात् । अभ्यनु-
ज्ञातानि कर्त्तव्यतया अनुमतानि भवन्तीति । अयं च सूत्रांशः
प्रतिस्मृते वैयवृत्त्यसूत्रं यावत् दृश्यते इति । स्था० १, उ० ।
(ज्ञान्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते)

असत्याऽज्याख्यानं कुर्वतः क्रिया—

जे एं जंते ! परं अज्झिएणं असत्तूपणं अब्भक्खाणेणं
अब्भक्खाइ, तस्म एणं कट्ठप्पगारा कम्मा कज्जांति ? । गोयमा !
जे एं परं अज्झिएणं असत्तूपणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ,
तस्म एणं तट्ठप्पगारा चेव कम्मा कज्जांति, जत्थेव एणं अभि-
ममागच्छइ तत्थेव एणं पमिसंवेदेइ । तस्मा से पच्छा वेदेइ
सेवं जंते ! भंते ! ति ।

अग्नीकेन जूतनिहयरूपेण पात्रितब्रह्मचर्यसाधुविषयेऽपि
नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालितमित्यादिरूपेण (असम्भूयंति)
अभूतोद्भवत्वेन अचौरेऽपि चौराऽयमित्यादिना । अथवा
अग्नीकेन असत्येन तच्च उच्यतेऽपि भवति, सुब्यकादिना मृगा-
दीन्पृष्टस्य जानतोऽपि नाहं जानामि इत्यादि । अत आह—अस-

ज्ञेन दृष्टान्तिस्थित्वादशोभनरूपेणाचौरेऽपि चौराऽयमित्यादिना (अन्नस्वाणेनं ति) आन्निमुख्येनाख्यानं दोषाविष्करणमभ्याख्यानं, तेन अभ्याख्याति ज्ञेन । (कदम्पगारं ति) कथं प्रकाराणि ? किंप्रकराणीत्यर्थः । (तद्वपगारं ति) अभ्याख्यानफलानीत्यर्थः । (जत्थेव णमित्यादि) यत्रैव मानुषत्वादावभिसमागच्छति उत्पद्यते तत्रैव प्रतिसंवेदयत्यभ्याख्यानफलं कर्म, ततः पश्चाद्देयति निर्जरयतीत्यर्थः ॥ ज० ५ श० ७ उ० ।

अभ्यागुप्ताय-अज्यनुज्ञात-त्रि० । कर्तव्यतयाऽनुमते, स्या० ५ ग० १ उ० ।

अभ्यस्त्य-अज्यस्त-त्रि० । अभि-अस्-क्त । पौनःपुन्येनैकजातीयक्रियाकर्मणि पुनःपुनरावर्त्तिते, “ शैशवेऽज्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ” । “ उभे अज्यस्तम् ” ॥ ६ । १ । ५ ॥ उक्तयोः कृतद्वित्वयोरुत्तरोः धातुभागयोः । “ नाभ्यस्ताच्छतुः ” ॥ ७ । १ । ७८ ॥ “ अभ्यस्तस्य च ” ॥ ६ । १ । ३३ ॥ वाच० । गुणिते, विशेषे । आ० म० । प० व० ।

अज्यत्यणा-अज्यर्थना-स्त्री० । परस्परप्रवर्तनायां ‘ त्वं ममेदं कार्यममुष्य वा कुरु ’ इत्येवं रूपायाम्, पञ्चा० ११ विव० । “ जह् अज्यत्थे अपरं, कारणजाते करेज्ज सो को वि । तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ ब्रह्माभिभोगाओ ” ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० । (अभ्यर्थनायां मरुकदृष्टान्तः “ इच्छकार ” शब्दे द्वितीयभागे ५७५ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अभ्यपटल-अज्यपटल-न० । मेघवृन्दे, पृथिवीकायपरिणामविशेषे च । (अज्यक-तवक) । “ अज्यपटलपिगलुज्ज्वलेण ” (उत्रेण) अज्यपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छायाहेतुत्वात् अज्यपटलं, पिङ्गलं च कपिशं सुवर्णकण्डिकाभिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा । अथवा अभ्रमज्यकं पृथिवीकायपरिणामविशेषस्तपटलमिव पिङ्गलं चोज्ज्वलं च तत्तथा । तेन । औ० । सूत्र० । जी० । प्रज्ञा० ।

अभ्यपिसाय-देशा-रादौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अभ्यवातुया-अज्यवातुका-स्त्री० । अभ्रपटलमिश्रवातुकारूपे खरवाद्पृथिवीकायजेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । सूत्र० ।

अज्यरहित्य-अज्यरहित-त्रि० । राजामात्यादिपुत्रे गौरविके, (वृ०) राजमान्ये, वृ० १ उ० । नि० चू० ।

अभ्यराग-अभ्यराग-पुं० । सायं सूर्यकरयोगाद् मेघानां नानावर्णे मेघे, प्रज्ञा० १७ पद ।

अभ्यरुक्त्व-अभ्यवृक्ष-पुं० । अभ्यात्मको वृक्षोऽभ्यवृक्षः । भ० ३ श० ६ उ० । वृक्षाकारेण परिणतेऽभ्ये, जी० ३ प्रति० । अनु० ।

अभ्यवदलय-अज्यवार्दलक-न० । अभ्यरूपं वारो जलस्य दलकं कारणमभ्यवार्दलकम् । मेघे, भ० १५ श० १ उ० । अभ्ये आकाशे वार्दलकमभ्यवार्दलकम् । नजोगतमेघे, “ अभ्यवदलयाइं विउज्जइ ” आ० म० प्र० । अज्याणि मेघास्तैर्वार्दलकम् । मेघैः कृते, स्या० ३ ग० ३ उ० । रा० ।

अज्यसंभ्रा-अभ्रमन्ध्या-स्त्री० । सन्ध्याकाले नीलाद्यभ्रपरिणतौ, जी० ३ प्रति० ।

अभ्यसंयम-अज्यसंस्तृत-न० । मेघैराकाशाच्छादने, स्या० ४ ग० ४ उ० ।

अज्यसण-अज्यसन-न० । अजि-अस्-लुगुद् । अभ्यासे, पौनःपुन्येनैकक्रियाकरणे पुनःपुनरावर्त्तने, वाच० । “ अभ्यसणं ति वा गुणणं ति वा एगच्छा ” दश० १ अ० ।

अज्यमिय-अज्यस्य-अज्य० । अज्यासीकृत्येत्यर्थे, सूत्र्या० ६ अभ्या० ।

अभ्यहिय-अज्यधिक-त्रि० । अत्यर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । ज० । “ अभ्यहियभीमभेरवपगारेणं ” । अभ्यधिकं यथा भवत्येवं भीमजैरवोऽतिभीमो रवप्रकारो यस्य स तथा तेन (वनद्वेन) द्वा० १ अ० । प्रज्ञा० । “ अभ्यहियं सोभितुमादत्तां ” आ० म० प्र० । “ अभ्यहियरायतेयलच्छाप ” कल्प० ३ कण ।

अज्यहियतरग-अज्यधिकतरग-त्रि० । विपुलतरे (विस्तीर्णं,) न० ।

अभ्यागम-अज्यागम-पुं० । आन्निमुख्येनागम्यतेऽत्र । अभि-आ-गम्-क्त-अप् । युक्ते, कर्मणि अप् । अतिके, करणे अप् । विरोधे, भावे अप् । अभ्युत्थानं, अभिघाते च अभिमुखगमने, वाच० । प्रा० । आसन्नवासे, नि० चू० १ उ० ।

अभ्यागमिय-अज्यागमिक-पुं० । आगन्तुकेषु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभ्यागम्य-अज्यागत-पुं० । अभि-आ-गम्-क्त । जिघ्रामीणे गृहं गतेऽतिथौ, वाच० । “ तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, येन त्यक्ता महात्मना । अतिथिं तं विजानीया-च्छेषमज्यागतं विदुः ” ॥ १ ॥ इत्यतिथेर्भेदोऽस्य । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अज्यावगासिय-अज्यावकाशिक-न० । सहकारादेर्मूलाधोभागवर्तिनि प्रतिश्रये, वृ० २ उ० ।

अभ्यास-अज्यास (श)-पुं० । अज्यसनमज्यासः । अगूह-व्याप्तावित्यस्यानिपूर्वस्य घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके, स्या० ४ ग० ४ उ० । परिचये, पौ० १ विव० । गुणने, अनु० । ज्ञावनायाम्, “ अभ्यासं ति वा भावणं ति वा ” (एकार्थम्) वृ० १ उ० । अभ्यासादेव हि सर्वक्रियासु सुकौशलमुन्मील्यति, अनुजवसिद्धं चेदं लिखनपठनसंस्थानगाननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि-“ अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अज्यासात्सकलाः कलाः । अभ्यासाद्व्यानमौनादि, किमज्यासस्य दुष्करम् ? ” ॥ १ ॥ निरन्तरं विरतिपरिणामाज्यासे च प्रेत्यापि तदनुवृत्तिः स्यात् । यत उक्तम्-“ जं अभ्यासइ जावो, गुणं च दांसं च एत्थ जम्मम्मि । तं पावइ परदोए, तेण य अभ्यासजोएणं ” । थ० २ अधि० । अभ्रदृष्टान्तः-कश्चिज्जोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्रिय गयान्तिके नयत्यानयति वा ततोऽसावननैव क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्तिपन्नभ्यासवशाद् द्विहायनं त्रिहायनमप्युत्क्रियते साधुरव्यज्यासात् ज्ञानैः शनैः परीषहोपसर्गजयं विधत्त इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ध्यानं, एकावलम्बनेन मनःस्थैर्यं च । विशेष० । “ तत्राज्यासः स्थितौ भ्रमः ” तत्राज्यासः स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे भ्रमो यतः पुनःपुनस्तथा-त्येन चेतसि निवेशनरूपः । तदाह-“ तत्र स्थितौ यस्मोऽज्यास इति । ” स च चिरं चिरकालं नैरन्तर्येणादरेण चाश्रितो ददभूमिः स्थिरो भवति । तदाह-“ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो ददभूमिरिति ” । द्वा० ११ द्वा० ।

शुद्धोऽप्यासः-

अभ्यासोऽपि प्रायः, प्रजुतजन्मानुगो जवति शुद्धः ।

कुलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाधानयुक्तानाम् ॥ १३ ॥

(अभ्यासोऽपीत्यादि) अभ्यासोऽपि परिचयोऽपि, प्रायो वा-
हृत्येन, प्रभूतजन्मानुगोऽनेकजन्मानुगतो, भवति जायते, शुद्धो
निर्दोषः, कुलयोग्यादीनां गोत्रयोगिव्यतिरिक्तानां कुलयोगिप्र-
वृत्तचक्रप्रभृतीनामिह प्रक्रमे, तासां मैत्र्यादीनां मूलाधानं मू-
लस्थापनं वा अभ्यासस्तदयुक्तानाम् । कुलयोगिवृत्तं चेदम्-“य
योगिनां कुले जाता-स्तद्वर्मानुगताश्च ये । कुलयोगिन उच्यन्ते,
गोत्रवन्तोऽपि नागरे ॥ १ ॥ गोत्रयोगिनश्च-“सामान्येनोत्तमा
जन्माः, सर्वत्राद्वेगिणश्च ते । दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जि-
तेन्द्र्याः ॥ १ ॥ इत्याद्यभिधानात् ॥ १३ ॥

कस्य पुनरयमभ्यासः शुद्धो भवति ? इत्याह-

अविराधनया यतते, यस्तस्यायामिह सिद्धिमुपयाति ।

गुरुविनयः श्रुतगर्भो, मूलं चास्या अपि ज्ञेयः ॥ १४ ॥

(अविराधनयेत्यादि) विराधना अपराधासेवने, तन्निषेधाद-
विराधनया हेतुचतया, यतते प्रयत्नं विधत्ते, यः पुरुषस्तस्य
प्रयतमानस्यायमभ्यासः, इह प्रस्तुते, सिद्धिमुपयाति सिद्धिभाग्
भवति । गुरुविनयः प्रागुक्तः, श्रुतगर्भो आगमगर्भो, मूलं च का-
रणं चास्या अप्यविराधनाया, हेतोः ज्ञातव्यः । षो० १२ विव० ।

अया अभ्यासजेदाः-

अन्ने जणानि तिविदं, सययविसयजावजोगम्रो एवरं ।

धम्मम्मि अणुट्ठाणं, जहुत्तरपट्ठाणरुवं तु ॥ १ ॥

पञ्चं च ण जुत्तिखमं, एण्छयणयजोगम्रो जओ विसए ।

भावेण य परिह्राणं, धम्माणुट्ठाणमो किहणु ॥ २ ॥

ववहारओ उ जुज्जइ, तहा तहा अपुणनंधगाईसु ॥ इति ॥

पतदर्थो यथा-अन्ये आचार्या ब्रुवते-त्रिविधं त्रिप्रकारं सतत-
विषयजावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् सतता-
दिपदानां सतताभ्यासादौ लाक्षणिकत्वात्सतताभ्यास-विषया-
भ्यास-भावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केष्वर्थे धर्मेऽनुष्ठानं य-
थोक्तं प्रधानरूपम्, तुरेधकारार्थः । यदुत्तरं तदेव सततं प्रधान-
नित्यर्थः । तत्र सतताभ्यासो-नित्यमेव मातापितृविनयादिवृत्तिः ।
विषयाभ्यासो-मोक्षमार्गनायकेऽहंत्वृत्तौ पौनःपुन्येन पूजना-
दिप्रवृत्तिः । जावाभ्यासो-भाषायां सम्यग्दर्शनादीनां भवाद्भेगेन
भूयोभूयः परिशीलनम् । एतच्च द्विविधमनुष्ठानं न युक्तिक्कमं नो-
पपत्तिरसदं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण, यतो-माता-
पित्रादिविनयस्वनादे सतताभ्यासे सम्यग्दर्शनाद्यनाराधनारूपे
धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव । विषय इत्यनन्तरमापिर्गम्यः । विषये-
ऽपि अहंदादिपूजालक्षणं विषयाभ्यासेऽपि । भावेन भववैराग्या-
दिना परिह्राणं धर्मानुष्ठानं कथं नु, न कथञ्चिदित्यर्थः । ओकारः
प्राकृतत्वात् । परमार्थो योगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य निश्चयनयम-
ने भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानम्, नान्यद्वयमिति निगमः । व्यव-
हारात् व्यवहारनयादेशात् युज्यते इयमपि तथा तथा तेन
तेन प्रकारेण अपुनर्वन्धकादिषु अपुनर्वन्धकप्रवृत्तिषु । तत्रापुनर्व-
न्धकः पापं न तन्निनायकरोनीत्याद्यलक्षणः । आदिशब्दादपु-
नर्वन्धकस्यैव विशिष्टेत्तरायस्थाविशेषमाजौ मार्गान्निमुखमार्ग-
पतितौ, अविरतसम्यग्दर्शनादयश्च गृह्यन्ते इति । ध० १ अधि० ।

अभ्यासकरण-अभ्यासकरण-न० । पार्श्वस्थादिधर्माच्छ्रुत-
स्य पुनस्तत्रैव संस्थानलक्षणे संज्ञाभेदे, स० ए० सम० । व्य० ।
ये अभ्यासगतास्तेषामात्मसमीपवर्तित्वकरणे, व्य० ३ उ० ।

अभ्यासग-अभ्यासक-पुं० । निकृषे, “ शिष्येद्यो स्थापनाभ्या-
सक इत्यनर्थान्तरम् ” आ० सू० १ अ० ।

अभ्यासगुण-अभ्यासगुण-पुं० । गुणभेदे, स च भोजनादि-
विषयः । तथा-तदहर्जातबाह्यकोऽपि जवान्तराभ्यासात् स्त-
नादिकं मुख एव प्रतिपति, उपरतरुदितश्च भवति । यदि वाऽ-
भ्यासवशात्सतमसेऽपि कवलदेर्मुखविवरप्रक्षेपाद् व्याकुलित-
चेतसोऽपि च तुदन्नात्रकण्डूयनमिति । आ० ११० २ अ० १ उ० ।

अभ्यासजणियपसर-अभ्यासजनितप्रसर-त्रि० । आसेवनाद्-
भूतवेगे, पं० ष० १ द्वा० ।

अभ्यासत्य-अभ्यासशस्य-त्रि० । निकटवर्त्तिनि, व्य० ६ उ० ।

अभ्यासवर्त्तिअ-अभ्यासवर्त्तित्व-न० । अभ्यासो गौरव्यस्य
समीपं तत्र वर्त्तितुं शीलमस्येत्यभ्यासवर्त्ति, तद्भावांऽभ्यासवर्त्ति-
त्वम् । भ० १५ श० ७ उ० । गुरुपादार्पादिकाप्रत्यासन्नवर्त्तित्व-
लक्षणे लोकोपचारविनये, व्य० १ उ० । औ० । स्था० । ग० ।

अभ्यासप्रत्यय-पुं० । अभ्यासो देवाको वर्णनीयासन्नता वा
प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीयते तदभ्यासप्रत्ययम् । देवाकेन
वर्णनीयासन्नतया वा प्रकाशनादौ, एतेन सतो गुणान् दी-
पयति । इत्येते ह्यभ्यासाभिर्विषयाऽपि निष्कृष्टाऽपि च प्र-
वृत्तिः, सन्निहितस्य च प्रायेण गुणानामेव प्रदणमिति । स्था०
४ ग० ४ उ० । नि० सू० ।

अभ्यासप्रीतिक-न० । अभ्यासे प्रीतिकं प्रेम अभ्यासप्रीति-
कम् । लोकोपचारविनयभेदे, भ० २ श० ५ उ० ।

अभ्यासवित्ति-अभ्यासवृत्ति-स्त्री० । नरेन्द्रादीनां समीपेऽव-
स्थाने, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभ्यासाइसय-अभ्यासातिशय-पुं० । अभ्यासप्रकर्षे, षो०
१० विव० ।

अभ्यासासन-अभ्यासासन-न० । उपवर्णीयस्यान्तिकेऽव-
स्थाने, स० ६१ सम० ।

अभ्यासिय-अभ्यासित-त्रि० । छविमादिदेशोद्भवे, षृ० ३ उ० ।

अभ्यास-अभ्यास-पुं० । स्नेहने, द्वा० १८ अ० । पञ्चाङ्गमर्दने,
दश० ६ अ० ।

अभ्यासिय-अभ्यासित-त्रि० । अभ्यासः क्रियते स्म यस्य ।
तस्मिन्, द्वा० १ अ० ।

अभ्यास-सम-गम-धातुः । मेतने, “ समा अभ्यासः ” । ८ ।
४ । १६४ इति सूत्रेण समा युक्तस्य गमेरभ्यास आदेशः । अ-
भ्यास-संगच्छते । प्रा० ४ पाद ।

अभ्यास-अभ्यास-त्रि० । अविवृते, ध० २ अधि० ।

अभ्यासवर्त्तणीया-अभ्यासवर्त्तणीया-स्त्री० । पवनप्रेरितासु उदकक-
णिकासु, षृ० १ उ० ।

अभ्यासगम-अभ्यासगम-पुं० । उदये, सूत्र० १ पु० १४ अ० ।

अभुगय-अच्युत-त्रि० । अभिमुखमुद्रतोऽच्युतः । उत्पा-
दिते, श्री० । अभिमुखेन सर्वतो विनिर्गते, च० प्र० १८ पाहु० ।
अङ्कुरवदुत्पन्ने वर्द्धितुं प्रवृत्ते, उन्नते च । झा० १ अ० । ज० ।
विपा० । अग्रिमभागे मनागुन्ने, रा० । ज० । अभ्युत्कटे,
रा० । जी० । भूद्वयमध्यतो विनिर्गते, ज० २ वक्र० । अति-
रमणीयतया द्रष्टृणां प्रत्यभिमुखमुद्रावस्थेन स्थिते, रा० ॥
“ अभुगयमउलमल्लियाविमन्नधवलदन्तं ” अभ्युद्गतमु-
कुत्रा आयतकुम्भरा ये मल्लिकाविचक्रिलास्तद्वद् विमन्नौ द-
न्तौ यस्य । अथवा प्राकृतत्वात् मल्लिकामुकुन्नवदभ्युद्गता-
वुन्नतौ विमन्नधवलदन्तौ यस्य तदच्युद्गतमुकुन्नमल्लिकावि-
मन्नधवलदन्तम् (हस्तिनम्) । उपा० २ अ० । “ अभुगयमउ-
लमल्लियाधवलसरिससंगणं ” अच्युद्गतान्युन्नतानि मुकुन्नम-
ल्लिकेव कोरकावस्थविचक्रिलकुसुमवद् धवन्नानि तथा स-
दृशं समं संस्थानं येषां तानि । ज० ७ वक्र० । “ अभुगय-
सुक्यवश्वेरश्यतोरणवररश्यत्रीवद्वियसालिभंजियागं ” अ-
च्युद्गते वच्छ्रिते सुदृढवज्रवेदिकायाः सम्बन्धिनि तोरणधरे
रचिता वीलास्थिताः शालजञ्जिका यस्यां सा तथा, ताम् ।
(शिविकाम्) भ० ९ श० ३३ उ० । आ० म० । झा० । रा० ।
अङ्कुरवदुत्पन्ने च, झा० १ अ० ।

अभ्रोद्गत-त्रि० । उच्चे, भ० १२ श० ५ व० ।

अभुगयभिगार-अच्युतजृङ्गार-अभ्युक्तोऽभिमुखमुद्रत उत्पा-
दितो भृङ्गारो यस्य स तथा । तथाभूते महाभागे, औ० । भ० दशा० ।

अभुगयमुसिय-अच्यु(त्रो)क्तोच्छ्रित-त्रि० । अभ्युद्गतश्चासा-
वुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्चे, भ० । “ अभुगयमुसि-
यपहसिया ” अच्युद्गतमत्रोद्गतं वा यथा भवत्येवमुच्छ्रि-
तश्चेत्यच्युद्गतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः । प्रथमैकवच-
नोपपञ्च इत्यर्थः । तथा प्रहसित इव प्रजापटलपरिततया
प्रहसितः । प्रभया वा सितः शुक्लः, संबद्धो वा प्रभासित
इति । भ० २ श० ८ व० । स० । ज० । जी० ।

अभुजय-अच्युद्यत-त्रि० । वर्द्धितुं प्रवृत्ते, “ अभुगपसु
अभुजपसु अभुचपसु ” (मेघेषु) झा० १ अ० । सोद्यमे,
झा० ५ अ० । उद्यतविहारिणि, व्य० ४ उ० । “ अभुजयं दुविधं-
अभुजयमरणेण, अभुजयविहारेण वा ” नि० चू० १६ उ० ।

अच्युद्यतविहारमरणयोः स्वरूपमाह—

जिण-मुद्ध-जहावन्दे, तिविहो अभुजओ अह विहारो ।

अभुजयमरणं पुण, पाउवगमणिगिणिपरिन्ना ॥

जिनकल्पः, गुरुपरिहारकल्पो, यथालन्दकलश्चेति त्रिविधो-
ऽच्युद्यतः; अथैव विहारो मन्तव्यः । अच्युद्यतमरणं पुनस्त्रि-
विधम्—पादपोषगमनमिङ्गिनीमरणं, परिहोति भक्तप्रत्याख्यानम्,
बुद्धिआप्येतेषु अच्युद्यतरूपतया ध्येयसी ।

अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तव्यम् ?, उच्यते—

सयमेव आउकालं, नाउं पेठित्तु वा बहुं सेसं ।

सुबहुगुणज्ञानकर्त्ता, विहारमभुजयं जन्-

स्वयमेवायुःकात्रं सातिशयश्रुतोपयोगाद् दीर्घं शेषमवशि-
ष्यमाणं ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽन्यं श्रुतयतिशययुक्तमाचार्यं बहु शेष-
१७४

मवबुध्य; ततः सुबहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् विहारमभ्युद्यतं भवति,
प्रतिपद्यत इत्यर्थः । वृ० १ उ० । (‘जिणकल्पिय’ शब्देऽस्य विधिः)

अभुजयमरण-अभ्युद्यतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तन्नि-
पिद्धमिति अनन्तरमुक्तम् । वृ० १ व० । नि० चू० । पं० व० ।
संथा० । (पादपोषगमनादिषु चकव्यताऽस्य)

अभुजयविहार-अच्युद्यतविहार-पुं० । अच्युद्यतानां जिन-
कल्पिकादीनां विहारे, पं० व० ४ द्वा० । वृ० । (स च त्रिविध
इति ‘ अभुजय ’ शब्दे उक्तम्)

अभुगय-अच्युत्थान-न० । अभिमुखेनोत्थानमुद्गमन-
मभ्युत्थानम् । ग० २ अधि० । उत्त० । तदुचितस्यागतस्य अ-
भिमुखमुत्थाने, पञ्चा० १७ विच० । दश० । द्वा० । चिनयार्ह-
स्य दर्शनादेवाऽऽसनत्यजने, स्था० ७ द्वा० । ससंभ्रममासन-
मोचने, उत्त० ३ अ० । व्य० । प्रव० ।

एष दर्शनविनयभेद इत्थं समाचरणीयः—

अभुगयाणे लहुगा, पामत्यादन्नतिर्त्योणं ।

मंजइसीण पुणो तह, संजइवगे य गुरुगा उ ॥

साधुभिः साधूनामेवाच्युत्थानं विधेयं न गृहस्थादीनां, त-
त्रापि संविज्ञानामेव न पार्श्वस्थादीनाम् । अथ पार्श्वस्थादीना-
मन्यतीर्थिकानां गृहिणां वाऽभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो ल-
घवः । तथा संयत्यादीनामन्यतीर्थिनीनां संयतवर्गस्य अभ्यु-
त्थाने चतुर्गवः ।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयति—

उट्टेइ इत्थि जह एम चित्ति, धम्मं ठिओ नाम न एस साहू ।
दक्खिन्नपन्ना वसमेइ चेवं, मिच्छतदोसा य कुट्तिगिणीसु ॥
संयतं कस्या अपि स्त्रिया अच्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा श्रावकादिश्चि-
न्तयेत्—यथैष साधुः स्त्रियमायान्तं दृष्ट्वा अच्युत्तिष्ठति । तथा
नामेति संभावनायाम् । संभावयाम्यहं नैष सम्यग्धर्मे श्रुतचा-
रित्रात्मके स्थितः, अन्यथा किमेष एनामभ्युत्तिष्ठेत् ? । अपि
च—एवं स्त्रिया अच्युत्तिष्ठन् दातृत्वात्प्रवृत्तिर्भवति । दातृत्वात्प-
ण्यत्वे तस्या वशमायत्ततामुपैति । ततश्च ब्रह्मचर्यविराधनाद-
यो दोषाः । यास्तु कुलिङ्गिन्यस्ताः परित्राजिकाप्रभृतयः, तासु-
अच्युत्थीयमानासु यथा भद्रकादीनां मिथ्यात्वगमनादयो
दोषा भवन्ति ।

अन्यतीर्थिकेषु पुनरिमे दोषाः—

ओजावणा पवयणे, कुतित्यउभावणा अबोही य ।

खिसिज्जंति य तप्प—क्खिणहि गिहिमुव्वया बलियं ॥

ओ भागवत! सौगतादीनामन्यतीर्थिकानामच्युत्थाने प्रथम-
चरममहती अपप्राजना भवति—अहो ! निस्सारं प्रवचनममी-
षां यदेवमन्यदर्शनामभ्युत्थानं विदधाति, तदीयस्य च
कुतीर्थस्योद्भावना प्रभावना जवति—एतदेव दर्शनं शोभनतरं
यदेवं जैना अप्येतत्प्रतिपन्नानच्युत्तिष्ठन्तीति । (अबोही य-
स्ति) प्रवचनलाघवप्रत्ययं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्मोपचित्य भ-
वोदधौ परिभ्रमन् बोधिलाभं नासादयति । ये च गृहिणः सु-
व्रताः शोभनाणुव्रतधारकाः, सुश्रावका इत्यर्थः, ते तत्पाक्षिकैः
शाक्यादिपक्षपातिभिरुपासकैः, बलिकमत्यर्थं खिस्वन्ते—अस्मा-
कमेव दर्शनं सर्वोत्तमं, भवदीयगुरूणामपि गौरवाहृत्वात् ।

एष चैव य दोसा, सविसेसयरऽन्नति, त्यगीसुं पि ।

लाघवअणुजियत्तं, तहागयाणं अवणो य ॥

एते एव दोषाः प्रवचनाप्राज्ञानादयोऽन्यतीर्थीकष्वपि नवन्ति, नवरं सविशेषतः शङ्कादिभिर्दोषैः समधिकतरा मन्तव्याः । गृहिणामन्यतीर्थकादीनां चाज्युत्थाने सामान्यत इमे दोषाः । तद्यथा-लाघवमेतेज्योऽप्ययं इति इत्येवं लक्षणो लघुभाव उपजायते । अनूर्जितत्वं वराकत्वमुपदर्शितं भवति । तथाहि-लोको ब्रूयात् अहो ! अदत्तादानाः श्वान इव वराका इमी यदिवमाहारादिनिमित्तमवितरकाणामपि चादूनि कुर्वन्ति । तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भात्मकेन प्रकारेण गत ज्ञानमेषां तथागताः, सङ्गताथवेदिनस्तीर्थकरा गणधरा इत्यर्थः । तेषामवर्णवादा भवति । यथा-नामी सम्यग्मोक्षमार्गं दृष्टवन्तः ।

अथ संयतीतामज्युत्थाने दोषान् विशेषतो दर्शयन्नाह—

पायं तवस्मिणीओ, करेति किङ्कम्म मो सुविहियाणं ।
पमुत्तिट्ठं वतिणिं, जवियव्वं कारणेणेत्य ॥

संयतीतामज्युत्थानं दृष्ट्वा कश्चिदभिनवधर्मा चिन्तयेत्-प्रायस्तर्पास्वन्यः संयत्यः सुविहितानां कृतिकर्म कुर्वन्ति । 'मो' इति पादपूरणे । एष पुनर्ब्रूयितोमुत्तिष्ठति, तद्भविष्यमत्र कारणेनेति । एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्कित मूलम्, यत एते दोषास्ततो नैषामज्युत्थानं विधेयम् ।

अथ येषामज्युत्थानं तदज्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्तमभिधीयतेसुराह—

आयरिए अभिसेगे, जिकखुम्मि तहेव होइ खुडे य ।
गुरुगा ब्रह्मगा लहुगा, जिन्ने पडिओमवितिएणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षो तथैव लुल्लकः आचार्यादीन् प्रायुणिकान् यथाक्रममनज्युत्तिष्ठति गुरुका लघुका लघुको भिक्षमायाश्चेति प्रायश्चित्तानि । द्वितीयादेशेन इदमेव प्रायश्चित्तं प्रतिबोमं प्रतीपक्रमेणाचार्यादीनां वक्तव्यम् । आचार्यस्य निष्प्रमासः, अभिषेकस्य लघुमासः, भिक्षोः चतुर्लघवः, लुल्लकस्य चतुर्गुरु इति भावः । एवं संप्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामव विवृणोति—

आयरियस्मायरियं, अणुट्ठयंतस्स चउगुरु होंति ।

वमजे जिकखुक्खुडे, ब्रह्मगा ब्रह्मगा य भिक्षो य ॥

आचार्यस्य आचार्य प्राघूर्णकमायान्तमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरवो भवन्ति, वृषभमनुत्तिष्ठतः चतुर्लघुकाः, लुल्लकमनुत्तिष्ठतो लघुकाः, निक्षुमनुत्तिष्ठतो निष्प्रमासः । एवमाचार्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

शेषाणामतिदिशति—

मट्टाणपट्टाणे, एमेव वमजजिकखुक्खुट्टाणं ।

जं परत्ताणे पावड, नं चेव य सोवि मट्टाणे ॥

एवमेव वृषभभिक्षुलुल्लकानामपि स्वस्थानपरस्थानं प्रायश्चित्तं वक्तव्यम्, स्वस्थानं नाम वृषभस्य वृषभस्थानं, वृषभस्याचार्यो भिक्षुस्थानम् । एवं भिक्षुलुल्लकयोरपि स्वस्थानपरस्थानभावना कर्तव्या । अत्र चयत्परस्थाने आचार्यः प्राप्नोति तदभावापि वृषभादिः स्वस्थाने प्राप्नोति । किमुक्तं भवति-वृषभस्य प्राघूर्णकमाचार्यमनज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरुकाः, वृषभस्थानज्युत्थाने चतुर्लघवः, भिक्षोरनज्युत्थाने मासलघु, लुल्लकस्थानज्युत्थाने निष्प्रमासः । एवं

भिक्षुलुल्लकयोरपि मन्तव्यम् । अत्र परस्थानमाचार्यस्य वृषभादयः, तेषामज्युत्थाने यथाऽसौ चतुर्लघुकादिकमापन्नवान् तथा वृषभादयोऽपि स्वस्थानमनज्युत्तिष्ठन्तस्तदेव प्राप्नुवन्ति ।

अथैतदेव प्रायश्चित्तं तपःकालाभ्यां विशेषयन्नाह—

दोहिं वि गुरुगा एते, आयरियस्स तवेण काळेण ।
तवगुरुगा काळगुरु, दोहि वि ब्रह्मगा य खुड्ढस्स ॥

आचार्यस्यैतानि चतुर्गुरुकादीनि प्रायश्चित्तानि, द्वात्र्यामपि गुरुकाणि कर्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, कालेन च वृषभस्य तपो-गुरुकाणि । भिक्षोः कालगुरुकाणि, कुल्लकस्य द्वाभ्यामपि तपः-कालाभ्यां लघुकाणि ।

अहवा अविसिट्ठं चिय, पाहुणयागंतुण् गुरुममादी ।

पावैति अणुट्ठिता, चउगुरु लहुगा ब्रह्मगजिन्नं ॥

अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तर्गताद्योक्तः । अविशिष्टमेवाचार्यादिभिर्विशेषैर्विरहितं प्राघूर्णकमागतुकमनुत्तिष्ठतो गुर्वा-दय आचार्यप्रभृतयो यथाक्रमं चतुर्गुरुकचतुर्लघुकलघुमासजि-न्ममासान् प्राप्नुवन्ति । तद्यथा-आचार्यस्य यं वा तं वा प्राघूर्णक-मागतमनज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, वृषभस्य चतुर्लघु, भिक्षोर्ब्रह्ममा-सः, कुल्लकस्य भिन्नमास इति ।

अहवा जं वा तं वा, पाहुणं गुरुमणुट्ठिहं पावे ।

जिन्नं वसजो मुक्कं, जिकखु लहु खुड्ढ चउगुरुगा ॥

अथवा यं वा तं वा प्राघूर्णकमनुत्तिष्ठन् गुरुमाचार्यो भिन्नमासं प्राप्नोति, वृषभः शुक्लमासः, लघुमासमित्यर्थः । भिक्षुश्चतुर्लघुकम्, कुल्लकः चतुर्गुरुकम् । एतेन “ पडिओमवितिएणं ति ” पदं व्याख्यातम् ।

अथ किमर्थमयं द्वितीयादेशः प्रवृत्तः ?, इत्याह—

वायणवापारणध-म्मकट्टणमुत्तत्थाचित्तणामुं च ।

वाउत्तिण् आयरिए, विइयादेसो उ जिन्नाइ ॥

इहाचार्यस्यानेकधा व्याक्रेपकः । तद्यथा-वाचनानामनुयोगः । सा विनेयानां दातव्या । व्यापारणं साधूनां वैयावृत्यादिषु यथा-योग्यं विधेयम् । आह्वानां धर्मकथनं विधातव्यम् । भूयस्सूत्रा-र्थयोगश्चिन्तनानुपेक्षाः कर्तव्याः । एवमादिषु कार्येषु निरन्तरमा-चार्यो व्याकुलितो भवति । वृषभादयस्तु न तथा व्याकुला इ-त्यतोऽयं भिन्नमासादिर्द्वितीय आदेशः प्रवृत्तः । इयमत्र भाव-ना-आचार्यो बहुव्याकुलतया प्राघुणकमागच्छन्तं दृष्ट्वापि ना-भ्युत्थानं पारयेत् ; अतस्तस्य स्वल्पतरं प्रायश्चित्तम् । वृषभ-भिक्षुश्चतुर्लघुकास्तु यथाक्रममल्पाल्पतराल्पतमभ्याक्षेपाः, ततो लघु-मासादीनि प्रभूतप्रभूततरप्रभूततमानि तेषां प्रायश्चित्तानीति ।

अथ लुल्लकस्य गुरुतमप्रायश्चित्तदाने विशेषकारणमाह—

वेसइ लहुमुड्डइ, धूलीधवल्लो असंफुको खुड्डो ।

इति तस्स होंति गुरुगा, पालेइ हु चंचलं दंमो ॥

लुल्लको बालः स लघुशरीरतया सुखेन उपविशति, उत्तिष्ठति चः क्रीडनशीलतया च प्रायेण धूलीधवल्लो रजोगुण्ड-तदेव, पट्टश्चासंवृतोऽसौ भवति । अतो यद्यसावपि प्राघुणकमागतं तिष्ठति महद्वृणमाप्नोति । अत एतस्य चतु-र्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । किञ्च-यश्चञ्चलः स्वभावाच्चपलोऽपि

सन् गुवादीनां नाभ्युत्तिष्ठति; तं दण्डः प्रायश्चित्तबन्धनो दीय-
मानः पालयति, चञ्चलत्वमपनयतीत्यर्थः ।

अपि च—

जइ ता दंरुत्याणं, पावइ वालो वि पयणुए दोमे ।

हाणु दाणिं अक्खमाणं, पमाइउं रक्खणा सेसे ॥

बालस्यापि गुरुके प्रायश्चित्ते दत्ते सति शेषसाधुवर्षिचरन्त्येयुः-
यदि नावश्यं बालोऽपि प्राघूर्णके अनन्युत्थानमात्रलक्षणे प्रननु-
के स्वल्पेऽप्यपराधे एवं दण्डस्थानं प्राप्नोति । (हाणु दाणिं ति)
तत इदानीमस्माकं प्रमत्तमन्युत्थाने प्रमादं कर्तुमकमनुचित-
मिति शेषसाधुवर्गस्यापि रक्षणं कृते भवति । आह—अन्युत्था-
नमकुर्वतामात्मसंयमोस्तावत्काचिदपि विराधना नास्ति
ततः किं कारणमेवमेवं प्रायश्चित्तं दीयते ? ।

उच्यते—

दिट्ठतो दुवखरण, अव्युत्तिहेहिं जइ गुणो पत्तो ।

तम्हा उट्ठेयवो, पाहुणओ गच्छ आयरिओ ॥

इह प्राघूर्णकमाचार्यमनुत्तिष्ठन् भगवतामाज्ञातक्रामति । तथा-
चात्र द्व्यक्षरकेण दासेन दृष्टान्तः—“ एगो राया, से केणइ दुअ-
क्खरणं आराहिओ । रक्षा से पट्टं बंधिउ पहाणं रज्जं दिन्नं । तत्थ
दंरुभरुभोइयाइणो अ दुअक्खरोत्ति काउं परिजावेणं तस्स अ-
व्युत्पाणाइयं न करेति । ताहे तेण ते अणुत्तिहेहिं दंरिया, मारिया
य । जे विणीया ते अव्युत्तिहेहिं, तेसिं तेण परितुट्ठेण रज्जसंवि-
भागो दिन्नो ” । अथार्थोपनयः—यथा तैरभ्युत्तिष्ठतिरिह लोके
गुणः प्राप्तः तथा साधवोऽपि प्राघूर्णकमाचार्यमभ्युत्तिष्ठन्त
इह परत्र च गुणानासादयन्ति, तस्मात्प्राघूर्णक आचार्यः सक-
लेनापि गच्छेनान्युत्थातव्यः ।

अमुमेव द्व्यक्षरदृष्टान्तं व्याख्यानयति—

आराहितो रज्ज सपट्टबंधं, कासी य राया उ दुवखरस्स ।

पसासमाणं सुकुलीणमादी, नादंति तं तेण य ते विणीया ॥

आराधितः केनापि गुणविशेषेण परितोषं प्रापितः सन् राजा
द्व्यक्षरकस्य सपट्टबन्धं राज्यमकार्षीत्, पट्टबन्धनृपतिं तं विहि-
तवानिति भावः । ततः तं द्व्यक्षरकराजं राज्यं प्रशासतं कु-
लीनादयो नादियन्ते, वयं कुलीनाः, अयं तु हीनकुलोत्पन्नः ।
आदिशब्दाद् वयं प्रधानपुरुषाः, अयं पुनः कर्मकर इत्यादि
परिभवबुद्ध्या नाज्युत्थानादिकमादरं तस्य कुर्वन्ति, ततः ते तेन
राज्ञा विनीताः शिक्षां प्रापिताः, ‘ विनयः शिक्षाप्रणेत्योः ’
इति घञनात् ।

कथं शिक्षिताः ?, इत्याह—

सव्वसं हाऊणं, निज्जूठा मारिया य विवदंता ।

जोगेहिं संविज्जत्ता, अणुत्तअणुत्तणा जे उ ॥

सर्वस्वमपहृत्य ते स्वनगरान्निर्गृह्णा निष्काशिताः, ये च तत्र
निष्काशयमाना विवदन्ते—किमस्माभिरपराद्धं यो यो द्व्यक्षरको
भविष्यति तस्य तस्य किं वयमन्युत्थानं करिष्यामः ?, इत्यादि
कलहायन्ते, ते विवदमाना मारिताः । ये तु तत्रानुकूला अन्यु-
त्थानादिकारिणोऽनुत्थाना अगर्वितास्ते भोगैः संविभक्ताः, रा-
ज्यभोगसंविभागस्तेषां कृतः । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरु उ होइ नायवो ।

साहू जहा व दंरिय, पसत्थमपसत्थगा होंति ॥

यथा अधिराजो मौलपृथिवीपतिः, तथा तीर्थकरः, यथा इतरो
द्व्यक्षरकराजः, तथा तीर्थकराधिराजेनैवानुज्ञाताचार्यः पदपट्ट-
बन्धमहितगणाधिपत्यराज्ये गुरुराचार्यो ज्ञातव्यो जवति ।
यथा च ते प्रशस्ताप्रशस्तरूपा दण्डिकास्तथा साधवोऽप्युनय-
स्वभावा भवन्ति ।

तत्र—

जह ते अणुत्तिहंता, हियसव्वस्सा उ दुक्खमाज्जागी ।

इय एणो आयरियं, अणुत्तिहंताण वोच्छेदो ॥

यथा ते दण्डजटभोजिकादयो द्व्यक्षरकनृपतिमनुत्तिष्ठन्तो ह-
तसर्वस्वा ऐहिकस्य दुःखस्याभागिनः संजाताः । इत्येवमा-
चार्यमप्यनुत्तिष्ठतां दुर्विनीतसाधूनां ज्ञाने, उपब्रज्यत्वाद्दर्शनचा-
रित्रयोश्च व्यवच्छेदो भवति । ततश्चानेकेषां जन्मजरामरणा-
दिदुःखानामाग्निरस्ते संजायन्ते, एषोऽप्रशस्तोपनयः ।

अथ प्रशस्तोपनयः—

उट्ठाणसिज्जासणमाइहिं, गुरुस्स जे होंति सयाऽणुकूला ।

नाउं विणीए अह ते गुरु उ, संगिएहई देइ य तेसिं सुत्तं ॥

उत्थानं—गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वं भवन्, शय्या सुन्दराव-
काशे गुरुणां संस्तारकरचनम्, आसनमुपवेशनयोग्यनिषया-
दिरचनम् । यद्वा—(सेज्जासणं ति) गुरुणां शय्याया आसनाच्च
नीचतरशय्यासनयोराश्रयणम् । आदिशब्दाद् अङ्घ्रिप्रदणदि
परिग्रहः । एवमादिभिर्विनयजैर्यैः शिष्याः सदैव गुरोरेणुकूला
जवन्ति तान् विनीतान् ज्ञात्वा, अथानन्तरं गुरुः संगृह्णाति ।
मयैते सम्यक्पालनीया इत्येवं संग्रहबुद्ध्या स्वीकरोति, सूत्रं च
तेषां प्रयच्छति, ततश्च ते इह परत्र च कल्याणपरम्पराज्ञानं
जायन्ते ।

अथ प्रशस्तोपनयं विशेषतो ज्ञाययन्नाह—

पज्जायजईसुतओ य वृद्धा, जत्तन्निआ सीससमिच्छिंमंता ।

कुव्वंतऽवसं अह ते गणाउ, निज्जूहई नो य ददाइ सुत्तं ॥

पर्यायतो ये वृद्धास्ते अवमराजिकाऽयमिति बुद्ध्या, जातिम-
धिकृत्य ये वृद्धाः, पट्टिवर्षजन्मपर्याया इत्यर्थः, ते बालकोऽयमि-
ति बुद्ध्या, श्रुततश्च तमङ्गीकृत्य ये वृद्धास्तेऽप्यश्रुतोऽयमिति वृ-
त्त्वा, जात्यान्विता विशिष्टजातिसंज्ञता हीनजात्युद्भवोऽयमिति
मत्या, शिष्यसमृद्धिमन्तः परिवारसंपदुपेता अल्पपरिवारोऽय-
मिति बुद्ध्या, गुरोरेवज्ञानमभ्युत्थानवृत्तानां कुर्वन्ति । अथैवमव-
ज्ञाकरणानन्तरं गुरुस्तान् स्वगच्छन्तगरान्निर्गृह्णाति । ये च व-
हुपाकिकत्वादिभिः कारणैर्निर्युद्धयतुं न शक्यन्ते, तेषां भोग-
संविज्ञागकल्पसूत्रं श्रुतं न प्रयच्छति । एवं तावत्प्राघूर्णकमाचा-
र्यमङ्गीकृत्याभ्युत्थानानभ्युत्थानयोगुणदोषा उपवर्णिताः ।

अथ सामान्यतो गच्छन्मध्ये स्थितस्यैवाचार्यस्यानन्युत्थाने
दोषमाह—

मज्झत्य पोरिसीए, लेषे पक्खिहेह आइयण धम्मे ।

पयं गिलाणे तह उ—चमह सव्वेसिं उट्ठाणं ॥

आचार्यमागच्छन्तं दृष्ट्वा गच्छसाधवो मध्यस्थास्तिष्ठन्ति, ततः

पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तम् । सुत्रार्थपौरुषी लेपप्रदानं प्रतिलेखनम् (आह्वयंति) 'सादान' समुद्देशनं धर्मकथां वा विदधानाः प्रबलायमाना वा नाच्युत्तिष्ठन्ति । अत्रापि तदेव कुपभादिविषयं प्रायश्चित्तम् । ग्लानो वा उत्तमार्थप्रतिपत्तौ वा शक्नोति सत्यां यदि नोत्तिष्ठति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः सर्वेषामच्युत्थानं भवति । इदमत्र हृदयम्-आचार्याणामनच्युत्थाने सूत्रपौरुषीकरणादीनि कदालम्बनानि, यथा ममायमालापकोऽर्द्धपण्डितो वर्तते, तेषो वा पात्रके नाद्यापि परिपूर्णं दत्तः, प्रति-लेखनादिकं वा सम्प्रति कुर्वाणोऽस्मि; ग्लानो वा कृतभक्तप्रत्याभ्यानो वा इहमस्मीति, किन्तु सर्वैरपि सुत्राध्ययनादिव्यापारं परिहृत्याच्युत्थातव्यम्, एवं तावदुपाश्रये विधिरभिहितः ।

अथान्यत्र गृहादौ रचयादिषु वा यत्र दृश्यते तत्रायं विधिः-

द्रागयमुद्देष्टुं, अज्जिनिगंतुं नमंति एं सव्वे ।

देडग्गहणं च मोत्तुं, दिडे उट्ठाणमन्नत्थे ॥

द्रादाचार्यमागतं दृष्ट्वा आभिमुख्येन निर्गत्य सर्वेऽपि साधवो (एनिति) एनमाचार्यं नमन्ति शिरसा वन्दन्ते, यदा च गुरुव उपाश्रयं प्रविशन्ति तदा दण्डकग्रहणमपि कर्त्तव्यम्, अन्यत्र तु गृहादौ दृष्टे गुरौ दण्डकग्रहणं मुक्त्वा अच्युत्थानमेव कर्त्तव्यम् ।

एवमभ्युत्थाने के गुणाः ?, इत्याह--

परपक्खो य सपक्खो, होइ अगम्मत्तणं च उट्ठाणे ।

सुयप्यणा थिरत्तं, पभावणा निज्जरा चेव ॥

परपक्वः परपाखाण्डनः, स्वपक्वः पार्श्वस्थादिवर्गः, तयोरगम्यन्त्यमनभिभवनीयता गुरोरच्युत्थाने भवति, तथा गुरुवो बहुभुता भवन्तीति श्रुतपूजनमपि कृतं स्यात् । अन्येषामभ्युत्थानादौ विनये सीदतां स्थिरत्वमनुष्ठितं भवति । प्रभावना च शासनस्यैव कृता भवेत्-अहो ! शोभनमिदं प्रवचनं यैर्वैविध्या विनयो विधीयते, निर्जेरा च कर्मकृयरूपा विपुला ज्वति, विनयस्याभ्यन्तरनपोभेदत्वात् तस्य च निर्जेरानिवन्धन-तया सुप्रतीतत्वात् ।

आह-यः प्रव्रजितः सर्वपापोपरतस्तस्य किं नाम

विनयेन कार्यम् ?, इति उच्यते--

अकारणा नन्दिह कज्जमिच्छी,

नयाऽणुवाणण उ वेंति तण्णा ।

ठवायवं कारणमपञ्चो,

कज्जाणि साहेइ पयत्तवं च ॥

अकारणा कार्यस्य सिद्धिरिहासिन् जगति नास्ति, यद्यस्य कार्यस्योपादानं कारणं तत्तेन विना न सिध्यतीत्यर्थः । यथा मृत्पिण्डं विना घट इति । कारणसद्भावेऽपि न च नैव, अनुपायेन उपायाभावेन कार्यं भवतीति तज्ज्ञाः कार्यसिद्धिवेदिनो वदन्ति । यथा मृत्पिण्डसद्भावेऽपि चक्रवीवरौदकाद्युपाय-मन्तरेण घटो न सिद्ध्यति; यः पुनः उपायवान् कारणसंयुक्त-प्रयत्नवान् भवति स साधयति, यथा कुम्भकारो मृत्पिण्डमासाद्य चक्रवीवरौदकाद्युपायमाभिव्यजतितापष्टम्भः स्वदस्तव्यापार-णरूपं प्रयन्ते-कुर्वन् घटं निर्माति ।

आह-यद्येवमुपायकारणयुक्तः कार्याणि साधयति

ततश्नु ते किमायातम् ?, इत्याह--

धम्मस्स मूळं विणयं वयंति,

धम्मो य मूळं खलु सोगईए ।

सा सोगई जत्थ अत्राहया उ,

तम्हा निसेव्वो विणयो तदट्ठा ॥

धर्मस्य श्रुतचारित्र्यरूपस्य मूळं प्रथममुत्पत्तिकारणं विनयम्-भ्युत्थानादिरूपं वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते । स च धर्मः, खलुरवधारणे; सुगतेर्मूलं कारणं मन्तव्यम् ! दुर्गतौ प्रपतन्तं प्राणिनं धारयति सुगतौ च स्थापयतीति निश्चितसिद्धत्वात्, तस्यैतं भावः । अथ सुगतिः कीदृशी गृह्यते ?, इत्याह--सा सुगतिरभिधीयते-यत्रावाधना, क्षुत्पिपासारोगशोकादीनां शरीरमानसानां वाधानामजावसिद्धिरित्यर्थः । यत एव तस्मात्तदर्थं सुगतिनिमित्तं विनयो निषेधः । इदमत्र हृदयम्-इह कार्यं तावदव्याबाधसुखलक्षणो मोक्षः, तस्य च कारणं श्रुतचारित्र्यरूपः सर्वज्ञभाषिता धर्मः सद्गुरोरच्युत्थानवन्दनादिविनयवृत्त-णमुपायमन्तरेण न साधयितुं शक्यते । अतः परम्परया मोक्ष-कारणमेवायमिति मत्वा तदर्थं विनय आसेव्यत इति ।

आह-युक्तं पौरुषीलेपप्रदानादिकारणादभ्युत्थानम्, ग्लानोत्तमार्थप्रतिपन्नयोस्तु किमर्थमच्युत्थानम् ?, उच्यते-

मंगलसच्चाजण्णं, विरियायारो न हाविओ चेव ।

एण्हिं कारणेहिं, अतरंतपरिखुट्ठाणं ॥

अतरन्तो ग्लानः (परिन्तंति) मनुष्ययलोपात् परिज्ञावान् अनशनी, एतया गुरुणामभ्युत्थाने मङ्गलं ज्वति, ततश्च ग्लान-स्याचिरादेव प्रगुणीभवेन, कृतभक्तप्रत्याभ्यानस्य तु निर्विज-मुत्तमार्थसाधनं स्यात् । यथा ग्लानपरिज्ञा भवति तथा गुरुम-भ्युत्तिष्ठति, शेषाणामच्युत्थाने श्रद्धाजननं विहितं, यद्येषोऽप्येवं गुरुमच्युत्तिष्ठति, ततोऽस्माभिः सुतरामभ्युत्थातव्यम् । अपि च-एवं कुर्वता ग्लानेन परिज्ञावता च वीर्याचारो न हापितो भवति, अत एतैः कारणैरेताज्यामच्युत्थातव्यम् ।

(अच्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्तम्)

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमुपदर्शयन्नाह-

चंकमणे पासवणे, वीयारे साहु संजई सन्नी ।

सन्निणि वाइ अमच्चे, संघे वा रायसहिए वा ॥

पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगो य होइ गुरुगो य ।

चत्तारि उट्ठ लहु गुरु, वेदो मूळं तह दुगं च ॥

इह प्रथमगाथायाः द्वितीयगाथायाश्च पदानां यथासंख्येन योजना । तद्यथा-आचार्यं चङ्क्रमणं कुर्वाणं दृष्ट्वा नाच्युत्तिष्ठति पञ्चकं पञ्च रात्रिदिवापि प्रायश्चित्तम्, प्रश्रवणभूम्यामागतं नाच्युत्तिष्ठति भिन्नमासः, विचारसंज्ञां कृत्वा समागतस्यानभ्युत्थाने मासगुरु, संयतीभिः सार्द्धमागतस्यानुत्थाने चतुर्विधु, संज्ञि-नः श्रावकाः, तैः सममायातमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, असंज्ञिभिः सममायातस्यानच्युत्थाने परुवधु, संज्ञिनीजिरसंज्ञिनीभिश्च स्त्रीभिः सममायान्तमनच्युत्तिष्ठतः परुगुरु । वादिना सार्द्धमा-याने अनभ्युत्थिते द्वेदः, अमात्येन सार्द्धमागते मूलम्, संघेन सार्द्धं समायाते अनुत्थिते अनवस्थाप्यम्, राज्ञा सहितं सूरि-मागतमनुत्तिष्ठतः पाराश्रिकम् ।

अथ किमर्थं स्त्रीभिः सममायाते गुरुतरं प्रायश्चित्तम् ?,

उच्यते-

पूयंति पूयं इ-त्थियाउ पाएण ताउ लहुमत्ता ।

एएण कारणेण, एरिसेमुं इत्थिया एत्थ ॥

इह स्त्रियः प्रायेण पूजितं पूजयन्ति, यमेवाचार्यादिकं साधु-
श्चावकादिभिरभ्युत्थादिना पूज्यमानं पश्यन्ति तस्यैव पूजां वि-
दधति, ताश्च स्त्रियः प्रायेण लघुसखास्तुच्छाशया भवन्ति। ततः
साधुभिरनज्युत्थीयमानमाचार्यं गाढतरं परिजवद्व्या पश्य-
न्ति, न किमप्येष आचार्यो जानाति, न वाऽयं विशिष्टगुणवान् सं-
जायते, अन्यथा किमेते साधवो नाभ्युत्तिष्ठन्ति, एवमेतेन का-
रणेन पुरुषेषु साधुश्चावकादिषु पूर्वं लघुतरप्रायश्चित्तमुक्त्वा
पश्चात् स्त्रियोऽधिकृत्य गुरुतरमुक्तम् ।

अथ राज्ञा सार्कं समागतस्यानभ्युत्थाने किं कारणं
पाराश्रिकम् ?, इत्याह-

पाएणिद्धा एंति महायणेण समं फातिं दोसो गच्छइ एएमु
तणु वि गज्जं वक्कं होज्ज कहं वा परिज्जेते वेरुज्जं वा कु-
त्थियवेसम्मि मणुस्से वट्ठा ॥

राजादय ऋक्मन्तः प्रायेण बाहुल्येन महाजनेन सामन्तमन्त्रि-
हत्तमादीनां महता समवायेन समं समागच्छन्ति, तत एतेषु तनु-
रपि स्वल्पोऽपि अनज्युत्थानमात्रवक्त्रणो दोषः स्फूर्तिं गच्छति,
सर्वत्र विस्तरतीति भावः । अपि च-साधुभिरनज्युत्थीयमाने आ-
चार्यः परिभूतो भवति, परिभवपदमुपगच्छतीत्यर्थः । परिभूत-
स्य च वाक्यं वचनं कथं नाम राजादीनां ग्राह्यमुपादेयं भवेत् ?,
वैदूर्यमिव रत्नं कुतिसतवेधं कर्पटिकवेधधारिणि मनुष्ये वर्तमानं
यथा तदीये हस्ते स्थितं सदनर्घ्यमपि तत्र जनस्योपादेयम्, एवं
गुरुणामपि धर्मकथावाक्यं गाम्भीर्यमाधुर्यगुणैरनर्घ्यमपि परिभू-
ततया न राजादीनामुपादेयं भवति । तदनुपादेयतायां च तेषां
सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिरपि न जयति, अतो राज्ञा सार्कं समा-
याते अनभ्युत्थीयमाने पाराश्रिकम् ।

परः प्राह-युक्तं प्रश्रवणभूम्यादेरागतस्याभ्युत्थानम्, यत्तु च-
ङ्क्रमणं कुर्वतोऽभ्युत्थानं तन्नास्माकं युक्तितमं प्रतिभाति ।

यतः-

अवस्सकिरियाजोगे, वट्ठते साहुपूजया ।

परिफगुं तु पासामो, चंक्रमंते वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवश्यं कर्तव्यः क्रियायोगस्तत्र वर्त-
मानो यदा समागच्छति तदा साध्वी श्रेयसी तस्य पूज्यता ।
यदा तु चङ्क्रमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्तते । अतश्च-
ङ्क्रमत्यपि गुरौ यदुत्थानं तत्परिफल्गुनिर्भूतमेव पश्यामः । यत-
उक्तं जगवत्याम्-“ जावं च णं से जीवे आरंजे वट्ठइ संरंभे वट्ठ-
इ तावं च णं तस्स जीवस्स अंतकिरिबा न जवइ ” ॥

अत्र सूरिप्रतिविधानमाह-

कामं तु एअमाणो, अरंजाइमु वट्ठइ जीवो ।

सो उ अणट्ठी णट्ठो, अवि बाहूणं पि उक्खोवे ॥

काममनुमतं यदेष जीव एजमान आरम्भादिषु कर्मबन्धकार-
णेषु वर्तते, स तु स पुनः परस्पन्दोऽनर्थो निष्कारणं नेष्टो नाभि-
मतः । अपि बाह्वेकत्वेपि बाह्वेकत्वेपिमात्रेऽपि, किं पुनः चङ्क्रम-
णादिरित्यपिशब्दार्थः । अर्थादापन्नं-यः सार्थकः चङ्क्रमणा-
दिव्यापारः स इष्ट एवेति ।

अथ सार्थकोऽपि व्यापारः कयमिष्टः ?, इत्यस्यां जिज्ञासायां यथा
१७५

योगत्रयेऽपि व्यापार्यमाणे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्र-
तिपादयति-

मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।

ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्म य गुणावहा ॥

मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भव-
ति, संक्षेपतस्त्रिधायोगो जयतीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा
अयुक्तस्य अनुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय जयन्ति, युक्तस्य तु
त एव गुणावहकर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते ।

इदमेव ज्ञापयति-

जह गुत्तस्मरियाई, न होति दोसा तदेव समियस्स ।

गुत्तीठियप्पमायं, रुंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥

यथा किञ्च मनोवाक्कायगुप्तस्य ईयादिप्रत्यया अनुपयुक्तगम-
नादिक्रिया समुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समितस्यापि च-
ङ्क्रमणं कुर्वत ईयादिप्रत्यया दोषा न जयन्त्येव । किं कारणम् ?,
इत्याह-यदा किल गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो जयति तदा
योऽगुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्तं निरुणद्धि, तन्निरोधश्च तत्प्रत्ययकर्मपि
न बध्नाति, यस्तु समितौ स्थितः सचेष्टस्य यः प्रमादो यश्च तत्प्र-
त्ययः कर्मबन्धस्तयोर्निरोधं विदधाति ।

परः प्राह-यो गुप्तः स समितौ जयत्युत नेति ?, यो वा समितः
स गुप्तो भवत्युत नेति ?, ।

अत्रोच्यते-

समितो नियमा गुत्तो, गुत्ते समियत्तणम्मि भइअन्वो ।

कुसलवइमुदीरंतो, जं वइसमितो वि गुत्तो वि ॥

इह समितयः प्रतीचाररूपा इष्यन्ते, गुप्तयस्तु प्रतीचाराप्र-
तीचारोभयरूपाः । प्रतीचारो नाम कायिको वाचिको व्यापारः,
ततो यः समितः सम्यग्गमनज्ञापणादिचेष्टायां प्रवृत्तः, स नि-
यमाद् गुप्तो गुप्तिगुक्तो मन्तव्यः । यत्र गुप्तः समितत्वे भक्तयो
विकल्पनीयः, तत्र समितः कथं नियमाद् गुप्तः ?, इत्याह-कुशलां
निरवद्यतादिगुणोपेतां वाचमुदीरयन् यस्माद्वाक्समितोऽपि गु-
प्तोऽपि । किमुक्तं भवति?-यः सम्यगनुविचिन्त्य निरवद्यां भाषां
ज्ञापते स ज्ञायासमितोऽपि वाग्गुप्तोऽपि च भवति, गुप्तेरप्र-
तीचाररूपतयाऽप्यभिधानात् । अतः समितो नियमाद् गुप्त इति ।

गुप्तः समितत्वे कथं जजनीयः ?, इत्याह-

जो पुण कायवईओ, निरुज्ज कुसलं मण उदीरेइ ।

चिट्ठइ एकगमणा, सो खलु गुत्तो न समितो उ ॥

यः पुनः कायवाचौ निरुध्य कुशलं शुभं मन उदीरयन् एका-
ग्रमना धर्मध्यानाद्युपयुक्तचित्तः तिष्ठति स खलु गुप्त उच्यते, न
समितः, प्रतीचाररूपत्वात् । यस्तु कायवाचौ सम्यक् प्रयुक्ते
स गुप्तोऽपि समितोऽपि मन्तव्यः ।

अथ समितिगुप्तीनां परस्परमवतारं दर्शयन्माह-

वायगममिई विइया, तइया पुण माणमी भवे समिई ।

सेसा उ काइया उ, मणो उ सव्वासु अविरुओ ॥

वाचिकसमितः, सा द्वितीया वाग्गुप्तिर्मन्तव्या । यदा कि-
ल भाषासमितो भवति तदा यथा भाषाया असमितिप्र-
त्ययकर्मबन्धं निरुणद्धि तथा वाग्गुप्तिप्रत्ययमपि कर्मबन्ध नि-
रुणद्धि, एवं भाषासमितिवाग्गुप्त्योरेकत्वम् । तृतीयं पुनरेष-

काव्या समितिर्मानसी मानसिकोपयोगनिष्पन्ना । किमुक्तं भवति ? यदा साधुरपणासमितो भवति, तदा धोत्रादिभिरिन्द्रियैर्हस्तमात्रकथावनादिसमुत्थेषु शब्दादिपूषयुज्यते । अत एवास्या मनोगुप्तैकत्वं, शेषान् तु समितय इयां आदाननिकेपोऽद्यादिगारिष्ठापनिकाव्याः कायिक्यः-कायचेष्टानिष्पन्नाः । अत एवासां तिष्ठानामपि कायगुप्त्या सहैकत्वम् (मणो उ सव्यासु भविरुद्धोऽस्ति मानसिक उपयोगः सर्वासु पञ्चस्वपि समितिष्वविरुद्धः, समितिर्बन्धकऽप्यस्तीति भावः । अत एव मनोगुप्तस्य सर्वासां समितानां मनोगुप्त्या सहैकत्वं मन्तव्यम् । आह-भिन्नार्थं गृह्णति स्थितस्य तत्राहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयतः धोत्रादिभिरुपयुक्तस्य भाषासमितिमनोगुप्त्ये-पणासमितिनां तिष्ठानामपि संभवां दृश्यते । अतः किमासामेकत्वमुक्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

वयममितां त्रिय जायते, आहारादीणि कषणिज्जाणि ।
एतन्नात्रांगे पुण, मोयहि मागमी जवते ॥

शक्तिप्रकृतिदिदशदोषरहितं मया ग्राह्यमित्येपणासमितिभावमयुक्तो यदा साधुराहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयति तदा वाङ्मयमिव एवासौ जायते, न पुनर्मनोगुप्तः, इत्येवकारार्थः । यदा तु धोत्रादिभिरुपेणायामुपयोगं करोति तदा मानसी नाम गुप्तिर्भवति, मनोगुप्तिरित्यर्थः । न पुनर्वाग्भाषासमितिः । इदमेव तात्पर्यम्-भाषासमितिः, मनोगुप्तिश्चेति द्वे समितिगुती युगपद्वयं भवतः, किन्तु भिन्नकालं, यद्यपि च “मणो य सव्यासु भविरुद्धोऽस्ति” वचनाद् भाषासमितावपि मानसिकोपयोगः समस्ति, तथापि गौणत्वाद्वास्तौ सन्नपि न विवेच्यत इति ।

अपि च-

मो वि य टियम्म चेद्वा, द्रव्यादीणि तु भंगियाईसु ।
मो वि य इरियामपिती, न केवलं चंक्रमंस्स ॥

न केवलं चङ्क्रमतश्चङ्क्रमणं कुर्यत एव इयांसमितिः किन्तु स्थितस्य वसनागमनक्रियामकुर्यते । भङ्गिकादिषु जडवहुलवगम-सद्वलादिभूतेषु परावर्तमानेषु जङ्गकादिरचना यथाऽपि दृष्टादीनां चेष्टा साऽपि परिस्पन्दरूपत्वादीयांसमितिः प्रतिपत्तव्या । यच्च परेण प्रागुक्तं चङ्क्रमणं निरर्थकमित्यादि तत्परिहाराय चङ्क्रमणगुणानुपदर्शयति-

वायाई मट्टाणं, वयंति कुविया उ मंनिरोहेणं ।
लायवमणिपकुत्तं, परिस्पमज्जो अचंक्रमतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्तं यश्चरमेकस्थानोपवेशनलक्षणः सं-क्षिप्तः तेन कुपिताः स्वस्थानाच्चलिता ये वातादयो धातवस्ते चङ्क्रमतो नृयः स्वस्थाने व्रजन्ति । लायवं शरीरे ब्रह्मनाय उपजायते । अन्नपदुत्थं ज्ञानगानत्रपाटवं च भवति । यस्तु व्याख्यानादिजनितः परिश्रमः तस्य जयः कृतो भवति । एते चङ्क्रमतो गुणा भवन्ति, अतो न निरर्थकं चङ्क्रमणम् ।

आह यद्येवं ततः किमवश्यं तत्राभ्युत्थानं कर्तव्यमुत न ?
इत्यशङ्क्यते-

चंक्रमणे पुण जडयं, मा पलिमंयो गुरुविनिव्रम्मि ।
पणिवायवंदणं पृण, काऊण मडं जट्टाजोगं ॥

पुनःशुद्धो विशेषणं । स चैतर्द्धाशुनष्ट-प्रश्रवणविस्मरन्मृग्यादे-रागतस्य गुरोः कर्तव्यमेवाभ्युत्थानम् । चङ्क्रमणे पुनर्भक्तं वि-

कल्पितम् । कथम् ? इत्यत आह-मा सूत्रार्थपरावर्तनायाः परिम-न्योऽव्याघातो भवत्विति कृत्वा यदि गुरवो अनभ्युत्थानं धितर-न्ति तदा नाभ्युत्थातव्यम् । परमेवं गुरुभिर्वितीर्णे सति सहदेक-वारमभ्युत्थानं विधाय प्रणिपातवन्दनशिरःप्रणामलक्षणं कृत्वा भगवन् ! अनुजानीध्वमिति भणित्वा यथायोगं यथेप्सितं सूत्रार्थगुणनादिकं व्यापारं कुर्यात् । अथवा गुरवो न वारयन्ति ततो नियमादभ्युत्थातव्यम् ।

पुनरपि परः प्रेरयति-यदि चङ्क्रमणाभ्युत्थाने सूत्रार्थपरिम-न्यदोषो भवति तत इदमस्माभिरुच्यते-

अइसुद्धमिदं वुच्चं, जं चंक्रमणे वि होइ उच्चाणं ।
एवमकारिज्जंतो, जहगभोई व मा कुज्जा ॥

अतिसुष्ठुतीव प्रबुद्धजनेचित्तमिदं भवद्भिरुच्यते-यच्चङ्क्रमणेऽ-प्यभ्युत्थानं कर्तव्यं भवति । गुरुराह-एवं चङ्क्रमणविषयमभ्यु-त्थानमकार्यमाणा भट्टकजो-जिकस्येव प्रसङ्गतो मा शेषमप्यवि-नयं कार्षुरिति कृत्वा चङ्क्रमणेऽपि अभ्युत्थानं कार्यते । अथ को-ऽयं भट्टकजो-जिकः ? इत्युच्यते । “जहा-एसो भोइओ तस्सरत्ता तुष्टेण गाममंरुत्तं पसासणे दिस्सं । सो तत्थ गतो, ताहे ते गामि-द्वया तुठा भद्वओ सामी व्वसोऽस्ति (अजुरित्यर्थः) तस्रो ते जो-इयं विव्वेति-अदे तव पुत्ताणुपुत्तिं तिच्चा जाया, तो अम्हे चित्तिज्जस्ति कात्तं करं पुत्तपरिमाणाओ थोवतरं करेहि, जो-इएण अन्नवगयइ । अन्नया जं जं ते विव्वेति तो तं सो भद्व-ओ तेसि गामेत्तयाणं अनुगगहं करेइ । अइवीसत्थत्तेण ल-द्धपसरा ते जहारिहं विण्यं भसिउमाढत्ता । ततो भोइयेण रुद्धेण ते गामिद्वया दिस्सिया, केइ उद्विया” । एस दिट्ठतो । अ-यमन्तोवण्णो-“ चंक्रमणे अणुत्पादणे, सेसं पि विण्ये परिहविज्ज, ततो रुठा आयरिओ पच्छिज्जं दिडिज्जा, जे य तत्थ अच्चावराहिणो ते गच्छाओ निच्छुज्जिज्जा, विणयमकारिज्जंता य ते इहलोए पारवोए य परिच्छत्ता जवन्ति । आयरिओ य सरणमुचगयाणं तेसि न सरंखणकारी भवेइ, अओ चंक्रमणे वि ते अणुत्पादणे कारिज्जंति” ।

अपि च-

वमजाण होति ब्रह्मणा, असारणे सारणे अपच्छित्ता ।
ते वि य पुरिमा लुविहा, पंजरजग्गा अजिमुहा य ॥

ये ते गुरुचङ्क्रमणादिषु नाभ्युत्तिष्ठन्ति तान् यदि वृषभा न सार-यन्ति-कस्माद्वाचायान्नाभ्युत्तिष्ठथ ? ततो वृषजाणां चतुर्लघवः । अथ वृषजैः प्रतिनोदिताः परं ते न प्रतिश्रूयन्ति, ततः सारणं कृते सति वृषभा अप्रायश्चित्ताः, इतरे प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अनभ्युत्थाने असारणायां चामो दोषा जवन्ति-ये प्रतीच्छुका उपसंप्रतिपत्त्यर्थमायाताः ते द्विविधा पुरुषा भवन्ति-पञ्जर-जग्गाः, संयमाभिमुखाश्च । तत्र गच्छे वसतां यदाचार्यापाध्या-यप्रवक्तृकं व्यविरगणावच्छेदिकाख्यपदस्थपञ्चकस्य पारतन्त्र्यं यावत् परम्परं प्रतिनोदिताः, एतत् पञ्जरमुच्यते, एतस्मात् प-ञ्जरजग्गा निन्दिताः पञ्जरभग्नाः संयमाभिमुखास्तु-पाध्वस्था-द्ययवभग्नाविहागिगच्छाचारित्राभिलापितार्कविग्रगच्छं प्रवेष्टु-कामाः तत्र ये पञ्जरभग्ना आगतास्तेषामनभ्युत्थानविषयाः ।

मुख्यस्तु पार्श्वस्थाद्यप्रतिनोदितां दृष्ट्वा चिन्तयति-
जग्गा कटी अनुच्चा-णोण देइ अणुत्पादणे सोही ।
अनिरोहमृहो वामो, होइइ णे इत्थं चिट्ठापो ॥

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे वसन्तामाचार्यस्य चङ्क्रमणादिषु वारं वारं अभ्युत्थानेन कटो जग्ना, अथासौ नाच्युत्थीयते तदा शोधि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति, गच्छे च खरपक्षैः खरगृह्यति, अस्मिन्तु गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरगृह्णा, अतोऽनिरोधोऽनि- यन्त्रणा, तेन सुखं सुखदायी वासोऽत्र 'ए' अस्माकं न विष्यति, ति- ष्ठाया वयमत्रेति कृत्वा तत्रैव तिष्ठेयुः, न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः ।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभग्गो न रोयए ते उ ।

अन्नत्थ वि सङ्गत्तं, न लब्धं एति तत्थेव ॥

ये पुनरुज्जयचरणाः स्वल्पेऽप्यनच्युत्थानादावपराधे सम्यक्- प्रतिनोदमाकारिणः तान् पञ्जरज्ज्ञो न रोच्यन्ते, न रुचिपथं प्रापयति । चिन्तयति च-अन्यत्रापि गच्छान्तरे स्वैरित्ये स्वात- न्त्यं न लभ्यत इति विचिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति । अत्र संयमाजिमुखोऽसौ समागतस्ततः किम् ? इत्याह-

चरणोदासीणे पुण, जो विपजहाय आगतो ममणो ।

मो तेसु पविममाणो, सद्धं वद्धे ओज्जआं वि ॥

यः पुनः श्रमणश्चरणोदासीनान् पार्श्वस्थादीन् सुखशालविहा- रिणो विप्रहाय संयमाभिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्त- रीयेषु साधुषु प्रविशन् उभयेवामपि साधूनां श्रद्धां वर्कयति । तथाहि-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तदीयाः साधवः चिन्तय- न्ति-एष "सुन्दरा अमी" इति परिज्ञाव्यास्माकं मध्ये प्रविशति, अतः सुन्दरतरं कुर्महे । यस्मादपि गच्छादायातः तदीया अपि चिन्तयन्ति-अस्मान् सुखशीलानिति विज्ञायैव गच्छान्तरं गच्छ- ति, अतो वयमुद्यता भवाम इति ।

अथासौ संयमाजिमुखस्तत्रापि सामाचारीहापनं प्रतिनोदना- या अभावं च पश्यति, ततश्चिन्तयति-

इत्थं वि मेगाहाणी, एते वि हु सारवारणामुक्का ।

अन्ने वयः अजिमुट्ठो, तप्पच्चयनिजराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन् विद्यापशब्दार्थः । मर्यादाया अच्युत्थानादिसामाचार्या हानिरवबोध्यते, एतेऽपि च साधवः सारणवारणया मुक्काः परिस्फुटं प्राक्तनगच्छसाधव इव नि- र्गलाः समीक्ष्यन्ते, अतः को नामामीषां समीपे स्थास्यतीति मत्वा स संयमाभिमुखः साधुरस्यान् गच्छान्तरीयान् सा- धून् व्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानि- रिति चेत् ? अत आह-तत्प्रत्यया-तस्य साधोः संयमानुपायना- पष्टम्भकारणहेतुका या निर्जरा, तस्या हानिः प्राप्नोति, सा न अवतत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ?, इत्याह-

जहि नत्थि सारणा वा-रणा य पडिवायणा य गच्छम्मि ।

सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तवो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेदं न कृतमित्येवंरूपा स्मारणा सारणा, अकर्तव्यनिषेधो वारणा, उपलक्षणत्वादित्यथा कर्तव्य- मनाभोगादिना अन्यथा कुर्वतः सम्यक् प्रवर्तना प्रेरणा, वारित- स्यापि पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य खरपरुषोक्तिभिः शिकरणं प्रति- नोदनाः एताः सारणादयो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छे गच्छ- कार्यकरणादगच्छे मत्तवः । अत एव संयमकामिना संयमा-

भिमुखेन साधुना मोक्तव्योऽसौ, नाश्रयणीय इति भावः । गा- थायां प्राकृतत्वादिकारस्य दीर्घत्वम् ।

प्रकाशान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधिःसुः प्रस्तावनामाह-

अयमपगो उ विकप्पे, पुच्चावरवाहय त्ति ते बुद्धी ।

लोए वि अणेगविहं, नणु भेमज मो रुजोवसमे ॥

अयमप्रेतनगाथायां वक्तव्यमाणोऽपगः प्रायश्चित्तस्य विकल्पः प्र- कारः । अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहतमिदम्, पूर्वमन्याहृतं प्राय- श्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमन्याहृतमभिधीयते तदेतत् पूर्वापरवि- रुद्धमिति ते तत्र बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु श्लोकेऽपि रुजोपश- मे विधातव्ये यथा त्रिफलात्रिकटुकादिभेदादनेकविधं ज्ञेयं, 'मो' इति पादपूरणे । प्रयुज्यमानं दृष्टमेव, एवमत्राप्येकस्यै- वानभ्युत्थानस्य तथा केवलमहाजनादिनेदनानेकविधं प्रायश्चित्त- मभिधीयमानं न विरुद्धते ।

इत्थं पराजिज्ञानं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह-

वीयारमाहुमंज-निगमघटासंघरायसहिण तु ।

लहुगो लहुगा गुरुगा, उम्पामा छेदमूलदुग्गं ॥

आचार्य विचारभूमेरागतं ताभ्युत्तिष्ठन्ति मासलघु, साधुभिः सममायातमनच्युत्तिष्ठतां चतुर्लघवः, संयतीतिः समं चतुर्गु- वः, निगमैः पौरवाण्यिशेषैः समं परलघवः, घटया महत्तरा- दिगोष्ठीपुरुषसमवायलक्षणया समं छेदः, संघेन समं मूलम्, राज्ञा सममनवस्थाप्यम् । (सहिणंति) संघसहितेन राज्ञा सममायातमनच्युत्तिष्ठतां पाराश्रिकम् । गतमच्युत्थानम् । वृ० ३ उ० । (यत्रावसरं यैर्वा कारणैरभ्युत्थानं न कर्तव्यं तदे- तत् सर्वं 'अइसेस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४ पृष्ठे दर्शितम्) पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यच्युपगमे, स्था० ३ ग्रा० ३ उ० । प्रत्येने, स्था० २ ग्रा० १ उ० । आसनत्यागरूपे, संभोगासंभोगस्थाने यथा पार्श्वस्थादिच्युत्थानं कुर्वन्सद्विस्मोग्यः । स० १२ सम० । प्रव० । आव० । आ० चू० । गुरुनागतान् दृष्ट्वा स्वकीय- स्थानादूर्ध्वोभवने, उक्त० ३३ अ० । (अच्युत्थाने दण्डकः 'सङ्कार' शब्दे दर्शयिष्यते) (त्रिभिः स्थानैर्देवा अभ्युत्तिष्ठ- युरिति 'मणुस्सलोय' शब्दे दर्शयिष्यते) ।

अञ्जुट्टितए-अच्युत्थातुम्-अव्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ ग्रा० १ उ० ।

अञ्जुट्टिय-अच्युत्तियत्-त्रि० । कृतोद्यमे, "अञ्जुट्टियं रायरि- सि, पव्वजागणमुत्तमं" उक्त० ९, अ० । "अञ्जुट्टिपसु मेहेसु" प्रवेष्टणाय कृतोद्यमेषु, ज्ञा० १ अ० । प्रारब्धे, ध० ३ अधि० । अभ्युदिने, उक्त० ६ अ० । सं० ।

अञ्जुट्टेत्ता-अच्युत्थातु-त्रि० । अच्युपगन्तरि, स्था० ५ ग्रा० १ उ० ।

अञ्जुट्टेयव-अच्युत्थातव्य-त्रि० । अच्युपगन्तव्ये, स्था० ८ ग्रा० १ उ० ।

अञ्जुट्टेय-अच्युत्थान-त्रि० । उन्नतिमति, ज्ञा० १ अ० ।

"अञ्जुस्यरह्यतलितं वसुदीनद्धतस्वा" अच्युन्नता गतिः सुखदाः, अथवा रचिता इव रचिताः, तद्धिनाः प्रवन्नाः, ताम्रा आरक्ताः, शुचयः पवित्राः, स्निग्धाः कान्ताः, नखा येषां ते तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । "अञ्जुत्तयपणीणइयसंविपपणोहरा" अच्युन्नतायुच्चो पीनो स्थूलो गतिदौ सुखप्रदौ संसितौ विशिष्ट-

संस्थानवन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा तथा । (वरतरुणी)
जी० ३ प्रति० । ज्ञा० । अत्युत्कटे, स्था० म० प्र० । जं० । रा० ।

अनुत्त-स्ना-धा०, पर०, अदा० । शौचे, " स्नातेरनुत्तः " ।
। ७ । ४ । १४ । इति सूत्रेण धातोः ' अनुत्त ' इत्यादेशः ।
अनुत्त-स्नाति । प्रा० ४ पाद । प्र-दीर्घ-धा०, दिवा० ।
आत्मप्रकाशे, " प्रदीपस्तेभव-संक्षुम्भसंभुक्कानुत्ताः " ॥ ४ ।
१५२ । इति सूत्रेण प्रदीप्यते : ' अनुत्त ' आदेशः । अनुत्त-
त्त-प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

अनुदय-अच्युदय-पुं० । राजलक्ष्म्यादिलाभे, ज्ञा० २ अ० । अ-
च्युदयो यथेह राज्याजिपेकादिप्रीत्ये भवति तथा स्वर्गापवर्ग-
प्राप्तेतुत्वादस्य संस्तारकस्य, अत एषोऽच्युदयः । संथा० ।

अनुदयफल-अच्युदयफल-त्रि० । अभ्युदयनिवर्तके, पा०
ए विव० ।

अनुदयहेतु-अच्युदयहेतु-पुं० । कल्याणनिमित्ते, पञ्चा० ७
विव० ।

अनुदयावुच्चित्ति-अच्युदयावुच्चित्ति-स्त्री० । स्वर्गादेरव्य-
वच्छेदे सन्ततौ, पा० ६ विव० ।

अनुय-अधुत-त्रि० । सकलश्रवणातिशयिनि भुतशिल्प-
त्यागतपःशौर्यकर्मादिके अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्श-
नश्रवणादिभ्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं० अनु० ।

अदनुतरसं स्वरूपतोऽकृणतश्चाऽऽह-

विस्मयकरो अपुव्वो, अनुत्तअपुव्वो य जो रसो होइ ।

हरिसविमाओपत्ती-लखणा उ अनुभुओ नाम ॥ ६ ॥

अनुओ रसो जहा-

अनुअतरमिह एतो, अन्नं किं अत्थि जीवलोगम्मि ।

जं निणवयणे अत्या, तिकालजुत्ता मुणिज्जंति ।

कस्मिंश्चिदनुभूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्ष-
रूपो यो रसो जवति साऽदनुतो नामेति संज्ञः । कथंभूतः ? ,
अपूर्वोऽनुभूतपूर्वो वा । अनुभूतपूर्वः किंलक्षणः ? , इत्याह-
हर्षविषादात्पत्तिवृत्तः, शुभं वस्तुन्यद्वृत्ते दृष्टे हर्षजननल-
क्षणः, अशुभं तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः । उदाहरणमाह-"अ-
नुय"-नाहा । इह जीवलोकेऽदनुतरं इतो जिनवचनात् कि-
मन्यदस्ति, नास्तीत्यर्थः । कुतः ? , इत्याह-यद्यस्माज्जिनवचने-
नार्था जीवादयः सूक्ष्मव्यवहिततिरोहिताऽनीन्द्रियामूर्तादि-
स्वरूपा अतीतानागतवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्ते
इति । अनु० । " अनुय गोए अनुए वाइए अनुए नट्ट " अ-
दभुतमाश्चर्यकारि । रा० ।

अनुवगम-अच्युपगम-पुं० । अङ्गीकरणे, स्था० २ गा० ४ उ० ।

अनुवगमसिद्धन्त-अच्युपगमसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तभेदे, वृ०

स च-

जं अनुविच्च कीरट्ठ, मेच्छाए कदा स अनुवगमो उ ।

मीतो बन्दी गयजू-ह तणगे मग्गुखरसिगा ॥

यत्त अन्युपेत्थ्ये स्वेच्छया अभ्युपगम्य वादकथा क्रियते । यथा-
श्रोतो वन्दिः, गजयूयं तृणमे, मज्जो जलकाकस्य, खरस्य च शृङ्ग-

म, इत्येवोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । वृ० १ उ० । अपरीक्षितार्थाभ्यु-
पगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः । तद्यथा-किंशब्दः ? ,
इति विचारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽ-
थानित्य इत्येवं विचारः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अनुवगय-अच्युपगत-त्रि० । अत्रि अभिमुख्येनोपगतः ।
आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । अभ्युपगमवति, व्य० ७ उ० ।
संप्राप्ते, पा० । श्रुतसंपदोपसंपन्ने, आ० म० प्र० । अङ्गीकृते,
पं० व० १ द्वार ।

अनुवगमिया-अच्युपगमिकी-स्त्री० । अच्युपगमेनाङ्गीक-
रणेन निर्वृत्ता तत्र भवा वाऽऽभ्युपगमिकी । स्वयमभ्युपगतायां
(वेदनायाम्) । स्था० २ गा० ४ उ० । या हि स्वयमभ्युपगम्यते
यथा-साधुभिः प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्यचू मिश्रचनकेशो-
ल्लुञ्जनातापनादिभिः शरीरपीडाभ्युपगमनम् । ज० १ श० ४
उ० । " दुविडा वेदणा पञ्चता । तं जहा-अनुवगमिया य
उवक्कमिया य " प्रज्ञा० ३४ पद ।

अभग-अजग-त्रि० । न भग्नोऽजग्नः । सर्वथाऽविनाशिते,
" एवमादिपहिं आगारेहिं अजग्गो अविगहिओ हुज्ज मे काउ-
स्सग्गो " । आच० ५ अ० । ध० । ल० । आ० चू० ।

अभगसेण-अभगमेन-पुं० । विजयाजिधानचौरसेनापति-
पुत्रे, विपा० । तत्कथानकं चेदम्-

तच्चस्स उक्खेवो एवं खलु-जंजू ! तेणं कालेणं तेणं
समएणं पुरिमतालणामं एयरं होत्था, रिच्छिं तस्स एणं
पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ एणं अ-
मोहदंसी उज्जाणे, तत्थ एणं अमोहदंसिस्स जक्खस्स
जक्खायतणे होत्था, तत्थ एणं पुरिमताले महव्वले
णामं राया होत्था, तत्थ एणं पुरिमतालस्स एयरस्स
उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसपंते अरवी संसया । एत्थ
एणं सालारवी णामं चोरपट्ठी होत्था, विसमगिरिकं-
दरकोलंवसणिणविट्ठा वंसीकलंकपागारपरिक्खित्ता वि-
एणसेल्लविसमप्पवायफरिहोवगूढा अर्द्धिजतरपाणिया सु-
दुद्धभजल्लपेरंता अणेगखंडी विदितजणदिणनिग्गम-
प्पवेसा भुवहुयस्स विकविजयस्स जणस्स दुप्पवेसाया
वि होत्था । तत्थ एणं सालारवीए चोरपट्ठी विजण
णामं चोरसेणावइ परिवसइ, अहम्मिणं जाव लो-
हियपाणी बहुणयरणिग्गयजसे मूरे दहप्पहारे साहस्सिए
सहवेही असिल्लट्ठिपढमट्ठे, से एणं तत्थ सालारवी चोर-
पट्ठीए पंचएहं चोरसयाणं आहिवचं जाव विहरइ । तए एणं
से विजण चोरसेणावइ बहुणं चोराण य पारदारियाण
य गंठिच्छेयाण य संधिजेयाण य खंरुपट्ठाण य अएणे-
सिं च वहुणं विणणिभाणवाहिंराऽहियाणं कुरुंगेया वि
होत्था । तएणं विजयचोरसेणावइपुरिमतालस्स एयरस्स
उत्तरपुरिच्छिमिल्लं जणवयं वट्ठिं गामघाएहि य एयर-

घाएहि य गोमहणेहि य वंदिगहणेहि य पंथकोट्टेहि य
खत्तखणणेहि य उवीक्षेमाणे उवीलेमाणे विद्धंसेमाणे
विद्धंसेमाणे तज्जेमाणे तज्जेमाणे ताक्षेमाणे तालेमाणे
णित्थाणे णिच्छणे णिक्कणे करेमाणे विहरइ, मह-
व्वलस्स रएणो अज्जिक्खणं २ कप्पाइं गिएहइ, तत्थ एं
विजयस्स चोरसेणावइस्स खंधसिरी णामं चारिया होत्था ।
अहीणं तत्थ एं विजयचोरसेणावइस्स पुत्ते खंधसिरीए
भारियाए अत्तए अज्जगसेणं णामं दारए होत्था अही-
णं । तेणं काक्षेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरं
पुरिमतालणामं एयरं जेणेव अमोहदंभी उज्जाणे तेणेव
समोसठे परिसा राया निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा राया
विग्गओ, तेणं काक्षेणं तेणं समएणं समणस्स जगवओ
महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी गोयमे० जाव रायमगं समो-
वगाढे तत्थ णं बहवे हत्थी पासइ, तए णं तं पुरिसं राया
पुरिसा पढमंसि चच्चरंसि णिसियावित्ति, णिसियावित्तिता
अट्टचुट्ठपिउए अग्गउघाएइ कसप्पहारेहि ताक्षेमाणे २
कल्लुणं काकणिमंसाइं खावेइ, खावेइत्ता रुहरपाणं च पाय-
त्ति । तयाणंतरं च णं दोच्चं पि चच्चरंसि अट्टमहापिउए,
अग्गयो घाएयति, घाएयत्तिता एवं तचे० अट्टमहापिउए,
चउत्थे० अट्टमहामाउए, पंचमे पुत्ता, छठे सुएहा, सत्तमे
जामाउया, अट्टमे धूयाओ, णवमे णत्तुया, दसमे णत्तुयओ,
एकारसे णत्तुयावइ, बारसमे णइणीओ, तेयारसमे उस्सिय-
पतिया, चउदसमे पिउस्सियाओ, पम्परसमे मासियाओ पइ-
याओ, सोद्वसमे मासियाओ, सत्तरसमे मासियाओ, अट्ठा-
रसमे अवसेसं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणं अग्ग-
ओ घायंति, घायंतिता कसप्पहारेहि ताक्षेमाणे ३ कल्लुणं का-
कणिमंसाइं खावेइ रुहरपाणं च पाएइ । तए णं से भगवं गो-
यमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयमेयारूवे अज्जवत्थिये ५
समुप्पणे० जाव तदेव णिग्गए एवं वयासी-एवं खलु अहं
भंते !-से णं जंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी० जाव विहरइ ।
एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्वीवे
चारहेवासे पुरिमताक्षे णामं णयरं होत्था, रिच्छि० ३ तत्थ णं
पुरिमताले उदये णामं राया होत्था, महया तत्थ णं पुरिमताक्षे
निन्नए णामं अंरुवाणियए होत्था, अहे० जाव अपरिभूए
अहम्मिए० जाव दुप्पमियाणंदे तस्स णं णिएणियस्स अं-
डयवाणियस्स बहवे पुरिसा दिस्सज्जित्तित्तवेयणा कट्ठाकाद्धि
कोहालियाओ य पत्थियाए पम्पि गेएहइ, गेएहइत्ता पुरि-
मतावस्स एयरस्स परिपेरंतं सुबहुकाकअंरुए य घूतिअंरु-
ए य पारेवइट्टेज्जिखगिमयूरिकुकुडिअंडए य अएणेसिं
चेव बहूणं जलयरथलयरखहयरमाइणं अंरुइं गेएह-

इ, गेएहइत्ता पत्थियपम्पिगाइं जरेइ, जरेइत्ता जेणेव
निएणए अंरुवाणियए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता
णिएणयस्स अंरुवाणियस्स उवणेइ, तए णं तस्स
णिएणयस्स अंरुवाणियस्स बहवे पुरिसा दिएणभए
बहवे कायअंरुए य० जाव कुकुरुअंरुए य अएणेसिं च बहूणं
जल्यवस्सखचरमाइणं अंडए तवएसु य कंरुएसु य जज्ज-
णएसु य इंगाक्षेसु य तलित्ति जज्जंति सोद्धित्ति, तद्धिता
जज्जंता सोद्धिता य रायमगं अंतरावणंसि अंडयपणियणं
वित्ति कप्पेमाणे विहरइ, अप्पणो वि य णं मे णिएणए
अंरुवाणियए तेसि बहूहि कायअंरुएहि य० जाव कुकुडि-
अंरुएहि य सोद्धेहिं तद्धि भज्जे सुरं च ४ आसाए ४
विहरइ, तए णं से णिएणए अंडए एयकम्मे ४ सुवट्ठपावं
समज्जित्ता एणं वामसहस्सं परमाउं पालइ, पालइत्ता कालमामे
कालं० तच्चाए पुढवीए उक्कोससत्तसागरादमट्ठित्तीएसु एरइ-
एसु एरइयत्ताए उववस्से, से णं ताओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता
इहेव सालारुवीए चोरपट्ठीए विजयस्स चोरसेणावइस्स खं-
दसिरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववस्से, तए णं मे
खंदसिरीचारियाए अणया कयाइं तिहं मासाणं बहुपम्पि-
पुष्पाणं इमेयारूवे दोहत्ते पाउञ्जूए-धम्माओ णं ताओ अम्म-
याओ ४ जाणं बहूहि मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियण-
महिद्धाएहिं अमेहि य चोरमहिद्धाहिं सच्छि संपरिवुत्ता
एहाया० जाव पायच्छित्ता सव्वाअंकारचूडिया विउलं
असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विह-
रइ । जिमियभुत्तुत्तरागयाओ पुरिमणवत्थिया सक्खइ० जाव
पहरणावरणाभरिएहि य फलएहिं णिकिद्धाहिं असीहिं
अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुहिं समुक्खित्तेहिं सरोहिं
समुद्धावेलियाहि य दामाहिं लंवियाहिं उमारियाहिं
उरुवट्ठाहिं डिप्पत्तेरेणं विज्जमाणे विज्जमाणे महया २
उकिट्ठ० जाव समुहरवज्जूयं पि व करेमाणीओ साद्धाढ-
वीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ द्वाएमाणीओ २ अ-
हिंरुमाणीओ २, दोहलं वि णित्ति-तं जइ अइं अहं पि
बहूहि णाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिद्धाइं अमेहिं सा-
द्धाडवीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ द्वाएमाणीओ २
आहिंरुमाणीओ २ दोहलं विणिज्जामि त्ति कट्ठं तंमि
दोहसंसि अवणिज्जमाणंसि० जाव जिज्यामि तए णं से
विजए चोरसेणावइ खंदसिरीचारियं ऊहय० जाव पासइ
एवं वयासी-किएहं तुम्हं देवा ऊहय० जाव जिज्यासि,
तए णं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयामी-एवं
खलु देवाणुप्पिया ! ममं तिहं मासाणं० जाव जिज्यामि, तए
णं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीचारियाए अंतियं
एयमदं मोच्चा णिसम्म खंदसिरीभारयं एवं वयासी-

अहामुहं देवाणुप्पिण ! एयमट्ठं पस्सिमुणेइ, पडिणेइत्ता तथा-
णंतं सा खंदमिरी जारिया विजएणं चोरसेणावइणा अञ्ज-
णुष्साया समाणी हट्ठुट्ठवहुहिं मित्तं जाव अस्सेहियवहुहिं
चोरमहिंजाहिं मदिं परिवुत्ता एहाया० जाव विजूसिया विपुलं
असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणी ४ विहरइ ।
जिमियजुत्तुत्तरागया पुरिसणेवत्ता समुच्चवद्धं जाव आ-
हिंइमाणं । दोहलं वि णिति, तए णं मा खंदमिरी जारिया
संपुष्पदोहत्ता समाणीयदोहत्ता विणियदोहत्ता वोच्चि-
एणदोहत्ता संपुएणदोहत्ता तं गम्भं सुहं सुहेणं परिवहइ,
तए णं मा खंदमिरी चोरमेणावइणी एवएहं मासाणं व-
हुपप्पिणुष्साणं दारयं पयाया । तए णं से विजयचोरमेणा-
वइ तस्स दारगस्स इहीसकारसमुदएणं दसरत्ताइइपस्सियं
करइ, तए णं से विजयचोरमेणावइ तस्स दारगस्स ए-
कारसमे दिवसे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्ख-
णावेइ, उवक्खणावित्ता मित्तणाइ० आमंतएइ, आमंतइत्ता०
जाव तस्सेव मित्तणाइपुरओ एवं वयासी-जम्हा णं अम्हं
इमंसि दारगंसि गम्भगयंमि समाणंसि इमेया रुवे दोहत्ते
पाउञ्चए तम्हा णं होउं मम्हं दारए अभंगसेणणामेणं,
तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचधाइ० जाव परिघायइ, तए
णं से अजंगसेणं णामं कुमारे उम्मुक्कवालजावे यावि हो-
त्ता, अट्ठदारियाओ० जाव अट्ठओ दाओ उप्पि जुंजइ ।
तए णं से विजए चोरमेणावइ अएणया कयाइ कान्नाधम्म-
णा संजुत्ते, तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचाहिं चोरमएहिं
सद्धिं संपरिवुत्ते रीयमाणे विजयस्स चोरमेणावइस्स महया
इहीसकारसमुदएणं णीहरणं करइ, करइत्ता वहुहिं दोइयाइं
मयकिचाइं करइ, करइत्ता कात्तेणं अप्पए जाए यावि होत्ता,
तए णं से अजंगसेणकुमारे चोरमेणावइ जाए अहम्मिए०,
जाव कप्पाइं गेएहइ, गेएहइत्ता तए णं ते जाणवया पुरिसा
अजंगसेणचोरमेणावइणा बहुगमघायावणाहिं ताविया स-
माणा अस्समणं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु
देवाणुप्पिया ! अजंगसेणचोरमेणावइया पुरिमतात्ते णयरे
पुरिमतात्तेणयस्स उत्तरिद्वं जणवयं वहुहिं गामपाएहिं०
जाव णिच्छणं करमाणे विहरइ, तं मेयं खलु देवाणुप्पिया !
महब्बलस्स रणो एयमट्ठं विएणवित्तए तए णं जाणवया
पुरिमा एयमट्ठं अएणमाणं पस्सिमुणेइ, पस्सिमुणेइत्ता महत्तयं
महत्तयं महरिदं रायरिदं पाहुनं गिएहइ, गेएहइत्ता जेणेव पु-
रिमतात्ते णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जेणेव म-
हब्बले राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता महब्बलस्स
रणो तं महत्तयं० जाव पाहुनं उवणेइ करयत्तअज-
त्तिं कट्ठु महब्बलं रायं एवं वयासी-तुब्बं वाहुच्छा-
या परिगहिया निन्नया निरुविग्गा सुहं सुहेणं प-

रिवसित्तए मालारुवीचोरपद्धीए अजंगसेणे चोरसेणा-
वइ अम्हं वहुहिं गामपाएहिं य० जाव णिद्धणे कर-
माणे विहरइ, तं इच्छामि णं सामी ! तुब्बं वाहुच्छाया परि-
ग्गहिया णिन्नया निरुविग्गा सुहं सुहेणं परिवसित्तए णि
कट्ठु पायवकीया पंजत्तिउत्ता महब्बलरायं एयमट्ठं विएणवत्ति।
तए णं से महब्बले राया तेसिं जणवयाणं पुरिसाणं अं-
तिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आरुमुत्ते० जाव मिसिमिसे-
माणे ति वलियं भित्तिं णिद्धाणे साहट्ठु दंदं सदावेइ, सदा-
वेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुब्बं देवाणुप्पिया ! सात्ता-
रुविचोरपद्धिं विवुत्ताहिं अभंगसेणचोरसेणावइं जीवग्गाहिं
गिएहइत्ता ममं उवएणेहि, तए णं से दंमे तह त्ति
एयमट्ठं पडिमुणेइ, पस्सिमुणेइत्ता तए णं से दंमे वहुहिं पुरि-
सेहिं समुद्धं जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुत्ते मगइएहिं
फलएहिं० जाव त्रिप्पतरहिं वज्जमाणेणं महया उकिट्ठणायं
करमाणे पुरिमतात्ते णयरे मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, नि-
ग्गच्छइत्ता जेणेव सालाढवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्यग-
मणाए तए णं तस्स अभंगसेणावइस्स चोरपुरिसे इमी से
कहाए लच्छट्ठे ममाणे जेणेव सालाढवी चोरपद्धी जेणेव अ-
भंगसेणावइ तेणेव उवागया करयल० जाव एवं वयासी-
एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतात्ते णयरे महब्बलेणं र-
णा महया भरुचरुगरेणं परिवारेणं दंदे आणए-गच्छइ णं
तुमं देवाणुप्पिया ! सालाढवीचोरपद्धिं विलुत्ताहि, अभं-
गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहिं गिएहेहि, गिएहेइत्ता ममं
उवणेहि । तए णं से दंमे महया भरुचरुगरेणं जेणेव सा-
लारुवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्य गमणाए तए णं से अजं-
गसेणचोरसेणावइ तेसिं चोरपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा
णिसम्म पंचचोरसयाइं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं
खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतात्ते णयरे महब्बले० जाव तेणेव
पहारेत्य गमणाए आगए, तए णं से अभंगसेणे ताइं पंच
चोरसयाइं एवं वयासी-तं से यं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं
तं दंमं सालारुविं चोरपद्धिं अंमं पत्तं अंतरा चेव पस्सिहि-
त्तए, तए णं ताइं पंच चोरसयाइं अजंगसेणस्स तह त्ति०
जाव पस्सिमुणेइ, पस्सिमुणेइत्ता तए णं से अभंगसेणे चोर-
सेणावइं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खणावेइ, उ-
वक्खणावेत्ता पंचाहिं चोरसएहिं सद्धिं एहाए० जाव पायच्छि-
त्ते जोयणमंरुवांसि तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं
च ५, आसाएमाणं ४ विहरइ । जिमियजुत्तुत्तरागए वि य
णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुत्तए पंचाहिं चोरसएहिं
सद्धिं अल्लं चम्पं उरुहइ, उरुहइत्ता सप्पच्चं० जाव पहरणे
मगइ तेहिं० जाव रवेणं प्रवावरएहकालसमयांसि सात्ता-
रुवी चोरपद्धियाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता विसमदु-

गगहणं त्रिण गहियजत्तपाणिणं तं दंरं पन्निवालेमाणे चि-
ट्टइ, तणं से दंरं जेणेव अभंगसेणे चोरसेणावइए तेणे-
व उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता अजंगसेणेणं चोरसेणावइएणा
सद्धिं संपल्लग्गेया वि होत्था । तणं से अजंगसेणे चोर-
सेणावइ तं दंरं खिप्पमेव हयमहियं जाव पन्निसेहंति,
तणं से दंरं अभंगसेणे चोरसेणावइ हयं जाव प-
न्निसेहिए समाणे अत्यामे अवले अवीरिए अपुरिसका-
रपरकमे आधारणिज्जेमि त्ति कहु जेणेव पुरिमताले ए-
यरे जेणेव महव्वले राया तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता
करयलं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! अभंगसेणचोरसे-
णावइ विसमज्जगगहणं त्रिण गहियजत्तपाणिणं एणो ख-
लु से सका केणइ सुवहुएण वि आमवलेण वा हत्थिवले-
ण वा जोहवलेण वा रहवलेण वा चाउरंगिणं पि उरं
उरेण गिएहत्तए, ताहे सामेण य भेदेण य उवप्पदाणेण य
बीभंजमाणे उपत्तेयावि होत्था । जे दंरं य वियसे अ-
र्जितरगा सीमगसमामित्तणाइणियसयणसंबंधिपरियणं च
विपुल्लेण धणकणगरयणसंतसारसावए जेणं भिदइ अज-
गसेणस्स य चोरसेणावइ अजिक्खणं अजिक्खणं महत्थाइं
महग्घाइं महरिहाइं पाहुडाइं पेनेइत्ता अजंगसेणं च चोरसे-
णावइ बीसंजमाणेइ, तणं से महव्वले, राया अण्णया
कयाइ पुरिमताले एयरे एगं महं महइ महालियं कूमागार-
सालं करेइ, अणेगखंभसयपासा ४, तणं से महव्वले राया
अण्णया पुरिमताले एयरे उस्सुक्के जाव दसरत्तं पमोयं उ-
ग्घोसावेइ, उग्घोसावेइत्ता कोमुं वियपुरिसे सदावेइ, सदावेइत्ता
एवं वयासी-गच्छइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! साझाकवीए
चोरपट्ठीए तत्थ णं तुब्भे अजंगसेणं चोरसेणावइएणं कर-
यलं जाव वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतां
महव्वलस्स रणो उस्सुक्के जाव दसरत्ते पमोदुग्घोसिए
तं किष्णं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे य इहं हव्वमाणिज्ज उदाहु सयमेव
गच्छित्ता तणं कोमुं वियपुरिसे महव्वलस्स रणो करयलं
जाव पन्निमुणेइ, पन्निमुणेइत्ता पुरिमतालाओ एयराओ
पन्निं पन्निं एणइक्कडेहिं अण्णाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं
जेणेव साझाकवी चोरपट्ठी तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता
अजंगसेणं करयलं जाव एवं वयासी-एवं खलु देवा-
णुप्पिया ! पुरिमतालं महव्वलस्स रणो उस्सुक्के जाव
उदाहु सममेव गच्छित्ता, तणं से अभंगसेणे ते कोडुं-
वियपुरिसे एवं वयासी-अहं देवाणुप्पिया ! पुरि-
मतां सयमेव गच्छामिए कोमुं वियपुरिसे सकारेइ, सका-
रेइत्ता पन्निविसज्जेइ । तणं से अजंगसें बहुहिं मित्तं
जाव परिवुमे, एहाए जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविज्जु-

सिए सालाकवी चोरपट्ठीओ पन्निणिकम्भइ, पन्निणिकम्भ-
मइत्ता जेणेव पुरिमतां जेणेव महव्वले राया तेणेव
करयलपरिगहियं महव्वलं रायं जणं विजएणं बद्धावेइ,
वद्धावेइत्ता महत्थं जाव पाहुं उवणेइ, तणं से महं
अजंगसेणस्स चोरस्स तं महत्थं जाव पन्निच्छेइ, अजंग-
सेणचोरसें सकारेइ संमाणेइ, संमाणेइत्ता विसज्जेइ कू-
मागारसाझावणे आवासएहिं दत्तयइ । तणं से अजंग-
सेणे चोरसेणावइ महव्वलेणं रणो विसज्जिए समाणे जेणेव
कूमागारसाझा तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता तणं से
महं कोमुं वियपुरिसे सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-ग-
च्छइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं
साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता तं विपुलं असणं पाणं
खाइमं साइमं सुरं च ५ सुवहुपुप्फगंधमल्लालंकारं च अभं-
गसेणस्स चोरसें कूमागारसाझाए उवणेइ । तणं से
कोमुं वियपुरिसे करयलं जाव उवणेइ, तणं से अजंग-
सें बहुहिं मित्तसद्धिं संपारिवुमे एहाए जाव सव्वालंकार-
विज्जुसिए तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च आ-
साएमाणे ४ पमत्ते विहरइ । तणं से महं कोमुं वियपुरिसे
सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुब्भे देवाणु-
प्पिया ! पुरिमतालस्स णयरस्स दुवाराइं पिहिंति, पिहिंतित्ता
अजंगसेण चोरसेणावइ जीवग्गाहं गेएहंति, गेएहंतित्ता मह-
व्वलस्स रणो ते उवणेइ, तणं से महं अभंगसेण चोरो एते
णं विहाणेणं वज्जं आणवेइ, एवं खलु गोयमा ! अभंगसेण
चो पुरां जाव विहरइ । अजंगसेणेणं जंते ! चोरसे-
णावइ कालमासे काडं किच्चा कहिं गच्छिंहिति कहिं उवव-
ज्जिंहिति ! गोयमा ! अभंगसेणचोरसें सत्तावीसं वासाइं
परमाडं पाडित्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलो निष्ण-
कए समाणे कालमासे काडं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए उक्को-
सेणं णेरइएणु उववज्जिंहिति, से णं ताओ अणंतरं उवट्ठित्ता
एवं संसारो जहा पढमे जाव पुढवीं, तओ उवट्ठित्ता वाणा-
रसीए एयरीए सुयरत्ताए पच्चायाहिंति, से णं मच्छसोयरी-
एहिं जीवियाओ विवरोयिए समाणे तत्थेव वाणारसीए
एयरीए सेट्ठकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चाहिंति, से णं तत्थ उम्मुक्क-
बाल्लजावे एवं जहा पढमे जाव अंतकाहिं ति णिक्खेवा ।

(एवं खलु त्ति) एवं वद्यमानप्रकारेणार्थः प्रकृतः, खलु वाक्या-
लङ्कारे । (जं वृत्ति) आमन्त्रणे, (देसपत्ते त्ति) मण्डलप्रान्ते
(विसमगिरिकंदरे कोलम्बसनिविष्टा) विषमं यात्रिरेः कन्दरं
कुहरं तस्य यः कोलम्बः प्रान्तः तस्य सन्निविष्टा सन्निवेशिता
या सा तथा । कोलम्बो हि लोके अवनतं वृक्षशाखाप्रमुच्यते ।
इहोपचारतः कन्दरं प्रातः कोलम्बो व्याख्यातः । विपां ३ श्रुं
३ अं । (इत्यादिटीका सुगमेति न गृहीता) वारतपुरराजनि,
अं १ चू ६ अं ० ।

अजज्जिय-अभय-त्रि० । अभयिते अविराधिते, आचा० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अजटप्पवेसा-अभटप्रवेशा-ली० । अविद्यमानो भटानां राजा-ज्ञायायिनां पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बगृहेषु यस्यां सा तथा । यत्र राजाज्ञां दातुं भटाः प्रवेष्टुं न शक्नुवन्ति तादृश्यां पुर्याम, भ० १२ श० ४ उ० । ज० । ज्ञा० । विपा० ।

अजत्तट्ट-अभक्तार्थ-पुं० । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजनं भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः । आका-राः पूर्ववत् । नवरं पारिष्ठापनिकाकारे विशेषः, यदि त्रिविधा-दारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकं कल्प्यते, यदि तु चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते, पानकं तृडरिते कल्प्यत एव । (वोंसिरइ) भक्तार्थमशनादि घस्तु व्युत्पद्यते । प्रव० ४ द्वार । ध० । भाव० । आ० चू० । ल० प्र० । पंचा० ।

अत्र पञ्चाकाराः, तथा च सूत्रम्—

सूरे उगए अभत्तट्टं पचस्वाइ, चउव्विहं पि आहारं अमणं पाणं खाडमं माइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिष्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वममाहिवत्तियागा-रेणं वोंसिरइ ।

अस्यार्थः—(सूरे उगए) सूर्योद्गमादारभ्य, अनेन भोजनानन्तरं प्रत्याख्यानस्य निषेध इति वृत्ते । भक्तेन भोजननार्थः प्रयोजनं भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा—न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः । आका-राः पूर्ववत् । नवरं पारिष्ठापनिकाकारे विशेषः, यदि त्रिविधा-दारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकं कल्प्यते, यदि तु चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते, पानकं तृडरिते कल्प्यत एव । (वोंसिरइ) भक्तार्थमशनादि घस्तु व्युत्पद्यते । प्रव० ४ द्वार । ध० । भाव० । आ० चू० । ल० प्र० । पंचा० ।

अजत्तट्टिय-अभक्तार्थिक-पुं० । उपवासिके, ओघ० । द्वितीयेऽ-दि भोक्तारि, पं० व० २ द्वार ।

अभत्तपाण-अभक्तपाण-न० । प्रक्तपानालात्रे, व्य० ७ उ० ।

अजय-अभय-न० । न० त० । विशिष्टे आत्मनः स्वास्थ्ये निश्रे-यसधर्मभूमिकानिषधनज्ज्ञायां धृता, ल० । रा० । “ अभयं पत्थिवा तुभं, अजयदाया भवाहि य ” । वत्त० १८ अ० । प्रा-णिरत्तायाम्, सूत्र० १ भु० ६ अ० । अविद्यमानं जयमस्मिन् स-त्वानामन्यजयः । सप्तदशविधे संयमे, आचा० १ भु० १ अ० ५ उ० । सप्तप्रकारकभयरहिते, त्रि० । सूत्र० १ भु० ६ अ० । श्रेणि-कपुत्रे अजयकुमारे, पुं० । आ० चू० १ अ० । आ० म० । ध० । अभयंकर-अजयङ्कर-त्रि० । अजयं प्राणिनां प्राणरक्कारूपं स्व-तः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यजयङ्करः । स्वतो हिंसानि-वृत्तत्वेन परतश्च हिंसां मा कारीरित्युपदेशदानेन प्राणिनामनु-कम्पके, “ अभयंकरे वीरव्रणतचक्रवृ ” सूत्र० १ भु० ६ अ० । निर्भयकरे, न० ।

अभयकरण-अभयकरण-न० । जीवानामभयकरणे, (पं० व०)

मुत्तण अजयकरणं, परोवयारो वि नत्थि अणो त्ति ।

दंमिगितेणगणायं, न य गिद्वामे अविगल्लं तं ॥ ११ ॥

मुक्त्वाऽनयकरणमिहशोकपरशोकयोः परोपकारोऽपि नास्त्य-न्य इति । अत्र दृष्टान्तमाह—रुगिस्कीस्तेनकक्षातमत्र दृष्टव्य-म् । न च गृहवासे अविकलं तद्-अभयकरणमिति गाथार्थः ॥ पं० व० १ द्वार ।

अभयकुमार-अजयकुमार-पुं० । श्रेणिकस्य राक्षः नन्दादेव्यामु-त्पन्नं पुत्रं, ज्ञा० ।

तद्वक्तव्यता—

पठमस्स य एं भंते ! अज्जयणस्स के अट्टे पणत्ते ? । एवं खलु जंव ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुदी-वे दीवे जारहेवासे दाहिणकृत्तरहे रायगिहे णामं नयरं होत्था । वण्णओ—गुणसिलए चेईए वण्णओ—तत्थ एं रायगिहे णयरं सेणिए णामं राया होत्था । महिमाहिमंवे-तवण्णओ—तस्स णं सेणियस्स रत्तो नंदा नामं देवी होत्था, सुकुमाद्वपाणिपाया वण्णओ—तस्स णं सेणियस्स पुत्तो नंदाए देवीए अत्तए अजए नामं कुमारे होत्था । अहीणं जाव सुरूवे सामजेयदंरुउवप्पयाणणीतिसुप्पत्त-नयविहिन्नु ईहापूहमग्गणमवेसणं अत्थसत्थमई विसारए उप्पात्तयाए वेणइयाए कमयाए परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धिए उव्वेए, सेणियस्स रणो बहुसु कज्जेसु य कुटुंबे-सु य मंतेसु य गुज्जेसु य रहस्सएसु य निच्छएसु य आ-पुच्छिणिज्जे पमिपुच्छणिज्जे मेठीपमाणे आहारे आलंवणे चक्खुमेठीज्जे पमाणज्जे आहारज्जे आलंवणज्जे चवखु-सव्वकज्जेसु सव्वज्जमियासु द्धरूपचए विइणवियारे २ रज्जधुरचित्ते यावि होत्था, सेणियस्स रणो रज्जं च रट्ठं च कोसं च कोट्टागारं च वल्लं च वाहाणं च पुरं च अं-तेउरं च समयेव समुप्पेक्खमाणे समुप्पेक्खमाणे विहरति ॥ एवमित्यादि सुगमं, नवरम्-एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारोऽर्थः प्रहस इति प्रक्रमः । खलु वाक्यालङ्कारे । जम्बुद्वीपानामन्यत्रेति-भावः । (इत्यादिटीका सुगमा नोपन्यस्यते) ज्ञा० १ अ० न० । नि० स्था० विशेष० आ० म० ध० र० । (‘महकुमार’ शब्दे-ऽपूर्वसाङ्केतिकदेवमेतन्नं वक्ष्यते)

अभयकुमारकथा चेत्यम्—

अस्ति स्वस्तिकवत् पृथ्याः, पृथ्याः संपद आस्पदम् ।

सुचक्रमङ्गलव्याप्तं, पुरं राजगृहाभिधम् ॥ १ ॥

प्ररुद्धप्रौढमिथ्यात्व--काननैकपरवधः ।

सुधोज्ज्वलगुणश्रेणिः, श्रेणिकस्तत्र पार्थिवः ॥ २ ॥

आगमार्थपरिज्ञान-विस्फूर्जद्बुद्धिबन्धुरः ।

तस्याजयकुमाराख्यो, नन्दनो विश्वनन्दनः ॥ ३ ॥

आगच्छदन्यदा तत्र, मुनिपञ्चशतीयुतः ।

प्रकटीकृतसद्धर्मा, सुधर्मा गणभृद्वरः ॥ ४ ॥

वन्दितुं तत्पदद्वन्द्वं, सर्वद्व्यां श्रेणिको नृपः ।

शासनोत्सर्पणामिच्छ-अगच्छत्सपरिच्छदः ॥ ५ ॥

नानायानसमारूढ-स्तथाऽन्योऽपि पुरीजनः ।

त्रक्तिसंभारसंजात-रोमाञ्चोच्छ्वसितां गतः ॥ ६ ॥

एवं प्रजावनां प्रेक्ष्य, तत्रैकः काष्ठभारिकः ।

गत्वा जक्रया गुरुत्वा-ऽशौषादिर्ममिमं यथा ॥ ७ ॥

जन्तुघातो मृषाऽस्तेय-मग्नस्य च परिग्रहः ।

भो भो जव्याः ! विमुच्यन्तां, पञ्चैते पापहेतवः ॥ ८ ॥

इत्याकर्ण्य नरेन्द्राद्या, पर्यञ्जत्वा गृहेऽगमत् ।
 छमकः स तु तत्रैव, स्वार्थार्थी तस्थिवान् स्थिरः ॥ ए ॥
 गुरुस्तमूचे चित्तज्ञ-अश्रितितं ब्रूहि ! सोऽब्रवीत् ।
 जानामि यदि वः पादान्, वरिवस्यामि सर्वदा ॥ १० ॥
 ततः प्रवाज्य तं सद्यो, गुरवः कृतयोगिनाम् ।
 अर्पयामासुराचारं, शिष्यामामासुराशु ते ॥ ११ ॥
 तं गीतार्थयुतं भिक्षा-चर्यायामन्यदा गतम् ।
 प्रागवस्याविदः पौराः, प्रेक्ष्य प्रादुरहंयवः ॥ १२ ॥
 अहो ! महर्कस्यक्ताऽयं, महासत्त्वो महामुनिः ।
 इति वक्रोक्तिः विज्ञै-रुपहास्यत सोऽन्वहम् ॥ १३ ॥
 ततोऽसौ शैक्लकत्वात्तं, परीषदमसासहिः ।
 सुधर्मस्वामिना प्राचे-ऽनूचानेन वचस्विना ॥ १४ ॥
 संयमे किं समाधान-मस्ति ते सुष्ठु सोऽभ्यधात् ।
 अस्ति युष्मत्प्रसादेन, विहारोऽन्यत्र चेद् भवेत् ॥ १५ ॥
 विधास्यते समाश्रिते, वसेत्युक्त्वा गुरुस्ततः ।
 अभयस्यागतस्यास्या-द्विहारो नो भविष्यति ॥ १६ ॥
 अभयः स्माह नः कस्मा-दकस्मादीदृशः प्रज्ञो ! ।
 अप्रसादोऽथ तेऽत्रोच्यु-मुनेरस्य परीषदम् ॥ १७ ॥
 अत्रयोप्यभ्यधादेकं, दिवसं स्थीयतां प्रभो ! ।
 निवर्त्तत न चेदेष, न स्थातव्यं ततः परम् ॥ १८ ॥
 ओमित्युक्ते मुनीन्द्रेण, निस्तन्द्रः शासनोन्नतौ ।
 जगाम धाम सज्जर्म-धामधामाऽभयस्ततः ॥ १९ ॥
 रत्नानामसपत्नानां, रत्नगर्जाधिपोऽङ्गणे ।
 कोटित्रयीं समाकृष्य, राशित्रयमचीकरत् ॥ २० ॥
 तुष्टो राजा ददात्युच्चै-रत्नकोटित्रयीं जनाः ! ।
 गृहीतैनां यथेष्टं हि, पट्टहेनेत्यघोषयत् ॥ २१ ॥
 ततोऽमिलद् द्रुतं लोको, लोबुपः सोऽभयेन तु ।
 बभापे गृह्यतामेया, रत्नकोटित्रयी मुधा ॥ २२ ॥
 युष्माभिः स्वगृहं गत्वा-ऽनया किन्तु गृहीतया ।
 यावज्जीवं विमोक्तव्यं, जलमग्निं स्त्रियस्तथा ॥ २३ ॥
 इत्याकर्ण्य जनास्तूष्णै-मुकर्णास्तज्जिघृक्षुः ।
 बिभ्र्यतो निश्चलास्तस्थुः, सिंहनादं मृगा इव ॥ २४ ॥
 अत्रयः प्राह भोः ! कस्मा-च्छिब्रम्बस्तेऽप्यदोऽवदन् ।
 लोकोत्तरमिदं लोकः, किं कश्चित्कर्तुमश्वरः ? ॥ २५ ॥
 सोऽवादीन्मुनिना तेन, तत्यजे त्रयमप्यदः ।
 तत्कुतो हसतैव त-मतिदुष्करकारकम् ? ॥ २६ ॥
 न जानीमो वयं स्वामि-स्तस्थयैः सत्त्वमीदृशम् ।
 तमृषिमचरिष्वाम-स्तदिदानीं महामते ! ॥ २७ ॥
 अभयेन समं गत्वा, श्रीमन्तस्ते प्रणम्य तम् ।
 महर्षिं कामयामासुः, स्वापराधं मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥
 इत्येवमत्रयो जैन-शासनार्थविशारदः ।
 अतिष्ठिपज्जने मुग्धं, चिरं धर्मं जिनोदिते ॥ २९ ॥
 इत्येवत्य हतपापकश्मलं,
 सज्जना अभयवृत्तमुन्ववत् ।
 शिष्यान्तु कृतसर्वमङ्गलं,
 संततं प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३० ॥ ध० २० ॥

अभयघोष-अभयघोष-पुं० । स्वनामस्याते वैद्ये, ध० २० ।

अत्रयोपकथा चेयम्-

आसीत् पूर्वविदेहेषु, शत्रुसंहतिदुर्जये ।

१७७

वत्सावत्यास्यविजये, प्रवरा पूः प्रभङ्गरा ॥ १ ॥
 तस्यां सुविधिवैद्यस्य, सनुः सन्कर्मकर्मठः ।
 आसीदभयघोषास्या, वैद्यविद्याविशारदः ॥ २ ॥
 नरेन्द्रमन्त्रिसार्थेश-नगरश्रेष्ठिनां सुताः ।
 प्रशस्याः सद्गुणश्रेयो, वयस्यास्तस्य जङ्गिरे ॥ ३ ॥
 मिलितानामधामीषा-मन्येयुर्वैद्यमन्दिरं ।
 आगादनगारवृत्तिः, साधुर्माधुर्करि चरन् ॥ ४ ॥
 तं पृथ्वीपालभूपाल-पुत्रं नाम्ना गुणाकरम् ।
 निरुष्टकुष्ठं ते हृष्टा, प्रोचिरे वैद्यनन्दनम् ॥ ५ ॥
 सदाऽथैहग्निर्वैद्यवाचद्, भवद्भिर्नृपैर्यते जनः ।
 न कस्यचित्तपस्यादे-भ्यक्तित्वा क्रियते किल ॥ ६ ॥
 जगाद् वैद्यजन्माऽपि, चिकित्सोऽयं मुनिमेया ।
 भो भद्राः ! निश्चितं किन्तु, भेषजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥
 तेऽप्युचुर्दृग्गहे मूल्यं, शाधि साध्वैषधानि नः ।
 उवाच सोऽपि गोशर्पि-चन्दनं रत्नकम्बलम् ॥ ८ ॥
 लक्षद्वयेन तत् क्रेयं, तृतीयं तु मदोकासि ।
 विद्यते लक्षपाकाख्यं, तैलं तद् गृह्यतां द्रुतम् ॥ ९ ॥
 लक्षद्वयं गृहीत्वाऽथ, गत्वा ते कुविकापणं ।
 अथाचन्तौपधे तांस्तु, श्रेष्ठयुचे किं प्रयोजनम् ? ॥ १० ॥
 तेऽवोचन् कुष्ठिनः साधो-अकिन्साऽऽद्यां विधास्यते ।
 आकर्ण्य तद्वचः श्रेष्ठि, चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ ११ ॥
 क्वैषां प्रमादशार्दूल-काननं यौवनं हृदः ।
 विवेकबन्धुरा बुद्धिः, क्व चयं वार्धकोचिता ? ॥ १२ ॥
 मादशार्मादृशं योग्यं, जराजर्जरवर्षमाणम् ।
 यत् कुर्वन्त्यपि तदहो !, धन्यैर्भारोऽयमुद्यते ॥ १३ ॥
 एवं विचिन्त्य स श्रेष्ठि, ते समर्थौपधे मुधा ।
 भावितात्मा प्रववाज, ववाज च महोदयम् ॥ १४ ॥
 कृत्वा समग्रसामग्रीं, तेऽमिमा जक्तिशालिनाम् ।
 समं वैद्यवरेण्येन, प्रययुः साधुसन्निधौ ॥ १५ ॥
 नत्वाऽनुज्ञाप्य तैलेन, सर्वोङ्गे प्रकृतः स तैः ।
 वेष्टितः कम्बलेनाथ, निरीयुः कृमयस्ततः ॥ १६ ॥
 शीतत्वात्तत्र ते लग्नाः, निर्यद्भिस्तैः प्रपीडितः ।
 लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्थ्यमाप मुनिः कृणात् ॥ १७ ॥
 त्रिवेवमाद्यभेलायां, निर्ययुः कृमयस्त्वचः ।
 मांसगास्तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥
 तान् कूर्मिस्ते दयावन्त-श्चित्पिपुर्गोकवेवरे ।
 संरोहण्या च तं साधुं, सद्यः सज्जं प्रचक्रिरे ॥ १९ ॥
 कृमयित्वा च नत्वा च, गत्वाऽन्तर्नगरं ततः ।
 चैत्यं चकुञ्च विक्रीय, तेऽर्द्धमूल्येन कम्बलम् ॥ २० ॥
 गृहीत्वा गृहिधर्मं च, पश्चात् कृत्वा च संयमम् ।
 ते पञ्चाप्यच्युतेऽभूव-न्निन्द्रसामानिकाः सुराः ॥ २१ ॥
 ततश्च्युत्वा विदेहेषु, मृन्धा पञ्चापि सोदराः ।
 ते प्रवज्य च सर्वार्थ-सिद्धेऽनूवन् सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥
 ततोऽप्यभयघोषस्य, जीवश्च्युत्वाऽत्र भारते ।
 बभूव त्रयसंदोह-बोधनः प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥
 शोपास्तु भरतो बाहु-वलिर्ग्राही च सुन्दरी ।
 जङ्गिरे तदपत्यानि, प्रापुश्च परमं पदम् ॥ २४ ॥

एवं निशम्याऽभयघोषवृत्तं,

मुदा गुरुणां गुणराजिनाजाम् ।

दाने सदाऽप्यौपधेभेषजादः,

कृतायमा भवजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ध० २० ।

अनयणंदा-अभयनन्दा-खो० । इतिनिधाने, अणु० १ वर्ग ।

अभयदय-अभयद(क)य-पुं० । अभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्य-
म, निधेयसधर्मनिबन्धनभूता परमा धृतिरिति ज्ञातः । तत अभयं
ददातीति अनयदः । जी० ३ प्रति० । ल० । तदित्यन्तमभयं
शुणप्रकरणयोगादचित्त्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वा-
द् नगवन् एव ददतीति । भ० २ अधि० । रा० । न जयं द-
यते ददाति प्राणापहरणसिकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यनयद-
यः । अथवा-सर्वप्राणित्रयपरिहारवती द्याऽनुकम्पा यस्य सो-
ऽभयदयः । अदिसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो निवर्तके च ।
भ० १ श० १ उ० । औ० । ध० । भयानामजावाद् जयस्याजावो
ऽभयं, तदायकः । तार्थकरे, कल्प० १ क० ।

अनयदण-अनयदान-न० । दानजदे, ग० ।

“यः स्वजावात्सुखेपिच्यो, जूतेभ्यो दीयते सदा ।

अभयं दुःखभीतेभ्यो-ऽभयदानं तदुच्यते” ॥ १ ॥ ग० २ अधि० ।

नहि ज्ञयस्तमो धर्म-स्नस्मादन्योऽस्ति जूतले ।

प्राणिनां भयनीताना-मजयं यत्प्रदीयते ॥ ५१ ॥

द्रव्यधनुधरादीनां, दातारः सुलजा ह्यवि ।

दुर्लभः पुरुषो लोके, यः प्राणिष्वजयप्रदः ॥ ५२ ॥

महतामपि दानानां, कावेन क्रीयते फलम् ।

भीतानयप्रदानस्य, कृय एव न विद्यते ॥ ५३ ॥

दत्तमिष्टं तपस्तप्तं, तीर्थसेवा तथा श्रुतम् ।

सर्वाण्यजयदानस्य, कलां नार्हति षोडशीम् ॥ ५४ ॥

एकतः कतवः सर्वे, समप्रवरवृत्तिणाः ।

एकतो भयजितस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ ५५ ॥

सर्वे वेदा न तत्कुर्वुः, सर्वे यज्ञा यथोदिताः ।

सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात्प्राणिनां दया ॥ ५६ ॥ ध० २० ।

अभयदेव-अनयदेव-पुं० । नवाङ्गवृत्तिकारके स्वनामख्याते
आचार्ये, स्था० ।

(१) तश्चरित्रं त्वेवमाख्यान्ति—

धारापुर्यां नगर्यां महीधरस्य श्रेष्ठिनो धनदेव्यां नाम भार्याया-
मत्रयकुमारो नाम पुत्ररत्नं जज्ञे । स च धारायामेव समवसृत-
स्य वर्द्धमानसुरिशिष्याजनेभ्वरसुरिणोऽन्तिके प्रववाज । ततः प्र-
ज्ञातिशयान्प्रेरुशवर्षजन्मपर्यायः कुमारवस्थ एव वर्द्धमानसू-
रिणाऽन्यनुज्ञातो विक्रमीयसं० १०८८ मिते वर्षे आचार्यपदम-
ध्यतिष्ठत् । तदानीं दुष्कालादिभिरभ्ययनक्षेखनादिषु विरहादा-
गमानां वृत्तयो व्युच्छिन्नप्राया आसन्, इत्येकदा निशि शुभ्रध्या-
नाऽवस्थितं तमनयदेवसुरिं शासनदेवताऽवोचत्-भगवन् !
पूर्वाचार्यैरेकादशस्वप्नद्वेषु टीकाः कृताः, तास्तु द्वे एवावशिष्टे,
शेषा व्युच्छिन्ना इति संप्रति ताः पुनरुज्जीव्यसङ्काऽनुग्राह्य इति ।
आचार्येणाक्तम्-शासनाऽधीश्वरि मातः ! अल्पबुद्धिर्गहमेतद्
गहनं कार्यं कर्तुं कथं शक्नुयाम् ? यत्तत्र यदि किञ्चिदप्यु-
त्सृज्य स्यात्तन्मदन्तेनार्थाय संसारपाताय भवेदिति । ततो देव-
तयोक्तम्-भगवन् ! त्वामहं समर्थमिव मन्त्राऽवोचम् । यत्र च
त्वं संशयिष्यसे तत्र तत्क्षणमेवाहं स्मर्त्तव्या, अहं च महावि-
देहं गत्वा तत्र सीमन्धरस्वामिने पृष्ट्वा त्वां वक्ष्यामीति न कि-
ञ्चिदनुपपन्नं त्रिष्यति, इति प्रवचनद्वयोत्साहितस्तत्कार्यं प्रा-
रभत । समानेः पूर्वमेव आचामाम्लतपसा निशि जागरणैश्च
धानुप्रकोपाद् विकृतरुधिरः समजायत । तदा त्रिष्टलोकैः सह-
र्षं प्रावाद्यत-यदयमभयदेव उत्सृज्य व्याख्याति स्मिति, कुपिता

शासनदेवी अस्य शरीरे कुष्ठरोगमुदपादयत् । तमपवादमा-
कर्ण्य दुःखितमाचार्यं रात्रावागत्य धरणेऽस्तं रुधिररंगं
व्यनाशयत् । अकथयच्च-स्तम्भनप्राप्तपाशैर्वै सेढिकानद्यास्तटे
जूमिमध्ये श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाऽस्ति, यस्याः प्रभावाद् नागा-
जुनेन रससिद्धिराप्ता; तां प्रकटय्य तत्र महतीर्थं प्रवर्त्तय,
ततस्त्वं विधृताऽपकीर्तिर्भविष्यसि । ततस्तत्राऽनयदेवसुरिणा
'जय तिहुअण' इत्यादि द्वात्रिंशद्गाथात्मकं स्तोत्रमुद्गीर्य
सङ्गसमकं सा प्रतिमा प्रकटयिता, तस्मात्तस्याचार्यस्य महद्य-
शः सर्वत्र प्रोदच्छत् । पश्चाद्दरणे-द्रवचसा तस्य स्तोत्रस्य द्वे
गाथे वियोज्य त्रिंशद्गाथात्मकमेव प्राचीकटत्, तादृशमेवाद्यापि
उपलभ्यते । सा च प्रतिमा 'खम्भात' नगरेऽद्यापि पूज्यमाना
वरीवर्त्ति । सा च नेमिनाथशासनसमये २२२२ वर्षे कृतंति तत्प्र-
तिमाया आसनपृष्ठे टङ्कितमस्ति, पश्चाद् नवाङ्गेषु वृत्तीः पञ्चा-
शकादिटीकाश्च निर्माय कर्पटवणिजनगरे वि०सं० ११३५
मिते देवलोकं गतः । जै० इ० । इत्येकोऽभयदेवसुरिः ।

अनेन चात्मकृतप्रबन्धेष्वेवं स्वपरिचयोऽदर्शि—

श्रीमदनयदेवसुरिनाम्ना मया महावीरजिनराजसन्तानवर्त्ति-
ना महाराजवंशजन्मनेव संविम्वमुनिवर्गप्रवरश्रीमज्जिनचन्दा-
चार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव वि-
द्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्, तदेवं सिद्धमहानि-
धानस्येव समापिताधिकृतानुयोगस्य मम मङ्गलार्थं पूज्यपूजा-
नमो भवते वर्तमानतीर्थनाथाय श्रीमन्महावीराय, नमः प्रति-
पन्थिसार्थप्रमथनाय श्रीपार्श्वनाथाय, नमः प्रवचनप्रबोधिकायै
श्रीप्रवचनदेवतायै । नमः प्रस्तुतानुयोगशोधिकायै श्रीछोणा-
चार्यप्रमुखपण्डितपर्वदे, नमश्चतुर्वर्णाय श्रीश्रमणसङ्गभट्टारका-
येति । एवं च निजवंशवत्सलराजसन्तानिकस्येव ममासमा-
नमिममायासमातिसफलतां नयन्तो राजवंश्या इव वर्त्मान-
जिनसन्तानवर्तिनः स्वीकुर्वन्तु, यथोचितमितोऽर्थजातमनुति-
ष्ठन्तु सुष्ठुचितपुरुषार्थसिद्धिमुपगुञ्जतां च योग्येय इति ।

किञ्च—

संत्सम्प्रदायहीनत्वा-त्सदृहस्य वियोगतः ।

सर्वस्वपरशास्त्राणा—मष्टष्टरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥

वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।

सूत्राणामतिगाम्भीर्या-न्मतिभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥

कृष्णानि संज्ञवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः ।

सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद्वाह्यो न चेतः ॥ ३ ॥

शोध्यं चैतज्जिने जकै-र्मांमवद्भिर्दयापरैः ।

संसारकारणाद् घोरा-दपसिद्धान्तदेशनात् ॥ ४ ॥

कार्या न वा क्षमाऽस्मासु, यतोऽस्माभिरनाग्रदैः ॥

एतन्मनिकामात्र-मुपकारीति चर्चितम् ॥ ५ ॥

तथा संभाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्यं मध्यस्थया धिया ।

द्रोणाचार्यादिभिः प्राङ्गै-रनेकैराहतं यतः ॥ ६ ॥

जैनग्रन्थविशालदुर्गमवनाडुश्चित्य गाढश्रमं,

स ह्याख्यानफलान्यमूनि मयका स्थानाङ्गसद्भाजने ।

संस्थाप्योपदितानि पुर्गतनरप्रायेण लब्धार्थिना,

श्रीमत्सङ्गविजोरतः परमसावेव प्रमाणद्विकृती ॥ ७ ॥

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकात्या-

चञ्चनेन विशिष्यधिकेन युक्ते ।

समासद्वयेऽतिगते (वि०सं० ११२०) तिब्बता

स्थानाङ्गटीकाऽल्पत्रियोऽपि गम्या ॥ ८ ॥ स्था० १० ग० ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्वध्नोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरभुवि ।
उन्दाबन्धनिश्चरन्धुरवचःशब्दादिसल्लङ्घमणः,
भ्रं।संविज्ञविहारिणः श्रुतनिधेश्वारित्रचूडामणः ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवस्य-सूरिणा विवृतिः कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, भुतभक्त्या समासतः ॥ ९ ॥ (युग्मम्)
निवृत्तिककुलनभस्तत्र-चन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
परिरुतगणेन गुणव-त्प्रियेण संशोभिता चेत्यम् ॥ १० ॥
एकादशसु शतेष्वथ,विशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम् (सं० ११२०)
भणहिलपाटनगरे,विजयदशम्यां च सिद्धयेम् ॥ ११ ॥ झा० २ भु० ।
यस्मिन्नतीते श्रुतसंयमभिया-
वप्राप्नुवत्यथ परं तथाविधम् ।
स्वस्याश्रयं संवसतोऽपि दुस्थिते,
भ्रूवर्चमानः स यतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥
शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराख्यः,सूरिः कृतानिन्दविचित्रशास्त्रः ।
सदा निरात्रम्बिहारवर्ती, चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
अन्योऽपि विज्ञो भुवि बुद्धिसागरः,पाणिडत्यचारित्रगुणैरनूपमैः ।
शब्दादिलक्ष्मप्रतिपादकानय-प्रथमप्रणता प्रवरः क्षमावताम् ॥ ३ ॥
तयोरिमां शिष्यवरस्य वाक्याद्,
वृत्ति व्यधात् श्रीजिनचक्रसूरः ।
शिष्यस्तयोरेव विमुग्धबुद्धि-
प्रन्थार्थबोधेऽभयदेवसूरिः ॥ ४ ॥
बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,
न तादृशी वाक्पटुताऽस्ति मे तथा ।
न चास्ति टीकेह न वृत्तिनिर्मिता,
हेतुः परं मेऽत्र कृतौ विभोर्वचः ॥ ५ ॥
यदिह किमपि दग्धं बुद्धिमान्धाद् विरुद्धं,
मायि विहितरूपास्तकीधनाः शोधयन्तु ।
विपुलमतिमतोऽपि प्रायशः सावृतेः स्या-
अहि न मतिविमोहः किं पुनर्मादृशस्य ? ॥ ६ ॥
चतुरधिकविंशतियुते,वर्षसहस्रे शते (सं० ११२४)च सिद्धयेम् ।
धवलकपुरे प्रसर्यै, धनपत्योर्वकुत्रचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥
अणहिलपाटनगरे, संघवैरैर्वर्तमाननुधमुख्यैः ।
भ्रोद्रोणाचार्याद्यै-विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥ ८ ॥ पञ्चा० १६ वि० ।
“ अदिस्सई तयवयो, जिणनाहो पणसयाइ वरिसाणं ।
तयणुं धरणिदनिमिअ-सन्निज्जो विहअसुअसारो ॥ ५५ ॥
सिरिअजयदेवसूरी, दूरीकयदुरिअरोगसंघाओ ।
पयडं तित्थं काई, अहीणमाइप्पदिप्पंतं ” ॥ ५६ ॥ ती० ६ कल्प ।
(२) राजगच्छाये प्रथमसूरिशिष्ये, येन चाद्रमहार्णवो नाम
ग्रन्थो विरचितः, ‘न्यायवर्णसिद्ध’ इति च विरुद्धं लेजे । वि० सं०
१२७६ वर्षे पार्श्वनाथचरित्रनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्ता माणिक्यचन्द्रसू-
रिणा तत्र लिखितम्-यद्वादमहार्णवकृतोऽनयदेवसुरेहं नवमो-
ऽस्मीति । अभयदेवसूरैरेव शिष्यः धनेश्वरसूरिमुञ्जराजस्य मान्यो
गुरुरासीदिति तत्समयोऽनुमातुं शक्यते । अनेनैव अभयदेवसूरि-
णा तत्त्वबोधविधायिनी नाम सम्मतिटीका विरचितेति । जै० ६० ।
एतच्च स्फुटमेव प्रतिज्ञाति ग्रन्थसमाप्तौ-
“इति कतिपयसुत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्तं,
कुशलमतुलमस्मात्सम्भतेर्जन्यसाधैः ।
अवभयमजिभूय प्राप्यतां ज्ञानगर्भं,
विमलमजयदेवस्थानमानन्दसारम् ॥ १ ॥
‘पुण्यद्वाम्नातवादिद्विदघनघटाकुन्तधीकुम्भपीठ-

प्रध्वंसोद्भूतमुक्ताफत्रविशदयशोराशिनियस्य तृणम् ।
गन्तुं दिग्दन्तिदन्तच्छन्ननिहितएदं व्योम पर्यन्तभागाद्,
स्वरूपप्रज्ञापडभाणमोदरानिविहतरोरपिपरितैः संप्रतस्थे ॥ २ ॥
प्रद्युम्नसूरः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी ।
तस्यैषाऽभयदेवेन, सम्मतेविवृतिः कृता ॥ ३ ॥ सम्म० ३ काण्ड ।
इत्थयं द्वितीयोऽभयदेवसूरिः ॥

(३) हर्षपुरीयगच्छोद्भवे मल्लभारोत्यपरनामके सूरौ, स च
कोटिकगणस्य मध्यमशास्त्रायां प्रभवाइनकुलसंभूतः स्थूलजड-
स्वामिनो वंश्यः । एकदा हर्षपुराद् विदरन् अणहिलपट्टननगरे
बहिःप्रदेशे सपरिवारः स्थितः, अन्यदा श्रीजयसिंहदेवनरे-
न्द्रेण गजस्कन्धारूढेन राजबाटिकाऽऽगतम् दृष्टो मल्लमलिनवस्त्र-
देहः, राज्ञा च गजस्कन्धादवतीर्य दुष्करकारक इति दत्तं तस्य
“ मल्लधारी ” इति नामेति । जै० ६० ।

तथा च विविधतीर्थकल्पे जिनप्रभसूरिः--

“सिरिपरहवाइनकुलसंभूतो हरिसपुरीयगच्छाङ्गकारजूसि-
ओ अभयदेवसुरी हरिसओ राओ एगया गामाण्णगामं विहरं-
तो सिरिअणहिलवाडयपट्टणमागओ, विओ बादि पणसे सप-
रिवारो,अअया सिरिजयसिंहदेवनरिदेण गयसंधारूढेण रायवा-
डियागणण दिओ मल्लमलिनवत्येहो, राणण गयसंधाओ ओअ-
रिऊण दुष्करकारओ स्ति दिष्णं ‘मल्लधारि’ स्ति नामं, अअनियऊण
नयरमज्जे नीओ रक्खा,दिष्णो उवस्सओ घयवसहीसमीव,तत्थ
विआ सूरिणो” ती० ४० कल्प । अस्य गुरुजयसिंहसूरिर्नामाऽसीत्,
हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभवत् । येन वि० सं० ११७० वर्षे ‘ज-
वभावना ’ नाम ग्रन्थो व्यरचितः, येनैकसदृशं ब्राह्मणा जैनीकृताः,
यदुपदेशादजयमेरुनगराद्दूरवर्तिनि ‘भेरुता ’ ग्रामे प्रसिद्धं
तजिनमन्दिरं कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसूरैरुपदेशाद्
वृचनपालराजेन जिनमन्दिरे पूजाकृद्भिर्देयः करो माचितः । अ-
जयमेरुराजेन जयसिंहेनापि तदुपदेशान्मासस्य द्वयोरष्टम्योर्द्वि-
योश्चतुर्दश्योः शुक्लपञ्चम्यां च स्वराज्ये प्राणिमात्रवधो निवा-
रितः । शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भ-
पूरे स्वर्णकलशोपशोभितं जिनमन्दिरं कारितम् । यदा च सो-
ऽभयदेवसूरिरनशनेन देवद्वोकं गतस्तदा तस्य शवं चन्दनमय-
रथे निधायाम्रिसंस्कारः कृतः, तस्य च शवरथस्य पश्चात् सर्व
एव नागरो लोको जयसिंहराजश्च पृष्ठतोऽनुजगाम । दग्धे च
तद्वज्रस्म रोगोपश्रवनाशकमिति मत्वा सर्वलोका उच्चिक्तुः ।
इत्यतस्सर्वे रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिलायां लिखितमुपल-
भ्यते । इत्थयं तृतीयोऽभयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(४) जनेश्वरसूरिशिष्ये सं० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जर्याः
कारकस्य आसक्तस्य गुरौ, अनेन च भद्रबाहुकृतसामुद्रिकशा-
स्त्रोपरि टीका कृता । केचिदेन श्रीशान्त्याचार्यशिष्यं मन्यन्ते ।
इत्थयं चतुर्थोऽनयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(५) रुद्रपाद्वीयगच्छोद्भवे विजयेन्द्रसूरिशिष्ये देवजडसूरि-
गुरौ, अनेन काशिराजाद् ‘वादिंसिद्ध’ इति विरुद्धं लेजे । ‘ज-
यन्तविजयं ’ नाम महाकाव्यं च वि० सं० १२७८ वर्षे निर्ममे ।
इत्थयं पञ्चमोऽनयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(६) गुणाकरसूरिसहवासिनि, येन वि० सं० १४२६ वर्षे
सरस्वतीपाटनगरे जन्मामरस्तोत्रटीका कृता, १४५१ वर्षे ‘तिज-
यपट्ट’ नामकं स्तोत्रं च निर्मितम् । जै० ६० ।

अभयप्रदान-अभयप्रदान-न० । दानभेदे, " दाणाण सेठं अ
भयप्रदानं " तथा स्वपराणुप्रहारमर्थिने दीयत इति दानम-
नेकधा, तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्यादयश्च-
दानं श्रेष्ठम् । तदुक्तम्- " दीयते अस्मिन्मरणस्य, कोटिं जीवित-
मेव वा । धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति " ॥१॥
गोपालकृष्णादीनां दृष्टान्तपरिणामो बुद्धौ सुखनाराहतीति ।
अतोऽभयप्रदानप्राधान्यस्यापनार्थं कथानकमिदम्-

" वसन्तपुरे नगरे भरिष्ठमनो नाम राजा । स च कदाचिन्मृत-
धूममेतो वातावनस्थः क्रीडावमानस्तिष्ठति । तेन कदाचिन्मरो
रक्तकराश्रीकृतमुष्णमात्रो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च
प्रहतवध्विस्मिन्मरो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः ।
दृष्ट्वा च तामिः पृष्ठम्-किमनेनाकारिती ? । तासामेकेन राज-
पुरुषेणाऽऽवेदितम्-यथा-परद्रव्यापदारेण राजविरुद्धमिति ।
तत एकया राजा विस्मयः-यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रति-
पन्नः सोऽधुना दीयताम्, यथाऽहमस्योपकरोमि किञ्चित् । रा-
ज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तथा स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणाऽलङ्कृतो
दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमदः प्रा-
पितः । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमदो दीनारदातसहस्र-
व्ययेन लालितः । ततस्तृतीयया तृतीयमदो दीनारकोटिव्ययेन
सत्कारितः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणान्तरितोऽभयप्रदा-
नेन । ततोऽसावन्याभिर्हसिता, नास्य त्वया किञ्चिदुत्तमिति ।
तदेवं तासां परस्परं बहुपकारविषये विवादे जाते राज्ञाऽसा-
वेव चौरः समाहूय पृष्ठः, यथा केन तव बहुपहतमिति ? । तेना
ऽप्यभाणि-यथा न मया मरणमदाभयभीतेन किञ्चित् स्नाना-
दिकं सुखं विहार्याति । अभयप्रदानाकार्णनेन पुनर्जन्मानमिवा-
त्मानमवैमिति । अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थित-
म् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अभयमेण-अभयसेन-पुं० । वारतकपुरराजनि, पि० । आय० ।

अभया-अभया-स्त्री० । दधिवान्नपूषस्य स्वनामख्यातायां
राक्ष्याम, ती० ३५ कल्प । तं० । हरीतक्याम, नि० चू० १५
उ० । ध० । आचा० ।

अजयारिष्ट-अजयारिष्ट-न० । स्वनामख्याते मद्यविशेषे, सूत्र०
१ श्रु० ८ अ० ।

अजयमिष्टि-अजयमिष्टिक-पुं० । न भवसिद्धिकोऽभव-
सिद्धिकः । अजये, स्था० १ ता० १ उ० । न० । " णेरइया दु-
विहा पणत्ता । ते जहा-भवसिद्धिया चव, अभवसिद्धिया चव०
जाव येमाणिया " स्था० २ टा० २ उ० ।

अजयविय (व्व)-अजयव-पुं० । न० त० । तथाविधानादिपा-
रिणामिकभावात् (कदाचनाऽपि) सिद्धिगमनायोम्ये जीवे,
धर्म० ३ कर्म० । कुतो नाजयः सिद्धि गच्छति । आद-ननु
जीवत्वमात्रेऽप्ययं भव्यः, अयं चाजय इति किं कुतोऽयं विशे-
षः ? । न च वक्तव्यं यथा जीवत्वे समानेऽपि नारकतिर्भगादयो
विशेषास्तथा जव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः
कर्मजनिता एव नारकादिविशेषाः, न तु स्वानाविकाः; जव्या-
ऽभव्यत्वविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदा नवतु, को निया-
रयिता ? , न चैवम् । इत्येतदेवाऽऽह-

होष्ठ व जइ कम्मकओ, न विरोहो नारगाइजेद व्व ।

जण्ह भव्वाजव्वा, सज्जावओ तेण संदेहो ॥

नयनु वा यदि कर्मकृतो जव्याभव्यत्वविशेषो जीवानामिष्यते,

नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकाविजेदवत् । न चैतदस्ति, यतो भव्याऽ-
भव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति यूयं जणथ; ते-
नास्माकं संदेह इति, परणैवमुक्ते सतीत्याह-

दव्वाइत्ते तुल्ले, जीवनदाणं सहावओ भेओ ।

जीवाजीवाइगओ, जह तह जव्वेयराविसेसो ॥

यथा जीवनजसोऽव्यवत्त्वसत्त्वप्रमेयत्वज्ञेयत्वादौ तुल्येऽपि जी-
वाजीवत्वचेतनाचेतनत्वादिस्वभावतो भेदः, तथा जीवानामपि
जीवत्वसाध्येऽपि यदि भव्याऽऽन्यकृतो विशेषः स्यात्तर्हि को
दोषः ? , इति ।

इत्थं संबोधितो भव्यत्वादिविशेषमन्युपगम्य दृष्टान्तरमाह-

एवं पि जव्वजावो, जीवत्ते पि न सभावजाइओ ।

पावइ निचो तम्मि य, तदवत्थे मत्थि निव्वाणं ॥

नन्वेवमपि जव्वभावो नित्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजाती-
यत्वात्स्वाभाविकत्वाज्जीवत्ववत् । भव्यत्वेवमिति चेत्तदयुक्तम् ।
यतस्तस्मिन् जव्वभावे तदवस्थे नित्यावस्थाभिनि नास्ति नि-
र्वाणम्, 'सिद्धो न भव्यो नाप्यभव्यः' इति वचनादिति ।

नैवम्, कुतः ? , इत्याह-

जह घरपुव्वाजावो-ऽनाइसहायो वि संनिहाणेवं ।

जइ भवत्ताभावो, जवेज्ज किरियाए को दोसो ? ॥

यथा घटस्य प्रागजावोऽनादिस्वभावजातीयोऽपि घटेऽपत्तेः स-
न्निधाने विनश्यतो दृष्टः, एवं भव्यत्वस्यापि ज्ञानतपःसच्चिच्चरण-
क्रियापायतोऽभावः स्यात्तर्हि को दोषः संपद्यते ? , न कश्चिदिति ।

आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह-

अणुदाहरणमभावो, सरसिगं पि न मई न तं जम्हा ।

भावो च्चिय स विसिद्धो, कुंजाणुप्पत्तिमेत्तेणं ॥

स्यामितिः परस्य तत्तु-अनुदाहरणमसौ प्रागभावः, त्रावरूपत-
यैवावस्तुत्वात्, स्वरविपाणवत् । तत्र, यस्माद्भाव एवासौ घटप्रा-
गभावस्तत्कारणभूतानादिकालप्रवृत्तपुरुषसंघातरूपः, केवलं
घटानुप्पत्तिमात्रेण विशिष्ट इति, भवतु तर्हि घटप्रागभाववद्भव्य-
त्वस्य विनाशः केवलम्, इत्थं सति दोषान्तरं प्रसज्यति, किम् ? ,
इत्याह-

एवं भवुच्छेओ, कोट्टागारस्म अवचउव्व ति ।

तं नाणंतत्तणओ-ऽणागयकांउव्वराणं व ॥

नन्वेवं सति जव्वोच्छेदो भव्यजीवैः संसारः शुन्यः प्राप्नोति,
अपचयात् । कस्य यथा समुच्छेदः ? , इत्याह-स्तोकस्तोकाऽऽकृष्य-
माणान्नस्य जूतकोष्ठागारस्य । इदमुक्तं भवति-कालस्थान-
न्त्यात्यणमासपथेने चावश्यमेकस्य जव्वस्य जीवस्य सिद्धिग-
मनात्कमेणापचीयमानस्य धाम्यकोष्ठागारस्येव सर्वस्यापि
भव्यारोहच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतत्, अनन्त-
त्वाद्भव्यारोहः, अनागतकालाकाशवदिति । इह यद् बृहदन्तकेना-
ऽनन्तस्तोकस्तोकतयाऽपचीयमानमपि नोच्छिद्यते, यथा-प्रतिस-
मयं वर्तमानतात्माऽपचीयमानोऽप्यनागतकालसमयराशिः,
प्रतिसमयं बुद्ध्या प्रदेशापहारेणापचीयमानः सर्वनप्रःप्रदेशरा-
शिर्वा, इति न जव्वोच्छेदः ।

कुतः ? , इत्याह-

जं चातीयाणागय-काला तुल्ला जओ य संसिद्धो ।

एको अणंतभागो, जव्वाणमईयकालेण ॥

एस्सेण तत्तिओ च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वजव्वाण ।

जुत्तो न समुच्छेओ, हाज्ज मई कहमिणं सिद्धं ।

जव्वाणमणंतत्तण-मणंतजागो व कह विमुक्कोसि ।

काळादओ व मंसिय !, मह वयणाओ वि पक्खिज्जा ।

यस्माच्चार्तीतानागतकालौ तुल्यावेव, यतश्चार्तीतेनानन्तेनापि का-
लेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽपि ज्ञानानां सिद्धः, एष्यता-
ऽपि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन्
युक्तो घटमानको न हीनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्याती-
ततुल्यत्वात् । तत एवमपि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः,
सर्वेणापि कावेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसंभवोपदेशाना-
त् । अथ परस्य मतिर्भवेत्-कथमिदं संसर्वरूप-यदुतानन्ता
ज्ञयाः, तदनन्तभागश्च सर्वेणैव कालेन सेत्स्यति ?, इति ।
अत्रोच्यते-काळाकाशादय इवानन्तास्तावद्भव्याः, तदनन्तभा-
गस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरिव न सर्वेषामुच्छेद इति
प्रतिपद्यस्व । मद्बचनाद्वा मरिक्क ! सर्वमेतच्छुद्धेदीति । विशेषो
पञ्चा० । द्वा० कर्म० । आ० । नं० । वृ० । दशा० ।

अज्ञारिय-अभार्य-पुं० । अपलीके, कल्प० ।

“ पद्मावती च समुवाच विना वधूटी,

शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।

नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,

विश्वासमेव विद एव जवेदभार्यः ” ॥ १ ॥ कल्प० १ क० ।

अभाव-अभाव-पुं० । अशुभभावे, उक्त० १ अ० । जीवादयः

पदार्था अन्यापेक्षया अभावाः । निषेधे, भ० ४२ श० १ उ० ।
विनाशे, वृ० १ उ० । असम्भवे, दश० १ उ० । असत्तायाम्,
पञ्चा० ३ विव० । स० (अभावप्रामाण्यम्) यदपि—

“ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।

साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिग्राहकतया परिणा-
माज्ञावः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविचिन्ताख्ये
वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाण-
मभिधीयते । तदपि, यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथाहि—

“ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तिता ज्ञानं, जायतेऽज्ञानपेक्षया ” ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु
प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम्, असंसृष्टं वा गृह्ये-
त ? । नाद्यः पक्षः । प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः
प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाज्ञावप्रमाण-
स्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगि-
नः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं,
प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामज्ञावप्रतिपत्तेः । अथ न
संसृष्टं नाप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतत्वादि वस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते,
वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि दुष्टम् ।
संसृष्टत्वासंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे-
ऽपरविधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सदसद्रूपवस्तुग्रह-
णप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते । क्वचित्तु-तदघटं भूतलमिति
स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽस्मिमात्र

भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन,
गृहे गगौ नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतिः क्वाऽभावप्रमाणं प्रव-
र्तताम् ? । रत्ना० २ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह—

स चतुर्धा-प्रागभावः प्रध्वंसाज्ञाव इतरेतराभावोऽत्य-
न्ताज्ञावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तुत्पत्तेरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरस्ये-
तरस्मिन्नभावः, अत्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्रा-
क्तैर्नैर्लोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिदधिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावमाविर्भावयन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागज्ञा-
वः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि ; अ-
तिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्प-
त्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नचैवमपि
रूपज्ञानं तन्निवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्प्रति तस्य तत्त्वप्रसक्ति-
रिति वाच्यम् । अतीन्द्रियदर्शिनि नक्तंचरादौ च तद्भावेऽपि
तद्भावात् । (स इति) पदार्थः, (अस्येति) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पि-
ण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यद्युत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाज्ञा-
वः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन,
अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । विपत्तिर्विघटनं, सोऽस्य कार्यस्य प्रध्वं-
साज्ञावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

उदाहरन्ति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य क-
लशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराज्ञावः ॥ ६३ ॥

स्वभावान्तरात् पुनः स्वस्वरूपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्व-
रूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽन्यापोहनामा
निगद्यते ॥ ६३ ॥

उदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वजावाल्कुम्भस्वजाव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अत्यन्ताभावमुपदिशन्ति—

कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-
भावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानरूपकात्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरि-
णामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः, सोऽत्यन्ताज्ञावोऽजिधी-
यते ॥ ६५ ॥

निदर्शयन्ति-

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुञ्जात्मकतामचकञ्चत्, कञ्च-
यति, कञ्चयिष्यति वा; तच्चैतन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुञ्ज-
लतत्त्वं चेतनस्वरूपताम्; अचेतनत्वविरोधात् ॥ रत्ना० ३
परि० । न० । सम्म० । अज्ञावचातुर्विध्यं चावश्यमाश्रयणीयम् ।
तदुक्तम्-“ कार्यद्रव्यमनादिः स्यात्, प्रागज्ञावस्य निह्वये ।
प्रध्वंसस्य त्वभावस्य, प्रध्वयेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १ ॥ सर्वात्मकं
तदेकं स्या-दन्यापोहयतिक्रमे ” इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १
उ० । (सम्प्रत्यादिप्रत्यययोः विशेषोऽवगन्तव्यः) परिचाराज्ञावो
द्विविधः-विद्यमानाज्ञावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन्
अज्ञावोऽसन् वैयानृत्यादेरकरणाद् विद्यमानाज्ञावः । अवि-
द्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । व्य० २ उ० ।

अज्ञाविय-अज्ञावित-वि० । असंसर्गप्राप्ते प्राप्तसंसर्गं वा च-
ञ्चनः पुञ्जकल्पे, अयोग्यं च । “ अज्ञाविया परिसा ” तृतीयमा-
श्रय्यम् ॥ स्था० १० उ० ।

अज्ञावियकवेत्त-अज्ञावितक्षेत्र-न० । क० स० । संविग्रसाधु-
विषयश्रद्धाविकल्पे, पार्श्वस्थादिभाविते च क्षेत्रे, वृ० ३ उ० ।

अज्ञावुग-अज्ञावुक-न० । न० त० । वेल्लुकादिरूपभावुकवि-
वर्तने चक्षुषादौ, पं० य० ३ द्वार । आव० ।

अभासग-अज्ञापक-पुं० । ज्ञावाऽपर्यायेन अवोगिमिक्षे, एके-
न्द्रिये च । स्था० २ उ० ४ उ० । अनु० । चं० प्र० । (“ भासग ”
शब्दे दण्डकोऽस्य वक्ष्यते)

अज्ञामा-अज्ञापा-स्त्री० । सृष्टाभापायाम्, सत्यामृपायां च ।
भ० १५ श्रु० ३ उ० ।

अभामिय-अभासिक-वि० । अदीप्तिमति भूम्यादिके द्रव्ये,
नि० चू० १३ उ० ।

अभि-अभि-अभ्य० । अभिमुख्ये, अनु० । आचा० । विपा० ।
संमुखे, न० । विकल्पे, पदार्थमज्ञावने च । नि० चू० १ उ० । क-
श्चिप्रकारं प्राप्तस्य द्योतने, अभिमुख्ये, अजिलापे, वीक्षसायां,
लक्षणं, समन्तादर्थं च । वाच० ।

अभिआवत्त-अन्यापन्न-वि० । अतिमुखं समापन्ने, सूत्र० १
श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अभि (भी) इ-अभिजित्-न० । ब्रह्मदेवताके नक्षत्रभेदे, स्था०
२ उ० ३ उ० । अनु० । “ दो अभिई ” स्था० २ उ० ३ उ० ।
ज० । नञ् उत्तरपाटानकत्रयं शेषचतुर्थोऽसहितश्रवणनक्ष-
त्राद्यकञ्चाचतुष्करूपम् । शब्द० । “ अतीन्द्रियस्वत्वे नितारे ”
पं० सं० २ द्वार । नक्षत्रेण सदाऽस्य योगस्तत्रैव । ज्यो० ६ पाट० ।
ब्रानभयनगरराजस्योऽदायनस्य प्रज्ञावत्यां देव्यामुपपत्ते पुत्रे, भ० ।
स च प्रव्रजता स्वपिशा नद्वागिनेयं केशिकुमारश्चमणे राज्यम-
धिष्ठापिते द्विष्टः सन् संवेद्यनया मृतः सन्नसुरकुमारदेवत्वेनो-
त्पन्नः । भ० १३ श्रु० ६ उ० । स्था० ।

तए णं तस्म अतीन्द्रकुमारस्म अणया कयाऽं पुण्वरत्ता-
वत्तकालसमयंमि कुट्टवजागमिं जागरमाणस्म अयमेया-

रुवे अज्जत्तिए जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु अहं उदा-
यणस्म पुत्ते पञ्चावइए देवीए अत्तए । तए णं से उदायणे
राया मम अवहाय णियं भायणिज्जं केसीकुमारं रज्जे ठा-
वेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए । इ-
मेणं एयारुवेणं महता अपत्तिएणं मणोमाणसीएणं दुक्खेणं
अजिज्जुए समाणे अंतेउरपरियात्तसंपरिवुडे सज्जरुमत्तोवग-
रणमायाय वीइभयाओ णयराओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छ-
इत्ता पुव्वाणुपुट्ठिं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणैव
चंपा णयरी, जेणैव कूणिए राचा, नेणैव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता कूणियं रायं उवमंपज्जित्ता णं विहरइ । तत्थ वि
णं से विउलभागसमितिममणाए यावि होत्था । तए णं
से अभीइकुमारे समणोवासए यावि होत्था; अभिगयं जाव
विहरइ । उदायणस्म रायरिसिग्गि समणवप्पवेरे यावि हो-
त्था । तेणं काळेणं तेणं समणं इमीसे रयणप्पजाए पुढवीए
णिरयपरिसामंतेसु चोयट्ठिअसुरकुमारावाससयसहस्सा प-
णत्ता । तए णं से अजीइकुमारे वहुइं वाभाई समणोवासमं
परियायं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संझेहणाए
तीसं भत्ताइं अणसणं २ तस्म ठाणस्स अणाओइयपरिकंते
कात्तमामे कात्तं किच्चा इमीने रयणप्पभाए पुढवीए णिर-
यपरिसामंतेसु चोयट्ठिए आतावा० जाव सहस्सेसु अणय-
रंसि आयावा असुरकुमारावासंसि आतावासंसि असुर-
कुमारदेवत्ताए उववणां, तत्थ णं अत्थेगइयाणं असुरकुमा-
रीणं एगं पत्तिओवमट्ठिई पणत्ता । तस्म णं अजीइस्स देवस्स
एगं पत्तिओवमं टिई पणत्ता । मे णं अभीइदेवे ताओ देव-
द्वोगाओ आउक्खणं ३ अणंतरं उव्वट्ठित्ता कट्ठिं गच्छि-
दिति, कट्ठिं उव्वज्जिदिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वामे
सिज्जिदिति० जाव अंतं कादिति, सेवं जंतं ! जंतं ! ति ॥

(अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं ति) अप्रतिनेकेना-
प्रतिस्वभावेन मनसो विकारो मानसिकं, मनसि मानसिकं, न
बहिरुपवद्ध्यमाणविकारं यत्तन्मनोमानसिकं, तेन । केनैवविधे-
न ? , इत्याह-दुःखेन । (समंरुमत्तोवगरणमायाय ति) स्वां
स्वकीयां भाणरुमात्रां भाजनरूपपरिच्छदमुपकरणं च शय्या-
दि, गृहीत्वेत्यर्थः । अथवा-सह भाणरुमात्रया यदुपकरणं त-
त्तथा, नदादाय (समणवप्पवेरि ति) अथ्यवच्छिन्नैर्विरत्तावः ।
(निरयपरिसामंतेसु ति) नरकपरिपार्श्वतः (चोसणीए आ-
यावा असुरकुमारावासंसु ति) इह “ आयाव ति ” असुर-
कुमारविशेषाः, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति । भ० १३ श्रु० ६ उ० ।
लोकोत्तररीत्या द्वादश दिवसे, कल्प० ६ क० । श्रेणिकस्य धारिण्यां
जाते पुत्रे, अणु० । स च वीरान्तिके प्रव्रज्य पञ्च वर्षाणि श्रामण्यं
परिपाठ्य विजये विमानं उत्पन्न इति अनुत्तरोपपातिकदशा-
नां १ वर्गे १० अध्ययने सूचितम् । अणु० १ वर्ग । अभि-
मुख्याचूष जयति शङ्खं, अभि-जि-विष् । शङ्खजयि-
नि, यात्रानुकूलव्रतभेदे, पञ्चदशधा विभक्तदिनस्याष्टमे भा-
गे, स्मृतिप्रसिद्धे कुतपकाले च । वाच० । ६० प० ।

अभिनंजय-अजिगुज्य-अव्य० । सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्पर्द्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वशीकृत्याश्रित्य वा इत्येतेषामर्थे, दशा० १० अ० ।

अभिओग-अभियोग-पुं० । अजिगुज्यमानतायास, स द्विविधो-दैवो मानुषिकश्च । व्य० ८ उ० । (स च 'उवसगपत्' शब्दे द्वितीयभागे १०२६ पृष्ठे व्याख्यान्यते) अभियोजनमभियोगः । राजाजियोगादिके अनिच्छतोऽपि व्यापारणे, ध० २ अधि० । आदेशकर्मणि, औ० । प्रवृत्तः । आज्ञायाम्, स्था० १० ठा० । वशीकरणे, नि० चू० १ उ० । अभिज्ञेय, आव० ५ अ० । वृ० । सूत्र० । गर्वे, आव० ५ अ० । अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणादिरजियोगः । स च द्विधा । यदाह-

दुविहो खलु अभिओगो, दवे भावे य होइ नायव्वो ।
दव्वम्मि होति जोगा, विज्जासंताइ भावम्मि ॥

इदानीम् (अभिओगोति) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अजिओगोति) इह द्विविधो अभियोगः-द्रव्याजियोगो, जावाजियोगश्च ज्ञातव्यः । तत्र द्रव्यं योगो ह्यव्ययोगश्चूर्णम्, तन्मिश्रः पिएसो द्रव्याभियोगपिएसः, स च परित्यजनीयः भावाजियोगश्च विद्यया मन्त्रेण वा पिएडं ददाति स च भावाभियोगः पिएडः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्या दृष्टान्तः-“एगा अविरइया, सा अणिछा पइणो, ताए परिवाइया अ-भ्यथिया-किंचि मंतेण अभिमंतिऊण मम देदि, जेण पई मे वसो होइ, ताहे ताए अभिमंतिऊण कुरो दिशो । अविरइयाए चितियं-मा एसो दिन्नो मरेज्ज, तओ ताए अणुकं-पाए उक्कडरुडियाए छुड्डिओ, सो गइहेण खाइओ, सो रत्ति घरदारं खेदिउमारखो, ताणि निग्गयाणि जाव पेच्छंति गइहेण खोदिजंते, सा अविरइया जप्पइ-किमेय ति ?, ताए स-व्भावो कहिओ, तेहिं वि सा चरिया दंसाविया, एस दोसां, एवं ताव जइ तिरियाणं एसो अवन्था होइ, माणुसस्स पुण सुहरं होइ, अओ एसो पिडो न घेत्तव्वो ” ॥

अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह-

विज्जाए हो अगारी, अविपत्ता सा य पुच्छए चरियं ।

अभिमतणोदणस्स उ, अणुकंपत्तणमुसमं च खरे ॥ ६०४ ॥

विद्याजिमन्त्रिते पिएसे अगारीदृष्टान्तः-सा भर्तुस्वयत्ता न रोचते । सा च चरिकं पात्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थम् । तथा अजिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तस्मादपि अगार्या पत्युर्मरणानुकम्पया न दत्तः स ओदनः, किन्तु उत्सन्नः, परित्यागः कृतः । स च खरेण भक्ति इति ।

वारस्स पिट्ठणम्मि य, पुच्छण कइणं च हो अगारीए।
सेडे चरिआ दंर, एवं दोसा इहिं पि मया ॥

स च गर्दन आगत्य द्वारं पिट्ठति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम् । एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं ह्यव्याजियोगे चूर्णवशीकरणपिएसः, स उच्यते-

“एगा अविरइया, सा य गुरुअस्स जिक्खुणो अज्झोवयसु।
अणुरत्ता, ताहे सा तं पत्थइ, अणिच्छंतस्स चुष्साभिओगेण संजोएउ भिक्खं पडिवेसिय घरे काऊण दवाविंय ताए, जओ खेव तस्स साहुस्स पडिग्गहे पडियं तओ खेव तस्स साहुस्स ततो मणो हीरइ, तेण य पायं, ताहे णियइति, णियट्ठो आव-

गियाणं पडिग्गहं काउं काइयभूमिं वच्चइ, जाव आयरियाणं पि ततो हत्तो जावो हीरति, ताहे सो सीसो आगंतुं आओणइ, मम पि अत्थि भावो, तं पत्थं संजोगच्चुवेण कओ पिमो अत्थि, ताहे परिछविज्जइ, जो विहि परिछवेण सो उवरिं भण्णिहि ति” । एवमेव विसकयं पि । “एगा अगारी साहुणो अज्झोव-वणा, सो य णो इच्छति, ताए रुट्ठाए विलेण मिस्सा जिक्खा दिन्ना । तस्म य दिन्नमेत्ताणं खेव सिरोवेयणा जाया, परिणि-यट्ठो गुरुणो सम्पेऊण काईणं वोसिरइ, जाव गुरुणो वि मी-सवेयणा जाया, तं च गुरुणो मंथेण पायं, जहा इमं विममि-स्सं, अहवा तव्य लववकया जिक्खा पकिया, ताहे तं विसं उप्पिसइ । एवं णाते परिट्ठविज्जति ” ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह-

जोगम्मि उ अविरइया, अज्झोवन्ना मुरुवजिक्खुमि

कमयोगिमणिच्छंत-स्स देइ जिक्खं अमुहजावो । ६०६ ।

योगे अविरतिकागृहस्थादृष्टान्तः-अध्युपपन्ना रक्ता मुरुपेभि-जौ, अनिच्छितस्तत्कर्मकर्तुः कृतयोगां भिक्षां, भिक्षापिएसं ददाति । पुनश्च तस्य साधोऽग्रहणान्तरमेव अशुभभावो जातः ।

तदजिमुखं चिन्तयति-

संकाए स नियट्ठो, दाऊण गुरुस्स काइयं विसरे ।

तेसिं पि अमुहजावो, पुच्छा य ममं पि उस्सयणा ॥ ६०७ ॥

तथा च शङ्कया योगकृतभिक्षाशङ्कया निवृत्तः निष्ठापरिभ्रम-णात् ! शेषं सुगमम् ।

एमेव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइयं विसरे ।

गंभाई विष्णाए, उस्समण्डविही सियालवहे ॥ ६०८ ॥

एवमेव विपकृतोऽपि दृष्टान्तः-गुरोर्दत्त्वा समर्थयित्वा कायिकं व्युत्सृजति, तेन गुरुणा गन्धादिना विज्ञातम् । आदिग्रहणात् तत्तस्य उत्सर्जनं परित्यागः क्रियते, तत्र विधिना परिष्ठापनं कर्त्तव्यम्, नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो भवति । औ० । वृ० ।

अजिओगी-आजियोगी-स्त्री० । आ समन्तादाजिमुख्येन यु-ज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापाश्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानी-या देवविशेषास्तेषामियमाभियोगी । ज्ञावनायाम्, वृ० ।

अथाभियोगीमाह-

कोउअ-जूई-पसिणं, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।

रिद्धिरससायगुरुआं, अजिओगीभावणं कुणइ ॥

ऋद्धिरससातगुरुकः सन् कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी, प्रश्नाजीवी, प्रश्नाप्रश्नाजीवी, निमित्ताजीवी च जवति एवंविध आजियोगीभावनं करोतीति ॥ (वृ०)

अथ ऋद्धिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानार्थमाह-

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आजिओगियं बंधइ ।

बीयं गारवरहिओ, कुवं आराह गुत्तं च ।

एतानि कौतुकादीनि ऋद्धिरससातगौरथार्थं कुर्वाणः प्रयुज्जानः सन्नाजियागिकं देवादिप्रेष्यकर्मव्यापारफलं कर्म बध्नाति । द्वितीयमपवादपदमत्र भवति-गौत्वरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमतानि कौतुकादीनि कुर्वन्नाराधको नवति, उच्चैर्गोत्रं च कर्म बध्नाति, तीर्थोज्जति-

करणादिति । गता अभियोगिकी भावना । श्रु० १ उ० ।
भ० । स्था० । औ० ।

अभिभोयण-अभियोजन-न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्वशी-
करणे, प्रज्ञा० २० पद । आच० ।

अभिक्रममाण-अभिकाङ्क्ष-त्रि० । कर्तुमिच्छति, दश० ६
श्रु० ३ उ० ।

अभिक्रमा-अभिकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, सूत्र० १ श्रु० २
भ० २ उ० । आच० ।

अभिक्रान्त-अभिक्रान्त-त्रि० । अतिरुक्ते, आच० १ श्रु० ४
भ० ५ उ० । भावे निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, दश० ४ अ० ।

अभिक्रान्तिक्रिया-अभिक्रान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिभिर-
नवसेवितपूर्वायां वसतौ, आच० २ श्रु० २ अ० २ उ० ॥

अभिक्रान्तकर्म-अभिक्रान्तकर्म-त्रि० । हिंसादिक्रिया-
प्रवृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ भ० । आच० ।

अभिक्रान्तवय-अभिक्रान्तवयस्-न० । जरामतिमृत्युं वासतिक्का-
न्ते, आद्यवयोद्वयातिक्रमे जरान्निमुखे वयसि, बालादीनां चयोप-
चयवत्यवस्था-तामभिमुखमाक्रान्ते, आच० १ श्रु० २ भ० १ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमण-न० । अभिमुखं क्रमणे, आच० १
श्रु० ८ अ० २ उ० ।

अभिक्रममाण-अभिक्रममाण-त्रि० । गच्छति, आच० १ श्रु०
१ अ० २ उ० ।

अभिक्रम्य-अभिक्रम्य-अव्य० । अभिमुख्येन क्रान्तेत्यर्थे, सूत्र०
१ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमण-अव्य० । अनवरते, आ० म० प्र० ।
ज० । प्र० । विशेष० । सूत्र० । आच० । पुनःशब्दार्थे, स्था० ५
वा० १ उ० । “एगे समुपपन्नेजा अभिक्रमणं अभिक्रमण इति-
कहं भक्तकहं” स्था० २ वा० ४ उ० । अभीष्टं पुनःपुनः । विशेष० ।
श्रु० । नि० चू० । दश० । स० । ज्ञयोभूयः । दश० १० अ० ।
रा० । चारंवारम् । कल्प० ६ क० । उक्त० । असकृत् । दश० २
अ० । भृशम् । स० ३० सम० । “अभिक्रमणमोधारणि भा-
सह” आच० ४ अ० ।

अभिक्रमणसेवण-अभिक्रमणसेवण-न० । अभीष्टप्रतिसे-
वने, आ० ३ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमणमायिन्-त्रि० । बहुशो मायाविनि,
व्य० ३ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमणसेवा-स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्,
नि० चू० १ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमण-पुं० । अतुच्छानवज्ञानप्रा-
हं भिन्नाचर्याविषयकानिग्रहविशेषधारके साधौ, औ० । सूत्र० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमणसेवा-स्त्री० । असकृदसेवना-
याम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमण-न० । घनचयनिमुञ्चने, रा० २ भ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमण-पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० ५० दश० ।

अभिगमाः—

येरे भगवन्ते पंचविहेण अभिगमेण अभिगच्छन्ति । तं जहा-
सचित्ताणं द्वाणं विउसरण्याए, अचित्ताणं द्वाणं
अविउसरण्याए, एगसाटिएणं उत्तरसंगकरणेणं, चक्खु-
प्फामेअंजलिपगहेणं, मणसा एगत्तीकरणेणं ॥

(अभिगमेणं ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति ।
(सचित्ताणं ति) पुष्पताम्बूलादीनां (विउसरण्याए ति)
व्यवसर्जनया त्यागेन, (अचित्ताणं ति) वस्त्रमुद्रिकादीनां, (अ-
विउसरण्याए ति) मत्यागेन, (एगसाटिएणं ति) अनेका-
करीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम् । (उत्तरसंगकरणेणं ति)
उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः, चक्कुःस्पर्शे दृष्टिपाते,
(एगत्तीकरणेणं ति) अनेकत्वस्यानेकालम्बनत्वस्य एकत्वं
करणं एकात्म्यनत्वकरणं एकत्वकरणं, तेन । भ० २ श० ५ उ० ।
दर्श० । सूत्र० । वस्तुनः परिच्छेदे प्राप्तौ अभिगम्यतेऽस्मिन्नित्य-
भिगमः, इति व्युत्पत्त्या वस्तुपरिच्छेदाधिकरणे, दश० ४ अ० ।

अभिगमण-अभिगमण-न० । अभिमुखगमने, दश० १० भ० ।
ध० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । सर्वबाह्यमण्डलादभ्यन्तरप्रविशने,
सू० प्र० १३ पादु० । “ अभिगमणघयाए ” अवगमलक्षणया-
र्थयित्यर्थः । ज्ञा० १२ अ० ।

अभिगमण-अभिगमणयोग्य-त्रि० । अभिमुखगमनायो-
चिते, रा० ।

अभिगमण-अभिगमण-पुं० । अभिगमो विशिष्टं परिज्ञानं,
तेन रुचिर्यस्यासौ अभिगमरुचिः । सम्यक्त्वभेदे, तद्वति च ।
प्रव० १४ए द्वार ।

सो होइ अभिगमणं, सुयनाणं जस्स अत्यओ दिट्ठं ।

एकारस अंगाई, पइएगा दिट्ठिवाओ य ।

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकमित्यत्र जा-
तावेकवचनम् । ततोऽयमर्थः-प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि,
दृष्टिवादः, चशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यभिगमरुचिः । प्रज्ञा०
१ पद । उक्त० ।

अभिगमण-अभिगमण-पुं० । प्रतिपन्नाणुवते, ध० ३ अभि० ।

अभिगमण-अभिगमण-न० । जीवाजीवपुण्यपा-
पाश्र्वसम्भरनिर्जरावधमोक्षेषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्य-
यिके सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० ४ अ० । “ अभिगमणसम्मदसणे
दुविहे पन्नसे । तं जहा-पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव ” ।
स्था० २ वा० १ उ० ।

अभिगमण-अभिगमण-पुं० । न० । अभिमुख्येन गतः । प्रविष्टे,
श्रु० १ उ० ।

अभिगमण-अभिगमण-अव्य० । अङ्गीकृत्य अभिमुखीभूयेत्यर्थे,
स्था० २ वा० १ उ० ।

अभिगमण-अभिगमण-त्रि० । अभिमुख्येन लुच्यमाने
लोभवशगीभवने, सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

अभिगमण-अभिगमण-पुं० । अभिमुख्येन ग्रहोऽनिग्रहः । नि० चू०
२ उ० । अभिगमण इत्यभिग्रहः । प्रतिज्ञाविशेषे, आच० ६ भ० ।

साध्वाचारविशेषे, यथेत्थमाहारादिकममीपां कल्पते, इत्थं च न कल्पते । वृ० १ उ० । स च द्रव्यादिविषयभेदाच्चतुर्विधः । ध० ३ अधि० । तत्र द्रव्याभिग्रहो लेपकृदादिद्रव्यविषयः, क्षेत्राभिग्रहः स्वग्रामपरग्रामादिविषयः, कालाभिग्रहः पूर्वा-एहादिविषयः, भावाभिग्रहस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादिविषयः । औ० । प्रव० ।

हिरन्ति तत्रो पञ्चा, अमुच्छिया एसणाएँ उवज्जता ।

द्ववादभिगहजुआ, मोक्खट्टा सव्वजावेणं ॥ ए७ ॥

हिरन्ति अटन्ति ततः पश्चाद्, विधिनिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । अमुच्छिता आहारादौ मूर्च्छामकुर्वन्तः, एषणायां ग्रहणविषयायाम्, उपयुक्तास्तत्पराः, द्रव्याद्यभिग्रहयुता वक्ष्यमाणद्रव्याद्यभिग्रहोपेताः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्वात्, भिक्षाटनस्य सर्वभावेन सर्वभावाभिसन्धिना तद्वैद्यावृत्त्यादेरपि मोक्षार्थत्वादिति गाथार्थः ।

तत्र द्रव्याभिग्रहानाह—

लेवमझेवजुअं वा, अमुगं दव्वं व अज्ज चिच्छामि ।

अमुगेणं च दवेणं, अह दव्वाभिगहो चेव ॥ ए८ ॥

लेपवज्जुगार्यादि, तन्मित्रं वा, अलेपवद्वा तद्विपरीतम्, अमुकं द्रव्यं वा मण्णकादि, अद्य ग्रहीष्यामि अमुकेन वा द्रव्येण दर्वी-कुन्तादिना, अथायं द्रव्याभिग्रहो नाम साध्वाचरणविशेष इति गाथार्थः ।

क्षेत्राभिग्रहमाह—

अट्टउ गोअरज्जुमिं, एलुगविकखंभेत्तगहणं च ।

सग्गामपरगामे, एवइअ गिहाण खेतमि ॥ ए९ ॥

अष्टौ गोचरजुमयो वक्ष्यमाणलक्षणाः, तथा एलुकविकखम्भ-मात्रग्रहणं च, यथोक्तम्—‘एलुकविकखंभइत्ता’ । तथा स्वग्रामपरग्रामयोरेतावन्ति च गृहाण क्षेत्रे इति; स क्षेत्रविषयोऽभिग्रह इति गाथार्थः । पं० व० २ द्वार ।

कालाभिग्रहमाह—

काळे अभिगहो पुण, आई मज्झं तहेव अवसाणे ।

अप्पत्ते सइ काळे, आई विइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्—आदौ मध्यं तथैवावसाने निष्कावेलायाः, एतदेव व्याचष्टे—अप्राप्ते निष्काकाले यत्पर्यटति स प्रथमोऽभिग्रहः । यस्तु सति प्राप्ते निष्काकाळे चरति स द्वितीयो मध्यविषयोऽभिग्रहः । यत्पुनश्चरमेति कालान्ते निष्काकाळे पर्यटति सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ।

कालत्रयेऽपि तु गुणदोषानाह—

दिंतगपडिच्छगाणं, हविज्ज सुहुमं पि मा हु अवियत्तं ।

इय अप्पत्ते अइए, पवत्तणं मा ततो मज्जे ॥

ददत्प्रतीच्छकयोरिति—निष्कादातुरगारिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च वनीपकादेर्मा जूतं सुदृममप्यवियत्तमप्रीतिकम्, इत्यस्मात्केतोरप्राप्तेऽतीते च—निष्काकाळेऽटनं श्रेय इति गम्यते । (पवत्तणं मा ततो मज्जेति) अप्राप्ते अतीते वा पर्यटतः प्रवर्त्तनं पुरःकर्मपश्चात्कर्मादेर्मा भूत्, तत एतेन हेतुना मध्ये प्राप्ते निष्काकाळे पर्यटति॥

अथ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तपाइचरगा, भावजुया खमु अभिगहा होंति ।

गायंतो व रुदंतो, जं देइ निमल्लमादीया ॥

उत्क्रिप्तं पाकपित्ररात्पूर्वमेव दायकेनोद्धृतं तद् ये चरन्ति गवे-पयन्ति ते उत्क्रिप्तचरकाः। आदिशब्दाद् निक्लिप्तचरकाः, संख्या-दत्तिकाः, इष्टलाभिकाः, पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते गुणगुणिनोः कथंचिद्भेदाद्भावयुताः खल्वभिग्रहा जयन्ति, भावाभिग्रहा इति ज्ञावः । यद्वा—गायन् यदि दास्यति तदा मया ग्रहीतव्यम्, एवं रुदन् वा, निषणादिर्वा, आदिग्रहणादुत्थितः, स-प्रस्थितश्च यद्दाति तद्विषयो योऽभिग्रहः स सर्वोऽपि ज्ञावा-भिग्रह उच्यते ।

तथा—

ओस्मकणअहिसकण, परंमुहालंकिण य इयरो वा ।

जावऽन्नयरेण जुआं, अह जावाभिगहो नाम ॥

अवध्वक्कनपसरणं कुर्वन्, अग्निष्वक्कन् संमुखमागच्छन्, परा-ङ्मुखः प्रतीतः; अवध्वक्कतः कटककेयूरादिभिः, इतरो वा अनवध्व-क्कतः पुरुषो यदि दास्यति तदा ग्राह्यमित्येतेषां भावानामन्यत-रेण भावेन युतः, अथायं भावाभिग्रहो नामिति । वृ० १ उ० । आचा० । “तए रां समणे जगवं महावीरे गम्भथेचेव धमेया रुवे अभिगहं अग्निगहइ—नो खलु मे कप्पइ अम्मापिउहिं जीवतेहिं मुंके जवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ” । कल्प० ५ कृ० । श्रीवीरः पञ्चाभिग्रहानभिगृह्यास्थिकग्रामं प्रति प्रस्थितः। अभिग्रहाश्चैते—‘नाप्राप्तिमद्गृहे वासः १, स्थेयं प्रतिम-या सदा २ । न गेहि विनयः कार्यः ३, मौनं ४ पाणौ च भोजनम् ५” ॥१॥ कल्प० ५ कृ० । प्रत्याख्यानभेदे, “पंच चउरो अभिगहे ” पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे आकाराः—“अग्निगहेसु अप्पाउरणं कोइ पक्खखाइ, तस्स पंच (आगारा,) अस्सत्थऽणाभोगे सहसा-गारे चोलपट्टागारे महत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टागारे णत्थि विगईए अट्ट नव य आगारा” आवा० ६ अ० । ध० । ल० । प्र० । इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपे कुमत्परिग्रहे, स्था० २ वा० १ उ० । गुरुनियोगकरणाजिसन्धौ, द्वा० २ ए द्वा० । एष कायिकविनयभेदः। व्य० १ उ० । दश० । पं० सं० । प्रकाशकरणे, अभियोगे, अभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिगहियसिज्जासणिय—अभिगृहीतशय्यासनिक—पुं० । शय्यासनभिग्रहयुते साध्वाचारे, कल्प० ।

नो कप्पइ निगंथारण वा निगंथीण वा अणजिगहिय-सिज्जासणिएण हुत्तए ॥

नो कल्पते साधूनां, साध्वीनां वा (अणभिगहियसि) न अभिगृहीते शय्यासने येन स अनभिगृहीतशय्यासनः, अन-भिगृहीतशय्यासन एव अनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकण प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तए स्ति) जवितुं न क-ल्पते । वर्षासु मणिकुट्टिमे पीठफलकादिग्रहणवतैव ज्ञाव्यम्, अन्यथा शीतलायां भूमौ शयने उपवेशने च कुन्वादिविराध-नोत्पत्तेः । कल्प० ९ ल० ।

अग्निगहिया—अभिगृहीता—स्त्री० । अग्निग्रहवत्यामेपणायाम्, प्रव० । अग्निग्रहश्चैवम्—तासां सप्तानामेपणानां मध्ये आद्ययो-र्योगग्रहणं, पञ्चसु ग्रहणं, पुनरपि विवर्कितदिवसे अन्त्यानां पञ्चानां मध्ये द्वयोरभिग्रहः । प्रव० ६ द्वा० । “अग्निगहरहिया ए-सणा जिणकप्पियाणं” नि० चू० ४ उ० । प्रतिनियतावधारणे, यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अभिघट्टिजमाण-अजिघट्टमान-त्रि० । वेगेन गच्छति, रा० ।
अजियाय-अजियात-पुं० । अजिहन्ते, प्रश्न० १ आध० द्वा० ।
लकुटादिप्रहारे, जीत० । नि० चू० । " गोफणधणुमा-
दिअभिघातो " गोफणा च द्वारकमयी प्रसिद्धा-तया, धनुप्रभृ-
तिनिर्वा जेष्ठकुमुपलं वा यःप्रतिपति, एषोऽअजिघात उच्यते ।

अथवा-

विह्वलणंनकुमादी-मिणेहउदगादि आवरिसणं तु ।

काओ तु विषसत्थे, खारो तु कल्लिवमादीहिं ॥

विधुवनं बीजनकं, खंतकं वस्त्रं, कुशो दर्भस्तत्प्रभृतिभिर्बीज-
यन् यन्प्राणिनो अभिहन्ति, एष वा अभिघात उच्यते, अहो नाम
उदकेन, आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा, आवर्षणं करोति । कायो
नाम द्विपदादीनां विम्बम्, प्रतिरूपमित्यर्थः । वृ० ४ उ० ।

अभिचंद-अजिचन्द-पुं० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते प-
ञ्चदशानां दशमे, सप्तानां चतुर्थे वा कुलकरे, जं० २ वक्त्र० ।
" अजिचंदेण कुल्लगेर उधणुसयाइ उहुं उच्चत्तेणं होत्था "
स्था० २ रा० १ उ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । (पत्त्या-
दयः ' कुलकर ' शब्दे वच्यन्ते) दशार्हपुरुषभेदे, अन्त० १
वर्ग । दिवसस्य षष्ठे मुहूर्ते, चन्द्र० १० पाहु० । स० । ज्यो० ।

अभिजण-अजिजण-पुं० । शब्दार्थैकीकरणे, सम्म० । अन्ये तु (सौ-
गतविशेषाः) शब्द एवाजिजणत्वमागतः शब्दार्थ इति । स चा-
भिजणः शब्द एवार्थ इत्येवं शब्देऽयस्य निवेशनम्, सोऽय-
मित्यजिसंबन्धः । तस्माद्यदा शब्दस्यार्थेन सहैकीभूतं रूपं प्रवर्तते
तदा तं स्वीकृतार्थाकारं शब्दमजिजणमित्याहुः । सम्म० १ का-
ण्डा० (एषां खएरुनम् ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ७५ पृष्ठे वच्यते)

अजिजाइ-अजिजानि-स्त्री० । कुलीनतायाम्, उत्त० ११ अ० ।

अभिजाणमाण-अभिजानन्-त्रि० । आसेवनापरिज्ञयाऽऽसे-
वमाने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अजिजाय-अभिजात-त्रि० । अभि प्रशस्तं जातं जन्म यस्य
सः । कुलीने, वाच० । जं० । कुलीनलक्षणम्-

" प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संप्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतैः ।
अनुत्सको लक्ष्या निराजितवसाराः परकथाः,
श्रुते चाऽमन्तोषः कथमनभिजाते निवसति ? " । १। य० १ अधि० ।
लोकोत्तरीत्या दिवसनेदे, चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अजिजायन्-अजिजातन्-न० । चक्रुः प्रतिपाद्यस्यैव भूमि-
कानुसारितायां सत्यवचनानि शयरूपायाम्, स० ३५ सम्म० ।

अजिजायमहु-अजिजानश्रु-त्रि० । उत्पन्नतत्त्ववृत्तौ, उत्त०
१४ अ० ।

अजिजुंजिना-अजियोकुम्-अव्य० । विद्यादिसामर्थ्यतस्तद्-
नुप्रवेशेन व्यापारयितुम् । भ० ३ श० ५ उ० ।

अभिजुंजिय-अभिजुज्य-अव्य० । वशीकृत्य, आश्रित्य, भ० ३
श० ५ उ० । व्यापार्य, स्मारयित्वा-परामर्शे, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

अजियोकुम्-अव्य० । विद्यादिनामर्थतस्तदनुप्रवेशेन व्या-
पारयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

अभिजुत्त-अभियुक्त-त्रि० । परिडते, न० । संपादितदूषणे, हा०
१४ अ० । स्या० ।

अभिज्जा-अभिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमभिध्या । स० ५२ सम्म० ।
धनादिष्वसन्तोषे परिग्रहे, हा० १३ अष्टा० द्वा० । तदात्मके गौ-
णमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम्म० ।

अभिहुय-अजिष्टुत-त्रि० । आभिमुख्येन स्तुतोऽजिष्टुतः । आ-
व० २ अ० । स्वनामजिः कर्तिते, ल० । अनु० ।

अजिहुय-अभिष्टुत-त्रि० । अव्यवसायरूपेण व्याप्ते, गर्जाधा-
नादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभिणंदण-अजिनन्दन-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भरत-
क्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थकरे, (आ० म०) तथा अभिनन्द्यते देवेन्द्रादि-
भिरित्यजिनन्दनः । सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्येतो
विशेषहेतुप्रतिपादनायाह-" अजिनंदण अजिनंदाणा तेण " शक्रो
गर्जादारभ्याभक्षिणं प्रतिक्षणं यमभिवन्दितवानिति अभिनन्दनः ।
रुद्रहूलमिति वचनात् कर्मगुणनद् । तथा च वृक्षसम्प्रदायः-
" गन्धर्वजिह्वं अभिष्वणं सक्केण अभिवंदिया इतो तेण सो अ-
भिनंदणो स्ति नामं कयं " आ० म० छि० । ध० । स० । आ०
चू० । आ० क० । " अजिनंदणो अ भरहे, एरवण नंदिसेणजिण-
चंदे " (स्ति (समकालमुत्पन्नौ) ती० ६ कल्प । स्था० । प्रव० ।
लोकोत्तरीत्या श्रावणमासे, सू० प्र० १० पाहु० ।

अजिणंदंत-अजिनन्दयत्-त्रि० । राजानं समृद्धिमन्तमाचक्षा-
णे, आ० । जय जीवेत्यादिजननतोऽभिवृद्धिमाचक्षणे, भ० ५
श० ५ उ० । प्राप्तिं कुर्वति, संथा० ।

अभिणंदमाण-अजिनन्दयत्-त्रि० । समृद्धिमन्तमाचक्षणे,
कल्प० ५ त्त० ।

अजिणंदिजमाण-अजिनन्दमान-त्रि० । जनमनःसमूहैः स-
मृद्धिमुपनीयमाने जय जीव नन्देत्यादिपर्यालोचनात् । औ० ।
संस्तूयमाने, स्था० ९ रा० ।

अजिणंदिय-अभिनन्दित-पुं० । लोकोत्तरीत्या श्रावणे मासि,
ज्यो० ४ पाहु० ।

अभिणय-अजिनय-पुं० । अभि-नी-करणे अच् । हस्तभाव-
व्यञ्जके शरीरचेष्टादौ, भावे अचि-अजिनेयपदार्थस्य शरीरचे-
ष्टाभाषणादिभिरनुकरणे, अभिनयति बोधयत्यर्थमत्र-आधारे
अच् । शरीरचेष्टादिभिर्दृश्यपदार्थज्ञापके रूपकादौ दृश्यकाव्ये,
वाच० । " चउव्विहे अजिणण पण्णत्ते । नं जहा-दिट्ठंतिण, पारंसुण,
सामंतोवणिए लोमज्जवासिए " स्था० ४ रा० ४ उ० । अप्ये-
ककाश्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति । तद्यथा-दार्ष्टान्तिकं, प्राति-
श्रुतिकं, सामान्यतो विनिपातिकं, लोकाध्यवसानिकमिति । एते
नाट्यविधयोऽजिनयविधयश्च जरतादिसङ्गीतशास्त्रज्ञेभ्योऽव-
सेयाः । आ० म० प्र० । रा० ।

अभिणव-अजिनव-त्रि० । प्रत्यग्रे अर्जुणि, पो० ५ विव० ।
विशिष्टवर्णादिगुणोपेतं, जी० ३ प्रति० ।

अभिणवधम्म-अभिनवधर्मन्-पुं० । अधुनैव गृहीतप्रवच्यं, वृ० ४ उ० ।

अजिणिक्कंत-अजिनिष्कान्त-त्रि० । अर्थात्ताचारादिशास्त्रे, तद-
र्थभावनोपबृंहितचरणपरिणामे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अजिणिगिज्ज-अजिनिगुह-अव्य० । अवस्थेत्यर्थे, आचा०
१ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अभिणिचारिया-अभिनिचारिका-स्त्री० । आभिमुख्येन निय-
ता चरिका; सूत्रोपदेशेन बहुमजिकादिषु पुर्व्वानामाप्यायनि-
मित्तं पूर्वाह्णे काले समुत्कृष्टसमुदाने वधुगमने, व्य० ४ उ० ।

अजिणिपया-अभिनिप्रजा-स्त्री० । अभि प्रत्येकं नियता वि-
विक्ता प्रजा अभिनिप्रजा । प्रत्येकं विविक्तायां प्रजायाम्,
व्य० ६ उ० ।

अभिणिबोह-अभिनिबोध-पुं० । अर्थाभिनिमुखो नियतः प्र-
तिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः । अभिनिबु-
ध्यतेऽनेनास्मादिस्मिन् वेति । मतिज्ञाने, तदावरणकृत्योपशमे च ।
आ० म० प्र० । सम्म० । नं० । आव० । स्था० । आभिमुख्येन
निश्चितत्वेन च बुध्यते संवेदयते आत्मा तदित्यभिनिबोधः ।
अवग्रहादिज्ञाने, अजिनिबुध्यते वस्त्ववगच्छतीति अजिनि-
बोधः । मतिज्ञानात्मनि, विशेषे ॥

अभिणियट्ट-अजिनिवर्तन-न० । व्यावर्तने, आचा० १ श्रु०
३ अ० ४ उ० ।

अभिणिविट्ट-अभिनिविट्ट-त्रि० । वट्टाऽऽदरे, उत्त० १४ अ० ।
वट्टाऽऽग्रहे, उत्त० १४ अ० । अभिविधिना निविष्टम् । ज० १२
श० ३ उ० । जीवप्रदेशेषु अजिव्याप्त्या निविष्टं अतिगाढतां
गते, म० १३ श० ७ उ० ।

अभिणिवेश-अजिनिवेश-पुं० । अतत्त्वाग्रहे, पञ्चा० १४ विव० ।
चित्तावष्टम्ने, आघ० । तदूपे योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा० ।

विट्टपोऽपि तथारूढः, सदा स्वरसवृत्तिकः ।

शरीराद्यवियोगस्या-भिनिवेशोऽजिलापतः ॥ १० ॥

(विट्टपोऽपीति) विट्टपोऽपि परिभूतस्यापि, तथारूढः पूर्व्व-
जन्मानुभूतमरणदुःखाभाववासनावत्ताद् भूयः समुपजायमानः,
शरीरादीनामवियोगस्याजिलापतः शरीरादिवियागो मे मा-
भूदित्येवं लक्षणम्, अभिनिवेशो जवति, सदा निरन्तरं, स्वर-
सवृत्तिकोऽनिच्छाधीनप्रवृत्तिकः । तदुक्तम्—“स्वरसवाही
विट्टपोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः” इति । २० । द्वा० २५ द्वा० । “कहं
वडो एत्थ विचारे सोऽजिणिवेसेण अन्नहा कम्मं वज्जइ”
आ० म० द्वि० ।

अभिणिवेह-अजिनिवेध-त्रि० । वेधने, वाच० । उन्माने,
आ० म० प्र० ।

अजिणिव्वगरा-अजिनिवगरा-स्त्री० । अजि प्रत्येकं निय-
तो वगडः परिक्रमेण यस्यां सा अजिनिवगडा । पृथक्परिक्र-
पायाम्, व्य० ६ उ० ।

अभिनिर्व्याकृता-स्त्री० । पृथग्निर्विकृतायां वसतौ, व्य० १ उ० ।

अभिणिव्वट्ट-अभिनिर्वृत्त-त्रि० । साक्षोपाकृतायुशिरोरोमा-
दिकमाजिनिर्वर्त्तनात्संपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अजिणिव्वट्टिता-अजिनिर्वृत्त-अव्य० । समाकृत्येत्यर्थे, “अ-
जिणिव्वट्टिता णं उवदंसेज्जा” सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विधाये-
त्यर्थे, “दंसहस्सं अभिणिव्वट्टिता णं उवदंसित्तए” म० ५
श० ४ उ० ।

अजिणिव्वरु-अभिनिर्वृत-त्रि० । क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूते,
मुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विषयकपायाद्युपशमाच्छांती-
भूते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । द्रोत्रादिजयाचिरानुरे,
“खंतेऽजिनिव्वुडे दंते, वीतगिच्छं सदा जण” । क्रोधादिपरित्या-
गाच्छांतीभूते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । “पावाओ विरतेऽजिनिव्वुडे”
सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । “अभिनिव्वुडे अमाई” अभिनिर्वृत-
ग्रहणं संसारमहातरुकान्दोच्छेद्यविप्रतिपत्त्या । आचा० १ श्रु० १
अ० १ उ० ।

अजिणिसज्जा-अजिनिपद्या-स्त्री० । अभि रात्रिमभिव्याप्य
स्वाध्यायनिमित्तमागता निर्पीदन्त्यस्यामित्यभिनिपद्या । अभि-
नैपेधिक्यां स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रत्यूप प्रतिघातायां
वसतौ, व्य० १ उ० ।

वहवे परिहारियाऽपरिहारिया इच्छेज्जा-एगंतओ अभि-
निसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेति; तए णो एं कप्पति थेरे
अणापुच्छित्ता एगंतओ अजिनिसेज्जं वा अजिनिसीहियं
वा चेत्तए । कप्पइ एहं थेरे आपुच्छित्ता ते एगंतओ अजिनि-
सेज्जं वा अजिनिसीहियं वा चेत्तए; थेरा य एहं से (ते)
वियारिज्जा-एवं एहं कप्पइ अजिनिसेज्जं वा अभिनिमीहियं
वा चेत्तए । थेरा एहं नो वितरेज्जा-एवं एहं णो कप्पइ
एगंतओ अजिणिमज्जं वा अजिणिमीहियं वा चेत्तए । जो
णो थेरेहिं अवित्तिएहं अभिनिसेज्जं वा अभिनिमीहियं
वा चेत्तए, से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ ११ ॥

वहवस्त्रिभुनयोऽनेके पारिहारिका उक्तशब्दार्था, वहवोऽपारि-
हारिका इच्छेयुरेकान्ते विविक्ते प्रदेशान्तरे वसत्यन्तरे वा अभिनि-
पद्याम्, अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागता निर्पीद-
न्त्यस्यामित्यभिनिपद्या, तां वा, तथा निषेधः स्वाध्यायव्यतिरेकेण
सकलव्यापारप्रतिषेधः । तेन निर्वृत्ता नैपेधिकी । अभि आजिमु-
ख्येन संयतप्रायोग्यतया नैपेधिकी । अभिनैपेधिकी, तां वा । इय-
मत्र भावना-तत्र दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ वसतिमेव साध-
वः प्रतियन्ति, सा अभिनैपेधिकी । अजिनैपेधिक्यामेव स्वा-
ध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रत्यूप वसतिमुपागच्छन्ति सा
अजिनिपद्येति । तामभिनिपद्यामभिनैपेधिकीं वा (चेति तए इति)
गन्तुं, तत्र, नो नैव, ‘से’ तेषां पारिहारिकानामपारिहारिकाणां च
कल्पते, स्वविरान् आचार्यादीन् अनापृच्छ्य (एकान्ततः) एकान्ते
विविक्ते प्रदेशे, वसत्यन्तरे वा अजिनिपद्यामभिनैपेधिकीं वा ग-
न्तुम्, उच्छ्वासनिश्वासव्यतिरेकेण शेषसाधुव्यापाराणां समस्ता-
नामपि गुरुवृत्ताऽनान्तात् । तदेवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय स-
म्प्रति विधियुत्रमाह—(कप्पति एहं थेरे आपुच्छित्ता) इ-
त्यादि सुगमम् । इह पारिहारिका नाम आपन्नपरिहारतपसो-
ऽभिधीयन्ते ।

तत्र चोदकं प्राह -

पुर्व्वंसि अप्पमत्तो, भिक्खू उववप्पितो जयंतेहिं ।

एहो व हुवे होज्जा, बहुया उ कहं समावन्ना ॥

पुनर्निमज्जये न हि अन्धयेने भिक्खुप्रमत्तो जदन्तैः परमक-
ल्प्याभिनिमज्जयन्ति नतः कथं परिहारतपःप्रायश्चित्ताऽऽप-
निरितः पारिहारिका जवेयुः। अपि च-एको हो वा पारिहारत-
पः अपोपानाम एकस्य एकाकिदापाणां द्वयोः समाप्तकल्पदो-
षाणां संनयान् ये च बहुवस्ते च समाप्तकल्पकल्पत्वात्
परस्परं च परापणः कथं पारिहारिकत्वं समापन्ना इति ?

अत्राचार्य आह—

चोयग ! वटुत्तपत्ती, जोहा व जहा तहा मणजोहा ।

दण्वच्छरणे जोहा, भावच्छरणे समणजोहा ॥

हे चोदरु ! परापणामसङ्गेने श्रोत्रेन्द्रियादिविषयेष्विष्टानि-
ष्टेषु रागद्वेषभयमतेन परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानापत्त्या बहु-
तां पारिहारिकानामुत्पत्तिर्न विरुद्धा । अथवा-यथा योधाः स-
न्नद्धवस्त्रकवचा अपि रणे प्रविष्टाः प्रतिपन्थिपुरुषैस्तथाविधं
कमप्यनमरमप्य देशतः सर्वतो वा हृत्यन्ते, तथा श्रमण-
योधा अपि मूलगुणोत्तरगुणेष्वन्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अ-
पि लुप्तनामाधुवन्ति सा च लुप्तना द्विधा-अन्यतो, भावत-
श्च । अन्यतश्च लुप्तना खड्गादिभिः । भावतः परीपहोपसर्गाद्यैः ।
तत्र अन्यच्छरणे अन्यतश्च लुप्तनविषयाः योधा रणे प्रविष्टा भटाः,
भावच्छरणे जावच्छलनविषयाः श्रमणयोधाः ॥

सप्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा श्रमणयोधा इति तद् व्याख्या-
नयति-

आरगिया वि रणमुदे, जहा उल्लिज्जंति अप्पमत्ता वि ।

उल्लणा वि हाइ षुविहा, जीवन्तकरी य इयरी य ॥

यथा योधा आवृता अपि सन्नद्धसन्नाहा अपि अप्रमत्ता अपि
च रणमुद्ये प्रविष्टाः प्रतिनष्टैश्चल्यन्ते । सा च लुप्तना द्विधा-
जीवितान्तकरी, इतरा च । तत्र यथा जीवितान् व्यपरोष्यते
सा जीवितान्तकरी, यथा तु परितापनाऽऽद्यापयते नापस्त्रावणं
सा इतरा ।

मूलगुणोत्तरगुणे, यथमाणा वि हु तहा उल्लिज्जंति ।

भावच्छलणा य पुणो, मा वि य देसे य सव्वे य ॥

तथा यतयो रागादिप्रतिपक्काभावनासन्नाहसन्नद्धा यथा-
गमं मूलगुणोत्तरगुणेषु चात्यप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु'
निश्चिन्ते, भावच्छलनतया परीपहोपसर्गादिभिः सन्मार्गच्छावनरु-
पया हृत्यन्ते । साऽपि च जावच्छलना द्विधा-देशतः, सर्वतश्च ।
तत्र यथा तपोऽहं प्रायश्चित्तमापयते-सा देशतो जावच्छलना ।
यथा मूलमाप्नोति-सा सर्वतः ।

पवं परिहारीया-ऽपरिहारीया व होज्ज बहुया तो ।

ते एगेन निर्मीदिय-मज्जिमिज्जं वा वि चेण्ज्जा ॥

यतो रणे प्रविष्टा योधा इव श्रमणयोधा अपि परीपहादि-
भिश्चल्यन्ते, तत एवमुक्तेन प्रकारेण, बहवः पारिहारिका अपा-
रिहारिकाश्च जवेयुः । तदेवं पारिहारिकापारिहारिकवहुव्यमुप-
पाद्याधुना सूत्रावयवान् व्याचिन्त्यामुग्रह-(ते एगेन इत्यादि) ते
बहवः पारिहारिका अपरिहारिका वा एकान्तन एकान्ते विवि-
क्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरे वा नैपेधिकी अभिशय्या वाऽपि अति-
निषयामपि चेतयेयुगच्छेयुः, गन्तुमिच्छेयुर्गन्त्यर्थः ।

तत्र का नैपेधिकी, का वा अतिशय्या ?, इति व्याख्यानयति-

ठाणं निर्मीदिय नि य, एगदुं जन्थ ठाणमेवेणं ।

चेतेति निमि दिया वा, मुत्तथ निसीहिया सा उ ॥

सज्जायं काऊणं, निमीहिया तो निमिं चिय उवेति ।

अजिवासिउं जत्थ निमिं, उवेति पातो तई सेज्जा ॥

निष्ठिति स्वाध्यायव्यापृताः अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन
स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैपेधिकी ।
ततः स्थानमिति वा, नैपेधिकीति वा (एगदुमिति) एकार्थम् ;
द्वारपथ्येन तुल्यार्थाविति भावः । व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्ट-
त्वात् । यत्र स्थानमेवं स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्ध्वस्थानं
अवाग्वत्तन्स्थानं वा चेतयन्ति । निशि रात्रौ दिवा वा सा
सूत्रार्थहेतुज्ञता नैपेधिकी । एतेनास्मिन् या नैपेधिक्यु-
क्ता सा सूत्रार्थप्राप्त्या नैपेधिकी प्रतिपत्तव्या, नतु काल-
करणप्राप्त्या नैपेधिकी प्रतिपत्तव्या । किमुक्तं भवति ?,
यस्यां नैपेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि वा
निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव निशायामवश्यं नैपेधि-
कीं वसतिमुपयन्ति सा अभिनैपेधिकी । यस्यां पुनर्नैपेधिक्यां
दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रातर्वसतिमु-
पयन्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति ज्ञावः ।

अथ स्थविरा आपृष्टा अपि यदा न व्रुवन्ति, तदा किं
कल्पते, न वा ? । इत्याशङ्क्यामाह—(येरा एहमित्यादि)
स्थविरा आचार्यादयः, चशब्दो वाक्यभेदः, एहमिति
वाक्यालङ्कारः, स तेषां पारिहारिकानामपारिहारिकानां वा वि-
तरेयुरनुजानीयुरनैपेधिकीमभिनिशय्यां वा गन्तुं, एवममुना प्रका-
रेण, एहमिति पूर्ववत्, कल्पते अभिशय्यायामभिनिपेधिक्यां वा
(चने तए इति) गन्तुम् । (येरा एहमित्यादि) स्थविराः, एह-
मिति प्राग्वत् । नो नैव, तेषां वितरेयुरेवममुना प्रकारेण नो
कल्पते एकान्ततोऽभिनिषय्यामभिनिपेधिकीं वा गन्तुम् । (जेण-
मित्यादि) यः पुनर्नमिति वाक्यालङ्कृतौ, स्थविरैरावितीर्णोऽन-
नुज्ञातः सन् एकान्ततो अभिनिषय्यामभिनिपेधिकीं वा (चेनेह)
गच्छति, ततः (से) तस्य स्वान्तरात् स्वकृतमन्तरं स्वान्तरं
तस्मात्, यावन्न मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमनोत्तिष्ठति ता-
वद् यद् विचालं तत् अन्तरं तस्मात्स्वकृतादन्तरात् भेदो वा
पञ्चरात्रिन्दिवादिकः, परिहारो वा परिहारतपो वा मासलघु-
कादिः । एष सूत्रार्थः ॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

निष्कारणमि गुरुगा, कज्जे लहुया अपुच्छणे लहुओ ।

परिसेहम्मि य लहुया, गुरुगमणे होतऽणुगधाया ॥

यदि निष्कारणे कारणाभावे अतिशय्यामभिनिपेधिकीं वा
गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अथ
कार्यं समुत्पन्ने गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघु-
मासाः । कार्यमुपरिष्ठाद् वर्णयिष्यते । यदि पुनः कार्यं समुत्पन्नं
अनापृच्छ्य गच्छन्ति, तदा अपृच्छने लघुको मासलघुः ।
पृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरैः प्रतिषेधे गच्छन्ति ततो
लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । (गुरुगमणे इत्यादि) गुरुगमणः
स यदि गच्छत्यभिशय्यामभिनिपेधिकीं वा ततस्तस्य भवन्त्य-
नुद्वान्तगुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः ॥

ये पुनर्वसतिपात्राः समर्था जिक्रवस्ते यदीच्छन्ति ततस्तेषामि-
मे दोषाः—

तेषाऽऽदेमगिलाणे, कामणइत्थीनपुंसमुच्छा वा

ऊणत्तणेण दोसा, ह्वंति एए उ वसहीए ।

ये वसतिपात्रास्तैर्वसंतरूतत्वे हीनत्वे एते गाथापूर्वार्द्धा दोषा भवन्ति । तद्यथा-स्तेनाश्वोरास्ते ' गताः साधवो वसतेः ' इति ज्ञात्वा वसतावापतेयुः, आदेशा आधूर्णकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामधिआमणादिप्रसक्तिः, समर्थसाध्वजा-वात् । (गित्वाणं चि) ग्लानो वा, तेषामभावे व्याधिपीडितो समाधिमाप्नुयात् । (कामणं चि) दाहो वा प्रदीपनकेन वस-तेर्ज्यात् । तथा स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्तीति स्त्रियो नपुंसका वा कामविह्वलाः समागच्छेयुः । तत्रात्मपरोभयस-मुत्था दोषाः । तथा मूर्गा कस्यापि पित्तादिवशतो भूयात् । तदेवं यतो वसतिपात्रानामिमे विनिर्गमे दोषास्तस्माच्चैरपि शय्यादिषु न गन्तव्यमित्येव द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यरुदाह-

द्विह्वाऽवहार सोही, एमणघातो य जा य परिहाणी ।

आएसमविस्सामण-परितावणया य एकतरे ॥

स्तेनैरपहारो द्विविधः । तद्यथा-साध्वपहारः, उपध्यपहारश्चा-तस्मिन् द्विविधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-यद्येकं साधुमपहरन्ति स्तेनास्तदा वसतिपात्रानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वावपहरन्ति ततोऽनवस्थाप्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहरणे पारा-श्रिकम् । तथा जघन्योपध्यपहारे पञ्चरात्रिन्दिवम् । मध्यमो-पध्यपहारे मासलघु । उत्कृष्टोपध्यपहारे चतुर्गुरुकम् । तथा एष-णाया घातः प्रेरणमेषणघातः, स च स्यात् । तथा हि-भवत्यु-पधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघातः, तत एषणाप्रेरणे यत्प्राय-श्चित्तं तदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा (जा य परिहाणिं चि) या च परिहाणिरुपधिमन्तरेण शीतादिबाधित-स्य, तद्भवेपणप्रयतमानस्य वा, सूत्रार्थस्य च भ्रंशः, तन्निमित्तकम-पि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूत्रपौरुष्या अकरणे मासलघु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अथोपधिगवेपणेन दीर्घकावतः सूत्रं नाशयन्ति ततश्चतुर्विधं । अर्थनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपात्रेषु साधुष्वभिशय्यादिगतेषु आदेशानामाधूर्णकानां समागतानामध्वपरिश्रान्तानामविश्रामणे या अनागाढा प-रितापनोपजायते, तन्निष्पन्नमपि तेषामापद्यते प्रायश्चित्तम् । (एकतरे चि) तेषु वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, ' यद्यागच्छन्ति प्राधूर्णकाः ते सर्वेऽपि नियमतो विश्रामयितव्याः ' इति जिनप्रवच-नमनुस्मरन् बहून्प्राधूर्णकान् विश्रामयन् यदनागाढमागाढं वा प-रितापनामाप्नोति तन्निमित्तकमपि समापतति तेषां प्रायश्चित्तम् ।

साम्प्रतमस्या एव गाथायाः पञ्चार्कं व्याख्यानयति-

आदेसमविस्सामण-परितावण तेसऽवच्छलत्तं च ।

गुरुकरणे वि य दोसा, ह्वंति परितावणादीया ॥

आदेशानां प्राधूर्णकानामविश्रामणे, ' गाथायां मकारोऽस्लान्नि-कः, ' एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । दीर्घाध्वपरिश्रमतो यदनागाढमा-गाढं वा परितापनं; तथा तेष्वपदेशेषु समागतेषु अवत्सन्नत्वम-वात्सल्यकरणं तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च वसति-पालेष्वपि शय्यादिगतेषु प्राधूर्णकानां समागतानामन्याभावे गुरुः स्वयं वात्सल्यं करोति, गुरुकरणेऽपि च दोषा ज्वन्ति परि-तापनादयः । तथा हि-गुरोः स्वयं करणे सुकुमारतया अनागाढमा-गाढं वा परितापनं स्यात्, परितापनाच्च योगसमागमः, रोगसमा-

गमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां सूत्रार्थहानिः, आध्वकादीनां धर्मदेशनाश्रवणव्याघातः, लोके चावर्णवादः । यथा-दुर्विर्नता एते शिष्या इति । गतमादेशद्वारम् ।

अधुना ग्लानद्वारमाह--

सयकरणमकरणे वा, गित्वाणपरितावणा यद्विहो वि ।

वालोवहीण दाहो, तदृचमणो व आदिचे ॥

वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु, द्विधा द्वाच्यामपि प्रकाराभ्यां ग्लानस्य परितापना । तद्यथा--स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथा हि-ग्लानो यदि स्वयमुद्धर्तनादिकं करोति, तदाऽपि तस्याऽ-नागाढादिपरितापनासंभवः । अथ न करोति, तथापि परिता-पनासंभवः, ततस्तन्निमित्तं आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च यः पञ्चान्मुक्तो वसतिपालः स यदा प्रचतं ग्लानस्य ग्लानानां वा कर्तव्यं करोति, तदा साऽपि परितापनमनागाढमागाढं वा-ऽपद्यते ; ततस्तद्वेतुकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं ग्लानद्वारम् । अधुना कामणद्वारमाह- (वालोवहीणमित्यादि) तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बाधं वसतिपालं मुक्त्वा अभिशय्यामभिनेपधि-कीं वा गतेषु अग्निकायेन प्रदीप्ते उपाश्रये बाधानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुप्रियते तदा चरमं पाराश्रि-कं प्रायश्चित्तम् । अथ न प्रियते किन्तु दाहमागाढमनागाढं वा परितापनमाप्नोति तदा तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथोपधिजघ-न्यो मध्यम उत्कृष्टो वा दह्यते ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तदृचमणो व चि) तदर्थं बालनिस्तारणार्थम्, उपधिनिस्तारणा-र्थं वा अन्यः प्रविशेत्, तदा कदाचित्सोऽपि बालो दह्येन अन्यश्च प्रविशेत्; ततस्तदुभयानिमित्तमापद्यते प्रायश्चित्तम्, लोके च महान् अवर्णवादः । गतमग्निद्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारमाह--

इत्थीनपुंसगा वि य, ओमत्तणओ तिहा भवे दोसा ।

अजिघाय पित्ततो वा, मुच्छा अंतो व वाहिं च ॥

स्त्रियो नपुंसकां वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, ' स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्ति, परिणतव्रताश्चान्यत्र गता वर्तन्ते ' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तदागमने च त्रिधा आत्मपरोजयसमुत्थत्वेन दो-षाः स्युः । तथा हि--यत् रुयादिकमुपलभ्य स्वयं क्लोभमुपय-न्ति साधवः, एष आत्मसमुत्थो दोषः । यत्पुनः स्वयमनुभूयतः साधून् वलात् स्यादिकं क्लोभयति, एष परसमुत्थः । यदा तु स्वयमपि लुप्यन्ति, स्यादिकमपि च क्लोभयति, तदा उभय-समुत्थ इति ॥ मूर्गाद्वारमाह-- (अजिघातेत्यादि) वस-तेरन्तःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि जरार्जितत्वादिना पतन्त्यां वसतौ काष्ठादिभिः शरीरस्योपरि निपतद्भिर्व-हिर्वा वसतेः स्थितस्य कथमपि वातादिना पात्यमानेन तरुणा, तरुशाखाया वा अजिघातेन मूर्गा भवेत् । उ-पलक्षणेन तत्-अनागाढा आगाढा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्तर्बहिर्वा व्यवस्थितस्यापि ततः पित्तप्रकोपतो मू-र्गा जवेत् । तत एकाकिनः सतस्तस्य को मूर्गमुपशमयेत् ? । ततस्तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तसंभवः, प्रभूतश्च जनापवादः । तदेवं प-ञ्चान्मुक्तानां वसतिपालानां दोषा अभिहिताः ।

सम्प्रति ये अजिघातेत्यादिगतास्तेषां दोषानभिधित्सुर्दिमाह-

जत्थ वि य ते वयंती, अभिसेजं वा निसीहियं वा वि ।

तत्त्व वि य उमे दोसा, ह्येति गस्याणं मुण्येयव्वा ॥

यत्रापि च विविक्ते प्रदेशे ने निष्कारणमभिमतो अभिशय्या-
मभिनेषधिका वा प्रजन्ति, तत्रापि तेषां गतानामिमे वक्ष्यमा-
णा दोषा भवन्ति ज्ञातव्याः ।

तत्रेवाऽभिधित्सुचारगाथाभाह-

वीचार्गेण आर-विस्वतिगिरिवा इन्धित्रां नपुंसा य ।

मविसेमतग दोसा, दर्पगयाणं ह्वतेते ॥

कथमप्यकालगमने विचार विचारभूमावप्रत्युपेक्षितायां,
तथा स्तेनाशङ्कायां, [आर-विस्वति] आरकाशङ्कायां वा, तथा
निरर्था चतुष्पदादीनां सन्ने, तथा स्त्रियो वा दत्तसंकेतास्तत्र
निष्ठन्ति, नपुंसका वा दत्तसंकेतास्तत्र निष्ठन्ति-इत्याद्याशङ्का-
यामेते वक्ष्यमाणाः सविशेषतया दोषा दर्पगतानां निष्कारण-
गतानां जवन्ति ।

तदेव सविशेषतस्तथे दोषाणां प्रतिचारमभिधित्सुः प्रथमतो
विचारद्वारमभिधित्सुः—

अस्पष्टिलेहियदोसा, अविदिप्ते वा ह्वन्ति उज्जयम्भि ।

वसदीवायाण य, एतमणंते य दोसा उ ॥

यदि नाम ते दर्पहताः कथमप्यचतुर्विधयवेलायां गता भ-
वेयुः, ततः संस्तराकाचारप्रश्रवणादिषु भूमिष्वप्रत्युपेक्षितासु ये
दोषा ओघनिर्युक्तौ सविस्तरमाख्यातास्ते सर्वेऽप्यत्रापि वक्त-
व्याः । तथा विकालवेलायां गमने यदि कथमपि शय्यातर उ-
च्चारप्रश्रवणयोग्यमवकाशं न वितरेत् ततोऽवितर्णिऽननुज्ञाते
अवकाशे उज्जयस्मिन् उच्चारप्रश्रवणवक्रणं जवन्ति दोषाः । तथा हि-
यदि अननुज्ञाते अवकाशे उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वन्ति तदा कदा-
चित् शय्यातरस्तेषामेव वसत्यादिष्ववच्छेदं कुर्यात्, यदि वा
सामान्येन दर्शनस्योपरि विद्वेषतः सर्वेषामपि साधूनामिति अथ-
वा कथमन्यत्राकृणिकतया वसन्तेरभिधित्सुः रूपाया व्याघातो ज-
वेत्, ततो रात्रि मूत्रवसतिमागच्छतां तेषां इवापदादिभिरात्मवि-
राधना । अथ नायान्ति वसन्ति तदा अभिशय्यायाः समीपे अप्र-
त्युपेक्षितस्थानाश्रयणतः संयमविराधना । गतं विचारद्वारम् ।

अधुना स्तेनद्वारमार्त्तिकद्वारं च युगपदभिधित्सुराह—

सुष्पाऽं गेहाऽं उवैति तेणा,

आरविस्वया ताणि य संचरन्ति ।

तेणां ति एमो पुरगविस्वयो वा,

अत्रोचमंकाऽंतिवायएजा ॥

शून्यानि गृहाणि, स्तेनाः विचक्षितगृहे प्रवेशनाय वेलां प्रती-
कमाणाः, आरत्तिकादिभयतो वा उपयन्ति । तानि च शून्यानि
गृहाणि आरत्तिकाः पुरत्तिकाः 'मा कश्चिदत्र प्रविष्टश्चोरो ज्ञ-
यात्' इति संचरन्ति प्रविशन्ति । एवमुभयेषां प्रवेशसंभवे अन्यो-
ऽन्याशङ्का आरत्तिका अभिशय्यायामग्रे प्रविष्टं साधुमुपवश्य
स्तेन एव व्यवतिष्ठन् इति, स्तेना अग्रे प्रविष्टास्तत्र प्रविशन्ते
साधुं दृष्ट्वा पुरत्तक एव प्रविशतीत्येवंरूपया, स्तेना आरत्तिका
वा अतिपातयेयुः व्यापादयेयुः । गतं स्तेनारत्तिकद्वारम् ।

सम्प्रति तिर्यग्द्वारमाह—

दुगुञ्चिया वा अदुगुञ्चिया वा,

दिक्ता अदिक्ता व तर्हि तिरिक्खा ॥

चतुष्पिया बालमरीसिवा वा,

एगो व दो तिप्पि व जत्थ दोसा ॥

तत्र अभिशय्यायामभिनेषधिका वा चतुष्पदाः तिर्यञ्चो द्विधा
भवेयुः । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिताः, ते च गर्दभीप्रवृत्तयः ।
तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधा; तद्य-
था-दृष्टाश्च दयाभ्राताः, तद्विपरीता अदृष्टाः, न केवलमात्थ-
मृताश्चतुष्पदा जवेयुः, किंतु व्याघ्रा जुजङ्गादयः, सरीसृपा वा-
गृहगोधिकादयः, इत्थमचूतेषु च तिर्यक्षु चतुष्पदेषु व्याघ्रसरी-
सृपेषु, एका द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयुः । तत्र एकः-आत्मविरा-
धनादीनामन्यतमः, द्वौ साधुनेदेनात्मविराधनासंयमविराधनेन,
त्रयः-कस्याप्यात्मविराधना, कस्यापि संयमविराधना, कस्या-
प्युभयविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गः-कस्याप्यात्मविराधना, न
संयमविराधना १, कस्यापि संयमविराधना, नात्मविराधना २,
कस्याप्यात्मविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि नो-
भयविराधनेति ४ । उपलक्षणमेतत्-जुगुप्सिततिर्यक्चतुष्पदसं-
भवे विरूपाऽऽशङ्कासंभवतः प्रवचनोद्वाहोऽपि स्यादिति ।
गतं तिर्यग्द्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारे युगपदभिधित्सुराह-

संगारदिन्ना व उवैति तत्थ,

आहा परिच्छन्ति निलिच्छमाणा ।

इत्थी नपुंसा व करेज्ज दोसे,

तस्सेवणट्ठाए उवैति जे उ ॥

संगारः संकेतः, स दत्तो येस्ते संगारदत्ताः, निष्ठान्तस्य पर-
निपातः प्राकृतत्वात्, सुखादिदर्शनाच्चा । दत्तसंकेता इत्यर्थः ।
इत्थमभूताः सन्तस्तत्राभिधित्सुः अपयन्ति गच्छन्ति, एवं
लोकानामाशङ्का भवेत् । अथवा तत्र गतेषु जनानामेव-
माशङ्का समुपजायते । तथा स्त्रियो नपुंसका वा आघ्रा इति ।
तन्मुखान् निरीक्षमाणाः प्रतीकन्ते, ततोऽस्मी गताः । यदि वा
तासां स्त्रीणां नपुंसकानां वा सेवनार्थे ये तत्रोपयन्ति पुरुषास्ते
'अस्मत्कुर्यादिसेवनार्थमेतेऽथ संयताः समागताः' इति दोषान्
अभिधाताऽवर्णवादादीन् कुर्युः ।

तदेवं यस्मादकारणे निर्गतानामिमे दोषास्तस्मान्न निष्कारणे
गन्तव्यं, कारणे पुनर्गतव्यम् । तथाचाऽह-

कप्पड उ कारणेहिं, अज्जिमेज्जं गंतुमज्जिनिर्सीहिं वा ।

लहुगा उ अगमणम्मी, ताणि य कज्जाणिमाइं तु ॥

कल्पने पुनः कारणैरस्वाध्यायादिवक्रणैर्वक्ष्यमाणैर्गभिशय्या-
मभिनेषधिका वा प्रागुक्तशब्दार्था गन्तुं, यदि पुनर्न गच्छन्ति
ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् । तानि पुनः
कार्याणि कारणानि इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ ताव्येवाऽह-

अमजाऽयपाहुणए, संसङ्गे बुद्धिकायमुग्रहसे ।

पदमचरमे दुगं तु, सेमसु य होइ अभिमेज्जा ॥

वसनावस्वाध्यायः, प्रागृणका वा बहवः समागताः, वसतिश्च
संकटा, ततः स्वाध्याये, प्रागृणकसमागमे, तथा संसर्गे प्रा-
णिजानिभिरुपाश्रये, तथा बुद्धिकायं निपतति गलन्त्यां वसतौ,
तथा श्रुतरहस्ये वेदश्रुतादीं व्याख्यानुमुपक्रान्ते, अभिशय्या,

अभिनैपथिकी वा गन्तव्या । तत्र (पदमचरमे दुर्गन्त इति) प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादस्वाध्याये, चरमे ध्रुतरहस्ये, ठिकमभिशय्याभिनैपथिकीलक्षणं यथायोग्यं गन्तव्यं, शेषेषु च प्राधूर्णकसंस्कृष्टिकायरूपेषु, भवत्यनिशय्या गन्तव्या ।

तत्रास्थनानुपूर्व्यपि व्याख्याया इति न्यायख्यापनार्थं प्रथमतः श्रुतरहस्यमिति चरमद्वारं विवरीपुरिदमाह-

वेदश्रुतविज्जमता, पाहुमि अवगीय महिमदिद्वेता ।

इह दोसा चरमपण, पदमपण पोरिसीभंगो ॥

वेदश्रुतानि प्रकल्पव्यवहारदीनि, तानि वसतौ अपारिणामकाऽतिपरिणामका वा शृणुयात्, तथा विद्यामन्त्रांश्च वसतौ कस्यापि दीयमानान् अवगीतो निर्दोषा शृणुयात्, प्रादुर्तं वा योनिप्रादुर्तादिरूपं वसतौ व्याख्यायमानम्, अवगीतः कथमपि शृणुयात् । तच्छ्रवणे च महान् दोषः । तथाचात्र महिषदृष्टान्तः-“कपाडं जोणिपाहुमं वक्खवाणिज्जमाणे एगेण आयरियाईण अदिस्समाणेण निस्समेण सुयं । जहा-अमुगदव्वसंजोगे महिसो समुच्छद्दः तं सोउं सो उत्थाविओ गतो अन्नमि गाणे, तत्थ महिसे दव्वसंजोगेण समुच्छावित्ता सागारियदत्थे स विक्किण्ण, तं आयरिया कहमवि जाणित्ता तत्थ आगया, उदंतो से पुच्छितो, तेण सज्जावो कहिओ । आयरिया भणति-अम्हं सुंदरसुवप्परयणजुत्तादि गेएह । तेण अज्जुवगयं । ततो आयरिपहिं भणियं-अमुगाणि दव्वाणि य तिरिक्खसंजोपज्जासि ततो पजूयाणि सुवप्परयणाणि भविस्सन्ति । तेण तदा कयं, समुत्थितो दिठाविसां सणो, तेण दिट्ठो मतो” । ततोऽनिशय्याऽभिनैपथिकी वा गन्तव्या । तथा प्रथमपदमस्वाध्यायवृत्तं, तत्र दोषः पौरुषीभङ्गः । इयमत्र जावना-अस्वाध्याये वसतावुपजातं स्वाध्यायकरणार्थमवश्यमनिशय्यायामभिनैपथिक्यां वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्भङ्गे च तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तापत्तिः । गतं चरमद्वारमस्वाध्यायद्वारं च ।

सम्प्रति प्राधूर्णकादिद्वारवित्तयमाह-

अभिसंघटे हत्था-दिपट्ठणं जगणे अजिष्सादी ।

दोसु असंजमदोसा, जगण अद्वोवहीया वा ॥

कदाचिदन्यत्तथाविधवसत्यलाभे साधवः संकटायां वसतौ स्थिता जवेयुः, प्राधूर्णकाश्च साधवो भूयांसः समागताः, तत्र दिवसे यथा तथा वा तिष्ठन्ति, रात्रौ भूमिषु अपूर्यमाणसु यद्यभिशय्यां न व्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाश्रये अतिशयेन संघट्टः परस्परं संहननाभिसंकटतया सोऽभिसंघट्टः, तस्मिन्नेव स्थितानां परस्परं हस्तपादादीनां घट्टनं जवेत्, तद्भावे च कलहासमाध्यादिदोषसंज्ञाः । अथैतद्दोषजयादुपविष्टा एव तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामर्जोणादिदोषसंज्ञाः । अजीर्णमाहारस्याजरणं, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे असमाधिः, क्रियमाणायां च चिकित्सायां षट्कायव्यापत्तिः । इति गतं प्राधूर्णकद्वारम् ॥ अधुना संस्कृष्टद्वारं चाह- (दोसु असंजमेत्यादि) द्वयोः-संसके उपाश्रये वृष्टिकाये च निपतति, असंयमविराधनादौ दोषौ । तथाहि-संसकत्वे दुष्प्रत्युपेक्षणीया वसतिरिति, तत्रावस्थाने स्फुट्या संयमविराधना । तथा वृष्टिकायेऽपि निपतितेषु कचित्प्रदेशेषु वसतिर्ग-

लतीति तत्रापि संयमविगधना, अस्वाध्यायविगधनासंज्ञात् । अन्यथा वृष्टिकाये निपतति उपाधिका येन स्तीर्यते, स्तोमितेन चोपाधना शरीरद्वयेन रात्रौ निद्रा नायाति, निद्राया अनाये च अजीर्णदोषः । तस्मात् संसक्त्यायां वसतौ वृष्टिकाये च निपतति नियमतो गन्तव्या अनिशय्येति । तदेवमुक्तं गन्तव्यकारणम् । तथा चाऽऽह-

दिट्ठं कारणगमणं, नड य गुरु वच्चण तओ गुरुगा ।

ओरालइत्थिपेद्वण, मंका पवत्थिया दोसा ॥

दृष्टमुपपन्नं जगदुपदेशतः पूर्वसूरभिः, कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणेऽभिशय्यायां गमनं, तत्र यद्येवं दृष्टे कारणगमने गुरुभिशय्यामभिनैपथिकी वा व्रजेत् तनस्तस्य प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । को दोषो गुरुगमने इति चेत् ? अत आह- (ओरालत्यादि) आचार्यः प्राय उदारशरीरो भवेत्, सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभूवन्, ततः काश्चन स्त्रियः सहायादीन् स्थापयित्वाऽस्य हृदयादिना प्रेरयेयुः । अन्यच्च-शय्यातरादीनां शङ्का समुपजायते, तथाहि-किं वसता-वाचार्यो नापितः, नूनमगरीं प्रतिसेवितुं गत इति । यदि वा प्रत्यर्थिका प्रत्यनीकाः प्रतिवाद्यादयोऽल्पमहायमुपपन्नं विना-शयाऽऽयुः । तत एवमाचार्यगमने दोषाः तस्मात्तन न गन्तव्यमिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्येतेरपि न गन्तव्यम् ।

के ते एते ?, इत्याह-

गुरुकरणे पडियारी, भएण वल्लवं करेज्ज जे रक्खं ।

कंदपविग्गही वा, अवियत्तो गाणदुट्ठो वा ॥

गुरोराचार्यादेः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्रतिचारकाः कायिकमात्रकादिसमर्पका विश्रामकाश्च, तेन गन्तव्यं, तेषां गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पश्चाद्वसतावपान्तरालेऽभिशय्यायां वा तस्करादिभयेन समुत्थितेन सर्वैरपि साधुभिर्न गन्तव्यम्, आत्मसंयमविराधनादोषप्रसङ्गात् । तथा यो व्रजवान् गुर्वीदीनां तस्करादिज्यो रक्षां करोति, तेनापि न गन्तव्यं, तद्रूपेण गुर्वीदीनामपायसंभवात् । तथा यः कन्दर्पः कन्दर्पशीलः, यश्च विग्रही, तथाचाऽऽराटिकरणशीलः, यो वा यत्र गम्यते तत्र शय्यातरादीनां कैश्चिदपि कारणैः एवैरादिभिः (अवियत्तो ति) अप्रीतो, यश्च स्थानदुष्टः, पुरादिदुष्टः, एतैरपि सर्वैर्न गन्तव्यम्, प्रवचनोद्वाहान्मविगधनादिदोषप्रसङ्गात् । यदि कथमपि ते गच्छन्ति ततो वलादाचार्यादिभिर्वीरयितव्या इति ।

अथ कारणे समुत्पन्ने तेषां गच्छतां को नायकः

प्रवर्तयितव्यः ?, उच्यते-

गतव्व गणावच्छे-दयपवत्तिथेरगीयभिकखू य ।

एणसि असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुत्पन्ने सति शेषसाधुभिर्गन्तव्यमभिशय्यादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयो गणावच्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्ती, सोऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपः, तदभावे स्थाविरः, तस्याप्यभावे गीतभिक्षुगीतार्थः सामान्यव्रतः । एतेषामसति अभावेऽतीतार्थोऽपि माध्यस्थ्यदिगुणयुक्तः प्रवर्तनीयः । केवलं तस्मिन्गीतार्थे (मेरकहणं तु इति) मर्यादायाः सामाचार्याः कथनम्-यथा साधूनामावश्यंके आलोचनायां प्रायश्चित्तं दीयते, नमस्कारपौरुष्यादिकं च

प्रत्याख्यायते यस्मै दानव्यमित्येवमादि सर्वे कथ्यते इति भावः ।
कथं किंस्वरूपः सोऽङ्गीतार्थो नायकः स्थापनीयः?, इत्यत आह—
मञ्जुत्थोऽकंदर्पी, जो दोमे लिहइ लेहओ चैव ।
केसु उ ते सीएज्जा, दोसेसु ते इमे सुणसु ॥

मध्यस्थो-रागद्वयविरहितः, अकन्दर्पी-कन्दर्पोद्गीपनभाषिता-
टिविक्रमः, एवंभूतो नायकः स्थापनीयः । तेन च साधवोऽ-
समाचारी समाचरन्तः शिक्णीयाः, शिक्कमाणाश्च यदि कथ-
येयुः, यथा-यदि वयमेवं कुर्मस्ततस्तत्र किम् ?, कस्त्वम् ?,
इत्यादि, तदा स (लेहओ चैव स्ति) लोचकवत् तेषां सर्वेषां
साधूनां दोषान् अविस्मरणनिमित्तं मनसि लिखति, सम्यगव-
धारयतीत्यर्थः । अथ केषु ते साधवः सीदेयुः, यान् स स्व-
चेतसि धारयति ? । सुरिराह—तान्दोषानिमान् वक्ष्यमाणा-
न् शृणुत ।

तत्र यदुक्तं “एएसि असनीए” इत्यादि, तद्व्याख्यानाथमाह—
थेरपविर्त्तीगीया-ऽमर्तीए मेरकहंतऽङ्गीयत्ये ।

भयगौरवं च जस्स उ, करेंति मयमुज्जतो जो य ॥

स्थविरस्य, प्रवर्तिनः, उपलक्षणमेतत्-गणावच्छेदस्य च, तथा
गीतस्य गीतार्थस्य भिक्कौरसति अभावे अङ्गीतार्थोऽपि प्रेषणी-
यः, तस्मिन्नाङ्गीतार्थे प्रेष्यमाणे (मेर स्ति) मर्यादां सामाचार्यं
यथोक्तस्वरूपां कथयन्ति, किञ्चिशिष्टः सोऽङ्गीतार्थः प्रेष्यः ?,
आह—(भयगौरवमित्यादि) यस्य भयं साधवः कुर्वन्ति, यस्य
चानुवर्तना गुणतो भयतो गौरवं यथोचितं कुर्वन्ति । यश्च स्व-
यमात्मना समुद्युक्तोऽप्रमादी, सोऽङ्गीतार्थो नायकः प्रवर्तनीयः ।
किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-असमाचारीरूपदोषप्रतिषे-
धनार्थम् ।

अथ के ते असमाचारीरूपा दोषाः ?, अत आह—

परिलेहणऽसज्जाए, आवस्सगदंरुविणयराइत्थी ।

तेरिच्छवाणमंतर-पेहा नहवीणिकंदप्पे ॥

प्रतिषेखनायामस्वाध्याये आवश्यकदण्डे, उपलक्षणमेतत्-दण्ड-
कादौ विषये, तथा विनये वन्दनकादौ, तथा राक्षि, स्त्रियां, तिर्यक्षु
हस्यादिषु, वाणमन्तरे वाणमन्तरप्रतिमायां विपणिषु रथेन ग-
च्छन्त्यां प्रेक्षायां काष्ठग्रहणादीं, (नहवीण स्ति) नखवीणिकायां, क-
न्दर्पे वा समाचारीरूपाः दोषाः । एष चारणाथासंक्षेपार्थः । एतेन
यदुक्तं प्रागुक्तानिमान् दोषान् शृणुतेति तद्व्याख्यानमुपक्रान्त-
मिति स्पष्टम् ।

तत्र प्रतिलेखनाद्वारमस्वाध्यायद्वारं च विवरीपुराह—

परिलेहणसज्जाए, न करेंति हीणाहियं च विवरीयं ।

सेज्जावहिमंथारय-दंडगउचारमादीसु ॥

प्रतिषेखनां स्वाध्यायं वा मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा ही-
नमधिकं विपणीतं वा विषयेस्तत्क्रमं कुर्वन्ति । तत्र येषु स्थानेषु
प्रतिषेखना संभवन्ति, तानि स्थानान्युपदर्शयति-शस्योपधिसं-
स्तारकदण्डरुकाश्चादिषु । इयमत्र भावना-शस्यया वसतिः, त-
स्याः प्रत्युपेक्षणं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं
वा कुर्वन्ति, अथवा यः शस्यया प्रत्युपेक्षणाकालस्तस्मिन् न
कुर्वन्ति, किन्तु कात्रातिक्रमेण । एवमुपधेः, संस्तारकस्य, दण्डका-
दश्च भावनीयम् । तथा उच्चारणादिभूमि न प्रत्युपेक्षन्ते, हीनम-
धिकं वा, यदि वा कालातिक्रमेण प्रत्युपेक्षन्ते इति । स्वाध्याय-

मपि मूत्रत एव न कुर्वन्ति । यदि वा अप्रस्थापिते कुर्वन्ति ।
यदि वाऽकादिकवेलायामुत्कादिकवेलायां वा कुर्वन्ति ।

सम्प्रति आवश्यकदिद्वारत्रितयमाह—

न करेंती आवस्सं, हीणाहियनिविट्ठपाउयनिसन्ना ।

दंडगहणादि विणयं, रायणियादीण न करेंती ॥

आवश्यकं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं वा, कायो-
त्सर्गाणां हीनकरणतः कुर्वन्ति, अधिकं वाऽनुप्रेक्षार्थं कायोत्सर्गा-
णामेव चिरकालकरणतः कुर्वन्ति । यदि वा निविट्ठा उपविष्टाः,
प्रावृताः शीतादिभयतः, कल्पादिकप्रावरणप्रावृता निष-
ष्णास्त्ववगर्तनेन निषतिताः प्रकुर्वन्ति । गतमावश्यकद्वारम् ।
(दंडगहणादि स्ति) दण्डग्रहादौ, दण्डग्रहणं भाणुमात्रकादी-
नामुपलक्षणम्, दण्डकादीनां ग्रहादौ ग्रहणे, निकेपे च, न प्रत्युपेक्ष-
णं, नापि प्रमार्जनं, दुष्प्रत्युपेक्षितादि वा कुर्वन्ति । गतं दण्डग-
रम् । विनयद्वारमाह—(विणयं ति) विनयं रत्नाधिकादीनामा-
चार्यादीनां यथा रत्नाधिकं न कुर्वन्ति । गतं विनयद्वारम् ।

राजादिद्वारकदम्बकमाह—

रायं इत्थि तह अ-स्समादि वंतर रहे य पेहंति ।

तह नखवीणिणियादी, कंदप्पादी वि कुर्वन्ति ॥

राजानं निर्गच्छन्तं वा, स्त्रियं वा सुरूपामिति विशिष्टाभरणा-
लङ्कृतामागच्छन्तीं वा, तथा ‘ निरिक्ख ’ इत्यस्य व्याख्यानम्-
अश्ववादिकमश्वं वा हस्तिनं वा राजवाहनमतिप्रभूतगुणार्कणं,
व्यन्तरं तथात्वविभूत्या विपणिमाणेषु गच्छतः प्रत्यागच्छतो वा
प्रेक्षन्ते । एतेन राजस्त्रीतिर्यग्वाणमन्तरद्वाराणि व्याख्यातानि ।
तथेत्यनुक्तसमुच्चयार्थः, स चेदमनुक्तं समुच्चिनोति-काष्ठप्रत्यु-
पेक्षणं न कुर्वन्ति, न वा काष्ठं प्रतिजागरति । गतं प्रेक्षाद्वारम् ।
तथा नखवीणिकादिकं नखवीणायादानम् । आदिशब्दाद् नखानां
परस्परं घर्षणमित्यादिपरिग्रहः । तथा कन्दर्पादि कन्दर्पकौ-
कुच्यकोयुकादि कुर्वन्ति ।

एएसु वट्टमाणे, अट्टिएं परिसेहए इमा मेरा ।

हियए करेइ दोसे, गुरुए कहणं स देइ ते सोहिं ॥

एतेष्वनन्तरदिशेषु दोषेषु वर्तमानान्, वारयतीति क्रियाध्या-
हारः । कृतेऽपि वारणे यदि ते न तिष्ठन्ति, प्रतिषेधन्ति वा-यदि
वयमेवं कुर्मस्ततः किं तव ?, को वा त्वम् ?, इत्यादि । ततो-
ऽस्थिते, प्रतिषेधिते वा नायके इयमनन्तरमुच्यमाना (मेर स्ति)
मर्यादा सामाचारी । तामेवाह-हृदये तान् दोषान् करोति, कृत्वा
च गुरवे कथयति, स च गुरुर्ददाति तेषां शोधिं प्राय-
श्चित्तमिति ।

सम्प्रति वक्ष्यमाणार्थसंग्रहाय द्वारणाथामाह—

अतिवहुयं पच्छित्तं, अदिष्ण वाहे य रायकन्ना य ।

ठाणाऽमति पाहुणए, न उ गमणं पास ककरणे ॥

चोदकवचनम्-अतिबहुकं प्रायश्चित्तं गुरुमासादि न दातव्यम्,
तद्दानेन तत्रपरिणामस्यापि हानिप्रसक्तेः । अत्र गुरुवचनम्-“ जो
जत्तिएण सुज्झइ ” इत्यादि वक्ष्यमाणं, यः पुनरालोचनाप्र-
दानेन प्रायश्चित्तलक्षणं शल्यं नोत्तरति-तस्मिन्नदत्ते अदत्ता-
लोचने व्याघ्रो दृष्टान्तः । यः पुनराचार्यः शिष्यस्य प्रायश्चित्त-
स्थानार्पितं जानन्नपि न शोधिं ददाति, तस्मिन्नदत्ते अदत्तप्रा-

यश्चित्ते गुणैः दृष्टान्तो राजकन्या । पदैकदेशेन राजकन्याऽन्तः-
पुरपात्रकः । तथा-“ठाणाऽसति” इत्यादि । संकटायां वसतौ
प्राघूर्णके समागते सति स्थानस्य योग्यभूमिप्रदेशस्य असति-
(भावप्रधानोऽयं निर्देशः) अविद्यमानत्वे, उत्सर्गतो नतु नैव
गमनं, किन्तु यतना वक्ष्यमाणा कार्या, तस्यां च यतनायां
कर्तुमशक्यमानायामभिशय्यादिषु प्रेक्ष्यमाणा यदि केचन
कर्करायन्ते-यथा-असद्व्याय प्राघूर्णकाः समागताः, यद् गन्त-
व्यमस्माभिरभिशय्यादिषु, कर्तव्यं वा रात्रौ जागरणमिति,
तदा तेषां कर्करणे प्रायश्चित्तं मासलघु देयमिति द्वारगाथा-
संक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतोऽतिबहुकं प्रा-
यश्चित्तमिति व्याख्यानयति-

अतिबहुयं वेदिज्जइ, भंते ! मा हु दुरुवेढओ भवेज्ज ।

पच्छित्तेहि अयंमे, निदयदिस्सहिं जज्जेज्जा ॥

अन्तः ! परकल्याणयोगिन् !, गुरोर्यदि प्रभूतं गुरुमासादि प्रा-
यश्चित्तं पदे दीयते, ततः स प्रायश्चित्तैः समन्ततोऽतिशयेन
वेष्टयते अतिवेष्टितः सन्, मा निपेधे, ‘हु’ निश्चितं, दुरुवेढको नू-
यान्-‘हु’खेन तस्य प्रायश्चित्तभय उद्धरणं स्यात्, अतिप्रभूतेषु हि
गुरुषु प्रायश्चित्तेषु पदे दीयमानेषु कदाऽऽस्मान्मुद्रेष्यिष्यतीति
भावः । अपि च-अकारणे यत् तत्र चापदे पदे निर्दयैः सद्भिर्गु-
प्ताभिर्दत्तैः प्रायश्चित्तैः स जज्येत-भग्नपरिणामो भूयात् ।
तथा च सति महती हानिः ।

तस्मात्-

तं दिज्जउ पच्छित्तं, जं तरती सा य कीरऊ मेरा ।

जा तीरइ परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा ॥

तत्प्रायश्चित्तं दीयतां यत्तरति शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां
‘मेरा’ मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते । पात्रान्तरं वा-(परिवह्निमि-
ति) तत्र या परिवोदुं शक्यते इति व्याख्येयम् । उन्नयत्राप्ययं
भावार्थः-या परिपालयितुं शक्यते इति । मासादि (अपच्च-
ओ इहरा इति) इतरथा प्रभूते प्रायश्चित्ते दत्ते मृषादोष उन्न-
योरपि समुपजायते । तत्र गुरोर्मात्राधिकप्रायश्चित्तदानात्,
इतरस्य तु जग्नपरिणामतया तथा परिपालनायोगात् । अन्य-
च्च-अतिमात्रे प्रायश्चित्ते दत्ते गुप्ताभिरपि पूर्वमाशातनादोष
उद्भाविताः । अप्रत्ययश्च शिष्यस्योपजायते, यथा-अतिप्रभूतमा-
चार्याः प्रायश्चित्तं ददति; नचैवंरूपं प्रायश्चित्तं जिनाः प्ररू-
पितवन्तः; सकलजगज्जन्तुदितैषितया तेषामतिकंशप्राय-
श्चित्तोपदेशदानायोगात् । तस्मात् सर्वमिदं स्वमतिपरिकल्पि-
तमसदिति । एवं चोदकेनोक्ते गुरुराह-

जो जत्तिण सुज्जइ, अवराहो तस्स तत्तिं देइ ।

पुव्वमियं परिकहियं, घरुपरुगाइएहिं नाएहि ॥

चोदक आह-त्वया सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसं-
हनाद्यपेक्षया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तेन शुद्ध्यति त-
स्यापराधस्य शोधनाय तावन्मात्रमेव सूरिः प्रायश्चित्तं ददाति,
नाधिकं, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्ज्ञातैरुदा-
हरणैः “ जग्निलेखणकुरुए ” इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं,
तस्मान्न दोषः ॥

साम्प्रतमदत्तालोचने यो व्याधदृष्टान्त

उपन्यस्तस्तं भावयति-

कंटगमादिपविट्टे, नोद्धरई सयं न भोइए कहइ ।

१=१

कमठीनूए वणगए, आगलणं खोजिया मरणं ॥

इह किल व्याधा वने संचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनहन्ति,
मा हस्तिन उपानहोः शब्दान्ध्रौगिति । तत्रैकस्य व्याधस्या-
न्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कण्ट-
कादयः प्रविष्टाः, आदिशब्दात् शृङ्गकलिज्जादिपरिग्रहः । ता-
नप्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोद्धरति, नापि जोजिकार्ये निज-
भार्यार्ये व्याधौ कथयति । ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कण्टका-
दिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रयमाणो
धावन् कमठीभूतः-स्थले कमठ इव मन्दगतिरुन्, ततः ‘प्रा-
प्तो हस्ती प्रत्यासन्नं देशम्’ इति जानन् लुब्ध्वा कौत्रं गन्वा, (आ-
गलणमिति) वैकल्यं प्राप्तः । ततो मरणम् । एष गाथाऽङ्करार्थः ।
जावार्थस्त्वयम्-“एषो बाहो उवाहणाओ विणा वणे गतो, तस्स
पायतला कंटगाईणं भरिया, ते कंटगाइया नो सयमुद्धरिया,
नो वि य वाहीए उद्धराविया, अन्नया वणे संचरतो हत्थिणा
दिट्ठो, तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरं मेसे पविट्टा, ता-
हे अतिदुक्खेण अहितो महापायवो इव जिन्नमूलो हत्थिजण-
ण वेयणभूतो पडितो, हत्थिणा विणासितो” ।

वितिए सयमुद्धरती, आणुडिए नोइयाए नीहरइ ।

परिमदणदंतमज्जा-दिपूरणं वणगयपज्जातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना वने गतः, तस्य वने
संचरतः कण्टकादयः पादतले प्रविष्टास्तान् स्वयमुद्धरति, ये
च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अनुद्धतान् जोजिकार्य निजभार्यया
व्याध्या नीहारयति-निष्काशयति, तदनन्तरं तेषां कण्टका-
दिवेधस्थानानामद्गुष्ठादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमलादि-
ना-आदिशब्दात् कर्णमलादिपरिग्रहः । पूरणं कण्टकादिवे-
धानाम् । ततोऽन्यदा वने गतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पक्षा-
यितो जातो जीवितव्यसुखानामाजार्गी । एष दृष्टान्तः ।

साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

वाहत्याणी साहू, वाहगुरु कंटकादि अवराहा ।

सोही य ओसहाई, पमत्तनाएणुवणओ ऊ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः, व्याधस्थानीयो गुरुः, कण्टकादिस्था-
नीया अपराधाः, ओषधानि दन्तमलादीनि, तत्स्थानीया शोधिः ।
अत्र द्वौ व्याधदृष्टान्तौ, तत्र प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । आद्योऽप्रशस्तो,
द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टान्तेनोपनयः कर्त-
व्यः । आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते, ततः कण्टकादीनामुपे-
क्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति ॥

तथाचाऽऽह-

पडिसेवंत उवेक्खइ, न य णं ओवीन्नए अकुव्वंतो ।

संसारहत्थिहत्थं, पावइ विवरीयमिपरो वि ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि, तुशब्दार्थोऽपिशब्दार्थः, यः प्रतिसेव-
मानान् उपेक्षते, न तु निषेधति; न वाऽकुर्वताऽकुर्वणान् प्राय-
श्चित्तमुत्पीडयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदण्डेन ताडयन् (प्रा-
यश्चित्तं) कारयति, स विपरीतम्, आचार्यपदस्य हि यथोक्त-
मीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं, तद्विपरीतं संसार
एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, ह्रस्तरं संसारमागच्छतीति ज्ञावः ।

उपसंहारमाह-

आलोयमणात्रोयए, गुणा य दोसा य वखिया एए ।

अयमनो दिनेनो, नो दिनादने य दिने य ॥

एते अनेनो, नो दिनादने य दिने य ॥
एते अनेनो, नो दिनादने य दिने य ॥
एते अनेनो, नो दिनादने य दिने य ॥
एते अनेनो, नो दिनादने य दिने य ॥
एते अनेनो, नो दिनादने य दिने य ॥

तमवाह—

निज्जुदादिपञ्चोपण, अवागण पमंगअगदागादि ।

धुत्तपत्तायण निवहृ—एण उंउणं अन्नठवणं च ॥

“एणो कसनेउरपागं, मो गेगनण कन्ताओ पलोएतीओ न चरेइ, ततो ताओ अमंगरेण निज्जिडउमाहत्ता, ततो वि न चरेइ, ततो ताओ अतिवारिअमणोओ कयाइ धुत्तेहि समं पलायाओ, एवं नवमवारणाइ केणइ रत्तो काहियं, ततो गणा तस्स नवमसहरण कयविणासितो य, अणो कसनेउरपाओ उचित्तं” अङ्गनपानकान्तियेओ गवाज्जः । गोखलक इत्यर्थः । आदिशब्दान्तद्वयनथाविधप्रदेशापरग्रहः । तेन निर्युहादिना प्रवेओ कते अवागणं कृतवान्, तताऽप्रदागादिष्वपि प्रसङ्गः, अप्र-
ह्मि अन्यत्र वा यथास्वेच्छं तासां कथानां प्रसङ्गः । ततोऽन्यदा धूर्तैः सह पलायनम् । एतस्य च सर्वस्यापि वृत्तान्तस्य नृपस्य पुरतः कथने, ततो राजा तस्य कथान्तःपुरपालकस्य दण्ड-
नम्, अन्यस्य कथान्तःपुरपालकस्य स्थापने चाकार्षात् ।

निज्जुदगयं दडुं, वि तिओ कत्ताउ वाहरित्ता एं ।

विणयं कोइ तीसे, नेसभयं पूयणा रत्ता ॥

अन्यो द्वितीयः कथान्तःपुरपालको निर्युहगतां गवाज्जगतामे-
कां कथां दृष्ट्वा (वाहरित्ता ए ति) एतां व्याहृत्य आकार्यं विनयं
शिक्षां तस्याः करोति, ततः शेषाणां कथानामुदपादि भयं,
तेनैव काऽपि गृहदारादिषु नावतिष्ठते, न च धूर्तैरपहरणम्,
ततः सम्यक्कथान्तःपुरपालकेन कृतवानिति राज्ञा पूजना
कृता । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

गया इव विन्थयग, महत्तरय गुरु उ साहु कप्पाओ ।

ओलोयण अवगदा, अपमऽपमन्यगोवणओ ॥

राजा इव राजस्थानीयाम्नीर्थकराः, महत्तरः कथान्तःपुरपा-
लकः, तन्मार्तया गुरुयः, साधवः कथ्यास्थानीयाः, अवलाकन-
मपगात्रः । अत्राप्रशस्तेन कथान्तःपुरपालकेन, प्रशस्तेन चोप-
नयः कर्तव्यः । तथा—आचार्यः प्रमादिनः शिष्यान् न वारय-
ति, न च प्रायश्चित्तं ददाति, स विनययति, यथा प्रथमः कथ्या-
न्तःपुरपालकः । यस्तु प्रमाद्यतः शिष्यान् वारयति, प्रायश्चित्तं
च यथापगतं प्रयच्छति, स इह श्लोकं प्रशंसादिपूजां प्राप्नोति,
पुरलोके च सम्यक्कथिष्यन्तिस्तराण्यतो निर्वाणमचिरादाप्नुया-
दिति ।

सम्प्रति यदुक्तं प्रावृणकसमागमे संसक्ते उपाश्रये वृष्टिकाये
च निपतति अतिशय्या गन्तव्येति नद्विषयमपवादो क्रमेणा-
तिशय्यगुह—

अमभाइए अमेने, ठाणाऽमति पाहुणागमे चैव ।

अचत्थ न गंतवो, गमणे गुरुगा उ पुवृत्ता ॥

अस्वाध्यायिके अस्ति अविद्यमाने, प्राधूर्णकानामागमे वाऽ-

मति स्थानस्य—संस्तारकयोग्यभूमिलक्षणस्य अस्ति, अपि-
शब्दाऽत्र सामर्थ्यादवगम्यते । असत्यपि, भावप्रधानोऽयं निर्दे-
शः । इत्यत्रायेऽपि, अन्यत्राभिशय्यादौ न गन्तव्यम्, किन्तु यतना
कर्तव्या । यदि तथा अन्यत्र गमनं कुर्वन्ति, ततो गमने पूर्वोक्ता
गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

का पुनर्यतना ? , तामाह—

वत्यव्वा वारंवा—रणेण जगंतु मा य वचंतु ।

एमेव य पाहुणए, जगण गाढं अणुव्वाए ॥

वास्तव्या वारंवारं जाग्रतु । इयमत्र भावना—वास्तव्यानां मध्ये
यो यावन्मात्रमर्क्यामादिकं जागरितुं शक्नोति, तावन्मात्रं जाग-
ति, तदनन्तरं जागरितुमशक्नुवन् अन्यं साधुमुत्थापयति, सोऽ-
पि स्वजागरणवेत्तातिक्रमेऽन्यम्, एवं वारेण वारेण जाग्रतु । यदि
पुनर्वास्तव्याः समस्ता अपि रात्रि वारेण जागरितुं न शक्नुव-
न्ति, ततो यदि गाढं न परिश्रान्ताः प्राधूर्णकाः, ततः प्राधूर्णके
(अणुव्वाए इति) अपरिश्रान्ते, एवमेव—वारेण जागरणं स-
मर्पणीयं, मा पुनः, चशब्दः पुनःशब्दार्थं, व्रजन्वभिशय्याम्, य-
दि पुनर्वास्तव्याः प्राधूर्णकाश्च न वारेण जागरितुं शक्नुवन्ति,
तदाऽभिशय्या गन्तव्येति ।

एमेव असंसक्ते, देसे अगलंतए य सव्वत्थ ।

असहवहा पाहुणगा, उवेंति रिक्खा उ ककरणा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, संसक्ते उपाश्रये यो देशः प्रदेशोऽ-
संसक्तस्तस्मिन्नसंसक्ते देशे, तथा वृष्टिकाये निपतति यः प्रदे-
शो न गलति तस्मिन् प्रदेशे, यतना कर्तव्या । तद्यथा—संसक्ता-
यां वसन्तो येष्ववकाशेषु संसक्तिस्तान् परिहृत्य शेषेष्ववकाशे-
षु संसक्तिरहितेषु पूर्वप्रकारेण जागरणयतना कर्तव्या । ततो
वृष्टिकायेऽपि निपतति येष्ववकाशेषु वसतिः निर्गच्छति तानव-
काशापरिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु यतना पूर्ववत्कर्तव्येति ।
(सव्वत्थ ति) यदि पुनः सर्वत्र संसक्ता, सर्वत्र वा गलति,
तदाऽभिशय्या गन्तव्येति । यदुक्तं “मासो उ ककरणे” इति, तत्र
ककरणं व्याख्यानयति—एते रिक्ताः प्राधूर्णका अस्सद्विधाय
उपयन्ति समागच्छन्ति । एवमादिभाषणं ककरणेति ।

सम्प्रति यदवादीत्—आचार्येण न गन्तव्यम्, अनापृच्छया वा
(साधुभिः) न गन्तव्यमिति, तद्विषयमपवादमाह—

वितियपयं आयरिए, निर्दोसे दूग्गमणऽणापुच्छा ।

परिमोहियगमणम्मि, तो तं वसत्ता वल्लं नेति ॥

द्वितीयमपवादपदमाचार्यविषये, कसति ? इत्यत आह—निर्दोषे
स्यादिदोषाणामभावे, यदि वा निर्गता दोषा यस्मात्तद् निर्दोषं
कवे, तस्मिन्, तथा दूरे अभिशय्या, ततस्तत्र दूरगमने अनापृच्छा,
तथा प्रतिषेधितस्य गमने द्वितीयपदमित्यम्—(तो ति) तस्मादेव
संज्ञादिस्थानापरतो यदा वृषता वृषाक्षयन्ति, तदा प्रतिषेधितः
प्रतिपृच्छामन्तरेणापि गच्छन्ति । एष गाथासंज्ञेकार्यः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः “आयरिए

निर्दोसे” इति व्याख्यानयति—

जन्थ गणी न वि नज्जइ, जडेसु य जन्थ नस्थिते दोसा ।

तन्थ वयंतो मुच्छो, इयरे वि वयंति जयणाए ॥

यत्र गणी आचार्या न ज्ञायते, अपिशब्दान्न च तथाविधो-
दारशरीरा, नापि केनचिदपि सह वादोऽनवत् । यत्र स्वभावत

एव भद्रेष्वनुकटरागद्वेषेषु लोकेषु प्रागुक्ताः रुधादिस्मृत्या द्रोषा न सन्ति, तत्राभिज्ञायांमपि गच्छन्नाचार्यः शुद्धः, इतरेऽपि ये अनापृच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषेधितास्तेऽपि च यतनया गच्छन्ति ।

का यतना ?, इति चेदन्त आह—

वसतीं असज्जाण, मन्नादिगतो य पाहुणो दुहुं ।

मोउं व असज्जाणं, वमहिं उवेंति जणइ अने ॥

वसतावस्वाध्यायो जातो, गुरुश्च संज्ञाज्जुम्यादिषु गताः, ततोऽस्वाध्याये, तथा स्वयं (संज्ञादिगतः) संज्ञाज्जुमिम, आदिशब्दादन्य-
द्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्रापूर्णकान् समागच्छतो दृष्ट्वा नूनमस्माकं वसतिः संकटा प्रापूर्णकाश्च बहवः समागताः, ततो न सर्वेषां संस्तारकयोग्यज्जुमिरवाप्यते इति विचिन्त्य, तथा पूर्वं वसतावस्वाध्यायो नाहून् संज्ञादिगतेन च तेन श्रुतं, यथा-जा-
तो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरुणां प्रभुं वसतावागच्छति तावद् रात्रिः समापतति, दूरे चाभि-
ज्ञाया, रात्रौ च गच्छतामारक्तकभयं, ततोऽनापृच्छयैव ततः स्थानादभिज्ञायां गच्छन्ति, केवलं येऽन्ये साधवो वसतिमुपय-
न्ति, तान् भणति-प्रतिपादयति, संदिशतीत्यर्थः ।

किं तद् ?, इत्याह—

दीवेइ गुरुण इमं, दूरे वमही इमो विकालो य ।

संयारकाज्ञाइय-ज्जुमीपेहइ एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयतेति श्रौवत् । गुरुणां, यथा-दूरे वस-
तिरभिज्ञाया । अयं च प्रत्यक्षत उपलब्धमानो विकालः समा-
पतितः, तत एवमेव अनापृच्छयैव युष्मान्, संस्तारकभूमेः काल-
ज्जुमीनां कायिकीज्जुमीनां (कायिकी संज्ञा) उपलक्षणमेतत्-प्रश्र-
वणज्जुमीनां च प्रेक्षाधर्मभिज्ञायां गत इति । एवमनापृच्छाया-
मपवाद उक्तः ।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह—

एमेव य पमिहिद्धे, सणादिगयस्स कंचि पमिपुच्छे ।

तं पि य होढा असमि-विखऊण पमिमेहितो जम्हा ॥

कस्यापि साधोरभिज्ञायादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, संज्ञादिग-
तस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिज्जुमिगतस्य सत एवमेव-
मनन्तरोक्तेन प्रकारेण, गुरुन् प्रति संदेशकथनं ज्ञातव्यम् । कथ-
म् ?, इत्याह—(कंचि पमिपुच्छे स्ति) कमपि वृषभं प्रतिपृच्छे-
त्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमज्ज्ञत्, केवल-
मेवमेव गुरुणा प्रसिद्धः, अथ च मया स्वाध्यायः कर्तव्यः,
वसतौ वा स्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि?, यामि वस-
तिं, प्रतिपृच्छामि गुरुमिति । एवमुक्ते ते वृषभादयोऽभिज्ञायां गन्तु-
कामाः कालस्य स्तोक्तत्वात् यावद् वसतौ गत्वा गुरुन् प्रतिपृ-
च्छ्य समागच्छन्ति तावद् रात्रिः पततीति तं प्रत्येवमुदी-
रयन्ति । (तं पि येत्यादि) तदपि गुरुणां प्रतिपृच्छनं (होढा
इति) देशीपदमेतत् । दत्तमेव, कृतमेवेत्यर्थः । यस्मादसमी-
क्ष्यापर्यालोच्य, अनाभोगत एवेत्यर्थः । त्वं प्रतिषेधितः, ततो य-
दत्र किमपि गुरवो वक्ष्यन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामः-यथैव न
किमपि गमनप्रतिषेधकारणं कृतवान्, प्रतिपृच्छार्थं चागच्छन्
अस्मान्निर्वाहितः, तावत्कालस्याप्राप्यमाणत्वात् । एवमुक्त्वा व-
लादपि तं वृषभा नयन्ति, सोऽपि च ब्रह्मन्नीयमानश्चिन्तयति-
यथा नास्ति मम कश्चिद्दोषः ?, किं न गच्छामि इति । स च तत्र ग-

च्छन्, वृषभाश्च येऽन्ये साधवो वसतिमुपयान्ति, तेषां संदेशं
प्रयच्छन्ति ।

अथाममीदृय प्रतिषिद्ध इति वृषभाः कथं जानन्तीत्यत आह—

जाणंति व तं वसजा, अट्ठा वसजाण तेण सज्जावो ।

कट्ठितो न मेऽस्यि दोमो, तो णं वसजा वज्जा निति ॥

जानन्ति स्वयमेव तं वृषभाः, यथा-निर्दोष एषोऽकारणे गुरुणा
प्रतिषिद्धः, अस्मात्समकमेवास्य प्रायोऽवस्थानान् । अथवा तेन
वृषभाणां सज्जावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत
एतद् ज्ञात्वा गुरुमनापृच्छयैव यथोक्तप्रकारेण वृषभा वज्जाचय-
न्ति । योऽपि आचार्यस्य प्रतिचार्यस्य प्रतिचारी पूर्वं प्रतिषिद्धः
सोऽपि, 'तत्कर्तव्यं यद् वृषभैः सम्पादितं भवति' इति ज्ञात्वा
ततो गच्छत्यभिज्ञायांमिति न कश्चिद्दोषः ।

संप्रति अभिज्ञायाया नैपेक्षिक्याश्च जेदानाह—

अभिसेज्जमज्जिनिमीद्विय, एकैका दुविह होइ नायव्वा ।

एगवगभाए अंतो, वहिया संवद्धा संवद्धा ॥

या गन्तव्या अभिज्ञाया, अभिनैपेक्षिकी वा, सा एकैका द्विवि-
धा भवति । तद्यथा-साधुवसतेः (एगवगडाए इति) एकवृत्ति-
परिक्षेपायामन्तर्वहिश्च । इयमत्र जावना-द्विविधा अभिज्ञाया,
एका वसनेरेकवृत्तिपरिक्षेपाया अन्तः, अपरा वहिः । एवं नैपे-
क्षिक्यपि द्विविधा भावनीया । ज्ञेय एकैकाऽभिज्ञाया द्विविधा ।
तद्यथा-संवद्धा, असंवद्धा च । तत्र यस्या अभिज्ञायाया वसने-
श्च एक एव पृष्ठवंशः सा संवद्धा । यस्याः पुनः पृथक् पृष्ठवंशः
सा असंवद्धा । अथैकवृत्तिपरिक्षेपस्यान्तरभिज्ञाया द्विविधाऽपि
यथोक्तप्रकारा घटने, या त्वैकवृत्तिपरिक्षेपस्य वहिः सा नूनम-
संवद्धा स्यात्, तस्याः सुप्रतीतत्वात् । या पुनः संवद्धा, सा
कथमुपपद्यते ?, उच्यते--यस्या अभिज्ञायाया वृत्तिपरिक्षे-
पस्य वहिर्भूतायाः, वसनेश्च तल्लभ्यायाः पृष्ठवंशोऽपान्तराले च
मितिः, सा वहिर्भूताऽपि संवद्धा । नैपेक्षिकी पुनरन्तर्वहि-
र्वा नियमादसंवद्धैव । हस्तशतस्यानन्तरतोऽस्वाध्यायिके
समुपपन्ने स्वाध्यायासंभवात् ।

तथा चाऽऽह--

जा सा उ अभिनिमीद्विय, सा नियमा होउ ऊ असंवद्धा ।

संवद्धमसंवद्धा, अभिमेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते, सेति-यदुक्तं तद्दोषाभावोपक्रमप्रदर्शनार्थमि-
त्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनैपेक्षिकी, सा नियमादवश्यसंवद्धा ।
कारणमनन्तरमेवोक्तम्, या त्वभिज्ञाया सा संवद्धा असंवद्धा
च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेद्यायां तत्र गन्तव्यम् ?, तत्र आह—

धम्माणच्चिय मूरे, संथारुच्चारकाज्जुमीओ ।

परिलेहियऽणुणविण, वमहोहिं वयंतिमं वेले ॥

योऽसावभिज्ञायायाः शय्यातरस्तं वृषभा अनुज्ञापयन्ति, यथा-
स्वाध्यायनिमित्तं वयमत्र वत्स्याम इति । तत एवं वृषभैरनुज्ञा-
पिते शय्यातरे, धम्माण एव अनस्तमिते एव सूर्ये, तत्राभिज्ञा-
यायां संस्तारकोच्चारकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य ज्ञेया वसतावागत्य
इमां वेद्यामिति " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥ १. २. २४ ॥ इति
(हैम) सूत्रेण सतस्यर्थं द्वितीया । अस्यामनन्तरं वक्ष्यमाणायां
वेद्यायां वजन्ति ।

कस्यां वेलायाम् ?, इत्यत आह—

आवस्यं तु काञ्चं, निवायाएण होइ गंतव्वं ।

वायाएण उ भयणा, देसं सव्वं अकाऊण ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबन्धस्याभावो निर्वाघातः, तेन निर्वाघातेन भवति गन्तव्यं वसतेराचार्यैः सममावश्यकं कृत्वा । व्याघातेन पुनर्हेतुचूनेन भजना विकल्पना । का भजना ?, इत्यत आह—देशं वा आवश्यकस्याकृत्वा, सर्वं वा अवश्यकमकृत्वा ।

सम्प्रति यैः कारणैः प्रतिबन्धस्तान्युपदर्शयति—

तेणा मावय—वाला, गुम्भियआरक्खिउवणपणिणीए ।

इत्थिनपुंमगमंस—त्तवामचिक्खिउवणकंटे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते संघासमये अन्धकारकलुषिते संचरन्ति, इवापदानि वा दुष्टानि भूयामि तदा उद्दृष्टानि हि एरुन्ते; व्याला वा वृजङ्गमादयो वातादिपानाय भूभांसः संचरन्ति; तथा गुल्मेन समुदायेन संचरन्तीति गौडिमका आरत्तिकानामप्युपरि स्थायिनो हिण्डकाः, आरत्तकाः पुररत्तकाः, ते अकाले हि एरुमानान् गृह्णन्ति । तथा (उचणंति) कचिद्देशे एवरूपा स्थापना क्रियते । यथा—अस्नमिते सूर्ये रथ्यादिषु सर्वथा न संचरणीयमिति; प्रत्यनीको वा कोऽप्यन्तरादिघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्तते; स्त्रियो नपुंसका वा कामबहुलास्तदा उपसर्गयेयुः, संसक्तो वा प्राणजतिभिरपान्तराले मार्गः, ततोऽन्धकारेणैर्वापधिकान् शुद्ध्यति । वर्षे वा एतन् संभाव्यते, (चिक्खिउवणंति) कर्दमो वा पथि नृयानस्ति, ततो रात्रौ पादलग्नः कर्दमः कथं क्रियते ?, (कंटेति) कण्टका वा मार्गेऽतिबहवः, ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यन्ते । एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वाऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति ।

तत्र देशतः कथमकृत्व्येत आह—

घुतिमंगलं कितिकम्मे, काउसमगे य तिविहं कियिकम्मे ।

तत्तो य पणिकम्मे, आलोयणयाएँ कितिकम्मे ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा, स्तुतिमङ्गलाकरणे चायं विधिः—आवश्यकं समाप्ते च स्तुती उच्चार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छन्ति । तत्र च गत्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति । अथवा आवश्यकं समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चारयन्ति । अथवा समाप्ते आवश्यकं अभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीददति । अथवा स्तुतिरूपेण यद् वक्ति, तत् कृतिकर्म, तस्मिन्नकृते तेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य सुत्रवस्त्रिकां च प्रत्युपश्य कृतिकर्म कृत्वा स्तुतीददति । (काउसमगे य तिविहंति) त्रिविधे कायोत्सर्गे क्रमेणाकृते, तद्यथा—चरमकायोत्सर्गमकृत्वा अभिशय्यां गत्वा तत्र चरमकायोत्सर्गादिकं कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ चरमावकृत्वा, यदि वा त्रीनपि कायोत्सर्गान् अकृत्वा, अथवा कायोत्सर्गभ्यांऽर्वाकत्वेन यत् कृतिकर्म तस्मिन्नकृते; उपलक्षणमेतत्—ततोऽप्यर्वाकत्वे क्षामणे, यदि वा ततोऽप्यर्वाकत्वे कृतिकर्मणि अकृते, अथवा ततोऽप्यर्वाकत्वे प्रतिक्रमणे अकृते; यदि वा ततोऽप्यर्वाकत्वे आलोचने अकृते, अथवा ततोऽप्यारत्तने कृतिकर्मणि अकृते, अभिशय्यामुपगम्य तत्र तदावावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तम् ।

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह—

काउससगमकाञ्चं, कितिकम्मादोयणं जहण्णं ।

गमणम्मी एस विही, आगमणम्मी विहिं वाञ्छं ॥

यो दैवसिकानि वारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कायोत्सर्गः, तमप्यकृत्वा । किमुक्तं भवति—सर्वमावश्यकमकृत्वाऽभिशय्यां गच्छन्ति, किमेवमेव गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः ? । उच्यते—अस्तीति घूमः । तथा चाऽऽह—(कितिकम्मादोयणं जहण्णंति) जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा, सर्वे गुरुभ्यो वन्दनं कृत्वा, यश्च सर्वोत्तमो ज्येष्ठः स आलोच्य, तदनन्तरमभिशय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वन्ति । एषोऽभिशय्यायां गमने । अभिशय्यातः प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

आवस्यं अकाञ्चं, निवायाएण होइ आगमणं ।

वायायम्मि उ जयणा, देसं सव्वं च काऊणं ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततो निर्वाघातेन व्याघातान्नावेनाऽऽवश्यकमकृत्वाऽभिशय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वन्ति । व्याघाते तु भजना । का पुनर्भजना ?, इत्यत आह—देशमावश्यकस्य कृत्वा, सर्वं वा आवश्यकं कृत्वा ।

तत्र देशतः आवश्यकस्य करणमाह—

काउससगं काञ्चं, कितिकम्मादोयणं पणिकम्मे ।

किङ्कम्मं तिविहं वा, काउससगं परिणाय ॥

कायोत्सर्गमाद्यं कृत्वा वसतावागत्य शेषं गुरुभिः सह कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ कृत्वा, यदि वा त्रीन् कायोत्सर्गान् कृत्वा, अथवा कायोत्सर्गत्रयानन्तरं यत् कृतिकर्म तत्कृत्वा, अथवा तदनन्तरमालोचनामपि कृत्वा, यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्वा, अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म द्विभेदं, तत् क्षामणादर्वाकत्वेन, परं चेत्पर्यः, तदपि कृत्वा । पठान्तरम—“ तिविहं ते वि ” मूलकृतिकर्मोपज्ञया त्रिविधं वा कृतिकर्म कृत्वा । अथवा कायोत्सर्गे चरमे पाण्मासिकं कृत्वा, परिज्ञा प्रत्याख्यानं, तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः—सर्वे साधवश्चरमकायोत्सर्गे वसतावागत्य गुरुसमीपे वन्दनं कृत्वा, सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठ आलोच्य, सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णन्ति । अथवा—सर्वमावश्यकं कृत्वा, एकां च स्तुतिं दत्त्वा, शेषे द्वे स्तुती कृत्वा, शेषं गुरुसकाशे कुर्वन्ति । तदेवमुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणम् ।

अधुना सर्वतः करणमाह—

घुति मंगलं च काञ्चं, आगमणं होति अभिनिषिञ्जातो ।

वितियपदे जयणा ऊ, गिज्ञाणमादी उ कायव्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं, तदनन्तरं स्तुतिं, मङ्गलं च स्तुतित्रयाकर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिशय्यात आगमनं भवति । तत्रैव सामाचारी—गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति, आलोच्य प्रत्याख्यानं गृह्णति, शेषैः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना । प्रत्याख्यानं च कृतं, वन्दनं च सर्वं ददति, क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवादपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति—ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ।

ग्लानादीन्येव प्रयोजनान्याह—

गंलस वास महिआ, पटुठ अंतरे निवे अगणी ।

अहिगणहृत्यसंभम-गेद्वेष निवेयणा नवरि ॥

श्वानत्वमेकस्य बहूनां वा साधूनां तत्राभवत्, ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनम् । अथवा वर्ष पतितुमारब्धम् । महिका वा पतितुं लग्ना । यद्वा- (पटुट्टित्ति) प्रष्टिष्टः कोऽप्यन्तरा विरूपकरणाय तिष्ठति । अन्तःपुरं वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा उद्घोषितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचरितव्यम् । राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः । अग्निकायो वाऽपान्तराले महान् उत्थितः । अधिकरणं वा गृहस्थेन समं कथमपि जातं बृहद्, वृषजास्तदुपशमयितुं लग्नाः । इस्ति संभ्रमो वा जातः । किमुक्तं भवति? हस्ती । कथमप्यालानस्तम्भं भङ्क्त्वा शून्यासनः स्वच्छया तदा परिभ्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम् । नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः ; यदि ग्लानत्वमागढमुपजातमेकस्य बहूनां वा, तदा गुरूणां निवेदना कर्तव्येति । समाप्ता प्राक्तनसूत्रस्य निर्विशेषा व्याख्या । व्य० १ उ० ।

अभिणिसर-अभिनिस्सट-त्रि० । अभिविधिना निर्गताः सटास्तदवयवरूपाः, केशरिस्कन्धसटा वा यस्य तदभिनिःसटम् । बहिरभिनिर्गतावयवे, भ० १५ श० १ उ० ।
अभिणिसिद्ध-अभिनिमृष्ट-त्रि० । बहिर्भागाजिमुखं निमृष्टे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अभिणिमेहिया-अभिनेपेधिकी-स्त्री० । निपेधः-स्वाध्याय-व्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिपेधः; तेन निर्वृत्ता नैपेधिकी । अभि अभिमुख्येन संयतप्रायोग्यतया नैपेधिकी अभिनेपेधिकी । दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्य० १ उ० । (तन्मनवक्तव्यताऽनन्तरमेव 'अभिणिसञ्जा' शब्दे ७१५ पृष्ठे दर्शिता)

अभिणिससड-अभिनिस्सृत-त्रि० । बहिष्प्राणिगते, "बहिया अभिणिससरोपमासैति" । भ० १४ श० ९ उ० ।

अभिणूमकर-अभिनिमकृत-त्रि० । आजिमुख्येन कर्मणा मायया वा कृते, "अभिणूमकडेहि" मुच्छिष्ट, तिव्वं से कम्महेहिं किञ्चति" । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अभिण-अभिन्न-त्रि० । अविशीर्णं, उपा० २ अ० । भिन्नशब्दार्थविरुद्धे, वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अभिणगंति-अभिन्नगन्धि-पुं० । सकृदप्यनवाससम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव० ।

अभिणपुडो-देशी-रिक्तपुटे, शिशुजिः क्रीरया जनप्रदोभार्थं विपणिमार्गे रिक्ता पुटिका या किप्यते सैवमुच्यते । दे० ना० १ वर्ग ।

अभिणाय- (जाणिय)-अभिज्ञाय-अव्य० । ज्ञात्वैत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । बुद्धैत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । आजिमुख्येन परिच्छिद्य इत्येतेषां शब्दानामर्थेषु, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिणायदंश-अभिज्ञातदर्शन-त्रि० । सम्यक्त्वभावनया ज्ञाविते, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

अभिणायार-अभिज्ञाचार-पुं० । न भिन्नो न केनचिदप्यती-चारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासाव-
१८२

भिज्ञाचारः । (व्य०) जात्योपजीवनादिपरिहरति, व्य० ३ उ० ।
अजितत-अभितप्त-त्रि० । अग्निना आभिमुख्येन सन्तापिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अजितप्पमाण-अभितप्पमान-त्रि० । कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिताव-अभिताप-अव्य० । तापाजिमुखे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तपुपानशाल्मल्यालिङ्गनादिरूपे सन्तापे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । दाहे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभित्युय-अभिदुत-त्रि० । विशिष्टगुणात्कीर्तनेन व्याचष्टे, संथा० ।

अजितपुव्वमाण-अजिप्पुव्वत्-त्रि० । संस्तुवति, स्था० ६ ग्रा० ।
अजिप्प्यमान-त्रि० । अभिनन्दमाने संस्तूयमाने, स्था० ६ ग्रा० । कल्प० । आ० म० ।

अजिदुग्ग-अभिदुर्ग-पुं० । कुम्भीशाल्मल्यादौ, (सूत्र०) अतिविषमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । अग्निस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिदुय-अजिदुत-त्रि० । अध्यवसायरूपेण व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । गर्भाधानादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभिधारण-अभिधारण-न० । प्रव्रज्यार्थमाचार्यार्थदर्शनसा संकल्पने, तच्च द्विधा-अनिर्दिष्टं, निर्दिष्टं च । अनिर्दिष्टं नाम अभिधारयन् कमप्याचार्यं विशेषतो न निर्दिशति । स च अभिधारको द्विधा-संज्ञी, असंज्ञी च । पुनरेकैको द्विधा-गृहीत-विज्ञः, अगृहीतविज्ञश्च । (वृ०) मनसि करणे, वृ० ३ उ० । व्य० ।

अभिधेज्ज-अभिधेय-त्रि० । अर्थे शब्दवाच्ये, यथा घटशब्देन घटोऽभिधीयते । विशेष० । नि० चू० ।

अभिपवुट्ट-अभिप्रवृष्ट-त्रि० । कृतवर्षे, " वासावासे अभिपवुट्टे बहवे पाणा " । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिप्रायणाम-अभिप्रायिकनामन्-न० । अभिप्रायतः क्रियमाणे नामनि, अनु० ।

से किं तं अभिप्रायणामे ? । अभिप्रायणामे अंबए निंबुए वकुलए पलासए सिणए पीलुए करीरए । सेतं अभिप्रायणामे ॥

इह यदृक्षादिषु प्रसिद्धम् 'अम्बक-निम्बक' इत्यादि नाम देशरुद्ध्या स्वाभिप्रायानुरोधतो गुणनिरपेक्षं पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते, तदभिप्रायिकं स्थापनानामेति । ज्ञावार्थः-तदन्तस्थापनाप्रमाणनिष्पन्नं सप्तविधं नामेति । अनु० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पुं० । मनोविकल्पे, विशेष० । बुद्धिविपर्यये, आ० म० द्वि० । बुद्धेरध्यवसाये, आ० म० प्र० । चेतःप्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अभिप्रायश्चतुर्विधः-औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकीत्यादिना । आ० चू० । संविज्ञानमवगमो ज्ञावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० प्र० । (अस्य च 'बुद्धि' शब्दे व्याख्या ऊष्टव्या)

अभिप्रायसिद्ध-अभिप्रायसिद्ध-पुं० । बुद्धिसिद्धे, आ० म० ।

साम्प्रतमभिप्रायसिद्धं प्रतिपादयन्नाह—

विपुला विमला सुहुमा, जस्स मई जो चउविहाए वा ।
बुद्धीए संपन्नो, स बुद्धिमिच्छो इमा मा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः ।
विमला संशयविपर्ययातध्यवसायमलरहिता, सुहुमा अतिदुरव-
बोधसूक्ष्मव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था, यस्स मतिः स बु-
द्धिसिद्धः । यदि वा—यश्चतुर्विधया औत्पत्तिकयादिभेदभिन्नया
बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिमिद्धः । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।
(अस्व कथा 'उत्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे दृष्ट्या)

अभिप्रेय-अभिप्रेत-त्रि० । मनोविकल्पिते, विशेष० । आचा० ।
कामयति, दश० ६ अ० । अभिप्रेतविषये, संयोगे च । उक्त० १
अ० । ('संयोग' शब्देऽस्य विवृतिः)

अभिभव-अभिन्नव-पुं० । अभियोगे, आच० ५ अ० । पराजये,
आचा० १, भु० ९, अ० २ उ० । आ० चू० । अभिभवो नामादिभेद-
तत्त्वतुषा । द्रव्याभिन्नवो रिपुसेनादिपराजयः, आदित्यतेजसा
वा चन्द्रग्रहणकालादितेजोऽभिभवः । भावाभिन्नवस्तु-परीषदो-
पसर्गातीकजयात् ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्मनिर्द्वन्द्वं, प-
रीषदोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमलं चरणं, चरणशुद्धिर्ज्ञानावर-
णदिकर्मकृत्यः, तत्कृत्याभिरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञयग्राहि केव-
लमुपजायते । इदमुक्तं भवति-परीषदोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीय-
मोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति । आचा०
१ भु० १ अ० ४ उ० ।

अभिज्ञाविय-अभिज्ञय-अच्य० । जित्वेत्यर्थे, भ० ६ श० ३२ उ० ।

अभिज्ञय-अभिज्ञय-अच्य० । अभिमुख्येन पीरयित्वेत्यर्थे,
सूत्र० २ भु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । परा-
जित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ भु० ६ अ० । दश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च । आ-
चा० १ भु० ५ अ० ६ उ० ।

अभिज्ञत-त्रि० । ध्याते, जं० २ चक्र० । तिरोहितशुभव्यापारे
च । आचा० १ भु० ३ अ० १ उ० ।

अभिज्ञयणाणि (ण्)-अभिज्ञयज्ञानिन्-पुं० । अभिज्ञय
पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवला-
स्य तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलिति, सूत्र० १ भु० ६ उ० ।

अभिपंतिकण-(अभिपंतिय)-अभिपन्त्य-अच्य० । मन्त्र-
पात्रेन संस्कृत्येत्यर्थे, " रायगणे जे खंभा, अचउति ते अभिमं-
तिय आगामेण उपादया " आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिपन्नु-अभिपन्नु-अच्य० । " न्यण्योर्ज्ञः " ८ । ४ । ३०४ ।
इति पैशाच्यां न्यण्योः स्थाने ङो जातः । अर्जुनस्य सुभद्रायां
जाते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिपय-अभिपत-त्रि० । दृष्टे, सूत्र० २ भु० ४ अ० । विशेष० ।

अभिपयट्ट-अभिपयार्थ-पुं० । अवधारितार्थे, द्वा० १ अ० ।

अभिमाण-अभिमान-पुं० । अति-मद-भावे घञ् । आत्मन्यु-
त्कर्षागते, मित्यागत्ये, अर्थादिदपे, ज्ञाने, प्रलये, हिंसायां च ।
वाच० । "अभिमाणो माणो जणणति" । नि० चू० १ उ० ।
('इदं' शब्दे द्वितीयभागे '४४ पृष्ठे तदभिमानो दृष्टव्यः)

अभिमाणवच्छ-अभिमानवच्छ-त्रि० । अभिमानास्पदे, सूत्र० १
भु० १३ उ० ।

अभिमार-अभिमार-पुं० । विशेषतोऽग्निजनके घृकृविशेषे,
उक्त० ३ उ० ।

अभिमुह-अभिमुख-त्रि० । अभि भगवन्तं वक्ष्यीकृत्य मुख-
मस्येति अभिमुखः । भगवतः संमुखे, रा० । कृतोद्यमे, पा० ।
चं० प्र० । ज्ञा० । स्था० । अन्त० । सू० प्र० । औ० ।

अभियंद-अभिचन्द-पुं० । महाबलस्य राक्षः स्वनामख्याते
प्रियवयस्ये, ज्ञा० ८ अ० ।

अभियावण-अभ्यापन्न-त्रि० । आभिमुख्येन ज्ञानानुकूल्ये-
नाऽऽपन्नो व्यवस्थितः । सावधानुष्ठानेषु प्रतिपन्ने, सूत्र० १ भु०
४ अ० १ उ० ।

अभिरइ-अभिरति-स्त्री० । लोकेऽर्थादिभ्य आभिमुख्येन रतौ,
विशे० ।

अभिरमंत-अभिरममाण-त्रि० । अभितो रतिं कुर्वाणे, "अभि-
रममाणो तुष्टा" प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अभिराम-अभिराम-त्रि० । रम्ये, ज्ञा० १३ अ० । औ० । अभिर-
मणीये, चं० प्र० २० पाहु० । विपा० । रा० । आ० म० । स० ।
मनोर्ज्ञः, ज्ञा० १७ अ० । मनोहरे, कल्प० १ क० ।

अभिरुइय-अभिरुचित-त्रि० । स्वादुजावमिवोपगते, भ० ६
श० ३३ उ० ।

अभिरुव-अभिरूप-त्रि० । अभि आभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि
रूपाणि राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूथादीनि
वा जलान्तर्गतानि करिमकगादीनि वा यस्मिँस्तदभिरूपमिति ।
सूत्र० २ भु० १ अ० । अभिरूपं प्रति प्रत्येकमभिमुखमतीव
चेताहारित्वाद् रूपमाकारो यस्य स अभिरूपः । रा० । अभि-
सर्वेषां द्रष्टृणां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्य तत्
अभिरूपम् । अत्यन्तकमनीये, तं० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० ।
अभिमतरूपे, विपा० १ भु० २ अ० । जं० । छप्रारं छप्रारं प्र-
त्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरूपमाकारो यस्य सोऽभिरूपः ।
रा० । अभिमुखमतीवोत्कटं रूपमाकारो यस्य सः । सू० प्र० १
पाहु० । मनोर्ज्ञरूपे, ज्ञा० १ अ० । उपा० । औ० । भ० । अभि-
प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्य तदभिरूपम् । आ० म० प्र० ।
अनुसमयमहीयमानरूपे, स० । "अभिरुवं अभिरुवं पभिरुवं
पडिरुवं पासादीयं पासादीयं" आचा० २ भु० ४ अ० २ उ० ।

अभिलप-अभिलाप-त्रि० । कथनयोग्ये, प्रज्ञापनयोग्ये,
आ० म० प्र० । सूत्र० । "जे पुण अभिलप्या ते दुविहा भवे-
ति । ते जहा-पणवणिज्जा, अपणवणिज्जा य । तत्थ जे ते
अपणवणिज्जा तेसु वि ण चेव अहिगारो अत्थि स्ति । जे पुण
पणवणिज्जा भावा ते केयलणाणेण पासिकण तित्ययो ति-
त्थकरनामकम्मोदपण सव्वसत्ताणं अणुगहनिमित्तं नासति" ।
आ० चू० १ अ० ।

अभिलाव-अभिलाप-पुं० । अभिलप्यते आभिमुख्येन व्यक्त-
मुच्यते अनेनार्थ इत्यभिज्ञापः । वाचके शब्दे, तद्विषये संयोगे
च । उक्त० १ अ० । आ० म० । विशेष० । प्रज्ञा० ॥

अजिलावपाविद्यु-अभिलापप्रावितार्थ-पुं० । शब्दसंस्पृष्टे, कर्म० ६ कर्म० ।

अजिलावपुरि-अभिलापपुर-पुं० । अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः शब्दः, स एव पुरुषः पुंलिङ्गनयाऽभिधानात् । पुरुषभेदे, यथा-घटः कुटो वेति । आह च-“अजिलावो पुंलिङ्गाजिहाणमसं घटो व” । स्था० ३ टा० १ उ० । आ० चू० । विशेष० । आ० म० ।

अभिलास-अभिलाप-पुं० । इच्छायाम्, स्था० ५ टा० २ उ० । बन्धेऽप्यधिकतरस्य वाञ्छायाम्, स्था० ४ टा० ३ उ० । यदि-दमहं प्राप्नोमि ततो ज्ञेयं भवतीत्याद्यतरानुविद्धायां प्रार्थनायाम्, न० । ममैवरूपं वस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोद्धेखानुविद्धे स्वपुष्टिनिमित्ततृप्त-प्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसाये, न० । आ० म० । दृष्टेषु शब्दादिषु ज्ञेयेच्छायाम्, ज्ञा० ए अ० ।

अजिवहिय-अभिवर्द्धित-त्रि० । मासजेदे, संवत्सरजेदे च । स्था० । तत्र एकविंशद्दिनानि, एकविंशत्युत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशत-ज्ञागानामभिवर्द्धितमासः, एवंविधेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽजिवर्द्धितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्यहानि व्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वापष्टिभागः-३८३ । ४४ । ६२ । स्था० ५ टा० ३ उ० । वृ० । कल्प० । स० । च० प्र० । व्य० । यस्मिन् संवत्सरे अधिकमाससंभवेन त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति, सोऽजिवर्द्धितसंवत्सरः । उक्तं च-“तेरस य चंद्रमासा, एसा अभिवहियो उ नायवो” जं० २ वक्त० ।

ता एएसि णं पंचएहं संवत्तराणं पंचमस्स अभिवहियपंचवत्सरस्स अभिवहियमासे तिमतीमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवइयराइंदियगेणं आहिए ? । ता एकतीसं राइंदियाइं एगुणतीसं च मुहुत्ता सत्तरसवावट्टिभागे मुहुत्तस्स राइंदियगेणं आहितेति वदेज्जा । ता से एं केवइए मुहुत्तगेणं आहिता ? । ता एव एगुणसट्ठे मुहुत्तसते सत्तरस यवावट्टिजागे मुहुत्तस्स मुहुत्तगेणं आहिता । ता एतेसि एं अच्चा कुवालमखुत्तकडा अजिवहिये संवत्तरे । ता से एं केवइय राइंदियगेणं आहिता ति वदेज्जा ? । ता तिप्पि तेसीए राइंदियसते एकवीसं च मुहुत्ते अट्टारसवावट्टिभागे मुहुत्तस्स राइंदियगेणं आहिया ति वदेज्जा । ता से एं केवतियमुहुत्तगेणं आहिता ति वदेज्जा ? । ता एकारमुहुत्तसहस्सा पंचए एकारे मुहुत्ते सते अट्टारस य वावट्टिजागे मुहुत्तस्स मुहुत्तगेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

‘ता एएसि एं, इत्यादि पञ्चमाजिवर्द्धितसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह- (एकतीसमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकविंशद् रात्रिन्दिवादि, एकोनविंशच्च मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदश द्वापष्टिभागा रात्रिन्दिवाप्रेणाख्याता इति वदेत् । तथाहि-त्रयोदशजिह्वान्द्रमासैराजिवर्द्धितसंवत्सरः । चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनविंशत् रात्रिन्दिवादि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वाविंशद् द्वापष्टिभागाः । २६ । ३३ । एतत् त्रयोदशभिर्गुण्यते, ततो यथा-संनवं द्वापष्टिभागः रात्रिन्दिवेषु कृतेषु जातमिदं त्रीण्यहो-

रात्रिशतानि व्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वापष्टिभागा अहोरात्रस्य-३८ । ३ । ४४ । एतदभिवर्द्धितसंवत्सरपरिमाणम् । तत्र त्रयाणां अहोरात्रशतानां व्यशीत्यधिकानां द्वादशभिर्भागं हन्ते तत्रा एकविंशद्दहोरात्राः, शेषास्तिष्टत्येकादश । ते मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३२० । येऽपि च चतुश्चत्वारिंशद्द्वापष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, तेऽपि मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदशशतानि विशत्यधिकानि १३२० । तेषां द्वापष्ट्या ज्ञागो ह्रियते, बन्धा एकविंशतिमुहूर्ताः, शेषास्तिष्टत्यष्टादश । तत्रैकविंशतिमुहूर्ता मुहूर्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानां त्रीणि शतान्येकपञ्चाशदधिकानि ३४१ । एतेषां द्वादशभिर्भागो ह्रियते, तत्रा एकोनविंशन्मुहूर्ताः, शेषास्तिष्टन्ति त्रयः । ते द्वापष्टिभागकरणार्थं द्वापष्ट्या गुण्यन्ते, जातं परशीत्यधिकं शतम् १८६ । ततः प्रागुक्ताः शेषाश्रुता मुहूर्तस्याष्टादश द्वापष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरस्रत्तरे २०४ । तयोर्द्वादशजिभागो ह्रियते, बन्धा मुहूर्तस्य सप्तदश द्वापष्टिभागाः । (ता से णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । सोऽजिवर्द्धितमासः कियान् मुहूर्ताप्रेणाख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह- (ता नवेत्यादि) नव मुहूर्तशतानि एकोनपष्ट्यधिकानि ९५६ । सप्तदश च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागाः । तथाहि-एकविंशदप्यहोरात्राः त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि मुहूर्तानाम् । तत उपरितना एकोनविंशन्मुहूर्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानामेकोनपष्ट्यधिकानि नवशतानि । (ता एएसि णमित्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयम् । (ता से णमित्यादि) रात्रिदिवप्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह- (ता तिष्ठीत्यादि) त्रीणि रात्रिदिवशतानि व्यशीत्यधिकानि एकविंशतिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वापष्टिभागा रात्रिन्दिवाप्रेणाख्याता इति वदेत् । तथाहि-एकविंशद् अहोरात्रा द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसत्यधिकानि रात्रिन्दिवानाम् ३७२ । तत एकोनविंशत् मुहूर्ता द्वादशजिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ३४८ । तेषामहोरात्रकरणार्थं त्रिंशता भागो ह्रियते, बन्धा एकादश अहोरात्राः, अष्टादश तिष्ठन्ति । येऽपि च सप्तदश द्वापष्टिभागाः मुहूर्तस्य, तेऽपि द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरस्रत्तरे २०४ । ततो द्वापष्ट्या भागो ह्रियते, बन्धास्त्रयो मुहूर्ताः, ते प्राक्तनेषु अष्टादशसु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकविंशतिमुहूर्ताः । शेषास्तिष्टत्यष्टादश द्वापष्टिभागा मुहूर्तस्य । (ता से णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह- (एकारसेत्यादि) एकादश मुहूर्तसहस्राणि पञ्च मुहूर्तशतानि एकादशाधिकानि अष्टादश च द्वापष्टिभागा मुहूर्तस्येति मुहूर्ताप्रेणाजिवर्द्धितसंवत्सर आख्यात इति वदेत् । तथाहि-अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीण्यहोरात्रशतानि व्यशीत्यधिकानि एकविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वापष्टिभागान्नत्र एकैकस्मिन् रात्रिदिवे त्रिंशद् मुहूर्ता इति त्रीण्यहोरात्रशतानि व्यशीत्यधिकानि त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकविंशतिमुहूर्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्ता मुहूर्तसंख्या भवतीति । च० प्र० १२ पाहु० । नि० चू० । ज्यो० । जं० । (अवशेषा वक्तव्यता “मास” ‘संवत्तर’ शब्दयोः करिष्यते)

अभिवहेमाण-अभिवर्द्धयत्-त्रि० । अभिवर्द्धिं कुर्वणे, जं० ७ वक्त० ।

अनिवायण-अनिवादन-न० । वाङ्मसकारः, दश० २ नृ० ।
उत्त० । पादयोः प्रणिपतने, तं० । कायेन प्रणिपते, सधा० ।
भावा० ।

अभिवायमाण-अनिवादन-वि० । अनिवादनं कुर्वाणे, आ-
चा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अनिवाहरणा-अभिव्याहरणा-स्त्री० । संशब्दनायाम्, पञ्चा०
२ विव० ।

अनिवाहार-अनिवाहार-पुं० । अभिव्याहरणमनिवाहारः ।
कालिकादिभृतविषयं उद्देशसमुद्देशादौ, आवाचनादिषु अप्रेमे
नये, विशेष० । आ० म०

अधुना चरमद्वारं व्याचिख्यासुराह--

अभिवादागं कालिय-सुयस्स मृत्तन्धतदुभयं ति ।

द्वगुणपञ्चोर्वहं य, दिष्टीवायमि बोधवे ॥

अनिवाहरणं शिष्याचार्ययोः वचनप्रतिवचने अनिव्याहारः ।
म च कालिकश्रुते आचार्यद्वौ, (मृत्तन्धतदुभयं ति) सूत्रतो
ऽर्थतः, तदुभयतश्च । इयमत्र भावना-शिष्येण इच्छाकारेण दम-
कागृहीतस्त्वेत्युक्ते मति इच्छापुरस्सरमाचार्यवचनम्-“अहमस्य
नाथ रिदमहमस्ययनमुद्देशं वा उद्दिशामि” वदामित्यर्थः । आतो-
पदेशवारम्परेष्वप्यपनार्थं कृमाश्रमणानां हस्तेन सौत्रेक्या सूत्र-
तोऽर्थतस्तदुभयतो वाऽस्मिन् काविकश्रुते । अथोक्ताविके दृष्टिवादे
कथम् ? इत्यत आह-द्वगुणपर्यायैश्च दृष्टिवादे बोद्धव्योऽभि-
व्याहारः । एतच्छ्रुतं भवति-शिष्यवचनातन्तरमाचार्यवचनम्-“इ-
दमुद्दिशामि सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतोऽर्थगुणपर्यायैरतन्तरम-
हमहमिति” एवं गुरुणा समादिष्टेऽभिव्याहारे शिष्यानिव्या-
हारः । शिष्यो ब्रवीति-“उद्दिशस्वेदं मम, इच्छाम्यनुशासनं क्रि-
यमाणं पृथैरिति । एवमतिव्याहारद्वारमष्टमं नीतिविशेषनये ।
आ० म० प्र० ।

अनिविद्धि-अभिविधि-पुं० । सामस्ये, पञ्चा० १५ विव० ।
आ० म० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-पुं० । अहिवृत्तापरनामके उत्तरभाज्य-
दनक्रते, ज० ७ वक्र० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-अव्य० । अतिवृद्धिं कारयित्वेन्यर्थे,
सू० प्र० १ पादु० ।

अतिवृत्तण-अभिवृत्तण-न० । स्वरूपतः प्रकाशने, सूत्र० १
श्रु० १ अ० १ उ० ॥

अभिमंका-अनिशङ्का-स्त्री० । तथ्यानिर्णये, सूत्र० २ श्रु० ६
अ० । स्था० । “भूयाभिसंकाऽङ्गुष्ठमाणे, ण निव्वहे मंतप-
वेण गेयं” नृतेषु प्राणिषु अभिशङ्का उपमर्दशङ्का, तयाऽऽर्शा-
चादे मावयं, जुगुप्सां वा न वृथान् । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अभिमंकि (ण)-अभिशङ्कि-वि० । “उज्जु मागभिशं-
की मग्गा पमुच्चति” । मरणं मार्गः, तर्दातिशङ्का मग्गा-
दृष्टिभक्तकरोति यत्न मरणान् प्रमुच्यते । आचा० १ श्रु० ३
अ० १ उ० ।

अभिमं (म्) ग-अभिवृद्धि-पुं० । भावरागे, विशेष० । अधु-
पपत्तां, स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अनिसंजाय-अनिसंजात-वि० । पेशी यावदुत्पन्ने, आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिमंधारण-अनिसंधारण-न० । पर्यालोचने, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अनिसंधिय-अनिसंधित-वि० । गृहीते, आचा० १ श्रु० ४
अ० २ उ० ।

अनिसंचूय-अनिसंचूत-वि० । यावत्कलत्रं तावदभिसंभूताः ।
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अनिसंवहृ-अनिसंवृष्ट-वि० । धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्तमाने,
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अनिसंवृष्ट-अनिसंवृद्ध-वि० । धर्मकथादिकं निमित्तमासाद्यो-
पलब्धपुण्यपापतया ज्ञाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अनिसमन्वागय-अभिसमन्वागत-वि० । अभिराजिमुख्येन स-
म्यगिष्टानिष्टावधारणतया अन्विति शब्दादिस्वरूपापगमात् प-
श्चादागतो ज्ञातः परिच्छिन्नः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रज्ञा० ।
अभिसमुख्येन व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । परिभो-
गत उपजोगं प्राप्ते, ज्ञा० २ श्रु० । विशेषतः परिच्छिन्ने, म० ५ श०
४ उ० । मिश्रिते, ज० १५ श० १ उ० । अभिविधिना, सर्वाणीत्य-
र्थः । समन्वागतानि संप्राप्तानि जीवेन रसानुभूतिं समाश्रित्य
(ज० ११ श० ४ उ०) उदयावलिकायामागतेषु, ज० १३ श० ७
उ० । भोग्यावस्थां गतेषु, स्था० ४ ग० ३ उ० ॥

अभिसमागम-अभिसमागम-पुं० । अभितीर्थ्याभिसमुख्येन न तु
विपर्यासरूपतया समिति सम्यक् न संशयतया तथा आ-म-
र्यादया गमनमभिसमागमः । वस्तुपरिच्छेदे, स्था० ।

तिविहे अभिसमागमे पन्नचे । तं जहा-उहं अहं तिरियं ।
जया एं तहा ख्वस्स समणस्स वा माहणस्स वा अइसेसे
णाणदंसणे ममुप्पज्जइ, से एं तप्पढमयाए उहमत्तिसमेइ,
तओ तिरियं, तओ पच्चा, अहे अहोलोणेणं छुर-
जिगमे पन्नचे समणाउसो ! ॥

(अइसेस ति) शेषाणि उल्लस्रज्ञानान्यतिक्रान्तमतिशेषं ज्ञान
दर्शनं, तच्च परमावधिर्लक्ष्मीर्मातृ सम्भाव्यते, केवलस्य न क्रम-
णोपयोगः ; येन-तत्प्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवयं स्यादिति । तस्य
ज्ञानादुरुपादस्य प्रथमतः तत्प्रथमतः, तस्याः (उहं ति) ऊर्ध्व-
लोकमभिसमेति-समभिगच्छति जानाति । ततस्तिर्यगिति ति-
र्यग्भोक्, ततस्तृतीये स्थाने अध इत्यधोभोक्कमभिसमेति । एवं च
सामर्थ्याप्राप्तमधोलोको दूरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताधिगम्यत्या-
दिति । हे श्रमणायुष्मन् ! इति गौतमामन्त्रणमिति । स्था० ३
ग० ४ उ० ।

अनिसमागम-अनिसमागम-अव्य० । अभिराजिमुख्ये, स-
मेकीजावे, आह-मर्यादाभिविधयोः । गम्ल-सुल्ल-गतौ, सर्व एव
गन्तव्या ज्ञानार्था हेयाः । अभिसमुख्ये सम्यग्ज्ञातेत्यर्थे, “ एवं
अभिसमागम-चित्तमादाय आउसो ” दशा० ५ अध्या० ।
आचा० ॥

अभिसमेच-अनिसमेत्स-अव्य० । अनिसमुख्येन सम्यगित्वा
ज्ञात्वा । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अनिसमुख्येन सम्यक्

परिच्छिद्य पृथक् प्रवेदितं वा । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अयम्येत्यर्थः, स्था० ए ग० । आचा० । समधिगम्य अवबु-
ध्येत्यर्थः, अजिसमेत्य धर्मं यावत्केवलित्वमुपादयेत् । “धर्मोपा-
देयतां ज्ञात्वा, संजातेच्छेऽत्र भावतः । दृढं स्वशक्तिमाश्लोच्य,
ग्रहणे संप्रवर्तते ” ॥१॥ स्था० २ ग० १ उ० ।

अभिसरण-अभिसरण-न० । आपेक्षिकसंमुखाभिगमने, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० ।

अजिसरित-अजिसरित-त्रि० । रत्यर्थं सङ्केतस्थलं प्रापिते,
आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ॥

अभिसव-अभिषव-पुं० । अनेकद्वयसन्धाननिष्पन्नसुरासौवी-
रकादौ मांसप्रकारखण्डौ सुरामध्वार्थाभिष्यन्दिद्रव्ये, ऊर्यो-
पयोगे च । अयं च सावद्याहारवर्जकस्यानाभोगातिक्रमादि-
नाऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

अभिसित्त-अभिषित्त-त्रि० । कृतान्निषेके जातान्निषेके, “अ-
ण्ण अमयकल्लसेण अजिसित्तो अब्भित्थं सोज्जितुमादत्ता”
आ० म० प्र० ।

अभिसेग-अभिषेक-पुं० । शुक्रशोणितनिषेकादिकमे, आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० । सर्वोपधिसमुपस्कृततीर्थोदकैः राज्याधिष्ठा-
तृत्वादिप्राप्त्यर्थं मन्त्रोच्चारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसोऽभ्युक्षणम् ।
संथा० ।

तत्रेच्छाणामजिषेक इत्थम्-

जेणामेव अभिसेयसभा तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता अभिसेयसन्नं अणुपयाहिणं करमाणे पुरच्छिमिद्वेणं
दारणेण अणुपविसति, अणुपविसत्ता जेणेव सीहासणे तेणे-
व उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुर-
च्छाभिमुहे सारिणसरणे । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स
सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगीए देवे सदावे-
ति, सदावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव जो देवाणुप्पिया ! तुब्भे
विजयस्स देवस्स महत्थं महग्गं महरिहं विपुलं इंदान्निसेयं
उवट्ठवेह । तए णं ते आजिओगिया देवा सामाणियपरिसो-
ववण्णएहिं देवेहिं एवं उत्ता समाणा हट्ठं जाव हियया कर-
तन्नपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्ठु ‘एवं देवा तह
त्ति’ आणाए विणएणं वयणं पन्निमुण्णैति, पन्निमुण्णैत्ता उत्त-
रपुरच्छिमं दिसीजागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमु-
ग्घाएणं समोहणंति, समोहणैत्ता संखिज्जाइं जोयणाइं रुं
णिसरंति, णिसरित्ता तावड्थाइं पोग्गलाइं गेएहइ । तं जहा-
रयणाए० जाव रिट्ठाणं अहा बायरे पोग्गले परिसाईति, परि-
साडित्ता अहा सुहमे पोग्गले परिचायंति, परिचाइत्ता दोच्चं पि
विउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता अट्टसयं सोव-
षियाणं कल्लसाणं, अट्टसतं रूपमयाणं कल्लसाणं, अट्टसयं
माणिमयाणं कल्लसाणं, अट्टसयं सुवस्सरूपमयाणं कल्लसाणं,
अट्टसहस्सं सुवस्सरूपमयाणं कल्लसाणं, अट्टसयं रूपमिया-
णं कल्लसाणं, अट्टसयं सुवस्सरूपमणिमयाणं कल्लसाणं, अट्ट-

सयं नृमियाणं कल्लसाणं, अट्टसयं जिगाराणं कल्लसाणं,
एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चि-
त्ताणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमह-
त्यचंगेरीणं पुप्फपरुल्लगाणं० जाव लोमहृत्यपरुल्लगाणं अ-
ट्टसयं सीहासणाणं उत्ताणं चामराणं अवपरुगाणं वट्ट-
काणं सिप्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेद्वसमुग्गकाणं अट्टस-
हस्सं धूवककुत्त्यकाणं विउव्वंति । तेसा भावियए विउव्विए
य कल्लसे य० जाव धूवककुत्त्यए य गेएहंति, गेएहत्ता विज-
याओ रायहाणीओ पन्निक्खमंति, पन्निक्खमित्ता ताए
उक्किट्ठाए० जाव उप्पत्ताए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखे-
ज्जाणं दीवममुद्दाणं मज्जं मज्जेणं वीयीवयमाणा वीयीव-
यमाणा जेणेव खीरोदे समुदे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवा-
गच्छित्ता खीरोदगं गेएहंति, खीरोदगं गेएहत्ता जाइं तत्थ
उप्पट्ठाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेएहंति, ताइं गेएहत्ता
जेणेव पुक्खरोदे समुदे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता
पुक्खरोदगं गेएहंति, पुक्खरोदगं गेएहत्ता जाइं तत्थ
उप्पट्ठाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं गेएहंति, ताइं गेएहत्ता
जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइवासाइं जेणेव मा-
गधवरदामप्पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव
उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेएहंति, तित्थोदगं गेएहत्ता ति-
त्थमट्ठियं गेएहंति, तित्थमट्ठियं गेएहत्ता जेणेव गंगासिंधुर-
त्तवतीओ सल्लिलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवाग-
च्छित्ता सरितोदगं गेएहंति, सरितोदगं गेएहत्ता उज्जयो
तट्ठमट्ठियं गेएहंति, तट्ठमट्ठियं गेएहत्ता जेणेव चुल्लहिमवंत-
सिहरिवासपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता
सव्वतुव्वरे य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमट्ठे य सव्वोसहिं
सिच्छत्थए य गेएहंति, गेएहत्ता जेणेव पउमदहं पुंरुरियदहा
तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गेएहंति, दहो-
दगं गेएहत्ता जाइं तत्थ उप्पट्ठाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं
गेएहंति, ताइं गेएहत्ता जेणेव हेमवत्तरस्सवयाइं वासाइं जेणेव
रोहिया रोहियातंसा सुवस्सरूपकूलरूपकूलाओ तेणेव उवाग-
च्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सल्लिलोदगं गेएहंति, सल्लिलोदगं
गेएहत्ता उभयो तट्ठमट्ठियं गेएहंति, उभयो तट्ठमट्ठियं गे-
एहत्ता जेणेव सदावतिवियमावतिमालवंतपरियागावट्ट-
वैयट्ठपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतु-
व्वरे य० जाव सव्वोसहिसिच्छत्थए य गेएहंति, सिच्छत्थए
गेएहत्ता जेणेव महाहिमवंतरूपिवासरपव्वते तेणेव उवाग-
च्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे तं चेव० जेणेव महापउ-
मदहमहापुंरुरीयदहा तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता
जाइं तत्थ उप्पट्ठाइं तं चेव० जेणेव हरिवासरम्मगवासाइं जे-
णेव हरिकांताओ मल्लिलाओ नरगंताओ तेणेव उवागच्छंति,

तेणेव उवागच्छिता सल्लिहोदगं गेहंति, सल्लिहोदगं गे-
 एहिता तं चेव० जेणेव विगडावतिगंधावति० वट्टेयपुण्यववा
 तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता मव्वपुप्फे य तं चेव०
 जेणेव एिमदणीद्वतंत्वासहमपव्वता तेणेव उवागच्छति,
 तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य तं चेव० जेणेव तिगिच्छि-
 द्दं केमदिहं तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता द-
 होदगं गेहंति, दहोदगं गेहिहता तं चेव० जेणेव पुव्ववि-
 देहप्रवग्गिदेहवासिणि जेणेव सीयानीओयामहानईओ
 जहा नईनु जेणेव सव्वचक्रवट्टिविजया जेणेव विदेहावरवि-
 देहवासिं जेणेव सव्वमागहवरदामपभासाइं तित्याइं जेणेव
 सव्वंतरणदीओ० सल्लिहोदगं गेहंति, सल्लिहोदगं गेहिहता
 तं चेव० जेणेव सव्ववक्खारपव्वता० सव्वतुवरे य तं चेव०
 जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव जहमात्तवणं तेणेव उवागच्छति,
 तेणेव उवागच्छिता मव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिभिद्धत्यए
 य गेहंति, गेहिहता जेणेव नंदणवणे तेणेव उवागच्छति,
 तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिभिद्धत्यए
 य सरसं च गोमीसचंदणं गेहंति, गेहिहता जेणेव सोमण०
 सव्वणे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे
 य० जाव सव्वोहिमिच्छत्यए य सरसं च गोमीसचंदणं दिव्वं
 च सुमणदामं गेहंति, सुमणदामं गेहिहता जेणेव पंगुवणे
 तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव
 सव्वोसहिभिच्छत्यए य सरसं च गोमीसचंदणं दिव्वं च
 सुमणदामं दहरमन्नयमुगंधिगंधिणं य गंधं गेहंति, गेहिहता
 एगतो मिन्नंति, एगतो मिन्नित्ता जंघूदीवस्म पुरच्छिमिद्वेणं
 दारेणं णिग्गच्छंति, पुग्गच्छिमिद्वेणं दारेणं णिग्गच्छित्ता
 ताए उक्किट्ठाए० जाव दिव्वाए देवगतीए तिरियममंखेज्जाणं
 दीवममुदाणं पज्जं पज्जं गं वीतीवयमाणा जेणेव विजया
 गयहाणी तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता विजयं रा-
 यदाणि अणुपयाटिणं कंमाणे कंमाणे जेणेव अजिमेयस-
 ता जेणेव विजयदेवे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छि-
 ता कयन्नपग्गिदियं मिरमावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जण-
 णं विजण्णं वद्धावेति, वद्धावित्ता विजयस्म देवस्स तं
 महत्थं महत्थं महत्तिं विपुलं अभिमेयं उव्वंति ॥

टीका पाठमिदा । जा० ३ प्रति० । रा० । औ० । जं० । आचा-
 र्यपदेऽजिपेक्ता यः सोऽजिपेक्ता । नि० चू० १९ उ० । सूत्रार्थ-
 तदुभयोपेतं आचार्यं, व्य० १ उ० । आचार्यपदस्थापनाई, वृ०
 ३ उ० । उपाध्याये, जी० । गगावच्छेदके, नि० चू० १५ उ० ।

अभिमेगजलपूय (ण)-अजिपेकजलपूयान्म-पुं० । अ-
 भिपेकतो जलं पवित्रित आत्मा यस्ते तथा । तथाविधज-
 लचोक्षेपु यानप्रस्थेषु, औ० ।

अभिमेगपदे-अभिपेकपीठ-पुं० । न० । अजिपेकमण्डपान्तर्गतं
 अभिपेकसिंहासनाधिष्ठानं पीठं, जं० ३ वक्र० ।

अजिसेग (य) भंरु-अभिपेकभाणरु-न० । अभिपेकयोग्ये
 उपस्करे, रा० । जी० ॥

अभिमेग (य) सभा-अजिपेकमज्ञा-खी० । अभिपेका-
 र्थसभायाम्, यस्यां राज्याभिपेकेणाभिषिच्यते । स्था० ५
 उ० ३ उ० ।

अजिसेगमिला-अभिपेकशिला-खी० । तीर्थकराणामभिपे-
 कार्थशिलायाम्, स्था० ।

जम् ! मंदरपव्वयपंगुवणे चत्तारि अभिसेगसिलाओ
 पएणत्ताओ । तं जहा-पंगुकंवलसित्ता, अतिपंगुकंवलसित्ता,
 रत्तकंवलसित्ता, अतिरत्तकंवलसित्ता ।

अजिपेकशिला चूलिकायाः पूर्वदाकिणापरोत्तरासु दिक्षु क्रमे-
 णावगम्या इति । स्था० ४ उ० २ उ० ।

अभिसेगा-अजिपेका-खी० । गच्छमहत्तरिकायाम्, नि० चू० ६
 उ० । प्रवर्तिनी आगमपरिभाषयाऽभिपेकेत्युच्यते, ध० ३ अधि० ।
 जिजुक्क्यां च । नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेजा-अभिश्यया-खी० । अजिनिपद्यायाम्, व्य० १
 उ० । यस्यां नैपेक्षिकां दिवा निशयां वा स्वाध्यायं कृत्वा
 रात्रिमुपित्वा प्रातर्वसतिमुपयान्ति । व्य० १ उ० ।

अजिसेसंग-अजिपवङ्ग-पुं० । गेहादिष्वभिलाषे, पं० व० ।

जो एत्थ अजिसेसंगो, संतासंतेसु पावहेतु चि ।

अट्टज्जाणविअप्पो, ॥

लोकेऽजिष्वङ्गो मूर्धूलकणः सदसत्सु गेहादिषु पापहेतुरि-
 ति पापकारणमार्तध्यानविकल्पः । अशुभध्यानभदोऽभिष्वङ्गः ।
 पं० व० १ द्वा० । पञ्चा० ।

अजिहट्टु-अजिहत्य-अव्य० घलात्कृत्वैत्यर्थे, “ सेवं वदंत-
 स्स परो अभिहट्टु अंतो पदिग्गहंसि बहुअधियं मंसं परिभाण-
 ता णिहट्टु दलपज्जा ” आचा० २ शु० १ अ० १० उ० ॥

अजिहर-अजिहत-न० । अभि-साध्वजिसुखं हतमानीतं स्था-
 नान्तरादजिहतम् । अज्याहते, पञ्चा० १३ विव० । साधुदानाय
 स्वग्रामात्परग्रामाद् वा समानीते एकादशोद्गमदोषदुष्टे, पि० ।

अयाभ्याहृतचारमाह-

आइन्नमणाइन्नं, निसीहमनिसीहयं अभिहटं वा ।

तत्थ निसीहानीयं, उप्पं वोच्छामि नोनिसीहं तु ॥

अज्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-आचीर्णम्, अनाचीर्णं च । तत्राना-
 चीर्णं द्विधा । तद्यथा-निशीथाज्याहृतं, नोनिसीथाज्याहृतं च । तत्र
 निशीथमकंरात्रं, तत्रानीतं किल प्रच्छन्नं प्रवति, यत्र साधूना-
 मपि यद्विदितमभ्याहृतं तन्निशीथाज्याहृतम् । तद्विपरीतं नो-
 निशीथाज्याहृतम्-यत्साधूनामज्याहृतमिति विदितं भवति ।
 तत्र निशीथाज्याहृतं स्थाप्यम् । अग्रे वक्ष्यत इति भावः । संप्र-
 ति पुनर्वक्ष्यामि नोनिसीथाज्याहृतमिति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सग्गामपरग्गामे, सदेमपरदेसमेव बोधव्वं ।

दुविहं तु परग्गामे, जलथल नावोडुजयाए ॥

नोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वग्रामे स्वग्रामविषयं, परग्रामे परग्रामविषयम् । तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुनिवसति स किञ्च स्वग्रामः । शेषस्तु परग्रामः । तत्र परग्रामे परग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेशं परदेशं च । स्वदेशं स्वग्रामाभ्याहृतं, परदेशं परग्रामाभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो यत्र देशमण्डले साधुवर्तते, शेषस्तु परदेशः । एतद् द्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलपथे त्ति) सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा जलपथेनाभ्याहृतं, स्थलपथेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपथेनाभ्याहृतं द्विधा-नाथा, उरुपेन च । उपलक्षणमेतत् । तेन स्तोकजलसंभावनायां जङ्गाज्यामपि । तत्र नौस्तारिका, उरुपं तरणकाष्ठम् । तुम्बकादि वोरुपरिग्रहणेन गृहीतं छप्यम् । स्थलपथेनाप्यभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जङ्गया, पट्ट्याम् । उपलक्षणमेतत् । तेन गन्त्यादिना च ।

तत्रामूनेव जलस्थलाभ्याहृतभेदान् सप्रपञ्चं विज्ञावयन्
दोषान् प्रदर्शयति-

जंघावाहतरिण, जले थले खंध्ररखुरनिवद्धा ।
संजमआयविराहण, तहियं पुण संजमे काया ॥
अत्थाह गाहपंका, मगरोहारा जले अवायाओ ।
कंटाहितेणसावय, यद्धम्मि एण जवे दोसा ॥

तत्र जलमार्गे स्तोकसंभावनायां जङ्गाज्याम्, अस्तोकसंभावनायां बाहुज्याम्, यदि वा तरिकाया । उपलक्षणमेतत् । उरुपेन वाऽभ्याहृतं संभवति । स्थलमार्गे तु स्कन्धेन, यद्वा-(अखुरनिवद्धा त्ति) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा । ततोऽयमर्थः-अरकनिवद्धा गन्त्री, तथा । खुरनिवद्धा रासजवलीवर्दादयः, तैः अत्र च दोषः संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमात्मविराधनामध्ये संयमविषया विराधना जलमार्गे स्थलमार्गे च-काया अप्कायादयो विराध्यमाना छप्याः । जलमार्गे आत्मविराधनामाह-(अत्थाहत्यादि) अत्र प्राकृतत्वात् क्वचित् विभक्तिदोषः, क्वचित् विभक्तिविपरिणामश्च । ततोऽयमर्थः-अस्ताधे पादादिभिरव्यभ्यामानेऽधोभूभागे अधोनिमज्जनवृत्तणोऽपायो भवति । तथा ग्राहेज्यो जलचरविशेषेभ्यः, यद्वा पङ्क्तः कर्दमरूपात् ; अथवा मकरेभ्यः, यद्वा-(उहारे त्ति) कच्छपेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-अन्येभ्यश्च पादबन्धकजन्त्वादिभ्योऽपाया विनाशादयो दोषाः संभवन्ति । स्थलमार्गे आत्मविराधनामाह-(कंटेत्यादि) कण्टकेभ्यो, यदि वा अहिज्यो, यद्वा स्तेनेभ्यः, अथवा श्वापदेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-ज्वराद्युत्पादकपरिश्रमेभ्यश्च स्थले स्थलमार्गे, एतेऽप्यारूपा दोषाः प्रतिपत्तव्याः । उक्तमनाचीर्णं परग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथम् ।

संप्रति तदेव स्वाग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं गाथाद्वयेनाह-

सग्गामे वि य दुविहं, धरंतरं नोघरंतरं चेव ।
तिघरंतरा परेणं, धरंतरं तत्तु नायवं ॥
नोघरतरऽगेगविहं, वाडगसाहीनिवेसणहिहेसु ।
कापोयखंधमिमय-कंसेण व तं तु आणेज्जा ॥

स्वग्रामविषयमप्यभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नो-गृहान्तरं च । तत्र त्रिगृहान्तरात्परेण-त्रि-गृहाण्यन्तरं कृत्वा परतो यदानीतं तद् गृहान्तरम् । एवं च सति किमुक्तं भवति ? यद् गृहत्रयमध्यादानीयते, उपयोगश्च तत्र संभवति, तद् आचीर्णम्-

घसेयम् । नो-गृहान्तरमनेकविधम्, तच्च वाटकादिविषयम् । तत्र वाटकः-प्रतिच्छन्नः प्रतिनियतः सन्निवेशः । साही-वर्तनी, सैवैका अपान्तराले विद्यते, न तु गृहान्तरमिच्छार्थः । निवेशनम्-एकनिष्क्रमप्रवेशानि द्यादिगृहाणि । गृहं-केवलं मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि वाटकादिविषयमनार्चणमनुपयोगसंज्ञये वेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तराख्यं च नोनिशीथं स्वग्रामाभ्याहृतं प्रतिलाभितुमीप्सितस्य साधोरुपाध्यमानयेत्-कापोत्या, यदि वा स्कन्धेन । उपलक्षणमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा मृन्मयेन जाजेनेन, यद्वा कांस्येन ।

संप्रत्यस्यैव स्वग्रामविषयिणो नोनिशीथाभ्याहृतस्य संभवमाह-

सुत्तं च असङ्काओ, पणयं च पदेणं च पासुत्ता ।

इय एइ काय पेत्तु, दीवेइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुभिन्नामटन् कापि गृहे प्रविष्टः, परं तत्तदानीं शून्यं बहिर्निर्गतमानुषमासीत् । यद्वा-अद्यापि तत्र राधते, इत्यसन् अविद्यमानो भिक्षाकाक्षः । यदि वा तत्र प्रकृतं गौरवादिस्वजनजो-जनादिकं वर्तते, ततो न तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रपारिता, यदि वा विहृत्य साधोर्गतस्य पश्चात्प्रेरणकं वदेणकमागतं, तच्छोक्तृत्वात् किल साधवे दातव्यम् । अथवा तदा आद्विका प्रसुप्ता-शयिता आसीत्, ततः साधवे भिक्षा न दत्ता । इति एतैः कारणैः, काचित् आद्विका तद्गृहाद् गृहीत्वा साधोरुपाध्यमानयेत्, तच्चानयनस्य कारणं 'तदा शून्यं गृहमासीत्' इत्यादिरूपं दीपयति प्रकाशयति । तत् एवं नोनिशीथस्वग्रामाभ्याहृतसं-जवः । तदेवमुक्तं स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नं नोनिशीथाभ्याहृतम् ।

अथ स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नमेव निशीथाभ्याहृतमपि देशेनाह-

एमेव कपो नियमा, निसीहमभिहट्टे वि होइ णायव्वो ।

अविइयदायगजावं, निसीहअजिहट्टं तु नायवं ॥

य एव क्रमः स्वग्रामपरग्रामादिको नोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते नियमाद् ज्ञातव्यः । संप्रति निशीथाभ्याहृतस्वरूपं कथयति-"अविइय" इत्यादितः । यतिना न विज्ञातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र, तेन अविदितदायकभावं निशीथाभ्याहृतमवगतव्यम् । किमुक्तं भवति ?-सर्वथा साधुना अभ्याहृतत्वेन सद् अपरिज्ञातं तन्निशीथाभ्याहृतमिति परग्रामाभ्याहृत उक्तः ।

स एव निशीथस्याभिहट्टो गाथाचतुष्टयेनाच्यते-

अइदूर जलंतरिया, कम्मामंकाए ठान पेच्छंति ।

आणेंति संखडीओ, सट्ठा सट्ठी व पच्छन्ति ।

निग्गम देउल्ल दाणं, दियाएँ सत्ताइनिग्गए दाणं ।

सिट्ठम्मि सेसगमणं, दिंतऽन्ने वारयंतऽन्ने ।

जुंजण अजीरपुव्व-ट्टगाइ अच्चंति जुत्तसेसं वा ॥

आगम निसीहिगाई, न भुंजई सावगामंका ।

उक्खित्तं निक्खित्तं, आमगयं मट्ठगम्मि पासगए ।

खामित्तु गया सट्ठा, ते वि य सुद्धा अमढभावा ॥

क्वचित् ग्रामे धनावहप्रमुखा घटवः श्रावकाः, धनवतीप्रभृत-यश्च आद्विकाः, एते चाप्येककुटुम्बवर्तिनः । अभ्यदा तेषामावसथे विवाहः समजनि, वृत्ते च तस्मिन् प्रचुरमोदकाशुद्धरितम्, तत-स्तैरचित्ति-यथैतत् साधुज्यो दीयतां, येन महत्पुण्यमस्माकं

जायते । अथ च केचित् साधवोऽतिदूरेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेष्वप्यायं पु विराध-
नां भावयन्तो नागमिष्यन्ति, आगता अपि च प्रचुरमोदकादिकम-
षशोष्य कथ्यमानमपि गुह्यमाधार्क्यशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति ।
ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रच्छन्नं गृहीत्वा व्रजाम
इति । तथैव च कृतम् । ततो भूयोऽपि चिन्तयन्ति-यदि साधू-
नादय दास्यामस्ततोऽगुरुमाशङ्क्य ते न ग्रहीष्यन्ति । तस्मात्
तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि दद्यात्, तच्च तथादीयमानमपि यदि
साधवो न प्रदद्यात् ततस्तदवस्थैव तेषामगुह्याऽऽशङ्का जविष्यति ।
ततो यत्रोच्चार्यादिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेक्ष्यन्ते तत्र दद्यात्
इति । एवं च चिन्तयित्वा विवर्जितं कस्मिंश्चित् प्रदेशे कस्यचिद्
देवकुलस्य बहिर्भागे द्विजादिभ्यः स्तोत्रं स्तोत्रं दातुमारब्धम्,
तत उच्चार्यादिकार्यार्थं विनिर्गताः केचन साधवो दृष्टाः, ततस्ते
निमग्नताः । यथा भोः साधवः ! अस्माकमुद्धरितं मोदकादिकं
प्रचुरमवतिष्ठते ततो यदि गुप्ताकं किमप्युपकरोति तर्हि तत् प्र-
तिगृह्यतामिति । साधवोऽपि गुरुमित्यवगम्य प्रत्यगुह्यन् । तैश्च
साधुभिः शेषाणामपि साधूनामुपादेशि-यथाऽमुकस्मिन् प्रदेशे
प्रचुरमेषणीयमशनादि लभ्यते । ततस्तेऽपि तद्गृह्णाय समाज-
गुः । तत्र चैके श्रावकाः प्रचुरमोदकादिकं प्रयच्छन्ति । अन्ये च
मातृस्थानतो (मायाविशेषात्) निवारयन्ति-यथैवं तावही-
यतां माऽधिकं, शेषमस्माकं भोजनाय भविष्यति । अन्ये पुनस्ता-
नेव निवारयन्तः प्रतिषेधयन्ति । यथा-न केऽप्यस्माकं भोक्ष्यन्ते,
सर्वेऽपि प्रायो युक्ताः, ततः स्तोत्रमात्रेण किञ्चिदुद्धरितेन
प्रयोजनं, तस्माद् यथेच्छं साधुभ्यो दीयतामिति । साधवश्च
ये नमस्कारसहितप्रत्याख्यानास्ते युक्ताः, ये चापौरुष्यप्रत्या-
ख्यानास्ते युञ्जाना वर्तन्ते । ये चाजीर्णवन्तः पूर्वार्द्धादिप्रती-
व्यमाना वर्तन्ते ते नाद्यापि जुञ्जते । श्रावकाश्च चिन्तयामासुः-
यथेदानीं साधवो युक्ता जविष्यन्ति, ततो वन्दित्वा नि-
जस्थानं व्रजाम इति । एवं च चिन्तयित्वा समधिकप्र-
हर्षेलायां साधुभ्यो वसतावागत्य नैपथिक्यादिकां सक-
लामपि श्रावकक्रियां कृतवन्तः । ततो ज्ञातं यथाऽस्मी श्राव-
काः परमविवेकिनो ज्ञातारश्च परस्परया विवर्जितग्रामवा-
स्तव्याः, ततः सम्याग्विमर्शोद्भायितम्-नूतनमस्मिन्निमित्तमेतत्
स्वग्रामाद्भ्याहृतमिति, ततो ये युक्तं तैर्लुक्मेव, ये त्वद्यापि पूर्वा-
र्द्धादिप्रतीव्यमाणा न जुञ्जते, तैर्न युक्तं, येऽपि च भुञ्जाना
अवतिष्ठन्ते, तैरपि यः कवल उन्निमः स भाजने मुच्यते, यच्च
मुच्ये प्रकृतं नाद्यापि मिश्रितं, तद् मुखाद् निःसार्य समीपस्था-
पिते मल्लिके प्रतिक्रियेत् । शेषं तु नाजनगतं सर्वमपि परिस्था-
पितम् । श्रावकश्राविकावर्गश्च सर्वोऽपि तमयित्वा स्वस्थानं ज-
गाम । तत्र ये भुक्ता ये वाऽऽर्द्धयुक्तास्तेऽपि सर्वेऽप्यशुभभावा इति
शुक्ताः । सूत्रं सुगमम् । केवलं (अद्भुतं जगन्तरियं चि) के-
चित् आतिदूरं, केचित् नयन्नरिताः । उक्तं परग्रामाभ्याहृतं
निर्णायम् ।

अथ स्वग्रामाभ्याहृतं तदेव गाथाद्वयेनाह—

लघं पट्टेणगं मे, अमुगन्यगयाणं मंखरीणं वा ।

चंदणगट्पविट्टा, देड तयं पट्टिय-नियत्ता ॥

नीयं पट्टेणगं मे, नियगाणं नेच्छियं च तं तेहिं ।

सागरियमज्झिया वा, पणिकुट्टा मंखरे रुट्टा ॥

इदं काचिदव्याहृताशङ्कानिब्रूयर्थं किमपि गृहं प्रति प्रस्थिता, न-

तो निवृत्ता सती साधोः प्रतिब्रामनायोपाश्रयं प्रविश्य साधुसंमु-
खमेवमाह-जगवन् ! प्रहेणकमिदमुपकरोति गृहे गतया ब्रह्मम् ।
यद्वा-क्वापि संखड्यां संप्रति वन्दनार्थमहं प्रस्थिता, तत्रान्नं प्रतीष्टं,
ततो यदि गुप्ताकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिगृह्यतामिति तत् आ-
नीतं ददाति । यद्वा एवमाह-निजकानां स्वजनानामर्थाय प्रहे-
णकं मया स्वगृहान्नीतं, परं तैर्नैच्छितं ततस्तद्गृहात् प्रतिनि-
वृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेति, ततस्तद्ददाति । यदि वा मायया का-
चिद्भ्याहृतमानीय सागारिकां शय्यातरि, यद्वा-‘ सज्जितं ’
वसतिप्रतिवेशनीं पूर्वगृहीतसंकेतां, यथा साधवः शृण्व-
न्ति तथा प्रवर्ति-गृहाणं प्रहेणकमिति । तथा च मातृस्थानतः
प्रतिपिद्धम् । यथा-त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रहेणकं न
जगृहे, ततोऽहमपि त्वदीयं न गृहीष्यामीत्येवं निषिद्धा । ततः
साऽपि मातृस्थानतः किञ्चित्परुषं प्रत्युक्तवती । द्वितीययाऽपि तथै-
व भाषितं, त एवं परस्परं संखरे कलहे सति सा प्रहेणकनेत्री
रुष्टा रोषवती वन्दनार्थं वसतीं प्रविशति, ततोऽनन्तरं वृत्तं वृ-
न्तातं कथयित्वा तदानीतं ददाति । उक्तं स्वग्रामाभ्याहृतमपि
निर्णायम् ।

संप्रत्यनाचीर्णं निगमयन्नाचीर्णस्य जेदानाह—

एयं तु अणाङ्गं, दुविहं पि य आहडं समक्खायं ।

आङ्गं पि य दुविहं, देसे तह देसदेसे य ॥

पतत् पूर्वोक्तमज्याहृतं निशीय-नोनिशीथभेदाद्, यद्वा-स्व-
ग्रामपरग्रामभेदाद् द्विविधमप्याख्यातमनाचीर्णमकल्पनीयम् ।
संप्रत्याचीर्णं वक्ष्ये । तदपि द्विविधम्, तद्यथा-देशे, देशदेशे च ।

संप्रति देशस्य देशदेशस्य च स्वरूपमाह—

हत्थसयं खलु देसो, आरेणं होइ देसदेसो य ।

आङ्गं तिन्नि गिहा, ते वि य उवओगपुव्वग्गा ॥

हस्तशतं हस्तशतप्रमितं क्षेत्रो देशः । हस्तशतादारात् हस्त-
शतमध्ये इत्यर्थः, देशदेशः । अत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णं यदि
गृहाणि त्रीणि जवन्ति, नाधिकानि, ततः कल्पते । तान्यपि चेद्
गृहाणि उपयोगपूर्वकाणि जवन्ति । उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते
इत्यर्थः । ततः कल्पते, नान्यथेति ।

संप्रति गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतादिसंभवं

तद्विषये कल्पविधिं चाऽऽह—

परिसेवणपंतीए, दूरपण्से य घंषसालगिहे ।

हत्थसयां आङ्गं, गहणं परओ उ पणिकुट्टं ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा जुञ्जानाः
पुरुषाः, तेषां पङ्क्तिः श्रेणिः, तस्यां तत्र, यस्मिन् पर्यन्ते साधुसंघा-
टको वर्तते, द्वितीयं तु देयं तिष्ठति । तत्र च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना
गन्तुं शक्यते । एवमुत्तरयोरपि पदयोर्भावनीयम् । ततः परि-
वेणपट्टक्याम् । यद्वा-दूरप्रदेशे प्रलम्बगमनमार्गजिसिरुकादौ,
यदि वा घट्टशालागृहे, हस्तशतादानीतस्य ग्रहणमाचीर्णं कल्प-
त इत्यर्थः । परतस्त्वानीतस्य ग्रहणं प्रतिकुट्ट-निराकृतं तैः रथक-
रादिभिः ।

संप्रत्यस्यैवाचीर्णस्य जेदान् प्रदर्शयति—

उक्कोसमज्झिमजह-न्नगं तु तिविहं तु होइ आङ्गं ।

करपरियच जहन्नं, सयमुक्कोस मज्झमं सेसं ॥

त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतम् । तद्यथा-उत्कृष्टं, मध्यमं, जघन्यं च । तत्र यदा ऊर्ध्वाङ्गपरिष्ठात् कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिगृहीतेन वा मण्यकादिना, यदि वा स्वपत्यादिपरिवेपणार्थमोदनभृतशाकरोटिकयोत्पादितया व्यवतिष्ठते । अत्रान्तरे च कथमपि साधुरागच्छति भिक्षार्थं, तस्मै च यदि करस्थं ददाति तदा करप्रवर्तनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमाचीर्णम् । इतस्तथादभ्याहृतमुत्कृष्टम् । शेषं तु इतस्ततमध्यवर्ति मध्यमम् । तदेवमुक्तमभ्याहृतम् । पि० ध० आचा० स्था० । आव० । व्य० । सूत्र० । नि० चू० । “गिहिणो अभिहरं सेयं, जुजीओ ण उ भिक्खुणो” गृहिणां गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेजोक्तं श्रेयः श्रेयस्करं, न तु भिक्खूणां संबन्धीति (प्रश्नः) । अत्र तनुत्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यम्-यथा गृहस्थज्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूहमादिदोषरहितमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । “अत्र प्रायः स्वग्रामाभिहडे मासलहं, परगामाभिहडे निष्पञ्चवाप चउलहुं, सपञ्चवाप चउगुरुं” । पि० चू० ।

अभिहृतशब्दव्याख्या-

जे निक्खू गाहावड्कुलं पिंढवायपानियाए अणुपविडं समाणे परं तिघरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

“जे निक्खू गाहावतिकुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं तिघरंतराओ” इत्यादि । तिषि गिहाणि तिघिरं, तिघरमेव अंतरं तिघरंतरं । किमुक्तं भवति ?-गृहत्रयात्परत इत्यर्थः । अहवा तिषि दो अंतरात्परत इत्यर्थः । आयारा गृहीत्वा किञ्चित् असणादी अभिहट्टदोसेण जुत्तं आहट्टु सा-हुस्स देज्ज, जो अणाइषं तिघरंतरापरेणं, आइषे वा अणुव-उत्तो गेहति, तस्स मासलहं । नि० चू० ३ उ० । (अन्ययधिकैः सह अभिहृतग्रहणव्याख्या ‘अणुउत्थिय’ शब्दे ४६६ पृष्ठे उक्ता)

जे निक्खू परं अज्जोयणपेराओ सपञ्चवायंसि अभिहट्ट-माहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

अज्जोयणाओ परओ सपञ्चवापण पहेण अभिहरं-अजिरा-भिमुख्ये, हज्ज-हरणे, अभिमुखं हृतम्, आनीतमित्यर्थः । तं पडिगाहेति जो निक्खू, सो आणादी पावति, चउगुरुं च से पच्छित्तं । एसो चेव अथो श्मो-

परमज्जोयणाओ, सपञ्चवायंसि अभिहटाणीयं ।

तं जे निक्खू पायं, पडिच्छते आणमादीणि ॥ १७ ॥

कंठा । श्मेहिं वा सावायो पदे-

सावयतेणा पुविहा, सव्वालज्जया महानदी पुन्ना ।

वणहत्थिदुट्टसप्पा, पडिणीया खेव नु अवाया ॥ १८ ॥

सीहादिया सावया । तेणा पुविहा-सरीरोवगरणे । जत्ते गाहम-गराएहिं सव्वाला महाणदी वा अगाधा पुन्ना, वणइत्थी वा दुट्टो पहे । कुंभीणसादिसप्पा वा पहे विज्जति, गिहीण वा वेरिया-दिपडिणीया संति, एवमादिआऽवाणीइ इमे दोसा ॥ १८ ॥

तेणादिसु जं पावति, विराहए अंतरा काया ।

बद्धइयमारिते वा, उड्ढापदोसवोच्छेदो ॥ १९ ॥

सो गिहत्थो आणत्तो तेणुगसमीवातो जं घातादि पावति ।

आदिसदातो सिंहवग्गादियाण वा समीवातो जं पावति, सो वा गिहत्थो आणत्तो जं कंमाइए तेणादिपहारं पावति, अंतरा वा पुढवादीए काए विराहेज्जा, वंदिग्गे तेणेहिं वा बद्धो दिआ वा जु-ज्जंतो वा मारितो वा, ताहे सयणादिज्जणो भासति-संजयाण पा-दे नैतो सावगो मग्गिओ ति । एवं उड्ढाहो । तस्स वा सयणिज्जा पदोसं गच्छेज्जा, तद्वयस्स वा वोच्छेदं करेज्जा । सो वा पदो-सं गच्छे वोच्छेदं वा करेज्जा, जम्हा एवमादि, तम्हा आहंरुणो गेहहेज्जा, अण्णणा गेवसेज्ज । वितियपदेण गिहत्थानांति पि गे-एहेज्जा ॥ १९ ॥

असिखे ओमोयरिए, रायदुट्टे जए व गेल्लेखे ।

सेहे चरित्तमावय-जए य जयणा इमा तत्थ ॥ २० ॥

सखेत्ते पादाए असतीए दुल्लजेसु वा, असिखगदितो वा गंतुमस-मत्थो, अहवा पायचुमीए अंतरा वा असिखं ओमं वा, एवं राय-उट्टोहिगभयं वा, सयं गिल्लणे वावरो वा, सेहस्स वा तत्थ सा-गरियं मा सीदेज्जा । चरित्तदोसा वा, तत्थ अणेसणादिया दोसा, सावयभयं वा, तत्थ एवमादिकारखेहिं इमं जयणं करेति ।

अप्पाहिंति पुराणा-दि पादमत्थेण आणयइ पायं ।

तेहिं च सयमाणीए, गहणं गीतेवरे जयणा ॥ २१ ॥

अप्पाहणं संदेसो, पुराणस्स संदिसंति । आदिमाहणेणं गिही-ताणुव्वयसावगस्स वा, सम्मदिछिणो वा संदिसंति । पादमत्थे-ण आणयथ, तेहिं वा आणीता जदि सव्वे गीयत्था तो गेहंति, इतरा अगीयत्था तेसु जयणं करेति, पुणं पडिसेहिंता जिंहे भावे तेहिं तेहिं य जदा अत्तट्ठिया तदा गेहंति ।

एसेव कपो णियमा, आहारे सेसए य उवकरणे ।

पुव्व अवरे य एए, सपज्जवा एतरे लहुगा ॥ २२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विधी आहारे, सेसोवगयणे य दट्टव्वो । सपज्जवा ते, इतरे पुण निपज्जवा, ते अप्पसत्था च-उलहुगा । नि० चू० ११ उ० ।

अभिहणण-अग्निहनन-न० । वेदनोदीरणे, प्रश्न० १ आभ० द्वा० । पादाभ्यामाभिमुख्येन हनने, ज० ८ श० ७ उ० । अग्नि-मुख्यमाणच्छतो हनने, भ० ५ श० ६ उ० । आचा० ।

अग्निहणमाण-अभिघ्नत्-त्रि० । पादाभ्यामाभिघ्नत् कुर्वति, “खु रचलणचंचुपुणेहिं धराणिअलं अभिहणमाणं” जं० ३ वक्क० ।

अग्निहय-अभिहृत-त्रि० । आग्निमुख्येन हतोऽभिहतः । चरणेन घट्टिते, “चउगिदिया अभिहया वत्तिया व्हेसिया ” भाव० ४ अ० । ध० । आचा० ।

अभिहाण-अग्निधान-न० । अभिधीयते येन तदाभिधानम् । नि० चू० १ उ० । संज्ञायाम्, विशेष० । शब्दे, विशेष० । नामनि, वि-शे० । अर्थाभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः । वि-शे० । भावे ल्युट् । उच्चारणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । इदं त्रिविध-मभिधानं भवति-सतामसतां च । सतां यथा जीवादीनाम्, असतां यथा शशविषाणादीनाम् । आ० चू० १ अ० ।

अग्निहाणजेय-अग्निधानजेद-पुं० । वाचकध्वनिभेदे, विशेष० ।

अग्निहाणहेतुकुसल-अग्निधानहेतुकुशल-पुं० । अभिधाने

शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्षोऽभिधानहेतुकुशलः । शब्द-
मार्गे चार्तोव लुप्ते, व्य० ए उ० । वृ० ॥

अजिहित (य)-अजिहित-त्रि० । उक्ते, आचा० १ भु० ८
अ० ५ उ० ।

अजीरु-अजीरु-त्रि० । भी-रुक् । न० त० । शतमूल्याम, अ-
सकुचितपत्रत्वात्तस्या अजीरुत्वम् । वाच० । सप्तप्रकारभयर-
हिते, आचा० २ भु० १५ अ० १ उ० ३ चू० । सत्वसंपन्ने, आघ० ।
तत्पन्ने मडत्यपि कार्येऽविन्यति, वृ० १ उ० । अभीकर्ताम कु-
तश्चिदपि स्तेनोदन्नामकादेर्विविधां विभीषिकां दर्शयतो न वि-
भेति । वृ० १ उ० । मध्यमग्रामस्य मूर्तनाभेदे, स्था० ७ उ० ।

अजुजितं-अजुक्त्वा-अव्य० । अननुभूयेत्यर्थे, आ० ॥

अभुज्जंतग-अज्युज्यमान-त्रि० । अव्यापार्यमाणे, वृ० २ उ० ।

अजुक्तजोग-अनुक्तजोग-त्रि० । न भुक्ता जोगा येन स अजुक्त-
भोगः । पं० व० १ उ० । स्त्रीजोगाननुक्त्वा प्रव्रजिते कौमार-
कभावप्रतिबन्धे, नि० चू० १ उ० ॥

अजुज्जाव-अजुज्जिजाव-पु० । अजुतेर्भावोऽभूतिभावः । असंप-
दभावे, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभूज्जभावाण-अभूतो ज्ञावन-न० । अलीकनेदे, यथाऽऽमा इया-
माकनन्दुममात्रः । अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि । ध० २ अधि० ।

अजुयाजिमंक्षण-अभूनाजिशङ्कन-पुं० । न जूतान्यभिषङ्कन्ते
विन्यति यस्मात्स तथा । प्रशस्तवाग्विनयभेदे, स्था० ७ उ० । ज० ।

अजेज्ज-अजेय-त्रि० । जेयः सूच्यादिना चर्मवत्, तन्निपे-
धाभेद्यः । भ० २ श० ५ उ० । सूच्यादिना जेतुमशक्ये, “ त-
स्यो अमेज्जा पक्षता । तं जहा-समप पणसे परमाणु ” स्था०
३ उ० २ उ० ॥

अजेज्जकवय-अभेयकवच-पुं० । परप्रहरणाभेद्यावरणे, ज०
७ श० ९ उ० ।

अजेय-अजेद-पुं० । सामान्ये अविशेषे, आ० म० द्वि० ॥

अजोग-अभोग-पुं० । अव्यापारणे संयमोपबृंहणार्थस्वसत्ता-
याः स्थापने, वृ० १ उ० ॥

अभोजवर-अजोज्यगृह-न० । अदिगुनीयकुत्रेषु रजका-
दिमन्त्रिषु, वृ० १ उ० ॥

अजोयण-अजोजन-न० । अनन्यवदारे, पि० ॥

अमञ्ज-अमलिन-त्रि० । स्वच्छे निर्मले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अमंगलनिमित्त-अमंगलनिमित्त-त्रि० । अङ्गस्फुरणादिषु अमा-
कलिकनिमित्तेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ॥

अमग्ग-अमार्ग-पुं० । मिथ्यात्वकषायादौ, ध० ३ अधि० ।

“ अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि ” आच० ४ अ० ॥

अमगलग्ग-अमार्गलग्न-पुं० । पार्श्वस्थादिकुर्तार्थिमार्गप्रवाहप-
तिते, सामान्यप्राणिनि च । दर्श० ॥

अमग्गा (माया) य-अमाघात-पुं० । मा वृद्धीः, सा च चे-
धा-धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च । तस्या घातो हननं, तस्याऽभा-
वोऽमाघातः, ‘ अमग्गाय च्छि ’ प्राकृतत्वान् । अङ्गव्यापहारे,

अमारिप्रदाने, प्राणिघातनिवारणे च । पञ्चा० ए विव० । उपा० ।
ध० । प्रश्न० ॥

अमञ्च-अमात्य-पुं० । सहजन्मानि मन्त्रिणि, कल्प० ३ क० ।
संथा० । नि० चू० । राज्यचिन्तके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । नि० चू० ।
राज्याधिप्रायके, औ० । ज० । ज्ञा० । अष्टादशानां प्रकृतीनां म-
हत्तरे, वृ० ३ उ० ।

अमात्यलक्षणमाह-

सज्जणवयं पुरवग्गं, चिंततो अत्यई नरवर्ति च ।

ववहारनीतिकुसलो-अमञ्चो एयारिसो अहवा ॥

यो व्यवहारकुशलो, नीतिकुशलश्च सन् सजनपदं पुरवरं नरपतिं
च चिन्तयन्नवतिष्ठते, स एतदृशो जवति अमात्यः । अथवा-यो
राज्ञेऽपि शिक्षां प्रयच्छति स अमात्यः ॥

तथा चैतदेव सविस्तरं विभावयिपुराह-

राया पुरोहितो वा, संघिह्वाउ नगरम्मि दो वि जणा ।

अंतेउरे धरिसिया-अमञ्चेणं खिसिया दो वि ॥

राजा पुरोहितश्च । वाशब्दः समुच्चये । एतौ चावपि जनौ
(संघिह्वाउ च्छि) संघातवन्तौ, परस्परं मरुकावित्यर्थः । नगरं वर्त-
ते । तौ च तथावर्तमानावन्तः पुराज्यां निजनिजकलत्रेण धरितौ,
अमात्येन-बद्धावपि खिसितौ, निन्दापुरस्सरं शिक्षितावित्यर्थः ।
एष गाथाकार्थः । ज्ञावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-

“ एगो राया, तस्स पुरोहितो, तेसि दोणं वि जज्जाओ परो-
प्परं जगिणीओ । अन्नया तेसि समुद्भावो जातो । रायभज्जा
भणइ-मम वस्सो राया । पुरोहियभज्जा जणइ-मम वस्सो
बंजणो । तो पेच्छामो कयराए वस्सो पती । ततो पुरोहियभ-
ज्जाए जसं उवसाहिता रक्खो जज्जा जगिणी निमं-
तिया । रत्ति पुरोहितो भणिओ-मए आवाइयं कयं,
जइ मम बरो अमुगो समिज्जिइ च्छि, ततो जगिणीए समं
तव सिरे जायणं काठं जेममि । सो य मे वरो संपक्खो । सं-
पयं तव मूलातो पसायं मग्गामि । पुरोहितो जणइ-अणुग्गहो
मेय च्छि । रायभज्जाए राओ भणिओ-अज्ज रत्ति तव पिट्ठीए विल-
गिउं पुरोहियघरं वच्चामि । राया भणइ-अणुग्गहो मे, ताइ
सा रायं पल्लणिता पिट्ठीए विवग्गिता पुरोहियघरं गंतुं पठि-
या । पुरोहितो वाहणो च्छि काठं खंजे बद्धो । ताओ दो वि जणी-
ओ पुरोहियस्स उवरि मत्थए भायणं काउं पुरोहिण धरिज्ज-
माणं भायणे भुजंति । राजा खंजे बद्धो हयदेसियं करेइ । भो-
लुं गया रायभज्जा । ततो रक्खो पुरोहिण धरिसितोमि च्छि
तस्स सिरं मुंडावियं । अमञ्चेणं तं सर्व्वं नायं, पभाए राया पुरो-
हिओ य खिसितो । ”

अमुमेवार्थमाह-

छंदाणुवत्ति तुज्जं, मज्झं मीमंसणा निवे खलियं ।

निसि गमण मरुग थालं, धरेति जुजंति तो दो वि ॥

तव वा पतिर्मम वा पतिश्छन्दानुवर्तति न विमर्शव्यतिरेकेण
ज्ञातुं शक्यते । ततो मीमांसापरा सा परीक्षां कर्तुमारब्धा ।
तत्र राजनार्यया नृपे खलीनमारोपितं, ततो निशि रात्रौ पुरो-
हितगृहे गमनं, ततो मरुको ब्राह्मणः पुरोहितः शिरसा स्थालं
धरति । तत्र च द्वे अपि हृज्जाते । एषा गाथाक्षरयोजना ।
भावार्थोऽन्तरमेव कथितः ।

अथ कथममात्यो द्वावपि तौ शिक्षितवान् ? तत आह-

परिवेसियरायाणो, सोउमिणं परिजवेण हामिहि ति ।

धीनिजितो पमत्तो, नच्चा रज्जं पि पेल्लेज्जा ॥

प्रातिवेशिका नाम सीमान्तर्वाचिनः प्रत्यर्थिनो राजान इदं श्रुत्वा परिभवेन परिभवात्पादनमुद्ध्वा हसिष्यन्ति, न केवलं हसिष्यन्ति किंतु स्त्रीनिर्जितः प्रमत्त एव इति ज्ञात्वा राज्य-मपि प्रेरयिष्यन्ति, गृहीयुरित्यर्थः ।

धिं तेसि गामनगरा-ण जेसि इत्थी पणायिगा ते य ।

धिद्धिकया य पुरिसा, जे इत्थीणं वमं जाया ॥

धिइ निन्दायाम्, तेषां ग्रामनगराणां, येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका । अत्र धिग्योगे द्वितीया प्राप्ताऽपि षष्ठी, प्राकृतत्वात् । तथा तेऽपि पुरुषाः धिक्कृताः धिक्कारं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां जाताः ।

तथा-

इत्थीओ बलवं जत्य, गामेसु नगरेसु वा ।

सो गामो नगरं वा वि, खिप्पमेव विणस्सइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षि-प्रमेव विनश्यति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकव-चनं जवतीति ज्ञापनार्थः ।

पवमुके राजा पुरोधा वा एवं मनसि संप्रधारयेत् । यथा-
'नास्माकं ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः' इति, तत आह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरुषाः कृतवृत्तयः कृताजीविकाः, चतसृषु दि-
ह्नु चरा ज्ञानार्थं सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति । त-
द्यथा-सूचकाः, अनुसूचकाः, प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च । सूचकाः-
सामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपात्रकैः सह मैत्र्यां कृत्वा यत्तत्र रहस्यं
तत्सर्वं जानन्ति । अनुसूचकाः-नगराभ्यन्तरे चारमुपव्रजन्ते ।
प्रतिसूचकाः-नगरद्वारसमीपे अल्पपयापारा अवतिष्ठन्ते । सर्व-
सूचकाः-स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति । तत्र ये सूच-
कास्ते श्रुतं दृष्टं वा सर्वमनुसूचकेभ्यः कथयन्ति । अनुसूचकाः
सूचककथितं स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः । प्रतिसूचकाः
अनुसूचककथितं स्वयमुपलब्धं च सर्वसूचकेभ्यः । सर्वसूचकाः
अमात्याय कथयन्ति । यथा तस्यामात्यस्य चतुर्विधाः पुरुषाः
सामन्तराज्येषु वसन्ति, तथा महेशा अपि ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

महिज्जा कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत् । यथा च पुरुषाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु
समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु ।

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥

महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इदं गाथाद्वयमपि पूर्ववत् । यथा च परराज्येषु परनगरेषु च
पुरुषाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा निजराज्ये निजनगरे अन्तःपुरे ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

महिज्जा कयवित्तीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥

महिज्जा कयवित्तीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ।

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति अंतरे रणणे ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सव्वसूयगा चेव ।

महिज्जा कयवित्तीया, वसंति अंतरे रणणे ॥

गाथाषट्कस्यापि व्याख्या पूर्ववत् । तत एवं निजचारपुरुषैः
महिलाभ्यो राज्ञः पुरोधसश्च निशि वृत्तममात्यो ज्ञातवान् ।
तदेवं राज्ञोऽपि यः शिक्षाप्रदानेऽधिकारी सोऽमात्य इति । उ-
क्तममात्यस्य स्वरूपम् । व्य० १ उ० ।

अमर्त्य-पुं० । देवे, स्या० ।

अमच्चपुज्ज-अमर्त्यपूज्य-त्रि० । देवाराध्ये तीर्थकृदादौ, स्या० ।

अमच्चरि (ए)-अमत्सरिन्-त्रि० । परसंपदद्वेषिणि, दश० १
चू० । परगुणग्राहिणि, प्रश्न ४ आश्र० द्वा० ।

अमच्चरियया-अमत्सरिकता-स्त्री० । मत्सरिकः परगुणाना-
मसोढा, तद्भावनिषेधोऽमत्सरिकता । भ० ८ श० ए ८० ।
परगुणग्राहितायाम्, औ० ।

अमच्चमंसासि (ए)-अमच्चमंसाशिन्-त्रि० । मद्यमंसन-
इनति, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अमद्यपे, अमंसाशिनि च ।
दश० २ चू० ।

अमच्चज्झ-अमर्षादावत्-पुं० । "मज्जाया सीमावत्था, न मज्जा-
या अमज्जाया, तीए जा वट्ठति सो अमच्चज्झो" नि० चू० १
उ० । मर्षादाया अवेत्तरि प्रवर्तके आचार्ये च । नि० चू० ४ व० ।
अमच्च-अमध्य-त्रि० । न० व० । विनागचयं कर्तुमशक्ये, "त-
ओ अमज्झा पसुत्ता । तं जहा-समए, पएसे, परमाणु" । स्या०
३ ग० ४ व० । विषमसंख्यावयवाभावात् क्षेत्रपरमाणौ, भ०
२० श० ६ उ० ।

अमण-अमन-न० । अधिगमने, अन्तःपरिच्छेदे च । स्या० ३
ग० ४ उ० ।

अमनस्-न० । मनोविद्वेषिण्यर्थे, "तिविहे अमणे पणत्ते । तं
जहा-णोतम्मणे णोतयन्नमणे अमणे" । स्या० ३ ग० ३ व० ।
अविद्यमानान्तःकरणे, दश० । "भायइ सुणिपकम्पो, भाणं
अमणो जिणो होइ" प्रयत्नविशेषाद् मनः अपनीय अमना अ-
विद्यमानान्तःकरणो जिनो भवति । आव० ४ अ० । जं० । अ-
संज्ञिनि च, क० प्र० ।

अमणा-अमनाक्-अव्य० । न मनागमनाक् । नितरां शब्दार्थे,
सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अमणाम-अमनआप-त्रि० । न जातुचिदपि भोज्यतया जन्तु-
नां मनांसि आप्तेति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्यते प्राप्य-
ते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमनोऽम-त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुनः स्मरणतो
यत्तदमनोऽमम् । अत्यर्थं मनोऽनिष्टे, भ० १ श० ५ उ० ।

अवनाम-त्रि० । अवनामयतीति अवनामः । पीडाविशेषकारिणि,
“ अमणुआओ अमणामओ दुक्खाओ ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अमणुस-अमनोऽनु-त्रि० । मनसोऽनुकूलं मनोऽनुः न मनोऽनुम-
मनोऽनुम् । आच० ४ अ० । न मनसा ज्ञायते सुन्दरतया इत्यम-
नोऽनुम् । भ० १ श्रु० ३३ उ० । स्वरूपतोऽशोभने, (कदम्बादौ)
स्था० ३ ठा० १ उ० । मनःप्रतिकूले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । असु-
न्दरे, प्रअ० ५ सम्ब० द्वा० । अनिष्टे, ग० १ अधि० । स्था० ।
अशुभस्वभावे, स्था० ८ ठा० । विपा० । अमनःप्रह्लादहेतौ विपा-
कतो दुःखजनके, जी० १ प्रति० । “ अमणुसुदुस्वमुत्तपृथ्व-
पुरीसपुष्पा ” अमनोऽनुश्च ते दुरूपमूत्रेण पूतिकपुरीषेण च पू-
र्णाश्चिन्ति विप्रदः । इह च दूरुपं विरुपं, पूतिकं च कुथितम् ।
(कामभोगाः) भ० १ श० ३३ उ० । “ अमणुससंपद्भोगसंप-
वत्ते तस्स विप्पभोगसस्समसङ्गाग ए वा विजवति ” अमनोऽनु-
ऽनिष्टो यः शब्दादिस्तस्य यः संप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः
स तथा ; स च तथाविधः सन्, तस्यामनोऽनुस्य शब्दादेर्विप्रयो-
गस्मृतिसमन्वागतश्चापि जवति । विप्रयोगचिन्ताऽनुगतः स्यात् ।
चापीत्युत्तरवाक्यापेक्षया समुच्चयार्थः । असावार्तध्यानं स्यादि-
ति शेषः, धर्मधर्मिणोरभेदादिति । भ० २५ श० ७ उ० । ग० ।
निजसामाचारीस्थिते संविभ्रे, पं० व० २ द्वा० । असाभोगि-
के, वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अमणुसतर-अमनोऽनुतर-त्रि० । अकान्ततरे, अप्रीततरे च ।
विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अमणुसमुत्पाय-अमनोऽनुमुत्पाद-त्रि० । न मनोऽनुममनो-
ऽनुमसदनुष्ठानम् । तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तद-
मनोऽनुसमुत्पादम् । स्वकृतासदनुष्ठानाज्जाते दुःखे, सूत्र० १ श्रु०
१ अ० ३ उ० ।

अमणुस्स-अमनुष्य-पुं० । देवादौ, न० । रक्षःपिशाचादौ,
(सिद्धान्तकौमुदी) । नपुंसके, नि० चू० १ उ० ।

अमन-अमत्र-न० । जाजने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अमम-अमप-त्रि० । ममन्वरहिते, कल्प० ६ क० । वृत्त० । पं०
सू० । दश० । निर्दोषत्वात्- (औ०) निरभिष्वङ्गाद् अविद्यमा-
नममेत्यभिलाषे, स्था० १ ठा० । युगलिकमनुष्यजातिजदे, जं०
४ वृत्त० । उत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थकरे, अन्त० ५
वर्ग । प्रव० । ति० । स० । अवसर्पिण्यां जातो नवमो वासुदेवः
कृष्णो भारते वर्षे पुण्ड्रेषु जन्मपदेषु शतद्वारे नगरे द्वादशस्तीर्थ-
करो भविष्यति । स्था० ८ ठा० । ती० । पञ्चविंशतितमं दिवस-
मुद्धते च । च० प्र० १० पाद० । ज्यो० ।

अममत्तय-अममत्तक-त्रि० । न विद्यते ममत्वं मृगं यस्य स
अममत्तकः । “ शेषाद्वा ” ११।३।७५। इति (हैम)मूत्रेण कच् प्रत्य-
यः । मृद्वोरहिते, वृ० १ उ० । निर्ममताके, “ अममत्ता परिकम्मा,
हारविलम्बंगजोगर्पाग्रीणा ” पं० व० ४ द्वा० ।

अममायमाण-अममीकुर्वत्-त्रि० । अस्मीकुर्वति मनसाऽप्यनाद-
हाने, आच० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

अममणा-अमन्मना-स्त्री० । भनवरतवञ्चमानायां वाचि, उपा०
२ अ० । रा० ।

अमय-अमृत-न० । सुधायाम्, पञ्चा० ३ विव० । क्षीरोदधि-
मथिते, आ० म० प्र० । “ अमयमदियफेणपुंजसन्निगासं ” अ-
मृतस्य क्षीरोदधिलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो डिण्णरिपूरस्त-
त्सन्निकाशं तत्समप्रजम् । रा० । न-मृ-क्त। न० त० । मोक्षे, होमाव-
शिष्टाद्ये, जले, घृते, अयाचिते वस्तुनि च । परब्रह्मणि, न० ।
मरणशून्ये, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अमय-त्रि० । अविकृतौ, “ अमओ य होइ जीवो, कारणविर-
हा जहेव आगासं । समयं च हो अनिच्चं, मिम्मयघडतंतुमाई-
यं ” अमयइच भवति जीवः । विशे० । चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयकलस-अमृतकलश-पुं० । अमृतपूर्णघटे, “ अमयकल-
सेण अभिसित्तो ” आ० म० प्र० ।

अमययोस-अमृतघोष-पुं० । काकन्या नगर्याः स्वनामख्याते
राजनि, स च स्वपुत्रं राज्ये स्थापयित्वा धर्ममनशानं प्रतिपन्न
इति । संथा० ।

अमयणिहि-अमृतानिधि-पुं० । काञ्जनबल्लानके प्रतिष्ठिते भग-
वति, ती० ४५ कल्प ।

अमयतरंगिणी-अमृततरङ्गिणी-स्त्री० । महोपाध्यायश्रीकल्या-
णविजयगणेशिष्य-मुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणेशिष्यावर्त-
स-पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिवृत्तकपरिणतश्रीनयवि-
जयगणिचरणकमलसविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोद-
रेणोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिना विरचितायां नयोपदेशटी-
कायाम्, नयो० ।

अमयनिगम-देशी-चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयप्प(ण)-अमृतात्मन्-पुं० । धर्ममेघसमाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

अमयफल-अमृतफल-न० । अमृतोपमफले, ज्ञा० १ अ० ।

अमयवद्धी-अमृतवद्धी-स्त्री० । बल्लीविशेषे, प्रव० ४ द्वा० ।
ध० । गुरूल्याम्, वाच० ।

अमयजूय-अमृतजूत-त्रि० । माधुर्यादिभिर्गुणैः सुधासहोदरे,
वृ० २ उ० ।

अमयरसासायणु-अमृतरसास्वादङ्ग-त्रि० । अमृतरसस्या-
स्वादस्तं जानाति इति अमृतरसास्वादङ्गः । अमृतरसास्वाद-
वेत्तरि, “ अमृतरसाऽऽस्वादङ्गः, कुञ्जरसलाक्षितोऽपि बहु-
कालम् ” । पौ० ३ विव० ।

अमयवास-अमृतवर्ष-पुं० । तीर्थकृज्जन्मादौ देवैः कृतायाम्-
मृतवृष्टौ, आच० २ श्रु० १५ अ० ।

अमयसाय-अमृतस्वाद-पुं० । अमृतवत् स्वाद्यते इत्यमृतस्वा-
दम् । अमृततुल्यं, सम्म० ३ काण्ड ।

अमयसार-अमृतसार-न० । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन्नसा-
वमृतो मोक्षः । तं सारयति प्रापयतीति वा । मोक्षप्रतिपादके,
सम्म० ३ काण्ड ।

अमर-अमर-पुं० । देवे, कर्म० ५ कर्म० । आच० । को० । आ०
म० । त्रयोदशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क० । भविष्यतस्त्रयो-
विंशस्थानन्तवीर्यतीर्थकरस्य पूर्वमवजीवे, ती० २१ कल्प । सि-

हेषु च, तेषामायुषोऽभावात् । औ० । “ इमस्स चैव पडिवृह-
णट्टाण अमरायइ महासद्धी ” (अमरायइ इत्यादि) अमरा-
यते-न मरः सन् उच्ययौवनप्रयुक्तरूपाऽवसक्तोऽमर इवा-
चरति अमरायते । आचा० १ ध्रु० २ अ० ५ उ० ।

अमरकेउ-अमरकेतु-पुं० । विजये (केत्रे) तमालव्रतानामनगर्था
राज्ञः समरनन्दनस्य मन्दारमञ्जरी उदरसंभवे पुत्रे, दर्श० ।

अमरचन्द-अमरचन्द्र-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये महेन्द्रसुरिशिष्य-
शान्तिसुरिशिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाद्
व्याघ्रशिगुक इति पदवी लेभे, सिद्धान्तार्णवनामा ग्रन्थश्च
व्यरचि । इत्येकाऽमरचन्द्रसूरिः । (१)

(२) वायटीयगच्छीये जिनदत्तसुरिशिष्ये, येन चतुर्विंशति-
जिनचरित्रं पद्मानन्दार्ययुद्धयापरनामकं महाकाव्यं, बाह्वभारतं,
काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, उन्दोरत्नावली, क-
लाकलापश्चेत्येवमादयो ग्रन्था विद्वच्चित्तचमत्कृतिकृतो नि-
रमयिष्यत । एतस्य शीघ्रकवित्वशक्तेर्मुग्धः वीशलदेवो नाम
गुर्जरधरित्रीश्वरोऽस्मै बहुमानमदात् । अयं च वैकमीयसंव-
त्सराणां त्रयोदशशतकेऽवर्तत । जै० ६० ।

अमरण-अमरण-न० । मृत्योरभावे, ध० १ अधि० ।

अमरणधम्म-अमरणधर्मन्-त्रि० । तीर्थकरे, पं० व० ४ द्वा० ।

अमरदत्त-अमरदत्त-पुं० । जयघोषश्रेष्ठपुत्रे, ध० २० ।

कथानकं पुनरेवम्—

“ विदुडुमसिरिपरिकाव्रियं, अत्रंकियं बहुसमिद्धलोपहिं ।
रयणायरमज्जं पि व, रयणपुरं अत्थि वरनयरं ॥ १ ॥
कयसुगयसमयपोसो, पुरसिष्ठी अत्थि तत्थ जययोसो ।
जिणमुणिविहियपओसो, सुजसा नामेण से भज्जा ॥ २ ॥
अमराजिहाणकुलदे-वयापे दिन्नु त्ति तो अमरदत्तो ।
नामेण ताण पुत्तो, पसन्नचित्तो सहावेण ॥ ३ ॥
आजम्मं तव्वन्निय-मयवासियहिययइभवरकन्नं ।
पियरेहिं पढमजुवण-भरम्म परिणाविओ सो उ ॥ ४ ॥
अह महसमयम्मि कया-वि अमरदत्तो समित्तसंजुत्तो ।
पुप्फकरंरुज्जाणे, कीळाइकप समणुपत्तो ॥ ५ ॥
सो कीलंतो तहियं, तरुस्स हिट्ठा निणइ मुणिमंगं ।
तस्स य पासे एगं, रुयमाणं पहियपुरिसं च ॥ ६ ॥
तो कोउगेण अमरो, आसन्नं तस्स होउ पुच्छेइ ।
किं जइ ! रोयसि तुमं ?, सगगयं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥
कंपिल्लपुरे सिंधुर-सिठ्ठिस्स वसुंधरापे दइयाप ।
ओवाइयलक्खेहिं, एगो पुत्तो अहं जाओ ॥ ८ ॥
सेणु त्ति विहियनाम-स्स अइगया जाव मज्ज उम्मासा ।
ता सयलविहवसहिया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥
तप्पभिइ पालिओऽहं, जेहिं सयणीहं गरुयकरणेहिं ।
मम पुक्कयजमनिहया, पंचसं ते वि संपत्ता ॥ १० ॥
बहुलोयाणं संता-वकारणं विसतरु व्व कमसोऽहं ।
देहेण दुज्जेरेण य, पवुहिओ इच्चिरं काळं ॥ ११ ॥
संपइ पुण दहोवरि, पिडगसमाणा अमाणपुक्खकरा ।
मह देहं जरपमुहा, रोगा बहवे समुप्पन्ना ॥ १२ ॥
किंच पिसाओ भूओ, व कोवि मह अंतरंतरा अंगं ।
प्रीमेइ तह अदिओ, जइ तं वुत्तं पि न तरेमि ॥ १३ ॥
तो जीवियव्वभग्गो, नग्गोहतुरुम्मि जाव अत्ताणं ।
अत्ताणं ओवंधे-मि ताव पासो वि लहु तुट्ठो ॥ १४ ॥

इहिं वेरग्गओ, पुरा मए किं कयं ति पुच्छेउं ।

मुणिणो इमस्स पासं, जो भइ ! इहं अहं पत्तो ॥ १५ ॥

जम्माउ वि निययुद्धं, सुमरिय रोएमि इय भणेऊण ।

तेणं पहियनरेणं, नियवुत्तं मुणी पुट्ठो ॥ १६ ॥

अह विमहयस्सपुत्तो, किं तु कहिस्सइ इमो सुसाहु त्ति ? ।

सो अमरदत्तपमुट्ठो, एकम्मणो जणो जाओ ॥ १७ ॥

अह वज्जरियं मुणिणा, भो पहिय ! तुमं इओ भवे तइए ।

मगहे गुव्वरगामे, देविज्जनामाऽऽसि कुलपुत्तो ॥ १८ ॥

अस्सहिं ॥ रायगिहं, तुह गच्छंतस्स कोवि मग्गम्मि ।

मिलिओ पहिओ कमसो, तए धणइत्ति सो नाओ ॥ १९ ॥

तं वीससिउं रयणीए, हणिय गहिऊण तरुणं सव्वं ।

जा जासि तुमं पुरओ, इरिणा ब्रुहिएण ताव इओ ॥ २० ॥

पत्तो पढेम तरए, असरिसडुक्खाई सहिय यहुयाइं ।

तो उव्वट्ठिय इहयं, सो एसो सेण संजाओ ॥ २१ ॥

जो सेण ! तए तइया, पहिओ पढओ भवम्मि सो एसो ।

अन्नाण तवं काउं, असुरनिकाए सुरो जाओ ॥ २२ ॥

संभरिय पुव्वयइरे-ण तेण हणिया तुहम्मपिउसयणा ।

निधणं धणं च लीयं, जालिया रोगा तुह सरीरे ॥ २३ ॥

जिओ तहेव पासो, एसो सुचिरं दुही इवेउ त्ति ।

सो कुणइ अंतगा अ-तरा य वियणं परमघोरं ॥ २४ ॥

तं सोउं भवभीओ, पहिओऽणसणं गहिउ मुणिपासे ।

सुमरंतो नवकारं, जाओ वेमाणिएसु सुरो ॥ २५ ॥

इय सुणिय पहियचरियं, अमरो संवेगपरिगओ अहियं ।

नमिउं विन्नवइ मुणिं, भयवं ! मह कहसु जिणधम्मं ॥ २६ ॥

ध० २० ।

इच्छामि समणुसिट्ठिं, ति भणिय नमिउं च सुगुरुचलणदुगं ।

तत्तो समित्तजुत्तो, गेहं पत्तो अमरदत्तो ॥ ए८ ॥

सो पिठणा संलत्तो, किं वच्छ ! चिराडयं तए तत्थ ।

तो मित्तेहिं वुत्तो, वुत्ततो तस्स सयव्वो वि ॥ ए९ ॥

अह कुविओ जययोसो, भणेइ डुप्पुन्न ! किं ओरे ! तुमए ।

मुत्तु कुलागय सममं, धम्मं धम्मंतरं गहियं ॥ १०० ॥

ता मुंच इमं धम्मं, सियभिक्षूणं करेसु जिकवूणं ।

अन्नह तए समं मम, संभासो वि हु न जुत्तु त्ति ॥ १०१ ॥

जणइ य कुमरो हे ता-य ! एस सुपरिक्खऊण चित्तव्वो ।

धम्मो वरकणं पि व, न कुलागयमित्तओ चेव ॥ १०२ ॥

पाणिवहालियचोरि-कविरइपरजुवइवज्जणपढाणो ।

पुव्वावरअविरुओ, धम्मो एसो कहमजुत्तो ? ॥ १०३ ॥

जइ गिएहतो उत्तम-पणियं वणिओ जवे ए वयणिज्जो ।

पडिवन्नुत्तमधम्मो, न हीवणिज्जो तहाऽहं पि ॥ १०४ ॥

तं सुणिय अजिणविट्ठो, सिष्ठी जणेइ रे डुरायार ! ।

जं रोयइ कुणसु तयं, न इओ तं भासिउं उच्चिओ ॥ १०५ ॥

एयं निसामिऊणं, ससुरेण भणविओ इमो एवं ।

जइ मह सुयापे कज्जं, ता जिणधम्मं वयसु सिग्गं ॥ १०६ ॥

मुत्तु जिणधम्ममिमं, सेसं सव्वमविऽणंतसो पत्तं ।

एवं चित्ति अमरो, विसज्जए पिउगिहं भज्जं ॥ १०७ ॥

अन्नदिणं जणणीए, भणिओ एसो जहा तुमं वच्छ ! ।

जो रोयइ तुह धम्मो, तं कुणसु वयं न विग्गकरा ॥ १०८ ॥

किंतु अमराजिहाणं, कुव्वदेवि निच्चमेव अच्चेसु ।

एयप्पसायपज्जवो, तुह जम्मा तो इमो आह ॥ १०९ ॥

अंब ! न संपइ कप्पइ, जिणमुणिवइरित्तदेवदेविसु ।

देवगुरु त्ति मई मे. भत्ता तह पणमणणमुहा ॥ ११० ॥
 नो मइ तेसु पओसो. मणयं पि न भत्तिमित्तमवि किंतु ।
 देवगुरुगुणविओगा. तेसु उदासत्तणं अब ! ॥ १११ ॥
 गयरागदोसमोह-त्तणेण देवस्स होइ देवत्तं ।
 तच्चरियागमपत्तिमा-ण दंसणा देवत्तं नेयं ॥ ११२ ॥
 सिवसाइगगुणमणणउ-रवेण सत्थत्थस्सम्मिगण्णेण ।
 इह गुरुणो वि गुरुत्तं, होइ जहत्थ पसत्थं च ॥ ११३ ॥
 ता अय ! पणमिय जिणं, नमिज्जए तिहुयणे वि कइ अओ ? ।
 नहु रोयइ लवणजलं, पीए खांगेहियजलमि ॥ ११४ ॥
 इय तेणं पमिणिया, जणणी मोणं अकासि सविसाया ।
 अह कुविया कुअदेवी, से दंसइ जीसणसयाइ ॥ ११५ ॥
 न य तस्स कि पि पहवइ, सत्तिकपणस्स धम्मनिरयस्स ।
 वइइ पओसं अहियं, तो अमरा अमरदत्तमि ॥ ११६ ॥
 पच्चकस्सीहोउ कया-वि तीपे सो निटुरं इमं भणिओ ।
 रे कूडधम्मगविय !, न पणामं मऊ वि करेसि ॥ ११७ ॥
 ता इहिह हणेमि तुमं, ददधम्मो तं जणेइ अमरो वि ।
 जइ आउयं पि वनयं-तो मारिज्जइ न को वि तए ॥ ११८ ॥
 मइ कइ वि तं पि तुट्टं, मरियवे इहरइ वि ना जाए ।
 को मइंसणममत्रं, मइलइ जवकोडिसयदुलहं ? ॥ ११९ ॥
 तो अमरा सामरिसा, नस्स सरीरे विउवए पावा ।
 सीसच्छिसवणउदरं-तनिस्सिआ वेयणा तिवा ॥ १२० ॥
 जा इका वि हु जीयं, इरेइ नियमण इयरपुरिसस्स ।
 ददसत्तो तइ वि इमो, एयं चित्ते विंचितेइ ॥ १२१ ॥
 रे जीव ! तए पत्तो, सिवपुरपहपत्थिप ष सत्थाहो ।
 देवो सिरिआरहेतो, अपत्तपुव्वो जवअरन्ने ॥ १२२ ॥
 ता इमिण चिचय इियय-ट्टिपण मरणं पि तुज्जइ अइकरं ।
 एयमि पुण विमूके होसि जियंतो वि तमणाहो ॥ १२३ ॥
 कित्तियमित्तं च इमं, दुस्सं तुह दंसणे अपत्तमि ।
 पाविय अणंतपुअल-परियट्टुहस्स नएसु ॥ १२४ ॥

किञ्च—

पमिकूला हवउ सुरा, मायापियरो परंमुहा हुंतु ।
 पारंतु सरीरं वा-हिणो वि खिसंतु सयणा य ॥ १२५ ॥
 निवइंतु अयायाओ, गच्छउ वच्छी वि केवलं इका ।
 मा जाउ जिणे भत्ता, तदुत्तत्तसु तिस्ती य ॥ १२६ ॥
 इयनिच्छयप्यहाणं, तच्चित्तं नाउ ओदिणा अमरा ।
 तस्सत्त-रंजियमणा, भणेइ संहरिय उवसगो ॥ १२७ ॥
 धओसि तं मदासय !, तं चिय सव्वदिज्जसे तिहुयणमि ।
 सिरियायरायचरणे-सु जस्स तुह इय ददास्सत्ती ॥ १२८ ॥
 अज्जप्पतिई मऊ वि, सुच्चिय देवो गुरु वि मो चेव ।
 तत्तं पि तं पमाणं, जं पमियन्नं तए धीर ! ॥ १२९ ॥
 इय भणिरीए तीए, मुका अमरस्स उवरि तुआए ।
 परिमन्नमित्रिय अविउला, दसऊवआ कुसुमवुडी ॥ १३० ॥
 तं ददु महच्छरियं, तपियरो पुरजणो ससुरवग्गो ।
 अमराए वयणेणं, जाओ जिणदंसणे तत्तो ॥ १३१ ॥
 समुरेण पढिट्ठेणं, तो धूया पेसिया पइगिहमि ।
 तप्याभिइ अमरदत्तो, सकुहंओ कुणइ जिणधम्मं ॥ १३२ ॥
 सुत्तिरे निम्मन्नदंसण-सारं पालिय गिहत्थधम्ममिओ ।
 जाओ पाणपे अमरो, महाविदेहमि सिज्जिदिइ ॥ १३३ ॥

अमरदत्तचरित्रमिदं मुदा,
 गतमलं परिभाष्य विचकिनः ।

भजत दर्शनशुक्तिमनुत्तरां,
 भवत येन मदोदयशालिनः ॥ १३४ ॥ घ० र० ।

अमरपरिगहिय-अमरपरिगृहीत-त्रि० । देवैः स्वीकृते, वृ० ३३० ।

अमरप्पभ-अमरप्रभ-पुं० । विक्रमसंवत्सराणां चतुर्दशशतके
 विद्यमाने जन्तामरस्तोत्रटीकाकारके कल्याणमन्दिरस्तोत्रटीका-
 कारकगुणसागर-गुरु-सागरचन्द्रस्य गुरौ, जै० इ० ।

अमरवइ-अमरपति-पुं० । देवेन्द्रे, “ अमरवइ माणिज्जे ” भ०
 ३ श० ८ उ० । प्रज्ञा० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रमजिते ज्ञात-
 कुमारैः, ज्ञा० ८ अ० ।

अमरवर-अमरवर-पुं० । महामहर्षिकदेवे, तं० ।

अमरसागर-अमरसागर-पुं० । अञ्जलगञ्जीये कल्याणसाग-
 रसुरिशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैक्रमीये १६६४ वर्षे
 जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१४ वर्षे खम्भातनगरे
 आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे भुजनगरे गच्छेशपदं धेमे ।
 ततः सं० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० इ० ।

अमरसुह-अमरसुख-न० । देवसुखे, आव० ४ अ० ।

अमरसेण-अमरसेन-पुं० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रमजिते
 स्वनामख्याते ज्ञातकुमारैः, ज्ञा० ८ अ० । स्वनामख्याते राजा-
 न्तरे च । दर्श० ।

अमरिस-अमरि-पुं० । न-मृप्-घञ् । “ शर्षतसवज्जे वा ” । ८ ।
 २ । ५ । इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनस्येकारः । प्रा० २ पाद ।
 मत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० । महाकदाग्रहे, उक्त० ३४ अ० ।
 कोपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अमरिमण-अमरिण-त्रि० । अपराधाऽसहिष्णौ, प्रश्न० ४
 आश्र० द्वा० । अपराधिष्णुकृतकामे, सं० ।

अमसृण-पुं० । प्रयोजनेष्वनलसे, सं० ।

अमरिसिय-अमरिपित-त्रि० । अमर्यः संजातोऽस्यामरिपितः ।
 संजातमत्सरविशेषं, आ० म० द्वि० ।

अमल-अमल-पुं० । न विद्यते मल इव मलो निसर्गनिर्मल-
 जीवमाश्विन्यापादनहेतुत्वादष्टप्रकारकं कर्म येषां ते अमलाः ।
 सिद्धेषु, प्रव० २१४ द्वार । निर्मलमात्रे, त्रि० । आ० म० प्र० ।
 ऋषजदेवस्य सप्तमे पुत्रे, कल्प० ७ ल० ।

अमलचंद-अमलचन्द्र-पुं० । वैक्रमीये ११५८ वर्षे जृगुकच्छे
 विहरति स्वनामख्याते गणिनि, जै० इ० ।

अमलवाहण-अमलवाहन-पुं० । विमलवाहने महापद्मतीर्थ-
 करे, ती० २१ कटप ।

अमला-अमला-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शकाग्रमहिष्याय,
 ज० १० श० ५ उ० । ती० । स्था० । (‘ अगमहिप्ती ’ शब्देऽ-
 स्मिन्नेव भागे १७३ पृष्ठे तत्पूर्वापरजवावुक्तौ)

अमरद्वय-अमरद्वय-त्रि० । महती अर्था यस्य स महार्धः,
 महार्ध एव महार्धकः, न महार्धकोऽमहार्धकः । अबहुमूढ्ये,
 उक्त० २० अ० ।

अमहङ्गण-अमहाधन-त्रि० । अवहुमूल्ये, पञ्चा० १७ विव० ।

अमाइ (ण)-अमायिन्-त्रि० । माया अस्थास्तीति मायी । न मायी अमायी । व्य० १ उ० । शाठ्यरहिते, प्रव० ६४ द्वार । कौटिल्यशून्ये, दश० ए अ० ३ उ० । सर्वत्र विश्वास्ये, स चालोचनादेरर्देः । आचा० १ शु० १ अ० १ उ० । “ नो पलि-उन्नेमाई ” स्था० १० ठा० । व्य० । “ आव राया चपे रुज्जे, न य दुच्चरियं कहे तहा माई ” । पञ्चा० १५ विव० ।

अमाइरूप-अमायिरूप-त्रि० । अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपः । अशेषच्छ्वरहिते, सूत्र० १ शु० १३ अ० ।

अमाइद्व-अमायाविन्-त्रि० । मायारहिते, आचा० १ शु० ६ अ० ४ उ० ।

अमाइल्लया-अमायाविता-स्त्री० । माइल्लो मायावाँस्तदभावस्तत्ता । (मायात्यागे), निरस्तुकतायाम्, स्था० १० ठा० ।

अमाणिय-अमान्य-त्रि० । अभ्युत्थानाङ्गाकरणादित्येके, “ जया य माणियो होइ, पच्छा होइ अमाणियो । सिट्ठी व कव्वडे बूढो, स पच्छा परितपई ” । दश० १ चू० ।

अमाव (वा) सा-अमाव (वा) स्या-स्त्री० । अमा-सह वसतश्चन्द्राकौ यत्र । वस्-यत्, एयत् वा । कृष्णपक्षेऽपदिने, तद्दिने चन्द्राकौ एकराशिसौ जवतः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अमावस्याः । तद् यथा-

वारस अमावसाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-साविट्ठी, पोछवती, अस्सोती, कत्तिया, मगसिरि, पोसी, माही, फग्गुणी, चेत्ती, विसाही, जेहामूळी, आसादी ।

द्वादश एव अमावस्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-श्राविष्टी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र श्राविष्टा धनिष्ठा, तस्यां भवा श्राविष्टी-श्रावणमासजाविनी । प्रौष्ठपदा उत्तरभाद्रपदा, तस्यां जवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासजाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी-अश्वयुग्मासजाविनी । एवं मासक्रमेण तत्तन्नामानुरूपनक्षत्रयां गात् शेषा अपि वक्तव्याः । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

सम्प्रति (नक्षत्रयोगम्) अमावास्यावक्तव्यतायामाह-

ध्रुवाक्षस अमावासाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-सावट्ठी पोछवती० जाव आसादी । ता सावट्ठी णं अमावासा कति एक्खत्ता जोएंति ? । ता दोएणि एक्खत्ता जोएति । तं जहा-असिलेसा १, महा २ य । एवं एणं अभिलावेणं णेयवं । ता पोछिवती णं दोएणि एक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वफग्गुणी १, उत्तरा २ य । असोतिं दोषि । तं जहा-हत्यो १, चित्ता २ य । कत्तियं दोषि । तं जहा-साति १, विमाहा २ य । मगसिरं तिणिण । तं जहा-अणुराहा १, जेह्हा २, मूळो ३ य । पोर्वि च दोषि । तं जहा-पुव्वासाढा १, उत्तरासाढा २ य । माहिं तिषि । तं जहा-अभिई १, समणो २, धणिह्हा ३ य । फग्गुणिं दोषि । तं जहा-सतजिमया १, पुव्वपोद्धवती २ य । चोत्तिं तिषि । तं जहा-उत्तरभद्वदा १, रेवती २, अस्सिणी ३ य । वि-

साहिं दोषि । तं जहा-भरणी १, कत्तिया २ य । जेह्मामूळिं दोषि । तं जहा-रोहिणी १, मगसिरं २ च । ता आसा-दी णं अमावासं कति एक्खत्ता जोएंति ? । ता तिषि न-क्खत्ता जोएंति । तं जहा-अदा १, पुणव्वसू २, पूसो ३ य ।

(ध्रुवाक्षसेत्यादि) द्वादश अमावास्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-श्राविष्टी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन श्राविष्टा-नक्षत्रेणोपलक्षितो यः श्रावणो मासः, सोऽप्युपचारात् श्राविष्टा, तस्यां भवा श्राविष्टी । किमुक्तं भवति ?-श्राविष्टी नक्षत्रपरिसमाप्यमानश्रावणमासभाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभाद्रपदमासभाविनी । एवं सर्वत्राऽपि वाक्यार्थो जावनी-यः । (ता साविष्टी णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । श्राविष्टीममावास्यां कति नक्षत्राणि युज्जन्ति, कति नक्षत्राणि यथायोगं चन्द्रेण सह संयुज्य श्राविष्टीममावास्यां परिसमापयन्ति ? । भगवानाह-(ता दोषिमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । द्वे नक्षत्रे युक्ताः । तद्यथा-अश्लेषा, मघा च । इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन् नक्षत्रे पौर्णमासी जवति तत् आरभ्य श्रवत्तने पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत् आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पौर्णमासी । ततः श्राविष्टी पौर्णमासी किल श्रवणे धनिष्ठायां चोक्ता । ततोऽमावस्यायामप्यस्यां श्राविष्ट्यामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च तिथिगणितानुसारतो गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्नहोरात्रे प्रथमतोऽमावस्याऽचूत स सकला-ऽप्यहोरात्रोऽमावास्येति व्यवहियते । ततो मघानक्षत्रमप्येवं व्यवहारतोऽमावास्यायां प्राप्यते, इति न कश्चिद् विरोधः । परमार्थतः पुनरिमांममावास्यां श्राविष्टीमिमानि त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-पुनर्वसु, पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्या चन्द्रयोगपरिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तम् । तन्न तद्भावना क्रियते । कोऽपि पृच्छति-युगस्यादौ प्रथमा श्राविष्ट्याममावास्या केन चन्द्रस्युक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति ? । तत्र पूर्वोदितस्वरूपोऽवधार्यराशिः पश्यतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इति प्रमाणो ध्रियते । तत् एकेन गुण्यते, प्रथमाया अमावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च गुणितं तदेव जवतीति राशिस्तावानेव जातः । ततस्तस्माद् द्वाविंशमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागाः, इत्येवंपरिमाणं पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते । ततः पश्यतिमुहूर्तभ्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः श्रुताः, स्थिताः पश्चात् चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । तेन्य एकं मुहूर्तमपकृष्य तस्य द्वाषष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च ते द्वाषष्टिभागाराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः । तेन्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिचत्वारिंशतो मुहूर्तभ्यः त्रिंशता मुहूर्तैः पुष्यः श्रुतः, स्थिताः पश्चात् त्रयोदश मुहूर्ताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापार्कक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाणं, तत् इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागां त्रिंशस्य षट्पष्टिसंख्येषु भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या समाप्तिमुपगच्छति । तथा च वक्ष्यति-“ ता एषसि णं पंचहहं संवच्छराणं पदमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? । ता असिलेसाहिं असिन्नेसाणं एको मुहूर्तो चत्तालीसं च वावट्ठिभागा, मुहुत्तस्स वावट्ठिभागां च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठी सुप्पिया भागा सेसा ” इति ॥ यदा तु द्वितीयाऽमावास्या

चिन्त्यते, तदा सा युगस्यादित आरभ्य त्रयोदशी । ततः स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्ता-
नामष्टौ शतानि पञ्चाशदधिकानि ८५८ । एकस्य च मुहूर्त-
स्य पञ्चपट्टिभागः ६५ । एकस्य च द्वापट्टि भागस्य ६२ स-
त्काः त्रयोदश १३ सप्तपट्टि ६७ भागाः । तत्र-“चत्वारि य वा-
यात्म, अह सोऽज्ञा उत्तरासाढा” इति वचनात् । चतुर्निर्द्धाच-
त्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तैः शतैः पञ्चत्वारिंशता द्वापट्टिभागैरुत्तरा-
षाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् दृष्टान्ता-
नां चत्वारि शतानि पौरुषोत्तराणि, एकस्य च मुहूर्तस्य
एकोनविंशतिर्द्वापट्टिभागाः । एकस्य च द्वापट्टिभागस्य स-
त्कास्त्रयोदश सप्तपट्टिभागाः । ४१६ १३ १३ । तत एतस्मात्
त्रीणि शतानि नवनवत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च
मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वापट्टिभागाः, एकस्य च द्वापट्टिभा-
गस्य षट्पट्टिः सप्तपट्टिभागा ३६९ १३ १३ इति शोधनी-
यम् । ततः षोडशोत्तरैः चतुःशतेभ्यः त्रीणि नवन-
वत्यधिकानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्ताः ।
तेन्य एकं मुहूर्तं गृहीत्वा द्वापट्टिभागाः कियन्ते । कृत्वा च द्वा-
पट्टिभागा राशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकाशीतिः । तस्याश्चतुर्विंश-
तिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् । तस्या रूपमेकमा-
दाय सप्तपट्टिभागाः कियन्ते, तेन्यः षट्पट्टिः शुद्धा, पश्चादको
ऽवतिष्ठते, सप्तपट्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताश्चतुर्दशसप्तप-
ट्टिभागाः । आगतं पुन्यनक्षत्रम् । षोडशसु मुहूर्तैर्व्येकस्य च
मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वापट्टिभागैर्व्येकस्य च द्वापट्टिभागस्य
चतुर्दशसु सप्तपट्टिभागैर्व्यतिक्रान्तेषु द्वितीयां आविष्टीममावा-
स्यां परिसमापयति ॥ यदा तु तृतीया आविष्टीममावास्या चि-
न्त्यते, तदा सा युगादित आरभ्य पञ्चविंशतितमेति स ध्रुवरा-
शिः ६६ । ५ । २ पञ्चविंशत्या गुण्यते, जातानि पौरुष शतानि
पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च-
विंशदुत्तरशतं द्वापट्टिभागाः, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य प-
ञ्चविंशति सप्तपट्टिभागाः १६५० १३ १३ । तत्र चतु-
र्निर्द्धाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तैः शतैरेकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्वारि-
ंशता द्वापट्टिभागैः प्रथममुत्तराषाढापर्यन्तं शोधनकं शुद्धम्,
स्थितानि पश्चात्मुहूर्तानां द्वादशशतान्यष्टोत्तराणि १२००;
द्वापट्टिभागाश्च मुहूर्तस्य एकोनशीतिः ७९, एकस्य द्वाप-
ट्टिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तपट्टिभागाः १३ । ततोऽष्टभिः शतै-
रेकोनविंशत्यधिकैः ८१९ मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य
चतुर्विंशत्या द्वापट्टिभागैः, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट्पट्ट्या
सप्तपट्टिभागैरेको नक्षत्रपर्यायः शुद्ध्यति । स्थितानि पश्चात् त्री-
णि शतानि नवाशीत्यधिकानि मुहूर्तानाम् ३८९ । एकस्य
च मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्वापट्टिभागाः १३, एकस्य च द्वाप-
ट्टिभागस्य षट्पट्ट्यासप्तपट्टिभागाः १३ । ततो भूयस्त्रिभिर्नवो-
त्तैर्मुहूर्तैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापट्टिभा-
गैः, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट्पट्ट्या सप्तपट्टिभागैरभि-
जिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि शुद्धानि स्थितानि, पश्चाद्
मुहूर्ता अशतिः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशद् द्वापट्टिभा-
गानि, एकस्य द्वापट्टिभागस्य सप्तविंशति सप्तपट्टिभागाः ८०
१३ १३ । तन्निशता मुहूर्तैर्मुगाशिरः शुद्धं, स्थिताः पञ्चाशद्
मुहूर्ताः ५० । ततः पञ्चदशभिर्गार्गा शुद्धा, स्थिताः पञ्चविं-
शत् ३५ । आगतं पुनर्वसु नक्षत्रम् । पञ्चविंशति मुहूर्तैर्व्येक-

स्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशति द्वापट्टिभागैर्व्येकस्य च द्वाप-
ट्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तपट्टिभागेषु तृतीयां आविष्टीममा-
वास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी आविष्टीममावास्याम-
श्नेपानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वापट्टिभागैर्व्येकस्य च
द्वापट्टिभागस्य एकचत्वारिंशति सप्तपट्टिभागेषु गतेषु ७ । ४१ ;
पञ्चमी आविष्टीममावास्यां पुन्यनक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु एकस्य
च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वाप-
ट्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपट्टिभागेषु गतेषु ३ । ४२ ।
५४ परिणामयति । एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेनाभि-
ज्ञापेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । विशेषमाह- (षोड-
शसु दोषि । तं जहा-पुष्पाफगुणी, उत्तरा य स्ति) तत्रैवं सूत्र-
पाठः-“ता षोडशसु णं अमावासं कश्च नक्षत्ता जोषंति ? ता
दोषि नक्षत्ता जोषंति । तं जहा-पुष्पाफगुणी, उत्तरफगुणी यः,”
इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि
प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-मघा, पूर्वाफाल्गु-
नी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावस्यामुत्त-
रफाल्गुनीनक्षत्रं चतुषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्पट्ट्या
द्वापट्टिभागेषु एकस्य द्वापट्टिभागस्य द्वयोः सप्तपट्टिभागयोः ४ ।
२६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफा-
ल्गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तैर्व्येकस्य च मुहूर्तस्य एकपट्ट्या द्वा-
पट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य पञ्चदशसु सप्तपट्टिभागेषु
७ । ६१ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रमे-
कादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशति द्वापट्टिभा-
गेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तपट्टिभागेषु ११ ।
३४ । २८ गतेषु; चतुर्थीं प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफाल्गुनीन-
क्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वापट्टि-
भागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तपट्टि-
भागेषु २१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमीं प्रौष्ठपदीममावास्यां
मघानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तचत्वा-
रिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य पञ्चपञ्चाश-
ति सप्तपट्टिभागैर्व्यतिक्रान्तेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमापयति ।
(आसोई दोषिण । तं जहा-हृथो, चित्ता य स्ति) । अत्राप्येवं
सूत्रपाठः-“ता आसोई णं अमावासं कश्च नक्षत्ता जोषंति ? ।
ता दोषिण नक्षत्ता जोषंति । तं जहा-हृथो, चित्ता य” । एत-
दपि व्यवहारतः निश्चयतः पुनरावयुजीममावास्यां द्वे नक्षत्रे
परिसमापयतः । तद्यथा-उत्तरफाल्गुनी, हस्तश्च । तत्र प्रथमा-
माश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य एकविंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य त्रिषु
सप्तपट्टिभागेषु २५ । ३१ । ३; द्वितीया माश्वयुजीममावास्यामुत्त-
रफाल्गुनीनक्षत्रं चतुर्दचत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
चतुषु द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य पौरुषसु सप्तप-
ट्टिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीया माश्वयुजीममा-
वास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्तेषु एकस्य च मुह-
र्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वापट्टिभागैर्व्येकस्य द्वापट्टिभागस्य ए-
कोनविंशति सप्तपट्टिभागेषु १७ । ३६ । २६; चतुर्थी माश्वयु-
जीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
सप्तदशसु द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य त्रिचत्वा-
रिंशति सप्तपट्टिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमी माश्वयुजी-
ममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं विंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
र्तस्य द्विपञ्चशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट्-

पञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु ३० । ५२ । ५६ गतेषु परिसमापयति । (कत्तिअं दोषि । तं जहा-साई, विसाहा य स्ति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः—“ता कत्तिअं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता दोषि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-साई, विसाहा य स्ति” एतदपि व्यवहारनयमतेन । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि कार्त्तिकीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-चित्रा, स्वातिविंशतिश्चा च । तत्र प्रथमां कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं पौषाशुभं तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य चतुषु सप्तपष्टिभागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु; द्वितीयां कार्त्तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तदशसु पष्टिभागेषु ५ । ९ । १७ गतेषु; तृतीयां कार्त्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रं मघसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तपष्टिभागेषु ८ । ४४ । ३०; चतुर्थी कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं प्रयोदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाविंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तपष्टिभागेषु १३ । २२ । ४४ गतेषु; पञ्चमी कार्त्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु २१ । ६५ । ६७ । गतेषु समाप्तिमुपनयति । (मग्गसिरी तिषि । तं जहा-अणुराहा, जेछा, मूढो य स्ति) अत्रापि सूत्रालापक एवम्—“ता मग्गसिरी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता तिषि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अणुराहा, जेछा, मूढो य ” इति । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकचत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तपष्टिभागेषु ७ । ४१ । ५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्याष्टदशसु सप्तपष्टिभागेषु ११ । १४ । १८; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकविंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टिभागेषु २६ । ४९ । ३१ गतेषु; चतुर्थी मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तपष्टिभागेषु २४ । २७ । ४५ गतेषु; पञ्चमी मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य संबन्धिनो द्वापष्टिभागस्य अष्टपञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु ४३ । ० । ५८ परिसमापयति । (पोसि च दोषि । तं जहा-पुव्वासादा य, उत्तरासादा य स्ति) तत्रैवं सूत्रालापकः—“ता पोसी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता दोषि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वासादा य, उत्तरासादा य स्ति ” एतदपि व्यवहारत उक्तम् । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-मूलं, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा च । तथाहि-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चचत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य षट्सु सप्तपष्टिभागेषु २८ । ४६ । १६ गतेषु; द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरे-

कस्य च मुहूर्तस्य एकविंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य एकविंशतौ सप्तपष्टिभागेषु २ । १६ । १९; तृतीयामधिकमासमात्रिणीं पौषीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तपष्टिभागेषु ११ । ५६ । ३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं पञ्चदशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तपष्टिभागेषु १५ । ५६ । ४६; पञ्चमी पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चाशद् द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य एकविंशति सप्तपष्टिभागेषु १६ । ५० । ५६ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (माहि तिणिण । तं जहा-अभिई, सवणो, धनिष्ठा य स्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ता माही णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता तिणिण नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अभिई, सवणो, धनिष्ठा य ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणश्च । तथाहि-प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्याष्टसु सप्तपष्टिभागेषु १० । १६ । ८ गतेषु; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामभिजित्क्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य विंशतौ सप्तपष्टिभागेषु ३ । २६ । २० गतेषु; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकचत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चविंशति सप्तपष्टिभागेषु २३ । ३६ । ३५; चतुर्थी मार्गशीर्षीममावास्यामभिजित्क्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तपष्टिभागेषु ६ । ३७ । ४७ गतेषु; पञ्चमी मार्गशीर्षीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य दशसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य षष्टौ सप्तपष्टिभागेषु २५ । १० । ६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति । (फग्गुणी दोषि । तं जहा-सयभिसय्या, पुव्वजइवया य स्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ता फग्गुणी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता दोषि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-सयभिसय्या, पुव्वजइवया य स्ति ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य नवसु सप्तपष्टिभागेषु १ । ३१ । ६ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशपष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तपष्टिभागेषु २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तपष्टिभागेषु, १४ । ४४ । ३६; चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतभिषक्क्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वापष्टिभागेषु एकस्य च द्वापष्टिभागस्य एकविंशति सप्तपष्टिभागेषु ३ । १७ । ४९; पञ्चमी फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वा-

षष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्केषु द्वाषष्टौ सप्तप-
ष्टिभागेषु ६ । ४२ । ६१ गतेषु परिणमयति । (चेत्ती-
तिणि । तं जहा—उत्तरभद्रवया, रेवई, अस्मिणी य
ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ता चित्ती णं अमावासं कइ
नक्खत्ता जोएति ? । ता तिणि नक्खत्ता जोएति । तं जहा-
उत्तरभद्रवया, रेवई, अस्मिणी य ति” । एतदपि व्यवहारनयम-
तेन । निश्चयनयमतेन पुनरमूनि त्रीणि नक्खत्ताणि चैत्रीममावा-
स्यां समापयन्ति । तद्यथा—पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती
च । तत्र प्रथमां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्खत्रं सप्तविं-
शत्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य
च द्वाषष्टिभागस्य दशसु सप्तषष्टिभागेषु, ३७ । ३६ । १०;
द्वितीयां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्खत्रमेकादशसु मुहूर्ते-
षु, एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टि-
भागस्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ६ । २३; तृतीयां चै-
त्रीममावास्यां रेवती नक्खत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
एकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिं-
शति सप्तषष्टिभागेषु ५ । ४६ । ३७; चतुर्थी चैत्रीममावास्यामु-
त्तरभाद्रपदा नक्खत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वा-
विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चाशति सप्त-
षष्टिभागेषु २४ । २१ । ५०; पञ्चमी चैत्रीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा
नक्खत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु
२७ । ५७ । ६३ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (विसाहिं भरणी
कत्तिया इति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः—“ता विसाहिं णं अमावा-
सं कइ नक्खत्ता जोएति ? । ता दोणि नक्खत्ता जोएति ।
तं जहा-भरणी, कत्तिया य ” इति । एतच्च व्यवहारतः । नि-
श्चयतः पुनस्त्रीणि नक्खत्ताणि वैशाखीममावास्यां परिसमापय-
न्ति । तानि चामूनि । तद्यथा—रेवती, अश्विनी, भरणी च । तत्र
प्रथमां वैशाखीममावास्यामश्विनी नक्खत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु, ए-
कस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य एकादशसु सप्तषष्टिभागेषु २० । ४० । ११; द्वि-
तीयां वैशाखीममावास्यामश्विनी नक्खत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरैकस्य च
मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टि-
भागस्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २ । ३६ । २३; तृतीयां
वैशाखीममावास्यां भरणी नक्खत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य
अष्टत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११ । ५४ । ३० गतेषु; चतुर्थी वै-
शाखीममावास्यामश्विनी नक्खत्रं पञ्चदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
र्तस्य सप्तविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एक-
पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु १५ । २७ । ५१; पञ्चमी वैशाखीममा-
वास्यां रेवती नक्खत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सं-
वत्त्रिंशते द्वाषष्टिभागस्य सत्केषु चतुष्पष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १६ । ०
६४ परिणमयति । (जेठामूली रोहिणी मृगशिरं चेति) अत्रा-
प्येवं सूत्रालापकः—“ता जेठामूली णं अमावासं कइ नक्ख-
त्ता जोएति ? । ता दोणि नक्खत्ता जोएति । तं जहा-रोहिणी, मि-
गसिरं च ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमं द्वे न-
क्खत्रे ज्येष्ठामूलीममावास्यां परिसमापयतः । तद्यथा—रोहिणी,
कृत्तिका च । तत्र प्रथमां ज्येष्ठामूलीममावास्यां रोहिणी नक्खत्र-
मेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाष-
ष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादशसु सप्तषष्टिभागेषु

१६ । ४६ । १२ गतेषु; द्वितीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्तिका
नक्खत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनविंशतौ
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतौ सप्तषष्टिभा-
गेषु २३ । १६ । २५ अतिक्रान्तेषु; तृतीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां
रोहिणी नक्खत्रं द्वात्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनषष्टौ
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशति
सप्तषष्टिभागेषु ३२ । ५९ । ३६; चतुर्थी ज्येष्ठामूलीममावा-
स्यां रोहिणी नक्खत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वात्रिंशति
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशति सप्तषष्टि-
भागेषु ६ । ३२ । ५२; पञ्चमी ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्ति-
का नक्खत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चसु द्वाषष्टि-
भागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु
१० । ५ । ६५ गतेषु परिसमापयति । (ता आसादी णमित्या-
दि) ता इति पूर्ववत् । आषाढी, णमिति वाक्यालङ्कारे । कति
नक्खत्ताणि युज्जन्ति ? । जगवानाह—(ता इत्यादि) ता इति
पूर्ववत् । त्रीणि युज्जन्ति । तद्यथा—आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्यश्च ।
एतदपि व्यवहारत उक्तम् । परमार्थतः पुनरमूनि त्रीणि नक्खत्ताणि
आषाढीममावास्यां परिणमयन्ति । तद्यथा—मृगशिरः, आर्द्रा, पुन-
र्वसुश्च । तत्र प्रथमां आषाढीममावास्यामार्द्रा नक्खत्रं दशसु मुहूर्तेषु,
एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु ० । ५१ । १३; द्वितीयां आषाढी-
ममावास्यां मृगशिरा नक्खत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
र्तस्य चतुर्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिं-
शतौ सप्तषष्टिभागेषु २७ । २४ । २६; तृतीयां आषाढीममावा-
स्यां पुनर्वसु नक्खत्रं नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वयोर्द्वाष-
ष्टिभागयोरैकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु
६ । २ । ४०; चतुर्थीं आषाढीममावास्यां मृगशिरा नक्खत्रं सप्तविं-
शतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, ए-
कस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २७ । ३७ ।
५३ गतेषु; पञ्चमीं आषाढीममावास्यां पुनर्वसु नक्खत्रं द्वाविंशतौ
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडशसु द्वाषष्टिभागेषु २१ । १६ । ०
गतेषु परिसमापयन्ति इति । तदेवं छादशानामप्यमावास्यानां
चन्द्रयोगोपेतनक्खत्रविधिरुक्तः । चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।
संप्रत्येतासामेव कुलादियोजनामाह—

ता सावित्री णं अमावासं किं कुलं जोएति, उक्कुलं
जोएति, कुञ्जोवकुलं वा जोएति पुच्छा ? । ता कुञ्जं वा जो
एति, उक्कुलं वा जोएति, णो लज्ज कुलोवकुलं, कुञ्जं
जोएमाणे महाणक्खत्ते जोएति, उक्कुलं जोएमाणे असि-
लेमा णक्खत्ते जोएति । ता सावित्री णं अमावासं कुञ्जं
जोएति, उक्कुलं वा जोएति, कुलेण वा जुत्ता उक्कुलेण
वा जुत्ता सावित्री अमावासं जुत्तं चित्तं वत्तवं सिया, एवं
ण्येयवं । मृगशिरा १ माही २ फगुणी ३ आसा-
दी ४ कुलोवकुलं जाणियवं । सेसाणं कुञ्जोवकुला ण-
त्थि० जाव कुलोवकुलेण वा जुत्ता आसादी अमावासं
जुत्तं चित्तं वत्तवं सिया ॥

(ता सावित्री णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । सावित्रीं श्रावण-
मासजाविनीममावास्यां किं कुलं युनक्ति, उपकुलं युनक्ति, कु-
लोपकुलं वा युनक्ति ? । भगवानाह—(ता कुलं वेत्यादि)

कुलमपि युनक्ति, 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' उपकुलं वा युनक्ति । न लभते योगमधिकृत्य कुलोपकुत्रम् । तत्र कुलं कुत्रसंज्ञं नक्षत्रं श्राविष्टममावास्यायां युञ्जन्मघानकृत्रं युनक्ति । एतच्च व्यवहारत उच्यते । व्यवहारतो हि गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि योऽहोरात्रो मूले अमावास्यायां संवन्धः स सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्यायति व्यवहियते । तत एव व्यवहारतः श्राविष्टयाममावास्यायां मघानक्षत्रसंज्ञवाङ्कम्-कुत्रं युञ्जन् मघानकृत्रं युनक्तीति । परमार्थतः पुनः कुत्रं युञ्जन् पुष्यनक्षत्रं युनक्तीति प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव कुलप्रसिद्ध्या प्रसिद्धस्य श्राविष्टयाममावास्यायां संज्ञवात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । एवमुत्तरसूत्रमपि व्यवहारनयमनेन यथायोगं परिभाषनीयम् । उपकुलं युञ्जन् अश्वेयानकृत्रं युनक्ति । संप्रत्युपसंहारमाह- (ता सावित्री णमित्यादि) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्यां कुत्रोपकुत्राभ्यां श्राविष्टयाममावास्यायां चन्द्रयोगः समस्ति, न कुलोपकुले, न ततः श्राविष्टममावास्यायां कुत्रमपि 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' युनक्ति; उपकुलं वा युनक्ति इति वक्तव्यं स्यात् । यदि वा कुलेन वा युक्ता, उपकुलेन वा युक्ता सती श्राविष्टयाममावास्या युकेति वक्तव्यं स्यात् । (एवं नेयवमिति) एवमुक्तेन प्रकरणे शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । नवरं मार्गशीर्ष्या माघ्यां फाल्गुन्यामाषाढ्यां च कुत्रोपकुलं जणितव्यम्, शेषाणां त्वमावास्यानां कुलोपकुलं नास्ति, ततो न वक्तव्यम् । संप्रति पाठकानुग्रहाय सूत्रालापका दर्शयन्ते- "ता पोद्वर्षे णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुत्रोवकुलं वा जोएइ ? ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं, कुत्रं जोएमाणे उत्तरफगुणी जोएइ, उवकुलं जोएमाणे पुव्वाफगुणी जोएइ । ता पोद्वर्षे णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता पोठवया अमावासा जुत्ता ति वत्तवं सिया । ता आसोई णं अमावासं किं कुत्रं जोएइ, उवकुलं जोएइ, कुलोवकुलं जोएइ ? । ता कुत्रं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं, कुत्रं जोएमाणे चित्ता नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे इत्थनक्खत्ते जोएइ । ता आसोई णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता आसोई अमावासा जुत्ता ति वत्तवं सिया । ता कत्तिं णं अमावासं किं कुत्रं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुत्रोवकुलं वा जोएइ ? । ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं । कुलं जोएमाणे विसाहा नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे सातिनक्खत्ते जोएइ । ता कत्तिं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुत्रेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कत्तिं अमावासा जुत्ता ति वत्तवं सिया । ता मगसिरिं णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ? । ता कुत्रं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ, कुत्रं जोएमाणे मूलनक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे जेछानक्खत्ते जोएइ, कुलोवकुलं जोएमाणे अगुराहानक्खत्ते जोएइ । ता मगसिरिं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ, कुत्रेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कुलोवकुलेण वा जुत्ता जुत्ता ति वत्तवं सिया " इत्यादि । निश्चयतः पुनः कुत्रादियोजना प्रागुक्तचन्द्रेण योगमधिकृत्य स्वयं परिजाननीया । चं० प्र० १० पाहु० । " पंच संवच्छरिणं जुगे वावट्ठि अमावासाओ " । युगे पञ्च संवत्सराः, तत्र त्रयश्चान्द्राः, तेषु षट्त्रिंशद्

अमावास्या भवन्ति, द्वौ चान्निवर्द्धितौ संवत्सरौ, तत्र षट्त्रिंशत्तिरामावास्याः । स० ६१ सम० ।

अथैवंरूपा युगे कियन्त्योऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्यः ?- इति युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह-

तत्थ खलु इमाओ वावट्ठि पुष्णिमाओ, वावट्ठि अमावासाओ पम्पत्ताओ । एए कसिणा रागा वावट्ठि, एए कमिणा विरागा वावट्ठि, एए चउव्वीसे पव्वसते, एवं चउव्वीसे कसिणरागविरागसए । ता जावइया णं पंचएहं संवच्छराणं समया एएणं चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगा एवतिया णं परिमिता अमंखेज्जा देसरागविरागसमया जव्वंतीति जत्थ चउव्वीसे समयसए तत्थ वावट्ठिसमए कमिणो रागो, वावट्ठिसमए कसिणो विरागो, तव्वज्जियमक्खाया ।

(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र युगे खल्विमा एवंस्वरूपा द्वाषष्टिः पौर्णमास्यां, द्वाषष्टिश्चामावास्याः प्रकृताः । तथा युगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वाषष्टिः, अमावास्यानां युगे द्वाषष्टिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात् । एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागा सर्वात्मना रागाज्जावा द्वाषष्टिः, युगे पौर्णमासीनां द्वाषष्टिसंख्यात्मकत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात् । तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम्, अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात् ; तासां च पृथक् पृथक् द्वाषष्टिसंख्यानामेकत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात् । एवमेव युगमध्ये सर्वसंकलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम् । (ता जावइयाणमित्यादि) यावन्तः पञ्चानां चन्द्राभिवर्द्धितरूपाणां संवत्सराणां समया एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन ऊनका एतावन्तः परिमिता असंख्याता देशरागविरागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात् । यत्र चतुर्विंशत्यधिकं समयशतं, तत्र द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो रागः द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागः, तेन तदूर्जनमित्याख्यातम्, मन्यते गम्यते । जगद्वचनमेतत्सम्यक् श्रूयम् । चं० प्र० १३ पाहु० ।

सम्प्रत्यमावास्याविषयं चन्दनक्षत्रयोगं सूर्यनक्षत्रयोगं च

प्रतिपिपादयिषुः प्रथमामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणां पढं अमावासं चंदे केणं एक्खत्तेणं जोएति ? । ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं एको मुहुत्तो, चत्तालीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिजागं च सत्तट्ठिहा ठेत्ता द्वावट्ठि चुणिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? । ता असिलेसाहिं चैव, असिलेसाणं एको मुहुत्तो, चत्तालीसं वावट्ठिजागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिजागं च सत्तट्ठिहा ठेत्ता द्वावट्ठि चुणिया जागा सेसा ।

" ता एएसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह- (ता असिलेसाहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । अश्लेषाभिः सह संयुक्तश्चन्द्रः प्रथमामावास्यां परिसमापयति, अश्लेषानक्षत्रस्य च षट्तराकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम् । तदानीं च प्रथमामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामश्लेषानक्षत्रस्य एको मुहुर्त्सः, चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहुर्त्सस्य, द्वाषष्टिजागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा षट्षष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः

६६ । ५ । १ प्रथमाऽमावास्या किल संप्रति चिन्त्यमाना वर्तते, इत्येकेन गुण्यते, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति तावानेव जातः । तत एतस्मात्—“वावीसं च मुहुत्ता, ग्यालीसं वि स-
चिभागा य । एवं पुण्यवसुस्त य, सोहेयव्वं हवइ पुन्नं” ॥१॥
इति वचनाद् द्वाविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्वारिंशद् द्वापष्टिभागा इत्येवं प्रमाणं शोधनकं शोध्यते । तत्र पद-
पष्टिमुहूर्तस्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् चतुश्च-
त्वारिंशत् ४४ । तेभ्य एकं मुहूर्तमपाकृत्य तस्य द्वापष्टिभागाः
हन्ताः, ते द्वापष्टिभागराशिमध्ये प्रकृष्यन्ते, जाताः सप्तपष्टिः ।
तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठत्येकविंशतिः । त्रिच-
त्वारिंशतौ मुहूर्तौ च त्रिंशता पुन्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् त्रयो-
दश मुहूर्ताः, अश्लेषान्नकृत्रं चार्द्धकृत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाण-
म् । तत इदमागतम्—अश्लेषान्नकृत्रस्य एकस्मिन्मुहूर्ते चत्वारिं-
शति मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टि-
धा द्विघ्नस्य पदपष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या परिसमा-
प्तिमुपगच्छति । संप्रत्यस्यामेव प्रथमायाममावास्यायां सूर्यन-
कृत्रं पृच्छति—(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । जगवा-
नाह—(ता असिलेसाहिं चैव इत्यादि) इह य एवामावास्या-
सु चन्द्रनक्षत्रयोगविषये ध्रुवराशिः, यदेव शोधनकं, स एव
सूर्यनक्षत्रयोगध्रुवराशिः, तदेव शोधनकमिति । तदेव सूर्यन-
क्षत्रयोगेऽपि नक्षत्रं, तावदेव च तस्य नक्षत्रस्य नक्षत्रशेषमिति ।
तदेवाह—अश्लेषान्निकृत्तः सूर्यः प्रथमायाममावास्यां परिसमापयति ।
तस्यां च परिसमाप्तिवेलायां अश्लेषाणामेको मुहूर्तः, एकस्य
च मुहूर्तस्य चत्वारिंशद् द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभाग-
स्य सप्तपष्टिधा कृत्वा षट्पष्टिचूर्णिता भागाः शेषाः ।

द्वितीयामावास्याविषयं सूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं चं-
दे केणं एक्खत्तेणं जोएनि ? । ता उत्तराहिं फग्गुणी-
दि, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता, पणतीमं च
वावट्टिजागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्तट्टिहा वेत्ता
पण्णट्टि चुण्णिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरै के-
णं एक्खत्तेणं जोए पुच्छा ? । ता उत्तराहिं चैव
फग्गुणीदि, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता तं चैव
जाव पण्णट्टि चुण्णिया जागा सेसा ॥

(ता एपसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्तराहि-
मित्यादि) उत्तराज्यां फाल्गुनीज्यां युक्तश्चन्द्रो द्वितीयाममावा-
स्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयाममावास्यापरिसमाप्तिवे-
लायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिंशद् मुहूर्ताः, पञ्चविंशद् द्वाप-
ष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वापष्टिभागं च सप्तपष्टिधा कृत्वा तस्य
सत्काश्च-
तुषपष्टिचूर्णिता भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुव-
राशिः ६६ । ५ । १ द्वाभ्यां गुण्यते, जातं द्वाविंशदधिकं मुहूर्ता-
नां शतम् । एकस्य मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागा दश, एकस्य च
द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टिधा द्विघ्नस्य द्वौ चूर्णिकाभागौ १३२ ।
१० । २ । तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते—द्वाविंशदधि-
कमुहूर्तशतम् द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुद्धाः, स्थितं पश्चाद्दशोत्तरं
शतम् । तेभ्योऽप्येको मुहूर्तो गृहीत्वा द्वापष्टिभागक्रियते,
कृत्वा च ते द्वापष्टिभागा द्वापष्टिभागराशौ प्रकृष्यन्ते, जाता
द्विसप्ततिद्वापष्टिभागाः । तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः । स्थिताः

पश्चात्पञ्चविंशतिः । नवोत्तराश्च मुहूर्तशतम् त्रिंशता पुन्यः शुद्धः,
स्थिताः पश्चादेकोनाशीतिः । ततोऽपि पञ्चदशभिर्मुहूर्तैरश्लेषा
शुद्धा, स्थिताः पश्चाच्चतुःषष्टिः, ततोऽपि त्रिंशता मघा शुद्धा, स्थि-
ताश्चतुःत्रिंशत् । ततोऽपि त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः
पश्चाच्चत्वारः, उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं च ह्यर्द्धकृत्रमिति पञ्चच-
त्वारिंशत् मुहूर्तप्रमाणम् । तत इदमागतमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रस्य
चन्द्रयोगमुपागतस्य चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टिधा-
द्विघ्नस्य षट्पष्टौ चूर्णिकाभागेषु शेषेषु द्वितीयाऽमावास्या
समाप्तिं याति । संप्रत्यस्याममावास्यायां सूर्यनक्षत्रं पृच्छति—
(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्त-
राहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उत्तराज्यामेव फाल्गुनीज्यां
युक्तः सूर्यो द्वितीयाममावास्यां परिसमापयति । तदानीं च
द्वितीयाममावास्यापरिसमाप्तिवेलायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वा-
रिंशद् मुहूर्ताः । “तं चैव जाव ति” वचनादेकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशद् द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य (षष्टिं) चु-
ण्णिया भागा सेस ति) एतच्चोभयोरपि चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्रयोग-
परिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वादवसेयम् ।

तृतीयामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणं तच्चं अमावासं चंदे
पुच्छा ? । ता इत्येणं, इत्यस्स चत्तारि मुहुत्ता, तीसं वाव-
ट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिजागं च सत्तट्टिहा वेत्ता चउसट्टि-
चुण्णिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरै केणं एक्खत्तेणं
जोएति पुच्छा ? । ता इत्येणं चैव । इत्यस्स णं तं चैव चंदस्स ।

(ता एपसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्येण-
मित्यादि) इस्तेन युक्तश्चन्द्रस्तृतीयाममावास्यां परिसमापयति ।
तदानीं च इस्तेनक्षत्रस्य चत्वारो मुहूर्ताः, त्रिंशच्च द्वापष्टिभागा
मुहूर्तस्य, द्वापष्टिभागं चैकं सप्तपष्टिधा कृत्वा तस्य सत्काश्च-
तुषपष्टिचूर्णिता भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुवराशिः
६६ । ५ । १ तृतीयस्या अमावास्यायाः संप्रति चिन्तेति त्रि-
निर्गुण्यते, जातमष्टनवत्यधिकं मुहूर्तानां शतम् । एकस्य च मु-
हूर्तस्य पञ्चदश द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयः
सप्तपष्टिभागाः । १६७ । १५ । ३ । तत एतस्माद्विसप्तत्यधि-
केन मुहूर्तशतेन षट्चत्वारिंशता च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागैः पुनर्व-
स्वादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवति-
ष्ठन्ते पञ्चविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशद् द्वापष्टि-
भागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयः सप्तपष्टिभागाः २५ । ३ ।
३ । तत आगतं इस्तेनक्षत्रस्य चन्द्रेण सह योगमुपागतस्य
चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशति द्वापष्टिभागेषु, एक-
स्य च द्वापष्टिभागस्य चतुषष्टौ, सप्तपष्टिभागेषु शेषेषु तृतीया-
ममावास्यां परिसमापयति । अत्रैव सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह—
(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्ये-
णं चैव ति) इस्तेनैव नक्षत्रेण युक्तः सूर्योऽपि तृतीयाममावा-
स्यां परिसमापयति । एतच्चोभयोरपि करणस्य समानत्वादव-
सेयम् । एवमुत्तरसूत्रयोरपि छद्म्यम् । शेषविषयं अतिदेशमा-
ह—“इत्यस्स णं तं चैव चंदस्स” यथा चन्द्रस्य विषये शेषमुक्तं
तदेव सूर्यस्यापि विषयं वक्तव्यम् । तथैव—“इत्यस्स चत्तारि
मुहुत्ता, तीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिजागं च सत्त-
ट्टिहा वेत्ता चउसट्टि चुण्णिया भागा सेसा” इति ।

संप्रति द्वादशमावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेमि एं पंचाहं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं चंदे केणं एकखत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता अद्दाहिं, अद्दाणं चत्तारि मुहुत्ता, दस च वावट्टिभागा मुहुत्तस्म, वावट्टिजागं च सत्तट्टिहा उच्चा चउप्पणं चुणिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरै केणं एकखत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता अद्दाए चैव । अद्दाए जं चैव चंदस्म, तं चैव ॥

(ता एणसि णमित्यादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता अद्दा-हिमित्यादि) आर्क्षयुक्तश्चन्द्रो द्वादशीमावास्यां परिसमापयति । तदानीं चार्क्षयाश्चत्वारो मुहूर्ताः, दश च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागाः, द्वापष्टिभागं च सप्तपष्टिभागाः कृत्वा चतुष्पञ्चाशत्त्रयिणिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वादशमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्तशतानि दिनवत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पष्टिद्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादश सप्तपष्टिभागाः ७६२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चचत्वारिंशता द्वापष्टिभागैः पुनर्वस्वादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दश द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादश सप्तपष्टिभागाः ३५० । १४ । १२ । ततस्त्रिभिः शतैर्नवोत्तरैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिभागैः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चपष्ट्या सप्तपष्टिभागैः रज्जिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चाच्चत्वारिंशत्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशद् द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तपष्टिभागाः ४०१ । ११ । ३१ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः शुद्धं, स्थिताः पश्चाद्दश मुहूर्ताः, शेषं तथैव १०५ । १३ । तत आगतमार्जानक्षत्रस्य चन्द्रेण सह संयुक्तस्य चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च दशसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अमावास्या परिसमाप्तिमियति । संप्रति सूर्यविषयं प्रश्नमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता अद्दाए चैव) आर्क्षयैव युक्तः सूर्योऽपि द्वादशीमावास्यां परिसमापयति । शेषपाठाविषये अतिदेशमाह-" अद्दाए जं चैव चंदस्म, तं चैव " चन्द्रस्य विषये आर्क्षयाः शेषमुक्तम्, तदेव सूर्यविषयेऽपि वक्तव्यम् । " अद्दाए चत्तारि मुहुत्ता, दश य वावट्टिभागा मुहुत्तस्म, वावट्टिजागं च सत्तट्टिहा उच्चा चउप्पणं चुणिया भागा सेसा " इति ।

चरमद्वापष्टितमामावास्याविषयं प्रश्नमाह-

ता एतेसि एं पंचाहं संवच्छराणं चरिमं वावट्टि अमावासं चंदे केणं एकखत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वमुणा, पुणव्वमुस्स एं वावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस्म सेसा । तं समयं च णं सूरै केणं एकखत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वमुणा चैव, पुणव्वमुस्स एं वावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस्म सेसा ।

(ता एणसि णमित्यादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता पुणव्वमु-

णा इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वापष्टितमामावास्यां परिसमापयति । तदानीं च चरमद्वापष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिवेद्यायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाविंशतिमुहूर्ताः, पञ्चचत्वारिंशच्च द्वापष्टिभागाः मुहूर्तस्य शेषाः । तथाहि- स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वापष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्चतानि दिनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वापष्टिसप्तपष्टिभागाः ४०६२ । ३१० । १३ तन एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चचत्वारिंशता द्वापष्टिभागैः प्रथमशोधनकं शुद्धम् ; जातानि पञ्चत्रिंशत्शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वे शते चतुष्पष्ट्यधिके द्वापष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वापष्टिसप्तपष्टिभागाः ३६५० । २६४ । ६२ । ततोऽन्तिजिदाद्युत्तराषाढापर्यन्तसकलनक्षत्रपर्यायविषयं शोधनम् । अष्टौ शतानि एकान्विंशत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य चतुर्विंशतिद्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पष्टपष्टि-सप्तपष्टिभागाः ८१९ । २४ । ६६ इत्येवं प्रमाणं चतुर्विंशत्यधिकानि शोधयते । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि चतुःसप्तत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पष्ट्यधिकं शतं द्वापष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पष्टपष्टिसप्तपष्टिभागाः ३७४ । १६४ । ६६ । ततो भूयस्त्रिभिः शतैर्मुहूर्तानां नवोत्तरैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिभागैः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पष्टपष्ट्या सप्तपष्टिभागैः ३०६ । २४ । ६६ अन्तिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात्सप्तपष्टिमुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वापष्टिभागाः ६७ । १६ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः, पञ्चदश भिरार्द्रा शुद्धा, स्थिताः पश्चात् शेषा द्वाविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वापष्टिभागाः २२१ । १६ । तत आगतं चन्द्रेण सह संयुक्तं पुनर्वसुनक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चचत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वापष्टितमामावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता पुणव्वमुणा चैव स्ति) सूर्यः पुनर्वसुना चैव सह यागमुपागतश्चरमां द्वापष्टितमामावास्यां परिणमति । शेषे अतिदेशमाह-(पुणव्वमुस्स णं वावीसं मुहुत्ता इत्यादि) एतच्च प्राग्वद्भावनीम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य चामावास्याविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वात् । च० प्र० १० पादु० ।

संप्रति कियत्सु मुहूर्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी, कियत्सु वा मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरमावास्या ?, इत्यादि निरूपयति-

ता अमावामाओ णं पुण्णिमासिणी चत्तारि वायाले मुहुत्तसते, गायालीसं वावट्टिजागे मुहुत्तस्म आहिताति व-देज्जा ; ता अमावामाओ णं अमावासा अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागे मुहुत्तस्म अहियाति व-देज्जा ; ता पुष्णिमामिणीओ णं अमावासा चत्तारि वायाले मुहुत्तसते तं चैव, ता पुष्णिमासिणीओ णं पुष्णिमासिणी अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागे मुहुत्तस्म आहिता । एस णं एवए चंदे मासे ; एस णं एवए सगळे जुगे ॥

(ता अमावासाश्चो णमित्यादि) सुगमम् । नवरं अमावा-
स्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अ-
नन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अ-
मावास्या परिपूर्णैश्चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी
परिपूर्णैश्चन्द्रमासेन भवति यथोक्ता मुदत्तसंख्या । उपसं-
हारमाह- (एस णमित्यादि) एष अष्टौ, मुदत्तशतानि पञ्चाशी-
त्यधिकानि त्रिंशच्च द्वाष्टिभागा मुदत्तस्येति, एतावान् एता-
वन्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तन् एतावन्प्रमाणं शकलं खण्डरूपं युगं;
चन्द्रमासप्रमितं युगं शकलमेतदित्यर्थः । चं० प्र० १३ पाहु० ।

पूर्णिमानक्षत्रात् अमावास्यायाम्, अमावास्यानक्षत्राच्च
पूर्णिमायां नक्षत्रस्य नियमेन संबन्धमाह-

जया एं भंते ! साविट्ठी पुष्पिमा जवइ तया एं माही
अमावासा भवइ, जया एं भंते ! माही पुष्पिमा जवइ तया
णं नाविट्ठी अमावासा जवइ ? । हुंता, गोयमा ! जया
एं साविट्ठी०तं चेव वत्तवं । जया एं भंते ! पोट्टवई पुण्णि-
मा जवइ तया एं फग्गुणी अमावासा जवइ, जया एं
फग्गुणी पुष्पिमा भवइ तया णं पोट्टवई अमावासा जवइ ? ।
हुंता, गोयमा ! तं चेव एवं । एतेणं अनिलत्वाणेणं इमाओ
पुष्पिमाओ अमावासाओ एअवाओ । अस्मिणी पुष्पिमा
चेत्ती अमावामा, कत्तिगी पुष्पिमा विसाही अमावासा,
मग्गमिरी पुष्पिमा जेठामूली अमावासा, पोमी पुष्पिमा
आसाही अमावासा ।

(जया णं भंते ! इत्यादि) यदा भदन्त ! आविष्टी श्रविष्टानक्षत्र-
युक्ता पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्वाकनी अमावास्या माघी
मघानक्षत्रयुक्ता भवति । यदा तु माघी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा
भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या आविष्टी श्रविष्टानक्षत्र-
युक्ता भवतीति काका प्रश्नः ? । भगवानाह- (हुंतेति) जव-
ति । तत्र गौतम ! यदा आविष्टीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समा-
नोत्तरत्वात् । अयमर्थः- इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन्नक्षत्रे पौर्ण-
मासी भवति तत् आरज्य अर्वाकने पञ्चदशे चतुर्दशे वा नक्षत्रे
नियमनोऽमावास्या, ततो यदा आविष्टी श्रविष्टानक्षत्रयुक्ता
पौर्णमासी भवति तदा अर्वाकनी अमावास्या माघी मघानक्ष-
त्रयुक्ता भवति, श्रविष्टानक्षत्रादारज्य मघानक्षत्रस्य पूर्वं चतुर्द-
शत्वात् । अत्र सूर्यप्रज्ञतिचन्द्रप्रज्ञतिवृत्त्योस्तु मघानक्षत्रादारभ्य
श्रविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वादिति पाठः, तेनात्र विचार्यम् ।
एतच्च आरज्यमासमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त ! मा-
घी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा आविष्टी श्रविष्टानक्ष-
त्रयुक्ता पाश्चात्या अमावास्या भवति, मघानक्षत्रादारज्य पूर्वं
श्रविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । इदं च माघमासमधिकृत्य
भावनीयम् । यदा भदन्त ! प्रौष्ठपदी उत्तरभाद्रपदायुक्ता पौर्ण-
मासी भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या उत्तरफाल्गुनीनक्षत्र-
युक्ता भवति, उत्तरभाद्रपदादारज्य पूर्वमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य
पञ्चदशत्वात् । एतच्च भाद्रपदमासमधिकृत्य अवश्यम् । यदा
उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा अमावास्या
प्रौष्ठपदी उत्तरभाद्रपदापेता भवति, उत्तरफाल्गुनीमारज्य पूर्व-
मुत्तरभाद्रपदानक्षत्रस्य चतुर्दशत्वात् । इदं च फाल्गुनमासमधि-
कृत्योक्तम् । एवमेतेनानिलापेन इमाः पूर्णिमा अमावास्याश्चने-

तव्याः । यदा आश्विनीपुर्णिमा अश्विनीनक्षत्रापेता भवति तदा
पाश्चात्याऽनन्तरा अमावास्या चैत्री चित्रानक्षत्रयुक्ता भवति, अ-
श्विन्या आरज्य पूर्वं चित्रानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यव-
हारनयमधिकृत्योक्तमवश्यम् ; निश्चयत एकस्यामप्याश्वयुग्मा-
सभावित्याममावास्यायां चित्रानक्षत्रासंभवात् । एतच्च प्रागेव
दर्शितम् । यदा च चैत्री चित्रानक्षत्रापेता पौर्णमासी भवति
तदा पाश्चात्या अमावास्या आश्विनी अश्विनीनक्षत्रयुक्ता
भवति, एतदपि व्यवहारतः । निश्चयत एकस्यामपि चैत्रमास-
भावित्याममावास्यायामश्विनीनक्षत्रस्यासंभवात् । एतदपि सूत्र-
माश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रवृत्तम् । यदा च कार्तिकी कृत्ति-
कानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा वैशाखी विशाखानक्षत्र-
युक्ता अमावास्या भवति, कृत्तिकानोऽर्वाकं विशाखायाः पञ्च-
दशत्वात् । यदा वैशाखी विशाखानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी जव-
ति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमावास्या कार्तिकी कृत्तिका-
नक्षत्रापेता भवति, विशाखातः पूर्वं कृत्तिकायाः चतुर्दशत्वात् ।
एतच्च कार्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी
मृगशीरोयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठामूली ज्येष्ठामूलन-
क्षत्रापेता अमावास्या, यदा ज्येष्ठामूली पौर्णमासी तदा मार्ग-
शीर्षी अमावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठमासावधिकृत्य भाव-
नीयम् । यदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी तदा आषाढी
पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति, यदा पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता
पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता अमावास्या जव-
ति । एतच्च पौषाषाढमासावधिकृत्योक्तमिति । उक्तानि मासा-
र्द्धमासपरिसमापकानि नक्षत्राणि । जं० ७ वक्क० ।

अमि (मे) ज-अमेय-त्रि० । अमिताभेकवस्तुयोगात् क्रय-
विक्रयनिषेधाद् वा (कल्प० ५ क०) अविद्यमानदातव्ये नगरा-
दौ, जं० ३ वक्क० । अविद्यमानमाये, जं० ११ श० ११ उ० ।

अमि (मे) ज-अमेय-न० । न० त० । अगुचिद्रव्ये, स्था०
१० ग० । विष्टायाम्, तं० । “ अमिज्जेण लिच्छोसि न जाणइ
केण विलिच्छो ” । आ० म० द्वि० ।

अमि (मे) ज-अमेय-पूर्ण-त्रि० । विष्टवृत्ते, तं० ।

अमि (मे) ज-अमेय-अमेय-त्रि० । अमेयं प्रचुरमस्मिन्नि-
ति । गूढात्मके, तं० ।

अमि (मे) ज-अमेय-अमेय-पुं० । विष्टारसे, तं० ।

अमि (मे) ज-अमेय-अमेय-संभूत-त्रि० । विष्टासंभवे, तं० ।

अमि (मे) ज-अमेय-अमेय-पुं० । उच्चारनिकरकल्पे, पो०
१ विव० ।

अमित-अमित-न० । अहितसाधके, स्था० ४ ग० ४ उ० ।
आचा० । (‘ पुरिसजाय ’ शब्देऽस्य चतुर्भङ्गी दृष्टव्या)

अमिय-अमिय-त्रि० । अमरधर्मिणि, विशेष० । मरणाभावे, आ०
म० द्वि० । तत्पथ्ये, आ० ४ अ० । “ वर्षासु लवणममृतं, शरीरं
जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते
गुह्यान्ते ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अमित-त्रि० । परिमाणरहिते, ध० २ अधि० । अपरिशेषे, आ०
चू० १ अ० । अनन्ते, असंख्येये वनस्पतिपृथिवीजीवज्ज्यादौ च

“ केवली पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ ” । भ० ४ श० ४ उ० । केवलज्ञाने च । विशेष० ।

अमियगङ्-अमितगति-पुं० । दाक्षिणात्ये दिक्कुमारेन्द्रे, ज० ३ श० ८ उ० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामख्याते मायुरमंघीये माधवसेनाचार्यशिष्ये दिगम्बरजैनाचार्ये, स च वैष्णवीये १०५० वर्षे अजयत् । येन धर्मपरीक्षा-सुभाषितरत्नसंदोहनामानां च ग्रन्थौ निर्मितौ । जै० ६० ॥

अमियचंद-अमृतचन्द्र-पुं० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारग्रन्थोपरि ‘ आत्मख्याति ’ नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रवचनसार टीका-पञ्चास्तिकायटीका-तत्त्वार्थसार-पुरुषार्थसिद्धयुपाय-तत्त्वदीपिकादिग्रन्थानां च कारके वैष्णवीये द्वापद्युत्तरनवमशतके (६६२) विद्यमाने आचार्ये, जै० ६० ।

अमियणाणि(ण्)-अमितज्ञानिन्-पुं० । अमितं च तद् ज्ञानं चामितज्ञानम्, तद्यस्यास्ति सोऽमितज्ञानी । आ० म० प्र० । सर्वज्ञे, स० । अपरिशेषज्ञानिनि, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ अ० । केवलनि, पं० चू० ।

अमियमाणं नार्णं, तं तेसिं अमियणाणिणो तो ते ।

तं जेण णेयमाणं, तं चाणं जंओ नेयं ॥ १०९० ॥

अनन्तत्वान्मातुमशक्यममितं केवलज्ञानवृत्तं ज्ञानं, तत्तथा विद्यते, ततोऽमितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केवलज्ञानस्यानन्त्यम् ? इत्याद-तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन ज्ञेयमानं वर्तते, ज्ञानस्य ज्ञेयानुवर्तितत्वात् । तच्च ज्ञेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमतः केवलज्ञानस्यानन्त्यमिति ॥ विशेष० ॥

अमियतेयसूरि-अमिततेजःसूरि-पुं० । स्वनामख्याते सूरिजेदे, “ एएसिं अमियतेयसुरीणं अतिए सहजायाए पव्वइउं एयं वि सेसकारणं तेण भणियं ” । दर्श० ।

अमियनूय-अमृतजुत-न० । जूतशब्द उपमार्थः । परमपदहेतु-त्वाज्जराभरणदिविघातकत्वेनाऽमृततुल्ये जिनवचने, “ जिन-वयणसुभासियं अमियभूयं ” । आ० ॥

अमियमेह-अमृतमेघ-पुं० । दुष्पमदुष्पमान्ते वर्षिणि चतुर्थे महामेघे, ज० ।

चतुर्थमेघवक्तव्यतामाह-

तंसि च णं घयमेहंसि सत्तरत्तं णिवतितांसि समाणं-
सि एत्थं णं अमियमेहे णामं महामेहे पाउञ्जविस्सइ,
भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वामिस्सइ, जे णं
भरहे वामे रुक्खगुच्छगुम्पलयवद्धितणपव्वगहरितगओ-
सहिपवालं कुरमाए तणवणप्फइकाइए जणस्समइ ॥

(तंसि इत्यादि) तस्मिंश्च घृतमेघे सत्तरत्तं निपतति सति, अत्र प्रस्तावेऽमृतमेघो नाम यथार्थनामा महामेघः प्रादुर्भविष्यति वर्षिष्यति इति पर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो जरने वर्षे वृत्तगुच्छ-गुल्मलतावल्लयः, तृणानि प्रतीतानि, पर्वगा इत्यादयः, हरितानि दूर्वादीनि, औषधयः शाल्यादयः, प्रवालाः पल्लवाः, अङ्कुराः शाक्यादिवीजसूचय इत्यादीनि तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । ज० ३ वृ० ॥

अमियरसरसोवम-अमृतरसरसोपम-त्रि० । अमृतरसेन रसस्योपमा यत्र तदमृतरसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वादमधुरे, “ सेसाणं (तीर्थकृताम्) अमियरसरसोवमं आसि ” । आ० म० प्र० ।

अमियवाहण-अमितवाहन-पुं० । औत्तराहदिकुमारेन्द्रे, स्था० २ उ० ३ उ० । भ० । प्रज्ञा० । स० ।

अमियामणिय-अमितासनिक-पुं० । अवद्धासने, सुहृद्मुहुः स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि सेवमाने, कल्प० ६ क० ।

अमिल-अमिल-न० । ऊर्णावस्त्रे, ध० २ अधि० । दश० । नि० चू० । आचा० ।

अमिलकवु-अम्लेच्छ-पुं० । आर्ये म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अमिला-अमिला-स्त्री० । श्रीनेमिनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० । पम्किायां द्रुस्वमहिष्याम्, वृ० १ उ० ।

अमिल्लाण-अम्लान-त्रि० । अमल्लिने, औ० । नि० चू० ।

अमिलाय-अम्लान-त्रि० । न म्लायते शीघ्रं तदिति । चिर-ममल्लिने, नि० चू० २ उ० ।

अमिल्लायमद्वदाम-अम्लानमान्यदामन्-न० । अम्लानपुष्प-दामनि, भ० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

अमिल्लिय-अमिलित-त्रि० । असंस्के, विशेष० । अनेकशास्त्र-संबन्धीनि सूत्राण्येकत्र मेलयित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् । असदृशधान्यमेलकवत् । अथवा परावर्तमानस्य यत्र पदादि-विच्छेदे न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अमिलितम् । मिलित-दोषविप्रमुक्ते सूत्रगुणे, अनु० । पं० चू० । ग० । अमिलितं यद् ग्रन्थान्तरवर्तिभिः पदेरमिश्रितं, यथा-सामायिकसूत्रे दशवैकालि-कोत्तराध्ययनादिपदानि न क्षिपति । वृ० १ उ० ।

अमुइ-अमोचिन्-त्रि० । अमोचनशीले, वृ० ४ उ० । “ अमुइ समुत्ते वि जो ण मुए ” पं० भा० । पं० चू० ।

अमुक्कुणाय-अमुक्तपूर्णत-त्रि० । अमुक्ता पूर्णता येन तत् अमुक्तपूर्णतम् । पूर्णं, ध० २ अधि० ।

अमुग-अमुक-त्रि० । अदस्-अकच् । उत्त्वमत्वे कस्य गः । प्रा० १ पाद । अदःशब्दार्थं अज्ञातनामरूपे विवर्तितेऽर्थे, “ अमुगं हि भोउं ” अमुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्र० ६० । “ अमुगं गामं वच्चासो, तत्थ दो तिन्नि वा दिवसो अच्छिस्सा-सो ” । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

अमुग-अमुग-त्रि० । अविद्यमानमुक्ते, अनु० ।

अमुच्छिय-अमूर्तित-त्रि० । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दश० । आहारादौ मूर्ध्निमकुर्वति, पं० व० २ द्वार । पिरके शब्दादिषु वा गृहे, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० ।

अमुण-अङ्-पुं० । अङ्गे, मूर्खे च । वृ० १ उ० ।

अमुणिय-अज्ञान-न० । नास्ति मुणितं ज्ञातं यत्र तदमुणितम् । ज्ञानविकले, प्रश्न० २ आश्र० ६० ।

अमुत्त-अमुक्त-त्रि० । लोकव्यापारप्रवृत्त सकर्मणि, स्था० १० उ० । अमूर्त्त-त्रि० । अरूपिणि, आव० ४ अ० ।

अमुत्त-अमूर्त्त-न० । मूर्तत्वाभावसमानियतत्वे, छव्या० २ अध्या० । “ मूर्तिं दधाति मूर्त्तत्व-ममूर्त्तत्वं विपर्ययात् । ”

मूर्तिः रूपसंगन्धस्पर्शादिमन्त्रिवेशना, तस्या धारणस्वभावात्
मूर्तत्व, मूर्तत्वप्रज्ञाः । तस्माद्विपरीतं तदमूर्तत्वम्, अमूर्त-
स्वभावः । उच्यते १२ अध्या० ।

अमुत्ति-अमुत्ति, स्त्री० । मुक्तिर्मुक्तिर्गतिः, न मुक्तिरमुक्तिः । संसार-
मुखाभिवाये, आनु० । स्वप्नेभक्तायां पश्चिंशौ गौणपरिग्रहे, प्रश्न०
५ आश्र० द्वा० ।

अमुत्तिमग्न—अमुत्तिमार्ग—न० । न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रत्यु-
त्तिवृत्तौ या भागः सम्यग्दर्शनज्ञानधारिवात्मको यस्मिन्तदमु-
त्तिमार्गम् । सधर्मपक्षे विभक्तस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अमुय-अमूय-त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमत्ताने, न० ३
श० ६ उ० ।

अमुयग-अमूयक-त्रि० । अयं ह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरी-
रिणि जीवे, स्था० । "अमुयगो जीवेति" देवानां बाह्याभ्यन्त-
रपुद्गलादानवरहेण वैक्रियवतां दर्शनाद् बाह्याभ्यन्तरपुद्गलर-
चितावयवशरीरगो जीव इत्यवयवसायवत् पञ्चमं विभक्तज्ञा-
नम् । स्था० ७ ग० ।

अमुमा-अमूमा-अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अमुद-अमुद-त्रि० । निरुत्तरे, व्य० ९ उ० ।

अमुदरि (ए)-अमुसरिन्-त्रि० । अवाचाले, उक्त० १ अ० ।

अमुद-अमुद-त्रि० । अविप्लुते, दश० १० अ० । सम्मार्मणे,
सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूदण-अमूदज्ञान-त्रि० । यथावस्थितज्ञाने, आ० म० द्वि० ।

अमूददृष्टि-अमूददृष्टि-स्त्री० । अमूदा तपोविद्यातिशयादिकु-
न्तार्थकं दृष्टं दर्शनं ऽप्यमोहस्वभावाद्विचलिता, सा च दृष्टिश्च
सम्यग्दर्शनममूददृष्टिः । प्रव० ६ द्वार । बुद्धिमत्कुन्तार्थिकद-
र्शनं ऽप्यवर्णातमेवास्मददर्शनमिति मोहविरहितायां बुद्धौ, उक्त०
२ अ० । अमूदबुद्धिसंपन्ने, मुख्येन स अस्मिन्निति मूढः । न
मूढोऽमूदस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टौ, नि० चू० १ उ० । बाल-
तपस्विनपोविद्यातिशयदर्शनेन मूढा स्वरूपाश्च चलिता दृष्टिः
सम्यग्दर्शनरूपेण यस्याऽसौ अमूददृष्टिः । ग० १ अधि० । ध० ।
पञ्चा० । दश० ।

इदंणि अमूददिष्टि ति दारं--

मुख्येन स्म अस्मिन्निति मूढः, न मूढोऽमूदः । अमूददिष्टि,
याथातथ्यदृष्टिरित्यर्थः ॥

जहा सा भवति तदा जगणति-

णगविदा इहृओ, पूयं परवादिणं च दृष्ट्वां ।

नस्म ए मुज्जइ दिट्ठी, अमूददिष्टिं तगं वेति ॥ २६ ॥

(नेगविहं ति) णाणपगगा, का ता ? (इहं ति) इहृओ-इ-
स्मरियं, ते पुण विज्जामंते तवोमेतं वा विउव्वणाऽऽगासगमण-
विभेनणाणादि पेस्वयंम् ॥ (पूयं ति) असणपाणस्वादिसमादिसव-
त्थकंयज्ञादी-जस्म वा जं पाउमं नेण सं पडिलानेण पूया ।
केमि सा ? (परवादिणं ति) जणमासगवइरत्तापरा, ते य परि-
व्वाययत्तपमियादी पासंन्था, चमहाओ गिहत्था र्थीवरादि ।
अइया चमहाओ समासंने विज्जंमे पासंन्था, ते पूयासक्कारा-
दा दट्ठं, च अनुक्कमिणे, पायपूरणे वा दट्ठव्यो । (दट्ठं ति) इह्वा
जहा तस्मिं परवादिणं पूया सक्कारगिह्विसेसा दीमंति, ण तदा
अइं । माणुसए चैव मास्सजग्गो विसिद्धतरा जयेज्जा अतो

जगति- (जस्म ति) जस्म पुगिसस्स, 'ण इति पडिमेहं' मो-
हो विण्णणविचच्चासो, दिट्ठो दरिसणं, स एवंगुणविसिट्ठो
अमूददिट्ठो दरिसणं भणति । जगदिहस्स तगारंण सिद्धसं-
कीरति- (तगं ति) । (वेति) भुवन्ति आचार्याः, कथयन्तीत्यर्थः ।
अमूददिष्टि ति दारं गयं ॥ नि० चू० १ उ० ।

इयानि दिष्टतो-

सुलसा अमूददिष्टि,

सुलसा साविगा अमूददिष्टित्ते उवाहरणं भणति-जगवं चंपाए
णयरंए समोसरिओ । भगवया य भवियथिगीकरणत्थं खंढो
परिव्वायगो रायगिहं गच्छंते भाणिओ-सुल्लसंम वयणा सायं
पुच्छेज्जसि । सो चिंतेति-पुण्णमंनिया सा, जं अरहा पुच्छति । तेण
परिक्खण्णिमित्तं जत्तं मग्गिता, अलभमाणेण बट्ठणि रूवाणि
काऊण मग्गिता । णं दिष्टं । जगति य-परं अणुं कंपाए देमि, ण ते
पत्तबुद्धीए । तेण भणियं-जदि पत्तबुद्धीए देहि ? सा भणति-ए
देमि । पुणो पउमासणं विउव्वियं । सा भणति जइ वि सिक्खवा
बंभणो तदा वि ते ण देमि पत्तबुद्धीए । तथो तेण उव्वसंधारियं
सम्भायं च से कहियं । ण दिष्टिमाहो सुलसाए जाओ । एवं अ-
मूददिष्टिणा होयव्वं" । नि० चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२
पृष्ठे 'अंबड' शब्देऽपि कथयम्)

अमूदलक्ख-अमूदलक्क-त्रि० । अमूदः क्षुनिर्णयो लको बोध-
विशेषो यस्य सोऽमूदलक्कः । पञ्चा० १४ विव० । अष्ट० । अ-
थावस्थितवस्तुर्वादिनि, वृ० १ उ० । समस्तत्वाविपरीतवेद-
ने, आ० म० द्वि० ।

अमेत्तणाण-अमात्रज्ञान-न० । मात्रा मानं, तेन रहितममात्रम्,
अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम् । अप्रमिते केषज्ञानानि,
अष्ट० १२ अष्ट० ।

अमेहा-अमेधा-स्त्री० । मेधोपघाते, नि० चू० १ उ० ।

अमोमलि-अमुशालि-न० । न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपे-
क्षणे तदमुशलि । सुप्रत्युपेक्षणवेदे, ओष्ठ० ।

अणञाविय अचलियं, अणाणुर्थी अमोसलि चैव ।

छप्पुरिमा ए च खोरा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥ २५ ॥

(अमोसलि ति) न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे त-
दमुशलि प्रत्युपेक्षणम् । यथा मुशलं कुट्टने ऊर्ध्वं लगति,
अर्धास्तयं च । एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । किंतु यथा
प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्ध्वं पीतिषु न लगति, न च तिर्यक्षु येन
चूर्मो, तथा कर्तव्यम् । ओष्ठ० । ध० । स्था० । उक्त० नि० चू० ।

अमोह-अमोघ-त्रि० । अर्थयज्ञाऽऽयातत्वेनाविप्लवे, अमिथ्या-
रूपे, विशेषः । अवन्ध्ये, दश० ८ अ० । आदित्याद्यास्तममय-
योरादित्यकिरणविकारजनितेषु आनाम्नेषु कृष्णेषु श्यामेषु वा
शकटादिसंस्थितेषु (सूर्यविम्बस्याधःस्थेषु कदाचिदुपवृत्त्य-
मानेषु रेखारूपेषु) दृश्येषु, भ० ३ श० ६ उ० । जी० । अनु० ।
अमोह-त्रि० । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहोऽमोहः । अ-
वितथग्राहे, विशेषः । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बूमन्दरस्व
रुचकवरे पर्वते कूटभेदे, स्था० ८ ग० । द्वि० । शोभाञ्जया
नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चैत्ये पूज्यमाने यक्रे, विशेषः ॥

अमोहणाधारि (ए)-अमोहनाधारिन्-पुं० । अमोहनं मो-
हरहितं समस्तमा समन्ताद् धारयतीत्येवंशीलोऽमोहनाधारी ।
सूत्रादेर्निमोहं धारकं, व्य० १० उ० ।

अमोहदांसि (ए)-अमोहदर्शिन-पुं० । अमोहं पश्यति य-
थावत्पश्यति, दश० ६ अ० ।

अमोहवयण-अमोहवचन-न० । धर्मदेशनारूपेऽव्यर्थवचने,
स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।

अमोहा-अमोघा-स्त्री० । जम्बाः सुदर्शनाया नाम्नि, (मोघं
निष्फलम्) न मोघा अमोघा । अनिष्फला इत्यर्थः । तथाहि-
शाश्वतस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुपजन-
यति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिजावस्थैवायोगात्, ततोऽ-
निष्फलेति । जी० ३ प्रति० । जं० । उत्तराञ्जनादेर्दक्षिणदि-
भागवर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । जी० ।

अम्ब-आम्ब-पुं० । “ ताम्बास्त्रे म्बः ” । ८ । २ । ५६ । इति सू-
त्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो ‘म्बः’ । चूत- (आँब) वृक्षे, तत्फले च ।
प्रा० २ पाद ।

अम्बकूणगदृत्यगय-आम्बफलहस्तगत-त्रि० । स्वकीयतप-
स्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमाम्बास्थिकं चूयति, ज० १५ श० १ उ० ।

अम्बरु-अम्बरु-पुं० । स्वनामख्याते परिव्राजके, भ० १४ श०
८ उ० । औ० । स्था० । (तद्व्यक्तव्यता अनुस्वारप्रकरणे ‘ अ-
व (म) ड ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठे निरूपिता)

अम्भया-अम्बा-स्त्री० । पुत्रमातरि, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० ।
भ० । नि० ।

अम्भे-अम्भे-अव्य० । हर्षे, “ अम्भे हर्षे ” ८ । ४ ।
२८४ । इति शौरसेन्यम् ‘ अम्भे ’ इति निपातो हर्षे प्रयोक्त-
व्यः । “ अम्भे एआए सुम्भिज्ञाए सुपक्षिगदिदो भवं ” ।
प्रा० ४ पाद ।

अम्भापितिसमाण-अम्भापितुसमान-पुं० । मातापितृभ्यां स-
माने पुत्रेषु मातापित्रोरिव व्यवहारादिष्वविषमदर्शिनि, व्य० ३
उ० । उपचारं विनाऽपि साधुपु एकान्तेनैव घत्सन्ने अमणो-
पासके, स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।

अम्भापिथर-अम्भापितृ-पुं० । द्वि० व० । मातापित्रोः, स्था०
३ ग्रा० १ उ० ।

अम्भापेय-अम्भापैतृक-न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अम्भापेय एं भवे ! सरीरए केवयं काळं संचिद्धं ? ।
गोयमा ! जावइयं काळं से जवधारणजे सरीरए अ-
व्वावळे जवइ, एवइयं कालं संचिद्धं । अहे एं समए
समए वोयसिजमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णे
जवइ ।

(अम्भापेय एं ति) अम्भापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचा-
रात्, उक्तवृत्तानि मातापित्रङ्गानीत्यर्थः । (जावइयं ति) याव-
न्तं काळं, (से ति) तत्तस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधा-
रणप्रयोजनं, मनुष्यादिजन्मोपग्राहकमित्यर्थः । (अव्वावणे
ति) अधिनष्टम्, (अहे एं ति) उपचयान्तिमसमयादानन्तरमे-
तद् अम्भापैतृकं शरीरम् (वोयसिजमाणे ति) व्यवकृष्यमा-
णं हीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अम्भि-अहम्-अस्मदः प्रथमैकवचनान्तस्य “ अस्मदो म्भि
अम्भि अम्भि हं अहं अहयं सिना ” । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन
‘आम्भ’ इत्यादेशः । “ उअम्भ न अम्भि कुविआ ” प्रा० ३ पाद ।

अम्भो-अव्य० । “ अम्भो आश्चर्ये ” । ८ । २ । १०८ । इति सूत्रेण
अम्भो इत्याश्चर्ये प्रयोक्तव्यम् । “ अम्भो कह पारिज्जइ ” ॥
प्रा० २ पाद ।

अम्भ-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य “ णे णो मज्झ अम्भ
अम्भं ” । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाग्हादेशः । प्रा० ३ पाद ॥

वयम्-अस्मदो जसा सहितस्य “ अम्भ अम्भे अम्भो मो वयं मे
जसा ” । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ।
“ अम्भ चोक्खा चोक्खायारा ” औ० ॥

अम्भइ-वयम्-अस्मान्-“ जशसोरम्भे अम्भइ ” । ८ । ४ । ३७६ ।
इत्यपञ्चशे अस्मदो जशि शशि च प्रत्येकमम्भे अम्भइ इत्या-
देशौ । “ अवस न सुअहिं सुअच्छिअहिं, जिवं अम्भइं तिवं वे
वि ” । “ अम्भइं देवखइ ” प्रा० ४ पाद ।

अम्भ-अस्माकम्-“ णे णो मज्झ अम्भ अम्भं ” । ८ । ३ । ११४ । इत्या-
दिसूत्रेणामा सहितस्यास्मदोऽम्हमादेशः । प्रा० ३ पाद । ‘ अम्भं
धूया णो आढाइ ’ विपा० १ ध्रु० ६ उ० ।

अम्भकेर-अस्मदीय-त्रि० । “ इदमर्थस्य केरः ” । ८ । २ । १४७ । इ-
तीदमर्थस्य प्रत्ययस्य ‘ केर ’ इत्यादेशः । “ सेवादो वा ” ८ । २ ।
६९ । इति कद्वित्वम् । अस्मत्सत्के, प्रा० २ पाद ।

अम्भतो-अस्मज्यम्-“ ममाम्हौ भ्यसि ” ८ । ३ । ११२ । इति
सूत्रेण ज्यसि ‘ अम्भ ’ इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अम्हाण-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य “ णे णो मज्झ
अम्भं ” ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अम्हाणादेशः । प्रा०
३ पाद ।

अम्हातिस-अस्मादृश-त्रि० । “ यादृशादेर्दुस्तिः ” । ८ । ४ । ३१७ ।
इति पैशाच्यां ‘ दृ ’ इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अम्हार-म-पैशाच्यां “ पष्ठ्याः ” । ८ । ४ । ३४५ । इति सूत्रेण प-
ष्ठ्या लुक् । “ संगर-सपहिं जुवणिअइ, देक्खु अम्हारा कंतु ”
प्रा० ४ पाद ॥

अम्हारिस-अस्मादृश-त्रि० । “ दृशः क्तिप्-ट्कुसकः ” ८ । १ ।
१४२ । इति सूत्रेण क्तिवाद्यन्तस्य ऋतो रिरादेशः । “ पट्म-श्म-
प्म-स्म-ह्यां म्भः ” ८ । २ । ७५३ । इति संयुक्तस्य स्मभागस्य मका-
राक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । “ अम्हारिसो ” अस्मत्सदृशेषु,
प्रा० १ पाद ।

अम्हासुन्तो-अम्हाहिन्तो-अस्मज्यम्-“ ममाम्हौ भ्यसि ”
८ । ३ । ११२ । इत्यस्मदो भ्यसि अम्हादेशः । “ ज्यसस् तो दो दु
हि हिन्तो सुन्तो ” ८ । ३ । ६ । इति सूत्रेण ज्यसः ‘ सुन्तो, हि-
न्तो ’ इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ॥

अम्भि-अहम्-“ अस्मदो म्भि अम्भि अम्भि हं अहं अहयं सि-
ना ” ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिना सह ‘ अम्भि ’ इत्यादेशः ।
प्रा० ३ पाद ॥

अभिध्या-अस्मिता-स्त्री० । अहङ्काराऽनुगमे, द्वा० २६ द्वा० । य-
त्रातर्मुखतया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतितीने चेतसि स-
त्तामात्रमेव भाति साऽस्मिता । द्वा० २० द्वा० । अस्मिता हृद्-
शैनेकता; हृद्दर्शनयोः पुरुषरजस्तमोऽर्नाभतूनसात्त्विकपरिणा-

मयोः भोक्तृभवेनावस्थितयोरेकता अस्मिता । तदुक्तम्-“ह-
भूतनक्षत्रयोरकारात्मैवास्मिता” ॥ २५ ॥ ॥

अम्हे-वयम् अस्मान्-“जशसोस्महे अम्हे” ॥ ७ । ४ । ३७६ ।
इत्यपभ्रंशे भस्मदो जास शानि च ‘अम्हे’ इत्यादेशः प्राकृतेऽप्ये-
वम्-“अम्हे भो वा रिउ बहुअकायर एम्ब भणंति” ॥ प्रा० ४ पाद ॥

अम्हेवय-आस्माक-वि० । अस्माकमिदम् । “युष्मदस्मदोऽप्र-
एचयः” ॥ २ । २ । १४९ । इत्यस्मदः परस्मैदमर्थस्याजः ‘एचय’
इत्यादेशः । अस्मदीये, प्रा० ४ पाद ॥

अम्हो-अस्माकम्-“णे एं मज्ज अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो”
॥ २ । ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद ‘अम्हो’ इत्यादेशः ।
प्रा० ३ पाद ।

अय-अज-पुं० । अजैकपादेवे. स च पूर्वाजादपदानकत्रस्य
देवता । ज्यो० ६ पादु० । “दो अया” स्था० २ गा० ३ उ० ।
अनु० । सूर्यवंशीये रघुपुत्रे, वाच० ।

अय-पुं० । अयनमयः । इण् गतौ इति धातोः “एरच्” ३ । ३ ।
४६ । इति [पाणि०] सूत्रेण अच् प्रत्ययः, आ० म० द्वि० । वेदेन,
ताभे, प्रती च । विशेषः । आ० म० । आव० । इष्टकत्रे, न० । स्था०
१ गा० १ उ० । शुभे, स्था० १० गा० ।

अयम्-न० । लोहं, नि० चू० ५ उ० । जी० । प्रश्न० । उत्त० ।

अयआगर-अयआकर-पुं० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते ।
नि० चू० ५ उ० । यत्र वा लोहकारो लोहं आपयति । स्था० ७ गा० ।

अयं-अयम्-पुं० । “पुंस्त्रियेनिवाऽयमिमिआ सौ” ॥ २ । ३ । ७३ ॥
इति इदमशब्दस्य सौ अयादेशे अयं । प्रा० ३ पाद । “अयं परमं
सेसे अण्डे” अयमिति प्राकृत्यादिदम् । औ० ।

अयं-आयन्-वि० । आगच्छति प्रविशति, “जाव अयंतो
निसीदियं कुणइ” ॥ आ० म० द्वि० ।

अयंपुल-अयंपुल-पुं० । अर्जाविकोपासके गोशालकशिष्ये,
भ० ८ श० ५ उ० ।

अयंमंथि-अयंमंथि-वि० । “अयं संधीति” अयमिति प्रत्य-
कगोचरापन्नः, आर्यकृतसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेग-
लक्षणः सन्धिः । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । ‘अयंस-
न्धीति’ सन्धानं (सन्धिः) सन्धीयते वाऽसाविति सन्धिः ।
अयं सन्धिर्यस्य साधोरमावयंसन्धिः । छान्दसत्वाद् वि-
भक्तेरलुक् । यथाकालमनुष्ठानविधायिनि, यो यस्य वर्त-
मानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव संधत्ते ।
पतञ्जलिं जयति-सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्याय-
भिक्षाचार्याप्रतिक्रमणादिका असंपन्ना अन्योन्यावाधयाऽऽ-
न्यायकर्तव्यकाले करोताम्यर्थ इति । आचा० १ श्रु० २२०५ उ० ।

अयकंत-अयस्कान्त-पुं० । अयमां मध्ये कान्तः रमणीयः ।
कम्कादिन्यान् सन्धम् । कान्तिलोह इति ख्याते लोहभेदे,
वाच० । सन्धिधामात्रेण लोहाकर्षके, [चुम्बक] इतिख्याते प्रस्त-
म्भेदे च । अयमां प्रियत्वात्थान्वयम् । आ० म० प्र० ।

अयककरजोड (ण)-अयककरजोजिन-वि० । अजस्य ग-
गादेः कर्करमतिभ्रष्टं यच्छणकवद् तुल्यमानं कर्करायते तन्मेदो-
दन्तुरं पक्वशुक्रान्तं मांसं, तद् भुङ्क्ते इत्येवंशीघ्रोऽजककरभोजी ।
अजादः कर्करायितमांसमुजि, “अयककरभोजं य, तुन्दिष्टे

त्रिय सोणिण । आउयं नरप कंखे, जहा एसं व एलए” ॥ ७ ॥
उत्त० ७ अ० ।

अयकमिद्व-अयःकमिद्व-न० । अयो लोहं तन्मयं यत्कमिद्वं
तत् । लोहकटाहे, ओघ० ।

अयकरग-अजकरक-पुं० । सप्तदशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पादु० ।
कटप० । चं० प्र० । जं० । “दो अयकरगा” स्था० २ ठा० २ उ० ।

अयकोट्टय-अयःकोट्टक-न० । लोहप्रतापनार्थं कुशले, भ० १६
श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अयकवंत-अयस्कान्त-पुं० । लोहाकर्षके चुम्बके मणौ, आ०
म० प्र० ।

अयगर-अजगर-पुं० । शयःपर्याये, उरःपरिसर्पविशेषे, प्रश्न०
१ आश्र० ॥ ॥ महाकायसर्पे, जं० २ वृत्त० । “से किं तं अ-
यगरा ? । अयगरा एगागारा पन्नत्ता, सेत्तं अयगरा” । प्रज्ञा०
१ पद । जी० ।

अयगोत्रय-अयोगोत्रक-पुं० । अयो लोहं, तस्य गोलः पिण्डोऽ-
योगोलः । नि० चू० १ उ० । अयःपिण्डे, दशा० ७ अ० । सूत्र० ।

अयञ्ज-कृष्-धा०-विभेखने, “कृषेः कष्ट-साअष्टाञ्जालच्छा-
यञ्जञ्जः” ॥ ७ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण कृषेः अयञ्जः ।
अयञ्ज-कृषति । प्रा० ४ पाद ।

अयण-अयन-न० । गमने, आ० म० द्वि० । उत्त० । स्था० । झा० ।
प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, तं० । अतुत्रयमाने, कर्म० ४ कर्म० ।
परमात्मात्मके काले, तं० । जं० । भ० । अनु० । अयनानि पाण्मा-
सिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कटप० ५ क० ।

साम्प्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह-

ठहिं मामेहिं दिनयरो, तेसीयं चरइ मंरुलमयं तु ।

अयणम्मि उत्तरे दा-हिणे य एसो विही होइ ॥

परुभिर्मासैर्दिनकरः सूर्यः व्यशीत्याधिकं मण्डलशतं चरति ।
तथाहि-सर्वाज्यन्तरमन्तरे द्वितीयमण्डले यदा सूर्य उपसंक्रम्य
चारं चरति तदा स तवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमोऽहोरात्रः ।
द्वितीयेन चाहोरात्रेण सर्वाज्यन्तरात् तृतीयमण्डलं चरतिः एवं
परुभिर्मासैरुपशीत्यधिकं मण्डलशतं चीर्णं प्रवति । एष दक्षि-
णायनस्य परमासप्रमाणस्य पर्यन्तः । ततः सर्वबाह्याद् मण्ड-
लादवागन्तरे द्वितीये मण्डले यदोपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति
तदा स उत्तरायणस्य प्रथमो दिवसः । सर्वबाह्याद् मण्डलादवा-
क्तेन तृतीयं मण्डलं द्वितीयेनाहोरात्रेण चरति, एवं परुभिर्मा-
सैरुपशीत्यधिकं मण्डलशतं सर्वाज्यन्तरमण्डलपर्यवसानम् ।
एष दक्षिणम्मिन् उत्तरम्मिन् वा अयने विधिः प्रकारो भवति ।

अत्रार्थे च करणं विवचुः प्रथमतः तदुपपत्तेरपमाह-

तेसीयं दिवसमयं, अयणे सूरस्स होइ पडिपुनं ।

सुण तस्स कारगविहिं, पुव्वायगिओवएमाणं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपूर्णं व्यशीत्याधिकं
दिवसशतम् । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? । उच्यते-इह
युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति, युगे च दिवसानामष्टाद-
शशतानि त्रिशदधिकानि १०३० । ततस्त्रैराशिकमवतारयति-
यद् दशभिरयनैरष्टादशदिवसशतानि त्रिशदधिकानि लघ्यन्ते,

तत एकनायनेन किं लभ्यम् ? । आह-राशित्रयस्थापना १०+१८
३०+१ । अत्रान्त्येन राशिना एकत्रक्षणेन मध्यमस्य राशेर्गुणने प-
केन च गुणितं तदेव भवतीति, जानान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधि-
कानि, तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागो ह्रियते, ब्रह्मं व्य-
शीत्यधिकं दिवसशतम् । एतावदेकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परि-
माणम् । सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायनस्य परिज्ञानविषये कार-
कविधि करणरूपं प्रकारं पूर्वाचार्योपदेशेन प्रतिपाद्यमानं शृणु ।

तत्र करणमाह-

सूर्यस्य अयणकरणं, एवं पन्नरसमंगुणं नियमा ।

निहिंसंखितं संतं, वावट्टीभागपरिहीणं ॥

तेगीयमयविभक्त-स्मि तस्मि लब्धं तु रूवमाएजा ।

जइ लब्धं होइ समं, नायवं उत्तरं अयणं ॥

अह हवइ जागलब्धं, विसमं जाणाहि दक्षिणं अयणं ।

जे अंसा ते दिवसा, होति पवत्तस अयणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, वक्ष्यमाणमिति शेषः ।
तदेवाह-पर्व पर्वसंख्यायं पञ्चदशगुणं नियमात् कर्त्तव्यम् । कि-
मुक्तं भवति?—युगमध्ये विवक्षितदिनात् प्राग् यानि पर्वाणि अ-
तिक्रान्तानि तत्संख्या पञ्चदशगुणा कर्त्तव्येति । ततः पर्वणा-
मुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते । ततो (वाव-
ट्टीभागपरिमाणमिति) प्रत्यहोरात्रम्-एकैकेन द्वापष्टिभागेन परि-
हीयमानेन ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचाराद् द्वापष्टिभागा
इत्युच्यन्ते, ते परिहीनं विधेयम् । ततस्तस्मिन् व्यशीत्यधिकेन शते-
न विजक्ते सति यल्लब्धं रूपमेक द्वाादिकं तत् आदेयात्, गृहीयात्;
पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि ब्रह्मं समं छिचतुरा-
दिरूपं जवति, तदा उत्तरमयनमनन्तरमतीतं ज्ञातव्यम् । अथ
भवति भागे ब्रह्मं विषमं, तदा जानीहि दक्षिणमयनमनन्तरम-
तीतम् । ये तु शेषा अंशाः पञ्चादवतिष्ठन्ते तत्कालं प्रवृत्तस्या-
यनस्य दिवसस्य दिवसा भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ तथाहि-युगमध्ये
नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्ठम-किमयनमनन्तरमतीतम्?,
किं वा साम्प्रतमयनं वर्तते?, इति । तत्र नवसु मासेषु अष्टादश
पर्वाणि, ततोऽष्टादश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके
२७० । नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्ठमिति पञ्च तत्र प्रक्षि-
प्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५. नवसु मासेषु च-
त्वारोऽवमरात्रा जवन्ति, तथा ते चतुर्भिर्हीनाः क्रियन्ते, जाते
द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१ । अस्य राशेः व्यशीत्यधिकेन श-
तेन भागो ह्रियते, लब्धमेकं रूपम्, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः ।
तत आगतमिदमेकमयनमतीतं, तदपि च दक्षिणायनम् ।
साम्प्रतमुत्तरायणं वर्त्तते, तस्य चाष्टाशीत्यां दिवसो व्रजतीति,
तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्ठम-
क्रियन्त्ययनानि गतानि?, किं वाऽनन्तरमयनमतीतं?, किं वा सा-
म्प्रतमयनं वर्त्तते? इति । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पञ्चाशत्पर्वा-
णि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चादश-
धिकानि ७५० । तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्त-
शतानि पञ्चत्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिमासेषु वाऽ-
वमरात्रा अत्रवन् द्वादश, ते ततोऽपनीयन्ते, जातानि
सप्तशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ७४८ । एतेषां व्य-
शीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारः,
शेषास्तिष्ठन्ति षोडश, आगतानि चत्वार्ययनान्यतिक्रान्तानि,
चतुर्थं वाऽयनमनन्तरमतीतमुत्तरायणम् । सम्प्रति दक्षिणाय-

नस्यापवर्तमानस्य षोडशो दिवसो वर्त्तते इति । एवमन्य-
दपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-

तेरस य मंरुत्ताइ, चउत्ता मत्तमट्टिभागा य ।

अयणेण चउ सोमो, नक्खत्ते अष्टमासेणं ॥

इह नक्षत्रमासार्द्धपरिमाणं चन्द्रायणम् । तत आह-नक्षत्र-
विषये योऽर्द्धमासस्ततस्तावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति
तत्र त्रयोदश मासवानि चतुश्चत्वारिंशत् सप्तपष्टिभागान् । किमुक्तं
जवति?—त्रयोदश अहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य सप्तकाश्च-
तुश्चत्वारिंशत् सप्तपष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायण-
स्य परिमाणमिति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? ; उच्यते-
इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च
दिनस्य सप्तका एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः । तत एतस्यार्द्धं
यथोक्तं चन्द्रायणपरिमाणं जवति । अथवा—युगे चन्द्रायणानां
चतुस्त्रिंशदधिकं शतं भवति ; अहोरात्राणां च युगे अष्टादश
शतानि त्रिंशदधिकानि । ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावकाशः । यदि
चतुस्त्रिंशतेन शतेन अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि
प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुमः ? । राशित्रयस्थाप-
ना-१३४ + १८३० + १ । अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिना
गुणने, एकेन च गुणितं तदेव जवतीति जानान्यष्टादशशता-
नि त्रिंशदधिकानि १८३० । तेषामाद्येन राशिना चतुस्त्रिंशद-
धिकशतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारोऽष्टाशीतिः । तत आद्यस्य
राशेः चतुश्चत्वारिंशत् शतानि जानानि अ-
ष्टपञ्चाशत् परणवत्यधिकानि ५८६६ । तेषां चतुस्त्रिंशतेनाधिकेन
शतेन भागो ह्रियते लब्धाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तपष्टिभागाः ।

सम्प्रति चन्द्रायणपरिज्ञानमिति करणमाह-

चन्द्रायणस्स करणं, एवं पन्नरसमंगुणं नियमा ।

तिट्ठिपखितं संतं, वावट्टीभागपरिहीणं ॥

नक्खत्तअष्टमासे-ण भागलब्धं तु रूवमाएजा ।

जइ लब्धं हवइ समं, नायवं दक्षिणं अयणं ॥

अह हवइ जागलब्धं, विसमं जाणाहि उत्तरं अयणं ।

मेसाणं अंसाणं, ओमिस्सइ सो भवे करणं ॥

सत्तट्ठीए विजत्ते, जं लब्धं तइ हवंति दिवसाओ ।

अंसा य दिवसभागा, पवत्तमाणस्स अयणस्स ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा अयनस्य परिज्ञानाय कर-
णमिदम्-यानि युगमध्ये पर्वाण्यतिक्रान्तानि तत्पर्वसंख्यायं प-
ञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ताः
तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वापष्टिभागपरिहीनमवमरात्रपरिहीनं
क्रियते, ततो नक्षत्रस्यार्द्धमासेन तस्मिन् भक्ते सति यद् लब्ध-
मेकद्विवादिरूपं तद् आदेयात्, पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः ।
तत्र यदि ब्रह्मं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमनन्त-
रमतीतमवसेयम् । अथ भवति भागलब्धं विषमं तदा उत्तरं
चन्द्रायणमनन्तरमतीतं जानीहि । इह युगस्यादौ प्रथमतः च-
न्द्रायणमुत्तरं, ततो दक्षिणायनमतोऽत्र समं भागे दक्षिणायनमन-
न्तरमतीतमवसेयम्; विषमे ब्रह्मं उत्तरायणमिति । शेषास्तु अंशा
ये चद्वरितास्तेषामंशानां सप्तषष्ठ्या विभक्ते सति यद् लब्धं
तत् प्रवर्त्तमानस्यायनस्य जवन्ति दिवसाः, तत्राऽप्युचरिता अंशा
दिवसभागा ज्ञातव्याः । तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

केनापि पृथम्-किं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं? किं वा साम्प्रतमुत्तरं दक्षिणं वा वर्त्तते? । तत्र नवसु मासेषु पर्वाणि अष्टादश, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवानां च मासानामुपरि पञ्चम्यां पृथमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५ । नवसु च मासेषु चत्वारोऽवमरा-
त्राः, ते ततोऽपनीयन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१ । ए-
तस्य राशेर्नक्षत्रे मासास्ते जगहरणं, तत्र नक्षत्रार्द्धमासो न
परिपूर्णः, किन्तु कतिपयसप्तपष्टिभागधिकः, तत एव सर्वोऽप्य-
वमरात्रशुक्रः सप्तपष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं
पञ्चाशदधिकम् १८१५०। नक्षत्रार्द्धमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयो-
दशदिवसाः १३, एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तपष्टि-
भागाः ६३। तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तपष्टिभागकरणार्थं सप्त-
पष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि, तत्र
उपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तपष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि
नवपञ्चदशाधिकानि ६१५१। एतैः पूर्वराशेर्भागो ह्येते लब्धा एको-
नविंशतिः १६ । शेषमुद्धरन्ति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि
७७७ । तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तपष्ट्या भागो ह्रियते,
लब्धा एकादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चत्रिंशत् सप्तपष्टि-
भागाः। आगतमेकानविंशतिश्चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि, अनन्तरं
चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्द्रायणस्य स-
म्प्रति प्रवृत्तस्यैकादश दिवसा गताः, द्वादशस्य च दिवसस्य
पञ्चत्रिंशत्सप्तपष्टिभागः, पञ्चम्यां समाप्तायां नविष्यन्तीति ॥
तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासानि क्रमे दशम्यां केनापि पृथम्-
क्रियन्ति चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि? किं च साम्प्रतमनन्तरमती-
तं चन्द्रायणं, किं वा संप्रति वर्त्तते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं
वेति? । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पर्वाणि पञ्चाशत्, तानि
पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि
७५० । तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि प-
ष्ट्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिमासेषु चावमरात्रा अभवन्
द्वादश, ते पूर्वराशेर्पनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारि-
शदधिकानि ७४८ । तानि पष्टिभागकरणार्थं सप्तपष्ट्या गुण्य-
न्ते, जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चवन्त्यधिकानि ५०००६६ ।
तेषां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः ६१५ भागो ह्रियते, लब्धा-
श्चतुष्षपञ्चाशत् । शेषमुद्धरत्यष्टौ शतानि षडशीत्यधिकानि
८८६ । तेषां दिवसानयनाय सप्तपष्ट्या जगहरणं, लब्धास्त्रयो-
दश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, आगतानि चतुष्षपञ्चाशत्
चन्द्रायणानि अतिक्रान्तानि । अनन्तरं चातिक्रान्ते चन्द्रायणं द-
क्षिणं, सम्प्रति वर्त्तते उत्तरं चन्द्रायणम्, तस्य च त्रयोदश दिव-
साश्चतुर्दशस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तपष्टिभागा दश-
म्यां समाप्तायां नविष्यन्तीति । एवमन्यदपि भावनीयमिति ॥
ज्यो० ११ पाद० । च० प्र० । मृ० प्र० ।

अयपाद (य)-अयःपात्र-न० । लोहपात्रे, “ अयपादाणि
वा नवपादाणि वा ” आचा० ७ श्रु० ६ अ० ६ उ० ।

अयमग-अजमग-पुं० । द्रव्यमार्गभेदे, यत्र वस्तुना जेत गम्यते ।
तद्यथा-सुवर्णभूम्यां चारुदत्तो गतः ॥ मृ० १ श्रु० ११ अ० ॥

अयर्वादि-अजर्वाधि-स्त्री० । हस्तचित्रास्वातीविशाम्नाऽनुरा-
धापञ्चकुरुपमहाग्रहचारविशेषमार्गे, स्था० ९ ग्रा० ।

अयर्म-अतर्म-स्त्री० । मात्रवक्रप्रसिद्धे धान्याविशेषे, (तीन्नी-
अन्नम) द्वा० ० अ० । प्र० । प्र० । आ० म० । आ० अन्त० ।

जं० । रा० । उत्त० । को० । भङ्ग्याम, ज० ६ श० ७ उ० ।
अयमीकुसुमप्यास-अतसीकुसुमप्रकाश-त्रि० । नीले, शा० १
अ० । अन्त० । उपा० । रा० ।

अयसीपुष्प-अतमीपुष्प-न० । धान्यविशेषस्य प्रसूने, उत्त०
३४ अ० ।

अयसी (सि) वण-अतसीवर्ण-त्रि० । अतसीकुसुमवर्णे
श्यामवर्णे, उत्त० १६ अ० ।

अयहारि (ण्)-अयोहारिन्-त्रि० । लोहस्याहर्तरि, सूत्र०
१ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अयाकिंवाणिज-अजाकृपाणीय-न० । ममोपरि कृपाणं पति-
ष्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागले कृपाणपतनरूपे अ-
तर्कितोपस्थिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अयाकुच्छि-अजाकुक्षि-त्रि० । अजायाः कुक्षिरिव कुक्षिर्यस्य
तदजाकुक्षि । उपा० २ अ० ।

अयागर (न०)-अयआकर-पुं० । प्राकृतत्वाद्पुंसकत्वम् ।
लोहाकरे, येषु निरन्तरं महास्पास्वयोदलं प्रक्षिप्याऽय उत्पाद्य-
ते । जं० ३ प्रति० ।

अयाणंत-अजानत-त्रि० । अविदुषि, “ पावस्स फलाविवागे
अयाणमाणा वट्ठति ” । प्रश्न० १ सम्ब० छा० ।

अयावय-अजावज-पुं० । अजावाटके, “ केइ पुरिसे अयासय-
स्स एगं महं अयावयं करेज्जा ” । भ० १ए शा० ३ उ० ।

अयावयह-अयावदर्थ-पुं० । न यावदर्थः । अपरिसमाप्ते,
दश० ५ अ० २ उ० ।

अय्य-आर्य-पुं० । “ न वा यो य्यः ” । उ० । ४ । २६६ । इति ‘ यं ’
जागस्य य्यः । [अस्यार्थस्तु ‘ अज्ज ’ शब्देऽत्रैव भागं २०८ पृष्ठे
रूप्यः] “ अय्य ! पशे खु कुमारो मलयकेदू ” । आर्य !
एव खलु कुमारो मलयकेतुः । प्रा० ४ पाद ।

अय्युत्त-आर्यपुत्र-पुं० । “ न वा यो य्यः ” । उ० । ४ । २६६ ।
इति शौरसेन्यां यंस्य स्थाने य्यः । श्रेष्ठपुत्रे, नाटकसंवाधे नाय-
कादौ, “ अय्युत्त ! पश्याकुलीकदम्हि ” आर्यपुत्र ! पश्याकुली-
कताऽस्मि । प्रा० ४ पाद ।

अय्युण-अज्जुण-पुं० । “ जययां यः ” । उ० । ४ । २६२ इति मागध्यां
जस्य स्थाने यः । (‘ अज्जुण ’ शब्दे २२४ पृष्ठेऽत्रैवास्यार्थः)
प्रा० ४ पाद ।

अर-अर-पुं० । न० । अ-अच् । चक्रनाजिनेर्म्योर्मध्यस्थे काष्ठे,
शीघ्रे च । वाच० । न० । सर्वोत्तमे महासत्त्व-कुत्रेय उपजायते ।
तस्याभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृतः ॥१॥ इति वचनाद्-अरः ।
तथा गर्जस्थेऽस्मिन् जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो हृष्ट इति
अरः । ध० २ अधि० । जम्बूद्वीपे जरतक्षेत्रे वर्त्तमानायामवसर्पि-
ण्यां जाते सप्तमे चक्रवर्त्तिनि, स० । अष्टादशे तीर्थकरे, स० ।
आव० । ति० । स्था० । प्र० ।

सुमिणे अरं महरिदं, पासइ जणणी अरो तम्हा ॥४६॥
तन्त्र सत्त्वे यि सत्त्वुत्तमे कुले सुविष्किका एव जायन्ति, विसंसे
पुणो- (सुमिणो अरं महरिदं ति) गाहापञ्चदं । गन्त्रगते माताप
सुमिणे सत्वरयणमयो अइसुदरो अइपमाणो जम्हा अरो
दिट्ठा तहा अरो ति सं णामं कतं ति गाथार्थः ॥४६॥ आव० २
अ० । आ० चू० ।

अरजिनचरित्रं त्विन्धम—

सागरतं चक्ष्णं, जरहं नरवरीसरो ।

अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥

च पुनः, अरो अरनामा नरवरेभ्वरः सप्तमचक्री सागरान्तं समुद्रान्तं भरतक्रेत्रं पश्यण्डराज्यं त्यक्त्वा अरजस्वं प्राप्तः सन् अनुत्तरां गतिं सिद्धगतिं प्राप्तः, मोक्षं गत इत्यर्थः । चक्री भूत्वा तीर्थं करपदं कृत्वा मोक्षं गत इत्यर्थः । अत्र अरनाथदृष्टान्तः । अरनाथवृत्तान्तस्तुत्तराध्ययनवृत्तिद्वयेऽपि नास्ति, तथापि ग्रन्थान्तराल्लिख्यते—प्राग्विदेहविजृम्भणे मङ्गलावतीविजये रत्नसञ्चयापुरी अस्ति । तत्र मदीपावनामा भूपावोऽस्ति स्म, प्राज्यं राज्यं जुञ्जे स्म । अन्यदा गुरुमुखाद्धर्मं धृत्वा स वैराग्यमागतः, स तृणमिव राज्यं त्यक्त्वा दीक्षां लब्धौ । गुर्वन्तिके एकादशाङ्गानि अभ्युत्थ गीतार्थो बभूव । बहुवत्सरकोटीः स संयममाराध्य विशुद्धविशतिस्थानकैरर्हन्नामकर्म बन्ध । ततो मृत्वा सर्वाभिसिद्धविमानं देवो बभूव । ततश्च्युत्वा इह भरतक्षेत्रे दस्तिनागपुरे सुदर्शननामा नृपो बभूव । तस्य राज्ञी देवीनाम्नी बभूव । तस्याः कुक्षौ सोऽवततार । तदानीं रेवतीनक्षत्रं बभूव । तया चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः ततः पूर्णेषु मासेषु रेवतीनक्षत्रे तस्य जन्म बभूव । जन्मोत्सवस्तदा पट्पञ्चाशद्विक्रुमारिकाभिः चतुष्पष्टिसुरेन्द्रैर्निर्मितः, ततः सुदर्शनराजाऽपि स्वपुत्रस्य जन्मोत्सवं विशेषाच्छकार । अस्मिन् गर्भगते मात्रा प्रौढा रत्नमयोऽरः स्वप्ने दृष्टः । ततः पित्राऽस्य 'अर' इति नाम कृतम् । देवपरिवृतः स वयसा गुणैश्च वर्द्धते स्म । एकविंशतिसहस्रवर्षेषु अरकुमारस्य पित्रा राज्यं दत्तम्, एकविंशतिवर्षसहस्राणि यावद्वाज्यं कृतवतः तस्य शस्त्रकांशे चक्ररत्नं समुत्पन्नं, ततो भरतं संसाध्य एकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावत्सकवर्त्तित्वं वुञ्जते । ततः स्वामी स्वयं बुद्धोऽपि लोकान्तिके देवबोधितो वार्षिकं दानं दत्त्वा चतुष्पष्टिसुरेन्द्रैः सेवितो वैजयन्त्याख्यां शिविकामारूढः सहस्राश्रवणे सहस्रराजजिः समं प्रवर्जितः । ततश्चतुर्दानीं असौ त्रीणि वर्षाणि लुप्तस्थो विहृत्य पुनः सहस्राश्रवणे प्राप्तः । तत्र शुक्लध्यानेन ध्वस्तपापकर्मारः केवलज्ञानं प्राप । ततः सुरैः समवसरणे कृते स्वामी योजनगामिना शब्देन देशनां चकार । ते देशनां धृत्वा केऽपि सुश्रावका जाताः, केऽपि च प्रवर्जिताः । तदानीं कुम्भचूषः प्रवर्ज्य प्रथमो गणधरो जातः । अरनाथस्य षष्टिसहस्राः साधवो जाताः, साध्यः स्वामिनस्तावत्प्रमाणा एव जाताः । श्रावकाश्चतुरशीतिसहस्राधिकलक्षणयमाना बभूवुः । सम्मत्तशैलशिखरे मासिकाऽनशनेन भगवान्निवृत्तः । देवैर्निर्वाणोत्सवो भृशं कृतः ॥ उक्तं १८ अ० । "अरे णं अरहा तीसं धणु उट्ठं उच्चत्तेणं होत्था " । स० ३० सम० । कल्प० । अग्नौ, जै० गा० । (अस्यान्तरं 'अंतर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६६ पृष्ठे प्रदर्शितम्)

अरइ—अरति—स्त्री० । रमणं रतिः—संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः । उक्तं २ अ० । संयमविषयेऽर्थै, उक्तं २ अ० । संयमोद्विग्नतायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । उद्देगलक्षणे मोहनीयोदयजे चित्तविकारः, स्था० १ टा० १ उ० । सूत्र० । दश० । दशा० । वातादिजस्ये चित्तोद्वेगे, उक्तं ११ अ० । अमनोहृषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगे, वृ० १ उ० । सूत्र० । अग्निष्टसंप्रयोगसंज्ञे मनोदुःखे, प्रव० ४१ द्वार । इष्टप्राप्तिविनाशोत्थे मानसे विकारः, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० । स० ।

अरइं आउट् से मेहावी

रमणं रतिस्तदभावोऽरतिः, तां पञ्चविधाचारविषयां मोहोदयात्कपायाभिष्वङ्गजनितां मातापितृकलत्राद्युत्थापितां, (स ईति) अरतिमान्, मेधावी विदितासारसंसारस्वभावः सन्, आवर्तेन निवर्तयेदित्युक्तं भवति । संयमे चारतिर्न विषयानिष्वङ्गमृते, कण्डरीकस्येव; इत्यत इदमुक्तं प्रवर्ति-विषयाभिष्वङ्गे रतिं निवर्तेत । निवर्त्तने चैवमुपजायते—यदि दशविधचक्रवालसा-माचारीविषया रतिरुत्पद्यते, पौण्डरीकस्येवेति, ततश्चेदमप्युक्तं प्रवर्ति-संयमे रतिं कुर्वति, तद्विहितरतेस्तु न किञ्चिद्वाधायै नापीहापरसुखोत्तरबुद्धिरिति । आह च—

“कितितलशयनं वा प्रान्तभिक्षाऽशनं वा,

सहजपरिजवो वा नीचदुर्भाषितं वा ।

मदति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,

न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति ” ॥ १ ॥

“तणसंथारणिसण्णा, विमुणिवरो जठरागमयमोहो ।

जं पावइ मत्तिमुहं, कत्तो तं चक्खवट्ठी वि ” ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

“अरइं च वांसिरे ” अरतिं चानभिमतक्षेत्रादिविषयां व्युत्सृजामि । आतु० ।

अरइकम्म—अरतिकर्मान्—न० । नोकपायवेदनीयकर्मज्जे, यदुदयात् सचित्ताचित्तेषु बाह्यद्रव्येषु जीवस्थारतिरुत्पद्यते । स्था० ९ टा० ।

अरइकारग—अरतिकारक—त्रि० । अरतिजनके, दश० १ च० ।

अरइपरि (री) सह—अरतिपरि (री) पद—पुं० । रमणं रतिः संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषहः, अरतिपरीषहः । उक्तं २ अ० । अरतिर्मोहनीयजो मनोविकारः, सा च परीषहः, तन्निषेधेन सहनमिति । म० ८ श० ८ उ० । विहरतस्तिष्ठतो वा यथारतिरुत्पद्यते तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि मय्यधर्मारामरतेनैव संसारजावमालोच्य भवितव्यम् । परीषहभेदे, आव० ४ अ० ।

“गच्छंस्तिष्ठन्निषण्णो वा, नारतिप्रवणो भवेत् ।

धर्मारामरतो नित्यं, स्वस्थचेता प्रवेन्मुनिः ” ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० ।

न कदाऽप्यरतिं कुर्याद्, धर्मारामरतिर्यतिः ।

गच्छंस्तिष्ठन्निषण्णो वा, स्वस्थमेव समधयेत् ” ॥ १ ॥

अ० ३ अधि० ।

अरतिपरीषहमाह—

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं ।

अरइं अणुप्पविसे, तं तितिक्खे परीमहं ॥ १४ ॥

ग्रामसुखम-मसते बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः । स च जिगमिषितः, अनुग्रामश्च नन्मार्गानुकूलः, अननुकूलगमने प्रयोजनात्तावात्, आत्मानुग्रामम् । यद्वा—ग्रामश्च स एव बहुग्रामश्च तम् । अथवा ग्रामानुग्राममिति रुढिशब्दत्वादेकसाद् ग्रामादन्योऽनुग्रामः । ततोऽपि ग्रामानुग्राममुच्यते । नगराद्युपलक्षणमेतत्—ततो नगरादींश्च । किमित्याह—(रीयंतं ति) व्यत्ययाद्रीयमाणं विहरन्तम्, अनगारमुक्तस्वरूपम्, अकिञ्चनं नास्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनकनकाद्यस्तीत्यकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तथाचूतम्, अरतिरुक्तरूपा, अनुप्रविशेन्मनसि लब्धाऽऽस्पदा भवेत्, (तमिति) अरतिस्वरूपं, तितिकेत्तु सहेतु, परीषहमिति सूत्राद्यः ।

तस्मिन् नोपायमेवाऽऽह-

अरइं पिड्डमो किञ्चा, विरए आयरक्खिए ।

धम्मारामे निगरंभे, ठवसंते मुणी चरे ॥ १५ ॥

अगतिं पृष्ठतः कृत्वा विरतो हिंसादेः, आत्मा रक्षितो दुर्गति-
हेतोरपघ्नानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आयो वा ज्ञानादिलाभो र-
क्षितोऽनेनेत्यापरक्षितः, धर्मे आरमते रतिमान् स्यात् इति ध-
र्मागमः । यद्वा-धर्म एवानन्दहेतुतया पाल्यतया वाऽऽगमो ध-
र्मागमः, तत्र स्थितः, निगरम्भ उपशान्त एवंविधो मुनिश्चेत्
संयमाध्वनि, न पुनरुपचारितरपध्यानेच्छुः स्यात् ॥ १५ ॥

अत्र पुरोहितराजपुत्रयोः कथा । यथा-अचलपुरे जितशत्रुपुत्रः
अपराजितनामा रोहाचार्यपार्श्वे दीक्षितः, अन्यदा विहरन् तग-
रां नगरीं गतः, तावता उज्जयिन्या आर्यरोहाचार्यशिष्यास्तत्रा-
गताः । पृष्ठं साधुना तेन उज्जयिन्याः स्वरूपमातैरुक्तम्-सर्वं तत्र
वरम्, परं नृपपुत्रामान्यपुत्रौ साधुमुद्वेजयतः । ततो गुरुनापृच्छ्य
स्वभ्रातृव्यबोधार्थं शीघ्रमुज्जयिन्यां गतः, तत्र भिक्षावेद्यायां लोकै-
र्वायमाणोऽपि वादस्वरणं 'धर्मलाभ' इति पठन राजकुलं प्र-
विष्टः, राजपुत्रास्मात्पुत्राभ्यां सोपहासमाकारितः । अत्राग-
च्छत, वन्द्यते । ततः स गतः । ताज्यां उक्तम्-वेत्ति नति-
तुम् ? । तेनोक्तम्-वाढम्, परं युयां वाद्यनः तौ तादृशं वाद-
यितुं न जानातः ततस्तेन तथा तौ कुरुतौ पृथक्कृत-
हस्तपादादिस्निग्धवन्तौ, यथा अत्यन्तमारुष्टिं कुरुतः । तौ
तादृशावेव मुक्त्वा साधुरुपाश्रये समायातः । ततो राजा सर्वव-
लेन तत्राऽऽयातः, तमुपब्रूय प्रसादनाय तस्य पादयोः पपात ।
उवाच-स्वामिन् ! सापराधावपि इमौ सज्जीकार्यौ, अतः परम-
पराधं न करिष्यतः । साधुनोक्तम्-यदीमौ प्रव्रजतस्तदा मुञ्चा-
मि । राजोक्तम्-एवमप्यस्तु । ततस्तौ प्रथमं लोचं कृत्वा प्रवा-
जितौ, तत्र राजपुत्रा निःशङ्कितौ धर्मं करोति, इतरस्तु अमप्ये-
वहति, अहं बलेन प्रवाजित इति चेतस्योद्वेगं वहति । परं पात्र-
यित्वा द्वावपि चारित्रं शुद्धं मृत्वा तौ दिवं गतौ । अस्मिन्नवसरे
कौशाम्यां तापसश्रेष्ठौ मृत्वा स्वगृहे शूकरो जातः, तत्र जातिस्मर-
णं प्राप्तवान्, सर्वं स्मृत्वादिदृष्टुं प्रत्यभिजानाति परं वक्तुं न
किञ्चित् शक्नोति स्म । अन्यदा सुतरेण शूकरो मारितः, ततः स्व-
गृह एव सर्पो जातः । तत्रापि जातिस्मरणवान्, पुनस्तैरेव मारितः,
ततः पुत्रपुत्रो जातः । तत्रापि जातिस्मरणमाप । स एवं चिन्तयति-
कथमेतां पूर्वजवधूं मातरमहमुल्लसामि; कथं चेमं पूर्वभवपुत्रं पि-
तरमहमुल्लसामि? इति विचार्य मौनमाश्रितो मूकवनभाग जातः ।
अन्यदा केनचित् चतुर्जानिना तद्वेधं ज्ञात्वा स्वाशिष्ययोर्मुखात्
गाथा प्रेषिता-"तावस ! किमिणा मूत्र-व्वरणं पाडिबज्ज जाणिधं
धम्मं? मरिऊण मूअरोरग-जाओ पुत्तस्स पुत्तसि" ॥१॥ एतां गाथां
श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गुरुणां मुश्रावकाऽभूत् । एतस्मिन्नवसरे सोऽ-
मान्यपुत्रजिवदेवो महर्षिर्देहं तीर्थद्वारं समीपे पृच्छति-जगवन् !
किमहं सुलभबोधिर्दुर्लभबोधियां ? , इति प्रश्नं प्रोक्तं तीर्थद्वारे-
ण-त्वं दुर्लभबोधिः कौशाम्यां मूकसन्नातार्था इति लब्धोत्तरः
स सुरो गतो मूकपार्श्वे । तस्य घट्टु इत्यं दत्त्वा प्रोक्तवान्-यदाऽहं
त्वन्मातृद्वारे उत्पत्स्ये तदा तस्या आस्रदोहदो भविष्यति, स
दोहदः साम्प्रतं महर्षिर्नैः सदाफलाग्रफलैस्त्वया तदानीं
तस्याः पूर्णकार्यः । पुनस्त्वया तथाविधेयं यथा तदानीं
मम धर्मशान्तिः स्यात्, एवमुक्त्वा गतो देवः । अन्यदा
देवलोकात् च्युत्वा स देवस्तस्या गर्भे समुपपन्नः, तस्या-

आस्रदोहदः समुपपन्नो मूकेन पूर्वोक्तरीत्या पूरितः । पुत्रो जातः । मू-
कस्तु तं बालं ब्रह्ममपि करे कृत्वा देवान् साधूंश्च वन्दापयति,
परं स दुर्लभबोधिवेन तान् दृष्ट्वा रटति । एवमावावकाहादपि
भृशं प्रतिबोधितोऽपि स न बुध्यते । ततो मूकः प्रवाजितो गतः
स्वर्गम् । अथ देवीभूतेन मूकजीवेन स दुर्लभबोधिर्बालः प्रति-
बोधिकृते जज्ञोदरव्यथावान् कृतः । वैद्यरूपं कृत्वा देवेन उक्तः-
अहं सर्वरोगोपशमं करोमि । जज्ञोदरी वक्ति-मम जज्ञोदरोपशा-
न्तिं कुरु । वैद्यनोक्तम्-तवासाध्योऽयं रोगः, तथाऽप्यहं प्रतीकारं
करोमि, यदि मम पृष्ठे औषधकोत्थत्रकं समुपाट्य मयैव सहाग-
मिष्यसि । तेनोक्तम्-एवं भवतु । ततो वैद्येन स जज्ञोदरी सज्जी-
कृतः समाधिभाग जातः । ततस्तस्यापाटनाय औषधकोत्थत्रक-
स्तेन दत्तः । स तपृष्ठे ब्रमन् तं कोत्थत्रकमुपाटयति । देवमाय-
या स कोत्थलकोऽतिजारवान् जातः, तमतिजारं वहन् स
खियति, परं तमनुसृज्य पश्चाज्जन्तुं न शक्नोति, मा नृपपश्चाज्ज-
स्य मे पुनर्जज्ञोदरव्यथेति विमर्शं कुर्वन् वैद्यस्यैव पृष्ठे कोत्थ-
त्रकं वहन् ब्रमति । एकदा एकस्मिन् देशे स्वाध्यायं कुर्वन्तः सा-
धवो दृष्टाः । तत्र तौ गतौ । वैद्यनोक्तम्-त्वं दीक्षां यदा गृहीष्यसि,
तदा त्वां मुञ्चामि । स प्रारज्ज्मो वक्ति-गृहीष्याम्येव । ततो वै-
द्येन अस्य दीक्षा दापिता । देवे च स्वस्थानं गते तेन दीक्षा
परित्यक्ता । देवेन पुनरपि तथैव जज्ञोदरं कृत्वा वैद्यरूपधरेण पु-
नरसौ दीक्षां प्राहितः । पुनर्गते च देवे तेन दीक्षा त्यक्ता । तृ-
तीयवारं दीक्षां दापयित्वा वैद्यरूपो देवः सार्द्धं तिष्ठति स्थिरी-
करणाय । एकदा तृणभारं गृहीत्वा स देवः प्रज्ज्वल्लामे प्रवि-
शति । ततस्तेन साधुनोक्तम्-ज्वलति ग्रामे कथं प्रविशसि ? ।
देवेनोक्तम्-त्वमपि कोधमानमायालोत्रैः प्रज्वलिते गृहवा-
से वार्यमाणोऽपि पुनः पुनः कथं प्रविशसि ? । वैद्यरूपेण
देवेनैवमुक्तोऽपि स न बुध्यते । अन्यदा तौ अट्टयां गतौ । देवः
कण्टकाकुले मार्गे चरति । स प्राह-कस्मादुन्मार्गेण यासि ? ।
देवेनोक्तम्-त्वमपि विशुद्धं निर्मलं संयममार्गं परित्यज्य आधि-
व्याधिरूपे कण्टकाकीर्णे संसारमार्गे कस्माद् यासि ? । एवं देवे-
नोक्तोऽपि स न बुध्यते । पुनरेकस्मिन् देवकुले तौ गतौ । तत्र यज्ञ
ईप्सितपूजापूज्यमानोऽपि पुनः पुनरधोमुखः पतति । स कथयति-
अहो ! यज्ञस्य अधमत्वं, यत्पूज्यमानोऽप्ययमधोमुखः पतति । दे-
वेनोक्तम्-त्वमप्येतादृशोऽधमः, यद्वन्द्यमानः पूज्यमानोऽपि त्वं पुनः
पुनः पतसि । ततः स साधुर्वाक्ति-कस्त्वम् ? । देवेन मूकस्वरूपं दर्-
शितं, पूर्वभवसम्बन्धश्च कथितः । स वक्ति-अत्र कः प्रत्ययः ? ।
ततो वैताड्ये चैत्यवन्दनार्थं देवेनाऽसौ प्रापितः । तत्रैकस्मिन्
सिद्धायतनकोणे दुर्लभबोधिदेवेन स्वबोधाय मूकविदितं स्व-
कुण्डलगुणं स्थापितमभूत् । तत्तदानीं दर्शितं, ततस्तस्य
जातिस्मरणं जातं; तेनाऽस्य चारित्रं दृढताऽभूत् । अस्य पूर्व-
मरतिः, पश्चाद् रतिः । उक्तं १ अ० ।

अरइपरि(री)सहविजय-अरतिपरि(री)बहविजय-पुं० । अर-
तिपरित्यजने, पं० सं० । सूत्रोपदेशतो विहरतस्तिष्ठतो वा क-
दाचनापि यद्यरतिरूपयते तदाऽपि स्वाध्यायध्यानज्ञावनारूप-
धर्मारामरतत्वेन यदरतिपरित्यज्जन् सोऽरतिपरिबहविजयः ।
पं० सं० ४ द्वार ।

अरइमोहणिज्ज-अरतिपोहनीय-न० । नोकायभेदे, यदुदया-
त्मनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्याज्यन्तरेषु वस्तुष्वप्रीति-
नयति । कर्म० ? कर्म० ।

अरइग्-अरतिगति-स्त्री० । मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगोऽरतिः, रतिः मोहनीयोदयाच्चित्तप्राप्तिः । इति द्वन्द्वः । कल्प० ६ क० । रत्यरत्योद्वेगे, “ एगा अरतिरती ” । अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजश्चित्तविकार उद्वेगवृत्तः, रतिश्च तथा-विधानन्दरूपा; अरतिरति इत्येकमेव विवक्षितम्, यतः कचन विषये या रतिस्तामेव विषयान्तरापेक्षया अरतिं व्यपदिशन्ति, एवमरतिमेव रतिम्, इत्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति । (समा० स० न०) रत्यरत्योरेकतायाम्, स्था० १ ग० १ उ० ।

अरइग्सह-अरतिगतिरसह-पुं० । अरतिरती सहते इत्यरतिरतिसहः । रत्यरत्योर्हर्षविषादावकुर्वाणे, कल्प० ५ क० ।

अरइममावणचित्त-अरतिममापन्नाचित्त-त्रि० । संयमे उद्वेगगताभिप्राये, दश० १ चू० ।

अरंजर-अरंजर-न० । लंजरमिति प्रसिद्धे उदककुम्भे, स्था० ६ ग० ।

अरक्खरी-(अरक्षापुरी)-स्त्री० । चन्द्रध्वजनुपपन्निते स्वनामख्याते प्रत्यन्तनगरे, “ ततः प्रत्यन्तनगरे, अरक्खरीति नामनि । अस्ति माण्डलिकस्तत्र, जिनचन्द्रध्वजाभिधः ” ॥ १४ ॥ आ० क० । आ० चू० । आव० ।

अरगाउत्त-अरकायुक्त-त्रि० । अरकैरभिविधिनाऽन्विते, भ० ३ श० १ उ० ।

अरगाउत्तासिय-अरकोत्तासित-त्रि० । अरका उत्तासिता आस्फालिता यत्र । आस्फालिताऽरके, भ० ३ श० १ उ० ।

अरज्जुयपास-अरज्जुकपाश-पुं० । रज्जुकं विना बन्धने, तं० ।

अरज्जिय-अरहित-त्रि० । निरन्तरे, “ अरज्जियाभितावा तह वी तविति ” अरहितो निरन्तरोऽजितापो दाहो येषां तेऽरहिताभितावाः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अराणि-अराणि-पुं० । अग्न्यर्थे निर्मन्थनीयकाष्ठे, नि० ३ वर्ग । विशेष० । आव० । ज्ञा० । “ अराणि महिऊण अग्निं पादेह ” आ० म० द्वि० । “ अतिथिं ण घ्राणसहगया अराणिसहगया ” । अराणिअग्न्यर्थे निर्मन्थनीयकाष्ठं तेन सह गतो यः स तथा । भ० २५ श० ८ उ० ।

अराणिया-अराणिका-स्त्री० । स्कन्धधीजवनस्पतिभेदे, आ-चा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अरस-अरस-न० । कान्तारे, स्था० १ ग० १ उ० । उक्त० । आव० । निर्जने, अष्ट० ४ अष्ट० । वने, उक्त० १४ अ० ।

अरसवर्त्तिसग-अरण्यावर्त्तसक-न० । एकादशदेवलोकाविमानभेदे, स० ३२ सम० ।

अरत्त-अरत्त-त्रि० । रागरहिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अरत्तुड-अरत्तद्विष्ट-न० । रागद्वेषरहिते, दर्श० । ध० २० ।

अरय-अरक-पुं० । अवसर्पिण्युत्सर्पिणीलक्षणस्य काष्ठचक्रस्य सुषमसुषमाऽऽदिरूपे द्वादशे जागे, ति० । अरशब्दार्थे, आ० म० द्वि० । अरकाणां परस्परसादृश्यं यथा—“ कुरुडुगि इरिरम्मयदुगि, हेमवपरवइडुगि विदेहे ॥ कमसो सयाऽवसर्पिणि, अरय-चउक्काह समकावो ” ॥ १०८ ॥ लघुकेसमासप्रकरणे ।

अरजम्-त्रि० । स्वाभाविकरजोरहिते, स० । कल्प० । प्रज्ञा० । रजोगुणकामक्रोधादिशून्ये, धूलाशून्ये च । वाच० । त्रयःसप्त-तितमं महाग्रहं, “ दो अरया ” स्था० २ ग० ३ उ० । चं० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । ब्रह्मलोकस्थविमानप्रस्तम्भे, न० । स्था० ६ ग० । कुमुदविजयस्वराजधान्याम्, “ कुमुदे विजये अरजा राजधानी ” । जं० ४ चक्र० । रजसोऽभावे (अव्य० न०) उक्त० १८ अ० ।

अरत्त-त्रि० । आरम्भनिवृत्ते, निर्ममत्वे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । सुत्र० ।

अरयंवरवत्थर-अरजोऽम्बरवत्थर-त्रि० । अरजांसि रजो-रहितानि च तानि अम्बरवत्त्राणि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पव-सनान्यरजोऽम्बरवत्त्राणि, तानि धारयतीति यः स तथा । तथाविधवत्प्रधारके देवादौ, भ० ३ श० २ उ० । उक्त० । प्र-ज्ञा० । जं० ।

अरयणि-अरत्रि-पुं० । वितताङ्गुलौ करे, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

अरविंद-अरविन्द-न० । पद्मविशेषे [कमले,] आ० म० प्र० । प्रज्ञा० “ पुष्केसु वा अरविंदं पहाणं ” । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० ।

अरस-अरस-न० । अविद्यमानाहारार्थरसे हिङ्गवादिभिरसं-स्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । अप्राप्तरसे, द० ५ अ० २ उ० । ज्ञा० । भ० । औ० ।

अरसजीवि (ण्)-अरसजीविन्-पुं० । अरसेन जीवितुं शी-लमाजन्माऽपि यस्य स तथा । अरसाऽऽहारे, स्था० ५ ग० १ उ० ।

अरसाल-अरसाह-त्रि० । विरसे, ‘अरसाहं पि भोयणं सुजं गंधजुसं’ । नि० चू० २ उ० ।

अरसाहार-अरसाहार-पुं० । अरसं हिङ्गवादिभिरसंस्कृतमाहा-रयन्तीति; अरसो वाऽऽहारो यस्यासावरसाहारः । तथाविधा-भिप्रहविशेषधारके, स्था० ५ ग० १ उ० । जं० । औ० ।

अरह-अरहम्-पुं० । न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकल-सन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वात्, इत्य-रहाः । स्था० ४ ग० १ उ० । न विद्यते रहो विजनं यस्य सर्व-ज्ञत्वादसावरहाः । स्था० ६ ग० ।

अर्हत्-पुं० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्य-र्हन् । पा० । कल्प० । स्था० । उक्त० । अशोकादिप्रातिहार्यपूजा-योग्ये, कल्प० ६ क्ष० । सूत्र० । इन्द्रादिभिः पूज्ये, उक्त० ६ अ० । तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जिने, स्था० ३ ग० ४ उ० । “ तत्रो अरहा पणुत्ता । तं जहा-ओहिनाणअरहा, मणपणव-णाणअरहा, केवलणाणअरहा ” । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अरहंत-अर् (र) हत्-पुं० । अर्हन्ति देवादिकृतां पूजा-मित्यर्हन्तः । अथवा नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात्तेऽरहन्तः । शेषं प्राग्वत् । एते च सलेश्या अपि भवन्तीति । स्था० ३ ग० ४ उ० । अमरवरनिर्मिताऽशोकादि-महाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः । अविद्यमानरहस्येषु, अनु० । दशा० १ अ० । पं० सू० ।

अरहंते सिद्धे आयरिण उवज्जाए साहवो जत्थ । एएसि
चेव गन्तत्थसंभावो इमो । तं जहा—सनरामरामुरस्स एं
सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापादिहाराए पूयाए समोवन्नखियं
अण्णमरिसमचित्तमाहप्पं केवलाहिद्धियं पवरुत्तमत्तं ॥

(अरहंते त्ति) अरहंता असेसकम्मक्खपणं णिहुज्जवक्कुर-
नाओ न पुणो हि ज्वंति, जम्मंति, उवज्जंति वा, अरहंता
वा णिम्महियनिहयनिहलियविल्लुयनिहवियअज्जित्तयसुदुज्जा-
या ॥ महा० ३ अ० । आ० । प्रव० । दश० । त्रिभुवनपूजा-
योग्येषु तीर्थकरेषु अष्टभादिषु, कल्प० १ च० । आजीवि-
ककल्पनया गोशालकोऽप्यहं, अत एव तेऽहं देवताका इत्युच्य-
न्ते । “अरहंतदेवयागा” गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽहंत्वात् ।
भ० ८ श० ५ उ० । “जां जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जव-
त्तेहि । सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं” ॥ १॥ने० ।
अरहोऽन्तरं-न० । अविद्यमानं रह एकान्तरूपो देशोऽन्त-
श्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्र-
च्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः । अहंस्तु जिनेषु,
भ० २ श० १ उ० ।

अरथान्त-पुं० । अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहो-
पलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां तेऽर-
थान्ताः । ज० १ श० १ उ० ।

अरहयन्-पुं० । कचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागात्वात् प्रकृष्ट-
रागादिहेतुजुतमनोज्ञैरविषयसंपर्केऽपि वीतरागात्वादिकं स्व-
भावमत्यजत्सु जिनेषु, भ० १ श० १ उ० ।

अरहंतमगगामि (ण)—अहंमार्गगामिन्—त्रि० । अहंउपदि-
ष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं यस्य । जैन साधौ, “अरहंतमगगा-
मी, दिष्टं सादृशो वि समाचित्ता । पागरपसु गिहीसु, पसंते
अवहमाणा उ ” ॥ १५१ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतवच्छि—अहंत्वच्छि—स्त्री० । तद्विभेदे, ययाऽहंत्वं स-
मवप्रेति । प्रव० २७० द्वार ।

अरहट्—अरयट्—पुं० । घटीयन्त्रे, “जम्मणमरणारहट्ठे,
जित्तूण भवा विमुच्चिदिसि” । आनु० । आव० ॥

अरहस्य—अरहन्त-पुं० । अहंन्मित्रघातरि, ग० ।

तद्वृत्तं चेत्थम-

क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, पुरं ङी तत्र सोदरौ ।

अहंश्रतोऽहंन्मित्रश्च, ज्येष्ठभार्या लघौ रता ॥ १ ॥

कथुनेच्छति तां चाऽऽह, ज्ञातरं मे न पश्यसि ।

पतिं व्यापाद्य सा भूय-स्तमूत्रे न त्वमेस्त सः ॥ १ ॥

निर्वेदेनाऽथ तेनैव, स वधुयंतमाददे ।

तद्वक्ता साऽपि मृत्वाऽभूद्, प्राप्ते काप्यक्षितः शुनी ॥ ३ ॥

साधवोऽपि ययुस्तत्र, शून्याऽऽशिं मुनिः स च ।

तदैवाऽऽगत्य सा श्रेयं, मुहुर्भर्तुरिवाऽकरोत् ॥ ४ ॥

नष्टः साधुर्मुना साऽथ, जाताऽऽट्ठ्यां च मर्कटी ।

तस्या एव च मध्येनाऽऽट्ठ्या यातां कथञ्चन ॥ ५ ॥

अन्नमूर्तेनां तं वीक्ष्य, प्रेम्णा शिश्रेय मर्कटी ।

तां विमोच्याऽथ कष्टेन, स कथञ्चित्पलायितः ॥ ६ ॥

मृत्वा तत्रापि सा जत्र, यत्री तं प्रेक्ष्य साऽवधेः ।

नैच्छन्मामेव तच्छिञ्चा-लीकृते न त्ववैक्षत ॥ ७ ॥

समानवयसोऽवोचन्, इसन्तस्ते च साधवः ।

त्वमहंन्मित्र ! धन्योऽसि, यच्छुनीमर्कटीप्रियः ॥ ८ ॥

अन्यदा कणावबुधं जलवाहं विलङ्घितुम् ।

प्रमादाकृतिप्रेदेन, पदं प्रासारयन्मुनिः ॥ ९ ॥

तस्य तच्छिञ्चमासाद्य, सा चिच्छेदाक्षिमुकतः ।

स मिथ्यादुष्टृतं जल्प-अपतत्तज्ञाद्वहिः ॥ १० ॥

सम्यग्दृष्टिः सुरी तां च, निर्धाट्य तं मुनेः क्रमम् ।

तथैवालगत्यद् भूयो, देवताऽतिशयेन च ॥ ११ ॥ ग० २ अधि०

आ० म० । आ० चू० ।

अरहन्नक-पुं० । तारानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपाश्वे प्रव्रजितया
दत्तवणिग्भार्यया सह प्रव्रजिते पुत्रे, उक्त० २ अ० । (स चोष्णपरी-
पहमसहमान उत्प्रव्रजित इति उहपरीसह' शब्दे द्वितीयभागं
७५४ पृष्ठे वक्ष्यते) चम्पानगरीवासिनि देवदत्तकुण्डलयुगले
मह्वीनाथाय समर्पके स्वनामख्याते सांयात्रिकवणिजि, ह्य० ।

अहंन्नकथा-

तत्थ णं चंपाए णयरीए अरहस्यपामोक्खावहवे संजत्ता
णावावाणियगा परिवसंति अह्मा जाव अपरिभूया । तए
णं मे अरहएणगे ममणोवामगे यावि होत्था अजिगय-
जीवाजीवे । वएणओ-तए णं तेसिं अरहस्यपामोक्खाणं
संजत्तानावावाणियगाणं अएणया कयाइं एगओसहिया-
णं इमेया रूवे मिहो कढामंलावे समुपज्जेत्था । सेयं खलु
अमहं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च जंरुगं
गहाय ववणसमुदं पोयवहणेण उवगाहितए त्ति कट्ठ अण-
मएणस्स एयमहं पस्सिणुणेति, पस्सिणुणेत्ता गणिमं च ४
गिरह्देइ, गिरह्देत्ता सगही-सागरुं सज्जेति, सज्जेतित्ता
गणिमस्स ४ भंरुस्स सगही-सागरुयं जरेति, भरेत्ता
सोदणंसि तिहिकरणकखत्तमुहुत्तंसि विउल्लं असणं पाणं
खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता मित्तणाइजो-
अणवेलाए जुंजावेति० जाव आपुच्छेति, आपुच्छेत्ता ग-
णिमस्स ४ जाव सगही-सागरुयं जायंति, जायंतित्ता चं-
पाए णयरीए मज्जं मज्जेणं णिगच्छेति, णिगच्छेत्ता
जेणेव गंजीरपोयपट्ठाए, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छ-
इत्ता सगही-सागरुयं जायंति, पोयवहणं सज्जेति, सज्जे-
इत्ता गणिमस्स ४ जाव चउव्विहस्स भंरुस्स जरेति, तं-
दुल्लाण य समियस्स य तेद्वस्स य घयस्स य गुल्लस्स य
गोरसस्स य उदगस्स य भावणाण य ओमहाण य भेसजा-
ण य तणस्स य कट्ठस्स य आवरणाण य पहरणाण य
अएणंसि च वहुणं पोयवहणपाउगाणं दव्वाणं पोयवहणं
भरेति, जरेत्ता सोदणंसि तिहिकरणकखत्तमुहुत्तंसि वि-
उल्लं अमणं पाणं खाइमं माइमं उवक्खमावेति, मित्तणाइं
आपुच्छंति, जेणेव पोयट्ठाए, तेणेव उवागच्छति, उवाग-
च्छतित्ता तए णं तेसिं अरहस्यपामोक्खाणं वाणियगाणं

ते परियणो० जाव ताहिं इट्टाहिं कंताहिं० जाव वग्गुहिं अ-
भिणंदंता य अभिमंथुयमाणा य एवं वयासी-अज्ज ! ताय !
भाय ! माउल ! जाइणज्ज ! जगवया समुदेणं अभिरक्खि-
ज्जमाणा चिरं जीवह, भदं च जे; पुणरवि लच्छे कयक-
ज्जे अणहसमग्गे णियगं घरं हव्वमाणं पामामो त्ति
कट्टु ताहिं सोमाहिं णिष्ठाहिं दीठाहिं सपिवासाहिं
पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं णिरिक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचित्ति,
तओ समानिणसु पुप्फवलिकम्मेसु दिस्सेसु मरसरत्तचंद-
णददरपंचगुदित्तत्तेसु अणुक्खित्तंसि धूवंसि पुइणसु समु-
दवाणसु संमारियासु वल्लयवाहासु ऊसिएसु सिएसु ज्ज-
यगेसु परुप्पवाइएसु तूरेसु जइएसु मव्वमउणेसु गहिणसु
रायवरसामणेसु माहिया उक्किच्चसीहणाय० जाव रवेणं
पक्खुभियमहासमुदरवच्चूयं पि व मेइणिं करेमाणा एगदिंसि०
जाव वाणियगा पोयणेसु उरुद्धा तओ पुस्समाणवो वक्कं ममु-
दाहु । हंभो ! सव्वेसामावि मे अत्थासिच्छओ उवट्ठियाइं कट्ठा-
णाइं, पडिहयाइं मव्वपावाइं, जुत्तो पुस्सो विजयमुहुत्तो अयं
देसकाओ, तओ पुस्समाणए णं वक्कं उदाहरिए इहत्तु-
ट्ठे कसुधारकुच्छिधारगग्भिज्जमंजत्ताणावावाणियगा वाव-
रिंसु तं एवां पुष्पुच्छंगं पुण्णमुहिं वंधणाहिं तो मुचंति ।
तए णं सा एवा विमुक्कबंधणा पवणवन्नसमाहया ऊसि-
यसियपक्का विततपक्खा इव गरुडजुवई गंगासलिलति-
क्खमोयवेगेहिं संखुब्भमाणी संखुब्भमाणी उम्मीतरंगमाणा-
सहस्साइं समइक्कमाणं । समइक्कमाणी कइवएहिं अहंरत्तेहिं
द्ववणसमुदं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा । तए णं
तेसिं अरहएणगपामोक्खाणं वाणियगाणं लवणस-
मुदं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं समाणाणं बहूइं
उप्पाइयसयाइं पाउब्बूयाइं । तं जहा-अकाळे गज्जिए
अकाळे विज्जुए अकाले धणियसदे अभिक्खणं अज्जि-
क्खणं आगामे देवतया एच्चंति । एगं च णं महं पिमायरूवं
पासंति-तालजंयं दिवंगयाइं बाहाहिं मसिमूमगमहिमका-
द्वगं भरियमेहवणं द्वेवोट्टं णिगयगदंनं निट्ठाद्वियगजमन्न-
जुअलजीहं आऊसियवयणंगं रुदेमं चीणचिविरुनामिगं वि-
गयज्जगभमुहिं खज्जोयगदित्तचक्खुरागं उत्तामणगं विसा-
लवच्छं विसालकुच्छि पलंवकुच्छि पदमियपयलियपव-
रियगत्तं पणच्चमाणं अप्फोरुतं अभिवग्गंतं अज्जिगज्जंतं
बहुसो बहुसो अट्टहासो विणिमुयंतं नीलुप्पलगवलगुलि-
यअयसिक्कुसुमप्पगासं खुरधारं असिं गहाय अज्जि-
मुहमापरुतं पासंति । तए णं ते अरहणगवज्जा संजत्ता-
णावावाणियगा एगं च णं महं तालपिसायं पासंति । ता-
लजंयं दिवंगयाहिं बाहाहिं फुट्टिसिं जमरणिगरवरमाम-
रासिमाहिसकालगं भरियमेहवणं मुप्पणहं फालसरिसजीहं

लंबोट्टं धवन्नवट्टअसिद्विट्ठित्तिक्खणिगीणकुल्लिदाहावगू-
दवयणं विकोसियधारामिज्जुयन्नममसग्मितणयचंचलग-
लंतरमन्नोन्नचवन्नफुगुत्तं निट्ठालियगजीहं अवयत्तियं
महद्वियगवर्वाभच्छालापगदंतरत्तताद्वयं द्विगुद्वयमग-
वभकंदरविद्वं च अंजणगिरिस्म अग्गिजालुग्गिद्वंतवयणं
आऊसियअक्खचम्माहृगंददेसं चीणचिविरुवंकभगणामं
रोमागययमधमंतमारुयनिहुरखरफरुसकुमिरउज्जुगणामियपु-
दं घाडुज्जडरइयभीमणमुदं उहमुदकससकुद्वियमदंत-
वियगन्नोमसंखाद्वगद्वंतचद्वियकामं पिगलदिप्पंतन्नोअणं
भिउत्तिभिनिमालं एरसिग्गालपरिणद्धच्चिंधं विचित्तगा-
णसमुवच्छपरिकरं अवट्टोलंतफुप्फुयंतसप्पविच्चयगोडुं-
दरणउन्नमरुविरइयवित्तवयच्छमालियागं जोगकृक-
समप्पयमधमंतद्वंतकसूपूरं मज्जारसियाललगियखंयं दित्तं
गुगुयंतवूयकयकुंभलमिरं घंटावेण जीमजयंकरं कायरज-
णहिययफोरुणं दित्तमट्टहासं विणिमुयंतं वसारुह्मिपूयमं-
समलियपोच्चदतणं उच्चामणयं विमालवच्छं पेच्छंताज्जि-
सणहमुदणयणकसुवरवग्गचित्तकिच्चीणिवसणं सरमरु-
हिरगयचम्माविततऊमवियवाहुजुयलं ताहिं य खरफरुसअ-
सिणिद्धदित्तअणिट्टअमुभअप्पियअकंतवग्गुहिं य तज्ज-
यंतं पासंति । तं तालपिसायरूवं एज्जमाणं पामति, पासइत्ता
भीया संजातजया अणमणस्स कायं समतुरंगेमाणा व-
हूणं इंदाण य खंदाण य रुदसिंवेसमणालागाणं चूयाण य
जक्खाण य अज्जकोट्टकिरियाण य बहूणि उवयाइयसयाइंणि
उवचीयमाणा चिट्ठंति ॥ तए णं मे अरहणए समणोवासए
तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पामइ, पासइत्ता अभीए अतत्थे
अचलिए असंजंते अणाउत्ते अणुव्विग्गे अभिस्समुहरागणय-
णवण्णे अदीणाविमणमाणसे पोयवाहणस्स एगदेमंमि वत्थं
तेणं जूमिं पमज्जेति, पमज्जइत्ता ठाणं ठायति, ठायइत्ता करद्व-
य० जाव त्ति कट्टु एवं वयासी-एमोत्तु णं अरिहंताणं० जाव
ठाणं संपत्ताणं जइ णं अहं एत्तो उवसग्गओ मुंचामि तो मे क-
प्पइ पारेत्तए, अहं एत्तो उवसग्गतो ण मुंचामि, तो मे तहा प-
च्चक्खाएव्वं ति कट्टु सागारभत्तं पच्चक्खाइ । तए णं से
पिसायरूवे जेणव अरहणए समणोवासए तेणव उवा-
गच्छइ, उवागच्छइत्ता अरहणगं समणोवासयं एवं व-
यासी-हंभो अरहणगा ! अपत्थियपत्थिया० ! जाव
परिवज्जिया नो खज्जु कप्पइ तवसीलव्वयगुणवेरमणप-
च्चक्खाणपोसहोववामाई चाञ्चित्तए वा एवं खोजित्तए
वा खंभित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिचत्तए
वा तं जइ णं तुमं सीद्वव्वयं ण परिच्चयसि, तो मे अहं
पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गिएहामि, गिएहत्ता सत्त-
ट्टतलप्पमाणमेत्ताइं उहं वेहामं उव्विहामि । अंतो जलंसि

णिञ्चोद्येमे जेणं तुमं अरहस्यवसट्टे अकाले चैव जीवि-
याओ ववरोविज्जसि । तए णं से अरहणए समणोवासए
तं देवं मण्णमा चैव एवं वयासी-अरह णं देवाणुप्पिया ! अर-
हणए णामं समणोवासए अहिगयजीवाजीवे नो खलु अहं म-
क्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा० जाव निगंथाओ
पावयपाओ चालितए वा खोजितए वा विपरिणामितए
वा तुमणं जा सट्ठा तं करोहि त्ति कट्ठु अजीए० जाव अ-
जिणमुहरागनयणवणए अदीणविमणमाणमे णिच्चले
णिफ्फंदे तुमिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ । तए णं से
दिव्वे पिमायरूवे अरहणगं समणोवासगं दोव्वं पि तच्चं
पि एवं वयासी-हंजो अरहणगा !० जाव धम्मज्झाणोव-
गए विहरइ । तए णं से दिव्वे पिमायरूवे अरहणगं सम-
णोवासयं धम्मज्झाणोवगयं पामइ, पामइत्ता वलियतगं
आभुरत्ते तं पोयवहणं दोहि अंगुलियाइं गिएहइ, गिएह-
इत्ता सत्तट्ठतल० जाव अरहणगं एवं वयासी-हंजो अरह-
णगा ! अपत्तियपत्तियया ! नो खलु कप्पइ तवसीद्वव्यय गुण-
वेरमणं, तहेव० जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ । तए णं से पि-
सायरूवे अरहणगं जाहे नो मंचाएइ, निगंथाओ चालि-
तए वा तहेव मंते० जाव णिच्चले तं पोयवहणं सणियं स-
णियं उवरि जत्ते मंउवेइ । मंउवेइत्ता तं दिव्वं पिमायरूवं प-
रिमाहरइ । परिमाहरित्ता दिव्वं देवरूवं विउव्वंति, अंताद्धि-
क्खपडिक्खे मत्तिखणियं० जाव परिहिण अरहणगं सम-
णोवासयं एवं वयासी-हंजो अरहणगा ! धणोमि णं तुमं
देवाणुप्पिया !० जाव जीवियफत्ते जस्म णं तव निगंथे पाव-
यणे इमेयरूवे परिवत्ती द्धस्सा पत्ता अजिसमणगाया, एवं
खलु देवाणुप्पिया ! मक्के देविं देवराया सोहम्मे कप्पे सोह-
म्मावकिमए विमाणे मज्जाए सुट्ठुमाए वट्ठुणं देवाणं मज्जगए
महया सट्ठेणं आइक्खइ भामइ पणवेइ परूवेइ । एवं खलु
जेणुदीवे दीवे चारहे वामे चंपाए णयरीए अरहणए सम-
णोवासए अहिगयजीवाजीवे नो खलु सक्का केणइ देवेण वा०
जाव निगंथाओ पावयणाओ० जाव परिणामत्तए वा । तए
णं अहं देवा मक्कस्म देविं दस्म एयमट्ठं नो मट्ठामि नो पत्ति-
यामि नो गंचयामि । तए णं मम इमेयरूवे अरहणिये०
जाव मणुपज्जित्या गच्छामि णं अहं अरहणगस्म समणो-
वासयस्म अंतियं पाउन्नवामि जाणामि ताव अहं अरह-
णगं किं पियधम्मं नो पियधम्मं ददधम्मं मीद्वव्ययगुणे किं
चात्तेति० जाव परिच्चइ नो परिच्चय त्ति कट्ठु एवं मंपेहमि
मंपेहत्ता ओहिं पउंजेमि, देवाणुप्पिया ! ओहिणा आभो-
णमि उत्तरपुरच्छिमं दिसीजागं उत्तरपुराच्छिमं विउच्चियं म-
मुग्याति, ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव लवणममुदं जेणेव
तुम्हे तेणेव उवागच्छामि, तुम्हाणं उवमगं करोमि । नो चैव

णं तुम्हे जीया वातं जणं सक्के देविं देवराया एवं वयंति-
सत्तेणं एसमट्ठे तं दिट्ठेणं देवाणुप्पिया णं इट्ठी जुई जसे वले
वीरिए पुरिसकारे परिक्रमे लक्खे पत्ते अजिसमणगाए तं
खामेमि णं देवाणुप्पिया जुज्जो भुज्जो० जाव णो एवं करण-
याए त्ति कट्ठु पंजद्विउरं पायवमियाए एयमट्ठं विणए-
णं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामेत्तत्ता अरहणगस्स छुवे कुं-
मलजुयलं दलइ, दलइत्ता जामेव दिंसि पाउन्नूए तामेव
दिंसि पडिगए । तए णं से अरहणए समणोवासए
निरुवसग्गे त्ति कट्ठु पडिमं पारेति । तए णं अरहणए-
गपामोक्खा० जाव वाणियगा दक्खिणाणुकूलेणं वा-
एणं जेणेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता पोयं उवेइ । पोयं उवेइत्ता सगमी-सागमं स-
ज्जेइ । सज्जेइत्ता गणिमं च ४ सगमिं संकामेइ,
सगमी सागमं जंवेति जेणेव मिहिला रायट्ठाणी तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मिहिलाए रायट्ठाणीए वट्ठि-
या अंगुज्जाणंसि सगमी-सागमिं मोएइ । तए णं अरह-
णगे समणोवासए तं महत्थं विउव्वं० जाव रायारिहं
पाहुइं कुंमलजुयलं गिएहइ, गिएहइत्ता मिहिलाए रायट्ठा-
णीए अणुप्पविसइ । अणुप्पविसइत्ता जेणेव कुंजए राया
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव कट्ठु तं
महत्थं रायारिहं पाहुइं दिव्वं कुंमलजुयलं च पुराओ उवे-
इ । तए णं से कुंभए राया तेमिं संजत्तगाणं० जाव परि-
च्छइ, पडिच्छइत्ता मत्तिं विदेहरायवरकणं सदावेइ । सदा-
वेइत्ता तं दिव्वं कुंमलजुयलं मल्लीए विदेहरायवरकणगाए
पिणच्छइ । पिणच्छइत्ता पडिविमज्जेइ । तए णं से कुंजए
राया ते अरहणगपामोक्खे० जाव वाणियए विउव्वेणं
वत्थगंथमद्वालंकारेणं० जाव उस्सुकं वियरेइ । रायमग्गे मोगा-
ठे य आवासे वियरइ पडिविमज्जेइ । परिविसज्जेइत्ता तए
णं अरहणगमंजत्तगा वाणियगा जेणेव रायमग्गे मोगा-
ठे आवासे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता भेरुगववहर-
णं करोति परिमंके गिएहइ । गिएहइत्ता सगमी-सागमं भरे-
ति, जेणेव गंभीरपोयपट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइ-
त्ता पोयवहणं सज्जेइ जंमं संकामेइ, दक्खिणाणुकूलेणं
वाएणं जेणेव चंपा णयरी तेणेव उवगच्छइ । उवागच्छइत्ता
पोयपट्ठाणे तेणेव पोयलंवेइ । पोयलंवेइत्ता सगमी-सागमिं
सज्जेइ । तं गणिमं ४ सगमी संकामेइ० जाव महत्थं
पाहुइं दिव्वं कुंमलजुयलं गिएहइ । गिएहइत्ता जेणेव चं-
दच्छाए अंगराया तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तं
महत्थं कुंमलजुयलं च उवणेइ । तए णं चंदच्छाए अंग-
राया तं दिव्वं महत्थं च कुंमलजुयलं परिच्छइ । परिच्छ-
इत्ता ते अरहणगपामोक्खे एवं वयासी-तुम्हे णं देवाणु-

पिपा ! बहुणि गामागरं जाव आहिंरुह लवणममुदं च
आभिकखणं अभिकखणं पोयवहणेहि उग्गहेह, तं अत्थि-
याहिं भे केइ किं वि अच्चेरएदिट्ठपुच्चे । तए णं ते अरहस-
गपामोक्खा चंदच्छायं अंगगयं एवं वयामी-एवं खलु
सामी ! अम्हे इहेव चंपाए नयरीए अरहसगपामोक्खा
वहवे संजत्तानावावाणियगा परिवसामो, तए णं अम्हे
असया कयाइं गणिमं च ४ तहेव अहीणं अतिरितं
जाव कुंजगसम रसो उवणेमो, तए णं से कुंभए राया
मल्लीए विदेहरायवरकणाए तं दिव्वं कुंजजुयत्तं पिण्हे-
इ । पिण्हेत्ता पमिविसज्जेइ । तए णं सामी ! अम्हेहिं
कुंजगरायभवणंसि मल्लीए विदेहरायवरकणाए अच्चेरए
दिट्ठे एत्तो खलु असा कावि तारिमिया देवकणां
जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहकणा, तए णं चंदच्छाए
राया अरहणगपामोक्खे सकारेइ सम्माणेइ । सम्माणेत्ता
उस्सुकं वियरइ पमिविसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया
वाणियनजणियहामे दूयं सदावेइ । सदावेइत्तां जाव जइ
वि य णं सासयं रज्जमुक्का तए णं से दूए हट्ठुडे पमि-
सुणेइ, जेणेव सए गेहं जेणेव चाउपेदे आसरहे उरुडे
जाव पट्टारेत्थगमणाए ॥

(संजत्तानावावाणियग ति) संगता यात्रा देशान्तरगमनं
संयात्रा, तत्प्रधाना नौवाणिजकाः पोतवणिजः, संयात्रानौवाणि-
जकाः । (अरहस्ये समणोवासगे यावि होत्थ ति) न केवल-
माख्यादिगुणयुक्तः, श्रमणोपासकश्चाप्यभूत् । (गणिमं चेत्या-
दि) गणिमं-नालिकेरपूगफलादि, यद्वणिं सद्यवहारे प्रविश-
ति । धरिमं-यत्तुलाधृतं सद्यवहियते । मेयं-यत्सेतिकापलादिना
मीयते । परिच्छेद्यं-यद्वणतः परिच्छिद्यते परीक्ष्यते वस्त्र-
मण्यादि । (समियस्स य ति) कणिकायाश्च, (ओसहाण य ति)
त्रिकटुकादीनाम् । (जेसजाण य ति) पथ्यानामाहारविशे-
षाणाम् । अथवा औपधानामेकद्रव्यरूपाणां, भेषजानां द्रव्यसंयो-
गरूपाणाम् । आचरणानामङ्गरक्तकादीनां, बोधिस्थप्रकराणां च
(अज्जेत्थादि) आर्य !-हे पितामह !, हे तात !-हे पितः !, हे
भ्रातः !, हे मातुल !, हे भागिनेय ! भगवता समुद्रेणाभिरुक्ता-
णाश्चिरं यूयं जीवत, भद्रं च भवतां, भवत्विति गम्यते । पुनरपि
लब्धार्थान् कृतकार्यान्, अनघसमग्रान्, अनघवं निर्दूषणतया,
समग्रत्वमहीनधनपरिवारतया, निजकं गृहं, 'हव्वं' शाघ्रमागता-
न् पश्यामि इति क्वेत्यभिधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकार-
त्वात् । (निष्साहिं ति) सस्नेहत्वात् । (दीहाहिं ति) दूरं या-
वदवशोकनात् । (सपिपासाहिं ति) सपिपासाभिः पुनर्दर्श-
नाकाङ्क्षावतीभिः, दर्शनातृप्ताभिर्वा । (पप्पुयाहिं ति) प्रप्नुता-
निरश्रुजत्राद्वर्जितः, (समाणिणसु ति) समापितेषु दत्तेषु,
नावीति गम्यते । सरसरक्तचन्दनस्य दर्दरेण चपेटाप्रकारेण प-
ञ्चाङ्गुलिषु तलेषु, हस्तकेष्वित्यर्थः । (अणुक्खित्तंसीति) अ-
नुत्तिष्ठेत्पश्चादुत्पाटिते धूपे, पूजितेषु समुद्रवातेषु, नौसांयात्रि-
कप्रक्रियायां समुद्राधिपदेवपादेषु वा (संसारियासु वज्जवा-
हासु ति) स्थानान्तरादुचितस्थाननिवेशितेषु दीर्घकापुत्रक-
णबाहुषु, आवल्लकेष्विति संभाव्यते । तथा-उच्छिन्नेपूर्वाकृतेषु

सितेषु ध्वजाग्रेषु पताकाग्रेषु पट्टानिः पुरुषैः, पट्ट वा यथा भव-
तीत्येवं प्रवादितेषु तूर्येषु जयिकेषु जयावहेषु, सर्वशकुनेषु वा-
यसादिषु, गृहीतेषु राजवरशासनेषु आङ्गासु पट्टकेषु वा, प्रजु-
नितमहासमुद्रवभूतमिव तदात्मकमिव, तं प्रदेशमिति गम्यते ।
(तओ पुस्समाणवो वक्कं समुदाहुं ति) ततोऽनन्तरं मागधो म-
ङ्गवचनं ब्रवीति स्मेत्यर्थः । तदेवाह-सर्वेषामेव जवतामर्थमि-
च्छिमेवतु, उपस्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वपापानि,
सर्वविघ्नाः । (जुत्तो ति) युक्तः पुण्या तत्तत्रविशेषः चन्द्रमसा, इ-
डावसर इति गम्यते । पुष्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरम् । यदाहुः-
'अपि द्वादशमे चन्द्रे पुष्यः सर्वार्थसाधनः' इति, मागधेन तदु-
पन्यस्तम् । विजयो मुदुत्तंस्त्रिशतो मुदुत्तानां मध्यान् अयं देश-
कात्रः, एष प्रस्तावो गमनस्येति गम्यते । (वक्के उदाहिणं ति)
वाक्ये उदाहृते, दृष्टपुष्टाः, कर्णधारा नियामकाः, कुन्धधारा नौ
पार्श्वनियुक्ता आवल्लकवाहकादयः, गर्भे भवा गभजाः, नौमध्ये
उच्चवाचकर्मकारिणः, संयात्रानौवाणिजकाः, भारू-
पतयः, एतेषां द्वन्द्वः । (वावरिसु ति) व्यावृत्तवन्तः स्वस्वव्या-
पारेष्विति । ततस्तां नावं पूर्णोत्सङ्गां विविधभाण्डजृतमध्यां,
पुण्यमध्यां वा, मध्यभागनिवेशितमाङ्गल्यवस्तुवात् । पूर्णमुखी,
पुण्यमुखी वा । तथैव बन्धनेच्या मुञ्चति विसर्जयन्ति पवनवल-
समाहता वा वातसामर्थ्यात्प्रेरिताः । (ऊसियसिय ति) उच्छि-
तसितपटाः, यानपात्रे हि वायुसंग्रहार्थं महान् पट उच्छिन्नतः
क्रियते । एवं चासावुपमीयते-विततपक्षेव गरुडयुवतिः । ग-
ङ्गासलिलस्य तीक्ष्णा ये स्त्रोतोवेगाः प्रवाहवेगास्तैः संशुभ्य-
न्ती संकुभ्यन्ती प्रेर्यमाणा प्रेर्यमाणा, समुद्रं प्रतीति । ऊर्मयो
महाकल्लालाः, तरङ्गा ह्रस्वकल्लोवाः, तेषां मात्राः समूहाः तत्सह-
स्राणि, (समतिक्रमाणि ति) समतिक्रामन्ती (ओगाढ ति)
प्रविष्टा । (तालजंघमित्यादि) तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घ-
स्कन्धो जवति । ततस्तालवज्जङ्घे यस्य तत्तथा । (दिवं गयाहिं
बाहाहिं ति) आकाशप्राप्ताभ्यामतिदीर्घाभ्यां भुजाभ्यां युक्तमि-
त्यर्थः । (मसिमूसगमदिसकात्रगं ति) मपी कज्जलं, मूपक उ-
चुरविशेषः । अथवा मपीप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रतापनत्राज-
नं मपीमूषा, महिषश्च प्रतीति एव । तद्वत्कालकं यत्तत्तथा (भ-
रियमेहवणं ति) जलजृतमेघवर्णमित्यर्थः । तथा लम्बोष्टम्,
[निग्गयग्गदं ति] निर्गतानि मुखद्वाराणि येषां ते तथा, नि-
र्गताग्रा दन्ता यस्य तत्तथा । [निल्लालियजमलजुयलजीहं ति]
निर्लाङ्घितं विवृतमुखान्निस्सारितं यमलं समं युगलं द्वयं जि-
ह्वयोर्येन तत्तथा । [आऊसियवयणगंडेसं ति] "आऊ-
सिय ति, आपूसिय ति वा" प्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ क-
पोद्वजागौ यस्य तत्तथा । [चीणचिचिरुनासियं ति] चीना
हस्ता, चिपिटा च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [विगय-
जुग्गजमुहिं ति] विकृते विकारवत्यौ, जुने, जग्ने इत्यर्थः । पा-
ठान्तरेण-भुग्नजग्ने अतीववक्रं भ्रुवौ यस्य तत्तथा । [खउजोय-
गदित्तचक्खुरागं ति] खद्योतको ज्योतिरिङ्गणः, तच्छदीप्तश्चक्षू-
रागो लांचनरक्तत्वं यस्य स तथा । उत्रासनकं भयङ्करम् । वि-
शालवक्रो विस्तीर्णैः स्त्रभ्रम, विशालकुक्षिं विस्तीर्णोदरदेशम् ।
एवं प्रलम्बकुक्षिं । [पहसियपयलियपडियगत्तं ति] प्रहसिता-
नि प्रहसितुमारब्धानि, प्रचलितानि च सरूपात्, प्रवहिकानि वा
प्रजातवलीकानि, प्रपतितानि च प्रकर्षेण श्लथीभूतानि, गा-
त्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे-"विगयजुग्गमभुयपहासि-
यपयलियपडियफुल्लिगखज्जोयदित्तचक्खुरागं ति" पाठः । तत्र

विद्यते पुनः भुवौ प्रहसिते प्रचक्षिते प्रपतिते च यस्य स्फु-
लिङ्गवत् स्वयानकवच्च द सभक्षुरागश्च यस्य तत्तथा । " एण-
चममाणं " इत्यादि विशेषणपञ्चकं प्रतीतम् । (नीलुपलेत्या-
दि) गवलं महिषशृङ्गम् । अतस्ती मास्रवकदेशप्रसिद्धो धान्य-
विशेषः । [खुरहारं ति] खुरस्वेव धारा यस्य स तथा तम-
सि, खड्ग, घुरा, हतिनीङ्गधारो भवति, अन्यथा केशानाममु-
रुनादिति कुराणोपमा सङ्गधरायाः कृतेति । अभिमुखमाप-
तपश्यन्ति । सर्वेऽपि सायात्रिकाः, तत्रार्हन्नकवर्जा यत्कुर्वन्ति
तदर्थयितुमुक्तमेव पिशाचस्वरूपं सविशेषम् । तेषां तदर्थं न चानु-
वदन्ति दमाह— [तए णमित्यादि] ततस्ते अर्हन्नकवर्जाः सां-
यात्रिकाः पिशाचरूपं वक्ष्यमाणविशेषणं पश्यन्ति, दष्टा च बहू-
नामिन्द्रादीनां यद्गुण्युपचितशतान्युपचित्वन्तस्तिष्ठन्तीति स-
मुदायार्थः । अथवा— "तए णं ते अरहन्नगवज्जा" इत्यादि गमान्तर-
म् "आगासं देवयाग्रे न च्वन्ति" इतोऽन्तरं छेद्यम् । अत
एव धाचनान्तरं नेदमुपलभ्यते । उपलभ्यते चैवम्— "अग्निमुहं
आवयमाणं पामंति, तए णं ते अरहन्नगवज्जा नावावाणियमा
भीया " इत्यादि । [तत्र तालपिसायं ति] तालवृक्षाकारोऽति-
दीर्घत्वेन पिशाचस्तालपिशाचः, तम् । विशेषणद्वयं प्रागिव ।
[फुट्टसिरं ति] स्फुटितमवधनत्वेन विकीर्णं शिर इति शि-
रोजातत्वात्केशा यस्य स तथा तम् । अमरनिकरवत् वरमाय-
राशिवत् महिषवच्च कावको यः स तथा तम्, भृतमेघवर्णम्,
तथैव शूर्पमिव धान्यशोधकनाजनविशेषवस्त्रा यस्य स शू-
र्पनखस्तम् । कावसदृशजिह्वमिति—फालं द्विपञ्चाशत्पलप्रमा-
णबोहमयो छ्यविशेषः, तच्च बह्विप्रतापितमिह ग्राह्यम्, तत्सा-
धर्म्यं चेह जिह्वाया वर्णदीप्तिदीर्घत्वादिभिरिति । लम्बाष्ट्रं प्रती-
तम् । धवन्नानिर्गुत्तानिगच्छिष्टाभिर्विशरत्वेन तीक्ष्णाभिः, स्थि-
गभिर्निश्चलत्वेन, पीनाभिरुपचितत्वेन, कुटिलानिश्च चक्रतया,
दंष्ट्रभिरवगुहं व्याप्तं वेदने यस्य स तथा तम् । विकेशितस्या-
पनीतकेशकस्य, निगच्छणस्येत्यर्थः । धारास्योर्ध्वाराप्रधानस्त्र-
ह्योयं द युगलं द्वितयं तेन समसदृशावयन्तनुत्ये तनुके प्रत-
ले, चञ्चलं, विमुक्तस्थैर्यं यथाभवत्यविश्रममित्यर्थः । गलन्त्यौ
रसानिघ्नैल्याद् बालां विमुञ्चन्त्यौ रसलोक्षे जड्यसरस्रम्पटे
चरन्ने चञ्चले फुल्लुगयमाणे प्रकम्पे निर्वालिने मुखाग्निकाशिते
अप्रजिह्वे जिह्वाग्रे इत्यर्थः, येन स तथा, तम् । (अवधियं
ति) प्रमाणितमित्येके । अन्ये तु यकारस्यानुपत्त्यात् 'अवयत्थि-
यं' प्रसारितमुखत्वेन दृष्टं दृश्यमानमित्याहुः । (महद्वं ति) महद्
विकृतं वीभत्सं लालाभिः प्रगलन् रक्तं च तालु काकुदं यस्य स
तथा तम् । तथा हिङ्गुव्रकेन वर्णकद्रव्यविशेषेण सगमेकद्रव-
कणं चिह्नं यस्य स तथा, तमिव । (अंजगगिरिस्स ति) विभ-
क्तिविपरिणामादङ्गनगिरिं कृष्णवर्णपर्वतविशेषम् । अथवा
'अवस्थियेन्यादि' 'हिङ्गुत्येन्यादि' च कर्मधारयेणैव वक्ष्यमा-
णवदनपदस्य विशेषणं कार्यम् । यस्य तमित्येवंपदश्च वाक्यशेषो
दृश्यः । तथा अग्निज्वाला उज्जिह्वदने यस्य स तथा तम् ।
(आरमिय ति) संकुचितं यदङ्गचर्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् ।
(उददृ ति) अपकृष्टवपकर्षवन्तौ संकुचितौ गण्डदेशौ यस्य स
तथा, तम् । अन्ये न्याहुः—आन्वृषितानि संकुचितानि अन्नाग्नि-
न्द्रियाणि चर्मं च आग्निं च गण्डदेशौ च यस्य स तथा तम् ।
च ना ह्म्या (चिविच ति) चिपिटा निम्ना 'वेका' वक्रा भवेव
जम्ना, अयोधनकुट्टितेन्येन्यर्थः, नामिक यस्य स तथा, तम् ।
राषादागतः (धमधमेति ति) प्रवन्नतया धमधमेति शब्दं कुर्वाणो

मारुतो वायुर्निपुरो निर्भरः, खरपरुषोऽयन्तकर्कशः, शुषि-
रथेरन्ध्रयोर्वैत्र तत्तथा । तदेवंविधमवगुहं च वक्रं नासिका-
पुटं यस्य स तथा तम् । इह च पदानामन्यथानिपातः प्राकृत-
त्वादिति । घाताय पुरुषादिवधाय, घाटाभ्यां वा मस्तकावयव-
विशेषाभ्याम्, चञ्चले विकरालं रचितम्, अत एव भीषणं मुखं
यस्य स तथा, तम् । ऊर्ध्वमुखं कर्णशङ्कुद्वयौ कर्णावयवौ यथा-
स्तौ तथा तौ च महान्ति दीर्घाणि विकृतानि होमानि यथोस्तौ
तथा तौ च (संखालगं ति) शङ्खवन्तौ च शङ्खयोरङ्गिप्रत्यास-
न्नावयवविशेषयोगालम्बौ संवद्धावित्येके, लम्बमानौ च प्रलम्बौ,
चक्षितौ च चक्षन्तौ कर्णौ यस्य स तथा, तम् । पिङ्गवे कपित्रे
दीप्यमाने जास्वरे होचने यस्य स तथा तम् । भुङ्कुटिः कोप-
कृतप्लविकारः, सैव तमिद्विद्युत्सिस्तत्तथा, तथाविधम् । पाठा-
न्तरेण—भुङ्कुटितं कृतप्लविकुटिलं लब्धं यस्य स तथा, तम् । नर-
शिरोमात्रेया परिणक्तं वेष्टितं चिह्नं पिशाचकैतुर्यस्य स तथा,
तम् । अथवा—नरशिरोमालया यत्परिणक्तं परिणहनं तदेव चिह्नं
यस्य स तथा तम् । विचित्रैर्बहुवैधैर्गोनसैः सरीसृपविशेषैः
सुबद्धः परिकरः सन्नाहो येन स तथा तम् । (अवहोहतं ति)
अवघोषयन्तो डोलायमानाः, [पुण्डुर्यंति ति] फुल्लवन्तो ये सर्पा
वृश्चिका गोधा वन्दुरा नकुलाः सरटाश्च तैर्विरचिता विचित्रा वि-
विधरूपवती वैकल्येणोत्तरासङ्गेन मर्कटवन्धेन स्कन्धवन्धनमा-
त्रतया वा मालिका माला यस्य स तथा तम् । जोगः फणः
स क्रूरो रौद्रो यथोस्तौ, तथा तौ च कृष्णसर्पौ च तौ च तौ धमध-
मायमानौ च तावेव लम्बमानौ कर्णपूर्वौ कर्णाग्रविशेषौ य-
स्य स तथा तम् । मार्जारशृगालौ द्रुगितौ नियोजितौ स्कन्ध-
योर्ध्वेन स तथा तम् । दीप्तं दीप्तस्वरं यथा भवत्येवं (घुग्घुयंत
ति) घूत्कारशब्दं कुर्वाणो यो घूकः कौशिकः स कृतो विहितः
(कुंजल ति) शेखरकः शिरसि येन स तथा तम् । घण्टानां र-
वः शब्दस्तेन भीमा यः स तथा स चासौ जयंकरश्चेति, तं, का-
तरजनानां हृदयं स्फोटयति यः स तथा, तम् । दीप्तमदृष्टहासं
घण्टारवेण भीमादिविशेषणविशिष्टं विमुञ्चन्तं वसारुधि-
रपूयमांसमक्षैर्मलिना (पाञ्चल ति) विलीना च तनुः शरीरं य-
स्य स तथा तम्; उन्नासनकं विशालवक्त्रं च प्रतीते । (पेञ्चंत
ति) प्रेक्ष्यमाणा दृश्यमानाः, अभिन्ना अखण्डा नसाश्च मुखं च
नयेन च कर्णौ च यस्यां सा तथा, सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा
कर्तुरा कृतिश्च चर्ममति सा तथा, सैव निवसनं परिधानं य-
स्य स तथा तम् । सरसं रुधिरप्रधानं यज्जचर्मं तद्विततं वि-
स्तारितं यत्र तत्तथा । तदेवंविधं (ऊसवियं ति) उज्ज्वलमूर्त्ति-
कृतं बाहुयुगलं येन स तथा तम् । ताभिश्च तथाविधानिः, ख-
रपरुषा अनिकर्कशाः, अस्तिग्धा स्नेहविहीनाः, दीप्ता ज्वल-
न्त्यश्चापतापहेतुत्वात् । अनिष्टा अनभिज्ञापाविषयभूताः, अ-
शुताः स्वरूपेण, अप्रिया अप्रीतिकरत्वेन, अक्रान्ताश्च विस्वर-
त्वेन या वाचस्ताम्रिस्त्वस्तान् कुर्वाणं त्रस्यन्तं तर्जयन्तं वा प-
श्यन्ति स्म । पुनस्तालपिशाचरूपं (एज्जमाणं ति) नावं प्रत्यागच्छ-
न्तं पश्यन्ति । (समतुरंगमाणं ति) आश्लिष्यन्तः—स्कन्दः कार्तिके-
यः, रुद्रः प्रतीतः, शिवो महोदधः, वैश्रवणो यक्षनायकः, नागो
भयनपतिविशेषः, जूतयक्षा व्यन्तरभेदाः, आर्या प्रशान्तरूपाः,
दुर्गा कौटुक्रिया, सैव महिषारूढरूपा पूजाऽन्युपगमपूर्वकाणि प्रा-
र्यनानि उपयाचितान्युपचिन्वन्ते । उपाचिन्वन्तो विदधतस्तिष्ठ-
न्ति स्मेति । अर्हन्नकवर्जानामियमिनिकत्तव्यतेक्ता । अधुनाऽह-
न्नकस्य तामाह— " तए णमित्यादि " । (अपत्थियपत्थिय

त्ति) अप्रार्थितं यत्केनापि न प्रार्थयते तत्प्रार्थयति स्म यः स तथा, तदामन्त्रणम् । पात्रान्तरेण-अप्रस्थितः सन् यः प्रस्थित इव मुमुर्षुरित्यर्थः, स तथोच्यते, तदामन्त्रणम्-हे अप्रस्थितप्रस्थित !, यावत्करणात् (दुरन्तपतलक्षणं त्ति) दुरन्तानि दुष्टपर्यन्तानि प्रान्तान्यपसदानि वृक्षणानि यस्य स तथा, तस्यामन्त्रणम् । (हीणपुष्पावृक्षी इति) हीना असमग्रा पुण्या पवित्रा चतुर्दशी तिथिर्यस्य जन्मनि स तथा । चतुर्दशीजातो हि किल ज्ञायमान् भवतीति । आक्रांशे तदभावो दर्शित इति । " सिरिहिरित्रीकिञ्चित्तवज्जित्ति " प्रतीतम् । (तवसीलव्यपत्यादि) तपः, शीलव्रतान्यपुत्रव्रतानि, गुणाः गुणव्रतानि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि, पोषधोपवासोऽष्टाहिकादिषु, पर्वदिनेषूपवसनमाहारशरीरसंस्काराब्रह्मध्यापारपरिवर्जनमित्यर्थः । एतेषां द्वन्द्वः । [चात्रित्त ए त्ति] जङ्गकान्तर-गृहीतान् भङ्गकान्तरेण कर्तुं, लोभयितुमेतानेवं परिपात्रयामि । [खोभित्त ए त्ति] क्रोभविषयान् कर्तुं, खण्डयितुं देशतः, जङ्ग स-र्वतः, 'उडिऊतुं' सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्वस्यापि त्यागत इति । [दोहि अंगुलयाहि ति] अङ्गुष्ठकतर्जनी-च्याम, अथवा-तर्जनीमध्यमाभ्यामिति । [सत्तत्तलप्पमाणमे-त्ताइ ति] तत्रो हस्ततालाभिधानो वाऽतिदीर्घो वृक्षविशेषः, स एव प्रमाणं मानं तद्वप्रमाणं, सप्ताष्टौ वा सप्ताष्टानि तद्वप्रमा-णानि परिमाणं येषां ते सप्ताष्टतद्वप्रमाणमात्राः, तान् गगनभा-गान् यावदिति गम्यते । [उडु वेहासं ति] उडु विहायसि गगने । [उडिवहामि त्ति] नयामि, [जेणं तुमं ति] येन त्वं [अट्टदुदुवसट्टे त्ति] आर्तस्य ध्यानविशेषस्य यो [दुदुदु त्ति] दुर्घटः दुःस्थगो दुर्निरोधो, वशः पारतन्त्र्यं, तेन हतः पीडितः, आर्तदुर्घटवशातः । किमुक्तं जवति ?-असमाधिप्राप्तः [ववरोवि-ज्जसि त्ति] व्यपरोपयिष्यसे अपेतीभविष्यसीत्यर्थः । [चात्रि-त्त ए त्ति] इह चलनमन्यथाजावत्वं, कथम् ? [खोभित्त ए त्ति] क्रोभयितुं संशयोत्पादनतः, तथा [विपरिणामित्त ए त्ति] विपरिणामयितुं विपरीताध्यवसायोत्पादनत इति । ' संते ' इति यावत्करणात् । ' तंते परितंते ' इति द्रष्टव्यम् । तत्र श्रान्तः शान्तो वा मनसा, तान्तः कायेन खेदवान्, परितान्तः सर्वतः खिन्नः, निर्विषुस्तस्मादुपसर्गकरणादुपरतः । [लद्धेत्यादि] तत्र ब्रह्मा उपाज्जनतः, प्राप्ता तत्प्राप्तेः, अजिसमन्वागता सम्यगासेवन-तः [आइक्खइ इत्यादि] आख्याति सामान्येन, ज्ञापते विशेष-तः । एतदेव द्वयं क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्ररूपयति । " देवण वा दाणवेण वा " इत्यादाविदं द्रष्टव्यम् । अप-रं- " किनरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधवेण वा त्ति " तत्र देवो वैमनिको, ज्योतिष्को वा । दानयो भवनपतिः, शेषा व्यन्तरभेदाः, ' नो सदहामीत्यादि ' न अर्द्धे प्रत्ययं न करोमि । [नो पत्तियामि त्ति] तत्र प्रीतिकं प्रीतिं न करोमि, [नो रोचयामि] अस्माकमप्येवंभूता गुणप्राप्तिर्भवत्येवं न रुचिविष-यीकरोमीति [पियधम्मं त्ति] धर्मेप्रियो, दृढधर्मा आपद्यपि ध-र्माद्विचलः, यावत्करणादृष्ट्यादिपदानि दृश्यन्ति । तत्र [इट्ठि-त्ति] गुणद्धिः, द्युतिरन्तरं तेजः, यशः ख्यातिः, बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवम्, पुरुषकारोऽजिमानविशेषः, पराक्रमः स एव नि-ष्पादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [उस्सुकं विरयेइ त्ति] शुक्लाभावमनुजानातीत्यर्थः । ज्ञा० ८ अ० । स्था० ।

अरहमित्त-अर्हन्मित्र-पुं० । अर्हन्तलघुभ्रातरि, यस्मिन्नासक-
१६१

या भ्रातृजाययाऽर्हन्तो मारितः । ग० २ अधि० । [अस्य क-
था ' अरहस्य ' शब्द एवोक्ता] द्वारवतीवास्तव्ये कृणत्वे वै-
द्योपदिष्टं मांसं निर्वन्धेऽप्यस्वादितवत्या अनुकुर्याः पत्न्यौ, आ०
चू० ४ अ० । आ० । [' अस्तदोसोवसंहार ' शब्देऽस्मिन्नेव
जागे ५०३ पृष्ठेऽस्य कथा समुक्ता]

अरहया-अर्हता-स्त्री० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० ८ वि० ।

अरहस्यधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपरं (रहस्यं)रह-
स्यान्तरं यस्मात्तदरहस्यम् । अत एव रहस्यं छेदशस्त्रार्थतत्त्व-
मित्यर्थः । तद्यो धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति सोऽरहस्यधा-
रकः । योग्यायैव छेदसूत्रदायके, वृ० ६ उ० ।

अरहस्यभाणि (ए)-अरहस्यजागिन्-पुं० । रहस्यस्य प्र-
च्छन्नस्याभावोऽरहस्यं, तद् भजते इत्यरहस्यभागी । अर्हति,
स्था० ए ग० । कल्प० ।

अरहस्सर-अरहःस्वर-त्रि० । अप्रकटस्वरे महाशब्दे, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० । बृहदाक्रन्दशब्दे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अराइ-अराति-पुं० । व्याधौ, आ० म० द्वि० । आचा० । विशेष०
आ० क० । शत्रौ, वाच० ।

अरि-अरि-पुं० । द्विपत्प्रत्यर्थिरुपपत्त्यर्थः । निर्दये रिपौ, तं० ।
सामान्यतः शत्रौ, जं० २ वक्र० । ज्ञा० । जी० । आ० म० ।
आ० । जन्मान्तरवैरिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । रथाङ्गे
चक्रे, विदूषादिरे, पदसु कामादिषु, वाच० ।

अरिंजय-अरिञ्जय-पुं० । श्रीऋषभदेवस्य द्वाशीतितमे पुत्रे,
कल्प० ७ क० ।

अरिउव्वग-अरिपूवर्ग-पुं० । पक्षां वर्गः समुदायः पद्वर्गः ।
अरीणां पद्वर्गः । वाच० । कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्ये आ-
न्तरशत्रुपदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । तथा अरयः शत्र-
वस्तेषां पद्वर्गः, अयुक्तिः प्रयुक्ताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः
यतस्ते शिष्टगृहस्थानामन्तरङ्गारिकार्थं कुर्वन्ति । तत्र परपरि-
गृहीतास्वनूदासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः, अविचार्य पर-
स्याऽऽत्मनो वाऽप्यायहेतुरन्तर्बहिर्वा स्फुरणाऽऽत्मा क्रोधः, दानाहेतु
स्वधनाप्रदानम्-अकारणपरधनग्रहणं च लोभः, दुरन्निवेशारो-
हो युक्ताक्रोधग्रहणं वा मानः, कुलबलैर्ध्वर्यविद्यारूपादिजिरहङ्कार-
करणं, परप्रधर्पनिवन्धनं वा मदः, निर्निमित्तमन्यस्य दुःखात्पाद-
नेन स्वस्य द्यूतपापद्विधनर्थसंश्रयेण वा मनःप्रमोदो र्दपः,
ततोऽस्यारिपूवर्गस्य त्यजनमनासेवनम्, एतेषां च त्यजनीयत्व-
मपायहेतुत्वात् । यदाह-" राएरुक्थो नाम जोजः कामाद्
ब्राह्मणकथ्यामजिमन्यमानः सबन्धुराष्टौ चिननाश, करालश्च वै-
देहः ॥१॥ क्रोधाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः, तावज्जह्म भृगु
पु॥२॥ द्वोजादैवश्चातुर्वर्ण्यमभ्याहारायमाणः, सौवीरश्चाजविन्दुः
॥३॥ मानाद्रावणः परदारान् प्रार्थयन्, तुर्योधनो राज्यादंशं च ॥४॥
मदादम्भोद्भवो द्यूतावमानी, दैहयश्चाजुनः ॥५॥ हर्षाद्वातापिरग-
स्त्यमभ्यासादयन्, वृष्णिषह्मश्च द्वैपायनमिति ॥६॥ ध० १ अधि० ।

अरिष्ठ-अरिष्ट-पुं० । रिष्ट-हिंसायाम्-क० । न० त० । लघु-
मे, वाच० । पिचुमन्दे, प्रज्ञा० १ पद । काके, फलविशेषे
च । औ० । रुचकद्वीपस्थे रुचकपर्वतस्य पौरस्त्ये पञ्चमे कूटे,
ह्री० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । अप्रशस्ते, आ०

च० १ अ० । वृषभासुरे, कङ्कपक्षिणि, कङ्क [रीग] इति
व्याने फेनिलफलकृष्णे च । पुं० । अश्वे मरणचिह्ने, तमे,
चक्षुर्ज्ञे, सुतिफागारे, मधे च । न० । वान० । ल० प्र० ।

अग्निहोत्रे-अग्निहोत्रे-पुं० । कौमार्ये वर्त्तमानेऽग्निहोत्रे,
" भृशमग्निहोत्रे ! विचारय " कल्प० ७ क० ।

अग्निहोत्रे-अग्निहोत्रे-पुं० । [धर्मचक्रस्य नेमिवधेभिः, गर्भ-
स्थे माताऽग्निहोत्रमयनेमिरूपतनदर्शनादग्निहोत्रेभिः] अवसर्पि-
ण्यां भरतकृत्रे द्वविशे तीर्थकरो, अनु० । धर्मचक्रस्य नेमिव-
धेभिः । ' सर्वे धर्मचक्रस्य नेमीनृप्येति सामन्तः विसेसो ग-
भगते तस्म मायाए अग्निहोत्रमयो [महति] महाज्ञयो नेमी
रूपिज्जमाणां सुमिणे दिष्टोऽस्ति तेण सोऽग्निहोत्रेति । आव०
२ अ० । आ० च० ॥

अथग्निहोत्रेभिर्चरितम्—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अग्निहोत्रेमी पंच चित्ते
होन्था । तं जहा—चित्ताहिं चुए, चइत्ता गम्भं वकंते, त-
हेव उक्खेवो० जाव चित्ताहिं परिनिव्वुए ॥ १७० ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन्काले तस्मिन् समये अहं
होत्रेभिः पञ्च-कल्याणकानि चित्रायामभवन् । तद्यथा-चित्रायां
च्युतः, च्युत्वा गर्भं उत्पन्नः, तथैव चित्राभिज्ञापेन पूर्वोक्तपाठो
वक्तव्य इत्यर्थः । यावत् चित्रायां निर्वाणं प्राप्तः ॥ १७० ॥

अथग्निहोत्रेभ्यश्चयनम्—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अग्निहोत्रेमी, जे से वा-
साणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिअवहुले, तस्म एं
कत्तियवहुलस्म वाग्सीदिवमेणं अपराजिआओ महावि-
माणाओ वत्तीमं सागरावमहिइआओ अणंतरं चयं चइ-
त्ता इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वामे सोरियपुरे नयरे स-
मुद्विजयस्स रत्ने भारिआए सिवाए देवीए पुव्वरत्ता-
वरत्तकालसमयं स जाव चित्ताहिं गव्वत्ताए वकंते म-
व्वं तहेव सुमिणदंमणद्विणसंहरणाइअं एत्थ जाणि-
यव्वं ॥ १७१ ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये अहं
अग्निहोत्रेभिः, योऽसौ वर्षाकालस्य चतुर्थो मासः सप्तमः पक्षः
कार्तिकस्य बहुलपक्षः, तस्य कार्तिकबहुलस्य द्वादशीदिवसे अ-
पराजितनामकाद् महाविमानाद् द्वविंशत्सागरोपमाणि स्थि-
तिर्यत्र ईदृशात्-अनन्तरं चयनं कृत्वा अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे
द्वीपे भरतकृत्रे सौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयस्य राज्ञः भार्यायाः
शिवाया देव्याः कुक्षौ पूर्वापरगात्रसमये मध्यगात्रा यावत्
चित्रायां गर्भतया उत्पन्नः सर्वं तथैव स्वप्नदर्शनद्वयसंहरणा-
दिवर्णनमत्र जणितव्यम् ॥ १७१ ॥

अथ भगवतो जन्म, अपरिणयनं च—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अग्निहोत्रेमी, जे से
वामाणं पढमे मासे दुत्थे पक्खे मावणमुप्पे, तस्म एं
मावणमुद्दस्म पंचमीदिवमेणं नवएहं मासाणं बहुपरिपुत्ताणं
जाव चित्ताहिं नकवत्तेणं चंदजोगमुवागएणं आरोगाऽऽ-
रोगं दारयं पयाया, जम्माणं ममुद्विजयाजिज्ञावेणं नयव्वं०

जाव तं होऊणं कुमारे अग्निहोत्रेमी नामेणं ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन्काले तस्मिन्समये अहं
अग्निहोत्रेभिः, योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासः, द्वितीयः पक्षः
श्रावणशुद्धः, तस्य श्रावणशुद्धस्य पञ्चमीदिवसे नवसु मासेषु
बहुपरिपूर्णेषु सत्सु यावच्चित्रानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति अ-
रोगा शिवा अरोगं दारकं प्रजाता । जन्मात्सवः समुद्रविजया-
भिधानेन ज्ञातव्यः, यावत् तस्माद्भवतु कुमारोऽग्निहोत्रेभिर्नाम्ना
कृत्वा, यस्माद् भगवति गर्भस्थे माताऽग्निहोत्रमयं नेमिं चक्र-
धारां स्वप्नेऽप्राप्नोत्, ततोऽग्निहोत्रेभिः, अकारस्य अमङ्गल-
परिहारार्थत्वाच्च अग्निहोत्रेभिरिति । रिष्टशब्दो हि अमङ्गलवा-
चीति । कुमारस्तु अपरिणीतत्वात् । कल्प० ७ क० । उत्त० ।

अपरिणयनं तु एवम-एकदा यौवनाजिमुखं नेमिं निरीक्ष्य
शिवा देवी समवदत्-‘वत्स ! अनुमन्यस्व पाणिग्रहणं, पूरय
चास्मन्मनोरथम् । स्वामी तु योग्यां कन्यां प्राप्य परिणयामीति
प्रत्युत्तरं ददौ । ततः पुनरेकदा कौतुकरहितोऽपि जगवान्
मित्रप्रेरितः संक्रोदमानः कृष्णायुधशाखायामुपागमत् । तत्र कौतु-
कात्सुकैर्मित्रैर्विहृतोऽहुल्यग्रे कुलावचक्रवचक्रं धामितवान्,
शङ्खं धनुर्मृणालवन्नामितवान्, कौमादिकं गदं यष्टिवदुत्पाटि-
तवाधू, पाञ्चजन्यं शङ्खं च मुखे धृत्वा आपूरितवान् । तदा च—

“निर्मल्योऽऽस्नानमूलं प्रजाति गजगणः खण्डयन् वेश्ममालां,
धावन्युन्नोदय वन्धान् सपदि हरिदया मन्दुरायाः प्रणष्टाः ।
शब्दाद्वैतं समस्तं वधिरितमजवत् तत्पुंरं व्यग्रमुग्रं,
श्रीनेमैर्वक्त्रपद्मप्रकटितपवनैः पूरिते पाञ्चजन्ये ” ॥ १ ॥

तं तादृशं च शब्दं निशम्योत्पन्नः कोऽपि वैरीति व्याकुलचित्तः
केशवस्त्वरितमायुधशाखायामागतः, दृष्ट्वा च नेमिं चकितो
निजनुजवलतुलनाय ‘आवाच्यां बलपरीक्षा क्रियते’ इति
नेमिं वदंस्तेन सह मल्लाकाटकं जगाम । श्रीनेमिराद—

“अनुचितं ननु भूलुठनादिकं, सपदि बान्धवयुद्धमिहावयोः ।
बलपरीक्षणकृद् भुजवाहनं, भवतु नान्यरणः सख्युज्यते” ॥ १ ॥

द्वाच्यां तथैव स्वीकृतम्—

“कृष्णप्रसारितं बाहुं, नेमिर्नैत्रवत्तामिव ।

मृणालदण्डवच्छीमं, वाद्ययामास लीलया ” ॥ १ ॥

शास्त्रानिमे नेमिजिनस्य बाहौ, ततः स शास्त्रामुगवद्विजयः ।
चक्रे निजं नाम हरिर्यथार्थ-मुद्यद्विपादद्विगुणासितास्यः” ॥ २ ॥
ततो महातापि पराक्रमेण नेमिनुजेऽवलिते सति विषण्णचित्तः
कृष्णो मम राज्यमेव सुखेन गृहीष्यतीति चिन्ताऽऽतुरः स्वचित्ते
चिन्तयामास—

“क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।

ममन्थ शङ्करः सिन्धुं, रत्नान्यापुर्दिवौकसः ” ॥ १ ॥

अथवा—

“क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।

वन्ता दलन्ति कप्रेन, जिह्वा गिलति बीजया ” ॥ १ ॥

ततो बलभेदेन सहाऽऽलोचयति-किं विधास्ये, नेमिस्तु राज्य-
द्विपुत्रवत्वाच्च ? तत आकाशवाणी प्रादुरभूत्-अहो हरे ! पुरा
नेमिनाथेन कथितमासीद्-यद्भुतं द्वविंशस्तीर्थकरो नेमिनामा
कुमार एव प्रव्रजिष्यतीति श्रुत्वा निश्चिन्तो निश्चयार्थं नेमिना
सह जलक्रीडां कर्तुमन्तःपुरीपरिवृतः सरोऽन्तरे प्रविष्टः । तत्र
च—“प्रणयतः परिगृह्य करे जिने, हरिस्वेशयदाशु सरोऽन्तरे ।

तदनु शीघ्रमासिञ्चन नेमिनं, कनकशृङ्गजैर्धुसृणाविधैः ” ॥ १ ॥
तथा रुक्मिणीप्रमुखगोपिका अपि ज्ञापितवात्, यदयं नेमिनिः-
शङ्कं क्रीडया पाणिग्रहाभिमुखीकार्यः । ततश्च ता अपि-
“काश्चित् केसरसारनारनिकरैराचोऽयन्ति प्रभुं,
काश्चिद् वन्धुरपुष्पकन्दुकतर्गैर्निर्गन्ति वक्रःस्थले ।
काश्चित्तीक्ष्णकटाक्षत्रयविशैर्विद्वन्ति नर्मोक्तिभिः,
काश्चित्कामकलाविद्यासकुशला विस्मापयाञ्चक्रे ” ॥ १ ॥

ततश्च-

“तावत्यः प्रमदाः सुगन्धिपयसा स्वर्णादिशृङ्गाङ्गुलिं,
नृत्वा तज्जनिर्भरैः पृथुरैः कर्तुं प्रभुं ध्याकुलम् ।
प्रावर्त्तन्त मिथो हसन्ति सततं क्रोशन्त्यसन्मानसा-
स्नावह्योमनि देवगीरिति समुद्रता श्रुता चाखिलैः ॥ २ ॥
मुग्धाः स्य प्रमदाः ! यतोऽमरगिरौ गीर्वाणनाथैश्चतु-
ष्पष्टया योजनमानवक्रकुरुरैः कुम्भैः सहस्राधिकैः ।
बाल्येऽपि स्नपितो य एष भगवान्नाभून्मनागाकुलः,
कर्तुं तस्य सुयत्नोऽपि किमहो ! गुप्ताभिरीक्ष्यते ? ” ॥ ३ ॥
ततो नेमिरपि हरिं ताश्च सर्वा जलैराचोऽयति स्म, कमल-
पुष्पकन्दुकैस्ताडयति स्म, इत्यादि सविस्तरं जलकीडां कृत्वा
तटमागत्य नेमिं स्वर्णासने निवेश्य सर्वा अपि गोप्यः परिवे-
ष्ट्य स्थिताः । तत्र रुक्मिणी जगौ-

“निर्वाहकातरतयोच्छसे न यत्वं,
कन्यां तदेतद्विचारितमेव नेमे ! ।
भ्राता तवास्ति विदितः सुतरां समर्थो,
द्वात्रिंशदुन्मितसहस्रवधूर्ध्वोढा ” ॥ १ ॥

तथा सन्ध्यामाऽप्युवाच-

“ऋषजमुखाजिनाः करपीडनं,
विदधिरे दधिरे च महीशताम् ।
बुल्लजिरे विषयाश्च बहून् सुताम्,
सुषुविरे शिवमप्यथ वेभिरे ॥ २ ॥
त्वमसि किन्तु नवोऽयं शिवंगमी,
नृशमरिष्टकुमार ! विचारय ।
कलय देवर ! चारुगृहस्थतां,
रचय बन्धुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥
अथ जगाद् च जाम्बवती जवात्,
शृणु पुरा हरिवंशविजृम्भम् ।
स मुनिसुव्रततीर्थपतिर्गृही,
शिवमगादिह जातसुतोऽपि हि ॥ ४ ॥
पद्मावतीति समुवाच विना वधूर्ती,
शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेव विट एव भवेदभार्यः ” ॥ ५ ॥

गान्धारी जगौ-

“सज्जन्ययात्राशुजसहसार्थ-
पर्वोत्सवा वेदमविवाहकृत्यम् ॥
उद्यानिकापुङ्गवपर्यदश्च,
शोभन्त एतानि विनाऽङ्गनां नो ” ॥ ६ ॥

गौर्युवाच-

“अज्ञानभाजः किल पक्षिणोऽपि,
क्रितौ परिभ्रम्य वसन्ति सायम् ।
नामे स्वकान्तासहिताः सुखेन,

ततोऽपि किं देवर ! मृददृक् त्वम् ” ॥ ७ ॥

ब्रह्मणाऽप्युवाच-

“स्नानादिसर्वाङ्गपरिष्कार्यायां,
विचक्षणः प्रीतिरसाभिरामः ।
विस्मयनपात्रं विभुगे महायः,
कोऽप्यो जघेन्नृनमृते प्रियायाः ” ॥ ८ ॥

सुमीमाऽप्यवादीत-

“विना प्रियां को गृहमागतानां,
प्रापूर्णकानां मुनिसत्तमानाम् ॥
करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्यः?,
कथं च शोभां लभते मनुष्यः ? ” ॥ ९ ॥

एवमन्यासामपि गोपाङ्गनानां वाचोयुक्त्या यदनामाप्रदाश्च
मौनावलम्बितमपि स्मिन्नानं जितं निरीक्ष्य, “अनिषिद्धमनुम-
तम् ” इति न्यायाद् नेमिना पाणिग्रहणं स्वीकृतमिति ताभिर्वाह-
मुद्घोषितम्, तथैव जनोक्तिरिति । ततः कृष्णेनोत्प्रेषणपुत्री रा-
जीमती मर्गिता, लग्नं पृष्टं, कोष्टिकनामा ज्योतिर्वित् प्राह-
“वर्षासु गुणकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत् ।

गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा ? ॥ १ ॥

समुद्रस्ते वभाषेऽथ, कालक्षेपोऽत्र नास्ति ।

नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय प्रवर्त्तितः ॥ २ ॥

मा भूद्विवादप्रत्यूहो, नेदीयस्तदिनं वद ॥

श्रावणे मासि तेरेका, ततः पष्टी समुज्ज्वला ” ॥ ३ ॥

चञ्चितश्च श्रीनेमिकुमारः स्फारशृङ्गारः प्रजाप्रमोदकरो रथा-
रुढो धृताऽऽतपन्नसारः श्रीसमुद्रविजयादिदशार्हकेशववज्रद्रा-
दिविशिष्टपरिवारः शिवादेवीप्रमुखप्रमदाजंगीयमानधवलमङ्गल-
विस्तरः पाणिग्रहणाय अग्रतो गच्छंश्च वीक्ष्य सारथिं प्रति-
कस्येद् कृतमङ्गलभरं धवलमन्दिरम् ?, इति पृष्टवान् । ततः सोऽद्भु-
त्यग्रेण दर्शयन् इति जगाद्-“उत्प्रेषेन्नृपस्य तव श्वशुरस्यायं
प्रासाद् इति, इमे च तव भार्यायां राजीमत्याः सख्यौ चन्द्रान-
ना-मृगलोचनाभिधाने मिथो वार्तयतः । तत्र मृगलोचना वि-
द्वोक्य चन्द्राननां प्राऽऽह-हे चन्द्रानने ! स्त्रीवर्गे एका राजीमत्ये-
व वर्णनीया, यस्या अयमेतादृशो वरः पाणिं प्रदीष्यति । चन्द्र-
वदनाऽपि मृगलोचनामाह-

“राजीमतीमद्भुतरूपरम्यां, निर्माय धाताऽपि यद्दीदृशेन ॥

चरेण नो योजयति प्रतिष्ठां, लभत विद्वानविचक्षणः काम ? ” ॥ १ ॥

इतश्च तूर्यशब्दमाकर्ण्य मातृगृहाद् राजीमती सखीमध्ये प्राप्ता
हे सख्यौ ! भवतीभ्यामेव सारस्वरमागच्छन्नापि वरो विद्वोक्य-
ते, अहमपि विलोकयितुं न लभेयमिति बलात्तदन्तरे स्थित्वा
नेमिमालोक्य साश्चर्यं चिन्तयति स्म-

“किं पातालकुमारः ?, किं वा मकरध्वजः सुरेन्द्रः किम् ? ॥

किं वा मम पुण्यानां, प्राग्भारो मूर्त्तिमानेव ? ॥ २ ॥

तस्य विधातुः करयो-रात्मानं व्युञ्जुनं करोमि मुदा ।

येनैव वरो विदितः, सौजाभ्यप्रभृतिगुणराशिः ” ॥ २ ॥

मृगलोचना राजीमन्यभिप्रायं परिज्ञाय सप्रतिहासं-हे
सखि ! चन्द्रानने ! समग्रगुणसम्पूर्णोऽपि अभिमन् वरो एकं दूषणं
अस्येव, परं वरार्थिन्यां राजीमत्यां शृण्वन्त्यां वक्तुं न शक्य-
ते । चन्द्राननाऽपि-हे सखि ! मृगलोचने ! मयाऽपि तद् ज्ञातं,
परं साम्प्रतं मौनमेवाचरणीयम् । राजीमत्यपि त्रपया मध्यस्थ-
तां दर्शयन्ती-हे सख्यौ ! यस्याः कस्या अपि पुत्रनादृतभा-
म्यधन्यायाः कन्याया अयं वरो जवतु, परं सर्वगुणसुन्दरेऽस्मि-

न वरं दृष्टं तु दुग्धमध्यान् पूतरकर्षणप्रायमसम्भाव्यमेव ।
तदनु ताभ्यां सविनोदं कथितम्-भो राजीमति ! वरः प्रथमं
गौगे विज्ञोष्यते, अपरे गुणास्तु परिचये सति ज्ञायन्ते । तत्रैतत्त्वं
तु कञ्जलानुकारमेवास्मिन् दृश्यते । राजीमती सेष्यै सख्यौ प्र-
त्याह-अद्य यावत् युवां चतुरे इति मम भ्रमोऽभवत्, साम्प्रतं तु स
भग्नः । यत् सकलगुणकारणे इयामत्वं नृपणमपि दृष्टव्यं
प्ररूपितम् । शृणुतं तावत् सावधानीत्ययं भवत्यौ इयामत्वं इया-
मवस्वाश्रयणे च गुणान्, केवलगौरवे दोषांश्च । तथाहि-
“नृ, चित्तवह्निर् अगुरु ३, कल्पूर ४ घण ५ कर्णीणिगा ६ केमा ७,
कसवट्ट ८ मसी ९ रयणी १०, कस्मिणा ११ अणुघण्टा १२ ॥१॥
इति कृष्णत्वे गुणाः ।

“कल्पूरं भंगारो १, चन्दे चिधं २ कर्णीणिगा णयणे ३ ।
चुञ्जं मरियं ४ चित्ते, रेहा ५ कस्मिणा चि गुणहेऊ ” ॥ २ ॥
इति कृष्णवस्वाश्रयणे गुणाः ।

“खारं व्रवणं १ दहिणं, हिमं च २ अङ्गोरविगहो रोगी ३ ।
परवलगुणो अचुष्मो, केवलगौरत्तणे ऽवगुणा ” ॥ ४ ॥

एवं परस्परं तासां जल्पे जायमाने आनेमिः पशूनामात्तस्वरं
श्रुत्वा साकेपम-हे सारथे ! कोऽयं दारुणः स्वरः ? सारथिः प्राह-
नुष्माकं विवाहं भोजनकृते समुदायीकृतपशूनामयं स्वरः, इत्युक्ते
स्वामिं चिन्तयति स्म । विधिवद्वाहोत्सवं, यत्रानुस्वाऽस्मीपां जी-
वानाम् । इतश्च-“ हल्ली सहिओ ! किं मे दाहिणं चकवु
पणिफुड्ड ? त्ति ” वदन्ती राजीमती प्रति सख्यौ प्रतिहतमम-
ङ्गलम्, इत्युक्त्वा धुधुकारं कुरुतः । नेमिस्तु हे सारथे ! रश्मिता
निवर्त्तय । अत्रान्तरे नेमिं पश्यन्तेको हरिणः स्वप्रायया हरिणी-
प्रायां पिधाय स्थितः । “ अत्र कविप्रदत्ता ”-स्वामिनं निरीक्ष्य
हरिणो वृते-

“ मा पहरसु मा पहरसु, पयं मह हिययहारिणिं हरिणिं ।
सामी ! अम्हं मरणं, वि दुस्सहो पियतमाविरहो ” ॥ १ ॥

हरिणी नेमिमुखं निमित्त्य हरिणं प्रति वृते-
“ एसो पम्भवयणो, निहुयणसामी अकारणं वंभू ।
तच्चिणयणेषु वल्लह !, रक्खथं सव्वजीवाणं ” ॥ २ ॥

हरिणोऽपि पत्नीप्रेरितो नेमिं वृते-

“ निम्भरनरीरणं, अरणतणभक्खणं च वणवासे ।
अम्हाणु निरवराहा-ण जीवियं रक्ख रक्ख पढो ! ” ॥ ३ ॥

एवं सर्वेऽपि पशवः स्वामिनं विज्ञपयन्ति । तावत्स्वामी वभाषे-
भोः पशुरङ्गकाः ! मुञ्चत मुञ्चत इमान् पशून्, नाहं विवाहं क-
रिष्ये । पशुरङ्गकाः आनेमिवचसा पशून्मुञ्चन्ति स्म । सारथिरपि
रथं निवर्त्तयति स्म । अत्र कविः-

“ हेतुरिन्दोः फलङ्के पो, विग्दे गमसीतयोः ।
नेमे राजीमतीन्यागे, कुरङ्गः सन्धमेव सः ” ॥ १ ॥ इति ।

समुद्रविजयशिवाविजयशिवादेवीप्रमुखाजनास्तु शीघ्रमेव
रथं स्खलयन्ति स्म । शिवा च स्वाप्यं वृते-

“ पन्थेमि जणणिवल्लह-वच्छु ! तुमं पढमपन्थणं किंणि ।
काऊण पाणिगहणं, मह दंसं निअवद्वयणं ” ॥ १ ॥

नेमिगह-
“ मुञ्चाग्रहमिमं मान !-मार्तुर्षाषु न मे मनः ।
मुक्खिस्सिद्धमेत्तकण्ठ-मकुण्ठमवतिष्ठते ” ॥ १ ॥

यतः-
“ या रागिणि विरागिण्य-स्ताः स्त्रियः को निपेवेते ? ।

अतोऽहं कामये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी ” ॥ १ ॥
इत्यादि ।

राजीमती-हा देव ! किमुपस्थितमित्युक्त्वा मूर्छां प्राप्ता, स-
खीभ्यां चन्दनद्रव्यैराश्वसिता कथमपि लब्धसंज्ञा सबाष्पं
गाढस्वरेण प्राह-

“ हा जायवकुलदिणयर !, हा निक्खमनाण ! हा जगसरण ! ।
हा करुणयर ! सामी !, मं मुत्तूणं कहं चलिओ ? ” ॥ १ ॥

“ हा हिअय धिठ ! निदुर !, अज्ज वि निलुज्ज ! जीविअं वहसि ।
अन्नथ वरुआओ, जइ नाहो अत्तणो जाओ ” ॥ २ ॥

पुनर्निःश्वस्य सोपाव्रम्भं जगाद-
“ जइ सयलसिद्धचुत्ता-इ मुत्तिगणिआइ धुत्त ! रत्तोऽसि ।
ता एवं परिणयणा-रंभेण विरंविआ किमदे ? ” ॥ ३ ॥

सख्यौ सरोपम-
“ लोअपमिद्धी वत्तमी, मदिण इक्क सुणिज्ज ।
सरत्तं विरलं सामलं, चुक्कअ विहो करिज्ज ॥ १ ॥

पिम्मरहिअस्मि पिअसहि ! एअस्मि वि किं करोसि पिअभावं ?
पिम्मपरं किं पि वरं, अन्नयरं ते करिस्सामो ” ॥ २ ॥

राजीमती कर्णौ पिधाय हा ! अश्राव्यं किं श्रावयथः-
“ जइ कहं वि पच्छिमाण, उदयं पावेइ दिणयरो तह वि ॥
मुत्तूण नेमिनाहं, करोमि नाहं वरं अन्नं ” ॥ १ ॥

पुनरपि नेमिनं प्रति-
“ वनेच्छुरिच्छाधिकमेव दत्से, त्वं याचकेभ्यो गृहमागतेभ्यः ।
मयाऽर्थयन्त्या जगतामधीश !, हस्तोऽपि हस्तोपरि नैव लब्धः ॥ २ ॥

अथ विरक्ता राजीमती प्राह-
“ जइ वि हु एअस्स करो, मज्झं करो नो आसि परिणयणे ।
तह वि सिरे मह सुच्चिअ, दिक्खासमप करो हाही ” ॥ ३ ॥

अथ नेमिनं सपरिकरः समुद्रविजयो जगौ-
“ नाजेवाद्याः कृतोद्वाहाः, मुक्तिं जग्मुर्जितेश्वराः ।
ततोऽप्युच्चैः पदं ते स्यात्, कुमारग्रहवारिणः ॥ १ ॥

नेमिराह-हे तात ! क्षीणभोगकर्माऽहमस्मि । किञ्च-
“ एकस्त्रीसंग्रहेऽनन्त-जन्तुसंघातघातके ।
जवतां जवतान्तेऽस्मिन्, विवाहे कोऽयमाग्रहः ? ” ॥ १ ॥

अत्र कविः-
“ मन्येऽङ्गनाविरक्तः, परिणयनमियेण नेमिरागस्य ।
राजीमतीं पूर्वभव-प्रेम्णा समकेतयन्मुक्त्यै ” ॥ १ ॥

कुमारावस्थावासः-
अगहा अरिष्टनेमी दक्खेण जाव तिन्नि वाससया-
इं कुमारे अगारनासमज्जे वमिच्चा पुणरवि खोगेतिण्हिं
मव्वं तं चेव भाणियव्वं जाव दाणं दाइयाणं परि-
भाइत्ता ॥

अहं न अरिष्टनेमिः दत्तः, यावत् त्रीणि वर्षशतानि कुमारः सन्
गृहस्थावस्थामध्ये उपित्वा पुनरपि लोकान्तिकैरित्यादि सर्वं
तदेव पूर्वोक्तं भणितव्यम् । लोकान्तिका देवा यथा-“ जय नि-
जितकन्दर्प !, जन्तुजाताभयप्रद ! । नित्योत्सवावतारार्थं, माथ !
तार्थं प्रवर्त्तय ” ॥ १ ॥ इति स्वामिनं प्रोच्य स्वामी वार्षि-
कदानानन्तरं त्रिभुवनमानन्दयिष्यतीति समुद्रविजयादीन् प्रो-
त्साहयन्ति स्म । ततः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः । दानविधिस्तु श्रीवी-
रचद् इत्यः ॥ १७२ ॥ कल्प ० ७ क० । स० ।

अथ निष्क्रमणम्-

जे से वासाणं पदमे माने षुचे पक्खे सावणमुच्चे, तस्स एणं सावणसुद्धस्स उट्ठीपक्खेणं पुव्वएहकात्तमयंसि उ-
त्तरकुराए सीयाए मदेवमणुआसुराए परिसाए समणुग-
म्ममाणे जाव वारवईए मज्जं मज्जेणं निगच्छइ । निग-
च्छइत्ता जेणेव रेवयए उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ । उ-
वागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ । ठावेइत्ता
सीयाओ पच्चोरुइ । पच्चोरुइत्ता सयमेव आभरणमद्वालं-
कारं ओमुयइ । ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं द्वायं कोइ । क-
रेइत्ता द्दुट्ठेणं जत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जो-
गमुवागएणं एणं देवदूममादाय एगेणं पुरिससहस्सेणं स-
द्धिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥ १७३ ॥

(जे से वासाणं पदमे इत्यादि) योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासो
द्वितीयः पक्वः-आवणस्य शुक्लः पक्षः । तस्य आवणशुक्लस्य षष्ठीदि-
वसे पूर्वाह्णकालसमये उत्तरकुरायां शिबिकायां स्थितो देवम-
नुष्यासुरसद्वितया वर्षदा समनुगम्यमानो यावद् द्वारवत्या
नगर्या मध्यभागे निर्गच्छति । निर्गत्य यत्रैव रैवतकमुद्यानं तत्रैव
उपागच्छति । उपागत्य अशोकनामवृक्षस्य अधस्तात् शिविकां
स्थापयति । संस्थाप्य शिविकातः प्रत्यवतरति । प्रत्यवतीर्ष स्वयमे-
व आभरणमाल्यालङ्कारान् अवमुञ्चति, अवमुच्य स्वयमेव पञ्चमौ-
ष्टिकं लोचं करोति । कृत्वा च पष्ठेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन
चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति एकं देवदूथं गृहीत्वा
एकेन पुरुषाणां सहस्रेण सार्कं मुण्डो भूत्वा प्रचुरगाराभिष्क-
म्य साधुतां प्रतिपन्नः ॥ १७३ ॥ कल्प० ७ क० । स० ।

अथ केवलोत्पादः-

अरहा अरिष्टनेमी चउप्पन्नं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए
तं चेव सव्वं जाव पणपन्नगस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमा-
णस्स जे से वासाणं तच्चे मामे पंचमे पक्खे आसोयवहु-
ले, तस्स एणं आसोयवहुलस्स पन्नस्सीपक्खेणं दिवसस्स
पच्छिमे जाए उज्जित्तसेत्तामिहरे वेयसस्स पायवस्स अहे
अट्टमेणं जत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमु-
वागएणं जाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते जाव जाण-
माणे पासमाणे विहरइ ॥ १७४ ॥

(अरहा अरिष्टनेमी इत्यादि) अर्हन् अरिष्टनेमिः चतु-
ष्पञ्चाशत् अहोरात्रान् यावद् नित्यं व्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वोक्तं
सर्वं वाच्यं यावत् पञ्चपञ्चाशत्तमस्य अहोरात्रस्य अन्तरा
वर्तमानस्य योऽसौ वर्षाकालस्य तृतीयो मासः, पञ्चमः पक्षः-
आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनवदुलस्य पञ्चदशे दि-
वसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामशैलस्य शिख-
रे वेतसनामवृक्षस्य अधस्तात् अष्टमेन भक्तेन अपानकेन ज-
लरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुक्ल-
ध्यानस्य मध्यभागे वर्तमानस्य प्रजोरनन्तं केवलज्ञानं स-
मुत्पन्नं यावत् सर्वज्ञानान् जानन् पश्यंश्च विहरति, तत्र
केवलज्ञानं रैवतकस्थे सहस्राध्रवणे समुत्पेदे, तत उद्यान-
पालको विष्णोर्व्यजिज्ञपत् । विष्णुरपि महर्ष्या जगव-

न्तं वन्दितुमाश्रयौ । राजीमत्यपि तत्रागता । अथ प्रभोर्देश-
नां निशम्य वरदत्तचतुः सहस्रद्वयनृपयुतो व्रतमाददे । ह-
रिणा च राजीमत्याः स्नेहकारणे पृष्टे प्रसूधनवतीजवादा-
रभ्य तथा सह स्वस्य नवभवसम्बन्धमाचष्टे । तथाहि-प्रय-
मे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेयं धनवती नाम्नी म-
त्पत्नी अतूत् १ । ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवलोके आवां
देवदेव्यौ २ । ततस्तृतीये भवेऽहं चित्रगतिनामा विद्याधरः,
तदेयं रत्नवती मत्पत्नी ३ । ततश्चतुर्थे जवे चतुर्थे कल्पे द्वा-
वापि देवौ ४ । पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एषा प्रिय-
तमा राज्ञी ५ । षष्ठे एकादशे कल्पे द्वावापि देवौ ६ । स-
प्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एषा तु यशोमती राज्ञी ७ । अ-
ष्टमेऽपराजिते द्वावापि देवौ ८ । नवमेऽहमयम्, एषा राजीम-
ती ९ । ततः प्रचुरन्यत्र विहृत्य क्रमात्पुनरपि रैवतके सम-
वासरत् । अनेकराजकन्यापरिवृता राजीमती तदा रथनेमि-
श्च प्रसूपाश्वे दीक्षां जगृहतुः । अन्यदा च राजीमती प्रसू न-
न्तु प्रतिव्रजन्ती मार्गे वृष्ट्या बाधिता । एकां च गुहां प्राविशत् ।
तस्यां च गुहायां पूर्वं प्रविष्टं रथनेमिमज्जाननी सा क्लिन्नानि
वस्त्राणि शोषयितुं परितश्चक्षेप । ततश्च तामपहसितत्रिदश-
तह्णिरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा
विवसानां निरीक्ष्य भ्रातुर्वैरादिव मर्दनेन मर्मणि हतः कुलल-
ज्जामुत्सृज्य धीरतामवधीर्य रथनेमिस्तां जगाद-

“अयि ! सुन्दरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ? ।

सर्वाङ्गभोगसंयोग-योग्यः सौभाग्यशेवधिः ॥ १ ॥

आगच्छ स्वेच्छया भद्रे !, कुर्वहे सफलं जनुः ॥

आवामुभावपि प्रान्ते, चरिष्यावस्तपोविधिम् ” ॥ २ ॥

ततश्च महासती तदाकर्ण्य तं दृष्ट्वा च घृताद्भुतधैर्या तं प्रत्युवाच-

‘महानुभाव ! कोऽयं ते-ऽजित्तायो नरकाध्वनि ।

सर्वं सावद्यमुत्सृज्य, पुनर्वाञ्छन् लज्जसे ॥ १ ॥

अगन्धनकुत्रे जाता-स्तिर्यञ्चो ये नृजङ्गमाः ।

तेऽपि नो वान्तमिच्छन्ति, त्वं नीचः किं ततोऽयसि ? ” ॥ २ ॥

इत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितः श्रीनेमिप्राश्वे तद्दुःस्वीमाश्लेच्य

तपस्तप्त्वा मुक्तिं जगाम । राजीमत्यपि दीक्षामाराध्य शिवश-

यमारूढा, चिरप्रार्थितं शाश्वतिकं श्रीनेमिसंयोगमवाप । यदाह-

“छन्नस्था वत्सरं स्थित्वा, गेहे वर्षचतुःशतीम् ।

पञ्चवर्षशतीं राजी, ययौ केवलनी शिवम् ” ॥ १ ॥ १७४ ॥

(कृष्णाग्रमहिषीप्रवाजनम् ‘अगमहिप्सी’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे
१७४ पृष्ठे उक्तम्)

अथ गणदिलेपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अट्टारस गणा

अट्टारस गणहरा हुत्था ॥ १७५ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स स्ति) अर्हतोऽरिष्टनेमेरष्टादश
गणाः, अष्टादश गणधराश्च अभवन् ॥ १७५ ॥ कल्प० ७ क० ।

अथ भ्रमणभ्रमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स वरदत्तपामुक्खाओ अट्टारस
समणसाहसीओ उक्कोसिया समणसंपया हुत्था ॥ १७६ ॥(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः वरदत्तप्र-
मुखाणि अष्टादश भ्रमणानां सहस्राणि, वत्कृष्टा एतावती भ्रम-
णसंपदा अभवत् ॥ १७६ ॥

अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स अज्जजिखणीपामुक्खाओ चत्तालसं अज्जिपासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिपासं-
पया हुत्था ॥ १७७ ॥

(अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, आर्ययत्ति-
स्मिन्मुखाणि चत्वारिंशत् आर्यासहस्राणि उत्कृष्टा एतावती
आर्यासम्पदा अभवत् ॥ १७७ ॥ कल्प० ७ क०। स०। आ०चू०।

अथ धावकसंपत्-

अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स नंदपामुक्खाणं समणोवास-
गाणं एगासयसाहस्सी अ ऊणत्तारिं च सहस्सा उक्कोसिआ
समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १७८ ॥

(अरहओ एं अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, नन्दप्र-
मुखाणां धावकाणामेको लक्ष एकेनसप्ततिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा
एतावती धावकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७८ ॥

अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स महासुव्वयापामुक्खाणं सम-
णोवासियाणं तिन्नि सयनाहस्सीओ उक्कीसं च सहस्सा
उक्कोसिया समणोवासयाणं संपया हुत्था ॥ १७९ ॥

(अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः महासुव्वता-
प्रमुखाणां धाविकाणां त्रयो लक्षाः पञ्चविंशत्सहस्रा उत्कृष्टा ए-
तावती धाविकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७९ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणाम्-

अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स चत्तारि मया चउदसपुव्वीणं
अज्जिणाणं जिणमंकासाणं जाव संपया हुत्था ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमश्चत्तारि शतानि चतुर्दशपूर्विणाम्, अकेवद्विना-
मपि केवलितुल्यानां यावत् सम्पदा अभवत् । कल्प० ७ क०।

अथावधिज्ञान्यादि-

पन्नरसमया ओहिनाणीणं पन्नरसमया केवलनाणीणं
पन्नरसमया वेउव्वियाणं दसमया विउलमईणं ॥

पञ्चदश शतानि अवधिज्ञानिनां सम्पदा अभवत्, पञ्चदश
शतानि केवलज्ञानिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश शतानि वै-
क्रियवर्धिमनां संपदा अभवत्, दश शतानि विपुलमतीनां संप-
दा अभवत् । कल्प० ७ क०।

" अरहो एं अरिष्टनेमिस्स अछमया वाईणं सदेवमणुयासु-
राए परिषाए चाए अपराजियाणं उक्कोसिया वाईसंपया
हुत्था " । स्था० ८ ग०। स०।

अनुत्तरोपपातिकानाम्-

मोलममया अणुत्तरोववाइयाणं, पन्नरस ममणसया मिद्धा,
तीसं अज्जियामयाई सिद्धाई ॥ १८० ॥

षोडशशतानि अनुत्तरोपपातिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश अ-
मणानां शतानि सिद्धानि, त्रिंशत् आर्याशतानि सिद्धानि ॥ १८० ॥
कल्प० ७ क०।

अथान्तकृद्भूमिः-

अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स दुविहा अंतगरुच्ची हुत्था । तं
जहा-जुगंतगडच्ची य, परियायंतगडच्ची य० जाव अट्ट-
माओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडच्ची, दुवासपरिआए अंतम-
कासी ॥ १८१ ॥

(अरहओ अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः द्विविधा
अन्तर्गुह्यमया अजवत् । तद्यथा-युगान्तकृद्भूमिः, पर्यायान्तकृ-
द्भूमिश्च ॥ यावत्, इदमग्रे योज्यम्-अष्टमं पुरुषयुगं पट्टधरं यु-
गान्तकृद्भूमिरासीत्, द्विवर्षपर्याये जाते कोऽपि अन्तर्मकार्षी-
त् ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ क०। स्था०।

अथ भगवत आयुः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिष्टनेमी तिन्नि
वाससयाई कुमारवासमज्जे वसित्ता, चउप्पन्नं राई-
दियाई उउमत्थपरिआय पाउणित्ता, देसणाई सत्तवासस-
याई केवलिपरिआयं पाउणित्ता, पडिप्पुन्नाई सत्तवासस-
याई सामन्नपरिआयं पाउणित्ता, पुगं वाससहस्सं सव्वा-
उअं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जा उपनामगुत्ते इमीसे
ओसप्पिणीए दूमसुसमाए बहुविइकंताए, जे से गिम्हाणं
चउत्थे मासे अछमे पक्खे आसाहसुद्धे, तस्स एं आसाह-
सुद्धस्स अट्टमीपक्खणं उप्पि उज्जितसेलसिहरंसि पंचहिं
वृत्तीसेहिं अणगारसएहिं सार्द्धं मासिएणं जत्तणं अपाण-
एणं चित्तानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकावस-
मयंसि नेसजिए कावगएणं जाव सव्वदुक्खपहीणे ॥ १८२ ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन्
अरिष्टनेमिः त्रीणि वर्षशतानि कुमारवस्थार्थां स्थित्वा चतुष्प-
ञ्चाशदहोरात्रान् ब्रह्मस्थपर्यायं पाठयित्वा, किञ्चिद्दूतानि
सप्तवर्षशतानि केवलितपर्यायं पाठयित्वा, प्रतिपूर्णानि सप्तवर्ष-
शतानि चारित्र्यपर्यायं पाठयित्वा, एकं वर्षसहस्रं सर्वायुः पाठ-
यित्वा, क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु कर्मसु अस्यामेव
अवसर्पिण्यां दुष्पमसुपमनामके चतुर्थेऽरके बहुव्यतिक्रान्ते
सति, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः-आषा-
ढशुद्धः, तस्य आषाढशुद्धस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तना-
मशैलशिखरस्य पञ्चभिः पञ्चविंशत्युनैरनगरशतैः सार्द्धं मासिकेन
अनशनेन अपानकेन जलरहितेन, चित्रानक्त्रे चन्द्रयोगमुपाग-
ते सति पूर्वोपररात्रिसमये मध्यरात्रौ निपन्नः सन् कालगतः,
यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः ॥ १८२ ॥ इति ॥ कल्प० ७ क०। स०।

अथ नेमिनिर्वाणात् कियता कालेन (प्रकृत)

पुस्तकलिखनादि जातमित्याह-

अरहओ एं अरिष्टनेमिस्स कालगयस्स जाव सव्वदु-
क्खप्पहीणस्स चउरासीई वाससहस्साई विइकंताई पंचा-
सीइमस्स वाससयस्स नववाससयाई विइकंताई दसमस्स य
वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे कावे गच्छइ ॥ १८३ ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेः कालगतस्य यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणस्य चतु-
रशीतिवर्षसहस्राणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चाशीतितमस्य वर्षसह-
स्रस्यापि नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि, दशमस्य च वर्षशतस्य
अयं अशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति ॥ १८३ ॥ श्रीनेमिनि-
र्वाणात् चतुरशीत्या वर्षसहस्रैः श्रीवर्तिनिर्वाणमज्ञात्, श्रीपार्श्व-
निर्वाणं तु वर्षाणां व्यशीत्या सहस्रैः सार्द्धं सप्तमिश्च शतैरभू-
दिति सुधिया ज्ञेयम् । कल्प० ७ क०। तौ०।

“ वज्रंतसेलसिद्धरे, दिक्खा नाणं निसीदिया जस्स ।
तं धम्मचक्रवर्द्धि, अरिष्टनेमि नमंसामि ” ॥१॥ ध० २ अधि० ।
(अरिष्टनेमिना राजीमतीपरित्यागः, तथा प्रव्रजितया कामा-
चैरथनेमिप्रतिबोधश्च ‘ रहनेमि ’ शब्दे वक्ष्यते)
अणहिलपट्टे पूज्यमाने श्रीअरिष्टनेमिदेवे, ती० ।

तत् कथा चैयम्-

पणमिय अरिष्टनेमि, अणहिलपुरपट्टणावयंसस्स ।

बंजाणगच्छनिसिय-अरिष्टनेमिस्स किंतिमो कप्पं ॥१॥

“पुण्वं किर सिरिकन्नउज्जनयरे जक्खो नाम महाद्विसेपन्नो नेगमो
होत्था । सो अन्नया वाणिज्जकज्जे महया वइल्लसत्थेण कयाण-
गाणि गणिरुण कन्नउज्जपडिवर्त्तं कन्नउज्जाहिवसुआए महणि-
गाए कंचुद्विआसंवाधदिष्णं गुज्जरदेसे पइट्ठिओ, आवासिओ अ ।
कमेण जक्खारामे सरस्सइनईतरे पुट्ठिं अणहिल्लवाडयपट्ट-
णनिवेसद्वाणं कारितं आसी । तत्थ सत्थं निवेसित्ता अत्थंतस्स
तस्स नेगमस्स पत्तो वासारत्तो । वरिसिउं पवत्ता जलहरा ।
अन्नया भइवयमासे सो वइल्लसत्थो सत्थो वि कत्थं वि गत्तो, को
वि न जाणइ, सव्वत्थं गवेसाविओ न लद्धो । तओ सव्वस्स ना-
से इव अत्थंतत्तिताउरस्स तस्स रत्तीए आगया सुमिणंसि
भगवई अंबा देवी । जणियं च तीए-वच्छ ! जगसि, सुवासि वा ?
जक्खेण वुत्तं-अम्मो ! कओ मे निहा ? जस्स वइल्लसत्थो सव्व-
स्स नूओ विण्णणो । देवीए साहियं-भइ ! एयमि लक्खारामे अं-
बिलियाधूणस्स हिट्ठे पडिमातिगं वट्ठए । पुरिसतिगं खणावि-
त्ता तं गाहयव्वं । एगा पमिगा अरिष्टनेमिसामिणो, अवरा
सिरिपासनाइस्स, अन्ना य अंबियादेवीए । जक्खेण वायरिअं-
तत्थ य अंबिलिआधूणाणं बाहुल्ले सो पपसेो कइ नायवो ? ! दे-
वीए जंपिअं-धोउमयं मेरुलं पुण्णप्पयं जत्थ पाससि, तं चेव उ-
णं पमिमातिगस्स जाणिज्जासि । तम्मि पमिमातिगे पयमीकए पू-
इज्जंतं अतुज्ज बइल्ला सयमेव आगच्छिहि । पहाण तेण उट्ठे-
ण बलिविहाणपुण्वं तहाकए पयमीहूआओ तिप्पि वि पमिमाओ ।
पूइयाओ विट्ठिपुण्वं । खणमित्तेण अतक्कियमेव आगया वइल्ला ।
संतुओ नेगमो । कमेण कारिओ तत्थ पासाओ । उावियाओ
पमिमाओ ॥ अन्नया अइच्छिण वासारत्ते अगगारगामाओ
आट्टारससयपट्टसावियघरअअंक्रियाओ वंजाणगच्छमंडणसिरि-
जसोभइसूरिणो खंभाइतनयरोवरि विहरंता तत्थ आगया । हो-
गेहिं विअविअं-भगवं ! तित्थं उल्लंघितं गंतुं न कप्पइ । पुरओ
तओ तेहिं सूरिहिं तत्थ ताओ पडिमाओ मगासिरपुष्पिमाए ध-
यारोवो महुसवपुण्वं कओ । अज्जवि एइ वरिसं तम्मि चेव
दिट्ठो धयारोवो कीरइ । सो य धयारोवमहुसवो विक्रमाइच्चाओ
पंचसु सणसु दुउत्तरेसु (५०२) वरिसाणं अइकंतेसु संवुत्तो । तओ
अचसणसु दुउत्तरेसु विक्रमवासेसु (८०२) अणहिल्लगावालए प-
रिक्खियपएसे लक्खारामाणे पट्टेण चावकउवंसमुत्ताहलेण
वणरायाइणा निवेसियं । तत्थ वणराया खमरायत्तं अरुवय-
रसीहरयणाइच्चासामंतसीइनामाणो सत्त चावकउवंसरायणो
जाआओ । तत्थेव पुरे चालुकवंसे मूत्ररायचामुं मरायवल्लजरायदु-
ल्लभरायनीमदेवकन्नजयसिंहदेवकुमारपालदेवजयदेववालमू-
लरायभीमदेवाभिहाणा एगारस नरिदा । तओ वाघिलाअत्तए
लणप्पसायवीरधवलवीसन्नदेवअज्जुणदेवसारंगदेवकण्ठदेवा न-
रिदा संजाया । ततो अल्लावदीणसुरत्ताणाणं गुज्जरधरिस्तीए
आणा पयट्ठा । सो अरिष्टनेमिसामी कोहंसीयपामिहारो भज्ज-
वि तहेव पूइज्जइ ति ” ॥

अरिष्टनेमिकल्पोऽयं, लिखितः श्रेयसेऽस्तु वः ।

मुखात् पुरा विदां श्रुत्वा, श्रीजिनप्रज्ञसुग्भिः ॥ १ ॥ ती० २६
कल्प० । “ दो तिथ्यगरा नीबुप्पलसमा वच्चेणं पसुत्ता । नं जहा-
मुणिसुव्वए चेव, अरिष्टनेमी चेव ” । स्था० २ गा० ४ उ० ।

अरिष्टा-अरिष्टा-स्त्री० । कच्छविजयक्षेत्रवात्तिराजधानीयुगले,
जं० ४ वक्क० । “ दो अरिष्टाओ ” । स्था० २ गा० ३ उ० ।

अरिष्टारि-अरिष्टारि-पुं० । अरिष्टाख्यवृषभासुरमर्दके श्री-
कृष्णे, “ अश्रुतिं देवकी चक्रे, पृष्टापरिष्टारिणा कृणात् ” । आ० क० ।

अरिस्ता-अरिस्ता-स्त्री० । सामान्यतः शत्रुनावे, ज० १९ श० ।
५ उ० ।

अरिदमण-अरिदमण-पुं० । सप्ततितमे श्रीऋष्यजृपुत्रे, कल्प० ७
क्ष० । वसन्तपुरराजनि, यस्य पत्न्याऽभयं दत्त्वा चौरा मोक्षितः ।
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्य कथा-‘ अभयपदाण ’ शब्द-
स्मिन्नेव भागे ७०८ पृष्ठे दर्शिता) श्रीप्रभनृपोपद्रावके नृप,
ध० २० ।

अरिरीहो-अव्य० । पादपुरणे, प्रा० २ पाद ।

अरिस-अर्शस्-न० । ‘ हरस ’ इति लोकप्रसिद्धे गुदाङ्कुरे
रोगे, तं० । जी० । जं० । झा० । विपा० । उपा० । यद्वलन वायु-
मूर्ध्वं पुरीषं च प्रवर्त्तयते तासां गुदप्रविष्टानां शिराणां विघाते-
ऽशौ रोगो जयति । प्रव० २५२ द्वार ।

अरिसिद्ध-अर्शस-त्रि० । अशौरुणे, “ अरिसिद्धस्स व अरि-
सा, मा खुभं तेण वंधए कमणी ” । नि० चू० १ उ० । अशौ-
वतः पादतलदौर्बल्यादर्शांसि मा लुभ्येरन्निति कृत्वा क्रमणिके
असौ बध्नाति । वृ० ३ उ० ।

अरिह-अर्ह-धा०-पूजने, सक० । योग्यत्वे, अक० इवादि०
पर० सेट् । वाच० । “ ह-श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्टास्वित् ”
८ । २ । १०४ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः ।
अरिहइ-अर्हति । प्रा० २ पाद ।

अर्ह-त्रि० । योग्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्था० । लक्ष-
णोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्ये, व्य० १० उ० । पूज्ये, विशेष० । प्रश-
स्ततया पूज्ये, स० ।

अरिहंत-अर्हत्-पुं० । अर्हन्त्यशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपरसु-
रासुरविसरविरचितां जन्मान्तरमहालवालविरूढानवयवास-
नाजालाभिषिक्तपुण्यमहातरुकव्याणफलकल्पां महाप्रातिहार्य-
रूपां निखिलप्रतिपत्तिप्रकृयात् सिद्धिसौधशिखरारोहणं चेत्ख-
रंतः । स्था० २ गा० १ उ० । आच० । जं० । सूत्र० । अनु० ।
आ० म० । जी० । आ० चू० । विशेष० । आच० । तीर्थकृत्सु,
आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति प्राकृतशैल्या अनेकधाऽहंछन्दनिरूपः संज्ञव
इति दर्शयन्नाह—

इंदियत्रिसयकसाए, परीसहवेयणाए उवसग्गे ।

एए अरिणो हंसा, अरिहंता तेण वुत्तंति ॥

इन्द्रियादयः पूर्ववत् । वेदना त्रिविधा-शारीरी, मानसी, उभ-
यरूपा च । ‘ एए अरिणो हंता ’ इत्यत्र प्राकृतशैल्या ह्यान्दसत्वा-
च्च विभक्तिव्यत्ययः । ततोऽयमर्थः-एतेषामरीणां हन्तारोऽहंन्त

इति पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । स्यादेतत्, अनन्तरगाथा-
यामेत एवोक्ताः, पुनरप्यमीषामेवेहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते-
अनन्तरगाथायां नमस्कारादित्वहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधा-
निरुक्तिप्रतिपादनार्थं उपन्यासः ।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽयं आख्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावर-
णादिसङ्गाः सर्वसत्त्वानामिव । तथाचाऽऽह-

अट्टविहं पि य कम्मं, अरिचूयं होऽ सव्वजीवाणं ।
तं-कम्ममरीहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अष्टविधमष्टप्रकारम्, अपिशब्दादुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्र-
कारम् । चशब्दो भिन्नक्रमः, स चावधारणं । ज्ञानावरणादि कर्म-
व अरिभूतं शङ्कृतं भवति सर्वजीवानां सत्त्वानाम्, अनवबोधा-
दिदुःखहेतुत्वात् । तत्कर्मादिरिहन्तारो यतः, तेनार्हन्त उच्य-
न्ते । रूपनिष्पत्तिः प्राग्भवत् ।

अथवा-

अरिहंति वंदनमं-सणाणि अरिहंति पूयसकारं ।

भिच्छिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्ह-पूजयाम् । अर्हन्ति वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं शिर-
सा, नमस्करणं वाचा । तथा-अर्हन्ति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्र-
माल्यादिजन्त्या पूजा, अच्युत्थानादिसंभ्रमः सत्कारः । तथा-
सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिनः सिद्धिः लोकान्तज्ञेय-
लक्षणा । वक्ष्यति-“इह वोदि चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्जइ”
तत्क्रमेण प्रति अर्हन्तीत्यर्हाः योग्याः । “अचू” । ५ । १ । ४९ । इत्यचू ।
तेन कारणेनार्हन्त उच्यन्ते । अर्हन्तीत्यर्हन्तः ।

तथा-

देवासुरमणुएसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।

अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

देवासुरमनुजैभ्यः-“सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमी, प्राकृतत्वात् पूजाम-
र्हन्ति प्राप्नुवन्ति । कुत इति चेत् ? । अत आह-यस्मात्सुरोत्त-
मा उपचितसकलजनासाधारणपुण्यप्राभागतया समस्तदेवा-
सुरमनुजोत्तमाः, ततः पूजामष्टमहाप्रतिहार्यलक्ष्णामर्हन्तीत्य-
र्हन्तः । इत्थमनेकधा त्वर्थमभिधाय पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु-
पसंहरन्नाह-(अरिणो हंता इत्यादि) यतोऽरीणां हन्तारः, तथा-
रजो शक्यमानकं क्रम, तस्य रजसो यतो हन्तारः, तेनार्हन्त उ-
च्यन्ते । “अरिहन्तारः” इति वा स्थितस्य अर्हन्त इति निष्पत्तिः
प्राग्भवत् । आ० म० डि० । ध० । न० । आ० । सू० प्र० । आच० ।
अर्हन् जेतानां परमपूज्यः । यो० वि० ।

“अमवीर्दे देसियत्तं, तहेव निज्जामया समुहम्मि ।

उक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति” ॥ विशेष० ।

रागदोसकसाए, य इंदियाणि य पंचवि परीसहं ।

उयसगे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति” ॥ विशेष० ।

आ० चू० स्या० । (‘णमोक्कार’ शब्देऽस्य व्याख्या यथास्थानं च)
‘णमो अरिहंताणं जगवंताणं’ । अर्हन्तो नामादिजेदाद्यनेकजेदाः,
‘नाम-स्थापना-इत्य-भावतस्तन्त्यासः’ इति वचनात् । तत्र
भावोपकारित्वेन भावार्हसंपरिग्रहार्थमाह-भगवद्भयः । ल०
प्र० । “अरिहंताणमवन्नं वदमाणे अरहंतपणुत्तस्स ध-
म्मस्स अवन्नं वदमाणे” इत्यादि ‘अयमवघाय’ शब्देऽ-
त्रैव ज्ञानेऽप्रे वक्ष्यते) (अर्हंताशतना ‘आसायणा’ शब्दे

द्वितीयज्ञाने ४८३ पृष्ठे छष्ट्या) “अरिहंता लोमुत्तमा अ-
रिहंते सरणे पवज्जामि” । आव० ४ अ० । (अर्हन्तो
लोकांत्तमा इति ‘चउसरणमण’ शब्दे वक्ष्यते) (उ-
पस्थाऽनीन्द्रियमर्थं न जानाति, तमेवाहन् जानातीति वक्ष्यते
“छउमत्थ’ शब्दे) (अर्हन्त एव सर्वज्ञा इति “सव्वण्णु’
शब्दे निरूपयिष्यते)

जम्बूद्वीवे दीवे जरहरवण्णु वासेसु एगममए एगजुगे दो
अरिहंतवंसा उप्पजिमु वा, उप्पज्जिति, उप्पज्जिस्संति वा ॥

पञ्चादिकः काव्यविशेषो युगं, तत्रैकस्मिन्, नस्याप्येकस्मिन्समये;
“एगममए एगजुगे” इत्येवंपाठेऽपि व्याख्योक्तक्रमेणैव, इत्थमे-
वार्थसम्बन्धात्, अन्यथा वा नाचनोयेति । द्वावर्हतां वंशौ प्र-
वाहौ-एका भरतप्रभवः, अन्य परवतप्रभव इति । स्था० २
ग० ३ उ० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये द्वावर्हन्तौ नोत्पद्येते इति कपिल-
वासुदेवं प्रति मुनिसुव्रतोक्तिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे मन्द-
रपौरस्थे शीताया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौ
अष्टौ, जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतादाया महानद्या उत्तरे
दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौवष्टौ । प्रतिकच्छादिविजयक्षेत्रमेकैक-
स्मिन् द्वाविंशतीर्थकरा इति । स्था० ८ ग० । (अर्हत्युत्पद्यमाने
लोकान्धकारोद्योताविति “अंधयार” शब्देऽस्मिन्नेव ज्ञाने १०७
पृष्ठे समुक्तम्, तथा ‘तित्थयर’ शब्दे सर्वा वक्तव्यता छष्ट्या)
“ससिधवला अरिहंता” इति गाथायामर्हदादीनां श्वेता-
द्यारोपः किहेतुकः ? इति प्रश्ने, अर्हन्तः पञ्चवर्णाः, सिद्धास्त्व-
वर्णाः शास्त्रेषु व्यक्ततथैवाक्ताः सन्ति, आचार्यादयोऽपि केवल-
पीनादिवर्णा एव भवन्ति, तेनैतेषु पूर्वाचार्यवर्णक्रमेण ध्याय-
मानेषु श्वेताद्यैकैकवर्णारोपणपूर्वकमेषां ध्यानं सिद्धिरुद्भव-
तीति, ते तु सर्वास्वपि क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालत्रादािसामग्रीवि-
भिन्नासु प्रवर्तन्ते इति न काऽप्यनुपपत्तिः । १२७। सेन०२ उल्ला० ।

अरिहंतकर्मभोयभव-अर्हत्क्रमाम्भोजभव-त्रि० । अर्हतां श्री-
तीर्थकराणां क्रमाश्चरणाः त एवाम्भोजानि कमत्रानि, तेज्यो
भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्क्रमाम्भोजभवन् । जितेश्वरचरण-
पङ्कजसम्भवे, द्रव्या० ५ अध्या० ।

अरिहंतकर्मजोयसमासिय-अर्हत्क्रमाम्भोजसमाश्रित-त्रि० ।
अर्हतां वीतरागाणां क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमत्रानि तत्र
समाश्रितः । अर्हच्चरणावजशरणीचूने, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अरिहंतचेइय-अर्हच्चैत्य-न० । अशोकाद्यष्टमहाप्रतिहार्यादि-
रूपां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रति-
मालक्ष्णानि अर्हच्चैत्यानि । इदमत्र भावना-चित्तमन्तःकरणं,
तस्य भावे कर्मणि वा (“वर्णदृढादिज्यष्ट्या च वा ”
७ । १ । ५६ । इति हैमसूत्रेण दृष्टाणि) कृते चैत्यम् ।
तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वाद् अर्हच्चै-
त्यानि भण्यन्ते । अर्हत्प्रतिमासु, “अरिहंतचेइयाणं करमि
कावस्सगं” आव० ५ अ० । आ० चू० । प्रति० । ध० ।

अरिहंतजासिय-अर्हद्जापित-त्रि० । अर्हद्भिः सम्यगाख्या-
ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अरिहंतमणुषाय-अर्हदनुज्ञात-त्रि० । अर्हद्भिः कर्तव्यतया-
ऽनुज्ञाते, प्रज्ञा० १२ पद ।

अरिहंतसंख्य-अर्हत्साक्षिक-न० । अर्हन्तस्तोर्थकरास्ते
साक्षिणः समकृभाववर्तिनो यत्र तत् । “ शेषाद्वा ” ७ । ३ ।
१७५ । इति [हैम] सूत्रेण कप्रत्ययविधानादर्हत्साक्षिकम् ।
अर्हद्भिः कृतसाक्षित्वे, पा० ।

अरिहंतसमणसिज्जा-अर्हच्छ्रमणशय्या-स्त्री० । अर्हतां श्रम-
णानां च शय्याऽर्हच्छ्रमणशय्या । चैत्याद्ययोपाश्रयरूपसु श-
य्यासु, जीत० ।

अरिहंतसामण-अर्हच्छासन-न० । जितगमे, प्रश्न० ५ सम्य०
द्वा० ।

अरिहंतसिज्जा-अर्हच्छ्रमणशय्या-स्त्री० । चैत्यगृहे, ध० २ अधि० ।
अरिहदत्त-अर्हदत्त-पुं० । आर्यसुस्थित-सुप्रतिबुद्धयोः पञ्चमे
शिष्ये, कल्प० ८ क० ।

अरिहदिण-अर्हदत्त-पुं० । सिंहगिरेश्चतुर्थे शिष्ये, कल्प० ८ क० ।

अरुउवसग-अरुगुपमर्ग-पुं० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।

अरुपोपसर्ग-पुं० । आर्पत्वाद् वकारलोपः । रूपरहिते उत्पा-
ते, तं० ।

अरुग-अरुक-न० । व्रणे, “ अरुगं इहरा कुत्थइ ” । वृ० ३ उ० ।

अरुण-अरुण-पुं० । तन्दीश्वरवरसमुद्रस्य परतोऽरुणोदस-
मुद्रपरिवेष्टिते क्षीपभेदे, स च वृत्तवज्रयाकारसंस्थानसंस्थि-
तः । तत्र अशोकवीतशोकौ देवौ । सू० प्र० १६ पादु० । अनु० ।
द्वा० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । स्था० । “ स्यगा उ समुद्राओ,
दीवसमुद्रा भवे असंखिज्जा । गंतूण होइ अरुणो, अरुणा दीवो
तओ उदहो ” ॥ ६४ ॥ द्वि० । हरिवर्षनामाऽकर्मभूमिवृत्तवैता-
ल्यपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ग० ३ उ० । अरुणोपपात-
ग्रन्थप्रतिपाद्ये देवे, स्था० १० ग० । उपा० । सू० प्र० । वि-
मानभेदे, अरुणादीनि दश विमानानि-“ अरुणे १ अरुणाभे २
खट्वा, अरुणप्पद ३ अरुणकंत ४ सिट्ठेय ५ । अरुणज्झण ६
६, जूय ७ वरिसे ८ गवे ९ कीले १० ” ॥ ५ ॥ शिष्टादिनामा-
न्यरुणपदपूर्वाणि हृदयानि । उपा० ६ अ० । ऋ-उन्नत् । सूर्ये,
सूर्यसारथी, गुडे, सन्ध्यारागे, निःशब्देः दानवभेदे, कुप्रेभेदे,
पुत्रागवृत्ते, अव्यक्तारागे, कृष्णमिश्रितरक्तवर्णे च । तद्वति, त्रि० ।
कुडुमे, सिन्दूरे च । न० । मडिन्नपायाः, श्यामाकायाम्, अतिवि-
पायां, नदीभेदे, कदम्बपुष्पायां च । स्त्री० । वाच० ।

अरुणगंगा-अरुणगङ्गा-स्त्री० । महाराष्ट्रजनपदभूमौ वहति
नदीभेदे, ती० २८ कल्प ।

अरुणप्पज-अरुणप्पज-पुं० । चतुर्थेऽनुवेलन्धरनागराजे, तदा-
वासपर्वते च । जी० ३ प्रति० । स्था० । विमानभेदे, उपा० ६
अ० । राहोऽन्ध्रं गृह्णतो दशमे कृत्स्नपुत्रे, च० प्र० २० पादु० ।

अरुणप्पभा-अरुणप्पजा-स्त्री० । नवमस्य तीर्थकरस्य निष्क-
मणशिविकायाम्, स० ।

अरुणवर-अरुणवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र
अरुणवरे द्वीपे अरुणवरभद्रारुणवरमहाभद्रौ, अरुणवरे समुद्रे
अरुणभद्रारुणमहाभद्रौ देवौ । सू० प्र० १७ पादु० । जी० ।
अनु० । द० प० ।

अरुणवरोभास-अरुणवरावज्ञा-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपवि-
शेषे, समुद्रविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे द्वीपे अरुणवराव-
भासभद्रारुणवरावभासमहाभद्रौ, अरुणवरावभाससमुद्रे
१६३

अरुणवरावज्ञासवरावज्ञावरावभासमहावरो देवौ । सू० प्र०
१६ पादु० । जी० । च० प्र० ।

अरुणाभ-अरुणाभ-पुं० । अरुणकान्तौ, चन्द्रं गृह्णतो राहोर्दशमे
कृत्स्नपुत्रे, सू० प्र० २० पादु० । विमानभेदे, स० प्र० । स्था० ।
अरुणचरवर्तिसग-अरुणोत्तरावतंसक-न० । विमानभेदे, स०
८ सम० ।

अरुणोदग-अरुणोदक-पुं० । अरुणद्वीपस्य परितः प्रसृते
समुद्रे, अरुणोद समुद्रे सुभद्रमनोभद्रौ देवौ । सू० प्र० १६
पादु० । च० प्र० । द्वि० । ज० ।

अरुणोववाय-अरुणोपपात-पुं० । अरुणा नाम देवस्तत्समय-
निबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुररुणोपपातः । संक्षेपिकानां दशानां
पष्ठेऽध्ययने, स्था० ।

नन्वध्ययनटीकायां चूर्णिकारो भावयति-

जाहे तमज्जयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्ठे ताहे
से अरुणे देवे ससमयनिवद्धत्तणओ चलियासणे संभमु-
ब्धंतज्ञायणा पउत्तावही विस्साय हट्ठपहट्ठे चलचवलकुं-
रुलधरे दिव्वाए जुईए दिव्वाए विचूईए दिव्वाए गर्ईए
जेणामेव से जगवं समणे निगंथे अज्जयणं परियट्ठेमाणे
अत्येइ तेणांमेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता भत्तिभगेणयव-
यणे विमुक्कवरकुसुमगंधवासं उवेइ । उवयइत्ता ताहे से मम-
णस्म पुरतो तित्ता अंतट्ठिए कयंजलीओ उवउत्ते संवेग-
विमुज्झमाणज्जयमाणे तमज्जयणं सुणमाणे चिट्ठइ । म-
म्मत्ते अज्जयणे भणइ-जयवं ! सुसज्झाईयं सुम-
ज्झाईयं वरं वरेहि त्ति, ताहे से इहलोयनिप्पिवाते
समतणमणिमुत्ताहल्लेइकुंचणे मिच्छवरमणिपमिवद्धनि-
व्वभराणुगामे समणे पमिज्जणइ-न मे भो ! वरेणं अट्ठो त्ति ।
ततो से अरुणदेवे अट्ठिगयरजायमंवेगे पयाट्ठिणं करत्ता
वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नममित्ता पमिगच्छइ ॥ नं० टी० ॥

यदा तदध्ययनमुपयुक्तः सन् श्रमणः परिवर्तयति, तदाऽ-
सावरुणो देवः स्वसमयनिवद्धत्वाच्चलितासनः संश्रमोद्धा-
न्तलोचनः प्रयुक्तावधिरस्तद्विज्ञाय हृष्टप्रहृष्टश्चलचलकुण्डल-
धरो दिव्यया युत्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यंत्रवासौ
भगवान् श्रमण अध्ययनं परिवर्तयति तत्रैवोपागच्छति । उपा-
गत्य च भक्तिजरावनतवदनो विमुक्तवरकुसुमवृष्टिरवपतति ।
अवपत्य च तदा तस्य श्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृता-
ञ्जलिक उपयुक्तः संवेगविशुद्धमानाध्यवसानः तमध्ययनं
शृण्वंस्तिष्ठति । समाप्ते च भणति-सुखाध्यायितं सुखाध्यायित-
मिति वरं वृण्वति । ततोऽसाविहवो कनिष्ठिपासः समनृणमणि-
मुक्ताशोषकाश्चनः सिखरवधूनिर्भगानुगतचित्तः श्रमणः प्रति
जगति-न मे वरेणार्थ इति । ततोऽसावरुणो देवोऽधिकतरजानसं-
वेगः प्रदक्षिणां कृत्वा वन्दते, नमस्यति । वन्दित्वा नमंसित्वा प्र-
तिगच्छति । एवं वरुणोपपातादिष्वपि भणितव्यमिति । स्था०
१० ग० । नं० । पा० । द्वादशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य कल्पतेऽ-
रुणोपपातः । व्य० १ उ० ।

अरुय-अरुप्-न० । व्रणे, “ नातिकरूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्ज-
ति ” । अरुयो व्रणस्यातिकपरूयितं नक्षैर्विलेखनं न श्रेयो न

शोभते भवति, अपि त्वपराधति, तत्कालेन व्रणस्य दोषमा-
वहति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ अ० ।

अरुण-त्रि० । भाष्येऽधिषेदनादिते, ध० २ अधि० । शरी-
रमनसारजाहाद अविद्यमानरौने सिद्धिस्थाने, स० १ सम० ।
औ० । औ० । कल्प० ।

अरुह-अर्हत्-पु० । "अर्हति" । २ । २ । १११ । इति
सूत्रेण समुक्तस्यान्यव्यञ्जनात् पूर्वं उद, अदिती च भवतः ।
अरुहो, अरुहो, अरुहो । प्रा० २ पाद । योग्ये, तीर्थ-
करे च । प्रव० २७५ द्वा० ।

अरुह-पु० । न रोहति भूयः संसारं समुत्पद्यते इत्यरुहः संसा-
रकारणानां कर्मणां निर्मलकायं कथितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे,
प्रव० २७५ द्वा० । क्षीणकर्मवीजत्वात् (अरुहः) । आह च-
"दग्धे बीजे यथाऽन्यन्ते, प्रप्लुभेति नाङ्कुरम कर्मबीजे तथा दग्धे,
न रोहति भवाङ्कुरः" ॥१॥ भ० १ श्रु० १ उ० । आच० । दर्श० ।

अरुव-अरुप-त्रि० । न विद्यते रूपं स्वभावो यस्यासाधारणः ।
अतस्त्वभावे, अने० ४ अधि० ।

अरुवकाय-अरुपकाय-पु० । अमूर्ते धर्मास्तिकायादौ, ज०
७ श्रु० १० उ० ।

अरुनि (ए)-अरुपिन्-त्रि० । रूपं मूर्तिर्वर्णदिमत्त्वं तदस्या-
न्तीति रूपी, न रूपी अरुपी । अमूर्ते, स्था० ५ ता० ३ उ० ।
धर्मास्तिकायादौ, प्रज्ञा० १ पद । भ० । आच० ।

"धर्मास्तिकाय तस्मै, तत्पपसे य आह्रिय ।

अहम्मे तस्मै देसे य, तत्पपसे य आह्रिय ॥ ५ ॥

आगासे तस्मै देसे य, तत्पपसे य आह्रिय ।

भक्षासमयप चेत्, अरुवी वसदा भवे" ॥ ६ ॥ वृत्त० ३६ अ० ।

(टीकाऽतयोः 'अर्जिव' शब्दप्रसिद्धे भागे ५०३ वृत्तं दर्शिता)

रुपातीते अमूर्ते आत्मनि, भ० १७ अ० २ उ० । दर्श० । कर्मरहिते
सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, स्था० २ ता० १ उ० । "अरुवी
सत्ता, अत्रयस्स पयं नत्थि, से ण सहेण रुवेण गंधेण रसेण
फामे इहेतावेत्ति त्ति हेमि" । (अरुवी सत्तं त्ति) तेषां मुक्ता-
त्पनां या सत्ता साऽऽपिणी । अरुपित्वं च दीर्घादिप्रतिपधेन
प्रतिपादितम् । आच० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अरुविअजीवपणवणा-अरुप्यजीवप्रज्ञापना-स्त्री० । रूप-
व्यतिरेकेणारुपिणा धर्मास्तिकायादयः, तं च ते अजीवाश्च अरु-
प्यजीवाः ; तेषां प्रज्ञापना अरुप्यजीवप्रज्ञापना । अजीवप्रज्ञा-
पनाभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलहे, "अरे ! मय समं मा करोसु उव-
हामं" । प्रा० २ पाद । रोषाद्वाते, नीचस्वबोधने, अपकृतौ, अ-
सुधायां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-त्रि० । निर्णीमे, भ० १६ श्रु० १ उ० । अशेष-
चन्द्ररहिते क्लेशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-न० । अल-अल । वृद्धिबुद्ध्यर्थे कष्टकाकारे
पदार्थे, इदित्याले क । वाच० । कर्मकाण्डसमर्थे, आच० २
श्रु० ५ अ० १ उ० । अजादेऽयाः साहासने, आ० २ श्रु० ।

अलं-अलम्-अव्य० । पर्याये, नि० चू० १ उ० । अचा० । भ० ।
ज्ञा० । दर्श० । समर्थे, मूढ० १ श्रु० १ अ० । अन्वये, औ० ।
प्रतिषेधे, भूष० ३ अ० ७ अ० । नृपणे, सामर्थ्ये, निवारणे, नि-
षेधे, निरर्थक्ये, अस्मार्थे, अवधारणे च । वाच० ।

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शोभाकारके, कल्प० ३ स्त० ।

अलंकार-अलङ्कार-पुं० । अलङ्कृत्यते मूष्यतेऽनेनेत्यलङ्कारः ।
कटककेयुरादिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । औ० । प्रश्न० ।
ग० । दर्श० । आभरणविशेषे, रा० । भा० म० । वृ० । अलम्-
क-करणे घञ् । नृपायाम्, हारादौ नृपणे, साहित्यवि-
षयदोषगुणप्रतिपादके ग्रन्थे, शब्दचूषणे-अनुप्रासादौ, शब्दा-
र्थभूषणे-गुणमादौ च । वाच० । "चउव्विहे अलंकारे पणुत्ते । तं
जहा-केसालंकारे वत्थालंकारे मल्लालंकारे आभरणांलंकारे" ।
स्था० ४ ता० ४ उ० । आ० चू० ॥

अलंकारचूलाणि-अलङ्कारचूलाणि-पुं० । खनामख्यातेऽ-
लङ्कारग्रन्थे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशतक-नयोपदेशकता कृता ॥
नयो० । प्रति० ।

अलंकारिय-अलङ्कारि-पुं० । नापिते, ज्ञा० १३ अ० ।

अलंकारियकम्भ-अलङ्कारिककम्भ-न० । नख [म] तम्-
नादौ, ज्ञा० २ अ० । क्षुरकर्मणि, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलंकारियसहा-अलङ्कारिकसहा-स्त्री० । नापितकर्मशाखा-
याम्, ज्ञा० १३ अ० । अलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्कृत्यते । स्था०
५ ता० ३ उ० ।

अलंकीय-अलङ्कृत-त्रि० । मुकुटादिभिः [प्रश्न० ३ सम्प्र०
द्वा०] विभूषिते, दर्श० १० अ० । औ० । ज्ञा० । कुतालङ्कारे,
ज० ६ श्रु० ३३ उ० । उत्प्रेक्षादिनिरलङ्कारैर्विभूषिते, विशेष० ।
अनु० । उपमादिभिः काव्यालङ्कारैरुपेतैः, आ० म० द्वि० । स्था० ।
वृत्त० । अन्यान्यस्फुटशृङ्गस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्था०
७ ता० । अनु० । अन्यान्यस्वरविशेषकरणेनालङ्कृतमिव गी-
यमाने गीतगुणभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अलंचपक्खगाहि (ए)-अलङ्कापक्खाहिन्-पुं० । "अलं-
चपक्खगाही, परिसया रुवजक्खाओ" । न कस्यापि लज्जा-
मुक्ताच्च गृह्णति, नाप्यात्मीयोऽयमिति कृत्वा पक्वं गृह्णति, ते
पतादृशा अलङ्कापक्खाहिणः । रूपेण मूर्त्यो यक्ता इव रूपयक्ताः,
मूर्तिमन्तो धर्मेकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । इत्थं गृहीत्वाऽत्मीयत्वेन
पक्वापरिग्राहकेषु रूपयक्तेषु, व्य० १ उ० ।

अलंधूम-अलंधूम-पुं० । अत्यन्तमग्निने, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलंधुसा-अलंधुसा-स्त्री० । उत्तरदिग्भागवत्तिरुचकवासिर्न्या-
दिकुमार्याम, ज० ५ वृत्त० । आ० म० । द्वि० । आ० क० ।
स्था० । आ० चू० ।

अलंजोगसमर्थ-अलंजोगसमर्थ-त्रि० । अत्यर्थं भोगानुजवनस-
मर्थे, औ० ।

अलक-अलक-पुं० । वाराणसीनगर्या राजभेदे, अन्त० । तत्कथा-
नकं तु अन्तर्दृशानां पृष्ठवर्गस्य षोडशेऽध्याये प्रतिपादितम् ।
तद्यथा-"नेणं काक्षेणं नेणं समपणं वाणारसीप णयणीए कामम-
हावणे चेति । तत्थ णं वाणारसीप णयणीए अलकं नामं राया
हाथा । तेणं काक्षेणं नेणं समपणं समणं भवमं महावीरं जाव
विहरइ, परिसा निग्गया । तपणं अलकं राया इमी से कहाप वड्डं
इहनुहं जहा कुणिप त्रगवओ महावीरस्सं जाव पज्जुवासति,
धम्मकहासं से अलकं राया समणस्स जहा उदायणे राया तथा
निकम्भे, नवमं उदयं राजे अजिसिचितीं जाव पड्डारस अंगाई
वड्डिं यसादं परियातो जाव विपुत्ते सिद्धे" । अन्त० ७ वर्ग, स्था० ।

अलखणया-अलखणता-खी० । असमञ्जसाभिधायितायाम्, विशेषः ।

अलागापुरी-अलकापुरी-खी० । वैश्रवणयज्ञपुर्याम, अन्तः०, वर्गः० ।

अलचपुर-अलचपुर-न० । “अचलपुरे च-लोः” । ८। २। ११८। इति सूत्रेण अचलपुरशब्दे लकारलकारयोर्व्यत्ययः । कृष्णावेणानद्योः समीपस्थनगरे, प्रा० २ पादः ।

अलत्त-अलक्त-पुं० । लाकारसे, अनु० ।

अलत्तय-अलक्तक-पुं० । लाकारसेन रक्ते, “जे रत्तएते अलत्तए” । यो रक्तो लाकारसेन-[प्राकृतशैल्यां कन् प्रत्ययः] स एव रश्रुतेर्लभ्यता अलक्तक उच्यते । अनु० ।

अलक्क-अलक्क-त्रि० । अनुपाने, स्था० ५ वा० २ उ० । अप्राप्ते च, सूत्र० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अलच्छित्त-अलच्छियुक्त-त्रि० । स्वकीयलाभविहीने, पञ्चा० १८ विव० ।

अलच्छिय-अलच्छिक-त्रि० । अलच्छिमति लब्धिरहिते, भोग्य० ।

अलभमिरी-अलजन्त्री-खी० । अलादेव्या मातरि, क्ता० २ अ० ।

अलमंयु-देशी-पुं० । समयभाषया समर्थ, स्था० ४ वा० २ उ० ।

अलमत्थु-अलमस्तु-त्रि० । अलमस्तु निषेधो भवतु, य एवमाह सोऽलमस्त्वित्युच्यते । निषेधके, स्था० ४ वा० २ उ० ।

अलय-अलक-पुं० । वृश्चिककण्टके, “अलय भंजावै” इति वृश्चिककण्टकान् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ विपा० १ भु० ६ अ० ।

अलमभदा-अलकनद्रा-खी० । कैलासस्य पूर्वतः पुर्याम, खी० ।

अलया-अलका-खी० । वैश्रवणयज्ञपुर्याम, क्ता० ४ अ० ।

अलव-अलप-त्रि० । लपतीति लपा वाचान्नाः । घोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः, तथा न लपा अलपाः । मौनव्रतिकेषु निष्ठितयोगेषु गुटिकादियुक्तेषु, यद्वशाद् अभिधेयविषया वागेव न निस्सरति । सूत्र० २ भु० ६ अ० ।

अलवणसक्य-अलवणसंस्कृत-त्रि० । विशिष्टसंस्काररहिते, व्य० ४ उ० ।

अलस-अलस-त्रि० । निरुद्यमे, वृ० १ उ० । मन्दे, जीवा० । असमर्थे च । सूत्र० २ भु० २ अ० । स्था० । गण्डोलके, पुं० । “अलसो स्ति वा गेहल्लगो स्ति वा सुसुणागो स्ति वा एगट्टं” । नि० चू० १ उ० ।

अलसग-अलमक-पुं० । “नोर्ध्वं व्रजति नाधस्ता-दाहारो न च पच्यते । आमाशयेऽलसीचूत-स्तेन सोऽलसकः स्मृतः” ॥ १ ॥ इत्युक्तवृक्केण विशुचिकाविशेषलक्षणे, उपा० ८ अ० । हस्तपादादिस्तम्ने हवययौ, आचा० १ भु० २ अ० १ उ० ।

अलसमाण-अलसायमान-त्रि० । अलसोऽलसो भवतीति अलसायते, अलसायत इति अलसायमानः । अत्र “राच् लोहितादिभ्यः पित्” । ३। ४। ३० । इति हैमसूत्रेण लोहिता-देराकृतिगणत्वात् च्यर्थे क्यङ्प्रत्ययः, स च पित् । आलस्यं भजमाने, ग० १ अधि० ।

अलससत्त-अलसमत्त-न० । कापुर्ये, वृ० १ उ० ।

अलसी-अतमी-खी० । “असती-सातवाहने लः” । ८। २। ११। इति सूत्रेण तस्य लः । प्रा० १ पादः । अलादे, आचा० १ भु० १ अ० ५ उ० ।

अलहुय-अलधुक-न० । अत्यन्तसूक्ष्मे, स्था० १० वा० ।

अला-अला-खी० । विशुक्कुमारीमहत्तरिकाभेदे, स्था० ६ टा० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्याग्रहिष्याम्, क्ता० २ भु० । (‘अगमहिषी’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७० पृष्ठेऽस्याः पूर्वापरभाववुक्तौ)

अलाउ-अलावु-न० । तुम्बके, औ० । अनु० । सूत्र० ।

अलाउच्छेय-अलावुच्छेद-न० । अलावुक्तं क्षियते येन तदलावुच्छेदम् । तुम्बच्छेदके पिप्पलादिशस्त्रे, सूत्र० १ भु० ४ अ० १ उ० ।

अलाउपाय-अलावुपात्र-न० । तुम्बकभाजने, औ० । आचा० । स्था० ।

अलाधवया-अलाधवता-खी० । अविद्यमानं लाघवं लघुता यस्य स तथा; तद्भावाऽलाघवता । लाघवाभावे, वृ० ।

अथालाघवतां व्याचष्टे-

उवहि-सरीरमलाघव, देहे णिडाइवृच्छयसरीरो ।

संपंसगसासभया, ए विहरइ विहारकामो वि ॥

अलाघवं गौरवम् । तच्च द्विधा-उपधौ, शरीरे च । तत्र देहे देह-विषयमलाघवमिदम्-स्निग्धं घृतादि, तेन; आदिशब्दः, गुडशर्करादिमधुरस्त्वैः प्रतिदिनमस्य च ह्रियमाणैर्बुद्धिः सन् मार्गे गच्छतः शरीरजातसमुत्थो यो गात्रसंघर्षो, यश्च आस-स्तद्गयाद्विहरणकामोऽपि न विहरति ।

अथोपकरणेऽलाघवमाह-

सागारि पुत्तभाउग-एणहग दाण अविसक्क जारजया ।

ण विहरति ओम सावय, नियइअगणि भाण एज्जो सि ॥

सागारिकेण शय्यातरेण, तदाऽऽदौ स्वपुत्रैर्भ्रातृजिर्नन्दमिभ्य पौत्रैः कस्यापि साधारणबहस्यातीवप्रभूतस्य कम्बव्याद्युपकरणस्य दानमकारि । स च साधुस्तद्भारजया च विहरति । अन्यदा तत्रा-घमं पुत्रिकं संजातम् । स च तदापि न विहरति [सावय सि] भावकेण चिन्तितम्-एष साधुः किमद्यापि न विहरति, नूनं बहुपकरणप्रतिषेधोऽयम् । ततस्तेन भावकेण तस्य संयतस्य भिक्षाद्यर्थे विनिर्गतस्य सर्वमप्युपकरणं निष्काश्यान्वत्र संगोप्य निहत्या मायया तदीय उपाश्रयः सर्वोऽपि [अगणि सि] अग्निना प्रदीपितः । ततः समायातः, दृष्टः प्रतिश्रयो दग्धः । कृतवान् हा ! कष्टं, हाहा ! कष्टं, बहुपकरणं दग्धमिति । परिखेदं पृष्टश्च भावकाः-किञ्चिदुपकरणं निष्काशितं न वेति ? । स प्राह-न शक्तं किमपि निष्काशयितुं, परं [भाण सि] भाजनद्वयं महत् कष्टेन निष्काशितम् । ततः साधुना भणितम्-विहरामि संप्रति दस्यां दिशि सुनिजम् । भावकः प्राह-[एज्ज सि] सुभक्षीभूते भूयोऽप्यागच्छे । ततः प्रतिपन्नं साधुना तद्वचनम् । समागतः कालान्तरेण पुनरपि तत्रैवासौ । निवेदितः भावकेण यथावस्थितो व्यतिकरः, क्रमयित्वा च दत्तं सर्वमपि तदीयमुपकरणम् । एवमादयो दोषा उपकरणालाघवे भवन्ति । वृ० १ उ० । पञ्चा० । नि० चू० ।

अलाभ (ह)-अलाज-पुं० । लभनं लाभः, न लाभोऽलाभः । अजिज्ञापितविषयाप्राप्तौ, वृत्त० २ म० ।

अलाज (ह) परि (री) सह-अलाजपरिपह-पुं० ।

अलाभप्रतीतिः, तत्परिपहं च तत्र दैव्याभावेऽभ० ८ शा० ८ उ० । प्रव० । स० । प्रभ० । नानादेशविहारिणो विभवमपेक्ष्य बहुपूजनीयैर्देहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्रियेतेतसां दा-

तृतिशेषपरीतानिस्तुक्तस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधि-
कगुणमलान्न मन्यमानस्याऽज्ञानपीडासहने, पं० सं० ४ द्वार ।
स चैवम्-याचिनालाभे सति प्रसन्नचेतसेवाविकृतवदनेन प्र-
वितम् । आ० ४ अ० । तदुक्तम्—

" परात्परार्थं स्वार्थं वा, लभेताऽन्नादिनाऽपि वा ।

मायेन लाभान् नालाभाद् निन्देत्स्वमथवा परम् " १।ध० ३ अधि०

" परकीयं परार्थं च, लभ्येताऽन्नादिनैव वा ।

लभ्ये न मायेद् निन्देद् वा, स्वपरान् नाप्यज्ञातः " ॥ १ ॥

आ० म० द्वि० ।

प्रवृत्तेष्व कदाचित् ज्ञाभान्तरायदोषतो न लभेतापीत्य-

लाभपरिषद्भाह—

परेषु ग्राममेसेजा, भोगे परिनिष्ठे ।

लभ्ये पिने अलभ्ये वा, णाणुतपेज्ज संजए ॥ १ ॥

अज्ञेवाहं न लभामि, अवि लाभो सुए मिया ।

जो एवं पमिसंविक्खे, अलाभो ते न तज्जए ॥ २ ॥

आ० चू० ४ अ० ।

(परेषु इत्यादि) परेष्विति गृहस्थेषु प्राप्तं कवलम्, अनेन
च मधुकरवृत्तिमाह । एष्येद्भवेत्, लुप्यत इति भोजनमो-
दनादि, तस्मिन्परिनिष्ठिते सिद्धे मा ज्ञूप्रथमगमनात्तदर्थं पा-
कादिप्रवृत्तिः, ततश्च लभ्ये गृहिभ्यः प्राप्तं, पिने आहारेऽलभ्ये
वाऽप्राप्तं नानुत्पद्येत संयतः । तद्यथा-अहो ! ममाधन्यता, यदहं
न किञ्चिन्नमे । उपलब्धत्वात्-लभ्ये वा लब्धमानहमिति न
हृष्येत् । यद्वा-लभ्येऽप्यलोऽपि वा संभवत्येवानुताप इति सु-
त्रार्थः । किमाश्रमननालभ्य नानुत्पद्येत ? इत्याह—(अज्ञेवेत्यादि)
अद्यैवास्मिन्नेवादन्यहं न लभेन प्राप्नोमि । अपिः संभावने । संभा-
व्यते-एतद्भाभः प्रतिश्वः आगामिनि दिने, स्याद् जवेत् । उपल-
ब्धत्वात् इव इत्यन्येयुरन्यतरेषु मां स्यादित्यनास्थामाह । य
एवमुक्तप्रकारेण, पमिसंविक्खे (ति) प्रतिसमीकृतं अदीनमनाः स-
न्नलान्नामश्रित्यालाभयति, अलाभोऽज्ञाभपरीषद्, ते न तर्जयति
नाभितवति, अन्यथा नूनस्त्यजिन्नयत इति ज्ञायः ॥ उक्तं ३ अ० ॥

अथ ' नाणुतपेज्ज संजये ति ' सूत्रायवमर्थतः

• स्पृशानुदाहरणमाह—

जायणपरीषद्दम्मा, वल्लदेवो इत्य होइ आहरणं ।

किसिपारासर ढंडो, अलाभए हो उदाहरणं ॥ ५० ॥

उक्तं नि० १ खण्ड ।

याज्ञापरीषदे वल्लदेवोऽव भवत्याहरणमुदाहरणः । कृपिप्रधा-
नः पाराशरः कृपिपाराशरो, जन्मान्तरं (ढंड इति) दण्डणकु-
मारोऽलाभकेऽज्ञाभपरीषदे भवत्युदाहरणमिति गाथाऽकारार्थः ।
भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः । उक्तं ३ अ० ।

अथ अज्ञाभपरीषदे कथाद्वयम्-लौकिकं १, लोकोत्तरं च २ ।
तत्र प्रथमं लौकिकं कथानकं कथ्यते-एकदा कृष्णः १, बलदेवः
२, सान्यकिः ३, दारुकः ४. एते चत्वारोऽप्यश्वापहता अटव्यां
वटवृक्षाधो रात्रौ सुप्ताः, आद्ये प्रहरे दारुको यामिको जातः,
अन्ये त्रयः सुप्ताः; तदानीं क्रोधपिशाचः तत्रायातो दारुकं प्रत्या-
ह-अहमेताम् सुप्ताम् लाम्प्रतं भक्षयामि, यदि त्वेषां रक्षणे श-
क्तिरास्ति तदा युद्धं कुरु । दारुकेनोक्तम्-वाढम् । ततो लग्नं युद्धम् ।
यथा यथा दारुकस्ति पिशाचं हन्तुं न शक्नोति तथा तथा तस्य
क्रोधो वर्धते । तथा च दारुकस्य न युद्धलाभो जातः, पराभूत एव
दारुकः सुप्तः । द्वितीये प्रहरे सान्यकिरुत्थितः । क्रोधपिशाचेन

तथैव जितः । तृतीये प्रहरे बलदेवः । सोऽपि तथैव जितः,
तुर्ये प्रहरे उत्थितं कृष्णं क्रोधपिशाचस्तथैव प्रोक्तवान् । कृष्णः
प्राह-मां जित्वा मत्सहायान् भक्षय । ततो यथा यथा क्रोध-
पिशाचो युध्यति तथा तथा कृष्णः-अहो ! बलवान् एव म-
द्वलः इति तुष्यति । यथा यथा कृष्णस्तोषवान् भवति तथा तथा
पिशाचः क्षीयते । एवं कृष्णेन पिशाचः सर्वथा क्षीणः स्ववस्त्र-
मध्ये क्लिप्तः । प्रभाते तद् ज्ञानि दृष्ट्वा कृष्णेनोक्तम्-किमेतद्भवतां जा-
तम् ? ते सर्वेऽपि रात्रिवृत्तान्तं प्राहः । कृष्णेन स्ववस्त्रमध्यादा-
कृष्य दर्शितः । एवं कृष्णवद् यस्तोषवान् भवति सोऽज्ञाभपरी-
षद् जेतुं शक्नोति ।

अथ द्वितीयं लोकोत्तरं दण्डणकुमारकथानकं कथ्यते-कस्मिँ-
श्चिद् ग्रामे कोऽपि कृशशरीरः कुटुम्बी (पाराशरो विप्रः) वसति
स्म । अन्येऽपि बहवस्तत्र कुटुम्बिनो वसन्ति स्म । वारकेण ते राज-
वेष्टिं कुर्वन्ति स्म । राजसत्कपश्च शतहलानि वाहयन्ति स्म । एक-
दा तस्य कृशशरीरिणः पञ्चशतहलवाहनवारकः समयागतः, तेन
च वाहिता वृषजाः भक्षयान् चलायामप्येकोऽधिकश्चाणो दापितः ।
तदाऽन्तरायं कर्म वक्ष्ये, ततो मृत्वाऽसौ बहुकालमितस्ततः संसा-
रे परिभ्रम्य कस्मिँश्चिद्भवे कृतसुकृतवशेन द्वारिकायां कृष्णवा-
सुदेवस्य पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । दण्डणेति तस्य नाम प्रतिष्ठितम् ।
स दण्डणकुमारः श्रोत्रे निपार्श्वे अन्यदा प्रव्रजितः । लाजान्त-
रायवशान्महत्यामपि द्वारिकायां हिण्डमानो न किञ्चिद्वादि
लभते, यदि कदाचिन्नभते तदा सर्वथाऽसारमेव । ततस्तेन
स्वामी पृष्टः स्वामिना तु सकलः पूर्वभववृत्तान्तः तस्य कथितः ।
तेन चाऽयमजिग्रहो गृहीतः-परलाभो मया न ग्राह्यः । अन्यदा
वासुदेवेन स्वामिना इति पृष्टम्-भगवन् ! एतावत्सु श्रमणस-
हस्रेषु को दुष्करकारकः ? स्वामिना दण्डणपरिवेव दुष्करका-
रक इति उक्तम् । कृष्णेनोक्तम्-स इदानीं कस्ति ? स्वामी
प्राह-त्वं नगरं प्रविशन् तं छद्मसि । दृष्टः कृष्णः श्रीनेमिजिने
प्रणम्य उत्थितः । पुरद्वारे प्रविशन् तं साधुं दृष्टवान्, हस्तिस्क-
न्धादुत्तार्य कृष्णस्ते ववन्दे । तेन वन्द्यमानाऽयं साधुरेकेनेत्येन
दृष्टः । चिन्तितं च तेन-अहो ! एष महात्मा कृष्णेन वन्द्यते । एवं
चिन्तयत एव तस्य गृहे दण्डणपरिः प्रविष्टः । तेन मोदकैः प्रति-
लाभितः । ततः स्वामिसमीपं गत्वा पृच्छति-मम लाभान्तरायः
क्षीणः । स्वामिना उक्तम्-एव वासुदेवलाजः । मम परलाभो न
कल्पते इत्युक्त्वा नगराद् बहिर्गत्वा उचितस्थण्डिले मोदकान्
विधिना परिष्ठापयन् वृजध्यानारोहेण केवलं जातः । एवमन्यै-
रपि अलाभपरीषद् सोढव्यः । अलाभात् अनिष्टाहारलाभात्,
अन्याहारप्रान्ताहारभोजनात् शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अतो रो-
गपरीषद् सोढव्यः ॥ उक्तं २ अ० ।

अलाय-अज्ञात-न० । उक्तुके, वृ० ५ उ० । ज्ञा० । जी० ।

प्रज्ञा० । दश० । स्था० । अग्रभागे ज्वलत्काष्ठे, न० ।

अलाविसक-अज्ञातसक-न० । अलादेव्या भवने, ज्ञा० २ अ० ।

अलावु-अलावु-न० । " वा यः " ८ । २ । २३७ । इति सूत्रेण

वक्ष्य वः । प्रा० १ पाद । तुम्बे, ज० ३ वक्र० । " अलावुगा ण
जरिज्जति " नि० चू० १ उ० ।

अज्ञाहि-अव्य० । " अज्ञाहि इति निवारणे " ८ । २ । १८६ ।

अज्ञाहि इति निवारणे प्रयोक्तव्यम् । " अज्ञाहि किं वाऽएण
वेहेण " प्रा० २ पाद ।

अलम्-अव्य० । पर्याप्तौ, अलमत्यर्थं पर्याप्तः शक्तः । भ० १५
श० १ उ० ।

अग्निउल-अग्निकुल-न० । भ्रमरसमूह, “ह्रिवे जडशसोरि” । ७ । ४ । ३२३ । इति जडशसोः ‘इ’ इत्यादेशः । “कमत्रइं मेलुवि अलिउलइं, करि-गंडाई महंति” । प्रा० ४ पाद ।

अलिग-अलिङ्ग-न० । प्रधाने, (साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ,) द्वा० २० द्वा० ।

अलिज-अलिज-न० । महदुदकभाजनविशेषे, उपा० ७ अ० । उदककुम्भे, स्था० ४ ग० २ उ० ।

अलिदग-अलिन्दक-पुं० । गृहाद्विद्वाराप्रवर्तिगण्डिकायाम्, वृ० २ उ० । नि० चू० ।

अलिदुग-अलिन्दुक-न० । उरुन्वे, अनु० ॥

अलित्त-अलिप्त-त्रि० । अकृतलेपे, अलिप्तस्य तत्त्वसमाधिर्भवति, पूर्णानन्दवृत्तिरपि । अष्ट० ११ अष्ट० ।

अरित्र-न० । नौकेषणकाष्टोपकरणभेदे, आचा० २ ध्रु० ३ अ० १ उ० ।

अलिपत्त-अलिपत्र-न० । वृश्चिकपुच्छाकृतौ, विपा० १ शु० ६ अ० ।

अलिय-अलीक-न० । पुं० । “पानीयादिष्वित्” । ॥ १।१०१। इति सूत्रेण ईकारस्य इत्वम् । प्रा० १ पाद । कषायवशाग्निध्याभाषणे, अनुत्तभाषणे, उक्त० १ अ० । मृषावादे, प्रव० २३७ द्वा० । स्था० । प्रश्न० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-अनृतोद्भावनं, जूननिहवश्च । यथा-‘ईश्वरकर्तृकं जगत्’ इत्याद्यनृतोद्भावनम् । ‘नास्त्यात्मा’ इत्यादिस्तु भूतनिहवः । विशेष० । आ० म० । नि० चू० । अनु० । भ० । अलीकवाद्जनितकर्माद्यौ, प्रश्न० २ आश्च० द्वा० । “अलियनियडिस्मतिजोयबहुलं” अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्वन्धनप्रच्छादनार्थवचनस्य [साइत्ति] अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यन् तत्तथा । प्रश्न० २ आश्च० द्वा० । “अलियं न भासियञ्चं, अस्थिहु सच्चं पि जं न वत्तञ्चं । सच्चं पि होइ अत्रियं, जं परपीमाकरं वयणं” ॥१॥ दर्श० ।

अलियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मृषावादप्रत्यये, व्य० २ उ० ।

अलियनीरु-अलीकनीरु-पुं० । सत्यवादिनि, व्य० ७ उ० ।

अलियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रव० ४१ द्वार । यथा-किं दिवा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्नेन प्रचलयामीत्यादिभणने, प्रव० २३५ द्वार । उक्त० । स्था० । (पञ्चालीकानि)

अथ द्वितीयमणुव्रतं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोचूम्प-लीकानि न्यामनिहवः ।

कृतसाङ्ग्यं चेति पञ्चा-सत्येज्यो विरतिर्भूतम् ॥ २६ ॥

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणाऽलीकशब्दस्य प्रत्येकं संयोजनान् कन्यालीकं, गवालीकं, जूम्पशीकं चेति, तानि । तथा-न्यासनिहवः, कृतसाङ्ग्यं चेति, पञ्च पञ्चसंख्याकानि, अर्थान् क्रियाशयसमुत्पत्वात् स्थूत्रास्तन्यानि, तेभ्यो विरतिर्विरमण, द्वितीयं अधिकारादणुव्रतं मतं, जितेगति शेषः । तत्र कन्याविषयमलीकं कन्यालीकं द्वेपादिभिर्विषयकन्यां विषयकन्यां, विषयकन्यामविषयकन्यां वा, सुशीलां वा दुःशीलां, दुःशीलां वा सुशीलाम्, इत्यादि वदतो भवति । इदं च सर्वस्य कुमारदिद्विपदविषयस्यालीकस्योपब्रक्षणम् । गवालीकम्-अल्पकीरां बहुकीरां, बहुकीरां वाऽल्पकी- १६४

रामित्यादि वदतः । इदमपि सर्वचतुष्पदविषयालीकस्योपब्रक्षणम् । जूम्पशीकं परस्वत्तामन्यामादिसत्ताम, आत्मादिसत्तां वा परस्वत्ताम, ऊपरं वा क्षेत्रमनुष्णम्, अनुष्णं वा परमित्यादि वदतः । इदं चाशेषाऽपदद्वयविषयालीकस्योपब्रक्षणम् । यदाह-“कस्यागहणं दुपया-णसुभगं चउपयाण गोवयणं । अपयाणं दव्याणं, सव्याणं जूमिवयणं तु” ॥ १ ॥ ननु यद्येवं तर्हि द्विपदचतुष्पदपदगहणं सर्वसंग्राहकं कुतो न कृतम् ? । सत्यम् । कन्यालीकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन रुढत्वद्विशेषेण वर्जनाथमुपादानम् । कन्याऽलीकादौ च भोगान्तरायद्वेषवृद्ध्यादयो दोषाः स्फुटा एव । यत आवश्यकचूर्णौ-“मुसावाए के दोसा, अकजंते वा के गुणा ? । तत्थ दोसा कण्णं चैव अकण्णं भणंते भोगंतरायदोसा; पडुछा वा आ-तथातं करेज्ज, कारवेज्ज वा; एयं सेसेसु भाणिअव्वा” इत्यादि । तथाऽन्यस्य ते रक्ताणान्यस्मै समर्थते इति ३ । न्यासः सुवर्णादि; तस्य निहयोऽपज्ञापस्तद्वचनं स्थूलमृषावादः । इदं चानेनैव विशेषणैर्न पूर्वालीकेभ्यो जेदेनोपात्तम् । अस्य चादत्तादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविषयकान्मृषावादत्वम् । कृतसाङ्ग्यं ब्रह्मदेयविषये प्रमाणाकृतस्य लज्जामत्सरदिना कृतं वदतः । यथा-‘अहमत्र साक्षात्ति’ अस्य च परकीयपापसमर्थकत्वलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वज्यो भेदेनोपात्तः ५ इति । अत्रायं भावार्थः-मृषावादः क्रोधमानमायालोभविषयभिरागद्वेषहास्यभयवीर्याक्रोडागत्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविषादादिभिः संभवति । पीडाहेतुश्च सत्यवादोऽपि मृषावादः । सद्भयो हितं सत्यमिति श्रुत्पत्त्या परपीमाकरमसत्यमेव । यतः-“अद्विष्टं न त्रासिअञ्चं, अस्थिहु सच्चं पि जं न वत्तञ्चं । सच्चं पि तं न सच्चं, जं परपीमाकरं वयणं” ॥ १ ॥ स च द्विविधः-स्थूलः, सूक्ष्मश्च । तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽग्निदुष्टविक्रामसमुद्भवश्च स्थूलः, तद्विपरीतः सूक्ष्मः । आह हि-“दुर्विहो अमुसावाओ, सुहुमो धूओ अतत्थ इह सुहुमो । परिहासाइपभवो, धूलो पुण तिव्वसंकेसो” ॥१॥ आवकस्य सूक्ष्ममृषावादे यतना, स्थूलस्तु परिहार्य एव । तथाऽऽवश्यकचूर्णम्-‘थूलगमुसावादे’ समणोवासओ पञ्चक्खाइ, से अमुसावाए पंचविहो पणत्ते । तं जहा-कप्पालिए १, गवालिए २, ज्रोमालिए ३, णासावहारे ४, कूरुसक्खे अ ५ इति । तच्चूर्णावपि-“जेण भासिएण अपण्णां परस्स वा अतीव वाघाओ अइसेकिलेसो य जायते, तं अट्टाए वाऽणत्ताए वा ए वएज्जत्ति” । एतच्चासत्यं चतुर्धा-चूतनिहवः १, अभूतोद्भावनं २, अर्थान्तरं ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिहवो यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभूतोद्भावनं यथा-आत्मा इयमाकतन्दुलमात्रः, अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरं यथा-गान्धर्वमभिवदतः ३ । गर्हा तु त्रिधा-एका सावध्यापारप्रवर्तिनी, यथा-क्लेशं हृषेत्यादि १ । द्वितीया अप्रिया-कारणं कारणं वदतः २ । तृतीया आक्रोशरूपा, यथा-अरे ! बान्धविकनेय ! ३ इत्यादि । ध० २ अधि० । दर्श० । पञ्चा० । आ० ।

अलीकवचनप्ररूपणा-

जे जिकखू बहुमयं मुमं वयइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥१॥

मुसं अलियं, लहुसयं अरणं, तं वदओ मासलहु ।

तं पुण मुसं धउज्जिहं-

दव्वे खेत्ते काले, जावे लहुसगं मुसं होवि ।

एतेसि पाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वे । ६० ।

पाणत्ते विसंसे, आणुपुव्वीए दव्वादिउवसासकमेण व-
क्ख्वाणं ।

इमे दव्वादि उदाहरणा—

दव्वे वत्थपयादिमु, खेत्ते मंधारवसहिमादीमु ।

कालेऽनातमणागा, जावे भेदा इमे होंति ॥ ६१ ॥

पदमपादस्स वक्ख्वाणं—

मज्झ पुणो ऐस तुहं, एयावि सो तस्स दव्वतो अलियं ।

गोरस्सं च जणंते, दव्वंजते व जं भणति ॥ ६२ ॥

वत्थं पायं च सहसा भण्णो-मज्झ एस ण तुज्जं, सहसा
गोरस्सं ज्ञे, दव्वज्जतो वा अनुपयुक्त इत्यर्थः ।

अहवा दव्वालियं इमं—

वत्थं वा पायं वा, अण्णुप्पायं तु मो पुटो ।

भणति मए उप्पाय, दव्वा अलियं जवे अहवा ॥ ६३ ॥

वत्थपात्तादि अन्नेण उग्गमिया, अण्णो जण्ण-मए उप्पाय्या ।
दव्वओ अलियं गयं ।

खेत्तओ (संभारवसतिमादीसु इत्यादि) अस्य व्याख्या—

णिमिमादीसंमूहो, परसंभारं भणति मज्झे णं ।

सो खेत्तवनही व अण्णे-ऽण्णुगमिया वेति तु मए ति । ६४ ।

(णिसि त्ति) राईए अंधकारसंमूहो परसंभारज्जुमि अ-
ण्णो भण्णो । मासकण्णपाउग्गं वा वासायासपाउग्गं वा खित्तं
वसही रिउग्गमा अण्णोऽण्णुगमिया भणति-मए ति । खित्तओ
वा मुसावाओ गओ ।

'कालातीतमणागए ति' अस्य व्याख्या—

केणुवममिनो सट्ठो, मए ति उवसामिनोऽण्णयाऽतीए ।

को णु हु तं उवसामि, अण्णानिसत्तो अहं एम ॥ ६५ ॥

एको अतिमाहमिच्छो एणेण सामिगा उवसामिओ । अओ साहु
पुच्छओ-केणेस सट्ठो उवसामिओ ? । अन्त्या विहरंतेण मए
त्ति । अवतीए एमो अभिमाहमिच्छो अरिहंतं हुपडिणीओ ।
साहुण य समुत्तावो-को णु ते उवसामेज्ज ? । तत्थ एणो साहु
अण्णानिसत्तो भणति-मो य अवस्सं मया उवसामियओ । एवं
एथकालं प्रति मृषावादः ।

अथवा कालं पवुच्च इमो मुसावादो—

तीनम्मि य अट्ठम्मी, पवुच्चप्पमे यऽण्णगते चेव ।

विधिसुत्ते जं जणितं, भणानि णिसंकिंतं जावे ॥ ६६ ॥

तीनमणागतपवुचप्पमेसु कालेसु जं अपरिचायं तं निसंकियं
भासितस्स मुसावाओ भवति । विधिसुत्तं दसवेयालियं, तत्थ वि-
वक्कमुद्धी । तत्थ जे कालं पवुच्च मुसावायमुत्ता ते इह दट्ठव्वा ॥
जावे अओ इमो त्ति । नि० चू० २० ३० ।

तेषां च पणमपि यथाक्रममयं प्ररूपणा, तामेव प्ररूपणां
त्रिकोणुरलीकवचनविषयां द्वारगाथामाह—

वत्ता वयणिज्जो वा, जेमु थ ठाणमु जा विसोदी यु ।

जे य जणओ अवाया, सपणीपक्खा उ णेयव्वा ॥

यो वत्ता अलीकवचनजापकः, यश्च वचनीयः—अलीकवचनं
यदुद्दिश्य भण्यते, येषु च स्थानेष्वलीकं संजवति, यादृशी च
तत्र शोधिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीकं भण्णो अवाया दोषाः, ते
सप्रतिपत्ताः सापवादा अत्र भणनीयतया ज्ञातव्याः । इति द्वा-
रगाथासमासार्थः ।

सारप्रतं तामेव विवृणोति—

आयरिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि य थेरए य खुट्ठे य ।

गुरुगा लहुगा गुरुलहु-जिएणे पमिलोम विइएणं ॥

इहाचार्यादिवक्ता, वचनीयोऽपि एकैकतरः । तत इदमुच्यते—
आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुरु, अभिषेकं भणति चतुर्लघु,
भिज्जुं भणति मासगुरु, स्थविरं भणति मासलघु, कुल्लुकं जणति
जिन्नमासः । (पडिलोम विइएणं ति) द्वितीयेनादेशेनैतदेव
प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं वक्तव्यम् । तद्यथा—आचार्यमलीकं भणति
भिन्नमासः, अभिषेकं जणति मासलघु, एवं यावत् कुल्लुकं
जणतश्चतुर्गुरु, एवमभिषेकादीनामप्यलीकं भणतां स्वस्थाने
परस्थाने च प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । अभिलाषश्चेत्तं
कर्त्तव्यः—अभिषेकमाचार्ये अलीकं जणति चतुर्लघु इत्यादि ॥

तत्त्वलीकवचनं येषु स्थानेषु संभवति, तानि सप्रायश्चित्ता-
नि दर्शयितुकामो द्वारगाथाद्वयमाह—

पयला उट्ठे मरुए, पच्चक्खाणा य गमण परियाए ।

समुदेससंखमीओ, खुड्डगपरिहारियमुट्ठीओ ।

आवस्सगमणं दिसा-मु एगकुत्ते चेव एगदव्वे य ॥

पमियाखित्तागमणं, पमियाखित्तायत्तुंजणयं ॥

प्रसुलापदमार्कपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पर्याय-
पदं समुदेशपदं संखडीपदं शुद्धकपदं परिहारिकपदं [मुही-
ओ त्ति] पदैकदेश पदसमुदायोपचाराद् घोटकमुखीपदम्, अ-
वश्यं गमनपदं दिग्विषयपदं, एककुलगमनपदं, एकद्रव्यग्रहण-
पदं, प्रत्याख्याय गमपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं चेति द्वारगा-
थाद्वयसमासार्थः ।

अथैतदेव प्रीतिद्वारं विवृणोति—

पयलासि किं दिवा? ए य, पैयझामि झहु दुह णिएहवे गुरुगा ।

अन्नदरसितनिहवे, लहुगा गुरुगा बहुतराणं ।

कोऽपि साधुर्दिवा प्रचलान्तेस चान्येन साधुना जणितः—
किमेवं दिवा प्रचलायसे ? । स प्रत्याह—न प्रचलाये; एवं प्रथम-
वारं निहुयानस्य मासलघु, ततो भूयोऽप्यसौ प्रचलायितुं
प्रवृत्तः । तेन साधुना जणितः—मा प्रचलायिष्ठाः । स प्रत्याह—
न प्रचलाये । एवं द्वितीयवारं निहुवे मासगुरु । ततस्तथैव
प्रचलायितुं प्रवृत्तः, तेन च साधुना अन्यस्य साधोर्दशितः—
यथैवं प्रचलायते, परं न कथ्यते ततस्तेनान्येन साधुना भणिते-
ऽपि यदि निहते ततो चतुर्लघु । अथ तेन साधुना बहुतराणां
द्वितीयादीनां साधूनां दर्शितः, तैश्च भणितोऽपि यदि निहुते तदा
चतुर्गुरु ।

निहवणे निहवणे, पच्छित्तं वट्ठए उ जा सपयं ।

लघुगुरुमासो लहुगो, लहुगादी वायरे लुंति ॥

एवं निह्वयेने निह्वयेने प्रायश्चित्तं वद्धेते यावत् स्वपदम्; पारा-
श्चिकं तराश्चिकम् । तथा-पञ्चमं वारं निह्वानस्य पर्युषु, षष्ठं
वारं षरुगुरु, सप्तमं मूलम्, नवममनवस्थाप्यं, दशमं वारं
निह्वानस्य पाराश्चिकम् । अत्र च प्रचलादिषु सर्वेष्वपि
द्वारेषु यत्र यत् लघुमासो वा जवति तत्र तत्र सूक्ष्मो मृषावा-
दः, यत्र तु चतुर्लघुकादिकं भवति तत्र वादरो मृषावादो भवति ।
गतं प्रचलाद्वारम् ।

अथाष्टद्वारमाह—

किं णीमि वाममाणे, ए णीमि एणु वामविंदवो एए ।

भुंजंति हीण मरुगा, कहिं ति नणु सस्मगेइसु ॥

कोऽपि साधुर्वै पतति प्रस्थितः स चापरेण भणितः—किं 'वा
समाणे' वर्पति निर्गच्छामि ?, एवं ज्ञापित्वा तथैव प्रस्थितः । तत
इतरेण साधुना भणितम्—कथं न निर्गच्छामीति ज्ञापित्वा निर्ग-
च्छसि ? । स प्राह—वासु-शब्दे इति धातुपाठाद् वासति श-
ब्दायमानो यो गच्छति स वासति निर्गच्छतीत्यभिधीयते ।
अत्र तु न कश्चिद् वासति, किन्तु वर्षविन्दव एते, तेषु गच्छा-
मि । एवं ललवादेन प्रत्युत्तरं दानस्य तथैव प्रथमवारादिषु
मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुकद्वारम् । कोऽपि सा-
धुः कारणे विनिर्गत उपाश्रयमागत्य साधून् भणति—साध-
वो यात, वृजते मरुकाः । एवमुक्ते ते साधव उद्गाहितभा-
जना भणन्ति—(कहिं ति स्ति) क ते मरुका वृजते ? । इतरः
प्राह—ननु सर्वे आत्मीयगृहेषु, एवं कृत्रेनोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

जुंजमु पच्चखातं, मए त्ति तखण पजुंजओ पुटो ।

किं व ए मे पंचविहा, पच्चखाया अविरईओ ॥

कोऽपि साधुना भोजनवेलायां जणितः—भुङ्क्त्व समुद्दिश । स
प्राह—प्रत्याख्यातं मयेति । एवमुक्त्वा मण्डल्यां तत्कृणादेव
प्रचुको-जोक्तुं प्रवृत्तः । ततो द्वितीयेन साधुना पृष्ठः—आर्य ! त्व-
येत्थं भणितम्—मया प्रत्याख्यातम् ? । स प्राह—किं वा मया प्रा-
णातिपातादिका पञ्चविधा अविरतिर्न प्रत्याख्याता, येन प्रत्या-
ख्यानं न घटते ? ।

अथ गमनद्वारमाह—

वच्चासि नाहं वच्चे, तखण वच्चेए पुच्छिओ भणइ ।

सिप्पंतं न वि जाणसि, नणु गम्पइ गम्पमाणं तु ॥

केनापि साधुना चैत्यवन्दनादिप्रयोजने व्रजता कोऽपि साधु-
रुक्तः—किं त्वमपि व्रजसि ?, गच्छसीत्यर्थः । स प्राह—नाहं व्रजा-
मि । एवमुक्त्वा तत्कृणादेव व्रजितुं प्रवृत्तः । तेन पूर्वप्रस्थितसा-
धुना पृष्ठः—कथं न व्रजामीति भणित्वा व्रजसि ? । स भणति—सि-
द्धान्तं न जानीषे त्वम् । नन्वित्याक्षेपे । भो मुग्ध ! गम्यमान-
मेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिंश्च समये त्वयाऽहं पृष्ठस्तस्मिन्नाहं
गच्छामि ?, इति ॥

अथ पर्यायद्वारमाह—

दसएयस्स य मज्झय, पुच्छिय परियाय वेइ उ छलेण ।

मम नवए वंदिअम्मि, भणइ वे पंचगा दसओ ॥

कोऽपि साधुरात्मद्वितीयः केनापि साधुना वन्दितुकामेन पृ-

ष्ठः—कति वर्षाणि भवतां पर्यायः ? इति । स एवं पृष्ठो भणति—
एतस्य साधोर्मम च दश वर्षाणि पर्याय इति । एवं छलेन ते-
नोक्ते, स प्रच्छकः साधुः—मम नव वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रवन्दि-
तो वन्दितुं लग्नः । इतरश्चतुर्वादी भणति—उपविशत, भवन्तः
स्वयमेव वन्दनीया इति । कथं पुनरहं वन्दनीयः ? इति तेनोक्ते, ल-
लवादी भणति—मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्यापि साधोः
पञ्च । एवं द्वे पञ्चके मीक्षिते दश भवन्ति । ततो यूयमावयोरुन-
योरपि वन्दनीया इति भणति ।

अथ समुदेशद्वारमाह—

वट्ठ उ समुदेशो, किं अत्यह कत्य एम गगणम्मि ।

वट्ठंति संखरीओ, परेसु नणु आउखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूमौ निर्गत्य आदित्यं राहुणा ग्रस्यमा-
मानं दृष्ट्वा साधून् स्वस्थान् मौनान् जणति—आर्याः ! समुदेशो
वर्तते किमेवमुपविष्टास्तिष्ठथ ? । ततस्ते साधवो नायमज्ञीकं वृते
इति कृत्वा गृहं तज्जाजनमुपस्थिताः पृच्छन्ति । कुत्रासौ समुद्-
शो भवति ? । स प्राह—नन्वेव गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्देशः
प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥ अथ संखडद्वारम् । कोऽपि साधुः प्रथमाग्नि-
कापानकादिनिमित्तं विनिर्गतः प्रत्यागतो भणति—प्रचुराः संख-
डयो वर्तन्ते, किमेवं तिष्ठथ ? । ततस्ते साधवो गन्तुकामाः पृच्छन्ति—
वृत्ताः संखरुथः । स ललवादी भणति—तेषु तेषु गृहेषु संखडयो
वर्तन्त एव । साधवो भणन्ति—कथं ता अप्रसिद्धाः संखडय उ-
च्यन्ते ? । ललवादी भणति—[नणु आउखंडणय स्ति] नन्वित्या-
क्षेपे । पृथग्यादिजीवानामायुषि गृहे गृहे रन्ध्रनादिभिरार-
म्भैः संखड्यन्ते, ताः कथं न संखडयो भवन्ति ? ।

अथ कुल्लकद्वारमाह—

खुड्डग ! जणणी ते मिया, रुइए जीवइ स्ति अस्स भणितम्मि ।

माइत्ता सव्वजिया, जवेसु तेणेस ते माता ॥

कोऽपि साधुरपाश्रयसमीपे मृतां शुनीं दृष्ट्वा कुल्लकमपि भ-
णति—कुल्लक ! जननी तव मृता । ततः कुल्लकः प्ररुदितो—रो-
दितुं लग्नः । तमेवं रुदन्तं दृष्ट्वा स साधुराह—मा रुदिहि, जीवति
ते जननी । एवमुक्ते कुल्लकोऽपरे च साधवो जणन्ति—कथं पू-
र्वं मृतेत्युक्त्वा संप्रति जीवतीति जणसि ? । स प्राह—एषा या
शुनी मृता सा तव माता भवति । कुल्लको वृते—कथमेषा मम
माता ? । मृषावादी साधुराह—सर्वेऽपि जीवा अतीते काले तव
मातृत्वेन बभूवुः । तथा च प्रज्ञासिद्धम्—“एगमेगस्स णं जीवस्स
सव्वजिया माइत्ताए पिइत्ताए भायत्ताए पुत्ताए धूवत्ताए
भूतपुव्वा ? । हुंता गोयमा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा तहा
चूतपुव्वा ” । तेनैव कारणेनैषा शुनी त्वदीया मातेति ॥

अथ परिहारिकद्वारमाह—

उज्जाणे दट्ठुणं, दिछा परिहारग स्ति लहु करणे ।

कत्युज्जाणे गुरुयं, वर्यति दिट्ठेसु लहुगुरुणा ॥

उद्धुगगा उ णउत्ते, आउओए तम्मि उगुरु होंति ।

परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी जवे छेदो ॥ २ ॥

किं परिहरंति एणु था-णुकंटेए मूल तुज्ज सव्वे य ।

अट्ठमेगो अणवट्ठं, वडि पवयणस्स पारंवी ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरद्याने स्थितानवसन्नान् दृष्ट्वा प्रतिश्रयमागत्य
भणति—मया परिहारिका दृष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

शुद्धपरिहारिकाः समागताः । एवं उलाभिप्रायेण कथयत एव मासलघु । नृपस्य साधवः परिहारिकसाधुदर्शनात्तुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते दृष्टाः ? । स प्राह-उद्याने, एवं भणतो मासलघु । ततः साधवः परिहारिकदर्शनार्थं चालिताः, व्रजन्तो यावन्न पश्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्धु । तत्र गतैर्दृष्टेष्ववसन्नेषु कथयतश्चतुर्धु । अवसन्ना अमी इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः परुषधवः । ते साधव इर्यापिर्कीं प्रतिक्रम्य गुरुणामाज्ञोचयन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य परुगुरु । आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ? । स चेष्टात्तरं दातुमारब्धः-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ? , एवं ब्रुवन्तश्चेदः । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन परिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकण्टकादिकं तेऽपि परिहरन्ति, एवमुत्तरं ददतो मूलम् । ततस्तैः सर्वैरपि साधुजिह्वो दुष्टोऽसि यदेवंगतेऽप्युत्तरं ददासीति । ततः स प्राह-सर्वेऽपि यूयमेकत्रीभूताः, अहं पुनरेकोऽसहायोऽतः पराजीये, न परिफल्यु मर्त्यं जडिपनम्, एवं भणतोऽनवस्थाप्यम् । अथ ज्ञानमदावलितम् एवं ब्रवीति-सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्याः, एवं सर्वानधिक्रिपतः पाराश्रिकं भवति ।

इदमेवान्त्यपदं व्याचष्टे-

किं नागलेण जंपह, किं मं कोप्पह एवऽजाणं ।

बहुएहिं को विरोहो, मलभेहिं व नागपोयस्स ? ॥

किमेवं नागलेन न्यायेन जल्पथ, बोकडवन्मुखंनया किमेवमेवं प्रलपथेत्यर्थः । किञ्च-मामेवाजानतोऽपि (कोप्पह) गले धृत्वा प्रेरयथ । अथवा-एवमपि बहुजिः सह को विरोधः ? , शत्रुभैरिव नागपोतस्येति ।

अथ घोटकमुखीद्वारमाह-

जणइ य दिट्ठ नियत्ते, आलाण आगंति घोमगमुहीओ ।

पूरुम सव्वे एगं, सव्वे वाहिं पवयणस्स ॥

मासो बहूओ गुरुओ, चउरो मामो हवंति बहूगुरुगा ।

उम्मासा लहुगुरुगा, ठेओ मूत्रं तद दुगं च ॥ १ ॥

एकः साधुविचारभूमौ गतः, उद्यानेद्देशे वरुवाश्चरन्तीरवलो-क्य प्रतिश्रयमागतः, साधून् विस्मितमुखः कथयति-शृणुत, यदद्य मया यादृशमाश्रयं दृष्टम् । साधवः पृच्छन्ति-कीदृशम् ? । स प्राह-घोटकमुख्यः स्त्रियो दृष्टाः, एवं भणतो मासलघु । ते साधव ऋजुस्वभावाश्चिन्तयन्ति-यथा घोटकाकारमुखमनुप्यस्त्रियोऽनेन दृष्टा इति । ततस्तैः पृच्छन्ति-कुत्र तास्त्वया दृष्टाः ? । स प्राह-उद्याने, एवं ब्रुवतो मासलघु । साधवो रुष्टास्ता इत्यभिप्रायेण व्रजन्ति, तदानीं कथयन्तश्चतुर्धु । दृष्टासु वरुवासु चतुर्धु । प्रतिनिवृत्तेषु साधुषु परुलघु । गुरुणामालोचिने परुगुरु । ततः गुरुभिः पृष्टो यदि जणति-आमं, घोटकमुख्य एवैता यतो दीर्घमधोमुखं प्रमुखं वडवानां भवतीत्येवं ब्रवीति तदा हृदः । ततः साधुनिर्भणितः-कथं ताः स्त्रिय उच्यन्ते ? । इतरः प्रत्याह-यदि न स्त्रियस्तर्हि किं पुरुषाः ? , एवं ब्रुवाणस्य मूलम् । सर्वे यूयमेकत्र मिलिता अहं पुनरेक एव, एवं जणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराश्रिकम् ।

अथान्त्यप्रायश्चित्तं प्रकारान्तरेण प्राह-

मव्वेगत्या मूत्रं, अहगं एकद्वओ य अणवट्टे ।

सव्वे बहिभावा पव-यणस्स वयमाण चरिं तु ॥

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो मूलम् । अहमेकाकी किं करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्या इति वदति पाराश्रिकम् ।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति--

किं नागलेण जंपह, किं मं कोप्पह एव जाणता ।

बहुएहिं को विरोहो, सलभेहिं व नागपोयस्स ? ॥

गतार्था ।

अथावश्यं गमनद्वारमाह-

गच्छसि ए ताव गच्छं, किं खुण जासि चि पुच्छितो भणति ।

वेला ए ताव जायति, परलोकां वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्टः-आर्य ! गच्छसि जिज्ञाचर्या-म् । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरेण साधुना भणितम्-यद्येवं तत उचितं, व्रजामः । स प्राह-न तावदद्यापि गच्छामि । इतरेण भणितम्-किं खुरिति चित्ते । न यासि गच्छसि, त्वया हि जणितम्-अवश्यं गमिष्यामि ? । एवं पृष्टो भणति-न तावदद्यापि परलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । यद्वा-मोक्षं गन्तुं नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । अपिः संभावने । किं संभावयति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु चि' पदं व्याख्यानयति-

कतरि दिसि गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो जणति पुव्वे ।

किं वा ए हांति पुव्वा, इमा दिसा अवगगामस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं भिक्षाचर्या गमिष्यसि ? । स एवं पृष्टो ब्रवीति-पूर्वा गमिष्यामि । ततः प्रच्छकः साधुः पात्रकाण्युद्धाह्याऽपरां दिशं गतः । इतोऽपि पूर्वदिग्गमना-प्रतिज्ञातां तामेवापरां दिशं गतः । तेन साधुना पृष्टम्-पूर्वा गमिष्यामीति भणित्वा कस्मादपरामायातः ? । स प्राह-किं वा अपरस्य ग्रामस्येयं दिक् पूर्वा न भवति, येन मर्त्यं वचनं निरुध्येत ।

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वचह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो ।

जणति कदं दोम्मि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं ॥

कश्चित्केनचिद्भिक्षार्थं समपृच्छातेनोक्तम्-आर्य ! एहि व्रजावो भिक्षाम् । स प्राह-व्रजत यूयमहमेकमेव कुलं गच्छामि । एवमुक्त्वा बहुषु कुलेषु प्रवेष्टुं लग्नः । ततोऽपरेण साधुना पृष्टः-कथमेकं कुलं गमिष्यामीति जणित्वा बहूनि कुलानि प्रविशसि ? । स एवं पृष्टो भणति-हे कुले एकेन शरीरेण युगपत् कथं प्रवेक्ष्यामि ? । एकमेव कुलमेकस्मिन् कावे प्रवेष्टुं शक्यम्, न बहुनीति भावः ॥

अथैकद्रव्यग्रहणद्वारमाह-

वच्चह एगं दव्वं, घेत्यं ऐगमहे पुच्छितो जणति ।

गहणं तु लक्खणं पो-गल्लाण मेएहेमि तेणऽहं एगं ॥

कोऽपि साधुभिक्षार्थं गच्छन् कमपि साधुं भणति-व्रजामो जिज्ञायायाम् । स प्राह-व्रजत यूयमहमेकं द्रव्यं ग्रहीष्यामि । एवमुक्त्वा जिज्ञां पर्यटननेकानामोदनक्षित्याद्वादीनां बहूनां द्रव्याणां ग्रहणं कुर्वन् साधुभिः पृष्टो जणति-(गहणं तु इत्यादि) गतिदक्षणा धर्मास्तिकायः, स्थितिलक्षणाऽधर्मास्तिकायः,

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवा-
स्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चा-
नां द्रव्याणां मध्यापुक्लानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नात्येषां
धर्मास्तिकायादीनाम, तेन ग्रहमेकमेव द्रव्यं गृह्णामि न बहु-
नीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारागाथायाः पूर्वोक्तम् । अथ “प-
क्रियाइत्विक्त्या भुञ्जन्त्येति” पश्चाद् व्याख्यायते-प्रत्याख्या-
य ‘नाहं गच्छामीति प्रतिपिध्य’ गमनं करोति । प्रत्याख्याय
च ‘नाहं जुञ्जे इति भणित्वा’ भुङ्के । अपरेण च साधुना पृष्टो
ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्; भुज्यमानमेव भुज्यते
नाभुज्यमानम् । अनेन पश्चाद्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्या-
ख्यातं इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं जणतो
मासत्रयु । अथाभिनिवेशेन वदन्निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या
पाराश्रिकं यावद्गृह्यम् । तदेवं येषु स्थानेष्वलीकं संभवति या-
दृशी च यत्र शोधिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपायास्ते सापवा-
दा इति द्वारम् । तत्रानन्तरेकान्यलीकानि जणतो द्वितीयसाधुना
सहासंखडाद्युत्पत्तिः संयमानमविराधनारूपा सप्रपञ्चं सुधिया
वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्नाद् जणियते । वृ० ६ उ० जीत० ।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जंयू ! वितियं च अलियवयणं बहुसगल्लहचवलजणियं
जयकरदुहकरअयमकरवेरकरं अरतिरतिरागदोसमणमंकि-
लेसविपरणं अलियनियदिसाङ्गोयवहुत्तं एणीयजणणिस-
धियं निमंसं अपवयकारणं परमसाहुगरहणिज्जं परपीला-
कारकं परमकाहल्लेससहितं दुग्गतिविणिपायवहुत्तं जवपुण-
वजवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं कित्तियं वितियं अह-
म्पदारं ॥

‘जम्बूः’ इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । ‘द्वितीयं च’-द्वितीयं पुनरा-
श्रवद्वारम्, अलीकवचनं मृपावादः । इदमपि पञ्चत्रिंशदशका-
दिद्वारैः प्ररूप्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्यालीकवचनस्य
स्वरूपमाह-बहुगुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्व-
काः, तेभ्योऽपि ये लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपत्ताश्च,
कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भणितं यत्तत्तथा । तथा-
भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरति-
रागेद्वलक्षणं मनःसंक्लेशं विनरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफ-
लापेक्षया निष्फलो यो निरुतेर्वन्धनप्रच्छादनार्थवचनस्य, (सा
इत्ति) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन
बहुत्वं प्रचुरं यत्तत्तथा । नीचैर्जात्यादिहीनैः प्राय इदं निषेवितं
तत्तथा । नृशंसं मृकावर्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अ-
प्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कण्ठ्यम् ।
तथा-भये संसारे पुनर्जन्तं पुनःपुनर्जन्म करोतीति, नच पुनर्भव-
करम्, चिरपरिचितमनादिसंसारोऽन्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छे-
देनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् ।
एतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यन्नामेत्यनिधातुकाम आह-

तस्म य एणमाणि गोणाणि हुंति तीमं । तं जहा-अलि-
यं ? सत्तं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कू-
कवडमवत्थुं ६ निरत्ययमवत्थगं च ७ विदेसगरहणिज्जं
८ अणुजुगं ९ ककतकारणा य ? ० वंचणा य ? ? मिच्छा-

पच्छाकमं च ? २ माती ? ३ उच्चत्तं ? ४ उक्कूलं च ? ५
अट्ठं ? ६ अवजक्खाणं च ? ७ किच्चिसं ? ८ वलयं ? ९
गहणं च १० मम्मणं च २ ? नूमं २२ नियती २३ अ-
पच्चओ २४ असमओ २५ असच्चमंधत्तणं २६ विव-
क्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअमुद्धं २९ अवलोवो
त्ति अविम ३० ; तस्म एयाणि एवमादिणि एणधेज्जाणि
हुंति तीमं सावज्जस्स अलियस्स वज्जोगस्स अणेगाइ ।

“तस्म” इत्यादि सुगमं यावत्तत्तथा । अलीकं १, रात्रिः, रात्रस्य
मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्थः ३, मायालक्षणक-
पायानुगतत्वात्, मृपारूपत्वाच्च मायामृपा ४, (असंतगं ति)
असदर्थानिधानरूपत्वादसत्यम् ५, (कूकवडमवत्थुं ति) कूटं
परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अ-
विद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तुः पदत्रयस्याप्येतस्य
कथञ्चित् समानार्थत्वेनैकतमस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (नि-
रत्ययमवत्थयं चेति) निरर्थकं सत्यार्थान्निष्कान्तम्, अपार्थक्यम्-
अपगतसत्यार्थम्, इहार्हप द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव ग-
णनादेकत्वम् ७, (विदेसगरहणिज्जं ति) विदेसो मत्सरस्त-
स्माद् गर्हति निन्दति येन, अथवा-तत्रैव विदेसपाद् गर्हते साधु-
निर्यत्तद्विदेसगर्हणीयमिति ८, अनुजुक्तं वक्रमित्यर्थः ९, कल्कं
पापं माया वा, तत्कारणं कल्कं माया पापं च १०, वंचना च ११,
(मिच्छापच्छाकमं च ति) मिथ्येति कृत्वा पश्चात्कृतं निराकृतं न्या-
यवादिनिर्यत्तत्तथा १२, (सती ति) अविश्रम्भः १३, (उच्चत्तं
ति) अपसदं विरूपं ब्रह्मं स्वदोषाणां परगुणानां चाऽऽवरणमप-
च्छन्नम्, उच्चत्तं वा न्यूनत्वम् १४, (उक्कूलं च ति) उक्कूलयति
सन्मार्गादपध्वंसयति, कुलाद्वा न्यायसन्निप्रवाहतदादूर्ध्वं दत्तदु-
त्कन्नम् । पात्रान्तरेण-उत्कूलम्-ऊर्ध्वं धर्मकलाया यत्तत्तथा १५,
आर्तम्-ऋतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अत्र्याख्या-
नं चोद्घाटनम्-असतां दोषाणामित्यर्थः १७, किच्चिसं किच्चि-
पस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं, वक्रत्वात् १९,
गहनमिव गहनं, दुर्लभ्यान्तस्त्वात् २०, मम्मनमिव मम्मनं
च, अस्फुटत्वात् २१, (नूमं ति) प्रच्छादनम् २२, निष्कृतिर्मा-
यायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्ययः प्रत्ययात्रावः २४,
असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यमशीकं संदधाति करो-
तीति असत्यसन्धस्तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् २६, विपत्तः-स-
त्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपसदा
निन्द्या र्थीयस्मिन्तदपशीकम् । पात्रान्तरेण-‘अणाइयं’
आज्ञां जिनदेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञाऽतिगम् २८ ।
(उवहिअमुद्धं ति) उपधिना मायया अशुद्धं सावद्यमुपध्यशु-
द्धम् २९, अवज्ञोपो वस्तुसद्भावप्रच्छादनम्, इत्येवंप्रकारार्थः ।
अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्म एयाणि एवमादिणि
नामधेज्जाणि हुंति तीमं सावज्जस्स अलियस्स वज्जोगस्स
अणेगाइ ति) इह वाक्ये एवमकृष्यटना कार्या-तस्याली-
कस्य सावद्यस्य वाग्योगस्य एतान्यनन्तरोदितानि त्रिशत् एव-
मादीन्येवंप्रकाराणि चानेकानि नामधेयानि नामानि भवन्ती-
ति ॥ यन्नामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा चात्रीकं वदन्ति तौस्तथा चाऽऽह-

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा असंजया अविरया
कवरकुलिकडुयचडुलजावा कुप्फा लुप्फा जया-य हस्स-

तिया य सकलीचोरा चारभरा खंडरक्खा जियपूइकरा य गहिनगहणा ककगुरुगकारिका कुलिगा उवहिया वा-
णियगा य कूनुला कूमाणा कूकाहावणोवजीवी प-
कारककलायकारुज्जा वंचणपरा चारियचटुयारनगर-
गुत्तियपरिचारकदुट्टवाइमूयकअणवन्नणिया य पुव्व-
कालियवयणदच्छा महस्सिका लहुस्सगा असच्चा गार-
विया अनच्चत्थावणाहिचित्ता उव्वंदा अणिग्गहा अणि-
यया उंदेण मुक्खादी भवंति । अलियाहिं जे अविरया
अवरे एत्थिकवादिणो वामलोकवादी भवंति ॥

(तं चेत्त्यादि) तत्पुनर्वदन्त्यलोकम् । (केइ स्ति) के-
चिन्न सर्वेऽपि, सुमाधूनामलोकवचननिवृत्तत्वात् । किंवि-
शिष्टाः ? पापाः पापात्मानः, असंयता असंयमवन्तः, अवि-
रता अनिवृत्ताः । तथा- (कवडकुम्भिलकडुयचमुलभायस्ति)
कपटं हेतुना कुटिलो वक्रः कटुकाश्च विपाकदारुणत्वात्,
चटुलश्च विविधवस्तुषु कृणे कृणे आकाङ्क्षादिप्रवृत्तेः, भावश्चि-
त्तं येषां ते तथा । 'कुद्धा, बुद्धा' इति सुगमम् । (भया-यस्ति)
परेषां भयोत्पादनाय, अथवा-जयाश्च (हस्सात्थिया-यस्ति)
हासाधिकाश्च हासार्थिनः । पात्रान्तरेण-हासार्थाय (सक्खि-
स्ति) साक्खिणः चौराः । चारभयाश्च प्रतीताः । (खंडरक्खस्ति)
शुष्कपालाः । (जियपूइकरा यस्ति) जिताश्च ते पूतिकराश्चेति
समायः । (गहियगहणस्ति) गृहीतानि, ग्रहणकानि धैस्ते
तथा । (ककगुरुगकारगस्ति) ककगुरुकं माया, तत्कारकाः ।
(कुलिगस्ति) कुलिङ्गिनः कुलीधिकाः । (उवहिया वाणियग-
स्ति) उपधिका माया ग्रहणः, वाणिजका वणिजः । किंचु-
ताः ? कूटनुवाः, कूटमानिनः, कूटकार्यापणोपजीविन इति पदत्रयं
व्यक्तम्; नवरं कार्यापणा छम्भः । (पडकारककलायकारुज्ज-
स्ति) पटकारकास्तन्तुवायाः, कलादाः सुवर्णकाराः, कार-
केषु वट्टाद्धिम्पकादिषु भवाः कारुकीयाः । किंविधा एते अ-
लोकं वदन्ति? इत्याह-वञ्चनपराः, तथा-चारिका हैरिकाः, चटु-
काराः सुखमङ्गलकराः, नगरगुप्तिकाः कोट्टपालाः, परिचारका
ये परिचारणां मैथुनातिष्वङ्गं कुर्वन्ति, कामुका इत्यर्थः । उट्टवा-
दिनोऽसत्पक्काहिणः, सूचकाः पिशुनाः, (अणवलभणियाय-
स्ति) ऋणे गृहीतव्यं बलं यस्यासौ ऋणवशो-बलवानुत्तम-
णः, तेन भणिता अस्मद् द्रव्यं देहीत्येवमाभिहिता ये अधम-
णास्ते तथा । ननश्चारकादीनां द्वन्द्वः । (पुव्वकालियवय-
णदच्छस्ति) वक्तुकामस्य वचनाद् यत्पूर्वतरमभिधीयते परा-
निप्रायं वक्तव्यत्वात्, तत्पूर्वकालिकं वचनं, तत्र वक्तव्ये दक्षास्ते
तथा, अथवा पूर्वकालिकानामर्थानां वचने अदक्षा निरतिशय-
निरागमास्ते तथा । सहसा अचित्कर्तृभाषणे ये वर्तन्ते ते
साहलिकाः, लघुस्वकाः लघुकामानः, असत्याः सद्भयोऽहिताः,
गौरविकाः ऋध्यादिगौरववयणं चरन्ति ये असत्यानामसद्गताना-
मर्थानां स्थापनं प्रतिष्ठामधित्तं येषां ते असत्यस्थापना-
धित्तिनाः । उच्चो महानात्मोत्कर्षणप्रवणः उन्दोऽनिप्रायो येषां
ते उच्चच्छुन्दाः । अनिग्रहाः स्वैराः । अनियता अनियमवन्तोऽ-
नवस्थिता इत्यर्थः । अनिजका वा अविद्यमानस्वजनाः, अलोकं
वदन्तीति प्रकृतम् । तथा उन्देन स्वानिप्रायेण मुक्तवाचः प्रयुक्त-
वचनाः, अथवा उन्देन मुक्तवादिनः सिद्धवादिनस्ते जयन्ति ।
के ? इत्याह-अलोकवादी ये अविरताः, तथाऽपरं उक्तेभ्योऽप्येना-

स्तिकवादिना लौकायतिकाः, वामं प्रतीपं लोकं वदन्ति ये सतां
लोकवस्तूनामसत्त्वस्य प्रतिपादनात्ते वामलोकवादिनः, जणन्ति
प्रकृत्यन्ति । प्रश्न० २ आश्र० ४० ।

तथा किमन्यद्वदन्तीत्याह-

तम्हा दाणवयपोमहाणं तवसंयमवंचेचरकट्ठाणमादि-
याणं नत्थि फलं, न वि य पाणवहअलियवयणं, न चेव
चोरककरणं, परदारसेवणं वा, सपरिग्गहपावकम्माइकर-
णं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरिक्खमणुयजोणी, न
देवलोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापि-
यरो वि नत्थि, न वि य अत्थि पुरिसआरो, पच्चक्खाण-
मवि नत्थि, न वि यऽत्थि कात्थमच्चू, अरिहंतचक्खट्ठी बल-
देवा वासुदेवा नत्थि, नेवऽत्थि केइ रिसओ, धम्माधम्मफलं
वि न अत्थि किंचि बहुयं व थोवं व; तम्हा एवं जा-
णिऊणं जहा सुवहुइंदियाणुकूलेसु सव्वचिसएसु वट्टह;
नत्थि काइ किरिया वा, एवं जणंति नत्थिकवादिणो; इमं
पि वितियं कुदंसणं असव्जावं वादिणो पण्वेति मूहा,
संजुओ अंरुकाओ लोको, सयंजुणा सयं च निम्मिओ,
एवं एतं अलियं, पयावइणा इस्सेरण य कयस्ति केइ,
एवं विण्णुमयं जयाण सयं च निम्मिओ कसिणमेव य
जगदिति केइ, एवमेके वदन्ति मोसं-एको आया, अकारको
वेदको य सुकयस्स य दुक्कयस्स य करणानि कारणणि य
सव्वहा मव्वहिं च, एच्चो य, एक्किओ, निग्गुणो य, अणुवञ्जे-
वओ चि अवि य । एवमाहंसु असव्भावं जंपि एहिं किंचि जी-
वलोके दीसंति सुकयं वा दुक्कयं वा-एयं जदिच्छा ए वा, सहावे-
ण वा पि, दायवयप्पभावओ वा वि भवति, नऽत्थि तत्थ किंचि
कयकंतत्तं, वक्खणाविहाणं नियतिकारिया एवं केइ जंपंति,
इहूरिसमायगारवपरा बहवे करणात्तसा परव्वेति धम्मवी-
मंमएण मोमं, अवरे अहम्माओ रायदुट्ठं अञ्जक्खाणं ज-
णंति अलियं, चोरो चि अचोरियं करंतं । ममराओ चि
वि य एमेव उदासीणं, दुमीलो चि य परदारं गच्छंति चि
मइल्लिति सीत्तकलियं अयं पि गुरुत्तप्पओ चि अएणे ए-
वमेव जणंति, उवहणंति, मिक्कलत्ताइं सेवंति अयं पि
लुत्तधम्मो, इमो वि वीसंजयायओ पावकम्मकारी, अकम्म-
कारी अगम्मगामी अयं दुस्पा बहुएसु य पातगेषु जुत्तो
चि एवं जंपंति मच्छरी जइके वा गुणकित्तिनेहपरलोगनि-
प्पिवासा; एवं एते अलियवयणदक्खा परदोमुप्पायणसंस-
त्ता वेहंति, अक्खयियवीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण मुहरि
असमिक्खयप्पलावी निक्खेवे अवहरंति, परस्स अ-
त्थम्मि गहियागिच्छा, अज्जिजुंजंति य परं असंतएहिं
लुद्धा य करंति कूमसक्खिक्खणं, असच्चा अत्थालियं च,
कत्थालियं च, जोमाजियं च, तहा गवाजियं च, गरुयं भ-

एति, अहरगतिगमणं, अणं पि य जाड्रुवकुलसीन्नप-
च्चवमायानिगुणं, चवन्ना पिमुणं परमच्छेदकमसंतकं वि-
द्देसमणत्थकारकं पादकम्ममूत्रं छुदिठं दुस्सुयं अमुणियं
निलज्जं लोगगरहणिज्जं वहवंपगिक्खेसवहुलं जराम-
रणुक्खसोगनेमं असुक्खपरिणामसंकिट्ठं भणंति ॥

यस्माच्चरीरं सादिकमित्यादि, तस्माद्दानव्रतपौषधानां वितर-
णनियमपर्वोपवासानां, तथा-तपोऽनशनादि, संयमः वृ-
त्त्यादिरक्षा, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येव कल्याणं कल्याणहेतु-
त्वात्तदाद्येषां ते ज्ञानश्रद्धादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फलं
कर्मकृत्यसुर्गातगमनादिक, नापि च प्राणिवशास्त्रीकवचनमशु-
भफलसाधनतयेति गम्यम् । तथैव नैव च चौर्यकरणं, परदार-
सेवनं वाऽस्त्यशुभफलसाधनम्, तथैव सह परिग्रहणे यद्वर्त्तते
तत्सपरिग्रहं, तच्च तत्पापकर्मकरणं च पातकक्रियासेवनं तदपि
नास्ति किञ्चित्, श्रोत्रमाणाद्यासेवनरूपा नारकादिका च जगतो
विचित्रता स्वभावादेव न कर्मजनिता । तदुक्तम्—“ कण्टकस्य
च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य च चित्रता । वर्णाश्च ताप्रचूर्णानां, स्व-
प्रावेन भवन्ति हि ” ॥१॥ इति । मृषावादिना चैवमेतेषाम्-स्वभावो
हि जीवाद्यन्तर्यामिभूतः, तदा प्राणातिपातादिजनितकर्मक-
कत्रकरोऽसावनन्तर्यामिभूतः, ततो जीव एवासौ, तदव्यतिरेका-
त्तत्स्वरूपवत् ; ततो निर्हेतुका नारकादिविचित्रता स्यात् । नच
निर्हेतुकं किमपि भवति, अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिकति-
र्यङ्गनुष्यजानां योनिरुत्पत्तिस्थानं पापपुण्यकर्मफलभूताऽस्तीति
प्रकृतम् । न देवलोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलभूतः, नैवास्ति सि-
द्धिमनः, सिद्धेः, सिद्धस्य वाऽज्ञावात् । अस्वापितरावपि न स्तः,
उत्पत्तिमात्रनिबन्धनत्वाद् मातापितृव्यस्य । नचोत्पत्तिमात्रनिब-
न्धनस्य मातापितृतया विशेषो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदु-
त्पद्यत एव । यथा-सचेतनाच्चेतनं युकामकुणादि, अचेतनं च
मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच्च सचेतनं, यथा-काष्ठाद् घुणकी-
टकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जन्यजनकभावमात्रमर्थ-
नामस्ति नान्यो मातापितृपुत्रादिविशेष इति । तदभावात्तद्भोग-
विनाशापमाननादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां-
वस्त्वन्तरस्य पित्रोः स्वजनकत्वे समानेऽपि तयोरत्यन्तहिततया
विशेषवत्त्वेन सत्त्वात् । हितत्वं च तयोः प्रतीतमेव । आह च-
दुष्टप्रतीकारावित्यादि । नाप्यस्ति पुरुषकारः, तं विनैव नियतितः
सर्वप्रयोजनानां सिद्धेः । उच्यते च—“ प्राप्तव्यो नियतिवशाश्रयेण
योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाऽशुभो वा । भूतानां मदति कृते-
ऽपि हि प्रयत्ने, नाभाष्यं ज्ञवति न भाविनोऽस्ति नाशः ” ॥ १ ॥
मृषाभाषिता चैवमेतेषाम्—सकललोकप्रतीतपुरुषकारापलापेन
प्रमाणातीतनियतिमताभ्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यानमपि ना-
स्ति, धर्मसाधनतया धर्मस्यैवाभावादिति । अस्य च सर्वज्ञव-
चनप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्वादिनामसत्यता । तथा-नैवास्ति
कालमृत्युः, तत्र काशो नास्ति, अनुपलभ्यते । यच्च वनस्पति-
कुसुमादिकाललक्षणमाचक्षते, तत्तेषामेव स्वरूपमिति मतव्यम् ।
असत्यं तेषामपि-स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात् कुसुमादिकर-
णमकारणं तरुणां स्यात् । तथा-मृत्युः परलोकप्रयाणलक्षणः,
असावपि नास्ति, जीवाज्ञावेन परलोकगमनाज्ञावात् । अथवा
कालक्रमेण विवक्षितायुष्कर्मणः सामस्त्यनिर्जराऽवसरे मृत्युः
कालमृत्युः, तदभावश्च; आयुष एवाभावात् । तथा-अर्हदादयोऽपि

[नत्थि त्ति] न सन्ति, प्रमाणाविषयत्वात् । [नेषऽत्थि केइ रि-
सओ त्ति] नैव सन्ति केचिदपि ऋषयो गौतमादिमुनयः, प्रमा-
णाविषयत्वादेव, वर्तमानकाले वा ऋषित्वस्य साध्वनुष्ठानस्या-
सत्त्वात्, सतोऽपि वा निष्कृत्वादिनि । अत्र च शिक्षाऽऽदिप्र-
वाहानुमेयत्वादर्हदाद्यमस्यस्यानन्तरोक्तवादिनामसत्यता ; ऋ-
षित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वदा भावादिन्येवमाज्ञाप्रा-
प्त्यर्थाऽपलापिनां सर्वत्रासत्यवादिना भावनीयेति । तथा-धर्मा-
धर्मफलमपि नास्ति किञ्चिद् बहुकं वा स्तोत्रं वा, धर्माधर्मयो-
रदृष्टत्वेन नास्तित्वात् । “ नत्थि फलं सुकए ” इत्यादि यदुक्तं
प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च “ धम्माधम्म ” इत्यादि, तद्-
विशेषापेक्षेयनि न पुनरुक्तं इति । [तम्ह त्ति] यस्मादेवं तस्मादे-
वमुक्तप्रकारं वस्तु विज्ञाय [जहा सुवहुदंदिआणुकूलेसु त्ति]
यथा यत्प्रकारा सुवहुधा अत्यर्थमिन्द्रियानुकूला ये ते तथा, तेषु
सर्वेषु विषयेषु वर्तितव्यम् । नास्ति काचित् क्रिया वा-अनि-
त्यक्रिया वा पापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिकल्पितत्वेना-
परमार्थिकत्वात् । भणन्ति च—

“ पिय खाद च चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि जीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमावमिदं कलेवरम् ” ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा—इदमपि द्वितीयं नास्तिकद-
र्शनापेक्षया कुदर्शनं कुमनमसद्भावं वादिनः प्रज्ञापयन्ति
मूढाः व्यामोहवन्तः । कुदर्शनता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रा-
माणिकत्वाद् वादिप्रोक्तप्रमाणस्य प्रमाणाभासत्वाद् प्राव-
नीया । किंभूतं कुदर्शनम् ? इत्याह-सम्भूतो जातोऽण्डकाद्
जन्तुर्गोनिविशेयाद् लोकः क्विति जलानलानिलनरनारकिनाकि-
तिर्यगरूपः । तथा स्वयंभुवा ब्रह्मणा स्वयं चात्मना निर्मितो
विदितः । तत्राण्डकप्रभूतचुवनवादिनो मतमित्यमाचक्षते—

“ पुवं आसि जगमिणं, पंचमहभूयवज्जिय गभीरं ।
एगस्यं जलेणं, महप्पमाणं तर्हि अंडं ॥ १ ॥
वीईपंरंरेणं, घोलेतं अत्थि उ सुइरकाळं ।
फुहं दुभागजायं अज्जं जूमी य संवुत्तं ॥ २ ॥
तत्थ सुरासुरनारग-समणुय सच्चउपयं जगं सव्वं ।
उप्पसं भणियमिणं, वंभंडपुराणसत्थम्मि ” ॥ ३ ॥

तथा स्वयंभूनिर्मितजगद्वादिनो जणन्ति—

“ आसीदिदं तमोजूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अविश्वकर्मविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूतं, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महानूतविवर्जिते ।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नात्रेः पक्षं विनिर्गमनम् ।
तरुणरविमण्डलनिर्जितं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पक्षे स जगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसंघानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता सर्वप्रकाराणाम् ” ॥ ६ ॥

नकुलादीनामित्यर्थः ।

“ कदूः सरीसृपाणां, सुस्रमा माता च नागजातीनाम् ।
सुरजिभ्रतुष्पदाना-मिला पुनः सर्ववीजानाम् ” ॥ ७ ॥ इति ।

एवमुक्तकामेण एतदन्तरादितं वस्तु अलीकं, भ्रातृहानिभिः प्ररूपितत्वात् । तथा-प्रजापतिता लोकप्रलुणा ईश्वरेण च महेश्वरेण कृतं विहितमिति केचिद्वादिता, न च-तीति प्रकृतम् । भणन्ति चेत्स्वरवादिनः-“बुद्धिमत्कारणपूयकं जगत्, संस्थानविशेषयुक्तत्वाद् घटादिवादात्” । कुदर्शनता चाप्य-बलमीकवदुदादिभिर्हेतोरनैकान्तिकत्वात् । कुलालादितुल्यस्य बुद्धिमत्कारणस्य साधनेन चेष्टविषयकारित्वादिति । तथा-एवं यथेष्टभूतं तथा विष्णुमयं विष्णुवात्मकं इत्यत्र च जगदिति, केचिद्दन्तीति प्रकृतम् । भणन्ति च एतन्मतावलम्बिनः-

“ जज्ञे विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके ।

उवाचमात्रकृत्रे विष्णुः, सर्वे विष्णुमयं जगत्” ॥ १ ॥

तथा-“ अहं च पृथिवी पार्थ !, वायव्यमिजलमप्यहम् ।

वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वं नूतनगतोऽप्यहम्” ॥ १ ॥

“ सो किल जलपसमुन्ध-भृदपणनक्षयमि लोकांस्मि ।

वीर्यपरंपरेण, घ्राह्यतो उदयमश्नुस्मि” ॥ १ ॥

स किल मार्कण्डेय ऋषिः-

“ मिच्छेह सो तस्य भावर-पण्डितमुरनरतिरिक्तजोणीयं ।

एषश्च जगमिषं, महत्पुत्रविवाजियं गहरं” ॥ २ ॥

एवंचिदं जगम्मी, पिच्छेह नमोहपायवं सहसा ।

मंदरगिरिं च तुंगं, महासमुद्रं च विच्छिन्नं” ॥ ३ ॥

संधेस्मि तस्म सयणं, अच्छेह तद् बालो मणभिरामो ॥

संचिद्यो मुहुरिहो, मिउकोमलकुंचियसुकेसो ॥ ४ ॥ विष्णुरित्यर्थः ।

इत्थो पसारिओ मे, मंदरगिरिं एहि वच्छे ! जगिओ य ।

संधे ममे विलज्जसु, मामगिरिसि उदयवुद्धीए ॥ ५ ॥

तेण य चेत्तुं हन्थे, मिलिओ सो गिसी तओ तस्स ।

पिच्छेह उदरस्मि जयं, समेत्तवणकाणं सध्वं” ॥ ६ ॥ ति ॥

पुनः सृष्टिकावे विष्णुना सृष्टम् । कुदर्शनता चास्य प्रतीतिवाधत्वात् । तथा-एवं वक्ष्यमाणव्यायेन एव केचन आत्माद्वैतवाद्यादयो वदन्ति-मृषा अलीकं, यदुत एक आत्मा । तदुक्तम्-“ एक एव हि चूतात्मा, भूतं चूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रयत्” ॥ १ ॥ तथा-“ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्” इत्यादि । कुदर्शनता चास्य सकललोकविलोक्ष्यमाननेर्दानवधनव्यवहाराच्छेदप्रसङ्गात् । तथा-अकारकः सृष्टेर्हेतुनां पुण्यपापकर्मणामकर्ताऽऽप्त्येत्ये वदन्ति, अमूर्तत्वं नित्यत्वाभ्यां कर्तृत्वापपत्तेरिति । कुदर्शनता चास्य संसार्यामनो मूर्तत्वेन परिणामित्वेन च कर्तृत्वापपत्तेः, अकर्तृत्वे चाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । तथा-वेदकश्च प्रकृतजनितस्य सृष्टदुष्कृतस्य च प्रतिविम्बोदयन्यायेन भोक्ता । अमूर्तत्वे हि कदाचिदपि वेदकता न युक्ता, आकाशस्येवेति कुदर्शनता चास्याऽतथा सृष्टदुष्कृतस्य च कर्मणः कर्णानीन्द्रियाणि कारणाणि हेतवः सर्वथा सर्वप्रकारैः सर्वत्र च देशे काले च, न वस्तुन्तरं कारणमिति भावः । कर्णाद्येकादश-तत्र वाक्पाणिपादपायुपस्थलक्षणानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, स्पर्शनादीनि तु पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, एकादशं च मन इति । एषां चाचेतनावस्थायामकारकत्वापुरुषस्यैव कारकत्वेन कुदर्शनत्वमस्य । तथा-नित्यआत्मा । यदाह-“ जैनं गिन्दन्ति आत्माणि, नैनं दहति पावकः । नचैनं क्लेश्यन्त्यापो, न शोषयति मारुतः” ॥ १ ॥ अच्छेद्योऽयमनेद्योऽय-ममूर्तोऽयं सनातनः” इति । असर्च्चैत्, एकात्मनित्यत्वे हि सुखदुःखबन्धमोक्षायभावप्रसङ्गात् । तथा-निष्कयः सर्वस्यापि नैवावकाशाभावाद् गमनागमनादिक्रियावर्जितः । असर्च्चैत्-देहमात्रोपलभ्यमानतद्गुणत्वेन तद्विषयत्वात् । तथा-नि-

गुणश्च, सत्त्वरजस्तमोऽलक्षणगुणत्रयव्यतिरिक्तत्वात् : प्रकृतेरेव ह्येते गुणा इति । यदाह-“ अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शनः” इति । असिद्धता चास्य सर्वथा निगुणत्वे, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यङ्गुपगमात् । तथा-(अणुबलेश्चोक्ति) अनुपलेशः कर्मबन्धनरहितः । आह च-“ यस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरन्” । “ संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः” इति । असर्च्चैतत्-मुक्तामुक्तयोरेवमविशेषप्रसङ्गात् । पाठान्तरम्-(अणुबलेश्चोक्ति) अत्र अन्यश्चापरोक्षेपनः, कर्मबन्धनादिति । एतदप्यसत्-कथञ्चिदिति शब्दानुपादानात् । इत्यपि च-इती रूपप्रदर्शने, अपिचेति-अलीकवादान्तरसमुच्चयार्थः । तथा-एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण (आहंसुक्ति) उच्यते स्म असद्भावमसन्तमर्थं, यदुत यदपि यदेव सामान्यतः, सर्वमित्यर्थः ; इहास्मिन्, किञ्चिद्विवेकितविशेषं, जीवलोके मर्यादलोके, दृश्यते सृष्टं वा आस्तिकमतेन सृष्टफलं, सुखमित्यर्थः । दुष्कृतं वा दुष्कृतफलं, दुःखमित्यर्थः । एतत् (जडच्छाए वक्ति) यदृच्छया वा, स्वभावेन वाऽपि, दैवकप्रज्ञावता वाऽपि विधिसामर्थ्यतो वाऽपि जवति, न पुरुषकारः कर्म वा हिताहितनिमित्तमिति भावः । तत्र-अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिः यदृच्छा । पश्यते च-“ अतीर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तावेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वाऽत्र बुद्ध्याऽजिमानः” ॥ १ ॥ तथा-“ सत्यं पिशाचस्य वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः । यदृच्छया सिद्धयति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परितारयन्ति” ॥ १ ॥ निःस्वभावः पुनर्वस्तुनः स्वत एव तथा परिणमति इति भावः । उक्तं च-“ कः कण्टकाणां प्रकरोति तैरप्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?” ॥ १ ॥ इति । दैवं तु विधिरिति लौकिकी भाषा । तत्रोक्तम्-“ प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः, किं कारणं दैवमवब्रुवीथम् । तस्माज्ज्ञोचामि न विस्मयो मे, यदस्सदीयं नहि तत्परेषाम्” ॥ १ ॥ तथा-“ द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यस्तात् । आनीय ऊटति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः” ॥ १ ॥ इति । असद्भूतता चात्र प्रत्येकमेषां जिनमतप्रतिकूलत्वात् । तथाहि-“ काक्षो सहाव नियई, पुण्यकयं पुरिसकारणेगता । मिच्छत्तं ते चैव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं” ॥ १ ॥ इति । तथा-नास्ति न विद्यते, तत्र लोके, किञ्चिच्छुजमशुजं वा, कृतकं पुरुषकारनिष्पन्नकृतं च कार्यं, प्रयोजनमित्यर्थः । पाठान्तरेण-“ नत्थि किञ्चि कयकं तत्तं” । तत्र तत्त्वं वस्तुस्वरूपमिति । तथा-लक्षणानि वस्तुस्वरूपाणि विविधाश्च जेदा लक्षणविधास्तासां लक्षणविधानां, नियतिश्च स्वभावविशेषश्च कारिका कर्त्री, सा च पदार्थानामवश्यतया । तद्यथा-भवनं प्रयोजयित्री, ज्वितव्यतेत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-यतः मुक्तादीनां राक्षस्वभावत्वमितरस्यातस्वभावत्वम् । यच्च राक्षावपि नियतरसत्त्वं, न शाब्दयादिरसतासां नियतिरिति । “ नहि जवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन । करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति” ॥ १ ॥ असत्यता चास्य पूर्ववत् । एवमित्युक्तप्रकारेण, केचिन्नास्तिकादयो जल्पन्ति । ऋद्धिरसनातगौरवपराः, ऋद्ध्यादिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना इत्यर्थः । वदवः प्रचुताः कर्णालसाश्चरणालसा धर्मप्रत्यनुद्यमाः, स्वस्य परेषां च चित्ताश्वासनिमित्तमिति भावः ; तथा प्ररूपयन्ति । धर्मविमर्शकेण धर्मविचारणेन, (मोसंति) मृषा पारमार्थिकधर्ममपि स्वबुद्धिदुर्विलसितेनाधर्मं स्थापयन्ति ।

एतद्विपर्ययं चेति भावः । इह च संसारमोचकादयो निदर्शन-
मिति । तथा-अपरे केचन, अधर्मतोऽधर्ममङ्गीकृत्य राजदुष्टं नृ-
पविरुद्धम्-‘अभिमरोऽयमित्यादिकम्’अभ्याख्यानं परस्याजिमुखं
दूषणवचनं, भणन्ति ब्रुवते, अत्रोक्तमसत्यम् । अभ्याख्यानमेव दर्श-
यितुमाह-चौर इति जणन्तीति प्रकृतम् । कं प्रति?, इत्याह-अचौर्यं
कुर्वन्तं चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः । तथा—डामरिकां विग्रहका-
रोति । अपिचेति समुच्चये । जणन्तीति प्रकृतमेव । (एमेव चि)
एवमेव चौरादिकं प्रयोजनं विनैव, कथंभूतं पुरुषं प्रति?, इत्याह-
उदासीनं डामरादीनामकारणम् । तथा दुःशील इति च हेतोः पर-
दागन् गच्छतीत्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति, शील-
कलितं सुशीलतया परिहारविरतम्, तथा-अयमपि न केवलं स एव
गुरुनल्पक इति दुर्विनीत इति; अन्ये केचन, सृष्टावादिनः, एवमे-
व निष्प्रयोजनं भणन्ति; उपघ्नन्तः विध्यन्त्यन्तः तद्वृत्तिकीर्त्या-
दिकमिति गम्यते । तथा-मित्रकलत्राणि सेवते सुहृद्वारान् भ-
जते; अयमपि न केवलमसौ, पुनर्लुप्तधर्मा विगतधर्म इति ।
(इमो वि चि) अयमपि विश्रमन्धातकः पापकर्मकारीति
वक्तव्यम् । अकर्मकारी स्वचूम्निकाऽनुचितकर्मकारी, अगम्यगा-
मी भगिन्याद्यजिगन्ता, अयं दुरात्मा (बहुएषु य पातगेषु
चि) बहुभिश्च पातकैर्युक्त इत्येवं जल्पन्ति, मत्सरिण इति
व्यक्तम् । भद्रके वा निर्दोषं विनयादिगुणयुक्ते पुरुषे वा,
शब्दभद्रके वा, एवं जल्पन्तीति प्रकृतम् । किंभूतास्ते?,
इत्याह-गुण उपकारः, कीर्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीतिः, परत्रोक्तो
जन्मान्तरम्, एतेषु निष्पिपासा निराकाङ्क्षा एते । तथा-एवमु-
क्तकमेण, एतेऽलीकवचनद्वक्ताः, परदोषोत्पादनप्रसक्ताः, वेष्टय-
न्तीति पदत्रयं व्यक्तम् । अकृतिकवीजेन अकृयेण दुःखहेतुने-
त्यर्थः । आत्मानं स्वैः, कर्मबन्धनेन प्रतीतेन, [मुहुरिति] मुखमेव
अरिः शत्रुरनर्थकारित्वाद्येषां ते मुखारयोऽसमीकितप्रज्ञापिनः-
अपर्यालोचितानर्थकवादिनः, निक्षेपान्माषकानपहरन्ति; परस्य
संवन्धिनि अर्थे द्वये प्रथितगृह्णाः अत्यन्तगृह्मन्तः । तथा-
अभियोजयन्ति च परमसद्भिः, दूषणैरिति गम्यम् । तथा—
बुद्ध्याश्च कुर्वन्ति कूटसाक्षित्वमिति व्यक्तम् । तथा-जीवानाम-
हितकारिणः; अर्थालीकं च छद्मार्थमसत्यं, भणन्तीति योगः ।
कन्यालीकं च कुमारीविषयमसत्यं, ज्ञेयलीकं च प्रतीतम् ।
तथा-गवालीकं च प्रतीतं, गुरुकं वादरं स्वस्य जिह्वाच्छेदाद्यन-
र्थकरं परेषाञ्च गाढोपतापादिहेतुं, भणन्ति भाषन्ते । इह कन्याऽऽ-
दिभिः पदैर्द्विपदापदचतुष्पदजातय उपलक्षणत्वेन संगृहीता
द्रष्टव्याः । कथंभूतं तत्?, इत्याह-अधरगतिगमनम्-अधोगतिग-
मनकारणम्, अन्यदपि चोक्तव्यतिरिक्तं, जातिरूपकुत्रशीलानि
प्रत्ययकारणं यस्य तत्तथा; तच्च मायया निगुणं निहतगुणं
इति समासः । तत्र जातिकुलं मातापितृपक्षः, तद्धेतुकं
च प्रायोऽलीकं संनवति, यतो जात्यादिदोषात्केचिदली-
कवादिनो भवन्ति । रूपमाकृतिः, शीलं स्वभावः, तत्प्रत्ययस्तु जव-
स्येव, प्रशंसानिन्दाविषयत्वेन वा जात्यादीनामलीकप्रत्ययता ज्ञा-
वनीयेति । कथंभूतास्ते?, चपलाः मनश्चापव्यादिना । किंभूतं तत्?,
पिशुनं परदोषाविष्करणरूपम्, परमार्थभेदकं मोक्षप्रतिधातकम् ।
[असंततं ति] असत्कमविद्यमानार्थम्, असत्यमित्यर्थः । असत्त्व-
कं वा सत्त्वदीनं, विद्वेष्यमप्रियम्, अनर्थकारकं पुरुषार्थोपघातकं,
पापकर्मभूतं क्रिष्टज्ञानावरणादिबीजं, दुष्टमसम्बन्धकं दृष्टं दर्शनं यत्र
तद् दुर्दृष्टम्, दुष्टं श्रुतं श्रवणं यत्र तद् दुःश्रुतं, नास्ति मुणितं ज्ञानं यत्र
तदमुणितम्, निर्लज्जं लज्जारहितं, लोकगर्हणीयं प्रतीतम्, बध-

बन्धपरिक्लेशबहुलं, तत्र-बन्धो यद्यद्यादिनिस्ताडनं, बन्धः संय-
मनं, पारक्त्रेयमुपतापः, ते बहुधाः प्रचुरा यत्र तत्तथा । भ-
वन्ति चेते असत्यवादिनामिति । जरामरणदुःखशोककर्मजरा-
दीनां मूलमित्यर्थः । अशुद्धपरिणामेन संक्षिप्तं संक्षेपशब्द-
तथा भणन्ति ।

के ते भणन्ति ?-

अलियाहि संधिमनिविद्धा अमंतगुणदीरगा य संतगुण-
नासका य हिंसाचूतोवधातिथं अलियसंपत्ता वयणं
सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अधम्मजणणं जणंति
अणजिगहियपुष्पपावा पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका
वहुविहं अनत्थं अवमदं अप्पणो परस्म य करंति एवमेव
जंपमाणा, पाहिसे सूकरे य माहिंति घायकाणं, ससपसयो-
हिए य साहिंति वागुरीणं, तित्तिरवट्ठकलावके य कविज-
लकवायके य माहिंति सउणीणं, ऊसमगरकच्छुजे य सा-
हिंति मच्छिआणं, संखंके खुल्लए य साहिंति मक्कराणं,
अयगरगोणसमीमलिदव्वीकरमउली य साहिंति वालि-
पाणं, गोहा सेहा य सल्लगसरुके य साहिंति लुल्लगा-
णं, गयकुलवानरकुले य साहिंति पासियाणं, सुक-
वरहिणमयणसालकोइल्लहंसकुवे सारसे य साहिंति पोस-
गाणं, वधवंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधन्न-
गवेलए य साहिंति तकराणं, गामे नगरपट्टणे य साहिंति
चोरियाणं, पारघातियपंथवातियाओ साहिंति गंधिजेया-
णं, कयं च चोरियं एगरगुत्तियाणं साहिंति, ढंढणनि-
ल्लंछणधमणुहणपोसणवणणदुवणवाहणादियाई साहिं-
ति वहुणि गोमियाणं, धाउमणिमिलप्पवाडयरयागरे य
साहिंति आगरीणं, पुप्फाविहिं च फल्लविहिं च साहिंति
माझियाणं, अत्थमहुकोनए य साहिंति वणचराणं, जंताई,
विसाई, मूअकम्मआहेवणआभिओगजणणाणि चोरियाए
परदारगमणस्म बहुपावकम्मकरणो अवकंदणे गामघा-
तिए वणदहणतमागभेयणए बुद्धिविसए वसीकरणं
भयमरणकिंसेसुव्वेगजणिआई जाववहुमं किलिडमाझि-
णाणि चूयवाओववाइयाई सच्चणि वि ताई हिंसकाई
वयणाई उदाहरंति पुट्टा वा अपुट्टा वा, परतत्तिवावमा य
अममिक्खियआसिणो उवदिसंति-महसा उट्टा गोणा गव-
या दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थीगवेडगकुकरा य कि-
जंतु, किणावेध य, विकेह, पचह, सयणस्स देह, पीयह
दासीदासजयकभाइल्लगा य सिस्सा य पेसकजणो कम्म-
करा किंकरा य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थंति भारि-
या जे करंतु कम्मं, गहणाई वणाई खित्तखिलचूमिबल्लाराई
उत्तणघणसंकराई ढजंतु य मूमिजंतु य रुक्खा भिजंतु
जंतं जंटाइयस्स उवहिस्स कारणाए, वहुविहस्स य अट्टाए
उच्छु दुजंतु, पीलियतु य तिआ, पचावेह इडकाओ मम

परद्वयाए, खेत्ता य कसत, कसावेह वा, झहुं गामनगरखे-
रुक्वमं संनिवेमेह अरुवीदेसेमु विपुलसीमं, पुष्पाणि
केदमूलाः कालपत्ताइं गिएह, करेह संचयं परिजणम्मऽह-
याए, सात्रीवीहीजवा य लुच्चंतु मन्निजंतु उप्पु-
यंतु य, लहुं च पविमंतु कोट्टागारं, अप्पमहक्को-
मगा य हंणंतु पोतमत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ मगरं,
योगा वटंतु, जयंतु य मंगामा, पवहंतु य मगरवाहणाइं,
उवणयणं चोलगं विवाहो जन्नो अमुगम्मि होउ दिवमे
सुकरणे सुमुहुत्ते मुनक्खत्ते सुनिहिम्मि य अज्ज होउ एह-
वणं, मुदितं बहुवज्जपेज्जकलियं कौत्तकविहारावणसंतिक-
म्पाणि कुण्ह, समिरविगटोवरागविसमेमु, सजणस्स
परिजणम्म य निययस्स य जीवियस्स परिक्खण्हयाए
परिसीसकाइं च देह, देह य मीसावहारे विविहोसहिमज्ज-
मंसजक्खअप्पपाणमहाणुलेवणपदीवजालिउज्जा मृगंध-
ध्रुवावयारपुष्पफलसमिष्टं, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवाय-
करणेन बहुविहेण विवरीउप्पायमुविणपावमउणअसो-
मगहचरियअमंगलानिमित्तपमियायहेउं वित्तिच्छेयं करेह
मा देह किंचिदाणं, सुहु हण २, सुहु छिणो भिणो च्चि उव-
दिसंता, एवंविहं करेति अलियं मण्णं वायाए कम्मणा य ।

अर्थात् योऽनिसंधिरभिप्रायस्तत्र निविष्टा अर्थात्कानिसन्धि-
निविष्टाः, असद्गुणोदीरकाश्चेति व्यक्तम् । सद्गुणनाशकाश्च,
तदपलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया जृतोपघातो यत्रास्ति
तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं जणन्तीति योगः । अलीक-
संप्रयुक्ताः संप्रयुक्तालौकाः, कथंचतं वचनम्?, सावद्यं गहिं-
तं गहितकर्मयुक्तम् । अकुशलं, जीवानामकुशलकारित्वात्,
अकुशलनरप्रयुक्तत्वाद्वा । अतएव साधुगर्हणीयम्, अधर्मजननं,
भणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम् । कथंभूताः?, इत्याह—अनधिगत-
पुण्यपापाः—अविदितपुण्यपापकर्महेतव इत्यर्थः । तदधिगमे हि
नार्त्तिकवादे प्रवृत्तिः संभवति । पुनश्च-अज्ञानोत्तरकालम्, अधि-
करणविषया या क्रिया व्यापारस्तत्प्रवर्त्तकाः । तत्राधिकरणक्रि-
या द्विविधा—निवर्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया
च । तत्राद्या-स्रद्धादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निवर्त्तनलक्षणा, द्वितीया
तु तेषामेव मिष्टानां संयोजनलक्षणेति । अथवा-दुर्गतां यकाभि-
रधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति; बहुविधम-
नर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दमुपवर्त्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्व-
न्ति, एवमेव अबुद्धिपूर्वकं, जल्पन्तो भाषमाणाः । एतदेवाह-महि-
यान् शूक्रांश्च प्रतीताम्, साधयन्ति प्रतिपादयन्ति, घातकानां
तद्धिमकानाम्, शशप्रशयरोहितांश्च साधयन्ति वागुरिणां, श-
शादय आट्ठ्याश्चतुष्पदविशेषाः; वागुरा मृगचन्धनं, सा एवाम-
स्ति ते वागुरिणः । तिस्रिग्वर्चकलावकांश्च कपिजत्रकपोतकांश्च
पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन उयनादिना मृगयां कुर्वन्तीति
शकुनिकास्तेषाम्, 'सउर्णाणं' इति च प्राकृतत्वात् । अपमकगान्
कच्छपांश्च जत्रचरविशेषान् साधयन्ति, मन्स्याः पण्यं येषां ते
मान्सिकास्तेषाम्, (संखं क्ति) शङ्खाः प्रतीताः, अरुकाश्च रु-
दिगम्याः, अतस्तान्, लुलुकांश्च कपर्दकान्, साधयन्ति मकरा इव
मकरा जत्रविहारिवाकीवगाः, तेषाम् । पाठान्तरे—'मगिराणं'

मार्गयतां तत्रवेष्टिणाम् । अजगरगोनसमएडविद्वीकरमुकुलिन-
श्च साधयन्ति, तत्र अजगरादयः उरगविशेषाः, र्वीकराः फणा-
भृताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्याघ्रान् जत्रजङ्गान् पान्तीति व्यालपा-
स्ते विद्यन्ते येषां ते व्याघ्रपिनः, तेषाम् । अथवा-व्यालपानामत्र
प्राकृतत्वेन 'वालवीति' प्रतिपादितम् । वाचनान्तरे—'वाविश्याणं
ति' दृश्यते । तत्र व्यालेश्वरन्तीति; वैयलिकानामिति । तथा-
गोधाः सेदाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकानां,
गोधादयो जत्रपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकवासाः । गजकु-
लघानरकलानि च साधयन्ति पासिकानां कुलं कुटुम्बं, यूथमित्य-
र्थः । पाशेन यन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा-
शुकाः कीराः, बर्हिणो मयूराः, मदनशालाः शारिकाः, कोकिलाः
परजृतः, हंसाः प्रतीताः, तेषां यानि कुलानि वृन्दानि तानि, तथा-
सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः । तथा-
वधस्नारुनं, वन्धः संयमनं, यातनं च कदर्थनामिति समाहारद्वन्द्वः ।
तच्च साधयन्ति गौडिमकानां गुप्तिपालानाम् । तथा-धनधान्यग-
वेषकांश्च साधयन्ति, तत्कराणामिति प्रतीतम् । किं तु गावो वशी-
बर्दसुरभयः, एलकाः उरभ्राः । तथा—ग्रामनगरपत्तनानि साधय-
न्ति चौरिकाणाम्, नकरं करवर्जितम्; पत्तनं द्विविधम्—जलपत्तनं,
स्थलपत्तनं च । यत्र जलपथेन भाषकानामागमस्तदाद्यम्, यत्र च
स्थलपथेन तदिनरत् । चौरिकाणां प्रणिधिपुरुषाणाम् । तथा-परे
पर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तृणां हननं पारघातिकाः (पंथघाहय-
न्ति) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः । घातिका गन्तृणां हननं, प-
थिघातिकाः, अनयोद्वन्द्वोऽतस्ते साधयन्ति च प्रस्थिभेदानां चौर-
विशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोरणं, नगरगुप्तिकानां नगरर-
क्षिकाणां, साधयन्तीति वर्त्तते । तथा-लाञ्छनं कर्णादिकर्त्तना-
ङ्कनादिभिः, निज्ञाच्छनं वार्द्धितकरणं, (भ्रमणं ति) भ्रान-
वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्, पोषणं यवसादिदानतः
पुष्टीकरणं, वननं वत्सस्यान्यमातरि योजनं, (दुवणं च्चि) दुव-
नमुपापनमित्यर्थः । वाहनं शकटाद्याकर्षणम्, एतदादिकानि
अनुष्ठानानि साधयन्ति बहूनि, गौडिमकानां गोमताम् । तथा-घातु-
गैरिकं, घातवो द्रोहादयः, मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः, शिला द्रव्यः,
प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्कतनादीनि, तेषामाकराः खन-
यस्ताः साधयन्ति, आकरिणाम् आकरवताम् । पुष्पेत्यादिवाक्यं
प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थश्च मूल्यमानं, मधुकोश-
काश्च कौटोन्पत्तिस्थानम्—अर्थमधुकोशकाः, तान् साधयन्ति,
वनचराणां पुलिन्दानाम् । तथा-यन्त्राणि उच्चाटनाद्यर्थेकरलेख-
नप्रकारान्, जलसंप्रामादियन्त्राणि वा, उदाहरन्तीति योगः ।
विषाणि स्थावरजङ्गमभेदानि हालाहलानि, मूलकम् मूलादि-
प्रयोगतो गर्जपातनादि (आहेवणं च्चि) आक्षेपणं पुरकोभादि-
करणम् । पाठान्तरेण—(आहिच्छणं ति) आहित्यं अहितत्वं शत्रु-
त्रावम्, पाठान्तरेण (अविध्वनं ति) अव्याधनं मन्त्रादेशनमित्य-
र्थः । आभियोग्यं वशीकरणादि, तच्च छव्यतो छव्यसंयोगज-
नितं, त्रावतो विद्यामन्त्रादिजनितं, वलात्कारो वा मन्त्रौषधिप्र-
योगाज्ञानाप्रयोजनेषु तद्व्यापारणानीति द्वन्द्वः, तान् । तथा-चो-
रिकायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणो व्यापारस्य
यत्करणं तत्तथा; अवस्कन्दनाः लुलेन परवन्नमर्दनानि, ग्राम-
घातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागभेदनानि च प्रतीतान्येव,
बुद्धिद्वयस्य च यानि च तानि । तथा-वशीकरणादिकानि
प्रतीतानि, त्रयमरणकेशोद्वेगजनितानि, कर्तुरिति गम्यते । भा-
वेनाध्ययसाधनेन बहुसंक्षिप्तेन मन्त्रिनानि कलुषानि यानि, तथा-भू-
तानां प्राणिनां घातश्च हननम्, उपघातश्च परम्पराघातः, तौ विद्येते

येषु तानि भूतघातोपघातकानि, सत्यान्यपि द्रव्यतस्तानीति यानि पूर्वमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंसाणि वचनान्युदाहरन्ति तथा-
पृष्टा वा अपृष्टा वा प्रतीताः, परतृप्तिव्यापृताश्च परकृत्यचिन्त-
नाङ्गणिकाः, असमीकृतभाषिणः अपर्यालोचनवक्तारः, उपदि-
शन्ति अनुशासन्ति, सहसा अकस्माद्-यदुत वृष्टाः कर्जाः, गो-
एवो गायो, गवया अटव्याः पशुविशेषाः, दम्बन्तां विनीयन्ताम् ।
तथा-परिणतवयसः संपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः ।
अश्वाः, हस्तिनः प्रतीताः, गवेलककुक्कुटाश्च उन्नताप्रचूराश्च
क्रायन्तां मूढ्येन गृह्यन्तां, क्रापयन् च एतान्येव प्रादयन् च,
विक्रीणीध्वं विक्रेतव्यम् । तथा-पचन पचनीयं, स्वजनाय च दत्त,
पिवन् च पातव्यं मदिरादि । वाचनान्तरेण-खादन् पिवन् दत्त
च । तथा-दास्यश्चेष्टिकाः, दासाश्चेष्टकाः, भृतका भक्तदानादिना
पोषिताः, (भाङ्गलुगं स्ति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं ल-
भन्ते, एतेषां द्वन्द्वः । ततस्ते च, शिष्याश्च विनेयाः, प्रेष्यकजनः
प्रयोजनेषु प्रेषणीयश्रेष्ठः, कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः, किं-
कराश्च आदेशसमाप्तवापि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः,
स्वजनपरिजनं च कस्मादासते अचस्थानं कुर्वन्ति ? (भारिया जे क-
रिउ कम्मं ति) कृत्वा विधाय, कर्म कृत्यं, तत्समाप्तौ यतो भारि-
का दुर्निर्वाहाः ' भे ' जयतां " करेतु स्ति " क्वचित्पाठः । तत्र
(भार्य स्ति) भार्या ' जे ' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु ।
अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि ।
तथा-गहनानि गह्वराणि, वनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्य-
घनचूमयः, खिलभूमयश्च हलैरकृष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः,
ततस्तानि उन्नृणैरुर्वर्गनैस्तृणैः, घनमन्थ्यै, संकटानि संकी-
र्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम् । पाठान्तरेण-गहनानि
वनानि छिद्यन्तां, खिलचूमिवल्लराणि उन्नृणघनसंकटानि
दह्यन्ताम् । (सुडिज्जंतु य स्ति) सूड्यन्तां च वृक्षाः, जिन्दन्तां छि-
न्दन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च प्राजाना-
नि कुण्डादीनि, भाण्डा वा गन्त्री, एतान्यादिष्यस्य तत् । तथा-उप-
धिरूपकरणं तस्य (कारण ए स्ति) कारणाय हेतवे । वाचनान्तरे
तु-यत्र ज्ञाणस्योक्तरूपस्य कारणाद् हेतोः । तथा-वह्विधस्य
च, कार्यसमूहस्येति गम्यम् । अर्थाय इक्ष्वो (छिज्जंतु स्ति) दृ-
यन्तां लूयन्तामिति । धातूनामनेकार्थवात् । तथा-पीड्यन्तां च
तिलाः, पाचयन् चेषुकाः गृहार्थम् । तथा-क्षेत्राणि कृपतां कर्षयतां
वा । तथा-लघु शीघ्रं, ग्रामादीनि निवेशयन्, तत्र ग्रामो जनपद-
प्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकण्डानं, कर्षटं कुनगरम् । कः,
अटवीदेशेषु । किंभूतानि ग्रामादीनि, विपुत्रसीमानि । तथा-पुष्पा-
दीनि प्रतीतानि । [कालपत्ताइं ति] अवसरप्राप्तानि गृहीत,
कुरुत संचयं परिजनार्थम् । तथा-शाश्वतः प्रतीताः, लूयन्तां, मध्य-
न्ताम्, उपयुतां च, उद्यु च प्रविशन्तु कोष्ठगारम् । [अप्पमहुक्को-
सगा य स्ति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्य-
र्थः । उत्कृष्टा उत्तमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्थाः बोद्धिस्थसमुदायाः,
शावकसमूहा वा । तथा-सेना सैन्यं, निर्यातु निर्गच्छतु । निर्गत्य
च यातु गच्छतु डमरं विद्वरस्थानम् । तथा-घोरा रौद्रा वर्तन्तां
च, जयन्तां संग्रामा रणाः । तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवा-
हनानि-गत्रयो यानपात्राणि च । तथा-उपनयनं बालानां क-
लाग्रहणं [चोन्नगं ति] चूरोपनयनं बालकप्रथममुगडनम्, विवाहः
पाणिग्रहणं, यज्ञो यागः, अमुष्मिन् भवतु दिवसे । तथा-सु-
करणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरदन्निमतं, सुमुहूर्तो रौ-
द्रादीनां विशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः, त-

तस्तत्र । तथा-सुनक्षत्रेषु पुण्यादौ, सुतिथौ च पञ्चानां नन्दादी-
नामन्यतरस्यामन्निमतायाम् । ' अज्ज ' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं
सौभाग्यपुत्रार्थं बध्वादेर्मज्जनं, मुदितं प्रमोदवत्, बहुस्वाद्य-
पेयकञ्जितं प्रभूतमांसमद्याद्युपेतम् । तथा-कौतुकं रक्षादिकं (वि-
एहावणं स्ति) विविधैर्मन्त्रसूत्राभिः संस्कृतजज्ञैः स्नापनकं वि-
स्नापनकं, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः । ततस्ते कु-
रुत । केपु?, इत्याह-शशिरव्योश्चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहेण राहुलक्षणेन उ-
पराग उपरज्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरागः । स च वि-
पमाणि च विभुगाणि दुःस्वप्नाशिवादीनि, तेषु किमर्थम्?, इत्याह-
ह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प-
रिरक्षणार्थमिति व्यक्तम् । प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रति-
रूपाणि पिशादिसर्पशरांसि आन्मशिरोरक्षार्थं यच्छत, च-
ण्डिकादिज्य इत्यर्थः । तथा दत्त च शीर्षोपहारात् पटवादि-
शिरोवलीन्, देवतानामिति गम्यते । विविधौ पश्चिम्यमांसन-
द्यान्नपानमाद्यानुवेषनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वलाः,
सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम्-अङ्गारोपरि क्षेपः, पुष्पफलाणि
च, तैः समृद्धाः संपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, तान्, दत्त
चेति प्रकृतम् । तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत । केन?,
प्राणातिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेना किमर्थम्?,
इत्याह-विपरीतोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृतिविकाराः, दुःस्व-
प्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः । असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचा-
राः, श्रमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुटितादीनि, एतेषां
द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहनननिमित्तमिति । तथा वृ-
त्तिच्छेदं कुरुत, मा दत्त किञ्चिद्धानमिति । तथा-सुष्ठु हत हत, इह
तु संभ्रमे द्विवचम् । सुष्ठु छिन्नो निध्नश्च विवक्षितः कश्चिदिति,
एवमुपादिशतः । एवंविधं नानाप्रकारम् । पाठान्तरे वा-त्रिविधं
त्रिप्रकारं, कुर्वन्त्यस्त्रीकं, उच्यते नास्त्रीकमपि स्वोपघातहेतुत्वा-
द् ज्ञावतोऽस्त्रीकमेव । त्रैविध्यमेवाह-मनसा, वाचा, [कम्मुणा
य स्ति] कायक्रियया । तदेनादतो यथा क्रियतेऽस्त्रीकं, येषु तत्
कुर्वन्तीत्येतद् द्वारद्वयं मिश्रं परस्परैकोक्तम् ।

अथ ये तान् कुर्वन्ति तान् भेदानाह-

अकुमला अणज्जा अलियऽप्सा अलियधम्मनिरया
अलियासु कहासु अभिरमन्ता तुडा अन्नियं करेउ हुंति
य बहुपगारं, तस्स य अन्नियस्स फलस्स विवागं अ-
याणमाणा वट्ठेति महज्जयं अविस्सामवेयणं दीहका-
ल्लवहुदुक्खसंकरं एरयतिरियजोणिं, तेण य अलि-
एण समणुवच्चा आइट्ठा पुण्णभवंधकारे जप्पति, भीमे
दुग्गव्वसहिमुवगया ते य दीमंति इह दुग्गया दुग्गंता पर-
वमा अत्यभोगपरिवज्जिया अमृहिता फुडितच्चवी-वीभ-
च्चविवरणा, खरफरुमविरत्तज्झामज्जुसिरा निच्छाया ल-
ल्लविफल्लवाया अमक्कयपसक्कया अगंथा अचेयणा दुब्भगा
अकंता काकस्सरा हीणभिन्नयोमा विहिमा जरुवहिग्गमूया
य मम्मणा अकंतविकंतकरणा एणीया णीयजणणिमैविणो
लोगगरहिणिज्जा जिच्चा असरिस्सजणस्स पेमा दुम्पेहा त्थो-
गवेदअज्जप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मवुद्धिवियला अ-
लिण य तेण य रुज्जमाणा अमंतएणं अवमाणएणिट्ठि-

मंसाहिकेवपिपृणभेयणगुरुवयवसयणमित्तऽवस्वारणाऽऽ
दिशां अभिभवाणां बहुविद्वां पावंति अमणोग्मां हि-
ययणदूमगां जावजीव दुदुस्तरां अणिदुस्तररुसवयण-
तज्जणणिन्नत्वणदीणवयणविमणा कुजोयणा कुवास-
मा कुवमहीमु किन्निस्मंता नेव मुहं नेव निब्बुं उवन्नजं-
ति, अच्चत्तविपुल्लदुक्खमयमंपलित्ता, एसो सो अन्नियवय-
णम्म फल्लविवाओ इहलोओ पणोओओ अप्पमुहो व-
हुदुक्खो महम्मओ बहुप्पगाओ दुरुणो ककमो असाओ
वामसहस्सेदि मुच्चतो ए य अवेदयित्ता अत्थि दु मो-
क्खो त्ति, एवमाहंमु नायकुल्लनंदणो महप्पा जिणो उ वी-
रव्वनामंभज्जो कहेमोमं अलियवयणम्म फल्लविवांगं; एयं
तं वितियं पि अन्नियवयणं लहुस्सगलहुव्वलभणियं भ-
यकमुहकरअयमकरवेरकरणं अरतिरतिगगदोममणमांकि-
ल्लेमवियरणं अन्नियनियमिमातिजोगवहुलं नीयजणनिसे-
यियं निमंसं अप्पवयकारकं परमनाहुगगढाणिजं परपी-
साकारकं परमकिण्हल्लेममहिंयं दुग्गतिविणिवायवहुणं
जवपुणञ्जवकरं चिरपरिचियमणुगयदुरतं ति वेमि ॥

अकुशला वक्रव्यावकव्यविभागानिपुणा अनार्याः पापकर्मणो
दूरमयाताः [अलियम्म त्ति] अलीका आङ्गा आगमो येषां
ते तथा, न एवास्माकमनिरताः, अलीकासु कथास्वभि-
रममाणाः । तथा- [तुष्ठा अन्नियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं ति]
अत्र-तुष्ठा भवन्ति चालीकं बहुप्रकारं कृत्वा उक्त्येवमङ्गरघटना
कार्येति । तथाऽलीकविपाकप्रतिपादनायाह- [तस्म त्ति] द्वि-
तीयाऽऽध्वत्वेनोच्यते-तस्याऽलीकस्य फल्लस्य कर्मणो वि-
पाक उद्यः, माध्यमित्यर्थः । तमज्जानन्तो वर्जयन्ति महाजयम-
विभ्रामवेदनां, दीर्घकात्रबहुदुःखसंकटां, नरकनिर्यग्यानि, तत्रो-
त्पादनमित्यर्थः । तेन चालीकेन, तपोजनितकर्मणेत्यर्थः ।
ममनुबद्धा अविरहिताः, आदिष्टा आक्षिप्ताः, पुनर्नवान्धकारे
आम्यन्ति, भोमे दुर्गतिवर्मानमुपगतास्ते च दृश्यन्ते इह जी-
वशोके, किन्तुताः, इत्याह-दुर्गता दुःस्थाः, दुरन्ताः दुर्ण्य-
वसानाः, परवशा अस्वतन्त्राः, अर्थभोगपरिवर्जिताः स्वयेण
भोगैश्च रहिताः, [अमुहिय त्ति] अमुग्घिताः, अविद्यमान-
मुहदो वा, स्फुटितच्छदयः विपादिकाविचर्चिकादिभिः विकृत-
त्वचः, वीर्यमा विकृतरूपाः, विवर्णा विरूपवर्णा इति पदत्रय-
स्य कर्मधारयः । तथा-स्तरपरुपा अतिकर्कशस्पर्शाः, विरक्ता
रति कचिदप्यप्राप्ताः, ध्यामा अनुज्झ्वल्लच्छायाः, कुपिग असा-
रकाया इति पदत्रयस्य कर्मधारयः । निग्गयाः विगोत्राः,
लज्जा अध्यक्ता विफला फलान्नाधनी वाग्धेयां ते तथा । [अस-
क्यममक्य त्ति] न विद्यते संस्कृतं संस्कारो येषां ते अमं-
स्कृता पतादशा अमंस्कृता अविद्यमानसंस्काराः, ततः कर्मधा-
रयः । मकारश्च ब्राह्मणिकः । अत्यन्तं वा अमंस्कृताः । अत एवा-
नन्त्राः, अचेतनाः, विशिष्टचेतन्यानावान् । दुर्गता अनिष्टाः, अ-
कान्ता अकमनीयाः, काकस्यैव स्वरो येषां ते काकस्वराः,
हाना ह्रस्वोतिवन्न स्फुटितो घोषो येषां ते तथा । (विहिंस त्ति)
विहिंसाः, जराश्च मूर्खाः, ध्विगन्धका ये ते तथा । पाणान्तरे-
ण-जरबाधिरा मूकाश्च, ममना अव्यक्ताश्च, अकान्तानि अक-

मनीयानि विकृतानि च करणानिन्द्रियाणि कृत्यानि वा येषां
ते तथा । वाचनान्तरे-अकृतानि न कृतानि विकृतानि च
विरूपतया कृतानि करणानि यैस्ते तथा । नीचा जात्या-
दिभिः, नीचजननिषेविणो, लोकगर्हणीया इति पदत्रयं व्य-
क्तम् । भृत्या भर्तृभ्या एव । तथा-असदृशजनस्य अस-
मानशीललोकस्य द्वेष्या द्वेषस्थानं, प्रेष्या वा आदेश्याः, दुर्मेध-
सो दुर्बुद्धयः । [लागत्यादि] श्रुतशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्-लो-
कश्रुतिः लोकाभिमतं शास्त्रं जारतादः, वेदश्रुतिः ऋक्सामादि
वेदशास्त्रम्, अध्यात्मश्रुतिः चित्तजयापायप्रतिपादनशास्त्रं;
समयश्रुतिः आर्हतवैद्धादिसिद्धान्तशास्त्रं, ताभिर्वर्जिता ये ते
तथा । क एते एवेतूनाः, इत्याह-नरा मानवाः, धर्मबुद्धिवि-
कृताः प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवाद्जनितकर्माग्निना, तेन
कालान्तरकृतेन, दह्यमानाः [असंतपणं ति] अशान्तकेनाहु-
पशान्तेन असता वा अशान्तत्वेन रागादिप्रवर्तनयेत्यर्थः । अप-
माननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमाननं च मानहरणं,
पृष्ठमांसं च परोक्षस्य दुष्णविष्करणम् । अधिकेष्वथ निन्दा-
विशेषः, खलैर्जैदनं च-परस्परं प्रेमसम्बन्धयोः प्रेमच्छेदनं, गुरु-
धान्धवस्वजनमित्राणां सत्कमपकारणं च अपशदं काराय-
माणं वञ्चनपराजिचुतस्य वा एषामपक्वकरणं, सानिध्याकरण-
मित्यर्थः । एतानि आदिष्येषां तानि तदादिकानि । तथा-अ-
भ्याख्यानानि असद्दूषणाभिधानानि बहुविधानि, प्राप्नुवन्ति
लभन्ते इति । अनुपमानि । पाणान्तरेण-अमनोरमाणि, हृदयस्य
उरसो, मनसश्च चेतसो, [दूमगा इति] दावकान्युपतापकानि
तानि तथा । यावज्जीवं दुर्धराणि आजन्माप्यानुद्धरणीयानि,
अनिष्टेन खरपरुषेण चातिकठारेण वचनेन यस्तर्जनमू-रे, दा-
सपुरुषेण भवितव्यमित्यादि । निर्भर्त्सनम्-अरे दुष्टकर्मकारिन्!
अपमर दृष्टिमाणादित्यादिरूपं, ताड्यां दीनं वदनं, [विमण त्ति]
विगतं मनो येषां ते तथा । कुभोजनाः, कुवाससाः, कुवसतिषु
द्विश्यन्तो, नैव सुखं शरीरं, नैव निर्दुस्ति मनःस्वास्थ्यम्, व-
पलभन्ते प्राप्नुवन्ति; अत्यन्तविपुल्लदुःखशतसंप्रदीप्ताः, तदि-
यता अलीकस्य फल्लमुक्तम् । 'एसो' इत्यादिना त्वधिकृतचार-
निगमनमिति । व्याख्या त्वस्य प्रथमाध्ययनपञ्चमहारनिगम-
नधत् । (एयं तं वितियं पि) इत्यादिनाऽध्ययननिगमनम् ।
प्रश्न०१ आश्न० द्वाण अपवादपदे--"पढमं विगिच्चणट्ठा" आद्यम्-
अलीकवचनम्, अयोग्यशैकुस्य विवेचनार्थं वदेत् । ३० ६ उ० ।

अलुक्खि (ए)-अरुत्तिन्-अ० । अरुक्स्पर्शमद्भावादरु-
क्कि । स्निग्धस्पर्शवति, ज० ११ श० ४ उ० ।

अलुक्ख-अलुक्ख-अ० । अलम्पेट लोभरहितं, प्रश्न० ५ सम्ब०
द्वा० । "आरादुक्कोसं जो, लद्धुणं तयं न अत्तेटे । एस अलु-
क्को दारं, " ॥ पं० भा० । पञ्चा० ।

अले-अरे-अव्य० । नीचसंबोधने, " अले किं एशे महेदे क-
लअले " प्रा० ४ पाद ।

अलेव-अलेव-पु० । अलिप्ततायाम्, प्रव० ४ द्वार । अलेपमध्ये
मोश्रणा नी रोटी स्त्राखरादिकं कल्पते नेवेति प्रश्ने-बहुषु ग्रन्थेषु
अलेपशब्देन वल्लचणकादिकं व्याख्यातमास्ति, बृहत्कल्पभाष्यवृ-
त्तिमध्ये तु- 'मोश्रणादिरोटीस्त्राखरासाथुउआदु ' इत्यादि-
कमलेपमध्ये कल्पते इति व्याख्यातमस्ति ४६ । सेन०२ वल्ला० ॥

अलेवकड-अलेपकुत-न० । वल्लचणकादावपिच्छित्ते हव्ये,
पि० । पञ्चा० ।

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउन्नोदे, संमट्टायामकट्टमूत्ररमे ।

कंजियकट्टिणं लोणे, कुट्टा पिज्जा य नितुप्पा ॥

कंजियउदगविलेवी, ओदणकुम्मासमतुण पिट्ठा ।

मंरुगसमियोनिन्ने, कंजियपत्ते अलेखकम् ॥

काञ्जिकमारनात्रम्, उष्णोदकमुद्धृत्य त्रिदण्डम्, (चाउन्नोदगंति) तन्दुत्रधावनम्, संसृष्टं नाम गोरससंसृष्टं भाजने प्रक्षिप्तं सद् यदुदकं गोरसेन परिणामितम्, आयाममवश्रयणम्, (कट्टमूत्ररसेति) काष्ठमूलं चणकवल्लकादिद्विद्वं, तदीयेन रसेन यत्परिणामितं तत्काष्ठमूत्ररसं नाम पानकम् । तथा-यत्काञ्जिककथितं, [लोणेति] सन्नवणं यावत् । कुट्टा चिच्चिनिका, पेया च प्रतीता, नितुप्पा-अन्ने, पण्डा अवगधारिता वा । तथा-विशेषिका द्विविधा--एका काञ्जिकविशेषिका, द्वितीया उदकविशेषिका । ओदनस्तन्दुत्रादिभक्तम्; कुलमापा उडदा, राजमाया वा । सक्तवो भृष्टयवकोदरूपाः, पिष्टं मुद्रादिचूर्णं, मण्डकाः सक्कणिकामयाः, समितम्-अष्टकः, उत्तिस्वन्नं मुक्केरकादि, काञ्जिकपत्रं काञ्जिकेन वाष्पितम्-अराणि-कादिशाकम्, एतानि काञ्जिकादीन्यलेपकृतानि मन्तव्यानि । वृ० १ उ० । ५० । अलेपकृतपात्रस्य त्ववश्यं कल्पो दातव्यः । ५० ३ अधि० ।

अलेखसी-अलेखियन्-पुं० । हेयाराहिते अयोगिनि, सिद्धे च ।
स्था० ३ गा० ४ उ० ।

अलोग (य)-अलोक-पुं० । न० त० । धर्मादीनां छव्याणां वृत्तिर्भवति यत्र तत्, तादृशक्षेत्रमिह लोकः; तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यं क्षेत्रम् । आव० ५ अ० । लोकविरुद्धं अनन्ताकाशास्तिकायमात्रे, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । आ० म० । प्रव० । यत्र क्षेत्रं समवगाढौ धर्मास्तिकाया धर्मास्तिकायौ, तावत्प्रमाणे लोकः, शेषस्त्वलोकः । जी० १ प्रति० । “एगे अलोप” एकोऽल्लोकोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । सू० प्र० ।

लोगस्मऽस्त्यिविवरखो, सुञ्जत्तणओ घरस्स अघडो व्व ।
स घरुई चैव मई, न निसेहाओ तदणुरुवो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्वः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वात् । इह यद् व्युत्पत्तिमता शुद्धपदेनाभिधीयते तस्य विपक्वो दृष्टः, यथा-घटस्याघटः । यश्च लोकस्य विपक्वः सोऽल्लोकः । अथ स्यान्मतिर्न लोकोऽल्लोक इति । योऽल्लोकस्य विपक्वः स घटादिपदार्थानामन्यतम एव भविष्यति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया ? तदेतत्तत् । पर्युदासनञ्चा निपेक्षाभिप्रेत्यस्यैवानुरूपोऽत्र विपक्वोऽन्वेषणीयः । न-लोकोऽल्लोक इत्यत्र च लोको निपेध्यः, स चाकाशविशेषः, अतोऽल्लोकेनापि तदनु रूपेण भवितव्यम् । यथहापण्डित इत्युक्ते विशिष्टज्ञानविकलभेदेन एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाचेतनो घटादिः, एवमिहापि लोकानुरूप एवाऽल्लोको मन्तव्यः । उक्तं च-“नव्युत्तमिवयुक्तं वा, यद्धि कार्यं विधीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिन्ल्लोकेऽप्यर्थगतस्तथा” ॥१॥ “नञ्जियुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः” । तल्लोकविपक्वत्वादस्यल्लोक इति । विशेष० । प्रेरकः प्राह-“स घटाई चैव मती,” गुरुः प्राह-“न निसेहाओ तदणुरुवो” । स्था० १ गा० १ उ० । “सिद्धा निर्गोयजीवा, वणस्सई कालपुगला चैव । सव्वमल्लोगागासं, उप्पेपणंतया णेया” प्रव० २५६ द्वारः । (अल्लोके छव्यक्षेत्रकालभावाः सन्ति नवेति ‘अणुओग’ १६७

शब्देऽस्मिन्नेव जागे ३४३ पृष्ठे दशमाधिकारे समुक्तम् । किं-यानत्रोक्त इति तु ‘लोग’ शब्दे वक्ष्यते)

अलोभया-अलोभता-स्त्री० । लोत्रत्यागरूपेऽष्टमे योगसंग्रहे, स० ३२ सम० । प्रश्न० । आव० ।

अलोभतामाह-

साएण पुंडरिए, कंडरिए चैव देवि जसजडा ।

सावन्थि अजिअमेणे, कित्तिमई सुडुगकुमारो ॥ १ ॥

जसजदे सिरिकंता, जयमिषो चैव कन्नपात्ते अ ।

नट्टविहीपरिओमे, दाणं पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥

सुडु वाइअं सुडु गाइअं, सुडु नच्चिअं सामसुंदरि ! ।

अणुपालिअ दीहराइया-ओ सुमिणंत मा पमाएण ॥ ३ ॥

अर्थः कथांतो ज्ञेयः-

“साकेतं नाम नगरं, पुण्डरीको नरेश्वरः ।

युवराजः कण्ठरीको, यशोभद्रा च तत्प्रिया ॥ १ ॥

रक्तस्तां धीद्वय दृत्योच्चे, सा नैच्छद् मारिताऽनुजः ।

नष्ट्रा सार्धेन तत्पत्नी, आवर्त्ती नगरीं ययौ ॥ २ ॥

तत्राऽऽचार्योऽजितसेनः, कीर्तिमती महत्तरा ।

तत्र साऽपि प्रवव्राज, धारिणीवत्तदन्तिके ॥ ३ ॥

परं न साऽत्यजत्पुत्रं, किन्तु क्षुल्लमञ्जीकरत् ।

स वयःस्थो व्रतं कर्तुं-मङ्गमो जननीं जगौ ॥ ४ ॥

याम्नीति स्यापितो मात्रो-परोध्य द्वादशाब्दिकाम् ।

एवं महत्तराऽऽचार्यो-पाध्यायैरपि स व्रजन् ॥ ५ ॥

स्थापितोऽन्यादृतैः कुटलो-ऽष्टावर्त्तिरशदब्दिकाम् ।

तथाऽप्यतिष्ठन् प्रैषि सा-ब्रौचे त्वं माऽन्यतो गमः ॥ ६ ॥

साकेते पुण्डरीकस्ते, पितृव्योऽस्ति नृपस्ततः ॥

मुष्ठां कम्बलरत्ने चा-ऽऽदाय तत्र व्रजेः सुत ! ॥ ७ ॥

ततोऽस्थाद् यानशालायां, राक्षः श्वो नृपमीक्रितुम् ।

पर्ययाभ्यन्तरायां स, प्रैकृत प्रेक्षणं निशि ॥ ८ ॥

नर्त्तकी तत्र नर्त्तिता, रङ्गेण सकलां निशाम् ।

विभातायां विभावरी, निनिद्रासुरचूततः ॥ ९ ॥

तन्माताऽचिन्तयत्पर्य-सोऽपिना तच्छनं बहु ।

चेत्प्रमादोऽस्या मुष्ठाः स्म-स्ततो गीतिभिर्मां जगौ ॥ १० ॥

“सुडु वाइअं सुडु गाइअं, सुडु नच्चिअं सामसुंदरि !” इत्यादि ।

अत्रान्तरे स च कुल-कुमारो रक्तकम्बलम् ।

युवराजो यशोभद्रो, निर्मलं रत्नकुण्डलम् ॥ ११ ॥

सार्धवाही निजं द्वारं, राजेभाऽऽरोहकोऽङ्कुशम् ।

मन्त्री च कटकं लक्ष-मूल्यानि निखिलान्यपि ॥ १२ ॥

त्यागं यस्तत्र दत्ते स्म, स समस्तोऽप्यनिलयन ।

ज्ञात्वा त्यागे कृते राक्ष-स्तोषो रोषोऽन्यथा पुनः ॥ १३ ॥

सर्वेऽपि प्रातराहताः, क्षुब्धः पृष्ठेऽवर्त्तिद्विदम् ।

यावत्तन्मूलमायानां, राज्यलक्ष्मीसमीहया ॥ १४ ॥

गृहाण राज्यं राक्षोच, स नैच्छद्दिदमृचिवान् ।

व्रतं निर्वाहयिष्यामि, मुष्ठां गीत्याऽनयाऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥

युवराजोऽवदद्राजा, वृक्षो राज्यं ददाति न ।

मारयित्वा तदादास्य, इति चिन्ताऽभवन्मम ॥ १६ ॥

ऊचे राजाऽपुनाऽप्येतद्, गृह्यतां सोऽपि नैहत ।

सार्धवाही जगौ पत्यु-गंतस्य द्वादशाब्दचूत ॥ १७ ॥

ततोऽन्याऽऽनयनेच्छातः, भुत्वा गीतिमिमां स्थिता ।
मन्थूचेऽन्यतैः सार्द्धं, घटनातः स्थितोऽपुना ॥ १८ ॥
प्रत्यन्तराजभिर्गणैः, प्रोक्तो दस्तिनमानय ।
यद्वा मारय तमेन, निवृत्तं गीतिकाभुतेः ॥ १९ ॥
अस्मन्वृत्तेऽनया गातं, किञ्चेति प्रतिबोधतः ।
दत्तोऽस्मानिः प्रनो ! त्याग-स्तुष्टः सर्वेषु स्रपतिः ॥ २० ॥
सर्वे क्षुब्धकुमारस्य, मार्गलप्राः प्रवव्रजुः ।
अज्ञानतैव कर्त्तव्या, सर्वैरपि महात्मभिः ॥ २१ ॥ आ० क० ।

अज्ञोल-अज्ञोन्न-त्रि० । असुधे, नि० चू० १० ७० । अप्राप्त-
प्रार्थनाऽनन्तरं, दश० १० अ० ।

अलोलुप-अलोलुप-पुं० । सरसादारादिलाम्पट्यराहिते, वृत्त०
२ अ० ।

अल्ल-आर्द्ध-त्रि० । जलसंपृक्ते, “अल्लं चर्मं दुरुहम्” । आर्द्धं
चर्माधिराहति । ज्ञा० १२ अ० ।

अल्लङ्घकुमुम-अल्लङ्घकीकुमुम-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे
गुच्छविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । जं० । रा० ।

अल्लकचूर-आर्द्रकचूर-पुं० । तित्त्वयविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अल्लग-आर्द्रक-न० । शृङ्गेरे, (आदा इति ख्याते) ध० २
अधि० । प्रव० । जं० ।

अल्लथ-उत्-क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वक्षेपे, “उत्क्षिपेर्गुलगुच्छेत्थद्वा-
ल्लथोऽनुत्तोस्मिन्-हन्तुवाः” । ७ । ४ । १४३ । अल्लथश्-उत्-
क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

अल्लमुन्था-आर्द्धमुन्था-स्त्री० । (नागरमोथा इति ख्याते)
आर्द्राऽवस्थे गन्धप्रधानं वनस्पतिमूले, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

अल्लापूर-न० । अल्लापूरानिनिवासिते म्लेच्छदेशस्थे नगरजेदे,
यत्र गत्वा धीजिनप्रभसूरिभिस्त्रैश्चाः प्रतिबोधिताः । “पत्ता
रायभूमिमंडणं मिरिअल्लापूरदुग्गं” । ती० ४ए कल्प ।

अल्लापुदीणमुरत्ताण-अल्लापुदीनिमुन्नतान-पार० श० । वैक्र-
मवत्सराणां द्वादशशतकादौ गुर्जरधरिच्युपजावके तत्कालिक-
राजजेतुरि यवनराजे, ती० २६ कल्प ।

अल्लिअ-उप-सृप्-धा० । समीपगमने, “उपसर्पेगल्लिअः” ।
७ । ४ । १३६ । उपपूर्वस्य सृपेः कृतगुणस्य ‘अल्लिअ’ इत्यादे-
शः । अल्लिअश्-उपसर्पति । प्रा० ४ पाद । “तस्स सरणमल्लि-
यह” । दश० १ उ० ।

अल्लियावणवंध-आलायनवन्ध-पुं० । द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण
श्रेयादिनाऽऽवर्तनकरणरूपे बन्धे, “स किं तं अल्लियावणवंधे ?
अल्लियावणवंधे चउव्विहे पमत्ते । तं जहा-वेसणावंधे, उच्चय-
वंधे, समुच्चयवंधे, ताहणणावंधे” । भ० ८ श० ९ उ० ।
(चतुर्णामिमां व्याख्या स्वस्वस्थाने प्रदर्शयिष्यते)

अल्लियावणवंधणय-आलायनवन्दनक-न० । आचार्यादीनामा-
भयणाय प्रतिक्रमणान्ते ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दने, आव० ४ अ० ।

अल्लिव-अर्पि-अ-णिच्-पुक् । प्रदाने, “अर्पेणल्लिवच्चचुण्य-
पणामाः” । ८ । ४ । ३९ । इत्यर्पेण्यन्तस्य अल्लिवादेशः । अ-
ल्लिवश्-अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।

अल्ली-आ-ली-धा० । आत्म० प० । आश्रयेण, “आर्द्धाकोऽ-

ल्ली” । ७ । ४ । ५४ । इत्यालीयतेरल्लीत्यादेशः । अल्लीअश्-
आलीयते । प्रा० ४ पाद ।

अल्लीउं-आल्लीतुम्-अव्य० । आश्रयितुमित्यर्थे, वृ० ६ उ० ।

अल्लीण-आलीन-त्रि० । आ-ईपद् लीनः । जीत० । आभिते,
आतु० । कल्प० । प्रति० । ज्ञा० । गुरुसमाभिते संलीने, आ सम-
न्तात्सर्वासु क्रियासु लीनो गुप्तः । अनुत्पणचेष्टाकारिणि, जी० ३
प्रति । तं० । गुरुजनमाश्रितेऽनुशासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापद्यमा-
ने, जं० २ वक्र० । ज्ञा० । ज्ञानादिष्वासमन्ताल्लीने, व्य० १० उ० ।

अल्लीणपलीणगुत्त-आलीनपलीनगुप्त-त्रि० । अङ्कापाङ्गानि
सम्यक्संयमयति, दश० ८ अ० ।

अव-अव-अव्य० । आधिक्ये, स० १ सम० । अधःशब्दार्थे,
प्रव० २१६ द्वार । विशेष० । आ० म० । प्रज्ञा० । न० । अवनमयः
“तुदादिभ्यो न कौ” इत्यधिकारे “अकितो वा” (उणा-) इत्य-
नेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० प्र० ।
विशे० । स्था० ।

अवअक्ख-दृग्-धा० । प्रेक्षणे, “दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-
वयज्ज-वज्ज-सव्वव-देक्खौअक्खावक्खाऽवअक्ख-पुलोअ-पु-
लअ-निआऽवआस-पासाः” । ८ । ४ । १८१ । इतिमूत्रेण दृशः
‘अवअक्ख’ आदेशः । अवअक्खश्-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवअक्खिअ-देशी-निवापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-देशी-कक्षावस्त्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-ह्रादि-धा० । आह्लादोत्पादने, “ह्लादेरवअच्छः” । ८ ।
४ । १२२ । ह्लादेतेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च ‘अवअच्छ’ इत्यादे-
शः । अवअच्छश्-ह्लादयति । प्रा० ४ पाद ।

अवअच्छिअ-देशी-निवापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअणिअ-देशी-असंघाटिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अवआस-दृग्-धा० । “दृशो निअच्छ०” । ८ । ४ । १८१ ।
इत्यादिना सूत्रेण दृशेः ‘अवआस’ इत्यादेशः । अवआसश्-
पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवइ-अप्रतिन्-पुं० । अविरतसंयग्रदृष्टौ, वृ० १ उ० ।

अवउज्जिय-अवकुञ्ज्य-अव्य० । अधोऽवनम्येत्यर्थे, आचा० २
भु० १ अ० ७ उ० ।

अवउज्जिकण-अपोह-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, “अवउज्जि-
कण इह्मी” । वृ० ३ उ० ।

अवउरुग-अवकोटक-न० । कृकाटिकाया अधोनयने, विपा०
१ भु० २ अ० । प्रश्न० ।

अवउदगबंधण-अवकोटकबन्धन-त्रि० । अवकोटकेन कृका-
टिकाया अधोनयनेन बन्धनं यस्य स तथा । प्रीवायाः पञ्चाङ्गा-
गानयनेन बद्धे, विपा० १ भु० २ अ० । बाहुशिरसां पृष्ठदेशे ब-
न्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अवउसणग-अपवसनक-अवजोषणक-न० । तपोविशेषसे-
वायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।

अयंक-अवक्र-पुं० । वक्रोऽसंयतः, न वक्रोऽवक्रः । संयते विर-
ते, व्य० १ उ० । सर्वोपाधिगुद्धे ऋजौ, आचा० १ भु० ३ अ० १ उ० ।

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपान्ते, ज० १ वक्र० झा० आचा० ।

अवंगुयडुवार-अपावृतद्वार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृह-
द्वारे, “अवंगुयडुवारा” सदृशनलानेन कुतोऽपि पाखणिकद्वार-
विन्यति शोजनमार्गपरिग्रहेणोद्वाटिशिरसस्तिष्ठतीति ज्ञाव
इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः-जिकृकप्रवेशार्थमोदार्थादस्थ-
गितगृहद्वारा इत्यर्थः । भ० १ श० ५ उ० । दशा० । औ० ।
उद्घाटितद्वारे, न० । वृ० १ उ० । रा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । पराऽव्यसनहेतौ, “अवंचिगा कि-
रिया” । अवञ्चिका पराव्यसनहेतुः क्रिया मनोवाङ्मयव्यापार-
रूपेति द्वितीयमृज्यवहारलक्षणम् । भ० २० । ध० ।

अवंचकजोग-अवञ्चकयोग-पुं० । वञ्चकत्वविकले योगे,
पौ० । अवञ्चकयोगादच वयः । तद्यथा-सद्योगाऽवञ्चकः, क्रिया-
ऽवञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्स्वरूपं चेदम्-

“साङ्गिः कल्याणसंपन्नैर्दर्शनादपि पावनैः ।

तथादर्शनतो योगः, आद्याऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥

तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।

क्रियाऽवञ्चकयोगः स्यान्महापापकृत्यादयः ॥ २ ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्गुरु एव नियोगतः ।

सानुवन्धफलावाप्ति-धर्मसिद्धौ सतां मता ” ॥ ३ ॥ पौ०
८ विव० ।

अवंचजणजाय-अवञ्जजनजात-त्रि० । व्यञ्जनान्युपस्थरोमा-
णि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य०
१० उ० ।

अवंचजणिज-अवन्ज-त्रि० । निष्कारणे वन्दनानर्हे, यथा-
“पास्त्यो ओसत्रो, होइ कुसीलो तदेव संसत्ते । अहंभेदो वि
य एए, अवंचजणिजा जिननयमि ” । भ० १ अधि० ।

अवन्तरसामन्न-अवान्तरसामान्य-न० । छव्यत्वकर्मत्वादौ-स-
त्ताघटकापरसत्तायाम्, आ० म० द्वि० ।

अवन्तिवृष्ट-अवन्तिवर्ष-पुं० । अवन्तिगजप्रद्योतात्मजपाल-
कराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

अवन्तिमुकुमात्र-अवन्तिमुकुमार-पुं० । जप्ताश्रेष्ठनीपुत्रे, दर्श० ।
“उज्जणीए नयरीए जीवंतसामिपमिमाए अजसुहृत्थिणामेण
सूरिवरा पञ्जुवासण्णं उज्जाणे समोसदे । भणिया य
साहुणो जहा वसहिं मग्गह । ततो साहुणो विहरमाणा गया
भदाए सेट्ठिणीए घरे । तीए वि वेदिऊण पुच्छिया-जहा कआ
भयवन्ताण आगमणं ? । तेहि सिद्धं-देसंतराओ अजसुहृत्थिसू-
रिसंतिया वसाहिं जाणमो । ताए वि हट्ठुट्ठाए जाणसाला दरि-
सिया । अन्नया आयरिया महुरवाणीए नात्रिणिगुम्मं नाम अज्ज-
चणं परित्यजंति । तीसे पुत्तोऽवन्तिमुकुमाओ णाम । सो वि दे-
वकुमारोवमो सत्तत्वे पासायवरणओ वत्तीसाए भज्जाहिं समं
होमुत्तुगो व्व देवो ललह । तेण वि मुत्तविउठेण निस्सुयं । चित्ति-
यं च-न पयं नाडयसरसं ति सत्तओ उपरिभूमीओ भूमी संप-
दारह, कथमग्गे गए एरिसं सुयमणुभूयपुट्ठं । एवं ईहापोह-
मणेणं गवेसणं कुणंतस्स भवियव्वयावसेण तथाऽऽवरणिज्ज-
कम्मक्खओवासमेण जाइसरणं संपत्तो । तओ य आयरियाणं
पायमूले वेदिऊण भणियं-भयवं ! एवं सव्वं मज्झ चरियं-अहं
तत्थ देवो आसि, ता संपयं देहि वयं, उस्सुगोऽहं तिन्नि वास-

स्स । सूरिहिं भज्जह-वेठ ताव जाव पभाए मायरं ते पुच्छामो ।
ततो तेण सयमेव लोअं काअं पयट्ठो । सूरिहिं चित्तिं-मा एस
सयं गिहीयल्लिगो होउ त्ति कव्विअं से समप्पिओ वेसो, दिआ
दिक्खा । ततो निवमिऊण चलणं सु भणितो-असमग्गोऽहं दी-
हपञ्चजापरियायपरिचालणस्स, ता संपयं चेव अणसणं का-
ऊण ईंगिणिं करेमि । ततो एएण अणुजाणविओ नीइरिउ
सघाणाओ पत्तो कंधारिकुमंगिसमीवे, ईंगियं एस काऊण
विओ काउस्सगेणं । अइसुकुमारयाए सरीरस्स धराणतल-
फाससंजायरुहिरप्पवाहेण समागया सियात्री सह सत्तहिं
पिल्लपहिं । ततो एगं जयं सियात्रीए आइयं वीयं पिल्लकपहिं
पढमजामे, एवं ऊरु विइयजामे, तइयजामे पेट्ठं, एवं सो जय-
वं तं वंयणं सममहियासिऊण तइयजामे समाहीए कालं
काऊण गतो तस्मिं चेव विमाणं । ततो समागया पंचासन्न-
देवा, मुक्कं गंधोदयं कुसुमवरिसं, आहयाओ देवउंटुहीओ,
उगुट्ठं च हरिसभरनिज्जरोहिं-अहो ! एस महाकालो । घरे य
से भज्जाणं परोप्परं समालोओ जाओ, तेसिं सिद्धं-उठो कत्थ
वि गओ । ततो य से जहा पुच्छिया । तीए वि समाउलमणाए
सूरिहिं सव्वं साहियं । ततो पभायाए रयणं । सव्विट्ठीए नीह-
रिया भदा, सह सव्वसुन्नाहिं सुसाणं पत्ता । दिठं च कुमंगओ
नेरइयदिसाए आसयट्ठियं कलेवरं । ततो सोयभरविउरिया उ-
स्सुककंठं अणेगपलावगेणं तहा रोइयं जहा वसीणं वि य तुज्जं-
ति हिययाइ । ततो कहमवि संउविया सयणवग्गणं, गया य
सिण्णाए नईए तरे, कयं तत्थ संकुळरणं, पच्छालोइयकिच्चाणि,
आययणाणि य काराविऊण भदाए अइ संवेगाओ सह सुएहाहिं
गहिया पञ्चजा । एगा उण गुव्विणि त्ति काऊण त्रिया घरे । जातो
पुत्तो । तेण पिउमरणत्राणे काराविया पिउपमिमा, समुग्गोसि-
यं महाकाओ त्ति नामेण आययणं । तं च संपयं होइयाहिं प-
रिग्गहियं महाकालो त्ति विक्खायं । अवन्तिमुकुमारकथानकं
समाप्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवन्तिसेण-अवन्तिमेन-पुं० । चणुप्रद्योतपौत्रे पात्रकस्य राज्ञः
पुत्रे, आ० क० । (‘अस्सायया’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४९४
पृष्ठेऽस्य कथोक्ता)

अवन्ती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिबद्धे जनपद-
विशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवन्तीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । गोशालकमतप्रसिद्धे कालवि-
शेषे, एगा अवन्तीगंगा सत्त अवन्तीगंगाओ, सा एगा परमाऽव-
न्तीगंगा ” । भ० १४ श० १ उ० ।

अवन्दिम-अवन्दि-त्रि० । वन्दनानर्हे, “पच्चा होइ अव-
दिमो” । दश० १ चू० ।

अवकंस्वमाण-अवकाङ्क्ष-त्रि० । पश्चाद्भागमवलोकयति,
ज्ञा० ६ अ० ।

अवकंसा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ भु० १ अ०
२ उ० । सुत्र० । औत्सुक्ये, स्या० ४ ग० ३ उ० ।

अवकारि (ए)-अपकारिन्-त्रि० । अपकारकरणशाले, हा०
२६ अष्ट० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

अवकिरियव-अवकिरणीय-न० । विक्षेपणीये त्याज्ये, प्रभ०
५ आश्र० द्वा० ।

अवकान्त-अपकान्त-त्रि० । सर्वशून्यभावेन्योऽपगते त्रुष्टे, तद-
न्येत्योऽतिनिष्ठं अपक्रमणीये, " जंबुद्वीपे दीपे मंदरस्त पव-
यस्त द्राहिणं इमीसे रथणपजाए पुढवीए ङ अवकान्तमहानि-
रया पणत्ता । त जहा-भोले, लासुए, उद्दुह्ने, निह्ने, जरए, प-
जारए । चउत्थए णं पंकपभाए पुढवीए ङ अवकान्तमहाहिरया
पणत्ता । तं जहा-भारे, वारे, मारे, रेरे, गेरए, लाडखड्डे " ।
स्था० ६ ग० ।

अव्युत्क्रान्त-त्रि० । न व्युत्क्रान्तमव्युत्क्रान्तम् । सचेतने, मिश्रे
च । नि० चू० १७ उ० ।

अवकान्त-अपकान्ति-स्त्री० । गमने, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६
उ० । परिभ्यागे, ह्या० ८ अ० ।

अवक्रमण-अपक्रमण-न० । विनिर्गमे, स्था० ७ ग० । आचा० ।
अपसर्पणे, दश० १ अ० । अपसरणे, भ० १५ श० १ उ० । ह्या० ।
" तिग्ममणवक्रमणं, निस्सरणं पलायणं य एगठा " । व्य०
१० उ० ।

अवक्रान्ति-अवक्रम्य-अव्य० । गत्येत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ० ।

अवक्रम्य-अवक्रम्य-अव्य० । विनिर्गत्येत्यर्थे, व्य० १ उ० । वृ० ।

अवक्रम्य-अवक्रम्य-पुं० । भाटकप्रदाने, वृ० १ उ० ।

अवक्राम-अप (व) कर्प-पुं० । अपकर्षणमवकर्षणं वा अप-
[व] कर्पः । अभिमानादात्मनः परस्य वा क्रियारम्भात्कुतोऽ-
पि व्यावर्त्तने, न० १२ श० ५ उ० ।

अपक्राश-पुं० । अभिमानादान्वये, भ० १२ श० ५ उ० । त-
दान्वके मोहनीयकर्मणि, स० १२ सम० ।

अवस्कन्द-अवस्कन्द-पुं० । अव-स्कन्द-आधारे घञ् । जिगीषु-
णां सैन्यनिवेशस्थाने शिविरे, आक्रमणे, भावे घञ् । वाच० ।
" स्कन्दयानां " । न० २ । ४ । इति स्कन्दस्य सः । प्रा० २ पाद ।

अवस्कण-अवस्कण-न० । पश्चाद् गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवस्कारण-अपक्राण-न० । अपशब्दकारणे, प्रश्न० २ आश्र० डा० ।
अपक्षण-न० । सान्निध्याकरणे, प्रश्न० २ आश्र० डा० ।

अवस्तेवण-अवस्तेपण-न० । अव-क्ते-धा०-ल्युट् । अधःस्थान-
संयोगहेतौ, क्रियाविशेषे अधःपातने च । आ० म० टि० ।

अवगमसृक्-अपगमसृक्-त्रि० । अपगतं गण्डप्रपद्रव्यं यस्य
तदपगतगण्डम्, तद्वत्सृक्म् । निर्दोषाहुतसुवर्णवच्छुके, यदि
वा गण्डमुदकफेनम्, तद्वत्सृक्म् । उदकफेनतुल्यशुभ्रे, सूत्र०
१ ध्रु० ६ अ० ॥

अवगमियजवदंस-अपकर्णितजवदंस-त्रि० । अवधीरितसं-
सारनये, जीवा० १ अधि० ।

अवगम-अपगम-पुं० । विनाशे, विशेषे ।

अवगम-पुं० । विनिश्चये, विशेषे ।

अवगय-अवगत-त्रि० । " अवापते च " । ट । १ । १७२ । इत्य-
स्य कचिदप्रवृत्तेन श्रान्त् । प्रा० १ पाद । अवधारिते, आचा०
१ ध्रु० १ अ० १ उ० । सम्यगवबुद्धे, " अवगयपक्षसूत्रे " ।
अवगते सम्यगवबुद्धे पायस्य श्रावणीयस्य प्राणितः स्वरूपमात्रं
येन सांख्यगतपात्रस्वरूपः । भ० २० ।

अवगयवेय-अपगतवेद-त्रि० । क्षपितवेदे, प्रव० २६१ द्वार ।

अवगाढ-अवगाढ-त्रि० । आश्रिते, स्था० १ ग० १ उ० ।

अवगाढगाढ-गाढावगाढ-त्रि० । अशोभ्यते, " अवगाढगाढासि-
रीए अतीव उवमोत्तेमाणा उवमोत्तेमाणा चिहंति " । गाढं
वाढमवगाढास्तैरेव सकलक्रीडास्थानपरिभोगमिहितमनोभि-
रश्रोऽपि व्यासाः, गाढावगाढा इति वाच्ये, प्राकृतत्वाद्वावगाढगा-
ढाः । इह च देवव्योम्यस्य जीवस्याभिधानेन तदव्योम्यः साम-
र्थ्यादवसीयत एवेति । न० १ श० १ उ० ।

अवगार-अपकार-पुं० । विरूपाचरणे, " अपकारसमेन कर्मणा, न
नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरुते हि यातनां, द्विपतां
यातमशेषमुद्धरेत् " १ ॥ सूत्र० १ ध्रु० ८ अ० ।

अवगाम-अवकाश-पुं० । गमनादिचेष्टास्थाने, आव० ६ अ० ।
" ततो लक्षावगामो सयं बुद्धो भणइ " । आ० म० प्र० । अ-
वस्थाने, स्था० ४ डा० ३ उ० । उत्पत्तिस्थाने, सूत्र० २ ध्रु० ३ अ० ।

अवगाह-अवगाह-पुं० । अवकाशे, उक्त० २८ अ० ।

अवगाहणा-अवगाहना-स्त्री० । जीवादीमाश्रये, देहे च ।
स्था० ४ ग० ३ उ० । (कस्य कीदृगवगाहनेति ' ओगाहणा '
शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अवगाहणागुण-अवगाहनागुण-पुं० । अवगाहना जीवादीना-
माश्रयो गुणः कार्यं यस्य सः । तस्या वा गुण उपकारो यस्मात्
सांख्यवगाहनागुणः । स्था० ५ ग० ३ उ० । जीवादीनामवकाश-
हेतौ वदराणां कुरु इवाकाशास्तिकाये, भ० २ श० १० उ० ।

अवगिष्मिन्-अवगृह्य-अव्य० । उद्दिश्येत्यर्थे, कल्प० ए क० ।

अवगुण-अवगुण-पुं० । दुर्गुणे, " अवगुण कवण मुपण । " प्रा०
४ पाद सू० ३ ए५ ॥

अवगुणत-अवगुणत्-त्रि० । अपावृण्वति, भ० १५ श० १ उ० ।

अवगूढ-अवगूढ-त्रि० । व्याप्ते, ह्या० ८ अ० ।

अवगवाहि-अपग्रवाधि-पुं० । समीपगतशोभौ सुलभशोभौ, प्रति० ।

अवग्रह-अवग्रह-पुं० । अवग्रहणमवग्रहः । इन्द्रियानिन्द्रिय-
निबन्धने सांख्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारचतुष्टयान्तमे, रत्ना० ।

विषयविषयिमन्निपातानन्तरममुद्भूतमत्तामाग्रोचरद्-
शनाज्ञातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमव-
ग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः सामान्यविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्षुरादिः, तयोः
समीचीनो भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशा-
वस्थानं, तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामाग्रोचरं
निरोपविशेषैरमुष्येन सन्मात्रविषयं दर्शने निराकारं बोधः,
तस्माज्ज्ञातमाद्यं सत्त्वसामान्यादवान्तरैः सामान्याकारैर्मनु-
ष्यत्वादित्रिजानिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं त-
दवग्रह इति नाम्ना गीयते । रत्ना० २ परि० । आव० । प्रज्ञा० ।
स्था० । योनिद्वारे, प्रव० ३० द्वार । अवगृह्णाति इति अवग्रहः ।
उपश्रौ, श्रोत्र० । (अवग्रहभेदादिः ' उग्रह ' शब्दे द्वितीयजगे
६९८ पृष्ठे वक्ष्यते)

अवचय-अपचय-पुं० । अपचये, अलु० । दश० । सूत्र० । देशतो-
ऽपगमे, भ० ११ श० ११ उ० । क्रयोपगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ०
३ उ० ।

अवचय-अपचित-त्रि० । शोपिते, उक्त० २५ अ० । जीवप्रदेशै-
र्विगृहीते, अलु० ।

अवचयपंसमोणिय-अपचितमांसशोणित-न० । शोपितमां-
सरुधिरं, उक्त० २५ अ० ।

अवचुद्धी-अवचुद्धी-स्त्री० । चुद्धया अव पश्चाद् अवचुद्धी ।
राजदन्तादित्वादचशब्दस्य पूर्वनिपातः । अवहके, पि० ।

अवच-अपत्य-न० । न पतन्ति यस्मिन्नुत्पन्ने दुर्गतौ अयशः-
पङ्के वा पूर्वजास्तदपत्यम् । पुत्रादौ, कदप० ८ उ० । पुत्रे, पुत्र्यां
च । आव० १ अ० । संयत्या अपत्यं जनिते आजवनव्यवहारः
व्य० ।

सांप्रतमन्यं व्यवहारमुपदर्शयति-

अहवा अण्मकुला, पडिभाजिउकाम समणसमणीओ ।

अण्मड्डा पर ण ठिया, कर्णेति वायंति-ववहारं ॥

अथवेति व्यवहारस्य प्रकारान्तरोपदर्शने । अमणः अमणी
वेति द्वावप्यन्यकुलौः अन्यकुलः अमणः, अन्यकुला अमणी,
प्रतिभङ्गुकामौ प्रतिपतितुकामौ, स्वस्वाचार्येण च तौ प्रभूतम-
नुशिष्टौ, परं न स्थितौ स्वस्वकुलममन्वेन वागन्तिकव्यवहारं
वागेवान्तः परिसमाप्तिर्वागन्तः, तत्र ज्ञेयो वागन्तिकः, स चासौ
व्यवहारश्च, तं कुरुतः । तथा-यानि अस्माकमपत्यानि जनि-
ष्यन्ते तेषां मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वा-
स्तव । अथवाऽश्रमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वा-
स्तव । यदि चेदं भणति-सर्वाप्यपत्यानि तव, अथवा-सर्वाप्यप-
त्यानि ममेति, तयोः संसारे स्थित्वा पुनः प्रव्रज्यां प्रत्युपस्थितयो-
र्यदेव वागन्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तयोः संभवति ।

अह न कतो तो पच्छा, तेसिं अब्हुट्टियाण ववहारो ।

गोणीआमुब्जापिग-कुटुंबि खरण य खरिया य ॥

अथ न कृतः पूर्वं वागन्तिको व्यवहारः, पश्चात्तयोः प्रव्रज्या-
यामन्युत्थितयोः स्वस्वकुलममन्वेन व्यवहारो जगदनभूतः । तत्र
संयतीकुलसत्काः गोदृष्टान्तमुद्भ्रामिकादृष्टान्तं खरकखरिकादृ-
ष्टान्तं चान्तगोष्ठान्तोपपत्त्यन्ति । संयतकुलसत्काः-अश्वदृष्टान्तं,
कौटुम्बिकदृष्टान्तं च ।

अथ त्रयमन्या दृष्टान्तपरिपाटी-

गोणीणं संगिहं, उब्जामड्डा य नीयपरदेमं ।

तत्तो खेत्ते देवी, रणो अभिसेयणे चैव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिहं समुदायं दृष्टान्तीकुर्वन्ति ।
तदनन्तरं संयतसकुलकाः या उब्जामिडा परदेशं नीता, तां दृष्टा-
न्तीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतांसकुलकाः क्षेत्रे वीजम् । ततः
संयतकुलकाः देवीं राज्ञोऽभिषेचनं चैवति ।

तत्र भागुने जाते यथा संयतीसकुलका गोदृष्टान्तं कुर्वन्ति
तथा प्रतिपादयति-

संजइत्त जणंती, -संरे अणस्स जं तु गोणीए ।

जायति तं गोणिवड्-स्स होति एवड्मह एयाइं ॥

(संजइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलकाः भ्रुवते-अन्यस्य सत्केन
१६८

पापेन यद् गोर्जायतेऽपत्यं तत् सर्वं गोपतेर्गोस्वामिनो भवति,
न पापस्वामिनः । एवमनेनैव दृष्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपत्यान्या-
भवन्ति, न गुप्ताकमिति ।

एवमुक्ते-

वैतियरे अमहं तू, जइ वडवाए अ अण्मआमेणं ।

जं जायति मोल्ले नो, दिन्ने तं अस्सिगस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका भ्रुवते-अस्माकमेतान्यपत्यानि भव-
न्ति, यथा-मूल्ये अदत्ते यदन्येनान्यसत्केनादेवन वरुवाया जायते-
ऽपत्यं तद् अश्विकस्यैव-अवस्वामिन एव; व्यावहारिकैरेवमेव
व्यवहारनिश्चयात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते-

जस्स महिडाए जायति, उब्जामड्डाए तस्म तं होइ ।

संजइत्त जणंती, इयरो वंती इमे सुणमु ॥

यस्य महाराजा जार्यायाः, उद्भ्रामिमिलायाः स्वरिण्याः, जायते
सुतः परतश्च तस्य तत्सर्वमाभवतिः एवमस्माकमपि, इति
(संजइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलका भणन्ति । इतरे
भ्रुवन्ते-इदं वक्ष्यमाणमुद्भ्रामिककौटुम्बिककृतं शृणुत-

तेणं कुटुंबिणं, उब्जामड्डेण दोएह वी दंमो ।

दिन्तो सा त्रि य तस्मा, जाया एवड्मह एयाइं ॥

येन स्वरिण्या अपत्यानि जनितानि तेन कौटुम्बिकेन उद्भ्रामि-
त्वेन राजकुलं गत्वा कथितम्-यथाऽहं देव ! तस्याः सर्वं भोगभरं
वहामि स्म, सोऽपि च तत्पतिर्मदायेन भोगजरेण निर्युद्धवान्,
तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपत्यानि द्रापयतेति । तत एवमुक्ते
राजा कुपितः, तथा-भोगजरसंवाददर्शनत एवमिमावपत्याय का-
रणाविति द्वावपि सर्वस्वापहरणतो दग्गितवान् । तथा चाह-
द्वयोरपि दासो दत्तो, दापित इत्यर्थः । सा चापत्यापहरणतोऽ-
नन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमेतान्यपति ।

पुणरपि य संजइत्ता, वैति खरियाएँ अण्मखरण ।

जं जायति खरियाडिव-तस्म होंति एवड्मह एयाइं ॥

पुनरपि संयतीसत्का भ्रुवते-खरिकायां गर्दच्यामन्यखरकेण
अन्यसत्केन गर्दजेन, यद् जायते तत्सर्वं खरिकाधिपतेर्भवति; एव-
मस्माकमप्येतानीति । तदेवं प्रथमदृष्टान्तपरिपाटी ज्ञाविता ॥

संप्रति द्वितीयां विभावयिषुः प्रथमतो गोवर्ग-

दृष्टान्तं भावयति-

गोणीणं संगिहो, नइ अडवीएँ अण्मगोणेणं ।

जायाइं वड्जामाइं, गोणाडिवतीओ गेएहंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिहः समुदायो नष्टोऽटव्यं पतितः, तत्र च
तस्यान्यगवेतान्यसत्केन पुङ्गवेन, जातानि वत्सकानि वत्सरूपाणि
तानि, गवेपणतः कथमपि गवां लाभे गवाधिपतयः स्त्रीगवी-
स्वामिनो गृह्णन्ति, न पुङ्गवस्वामिनः । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते संयतसत्का उद्भ्रामिकादृष्टान्तं पूर्वोक्तमु-

पत्त्यस्यन्ति, तथा चाऽऽह-

उब्जामिय पुवुत्ता, अहवा नीया उ जा पविदेमं ।

तस्सेव मा आभवती, एवं अमहं तु आभवति ॥

उद्भ्रामिका पूर्वमुक्ता । यथा-सापत्या तस्य जाता । अथवा या

परं विदेशं नीता सा तस्यैवाजयति, पश्चादपि तान्यस्य । एवमे-
तान्यपत्या-येषा चाऽस्माकमाजयतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे जणंति वीयं, तुभं तं नीयमन्नखेत्तं तु ।

नं होइ खेत्तियस्सा, एवं अम्हं तु एयाइं ॥

इतरे संयतीसत्का भणन्ति-बीजं शुष्मदीयं तत्कालकेत्रसारशु-
विप्रलम्भतः कथमपि वापैकस्य तत्र नीतम्; अन्यत्र केत्रे उत-
मिन्यर्थः । तद् लोकं केत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्मा-
कमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रसो भूयाओ खलु, न माउउंदाउ ताउ दिज्जंति ।

न वि पुनो अजिसिज्जइ, तासिं वेंदेण एवऽम्हं ॥

न खलु, या राहो दुहितः, ता मातृच्छन्दतो मातृणामन्निप्रायेण,
दीयन्ते; नापि पुत्रोऽभिविच्यते तासां मातृणां उन्दितान्निप्रायेण ।
किन्तु राहः स्वान्निप्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वे
राज्ञ आयत्तम्, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वे पुरुषस्याय-
त्तमतः सर्वमस्माकमाजयति ।

एवं व्यवहारे वर्त्तमाने श्रुतधर माचार्यो व्यवहारं
क्षुत्तुकाम इदमाह-

एमादिउत्तगेत्तर-दिठ्ठंता बहुविदा न उ पमाणं ।

पुरिमोत्तग्गिओ धम्मो, होइ पमाणं पवयणं तु ॥

एवमादय उत्तगेत्तरदृष्टान्ता बहुविधा अभिधीयमानानां प्रमा-
णम्, किन्तु प्रवचने पुरुषोत्तरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् ।
अतः सर्वे पुरुषा ब्रह्मन्ते, नेतरे इति । व्य० ४ उ० ।

अवचामेलिय-अव्यत्याम्रेडित-न० । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्या-
न्वस्थाननिबद्धान्येकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पत्रतो
व्यत्याम्रेडितम् । अथवा-आचारादिसूत्रमध्ये मतिचर्चितानि त-
त्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रतिपत्तो व्यत्याम्रेडितम् । अस्थान-
विगतिकं वा व्यत्याम्रेडितं, तथाऽव्यत्याम्रेडितम् । व्यत्याम्रेडि-
तदोषरहिते सूत्रगुणे, अनु० । ग० । विशेष० । पं० चू० ।

अवच्छलत्त-अवत्तलत्त-न० । अवत्तलत्तकरणे, व्य० १ उ० ।

अवच्छेय-अवच्छेद-पुं० । विभागेऽंशे, स्या० ३ उ० ३ उ० ।

अवजाणमाण-अवजानान-त्रि० । अपलपति, सूत्र० १ श्रु०
४ अ० ४ उ० ।

अवजाय-अपजान-पुं० । अप इत्यपमदो हीनः पितुः सम्पदो
जातोऽपजानः । पितुः सकाशादीपदीनगुणे पुत्रनेदे, यथाऽऽदि-
त्ययशाः, भरतापेक्षया तस्य हीनत्वात् । स्या० ४ उ० १ उ० ॥

अवजुय-अवजुत-त्रि० । पृथग्भूते, व्य० ७ उ० । पृथग्भावे, नि०
चू० १६ उ० ।

अवज्ज-अवज्ज-न० "अवज्जपण्य०" । ३।१। १०१। इत्यादिना
(पाणि०) सूत्रेण निपातः । "अवज्जो ज्ञः" । २।२। २४। इति यस्य
वज्जः प्रा० १ पाद । पापे, आ० म० डि० । आव० । आ० चू० ।
सूत्र० । विशेष० । आचारा निदोषे, उल० ६ अ० । वृ० । संथा० ।
मिथ्यात्वकपायलक्षणे, आ० म० प्र० । गह्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ०

२ उ० । विशेषः । "कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहाणो व स-
त्तारि" । कर्मानुष्ठानमवजं ज्ञेयते । किमविशेषेण ? नेत्याह-यत्
गहितं निन्यम्, अथवा भोधादयश्चत्वारोऽवजं, तेषां सर्वाव-
यहेतुतया कारणे कार्यापचारात् । आ० म० डि० । म० ॥

अवज्जकर-अवज्जकर-पुं० । अवजं पापं तत्करणशीलः । पापि-
नि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीरु-अवज्जजीरु-त्रि० । पापजीरौ, ओघो । पापाच्चकि-
ते, वृ० ३ उ० ।

अवज्जभाण-अपध्यान-न० । अप्रशस्तं ध्यानमपध्यानम् । आ-
र्त्तादिध्याने, औ० । पापकर्मोपदेशे हिंसकार्पणे, ध० २ अधि० । इह
देवदत्तश्रावककोङ्कणसाधुप्रभृतय उदाहरणानि । आव० ६ अ० ।
अवज्जभाणया-अपध्यानता-स्त्री० । भार्त्तरौद्रादिध्यायित्वे,
स्या० ३ उ० ३ उ० ॥

अवज्जभाणायारिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानमार्त्तरौद्र-
रूपं तेनाचरित आसेवितो योऽनर्थदण्डः स तथा । अनर्थदण्ड-
भेदे, उक्त० ३ अ० । ध० ।

अवज्जाय-अपध्यात-त्रि० । दुर्ध्यानविपर्ययकृते, उक्त० ६ अ० ।
दृष्टचिन्तावति, ज्ञा० १४ अ० ॥

अवटु-अवटु-पुं० । कृकाटिकायाम्, भ० १५ श० १ उ० । विपा० ।

अवट्टम्-अवट्टम्-पुं० । स्तम्भाद्यवलंगने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवष्टम्भद्वारं प्रतिपादयन्माह-

अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पम्भेहो न मुज्जई ।

तम्हा हट्टसमत्थस्स, अवट्टम्भो न कप्पइ ॥ ५०७ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः, यस्मात्प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन्
पश्चादपि अव्यवाच्छिन्ना अनवरतं त्रसाः प्राणा जवन्ति, ततश्च तत्र
प्रत्युपेक्षणा न शुध्यति । [तम्हा हट्टसमत्थस्सेति] तस्माद् हट्टो
नीर्गमः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवंविधस्य, साधारवष्टम्भो न क-
ल्पते नाकः ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ? इत्येतत् प्रदर्शनायाह-

संचरकुंशुदेहिय-लूआ वा होइ दाली य ।

एवं घरकोइलिया, सप्पे वीसंजरे सरप्पे ॥ ५०८ ॥

तत्रावष्टम्भे स्तम्भादौ, संचरन्ति प्रसर्पन्ति; के ते ? कुन्धुसत्वाः
उद्देहिकाश्च लूता कालियकाः, तत्कृतो जेदः भक्षणं भवति,
तथा च दाली राजिर्भवति, तस्यां च वृश्चिकादेराश्रयो भवति,
तथा च-गृहकालिया घरेलिका, इयमुपरिस्था सूत्रयति,
तन्मूत्रेण चोपघातश्चक्षुरो भवति । सर्पो वा तत्राश्रितो भ-
वति, वीसंभरो जीवविशेषः, उन्दुरो वा भवेत्, सरटः क-
कलासः, स वा दशनादि करोति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्माह-

संचारगा चउदिमि, पुव्वं पम्भिलेहिणं वि अल्लेति ।

उद्देही मूल पुणो, विगहणा तट्टभणं भओ ॥ ५०९ ॥

संचारकाः कुन्धादयः पूर्वोक्ताश्चतसृष्वपि दिक्षु तस्मिन्नावष्टम्भे
परिभ्रमन्ति, पूर्वप्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् स्तम्भाद्यवष्टम्भे अन्ये
आगच्छन्ति । [उद्देहि चि] कदाचिदसौ स्तम्भादिवष्टम्भः मूलं

उद्देहिकादिजलिनः, ततश्च अवष्टम्भं कुर्वत उपरि पतति, पुनश्च विराधना तदुज्जये भवति, आत्मनि संयमे च भवति, भेदश्च पञ्चकश्च भवति ॥

लू आइ य मदणे सं-जमम्मि आयाइ विच्छुगार्इया ।

एवं घरकोइलिया--अट्टिउंदरसरहमाईसु ॥ ५१० ॥

लूतादौ च मद्ने मद्ने संयमविषया विराधना भवति, आत्म-
विराधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते, एवं गृहकोकिलिकाअट्टि-
उंदुरसरटादिविषया संयमविराधना, आत्मविराधना च भव-
तीत्युक्तं तत्सर्गः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अतरंतस्म च पासा, गाढं छुखंति तेण उवट्टभो ।

संजयपिठे यंजे, सेलपुहाकुडुवैटीए ॥ ५११ ॥

अतरन्तस्य च तिष्ठतो ग्लानादेः पार्श्वानि गाढमत्यर्थं दुःख-
न्ति, तेन कारणेन अवष्टम्भं कुर्वति । क ? अत आह--संयत-
पृष्ठे स्तम्भे वा [सेल ति] पाषाणमये स्तम्भे, सुधाजिते कुड्ये
वा अवष्टम्भं कुर्वति । अवधिकायां वेण्टिकायां वा कुड्यादौ
कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । उक्तमवष्टम्भचारम् । ओप० । ध० ।

अवट्टग-अपार्थक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने, द्वा० १६ द्वार ।

अवट्टाण-अवस्थान-न० । व्यवस्थायाम्, व्यवस्था संस्थितिः
स्थितिरवस्थानमवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । वृ० ५
उ० । स्थितौ, आव० ४ अ० । (तत्र साधोः किमवस्थानं भेयः
उताटनमिति ' आवस्सिया ' शब्दे द्वितीयभागे ४६३ पृष्ठे
वक्ष्यते; अवधिक्षानस्याऽवस्थानं द्रव्यादिभेदजिज्ञासमिति ' अप-
डिवाइ (ए) ' शब्दे अत्रैव प्रागे ५६५ पृष्ठे, ' ओहि ' शब्दे
तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च द्रष्टव्यम्)

अवट्टिइ-अवस्थिति-स्त्री० । मर्यादायाम्, स्था० ३ गा० ४
उ० । अवस्थाने निष्प्रकम्पतया वृत्तौ, आव० ४ अ० ।

अवट्टिय-अवस्थित-त्रि० । शाश्वते, स्था० ३ गा० ३ उ० ।
नित्ये, द्वा० ५ अ० । " सिज्जारपरिपे ये १, चाउज्जामे ये २
पुरिसज्जे ये ३ । किइकम्मस्स ये करणे ४, चत्तारि अवट्टिया
कप्पा " ॥ १ ॥ स्था० ६ गा० । निश्चले, स्था० ५ गा० ३ उ० ।
अवधिष्णौ, जी० ३ प्रति० । यन्त दीयमानं न वा वर्द्धमानम् ।
तं० । स० । " अवट्टियसुविभक्तविचित्तमंसू " । अवस्थितान्यव-
धिष्णूनि सुविभक्तानि विचित्तानि विचित्राणि अतिरिक्ततया-
ऽद्भुतानि इमंशूणि कूर्चकशा येषां तेऽवस्थितसुविजक्तविचि-
त्रमश्रवः । जी० ३ प्रति० । अनन्तपर्यायात्मके वस्तुनि, तत्र
पर्यायाणामानन्त्येन अविरहाद् छायावस्थितत्वम् । प्र० २ श०
१ उ० । स्वप्रमाणे स्थितं, जी० ३ प्रति० । अनवस्थितविलक्षणं
अनुयोगदानयोग्ये स्वलिङ्गावस्थिते, संविभविहारावस्थिते च ।
वृ० १ उ० । [' अणवट्टिय ' शब्देऽत्रैव भागे ३०१ पृष्ठे व्या-
ख्यात एषः] स्थित्या रक्षिते, " अवट्टिए आणए आराइए
यावि जवइ " । आचा० २ भु० १५ अ० ३ चू० ।

अवट्टियबंध-अवस्थितबन्ध-पुं० । यदा तु यावतीः प्रथमसम-
ये बन्धान् तावतीरेव द्वितीयादिविषयि समयेषु बध्नाति, तदा
स बन्धाऽवस्थितत्वादवस्थितबन्ध इति । पं० सं० ५ द्वार । प्रकृ-
तिबन्धनेदे, क० प्र० । यथाऽष्टौ बध्नाति सप्त बध्नाति सप्त वा बध्वा
षट् पद् बध्वा एका बध्नाति तथा स एव न्यूस्कारोऽस्वरतरो वा

द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्तावन्मात्रतया प्रवर्त्तमानोऽवस्थि-
तबन्धो भवति । कर्म० ५ कर्म० ।

अवड-अवट-पुं० । कूपे, स्था० २ गा० ४ उ० । अनु० । प्रज्ञा० ।
आ० म० ।

अवट्ट-अपार्थ-न० । अपगतमर्थं यस्य तदपार्थम् । अर्द्धमात्रे,
सू० प्र० १० पादु० । चं० प्र० । अर्द्धदिवसे, भ० १६ श० ३ उ० ।

अवट्टखेत्त-अपार्थक्षेत्र-न० । अपगतमर्थं यस्य तदपार्थम्-
र्द्धमात्रम् । अपार्थमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोग-
स्यादिमधिकृत्य तान्यपार्थक्षेत्राणि । चं० प्र० १० पादु० । सू०
प्र० । समयक्षेत्रापेक्षया पञ्चदशमुहूर्तैषु, स्था० ६ गा० ।

अवट्टगोलगोलच्छाया-अपार्थगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गो-
लेर्बहुविधैर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलः स गोलगोलस्तस्य
छाया गोलगोलच्छाया, अपार्थमात्रस्य गोलगोलस्य छाया
अपार्थगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रमिलितानेकगोलच्छायाया-
म, चं० प्र० ८ पादु० ।

अवट्टगोलगोलच्छाया-अपार्थगोलगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्थमात्रस्य
गोलस्य गायायाम्, सू० प्र० ८ पादु० । चं० प्र० ।

अवट्टगोलपुंजच्छाया-अपार्थगोलपुंजच्छाया-स्त्री० । गो-
लानां पुंजो गोलेत्कर इत्यर्थः । तस्य गाय गोलपुंजच्छाया;
अपार्थस्य गोलपुंजस्य छाया अपार्थगोलपुंजच्छाया । अपा-
र्थमात्रगोलपुंजच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पादु० । सू० प्र० ।

अवट्टगोलावलिच्छाया-अपार्थगोलावलिच्छाया-स्त्री० । गोला-
नामावलिगोलावलिस्तस्याश्चाया गोलावलिच्छाया; अपार्था या
गोलावलिच्छाया अपार्थगोलावलिच्छाया । अपार्थमात्रगोला-
वलिच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पादु० । स्था० ॥

अवट्टचंदसंज्ञाण-अपार्थचन्द्रसंस्थान-न० । अपकृष्टमर्थं चन्द्र-
स्योपावर्द्धचन्द्रः, तस्य यत्संस्थानमाकारः । गजदन्ताकृतौ,
स्था० २ गा० ३ उ० ।

अवट्टभाग-अपार्थभाग-पुं० । चतुर्थभागे, आचा० २ भु० १
अ० १ उ० ।

अवट्टोमोयरिया-अपार्थविमौदरिका-स्त्री० । भवमस्योनस्यो-
दस्य करणमविमौदरिका, अपकृष्टं किञ्चिदूनमर्थं यस्यां साऽपार्था,
द्वित्रिशत्कवलापेक्षया द्वादशानामपार्थरूपत्वात् । अपार्था च
साऽविमौदरिका चेति । अवमौदरिकाजदे, " दुवाइस कुडुडिअ-
रगणपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवट्टोमोयरिया " । द्वा-
दशकुट्टाएकप्रमाणमात्रकवलानादारमाहारयति अपार्थाऽ-
विमौदरिका उक्तशब्दार्था भवतीत्येवं सप्तम्यन्तव्याख्यानं नेपम् ।
प्रथमान्तव्याख्यानं तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्थविमौदरिका सा-
धुर्भवतीत्येवं नेतव्यम् । प्र० ७ श० १ उ० । व्य० ।

अवण-अवन-न० । गमने, वेदने च । न० ॥

अवणंत-अवनयत्-त्रि० । अशक्नुवति, नि० चू० १ उ० ।

अवणमंत-अवनयत्-त्रि० । नीचीभवति, रा० ॥

अवणय-अवनय-पुं० । पूजासत्कारादेरवनयने, स्था० ८ गा० ।

वोपजायणे, निन्दायां च । प्रव० १४३ द्वार । आ० म० ।

अवनत-त्रि० । ऊच्यतो नीचकाये, भावतोऽर्द्धने, दश० ५ अ० ।

अवधारण-अपनयन-न० । निषेधने, विशेषे ।

अवर्णीयवर्णयवर्ण-अपनीतापनीतवचन-न० । अरूपवती स्त्री किन्तु सद्वृत्तेतरूपे शोभशवचनानां द्वादशे, आचा० २ अ० ४ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । प्रव० ।

अवर्णीयचरण-अपनीतचरण-पु० । अपनीतं देयद्रव्यमध्याद-पसारितम्, अन्यत्र स्थापितमित्यर्थः । तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गन्धेष्वप्याय गच्छतीति अपनीतचरणः । अजिग्रहविशेषधार्-रके, अ० ।

अवर्णीयवर्ण-अपनीतवचन-न० । कुरुपा स्त्रीनिवचनभेदे, प्रव० १५० द्वार ।

अवर्ण-अवर्ण-त्रि० । न विद्यते वर्णः पञ्चविधः सितादिरस्येत्य-वर्णम् । वर्णरहिते अमूर्तद्वये, पौ० १५ विच० । अश्वाद्यायाम्, पं० च० ४ द्वार । स्था० । अयशसि अकीर्ति, नि० चू० १० उ० । वर्ण-ताया अकरणे, आ० । एकदिग्भाष्यसाधुवादवादे, ग० २ अधि० ।

अवर्णवन्त-अवर्णवन्-त्रि० । अश्वाद्याकारिणि, स० ३० सम० ।

अवर्णवाह (ण)-अवर्णवादिन्-पुं० । अवर्णं वदितुं शीलम-स्येति वर्णवाहः । अकीर्तिकरं, " नाणस्म केवलीणं, धम्मा-यस्मिण् सव्वसाहणं । माई अवर्णवाहं, किञ्चिसिं भावणं कुणहं ॥ १ ॥ ग० २ अधि० । वृ० ।

अवर्णवाह-अवर्णवाह-पुं० । अश्वाद्यायाम्, ध० २ अधि० । अ-श्वाद्यावादे, दश० । " अवर्णवाहं च परंमुत्तमं, पञ्चस्रश्चो " (न भाविज्ज) अवर्णवाहं चाश्वाद्यावादे पराहमुखस्य पृष्ठतः प्रत्य-क्षतश्च; न भावेति इत्यर्थः । दश० ए अ० ३ उ० ।

अर्हदादिपञ्चकावर्णं वदन्, दुर्लभवाधिः-

पंचादिं णाणेदि जीवा दुर्लभवाधिर्याचाए कम्पं पकरेति । तं जदा-अर्हताणमवन्ने वदमाणे, अर्हताणमवन्ने ध-म्पस्य अवन्ने वदमाणे, आयसियुवज्जायाणमवन्ने वदमा-णे, चाउवन्ननंयम्म अवन्ने वयमाणे, विविक्तववंभवेराणं देवाणं अवन्ने वदमाणे ।

"पंचादि" इत्यादि सुगमम्, नवरं दुर्लभा बोधिर्जितधर्मो यस्य स तथा, तद्वाच्यस्तत्ता । तथा दुर्लभवाधिकतया, तस्यैव वा कर्म मो-हनीयादि, प्रकुर्वन्ति बध्नन्ति, अर्हतामवर्णमश्वाद्यां वदन् । यथा- "नर्थः अर्हन्तं नी, जाणोते कीस भुंजणं, जेए । पाटुडिय उवज्जी-वद, स समवसरणादरूपाए । १ । एमाइ जिणाण अवणो " । न च ते नावृत्तं, तन्प्रगीतप्रवचनोपलब्धेः । नापि भोगानुभवनादुद्दोषः, अवश्यवेद्यत्वात् तस्य । तीर्थकरनामादिकर्मणश्च निजरागोपाय-त्वात् तस्य । तथा-वीतरागस्यैव समवसरणादिषु प्रतिबन्धाभावा-दिति । तथा-अर्हत्प्रज्ञस्य धर्मस्य श्रुतचारित्र्यरूपस्य । प्राकृत-भाषातिवृत्तेन, तथा-किं चारित्र्येण, दानमेव श्रेय इत्यादिकमव-र्णं वदन् । उत्तरं चात्र-प्राकृतभाषास्य श्रुतस्य न दुष्टं, बालादीनां मुख्याध्ययनेनोपकारित्वात् । तथा-चारित्र्यमेव श्रेयो, निर्वाणस्या-नन्तरदत्तुर्वादि । आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन् । यथा-वा-लोभ्यमित्यादि । न च वादव्यादि दोष, वृत्तादिभिर्वृद्धत्वादिति । तथा-चत्वारो वर्गाः प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् स तथा । स एव स्वाधिकाराभिधानाच्चावर्णः, तस्य संघस्यावर्णं वदन् । यथा-

कोऽयं संघः, यः समवायवलेन पशुसंघ इव अमार्गमपि मार्गी-करोतीति । न चैतत्, साधुज्ञानादिगुणसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तेन च मार्गस्यैव मार्गीकरणादिति ॥ तथा-विषयं सुपरिनिष्ठितं, प्रक-र्षपर्यन्तमुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं च भवान्तरे येषाम्, वि-षयं वा उदयगतं तपो ब्रह्मचर्यं तद्वन्तुर्देवायुष्कादि कर्म येषां ते तथा; तेषामवर्णं वदन् । न सन्त्येव देवाः, कदाचनाप्यनुपब्रह्म-मानव्यात् । किञ्च-तैर्विष्टैरिव कामासक्तमनोजिगृहविरतैस्तथा नि-र्ममेष्वेवैश्च प्रियमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगिभिश्चैत्यादि-कम् । इहोत्तरम्-सन्ति देवाः, तत्कृताऽनुग्रहे पञ्चातादिदर्श-नान् । कामसक्तता च मोहसातकर्मोदयात् ; इत्यादि । स्था० ५ ग० २ उ० ।

अथ (ज्ञानादीनां) व्यासार्थमाह-

काया वया य ते चिचय, ते चैव पमायअप्पमाया य ।

मोक्खादिगारियाणं, जोइसजोणीहिं किंच पुणो ॥

इह केचिद्विद्विधाः प्रवचनाज्ञानपातकमगणयन्त इत्थं श्रुत-स्यावर्णं ब्रुवन्ते । यथा-परुजीवनिकायामपि पट्टायाः प्ररूप्यन्ते, शा-स्त्रपरिज्ञायामपि त एव, अन्येष्वध्ययनेषु बहुशस्त एवोपवर्ण्यन्ते । एवं व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तथा-त एव प्रमादाप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते । यथोत्तराध्ययने आचाराङ्गे च । एवं च पुनरुक्तदोषः । किञ्च-यदि केवलस्यैव मोक्षस्य सा-धनार्थमयं प्रथासस्तर्हि मोक्षाधिकारिणां साधूनां सूर्यप्रद्व्या-दिना ज्योतिःशास्त्रेण, यानि प्राभूतेन वा किं पुनः कार्यम्, न किञ्चि-दित्यर्थः । तेषामित्थं ब्रुवाणानामिदमुत्तरम्-इह प्रवचने यत् न एव कायादयो भूयो ज्ञेयः प्ररूप्यन्ते, तन्महता प्रयत्नेनापि परिपा-लनीयाः, इदमेव धर्मग्रहस्यमित्यादरातिशयव्यापनार्थत्वाच्च पु-नरुक्तम् । " अनुवादाऽऽदरवीप्सा-नृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईपसंज्ञमविस्मय-गुणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥ १ ॥ ज्योतिः शास्त्रादेरेव शिष्यप्रव्रजनादिषु शुभकार्योपयोगफलत्वात्परम्प-रया मुक्तिफलमेवेति न किञ्चिद्वापः । गतो ज्ञानावर्णवाहः ।

अथ केवल्यवर्णवाहमाह-

एगंतमुप्पाए, अन्नोच्चावरणया दुवेएहं पि ।

केवल्यदंसणणणे, एगे काले व एगत्तं ॥

इह केवल्यनामवर्णवाहो यथा-किमेवां ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः, उत युगपत् ? । यथाद्यः पक्षः-ततो यं समयं जानाति तं स-मयं न पश्यति, यं समयं पश्यति तं समयं न जानातीत्येवमेका-न्तरिते उत्पादे द्वयोरपि केवल्यज्ञानदर्शनयोरेकस्यावरणता ज्ञेयः, ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः समुल्लेखं कथितत्वात् । अपरस्य चा-वारकस्याभावात्परस्परवारकतैवानयोः प्राप्नोतीति भावः । अथ युगपदिति द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते, सोऽपि न क्षोदकम् । कुतः ? इत्याह-एककाले युगपदुपयोगद्वये अङ्गीक्रियमाणेः वाशब्दः पक्षा-न्तरद्योतनार्थः । द्वयोरपि साकारानाकारोपयोगयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकालभावितादिति । अत्रोत्तरम्-इह यथा जीवस्वाभाव्यादः स्वयंस्यापि केवल्येन एकस्मिन् समये एकतर एवोपयोगो ज्ञे-यः, न द्वौ, " सव्वस्स केवल्यस्सा, जुगवं दो नन्थि उवयागा " इति वचनात् । यथा चायमेकैकसमये उपयोग उपपद्यते, तथा विशेषपावश्यकादिषु श्रीजितभङ्गकामश्रमणादिभिः पूर्वसुरिभिः सप्रपञ्चमुपदर्शित इति नेहोपदर्शितः, अन्त्यगौरवभयात् । द्वि-तीयपक्षानुपपत्तिनोदना त्वनभ्युपगतोपाद्वज्जत्वादाकाशरोमन्थ-नमिव केवलं भवतः प्रथासकारिणीति ।

अथ धर्माचार्याऽवर्णवादमाह-

जच्चैर्हि अवर्णं, भामि वदः न यावि उववाए ।

अहितो द्विद्वेही, पगासवादी अणुगुले ॥

जात्या, आदिशब्दात् कुलादिभिश्च दोषैरवर्णं भाषते । यथा-नैते विशुद्धजातिकुलोत्पन्नाः, न वा लोकव्यवहारकुशलाः, नाप्येते औचित्यं विदन्तीत्यादि । नचापि वर्तते उपपाते गुरुणां सेवावृत्तौ, अहितोऽनुचितविधायी, द्विद्वेही-मत्सरितया गुरोर्दोषस्थाननिरीक्षणशीलः, प्रकाशवादी-सर्वसमकं गुरुदोषभाषी, अननुकूलो-गुरुणामेव प्रत्यानीकः, क्रूरबालकवत् । एष धर्माचार्यावर्णवादः ।

अथ सर्वसाधूनामवर्णवादमाह-

अविसहणाऽतुरियगई, अणुगुवत्ती य अवि गुरुणं पि ।

खणमित्तीयरोसा, गिहिवच्छलकाऽसंचदः ॥

अहो ! अमी साधवोऽविपहणा न कस्यापि पराभवं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षापमाने संजाते सति देशान्तरं गच्छन्ति । (तुरियगईति) अकारप्रदेशपादत्वरितगतयो मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिनः । अननुवर्तिनः प्रकृत्येव निष्ठुराः, गुरुणामपि महतामपि, आस्तां सामान्यलोकस्येति शब्दार्थः । द्वितीयोऽपि शब्दः संज्ञावनायम । संभाव्यत एव विधा अपि साधव इति । कृणमावप्रीतिरोषाः-तदैव रूपाः तदैव च तुष्टाः, अनवस्थितचित्ता इत्यर्थः । गृहवत्सत्वा-तैस्तैश्चादुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयन्ति । अतिसंचयिनः-सुबहुवत्त्वकम्वत्वादिसंग्रहशीलाः, बोधवहुला इति भावः ॥ अत्र निर्वचनानि-इह साधवः स्वपक्षा-द्यपमाने यद्देशान्तरं गच्छन्ति तदप्रीतिकपरोपपादादिभिरुतथा, न पराजवाऽसहिष्णुतया । अत्वरितगतयोऽपि स्थावरत्रसजन्तु-पीडापरिहारार्थं, न तु लोकरञ्जनार्थम् । अननुवर्तिनोऽपि संयम-वाधविधायिन्या अनुवर्तनाया अकरणात्, न प्रकृतिनिष्ठरत-या । क्षणमात्रप्रीतिरोषा अपि प्रतनुकपायतया न निर्वचस्थित-चित्ततया । गृहवत्सत्वा अपि कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथानुरूपोपायेन धर्मं प्रतिपद्येरन्निति बुद्ध्या, न पुनश्चाटुका-रितया । संचयवन्तोऽपि मा भूदुपकरणानां संयमाऽऽत्मवि-राधनेति बुद्ध्या, न तु लोकावहुकृतयेत्युत्तरम् ॥ वृ० १ वृ० ।

(अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य सङ्गस्य चाऽवर्णं वदन् उन्मादं प्राप्नुयादिति 'उन्माद' शब्दे द्वितीयभागे ८४८ पृष्ठे वक्ष्यते) ज्ञान्यवर्णवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म वक्ष्यते । कर्म० १ कर्म० ।

अत्र प्रायश्चित्तमाह-

जे भिक्खू धम्मस्स अवर्णं वदः, अवर्णं वदंतं वा साङ्गजः ॥ ११२ ॥

धृञ् धारणे, धारयतीति धर्मः । ए वन्नो अवन्नो णाम-अयसो, अकार्तिरित्यर्थः । वद व्यक्तायां वाचि ।

दुविहो य होइ धम्मो, सुयधम्मो समणधम्मो य ।

सुयधम्मो खवु दुविहां, सुत्ते अत्थे य होति नायव्वा ॥ १३ ॥

दुविहो य चरणधम्मो, अगारमणगारियं चेव ।

दुविहो तस्स अवणो, देसे सव्वे य होति नायव्वा ॥ १४ ॥

मूलगुणउत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधम्मो उ ।

अह देस एत्थ लहुगा, सुत्ते अत्थम्मि गुरुमादी ॥ १५ ॥

सव्वम्मि तु सुयणाणे, ज्ञया वा ते य जिकखुणो मूलं ।

गणि आयरिए सपदं, उ दाणमावज्जणा चरिमं ॥ १६ ॥

गिह्णिणं मूलगुणेषू, देसे गुरुगा तु सव्वहिं मूलं ।

उत्तरगुणेषु देसे, लहुगा गुरुगा तु सव्वेहिं ॥ १७ ॥

मूलगुणउत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि होति साहणं ।

सुत्तणिवातो देसे, तं सेवतस्स आणादी ॥ १८ ॥

सामादियमादी उं, सुयधम्मो जाव पुव्वगतं ।

सामादियरोई ए-कारममा उ जाव अंगा तो ॥ १९ ॥

पंचविहो सज्जाओ सुयधम्मो । सो पुणो दुविहो-सुत्ते, अत्थे य । चरित्तधम्मो दुविहां-अगारधम्मो, अणगारधम्मो य । एकेको दुविहो-मूलगुणेषु देसे सव्वे वा सुयधम्मो अवर्णं वदति । एवं चरित्ते दुविहो अवर्णो । सुत्तस्स देसे च-उलहुगा, अत्थस्स देसे चउगुरुगा; सव्वसुयस्स अवर्णं जिकखुणो मूलं; अभिसेयस्स अणवघो; गुरुणां चरिमं । एवं दाणपच्छित्तं । आवज्जणाए ति एह वि सव्वे सुत्ते अण्वे वा पारं-चित्तं ! गिही मूलगुणेषु जदि देसे अवर्णं वदति तो चउगुरुगा, सव्वहिं मूलं, गिही उत्तरगुणेषु जदि देसे अवर्णं वदति तो चउलहुगा । गिहीणं सव्वुत्तरगुणेषु गुरुगा । साहणं मूलगुणेषु वा जदि देसे अवर्णं वयति तो चउगुरुगा । दासु वि सव्वेसु मूलं । एत्थ अत्थस्स देसे गिहीण य मूलगुणदेसे । साहण य उत्तरगुणदेसे सुत्तणिवातो भवति । एवं अवर्णवयं सेव-तस्स आणादिया दासां जवति । पुव्वरुं गतार्थत्वात्कं, सु-यस्स सामादियादि जाव एकारस अंगा ताव देसो, एवं चेव सह पुव्वगण सव्वसुयं ॥

कहं पुण वदंतो आसादति ?-

जीव विरहि ए पेहा, जीवाउलमुगदंरता मायं ।

दोसो य परकमेसु, चरणे एमादिया देसे ॥ २० ॥

काया वया य ते चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।

जोतिमजोऽणिमित्तं-हिं किं व वेरगपवणाणं ॥ २१ ॥

(जीवविरहि ए वि) जीवहिं विरहिते जाव पन्निहणा कज्जति, सा निरास्थिया, जीवाउले वा लोके चक्रमणादिक्रियं करंतो कहं निहोसो ?, परिसेगिदियाण य संघट्टणे मासवहु, दाणे एवं, अण्णावराहं उगदंरता अजुत्ता । जं च वितियपदेण माया यमणं भणियं, तं पि अजुत्तं, आहाकम्मादिणसु परकडेसु को दो-सो ? । एवमादि चरणस्स देसे अवर्णो । सर्वं यमनियमात्मकं चारित्रिं कुशलपरिकल्पितम् । एष सर्वावर्णवादः । इमेरिससुत्ते अवर्णं वदति-(काया वया) अयुत्तं पुणो पुणो कायवयाण वन्नणं, पमा-यापमादाण य, किं वा वेरगपवणाणं जोतिसेण, जोणीपाहुणेण वा, णिमित्तेण वा सव्वं वा वदेत ज्ञासाणिवहुं । एवमादिसु य आसायणा । एवं अवर्णं वदंतो आणादिया य दोसा, सुयदेवया वा खित्तादिचित्तं करेज्ज; अनेण वा साहुणा सह संखमं भवे-की-स अवर्णं भाससि त्ति ? जम्हा एते दोसा नम्हा णो अवर्णं वदे ।

कारणे वदेज्जा वि-

वितियपदमणप्पज्जे, वएज्ज अवि कोविते व अप्पज्जे ।

जाणंते वा वि पुणो, जयऽवत्तवादिसू चेव ॥ २२ ॥

अवपञ्जो वा अवि कोचितो, सो वा वपञ्ज अवस्तव्यादिसु वि, जो अवस्तवादिपक्षगगणं करोति, सो य जे रायादिबलवन्तो त-
भया वदेज्ज, ए दोसा । नि० चू० ११ उ० । (अधर्मस्यावर्णवादः
'अदम्भ' शब्दे अत्रैव भागेऽप्रे वक्ष्यते । रात्रिजो जनस्यावर्णवादो
'रात्रि भाषण' शब्दे प्रेक्षणीयः)

अवस्था-अवज्ञा-स्त्री० । अनादरे, स्त्री० । यो० ॥

अवहवण-अपहवन-न० । मृपादण्डे, आचा० १ भु० ५
अ० १ उ० ।

अवहाण-अपहान-न० । तथाविधसंस्कृतजलेन स्नाने, वि-
पा० १ भु० १ अ० । स्नेहापनयनहेतुऽव्यसंस्कृतजलेन स्नाने, ज्ञा०
१३ अ० ॥

अवतट-अवतट-त्रि० । तनूकृते, सूत्र० १ भु० ५ अ० २ उ० ।

अवत्त-अव्यक्त-पुं० । अद्याप्यपरिणतवयसि, वृ० १ उ० । श-
ब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिना प्रकारेणानिर्देश्ये, विशेषः । उगण-
लिम्पनादिना संस्कृते, ध० ३ अधि० । म्था० । अवत्ता नाम
वसतिः-उगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलितभूमितला अव्यक्तस्थान-
नयुक्ता वा, निर्वाता वा । ग० १ अधि० । नि० चू० । अगीतार्थे,
नि० चू० २ उ० ।

अवत्तव-अवक्तव्य-त्रि० । अनुधारणीये, दश० ७ अ० । आ-
नुपूर्व्यनानुपूर्वीप्रकाराभ्यां वक्तुमशक्ये ह्ये, अनु० । द्विप्रदेशि-
कस्कन्धोऽवक्तव्यमित्याख्यायते । अनु० ॥

अवत्तवगसंचिग-अवक्तव्यकसञ्चित-त्रि० । यः परिणामविशेषो
न कति नाप्यकतीति शक्यते वक्तुं सोऽवक्तव्यकः, स चैक इतिः
तन्मञ्जिता अवक्तव्यकमञ्जिताः । समये समये एकतयोत्पत्तेषु
भैरविकादिषु, उत्पद्यन्ते हि नारका एकसमये एकादयोऽसं-
ख्येयान्ताः । उक्तं च—“एगे व दो व तिद्धि व, संखमसंखा य
एगममपणं । उववज्जंते चइया, उव्वंइता वि एमेव” ॥ १ ॥
म्या० ३ टा० १ उ० ।

अवत्तवबंध-अवक्तव्यबंध-पुं० । बन्धभेदे, यत्र तु सर्वथाऽ-
बन्धको ज्ञत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमये अव-
क्तव्यबंधः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्,
तामां सर्वथाऽबन्धकस्याऽयोगिकेवलिनः । सिरुस्य वा प्रतिपाता-
भावेन पुनर्वन्धानावात् । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० ।

अवत्तवा-अवक्तव्या-स्त्री० । अमुत्र स्थिता पत्नीति कौशिक-
भाषावत्; सावद्यन्वेनानुधारणीयायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अवत्तमत्यकोटि-अवाप्तस्वास्थ्यकोटि-पुं० । अवाप्ता लब्धा
स्वास्थ्यकोटिरनावाधताप्रकर्षपर्यन्तो यैस्त तथा । सिद्धेषु, हा०
३२ अ० ।

अवत्तामण-अवत्तासन-न० । आहुत्यां स्त्रिया निष्पीरुने कामा-
ङ्गे, नि० चू० १ उ० ।

अवत्तान्तर-अवस्थान्तर-न० । दशाविशेषे, द्वा० ११ द्वार ।
पर्यायान्तरे, पञ्चा० १२ चि० ।

अवत्तग-अपार्श्वक-न० । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंख्यार्थे सूत्रदोषे,
यथा-दश द्वास्मिनि, परपूर्वाः, कुण्डं वदराणि । आ० म० द्वि० ।
प्रश्न० । विशेषः । यस्यावयवेष्वर्थो विद्यते न समुदाये; असंख्य-

मित्यर्थः । यथा-शङ्खः कदल्याः कन्दली भेर्याम् । अथवा-“वंजु-
लपुष्पुम्मीसा, उंबरककुसुममालिया सुरभी । वरतुरगस्स
वि रायइ, ओलइया अग्गासिगेसु” ॥ १ ॥ वृ० १ उ० ।

अवत्तव-अवास्तव-त्रि० । वस्तु पदार्थः; तस्येदं वास्तवम् । न
वास्तवमवास्तवम् । परसंयोगोद्भवे, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्त्या-अवस्था-स्त्री० । भूमिकायाम्, हा० २६ अष्ट० ।

अवत्त्यातिग-अवस्थात्रिक-न० । दशाविशेषत्रये-छद्मस्थाव-
वस्थाकेवल्यवस्थासिद्धावस्थास्वभावे जिनानां छद्मस्थकेवल-
सिद्धत्वे, दर्श० ।

अवत्त्यापरिणाम-अवस्थापरिणाम-पुं० । घटस्य प्रथमद्विती-
ययोः कृणयोः सदृशयोरन्वयित्वेनैव परिणामे, द्वा० १४ द्वा० ।

अवत्ताभरण-अवस्थाभरण-न० । अवस्थोचिते आभरणे,
स्था० ८ द्वा० ।

अवत्तिय-अवस्तुत-त्रि० । प्रसारिते, ज्ञा० ८ अ० ।

अवत्थु-अवस्तु-न० । असति, आ० म० द्वि० । अविद्यमानं व-
स्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु । अनर्थके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ॥

अवत्थोचिय-अवस्थोचित-त्रि० । भूमिकाऽनुरूपे, पञ्चा० १२ चि० ।
अवदग्ग-अवदग्ग-न० । पर्यन्ते, सूत्र० २ भु० २ अ० । अवसाने,
सूत्र० २ भु० ५ अ० ॥

अवदन्न-अपवदल-पुं० । अपदलमपसदं द्वयं कारणभूतं मृ-
त्तिकादि यस्याऽसौ अपदलः । अवदलति वा दीयते इत्यव-
दलः । आमपकतया असारे, स्था० ४ टा० ४ उ० ।

अवदाय-अवदात-पुं० । गौरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अवदाशिय-अवदारि(द्वि त-त्रि० । विकाशिते विवृतीकृते, उपा०
२ अ० । “अवदाशियपुंरुरीयवयणा (नयणा) ” अवदारितं रवि-
किरणैर्विकाशितं यत्पुणरुरीकं सितपद्मं तद्वददन् मुखं, नयने
वा येपांते तथा । ज० २ वक्र० ।

अवदार-अपदार-न० । द्वारिकायाम्, ज्ञा० २ अ० । “तेण अव-
हारेण, सो अतिगतो असोणवणिपाए” । आ० म० चि० ॥

अवदाहण-अपदाहन-न० । तथाविधप्रभन्ने, विपा० १ भु० १ अ० ।

अवधंस-अपधंस-पुं० । अपधंसनमपधंसः । चारित्रस्य तत्फ-
स्य चाऽसुरादिभावनाजनिते निवासे, स्था० ।

चतुर्विद्वे अवहंसे पण्णत्ते । तं जहा-आसुरे, आनियोगे,
संमोहं, देवकिंत्वमे ॥

तत्रासुरभावनाजनित आसुरो येषु चानुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्व-
मर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभावना । एवं भावनाऽन्तरर्माप ।
अनियोगभावनाजनितः अनियोगः, संमोहभावनाजनितः
संमोहः, देवकिल्विपभावनाजनितो देवकिल्विप इति । इह च
कन्दर्पभावनाजनितः कन्दर्पोऽपधंसः पञ्चमोऽस्ति, स च सन्नपि
नोक्तः; चतुःस्थानकानुगोधान् । भावना हि पञ्चोऽऽगमेऽजिहताः ।
आह च-“कंदप्प १ देवार्काध्वि स २, अभियोगा ३ आसुरा य ४
संमोहा ५ । पसा उ संकिलिहा, पंचविहा भावणा भणिया”
॥ १ ॥ आसां च मध्ये यो यस्यां भावनायां वर्त्तते, स तद्विध-
व्येव देवेषु गच्छति, चारित्रलेशप्रभावात् । उक्तं च-“जो संजज्जो

विण्या-सु अप्सस्तथासु वट्टइ कहिं चि । सो तद्विवहेसु गच्छइ,
सुरेसु भइओ चरसहणीणो ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ग्रा० ४ उ० ।

अवधारितव्य-अवधारयितव्य-न० । संप्रधारणीय, पञ्चा० ३
चित्र० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, वृ० ४ उ० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अव-धू-क्त । अनिच्छते, निवर्तिते,
चालिते, घनादिते च । “यो विलङ्घयाऽऽश्रमान् वर्णान्, आत्मन्येव
स्थितः पुमान् । अनिवर्णाश्रमी योगी, अवधूतः स उच्यते” ॥ १ ॥
इत्युक्तवृत्तौ परमहंस, वाच० । स्वनामख्यात लौकिके अध्या-
त्मचिन्तके आचार्ये, यदाहावधूताचार्यः-त प्रत्ययानुग्रहमन्त-
रेण तत्त्वशुश्रूषादयः, उदकं पयोऽमृतकल्पज्ञानजनकत्वात् ।
ल० । विक्रिते, आव० ४ अ० ।

अवप्योग-अवप्रयोग-पुं० । विरुद्धौपधियोगे, वृ० १ उ० ।

अववृष्ट-अववृष्ट-त्रि० । अर्थग्रहणपूर्वकं विद्याऽऽदिग्रहणनि-
मित्तं विवर्तितकालपरायत्ते, ध० ३ अधि० । ग० ।

अववृद्ध-अववृष्ट-त्रि० । अवगते, अने० २ अधि० ।

अवबोध-अवबोध-पुं० । निजापरिहारे, ध० २ अधि० । ज्ञानि-
त्वे, विशेष० । संज्ञायाम्, स्मृतौ, संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्था-
न्तरम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अवबोहण-अवबोधन-न० । प्रतारणे, वञ्चने, शिक्षणे च ।
ख्या० ८ अध्या० ।

अवबोधि-अवबोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू० १ अ० ।

अवबोध-अवबोध-पुं० । अपभ्रश्यते इत्यपञ्चशः । संस्कृतभाषा-
विकृतौ, “पष्ठे ऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रशः” तत्परिज्ञान-
मेकान्विशः कलाभेदः । कल्प० ७ ज्ञ० ।

अवजास-अवजास-पुं० । तेजसो ज्ञानस्य च प्रतिभासे, सू० प्र०
३ पाद० ।

अवभासिय-अवजासित-त्रि० । प्रकाशिते, विशेष० ।

अपभाषित-त्रि० । दुष्टभाषिते, व्य० १ उ० ॥

अवमणत-अवमन्यमान-त्रि० । परिहरति, “मा एयं अवमनता,
अप्येणं लुपहा वहु” । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अवमद-अवमद-पुं० । अपवर्त्तने, “अवमदं अप्णो परस्स य
करेति” । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवमाण-अपमान-न० । अनादरे, उक्त० १ ए अ० । विनयभ्रंशे,
प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

अवमान-न० । हस्तादौ ड्यप्रमाणे, स्था० ४ ग्रा० १ उ० ।

अवमाण-अपमानन-न० । यूयमित्यादिवाच्यत्वमित्यादिरू-
पे अपृजावचने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अनभ्युत्थानादिजिः
अपूजने, औ० । प्रश्न० ॥

अवमाणिय-अपमानित-त्रि० । अपमानं ग्राहिते, “अवमा-
णिनो नदिदेण” । व्य० १ उ० । वृ० ॥

अवमाणियदोहला-अवमानितदोहदा-स्त्री० । क्षणमपि ले-
शेनापि च अनापूर्णमनोरथायाम्, न० ११ श० ११ उ० ।

अवमार-अपमार-पुं० । चित्तविकृतिजं गदे, स च वानपित्त-
श्लेष्मसंनिपातजत्वाच्चतुर्था । तदुक्तम्-“त्रिमाऽऽवेशः समर-
म्भो-द्वेपांजको हतस्मृतिः । अपमार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्च-
तुर्विधः” ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अवमारिय-अपमारित-त्रि० । अपमारः संज्ञानोऽस्य । अप-
मारगंगवति-अपगतसदसां द्वेकप्रमसूच्यादिकामवस्थामनु-
भवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ॥

अवमिय-अवमित-त्रि० वणिते, वृ० ३ उ० ॥

अवय-अपद-न० । वृत्तादौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । गोशीर्षचन्द्र-
नप्रभृतौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।
अवज-न० पञ्चे, प्रज्ञा० १ पद ।

अवच-त्रि० । अनुच्चे, उक्त० ३ अ० । जघन्ये, सूत्र० १ श्रु०
१० अ० ।

अवयक्यत-अवपेक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयति, ओघ० ।

अवयक्यमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । अपेक्षमाणे, अवकाङ्क्षति च ।
“ममं रुवाइं अवयक्यमाणस्स” अवकाङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य
वा । भ० १० श० २ उ० ।

अवयग-देशी-न० । पर्यन्ते, स्था० २ ग्रा० १ उ० । “अवयगं”
इति देशीवचनोऽन्तवाचकः । भ० १ श० १ उ० ।

अवयज्झ-इज्-धा० । “इशो निअज्झ० ण । ४ । १८१ । इत्यादिना
इशेरवयज्झादेशः । अवयज्झ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवयण-अवचन-न० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सिते वचने,
स्था० ६ ग्रा० ।

अवचनानि-

नो कप्पइ निगंयाण वा निगंथीण वा इमाइं उ अवयणा-
इं वउत्तए । तं जहा-अलियवयणे, हीलियवयणे, खिमिय-
वयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउवसमियं वा पुणो
उदीरत्तए ॥

[नो कप्पइत्ति] वचनव्यययाद् नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां नि-
ग्रन्थीनां वा इमानि प्रत्यक्षासन्नानि, पडिति पदसंख्याकानि,
अवचनानि-नञः कुत्सार्थत्वाद्प्रशस्तानि वचनानि, वदितुं भा-
षितुम् । तद्यथा-प्रलीकवचनं, हीलितवचनं, खिसितवचनं, प-
रुपवचनम्, अगारस्थिता गृहणस्तेषां वचनं, व्यवशमितं वा
उपशमितकरणं, पुनः भूयोऽपि, उदीरयितुं न कल्पत इति क्रमः ।
अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचनं नाम षष्ठमवचनमुक्तमिति
सूत्रसंकेपार्थः ।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थमभिधितुराह-

उच्चेव अवत्तवा, अग्निगे हीलीय-खिस-फरुसे य ।

गारत्थ-विओसमिए, तेसि च परुवणा इणमो ॥

परुवावचनान्यवक्तव्यानि साधूनां वक्तुमयोग्यानि । तद्यथा-अ-
लीकवचनं, हीलितवचनं खिसितवचनं, परुपवचनं, गृहस्थव-
चनं, व्यवशमितोदीरणवचनम्, तेषां च षष्ठमपि यथाक्रममि-
यं प्ररूपणा ॥ श्रु० ६ उ० । (अलीकवचनव्याख्याऽस्मिन्नेव भागे
‘अग्निवयण’ शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता)

अत्र प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाए, खिसा फरुसवयणं च वदमाणो ।

गारुत्य-वि ओसामिए, इमं च जं तेमि णाणत्तं ॥

एवमेव हीलितवचनं, खिसावचनं, परुषवचनमगारुत्यवचनं, व्यवशमितोदीरणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यच्च-
तेषां नानास्व तदिदं भवति-

आदिघ्नेमुं चउमुं, विसोहि गुरुगादि निजमासंता ।

पणुवांसओ विजाओ, विसेसितो वितिय पदिलोमं ॥

आदिघ्नेषु चतुर्ष्वपि हीलितखिसितपरुषगृहस्थवचनेषु शोधि-
अतुर्गुरुकादिका निजमासंता आचार्यादीनां प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् ।
तद्यथा-आचार्य आचार्य हीलयति चतुर्गुरु १, उपाध्यायं हीलय-
ति चतुर्गुरु २, भिक्षुं हीलयति मासगुरु ३, स्थविरं हीलयति
मासलघु ४, शूलकं हीलयति भिक्षमासः ५। एतान्याचार्यस्य त-
पःकालाभ्यां गुरुकाणि भवन्ति, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उ-
क्ताः । उपाध्यायादीनामपि चतुर्णामेवमेव पञ्च पञ्च संयोगा भव-
न्ति । सर्वसङ्ख्यया ते पञ्चविंशतिर्भवन्ति । अत एवाह-पञ्चविंश-
तिकः पञ्चविंशभङ्गपरिमाणो विभागोऽयं भवति । स च तपः-
कालाभ्यां विशेषितः कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चि-
त्तं प्रतिलोमं विज्ञेयम्; निजमासाद्यं चतुर्गुरुकान्तमित्यर्थः ।
एवं खिसितपरुषगृहस्थवचनेष्वपि शोधिर्मन्तव्यम् । वृ० ६ उ० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

पढमं विगिंचणट्टा, उवलंनविगिंचणा य दोसु जवे ।

अणुसासणा य देमी, छट्टे य विगिंचणा जणिता ॥

प्रथममलोकवचनमयोग्यशैक्षस्य विवेचनार्थं वदेत्, द्वयोस्तु
हीनितखिसितवचनयोर्यथाक्रममुपाध्यायमभिवेचने कारणे भव-
तः-शिक्षादानम्, अयोग्यशिक्षापरित्यागश्चेत्यर्थः । परुषवचनं
तु परसाध्यस्यानुशासनां कुर्यन्, गृहस्थवचनं पुनर्देशी देशभा-
षामाश्रित्य भवेत् । पष्ठे च व्यवशमितोदीरणवचने, शैक्षस्य
विवेचनं कारणं भणितम् । गाथायां स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् ।
इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनां विवरीपुराह-

कारणिए दिक्खंता, नरियम्मि कज्जे जहंति अणलं तु ।

संजमजरक्खट्टा, होट्टुं दाऊण य पत्ताई ॥

कारणे अशिवादावनशोभ्यः शैक्षो दीक्षितः, ततस्तस्मिन् स-
मापिते तस्मिन् कार्ये तमनत्रं जहति । कथम्?, इत्याह-संयमय-
शोरक्तार्थ-संयमस्य, प्रवचनयशःप्रवादस्य च रक्षणार्थं, 'होट्टुं'
गाढमलोकं दत्त्वा पलायन्तः शीघ्रमन्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।यः पुनर्गाचार्यः समाचार्यो, सारणादिप्रदाने वा सीदति तमु-
हिद्वयेत्यं हीलितवचनं वदेत्-

केण स गणिं ति कतो, अहो गणी जणति वा गणिं अगणिं ।

एव तु सीयमाण-स्म कुणति गणिणो उवलंभं ॥

केनात्ममोक्षितकारिणाऽयं गणीकृतः । यथा-अहो ! अयं गणी,
अथवा गणिनमप्यणिनं भणति । एवं गणिनः सामाचार्यो शि-
क्षादाने वा विधीदने उपालम्भं करोति ।

अगणिं व जणति गणिं, यदि नाम पठेज्ज गारुवण वि तं ।

एमेव सेसएसु वि, वायगमादीसु जाणत्ता ॥

यदि कोऽपि बहुशोऽपि भण्यमानो न पठति ततस्तमगणिन-

मपि गणितं भणति; यदि नाम गौरवेणापि पठेत् । एवमेव शेषे-
ष्वपि वाचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेद्-योजनं कुर्यात् ।
खिसावयणविहाणा, जे चिय जार्ताकुत्तादिया वुत्ता ।
कारणियदिक्खियाणं, ते चेर विगिंचणोवाया ॥खिसावचनविधानानि बान्येव जातिकुत्तादीनि पूर्वमुक्तानि, त
एव कारणिकदीक्षितानामयोग्यानां कारणप्रव्रजितानां विवेचने
परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्जं मउयवयं, अगणेमाणं जणंति फरुमं च ।

दव्वओ फरुमवयणं, वयंति देमिं समासज्ज ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते स खर-
साध्य उच्यते । तं खरसाध्यं मृदुवाचमगणयन्तं परुषमपि भण-
न्ति । देशी देशभाषां समासाद्य उच्यते; परुषवचनमपि वदन्ति;
उच्यते नाम न हृष्टभावतया परुषं भणन्ति, किन्तु तत्स्वाभाव्यात्,
यथा-मालवास्यामिश्रितः अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा
तथा देशी देशभाषामाश्रित्य साधवोऽपि ज्ञान्ति ।

खामियदोमवियाई, उप्पाएऊण दव्वतो रुटो ।

कारणदिक्खिय अनज्जं, असंखडीओ ति धारंति ॥

यः कारणे अनज्जो दीक्षितस्तेन समं समापिते कार्ये पुनः क्षामि-
तव्युत्सृष्टान्यधिकारणान्युत्पाद्य उच्यते । दुष्टभावं विना रुष्टो कु-
पितो बहिः कृत्रिमान् कोपविकारान् दर्शयन्नित्यर्थः । असंखडि-
कोऽयमिति दोषमुत्पाद्य तमनत्रं शैक्षं धाटयति-गच्छान्निष्कास-
यति । वृ० ६ उ० ।अवयव-अवयव-पुं० । अवयविन एकदेशे, अनु० । अनुमितिवा-
क्यैकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यव-
यवाः । दश० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा-
विशुद्धिः, हेतुहेतुविशुद्धिः, दृष्टान्तो दृष्टान्तविशुद्धिः, उपसंहार
उपसंहारविशुद्धिः, निगमनं निगमनविशुद्धिः । दश० १ अ० ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-

मिगी सिही विमाणी, दाही पक्खी खरी नही वाली ।

हुपय चउपय बहुपय, लंगूली केमरी कउही ॥१॥

परिअरवंधणभरु जा-णिज्जा महिलिअं निवसणेणं ।

सित्थेण दोणवायं, कविं च एक्काएँ गाहाए ॥ २ ॥

सेत्तं अवयवेणं ।

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवोऽवयविन एकदेशस्ते-
न नाम यथा-'सिगी सिहीत्यादि' गाथा । शृङ्गमस्यास्तीति शृङ्गी-
त्यादीन्यवयवप्रधानानि सर्वाण्यपि सुगमानि, नवरं द्विपदं स्या-
दि, चतुष्पदं गवादि, बहुपदं कर्णवृक्षाद्यादि । अत्रापि पादवृत्तणा-
वयवप्रधानता भावनीया । [कविहिंति] ककुद् स्क्न्धाऽऽसन्नोन्नत-
देहावयववृत्तणमस्यास्तीति ककुद्वा वृषज इति । 'परिअर' गाथा ।
परिकरवन्धनं विशिष्टेनपथ्यरचनावृत्तणेन, भट्टे शूरपुरुषं, जानी-
यावृत्तयेनान्ता-निवसनेन विशिष्टरचनारचितपरिहितपरिधान-
लक्षणेन महिला स्त्री तां, जानीयादिति सर्वत्र संबध्यते । धान्यानां
दोणस्य पाकः स्वन्नारूपः, तं च तन्मध्याद् गृहीत्वानिरीकिते-
नैकेन सिक्थेन जानीयात् । एकया च गाथया लालित्यादिका-
व्यधर्मोपेतया श्रुतया कविं जानीयात् । एवमत्राभिप्रायः-बदा स
नेपथ्यपुरुषाद्यवयवरूपपरिकरवन्धादिदर्शनद्वारेण भट्टमहिला-

पाककविशब्दप्रयोगं करोति तदा भटादीन्यपि नामान्यवयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वादवयवनामान्युच्यन्ते इति इह तदुपन्यास इति । इदं चावयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वात्सामान्यरूपतया प्रवृत्ता-ज्ञानासौ निश्चित इति ॥ अनु० ॥

अवयवि (ए)-अवयविन्-त्रि० । प्रदेशिद्रव्ये, स्था० रत्ना० ।

नन्ववयविद्रव्यमेव नास्ति, विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वात्, खरविषाणवत् । तथाहि-अवयविद्रव्यमवयवेष्वपि भिन्नम्, अजिन्नं वा स्यात् ? । न तावदभिन्नम् । अत्रेदे हि अवयविद्रव्यवदवयवानामेकत्वं स्यात्, अवयववद्वाऽवयविद्रव्यस्याप्यनेकत्वं स्यात्, अन्यथा जेद एव स्यात्, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदनिबन्धनत्वादिति । जिन्नं चेत् तत् तेभ्यः, तदा किमवयविद्रव्यं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवैति, देशतो वेति ? । यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसंख्यमवयविद्रव्यं स्यात्, कथमेकत्वं तस्य ? । अथ देशैः समवैति, ततो यैर्देशैरवयवेषु तद्वर्तते तेष्वपि देशेषु तत्कथं प्रवर्तते-देशतः, सर्वतो वा ? । सर्वतश्चेत्, तदेव दूषणम् । देशतश्चेत्तेष्वपि देशेषु कथम्?, इत्यादिरनवस्था स्यादिति । अत्रोच्यते-यदुक्तं विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वादिति । तदयुक्तम् । एकान्तेन भेदाभेदयोरनभ्युपगमात् । अवयवा एव हि तथाविधैकपरिणामतया अवयविद्रव्यतया व्यपदिश्यन्ते; त एव च तथाविधविचित्रपरिणामापेक्षया अवयवा इति । अवयविद्रव्याभावे तु पते घटावयवा एते च पटावयवा इत्येवमसङ्कीर्णव्यवस्था न स्यात् । तथा च प्रतिनियतकार्यार्थिनां प्रतिनियतवस्तुपादानं न स्यात्, तथा च सर्वमसमञ्जसमापनीयं । सन्निवेशविशेषाद्व्याघ्रवयवानां प्रतिनियतता भविष्यतीति चेत् ? । सत्यम्, केवलं स एव सन्निवेशविशेषोऽवयविद्रव्यमिति । यच्चोच्यते-विरुद्धधर्माध्यासो जेदनिबन्धनमिति । तदपि न सूक्तम् । प्रत्यक्षसंवेदनस्य परमार्थापेक्षया भ्रान्तत्वेन संव्यवहारपेक्षया त्वभ्रान्तत्वेनाशुपगमादिति । यदि नाम भ्रान्तत्वमभ्रान्तत्वं कथमिति ?, एवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च-विद्यते अवयविद्रव्यम्, अवयवभिरित्यतया तथैव प्रतिभासमानत्वात्, अवयववन्नीलवद्वा । नचायमसिद्धो हेतुः, तथाप्रतिज्ञासस्यानुज्ञयमानत्वात् । नाप्यनैकान्तिकत्वविरुद्धत्वं, सर्ववस्तुव्यवस्थायाः प्रतिभासाधीनत्वात् । अन्यथा न किञ्चनापि वस्तु सिद्धेदिति । स्था० १ टा० १ उ० । रत्ना० । आचा० । सम्म० ।

अवयासण-अवजासन-न० । वृक्षादीनां प्रभावेन चालने, पं० व० ४ द्वार ।

श्लेषण-न० । वृक्षादीनामालिङ्गपने, वृ० १ उ० ।

अवयासाविय-आश्लेषित-त्रि० । आलिङ्गिते, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

अवयासेरुण-अवकाश्य-अव्य० । प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्यर्थे, तं० ।

अवर-अपर-त्रि० । अन्यस्मिन्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रश्ना० नि०

चू० । सू० प्र० । ज्ञा० । “अवरं वोच्छे” अपरमिति उक्तादन्यद् वदामि । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, चं० प्र० ३ पाहु० । पश्चात्कालभाविनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आ० म० । पश्चिमे, “अवरेण पज्ञासं ताहे सिधुदेवि ओवेइ” ।

आ० म० प्र० । न परोऽपरः । स्वस्मिन्, वृ० ३ उ० ।

अवरकंका-अपरकङ्का-स्त्री० । धातकीखण्डभरतकेत्रराजधान्याम, ज्ञा० १ अ० । (तत्र हुताया द्रौपद्या अनयनाय कृष्णस्य

गमनं ‘दुवई’ शब्दे वदयते) एतदर्थप्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः पारंशोऽध्ययनं, स० १८ सम० । प्रश्ना० । ज्ञा० । आव० । स्था० । “कण्डस्सऽवरकंका” कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य द्रौपदीनिमित्तमपरकङ्कागमनमाश्चर्यम् । कल्प० २ त्त० ॥

अवरञ्ज-अपरोक्ष-न० । अविद्यमानानि परेषामङ्गीणि द्रष्टव्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमङ्गे, त्रिंशत्तमे गौणवैर्ये च । प्रश्ना० ३ आश्ना० द्वार ।

अवरज्झत-अपराध्यत्-त्रि० । दोषमावहति, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रजसा श्लिष्यमाणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । नश्यति, उक्त० ७ अ० ।

अवरणह-अपराह-पुं० । दिनस्य चरमप्रहरे, स्था० ४ टा० २ उ० । “पुष्पावरणहकालसमयसि” । पाश्चात्यापराहका-लसमयो दिनस्य चतुर्थप्रहरलक्षणः । नि० ३ वर्ग० ॥

अवरणहकाल-अपराहकाल-पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य पश्चिमेन गमने, आ० चू० १ अ० ।

अवरत्त-अपररात्र-पुं० । रात्रेरपरं जागे, स्था० ४ टा० २ उ० । “पुष्पावरत्तकालसमयसि” । विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अवरदारिय-अपरद्वारिक-न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु, स० ९ सम० । “पुस्त्या इया एं सत्त एक्खत्ता अवरदारिया पणत्ता । तं जहा-पुस्त्या, असिन्नेसा, मघा, पुष्पाफगुणी, उत्तराफगुणी, हत्था, चित्ता” । स्था० ४ टा० ४ उ० ।

अवरदाहिण-अपरदक्षिण-पुं० । अपरदक्षिणदिग्भागे, पश्चा० २ विव० ।

अवरदाहिणा-अपरदक्षिणा-स्त्री० । नैऋत्यां दिशि, व्य० ९ उ० ।

अवरद्ध-अपराद्ध-न० । अपराधनमपराद्धम् । पीडाजनकता-याम्, पि० । विनाशिते, त्रि० । ज्ञा० १ अ० ।

अवरद्धिय-अपराद्धिक-पुं० । अपराधनमपराद्धम्-पीडाजनकता;

तदस्यास्तीति अपराद्धिकः । लूतास्फोटे, सर्पादिदेशे च । पि० ।

अवरफाण-अपरपाणी-स्त्री० । पारिणकायाम्, व्य० ८ उ० ।

अवरममवेहित-अपरममवेधित्व-न० । परममर्तुदुग्धघटनस्वरूपत्वे विज्ञातितमे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अवरराय-अपररात्र-पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामद्वये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह-अपरविदेह-पुं० । अपरश्चासौ विदेहश्च । स्था० २ टा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहजागे, स्था० १० टा० । तत्र सदा दुष्पमसुषुप्तमोक्षमर्द्धिः । स्था० २ टा० ३ उ० ।

जं० । “दो अवरविदेहाई” स्था० २ टा० ३ उ० ।

अवरविदेहकूट-अपरविदेहकूट-न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्र० । स्था० ॥

अवरसामस-अपरसामान्य-न० । छव्यत्वादौ-सामान्यव्याप्यसामान्ये, स्था० ।

अवरहा-अपरथा-अव्य० । अन्यथाऽर्थे, पश्चा० ७ विव० ॥

अवराट्या-अपराजिता-स्त्री० । महावत्सविजयकेनस्य रा-

जधानां युगले, जं० ४ वक्षः । स्था० । शङ्खविजयकेतयुगले
राजधानां युगले, स्था० २ वा० ३ उ० । जं० । उत्त० ।

अवराह—अपराध—पुं० । गुरुविनयलङ्घने, आव० १ अ० ।
“ एव मे अवराहं मरिचं ” । सा० म० द्वि० । (अपराधमर्षणे
वधूदण्डोऽन्यत्र) “ अवराहसहस्रघरणीश्रो ” । अप-
राधसहस्रगृहणिरूपाः (स्त्रियः), ब्रह्मदत्तमातृचुत्रनीवत् । तं० ।

अवराहपय—अपराधपद—न० । मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थाने, दश० ।

अपराधपदमाह—

इंदियविषयकमाया, परीसहा वेपणा य उवसग्गा ।

एए अवराहपया, जत्य विसीयंति दुम्मेहा ॥१८१॥

इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, विषयाः स्पर्शादयः, कथायाः क्रोधा-
दयः । इन्द्रियाणि चेत्यादि द्वन्द्वः । परीपहाः कृत्तिपासादयः, वे-
दना अशातानुभवलक्षणः, उपसर्गा दिव्यादयः । एतान्यपराधप-
दानि मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानानि । यत्र येऽपिन्द्रियादिषु सत्सु
विपीडयन्ति आबध्यन्ते । किं सर्व एव ? नेत्याह—दुर्मेधसः, भ्रूल-
कवत् । कृतिनस्तु एभिरेव कारणचूतैः संसारकान्तारं तरन्तीति
गाथाऽर्थः । कुत्रकस्तु पदे पदे विपीडय संकल्पस्य वशं गतः ।
कोऽसौ भ्रूलकः ? । कथानकम्—“ कुंकणश्रो जहा एगो खेतो
सपुनश्रो पयइश्रो । सो य चेसुश्रो तस्स अईयइठो सीयमाणो य
भणइ—खंता ! ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउं । अणुकंपाए खं-
तेण दिएणाश्रो उवाहणाश्रो । ताहे भणइ—उवरितला सीएण कुं-
ट्टति । खट्ठिता से कयाश्रो । पुणो भणइ—सीसं मे अईय रुज्जइ । ता-
हे सीसडुवारिया से अणुमाया । ताहे भणइ—न सक्केमि मि-
क्खं हिंडिउं । तां से पडिसए त्रिपस्स आणेइ । एवं ण तरा-
मि खंत ! भूमीए सुविउं । ताहे संथारो से अणुणाश्रो । पुणो-
भणइ—ए तरामि खंत ! लोयं काउं । तो खुरण पकिज्जियं । ताहे
भणति—अट्ठाण्यं न सक्केमि । तश्रो से फासुयपाणण कप्पो
दिज्जइ । आयरियपाउगं च जुयलं धिप्पति । एवं जं जं भणति
तं तं मो खेतो णेहपमिबद्धो तस्स अणुजाणति । एवं कावे गच्छमा-
णे पमणिश्रो—न तरामि अविरइयाए विणा अचिउं खंत ! चि ।
ताहे खंतो जणइ—सदो अजोगोत्ति काऊण पमिसयाओ णिक्के-
डिश्रो । कम्मं काउं ण याणइ । अयाणंतो छुणसंखडीए
धणिं काउं अजिण्णेण मश्रो । विसयविसदो मरिउं महिसो
आयाश्रो वाहिज्जइ । सो य खंतो सामरणपरियागं पालेऊण
आउक्खए काणगश्रो देवसु उववसो, ओहिं पउंजइ । ओहिणा
आभोएऊण तं चेलनयं तेण पुव्वणेहेण तस्मिं गाहाणं हत्थश्रो
किणइ । वेउव्वियभेडीए जोएइ वाहेइ य गरुणं तं । अतरंतो
वोदुं तोत्तएण विंधउं भणइ—ण तरामि खंत ! निक्खं हिंडिउं । ए-
वं भूमीए सयणं ज्ञोयं काउं । एवं ताणि वयणाणि सच्चाणि उ-
च्चारेति, जाव अविरइयाए विणा न तरामि खंत ! चि । ताहे
एवं भणंतस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं—कहं पारिसे
वक्के सुअं ति ? ताहे ईहापुहमगणगवेसणं करइ । एवं चित्तयं-
तस्स तस्स जातिसरणं समुपसं । देवेण ओही पउत्ता । संयु-
द्धो पच्छा भत्तं पच्छक्खइत्ता देवल्लोयं यश्रो ” । “ एवं पए पए
विमीदंतो संकप्पस्स वसं गच्छति । जम्हा एसो दोसो तम्हा
अट्ठास्स सीसं गहस्सणं सारणाणिमित्तं एए अवराहपय
वउंजज्ज ” । तथाचाह—

अट्ठास्स उ महस्सा, सीलंगाणं जिण्हिं पयत्ता ।

तेमि पमिक्खणद्धा, अवराहपए उ वज्जेज्जा ॥१८२॥

अष्टादश सहस्राणि; तुरवधारणे; अष्टादशैव, शीलं भावसमा-
धिलक्षणं, तस्याङ्गानि जेदाः, करणानि वा शीलाङ्गानि; तेषां जिनैः
प्राप्तिरूपितशब्दार्थैः प्रकृतानि प्ररूपितानि । तेषां शीलाङ्गानां,
परिरक्षणार्थं परिरक्षणानिमित्तं, अपराधपदानि प्रागभिहितस्व-
रूपाणि, वर्जयेद् जह्यादिति गाथाः । दश० २ अ० । आ० चू० ।

अवराहसल्लपजव—अपराधशब्दप्रजव—त्रि० । पृथ्वीसंघट्टाद्य-
तिचाररूपशल्यानिमित्ते, पञ्चा० १६ विव० ।

अवराहुत्त—अपराभृत—पुं० । पञ्चान्मुखे, “ अवराहुत्तो वा-
यंति ” । आव० ४ अ० ।

अवरिं—उपरि—अव्य० । “ वोपरौ ” ८ । १। १०८ । इति उतोऽ-
त्वम् । “ वक्रादायन्तः ” । ८ । १। १६ । इत्यनुस्वारागमः । प्रा० १
पाद । प्रथमापञ्चमीसमम्यन्तार्थवृत्तेरुर्वशब्दस्यार्थे, वाच० ।
अवरिद्धि—(न०)उपरि—अव्य० । प्रावरणे, “ उपरः संव्याने ” ।
८ । १। १६६ । इति संव्यानेऽर्थे वर्तमानादुपरिशब्दात् स्वार्थे
ञ्जिविधानात् । प्रा० २ पाद ।

अवरिसण—अवर्षण—न० । अपानीयपाते, दर्श० ।

अवरुत्तर—अपरोत्तर—पुं० । अपरोत्तरस्यां दिशि, पञ्चा० १ विव० ।

अवरुत्तरा—अपरोत्तरा—स्त्री० । वायव्यां दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरोप्पर—अपरस्पर—न० । “ परस्परस्यादिरः ” । ८ । ४। ४०६ ।

इति अपभ्रंशे परस्परशब्दस्यादिरकारः । अन्योऽन्यशब्दार्थं,
“ अवरोप्पर जोहंताहं, सामिउ गंजिउ जाहं ” । प्रा० ४ पाद ।

अवरोह—अवरोध—पुं० । अन्तःपुरे, औ० । परचक्रणवेष्टने,
नि० चू० ८ उ० । (तत्र भित्ताटनाऽऽदिव्यवस्था ‘उवरोह’ शब्दे
छितीयजां ९०७ पृष्ठे उष्ट्रव्या)

अवलंब—अवलम्ब—त्रि० । अधोमुखतयाऽवलम्बमाने, औ० ।

अवलंबग—अवलम्बक—न० । दण्डके, व्य० ४ उ० ।

अवलंबण—अवलम्बन—न० । अवलम्ब्यत इति अवलम्बनम् । कृद्-
बहुलमिति वचनात्कर्मण्यनद् । विशेषसामान्यार्थावग्रहः, न० । क-
थं विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनम्?, इति चेत् । उच्यते । इह
शब्दोऽयमित्यपि ज्ञानं विशेषावगमरूपत्वाद्वायज्ञानम् । तथा-
हि—शब्दोऽयं, नाशब्दो रूपादिरिति शब्दस्वरूपावधारणं वि-
शेषावगमः, ततोऽस्माद् यत्पूर्वमनिर्देश्यसामान्यमात्रमवग्रहण-
मेकसामायिकं स पारमार्थिकोऽर्थावग्रहः । तत् ऊर्ध्वं तु यत्कि-
मिदमिति विमर्शनं सा ईहा, तदनन्तरं तु शब्दस्वरूपावधारणं
शब्दोऽयमिति तदवायज्ञानम् । तत्रापि यदा उत्तरधर्मजिज्ञासा
भवति—किमयं शब्दः शाङ्खः, किं वा शाङ्गः ? इति; तदा पाश्चात्यं
शब्द इति ज्ञानमुत्तरविशेषावगमापेक्षया सामान्यमात्रावग्रहण-
मित्यवग्रह इत्युपचर्यते । स च परमार्थतः सामान्यविशेषरूपार्थाव-
लम्बन इति विशेषसामान्यार्थावग्रह इत्युच्यते । इदमेव च श-
ब्द इति ज्ञानमालम्ब्य किमयं शाङ्खः, किं वा शाङ्गः? इति ज्ञान-
मुदयते । ततो विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनम् ॥ न० । अवल-
म्ब्यते इत्यवलम्बनम् । अवतरतामुत्तरतां चावलम्बनहेतुभूते अ-
वलम्बनवादातो विनिर्गतेऽव्यये, जं० १ वक्ष० । रा० । जी० ।

आ० म० । अवलम्ब्यते इत्यवलम्बनम् । वेदिकायाम्, मस्त-
कावलम्बे च । नि० चू० ।

अवलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे य णायव्वं ।

दुहतो व एगतो वा, विवेदिया सा तु णायव्वं ॥

अवलंबणं दुविहं-भूमि ए वा, संकमे वा जयति । भूमी ए विस-
मे लग्गणणिमित्तं कज्जति । संकमे वि लग्गणणिमित्तं कज्जति । सो
पुण दुहतो एगत्तो य भवति । सा पुण (वेदियं) मतावलंबो,
नि० चू० १ उ० । भावे द्युद्, करेण बाह्यादि गृहीत्या धारणे,
“सव्वंगियं तु गहणं, करेण अवलंबनं तु देसम्मि” ति । स्था० ५
गो २ उ० । (पर्वतादौ पतन्त्या निग्रन्थ्या अवलम्बनं ‘गह-
ण’ शब्दे वक्ष्यते)

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री० । अवलम्बनस्य भावोऽवल-
म्बनता, अवग्रहे, न० ।

अवलंबणवाहा-अवलम्बनवाहा-स्त्री० । उभयोः पार्श्वयोरव-
लम्बमानानामाश्रयभूतायां भित्तौ, आ० म० प्र० । जं० जी० ॥

अवलंबविज्जण-अवलम्ब्य-अव्य० । आश्रित्येत्यर्थे, पं० व० २
द्वार । ग० । विपयीकृत्येत्यर्थे, आव० ५ अ० ।

अवलंबित्तए-अवलम्बितुम्-अव्य० । आकर्षयितुमित्यर्थे, दशा०
७ अ० ।

अवलंबिय-अवलम्बित-त्रि० । अविच्छिन्ने, ज्ञा० १ अ० ।

अवलम्ब्य-अव्य० । लगित्वेत्यर्थे, “णो गाहावतिकुलस्स दुवा-
रसाहं अवलंबिय अवलंबिय चिट्ठेजा” । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अवलम्ब-अपलम्ब-त्रि० । न्यक्कारपूर्वतया लब्धे, स्था० ए
गो । “परघरण्वेसे लद्धावन्नघाई” । अन्त० ५ वर्ग ।

अवलाव-अपलाप-पुं० । निह्वये, नि० चू० । यथा कस्य
सकाशेऽधीतम् ?, इति प्रश्ने अन्यसकाशेऽधीतमन्यस्मै कथ-
यति । नि० चू० १ उ० । आव० ।

अवलंबि-अवलम्बि-पुं० । देशविशेषे, स्था० २ गो ४ उ० ।

अवलेहणिया-अवलेखनिका-स्त्री० । अवलिख्यमानस्य वंश-
शलाकादेर्वा प्रतन्त्र्यां त्वचि, स्था० ४ गो २ उ० । वर्षावास-
कर्मस्फुटनिकायां पादलेखनिकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अवलेहिया-अवलेहिका-स्त्री० । तन्दुलकचूर्णकसिद्धे दुग्धे,
सिद्धे लेह्यविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अवलोकण-अवलोकन-न० । दर्शने, रत्नाधिकादौ मृते क-
पणमस्वाध्यायश्च कार्यः । ततोऽन्यदिने परिज्ञानायावलोक-
नं कार्यम् । आव० ४ अ० ।

अवलोकणसिहरमिन्ना-अवलोकनाशिखरशिला-स्त्री० । उ-
ज्जयन्तपर्वतशिलाविशेष, उज्जयन्ते-“अवलोकणसिहरसिला, अ-
वरेणं तत्थ वररसो सवइ । सुअपक्खसरिसवन्नो, करइ सुच्चवरं
हंम्” ॥ २७ ॥ ती० ४ कल्प ।

अवलोक-अवलोक-पुं० । वस्तुसद्भावप्रच्छादने विंशत्तमे गौ-
णाद्रीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवल्लय-अवल्लक-न० । नौकाक्षेपणोपकरणभेदे, आचा० १
श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अवव-अवव-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरववाङ्गशतसह-
स्राणि एकमववम् । जी० ३ प्रति० । म० । कर्म० । जं० ।
अनु० । स्था० ।

अववंग-अववाङ्ग-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरडडसहस्रा-
णि एकमववाङ्गम् । जी० ३ प्रति० । कर्म० । अनु० । स्था० ।

अववक्का-अवपाक्या-स्त्री० । तापिकायाम्, म० ११ शो ११ उ० ।

अववग्ग-अपवर्ग-पुं० । मोक्षे, आ० म० द्वि० ।

अववट्टण-अपवर्त्तन-न० । कर्मपरमाणूनां दीर्घस्थितिकालता-
मपगमस्य ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० ४ द्वार ।

अववट्टणा-अपवर्त्तना-स्त्री० । अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थि-
त्यादि यथा साऽपवर्त्तना । स्थित्यनुज्ञागयेह्रस्वीकरणे, क० प्र० ।

तत्र तावत् स्थितिचिपयाऽपवर्त्तनामाह-

ओवट्ठतो य ठिइं, उदयावलिवाहिरा ठिइविसेसा ।

निक्खवइ से तिजागे, समयाहिण्णं सेसमवइ य ॥ १११ ॥

वड्डइ ततो अतित्या-वणा य जावाज्जिगा हवइ पुन्ना ।

तन्निक्खेवो समया-हिगाज्जिगुणकम्मठिइणाणा ॥ ११२ ॥

स्थितिमपवर्त्तयन् उदयावलिवाह्यान् स्थितिविशेषान् स्थि-
तिजेदान् अपवर्त्तयति । के ते स्थितिविशेषाः ?, इति चेत् । उ-
च्यते-उदयावलिवाह्या उपरि समयमात्रा स्थितिः द्विसमयमात्रा
स्थितिः, एवं तावद्वाच्यं यावद् बन्धावन्निकोदयाऽवन्निका ही-
ना सर्वा कर्मस्थितिः । एते स्थितिविशेषाः । उदयावलिवाह-
ता च स्थितिः सकलकरणयोगेति कृत्वा तां नापवर्त्तयति । तत
उक्तम्-उदयावलिवाह्यानि । कुत्र निक्षिपतीति चेत् ? । उ-
च्यते । अत आह-निक्षिपति-आवलिवाह्यास्त्रिभागे तृतीये जागे
समयाधिके शेषे समयं न मुञ्चन्त्युपरितनं त्रिभागद्वयमतिक्रम्य ।
इयमत्र भावना-उदयावलिवाह्या उपरितनी या स्थितिस्तस्या
दन्निकमपवर्त्तयन् उदयावलिवाह्या उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ
समयानावतिक्रम्याधस्तनं समयधिके तृतीये जागे निक्षिपति;
एष जघन्यो निक्षेपो, जघन्या चातिस्थापना । यदा उदयाव-
लिवाह्या उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्त्तयते
तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणा द्विसमयाधिका भवति । नि-
क्षेपस्तु तावन्मात्र एव । एवमतिस्थापना प्रतिसमयं तावद्द्वि-
मुपनेतव्या यावदावलिवाह्या परिपूर्णा भवति । ततः परमतिस्था-
पना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव भवति; निक्षेपस्तु वर्द्धते । स च ता-
वद् यावद् बन्धावलिवाह्याऽतिस्थापनाऽऽवन्निकाऽरहितं सर्वाऽपि
कर्मस्थितिः । उक्तं च-“समयाहि अइत्थवणा, बन्धावन्निया य
मोत्तु निक्खेवो । कम्मठिइं वंधोदय-आवलिअं मुत्तु ओवट्ठ” ॥ १॥
कर्मस्थितिवन्धावलिवाह्यामुदयावलिवाह्यां च मुक्त्वा शेषां सर्वांमपि
अपवर्त्तयति इत्यर्थः । तदेवमुदयावलिवाह्या उपरितनं समय-
मात्रं स्थितिस्थानं प्रतीत्य वर्त्तमानायामपवर्त्तनायां समय-
धिके आवलिवाह्याः त्रिभागा निक्षेपः प्राप्यते । स च सर्वजघ-
न्यः । सर्वोपरितनं च स्थितिस्थानं प्रतीत्य प्रवर्त्तमानायामपव-
र्त्तनायां यथोक्तरूप उत्कृष्टो निक्षेपः । उक्तं च-“उदयावलि उप-
रित्थं, ठाणं अहिक्खि होइ अइहीणो । निक्खेवो सव्वोपरि, ठि-
इणाणवसा भवे परमो” ॥ १ ॥ एष निर्व्याघाते अपवर्त्तनाऽधि-
काराधिधिकः ।

संप्रति व्याघाते तमाह-

बाधाए समकृणं, कंठगमुक्कसिआ अस्त्यवणा ।

भायडिई किंचूणा, डिई कंडुकस्मगपमाणं ॥ २२० ॥

अत्र व्याघातां नाम स्थितिघातः तस्मिन् सति तं कुर्वत इत्यर्थः । समयोनं कण्टकमात्रमुत्कृष्टा अतिस्थापना । कथं समयोनमिति चेत् ? । उच्यते-उपरितनेन समयमात्रेण स्थितिस्थानेनापवर्तमानेन सह अधस्तात् कण्टकमतिक्रम्यते । ततस्तेन विना कण्टकं समयोनमेव जयति । कण्टकमानमाह-" डाय-डिई इत्यादि " । यस्याः स्थितेरारभ्य तस्या एव प्रकृतेरुत्कृष्टं स्थितिवन्धमाधत्ते, ततः प्रवृत्तिं सर्वा साऽपि स्थितिर्डीय-स्थितिरिति उच्यते । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहमूत्रटीकायाम्-यस्या यस्याः स्थितेरारभ्य उत्कृष्टं स्थितिवन्धं विधत्ते नि-र्मापयति तस्या आरभ्य उपरितनानि सर्वाण्यपि स्थितिस्था-नानि भायस्थितिसंज्ञानि जयन्ति, सा भायस्थितिः किञ्चिदूना कण्टकस्योत्कृष्टं प्रमाणम् । पञ्चसङ्ग्रहं पुनरेवं मूलटीकायाख्या-कृता-" सा भायस्थितिरुत्कर्षतः किञ्चिदूना किञ्चिदूनकर्मस्थिति-प्रमाणं वेदितव्या । तथाहि-अन्तःकोटीकोटीप्रमाणं स्थितिवन्ध-माधाय पर्याप्तसंक्षिपञ्चेन्द्रिय उत्कृष्टसंक्षेपवशादुत्कृष्टां स्थितिं विधत्ते इति सा डायस्थितिरुत्कर्षतः किञ्चिदूनकर्मप्रमाण-स्थितिप्रमायेति, सा चोत्कृष्टं कण्टकमुच्यते । इयमुत्कृष्टव्याघा-तोऽतिस्थापना । एतच्चोत्कृष्टं कण्टकं समयमात्रेणापि न्यूनं क-ण्टकमुच्यते । एवं समयद्वयेन, समयत्रयेण, एवं तावद् न्यूनं वाच्यं यावत् तत्पल्लोपमासंख्येभागमात्रं प्रमाणं जयति; तच्च जघन्यं कण्टकम्, इयं च समयोनजघन्या व्याघातेऽतिस्थापना । संप्रत्य-एवबहुत्वमुच्यते-तत्रापवर्तनायां जघन्यो निक्षेपः सर्वस्तोको, तस्य समयाधिकावलित्रिभागमात्रत्वात् । ततोऽपि जघन्या-तिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना, कथं त्रिसमयोने द्विगुणत्वमिति चेत् ? । उच्यते-व्याघातमन्तरं जघन्या अतिस्थापना आवल्लिका त्रिभागद्वयं समयोनं जयति, आवल्लिका चाऽसत्कल्पनया नवस-मयप्रमाणा कल्प्यते, ततस्त्रिभागद्वयं समयोनं पञ्चसमयप्रमाण-मवगन्तव्यम् । निक्षेपोऽपि जघन्यः समयाधिकावलित्रिभागा-गरूपोऽसत्कल्पनया चतुःसमयप्रमाणो द्विगुणीकृतस्त्रिसमयोनः सन् तावन्नेव भवतीति । ततोऽपि व्याघातं विना उत्कृष्टा अतिस्था-पना विशेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावल्लिकामात्रत्वात् । ततो व्याघा-ते उत्कृष्टा अतिस्थापना असंख्येयगुणा, तस्या उत्कृष्टभायस्थिति-प्रमाणत्वात् । ततोऽप्युत्कृष्टा निक्षेपो विशेषाधिकः, तस्य समया-धिकावलित्रि भागानसकलकर्मस्थितिप्रमाणत्वात्, ततः सर्वा कर्मस्थितिर्विशेषाधिका । संप्रत्युद्वर्त्तनापवर्तनयोः संयोगेनाह-प-बहुत्वमुच्यते-तत्रोद्वर्त्तनायां व्याघाते जघन्यावर्त्तनापवर्तनानि-क्षे-पो सर्वस्तोको, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यौ, आवल्लिकासंख्येय-भागमात्रत्वात् । ततोऽपवर्त्तनायां जघन्यो निक्षेपोऽसंख्येयगुणः, तस्य समयाधिकावलित्रिभागमात्रत्वात् । ततोऽप्यवर्त्तनायां जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना । अत्र भावना प्रागेव कृता । ततोऽप्यपवर्त्तनायामेव व्याघातं विना उत्कृष्टा अतिस्थापना वि-शेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावल्लिकाप्रमाणत्वात् । तत उद्वर्त्तना-यामुत्कृष्टातिस्थापना संख्येयगुणा, तस्या उत्कृष्टावधारूपत्वात् । ततोऽपवर्त्तनायां व्याघाते उत्कृष्टा अतिस्थापना असंख्येयगुणा, तस्या उत्कृष्टभायस्थितिप्रमाणत्वात् । तत उद्वर्त्तनाया उत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः; ततोऽप्यपवर्त्तनायामुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषा-धिकः; ततोऽपि सर्वा स्थितिर्विशेषाधिका" । क० प्र० पं० सं० ।

संप्रत्यनुभागापवर्त्तनामतिदेशेनाह-

..... एवं ओववट्टणार्ई उ ॥ १२१ ॥

एवमुद्वर्त्तनाप्रकारेणापवर्त्तनाऽप्यनुभागाविषया वक्तव्या, केव-लमादित आरभ्य स्थित्यपवर्त्तनावत् । तद्यथा-प्रथमं स्पर्धकं नापवर्त्तते, नापि द्वितीयं, नापि तृतीयं, एवं तावद्वत्तव्यं याव-दावल्लिकामात्रस्थितिगतानि स्पर्धकानि भवन्ति । तेन उप-रितनानि तु स्पर्धकान्यपवर्त्तन्ते । तत्र यदा उदयावल्लिकाया उपरि समयमात्रस्थितिगतानि स्पर्धकानि अपवर्त्तयति तदा समयोनावल्लिकात्रिभागद्वयगतानि स्पर्धकानि अतिक्रम्याधस्तनेषु आवल्लिकासत्कसमयाधिकत्रिजागतेषु स्पर्धकेषु निक्षिप्यते । यदा तूदयावल्लिकाया उपरि न द्वितीयसमयमात्रस्थितिगतानि स्पर्धकान्यपवर्त्तयति, तदा प्रागुक्ता अतिस्थापना समयो-नावल्लिकात्रिभागद्वयप्रमाणा समयमात्रस्थितिगतैः स्पर्धकैर-धिकाऽवगन्तव्या । निक्षेपस्तु तावन्मात्र एव, एवं समय-वृद्ध्या अनिस्थापना तावद्वृद्धिमुपनेतव्या यावदावल्लिका प-रिपूर्णा भवति, ततः परमतिस्थापना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव । नि-क्षेपस्तु वर्धते, एवं निर्व्याघाते सति छष्टव्यम् । व्याघाते पुनरनुजा-गकण्टकं समयमात्रस्थितिगतस्पर्धकान्यूनमतिस्थापना द्रष्टव्या । कण्टकमानं समयमात्रन्यूनत्वं च यथा प्राक् स्थित्यपवर्त्तनायामु-क्तं तथाऽत्रापि छष्टव्यम् । अत्राहपबहुत्वमुच्यते-सर्वस्तोको ज-घन्यनिक्षेपः, ततो जघन्यातिस्थापना अनन्तगुणा; ततो व्याघाते अतिस्थापना अनन्तगुणा, तत उत्कृष्टमनुजागकण्टकं विशेषा-धिकम्, तस्य एकसमयगतैः स्पर्धकैरतिस्थापनातोऽधिकत्वा-त् । तत उत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, ततोऽपि सर्वोऽनुभागो विशेषाधिकः । क० प्र० पं० सं० ।

अववट्टणामंक्रम-अपवर्त्तनामंक्रम-पुं० । प्रभूतस्य सतो रस-स्य स्तोकीकरणे, पं० सं० । अपवर्त्तनासंक्रमस्तु बन्धेऽबन्धे वा प्रवर्त्तते । " सवत्थाऽववट्टणा डिहरसाणं " इति वक्ष्यमाणव-चनात् । पं० सं० ५ द्वार ।

अववयमाण-अवपतत्-त्रि० । मृषावाद्मकुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अववरोविता-अव्यवरोपयिता-स्त्री० । अत्रांशकतायाम्, "जि-भामयाओ सोकखाओ अववरोवेसा भवइ" । स्था० ६ ग० ।

अववाय-अपवाद-पुं० । परदूषणाभिधाने, प्रअ० १ सम्ब० द्वार । द्वितीयपदाश्रयणे, दर्श० ध० । विशेषोक्तविधौ, यथा-"पु-ढवाइसु आसेवा, उपपन्ने कारणमि जयणाए । मिगरहियस्स तियस्सा, अववाओ होइ नायव्वो" ॥ ११॥ दर्श० ध० । पञ्चा० प्रति० नि० चू० । उत्सर्गस्य प्रतिपत्तं, वृ० १ उ० । (विशेषवक्तव्य-ता 'सुत्त' शब्दे वीक्ष्या) तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकादियतनयाऽनेपणीयादिग्रहणे, स्या० । अनुज्ञायाम्, नि० चू० १ उ० । निश्चयकथायाम्, नि० चू० ५ उ० ॥

अववायकारि(ए)-अवपातकारिन्-पुं० । आज्ञाकारिणि, पं० सं० १ द्वार ।

अववायसुत्त-अपवादसूत्र-न० । अपवादिकार्थप्ररूपके सूत्र-भेदे, वृ० १ उ० । ('सुत्त' शब्दे विवृतिरस्य छष्टव्या) अवविह-अवविध-त्रि० । स्वनामख्याते आजीविको-(गोशास-कमतो-) पासके, भ० ८ श० ५ उ० ।

अवशाल-अवसर-पुं० । मागध्याम "रसोर्लशौ" ॥८॥४१२८८॥
इत्यनेन रूपनिष्पत्तिः । प्रस्तावे, "णं अवशलोपसप्पण्या ला-
आणो" । प्रा० ४ पाद २०३ सूत्र ।

अवस-अवश-पुं० । कर्मपरदशे, उक्त० ६ अ० । परवशे, सूत्र० १
श्रु० ३ अ० १ उ० । उक्त० । प्रश्न० ।

अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो डे-नौ" । ८ । ४ । ४२९ । इत्य-
पञ्चशे स्वार्थे ऋः । निश्चये, अशक्यनिवारणे च । "अवस न सु-
अहि सुअच्छिअहि" । प्रा० ४ पाद ।

अवसज्ज-अपशकुन-न० । अशुनसूचके निमित्तभेदे, वृ० ।

तानि च—

मलिनकुचले अञ्जं-गियद्वए साणसुज्जवमये य ।

एए तु अपसत्था, इवन्ति सित्ताउ णिवस्स ॥

मलिनः शरीरेण वल्लैर्वा मलीमसः; कुचलो जीर्णादिवस्त्रपरि-
धानः; अशुनः स्नेहाभ्यक्तशरीरः, श्वा वामपाश्वदक्षिणपा-
श्वगामी, कुञ्जो वरुशरीरः । वरुभो वामनः । एते मलिनाद-
योऽप्रशस्ता भवन्ति त्रेत्राभिर्गच्छतः ॥

तथा—

रत्तपरुचरगतावस-रोगियविगद्धा य आउए विज्जा ।

कामायवत्यउडू-द्विया य जचं न साहंति ॥

रक्तपटाः सौगताः, चरकाः काणादाः, धाटीवाहका वा; तापसा
सरजस्काः; रोगिणः कुष्ठादिरोगाक्रान्ताः, विकलाः पाणिपादाद्य-
वयवव्यङ्किताः, आतुरा विविधदुःखोपद्रुताः, वैद्याः प्रसिद्धाः,
काषायवस्त्राः कषायवस्त्रपरिधानाः, उद्धूलिता जस्मोद्धूत्रित-
गात्राः धूलीधूसरा वा । एते केषाभिर्गच्छद्भिर्दृष्टाः सन्तो यात्रा
गमनं, तत्प्रवर्तकं कार्यमप्युपचारात् यात्रा, तां न साधयन्ति ।
उक्ता अपशकुनाः । वृ० १ उ० ।

अवसकण-अवप्पकण-न० । साध्वर्थायावसर्पणे, पञ्चा० १३
विव० । आचा० । पश्चाद्गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवसक्ति (ण)-अवप्पक्किन्-त्रि० । अवसर्पणशाले, सूत्र० २
श्रु० ६ अ० २ उ० । दूरगमनशाले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ॥

अवसज्ज-गम्-धा० । " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावसज्जसोड्डु०
। ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवसज्जाऽऽदेशः । अवसज्जइ-
गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसपि [ण] अवसपिन्-क्लि० । परिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २
अ० २ उ० ॥

अवसय-अपसद्-त्रि० । तुच्छे, स्वा० ४ उ० ४ उ० ॥

अवसर-अवसर-पुं० । प्रस्तावे, विज्ञागे च । दश० १ अ० ।
"अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए" । नि० चू० १ उ० ।

अवसरण-अवसरण-न० । समवसरणे, प्रव० ६२ द्वार । भ० ।

अवसवस-अपस्ववश-त्रि० । अपगतात्मतत्त्वे, ज्ञा० १६ अ० ।

अवसह-अवसय-पुं० । गृहे, उक्त० ३२ अ० ॥

अवसावण-अवश्रावण-न० । काञ्जिके, " अवसावणं लाडाणं
कंजिअं भअइ" सि । इह लाटदेशेऽवश्रावणकं काञ्जिकं भ-
रयते । वृ० १ उ० ।

अवमिच्छन्त-अपसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तादपक्रान्ते, " संसार-
कारणाद् घोरा-दपसिद्धान्तदेशानात्" । स्था० १० उ० ॥

अवसे-अवश्यम्-अव्य० । " अवश्यमो डे-नौ" । ८ । ४ । ४२९ ।
इत्यपञ्चशेऽवश्यमः स्वार्थे 'डे' प्रत्ययः । " अवसे सुक्किं पणई"
प्रा० ४ पाद ॥

अवसेस-अवशेष-पुं० । अवशिष्टे, स्था० ९ उ० । आतु० । तद-
तिरिक्ते, उपा० १ अ० ॥

अवसेह-गम्-धा० । " गमेरई-अइच्छाणुवज्जा०" ८ । ४ । १६१
इति सूत्रेण गमेरवसेहादेशः । अवसेहइ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसेह-नश्-धा० । अदर्शने, " नशेणिरिणास-णिवहावसे-
ह०" ८ । ४ । १७८ । इत्यादिसूत्रेणावसेहादेशः । अवसेहइ-
नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवसोग-अपशोक-पुं० । वीतशोके, जम्बूद्वीपापेक्षया द्वादश-
द्वीपाधिपतौ देवे, द्वीप० ।

अवस्स-अवश्य-त्रि० । अवश्यं पर्यायोऽवश्यशब्दोऽकारा-
न्तोऽप्यस्ति । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । नियते, भाव० ४ उ० ।

अवस्सकम्म-अवश्यकर्मन्-न० । अवश्यक्रियायाम्, आ०
चू० १ अ० ।

अवस्सकरणिज्ज-अवश्यकरणीय-न० । मुमुक्षुभिरवश्यं
क्रियते इति अवश्यं करणीयम् । विशेष० । अवश्यकं,
मुमुक्षुभिर्नियमानुष्ठेयत्वात्तस्य । अनु० । अवश्यकरणमिति
प्रश्ने प्रदर्शयते—अन्वयत्वादवश्यकरणसंज्ञायाः, भास्करव-
त्, अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वन्तीति । कथमिदमव-
श्यकरणं, कथमियमन्वयर्थेति ? दर्शयते—अर्थमनुगता या संज्ञा
साऽन्वर्था; अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्तते इत्यर्थः । कथमिदं? यथा-भा-
स्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था? जासे करोतीति भास्कर इति
यो भासनार्थः, तमङ्गीकृत्य प्रवर्तते इत्यन्वर्था । तथाऽवश्यकरण-
मिति इयं संज्ञा अन्वर्था । कथमिति चेत्? ब्रूमहे-अवश्यं क्रियते
इत्यवश्यकरणमिति योऽवश्यकरणार्थोऽवश्यकर्तव्यता तमङ्गी-
कृत्य प्रवर्तते यस्मात्तस्मात्सर्वकैवल्यभिः सिद्ध्यद्भिरवश्यं क्रि-
यमाणत्वादवश्यकरणमित्यन्वर्थसंज्ञासिद्धिः । आ० चू० २ अ० ।

अवस्सकिरिया-अवश्यक्रिया-क्लि० । पापकर्मनिषेधे, " अ-
वस्सकम्मं ति वा अवस्सकिरियं ति वा एगछा" । आ० चू०
१ अ० ।

अवह-कृप्-धा० । सामर्थ्ये, " कृपोऽवहो णिः" । ८ । ४ । १५१ ।
इति कृपेः 'अवह' इत्यादेशो एयन्तो भवति । अवहवैश्-कल्पते ।
प्रा० ४ पाद ।

अवह-रच्-धा०-चुरा० । प्रतियत्ने, " रचेरुगहावह-वडविडुः"
। ८ । ४ । १५४ । इति रचेर्धातोः 'अवह' आदेशः । अवहइ-रच-
यति । प्रा० ४ पाद ।

अवहइ-अपहति-क्लि० । विनाशे, विशेष० । आ० म० ।

अवहट्ट-अपहृत्य-अव्य० । परिहृत्य, (औ०) परित्यज्य,
(सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दर्श० । दर्श०) निरुपेत्यर्थे,
आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवहट्ट-अवहृत-त्रि० । " प्रत्यादौ ऋः" । ८ । १ । २०६ । इति
तस्य ऋः । प्रा० १ पाद । परिहृते, नि० चू० १० उ० । भाव० ।

"बालम् अवहाय० अवहमेधिसुहे भवइ" । निःशेषबालाप्रले-
पापहागत् । भ० ६ श० ७ उ० । नि० चू० । आव० । देशांतरं
न ते, प्रव० १ हार ।

अवहन्तिय-अपहस्तिन-त्रि० । निराकृते, न० ॥

अवहदुसंजम-अपहृत्यसंयम-पु० । अश्विनोच्चारदोनां परि-
ष्टापनः क्रियमाणे, स० १७ सम० ।

अवहन्-अवहनन-न० । उद्वलते, वृ० १ उ० ।

अवहमाण-अग्रन्-त्रि० । न घन् अग्रन् । आरम्भाऽकरणेन पी-
नामकुर्वति, " एस्ते अवहमाणा उ " । दश० १ अ० ॥

अवहर-गम्-धा० । "गमेरईअदृच्छा०" ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना
गमेरवहरादेशः । अवहरइ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्-धा०-दिवा० । अदर्शने, "नशेर्णिगिरिणास-णिवहावसेइ-प-
डिसा-उमेहावहराः" । ८ । ४ । १७८ । इति नशेवहरादेशः ।
अवहरइ-नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अप-हृ-धा० । चारणे, स्था० ५ ग० १ उ० । स्वीकरणे, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । प्रश्न० । उपा० । भूते तु- 'अवहरिसु' अपहृ-
तवान् । स्था० १० ठा० ।

अवहाय-अपहाय-अच्य० । त्यक्त्वेत्यर्थे, भ० १५ श० १
उ० । सूत्र० ॥

अवहार-अपहार-पु० । अपहरणमपहारः । आ० म० द्वि० ॥
गतीर्देवहिंकरणे, नि० चू० ।

वमणविरेगादीर्हि, अन्तेतरपोगलाण अवहारो ।

तेल्लुव्वट्टणजलपु—फ्फुण्णमादिर्हि वज्झाणं ॥

अन्तेतराणं वृन्मिपमंनियपित्तरुहिरादियाण वमणविरेवणादी-
र्हि अवहारो बाहिरो सरांगानां पूयसोणियसिंघाणगलावगम-
मन्नादि तेल्लुव्वट्टणादिर्हि वज्झं अवहरति । नि० चू० ७ उ० ।
चार्थे, उत्त० ४ अ० । प्रश्न० । जलचरविशेष, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवहारवं-अवधारयन्-पु० । अवधारणावति, स्था० १० ठा० ।

अवहि-अवधि-पु० । अवशब्देऽधःशब्दार्थः । अव अधो वि-
स्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वा-अवधिम-
यादा रूपिधेय धस्तुषु छव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपतया,
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । प्रत्यक्षज्ञानभेदे, प्रज्ञा० २० पद ।
('ओहि' शब्दे तृतीयाभागे १४० पृष्ठे व्याख्यास्यते)

अवहेरु-मुञ्च-धा० । मोचने, "मुञ्चेश्चुवावहेइ-मेहोस्सिक-रे
अव-णिह्वञ्च-धंसाडाः" । ८ । ४ । ६१ । इति मुञ्चेतेरवहेडादेशः ।
'अवहेइ'—मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवहेरिय-अवाधोक्त-अवकोटित-त्रि० । प्राकृतत्वात्तथा-
रूपम् । अधस्तादामोदिते, "अवहेरियपट्टिसउत्तमंगे" । उत्त०
१७ अ० ।

अवहेरित्त-अवदोलयन्-त्रि० । दोलायमाने, ज्ञा० ८ अ० ।

अवाअमंगया-अवाअमङ्गता-स्त्री० । जवादिनाऽप्रतिरुद्धता-
याम्, ज्ञा० ।

'ममनस्य जयाजामो-दानस्यावाअमङ्गता' । उदानस्य

रुकाटिकादेशादाशिगेवृत्तजयादितरेषां वायूनां निरोधादु-
ध्वगतिः वसिद्धेरवादिना जवादिनाऽसंगताऽप्रतिरुद्धता । जि-
तादानो हि योगी जले महानद्यादौ महति या कर्दमे तीक्ष्णेषु
वा कण्टकेषु न सजति, किन्तु लघुत्वात्तलपिण्डवज्जलादाय-
निमज्जन्तुपरि तेन गच्छतीत्यर्थः । तदुक्ते-"उदानजयाजलप-
ङ्कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च" । ज्ञा० २६ ज्ञा० ।

अवाईण-अवातीन-त्रि० । घातीनानि वातोपहतानि; न वाती-
नानि अवातीनानि । वातेनापनितेषु, रा० । जी० । ज्ञा० ।

अवाउह-अपावृत्त-त्रि० । प्रावरणरहिते, दश० ३ भ० । प्राव-
रणाभावे, न० । ज० १ श० १ उ० ।

अवागिद्ध-अवाग्मिन्-त्रि० । अवाचात्ते, व्य० ७ उ० ।

अवामणिज्ज-अवामनीय-न० । संसर्गजं गुणं दोषं वा संसर्गा-
न्तेरेणाऽवमतिं छव्ये, स्था० १० ठा० ।

अवाय-अपा(वा)य-पु० । अप-इ-अच् । रागादिजनितेषु प्राणिना-
मैहिकामुष्मिकेष्वनर्धेषु, स्था० १ ग० १ उ० । अपायोऽनर्थः; स यत्र
द्रव्यादिषु अभिधीयते, यथा-एतेषु द्रव्यादिविशेषेषु अस्त्यपायः,
विवक्षितद्रव्यादिविशेषेष्विव, हेयता चाऽस्य यत्राभिधीयते तदा-
हरणमपाय इति । उदाहरणभेदे, स्था० ४ ग० ३ उ० । विना-
शे, ध० १ अग्नि० । विच्छेदे, न० । तत्रापायश्चतुःप्रकारः । तद्य-
था-छव्यापायः, क्षेत्रापायः, कालापायः, भावापायश्चेति ।
तत्र छव्यादपायो छव्यापायः । अपायोऽनिष्टप्राप्तिः । छव्य-
मेव वाऽपायो छव्यापायः, अपायहेतुत्वादित्यर्थः । एवं क्षेत्रा-
दिष्वपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं द्रव्य पायप्रतिपादनायाऽऽह—

द्रवावाए दोन्नि उ, बाणियगा जायरो धणनिमित्तं ।

वहपरिणएकमेकं, दहम्मि मच्छेण निव्वओ ॥ ५९ ॥

द्रव्यापाय उदाहरणम-द्वौ तु (तुशब्दादन्यानि च) वणिजौ प्रा-
तरौ धननिमित्तं धनार्थं, वहपरिणेतौ एकैकमन्योन्यं दूदे मत्स्ये-
न निर्वेद इति गाथाऽङ्कारार्थः । प्राचार्यस्तु कथानकादवसेयः ।
तच्चेदम्—"एगमि सनिवेस दो भायरो दरिदृप्पाया; तेहि सोरहं
गंतूण साहस्सिओ णउलओ रुवगाणं चिद्विओ । ते अ सयं
गामं संपत्थिया, इता ते णउलयं वारणण वहंति । जया एगस्स
हथे तदा इयरो चितेइ-"मोगमि णवरमण रुवगा ममं हौतु" ।
एवं वीओ चितेइ-"जहाऽहं एअं मोगमि" । ते परोप्परं वहप-
रिण्या अज्जवस्संति । तओ जाहं सग्गामसमीधं पत्ता, तत्थ नई-
तडे जिहअरस्स पुणगावत्ती जाया । 'धिरत्तु ममं, जेण मएद-
वरस्स कए भाउविणासो च्चिओ' । परमो य इयरेण पुच्छिओ ।
कहिण जणइ-ममं पि एयारिस्स च्चित्तं हौतं । ताडे एयस्स दोसे-
णं अहेहि एयं चितियं नि काउं तेहि सो नउलओ दहं वूढो ।
तेय घरं गया । सो अ णउलओ तत्थ परंतो मच्छेणण मिलिओ ।
सो अ मच्छो मेणण मारिओ, वीहाए ओयारिओ । तेसि च
भाउगाणं भगिणी मायाए वीहि पछविया, जहा-मच्छे आणह ।
जं जाउगाणं सिज्जं ति । ताए असमावलीए सो चैव मच्छओ
आणीओ । चेमीए फालिनीए णउलओ दिट्ठो । चेडीए चितियं-
एम णउलओ मम चैव भविस्सइ ति उच्छंणं कओ । ठविज्जेतो
यथेरीए दिट्ठो, णओ अ । तीए भणियं-किमयं तुमे उच्छंणं कयं?
साऽपि लाहं गया ण साहइ । ताओ दो वि परोप्परं पहंरंतो । सा

धेरी ताए चेडीए तारिसे मम्मपएसे आहया, जेण तकखणमेव जीवियाओ ववरोविया । तेहिं तु दारएहिं सो कइवइश्यो नाओ । स एउलओ दिट्ठो । धेरी गढप्पहाग पाणयिमुक्का णिस्सहुं धरिणिअत्रे पडिया दिट्ठो । चितियं च णेहिं—इमो सो अवायवहुलो अत्थो अणत्थो च्चि । एवं दव्वं अवायहेउ च्चि । लौकिका अप्पाहुः—

“अर्थानामर्जने दुःख-मर्जितानां च रत्तणे ।

आयं दुःखं व्यये दुःखं, धिग् दुःखं दुःखवर्द्धनम् ॥ १ ॥

अपायवहुलं पापं, यं परित्यज्य संसृताः ।

तपोवनं महासत्त्वा-स्ते धन्यास्ते मनस्विनः ” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

एतावत्प्रकृतोपयोगि । “तओ तेसिं तमवायं पिच्छिऊण णिव्वेओ जाओ । तओ तं दारियं कस्सइ दाऊण निविन्नकामभाओ पव्वइय च्चि” गाथार्थः ।

इदानीं क्षेत्राद्यपायप्रतिपादनायाऽऽह—

खेत्तम्मि अवक्कमणं, दमारवगस्स ढोइ अवरेणं ।

दीवायणो अ काळे, जाये मंडुक्कियाखवओ ॥५६॥

तत्र क्षेत्र इति द्वारपरामर्शः । ततश्च क्षेत्रादपायः, क्षेत्रमेव वा, तत्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणम्—अपक्रमणमपसर्पणं दशारवगस्य दशारसमुदायस्य भवति । अपरेणाऽपरत इत्यर्थः । ज्ञावार्थः कथानकादवसेयः । तच्च वक्ष्यामः । द्वैपायनश्च काळे । द्वैपायन ऋषिः काल इत्यत्रापि कालादपायः, काल एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्राऽपि ज्ञावार्थः कथानकगम्य एव । तच्च वक्ष्यामः । भावे मण्डुक्किकाकृपक इति । अत्रापि भावादपायो भावापायः, स एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्रापि च भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्च वक्ष्याम इति गाथार्थः । ज्ञावार्थ उच्यते—“खित्ता-पाओदाहरणं—दसारा हरिवंसरायाणो । एत्थ महई कहा—जहा हरिवंसं उवओगियं चैव जणइ—कस्सम्मि विण्णियाइए सावायं खेत्तमेयं ति काऊण जरासंधरायभएण दमारवगो महुआओ अवक्कमिऊण वारवइ गओ च्चि ” । प्रकृतयोजनं पुनर्निर्युक्तिः कार एव करिष्यति किमकारम् एव नः प्रयासेन ? “कात्रावाए उदाहरणं पुण-कणहुपुच्छिऊण भगवयाऽरिट्ठणेमिणा धारियं-वारसहिं संवच्छुरेहिं दीवायणाओ वारवइनयरीविणासो । उज्जोतरायणगरोए परंपरएण सुणिऊण दीवायणपरिव्वायओ मा णगरिं विणासेहामि च्चि कालावधिमणओ गमेमि च्चि उत्तरावहं गओ । सम्मं कालमाणमयाणिऊण य बारसमे चैव संवच्छुरे आगओ । कुमारहिं खलीकओ कयणियाणो कोयो उववणो । तओ य णगरीए अवओ जाओ च्चि; णऽसुहा जिणजासियं ति” । “भावावाए उदाहरणं खमओ-एगो खमओ चेत्तएण समं भिक्खायरियं गओ । तेण तत्थ मंडुक्किया मारिता । चेत्तएण जणियं—मंडुक्कलिया तए मारिया । खमगो जणति—रे दुट्ठ ! सेह विरमइया चैव एसा । ते गओ । पच्छुरा रत्तिं आवस्सए आलोइत्ताण खमगेण सा मंडुक्कलिया नावोइया । ताहे चेत्तएण भणियं—खमगा ! तं मंडुक्कियं आलोएहि । खमओ रुठो तस्स चेत्तयस्स खेलमइयं अत्तणं उदाइओ असियालए खंभे आवडिओ वेगेण । इतो मओ य जोइसिएसु उववओ । तओ चइत्ता दिठ्ठीविसाणं कुले दिठ्ठीविसो सण्णो जाओ । तत्थ एगेण परिहिंडंतेण नगरे रायपुत्तो सण्णेण खइओ । आहितुंड-एण चिज्जाओ सव्वे सण्णा आवाःहिया मंडवे पवेसिआ भणिया—अण्णे सव्वे गच्छंतु, जेण पुण रायपुत्तो खइओ सो अत्थउ । सव्वे गता । एगो विओ । सो भणिओ—अहवा विसं आ-

वियह, अहवा एत्थ भग्गिम्मि णिवडाहि । सो अ अगंधणो । स-पाणं किं दो जाइओ-गंधणा, अगंधणा य । ते अगंधणा माणि-णो । ताहे सो अग्गिम्मि पविट्ठो, णय तेण तं वंतयं पच्चावियं । रायपुत्तो वि मओ । पच्चा रण्णा रुठेण घोमावियं-रज्जे जो मम सण्णसीसं आणेइ तस्साहं दीणारं देमि । पच्छा लोओ दीणार-लोणेण सण्णे मारेउं आदत्तो । तं च कुलं, जत्थ सो खमओ उप्पओ, तं जाइस्सरे रत्तिं हिंडइ, दिवसओ न हिंडइ, मा जीवे इहेहामि च्चि काउं । अण्णया आहिडिगेहिं सण्णे मग्गेहिं रत्तिच-रेण परिमलेण तस्स खमगसण्णस्स विसं दिठ्ठं ति । दांसे विओ ओसदिओ आवाइइ । सो चित्तेइ-दिठ्ठो मे कावस्स विवाओ । तो जइ अहं अग्निमुहो णिगच्छामि तो दाहिहामि, ताहे पुच्छेण आदत्तो णिप्फिडिउं जत्तियं णिप्फेइ तावइयमेव आहि-मिओ विंदति, जाव सीसं छिम्भं । मओ य सो सण्णो देवया-परिग्गहिओ । देवयाए रण्णो सुमिणए दरिस्सणं दिम्भं । जहा-मा सण्णे मारेइ, पुत्तो ते नाणकुलाओ उच्चट्ठिऊण भविस्सइ; तस्स दारयस्स नागइत्तनामं करेज्जाहि । सो य खमगसण्णो मरित्ता तेण पाणपरिच्छाएण तस्सेव रण्णो पुत्तो जाओ, जाए दारएणां कयं गागदत्तो । खुदलओ चैव सो पव्वइओ । सो अ किर तेण तिगियाणुभावेण अतीव तुहासुओ दोसीणवेलाए चैव भावइए छुजिउं जाव सुगमणवेइ उवसंतो धम्मभाइओ य । तम्मि अ गच्छे चत्तारि खमगा तं चाउम्मासिओ तेमासिओ दोमासिओ एगमासिओ च्चि । रत्तिं च देवया वंदिउं मागया । चाउम्मासिओ पढमठिओ । तस्स पुरओ तेमासिओ । तस्स पुर-ओ दोमासिओ । तस्स पुरओ एगमासिओ । ताण य पुरओ खुद-ओ । सव्वे खमगे अतिक्रमिन्ता ताए देवयाए खुदओ वंदिओ, प-च्चा ते खमगा रुठो निगच्छंति य गहिया चाउम्मासिअख-मण ए पोत्ते भणिया अ अण्णेण-कडपूयणि ! अम्हे तवस्सिणो ण वंदसि, एयं कूरभायणं वंदसि च्चि । सा देवया जणइ—अहं भा-वखमयं वंदामि, ण पुयामकारपरे माणिणो अ वंदामि । पच्चा ते चेत्तयं तेण अमरिसं वहंति । देवया चित्तेइ—मा एते चेत्तयं खरि-देहिं ति, तो सप्पिहिया चैव अत्थामि, ताऽहं पडिवाहेहामि । वि-तियदिवसे अ चेत्तओ संदिसावेऊण गओ । दोसीणस्स पडि-आगओ आलोइत्ता चाउम्मासियखमगं णिमंतेइ । तेण पडिग्गहं से खेत्तं णिच्छूढं । चेत्तओ भणइ—मिच्छा मे डुक्कडं, जं तुम्भे मए खेलमल्लओ ण पणामिओ । तं तेण उप्पराओ चैव फेरित्ता खेत्तम-ल्लए लूढं । एवं जाव तिमसिएणं जाव एगमासिएणं षिच्छूढं । तं तेण तहा चैव फेरियं अकुयाणित्तलंवणे गिएहामि च्चि काउं खमएण चेत्तओ बाहं गहिओ । तं तेण तस्स चेत्तगस्स अदीण-मणस्स विसुद्धपरिणामस्स वेस्साहिं विसुज्जमणाहिं तदाऽऽ-वरणिज्जाणं कम्माणं खएण केवलनाणं ममुप्पन्नं । ताहे सा देव-ता भणति—किह तुम्भे वंदियव्वा ? जेणवं कोहामिभूया अत्थ-ह । ताहे ते खमगा संवेगमावण्णा मिच्छा मे डुक्कं ति, अहो ! बालो उवसंतचित्तो अम्हेहिं पावकम्मंदि आसाइओ । एवं तेसिं पि सुहज्जभवसाणेणं केवलनाणं समुप्पन्नं । एवं पसंगओ कहियं कहाणयं । उवणओ पुण—कोहादिगाओ अप्पसत्थभा-वाओ डुग्गए अवाओ च्चि” ॥

परबोकोचित्तायां प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह—

सिक्खगअसिक्खगाणं, संवेगथिरट्ठयाएँ दोएहं पि ।

दव्वार्इया एवं, दंसिज्जंते अवायाओ ॥ ५७ ॥

शिक्षकाशिक्षकोः-अभिनवप्रमजितचिरप्रमजितयोः, अभिनव-
प्रमजितगृहस्थयोर्वा, संवेगस्थैर्यथै द्वयोरपि छव्याद्याः, एवमुक्तेन
प्रकारेण, वक्ष्यमाणेन वा दर्श्यन्ते अवाया इति । तत्र संवेगो
मोक्षसुखाभिलाषः, स्थैर्यं पुनरज्युपगतापरित्यागः । ततश्च कथं
तु नाम दुःखनिबन्धनद्रव्याद्यवगमास्तयोः संवेगस्थैर्यथा स्यातां,
छव्यादिषु वा प्रतिबन्ध इति गार्थार्थः । तथा चाऽऽह-
दविषं कारणगहिषं, विगिंचिअवमसिवाऽखेत्तं च ।

बारसहि एस-काहो, कोहाइविवेगभावमि ॥५८॥

इहोत्सर्गता मुमुक्षुणा छव्यमेव-अधिकं यत्प्रपात्रादि, अन्यद्वा कन-
कादि, न प्राप्तम् । शिक्षकाहिसंदष्टादिकारणगृहीतमपि तत्परिस-
माप्तौ परित्याज्यम् । अत एवाह-द्रव्यं कारणगृहीतं विकिञ्चितव्यं
परित्याज्यम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायहेतुत्वात् । दुरन्ताप्रहाद्य-
पायहेतुत्वात्, दुरन्ताप्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थैः स्वधिया भाव-
नीयेति । एवमशिवादिकेन च, परित्याज्यमिति वर्तते । अशिवा-
दिप्रधानं क्षेत्रमशिवादिकेन च । आदिशब्दात्तु-ऊनोदरता-राजद्वि-
ष्टादिपरिग्रहः । परित्याज्यं चेदम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायसंज्ञवा-
दिति । तथा-द्वादशभिर्वैरैरप्यत्कालः, परित्याज्य इति वर्तते ।
तत एवापायसंज्ञवादिति भावना । एतदुक्तं भवति-अशिवाद-
दुष्ट एष्यत्कालो द्वादशभिर्वैरैरनागत एवाङ्गिभूतव्य इति । उक्तं
च-“संवच्चरवारसप-ण होहि असिबंति ते तत्रो णिति । सु-
त्तत्थं कुव्वंता, अतिसयमादीहि नारुणं” ॥१॥ इत्यादि । तथा-क्रो-
धादिविवेकाभाव इति । क्रोधादयोऽप्रशस्ता ज्ञावाः, तेषां वि-
वेकः नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः । भाव इति ज्ञावापाये
कार्य इत्ययं गार्थार्थः । एवं तावद्वस्तुतश्चरणकरणानुयोगमधि-
कृत्यापायः प्रदर्शितः । दश० १ अ० । (छव्यानुयोगसंबन्धपा-
यस्तु 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८८ पृष्ठे समुक्तः)

अवग्रहीतस्य ईहितस्य चार्थस्य निर्णयरूपे अव्यवसाये-शाङ्क-
एवायं शाङ्क एवायमित्यादिरूपे अवधारणात्मकं मतिजैदरूपे
प्रत्यये, आ० म० प्र० । प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चये, स्था० ४ टा०
४ उ० । व्य० । रा० । दशा० । म० । ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणु-
रेवायमित्यादिनिश्चयात्मके बोधविशेष, प्रव० २१६ द्वार । न० ।
सम्म० । विशेष० ।

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ ५८ ॥

ईहितस्य ईहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्णाटवादादेर्नि-
र्णयो यायान्येनावधारणमवाय इति । रत्ना० २ परि० ।

अथ मतिज्ञानतृतीयभेदस्यापायस्य स्वरूपमाह—

मदृगाङ्गुणत्तणओ, संस्वस्मेवेति जं न संगस्स ।

विष्ठाणं सोऽवाओ, आणुगमवरेगजावाओ ॥५८०॥

मधुरस्निग्धादिगुणत्वात् शब्दस्यैवायं शब्दो न शृङ्गस्येत्यादि
यद् विशेषविज्ञानं सोऽवायो निश्चयज्ञानरूपः । कुतः?, इत्याह-पु-
रोवन्धयं धर्माणामनुगमजावात्-अस्तित्वनिश्चयसद्भावात् । तत्राऽ-
विद्यमानार्थधर्माणां तु व्यतिरेकज्ञानान्नास्तित्वनिश्चयसत्त्वात् ।
अयं च व्यवहारार्थप्रदानन्तरभावी अवाय उक्तः । निश्चया-
द्वयप्रदानन्तरभावी तु स्वयमपि छद्म्यः । तद् यथा-भोतुर्माद्य-
त्वादिगुणतः शब्द एवायं, न रूपादिरिति ईहापायविषयाश्च
विप्रतिपत्तयः प्रागपि निराकृता इति नेहोक्ताः । इति गार्थार्थः
॥२८०॥ विशेष० “व्यवसायमि अवाओ,” न० । विशिष्टोऽवसायो
व्यवसायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । तं व्य-
सायम्, अर्थानामिति वर्तते, अवायं भुवत इति संसर्गः । एत-

दुक्तं प्रवृत्ति-शाङ्क एवाऽयं शाङ्क एवायमित्याद्यवधारणात्मकः
प्रत्ययोऽवाय इति । व्यवसायमेवावायं भुवत इति । आ० म० प्र० ।

भेदास्तस्य—

से किं तं अवाए । अवाए ण्विहे पएणत्ते । तं जहा-सो-
इंदियअवाए, चकिंखदियअवाए, घाणिंदियअवाए, जि-
ब्बिंदियअवाए, फासिंदियअवाए, नोइंदियअवाए । तस्स
एणं इमे एगट्टिया नाणावोसा नाणावज्जणा पंच नामधिज्जा
जवंति । तं जहा-आउट्टणया पचाउट्टणया अवाए बुद्धिं ।
विष्ठाणे । सेत्तं अवाए ।

‘से किं तमित्यादि’ । अत्र श्रोत्रेन्द्रियेणावायः श्रोत्रेन्द्रियावायः श्रोत्रे-
न्द्रियनिमित्तमर्थवग्रहमधिकृत्य यः प्रवृत्तोऽवायः स श्रोत्रेन्द्रिया-
वाय इत्यर्थः । एवं शेषा अपि ज्ञावनीयाः । ‘तस्स णमित्यादि’ प्राग्वत् ।
अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्नानार्थानि ।
तत्र आवर्तते-ईहातो निवृत्त्याऽपायज्ञावप्रतिपत्त्यजिमुखो वर्तते येन
बोधपरिणामेन स आवर्त्तनः, तद्भाव आवर्त्तनता १ । तथा-आवर्त्तने
प्रति ये गता अर्थविशेषेषु सरोत्तरेषु विवक्षिताऽपायप्रत्यासन्नतरा
बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्त्तनाः, तद्भावः प्रत्यावर्त्तनता २ । तथा-अपा-
यो निश्चयः सर्वथा ईहाऽभावाद्निवृत्तस्यावधारणाऽवधारित-
मर्थमवगच्छतो बोधविशेषः, सोऽवाय इत्यर्थः ३ । ततस्तेमवावधा-
रितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमव-
बुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुद्धिः ४ । तथा-विशिष्टं ज्ञानं
विक्रानं क्षयोपशमविशेषादेवावधारितार्थविषय एव तीव्रतरा-
रणाहेतुबोधविशेषः । “ सेत्तं अवाए ” इति निगमनम् । न० ।

अवायका-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायाम्, अविभा-
वितार्थत्वात् अव्यक्ताक्षरयुक्तायां वा ज्ञापयाम्, ध० २ अधि० ।

अवायणिज्ज-अवाचनीय-पुं० । वाचनाया अयोग्ये, स्था० १

ठा० ४ उ० । “चत्तारि अवायणिज्जा पणुत्ता । तं जहा-अविणीप, वि-
गइपाडिबदे, अविउसविषयाहुमे, माई” । स्था० ४ टा० ३ उ० ।

अवायदसि (ण्)-अपायदर्शिन-पुं० । अपायान् दुर्भिक्षदुर्बल-
त्वादिकान् ऐहिकाननर्थान् पश्यति । अथवा-दुर्लभबोधिकत्वा-
दिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवंशीलोऽपायदर्शी । ध० २
अधि० । अपायाननर्थान् चित्तप्रज्ञाऽनिर्यादादीन् दुर्भिक्षदुर्बल-
त्वादिकृतान् पश्यतीत्येवंशीलः । सम्यगालोचनायां च दुर्लभ-
बोधिकत्वादीनपायान् शिष्यस्य दर्शयतीति अपायदर्शीति । स्था०
८ टा० । इहलोकापायदर्शनशीले आलोचनाईज्जे, व्य० १
उ० । यः सम्यगालोचयति कुञ्चिनं वा आलोचयति दत्तं वा
प्रायश्चित्तं सम्यग्न करोति, तस्य यदि त्वसम्यगालोचयिष्यसि
प्रतिकुञ्चितं वा करिष्यसि दत्तं वा प्रायश्चित्तं न सम्यक् पूर-
यिष्यसि ततस्ते भूयान् मासिकादिको दण्डो जविष्यतीत्येव-
मिहलोकापायान्, तथा संसारं जन्ममरणादिकं त्वया प्रभूतम-
नुभवितव्यं, दुर्लभबोधिता च तवैवं प्रविष्यतीत्येवं पर-
लोकापायांश्च दर्शयति, सोऽपायदर्शीति भावः । व्य० १
उ० । “ दुर्भिक्षदुर्बलार्हं, इहलोप जाणए अवाएओ ।
दंसइ य परलोप, दुग्गहबोदित संसारं ” ॥ १ ॥ स्था० ८
टा० । दर्श० । पञ्चा० ।

अवायविजय-अपायविच (ज) य-न० । अपायारागादि-
जनिताः प्राणिनामैहिकामुष्मिका अनर्थाः । (विचीयन्ते निर्णाय-

न्ते पर्याशोच्यन्ते वा यस्मिंस्तदपायविजयम्) प्राकृतत्वेन विजयमिति । अपाया वा विजयन्ते अधिगमद्वारेण परिचिती-क्रियन्ते यस्मिन्नित्यपायविजयम् ॥ स्था० ४ टा० १ उ० । ग० । सम्म० । रागद्वेषकपायाश्रवादिक्रियासु प्रवर्त्तमानानामि-दपरलोकायोरपायानां ध्यानं, ध० २ अधि० । दुष्टमनोवा-क्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु मे न स्यादित्येवंभूते संक-ल्पप्रबन्धे, दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वात् । सम्म० १ काण्ड । धर्मध्यानस्य प्रथमे भेदे, आच० ४ अ० । आ० चू० । (विस्तर-तोऽस्य स्वरूपं ' धम्मज्झाण ' शब्दे वदयते)

अत्रायसत्तिमालिप्त-अपायशक्तिमालिन्य-न० । नरकाद्यपाय-शक्तिमलिनत्वे, द्वा० २२ द्वा० ।

अत्रायहेउत्तदेमणा-अपायहेतुत्वदेशना-स्त्री० । असदाचारा-नर्थमूत्रतादेशनायाम्, ध० । अपायहेतुत्वदेशनेति । अपायाना-मनर्थानाम् इहलोकपरलोकागोचराणां हेतुत्वं प्रस्तावादसदा-चारस्य यो हेतुज्ञावस्तस्य देशना विधया । यथा-“ यत्र प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गे यच्च प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्त-मनार्यः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ” ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार इति । ध० १ अधि० ।

अत्रायण-अपादान-न० । अपादीयते वियुज्यते यस्मात्तद्वि-युज्यमानावधिचूतम्-अपादानम् । अनु० । दोऽवखण्डने । दानं खण्डनम् । अपस्तृत्य आ मर्यादया दानं खण्डनं वियोजनं यस्मात्तदपादानम् । विशेष० । आ० चू० । अपादीयते अपा-यतो विश्लेषतः आ मर्यादया दीयते दोऽवखण्डने इति वच-नात् खण्डयते भिद्यते, आदीयते वा गृह्यते यस्मात्तदपा-दानम् । अवधिमन्त्रे तत्र पञ्चमी भवति । यथा-अपनय गृ-हाद् धान्यम्, इतो वा कुशूलाद् गृहाणेति ॥ स्था० ८ टा० ।

अत्रायणुपे (वे) हा-अपायानुप्रेक्षा-स्त्री० । अपायानां प्रा-णातिपाताद्याश्रवणरजन्यनार्थानामनुप्रेक्षाऽनुचिन्तनमपायानु-प्रेक्षा । ग० १ अधि० । भ० । शुक्लध्यानाऽनुप्रेक्षाभेदे, यथा-“कोहो य माणो य अणिमाहीया, माया य लोभो य पयह्मणा । चत्तारि एते कसिणा कसाया, सिंचिति मूढाई पुणम्मवस्स” ॥१॥ इह गाथा-“आसवदारावाप, तह संसारो सुहाणुभावं च । भवसंताणमनंतं, वत्थूणं विपरिणामं च” ॥१॥ इति । स्था० ४ टा० १ उ० ।

अत्रारिय-अवारित-त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वति तत्प्र-वर्तकेनानिषिद्धे, निरङ्कुशे, “अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छुं” । ग० २ अधि० ।

अत्रार्थ-अव्य० । अध उच्चार्येत्यर्थे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अत्रावकहा-अवापकथा-स्त्री० । शाकघृतादीन्येतावन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपायां कथायाम्, स्था० ४ टा० २ उ० ।

अत्रि-अपि-अव्य० । सम्भावने, उक्त० ३ अ० । स्था० । आचा० । सूत्र० । व्य० । नि० चू० । दश० । आ० म० द्वि० । पदार्थसंज्ञावने, नि० चू० ४ उ० । समुच्चये, भ० १ श० ३ उ० । अष्ट० । दर्श० । अवधारणायाम्, नि० चू० १ उ० । आचा० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रेरणा-याम्, निर्णयभवनहेतौ च । दर्श० । सत्वर्थे, व्य० १ उ० ।

अविअ-अपिच-अव्य० । समुच्चये, जं० ४ वक्ष० ।

अविअकृत-अवीक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतो निरूपयति, ध० ३ अधि० । अविइय-अद्वितीय-त्रि० । द्वितीयरहिते, द्वितीयजिन्ने च । भ० ३ श० २ उ० ।

अविउट्टमाण-अविश्रुद्यमान-त्रि० । पीड्यमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अविउप्पमा-अव्युत्पकटा-स्त्री० । न विशेषतः उत्प्रावत्य-तश्च प्रकटा अव्युत्पकटा । विशेषतोऽप्रकटायाम्, भ० ७ श० १० उ० ।

अविद्वत्प्रकृता-स्त्री० । अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । भ० १८ श० ७ उ० । अविज्ञप्रकृत्याम्, जं० १ श० १ उ० । “अस्महं इमा कहा अविउप्पमा” । जं० १८ श० ७ उ० । “अविउप्पकडे त्ति” अपिशब्दः सम्भावनार्थः । उत्प्रावत्येन प्रस्तुता प्रकटा बोधप्रकृतोऽप्रकटा वा, अथवा अविद्वद्भिरजान-द्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । जं० १८ श० ७ उ० ।

अविउसरण्या-अव्युत्सर्जनता-स्त्री० । अत्यागे, भ० १ श० ५ उ० ।

अविउस्समा-अव्युत्सर्ग-पुं० । अमुक्कत्वेन, व्य० १ उ० ।

अविओग-अवियोग-पुं० । पुत्रमित्राद्यविरहे, तं० ।

अविओसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनुपशान्ते, वृ० ४ उ० । अ-नुपशान्ते द्वन्द्वे, “अविओसिए घासति पावकम्मी” सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अविओसियपाहु-अव्यवसितप्राभृत-त्रि० । अव्यवसितमनु-पशान्तं प्राभृतामिव प्राभृतं (नरकपालकौशविकं) तीव्रकोधल-क्षणं यस्यासावव्यवसितप्राभृतः । वृ० ४ उ० । अनुपशान्तको-पे, स्था० ४ टा० ३ उ० । “अणं वि पारमाणि, अवराहे वयइ खा-मियंतं च । बहुसो उदीरयंतो; अविओसियपाहुंडो स खम्” ॥ १ ॥ पारमाणि परमकोधसमुद्भातं व्रजतीति भावः । स्था० ३ टा० ४ उ० । (‘वायणा’ शब्देऽस्याऽवाचनीयत्वम्)

अविंदमाण-अविन्दमान-त्रि० । अन्नभमाने, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अविकंप-अविकम्प-त्रि० । मनःशरीराभ्यामचले, पञ्चा० १२ विव० । निःस्पन्दे. पञ्चा० १२ विव० ॥

अविकंपमाण-अविकम्पमान-त्रि० । क्रोधकार्यस्य कम्पनस्या-ऽकृतेरिति, “विगिंच कोहं अविकंपमाणे” । क्रूराध्यवसायः क्रो-धस्तं त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयत्यविकम्पनः । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अविकत्थण-अविकत्थन-पुं० । नातिबहुभाषिणि, स्वल्पेऽपि केनचिदपराद्धे पुनः पुनस्तद्वृत्तीतनेन रहिते गुणवत्सुरौ, प्रव० ६४ द्वार । ग० । हितमितभाषिणि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविकरण-अविकरण-न० । पूर्वगृहीतवस्तूनां यथास्थानम-प्रक्षेपे, “संथारय आयाप, अविकरणं कसुय संपन्वइत्ताप” । अवि-करणं कृत्वा, अविकरणं नाम यत्साधुना करणं कृतं तृणानां प्र-स्तरणं, कम्बिकानां बन्धनं, फलकस्य स्थापनं तदपनीय संप्रव-जितुं विदधुम् । वृ० ३ उ० ।

अविकार-अविकार-त्रि० । गीतादिविकाररहिते, वृ० १ उ० ।

अविकारि (ण)-अविकारिन्-पुं० । अनुदभट्टवेषे, अकन्वर्प-
शिले च । वृ० ३ उ० ।

अविकोवपपमन्व-अविकोपितपरमार्थ-त्रि० । अविकोपित-
त्वमयत्तदन्वावे, पं० व० १ द्वार ।

अविगड्य-अविकृतिक-त्रि० । निर्विकृतिके घृतादिविकृतित्या-
गिनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अविगमिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचने, व्य० १ उ० ।

अविगण-अविकल्प-पुं० । निश्चये आ० म० द्वि० । निभेदे च ।
सम्म० १ काण्ड ।

अविगप-अविगत-त्रि० । अन्नघ्ने, पं० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्ण, पं० १ विव० । पञ्चा० ।
अन्नघ्ने, पं० ४ विव० ।

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । अक्षिपरिपूर्णकुले, ज० =
श० ३३ उ० ।

अविगिद्ध-अविकृष्ट-त्रि० । विकृष्टजिह्वे अविकृष्टतपःकर्मका-
रिणि-यष्टान्ततपःकारिणि, पञ्चा० १२ विव० ।

अविगियवयण-अविकृतवचन-त्रि० । अनत्यन्तनिर्वादितामुक्ते,
आद्य० ।

अविगीय-अविगीत-पुं० । विशिष्टगीतार्थरहिते, व्य० ३ उ० ।
निर्धर्मणि, व्य० १ उ० ।

अविगृह-अविग्रह-पुं० । वक्रवरहिते, औ० ।

अविगृहगडमभावन्न-अविग्रहगतिसमापन्न-पुं० । उपासिके-
त्रोपपन्ने, भ० १४ श० ४ उ० । अविग्रहगतनिषेधाद् अजुग-
तिके अवस्थिते, भ० २५ श० ३ उ० ।

अविग्न-अविघ्न-न० । विघ्नाभावे, कल्प० ५ क० । औ० । नि-
प्रवृद्धे, वृ० १ उ० । दर्श० । कारण एवाद्यष्टसामर्थ्यादपाया-
न्वावे, डा० १३ द्वा० ।

अविघुष्ट-अविघुष्ट-न० । विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति
तद्विघुष्टम्, अनु० । विक्रोशन इवाविस्वरे, रा० । स्था० जी० ।

अविचित्त-अविचित्त-त्रि० । रोहिते, "अविचित्तो लोहिलमि-
त्यर्थः । नि० चू० १६ उ० ।

अविच्छुड-अविच्छुति-स्त्री० । तदुपयोगादविच्यवनमविच्यु-
तिः । धारणाभेदे, न० । आ० म० ।

अविच्छिण्ण-अविच्छिन्न-त्रि० । विच्छिन्नानुबन्धे, स्था० ४
ज० १ उ० ।

अविज्ञाण-अज्ञान-त्रि० । सुप्तप्रज्ञे, अपगतावधिविवेके,
"जंसां गुहाय जगन्नेतिउद्वे, अविज्ञाणश्चो इज्झइ सुत्तपथो ।
सुत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

अविज्ञमाणजाव-अविद्यमानजाव-पुं० । नास्तिजावे, "असं-
पन्नयं चि वा सन्निजावां चि वा अविज्ञमाणजावां चि वा पग-
छा " आ० चू० १ अ० ।

अविज्ञा-अविद्या-स्त्री० । कर्मणि, "अन्यं तमः प्रविशन्ति वेऽ-
विद्यामपासते विद्यया मृत्युंतीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " न० ।

अनवमनने, अग्रहणे, अतस्त्वग्रहणे च । सम्म० २ काण्ड । अविद्या
वेदान्तिनां क्लेशः । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा०
१५ द्वा० । "नित्यशुच्यात्मताख्याति-रानित्याशुच्यनात्मसु । अ-
विद्या " । अष्ट० १४ अष्ट० । अविद्योपप्लवादविद्यमानमपि र-
ज्यते । यत उ० म० "कामस्वप्नभयोन्मादं-रविद्योपप्लवात्तथा ।
पश्यत्यसन्तमप्यर्थं जनः केशेन्दुकादिवत् " इति । विशेषः ।

अविणय-अविनय-पुं० । कुशास्त्रे, वृत्त० ३४ अ० । विशिष्टो न-
यो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिषेधोऽविनयः । अप्रतिपत्तिवि-
शेषे, स्था० ।

अविण्ण ति विहे पन्नते । तं जहा-देनच्चाई, शिरा-
लंवणया, णाणपेम्मदोसे ॥

(अन्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) नवरमियमत्र
भावना-आराध्यविषयमाराध्यसम्मतविषयं वा प्रेम, तथाऽऽ-
राध्यसम्मतविषयो द्वेष इत्येवं नियतावेतौ विनयः स्यात् । उक्तं
च-"सरणि नतिस्तुतिवचनं, तदभिमतं प्रेम तद्विद्विषये ।
दानमुपकारकीर्तन-ममन्त्रमूलं वशीकरणम् " ॥ १ ॥ इति
नानाप्रकारौ च तावाराध्य तत्सम्मतैतरद्वयविशेषानपेक्षत्वे-
नानियतविषयावविनय इति । स्था० ३ द्वा० ३ उ० ।

अविणामि (ण)-अविनाशिन्-त्रि० । कृणापेक्षयाऽपि अनि-
रन्वयनाशधर्मिणि, दश० ४ भ० । पा० ।

अविणिच्छय-अविनिश्चय-पुं० । प्रमाणाभावे, पं० व० ४ द्वार ।
प्रति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उक्त० १ भ० । विनय-
विरहिते, उक्त० ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदमगणैदिं, वट्टमाणे उ संजए ।

अविणीए बुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥

अहंत्यादि सूत्राष्टकम् । अथेति प्राग्वच्चतुर्जिर्गधिका दशचतु-
र्दशतेषु चतुर्दशसंख्येषु स्थानेषु; सूत्रे तु सुख्यत्ययेन सप्तम्यर्थे
तृतीया । वर्तमानस्तिष्ठन् । तुः पूरणं । संयतस्तपस्वी अविनीत उ-
च्यते । स तु इति । अविनीतः । पुनः किम्, इत्याह-निर्वाणं च मोक्षं,
चशब्दादिहैव ज्ञानार्थोऽन गच्छति न प्राप्नोति । उक्त० ११ अ० ।

कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानि ?, इत्याह-

अजिक्खणं कोट्टी इवड, पवंधं च पकुव्वइ ।

मित्तिज्जमाणो वमड, मुयं ह्वच्चूण मज्जइ ॥ ७ ॥

अवि पावपरिक्खवी, अवि मित्तसु कुप्पड ।

मुपियस्मावि मित्तस्स, रट्ठे जासड पावगं ॥ ८ ॥

पडप्पवाई हुदिसे, थप्पे लुप्पे अण्णिगहे ।

अमंविजागी अवियत्ते, अविणीए त्ति बुच्चई ॥ ९ ॥

अजीदणं पुनः पुनः, यद्वा-कृणं कृणमभि अभिकृणमनवरतं, क्रो-
धी क्रोधेन जवति-सनिमित्तमनिमित्तं वा कुप्यन्नैवास्ते; प्रबन्धं
च प्राकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकं (पकुव्वइ त्ति) प्रकर्षणं
कुरुते, कुपितः सन् स्थान्यनैरनेकैरपि नोपशम्यति; विकथादिषु
वा अविच्छेदेन प्रवर्तनं प्रबन्धः, तं च प्रकुरुते । तथा-(मित्तज्जमा-
णो त्ति) मित्रीयमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्विति दृश्यमानोऽपि,
अपराधस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्, वमति त्यजति, प्रस्तावाद् मित्रीयि-

तारं मैत्री वा । किमुक्तं भवति? यदि कश्चिद्व्यभिचारिकतया वक्ति, यथा-
त्वं न वेत्सीत्यहं तव पात्रं त्रेपयामि । ततोऽसौ प्रत्युपकारभीकृतया
प्रतिवक्ति-ममार्हमेतेन । कृतमपि वा कृतघ्नतया न मन्यत इति वम-
तीत्युच्यते । तथा (सुयं ति) अपेगंभ्यमानत्वात्, भुतमपि आगममपि,
लब्ध्वा प्राप्य माद्यति दर्पयति । किमुक्तं भवति? भुतं हि मदाप-
हारहेतुः, स तु तेनापि हृष्यति । तथा-अपिः संभावनायाम् । संभा-
व्यत एतत्-यथा-असौ पापैः कथञ्चित्समित्यादिषु स्खलितलज्ज-
लैः परिक्रिपति तिरस्कुरुत इत्येवंशीलः पापपरिक्रिपी, आचार्यादि-
नामिति गम्यते । तथा-अपिर्ज्ञिकक्रमः, ततो मित्रभ्योऽपि सुहृद्भ्यो-
ऽपि, आस्तामन्येभ्यः कुप्यति क्रुध्यति । सूत्रं चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ।
“कुधदुहेर्ध्यासूयाथानां यं प्रतिर्कापः । १।४।३९। इत्यनेन (पाणि०)
सुव्रणेह चतुर्थीविधानात् । तथा-सुप्रियस्याप्यतिवल्लभस्यापि
मित्रस्य, रहस्यकाले, भाषते वक्ति, पापमेव पापकम् । किमुक्तं
भवति? अग्रतः प्रियं वक्ति, पृष्ठतस्तु प्रतिस्वकोऽयमित्यादि-
कमनाचारमेवाविष्करोति । तथा-प्रकीर्णमिनस्ततो विक्रिमम्,
असंबन्धमित्यर्थः । वदति जलपतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी । व-
स्तुतत्त्वविचारोऽपि यत्किञ्चनवादीत्यर्थः । अथवा-यः पात्र-
मिदमपात्रमिति चाऽपरीक्ष्यैव कथञ्चिदधिगतं भुतदहस्यं वद-
तीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादीति । प्रतिक्रिया चेदमित्थमेवेत्येकान्ताभ्यु-
पगमरूपया वदन्शीलः प्रतिज्ञावादी । तथा-(दुहिल त्ति) द्रोहण-
शीलो द्रोधा, न मित्रमप्यनभिदुह्यास्ते । तथा-स्तब्धाः तपस्य-
हमित्याद्यहं कृतिमान् । तथा-लुब्धोऽन्नादिष्वभिकाङ्क्षावान् । तथा-
मनिग्रहः प्राग्वत् । तथा-असंविभजनशीलोऽसंविभागी, नाहा-
रादिकमवाप्यातिगर्हणोऽन्यस्मै स्वल्पमपि यच्छति, किन्त्वात्मान-
मेव पोषयति । तथा-(अवियत्त ति) अप्रीतिकरो, दृश्यमानः सं-
ज्ञाप्यमाणो वा सर्वस्याप्रीतिमेवोत्पादयति । एवंविधदोषान्वितो-
ऽविनीत इत्युच्यते इति निगमनम् ॥ उत्त० ११ अ० । (‘विणय’ शब्दं
सर्वमधिकारं व्याख्यास्यामि) सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते,
वृ० ४ उ० । अविनीता नाम ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमा-
द्यन्ति । वृ० १ उ० ॥ सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते, स्था० १
गा० ४ उ० । (‘अस्यावाचनीयत्वं ‘वायणा’ शब्दे वक्ष्यते)

अविणीयप् (ण)--अविनीतात्मन्-पुं० । विनयरहिते अना-
त्मके, प्रज्ञा० ३ पद । दश० ।

अविष्ठा-अविज्ञा-स्त्री० । अविज्ञानमविज्ञा । अनाभोगकृते, सूत्र०
भु० १ अ० १ उ० ।

अविष्ठा-अविज्ञात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ भु० १ अ०
१ उ० ॥

अविष्ठाकर्म (ण)--अविज्ञातकर्मन्-न० । अविज्ञातमविदि-
तं कर्म क्रिया व्यापारो मनोवाक्यालक्षणो यस्य । अज्ञातमन
आदिव्यापारे, आचा० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अविष्ठापधम्म-अविज्ञातधर्मन्-त्रि० । पापादनवृत्ते अज्ञातध-
र्मणि, अविरतसम्यग्दृष्टौ च । ज० ८ श० १० उ० ।

अविष्ठावड्य-अविज्ञोपचित-न० । अविज्ञानमविज्ञा, तथोपचि-
तम् । अनाभोगकृतं कर्मणि, सूत्र० । तन्न बध्यते शाक्यसमये ।
यथा-मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगात् कर्मो-
पचीयते । सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० । केवलकार्याक्रियाच्छेदं क-
र्मणि, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अवितर्क-अवितर्क-पुं० । न विद्यते वितर्कोऽश्रद्धान्तक्रियाफलं

देहरूपो यस्य (त्रिकोः) सोऽवितर्कः । कुतर्करहिते, “सुसमाहि-
तलेस्स अविनक्स्स जिक्खुणो ” । दशा० ५ अध्या० ।

अवितह-अविनध-त्रि० । न वितथमवितथम्-सत्यम् । आच० ४ अ० ।
अव्यभिचारिणि, पञ्चा० १५ विव० । “णिगंथं पावयणं अवितह-
मेयं ” । पूर्वमजितप्रकारयुक्तमपि सदन्यदा विगताभिम-
तप्रकारमपि किञ्चित्स्यात् । अत उच्यते-अवितथमेतत्, न
काञ्चान्तरेऽपि विगताभिमतप्रकारमिति । भ० १० श० ५ उ० ।
प्रश्न० । आचा० । तथ्ये, आ० चू० ४ अ० । यथास्थिते, कल्प०
१ क० । याथातथ्येन व्यवस्थिते, सूत्र० १ भु० १३ अ० । य-
थावदनुष्ठिते, सूत्र० १ भु० २ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपि-
पिडतार्थवचने, सूत्र० १ भु० १६ अ० । सद्वृत्तायै, औ० ।

अवितिष्ठ-अवितीर्ण-त्रि० । तितीर्षो पारमगते, सूत्र० १ भु० २
अ० १ उ० ।

अविदिष्ठ-अवितीर्ण-त्रि० । अदत्ते, वृ० ३ उ० । आ० म० । नि० चू० ।

अविदिय-अविदित-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुतोऽप-
रिज्ञाते, “संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् । ” संवेदनमात्रं वस्तु-
स्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत्, कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि
न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते । षो० १२ विव० ।

अविदुय-अविदुत-त्रि० । उपद्रवरहिते अनुपसवे, यो० १२ विव० ।

अविधत्थ-अविध्वस्त-त्रि० । अव्युत्क्रान्ते, अपरिणते, आचा०
२ भु० १ अ० ८ उ० । अप्रासुके, आचा० २ भु० १ अ० ७ उ० ।
प्ररोहसमर्थे बीजादौ, दश० ४ अ० ।

अविधि-अविधि-पुं० । असमाचार्य्याम्, वृ० ३ उ० ॥

अविधिपरिहारि (ण)-अविधिपरिहारिन्-पुं० । संयमार्थे आ-
युक्ते, “संजमट्ठापत्ति वा आउत्तेत्ति वा अविधिपरिहारिस्ति वा
एगट्ठा” । आ० चू० १ अ० ।

अविष्पओग-अविष्पोग-पुं० । रक्षायाम्, “सुकलाणं अविष्प-
ओगेण ” स्था० ४ गा० ४ उ० ।

अविष्पकट्ट-अविष्पकट्ट-त्रि० । न विप्रकट्टं दूरम् । आसभे,
ज्ञा० १ अ० ।

अविष्पणस-अविष्पणश-पुं० । शाश्वतत्वे, विशेष० ।

अविबुद्ध-अविबुद्ध-त्रि० । भावसुप्ते, व्य० ३ उ० ।

अविभज्ज-अविजाज्य-त्रि० । विज्जकुमशक्ये, स्था० ३ गा०
२ उ० । ज्यो० ।

अविभत्त-अविभक्त-त्रि० । अकृतविभागे, वृ० । तत्र यावान्
सागारिकादीनां साधारणचोक्तं उपस्कृतस्तवान्याप्यस्वरूपः
पुञ्ज एव अधस्तनाज्ञागादिविवक्षा कृता सा आंशिका अवि-
भक्त्युच्यते ॥ वृ० २ उ० ।

अविभात्ति-अविजाक्ति-स्त्री० । विभागाभावे, व्य० ३ उ० ।

अविजव-अविजव-पुं० । अदारिद्र्ये, व्य० ६ उ० ।

अविज्ञाश्म-अविज्ञागिम-त्रि० । अविभागेन निर्वृत्तोऽविभागि-
मः । एकरूपे, भ० २० श० ५ उ० । विभागेन निर्वृत्तो वि-
ज्ञागिमः, तन्निर्वादाविभागिमः । प्रागगूण्ये, स्था० ३ गा० २ उ० ।

अविज्ञाड्य-अविज्ञाज्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, " तन्नो अवि-
भाड्या पणत्ता । तं जडा-समप, पणसे, परमाणु " । स्था० ३
ठा० २ उ० ।

अविभाग-अविज्ञाग-पुं० । संयत्तो विभागो नैरन्तर्याभावः,
तदज्ञावाऽविभागः । नैरन्तर्ये, पि० ॥

अविभागपल्लिच्छेय-अविभागपरिच्छेद-पुं० । परिच्छिद्यन्त
इति परिच्छेदा अंशाः, ते च सविभागा भवन्त्यतो विशेष्यन्ते । अ-
विभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्याविभागपरिच्छेदाः । निरंशेषु अंशे-
षु, ज० ८ श० १० उ० । केचलिप्रज्ञया लिख्यमानो यः परम-
निकृष्टोऽनुभागांशोऽभिसृज्यतयाऽर्कं न ददाति सोऽविज्ञागप-
रिच्छेद उच्यते । उक्तं च- " बुद्धिः चिज्जमानो, अणुज्ञागं सो
न देहो जा अरुं । अविज्ञागपल्लिच्छेयो, सो इह अणुभागवंध-
म्मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० । वृ० ।

अविभागुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्तेहविज्ञागेषु,
क० प्र० ।

अविभाव-अविज्ञाव्य-त्रि० । अविभावनीयस्वरूपे, प्रश्न० १
आश्र० द्वार ।

अविज्ञामिय-अविभूषित-त्रि० । विज्ञारहिते, वृ० १ उ० ।

अविज्ञामियप्प (ए)-अविज्ञापितात्मन्-त्रि० । विज्ञापाविर-
हितदेहे, प्र० ७२ द्वार । आव० ।

अविमण-अविमनस्-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशून्यचि-
त्ते, अन्त० ७ वर्ग । प्रश्न० । अज्ञाभादिदोषात् अविगतमानसे,
प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अविमुक्त्या-अविमुक्ता-स्त्री० । सपरिग्रहतायाम्, स्था० ४
ठा० ४ उ० ।

अविमुक्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । सलोपतायाम्, पञ्चा० १७ विव० ।
गृह्ये, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दब्धे भावेऽविमुक्ती, दब्धे वीगृह्णादुपबंधता ।

सउलगादणं करुणे, पञ्च मुखो वि आणेऽ ॥

अविमुक्तिर्द्विधा-इत्येतो, भावतश्च । इत्याविमुक्तौ-“वीरल्लभ्यो”
वाक्यः पक्षी दृष्टान्तः । स च स्नायुसन्तानबन्धनेन पादे बद्धो यत्र
निक्षिप्रप्रभृतिकः पक्षी दृश्यते तत्र मुच्यते, ततस्तेन यदा तस्य
शकुनस्य ग्रहणं कृतं स्यात्तदा भूयोऽपि तथैव तं शय्यातरस्य
कपणं क्रियते, तत आगतस्य हस्ततालमांसं दीयते ततो मांसं
प्रगृह्य आसक्तः सन् मुक्तोऽपि स्नायुबन्धनमन्तरेणापि शकुनिमा-
नयाति, आनीय च तत्रैवावतिष्ठते । एषा द्रव्याविमुक्तिः ।

अथ ज्ञावाविमुक्तिमाह-

ज्ञावे उक्कोमपणी-यगिष्ठितो तं कुलं न उड्डेति ।

एहाणादीकजेमृ व, गते वि दूरं पुणो एंति ॥

भावो भावाविमुक्तिः पुनरयम्-उक्त्युद्रव्यं शाल्योदनादि, प्रणीतं
घृतादि, तयोर्था गृह्यैर्वाच्यं ततस्तत्कुलं शय्यातरसंबन्धिनं परि-
त्यजति । अथवा-भानरययात्रादौ पर्वणि कार्येषु च गणसह-
प्रयोजनेषु, दूरमपि गता भूयस्तत्रैव समागच्छन्ति । वृ० २ उ० ।

अविमोयणया-अविमोचनता-स्त्री० । वस्त्रादीनामत्यागे, भ०
६ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अव्य० । अच्युद्ये, तं० । भ० ।

अविक-पुं० । मेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्पृष्टे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २
उ० । मुग्धे, सदजविंवकविकले च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवियत्त-दर्शी-न० । अप्रीतिकं, आ० म० प्र० । स्था० । ग० ।
अप्रीतिकारणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । प्रति० ।
दश० । स्था० ।

अवियत्तजंजग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अज्ञाद्यविभागेन जृम्भ-
के, भ० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविसोहि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्यः प्रीति-
कस्याविशोधिः, तन्निवृत्तनादवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे,
स्था० १० ठा० ।

अवियत्तोवधाय-अवियत्तोपघात-पुं० । अप्रीतिकेन विनयादे-
रुपघाते, स्था० १० ठा० ।

अवियाउरी-अविजनित्री-स्त्री० । अपत्यानामविजननशीला-
यां स्त्रियाम्, ज्ञा० २ अ० । “ तस्स वंधुमई जज्ञा, आवया-
उरी ” । आ० म० प्र० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशिष्टावबोधरहिते, आचा०
१ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरित-
रस्मादितरत्र, तथा-मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र, यस्य तद-
विचार इति । ग० १ अधि० । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतोऽसंक्रमणे,
आव० ४ अ० । भ० ४० । “ पगत्तवितक्के अवियारे ” शुक्लध्यान-
भेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवियारमणवयणकायवक्क-अविचारमनोवचनकायवाक्य-
त्रि० । अविचाराण्यविचारितरमणीयानि परमाथविचारगुणनया
युक्ता वा विद्यमानानि मनोवाक्यायवाक्यानि यस्य स तथा ।
अविचाराण्यविचारणीयानि अशोभनतया निरूपणीयानि अप-
र्यालोचनीयानि मनोवाक्यायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचा-
रयुगन्तःकरणवाग्देहवाक्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

अवियारसोदण्ड-अविचारशोधनार्थ-पुं० । संयमस्खलित-
विशुद्धिनिमित्तं, पं० व० १ द्वार ।

अविरड्-अविरति-स्त्री० । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यज्ञावे, कर्म० । द्वा-
दशप्रकाराऽविरतिः । कथम् ? इत्याह-मनःस्वान्तं, करणानीन्द्रि-
याणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवृत्तमानानामनियमोऽनियन्त्र-
णं; तथा पण्णां पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतिवत्तरूपाणां जीवानां
वधो हिंसेति । कर्म० ४ कर्म० । प्राणातिपातादीनामनिषेधे, जी-
त० । अग्रहणि, स्था ६ ठा० । “ अविरडं पकुच्च बाले आहिज्जइ ”
येयमविरतिरसंयमरूपा सम्यक्त्वाज्ञावाद् मिथ्यादृष्टेर्जन्यतोऽ-
विरतिरप्यविरतिरेव, तां प्रदीत्याश्रित्य बालवद् बालोऽहः ।
“ तत्थ एं जा सा सव्वतो अविरडं एसट्टाणे आरं-
जघाणे ” तत्र पूर्वोक्तेषु येयं सर्वार्थतया सर्वस्माद् अविर-
तिर्विरतिपरिणामाभावः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । “ अस्सेदो
विषयावेशाद्, भवेद्विरतिः । किल ” विषयावेशाद् बाह्येन्द्रि-
यार्थव्याक्रेषलक्षणादस्सेदोऽनुपरमलक्षणः । किंवाविरतिर्भवेत् ।

द्वा० १६ द्वा० । अविरमणेपु, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अप्रत्याख्यानं, स्था० १० गण । “जइवि अ न जाइ सव्व-त्थ कोइ देहेण माणवो पत्थ । अविरड्अव्वयवंधो, तदा वि निच्चो भवे तस्स” ॥ १॥ ध० २ अधि० ।

अविरड् (य) वाय-अविरति (क) वाद-पुं० । अविरतिरग्रह, त-द्वादो वार्त्ता । मैथुनचर्चयाम, स्था० ६ टा० ।

अविरड्या-अविरतिका-स्त्री० । न विद्यते विरतिर्यस्याः सा अविरतिका । स्त्रियाम, स्था० ६ टा० । वृ० ।

अविरत्त-अविरक्त-त्रि० । अनुरक्ते, औ० ।

अविरय-अविरत-त्रि० । अविरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति । पं० सं० १ द्वार । सावद्यादविरते, स्था० २ टा० १ उ० । उक्त० । चं० प्र० । पापस्थानेभ्योऽनिवृत्ते, दश० १० अ० प्रश्न० । ध० । प्राणातिपातादिविरतिरहितं विशेषेण तपस्वरते, भ० १ श० १ उ० । गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । मिथ्यादृष्टौ च । आव ४ अ० ।

अविरयवाइ(ण्)-अविरतवादिन्-पुं० । वदनशालो वादी; अविरतस्य वाद्यविरतवादी । परिग्रहवति, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अविरयसम्पत्त-अविरतसम्यक्त्व-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, कर्म० ५ कर्म० ॥

अविरयसम्पद्दिष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-पुं० । विरतिर्विरतम्; क्लीबे कप्रत्ययः । तत्पुनः सावद्ययोगे प्रत्याख्यानं, तत्र जानातीति नाच्युपगच्छति, न तत्पालनाय च यतत इति त्रयाणां पदाना-मष्टौ भङ्गाः । स्थापना—

५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५

तत्र प्रथमेपु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिः, अज्ञानि-त्वात् । शेषेषु सस्यर्थाष्टिः, ज्ञानित्वात् । सप्तसु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः । “अभादि-भ्यः” । ७ । २ । ४६ । इति अप्रत्ययः । चरमभङ्गे-षु विरतिरस्तीति । यद्वा-विरमति स्म सावद्यो-गेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः । “गत्यर्थकर्मक-पिबन्तुजे” । ५ । १ । ११ । इति कर्तरि कप्रत्यये विरतः । न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्य-

ग्दृष्टिश्चाविरतसम्यग्दृष्टिः । इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णि-तोपशमिकसम्यग्दृष्टिः शुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयवर्ती ज्ञायोपश-मिकसम्यग्दृष्टिर्वा क्लीगदर्शनसप्तको वा क्षायिकसम्यग्दृष्टि-र्वा परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौघाध्यारो-हणनिश्रेणिकल्पां जानन्नप्रत्याख्यानकपायोदयविघ्नितत्वान्ना-च्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्यग्दृ-ष्टिरुच्यते ॥ कर्म० २ कर्म० । देशविरते आवके, सं० १४ सम० । आव० । प्रव० । पं० सं० । दर्श० ।

अविरयसम्पद्दिष्टिगुणहाण-अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान-न० । अविरतसम्यग्दृष्टेः गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्था-नम् । चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म० ।

उक्तं च—

“ बंधं अविरड्हेउं, जाणंतो रागदोसडुक्खं च ।
विरड्सुहं इच्छंतो, विरडं काउं च असमत्थो ॥ १ ॥
एस असंजय सम्मो, निंदंतो पावकम्मकरणं च ।
आहिगयजीवाजीवो, अवलियदिछो वलियमोहो ” ॥ २ ॥
कर्म० २ कर्म० । पं० सं० ।

अविरल-अविरल-त्रि० । घने, औ० । “अविरलसमसदिय-चंदमंडलसमप्पमेहि” । अविरलानि घनशलाकावत्त्वेन समानि तुल्यशलाकातया सहितानि संहितानि अनिम्नाऽनुन्नतशला-कायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रभाणि च शशिधरविम्ववत् प्रभा-न्ति वृत्ततया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (लुङ्) ॥ प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अविरलदंत-अविरलदन्त-त्रि० । अविरला दन्ता यस्य । घन-रदने, औ० । यस्य हि यथा अनेकदन्ता अपि सन्त एका-कारदन्तपङ्क्तय इव लङ्घयन्ते । तं० ।

अविरलपत्त-अविरलपत्र-त्रि० । घनपत्रे, “अविरलपत्ता भट्टिपत्ता” । अत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यतोऽविरलपत्रा अतोऽच्छिन्नपत्राः । जी० ३ प्रति० । रा० ।

अविरह-अविरह-पुं० । विरहाज्ञावे, व्य० १ उ० । सातत्ये-नावस्थाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अविरहिय-अविरहित-त्रि० । सन्तते, पञ्चा० १० विव० ।

अविराहिण-अविराध्य-अव्य० । अखण्डमनुपाल्येत्यर्थे, पा० । सम्यक्पालयित्वेत्यर्थे, ध० ३ अधि० ।

अविराहिय-अविराधित-त्रि० । न विराधितोऽविराधितः । देशभग्ने, व० । अपराद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अविराहियसंजम-अविराधितसंयम-पुं० । प्रव्रज्याकालादा-रभ्याऽभग्नचारित्रपरिणामे संज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्त-गुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायाऽऽदिदोषसम्भवेऽप्यनाच-रितचरणोपघाते, भ० १ श० २ उ० ।

अविराहियसामाण-अविराधितश्रापय-त्रि० । आराधि-तचरणे, भ० १५ श० १ उ० । अखण्डमनुसक्तवसुयतिसमाचा-रे, दर्श० । (अस्योपपातः ‘बववाय’ शब्दे द्वितीयभागे ए० १ पृष्ठ छष्ट्यः)

अविरिक्त-अविरिक्त-त्रि० । अविभक्तीकृते, व्य० ९ उ० ।

अविरिक्त्य-त्रि० । अविभक्तीकृत्ये, व्य० ९ उ० ।

अविरिय-अवीर्य-त्रि० । वीर्यरहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि० । सङ्गते, पञ्चा० ६ विव० युक्ते, पञ्चा० १७ विव० । पूर्वपुरुषमर्थ्यादाऽनतिक्रमेणाऽविरोधभाजि, व्य० १ उ० । वैनयिके, उक्तं च-“अविरुद्धो विणयकारी, देवाईणं प-राणं भत्तीण ॥ जह वेसियायणसुओ, एवं अन्ने वि नायवा ” ॥ १ ॥ ज्ञा० १४ अ० । औ० । धर्माद्यप्रतिपन्थिनि, “अविरुद्धकु-लाचार-पात्रेन मितभाषिता” । (अविरुद्धस्येति) धर्माद्यप्रतिप-न्थिनः कुलाचारस्य पालनमनुवर्त्तनम् । द्वा० १२ द्वा० । विरु-द्धाज्यविरहिते ग्रामादौ, वृ० १ उ० ।

अविरुद्धवेणु-अविरुद्धवैनयिक-पुं० । क्षितीशमातापितृ-गुरुणामविरोधेन विनयकारिणि, अनु० ।

अविलोचय-अविलम्बित-त्रि० । नातिमन्यरे, भ० १ श० ७ उ० । कटप० ।

अविला-अवी-स्त्री० । ऊरण्याम, पिं० ।

अविलुत्त-अविलुप्त-त्रि० । संसृतराज्ये, व्य० ७ उ० ।

अविधजय-अविपर्यय-पुं० । अतस्मिन्स्तद्विधिविपर्ययः, न वि-
पर्ययोऽविपर्ययः । तस्याभ्यवसाये सम्यक्त्वे, विशेष० ।
अविधेग-अविधेक-पुं० । असदुपयोगे, अष्ट० १५ अष्ट० ।
अविधेगपरिच्चाग-अविधेकपरित्याग-पुं० । जायतेऽज्ञानपरि-
त्यागे, पं० व० १ द्वार ।
अविसंधि-अविसन्धि-पुं० । अव्यवच्छिन्ने, आव० ४ अ० ।
आ० चू० । ध० ।
अविसंवाङ् (ए)-अविसंवादिन्-त्रि० । दृष्टेष्टाऽविरोधिनि, पा० ।
अविसंवाङ्-अविसंवादित-त्रि० । सद्वृत्तप्रमाणाबाधिते, पा० ।
अविसंवाद-अविसंवाद-पुं० । संवादः, स च प्राप्तिसिद्धिं प्रवृ-
त्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकप्रदर्शनम् । सम्म १ काण्ड ।
अविसंवापण (ए)-जोग-अविसंवादन (ना) योग-पुं० । विसं-
वादनमन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणं, तद्विषयो योगो व्यापारः, तेन
वा योगः संबन्धो विसंवादनयोगः, तन्निषेधोऽविसंवादनयोगः ।
भ० ७ श० ६ उ० । अनाभोगादिना गवादिक्लेशादिकं यच्छेदति,
कस्मैचित् किञ्चिदप्युपगम्य वा यत्र करोति सा विसंवादना,
तद्विषयेन योगः सम्बन्धोऽविसंवादनायोगः । संवादानासं-
बन्धे, स्था० ४ टा० १ उ० ।
अविसम-अविषम-त्रि० । समतले, तं० ।
अविमय-अविषय-न० । बाह्यार्थभावेन निर्गोचरे, पञ्चा०
५ विच० ।
अविमहण-अविमहन्-त्रि० । कस्यापि पराजवाऽसोढरि,
वृ० १ उ० ।
अविमाड (ए)-अविपादिन्-त्रि० । विपादवर्जिते, अणु० ३
वर्ग । ध० अ० १, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । सेदरहिते, ध० ३ अवि० ।
किं मे जीवितेनेत्यादिचिन्तादिरहिते, अन्त० ७ वर्ग । परीषहा-
द्यभिदुतत्वेन कायसंरक्षणार्थं दैन्यमनुपयाते, पं० व० १ द्वार ।
अविमार्ग-अविशारद-त्रि० । अचतुरे, वृत्त० २८ अ० ।
अविमुक्त-अविशुद्ध-त्रि० । विशुद्धवर्णादिरहिते, स्था० ३
टा० ४ उ० ।
अविमुक्त्येस्म-अविशुद्ध्ये-त्रि० । कृष्णादिलेश्ये, जी० ३
प्रति० । चित्रङ्गानिनि, भ० ६ श० ६ उ० । (तत्र अविशुद्धलेश्यो
देवो विशुद्धलेश्यं देवं पश्यतीति ' चित्रंग ' शब्दे वक्ष्यते)
अविसेस-अविशेष-त्रि० । निविशेषे, पञ्चा० १३ विच० । नग-
नगरनद्यादिकृतविशेषरहिते अविशेषलक्षणे चृन्नागादौ, स्था०
२ टा० ३ उ० ।
अविसेमिय-अविशेषित-त्रि० । विभागरहिते, वृ० २ उ० ।
अनर्पिते, स्था० १० टा० ।
अविसेमियरसप्रग-अविशेषितरसप्रकृति-स्त्री० । रसः स्ने-
होऽनुभाग इत्येकार्थः तस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिता अवि-
वर्किता रसप्रकृतिः, उपलक्षणान्वान् स्थित्यादयो यस्मिन्मत्वा-
विशेषितरसप्रकृतिः । अविवर्कितानुभावे, क० प्र० ।
अविमोहि-अविशोधि-पुं० । उपघाते, शक्तीकरणे च ।
आघ० । अतिचारे, आ० चू० १ अ० ।

अविमोहिकोहि-अविशोधिकोहि-स्त्री० । आधाकर्मादिगुणेऽ
विशुद्धवर्गे, ताश्च परिमाः-स्वतो हन्ति घातयति ज्ञानमनु-
जानीते । तथा-पचति, पाचयति, पचन्तमनुजानीते इति ।
आ० च० १ भु० १ अ० १ उ० ।
अविस्स-अविश्र-न० । मांसरुधिरे, प्रव० ४० द्वार ।
अविस्ससणिज्ज-अविश्वमनीय-त्रि० । विश्वासकर्तुमयोग्ये, तं० ।
अविस्सामवेयणा-अविश्रामवेदना-स्त्री० । विश्रान्तिरहिताया-
मसातवेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
अविहडा-देशी-पुं० । बालके, " सीहं पालेह गुहा, अविहर्तुं तेण
सा मदह्नी य " । वृ० १ उ० ।
अविहणमाण-अविहन्यमान-त्रि० । न विहन्यमानोऽविहन्य-
मानः । विविधपरिषदोपसर्गैरहन्यमाने, " अविहणमाणो फ-
लगावतटी " । विघातमक्रियमाणे, आ० च० १ भु० ६ अ० ५ उ० ।
अविहववहू-अविधववहू-स्त्री० । जीवत्पतिकनार्याम्, भ० १२
श० २ उ० ।
अविहार-अविघाट-स्त्री० । अविकटावर्ते, व्य० ७ उ० ।
अविहिंस-अविहिंस-त्रि० । न विद्यते विहिंसा येषां तेऽविहिं-
साः । विविधैरुपायैरहिंसकेषु, आ० च० १ भु० ६ अ० ४ उ० ।
अविहिंसा-अविहिंसा-स्त्री० । विविधा हिंसा विहिंसा; न विहिं-
सा अविहिंसा । विविधप्राणातिपातवर्जने, " अविहिंसामेव पश्व-
ए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो " । सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० ।
अविहिकय-अविधिकृत-त्रि० । अविधिना कृतमविधिकृतम् ।
अशक्त्यादिना न्यूनाधिककरणे, दर्श० ।
अविहिणु-अविधिकृ-त्रि० । न्यायमार्गाऽप्रवेदिनि, दश० १ अ० ।
अविहिजोयण-अविधिजोयन-न० । " कागसियालयजुसं दवि-
यरसं सव्वओ परामुहं । एसो उ हवे अविही " । इत्युक्तलक्षणे
काकडुष्टादिभोजने, आघ० ।
अविहिमेवा-अविधिसेवा-स्त्री० । अविधेर्विधिविपर्ययस्य सेवा
सेवनम्-अविधिसेवा । निषिद्धाचरणे, पौ० ५ विच० ।
अविहेडय-अविहेडक-पुं० । न कचिदप्युचिते आदरशून्ये, " अ-
विहेरुए जो स भिक्खु " । दश० १० अ० ।
अवीडव-अवीचिद्रव्य-न० । न वीचिद्रव्यमवीचिद्रव्यम् । स-
म्पूर्णं आहारद्रव्यं, सर्वोत्कृष्टायामाहारवर्गणायां च । ज० १३
श० ६ उ० । (' वीडव ' शब्देऽस्य व्याख्या)
अवीडमंत-अवीचिमत्-त्रि० । अकपायसंबन्धवति, ज० १० श०
२ उ० ।
अवीडय-अविचिद्रव्य-अव्य० । अपृथग्भूयेत्यर्थे, भ० १० श० २ उ० ।
अविचिन्त्य-अव्य० । अविकल्प्येत्यर्थे, ज० १० श० २ उ० ।
अवीय-अद्वितीय-त्रि० । न० व० । एकाकिनि, कल्प० ६ क्ष० ।
असहाय, विपा० १ भु० २ अ० ।
अवीरिय-अवीर्य-पुं० । मानसशक्तिवर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

अवीसंभ-अविश्रम्भ-पुं० । अविश्वासे, गौणे तृतीये प्राणातिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रवृत्तो हि जीवानामविश्रम्भणीयो जवती-ति प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वादविश्रम्भव्यपदेशः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ॥

अवीसत्य-अविश्वस्त-त्रि० । विश्वासरहिते, ग० २ अधि० ।

अवुगहट्टाण-अविग्रहस्थान-न० । कलहाऽनाश्रये, स्था० । “आय-रियउवज्जायस्स णं गणंसि पंच अवुगहट्टाणा पणत्ता । तं जहा-आयरियउवज्जाएणं गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पउजित्ता भवइ १, एवं महाराइणियाए सम्मं ०२, आयरियउवज्जाएणं ग-णंसि जेसु य पज्जवजाए धारेइ ते काले सम्मं ०३, एवं गिला-णसेहवेयावच्चं सम्मं ०४, आयरियउवज्जाएणं गणंसि आपु-च्छियचारी यावि भवइ, णो अणापुच्छियचारी । ” स्था० ५ ग० १ उ० ।

अवुत्त-अनुक्त-त्रि० । केनाप्यप्रेरिते, स्था० ८ ठा० ।

अवुमराइय-अवसुराज-पुं० । रत्नश्रेष्ठे, तद्वद्दीप्तिमति पदार्थमा-त्रे, नि० चू० ।

वसुराजमवसुराजं भणति-

जे भिक्खू वुमराइयं अवुमराइयं वदइ, वदंतं वा साइ-ज्जइ ॥ १३ ॥

वसूणि रयणाणि, तेसु राओ वसुराओ । अधवा-राई दीप्तिमान्, राजते शोभत इत्यर्थः । तं विवरीयं जो जणति, तस्स चउवहु ।

इमा णिज्जुत्ती-

वसुमं ति वा वि वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जया चरणे ।

तेसु रतो वुसराई, अवुमिम्मि ततो अवुमराई ॥ ३२८ ॥

ते दुविधा-द्वे, जावे य । द्वे मणिरयणादिया, भावे णाणा-दिया । इह भाववसुहिं आधिकारो । ताणि जस्स अत्थि सो वसु-मं ति जणति । अहवा-इदियाणि जस्स वसे वट्ठंति, सो वसिमं भण-ति । अहवा-णाणदंसणचरित्तसु जो वसति णिच्चकालं सो वस-तिरातिणिओ जणति । अहवा-व्युत्पृजति पापम-अन्यपदार्थाख्या-नं, चारित्रं वा वसुमं ति वुञ्चति । वसति वा चारित्रे वसुराती-भणति । अहवा-(पज्जयाचरणे स्ति) एते चारित्तधियस्स पज्जाया, एगट्ठिया इत्यर्थः । एस वुसराई जणति । पमिपक्खे अवुसराई ।

अहवा-

वुसि संविग्गो भणितो, अवुसि असंविग्ग ते तु वोच्चत्थं ।

जे भिक्खू उ वएज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३२९ ॥

कंठा । ‘वोच्चत्थं ति’ वुसिराइयं अवुसिराइयं, अवुसिराइयं वुसिराइयं भणति ।

एत्थ पढमं वुसिराइयं अवुसिराइयं जणति इमोहिं कारणेहि-

रोसेण पमिणिवेसे-ण वा वि अकयंत मिच्चभावेणं ।

संतग पोच्छाएत्ता, भासति आणुणेसणे ते उ ॥ ३३० ॥

कोइ कस्स वि कारणे अकारणे वा रुठो पमिणिवेसेण ‘सो पू-इज्जति, अहं ण पूइज्जामि’ । एवमादिविभासा अकयपूयाए । ‘एतेण तस्स उवयारो कओ, ताहे मा एसस्स पडिउवयारो कायव्वो होहि’ चि मिच्चभावेणं मिच्चत्तेणं उदिक्षेणं । सेसं कंठं ।

असंविग्गा संविग्गजणं इमेण आलंघणेण दीवंति-

धीरपुरिसपरिहाणी, नाऊणं मंदधम्मिया केइ ।

हीलंति विहरमाणं, संविग्गजणं असंविग्गो ॥ ३३१ ॥

कंठा । के पुण धीरपुरिसा ?, इमे-

केवलमादि हि चोदम, एवपुव्वीहिं विरहिए एहिं ।

सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्म भावं च ? ॥ ३३२ ॥

वाहिरकरणेण समं, अन्तितरपं करंति अमुणेत्ता ।

एगंतेणं च जवे, विवज्जिओ दिस्सते जेण ॥ ३३३ ॥

एते संपदं एत्थि, जदि एते हांता तो जाणंता, अस्सीदंताणं चरणं सुद्धं, इयरोसि असुद्धं । केवलमादि णो णाउं पमिचायंता पच्छित्तं च जहारुहं दंतो चिंतंति, अन्तितरगो वि एरिस्सो चेव भावो । ण य एगंतरेण वाहिरकरणजुत्तो अन्तितरकरण-युत्तो जवति । कहां ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-उदाइमारगस्स पसण्णचंदस्स य वाहिरे अविसुद्धो, जरहो विसुद्धो चेव ।

जइ दाणि णिरतिचारा, हवेज्ज तव्वज्जिआ व मुज्जिज्जा ।

न य हुंति निरतिचारा, संघयणधित्तीण दोव्वह्वा ॥ ३३४ ॥

संघयकाळं जदि णिरतिचारा हवेज्ज, अहवा-तव्वज्जियाणाम ओहिणाणादिवाज्जिआ जइ चरित्तसुद्धी हवेज्ज, तो जुत्तं वत्तु-इमे मविसुद्धचरणा संघयणधित्तीण दुव्वज्जत्तणओ य पच्छिंसं करंति ।

संघयणधित्तिदुव्वलत्तओ चेव इमं च ओसम्मा भणति-

को हा ! तहा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।

जहसत्ती पुण कीरति, दढा पइएणा हवइ एवं ॥ ३३५ ॥

धीरपुरिसा तित्थकरादी जहासत्तिप कीरति एवं भणमाणे दढा पइएणा भवति जो एवं भणति, जो पुण अएणहा वदति, अण्णहा य करेति, तस्स सच्चा पइएणा भवति ।

आयरिओ जणति-

सव्वेसिँ एव चरणं, पुणो य मोयावगं दुहसयाणं ।

मा रागदोसवसगा, अप्पण सरणं पलीवेह ॥ ३३६ ॥

सव्वेसिं भवसिद्धियाणं, चरणं-सरीरमाणसाणं दुक्खाण वि-मोक्खणकरं, तं तुज्जे सयं सीयमाणो अप्पणो चरित्तेण रागा-णुगता उज्झयचरणेण दोसमावप्पा मा भणइ-चरणं णत्थि, मा तत्थेव वसह, तं चेव सरणं पलीवेह, णो सहेत्यर्थः ।

किंच-

संतगुणणासणा खलु, परपरिवाओ व होति अलियं वा ।

धम्मे य अवहुमाणा, साहुपदोसे य संसारो ॥ ३३७ ॥

चरणं एत्थि स्ति एवं भणतेहिं साधूणं संतगुणणासो कतो भवति; पवयणस्स य परिज्जवो कतो भवति; अलियवयणं च भवति । चरणधम्मे पत्तोविज्जते, चरणधम्मे य अवहुमाणो कतो जवति, साधूण य पदोसो कतो भवति, साधुपदोसेण य संसारो वट्ठितो जवति ॥

किंच-

खय-उवसम-मीसं पि अ, जिणकाले वि तिविदं भवे चरणं ।

मिस्सातो चिय पावति, खयउवसमं च णाणत्ता ॥ ३३८ ॥

तिथ्यकरकात्रे वि ति विहं चरित्तं-खाइवं-उवसमिबं, खाइओव-
सामियं च । तम्मि वि तिथ्यकरकात्रे मिस्साओ चैव चारित्ताओ
खाइयं उवसामियं वा चारित्तं पावति, नान्यस्मात् । बहुतरा य
चारित्तविसेसा खओवसमभावे नवन्ति ।

किंच तीर्थकरकात्रे वि—

अइयारो वि हु चरणे, उतत्स मिस्वेण दोस इतरेसु ।

वच्छातुगदिदंता, पच्छित्तेणं म तु विमुज्झो ॥ ३३६ ॥

(इयरेसु ति) खाइए उवसमिए वा । जहा-वच्छं खागदीहिं
सुज्झति, अनुत्सम वा रोगो वमणविरेयण ओसइपओगहिं सो-
हिज्झति, तहा न्नाधुस्स चरणदिअइयारो पच्छित्तेणं सुज्झति ।
जं च भणिय-अतिसयहरहिं हि सुद्धासुचरणं ण सुज्झति-

दुविहं चैव पमाणं, पच्चक्खं चैव तह पगेक्खं च ।

चउ वा तिविहा पढं, अणुमाणोपम्ममुत्तितरं ॥ ३४० ॥

ओहि-मणपज्ज-केवत्रं च-एयं तिविधं पच्चक्खं, धूमादग्निज्ञान-
मनुमानम्, यथा गौः तथा गवय औपम्यं, सुत्तमिति आगमः,
इयर ति एयं तिविधं परोक्खं ।

मुच्छममुद्धं चरणं, जहा उ जाणंति ओहिणाणीओ ।

आगगेहि मणं पि व, जाणंति तदेतराभावं ॥ ३४१ ॥

पुव्वदं कंठं । जहा परस्स मुद्धणे ति बाहिरागारेहिं संतर-
गता मणो णज्झति, तहा इयर ति परोक्खणाणी आलोयणाविहाणं
सोउं पुव्वावरवाहियाहि गिराहिं आचरणेहिं य जाणंति चरित्तं
भावं च सुद्धं, सुद्धतरं च ।

चोदग आह-जइ आगारेण भावो णज्झति तो उदाइमार-
गादाणं कि ण जाओ ? । आचार्य आह-

कामं जिणपच्चक्खा, गूढाचाराण दूम्पणो जावो ।

तह वि य परोक्खमुद्धो, जुत्तस्स व पणवीमाए ॥ ३४२ ॥

काममिति अनुमतार्थे । जइ वि जे उदाइमारगादिगूढाचारा,
तेनि छउमत्थेणं दुक्खं उवलम्भति, भावो सो जिणानं पुण
पच्चक्खो, तहा वि परोक्खणाणी आगमाणुसारेण चरित्तमुद्धिं
करोति चैव । कहं ? । उच्यते- (जुत्तस्स वसि) जहा सुत्ताव-
उत्तो मांसजायज्जोयरो रागो ति पणरस इग्गमदोसा, दस पस-
णा दोसा, एतं पणवीसं जहा सुत्ताणुसारेण सोहंतो चरणं सोहं-
ति, तहा सुत्ताणुसारेण पच्छित्तं देतो करोतो य चरित्तं सोधेति ।

अणुज्जतचरणो इमेहि कज्जेहिं होज्जा-

दोज्ज हु वसणप्पत्तो, मरीरदोव्वल्लताए असमत्थो ।

चरणकरणे अमुच्छे, सुच्छं मगं परुवेज्जा ॥ ३४३ ॥

व्यसनं आचतो, मज्जगीतादियं वा, तम्मि उज्जमति, अइवा-
सरीरदुव्वल्लतणओ असमत्थो सज्जावपाडिलेहणादि किरियं
कारं, अकप्पियादिपमिसेहणं च । अथवा-सरीरदोव्वलो, अस-
मत्थो य, अददथम्मा, एवमादिकारणेहिं चरणकरणं से अवि-
सुद्धं । तहा वि अप्पणं गरिहतो सुद्धं साहुमगं परुवेतो आ-
राधगो चैव भवति ।

इमे चैव अत्थो भणति-

ओमएणादिविहारे, कम्मं सिद्धिलेति सुलजवोहीए ।

चरणकरणं णिगूदति, न य वोहिं दुद्धजं जाणे ॥ ३४४ ॥

कण्ठ्या । जो पुण ओसणो होउं ओसणं मगं उववूहइ, सुद्धं

चरणमगं गूदति, इमेहि कारणोहिं इमे च से दुद्धभवोही (अत्थं)
फलं । अइवा-

गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतरं वा अभिलसंताणं ।

चरणकरणाजिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो लहइ ॥ ३४५ ॥

गुणाणं सयं गुणसयं, गुणसयाणं साहस्सी, उंदेज्जगभया सकार-
स्स हस्सता कता, ते य अट्टारस सीलंगसहस्सा, तेहिं कलियं जु-
त्तं संखियं वा । किं ते ? चारित्तं, तं जो य पसंसति । किंच गुणश्चा-
सौ उत्तरं च गुणोत्तरम् । अथवा-अन्येऽपि गुणाः सन्ति क्षमाद-
यः, तेषामुत्तरं तं च गुणुत्तरं स रागचारित्तं । गुणुत्तरतरं पुण अह-
क्खायचारित्तं भवति, तं च जे अभिलसंति ते च उज्जतचरणा
इत्यर्थः । ते य उववूहते जो ओसरणो अप्पणा य उज्जयचरणो
होइं ति चरणकरणाभिलासी भवति, स एववादी गुणुत्तरतरं
वभति, अहक्खायचारित्रिमित्यर्थः । अथवा-गुणुत्तरतरं पुण
मोक्खसुद्धं भवति, तं लभति ।

जो पुण ओसरणो-

जिणवयणजावितेण तु, गुणुत्तरं सो वि जाणेत्ता ।

चरणकरणाजिन्नामी, गुणुत्तरतरं तु मो दणति ॥ ३४६ ॥

गुणुत्तरतरं चारित्तं, साधू वा; अप्पणा य चरणकरणोवघाते वट्ट-
ति, अइवा-चरणकरणस्स जुत्ताण वा निदा परोवघायं करइ, स
एववादी गुणुत्तरं-चारित्तं, मोक्खसुद्धं वा, दणति ण लभति; जेण
सो दीहसंसारित्तं णिव्वेत्ति ।

जो ओसणं ओसरणमगं वा उववूहति-

सो होती पणिणीतो, पंचएहं अप्पणो अहिंतिओ य ।

सुयसीलवियत्ताणं, नाणे चरणे य मोक्खे य ॥ ३४७ ॥

पंचपासत्थादिमुयसीलो विहारलिगाओ घाइओ कामा, अ-
वियत्ता अगोयत्था णाणचरणमोक्खस्स य एतसि सव्वोसं पणि-
णीतो जवति ।

इमेहि पुण कारणेहिं ओसणं ओसरणमगं वा उववूहेज्जा-

वितियपदमणप्पज्झो, वएज्ज अविक्कोविने व अप्पज्झो ।

जाणंते वा वि पुणो, जयमातव्वादिगच्छट्ठा ॥ ३४८ ॥

रायासि य ओसरणाणुवत्तिओ भया भण्णेज्जा तव्वादं ति ।
कश्चिद्वादी ब्रूयात्-तपस्विनमतपस्विनं ब्रूयतः पापं भवतीति नः
प्रतिज्ञा । तत्प्रतिघातकरणे बुसिराइयं अवुसराइयं भणेज्ज,
दुब्भिकखादिसु वा ओसरणभाविणसु खेत्तेसु अत्थंतो ओस-
णाणुवत्तीओ गच्छपरिपालणट्ठा भणेज्ज ॥

जे जिकवू अवुसराइयं वुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइ-

ज्जइ ॥ १४ ॥

एमेव वितियमुत्ते, वुमराइयं अवुसराइं व ।

जो पुण वएज्ज भिकवू, अवुसिराइं तु वुसिराइं ॥ ३४९ ॥

कण्ठ्या ।

एगचारियं अणंता, सयं व तेसु य पदेसु वट्ठं ॥

सगदोमज्जायणट्ठा, केइ पसंसंति णिच्छम्म ॥ ३५० ॥

कोइ पासत्थादीणं एगचारियं भवति-‘एस सुद्धो, एयस्स ए-
गणिणो ण केणइ सह रागदोसा उप्पज्झंति’ । सो वि अप्पणा
गच्छपंजरभग्गो तम्मि चैव णाणे वट्ठति । सो य अप्पण्णिज्जदोसे
वादिउकामो तं पासत्थादियं एगचारिं णिच्छम्मं पसंसति ।

इमं च भणति-

उत्तरयं खु जहुत्ता, वाहडिया विसीदंति ।

एमो निविडयमगो, जस्स जवती य चरणमुष्ठी ३५१॥

एवं जणंते इमे दोसा-

अव्वक्खाणं णिस्सं-कयाइ अस्संजमस्स य यिरत्तं ।

अप्पा उम्मगगिओ, अवणवादा य तित्थस्स ॥ ३५२॥

असंजनभावुज्झावणं अव्वक्खाणं अबुसरातियं भणति । सो य पसंमिज्झमाणो णिस्संको भवति । मंदधम्माणं च असंजमे थिरीकरणं करोति । अणं च उम्मगपसंस्साणं अप्पणा य उम्मग-
ट्टितो, ततो तित्थस्स य अन्यपदार्थेन अवणवाद् कृतो भवति ।

किंच-

जो जत्थ होइ मगो, ओयासं सो परस्स अविदंतो ।

गंतुं तत्थ वणंतो, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५३॥

अच्छाणिगदिट्ठंतेण ओस्सएणो उवसंथारियवो । सेसं कंठं ।

किंच-

पुव्वगयकालियसुय-संतासंतेहि केइ खोभंति ।

ओस्सएणचरणकरणा, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५४॥

पुव्वगयकालियसुयणिबंधपच्चयतो दीसंति । तत्थ कालियसुये इमेरिसो आलावगो-"बहुमोहो वि यणं पुव्वं विहरित्ता पच्छा संवुं कालं करेजा किं आराहणं, विराहणं ? गायमा! आराहणं, णो विराहणं" । एवं पुव्वगदिह वि जे के वि आलावगो ते उच्च-
रित्ता परं खोभंति; अप्पणा वा खुभंति । सीदंतीत्यर्थः । ते य ओसण्णचरणकरणा इमं ति अप्पणो चरियं पहाणं घोसंति ।

इमेसि पुरतो-

अवहुस्सुए अगीयत्थे, तरुणे मंदधम्मिणो ।

परियारपूड्याहंउं, संमोहउं निरुज्जति ॥ ३५५॥

जेण आचारपण्णो एउज्जइतो एस अवहुस्सुतो; जेण आव-
स्सगादियाणं अत्थो ए सुओ सो अगीयत्थो, सोव्वसवरिमाणं
आहवेत्तु जाव चत्ताव्वीसवरिसो एस तरुणो, असंवेगी मंदधम्मो ।
एते पुरिस्से विपरिणामेति अप्पणो परिचारहंउं, एतेहि य परि-
चारितो लोमस्स पूयणिज्जो होउं, कालियं दिट्ठिवाये भणितेहि
अहवा अभणितेहि वा संमोहंउं अप्पणो पासं णिरुभति, धा-
रतीत्यर्थः । अहवा-जो एवं पणवेति एमो चैव अवहुस्सुओ
अगीयत्थो तरुणो वा मंदधम्मो वा । सेसं कंठं ।

जत्थोचिओ विहारो, तं चैव पसंमए मुलजवोही ।

ओसण्णविहारं पुण, पसंसए दीहमंसारी ॥ ३५६॥

जो संविग्गविहाराओ जुओ तं पसंसति जो सो सुब्रभयोही ।
जो पुण ओसण्णविहारं पसंसति सो असुब्रभयोही दीहसं-
सारी भवति ॥

वितियपदमणप्पज्झो, वणज्ज अविक्कोविण व अप्पज्झो ।

जो जाणंता वि पुणो, जयसातव्वादिगच्छडा ॥ ३५७॥

पूर्ववत् ।

जे जिकवू वुमराइयाओ गणाओ अबुसराइयं गणं सं-
कमइ, सकमंतं वा साइज्जइ ॥ १५॥

बुसिराइयागणाओ, जे भिकवू संकमे अबुनिराइं ।

पदमवियतियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥ ३५८॥

तो वुसरानियं चउभंगो कायव्यो । चउत्थंतेण अवन्थुं, त-
तियजंगे अणुणे, पदमवितियसु संकमो पडिसिहो । पदमे सं-
कमंतस्स मासलहुं, वितिए चउवहुं । चोदगाह-जुत्तं वितिए प-
डिसिहो, पदमतंगे किं पडिसिहो ? । आचार्याह-तत्थ णिक्कार-
णे पडिसिहो, कारणे पुण पदमभंगे उवसंपदं करोति ।

सा य उवसंपया कावं पसुच्च निविहा इमा-

उम्मामे उवसंपदं, जहाण वारमममा उ मज्झिमिया ।

आवकटा उक्कोमा, पमिचउमामे तु आजीवं ॥ ३५९॥

उवसंपदा निविहा-जहणा, मज्झिमा, उक्कोमा य । जहणा उ-
म्मामे, मज्झिमा वारमवरिमे, उक्कोमा जावउजीवं । एव पमि-
चउमस्स एगविहा चैव जावउजीवं आचार्याओ ण मोत्तव्यो ।

उम्मामेऽपूरंता, गुरुगा वारमममामु चउलहुगा ।

तेण पग मासियत्तं, भणितं पुण आरंते कज्जे ॥ ३६०॥

जेण पमिचउगेण उम्मामेऽपूरंता उवसंपया कया, सो जादि उम्मामे
अपूरित्ता जाति, तस्स चउगुरुगाजेण वारम वरिमा कया, ते अ-
पूरित्ता जाइ तो चउवहुं । जेण जावउजीवं उवसंपदा कता, तस्स
मासलहुं । उम्मामाणं परेण णिक्कारणे गच्छुंतस्स मासवहुं । जेण
वारमममा उवसंपया कया, तस्स वि उम्मामे अपूरंतस्स चउ-
गुरुगा चैव, तस्सैव वारमममाओ अपूरंतस्स चउवहुगा । एस
सोहा गच्छतो वितस्स जाणता ॥ नि० चू० १६ उ० ।

अवेक्खमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । निरीक्षमाणे, ज्ञा० ६ अ० ।

अवेज्ज-अवेद्य-त्रि० । स्वसमानाधिकरणसमानकाक्षीनसाक्षा-
त्काराऽविषये, ज्ञा० ३० ज्ञा० ।

अवेज्जसंवेज्जपय-अवेद्यसंवेद्यपद-न० । महामिथ्यात्वनिवन्धने
पशुत्वादिशब्दाच्चे, ज्ञा० १३ ज्ञा० ।

अवेद्य-अवेद-पुं० । पुरुषवेदादिवेदरहिते, प्रज्ञा० २ पद । सि-
द्धादौ, स्था० २ वा० १ उ० ।

अवेद्यत्ता-अवेद्यित्वा-अव्य० । वेदनमकुर्वेत्यर्थे, प्रश्न० १
आश्र० द्वार ।

अवेद्यण-अवेदन-त्रि० । न विद्यते वेदना यस्य स अवेदनः ।
अल्पवेदने वेदनारहिते, उक्त० १६ अ० । साताऽसातवेदनाभा-
वात् सिद्धं च । प्रज्ञा० २ पद ।

अवेद्यवच्च-अपेतवाच्य-त्रि० । वचनीयतारहिते, वृ० १ उ० ।

अवेरमाण-अवेरमाणध्यान-न० । न विरमणमविरमणम;
तस्य ध्यानम । मा जून् पुत्रयोर्विरतिबुद्धिरित्यङ्गीकृतमपि देश-
विरतिं परित्यज्य प्रान्तग्रामसमाश्रितयोः " एते साधवो मांसा-
शिरो गतसाः " इत्यतस्तत्पार्श्वे न गन्तव्यमिति तत्रयविहितविप्र-
तारणयोर्भृगुपुत्रयोर्वि, जयदेवेन प्रतिबोद्धमानस्यापि मुहुर्मुहु-
र्विगतिं त्यजतस्तस्मात्तुरिय, मत्तार्यस्यैव वा धुर्व्याने, आतु० ।

अवोगमा-अव्याकृता-स्त्री० । अतिगम्भीरशब्दार्थायाम-अव्य-
क्ताङ्गप्रयुक्तार्था वा अविभावितार्थत्वाद् ज्ञापयाम, प्रश्न० १
सम्ब० द्वार । "अवोचिच्छ्रवणं अवोगडाए" । स० ६ सम० । अव्या-
कृता, यथा-बालकादीनां थपानका । दश० ७ अ० ।

अवोचिस्-अव्युचिस्-त्र० । उत्तरोत्तरानुवृत्त्या व्यवच्छेद-
जन्यः आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अवोचिस्तिण्य अव्यवचिस्तिनय-पुं० । अतस्य कालान्तरप्रा-
पणे, स्था० ४ टा० ३ उ० । अव्यवचिस्तिप्रतिपादनपरो नयो-
ऽव्यवचिस्तिनयः । अस्यास्तकनये, न० ।

अवोचिस्तिण्यदृष्ट-अव्यवचिस्तिनयार्थ-पुं० । दत्त० । छव्ये, न० ।

अवोचिस्तिण्यदृष्टा-अव्यवचिस्तिनयार्थना-स्त्री० । अव्यवचि-
स्तिनयार्थस्य भावोऽव्यवचिस्तिनयार्थना । द्रव्यापेक्षायाम्, न० ।

अवोचिस्तिण्य-अव्युत्पन्न-न० । अपरित्यागे, दशा० १० अध्या० ।

अवोह-अपोह-पुं । अपोहनमपोहः । निश्चये, न० । आ० म० ।

प्राप्तार्थे " ततो अवोह एवा " ततः पर्यालोचनानन्तरम-
पोहः । आ० म० प्र० । अपोहते स्वाकारादिपरीत आकारो-

ऽनेन्यपोहः । स्वाकारविपरीताकारोऽमूलके, रत्ना० ४ परि० ।

अव्यापोहपदार्थाभिगतिफलत्वाद्पोह इत्युच्यते । सम्म० १ का-

ण्ड । (अपोहः शब्दार्थः प्रसिद्ध इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे

६५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अपगत ऊहो वादिसमुद्भावितस्तर्को य-

स्यात् 'यह' । वादिसमुद्भाविततर्कनिरासार्थकं प्रतिवादिसमु-

द्भाविते तद्विरुद्धे तर्कभेदे, वाच० । ('अपोह' शब्देऽस्मिन्नेव

भागे ६२ पृष्ठे सत्तेपतोऽयं निरूपितः, विस्तरतस्तु 'सद्वत्थ' श-

ब्दे वदयते)

अवोहगणिज-अव्यवहरणीय-त्रि० । जीर्णे, नि० चू० १ उ० ।

अव्वर्जनाव-अव्ययीनाव-पुं० । अव्ययमव्ययं भवत्यनेन ।

अव्यय-चि-भू-करणे घष् । व्याकरणप्रसिद्धे समासभेदे,

वाच० । अनु० ।

से किं तं अव्वर्जनावे ? । अव्वर्जभावे अणुगामा, अणुग-

इया, अणुफरिडा, अणुचारिमा । सत्तं अव्वर्जनावे समासं ॥

पुत्रपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, तत्र ग्रामस्य अनु समीपेन मध्येन

वाऽऽशनिर्निर्गता अनुग्रामम् । एवं नद्याः समीपेन मध्येन वा नि-

र्गता अनुनदि, इत्याद्यपि जावनीयम् । अनु० ।

अव्वंग-अव्वंग-न० । अकृते, यस्य कृतं कृतं न विद्यते । व्य०-

७ उ० ।

अव्वकिञ्चन-अव्व्याक्षिप्त-त्रि० । स्थिरे, 'अव्वकिञ्चनेण चयसा' ।

अव्व्याक्षिप्तेन स्थिरेण चेतसा । उक्त० २० अ० । अन्यत्रोपभोग-

मगच्छतेत्यर्थः । दशा० ५ अ० १ उ० । प० व० । व्याक्षेपमकुर्वते,

प्रतीच्छनायोधे, " वक्त्रेवणा दुसन्हा, दिवसपसु लीहावे ।

दुगमादी जो य पढे-तो न कगेति विक्खेवं ॥ १ ॥ अव्वकिञ्चतो

पमो, आउत्तो अणहमणसो उ ॥ " प० भा० ।

अव्वगमण-अव्वग्रमण-त्रि० । अव्वग्रमनाकुञ्चितमसम्पन्नस-

चित्तोपग्रमतो मनश्चित्तमस्यैव्यग्रमनाः । अनुकूलचित्ते, उक्त०

१५ अ० ।

अव्वत्त-अव्वत्त-न० । न व्यक्तमव्यक्तम् । अनिर्देश्ये स्वस्व-

ति । नि० चू० १८ उ० । व्य० । अव्यक्तोऽप्राप्तां वर्षाणां मध्ये

वालः । भोग० । अमीनार्थे, नि० चू० २ उ० । अनवगतच्छे-

दग्रन्थग्रहस्ये, ध० २ अधि० । अव्यक्तोऽर्गातार्थस्तस्याऽव्यक्तस्य

गुरोः पुरतो यदपराधालोचनं तदव्यक्तम् । आलोचनादोषे, व्य० १

उ० । स्था० । " जो य अमीयत्थस्सा, आलोए तं तु होइ

अव्वत्तं " सत्या सत्यजर्मोतवदव्यक्तयादी । संयताऽभ्युपगमे

संदिग्धबुद्धौ निह्वे, आ० म० द्वि० ।

अव्वत्तगम-अव्यक्तगम-त्रि० । गमनाभावे, नष्टमसमर्थं च । सूच०

१ श्रु० १४ अ० ।

अव्वत्तवत्तवगमचिय-अव्यक्तव्यक्तसंचित-पुं० । ह्यादिः संख्या-

व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्यायाश्च संख्यात्वेनासं-

ख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाव्यक्तव्यक्तः स च एककस्तेनाऽव्यक्त-

व्येन एककेन एकत्वेत्पादेन संचिता अव्यक्तव्यक्तसंचिताः ।

कतित्वेनाऽकतित्वेन चानिर्वचनीयोत्पादेषु, ज० २० श० १० उ० ।

(अत्र दण्डक 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ए२१ पृष्ठे वदयते)

अव्वत्तदंमण-अव्यक्तदर्शन-पुं० । अव्यक्तमस्पष्टं दर्शनमनुभ-

वः स्वप्नार्थस्य यत्रासावव्यक्तदर्शनः । स्वप्नदर्शनभेदे, भ० १६

श० ६ उ० ।

अव्वत्तमय-अव्यक्तमत-पुं० । न ज्ञायतेऽत्र कोऽपि संयतः को-

ऽप्यसंयत इत्यव्यक्तस्यैव सर्वस्याभ्युपगमाच्च व्यक्तमस्फुटमव्यक्तं

मतं येषां तेऽव्यक्तमताः । संयताद्यवगमे संदिग्धबुद्धिषु निह्व-

वेपु, विश० । आ० म० । आ० चू० ।

अव्वत्तरुव-अव्यक्तरूप-त्रि० । अमूर्तत्वादव्यक्तं रूपमस्याऽ-

साव्यक्तरूपः । तथा-करचरणशिरोग्रीवाद्यनवयवतया स्वतोऽ-

वस्थानाज्जीवे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अव्वत्तिय-अव्यक्तिक-पुं० । अव्यक्तमस्फुटं वस्तु अभ्युप-

गमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः । संयताद्यवगमे संदिग्धबुद्धि-

षु, स्था० ७ टा० । उक्त० । औ० ।

तदुत्पत्तिमतं चेत्थम्-तृतीयनिह्ववक्तव्यतामाह-

चोदा दो वामभया, तद्या मिच्छि गयस्म वीरस्स ।

तो अव्वत्तियदिट्ठी, मेयविगाए समुप्पन्ना ॥

चतुर्दशाधिकं वर्षशतद्वयं तदा श्रीमन्महावीरस्य सिद्धिं गत-

स्याऽऽसीत्, ततोऽव्यक्ताभिधाननिह्वानां दृष्टिदर्शनरूपा श्वेतवि-

कायां नगर्या समुत्पन्नेति ।

कथम्?, इत्याह-

मेयवियपोलमाढे, जोगे तदिवसहिययमूढे य ।

सोहम्मिनलिणिगुम्मे, रायगिहे मुरियवन्नज्जे ॥

इह श्वेतविकायां नगर्या पौलापादचैत्ये आर्यापादनामान आत्ता-

र्याः स्थिताः । तेषां च वदवः शिष्या आगाढयोगं प्रपन्नाः । अपरवा-

अतः कृताः । एवं दिव्यप्रभावनस्तेन देवेन तेषां साधूनां कालभङ्गादिविघ्ने रक्ता शीघ्रमेव विस्तारिता यांगाः । ततोऽनेन तच्छरीरं मुक्त्वा दिवं गच्छन्ता प्रोक्ताः साधवः । यथा— 'क्रमणीयं भद्रेत्येदं संसृतं सता मया आत्मनो वन्दनादौ न वारिताः ; चाग्निविणो यूयम् । अहं ह्यमुकदिने कालं कृत्वा दिवं गतो युष्मदनुकम्पयाऽत्रागतः, निस्तारिताश्च भवतामागादयो गाः । इत्याद्युक्त्वा क्रमयित्वा च स्वस्थानं गतः । ततस्ते साधवस्तच्छरीरकं परिस्थाप्य चिन्तयन्ति—अहो ! असंयतो बहुकालं वन्दितः । तदित्थमन्यथापि गङ्गा—को जानाति कोऽपि संयतः, कोऽप्यसंयतो देव इति ? । ततः सर्वस्याप्यवन्दनमेव श्रेयः, अन्यथा ह्यसंयतवन्दनं, मृषावाद्वा स्यात् । इत्थं तथाविधगुरुकर्मोदयात्तेऽपरिणतमतयः साधवोऽव्यक्तवाद् प्रतिपन्नाः परस्परं न वन्दन्ते । ततः स्थविरैस्तेऽजिह्विताः—यदि परस्मिन् सर्वत्र जवतां संदेहस्तर्हि यदुक्तं देवोऽहमिति तत्रापि भवतां कथं न संदेहः ? , किं स देवो वाऽदेवो वा ? , इति । अथ तेन स्वयमेव कथितम्—'अहं देवः, तथा देवरूपं च प्रत्यक्ष एव दृष्टमिति न तत्र संदेहः । हन्त ! यद्येवं तर्हि य एवं कथयन्ति वयं साधवः, तथा साधुरूपं प्रत्यक्षत एव दृश्यते, तेषु कः साधुर्वसंदेहः, येन परस्परं यूयं न वन्दध्वे ? । नच देववचनादेव वचनं सत्यमिति शक्यते यत्कुम्भदेववचनं हि श्रीरामार्थमन्यथाऽपि संभाव्यते । नच तथा साधुवचनं, तद्विरतत्वात्तेषामिति । एवं च युक्तिनिर्यावन्न प्रज्ञाप्यन्ते तावदुद्धाट्य बाह्याः कृताः पर्यटन्तश्च राजगृहं नगरं गताः । तत्र च मौर्यवंशसंभूतो बल्लभद्रो नाम राजा, स च श्राद्धः । ततः तेन विज्ञाताः । यथा—अव्यक्तवादिनो निह्वा इह समायाता गुणशिखकचैत्ये तिष्ठन्ति, ततः स्वपुरुषान् प्रेष्य राजकुले आनायिताः । तेन ते कटकमर्देन मारणार्थं चाज्ञप्ताः । ततो हस्तिनिकटेषु च तन्मर्दनार्थमानीतेषु तैः प्रोक्तम्—राजन् ! वयं जानीमः—श्रावकस्त्वं, तत्कथं श्रमणानस्मान्निधं मारयसि ? । ततो राजा प्रोक्तम्—युष्मत्सिद्धान्तेनैव को जानाति किं श्रावकोऽहं, न वा ? । भवन्तोऽपि किं चौराश्चरिका अभिमरा वेत्यापि को वेत्ति ? । तैः प्रोक्तम्—साधवो वयम् । यद्येवमव्यक्तवादितया किमिति परस्परमपि यथाज्येष्ठं वन्दनादिकं न कुरुथ ? ; इत्यादिनिष्ठुरैर्मृदुभिश्च वचनैः प्रोक्तास्ते नरपतिना । ततः संबुद्धा लज्जिताश्च निःशङ्किताः सन्मार्गं प्रतिपन्नाः । ततो राजा प्रोक्तम्—भवतां संबोधनार्थमिदं मया सर्वमपि विहितमिति क्रमणीयमिति ।

अमुमेवार्थं भाष्यकारः प्राह—

गुरुणा देवीचूण, समणरूपेण वाऽया सीसा ।

सन्नावपरो कहिओ, अव्यक्तियदिष्टिणो जाया ॥

गतार्था ।

कथमव्यक्तदृष्टो जाताः ? , इत्याह—

को जाणइ किं साहु, देवो वा तं न वंदणिज्जो त्ति ।

होज्जाऽसंजयनमणं, होज्ज मुसावायममुगो त्ति ॥

को जानाति किमयं साधुवेषधारी साधुर्देवो वा ? , नास्त्येवात्र निश्चय इति । अत्र नच वक्तव्यं साधुरेवायं तद्वेषसमाचारदर्शनाद्भवानिवः आर्याषाढदेवेषु साधुवेषसमाचारदर्शनेनानैकान्तिकत्वात् । तस्मान्न कोपि वन्दनीयः, संशयविषयत्वात् । यदि पुनर्वन्द्येन, तदा आर्याषाढदेववन्दन इवासंयतवन्दनं स्यात्, अमुको ब्रवीतीति भाषणे च मृषावादः स्यादिति ।

अथ प्रतिविधानमाह—

धेरवयणं जइ परं, संदहो किं मुरो त्ति माहु त्ति ? ।

देव कहुं न संका, किं सो देवो न देवो त्ति ? ॥

तेण कहियं ति च मई, देवोऽहं ख्वदग्गिसणाओ य ।

साहु त्ति अहं कहिण, समणख्वम्मि किं संका ? ॥

देवस्स च किं वयणं, मच्चं ति न साहुख्वधाग्गिम्म ।

न परोपरं पि वंदह, जं जाणंता वि साहु त्ति ॥

निस्त्रोऽप्युक्तार्थाः ।

किञ्च—यदि प्रत्यक्षेणैव यतिषु भवतां शङ्का, तर्हि परांतेषु जीवादिषु सुतरामसौ प्राप्नोति, ततः सम्यक्त्वस्याप्यभाव इति दर्शयन्नाह—

जीवाइपयत्थेमुं मुहु—मव्ववद्वियविणिट्ठख्वेमुं ।

अव्वंतपरोक्खेमु य, किहु न जिण्णिइमु जे संका ? ॥

गतार्था ।

अथ जिनवचनाज्जीवादिषु न शङ्का, तदेतदिहापि मानमित्याह—

तव्वयणाओ व मई, नणु तव्वयणे सुमाहुवित्तो त्ति ।

आलयाविहारसमिओ, समणोऽयं वंदणिज्जो त्ति ॥

अथ तद्वचनाजिनवचनाज्जीवाद्यर्थेषु न शङ्का । ननु यद्येवं, तद्वचने इदमप्यस्ति—यदुत शोभनं साधुवृत्तं श्रमणशीलं यस्यासौ सुसाधुवृत्त इति हेतोः श्रमणोऽयमिति निश्चयाद्वन्दनीयः । सुसाधुवृत्तोऽपि स कथं ज्ञायते ? , इत्याह—आश्रयविहारसमित इति कृत्वा । उक्तं च—“ आश्रयणं विहारणं, णाणा चंक्रमणा ण य । सक्का सुविहियं नाउं, जासा वेणइए णये ” ॥ १ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

जह वा जिण्णिदपरिमं, जिण्णुणरहिय त्ति जाणमाणा वि ।

परिणामविमुक्त्यं, वंदह तह किं न साहु पि ? ।

होज्ज न वा साहुत्तं, जइख्वे नत्थि चेव परिमाण ।

सा कीस वंदणिज्जा, जइख्वे कीस परिमेहो ? ॥

सुगमे । नवरं प्रथमगाथायां प्रतिमायाः साधुरूपेण सह वन्दनीयत्वे साम्यमुक्तम् । द्वितीयगाथायां तु साधुरूपे विशेषं दर्शयति—यतिरूपं प्राणिनि साधुत्वं जवेद् न वेति संदिग्धमेव, प्रतिमायां तु जिनत्वं नास्त्येवेति निश्चयः । ततः किमिति सा वन्दनीया, यतिरूपे च किमिति वन्दनप्रतिषेधः ? ।

अत्रोक्तमाह—

अस्संजइजइख्वे, पावाणमई मई न परिमाण ।

नणु देवाणुगयाए, परिमाण वि होज्ज सो दोसो ॥

अथैवंभूता मतिः परस्य जवेत्—असंयतेऽधिष्ठितयतिरूपे वन्दमाने तद्वतासंयमरूपपापाऽनुमतिर्भवति, न त्वसौ प्रतिमायाम् । अत्रोच्यते—ननु देवताऽधिष्ठितप्रतिमायामप्ययमनुमति-लक्षणो दोषो भवेदिति ।

अथैवं श्रूयात्परः ; किमित्याह—

अह परिमाणं न दोसो, जिण्णुच्छीए नमिउ विमुक्खस्स ।

तो जइख्वं नमिउं, जइवुच्छीए कहुं दोसो ? ॥

अथ प्रतिमायां नानुमतिलक्षणा दोषः ; किं कुर्वतः ? , नमस्वतः ;

कथं, जितवृद्धा, कथंभूतस्य ? विबुद्धाभ्ययमायस्य । यद्येवं ततो यतिबुद्धा यतिरूपं विबुद्धस्य नमस्यतः को दोषो येन भवन्तः परस्परं न वन्दन्ते ? । अत्रापि कश्चिदाह—यद्येवं, त्रिङ्गमावधारिणं पार्श्वस्थादिकमपि यतिबुद्धाभ्ययगुरुस्य नमस्यतो न दोषः । तदयत्नः पार्श्वस्थादीनां सम्यग्यतिरूपस्याप्यज्ञात् । तदज्ञावश्च 'पालपणं विहारेण' इत्यादियतिलिङ्गस्यानुपलम्भात् । ततः प्रत्यङ्गदे पवनः पार्श्वस्थादीन्वन्दमानस्य तस्यावयानुज्ञानलक्षणा दोष एव । उक्तं च—“जह चैवंवर्गलिगं, जाणतस्स नामउ हवइ दोसो । तिव्वंधनेपि नाउं, ए वंदमाणे धुवो दोसो” ॥१॥ इत्यादि । प्र-
तिमायास्तु दोषानावात्तद्वन्दने सावधानुज्ञानावतो न दोष इति ।

अत्र पुनरपि परानिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अहं पमिं पि न वंदइ, देवामेकाएँ तो न येत्तवा ।

आहारोवादिमेज्जा—आं देवकया भवे जं तु ॥

अथ प्रतिमामपि न वन्दध्वं यूयम् । हन्त ! यद्येवं शङ्काचारी भवान्, तर्हि—मा देवकृता भवेयुरित्याहारोपधिशय्यादयोऽपि न प्राह्या इति ।

किञ्चेत्यमतिशङ्कालुतायां समस्तव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः,

कुतः ? इत्याह—

को जाणइ किं भत्तं, किमत्रो किं पाणयं जत्तं मज्जे ।

किमत्तावुं माणिकं, किं सप्पो चीवरं हारो ? ॥

को जाणइ किं मुद्धं, किममुद्धं किं मजीवनिज्जीवं ।

किं जयवं किमजयवं, पत्तमभयवं तत्रो सव्वं ? ॥

को जानाति किमिदं भक्तं, कुमयो वेत्याद्याशङ्कायां जक्तादाव-
पि कुन्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभक्रमेव प्राप्तं भवतः । तथा-
अलायुचोवगदो मणिमाणिक्यसर्पादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमज्ञे-
यं च प्राप्तमिति ।

तथा—

जइणा वि न संवामो, मेओ पमया-कुमीन्नमेका वा ।

होज्ज गिदी व जइ चि य, तस्माऽऽसीमा न दायव्वा ॥

न य मो दिक्खेयव्वो, भव्वोऽभव्वो चि जेण को मुणइ ? ।

चोगे चि चारिओ चि य, होज्ज य परदाग्गामि चि ॥

को जाणइ को सीमो, को वा गुरुओ न तव्विममो वि ।

गज्जा न वोवणमा, को जाणइ मव्वमलियं पि ॥

किं वइणा मव्वं चिय, मेदिच्छं जिणमयं जिणिंदा य ।

परओयसग्गमोक्खा, दिच्छाण किमत्थ आरंभो ? ॥

अहं मेति जिणवर्गिदा, तव्वयणाओ य मव्वपक्खिचि ।

तव्वयणाओ चिय जइ—वंदणयं वि ते कहं न मत्तं ? ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः । नवरं “जइणा वि न संवामो” इ-
त्यादिनाऽन्युपगमविशेषाभिधानः । (अहं संतीत्यादि) अथ
मन्ति जितवृन्दान्, तद्वचनमिदंवात् तेषाम् । तद्वचनादेव
च सर्वेभ्योऽपि परशोकस्वर्गमोक्षादेः प्रक्षिप्तमिति । एवं
तर्हि तद्वचनादेव यतिवन्दनमपि कस्मात् समस्तमिति ? ।

अपि च—

जइ जिणमयं पमाणं, मुणि चि तो वज्झकणपरिमुद्धं ।

देवं पि वंदमाणो, विमुद्धनाओ विमुद्धो चि ॥

यदि जितमतं जवतां प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आल-
यविहारादिबाह्यकरणपरिमुद्धं देवमप्यमरमपि वन्दमानो वि-
बुद्धभावे भवेहोपरहितो विमुद्ध एव । उक्तं चागम—“परग-
रहस्ममिसीणं, संमत्तगणुपिगगभसाराणं । परिणामियं प-
माणं, निच्छयमवलंबमाणं” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

जइ वा मो जइरुवो, दिट्ठो तह केत्तिया सुरा अन्ने ।

तुव्वजेहिं, दिट्ठपुव्वा, सव्वत्थापच्चओ जं जे ॥

वा इति अथवा, यथा आर्यापादंदेवो यतिरूपधरोऽव दृष्टः,
तथा कियन्तः सुरास्ततोऽन्ये भवद्भिर्दृष्टपूर्वाः, यद्येतावन्मात्रेणा-
पि सर्वत्राप्रत्ययो (मे) भवतां नहि कदान्वित्यथश्चित् कचिदाश्व-
र्यकले कस्मिंश्चित्तथाभावाशङ्का युज्यत इति भावः । तस्माच्छ्रव-
हारनयमाश्रित्य युक्तं भवतामन्योऽन्यवन्दनादिकम् । उक्तं च—
“निच्छयउ दुन्नियंको, भावे कस्मि वट्ठए समणो । ववहारओ
य तुज्जइ, जो पुव्वविओ चरितमि” ॥१॥ इत्यादि ।

एतदेव समर्थयन्नाह—

उउमत्थसमयवज्जा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।

तं तह समायरंते, सुज्झइ सव्वा विमुच्छमणो ॥

संववहारो वि वल्ली, जममुद्धं पि गहिंयं सुयविहीए ।

कोवइ न सव्वणू, वंदइयस्म जाइ उउमत्थं ॥

निच्छयववहारनओ—वणीयमिह सामणं जिणिंदाणं ।

एगयपरिच्चाओ, मिच्छं संकादओ जे य ॥

जइ जिणमयं पवज्जइ, तो मा ववहारनयमयं सुयइ ।

ववहारपरिच्चाए, तित्थुच्छेओ जवेऽवस्सं ॥

अतस्त्रोऽपि सुगमाः । नवरं (कोवइ इत्यादि) न कोपयति-नाप्र-
माणीकरोति न परिहरति, तुज्जइ इत्यर्थः (संकादओ इत्यादि)
येऽपि शङ्काकाङ्क्षादयस्ते हि मिथ्यात्वमिति संबन्धः ।

एतावत्युक्ते तत् किं तत्र संजातम् ? इत्याह—

इय ते नामग्गाहं, मुयंति जाहे वहुं पि छण्ता ।

ता संयपरिच्चा, रायगिदे निवइणा नाउं ॥

वल्लजइण पयाया, भणंति सावयं तवस्सि चि ।

मा कुरु संकमसंका-रुंमु जणिणं भणइ राया ॥

को जाणइ के तुव्वे, किं चोरा चारिया अभिमरे वत्ति ? ।

संजयसुवच्चन्ना, अज्जमहं भे वि वाएमि ॥

नाणचरियाहिं नज्जइ, समणोऽसमणो व कीस जाणंते ।

तं सावयमेदं, करेमि भणिणं निवो जणइ ॥

तुव्वं चिय न परोप्पर—वीसंभो साहवो चि किह मज्जे ।

नाणचरियाहिं ता जइ, चोराण व किं न ता संति ॥

नुवउत्तिओ भयाउ य, पक्खिन्ना उ ते समयसग्गाहं ।

निवव्याभियाऽज्जिगंतुं, गुरुमूत्रं ते पक्कंता ॥

सर्वेऽन्युक्तार्थाः सुगमाश्च, नवरं नृपतिना बलभेदेण ‘ते आग-
ताः’ इति ज्ञात्वा आघ्राताः आहृताः, ‘के यूयम्’, इति पृष्टाश्च भ-
णन्ति—‘हे श्रावक’ इत्यादि । (नाणचरियाहिं इति) ज्ञानक्रियाभ्यां यो
जवतामपि साधव इति विश्रम्भः परस्परं नास्ति, स ताभ्यां कथं

मे जायते । अपि च किं ते कृत्रिमे ज्ञानक्रिये चोराणामपि न स्तः, न भवतः । इति त्रयस्त्रिंशत्तथाऽर्थः ॥३८१॥ इति तृतीयोऽव्यय-
भिधाननिहवः समाप्तः । विशेषः । आ० म० । आ० चू० ॥

अव्यय-अव्यय-पुं० । न० त० । अस्मरुते, कथमप्यात्मनोऽव्य-
यान् । आ० ८ आ० । कियतामप्यवयवानां व्यथाऽभावात् । आ०
५ अ० । सदाऽवस्थायिनि, विशेषः । स्थ० । सूत्र० । “ ध्रुवं णियए
सासए अकखए अव्ययए ” अव्ययः, तत्प्रदेशानामव्ययत्वात् । भ०
१ श० १ उ० । आदशाङ्गं प्रवचनमव्ययं, मानुषोत्तराद् वहिः-
समुद्रवदव्ययत्वादिव । न० । ननु ‘यत्कोकिलः किल मधौ’ इ-
त्यत्र यच्छब्दाग्रे का विभक्तिः?, ‘तच्छाचूतकलिका’ इत्यत्र तच्छ-
ब्दाग्रे च का विभक्तिः? । अत्र यत्तच्छब्दाव्यययौ वा, अनव्ययौ
वेति प्रश्ने-यच्छब्दाग्रे क्रियाविशेषणत्वे द्वितीया विभक्तिर्वाक्या-
र्थमादाय, अव्ययत्वे तु प्रथमाऽपि संभवति । तच्छब्दाग्रे तु तस्य
पूर्वपरामर्शित्वेन प्रथमा विभक्तिः । व्याख्यानान्तरेण स्वतन्त्रयो-
नि यत्तच्छब्दाव्ययवचनव्ययौ च धर्तरे इति सर्वं सुस्थमिति ।
सेन० १ उल्ला० १५३ प्रश्न० ।

अव्यवसिय-अव्यवसित-वि० । अनिश्चयवति, पराक्रमवति च ।
स्था० ।

तत्रो गणा अव्यवमिअस्स अद्वियाए अमुहाए अक्ख-
माए अणिएसमाए अणाणुगामियत्ताए ज्वंति । तं जहा-मे
एं मुंरे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वए णिगंथे
पावयणे संकिए कंखिए विनिगिच्छिए भेदसमावले कलुम-
समावले णिमंथे पावयणं णो सदहए, णो पत्तियए, णो रो-
एड; तं परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवति ।
नो से परीमहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिजवड ।
से एं मुंरे जवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वए पंच-
हिं महव्वएहिं संकिण० जाव कलुमसमावले; पंच महव्वयाइं
एो सदहए जाव नो से परीमहे अजिजुंजिय अभिजुंजिय
अजिजवड । से एं मुंरे भवित्ता अगाराओ अणगारियं
पव्वए णहिं जीवनिक्काएहिं जाव अजिजवड ॥

त्रीणि स्थानानि प्रवचनमहाव्रतजीवनिकायलक्षणानि अव्यव-
सितस्थानिश्चयवतोऽपराक्रमवतो वाऽहितः याऽपथ्याय, असुखा-
य दुःखाय, अक्षमाय असंगतत्वाय, अनिःश्रयसाय श्रमोक्ताय,
अनानुगामिकत्वाय-अशुभानुवन्धाय भवन्ति । (से णं ति) यस्य
त्रीणि स्थानानि अहितादित्वाय भवन्ति, स शङ्कितो-देशतः स-
र्वतो वा संशयवान्, काङ्क्षितः तथैव सतान्तरस्यापि साधुत्वेन
मनो, विचिकित्सितः फलमप्रति शङ्कोपेतः, अतएव भेदसमाप-
न्नो द्वैधीभावमापन्नः-एवमिदं न चैवमिति मनिकः, कलुपसमा-
पन्नो नैवदेवमिति प्रतिपत्तिकः । ततश्च निर्वन्धानामिदं नैर्वन्धिकं
प्रशस्ते प्रगते प्रथमे वा वचनमिति प्रवचनम्-आगमः । दीर्घत्वं
प्राकृतत्वात् । न श्रद्धांते सामान्यतः, न प्रत्येति न प्रीति-
विषयीकरोति; न रोचयति न चिकीर्षाविषयीकरोति । तमि-
ति, य एवम्भूतस्तं प्रव्रजिताभासं, परिपह्यन्ते इति परीपहाः
लुधादयः, अजियुज्य अजियुज्य सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्प-
र्द्धं वा अजिभवन्ति न्यक् कुर्वन्ति इति । शेषं सुगमम् । स्था०
३ गा० ४ उ० ।

अव्यमण-अव्यसन-पुं० । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे,
ज० ७ वक्र० ।

अव्वट्ट-अव्यय-न० । देवाद्युपसर्गजनितं जयं वचनं वा व्यथा,
तदज्ञावोऽव्यथा । व्यथाऽभावे शुक्लध्यानावस्थने, ज० २५ श०
७ उ० । स्था० । ग० । श्री० ॥

अव्वट्टिय-अव्ययित-वि० । परेणानापादितदुःखे, जी० ३ प्रति० ।
पं० सू० । अनामिने, ज० ३ श० १ उ० । अदीनमनसि, दश० ८
अ० । अपीडिते, पञ्चा० ४ विव० । निष्प्रकम्पमाने धीरे, वृ० १ उ० ।

अव्वाइष्ट-अव्याविद्ध-न० । सूत्रगुणभेदे, अव्याविद्धं यत्तस्य सू-
त्रस्याधस्तनपदमुपरितनम्, उपरितनमधो न क्रियते । वृ० १ उ० ।

अव्वाइद्धक्ख-अव्याविद्धाङ्ग-न० । विपर्यस्तरत्नमाला-
गतत्नानि इव व्याविकानि विपर्यस्तानि अङ्गराणि यत्र तद्
व्याविकाङ्गं, तथाऽव्याविद्धाङ्गम् । व्याविद्धाङ्गत्वेदोपरहि-
ते सूत्रगुणं, ग० २ अधि० । आ० म० । अनु० ॥

अव्वागद-अव्याकृत-वि० । अव्यक्तेऽपरिस्फुटे, आचा १ भु० १
अ० १ उ० ।

अव्वावाह-अव्यावाध-न० । न विद्यते व्यावाधा यत्र तदव्या-
वाधम् । द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातकृत्या, जायतो मिथ्यात्वादिकृ-
तया, द्विरूपयाऽपि व्यावाधया रहिते वन्दने प्रव० २ द्वार । “अ-
व्वावाहं वुविहं-द्वे, भावे य” उच्यते; खड्गाद्यभिघातव्यावाधा-
कारणविकले, भावतः सम्यग्दृष्टेश्चात्रिचनो वन्दने, आव० ३
अ० । शरीरवाधानामभावे, “ किं ते जंते ! अव्वावाहं ? । सां-
मिला ! जं मे वातियपित्तियसंमियसंखिवाइयविहिरोगायंका
सरीरगया दोसा उवसेता णो उदीरेति । सेत्ते अव्वावाहं ” ।
भ० १८ श० १० उ० । विविधा आवाधा व्यावाधाः तन्निषेधान् ।
श्री० । व्यावाधावर्जितसुखं, श्री० । “अव्वावाहमुवगयाणं” । आ०
म० छि० । “अव्वावाहमव्वावाहेणं” । अव्यावाधमव्यावाधेन सुखं
सुखेनेत्यर्थः । ज० ४ श० ४ उ० । कटप० । अमूर्त्तत्वात् (रा०)
अकर्मकत्वात् (ध० २ अधि०) परेषामपीडाकारित्वात् (ज०
१ श० १ उ०) केनापि व्यावाधयितुमशक्यत्वात् (जी० ३ प्रति०)
व्यावाधारहिते सिद्धिस्थाने, रागादयो हि न तद् बाधितुं
प्रभविष्णवः प्रज्ञा० ३१ पद । कटप० । रा० लुधादिवाधारहि-
तत्वात् (ब्रह्मचर्यम्) प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । गन्धर्वादिलक्षण-
भावव्यावाधाविकलो (ध्यानेदेशः) अव्यावाधशब्देन विशिष्यते ।
आव० ५ अ० । व्यवाधन्ते परं पीडयन्तीति व्यावाधाः त-
न्निषेधादव्यावाधाः । वि० । भ० १४ श० ८ उ० । उत्तरयोः कृष्णरा-
ज्योरन्तर्गतसुप्रतिष्ठाभविमानवासिभ्यो कान्तिकदंष्ट्रेषु, स्था० ८
टा० भ० । “अव्वावाहाणं देवाणं नव देवा नव देवसया पण-
त्ताः एवं अगिच्छा वि, एवं रिद्धा वि ।” स्था० ८ गा० ।

अत्थि णं जंते ! अव्वावाहा देवा ? । इता अत्थि । से
केणहेणं जंते ! एवं वुचइ अव्वावाहा देवा ? । अव्वावाहा
देवा गोयमा ! पत्तुणं एगमेगे अव्वावाहे देवे एगमेग-
स्स पुरिसस्स एगमेगांसि अच्चिपत्तेसि दिव्वं देवहिं दिव्वं
देवजुतिं दिव्वं देवाणुजावं दिव्वं वत्तीमइविहं नटविहिं उ-
वदंमेत्तए णो चेव एं तस्म पुरिसस्स किंचि आवाहं वा

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएऽ, उविच्छेदं वा करेऽ, ए सुहुमं
च णं उवदेमेज्जाः से तेणट्ठेणं० जाव अव्यावाहा ॥१॥

(सच्छिपत्तमि स्ति) अक्षिपत्ते सत्तिपत्तमणि (आवाहं व
त्ति) ईषद्वाधां (पवाहं व त्ति) प्रकृष्टवाधां (वावाहं ति)
क्वचित्, तत्र तु व्यावाधां विविष्टमावाधां (उविच्छेयं ति)
शरीरच्छेदं (ए सुहुमं च णं ति) । सूक्ष्ममेवं सूक्ष्मं यथा
भवत्येषमुपदर्शयेत्, नाट्यविधिमिति प्रकृतम् । ज० १४
श० ८ उ० ।

अव्यावह-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जिते, “सडियपडियं न की-
रऽ, जडियं सव्वागमं तयं वन्धु” । यन् शठितपतिते यत्र व्यापारः
कोऽपि न क्रियते तद्भास्तु अव्यापृतमुच्यते । इति वक्तित-
स्वरूपे वास्तुभेदं, वृ० ३ उ० ।

अव्यावन्न-अव्यापृत-त्रि० । अविभिन्ने, व्य० १ उ० । अविनष्टे, भ०
१ श० ९ उ० ।

अव्यावारपोसह-अव्यापारपोष-पुं० । व्यापारप्रत्याख्यान-
पूर्वकं क्रियमाणे पोषधोपवासव्रते, “अव्यापारपोसहो दुविहो-
देसे, सव्वे य । देसे अमुगं वावारं करेमि, सव्वे ववहारं से वल-
सगडधरपरिकम्मादयो न कीरऽ” । आच० ६ अ० ।

अव्यावासुहृदिय-अव्यापारसुखित-त्रि० । तथाविधव्यापारर-
हिततया सुखिति, वृ० ३ उ० ।

अव्यावह-अव्याहृत-त्रि० । अनुपहृते, पो० १४ विव० । स्वरा-
विरोधनि, व्य० १ उ० । अव्याधिने, न० ।

अव्यावहपुव्वावगत-अव्याहृतपूर्वापरत्व-न० । पूर्वापरवा-
क्याऽविरोधरूपे सत्यवचनातिशये, रा० । स० ॥

अव्याहृदिय-अव्याहृत् न-त्रि० । अनाहृते, जी० ३ प्रति० । अ-
कथिते, “अव्याहिते कसाद्या” आच० १ श्रु० ए अ० २ उ० ।
अव्युक्तं-अव्युत्क्रान्त-त्रि० । अपारिणतविध्वस्तप्राप्तके, ग० ।
२ अधि० ।

अव्वो-अव्वो-अव्य० । संबोधनादौ, व्य० ७ उ० ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-
जन्य-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ऽ । १ । १०४ ॥

‘ अव्वो ’ इति सूचनादिषु प्रयोक्तव्यम् । सूचनायाम्-“ अव्वो
दुक्करयारअ” । दुःखे-“ अव्वो दलंति हिअअं” । संभाषणे-“ अव्वो
किमिणं किमिणं ?” । अपराधविस्मययोः-

“ अव्वो इरंति हिअअं, तह वि न वेसा हवन्ति जुवईण ।

अव्वो किं पि ग्हस्से, मुणंति धुत्ता जण्वअहिआ” ॥ १ ॥

आनन्दादरत्रयेषु-

“ अव्वो सुपहायमिणं, अव्वो अज्जमह सण्णलं जीअं ।

अव्वो अइअस्मि तुमे, नवरं जइ सा न जूरिइइ” ॥

खेदे-“ अव्वो न जामि छेत्तं” । विषादे-

“ अव्वो नासोत दिइं, पुत्रयं वड्ढंति देति रणरणयं ।

पणिह तस्सेव गुणा, ने अिअ अव्वो कह णु पअं ?” ॥ १ ॥

पश्चात्तापे-“ अव्वो तह तेण कआ, अहअं जइ कस्स सहमि ?” ।
प्रा० २ पाद ।

अव्वोगड-अव्याकृत-त्रि० । अविशेषिते, वृ० २ उ० । “ अव्वो-
गडमविनत्तं” । अव्याकृतं नाम यदायादैर्गवितकमिति वास्तुते-

देः वृ० ३ उ० । (अत्र दृष्टान्तः ‘ उगगह ’ शब्दे द्वितीय-
भागे ७०८ पृष्ठे छप्यः) अधिसंस्कृते, दशा० ३ अ० ।

अव्वोच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्ववंशस्य परम्परया समा-
गतेः व्य० ७ उ० ।

अव्वोच्छित्ति-अव्यवच्छित्ति-त्रि० । “ अमानोताः प्रतिषेधे ” न
व्युच्छित्तिरव्युच्छित्तिः । प्रतिपत्तौ, यः स्वयं कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य
धर्मं परेभ्य उपदिशति । प० चू० । अव्यवच्छित्त्या श्रुतं वाचयेत्,
धृतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परगततयाऽव्यवच्छित्तिर्नैयादिति प-
ञ्चममव्यवच्छित्तिः कारणम् । भा० म० प्र० ॥

अव्वोच्छित्तिण्यट्ठ-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । अव्यवच्छि-
त्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तनयः, तस्यार्थः । छव्ये, भ० ७
श० ३ उ० ।

अव्वोयमा-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायां मन्मना-
त्तरप्रयुक्तायां वा अभावितार्थायां वा ज्ञापयाम्, भ० १० श० ४ उ० ।

असइ-अस्मृति-स्त्री० । अश्रुते तत्प्रभवेन समस्तध्यानमानानि
व्याप्नोति इत्यस्मृतिः । अवाहमुखहस्ततलरूपे, तत्परिच्छिन्ने
धान्ये च । अनु० । प्रस्मृतेरस्ते, ज्ञा० ७ अ० । “ दो असईओ
पसई” । ओघ० ।

अस्मृति-स्त्री० । अस्मरणे, ध० २ अधि० ।

असइ-असकृत्-अव्य० । अनेकश इत्यर्थे, पञ्चा० १० विव० ।
आच० । भ० । “ असइ तु मणुस्सेहि, मिच्छादंमो पजुंजइ” अ-
सकृद् वारंवारम् । उक्त० ९ अ० । प० व० । जी० पो० । “ असइ
वोसइ चत्तदेह” । न सकृदसकृत्, सर्वदेत्यर्थः । दश० १० अ० ।
असइ-असती-स्त्री० । दुःशीलायाम्, ध० २ अधि० । दास्याम्,
भ० ८ श० ६ उ० । प्रव० ।

असईजनपोमणया-(स्त्री०) असतीजनपोषण-न० । असतीज-
नस्य दासीजनस्य पोषणं तद्भाटिकोपजीवनार्थं यत् तत्स्थ ।
एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः पोषणमसतीजनपोषण-
मेवेति । दासीजनस्य क्रूरकर्मकारिणो वा पोषणे, उपा० १ अ० ।

असईपोस-असतीपोष-पुं० । असत्यो दुःशीलास्तासां दासी-
सारिकादीनां पोषणं पोषोऽसतीपोषः । तत्र लिङ्गमन्त्रम्, तेन
शुकश्वादीनामपि पुंसां पोषणमसतीपोषः । यदवाचि-“ मज्जा-
रमोरमकड-कुक्कुरसारीयकुक्कुराईणं । छट्ठिन्धिनपुंसाई-ण
पोसणं असइपोसणयं” ॥ १ ॥ प्रव० ६ द्वार । दुःशी-
लानां शुकसारिकामयूरमार्जारमर्कटकुक्कुरशुकरादिति-
रश्नां पोषणे, भारीग्रहणार्थं दास्याश्च पोषे, गोप्लदेशे प्रसिद्धो-
ऽयं व्यवहारः । एषां च दुःशीलानां पोषणं पापहेतुरेवेति
द्रोषः । पञ्चदशं कर्मादानमेतत् । ध० २ अधि० । आ० । भ० ।
ध० २० । (असतीपोषणं तु पुञ्जनेन साधुना छमकेच्यो न
देयमिति ‘ ज्ञोथण ’ शब्दे वक्ष्यते)

असतुण-अशकुन-पुं० । न० त० । आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवच-
नप्रवृत्तौ शकुनविपरीते अनिष्टार्थसंसूचके, पञ्चा० ७ विव० ।
प० व० । ध० ।

अमंक-अशङ्क-न० । न विद्यते शङ्का यस्य मनसस्तदशङ्कम् ।
नि शङ्के, आच० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकाणिज्ज--अशङ्कनीय-त्रि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्काहे
स्थाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकापिय-असङ्कल्पित-त्रि० । स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया
मनसाऽप्यकल्पिते, भ० ७ श० १ उ० ।

असंक्रम-असङ्क्रम-पुं० । परस्परममीलने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंक्रमण-अशङ्कमनस्-त्रि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्क-
मनाः । तपोदमनियमफलत्वाऽऽशङ्कारहिते आस्तिक्यमत्युप-
पेते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकि (ण्)--अशङ्किन्-त्रि० । शङ्कामकुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु०
१ अ० २ उ० ।

असंकि-अशङ्कित-त्रि० । अशङ्कनीये, “ असंकियाइं संकं-
ति, संकियाइं असंकिणो । ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकिलिष्ट-असंक्लिष्ट-त्रि० । विशुद्धाध्यवसाये, आनु० ।
निर्दूषणे, “ असंकिलिष्टाईं वत्थाईं । ” औ० । विशुध्यमान-
परिणामवति, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

असंकिलिष्टायार-असंक्लिष्टाचार-पुं० । असंक्लिष्ट रहपर-
लोकांशसारूपसंक्षेपविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचा-
रः । व्य० ३ उ० । सकलदोषपरिहारिणि, व्य० ३ उ० ।

असंकिलेस-असंक्लेश-पुं० । विशुध्यमानपरिणामहेतुके सं-
क्लेशभावे, “ तिविहे असंकिलेसे- णाणसंकिलेसे, दंसणसं-
क्लिसेसे, चरित्तसंक्लिसेसे । ” स्था० २ ग० ४ उ० । “ दसविहे असं-
किलेसे परणत्ते । तं जडा-उवहिअसंक्लिसेसे० जाव चरित्तअसं-
किलेसे ” स्था० १० ठा० । (अस्य ‘संक्लिसे’ शब्दे व्याख्या)

असंख-असङ्ख्य-त्रि० । अविद्यमानसङ्ख्ये, उत्त० ४ अ० । अवि-
द्यमानपरिमाणे च । हा० २६ अष्ट० ।

असंखगुणवीरिय-असंखगुणवीर्य-त्रि० । असंख्यातगुणयो-
गे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

असंखर-असंखर-न० । वाचिके कलहे, नि० चू० १ उ० ।
ग० । वृ० ॥

असंखदिय-असंखदिक-पुं० । कलहशीले, वृ० १ उ० ।

असंख्य-असंस्कृत-त्रि० । उत्तरकरणेनाश्रुदिते पटादिवत्सं-
धातुमशक्ये, उत्त० ।

असंस्कृतं जीवितमित्युक्तमतस्तद्व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिकृत्-
उत्तरकरणेण कयं, जं किं वी संखयं तु णायवं ।

सेमं असंखयं खनु, असंखयस्सेम णिज्जुत्ती ॥

उत्त० नि० १ खण्ड ।

मूलतः स्वदेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मकं
करणमुत्तरकरणं, तेन कृतं निर्वर्तितं यत् किञ्चिदित्यविवक्षितघ-
टादि, (यत्तदोर्नित्यमाभिसंबन्धत्वात्) तत् संस्कृतम् । तुरवधार-
रणे । सचैवं योज्यते-यत्तत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम् ।
शेषमतोऽन्यत् संस्कारानुचितं विदर्शमुक्ताफलोपममसंस्कृत-
मेव, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । असंस्कृतमित्यस्य सूत्राव-
यवस्यैवा वक्ष्यमाणलक्षणा निर्युक्तिरिति निक्षेपनिर्युक्तिः । बहुव-
चस्यतया च प्रतिज्ञातम् । अथवा-यथाऽऽचारपञ्चमाध्ययनस्य

‘आवंती’ इत्यादिना पदेन नाम, तथाऽस्याप्यसंस्कृतमिति नाम ।
ततश्चासंस्कृतनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्यैवा नामानिष्पन्ननिकेपनिर्यु-
क्तिः, तत्प्रस्ताव एव व्याख्यातव्येति गाथाऽर्थः । उत्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह-

कम्ममगरीकरणं, आउयकरणं असंखयं तं तु !

तेणऽहिगारो तम्हा, उ अप्पमादो इह चरित्तम्मि ॥

कर्मकशरीरकरणं कर्मण्येदेहनिर्वर्तनं, तदपि ज्ञानावरणादि-
ज्ज्ञेदतोऽनेकविधमित्याह-आयुष्करणमिति । आयुषः पञ्चमक-
र्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुष्करणम् । तत्किम् ? इत्याह-
(असंखयं तं तु त्ति) तत्पुनरायुष्करणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन श्रु-
दितमपि पटादिवत्संधातुं न शक्यम् । यतः-“ फट्ठा तुट्ठा च इह,
पडमादी संउवति नयानिउणा । सा का वि नत्थि नीती, सीधज्जइ
जीवियं जीए ” ॥१॥ एवं च स्वरूपतो हेतुतो विषयतश्च व्याख्ये-
ति । स्वरूपतो हेतुतश्च ‘ उत्तरकरणेन कयं ’ इत्यादिना ग्रन्थेन
व्याख्यातम् । अनेन त्वायुष्करणस्यासंस्कृतत्वापदर्शनेन विष-
यतः । इदानीं तूपसंहारमाह- (तेण अहिगारो त्ति) तेनेत्यायु-
ष्कर्मणा संस्कृतेनाधिकारः । (तम्हा उ त्ति) तस्मात् । तुशब्दोऽ-
वधारणार्थः, तस्य च व्यवहितः संबन्धः । ततोऽयमर्थः-यस्मा-
दसंस्कृतमायुष्कर्म तस्मादप्रमाद एव-प्रमादाभाव एव, चरित्रे
इति चरित्रविषयः कर्तव्य इति गाथार्थः । उत्त० ४ अ० ॥

संप्रति सूत्रालापकानिष्पन्ननिकेपावसरः, स च सूत्रे सति
भवति । तच्चैव-

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।

एवं वियाणादि जणे पमत्ते, कसुं विहिंसा अजया मिहिंति ॥

संस्क्रियत इति संस्कृतं, न तथा असंस्कृतम् । शक्रशतैर-
पि सतो वर्द्धयितुं श्रुतितस्य वा कर्णपाशवदस्य संधातुमश-
क्यत्वात् । किं तत् ? जीवितं प्राणधारणरूपम् । ततः किमि-
त्याह-मा प्रमादीः । किमुक्तं भवति ?-यदोदं कथञ्चित् संस्क-
तुं शक्यं स्याच्चतुरङ्गवासे धर्मेऽपि प्रमादो दोषायैव स्यात्;
यदा त्विदमसंस्कृतं तदेतत्परिक्रमे प्रमादिनस्तदतिदुर्लभमिति
प्रमादं मा कृथाः । कुतः पुनरसंस्कृतम् ? जरया वयोहानिरु-
पया, उपनीतस्य प्रक्रमान्मृत्युसमीपं प्रापितस्य, प्रायो जराऽन-
न्तरमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते । हुहेतौ, यस्मान्नास्ति न विद्यते
त्राणं शरणं, येन मृत्युरुक्ता स्यात् । उक्तं च वाचकैः-“ मङ्गलैः
कौतुकैर्योगैर्विद्यामन्त्रैस्तथौषधैः । न शक्ता मरणात् त्रातुं, सेन्द्रा
देवगणा अपि ” ॥ १ ॥ यद्वा-स्यादेतत् । वार्धक्ये धर्मे विधा-
स्यामीत्याशङ्क्याह-जरा मुपनीतः प्रापितो गम्यमानत्वात्स्व-
कर्मनिर्जरोपनीतः, तस्य नास्ति त्राणं, पुत्रादयोऽपि हि न तदा
पालयन्ति, तथा चात्यन्तमवधीरणा स्यात्-अस्य न धर्मे प्रति
शक्तिः, श्रद्धा वा भावना । यद्वा-त्राणं येनासावपनीयते पुनर्यौ-
वनमानीयते न तादृकरणमस्ति, ततो यावदसौ नासादयति ता-
वद्धर्मे मा प्रमादीः । उक्तं हि-“ तथावदिन्द्रियबलं, जरया रोगेन
बाध्यते प्रसभम् । तावच्छरीरमूर्च्छां विहाय धर्मे कुरुष्व मति-
म् ॥ १ ॥ वत्त० ४ अ० । (जरोपनीतस्य च त्राणं नास्तीत्यत्र दृष्टा-
न्तोऽदृष्टमङ्गः, तत्कथा च ‘ अट्टण ’ शब्दे अत्रैव भागे २३२ पृष्ठ
उक्ता) उत्तराऽध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तच्च प्रमादाप्रमादाऽभि-
धायकमप्यादानपदेनासंस्कृतमित्युच्यते । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

असंखलोगसम-असङ्ख्यलोकमम-त्रि० । असंख्ययलोकाऽऽ-
काशप्रदेशप्रमाणे, कर्म० ५ कर्म० ।

असंखेज्ज-असंखेय-त्रि० संख्यातीति, भ० १ श० ५ उ० । गणनामतिज्ञाने, भा० चू० १ अ० ।

असंखेज्जकालमयद्विः-अमह्वयेयकालमयस्थिति-पुं० । पश्योपमासङ्ख्यभागादिस्थितिषु नैरयिकादिषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जं वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० । " दुविहा णेरइया पणत्ता । तं जहा-संखेज्जकालमयद्विइया चेव, असंखेज्जकालमयद्विइया चेव । एवं एगिदियावेगइदियवज्जा० जाव वाणमंतरा " । स्था० २ ग्रा० २ उ० ॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंख्यातगुणपरिहीण-त्रि० । असंख्यातगुणतः परिहीणो यः स तथा । असंखेयभागमात्रे, औ० । असंखेज्जर्जाविय-अमह्वयातर्जावित-पुं० । असंखेयजीवात्मकेषु वृक्षेषु, भ० । " से किं तं असंखेज्जर्जाविया ? असंखेज्जर्जाविया दुविहा पणत्ता । तं जहा-एगदिया, बहुद्वियाय " । भ० ७ श० २ उ० ।

असंखेज्जय-असंखेयक-न० । गणनासंख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं असंखेज्ज ? । असंखेज्ज एतिविहे पणत्ते । तं जहा-परित्तामंखेज्जए, जुत्तामंखेज्जए, असंखेज्जा-मंखेज्जए । से किं तं परित्तामंखेज्जए ? । परित्तामंखेज्जएतिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोमए, अजहणमणुक्कोमए । से किं तं जुत्तामंखेज्जए ? । जुत्तामंखेज्जएतिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोमए, अजहणमणुक्कोमए । से किं तं असंखेज्जामंखेज्जए ? । असंखेज्जामंखेज्जएतिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोमए, अजहणमणुक्कोमए ॥

असंखेयकं तु-परीतासंखेयकं, युक्तासंखेयकं, असंखेयासंखेयकम् । पुनरेकैकं जघन्यादिभेदात् त्रिविधमिति सर्वमपि नवविधम् ॥

अथ नवविधमसंखेयकं प्रागुद्दिष्टं निरूपयितुमाह-

एवमेव उक्कोसए मंखेज्जए खेव पविस्सत्ते जहणयं परि-त्तामंखेज्जयं भवइ । तेण परं अजहणमणुक्कोमयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तामंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं परित्तामंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहणयं परित्तामंखेज्जयं, जहणयपरित्तामंखेज्जयमेत्ताणं रागीणं अन्नमणव्भामो खूण्णा उक्कोसं परित्तामंखेज्जयं होइ ।

(एवमेव त्ति) असंखेयकेऽपि निरूप्यमाणे एवमेवानवस्थितपल्यादितिरूपणा क्रियत इत्यर्थः । तावद्यावदुत्कृष्टसंखेयकमानोतं, तस्मिंश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दर्शितं तद्यदा तत्रैव राशी प्रकल्प्यते तदा जघन्यं परीतासंखेयकं भवति । (तेण परमित्यादि) ततः परं परीतासंखेयकस्यैवाजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंखेयकं न प्राप्नोति । शिष्यः पृच्छति-कियन्पुनरुत्कृष्टं परीतासंखेयकं भवति ? । अत्रोत्तरम्- (जहणयं परित्तामंखेज्जयं ति) जघन्यपरीतासंखेयकं यावत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां जघन्यपरीतासंखेयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंखेयकगतरूप-

संख्यातामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमज्यासः परस्परं गुण-नास्वरूप एकेन रूपेणान उत्कृष्टं परीतासंखेयकं भवतीति ।

इदमत्र हृदयम-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंखेयस्वरूपा जघन्य-परीतासंखेयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परं गुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन रूपेण हीनमुत्कृष्टं परीतासंखेयकं मन्तव्यम् । अत्र सुखप्रति-पश्यर्थमुदाहरणं दर्शयते-जघन्यपरीतासंखेयके किलासत्क-ल्पनया पञ्च रूपाणि संप्रधार्यन्ते । ततः पञ्चैव वाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तथाहि-५ । ५ । ५ । ५ । ५ । अत्र पञ्चानिः पञ्च गुणिताः पञ्चविंशतिः । सा च पञ्चभिराहता जातं पञ्चविंश-शतमित्यादिकमेणामीषां राशीनां परस्पराज्यासे जातानि प-ञ्चविंशत्यधिकान्यकत्रिंशच्छतानि । एतत्प्रकल्पनया एतावन्मा-नः । सद्भावतस्त्यसंखेयरूपां राशिरेकेन रूपेण गुणहीन उत्कृ-ष्टं परीतासंखेयमित्याद्यन्तगोक्ताद्विमुक्तासंखेयकादेकस्मिन् रूपे समाकर्षिते उत्कृष्टं परीतासंखेयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत एव । इत्युक्तं जघन्यादिभेदभिन्नं त्रिविधं परीतासंखेयकम् ॥

अथ तावद्वेदभिन्नस्यैव युक्तासंखेयकस्य निरूपणार्थमाह-

जहणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहणयं जुत्ता-संखेज्जयं जहणयपरित्तामंखेज्जयमेत्ताणं रागीणं अन्न-मणव्भामो पण्णुण्णो जहणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा-उक्कोसए परित्तासंखेज्जए खेव पविस्सत्ते जहणयं जुत्तासंखे-ज्जयं होइ । आवत्तिआ वि तत्तिआ चेव । तेण परं अजहण-मणुक्कोमयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहण-एणं जुत्तासंखेज्जएणं आवत्तिआ गुणिआ अन्नमणव्भामो खूण्णा उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा जहणयं असंखेज्जामंखेज्जयं खूण्णा उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ॥

(जहणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि) । अत्रोत्तरम्- (ज-हणयं परित्तासंखेज्जमित्यादि) व्याख्या पूर्ववदेव । नवरं- (अ-न्नमणव्भामो पण्णुण्णो त्ति) अन्योन्याभ्यस्तः स परिपूर्ण एव राशिर्गृह्यते, न तु रूपं पान्यत इति ज्ञातः । (अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए इत्यादि) जावितार्थमेव । (आवत्तिआ तत्ति-या चेव त्ति) यावन्ति जघन्ययुक्तासंखेयके सर्वपरूपाणि प्रा-प्यन्ते आवत्तिकायामपि तावन्तः समया जवन्तीत्यर्थः । ततः सूत्रे यथावलिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंखेयकतुल्यसमय-राशिमाना सा द्रष्टव्या । (तेण परमित्यादि) ततो जघन्ययु-क्तासंखेयकान्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंखेयान्यजघन्योत्कृ-ष्टानि युक्तासंखेयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंखेयकं न प्राप्नोति । अत्र शिष्यः पृच्छति- (उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जय-मित्यादि) अत्र प्रतिवचनम्- (जहणयणमित्यादि) जघन्येन युक्तासंखेयकेनावलिका समयराशिर्गुणयते । किमुक्तं भवति ?-अन्यान्यमज्यासः क्रियते, जघन्ययुक्तासंखेयराशिस्तैव राशिना गुणयत इति तात्पर्यम् । एवं च कृतं यो राशिर्भवति स एव एके-न रूपेणान उत्कृष्टयुक्तासंखेयकं भवति । यदि पुनस्तदेव तद्वत्पं गुणयते तदा जघन्यमसंखेयसंखेयकं जायते । अत एवाह- (अहवा जहणयं असंखेज्जामंखेज्जयं खूण्णमित्यादि) गता-र्थम् । उक्तं युक्तासंखेयकं त्रिविधम् ॥

इदानीमसंखेयासंखेयकं विविधं विभक्तिपराह-

जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहण्यं गुणान् जुत्तामंखेज्जणं आवलिआ गुणिआ अणमण-
वभासो पणिपुणो जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।
अहवा उक्कोसए जुत्तासंखेज्जए रूपं पणिवत्तं जहण्यं अ-
संखेज्जासंखेज्जयं होइ । तेण परं अजहण्यण्णुक्कोसयाइं०
जाव उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं ए पावइ । उक्कोसयं
असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहण्यं असंखेज्जामं-
खेज्जयमेत्ताणं रासीणं अणमणवभासो रूपूणो उक्कोसयं
असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ॥

(जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) इदं तु सूत्रं भा-
वितार्थमेव । नवरं (पणिपुणो ऽस्ति) परिपूर्णं रूपं न पा-
त्यत इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यपि गतार्थम् । (तेण परमित्यादि)
ततः परं (असंखेज्जासंखेज्जकं केत्तिर्यामित्यादि) अत्रो-
त्तरम्- (जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयेत्यादि) जघन्यमसंखे-
यकं यावद्भवतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंखेयक-
रूपं संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमज्यासः परस्परं गु-
णतास्वरूपः, एकेन रूपेणान् उत्कृष्टमसंखेयासंखेयकं भवति ।
अयमत्र जावार्थः-प्रत्येकं जघन्यासंखेयासंखेयकरूपा जघन्या-
ऽसंखेयाऽसंखेयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तो रा-
शयो व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परगुणितैर्यो राशिर्भवति स
एकेन रूपेण हीन उत्कृष्टमसंखेयासंखेयकं प्रतिपत्तव्यम् ।
उदाहरणं चात्राप्युक्तप्रपरीतासंखेयकोक्तानुसारेण वाच्यम् ।
अनु० ॥

साम्प्रतमसंख्यातान्तकस्वरूपमाह—

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वगियपेक्कंमि चउत्ययमसंखं ।

होइ असंखासंखं, लहु रूपजुयं तु तं मउक्के ॥ ८० ॥

(अन्ने वगियमित्यादि) अन्ये आचार्या एके सूरय एवमाहुः-यथा-
चतुर्थकमसंखं जघन्ययुक्तासंख्यातकरूपं, वर्गितं तावत्तैव राशिना
गुणितं सत्, (एकमिति) एकवारं, भवति जायते संपद्यतेऽसं-
ख्यासंखं, बहु जघन्यं, जघन्यासंख्यातासंख्यातकं भवतीत्यर्थः ।
अत्रापि मतेऽसंख्यातकमुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणा पूर्वोक्तै-
वेति दर्शयन्नाह- (रूपजुयं तु तं मउक्के ति) रूपेण सर्वपल-
क्षणेन युतं रूपयुतम् । तुरवधारणे, व्यवहितसम्बन्धश्च । त-
दिति-तदेवानन्तराभिहितं जघन्यासंखेयासंखेयादिकम् । किं
भवतीत्याह-मध्यं मध्यमासंखेयासंखेयादिकं भवति ॥ ८० ॥

रूपूणमाइमं गुरु, तिवगिउं तं इमं दसखेवे ।

लोगागासपसा, धम्माधम्मगेज्जीवदेसा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंखेयासंखेयादिकं रूपानमेकेन रूपेण रहितं
सत्, आदिमं तदपेक्षयाऽऽद्यस्य राशः संवन्धि गुरु उत्कृष्टं जव-
तीति । अयमत्राशयः-जघन्यासंखेयासंखेयकरूपानं सद् युक्ता-
संख्यातकमुत्कृष्टं भवति, जघन्यपरीतानन्तकं रूपानमसंखेया-
संखेयकमुत्कृष्टं भवति, जघन्ययुक्तानन्तकं तु रूपानमुत्कृष्टं प-
रीतानन्तकं जवति, जघन्यातानन्तानन्तकं तु रूपानमुत्कृष्टं युक्ता-
नन्तकं भवतीति । अधुना जघन्यपरीतानन्तकं मतान्तरेण
प्ररूपयन्नाह- (तिवगिउं तं इत्यादि) तदिति प्रागभिहितं ज-

घन्यासंखेयासंखेयकं त्रिवर्गयित्वा सदृशद्विराशी, परस्परं
त्रीन् वाराण्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः-जघन्यासंखेयासं-
खेयकराशेः सदृशद्विराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्या-
पि वर्गराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वर्गराशेः पुनरपि वर्गो
निष्पाद्यते इति । ततः किमन्याह-इमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान्,
(दसेति) दशसंख्यान् क्रियन्ते इति । "कमणि घञि" क्षेपाः-प्र-
क्षेपणोपगम्यस्तान् क्षेपस्व निधेहीत्युत्तरमाध्यायां सम्बन्धः ।
तथाहि-लोकाकाशस्य प्रदेशाः, धर्मश्चाधर्मश्चैकजीवश्च धर्माध-
र्मैकजीवाः, तेषां देशाः प्रदेशाः । अयमत्रार्थः-धर्मस्तिकाय-
प्रदेशाः, अधर्मास्तिकायप्रदेशाः, एकजीवप्रदेशश्च ॥ ८१ ॥

तथा-

ठिब्बंथऽज्जवसाया, अणुभागा जोगेयपल्लिजागा ।

दुएह य समाणसमया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिवन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कपायेऽद्य-
रूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसंखेयान्येव । तथाहि-
ज्ञानावरणस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणः स्थितिवन्धः, उत्कृष्टत-
स्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटिकादिप्रमाणः, मध्यमपदे त्वेकद्वित्रि-
चतुरादिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिकोऽसंखेयज्जः । एषां स्थि-
तिवन्धानां निर्वर्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसंखेयलो-
काकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्नान्येव । एवं च सत्येकस्मिन्नपि
ज्ञानावरणेऽसंखेयानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि लज्य-
न्ते । एवं दर्शनावरणादिष्वपि वाच्यम् । (अणुजाग ति)
अनुभागा ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यमध्यमादिभेदभिन्ना रस-
विशेषाः, एतेषां चानुभागविशेषाणां निर्वर्तकान्यसंखेयलोका-
काशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभागवि-
शेषा अप्येतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणभेदाश्रितत्वात्कार्यभेदा-
नाम् । (जोगेयपल्लिजाग ति) योगो मनोवाक्कायविषयं बी-
र्यं, तस्य केवलप्रज्ञाच्छेदेन प्रतिविशिष्टा निर्विजिज्ञा भागा यो-
गच्छेदपरिभगाः । ते च निगोदादीनां संक्षिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां
जीवानामाश्रिता जघन्यादिभेदभिन्ना असंखेया मन्तव्याः ।
(दुएह य समाणसमया ति) द्वयोश्च समयोरुत्सर्पिण्यवस-
र्पिणीकात्रस्वरूपयोः समया असंखेयस्वरूपाः । (पत्तेयनि-
गोयए ति) अनन्तकायिकान् वर्जयित्वा शेषाः पृथिव्यपूनेजो-
वायुवनस्पतित्रयाः प्रत्येकशरीरिणः, सर्वेऽप जीवा इत्यर्थः, ते
चासंखेया जयन्ति । निगोदाः सूक्ष्माणां वादराणां चानन्तका-
यिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंख्याताः । एव-
मेते प्रत्येकमसंखेयस्वरूपा दश क्षेपास्तान् क्षेपस्व ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रक्षेपानन्तरं तस्यैव राशेर्यासम् विहिते
यद्भवति तदाह—

पुणरवि तम्मि तिवगिणं, परित्तऽणंत लहु तस्स रासीणं ।

अब्जामे लहु जुत्ता-णंतं अब्भवजिअमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि (तम्मि ति) तस्मिन्नन्तरोदिते प्रक्षिप्तप्रक्षेप-
दशके, त्रिवर्गिते त्रीन् वारान् वर्गितं सति, परीतानन्तं बहु
जघन्यं जवति । इदमुक्तं भवति-जघन्यासंखेयासंखेयक-
स्वरूपं वारत्रयं वर्गितं राशौ ते क्षेपाः क्षिप्यन्ते । तत इत्थं
पिण्डितो यो राशिः संपद्यते स पुनरपि वारत्रयं वर्ग्यते ।
ततो जघन्यं परीतानन्तकं भवतीति । इदमिदानीं जघन्ययुक्तान-
न्तकनिरूपणायाह- (तस्स रासीणेत्यादि) तस्य जघन्यपरी-

तानन्तकस्य, संवर्धनां राशीनामन्योन्यमन्यासे सति, तेषु ज-
घयं युक्तानन्तकमभ्यजीवमानं भवति । इयमत्र भावना-जघ-
न्यपरीतानन्तके ये राशयः सर्वपरूपाः, नै पृथक् पृथक् व्यव-
स्थाप्यन्ते, तेषां तथाव्यवस्थापितानां जघन्यपरीतानन्तकमा-
नानां राशीनामन्योन्यमन्यासे सति युक्तानन्तकं जघयं ज-
वति । तथा जघन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि वर्तन्ते, अभ-
व्यसिद्धिका अपि जीवाः केवलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥८३॥

अथ प्रसङ्गो जघन्यानन्तानन्तकप्रकरणमप्याह-

तत्त्वगो पुण जायड, एताणं तद्दु तं च तिकमुत्तो ।

वगमु तद वि न तं हो-इ एतवेवे विवमु उ डमे ॥८४॥

तस्य जघन्ययुक्तानन्तकराशेर्वर्गे सहृदय्यासे-तद्वर्गे कृते स-
ति, पुनर्भूयोऽपि, जायेत संघघतेऽनन्तानन्तं तेषु जघन्यं, जघ-
न्यानन्तकं जवतीत्यर्थः । उल्हृष्टानन्तानन्तकप्ररूपणायाह- (तं-
च तिकमुत्तो इत्यादि) तच्च तत्पुनर्जघन्यमनन्तानन्तं त्रिकृत्वा
अत्र घातान् वर्गयस्व-तायतैव राशिना गुणय । अयमत्रार्थः-
जघन्यानन्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिना गुणनस्वरूपो घर्गः
क्रियते, ततस्तस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गः, तस्यापि वर्गितराशेर्भू-
योऽपि वर्ग इति । तथाऽपि-एवमपि, वारत्रयं वर्गे कृतेऽपि, त-
दुल्हृष्टमनन्तानन्तकं, न भवति न जायेत । ततः किं कार्यम्?, इ-
त्याह-अतन्तकैर्पातमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् पद् पद् संख्यान्
किंप्रसव निधेहीति ॥ ८४ ॥

तानेव परानन्तकैर्पाताह-

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुगव्वा चेव ।

मव्वमज्जोगनहं पुण, तिवर्गिउं केवल्लुगम्मि ॥ ८५ ॥

सर्व एव सिद्धा निष्ठितनिःशेषकर्माणः, निगोदजीवाः सम-
स्ता अपि सूक्ष्मवादरभेदभिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वाः, वनस्पतयः
प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवाः । काल इति-सर्वोऽप्य-
नीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, पुगव्वाः समस्तपुद्गलरा-
शेः परमाणवः । सर्वे समस्तम्, अलोकनभोऽलोकाकाशमिति;
उरल्लण्णवान् सर्वेऽपि लोकालोकप्रदेशराशिः, इत्येतद्वाशि-
पट्टप्रक्षेपानन्तरं यस्मिन् कृते यद्भवति तदाह-पुनः पुनरपि ध्रुव-
गयिन्वा श्रीन् वारोस्तावतैव राशिना गुणयित्वा, केवलल्लिके के-
वलज्ञानकेवलदर्शनयुगले किमे सति ॥ ८५ ॥

खिलेऽण्ताणं, हवई जिहं तु ववहरइ मज्झं ।

इय मुहमन्यवियागो, लिहिओ देविदमूगीहिं ॥ ८६ ॥

किमे न्यस्ते सति, अनन्तानन्तकं भवति जायेत, ज्येष्ठमुत्कृष्टम् ।
तुः पुनरर्थे, व्यवहितसम्बन्धश्च । व्यवहरति व्यवहारकारि मध्यं
तु मध्यं पुनः । इयमत्र भावना-इह केवलज्ञानकेवलदर्शनश-
ब्देन तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्या-
बेध्यन्तेषु किमेषु सन्तिवति दृष्टव्यम् । नवरं क्रयपर्यायाणा-
मानन्त्याज्ञानपर्यायाणाभ्यान्तन्यं वेदितव्यम् । एवमनन्तानन्तं
ज्येष्ठं भवति, सर्वस्यैव वस्तुज्ञानस्यात्र संगृहीतत्वात् । अतः प-
रं वस्तुसत्त्वस्यैव संख्याविषयस्याज्ञावादित्यभिप्रायः । सूत्राभि-
प्रायतन्मिथ्यमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते, अनन्तकस्यापृ-
विधस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथाचोक्तमनुयोगद्वारेण-
“ एवमुक्तेभ्यः अण्ताणतयं नन्थि ” । तद्वत् तत्त्वं केवलिनो
विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वाचिदनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्रापि-

जघन्योत्कृष्टशब्दाद्यमनन्तानन्तकं द्रष्टव्यम् । कर्म०४ कर्म० ।
(यद्यपीदं पूर्वं ‘ स्रष्टव्यं ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६१ पृष्ठे ज्ञावि-
तं, तथापि मनान्तरेणेहोपन्यस्तम्)

अभ्यवेजयवित्थम्-असंख्येयविस्तृत-त्रि० । असंख्येयानि यो-
जनसहस्राणि शायामविष्कम्भेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि
परिक्रमेण च विस्तृतं, जी० ३ प्रति० ।

असंग-असङ्ग-त्रि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, प्रज्ञा० १ पद ।

आव० । प्रव० । न विद्यते सङ्कोऽमूर्तत्वाद् यस्य स तथा ।
आचा० १ ध्रु० ५ अ० ७ उ० । आत्मनि सङ्गविकले, पा० ८
विव० । अभिधङ्गाभाववति, पा० १४, विव० । मोक्षे, पं० व०
३ द्वार । सकलकलेशाऽज्ञावात् (औ०) सिद्धे, तत्तुल्यावस्थे,
च । “ भये च हर्षे च मतेरविक्रिया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च नि-
र्विकारता । स्तुतौ च निन्दासु च तुल्यशीलता, वदन्ति तां त-
त्त्वविदोऽसङ्गनाम् ” ॥ १ ॥ पा० १५ विव० ।

असंगह-असंग्रह-पुं० । असंग्रहशीले, व्य० ४ उ० ।

असंग्रह-असंग्रहरुचि-पुं० । न विद्यते संग्रहे रुचिर्यस्य सः ।
गच्छेत्प्रहकरस्य पीडादिकस्योपकरणस्यैषणादोषविमुक्तस्य
लज्यमानस्यात्मभरित्वेन संग्रहे रुचिमनाद्धाने, प्रश्न० ३
सम्ब० द्वार ।

असंगहिय-असंग्रहिक-पुं० । व्यवहारनयमतनुसारिणि वि-
शेषवादिनि नैगमे, विशेषे ।

असंगृहीत-त्रि० । अनाश्रितं, स्था० ८ उ० ।

असंगाणुष्ठाण-असङ्गानुष्ठान-न० । निर्विकल्पस्वरसवाहि-
प्रवृत्तौ, ध्र० १ अधि० । अष्ट० ।

ध्यानं च विमले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।

सदा प्रसुमरोऽनन्त्रे, प्रकाशो गगने विधोः ॥ ९० ॥

(ध्यानं चेति) विमले बोधे च सति महात्मनां सदैव हि
ध्यानं भवति, तस्य तन्मयतत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनन्त्रेऽनन्तरहिते
गगने विधोरुदितस्य प्रकाशः सदा प्रसुमरो जवति, तथाऽ-
वस्थास्वाज्ञाव्यात् ॥ ९० ॥

सत्प्रवृत्तिपदं चेदा-सङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।

संस्कारतः स्वरमतः, प्रवृत्त्या मोक्षकारणम् ॥ ९१ ॥

(सदिति) सत्प्रवृत्तिपदं चेद प्रभायामसङ्गानुष्ठानसंज्ञितं
भवति, संस्कारतः प्राच्यप्रयत्नजात्, स्वरमत इच्छानैरपेक्ष्येण,
प्रवृत्त्या प्रकृष्टवृत्त्या, मोक्षकारणम् । यथा-दृढदृग्गुणोदनादन-
न्तरमुत्तरश्चक्रमिसंतानस्तत्संस्कारानुवेधादेव भवति, तथा
प्रथमाभ्यासाद् ध्यानानन्तरं तत्संस्कारानुवेधादेव तत्सह-
शपरिणामप्रवाहोऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञां लभत इति ज्ञावार्थः ॥ ९१ ॥

प्रशान्तवाहितासङ्गं, विमज्जागपरिहृत्यः ।

शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति, योगिजिगीषते ह्यदः ॥ ९२ ॥

(प्रशान्तेति) प्रशान्तवाहितासङ्गं साङ्ख्यानां, विसभागपरिहृ-
यो बौद्धानाम्, शिववर्त्म शैवानां, ध्रुवाध्वा महाव्रतिकाणाम्, इत्ये-
वं हि योगिभिरवोऽसङ्गाऽनुष्ठानं गीयते ॥ ९२ ॥ द्वा० १४ द्वा० पा० ।
असंघयण-असंहनन-न० । आद्यैस्त्रिभिः संहननैर्वर्जिते, नि०
चू० २० उ० ।

असंघादम्-असंघातिम्-त्रि० । ढिकादिफक्केषु कपाटवदसं-
घातेन निर्वृत्तेषु, नि० चू० १ उ० ।

असंचय-असाञ्चयिक-पुं० । बहुकालं रक्षितुमशक्ये दुग्धद-
धिपकाच्चादौ, कल्प० ९ क्ष० ।

असंचयित-त्रि० । असंजातसंचये, मासिकत्रैमासिकचानुमासि-
कपाञ्चमासिकपाण्मासिक वा प्रायश्चित्ते वर्त्तमाने, व्य० १ उ० ।

असंजड-असंयत-स्त्री० । अविरतिकायाम्, वृ० १ उ० ।

असंजण-असंज्जन-न० । असङ्गे, अगृह्यौ च । नि० चू० १ उ० ।

असंजम-असंयम-पुं० । न संयमोऽसंयमः । प्रतिषिद्धकरणे,

आ० चू० ३ अ० । पं० सं० । सावधानुष्ठाने, सुप्र० १ श्रु० १३ अ० ।

प्राणान्तिपातादौ, "असंजमं परियाणामि, संजमं त्वसंपजामि"

ध० ३ अधि० प्रश्न० आ० चू० । बालभावे, आचा० १ श्रु० ५ अ०

५ उ० । "असंजममन्त्राणं, मिच्छतु सत्त्वमेव य ममत्तं" असं-

यमं विराधनास्वजायमेकविधम् । आनु० सूत्र० । "पिदिद्या णं

जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-

पुढविकाइयअसंजमे० जाव वणस्सइकाइयअसंजमे" । स्या०

५ वा० २ उ० । असंजमाः- "तेइदिद्या णं जीवा समारंभमाणस्स

अविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ य-

वरोवेत्ता जवइ, घाणामएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ० जाव

फासमएणं दुक्खेणं संजोयेत्ता भवइ" ॥ इह चाद्यपरोपण-

मसंयोजनं च संयमोऽनाश्रयरूपत्वादितरदसंयम इति । स्या०

६ डा० । "चउरिदिद्या णं जीवा समारंभमाणस्स अविहे

असंजमे कज्जइ । तं जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ ववरोवे-

त्ता जवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ" । स्या० ८

वा० । "पंचिदिद्या णं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असं-

जमे कज्जइ । तं जहा-सोइदिद्यअसंजमे० जाव फासिदिद्यअसं-

जमे" । स्या० । "सञ्चपाणभूयजीवसत्ता णं समारंभमाणस्स

पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेदिद्यअसंजमे० जाव पं-

चैदिद्यअसंजमे" । स्या० ५ वा० २ उ० । पं० सं० । "सत्तविहे

असंजमे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० जाव तस-

काइयअसंजमे अजीवकाइयअसंजमे" । स्या० ७ वा० ॥ "दस-

विहे असंजमे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० अजी-

वकाइयअसंजमे०" । स्या० १० डा० ।

सत्तरसविहे असंजमे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे,

आउकाइयअसंजमे, तेउकाइयअसंजमे, वाउकाइयअसंजमे, व-

णस्सइकाइयअसंजमे, वेइदिद्यअसंजमे, तेइदिद्यअसंजमे, च-

उरिदिद्यअसंजमे, पंचिदिद्यअसंजमे, अजीवकायअसंजमे,

पेहाअसंजमे, उपेहाअसंजमे, अवहट्ठअसंजमे अप्पमज्ज-

णाअसंजमे, मणअसंजमे, वइअसंजमे, कायअसंजमे ।

अजीवकायसंयमो विकटसुवर्णवहुमूल्यवस्त्रपात्रे पुस्तकादि-

ग्रहणम् । प्रज्ञायामसंयमो यः स तथा । स च स्थानोपकरणा-

दीनि अप्रत्युपेक्षणमविधिप्रत्युपेक्षणं वा । उपेक्षाऽसंयमयोगेषु

व्यापारणं, संयमयोगेष्वव्यापारणं वा । तथाऽपहृत्यसंयमः-अ-

विधिनोच्चारदीनां परिष्ठापनतो यः । तथा-अप्रमार्जनाऽसंयमः

पात्रादेरप्रमार्जनया चेति । मनोवाक्कायाऽसंयमास्तैषामकुशला-

नामुदीरणतीति । स० १९ सम० धा० प्रश्न० पं० भा० आ०

चू० । (मैथुनं संयमानस्य कीदृशोऽसंयम इति 'मैहुण' शब्दे)

असंजमकर-असंयमकर-त्रि० । साधुनिमित्तमसंयमकरणशीले, पि०

असंजमट्टाण-असंयमस्थान-न० । असमाधिस्थानादिषु, व्य० ।

असमादिट्टाणा खलु, सवला य परीमहा य मोहम्मि ।

पस्सिओवमसागगेवम-परमाणु ततो असंखेज्जा ॥

एष प्रायश्चित्तराशिः । कुतः ? । उच्यते-यानि सत्त्वसमाधि-

स्थानानि विंशतिः । खलुशब्दः संज्ञावने । स चैतत्संभावयति-

असंख्यातानि देशकात्रपुरपदेतोऽसमाधिस्थानानि; एवमेक-

विंशतिः शवलानि; द्वाविंशतिः परीपदाः । तथा-मोह मोहनीये

कर्मणि ये अष्टाविंशतिभेदाः, अथवा मोहविषयाणि त्रिंशत्

स्थानानि, एतेभ्योऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्तराशिरूप-

यते । व्य० १ उ० ।

असंयमस्थानभेदाः-

से जयवं ! केवइए असंजमट्टाणे पणत्ते ? । गोयमा !

अण्णेगे असंजमट्टाणे पणत्ते० जाव एं कायासंजमट्टाणे ।

से जयवं ! कयरे कायासंजमट्टाणा ? । गोयमा ! काया-

संजमट्टाणे अण्णेगहा पणत्ते । तं जहा-

"पुढविदगागणिवाऊ, वणप्फती तह तसाण विविहाणं ।

हत्येण वि फरिसणयं, वज्जेज्जा जावजीवं पि ॥

साउणखारखित्ते, अग्गी त्थोणुमअंविज्ञेणाहे ।

पुढवीदीण परोप्पर, खयंकरे वज्जसत्थेए ॥

एहाणुम्मइणखोभण-हत्यंगुलिअक्खिसायकरणेणं ।

आवीयंते अण्णंते, आऊजीवे खयं जंति ॥

संधुकजाल्लणाणहि, एवं उज्जोयकरणमादीहिं ।

वीयणफूमणउज्जा-वणेहिं मिहिजीवसंघायं ॥

जाइ खयं अन्ने वि य, उज्जीवानिकायमइएणं ।

जीवे जल्लणो सुदुइ-उ वि हु संभक्खइ दम दिमाणं च ॥

ओवीयणगतात्थियं-टयचामरओक्खेहत्यतात्तेहिं ।

धोवणरेवणलंगण-ऊसाईहिं च वाऊणं ॥

अंकुरकुहरकिसन्नय-प्पवालपुप्फफलकंदलाईणं ।

हत्यफरिसेण वइवे, जंति खयं वणप्फई जीवे ॥

गमणागमणनिसीयण-सुयणुघाणअणुवउत्तयपमत्तो ।

वियलेंदियविनिचउपं-चेंदिद्याण गोयम ! खयं नियमा ॥

पाणाइवायविरई, सेयफन्नया गिएहऊण ता धीमं ! ।

मरणावयम्मि पत्ते, मरेज्ज विरई न खंडिज्जा ॥

अन्नियवयणस्स विरई, सावज्जं सव्वमवि न जामिज्जा ।

परदव्वहरणविरई, करेज्ज दिन्ने वि मा लोचं ॥

धरणं छुच्छरवंभ-व्वयस्म काउं परिग्गहव्वायं ।

राईजोयणविरई, पंचिदियानिग्गहं विहिणा ॥ "

महा० ७ अ० ।

असंजमपंक-असंयमपङ्क-पुं० । पृथिव्याद्यपमर्दकर्म, वृ० १ उ० ।

असंजय-असंयत-त्रि० । न विस्तोऽसंयतः । अविरते, आव० ४

अ० । स्था० । मिथ्यादृष्ट्यादौ, भ० ६ श० ३ उ० । अविरत-
सम्प्रतिष्ठपर्यन्ते, आतु० । न० । कुतश्चिदप्यनिवृत्ते, सूत्र० १
श्रु० १० अ० । दश० । गृहस्थे, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।
नि० चू० । स च आवकः, प्रकृतिभङ्गको वा स्यात् । आचा० २
श्रु० १ अ० २ उ० । गृहस्थकर्मकारिण प्रवर्जिते, सूत्र० १ श्रु० ७
अ० । असाधौ संयमरहिते, भ० १ श० १ उ० । आ० । प्रश्न० ।
ज्ञा० । असंयमवति आरम्भपरिग्रहप्रमत्ते अवल्लचारिणि, स्था०
१० ग० । पार्श्वस्थादौ, ध० २ अधि० । (असंयतानां कृत्तिकमे
न कर्त्तव्यमिति 'किङ्कम्म' शब्दे वक्ष्यते) (असंयतानां
पञ्च जागराः 'जागर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असंजयपूया-असंयतपूजा-स्त्री० । असंयमवतामारम्भपरिग्रह-
प्रसक्तानां ब्राह्मणादीनां पूजायाम्, कल्प० २ त्त० । स्था० ।
(मा च नवमदशमजिनयोरन्तरे प्रवृत्तेति 'अच्छेर' शब्दे-
ऽस्मिन्नेव भागे २०० पृष्ठे उक्ता) जिनानामन्तरेषु साधुषु वि-
चन्द्रे सति प्रत्येकबुद्धादिः केवली प्रवति, न वा ? । यदि भ-
वति, तर्हि अन्येषां धर्मं कथयति, न वेति ? प्रश्ने, उत्तरमृत्ती-
यं, चन्द्रे प्रत्येकबुद्धादिः केवलित्वजनने साक्षादङ्गराणि प्रवच-
नसाराद्यावृत्त्यादौ दृश्यन्ते, परं परेषां धर्मकथने च निषेधा-
ङ्गराणि ग्रन्थे दृष्टानि न स्मर्यन्ते । सेन० १ उल्ला० २९ प्र० ॥

असंजय-असंज्वल-पुं० । अनन्तजिनसमकालीने परवर्तजने,
“ भरहे अण्तेणं जिणो, परवणं असंजतो जिणवरिदो ” ।
नि० । स० ।

असंजोएत्ता-असंयोगायितृ-त्रि० । संयोगमकारयति, “ सो-
यामएणं डुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ ” । स्था० १० ग० ।

असंजोगि (ण)-असंयोगिन्-पुं० । संयोगरहिते, सिद्धे च ।
स्था० २ ग० १ उ० ॥

असंजविय-असंस्यापित-त्रि० । असंस्कृते, न० ।

असंजि (संनि) हिमं चय-अमन्निधिमं चय-पुं० । न विद्येन
संनिधेमोदकोदकसर्जरुदरोतक्यादेः पर्युपितस्य संचयो धारणं
यत्रास्माद्यसन्निधिमुच्यते । सन्निधिविकलं, “ इमस्स धम्मस्स
पंचमहव्वयजुत्तस्म अमन्निहिमं चयस्स ” । पा० ।

असंज-अमन्-त्रि० । अविद्यमाने, नि० चू० १ उ० । अशोभने,
सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । प्रश्न० ।

अशान्त-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंज-अमन्त-स्त्री० । शिष्यप्रशिष्यादिसन्तानानुपजनने,
वृ० १ उ० ।

असंज-अमन्क-न० । असदर्थान्निधानरूपत्वात् पञ्चमे गौणाद्वी-
के, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अविद्यमानार्थके असत्ये, प्रश्न० २
आश्र० द्वार । अमदभूते वचने अशोभने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

अशान्तक-न० । अनुपशमप्रधाने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

असंजय-अमान्त-न० । गगादिप्रवर्तने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंज-अमन्चेल-अमदचेल-पुं० । अविद्यमानेषु चेत्येषु, अवाससि
नीर्थकं, देवदृष्ट्यापगमानन्तरे तथाभावात् । पञ्चा० १७ विच० ।

असंज-अशान्ति-स्त्री० । शान्त्यभावे, अनिर्वाणे, संसृत्तौ च ।
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

असंजय-असंस्तुत-त्रि० । शकट इव विशारदतया संचरितुम-
शक्नुवति, व्य० ७ उ० । वृ० । असमर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

तवगेद्वन्नट्टाणा, तिविहो तु असंजडो तिहे तिविहो ।

नवसंयममीमस्मा, मासादारोवणा इणमो ॥

असंस्तुतो नाम पष्ठाष्टमादिना तपसा कृन्तो ग्लानत्वेन असम-
र्थो दीर्घाध्वनि वा गच्छन् पर्याप्तं न लभते, एष त्रिविधोऽसंस्तु-
तः । (तिहे तिविहो) त्रिविधे अध्वनि योऽसंस्तुतः स त्रिविधः ।
तद्यथा-अध्वप्रवेशे, अध्वमध्ये, अध्वोत्तारे च । तत्र तपोऽसंस्तु-
तस्य निर्विचिक्त्तस्य मासादिका इह समाहिरारोपणा नव-
ति । वृ० ५ उ० ।

असंथरण-असंस्तरण-न० । अनिर्वाहे, वृ० १ उ० । दुर्जिह्वा-
नाद्यवस्थायाम्, ध० ३ अधि० । अपर्याप्तलाभे, पं० व० ३ द्वार ।
“ संथरणमि असुद्धं, दुग्धं पि गिहंतं दितयाणं हियं । आउर-
दिठ्ठेणं, तं चेव हियं असंथरणे ” । नि० चू० १ उ० ।

असंथरमाण-(असंथरंत)-असंस्तरतृ-त्रि० । गवेषणामप्यकुर्व-
ति, व्य० ४ उ० ।

असंयुय-असंस्तुत-त्रि० । असंवेधे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असंदिद्ध-असंदिग्ध-त्रि० । संदेहवर्जिते, दशा० ४ अ० । कल्प० ।
निश्चिते सकलसंशयादिदोषरहिते, स्था० ६ ग० ।

असंदिद्ध-असंदिग्धत्व-न० । असंशयकारितायाम्, एकादेशे
सत्यवचनानतिशये च । स० ३५ सम० । औ० । रा० । सैन्धवशब्दव-
ल्लवणवसनतुरगपुरुषाद्यनेकार्थसंशयकारित्वदोषमुक्ते सूत्रगुणे,
विश० । अनु० । आ० म० ।

असंदिद्धवयण्या-असंदिग्धवचनता-स्त्री० । परिस्फुटवचन-
तारूपे वचनसम्पदे, उक्त० १ अ० । स्था० ।

असंदिग्धवचनमाह-

अव्वत्तं अपुमन्थं, अत्यवहुत्ता व होति संदिद्धं ।

विवरीयममादद्धं, वयणे सा संपया चउहा ॥

अध्यक्तं-वाचो व्यक्तताया अनावतः, अस्फुटार्थमङ्गराणां स-
न्निवेशविशेषतः, विवक्तिार्थवहुत्वाद्वा भवति संदिग्धम् । त-
द्विपरीतमसंदिग्धम्, तद्वचनं यस्यासावसंदिग्धवचनः । एषा
वचने संपच्चतुर्धा चतुष्प्रकारा ॥ व्य० १० उ० ।

असंदीण-असंदीन-त्रि० । पक्षमासाबुदकेनाऽप्लाव्यमाने सिं-
हलङ्घीपादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

असंधिम-असन्धिम-त्रि० । अपान्तराले सन्धिरहिते, वृ०
५ उ० ।

असंपउत्त-असंप्रयुक्त-त्रि० । अयुक्ते, नि० चू० १ उ० ।

असंपओग-असंप्रयोग-पुं० । विप्रयोगे, ध० ३ अधि० । अयोगे,
भ० २५ श० ७ उ० ॥

असंपगहियप्प (ण)-असंप्रगृहीतात्मन्-त्रि० । असंप्रगृही-
तोऽनुत्पेक्षकवानात्मा यस्य साऽसंप्रगृहीतात्मा । निरभिमाने, अ-
हमाचार्यो बहुश्रुतः तपस्वी सामाचार्यकुशलो जात्यादिमान्
वा इत्यादिमदरहिते, दशा० ३ अ० ॥

असंपगहियया-असंप्रगृहीतता-स्त्री० । संप्रहरहिततारूपे आचार्यसम्पदभेदे, व्य० । असंप्रगृहीतता नाम जात्यादिमदैरनुत्सिक्तता । तथाह-

आयरिओ बहुस्मृओ, तवसि अहं जाडएहि मयएहि ।

जो होइ अणुस्सित्तो, असंपगहिओ वि सो भवइ ॥

आचार्योऽहं बहुश्रुतोऽहं तपस्व्यहमिति मदैः, जात्यादिनिर्वा मदैर्यो जवत्यनुत्सिक्तः स भवत्यसंप्रगृहीतः, मदसंप्रहरहितत्वात् । व्य० १० उ० ।

असंपगह-असंप्रह-पुं० । समन्तात् प्रकर्षेण जात्यादिप्रकृतलक्षणैः प्रहणमात्मनोऽवधारणं संप्रग्रहः । तदभावोऽसंप्रग्रहः । उक्त० १ अ० । आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रहवर्जने, वाचनासंप्रदने, स्था० ८ ग० ।

असंपत्त-असंप्राप्त-त्रि० । असंप्रप्ते, रा० ।

असंपत्ति-असंपत्ति-स्त्री० । प्रायश्चित्तनारवहनासामर्थ्ये, “ असंपत्तीप मासलहु, संपत्तीप मासगुरु ” नि० चू० १ उ० । “ असंपत्तिपत्ताणं रयहरणं पञ्चुपेहिज्जा ” । महा० ७ अ० ।

असंपहिड-असंप्रहृ-त्रि० । अहर्षिते, उक्त० १५ अ० । “ अवगमणे असंपहिडा जे से भिक्खू ” । उक्त० १५ अ० ।

असंपुरु-असंपुट-त्रि० । अस्यावृत्ते, “ मुहं वा असंपुडं वाताऽऽरंभदोसेण अच्चेज्ज ” नि० चू० २० उ० ।

असंपुर-असंपुर-त्रि० । असंवृते, वृ० ३ उ० ।

असंवद्ध-असंवद्ध-त्रि० । असंश्लिष्टे, “ असंवद्धो हविज्जा जगणिस्सिप ” । पञ्चिनीपत्रोदकवद् गृहस्थैः । दश० ८ अ० ।

संप्रत्यसंवद्ध इति पञ्चदशं जेदं निरूपयितुमाह-

जावंतो अणवरयं, खणभंगुरयं समत्थवत्थूणं ।

संवंधो वि थणाइमु, वज्जइ पन्निवंसंवंधं ॥ ७४ ॥

जावयन् पर्यालोचयन्, अनवरतं प्रतिक्षणं, क्षणजहुरतां सततं विनश्वरतां, समस्तवस्तूनां तनुधनस्वजनयौवनजीवितप्रभृतिसर्वभावानां, संवद्धोऽपि बाह्यवृत्त्या प्रतिपालनवर्द्धनादिरूपया युक्तोऽपि, धनादिषु धनस्वजनकरिहरिप्रभृतिषु, वर्जयति न करोति बन्धो मूर्च्छां तद्रूपं संवन्धं संयोगं, नरसुन्दरनरेश्वर इव, यतो जावतो भावयत्येवं जावश्रावकः-“ चित्ता दुपायं च चउपपयं च, खित्तं गिहं धणधनं च सव्वं । कम्मपवीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदरपावगं व ” ॥ १ ॥ इत्यादि । ध० २० । (नरसुन्दरनरेश्वरकथा ‘ एरसुंदर ’ शब्दे वक्ष्यते)

असंवुद्ध-असंवुद्ध-त्रि० । अनवगततत्त्वे, उक्त० १ अ० ।

असंभंत-असंभ्रान्त-त्रि० । अनन्यचित्ते, पं० व० १ द्वार । यथा-बहुपयोगादि कृत्वाऽनाकुले, दश० १ अ० । भ्रमरहिते, विपा० १ भ्र० १ अ० । रा० । अनुत्सुके, भ० ११ श० ११ उ० ।

असंजय-असंभ्रम-पुं० । भयाऽकरणे, ओघ० ।

असंभाविद-असंजावित-त्रि० । “ तौ दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ” । मा३१६० । इति तस्य दः संभवमकारिते, प्रा० ४ पाद । २०७

असंमोह-असंमोह-पुं० । देवादिकृतमायाजनितस्य, सूक्ष्मपदार्थविषयस्य च संमोहस्य मृदताया निषेधे, औ० । ग० । स्था० ।

असंज्ञाप-असंलप्य-त्रि० । संलपितुमशक्येषु अतिबहुषु, अनु० ।

असंलोय-असंलोक-पुं० । अप्रकाशे, आचा० । असंलोकवति, त्रि० । अनापातेऽसंलोके स्थगिडत्वे व्युत्सृजेत् । असंलोकं गत्वा-स्नानं प्रस्नवर्णं वा कुर्यात् । आचा० २ श्रु० १० अ० । ध० ।

असंवर-असंवर-पुं० । संवरणं संवरः, न संवरोऽसंवरः ।

पा० । आश्रये, स्था० । “ पंचविहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव फासिंदियअसंवरे ” । स्था० ५ ग० २ उ० । “ उव्विहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव फासिंदियअसंवरे ” । स्था० ६ ग० । “ अट्टविहे असंवरे पण्णत्ते-तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव कायअसंवरे ” स्था० । “ दसविहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव सुइकुसग्गअसंवरे ” । स्था० ८ ग० ।

असंवन्निय-असंवलित-त्रि० । अवर्धिते, तं० ।

असंविग-असंविग-त्रि० । न संविगोऽसंविगः । पार्श्वस्थादौ, नि० चू० १ उ० । शीतलविहारिणि, पं० व० २२ द्वार । व्य० ।

असंविग्न अपि द्विविधाः-संविग्नपाक्षिकाः, असंविग्नपाक्षिकाश्च । संविग्नपाक्षिका निजानुष्ठाननिन्दितो यथोक्तसुसाधुसमाचाररूपकाः, असंविग्नपाक्षिका निर्धर्माणः सुसाधुजुगुप्सकाः ।

उक्तञ्च-

“ तन्धावायं दुविहं, सपक्खपरपक्खओ य नायव्वं ।

दुविहे होइ सपक्खो, संजय तह संजईणं च ॥ १ ॥

संविगमसंविगा, संविगमगुत्त एयरा चेव ।

असंविगा वि य दुविहा, तण्णक्खिय एयरा चेव ” ॥ २ ॥

प्रव० ६१ द्वार ।

असंविगपक्खिय-असंविगपाक्षिक-पुं० । निर्धर्मणि सुसाधुजुगुप्सके, प्रव० ९१ द्वार ।

असंविजाग-असंविजाग-पुं० । संविभागाभावे, दश० ९ न० ।

असंविभागि (ए)-असंविजागिन्-पुं० । संविभजति आनी-ताहारमन्येज्यः साधुभ्यः प्रापयतीत्येवंशीलः संविभागी, न संविभागी असंविभागी । आहारेण स्वकीयमेव उदरं विभर्ति इत्यर्थः । अन्यस्मै न ददाति । उक्त० ३३ अ० । आचार्यग्नानादीनामेधणागुणविशुद्धिलब्धमविजमाने, प्रश्न० ३ संव० द्वार । यत्र कचन लाभेऽसंविभागवति, “ असंविभागी न दु तस्स मोक्खो ” । दश० ६ अ० ।

असंवुद्ध-असंवृत्त-त्रि० । इन्द्रियनोऽन्द्रियैरसंयते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । हिंसादिस्थानेज्यो निवृत्ते असंयतेन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनिरुद्धाश्रयद्वारे, भ० १ श० १ उ० । प्रमत्ते, भ० ७ श० २ उ० । (असंवृत्तस्थानगारस्य वक्तव्यता ‘ अणगार ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे समुक्ता) (स्वप्नश्च ‘ सुविण ’ शब्दे वक्ष्यते)

असंसङ्ग-असंशयित-त्रि० । निःसंशयिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

असंसद-असंसृष्ट-त्रि० । अन्यदीपपिण्डैः साहाय्यमालिते, सू० २ उ० । अस्तरणिते, औ० ।

अमंसद्वय-अमंसद्वय-पुं० । असंसृष्टेन दस्तादिना दी-
यमानस्य प्राहके, औ० ।

अमंसद्वय-अमंसद्वय-स्त्री० । असंसृष्टेन दस्तेनाऽसंसृष्टेन च
पात्रकेण[सावर्णेयं चयं] जिज्ञां गृह्णतः साधोः प्रथमायां पिण्डै-
षणायाम् प्रथ० १६ द्वार । स्था० । आ० चू० । नि० चू० ॥ आय० ।
आचा० मृ० । ध० पञ्चा० ('लित्त' शब्देऽसंसृष्टायाः प्ररूपणम्)

अमंसत्त-अमंसत्त-त्रि० । असंसिलिते, उत्त० २ अ० । विशे० ।
अप्रतिबद्धे, दश० ८ अ० । अमंसवत्ते, उत्त० ३ अ० ।

अमंसय-अमंसय-न० । निश्चिते, द्वा० १० द्वा० । निःसंदेहे,
वृ० १ उ० ।

अमंसार-अमंसार-पुं० । न संसारोऽसंसारः । संसारप्रति-
पक्षचूने गोकु, जी० १ । प्रति० । संसारानावे, द्वा० ११ द्वा० ।

अमंसारममावृण-अमंसारममावृण-पुं० । न संसारोऽसंसारो
मोक्षस्तं समापन्नः असंसारसमापन्नः । मुक्ते, प्रश्ना० १ पद ।
मिस्ते, स्था० २ द्वा० १ उ० । जी० ॥

अमक-अशक्य-त्रि० । कर्तुमपार्यमाणे, ध० । अशक्ये भाव-
प्रतिपत्तिरिति । अशक्ये ज्ञानाचारादिविशेष एव कर्तुमपार्यमाणे
कुतोऽपि धृतिमहनकालबलादिवैकल्याद्भावप्रतिपत्तिः-भवि-
नान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्धः न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि; अ-
कालौत्सुक्यस्य तत्रैव अतर्ध्यानत्वादिति । ध० १ अधि० ।

अमक्य-अमस्कृत-त्रि० । न विद्यते संस्कृतं संस्कारो यस्य
सोऽमस्कृतः । अविद्यमानसंस्कारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अमक्यममक्य-अमस्कृतामस्कृत-त्रि० । कर्मधारयः । मका-
रोऽवालाङ्गणिकः । अत्यन्तमसंस्कृते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अमकहा-अमकहा-स्त्री० । अशोभनकथायाम्, दर्श० ।

अमक्रिया-अमक्रिया-स्त्री० । अशोभनायां चेष्टायाम्, प-
ञ्चा० ६ विव० ।

अमक्रियारहित-अमक्रियारहित-त्रि० । अक्षिप्तपिहितादि-
द्वारेण जीवोपमदंरुपाप्रशस्तव्यापारहिते, पञ्चा० १३ विव० ।

अमगदा-अशकटा-स्त्री० । शकटैरुपयुक्तं नीतत्वात्स्वनामख्या-
ने आर्जगक्यागत्ते, दश० ३ अ० । (तद्वृत्तं 'उवहाण' शब्दे
द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे उदाहरिष्यते)

अमगद-अमगद-पुं० । अशोभनाभिनिवेशे आप्तवचनवाधि-
नार्थपक्षपाते, पञ्चा० १ विव० । चात्रिवचनोऽपि असद्वदः संभव-
ति, मतिमोहमाहान्यादिति । ध० २० ।

अमच्च-अमन्य-न० । सत्यविपरिते, नास्ति जीव एकान्तसदृपो
येत्यादिर्भावकल्पनपरे, पं० सं० १ द्वार । उत्त० । अलीके, प्रश्न० २
आश्र० द्वार । असत्यं च महत्तमं पातकं यतो योगशास्त्रान्तर-
श्रुते-“ एकत्राऽमन्यजं पापं, पापं निःशेषमन्यतः । द्वयोस्तु-
लाविधृतयो-राद्यमेवातिरिच्यते” ॥१॥ इति । ध० २ अधि० ।
प्रश्न० । आ० चू० ।

अमच्चमणजोग-अमन्यमनोयोग-पुं० । कर्म० स० । नास्ति जी-
व एकान्तसदृभूतो विश्वव्यापित्यादिकुविकल्पचिन्तनपरे म-
नोयोगे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असच्चमोसमणजोग-अमत्यामृपमनोयोग-पुं० । न विद्यते
सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः । अस-
त्यश्चासौ अमृषश्चः “ कं नवादिभिर्भैः ” । ३ । १ । १०५ । इति
कर्मधारयः । असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्चासत्यामृपमनोयो-
गः । मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ।

अमच्चरु-असत्यरु । असत्ये मृषाभाषणे असंयमे वा
रुचिर्यस्याऽसावसत्यरुचिः । असत्यं रोच्यमाने; व्य० ३ उ० ।

असच्चवज्जोग-अमत्यवाग्योग-पुं० । वाग्योगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

अमच्चमंधत्तण-अमत्यसंधत्व-न० । असत्यमलकं संस्था-
ति करोतीति असत्यसन्धः, तदभावोऽसत्यसन्धत्वम् । पर्व-
शे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असच्चामोमा-अमत्यामृषा-स्त्री० । यत्र सत्यं नापि मृषा, तत्र
असत्यामृषा । वस्तुप्रतिषधमन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरे-
‘अहो देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मल्लम्’ इत्यादिचिन्तनपरे भा-
षाभेदे, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वात्तथा यथोक्तलक्षणं सत्यं,
नापि मृषा । पं० सं० १ द्वार । “ जं णेव सच्चं, णेव मोसं, णेव
सच्चमोसं-असच्चामोसं णाम्, तं चउत्थं भासज्जातं ” चतु-
र्थी ज्ञाया-याच्यमाना न सत्या, नापि मृषा, नापि असत्यामृषा
आमन्त्रणाऽऽज्ञापनादिका साऽत्रासत्यामृषेति । आचा० २ अ०
४ अ० १ उ० ।

सांप्रतमसत्यामृषामाह—

आमंतेणि आणवणी, जायाणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी ।
पचक्खणी जासा, जासा इच्छाणुत्तोमा य ॥ ४२ ॥

आमन्त्रणी, यथा-हे देवदत्त ! इत्यादि । एषा किलाप्रवर्तकत्वात्
सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतस्तथाविधद्वयोत्पत्तेरसत्यामृषे-
ति । एवमाज्ञापनी, यथा-इदं कुरु । इयमपि तस्य करणकरण-
भावतः परमार्थैकत्राप्यनियमात्तथाप्रतीतिः अदुष्टविवक्षाप्रसू-
तत्वादसत्यामृषेति एवं स्ववृत्त्याऽन्यत्रापि ज्ञावना कार्येति । याच-
चनी, यथा-भिक्षां प्रयच्छेति । तथा प्रच्छुनो, यथा-कथमेतदि-
ति ? । प्रश्नापनी, यथा-हिसादिप्रवृत्ता दुःस्थितादिर्भवति । प्रत्या-
ख्यानी भाषा, यथा-अदित्येति । भाषा इच्छाणुत्तोमा च, यथा-
केनाचित् कश्चिदुक्तः-साधुसकाशं गच्छाम इति । स आह-शो-
न्नमिदमिति गाथाऽर्थः ॥ ४२ ॥

अणजिगहिआ जासा, भासा अ अजिगहम्मि बोधव्वा ।

मंसयकरणी जासा, वायरु अव्वायमा चेव ॥ ४३ ॥

अनभिगृहीता भाषा-अर्थमनभिगृह्य योच्यते, डित्यादिवत् ।
भाषा चाभिग्रहे बोधव्या-अर्थमजिगृह्य योच्यते, घटादिवत् ।
तथा संशयकरणी च भाषा-अनेकार्थसाधारणा योच्यते, सैन्यव-
मित्यादिवत् । व्याकृता-स्पष्टा प्रकटार्था-देवदत्तस्यैव भ्रातेत्यादि-
वत् । अव्याकृता चेव अस्पष्टाप्रकटार्था-बालकादीनां थपनि-
केत्यादिवादिनि गाथार्थः । उक्ताऽसत्यामृषा । दश० ७ अ० ।

असच्चोवाहिसच्च-असत्योपाधिमत्य-न० । सशब्दार्थत्वेनास-
त्या उपाधयो विशेषा वलयाङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्व-
ज्ञेदानुयायिनः सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि-
शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम् । सविशेष सामान्ये, अन्यत्वाद्-
यदसत्योपाधिसत्यं स शब्दार्थः इति । सम्म० १ काण्ड ।

असज्ज-असज्जन्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, " असज्जमित्थोसु वणज्ज पृथग् " आ० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

असज्जमाण-असज्जन्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, उ० १४ अ० । " ते कामजोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सपसुं जे यावि दिव्वा " ॥ १४ ॥ उ० १४ अ० । " असज्जमाणो य परिव्वणज्जा " असज्जमानः सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकन्यादिषु परिव्रजेदुद्युक्तविहारी । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

असज्ज-अमाध्य-त्रि० । अशक्ये, पि० । अनिवर्त्तनीयस्वप्नावे, आ० म० द्वि० ।

असज्जाइय-अस्वाध्यायिक-न० । आ मर्यादया सिद्धान्तोक्तन्यायेन पठनम्-आध्यायः; सुष्टु शोभन आध्यायः स्वाध्यायः; स एव स्वाध्यायिकम् । नास्ति स्वाध्यायो यत्र तदस्वाध्यायिकम् । रुधिरादौ स्वाध्यायाकरणदेतौ, प्रव० २६८ द्वार । न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकम् । कारणे कार्योपचाराद् रुधिरादौ, ध० ३ अधि० ।

अस्वाध्याये स्वाध्यायो न कर्तव्यः—

एणो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा असज्जाइए सज्जायं करित्तए; कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सज्जाइए सज्जायं करित्तए ॥

अस्य व्याख्या-न कल्पते निग्रन्थानां निग्रन्थीनां वा अस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुम्; कल्पते निग्रन्थानां वा निग्रन्थीनां वा स्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुमिति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अधुना भाष्यप्रपञ्चः—

असज्जाइयं च दुविहं, आयसमुत्थं परसमुत्थं च ।

जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥

द्विविधं खल्वस्वाध्यायिकम् । तद् यथा—आत्मसमुत्थं, परसमुत्थम् । चशब्दश्चास्वाध्यायिकतया तुल्यकक्षतासंस्चकः । तत्र यत् परसमुत्थं तत् पञ्चविधं ज्ञातव्यम् ।

तानेव पञ्च प्रकारानाह—

संजमयाउप्पाए, सदेवए वुगहे य सारीरे ।

एएसु करेमाणे, आणाइय मो उ दिट्ठतो ॥

संयमत्राति संयमोपघातिकम्, आत्पातिकमुत्पातनिमित्तं, सदैवं देवताप्रयुक्तं, व्युद्ग्रहः शरीर च । एतेषु पञ्चष्वप्यस्वाध्यायिकेषु स्वाध्यायं कुर्वत्याज्ञादयः आज्ञाभङ्गादयो दोषाः, तथाऽऽज्ञां तीर्थकराणां यो भङ्गति, तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । अनवस्थयाऽप्येऽपि तथा करिष्यन्तीति, तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु, यथा वादी तथा कारी न जवतीति मिथ्यात्वं, तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । विराधना द्विधा—संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमविराधना ज्ञानाचाराविराधना । आत्मविराधनायामेवमुदाहरणम् ।

तदेवाह—

मेच्छज्जय घोसण निवे, दुग्गाणि अतीह मा विणस्महिहा ।

फिडिया जे उ अतिगया, इयरा हय सेस निवड्ढो ॥

" कस्स वि रणो मेच्छखंघावारो विसयं आगंतुं हणियकामो, तं भयं जाणिता रणो सविस्सप सकलं वि घोसावियमित्थं-मेच्छखंघावारो आगंतुं विसयं हणियकामो वट्टति, तुज्जे दुग्गाणि अतीह । तत्थ जेहि रणो आणा कया, ते मेच्छभयातो फि-

ड्डिआ, जेहि न कया आणा, ते मेच्छेहि क्खिआ मारिया य, जे वि तत्थ केइ परिमुक्का ते वि रणो दंडिया " ।

अक्षरयोजना त्वेवम्-मेच्छज्जयमाकर्ण्य नृपेण (गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे) घोषणा कारिता । यथा-दुर्गाण्यतिगच्छथ, मा विनङ्गयथ, तत्र ये अतिगतास्ते म्लेच्छभयात् स्फटिताः, इतरे हताः, कृतसर्वस्वापहाराश्च कृताः । येऽपि श्रेयाः कथमपि म्लेच्छभयविप्रमुक्तास्तेषामाज्ञाभङ्गकरणतो नृपेण दण्डः कृतः । वय० ७ उ० ।

" कितिप्रतिष्ठितपुरे, जितशत्रुर्नगाधिपः ।

स्वदेशे घोषितं तेना-गच्छति म्लेच्छभूपतौ ॥ १ ॥

त्यक्त्वा ग्रामपुरादीनि, दुर्गेषु स्थीयतां जनैः ।

ये राजवचसा दुर्ग-मारुढास्ते सुखं स्थिताः ॥ २ ॥

मारुढा ये पुनर्दुर्गं, म्लेच्छाद्यैस्ते विलुण्टिताः ।

आज्ञाज्ञानानुपेणापि, गतशेषं च दण्डिताः ॥ ३ ॥

अस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायाद्, दण्डः स्थादुभयादपि ।

देवताच्छन्ननेत्येकः, प्रायश्चित्ततामोऽपरः ॥ ४ ॥

इहलोके परस्मिन्, ज्ञानाद्यफलता भवेत् " । आ० क० ।

एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थयरो, जाणवया साहु घोसणं सुत्तं ।

मेच्छा य असज्जाओ, रयणधणाइ व नाणादी ॥

अत्र राजा इव तीर्थकरः, जानपदा इव साधवः, घोषणमिव सूत्रं, म्लेच्छा इव अस्वाध्यायः, रत्नधनानीव ज्ञानादीनि । तत्र ये साधवो जानपदस्थानीया राजस्थानीयस्य तीर्थकरस्याज्ञां नानुपालयन्ति, ते प्रान्तदेवतया उदयन्ते, प्रायश्चित्तदण्डेन च दण्ड्यन्ते । वय० ७ उ० । आ० क० ।

केन पुनः कारणेनाऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं करोति?,

तत आह—

थोवावमेसपोरिसि, अज्जयणं वा वि जो कुणइ मोउं ।

णाणाइमारहीण-स्स तस्स उल्लना उ संसारं ॥

स्तोकावशेषायामपि पौरुष्यामध्ययनं पाठ उद्देशोवाऽद्यापि समाप्तिं न नीत इति कृत्वा उद्घाटायामपि पौरुष्यामस्तमिते वा सुयै, अथवा अस्वाध्यायिकमिति श्रुत्वाऽपि योऽध्ययनं पाठम्, अपिशब्दादुद्देशनं च करोति, तस्य ज्ञानादिविकं तत्त्वतोऽपगतं, तीर्थकराऽज्ञाभङ्गकरणादिति । ज्ञानादिविकसारहीनस्य संसारं नरकादिजवन्नमलक्षणे उल्लना जवति; अपारघोरसंसारं निपतनं जवतीति ज्ञावः ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरं समभिधित्सुराह—

अहवा दिट्ठतियरो, जह रणो पंच केइ पुरिसा उ ।

दुग्गादी परितोमिउ, तेहि अ राया अह कयाइ ॥

तो देति तस्स राया, नगरम्मी इच्छियं पयारं तु ।

गहिण य देइ मोल्लं, जणस्स आहारवत्थादी ॥

एगेण तोमियतरो, मिहेऽगिहे तस्स सव्वहिं विघरे ।

रत्थाइसुं चउएहं, एविह सज्जाइए उवमा ॥

अथवेति दृष्टान्तस्य प्रकारान्तरसूचने । इतरो दृष्टान्तः । यथा-राज्ञः केचित्पञ्च पुरुषाः सेवकास्तैरथ कदाचिद् राजा दुर्गादिषु पतितो निस्तारितः, तत्रापि तेषां पञ्चानां मध्ये एकेन केनचित्परमसाध्वसमवलम्ब्य न्ययस्तरं साहायिकमकारि, ततस्तेषां

तेनैकेन जितानां चतुर्णां राजा परितुष्टः सन् नगरे रथ्यादिषु गृहचर्यादिषु प्रचारमाप्सित ददाति । यथा-यत्किमपि रथ्यायामपणादिषु, त्रिकचतुष्कचवगादिषु वा यदेष बस्त्राहारादिकं प्राप्नुयात् युष्माकमेवं एव प्रसादे कृते बस्त्राहारादौ नगरादितः स्वेच्छया गृहीते, राजा यस्य सत्ययद् गृहीतं तस्य मूल्यं ददाति । येन चैकेन पुरुषेण भूयस्तरसादायिकं कुर्वता राजा तापिततरः, तस्य राजा गृहेऽगृहे वा सर्वत्र नगरमध्ये प्रचारमाप्सितं विर-निमन्तराऽनुजानात । तत्रापि यस्य साकं तेन गृह्यते बस्त्राऽऽहार-दि, तस्य मूल्यं राजा दीयते । इतरेषां चतुर्णां रथ्याऽऽदिष्वेव प्रचारमनुज्ञातवान्, न गृहेषु । एवमुक्तेन प्रसारेण इह प्रस्तुते ऽन्वाध्यायिके उपमादृष्टान्तः । तदेवमुक्तो दृष्टान्तः ।

सम्प्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

पदमस्मि मन्वेच्छेद्वा, सञ्जाओ वा वि वारितो नियमा ।

मेमेमु य मञ्जाओ, चेद्वा न निवारिभा अण्णा ॥

प्रथमेऽन्वाध्यायिके संयमोपघातिलक्षणे, सर्वा कायिकी वा-चिकी चेष्टा, स्वाध्यायश्च नियमाद्वारितः, तोषकतरपुरुषस्थानी-यतया तस्य सर्वत्र साधुव्यापारेषु प्रवृत्तेः । शेषेषु पुनः चतुर्व-स्वाध्यायिकेषु, स्वाध्यायः, स्वाध्याय एव केवशो निवारितो, ना-न्या कायिकी वाचिकी वा प्रतिलेखनादिका चेष्टा वारिता, तेषां शेषपुरुषचतुष्टयस्थानीयानां बहिः रथ्यादाविष्य स्वाध्यायमात्र एव व्यापारतावात् । तदेवं पञ्चस्वप्यऽन्वाध्यायिकेषु सामान्यतो विशेषतश्चोदाहरणमुक्तम् ।

इदानीं प्रथममन्वाध्यायिकं संयमोपघाति प्ररूपयानि—

मद्विया य भिन्नवामो, मच्चित्तरण य संजमे ति विहे ।

द्ववे खेत्ते कास्त्रे, जडियं वा जचिरं मव्वं ॥

मद्विका गर्भमासे पतन्ती प्रसिद्धा, तस्याः तथा-गृहादौ यत्प-तति वर्षे तद्विजवर्षे, तस्मिन् तथा सच्चित्तरजसि च, एवंविधे त्रिप्रकारे संयमे-पदैकदेशे पदममुदायोपचारात् संयमोपघा-तिनि अन्वाध्यायिके निपतति, द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावत-श्च वर्जते जवति । तत्र द्रव्यतः-एतदेव त्रिविधमन्वाध्यायिकं द्रव्यम् । क्षेत्रतो- (जडियं ति) यावति क्षेत्रे तत्पतति तावत् क्षेत्र-प्रम । कालतो- (यच्चिरं ति) यावन्तं कालं पतति तावन्तं काल-म् । तावतः-सर्वं कायिक्यादिचेष्टादिकं वर्ज्यते ।

एतामेव गार्था व्याख्यानयति—

मद्विया उ गञ्जमावे, वामे पुण ह्वाति निन्नि उ पमाग ।

बुव्वर्णे तव फुर्नीए, मच्चित्तरजो य आयंयो ॥

मद्विका गर्भमासे प्रतीता । गर्भमासो नाम कार्तिकादिविवा-त् माघमासः । वर्षे पुनर्द्वयः प्रकारा भवन्ति । तानिवाह- (बुव्वुए ति) यत्र वर्षे निपतता पानीयमध्ये बुद्बुदास्तोयशलाकारूपाः उल्लिष्टान्त, ततो वर्षमप्युपचाराद् बुद्बुदमित्युच्यते । तद्वर्जं बुद्बु-द्वर्जं द्वितीयं वर्षम्, तृतीयं (फुर्नीए ति) जलस्पर्शिकनिपतन्त्याः, तत्र बुद्बुदे वायंतिपतति यामासृकाद्वर्षम् । अन्ये तु व्याचक्रते-प्रयाणां दिनानां परतः, तद्वर्जं पञ्चानां दिनानां जलस्पर्शिका-रूपे सप्तानां परतः सर्वमपकायस्मृष्टं जवति । ततस्तत्र द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो तावतश्च वर्जते प्रायश्चायनीयम्, यावच्चाष्का-यमयं न भवति, यावद्वृषाश्रयो निर्गमस्तत्र सर्वं स्वाध्यायप्रति-लेखनादि क्रियते, यदिस्तु निर्गम्यते इति । 'सच्चित्तरजो' नाम-व्यवहारसमन्विता वातोद्धता शृङ्गधूलिः, तच्च सच्चित्तरजो

वर्ज्यते, ततोऽस्यां गार्थायां पुस्त्यं प्राकुतवात् । तच्च दिगन्तरेषु दृश्यते, तदपि निरन्तरपाते प्रयाणां दिनानां परतः सर्वपृ-थिवीकायाभाविनं करोति, तत्रापि पतितद्रव्यादितो वर्जते प्रायवत् ।

तदेव व्याख्यातुमाह—

द्ववे तं चिय दव्वं, खेत्ते जडियं तु जच्चिरं कास्त्रे ।

उणादि जास जावे, मोत्तुं ऊमासउम्मेमं ॥

उच्ये द्रव्यतः-तदेवास्वाध्यायिकं माहिकं भिन्नवर्षं सच्चित्तरजो वा वर्ज्यते । क्षेत्रतो-यत्र क्षेत्रे निपतति, कालतो-यावच्चिरं कास्त्रे पतति, भावतो-मुक्त्वा उच्छ्वासमुम्मेमं च, तद्वर्जने जीवितव्या-घातसंभवात् । शेषां स्थानादिकाम्, आदिशब्दाद् गमनागमनप्र-तिलेखनादिपरिग्रहः । कायिकां चेष्टां भाषां च वर्जयति ॥

वासत्ताणाऽऽवरिया, निक्कारण उवंति कज्ज जयणाए ।

द्वत्थगुलिसन्नाए, पोत्तावरिया व जासंति ॥

निष्कारणे कारणाभावे वर्षप्रयाणां कम्बलमयः कल्पः, तेन सौ-त्रिककल्पान्तरितेन सर्वात्मना आवृतास्तिष्ठन्ति, न कामपि क्षेश-तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति । कार्ये तु समापतिने यतनया दस्तसंज्ञया बहुविधसंज्ञया च व्याहरन्ति । पोताऽऽवरिता वा जापन्ते ग्लाना-दिप्रयोजने वर्षाकल्पाऽऽवृता गच्छन्ति । गतं संयमोपघातय-स्वाध्यायिकम् ।

इदानीमौत्पातिकमाह—

पंसुयपंसयरुहिरं-केसमिन्नावुट्टि तह रओघाए ।

पंसरुट्टिरेऽहरत्तं, अवसेमे जचिरं मुत्तं ॥

अत्र वृष्टिशब्दः प्रत्येकमभिसंवध्यते । पांशुवृष्टौ, रुधिरवृष्टौ केशवृष्टौ, शिलावृष्टौ च । तत्र पांशुवृष्टिर्नाम यदि रजो निपतति, मांसवृष्टिर्मांसखण्डानि पतन्ति, रुधिरवृष्टिः-रुधिरविन्दवः पत-न्ति । केशवृष्टिर्बुद्बुदारा केशाः पतन्ति, शिलावृष्टिः-पाषाण-निपतनं, करकादिशिलावर्षमित्यर्थः । तथा-रजउदुघाते र-जस्वलासु दिक्षु सूत्रं न पठ्यतः शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः क्रियन्ते । तत्र मांसे रुधरे च पतति अहोरात्रं वर्ज्यते, अव-शेषे पांशुवृष्ट्यादौ यावच्चिरं पांशुवादिपतनकालं, तावत् सूत्रं तन्वादिनं पठ्यते, शेषकालं तु पठ्यते ।

सम्प्रति पांशुरजउदुघातव्याख्यानमाह—

पंसू अ अचित्तरजो, रयोमलाओ दिसा रउग्घाते ।

तत्थ सवाते निव्वा-यए य मुत्तं परिहरंति ॥

पांशवो नाम धूमाकारमापागुरमचित्तं रजः । रजउद-घातो रजस्वला दिशः, यासु सनीषु समन्ततोऽन्धकार इव दृश्यते, तत्र पांशुवृष्टौ, रजउदुघाते वा सवाते निवाते च पतति यावत्पतनं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥

अत्रैवापवादमाह—

साभाविणं निमि दिणा, सुगिम्हए निक्खिवंति जइ जोगं ।

तो तस्मि पमेत्तर्मी, कुणंति संवच्छरऽऽज्जायं ॥

यदि सुर्यात्मकात्रप्रारम्भ उष्णप्रारम्भे, चैत्रशुक्लपक्षे इत्यर्थः । द-शम्याः परतो यावत् पौर्णमासी, अत्रान्तरे निरन्तरं त्रीणि दिनानि यावत् यदि योगं निक्षिपन्ति एकादश्यादिषु त्रयोदशीपर्यन्तेषु, यदि वा त्रयोदश्यादिषु पौर्णमासीपर्यन्तेषु अचित्तरजोऽवहेद-

नार्थं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, तदा तस्मिन् पांशुवर्षे रजोद्व्याते वा स्वाभाविके पतति, संवत्सरं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, इतरथा नेति । व्य० ७ उ० । “दसविहे ओरालिण असज्जाइय पणत्ते । तं जहा-अट्टो मंसं सोणिण असुइसामंतं मसाणसामंतं चंदोवराण सरो-वराण परण रायवुग्गहं उवस्सयस्स अंतो ओरालिण सरोरे” । (स्था०) “ दसविहे अंतत्रिक्खिण असज्जाइय पणत्ते । तं जहा-उक्कावाण दिसिदाहे गज्जिण वीज्जुण निग्वाण जूयण जक्खालिचण धूमिण महिया रज्जुग्घाण ” । स्था० १० टा० । आ० सू० । व्य० ।

इदानीं सदेवमाह-

गंधर्वदिमाविज्जुक-गज्जितं जूवजक्खदित्ते य ।

एक्केकपोरिमि ग-ज्जियं तु दो पोगिसिं हणति ॥

गन्धर्वनगरं नाम यच्चक्रवर्त्यादिनगरस्थोत्पानसूचनाय संध्या-समये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकारादालकादिसं-स्थितं दृश्यते (दिसंत्ति) दिग्दाहः, विद्युत्प्रतीता, उल्का सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा, गजितं प्रतीतं, यूपको वक्ष्यमाणलक्षणः, यद्दीप्तं नाम एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशः प्रकाशः । एतेषु मध्ये गन्धर्वनगरादिकमेकैकामेककां पौरुषीं च हन्ति, गजितं पुनर्द्वं पौरुष्यौ हन्ति ।

गंधर्वनगर नियमा, सदेवयं सेमगाणि भजिणीओ ।

जेण न नज्जति फुडं, तेण य तेमिं तु परिहारो ॥

अत्र गन्धर्वनगरादिषु मध्ये गन्धर्वनगरं नियमात्सदेवकम्, अन्यथा तस्याज्ञावात् । शेषकाणि तु दिग्दाहादीनि भक्तानि विकल्पितानि, कदाचित् स्वाभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि । तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिह्रियते किन्तु देवकृतेषु परम् । येन कारणेन स्फुटं वैविक्रयेन तानि न ज्ञायन्ते, तेन तेषामविशेष-परिहारः ।

सम्प्रति दिग्दाहादिव्याख्यानमाह-

दिसि दाहं जिमूलो, उक्क सरेहा पगासजुत्ता वा ।

संज्जच्छेयाऽऽवरणो, उ जूवओ सुक्किदिण तिणि ॥

दिशि पूर्वादिकायां जिमूलो दाहः प्रज्वलनं दिग्दाहः । किमुक्तं जवति ?—अन्यतमस्यां दिशि महानगरप्रदोत्तमि-वोपरि प्रकाशोऽथस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उक्का पृष्ठतः सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा । यूपको नाम शुक्ले शुक्लपक्के त्रीणि दिनानि यावत् द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां चेत्यर्थः । संध्याच्छेदः संध्याविभागः, स आव्रियते येन स संध्याच्छे-दावरणश्चन्द्रः इत्यमत्र भावना-शुक्लपक्के द्वितीयातृतीयाचतुर्थी-रूपेषु त्रिषु दिनेषु संध्यागतश्चन्द्र इति कृत्वा संध्या न विभाव्यते, ततस्तानि शुक्लपक्के त्रीणि दिनानि यावत् चन्द्रः संध्या-च्छेदावरणः स यूपक इति । एतेषु च त्रिषु दिवसेषु प्रादोपि-की पौरुषी नास्ति, संध्याच्छेदादिभवनत्वादि ।

अत्रैव मतान्तरमाह--

केमिंचि होंति मोह्हा, उ जूवओ ते तु होंति आइष्सा ।

जेसिं च अणाइन्ना, तेसिं खलु पोरिसी दोणि ॥

केपाश्चिदाचार्याणां मतेन ये भवन्ति शुक्लपक्के प्रतिपदा-दिषु दिवसेषु मोघाः शुभाशुभसूचननिमित्ता चित्तोत्पादा आदित्यकिरणविकारजनिता आदित्यस्योदयसमये अस्तमय-उमये वा आनाम्नाः, कृष्णदयामा वा ‘यूपक इति’ ते भवन्ति

वर्तन्ते आचीर्णाः, नैतेषु स्वाध्यायः परिह्रियते इत्यर्थः । येषां त्वाचार्याणामनाचीर्णास्तेषां मतेन यूपको द्वे पौरुष्यौ हन्ति ।

न केवलमसूनि सदेवानि, किन्त्वभ्युपि, तान्येवाह-

चंदिमसूरुपरागा, निग्वाण गुंजिते अहोरात्तं ।

चंदं जट्ठेणऽट्ठ उ, उक्कोसा पोगिमि विउक्कं ॥

सूरुं जट्ठेण वारस, उक्कोमं पोरिसी उ सोद्वसओ ।

सग्गह निव्वुरु एवं, सूरुदी जेणऽहोरात्तं ॥

चन्द्रोपरागे सूर्योपरागे च, तद्विनापगते इति वाक्यशेषः । तथा-साध्रे निरभ्रे वा न तस्मिन् व्यन्तरकृतां महागजितसमो ध्वनिर्निर्घा-तः । गजितस्यैव विकारो गुञ्जावत् गुञ्जमानो महाध्वनिर्गु-ञ्जितः, तस्मिन् निर्घाते गुञ्जिते च, प्रत्येकमहोरात्रं यावत् स्वा-ध्यायपरिहारः । तत्र जघन्यत उत्कर्षतश्च चन्द्रोपरागे सूर्यो-परागे वाऽधिकृत्य स्वाध्यायोचितकालमात्रमाह-चन्द्रो जघन्य-नाष्टो पौरुषोर्हन्ति, उत्कर्षतः पौरुषीद्विपदकम् द्वादश पौरुषी-रित्यर्थः । कथमिति चेत् ? उच्यते-उक्कच्छन् चन्द्रमा गृह्णा गृ-हीतस्ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, एवमष्टौ । द्वादश पुनरेवम्-प्रभातकाले चन्द्रमाः सग्रह एवास्त-मुपगतः ततश्चतस्रः पौरुषीदिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्या रात्रेः, चतस्रो द्वितीयस्य दिवसस्य । अथवा-श्रौत्यातिकग्रहणन सर्वरात्रिकं ग्रहणं जातम् सग्रह एव निमग्नः ततः संदृष्टिरात्र-श्चतस्रः पौरुषीः, अन्यच्चाहोरात्रम् । अथवा-अभ्रच्छन्नतया विशेष-परिज्ञानाभावाच्च न ज्ञाने-कस्यां वेलायां ग्रहणं, प्रभाते च ग्रहो-निमज्जनं हृष्टः, ततः समग्ररात्रिः परिहृता, अन्यच्चाहोरात्रमिति द्वा-दश । सूर्यो जघन्येन द्वादश पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः षोडश । कथ-मिति चेत् ? उच्यते-सूर्यः सग्रह एवास्तमुपगतश्चतस्रः पौ-रुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, चतस्रस्ततः पर-स्या रात्रेः, एवं द्वादश । पौरुष्य पुनरेवम्-सूर्य उक्कच्छन् गृह्णा गृही-तः सकृच्च च दिनं समुत्पानवशात्सग्रहः स्थित्वा सग्रह एवास्त-मुपगतः ततश्चतस्रः पौरुषीदिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्या रात्रेः, ततश्चतस्रः परदिवसस्य, ततोऽपि चतस्रः परतराया रात्रेः, एवं षोडश पौरुषीर्हन्ति, सग्रहनिमग्नः, सग्रह एवास्तमितः । तथा चोक्तम्-“एवं उभयमृच्छे गहिणं सग्गहानिःसुक्के दट्ठव्व-मिति” । (सूरुदी जेणऽहोरात्तं त्ति) सूर्यादयो येनाहोरात्राः ।

ततः किमित्याह-

आइन्नं दिणमुक्के, मो चिय दिवसो य राती य ।

निग्वायगुंजणं, सो चिय वेला उ जा पत्ता ॥

यतः सूर्यादिग्रहोरात्रः, ततो दिनमुक्ते सूर्ये-स एव दिवसः, सैव च रात्रिः स्वाध्यायिकतया परिह्रियते । चन्द्रे तु तस्यामेव रात्रौ मुक्ते यावदपरश्चन्द्रो नोदति, तावदस्वाध्यायः, इति सैव रात्रिः, अपरं च दिनमिति, एवमहोरात्रमस्वाध्यायः । अग्रे पुनराहुराचीर्णमिदम्-चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रावेव मुक्तः, तस्या एव रात्रेः शेषं वर्जनीयं यस्मादागामिसूर्योदये समाप्ति-रहोरात्रस्य जाता । सूर्योऽपि यदि दिवा गृहीतो दिव्यैव मुक्त-स्तस्यैव दिवसस्य शेषं, रात्रिश्च वर्जनीया इति । तथा-निर्घा-तगुञ्जितयोः प्रत्येकम्; यस्यां वेलायां निर्घातो गुञ्जितं वाऽधि-कृते दिने भवेत्, द्वितीयेऽपि दिनं यावन्मैव वेला प्राप्ता भवति तावदस्वाध्याय एव । तयोरेव्यस्वाध्यायस्याहोरात्रप्रमाणत्वात् ।

उक्तं च-निर्घातो गुञ्जितं च लोकप्रतीतो, " एष अहोरात्रं च-
बद्धं ति ति " ।

तथा-

चउमंजासु न कीरइ, पारिवणसुं तहेव चउमुं पि ।

जा जत्त पूजतां तं, संवेहि सुगिम्हतो नियमा ॥

चतस्रः सन्ध्याः, तिस्रो रात्रौ । तद्यथा-प्रस्थिते सूर्ये, अर्धरात्रे, प्रभाते च-चतुर्थी दिवसस्य मध्यभागे । एतासु चतसृष्वपि स्वा-
ध्यायो न क्रियते । शेषक्रियाणां तु प्रतिस्तेखनाऽऽदीनां न प्रति-
षेधः । स्वाध्यायकरणे चाक्षामक्यादयो दोषाः । तथा-चतस्रः प्रति-
पदः । तद्यथा-भाषाटपीर्णमासीप्रतिपत्, अश्वयुक्पीर्णमासीप्र-
तिपत्, कार्तिकपीर्णमासीप्रतिपत्, सुभाषप्रतिपत्, चैत्रमासपौ-
र्णमासीप्रतिपदित्यर्थः । एतासु चतसृष्वपि प्रतिपत्सु तथै-
व-स्वाध्याय एव न क्रियते, न शेषक्रियाणां प्रतिषेधः । इह प्रति-
पद्ग्रहणेन प्रतिपत्पर्यन्ताश्चत्वारो महाः सुचिता इति; एषां चतुर्णां
महानां मध्ये यो महो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य
यावन्तं कात्रं पूर्यते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्तं
कात्रं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति यत्पुनः सर्वेषां पर्यन्तः "संवेसि जाव
पारिवतो" इति वचनात् सुप्रौढमकश्चैत्रमासनावी पुनर्महा-
महः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपूर्णमासीप्र-
तिपत्पर्यन्तो नियमात् प्रसिद्धः, ततो यद्यध्वानं प्रतिपक्षस्तथापि
चैत्रमासस्य शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य सर्वे पक्षं पौर्णमासीप्रति-
पत्पर्यन्तं यावदवश्यमनागाढो योगो निष्क्रियते, शेषेषु अगाढा-
दिकेषु योगो न निष्क्रियते, केवलं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । गते
सदेवमस्वाध्यायिकम् । व्य० ७ ब० । ग० ।

" णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण या चउहिं महापाणि-
यपाहिं सज्जायं करेत्तए । तं जहा-आसाढपाडिचए, इंदपाडिचए,
कत्तिअपाडिचए, सुगिम्हपाडिचए । णो कप्पइ णिग्गंथाण वा
णिग्गंथीण वा चउहिं सज्जाहिं सज्जायं करेत्तए । तं जहा-पढ-
माए पच्छिमाए मज्जएहे अवरएत्ते । कप्पइ णिग्गंथाण वा णि-
ग्गंथीण वा चउकालं सज्जायं करेत्तए । पुव्वएहे अवरएहे
पभोसे पच्चसं । " स्था० ४ ग्रा० २ ब० ।

इदानीं व्युद्ग्रहजमाह-

गुग्गह दंमियमादी, संखोभे दंडिए य कालगते ।

अणरायण य सजए, जचिरमनिदोच्चहोरात्तं ॥

व्युद्ग्रहे परस्परविग्रहे दण्डिकादीनाम्, आदिशब्दात्मेनापत्या-
दीनां च परस्परं विग्रहे अस्वाध्यायः । इयमत्र भावना-द्वौ दण्डिकौ
सस्कन्धावारी परस्परं संग्रामं कर्तुकामौ यावन्नोपशम्यत-
स्तावत्स्वाध्यायः कर्तुं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ? , उ-
च्यते-तत्र वाणमन्तराः कौतुकेन स्वस्वपक्षेण समागच्छन्ति, ते
उल्लेख्ये, भूयसां च लोकानामप्रीतिः-वयमेवं भीता वर्तमाने,
कामप्यापदं प्राप्सवामः, एते च श्रमणका निर्दुःखं पठन्ति ।

अत्राऽऽदिशब्दव्याख्यानाथमिमां गाथामाह-

भेणाहिवभोडयमह-यरपुंमित्थीण मद्दुजुच्छं वा ।

दोढादिनंरुणे वा, गुग्गहउड्डाह अविद्यत्तं ॥

द्वयोः सेनाधिपत्योद्वेगोर्वा तथाविधप्रसिद्धिपात्रयोः, तयोः
परस्परं व्युद्ग्रहे वर्तमाने, अथवा मद्दुजुच्छं, तथा-द्वयोः ग्रामयोः

परस्परं सकलुषभावे बद्धवस्तरुणाः परस्परं लोष्टैर्युध्यन्तं, ततो
यष्टिभिर्वा लोष्टादिभिर्वा परस्परं भग्नमे कव्वहे यावन्नोपशमौ
भवति सेनाधिपादिव्युद्ग्रहस्य तावदस्वाध्यायः । अत्र कार-
णमाह-(गुग्गहउड्डाह अविद्यत्तं) गुह्यकाः कौतुकेन प्रेक्षमाणा-
भ्रूल्लेख्ये; तथा बद्धजना 'निर्दुःखा एते' इति मन्यमानोऽप्रीत्या-
ड्डाहं कुर्यात्-'लोकापचारबाह्या एते' इति । तथा-दण्डिकं कात्र-
गते (अणरायणं) यावदन्यो राजा नाभिषिक्तो भवति तावत्प्र-
जानां महान् संक्रोभो भवति, तस्मिन्संक्रोभे सति स्वाध्यायो न
कल्पते । किमुक्तं भवति? यावत्संक्रोभस्तावत्स्वाध्यायः । अत्रापि
पूर्वोक्ता दोषाः । सभयं म्लेच्छादिभयाकुलं, तस्मिन्नपि स्वाध्यायो
न कर्तव्यः । एतेषु व्युद्ग्रहादिष्वस्वाध्यायविधिमाह-(जचि-
रमनिदोच्चहोरात्तं) व्युद्ग्रहादिषु यच्चिरं यावन्तं कात्रम्, (अनिदोच्चं
नि) अनिर्णयमस्वस्थमित्यर्थः । तावन्तं कात्रमस्वाध्यायः । स्वस्थभ-
वनानन्तरमप्येकमहोरात्रं परिहृत्य स्वाध्यायः कर्तव्यः ।

उक्तं च-

" निहोसीभूने वि अ-होरात्तमो परिहरित्ता उ ।

सउम्माओ कीरइ इह, संखोभे दंडिए य कालगए " ॥

अनेनैतदपि सूचितमस्ति ततस्तदभिधित्सुः " संखोभे
दंडिए" इत्येतदपि व्याख्यानयति-

दंमिण् कालगयम्मी, जा संखोभो न कीरते ताव ।

तद्विषय भोडमहतर-वारुगपतिसेजयरमादी ॥

दण्डिके कालगते सति यावत्संक्रोभस्तावत्स्वाध्यायो न क्रियते,
अन्यस्मिन्सु सुराक्षि स्थापितेऽहोरात्रातिक्रमेण क्रियते, स्वस्थ-
भवनात् । तथा-जोजिके ग्रामस्वामिनि, महत्तरिके ग्रामप्रधाने, वा-
टकपतौ वसत्यनुरते वाटकैकस्वामिनि, तथा-शय्यातरे, आदि-
शब्दादन्यस्मिन्वा शय्यातरे संबन्धिनि मातुपे कालगते, तद्विष-
यमस्वाध्यायः, एकमहोरात्रं यावत्स्वाध्यायपरिहार इत्यर्थः ।

तथा--

पगएँ बहुपक्खिए वा, सत्तघरंतर मते च तद्विषयं ।

निदुक्ख ति य गरिहं, न पठंति सणीयगं वा वि ॥

अन्योऽपि यो नाम ग्रामे प्रकृतोऽधिकृतो महामनुष्यः, तस्मिन्;
यदि वा-बहुपात्रिके बहुस्वजने कालगते, अन्यस्मिन्वा प्राकृते
स्ववसत्यपत्नया समगृहाज्यन्तरे कालगते तद्विषयमेकमहोरा-
त्रमस्वाध्यायः । किं कारणमत आह-'निर्दुःखा अमी' इत्यप्रीत्या
गर्हणसंभवात्, ततो न पठन्ति । अथवा-तथा पठन्ति यथा न
कोऽपि शृणोतीति । महिवासदितशब्दोऽपि यावत् श्रूयते ता-
वन्न पठन्ति ॥

हत्यसयमणाहम्मी, जइ सारियमादितो विगिचिज्जा ।

तो सुच्छं अविचिन्ते, अन्नं वमहिं वि मगंति ॥

कोऽप्यनाथो हस्तशताभ्यन्तरे मृतः, तस्मिन्ननाथे हस्तशताभ्य-
न्तरे कालगते स्वाध्यायो न क्रियते । तत्रेत्यं यतना-शय्यातरस्य
वा, तथाविधस्य आचकस्य वा भद्रकस्य वार्त्ता कथ्यते-यथा
स्वाध्यायान्नरायमस्माकमनाथमृतकेन कृतमस्ति, ततः सुन्दरं
भवति यदीदं उच्यते । एवमभ्यर्थितो यदि शय्यातरादिविगिञ्च-
येत् परिष्ठापयेत्, ततः शुद्धं भवतीति स्वाध्यायः कार्यः । अथ च
शय्यातरादिर्न कोऽपि परिष्ठापयितुमिच्छति तदा तस्मिन्ननाथे
मृतके अविचिके अपरिष्ठापिते अन्यां वसतिं मागयन्ति ।

अमृवसहीएँ असनी, ताहे रत्ति वसभा विवेचंति ।

विकिन्ने व समंता, जं दिष्ट अगढए मुच्छा ॥

अन्यस्या वसनेरभावो यदि, ततो रात्रौ सागरिकासंश्लोके वृष-
जास्तदनाथमृतकं विविचन्ति, अन्यत्र प्रक्षिपन्ति । अथ तत्कल-
वरं च शृगात्रादिभिः समन्ततो विकीर्णं, ततो विकीर्णं तस्मिन्स-
मन्ततो निभालयन्ति, तत्र यद् दृष्टं तत्सर्वमपि विविचन्ति । इतर-
स्मिन्स्तु प्रयत्ने कृतेऽप्यदृष्टे 'अराठा' इति कृत्वा शुद्धाः स्वाध्यायं
कुर्वन्तोऽपि न प्रायश्चित्तभागिन इति भावः । गते व्युद्धहजम् ।

इदानीं शारीरिकमाह-

शारीरं पि य छुविहं, माणुसतेरिच्छियं समासेण ।

तेरिच्छं तत्थ तिहा, जलयलखहजं पुणो चउहा ॥

शरीरे जवं शारीरं, तदपि समाप्तेन संक्षेपतो द्विविधं द्विप्रका-
रम् । तद्यथा-मानुषं तेरश्च च । तत्र तेरश्च त्रिधा-जलजं जलम-
त्स्यादिनिर्यग्नवम्, एवं गवादीनां स्थलजं, खजं मयूरादी-
नाम् । पुनरेकैकं चतुर्धा-चतुःप्रकाराः ।

तानेव प्रकारानाह--

चम्म रुहिरं च मंसं, अट्ठि पि य होइ चउविगपं तु ।

अहवा द्वाइयं, चउव्विहं होइ नायव्वं ॥

चर्म शोणितं रुधिरं मांसमस्थ इत्येतानि प्रतीतानि । एवमे-
कैकं जलजादि चतुर्विकल्पं जवति । अथवा-जलजादिकं प्रत्ये-
कं चर्मादिजेदतश्चतुर्विकल्पं सत्पुनर्द्वयादिकं द्वायादिजेदत-
श्चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यम् ।

तानेव प्रत्येकं द्वायादीन् चतुरो भेदानाह-

पंचिदियाण दव्वे, खित्ते सउहत्थ पोग्गलाकिसे ।

तिकुरत्थंतेरिए वा, नगरे दाहिं तु गामस्स ॥

द्वये-द्वयतः पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां चतुष्टयमस्वाध्या-
यिकं, न विकलेन्द्रियाणाम् । क्षेत्रे-क्षेत्रतः पट्टिहस्ताभ्यन्तरे परिह-
रणीयं, न परतः । अथ तत्स्थानं तैरश्चेन पौल्लेन मांसेन समन्ततः
काककुर्कुराऽऽदिजिज्यास्त्रित्तेनाऽऽकीर्णं व्याप्तं, तदा यदि संग्रा-
मस्तर्हि तस्मिन् तिसृजिः कुरथ्याभिरन्तरिते विकीर्णं पुद्गले
स्वाध्यायः क्रियते । अथवा-नगरे, तदा तत्र यस्यां राजा सबल-
वाहनो गच्छति, देवयानं, रथो वा, विविधानि वा संवाहनानि ग-
च्छन्ति, तथा महत्याऽप्येकया रथया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः ।
अथ स ग्रामः समस्तोऽपि विकीर्णं पौद्गलेनाकीर्णं विद्यते, न
तिसृजिः कुरथ्याभिरन्तरितं तत् पौद्गलमवाप्यते, तदा ग्रामस्य
बहिः स्वाध्यायो विधेयः । गता क्षेत्रतो मार्गणा ।

संप्रति काव्रतो भावतश्च तामाह--

काञ्छे तिपोरिसि अट्ठ व, जावे सुत्तं तु नेदिमादीयं ।

बहिधोयरूपके, वूढे वा होति सुद्धं तु ॥

तत एकैकं जलजादि गतं चर्मादि कालतस्तिष्ठः पौरुषीहन्ति ।
(अट्ठ वेति) यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य मूषिकादेराहननं तत्रा-
ष्टौ पौरुषीर्यावदस्वाध्यायविधायः । गता काव्रतोऽपि मार्गणा ।
भावत आह-भावतो नन्यादिकं सुत्रं न पठति (वदिधोएत्यादि)
यदि पट्टिहस्तेभ्यः परतो बहिः प्रकाल्य मांसमानीतं, यदि वा
राक्षा स्वात्री पाकेन, तदा तस्मिन् बहिर्घाते बहिर्वादे बहिः पके
या तत्रानीते शुद्धम्, अस्वाध्यायिकं न भवतीति भावः । अथवा-

यत्र पट्टिहस्ताभ्यन्तरे पतितमस्वाध्यायिकं रुधिरं, तेनावकाशेन
पानीयप्रवाह आगतः, तेन व्यूढं, तदा पौरुषीत्रयमध्येऽपि
शुद्धमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ।

अंतो पुण सट्ठीणं, धोयम्मी अवयवा तहिं होंति ।

तो तिप्पि पोरिमीओ, परिहरियवा तहिं हुंति ॥

यदि पुनः पट्टिहस्तानामभ्यन्तरे मांसं प्रकाशयति तदा तस्मिन्
धौते यतस्तत्र नियमादवयवाः पतिता भवन्ति, ततस्तिष्ठः पौरु-
ष्यः स्वाध्यायमधिकृत्य तत्र परिहर्तव्या भवन्ति ।

'अठ वा' इति यदुक्तं तदिदानीं भावयति-

महाकाये ऽहोरत्तं, मंजारादीण मूसगादि हते ।

अविभिसे गिसे वा, पठंति एगे जइ पञ्जाति ॥

महाकाये मूषिकादौ मार्जारादिना हते मारिते अहोरात्रमष्टौ
पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः । अथैव मतान्तरमाह-(अविजिसे इ-
त्यादि) एके प्राहुः-यदि मार्जारादिना मूषिकादिस्त्वविभिन्न एव
सन् मारितो मारयित्वा च गृहीत्वा, अथवा गिलित्वा ततः स्था-
मात्पञ्चायते, तदा पठन्ति साधवः सुत्रं, न काश्चिदोषः । अन्ये ने-
च्छन्ति-यतः कस्ते जानाति अविजिज्ञो भिज्ञो वा मारित इति ।
अपरे एवमाहुः-यत्र मार्जारादिः स्वयं मृतोऽन्येन वा केनाप्यवि-
भिन्न एव सन् मारितस्तत्र यावत्कञ्चैवरं न भिद्यते तावन्मा-
स्वाध्यायिकम्, विभिन्ने अस्वाध्यायिकमिति । तदेतदसमीचीन-
म् । यतश्च कर्मादिभेदतश्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं, तस्मादविभि-
न्नाऽप्यस्वाध्यायिकम्-तस्मादविजिज्ञेऽप्यस्वाध्याय एव ।

अंतो वहिं च भिन्ने, अंरुयविंदू तहा वियाताए ।

रायपहवूढसुद्धे, परवयणे माणमादीणि ॥

अन्तरुपाश्रयमध्ये, यदि वोपाश्रयाद् बहिः पट्टिहस्ताभ्यन्तरे
अण्डके पतिते यदि तदण्डकमभिन्नमद्याप्यस्ति, तदा तस्मिन्नु-
ज्झिते स्वाध्यायः कल्पते । अथवा-पतितं सत् तदण्डकं जि-
ज्ञ-तस्य वाऽण्डकस्य कललविन्दुभूमौ पतितः, तदा जिज्ञे अ-
ण्डके, विन्दौ च भूमौ पतिते न कल्पते स्वाध्यायः । अथ कललं
पतितं सदण्डकं जिज्ञं कललविन्दुर्वा तत्र लग्नः, तदा तस्मि-
न् पट्टिहस्तेभ्यः परतो बहिर्नीत्वा धौते कल्पते । तथा-विजाता-
यां प्रसूनायां तैरश्चामस्वाध्यायः पौरुषीत्रितयं यावत् । तथा-
ये राजपथे अस्वाध्यायिकविन्द्वो गज्जितास्ते न गण्यन्ते । तथा-
ऽन्यत्र प्रतिपतित एवास्वाध्यायिकम्, ततो वर्षोदकप्रवादेण त-
स्मिन् व्यूढं कल्पते । अत्र श्वादिकमाश्रित्य परस्य वचनं, तदग्रे
भावयिष्यते । इति गाथासंज्ञेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीपुरिदमाह-

अंदयमुज्जियकप्पे, न य च्चामि खणंति इहरहा तिप्पि ।

असज्जाइयपरिमाणं, माच्छियपाया जहिं छुप्पे ॥

यद्यण्डकमभिन्नमेव पतितं, तदा तस्मिन्नुज्झिते स्वाध्या-
यः कल्पते, अथ जिज्ञं तदा न कल्पते । न च भूमिं खन-
न्ति, इतरथा भूमिखननेन यदि तदस्वाध्यायिकमपनयन्ति त-
थाऽपि तिष्ठः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः । अण्डकविन्दुरस्वाध्या-
यिकस्य प्रमाणं, यत्र मक्त्रिकापादा निमज्जन्ति । किमुक्तं भव-
ति?-यावन्मात्रे मक्त्रिकापादा मुमन्ति तावन्मात्रेऽप्यण्डकवि-
न्दौ भूमौ पतति सति अस्वाध्यायः ।

अधुना 'वियाताए' इति व्याख्यातार्थमाह-

अनगड तिष्ठि पोरिमि, जगडयाणं जरे पणिण्णि तिष्ठि ।
निज्जंतुवस्सपुग्गता, गलियज्जति निगलं होज्जा ॥

अजगयुप्रसूतास्त्रिभूतः पौरुषीः स्वाध्यायं हन्ति अहोरात्र-
च्छेदं मुक्त्वा, अहोरात्रे तु त्रिभूते आसन्नायामपि प्रसूतायां
कल्पते स्वाध्यायः, जगयुजानां यावज्जगयुर्भवते तावदस्वा-
ध्यायः, जगयौ पतितेऽपि सति तदनन्तरं तिस्रः पौरुषीर्याव-
दस्वाध्यायः तथा उपश्रयस्य पुग्गता नायमाने तदस्वाध्यायिकं
गतिर्न भवति, तदा पौरुषीत्रयवदस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गतं
भवेत्तदा तस्मिन्नेति स्वाध्यायः ।

"रात्रपह वूढे" इति व्याख्यातार्थमाह-

रात्रपहं न गणिज्जति, अह पुण अमन्य पोरिमी तिष्ठि ।
अह पुण वूढं हुम्मा, वामोदेणं ततो मुच्छं ॥

रात्रपथे यद्यस्वाध्यायिकविन्द्वो गलितास्तदा तदस्वाध्यायि-
कं न गणयते किं कारणमिति चेत्, उच्यते-यतस्ततः स्वयो-
ग्यत आगच्छतां गच्छतां च मनुष्यतिरश्चां पदनिपातैर्योऽपि त्रिभूतं
भवति । जिताश्चात्र प्रमाणमता न दोषः । अतः पुनस्तदस्वा-
ध्यायिकं तैरश्च रात्रपथादन्यत्र पृष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतति तदा
तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः । अथ तदपि वर्षादकेन व्यूढं भ-
वेत्, उपलक्षणमेतत्-प्रदीपनकेन च दग्धं, तदा शुक्लं तत्स्थान-
मिति कल्पते स्वाध्यायः ।

संप्रति "परवयणे माणमादीण" इति व्याख्यानयति-

चोदंति समुदिमिउं, मा जो जड पोगलं तु पज्जाहि ।
उदरगतेणं चिट्ठं, जा ताव उ हो असञ्जाओ ॥

अत्र परश्चोदयति-श्वा यदि पौष्टलं तैरश्च मांसं बहिः समुदि-
श्य (निगल्य) तत्रागच्छन्, तर्हि यावत्तत्र तिष्ठति तावत्स-
नोदरगतेन पौष्टलेन अस्वाध्यायः कस्माच्च भवति ? ।

सूरिगह-

भक्षति जड ने एवं, मञ्जाओ एव तो उ नत्थि तुहं ।

अमञ्जाडयस्म जेणं, पुणोसि तुमं मयाकालं ॥

जणयन्-अत्रोत्तरं दीयन्-वदि ते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सति,
ततस्तत्र स्वाध्यायः कदाचनपि नास्त्येव एवकारे निष्क्रमः,
स च यथास्थानं योजितः । कस्माच्च स्वाध्यायः कदाचनानीति ?,
अत आह-येन कारणेन सदाकालं सर्वेकात्रं त्वमस्वाध्यायि-
कस्य पूर्णः, शरीरस्य रुधिरादिचतुष्टयात्मकत्वात् ।

जड कुमती तर्हि तुमं, जड वा लेदाग्निण मंचिद्धे ।

इदं न होति चोयग, वनेनें परिणयं जम्हा ॥

यदि इवा खरणदेन मुखेन तत्रागम्याऽऽसीयेतुण्डं क्वापि स्पृ-
शति । यदि वा सर्पाण्येतेनैव मुखेन संतिष्ठन्, तदा भवत्यस्वा-
ध्यायः, इतरथा यदि पुनर्वहिर्येव मुखे लोद्धा समागच्छति तदा
न भवति । तथा-यद्यप्यगम्या वसति, तथापि चोदक ! ता-
स्वाध्यायिकम्, यस्मात्तद् वान्ते परिणतम् । एवं मार्जारादिकम-
प्याधिकृत्य भावनीयम् । गतं तैरश्चम् ।

अधुना मानुषमाह-

माणुमनगं चड्ढा, अट्ठि मुत्तण मयमहोरत्तं ।

परियावणविवणा, मेमे तिग सत्त वड्ढे वा ॥

मानुष्यकं मानुषमस्वाध्यायिकं ननुर्हति । तद् यथा-चर्म, रुधिरं,
मांसमस्थि च । एतेष्वस्थि मुक्त्वा शेषेषु सन्सु केवतो हस्तशता-
भ्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः । कालतोऽहोरात्रम् । (परियावण-
विवणत्ति) मानुषं तैरश्च वा यद् रुधिरं तद् यदि पर्यापन्नं तेन
स्वभाववर्णाद्विवर्णीयते भवति खादिरमारसमाससारादिक-
त्वं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति क्रियते, तस्मिन् पतितेऽपि स्वा-
ध्यायः । (मेमे तिग) पर्यापन्नं विवर्णं मुक्त्वा शेषे स्वाध्यायिकं
जयति । (तिग तिग) यत् अविगताया मांसे मांसे आर्तवमस्वा-
ध्यायिकमागच्छति तत्स्वभावतस्त्रीणि दिनानि यावदस्वा-
ध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चित् गलति, परं
तदार्तवं न भवति, किं तु तन्महाराक्तं नियमात्पर्यापन्नं विवर्णं
भवतीति नास्वाध्यायिकं गणयते । तथा-यदि प्रसूताया दारका
जातस्तदा सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अप्रमे च दिवसे स्वा-
ध्यायः कर्तव्यः । अथ दारिका जाता तर्हि सा रक्तोत्कटेति,
तस्यां जानायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वा-
ध्यायः कल्पते ।

एतमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह-

रत्तुकरुण इत्थी, अट्ठ दिणा तेण सत्त मुक्कड्ढिण्णि ।

तिण्ह दिणाण परेणं, अणाउयंतं महारत्तं ॥

निषेककाले यदि रक्तोत्कटता, तदा स्त्री इति, तस्यां जातायां
दिनान्यष्टावस्वाध्यायः । दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते
सप्त दिनान्यस्वाध्यायः । तथा-स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्त-
न्महाराक्तमनार्तवं जयति, ततो न गणनीयम् ।

दंते दिट्ठे विगिचण, सेमऽट्ठिग वारसे न वामाडं ।

जामिन वूढे सीया-ण पाणमादीण रुद्धरे ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां दन्तः पतितो भवति तत्र नि-
भालनीयं, यदि दृश्यते तदा परिग्राह्यः । अथ सस्यस्मृगयमाणैरपि
न दृष्टस्तदा शुद्धमिति कल्पते स्वाध्यायः । अन्ये तु ध्रुवते-तस्य
अवहेरुतार्थं कायोत्सर्गः करणीयः । दन्तं मुक्त्वा शेषाङ्गोपाङ्ग-
दिसंबन्धिन्यस्थितिं हस्तशताभ्यन्तरे पतिते द्वादश वर्षाणि न
कल्पते स्वाध्यायः । अथ तत्स्थानमग्निकायेन ध्यामितं, पानीयेन
वा व्यूढं, तदा शुद्धमिति, ध्यामिते व्यूढे वा स्वाध्यायः कल्पते ।
तथा-(सीयाण तिग) इमशाने यानि कलेचराणि दग्धानि तान्य-
स्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाथकलेचराणि न
दग्धानि, निस्त्रानाकृतानि वा तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्यायं
ध्नन्ति । यद्यपि च नाम इमशानं वर्षादकेन प्रव्यूढं, तथापि तत्र
न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिवदुल्लत्वात् । (पाणमादीण तिग)
पाणनामाऽऽनस्येण नाम यत्तो हिरिमिक्षापरनामा देवते, तस्या-
ऽऽयतनस्याधस्ताद् मानुषान्यस्थीति निक्षिप्यन्ते-ततस्तत्र;
तथा-मानुषेह चामुण्डायतने, रुद्रगृहे वाऽधस्ताद् मानुषं क-
पाक्षे निक्षिप्यते । ततस्तथोरपि द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह-

सीयाणे जं दूढं, न तं तु मुत्तणऽणाहनिहयाडं ।

आडंवर रुदमादी-वरेसु द्वेष्टऽट्ठिया वारा ॥

इमशाने यत् दग्धमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न जयति । तन्मु-
क्त्वा, शेषाणि यानि न दग्धानि, निस्त्रानानि वा, तानि द्वादश व-
र्षाणि स्वाध्यायं ध्नन्ति । तथा-आडंवरं आरुम्वरयज्ञायतने, रुद्रे

रुद्रायतने मानृष्टेपु आडम्भरादीनामधस्तादस्थानि सन्ति,
तेन कारणेन तत्र द्वादश वर्षाण्यऽस्वाध्यायः ।

असिवायवायणेभुं, वारव अवमोहियम्मि न करेति ।

जामिय वूठे कीरइ, आवाभियसांहिए चेव ॥

यत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशिवेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशितः, यदि वा-अथमौदर्येण प्रच्युतो जनो मृता, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु ज्ञेयान् जनो मारयित्वा निजितो वर्तते । एतेष्वशिवामौदर्यायतनस्थानेषु पूर्वं विशोधने क्रियते, विशोधने च क्रियमाणे यद् दृष्टं तत्प्रमित्युच्यते । अदृष्टविषये च देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठन्ति । अथ न क्रियते विशोधने, ततस्तस्मिन्निशोधने द्वादश वर्षाणि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । अथ तत् अशिवदिस्थानमग्निस्त्रायेन ध्यामिन्, वर्षोदकेन वा ह्लादिनं, तदा क्रियते तत्र स्वाध्यायः (आवासियसो-हिए चेव त्ति) इत्येतां यदि ज्ञेयजनैर्गवासितं ततस्तस्मिन्निशोधने शोधने क्रियते, यद् दृश्यते तत् विविच्यते । एवं शोधिते तस्मिन् अदृष्टाशुभदाताय देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

रुहरगामयस्मी, न करेती जा न नीगियं होति ।

पुरगामे च महेते, वारुअसाहिं परिहरंति ॥

इदं कुरुते ग्रामे कोऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न क्रियते यावत् कर्त्तव्यं न निष्काशितं भवति । पुरे पत्तने महति वा ग्रामे वाटके साही वा यदि मृतो जवति तदा तं वाटकं साहिं वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति ? तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्तद्वाटकात् साहीतो वा निष्काशितं जवति, वाटकात् साहीतोऽन्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

नड य उवस्सयपुरतो, नीइज्जइ तं महद्धयं ताहे ।

हृत्यसयंतो जावउ, तावउ न करेति सज्जायं ॥

यदि तत् कर्त्तव्यं मृतकं नीयमानं संयतानामुपाश्रयस्य पुरतो इस्तशताभ्यन्तरेण नीयते, ततो यावत् इस्तशतान्तो इस्तशतं व्यतिष्ठत्यते, तावत् कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, इस्तशतं व्युत्क्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

कोवी तत्थ भणेजा, पुष्पादी जाव तत्थ परिमाही ।

जा दीयंती तावउ, न कारणे तत्थ सज्जाओ ॥

कोऽपि तत्र द्रव्यात्-या तत्र मृतके नीयमाने पुष्पादीनाम्, आदिशब्दाद् जीर्णजीवरूपमादीनामुपाश्रयस्य पुरतो इस्तशताभ्यन्तरे परिशाटिः, सा यावत् दृश्यते तावत्तत्र न क्रियते स्वाध्यायः ।

अत्र सूरिराह-

भणइ न य तं तु तहिं, निज्जंतो मोत्तु हो असज्जायं ।

जम्हा चउप्पयारं, सारीरमतो न वज्जंति ॥

जयते-अत्रोत्तरं दीयते-तत्र नीयमानं मृतकं मुक्त्वा अन्यत् कनकपुष्पादिकं पतितमस्वाध्यायिकं न भवति, यस्मात् शरीरमस्वाध्यायिकं चतुःप्रकारं रुधिरादिभेदतश्चतुर्विधम् । पुष्पादिकं च तद्व्यतिरिक्तम्, अतो न स्वाध्यायिकतया तत्र वर्जयन्ति । आत्मसमुत्थं त्वेतेनसुखे व्याख्यास्यते । ६०७ उ० । 'ईदं' दिनेऽस्वाध्यायः यथा-महाहिंसावस्तेनाऽऽश्विनचैत्रदिनानि सिद्धान्तवाचना-

दिषु अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्धन 'ईदं' दिनमपि, तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ? केचिच्च मतिनस्तद्दिने त्यजन्ति, आत्मनां काम्यादाः, इति प्रश्ने, उत्तरम्-'ईदं' दिनास्वाध्यायविषये वृद्धाऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ६१० ३ प्रका० ११ प्र० ।

जे भिक्खू असज्जाए सज्जायं करइ, करंतं वा साइ-ज्जइ ॥ १९ ॥

जम्मि जम्मि कारणे सज्जाओ ण कीरन्ति तं सत्थं असज्जायंते च बहुविहं वक्खमाणं; तत्थ जे करइ, तस्स चउलहुं, आणामंगो, अणवत्था, निच्छुत्तं, भायसंजमविरादणा य । नि० च० १६ उ० । (स्वाध्याये एव स्वाध्यायः कर्त्तव्य इति 'सज्जाय' शब्दे चतुर्थभागे वदयते)

णो कप्पइ णिमंथाणं वा णिमंथीणं वा अप्पणो असज्जाए सज्जायं करित्तए, कप्पन्ति णं अप्पमण्णन वा-यणं दित्तिइत्तए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वाऽमनः समुत्थेऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्त्तुं, किन्तु कल्पते परस्परस्य वाचनानां दापयितुमन्यत्र । यदि वा प्रज्ञाज्ञानान्तरं शाब्दबन्धे प्रवृत्ते सति तत्रापि स्वयमपि वाचनां दातुं कल्पते इति वाक्यशेषः ।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्थमसज्जा-इयं तु एगविह होइ दुविहं वा ।

एगविहं समणाणं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

आत्मनः शरीरात्समुत्थं संजुतमात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमेकविधमाजवति, द्विविधं वा । तत्र यत् एकविधम्-अर्शो भगवद्गद्विविधम्, तत् भ्रमणानां भवति । भ्रमणीनां पुनर्भवति द्विविधम्-अर्शो जगन्द्रादिसमुत्थम्, अतुल्यं च ।

तत्र यतनामाह--

धोयम्मि य निप्पगले, बंधा तिष्ठेत्त होति उक्कोसा ।

परिगलमाणे जयणा, दुविहस्मी होइ कायव्वा ॥

व्रणादौ निग्रहे धौते उपरि सारप्रक्षेपपुरस्सरं त्रयो बंधा उत्कर्षतो भवन्ति । तथाऽपि परिगलति द्विविधे व्रणाद्वावासेव च बतना वदयमाणा कसंबा ।

एतदेव सप्रपञ्चं प्रावयति-

समणो उ वाणे व जगं-दरे व बंधेओ व वाएति ।

तह गालंते ठारं, छोटुं दो तिणिण बंधाओ ॥

भ्रमणो वणे वा, जगन्दरे वा परिगलति हस्तशताद् बहिर्गत्वा निप्रगलं प्रकाश्य जीवरं क्लृप्त्वा उपरि अन्यत् जीवरं कृत्वा व्रणं जगन्दरे वा बध्नाति, तत एषमेकं बन्धं कृत्वा शनयति । यदि तथापि परिगलत्यऽस्वाध्यायिकं, तत उपरि क्लृप्तं निक्लिप्तं द्वितीयं बन्धं ददाति, ततो वाचयति । तथाऽप्यतिष्ठति तृतीयमपि बन्धप्रत्यवतारं कृत्वा वाचयति ।

जाहे तिणिण विजिजा, ताहे हृत्यसयथाहिरा धोउं ।

बंधिउ पुणो त्रि वाए, गंतुं अण्णत्थ व पंथंति ॥

यदा त्रयोऽपि बन्धास्तेनाऽस्वाध्यायिकेन विजिजा भवन्ति, तदा हस्तशताद् बहिर्गत्वा निप्रगलं प्रकाश्य, पुनः क्लृप्तं निक्लिप्तं-

परि नीवरेण बध्वा पुनरपि वाचयति, अन्यत्र वा गन्तुं पठन्ति ।

एमेव य समणीणं, वणम्मि इयरम्मि सत्तं बंधा उ ।

तद् वि य अट्टयमाणे, धोऊणं अट्टव अन्नत्थ ॥

एवमेव श्रमणीनामपि वणविषये यतना कर्त्तव्या भवति । इतरस्मिन्नास्त्येव सप्त बंधाः पूर्वप्रकारेण प्रवृत्तिः । तथापि वणो इतरस्मिन् वाऽतिष्ठति हस्तशतानां बन्धिः प्रकृत्य तथैव बन्धान् दत्त्वा वाचयति, अन्यत्र वा गत्वा पठन्ति ।

एतेसामन्नयरे, अमजाए अप्पणो उ सज्जायं ।

जो कुणइ अजयणाए, सो पावइ आणमादीणि ॥

एतेषामनन्तरदिनानामन्यतरस्मिन्नात्मनोऽस्वाध्यायिके सति यः स्वाध्यायं करोति, तत्राप्यथनया, स प्राप्नोत्याह्लादीनि तीर्थ-कराह्लादीनि दूषणानि, आदिशब्दादनवस्थादिपरिग्रहः ।

न केवलमिमे दोषाः किं त्विमे-

सुयनाणम्मि अजत्ती, लोगविरुद्धं पमत्तल्लणा य ।

विज्जा साहणवेगु-एधम्मया एव मा कुणमु ॥

अस्वाध्यायिके पठने श्रुतज्ञानस्याऽभक्तिविराधना कृता जवति, तद्विराधनायां दर्शनविराधना, चारित्रविराधना च, तद्विषये मोक्षाभावः । तथा-त्रोक्तविरुद्धमिदं यदात्मनोऽस्वाध्यायिके पठनम् । तथा हि-लौकिका अपि व्रणे आर्तवे च परिगलति परिवेषणं देवताचर्चनादिकं वा न कुर्वन्ति । तथा-प्रमत्तीभूतस्य प्रान्तदेवतया लुलना स्यात् । तथा-यथा विद्या उपचारमन्तरेण साध्यसाधनवैगुण्यधर्मतया न सिध्यति, तथा श्रुतज्ञानमपि । तस्माद् मैत्रं कार्यः ।

अत्र परावकाशमाह-

चोयइ जइ एवं सो-णियमादीहि होइ सज्जाओ ।

तो जरितो च्चिय देहो, एएभिं किणहु कायव्वं ? ॥

परश्चोदयति-यद्येवमुक्तप्रकारेणास्वाध्यायो जवति । तत एतेषां शोणितादीनां देहो भूत इति तत्र कथं स्वाध्यायः ? ।

अत्र सूरिराह-

कामं भरितो तेसिं, दंतादी अवजुया तद् वि वज्जा ।

अणवजुया उ अवज्जा, लोए तद् उत्तरे चेव ॥

कामं मन्यामहे एतत्-तेषां शोणितादीनां भूतो देहः, तथापि ये दन्तादयोऽवजुताः पृथग्गताः, ते वर्ज्या वर्जनीयाः, ये त्वनवजुताः अपृथग्गता लोके उत्तरे च अवर्ज्या अपरिहर्त्तव्याः ।

एतदेव भावयति-

अन्तंतरमल्लिभो, कुणती देवाणमच्चणं लोए ।

वाट्ठिमल्लिचो उण, ण कुणइ अवणइ व ततो णं ॥

आभ्यन्तरमल्लिमोऽपि देवानामर्चनं लोके करोति; वाट्ठिमल्लि-लितः पुनर्न करोति । अपनयति वा मल्लं ततः शरीरात् । एवमत्रापि ज्ञाननीयम् ।

आउट्टियावगट्ठं, सन्नहिया न कव्वेइ जद्द पम्पिा ।

इय पग्लोए दंमो, पमत्तल्लणा इह मिया उ ॥

उपेत्य कृतमपराधं सन्निहितासन्निहितप्रातिहार्यप्रतिमा यथा न क्लम्यति, इति एवममुना प्रकारेण श्रुतज्ञानमपि कृतमपराधं न क्लमते । नत्र परलोकेषु गतिप्रपातो दूरः, इह लोके प्रान्तदेव-ताल्लना स्यात् ।

रागो दोमो मोहो, असज्जाए जो करेइ सज्जायं ।

आमायणा व का सा, को वा जणितो अणायारो ? ॥

रागात् दोषात् मोहाद्वा योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति त-स्य का कीदृशी फलत आशातना ?, को वा कीदृशः फलद्वारेण भणितोऽनाचारः ? ।

तत्र रागद्वेषमोहान् व्याख्यानयति-

गणिसद्माडमट्ठितो, रागे दोसम्मि न सहते सई ।

सव्वमसज्जायमयं, एमादी होइ मोहे उ ॥

गणी आचार्यः, आदिशब्दादुपाध्यायो गणाबच्छेदक इत्यादिपरि-ग्रहः । एवमादिभिः शब्दैर्महित उत्कर्षतां योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति, स रागे द्रष्टव्यः । यस्त्वन्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्दं वा न सहते-अहमपि पठित्वा गणी उपाध्यायो जविष्यामि इति वि-चिन्त्य यथादरपरोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं विदधाति, स द्वेषेऽ-वसातव्यः । यस्तु सर्वमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्या-स्वाध्यायं करोति, एष भवति मोह इति ।

सम्प्रत्याचार्यः फलद्वारेणाऽऽशातनामाह-

उम्मायं व ज्जेज्जा, रोगायकं व पाउणे दीहं ।

तित्थयरभासिआओ, भस्मइ सो संजमाओ वा ॥

इहसोए फलमेयं, परलोके फलं न देति विज्जाओ ।

आमायणा सुयस्स य, कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥

उन्मादं वा लजेत, रोगाऽऽनङ्गं वा दीर्घं प्राप्नुयात्, तीर्थकरभा-यिनाद्वा संयमाद् भ्रष्टयति, इहलोके विद्या अङ्गश्रुतस्कन्धादिब-ल्लणाः फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं न ददति न प्रय-च्छन्ति । न केवलं फलदानाज्जावः, किं तु श्रुतस्याऽऽशातना दीर्घं संसारं करोति । तदेवं फलत आशातनाऽभिहिता ।

साम्प्रतमनाचारं फलत आह-

नाणायार विराहिँ, दंसणयारो वि तद् चरित्तं च ।

चरणविराहणयाए, मुखवाभावो मुण्येव्वो ॥

अस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वता ज्ञानाचारो विराधितः, तद्विराध-नायां दर्शनाचारधारित्रं च विराधितम् । चरणविराधनतायां मोक्षाभावः ।

अत्रैवापवादमाह-

वित्तियागादे सागा-रियादि काळगय असति वुच्छेए ।

एएहिं कारणोहिँ, जयणाए कप्पण काउं ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । व्य० ७ उ० । ध० ।

जे जिकवु अप्पणो अस्सज्जाए सज्जायं करेइ, करंतं वा माइज्जइ ॥ १६ ॥

अप्पणो सरीरे समुत्थे असज्जाए त्ति सज्जाओ अप्पणो ण कायव्वो । परस्स पुण ण वायणा दायव्वा महंतसु गच्छेसु ।

अव्वाउल्लाण णिव्वो-ठयाण व होज्जं ति सज्जाओ ।

अरिसाभगंदज्जामुं, इति वायणमुत्तसंबंधो ॥ १३६ ॥

अस्वाध्यायस्य समशीलं यं शिवोदयसंज्ञयो नाम सज्जाओ
ण भविस्सति, तेण वायणसुत्ते विदी भसति ॥ नि० चू० १४
उ० । अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलोचना तपसि एति,
न वा ? इति पण्डितरविशागरगणिकृतप्रश्नस्य हीरविजयसुरि-
कृतमुत्तरम्—अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलो-
चना तपसि नाथति । ही० २ प्रका० । चैत्राश्विनमासचतु-
र्मासकद्विकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दशीयामद्वयाजनन्तरं
यद्वगति तद्यामद्वयं तिथिभोगायेक्या, किं वा औदयिकापे-
क्षयेति प्रश्ने, चैत्राश्विनमासयोः पञ्चमीतिथेरर्द्धादस्वाध्याया
लगति, न तु सूर्योदयात्; एवं चतुर्मासकस्याऽस्वाध्यायोऽपि
चतुर्दशीतिथेरर्द्धाल्लगतोति वृद्धसंप्रदाय इति (१५६) । तथा-
तिरश्चोऽस्थि सरसं भवति, तस्यास्वाध्यायिकं कियतः प्रद-
रान् यावद्भवतीति प्रश्ने, तिथ्यगस्थि त्रिप्रदराणामुपरि याव-
त्सरसं तावदऽस्वाध्यायिकं जवतीति ज्ञायते (२१३) । तथा-
ऽऽश्विनमासाऽस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तगाथापञ्चकं पठन्ति,
तस्य तत्पठनं कल्पते नवेति प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्त-
संबन्धेकगाथापाठोऽपि न शुद्ध्यतीति (२३९) । तथा-सूर्यग्रह-
णं यद्भवति तदस्वाध्यायिकं कुत आरभ्य कियद्यावद्भवति ?
तथा-यौगिकानां कियन्ति प्रवेदनानि न शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने, यत्सूर्य-
ग्रहणं भवति तत आरभ्याऽहोरात्रं यावदस्वाध्यायिकं, तदनु-
सारेणैकं प्रवेदनमशुद्धं ज्ञायत इति (२१०) । (सेन० ३ उल्ला०)
तथाऽऽश्विनाऽस्वाध्यायिकदिनत्रयमुपदेशमालादिनं गणयते,
तथा चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके तद्वगणयते नवेति प्रश्ने, त-
दस्वाध्यायिके दिनत्रयमुपधानमध्ये, न तथा चतुर्मासकत्रये,
तस्माच्चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके उपदेशमालादि गणयते
(१४) । सेन० ४ उल्ला० ।

असज्जाइयणिज्जुत्ति-अस्वाध्यायिकनिर्युक्ति-स्त्री० । अस्वा-
ध्यायिकप्रतिपादकाऽऽवश्यकान्तर्गतप्रतिक्रमणाध्ययनमध्यगते
भद्रबाहुस्वामिकृते निर्युक्तिग्रन्थे, भाव० ।

“असम्भाइअनिज्जुत्तिं, बुद्धामी धीरपुरिसपन्नत्तं ।

जं नाऊण सुविहिआ, पवयणसारं उवलदंति” ॥ १ ॥

“असम्भाइअनिज्जुत्ती, कहिआ भे धीरपुरिसपन्नत्ता ।

संजमतवच्छाणं, निगंथाणं मदरिसीणं ॥ १० ॥

असम्भाइअनिज्जुत्तिं, जुत्तं जं ताव चरणकरणमाउत्ता ।

साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं” ॥ ११ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धम् । भाव० ४ अ० ।

असद-अशठ-पुं० । शठभावरहिते, ओघ० । रागद्वेषरहिते
कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थे, वृ० ३ उ० । अन्नान्ते, द्वा० २
द्वा० । अमायाविनि, जीत० । सरलात्मनि, जीत० । आ० म० ।
पराऽवज्ञे, ध० १ अधि० । ध० २० । अनुष्ठानं प्रति अनाल-
स्यवति, दर्श० । इन्द्रियविषयनिग्रहकारिणि, नि० चू० १० उ० ।
सप्तमगुणवत्साधौ, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्य-
विश्वसनीयो भवति । प्रव० २३१ द्वार ।

साम्प्रतमशठ इति सप्तमं स्पष्टयन्नाह-

असदो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य ।

उज्जमइ जावसारं, उचिओ धम्मस्स तोणो ॥ १४ ॥

शठो मायावी; तद्विपरीतोऽशठः परमन्यं न वञ्चति नाभि-
संधत्तेऽत एष विश्वसनीयः, प्रत्ययस्थानं जवति । इतरः पुनः पुनः
वञ्चयन्नपि न विश्वासकारणम् । यदुक्तम्—“मायाशीलः पुरुषो,

यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम् । सर्प इवाऽविश्वास्त्यो, जवति
तथाऽप्यात्मदोषदतः” ॥ १ ॥ तथा-प्रशंसनीयः श्लाघनीयश्च स्यात्,
अशठ इति प्रकमः । यदऽवाचि-“यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वा-
चस्तथा क्रियाः । धन्यास्ते त्रितये येषां, विमंवादो न विद्य-
ते” ॥ १ ॥ तथोद्यच्छति प्रवर्तते, धर्मानुष्ठाने इति शेषः । भावसा-
रं सद्भावसुन्दरं स्वचित्तरञ्जानुगतं, न पुनः पररञ्जनायेति; दु-
ष्प्रापं च स्वचित्तरञ्जनम् । तथाचोक्तम्—“भूयांसो जृगितो-
कस्य, चमत्कारकरा नराः । रज्जयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले
तेऽथ पञ्चपाः” ॥ १ ॥ तथा—“कृत्रिमैर्दम्बरैश्चित्रैः, शक्य-
स्तापयितुं परः । आत्मा तु वास्तवैरेव, हतकः परितुष्य-
ति” ॥ १ ॥ इति । उचितो योग्यो, धर्मस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूप-
स्य, तेन कारणेनैवोऽशठः; सार्थवाहपुत्रचक्रदेववत् ।

चक्रदेवचरितं त्वेवम्-

अथि विदेहे चंपा-ऽऽवासपुरं पउरपउरपरिकलियं ।

तत्थाऽऽसि सत्थवाहो, अइरुहो रुद्धेवुत्ति ॥ १ ॥

तस्स य जज्जा सोमा, सहावसोमा कयाइ गिहिधम्मं ।

सा पक्खिज्जइ गणिणी-ए बालचंदाए पासम्मि ॥ २ ॥

तं किंचि विसयविमुदं, दट्ठु पउछो भणइ से भत्ता ।

मुंच पिण् ! धम्ममिमं, भोगिं पि व जोगविग्घकरं ॥ ३ ॥

सा साइइ जोगेहि, रोगेहि व मह कयं, इमो आह ।

किं चइचं विट्ठमदि-छकप्पणं कुणसि तं मूढ ! ॥ ४ ॥

सा भणइ इमे विसया, पसुगणसादारणा वि पञ्चक्खा ।

आणिस्सरियाइफक्खो, विकिन्नधम्मो समक्खो ते ॥ ५ ॥

उत्तरदाणअसत्तो, विलक्खचित्तो अश्व स विरत्तो ।

आलवणाइविरत्तो, तीए समं वयइ सव्वत्तो ॥ ६ ॥

अन्नं मग्गइ कन्नं, सोमा अथि त्ति बहइ न य तोसो ।

तम्मरणहेउमहिं, उवइ गिदंतो घडे खिविउं ॥ ७ ॥

भणइ पिण् ! अमुगघडा-उ दाममाणेसु सा वि सरलमणा ।

जा खिवइ करं कुंभे, ता डक्का कसिणच्छुयणेण ॥ ८ ॥

डक्का अहं ति पइणो, सा साहइ सो वि गाढसट्ठयाए ।

गारुहिया गारुडिया, इच्छाइ करइ हलबोद्धं ॥ ९ ॥

सिग्घं से उल्लडियं, चिउरोहिं निवडियं च दसणेहिं ।

विसर्भीपहिं व पाणे-हि बूरदूरेण ओसरियं ॥ १० ॥

अचइय सोमा सोहं-मक्कपलीलावयंससुविमाणे ।

पलिओवमर्छिइया, सोमा सुरसुंदरी जाया ॥ ११ ॥

रुद्धो स रुद्धेवो, नागसिंरिं नागदत्तसिद्धिसुयं ।

परिणीय नीइबाहा-इ छुंजिउं पंचविहविसए ॥ १२ ॥

रुद्धज्जाणोवगओ, नरयावासम्मि पढमपुढवीए ।

खाडक्खडाभिहाणे, पलियाक नारओ जाओ ॥ १३ ॥

अइ सो सोमाजीवो, चविणं सोदम्मओ विदेइम्मि ।

सेलम्मि सुंसुमारो, जाओ दंती धवलकंती ॥ १४ ॥

इयरो वि तआव्वट्ठिय, जाओ कीरो तहिं चिय गिरिम्मि ।

कीरीए सह रमतो, नरभासाभासिरो भमइ ॥ १५ ॥

कइया वि तं गइदं, करेणुबानियरपरिगयं दट्ठुं ।

पुव्वजवन्भासाओ, बहुलीबहुलो विच्छिंतेइ ॥ १६ ॥

विसयसुहाउ इमाओ, किइ णु मए वंचियव्वओ एस ।

एवं उवाचचित्तण-पवणो पत्तो सए नीमे ॥ १७ ॥

ता तत्थ चंदलेहा-भिहाणखयरिं हरित्तु संपत्तो ।

मीसारइ इति खयरो, भयजीओ जणइ तं कीरं ॥ १८ ॥

भो ! इत्थ गिरिनिउंजे, चिछामेगो इहागमी खयरो ।

न तु से कहियव्योऽह, गओऽयमसो कहियव्यो ॥ १६ ॥
 तो कीर ! खीरमहुमहर-वयण ! मइ एवमुक्कयं तुमए ।
 तुज्ज वि अहं अयस्सं, करिस्समणुवमुक्कयणं ॥ २० ॥
 भइ आगओ म खयरो, अइदु जालारइं पडिनियत्तो ।
 कहियं सुएण एय, इमस्स सो हरिणिओ हियए ॥ २१ ॥
 इत्थंनरस्मि तत्था-गयं गयं तं जहिजिह्वा भमिरं ।
 पासिनु चितइ सुओ, अहह चहो ! जुदरोऽवसरो ॥ २२ ॥
 तो निवडिनियामनडिओ, आठं करिस्सनिहिस्मि जणइ पिय ।
 भणियं वमिहरिस्सणा, कामियनित्थं इमं खित्तं ॥ २३ ॥
 जो इत्थं भिगुनिवायं, करेइ सो लहइ कामियं खु फत्तं ।
 इय भणिय पियाए समं, तहिं वि पत्तो निलुक्को य ॥ २४ ॥
 तच्चयणपेयिओ पुण, सीतारइत्थयरो पियामहिओ ।
 चत्तच्चयणकुलधरो, उप्पइओ गयणमभग्गि ॥ २५ ॥
 तं दइ चितइ करी, कामियनित्थं इमं खु जं इइयं ।
 खेयरोमिहुणं जायं, पनियं कीर कीरमिहुणं पि ॥ २६ ॥
 तो किं इमिणा तिरिय-त्तणेण मज्जंति चितिय नगाओ ।
 जंपाचइ सो तहियं, अहुइयं कीरमिहुणं तं ॥ २७ ॥
 संचुत्तियं गुवंगो, हत्थी गहइत्थिओ वि वियणाए ।
 फुरिय सुहउक्कवसाओ, जाओ वंनसुरो पवरो ॥ २८ ॥
 अस्सय कपिष्ठचित्तो, विसयपमत्तो सुओ वि संपत्तो ।
 रयणाएलोहियक्खे, नएण अइतिक्खउहउक्खे ॥ २९ ॥

इतश्च-

अत्थि विदेहे मिरिच-कूडालनयरस्मि मन्थवाहवरो ।
 अप्पनिहयचक्कक्खो, सुमंगला पणवणी तस्स ॥ ३० ॥
 अह सो करिंदीओ, चविज्जणं ताण नंदणो जाओ ।
 नामेण चक्रदेवो, मया वि गुरुजणविहियंसयो ॥ ३१ ॥
 उच्चट्टियं ड्यरो वि दु, जाओ नत्थेय जज्जदेवु त्ति ।
 सोमपुरोहियपुत्तो, दुवे वि तरुणत्तमणुपत्ता ॥ ३२ ॥
 मध्मावकय्यंवेहिं, जाया मित्ताइ तस्मिन्नोत्तं ।
 पुच्चकयकम्मदासा, कया वि चितइ पुरोहियसुओ ॥ ३३ ॥
 कह एस चक्रदेवो, इमाउ अनुच्चलाच्छविथरओ ।
 पाविहिइ पुडं भुजं, दुं नायं अत्थि इह उवाओ ॥ ३४ ॥
 चंदणमत्थाहगिहं, सुमितं दविणं खिचित्तु पयगिहं,
 कहिउं निवस्स पुरओ, भंसिस्सं संपयाउ इमं ॥ ३५ ॥
 काउं तहेव म जणइ, वयंस ! गोवेसु मउक्क दविणमिणं ।
 नियगेइ सो वि तओ, एवं चिय कुणइ सरलमणो ॥ ३६ ॥
 वत्ता पुरे पवत्ता, सुठं चंदणगिहं ति तो पुट्ठो ।
 सन्थाहमुएणमो, दविणमिणं कस्स भो मित्त ! ? ॥ ३७ ॥
 सो आइ मउक्क दव्यं, तावभया गोविय तुइ गिहस्मि ।
 आसंका न मणागवि, कायव्वा चक्रदेव ! तए ॥ ३८ ॥
 इत्तो य चंदणं, अमुगं अनुगं च मइ गयं दव्यं ।
 कहियं नियस्स तेणं, नयरो घोमावियं एवं ॥ ३९ ॥
 चंदणगिहं पमुठं, जेणं केण वि कहेउ सो मज्ज ।
 इगिहं न तस्स दंडो, पच्छा मारीरिओ दंडो ॥ ४० ॥
 अइ दिणपणगस्मि गण, पुरोहिपुत्तो नियं भणइ देव ! ।
 जइ वि न जुज्जइ नियमि-त्तदोसकुमवियडणं काउं ॥ ४१ ॥
 परमइविरुद्धमेयं, ति धारिउं पारिमा न हियवस्मि ।
 चंदणवणं अवस्सं, अत्थि गिहं चक्रदेवस्स ॥ ४२ ॥
 (राजा) नणु सो गरिदुपुरिमो, रायविरुद्धं इमं कह करिज्ज ?
 (यक्षदेवः) गरया वि लोहमोहिय-मउणो चिट्ठंति याल व्यउइ

(राजा) सो संतोससुहारण-पाणणवणो सुणिज्जए सययं ।
 (यक्षदेवः) अथ तरुणा दविणमिणं, पाविय पाएहि पसरंति ४३
 (राजा) नणु सो महाकुलीणो,
 (यक्षदेवः) को दोसो इह कुलस्स विमवस्स ? ।
 भवइलपरिमलेसु वि,
 कुमुमेसु न हुंति किं किमओ ? ॥ ४४ ॥
 (राजा) जइ एवं ता किज्जउ, समंनओ गेहसोहणं तस्स ।
 (यक्षदेवः) एते किं देवस्स वि, पुरओ जंपिज्जए अप अत्थियं ४५ ॥
 तो निवडणा तलागं, चंदणभंडारिण सह भणिओ ।
 भो ! चक्रदेवगेहं, नटुं दव्यं गयेसेहि ॥ ४६ ॥
 सो चितइ नरवडणा, अहह ! असंभावणिज्जमाइठं ।
 किं कइया पाविज्जइ, रविविधे निमिरपभासो ? ॥ ४७ ॥
 अहवा पटुणो आणं, करीम पत्तो तओ गिहं तस्स ।
 पमणइ चंदणदव्यं, नटं जाणसि भो भइ ! ॥ ४८ ॥
 (चक्रदेवः) नहु नहु सुणमि किंचि वि,
 (तलवरः) तो भो ! तुमए न कुण्ठियव्यं मे ।
 जं रायसासणं, तुह गेहं किपि जोइस्सं ॥ ४९ ॥
 (चक्रदेवः) कोवस्स को खु सप्पओ,
 सया पयापालणत्थमेव जओ ।
 नयकुलहरस्स देव-स्स एम सयलो वि संरंजो ॥ ५१ ॥
 तो तन्नवरो गिहं तो, पविसिय जा निउणयं नहालेइ ।
 तो केचणवासणयं, चंदणनामंकिंयं वुक्खं ॥ ५२ ॥
 तो भणइ सउक्खमिमो, कुओ तए चक्रदेव ! पत्तमिणं ।
 किह मित्तत्थवणीयं, परंमि नियं ति सो जणइ ॥ ५३ ॥

तलवरः-

कह चंदणनामंके, (चक्र०) नामविज्जासओ कह वि जायं ।

तन्नवरः-

जइ एवं ता कित्तिय-मित्तं इह वासणे कणगं ॥ ५४ ॥

चक्रदेवः-

चिर गोवियं ति न तहा, सुमंगमि अहं सयंचिय निपइ ।

तलवरः-

भंमारिय ! किंसंखं, धणमिह सो आह अजुयमियं ॥ ५५ ॥

तो ग्रीडाविय नउलं, नियंति सव्वं तहेव तं मिलयं ।

भणइ पुणो रक्खिपटु, भो जइ ! कुडक्खरं कहसु ॥ ५६ ॥

अइ वीसत्थं सहयं, सुकीलियं कीलियं पचित्तमी ।

मित्तं दूसेमि कहं, तो चक्रदेवो पुणाह नियं ॥ ५७ ॥

तलवरः-

कित्तियमित्तं परसं-तियं धणं तुइ गिहस्मि चिदेइ ।

चक्रदेवः-

निययं पि अत्थि वडुयं, पज्जत्तं मम परधणेणं ॥ ५८ ॥

तो तन्नवरेण सव्वं, गिहं नियंतेण तं धणं पत्तं ।

कुविण चक्रदेवो, हडेण नीओ निवसमीवे ॥ ५९ ॥

रत्ता भणियं नणु जइ, अप्पनिहयचक्कसन्थवाहसुए ।

नहु संतवइ इमं तो, कहेसु को इत्थं परमत्थो ? ॥ ६० ॥

परदोसकहणविमुहो, न किंचि जा जंपइ एमो ताइ ।

वडुयं विमंविज्जणं, निव्विमओ कारिओ रत्ता ॥ ६१ ॥

अइ सो विसावविदुरो, गुरुपरिजवदवक्कलक्कियसरिरो ।

चित्तइ किं मम संपइ, पणट्टमाणस्स जीएण ? ॥ ६२ ॥

“वरं प्राणपरित्यागो, मा मानपरिखण्डना ।

प्राणत्यागं क्षणं दुःखं, मानभङ्गे दिने दिने” ॥ ६३ ॥

इय चितिय पुरवारिहं, वडविमविणि जाव वंधप अप्पं ।
ता तग्गुणगणरंजिय-हियया पुरदेवया भक्ति ॥ ६४ ॥
ठाउं निवजणणिमुहे, निवपुरआ तं कहेइ वुत्तंत्तं ।
उव्वंधणपेरंत्तं, तो दुहिओ चितए राया ॥ ६५ ॥
“उपकारिणि विश्वास्ये, आर्यजने यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसंधं, जगवति वसुधे ! कथं वहसि ?” ॥ ६६ ॥
इय परिजाविय रत्ता, पुरोहिपुत्तं धराविउं तुरियं ।
तत्थ गणं दिओ, सत्थाहसुओ तह कुणंत्तो ॥ ६७ ॥
छिदित्तु ऊत्ति पासं, सो गयमारोविकुण दिट्ठेण ।
महया वि वित्थंरुणं, पवसिओ नयरमउभूमि ॥ ६८ ॥
भणिओ य भो महायस !, तुज्ज कुट्ठीणस्स जुत्तमेव इमं ।
तह पुच्छिरस्स वि ममं, जं परदोसो न ते कहिओ ॥ ६९ ॥
किं तु तुह जमवरद्धं, अन्नाणपमायओ इहऽग्गेहि ।
तं खंमियध्वं सध्वं, खमापहाणा खु सप्पुरिसा ॥ ७० ॥
इत्थंतरे भग्गेहि, वंधिय तत्थाऽऽणिओ पुरोहिसुओ ।
रोसारुणनयणं, रत्ता वज्जो समाणत्तो ॥ ७१ ॥
तो भणइ चक्रदेवो, वच्छलहियएण पगइसरत्तेण ।
महमित्तेण इमेणं, किं नाम विरुद्धमायरियं ? ॥ ७२ ॥
पुरदेवयाएँ कहियं, कहइ निवो दुट्ठचिठियं तस्स ।
मन्नुजरजरियचित्तो, तो चितइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥
अमयरसाग विसं पि व, ससहरविवाउ अग्गिबुट्ठि व ।
एरिसमित्ताउ इमं, किमसममसमंजसं जायं ? ॥ ७४ ॥
एवं सो परिभावि, गाढं निवडित्तु निवइचत्तेणसु ।
मोयावइ नियमित्तं, तो हिट्ठो भणइ नरनाहो ॥ ७५ ॥
“उपकारिणि वीतमत्सरे वा, सदयत्वं यदि तत्र कोऽतिरेकः ?
अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सघृणं यस्य मनः सतां स धुर्यः ७६ ॥
अह सत्थवाहपुत्तो, सयवत्तसुपत्तनिम्मन्नचरित्तो ।
जडचडगपरीयरिओ, नियगेहे पेसिओ रत्ता ॥ ७७ ॥
तेणावि जन्नदेवो, आत्तविओ पणयसारवयणेहि ।
सक्कारिय संमारिय, पट्टविओ निययजवणम्मि ॥ ७८ ॥
जाओ जणपवाओ, धओ एसेव सत्थवाहसुओ ।
अवयारपरे वि नरे, इय जस्स मइ परिप्फुरइ ॥ ७९ ॥
वेरग्गमगलगो, कयावि सिरिअग्गिभूइगुरुपासे ।
गिएहेइ चक्रदेवो, दिक्खं दुहकक्खदहणसमं ॥ ८० ॥
बहुकालं परिपालिय, सामन्नं सो अणन्नसामन्नं ।
जाओ अजिभवभो, नवअयराऊ सुरो वंभो ॥ ८१ ॥
तत्तो चविय विदेहे, अरिअजिए मंगवावइविजए ।
बहुरयणे रयणवरे, सत्थपहुरयणसारस्स ॥ ८२ ॥
सिरिमइपियाएँ जाओ, चंदणसारु त्ति नंदणो तस्स ।
कंता य चंदकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥
मरिउं स जन्नेवो, वि पुच्छपुढवीएँ नारओ जाओ ।
पुण आहेरुयसुणओ, मरिउं तत्थेव उववन्नो ॥ ८४ ॥
तत्तो जमिय बहुजव, जाओ सो रयणसारदासिसुओ ।
अहणगनामा पीई, पुवुत्ता तेसि संजाया ॥ ८५ ॥
अन्नदिणे रयणवरं, दिसि जत्ताण गयम्मि निवइम्मि ।
सवरवइ विज्जेऊ, जंजिय गिएहइ बहु वंदं ॥ ८६ ॥
हरिया य चंदकंता, सेसजणो को वि कथं वि य नट्ठो ।
आवासिओ य वडिउं, सधरवइ जिन्नकूवतडे ॥ ८७ ॥
वोव्णीणे सयवदिणे, निमावसेसे पयाणकालम्मि ।
अइरहसवसपुरक्खड-नियनियकिचेसु जिचेसु ॥ ८८ ॥

उत्तालकाहवातर-लवहवरवपसरभरियनहविवरे ।
अग्गार्णीयम्मि वट्टं-तयम्मि दीणे य थंदिजणे ॥ ८९ ॥
सा चंदणपाणपिया, सव्वीन्नियसीत्तखंडणभएण ।
पंचनमुक्कारपरा, ऊपावइ तम्मि कूवम्मि ॥ ९० ॥
जवियवयानिओगा, पमिया नीरम्मि जीविया तेण ।
पडिकूवयम्मि ठाउं, गमेइ सा वासरे कइ वि ॥ ९१ ॥
इत्तो य गया धाम्मि-त्ति चंदणो नियपुरे समणुपत्तो ।
दइया हड त्ति नाउं, जाओ अइविरहदुहडुहिओ ॥ ९२ ॥
तो तीएँ मोयणत्थं, संवत्तयं दवियणउत्तयं गहियं ।
अहणगवीओ चत्तिओ, वारेण वहंति तं भारं ॥ ९३ ॥
पत्ता कमेण तं जि-न्नकूवदेसं तथा पुणो अत्थि ।
धणजायं पासं दा-सयस्स इवरस्स पाहेयं ॥ ९४ ॥
तो पुव्वजवज्जासा, दासो चितेइ सुन्न-रत्तमिणं ।
अत्थमिओ गगणमणी, ओल्लसिओ गरुयानिमिरभरो ॥ ९५ ॥
ता इत्थ कूवकुहरे, खिविऊणं सत्थवाहसुहेमं ।
धणजाएण इमेणं, भवामि भोगाण आभागी ॥ ९६ ॥
तो जणइ निविडनियमी, जिसं तिसा वाहए ममं सामि ! ।
सोवि हु सहावसरत्तो, जा कूवे नियइ तत्थ जन्नं ॥ ९७ ॥
ता तेण पावपज्जा-रपिल्लिपण स पिल्लिओ अवमं ।
तत्तो वि पएसाओ, पाविओ अहणगो णट्ठो ॥ ९८ ॥
अह चंदणो जलंतो, सिरट्ठिपाहेयपुट्ठो पडिओ ।
पमिकूवे बहु वग्गो, य चंदकंता कह वि छित्ता ॥ ९९ ॥
भयविहवा भणइ नमो, अरिहंताणं तितं सरेण फुडं ॥
उववक्खिय आह इमो, जिनधम्माणं अजयमजयं ॥ १०० ॥
तं सुणिय सुणिय दइयं, सरेण रोपइ तारतारमिमा ।
तो अन्नुओ सुहदुह-वत्ताहि गमेति तं रयणि ॥ १०१ ॥
उइए सहस्सकिरणं, तं पाहेयं दुवे वि भुंजंति ।
कइवयदिणसु एवं, पक्खीणं संवत्तं सध्वं ॥ १०२ ॥
अह चंदणो पयंवइ, दइए ! पयाउ वियडअवडाओ ।
गंजीराउ जवाउ व, उत्तारो छुत्तरो नूणं ॥ १०३ ॥
तम्हा कुणिमोऽणसणं, मा मणुयजवं निरत्थयं नेमो ।
इय जा कहेइ ता से, दाहिननयणेण विप्फुरियं ॥ १०४ ॥
इयरीए वामेणं, सो आह पिपइ अंगफुरणेहि ।
एस किन्नेसो न चिरं, होही अमं ति तक्केमि ॥ १०५ ॥
इत्थंऽतरम्मि पत्तो, सत्थवइ नंदिवज्जो तत्थ ।
रयणउरनयरगामी, उदयत्थं पेसए पुरिसे ॥ १०६ ॥
ते जा नियंति कूवं, ता चंदणचंदकंतमज्जिट्ठुं ।
साहित्तु सत्थवइणो, कटंति य मंचियाएँ लहुं ॥ १०७ ॥
पुट्ठो य सत्थवइणा, वुत्तंतं कहइ चंदणो सध्वं ।
संचत्तिओ नियनयरा-भिसुइं वूढो य दिणपणुगं ॥ १०८ ॥
दिओ तेण निवपडे, छट्ठदिणे हरिविदारिओ पुरिसो ।
नाउं धणोवज्जंता, हहा ! वराओ अहणगु त्ति ॥ १०९ ॥
तं दव्वं गहियणं, पकामसुविसुज्जमणपरिणामो ।
रयणउरे संपत्तो, पत्ते सुनिउंजिउं दव्वं ॥ ११० ॥
गिद्धित्तु विजयवज्जण-सूरिसमीवेऽणवज्जपव्वज्जं ।
जाओ य सुक्ककप्पे, सोलसअयगट्ठिइ अमरो ॥ १११ ॥
तो चविउं इह भग्गे, रहवीरपुराभिहाणनयरम्मि ।
गेहवइनंदिवज्जण-सुंदरिपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥
नामेणऽणगंदो, अणंगंदेवु व्व वहलरुवेण ।
सिरिदेवसेणगुरणो, पासं पमिवज्जगिहधम्मो ॥ ११३ ॥

अह अहणो वि हरिणा, हाणश्चां सेलाइनारभो जाओ ।
 सीहो भविय तहिचिय, पुणो वि पत्तो असुहाचित्तो ॥ ११४ ॥
 तो हिडिय भूरिभवे, तथेव य सोमसत्थवाहस्स ।
 नंदिमज्जारियाप, जाओ धणदेवनामसुओ ॥ ११५ ॥
 असदसदमाणसाण, तेसि पीई परुपरं जाया ।
 ते दविणज्जणमणसो, कया वि पत्ता रयणदीवे ॥ ११६ ॥
 कइयदिण्हि वलिया, सपुगभिमुहं विडत्तवहुवित्ता ।
 अह धणदेवो जाओ, नियमित्तपवेचणपवणो ॥ ११७ ॥
 कम्म वि गामे दट्टे, कराधिया मोयगा डुवे तेणं ।
 इत्तम्मि विसं खित्तं, एयं मित्तस्स दाहं ति ॥ ११८ ॥
 आउलमणस्स जाओ, मग्गे इतस्स तस्स वच्चासां ।
 सुहो सहिणो दिओ, सयं तु विसमोयगो चुत्तो ॥ ११९ ॥
 अइविसमविस विसप्पिर-गुरुवेयणपसरपरिगग्रो भुत्ति ।
 धणदेवोपरि चत्तो, भम्मण व जीविण्णवि ॥ १२० ॥
 बहु सोउऊय तस्स य, मयकिच्च काउण्डादेवो वि ।
 पत्तो कमेण सपुरे, तन्नियगाणं कइइ सव्वं ॥ १२१ ॥
 तेसि पभूयद्वयं, दाउं पुच्छित्तु पियरपमुहजणं ।
 सो पुच्चगुहसमीवे, गिण्हइ वयमुभयलोयहियं ॥ १२२ ॥
 दुक्करनवचरणपरो, परोवयारिक्कमाणसो मरिउं ।
 गुणवीससागराऊ, पायणकप्पे सुरो जाओ ॥ १२३ ॥
 कालेण तओ वि चओ, जंबुद्वीपम्मि परवयवासे ।
 गयपुरनयरे हरितं-दिसेछिणो परमसहस्स ॥ १२४ ॥
 लच्छिमदपण्णोप, जाओ पुत्तो य वीरंदेवु त्ति ।
 सिरिमाणभंगसुहगुरु-समीवकयगिद्विवउच्चारो ॥ १२५ ॥
 धणदेवो वि हु तट्ठा, उक्कविसवेगपत्तपंचत्तो ।
 नवसागरोयमाऊ, उववत्तो पंकपुढवीए ॥ १२६ ॥
 पुत्तरवि भविय दुयंगो, दारुणवणदावदहसव्वंगो ।
 जाओ तहि चि किंचू-णअयरदसगाउ नेरइओ ॥ १२७ ॥
 तिरिणसु नमिय सो त-तथ गयपुरे इदंनागसिट्ठिस्स ।
 नंदिमईभजाए, दोणगनामा सुओ जाओ ॥ १२८ ॥
 पुच्छुत्तयोइजोगा, इगदट्टे ववहरंति ते दोवि ।
 वित्त वहुं विडत्तं, तो चिनइ दोणो पावो ॥ १२९ ॥
 कइ एसो अंसदो, दणियव्वो हुं कराविउं इण्हि ।
 नवधवलहरं उच्च-त्तणेण नहमणुलिहंतं व ॥ १३० ॥
 तथुवरि जुवि अग्रोमय-कीलगजावानियंतियगवक्खं ।
 भोयणकए निमंति-तु वीरंदेव कुहुंवज्जुयं ॥ १३१ ॥
 तो से दंसिस्समिमं, रमणीयत्ता सयं स आरुहिही ।
 खडदडिऊण निवडिही, पाणेहि वि ऊत्ति मुच्चिहिही ॥ १३२ ॥
 अह निधिवायमसो, विहवन्नरो मज्झ चैव किर दोही ।
 नय कोइ जणचवाओ, इय चिनिय कारइ तदेव ॥ १३३ ॥
 जा भुत्तुत्तरमेए, दुवे वि धवलहरसिहरमारुढा ।
 सइमइरहिओ दोणा, अणुपसंकपपरियमणो ॥ १३४ ॥
 भो मित्त ! पहि इदयं, निज्जूइ विससु जंपिरो तथ ।
 सयमारुढो इक्को, पडिओ मुक्को य पाण्हि ॥ १३५ ॥
 हाहारवमुहलमुहो, तुरियं उत्तरिय वीरंदेवो वि ।
 जा नियइ ता पदिट्ठो, मित्ता पंचत्तमणुपत्तो ॥ १३६ ॥
 हा मित्त ! मित्तवच्चल !, उववत्तणहिय ! रहियनयमज्जो ।
 इय वहुधिहं पलिविउं, मयकिच्चं कुणइ सो तस्स ॥ १३७ ॥
 जललवतरत्ते जीए, विज्जुलयाच्चलम्मि तरुणत्ते ।
 को नाम गेहवासं, पसिवयं कुणइ सविवेओ ॥ १३८ ॥

इय चित्तिऊण सम्म-त्तदाइगुणासपत्तसामान्ना ।
 उववन्नो गेविज्जे, सो तए भासुरो अमरो ॥ १३९ ॥
 अत्थिह विदेहवासं, वासवदेहं व सज्जवज्जहरं ।
 अययसहस्सकात्रियं, चंपावासं ति वरनयरे ॥ १४० ॥
 तथाऽऽसि माणिज्जो, जहोवज्जणमणो सया सिछी ।
 जिण्णधम्मग्गमकामा, तस्स पिया हरिमई नामा ॥ १४१ ॥
 सो वीरंदेवजीवां, तत्तो गेविज्जगाउ चविकुण ।
 नामेण पुन्नभदो, ताणं पुत्तो समुप्पन्नो ॥ १४२ ॥
 तेणं च पढणसमए, घोसं पढममवि उच्चरंतेण ।
 अमरु त्ति समुत्तवियं, वुच्चइ अमरो वि तेणेसो ॥ १४३ ॥
 दोणो वि मग्गे धूमा-ए वारअयराउ नारओ जाओ ।
 मच्छो सयंजुरमणं, जविउं तथेव उववन्नो ॥ १४४ ॥
 भमिय भवे तथ पुरे, नंदावत्तऽभिहसिछिदइयाए ।
 सिरिनंदाए धूया, संजाया नंदयंति त्ति ॥ १४५ ॥
 भवियव्वयावसणं, परिणीया सा उ पुन्नज्जहण ।
 सा पुच्चकम्मवसआं, जाया पद्वचणिक्रमणा ॥ १४६ ॥
 से परियणेण कर्हियं, वहुत्तरकूडकवडानियडिकुमी ।
 सामिय ! पिया तुहेसा, न य सइहियं पुणो तेणं ॥ १४७ ॥
 कइया वि सव्वसारं, कुंमवज्जुयलं सयं अवहरित्ता ।
 आउलहियय व्व इमा, साहइ पइणो पणं ति ॥ १४८ ॥
 तेण वि नेहवसेणं, घमाविउं नवयमप्पियं तं से ।
 इय हरियमन्नमन्नं, तीए दिन्नं पुण इमेण ॥ १४९ ॥
 न्हाणावसरे कइया, मुद्दारयणं समप्पियं तीसे ।
 संभाए मगियं पुण, सा आह कहि वि नणु पडियं ॥ १५० ॥
 तत्तो अइसंजतो, निउणं एसो निहालइ गिहंतो ।
 भज्जाभरणसमुग्गे, नछं दव्वं नियइ सव्वं ॥ १५१ ॥
 किं कुंमलाइ दव्वं, गयं पि लरुं इमीए न गयं वा ।
 करकलियदविण्णजाओ, एसो चित्तेइ सवियक्कं ॥ १५२ ॥
 इत्तो य सा तहि चिय, पत्ता इपरो य भुत्ति नीहारिओ ।
 जापइ नंदयंती, धुवमिमिणा जाणिया अहयं ॥ १५३ ॥
 जा सयणाण वि मज्जे, नो उप्पाएइ लाघवं मज्जं ।
 सज्जो संजोइयक-म्मणेण मारेमि ताव इमं ॥ १५४ ॥
 काउं तयं सयंचिय, अणेगमरणावहेहि दव्वेहि ।
 तमिसम्मि संठवंती, रुक्का दुट्ठेण सप्पेण ॥ १५५ ॥
 पमिया थस त्ति धरणि, जाओ हाहारवो अइमहंतो ।
 तथागओ पई से, आहुया पवरगारुडिया ॥ १५६ ॥
 सव्वेसि नियंताण वि, खणेण निहणं गया गया पावा ।
 उठीए पुढवीए, पुरओ जमिही अणंतभवं ॥ १५७ ॥
 तं दट्ठु पुन्नभदो, सोयज्जुओ तीइ काउ मयकिच्चं ।
 वेरग्गावियमणो, जाओ समणो विजियकरणो ॥ १५८ ॥
 सुक्कज्जाणानवद-हसयलकर्मधणो धुणियपावो ।
 सो जयवं संपत्तो, लोयग्गसुसंठियद्वणं ॥ १५९ ॥
 निरुनिच्चयनिमित्तं, पकित्तिया पुरिमपच्छिमिभवा ।
 इहयं असदगुणम्मी, पगयं पुण चक्रदेवेण ॥ १६० ॥
 इति फलमतिरस्यं चक्रदेवस्य सस्यक,
 प्रतिभवसपि आद्यं भावभाजो निशम्य ।
 भवत भविकलोकाः स्पष्टसंतोषपावाः,
 कथमपि हि परेणं वच्चनाच्चवो मा ॥ १६१ ॥

॥ इति चक्रदेवचरितं समाप्तम् ॥

असदकरण-असदकरण-पुं० । मायामदविप्रयुक्तो भूत्वा य-

थोक्तविहितानुष्ठानकारके, वृ० ६ उ० । “ असदकरणो नाम सव्यथादानतो अप्पाणं मायाए णति असदो होऊणं कसिणं करोति ” । (न शत्रो यस्मादिति विग्रहमिप्रायेण) नि० चू० २० उ० ।

असदभाव-अशठभाव-पुं० । अमायाविनि, ध्य० ४ उ० । शु-
द्धचित्ते, आव० ६ अ० । स्ववीर्यं प्रति मायं कुर्वाणे, नि० चू० २० उ० ।

असण-अशन-न० । अश भोजने, ह्युद् । भोजने, नि० चू० ११
उ० । स्था० सूत्र० । अश्यते इत्यशनम् । अश भोजने इत्यस्मात्
ह्युद् । ध० २ अ० । एवं लोके, लोकोत्तरिके तु आशु जुधां शम-
यति इति “ खीलयादिफलाणि वा ” आ० चू० ६ अ० । ओद-
नादिभेदे, प्रब० ४ द्वार । दशा आचा० । आव० उच० दर्श० ।

तत्र अशनमाह-

असणं ओअणसत्तुग-मुगजगाराइ खज्जगविही य ।

खीराइ सूरणाई, मंरुगपभिई उ विज्ञेयं ॥

आदिशब्दः स्वगतानेकज्जदसूचकः सर्वत्र संवध्यते । तत ओ-
दनादि, सक्त्वादि, मुद्गादि, जगार्यादि, जगारीशब्देन समयभा-
षया “ रच्वा ” भाष्यत । तथा खज्जकविधिश्च- खाद्यक-मण्डि-
का-मोदक-सुकुमारिका-घृतपूर-लपनश्री-स्वर्यच्युताप्रभृति-
पक्वाद्यविधिः । तथा-कीरादि, आदिशब्दाद्वाधि-घृत-तक्र-
तीमन-रसानादिपरिग्रहः । तथा-सूरणादि, आदिशब्दाद्वाधि-
कादिसकलवनस्पतिविकारव्यञ्जनपरिग्रहः । मण्णकप्रभृति च-
मण्णकाः प्रभृतियस्य गोत्रिका-कुल्लरिका-चूरीयका-इदुरिका-
प्रमुखवस्तुजातस्य तन्मण्डकप्रभृति, विज्ञेयं ज्ञातव्यमशनम् ।
प्रब० ४ द्वार । “ असणणि य चउसछी ” स० ।

“ असणं ओअण सत्तुग, मंडग पयरव विद्वज्जगाराइ ।

कंदवजाई सच्चा, सज्जविही सत्त विगई य ॥ ३९ ॥

असणमि सत्त विगई, साइम गुल महु सुरा य पाणमि ।

खाइम पक्कन्न फला-ए उहेणय सव्वअसणम्मी ॥ ४० ॥

चण ओद मसुर तुवरी, कुवत्थ निप्पाव मुग मासा य ।

चवल कलाया राई, पमुहं उदवं व निण्ह ॥ ४१ ॥

तिव्व अयसि सिद्धिदं कंगू, कुदव अणुयादवं सिणेइजं ।

भण्णति केइ दुदवं, पायं धनु व्व तं सव्वं ॥ ४२ ॥

कट्टदवं पक्कन्नं, तक्कर दहि दुद्धपाय मीसं जं ।

जमणंतकायजायं, पत्त फलं पुप्फ वीयं च ॥ ४३ ॥

पुढाविकका सव्वो, वलकिम्पणमिइ सव्वजिण्णधनं ।

हिगुलवणीउंछे-प्पभिई असणं वहुविहं जं ॥ ४४ ॥ ल० प्र० ।

नीववणं वीजकाजिधाने वृत्तविशेषे, आचा० २ ध्रु० १० अ० ।

प्रज्ञा० । रा० । ही० ।

असणग-अशनक-पुं० । वीजकाभिधाने वनस्पतिभेदे, औ० ।

असणदाण-अशनदान-न० । अश्यत इत्यशनमोदनादि, तस्य
दानमशनदानम् । तस्मिन्नशनदाने अशनशब्दः पानाद्युपलक्ष-
णार्थः । आहारदाने, पं० व० २ द्वार । आव० ।

असणाणिमंतण-अशनादिनिमन्त्रण-न० । गुरोराहारनिम-
न्त्रणे, ध० । अशनादिनिमन्त्रणमिति । अशनादिभिरशन-पान-खा-
दिम-स्वादिम-वस्त्र-पात्र-कम्बज-पादप्रोञ्जन-प्रातिहारिकपी-
ठफल-शय्यासंस्तारकौपथभैषज्यादिभिः निमन्त्रणं, प्रस्तावाद्

गुरोरेव । तच्च गुरोः पादयोलिंगित्वा “ इच्छकारि भगवन् ! पमा-
उगरी फासुएण एसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेणं वन्थ-
पडिगहकम्बलपायपुच्छणं पाहिहारिअपीठफलगलिजासंथा-
रणं असहभेसजेण य भयवं ! अणुगहो कायवोत्ति ” पात्रपू-
र्वं भक्त्या कार्यम् । एतच्चोपलक्षणं शेषकृत्यप्रश्नस्यापि । यतो दि-
नकृत्ये “ पच्चक्खाणं च काऊणं, पुच्छए सेसकिच्चयं । कायव्वं म-
णसा काउं, ओअणं च करे इमं ” ति । “ पुच्छए ” इत्यादिना पृच्छति
साधुधर्मनिर्वाहशरीरनिरावाधवात्ताद्यशेषकृत्यम् । यथा-निर्व-
हति युष्माकं संयमयात्रा, सुखं रात्रिगता भवतां, निरावाधाः श-
रीरेण यूयं, न वाधते वः कश्चिद्याधिः, न प्रयोजनं किञ्चिदौपधा-
दिना, नार्थः कश्चित् पथ्यादिनेत्यादि ? । एवं प्रश्नश्च महानिर्जरा-
हेतुः । यदुक्तम्-“ अभिगमणवदणनमं-सणेणं पाम्पुच्छणेणं साहृ-
णं । चिरसंचिअं पि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवइ ” । प्राग्वन्दिना-
वसरे च सामान्यतः ‘ सुहराईसुदतपसरीरनिरावाध ’ इत्यादिप्र-
श्नकरणेऽपि, विशेषेणात्र प्रश्नः सम्यग्स्वरूपपरिज्ञानार्थः, तदुपा-
यकरणार्थश्चेति प्रश्नपूर्वं निमन्त्रणं युक्तिमदेवेति । संप्रति त्वि-
निमन्त्रणं गुरुणां बृहद्ब्रन्दनदानानन्तरं आद्याः कुर्वन्ति, ये
च प्रतिक्रमणं गुरुभिः सह कृतं, स सूर्योदयादनु यदा स्वगृहाद
याति, तदा तत्करोति; येन च प्रतिक्रमणं बृहद्ब्रन्दनकं चेत्युज्य-
मपि न कृतं, तेनापि ब्रन्दनाद्यवसरे एवं निमन्त्रणं क्रियते; ततश्च
यथाविधि तत्कालमिति । एष बहिर्द्विप्रस्य विधिः । कारणविशेषे
तु तत्प्रतिश्रयेऽपि गम्यते, तत्राप्येव एव विधिः, अग्रंतनोऽपि च ।

कारणान्याह-

परिआय-परिस-पुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नच्चा ।

कारणजाए जाए, जहारिहं जस्स जं जोगं ॥ ४ ॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यं, तत् प्रभूतकाष्ठं येन पात्रितं, परिपद्विनीता सा-
धुसंहतिः, तत्प्रतिवर्द्धं पुरुषं ज्ञात्वा; कथम्?; कुलगुणसङ्घकार्या-
ण्यस्याऽऽयत्तानीति; एवं तदधीनं क्षेत्रमिति; कालमवमप्रतिजाग-
रणमस्य गुण इति, आगमं सूत्रार्थोज्ञयरूपमस्यास्तीति ज्ञात्वेति ।

साम्प्रतमेतदकरणे दोषमाह-

एआइ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मणे ।

ए भवइ पवयणजत्ती, अभत्तिमंताइआ दोसा ॥ ५ ॥

तथा-

उप्पन्नकारणम्मी, किइकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।

पासत्थाईआणं, उगपाया तस्स चत्तारि ॥ ६ ॥

(दुविहं पीति) अभ्युत्थानवन्दनवृत्तणम्, इत्यत्र प्रसङ्गेन ।
ध० २ अधि० ।

असणि-अशनि-पुं० । पविरित्यस्य पर्यायः । है० । आकाशे
पतत्यग्निमये कणे, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, सू० प्र० २० पाहु० ।
तं० । विद्युद्बज्रे, वाच० ।

असणिमेह-अशनिमेघ-पुं० । करकादिनिपातवति पर्वतादिदा-
रणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

असणी-अशनी-स्त्री० । वलेः सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्या-
म, भ० १० श० ५ उ० । स्वा० ।

अससि (ण)-असंझिन्-पुं० । संज्ञिविपरीतोऽसंज्ञी । विशि-
ष्टस्मरणदिरूपमनोविज्ञानविक्रये, कर्म० ४ कर्म० । “ एणइया छु-
विहा पणत्ता । तं जहा-ससि चैव, अससि चैव । एवं पंचिदिया

सञ्च विगलितियवज्ञा जाव वेमाणिया" स्या० २ ग० २ उ० ।
प० स० । न० । " अमसि डुविहा-अणागादमिच्छदिट्टी, आ-
गादमिच्छदिट्टी य " नि० चू० ५ उ० ।

अमसिआरुप-असंशयायुप्-न० । असंज्ञिता सता वस्ते परजव-
प्रायोग्ये आयुषि, भ० १ श० २ उ० । ("साउ" शब्दे द्वितीय-
जाग १५ पृष्ठे १३ अधिकारे चैतद् व्याख्यास्यते)

अमसिचूय-असंज्ञिचूय-पुं० । मिथ्यादृष्टौ, भ० १ श० २ उ० ।

अमसिचूय-असंज्ञिचूय-न० । मिथ्यादृष्टिचूयते, तच्च कालिको-
पदेशेन हेतुपदेशेन दृष्टिवाशेपदेशेन च विविधम् । न० । आ०
च० (' साक्षिचूय ' शब्दे चैतत् वक्ष्यते) ।

अमसिहिंसंचय-अमंनिधिसंचय-पुं० । न विद्यते संनिधेः प-
र्युपितस्वाद्यादेः सञ्चयो धारणं येषां ते तथा । संनिधिस्थं युग-
लिकमनुष्ये, ज० २ व० १ त० । जी० ।

अमर्ता-अमर्त-स्त्री० । असंप्राप्तौ, नि० चू० १२ उ० । " प-
माण वा असर्ता चुक्खवणिण वा " महा० ५ अ० ।

अमत्त-अशक्त-त्रि० । असमर्थे, दर्श० । पि० ।

अमत्त-त्रि० । अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेपुकाञ्चने समता-
पन्ने, आचा० । " जे असता पावेहिं कस्मैहिं " ये अपाकृतमदनतया
समतृणमणिलेपुकाञ्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः
पापोपादानानुष्ठानरताः । आचा० १ ध्रु० ५ अ० २ उ० ।

अमत्त्व-न० । नास्तित्वे, स्या० । पररूपेणाविद्यमानत्वे, न० ।

अमत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असंयोगे, असंपर्के, प० ४ वि० ।

अमन्थ-अशस्त्र-न० । निरवधानुष्ठानरूपे संयमे, " से असन्थ-
स्स खेयण्णे, जे असन्थस्स खेयण्णे से पञ्चवजातस्स खेयण्णे ",
आचा० १ ध्रु० ३ अ० १ उ० ।

अमन्थपरिणय-अशस्त्रपरिणत-त्रि० । अशस्त्रोपहते, आचा०
२ ध्रु० १ अ० ८ उ० । (' अपरिणय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे
६०१ पृष्ठेऽस्य सूत्रभायुक्तानि)

अमदायार-अमदाचार-पुं० । सदाचारविलक्षणे हिंसाऽनु-
तादौ, ध० । असदाचारः सदाचारविवर्तणो हिंसाऽनुतादिर्दश-
विधः पापहेतुर्मेदरूपः । यथोक्तम्- " हिंसाऽनुतादयः पञ्च,
तत्त्वाश्रदानमेव च । क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हे-
तवः " ॥ १ ॥ तस्य गह्रा यथा—

" न मिथ्यात्वसमः शत्रु-र्न मिथ्यात्वसमं विषम् ।
न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥
द्विपद्विपतमोरोगैर्दुःखमेकज दीयते ।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २ ॥
वरं ज्वालाकुले जितो, देहिनाऽन्मा हृताशने ।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितव्यं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाश्रदानं गह्रा; एवं हिंसादिष्वपि गह्रायोजना कार्या ।
तथा-तस्याऽमदाचारस्य हिंसादेः स्वरूपकथनं यथा-प्रमत्तयो-
गात्प्राणिध्यपरोपणं हिंसा, अमदनिष्ठानं मृया, अदत्तादानं
स्तेयं, मैथुनमग्नह, मूर्च्छा परिग्रह इत्यादि । तथा-स्वयमाचार-
कथनेन परिहारोऽमदाचारस्य संपादनीयः । यतः स्वयम-
सदाचारमपरिहरतो धर्मकथनं नटवैराग्यकथनमिवानादेयमयं

स्यात्, न तु साध्यसिद्धिकरमिति । तथा-ऋजुभावस्य कौटि-
ल्यत्यागरूपस्यासेवनमनुष्ठानं देशकनैव कार्यम् । एवं हि त-
स्मिन्नाविप्रतारणकारिणि संभाविते सति शिष्यस्तदुपदेशान्न कु-
तोऽपि दूरवर्ती स्यादिति ॥ ध० १ अधि० ।

असदारंज-अमदारम्ज-पुं० । प्राणवधादौ, प० व० ३ द्वार ।
" वातो हासदारम्भः " वातो हि पूर्वोक्तः, असन् असुन्दर आरम्भो-
ऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमं व्यवच्छिन्नं, तदारभते
हृत्यसदारम्भः । न सदा सर्वदा स्वस्तिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽ-
स्येति वा । " वृत्तं चारित्रं ख-ल्वसदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च ।
सदनुष्ठानम् " असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणातिपाताद्याश्रव-
पञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद् हिंसादिनिवृत्तिरूपमहिंसाद्यात्म-
कम् । प० १ वि० । पञ्चा० ।

असद-अशब्द-पुं० । अर्द्धदिग्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० ।
व० स० । शब्दवर्जिते, वृ० ३ उ० ।

असदहंत-अश्रद्धत-त्रि० । अश्रामकुर्वति, " भरुअच्छे वाणि-
ओ असदहंतो उज्जेणिप " वृ० ३ उ० । " एको देवो असदहंतो "
नि० चू० १ उ० ।

असदहण-अश्रद्धान-न० । निगोदादिविचारयिप्रत्यये, ध० ।
२ अधि० ।

असप्पवित्ति-असत्पट्ति-स्त्री० । असुन्दरप्रवृत्तौ, प० १६ वि० ।

असप्पलावि (ण)-असत्पलापिन्-त्रि० । असद्भावप्रलापि-
नि, नि० चू० १६ उ० ।

असवल-अशवल-पुं० । मालिन्यमात्ररहिते, प्रश्न० १ सं०
द्वार । शवलस्थानदूरवर्तिनि, आतु० । निरतिचारे, स्था० ५
ग० ३ उ० । अतिचारपङ्काभावात् एकान्तविशुद्धचरणे, भ०
२५ श० ७ उ० ।

असवलायार-अशवलाचार-पुं० । विशुद्धाचारे, अशयलः सिता-
सितवर्णोपेतवस्त्रीवर्द इवाकर्तुं आचारो विनयाशिक्षात्रमागो-
चरादिको यस्य सोऽशवलाचारः । व्य० ३ उ० ।

असञ्ज-अमञ्ज-त्रि० । सज्जोपवेशनाऽयोग्ये खले, औ० । आ-
व० । स्था० । अशोभने असद्भावप्ररूपकेऽसभ्ये, यथा-इयामा-
कनण्डुलमात्रोऽयमात्मा इतिवदन्तः परिहृताः । नि० चू० १६ उ० ।

अमभयवण-असभ्यवचन-त्रि० । खरकर्कशादिकं दुर्वचने,
" असम्भवयणेहि य कलुणा विवत्तथा " दश० ८ अ० २ उ० ।

असञ्जाव-अमद्जाव-त्रि० । अविद्यमानार्थे, औ० । प्रश्न० ।

ज्ञा० । अतथ्यभावे, आव० ५ अ० । सद्भाषस्याभावे, पि० । अ-
विद्यमानाः, सन्तः-परमार्थसन्तः, भावा जीवाद्योऽजिधेयभूता
यस्मिन्सदसद्भावम् । सर्वव्याप्यादिरूपात्मादिप्रतिपादके कु-
प्रवचने, उत्त० ३ अ० ।

असम्भावदृष्टा-असद्भावस्थापना-स्त्री० । अक्रादिषु मुन्या-
कारवर्त्यां स्थापनायाम् साध्याकारस्य तत्रासद्भावात् । अनु० ।

अमन्तादपट्टवणा-अमज्ञादप्रस्थापना-स्त्री० । असद्भूतार्थ-
कल्पनायाम्, ज० ११ श० १० उ० । जी० ।

असम्भावुञ्जावणा-असद्भावोदजावना-स्त्री० । ६ त० । अवि-
द्यमानार्थानामुपक्रमेण, औ० । यथाऽस्यात्मा सर्वगतः, इयामा-

कतङ्कुलमात्रो वेत्यादि (दश० ४ अ०) अचौरऽपि चौराऽयमित्यादि वा । भ० ५ श० ६ उ० ।

असन्तुय--असद्भूत--न० । न सद्भूतमसद्भूतम् । अनुते, आच० ४ अ० ।

असमंजस--असमञ्जस--त्रि० । अघटमानके, "असमंजसं केद जपंति" । आच० । आच० ।

असर्पजसचेष्टिय--असमञ्जसचेष्टि--न० । शास्त्रोर्त्तर्णभाषितकरणे (दर्श० १० अ०) प्राणिवधादौ, पञ्चा० २ विव० ।

असमण--अश्रमण--पुं० । आमस्यादविच्युते, "गंतुं ताय पुणो गच्छे, ए य तेणसमणो सिया ।" सुत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

असमणपाउग--अश्रमणप्रायोग्य--त्रि० । साधूनामनाचरणीये, ध० ३ अधि० ।

असमणुन्न--असमनोक्त--त्रि० । अनिष्टे, स्था० ४ ग० १ उ० । शाक्यादौ, आच० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । त्रिपट्वधिके प्राज्ञक-शतत्रये, आच० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । असमनोक्त्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेध इति । आच० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

असमणुण्य--असमनुकृत--त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्दा-ति तदा ददातु' इत्येवमनुकृते, आच० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । "असमणुण्यतस्स अदैतस्स" नि० चू० १ उ० ।

असमत्त--असमाप्त--त्रि० । अपूर्णं, नि० चू० २ उ० । असमाप्तक-ल्पे, व्य० ४ उ० ।

असमत्तकप्प--असमाप्तकल्प--पुं० । असमाप्तश्चापरिपूर्णश्च क-ल्पः । अपरिपूर्णसहाये विपरीते, ध० ३ अधि० । "उत्तुवद्धे वा-सासु उ-सत्तसमत्तो नदृण्णो इयरो । असमत्तो जायणं, ओ-हेण ण किञ्चि आहव्वे" ॥१॥ पञ्चा० ११ विव० । पं० व० ।

असमत्तदंसि (ए)--असम्यक्त्वदर्शिन--पुं० । न सम्यगस-म्यक्, तस्य भावोऽसम्यक्त्वम्, तद् द्रष्टुं शीघ्रमस्य स तथा । मिथ्यादष्टौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

असमत्य--असमर्थ--त्रि० । अशक्ते, पं० व० १ द्वार । भूत्तेपमा-त्रजीरौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । हेतुदोषे, यथाऽयं हेतुर्न स्व-साध्यगमक इत्येतेनासौ स्वसाध्यघातक इति । रत्ना० ८ परि० ।

असमय--असमय--पुं० । असम्यगाचारे पञ्चविंशे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टकाले, अयोग्यकाले च । वाच० ।

असरिसवेसगहण--असदृशवेपप्रहण--न० । आर्यादेरनार्यादि-नेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार । स्वयमार्थः सन् अनार्थवेपं करो-ति; पुरुषो वा स्वरूपमन्तर्हितः सन् स्त्रीरूपं विदधातीत्यादि । तदेतदसदृशवेपप्रहणम् । वृ० १ उ० ।

असमवाङ्कारण--असमवायिकारण--न० । न समवैति, सम-अव-इण्--णिनि । न० त० । समवायिकारणवर्तिनि कार-णभेदे, वाच० । यथा-तन्तुसंयोगाः कारणरूपद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

असमाण--असमान--पुं० । न विद्यते समानो यस्य सोऽसमानः । गृह-स्थान्यतीर्थिकेभ्यः सर्वोत्कृष्टे, "असमाणो चरे त्रिकलू" उक्त० । न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्तिउत्तत्वेनान्यतीर्थिकेषु २११

वा नियतविहारदिनाऽनन्यसमानोऽसदृशः । यद्वा-समानः साहङ्कारो, न तथेत्यसमानः । अथवा-'समाणो ति' प्राकृतत्वाद्-सन्निव सन् यत्राऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति । हृदयसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहति, अयं तु न तथेति; एवंविधः स चरदप्रतिबद्धविहारितया विहरेद्, भिक्षुर्धृतिः । उक्त० ३ अ० ।

असमारंज--असमारम्भ--पुं० । समारम्भाऽभावे, "सत्तविहे असमारंभे पणत्ते । तं जहा पुढविकाइय असमारम्भे जाव अ-जीवकाय असमारंभे ।" स्था० ७ ग० ।

असमारंभमाण--असमारम्भमाण--त्रि० । अद्यापादयति, स्था० ६ ग० । असमारम्भमाणानां पञ्चविधादिसंयमः-

एगिंदिया णं जीवा असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसं-जमे । एगिंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइय असंजमे जाव वणस्सइकाइ-य असंजमे । पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स पंच-विहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियसंजमे जाव फा-सिंदियसंजमे । पंचिंदियाणं जीवा समारंजमाणस्स पंच-विहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदिय असंजमे जाव फासिंदिय असंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं असमारं-जमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-संजमे पंचिंदियसंजमे । सव्वपाणनूयजीवसत्ताणं समारं-जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय अ-संजमे जाव पंचिंदिय असंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव ति) एकेंद्रियान्, एगिमिति वाक्याल-ङ्कारे । जीवान्, असमारम्भमाणस्य संघट्टादीनामविपर्ययकुर्वतः, समदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्युपरमोऽ-नाश्रयः, क्रियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । एवमन्यान्यपि पदानि । असंयमसूत्रं संयमसूत्रवद्विपर्यये व्याख्येयमिति । (पंचिंदियाण-मित्यादि) इह सप्तदशप्रकारसंयमभेदश्च पञ्चेन्द्रियसंयमल-क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविवक्षणात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्याघातपरिवर्जनं-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं चक्षुरिन्द्रियसंयमादयोऽपि वाच्याः । असंयमसूत्रमेतद्विपर्या-सेन बोद्धव्यमिति । (सव्वपाणित्यादि) पूर्वमेकेंद्रियपञ्चेन्द्रि-यजीवाश्रयेण संयमासंयमावुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणादीनां चायं विशेषः-"प्राणा द्विविचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः" ॥ १ ॥ स्था० ५ ग० २ उ० ।

तेइंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स उव्विहे संजमे क-ज्जइ । तं जहा-पाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, पाणामएणं दुक्खेणं असंशोएवा जवइ, जिव्वामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, एणं चैव फामामयाओ वि । तेइंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स उव्विहे असंयमे कज्जइ । तं जहा-पाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, पाणाम-

एणं दुक्खेणं संजोएत्ता जवइ० जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता जवइ ।

(तंदिदिणमित्यादि) कण्ठ्यं, तवरं (असमारंभमाणस्सत्ति) स्वयापादयतः । (घाणामाभोत्ति) घ्राणमयात् सौख्याद् गन्धोपादानरूपात् स्वयंपरोपयिता अभ्रंशकता घ्राणमेधनं गन्धोपालम्भाभावरूपेण दुःखेनासंयोजयिता भवति । इह चाव्यपरोपणमसंयोजनं च संयमः, अनाश्वरूपत्वात्, इतरदसंयम इति । स्था० ६ ग० ।

" चउरिदिद्या णं जीवा असमारंभमाणस्स अछविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता जवइ, एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । चउरिदिद्या णं जीवा समारंभमाणस्स अछविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं जं जोएत्ता भवइ । एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ " ॥ स्था० ८ ग० । " पचिदिद्या णं जीवा णं असमारंभमाणस्स दसविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोयामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता जवइ । एवं जाव फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । एवं असंजमो वि भाणियधो " ॥ स्था० १० ग० ।

असमाहड-असमाहूत-त्रि० । अशुद्धे, " वितिगिच्छसमावण्णेण अप्पाणेणं असमाहडाए वेस्साए " अशुद्ध्या लेश्ययोद्गमादि-दोषदुष्टमिदमित्येवं चित्तविप्लुत्या । आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

असमाहडमुच्छेस्स-असमाहूतमुच्छलेश्य-त्रि० । असमाहूताऽनङ्गीकृता शुद्धा शोभना वेश्या येन स तथा । आर्त्तध्यानोपहततयाऽशोभनलेश्ये, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

असमाहि-असमाधि-पुं० । अप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । समाधानं समाधिः-स्वास्थ्यम्, न समाधिरसमाधिः । अस्वास्थ्यनिवन्धनायां कायादिचेष्टायाम्, आ० म० डि० । स्था० । " दसविहा असमूही पणत्ता । पाणाइवाए० जाव परिगहेरिया असमिइ० जाव उच्चारपासवणखेइसिङ्गाणगपारिछावणिया असमिइ " । ज्ञानादिभावप्रतिषेधे अप्रशस्ते नावे, स्था० १० ग० ।

असमाहिकर-असमाधिकर-त्रि० । असमाधिकरणशीलोऽसमाधिकरः । आ० म० डि० । चित्ताऽस्वास्थ्यकर्त्तरि, प्रश्न० ३ संव० द्वार । आ० चू० । असमाधिमरणे च, व्य० ४ उ० ।

असमाहिट्टाण-असमाधिस्थान-न० । समाधिश्चतसः स्वास्थ्यम्, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिः, तस्य स्था-नन्याश्रयाः । प्र० ३ अधि० । असमाधिज्ञानादिभावप्रतिषेधः, अप्रशस्तो भाव इत्यर्थः । तस्य स्थानानि एदानि असमाधिस्थानानि । स्था० १० उ० । चित्ताऽस्वास्थ्यस्याश्रेयसु, प्रश्न० ५ संव० द्वार । यैहि आसेविनैरामपरोभयानामिह परत्राभयत्र वाऽसमाधिरूपयते । स्था० १० ग० ।

सुयं मे आनुमतेणं जगवया एवमक्खवायं-इह खलु धेरेहि भगवंतेहि वीमं असमाहिट्टाणा पणत्ता । कयरे खलु धेरेहि भगवंतेहि वीमं असमाहिट्टाणा पणत्ता? । इमे खलु धेरेहि भगवंतेहि वीसं असमाहिट्टाणा पणत्ता । तं जहा-

दवदवचारिया वि जवति १, अपमज्जियचारिया वि भवइ २, दुपमज्जियचारिया वि भवति ३, अतिरिक्खेज्जासणि ४, रायणियपरिभासी ५, धेरोवपाति ६, जूतोवपा-ति ७, संजलणे ८, कोहणे ९, पिट्ठीमंसए यावि भवति १०, अतिकखणं अतिकखणं ओदारि ११, एवाइ अधिकरणाइ अणुप्पएणाइ उप्पाइ वा जवति १२, पोरेणाइ अधिकरणाइ खामित्तविउसमिताइ उदीरित्ता जवति १३, अकाले सज्जायकारिया वि जवति १४, ससरक्खपायिणाए १५ मदकरे १६ भेदकरे ऊंऊकरे १७ कल्ल-हकरे असमाहिकरे १८ मूरप्पमाणभोइए १९ एसणाए अममिते यावि जवति २० । एवं खलु धेरेहि भगवंतेहि वीसं असमाहिट्टाणा पणत्ता चि वेमि पढमा दसा सम्मत्ता ॥

ननु यथाकथञ्चित् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्युद्धितचेष्टो वा सकाशात्, यथोच्यते— " परिसुद्धियाणं पांसं सुणेइ, सो विणयपरिभासि त्ति " । यदुक्तं स्थविरैः विंशति-रसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । तत्र किं स्थविरैः अन्यतः पुरुष-विशेषात्, अपौरुषेयागमात्, स्वतो वा? तत्रोच्यते-भगवतः सका-शादेवावगम्य तैरधिगम्य प्रज्ञप्ताः, ' धेरेहि ति ' कथनाद् ज्ञान-स्थविरैरित्यावेदितं भवति, न तु जातिपर्यायस्थविरैः । जाति-पर्यायस्थविरत्वेऽपि श्रुतस्थविरा एव प्रज्ञापयितुं समर्था जव-न्ति, इति कृतं प्रसङ्गेन । इत्युक्त उद्देशः । पृच्छामाह—(कयरे इत्यादि) कतराणि किमभिधानानि तान्यनन्तरसूत्रोद्दिष्टानि, खलु-र्वाक्यालङ्कारे । शेषं प्राग्वादिति । निर्देशमाह—इमानि अनन्तरे वक्ष्यमाणत्वाद् हृदि परिवर्त्तमानतया प्रत्यक्षाणि तानि इति, यानि त्वया पृष्ठानि शेषं पूर्ववत् । तद्यथेयुदाहरणोपन्यासार्थः । (दवदवचारिया वि जवति) दुर्गतौ यो हि द्रुतं द्रुतं संयमात्म-विराधनानिरपेक्षो व्रजति-आत्मानं प्रपतनादिभिरसमाधौ योज-यति; अन्याश्च सत्त्वान् धनन्नसमाधौ योजयति, सत्त्वध्वजनिर्गतं च कर्मणा परत्रोकेऽन्यात्मानमसमाधौ योजयति, अतो द्रुतं हन्तृ-त्वसमाकुलतया चलाधिकरणत्वादसमाधिस्थानम्, एवमन्य-त्रापि यथायोगमवसेयम् । चशब्दाद् भुञ्जानो ज्ञापमाणः प्रतिलेखनां च कुर्वन् आत्मविराधनां संयमविराधनां च प्रा-प्नोति । अपिग्रहणात् तिष्ठन् आकुञ्चनप्रसारणादिकं वा द्रुतं द्रुतं कुर्वन् पुनः पुनरवलोकयन्नप्रमार्जयन् आत्मविराधनां च प्राप्नोति । शब्दार्थस्तु भावित एव । ननु स्थानशयनादिषु द्रुतत्व-निषेधे सति किमर्थं गमनमेवोपन्यस्तम्? उच्यते-यतः पूर्वमर्या-समितिस्ततोऽन्या, इति हेतोः पूर्वं गमनमेव मुख्यत्वेनोपात्तमि-ति १ । तथा—(अपमज्जिय त्ति) अप्रमार्जिते अवस्थान-निषेधन-शयनोपकरण-निष्क्रपोच्चार्यदिप्रतिष्ठापने च करोति २ । तथा-दुष्प्रमार्जितचारी ३ । तथा—(अतिरिक्खेज्जासणि ४) अतिरिक्ता-अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्ताशय्यासनिकाः स च अतिरिक्तायां शय्यायां घृह्णाद्या-दिरुपायामन्येऽपि कार्पाटिकादय आवासयन्तीति तैः सहाधिकर-णसंभवादात्मपरावसमाधौ योजयतीति । एवमासनाधिक्येऽपि वाच्यमिति ५ । तथा—(रायणियपरिभासि त्ति) रात्तिकपरि-भाषी आचार्यादिपुज्यगुरुपरिभवकारी, अन्यो वा महान् कश्चि-जातिश्रुतपर्यायाद्वा शिष्ययति, तं परिभवति अवमन्यते, जात्यादि-

भिर्मदस्थानैः। अथ वा-“महरो अकुलीणोत्ति य, दुम्मेही दमगम-
द्वुक्किंत्ति। अवि अप्पन्नाभलद्धी, सीसो परिजवति आयरियं” १।
इति। एवं च गुरुं परिभवन् आहोपपातं वा कुर्वन् आत्मानमन्या-
ऽसमाधौ योजयत्येव। तथा-(येरोवघादंत्ति) स्वयिरा आ-
चार्यादिगुरुः, तान् आचारदोषेण शीघ्रदोषेणाऽवज्ञादिभिर्वोप-
हन्तीत्येवं शीलः, स एवं चेति स्वविरोपघातिकः ६। तथा-(जुतो-
वघातिपत्ति) भूतान्येकेन्द्रियादीनि तानि उपहन्तीति भूतोप-
घातिकः, प्रयोजनमन्तरेण, ऋद्धिरसातगौरवैर्वा, विभूषानिमित्तं
वा, आध्याकर्मादिकं वा, पुष्टालम्बनेऽपि समाददानः, अन्यद्वा ता-
दृशं किञ्चित् ज्ञापते वा करोति, येन भूतोपघातो भवति ७।
(संजवणेत्ति) संज्वलतीति संज्वलनः-प्रतिकृणं रोपणः, स
च तेन क्रोधेनात्मीयं चारित्र्यं सम्यक्त्वं वा हन्ति, दहति वा
ज्वलनवत् ८। तथा-(कोहणेत्ति) क्रोधनः सकृत्कुद्धोऽन्यन्त-
कुद्धो भवति, अनुपशान्तवैरपरिणाम इति भावः ९। तथा-(पि-
ट्ठीमंसपत्ति) पुष्टिमांसाशकः, पराहमुखस्य परस्यावर्णवादका-
री, अगुणज्ञापति भावः, सचैवं कुर्वन् आत्मपरोपज्ञयेपां च इह
परत्र चासमाधौ योजयत्येव। अपिशब्दात् साक्षाद् वा वक्ति इति
ज्ञेयम् १०। तथा-(अजिक्खणं २ ओहारिपत्ति) अमीक्षणं अमीक्षणं
अवधारयिता शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्येव-एवमेवायमि-
त्येवं वक्ता। अथ वा-अवधारयिता परगुणानामपहारकारी यथा
तथाहासादिकमपि परं प्रति तथा जणति दासश्चोरस्त्वमित्या-
दि ११। तथा-(एवाइं इत्यादि) नवानामनुपपन्नानामधिकर-
णानां कलहानामुत्पादयिता, तांश्चात्पादयन् आत्मानं परं चाऽ-
समाधौ योजयति। यथा-

“ वादो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाणाणं ।
साहुपदोसो संसा-रवद्धणो साधिकरणस्स ॥ १ ॥
अतिभणिपे अभाणिपे वा, तावो भेदो चरित्तजीवाणं ।
रूवसरिसं ण सीलं, जिम्हं ति य सो चरति लोपे ॥ २ ॥
जं अज्जियं समीख-ल्लपहि तवणियमवंभमइपहि ।
मा हु तयं छिज्जेदिह, बहुवत्तासागपत्तेहि ” ॥ ३ ॥

अथवा नवानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि तेषाम्-“न वावत्त-
कलहो विण, पढति अवच्छलउ दंसणे हीणो। जह कोवाडि-
वुद्धी, तह हाणी होति चरणे वि” ॥ १ ॥ नवोत्पादयिता १२।
(पाराणां इति) पुरातनानां कलहानां कृमिनव्यवशमितानां
मरितत्वेनोपशान्तानां पुनरुदीरयिता भवति १३। तथा-(अ-
काले सज्जायेत्यादि) अकाले स्वाध्यायकारकः। तत्र
कालः-उत्काञ्चिकसूत्रस्य दशवैकान्तिकादिकस्य संध्याचतुष्टयं
त्यक्त्वाऽनवरतं भणनम्, कालिकस्य पुनराचाराङ्गादिक-
स्योद्घाटापौरुषी यावद्भणनम्। अवसानयामं च दिवसस्य,
निशायाश्चाद्ययामं च त्यक्त्वा अपरस्त्वकाल एव। अकाल-
स्वाध्यायकरणदृष्ट्यानि तु बृहत्कल्पवृत्तिर्तोऽवसेयानि नेह
विस्तरत्वाहुक्तानि १४। तथा-(ससरक्खपाणीत्यादि)
सरजस्कपाणिपादो-यः सचेतनादिरजोगुणितेन दीयमानां
भिक्षां गृह्णाति। तथा-यो हि स्थण्डिलादौ संक्रामन् न पादौ
प्रमाणं। अथ वा-यस्तथाविधकारणे सचित्तादिपृथिव्यां
कल्पादिनाऽनन्तरितायामासनादि करोति स सरजस्क-
पाणिपाद इति। स चैवं कुर्वन् संयमे असमाधिना आ-
त्मानं संयोजयति १५। तथा-(सहकरोत्ति) शब्दकरः
सुप्तेषु प्रहरमात्रादूर्ध्वं रात्रौ महता शब्देनोत्थापस्वाध्याया-
दिकारको गृहस्थभाषाभाषको वा वैरात्रिकं वा कालग्रह-

णं कुर्वन् महता शब्देनोत्थापति; दोषाश्चेहोत्तराध्ययनवृत्ते-
रवसेयाः १६। तथा-(भेदकरोत्ति) येन कृतेन गच्छस्य
ज्ञेयो जवति तत्तदातिष्ठते (भङ्गकरोत्ति) तत्करोति येन
गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते, तद्भाषते वा १७। तथा-(कलह-
करोत्ति) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति; स चैवं
गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानं भवति इति वाक्यशेषः १८।
तथा-(सूरप्पमाणोऽं) सूरप्रमाणजोऽं सूर्योदयादस्तसम-
यं यावद्दशनपानाद्यद्यवहारी; उचितकाले स्वाध्यायादि न क-
रोति, प्रतिप्रेरितो रूपयति, अजीर्णे च बह्वाहारोऽसमाधिः संजाय-
त इति दोषः १९। तथा-(एसणासमिपे असमिपे यावि
भवतित्ति) एषणायां समितश्चापि संयुक्तोऽपि नानेपणां परि-
हरति, प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते। अनेपणी-
यं मां परिहरन् जीवोपरोधि वर्तते। एवं चात्मपरयोरस-
माधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विशतितममिति २०। (एवं
खल्वित्यादि) एधमित्यनन्तरोक्तेन विधिना, खल्वुर्वाक्या-
लङ्कृतौ। शेषं व्याख्यातार्थम्। (इति वेमिंत्ति) इति परिसमा-
प्तिवैयर्थ्यं वा। एतानि असमाधिस्थानानि अनेन वा प्रकारेण
ब्रवीमीति गणधरादिगुरुपदेशतो, ननु स्वोद्रेक्तयेत्युक्तोऽनुगमः;
नयप्रस्तारस्त्वन्यतोऽवसेयः। दशा० १ अ०। स०। आ०
चू०। आव० ॥

असमाधिमरण-असमाधिमरण-न०। वालमरणे, आनु०।

असमाधिमरणे दोषाः-

जे पुण अट्टमईया, पयलियसन्ना य वक्कभावा य।

असमाधिना मरति उ, न हु ते आराहगा भणिया ॥ १० ॥

ये पुनर्जीवाः, अष्टौ मरुस्थानानि येषां तेऽष्टमादिकाः। ‘अत्तमई-
आ’ इति पाठे आर्त्तं आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्तमतिकाः स्वा-
र्थे इकक्षप्रत्ययः, प्रचलिता विषयकपायादिभिः सम्मार्गात्प-
रिप्रभृता संज्ञा बुद्धिर्येषां ते प्रचलितसंज्ञाः। प्रगलितसंज्ञा वा,
चः समुच्चये; वञ्चयते संवलयते आत्मा परो वा ऐहिकपारत्रिक-
लाजयेन स वक्कः, कुटिलो वा भावो येषां ते तथा, यत पूर्ववि-
धा शन एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरूपेण म्रियन्ते। नहु नैव,
हुरेवायं, ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः। आनु०।

असमाधिमरणज्जाण-असमाधिमरणध्यान-न०। ‘असमाधिना
एप म्रियताम’ इति चिन्तनमसमाधिमरणध्यानम्। स्कन्दकाचार्य
प्रतिकुष्ठं प्रथमं, यन्त्रे पीलजतो भवपालकस्येव दुर्धर्मान्, आनु०।

असमाधिय-असमाहित-त्रि०। अशोभने योजन्ते दृष्टे च।
सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सत्साधुप्रद्वेषित्वात् शुभाध्यवसा-
यरहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। मोक्षमार्गाद्याद् भावस-
माधेरसंभृततया दूरेण वर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

असमिक्खियकारि (ए)-असमीक्षितकारिन्-त्रि०। अना-
लोचितकारिणि, दशा० ६ अ०।

असमिक्खियप्पन्नावि (ए)-असमीक्षितप्रज्ञापिन्-पुं०।
अपर्यालोचितानर्थकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। “अणू-
हितं पुद्वावरं इहपरलोगगुणदोषं वा जो सहसा भणइ, सो
असमिक्खियप्पन्नावी”। नि० चू० ८ उ०। (‘चञ्चल’ शब्दे
एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

असमिक्खियजासि (ए)-असमीक्षितभाषिन्-पुं०। अपर्या-
लोचितवक्त्रि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

असमिय-असमित-पु० । समितिषु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ वि० ।
ईर्यादिषु समितेषु अनुपपुक्ते, कला० ६ कु० । "एसा सामश्रो
भलिश्रो, अश्रो पुण असामश्रो इमो होइ । सो काइयभोमादी,
एकेकं नवरि पडिरेह ॥१॥ सव तिन्नि तिन्नि पेहे, घेति किमंथं
निविट्ठाहो ।" आचा० ४ अ० ।

असम्पत्-त्रि० । असङ्गते, आचा० ।

असमियं ति मसमाणस्स एगदा ममिया होइ, समियं
नि मसमाणस्स एगदा असमिया होइ ।

कस्वचिन्निश्यात्वलोदश्यानुविद्धस्य-कथं पौद्वलिकः शब्दः ?
इत्यादिकनसन्धानाति मन्थमानस्यैकदेति मिथ्यात्वपरिमाणप-
रामतया शङ्काविचिकित्साऽऽद्यगवे गुर्वायुपदेशतः सम्यगिति
भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ॥

अतमोदय-असमवहत-त्रि० । दण्डादुपरते, अकृतसमुद्घाते
च । अ० १ ए श० ३ उ० ।

असम्पत्त-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुद्वेगे, आव० ४ अ० ।

असम्पत्तपरीसह-असम्यक्त्वपरीपह-पु० । असम्यक्त्वसहनका-
रिणि, सर्वपापस्यानेभ्यो विरतः प्रकृततपोऽनुष्ठायी निस्सङ्गश्चादं,
तथापि धर्माधर्मान्मदवनारकादिनां नेत्ते, अतो मृग्य समस्तमेत-
दिति असम्यक्त्वपरीपहः । तत्रैवमात्रोच्यते-धर्माधर्मौ पुण्यपापत्र-
कणौ यदि कर्मरूपौ पुद्गलात्मकौ, ततस्तयोः कार्यदर्शनादनुमानस-
माधिगम्यत्वम् । अथ क्माक्रोधादिकौ धर्माधर्मौ, ततः स्वानुभव-
त्वादात्मपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः । देवास्त्वत्यन्तसुखासक्त-
त्वान्मनुष्यत्रोके च कार्यानां वादमनुष्यभावाच्च न दर्शनगोचरमा-
यन्ति । नारकास्तु तीव्रवेदनार्ताः पूर्वेकृतकर्मोदयनिगडबन्धनव-
शीकृतत्वाद्स्वतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोचयतोऽसम्यक्त्वप-
रीपहजयो भवति । आव० ४ अ० ।

अमयं-अस्त्रयम्-अव्य० । परत इत्यर्थे, अ० ६ श० ३२ उ० ।

अमरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्था० ४ उ० १ उ० ।
स्वार्थप्रापकवर्जिते, प्रउ० १ आश्र० द्वार । शरणम्—
नाशम्भमाने, आचा० । शरणं गृहं, नात्र शरणमस्तीति अशरणः ।
संयमे, "सांगे अदक्खू पताइं सांउलाइं गच्छति णायपुत्ते
असरणाप" आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अमरणभावणा-अशरणभावना-स्त्री० । आत्मनोऽशरणत्व-
पर्यालोचनायाम्, प्रव० । सा च अशरणभावना—
"पितुर्मातुः प्रीतुस्तनयदयितादेशे पुरतः,
प्रभृताऽऽधिव्याधिव्रजनिर्गाडिताः कर्मचरैः ।
रटन्तः विप्यन्ते यममुखगृहात्तस्तनुभृताः,
हहा ! कष्टं लोकः शरणार्थितः सास्यति कथम् ? ॥ १ ॥
ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविसरं ये मच्चनक्रिया-
प्रावीण्यं प्रथयन्ति ये च दधति ज्योतिः कलाकौशलम् ।
तेऽपि प्रेतपतेरमुष्य सकलत्रैलोक्यविध्वंसन-
व्यग्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागदभ्यसाविज्जति ॥ २ ॥
नानाशस्त्रपरिश्रमोऽष्टमरैरावेष्टिताः सर्वतो,
गन्तुमममदान्धमिन्धुरगर्तः केनाप्यगम्याः क्वचिन् ।
शक्रश्रीपतिचक्रिणोऽपि महसा कानाशदासैर्विला-
दाकृता यमवेश्म यान्ति हह हा ! निस्त्राणता प्राणिनाम् ॥ ३ ॥
उद्दण्डं ननु दण्डसात्सुरगिरिं पृथ्वीं पृथुच्छत्रसान् ,

ये कर्तुं प्रजविष्णवः कुशमपि क्लेशं विनैवात्मनः ।

निःसामान्यबलप्रपञ्चचतुरास्तीर्थकरास्तेऽप्यहो !

नैवाशेषजनौघघस्मरमपाकर्तुं कृतान्तं क्रमाः ॥ ४ ॥

कलत्रमित्रपुत्रादि-क्षेदप्रहनिवृत्तये ।

इति शुद्धमतिः कुर्यादशरण्यत्वभावनाम् ॥ ५ ॥ प्रव० ६९ उ० ।

अशरणभावना चैवम्—

"इन्द्रोपेक्षादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्यानि गोचरम् ।

अहो ! तदन्तकातङ्के, कः शरण्यः शरीरिणाम् ?" ॥ १ ॥

शरणे साधुः शरण्यः । तथा—

"पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यताम् ।

अत्राणो नीयते जन्तुः, कर्मभिर्यमसञ्जान ॥ २ ॥

शोचन्ति स्वजनान्ऽन्तं, नीयमानान् स्वकर्मजिः ।

नेष्यमाणं न शोचन्ति, नात्मानं मूढबुद्धयः ॥ ३ ॥

संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलद्ज्वालाकरालिते ।

वने मृगार्भकस्येव, शरणं नास्ति देहिनः" ॥ ४ ॥ ध० ३ अधि० ।

असरणाप्येहा-अशरणाऽनुपेक्षा-स्त्री० । जन्मजरामरणभ-
यैरभिदुते व्याधिवेदनाप्रस्ते जिनवरवचनादन्यत्रास्ति शरणं
क्वचित्लोकं इत्येवमशरणस्य (अत्राणस्य) अनुपेक्षायाम्, स्था०
४ उ० १ उ० ।

असरिम-असदृश-त्रि० । विसदृशे, "असरिसज्जनउल्लावा न-
हु सदियवा" आव० ४ अ० ।

असरिसेवगगहण-असदृशवेगग्रहण-न० । आर्यादेरनार्यादि-
नेष्यकरणे, पं० व० ४ द्वार ।

असरीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरोऽशरीरः । औदा-
रिकादिपञ्चविधशरीररहिते, आ० म० द्वि० । सिद्धे, "असरीरा
जीवधणा दंसणनाणोवउत्ता" औ० । स्था० ।

असरीरपरिवद्ध-अशरीरप्रतिवद्ध-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, म०
१८ श० ३ उ० ।

असलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । अकीर्तिसाधने असाधुवादे,
ग० २ अधि० ।

अमलिद्वप्लाव-असलिलप्लाव-पुं० । अजलप्लावे, जलं वि-
ना रेक्षित्वर्थः । तं० ।

असलिलप्लावह-अमलिद्वप्लावह-पुं० । अजलप्रवाहे, तं० ।

अमवणया-अश्रवणता-स्त्री० । अनाकर्णने, "इमस्स धम्मस्स
असवणयाप" ध० ३ अधि० ।

असव्वउड्झण-असद्व्ययोज्झन-न० । पुरुषार्थानुपयोगिधि-
त्तविनियोगत्यागं, न सद्व्ययोऽसद्व्यस्तत्र धनोऽङ्गनम् ।
द्रा० १२ द्वा० ।

असव्वव-असर्वव-न० । न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तदसर्वघ्नम् । के-
वलज्ञानावरणकेवत्रदर्शनावरणरहिते आवरणे, पं० सं० ४ द्वार ।

अमच्चाणु-असर्वज्ञ-त्रि० । लुप्तस्थे अर्वाङ्गदर्शिनि, "सर्वज्ञाऽ
साविनि ह्येतत्, तत्कालेऽपि बुभुसुभिः । तज्ज्ञानक्षेयविक्रान्त-
रहितैर्गम्यते कथम् ?" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ण्)-असर्वदर्शिन्-त्रि० । लुप्तस्थे, द्रा० २३ द्वा० ।

असव्वय-अमद्वय-न० । असत्ये, "मिच्च स्ति या, वितह स्ति

वा, असञ्चंति वा, असव्यंति वा, अकरणीयंति वा एगट्टा”
आ० चू० १ अ० ।

असव्वसि (ए)-असर्वाशिन-त्रि० । अल्पजोतिनि, व्य०
१ उ० ।

असह-असह-त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । जीत० ।

असहाय-असहाय-त्रि० । एकाकिनि, वृ० ४ उ० । आ० म० ।

अविद्यमानसाहाये, यः कुतीर्थिकप्रेरितोऽपि सम्यक्त्वादावचलनं
प्रति परसाहाय्यमनपेक्षमाणस्तस्मिन्, दशा० १० अ० । आ० ८ ।
असहिज्ज-असाहाय्य-त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहा-
य्यमनपेक्षमाणे, उपा० १ अ० (‘आणंद’ शब्दे द्वितीयजागे
११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं वक्ष्यते)

असहीण-अस्वाधीन-त्रि० । अस्ववशे, “असहीणेहि सारही-
चाउरंगेहि” । दशा० ८ अ० ।

असहु-असह-त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० भा० । सुकुमारे
राजपुत्रादौ प्रव्रजिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । असमर्थे, आद्य० ।
ग्वाने, नि० चू० १ उ० ।

असहिणु-त्रि० । राजादिदीक्षिते सुकुमारपादे, वृ० ३ उ० ।

असहुवग-असहवर्ग-पुं० । असमर्थे राजपुत्रादौ, थ० २ अ-
धि० । पं० चू० ।

असहेज्ज-असाहाय्य-पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिक-
मत्यन्तसमर्थत्वाद् येषां तेऽसाहाय्याः । आपद्यपि देवादिसाहा-
य्यकानपेक्षेषु स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृ-
त्तिषु, भ० २ श० ५ उ० । ये पाखण्डिभिः प्रारब्धाः सम्य-
क्त्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमपेक्षन्ते स्वयमेव
तत्प्रतीयातसमर्थत्वाज्जिनशासनत्यन्तज्वितत्वात् तेषु तथा-
विधेषु श्रावकेषु, भ० २ श० ५ उ० ।

असागारिय-असागारिक-त्रि० । सागारिकसंपातग्रहिते प्रदेशा-
दौ, व्य० ३ उ० । गृहस्थेनादृश्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

असाधा (हा) रण-असाधारण-त्रि० । अनन्यसदृशे, दर्श० ।
उपादानहेतौ, अने० २ अधि० ।

असाधारणाणंगति-असाधारणानैकान्तिक-पुं० । नित्यः श-
ब्दः, श्रायणत्वात् हत्यादिसपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वेन संशयजनकं
हेत्वाज्ञासे, रत्ना० ६ परि० ।

असाय (त)-असात-न० । न०त० । दुःखे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०
१५ उ० । असुखे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्था० । असात-
वेद्यकर्मणि-सविपाकजे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ६ उ० । मनःप्रतिकूले
दुःखे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप्रतियुत्पादके, अनु० । असा-
तवेदनीयकर्मोदये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । “अविहे असाए पस-
त्त । तं जहा-सोइंदियअसाए जाव नोइंदियअसाए” । स्था० ६
गा० । असातवेदनीये कर्मणि, उत्त० ३३ अ० । असाताख्यवेदनीये
वेदनीयकर्मजेदप्रभवायाम् (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) दुःखरूपा-
यां वेदनायाम्, स्त्री० । प्रज्ञा० ३४ पद ।

असायज्जण-अस्वादन-न० । अननुमनने, व्य० २ उ० ।

असा (सा) यण-आश्वायन-पुं० । अश्वपिंमन्ताने, जं० ७
वक्र० ।

असायवहुल-असातवहुल-त्रि० । दुःखप्रचुरे, संथा० । “हज्जो
११२

असायवहुल मणुस्सा” । दशा० १ चू० । (एतच्च तृतीयं स्थानम्
‘अट्टादसट्टाण’ शब्देऽत्रैव भागे २४६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

असाय (या) वेयण्णज्ज-असातवेदनीय-न० । असातं दुः-
खं, तदपेण यद् वेद्यते, नदसातवेदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । पं०
सं० । प्रज्ञा० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स० ३७ सम० । वेदनीयक-
र्मभेदे, स्था० ७ गा० ।

असार-असार-त्रि० । साररहिते तं० । “उग्गमुप्पायणासुखं,
एसणादोसवज्जियं । साहारणं अयाणंतो, साहू होइ असार-
ओ” ॥१॥ आद्य० ।

असारंभ-असारंभ-पुं० । प्राणिवधार्थमसंकल्पे, “सत्तविहे
असारंभे पसत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसारंजे जाव अजी-
वकाइयअसारंभे” । स्था० ७ ठा० ।

असावगपाउग-अश्रावकप्रायोग्य-त्रि० । न० त० । श्रावकानु-
चिते, थ० २ अधि० ।

असावज्ज-असावज्ज-त्रि० । अपापे, “असावज्जमककसं”
दशा० ७ अ० । “अहो जिणेहि असावज्जा, विच्ची साट्टण देसि-
या” । दशा० ५ अ० । चौर्यादिगर्हितकर्मानालम्बने प्रशस्तमनोवि-
नयजेदे, स्था० ७ गा० ।

असासय-अशाश्वत-त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छब्द-
भवतीति शाश्वतं, ततोऽन्यदशाश्वतम् । आचा० १ श्रु० ५ अ०
२ उ० । अशाश्वद्भवस्वभावे, रा० । प्रतिक्षणं विचारणे, प्रश्न० ५
आश्र० द्वार । कृणं कृणं प्रति विनश्वरे, तं० । आ० म० । भ० । आचा० ।
अपराऽपरपर्यायप्रापिते, स्था० १० गा० । उत्त० । स्वप्नज्जाल-
सदृशे अनित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । संसारिणि, स्था० २
ठा० १ उ० । “अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च ।
देवासुरमनुष्याणां-मृक्षयश्च सुखानि च” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८
अ० । जन्ममरणादिसहितत्वात् संसारिणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
(जावप्राधान्येन तु) विनाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अविद्यमानं
शाश्वतमस्मिन्नित्यशाश्वतः संसारः । अशाश्वतं हि सकल-
मिह राज्यादि । तथा हारिलवाचकः-

“चत्रं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारः परिजनो,

नृपत्वाद् यद्वभ्यं चलममरसौख्यं च विपुलम् ।

चलं रूपारोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,

जना दृष्टा यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः” ॥१॥ उत्त० ८ अ० ।

असाहीण-अस्वाधीन-त्रि० । परायत्ते, आचा० १ श्रु० २
अ० १ उ० ।

असाहु-असाधु-त्रि० । अमङ्गले, वृ० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अनर्थो-
दयहेतौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निर्वाणसाधकयोगापे-
क्षया (दशा० ७ अ०) आज्ञाविकादौ कुदर्शननिनि, नि० ३ वर्ग ।
असंयते, स्था० ७ गा० । परजीवनिकायवधारणवृत्ते औद्देशि-
कादिजोतिनि अग्रहचारिणि, स्था० १० गा० । अविशिष्टकर्म-
कारिणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असाहुकम्म-असाधुकर्म-न० । क्रूरकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० १ उ० । जन्मान्तरकृताऽशुभानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

असाहुदिदि-अमाधुदिदि-पुं० । परतीर्थिकदृष्टौ, व्य० ४ उ० ।

असाधुधम्म--असाधुधम्म-पुं० । यस्तुदानस्तानतर्पणादिके अ-
संयतधर्मे, सूत्र० १ ध्रु० १४ अ० ।

असाधुया-असाधुना-स्त्री० । कुगतिगमनादिकरूपायाम्, सूत्र०
१ ध्रु० ४ अ० २ उ० । कोहस्वभावतायाम्, उक्त० ३ अ० ।

असाधुवं-असाधुवत्-अव्य० । असाधुमर्हति यत्प्रेक्षणं सुकुटिभ-
ङ्गादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना तुल्यं वर्तने, उक्त० ३ अ० ।

असि-असि-पुं० । खड्गे, उपा० २ अ० । नि० चू० । जी० । रा० ।
व्य० । विपा० । सं० । औ० । "असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था" । असिमु-
द्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ताः ।
"प्रहरणात्" ॥ ३११२४ ॥ इति समस्यन्तस्य पालिकः परनिपा-
तः । जी० ३ प्रति० । अस्युपलक्षितं सेवकपुरुषे, "असिमपीकृषी-
वाणिस्यवर्जिताः" तथासिनोपलक्षिताः सेवकाः पुरुषाः असं-
यमाः, मण्युपपन्नैः लेखनजाविनः मण्यः, कृपिरिति-कृपिकर्मो-
पजीविनः, वाणिज्यमिति-वाणिजजनोचितवाणिज्यकरोपजी-
विनः । तं० । असिना यो देवो नारकान् क्षिणति सोऽसिरेव ।
परमाधार्मिकनिकाये, भ० ३ श० ६ उ० ।

हन्ये पाए ऊरु, बाहु मिरा पाय अंगमंगाणि ।

उिंदेति पगामं तू, असि णेरइए निरयपाला ॥ ७७ ॥

(हत्व्यादि) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदय-
विनो नारकानेवं कदर्थयन्ति ! तद्यथा-हस्तपादोरुबाहुशिरः-
पाश्वर्दान्यङ्गप्रत्यङ्गानि क्षिणन्ति प्रकाममत्यर्थं खण्डयन्ति, तु-
शब्देऽपरदुःखोत्पादनविशेषणार्थं इति ॥ सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० १
उ० । वाराणस्यां सरिद्वेदे, ती० ३८ कल्प० ।

असिकुन्तित्य-अमिकुण्ठतीर्थ-न० । स्वनामख्याते मथुरास्थे
तीर्थे, ती० ९ कल्प० ।

अमिक्खग-अशिक्षक-त्रि० । चिरप्रवर्जिते, दश० १ अ० ।

असिमुग्गधार-अमिजुरधार-पुं० । कूरस्येव धारा यस्य असेः ।
अतिच्छेदके खड्गे, उपा० २ अ० ।

असिखेदग-असिखेटक-न० । असिना सह फलके, प्रश्न०
१ आश्र० द्वार ।

असिचर्मपाय-असिचर्मपात्र-न० । स्फुरके, भ० । "असिचर्म-
पायं गहाय" । असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा-असिश्च खड्गः,
चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गोऽशकं वा असिचर्मपात्रं, तद् गृ-
हीत्वा । "असिचर्मपायहत्यकिञ्चगणं अप्पाणं ति" । असि-
चर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः
आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः, अतस्तेन आत्मना । अथ-
वा-असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्त-
हृत्वाकृतः, तेन । प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । अथवा-असिचर्मपात्र-
स्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्रातो यः स तथा, तेन । भ० ३
श० ५ उ० ।

असिष्ट-अशिष्ट-त्रि० । अनाख्याते, नि० चू० २ उ० । अक-
थिते, वृ० २ उ० । आ० म० ।

असिणाण-अस्नान-त्रि० । अवियमानस्नाने, पंचा० १० वि-
व० । "अनिणाणवियडमोई" अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः ।
उपा० १ अ० । आचा० ।

"तम्हा तेण सिणायंति, सीएण उसिणैण वा ।

जावजीवं वयं घोरं, असिणाणमहिच्छिया" ॥ ६३ ॥

दश० ६ अ० । ध्रु० ।

असित्य-असिक्त्य-न० । सिक्त्यवर्जिते पानकाहारे, पञ्चा०
५ विव० ।

असिद्ध-असिद्ध-पुं० । संसारिणि, न० । जी० । स्था० । सूत्र० ।
हेत्वाभासजदे, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमजिदधति-

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः
॥ ४७ ॥

अन्यथाऽनुपपत्तेर्विपरीताया अनिश्चितायाश्च विरुद्धनैकान्ति-
कत्वेन कीर्तयिष्यमाणत्वादिद् हेतुस्वरूपा प्रतीतिद्वयैकैवान्य-
थाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा छप्या; हेतुस्वरूपा प्रतीतिश्चेयम-
ज्ञानात्, सन्देहाद्, विपर्ययाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अथामुं भेदतो दर्शयन्ति-

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य वादिप्रतिवादिमुदायस्यासिद्धः; अन्यतरस्य वादि-
नः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यज्ज्ञेदं वदन्ति-

उजयासिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ ५० ॥

चक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषः, तस्य भावश्चाक्षुषत्वं, तस्मात् ।
अयं च वादिप्रतिवादिनांरुभयोरप्यसिद्धः, आवणत्वाच्च-
ब्दस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति-

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरागो, विज्ञानेन्द्रियायु-
निरोधप्रक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

ताथागतं हि तरूणांमचेतन्यं साध्यन् विज्ञानेन्द्रियायुनि-
रोधलक्षणमरणरहितत्वादिति हेतूपन्यासं कृतवान् । स च
जैतानां तरुचैतन्यवादिनामसिद्धः । तदागमे दुर्मेध्यापि विज्ञाने-
न्द्रियायुग्रां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इदं च प्रतिवाद्यसिद्धये-
क्षयोदाहरणम् । वाद्यसिद्धयेक्षया तु-अचेतनाः सुखादयः, उ-
त्पत्तिमत्त्वादिति । अत्र हि वादिनः साङ्ख्यस्योत्पत्तिमत्त्वप्र-
सिद्धम्; तेनाविर्भावमात्रस्यैव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

नन्विद्यमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैश्चक्रे-स्वरूपेणासिद्धः, स्वरू-
पं वाऽसिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः,
चाक्षुषत्वादिति । ननु चाक्षुषत्वं रूपादावस्ति, तेनास्य व्यधिक-
रणासिद्धत्वं युक्तम् । न । रूपाद्यधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् ।
शब्दधर्मिणि चापदिष्टं चाक्षुषत्वं न स्वरूपतोऽस्तीति स्वरूपा-
सिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावसिद्धश्चेति व्यधि-
करणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, पटस्य कृतकत्वादिति ।
ननु शब्देऽपि कृतकत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् ।
नचान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । मीमांसकस्य वा
कुर्वतो व्यधिकरणासिद्धम् । २। विशेष्यमसिद्धं यस्यासौ विशे-
ष्यासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वा-
त् । ३। विशेषणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वं सति
सामान्यवत्त्वात् । ४। पक्षैकदेशासिद्धपर्यायः पक्षभोगेऽसिद्धत्वा-
त् भागासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् ।
ननु च वाद्यादिसमुत्पन्नशब्दानामपीश्वरप्रयत्नपूर्वकत्वात् कथं
भागासिद्धत्वम् ? नैतत् । प्रयत्नस्य तीव्रमन्दादिनावानन्तरं श-

वदस्य तथाभावो हि प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विवक्षितम् । नचेश्वरप्रयत्नस्य तीव्रादिभावोऽस्ति, नित्यत्वात् । अनभ्युपगतेश्वरं प्रति वा ज्ञायासिद्धत्वम् । १५ । आश्रयासिद्धः; यथा-अस्ति प्रधानं, विश्वस्य परिणामिकारणत्वात् । १६ । आश्रयैकदेशासिद्धः; यथा-नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः, अकृतकत्वात् । अत्र जैनस्य पुरुषः सिद्धो, न प्रधानेश्वरौ । १७ । सन्दिग्धाश्रयासिद्धः; यथा-गोत्वेन संदिह्यमाने गवये आरण्यकोऽयं गौः, जनदर्शनात्पन्नत्वात् । १८ । सन्दिग्धाश्रयैकदेशासिद्धः; यथा-गोत्वेन संदिह्यमाने गवये गवि च आरण्यकावेतौ गौवौ, जनदर्शनात्पन्नत्वात् । १९ । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यसिद्धः; यथा-आश्रयदेवोः स्वरूपनिश्चये आश्रये हेतुवृत्तिसंशये मयूरवानयं प्रदेशः, के-कार्यतोपेतत्वात् । २० । आश्रयकदेशसंदिग्धवृत्त्यसिद्धः; यथा-आश्रयहेतोः स्वरूपनिश्चये सत्यवाऽऽश्रयैकदेशे हेतुवृत्तिसंशये मयूरवन्तवेतौ सहकारकर्णिकारौ, तत एव । २१ । व्यर्थविशेषणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । २२ । व्यर्थविशेष्यासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । २३ । संदिग्धासिद्धः; यथा-धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिद्वाह-वह्निमानयं प्रदेशः, धूमवत्त्वात् । २४ । संदिग्धविशेष्यासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । २५ । संदिग्धविशेषणासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । २६ । एकदेशासिद्धः; यथा-प्रागभावो वस्तु, विनाशोत्पादधर्मकत्वात् । २७ । विशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावम्, द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वात् । अत्र जैनान् प्रति तिमिरे ह-व्यातिरेको न सिद्धः । २८ । विशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावं, कार्यत्वे सति द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् । २९ । संदिग्धैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । अत्र लिङ्गदनिश्चिते रागित्वे संदेहः । ३० । संदिग्धविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वे सति पुरुषत्वात् । ३१ । संदिग्धविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, पुरुषत्वे सति रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । ३२ । व्यर्थैकदेशासिद्धः; यथा-अग्निमानयं पर्वत-प्रदेशः, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । ३३ । व्यर्थविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात् । अत्र बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यस्यापि रूपत्वादिसामान्यस्य गुणत्वाभावाद्यभिचारपरिहाराय सामान्यवत्त्वे सतीति सार्थकम्; प्रमेयत्वं तु व्यर्थम् । ३४ । व्यर्थविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वात् । ३५ । एवमन्येऽप्येकदेशासिद्धादिद्वारेण नृयांसोऽसिद्धज्ज्ञेदाः स्वयमभ्युह्य वाच्याः । उदाहरणेषु चैतेषु दूषणान्तरस्य सम्भवतोऽप्यप्रकृतत्वादनूपदर्शनम् । त एते भेदा भवद्भिः कथं नाभिहिताः ? ॥

उच्यते—एतेषु ये हेत्वाज्ञासतां जजन्ते, ते यदोजयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते, तदोजयसिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वन्यतरासिद्धत्वेन तदाऽन्यतरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धस्तु हेत्वाभासो न भवत्येव । व्यधिकरणादपि पित्रोर्ब्राह्मण्यात्पुत्रे ब्राह्मण्यानुमानदर्शनात्, नटजटादीनामापि ब्राह्मण्यं कस्मान्नायं साध्यतीति चेत् ? । पक्षधर्मोऽपि पर्वतद्रव्यता; तत्र चित्रभानुं किमिति नानुमापयति ? इति समानम्; व्यभिचारा-

त्वेन, तदपि तुल्यम् । तत्पित्रोर्ब्राह्मण्यं हि तन्ममकम् । एवं तर्हि प्रयोजकसम्बन्धेन सम्बन्धो हेतुः कथं व्यधिकरणः ? इति चेत् । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धाभावाद् वैयधिकरण्यमुच्यते, तदानीं समतमेवैतदस्माकं दोषः, किन्तु प्रमेयत्वादयोऽपि व्यधिकरणा एव वाच्याः स्युर्न व्यभिचार्यादयः । तस्मात्पक्षान्यधर्मत्वाभिधानादेव व्यधिकरणो हेत्वाभासस्ते सम्मतः, स चागमक इति नियमं प्रत्याचक्ष्महे । अथ प्रतिभो-हशक्त्याऽन्यथाभिधानेऽपि ब्राह्मणजन्यत्वादित्येवं हेत्वर्थं प्रति-पद्य साध्यं प्रतिपद्यते इति चेत्, एवं तर्हि प्रतिभोहशक्त्यैव पटस्य कृतकत्वादित्यभिधानेऽपि पटस्य कृतकत्वादनित्यत्वं दृष्टम् । एवं शब्दस्यापि तत एव तदस्त्विति प्रतिपत्तौ नायमपि व्यधिकरणः स्यात्; तस्माद्यथापात्तो हेतुस्तथैव तन्ममकत्वं चिन्तनीयम् । नच यस्मात्पटस्य कृतकत्वं तस्मात्तदन्येनाप्यनित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्तिः । अतोऽसौ व्यभिचारादेवागमकः । एवं काककाण्यैरपि । कथं वा व्यधिकरणोऽपि जलचन्द्रो नत्रश्चन्द्रस्य, कृत्तिकोदयो वा शकटोदयस्य गमकः स्यात् ? इति नास्ति व्यधिकरणो हेत्वाज्ञासः । आश्रयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति सर्वज्ञः, चन्द्रोपरागादिज्ञानान्यथाऽनुपपत्तेरित्यादेरपि गमकत्वनिष्पत्त्यात् । कथमत्र सर्वज्ञधर्मिणः सिद्धिः ? इति चेत्, असिद्धिरपि कथमिति कथ्यताम् ? । प्रमाणागोचरत्वादस्येति चेत्, एवं तर्हि तवापि तत्सिद्धिः कथं स्यात् ? । ननु को नाम सर्वज्ञधर्मिणमन्यथात्, येनैव पर्यनुयोगः सोपयोगः स्यादिति चेत् ? । नैवम् । प्रमाणागोचरत्वादित्यतः सर्वज्ञो धर्मी न भवतीति सिद्धान्तिरिति चेत् । अन्येदमम्बरं प्रति निशिततर-तरवारिव्यापारप्रायं प्रवेत् । एवं च-

“ आश्रयासिद्धता तेऽनुमाने न चेत्;
साऽनुमाने मदीये तदा किं भवेत् ? ।
आश्रयासिद्धता तेऽनुमानेऽस्ति चेत्,
साऽनुमाने मदीये, तदा किं भवेत् ? ” ॥

यदि त्वदीयानुमानेनाश्रयासिद्धिरस्ति, तदा प्रकृतेऽप्यसौ माजुदः धर्मिण उभयत्राप्येकयात्; अन्यस्यास्य प्रकृतानुपयोगित्वात् । अथास्ति तत्राश्रयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एषा कथं मदीयेऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च--

“ विकल्पाद्धर्मिणः सिद्धिः, क्रियतेऽथ निषिध्यते ।

द्विधाऽपि धर्मिणः सिद्धिर्विकल्पात्ते समागता ” ॥ १ ॥

द्वयमपि नास्मि करोमीत्यप्यनभिधायम्, विधिप्रातिषेधयोर्युगपद्विधानस्य प्रतिषेधस्य चासंभवात् । यदि च द्वयमपि न करोमि तदा व्यक्तममूल्यकथं कथं नोपहृत्साय जायसे ? तथातायामाश्रयासिद्धिदुष्कावनाऽघटनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि प्रमाणमन्वेषणीयम्, तदा प्रमाणसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरमन्विष्यताम् । अन्यथा तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्याप्तं प्रमाणान्वेषणेन, अहमहमिकया प्रमाणलक्षणपरीक्षणं परीक्षाणामकस्तीकरणीयं च स्यात्; तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धेः । तथा च चाक्षुषत्वादिरपि शब्दानित्यत्वे साध्यं सम्यग्हेतुरेव भवेदिति चेत् । तदत्यल्पम् । विकल्पाद्धि सत्त्वासत्त्वसाधारणं धर्मिमात्रं प्रतीयते, न तु तावन्मात्रेणैव तदस्तिवस्यापि प्रतीतिरस्ति; यतोऽनुमानाऽनर्थक्यं भवेत् । अन्यथा पृथिवीधरसात्ताकारे कृशानुमत्त्वसाधनमप्यपार्थक्यं भवेत् । तस्याग्निमतोऽनग्निमतो वा प्रत्यक्षैरेव प्रे-

कृणात् । अग्निमत्त्वाऽनग्निमत्त्वविशेषशून्यस्य शैलमात्रस्य प्रत्य-
क्षेण परिकल्पेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत् ; तर्ह्यस्तित्वना-
स्तित्वविशेषशून्यस्य सर्वज्ञमात्रस्य विकल्पेनाऽऽकलनात् क-
थमवाप्यनुमानानर्थक्यं स्यात् ? । अस्तित्वनास्तित्वव्यतिरेकेण
कीदृशी सर्वज्ञमात्रमिदिरिति चेत् ? ; अग्निमत्त्वानग्निमत्त्वव्य-
तिरेकेण ज्ञाणधर्ममात्रमिदिरिति कीदृशी ? इति वाच्यम् । ज्ञा-
णधर्मोऽयमित्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेवेति चेत्, इतरत्रापि सर्वज्ञ इ-
त्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेव साऽस्तु ; केवलमेका प्रमाणलक्षणापपन्न-
त्वात् प्रामाणिकी, तद्वन्मा तु तद्विपर्ययाद्वैकल्पिकीति । ननु कि-
मनेन दुर्भगाऽभरणभारायमाणेन विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्या-
दिति चेत् ? । तदयुक्तम् । यतः प्रामाणिकोऽपि पदतर्कीपरित-
कं कर्कशशुभ्रविशेषसङ्ख्यावद्विराजिराजसभायां खरविषाण-
मस्ति नास्ति वेति केनापि प्रमर्षद्वेषोद्वेगकन्धरेण सापेक्ष प्र-
त्याहृतोऽवश्यं पुरुषाभिमानो किञ्चिद् दृष्टाद्, न तूष्णीमेव पु-
ष्ण्यात् ; अप्रकृतं च किमपि प्रत्यक्षं सनिकारं निरसयितुं ; प्र-
कृतभाषणं तु विकल्पसिद्धं धर्मिणं विहाय काऽन्या गतिरास्ते ? ।
अप्रामाणिकं वस्तुनि मूकवाचकयोः कतरः श्रेयानिति स्वय-
मेव विवेचयन्तु तार्किकाः ? इति चेत् । ननु भवान् स्वोक्तमेव
तावद्विकचयन्तु, मूकैव श्रेयसीति च पृच्छतेति निष्प्रमाणकं
वस्तुनीति विकल्पसिद्धं धर्मिणं विहाय मूकताधर्मं च विदधा-
तात्पनामज्ञशेखरः । तस्मात्प्रामाणिकेनापि स्वकित्तैवैव कापि
विकल्पसिद्धिः । नच सैव सर्वत्रास्तु, कृतं प्रमाणेनेति वाच्यम् ।
तदन्तरेण नियतव्यवस्थाऽप्योगात् । एका विकल्पयति अस्ति स-
र्वज्ञः, अन्यस्तु नास्तीति किमत्र प्रतिपद्यताम् ? । प्रमाणमु-
द्राव्यवस्थापिते त्वन्यतरस्मिन् धर्मे दुर्लभाऽपि कः किं
कुर्यात् ? । प्रमाणसिद्धयर्हे तु धर्मिणि सर्वज्ञखपुष्पादौ
विकल्पसिद्धिरपि साध्यासौ ; तार्किकचक्रचक्रवर्ति-
नामपि तथाव्यवहारदर्शनात् । एवं शब्दे चाक्षुषत्वमपि
सिद्धेदिति चेत् ? । सत्यम् । तद्विकल्पसिद्धं विधाय यदि त-
त्रास्तित्वं प्रमाणेन प्रसाधयितुं शक्यते, तदानीमस्तु नाम तत्सि-
द्धिः ; नचैवम् ; तत्र प्रवर्तमानस्य सर्वस्य हेतोः प्रत्यक्षप्रति-
क्षिप्तपञ्चत्वेनाक्रीकाराहत्वात् ; ततः कथमस्तित्वाप्रसिद्धौ
शब्दे चाक्षुषत्वमिदिरिति चेत् ? । एवं च नाश्रयासिद्धौ हेत्वाभासः
समस्तीति स्थितम् ॥ नचैव विश्वस्य परिणामिकारणत्वादि-
व्यम्यापि गमकता प्रामोति ; अस्य स्वरूपासिद्धत्वात् प्रधा-
नासिद्धौ विश्वस्य तत्परिणामित्वासिद्धिः । एवमाश्रयैकदेशासि-
द्धोऽपि न हेत्वाभासः । तर्हि प्रधानात्मानो नित्यावकृतकत्वा-
दित्ययमप्यात्मनोऽपि प्रधानेऽपि नित्यत्वं गमयेत् । तदसत्यम् ।
नित्यत्वं खल्वद्यन्तशून्यमदृष्टत्वं, आद्यन्तविरहमात्रं वा वि-
वर्जितम् ? । आद्येऽन्यन्ताभावेन व्यभिचारः, तस्याकृतकस्या-
प्यनदृष्टत्वात् । द्वितीये सिद्धसाध्यता ; अन्यन्ताभावरूपतया
प्रधानस्याद्यन्तगहितत्वेन तदभाववादिनिर्गपि स्वीकारात् ।
तर्हि देवदत्तवान्त्यै वक्रवन्तौ, वक्रतुत्वादिन्ययं हेतुरस्तु ।
नैवम् । न वात्येयो वक्रवन्तः, अमत्त्वादित्यनेन तद्विधानात् ।
तदसत्यं च साधकप्रमाणाभावात् सुप्रसिद्धम् ॥ संदिग्धा-
श्रयार्मादिरपि न हेतुदोषः ; हेतोः साध्यनाऽविनाशप्रसम्भवात् ।
धर्म्यमिदं पञ्चदोषः स्यात् । साध्यधर्मविशिष्टतया प्रसिद्धो
हि धर्मो पञ्चः प्रोच्यते, नच संदेहास्पदाभूतस्यास्य प्रसि-
द्धिर्मास्तीति पञ्चदोषेण वास्य गतत्वात् हेतोर्दोषो वाच्यः । सं-
दिग्धाश्रयैकदेशासिद्धोऽपि नैव । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यामि-

होऽपि न साधुः ; यतो यदि पक्षधर्मत्वं गमकत्वाङ्गमङ्गीकृतं
स्यात् तदा स्यादयं दोषः ; नचैवम् । तत्किमाश्रयवृत्त्यनिश्चयेऽपि
केकायितान्तियतदेशाधिकरणमयूरसिद्धिर्भवतु ? । नैवम् । कं-
कायितमात्रं हि मयूरमात्रेणैवाविनाभूतं निश्चितमिति तदेव ग-
मयति । देशविशेषविशिष्टमयूरसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यै-
व केकायितस्याविनाभावावसाय इति केकायितमात्रस्य तद्व्य-
भिचारसंभवाद्वागमकत्वम् । एवमाश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्ति-
रप्यासिद्धो न जयतीति । व्यर्थविशेषणविशेषासिद्धावपि ना-
सिद्धनेदौ ; वक्तुरकांशलमात्रत्वाच्चनवैयर्थ्यदोषस्य । एवं व्य-
र्थैकदेशासिद्धादयोऽपि वाच्याः । ततः स्थितमेतद्-एतेष्वसि-
द्धभेदेषु संजयन्त उभयासिद्धान्ततरासिद्धयोरन्तर्भवन्ति । न-
त्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति । तथाहि-परणासिद्ध
इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमा-
णाभावादुभयोरप्यसिद्धः । अथाचक्षीत, तदा प्रमाणस्यापक्ष-
पातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः । अथवा-यावद् न परं प्रति प्रमा-
णेन प्रसाध्यते तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत् ; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम् ;
नहि रत्नादिपदार्थस्त्वतोऽप्रतीयमानस्तवन्तमपि कालं मु-
ख्यतस्तदाभासः । किञ्च-अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभास-
स्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह
इति युक्तम्, नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद् युक्तम् ; निग्रहान्तत्वाद्वाद्-
स्थिति । अत्रोच्यते-यदा वादी सम्बन्धहेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि
तत्समर्थनन्यायविस्मणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा
प्रतिबोधयितुं न शक्नोत्यसिद्धतामपि नाहुमन्यते, तदाऽ-
न्यतरासिद्धत्वं नैव निगृह्यते । तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि प-
रस्य सिद्ध इत्येतावतैवाप्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्र-
हाधिकरणम् । यथा-साङ्ख्यस्य जैनं प्रत्यचेतनाः सुखादयः,
उत्पत्तिमत्त्वाद्वद्वदिति । ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनं सूप-
पादं स्यात् ? ; तथा च प्रमाणप्रसिद्ध्यासिक्तं वाक्येन पर-
स्यानिष्ठापादनाय प्रसञ्जनं प्रसङ्गः । यथा-यत्सर्वधैकं तन्ना-
नेकत्र वर्तते, यथैकः परमाणुस्तथा च सामान्यमिति कथमने-
कव्यक्तिवर्ति स्यात् ? ; अनेकव्यक्तिवर्तित्वाभावं व्यापकमन्तरेण
सर्वधैक्यस्य व्याप्यस्यानुपपत्तेः । अत्र हि वादिनः स्याद्वादिनः
सर्वधैक्यमसिद्धमिति कथं धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्तित्वाभा-
वस्य गमकं स्यादिति चेत् ? तदयुक्तम् । एकधर्मोपगमे ध-
र्मान्तरोपगमसंदर्शनमात्रतत्परत्वेनास्य वस्तुनिश्चायकत्वाभा-
वात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्यैव मौलहेतोस्तन्निश्चायकत्वात् । प्र-
सङ्गः खल्वत्र व्यापकविरुद्धोपपन्नधिरूपः । अनेकव्यक्तिवर्ति-
त्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम्, एकान्तैकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्ति-
त्वविरोधात् । एकान्तैकरूपस्य सामान्यस्य प्रतिनियतपदार्था-
धेयत्वसम्भवात्परस्य स्वभावस्याऽभावेनाऽन्यपदार्थाधेय-
त्वासंभवात् तद्भावस्य तदभावस्य चाऽन्योन्यपरिहारस्थितल-
क्षणत्वेन विरोधादिति सिद्धमनेकत्र वृत्तेरनेकत्वं व्यापकम् ;
तद्विरुद्धं च सर्वधैक्यं सामान्ये संमतं तर्वात नाऽनेकवृत्ति-
त्वं स्याद्विरोधैक्यसद्भावेन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्या-
प्यस्यानेकवृत्तित्वस्याऽवश्यं निवृत्तेः । नच तन्निवृत्तिरन्युप-
गमेति लब्धावसरः प्रसङ्गविपर्ययास्यो विरुद्धव्याप्तोपपन्नधिर-
रूपोऽत्र मौलो हेतुः ; यथा-यदनेकवृत्ति तदनेकम् । यथा-अ-
नेकजातगतं तालफलम्, अनेकवृत्ति च सामान्यमिति एक-
त्वस्य विरुद्धमनेकत्वम् । तेन व्याप्तमनेकवृत्तित्वम् ; तस्योपल-
ब्धिर्हि मौलत्वं चास्यैतदपेक्षयैव प्रसङ्गस्यापन्यासात् । न चा-

यमुभयोरपि न सिद्धः; सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात् । ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायकः । ननु यद्यमेव वस्तुनिश्चायकः कङ्कीक्रियते, तर्हि किं प्रसङ्गोऽप्यासेन ? प्रागेवायमेवोपन्यस्यताम् । निश्चयाङ्गमेव हि घृणाणां वादी वादिनामवशेयवचनो भवतीति चेत् । मैवम् । मौल्यहेतुपरिकरत्वात् । अवश्यमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः कश्चिन्निश्चाययितुमिष्टो, निश्चायश्च सिद्धहेतुनिमित्त इति यस्तत्र सिद्धो हेतुरिष्टस्य व्याप्यव्यापकज्ञावसाधने प्रकारान्तरमेवैतत् । यत्सर्ववैकं तन्नानेकत्र वर्तते इति व्याप्तिदर्शनमात्रमपि हि बाधकं विरुद्धधर्माध्यासमाक्षिपतीत्यन्योऽयं साधनप्रकारः । एवं च तान्यतरासिद्धस्य कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

असिद्धिमग्न-असिद्धिमार्ग-न० । न विद्यते सिद्धेर्मोक्षस्य विशिष्टस्थानोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिन्तदसिद्धिमार्गम् । सिद्ध्यहेतौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

असिधारव्य-असिधाराव्रत-न० । असिधारायां संचरणीयमित्येवं रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिधाराग-असिधाराक-न० । असेधारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया, तदसिधाराकम् । असिधाराव्रतनाक्रमणीये, भ० । “ असिधारागं वयं चरित्वयं ” असेधारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया तदसिधाराकं, व्रतं नियमः, चरितव्यमासेवितव्यम्; तदेतत्प्रवचनानुपाखनं तद्वद् दुष्करमित्यर्थः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

असिधारागमण-असिधारागमन-न० । ७ त० । खड्गधारायां चवने; उक्त० १६ अ० ।

असिपंजर-असिपञ्जर-न० । खड्गशक्तिपञ्जरे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

असिपंजरग-असिपञ्जरगत-त्रि० । असिपञ्जरे शक्तिपञ्जरे गतः । खड्गशक्तिव्यग्रकरिपुपुरवेष्टिते, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

असिपत्त-असिपत्र-न० । असिः खड्गः, स एव पत्रम् । स्था० ४ गा० ४ उ० । असिः खड्गस्तस्य पत्रमसिपत्रम् । जी० ३ प्रति० । अस्याकारपत्रे, भ० ३ श० ६ उ० । खड्गे, ज्ञा० १६ अ० । स० । असिः खड्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्य यस्तत्समाश्रितनारकानसिपत्रपातनेन तिलशङ्खिनसि संऽसिपत्रः । पुं० । स० १५ सम० । ज० । नवमे परमाऽधार्मिके, प्रव० १८ द्वार ।

अत्र निर्युक्तिः-

कषोष्ठणसकरचरण-दण्डण्डफुगुगुखाहूणं ।

तेयण जेयण सारुण, असिपत्तधण्डहि पारुति ॥ ७९ ॥

(कषोष्ठ इत्यादि) असिप्रधानाः पत्रधनुर्मानो नरकपाला असिपत्रवन् वीभत्सं कृत्वा तत्र छायाऽर्थिनः समागतान् नारकान् वराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा-कर्णौष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनस्फिगूखाहूनां हेदनभेदनशातनादीनि विकुर्वितवाताहतचलिततरुपातितासिपत्रादिना कुर्वन्तीति । तदुक्तम्-“ विन्नपादचुजस्कन्धा-शिवन्नकर्णौष्ठनासिकाः । भिन्तलुशिरोमेढ्राः, जिन्नाकिहृदयोदराः ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० चू० ।

असिपज्जीवि (ए)-अशिल्पज्जीविन-पुं० । न शिल्पजीवी अशिल्पजीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकामकुर्वति, उक्त० १५ अ० । “ असिपज्जीवे अगिहे अमेत्ते ” उक्त० १५ अ० । २१३

असिमसिसारिच्छ-असिमपिसट्क-त्रि० । करवालकजलतुल्ये, तं० ।

असिय (त) असित-त्रि० । कृष्णे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । इयामे, जं० १ वृ० । अशुभे, विशेष० । अनववद्धे मूर्च्छामकुर्वाणे पक्षाधारपङ्कजवत्तत्कर्मणा दिह्यमाने, त्रि० । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । असङ्गं कुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

असियकेस-असितकेस-त्रि० । असिताः कृष्णाः केशाः येषां ते असितकेशाः । कृष्णकेशे (युगद्विके), जी० ३ प्रति० ।

असियग-असितक-न० । दात्रे, भ० १४ श० ७ उ० । आचा० ।

असियगिरि-असितगिरि-पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, “ स-व्याणि वि असियगिरिम्मि तावसा समं तत्थ गया ” आवा० ४ अ० । आ० चू० ।

असिरयण-असिरन्न-न० । चक्रवर्त्तिनां रत्नोत्कृष्टे खड्गे, स्था० ७ गा० १ स० ।

असिरावणिकूखननसम-असिरावणिकूखननसम-त्रि० । असिरायामवनो कूखननमखननमेव, अनुदकप्रासिफलत्वात्, तेन समम् । अविवक्षितफले, पो० १० विव० ।

असिलक्षण-असिद्वक्षण-न० । खड्गलक्षणपरिज्ञाने, जं० ।

तच्चैवम्-

“ अद्भुतशतोरुमुत्तम ऊनः स्यात् पञ्चविंशतेः खड्गः ॥

अद्भुलमानाद् ज्ञेयो, वणोऽशुभो विषमपदस्थः ” ॥ १ ॥

अद्भुतशतोरुमुत्तमः खड्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलेन ऊनः, अनयोः प्रमाणयोर्मध्यस्थितः । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु यः स्थितो व्रणः स अशुभः, अर्थादेव समाङ्गुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स शुभः, मिश्रेषु समविषमाङ्गुलेषु मध्यम इत्यादि । जं० ३ वृत्त० । ज्ञा० । औ० । असिद्वक्षणप्रतिपादके शास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

असिलाट्टि-असियट्टि-स्त्री० । खड्गवतायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । औ० ।

असिलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । असहोपोद्घटने, स्था० ४ अ० १ उ० ।

असिलील-अश्लील-न० । अमङ्गलजुगुप्सावीडाव्यञ्जके दोषविशेषे, यथा-नोदनार्थे चकारादिपदम् । रत्ना० ७ परि० ।

असिलेसा-अश्लेषा-स्त्री० । संपेदेवताके नक्षत्रभेदे, ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । “ असिज्ञेसाणक्खत्ते लुत्तारे पणत्ते ” । स्था० ७ ठा० ।

असिलोग-अश्लोक-पुं० । अकीर्त्तौ, स० ७ सम० । अयशसि, आव० ४ अ० । अप्रशंसायाम्, आव० १ अ० । अवर्णे, व्य० ६ उ० ।

असिलोगजय-अश्लोकजय-न० । अश्लोकोऽश्लाघाऽकीर्त्तिरित्यनर्थान्तरम् । स एव जयमश्लोकभयम् । अकीर्त्तिभये, यथा केनचिद्दानादिना श्लाघोपार्जिता, पश्चादपि तद्विनाशभीत्याऽकाम एव दानादौ प्रवर्त्तत इति । दर्श० । एवं हि क्रियमाणे महदयशो भवतीति तद्भयात् प्रवर्त्तत इति । स्था० ७ गा० । आव० । स्था० ।

असिर-अश्व-न० । बुद्धदेवताकृतज्वराशुपद्रवे, व्य० २ उ० ।
अघ० । व्यन्तरुते व्यसने, आव० ४ अ० । नि० चू० । मारौ,
व्य० ५ उ० ।

असिवण-अमिवन-न० । सङ्गाकारपत्रवने, प्रश्न० १ अध० द्वार ।

अमिवप्पमणी-अशिवप्रशमनी-स्त्री० । कृष्णवासुदेवस्य भे-
र्याम, " सा तथ तालिज्जइ जत्थ म्मासे सव्वरोगा पसमं-
ति जा ते सइ सुणति । " वृ० १ उ० ।

अमिवाइवेत्त-अशिवादिक्षेत्र-न० । अशिवादिप्रधानक्षेत्रे,
" विगिचियव्वमसिवाइवेत्तं च । " दश० १ अ० ।

अमिवावण-अशिवापन-न० । विनाशप्राप्तौ, व्य० ७ उ० ।

अमिह-अशिव-पुं० । यः शिरसो मुष्मन्मात्रं कारयति न च
रजोहृत्पदमरुकापात्रादिकं धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे,
व्य० ४ उ० ।

अमीड-अशीति-स्त्री० । विशतृन्शतसंख्यायाम्, प्रज्ञा० २
पद । तं० ।

अमीभरक-अमीभरक-पुं० । सीभरो नाम उल्लपन् परं बाल-
या सिञ्चति, तत्प्रतिपधादसंज्ञरः । प्राकृतत्वात्स्वार्थिकप्रत्ययवि-
धानदसंज्ञरकः । लाक्षया परमसिञ्चति, व्य० ३ उ० ।

अमीज्ञया-अशीज्ञता-स्त्री० । चारित्र्यजित्वे, प्रश्न० १ अध० द्वार ।

अमीलपन-अशीलवन्-त्रि० । सावययोगाविरते, अविरतमात्रे
च । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अमुअ-अमुन-त्रि० । अपुत्रे, उक्त० २ अ० ।

अमुआगड-अस्वाकृति-स्त्री० । न्यग्रोधपरिमण्डलादिषु अप्र-
शस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

अमुड-अशुचि-त्रि० । न० तं० । अपवित्रे, आ० म० प्र० । प्रज्ञा० ।

अस्पृश्यत्वात् (ज्ञा० ६ पद) आशौचवति, औ० । विष्टाऽसूक्ष्म-
प्रधानं, सूत्र० २ श्रु० २ उ० । दशा० । स्तान्प्रत्यक्षचर्यादिवर्जितत्वात्-
थाविधे मायौ, भ० ७ श० ६ उ० । सदाऽविशुद्धे, तं० । विष्टायाम्,
दशा० पि० । अमये, स्था० ९ ग० । जी० । " जम् अम्ह किंचि
अमुई भवति, तम् उदण्णं य मट्ठिआप अ पक्खालिअं सुई भ-
वति, एवं खवु अम्ह चाक्ख्वाचाक्ख्वायारा सुइसुसमायारा ज-
वेत्ता अभिसेअजलपुआण्णाणा अविग्गेण मग्गं गमिस्सामो" ।
औ० । ग० । तं० । "अमुइविनीणविगयवी भच्छादरिखणिजे" ।
अशुचिषु विलीनो मनसः कश्चिमलपरिणामहेतुः, (विगयं इति)
विप्रनष्टं तदभिमुखतया प्राणिनां गतं गमनं यास्मिन् स तथा,
वीभत्सया निन्दयाऽदर्शनीया वीभत्सादर्शनीयाः । ततो विशेषण-
समासः । अशुचिविलीनविगतवीभत्सादर्शनीयः । जी० ३ प्रति० ।
आदाराद्यर्थमयवहारिणि, व्य० ।

तमेवाशुचि इत्यत्रायभेदतः प्ररूपयति-

द्वे जावे अमुई, जावे आद्वारवदणादीहि ।

कपं कुण्ड अकपं, विविहेहि रागदोमेहि ॥

अशुचिर्दिष्टा-इत्येतो भावतश्च । तत्र याऽशुचिना त्रिगताश्रयो यो
वा पुराणमुच्यते पूतौ न निर्लेपयति स इत्येतोऽशुचिः । भावे
भावतः पुनराशुचिराहारव्यवधादिभिर्विविधैः रागद्वेषैः कल्प्य-
मकल्पं करोति । किमुक्तं भवति ?-आहारोपशिशयादिनिमित्तं

वन्दनार्थाचैवत्यादिना वा तोषितः; यदि वा एष मम स्वगच्छ-
संबन्धी स्वकुलसंबन्धी स्वगणसंबन्धीति रागतः, अथवा-न
मामेष वन्दते, विरूपं वा भाषितवानित्यादिवृत्ततोऽयं धृतोपदेश-
नाभाव्यमनाभाव्यं करोति, अनाभाव्यमप्यभाव्यम्, सोऽव्यव-
हारी भावतोऽशुचिः ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

द्वे जावे अमुई, दम्बमी विट्ठमादिद्विचो उ ।

पाण्डतिवायादीहि, भावमी होइ अमुईओ ॥

अशुचिर्दिष्टा-इत्ये भावे च । तत्र इव्यं-विष्टादिना लिप्तः,
आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः । जावे-प्राणतिपातादिभि-
र्भवत्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अश्रुति-त्रि० । शास्त्रवर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० ।

अमुइकुणिम-अशुचिकुणिम-न० । अपवित्रमांसे, तं० ।

अमुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-न० । अशुचीनां
जातकर्मणां करणे, भ० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्छेदादि-
करणे, कल्प० ५ क० ।

अमुइष्टाण-अशुचिस्थान-न० । विद्वद्धाने स्थाने, आव० ३
अ० । विष्टास्थाने, दर्श० ।

असुप्तभावणा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वप-
र्यालोचनायाम्, ध० ।

अशुचित्वभावनाऽपीत्यम्-

रमासृग्मांसपेदोऽस्थि-मज्जाशुकान्त्रवर्चसाम् ।

अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ? ॥१॥

नवस्रोतःस्रवद्भिस्त्रयसनिःस्पन्दपिच्छले ।

देहेऽपि शुचिसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥२॥

नवज्यो नेत्र २ श्रोत्र २ नासा २ मुख १ पायूपस्थेज्यः १ स्त्रो-
तेभ्यो निर्गमद्वारेभ्यः स्रवन् विस्त्र आमगन्धिर्यो रसः, तस्य निस्प-
न्दो निर्यासः, तेन पिच्छले विज्जिते । शेषं सुगमम् । ध० ३ अधि० ।

अथाशुचित्वभावना-

" लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।

काये तथा मन्त्राः स्युः-स्तदसावशुचिः सदा कायः ॥ १ ॥

कायः शोणितशुक्रमीवनभवो गर्भे जरावेष्टितो,
मात्राऽऽस्वादितस्त्राद्यपेयरसकैर्वृद्धिं क्रमात्प्रापितः ।

क्लिद्यक्षातुसमाकुलः कृमिरुजागणरूपदायास्पदः,
कैर्मयेत सुबुद्धिभिः शुचितया सर्वमैलेः संकुलः ? ॥ २ ॥

सुस्वादं शुभगन्धि मोदकदधिकीरेक्षुशाल्योदन-

क्षाक्कापर्पटिकाऽमृताघृतपुरस्वर्गच्युताऽऽघ्रादिकम् ।

भुक्तं यत्सहसैव यत्र मलसात्सेपयते सर्वतः,

तं कायं सकलाशुचिं शुचिमहो ! मोहान्धिता मन्वते ॥ ३ ॥

अम्भःकुम्भशतैर्वपुर्ननु बहिर्मुग्धाः शुचित्वं कियत्-
कालं लम्बयथोत्तमं परिमलं कस्तूरिकाद्यैस्तथा ।

विष्टाकोष्ठकमेतद्भूकमहो ! मध्ये तु शौचं कथं-
कारं नेष्यथ सूचयिष्यथ कथंकारं च तत्सौरजम् ? ॥ ४ ॥

दिव्याऽऽमोदसमृद्धियासितदिशः श्रीखण्डकस्तूरिका-

कर्पूराऽशुरुक्षुमप्रभृतयो भावा यदाश्लेषतः ।

द्वैगन्ध्यं दधति क्षणेन मलतां चाविभ्रत सोऽप्यहो !

देहः कैश्चन मन्यते शुचितया वैभ्यतां पश्यत ॥ ५ ॥

इत्याशौचं शरीरस्य, विभाव्य परमार्थतः ।

सुमतिर्ममतां तत्र, न कुर्वीत कदाचन ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार ।

असुइविज्ञ-अशुचिविल-न० । परमाऽपवित्रविचरे, तं० ।

असुइय-अशुचिक-त्रि० । अपवित्रस्वरूपे, तं० । ज्ञा० । स्था० ।

अमेध्ये मूत्रपुरीषादौ, स्था० १० ग० ।

असुइसंक्लिष्ट-अशुचिसंक्लिष्ट-न० । न० त० । अमेध्येन दुष्टे,
भ ६ श० ३३ उ० ।

असुइसमुपपन्न-अशुचिसमुपपन्न-त्रि० । अपवित्रोत्पन्ने, तं० ।

असुइसामंत-अशुचिसामंत-न० । अमेध्यानां मूत्रपुरीषादीनां
समीपं, स्था० १० ग० ।

असुखगइ-असुखगति-स्त्री० । अप्रशस्तविद्यायोगतौ, कर्म० ५
कर्म० ।

असुजाइ-असुजाति-स्त्री० । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिलक्षण-
सु अप्रशस्तगतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुज्झमाण-अशुध्यत्-त्रि० । अनपगच्छति, “ असुज्झमाणे
हेयविसेसा विसोहंति ” पञ्चा० १६ विव० । नि० चू० ।

असुद्ध-अशुद्ध-त्रि० । सावद्यं, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अवि-
शुद्धकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । “ असुद्धपरिणामसंक्लिष्टं
भणति ” । अशुद्धपरिणामेन संक्लिष्टं संक्लेशवत्तत् तथा भण-
न्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुद्धनाव-अशुद्धभाव-पुं० । अनन्तानुबन्ध्यादिसङ्गतमातृ-
स्थानरूपे अप्रशस्ताऽध्यवसाये, पञ्चा० १८ विव० ।

असुद्धसभाव-अशुद्धस्वभाव-पुं० । औपाधिके-उपाधिजनि-
तबहिर्जावपरिणमनयोग्ये, छव्या० १२ अध्या० ।

असुभ (ह)-अशुभ-त्रि० । अशोभने, दर्श० । अशुभरसगन्धरूप-
शयुके, जी० १ प्रति० । अशुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १
उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्था० ४ ग० ४ उ० । आच० ।
अपुण्यबन्धे, स्था० ५ ग० ६ उ० । अशर्मणे, दशा० ८ अ० ।

असुभ (ह) कम्मवहुल-अशुभकर्मवहुल-त्रि० । कलुष-
कर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुज (ह) किरियादिराहिय-अशुभक्रियादिरहित-त्रि० ।
अप्रशस्तकायचेष्टाप्रभृतिविक्रमे, आदिशब्दादश्रुदुष्टमनोयो-
गविकलतापरिग्रहः । पञ्चा० १३ विव० ।

असुज (ह) ऊरुमाण-अशुजाध्यवसान-न० । क्षिप्रप-
रिणामे, पञ्चा० १६ विव० ।

असुज (ह) णाम-अशुभनामन्-न० । अशुजानुबन्धि नामकर्मभे-
दे, उक्त० ३३ अ० । यदुद्यान्नाजरेधः पादादीनामवयवानामशुभ-
ता भवति, तदशुभनाम । पादादिना हि दृष्टः परो रूप्यतीति ते-
षामशुजत्वम् । कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत् । नैवम् ।
तस्य मोहनिबन्धनत्वात् । वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ततोऽ-
दोषः । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । अशुभनामकर्मणः प्रकृतयो मध्यम-
भेदविवक्षया चतुर्विंशद्भेदा भवन्ति । तद्यथा-नरकगति १ ति-
र्य्यगति २ एकैन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रियजा-
ति ६ ऋषभनाराच ७ नाराच ८ अर्द्धनाराच ९ कौलिका १०

सेवार्तकसंहनानि ११ न्यग्रोधमण्डलसंस्थान १२ सादि १३
वामन १४ कुञ्ज १५ हुण्डक १६ अप्रशस्तवर्ण १७ अप्रशस्त-
गन्ध १८ अप्रशस्तरस १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१
निर्यगानुपूर्वी २२ उपघात २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्था-
वर २५ सूक्ष्म २६ साधारण २७ अपर्याप्त २८ अस्थिर २९
अशुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वर ३२ अनादेय ३३ अवशोऽकीर्ति-
३४ रिनि । उक्त० ३३ अ० । प्रव० । अशुभमनादेयत्वादि । अपूज्ये
च कर्मज्जेदे, स्था० २ ग० ४ उ० ।

असुभ (ह) तरंहुत्तरणप्पाय-अशुभ (असुख) तरण्डो-
त्तरणप्राप-त्रि० । अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखं वा, तत्
एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तत् तरणं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं
पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो यः स तथा । पञ्चा० ६ विव० ।
कण्टकानुगतशाहमलीतरण्डोत्तरणतुल्ये, “ असुहतरंहुत्तर-
णप्पाओ दवत्थओ असमत्थो । ” प्रति० ।

असुज (ह) त-अशुजत्व-न० । अमङ्गलतायाम्, भ० ६
श० ३ उ० ।

असुभ (ह) दुक्खभाणि (ण्)-अशुभदुःखभागिन्-त्रि० ।
अशुजानुबन्धि यद् दुःखं, तद्भागिन् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
दुःखानुबन्धिदुःखभागिषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

असुभ (ह) विवाग-अशुजविपाक-न० । असातादित्वेनो-
दयवति कर्मणि, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

असुजा (हा)-अशुजा-स्त्री० । न विद्यते शुभो विपाको या-
सां ता अशुभाः । पं० सं० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकर-
सासु पापकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । (सर्वाश्चैताः ‘कम्म’
शब्दे तृतीयभागे २९२ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

असुभा (हा) गुण्पेहा-अशुजानुपेक्षा-स्त्री० । संसाराऽशुज-
त्वानुचिन्तने, भ० २५ श० ७ उ० । ग० । “ कोहो य माणो य अणि-
ग्गहीया, माया य लोभो य पवहुमाणा । चत्तारि एते कसिणा
कसाया, सिंचंति मूलाइ पुणभवस्स ” ॥ स्था० ४ ग० १ उ० ।

असुय-अश्रुत-त्रि० । अनाकर्णिते, स्था० ८ टा० । आच० ।
प्रवचनद्वारेणानुपलब्धे, भ० २ श० ८ उ० ।

असुयणिसिय-अश्रुतनिश्चित-न० । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहि-
तस्य तथातथाविधकृयोपशमज्ञावत् एवमेव यथावस्थितव-
स्तुसंस्पर्शमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुष्के, न० । (‘अभिणिबोहियणा-
ण’ शब्दे द्वितीयभागे २५३ पृष्ठेऽस्य व्याख्या वक्ष्यते)

असुर-असुर-पुं० । भवनपतिव्यन्तरवृक्षणे देवज्जेद्वये, स्था०
३ ग० १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादसुरकुमारे, प्रव०
१६४ द्वार । न० । प्रश्न० भ० । औ० । आ० । म० । सूत्र० । स्था० ।
असुरस्यानोत्पन्नेषु नागकुमारादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।
दानवे, अनु० ।

असुरकुमार-अमुरकुमार-पुं० । असुराश्च ते नवयौवनतया कु-
माराश्चेत्यसुरकुमाराः । स्था० १ टा० १ उ० । जवनपतिज्जेद्वेपु,
प्रज्ञा० १ पद । स्था० (‘ गण ’ शब्दे तदावासाः वक्ष्यन्ते)

नवरामिह-

जगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, नमं-
सइत्ता एवं वयासी-आत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पजाए

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति !। एणो इण्ठे समडे,
 एवं जाव अहे सत्तमाए पुढवीए मोहम्मस्स कप्पस्म अहे
 जाव । अत्थि एं भंते ! ईसिप्पजाए पुढवीए असुरकुमारा देवा
 परिवसंति !। एणो इण्ठे समडे । मे कहिं खाइ एं भंते ! असु-
 रकुमारा देवा परिवसंति !। गोयमा ! इमीसे रयणप्पमाए
 पुढवीए अमोत्तरजोयणसयसहस्समाहट्ठाए एवं असुरदे-
 ववत्तव्याए जाव दिव्वाइं जोगभोगाइं जुंजमाणा विहरंति ।
 अत्थि एं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविमए !।
 हंता अत्थि । केवइयाणं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे
 गतिविमए पणत्ते !। गोयमा ! जाव अहे सत्तमाए पुढवीए,
 तच्चं पुण पुढविं गया य गमिस्संति य । किं पत्तियं एं भंते !
 असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य !। गोयमा !
 पुव्वेयगिस्स वा वेयणउदीरणयाए पुव्वसंगइयस्स वेदण-
 उवमामप्पयाए एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया
 य गमिस्संति य । अत्थि एं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं
 तिरियगइविमए पणत्ते !। हंता अत्थि । केवइयाणं भंते !
 असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगइविमए पणत्ते !। गोयमा !
 जाव अमग्गेज्जा दीवसमुद्दा नंदिस्सरवरं पुण दीवं ग-
 या य गमिस्संति य । किं पत्तियं एं भंते ! असुरकुमारा
 देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य !। गोयमा !
 जे इमे अरहंता जगवंतो एएसि एं जेपणमहेसु वा नि-
 कखमणमहेसु वा एणुप्पायमहिमासु वा परिनिव्वाणमहि-
 मानु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं
 गया य गमिस्संति य । अत्थि एं भंते ! असुरकुमाराणं दे-
 वाणं उहूगइविमए !। हंता अत्थि । केवइयं च एं भंते !
 असुरकुमारा देवा एं उहू गतिविमए !। गोयमा ! जाव अ-
 च्छुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य । किं
 पत्तियं एं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया
 य गमिस्संति य !। गोयमा ! तेमिं देवाणं जवपच्चइयेरा-
 णुवंधे तेणं देवा विक्खेमाणा वा परियारेमाणा वा आ-
 यस्सवे देवे वित्तामंति, अहालहुस्सगाइं रयणाइं गहाय
 आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति । अत्थि एं जंते ! तेमिं
 देवाणं अहालहुस्सगाइं रयणाइं !। हंता अत्थि । मे कहमि-
 दाणिं पक्कंति, तओ मे पच्छा कायं पव्वहंति । पचू ! एं भं-
 ते ! तेमिं असुरकुमारा देवा तत्थ गया चव समाणं ताहिं
 अच्चेराहिं सच्चि दिव्वाइं जोगभोगाइं जुंजमाणा विह-
 रित्तए !। एणो इण्ठे समडे, तेणं तओ पस्सिनियत्तति, पडि-
 नियत्तिता इहमागच्छइ, इहमागच्छइत्ता जइ एं ताओ
 अच्चेराओ आदायंति परियाणंति । पचू ! एं भंते ! असुर-
 कुमारा देवा ताहिं अच्चेराहिं सच्चि दिव्वाइं भोगभोगाइं

भुंजमाणा विहरित्तए, अह एं ताओ अच्चेराओ नो आ-
 दायंति नो परियाणंति, एणो एं पचू ! ते असुरकुमारा देवा
 ताहिं अच्चेराहिं सच्चि दिव्वाइं जोगभोगाइं जुंजमाणा
 विहरित्तए । एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं
 कप्पं गया य गमिस्संति य । केवइकालस्स एं भंते ! असु-
 रकुमारा देवा उहू उप्पयंति० जाव मोहम्मं कप्पं गया य
 गमिस्संति य !। गोयमा ! अणंताहिं ओमप्पिणीहिं अणं-
 ताहिं अवसप्पिणीहिं समइक्कंताहिं अत्थि एं एमजवे लो-
 पच्छेरयचूए समुप्पज्जइ । जणं असुरकुमारा देवा उहू उप्प-
 यंति०, जाव सोहम्मं कप्पे ।

(एवं खलु असुरकुमारेत्यादि) एवमेनेन सूत्रक्रमेणेति । स चैवम-
 " उवरि एणं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेहा चेगं जोयणसहस्सं
 घज्जेत्ता मज्जे अट्ठत्तरे जोयणसयसहस्से, पत्थ एं असुरकु-
 माराणं देवाणं चासच्छि जवणावाससयसहस्सा भवन्तीति
 अक्खायमित्यादि" । (विउव्वेमाणा वत्ति) संरभेण महद्धेक्रिय-
 शरीरं कुर्वन्तः । (परियारेमाणा वत्ति) परिचारयन्तः परकीयदेवी-
 नां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः । (अहालहुस्सगाइं ति) यथेति
 यथोचितानि वस्तुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं
 गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथावस्तुस्वकानि । अथवा-लघूनि
 महान्ति वरिष्ठानीति च वृक्षाः । (आयाए त्ति) आत्मना, स्वयमि-
 त्यर्थः । (एगंतं ति) विजनं (अंतं ति) देशं (से कहमियाणिं
 पक्कंति त्ति) अथ किमिदानीं रत्नग्रहणानन्तरमेकान्तापक्रम-
 णकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिकाः, रत्नादातृणामिति । (तओ मे पच्छा
 कायं पव्वहंति त्ति) ततो रत्नादानात् (पच्छु त्ति) अन-
 तरं (से त्ति) एषां रत्नादातृणामसुराणां कायं देहं प्रव्यथन्ते
 प्रहरिः प्रघ्नन्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथितानां वेदना
 भवति जघन्यनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टतः परमासान् यावत् । ज० ३
 श० २ उ० ।

किं निस्साए एं जंते ! असुरकुमारा देवा उहू उप्पयंति०
 जाव सोहम्मं कप्पे !। गोयमा ! से जहा नामए इहं सवराइ वा
 वव्वराइ वा टंकणाइ वा जूचुयाइ वा पएहायाइ वा पुद्धि-
 दाइ वा एगं महं वणं वा गहूं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं
 वा पव्वयं वा एणीसाए सुमहल्लमवि अस्सबलं वा हत्थिवल्लं
 वा जोहवल्लं वा धणूवल्लं वा आगिहंति, एवमेव असुरकु-
 मारा देवा एणत्थ अरहंते वा अरहंतचेइयाणि वा अण-
 गारे भावियप्पणो निस्साए उहू उप्पयंति० जाव सोहम्मं
 कप्पे । सव्वे वि य एं भंते ! असुरकुमारा देवा उहू उप्प-
 यंति० जाव सोहम्मं कप्पे । गोयमा ! एणो इण्ठे समडे ।
 महिहिया एं असुरकुमारा देवा उहू उप्पयंति० जाव सोह-
 म्मे कप्पे ।

‘सव्वराइ वा’ इत्यादौ शवरादयोऽनार्यविशेषाः । [गहूं वत्ति] गर्त्ताः,
 [दुग्गं वत्ति] जलदुर्गादि, [दरिं वत्ति] दरीं पर्वतकन्दरां,
 [विसमं वत्ति] विषमं गर्तनदीयाकुलभूमिरूपम् । [निस्साए त्ति]
 निश्चयाऽऽश्रित्य [धणुवल्लं वत्ति] धनुर्धरवल्लं [आगल्लेति त्ति]
 आकलयन्ति-जेण्याम इत्यध्यवस्यन्तीति । [नत्थ त्ति] ननु

निश्चितमत्र इहलोके, अथवा (अरिहंते वा निस्साए उहं उ-
प्ययंति) तान्यत्र-तन्निधया अन्यत्र न, तां विन्यर्थः ॥ ज० ३
श० २ उ० ।

किंपत्तियं एं अंते ! असुरकुमारा देवा उहं उप्ययंति०
जाव सोहम्मे कप्पे ? । गोयमा ! तेसि एं देवाणं अहुणोवव-
सुगाण वा चरिमजवत्थाण वा इमेया रुवे अवजत्थिए० जाव
समुप्पज्झइ, अहो एं अम्हेहि दिव्वा देविह्ठी द्वाप्ता पत्ता
अजिसमप्पागया जारिमियाणं अम्हेहि दिव्वा देविह्ठी
० जाव अभिसमप्पागया तारिसियाणं सक्केणं देविदेणं दे-
वरप्पा दिव्वा देविह्ठी० जाव अजिसमप्पागया, जारिमि-
याणं सक्केणं देविदेणं० जाव अजिसमप्पागए तारिमियाणं
अम्हेहि वि जाव अभिसमप्पागए, तं गच्छामो एं सक्कस्स
देविदस्स देवरप्पो अंतियं पाउवज्जवामो पासामो, ताव सक्क-
स्स देविदस्स देवरप्पो दिव्वं देविहिं जाव अजिसमप्पा-
गयं पासतु, ताव अम्हेहि वि सक्कं देविदे देवराया दिव्वं
देविह्ठं जाव अजिसमप्पागयं तं जाणामो, ताव सक्कस्स दे-
विदस्स देवरप्पो दिव्वं देविहिं० जाव अभिसमप्पागयं जा-
णआं, ताव अम्हे वि सक्के देविदे देवराया दिव्वं देविहिं
आभिसमप्पागयं । एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा
उहं उप्ययंति० जाव सोहम्मे कप्पे ॥

(किंपत्तियं ति) कः प्रत्ययो यत्र तत् किंप्रत्ययम् । (अहु-
णोववसुगाणं ति) उत्पन्नमात्राणां (चरिमभवत्थाणं व ति)
भवचरमभागस्थानं, च्यवनावसरे इत्यर्थः । भ० ३ श० २ उ० ।
असुरदार-असुरदार-न० । सिञ्चायतनानां दक्षिणद्वारेषु, यत्रा-
सुरा वसन्ति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

असुरसुर-असुरसुर-त्रि० । सुरसुरेत्यनुकरणशब्दोऽयम् । ज०
७ श० १ उ० । न० ब० । सुरसुरेत्येवंचतुशब्दवर्जिते, प्रअ०
१ संव० द्वार ।

असुरिंद-असुरेन्द्र-पुं० । चमरं, बलित्ति च । स० । ('इंद' शब्दे
द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठेऽस्य व्याख्याऽवसेया)

आयप्पवायस्स एं पुव्वस्स सोद्वस वत्थू पप्पत्ता । चमर-
बलीणं उवारियालेण सोलस जोपणसहस्साइं आया-
मविक्खंभेणं पप्पत्ता ।

चमरवत्योर्दक्षिणोत्तरयोरसुरकुमारराजयोः (उवारियाले-
ण चि) चमरचञ्चावलीचञ्चाऽभिधानराजधान्योर्मध्योन्नता-
ऽवतरत्पार्श्वपीठरूपेऽवतारिकत्पणे षोडश योजनसहस्राण्य-
यामविष्कम्भाभ्यां वृत्तत्वात्तयोरिति । स० १६ सम० ।

असुरिंदवज्जिय-असुरेन्द्रवर्जित-त्रि० । चमरवद्विवर्जिते, ज०
१४ श० ए उ० । अष्ट० ।

असुलज-असुलभ-त्रि० । दुर्लभे, षो० ५ विव० ।

असुवण-अस्वपन-न० । निष्ठाऽऽलस्यघाते, वृ० १ उ० ।

असुवण-असुवर्ण-त्रि० । न सुवर्णमसुवर्णम् । अप्रशस्तवर्ण-
गन्धरस्यशेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुविर-अस्वापिन्-त्रि० । अनिष्ठावौ, नि० चृ० १० उ० ॥

असुसंधयण-असुसंदहन-न० । अपभनाराचादिषु अप्रशस्त-
संहननेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुह-असुख-न० । दुःखे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

असू-असूयन्-त्रि० । असूयतीति तच्छीलोऽसूयी । असूयधा-
तोस्ताच्छीलिकणकप्राप्तावपि बाहुलकाद् गिन् । असूयाऽस्त्य-
स्येति असूयी । मत्वर्थीय इति । गुणेषु दोषाऽऽविष्कारिणि,
स्था० १७ श्लो० ।

असूय-असूचित-त्रि० । व्यञ्जनादिरहिते, अकथयित्वा वा
दत्ते भोजनादौ, दश० ५ अ० २ उ० ।

असू-असूय-त्रि० । मत्सरिणि, 'अहो ! सुदृष्टं त्वदसूयदृष्टम्'
इतिपात्रे न किञ्चिद्वारु । असूयशब्दस्योदन्तस्योदयनाद्यैर्न्याय-
तात्पर्यपरिशुद्धादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति । स्था० १७ श्लो० ।

असू-असूत-त्रि० । अवलवति, सूत्र० १ ध्रु० ७ अ० ।

असूया-असूवा-स्त्री० । न० त० । परस्य दोषप्रतिषेधेनात्मन-
स्तादृशदोषभाषणे, "अप्पणो दोसं भासति ए परस्स, एसा अ-
सूया । यथा-" अम्हे मो ण्णहीणा, आसि आगारम्म इह्मिं
तुम्भे । एस असूया सूया, णवरं परवत्थुणिहेसो " ॥ १ ॥ नि०
चृ० १० उ० । (इत्यादि 'आगाढवयण' शब्दे द्वितीयभागे
६२ पृष्ठे वक्ष्यते)

असूया-स्त्री० । गुणेषु दोषाविष्करणे, "गुणेष्वसूयां दधतः प-
रेऽमी, मा शिश्रियन्नाम जवन्तमीशम् ।" स्था० ३ श्लो० ।

असूयावयण-असूयावचन-न० । अक्रमावचसि, दर्श० ।

असूरिय-असूर्य-पुं० । न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सोऽसूर्यः ।

बहुद्वान्धकारे कुम्भीपाकाकृतौ, सर्वस्मिन् वा नरकावासे, "अ-
सूरियं नाम महाभितावं, अधेतमं दुष्पतरं महंतं " । सूत्र० १
ध्रु० ५ अ० १ उ० ।

असूववाय-असूवपाद-त्रि० । दुर्घटे, "अतोऽन्यथां सत्त्वमसूव-
पादम् ।" स्था० २२ श्लो० ।

असेज्जायर-अशय्यातर-पुं० । वसतित्यागादिहेतुभिः शय्या-
तरत्वेनाव्यवहार्यं वसतिदातरि, नि० चृ० २ उ० । (तत्कार-
णानि 'सागारियपिड' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असेय-अश्रेयस्-न० । अकल्याणे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

असेल्लेसिपक्खिन्नग-अशैल्लेशीप्रतिपन्नक-पुं० । शैलेशीना-
माऽयोग्यवस्था, तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः । स्वार्थिकः
कप्रत्ययः । तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः । अयोग्य-
वस्थामनापन्ने सयोगिनि संसारिणि, प्रज्ञ० २१ पद ।

असेम-अशेष-त्रि० । शेषरहिते कृत्स्ने, सूत्र० २ ध्रु० ५ अ० ।

सकत्ते, पञ्चा० १५ विव० । सर्वस्मिन्, पञ्चा० १० विव० आचा० ।

असेससत्तहिय-अशेषसत्त्वहित-न० । समस्तप्राण्युपकारके,

"जिणिदवयण असेससत्तहियं " । पञ्चा० १६ विव० ।

असेहिय-असैक्षिक-न० । न० त० । सांसारिके, क्रियासिद्धौ

अज्ञाते आकस्मिके, सूत्र० ।

सुहं वा जइ वा पुक्खं, सेट्ठियं वा असेहियं ॥

सुखं सैद्धिकं-सिद्धौ मोक्षं भवं सैद्धिकं, यदि वा दुःखमसैद्धिकं सांसारिकम् । अथवा-सैद्धिकमसैद्धिकं च सुखम् । यथा-सुकृच्छन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं सैद्धिकम्, आन्तरं सुखमानन्दरूपमसैद्धिकम् तथा-सैद्धिकमसैद्धिकं च दुःखम् । यथा-कशा-ताडनाङ्गनादिक्रिया-सिद्धौ नवं सैद्धिकम्; ज्वराशिरोगातिशूलादिरूपमद्रोत्यमसैद्धिकं दुःखम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । असोच्च-अशोक-पु० । कङ्कालीनामके एकास्थिकवृक्षभेदे, श्रौ० । प्रज्ञा० । कल्प० । स्था० । अशोकादयः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो विशेषणम्-“ कियहासेएइ वा ” रा० । आच० । अनु० । मल्लि-जिनस्य चैत्यवृक्षोऽशोकः । स० । चम्पायां स्वनामख्याते पाञ्च-नर्थे, ती० १० कल्प० । पूर्वजन्ते चतुर्थबलदेवजीवे, स० । ति० । चतुःसप्ततितमे महाप्रहे, “ दो असोगा ” । स्था० २ उ० ३ उ० च० प्र० । सू० प्र० । कल्प० । अशोकवनदेवे च, जी० ३ प्रति० । वातशोके, त्रि० । वाच० ।

अमोचचन्द-अशोकचन्द्र-पु० । श्रेणिकपुत्रे कूणिके, स च पितुः श्रेणिकस्य पूर्ववैरौति दास्या अशोकवाटिकायामुज्जित इत्यशोकचन्द्रनामाऽभवत् । आ० चू० ४ अ० । आव० । ती० । (‘कूणि-य’ शब्दे चैतद् दर्शयिष्यते) “ राया तए असोचचन्दए वेसावि नगरि गहेत्थि ” आ० म० प्र० । आ० चू० । (‘परिणामिया’ ‘कूलयालुक’ शब्दयोभ्योदादरिष्यते)

असोचजख-अशोकयक्ष-पु० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उद्या-ने स्वनामख्याते यक्षे, विपा० २ श्रु० ३ अ० ।

असोचदत्त-अशोकदत्त पु० । साकेतनगरे स्वनामख्याते इभ्ये, य-स्य समुद्रदत्तसागरदत्तनामानौ आतरौ । दर्श० ।

अमोचराय-अशोकराज-पु० । चम्पायां वासुपूज्यजितेन्द्रपुत्रम-द्यचनुपतिपुत्रीलक्ष्मीकृत्तिजातरोहिणीनाम्न्या अष्टभ्रातृभगिन्याः स्वयंवरे वृते पत्न्यौ, ती० ३५ कल्प० ।

अमोचग्नया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यकुशाखाप्रसराभावा-स्तुताकृतिप्यशोकवृक्षेषु, जं० १ वृक्ष० ।

असोचवर्मिण-अशोकावतंसक-न० । सौधमादिविमानानां पूर्वस्थां दिश्यवतंसके; रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोचवण-अशोकवन-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

अमोचवणिया-अशोकवणिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने बहुवने, आ० म० द्वि० ।

अमोचवरपायव-अशोकवरपादप-पु० । अत्युत्कृष्टे अशोकवृक्षे, “ ईसि असोचवरपायवसमुवट्टिया उ ” जी० ३ प्रति० । रा० । असोचसिरि-अशोकश्री-पु० । ६ व० । चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे बिन्दुसा-रस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे वीरमोक्षानन्तरं चन्द्रगुप्तो-बिन्दुसा-रोऽशोकश्रीः-सम्प्रति; राजानश्चेत् उत्तरोत्तरं समृद्धिभाजो महा-राजा अभवन् । कल्प० ८ क० । “ चन्द्रगुप्तपुत्तो उ, बिन्दुसा-रस्य नत्तुश्रो । असोचसिरिणो पुत्तो, अशो जायइ कार्गणि ” ॥ ८६२ ॥ विशेष० । वृ० । नि० चू० ।

असोचा-अशोका-स्त्री० । धरणीनागकुमारो-ऽसत्ककात्रमहा-राजस्याऽप्रमहिष्याय, स्था० ४ उ० १ उ० । भीशीतलस्य शासनदेव्याय, सा च नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाश-युक्तदक्षिणपाणिद्वया फलाडशयुक्तवामपाणिद्वया च । प्रव० २७

द्वार । नलिनविजयकेशपुरीयुगले, नलिनो विजयश्च इशोका-पुः । जं० ४ वृक्ष० । ‘ दो असोगाश्रो ’ । स्था० २ उ० ३ उ० ।

असोच्चा-अश्रुत्वा-अव्य० । प्राकृतधर्मानुरागादेव धर्मफलादि-प्रतिपादकवचनमनाकर्ण्येत्यर्थे, भ० ।

अथाश्रुत्वा केवलपर्यन्तं लभते न वा ?-

रायगिह्रे० जाव एवं वयासी-असोच्चा एं भंते ! केवलस्सिस्स वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवास-गस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खि-यसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउ-वासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवद्विस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येगइए केवद्विपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ असोच्चा एं० जाव नो लभेज्ज सवणयाए ? । गो-यमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवद्विस्स वा० जाव तप्पक्खि-यउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणया ए । जस्स एं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवद्विस्स वा० जाव तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवण-याए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, तं चेव० जाव नो लभे-ज्ज सवणयाए । असोच्चा एं जंते ! केवद्विस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं वोहिं वुज्जेज्जा ? । गो-यमा ! असोच्चा एं केवद्विस्स वा० जाव अत्येगइए केवलं वोहिं वुज्जेज्जा, अत्येगइए केवलं वोहिं नो वुज्जेज्जा, से केणट्ठेणं भंते !० जाव नो वुज्जेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं दरिणवरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ, से एं असोच्चा केवद्विस्स वा० जाव केवलं वोहिं वुज्जेज्जा, जस्स एं दरिणवरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे ज-वइ, से एं असोच्चा केवद्विस्स वा० जाव केवलं वोहिं नो वुज्जेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो वुज्जेज्जा । असोच्चा एं जंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केव-लं मुंमे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा णं केवद्विस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगइए केवलं मुंमे जवित्ता आगाराओ अणगा-रियं पव्वएज्जा, अत्येगइए केवलं मुंमे जवित्ता आगारा-ओ अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो पव्व-एज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं धम्मंतराइयाणं कम्माणं ख-ओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवद्विस्स वा० जाव केवलं मुंमे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स एं धम्मंनराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव मुंने भवित्ता० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव नो पव्वएज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा ? । गोयमा ! अत्येगइए केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्येगइए नो आवसेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो आवसेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ से णं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा, जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव नो आवसेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो आवसेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव केवल्लेणं संजमेणं संजमेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा णं केवलस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्येगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगइए केवल्लेणं संजमेणं नो संजमेज्जा । से केणट्ठेणं जाव नो संजमेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव अत्येगइए नो संजमेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्स वा० जाव अत्येगइए केवल्लेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्येगइए केवलेणं जाव नो संवरेज्जा । से केणट्ठेणं जाव नो संवरेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं अज्जवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स एं अज्जवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो संवरेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलस्स वा० जाव केवल्लं आभिणिवोहियनाणं उप्पादेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्स वा० जाव केवल्लं आभिणिवोहियनाणं उप्पादेज्जा, अत्येगइए केवलं आभिणिवोहियनाणं नो उप्पादेज्जा । से केणट्ठेणं जाव नो उप्पादेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं आभिणिवोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवल्लं आभिणिवोहियनाणं उप्पादेज्जा, जस्स एं आभिणिवोहियनाणावरणिज्जा एं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से णं

असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोहियनाणं नो उप्पादेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो उप्पादेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव केवलं सुयनाणं उप्पादेज्जा ? । एवं जहा आभिणिवोहियनाणस्स वत्तव्वया भाणिया, तहा सुयणाणस्स वि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं चेव केवल्लं ओहिनाणं जाणियव्वं, नवरं ओहिनाणावरणिज्जाणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उप्पादेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमं भाणियव्वं, असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उप्पादेज्जा एवं चेव, नवरं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए जाणियव्वे, सेसं तं चेव । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवल्लनाणं नो उप्पादेज्जा ॥

बुद्धदन्तोद्देशक इति उक्तरूपाश्रयार्थः केवलधर्माज्ज्ञायन्ते, तद्वाऽश्रुत्वाऽपि कोऽपि लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—(रायगिहत्यादि) तत्र च (असोच्चा स्ति) अश्रुत्वा धर्मफलादिप्रतिपादकवचनमनाकार्यं, प्राकृतधर्मानुरागादेवेत्यर्थः (केवलस्स वस्ति) केवलिनो जिनस्य । (केवलिसावगस्स स्ति) केवल्लो येन स्वयमेव पृष्टः, श्रुतं वा येन तद्वचनमसौ केवल्लिआवकः, तस्य (केवल्लिउवासगस्स व स्ति) । केवल्लिन उपासनां विद्वधानेन केवल्लिनैवान्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्ल्युपासकः । (तप्पक्खियस्स स्ति) केवल्लिपाक्षिकस्य स्वयं बुद्धस्य (धम्मं ति) भुतचारित्ररूपम् (लभेज्ज स्ति) प्राप्नुयात् । (सवणयाए स्ति) श्रवणतया श्रवणरूपतया, श्रोतुमित्यर्थः । (नाणावरणिज्जाणं ति) बहुवचनं ज्ञानावरणीयस्य मतिज्ञानावरणादिभेदेनावग्रहमत्यावरणादिभेदेन च बहुत्वात् । इह च क्षयोपशमग्रहणाद् मत्यावरणद्वये तद्ग्राह्यं, न तु केवलावरणम्, तत्र कस्यस्यैव भावात्, ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमश्च गिरिसरिदुपलघोन्नान्यायेनापि कस्यचित्स्यात्, तत्सङ्गाधे चाश्रुत्वाऽपि धर्मं लभेत, श्रोतुं क्षयोपशमस्यैव तद्व्याभेदतरङ्गकारणत्वादिति । (केवलं बोहिं ति) बुद्धं सम्यग्दर्शनं (बुज्जेज्ज स्ति) बुध्यतानुभवंदित्यर्थः । यथा प्रत्येकबुद्धादिविमुत्तरत्राप्युदाहर्त्तव्यम् । (दरिसणावरणिज्जाणं ति) । इह दर्शनावरणीयं दर्शनमोदनीयमभिगृह्यते बोधः, सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात् । तल्लज्जस्व च तत्क्षयोपशमजन्यत्वादिति । (केवलं मुंने भवित्ता आगाराओ अणुगारियं ति) केवलं बुद्धं सम्पूर्णं वाऽन्तगारतामिति योगः । (धम्मंतराइयाणं ति) अन्तर्गतयो विद्मः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि, तेषां, वीर्यान्तरायचारित्रमोदनीयभेदानामित्यर्थः । (चरित्तावरणिज्जाणं ति) इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि विशेषतो ग्राह्याणि, मैथुनविरातिलक्षणस्य ब्रह्मचर्यवासस्य विशेषतस्तेषामेवावार्कत्वात् । (केवल्लेणं संजमेणं संजमेज्ज स्ति) इह संयमः प्रतिपन्नचारित्रस्य तद्वर्तित्वापरिहाराय यतनाविशेषः । (जयणावरणिज्जाणं ति) इह तु यतनावरणी-

यानि चारित्र्यविशेषविषयवीर्यान्तरायलक्षणानि मन्तव्यानि ।
(अज्जवसाणावरणिज्जाणं ति) संवरशब्देन धृताध्यवसायवृत्ते-
र्विवर्तितत्वात्तस्याश्च जायचारित्र्यरूपत्वेन तदावरणकृतोपश-
ममभ्यन्त्याध्यवसानाधरणीयशब्देनेह भावचारित्र्यावरणीयान्नु-
त्तानीति ।

पूर्वोक्तानेवार्थान् पुनः समुदायेनाह-

असोच्चा णं जंते ! केवलस्सि वा० जाव तप्पक्खियत्तवासि-
याए वा केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं वो-
हिं बुज्जेज्जा, केवलं मुंढे भवित्ता आगाराओ अणगारि-
यं पव्वएज्जा, केवलं वंजचेरं वामं आवसेज्जा, केवलेण
संजमेणं संजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आ-
भिणिबोहियनाणं उप्पामेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं
उप्पामेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पामेज्जा ? । गोयमा ! अ-
सोच्चा णं केवलस्सि वा० जाव उवासियाए वा अत्येगए
केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलप-
न्नत्तं धम्मं नो लजेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलं वोहिं
बुज्जेज्जा, अत्येगए केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा, अत्येगए
केवलं मुंढे नवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वए-
ज्जा, अत्येगए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्येगए केव-
लं वंजचेरवासं आवसेज्जा, अत्येगए केवलं० जाव नो
आवसेज्जा, अत्येगए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा,
अत्येगए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संव-
रेण वि अत्येगए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पा-
मेज्जा, अत्येगए० जाव नो उप्पामेज्जा, एवं० जाव
मणपज्जवनाणं अत्येगए केवलनाणं उप्पामेज्जा, अ-
त्येगए केवलनाणं नो उप्पामेज्जा । से केणट्ठेणं जंते !
एवं बुवइ असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्येगए केव-
लनाणं नो उप्पामेज्जा ? । गोयमा ! जस्म नाणावरणिज्जाणं
कम्माणं खओवसमे नो कडे नवइ, जस्म णं दंसणावरणि-
ज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे नवइ, जस्म णं धम्मे-
तराडयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, एवं चरि-
त्तावरणिज्जाणं जयणावरणिज्जाणं अज्जवसाणावरणि-
ज्जाणं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं० जाव मणपज्जव-
नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे नवइ,
जस्म णं केवलनाणावरणिज्जाणं० जाव खए नो कडे
नवइ, से णं असोच्चा केवलस्सि वा० जाव केवलपन्नत्तं
धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा०
जाव केवलनाणं नो उप्पामेज्जा, जस्म णं नाणावरणि-
ज्जाणं खओवसमे कडे नवइ, जस्म णं दंसिणावरणि-
ज्जाणं खओवसमे कडे नवइ, जस्म णं धम्मंतराडयाणं
एवं० जाव जस्म णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं
खए कडे नवइ, से णं असोच्चा केवलस्सि वा० जाव केव-

द्विपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं बुज्जेज्जा
केवलनाणं उप्पामेज्जा ॥

(असोच्चा णं जंते ! इत्यादि) अथाश्रुत्वैव केवलत्यादिवचने
यथा कश्चित्केवलज्ञानमुत्पादयेत् तथा दर्शयितुमाह-

तस्म णं जंते ! उच्चं बट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं
उच्चं बाहाओ पगिज्जिय पगिज्जिय सूराभिमुहस्स आया-
वणचूर्मीए आयावेमाणस्स पगइभदयाए पगइउवसंतयाए
पगइपयणुकोहमाणमापालोभयाए मिउमहवसंपन्नयाए अ-
ट्ठीणयाए भदयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं
अज्जवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं वेसाहिं विसुज्जमाणं।हिं
विसुज्जमाणं।हिं अट्ठीणयाए तयावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापोहमगणगवेसणं करेमाणस्स विज्जे
नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं विज्जंगनाणसमुप्प-
न्नेणं जट्ठेणं अंगुलस्स असंखेज्जइजाणं उक्कोभेणं असं-
खेज्जाइ जायणसहस्माइ जाणए पामइ, से णं तेणं विज्जंग-
नाणेणं समुप्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पा-
संमत्थे सारंजे सपरिगोहे संकिज्जस्समाणे वि जाणइ, विसु-
ज्जमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वमिव सम्मत्तं पडिवज्जइ,
समणधम्मं रोएइ २ चरित्तं पडिवज्जइ, द्विगं पडिवज्जइ,
तस्म णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं सम्मदंसण-
पज्जवेहिं वट्ठमाणेहिं, से विज्जे अन्ताणं सम्मत्तपरिग-
हिं खिप्पामिव ओही परावत्तइ ॥

(तस्म त्ति) योऽश्रुत्वैव केवलज्ञानमुत्पादयेत् तस्य कस्या-
पि " उट्ठं उठ्ठेणमित्यादि " च यदुक्तम्, तत्रायः पष्ठतप-
श्चरणवतो बालतपस्विनो विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यत इति
ज्ञापनार्थमिति । (पगिज्जिय त्ति) प्रगृह्य, धृत्वेत्यर्थः । " पगइ-
भदयाए " इत्यादीनि तु प्राग्वत् । (तयावरणिज्जाणं ति) वि-
ज्जज्ञानावरणीयानां (ईहापोहमगणगवेसणं करेमाणस्स त्ति)
इहेहा सदर्थोभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्वनिरासो,
मार्गणं चाऽन्यधर्मालोचनं, गवेयणं तु व्यतिरेकधर्मालोच-
नमिति (सेसं ति) असौ वादतपस्वी (जीवे वि जाणइ त्ति)
कथञ्चिदेव न तु साक्षाद्, मूर्च्छगोचरत्वात्तस्य । (पासंइत्थे त्ति)
व्रतस्थान् (सारंभसपरिगोहे त्ति) सारम्भान् सपरिग्रहान्सतः ।
किंविधान् जानातीत्याह—(संकिलिस्समाणे वि जाणए त्ति)
महत्या संक्रियमानतया संकिलियमानानपि जानाति (विसु-
ज्जमाणे वि जाणइ त्ति) अल्पीयस्या विशुद्धयमानतया विशुद्ध-
मानानपि जानाति, आरम्भादिमतामवेस्वरूपत्वात् । (सेणं ति)
असौ विज्जज्ञानी जीवाजीवस्वरूपपास्त्रणस्थसंक्लियमान-
तादिज्ञापकः सन् (पुव्वामेव त्ति) चारित्र्यप्रतिपत्तेः पूर्वमेव,
(सम्मत्तत्ति) सम्यग्भावं (समणधम्मं ति) साधुधर्मं (रोए-
इ त्ति) श्रुत्ते चिकीर्षति वा । (ओहीपरावत्तइ त्ति) अवधि-
भवतीत्यर्थः । इह च यद्यपि चारित्र्यप्रतिपत्तिमादावजिघ्राय
सम्यक्त्वं परिग्रहीतं, विज्जज्ञानमवधिर्भवतीति पश्चादुक्तं,
तथापि चारित्र्यप्रतिपत्तेः पूर्वं सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकाल एव विभ-

कृद्भानस्यावधिभावो दृष्टव्यः; सम्यक्त्वचारित्रभावे विभङ्गज्ञान-
स्याज्ञावादिति ।

अथैवमेव लेख्यादिनिर्दिष्टपयशाह-

से एं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु
विसुद्धलेस्सासु होज्जा । तं जहा-तेउलेस्साए पम्हलेस्साए
सुकलेस्साए । से णं जंते ! कइसु नाणेसु होज्जा ? । गो-
यमा ! तिसु आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणेसु
होज्जा । से एं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? ।
गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा । जदि
सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा, वइ जोगी कायजोगी
वा होज्जा ? । गोयमा ! मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा,
कायजोगी वा होज्जा । से एं जंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा,
अणगारोवउत्ते वा होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते
वा होज्जा, अणगारोवउत्ते वा होज्जा । से एं जंते !
कयरम्मि संघयणे होज्जा ? । गोयमा ! वइरोमहनारायसंघय-
णे होज्जा । से णं भंते ! कयरम्मि संठाणे होज्जा ? । गोयमा !
वइहं संठाणाणं अस्सयरे संठाणे होज्जा । से णं भंते !
कयरम्मि उच्चत्ते होज्जा ? । जह्वेणं सत्तरणीए उक्को-
सेणं पंचधणुमइए होज्जा । से णं जंते ! कयरम्मि आ-
उए होज्जा ? । गोयमा ! जह्वेणं साइरेगहवासाउए उक्को-
सेणं पुव्वकोदिआउए होज्जा । से एं भंते ! किं सवेदए
होज्जा, अवेदए होज्जा ? । गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो
अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए
होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा, नपुंस-
गवेदए होज्जा ? । गोयमा ! ना इत्थिवेदए होज्जा, पुरिस-
वेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसपुंसगवेदए
वा होज्जा । से एं जंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई
होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ? ।
जइ सकसाई होज्जा से एं जंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? ।
गोयमा ! चउसु संजज्ञणकोहमाणमायालोनेसु होज्जा । तस्स
णं भंते ! केवइया अज्जवसाणा पस्सत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा
अज्जवसाणा पस्सत्ता । ते एं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ? ।
गोयमा ! पसत्था, नो अप्पसत्था । से एं जंते ! तेहिं पसत्थे-
हिं अज्जवसाणेहिं वट्ठमाणेहिं अणंतेहिं नेरइयजवगहणे-
हिं तो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिक्खजोणियं
जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवग्गहणेहिं तो अप्पाणं
विसंजोएइ, अणंतेहिं देवजवगहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ,
जाओ वि य से इमाओ नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवगइ-
नामाओ चत्तारि उत्तरप्पगमीओ य, तासिं च एं उवग्गहिं
अणंताणुवंधी कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता अपचक्खाणा-
एकसाए कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता पचक्खाणा-

वरणे कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता संजलणे कोह-
माणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता पंचविहं नाणावरणिज्जं
नवविहं दरिमणावरणिज्जं पंचविहं अंतराइयं तालमत्था-
कडं च एं मोहणिज्जं कट्टु कम्मरयविकिण्णकरं अपुव्वकर-
णं पविट्टस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाधाए निरावरणे कमिणे
परिपुण्णे केवद्धवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ ॥

[से एं भंते ! इत्यादि] तत्र [से एं ति] स यो विभङ्गज्ञानी भूत्वा-
ऽवधिज्ञानं चारित्रं च प्रतिपन्नः । [तिसु विसुद्धलेस्सासु होज्जा ति]
यतो भावलेख्यासु प्रशस्तास्वेव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नावि-
शुद्धास्त्विति । [तिसु आभिणिबोहियेत्यादि] सम्यक्त्वमति-
श्रुतावधिज्ञानानां विभङ्गविनिवर्त्तनकाले तस्य युगपद्भावादः-
घे ज्ञानत्रय एवासौ तदा वर्त्तत इति । [एणं अजोगी होज्जा ति]
अवधिज्ञानकाले अयोगित्वस्याभावात् । 'मणजोगी' इत्यादि च
एकतरयोऽग्रप्रधान्यापेक्षयाऽवगन्तव्यम् । [सागारोवउत्ते वेत्यादि]
तस्य हि विभङ्गज्ञानान्निवर्त्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य
सम्यक्त्वावधिज्ञानप्रतिपत्तिरस्तीति । ननु- "सव्वाओ लक्खीओ
सागारोवओ गोवउत्तस्स भवंति" इत्यागमादनाकारोपयोगे स-
म्यक्त्वावधिद्विविरोधः । नैवम् । प्रवर्त्तमानपरिणामजीवविष-
यत्वात्तस्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि
लब्धिलान्नस्य सम्भवादिति । [वइरोमहनारायसंघयणे होज्जा
ति] प्राप्तव्यकेवद्धज्ञानत्वात्तस्य, केवद्धज्ञानप्राप्तिश्च प्रथमसंह-
नन एव जवतीति । एवमुत्तरत्रापीति । [सवेयए होज्जा ति] विज-
कृत्स्यावधिज्ञानावकाशे न वेदकृत्योऽस्तीत्यसौ सवेद एव । [नो इत्थि-
वेयए होज्जा ति] स्त्रिया एवंविधस्य व्यतिकरस्य स्वभावत ए-
वाभावात् । [पुरिसनपुंसगवेयए व ति] वद्धितकत्वादित्वेन न-
पुंसकः पुरुषनपुंसकः । [सकसाई होज्जा ति] विभङ्गावधिकाले
कषायज्ञयस्याभावात् । [चउसु संजज्ञणकोहमाणमायालोनेसु
होज्जा ति] स ह्यवधिज्ञानतापरिणतविभङ्गज्ञानधरणं प्रतिपन्न
वक्तुः, तस्य च ताकासि चरणयुक्तत्वात्, संज्यवना एव क्रोधादयो
भवन्तीति [पसत्थ ति] विभङ्गस्यावधिभावो हि नाप्रशस्ताध्य-
वसानस्य भवतीत्यत उक्तम्-प्रशस्तान्यध्यवसायस्थानानीति ।
[अणंतेहिं ति] अनन्तैरनन्तानागतकालभाविभिः । [विसं-
जोएइ ति] विसंयोजयति, तत्प्राप्तियोग्यताऽपनोदादिति ।
(जाओ वि य ति) या अपि च । (नेरइयतिरिक्खजोणिय-
मणुस्सदेवगतिनामाओ ति) एतदभिधानाः । (उत्तरप्पय-
डीओ य ति) नामकर्माभिधानाया मूत्रप्रकृतेरुत्तरभेदभू-
ताः । (तासिं च एं ति) तासां च नैरयिकगत्याद्युत्तरप्रकृ-
तीनां, चशब्दादन्यासां च, (उवग्गहिं ति) औपप्राधिकान्
रूपएज्जप्रयोजनान् अनन्ताद्युवन्धिनः क्रोधमानमायालोभान् कृ-
पयति । तथा प्रत्याख्यानादींश्च तथाविधानेव कृपयतीति । (पंच-
विहं नाणावरणिज्जं ति) मतिज्ञानावरणादिभेदान् (नवविहं दरि-
मणावरणिज्जं ति) चक्षुर्दर्शनाद्यावरणचतुष्कस्य, निद्रापञ्चक-
स्य च मीलनाश्रवविधित्वमस्य । (पंचविहमतंराइयं ति) दान-
लान्नभोगोपभोगवीर्यविशेषितत्वात् पञ्चविधित्वमन्तरायस्य, त-
त्कृपयतीति संबन्धः । किं कृत्वेत्यत आह- (तालमत्थाकडं च एं
मोहणिज्जं कट्टु ति) मत्तकं मत्तकसूचीकृतं छिन्नं यस्यासौ मत्तक-
कृत्तस्तालश्चासौ मत्तककृत्तश्च तावमत्तककृत्तः । ग्रान्दसत्त्वाच्चैवं नि-
र्देशः । तावमत्तककृत्त इव यत्तत्तालमत्तककृत्तम् । अयमर्थः-छिन्न-
मत्तकतावकल्पं च मोहनीयं कृत्वा । यथादि-विभ्रममत्तकस्तावः

सोच्चा णं जंते ! केवद्विस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलपप्पत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? । गोयमा ! सोच्चा णं केवद्विस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलपप्पत्तं धम्मं एवं जा चेव असोच्चाए वत्तव्वया, सा चेव सोच्चाए दि भाणियव्वा, नवरं अभिझावो सोच्च त्ति, सेसं तं चेव णिरवसेसं० जाव जस्स णं मणपज्जवणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, जस्स णं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्मा— णं खए कमे जवइ, से णं सोच्चा केवलित्स वा० जाव लवासियाए वा केवद्विपप्पत्तं धम्मं द्वाजेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्जेज्ज० जाव केवद्वणाणं उप्पाहेज्जा, तस्स णं अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्वित्तेणं तवोक्कमेणं अप्पाणं जावे— माणस्स पगइभइयाए तहेव० जाव गवेसणं करेमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं ओहिणाणेणं समुप्पणेणं अंगुत्तस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अद्दोए द्वाअप्पमाणमेत्ताइं खंकाइं जाणइ पासइ । से णं जंते ! कइसु द्वेस्सामु होज्जा ? । गोयमा ! छसु द्वेस्सामु होज्जा । तं जहा—कएहलेस्साए० जाव सुक्खेस्साए । से णं जंते ! कइसु णाणेसु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा । से णं जंते ! किं सजोगी होज्जा ? । एवं, जोगोवओगो संघयणसंग्रहं लुच्चत्तं आउयं च, एयाणि सव्वाणि जहा असोच्चाए तहेव

भाणियव्वाणि । से एं जंते ! किं सवेदए पुच्छा ? गोयमा !
सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए वा
होज्जा, किं उयसंतवेदए, खीणवेदए होज्जा ? गोयमा !
एणो उवसंतवेदए होज्जा खीणवेदए होज्जा । जइ सवेदए
होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ? गोयमा ! इत्थी-
वेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसणपुंस-
गवेदए वा होज्जा । से एं भंते ! सकसाई होज्जा, अक-
साई होज्जा ? गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई
वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई
होज्जा, खीणकसाई होज्जा ? गोयमा ! एणो उवसंतकसाई
होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से एं
भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? गोयमा ! चउसु वा तिसु
वा दोसु वा एकम्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु
संजलणकोहमाणमायालोजेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे
तिसु संजलणमाणमायालोजेसु होज्जा, दोसु होज्जमा-
णे दोसु संजलणमायालोजेसु होज्जा, एगम्मि होज्ज-
माणे एगम्मि संजलणलोजे होज्जा । तस्स णं जंते ! के-
वइया अज्जवमाण पणत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा, एवं
जहा असोच्चाए तहेव० जाव केवलणाणं समुप्पज्जइ ।
से एं जंते ! केवलपणत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पण-
वेज्ज वा परुवेज्ज वा ? हंता गोयमा ! आघवेज्ज वा पण-
वेज्ज वा परुवेज्ज वा । से एं जंते ! पण्वावेज्ज वा मुं-
रुवेज्ज वा ? हंता पण्वावेज्ज वा मुंरुवेज्ज वा । से एं
जंते ! सिज्जइ बुज्जइ जाव अंतं करेइ । तस्स णं जंते !
सिस्सा वि सिज्जंति० जाव अंतं करेति ? हंता सिज्जं-
ति० जाव अंतं करेति । तस्स एं जंते ! पसिस्सा वि सि-
ज्जंति ? एवं चेव० जाव अंतं करेति । से एं जंते ! किं
उहं होज्जा, अहे वा ? जहा असोच्चाए जाव तदेकदेस-
भाए होज्जा । से णं जंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ?
गोयमा ! जहण्णं एको वा दो वा तिप्पि वा, उकोमेणं
अट्ठसयं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ, सोच्चा णं के-
वलस्स वा० जाव केवल्लिवामियाए वा० जाव अत्थेग-
इया केवलणाणं उप्पावेज्जा, अत्थेगइया केवलणाणं णो
उप्पावेज्जा ॥

(सोच्चाणमित्यादि) अथ यथैव केवलयादिवचनाश्रवणावाप्त-
बोध्यादेः केवलज्ञानमुत्पद्यते, न तथैव तच्छ्रवणावाप्तबोध्यादेः, कि-
न्तु प्रकारान्तरेणेति दर्शयितुमाह—“ तस्स णमित्यादि ” [तस्स
त्ति] यः श्रुत्वा केवलज्ञानमुत्पादयेत्तस्य कस्यापि, अर्थात्प्रतिपन्न-
सम्यग्दर्शनचारित्र्यविक्षस्य “अष्टमं अट्ठमेणं” इत्यादि च यदु-
क्तं, तत्प्रायो विकृष्टतपश्चरणवतः साधारणविक्षानमुत्पद्यत इति
ज्ञापनार्थमिति । [लोयपमाणमेत्ताइंति] लोकस्य यत्प्रमाणं मा-
त्रा, तदेव परिमाणं येषां तानि तथा । अथैनमेव वेद्यादिनिर्निरु-

पयन्नाह—[से णं जंते ! इत्यादि] तत्र [से णं ति] सोऽन्तरा-
कविशेषणाऽवधिज्ञानी [त्सु लेसासु होज्ज ति] यद्यपि भाव-
वेद्यासु प्रशस्तास्वेव तिसृष्ववधिज्ञानं लभते, तथापि द्रव्यले-
इयाः प्रतीय पदस्वपि वेद्यासु लभते, सम्यक्त्वश्रुतवत् । यदाह—
“सम्मत्तसुयं सत्त्वासु लज्ज ति” तद्व्याजे चासौ पदस्वपि जय-
तीत्युच्यत इति । [तिसु व ति] अवधिज्ञानस्याऽऽज्ञानद्वयावि-
नाशतत्वाद्दधिकृतावधिज्ञानी त्रिषु ज्ञानेषु भवेदिति । [चउसु वा
होज्ज ति] मतिश्रुतमनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतु-
ष्टयजावाद्यतुर्षु ज्ञानैस्त्रिधाकृतावधिज्ञानी ज्ञेयदिति । [सवेयए वे-
त्यादि] अक्षीणवेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ संवेदकः सन्नवधिज्ञा-
नी भवेत्, क्षीणवेदस्य वाऽवधिज्ञानोत्पत्ताववेदकः सन्नयं स्या-
त् [नो उवसंतवेयए होज्ज ति] उपशान्तवेदोऽयमवधिज्ञानी न
भवति, प्राप्तव्यकेवज्ञानस्यास्य विवर्तितत्वादिति । [सकसाई
वेत्यादि] यः कपायकृये सत्यवधिं लज्जेत स सकपायी सन्नवधि-
ज्ञानी भवेत्, यस्तु कपायकृयेऽसावकपायीति [चउसु वेत्या-
दि] यद्यक्षीणकपायः सन्नवधिं लज्जेत तदाऽयं चारित्र्ययुक्तत्वाच्च-
तुर्षु संज्वलनकपायेषु जयति । यदा तु क्षपकश्रेणिवर्तित्वेन सं-
ज्वलनक्रोधे क्षीणेऽवधिं लभते, तदा त्रिषु संज्वलनमानादिषु,
यदा तु तथैव संज्वलनक्रोधमानयोः क्षीणयोस्तदा द्वयोः, एवमे-
कत्रेति । भ० ए श० ३१ उ० ।

भगवतनिवमशतकोकोऽश्रुत्याकेवक्षी धर्मोपदेशं दत्ते न वे-
त्यत्र एकं ज्ञानं एकं प्रश्नं च मुक्त्वा धर्मोपदेशं न दत्ते इति
तत्रैवोक्तमस्तीति । ही० २ प्रका० ।

असोणिय-अशोणित-त्रि० । अरुधिरप्राप्ते, पञ्चा० १६ विव० ।
असोम्मगहचरिय-असौम्यग्रहचरित-न० । क्रूरप्रदचारे, प्र-
श्न० २ आश्र० द्वार ।

असोयणया-अशोचनता-खी० । शोकानुत्पादने, पा० ध० ॥ ज० ।

असोहिट्ठाण-अशोधिस्थान-न० । कुशीलसंसर्ग्याम, आघ० ।

अस्स-अश्व-पुं० । घोटके, दश० १ अ० । तं० । प्रज्ञा० । अश्विनी-
नक्षत्रदेवतायाम्, ज्यो० १५ पाहु० । सू० प्र० । “ दो अस्सा ”
स्था० १ ठा० १ उ० ।

अस्व-पुं० । न विद्यते स्वं हव्यमस्य सोऽयमस्वः । निर्ग्रन्थे,
आचा० २ ध्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्सकण-अश्वकर्ष-पुं० । अश्वमुखस्य परतोऽन्तर्द्विपे, न० ।

अस्सकणी-अश्वकर्णी-खी० । कन्दभेदे, भ० ७ श० २ उ० ।
जी० । प्रज्ञा० ।

अस्सकरण-अश्वकरण-न० । यत्राऽश्वानुद्दिश्य किञ्चित् क्रियते
तस्मिन् स्थाने, आचा० २ ध्रु० १० अ० ।

अस्सचोरग-अश्वचोरक-पुं० । घोटकचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अस्सतर-अश्वतर-पुं० । एकखुर [खच्चर] भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अस्समुह-अश्वमुख-पुं० । आदर्शमुखस्य परतोऽन्तर्द्विपे, प्रज्ञा०
१ पद । न० । (‘ अंतरदीव ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८ पृष्ठे-
स्य वर्णक उक्तः) अश्ववाकारमुखं पुरुषाकाराऽन्याङ्गे च कि-
ञ्चरे, वाच० ।

अस्समेह-अश्वमेध-पुं० । अश्वो मेधते हिंस्यते ऽत्र । मेध-घञ् ।
यत्तमेदे, वाच० । "यद् सहस्राणि गुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनाद्, नूतानि पशुभिस्त्रिभिः " ॥ १ ॥ अनु० ।
विशेः । स्वा० ॥

अस्ससेण-अश्वसेन-पुं० । पार्श्वतायस्य जिनस्य पितरि,
प्रब० ११ द्वार । आब० । चतुर्दशे महाग्रहे, चं० प्र० २० पादु० ।
सू० प्र० । स्वा० ।

अस्सादिसि-असादोदीर्ण-त्रि० । असादनेन कर्मणोदीरिते,
प्रअ० ३ आअ० द्वार ।

अस्साएमाण-अस्सादयत्-त्रि० । ईपत्त्वादयति इच्छुषण्डादे-
रिष बहु त्यजति, भ० १२ श० १ उ० । आचा० ।

अस्मात-अस्वाद-पुं० । रसनाऽऽह्लादके स्वादे, वृ० १ उ० ।

अस्मामित्त-अस्वामित्त-न० । तिसङ्गतायाम्, पं० व० ७ द्वार ।

अस्मावबोहितित्य-अश्ववबोधितीर्थ-न० । स्वनामक्याते
तीर्थे, ती० ।

नमिऊण सुव्वयजिणं, परोवयारिकरसिअमसिअरुं ।

अस्मावबोहितित्य-स्स कप्पमपं भणामि अहं ॥ १ ॥

"सिरिमुल्लिसुव्वयसामी उप्पन्नकेवलो विहरंतो एगयाए
इहपुराओ एगयाए ठाणगरयणिए सच्चिओअणाणि वेधियं पार-
कअस्समेहजखेण जियससुराइआ निअसेणा-तुरंगमं सव्व-
लअवणसंपन्नं होमिअं मुच्छिओ । इमो अट्टज्जाणओ दुग्गहं
जाइ ति पडिवाहेउं लारुइसमंडणे नम्मयानइअत्तंकिए भ-
रुअचनयरे कोरिटवणं पत्तो । समअसरणे गया लोआ वेदिअं,
राया विगयाइदो आगम्म भगवंतं पजमिओ । इयंतरे सो हरी
सिच्छाए विहरंतो नियसपुरिसेहिं समंतथागओ सामिणो इ-
वमप्पडिअं पांसितो निअओ संजाओ । सुआ य धम्मदेसणा ।
तेण ज्ञाणिओ अ सो पुअजवो भगवया । जहा पुअभवे इहेव जंबु-
दीवे अवराविंदे पुअखलविजए वंणाए नयलीए सुरासिओ ना-
न राया अहमासि, मज्झपरममित्तं तुमं महसरो नाम मंती
इत्था । अइं नंदणगुरुपायमूखे दिअं पडिवाजिय पत्तो पाणय-
कपे । तत्थ वीसं सागरोवमाइं आउं परिपालित्ता तओ सुओ हं
तिथयरो जाओ । तुमं च उवज्जिअ नराओ भारहे वासे पउमि-
णिसंडनयरे सागरदत्तो नाम सत्थवाहो अहेसि मिच्छादि-
ट्ठी विणीओ अ । अअया तुमए कारियं सिवाययणं, तप्पयण-
त्थं च आरामो रोविओ । भावओ अ एणो तस्स चिंताकरेण
निठत्तो, गुरुआए से णं सव्वओ वि किरिआओ सव्वाचि-
तो तुमं कालं गमेसि, जिणधम्मनामएणं सावएणं तुम्हं आया
परमा मित्ती, तेण सच्चि एगया गओ तुमं सादुसगासे । तेहिं दे-
सगंतरे भणियं-"जो कारवेइ पडिमं, जिणाण अंगुट्ठपव्वमित्त-
मि । निरिनरयगइट्ठवारं, मूणं वेणुअगला दिअ" । १ । एवं सोअण
तुमे गिहिमार्गं नु कारेआ हेममई जिणिदपकिमा, पइट्ठविक्रण
निमज्जे पुअमादत्तो । तं अअदिअहे संपत्ते माहमासे लिंगपुर-
णएव्वं आराहेउं तुमं सिवाययणं पत्ता । तओ जडाधारीहिं वि-
रसं विअ घये कुंभीओ उन्नरिओ लिंगपूरुत्थं । तत्थ लम्माओ
घयपिणालियाओ, जमिणहि निदयं पापीहिं मदिज्जमागुओ द-
ट्ठण मिरं धुणिता सारिउं लम्मा तुमं । अहं ! एणसिं देसणीण
वि निहयया । अह्दारिसा गिहिणो वगया कहं जीवदयं पालइ-

स्संति ? । तओ निअचेत्तं यलोहिं ताओ पउमजिया रुठो तुमं तेहिं
निज्जथित्तरे धम्मसंकरकारयअरइतपासंतीहिं न विडंविओसि
त्ति । तओ सो सव्वधम्मविमुहो जाओ, परमकिणो धम्मर-
सिअं लोअं हंसंतो मायारं तेहिं तिरिआओ अवंधित्ता भवं भ-
मिऊण जाओ तुमं रायवाहणं तुरंगमो । तुज्ज चैव पमिबोहणत्थं
अह्माण वि मित्थाणगमणं ति । सामिणो वयणं सुआ तस्स जायं
जाइस्सरणं । गहिआ य सम्मसमूलदेसविरइ, पअवखायं
सच्चित्तं फासुअं तेण नीरं च गिएहइ, लुम्मासे निव्वाहिअ
स्ति अ सो मरिऊण सोहम्मे महिअिओ सुरो जाओ । सो ओहिणा
मुणिअ पुव्वजव्वं सामिसमोसरणठाणे रयणमयं चेअमकासी ।
तत्थ सुव्वयसामिणो पडिमं अप्पाणं च अस्सकूवं ठाविअ गभो
सुराअयं । तओ अस्सावबोहितित्यं तं पसिअं । सो देवो जत्तिअसं-
घविअहरणेणं तित्थं पज्जाधितो कालेण नरजवे सिअिअहइ ।
काअंतरेण सउअिआविहार स्ति तं तित्थं पसिअं । कहं ? इहेव ज-
बुदीवे सिअिअवीधं रयणदेसे सिरिपुरनयरे चंदगुत्तो राया । तस्स
चंदेइहा भारिआ । तीसे सत्तएहं पुत्ताणं उवोर नरदत्ता देवी
आगइणेणं सुइंसणा नाम धूआ जाया ; अहं अस्सकलविज्जा पत्ता
जुव्वणं । अअया अत्थाए पि उच्चंगरायाए तीसे धणेसरो नाम
नेगमो जरुअच्छाओ आगतो । विज्जपासठिअतियकुअगंधे वा-
णिप यत्थीयं । तेण नमो अरइंताणं ति पडिअं सोउं मुच्छिआ सा,
कुट्टिओ अ वाणियओ, पत्ते वेयणाए य जाइस्सरणमुवगया ए-
सा दट्ठण धम्मबंधु स्ति मोइओ । रक्षा मुच्छाकारणं पुच्छिआए
तीए भणिअं-जहाऽइं पुव्वभवे जरुअच्छे नम्मयातीरे कोरिटव-
णे वरुपायवे सवलिआ आसी । पाउसे अ सत्तरत्तं महाबुद्धी जा-
या । अअमदिणे लुहाकिअंता पुंरं जमंती अइं बाहस्स घरं अगणा-
ओ आमिसं धित्तुं वहीणा, वहीसहे निविद्या य, अणुपयमाग-
एण वादेण सरेण विअा, मुदाओ पडिअं पलं, सरं च गिएइत्ता
गभो सोऽवट्ठाणं । तत्थ करुणं रसंती उव्वत्तणपरिअत्तणपरादिट्ठा
एणेण सुरिणा, सिता य जलपत्तजलेणं, दिअो पंचनमुक्कारो सइ-
हिओ अ मए । मरिऊण अइं तुम्हं धूआ जायं ति । तओ सा विस-
यविरत्ता महानिव्वधेण पिअरे आपुच्छिय तेणव संजत्तिएण स-
। पडिआ वाइणाणं सत्तसएहिं भरुअच्छे, तत्थ पोअसयं व-
त्थाए पोअसयं दव्वनिचयाणं, एवं चंदणागरुदरुणं धअजलिं
धणाणं नाणविअपकअफलाणं, पहरणाणं एवं लुसया पोआणं
पआसं, सत्थधराणं पआसं पाहुडाणं, एवं सत्तसयवाहण-
जुत्ता पत्ता समुदतीरं । तओ रक्षा तं वाहणवूहं सिअे-
सरअवक्कंदसंकिआ मज्झिआए सेणाए पुरक्खोभनिवा-
रणाय गंतुं पाहुउं च दाउं सुइंसणाआगमणेणं विअत्तो
राबा तेण संजत्तिएण । तओ सो पओणीए निग्माओ । पाहुउं
दाअण पणमिओ । कआए थेवेसमहसवो अ जाओ । दिअं तं च-
इअं, विहिणा वंदिअं पूअं च, तित्थोववासो अ कओ, रक्षा दि-
अ पासा पअिआ रायणा य अट्ठ वेलाउअइं अअसया गामाणं
अट्ठसबा वप्पाणं अट्ठसया पुराणं दिएणा, एगदिने अ जत्तिअं
भूमि तुरंगमो चरइ, तत्तिअं पुव्वदिसाए, जत्तिअं व हत्थी जाइ,
तत्तिआ पच्छिमाए दिएणा । उवरोहेण सव्वं पमिवएणं । अअया
तस्सेवायरिअस्स कसे निअपुव्वभवं पुअइ । जहा-भयवं ! केण
कम्मणा अइं सउलिआ जाया, कहं च तेण वाहेण अइं निहय-
स्ति ? आयरिअहिं भणिअं-भदे ! वयहृपव्वए उत्तरसेदीए सुरम्मा
नाम नयगी । तत्थ विज्जाहरिंदो संखो नाम राया तस्स विज्जया-
निहाणा तुमं धूआ आसि । अअया दाहिणसेह्दीए महिसगमे

चञ्चतीए तुमए नईतडे कुक्कुडसण्णो दिठो । सो य रोसवसेणं तए सारिओ । तत्थ नईए तीरे जिणाययणं दृष्ट्वा वंदिअं भयव-
ओ विवं परमजसिपरवसाए तुमए । जाओ परमाणंदो । तओ
चेइयाओ निग्गच्छंतीए तुमए दिट्ठा एगा परिस्समसिआ
साहणी । तीए पाए वंदिता भम्मबोहिआ अज्जाए तुमं । तुमए
वि तीसे विस्सामणहं हि सुस्सुसा कया, चिरं गिदमागया । का-
लेण कालभम्मं पवसा अट्टज्जाणपराइया कोरंटयवणे सउणी
जाया तुमं । सो अकुक्कुसण्णो मरिक्ख बाहो संजाओ । तेण पुव्व-
वेरेण सञ्जणीभवे तुमं वाणेणं पइया । पुव्वभवकयाए जिणभ-
त्तीए, गिलाणसुस्ससाए अ भंते बोहिं पत्तासि तुमं । संपयं पि
कुणसु जिणप्पणीअं दाणाइधम्मं ति । एवं गुरूणं वयणं सुखा
सव्वं तं दव्वं सत्ताखिणीए वि वेइ । चेइअस्स उच्चारं करेइ । चउ-
वसिं च देवकुलयाओ पोसइसात्ता-दाणसात्ता-अज्जयणसात्ता-
ओ कारेइ । अओ तं तित्थं पुव्वभवनामेणं सउत्तिआविहारं ति
भसइ । भंतो य संलेहणं दव्वभावभेयभिन्नं काउं कयाणसणा
सा वइसाइ सुद्धपंचमीए ईसाणं देवज्ञाणं पत्ता । सिरिसुव्वयसा-
मिसिद्धिगमणाणंतरं इक्करसेहिं लक्खेहिं चुवसीइसइस्सेहिं च-
उसयसत्तरेहिं च वासाणं अईएहिं थिक्कसाहिं व्व संवच्छरो
पयट्ठो । जीवंतसुव्वयसामिअविक्खाए पुण एगारसलक्खेहिं
अछावीसुणपंचणवइसइस्सेहिं च वासाणं विक्कमो भावी ।
एसा सउत्तिआविहारस्स ठप्पत्ती । लोइअतित्थाणि अणेगाणि
भरुअत्थे वट्ठनि । कमेण उदयपुत्रे वाहमदेवेण सिंतुंजय-
पासायउच्चारं कारिए, तद्वयजेण अंबडेण पुणऽत्थ सउत्तिआवि-
हारस्स उच्चारो कारिओ । मिच्छदिटीए सिधवादेवीए अंब-
उस्स पासायसिहरे नच्छंतस्स उवसगो कभो । सो उ
निवारिओ विज्जाबलेण सिरिइमचंदसूरीहिं । “अस्सावबोह-
तित्थ-स्स एस कणो समासओ रइओ । सिरिजिणपहसूरीहिं, भ-
विपाई पटिज्जठ तिकालं” ॥ १ ॥ अस्सावबोधकल्पः समासः ॥
ती० १० कटप ।

अस्सावि (ए)-आस्साविण-त्रि० । आ समन्तात् स्रवति तच्छी-
ल आस्सावी । सच्छिद्रे, सूत्र० । “जइा अस्साविणि नावं, जाइ
अंधो दुरुहए ।” सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अस्सि-अस्सि-पुं० । चतुर्विंशतिभागोपलक्षितासु कोटिषु, स्था० ६
ठा० ।

अश्विन्-पुं० । अश्विन्या देवतायाम्, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अस्सिणी-अश्विनी-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्र० । स्था० ।

अनु० । अश्विन्या अश्वो देवता । सू० प्र० १० पाहु० । “अस्सि-
णी नक्खत्ते तितारे पणसे ।” स० ३ सम० ।

अस्सेसा-अश्लेषा-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्र० । विंश० ।

अस्सोकंता-अश्वोत्क्रान्ता-स्त्री० । मध्यमग्रामस्य पञ्चम्यां
मूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

अस्सोती-अश्वयुजी-स्त्री० । अश्वयुजि भवाऽऽश्वयु जी । अ-
श्वयुज्मासजाविन्याममायां, पौर्णमास्यां च । चं० प्र० १० पाहु० ।
सू० प्र० ।

अस्त्वदि-अर्थपति-पुं० । “अर्थयोः स्तः” । ८ । ४ । २९ । इति
र्थस्य स्तः । “पो वः । ८ । १ । २३ । इति प्रत्ययः । धनिनि,
प्रा० ४ पाद । दुं० ।

अह-अथ-अव्य० । आनन्तर्ये, आ० चू० ४ अ० । सूत्र० । नि०
चू० । दर्श० । अनु० । क० प्र० । उपन्यासे, नं० । वक्तव्यान्तरो-
पन्यासे, उक्त० ३ अ० । अवसानमङ्गलार्थे, सूत्र० १ भु० १६
अ० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । उप-
प्रदर्शने, आचा० १ भु० ८ अ० १ उ० । उक्त० । पदान्तराद्योतने,
ज० ५ श० ६ उ० । विकल्पे, जी० १ प्रति० । विशेषे,
स्था० ७ ठा० । प्रक्रियादिध्वयेषु, यत् उक्तम्-अथ प्रक्रिया
प्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु । वृ० १ उ० ।
जी० । आ० म० । दर्श० । अनु० । स्था० । प्रश्न० ।
यथार्थे, आ० म० प्र० । वाक्यालङ्कारे, सूत्र० १ भु० ७ अ० ।
पादपूरणे, पञ्चा० १ ए विध० ।

अधस्-न० । अधस्ताच्छब्दार्थे, आचा० १ भु० १ अ० ५ उ० । स्था० ।
सू० प्र० । जीवा० । अधोगतौ, “अहो च्छिन्नं” प्रश्न० ३ आथ०
द्वार । अधोलोके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

अहं-अहम्-असदः सिना सहाऽहमादेशः । प्रा० । “ए णं मि
अस्मिं” ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यादिसूत्रेण अस्मदोऽहमा सहाह-
मादेशः । प्रा० ३ पाद । आत्मनिर्देशे, आ० म० प्र० । आव० ।

अहंकार-अहङ्कार-पुं० । अहोऽहं, नमो मह्यमित्येवमहङ्कारणम-
हङ्कारः । निजगुणेषु वहुमाने, विशेष० । ऐश्वर्यजात्यादिमदज-
निते अभिमाने, सूत्र० १ भु० ९ अ० । सुख्यहं न दुःखात्येव-
मात्मनः प्रत्ययः, सूत्र० १ भु० २ अ० । आ० म० ।
अहमिति स्वस्वज्ञाधेनोन्मादपरे परभावकरणे कर्तृतात्वे, अष्ट० ४
अष्ट० । सूत्र० । अहं शब्देऽहं रूपशोऽहं गंधेऽहं रूपेऽहं रसेऽहं स्वा-
मी अहमीभ्वरोऽसौ सया इतः, ससत्त्वोऽभुं इति स्यामीत्यादिप्रत्य-
यरूपे, स्था० १५ श्लो० । अभिमाने, आव० ३ अ० । यच्चान्तःकरणम-
हमित्युल्लेखनविषयं वेदयते । द्वा० २० द्वा० । बुद्धिरेवाहङ्कारव्या-
पारं जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यते । द्वा० ११ द्वा० ।

अहङ्कम-यथाक्रम-अव्य० । यथापरिपाटि इत्यर्थे, दर्श० ४ अ० ।

अहंखाय-अथा(यथा)ख्यात-न० । अथशब्दो यथार्थे, आहं
अभिधेयौ, यथातथ्येन, अत्रिविधिता च यत् आख्यातं (कथितम-
कथायं चारित्रमिति) तदथाख्यातम् । यथा सर्वस्विन् जीवलोके
ख्यातं प्रसिद्धमकथायं भवति चारित्रमिति तथैव यत् तद् य-
थाख्यातं प्रसिद्धम् । आ० म० प्र० । आर्थे यकारलोपः । प्रा० २
पाद । अकथायै चरित्रे, आ० चू० १ अ० । पञ्चा० । पं०
सं० । विशेष० ।

अथ यथाख्यातं विवृण्वन्नाह-

अहसदो जादत्थे, आहोऽज्जिविहीए कदियमक्खायं ।

चरणमकसायमुदितं, तमहक्खायं जहक्खायं ॥ १२७ ॥

अत्थेत्ययं याथातथ्यार्थे, आहं अत्रिविधौ, ततश्च याथातथ्येना-
त्रिविधिता वाऽऽख्यातं कथितं यदकथायं च चरणं तदथाख्या-
तम्, यथाख्यातं वा उदितमिति ॥ १२७ ॥

एतच्च कतिविधमित्याह-

तं दुविगणं छज्जम-त्थकेवलिविहाणओ पुणेकेकं ।

खयसमज-सजोगाजो-गिकेवलिविहाणओ दुविहं ॥ १२८ ॥

तच्च यथाख्यातचारित्रं ब्रह्मलोकवलिस्वामिजेदात् द्विविधम् । लुप-
त्यसंबन्धि पुनरपि द्विविधम्-मोहकृत्यसमुत्थं तदुपशमप्रज्ञं च ।

केवलसंबन्धपि सत्येऽप्येवैकचित्तेनेदतो द्विविधमेवेति । १२०॥
विशेषः पञ्चा० उक्त० आ० म० । अ० । तदपि द्विविध-
मुपशमकथयकथेनोपेदात् । शेषं तथैवेति । ज० ८ श० २ उ० ।

अहंखायसंज्ञय-अथाख्यातसंज्ञय-पुं० । अथाशब्दो यथार्थः,
यथैवाऽकषायतयेत्यर्थः । अथाख्यातमभिहितमथाख्यातम् । तदेव
संज्ञयऽथ ख्यातसंज्ञयः । अयं च लुप्तस्योपशान्तमोहस्य दो-
षमोहस्य च ख्यात् केवलितः, संयोगस्याऽयोगस्य च ख्या-
दिति । अकषायसंज्ञय, स्था० ४ ग० २ उ० । कर्म० ।

अहंखायसंज्ञय-अथाख्यातसंज्ञय-पुं० । अकषायचारित्रिणि,
"अहंखायसंज्ञय पुञ्जा गोयमा ! दुर्विहे पश्यते । तं जहा-छ-
मन्थे य केवली य " । ज० २५ श० ७ उ० ।

अहंछाण-यथास्यान-न० । स्थानमनतिक्रमेत्यर्थे, द्वा० १ द्वा० ।

अहत (य)-अहत-त्रि० । अकृते, अन्यथानीते च । च० प्र०
१९ पाहु० । सू० प्र० ।

अहत-अधस्त-न० । जघन्यतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहत्य-यथास्य-त्रि० । यथावस्थिते, स्था० ४ ग० ३ उ० ।

यथार्थ-त्रि० । यथाप्रयोजने, यथाछन्द्ये च । " अहत्ये वा जावे
जाणिस्सामि " । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अहत्यच्छिण-अहस्तच्छिन्न-त्रि० । हस्ती अच्छिन्नौ यस्य स
तथा । अकृतकरे, नि० चू० १४ उ० ।

अहन्थवाय-यथार्थवाद-पुं० । यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापने,
स्था० १ श्लो० ।

अहन्त्याम-यथास्याम-न० । प्राकृतलक्षणं यकारस्य शोभे केव-
ले स्वरः । यथावन्ने, नि० चू० १ उ० ।

अहृत्पद्माण-यथाप्रधान-अव्य० । प्रधानमनुसन्ध्येत्यर्थे, यो यः
प्रधानो जन इत्यर्थः । भ० १५ ग० १ उ० ।

अहम-अधम-त्रि० । जघन्ये, आव० ४ अ० । निन्द्ये, उक्त० १३
अ० । निकृष्टे, " नरेन्द्रजाई अहमा नराणां " उक्त० १३ अ० । सूत्र० ।
लुप्ते, स्था० ४ ग० ४ उ० । (अधमपुरुषाणां मानम् 'अंशुव'
शब्देऽत्रैव भागे ४४ पृष्ठे उक्तम्)

अहमंति-अहमन्तिन्-पुं० । अहमेव जात्यादिभिरुक्तमतया प-
र्यन्तवर्तीत्यभिमानवति, स्था० ।

दमदिं गणोदिं अहमंतीति थंजेजा । तं जहा-जाइमण
वा कुडमण वा० जाव इस्परियमण वा नागमुवन्ना वा
मे अतिअं हव्वपागच्छंति पुरिमथम्माओ वा मे उचरिण
अहोवदिण नाणदंमणे ममुप्पन्ने ।

(दसहान्यादि) स्पष्टं, त्वरं (अहमंतीति) अहम, अन्ती इति ।
अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽस्यास्तीत्यन्ती । अहमेव जात्यादि-
निरुक्तमतया पर्यन्तवर्ती । अथवाऽनुस्वारः प्राकृततयेति । अहम-
अति अतिशयवानिति । एवंविधोद्धत्येन (धमेच्छति) स्तन्तीयान्
स्तन्धो भवेत्, मोहोदित्यर्थः । यावत्कस्मान् ' धलमण्ण रुचमण-
ण सुयमण तथमण लाभमण्ण ' इति दृश्यम् । तथा (नागसु-
वन्ति) नागकुमाराः सुवर्णकुमाराश्च । वा विकल्पार्थे । मे मम
अन्तिकं समीपं ' हव्वं ' शीघ्रमागच्छतीति । पुरुषाणां प्राकृतपु-

रुषाणां धर्मो ज्ञानपर्यायलक्षणस्तस्माद्वा सकाशादुत्तरः प्रधा-
नः स एवौत्तरिकः । (अहोवदिणं) नियतकैत्रविषयोऽवधि-
स्तद्व्यां ज्ञानदर्शनं प्रतीतिमिति ॥ स्था० १० टा० ।

अहमहमितिदप्यय-अहमहमितिदर्पित-त्रि० । अहमहमित्येवं
दर्पवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अहम्म-अधर्म-पुं० । पापे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । दश० ।
सावसानुष्ठाने, दशा० ६ अ० । अधर्मस्य वर्णं धदति, नि० चू० ।
जे जिकवू अधम्मस्स वर्णं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ११३ ।

इह अहम्मो जारहरामायणादि पावसुत्तं, चरगादियाण या-
जपंचग्गित्वादिआ वयविमैसा, अहवा-पाणादिआ मिच्छादं-
सणपज्जवसाणा अचारस्स पावछाणा, एतेसि वन्ने वदतीत्यर्थः ।

एसेव गमो नियमा, वोच्चत्थे हांति ते अहम्मे वि ।

देसे सव्वे य तहा, पुव्वे अव्वरम्मि य पदम्मि ॥ १३ ॥

वोच्चत्थो, विपक्खे वन्नवायं वदतीत्यर्थः । सेसं कंठं ।

इहरह विताव होए, मिच्छत्तं दिप्पए सहावेणं ।

किं पुण जइ उव्वहति, माहू अजयाण मज्झम्मि ॥ १४ ॥

(इहरह वि) सहावेण प्रदीप्यते प्रज्ज्वलते । किमिति निर्देशे,
पुनर्विशेषणे । किं विशेषयति ? सुतरां दीप्यते इत्यर्थः । ग्रहीत्यभ्यु-
पगमे । " अजया अगतो उव्वहति, ताहे थिरतरं तास मिच्छत्त
भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० । धर्मरहित,
विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अहम्मओ-अधर्मतस्-अव्य० । अधर्ममङ्गीकृत्यर्थे, प्रश्न० २
आश्र० द्वार ।

अहम्मकेउ-अधर्मकेतु-पुं० । केतुर्ग्रहविशेषः, स इव यः स तथा ।
पापप्रधाने, ज्ञा० १८ अ० ।

अहम्मक्खाइ-अधर्मख्यायिन्-पुं० । न धर्ममाख्यातीत्येवं शीलो-
ऽधर्माख्यायी । अथवा-न धर्माख्यायी अधर्माख्यायी । धर्मकथ-
नाशीले, दशा० ६ अ० ।

अधर्माख्याति-पुं० । अधर्मादाख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः ।
पापकर्मतया प्रसिद्धे, दशा० ६ अ० ।

अहम्मजीवि(ण्)-अधर्मजीविन्-पुं० । अधर्मेण जीवति प्राणान्
धारयतीति अधर्मजीवी । अधर्मेण प्राणधारके, दशा० ६ अ० ।
अहम्मट्ठाण-अधर्मस्यान-न० । पापस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २
अ० । त्रयोदशषु क्रियास्थानेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । धर्मादपेते
स्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहम्मट्ठि(ण्)-अधर्मार्थिन्-पुं० । अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थो, अध-
र्मैणार्थी अधमार्थी । अधर्मप्रयोजने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अहम्मदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मपापकं दानमधर्मदानम् ।
अधर्मप्रतिपादकत्वाद् वाऽअधर्म एव । चौरादिज्यो दाने,
स्था० १० ग० ।

अहम्मसेवि(ण्)-अधर्मसेविन्-पुं० । कलत्रादिनिमित्तषट्कायो-
पमर्दकारिणि, " चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो । " दशा० १ चू० ।

अहम्मणि(ण्)-अहम्मानीन्-पुं० । अहमेव विद्वानिति मानो
गर्थोऽस्येति अहम्मान् । अहङ्कारिणि, आ० म० द्वि० ।

अद्वय-अद्वत-त्रि० । अद्वते अद्याद्वते, आ० म० प्र० । जी० ।
नवे, भ० = श० ६ उ० । रा० । अद्यवच्छिन्ने, कल्प० १ क० ।
अखण्डिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मलमूपादिनिरनुपद्वते प्रत्य-
ये, ज्ञा० १ अ० ।

अहर-अधर-पुं० । अधस्ताकाये, आव० ३ अ० । अधस्तन-
दन्तच्छेदे, औ० । प्रज्ञा० । तं० ।

अहरगङ्गमण-अधरगतिगमन-न० । अधोगतिगमनकारणे,
प्रश्न० २ आश्न० द्वार ।

अहरायण्य-यथारत्नाधिक-अव्य० । यथाज्येष्ठार्थतयेत्यर्थे,
पं० व० २ द्वार ।

अहरी-अधरी-स्त्री० । पेणशिलायाम्, उक्त० ।

अहरो(रो)ट्ट-अधरोट्ट-पुं० । “ह्रस्वः संयोगे” ॥८॥ १ । ८४ ॥
इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । दंष्ट्रिकायाम्, कल्प १ क० ।

अहव-अथवा-अव्य० । “वाऽव्ययोत्खातादावदातः” ।
८ । १ । ६९ । इत्यातोऽत्वम्; अहव अहवा । विकल्पे, प्रा० १
पाद । स० ।

अहवण-अथवा-अव्य० । ‘अहवणं ति’ अखण्डमव्ययपद-
म् । अथवेत्यस्यार्थे, वृ० १ उ० । विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १
उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अहवा-अथवा-अव्य० । संबन्धस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने, व्य० १
उ० । पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतने, पञ्चा० ३ धिव० ।
नि० चू० । ध० । पं० सं० । ग० । भ० । पञ्चान्तरे, सूत्र० १ श्रु०
१३ अ० । वाक्योपन्यासे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहवण-अथर्वन-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे वेदे, भ० २ श०
१ उ० । अनु० । औ० ।

अहस्स-अहास्य-न० । हास्यपरित्यागे, आव० ४ अ० ।

अहह-अहह-अव्य० । अहं जहाति, अहम्+हा-क-पृथो० । स-
म्योधने, आश्चर्ये, खेदे, क्लेशे, प्रकर्षे च । वाच० प्रा० २ पाद ।

अहा-अधस्-अव्य० । दिग्भेदे, स्था० ६ ग० ।

अथ-अव्य० । याथातथ्ये, विशेषे । मानन्तर्ये, “अहा पंथुरप्प-
भाप” । रजनीविघातानन्तरम् । दीर्घत्वमार्पत्वात् । कल्प० ३ क० ।

अहाअत्य-यथार्थ-अव्य० । नियुक्त्यादिव्याख्यानानतिक्रमे,
स्था० ७ ग० ।

अहाउओवक्कपात्र-यथायुष्कोपक्रमकात्र-पुं० । यथा वद्धस्या-
युष्कस्योपक्रमणं दीर्घकालभोग्यस्योपक्रमणं यथायुष्कोपक्रमः;
स चासौ कालश्च यथायुष्कोपक्रमकात्रः । कालभेदे, विशेषे ।

अहाउणिव्वत्तिकात्र-यथायुर्निवृत्तिकात्र-पुं० । कात्रभेदे,
स्था० । यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदानुयुः कर्मविशेषो यथाऽऽ-
युः । तस्य रौद्रादिध्यानादिना निवृत्तिर्बन्धनं, तस्याः सकाशात्
यः कात्रो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथायुर्निवृत्तिका-
लः अथवा-यथाऽऽयुषो निवृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिज-
वेऽवस्थानं, स तथेति । अयमप्यष्टाकाल एवायुष्ककर्मानुभव-
विशिष्टः सर्वमसारजीवानां वर्तनादिरूप इति । उक्तं च-
“आजयमित्तचित्तिटो, स एव जीवाण वत्तणाऽऽदिमओ ।

भम्मइ अहाउकात्रो, वत्तइ जो जे चिरं तेण” ॥ १ ॥ स्था० ४
ग्रा० २ उ० । “सं कितं अहाउणिव्वत्तिकाले?, अहाउणिव्वत्तिय-
काले जं ण णेरइण वा तिक्कव्वजोणिण वा मणुस्सेण वा
देवेण वा अहाउणिव्वत्तियं सेत्तं पालमाणे अहाउणिव्वत्तिका-
ले” ॥ भ० ११ श० ११ उ० ।

अहाउय-यथायुष्क-न० । देवाद्यायुष्कलक्षणे कालभेदे, आ० म०
द्वि० । (‘काल’ शब्दे तृतीयभागे चैतद्वाख्यास्यते) यथावद्धे
आयुषि च । स्था० ।

दो अहाउयं पालेइ । तं जहा-देवच्चेव नेरइयच्चेव ॥
(दो इत्यादि) यथावद्धमायुर्गथायुः, पात्रयन्त्यनुजवन्ति नोपक्र-
म्यन्ते तादृति यावदिति । “देवा नेरइया वि य, असंखवासाउ-
या तिरियमणुया । उत्तमपुग्गिस्सा य तथा, चरमसरंरा निस्वक-
मती” ॥ १ ॥ ज्ञाते वचने सत्यपि देवनारकयोरप्येव भणनं, द्वि-
स्थानकानुरोधेति । स्था० २ ग्रा० ३ उ० ।

अहाक (ग) ट-यथाकृत-त्रि० । आत्माधर्मजिनिर्वर्तिते अहा-
रादौ, “अहागमेसु रीर्यन्ति, पुष्केसु जमरो जहा” दश० १ अ० ।
नि० चू० । वृ० ।

अहाकप्प-यथाकटप्प-अव्य० । यथाऽत्रोक्तं तथाकरणे कल्पोऽ-
न्यथा त्वकल्प इति यथाकल्पम् । कल्प० ए क० । प्रतिमाकल्पा-
नतिक्रमे तत्कल्पवस्त्वनतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्था० । ज्ञा० । क-
ल्पानतिक्रान्ते, स्थविरकल्पोचिते कल्पनीये च । न० । पा० । ध० ।
अहाकम्म-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानतिक्रमे, द्वा० १६ द्वा० ।

अहापडिग्गहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपक्षे पुनर्हास-
मनीते, भ० २ श० ५ उ० ।

अहालन्द-यथाउन्द-पुं० । यथा उन्दोऽभिप्राय इच्छा, तथैवाऽऽ-
गमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाउन्दः । व्य० १ उ० । प्रव० । ध० ।
नि० चू० । यथाकथंचित् नागमपरतन्त्रतया उन्दोऽभिप्रायो बोधः
प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाउन्दः । भ० १ श० ४ उ० । स्वच्छन्दम-
तिविकल्पिते, आव० ३ अ० ।

जे जिकखू गणाओ अवक्कम्म अहालन्दं विहारं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपजित्ता एं विह-
रत्तिण् अच्छिथा इच्छा से पुणो आलोएज्जा, पुणो पमि-
कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवहाइआ ॥

यः भिक्षुर्गणादपक्रम्य यथाउन्दविहारेण विहरेत्स इच्छेद
द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुम्, तत्र स पुनरा-
लोचयेत्, पुनः प्रतिक्रामेत्, पुनश्छेदपरिहारस्यालोचयेत् ।
व्य० अ० २ उ० ।

इदानीं यथाउन्दःस्वरूपमुपवर्णयति-

उत्सुत्तमायरंता, उत्सुत्तं च व पन्नवमाणो ।

एसो य अहालन्दो, इच्छा लन्दो य एगढा ॥

सूत्रार्द्धम्-उत्तीर्णम् (परित्रष्टमित्यर्थः) उत्सृज्य, तदाचरन् प्रति-
सेवमानः, तदेव यः परेभ्यः प्रज्ञापयन् वर्त्तते, एव यथाउन्दोऽ-
भिधीयते । सम्प्राप्ति उन्दःशब्दार्थं पर्यायेण व्याचष्टे-इच्छा उन्द
इत्येकार्थः किमुक्तं भवति? उन्दो नाम इच्छेति । व्युत्पत्तिश्च यथा-
उन्दःशब्दस्य प्रागेवोपदर्शना ।

उत्सृज्यमित्युक्तमत उत्सृज्यं व्याख्यायति-

उत्सुत्तमणुवादिदं, सच्छन्दविगम्पियं अणुपाती ।

परिवर्तितव्यवित्ते, मर्तितेऽप्यं अहाउंदो ॥

उत्सृष्टं नाम यस्तीर्थहारादिभिरनुपादिष्टम्, तत्र या सूरिपरम्परा-
गता सामान्यरी, यथा-नागिना रजोहरणमूर्धमुखं कृत्वा कायो-
त्सर्गं कुर्वति । चरणानां चन्दनके कथमधीत्युच्यते इत्यादि,
साऽप्यङ्गेषु पादेषु नापदिष्टेऽनुपादिष्टम् । सङ्केततोऽनुपादिष्टमाह-
स्वच्छन्देन स्वाभिप्रोषणं विकल्पितं, स्वेच्छाकल्पितमित्यर्थः ।
अत एवानुपाति । सिद्धान्तेन सहाघटमानकम् । न केवलमूत्स-
त्रमाचरन् प्रज्ञापयंश्च यथाच्छन्दः, किन्तु यः परत्सिपु गृहस्थ-
प्रयोजनेषु कर्णकारणानुमतिभिः प्रवृत्तः परत्सिप्रवृत्तः । तथा
'मर्तितो' नाम यः स्वतोऽपि केनचित्साधुनाऽपराधेऽनवरतं
पुनस्तं स्वप्नास्ते, अयमेवेकरो यथाच्छन्दः ।

तथा-

मच्छन्दमतिविगणिय, किञ्चि सुखमायविगडपाकिवदो ॥

निहि गारवेहि मज्जइ, तं जाणाही अहाउंदं ॥

स्वच्छन्दमतिविकल्पितं किञ्चित्कृतं तल्लोकाय प्रज्ञापयति, ततः
प्रज्ञापनगुणेन लोकादिकृतील्लेने, ताश्च विकृतीः परिहृज्जानः
म्वसुखमामादयति । तेन च सुखासादेनेन तत्रैव रतिमातिष्ठ-
ति । तथाचाह-सुखासादं सुखासादनविकृतौ च प्रतिबद्धः ।
तथा-तेन स्वच्छन्दमतिविकल्पितप्रज्ञापनेन लोकपूज्यो ज्ञवति,
अभीष्टमांशादाराण प्रतिलभते, वसत्यादिकं च विशिष्टमतः
मर्त्येभ्यो बहु मन्यते । तथाचाह-त्रिभिः गौरवैर्द्धिरससा-
तल्लोकायैर्माद्यति य एवंभूतः, तं यथाच्छन्दो जानीहि ।

इह उत्सृष्टं प्ररूपयन् यथाच्छन्द उच्यते, तत उत्सृष्टप्र-
रूपणमेव भेदतः प्ररूपयति-

अहउंदम् परवण, उरमुत्ता दुविह होइ नायव्वा ॥

चरणेषु गर्हमुं जा, तत्तय य चरणे इमा होति ॥

यथाच्छन्दसः प्ररूपणा उत्सृष्टा सूत्रादुत्तीर्णा द्विधा भवति ज्ञा-
तव्या । तथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया, तत्र
था चरणविषया, सा इयं वक्ष्यमाणा भवति ।

तामेवाह-

परिलेदण मुदपोत्तिय, रयदरण निमेज्ज पायमत्तए पट्टे ॥

परलाइ चोल उप्पा-दसिया पडिसेदणपोत्ते ॥

या मुखपोत्तिका मुखवस्त्रिका, सैव प्रतिज्ञेन्ननी-पात्रप्रत्युपेक्षया
पात्रक सरिका; किं द्वयोः परिग्रहेण?, अतिरिक्तोपधिग्रहणेन सं-
ज्ञवात् । तथा-(रयदरणनिसेज्ज त्ति) किं रजोहरणस्य द्वाभ्यां
निषद्याभ्यां कर्त्तव्यम्, एका निषद्याऽस्तु ? (पायमत्तए त्ति) यदेव
पात्रं तदेव मात्रकं क्रियतां, मात्रकं वा पात्रमर्कं द्वयोः परिग्रहेण ?
तथा-(पट्ट त्ति) य एव पट्टचेन्नकः स एव गत्री संस्कारकस्यो-
त्तरपट्टः क्रियतां, किं पृथगुत्तरपट्टपरिग्रहेण ? । तथा-(परलाइ
चोल त्ति) । पट्टानि किमिति पृथक् प्रियन्ते, चोलपट्ट एव भि-
न्नार्थे हिणममानेन द्विगुणान्विगुणा वा कृत्वा पटलकस्थानं निवेश्य-
ताम् । (उप्पादसिया त्ति) रजोहरणस्य दशाः किमिन्पूणांमर्यः
क्रियन्ते ?, मौक्तिकाः क्रियन्तां, ता ह्यूर्ध्वाः मयीभ्यो सृदुतरा भव-
न्ति । तथा-(परिलेदणपोत्ते त्ति) प्रतिज्ञेयतावेलायामेकं पात्रं
प्रस्तायं तस्योपरि समस्तवस्तुप्रेक्षणं कृत्वा तदनन्तरमुपाश्रया-
त् तद्वद्विः प्रत्युपेक्षणीयम् । एवं हि महतां जीवदया कृता इति ।

द्वैतचिन्तनप्रतिषेधं, हरिश्चन्द्रिय पमज्जणा य गितस्म ।

अणुवाइ-अणुवाइ, परवणा चरणमार्हसुं ॥

इस्तगताः पादगता वा नखाः प्रवृत्ताः दन्तैश्चक्षुस्तव्याः, न नख-
रदनेन । नखरदनं हि प्रियमाणमधिकरणं ज्ञवति । तथा-
(अलिप्तमिति) पात्रमलिप्तं कर्त्तव्यम्, न पात्रं लेपनीयमिति ज्ञावः ।
पात्रलेपने बहुसंयमदोषसंज्ञवात् । (हरिश्चन्द्रिय त्ति) हरितप्र-
तिष्ठितं भक्तपानादि ग्राह्यं, तदग्रहणे हि तेषां हरितकायजीवा-
नां भारापहारः कृतो भवति । (पमज्जणा य नितस्स त्ति) यदि
छन्ने जीवदयानिमित्तं प्रमार्जना क्रियते, ततो बहिरप्यच्छन्ने क्रि-
यतां, जीवदयापरिपालनरूपस्य निमित्तस्योभयप्रापि संभवात् ।
अत्तरघटना त्वेवम्-'नितस्स' निर्गच्छतः प्रमार्जना भवतु,
यथा वसतेरत्तरिति । एवं यथाच्छन्देन चरणेषु च प्ररूप-
णाऽनुपातिनी अनुसारिणी, अननुपातिनी च क्रियते ।

अथ किंस्वरूपाऽनुपातिनी ?, इत्यनुपातिन्यननुपातिन्योः

स्वरूपमाह-

अणुवाइ ची नज्जइ, जुत्तीरठियं खु जासए एसो ।

जं पुण सुत्तावेयं, तं होति अणुवाति त्ति ॥

यद्भाषमाणः सन् यथाच्छन्दो ज्ञायते-यथा 'खु' निश्चितं यु-
क्तिसङ्गतमेव भाषते, तदनुपातिप्ररूपणम् । यथा-यैव मुखपोत्ति-
का सैव प्रतिज्ञेन्निका इत्यादि । यत्तु पुनर्भाष्यमाणं सूत्रापेतं
सूत्रपरिग्रहं तद्वक्ष्यन्नुपाति । यथा-चाञ्चपट्टः पटलानि क्रि-
यताम् ; यद्युपधिक्वापतनसंभवतो युक्त्यसङ्गततया प्रतिभास-
मानत्वात् । तत्र चरणे प्ररूपणमनुपात्यननुपाति चोक्तमिदं
चान्यद् द्रष्टव्यम् ।

तदेवाह-

सागारियादिपलियं-कनिससेज्जासेवणा य गिहिमत्ते ।

निगंथिचेद्वणाइ, सेटो वा मा सकप्पस्स ॥

सागारिकः शय्यातरस्तद्विषये ब्रूते-यथा शय्यातरपिपके शु-
ह्यमाणे नास्ति दोषः, प्रत्युत गुणः, वसतिदानतो भक्तपानादि-
दानतद्वच प्रभूततरनिर्जरासंभवात्, आदिशब्दार्थापनाकुले-
ष्वपि प्रविशतो नास्ति दोषः । (पलियं क त्ति) पर्यङ्गादिषु प-
रिच्छिज्यमानेषु न कोऽपि दोषः, केवलं जूमावुपवेशने स्नाघवा-
दयो बहुतरा दोषाः (निसिज्जासेवण त्ति) गृहिनिषद्यायामा-
सेव्यमानायां, गृहेषु निषद्याग्रहणे इत्यर्थः । को नाम दोषः ?, अपि-
त्वतिप्रभूतो गुणः, ते हि जन्तवो धर्मकथाश्रवणतः संबोध-
माप्नुवन्ति (गिहिमत्ते त्ति) गृहिमात्रके भोजनं कस्मान्न क्रियते ?,
एवं हि प्रवचनोपघातः परिहृतो भवति । तथा-(निगंथिचे-
द्वणादि त्ति) निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये अवस्थानादौ को दोषः ?, सं-
क्रिष्टमनोनिरोधेन ह्यस्तीकृष्टं तु मा बिहारक्रमं कार्पुंरिति ।

चारे वेरज्जे वा, पढमसमोसरणं तह य नातिपेसु ।

मुत्ते अकप्पए वा, अन्नाउंते य संतोए ॥

चारः, चरणं, गमनमित्यकाऽर्थः । तद्विषये व्रतार्थं, तद्यथा-चतुर्षु
मामेषु मध्ये यद्वै पतति तावन्मा विदारक्रमं कार्पीः, यदा तु न
पतति वर्षं, तदा को दोषो हिणममानस्येति ? तथा वेराज्जेऽपि ब्रूते-
यथा वेराज्जेऽपि साधवो विहारक्रमं कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि सा-
धुभिः परमार्थतः शरीरं, तद्यदि ते गृहीत्यन्ति किं क्षूणं साधू-
नाम्, मोदव्याः खलु साधुभिरुपसर्गाः । ततो यदुक्तम्-"तो क-
प्पइ निगंथा-णं वेरज्जविच्छज्जंजंजं । मज्जं गमणं सज्ज-मा-
गमणं ति" । तदयुक्तमिति । (पढमेण समोसरणे त्ति) प्रथमं स-

मवसरणं नाम प्रथमवर्षाकालः, तत्र घृते-यथा प्रथमसमवसरणे उरुमादिदोषपरिशुद्धं वस्त्रं पात्रं वा किं न कल्पते गृहीतुम्? द्वितीयसमवसरणेऽपि ह्युरुमादिदोषपरिशुद्धमिति कृत्वा गृह्यते : सा च दोषशुद्धिरुभयत्राप्यविशिष्टेति । (तद् य नितिपसु त्ति) तथा नित्येषु नित्यवासेषु प्ररूपयति-यथा-नित्यवासेऽपि यद्युक्तमोत्पादनैवणाशुद्धं ब्रह्मते ज्ञातपानादि, ततः को दोषः ? प्रत्युत काष्ठं दीर्घमेकद्वेयं वसतां सूत्रार्थादयः प्रभूता भवन्ति । तथा- (सुत्र-त्ति) यद्युपकरणं न केनापि द्वियते, ततः शून्यायां वसतां क्रियमाणयां को दोषः ? अथोत्संघट्टनोपहन्यते, तच्च चेत्सर्वोपधिक उपघातः (तथा अकल्पिय त्ति) अकल्पिको नामार्गातायैः; तद् विषये घृते-यथा-अकल्पिकेन प्रथमशैलकूपेण शुद्धमन्ना-तोऽञ्जं वस्त्रपात्राद्यानीतं किं न परिभुज्यते ? ; तस्य ज्ञातोऽग्रतया विशेषतः परिभोगाहृतत्वात् । (संभोग इति) तथा संभोगे घृते-यथा-सर्वे पञ्च महाव्रतधारिणः साधवः, सांभोगिका एव युक्ता नासांभोगिका इति ।

साम्प्रतमकल्पिकोचितं विवृणोति-

किंवा अकल्पिएणं, गहियं फासुयं तु होइ उ अभोजं ।
अन्नाञ्जं को वा, होइ गुणो कप्पिए गहिए ? ॥

किं वा केन वा करणेन अकल्पिकेन अर्गातायै न गृहीतं प्राप्तु-कमज्ञातोऽग्रमपि अभोज्यमपरिभोक्तव्यं जवति । को वा कल्पिकेन (अत्र गाथायां सप्तमं तृतीयाऽयं) गृहीतो गुणो जवति; उग्रयत्रापि शुद्धत्वाविशेषात् ।

अधुना (संभोग) इति व्याख्यानयति-

पंचमहव्यधारी, समणा मव्वेसि किं न जुंजंति ।

इय चरण-वितहवादी, एत्तो वोचं गतीसुं तु ॥

पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वे श्रमणाः किं नैकत्र जुञ्जते ? , किं ना-विशेषेण सर्वे सांभोगिका जवन्ति ? येनैके सांभोगिकाः, अपरे असांभोगिकाः क्रियन्ते इति । इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा-च्छन्दोऽनाशोचिनगुणदोषः, चरणे चरणविषये वितथवादी । अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितथवादिनं बह्वयामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

खेत्तं गतो य अइविं, एको मंचिप्पे तहिं चैव ।

नित्यगरो त्ति ये पियरो, खेत्तं पुण भावतो मिच्छी ॥

न यथाच्छन्दो गतिषु विषये एवं प्ररूपणां करोति-“एगो गह-वती, तस्स तिजि पुत्ता, ते सध्वे जेतकम्मोवजीविणो पिय-रेण त्तिकम्मं नियाजिया । तथेगो खेत्तकम्मं जहाणत्तं करेइ । एगो अइविं गतो; देसं देसेण हिंइइ इत्यर्थः । एगो जिमिस्सा जिमिस्सा देवकुलादिषु अस्थति । कालान्तरेण तेसि पिया मतो । तहिं इत्वं पितिसियं ति काउं सव्वं सम्मं विरिक्कं । एवं तेसि जं एगेण उवज्जियं तं सव्वेसिं सामण्णं जायं । एवं अम्हं पिया तित्थयरो, तस्स वयावदेसेणं सव्वे समणा कायकिलेसं कु-व्वंति । अम्हे न करेमो, जं तुभोहिं कयं । अम्हं सामन्नं जहा तु-व्वं देवलोणं सुकुलपव्वयाइं वा सिद्धिं वा गच्छह, तहा अम्हं वि गच्छिस्सामो” । एव गाथाभावार्थः । अन्नरयोजना त्रियम-एकः पुत्रः क्वं गतः । एकोऽऽर्वाभ. देशान्तरेषु परित्रमतीत्यर्थः । अपर एकस्तत्रैव संतिष्ठते । पितरि च मृते धने सर्वेषामपि स-मानम् । एवमत्रापि पिता पितृस्थानीयस्तथैकरः । क्षेत्रफलं धनं पुनर्विभावतः परमार्थतः सिद्धिः, तां यूयमिव युष्मदुपार्जनं

वयमपि गमिष्यामः । उक्ता गतिष्वपि यथाच्छन्दस्य वितथ-प्ररूपणा ।

संप्रति तेषां यथाच्छन्दानामेवंवदतां दोषमुपदर्शयति-

जिणवयणं सुव्वसारं, मूलं मंसारदुक्खमुक्खस्स ।

सम्पत्तं मल्लेत्ता, ते दांगइवद्दगा हुंति ।

ते यथाच्छन्दश्चरणेषु गतिषु चैवंवदताः सम्यक्त्वं सम्यग्दर्श-नम् । कथं तूतमित्याह-जिनानां सर्वज्ञानं वचनं जिनवचनं द्वाद-शाङ्गं, तस्य सारं प्रधानं, प्रधानवचोऽस्य तदनन्तरेण धृतस्य पत्रि-तस्याप्यधृतत्वात् । पुनः किं विशिष्टमित्याह-मूलं प्रथमं कारणं, मं-सारदुःखमोक्षस्य समस्तसांसारिकदुःखविमोक्षमोक्षस्य, तदेवं-चूतं सम्यक्त्वं मन्त्रिनयित्वा आत्मनो दुर्गतिवर्द्धका जवन्ति । दुर्गतिस्तेषामेवंवदतां फलमिति भावः । इह पूर्वमुत्सवेऽनुत्स-वे वा गृहीतस्य पार्श्वस्थस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्सवप्ररूपणार्थमाह-

सकमहादीया पुण, पासत्ये ऊमवा मुण्येयवा ।

अहउंदे ऊमवा पुण, जीए परिसाए उ कहेइ ॥

पार्श्वस्थे पार्श्वस्थस्य, उत्सवा ज्ञातव्याः सकमहादयः इन्द्र-महादयः । आदिशब्दान् स्कन्दरुद्रमहादिपरिग्रहः । यथाच्छन्द-स्य पुनरुत्सवो यस्याः पर्यदः पुरतो यथाच्छन्दः स्वच्छन्दविक-ल्पितं प्ररूपयति सा पर्यत ज्ञातव्या । एतदपि च उत्सवभूते यः पर्यदि स्वकीयकुमतप्ररूपणं चतुर्मासपरमासवर्षेषु कदा-चिद्वा करोति, अर्जीङ्गणं वा, तत एतेषु वक्तव्यम्, तच्च पार्श्व-स्थाऽऽगमानुसारं ज्ञेयम् ।

अत आह-

जहिं बहुगो तहिं बहुगा, जहिं बहुगा चउगुरु तहिं ठाणे ।

जहिं ठाणे चउगुरुगा, उम्मासे तत्थ ऊ जाणे ॥

जहिं पुण उम्मासा तहिं, जेयं पुण छेयठाणए मूलं ।

पासत्ये जं जणियं, अहउंदे विवद्धियं जाणे ॥

यत्र पार्श्वस्थस्य मासद्वयं प्रायश्चित्तमुक्तं तत्र यथाच्छन्दसि चत्वारो बहुकाः । यत्र चत्वारो बहुकाः, तत्र स्थाने च चत्वारो गुरवः । यत्र च-त्वारो गुरुकास्तत्र परमासान् गुरुं जानीहि । यत्र पुनः परमासा-स्तत्र ज्ञातव्यः उदः, उदस्थाने च मूलम् । तद्यथा-यद्युत्सवाभावे क-दाचित्कथयति ततश्चत्वारो बहुका मासाः; अथाभीष्टं कथयति ततश्चत्वारो गुरुकाः ; अथोत्सव कदाचित् घृते ततश्चत्वारो गु-रुकाः ; अर्जीङ्गणकथने परमासा गुरवः । परमासा यावदर्जीङ्गणक-थने मूलम् । अत्रोत्सवानुत्सवविशेषरहिततया सामान्यतोऽजि-धानमुक्तमोघेन प्रायश्चित्तम् अधुना विभागेन उच्यते-चतुरो मा-सान् यावत्कदाचिदुत्सवाभावे प्ररूपणायां चत्वारो लघुमासाः । परमासान् यावच्चत्वारो गुरवः । वर्षे यावत्परमासा गुरवः । तथा-चतुरो गुरुमासान् यावदुत्सवाभावेऽर्जीङ्गणप्ररूपणायां चत्वारो गुरुकाः । परमासान् यावदुत्सवमर्जीङ्गणप्ररूपणायां परमासा गुर-वः । वर्षे यावदेवंप्ररूपणायां उदः । चत्वारो मासान् यावदुत्सवे क-दाचित्प्ररूपणात् चत्वारो मासा गुरवः । परमासान् यावदेवंप्ररूप-णायां परमासा गुरवः । वर्षे यावत्प्ररूपणायां उदः । तथा-च-तुरो मासान् यावदुत्सवेऽर्जीङ्गणं प्ररूपणायां चतुर्गुरुकाः उदः । वर्षे यावदेवंप्ररूपणायां मूलमिति । एतदेव सामान्यतोऽग्रहणम् । (पासत्येत्यादि) पार्श्वस्थे यत्र स्थाने यत् भणितं प्रायश्चित्तं त-

स्तिनस्थाने यथाच्छन्दो विचरित-विशेषेण वर्तित-जानीहि । तच्च तथैवानन्तरमुपदिशितम् । कस्माच्च वर्तित-जानीहि इति चेत् ? उ-
च्यते-प्राप्तसंज्ञानात् प्ररूपणाय बहदोपत्तवान्, इह पार्श्वस्थत्वं यथा-
हामापि सम्भवति । तद्यथा-निर्गोर्गणावच्छेदितः, आचार्यस्य च ।
यथाच्छन्दत्वं पुनर्निर्गोरेव । ततः पार्श्वस्थविषयं सूत्रं त्रिसूत्रा-
त्मकं यथाच्छन्दविषयं त्वेकस्वरूपमिति ।

सम्प्रति कुमीत्रादीनां प्रायश्चित्तविधिमतिदेशत आह-
पामन्ये आगेवण, ओह विज्ञागेण व निग्या पुर्वं ।
सव्ये वि निग्वसेमा, कुर्मालमादीण नायव्या ॥

यैव पूर्वं पार्श्वस्थे प्रायश्चित्तस्योद्यन, विज्ञागेन वाऽऽरोपणप्रदा-
नमुपवर्णिता, सैव निग्वसेमा ओघन, विज्ञागेन च ज्ञातव्या । यत्र
तु विशेषः स तत्र तु वदयते । गतं यथाच्छन्दसूत्रम् । व्य० १
उ० । भ० ।

जे भिक्खु अहाउंदं पसंसं, पसंसंतं वा साइज्जं ॥१८८॥

जे निक्खु अहाउंदं वंदं, वंदंतं वा साइज्जं ॥१८९॥

अहच्छन्दं त्ति यकाररूपव्यञ्जनलोपे कुने, स्वोऽयवस्थितं च ज-
वति । उन्दाऽभिप्रायः, यथाऽस्याजिघ्रसे तथा प्रज्ञापयन् अ-
हाउंदो नवति । तं जो पसंसति, वंदति वा तस्मै चउगुरुगं,
आणादिया य दोसा । (नि० चू०) (इतोऽप्रे व्यवहारेण गतार्थः)

कारणे पुण पसंसति वंदति वा-

वितियपदमणपज्जे, पसंसं अविकोविते व अप्पज्जो ।

जोऽणंतं वावि पुणो, भयसा तव्वादि गच्छट्ठा ॥१९०॥

अहाउंदो कोइ राउस्मिओ, तच्चभया तं पसंसति, वंदति वा
(तव्वादि त्ति) कश्चिदेवं वादी प्रमाणं कुर्यात्-अहाउंदो न वन्थो,
नापि प्रशंस्यः, इति प्रतिज्ञा कस्माहेताः ? । उच्यते-कर्मवन्ध-
कारणत्वात् । को दृष्टान्तः ? अघ्निरतमिथ्यात्ववन्दनप्रशंसनवन् ।
इदं प्रमाणं दूषणेन दोषमात्रहति प्रशंसनवन्दनप्ररूपणं कुर्वन्
(गच्छट्ठा त्ति) कोइ अहाउंदो ओमाइसु गच्छरक्खणं करोति,
तं वंदति पसंसति वा, ण दोलो । नि० चू० ११ उ० । आचार्ये
यथाच्छन्दे जातेऽन्यत्रोपसंपत् । व्य० ४ उ० ।

अहाउंदविहारि (ण)-यथाउन्दविहारिन्-पुं० । आजन्मापि
यथाउंदे, ज० १० श० ४ उ० ।

अहाजाय-यथाजात-न० । यथाजातं नाम यथा प्रथमतो जन-
नीजत्राभिर्गतो, यथा च श्रमणो जातस्तथैव जातत्वक्रमेण दीय-
माने वन्दनके, वृ० ३ उ० । यथाजातं जन्म श्रमणत्वमाश्रित्य, योनि-
निष्क्रमणं च; तत्र रजोहरणमुखवन्त्रिकाचोन्नपट्टकमात्रया श्रम-
णो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवमभूत एव वन्दति,
तस्मात्त्रिकाश्च यथाजातं भगवते कृत्तिकर्मवन्दनम् । आच० ३ अ० ।
यथाजातं-जातं जन्म, तच्च देहा-प्रसवः प्रव्रज्याग्रहणं च ।
तत्र प्रसवकाले रचितकरसंपुटो जायते, प्रव्रज्याकाले च गृही-
तरजोहरणमुखवन्त्रिका इति । अत एव रजोहरणादीनां पञ्चानां
शास्त्रे यथाजातत्वमुक्तम् । तथा च तत्पाठः-“ पंच अहाजायाई,
चोत्रयपट्टो १ तहेव रयहरणं २ उप्पिअ ३ लोमिअ ४ तिस्मि-जय-
जुअत्रं तह य मुटपोत्ति” ॥१॥ यथा जातमस्य स यथाजातः, त-
थाभूत एव वन्दते, इति वन्दनमपि यथाजातम् । अ० २ अधि० ।
अहापुपुव्वी-यथानुपूर्वी-स्त्री० । यथाक्रमे, अ० २ पाठ० ।
“अहापुपुव्वीण स पत्थिया” । रा० ।

अहातत्त्व-यथातत्त्व-न० । अभिधानार्थानतिक्रमे, अन्वयसत्या-
पने च । अ० ५ ठा० १ उ० । दशा० । शब्दार्थानतिक्रमे तत्त्वान-
तिक्रमे च । भ० २ श० १ उ० । स्या० ।

यथातथ्य-न० । सत्यं, कल्प० ६ सू० व्य० । एकांततः यथा-
येन प्रकारेण तथ्यं सत्यं, ‘तत्त्वं वा’ तेन यो वर्ततेऽसौ यथा-
तथ्यो ‘यथातत्त्वं’ वा । दृष्टार्थाविसंवादिनि, फलाविसंवादिनि
च स्वप्नेदे, भ० । तत्र दृष्टार्थाविसंवादी स्वप्नः, किल को-
ऽपि स्वप्नं पश्यति-यथा-मह्यं फलं हस्ते दत्तं, जागरितस्तत्त-
थैव पश्यतीति । फलाविसंवादी तु किल कोऽपि गोवृषकुज-
रायारूढमान्मानं पश्यति, वुरुश्च कालान्तरे सम्पदं लभत इ-
ति । भ० १६ श० ६ उ० ।

अहापज्जत्त-यथापर्याप्त-त्रि० । यथालब्धे, अणु० ३ वर्ग० ।

अहापडिस्स-यथाप्रतिरूप-त्रि० । उचिते, औ० । नि० चू० ।

येन प्रतिरूपेण साधूचितस्वरूपं तस्मिन्, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अहापरिहिय-यथापरिहित-त्रि० । यथाऽवस्थिते, “अहाप-
रिहिहिं गापरिहिं” भ० ३ श० २ उ० ।

अहापरिगहिय-यथापरिगृहीत-त्रि० । परिग्रहणानुरूपेण
स्वीकृते, “अहापरिगहियाई वत्थाई धारेज्जा” । आचा० १ श्रु०
८ अ० ४ उ० ।

अहापरिणाय-यथापरिज्ञात-त्रि० । परिज्ञानानुरूपेणाभ्युपग-
ते, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । “अहापरिणायं वसामो”
यथापरिज्ञातं यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीते भवान् तावत्क्षेत्रम् ।
आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अहापवत्त-यथाप्रवृत्त-न० । येनैव प्रकारेणानादिकाज्ञेऽभूत्
तेनैव प्रवृत्तवद् नाप्राप्तपूर्वस्वभावान्तरप्राप्तं, पञ्चा० ३ विव० ।

अहापवित्तिकरण-यथाप्रवृत्तिकरण-न० । यथाप्रवृत्तस्य क-
रणे सम्यक्त्वानुगुणे करणभेदे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

अहापवित्तिसंकम-यथाप्रवृत्तिसंकम-पुं० । यथा यथा जघन्य-
मध्यमेत्कृष्टानां योगानां प्रवृत्तिस्तथा तथा संक्रमणे, पं० सं०
५ ठार । क० प्र० । (‘संकम’ शब्दे विचारिष्यते)

अहावायर-यथावादर-त्रि० । असारे, भ० ३ श० १ उ० । स्थू-
लप्रकारे, “अहावायराई कम्माई” भ० ६ श० १ उ० । क-
ल्प० । यथोचितवादरे आहारपुफले, प्रति० ।

अहावीय-यथावीज-न० । यद् यस्योत्पत्तिकारणं, तस्मिन्, सूत्र०
२ श्रु० ३ अ० ।

अहावोह-यथावोध-अ० । बोधानतिक्रमे, ध० १ अधि० ।

अहाभदग-यथाभदक-पुं० । साध्वनुकूले श्रावके, वृ० १ उ० ।
श्राव० । शासनवहुमानवति, वृ० १ उ० ।

अहाभाग-यथाभाग-अव्य० । यथाविषये, दश० ५ अ० ।

अहाचूय-यथाचूत-पुं० । तात्त्विके, अ० १ ठा० १ उ० ।

अहामग-यथामार्ग-अव्य० । ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्रयो-
पशमतावानतिक्रमे, दशा० ७ अ० ज्ञा० स्था० औदयिकभा-
वापगमे, अ० ७ ठा० व्य० । कल्प० । भ० ।

अहागयणिय-यथारात्रिक-अव्य०। यथा यथा रत्नैरधिकं ज-
वेत्तदनतिक्रमे, वृ० ३ उ० । “अहारायण्यं गामाणुगामं दु-
हजेजा ” आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अहारि (ए)-अहारिन्-त्रि० । मनसोऽनिष्टे, आचा० १ श्रु०
६ अ० २ उ० ।

अहारिय-ययर्जु-अव्य०। ऋजुताऽनतिक्रमे, “अहारियंरिएजा”
यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद्, नार्द्वितर्द, विकारं वा कुर्वन्
गच्छेत् । आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

यथारीत-अव्य० । रीतं रीतिः, स्वभाव इत्यर्थः । तदनतिक्रमे-
ण यथारीतम् । स्वभावानतिक्रमे, “अहारीयं रीयइ” यथारीतं
रीयते गच्छति, यथा स्वाभाविकौदारिकशरीरगत्या गच्छतीत्य-
र्थः । भ० ५ श० २ उ० ।

यथार्ह-त्रि० । यथोचिते, स्था० २ ठा० १ उ० । यथार्हा या य-
स्योचिता वोकयात्रा-लोकोचितानुवृत्तिरूपो व्यवहारः, सा
विधेया । यथार्हवोकयात्राऽतिक्रमे हि लोकचिन्तयिष्येन ते-
षामात्मन्यनदेयतया परिणामापादनेन स्वलाघवमेवोत्पादितं
भवति । एवं चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्यगाचारस्य वधुत्व-
मेवोपनीतं स्यादिति । उक्तं च-“ लोकः खद्याधारः, सर्वेषां
धर्मचारिणां यस्मान् । तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्या-
ज्यम् ” ॥ ३२ ॥ ध० १ अधि० । औचित्ये, पो० १० विव० ।

अहलंद-अथ (यथा) लृन्द-पुं० । यावन्मात्रे कावे, आचा०
२ श्रु० ७ अ० १ अ० । अथेत्यव्ययम्, लृन्दशब्देन काल उच्यते ।
तत्र यावता कावेनोदकार्छः करः शुष्यति, जघन्यतस्तावति का-
ले, कल्प० ८ क० ।

भेदाः—

लंदं तु होइ कावो, सो पुण उकोसमज्झिमजह्मो ।

उदउल्ल करो जाविह, सुकइ सो होइ उ जह्मो ॥ ६१ ॥

लृन्दं तु भवति कावः । समयपरिज्ञापया लृन्दशब्देन कालो भ-
ण्यत इत्यर्थः । स पुनः कावलिध्या-उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च ।
तत्र उदकार्छः करो यावता कावेन इह सामान्येन लोकेषु शु-
ष्यति, तावान् कालविशेषो जवति जघन्यः । अस्य च जघन्यत्वं
प्रत्याख्याननियमविशेषादिषु विशेषत उपयोगित्वात्, अन्यथा-
ऽतिसूक्ष्मातरस्यापि समयादिवक्ष्यस्य सिद्धान्तोक्तस्य कालस्य
संज्ञात् ।

उकोस पुव्वकोमी, मज्जे पुण हुंति णेगउणाइ ।

इत्थ पुण पंचरत्तं, उकोसं होइ अहलंद ॥ ६२० ॥

उत्कृष्टः पूर्वकोटीप्रमाणः; अयमपि चारित्रिकावमानमाश्रित्य
उत्कृष्ट उक्तः, अन्यथा पट्योपमादिरूपस्यापि कालस्य संभवात् ।
मध्ये पुनर्जवत्यनेकानि स्थानानि वर्षादिभेदेन कालस्य । अत्र
पुनर्यथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्रं यथेत्यागमानतिक्रमेण लृन्दं
काल उत्कृष्टं भवति; तेनैवात्रोपयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हुंति अहलंदी ।

पंचव होइ गच्छो, तेमि उकोसपरिमाणं ॥ ६२१ ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति पेटार्छं, पेटाद्यन्यतमायां वीथ्यां भैकृनि-
मित्तं पञ्च रात्रिदिवान्यतन्ति, तस्माद्भवन्ति यथालंदिनः विव-
क्षितयथालन्दभावात् । तथा पञ्चैव पुरुषा भवन्ति गच्छो गणः,

तेषां यथालन्दिकानां पञ्चको हि गणोऽसु कल्पं प्रतिपद्यते ।
इति उत्कृष्टमेकैकस्य गणस्य पुरुषपरिमाणमेतदिति ।

अथ बहुवक्तव्यत्वाच्चित्रवशेषाभिधानं ग्रन्थगौरवप्रसक्त्या
यथालन्दिककल्पस्यातिदेशमाह—

जा चेव य जिणकप्पे, मेरा सा चेव लंदियाणं पि ।

नाणत्तं पुण मुत्ते, भिक्खायारि मासकप्पे य ॥ ६२२ ॥

यैव च जिनकल्पे जिनकल्पविषया ‘मेरा’ मर्यादा पञ्चवि-
धतुलनादिरूपा, सैव च यथालन्दिकानामपि प्रायशः, नानात्वं
जेदाः पुनर्जिनकल्पिकेभ्यो यथालन्दिकानां सूत्रे नृत्रविषये,
तथा जिज्ञाचर्यायां, मासकल्पे च । चकाराग्रमाणविषयं चेति ।

अथातिदेशपूर्वकमल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमं मासकल्पनानान्वमेवाह—

अहलंदियाण गच्छे, अप्पस्मिद्धाण जह जिणाणं तु ।

नवरं कावविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥ ६२३ ॥

यथालन्दिका द्विधा-गच्छे प्रतिवक्षा अप्रतिवक्षाश्च । गच्छे च प्रति-
वक्ष्यामीषां कारणतः, किञ्चिदश्रुतस्यार्थस्य श्रवणार्थमिति म-
तव्यम् । ततो यथालन्दिकानां गच्छे अप्रतिवक्ष्यानाम्, उपलक्षण-
त्वात्प्रतिवक्ष्यानां च; ‘नवेण सत्तेण’ इत्यादिनावनारूपा सर्वाऽपि
सामाचारी यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समवसेया ।
‘नवरं’ केवलं द्विविधानामपि यथालन्दिकानां जिनकल्पिकेभ्यः
काले कालविषये विशेषां भेदां ज्ञातव्यः । तमेवाह—(उउवासे
पणगचउमासो ति) ऋतौ ऋतुवर्षकात्रे, वर्षे वर्षाकाले च, य-
थासंख्यं दिनपञ्चकं मासचतुष्टयं चैकत्रावस्थानं भवति । इयम-
त्र भावना-ऋतुवर्षे काले यथालन्दिकसाधवो यदि विस्तीर्णां
ग्रामादिर्भवति, तदा तं गृहपङ्क्तिरूपाणिः पृथिवींथीभिः परिक-
ल्प्य एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च दिवसानि जिज्ञामटन्ति, तत्रैव च
वसन्ति । एवं पृथिवींथीभिरेकस्मिन् ग्रामे मासं परिपूर्णं जव-
ति । तथाविधविस्तीर्णग्रामाभावे तु निकटतमेषु गृहेषु ग्रामेषु
पञ्चपञ्चदिवसं वसन्ति । उक्तं च कल्पजाष्ये—

एकैकं पंचदिणे, पण पण उ निट्ठिओ मासो । पं०जा० ।

एतच्चूर्णिञ्च—“जइ एगो चेव मासो सवियारो ति विच्छिञ्चो,
तो उव्वीहीओ काउं एकेकीए पंच एव दिवसाणि हिंडंति । विइ-
याए वि पंचदिवसे० जाव उमीए वि पंचदिवसा । एवं एगगामे
मासो भवइ । अह नत्थि एगो गामो सवियारो, तो हवं जहालंदि-
याण ऋगामाखितस्स परिपेरत्तेणं तेमि एक्केक्कं पंचदिवसाणि
अत्थंति । एवं मासो विभिज्जमाणो पण पण निट्ठिओ हाइ ति” ।

अथ यथालन्दिकानामेव परस्परं जेदमाह—

गच्छे पमिवक्षाणं, अहलंदीणं तु अह पुण विसेसो ।

ओगह जो तेमि तू, सो आयरियाण आभवइ ॥

गच्छप्रतिवक्ष्यानां पुनर्यथालन्दिकानां गच्छप्रतिवक्ष्यः सका-
शाद् विशेषो जेदो भवति । तमेवाह—तेषां गच्छप्रतिवक्ष्यथाल-
न्दिकानां यत्तेशपञ्चकलक्षणक्षेत्रावग्रहः, स आचार्याणामेव भ-
वति । यस्याऽऽचार्यस्य निश्रया ते विहरन्ति तस्यैव स क्षेत्रावग्र-
हो जवतीति भावः । गच्छाप्रतिवक्ष्यानां तु जिनकल्पिकवत् क्षे-
त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालन्दिकानां जिज्ञाचर्यानातात्वं
विवक्षुराह—

एगवसदीए पणगं, उव्वीहीओ य गामि कुव्वंति ।

दिवसे दिवसे अन्नं, अमंति वीहीम्बु नियमेण ॥६२५॥

ऋतुबद्धे काले एकस्यां वसतौ पञ्चकं पञ्च दिवसानि यावद-
वतिष्ठते । वर्षासु पुनश्चतुरो मासान् यावदेकस्यां वसतौ ति-
ष्ठन्ति । ग्रामे षट् वीथीः कुर्वन्ति । अयमर्थः—यथालन्दिका गृहप-
द्विरूपाभिः प्रहजन्तीभिर्निर्माणं परिकल्पयन्ति । एकैकस्यां च
वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसानि भिक्षां पर्यटन्ति । तत्रैव च वसन्ति
विश्रम्यन्ति । उक्तं च पञ्चकलपचूर्णो—“ग्रामाग्रे गामो कीरद, एतेषां
पञ्चदिवसं भिक्षुं हिंसेति, तथैव वसन्ति ग्रामासु एतद्यु चउ-
म्मासो ति” । तासु च वीथीषु दिवसे दिवसे नियमतोऽन्यामन्यां
भिक्षामटन्तिः वृत्तादिजिज्ञासुश्चक्रमध्यादेकस्मिन् दिवसे यां
भिक्षामटन्ति न पुनर्हितीयेऽपि दिने तामेवाटन्ति, किन्त्वन्यामन्या-
मिति भावः । इत्थं तावदस्मान्निर्व्याख्यातं, सुधिया तु समया-
विराधेनाप्यथाऽपि व्याख्येयमिति ।

अथ सूत्रनानात्वे निर्दिष्टचूर्णयथालन्दिकनेदानेवाह—

परिवृष्टा इयरे वि य, इक्किा ते जिणा य घेरा य ।

अत्यस्म उ देनम्मि य, अममत्ते तेसि परिवृधो ॥६२६॥

यथालन्दिका द्विविधाः—गच्छप्रतिवृद्धाः, इतरे च गच्छा-
प्रतिवृद्धाः । ते पुनरैकैकशो द्विभेदाः—जिनकल्पिकाः स्थवि-
रकल्पिकाश्च । तत्र यथालन्दिककल्पपरिष्ठाप्यनन्तरं ये जि-
नकल्पं प्रतिपश्यन्ते ते जिनकल्पिकाः, ये तु स्थविरकल्पमेवाश्र-
यिष्यन्ति ते स्थविरकल्पिकाः । इह च ये गच्छं प्रतिवृद्धास्तेषां
प्रतिवृद्धो अनेन कारणेन भवति—(अथस्सेत्यादि) अर्थस्यैव, न
सूत्रस्य, देश एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तो, न गुरुस्मीपे परिपूर्णो गृ-
हीत इति नद्वन्द्वदणाय गच्छे प्रतिवृद्धः, तेषां तस्यावश्यं गुरुस्मी-
पे प्रहीप्यमाणत्वादिति ।

अथ परिपूर्णं सूत्रार्थं गुरुस्मीपे गृहीत्वैव कथं कल्पं न
प्रतिपद्यन्त इत्याह—

लगाइमु चरंते, तो परिवज्जित्तु खेत्तवाहिउत्तिआ ।

गिएहंति जं अगहियं, तत्थ य गंतूण आयरिओ ॥६२७॥

तेमि तयं पयच्छइ, खेत्तं ईताण तेमिमे दोसा ।

वंदंमवंदंते, लोगम्मी होइ परिव्राओ ॥ ६२८ ॥

न तरेज्ज जई गंतुं, आयरिओ ताहि एइ सो चेव ।

अंतरपल्लि परिसवम—जगामवसहिं य वसहिं वा ॥६२९॥

तीए य अपरिजोगे, ते वंदंते न वंदई सो उ ।

ते येत्तुमपरिवृष्टा, ताहि जहिच्छाए विहरंति ॥६३०॥

लग्नादिषु त्वरमाणेषु शुभेषु लग्नयोगवन्द्यवशादिषु ऋगित्यागतेषु
सन्तु अन्येषु च लग्नादिषु दूरकालवर्तिषु न तथा भव्येषु वा
गृहीतापरिपूर्णसूत्रार्था अपि लग्नादिजयतया कल्पं प्रतिपद्यन्ते ।
ततः प्रतिपद्य तं कल्पं गच्छाभिर्गम्य गुर्वधिष्ठितात् क्षेत्रप्रामतग-
रादेव हिंदुदेशे स्थिता विशिष्टतरनिष्ठरनिखिलनिजानुष्ठानति-
रता गृहान्ति यद्गृहीतमनर्थानमर्थजं तत्र चार्थं विधिः—यदुत-
आचार्यः स्वयं तत्र गन्वा तेभ्यो यथावन्दिक्केभ्यः (तयं ति) तम-
र्थं शेषं प्रयच्छति ददाति । अथ न एवाचार्यस्मीपमागत्य किमि-
ति तमर्थं शेषं न गृह्णीत्याह—(खेत्तं ईताणेत्यादि) क्षेत्रमध्यं स-
मागच्छतां तेषां यथावन्दिक्कानाम, एते वक्ष्यमाणा द्रोपाः तथाहि-
वन्दमानेषु गच्छवासिषु साधुषु, अवन्दमानेषु च कटपस्थितेषु लो-
कमध्ये परिवादे निन्दा नयति । तथाहि—यथावन्दिक्कानां कल्प-

स्थित्यैव आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्तुं न
कल्पते; गच्छसाधवश्च महान्तोऽपि तान् वन्दन्ते, ततो लोको
वदेत्—यथा दुष्टशीला निर्गुणाश्च एते, येन अन्यान् साधून् वन्द-
मानानपि न व्याहः न्ति, न वन्दन्ति वा । गच्छसंबन्धिसाधूनां वा
उपरि भ्रष्टत्वाऽऽशङ्कः भवेत्—अवश्यमेते दुःशीला निर्गुणाश्च, ये
न वन्दन्ते, आत्मारथिका वा एते, येन अप्रतिवन्दमानानपि
वदन्ते इति । अथ यदि जङ्घावलक्रीणतया तत्संकाशं गन्तुं (न त-
रेज्ज स्ति) न शक्नुयात् । आचार्यस्तदा एति आगच्छति । कल्या-
ह—अन्तरपल्लीं मूलक्षेत्रात् सार्द्धद्विगव्यूतिस्थं ग्रामविशेषं, यद्वा,
प्रतिवृष्टभग्रामाद् मूलक्षेत्राद् द्विगव्यूतिस्थात् भिक्षाचर्याग्रा-
मात्, अथ वा बहिर्मूलक्षेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अन्यवसतिं,
वाशब्दात् मूलवसतिम् । इयमत्र ज्ञावना—यथाचार्यो य-
थावन्दिक्कस्मीपे गन्तुं न शक्नोति तदा यस्तेषां यथालन्दि-
कानां मध्ये धारणाकुशलः, सोऽन्तरपल्लीमागच्छति, आचार्य-
स्तु तत्र गत्वा अर्थं कथयति । अत्र पुनः साधुसंघाटको मूल-
क्षेत्राद्भक्तं पानं गृहीत्वा आचार्याय ददाति, स्वयमाचार्यः सं-
न्यासमयं मूलक्षेत्रमायाति । अथान्तरपल्लीमागन्तुं न शक्नोति
तदा अन्तरपल्लीप्रतिवृष्टभग्रामयोरन्तरालं गत्वा अर्थं कथय-
ति । तत्रापि गन्तुं शक्यभावे प्रतिवृष्टभग्रामे, तत्रापि गन्तुमशक्ते
प्रतिवृष्टभग्राममूलक्षेत्रयोरन्तरालं; तत्रापि गन्तुमसामर्थ्यं मूल-
क्षेत्रस्यैव बहिर्विजने प्रदेशः अथ तत्रापि गन्तुमसमर्थास्तदा
मूलक्षेत्रमध्य एवान्यस्यां वसतौ गत्वा; तत्रापि गमनशक्यभावे
मूलवसतावेव प्रच्छन्नमाचार्यस्तस्मै यथालन्दिकार्थशेषं प्रय-
च्छतीति । उक्तं च कल्पचूर्णो—“आयरिण सुत्तपोरिसि अत्थपो-
रिसि च गच्छे नियण दाउ अहावाइयाणं सगामं गंतुं, अत्थं सा-
रेइ । अह न तरइ, दो वि पोरिसिओ दाउं गंतुं तो सुत्तपोरिसि
दाउं वच्चइ, अत्थपोरिसि सोसेण दवावेइ । अत्थसुत्तपोरिसि
पि दाउं गंतुं न तरइ, तो दो वि पोरिसिओ सीसेण वा-
यावेइ अप्पणा अहलंदिए वाएइ । जइ न सक्केइ आयरिओ
खेत्तवाहिं अथावदियसंगामं गंतुं, ताहे जो तेसि अहलंदि-
याणं धारणाकुसरो सो अंतरपल्लिआसने खेत्तवसहिं एति,
आयरियो तस्स गंतुं अत्थं कहति । एत्थ पुण संगामो भत्त-
पाणं गहाय आयरियस्स नेइ, गुरु वेयालियं पडिए इति । एवं
पि असमर्थे गुरु अंतरपल्लियाए पडिवसभगामस्स य अंतर-
वाएइ स्ति । असति पडिवसभे वाएइ, असति पडिवसभस्स
वासगामस्स य अंतरा वाएत्ति, असति वसभगामस्स बहियाए
वाएत्ति । अतरंते संगामे अत्रापि वसहीए, अतरंते एगवसही-
ए चेव अपरिभोगे उवासे वाएत्ति इत्यादि” ॥ (तीए य अपरभो-
गो स्ति) तस्यां च मूलवसतावपरिभोगे तथाविधजनार्काणं
स्थाने, तेभ्योऽर्थशेषं प्रयच्छतीति योगः । तत्र च ये ग-
च्छसाधवो महान्तोऽपि यथालन्दिकं वन्दन्ते, स पुनर्यथाल-
न्दिकस्तात्र वन्दत इति । एवं तमर्थशेषं गृहीत्वा परिनिष्ठितप्र-
योजनत्वाद् गच्छे अप्रतिवृष्टाः सन्तो यथावन्दिक्का स्वच्छया
स्वकल्पानुरूपं विहरन्ति निजकल्पं परिपालयन्ति इति । प्रव०
७० द्वार । वृ० । ध० । विशेष० ।

अथ जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकभेदभिन्नानां परस्परं
विशेषमाह—

जिणकप्पिया य तदियं, किंवि तिगच्छं पि ते न कारिति ।

निप्पमिकम्मपरीरा, अवि अत्तिमत्तं पि नऽवण्णैति ॥६३१॥

जिनकल्पिकाश्च यथावन्दिक्काः, तदा कल्पकास्ते मारणान्तिकंऽ-

प्यातङ्गे समुत्पन्ने, न कामपि चिकित्सां ते कारयन्ति, तथाक-
ल्पस्थितेः । अपि च-निष्प्रतिकर्मशरीराः प्रतिकर्मरहितदेहास्ते
प्रगवन्तस्तत आस्तां तावदन्यत्र, अकिमलमपि नापनयन्ति, अ-
प्रमादातिशयादिति ।

थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिण्ति गच्छस्सु ।

ते वि य से फासुणं, करिंति सव्वं पि पाम्मकम्मं ॥६३२॥

स्थविरकल्पिकयथावन्दिकानां जिनकल्पिकयथालन्दिकेभ्यो ना-
नात्वं भेदः, यथा अशक्नुवन्तं व्याध्याधितं सन्तं स्वसाधु-
मर्थयन्ति गच्छस्सु गच्छवासिसाधुसमूहस्य स्वकीयं पञ्चक-
णपरिपूरणार्थं च तस्य स्थाने विशिष्टधृतसंहननादिसमन्वित-
मन्यं मुनिं स्वकल्पे प्रवेशयन्ति । तेऽपि च गच्छवासिनः साध-
वः (से त्ति) तस्य अशक्नुवन्तः प्राशुकेन निरवधेनाश्रयाना-
दिना कुर्वन्ति सर्वमपि परिकर्म प्रतिजागरणमिति ।

किञ्च—

एकेकपरिगहगा, सप्पाउरणा हवंति थेराओ ।

जे पुण सिं जिणकप्पे, जावे सिं वत्थपायाणि ॥६३३॥

स्थविरकल्पिका यथालन्दिका अवश्यमेव एकैकपदद्रव्यकाः
प्रत्येकमेकैकपदद्रव्यधारिणः, तथा सप्रावरणाश्च जवन्ति । ये
पुनरेषां यथालन्दिकानां जिनकल्पे भविष्यन्ति, जिनकल्पिक-
यथालन्दिका इत्यर्थः । जावे तेषां वस्त्रपात्रे सप्रावरणाः प्रा-
वरणपदद्रव्यधारिणपात्रभेदभिन्नभाविजिनकल्पापेक्षया के-
षांचिद्वस्त्रपात्रलक्षणमुपकरणं जवति, केषां च नेत्यर्थः । प्रव०
७० द्वार । वृ० ।

अथ सामान्येन यथालन्दिकप्रमाणमाह—

गणमाणओ जहन्ना, तिन्नि गण मयगसो य उक्कोसा ।

पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसो ॥ ६३४ ॥

गणमानतो गणमाश्रित्य जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यमान-
का जवन्ति । शताग्रशश्च शतपृथक्त्वमुत्कृष्टतो गणमानं, पुरुष-
प्रमाणं त्वेतेषां प्रतिपद्यमानकानां जघन्यतः पञ्चदश, पञ्चको
हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते । गणश्च जघन्यतस्त्रयः, ततः
पञ्चभिर्गुणिताः पञ्चदश, उत्कृष्टतः पुनः पुरुषप्रमाणं सहस्रशः
सहस्रपृथक्त्वम् ।

पुरुषप्रमाणमेवाश्रित्य पुनर्विशेषमाह—

पडिवज्जमाणगा वा, इक्काइ हवेज्ज ऊणपक्खे वि ।

होति जहन्ना एए, सयगसो चेव उक्कोसा ॥ ६३४ ॥

पुव्वपक्खिन्नमाण वि, उक्कोसजहन्नसो परीमाणं ।

कोरिपुहुत्तं जणिणं, होइ अहलंदियाणं तु ॥६३५॥

प्रतिपद्यमानका एते जघन्यत एकादयो वा जघेयुर्न्यूनप्रकृपे स-
ति, यथालन्दिककल्पे हि पञ्चमुनिमयो गच्छः, तत्र च यदा ग्लान-
त्वादिकारणवशतो गच्छसमर्पणादिना तेषां न्यूनता भवति त-
दैकादिकः साधुस्तं कल्पं प्रवेशयेत्, येन पञ्चको गच्छो भवति, एवं
जघन्यापत्तेः प्रतिपद्यमानकास्तथा शताग्रश उत्कृष्टाः प्रतिपद्य-
मानका एवेति ॥६३४॥ पूर्वप्रतिपद्यानामपि सामान्यनोत्कृष्टतो ज-
घन्यतश्च परिमाणं कोटिपृथक्त्वं जणितं जवति यथावन्दिकानाम् ।
उक्तं च कल्पचूर्णैः—“पडिवज्जमाणगा जहन्नेणं तिन्नि गणा, उक्को-
सो जहन्नसो परीमाणं पडिवज्जमाणगा जहन्नेणं

पन्नरस पुरिसा उक्कोसेणं सहस्सपुहुत्तं पुव्वपक्खिन्नमाणं जह-
न्नेणं कोरिपुहुत्तं, उक्कोसेण वि कोरिपुहुत्तमिति” । केवञ्च जघ-
न्यादुत्कृष्टं विशिष्टतरं हेयमिति । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ गच्छप्रतिवक्ष्यथालन्दिकद्वारमाह—

पडिवज्जे को दोसो, आगमणेगागिणस्स वासासु ।

सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेमो ॥

प्रतिवन्धनं प्रतिवन्धः, गच्छप्रतिवन्ध इत्यर्थः । तत्र कारणे यथा-
लन्दिकानां च वक्तव्यं (को दोसस्ति) को नाम दोषो भवति य-
त्ते यथावन्दिका आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति । (आगमणेगा-
गिणस्सस्ति) यथाचार्याः स्वयं क्षेत्रवहिर्गन्तुं न शक्नुवन्ति तत
एकाकिनो यथालन्दिकस्यागमनं भवति (वासासु स्ति) वर्षासु
उपयोगं दत्त्वा यदि जानाति वर्षेन पतिष्यति तत आगच्छतिः अ-
न्यथा तु नेति । श्रुतसंहननादिकस्तु गमः स एव निरवशेषो व-
क्तव्यो यो जिनकल्पिकानाम् ; यस्तु विशेषः स प्रागेवोक्तः ।

अथ प्रतिवद्धपदं व्याख्याति—

सुत्तथमावसेमो, पक्खिन्धो तेसिमो जवे कप्पो ।

आयरिण्णि क्किक्कम्मं, अंतरं वहिया य वसहीए ॥

सुत्रार्थस्तैर्गृहीतः परमद्यापि सावशेषो न संपूर्णः, एष तेषां ग-
च्छविषयप्रतिवन्धः । तेषां चायं वक्ष्यमाणः कल्पो, यथा-आचा-
र्यस्यैव कृतिकर्म वन्दनं दातव्यं, तथा-यथाचार्यो न शक्नोति
गन्तुं ततोऽन्तरा वा ग्रामस्य, बहिर्वा वसतौ, यथावन्दिकस्य
वाचनां ददाति । एतस्मै तत्र भावयिष्यते ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यः पृच्छति । यथाऽद्याचार्याधि-
ष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठेयुस्ततः को दोषः स्यात् ?, उच्यते—

नमणं पुव्ववभासा, अणमण दुस्सीलथप्पगासंका ।

आयच्छ कुकुरुत्ति य वादो लोणे ठिई चेव ॥

यथालन्दिकानां न वर्तते आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः
प्रणामं कर्तुं, तथाकल्पत्वात् । ततस्ते क्षेत्रान्तस्तिष्ठन्तः पूर्वार्ज्या-
सान्नमनं प्रणामं साधूनां कुर्युः, गच्छवासिनश्च यथावन्दिकान्
वन्दन्ते ते पुनर्यथालन्दिकास्तान् भूयो न प्रतिवन्दन्ते, ततस्ते पा-
मनमने लोको धूयात्-दुःशीला अशीलाः स्तम्भकल्पा अमी, य-
तोऽन्येषामित्थं वन्दमानानामपि न प्रतिवन्दनं प्रयच्छन्ति, न वा
कमप्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्थाप्यकक्षानं
भवति-अवश्यं स्थाप्या दुःशीलत्वादवन्दीयाः कृता अमी,
अन्यथा कथं न प्रतिवन्द्यन्ते । आत्मारथिका वा अमी येनाप्रतिवन्द-
मानानपि वन्दन्ते, कौकुटिका वा मातृस्थानकारिणोऽमी लोक-
पङ्क्तिनिमित्तमित्थं वन्दन्ते । एवं लोकं वाद उपजायते, कारणैः
क्षेत्रबहिस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरेव कल्प एवायममीषां, यत्
क्षेत्रान्तरे न तिष्ठन्ति ।

अथामीषामेव कल्पमाह—

दोन्नि वि दाउं गमणं, धारणकुसलस्स देस्स वहि देइ ।

क्कक्कम्मं चोलपट्टे, ओवगहिया निसिज्जा य ॥

आचार्यः सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि गच्छवासिनां दत्त्वा यथावन्दि-
कानां समीपं गमनं करोति, गत्वा च तत्र तेषामर्थं कथयति । अ-
थाचार्यो न शक्नोति तत्र गन्तुं ततो यस्तेषां यथावन्दिकानां मध्ये
धारणाकुशलोऽवधारणाशक्तिमान्, क्षेत्रबहिस्तत्रा पक्षिकायाः प्र-
त्यासर्गं भुजगो समायाति, तत्र न गत्वा आचार्यस्त्वस्यार्थं ददा

ति । स न भुवभक्तिहेतोरान-याणां कृतिकर्मवन्दनकं दत्त्वा चोल-
पट्टकाद्वितीयं औपप्रादिक्यां निदद्यायामुपविष्टश्चार्थं शृणोति ।

अथ " दोषि वि दाउं गमणं " इत्येव दर्शयन्नाह-

एवं तां च अहालहुसमयं वायावए व अन्नेणं ।

एवं तां च अहालहुसमयं वायावए व अन्नेणं ॥

यथाचार्यो द्वे अपि पौरुष्यां दत्त्वा गन्तुं न शक्नोति ततोऽर्थ-
मदत्त्वा तथाऽप्यशक्तौ हावपि मुत्रार्थावदत्त्वा व्रजति, अन्येन
वा शिष्येण स्वशिष्यान् वाचयति वाचनानां दापयति । अथाचार्य-
स्त्वत्र गन्तुमशक्तस्तेन यथाशक्तिकः स रस्मपमायाति, एवं ता-
वत् कृतवृद्धे च यमं वर्षासु चराधः पत्रये । वर्षासु पुनरयं वि-
होयः-उपयोगे कृत्वा किं वर्षे पातप्यात नवेति विस्तृत्य यदि
जानाति पतिष्यति ततो न आचार्याणां समापत्त्याति ।

अथ गुरुवस्तत्र गताः कथं समुद्दिशन्तीत्याह-

संयासो मगणं, जत्तं पाणं च नेइ उ गुरुणं ।

अचुणहं घेग वा, तो अंतरपाद्धिए एउ ॥

गुरुणां यथालन्दिकसमीपमुपगतानां योग्यं जत्तं पाणं च गृ-
ह्णत्वा संघाटको मार्गेण पृष्ठतो गत्वा गत्वा तत्र नयति । अथ या-
वता कालेन यथाशक्तिकानामुपश्रयं गुरुवो व्रजन्ति तावता, अ-
त्युष्णमता वा तपश्चरन्ति, स्थविरा वा वार्त्तिकवयः प्राप्तान्ते
आचार्यान्ततोऽन्तरपद्धिकायामेको यथाशक्तिको धारणासं-
पन्नः समायाति, तत्र गुरुवोऽपि गत्वा तस्य वाचनानां दत्त्वा
संघाटकेनाऽऽनन्ति भक्तपानं समुद्दिश्य संध्यासमये मूलकै-
व्रमायान्ति ।

अथाऽन्तरपद्धिमपि गन्तुमसमर्था गुरुवः, ततः किमित्याह-

अंतरपरिव्रमजे वा, विडयंतर वाहि वसजगामस्स ।

अन्नाए वमहीए, अपरीजोगम्मि वाएइ ॥

अन्तरपद्धिकाप्रतिवृत्तनग्रामयोरन्तरात्रे गत्वा यथाशक्तिकं वा-
चयति, तत्र गन्तुमशक्तौ प्रतिवृत्तनग्रामे, अथ तत्रापि गन्तुं न श-
क्नोति ततो (विडयंतरं ति) द्वितीयं प्रतिवृत्तमूलकेत्रयोरपान्त-
रात्रलक्षणं यदन्तरे तत्र गत्वा वाचनानां प्रयच्छति, तत्रापि गमना-
शक्तौ वृषभग्रामस्य मूलकेत्रस्य बहिर्विजने प्रदेशे गत्वा वाच-
यति, यदि तत्रापि गन्तुं न प्रभविष्युः ततो मूलकेत्रे पत्रान्यस्यां
वसन्तौ, तत्रापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलवसतौ अपरिभोग्ये
अवकाशे वाचयति ।

तत्र चयं सामाचारी-

तस्म जई किङ्कम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकोइ ।

जा पढइ नाव गुरुणो, कोइ न कोइ उ परेणं ॥

तस्य यथालन्दिकस्य यतयो गच्छुवासिनः स्वाध्वः कृतिकर्म
कुर्वन्ति स पुनर्यथालन्दिकस्तेषां गच्छुवासिनां कृतिकर्म न
करोति, यावच्च पत्राति अर्थशेषमर्थान्ते गुरोरपि तावदेव क-
रोति, परन्तु न करोति, तथाकल्पन्वान् ।

अमायामेव मासकल्पविधिमाह-

एको पामवियारो, हवंतऽशान्दियाण कुगामा ।

मामो विभज्जमाणो, पणगेण उ निदिओ होइ ॥

यदि मूलकेत्रस्य बहिरेको ग्रामः सविचारः सविस्तरगे वर्तते,
आह च चूर्णिकृत्- सवियारो चि विस्तृतः ततस्तस्मिन्

ग्रामे पद् वीथीः परिकल्प्य यथालन्दिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च
पञ्च दिवसान् भिक्षामदन्ति तस्यामेव च वीथ्यां वसतिमपि गृ-
ह्णन्ति । एवं प्रतिवीथ्यां ' पणगेण ' रात्रिदिवपञ्चकेन मासो
विभज्यमानः सन् पञ्चरहोरात्रपञ्चकेर्निष्ठितः सम्पूर्णो भवति ।
अथ नास्ति विस्तीर्णो ग्रामस्ततो (हवंतऽशान्दियाण कुगामा
इति) मूलकेत्रपार्श्वतो ये लघुतरा पद् ग्रामा भवन्ति, तेषु प्रत्येकं
पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटन्तौ यथाशक्तिकानां तथैव पञ्चरहो-
रात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णा जयन्तीति । वृ० १ उ० ।

अहालहुसमय-यथालघुस्वक-न० यथेति यथोचितानि लघु-
स्वकानि अमहास्वरूपाणि, महानां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा श-
क्यत्वादिति यथालघुस्वकानि । अथवा लघूनि महानि वरि-
ष्ठानीति च वृत्ताः । अमहास्वरूपेषु, भ० । " देवाणं अहालहुस-
गाइ रथणाइ इंतो अन्थि " । भ० ३ श० २ उ० । अनेकान्तद्वयुके
वीणाग्रहणग्राह्ये, व्य० ७ उ० । स्तोके, व्य० ।

यथालघुस्वकादिव्यवहारप्ररूपणमाह-

गुरुओ गुरुस्सतरगो, अहागुरुस्सो य होइ ववहारो ।

लहुमो लहुस्सतरगो, अहालहुस्सो य होइ ववहारो ॥

एणमि पच्छित्तं, वुज्जामि अहाणुण्वीए ।

व्यवहारस्त्रिविधः । तद्यथा-गुरुको गुरुस्वतरको यथागुरुस्वक-
श्च । तत्र यो गुरुकः स त्रिविधः । तद्यथा-लघुशो लघुस्वतरको
यथालघुस्वकश्च । एतेषां व्यवहाराणां, यथालघुपूर्वा यथोक्तपरि-
पाट्या, प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि । किमुक्तं जवति?, एतेषु व्यवहारेषु
समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अभिधास्ये ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरगो चउम्मासो ।

अहगुरुओ उम्मासो, गुरुगयपक्खम्मि पक्खित्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिणामः, गुरुके व्यवहारे
समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्य इति ज्ञावः । एवं गुरु-
तरको भवति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः परमासः, पण-
मासपरिमाणः । एषा गुरुकपक्के गुरुकव्यवहारे त्रिविधे यथा-
क्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः ।

सम्प्रति लघुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तप्रमाणमाह-

तीसा य पणवीणा, पन्नरसे पणवीसा य ।

दस पंच य दिवसाइ, लहुमगपक्खम्मि पक्खित्ती ॥

लघुको व्यवहारस्त्रिशत त्रिशद्विषसपरिमाणः । एवं लघुतरकः
पञ्चविंशतिदिनमानः । एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं
प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः । यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविं-
शतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । एवं लघुस्वतरको दशदिवस-
मानः । यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चदिवसप्रायश्चित्तानि
परिमाणः । एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तपरिमाणप्र-
तिपत्तिः । व्य० २ उ० ।

सम्प्रति भाष्यकृत् यथाशक्त्युस्वकग्रहणं, तृतीयसूत्र-
गतमन्यतरग्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहालहुसमयं, जहम्मो मज्झिमो य उवहीओ ।

अन्नयग्गहणेण उ, वेपइ ति विहो उ उवहीओ ॥

यथात्रयुक्ते उपधिर्द्विविधो जवति—जघन्यो मध्यमश्च ।
अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपधिः परिगृह्यते । तदेवं कृता
विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । व्य० ६ उ० ।

अहावगाम-यथावकाश-अव्य० । यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्प-
त्तिस्थानम्-अथवा भूम्यम्बुकात्राऽऽकाशबीजसंयोगः, तदनति-
क्रमे, सूत्र० । “नेसि च णे अहावीणं अहावगामेण इत्थीण” ।
यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मातुरुदरकुट्यादिक-
स्तत्रापि किल वामा स्त्रियो, दक्षिणा कुक्तिः पुरुषस्योभया-
श्रितः पण्ड इति । अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीज-
मिति चत्वारो जज्ञाः । तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तिरवकाशो,
न शेषेषु त्रिविविति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहावच्च-यथापत्य-पुं० । यथाऽपत्यानि तथा ये, ते यथापत्याः ।
पुत्रस्थानीयेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावच्चाभिज्ञाय-यथापत्याजिज्ञात-त्रि० । यथाऽपत्यमेव-
मभिज्ञाता अवगता यथापत्याजिज्ञाताः । अथवा-यथापत्याश्च
तेऽजिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानीयेष्वभिज्ञातेषु, भ० ३
श० ६ उ० ।

अहाविद्-यथाविधि-अव्य० । शास्त्रीयन्यायानतिक्रमे, द्वा० ७ द्वा० ।
अहामंखरु-यथासंखड-न० । निष्प्रकम्पे पट्टादौ, नि० चू० २ उ० ।

अहामंथड-यथासंस्तुत-न० । शयनयोग्ये, आचा० २ श्रु० २
अ० ३ उ० ।

यथासंस्कृत-न० । यत् तृणादि यथोपभोगार्हं भवति तथैव ल-
ज्यते तस्मिन्, स्था० ३ ग्रा० ४ उ० । आचा० ।

अहासंविभाग-यथा (आथा) संविज्ञाग-पुं० । यथा सिद्धस्य
स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थः, अशनादः समितिसङ्गतत्वेन पश्चात्क-
र्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधये दानद्वारेण विज्ञागकरणं
यथासंविज्ञागः । अतिथिसंविज्ञागव्रते, उपा० १ श्रु० १ अ० ।
“अहासंविभागो णाम जाद अहाकम्मं देति तो साधुमहे जज-
ति होट्टेहोहि संजमघाणेहि उत्तारेति, तेण आहाकम्मेण सो
अहासंविभागो जवति । जो अहापवत्ताणं असपाणवत्थओ-
सहजेसज्जपीढफलगसेज्जासंथारगादीण संविज्ञागो सो अ-
हासंविज्ञागो भवति । फासु एसणिज्जं संविभागो त्ति भणियं
होइ” । आ० चू० ६ अ० । आधासंविभाग इत्यनुवेदितव्यः ।
अस्यातिचाराः—“तयाऽणंतरं च णं अहासंविभागस्स पंच
अइआरा जाणियत्वा, न समायरियत्वा । तं जहा-सच्चित्त-
निक्खेवणया १ सच्चित्तपंहणया २ कात्ताइक्कमदाने ३ परोव-
देशे मच्चुरया ४” । उपा० १ अ० । (‘अहिंसंविभाग’ शब्दे-
ऽस्मिन्नेव भागे ३४ पृष्ठे उक्तोऽस्य विस्तरः)

अहासच्च-यथासत्य-न० । याथातथ्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ०
२ उ० ।

अहासत्ति-यथाशक्ति-अव्य० । स्वशक्त्यौचित्ये, द्वा० २२ द्वा० ।
शक्त्यनुरूपे, पं० सू० ४ सू० । शक्त्यनुसारे, पं० सू० ३ सू० ।

अहामुत्त-यथासूत्र-अव्य० । सामान्यतः सूत्रानतिक्रमे, दशा०
७ अ० । स्था० । उपा० । ज्ञा० । सूत्रानुसारेणापादितसत्यताके,
व्य० ९ उ० । सूत्राविरुद्धे, कल्प० ६ त्त० ॥

अहामुह-यथामुल-अव्य० । सुखानतिक्रमे, ज्ञा० १ अ० ।

अहामुहम्-यथासूत्रम्-त्रि० । सारे, भ० ३ श० १ उ० । “अहा-
वायेरे पुगले परिसाकेइ” । कल्प० २ क० ।

अहाह-अहाह-अव्य० । स्वेदे, संबोधने, आश्चर्ये, क्लेशे, प्र-
कर्षे च । वाच० । प्रा० ।

अहि-अहि-पुं० । उरःपरिसर्पभेदे, उक्त० ३६ अ० । सर्पे, उक्त०
३४ अ० । ज्ञा० । सूत्र० ।

अस्य भेदाः—

से किं तं अही ? । अही दुविदा पणत्ता । तं जहा-
द्वीकरा य, मउलिणं य ॥

अथ के ते अहयः ? । गुरुराह—अहयो द्विविधाः प्रज्ञाः । त-
द्यथा-दर्वीकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दर्वीव दर्वी फणा, तत्क-
रणशीला दर्वीकराः, मुकुलं फणाविरहयोग्या शरीरावयव-
विशेषाकृतिः, सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः, फणाकरणशक्तिवि-
कला इत्यर्थः । अत्राऽपिचशब्दौ स्वगतानेकभेदमूचकौ । प्रज्ञा० १
पद । आचा० । (दर्वीकरमुकुलिनभेदा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

अहिअ-अहित-त्रि० । हिताऽकारिणि, स० ३० सम० ।

अहिअणियहि-अहितनिवृत्ति-स्त्री० । प्राणातिपाताद्यकरणे,
पं० व० २ द्वार ।

अ (आ) हिआइ-अभिजाति-स्त्री०-पुं० । “खघथधभां०”
। ७। १। १८७। इति भस्य हः । “कगचज०” । ७। १। ७७। इत्यादि-
ना तजयेर्लुक् । “अतः समृद्ध्यादौ वा” । ७। १। ४४। इति
अकारस्य दीर्घः । सत्कुलोत्पत्तौ, प्रा० १ पाद । हुं० १ पाद ।

अहिआहिअसैपत्ति-अधिकाधिकसंप्राप्ति-स्त्री० । वृद्धौ, पं०
व० ४ द्वार ।

अहिकल-दह्-धा०-भस्मीकरणे, सक० “दहेरहिकलालुद्धौ”
। ८। ४। २०७। इति दहधातोर्हिकलदेशः । अहिकलइ, डहइ,
दहति । प्रा० ४ पाद ।

अहिंसअ-अहिंसक-त्रि० । अवधके, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

अहिंसण-अहिंसन-न० । अव्यापादने, ध० १ अधि० ।

अहिंसा-अहिंसा-स्त्री० । न हिंसाऽहिंसा । नि० चू० २ उ० ।

प्राणवियोगप्रयोजनव्यापाराभावे, द्वा० २१ द्वा० । प्राणिघातव-
जने, पं० व० १ द्वार ।

(१) अहिंसास्वरूपनिर्वचनम् ।

(२) अहिंसाव्रतलक्षणम् ।

(३) अहिंसाख्यसंवरद्वारस्याशेषा वक्तव्यता ।

(४) यैरियमुपवृद्धा सेविता च तन्निरूपणम् ।

(५) अहिंसापालनोद्यतस्य यद् विधेयं तन्निरूपणम् ।

(६) प्रथमव्रतस्य पञ्च भावनाः ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः ।

(८) वैदिकहिंसाविचारः ।

(९) किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादिति प्रतिपादनम् ।

(१०) अहिंसाप्रसिद्धार्थनिरूपणम् ।

(११) मतान्तरेऽहिंसा न भवत्येति ।

(१२) सर्वे प्राणादुक्ता अहिंसा मोक्षाद्गभूतां प्रतिपद्यन्ते, न
प्राधान्येन ।

- (१३) अहिंसाविवेचनम् ।
 (१४) एकान्तनित्यानित्यात्मनि हिंसा न घटत इति निरूपणम् ।
 (१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधनिरूपणम् ।
 (१६) स्वर्गादयो हि यदि स्वकृतकर्मानापादिता एव स्युरिति तदा कर्माभ्युपगमो निरर्थक इति हिंसाऽपि असंभवा जननामिति विचारः ।
 (१७) आत्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाङ्गिभिरभिव्यक्तत्वस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनम् ।
 (१८) आत्मनोऽसर्वगतत्वे गुणवर्णनम् ।

(१) अस्य निक्षेपः—

हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ ।
 द्वे जावे य तद्वा, अहिंम ऽजीवाइवाउ त्ति । ४५ । दश० नि० ।
 तत्र प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । अस्या हिंसायाः किम्?, प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः, अप्रमत्तनया गुणयोगपूर्वकं प्राणाऽव्यपरोपणमित्यर्थः । किम्?, भवत्यहिंसेति । तत्र चतुर्विधा चतुष्पकारा अहिंसा । (द्वे जावे य त्ति) छव्यतो भावतश्चेत्येको भङ्गः । तथा—छव्यतो नो जावतः । भावतो न छव्यतः । तथा—न छव्यतो न भावत इति । तथाशब्दसमुच्चिता भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयार्थकत्वादस्येति । उक्तञ्च—“तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रेष्येषु ” इत्यादि । तथाचायं भङ्गकभावार्थः द्रव्यतो भावतश्चेति—“जहा केइ पुरिसे मियवहपरिणामपरिणमियं पासित्ता आयन्नाइछियकोदंरुजीवे सरं णिसिरिज्जा, से य मिए तेण सरंण विछं मणः सिया एसा दव्वओ हिंसा, भावओ वि । या पुनद्रव्यतो न भावतः, सा खल्वीर्यादिसमितस्य साधोः कारणं गच्छत इति । उक्तं च—

“ उच्चाभियम्मि पाप, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
 वावेज्जेज्ज कुल्लिगी, मरिज्ज तं योगमासज्जा ॥ १ ॥
 न य तस्स तं निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
 जग्गहा सो अपमत्तो, सा उ पमाओ त्ति निहिट्ठा ” ॥२॥ इत्यादि ।
 या पुनर्भावतो, न द्रव्यतः, सत्यम्—“जहा के वि पुरिसे मंदमंदणगासपदेसे संविधै ईसिबलिअकायं रज्जुं पासित्ता एस अहि त्ति तद्वहपरिणामए णिकट्ठियाऽसिपत्ते दुअं दुअं मिदिज्जा । एसा भावओ हिंसा, न दव्वओ । चरमभङ्गस्तु शून्यः । इत्येवमभूताया हिंसायाः प्रतिपक्षोऽहिंसेति । एकार्थिकानिधित्सयाऽऽह—(अहिमजीवाइवाओ त्ति) न हिंसा अहिंसा, न जीवाति-तिपातः अजीवातिपातः । तथा च तद्वतः स्वकर्मातिपातो भवत्येवाऽजीवश्च कर्मेति भावनीयमिति । उपलक्षणत्वाच्चेह प्राणातिपातविरत्यादिग्रह इति गार्थार्थः । दश० १ अ० । त्रसस्थावर-जीवरक्षायाम्, संथा० । प्रमादयोगात्सत्त्वव्यपरोपणविरतिरूपे प्रथमे ब्रते, ध० ।

(२) प्रथममहिंसाव्रतलक्षणमाह—

प्रमादयोगाद्यत्सर्व-जीवास्त्वव्यपरोपणम् ।

सर्वथा यावर्जीवं च, प्रांचे तन् प्रथमं व्रतम् ॥ ४ ॥

प्रमादो हानसंशयविपर्ययरोगद्वेषस्मृतिभ्रंशयोगदुष्प्राणिधानधर्मानादरभेदादध्विभ्रान्तयोगात् तत्संबन्धान् सर्वेषां सूक्ष्मादिभेदभिरानां, जीवानां प्राणिनां, येऽस्यः प्राणाः पञ्चेन्द्रियवत्त्वयोच्चासायुल्लक्षणा दश, तेषां यथासंभवेनाऽव्यपरोपणमभिनान्शनम् । तद्देशतोऽपि स्यादित्यत आह—सर्वथेति । सर्वप्रकारेण वि-

विधित्रिविधेन भङ्गेन । तच्चेत्वरमपि स्यादित्यत आह—यावर्जीवं प्राणधारणं यावत् । तत्किमित्याह—प्रथमं व्रतम्—अहिंसाव्रतं, प्रांचे जिनैरिति शेषः । प्रथमत्वं चास्य शेषाधारत्वात् सूत्रक्रम-प्रामाण्याच्चावसेयम् । द्वितीयो हेतुश्च द्वितीयव्रतादिविषयि भाव्य इत्युक्तं प्रथमं व्रतम् । ध० ३ अधि० । “ तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं । अहिंसा निऊणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संयमो ” ॥९॥ दश० मू० ६ अ० । (अष्टदशविधस्थानगणस्य, व्रतपदादीनां च व्याख्या ‘ अट्टारसट्ठाण ’ शब्देऽस्मिन्नेव जगो २४ए पृष्ठे, स्वस्वस्थाने च छट्ठ्या)

(३) अहिंसासंस्वरद्वारस्यैवाऽशेषा वक्तव्यता—

तत्थ पढमं अहिंसा, तसथावरसव्वचूयखेमकरी ।

तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्छं गुणुहेसं ॥

(तत्थ त्ति) तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा (तसथावरसव्वचूयखेमकरि त्ति) त्रसस्थावरणां सर्वेषां भूतानां क्लेमकरणशीला । तस्या अहिंसायाः सभावनायास्तु भावनापञ्चकोपेताया एव (किंचि त्ति) किञ्चनाटपं, वदये गुणो-देशं गुणलेशमिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसम्बरनिरूपणायाह—

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमनुयासुरस्स लोगस्स जवति दीवो, ताणं, सरणगती, पइट्ठा, निव्वाणं, निव्वुड, समाही, संती, किच्ची, कंती, रइय विरइय सुयंग तिच्ची, दया, विमुच्ची, खंती, सम्मत्ताराहणा, महंती, वोही, बुद्धी, धिती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, उठ्ठी, पुट्ठी, नंदी, जहा, विमुच्ची, लच्छी, विसिद्धादिट्ठी, कट्ठाणं, मंगलं, पमोओ, विचूति, सिद्धावासो, रक्खा, अणासवो, केवल्लीणं ठाणं, मिव समियी, सील संजमो त्ति य, सीलधरो, संवरो य, गुत्ती, ववसाओ, उस्सतो य, जणो, आयतणं, जयण-मणमाओ, अमासो, विसासो, अजओ, सव्वस्म वि अमाघाओ, चोक्खपवित्ती, सुती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर त्ति । एवमादीणि नियगुणनिम्मियाइं पज्ज-वनामाणि हुंति अहिंसाए जगवतीए ।

(तथेत्यादि) तत्र तेषु पञ्चसु सम्बरद्वारेषु मध्ये प्रथममाद्यं सम्बरद्वारमहिंसा । किंभूता ?, या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति (दीवात्ति) द्वीपो दीपो वा । यथाऽगाधजलाधिमध्यमग्नानां स्वैरश्वापदकदम्बकदर्थितानां महोर्मिमालामध्यमज्जमानगात्राणां त्राणं भवति द्वीपः प्राणिनाम् ; एवमयमहिंसा संसारसागरमध्यगतानां व्यसनशतश्वापदप्रपीकितानां संयोगवियोगवीचिविधुराणां त्राणं भवति, तस्याः संसारसागरोत्तारहेतुत्वात्, इति अहिंसा छीप उक्ता । यथा वा—दीपात्कारनिराकृतदृक्प्रसराणां हेयोपादेयार्थहीनोपादानमूढमनसां तिमिरनिकरनिराकरणेन प्रवृत्त्यादिकारणं जयति; एवमहिंसा ज्ञानावरणादिकर्मतमिस्रस्त्रमेनेन विशुद्धबुद्धिप्रभापटवप्रवर्त्तनेन प्रवृत्त्यादिकारणत्वादीप उक्ता । तथा—त्राणं, स्वपरोपामापदः संरक्षणम् । तथा—शरणम् । तथैव-सम्पदः, सम्पादकत्वात् । गम्यते श्रेयोऽर्थिभिराश्रीयत इति गतिः । प्रतिष्ठन्ते आसते सर्वे गुणाः सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठा । तथा—निर्वाणं मोक्षः, तद्धेतुत्वा-

निर्वाणम् । तथा-निर्वृत्तिः स्वास्थ्यम्, समाधिः समता, शक्तिः, शक्तिहेतुत्वात् । शान्तिः छोहविरतिः, कीर्तिः, ख्यातिहेतुत्वात् । कान्तिः, कमनीयताकारणत्वात् । रतिश्च रतिहेतुत्वात् । विरतिश्च निर्वृत्तिः पापात् । श्रुतं श्रुतज्ञानमङ्गं कारणं यस्याः सा श्रुताङ्गा । आह च-“पदमं नाणं तत्रो दया ” इत्यादि । तृप्तिहेतुत्वात् तृप्तिः । ततः कर्मधारयः । तथा-दया देहिरक्ता । तथा-विमुच्यते प्राणी सकलबन्धनेभ्यो यथा सा विमुक्तिः । तथा-कान्तिः क्राधनिग्रहः, तज्जन्यत्वादहिंसाऽपि क्षान्तिरुक्ता । सम्यक्त्वं सम्यग्बोधरूपमाराध्यते यथा सा सम्यक्त्वावधाना । (महंति चि) महती सर्वधर्मानुष्ठानानां बृहती । आह च-“एकंचिय एकवयं, निदिष्टं जिणवरोहिं सव्वेहि । पाणाइवायविरमण-सव्वासत्तस्स रक्खछा ” ॥ १ ॥ बोधिः सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः, अहिंसारूपत्वाच्च तस्या अहिंसा-बोधिरुक्ता । अथवाऽहिंसा सानुकम्पा, सा च बोधिकारणमिति बोधिरवोच्यते । बोधिकारणत्वं चानुकम्पायाः-“अणुकं पा कामनिज्जर-बावतवे दाणविणयविभंगे । संजोगविप्पओगे, सव्वधूससव्वहिससक्खारे ” ॥ १ ॥ इति वचनादिति । तथा-बुद्धिः, साफट्यकारणत्वाद् बुद्धिः । यदाह-“वाहत्तरिकलकुसळा, पंभियपुरिसा अपंडिया चेव । सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकळा न जाणंति ” ॥ १ ॥ धर्मश्चाहिंसेव । धृतिश्चित्तदार्ढ्यं, तत्परिपालनीयत्वादस्या धृतिरवोच्यते । समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरवोच्यते । एवं श्रुच्चिबुद्धी । तथा-साद्यपर्यवसितमुक्तिस्थितिहेतुत्वात् स्थितिः । तथा-पुष्टिः, पुण्योपचयकारणत्वात् । आह च-“पुष्टिः पुण्योपचयनम्” । नन्दयति समृद्धिं नयतीति नन्दा । भन्दते कल्याणकरोति देहिनामिति भन्दा । विशुद्धिः पापक्षयोपायत्वेन जीवनिर्मलतास्वरूपत्वात् । आह च-“बुद्धिः पापक्षयेण जीवनिर्मलता” । तथा-केवलज्ञानादिविघ्निनिमित्तत्वाल्लिङ्घिः । विशिष्टदृष्टिः प्रधानदर्शनमतमित्यर्थः, तदन्यदर्शनस्याप्राधान्यात् । आह च-“किं तीए पढियाए, पयकोमीए पलावभुयाए । जूत्थेत्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा” ॥ १ ॥ कल्याणं, कल्याणप्रापकत्वात् । मङ्गलं, दुरितोपशान्तिहेतुत्वात् । प्रमोदः, प्रमोदात्पादकत्वात् । विभूतिः, सर्वविभूतिनिबन्धनत्वात् । रक्षा, जीवरक्षणस्वभावत्वात् । सिद्धावासः, मोक्षावासानिबन्धनत्वात् । अनाश्रवः, कर्मबन्धनिरोधोपायत्वात् । केवलज्ञानं स्थानं, केवलज्ञानमहिंसायां व्यवस्थितत्वात् । (सिवसमितिसीलसंजमो चि य) शिवहेतुत्वेन शिवसमितिः सम्यक्प्रवृत्तिः, तद्रूपत्वादहिंसा शिवसमितिः । शीलं समाधानं, तद्रूपत्वाच्छीलम् । संयमोऽहिंसात उपरमः । इति रूपप्रदर्शने, चः समुच्चये । (सीलघरो चि) शीलगृहं चारित्रस्थानम् । सम्बरश्च प्रतीतः । गुप्तिरशुभानां मनःप्रभृतीनां निरोधः । विशिष्टोऽवसायो निश्चयो व्यवसायः । उच्छ्रयः स्वभावोन्नतत्वम् । यज्ञो जावतो देवपूजा । आयतनं गुणानामाश्रयः । यजनमभयस्य दानं, यतनं वा प्राणिरक्षणं प्रति यत्नः । अप्रमादः प्रमादवर्जनम् । आश्वास आश्वसनं प्राणिनामेव । विश्वासो विश्रम्भः । (अभओ चि) अभयं सर्वस्यापीति प्राणिगणस्य । अमाघात अमारिः । चाक्षपवित्रा, एकार्थशब्दद्वयोपादानात् अतिशयपवित्रा । शुचिर्भावशौचरूपा । आह च-“सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिच्छियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम्” ॥ १ ॥ इति । (पुय चि) पावेज्जा,

पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम् । विमलप्रभासा, तन्निबन्धनत्वात् । (निम्मलतर चि) निर्मलं जीवं करोति या सा तथा, अतिशयेन वा निर्मला निर्मलतरा । इति नाम्नां समाप्तौ । एवमादीन्येवंप्रकाराणि निजकगुणनिर्मितानि, यथार्थानीत्यर्थः । अत एवाह-पर्यायनामानि तत्तद्वर्माश्रिताभिधानानि भवन्त्यहिंसायाः, भगवत्या इति पूजावचनम् ।

एसा भगवती अहिंसा, जा सा जीयाणं पिव सरणं, प-क्खीणं पिव गयणं, तिसियाणं पिव सल्लिदं, खुहियाणं पिव असणं, समुदमज्जे व पोतवहणं, चउप्पयाणं च आसमपयं, दुहुट्टियाणं च ओसहिवलं, अरुवीमज्जे च सत्थगमणं, एत्तो विसिद्धतरिका अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगाणि-मारुय-वणप्फती-वीज-हरिय-जलचर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वज्जूयखेमकरी ।

एसा सा भगवत्याहिंसा या सा प्रीतानामिव शरणमित्यत्रा-श्वासिका, देहिनामितिगम्यम् । (पक्खीणं पिव गयणं चि) प-त्तिणामिव गगनं, हिता, देहिनामिति गम्यम् । एवमन्यान्यपि षट् पदानि व्याख्येयानि । किं भूतादीनां शरणादिसमैव सा ? नेत्याह-“एत्तो चि” एतेभ्योऽनन्तरोदितेभ्यः शरणादिभ्यो विशिष्टतरिका प्रधानतरिका अहिंसा, हिततयेति गम्यते । शरणादितो हितमनैकान्तिकमनात्यन्तिकं भवति; अहिंसातस्तु तद्वीपरीतं मोक्षावाप्तिरिति । तथा-‘या सा’ इत्यादि, याऽसौ, पृथिव्यादीनि च पञ्च प्रतीतानि, वीजहरितानि च वनस्पतिविशेषा आहारार्थत्वेन प्रधानतया शेषवनस्पतिभेदेनोक्ताः, जलचरादीनि च प्रतीतानि, त्रसस्थावराणि सर्वभूतानि, तेषां क्लेमकरी या सा तथा, एसा एषैव, भगवती अहिंसा, नान्या । यथा लौकिकैः कल्पिता-“कुलानि तारयेत् सप्त, यत्र गौर्वितृषी भवेत् । सर्वथा सर्वयत्नेन, भूमिष्ठमुदकं कुरु” ॥ १ ॥ इह गोविषये या दया सा किल तन्मतेनाऽहिंसाऽस्यां च पृथिव्युदकपूतरकादीनां हिंसाऽस्तीत्येवंप्रकारा न सम्यगाहिंसेति ।

(४) अथ यैरियमुपलब्धा सेविता च तानाह-

एसा जगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसण-धरोहिं सीलगुणविणयतवसंजमनायकेहिं तित्यकरोहिं सव्वजगवच्छेहिं तित्तोगमहितेहिं जिणचंदेहिं सुधु दिट्ठा ओहिनाणेहिं विष्णाया उज्जुमतीहिं वि दिट्ठा विपुलतीहिं विदिता पुव्वधरोहिं अधिया विउव्वीहिं पत्तिष्ठा आजिणि-बोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं मणपज्जवणाणीहिं केवल-णाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेत्तोमहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं वीजबुद्धीएहिं को-ट्टबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिष्सोतेहिं सुयधरोहिं मण-बलएहिं वयबलएहिं कायबलएहिं नाणबलएहिं दंसण-बलएहिं चरित्तबलएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पि-यासवेहिं अखीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं च-उत्थभत्तिएहिं उट्टजत्तिएहिं अट्टमभत्तिएहिं दसमजत्ति-एहिं एवं दुवात्तसचउदससोलसअप्पमासमासदोमा-सतिमासचउमासपंचमासअप्पमासजत्तिएहिं उक्खित्तचर-

एहि एवं निक्खित्तचरएहि अंतचरएहि पंतचरएहि लूह-
चरएहि समुदाणिचरएहि अणुगिलाइएहि मोणचरएहि
संसङ्कप्पिएहि तज्जायसंसङ्कप्पिएहि उवनिहिएहि सुप्पे-
सणिएहि संवादत्तिएहि दिट्ठत्ताभिएहि अदिट्ठत्ताजिएहि
पुट्ठत्ताजिएहि आयंवालेएहि पुरमहिएहि एकामणिए-
हि निवित्तिणएहि भिक्खुपिण्वातिएहि परमियपिण्वातिएहि
अंताहारेहि पंताहारेहि अरसाहारेहि विरसाहारेहि तु-
च्छाहारेहि लूहाहारेहि अंतजीवीहि पंतजीवीहि लूहजीवी-
हि तुच्छजीवीहि उवसंतजीवीहि पसंतजीवीहि विविच-
जीवीहि अस्वीग्मधुसप्पिएहि अमज्जमंसासिएहि ठाणाइ-
एहि पस्मिन्नाइएहि ठाणुकुणएहि विगमणिएहि पोस-
जिएहि संमायणएहि जगसुत्ताणिएहि एगपामाएहि आया-
वएहि अवाउएहि अण्डिबुभएहि अकंडुयएहि धूतकंम-
मंमुलोपनयेहि मव्वगायपस्मिन्मविप्पमुक्केहि ममणुचि-
न्नामयधरविदित्तयकायवुद्धीहि धीरमतिगुच्छिणो य जे ते
आमोविमज्जगतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया
एिच्चं मज्जायज्झाणं अणुबंधधम्मज्झाणा पंचमहव्व-
यचरित्तजुत्ता समिया समितीमु समितपावा उव्विहजगव-
च्छला एिच्चमप्पमत्ता एयहि य अणेहि य जा मा अ-
णुपाज्झिया जगवती ॥

(पदानामर्थः स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यः) नवरं (एतेहि य ति) ये
ते पूर्वोक्तगुणा एतैश्चान्यैश्चातुकुशलकलेशुणवर्जित्याऽस्मावनुपा-
तिता भगवती अहिंसा, प्रथमं सम्बरद्वारमिति हृदयम् ।

(५) अथाहिंसापालनोद्यतस्य यद्विधेयं तदुच्यते-

इमं च पुट्ठवी-दग-अगणि-मारुय-तत्तगण-तस-थावर-
मव्वज्जयमेजयदयद्वयाण मृद्धं उच्छं गवेमियव्वं अकयम-
कारियमणाहुयमाणुदिट्ठं अकयकमं नवकोमीहि परिमुच्छं
दमहिं य दोमेहिं विप्पमुक्कं उगमउप्पायणेमणासुच्छववगय-
जुयचइयचत्तदेहं च फामुयं च न निसिज्ज कदा पयोय-
णफामुउवणीयं न तिगिच्छामंतमृद्धजेमज्जकंज्जेहं न
लक्खणुपायमुमिणजोऽसनिमित्तकहकुहकप्पओत्तं न वि-
संभणण न विरक्खणण न वि मासणण न विरंजण-
रक्खणमामणण भिक्खं गवेमियव्वं, न विवंदणण न वि-
माणणण न वि पृयणण न वि वंदणमाणणपृयणण भि-
क्खं गवेमियव्वं, न वि ह्रीलणण न वि नेदणण न वि ग-
रहणण न वि ह्रीलणणानिदणणगरहणण जिक्खं गवेमि-
यव्वं, न वि भेमणण न वि तज्जणण न वि तालणण न वि
जेमणणतज्जणतालणण भिक्खं गवेमियव्वं, न वि गारवण-
न वि कुट्टणण न वि वणिमयाण न वि गारवकुट्टण-
वणिमयाण जिक्खं गवेमियव्वं, न वि पित्तयाण न वि प-
त्यणण न वि सेवणण न वि पित्तयपत्त्यसेवणण जिक्खं

गवेसियव्वं, अण्णाए अगहिण अदुट्ठे अदीण अविमणे अ-
कलुणे अविसाती अपरितंतजोगी जयणधरुणकरणच-
रियविनयगुणजोगमंपउत्ते भिक्खु जिक्खेसणाए णिरए इमं
च सव्वजगजीवरक्खणदयद्वयाए पावयण भगवया सुक-
हियं अज्जेहियं पेच्चा भावियं आगमेसि जइं सुच्छं नेया-
उयं अकुमिद्धं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ॥

(इमं चेत्यादि) अयं च वक्ष्यमाणविशेष उच्छो गवेपणीय
इति सम्बन्धः । प्रश्नः सम्बन्धः । (उच्छाद्यर्थोऽन्यत्राऽन्यत्र)
अथ यदुक्तं " तौसे सभावणाए, उ किंचि वोच्छं गुणुदेसं "
इति, तत्र का भावना ?, अस्यां जिज्ञासायामाह-

(६) प्रथमव्रतस्य (अहिंसारूपस्य) पञ्च भावनाः-

तस्म इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स हुंति, पाणा-
इवायवेरमणं परिरक्खणद्वयाए पढमं ठाणगमणगुणजो-
गजुंजणजुगंतरनिवतियाए दिट्ठीए इरियव्वं कीरुपयंगत-
मथावरदयावरेण निव्वं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमाट्टि-
यवीयहरियपरिवज्जणण समं, एवं खु सव्वे पाणा ए ह्री-
जियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न
जिंदियव्वा न जिंदियव्वा न वहेयव्वा न भयं हुक्खं च
किंचि लज्जापावेउ जे एवं इरियासमिज्जेगेण जाविओ
जवति अंतरप्पा असवलमसंकिलिट्टनिव्वणचरित्तजाव-
णाए अहिमए संजए सुसाहु ? ॥

(तस्सेत्यादि) तस्य प्रथमस्य व्रतस्य, भवन्तीति घटना,
इमा वक्ष्यमाणप्रत्यक्षाः पञ्च भावनाः; भाव्यते वास्यते व्रते-
नात्मा यकामिस्ता जावना ईर्यासमित्यादयः । किमर्था जवन्ती-
त्याह-(पाणा इत्यादि) प्रथमव्रतस्य यत्प्राणातिपातविरमण-
लक्षणस्य परिरक्षणस्वरूपं, तस्य परिरक्षणार्थाय (पढमं ति)
प्रथमभावनावस्थितिर्गम्यते, स्थाने गमने च गुणयोगं च स्वर-
प्रवचनोपघातवर्जनलक्षणगुणसम्बन्धं योजयति करोति या
सा । तथा-युगान्तरे युगप्रमाणचूभागे निपतति या सा युगान्त-
रनिपातिका, ततः कर्मधारयः । ततस्तथा, दृष्ट्या चक्षुषा (इरिय-
व्वं ति) ईरितव्यं गन्तव्यम् । केनेत्याह-कीटपतङ्गादयश्च त्रसाश्च
स्थावराश्च कीटपतङ्गवसस्थावराः, तेषु दयापरो यस्तेन, नित्यं
पुष्पफलवृक्षप्रवातकन्दमूत्रदकसृत्तिकावाजहरितपरिवर्जकेन,
सम्यगिति प्रतीतं, नवरं प्रवालः पल्लवाङ्कुरः, दकमुदकमिति ।
अर्थासमित्या प्रवर्तमानस्य यत् स्यात्तदाह-(एवं खु स्ति) एवं
च ईर्यासमित्या वर्तमानस्यर्थः, सर्वप्राणाः सर्वजीवा न ह्री-
लयितव्या अवज्ञानव्या जवन्ति, संरक्षणप्रयत्नत्वात् तानवज्ञावि-
पयीकरोतीत्यर्थः । तथा-न निन्दितव्याः, न गर्हितव्या भवन्ति, स-
र्वथा पीडावर्जनोद्यतत्वेन गोरव्याणामिव दर्शनात् । निन्दा च स्व-
समक्षा, गर्हा वा परसमक्षा । तथा-न हिंसितव्याः पादाकमणेन
मारणतः, एवं न च्छेत्तव्या द्विधाकरणतः, न जेतव्याः स्फोटनतः,
(न वहेयव्वत्ति) न व्यथनीयाः परतापनात्, न भयं भीतिः, दुःखं
वा शरीरादि किञ्चिदल्पमपि, लज्जा योग्या प्रापयितुम्; ' जे ' इति
निपातो वाक्यालङ्कारः; एवमेनेन न्यायेनेयांसमितियोगेन ईर्या-
समितिव्यापारेण, जावितो वासितो जवत्यन्तरात्मा जीवः । कि-

मिथश्च इत्याह—अशक्तेन मालिन्यमात्ररहितेन, असंक्षिप्तेन विशुद्धमानपरिणामवतो, निर्घणेनाकृतेनाखण्डेनेति यावत् । चारित्र्येण सामागिकादिना भावना वासना यस्य सोऽशक्तेः-संक्षिप्तनिर्घणचारित्र्यभावनाकः । अथवा-अशक्तेः अक्षिप्तनिर्घणचारित्र्यभावनाया हेतुचूनाया अहिंसकोऽवधकः, संयतो मृ-चावादाद्युपरमाद् मोक्षसाधक इति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अभिहणेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा वेसेज्ज वा उ-
ह्वेज्ज वा इरियासमिण् से णिग्गंथे णो इरियाअसमिण्
त्ति पढमा जावणा ॥

ईरणं गमनमीर्या, तस्यां समितो दत्तावधानः, पुरतो युगमात्र-
जृभागन्यस्तद्वर्णगामीत्यर्थः नत्वसमितो भवेत् । किमिति? यतः
केवलो मृयात् कर्मोपादानमेतद्, गमनक्रियायामसमितो हि प्राणि-
कमभिहन्त्यात् पादेन तारुयत्, तथा-वर्त्येदन्यत्र पातयेत्, तथा-
परितापयेत्पीडामुत्पादयेत्, अपद्रापयेद्वा जीविताद् व्यपरोप-
येदित्यत ईर्यासमितेन भवितव्यमिति प्रथमा भावना । आचा०
२ श्रु० ३ चू० ।

वित्तिं च मण्णे पावणं पावकं अहम्मिकदारुणं नि-
संसं बहुबंधपरिकिलेसवहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिद्धं
न कया वि मण्णे पावणं पावगं किंचि वि जायव्वं, एवं
मणसमितिजोगेण जावितो जवति अंतरप्पा असवन्नमसंकि-
लिद्धनिव्वणचरित्तजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु २ ॥

द्वितीयं पुनर्जावनावस्तु मनःसमितिस्तत्र मनसा पापं न ध्यातव्य-
म् । एतदेवाह—मनसा पापकेन पापकमिति काका ध्येयम् । ततश्च
पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तन्न कदाचिन्मन-
सा पापकं किञ्चिद्वातव्यमिति वक्ष्यमाणवाक्येन सम्बन्धः ।
पुनः किंचित् पापकमित्याह—अधर्मिकाणामिदमाधर्मिकं, तच्च
तदारुणं चेति आधर्मिकदारुणं, नृशंसं शूक्रावर्जितं, वधेन हन-
नेन, बन्धेन संयमेन, परिक्लेशेन च परितापनेन हिंसागतेन
बहुलं प्रचुरं यत्तथा । जरामरणपरिक्लेशैः फलभूतैः, वाच-
नान्तरे-‘भयमरणपरिक्लेशैः’ संकलितमशुभं यत्तथा । न कदा-
चित्त कञ्चनापि काळे (मण्णे पावणं ति) पापकनैव मनसा
(पावगं ति) प्राणतिपातादिकं पापं किञ्चिदल्पमपि ध्यातव्यमका-
ग्रतया चीन्तनीयम् । एवमेनेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन चि-
त्तसत्प्रवृत्तिवृत्तान्तव्यापारेण भावितो वासितो भवत्यन्तरात्मा
जीवः । किंचिद् इत्याह—अशक्तेः संक्षिप्तनिर्घणचारित्र्यभा-
वनाकः, अशक्तेः संक्षिप्तनिर्घणचारित्र्यभावनाया वा अहिंसकः,
संयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा दोच्चा जावणा मणं परिजाणइ, से णिग्गंथे जे
य मणं पावणं सावज्जे सकिरिए अएहयकरे छेयकरे भेय-
करे अधिकरणिए पाउसिए परिताविते पाणाइवाइए चू-
त्तेवधातिए तहप्पगारं मणं णोपधारेज्जा, मणं परिजाणति,
से णिग्गंथे जे य मणं अपावते त्ति दोच्चा भावणा ॥

द्वितीयभावनायां तु मनसा दुष्प्राणिहितेन नो भाव्यम् । त-
द्दर्शयन्ति—यन्मनः पापकं सावद्यं सक्रियं (अहयकरं ति)
कर्माभावकारि, तथा-उद्वेगभेदनकरम्, अधिकरणकरं कल-

हकरं, प्रकृष्टदोषं प्रदोषिकं, तथा—प्राणिनां परितापकारीत्यादि
न विधेयमिति । आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

तस्यं च वइए पावणं पावगं अहम्मिकदारुणं निसंसं
बहुबंधपरिकिलेसवहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिद्धं न
कयावि वइए पावियाए ओ पावगं किंचि वि भासियव्वं, एवं
वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असवन्नमसंकि-
लिद्धनिव्वणचरित्तजावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहु ३ ॥

(तस्यं च त्ति) तृतीयं पुनर्जावनावस्तु वचनसमितिर्न्यत्र वाचा
पापं न भणितव्यम् । इत्येतदेवाह—(वइए पावियाए इति) काका
ध्येतव्यम् । एतद् व्याख्यानं च प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा वइं परिजाणति, से णिग्गंथं
जाव वाइपाविया सावज्जा सक्रियाणं जाव जृतोवयाइया
तहप्पगारं वइं णो उच्चारज्जा वइं परिजाणइ, मे णिग्गंथे
जाव वइं अपाविय त्ति तच्चा भावणा ॥

अथापरा तृतीया भावना, तत्र निर्घन्थेन साधुना समितेन ज-
व्यतव्यमिति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

चउत्थं आहारएसणाए सुखं उल्लं गवेमियव्वं, अस्माए
अकहिए असिद्धे अदीणे अकलुणं अविताती अपरित्तं-
जोगी जयणचइणकरणचरित्तविनयगुणजोगमंपउत्ते जि-
क्खू जिक्खेसणाए जुत्ते समुदाणिऊण जिक्खचरियं उ-
ल्लं घेचूणं आगए गुरुजणस्स पासं गमणागमणातिचारप-
निकमणपमिकंते आहोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स
जहोवएसं निरइयारं अप्पमत्तो पुणरवि अणेसणाए प-
यत्तो पमिकमित्ता पसंत-आसीण-सुहानिस्सो सुहुत्तमेत्तं च
जाणसुहजोगनाणसज्जायगोवियमणे धम्ममणे अवि-
मणे सुहमणे अविग्गहमणे समाहियमणे सच्चासंवगनिज्जर-
मणे पवयणवच्छब्बाजावियमणे उट्टेऊण य पट्टो जहराइणि-
यं निमंतइत्ता य साहवे जावओ य विइसे य गुरुजणेणं उ-
पविट्ठं संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करयन्नं अमुच्चिए
अगिच्छे अगहिए अंगरहिए अणज्जोववसे अणाइसे अ-
लुच्छे अणत्तहिए अमुरमुरं अवचवं अणन्तुयमविज्जं वियम-
परिसानि आहोयणजायणे जयमप्पमत्तेणं ववगयसंजोगम-
णिगाढं च विगयधूमं अक्खोवंजणवणाणुलेवणज्यूसंजम-
जायामायानिमित्तं संजमभारवाहणट्टयाए जुजेज्जा पाण-
धारणट्टयाए संजएणं समियं एवमाहारसमितिजोगेण जा-
वितो भवति अंतरप्पा असवलमसंकिद्धनिव्वणच-
रित्तजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ४ ॥

(चउत्थं ति) चतुर्थभावनावस्तु आहारसमितिरिति । तामेवा-
ह—(आहारएसणाए सुखं उल्लं गवेमियव्वं ति) व्यक्तम् । इ-
दमेव जावयितुमाह—अज्ञानः श्रीमत्प्रवृत्तिनादित्वेन दायकजनाऽ
नवगतः, अकथितः स्वयमेव यथाहं श्रीमत्प्रवृत्तिनादिरिति,
अशिष्टोऽप्रतिपादितः परेण । वाचनान्तरे—‘अस्माए अकहि-

ए भद्रुद्धेति' दृश्यते । 'अदीणे' इत्यादि तु पूर्ववत् । भिक्षुभि-
क्षेयणया युक्तः (भद्रुद्धेति उच्यते) भद्रित्वा भिक्षुचर्या गौचर-
मिधेयमप्याल्लग्नं भद्रं गृहीत्वा आगतो गुरुजनस्य
पार्श्वे समीपे गमनागमनातिचाराणां प्रतिक्रमणेन ईर्ष्याधि-
कादण्डकेनत्यर्थः प्रतिक्रमं येन स तथा (आलोच्यते)
आलोचनं यथागृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरेवोपदर्शनं च (रा-
क्षणं) कृत्वा (गुरुजनस्य) गुरोर्गुरुसंदिष्टस्य वा वृषभ-
स्य (जहोवपस्यति) उपदेशानतिक्रमण, निरतिचारं च दाप-
यन्नेन अप्रमत्तः, पुनरपि च अनेपण्याया अपरिज्ञातानालोचि-
तदोषरूपयाः प्रपन्नो यज्ञवान्, प्रतिक्रम्य कायोन्मग्नकरणेनेति
भावः प्रशान्त उपशान्तोऽनुत्तुक्तः, आसीन उपविष्टः । स एव
विशेष्येनोपनिषत्तः अनायासवृत्त्योपविष्टः । ततः पदत्रयस्य क-
र्मधारयः मुहुत्तमार्थकं च कात्तं ध्यानेन धर्मादिना, शुभयोगेन सं-
यमव्यापारेण गुरुजननयकरणादिना, ज्ञानेन ग्रन्थानुप्रेक्षणरूपेण,
स्वाध्यायेन वा ध्यातगुणतत्त्वेण, गोपितं धिययान्तरगमने निरु-
द्धमनो येन स तथा । अत एव धर्मे श्रुतचारित्र्यरूपे मनो यस्य
स तथा । अत एवाविमना अगुण्यचित्तः, शुभमनाः असंकिञ्च-
चेताः, (अविगमहमणे) अविग्रहमनाः असंकिञ्चकलहचेताः,
भयुद्धमना वा अविद्यमानासदभिविवेकाः, (समादियमणे)
समं तुल्यं रागद्वेषानाकृष्टितं आदितमुपनीतमात्मनि मनो येन स
समाहितमनाः, शमेन चोपशमेन अधिकं मनो यस्य स शमाधि-
कमनाः, समाहितं वा स्वस्थं मनो यस्य स समाहितमनाः । अथा
च तत्त्वश्रद्धानं, संयमयोगविषयो वा निजानिलापः, संवेगश्च मो-
क्षमार्गाभिज्ञापः संसारत्रयं वा, निर्जरा च कर्मकर्मणं मनसि य-
स्य स श्रद्धासंवेगनिजरात्मनाः प्रवचनवात्सल्यभावितमना इति
कथञ्चन । उन्धाय च प्रहृष्टमुष्टोऽतिशयप्रमुदिता, यथारात्रिकं
यथाज्येष्ठं, निमग्न्य च साधून् सार्धमिकान् जावतश्च भक्त्या
(विदम्यते) । चतुर्थे च सुखं त्वमिदमशनादिन्येवमनुज्ञाते
च सति भक्तादौ गुरुजनेन गुरुणा, उपविष्ट उचितासनेन संप्रमृश्य
मुखयस्त्रिकाङ्गोहरणाभ्यां सशीर्षं कार्यं समस्तकं शरीरं, तथा-
करतलं हस्ततलं च, अमूर्च्छिते आहारविषये न मूर्द्धमागतम् ।
अगुरुः अप्रामत्तः अनाकाङ्क्षावान्, अग्रथितः रसानुगतस्तुभिरसं-
द्विजितः, अगर्हितः आहारविषये अकृतगदं इत्यर्थः । अतश्चुप-
पन्नो न रमेपु एकाग्रमनाः, अनाविलोऽकलुषः, अनुग्रहः लोभवि-
रहितः, (अगुण्यचित्ते) नात्मार्थ एव अर्थो यस्यास्त्यसावना-
त्मार्थिकः, परमार्थकारीत्यर्थः । (असुरसुरंति) एवंचतुशब्द-
वर्जितः (अवचचंति) वचचचेतिशब्दरहितम्, अनद्धतमनुसुकम् ।
अविनाशितम् अनतिमन्दम् । अपरिशाष्टि परिशाष्टिवर्जितं, 'भुं-
जेज्जा' इति क्रियाया विशेषणनामानि । (आश्लेषजायणे)
प्रकाशमुखे अथवाऽऽलोकं प्रकाशेनाऽन्धकारेपिपीलिकावाला-
दीनामनुपपन्नमात्रं, तथा भाजने पात्रे, पात्रे विना जज्ञादिसम्पति-
तसत्त्वादर्शनादिति, यतो मनोवाक्यसंयतत्वेन प्रयत्नेनादरेण
व्यगतमयागं संयाजनादोपरहितं (अणिगालं च) रागप-
रिहारेणेत्यर्थः । (विगयधूमंति) द्वेपरहितम् । आह च—'रागेण स
ज्ज्ञाज्ञं, दापेण स धूमयं विगयार्णोहि' इति । अकृम्य धुर उपाज्जनम्
अक्रोपाज्जने, तच्च व्रतानुलेपने च ते भूते प्राप्ते चत्तत्तथा, तत्क-
ल्यमित्यर्थः । संयमयात्रा संयमप्रवृत्तिः, सैव संयमयात्रा मात्रा
तन्निमित्तं हेतुश्च तत्संयमयात्रामात्रनिमित्तम् । किमुक्तं जवति-
संयममात्रवह्नार्थतया दयं जावनेद-यथाऽऽकृत्योपाज्जने तारव-
ह्नायैव विधायेत न प्रयोजनान्तरे, पञ्च संयममात्रवह्नार्थैव

साधु भुञ्जीत न बलरूपनिमित्तं, विषयलौल्येन वा । अविकलो
हि भोजनसंयममात्रं शरीरं धारयितुं समर्थो भवतीति
(भुञ्जेज्जति) भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत । तथा भोजने कारणान्त-
रमाह—प्राणधारणार्थतया जीवितव्यसंरक्षणायेत्यर्थः । संयतः
साधुः शान्तिमिति वाक्यावबोधः । (समयंति) सम्यक् । निगमयन्नाह-
पनमाहारसमिति योगेन भावितः सन् प्रवत्यन्तरात्मा अश्वत्थासं-
क्रिष्टनिर्गन्धचारित्र्यजावनाकः, अश्वत्थासंक्रिष्टभावतया हेतु-
भूतया वा अहिंसकः संयतः सुसाधुरिति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अथावरा चउत्था जावणा आयाणजंरुणिकखेवणाम-
मिष मे णिगंथे णो अणायाणभंरुणिकखेवणासमिष णि-
गंथे केवली वूया आयाणभंरुणिकखेवणासमिष णि-
गंथे पाणाइं जूयाइं जावाइं सत्ताइं अभिहणेज्ज वा० जाव
उद्वेज्ज वा आयाणभंरुणिकखेवणासमिष, मे णिगंथे णो
आयाणजंरुणिकखेवणा असमिष ति चउत्था जावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानभाणमात्रनिक्षेपणासमितिः, तत्र
निग्रन्थेन साधुना समितेन भवितव्यमिति । आचा० २ श्रु०
३ चू० ।

पंचमगं पीठफट्ठगमेज्जासंधारगवत्थपत्तकंवत्तदंडकरय-
हरणचोलपट्टगमुहपोत्तियपायपुंण्णणादि एयं पि संजमस्स
उववूहणट्टयाए वातातपदंसममगसीयपरिरक्खणट्टयाए उ-
वगरणं रागदोमरुदियं परिहरियव्वं संजएणं निच्चं पडिद्धे-
हणपप्फोरुणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण
होइं सययं निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च जायणभंडोवहि
उवकरणं, एवं आयाणजंरुणिकखेवणासमिषं जोगेण जा-
वितो जवति अंतरणा असवत्तमसंकिञ्चिद्विद्विण्वणचरित्त-
भावणाए अहिंसए संजए सुमाहु ए ॥

(पंचमगंति) पञ्चमभावनावस्तु आदानसमितिनिके-
पसमितिलक्षणम् । एतदेवाह—पीठादिद्वादशविधमुपकरणं प्र-
सिद्धम् । (एयं पीति) एतदपि अनन्तरादिनमुपकरणम्, अपिश-
ब्दान्यमपि संयमस्योपबृंहणार्थतया संयमोपाय, तथा-
वातातपदंशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणमुपकारकम्
उपधिः, रागद्वेषरहितं क्रियाविशेषणमिदम् । (परिहरियव्वंति)
परिभोक्तव्यं, न विभूषादिनिमित्तमिति भावना, संयतेन साधुना
नित्यं सदा, तथा—प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनार्था सदा या प्रमाज्जना
सा तथा तथा, तत्र प्रत्युपेक्षणा चक्षुर्व्यापारेण, प्रस्फोटनया
आस्फोटनेन, प्रमाज्जनया च रजोहरणादिव्यापाररूपया (अहो
य राओति) अहिं च रात्रौ च, अप्रमत्तेन भवति सततं निक्के-
सव्यं च भोक्तव्यं, प्रहीतव्यं चादातव्यम् । आदातव्यं किं तत् ?
इत्याह—भाजने पात्रं, भाणं तदेव मृगमयं, उपधिश्च वस्त्रा-
दि, एतत् त्रयलक्षणमुपकरणमुपकारकारि वस्त्विति कर्म-
धारयः । निगमयन्नाह—पनमादानेत्यादि पूर्ववत्, नवरं इह-
प्राकृतशैल्याऽन्यथा पूर्वापरपदनिपातः, तेन भाणस्योपकरण-
स्यादानं च ग्रहणं, निक्षेपणा च मोचनं, तत्र समितिभाणदा-
ननिक्षेपणासमितिर्गति वाच्ये, आदानभाणनिकेपणासमिति-
रित्युक्तम् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अथावरा पंचमा भावणा आश्लेषपाणभोई, से णिगंथे

णां अणालोड्यपाणभोयणभोई केवली वूया अणालोड्य-
पाणभोयणभोई से णिगंये पाणातिवा० ४ अजिहणेज्ज
वा० जाव उद्वेज्ज वा तम्हा आलोड्यपाणभोयणभोई से
णिगंये णो अणालोड्यपाणभोइ ति पंचमा जावणा ॥

तथा परा पञ्चमी भावना आलोकितं प्रत्युपेक्षितमशनादि भो-
क्यं, तदकरणे दोषसंभवात् । आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

अथाध्ययनार्थं निगमयन्नाह-

एवमियं संवरस्स दारं संपं संचरियं हंति, सुष्णणिदियं, इ-
मेहिं पंचहिं वि कारणाहिं मणवयकायपरिक्खिहं, नि-
च्चं आमरणंतं च एस जांगो नियव्वा धितिमता मतिमता
अणासवा अकलुसो अचिद्धो अपरिस्साती असंकिद्धो
सुद्धो सव्वजिणमणुप्पातो, एवं पढं संवरदारं फासियं पा-
लियं सोहियं तिरियं किट्टियं आराहियं आणाए अण-
पात्रियं जवति, एवं नायमुणिणा जगवया पणवियं परू-
वियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आग्रवियं सुदेमियं
पत्तयं पढं संवरदारं सम्पत्तं ति वेमि ॥

एवमिति उक्तकमेण, इदमहिंसा लक्षणं, संवरस्यानाश्रवस्य, द्वार-
मुपायः, सम्यक् संवृतम् आसंवितां भवति, किंविधं सदित्वाह-
सुप्रणिहितं सुप्रणिधानवत्, सुप्रकृतमित्यर्थः । कैः किंविधैरि-
त्याह-एभिः पञ्चभिः कारणैः भावनाविशेषैः अहिंसापान्नदे-
तुभिः, मनोवाक्यपरिक्किज्जिति । तथा-नित्यं सदा आमरणान्तं
च मरणरूपमन्तं यावत् मरणोत्पत्तौऽप्यसंभवात्, एष यो-
गोऽनन्तरोदितभावनपञ्चकुरूपो व्यापारो, नेतव्यो बोद्धव्य इति
भावः । केन ?-धृतिमता स्वस्थचित्तन, मतिमता बुद्धिमता, किं-
भूतोऽयं योगः ?-अनाश्रवः नवकर्मानुपादानरूपः, यतोऽकलु-
षोऽपापस्वरूपः, त्रिज्जमिव त्रिज्जं कर्म जलप्रवेशात्तन्निषेधना-
च्छिद्रः, अच्छिद्ररूपत्वादेवापरिस्सारी न परिस्सवति कमे ज-
ह्वप्रवेशतः, असंक्लिष्टो न चित्तसंक्लेशरूपः, शुद्धो निर्दोषः,
सर्वजिज्ञैरनुज्ञातः सर्वार्हतामनुमतः, एवमितीयांसमित्यादि-
भावनापञ्चकयोगेन, प्रथमं संवरद्वारमहिंसा लक्षणं, (फासियं-
ति) स्पृष्टमुचितं कालं विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सतत स-
म्यगुपयोगेन प्रतिचरितं, (सोहियं ति) शोभितमन्येपामपि
तदुचितानां दानादतिचारवर्जनाद्वा, शोधितं वा निरतिचारं कृतं,
तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्तितमन्येपामुपदिष्टम्, आराधितम-
भिरेव, प्रकारैर्निष्ठां नीतम्, आङ्गया सर्वज्ञवचनानुपालितं भ-
वति पूर्वकालसाधुभिः पालितत्वाद्दिव्यज्ञितकालसाधुभिश्चानु-
पश्यात्पादितमिति । केनैव प्ररूपितमित्याह-एवांमत्थुत्तरूपं, ज्ञा-
तमुनिना क्षत्रियविशेषरूपेण यतिना, श्रीमन्महावीरेणेत्यर्थः । भ-
गवतैश्वर्यादिज्ञगुणेन, प्रज्ञापितं सामान्यतो विनेयेभ्यः कथितं,
प्ररूपितं जेदानुभेदकथनेन, प्रसिद्धं प्रख्यातं, सिद्धं प्रमाणप्रतिष्ठितं,
सिद्धानां निर्दिष्टार्थानां वरशासनं प्रधानाज्ञा सिद्धवरशासनम्,
इदमेतत् । (आग्रवियं ति) अर्थः पूजा तस्य आसिः प्राप्तिर्जाता
यस्य तदर्थोपनिष्ठा, अर्थं वा आपितं प्रापितं यत्तदर्थोपनिष्ठा, सु-
देशितं सुष्ठु दर्शितं, सदेवमनुजासुरायां पर्यादि नानाविधनय-
प्रमाणैरभिहितं सुदेशितं, प्रशस्तं मङ्गल्यमिति, प्रथमं संवरद्वारं
समाप्तमिति । सम्बर १ द्वार ।

पंचमा भावणा एतावया च महव्वयं सम्मं काएण फा-
मिणं पाणिणं तीणिणं किट्टितं अवट्टितं अ.णाए आहा-
रिणं यावि जवति, पढं जने महव्वए पाणाडवायाओ वेरमाणं ।

इति इत्येवं पञ्चजिर्भावनाभिः प्रथमं व्रतं स्पर्शितं पालितं तीर्णं
कीर्तितमवस्थितमाङ्गयाऽऽराधितं भवतीति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः-

सेवेमि जे य अनीता जे य पटुप्पणा जे य आगमिस्सा
अरहंता जगवंतो ते सव्वे एवमाक्खंति एवं जामंति
एवं पणवोति एवं परूवोति सव्वे पाणा सव्वे जया सव्वे
जीवा सव्वे मत्ता ण हंतव्वा ण आणावेतव्वा ण परि-
धेत्तव्वा ण परिनावेयव्वा ण उद्वेयव्वा ॥

येऽनीता अतिक्रान्ताः, ये च प्रत्युत्पन्ना वर्त्तमानकालभाविनः, ये
चागामिनः, ते एवं प्ररूपयन्तीति सम्बन्धः । तत्रातिक्रान्तास्ती-
र्थकृतः कालस्यानादित्वादिति यत्तमतिक्रान्ताः, अनागता अ-
प्यनन्ता आगामिकालस्यानन्तत्वादिति । वर्त्तमानतीर्थकृतां प्र-
ज्ञापकापक्रितयाऽनर्वास्थानत्वे सत्यप्युक्तपृष्ठजघन्यर्पादेन एव क-
थ्यन्ते, तत्रोत्सर्गनः समयक्षेत्रसम्भावने सत्यप्युत्तरशतं पञ्च-
स्वपि विदेहेषु प्रत्येकं चात्रिंशत् केवात्मकत्वादिकैस्मिन् छात्रि-
ंशत्, पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्च, एवमेवावतेष्वपि, तत्र छात्रिंशत् प-
ञ्चभिर्गुणिताः पष्ट्युत्तरं शते भरतैरावतदशप्रक्षेपेण सप्तत्यधिकं
शतमिति, जघन्यतस्तु विंशतिः, सा चैव पञ्चस्वपि महाविदेहेषु
विदेहान्तर्महानद्युजयतदसङ्गावात्तीर्थकृतां प्रत्येकं चत्वारः, तेऽ-
पि पञ्चभिर्गुणिता विंशतिभरतैरावतयोस्त्वैकान्तसुखमादाव-
भाव एवेति । अन्यं तु व्याचक्षते-मेरोः पूर्वापरविदेहैककशस्तावा-
न्महाविदेहद्वावेव पञ्चस्वपि दर्शयति । तथा ते आहुः-“सत्तरसय-
मुक्तांसं, इतरेदसमयखेत्तजिणमाणं । चोत्तां स पढमदीवे, अ-
णतरद्धे यदृणत्ति” । क इमे अर्हन्तः, अर्हन्ति पूजासत्कारादि-
कमिति । तथा-पेश्वर्याद्युपेता भगवन्तः, ते सर्वे एव परंप्रावसरं
एवमाचक्षते, यदुत्तरत्र वदयते, वर्त्तमाननिर्देशस्योपलक्षणार्थ-
त्वादिदमपि द्रष्टव्यमेवमाचक्षते, एवमाख्यामयन्ति, एवं सामा-
न्यतः सदेवमनुजायां पर्यवर्त्तमानाः सर्वसत्त्वस्वभावाणुगा-
मिन्या ज्ञापया भाषन्ते, एवं प्रकर्षेण संशील्यपतोदायान्तेवासि-
नो जीवाजीवाश्रवसम्बरयन्धनिर्जामोक्षपदार्थान् ज्ञापयन्ति,
प्रज्ञापयन्ति । एवं ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गाः’ इति
त्वाविरतिप्रमादकपाययोगा बन्धहेतवः । स्वपरभावेन सदसती
तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमित्यादिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति, ए-
कार्थानि जेतानांति । किं तदेवमाचक्षते इति दर्शयति-यथा सर्वे
प्राणाः सर्वे एव पृथिव्यपृतेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुष्प-
ञ्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियबलौ च्छासनिश्वासायुष्कलत्रकणप्राणधारणाप्रा-
णाः, तथा-सर्वाणि भवन्ति त्रिविध्यस्य भूवन्निति चतुर्दश-
भूतग्रामान्तर्पातीति, एवं सर्वे एव जीवन्ति जाविष्यन्त्यजी-
विपुगिति जीवाः नारकतिर्यग्भगामरवृक्षणाश्चतुर्गणिकाः, तथा-
सर्वे एव स्वकृतसत्तासत्तादयः सुखदुःखभाजः सत्त्वा एकार्था-
श्चेते शब्दास्तत्त्वभेदपर्यायैः प्रतिपादनमतिकृत्वन्ति एते च
सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दावेदिना न हन्तव्या दारुकशाऽऽ-
दिभिः, नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याजिगोदानतः, न परिग्राह्या
भूयदासदास्या दममत्तपरिग्रहतां, न परितोषयितव्याः शारीर-

मनसप्राप्त्यादन्तो, नाऽपद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः ।
आवा० १. ५० ४ अ० १ उ० ।

(७) वैदिकहिंसाविचारः—

अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्राणव्यपरोपणस्य अहिंसात्वप्रतिपा-
दनायै 'हिंसातो धर्मः' इति वचनं रागद्वेषमाह । योगनिबन्धनस्य
प्राणव्यपरोपणस्य दुःखसवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वेन हिंसात्वोप-
पत्तेः, अत एव वैदिकहिंसायाः अपि न निमित्तत्वेऽप्यप्यहेतुत्वमन्य-
हिंसात्वप्रसक्तम्, न च तस्याः अतीतिमित्तत्वं, 'चित्रया यजेत प-
शुकामः' इति तृष्णादिमित्तधर्मकत्वात् । न चैवं विधेयं ब्राह्मणस्य प्र-
माणताऽप्युपपत्तिमती, तत्रापि किमिति सत्त्विकमोपदेशकत्वात्, त-
त्प्रादिवृत्तिमित्तनद-गतद्विषयत्वादेः शक्यत्वात् । न च यथाकथं
प्रमाणम्, तस्य तापस्यत्वात् । न च पुनश्च ब्रह्मणो हिंसावि-
धायकस्य तस्य प्रामाण्यम्, ब्रह्मणो हन्तव्य इति वाक्यवत् । न
च वेदविहितत्वाच्च हिंसायाः अहिंसात्वम्, प्रकृतहिंसायाः अपि त-
थोपपत्तेः । न च ब्राह्मणो न हन्तव्यः, इति तद्वाक्यबाधितत्वात् प्र-
कृतहिंसायास्तद्विहितत्वम् । न च हिंस्रो न वेत् इति वेदवाक्यबाधित-
तच्चित्रादियजनवाक्यविहितहिंसायाः प्रकृतहिंसायाः ताद्विहित-
त्वोपपत्तेः । अथ ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यं न कचिद्देहं श्रूयते । न ।
उचिन्नानेकशास्त्रानां तत्राऽप्युपगमात् । तथा च 'सहस्रवर्मा
सामवेदः' इत्यादिश्रुतिः । अथ यज्ञादयत्र हिंसाप्रतिषेधः, तत्र च
तद्विधानम् । यथा चान्यत्र हिंसाऽप्यप्यहेतुरित्यागमात् सिद्धं तथा
तत एव तत्र स्वर्गहेतुरित्यपि सिद्धम् । न च यदेकदैकप्राप्यहे-
तुत्वेन सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धं, तृष्णादिनिमित्ता च प्रकृतहिंसेति
प्रतिपादितत्वात् न यन्निमित्तत्वेन यत्प्रसिद्धं तत्फला-
न्तरार्थत्वेन विधीयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्तयति । य-
थाऽऽप्युच्यते प्रसिद्धं दाहादिकं रोगनाशार्थतया विधीयमानं निमि-
त्तं दुःखं क्लिष्टसंस्कारहेतुतया च मखविधानादप्यत्र हिंसादिकं
शास्त्रे प्रसिद्धमिति, समन्तावपि तद्विधीयमानं कार्यमानफल-
सद्भावेऽपि न कर्मनिमित्तं तद्वन्त्येव । न च हिंसातः स्वर्गादिसुख-
प्राप्ता वस्तुनिर्वर्तकक्लिष्टकर्महेतुताऽसंगता, न रज्ज्वराऽऽराधननिमि-
त्तब्राह्मणादिविधानन्तर्गताप्रामादिविज्ञानजनितसुखसंप्राप्तौ तद्व-
दस्यापि तथान्योपपत्तेः । अथ ग्रामादिब्राह्मणो ब्राह्मणादिवधनिर्ब-
हिनादृष्टनिमित्तो न जयति, तर्हि स्वर्गादिप्राप्तिरप्यध्वरविहितहिं-
सानिर्वर्तिता न भवतीति समानम् । अथाश्वमेधादावालय-
मानानां जगादीनां स्वर्गप्राप्तेर्न तद्विसेति, तर्हि संसारमोक्षकवि-
रचिताऽपि न एव हिंसा स्यात्, देवतोद्देशतोऽस्त्वच्छास्त्रविर-
चित्वा च ब्राह्मणगवार्थाहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तदाम-
स्याप्रमाणत्वाच्च तदुपदेशजनिता हिंसा अहिंसा । ननु वेदस्य कुतः
प्रामाण्यसिद्धिः, न गुरुवपुरुषवर्णातत्त्वान्, परैस्तस्य तथाऽनभ्युप-
गमान् । नापौरुषेयव्यान्, तस्याऽसंभवात् । तत्र प्रदर्शिताभिप्रायां
हिंसा हिंसातो धर्मावतिर्युक्ता, परमप्रकार्यावस्थज्ञानत्वात् तत्त्वक-
र्मनिर्माणस्य दीक्षाशब्देनाभिधाने दीक्षातो मुक्तिरूपपञ्चैव, अविक-
लकारणस्य कार्यनिर्वर्तकत्वात्, अस्यथा कारणत्वयोगेन । तत्र
तदभ्युपगमादानीं चैवमभिधानात् शक्यत्वात् । न हि तदभ्युपगमावे
उपादयकत्राप्तिनिमित्तसम्पत्त्यानां दृष्टिनिमित्तदीक्षाप्रवृत्ति-
प्रवृत्तौ न वेत् ; तत्राप्यपरेत्वं प्रदर्शितव्यस्य तदुपपत्तयः ।
तथाऽभ्युपगमे वाऽनभ्युपगमे वेदस्य प्रवृत्तेः, तत्र पूर्ववदोपा-
नतिवृत्तेः ॥ सम्प्र० ३ काठक, अथा १५८ ।

" न हिंसात्मकं नानि, स्वयमेव चराणि च ।

आत्मनस्तर्धभूतानि, यः पश्यति स भवति । " ॥२॥ मनु० ।

उपदेशमाह—

उरालं जगतो जोगं, विवजासं पलिति य ।

सर्वे अकृतदुःखा य, अओ सर्वे अहिंसिता ॥ ए ॥

(उरालमिति) स्पृष्टमृदारं, जगत औदारिकजन्तुग्रामस्य, योगं
व्यापारं, चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः । औदारिकशरीरिणां हि ज-
न्तवः प्राक्तनादवस्थाविशेषात्तत्कलालुदरूपाद् विपर्यासभूतं
कलकामारबौधनादिकमुदारं योगं परि समन्तादप्यन्ते गच्छन्ति
पर्वयन्ते । एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरिणां हि मनुष्यादेर्क-
लकौमाशब्दिकः कालसंज्ञकतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चाऽन्यथा-
भवत् प्रत्यक्षेणैव लभ्यते, न पुनर्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति ।
एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमि-
ति । अपि च—सर्वे जन्तवः, आक्रान्ता अभिभूताः, दुःखेन शरी-
रमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो
लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि ते यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विधेयम् ।
यदि वा सर्वेऽपि जन्तवोऽक्रान्तमनजितमंतः दुःखं येषां तेऽक्रा-
न्तदुःखाः, चशब्दात् प्रियसुखाश्च ते, तान् सर्वान् न हिंस्यादि-
त्यनेन वाऽन्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो प्रवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥ ६ ॥

(६) किमर्थं सत्त्वान्न न हिंस्यादित्याह—

एवं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसं किंचण ।

अहिंसामपया चैव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

(एवं खु इत्यादि) खुरवधारणे । एतदेव, ज्ञानिनो विशिष्टवि-
वेकवतः, सारं न्याय्यं, यत्किञ्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा, न
हिनस्ति न परितापयति । उपलक्षणं चैतत्—तेन न मृषा मृषा-
न्नादत्तं गुह्यान्नाऽग्रह्याऽऽसेवेत, न परिग्रहं परिगृह्यान्ना
नक्तं कुञ्जतेत्येवं ज्ञानिनः सारं यत्र कर्माश्रवेषु वर्तते इति ।
अपि च—अहिंसया समता अहिंसाममता, तां चैतावद्विजानीया-
त् । यथा मम मरणं दुःखं वाऽप्रियम्, एवमन्यस्याऽपि प्राणिज्ञो-
स्येति । एवकारोऽवधारणे । इत्येवं साधुना ज्ञानवता, प्राणिनां
परितापनाऽपद्रावणादि वा न विधेयमेवेति ॥ १० ॥ सूत्र० १. ५०
१ अ० ४ उ० ।

(१०) तत्राहिंसाप्रसिद्धार्थमाह—

पुढवीआउगणिवाऊ, तणरुवससवीयगा ।

अरुया पोयजसऊ, रससंमेयउज्जिया ॥ ७ ॥

(पुढवी आउ इत्यादि) तत्र पृथिवीकायिकाः सुदमबादपर्या-
सकाऽपर्यासकजन्मिन्नाः, तथाऽप्यकायिका अग्निकायिकाः वायु-
कायिकाश्चैवभूता एव । वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदानाद-
तृणानि कुशवल्गकादीनि, वृक्षाः चूताशोकादिकाः, सह बाजैर्वर्तन्ते
इति, सर्वाजानि तु शास्त्रिगोभूमयवादीनि, एते एकैक्ययाः पञ्चा-
पि कायाः । षष्ठ्यसकायनिरूपणायाह—अरुजाः शकुनिशृङ्गको-
किल्लकसरीसृपादयः । तथा—पोता एव पोतजा हस्तिशरजादयः ।
तथा—जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः तथा
रसात् दधिसौवीरकादेर्जाता रसजाः, तथा—संस्वेदाऽक्राताः सं-
स्वेदजा यूकामन्कुणादयः । उद्भिजाः खञ्जरीटकदुर्दुरादय
इति । अज्ञानभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्ते इत्यतो जेदेनोपन्यास इति ।

एतेहि छपहिं काणहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।

मणसा कायवक्केणं, एणरंजी ए परिगट्ठी ॥ ए ॥

यमिः पूर्वोक्तैः, परमिपरि कायैस्ससस्थावरकपैः, सूदमबादरप

यासकाऽपर्याप्तकभेदभिन्नैरारम्भी नाऽपि परिग्रही स्यादिति सं-
बन्धः । तदेतद्विद्वान् सन्धुनिको इपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान-
परिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जोषोपमर्दकारिणामारम्भं परिग्र-
हं च परिहरेदिति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

सव्वाहिं अणुजुत्तीहि, मतिमं पमिलेहिया ।

सर्वे अकृतकुखा य, अतो सर्वे अहिंसया ॥ ६ ॥

सर्वा याः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेना-
जुक्कुत्रा युक्तयः साधनानि । यदि वाऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरि-
हारेण पक्षधर्मत्वसंपन्नसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता
युक्त्यस्ताभिर्मतिमान् सद्विवेकी, पृथिव्यादिजीवनिकायाः प्रत्यु-
पेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य, तथा सर्वेऽपि प्राणिनोऽका-
न्तदुःखा दुःखक्षिणः सुखद्विषस्यश्च मत्वाऽतो मतिमान् सर्वान-
पि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्त्यश्च तत्प्रसाधिकाः सङ्क्षेपेण-
मा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विदुमलवणोपलादीनां
समानजातीयाङ्कुरसङ्घावादर्शविकाराङ्कुरवत् । तथा-संचेतन-
मम्भो, भूमिखननादाविष्कृतस्वभावसंज्ञवाद्दुर्गवत् । तथा-सा-
त्मकं तेजः, तद्योग्याहारवृथ्या वृध्युपग्रहधर्मात्कवत् । तथा-सा-
त्मको वायुः, अपराप्रेरितनियतनिरञ्जीनगतिमत्त्वाद्मभोवत् ।
तथा-संचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां
सङ्घावात्, स्त्रीवत् । तथा-कृतसंरोहणाहारोपादानदैर्हिदसङ्घा-
वस्पर्शसंकोचसायाह्रस्वापप्रबोधश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो
वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः । द्विन्द्रियादीनां तु पुनः कृष्णादीनां स्पष्ट-
मेव चैतन्यम्, तद्वदनाश्रोपक्रामिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलज्य-
माना मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पी-
डाकारिण उपमर्दनिवर्तितव्यमिति ॥ ६ ॥

एतदेव (पुनः) समर्थयन्नाह--

एवं खु णाणिणो मारं, जं न हिंसति केचण ।

अहिंसासमयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥ १० ॥

(एवं खु इत्यादि) खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा । एत-
देवानन्तरात् प्राणानिपातनिवर्तनं, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्वध-
कर्मबन्धवेदिनः, सारं परमार्थप्रधानम् । पुनरप्यादरूपपनार्थम-
तदेवाह-यत्कश्चन प्राणितमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्र-
भूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतद्वद्वेद सारनरं ज्ञानं, यत्प्राणानिपातनि-
वर्तनमिति । ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो, यत्पीडितो निवर्तनम् ।
यथोक्तम्-“किं ता ए पढियाए, पयकोमी ए पयालभूयाए ॥ जत्थि-
त्थियं ण पायं, परस्स पीडा न कायव्वा” ॥ १ ॥ तदेवमहिंसा-
प्रधानः समय आगमः संकेतो वाऽपदेशरूपः, तदेवंभूतमहिंसा-
समयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमन्येन बहुना परिज्ञानैतावतैव
परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवर्तितकार्यपरिसमाप्तरतो न हिंस्यात्क-
ञ्चनोति ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

(११) मतान्तरेऽहिंसा न तादृशी--

आहुः-कथमेतं प्रावादुका मिथ्यावादिनो भवन्ति? अत्रोच्यते-
यतस्तेऽप्यहिंसां प्रतिपादयन्ति, न च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्य-
गनुतिष्ठन्ति । कथम्? साङ्ख्यानां तावज्ज्ञानादेव धर्मो न तेषामहिं-
सा प्राप्यन्तेन व्यवस्थिता, किन्तु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति ।
तथा-शाक्यानामपि दश कुशला धर्मपथा अहिंसाऽपि तत्रोक्ता,
न तु सैव गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराश्रिता । वैशेषिकाणाम-
पि-अभिसेवनोपवासब्रह्मचर्यशुभकुड्वासास्वानप्रस्थदान्यक्षादि-

नक्षत्रमन्त्रकादनियमा दृष्टाः, तेषु चाभिषेचनादिषु पर्यालोच्यमा-
नेषु हिंसैव संपद्यते, वैदिकानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनं, य-
ज्ञोपदेशात् । तस्य च तथा विनाऽभावादित्यभिप्रायः । उक्तं च-
“ भुवः प्राणिवधो यज्ञे ” ॥ ७६ ॥

(११) तदेवं सर्वे प्रावादुका मोक्षाङ्गभूतामहिंसां न प्राधान्येन
प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह--

ते सर्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं णाणापन्ना णा-
णाउंदा णाणासीन्ना णाणादिद्वी णाणारुई णाणारंजा
णाणाज्जवसाणसंजुत्ता एग मढं मंमलिवंधं किच्चा सर्वे
एगयाउ चिट्ठंति ॥ ८० ॥

(ते सर्वे इत्यादि) प्रवदनशीलाः प्रावादुकाः सर्वेऽपि प्रिष-
ङ्गुत्तरत्रिशतपरिमाणा अपि, आदिकरा यथास्वं धर्माणाम्; ये-
अथ च तच्छिष्यास्तेऽपि सर्वेः नानाभिन्ना प्रज्ञा ज्ञानं येषां ते ना-
नाप्रज्ञाः । आदिकरा इत्यनेनेदमह-स्वरुचिविरचितास्ते न-
त्वनोद्विषबाहायताः । ननु चाहंतातामपि आदित्वविशेषणम-
स्त्वैव । सत्वमस्ति । किन्तु अनादिहेतुपरम्परेत्यनादित्वमेव, तेषां
च सर्वेऽप्रणीतागमानाश्रयणाश्रित्यानाभावः, तदज्ञावच्च भि-
न्नपरिज्ञानमत एव नानाछन्दाः, उन्दाऽभिप्रायः, जिज्ञाभिप्रा-
या इत्यर्थः । तथाहि-उत्पादव्ययधैर्यात्मके वस्तुनि साङ्ख्ये-
रेकातेनाविर्भावतिरोभावाश्रयणादन्वयिनमेव पदार्थं सत्य-
त्वेनाश्रित्य नित्यपक्वं समाश्रिताः । तथा-शाक्या अत्यन्तकृणि-
केषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सन्तु स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा-
प्रत्ययः सदृशापरापरोत्पत्तिर्विनिधानां भवतीत्येतत्पक्षसमाश्रय-
णादन्वित्यपक्वं समाश्रिता इति । तथा-नैयायिकवैशेषिकाः-केपा-
श्चिदाकाशपरमाणवादीनामेकान्तेन नित्यत्वमेव, कार्यद्रव्याणां
च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमेवाश्रिताः । एवमनयाऽदिशा-
ऽन्येऽपि मीमांसका नापसादयोऽन्यूह्या इति । तथा-ते तीर्थिका
नानाशीघ्रं येषां ते तथा, शीले व्रतीविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनु-
भवसिद्ध एव । तथा-नाना दृष्टिर्देशनं येषां ते । तथा-नाना रुचि-
रेषां ते नानारुचयः । तथा-नानारूपमध्यवसानमन्तःकरणप्रवृत्ति-
येषां ते तथा । इदमुक्तं जवति-अहिंसा परमं धर्माङ्गम् । सा च
तेषां नानाभिप्रायत्वादविकलत्वेन व्यवस्थिता । तस्या एव सूत्र-
कारः प्रधान्यं दर्शयितुमाह-ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथास्वपक्व-
माश्रिता एकत्र प्रदेशे संयुता मण्डलिवन्धमाधाय तिष्ठन्ति ॥ ८० ॥

(१३) अहिंसाप्रसिध्यर्थं विवेचनमाह-

पुरिसेयं सागणियाणं इंगालाणं पाई बहुपरिपुनं गहाय अ-
ठमएणं संडामएणं गहाय ते सर्वे पावाउए आङ्गरा धम्मा-
णं णाणापन्ना० जाव णाणाज्जवमाणसंजुत्ते एवं वयासी-
इंजो पावाउया ! आङ्गरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणा-
अज्जवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुम्ह सागणियाणं इंगाला-
णं पाई बहुपरिपुनं गहाय मुहुत्तयं पाणिणा भरेह, णो
बहु संसासणं संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्गियंजणियं
कुज्जा, णो बहु साट्ठमियं वेयावडियं कुज्जा, णो बहु परध-
म्मियं वेयावडियं कुज्जा, उज्जया णियागपरिवन्ना अमायं
कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावा-
दुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाई बहुपरिपुनं अ-

उमएण सडामएण गहाय पाणिं सु णिसिरिति, तए णं ते पावाहुया आइगरा धम्माणं णाणापन्नां जाव णाणा-
ज्जवसाणसंजुत्ता पाणिं पमिमाहरांत । तए णं से पुरि-
सं ते सव्वे पावाउए आदिगरेधम्माणं जाव णाणाज्ज-
वसाणसंजुत्ता एवं वयासी-हंभो पावाहुया! आइगरा ध-
म्माणं णाणापन्नां जाव णाणाज्जवसाणसंजुत्ता कम्हा णं
तुब्भे पाणिं पमिमाहरह, पाणिं नो रुहिज्जा, दद्धे किं ज-
विम्मइ, हुक्खंति मन्नामाणा पमिमाहरह, एस तुब्बा एस प्प-
माणे एस समोसरणे पत्तेयं तुब्बा पत्तेयं पमाणे पत्तेयं स-
मोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति०
जाव परूवेंति-सव्वे पाणा० जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेय-
व्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उड्वेतव्वा
ते आगंतुं हेयाए ते आगंतुं जेयाए० जाव ते आगंतुं जाइ-
जगमरणजोणिजम्मणसंसारपुण्यवगणनवासजवपवंच-
कलंकलीभागिणो भविस्संति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवंव्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषः, तेषां संविदर्थं ज्व-
लतामङ्गाराणां प्रतिपूर्णां पात्राभयोभयं भाजनमयोभयेनैव संदे-
शकं गृहीत्वा तेषां हौकितवानुवाच तान्-यथा भोः प्रावादुका!
सर्वोक्तान्येवपणविशिष्टाः! इदमङ्गारभृतं भाजनमेकैकं मुहुर्त्तं प्र-
त्येकं सामारिकाणामवार्त्तिनस्तम्भेन विधत्ते, नापि च साध-
निकाऽन्यधर्मिकाणामग्निदाहोपशमादिनोपकारं कुरुत इति,
ऋजवो मायामकुर्वाणाः पाणिं प्रसारयन् । तेऽपि च तथैव कुर्याः।
ततोऽसौ पुरुषः तद्भाजनं पाणौ समर्पयति । तेऽपि च दाहश-
ब्दया हस्तं संकोचयेयुरिति । ततोऽसौ तानुवाच-किमिति पाणिं
प्रतिसंहरत न्ययम्?। एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहजयादिति । एत-
दुक्तं भवति-अवश्यमग्निदाहभयात् कश्चिदन्यमिमुखं पाणिं द-
दातात्येतत्परोऽय दृष्टान्तः। पाणिना दग्धेनापि किं जवतां भविष्य-
ति?, दुःखमिति चेत्, यद्येवं जवन्तो दाहापादितदुःखनीरवः सुख-
त्रिप्तवस्तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदराववरवर्तिन एव-
भूता एवेत्येवमात्मतुल्याऽस्मौपम्येन यथा मम नाजिमत्तं दुःख-
मित्येवं सर्वजन्तूनामित्यवगम्याऽहिंसेव प्राधान्येनाश्रयणीया ।
तदेतत्प्रमाणम् । एषा युक्तिः-“आत्मवत्सर्वं नृतानि, यः पश्यति
स पश्यति ” । तदेव समवसरणं, स एव धर्मविचारो यत्रा-
हिंसा संपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवंव्यवस्थितं तत्र
ये केचनावदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादय एव वक्ष्यमाणमा-
चक्षते, परंपरामदाब्धौ-पादनायैवं भाषन्ते, तथैवमेवं धर्मं प्र-
क्षापयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तथाऽन्येन प्राण्युपतापकारिणा प्रका-
रेण परंपरा धर्मं प्ररूपयन्ति व्याचक्षते । तद्यथा-सर्वे प्राणा
इत्यादि यावदन्तव्या दण्डादिभिः परितापयितव्या धर्माधर्मर-
यदादिवहनादिभिः परिग्राह्या विशिष्टकाले आकाशं रोहितम-
न्त्या इव, तथाऽपद्रवायितव्या देवतायागादिनिमित्तं वस्तादय
इत्येवमेवं ये श्रमणादयः प्राणिनामुपतापकारिणी भाषां प्रापन्ते,
अर्गाभिर्न कालेऽनेकशो बहुशः स्वशरीराच्छ्रेयाय च भाष-
न्ते, तथा ते सावद्यभाषिणो भविष्यन्ति, काले जानिजगमरणानि
बहुने प्राप्नुवन्ति । योन्यां जन्म योनिजन्म तदनेकशो बहुशो
गमंयुक्तान्तजावस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा संसारप्रपञ्चान्तगं-

तास्तेजावायुपूवैर्गोत्रोद्धलनेन कलंकलीजावभाजो भवन्ति, ब-
हुशो जविष्यन्ति च ॥ ८१ ॥

ते बहूणं दंरुणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तात्तणाणं
अदु वंभणाणं जाव घोलणाणं माडमरणाणं पितामरणाणं
जाडमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुएहामरणाणं
दारिदाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं
बहूणं दुक्खदोम्मणस्माणं आभागिणो जविस्संति अणा-
दियं च णं अणवयगं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं तुज्जो
तुज्जो अणुपरियट्ठिस्संति, ते णो सिज्जिस्संति, णो बु-
ज्जिस्संति० जाव णां सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस
तुब्बा एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुब्बा पत्तेयं
पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां दण्डादीनां शारीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं
कुर्वन्ति, तथा-ते निर्विवेका मातृवधादीनां मानुषाणां दुःखानां,
तथाऽन्येषामप्रियसंयोगार्थनाशादिजिदुःखदोर्मनस्यानामात्रा-
मिनो भविष्यन्तीति । किं बहूनेकेनापसंहारव्याजं गुरुतर-
मर्थसंबन्धं दर्शयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्यादिरस्ती-
त्यनादिः संसारः। तदनेनदमुक्तं भवति-यत्कैश्चिदतिदितं-यथा
ऽयमण्डकादिकमेनेत्यादित इति । एतदपास्तम् । न विद्यतेऽवदप्रं
पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदप्रोऽपर्यन्त इत्यर्थः । तदनेनदमुक्तं ज-
वति-यदुक्तं कैश्चिद्यथा प्रलयकालेऽपसागरजलप्लावनं, द-
दशादिर्याक्रमेण चात्यन्तदाहः, इत्यादिकं सर्वं मिथ्येति । दीर्घ-
मित्यन्तपुल्लपरावत्तरूपं कालावस्थानम्, तथा-चत्वारोऽन्ता
गतयो यस्य स तथा, चातुर्गतिक इत्यर्थः । तत्संसार एव का-
न्तारः संसारकान्तारो निर्जलः सजयस्त्राणुराहितोऽरण्यप्रदेशः
कान्तार इति । तदेवंभूतं भूयो नूयो पौनःपुन्येनानुपरिवर्त्तिष्यन्ते
अरहदृष्टदीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्तः स्थास्यन्तीति। अत एवाद-यत-
स्ते प्राणिनां हन्तारः। कुत एतदिति चेत्, सावद्योपदेशान् । एतदपि
कथमिति चेदत् औद्देशिकादिपरिभोगानुब्रूयत्येवमवगन्तव्य-
मित्यतस्ते कुप्रावचनिका नैव संस्थान्ति नैव ते लोकाप्रस्थामा-
क्रमिष्यन्ति । तथा-न ते सर्वपदार्थान् केवलज्ञानावाप्या ज्ञो-
त्स्यन्तः, अनेन ज्ञानातिशयज्ञावमाह । तथा-न तेऽष्टप्रकारेण
कर्मणा मोक्ष्यन्ते । अनेनाप्यसिद्धेरकैवलयावाप्तेश्च कारणमाह ।
तथा-परिनिर्वृतिः परिनिर्वाणमानन्दसुखावाप्तिः, तां ते नैव प्रा-
प्स्यन्ते, तेनापि सुखान्तिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति । तथा-
नैने शारीरमानमानां दुःखानामात्यन्तिकमन्तं करिष्यन्तीत्यने-
नाप्यपायातिशयाभावः प्रदर्शितो भवति । एषा तुब्बा, तदेतदु-
पमानं, यथा सावद्यानुष्ठानपरायणाः सावद्यभाषिणश्च कुप्राव-
चनिका न सिध्यन्त्येवं स्वयुध्या अप्यौद्देशिकादिपरिभोगिनो
न सिध्यन्तीति । तदेतत्प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम् । तथाहि-
प्रत्येकमेव जीवपीडाकारि चौर्यादिवन्धनाच्च मुच्यते। एवमन्ये-
ऽपीत्यनुमानादिकमप्यायोऽयम् । तथा-तदेतत्समवसरणमाग-
मविचाररूपमिति प्रत्येकं च प्रतिप्राणि प्रतिप्रावादुकमेतत्तुला-
दिकं द्रष्टव्यमिति ॥ ८२ ॥

तस्य णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति० जाव परू-
वेंति सव्वे पाणा सव्वे जूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण
हंतव्वा, ए अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ए उड्वेतव्वा,

ते णो आगंतुं येयाए ते णो आगंतुं जेयाए० जाव जाइजरा-
मरणजोगि जम्मणमंमारपुणञ्जवगज्जवासभवपवंचकलंक-
हीभागिणो जविस्संति, ते णो बहूणं दंरुणाणं० जाव
णो बहूणं मुंरुणाणं० जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्माणं
णो भागिणो जविस्संति, अणादिंयं च णं अणवयमं० दी-
हमच्छं चाउरंतमंमारकंतारे भुज्जो भुज्जा णो अणुपरिय-
ट्ठिस्संति तेसिं सिज्जंति० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करि-
स्संति ॥ ८३ ॥

ये पुनर्विदितत्वा आत्मौपम्येनात्मतुल्या सर्वजीवेष्वहिंसां
कुर्वाणा एवमाचक्रे । तथा-सर्वेऽपि जीवा दुःखत्रिपः सुख-
लिप्सवस्ते न हन्तव्या इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तं दण्डनादिकं स-
प्रतिषेधं भणनीयं यावत्संसारकान्तारमचिरेणैव ते व्यतिक्र-
मिष्यन्तीति ॥ ८३ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

“ अविहिंसामेव पञ्चए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदिओ । ”
सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(१४) यद्येकान्तेन नित्येऽनित्ये चात्मनि हिंसादयो न घटन्ते-
तर्हि क घटन्त इत्यत आह-

नित्यानित्ये तथा देहा-स्त्रिभाभिन्ने च तत्त्वतः ।

घटन्ते चात्मानि न्याया-द्विसादीन्यविरोधतः ॥ १ ॥

नित्यश्चासावनित्यश्चेति नित्यानित्ये, तत्र नित्यानित्ये आत्मन्य-
भ्युपगम्यमाने हिंसादीनि, घटन्ते इति संशयः । न ह्येकान्तेन
नित्यमनित्यं वा वस्तु किमपि कस्यापि कार्यस्य करणक्रमम् । तथा-
हि-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, एकरूपत्वेनानतिक्रान्तमृ-
त्पिण्डजावत्वात्, मृत्पिण्डवत् । मृत्पिण्डत्वातिक्रमे चानित्यत्व-
प्राप्तेः । तथा-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, सर्वथैवानुगमा-
भावेनाऽनतिक्रान्तमृत्पिण्डत्वलक्षणपर्यायत्वात्, पटवत् । मृत्पि-
ण्डत्वलक्षणपर्यायातिक्रमाभ्युपगमे वाऽनुयायित्वेन नित्यत्वं व-
स्तुनः स्यादिति । आह च-घटः कार्यं न, पिण्डजावानतिक्रमात्, पि-
ण्डवत् घटवच्चेति । स्यात् कृत्यत्वादिरेव । तदेवं नित्यानित्य-
मेव वस्तु कार्यकरणक्रममिति, ननु नित्यानित्यत्वधर्मयोर्विरु-
द्धत्वात्कथमेकाधिकरणत्वम् । अत्रोच्यते-यथा ज्ञानस्य भ्रान्ता-
भ्रान्तत्वे परमार्थसंयतहारापेक्षया न विरुद्धे, एवं उच्यते
नित्यत्वं, पर्यायतश्चानित्यत्वं न विरुद्धम् । न च द्वयपर्याययोः
परस्परं ज्ञेयः, यतो यदेव वस्तुवनपेक्षितविशिष्टरूपं उच्यमिति
व्यपदिश्यते, तदेवापेक्षितविशिष्टरूपं पर्याय इति । तथेति वाक्या-
न्तरोपक्रमार्थः । देहाच्छरीरात् । किमित्याह-भिन्नो व्यतिरिक्तः, स
चासावभिन्नश्च व्यतिरेकी भिन्नाभिन्नः, तत्र भिन्नाभिन्न एव
च जीवः, शरीरात्तस्यैवोपलभ्यमानत्वात् । तथाहि-जीवस्या-
मूर्तत्वाद्देहस्य च मूर्तत्वामूर्तामूर्तयोश्चात्यन्तविलक्षणत्वा-
द्भेदः । तयोर्देहस्पर्शने च जीवस्य वेदनोत्पत्तेरभेदश्चेति । आह च-
“ जीवसरीराण पि हु, भेयानेओ तहोवलंताओ । मुत्तामुत्त-
त्तणओ, छिक्कम्मि य वेयणाओ य ” ॥१॥ सर्वथा ज्ञेदे हि शरीरक-
तकर्मणो जवान्तेरेऽनुभवानुपपत्तिः स्यात् । अभेदे च परत्रोक्तहा-
निः, शरीरनाशो जीवनाशदिति । चशब्देऽनुकसमुच्चये । ततश्च
सदसर्तात्याद्यपि उच्यम् । आह च-“ संतस्स सरूवेणं, तहा
विरूवे असंतस्स । हंदि विसिच्छणओ, होनि विसिछा सुहा-
ईओ ” ॥२॥ या विशिष्टाः प्रतिप्राणिवेद्याः । तत्रैव इति परमार्थ-
२२१

तः, नित्यानित्यादौ, न पुनः कल्पनया, परमाधिकृत्यं च नित्या-
नित्यत्वादीनां दर्शितमेव । घटन्ते युज्यन्ते, आत्मनि जीवे, न्या-
यान् परिणामिस्वरूपस्यात्मनोऽपरापरपर्यायसंपदुपपत्तिलक्ष-
णया नीत्या, हिंसादीन्याश्रयसंयतवन्धमोक्षमुखादीनि । कथमि-
त्याह-अविरोधतः अविरोधेन; एकान्तपक्षे ये हिंसादिष्वभ्युप-
गम्यमानेषु विरोधा दर्शिताः, तत्परिहारेणेति ज्ञाव इति ॥ १ ॥

(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधदर्शनायाह-

पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापस्यपेक्षया ।

तथा हन्मीति संक्षेपा-द्विसैपा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा दुःखवेदना, तस्याः कर्ता विधाता, तद्भावः पीडाकर्तृत्वं,
तस्य तेन वा योगः संबन्धः, तेन पीडाकर्तृत्वयोगेन । तथा-देहस्य
शरीरस्य, व्यापस्तिविनाशो देहव्यापस्तिः, तस्या अपेक्षा निश्चा
देहव्यापस्यपेक्षा, तथा । तथेति निबन्धनान्तरसमुच्चये । हन्मि मार-
यामि, प्राणुनमित्येवंरूपास्संक्षेपाश्चित्ताकुप्यात्, हिंसा प्राणव्य-
परोपणा, या परिणामवादिभिर्भ्युपगतेति गम्यम् । एषा इयं हिं-
सा, सनिबन्धना सनिमित्ता । परिणामवादे हि पीडकस्य पीरनीय
स्य च परिणामित्वात् पीडाकर्तृत्वमुपपद्यते । देहविनाशसंक्षेपौ
च एकान्तवादे तु पीडाकर्तृत्वादीनां पूर्वोक्तन्यायेनाऽयुज्यमानत्वा-
त् हिंसा निर्निबन्धनेति । यथोच्यते-नाशहेतुना देहाद्विदो नाशः
क्रियतेऽनित्यो वा? यदि जिन्नः, तदा देहस्य नादवस्थं स्यात् । अ-
थाजिन्नः, तदा देह एव कृतो जयतीति । तदयुक्तम् । अनिन्ननाशकर-
णे हि वस्तु नाशितमेव भवति, न कृतं, यथा जिन्नोत्पादकरणे उत्पा-
दितमेव भवतीति, अनेन च श्लोकेन स्थानान्तरप्रसिद्धिस्त्रिविधो
वधो निर्दिष्टः । तथा च-“ तपज्जायविणासो, दुक्खुण्णाओ य संकिन्ने-
सो या । एस्स वहो जिणभणिओ, वज्जेयव्वो पयस्सेण ” ॥१॥ नन्वस्माद्
घातकाद् मरणमनेन देहिना प्राप्तव्यमित्येवंफलात् स्वकृतकर्मणा
वशाद् हिंसा भवत्यन्यथा वा? यद्याद्यः पत्तः; तदा हिंसकस्याहिं-
सकत्वमेव, स्वकर्मकृतत्वात् हिंसायाः, पुरुषान्तरकृतहिंसाया-
मिव तथा कर्मनिर्जराहेतुत्वेन हिंसकस्य वैद्यावृत्त्यकरस्येष
कर्मक्षयावातिवृत्तयो गुणः स्यात् । अथान्येथेति पक्षः; तदा नि-
विशेषत्वात्सर्वं हिंसनीयं स्यात् ॥ २ ॥

(१६) तथा स्वर्गसुखादयोऽपि स्वकृतकर्मानापादिता एव
स्युरिति कर्माभ्युपगमोऽनर्थक इत्येवमाह तानामपि हिंसाया
असंभव एवेत्याशङ्क्याह--

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः ।

हिंसकस्य भवेदेपा, दुष्टाऽदुष्टाऽनुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्यते मार्यते इति हिंस्यः, तस्य यत्कर्म, तस्य विपाक उदयो
हिंस्यकर्मविपाकः, तत्रापि हिंस्यकर्मविपाकरूपत्वे हिंसायाः, आ-
स्तां हिंस्यकर्मविपाकाभावकल्पनायां, निमित्तत्वस्य निमित्त-
कारणज्ञावस्य नियोगोऽवयवभावो निमित्तत्वनियोगतः, हिं-
सकस्य व्यापादकस्य, भवेत् जायेत । एषा हिंसा । अयमभिप्रायः-
यद्यपि प्रधानहेतुभावेन कर्मोदयाद्विषयस्य हिंसा भवति, तथा-
ऽपि हिंसकस्य तस्यां निमित्ताभावेनोपयुज्यमानत्वात्तस्याऽसौ
जयतीत्युच्यते । न च वाच्यं हिंस्यकर्मणैव हिंसकस्य हिंसायां
प्रेरितत्वात्तस्य न दोष इति । अत्रिमरादः परंप्रेरितस्यापि लो-
के दोषदर्शनादिति । ननु यदि निमित्तभावेऽपि हिंसा स्यादिति-
ष्यते । तदा वैद्यादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सत्यम् । केवलं सा तेषां न,

दुष्टदुष्टाभिसम्भवात् । एतद्वै व्यतिरेकेणाह-दुष्टा दीपवती
कर्मवन्धनविषयान्तराद् दुष्टानुवन्धतो दुष्टचित्ताभिः संश्लेषे भवति ।
यदाह-“ जं उ पमत्तो पारमो, तस्स उ जोगं पकुञ्च जं स-
त्ता व चञ्चनं नियमा, तेमिं सो हिंसओ होइ” ॥१॥ ननु ज्ञाना
भिः संश्लेषः, यदाह-“जा जयमणस्स जेय, विराहणा सुत्तविहिंस-
मग्गस्स । सो होइ न जिरफला, अज्झमधिसोहि नुत्तस्स” ॥१॥
एतेन च यदुक्तं वैयर्थ्यकरस्यैव हिंसकस्य कर्मनिर्जरणसहा-
यत्वात् निर्जरात्तान् धनं । तदपि परिहृतम् । यतो न हिंसको वै-
यर्थ्यकरवचनाभिसन्धिः । शेषं त्वनन्युपगमाभिस्तमिति ।
अधिकृतस्यैव कार्यसमादिना ज्ञेयं गाथा-“ नियकयकम्मुवभो-
गे, पिसं कले सो धुवं वहंतस्स । तत्तो बंधो तं खलु, तविर-
ई प विवज्जत्ति” ॥ १ ॥

एव पराणामित्यात्मनि हिंसायाः संभवमाविर्भाव्याहिंसाया-
स्तमाह-

ततः सदुपदेशादेः, क्लिष्टकर्मवियोगतः ।

शुभजावानु न्धेन, हन्तास्या विरतिर्भवेत् ॥ ४ ॥

यतः परिणमित्यात्मनि हिंसा घटते ततस्तस्माद्विहाय घटनात्,
अस्या विरतिर्न वेदिति योगः । सतां ज्ञानगुरुणां जिनादीनामुपदे-
शो हिंसाहिंसयोः स्वरूपफलविप्रतिपादनं सदुपदेशः, सतां वा
जावानामुपदेशः, सन्तु वा शोभन उपदेशः, स आदित्यस्य स तथा,
तस्मात् आदिशब्दात् ज्ञानअज्ञानपरिग्रहोऽभ्युत्थानादिपरिग्रहो
या आह च-“अभुट्ठाणं विणप, परक्कमे साहु सवणा ए या सम्मदं-
सण्णं मे, विण्य विरदं य विरदं य” ॥१॥ तथा क्लिष्टकर्मणां दीर्घस्थि-
तिकज्ञानावरणादीनां वियोगः कथोपशमः, तस्मात् क्लिष्टकर्मवि-
योगात् । आह च-“सत्त एहं पयडोणं, अरिजितरओ य कोमिको-
मो ए । काऊण सागराणं, जइ लहइ चउएहमन्नयरं” ॥१॥ शुभभा-
वानुवन्धनं प्रशस्तार्थवसायाद्यवच्छेदेन, इत्येवं कारणपरम्परया
हन्तेति प्रत्यवधारणार्थः, कोमलामन्त्रणार्थो वा । अस्याः परिणा-
म्यात्महिंसायाः, विरतिर्निवृत्तिर्न वेत् जायेत, घटत इत्यर्थः ॥४॥

ततः किं जातमित्याह-

अहिंसाया मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

एतन्मंरङ्गणार्थं च, न्याय्यं मन्यादिपात्रेणम् ॥ ५ ॥

अहिंसा अद्यापादनम्, एवा धनन्तरोक्तोपपत्तिका हिंसाविर-
तिः मता दृष्टा विदुषां, मुख्या निरुपचरिता । इयं च प्राप्तक्लिष्टप्र-
धानफलापेक्षया क्रमेण स्वर्गमोक्षप्रसाधनी देवलोकाभिर्वाण-
हेनुभूता । अथैनस्या एव स्वर्गादिसाधनव्याक्तिं मन्यादिपात्रेण-
नेत्याशङ्क्याह-एतन्मंरङ्गणार्थमनन्तरोदिताऽहिंसाव्रतपरिचा-
णार्थम् । चशब्दः पुनरर्थोऽवधारणार्थो वा । न्याय्यं न्यायादनपेत-
म्, उपपन्नमित्यर्थः । मन्यादिपात्रेण मृपावादादिनिवृत्तिनिर्वाहण-
म्, अहिंसासम्यग्स्मरणेन वृत्तिकल्पव्यवस्थया दिव्यतानामिति ॥५॥

(१७) अथ पूर्वोक्तस्यात्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाद्भि-

न्नातिअन्वयस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनायाऽऽह-

स्मरणप्रत्यभिज्ञान-देहमंस्पर्शवेदनात् ।

अस्य नित्यादिमिच्छिन्नं, तथा लोकप्रमिच्छितः ॥ ६ ॥

स्मरणं पूर्वोक्तध्यायानुस्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं सांध्यमित्येवं रूपः
प्रत्यवधारणः, तथा देहस्य शरीरस्य मंस्पर्शो वस्त्वन्तरेण स्पर्शनं,
तस्य वेदनमनुभवत्वे, देहसंस्पर्शेन वा वेदनं स्पर्शनीयवस्तुपरि-

ज्ञानं देहसंस्पर्शवेदनमिति । पदत्रयस्यास्य समाहारद्वन्द्वः, तस्मा-
दस्यात्मनो, नित्यादिसिद्धिः नित्यानित्यत्वे देहाद्भिन्नाभिः प्रत्यव-
धिष्टा, चशब्दः पुनः शब्दार्थः । नित्यानित्यत्वादिविशेषणे आत्मन्य-
हिंसादिसिद्धिः, नित्यानित्यत्वादिसिद्धिः पुनः स्मरणोदरिति भावः ।
प्रयोगश्चात्र-नित्यानित्य आत्मा, स्वयंनिहितद्रव्यादिसंस्मरणा-
न्यथानुपपत्तेः । तथाहि-न तावदेकान्तनित्यं स्मरणसंज्ञः,
तस्यैकरूपतयाऽनुभवस्यैव स्पष्टरूपेणानुवर्तनात्, इतरथा नि-
त्यताहानेः, नाप्यनित्यत्वे स्मरणसंज्ञोऽनुभवकासान्तरकृण
एव कर्तुर्विनाशत्वात्कस्य स्मरणमस्तु ? न ह्यन्येतानुभूतमन्यः
स्मरति । अथानुभवकृणमंस्कारात्तथाविधः स्मरणकृणः
समुत्पद्यते । नैवम् । यतोऽनुगमलेशेनापि वर्जितानामत्यन्तवि-
लक्षणानामसंख्येयकृणानामतिक्रमे जायमानस्य स्मरणकृणस्य
पूर्वकाज्ञानानुवृत्तिसंस्कारो यदि परं अज्ञानगम्यो न युक्ति-
प्रत्याख्यः, प्राक्तनानुवृत्तकृणस्य चिरतरनष्टत्वात्, अपातराल-
कृणेषु च संस्कारलेशस्याप्यनुपलब्धेः सहसैवानन्तरकृणस्य
विलक्षणस्मरणकृणोत्पादोपलब्धेरिति । परिणामपक्षे तु प्राक्त-
नानुभवकृणोऽऽहितसंस्कारानुगमवत् तत्कृणप्रवाहरूपाश्चा-
न्नावधर्मसमुद्भवस्वभावादात्मनः सकाशात् स्मरणकृणो-
त्पादो युक्तियुक्त इति । न च वाच्यमपान्तरालकृणेष्वनुभव-
संस्कारो नापलभ्यते इति कथं तत्सत्तेति निर्वाहत्वेन स्मर-
णस्यानुपपत्तिप्रसङ्गादिति । तथा-नित्यानित्य आत्मा, प्रत्यभिज्ञा-
नान्यथानुपपत्तेः । तथाहि-एकात्मनित्यत्वेऽनुभवस्यैव साक्षादनु-
वृत्तेन प्रत्यभिज्ञानसंभवः । अनित्यत्वे तु अनित्यत्वादेव पूर्वद्रष्टुः
पूर्वदृष्टवस्तुनश्च नष्टत्वाद्पूर्वयोश्चोत्पन्नत्वाच्च प्रत्यभिज्ञानसंभ-
वः । न चादृष्टवतोऽदृष्टे प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तथा अप्रतीतिरिति । अथ
वृषे-लूनपुनर्जातकेदादिष्वपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राह्यं प्रति तस्य
व्यभिचारित्वेनाप्रमाणतया सर्वत्राप्रामाण्यम् । नैवम् । प्रत्यक्-
स्यापि क्वचिद्व्यभिचारात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । तथा-दे-
हाद्भिन्नाभिः आत्मा, स्पर्शवेदनाऽन्यथाऽनुपपत्तेः । तथाहि-यद्यसौ
देहाद्भिन्ना भवेत्, तदा देहेन स्पृष्टस्य वस्तुनो न संवेदनं स्याद्, देव-
दत्तस्पृष्टवस्तुन इव यद्देवदत्तस्य न । अथाभिन्नो, देहमात्रत्वेन तस्य
परशोकाभावप्रसङ्गादवयवान्तरहानौ चैतन्यहानिप्रसङ्गाच्चेति ।
तथेति समुच्चये लोकप्रसिद्धितो जनप्रतीतेर्नित्यानित्यमात्मादि-
वस्त्विति गम्यते । यतस्तदेवं वस्त्वैवं परिणतमिति वदन् वस्तुत्वा-
विच्छिन्नमवस्थान्तरापत्तिं च प्रतिपद्यमानो जनो लभ्यते । न च
लोकप्रतीतिविरुद्धमर्थमुपकल्पयन्प्रमाणं प्रमाणतामासादयती-
ति ॥ ६ ॥

(१८) आत्मनो विज्ञात्वे पूर्व दोष उक्तोऽथासर्वगतत्वेऽस्य

गुणमाह-

देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात् संकोचादिधर्मिणि ।

धर्मादेरूर्ध्वगत्यादि, यथार्थं सर्वमेव तु ॥ ७ ॥

देह एव शरीरमेव मात्रं परिमाणं यस्य स देहमात्रः, तस्मिन् दे-
हमात्रे । देहमात्रता चास्य देह एव तद्गुणोपलब्धेः । चशब्दः पुनर-
र्थः । नित्यानित्यादिधर्मके आत्मनि हिंसादिरूपद्यते, देहमात्रे
पुनः सति भवति । अस्मिन्नात्मनि, स्याद्भवेत्, सर्वं यथार्थमिति संब-
न्धः । किं भूते तत्र ? संकोचादिः संकोचनादिः, आदिशब्दात् प्रसर-
णं, धर्मः स्वभावो यस्य स तथा, तस्मिन् ; संकोचादिधर्मकत्वं
चास्य मूढमेतदशरीरव्याप्तं । किं तत्स्यादित्याह- (धर्मादेरूर्ध्वग-
त्यादि) “ धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्वयत्यधर्मेण । ज्ञानेन चा-

पवर्गः” इत्यादिकं वचनमिति गम्यते । यथार्थं निरूपचरितं, सर्वमेव निरवशेषमेव, तुल्यं पूरण इति ॥ ७ ॥

उपसंहराह—

विचार्यमेतत्सद्वृत्त्या, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।

प्रतिपक्षव्यमेवेति, न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

विचार्य विचारणीयम्, एतद्यदनन्तरमहिंसादि विचारितं, सद्वृत्त्या शोभनप्रज्ञया, मध्यस्थेनाऽपक्षपतिनेन, अन्तरात्मना जावेन, मनसा धान केवलं विचार्य, तथा प्रतिपक्षव्यमेव न तु म स्वीकृतव्यम् । इतिशब्दो विवक्तिार्थपरिसमाप्तौ । अथ कस्मात्प्रतिपक्षव्यमेवेत्याह—न खलु नैव, अन्य उक्तनयविलक्षणः । सतां सत्पुरुषाणां, नयो न्याय इति ॥ ८ ॥ हारि० १६ अष्ट० । द्वा० विशेष० ।

अहिंसालक्षण—अहिंसालक्षण—पुं० । अहिंसा प्राणिसंरक्षणं, वक्तुं चिह्नं यस्य स अहिंसालक्षणः । सत्त्वानुकम्पानुमेयसंभवे, पा० । द्याचिह्ने, ध० ३ अधि० ।

अहिंसासमय—अहिंसासमय—पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमे, संकेते चापदेशरूपे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अहिंसिय—अहिसित—त्रि० । अमारिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ व० ।

अहिंसाखंत—अजिकाङ्क्षत्—पुं० । अभिव्रजति, “अहिंसाखंत—हिं सुभासियाह” । पं० व० ४ द्वार ।

अहिकरण—अधिकरण—न० । नरकतिथ्यंगतिषु, आत्मनो—ऽधिकरणं वा तुल्यसत्त्वे इत्यर्थः । कवदे, नि० चू० ४ उ० ।

अहिकरणी—अधिकरणी—स्त्री० । सुवर्णकारोपकरणे, स्था० ८ ग० ।

अहिकिञ्च—अधिकृत्य—अव्य० । प्रतीत्येत्यर्थे, “पशुश्च स्ति वा पश्यति वा अहिकिञ्च स्ति वा एगच्छा” । आ० चू० १ अ० ।

अहिग—अधिक—त्रि० । विशिष्टे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगुणत्थ—अधिकगुणत्थ—त्रि० । अधिकगुणवर्तिनि, पं० ७ विव० ।

अहिगत—अधिकत्व—न० । विशिष्टतरत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगम—अधिगम—पुं० । विशिष्टपरिज्ञाने, प्रव० १४६ द्वार । अवबोधे, स्था० ७ ठा० । “गणंति वा संवेदणंति वा अहिगमो स्ति वा वेयणि स्ति” । आ० चू० १ अ० ।

अजिगम—पुं० । उपचारे, “अजिगमेणं अभिगच्छति” । औ० । (‘अभिगम’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७१२ पृष्ठेऽस्य जेदा उक्ताः)

अहिगमण—अधिगमन—न० । परिच्छेदने, विशेष० ।

अहिगमरुद्—अधिगमरुचि—पुं० । स्त्री० । सम्यक्त्वजेदे, तद्वति च । प्रव० १४५ द्वार । (५६८ पृष्ठे तथा ७१२ पृष्ठे चास्मिन्नेव भागे अधि० अजि० प्रकरणे छष्टव्यम्)

अहिगमास—अधिकमास—पुं० । अभिवर्द्धितमासे, ज्यो० १ पाहु० ।

अहिगय—अधिकृत—त्रि० । प्रस्तुते, विशेष० । पञ्चा० । भावे क्तः, अधिकारे, न० । विशेष० ।

अधिगत—त्रि० । परिज्ञाते, अनु० । गीतार्थे, व्य० १ उ० । दीक्षाविधितिपत्त्याऽङ्गीकृते प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयगुणवृद्धि—अधिकृतगुणवृद्धि—स्त्री० । सम्यक्त्वाद्विगुणवर्द्धने, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीव—अधिकृतजीव—पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे, यथा दीक्षाधिकारे दीक्षणीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीवाजीव—अधिगतजीवाजीव—त्रि० । अधिगतौ सम्यग्विज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा । जीवाऽऽजीवयोः परमार्थतो विज्ञानवति, रा० ।

अहिगयद्—अधिगतार्थ—पुं० । अधिगतार्थो येन स तथा, अधिगतार्थो वाऽर्थवधारणात् । तत्त्वज्ञे, दशा० १० अ० ।

अहिगयतिथ्यविहाया—अधिकृततीर्थविधातृ—पुं० । वर्तमानप्रवचनकर्तरि भगवति महावीरे, पञ्चा० १५ विव० ।

अहिगयरगुण—अधिकतरगुण—पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगयविसिद्धभाव—अधिगतविशिष्टभाव—पुं० । प्रस्तुतप्रकृष्टज्ञाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अहिगयमुद्रभाव—अधिकृतमुद्रभाव—पुं० । प्रस्तुतशोजनपरिणामे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगरण—अधिकरण—न० । अधिक्रियतेऽधिकारीक्रियते दुर्गतावात्मा येन तदधिकरणम् । बाह्ये वस्तुनि, स्था० २ ठा० १ उ० । आच० । प्रव० । पापोत्पत्तिस्थाने, आतु० । दुरनुष्ठानं, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । स्वपक्षपरपक्षविषये विप्रहे, स्था० ७ ग० । राटौ, तत्करवचने च । कल्प० १८ क० । कलहे, ग० ३ अधि० । खड्गनिवर्तनादौ, ज्ञा० ५ अ० । औ० । सूत्र० । कपायाद्याश्रयचूते हलशकटादौ, भ० ७ श० १ व० । (अधिकरणस्य कर्त्तव्यता ज्ञामणा च ‘अधिगरण’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे ५७२ पृष्ठे ५७१ पृष्ठे च उक्ता, नवरं चातुर्मास्ये)

वासावासं पञ्जोसवियाणि नो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वडत्तए, जे एं निगंथो वा निगंथी वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से एं ‘अकप्पेणं अज्जो वयसि’ ति वत्तवे सिया, जे एं निगंथाण वा निगंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से एं निज्जूहियवे सिया ॥ ५८ ॥

(वासावासं पञ्जोसवियाणमित्यादि) चतुर्मासकं स्थितानां नो कल्पते साधूनां साध्वीनां च पर्युषणातः परम, अधिकरणं राटिः, तत्करं वचनमपि अधिकरणं, तत् वक्तुं न कल्पते । अथ यः कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा परं पर्युषणातः अधिकरणं क्लेशकारि वचनं वदति, स एवं वक्तव्यः स्यात्—यत् हे आर्य ! त्वमकल्पेन अनाचारेण वदसि, यतः पर्युषणादिनतोऽर्वाक्, तद्दिने एव वा यदधिकरणमुत्पन्नं तत्पर्युषणायां क्षामिते, यत् त्वं पर्युषणातः परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प इति भावः । यश्चैवं निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पर्युषणातः परम, अधिकरणं वदति स निर्यूहितव्यः । ताम्बूलिकपत्रदृष्टान्तेन सङ्गाद् बहिः कर्त्तव्यः । यथा—ताम्बूलिकेन विनष्टं पत्रमन्यपत्रविनाशनभयाद् बहिः क्रियते, तद्वदयमन्यन्तानुबान्धक्रीडाविष्टो विनष्ट एवेत्यतो बहिः कर्त्तव्य इति भावः । तथा—

ऽन्योऽपि द्विजहृष्टान्तः । यथा-क्षेत्रवास्तव्यो रुद्रनामा द्विजो
वर्षकाले कदागन् क्रपु हस्ते लावा क्षेत्रं गतः । इत्थं वाह्य-
नस्तस्य गत्वा बलीवर्ध उपविष्टः । तत्रैव ताव्यमानोऽपि या-
वन्तोत्तिष्ठति तदा द्रुक्तेन तेन केदारत्रयमुत्खल्यैरवाहयमानो
मृत्खण्डमस्थानमुत्सृज्य सरोधामृतः । पश्चात्स पश्चात्ताप वि-
दधानो महास्थानं गत्वा स्ववृत्तान्तं कथयन्तुपशान्तो न वेति
वैः पृष्टो, नाद्यापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजरपाङ्क्त्येयश्चक्रे ।
एवमनुपशान्तकोपतया घृष्टिकपयणं अकृतकामणः साध्या-
दिराप उपशान्तापम्यितस्यैव मूलं दातव्यम् ॥ ४८ ॥

वासवायं पञ्जोमविद्यायां० इह खलु निर्गम्याण वा नि-
र्गम्याण वा अज्जेव कयखने कपुए विगडे समुपजि-
त्वा, मेहे राशणियं खामिज्जा, राशणिए वि मेहं खामिज्जा,
खमियव्वं खमाविचव्वं उवममियव्वं उवमामियव्वं सुमइसं-
पुच्छणावहृद्रेणं होयव्वं, जो उवममइ तस्म अत्थि
आगहणा, जो न उवममइ तस्म नत्थि आगहणा; त-
स्मा अपणा चेव उवममियव्वं । से किमाहु भंत !, उव-
मममारं खु मामन्ने ॥ ५० ॥

चतुर्मासकं स्थितानामिह खलु निश्चयेन साधुसत्त्वानां च
(अज्जेवन्ति) अथैव पशुपणादिन पञ्च ' कयखने ' उ-
च्यते शब्दरूपः कटुको अकारमकारादिरूपो विग्रहः कयहः स-
मुत्पद्यते, तदा (मेहे ति) शैतो लघुः रातिकं ज्येष्ठं क्रा-
मयति । यद्यपि ज्येष्ठः सापराधस्तथापि लघुना ज्येष्ठः क्षम-
यति, व्यवहारात् । अथापरिणतधर्मत्वाद्भुज्येष्ठं न क्षमयति
तदा किं कर्तव्यमित्याह- (रायणिए वि मेहं खामिज्जाति)
ज्येष्ठोऽपि शैतं क्षमयति । ततः कृतव्यं स्वयमेवं क्षमयितव्यः
परः, उपशमितव्यं स्वयमुपशमयितव्यः परः (सुमइ ति) शो-
भना मतिः सुमती रागद्वेपरहितता, तत्पूर्वया संपृच्छता सूत्रार्थ-
विषया समाधिः प्रश्नो वा तद्बहुलेन प्रयितव्यः, येन सहाधिक-
रणमुपशमनासांतिन सह निर्मलमनसा आलापादि कार्यमि-
ति भावः । अथ द्वयोर्मध्ये यद्येकः क्षमयति नापरस्तदा का ग-
तिरित्याह- (जो उवममइ इत्यादि) य उपशमयति, अस्ति तस्या-
ऽऽराधना, यो नोपशमयति नास्ति तस्याऽऽराधना । तस्मात्
आत्मना उपशमितव्यम् । (से किमाहु ति) तत्कुत घति प्रश्ने
गुणगड- (उवसमेत्यादि) उपशमसारमुपशमप्रधानम्, खु नि-
श्चये, धामय्यं भ्रमणत्वम् । कल्प० ए क० ।

साधिकरणस्य प्रतिक्रिया-

साहिगरणं निक्खुं गित्तायमाणं नो कप्पइ तस्म गणा-
वच्छेयस्स निज्जुहितए अगिलाए करणिज्जं वेयावन्नि-
यं जाव रोगायंकातो विप्पमुक्के ततो पच्छा अहालहुस्सगे
नामं ववहारे पट्टवियव्वे मिया इति ।

अथास्य सूत्रस्य कः सन्धः ?, इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-
अभिजनयमाणो सपगो, परिगहो वा मे वारितो कलहो ।

उवमामेयव्वो उ ततो, अह कुज्जा दुविहजेयं तु ॥

भ्रमणं साधुभूमिभवनं गृहस्थो यदि, वा (से) तस्य गृह-
स्थस्य, परिग्रहः परिजनः वारितः सन् कलहं कुर्यात्, ततः स
कलह उपशमयितव्यः । एतद्वदंशार्थमधिकृतसूत्रारम्भः अस्य

व्याख्या प्राभवत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्याद्विभेदं द्विप्र-
कारं, संयमभेदं जीवितभेदं चेत्यर्थः ।

तत आह-

संजमजीवियभेदे, संरखण साहुणो य कायव्वं ।

परिवरखनिराकरणं, तस्स ससत्तीए कायव्वं ॥

संयमभेदे जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणे संरक्षणं साधोः क-
र्तव्यम् । तथा-तस्य साधोर्यः प्रतिपक्षः, तस्य निराकरणं स्व-
शक्त्या कर्तव्यम् ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेगण्या, जा द्वाद्धी जस्म तं न हावेज्जा ।

किं वा मति सत्तीए, होइ सपखे उवेखाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कामलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम् । तत्राप्यतिष्ठति
प्रीणनमुत्पादनायम् । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य या लब्धिः स तां
न हावेयत्, प्रयुज्जीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्षे फलाभावोपदर्शने
छदयति-किं वा सत्यां शक्तां जवति स्वपक्षे स्वपक्षस्य उपेक्षा ?,
नैव किञ्चिदिति ज्ञावः । केवलं स्वशक्तिवैफल्यमुपेक्षानिमित्तं, प्रा-
यश्चित्तापत्तिश्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिस्फोर्णीये-
ति । व्य० १ उ० । स्था० । " अधिकरणे प्रायः कश्चिद्विच कलहं
ज्जं ममरं वा करेज्जा गच्छुवञ्जो " महा० ७ अ० । " अहि-
करणं पवट्टइ, ताहे न करेइ " आ० ६ अ० । आश्रये, पो० ३
विव० । सन्निधाने आधारे, स च देशकालादिः । यथा चक्रम-
स्तकादौ स्वप्रस्तावे च निष्पद्यते घट इति; एवं पटादावपि भा-
व्यम् । आ० चू० १ अ० आ० म० । स चतुर्भेदः । तद्यथा-व्या-
पक औपश्लेषिकः, सामीप्यको, वैषयिकश्च । तत्र व्यापको यथा-
तिष्ठेपु नैत्रम्, औपश्लेषिको यथा-कटे आस्ते, सामीप्यको यथा-
गङ्गायां घोषः, वैषयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० नि०
चू० विशेषः । स्वपरिणामे च सामायिकमव्यवच्छिन्नं धरतीत्य-
धिकरणम् । अधिकरणपरिणामाऽनन्ये सामायिककर्तारि सा-
ध्यादौ, विशेषः ।

अहिगरणकर (८)-अधिकरणकर-त्रि० अधिकरणं कल-
हस्तत्करोति तच्छीलश्रेण्यधिकरणकरः । कलहकरे, " अहिक-
रणकडस्स भिक्खुणो " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० ।
अहिगरणज्जाण-अधिकरणध्यान-न० । अधिकरणं पापोत्प-
त्तिहेतुस्थानं, तस्य ध्यानमधिकरणध्यानम्; वापीध्यानतत्पर-
स्य तन्विमणिकारस्यैव । दुर्ध्यानं, आतु० ।

अहिगरणसाध-अधिकरणशाल-न० । लोहपरिकर्मगृहे, भ०
१६ श० १ उ० ।

अहिगरणसिद्धन्त-अधिकरणसिद्धान्त-पुं० । यत्सिद्धाव-
न्यस्यार्थस्यानुपेक्षेण सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्र० १ श्रु०
१२ अ० । " स चासौ अहिगरणो, जहियं सिद्धे सेसं अणु-
त्तमवि सिज्जे, जह निज्जेत्ते सिद्धे अन्नन्तामुत्तत्तसंसिद्धी " यस्मिन् सिद्धे शेषमनुक्रमपि सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे सिद्धे, शरीरादन्यत्वसंसिद्धिरमूर्तत्वसंसिद्धिश्च । एषोऽधिक-
रणसिद्धान्तः । सूत्र० ।

अहिगरणि-अधिकराणि-स्त्री० । अधिक्रियते कुट्टनार्थं लोहा-
दि यस्यां साऽधिकराणिः । लोहकारसुवर्णकाराद्युपकरणे,
भ० १६ श० १ उ० । स्था० ।

अहिगरणिखोडि-अधिकरणखोडि-खी० । अधिकरणनिवे-
शनकाष्ठ, यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते । भ० १६ श० १ उ० ।
अहिगरणिग्या-अधिकरणीकी-खी० । अधिकरणविषये व्या-
पारे प्रश्नाः सा च द्विविधा-निवर्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधि-
करणक्रिया च । तथाद्याखद्वादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निवर्तनवृत्तानां ।
द्वितीया तु-तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणति । दुर्गंतौ
यकाभिरधिक्रियते प्राणी तासु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । प्रति० ।
आव० । “अहिगरणिग्या णं भेंते ! क्रिया कनिविहा पणत्ता ?
गोयमा ! दुविहा पणत्ता । ते जहा-संजोयणाहिगरणिग्या य,
णिच्चत्तणाहिगरणिग्या य ” । प्रज्ञा० २२ पद ।

अहिगा (या र-अधिकार-पुं० । प्रयोजने, प्रस्तावे च । विशेष० ।
आ० भ० । दश० । नि० चू० व्यापारे आचा० १ श्रु० २ अ० १
उ० । संघा० । अधिक्रियन्ते समाश्रियन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्ताव-
विशेषेषु, प्रव० १ द्वार ।

अहिगारि-(ण) अधिकारिन्-वि० । तद्योग्ये, प्रव० २ द्वार ।
आलम्बनापरपर्याये योग्ये, संघा० । पञ्चा० । दर्श० ।

अहिच्छत्ता-अहिच्छत्रा-खी० । जङ्गलदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे,
“अहिच्छत्ता जंगलो चैव ” अहिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देशः,
आर्यक्षेत्राणि । प्रव० १४८ द्वार । सूत्र० । “चेपाए नयरी ए चर-
पुरच्छिमे दिसि भाए अहिच्छत्ता नामं नयरी होत्था ” ज्ञा०
१६ अ० । तत्कल्पश्च—

“ तिहुअणभाणं तिजए, पयडं नमिऊण पासजिणचंदं ।

अहिच्छत्ताए कणं, जहासुहं किपि जेपमि ” ॥ १ ॥

“ इहेव जेवुहीये दीवे जारेहे वासे मञ्जमखंडे कुरुजं-
गलजणवए संखावई नाम नयरी रिक्सिमिछा हत्था ।
तत्थ जयवं पाससामी उउमत्थविहारणं विहरंतो काउ-
सग्गे त्रिओ पुव्वनिवद्धवेरेण कमगसुरेण अविच्छि-
न्नधाराए वाएहिं वरिसंतो अंबुहरो त्रिविओ । तेण सयले
महीमंडले एगव्वीभूए आकंडमग्गं भगवंतं ओहिणा
आभोएऊण पंचगिसाहणजुयं कमठमुणिं आणाविअ कहु
खीनी अंतरमज्जेतसणभववयारं सुमरेण धरणिंदेण
नागराएण अग्गमहिंसीहि सह आगंतूण मणिरयणविचइ-
अं सहस्ससंखफणमंडलगत्ते सामिणो उवरिं करंऊण
हिठे कुंरुत्तीकयत्रोयणं मंगिएइय सो उवसग्गो निवारिओ ।
तओ परं तांसे नयरीए अहिच्छत्त ति नामं संजायं । तत्थ
पायारएहिं जहा जहा पुरओ त्रिओ उरगरुवं धरणिंदो कुडि-
लगईए सणपइ तहा तहा इहुनिवेशो कओ । अज्ज वि तहेव
पायारे रयणा दीसइ । सिरिपाससामिणो चेइयं संघेण कारियं,
चेइआओ पुव्वदिसि अइमहुरपसन्नोदगाणि कमउजलहरो-
ज्जियजत्रपुष्पाणि सत्त कुंमाणं चिठंति । नज्जले सुविहिअएडा-
णाओ निदिआ विरवत्थाओ हवंति । तंस्सि कुंमाणं मट्टियाए धा-
उवाइआ धाउसिद्धिं भणिंति, पाहाणलत्तिमुट्टिअ महासिद्ध-
रसकविआ य इत्थं दीसइ । तत्थ निच्छुरायणस्स अणगे
अग्गदाणाइउग्घासिणोवक्कमा निष्कट्ठीइआ । तंस्सि पुरीए
अंतो वहिं पत्तेयं क्वाणं वीहियाणं च सवायं लक्खं अत्थइ
महुरोदगाणं । जत्तागयज्जाणं पाससामिचेइए एइवणं कुणं-
ताणं अज्जवि कमठो खरपवरदुदिणवुट्टिगज्जियविज्जुमाइ
दरिसेइ । मूलदेवइआओ ताइदुरे सिद्धिस्सित्तिमि पाससा-
मिणो धरणेइउमावईसेविअस्स चेइअपायारसमीवे सि-

रिनेमिमुत्तिस्सहिआ सिच्चुद्धकलिआ अववुंविहत्था मिह-
वाहणा अवा देवी चिट्ठइ । ससिकरनिम्मलसलिलपडि-
पुष्पा उत्तराभिहाणा वावी । तत्थ मज्जेणे कए तांहे मट्टि-
आवेवे अ कुट्टीणं कुट्टोरोगोवसमो हवइ । धरंतीगक्यस्स
य पिजरवण्णाए मट्टियाए गुरुवण्णा कंचणं उण्णइ । यं-
भकुंरुतक्यरुद्धाए मंडुकवंतीए दल्लुण्णं पमचुल्लेण खी-
रेण सम्मं पीएण पन्नामहासंपन्नो निरोगो किंनरस्सरो अ हो-
इ । तत्थ य पाएण उववण्णसु मव्वमहाराहणं वेदया उव-
लव्वंति, ताणि ताणि अ कज्जाणि माहंति । तहा जयंती-नाग-
दमणी-सहदेवी-अपराजिआ-लक्खणा-निवक्की-नउत्ती-स-
उलो-सपक्खी-सुधम्ममिला-मोहली-सोमली-गविमत्ता-न-
द्विस्सी-मोरसिहा-सल्ला-विमट्ठापज्जिअओ महोसहीओ एत्थ
वट्टंति । होइआण अ अण्णेगाणि हांहराहरण्णमव्वचं-
डिआजवणवमकुंरुईणि तिन्थाणि । तहा एसा नयरी म-
हातवसिस्स सुगिदीयनामथेयस्स कणहरिसिणो जम्मभू-
मि ति, तण्णपक्यपरागकणानिकएण पवित्तो कयाए यवच्चय-
स्स पाससामिस्स संभरणेण आहिवाहिमणपविमहरिकार-
ण चोरजत्रजत्रणरायडुट्टुगहमारिअपअसादीणापसुहखुहा-
वदया न हवंति भविआणं ति ” ।

“ इअ एस अहिच्छत्ता-कणो उववण्णिओ समासेणं ।

सिरिजिणपहसुरीहिं, पउमावईधरणकमठपिओ ” ॥ २ ॥

इति अहिच्छत्राकल्पः समाप्तः । ती० ७ कल्प० । आचा० ।

अहिजाय-अजिजान-त्रि० । कुलीने, “अहिजायं महक्खमं” अ-
भिजातं कुलीनं महती कृमा यव तथा पूज्यं कृतं समर्प्यत्वं यत्त-
त्तथा । ततः कर्मधारयः । अथ वा-अभिजातानां मध्ये महत् पूज्यं
कृतं समर्थं च यत्तत्तथा । भ० ए श० २३ उ० ।

अहिजग-अधीयान-त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोपा-ऽऽगम-वर्ण-
विकार-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिजमाण-अधीयमान-त्रि० । पठति, व्य० ४ उ० । सूत्र० ।

अहिजिजं-अध्येतुम्-अव्य० । पठितुमित्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अहिजिजा-अधीत्य-अव्य० । अध्ययनं कृत्वेत्यर्थे, उक्त० १ अ० ।

पठित्वेत्यर्थे, उक्त० १ अ० ।

अहिजिजयता-अधिधितता-खी० । भिध्या लोभः, सा संजा-
ता यत्र स जिध्यतः । न जिध्यतोऽजिध्यतः । तद्भावस्तत्ता ।
अलाभे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहिट्टाण-अधिष्ठान-न० । सन्निपादावेष्टिते पदोपवेशने, ति०

चू० ५ उ० । भावे लुट्-आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

‘अहिट्टाणं काऊण त्रितो’ आ० भ० द्वि० । पठित्वे, स्वामित्वे च ।

आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

अहिट्टिजमाण-अधिष्ठायमान-त्रि० । समाक्रम्यमाणे, स्था० ४
ग० १ उ० ।

अहिट्टितए-अधिष्ठातुम्-अव्य० । निपदवादिना परिभोक्तुमि-
त्यर्थे, वृ० ३ उ० ।

अहिद्विय-अधिष्ठित-त्रि० । अध्यासिते, ज्ञा० १४ अ० । “ सं-
वो जुद्धमहिद्वितो ” । आ० भ० प्र० । आविष्टे, स्था० ५ ग० २ उ० ।
वश्यतां गते, “ राजाहिद्विया ” राजाधिष्ठिताः राजाधीनाः ।
ज्ञा० १४ अ० ।

आहिण उल्लभयमयाहिवयमुह—अहिणकुलमृगमृगाधिपप्रमुह—
त्रि० । वृजमवसुहारेणासिहप्रभृतिके, प्रमुखप्रह्लादश्चमहि-
ष्यादिपरिप्रहः । पञ्चा० २ विव० ।

आहिणदण—अभिजिनन्दन—पुं० । सस्यामवसर्पिण्यां जाते भर-
तकुत्राय चतुर्थे तीर्थकरे, ध० २ अभि० ।

“अवन्तिषु प्रसिद्धस्य, सिद्धस्येदतरायते ।

अभिजिनन्दनदेवस्य, कल्पं जल्पामि हेशतः” ॥ १ ॥

इह कुत्र इवकुवशमुक्तामणेः श्रीसंयराजसूतोः सिद्धा-
याकुकिवरसीराजसूतोः सिद्धार्थाकुकिवरसीराजहंसस्य क-
पिलाग्रनस्य चामीकरुचेः स्वजन्मपवित्रितश्रीकाशज्ञापुरस्य
साद्धधनुःशतत्रितयोक्त्यायकायस्य चतुर्थंतीर्थेश्वरस्य श्रीमद-
भिजिनन्दनदेवस्य चैत्यं मालवदेशान्तर्वासिमङ्गलपुरप्रत्यासन्नायां
महादवागतायां मेदपल्लवामासीत् । तस्यां त्रिविधचित्रापकर्म-
वतायामजातनिवेदा मेदाः प्रतिवसन्ति स्म । अन्यदा तुच्छमेच्छ-
सैत्येन तत्रोपेत्य भग्नं तज्जिनायतनम्, नवखण्डीकृतं च । प्रमदोच्चुर-
तया दुरधिष्ठायकानीकासिकासदुर्गेलितानामकलनीयतया प्रति-
हतप्रणतजनविम्बमाप तच्चैत्यालङ्कारजुतां भगवतोऽभिजिनन्दनदेव-
स्य विम्बं कंचिन्मत्तखण्डानीत्याहुः । तानि च शकलानि संजात-
मनःखेदेमेदेः संमील्य एकत्र प्रदेशे धारितानि । एवं बंदीयसि
गतवन्त्येनहसि हरहसितगुणग्रामाभिरामाद् धारादुपेत्य नित्यं
वणिगकः स्वकलाच्छेकां वदजाभिभ्यस्तत्र कयाक्रियिकरूपं
वाणिज्यमकार्यात् । स च परमार्हतः । ततः प्रत्यहं गृहमागत्य दे-
वमपूजत् । मन्यकृतायां देवपूजायां न जातु बुभुजे । ततः
पल्लं पल्लामुपेयिवानेकदाऽनेकदारुणकर्मभिसनैराभेदधे स श्रावः ।
किमर्थं त्वमेहिरेयाहिरांकुह्ये अस्यामेव पल्लयाम्?, वणिगुचि-
तभोज्यपूरणकल्पवद्यां वदभ्यां किं न जुह्वे ? । ततश्च जणितं
वाणिजा भो राजन्याः! यावदहमर्हतं देवाधिदेवं त्रिजुवनकृतसेवने
न पश्यामि न पूजयामि चेत्तावन्न वदभ्यां प्रगल्भे । किरातेजगदे-
यद्येवं देवं प्रति तव निश्चयस्तदा तुज्यं दर्शयामस्वदजिमतं दै-
वतम् । वणिजा प्रोचे-तथाऽस्तु । ततस्तैस्तानि नवापि वा सप्तापि वा
खण्डानि यथावयवन्त्यसं संयोज्य दर्शितं भगवतोऽभिजिनन्दनस्य
विम्बं, तदुत्सुचितरम्यमाणपाषाणघटितं विलोक्य प्रमुदितमुदि-
तयासनातिशयेन तेन वणिग्वरेण ऋजुमनसा नमस्कृतस्तिर-
मृतदुरन्तदुरितो जगवान्, पूजितश्च पुष्पादिभिश्चैश्वर्यवन्दना च
विरचिता । ततः स तत्रैव भोजनमकरोत् । गुरुतराभिग्रह इत्यंकारं
प्रतिदिनं जितपूजार्नष्टामनुतिष्ठति सति तस्मिन् वणिजि अपरे-
पुरुषद्विवेकातिरेकबहुर्नैर्नाहैस्तस्मात्किमपि द्रव्यं धनायन्नि-
स्तद्विषयशकलानि युतकीकृत्य कचिदपि संगोपितानि, वृत्ते या-
द्यप्यज्ञावसरे तां प्रतिमामनास्त्रेकय नामौ बुभुजे, ततस्तेन विषम-
मनसा विहितं भयानकमुपयासत्रयम् । अथ स मेदैरपूच्छि-किमर्थं
नाऽश्नासि? । स यथातथ्यमेवाकथयत् । इतः किरातमतिरेवादि-य-
यस्य गुरुं ददासि तदा तुज्यं दर्शयामस्तं देवम् । वणिजा बभा-
णे-विनरिष्याम्यवश्यमिति । ततस्तैस्तैः सकलमपि शकलानां नवकं
सप्तकं वा प्रायत् संयोज्य प्रकटीकृतम् । दृष्टं च तेन संयोज्यमानं
तद् विम्बं सुतरां निषादसंस्पर्शविषादकलुषितहृदयः समजनि ।
स श्रावधुरीणस्तदनु सात्त्विकतयाऽभिग्रहमग्रहीत्-यावदिदं
विष्यमखण्डं न विलोक्ये न तावदोदनमश्नामि । तस्यैतन्मुदि-
समुपवसतस्तद्विष्याधिष्ठायकैः स्वप्ने निजगदे-यदस्य विम्ब-
स्य नवखण्डसन्ध्यश्चन्दनलेपेन पूरणीयाः, तत इदमखण्डतामे-

ष्यतीति प्रबुद्धेन प्रातर्जातप्रमोदेन तथैव चक्रे । समपादि
भगवानखण्डवपुः, सन्ध्यश्च मिलितश्चन्दनलेपमात्रेण क्षणमा-
त्रेण । भगवन्तं विशुद्धभक्ष्या संपूज्य भुक्तवान् । पण्याजीवः
पीवरां मुदमुदवदन् ददौ च गुरादि मेदंज्यः । तदनन्तरं तेन
वणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहृष्टेन शून्यखण्डके पिप्पलतरा-
स्तत्वे वेदिकाबन्धं विधाय सा प्रतिमा मणिरता । ततः प्रभृति
भवकसंघाभातुर्वर्ण्यलोकाश्चतुर्दिगन्तादागत्य यात्रोत्सवं सूत्र-
यितुं प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्तिभानुकांतिश्चम्बाराजकुलास्तत्र
मठपत्याचार्याश्चैत्यचिन्तां कुर्वन्ते स्म । अथ प्राग्वाटवंशावतंसे-
न थाइडात्मजेन साधुहाद्याकेन निरपत्येन पुत्रार्थिना विरचितमु-
पयचितकम्-यदि मम तनुजो जनिता तदाऽत्र चैत्यं कारयि-
ष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकत्रिदशसन्निध्यतः पुत्रस्तस्योदप-
द्यत कामदेवाख्यः । ततश्चैत्यमुच्चैस्तारशिखरमर्चाकरत्साधुहा-
लाकः । क्रमात्साधुजावडस्य दुहितरं परिणयितः कामदेवः ।
पित्राऽपि माहाप्रामादाह्वय मलयसिंहादयो देवार्चकाः स्था-
पिताः । महणियाभिख्या मेदः स्वाङ्गुलीं जगदुद्देशेन कृतवान्-
किलाहमस्य भगवतोऽङ्गुलीर्वर्जितः सेवक इति । भगवद्विलेप-
नचन्दनगलनाच्च तस्याङ्गुलिः पुनर्नवीबभूव । तमतिशयमतिशा-
यिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भा-
रभास्वरान्तःकरणः स्वामिनं स्वयमपूजयत् । देवपूजार्थं चतुर्दि-
शतिहलकृष्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः । द्वादशहज्रबाह्यां चावर्ती
देवार्चकेभ्यः प्रददाववनिपतिः । अद्यापि द्विगमरुल्लव्यापिप्रजाब-
धेनवो भगवानभिजिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूजयमानोऽस्ति ।

“अभिजिनन्दनदेवस्य, कल्पं पश्य यथाश्रुतम् ।

अल्पीयान् रचयांचक्रे श्रीजिनप्रजसूरभिः” ॥ १ ॥

इति सकलहृन्वलयनिवासिलोकाभिजिनन्दनस्य श्रीअभिजिनन्दन-
देवस्य कल्पः । ती० ३३ कल्पः ।

अहिणव-अभिजिन-त्रि० । नूतनविशिष्टवर्णादिगुणोपेते, रा० ।

अहिणवसह-अभिजिनवश्राव-पुं० । व्युत्पन्नश्रावके, पि० ।

अहिणवोह-अभिजिनवोध-पुं० । अर्थान्निमुखो नियतः प्र-
तिस्वरूपको बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञाने, अभिजिबु-
ध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अभिनिबोधः । मत्यावरणकृयापशमे,
प्रज्ञा० २६ पद ।

अहिणु-अभिजि-त्रि० । संयोगोदरस्य लुक अस्य णत्वद्वित्वे,
“ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ” । ॥ १ । ५६ । इति णकारादुत्तरस्यात् वः ।
अहिणु । प्रा० १ पाद । ‘ज्ञो अः’ । ॥ २ । ७३ । इति अस्य
लुक, अहिजो । प्रा० २ पाद । प्राक्ते, वाच० ।

अहितत्त-अभिजित-त्रि० । अत्यन्तपीडिते, उत्त० २ अ० ।

अहिता-अधीत्य-अव्य० । पठित्वेत्यर्थे, “अङ्गमेयं बह्वे अ-
हिता, तांगंसि जाणांति अणागताहं” । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अहिदट्ट-अहिदट्ट-न० । संपदशने, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिदट्टाह-अहिदट्टादि-त्रि० । संपदशनप्रभृतौ, “अहिदट्टाहसु
छेयाह वज्रयंतीह तद सेसं” । पञ्चा० १८ विव० ।

अहिधारणा-अभिधारणा-स्त्री० । प्रस्विन्नो यद्बहिरवतिष्ठते
वातागमनमार्गे तस्मिन्, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अहिपञ्चुअ-ग्रह-धा० । “ग्रहो वल-गेह-हर-पङ्क-निह्वारा-

हिपञ्चुआः” । ७ । ४ । २०६ । इति ग्रहेरहिपञ्चुअ आदेशः ।
अहिपञ्चुअ-गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

अहिमञ्जु-अजिमन्तु-पुं० । “न्यययङ्जां अजः” । ७ । ४ ।
२६३ । इति द्विरुक्तो अजः । प्रा० ४ पाद । “अजिमन्तौ जञ्जौ वा”
८ । २ । २५ । इति षष्ठ्यभागास्य जो अजश्च । पक्षे—‘अहिमन्तु’ ।
प्रा० २ पाद ।

अहिमर-अहिमृत-पुं० । मृताहिदेहे, जी० ३ प्रति० । सर्पकले-
वरे, विपा० १ भु० १ अ० ।

अहिमर-अजिमर-पुं० । अजिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽभि-
मराः । प्रश्न० ३ संब० द्वार । दर्दरचौरेषु अम्बहरेषु, नि० चू०
१ उ० ।

अहिमाय-अज्ञादि-पुं० । उरःपरिसर्पादौ, उक्त० ३६ अ० ।

अहिमास-अधिमास-पुं० । अजिवर्द्धितमासे, आच० १ अ० ।

अहिय-अधिक-त्रि० । आधिक्यविशिष्टे, “आरुढो सोहृह
अहियं सिरे चूडामणि जहा” उक्त० २२ अ० । जं० । औ० । अक्ष-
रपदादिभिरतिमात्रमधिके, अनु० । हेतुर्दृष्टान्तस्य चाधिक्ये स-
ति, अधिकं यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वा-
भ्याम्, घटपटवदित्यादि । एकस्मिन् साध्ये एकएव हेतुर्दृष्टान्तश्च
वक्तव्यः । अत्र च प्रत्येकं द्वयाजिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० ।
विशे० । वृ० । अधिकं यत्पञ्चानामवयवानामन्तरेण समधिकम् ।
वृ० १ उ० । आ० म० द्वि० । “अहियसस्तिरोयं” अधिकरूपे-
ण सश्रीकः शोभनो यः स तथा तम् । कष्टप० ३ क० । अधिकम-
पि द्विधा-ऊच्ये भावे च । तत्र द्वयाधिके तथैव द्वेऽधिरतिके
दृष्टान्त औपधैः पीहकेन च (एवं तावदक्षरपदादिभिरधिके
सूत्रे दोषा मासवधुप्रायश्चित्तादयः “हीनफलर” शब्दे व-
क्ष्यन्ते) सम्प्रति भावाधिक एवोदाहरणमाह-

“पारुल्लेऽसोग कुणाले, उज्जेली लेहलिहण सयमेव ।

अहिय सवत्तीमत्ता-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥

मुरियाण अप्पडिहया, आणा सयमंजणं निवे णाणं ।

गामग सुयस्स जम्मं, गंधःवाउट्टणा केह ॥

चंदगुत्तपपुत्तो य, बिदुसारस्स नत्तुओ ।

असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कायणि” ॥ वृ० १ उ० । विशे० ।

अहित-त्रि० । अपथ्ये, भ० ७ श० ६ उ० । स्था० । अपाये,
स्था० ५ उ० १ उ० । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । परिष्णामासुन्द-
रत्वे, दशा० ६ अ० ।

अहियदिण-अधिकदिन-न० । दिनवृत्तौ, स्था० ६ उ० ।

अहियपोरिसीय-अधिरूपौरुषीक-त्रि० । पुरुषप्रमाणाधिके,
“कुंभीमहंतहिपपोरिसीया, समुसिता सोहियपूयपुष्पा” ।
सुत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अहियप्पमाण-अहितप्रज्ञान-त्रि० । अहितं प्रज्ञानं बोधो
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । अहितबोधे, सुत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अहियरूपसस्तिरीय-अधिरूपसश्रीक-त्रि० । अतिशोजिते,
कल्प० ३ उ० ।

अहियहिय-अहितहित-त्रि० । अतिबहुकादिषु तथापिचे
भोजने, पि० ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह-

दहितेह समाजोगा, अहिओ खीरदहिकंजियाणं च ।

पत्थं पुण रोगहरं, न य हेक होइ रोगस्स ॥ ६१० ॥

दधितैल्लयोः तथा-कीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सो-
ऽहितो, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-“शाकमूलफलपि-
ण्याककपित्थलवल्लैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्रायः स्त्रीरं
विरुध्यते” ॥ १ ॥ इत्यादि । अघिरुद्धरूप्यमेतन्नं पुनः पथ्यं, तच्च
रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भाविता रोगस्य हेतुः
करणम् । उक्तञ्च-“अदिताशनसंपर्का-त्सर्वरोगोद्भवो यतः ।
तस्मात्तदहितं त्याज्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेधणम्” ॥ १ ॥ पि० ।

अहियास-अध्यास-पुं० । परीषहादीनां सम्यक्तितिक्षायाम्,
आचा० १ भु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वर्तने पाप्मने, सूत्र० १
भु० ७ अ० ।

“कान्तं न क्रमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहतापशीतपवनाः क्लेशाश्च तप्तं तपः ।
ध्यातं धित्तमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वेन तत्त्वं परं,
यद्यत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो ! तैस्तैः फलैर्वञ्जितः” ॥ १ ॥
सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० । आचा० । उक्त० । स्था० । अवि-
चलकायतया (ज्ञा० १ अ०) सौष्ठवातिरेकेण सहने, स्था०
४ उ० ३ उ० ।

अहियासणया-अहिताऽऽसनता-स्त्री० । अहितमनुकूलं दो-
षपाषाणाद्यासनं यस्य स तथा, तद्भावस्तथा । अननुकूलासने,
स्था० ६ उ० ।

अध्यशनता-स्त्री० । अध्यशनमेवाध्यशनता । दीर्घत्वं तु प्राक्-
तत्वात् । अजीर्णे भोजने, “अजीर्णे भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमु-
च्यते” इतिवचनात् । स्था० ६ उ० ।

अहियासित्त-अध्यासयितुम्-अन्य० । अधिसोदुमित्यर्थे,
आचा० १ भु० ७ अ० ४ उ० ।

अहियासित्ता-अधिसह-अन्य० । सोद्वेत्यर्थे, सूत्र० १ भु० ३
अ० ४ उ० ।

अहियासिय-अध्यासित-त्रि० । भावे कः । कृतेऽधिसहने, “द-
वियाण पासअहियासियं” । आचा० १ भु० ६ अ० ३ उ० ।

अहियासेतु-अध्यासह-अन्य० । अधिकमासह । अत्यर्थे सोद्वे-
त्यर्थे, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० ।

अहियासेमाण-अध्यासयत्-त्रि० । सम्यक्तितिक्षमाणे, माचा०
१ भु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरसमोवसिय-अहिरण्यसौवर्णिक-पुं० । हिरण्यं रजतं, सुवर्णं
च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा न । प्रश्न० ३
संब० द्वार । हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशादि,
न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरण्यसौवर्णिकः । उ-
ल्लक्षणत्वात् सर्वपरिग्रहहिते, पा० । रजतसुवर्णमयकलशा-
दिरहिते, ध० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराज-पुं० । मैत्रिपृथिवीपतौ, वृ० ३ उ० ।

अहिरिया-अहीकता-स्त्री० । निर्वृत्ततायाम्, उत्त० ३४ अ० । पि० ।

अहिरीमण-अहीमनम्-त्रि० । सञ्जाकारिणि शीतोष्णदौ एरीषे, आचा० १ भू० ६ अ० २ उ० ।

अहिरेम-प्रि-धा० । पूरणे । " पूरेमघामोघवोदुमागुमाहिरेमा । " । ८ । ४ । १६६ । अहिरेमइ पूरइ, पूरयते । प्रा० ४ पाद ।

अहिलं (ख)-काहल-धा० । अभिलाषे, " काह्लेगहाहिल-काहिलहवच० । ८ । ४ । १६२ । इत्यादिसूत्रेण काह्लेगहाहिल-घाहिलबादेशः । अहिलंखइ, अहिलंघइ । प्रा० ४ पाद ।

अहिज्ञाण-अहिज्ञान-न० । मुख्यव्यनविशेषे, झा० १७ अ० । मुख्यमने, जं० २ व० । औ० । कविके, झा० ४ अ० ।

अहिज्ञाविथी-अभिज्ञापस्त्री-स्त्री० । अभिलष्यत इत्यजिलापः, स एव स्त्री । स्त्रीविज्ञाभिधाने शब्दे, यथा-शालामाज्ञासिद्धिरिति । सूत्र० १ भू० ४ अ० १० उ० ।

अहिज्ञापण-अभिज्ञोकन-न० । अभिलोकयते अबलोकयते यत्र तदभिलोकनम् । उभ्रतस्थाने, प्रश्न ४ संव० द्वार ।

अहिवइ-अधिपति-पुं० । नायके, स्था० ५ ग० १ उ० । रत्नके, जं० १ व० । नरन्द्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अहिवइजंनग-अधिपतिजम्भक-पुं० । राजादिनायकविषये जम्भके, अ० १४ श० ८ उ० ।

अहिवइत-अधिपत-त्रि० । आगच्छति, आघ० ।

अहिवानण-अधिवानन-न० । शुचिविशेषापादनेन बिम्बप्रतिष्ठायोग्यताकरणे, पञ्चा० ८ विच० ।

अहिमकण-अभिप्पक-न० । विवक्षितकालस्य संवर्द्धने परतः करणे, वृ० १ उ० । घ० ।

अहिमरिय-अभिमत-त्रि० । प्रविष्टे, आ० म० द्वि० ।

अहिमहण-अभिमत-न० । नितिकृते, स्था० ६ ग० ।

अहीकण-अधीकण-न० । अधीकृतमान पुरुषः, स तं करोतीत्यधीकरणम् । कलहं, नि० चू० १० उ० ।

अहीण-अहीन-त्रि० । स्वायत्ते, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

अहीन-त्रि० । अन्यत्वे, "अहीणपरिपुष्टपंचिन्द्रियसरीरा" अहीनान्यन्यूनानि स्वरूपतः प्रतिपुणानि लक्षणतः पञ्चापीन्द्रियाणि यस्मिन् तत् तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा । औ० । झा० । विपा० । भ० । अहीनमहोपाङ्गप्रमाणतः परिपूर्णपञ्चेन्द्रियं, प्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियं वा शरीरं यस्य सोऽहीनपरिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरोऽहीनप्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियशरीरो वा । स्था० १ दा० । कल्प० ।

अहीणवस्वर-अहीनाक्षर-न० । एकेनाप्यक्षरेणाहीने, ग० २ आश्र० । सूत्र० । गुणे, अनु० । ग० । विशेष० । संघा० । (' हीण-कम्प' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अहीणदेह-अही नदेह-त्रि० । परिपूर्णदेहावयवे, व्य० ३ उ० ।

अहीय-अधीत-त्रि० । आगामने, "उचयारोत्ति वा अहीतं नि वा आगमियं ति वा पगहं " नि० चू० १ उ० । स्था० ।

अहीयमुत्त-अधीतमूत्र-त्रि० । गृहीतसूत्रे, " सम्मं अहीयसु-त्तां ततो विमलयरक्षोहजोगाओ " पं० व० १ द्वार ।

अहीरग-अहीरक-न० । विद्यमानस्यैव न विद्यते हीरिकास्त-न्तुलकणा मध्ये यस्य तदहीरकम् । तन्तुहीने, प्रश्न० ४ द्वार ।

अहुणाधोय-अधुनाधौत-त्रि० । अचिरधौते, अपरिणते च । दश० ५ अ० ।

अहुणुवासिय-अधुनोद्वासित-त्रि० । अचिरोद्वासिते, आघ० । साम्प्रतोद्वासिते, व्य० ४ उ० ।

अहुणोवलित-अधुनोपलित-त्रि० । साम्प्रतोपलिते, दश० ५ अ० ।

अहुणोववन्नग-अधुनोपपन्नक-त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्था० ।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोक-

तिदिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुमं लोमं हव्वमागच्छित्तए, एणं चेव एं संचाएइ हव्व-मागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामजोगेसु मुच्छिए गिच्छे गडिए अज्जोववन्ने से एं मा-णुस्सए कामजागे णो आढाइ, णो परियाणाइ, एणो अडं वंइ, एणो णियाणं पगरेइ, एणो ठिड्पकणे पकरेइ, अहुणो-ववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामजोगेसु मुच्छिए गिच्छे गडिए अज्जोववन्ने, तस्स एं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने वि-च्छिन्ने दिव्वे संकंते जवइ २ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए जाव अज्जोववन्ने, तस्स ए-मेवं भवइ इपएहिं गच्छं मुहुत्तं गच्छं, तेणं कात्तेणमप्पा-उया माणुस्सा कालभम्मुणा संजुत्ता जवइ । इवएहिं तिदिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुस्सं लोमं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव एं संचाएइ हव्वमागच्छि-त्तए, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामजोगेसु अमुच्छिए अगिच्छे अगडिए अणज्जोववन्ने तस्म ए-मेवं जवइ, अत्थि एं मम माणुस्सए भवे आयरिए वा उवज्जाएइ वा पवत्तेइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसिं पत्तावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवह्मी दिव्वा देवजुइ दिव्वे देवाणुभावे द्वाक्के पत्ते अ-ज्जिममणागए तं गच्छामि एं तं जगवं वंढामि एमंसापिं मक्कारमि मम्माणेमि कट्ठाणं मंगलं देवयं चेउयं पज्जुवा-सेमि ॥ १ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु काम-भोगेसु अमुच्छिए जाव अणज्जोववन्ने तस्म एं एवं भव-इ, एस एं माणुस्सए जवे पाणीइ वा तवस्सीइ वा अइ-दुक्करदुक्ककारगे तं गच्छामि एं जगवं वंढामि एमंसापिं जाव पज्जुवामामि ॥ २ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु जाव अणज्जोववन्ने तस्म एमेवं जवइ, अत्थि एं मम मा-णुस्सए जवे मायाइ वा जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि एं तेमिमंनियं पाउत्तवामि, पामंतु ता मे इमं एयारूवं दिव्वं

देवर्हि दिव् देवजुइ दिव् देवाणुभावं लब्धं पत्तं अजिस-
मष्ठागं ; इवेण्हिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देव-
लोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचारिच-
ए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अधुनोपपन्नो देवः, केत्याह-(देवलोगेसु त्ति) इह च बहु-
वचनमेकस्यैकदा एतेकेपूयादासम्भवादेकार्थे दृश्यम्, वच-
नव्यत्ययाद्वलोकानकत्वापदर्शनार्थं वा; देवलोकेषु मध्ये क-
चिद्वलोक इति, इच्छेदमित्यर्थं पूर्वसङ्गनिकदर्शनार्थं मा-
नुषाणामयं मानुषस्तम् । (हव्वं ति) शीघ्रम् (संचारिचि)
शक्नोति । दिवि देवलोकं भवा दिव्यान्तेषु कामौ च शब्दरूप-
स्वरूपौ भोगाश्च गन्धरसरस्पर्शाः कामभोगाः तेषु । अथवा-का-
म्यन्त इति कामा मनोहाराः, ते च इति जुज्यन्त इति भोगाः
शब्दादयः, ते च कामभोगास्तेषु, मूर्च्छित इव मूर्च्छिता मूढः, त-
त्स्वरूपस्यानित्यत्वादिविवोधात्तमत्वात् मूढः, तदाकाङ्क्षावानतृ-
प्त इत्यर्थः । ग्रथित इव ग्रथितस्तादृश्ये स्नेहरज्जुभिः संदर्जित
इत्यर्थः । अद्युपपन्न आधिषयेनासक्तोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः नो
आक्षिप्यते-न तेष्वद्वान् भवति, नो परिजानाति-एतेऽपि च व-
स्तुनूता इत्येवं न मन्यते । तथा तेष्विति गम्यते । नो शयं वध्नाति-
एतेर्हि प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति । तथा-तेषु नो निदानं
प्रकरोति-एते मे भूयासुरित्येवमिति । तथा-तेष्वेव नो स्थितिप्र-
कल्पमवस्थानं विकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठेयमिति, एते वा मम तिष्ठ-
न्तु स्थिरीभवन्वित्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टप्रक-
ल्प आचार आसेवेत्यर्थः । तं प्रकरोति कर्तुमारभते, प्रशब्दस्या-
दिकर्मार्थत्वादिति । एवं दिव्यविषयप्रशक्तिरित्येकं कारणम् । तथा
यतोऽसावधुनोपपन्नो देवो दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितादिवि-
शेषणो भवति, अतस्तस्य मानुष्यकं मनुष्यविषयं, प्रेम स्नेहो,
येन मनुष्यलोके आगम्यते तद्व्यवच्छिन्नम्, दिवि भवं दिव्यं स्वर्ग-
गतवस्तुविषयं संक्रान्तं तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति दिव्यप्रेमसंक्रा-
न्तिरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मू-
च्छित्वादिविशेषणा भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् (तस्स णं ति)
तस्य देवस्य (एवं ति) एवंप्रकारं चित्तं जवति, यथा (इय-
द्धिं ति) इदानीं गच्छामि (मुहत्तं वि) मुहूर्तं गच्छामि, कृत्य-
समाप्त्यवित्यर्थः । (वेणं कालेणं ति) येन तत्कृत्यं समाप्यते स च
कृतकृत्यत्वादागमनशक्तो भवति, तेन कालेन, गतेनेति शेषः ।
तस्मिन्वा काले गते, 'णं' शब्दो वाक्याद्वहारे । अट्पा-
युपः सन्नावादेव मनुष्यमात्रादयो यद्दर्शनार्थमाजिगमिषति
तेन कालधर्मेण प्ररणेन संयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनार्थमा-
गच्छति असमाप्तकर्त्तव्यता नाम तृतीयमिति (इच्छेत्वादि) नि-
गमनम् ॥३॥ देवः कामेषु काश्चिदमूर्च्छितादिविशेषणा भवति ।
तस्य च मन इति गम्यते । एवंभूतं भवति आचार्यप्रतिबोधक-
प्रवाजकादिरनुयोगाचार्यो वा । इति एवंप्रकारार्थो, वाश-
ब्दो विकल्पार्थः । प्रयोगस्त्वेवम्-मनुष्यजनेऽयं ममाचार्योऽस्ती-
ति वा; उपाध्यायः सूत्रदाता, सोऽस्तीति वा । एवं सर्वत्र, नवरं
प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैद्यावृत्यादिष्विति प्रवर्त्तौ ।
उक्तं च-"तवसंयमयोगेसु, जो जोगो तथ तं पयट्टेइ । असुहं
च नियत्तेइ, गणतत्तिट्ठो एवत्तीओ " ॥ १ ॥ प्रवर्त्तिव्यापा-
रितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।
उक्तञ्च-" थिरकरणा पुण् थरो, पवत्ति वावारिणसु अस्थसु ।
जो जत्थ मीयइ जइ, संतवलो तं थिरं कुणइ " ॥ १ ॥ ग-

णोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो जिनशिष्यविशेषः ।
आर्थिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः । उक्तञ्च-" पियध-
म्मे ददधम्मे, संविमो उज्जओ य तेयसी । संगहुवम्माहकुसलो,
सुत्तथ्विउ गणाहिचई " ॥ १ ॥ गणस्यावच्छेदो विनागोऽशो-
ऽस्यास्तीति । यो हि गणान् संगृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवो-
पधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदिकः । आह च-
" ओहावणापहावण-खत्तोवहिममाणसु अविसाई । सुत्त-
त्थतुभयविउ, गणवत्तो एरिसो होइ " ॥ १ ॥ (इमं त्ति)
इयं प्रत्यक्षासन्ना, एतेदेव रूपं यस्या न कालान्तरे रूपान्तर-
भाक् सा एतद्रूपा, दिव्या स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवा-
नां सुराणामृष्टिः श्रीविमानरत्नादिसंपदेवधिः, एवं सर्वत्र, नवरं
श्रुतिर्दीप्तिः शरीराभरणादिसम्भवा, युतिर्वा युक्तिरुपार्थिवा-
रादिसंयोगलक्षणोऽनुभावोऽचिन्त्या वैक्रियकरणादिका शक्ति-
लब्ध उपाजितो जन्मान्तरे प्राप्त इदानीमुपपन्नः, अजिसमन्धा-
गतो भाग्यतां गतः । तदिति तस्मात्तान् भगवतः पूज्यमा-
नान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोम्यत्यादरकर-
णेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं
दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासं सेवे इत्येकम् । (एस णं ति)
एषोऽवध्यादिप्रत्यक्कीकृतः मानुष्यकं भवे, वर्त्तमान इतिशेषः ।
मनुष्य इत्यर्थः । ज्ञानीति वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमि-
ति दुष्कराणां सिंहगुहाकायोत्सर्गकरणादीनां मध्ये दुष्करम-
नुरक्तपूर्वोपश्रुतप्रार्थनापरतरुणीमन्दिरवासाप्रकम्पब्रह्मचर्यानु-
पादानादिकं करोतीति अतिदुष्करकारकः, स्थूलभद्रवत्,
तस्मात् । (गच्छामि त्ति) पूर्वमेकवचननिर्देशोऽपीह पूज्य-
विवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् जगवतो
वन्दे इति द्वितीयम् । तथा-" मायाइ वा पियाइ वा भज्जाइ वा
जइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा " इति । यावच्छब्दाङ्केपः
स्तुपा पुत्रनाया । तदिति तस्मात्तेषामन्तिके समीपे प्रादुर्भवामि
प्रकटीभवामि । (ता मे त्ति) तावत् मे ममेति तृतीयम् ॥ स्था०
३ गा० ३ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि इ-
च्छेज्जा माणुमं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव एं संचा-
एइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलो-
गंसि समुब्भूयं वेणणं वेयमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं ह-
व्वमागच्छित्तए, णो चेव एं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥
अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि णिरयपाझेहिं भुज्जो
भुज्जो अट्ठिट्ठिज्जमाणे इच्छेज्जा माणुमं लोगं हव्वमाग-
च्छित्तए, नो चेव एं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहु-
णोववन्ने णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि
अवेइयंसि अणिज्जिणंसि इच्छेज्जा, नो चेव एं संचाएइ,
एवं निरइया ओअंसि कम्मंसि अक्खीणंसि० जाव णो चेव
एं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥ इवेण्हिं चउहिं ठा-
णेहिं अहुणोववन्ने णेरइए० जाव नो चेव एं संचाएइ
हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अधुना जीयसाधर्म्यान्नारकजीवानाश्रित्य तदाह-(चउही-
त्यादि) सुगमं, केवलं (ठाणेहिं ति) कारुण्यः । (अहुणोवव-
न्ने त्ति) अधुनोपपन्नोऽचिरापपन्नो निर्गतोऽयः शुभमस्मादिति

निरयो नरकः, तत्र भवो नैरयिकः। तस्य चाऽनन्योऽपत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयस्रोके तस्मादिच्छन्मानुषाणामयं मानुषस्तं लोकं केषविशेष (हव्यं) शीघ्रमागन्तुं (नो चेव स्ति) नैव, 'णं' वा-क्यास्तद्वारे। (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति प्रागन्तुं (समुज्युयं ति) समुद्भूता मतिप्रबलतयात्पन्ना। पाठांतरेण-संमुखजुतामैकहं-लोप्यन्मा। पाठांतरेण-अमहानो महतो भवनं महद्भूतं तेन सह या सा समहद्भूता, तां समहद्भूतां वा वेदनां दुःखरूपां वेदयमानोऽनुनवत् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणमेतदेव वाऽशक्तस्य, तीमवेदनाभिभूतो हि न शक्त आगन्तुमिति। तथा-निरयपालैरेवंवादिभिः भूयोभूयः पुनः पुनरधिष्ठीयमानः समाक्रम्यमाण आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव वाऽऽगमना-शक्तिकारणं, तैरत्यन्ताक्रान्तस्यागन्तुमशक्तत्वादिति। तथा-निरये वेधते अनुभूयते यद् निरययोग्यं वा यद्वेदनीयम् अत्यन्तानु-मनामकर्मादि, असातवेदनीयं वा, तत्र कर्मणि अज्ञाणं स्थित्या अवेदितेऽनुभूतानुभागतयाऽतिजीर्णं जीवप्रदेशभ्योऽपरि-शदिते इच्छेन्मानुषं लोकमागन्तुं, न च शक्नोति अवश्यवेद्यक-र्मनिगमयन्निर्वादादित्यागमनाशक्त एव कारणमिति। तथा-(एवमिति) "अहुणोववचने" इत्याद्यभिलाषसंमुखनार्थः। निरयायुष्कं कर्मणि अज्ञीणे, यावत्कारणात् 'अवेइ' इत्यादि दृ-श्यमिति निगमयन्माह-(इच्छेएहि ति)। इति एवंप्रकारैरैतैः प्र-त्यक्षैरनन्तराक्तत्वादिति। अनन्तरं नारकस्वरूपमुक्तमाते चासंय-मोपपन्नकपरिग्रहादुत्पद्यन्त इति ॥ स्था० ४ गा० १ उ० ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु—

चउहिं ठाणोहिं अहुणोववचने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं झोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव संचाएइ हव्वमा-गच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववचने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिणं गिच्छे गटिणं अज्जोववचने से णं मा-णुस्सए कामभोगे णो अडाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ, णो तिडप्पगणं पगरेइ ॥१॥ अहु-णोववचने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिणं ४ तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिणं दिव्वे संकंते जवइ ॥२॥ अहुणोववचने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिणं ४ तस्स णं एवं भवइ इयण्हं गच्छं पुहुत्तेणं गच्छंतेणं कालेणमप्पाउआ मणुस्सा कालधम्मणा संजुत्ता भवं-ति ॥३॥ अहुणोववचने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगे-सु मुच्छिणं ४ तस्स णं माणुस्सए गंधं पस्सिह्वे पटि-झोपे यावि जवइ, उट्ठं पि यं णं माणुस्सएणं गंधं चत्तारि पंच जोयणसयाइं हव्वमागच्छइ ॥४॥ इच्छेएहिं चउहिं ठा-णोहिं अहुणोववचने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोमं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

त्रिस्थानके तृतीयोद्देशकं प्रायो व्याख्यानमेवेदं तथापि किञ्चि-दुच्यते-(चउहिं ठाणोहिं नो संचाए चि) संवन्धः। तथा-देव-

लोकेषु, देवमध्ये इत्यर्थः। (हव्वं) शीघ्रस्य (संचाएइ) शक्नोति। कामभोगेषु मनोकामादिषु मुच्छित इव मूर्छितो मूढस्तत्स्व-रूपस्यानित्यत्वादेर्विबोधाकर्मत्वात् गृह्यः, तद्वाकाङ्क्षावान् अतुल्य इत्यर्थः। प्रथित इव प्रथितः, तद्विषयस्तेतरज्जुभिः संवर्धित इत्यर्थः। अधुपपन्नोऽत्यन्तनन्मना इत्यर्थः। नाद्रियते-न तेष्या-दरवान् भवति। न परिजानाति एतेऽपि वस्तुचूता इत्येवं न मन्यते-तथा तं ध्याति गम्यते। नोऽर्थं प्रतिषन्नाति-एतैरिदं प्रयो-जनमिति निश्चयं करोति। तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे ज्ञयासुरित्येवमिति। तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थानवि-कल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भवन्ति-त्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थिति-प्रकल्पः, तं प्रकरोति कर्तुमारजते; प्रशब्दस्याधिकर्मार्थत्वादिति। एवं दिव्यविषयप्रसक्तिकेकं कारणं, तथा-यतोऽसावधुनोऽपको देवः कामेषु मूर्च्छित्तादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकमित्यादीति दिव्यप्रेमसंक्रान्तिर्द्वितीयम्। तथाऽसौ देवो यतो भोगेषु मूर्च्छि-तादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिष्ठात्। (तस्स णमित्यादी-ति) देवकर्मायत्ततया मनुष्यकार्यानायत्तत्वं तृतीयम्। तथा-दि-व्यभोगमूर्च्छित्तादिविशेषणत्वात्तस्य मनुष्याणामयं मानुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो दिव्यगन्धविपरीतवृत्तः प्रति-क्षोमश्चापि इन्द्रियमनसोरनाद्धादकत्वादकार्यं चैतावत्यन्तमनो-हताप्रतिपादनायोक्ताविति। यावदिति परिमाणार्थः। (चत्तारि पंचेति) विकल्पदर्शनार्थं कदाचिद्भरतादिव्येकान्तसुषमादौ च-त्वायैव, अन्यदा तु पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चां बहुत्वेनौ-दारिकशरीराणां तदवयवतन्मत्त्वानां च बहुत्वेन दुरभिगन्ध-प्राचुर्यादिति। आगच्छति मनुष्यक्षेत्रादाजिमिषुं देवं प्रतीति। इदञ्च मनुष्यक्षेत्रस्याशुभस्वरूपत्वमवोक्तम्। न च देवोऽन्यो वा नवच्यो योजनेज्यः परत आगतं गन्धं जानातीति। अथवा अत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रि-यापेक्षयैव संजाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्र-माणेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुः, यदि परं प्रति हास्द-द्वारेणान्यथा वेति नरभवाशुभत्वं चतुर्थमनागमनकारणमिति। शयं निगमनम्। स्था० ४ गा० ३ उ०।

चउहिं ठाणोहिं अहुणोववचने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुसं झोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववचने देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छि-णं जाव अणज्जोववचने तस्स णं एवं जवइ-अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिणइ वा उवज्जाएइ वा पवित्तीइ वा येरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसि पजावेणं मए इमा एयाख्खा दिव्वा देवही दिव्वा देव-जुई लच्छा पत्ता अजिसमप्पागया तं गच्छामि णं, ते भ-गवंते वंदामि० जाव पज्जुवापामि। अहुणोववचने देवे देव-जोणसु० जाव अणज्जोववचने तस्स णमेवं जवइ, एस णं माणुस्सए जवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइडुक्करकारए तं गच्छामि णं ते जगवंते वंदामि० जाव पज्जुवापामि ॥२॥ अहुणोववचने देवे देवलोगेसु० जाव अणज्जोववचने तस्स

णमेवं जवइ, अत्थि एं मम माणुस्सए जवे मायाइ वा०
जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि एं, तेसिंमंतियं पाउज्जवामि,
पामंतु ता मे इममेयारुवं दिवं देवहिं दिवं देवजुइं लच्छं पत्तं
अभिसमसागयं ॥३॥ अहुणोवचनो देवे देवलोएसु० जाव
अणज्झोवचनो तस्स णमेवं भवइ, अत्थि एं मम माणुस्सए
जवे मित्तेइ वा सुहीइ वा सहाएइ वा संगइएइ वा तेमिं
च एं अम्हे अस्समस्स संगारे पडिमुए जवइ, जो मे
पुत्तिं चयइ से संवोहियवे इवेएहिं० जाव संचाएइ इ-
व्वमागच्छित्तए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभो-
गेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवंचतुर् मनो
जयति-यदुत अस्ति मे, किं तदित्याह-आचार्य इति वाऽऽचार्य एत-
द्वाऽस्ति; इति रूपप्रदर्शने; वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। कचिदिति-
शब्दे न दृश्यते, तत्र सूत्रं सुगममेवेति। इह चाचार्यः प्रतिबोधप्रवा-
जकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्त्तयति सा-
धूनाचार्योपदिष्टेषु वैयर्थ्यादिष्विति प्रवर्त्ती, प्रवर्त्तिव्यापारितान्
साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्वविरो, गणाऽस्या-
स्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनाशिष्यविशेष आर्यिका-
प्रतिजागरको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽ-
स्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवो-
पधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति (इमे चि) इयं प्रत्यक्षासन्ना
एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरात्का सा,
तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका
युतिः। शरीरादिसम्भवा युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयो-
गवृत्तणा वृद्ध्या उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभि-
समन्वागता ज्ञायावस्थां गता (तं ति) तस्माच्चान् जगवतः पु-
ण्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि, आदरकरणे-
न वस्त्रादिना वा समानताभ्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं
दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्ये संवामात्येकम् । तथा-ज्ञाने
श्रुतज्ञानादिनेत्यादि चितीयम्। तथा-(भायाइ वा भज्जाइ वा भ-
इणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दाङ्केषः, स्तुत्या पु-
त्रनार्या (तं) तस्मात्तेषामन्तिकं समीपं प्राडुर्भवामि प्रकटी-
भवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठांतरमिति तृतीय-
म् । तथा-मित्रं पश्चात् स्नेहवत् सखा बाह्वयस्यः सुहृदसज्जनो
हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते य-
स्यासौ साङ्गतिकः परिचितस्तेषां (अम्हे चि) अस्माभिः (अ-
स्समस्स चि) अन्येभ्यः (संगारे चि) संकेतः प्रतिश्रुतोऽन्युप-
गतो भवति स्मेति । (जो मे चि) योऽस्माकं पूर्वं चयते देव-
लोकात्स संवोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यजने कृतसं-
केतयोरैकस्य पूर्वलक्षादिजीविषु भवनपत्यादिपृथक् च्युत्वा
च नरतयोत्पन्नस्यान्यः पूर्वलक्षादि जीवित्वा सौधर्मोदितपृथक्
संवोधनार्थं यदिहागच्छति तदवसेयमिति । इत्येतैरित्यादि नि-
गमनामिति ॥ स्था० ४ गा० ३ उ० ।

अहे-अथस्-दिग्भेदे, नि० चू० १८ उ० । भ० ।

अथ-अव्य० । अथार्थे, भ० १ श० ६ उ० । 'अहे णं से अस्मापियरं'

अथ चैतत्, णमिति वाक्यालङ्कारोऽस्या० ३ गा० १ उ० । आचा० ।
क्षेपे, नियोगे च । स० ।

अहेउ-अहेतु-पुं० । यथोक्तहेतुप्रतिपत्ते, स० । अनुमानानु-
त्थापके हेत्वाभासे, स्था० ।

पंच अहेउ पसुत्ता । तं जहा-अहेउं ए जाणइ० जाव
अहेउज्जमत्यमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेउ पसुभा । तं
जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा उज्जमत्यमरणं
मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेउ पसुत्ता । तं जहा-अहेउं जाणइ
० जाव अहेउकेवलमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाहेतवो यः प्रत्यक्षज्ञानादितयाऽनुमानानपेक्षः स धू-
मादिकमहेतुनाऽयं हेतुर्ममानुमानोत्थापक इत्येवं जानाती-
त्यतो हेतुभूतं तं जानन्नहेतुरेवासावुच्यते । एवं दर्शनबो-
धाभिसमागमापेक्षयाऽपि तदेवमहेतुचतुष्टयं लक्षस्थमाश्रित्य
देशनिषेधत आह-(अहेतुमिति) धूमादिकं हेतुमहेतु-
भावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथाश्चिदेवावगच्छती-
त्यर्थः । नत्रो देशनिषेधावस्थात्, ज्ञातुश्चावध्यादिकेवलित्वेनानु-
मानाव्यवहर्तृत्वादित्येकोऽयमहेतुर्देशप्रतिषेधत उक्तः । एवमहेतुं
कृत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः । न बुध्यते न श्रूयते
इति तृतीयः । नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः । तथा-अहेतुमध्य-
वसानादिहेतुनिरपेक्षं निरुपक्रमतया लक्षस्थमरणमनुमानव्यव-
हर्तृत्वेऽप्येकेवलित्वात्तस्यायं च स्वरूपत एव पञ्चमो हेतुरुक्तः ।
तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेत्वभावेनावध्यादिकेवलित्वाद्
जानात्यसावहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि । एवं च लक्षस्थमा-
श्रित्य पदचतुष्टयेनाहेतुचतुष्टयं देशप्रतिषेधत आह । तथा-
हेतुनोपक्रमाभावेन लक्षस्थमरणं प्रियत इति पञ्चमोऽहेतुः
स्वरूपत एव उक्तः । तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतुं न हेतुभावेन विक-
ल्पितं धूमादिकं जानाति केवलितया योऽनुमानाव्यवहारित्वा-
त्सोऽहेतुरेव । एवं यः पश्यतीत्यादि । तथा अहेतुं निर्हेतुकमनु-
पक्रमत्वात् केवलमरणमनुमानाव्यवहारित्वाद् प्रियते यात्य-
सावहेतुः पञ्चमः । एते पञ्चापीह स्वरूपत उक्ताः । ७ एवं तृतीया-
न्तसूत्रमन्यनुसर्तव्यमिति । ८। गमनिकामात्रमेतत्, तत्त्वं तु बहुश्रुता
विदन्तीति ॥ स्था० ४ गा० १ उ० । न विद्यते हेतुरस्येति; अना-
द्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भ० ।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं० । हिनाति गमयत्यर्थमिति हेतुः, त-
त्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः ।
यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतवादः ।
दृष्टिवादान्यस्मिन्, सम्म० ।

(दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य) ।

तत्थ उ अहेउवाओ, जवियाभविआदओ जावा ॥ १४० ॥

भव्याभव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादने अध्य-
क्षादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः । नष्टयं भव्योऽयमभव्य इत्यत्रागम-
प्रमाणेन प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंज्ञकः । असदाद्यपेक्षया न तु तद्विभाग-
प्रतिपादकं वचो ययार्थमहं च नत्वात्, अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपा-
दकवचोवदित्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानवि-
षयता । न । एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्व्यतिरेकेण प्र-
माणान्तरस्य तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्याज्ञावात् । अहंदागमस्य च प्रा-

धान्यार्थसंबादिनिश्चयनप्रणीतत्वं निश्चयेऽनुमानतोऽतीन्द्रिया-
र्थविषये प्रामाण्यं निश्चीयते इत्यभ्युपगम्यत एव । सागमनिरपेक्ष-
स्य तु प्रमाणाभ्यासस्मद्देशेन प्रवृत्तिर्न विद्यते इत्येतावता
हेतुवादत्वमेव विषयगमस्योच्यते इति वचनव्यापारं केवल-
मपेक्षया कर्मः । यदा तु ज्ञानदर्शनचारित्र्यवितये यथा तदनु-
ष्ठानप्रवृत्तस्तद्विकसञ्च पुरुषः प्रतीयते, तदाऽनुमानगम्योऽपि त-
द्विनो भवति । यथा भव्योऽभ्युपगम्यो वाऽयं पुरुषः, सम्यग्ज्ञाना-
दिपरिपूर्णावस्थाम्, लोकप्रसिद्धभव्याभ्युपगम्यत । अहेतुवा-
दागमवगते धर्मिणि भव्याभ्युपगम्यस्वरूपे तद्विपरीतनिर्णयफलो
हेतुवादः, प्रवृत्ते योऽयमागमे ज्ञानादिरांभहितः स तथैव, य-
थोक्तानुसङ्गादिति । आह-

भविष्यो सम्मदंसण-णारिचरित्तपामिवत्तिमपन्नो ।

णिपमा पुक्खंतकमो, त्ति लक्खणं हेउवायस्म ॥१४१॥

भव्योऽयं सम्यग्दर्शनचारित्र्यप्रतिपत्तिसंपूर्णत्वात्, उक्तपुरुषवत्,
तत्परिपूर्णत्वादेव नियमासंसागदुःस्वान्तं करिष्यति, कर्मभ्यां-
रात्यन्तिकविताशमनुनिश्चयति, तन्निवन्धनमिच्छयात्वादिप्रतिप-
क्षाभ्यासमात्मीयत्वात्, व्याधिनिदानप्रतिकृत्वाचरणप्रवृत्ततथा-
विधाऽऽतुरवतः यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्म्यवाचास्तौ दुः-
स्वान्तकृत् तविष्यति, तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधाऽऽतुरवद्
इति हेतुवादस्य लक्षणम् । हेतुवादः प्रायो दृष्टिवादः तस्य द्रव्या-
न्योगत्वात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इत्यादेर-
नुमानादिगम्यस्यार्थस्य तत्र प्रतिपादनात् । यथाऽत्रानुमानादिग-
म्यता तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विकान्तमिति नेह प्रदर्श्यते, प्र-
त्यविस्तरनयान् ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

अहेकम्म-अधःकर्म-न० । विशुद्धसंयमस्यानेह्यः प्रतिप-
त्त्याऽऽत्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधः-
कर्म । वृ० ४ उ० । अथो नरकादयेन भक्तेन जृक्ते वाऽप्या क्रियते
तदधःकर्म । दश० ५ अ० । अन्तविशुद्धेभ्यः संयमादिस्थाने-
ऽधोऽधस्तारामगमने, पि० । आधःकर्मणि, पि० । ('अधेकम्म'
शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५ ए१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अहेकाय-अधःकाय-पुं० । ऊर्वादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ०
१ उ० ।

अहेगारवपरिणाम-अधोगौरवपरिणाम-पुं० । येनायुःस्वभावेन
जीवस्याधो दिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति, तस्मिन्
गौरवपरिणामभेदे, व्या० ९ टा० ।

अहेचर-अधश्चर-पुं० । विलवासित्वात् सर्पादौ, आचा० १ श्रु०
८ अ० ८ उ० ।

अहेताग्ग-अधस्तात्क-पुं० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अहेपन्नगच्छव-अधःपन्नगच्छरूप-त्रि० । अधोऽधस्तनं, यत्
पन्नगस्य सर्पस्याहं तस्यैव रूपमाकारो येषां तेऽधःपन्नगधेरू-
पाः । अधःपन्नगच्छं वर्तते सन्नेषु दीर्घेषु च । जा० ३ प्रति० रा० ।

अहेमणिज्ज-ययपणीय-त्रि० । उत्कर्षणापकर्षणरहिते, अप-
रिक्तेर्मणि, "अहेमणिज्जाइं यथाइं जाएज्जा" । आचा० १ श्रु० ८
अ० ४ उ० ।

अहेसत्तमा-अधःसप्तमी-स्त्री० । तमस्तमायां पृथिव्याम्, अघो-
ग्रहणं विना सप्तमी उपरिष्ठाच्चिन्त्यमाना रत्नप्रज्ञाऽपि स्यादित्य-
धोप्रहणम् । "अहेसत्तमाए पुढवीए" स्था० २ टा० ४ उ० ।

अहो-अहो-अव्य० । न हा-सो । शोके, धिगर्थे, विषादे, दया-
याम्, सम्बोधने, प्रशंसायाम्, चित्तके, असूयायां च । वाच० ।
विस्मये, आ० म० प्र० दश० भ० स्था० उक्त० । सूत्र० । आ-
ध्यर्थे, अष्ट० १८ अष्ट० प्रति० । आचा० । विपा० । दैन्ये, आम-
न्त्रणे च । ग० २ अधि० । अनु० । सूत्र० ।

अहोकरण-अधःकरण-न० । अधोऽधस्तादात्मनः करणम् ।
कवहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोकाय-अधःकाय-पुं० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे,
आच० ३ अ० ।

अहोणिस-अहर्निश-न० । अहोरात्रे, "णिरये णेरइयाणं अहो-
णिसं पच्चमाणाणं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अहोतरण-अधस्तरण-न० । अधोऽधस्तादवतारभूमिं गृह्णति-
श्रेया इव करणमधःकरणम् । कवहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोदाण-अहोदान-न० । विस्मयनीये दाने, "अहोदाणं च-
घुठं" अहो इति विस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽभ्यो दाता ?
उक्त० २ अ० । कव० । आ० म० । अहोदानस्यायमर्थः-एवं
दीयते एवं हि दत्तं भवतीति । आच० १ अ० ।

अहोदिसिक्खय-अधोदिग्धत-न० । दिग्धोऽधोदिकः तत्संबन्धि,
तस्या वा व्रतमधोदिग्धतम् । एतावती दिग्ध इच्छकृपाद्यवतार-
णादवगाइनाया न परत इत्येवंरूपे दिग्धतभेदे, आच० ६ अ० ।

अहोजागि (ए)-अधोभागिन्-त्रि० । अधस्ताद् भागिनि,
सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहोरात्त-अहोरात्र-पुं० । त्रिंशन्मुहूर्तात्मके, उयो० २ पाहु० । जं० ।
कर्म० । भ० । दिवसरात्र्युज्यात्मके, सु० प्र० १० पाहु० । सूत्र० ।
विशे० । अनु० । आ० म० । उक्त० । स्था० । कावभेदे, न० ।
"तिविहे अहोरात्तं तीने, पसुप्पन्ने, अण्णागए" । स्था० ३ टा०
४ उ० । अहोरात्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । (पौरुषीकालः
'काल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

अहोराइया-अहोरात्रिकी-स्त्री० । त्रिभिर्दिवसैर्याति प्रति-
मा । अहोरात्रस्यान्ते षष्ठमक्तकरणत्वात् प्रतिमाभेदे, पञ्चा० १८
विच० । "अहोराइदिया णवरं छुट्ठेणं जत्तेणं अपाणपणं बहि-
यागमस्स वा० जाव रायहाणीए वाईणि दोवि पादे वग्घारित-
पाणिस्स ट्ठाणं गइ तए, सेसं तं चव० जाव अणुपालिया
भवइ" आ० चू० ४ अ० ।

अहोलोय-अधोद्वोक-पुं० । लोच्यते केवत्रिप्रज्ञया परिच्छिद्य-
ते इति लोकः । अधोऽव्यवस्थितो लोकोऽधोलोकः । अधवा-
ऽधःशब्दोऽशुनपर्यायः, तत्र च केत्रानुज्ञावाद् बाहुद्वयेनाशु-
भ एव परिणामो ह्यव्याणां जायतेऽतोऽशुभपरिणामवद्द्रव्य-
योगादधोऽशुभो लोकोऽधोलोकः ॥

अद्वा अहो परिणामो, येत्ताणुजावेण जेण उसणं

असुनो अहोति भणिओ, दवाणं तेणऽहोलोगो त्ति ॥

लोकभेदे, स च अस्यां रत्नप्रभायां बहुसमभूभागे मेरुमध्ये नजः
प्रतरद्वयश्च प्रदेशो रुचकः, समस्थितस्य च प्रतरद्वयस्य मध्ये
एकस्मादधस्तनप्रतरादारभ्याधोऽग्निमुखं नवयोजनशतानि परि-
हृत्य परतः सातिरेकसप्तर्ज्ज्वायतोऽधोवोक्तः । अनु० । चमरा-
दिजवने, आव० १ अ० । स्था० । प्रज्ञा० । आ० म० । अधोलौकि-
केषु ग्रामेषु, नं० । “अहोलापेणं चत्तारि वि सरीरा अहोत्रोप णं
सत्त पुढवीओ पणत्ताओ, सत्त घणोदहीओ पणत्ताओ, सत्त
घणवाओ पणत्ताओ, सत्त तणुवाया पणत्ताओ, सत्त उवासं-
तरा पणत्ता, एणसु णं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया प-
इट्टिया, एणसु णं सत्तसु तणुवापसु सत्त घणवाया पइट्टिया, स-
त्तसु घणवापसु सत्त घणोदही पइट्टिया, एणसु णं सत्तसु घ-
णोदहीसु पिडलगपिहुलसंठाणसंठियाओ सत्त पुढवीओ प-
णत्ताओ । तं जहा-पढमां जाव सत्तमा” । स्था० ७ ग० ।

अहोवाय-अधोवात-पुं० । अधो गच्छन् यो वाति वातः सो-
ऽधोवातः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति वायुभेदे, ज्ञा० १
पद । अपानजे वायौ च । जीत० । आ० म० ।

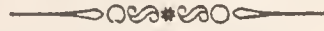
अहोविषड-अधोविक्कट-त्रि० । अधः कुट्यादिरहिते, छेदे इषु-
परि तदज्ञावे च । आचा० १ अ० ६ अ० २ उ० ।

अहोविहार-अहोविहार-पुं० । अहो इत्याश्चये, विहरणं वि-
हारः । आश्चर्यभूतोऽहोविहारः । संयमानुष्ठाने, “समुत्तिप अहो-
विहारण” आचा० १ अ० २ अ० १ उ० ।

अहोसिर-अधःशिरस्-त्रि० । अधोमुखे, “अहोसिरा कंटया
जायंति” अधोमुखाः कण्टकाः जवन्तीति चतुर्दशस्तीर्थकरा-
तिशयः । स० ३४ सग० । अधोमस्तके, उक्त० २३ अ० । “उहुं
जाणु अहोसिरे” अधोमुखो नोर्हं तिर्यग्वा विक्रितदृष्टिः, किन्तु
नियतभूभागनियमितदृष्टिः । ज्ञा० १ अ० । विपा० । जं० । सु०
प्र० । भ० । औ० । चं० प्र० । नि० ।

अहोहि-अधोऽवधि-त्रि० । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽ-
धोवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते, रा० । स्था० ।

अहोहिय-यथावधि-त्रि० । यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथावधिः ।
नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानिनि, स्था० २ ग० ९ उ० । स० ।



इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००० श्री-

विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अजिधानराजेन्द्रे

ह्रस्वाऽकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

॥ समाप्तश्चायं प्रथमो जागः ॥



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

• श्रीः •

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-

कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक

जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री

१००० श्रीविजयराजे-

न्द्रसूरिविरचिते अ-

भिधानराजेन्द्रे

प्रथमो जागः समाप्तः ।



PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

PK
1223
V54
1913
V.1
C.1
ROBA

